VELIXI



महामहोपाध्याय
प० श्री हरिहरकृपालु द्विवेदी
विद्यारत्नाकर, पण्डित विभूषण, तर्कालंकार, प्रधानाचार्य, 'प्रयाग'

श्रीः

प्राक्कथन

--:०:--

स्वप्न में भी ऐसी धारणा नहीं थी कि श्री मद्भगवद्गीता ऐसी महान् पुस्तकका प्राक्कथन मुझे लिखना होगा। मेरी तुच्छ लेखनी से इस अभावकी पूर्ति की जायगी, यह कौन जानता था ? मधुसूदनी के अनुबादके साथ इस रसास्वादसे पाठकोंको वंचित रहना होगा, ऐसी आशा किसे थी ? पर परमेश्वरकी लीला अचिन्त्य और अपरिमेय है। उनकी अप्रतिहत इच्छासे कभी कभी ऐसी भयंकर अघटित घटनाएं घट जाती हैं कि उनकी दृष्ट सृष्टिमें बहुत बड़ा अभाव होनेके कारण उनपर भी नतुनचकी—व्याख्याऐं होने लगती हैं। उनकी दृष्टिमें कदाचित् इन घटनाओंका भी महत्व हो।

सर्वतन्त्र स्वतन्त्र तपोमूर्ति महामहोपाध्याय श्रद्धेय पूज्य पिता जी (मं० म० पं० हरिहर कृपालु द्विवेदी) का चैत्र कृष्ण- नवमी मंगल सं० २००५ ता० २२ मार्च १९४९ ई० में नीलकंठ स्थित राधाकृष्ण मन्दिरमें लगभग १० बजे रात काशीवास हो गया। भारतीय संस्कृति एवं संस्कृत साहित्य के मूर्तिमान् स्वरूप पण्डितों के आशाकेन्द्र शास्त्रों की महान् निधि त्याग एवं सारल्य के समन्वय इस संसार से उठ गये। दोनों की अपूरणीय क्षति हुई जिसकी पूर्ति निकट भविष्य में असम्भव है।



आज उनकी भास्वन्मूर्ति नहीं रही। उनके सस्मित मधुर-वच[illegible] प्राप्य नहीं हैं, पर उनकी अबाध गति लेखनी से प्रसूत यह म[illegible] अनुवाद रस सुलभ है।

श्रद्धेय पिताजी का सम्पूर्ण जीवन संस्कृत साहित्य के अध्ययन एवं अध्यापन में व्यतीत हुआ। पटना के सुप्रसिद्ध सेठ रामनिरंजनदास मुरारका से सुव्यवस्थित महाविद्यालयमें अध्यक्ष पद पर आसीन होकर ४० वर्षों तक व्याकरण साहित्य एवं दर्शन शास्त्रों के गंभीर तत्वोंका अध्यापन कराया। बाद काशीमें भगवान् विश्वनाथ के चरणोंमें अपने शेष जीवन के व्यतीतकरने की भावना से मेरे दुर्बल कंधों पर महाविद्यालय के अध्यक्ष पदका

भार देकर उक्त सेठ जी के सुपुत्रों की अनुपम सहानुभूति एवं सहायता से सानन्द काशीबास करने लगे। वहां भी रह कर आप प्रातःकाल से १२ बजे दिन तक अपना पूजा पाठादि नित्य कर्म कर भोजनोपरांत १ बजे से साधु महात्माओं को वेदान्त का अध्यापन मृत्यु के ६ महीनापूर्वतक कराते रहे। इधर चार पांच वर्षों से आपका ध्यान लिखने की ओर विशेष रूप से गया तदनुसार आपने लिखना प्रारम्भ किया। इसी बीच इन्होंने बृहदारण्यकवार्तिकसार का बिशाल-काय हिन्दी अनुवाद विवेचना सहित लिखा। अच्युत ग्रन्थ माला से मुद्रित होकर विद्वानों के समक्ष उपस्थित है। पुनः उन्होंने जटिल टीका मधुसूदनीका विवेचना पूर्ण हिन्दी अनुवाद किया जो आपके सामने वर्तमान है। सर्वतन्त्र स्वतन्त्र मधुसूदन सरस्वती विरचित मधुसूदनी टीका की गंभीरता एवं गहनता विद्वानों से छिपी नहीं है। फिर भी उसका उन्होंने इतनी शीघ्रता से अनुवाद किया जो दूसरोंसे संभव नहीं था। इस बीच उन्होंने कुसुमांजलि की संस्कृत टीका भी लिखी है जो समय पर मुद्रित होकर आपके सामने आवेगी।

अब तक गीता मधुसूदनी का हिन्दी भाषानुवाद कहीं से प्रकाशित नहीं हुआ है। संभवतः किसी पण्डित ने अबतक इसका अनुवाद ही नहीं किया है। इस महाकाय ग्रन्थ का प्रकाशन सर्वप्रथम अच्युत ग्रन्थ माला काशी से प्रारम्भ हुआ था। एक अध्याय तक मुद्रित हो चुका था पर उसके संचालक से अनुवाद की स्वतन्त्रता में बाधा उपस्थित होने के कारण वहां स्थगित कर दिया गया। अनुवाद सम्पन्न होने पर भी इस कण्ट्रोल के भीषण युग में इसका प्रकाशन मुझ से हो सकेगा या नहीं, यदि न हो सकेगा तो अनुवाद श्रम व्यर्थ होगा इत्यादि चिन्ता से पूज्य पिताजी का चित्त उद्विग्न था। इसी बीच पटनामहाविद्यालय के संचालकों में प्रमुख संचालक धर्मनिष्ठ उदारचेता सेठ बाबूछेटेलालजी मुरारका की प्रार्थना से कलकत्ता जाना पडा। वहां प्रसंग वश इस ग्रन्थ के प्रकाशनके प्रसंग में उन्होंने सहज मधुर बचन से इस लोकोपकारी ग्रन्थ के प्रकाशन का भार अपने ऊपर लेकर पूज्य पिताजी की आगन्तुक चिन्ता को दूर कर उनका अमोघ शुभा-

शीर्वाद प्राप्त किया, और संसार के लोगों को उसके द्वारा दिव्य प्रकाश पहुंचा कर अपने सुयश को बढ़ाया। उक्त सेठजी बहुत सरल प्रकृति एवं निरभिमानी पुरुष हैं। आपकी सद्ब्राह्मण पण्डितों में अत्यन्त निष्ठा है। सनातन धर्म के अनुसार आपकी देवता आदि में पूर्ण श्रद्धा है। ऐसे पुरुष इस युगमें अल्प हैं। आपकी उदारता से ही यह प्रस्तुत ग्रन्थ आपलोगोंके समक्ष उपस्थित हुआ है। इसका श्रेय आपको अत्यधिक हैं। ऐसे परोपकारी एवं धार्मिक पुरुषों की जीवन कामना करता हुआ इस सत्कार्य के लिये अनेकशः शुभाशीर्वादपुरस्सर धन्यबाद अर्पण करता हूं।

उक्त सेठ जी की कृपा से इस पुस्तक की छपाई आदर्शप्रेस काशी में प्रारंभ हुई। आरम्भ से चतुर्थाध्याय तक एवं दशम अध्याय से त्रयोदशाध्याय के कुछ फर्मे तक करीब दो वर्षों में अनेक वार प्रोत्साहित करने पर उक्त प्रेस से मुद्रित हो सका। इस मन्दगति से ऊब कर पूज्य पिता जी ने विक्रमपंचांगप्रेस के संचालक पण्डित प्रवर पं० नागेशोपाध्याय ज्यो० आ० एम० ए० से कथनोपकथन क्रम में इसके मुद्रणका भार लेने को कहा। उन्होंने भी पूज्य पिता जी के आदेश को अनुल्लंघनीय समझ कर सहर्ष इसके मुद्रण का भार अपने ऊपर लेकर बहुत बडा उपकार किया। उनके जीवन काल में मुद्रण के उपकरण संघटन में ही समय व्यतीत हुआ। बाद अपने सभी अत्यावश्यक कार्यों को भी रोककर उन्होंने इस ग्रन्थ का मुद्रण कार्य प्रारम्भ किया। प्रतिदिन एक फर्मा निकलने लगा। उसी का यह सुखद परिणाम है जो पांच महीनेके भीतर इस महान् ग्रंथके शेष भागका मुद्रण इतना शीघ्र हो सका। वस्तुतः यह आपकी सरलता सत्यवादिता एव उदारता का फल है। इसके लिये जितना भी धन्यवाद दिया जाय उतना कम ही है। अपका मैं चिर कृतज्ञ हूं आपके लिये अनेकशः शुभकामना साथ ही साथ उक्त प्रेस के मैनेजर पं० गंगा प्रसाद जी शुक्ल को भूरि भूरि धन्यवाद देता हूं, जिनकी तत्परता से यह कार्य सुसम्पन्न हुआ है।

पूज्य पिताजीके स्वर्गारोहणके पश्चात् कार्य भार आजानेसे मैं किंकर्त्तव्य विमूढ हो गया। पटना रहकर काशीमें इसकी

छपाई आदिकी देख रेख कैसे कर सकूंगा इत्यादि विविध चिन्तासे उद्विग्न चित्तको पं० कृष्णमोहन ठाकुर व्याकरणसाहित्याचार्य मीमांसावेदांतशास्त्री की सहानुभूति से शांति मिली। इन्होंने शीघ्रातिशीघ्र मुद्रण करनेके लिये आतप और वर्षाकी परवाह न कर पुस्तकका सम्पादन किया। इतनी तत्परता देखकर मुझे कभी कभी आश्चर्य चकित हो जाना पड़ता था। आपने ही पंचमाध्यायसे प्रूफसंशोधन किया है आपका सहयोग कभी भी भुलाया नहीं जा सकता। मैं आपका चिर आभारी हूं।

प्रथम अध्यायसे चतुर्थ अध्याय तक सम्पादन पं० मूल शंकर व्यास पं० गोपालदत्त त्रिपाठी जी तथा पं० हरद्वार त्रिपाठी जीने किया है, उनके इस परिश्रमके लिये धन्यवाद है।

अन्तमें अपने सहयोगी श्रद्धेय पं० कमलाकांत मिश्र प्रिन्सिपल गोयनका संस्कृत महाविद्यालय काशी तथा पं० श्री रामानुज-ओझा न्याय व्याकरण साहित्याचार्य अध्यापक बिरला महावि-द्यालय काशी एवं पं० श्री सुब्रह्मण्य शास्त्री मीमांसा वेदान्ताचार्य अध्यापक हिन्दू विश्व विद्यालय काशीको अनेकानेक धन्यबाद देता हूं जिनके प्रबल सहयोगसे इस ग्रन्थके अन्तरंग बहिरंग उप-करण सुलभ हो सके हैं। साथ ही साथ शुभोदय श्री देवनारायण झा को शुभाशीर्वाद पुरस्सर धन्यवाद है जिनकी सहायता समय समय पर मुझे मिलती रही है।

अन्तमें कुछ विनम्र निवेदन कर मैं अपना कथन समाप्त करता हूं। पूज्य पिताजीके निधनके पश्चात् इसके मुद्रणका भार मैंने अपने दुर्बल कंधों पर उठाया, साथ ही साथ यह भी प्रयत्न रहा कि पुस्तकका प्रथम संस्करण यथा सम्भव शीघ्र हो जाय दैव। योगसे पं० श्री नागेशोपाध्याय जैसे सहायक मिल गये, उन्होंने अपने प्रेसमें अन्य पुस्तकोंका प्रकाशन रोककर केवल इसी ग्रन्थका मुद्रण प्रारम्भ किया। फल स्वरूप अतिशीघ्र मुद्रित होकर आपके सामने है।

शीघ्रताके कारण इसमें त्रुटियां भी कम नहीं हैं, शीघ्रतावश प्रेस कापी तैयार न हो सकी, मूल लेख जो बहुत जल्दीमें लिखा गया

था, उसके आधार पर ही छपाईके कार्य होनेसे एवं गहन विषय हमलोगोंकी बुद्धिसे अगम्य होनेके कारण एवं प्रेस कर्मचारियोंकी असावधानीवश जो त्रुटियां ग्रन्थमें आ गई हैं, उसे पाठकगण स्वयं संशोधन कर लेंगे पिताजीकी इच्छा देखते हुये मेरी इतनी प्रबल कामना हुई कि जिस किसी तरह भी यह पुस्तक एकबार मुद्रित होकर प्रकाशमें आ जाय। तदनुसार मैंने शीघ्रतामें इसका मुद्रण कराया। फलस्वरूप कुछ अशुद्धियां आ गई जिनका निराकरण दूसरे संस्करणमें हो जायगा। मेरी विवशता एवं शीघ्रता पर ध्यान देते हुये आशा है इसकी त्रुटियोंको आप क्षम्य समझेंगे। विश्वास है कि विद्वन्मण्डली इसकी भूलोंको सूचित कर अपने कर्तव्यका पालन करेगी, जिससे दूसरे संस्करणमें त्रुटियोंका परिमार्जन हो जाय।

गच्छतः स्खलनं क्वापि भवत्येव प्रमादतः।
हसन्ति दुर्जनास्तत्र समादधति सज्जनाः॥

भवदीय—
ब्रह्मदत्त द्विवेदी
अध्यक्ष
सेठ श्री रामनिरंजन दास मुरारका
संस्कृत कालेज पटना सिटी।

अनन्त चतुर्दशी
सं० २००६ ई०



श्री मद्भगवद्गीता पर कुछ अमूल्य सम्मतियां

श्री–

भगवन्निःश्वसित मन्त्र ब्राह्मणात्मक वेद निःश्वासवत बुद्धि प्रयत्न निरपेक्ष अतएव अकृत्रिम है। उनमें पुरुषाश्रित-भ्रम-प्रमाद-विप्रलिप्सा आदि दोषोंकी संभावना न होनेसे वे समस्त पुंदोष शंका कलंकशून्य है। परन्तु वेदोंका तात्पर्यार्थ दुःख ग्राह्य है अतः सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान भगवानने वेदार्थका स्पष्टीकरण करनेके लिये वेद उपनिषदोंके सारभूत गीताका उपदेश किया है। यद्यपि वेदार्थ ही गीतार्थ है तथापि इक्षुखण्डवत मधुरिमाकी अपेक्षा जैसे तत्सारभूतसिता शर्करामें मधुरिमाकी विशेषताका अनुभव होता है वैसे ही निगमकल्पतरुका अमृतद्रव संयुक्त परिपक्व फलोपम गीतामें भी विशेषताका अनुभव होता है। गीताका महातात्पर्य प्रत्येक चैतन्याभिन्न परात्पर शुद्धब्रह्म में होते हुए भी आवान्तर तात्पर्य वेदोंके समान ही कर्मकांड तथा उपासनामें है। गीताकी अनेक व्याख्याओंमें मधुसूदन सरस्वतीकी टीका अपनी असाधारण महत्ता रखती है। आपने विद्वतापूर्ण ढंगसे गीता स्पृष्ट सभी विषयों पर पूर्ण प्रकाश डाला है। मधुसूदनीके कुछ अंशोंपर बच्चा झा जीकी टीका है। पटना तथा काशीके सुप्रसिद्ध महामहोपाध्याय श्री हरिहर कृपालु द्विवेदी जीने मधुसूदनीकी हिन्दी टीका की है। वस्तुतः मधुसूदनीकी टीका करने योग्य विद्वान पंडित जी ही थे। श्री मधुसूदन जी अद्वैतवादी महातत्वविद् होते हुए भी श्रीकृष्णके अनन्योपासक थे। वे भगवद् भजनको ज्ञानीका स्वभाव बतलाया करते थे। स्वभावो भजनं हरेः, कृष्णात्परं किमपि तत्व महं न जाने इत्यादि स्वामी जीकी सूक्तियां प्रसिद्ध ही हैं। महामहोपाध्याय जी भी महाविद्वान होते हुए भगवद्भक्तिके रसिक थे। उनका सदाचार पूर्ण तथा त्याग विशिष्ट आदर्श जीवन विद्वानोंके लिये अनुकरणीय है। गीताके आदेशानुसार स्वधर्मनिष्ठासे परमेश्वराराधन द्वारा प्राणी भगवतअनुकम्पाका पात्र होकर भगवतस्वरूप साक्षात्कार परा भक्तिको प्राप्त कर कृतार्थ हो जाता है। आशा है हिन्दी टीका युक्त मधुसूदनी गीता व्याख्यासे आस्तिक सज्जन लाभ उठायेंगे।

–स्वामी करपात्री

श्री

शारदावतार श्री मधुसूदन सरस्वतीके ग्रन्थका स्पष्टीकरण अगाध प्रतिभ, हरिहरावतार, महामहोपाध्याय श्री हरिहर कृपालु जी द्विवेदीके बिना कौन कर सकता था, अतएव यह ग्रन्थ अत्यन्त दुरूह होनेके कारण पठन पाठनकी पद्धतिसे अति दूर रह कर केवल पूजाका विषय रह गया था। आज इसका सरल सुबोध हिन्दी भाषामें लिखा गया यह अनुवाद गीता प्रेमियों अथच दार्शनिक सिद्धांताभिलाषुओंके लिये अक्षय्य अमूल्य निधिके समान सुखप्रद हो गया है। गीताको सभी सम्प्रदायके लोग अपना अपना प्रमाण ग्रन्थ मानते हैं, क्योंकि गीतासे जिस मतका प्रतिपादन नहीं होता है वह मत ही अमाननीयताको प्राप्त हो जाता है। इसी कारण सभी सम्प्रदाय अपने अपने सिद्धांतको गीतासे प्रतिपादित करानेमें व्यापृत रहते हैं। अतएव गीतामें सभी सम्प्रदायोंका समन्वय माना जाता है। इस ग्रन्थ पर अनन्त टीकाएं हैं, परन्तु गूढ़ार्थ दीपिकाको सर्व श्रेष्ठ माननेवालोंकी संख्या अत्यधिक है। गूढ़ार्थ दीपिका यद्यपि यथार्थनामा है परन्तु इस टीकाके भावार्थका जानना अतिदुर्बोध तथा अगम्य था। महामहोपाध्याय जीने प्रांजल भाषामें इसका विवरण कर संसारके परमोपकार के साथ साथ हिन्दी भाषा के मस्तक को ऊंचा कर दिया है।

यद्यपि बंगाल तथा गुजरातीमें भी गूढ़ार्थ दीपिका अनुवाद है, परन्तु वह केवल अक्षरानुवाद मात्र है। श्री द्विवेदी जी तो अपने अनुवादमें श्री मधुसूदन सरस्वती जीके लेखकी समालोचना और इसके विपरीत बोलने वालोंके मतोंका प्रबल युक्तिसे निराश भी करते गये हैं, कुछ स्थलों पर अपनी टिप्पणी द्वारा विशेष-विशेष अपेक्षित विषयोंका सन्निवेश भीं करते हुए ग्रन्थको सर्वांग पूर्ण बनानेका सफल प्रयत्न किये हैं। भाषामें दर्शनके इस प्रस्थानका इसके समान कोई भी दूसरा ग्रन्थ नहीं है। हिन्दी संसार बहुत दिनोंसे ऐसे पुरुष रत्नकी चिन्तामें था, जो कि इस ग्रन्थका अनुवाद कर सके। बड़े सौभाग्यसे आज इस संसारका चिरकांक्षित मनोरथ पूर्ण हुआ है। अब हिन्दी संसार भीं गीतासे अद्वैत सिद्धान्तके साथ साथ भगवद्भक्तिके सरस मार्गके पथिक होनेका सौभाग्य प्राप्त कर सकेगा।

हमारा दृढ़ विश्वास है कि केवल एक ही इस टीकाकी 'उपासना करनेसे अन्यान्य टीकाओंकी आकांक्षा पूर्ण हो जायगी।

अध्यक्ष संस्कृत महाविद्यालय
पं० कालीप्रसाद मिश्र काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
ता०–१२–९–१९४९



श्री

यद्यपि श्री मद्भगवद्गीताया भूयांसि व्याख्यान रत्नानि त्रिदशगीर्मयानि, आङ्गिरसप्रतियोगिकोपमानुयोगि श्री मधुसूदन सरस्वतीप्रभृतिविपश्चिदपश्चिमप्रणयन कला कलितानि अनवद्य वैदुष्यपरिष्कृताभिहितिविलसितानि विभ्राजन्ति।

नानाभाषान्तरेऽपि पौरस्त्यपाश्चात्य विद्वद्वरेण्यैर्गङ्गाधरतिलकादिभिः वस्वस्वपद्धत्या सगवेषणं सोहापोहसुमनो मनोहरत्वं समासतो व्यासतश्च गीता व्याचचक्षे। तथापि, अद्यत्वेऽवधि कैरपि संस्कृतसंख्यावत्प्रकाण्डै हिन्दीभाषायां सुपर्ववाग्दोषज्ञ-समभ्यस्तशंकासमाधिपद्धत्या काचिदपि भगवद्गीताया व्याकृति-र्नाकारि। तथापि उतथ्यानुजमपि स्वीयमेधाप्रभवतर्कप्रभावै रुपहसद्भि निखिलदर्शनतमः पटलविलयवियन्मरालैर्महामहोपाध्याय विद्वन्मूर्द्धन्य श्री हरिहरकृपालुशर्मद्विवेदिभि हिन्दीभाषायां याथातथ्येन विवरितुमशक्याष्टीकान्तरतोऽवगन्तु मनर्हा अपि विषयाः सुगमवर्त्मना सशंका समाधि प्रेक्षावता ऽप्रेक्षावता ऽपि वोद्धुमर्हत्तां नीताः।

येन राष्ट्रभाषांभूताया भगवत्या हिन्दीभाषाया गौरवं गीर्वाणवाणीप्रियवर्गेऽपि प्राचुर्य्येण विहितास्पदंसम्पन्नम्। यद्यपि मया तृतीयतुर्याध्यायद्वयमे वावाप्य मण्डूकप्लुत्या तत्र तत्र समासेन पर्य्यालोचितम्। तथापि "चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टम्" इत्यस्य अपने जुह्वति प्राणम् इत्यस्य च टीकायां विशेषत स्त्रिचतक्षणावच्छेदेन स्वान्तविषयतानयनेन स्थालीपुलाकन्याये नाखिलाया अपि व्याख्यायाः स्वरूपपरिचयकृत इवमन्यते।

अनया टीकाया बहूपकृतं भगवद्गीतातत्त्वयाथात्म्यविविदिषावतां विज्ञानां विशेषतो भारतीयानां महामहोपाध्याय प्रियवरद्विवेदिमहोदयैरिति सप्रमोदमस्याः प्रचारमभिवान्छन्ननुमोदयते निवेदयते चास्याधिकारिणो यदत्र मुद्रणस्य संशोधनस्य च दोषेण वह्यस्त्रुट्यस्संजातास्ता मुद्रणान्तरे परिमार्जनीया इति।

समाद्रियतेः—
सभापति शर्मोपाध्यायः
काशीस्थ विरला महाविद्यालया-
ध्यक्षः (प्रिंसिपल)

सं–२००६ मा० शु १०
(ता०-२-९-१९४९)

श्री

महामहोपाध्याय श्रीहरिहर कृपालु द्विवेदीद्वारा विरचित मधुसूदनी टीकाका भाषानुवाद पढकर हार्दिक प्रसन्नता हुई । मधुसूदनी जैसे उच्च कोटिके दार्शनिक ग्रन्थका अनुवाद साधारण कार्य नहीं है । प्रस्तुत अनुवादकको इस कार्यमें अभूतपूर्व सफलता मिली है । अनुवाद द्वारा केवल मौलिक भावोंकी अभिव्यक्ति ही नहीं हो रही है, अपितु उनका विशदीकरण भी हो रहा है । भाषाकी दृष्टिसे भी अनुवाद उत्तमकोटिका है । मार्मिक स्थलोंकी व्याख्या टिप्पणी आदि के द्वारा प्रस्तुत अनुवादकी उपयोगिता और उपादेयता और भी अधिक बढ गई है । गीता शास्त्रके गूढातिगूढ भावोंको राष्ट्रभाषाके द्वारा सर्वसाधारणके समक्ष प्रस्तुत कर अनुवादकने विशिष्ट सेवाकी है उसके लिये वह देश भर की बधाईका पात्र है । अनुवादकने अमूल्य ज्ञान राशियोंसे राष्ट्रभाषाके भण्डारको भरकर विद्वत्समाजके लिये एक प्रशस्त मार्ग खोल दिया है । यदि इस प्रकारके और भी अनुवाद निकलें तो इस देश तथा राष्ट्रभाषाका महान् कल्याण होगा ।

कुवेर नाथ शुक्ल
एम० ए० व्याकरणाचार्य
रजिस्ट्रार
गवर्नमेंट संस्कृत कालेज परीक्षाएं
युक्तप्रांत बनारस



ॐ

❀ श्रीगणेशाय नमः ❀

श्रीमद्भगवद्गीता

[सानुवादमधुसूदनीव्याख्यासहिता]



प्रथम अध्याय

ॐनमः परमहंसास्वादितचरणकमलचिन्मकरन्दाय भक्तजनमानसनिवासाय श्रीमद्रामचन्द्राय ।

आत्मेप्सितार्थसिद्ध्यर्थं संस्तुतो यः सुरादिभिः ।
अविघ्नं ग्रन्थसंपूर्त्यै तं नमामि गजाननम् ॥ १ ॥
षडाननेन प्रथमं निपीतं स्तनद्वयं सस्मितमम्बिकायाः ।
प्रक्षाल्य शुण्डप्रसृतोदकेन पिबन् गणेशो दयतां कृतेर्नः ॥२॥
नमो महाजगज्जालतन्तवेऽखिलजायवे ।
लोकत्रयीत्रयीधर्मसेतवे वृषकेतवे ॥ ३ ॥
नन्नमीमि सदानन्दं शिवमद्वैतमव्ययम् ।
अशेषक्लेशविश्लेषाकूपैककरुणाकरम् ॥ ४ ॥
लोकं पिपालयिषुरेव विषं निपीय
तत्कीलजालमिलनस्फुटकण्ठकालः ।
यः प्राक्षिपद् भुवनभङ्गभयान्न धीरः
तं चन्द्रचूडमनिशं हृदि चिन्तयामि ॥ ५ ॥
श्रीमद्गोपाङ्गनापाङ्गतरङ्गायितमानसम् ।
नमामि जङ्गमानन्दं निर्भरं नन्दनन्दनम् ॥ ६ ॥
वन्दे वेदान्तसिद्धान्तं निर्भेदानन्दमद्वयम् ।
मुकुन्दमरविन्दाक्षं गीतागीतार्थसंविदे ॥ ७ ॥

ब्रह्मोपेन्द्रमहेन्द्रवन्दितपदद्वन्द्वारविन्दं मुदे
दृप्यद्दर्मददैत्यदर्पदलनप्रोद्दामदण्डोदयम् ।
दैन्यद्राविदयोपदेशशमितद्वैतादरोपद्रवम्
सत्यानन्दघनामलेन्दुवदनं वन्देऽतिनीलं महः ॥८॥
गीतोपदेशैरपनीय मोहं सुप्राजिताजौ स्वयमेव भूत्वा।
जयश्रिया जिष्णुमयूयुजद् यः स वासुदेवः शरणं ममास्तु॥९॥
मधुसूदनवाग्भावं व्याचिकीर्षोर्ममान्तरम् ।
प्रकाश्यतां त्वया मातः सरस्वति नमोऽस्तु ते ॥ १० ॥
श्रीमद्रामनिरञ्जनस्य तनयो धर्माध्वनीनाग्रणीः
छोटेलालमुरारकेत्यभिहितिः लोकोपकारव्रती ।
प्रारब्धस्थगितं प्रकाशनमिति श्रुत्वादिशद् योऽस्य माम्
एतत्कारयितुं स मे प्रभुवरो जीव्यात्समानां शतम्॥ ११ ॥
पूर्वं व्याख्याकृतावासीत् प्रतिबन्धो महान् मम ।
तेनातुष्यन् वासुदेवो व्यवधीदिति मे मतिः ॥ १२ ॥

अबन्धसुव्याहृतये मानसः स्वामिनो मम ।
भूत्वा मां प्रैरिरत्सोऽत्र सत्यमेतन्न संशयः ॥ १३ ॥
ज्ञात्वाऽवज्ञानमज्ञानैः स्थगितादिच्छलैः परैः ।
कृतं मिमृत्तया तस्य प्रभुणाऽत्र नियोजितः ॥ १४ ॥
स्वतन्त्रोऽनुवदिष्यामि क्वचिद् ग्रन्थस्थदूषणम् ।
सत्यार्थनिर्णयो यत्र न विना तेन संभवेत् ॥ १५ ॥
क्वचिद्भाष्यप्रतीपार्थं स्वयमाह सरस्वती ।
न तेनाऽपचिता भक्तिः तस्य तत्र मनागपि ॥ १६ ॥
अन्धभक्तिर्न भव्याय न मह्यं रोचतेऽपि सा ।
असंस्कृतातिभिदुरं हृदयं हर्षयेदियम् ॥ १७ ॥
नोपेक्ष्ये नोपहस्ये वा न विगीये न नाद्रिये ।
जनैः सुमार्गे सुचलन् प्रत्यवैमीति का कथा ॥ १८ ॥
पदवाक्यप्रभेदादिप्रविवेकपराङ्मुखः ।
मूलप्रतीपं प्रत्येति पङ्क्तेरर्थं प्रतिष्ठितम् ॥ १९ ॥
पौरुषेयप्रमादादिसमुत्पादे न विस्मयः ।
सुविस्मयो विवेकेऽपि जाते तत्र दुराग्रहः ॥ २० ॥

भगवत्पादभाष्यार्थमालोच्याऽतिप्रयत्नतः ।
प्रायः प्रत्यक्षरं कुर्वे गीतागूढार्थदीपिकाम् ॥ १ ॥

कृतायाः परिभूतेस्तैर्विप्रस्य वादतः फलम् ।
शास्त्रोक्तं* छद्मजायास्तु न जाने कस्य किं भवेत् ॥ २१ ॥

श्रीमत्-शङ्करभगवत्पादप्रणीत भाष्यका सपरिश्रम अवलोकन कर प्रायः प्रत्येक अक्षरकी गूढार्थदीपिकानामक व्याख्या करता हूँ। यद्यपि उक्त भाष्यकी अनेक महापुरुषरचित टीकाएँ हैं, जिनसे भाष्यार्थके अवबोधमें प्रचुर सहायता मिलती है, तथापि मेरा श्रम व्यर्थ नहीं जायगा, कारण कि अन्य टीकाओंमें गूढार्थक शब्दोंकी व्याख्या नहीं है, जिसकी कि अत्यन्त आवश्यकता है। यथार्थ वाक्यार्थके निर्णयमें गूढार्थक पदोंके अर्थज्ञानसे बड़ी सहायता मिलती है, अन्यथा वाक्यार्थतात्पर्य-निर्णय नहीं होता। समीचीन शाब्दबोधमें तात्पर्यनिर्णय कारण है। अध्यात्म गीताशास्त्रका अर्थ स्वस्वसंप्रदायानुसार बहुविध देखा जाता है। इससे शुश्रूषु जनोंको संशय होता है कि भगवान्का तात्पर्य किस अर्थमें है? परस्पर विरुद्ध अर्थ तो विवक्षित हो नहीं सकते। समीचीन उपायके ज्ञानसे ही उपेयकी प्राप्ति हो सकती है, अन्यथा नहीं, इसलिए गूढार्थक शब्दोंकी व्याख्या द्वारा यह निर्णय सुकर होगा कि इस वाक्यका यही अर्थ है, अतः उनके निरूपणके लिए इस व्याख्याकी आवश्यकता है। यद्यपि पदघटक प्रत्येक अक्षर स्वतन्त्र अर्थ-बोधक नहीं होते, किन्तु अक्षरसमुदायात्मक पद ही अर्थबोधक होते हैं, अतः प्रत्यक्षरव्याख्याकी प्रतिज्ञा उचित नहीं है, तथापि प्रत्यक्षरका अभिप्राय लक्षणया अक्षरसमुदायात्मक पदमें है।

शङ्का—तो प्रतिपद क्यों नहीं कहा?

समाधान—लक्षणया अभिधानमें प्रयोजन ध्वनित होता है। प्रायः टीकाकार सरल शब्दोंकी विशद व्याख्या करते हैं, क्लिष्ट शब्दोंका त्याग कर देते हैं। मेरी व्याख्यामें ऐसा नहीं है। गूढार्थकोंका विशेष-रूपसे निरूपण है। तात्पर्य यह है कि एक अक्षर भी अव्याख्यात नहीं है, पदके अव्याख्यानकी तो संभावना ही कहाँ? अथवा एकाक्षरात्मक भी पद हैं, जैसे—तु, च, वा प्रभृति। ये पादपूरणार्थ भी होते हैं, इस भ्रमसे कुछ लोग इनकी उपेक्षा कर देते हैं, परन्तु भगवद्वाक्यमें केवल पादपूरणार्थक ही सर्वत्र उक्त शब्द नहीं हैं, किन्तु

* देखिये—याज्ञवल्क्य स्मृति (३।२९१)

विशिष्ट अर्थका बोध करानेकी इच्छासे प्रयुक्त हैं। यह आगे स्पष्ट होगा। उनके निरूपणके संग्रहार्थ प्रत्यक्षरपदोपादान है। किञ्च, पदघटक प्रकृति, प्रत्यय आदि भी अर्थविशेषके बोधक होते हैं, जिनके अर्थविशेष अन्य टीकाओंमें व्यक्त नहीं किये गये हैं, यहाँ वे भी व्यक्त किये गये हैं। इसलिए प्रत्यक्षरव्याख्यान कहा गया है। 'तं तथा कृपयाविष्टम्'·····'विषीदन्तमिदं वचः' इस श्लोककी व्याख्यामें 'कृपामें कर्तृत्व-निर्देशसे स्वाभाविकत्वका प्रदर्शन किया है और 'विषीदन्तं विषादं प्राप्नुवन्तम्' यह व्युत्पत्ति बतलाकर उसमें पराधीनत्वका प्रदर्शन किया है' इत्यादि, जो आगे व्यक्त होंगे, अतः प्रत्यक्षरपदका उपादान अर्थविशेषके बोधनके लिए आवश्यक है। जो अति-स्पष्टार्थक शब्द हैं, वे उच्चारित होते ही स्वार्थको अभिव्यक्त कर देते हैं, उनके व्याख्यानकी श्रोताको जिज्ञासा नहीं होती। जिज्ञासा संदिग्ध अर्थमें होती है, उसकी निवृत्ति एकतरार्थनिर्णयसे होती है, अतः उसके निर्णयके लिए व्याख्यान अपेक्षित होता है। केवल प्रतिज्ञामात्रके निर्वाहके लिए यदि अजिज्ञासित अर्थका भी व्याख्यान किया जाय, तो अजिज्ञासिताभिधान दोष होगा, जिससे श्रोताओंकी ग्रन्थश्रवणमें ही अनिच्छा होगी, उक्त दोषकी अपेक्षासे यह दोष कम नहीं है, क्योंकि ग्रन्थप्रयोजन ही नष्ट हो जायगा, अतः श्रोताओंके ऊपर अनुग्रह करनेके लिए अजिज्ञासित पदकी व्याख्या न की जाय, तो भी प्रतिज्ञाका भङ्ग न हो, इसलिए 'प्रायः' पदका प्रयोग किया गया है। श्रोताओंकी सोत्साह प्रवृत्तिके लिए ग्रन्थके आरम्भमें अभिधेय, प्रयोजन, संबन्ध और अधिकारीरूप चार अनुबन्धोंका निर्देश करना आवश्यक होता है, अन्यथा अनावश्यक उपेक्षाबुद्धिसे श्रवण आदिमें साभिनिवेश विनेयप्रवृत्ति (शिष्यप्रवृत्ति) नहीं होगी, अधिकारिभेदसे प्रयोजन अनेकविध होते हैं, ग्रन्थप्रवृत्तिप्रयोजकज्ञानविषयत्वरूप अनुबन्धत्व चारों अनुबन्धोंका सामान्य लक्षण है। प्रयोजनका निर्देश होनेपर शेष स्वयं प्रतीत हो जाते हैं। प्रयोजन भी मुख्य और गौण भेदसे दो प्रकारके होते हैं, मुख्य प्रयोजन भाष्योक्त संसाररूप अनर्थकी निवृत्ति और नित्यसुखरूप मोक्षकी अभिव्यक्ति है। यह ग्रन्थ भाष्यार्थका निर्णायक होनेके कारण भाष्यका ही अङ्ग है, अतः मुख्य प्रयोजन तो है ही, साथ-साथ भाष्योक्त गूढार्थका निर्णय भी प्रयोजन है, उसका जिज्ञासु अधिकारी है, यह स्पष्ट सूचित होता है, अभिधेयका ग्रन्थके साथ प्रतिपाद्य-प्रतिपादकभाव सम्बन्ध है, प्रयोजनके साथ उपायोपेयभावादिसम्बन्ध भी सुस्पष्ट है ॥ १ ॥

सहेतुकस्य संसारस्याऽत्यन्तोपरमात्मकम् ।
परं निःश्रेयसं गीताशास्त्रस्योक्तं प्रयोजनम् ॥ २ ॥
सच्चिदानन्दरूपं तत् पूर्णं विष्णोः परं पदम् ।
यत्प्राप्तये समारब्धा वेदाः काण्डत्रयात्मकाः ॥ ३ ॥

शङ्का—गीताशास्त्रका प्रयोजन क्या है ?

समाधान—कारणके (अज्ञानके) साथ-साथ अनर्थमूल संसारकी आत्यन्तिक निवृत्तिरूप मोक्ष ।

शङ्का—दुःखनिवृत्तिके साधन तो आयुर्वेद आदि शास्त्र भी हैं, फिर उसके लिए गीताका क्या प्रयोजन है ?

समाधान—हाँ उक्त शास्त्र हैं, परन्तु वे दुःखनिवृत्तिके ही साधन हैं, आत्यन्तिक दुःखनिवृत्तिके साधन नहीं हैं ।

शङ्का—आत्यन्तिक दुःखनिवृत्ति क्या है ?

समाधान—निवृत्तस्य पुनरनुत्पादः । निवृत्ति दो प्रकारकी होती है—एक आत्यन्तिक और दूसरी अनात्यन्तिक। प्रथम जिसकी निवृत्ति हुई हो, उसकी पुनः देशान्तर, कालान्तर या अवस्थान्तरमें उत्पत्ति न हो वह है। जिसकी निवृत्ति एक बार हुई हो, परन्तु कालान्तरमें फिर उसकी उत्पत्ति हो, वह अनात्यन्तिक निवृत्ति है। आयुर्वेद आदि शास्त्र इसी निवृत्तिके कारण हैं और गीताशास्त्रज्ञान प्रथम (आत्यन्तिक) निवृत्तिका कारण है, इस भावको अभिव्यक्त करनेके लिए प्रकृतमें सहेतुकपदका उपादान है। श्लोकार्थ यह है कि सहेतुक (अविद्यारूप हेतुके साथ) संसारका अत्यन्त उपरमरूप परम पुरुषार्थ (मोक्ष) गीताशास्त्रका मुख्य प्रयोजन है ॥ २ ॥

सत् यानी कालत्रयाबाध्य चित्-प्रकाश, आनन्द यानी निरतिशय सुख। प्रकृत श्लोकमें पूर्णपदका तात्पर्य निरतिशयमें है, वैषयिक सुख विषयाधीन होनेसे विषयगत तारतम्यापेक्षया सातिशय और अनित्य है, आत्मा एकरस और नित्य है, अतः उसका स्वरूपभूत सुख निरतिशय तथा नित्य है, नित्यनिरतिशयानन्दात्मवस्तुरूप मोक्षकी प्राप्तिके लिए भक्ति, ज्ञान और उपासना-भेदसे काण्डत्रयात्मक वेदका ही आविर्भाव है। 'पदं व्यवसितत्राणस्थानलक्ष्माङ्घ्रिवस्तुषु' इस कोषके अनुसार यहाँ पदशब्द स्वरूपवाची है ? विष्णुशब्द आत्मवाची है। काल्पनिक भेद मानकर 'विष्णोः' यह षष्ठी है। 'सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम्' इस श्रुतिके अनुसार यहाँ भी षष्ठीका प्रयोग है। अथवा सालोक्य मुक्तिके

कर्मोपास्तिस्तथा ज्ञानमिति काण्डत्रयं क्रमात् ।
तद्रूपाष्टादशाध्यायैर्गीता काण्डत्रयात्मिका ॥ ४ ॥
एकमेकेन षट्केन काण्डमत्रोपलक्षयेत् ।
कर्मनिष्ठाज्ञाननिष्ठे कथिते प्रथमान्त्ययोः ॥ ५ ॥
यतः समुच्चयो नाऽस्ति तयोरतिविरोधतः ।
भगवद्भक्तिनिष्ठा तु मध्यमे परिकीर्तिता ॥ ६ ॥

तात्पर्यसे ब्रह्मलोकप्राप्ति मोक्ष है, जो वैष्णव आदि मतमें प्रसिद्ध है, जो मानिये, अभी इसका निर्णय नहीं किया जा रहा है, केवल निर्णय इस बातका है कि काण्डत्रयात्मक वेद मोक्षप्राप्तिके लिए है। मोक्षमें समस्त वेद प्रमाण है, इस कथनसे प्रयोजनमें अप्रामाण्यशङ्का निरस्त हुई, अप्रामाण्यशङ्काकी निवृत्तिका फल अध्यात्मतत्त्वका निरूपण करनेवाले गीताशास्त्रमें निश्शङ्क प्रवृत्ति है ॥ ३ ॥

क्रमशः कर्म, उपासना और ज्ञान—ये तीन काण्ड हैं, तीन काण्डरूप अठारह अध्यायोंसे यह गीता भी काण्डत्रयात्मक ही है। काण्डत्रयात्मक वेदमें अष्टादशाध्यायात्मक गीताका अन्तर्भाव इस प्रकार माना गया है—आदिसे छः अध्याय तक कर्मकाण्डमें, सातसे बारह अध्याय तक उपासनाकाण्डमें और तेरहसे अठारह अध्याय तक ज्ञानकाण्डमें गीता अन्तर्भूत होती है ॥ ४ ॥

उक्त अन्तर्भावके प्रकारको स्पष्ट करते हैं—'एकम्' इत्यादिसे।

पहलेके छः अध्यायोंसे अर्थात् वैदिक प्रथम काण्डसे कर्मनिष्ठा, तेरहवेंसे अठारहवें तक आखिरके छः अध्यायोंसे अर्थात् ज्ञानकाण्डात्मक वैदिक तृतीय काण्डसे ज्ञाननिष्ठा तथा सातवेंसे बारहवें तक बीचके छः अध्यायोंसे यानी वैदिक मध्यम उपासनाकाण्डसे भक्तिनिष्ठा कही गई है ॥ ५ ॥

इस विभागमें हेतु कहते हैं—'यतः' इत्यादिसे।

अत्यन्त विरोध होनेसे ज्ञान और कर्मका समुच्चय यानी एक आत्मामें एक कालमें कर्म और ज्ञान दोनोंका एक साथ सम्पादन नहीं हो सकता।

शङ्का—क्यों ?

समाधान—कर्मानुष्ठान साध्य, साधन, इतिकर्तव्यता आदि भेदसापेक्ष है, और श्रवण, मनन आदि समस्तभेदमिथ्यात्वबोधनपुरःसर आत्मैकत्वज्ञानके उपाय हैं। उन दोनों साधनोंमें अत्यन्त विरोधको बतलानेके लिए अव्यवहित पूर्वा-

उभयानुगता सा हि सर्वविघ्नापनोदिनी ।
कर्ममिश्रा च शुद्धा च ज्ञानमिश्रा च सा त्रिधा ॥ ७ ॥
तत्र तु प्रथमे काण्डे कर्म तत्त्यागवर्त्मना ।
त्वंपदार्थो विशुद्धात्मा सोपपत्तिर्निरूप्यते ॥ ८ ॥

परीभावसे भगवान्‌ने स्वयं ही उनका निर्देश नहीं किया, किन्तु मध्यम भक्तिकाण्डसे व्यवहित कर निर्देश किया है। भगवद्भक्तिनिष्ठाका कर्म और ज्ञान दोनोंमें से किसीसे भी विरोध नहीं है, इसीलिए इसका मध्यमें समावेश किया है ॥ ६ ॥

भक्तिका ज्ञान और कर्मसे केवल अविरोधमात्र ही नहीं है, किन्तु दोनोंके साथ अनुरोध भी है। सब कर्मोंमें अन्तराय होना स्वाभाविक है, अतएव सकल श्रौत और स्मार्त कर्मोंमें विघ्नोंका निवारण करनेके लिए विशेषका—गणपति आदिके मन्त्र, जप, पूजन आदिका—विधान है। ईश्वरप्रणिधानरूप मङ्गलसे विघ्नकी निवृत्ति होती है, यह सम्पूर्ण आस्तिक तन्त्रोंके सिद्धान्तोंसे सिद्ध है। भक्ति केवल कर्म और ज्ञानमें सहायक ही नहीं है, किन्तु स्वरूपसे भी उभयात्मक है। भक्ति तीन प्रकारकी होती है—कर्ममिश्रा, ज्ञानमिश्रा और शुद्धा। इसका विवेचन अन्यत्र स्पष्ट है। जिज्ञासुओंको वहीं देखना चाहिए ॥ ७ ॥

तीनों काण्डोंकी परस्पर संगति कहते हैं—'तत्र' इत्यादिसे।

प्रथम काण्डमें कर्म और उसके त्याग द्वारा त्वंपदार्थ जीवात्माका निरूपण किया गया है। जीव और ब्रह्मके अभेदका ही गीता द्वारा भगवान्‌को प्रतिपादन करना अभीष्ट है, दोनोंका अभेदबोध दोनोंके स्वरूपज्ञानके अधीन है, दोनोंका वास्तविक स्वरूपनिर्णय प्रत्यक्षादि प्रमाणसे नहीं हो सकता। आगम द्वारा भी उनके स्वरूपके निर्णयमें कठिनाई है, कारण कि शास्त्रकारोंकी भी युक्त्याभास, वाक्याभास द्वारा अनेक विप्रतिपत्तियाँ हैं, अतः तत् और त्वं पदार्थके शोधक वाक्य द्वारा युक्तिके साथ त्वं पदार्थ विशुद्ध आत्मा है, इसका निरूपण किया गया है, ज्ञानादिगुणक आत्मा है, यह द्वैतवादियोंका मत है, आत्मा शुद्ध चैतन्यमात्रस्वरूप है, यह सांख्ययोग—अद्वैतवेदान्तवादियोंका—मत है। गीता द्वारा परिशोधित त्वं आत्मपदार्थ है, आत्माका स्वरूप क्या है, यही विशेष द्रष्टव्य है। यद्यपि गीतावाक्योंका अर्थ स्वस्वसम्प्रदायानुसार सकल साम्प्रदायिकोंने किया है, तथापि निष्पक्ष विचार करनेपर वास्तविक भगवदभिप्रेतार्थका निर्णय छिप नहीं सकता ॥ ८ ॥

द्वितीये भगवद्भक्तिनिष्ठावर्णनवर्त्मना ।
भगवान्परमानन्दस्तत्पदार्थोऽवधार्यते ॥ ९ ॥
तृतीये तु तयोरैक्यं वाक्यार्थो वर्ण्यते स्फुटम् ।
एवमप्यत्र काण्डानां सम्बन्धोऽस्ति परस्परम् ॥ १० ॥
प्रत्यध्यायं विशेषस्तु तत्र तत्रैव वक्ष्यते ।
मुक्तिसाधनपर्वेदं शास्त्रार्थत्वेन कथ्यते ॥ ११ ॥
निष्कामकर्मानुष्ठानं त्यागात्काम्यनिषिद्धयोः ।
तत्राऽपि परमो धर्मो जपस्तुत्यादिकं हरेः ॥ १२ ॥

द्वितीय काण्डमें भगवद्भक्तिनिष्ठाके वर्णन द्वारा परमानन्दस्वरूप भगवान् तत्पदार्थ हैं, यही निश्चय किया गया है ॥ ९ ॥

तृतीय काण्डमें तत्त्वका यानी जीव और ब्रह्मके ऐक्यका ही, जो 'तत्त्वमसि' इस श्रौत वाक्यका वाक्यार्थ है, स्फुट निर्णय किया गया है। इस तरहसे भी तीनों काण्डोंकी परस्पर संगति है। वाक्यार्थज्ञानमें पदार्थज्ञान कारण है, यह सबका सिद्धान्त है। तृतीय काण्डमें 'तत्त्वमसि' इस महावाक्यका अर्थ निरूपित है। यद्यपि वाक्यमें तत्पद पूर्वमें है और त्वंपद तदनन्तर है, जिस क्रमसे पदश्रुति होती है, उसी क्रमसे पदार्थजिज्ञासा होती है, तदनुसार ही पदार्थनिरूपण होना चाहिए, यह क्रम औत्सर्गिक है, तथापि त्वंपदार्थके निरूपणके बिना तत्पदार्थका निरूपण अति दुर्बोध है, इसलिए बोधक्रमानुसारसे बोधके सौकर्यके लिए पूर्वमें त्वंपदार्थका निरूपण किया गया है, उद्देश्यक्रमानुसार उक्त वाक्य है। विशेष आगे कहेंगे ॥ १० ॥

प्रत्येक अध्यायकी सङ्गति तत्-तत् अध्यायकी व्याख्या करते समय ही कहेंगे। उचित भी यही है, क्योंकि वहींपर यह जिज्ञासा होगी कि इस अध्यायार्थके निरूपणके अनन्तर इस अध्यायार्थके निरूपणमें क्या संगति है ? विद्वानोंका निरूपण जिज्ञासानुसार ही होता है। उत्थाप्यजिज्ञासापेक्ष भाषणकी अपेक्षा उत्थितजिज्ञासापेक्ष भाषण अधिक प्रिय होता है। यह शास्त्रार्थरूपसे मुक्तिसाधन पर्व कहा जाता है। पर्व (पोर) यानी ग्रन्थिविशेष है। जैसे 'पञ्चपर्वा अविद्या' कही गई है, वैसे ही प्रत्येक अध्याय मुक्तिसाधन सम्पूर्ण गीताके पर्व हैं ॥ ११ ॥

क्षीणपापस्य चित्तस्य विवेके योग्यता यदा।
नित्यानित्यविवेकस्तु जायते सुदृढस्तदा ॥ १३ ॥
इहामुत्रार्थवैराग्यं वशीकाराभिधं क्रमात्।
ततः शमादिसम्पत्त्या संन्यासो निष्ठितो भवेत् ॥ १४ ॥

शङ्का—कर्मानुष्ठानके फल पुत्र, पशु, स्वर्ग आदि हैं, तत्-तत् कर्मविधायक वाक्योंमें विशिष्य तत्-तत् फलका निर्देश स्फुट है, अतः आत्मज्ञान कर्मफल कैसे होगा ?

समाधान—ठीक है, कर्मफलके उद्देश्यसे तत्कृत कर्मोंका तद्वाक्योक्त फल ही फल है, परन्तु निष्कामबुद्धिसे जो कर्म किये जाते हैं, उनका फल मनकी शुद्धि द्वारा आत्मज्ञान ही है।

शङ्का—काम्यकर्मानुष्ठानसे ही धर्म होता है, नित्यनैमित्तिकोंका फल केवल प्रत्यवायनिवृत्तिमात्र है। नित्यादि कर्म अभ्युदयादिसाधन नहीं है, अतएव उसको पण्डापूर्वजनक कहते हैं।

समाधान—काम्य और निषिद्ध कर्मका त्याग कर नित्यकर्मानुष्ठानसे भी धर्म होता है, क्योंकि उसमें भी भगवत्प्रसादहेतु जप, स्तुति आदि कर्म हैं ही, 'यत्त्वत्प्रियं तदिह पुण्यमपुण्यमन्यत्' इस वचनके अनुसार भगवत्प्रीति ही पुण्य है। नित्यकर्ममें जप, स्तुति आदि हैं ही। अथवा काम्य और निषिद्ध फलोंका त्याग कर उन कर्मानुष्ठानोंसे भी पुण्य ही होता है, अतएव निष्कामपद भी सार्थक होता है। काम्यफलसाधन कर्म काम्य और निषिद्धफलसाधन कर्म निषिद्ध कहलाता है। काम्य और निषिद्ध फलोंका त्याग करनेपर तद्रूपेण त्याग भी हो जाता है और निष्कामत्वरूपसे उसके अनुष्ठानसे धर्म होता है, अतएव 'यज्ञेन दानेन' इत्यादि श्रुति 'सर्वापेक्षा च यज्ञादि-श्रुतेरश्ववत्' इत्यादि सूत्र भी संगत होते हैं। सारांश यह है कि कामनाशून्य नित्य, नैमित्तिक और काम्य—इन सकल कर्मोंके अनुष्ठानसे धर्म होता है, धर्मसे अधर्म-निवृत्ति होती है, उसके बाद मनःशुद्धि और उसके बाद ज्ञानोत्पत्ति, 'ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात्पापस्य कर्मणः' इत्यादि वचन भी इसमें प्रमाण हैं ॥ १२ ॥

जब चित्त निष्पाप हो जाता है, तब उसमें विवेकज्ञानोत्पत्तियोग्यता उत्पन्न होती है, तभी नित्यानित्यवस्तुविवेक सुदृढ़ होता है ॥ १३ ॥

ऐहिक (सांसारिक) सुख तथा पारलौकिक (स्वर्गादि) सुखसे वैराग्य होता है। योगशास्त्रमें इसीका 'वशीकार' नामसे व्यवहार होता है। तदनन्तर शम, आदि साधन-संपत्तिसे संन्यासमें पुरुष परिनिष्ठित होता है यानी संन्यास दृढ़ होता है। फल और उसके साधनोंका परित्याग संन्यास कहलाता है ॥ १४ ॥

एवं सर्वपरित्यागान्मुमुक्षा जायते दृढा ।
ततो गुरूपसदनमुपदेशग्रहस्ततः ॥ १५ ॥
ततः सन्देहहानाय वेदान्तश्रवणादिकम् ।
सर्वमुत्तरमीमांसाशास्त्रमत्रोपयुज्यते ॥ १६ ॥
ततस्तत्परिपाकेण निदिध्यासननिष्ठता ।
योगशास्त्रं तु सम्पूर्णमुपक्षीणं भवेदिह ॥ १७ ॥
क्षीणदोषे ततश्चित्ते वाक्यात् तत्त्वमतिर्भवेत् ।
साक्षात्कारो निर्विकल्पः शब्दादेवोपजायते ॥ १८ ॥
अविद्याविनिवृत्तिस्तु तत्त्वज्ञानोदये भवेत् ।
तत आवरणे क्षीणे क्षीयेते भ्रमसंशयौ ॥ १९ ॥

इस प्रकार सर्वपरित्यागसे दृढ़ मुमुक्षा यानी संसाररूप बन्धनसे मुक्ति पानेकी प्रबल इच्छा होती है, उसके बाद गुरुके समीप जाता है और तदनन्तर उनसे आत्मोपदेशका ग्रहण करता है। तदनन्तर सन्देहनिवृत्तिके लिए वेदान्तका (उपनिषद्वाक्योंका) श्रवण करता है। सम्पूर्ण उत्तरमीमांसाशास्त्र सन्देहनिवृत्तिमें ही उपयुक्त होता है। सन्दिग्ध अर्थका निर्णय विचारशास्त्रके (मीमांसाशास्त्रके) बिना नहीं हो सकता, इसलिए विचारशास्त्र आवश्यक है ॥ १५,१६ ॥

तदनन्तर विचारके परिपाकसे निदिध्यासनपरायणता होती है, निदिध्यासनमें यानी ध्यानमें संपूर्ण योगशास्त्र गतार्थ हो जाता है। योगशास्त्रोक्त मार्गसे प्रत्ययैकतानतारूप (ध्येयाकार अन्तःकरणवृत्तिका निरन्तर प्रवाहरूप) ध्यान होता है। निरन्तर ब्रह्मके ध्यानके लिए योगकी अपेक्षा होती है ॥ १७ ॥

तदनन्तर चित्तके दोष निवृत्त हो जाते हैं। चित्तके निर्दुष्ट होनेपर 'तत्त्वमसि' वाक्यसे जीवब्रह्मैक्यविषयक तत्त्वज्ञान होता है, यह साक्षात्कारात्मक निर्विकल्पक तत्त्वज्ञान शब्दसे ही होता है ॥ १८ ॥

तत्त्वज्ञानका उदय होनेपर अविद्याकी निवृत्ति होती है, अविद्या ही आत्माकी आवरक यानी तिरोधायक है, आवरकके नष्ट होनेपर भ्रम एवं संशय भी निवृत्त हो जाते हैं ॥ १९ ॥

अनारब्धानि कर्माणि नश्यन्त्येव समन्ततः ।
न चाऽऽगामीनि जायन्ते तत्त्वज्ञानप्रभावतः ॥ २० ॥
प्रारब्धकर्मविक्षेपाद् वासना तु न नश्यति ।
सा सर्वतो बलवता संयमेनोपशाम्यति ॥ २१ ॥
संयमो धारणा ध्यानं समाधिरिति यत्त्रिकम् ।
यमादिपञ्चकं पूर्वं तदर्थमुपयुज्यते ॥ २२ ॥
ईश्वरप्रणिधानात्तु समाधिः सिध्यति द्रुतम् ।
ततो भवेन्मनोनाशो वासनाक्षय एव च ॥ २३ ॥

कर्म तीन प्रकारके होते हैं—प्रारब्ध, सञ्चित और क्रियमाण। प्रकृत श्लोकमें अनारब्धपदसे संचित कर्म विवक्षित हैं, वे तत्त्वज्ञानसे सर्वथा नष्ट हो जाते हैं। आगामी यानी क्रियमाण कर्मोंकी उत्पत्ति ही नहीं होती। मिथ्याज्ञानरूपी सलिलसे सिक्त चित्तरूपा भूमिमें कर्म अङ्कुरके आरम्भक होते हैं, तत्त्वज्ञानरूपी ग्रीष्मकालीन सूर्यकिरणोंसे संतप्त चित्तरूप भूमिमें पतित कर्म भ्राष्ट्रपतित (भाड़में गिरे हुए) बीजोंके समान अङ्कुरके उत्पादनमें असमर्थ हो जाते हैं, वे नहींके समान हो जाते हैं ॥ २० ॥

अविद्या नष्ट होनेपर भी प्रारब्धकर्मोंकी विक्षेपशक्तिसे उसकी वासना अवशिष्ट रहती है, उसका नाश नहीं होता। बलवान् संयमसे ही उसकी निवृत्ति होती है ॥ २१ ॥

यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि—ये आठ योगके अङ्ग हैं। इनमें धारणा, ध्यान और समाधि—ये तीन संयम कहलाते हैं, क्योंकि 'त्रयमेकत्र संयमः' (एक वस्तुमें किये गये ये तीन यानी धारणा, ध्यान और समाधि संयम कहलाते हैं) यों योगसूत्र है। यम आदि पाँच संयमार्थ हैं 'त्रयमन्तरङ्गं पूर्वेभ्यः' (पूर्वोक्त यम आदि पाँचकी अपेक्षा धारणा आदि तीन संप्रज्ञात समाधिके अन्तरङ्ग साधन हैं) इस योगसूत्रके अनुसार संयम मुख्य है और यम आदि पाँच परार्थ होनेसे गौण हैं ॥ २२ ॥

ईश्वरप्रणिधानसे समाधि शीघ्र सिद्ध होती है, इसीसे मन और वासनाका नाश होता है ॥ २३ ॥

तत्त्वज्ञानं मनोनाशो वासनाक्षय इत्यपि ।
युगपत्त्रितयाभ्यासात् जीवन्मुक्तिर्दृढा भवेत् ॥ २४ ॥
विद्वत्संन्यासकथनमेतदर्थं श्रुतौ कृतम् ।
प्रागसिद्धो य एवांऽशो यत्नः स्यात्तस्य साधने ॥ २५ ॥
निरुद्धे चेतसि पुरा सविकल्पसमाधिना ।
निर्विकल्पसमाधिस्तु भवेदत्र त्रिभूमिकः ॥ २६ ॥
व्युत्तिष्ठते स्वतस्त्वाद्ये द्वितीये परबोधितः ।
अन्ते व्युत्तिष्ठते नैव सदा भवति तन्मयः ॥ २७ ॥
एवंभूतो ब्राह्मणः स्याद्वरिष्ठो ब्रह्मवादिनाम् ।
गुणातीतः स्थितप्रज्ञो विष्णुभक्तश्च कथ्यते ॥ २८ ॥
अतिवर्णाश्रमी जीवन्मुक्त आत्मरतिस्तथा ।
एतस्य कृतकृत्यत्वाच्छास्त्रमस्मान्निवर्तते ॥ २९ ॥
यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ॥ ३० ॥

तत्त्वज्ञान, मनका नाश और वासनाका क्षय—इन तीनोंका एक कालमें अभ्यास करनेसे जीवन्मुक्ति दृढ़ होती है। इसीके लिए श्रुतिमें विद्वत्संन्यास कहा गया है, जो अंश पूर्वमें असिद्ध हो, उसीके साधनके लिए यत्न करना चाहिए। सविकल्पक समाधिसे प्रथम चित्तके निरुद्ध होनेपर त्रिभूमिक निर्विकल्पक समाधि होती है ॥ २४–२६ ॥

प्रथम भूमि वह है, जिसमें निरुद्ध चित्त स्वतः व्युत्थित होता है, द्वितीय भूमि वह है, जिसमें चित्त स्वतः व्युत्थित नहीं होता, किन्तु अन्यके उद्बोधनसे व्युत्थित होता है और जिसमें सदा चित्त तन्मय रहे, किसी प्रकारसे व्युत्थित न हो, वह तृतीय भूमि है ॥ २७ ॥

उस प्रकारकी समाधिमें स्थित ब्राह्मण ब्रह्मवादियोंमें श्रेष्ठ, गुणातीत, स्थितप्रज्ञ और विष्णुभक्त कहलाता है, वर्ण और आश्रमधर्मोंके बन्धनसे उन्मुक्त, जीवन्मुक्त और आत्मरति होता है, कृतकृत्य होनेके कारण उस पुरुषरत्नसे शास्त्र निवृत्त हो जाता है अर्थात् शास्त्रीय विधिनिषेधका विषय वह नहीं रहता ॥ २८,२९ ॥

इत्यादिश्रुतिमानेन कायेन मनसा गिरा।
सर्वावस्थासु भगवद्भक्तिरत्रोपयुज्यते ॥ ३१ ॥
पूर्वभूमौ कृता भक्तिरुत्तरां भूमिमानयेत्।
अन्यथा विघ्नबाहुल्यात् फलसिद्धिः सुदुर्लभा ॥ ३२ ॥
पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः।
अनेकजन्मसंसिद्ध इत्यादि च वचो हरेः ॥ ३३ ॥
यदि प्राग्भवसंस्कारस्याऽचिन्त्यत्वात्तु कश्चन।
प्रागेव कृतकृत्यः स्यादाकाशफलपातवत् ॥ ३४ ॥

जिसकी देवतामें परा (उत्कृष्ट) भक्ति हो, जैसी देवतामें वैसी ही गुरुदेवमें हो, उसी महात्माके अध्यात्मशास्त्रोक्त ये अर्थ हृदयङ्गम होते हैं ॥ ३० ॥

उक्त श्रुति आदि वाक्यप्रमाणसे यह सिद्ध होता है कि सब अवस्थाओंमें शरीर, मन और वाणीसे भगवद्भक्ति ही इसमें अत्यन्त उपयोगी है ॥ ३१ ॥

पूर्वभूमिमें कृत भक्ति पुरुषको उत्तर भूमिमें ले जाती है, ऐसा न करनेपर विघ्नोंकी अधिकतासे फलसिद्धि (तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति) अत्यन्त दुर्लभ है ॥ ३२ ॥

योगी आत्मज्ञानमें यत्नशील यानी बाह्य विषयोंसे पराङ्मुख होनेपर भी पूर्वजन्मके विषयाभ्याससे जनित वासनावश पुनः विषयप्रवाहमें आकृष्ट हो जाता है। अतएव भगवान्‌ने स्वयं सावधान किया है कि 'अनेक जन्मोंमें संसिद्ध होनेपर गतिको प्राप्त करता है'। अनेक जन्मोंकी हेतु पूर्ववासना ही है, उसके परिहारके लिए भगवद्भक्ति आवश्यक है। पूर्व जन्मका संस्कार अचिन्त्य होता है, अतः शुक, वामदेव आदिके समान यदि कोई पुरुषधौरेय पूर्वजन्मके संस्कारसे ही कृतकृत्य हो चुका हो, तो उसके प्रति निष्काम कर्मानुष्ठान आदिकी आवश्यकता नहीं है, इसमें दृष्टान्त है—आकाशफलपात। वृन्तमें (बौंडी जिसपर फल लटका रहता है) बँधे हुए फलको गिरानेके लिए दण्ड आदि व्यापारकी अपेक्षा होती है; जो फल परिपाकसे स्वयं शिथिलबन्ध हो चुका है, वह स्वयं आकाशसे भूमिमें गिरता है, उसके लिए अन्य व्यापारकी अपेक्षा नहीं होती, इसीके समान प्रकृतमें भी समझना चाहिए ॥ ३३, ३४ ॥

न तं प्रति कृतार्थत्वात् शास्त्रमारब्धुमिष्यते ।
प्राक्सिद्धसाधनाभ्यासाद् दुर्ज्ञेया भगवत्कृपा ॥ ३५ ॥
एवं प्राग्भूमिसिद्धावप्युत्तरोत्तरभूमये ।
विधेया भगवद्भक्तिस्तां विना सा न सिध्यति ॥ ३६ ॥
जीवन्मुक्तिदशायां तु न भक्तेः फलकल्पना ।
अद्वेष्टृत्वादिवत् तेषां स्वभावो भजनं हरेः ॥ ३७ ॥
आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे ।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः ॥ ३८ ॥
तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।
इत्यादिवचनात् प्रेमभक्तोऽयं मुख्य उच्यते ॥ ३९ ॥
एतत्सर्वं भगवता गीताशास्त्रे प्रकाशितम् ।
अतो व्याख्यातुमेतन्मे मन उत्सहते भृशम् ॥ ४० ॥

भगवत्कृपा जो अचिन्त्य है, पूर्व जन्ममें सिद्ध हुए साधनोंके अभ्याससे प्राप्त हो जाती है। अतः जो पूर्वजन्मसिद्ध साधनाभ्यास है अर्थात् जो जन्मकाल ही से विषयवैराग्य आदि साधनोंसे संपन्न अतएव कृतार्थ है, उसके प्रति शास्त्रका आरम्भ इष्ट नहीं है ॥ ३५ ॥

इस प्रकार पूर्व-पूर्व भूमिके सिद्ध होनेपर भी उत्तरोत्तर भूमिके लिए भगवद्भक्ति करनी चाहिए, क्योंकि उसके बिना कोई भूमि सिद्ध नहीं होती ॥ ३६ ॥

यद्यपि जीवन्मुक्तिदशामें अन्तरायकी आशङ्का नहीं है, अतएव भक्तिके फलकी कल्पना भी नहीं हो सकती, अन्य फलकी कल्पनामें प्रमाण नहीं है एवं प्राप्तकामको फलान्तरकी अभिलाषा भी नहीं होती है, तथापि द्वेषाभाववत् हरिभजन उनको स्वभावतः सिद्ध है, जो आत्माराम अतएव निर्ग्रन्थ मुनिगण हैं, वे त्रिविक्रममें अकारण भक्ति करते हैं, क्योंकि हरि भगवान्के गुण ही ऐसे हैं ॥ ३७,३८ ॥

अनेक भक्तोंमें नित्ययुक्त एकभक्ति ज्ञानी विशिष्ट है, इत्यर्थक भगवद्वाक्यसे जीवन्मुक्त ही मुख्य भगवान्का भक्त है, यह निर्विवाद सिद्ध होता है ॥ ३९ ॥

यह सब गीताशास्त्रमें भगवान्ने स्वयं प्रकाशित किया है, इसलिए गीताशास्त्रकी व्याख्या करनेमें मेरा मन अधिक उत्सुक होता है ॥ ४० ॥

निष्कामकर्मानुष्ठानं मूलं मोक्षस्य कीर्तितम् ।
शोकादिरासुरः पाप्मा तस्य च प्रतिबन्धकः ॥ ४१ ॥
यतः स्वधर्मविभ्रंशः प्रतिषिद्धस्य सेवनम् ।
फलाभिसन्धिपूर्वा वा साहङ्कारा क्रिया भवेत् ॥ ४२ ॥
आविष्टः पुरुषो नित्यमेवमासुरपाप्मभिः ।
पुमर्थलाभायोग्यः सह्लँभते दुःखसन्ततिम् ॥ ४३ ॥
दुःखं स्वभावतो द्वेष्यं सर्वेषां प्राणिनामिह ।
अतस्तत्साधनं त्याज्यं शोकमोहादिकं सदा ॥ ४४ ॥
अनादिभवसन्ताननिरूढं दुःखकारणम् ।
दुस्त्यजं शोकमोहादि केनोपायेन हीयताम् ॥ ४५ ॥
एवमाकाङ्क्षयाऽऽविष्टं पुरुषार्थोन्मुखं नरम् ।
बुबोधयिषुराहेदं भगवाञ्छास्त्रमुत्तमम् ॥ ४६ ॥

तत्र 'अशोच्यानन्वशोचस्त्वम्' इत्यादिना शोकमोहादिसर्वासुरपाप्मनिवृत्त्युपायोपदेशेन 'स्वधर्मानुष्ठानात् पुरुषार्थः प्राप्यताम्' इति भगवदुपदेशः

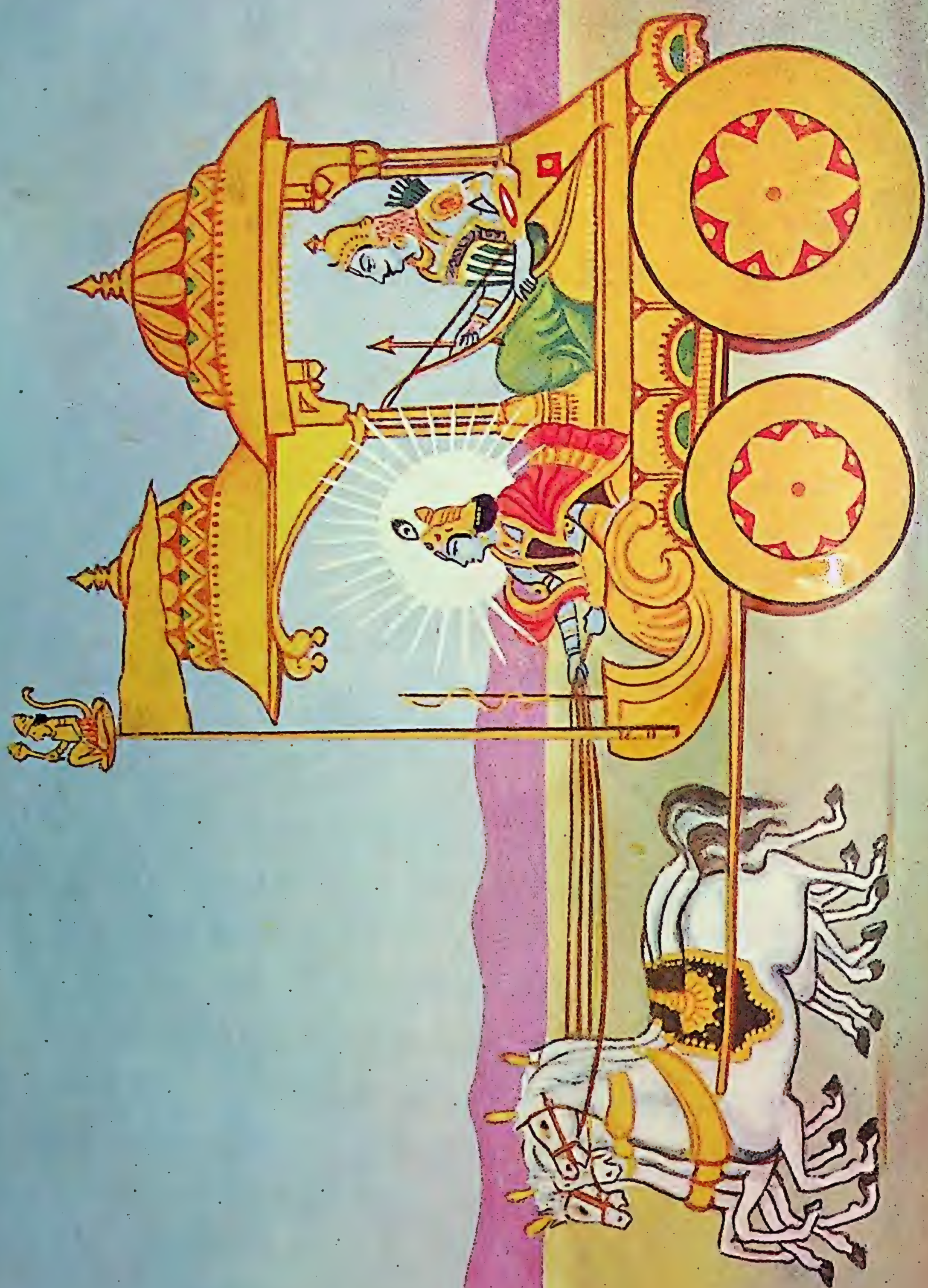
निष्काम कर्मोंका अनुष्ठान मोक्षका मूल कारण कहा गया है। शोक आदि आसुर पाप उसके प्रतिबन्धक हैं, क्योंकि पापोंसे स्वधर्मत्याग, प्रतिषिद्ध कर्मानुष्ठान, फलेच्छापूर्वक कर्मानुष्ठान, अहंभावपूर्वक कर्मानुष्ठान आदि होते हैं ॥ ४१, ४२ ॥

पापात्मक आसुर चित्तवृत्तियोंसे पुरुष सदा संयुक्त रहता है, अतएव परम पुरुषार्थ मोक्षलाभके अयोग्य होकर सदा दुःखोंकी परम्पराका ही लाभ करता है। दुःख स्वभावसे ही सब प्राणियोंको द्वेष्य होता है, अतः उसके साधन शोक, मोह आदिका सदा त्याग ही करना चाहिए, फिर भी अनादि संसारकी प्रवाह-परम्परामें निरूढ दुःखकारण शोक, मोह आदि दुस्त्यज हैं, अतः किस उपायसे उनका त्याग किया जाय, इस आकांक्षासे युक्त पुरुषार्थोन्मुख नरको समझानेके लिए भगवान् श्रीवासुदेवने इस उत्तम श्रीगीता-शास्त्रका उपदेश दिया है ॥ ४३–४६ ॥

श्रीमदानन्दकन्द भक्तवत्सल परमकरुणावरुणालय (दयाके सागर) परिपूर्णैश्वर्यादिशक्तिसम्पन्न अखिल जगत्के जन्म, पालन और संहाररूप लीला करनेवाले श्रीनन्दनन्दन भगवान्ने 'अशोच्यानन्वशोचस्त्वम्' इत्यादिसे—शोक, मोह आदि

सर्वसाधारणः । भगवदर्जुनसंवादरूपा चाऽऽख्यायिका विद्यास्तुत्यर्था जनकयाज्ञवल्क्यसंवादादिवदुपनिषत्सु । कथम् ? प्रसिद्धमहानुभावोऽप्यर्जुनो राज्यगुरुपुत्रमित्रादिषु 'अहमेषां ममैते' इत्येवम्प्रत्ययनिमित्तस्नेहनिमित्ताभ्यां शोकमोहाभ्यामभिभूतविवेकविज्ञानः स्वत एव क्षत्रधर्मे युद्धे प्रवृत्तोऽपि तस्माद्युद्धादुपरराम । परधर्मं च भिक्षाजीवनादि क्षत्रियं प्रति प्रतिषिद्धं कर्तुं प्रववृते । तथा च महत्यनर्थे मग्नोऽभूत् । भगवदुपदेशाच्चेमां विद्यां लब्ध्वा शोकमोहावपनीय पुनः स्वधर्मे प्रवृत्तः कृतकृत्यो बभूवेति प्रशस्ततरेयं महाप्रयोजना विद्येति स्तूयते । अर्जुनोपदेशेन चोपदेशाधिकारी दर्शितः । तथा च व्याख्यास्यते । स्वधर्मप्रवृत्तौ जातायामपि तत्प्रच्युतिहेतुभूतौ शोक-

सम्पूर्ण आसुर पापोंकी निवृत्तिके उपायोपदेश द्वारा 'अपने वर्ण, आश्रम और आचारके अनुरूप शास्त्रविहित और शास्त्रनिषिद्धके अनुष्ठान और परिवर्जन द्वारा लोक इष्टकी प्राप्ति और अनिष्टकी निवृत्ति करे' इस प्रकारका (अष्टादशाध्यायात्मक गीताशास्त्रका अधिकारी और साधनसम्पत्तिशील अर्जुनको लक्ष्य कर) सर्वसाधारणके लिए उपदेश दिया है । भगवान् और अर्जुनकी संवादरूपा यह कथा बृहदारण्यक उपनिषद्में स्थित श्रीयाज्ञवल्क्य और राजा जनकके संवादके समान स्तुत्यर्थ तथा सुखावबोधार्थ है । कैसे विद्या स्तुत्यर्थ है ? भगवान् नरके अवतार महाप्रभाव अर्जुन राज्य, गुरु, पिता, पुत्र आदिमें 'ये मेरे हैं, मैं इनका हूँ' इस प्रकारके मिथ्याज्ञाननिमित्त स्नेहसे जनित शोक और मोहवश विवेकज्ञानसे हाथ धोकर स्वधर्म युद्धमें स्वयं प्रवृत्त होकर भी उस युद्धसे पराङ्मुख हुए । यही केवल अनौचित्य नहीं है, किन्तु परधर्म भिक्षावृत्तिमें, जो ब्राह्मणोंके लिए शास्त्रोंमें विहित है और क्षत्रियोंके लिए निषिद्ध है, प्रवृत्त हुए । विहिताकरण और प्रतिषिद्धानुष्ठान—ये दो मोहके अनर्थ फल हैं । घोर अनर्थ देनेवाले गर्हित कर्ममें प्रवृत्त अर्जुन श्रीभगवान् द्वारा उपदिष्ट अध्यात्मविद्यामय गीतोपदेशका ग्रहण कर उसके द्वारा सकल अनर्थोंके मूलभूत शोक, मोह आदिके निर्वासनमें समर्थ होकर पुनः स्वधर्म युद्धके अनुष्ठानसे कृतकृत्य हुए । इससे अतिस्पष्ट है कि यह विद्या अधिक प्रयोजनवती है, यही स्तुति—उपादेयगुणगणाभिधान—है । [इतने शूरवीरोंमें अर्जुनको ही गीताका उपदेश दिया, धर्ममय युधिष्ठिरको नहीं, इससे 'धर्म आदिकी अपेक्षा भगवद्भक्ति ही



धृतराष्ट्र उवाच

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत संजय ॥१॥

धृतराष्ट्रने कहा—हे संजय, धर्मकी उत्पत्ति और वृद्धिके हेतुभूत कुरुक्षेत्रमें युद्धकी अभिलाषासे एकत्र हुए मेरे पुत्रों और पाण्डुके पुत्रोंने क्या किया ? ॥ १ ॥

मोहौ 'कथं भीष्ममहं संख्ये' इत्यादिनाऽर्जुनेन दर्शितौ। अर्जुनस्य युद्धाख्ये स्वधर्मे विनाऽपि विवेकं किन्निमित्ता प्रवृत्तिरिति 'दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकम्' इत्यादिना परसैन्यचेष्टितं तन्निमित्तमुक्तम्। तदुपोद्घातत्वेन धृतराष्ट्रप्रश्नः संजयं प्रति 'धर्मक्षेत्रे' इत्यादिना श्लोकेन। तत्र 'धृतराष्ट्र उवाच' इति वैशम्पायनवाक्यं जनमेजयं प्रति। पाण्डवानां जयकारणं बहुविधं पूर्वमाकर्ण्य स्वपुत्रराजभ्रंशाद्भीतो धृतराष्ट्रः पप्रच्छ स्वपुत्रजयकारणमाशंसन्—

गीताग्रहणमें अन्तरङ्ग साधन है' इसके बोधन द्वारा इस विद्याका अधिकारी सूचित किया। 'यमेवैष वृणुते' इस श्रुतिके अनुसार जिसको परमात्मा अपनाते हैं, वही इस विद्यामें सफल होता है।] युद्धमें प्रवृत्त अर्जुनकी उससे निवृत्तिका कारण शोक और मोह है, यह 'कथं भीष्ममहं संख्ये' इत्यादि अर्जुनवाक्यसे ही सिद्ध है।

प्रश्न—यदि अर्जुनको स्वधर्मका विवेक नहीं था, तो युद्धमें उनकी प्रवृत्ति ही कैसे हुई, क्योंकि इष्टसाधनताज्ञानके बिना प्रवृत्ति नहीं होती।

उत्तर—ठीक है, किन्तु इष्टसाधन विवेकात्मक ही प्रवर्तक है, यह कोई नियम नहीं है। प्रकृतमें परसैन्यकी चेष्टा ही प्रवर्तक हुई, जो 'दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकम्' इत्यादिसे आगे स्पष्ट है। इस प्रसंगसे सञ्जयके प्रति धृतराष्ट्रका 'धर्मक्षेत्रे' इत्यादि श्लोकसे प्रश्न है। यहाँपर 'धृतराष्ट्र उवाच' यह वाक्य वैशम्पायनका जनमेजयके प्रति है। 'ध्यायतो धृतराष्ट्रस्य सहसोपेत्य दुःखितः। आचष्ट निहतं भीष्मं भारतानां पितामहम्॥ संजयोऽहं महाराज नमस्ते भरतर्षभ। हतो भीष्मः शान्तनवो भारतानां पितामहः ॥ यो रथः समेतानां दशरात्रमनीकहा। जगामास्तमिवादित्यः कृत्वा कर्म सुदुष्करम् ॥ यः शक्र इवाक्षोभ्यो वर्षन् बाणान् सहस्रशः। जघान युधि योधानामर्बुदं दशभिर्दिनैः ॥ स शेते निहतो भूमौ वातरुग्ण इव द्रुमः' इत्यादिसे पाण्डवोंका अनेकविध जयकारण पूर्वमें सुनकर 'मेरे पुत्र दुर्योधन आदि राज्यसे च्युत हो जायँगे' इस चिन्ताके भयसे भीत धृतराष्ट्रने अपने पुत्रकी विजयकी आशासे पूछा—पूर्वमें युद्धके इच्छुक भी

पूर्वं युयुत्सवो योद्धुमिच्छवोऽपि सन्तः कुरुक्षेत्रे समवेताः सङ्गताः मामकाः मदीयाः दुर्योधनादयः पाण्डवाश्च युधिष्ठिरादयः किमकुर्वत किं कृतवन्तः किं पूर्वोद्भूतयुयुत्सानुसारेण युद्धमेव कृतवन्तः उत केनचिन्निमित्तेन युयुत्सानिवृत्त्याऽन्यदेव किञ्चित्कृतवन्तः, भीष्मार्जुनादिवीरपुरुषनिमित्तं दृष्टभयं युयुत्सानिवृत्तिकारणं प्रसिद्धमेव। अदृष्टभयमपि दर्शयितुमाह—धर्मक्षेत्र इति। धर्मस्य पूर्वमविद्यमानस्योत्पत्तेर्विद्यमानस्य च वृद्धेर्निमित्तं सस्यस्येव क्षेत्रं यत्कुरुक्षेत्रं सर्वश्रुतिस्मृतिप्रसिद्धम्। 'बृहस्पतिरुवाच याज्ञवल्क्यं यदनु कुरुक्षेत्रं देवानां देवयजनं सर्वेषां भूतानां ब्रह्मसदनम्' इति जाबालश्रुतेः, 'कुरुक्षेत्रं वै देवयजनम्' इति शतपथश्रुतेश्च। तस्मिन्गताः

कुरुक्षेत्रमें इकट्ठे हुये मेरे पुत्र दुर्योधन आदि तथा युधिष्ठिर आदि पाण्डवोंने क्या किया? पूर्वोत्पन्न युद्धेच्छानुसार युद्ध ही किया या किसी कारणवश युद्धसे निवृत्त होकर और ही कुछ किया? भीमार्जुनादि महावीरपुरुषदर्शननिमित्तक भय युद्धेच्छानिवृत्तिमें कारण सुस्पष्ट है। दृष्टादृष्टभेदसे कारण दो प्रकारके हैं। दोनों कारणोंके समुदायसे कार्य होता है, एक-एकसे नहीं। युद्धनिवृत्तिकारण उक्त पुरुषदर्शनसे समुत्पन्न भय दृष्ट कारण है। अदृष्ट भयकारण दिखलानेके लिए 'धर्मक्षेत्रे' यह कहा है। [धर्मक्षेत्रमें थोड़ा भी पाप गुरुतर होता है, पिता, पुत्र, आचार्यके वध आदि पापका तो प्रतीकार ही नहीं है; अतः दोनों पक्षोंको कुछ और ही करना पड़ा होगा। पहलेसे अविद्यमान धर्मकी उत्पत्ति, तथा विद्यमानकी वृद्धि आदिका हेतु होनेसे कुरुक्षेत्र धर्मक्षेत्र कहलाता है; जैसे कि सस्य आदिकी उत्पत्ति आदिकी हेतु होनेसे वह भूमि तत्क्षेत्र कहलाती है।

प्रश्न—कुरुक्षेत्र धर्मक्षेत्र है, इसमें क्या प्रमाण?

उत्तर—श्रुति और स्मृति प्रमाण है। देखिये—'बृहस्पतिरुवाच याज्ञवल्क्यं यदनु कुरुक्षेत्रं देवानां देवयजनं सर्वेषां भूतानां ब्रह्मसदनम्' यह जाबालश्रुति है और 'कुरुक्षेत्रं देवयजनम्' यह शतपथश्रुति है।

[शङ्का—कुरुक्षेत्र दो हैं—एक अविमुक्तापरपर्याय जो वेदमें प्रसिद्ध है, उसमें प्रमाण उक्त श्रुति है, क्योंकि ब्रह्मसदन विशेषणसे यहाँपर मरनेवालोंको ब्रह्मप्राप्ति होती है; अतएव 'अत्र हि जन्तोः प्राणेषु उत्क्रममाणेषु रुद्रस्तारकं ब्रह्म व्याचष्टे। येनासौ अमृती भूत्वा मोक्षी भवति' यह वाक्यशेष संगत होता है। दूसरा स्मार्त कुरुक्षेत्र है। जिसमें महाभारत, पुराण आदि प्रमाण है।

पाण्डवाः पूर्वमेव धार्मिका यदि पक्षद्वयहिंसानिमित्तादधर्माद्भीता निवर्तेरंस्ततः प्राप्तराज्या एव मत्पुत्राः अथवा धर्मक्षेत्रमाहात्म्येन पापानामपि मत्पुत्राणां कदाचिच्चित्तप्रसादः स्यात्तदा च तेऽनुतप्ताः प्राक् कपटोपात्तं राज्यं पाण्डवेभ्यो यदि दद्युस्तर्हि विनाऽपि युद्धं हता एवेति स्वपुत्रराज्यलाभे पाण्डवराज्यालाभे च दृढतरमुपायमपश्यतो महानुद्वेग एव प्रश्नबीजम्। संजयेति च संबोधनं रागद्वेषादिदोषान् सम्यग्जितवानसीति कृत्वा निर्व्याजमेव कथनीयं त्वयेति सूचनार्थम्। मामकाः किमकुर्वतेत्येतावतैव प्रश्ननिर्वाहे पाण्डवाश्चेति पृथङ्निर्दिशन्पाण्डवेषु ममकाराभावप्रदर्शनेन तद्द्रोहमभिव्यनक्ति ॥ १ ॥

प्रश्न—किस कुरुक्षेत्रमें कौरव और पाण्डव समवेत हुए ?

उत्तर—स्मार्त कुरुक्षेत्रमें।

प्रश्न—क्यों ?

उत्तर—'धर्मक्षेत्र' विशेषणसे। ब्रह्मसदन कुरुक्षेत्रसे भिन्न धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र यहाँ विवक्षित है, अतः ब्रह्मसदन कुरुक्षेत्रसे व्यावृत्तिके लिये 'धर्मक्षेत्र' विशेषण है। धर्मक्षेत्रान्तरसे व्यावृत्तिके लिये 'कुरुक्षेत्र' विशेषण है। वस्ततस्तु 'कुरुक्षेत्र' यहाँ प्रकरणसे स्मार्त ही गृहीत होता है, दूसरा नहीं; क्योंकि 'अथ गावल्गणिर्धीमान् समरादेत्य संजयः। प्रत्यक्षदर्शी सर्वस्य भूतभव्यभविष्यतः' इत्यादि पूर्ववचनसे कुरुक्षेत्र निश्चित है, इसमें संशय नहीं है। 'धर्मक्षेत्र' विशेषणका प्रयोजन दूसरा है देखिये—] सदा से ही पाण्डव युधिष्ठिर आदि धार्मिक हैं। धर्मक्षेत्रमें प्रविष्ट होनेपर उभयपक्षके हिंसोत्पन्न पापोंसे डरकर यदि वे युद्धसे उपरत हो जायँगे, तो मेरे पुत्र दुर्योधन आदि अनायाससे राज्य पा ही जायँगे अथवा धर्मक्षेत्रके माहात्म्यसे पापी मेरे पुत्रोंकी कदाचित् मनोवृत्ति सुधर जाय और पहले कपटसे गृहीत राज्य फिर पाण्डवोंको दे दें, तो युद्धके बिना ही वे मानो मारे गये और सारा पूर्वप्रयत्न विफल हो जायगा। मेरे पुत्रोंको ही राज्य मिले, पाण्डवोंको न मिले। इसमें कोई दृढ़ उपाय न देखकर धृतराष्ट्रको जो उद्वेग हुआ वही प्रश्नका मूल है। 'संजय' इस सम्बोधनसे राग-द्वेषको तुमने (संजयने) अच्छी तरह जीत लिया है, अतः तुम परमार्थ सत्य ही कहोगे, इसप्रकार सञ्जयवाक्यमें अपना विश्वास सूचित किया। मेरे आत्मीयोंने क्या किया ? केवल इसीसे प्रश्नकी पूर्ति हो सकती थी, क्योंकि पाण्डव भी तो धृतराष्ट्रके आत्मीय ही थे, परन्तु 'पाण्डवाः' यों पृथक् कथनसे वे मेरे नहीं हैं, यों उनपर उसका द्रोह स्पष्ट अभिव्यक्त होता है।

[इसमें शङ्का यह होती है कि महाभारतके भीष्मपर्वके चौबीसवें अध्यायके आगे गीताका आरम्भ होता है और उसके तेरहवें अध्यायमें कथित 'ध्यायतो धृतराष्ट्रस्य०' इत्यादि संजयकी संक्षिप्तोक्तिसे दुर्योधनको नव दिन पूर्व ही यह मालूम हो गया है कि कौरव-पाण्डवोंका कुरुक्षेत्रमें भयङ्कर युद्ध हो रहा है और यह भी मालूम है कि जिनके पुरुषार्थमें मेरे पक्षवालोंकी जयाशा थीं वह महारथी भीष्मपितामह समरभूमिमें धराशायी हो चुके हैं, फिर यह शङ्का कैसे हो सकती है कि पाण्डवों और कौरवोंने क्या किया ? युद्ध ही किया कि और कुछ ? यदि यह कहा जाय कि संक्षेपसे उन्होंने सुना था, पर वह समाचार विस्मृत हो गया, अतः पुनः प्रश्न है, तो यह भी कहना श्रद्धेय नहीं है, क्योंकि भीष्मपितामहका वध विस्मरणीय नहीं कहा जा सकता, जो दस दिनसे सुन रहे थे। यह केवल स्थितकी गतिमात्र है और इस श्लोकार्थका मनन करनेपर 'प्रश्नार्थक किं शब्द है' यह नहीं सिद्ध होता, कारण कि तृतीय पादगत 'एवकार' का अन्वय 'युयुत्सवः' के साथ प्रतीत होता है। 'युयुत्सव एव समवेताः' (युद्धेच्छुक ही इकट्ठे हुये) इससे युद्ध ही किया, यह निश्चित-सा है। अन्य कुछकी व्यावृत्ति 'एवकार' से स्फुट प्रतीत होती है। यानी और कुछ नहीं किया, यह साफ मालूम पड़ता है। इस कारण अन्य विद्वान्का मत है कि 'किं कुत्सायां वितर्के च निषेधप्रश्नयोरपि' इस मेदिनीकोषके अनुसार यहाँ 'किं' शब्द कुत्सार्थक है। दोनोंने अनुचित ही किया। धर्मप्रधान क्षेत्रमें हिंसाप्रधान युद्ध करना अतिगर्हित है। मेरे पुत्र अधार्मिक हैं। उनकी प्रवृत्ति ऐसे अनुचित कर्मोंमें हो सकती है, किन्तु युधिष्ठिर आदि परम धार्मिकोंकी प्रवृत्ति यदि भीष्मपितामह आदि महापुरुषोंके बधमें हुई, तो भी धर्मक्षेत्रमें यह अति निन्दित कर्म है। उन लोगोंने क्या किया ? यदि यह प्रश्नार्थक है, तो ऐसा प्रश्न हो सकता है कि धर्मयुद्ध किया या अधर्मयुद्ध, क्योंकि धर्मयुद्धसे भीष्म, द्रोण आदिका समरमें वध होना असंभव है। यह सबको विदित ही था कि श्रीकृष्णके रहनेसे और स्वतः अधर्मभीरु होनेसे पाण्डव धर्मयुद्ध ही करेंगे, फिर पाण्डवोंकी विजय कहाँ ? यह धृतराष्ट्रको आशा थी, परन्तु भीष्मका वध सुनकर उनको विस्मय हुआ। धर्मयुद्धसे विजय पाना असंभव समझकर अधर्मयुद्ध पाण्डवोंने किया होगा या श्रीकृष्णके प्रभावसे धर्मयुद्धमें भी भीष्मको वीरगति हो सकती है—इस प्रकार संदिग्ध धृतराष्ट्रने संजयसे पूछा कि दोनोंने धर्मयुद्ध किया या अधर्मयुद्ध। इस मतमें प्रश्नान्यथानुपपत्तिसे विस्मरणकी कल्पना नहीं करनी पड़ती, यह इसमें साधक है।

श्रीरामानुजगीताभाष्यटीकाकार वेदान्ताचार्यका मत है कि श्रीरामायण-प्रवृत्तिका प्रसंजक जैसे 'मा निषाद प्रतिष्ठास्त्वमगमः शाश्वतीः समाः यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्॥ इस श्लोकका अग्रिम कथाके उपोद्घातरूप वाल्मीकिकृत व्याधशापसे अन्य रावणसंहारक रघुनाथमहिमावर्णनरूप तात्त्विक अर्थ है वैसे ही धृतराष्ट्रप्रश्नरूप प्रकृतार्थसे अन्य भगवद्गीतामहिमावर्णनरूप तात्त्विक अर्थ समीचीन है। इस अर्थको दिखलाते हैं—मेरे पुत्रों और पाण्डवोंने क्या किया ? यह पूर्व-जैसा ही है। यहाँ 'किं' शब्द कुत्सा और आश्चर्य का बोधक है। कौरवपक्षमें 'मामकाः किमकुर्वत' कुत्सित किया। पाण्डवपक्षमें आश्चर्य किया। कौरवपक्षमें अर्थ कहते हैं–'धर्मक्षेत्रे' इस श्लोकका। धर्मावतार युधिष्ठिर धर्म है, तदुपलक्षित पाण्डव भी। उनका क्षेत्र श्रीकृष्ण है। 'मम प्राणा हि पाण्डवाः' इस भगवद्वाक्यसे पाण्डवोंमें भगवत्प्राणत्वबोधन करनेसे भगवान्में पाण्डवशरीरत्वका बोधन होता है, वही कृष्ण कुरुक्षेत्र धर्मक्षेत्र है, क्योंकि वह देवयजन है। 'यज्ञो वै विष्णुः' यह श्रुति है, 'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः' यह जाबालश्रुति है तथा कुरुक्षेत्र भी देवयजन है। परन्तु 'कुरुक्षेत्रं देवानां देवयजनम्' यह शतपथश्रुति है। उस कुरुक्षेत्र में युद्धेच्छुक ही मेरे पुत्र आदि इकट्ठे हुये। कृष्णके प्राणभूत पाण्डव शरीरभूत कृष्णको छोड़-कर युद्ध नहीं कर सकते, अतः पाण्डवोंके साथ युद्धेच्छुक कौरव कृष्णके साथ ही युद्धेच्छुक हुये। वे कृष्णशरीर कुरुक्षेत्रमें इकट्ठे होकर उसीमें लीन हो गये। 'अमी त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः' इसका प्रस्तावकर 'यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गा विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः' इस अग्रिमोक्तिके अनुसार आत्मनाशके लिये भगवान्में प्रविष्ट हुये। इस तरह मेरे पक्षवाले कुत्सित ही किये। 'मामकाः' से मैं अन्ध हूँ, मेरे पुत्र दुर्योधन आदि भी अन्ध ही हैं, अतः वे आत्मनाश न जानकर ज्वलनपतङ्गन्यायसे भगवान्में प्रविष्ट हुये। उसमें उन लोगोंका विलय होना ठीक ही है, यह ध्वनित होता है। भगवद्-बल सबसे प्रबल है, इस हेतुसे प्रचुरसेनायुक्त कौरवोंका पराजय क्यों हुआ ? यह शङ्का भी समाहित होती है।

प्रश्न—पाण्डवोंके साथ युद्धेच्छुक कौरवोंका वध करने के लिये उनके साथ भगवान्का क्या सम्बन्ध था ?

उत्तर—पाण्डवोंके साथ भगवान्का शरीर-शरीरिभाव सम्बन्ध था, यह दिखलाने के लिये 'धर्मक्षेत्रे' इत्यादि वचन है। भगवान् ही कुरुक्षेत्र हैं, इस निरूपणसे कुरुक्षेत्र-में कुरु बलवान् होंगे, यह आशा भी धृतराष्ट्रकी निरस्त हो गई। भगवान् ही 'कुरुक्षेत्र हैं, अतः वह भी उनके प्रतिकूल ही हैं। धृतराष्ट्र और पाण्डु दोनों सगे भाई थे।

धृतराष्ट्र ज्येष्ठ थे, पर अन्ध थे, इसलिये राज्य पाने का अधिकारी नहीं थे, फिर भी भाईके प्रेमसे उनको ही राजसिंहासनपर बैठाकर राज्यकार्य पाण्डु चलाते थे। पाण्डुका अन्तकाल हो जानेपर धृतराष्ट्रको पाण्डुके समान ही पाण्डवोंका पालन करना चाहिये था, परन्तु धृतराष्ट्रने स्वयं दुर्योधन व युधिष्ठिरको विभाग कर राज्य दे दिया। दुर्योधन आदिने द्यूत आदिके छलसे युधिष्ठिर आदिका राज्य छीन लिया और १४ वर्षका वनवास दे दिया। पुनः आनेपर चूँकि वे लोग पाँच भाई थे, इसलिये स्वतन्त्र रहनेके वास्ते केवल पाँच ही ग्राम माँगते थे, परन्तु दुर्योधनने कहा कि 'सूईके नोंकसे जितनी भूमि छुई जाती है उतनी भी भूमि बिना युद्धके न देंगे।' इस प्रकार पाण्डवोंका कोई अन्याय नहीं था, प्रत्युत कौरवोंने ही अन्यायसे पाण्डवोंके साथ युद्ध छेड़ा है। भगवान् न्यायपक्ष ही की सहायता करते हैं। अब पाण्डवपक्षमें अर्थ कहते हैं—श्रीकृष्ण ही कुरुक्षेत्र धर्मक्षेत्र है, यह अर्थ पूर्ववत् ही है। उस श्रीकृष्णरूपी धर्मक्षेत्रमें युद्धेच्छुक ही पाण्डव भी इकट्ठे हुये, यह भी पूर्ववत् ही है। समवेत यानी समवायसम्बन्धसे प्राप्त, क्योंकि अयुत सिद्धोंका सम्बन्ध समवाय ही होता है। शरीर और प्राणका सम्बन्ध समवाय है। एक के बिना दूसरा नहीं रह सकता। पाण्डव भगवान्के प्राणस्वरूप हैं, अतः वे स्वशरीर भगवान्का आश्रयण करके ही रह सकते हैं। एवंभूत पाण्डवोंने आश्चर्य ही किया। युद्धकी इच्छासे प्रवृत्त पुरुषको सब भूमिका लाभ हो सकता है अर्थात् सार्वभौम हो सकता है, फिर भी सार्वभौमसे लेकर हिरण्यगर्भके आनन्दपर्यन्त जो आनन्दसमूह हैं वे सब जिस आनन्दसागरके बिन्दुसम हैं उस आनन्दका लाभ उसको नहीं होता। इसी अभिप्राय से अर्जुनने युद्धेच्छासे ही प्रवृत्त होकर स्वजनको ही कैसे मारेंगे, इस मोहसे श्रीकृष्णके शरणागत होकर तदुपदिष्ट गीतोपदेश द्वारा मोहमय महाशत्रुका विनाशकर परमात्मतत्त्वको जानकर युद्धमोहके साथ ही संसारमोहको भी दूर कर दिया। इस प्रकार काचके खोजमें मणिलाभके समान युद्धेच्छावान् अर्जुनको तत्त्वज्ञानका लाभ हुआ, यह अति आश्चर्य हुआ। 'पाण्डव' से परिशुद्ध स्वभावकी अभिव्यक्ति होती है, श्वेतपर्य्यायवाची पाण्डुशब्द है। 'हरिणः पाण्डुरः' यह अमरकोष है। 'पाण्डुः कुन्तीपतौ सिते' यह हैम कोष है। पूर्व कोषके अनुसार पीतमिश्रित शुक्ल पाण्डु शब्दका अर्थ है, सो क्षत्रिय अर्जुनमें उचित ही है। शुद्ध सत्त्व ब्राह्मणमें ही शोभता है, क्षत्रियमें रजोमिश्रित सत्त्व ही उपयोगी है। उनके पुत्र भी उसी स्वभावके हैं, अतएव उनमें भगवन्निष्ठा हुई। उसके प्रभावसे ऐहिक-आमुष्मिक कल्याणसंपत्तियुक्त वे हुये, यह उचित ही है। इस प्रकार युद्धमोहनिवृत्तिकी कामनासे भगवदा-

संजय उवाच

दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा।
आचार्यमुपसंगम्य राजा वचनमब्रवीत् ॥ २ ॥

सञ्जयने कहा—धृष्टद्युम्न आदिके द्वारा व्यूहरचनापूर्वक खड़ी पाण्डवोंकी सेना देखकर उस समय द्रोणाचार्यके समीप जाकरके राजा दुर्योधनने यह वचन कहा॥२॥

एवं कृपालोकव्यवहारनेत्राभ्यामपि हीनतया महतोऽन्धस्य पुत्रस्नेहमात्राभिनिविष्टस्य धृतराष्ट्रस्य प्रश्ने विदिताभिप्रायस्य संजयस्यातिधार्मिकस्य प्रतिवचनमवतारयति वैशम्पायनः।

श्रित अर्जुनके समान अन्य भी कोई जिस किसी कामसे भगवान् के आश्रित होकर तदुपदिष्ट गीताज्ञानका लाभकर कृतकृत्यहो सकता है। इस प्रकार सब कल्याणार्थियोंको गीताकी शरण लेना परमावश्यक है। यह अर्थ धृतराष्ट्रको विवक्षित न हो,तोभी 'मा निषाद प्रतिष्ठां त्वम०' इत्यादिके समान भगवती सरस्वतीसे समुपस्थापित उक्त अर्थ पण्डितोंका हृदयानन्ददायक होता है। इस अर्थमें महाभारतके भीष्मपर्वके १३वें अध्यायमें भीष्मवध संजयने धृतराष्ट्रसे कहा और २४ के बाद २५ वें अध्यायमें कौरवों और पाण्डवोंने क्या किया? युद्ध ही किया या और कुछ? इस धृतराष्ट्रके प्रश्नकी अनुप्रवृत्ति भी नहीं होती। यदि १३ वें अध्यायके अनन्तर गीताका आरम्भ होता, तो ठीक होता, यह भी किसीका मत है। श्रीवल्लभाचार्यके अनुसार संजयने आकर प्रथम प्रधान पूर्व सेनापति भीष्मपितामहका निधन सुनाया। उसके अनन्तर धृतराष्ट्रसे विलाप किया। विलापके बाद सब कथा विस्तारसे कही। क्या इतने अधिक वीर पुरुषोंकी उपेक्षासे भीष्म मारे गये या उनकी रक्षामें मेरे वीरोंके तत्पर रहनेपर भी पाण्डवोंने उनको मार दिया? दोनों पक्षमें धर्मक्षेत्रमें अतिगर्हित पितामहवध कैसे हुआ? यह जानने के लिये 'हे संजय' इत्यादि धृतराष्ट्रका प्रश्न है। मेरे पुत्र तो अधर्मपरायण हैं ही, वे धर्मक्षेत्रमें भी अधर्म ही किये या धर्म? यह अपने में प्रश्न है। पाण्डव तो धर्मपरायण हैं। धर्मक्षेत्रमें उन्होंने भी भीष्म-द्रोणादिका वध कैसे किया, यह उनमें प्रश्न है। केवल युद्धके विषयमें प्रश्न नहीं उपपन्न होता। यह सम्भव नहीं कि, दश दिनसे युद्ध हो रहा है, फिर भी धृतराष्ट्रको यह ज्ञात ही न हो कि कुरुक्षेत्रमें क्या हो रहा है? और संजयसे भीष्मवध सुननेपर भी कुरुक्षेत्रमें क्या हो रहा है? युद्ध या सन्धि आदि, यह जिज्ञासा ही कैसे हो सकती है? इसका निर्णय पाठकवृन्द स्वयं करें]॥ १॥

तत्र पाण्डवानां दृष्टभयसंभावनाऽपि नास्ति अदृष्टभयं तु भ्रान्त्याऽर्जुनस्योत्पन्नं भगवतोपशमितमिति पाण्डवानामुत्कर्षस्तुशब्देन द्योत्यते। स्वपुत्रकृतराज्यप्रत्यर्पणशङ्कया तु मा ग्लासीरिति राजानं तोषयितुं दुर्योधनदौष्टयमेव प्रथमतो वर्णयति—'दृष्ट्वा' इति। पाण्डुसुतानामनीकं सैन्यं व्यूढं व्यूहरचनया धृष्टद्युम्नादिभिः स्थापितं दृष्ट्वा चाक्षुषज्ञानविषयीकृत्य तदा सङ्ग्रामोद्यमकाल आचार्यं द्रोणनामानं धनुर्विद्यासंप्रदायप्रवर्तयितारमुप-

---

इस प्रकार पितृहीन कनिष्ठ भाईके सदाचारसंपन्न पुत्रोंमें दयादृष्टिदान सत्पुरुषोंका स्वभावसिद्ध है तथा लोकव्यवहारसे धृतराष्ट्र ज्येष्ठ होनेपर भी अन्धे थे, इसलिये वे राज्यपानेके अधिकारी नहीं थे, फिर भी पाण्डु भ्रातृस्नेह तथा उनके सम्मानके लिये उनको ही राज्यसिंहासनपर अभिषिक्तकर अर्थात् उनको ही राजा मानकर उनके परामर्शसे राज्यकार्य्य करते थे। उनके निधनके बाद धृतराष्ट्रको उचित था कि छोटे भाईके प्रेमपूर्ण व्यवहारके अनुसार पाण्डवोंको ही राज्य दे देते। पुत्रस्नेहसे वैसा कर सकनेमें असमर्थ होकर यदि आधे-आधे पाण्डव और कौरवोंको राज्य विभक्त कर दिये होते, तो भी किसी तरह क्षन्तव्य था, पर दिये हुये राज्यको कपटसे छीन लेने के लिये दुर्योधनादिकृत द्यूतादिदुश्चेष्टामें धृतराष्ट्र भी सहमत हुए, यह व्यवहार लोकव्यवहारके विरुद्ध है; अतः सन्मार्गप्रकाशक दया-लोकव्यवहाररूपी नेत्रोंसे भी हीन, चर्म चक्षुसे हीन तो जन्म ही से थे, अतः महान्ध धृतराष्ट्र केवल पुत्रप्रेमपरायण के प्रश्नमें तर्किततदाशयविशेष अतिसुकृति संजयके प्रश्नका अवतरण वैशम्पायन बाँधते हैं—'सञ्जय उवाच' इत्यादिसे। वहाँ पाण्डवोंमें दृष्टभयका तो प्रसङ्ग ही नहीं था। अदृष्ट(धर्माधर्म)भय अर्जुनको भ्रान्तिसे उत्पन्न हुआ, किन्तु भगवान्ने उनको पूर्ण शान्त कर दिया, यह पाण्डवोंका उत्कर्ष 'तु' शब्दसे सूचित होता है। मेरे पुत्र राज्य लौटा देंगे, इस शङ्कासे ग्लानि मत कीजिये। इस प्रकार राजाको संतुष्ट करनेके लिये प्रथम दुर्योधनकी ही दुश्चेष्टाका वर्णन करते हैं—'दृष्ट्वा' इत्यादिसे। पाण्डुपुत्रोंकी सेनाको कुशल धृष्टद्युम्नादि सेनापतियोंके द्वारा मोर्चाबन्दी की गईको देखकर यानी चक्षुरिन्द्रियज्ञानका विषय करके उस समय अर्थात् युद्धकालमें द्रोणाचार्यके, जो कि धनुर्विद्यासंप्रदायके प्रवर्त हैं, [यह विद्या आदि परमगुरु श्रीशङ्करभगवान्से समुदित होकर श्रीपरशुराम, भीष्म, द्रोणाचार्यद्वारा अर्जुन, दुर्योधन आदिमें प्रवृष्ट हुई है]

पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम् ।
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता ॥ ३ ॥

हे आचार्य, आपके बुद्धिमान् शिष्य धृष्टद्युम्नके द्वारा व्यूहरचनापूर्वक व्यवस्थितरूपसे खड़ी की गई पाण्डवों की यह बड़ी सेना देखिये ॥ ३ ॥

संगम्य स्वयमेव तत्समीपं गत्वा न तु स्वसमीपे तमाहूय । एतेन पाण्डवसैन्यदर्शनजनितं भयं सूच्यते । भयेन स्वरक्षार्थं तत्समीपगमनेऽपि आचार्यगौरवव्याजेन भयसंगोपनं राजनीतिकुशलत्वादित्याह—राजेति । आचार्यं दुर्योधनोऽब्रवीदित्येतावतैव निर्वाहे वचनपदं संक्षिप्तबह्वर्थत्वादिबहुगुणविशिष्टे वाक्यविशेषे संक्रमितम्, वचनमात्रमेवाब्रवीन्न तु कंचिदर्थमिति वा ॥ २ ॥

तदेव वाक्यविशेषरूपं वचनमुदाहरति—'पश्यैताम्' इत्यादिना 'तस्य संजनयन्हर्षम्' इत्यतः प्राक्तनेन, पाण्डवेषु प्रियशिष्येष्वतिस्निग्धहृदयत्वादा-

---

इसके मुख्य अध्यापक द्रोणाचार्य थे । उनके] समीप स्वयं जाकर, उनको अपने पास बुलाकर नहीं, इससे पाण्डवसेनादर्शनसमुत्पन्न भय सूचित होता है । भयभीत होकर अपनी रक्षाके कारण उनके समीप जानेमें भी स्वभय छिपानेके लिये आचार्यप्रतिष्ठा व्याज है । आचार्यको इतर कर्मचारियोंके समान अपने पास बुलानेमें प्रतिष्ठा नहीं है, अतः आवश्यकता पड़नेपर स्वयं उनके समीप जाना चाहिये, इस कारण भयसे त्राण पानेके लिये स्वयं दुर्योधन उनके समीप नहीं गया, किन्तु राजनीतिकौशल से । इस प्रकार राजनीतिनिपुणता सूचित होती है, यह अभिप्राय 'राज' शब्दप्रयोगका है । दुर्योधनने आचार्यसे क्या कहा ? इतनेसे ही विवक्षितार्थ गतार्थ हो जाता है, क्योंकि वचन ही तो कहा जा सकता है, अर्थ नहीं ; अतः वचनका लाभ कहनेसे ही हो जाता है, फिर उसके उपादानद्वारा संक्षिप्त बह्वर्थत्वादिगुणविशिष्टमें तात्पर्य है अर्थात् उक्त गुणविशिष्टमें लक्षणा है । अथवा वचनमात्र ही कहा, कुछ अर्थ नहीं ॥२॥

[प्रश्न—यह तो पूर्वविरुद्ध है ?

उत्तर—उक्त अर्थ विवक्षित नहीं है, क्योंकि इसका अर्थ आचार्यपर अधिक्षेप स्वामीजीको विवक्षित है, सो नहीं है ।]

उसी वाक्यशेषरूपवचनका उदाहरण देते हैं—'पश्य' इत्यादिसे लेकर 'तस्य संजनयन्हर्षम्' इस अन्ततकके पूर्ववाक्योंसे । आचार्य प्रियविनीतशिष्य

चार्यो युद्धं न करिष्यतीति संभाव्य तस्मिन्परेषामवज्ञां विज्ञापयंस्तस्य क्रोधातिशयमुत्पादयितुमाह । एतामत्यासन्नत्वेन भवद्विधानपि महानुभावा- नवगणय्य भयशून्यत्वेन स्थितां पाण्डुपुत्राणां चमूं महतीमनेकाक्षौहिणीसहि- तत्वेन दुर्निवारां पश्यापरोक्षीकुरु प्रार्थनायां लोट् । अहं शिष्यत्वात्त्वामाचार्यं प्रार्थय इत्याह—'आचार्य' इति। दृष्ट्वा च तत्कृतामवज्ञां स्वयमेव ज्ञास्यसीति भावः । ननु तदीयावज्ञा सोढव्यैवास्माभिः प्रतिकर्तुमशक्यत्वादित्याशङ्क्य तन्निरसनं तव सुकरमेवेत्याह—'व्यूढां तव शिष्येण' इति । शिष्यापेक्षया गुरोराधिक्यं सर्वसिद्धमेव । व्यूढां तु धृष्टद्युम्नेनेत्यनुक्त्वा द्रुपदपुत्रेणेतिकथनं द्रुपदपूर्ववैरसूचनेन क्रोधोद्दीपनार्थम् । धीमतेति पदमनुपेक्षणीयत्वसूच- नार्थम् । व्यासङ्गान्तरनिराकरणेन त्वरातिशयार्थं पश्येति प्रार्थनम् । अन्यच्च

युधिष्ठिर, अर्जुन आदिसे युद्ध न करेंगे, यह सम्भावना कर आचार्यमें पाण्डवोंका अनादर सूचनार्थ पाण्डवोंमें आचार्यका अधिक कोप हो, इसके लिये 'पश्य' इत्यादि कहा है ।

'एताम्' अर्थात् अतिसमीपमें आप सब महानुभावोंका अनादर कर निर्भयचित्त पाण्डुपुत्रोंकी इस बहुत बड़ी अतएव दुर्निवार सेनाको देखिये—प्रत्यक्ष कीजिये । यह प्रार्थनामें लोट्लकार है । प्रार्थना आदरपुरस्सर प्रवृत्त कराना विधिविशेष है । मैं शिष्य हूँ, आप आचार्य हैं, अतः आपकी प्रार्थना करता हूं, यह कहा है—'आचार्य' इस पदसे । देखकर आप उन लोगोंकी की हुई अवज्ञाको स्वयं जानेंगे, यह भाव है । यदि यह कहा जाय कि उनकी अवज्ञा सहनी ही पड़ेगी, क्योंकि उसकी निवृत्तिका उपाय नहीं है, तो यह आपका कहना ठीक नहीं है, क्योंकि आपके लिये उसका प्रतीकार सुकर है, यह कहा है—'व्यूढाम्' इत्यादिसे । शिष्यकी अपेक्षा गुरुमें अधिक वैदुष्य होता है, यह सब लोकमें प्रसिद्ध ही है । शिष्यकी रची गई मोर्चाबन्दी गुरुको सुभेद्य होती ही है ।

प्रश्न—धृष्टद्युम्नकी मोर्चाबन्दी न कहकर द्रुपदपुत्रकी की गई, यह क्यों कहा ?

उत्तर—द्रुपदराजाके साथ द्रोणाचार्यकी पूर्वकालकी शत्रुता सूचनार्थ उक्त कथनप्रकार है। इससे आचार्यका उसमें क्रोधोद्दीपन होगा, यह वक्ताका अभिप्राय है । 'धीमता' यह विशेषण वह अज्ञकृत मोर्चा कुछ नहीं है—इस प्रकारकी उपेक्षाके निरासके लिए है । अन्यत्र मनोयोग न देकर उक्त मोर्चाबन्दीको शीघ्र देखिये । और इसके भङ्गका उपाय सोचिये । इस अभिप्रायसे देखिये, यह प्रार्थना है । 'अन्यच्चसे'

हे पाण्डुपुत्राणामाचार्य न तु मम तेषु, स्नेहातिशयात्। द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येणेति त्वद्वधार्थमुत्पन्नोऽपि त्वयाऽध्यापित इति तव मौढ्यमेव ममानर्थकारणमिति सूचयति। शत्रोस्तव सकाशात्त्वद्वधोपायभूता विद्या गृहीतेति तस्य धीमत्त्वम्। अत एव तच्चमूदर्शनेनाऽऽनन्दस्तवैव भविष्यति भ्रान्तत्वात्, नान्यस्य कस्यचिदपि। यं प्रतीयं प्रदर्शनीयेति त्वमेवैतां पश्येत्याचार्यं प्रति तत्सैन्यं प्रदर्शयन्निगूढं द्वेषं द्योतयति ॥ ३ ॥

अर्थान्तर कहते हैं—हे पाण्डुपुत्रोंके आचार्य, मेरे आचार्य आप नहीं हैं, क्योंकि उनमें आपका प्रेम अधिक है। आपका शिष्य द्रुपदपुत्र आपके वधार्थ ही उत्पन्न हुआ है। फिर भी आपने उसको धनुर्विद्या निष्कपट पढ़ायी है, यह आपकी मूर्खता ही मेरी विपत्तिका कारण है, यह सूचित करता है। शत्रुभूत आपसे आपके वधोपायभूत विद्याका उसने ग्रहण किया, इस कारण वह धीमान् है। अतएव उसकी सेनाको देखकर आपको ही आनन्द होगा, दूसरेको नहीं; क्योंकि आप अनिष्टमें इष्ट देखते हुये भ्रान्त हैं। दूसरा वह तत्वदर्शी होनेसे अभ्रान्त है, अतः अन्यके प्रति उक्त पाण्डवसेना दिखलानी नहीं है, इसलिये आप ही देखिये, इस प्रकार आचार्यके प्रति उक्त सैन्यको दिखला रहा दुर्योधन अपने छिपाये क्रोधको सूचित करता है। एवं इस तरह धर्मक्षेत्रमें भी आचार्यके प्रति इस प्रकारकी जिसकी दुष्टबुद्धि है उसको क्या भीष्मद्रोणादिनिधनानुतापशङ्का? और क्या अधर्मसमुपनतनरकनिपतन आदि पारलौकिक त्रासलेश? अतिपापाश्रय होनेसे अतिदुष्टाशय है, यह भाव है।

[प्रश्न—द्वितीय अर्थ करनेमें हेतु क्या है।

उत्तर—द्रोणाचार्यका अनुत्तर। आचार्यने द्वितीय अर्थको समझकर ही कुछ उत्तर नहीं दिया। द्वितीय अर्थसे आचार्यके ऊपर स्पष्ट आक्षेप है। प्रिय सदाचारी शिष्योंका पक्ष छोड़कर वृत्तिवश इस अन्यायीका पक्षग्रहण कर मैं युद्धमें प्रवृत्त हुआ, फिर भी इसका मुझपर विश्वास नहीं है। प्रथम अर्थ द्वितीय अर्थ छिपानेके लिये है। इसमें इसका तात्पर्य नहीं है। यह हमको इतना अनभिज्ञ समझकर हमारी प्रतारणा करता है, मानो हम द्वितीय अर्थ समझते ही नहीं। यह तो विपरीत कल्पनामात्र है, इसमें कुछ भी साधक नहीं है। साधक तो आचार्यका उत्तर न देना ही है। अनुत्तरका कारण दूसरा भी हो सकता है।

प्रश्न—कौन दूसरा ?

उत्तर—'अपर्याप्तम्' इत्यादि वाक्यसे भीष्मके पराक्रममें ही दुर्योधनको स्वविजयाशा है। मेरे पराक्रममें नहीं। इसप्रकार अपना निरादर समझकर उत्तर नहीं दिया कि उन्हींके पराक्रमसे यह अपनी रक्षामें विश्वास करता है, तो उनके ही पास इसको जाना उचित था, मेरे पास क्यों आया ? और प्रधान प्रथम सेनापति आचार्यको न बनाकर भीष्मको बनाया, यह भी अनुत्तरका कारण हो सकता है। नम्रतापूर्वक आचार्यके पास जाकर अपना हृदयगत भयको अभिव्यक्तकर स्वविजयार्थ आचार्यको पूरी शक्तिसे युद्धमें प्रवृत्त कराना दुर्योधनको अभीष्ट था, ऐसे विकटसमयमें आचार्यका निन्दापूर्वक उपालम्भ करना राजनीतिशून्य पुरुष भी नहीं कर सकता। वह राजनीतिकुशल कैसे कर सकता है ? और प्रायः किसी टीकाकारने द्वितीय अर्थ नहीं लिखा है। दुर्योधनोक्त श्लोकोंमें प्रायः स्वामीजीने दो अर्थ लिखे हैं। द्वितीयमें आचार्यपर आक्षेप किये हैं, जो प्रकृतमें सङ्गत नहीं है; अतः इस विषयमें युक्तायुक्तका निर्णय पाठकवृन्द स्वय करें।

'राजा वचनमब्रवीत्' इतनेसे वाक्यार्थोपपत्ति हो जाती है, दुर्योधनपदका उपादान प्रकृत युद्ध—'दुष्टं योधनं यस्य' इस व्युत्पत्तिसे—उसका अनिष्टकारी है, यह सूचित होता है। तुम्हारे सदृश तुम्हारे पुत्रकी मेरे पास सेना अधिक है, मेरी ही विजय होगी, यह आशालता पाण्डवसैन्य देखनेसे कुम्हला गई। प्रधानभूत पाण्डवोंको नहीं देखा, किन्तु उनकी सेनामात्र, वह भी युद्धमें प्रवृत्त न थी, किन्तु युद्धके लिये तैयार खड़ी थी ; ऐसी सेनाको देखकर ही वह जब इतना डर गया तब भला प्रधानभूत पाण्डुपुत्रोंको तथा तदीयशस्त्रप्रकारकौशलको देखनेपर क्या दशा होगी ? हाँ, यह तो निश्चित है कि उस समय अपना दुर्योधन नाम उक्त व्युत्पत्त्यनुसार अन्वितार्थक समझेगा। द्रोण न कहकर 'आचार्य' कथनसे 'भीष्मेवाभिरक्षन्तु' इस अग्रिम कथनसे द्रोणविषयक तिरस्कार आचार्यविषयक होनेसे अनर्थका कारण है, यह सूचित होता है। प्रथम सेनापतिके पदपर अभिषिक्त होनेसे भीष्मका सम्मान हो गया, परन्तु आचार्य उदासीन हो गये, इसलिये उनका समादर करनेके लिये युद्ध छिड़नेके पूर्व उनके पास स्वयं गया और स्वहृदयगत भावको उसने व्यक्त किया, परन्तु दैववश चूक इतनी हुई कि 'भीष्ममेवाभिरक्षन्तु' यह भी उसके मुखसे निकल गया, जिससे आचार्यकी उदासीनता निवृत्त नहीं हुई। इसीसे कुछ उत्तर नहीं दिया। भीष्मके समीप न जाकर आचार्यके समीप जानेका निमित्त आचार्यका सत्कार ही था। राजा कहनेसे प्रधानभूत राजाकी यदि यह दशा

अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि ।
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः ॥ ४ ॥
धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान् ।
पुरुजित्कुन्तिभोजश्च शैब्यश्च नरपुङ्गवः ॥ ५ ॥
युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान् ।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः ॥ ६ ॥

इस सेनामें बड़े-बड़े धनुर्धारी और युद्धमें अर्जुनके समान ये शूर हैं—महारथी सात्यकि, विराट और द्रुपद ; वीर्यवान् धृष्टकेतु, चेकितान तथा काशीराज ; नरश्रेष्ठ पुरुजित्, कुन्तिभोज और शैब्य ; विक्रान्त युधामन्यु तथा वीर्यवान् उत्तमौजा ; अभिमन्यु एवं द्रौपदीके पुत्र प्रतिविन्ध्य आदि पाँच वे सबके सब महारथ हैं ॥ ४,५,६ ॥

नन्वेकेन द्रुपदपुत्रेणाप्रसिद्धेनाधिष्ठितां चमूमेतामस्मदीयो यः कश्चिदपि जेष्यति किमिति त्वमुत्ताम्यसीत्यत आह—'अत्र शूरा' इत्यादिभि-

---

है, तो फिर दूसरेकी क्या हुई होगी ? पाण्डवोंकी बड़ी सेनाका निरीक्षण और तन्निमित्तक चिन्तानुताप आचार्यके समीप जानेका कारण है, यह सूचित होता है।

प्रश्न—तुम्हारे पास बड़ी सेना है, क्यों डरते हो ?

उत्तर—संख्यासे महत्त्व नहीं होता, किन्तु दुर्भेद्यपरसैन्यभेदननयनिपुणमतिमहामहिमशालिसेनापतिसमलङ्कृतत्वादि निमित्तसे होता है। आपके निधनके लिये ही द्रुपदने देवाराधनद्वारा धृष्टद्युम्न पुत्र पाया है, यह आपसे छिपा नहीं है; फिर भी आपने ही उसको धनुर्विद्यामें पारंगत किया है। आप इसके मर्मको जितना जानते हैं उतना दूसरा नहीं जानता, अतः जो अस्त्र इसको न सिखाया हो, उसका प्रतीकार भी यह नहीं जान सकता। वही अस्त्र इसके ऊपर चलाना चाहिये। इसके मरनेके बाद सेनाकी ऐसी व्यूहरचना (मोर्चाबन्दी) का पण्डित दूसरा सेनापति नहीं मिल सकता, फिर इस सेनाका पराजय करना सहज है, यह 'धीमता' से सूचित होता है। चूँकि युधिष्ठिर राजा नहीं थे, इसलिये 'पाण्डुपुत्राणाम्' कहा ॥ ३ ॥]

एक अप्रसिद्ध द्रुपदपुत्र सेनापतिसे युक्त इस सेनापर विजय हमारे सैनिकोंमें

स्त्रिभिः। न केवलमत्र धृष्टद्युम्न एव शूरो येनोपेक्षणीयता स्यात्, किन्तु अस्यां चम्वामन्येऽपि बहवः शूराः सन्तीत्यवश्यमेव तज्जये यतनीयमित्यभिप्रायः। शूरानेव विशिनष्टि—'महेष्वासा' इति। महान्तोऽन्यैरप्रधृष्या इष्वासा धनूंषि येषां ते तथा दूरत एव परसैन्यविद्रावणकुशला इति भावः। महाधनुरादिमत्त्वेऽपि युद्धकौशलाभावमाशङ्क्याऽऽह—युधि युद्धे भीमार्जुनाभ्यां सर्वसंप्रतिपन्नपराक्रमाभ्यां समास्तुल्याः। तानेवाऽऽह—'युयुधान इत्यादिना महारथाः' इत्यन्तेन। युयुधानः सात्यकिः। द्रुपदश्च महारथ इत्येकः। अथवायुयुधानविराटद्रुपदानां विशेषणं 'महारथ' इति। धृष्टकेतुचेकितानकाशिराजानां विशेषणं 'वीर्यवान्' इति। पुरुजित्कुन्तिभोजशैब्यानां विशेषणं 'नरपुङ्गवः' इति। विक्रान्तो युधामन्युर्वीर्यवांश्चो-

---

से कोई भी कर सकता है। इससे आप क्यों घबड़ाते हैं? इसपर 'अत्र' इत्यादिसे तीन श्लोक कहे हैं। केवल एक अकेला धृष्टद्युम्न ही शूर बहादुर वीर नहीं है कि अकिंचित्कर मानकर उसकी उपेक्षा की जाय, अर्थात्सद्यः प्रतीकारकी आवश्यकता नहीं है, किन्तु इस सेनामें दूसरे भी बड़े-बड़े बहादुर वीर हैं, इसलिये इसके विजयार्थ सद्यः प्रयास करना चाहिये, यह आशय है। शूरोंमें विशेषण देते हैं—'महेष्वासाः' इत्यादि। महान् और इष्वासका बहुव्रीहि समास है। महान् यानी दूसरोंसे अप्रधृष्य जिनके धनुष हैं, वे दूरसे ही शत्रुसेना नष्ट करने में कुशल हैं, यह भाव है। इषवः—बाणाः अस्यन्ते—क्षिप्यन्ते येन स इष्वासः यानी धनुष।

बड़े धनुर्धर दूरसे ही शत्रुसेना भगानेमें प्रवीण—युद्ध कुशल हों, तो हानि हो सकती है। युद्धमें निपुण न हों, तो क्या भय? अतः 'युधि' 'भीम०' इत्यादि कहा। युद्धमें प्रख्यात पराक्रमवाले भीम और अर्जुनके तुल्य जो हैं उन्हीं वीरोंको कहते हैं—'युयुधान' यहाँसे लेकर 'महारथाः' यहाँतकके श्लोकसे। युयुधान यानी सात्यकि। द्रुपदमें महारथ' यह एक विशेषण है। अथवा युयुधान, विराट और द्रुपद इन तीनोंमें 'महारथ' यह विशेषण है। धृष्टकेतु, चेकितान और काशिराज इनमें 'वीर्यवान्' यह विशेषण है। पुरुजित, कुन्तिभोज और शैब्यमें विशेषण है—'नरपुङ्गव'। विक्रान्त और युधामन्यु, इनमें उत्तमौजा और वीर्यवान् ये दो विशेषण

अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम।
नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान्ब्रवीमि ते ॥ ७ ॥

हे द्विजोत्तम, हम सब लोगोंमें जो विशिष्ट हैं यानी जिनका प्रभाव सबसे बढ़ा-चढ़ा है, उन्हें मैं बतलाता हूँ, आप जानिये और जो मेरी सेना के नायक हैं, मैं उनको भी नाम लेकर संक्षेप से कहता हूँ ॥ ७ ॥

त्तमौजा इति द्वौ। अथवा सर्वाणि विशेषणानि समुच्चित्य सर्वत्र योजनीयानि। सौभद्रोऽभिमन्युः। द्रौपदेयाश्च द्रौपदीपुत्राः प्रतिविन्ध्यादयः पञ्च। चकारादन्येऽपि पाण्ड्यराजघटोत्कचप्रभृतयः। पञ्च पाण्डवास्त्वतिप्रसिद्धा एवेति न गणिताः। येऽगणिताः सप्तदशान्येऽपि तदीयाः सर्व एव महारथाः सर्वेऽपि महारथा एव नैकोऽपि रथोऽर्धरथो वा। महारथा इत्यतिरथत्वस्याप्युपलक्षणम्। तल्लक्षणञ्च—'एको दश सहस्राणि योधयेद्यस्तु धन्विनाम्। शस्त्रशास्त्रप्रवीणश्च महारथ इति स्मृतः॥ अमितान्योधयेद्यस्तु सम्प्रोक्तोऽतिरथस्तु सः। रथस्त्वेकेन यो योद्धा तन्न्यूनोऽर्धरथः स्मृतः॥ ४–६ ॥

यद्येवं परबलमतिप्रभूतं दृष्ट्वा भीतोऽसि हन्त तर्हि संधिरेव

हैं। अथवा सभी विशेषण सबमें विवक्षित हैं। सुभद्राका पुत्र अभिमन्यु है। द्रौपदेय यानी द्रौपदीके पाँच पुत्र प्रतिविन्ध्य आदि हैं।* चकार यहाँ अनुक्तसमुच्चयार्थक है। पाण्ड्यराज, घटोत्कच प्रभृति दूसरोंको भी समझना चाहिये। पाण्डव तो अति प्रसिद्ध ही हैं, अतः उनकी नहीं गणना की गयी है। जो सत्रह गिने गये हैं और अन्य भी जो उस सेनाके वीर हैं। वे सबके सब महारथ ही हैं, उनमें एक भी रथ अथवा अर्द्ध रथ नहीं है। 'महारथ' यह अतिरथका उपलक्षक है। इनके लक्षण ये हैं—दश हजार धनुर्धरोंसे जो अकेला युद्ध करे और धनुर्विद्यामें प्रवीण हो वह महारथ है, जो असंख्य धनुर्धरोंके साथ एकाकी युद्ध करे वह अतिरथ कहलाता है, जो एक साथ युद्ध करे वह रथ है और इससे न्यून अर्द्धरथ कहा जाता है ॥ ४—६ ॥

यदि अति प्रबलप्रचुर परप्रतिभटको देखकर तुमको उस प्रकारका भय हो

* प्रथमः प्रतिविन्ध्यस्तु श्रुतसेनस्तथा परः,
श्रुतकीर्तिः सतानीकः श्रुतकर्मा तु पञ्चमः ॥ म० भा० ॥

परैरिष्यतां किं विग्रहाग्रहेणेत्याचार्याभिप्रायमाशङ्क्याऽऽह । तुशब्देनान्तरुत्पन्नमपि भयं तिरोदधानो धृष्टतामात्मनो द्योतयति । अस्माकं सर्वेषां मध्ये ये विशिष्टाः सर्वेभ्यः समुत्कर्षजुषस्तान्मयोच्यमानान्निबोध निश्चयेन मद्वचनादवधारयेति भौवादिकस्य परस्मैपदिनो बुधे रूपम् । ये च मम सैन्यस्य नायका मुख्या नेतारस्तान्संज्ञार्थमसंख्येषु तेषु मध्ये कतिचिन्नामभिर्गृहीत्वा परिशिष्टानुपलक्षयितुं ते तुभ्यं ब्रवीमि न त्वज्ञातं किंचिदपि तव ज्ञापयामीति द्विजोत्तमेति विशेषणेनाऽऽचार्यं स्तुवन्स्वकार्ये तदाभिमुख्यं सम्पादयति । दौष्ट्यपक्षे द्विजोत्तमेति ब्राह्मणत्वात्तावद्युद्धाकुशलस्त्वं तेन त्वयि विमुखेऽपि भीष्मप्रभृतीनां क्षत्रियप्रवराणां सत्त्वान्नास्माकं महती क्षति-

---

रहा है, तो शत्रु के साथ सन्धि ही कर लो, युद्धका आग्रह व्यर्थ है; ऐसे आचार्यके अभिप्रायकी आशङ्का कर कहा—'अस्माकम्' इत्यादि । 'तु' शब्दसे अपने मनोगत भयको छिपाता हुआ अपनी प्रगल्भताको अभिव्यक्त करता है । हम सबोंमें जो विशिष्ट हैं – सबसे विशिष्ट पराक्रमशाली हैं उन्हें मैं कहता हूँ, सुनिये । 'बुध' अवगमने आत्मनेपदी धातु है । इसका 'निबोध' रूप कैसे होगा ? इस भ्रान्तिके निरासके लिये लिखते हैं—भ्वादिगणपठित परस्मैपदीका उक्त रूप है । जो मेरी सेनाके प्रधान नायक हैं, उनके संज्ञार्थ–स्मरणार्थ । असंख्य वीरोंके मध्यमें कुछका नाम लेकर और अवशिष्टोंका उपलक्षण द्वारा आपसे कहता हूँ, आपको कुछ अज्ञातका ज्ञापन नहीं कराता हूँ; किन्तु ज्ञात ही का स्मरणार्थ यह बोधन है । 'द्विजोत्तम' इस विशेषणसे आचार्यकी स्तुति कर रहा दुर्योधन स्वकार्य युद्ध करनेमें प्रार्थना करता है। आचार्याक्षेपार्थ स्वामीजीका अर्थ सुनिये—दुष्टतापक्षमें 'ब्राह्मण होनेसे युद्धमें तुम निपुण यानी दक्ष नहीं हो । यदि युद्धसे पराङ्मुख होगे, तो भी क्षत्रियप्रवरभीष्मादि हैं ही, अतः कोई बड़ी हानि नहीं है । यह अर्थ है ।

[ईदृश आचार्यप्रतिक्षेपप्रचुरसमुदायसरस्वतीके उद्गमका स्थान सरस्वतीजीका मानस ही है । भला ऐसा कौन होगा, जो अपने सिरपर विपत्तिका उत्पत्तिष्णु पहाड़ देखता हुआ निष्प्रयोजन तन्निवारणक्षम सन्नद्ध महापुरुषका उपहास करेगा ? कोई साधारण पुरुष भी इस अर्थको उचित तथा प्रकृत वाक्यके तात्पर्यका विषय नहीं मान सकता । इस प्रकार मनमाना अनर्थ कहाँ नहीं हो सकता ? द्विजत्व युद्धाकुशलत्वमें

भवान्भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिंजयः ॥
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिर्जयद्रथः ॥ ८ ॥

आप, भीष्म पितामह, कर्ण, और संग्राम जीतनेमें कुशल कृपाचार्य—ये चार तो सबसे विशिष्ट हैं, तथा अश्वत्थामा, विकर्ण, भूरिश्रवा एवं सिन्धुदेशाधिपति जयद्रथ—ये मेरी सेनाके नायक हैं ॥ ८ ॥

रित्यर्थः। संज्ञार्थमिति प्रियशिष्याणां पाण्डवानां चमूं दृष्ट्वा हर्षेण व्याकुलमनसस्तव स्वीयवीरविस्मृतिर्मा भूदिति ममेयमुक्तिरिति भावः ॥ ७ ॥

तत्र विशिष्टान्गणयति—भवान्द्रोणो भीष्मः कर्णः कृपश्च। समितिं सङ्ग्रामं जयतीति समितिंजय इति कृपविशेषणं कर्णादनन्तरं गण्यमानत्वेन तस्य कोपमाशङ्क्य तन्निरासार्थम्। एते चत्वारः सर्वतो विशिष्टाः। नायकान्गणयति—अश्वत्थामा द्रोणपुत्रः। भीष्मापेक्षयाऽऽचार्यस्य प्रथमगणनवद्विकर्णाद्यपेक्षया तत्पुत्रस्य प्रथमगणनमाचार्यपरितोषार्थम्। विकर्णः स्वभ्राता कनीयान्। सौमदत्तिः सोमदत्तस्य पुत्रः श्रेष्ठत्वाद्भूरिश्रवाः। जयद्रथः सिन्धुराजस्तथैव चेति क्वचित्पाठः ॥ ८ ॥

हेतु नहीं है, क्योंकि परशुराम, द्रोण, कृपाचार्य, अश्वत्थामा आदिमें व्यभिचार स्फुट है।] प्रियशिष्य पाण्डवोंकी सेना देखकर आनन्दमग्नमानस आपको अपने वीरोंकी विस्मृति न हो, इस हेतुसे यह मेरा वचन है, यह भाव है। [आचार्य ऐसे बुद्धू और दब्बू नहीं थे, जो इस प्रकार उपालम्भ करनेवालेके साथ क्षणभर भी रह सकते। वे तो तुरन्त पाण्डवोंके पक्षमें हो जाते। इन्होंने द्रुपदको मित्र कहा, इसीसे राजा बिगड़ गये कि भिक्षुक और राजाकी मैत्री कैसी यह भी बिगड़कर राजा धृतराष्ट्रके यहाँ आ गये थे, ऐसे तेजस्वी ऐसे अधिक्षेपको नहीं सह सकते थे, यह भी ध्यान देने योग्य है] ॥ ७ ॥

उसमें प्रधानोंको गिनते हैं—आप, द्रोण, भीष्म, कर्ण और कृप। समितिं यानी संग्रामको जीतने वाला, यह कृपाचार्यका विशेषण है। कर्णके बाद गिननेसे कृप कुपित न हों, इस हेतुसे उनमें विशेषण दिया है, इससे यह सिद्ध है कि ये चार सबसे बड़े हैं। नायकोंको गिनते हैं—अश्वत्थामा यानी द्रोणपुत्र। भीष्मकी अपेक्षा आचार्यकी प्रथम गणना तथा विकर्णकी अपेक्षा उनके पुत्र अश्वत्थामाकी गणना आचार्यके सन्तोषके लिये है। विकर्ण, अपना छोटा भाई। सौमदत्ति सोमदत्तके पुत्र श्रेष्ठ होनेसे भूरिश्रवा। जयद्रथ -सिन्धुराज। 'सौमदत्तिस्तथैव च' ऐसा भी कहीं पाठ मिलता है ॥ ८ ॥

अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः ॥
नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः ॥ ९ ॥
अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम् ॥
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम् ॥ १० ॥

इनके अतिरिक्त शल्य, कृतवर्मा आदि अनेक शूर-वीर पुरुष मेरे लिए अपना जीवन भी छोड़ देनेको प्रस्तुत हैं। शत्रुओंके ऊपर प्रहार करनेके लिए नाना प्रकारके तलवार आदि हथियार लेकर खड़े हुए वे सबके सब युद्धकलाके महान् पण्डित हैं ॥ ९ ॥

भीष्म पितामहसे अभिरक्षित हमारी वह सेना अनन्त है, परन्तु भीमसे अभिरक्षित पाण्डवोंकी यह सेना तो परिमित है ॥ १० ॥

किमेतावन्त एव नायका नेत्याह—'अन्ये च'। शल्यकृतवर्मप्रभृतयो मदर्थे मत्प्रयोजनाय जीवितमपि त्यक्तुमध्यवसिता इत्यर्थेन त्यक्तजीविता इत्यनेन स्वस्मिन्ननुरागातिशयस्तेषां कथ्यते। एवं स्वसैन्यबाहुल्यं तस्य स्वस्मिन्भक्तिः शौर्यं युद्धोद्योगो युद्धकौशलं च दर्शितं शूरा इत्यादिविशेषणैः ॥ ९ ॥

राजा पुनरपि सैन्यद्वयसाम्यमाशङ्क्य स्वसैन्याधिक्यमावेदयति—अपर्याप्तमनन्तमेकादशाक्षौहिणीपरिमितं भीष्मेण च प्रथितमहिम्ना सूक्ष्मबुद्धिनाऽभितः सर्वतो रक्षितं तत्तादृशगुणवत्पुरुषाधिष्ठितमस्माकं बलम्। एतेषां पाण्डवानां

क्या इतने ही नायक हैं? नहीं और भी हैं, यह कहा—'अन्ये च' इत्यादिसे। शल्यकृतवर्मा प्रभृति और भी मेरे लिये जीवनके त्यागमें भी कृतनिश्चय हैं। 'त्यक्तजीवित' से अपनेमें उनके स्नेहातिशयका कथन है। इस प्रकार स्वसेनाकी अधिकता, उसकी अपनेमें भक्ति, शौर्य, युद्धोद्योग और युद्धकौशल 'शूरादि' इत्यादि विशेषणसे प्रदर्शित किया ॥ ९ ॥

राजा फिर भी दोनों सेनायें बराबर हैं, यह शङ्का कर मेरी सेना अधिक है, यह आचार्यसे निवेदन करता है। अपर्याप्त यानी अनन्त। अपर्याप्तशब्द यद्यपि असमर्थवाची प्रसिद्ध है, तथापि इसका 'अनन्त' अर्थमें प्रयोग पाया जाता है। 'जगत्यपर्याप्तसहस्रभानुना' इत्यादि माघकाव्यमें उक्त अर्थमें इसका प्रयोग हुआ है। प्रख्यातप्रभाव सूक्ष्मबुद्धि भीष्मसे सर्वतः रक्षित मेरी ग्यारह अक्षौहिणी सेना गुणवान् पुरुषसे अधिष्ठित होनेके कारण बलवती है। इनकी यानी पाण्डवोंकी सेना तो पर्याप्त

बलं तु पर्याप्तं परिमितं सप्ताक्षौहिणीमात्रात्मकत्वान्न्यूनं भीमेन चातिचपलबुद्धिना रक्षितं तस्मादस्माकमेव विजयो भविष्यतीत्यभिप्रायः। अथवा तत्पाण्डवानां बलमपर्याप्तं नालमस्माकमस्मभ्यम्। कीदृशं तद्भीष्मोऽभिरक्षितोऽस्माभिर्यस्मै यन्निवृत्त्यर्थमित्यर्थः। तत्पाण्डवबलं भीष्माभिरक्षितम्। इदं पुनरस्मदीयं बलमेतेषां पाण्डवानां पर्याप्तं परिभवे समर्थम्। भीमोऽतिदुर्बलहृदयोऽभिरक्षितो यस्मै तदस्माकं बलं भीमाभिरक्षितम्। यस्माद्भीमोऽत्ययोग्य एवैतन्निवृत्त्यर्थं तै रक्षितस्तस्मादस्माकं न किञ्चिदपि भयकारणमस्तीत्यभिप्रायः॥ १०॥

है अर्थात् परिमित सात अक्षौहिणी होनेसे न्यून है। अति चञ्चलबुद्धि भीमसे अभिरक्षित है, इस कारण हमारी विजय होगी, यह आशय है। अथवा हम लोगोंके लिये पाण्डव बल अपर्याप्त हैं अर्थात् हम लोगोंको पराजित करनेमें समर्थ नहीं हैं, क्योंकि वह सेना भीष्माभिरक्षित है।

प्रश्न—वह तो भीमाभिरक्षित है, भीष्माभिरक्षित कैसे ?

उत्तर—"भीष्म अभिरक्षितो यस्मै" (हम लोगोंने भीष्मकी रक्षा की है जिसके लिये,ऐसी वह पाण्डवोंकी सेना है) अर्थात् हम लोगोंने उसको जीतनेके लिये भीष्मको सुरक्षित रक्खा है और फिर मेरी यह सेना इन पाण्डवोंके लिये पर्याप्त है अर्थात् उसके पराजयमें पर्याप्त-समर्थ है। अतिदुर्बलहृदय भीमको जिसके लिये सुरक्षित रक्खा है, अतः मेरी सेना भीमाभिरक्षित है। चूँकि अतिदुर्बलहृदय भीमको उन लोगोंने मेरी सेनाको पराजित करनेके लिये सुरक्षित रक्खा है, अतः हम लोगोंके भयका कुछ कारण नहीं है, यह दुर्योधनका भाव है।

[वेङ्कटनाथ वेदान्ताचार्यका यह अर्थ है-'तत्' हेत्वर्थक है, इसलिये मेरी सेना भीष्माभिरक्षितभी अपर्याप्त शत्रुसेनाको जीतनेमें समर्थ नहीं है। यह तो पाण्डवोंकी सेना भीमाभि-रक्षित पर्याप्त है--हमारी सेनाको जीतनेमें समर्थ है। यह अर्थ भी ठीक नहीं है, क्योंकि 'तत्', 'बल' ये दोनों पद प्रथमैकवचनान्त हैं। ये परस्पर अभेदान्वय-समर्पक हैं, अतः 'तत्' पदार्थका अभेदसे 'बल' पदार्थमें अन्वय होना चाहिये,और पूर्वमें अपनी सेना और पाण्डव सेनाके बलाबलका निर्णय नहीं किया गया है। यदि पूर्वमें स्वसेनाकी अपेक्षा परसेनाके बलाधिक्यका निर्णय किया गया होता, तो उसका परामर्शक 'तत्' शब्द हेत्वर्थक होता,सो नहीं किया गया है। यद्यपि भीष्म और द्रोण प्रबल सेनापति हैं, ऐसा सेनापति पाण्डवसेनामें नहीं है, तथापि इनका

वध सोपाधिक है। शिखण्डीसे भीष्मका और धृष्टद्युम्नसे द्रोणाचार्यका वध दुर्योधन आदि जानते थे और ये दोनों दलोंके पक्षपाती भी हैं। ये स्वयं अर्जुन आदिको नहीं मारेंगे। उनके रहनेसे मेरी विजय असम्भव है और दूसरा कोई उनको नहीं मार सकता। महाभारतके उद्योग पर्वके ५४वें अध्यायमें दुर्योधनने स्वयं—'न भेतव्यं महाराज न शोच्या भवता वयम्। समर्थाः स्म परान् जेतुं बलिनः समरे विभो॥' इत्यादिसे अपनी सेनाका प्राबल्य घोषित किया है और नवीन घटना अभीतक नहीं हुई है, फिर अकारण उसने अपनी सेनाको दुर्बल क्यों समझा और द्वितीय दिनके आरम्भमें दुर्योधन ऐसा कहेगा—

'अपर्याप्तं तदस्माकं बलं पार्थाभिरक्षितम्। पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं पार्थिवसत्तम॥'

यहाँ 'अस्माकम्' का अपर्याप्तके साथ सम्बन्ध है, बलके साथ नहीं। हे पार्थिवसत्ताम ? वह पाण्डवबल हम लोगोंको पराजित करनेमें समर्थ नहीं है। 'अस्माकम्' का बलके साथ सम्बन्ध नहीं है, किन्तु पराजयके साथ है। अतः यहाँ भी वैसा ही अन्वय करना चाहिये। स्वामीजीके अर्थमें पाठ-भेदसे, व्यवहितान्वयसे, वाक्य-भेदसे और पदार्थभेदसे जो योजना होगी, उसमें भीष्म और भीम का विपर्यास करना होगा यानी भीष्मकी जगह भीम और भीमकी जगह भीष्मका पाठ करना होगा। 'भीष्माभिरक्षितम्' के स्थानमें 'भीमाभिरक्षितम्' और 'भीमाभिरक्षितम्' के स्थानपर 'भीष्माभिरक्षितम्' पढ़ना पड़ेगा। भीष्माभिरक्षित पाण्डवसेना हम लोगोंको पराजित करनेमें समर्थ नहीं है। तच्छब्दका अर्थ असन्निकृष्ट पाण्डवसेनाका परामर्शक होनेसे सामानाधिकरण्य से अन्वय होगा और विप्रकृष्ट परामर्शमें तच्छब्दका स्वारस्य भी अनुकूल है तथा दुर्योधनके अभिप्रायमें भी विरोध नहीं है। व्यवहितान्वयमें भी यही अर्थ है। दो प्रकारसे यहाँ व्यवहितान्वय हो सकता है। उक्त रीतिसे भीष्म और भीम शब्दका पाठ बदलनेसे एक तथा दूसरा पर्याप्त और अपर्याप्तका पाठ बदलनेसे। 'सुपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम्। अपर्याप्तं तदेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम्'।—मधुसूदन सरस्वतीके अनुसार ऐसा पाठ होना चाहिये। वाक्यभेदमें भी इसी प्रकार की योजना है। 'अपर्याप्तं तत्' पद एक प्रतिज्ञा है और 'पर्याप्तं तत्' यह दूसरी प्रतिज्ञा है। इनमें कौन हेतु है ? इस आकांक्षासे अग्रिम हेतुपरक वाक्यद्वय है—'अस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम्' और 'एतेषां बलं भीमाभिरक्षितम्'। हमारी सेना प्रबलाधिष्ठित है तथा परबल दुर्बलाधिष्ठित है। पदार्थभेदमें तो ऐसी योजना है—पर्याप्तं पर्यायणम्—यहाँ कर्तामें क्त प्रत्यय है।

नाशनसमर्थ हम लोगोंकी सेनाको पाण्डवसेना नष्ट करनेमें समर्थ नहीं है। 'तत्' से पाण्डवसेनाका परामर्श होता है। उसका कर्तृतया निर्देश है। 'इदम्' से अपनी सेना विवक्षित है। हमारी सेना पाण्डवसेनाको नष्ट करनेमें समर्थ है और ग्यारह अक्षौहिणी होनेसे संख्यामें भी अधिक है। पाण्डवसेना सात अक्षौहिणी होनेसे न्यून है। इस प्रकार अपनी सेनामें दौर्बल्य और परसेनामें प्राबल्य दुर्योधन युद्धारम्भमें नहीं समझता।

प्रश्न—अच्छा तो भीष्मका प्रतिभट भीमको दुर्योधनने किस अभिप्रायसे कहा? यदि सेनापतित्वेन, तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि पाण्डवसेनाका सेनापति धृष्टद्युम्न है, भीम नहीं; यह 'व्यूढां द्रुपदपुत्रेण' से पूर्वमें ही कह चुके हैं। भीष्मके समान बलवान् भीम थे, अतः बलवत्त्वेन दोनोंका साम्य है, यदि कहिये, तो यह भी ठीक नहीं है, कारण कि भीमसे भीष्म बहुत अधिक बलवान् थे। भीष्मने स्पष्ट कहा है कि 'शक्तोऽहं धनुषैकेन निहन्तुं सर्वपाण्डवान्। यद्येषां न भवेत् गोप्ता विष्णुकारणपूरुषः। शब्दसे भी नहीं, क्योंकि भीमसे भीष्म बली हैं, भीष्म भीमको निगल जाता है, भीम भीष्मको नहीं। भीष्ममें षकार अधिक है। भीम भीष्मके अन्तर्गत है, भीमके अन्तर्गत भीष्मशब्द नहीं है। प्रतिबलाधिपतित्वसे भी नहीं, क्योंकि प्रतिबलाधिपति युधिष्ठिर थे, भीम नहीं। परभटप्रधानत्वसे भी नहीं कह सकते क्योंकि प्रधान प्रतिभट अर्जुन थे, भीम नहीं।

उत्तर—धृतराष्ट्रके सब पुत्रोंके वधकी प्रतिज्ञा भीमने की थी, और उन्होंने सबको मारा भी। उचितसाहसबलसहायादिसे युक्त भीम थे। और भीष्मकी समस्त पाण्डवोंको रक्षाविषयक प्रतिज्ञा थी; अतः प्रतिकूल प्रतिज्ञावत्त्वेन दोनोंके साधर्म्यकी विवक्षा है, यह पूर्वपक्ष है। उत्तर यह है कि पूर्वमें स्व-परसेनामें उत्कर्षापकर्ष नहीं कहा है, सो ठीक नहीं। आरम्भ हीमें सप्त अक्षौहिणीमात्र अतएव न्यून भी पाण्डवसेनाको महती चमू कही है। बादमें 'धीमता' यहाँतक परसेनापतिका वर्णन किया है, उसके अनन्तर 'अत्र शूरा महेष्वासाः' से लेकर 'सर्व एव महारथाः' यहाँतक 'भीमार्जुनसमा युधि' इस दृष्टान्तसे अति पराक्रमशाली करीब बीस वीरोंका वर्णन किया है। स्वपक्षमें न सेनाका ही वर्णन किया है और न सेनापतिका ही। अपनी सेनामें प्रधान सात ही योद्धाओंके नाम बतलाये हैं, शेषको 'अन्ये च' से कहा है। फिर भी 'मदर्थे त्यक्तजीविताः' कहा है, 'मदर्थे विजिगीषवः' नहीं। उसके बाद 'तस्य संजयन् हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः' इस वाक्यसे स्पष्ट प्रतीत होता है कि दुर्योधनको प्रतिसेना देखनेसे विषाद हुआ। अन्यथा संवर्धयन् हर्षम्' कहा

जाता। यह विषाद परसैन्यदर्शनसमुत्पन्न भयसे हुआ है । आगे भी 'स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत्' इस वचनसे धृतराष्ट्रहृदयसंक्षोभ ही वर्णित है, अतएव आदिमें प्रतिसेनाके सेनापतिका वर्णन, उपसंहारमें शङ्खशब्दमात्रसे हृदयसंक्षोभका वर्णन और मध्यमें जनयितव्य हर्षसे पूर्वमें विषादनिवृत्तिकी सूचना स्फुट है। अतः तच्छब्द हेत्वर्थक है तथा तच्छब्द विप्रकृष्टार्थक है, यह भी शङ्का समाहित हो गई। स्वकीय पूर्ववर्णित अनुत्कर्ष इस समय विप्रकृष्ट ही है, और पाण्डवबल दुर्योधनको विप्रकृष्ट नहीं है। 'दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकम्' 'पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य' 'पर्याप्तं त्विदमेतेषाम्' इत्यादि वचनोंसे तदपरोक्षका ही निर्देश किया है; यदि यह कहा जाय, तो महापराक्रमशाली भीष्म, द्रोण महारथियोंसे सुरक्षित अपनी सेनाको दुर्बल कहना दुर्योधनका ठीक नहीं है। इसका कारण यह है कि दुर्योधन यह जानता था कि भीष्मको मारनेके लिए अर्जुनादि शिखण्डीको आगे खड़ा करेंगे। उसके आगे आनेपर भीष्म न लड़ेंगे, यह उनकी प्रतिज्ञा थी। यदि कहिये क्यों? तो इसका उत्तर यह है कि जन्मके समय वह कन्या था, पीछे गन्धर्वके प्रसादसे वह पुरुष हुआ, यह महाभारतमें प्रसिद्ध है। अतः स्त्रीसे लड़ना नहीं चाहते थे। द्रोणाचार्यकी वह प्रतिज्ञा थी कि समरमें यदि हम अत्यन्त अप्रिय सुनेंगे, तो अस्त्र रख देंगे। उस समय धृष्टद्युम्न मार सकता है। शिखण्डी और धृष्टद्युम्न दोनों शत्रु सेनामें हैं, इस शङ्कासे अपनी सेनाको कमजोर समझता था।

'न भेतव्यं महाराज' इत्यादि तदीय पूर्व वाक्यसे अपनी सेनामें प्राबल्यका ही निर्देश है, इस समय तद्विपरीत प्रतीतिमें कोई कारण नहीं देखते, यह शङ्का नहीं कर सकते, क्योंकि जैसे अर्जुनने हिंसार्थ धनुष-बाण लेकर समरभूमिमें प्रविष्ट होकर भी देखा कि बन्धु समुदायको ही मारना है, तो स्नेहकारुण्य धर्माधर्मके भयसे आकुल होकर युद्ध न करना ही उचित समझकर युद्ध न करेंगे, यह कहकर रथके कोनेमें जाकर वे बैठ गये, भगवान्‌ने समझा-बुझाकर फिर युद्ध करनेके लिये उनको तैयार किया; वैसे ही यहाँ भी दृढ़ मोरचाबन्दीमें स्थित महा प्रतिभटोंको देखकर अति विषाद दुर्योधनको हुआ। भीष्मपितामहने स्वशङ्खध्वनि द्वारा दुर्योधनको प्रकृतिस्थ किया, इसमें क्या अनुपपत्ति है और गोग्रहणके समयमें अपने योद्धाओंसे पर-योद्धाओंकी वीरता प्रत्यक्ष दुर्योधन देख चुका है, उसका इस समय स्मरण करता है, उसको विस्मृति नहीं हुई है। स्वयं उसने कहा है—'अकारादीनि नामानि अर्जुनत्रस्तचेतसा' यह जो द्वितीयदिवारम्भमें 'जैसे अन्वय किया है वह बल हम लोगोंको पराजित करनेमें समर्थ नहीं है अर्थात् 'अस्माकं' का बलके साथ अन्वय नहीं

विवक्षित है, वैसे ही यहाँ भी अन्वय करेंगे, सो भी ठीक नहीं है, क्योंकि एक-देशसादृश्य से सर्वथा सादृश्य नहीं होता।

प्रश्न—प्रथम दिन और द्वितीय दिनमें अभिप्राय भेद ठीक नहीं ?

उत्तर—युद्धकी अवस्था प्रतिदिन एक तरहकी नहीं रहती, इसलिये अवस्थानुसार अभिप्राय भेद होता ही है।

द्वितीय दिनमें स्वसहायक राजन्यवर्गके सान्त्वनार्थ स्वसैन्यके प्रोत्साहनार्थ-स्वधैर्यप्रकाशनार्थ उक्त वचन आवश्यक है, इसलिये वैसी दुर्योधनोक्ति है। यह अधर्मोपहत दुर्योधनका अतर्कितविषादमूलस्वसैन्यासामर्थ्य-वचन आगामी तदीय पराजयका सूचक है। अतः सर्वसम्मतपाठानुसार अर्थके निर्दोष रहनेपर पाठभेद और अप्रसिद्धार्थकी कल्पना अति जघन्य है। उक्त स्वामीजीके अर्थमें आपने कोई दोष तो नहीं कहा, यह नहीं कह सकते, क्योंकि पाठभेद, व्यवहितान्वय, वाक्यभेद और अप्रसिद्धार्थकल्पना आदि अनेक प्रबल दोष स्वामीजीके अर्थमें हैं और वाक्यभेद योजनामें दोनों प्रतिज्ञाओंमें दोनों हेतुओंका क्रमसे निर्देश नहीं है। अपर्याप्तत्वमें हेतु है—'भीमाभिरक्षितत्व' और पर्याप्तत्वमें भीष्माभिरक्षितत्व हेतु है। जो जिस सेनाका पति है प्रबल या दुर्बल वही उसके पर्याप्ति और अपर्याप्तिमें हेतु है। प्रतिबलकी पर्याप्ति अपर्याप्तिमें हेतु नहीं होती। यहाँ स्वामीजीने चतुर्थ्यर्थमें बहुव्रीहि समासकर विपरीत ही (लोकप्रसिद्धविरुद्ध ही) कहा है। फलतः वैसा निर्देश है। प्रातिलोम्यसे दोनों हेतुओंका अन्वय करें' तो भी व्यवहितान्वय गले पतित रहेगा। समुच्चित्य दोनोंका अन्वय करें, तो भी व्यवहितान्वय और अस्वारस्यका परिहार नहीं हो सकता। समुच्चायक शब्द नहीं है, यह अधिक दोष होगा; इसी प्रकार और भी दूषण हैं, जो विस्तरभयसे छोड़ दिये गये हैं। अब वस्तुतः यह विचार करना है कि किस अभिप्रायसे आचार्यके प्रति दुर्योधनका 'अपर्याप्तं तदस्माकम्' इत्यादि वाक्य है। क्या मेरी सेना शत्रुसेनासे प्रबल है, या मेरी सेना शत्रुसेनासे दुर्बल है? प्रायः सभी टीकाकारोंने मेरी सेना परसेनासे दुर्बल है, इस तात्पर्यसे उक्त वाक्य है, यही कहा है और श्लोकके स्वारस्यसे भी यही प्रतीत होता है। स्वामीजीने मेरी सेना परसेनासे प्रबल है—इस तात्पर्यसे उक्त श्लोक है, ऐसी व्याख्या की है। इसके लिये पर्याप्त अपर्याप्तका प्रसिद्ध अर्थ छोड़कर अप्रसिद्ध अर्थका ग्रहण किया है। यदि इस प्रकार अपदार्थका बोध किसीको न जचे, तो भीष्मादि पदका विपर्यास कर व्यवहितान्वय मानकर अथवासे द्वितीय अर्थ कहा

है, जिसमें अनेक दूषण अभी कह चुके हैं। इन सब क्लिष्ट कल्पनाओंका मूल क्या है ? सावधान हो कर सुनिये और स्वयं विचारिये—बात यह है कि आचार्यके पास दुर्योधनने जाकर उक्त वाक्य कहा, पर आचार्यने आश्वासन कुछ नहीं दिया और न कुछ उत्तर ही दिया। इस प्रकारके आचार्यके व्यवहारसे उनका औदासीन्य स्पष्ट झलकता है। और औदासिन्य अप्रसन्नतामूलक है और अप्रसन्नता दुर्योधनोक्त प्रकृतिवाक्यार्थमूलक है, इसलिये प्रकृतवाक्यका ऐसा अर्थ करना चाहिये, जिसमें आचार्य अप्रसन्न हों, बस इसी दृष्टिसे दुर्योधनोक्त वाक्योंमें प्रायः दो अर्थ दिखलाये गये हैं—एक तो सर्वानुमत और दूसरा स्वकल्पित, जिससे कि आचार्य रुष्ट हों। द्वितीय अर्थकी कल्पनाके लिए आचार्यको मूर्खतक कहा गया है। आपकी मूर्खतासे हमारे ऊपर विपत्ति आयी है, इत्यादि पूर्वमें कह चुके हैं। इन सब कल्पनाओंका मूल आचार्यका अनुत्तर ही है। इससे आचार्यके मनमें यह आ जाय कि, वस्तुतः प्रति सेनाको बलवती और अपनी सेनाको दुर्बल समझकर आत्मरक्षार्थ मेरे पास आया है, परन्तु अपने वास्तविक भावको छिपाकर मेरी प्रतारणाके लिये अपनी सेनामें प्राबल्यका वर्णन करता है। यह ऐसा दुराशय है कि इस विकट समयमें भी अपने भावको हमसे छिपाता है, मैं ऐसा अनभिज्ञ नहीं हूँ, जैसा कि यह समझता है। इन कटूक्तियोंसे मैं प्रसन्न नहीं हो सकता। इसलिये उसकी उपेक्षा कर कुछ उत्तर नहीं दिया। यदि अपनी सेनाको दुर्बल कहता, जैसा कि और लोगोंने अर्थ किया है, तो आचार्य अप्रसन्न क्यों होते? बल्कि यथार्थवादी समझकर उत्तर अवश्य देते। यदि आचार्यके अनुत्तरका कारणान्तर हो, तो यह स्वामीजीकी क्लिष्ट कल्पना निर्मूल ही सिद्ध होगी। कारणान्तर यह है—प्रथम तो आचार्यने दुर्योधनको पूर्वमें ही समझाया कि पाण्डवोंसे युद्ध मत छेड़ो, सन्धि कर लो, इसीमें तुम्हारा कल्याण है। पर दुर्योधनको यह भ्रम था कि चिरकालतक वनमें रहनेके कारण राजाओं तथा जनतासे पाण्डवोंका कोई सम्बन्ध नहीं है और मेरा सब के साथ अबाध सम्बन्ध है अतः युद्ध के समय पाण्डवोंको सेना ही नहीं होगी, सब राजे और प्रजाएँ मेरा ही साथ देंगी तथा द्रव्य भी इनके पास नहीं है, इस लिये वे लड़ाई में ठहर नहीं सकते। परन्तु आचार्य जानते थे कि पाण्डवोंने वनमें रहकर अपना बल खोया नहीं, किन्तु बहुत बढ़ाया है, दैवबलसम्पन्न हैं, इनको कोई भी पराजित नहीं कर सकता, इस कारण आचार्य युद्धके विरुद्ध थे।

उस समय दुर्योधन नहीं माना। आज पाण्डवोंकी विपुल सेना देखकर ही भयभीत होकर रक्षार्थ आया है। अब क्या हो सकता है ? पाण्डवोंकी विजय

निश्चित है, दूसरा कारण यह है—आचार्यको प्रधान सेनापति न बनाकर भीष्मको सेनापति बनाया, इससे इसका मुझमें न पूर्ण विश्वास है न तो मेरे पराक्रममें इसको जयाशा ही है। इसने मुझे विनीत युधिष्ठिरादिका हितैषी समझकर प्रथम सेनापति नहीं बनाया। तीसरा कारण यह है— 'भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि' इस वचनसे स्पष्ट प्रतीत होता है कि दुर्योधनकी जयाशा भीष्मके ही पराक्रममें थी। आचार्यकी अपेक्षा केवल प्रधान सेनापति भीष्मकी रक्षाके लिये ही थी। इन कारणोंसे आचार्यका अनुत्तर हो सकता है, फिर एतदर्थ अपव्याख्यानकी क्या आवश्यकता।

प्रश्न—अच्छा तो यह कैसे निर्णय निष्पन्न हो कि स्वसेनाके दौर्बल्यमें ही उक्त वाक्यका तात्पर्य है, प्राबल्यमें नहीं ?

उत्तर—जहाँ वाक्यके तात्पर्यमें सन्देह होता है, वहाँ षड्विध लिंगोंसे निर्णय किया जाता है। 'उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वता फलम्।' अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्यनिर्णये॥' इनका यहाँ विवेचन करनेपर ग्रन्थका कलेवर बहुत बढ़ जायगा, इसलिये विवेचन न कर उपयोगमात्र हमने दिखलाया है। 'पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम्' यह उपक्रम (आरम्भ) में स्वसेनासे न्यून पाण्डवसेनाको भयसे महती कहा है। अनन्तर 'धीमता' एतत्पर्यन्त परसेनापतिका वर्णन किया है। स्वपक्षमें सेना और सेनापति किसीका वर्णन नहीं किया है। 'अत्र शूराः महेष्वासाः' से लेकर 'सर्व एव महारथाः' यहाँतक 'भीमार्जुनदृष्टान्त' से अतिपराक्रमशाली करीब उन्नीस सेनापतियोंका वर्णन किया है। अपनी सेनामें केवल सात योद्धाओंका ही नाम निर्देश किया है। प्रतिसेनाके योद्धाओंमें प्रायः सबमें विशेषण है। अपनी सेनाके योद्धाओंमें थोड़ेमें ही विशेषण है इत्यादि अभ्यास है। 'स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत्' यह उपसंहार है। शंखध्वनिमात्रसे स्वसैनिकोंके हृदय विदीर्ण हुए' इससे स्वसेनाकी दुर्बलता स्पष्ट प्रतीत होती है। यदि प्रबल होती, तो युद्धोत्साहसे हृदय विकसित हो जाते, अतः पूर्वापरप्रकरणानुसन्धानसे स्वसेनाकी दुर्बलतामें ही दुर्योधनका तात्पर्य स्पष्ट प्रतीत होता है, प्रबलतामें नहीं। केवल आचार्यके अनुत्तरमात्रसे ही अर्थान्तरकी कल्पना ठीक नहीं है। पाठकगण विचारकर इस विषयमें युक्तायुक्तत्वका निर्णय स्वयं करें] ॥ १० ॥

अयनेषु तु सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः ।
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि ॥ ११ ॥

युद्धके सभी मोर्चोंपर विभागपूर्वक उचितरूपसे यानी जहाँ जिसको रहना उचित हो, उसके अनुसार अवस्थित होकर आप सबके सब एकमात्र भीष्मकी ही रक्षा करें, क्योंकि सेनापतिके सुरक्षित रहनेपर ही सब कुछ सुरक्षित रह सकता है ॥ ११ ॥

एवं चेन्निर्भयोऽसि तर्हि किमिति बहु जल्पसीत्यत आह—'अयनेषु' इति । कर्तव्यविशेषद्योती तुशब्दः । समरसमारम्भसमये योधानां यथाप्रधानं युद्धभूमौ पूर्वापरादिदिग्विभागेनावस्थितिस्थानानि यानि नियम्यन्ते तान्यत्रायनान्युच्यन्ते । सेनापतिश्च सर्वसैन्यमधिष्ठाय मध्ये तिष्ठति । तत्रैवं सति यथाभागं विभक्तां स्वां स्वां रणभूमिं न परित्यज्यावस्थिताः सन्तो भवन्तः सर्वेऽपि युद्धाभिनिवेशात्पुरतः पृष्ठतः पार्श्वतश्चानिरीक्षमाणं भीष्मं सेनापतिमेव रक्षन्तु । भीष्मे हि सेनापतौ रक्षिते तत्प्रसादादेव सर्वं सुरक्षितं भविष्यतीत्यभिप्रायः ॥ ११ ॥

यदि तुम इस तरह निर्भय हो, तो फिर अधिक क्या बोल रहे हो ? इस प्रश्नपर कहते हैं--'अयनेषु च' इत्यादिसे ।

कर्तव्यविशेषका द्योतक 'तु' शब्द है । 'अयन' शब्दके अर्थको स्फुट करते हैं--'सर्वेषु' इत्यादिसे ।

सङ्ग्रामके आरम्भ समयमें, युद्धभूमिमें पूर्व, पश्चिम,उत्तर, आदि दिशाओंका विभागकर योधाओंकी—जो जहाँ नियुक्त करनेके योग्य हैं उनकी वहाँ—अवस्थिति के लिए जो स्थान निश्चित किये जाते हैं, उनको 'अयन' कहते हैं । सेनापति सब सेनाओंका अधिष्ठाता होकर सेनाके मध्यमें रहता है । इस प्रकार जो जहाँ सेनापति के द्वारा योग्यतानुसार नियत किये गये हैं, वे सब अपनी-अपनी नियत युद्धभूमिको न छोड़कर वहीं स्थित होकरके युद्धमें अत्यन्त अभिनिवेश रखनेके कारण लक्ष्यैकदत्त दृष्टि अतएव आगे-पीछे,दाहिने-बाँयें न देख रहे भीष्मकी ही आप सब रक्षा करें । सम्भव है, उन स्थलोंमें सेनापतिको अनवधान देखकर कोई शत्रु उनपर हमला कर दे, इसलिये आप लोग भीष्म सेनापतिकी रक्षामें खूब सावधन रहें, क्योंकि सेनापतिके सुरक्षित रहनेपर ही उनकी कृपासे सब सुरक्षित रह सकते हैं ॥ ११ ॥

तस्य सञ्जनयन् हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः ।
सिंहनादं विनद्योच्चैः शङ्खं दध्मौ प्रतापवान् ॥१२॥

राजा दुर्योधनके हर्षको बढ़ाते हुए कुरुवृद्ध महाप्रतापी भीष्मपितामहने महान् सिंहनाद करके अपना शङ्ख बजाया ॥ १२ ॥

स्तौतु वा निन्दतु वा, एतदर्थे देहः पतिष्यत्येवेत्याशयेन तं हर्षयन्नेव सिंहनादं [विनद्य] शङ्खवाद्यं च कारितवानित्याह—एवं पाण्डवसैन्यदर्शनादतिभीतस्य भयनिवृत्त्यर्थमाचार्यं कपटेन शरणं गतस्येदानीमप्ययं मां प्रतारयतीत्यसन्तोषवशादाचार्येण वाङ्मात्रेणाप्यनादृतस्याऽऽचार्योपेक्षां बुद्ध्वाऽयनेष्वित्यादिना भीष्ममेव स्तुवतस्तस्य राज्ञो भयनिवर्तकं हर्षं बुद्धिगतमुल्लासविशेषं स्वविजयसूचकं जनयन्नुच्चैर्महान्तं सिंहनादं विनद्य कृत्वा, यद्वा सिंहनादमिति णमुलन्तम् । अतो रैपोषं पुष्यतीतिवत्तस्यैव धातोः पुनः प्रयोगः ।

इस प्रकार द्रोणाचार्यजीने दुर्योधनको भीष्मके ऊपर अधिक विश्वास और उनको युद्धमें प्रधान एवं अपनेको गौण समझकर खिन्नचित्त होकरके कुछ उत्तर नहीं दिया । उत्तर न पानेपर खिन्नचित्त हुए अतिभक्त दुर्योधनको देख भीष्मने 'लोग स्तुति करें या निन्दा' दुर्योधनके लिये देह 'समरमें गिरेगी ही' इसी अभिप्रायसे उसको हर्षित करते हुये ही सिंहके समान गर्जकर शङ्ख बजाया, यह कहते हैं—'तस्य' इत्यादिसे ।

पाण्डवसैन्यदर्शनसे अतिभीत दुर्योधनके भयनिवृत्त्यर्थ कपटसे आचार्यकी शरणमें जाकर इस समय भी हमको धोखा दे रहा है । वस्तुतः परबलको देख भयभीत है, परन्तु निर्भीक अपनेको दिखलाता है, यह केवल मेरी प्रतारणामात्र करता है, इस असन्तोषके कारण आचार्यने वचनमात्रसे भी आदर नहीं किया । इस आचार्योपेक्षाको जानकर 'अयनेषु' इत्यादि वाक्यसे अपने स्तुतिपरायण राजाके भयनिर्वतनक्षम स्वविजयसूचक बुद्धिसमुल्लासविशेष हर्ष उत्पन्न करते हुए सिंहनाद—महान्—शब्द करके शङ्ख बजाया । 'सिंहनाद' यह 'णमुल्'प्रत्ययान्त है, अत एव 'णद' धातुका ही पुनः अनुप्रयोग हुआ है । ['कषादिषु यथाविध्यनुप्रयोगः [३।४।६] इस पाणिनीय सूत्रके अनुसार 'णमुल्' युक्त 'नद' धातुका अनुप्रयोग करना उचित है । अत एव 'रैपोषं पुष्णाति' इत्यादि स्थलमें 'स्वे पुषः' [३।४।४०] इस सूत्रका उदाहरण 'रैपोषं पुष्यति' यह वृत्तिकारोंने दिया है ।

शङ्खं दध्मौ वादितवान् । कुरुवृद्धत्वादाचार्यदुर्योधनयोरभिप्रायपरिज्ञानम्, पितामहत्वादनुपेक्षणम्, न त्वाचार्यवदुपेक्षणम्, प्रतापवत्त्वादुच्चैः सिंहनादपूर्वकशङ्खवादनं परेषां भयोत्पादनाय । अत्र सिंहनादशङ्खवाद्ययोर्हर्षजनकत्वेन पूर्वापरकालत्वेऽप्यभिचरन्यजेतेतिवज्जनयन्निति शताऽवश्यंभावित्वरूपवर्तमानत्वे व्याख्यातव्यः ॥ १२ ॥

'अर्थरैविभवा अपि' इस अमरकोषसे रैशब्द धनवाची है । उक्त सूत्रमें स्वशब्द और तत्पर्याय तथा तद्विशेषका भी ग्रहण माना जाता है । इत्यादि वृत्तिग्रन्थोंमें देखिये ।] शङ्ख बजाया । कुरुवृद्ध होनेसे दुर्योधन और आचार्य दोनोंके अभिप्रायोंके ज्ञाता हैं, यह 'वृद्ध' विशेषणसे सूचित होता है । पितामहसे राजामें उपेक्षणीयत्वाभावका सूचन होना है । आचार्यके समान पितामहने दुर्योधनकी उपेक्षा नहीं की । ऊर्ध्वमुख होकर सिंहनादपूर्वक शङ्ख बजाया, यह शङ्खध्वनि परसैनिकोंके मनमें भयोत्पादनके लिये है ।

शङ्का—सिंहनादपूर्वक शङ्खध्वनि राजाके हर्षोत्पादनका हेतु है । हेतुहेतुमद्भाव नियतपूर्वापरकालमें होता है । हेतु पूर्वकालमें और कार्य परकालमें रहता है, यह नियम है, किन्तु यहाँ 'हर्षं सञ्जनयन् सिंहनादं विनद्य शङ्खं दध्मौ' यह लिखा है, इससे कार्य और कारणमें समानकालता प्रतीत होती है, जो कार्यकारणभावका बाधक है ।

समाधान—'लक्षणहेत्वोः क्रियायाः' [३।२ १२६] इस भगवान् पाणिनिके सूत्रसे हेत्वर्थमें 'शतृ' प्रत्यय है । 'धनं अर्जयन् वसति' । यहाँ धनार्जन वासका फल है । फल भी हेतु माना जाता है । 'अर्जयन्' यहाँ 'शतृ' प्रत्यय उचित माना गया है । वेदमें 'श्येनेनाभिचरन् यजेत' इस श्रुतिमें श्येनयागका फल अभिचार है । श्येनयागोत्तर शत्रुविनाश होता है, किन्तु उक्त विनाश उक्त यागका फल होनेसे फल भी हेतु माना ही जाता है, इसलिये सूत्रमें हेत्वर्थ 'शतृ' प्रत्यय हुआ है । तद्वत् यहाँ भी 'सञ्जनयन्हर्षम्' हर्षोत्पादन सिंहनादपूर्वक शङ्खध्वनिका फल है । अतः हेत्वर्थमें 'शतृ' प्रत्यय ठीक ही है । इस तात्पर्यसे अवश्यम्भावित्वरूप वर्तमानत्वमें 'शतृ' प्रत्यय कहा गया है, ऐसी व्याख्या करनी चाहिये ।

[अथवा आपका पुत्र दुर्योधन आरम्भ ही से दुर्विनीत था, इसलिये धृतराष्ट्रको भय हुआ कि आचार्यके समान यदि पितामह भी उपेक्षा कर देंगे,

ततः शङ्खाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः ।
सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत् ॥१३॥

उसके बाद शङ्ख, भेरि, पणव, आनक, गोमुख आदि अनेक बाजे तत्क्षण ही बज उठे और वह शङ्खादिका शब्द महान् हुआ ॥ १३ ॥

ततो भीष्मस्य सेनापतेः प्रवृत्त्यनन्तरं पणवा आनका गोमुखाश्च वाद्यविशेषाः सहसा तत्क्षणमेवाभ्यहन्यन्त वादिताः । कर्मकर्तरि प्रयोगः । स शब्दस्तुमुलो महानासीत्तथाऽपि न पाण्डवानां क्षोभो जात इत्यभिप्रायः ॥ १३ ॥

तो मेरा पुत्र अशरण हो जायगा, इस भ्रमकी निवृत्तिके लिये 'कुरुवृद्ध' यह विशेषण दिया गया है । उक्त विशेषणसे पितामहने अपनी महत्तापर ध्यान रखा, उपेक्षा नहीं की, यह सूचित होता है । वृद्ध पितामह हर्षोत्पादन करते हुये परसैन्यदर्शनसमुत्पन्न भयसे तथा आचार्यकी उपेक्षासे शुष्कप्राण दुर्योधनके उस समय प्राणप्रतिष्ठार्थ ही सिंहनाद किया है । वस्तुतः परबल निरासके लिये नहीं, क्योंकि वृद्ध पितामहमें इतनी शक्ति नहीं है, यह वृद्धसे सूचित होता है] ॥ १२ ॥

तदनन्तर सेनापति भीष्मकी प्रवृत्ति देखकर पणव,आनक और गोमुख विशेष बाजे सहसा उसी समय बजे । 'वादिताः' यहाँ कर्मकर्त्तामें प्रत्यय है । बाजे अपनेसे तो बज नहीं सकते, लोगोंने बजाये, इसी भावमें कर्म बाजाको कर्त्ता मानकर कर्त्तामें प्रत्यय है । 'कर्मवत्कर्मणा तुल्यक्रियः' [३।१।८७] इस पाणिनीय सूत्रसे कर्मवद्भाव होनेसे उक्त रूप सिद्ध होता है । यद्यपि वह शब्द महान् हुआ, फिर भी पाण्डवोंको क्षोभ नहीं हुआ, यह अभिप्राय है ।

['मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत सञ्जय' इस प्रश्नका कौरव-वृत्तान्तकथन स्वरूप उत्तर देकर पाण्डुवृत्तान्त कहा । माधव और पाण्डव दोनोंने शङ्ख बजाये ।

कौरवपक्षमें प्रधान राजा दुर्योधनका जैसे वृत्तान्त कहा, वैसे ही पाण्डवपक्षमें राजा युधिष्ठिरका वृत्तान्त कहना चाहिये था ; पर वैसा न कहकर माधवका प्राधान्येन वृत्तान्त कथनसे ज्ञात होता है कि पाण्डवबलमें भगवान् ही प्रधान राजा हैं । युधिष्ठिर और अर्जुन निमित्तमात्र हैं ।

शङ्का—भगवान् तो अर्जुनके सारथी हैं, राजा कैसे हो सकते हैं ?

समाधान-कृष्ण न कहकर माधव कहा,अर्थात् 'मा-लक्ष्मी, उसके' धव-पतिको

ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ ।
माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शङ्खौ प्रदध्मतुः ॥१४॥
पाञ्चजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनञ्जयः ।
पौण्ड्रं दध्मौ महाशङ्खं भीमकर्मा वृकोदरः ॥१५॥
अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ ॥१६॥

उसके अनन्तर सफेद घोड़ोंसे युक्त महान् रथपर बैठे हुए भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुनने भी अपने दिव्य शङ्ख जोरसे बजाये ॥ १४ ॥

भगवान् हृषीकेशने अपना पाञ्चजन्य, धनञ्जय ने देवदत्त और भयङ्कर कर्म करनेवाले भीमने अपना पौण्ड्र नामक महाशङ्ख बजाया ॥ १५ ॥

कुन्तीके पुत्र राजा युधिष्ठिरने अनन्तविजय तथा नकुल और सहदेवने अपना सुघोष और मणिपुष्पक नामक शङ्ख बजाया ॥ १६ ॥

अन्येषामपि रथस्थत्वे स्थित एवासाधारण्येन रथोत्कर्षकथनार्थं ततः श्वेतैर्हयैर्युक्त इत्यादिना रथस्थत्वकथनम्, तेनाग्निदत्ते दुष्प्रधृष्ये रथे स्थितौ, सर्वथा जेतुमशक्यावित्यर्थः। पाञ्चजन्यो देवदत्तः पौण्ड्रोऽनन्तविजयः सुघोषो मणिपुष्पकश्चेति शङ्खनामकथनं परसैन्ये स्वस्वनामभिः प्रसिद्धा एतावन्त शङ्खा भवत्सैन्ये

यानी लक्ष्मी-पतिको पहिले कहा, उसके अनन्तर पाण्डव कहा। पाण्डवकी रक्षाके लिये भगवान्ने अवतार लिया। अतएव स्वरक्षणीयको आगे बैठानेपर शत्रुप्रहार करेंगे, इस अभिप्रायसे उनको पीछे बैठाकर स्वयं आगे बैठे, यही भगवान्का अर्जुनके लिये सारथित्व है, सो स्वामित्वका विरोधी नहीं है। 'माधव' पदसे जहाँ लक्ष्मीपति हैं वहीं पराक्रमादि सर्वविध लक्ष्मीका निवास है। पाण्डवोंकी ही जय होगी, लक्ष्मीरहित कौरवोंकी नहीं, यह सूचित होता है] ॥ १३ ॥

रथमें तो और लोग स्थित रहे ही, किन्तु अन्यमें रथस्थितत्वका निर्देश न कर विशेषरूपसे माधव-पाण्डवमें ही रथस्थत्वका निर्देश तदीय रथमें विशेष उत्कर्षकी सूचनाके लिये है। तदनन्तर श्वेत घोड़ोंसे युक्त रथमें बैठे, इस श्वेत हयके विशेषणसे अग्निदत्त अजेय रथमें स्थित हुए, यह कहनेसे सर्वथा अजेय सूचित होता है। पाञ्चजन्य, देवदत्त, पौण्ड्र, अनन्तविजय, सुघोष और मणिपुष्पक

तु नैकोऽपि स्वनामप्रसिद्धः शङ्खोऽस्तीति परेषामुत्कर्षातिशयकथनार्थम् । सर्वेन्द्रियप्रेरकत्वेन सर्वान्तर्यामी सहायः पाण्डवानामिति कथयितुं हृषीकेशपदम् । दिग्विजये सर्वान् राज्ञो जित्वा धनमाहृतवानिति सर्वथैवायमजेय इति कथयितुं धनञ्जयपदम् । भीमं हिडिम्बवधादिरूपं कर्म यस्य तादृशो वृकोदरत्वेन बह्वन्नपाकादतिबलिष्ठो भीमसेन इति कथितम् । कुन्तीपुत्र इति कुन्त्या महता तपसा धर्ममाराध्य लब्धः । स्वयं च राजसूययाजित्वेन मुख्यो राजा । युधि चायमेव जयभागित्वेन स्थिरो न त्वेतद्विपक्षाः स्थिरा भविष्यन्तीति युधिष्ठिरपदेन सूचितम् । नकुलः सुघोषं सहदेवो मणिपुष्पकं दध्मावित्यनुषज्यते ॥ १४-१६ ॥

ये शङ्खके नाम कहे हैं । पाण्डवसेनामें अपने-अपने स्वनामप्रसिद्ध इतने शङ्ख हैं, आपकी सेनामें एक भी स्वनामप्रसिद्ध शङ्ख नहीं है । इससे परमें उत्कर्षातिशय स्फुट होता है । सब इन्द्रियोंके प्रेरक सबके अन्तर्यामी भगवान् पाण्डवोंके सहायक हैं, इस अर्थको स्फुट करनेके लिये 'हृषीकेश' पद कहा है ।

दिग्विजयमें सब राजाओंको जीतकर प्रभूत धनका संचय कर सर्वथा यह अजेय सिद्ध हो चुके हैं, इसको व्यक्त करनेके लिये 'धनञ्जय' पद कहा है । भीमकर्मा यानी भयङ्कर कर्म हिडिम्बादिवधरूप जिसका है वह भीमकर्मा है । वृकोदरविशेषण बहुत अन्न खाकर अति बलवान् भीम हैं । कुन्तीपुत्र यानी बड़ी तपस्याके द्वारा कुन्तीने धर्मकी आराधना करके युधिष्ठिर पुत्रकी प्राप्ति की है । स्वयं भी मुख्य राजसूययाग करनेसे मुख्य राजा हैं । यही समरमें विजयी होकर रहेंगे, इनके शत्रु स्थिर न रहेंगे, यह भाव युधिष्ठिरशब्दसे सूचित होता है । नकुलने सुघोषनामक और सहदेवने मणिपुष्पनामक शङ्ख बजाया । 'बजाया' का अनुषंग (सम्बन्ध) सबके साथ करना चाहिये ।

[अथवा रथस्थितत्वकथनसे परकीय सेनाको देखकर भयसे आचार्यके पास जाकरके प्रधान सेनापति भीष्मकी रक्षाके लिये सबको दुर्योधनने सावधान किया । उससे विलक्षण पाण्डवसैनिकोंमें कोई कहींसे हटा नहीं, जो जहाँ पहिले स्थित था वह वहीं डटा रहा, इससे उसमें भयाभाव सूचित होता है । दोनों रथपर स्थित थे, यह समान स्थितका निर्देश यह सूचित करता है कि रथ हाँकनेके समय भगवान् सारथीके स्थानपर बैठते थे, कालान्तरमें दोनों एक स्थानपर बैठते थे, इससे दोनोंमें अखण्ड प्रेम बतलाया ।

श्वेताश्व रथवाले और भी थे, उनको उस रूपसे निर्देश न कर अर्जुनके रथको श्वेताश्व कहनेका अभिप्राय यह है कि खाण्डववनदाहके समय अग्निने प्रसन्न होकर इन्द्रादिसे लड़नेके लिये जो श्वेताश्व रथ अर्जुनको दिया था, वह दिव्य अजेय रथ है, उस रथको अभिव्यक्त करनेके लिये उक्त निर्देश है।

'उपेतं राजतैरश्वैर्गान्धर्वैर्हेममालिभिः।
पाण्डुराजप्रतीकाशैर्मनोवायुसमैर्जवैः॥
ससर्ज यं स्वतपसा भुवने भुवनप्रभुः।
प्रजापतिरनिर्देश्यं यस्य रूपं रवेरिव॥
आश्रिता यं रथश्रेष्ठं शक्रध्वजसमा बभौ।
तापनीया सुरुचिरा ध्वजयष्टिरनुत्तमा॥
यस्यान्तु वानरो दिव्यः सिंहशार्दूलकेतनः।
भीमो ननर्द तत्रस्थः संश्रितो मूर्ध्न्यशोभत।
ध्वजे भूतानि चात्रासन् विविधानि महान्ति च॥
नादे न रिपुसैन्यानां येषां संज्ञा प्रणश्यति॥'

इत्यादि पूर्वोक्त श्लोकोंसे उक्त रथकी महिमा वर्णित है। उसके स्मरणार्थ ये तथोक्तियां हैं। इस प्रकारका एक ही रथ कौरवोंके विजयके लिये पर्याप्त है, फिर भी उसपर माधवजी बैठे हैं और इन्द्रविजेता पाण्डव तथा ऊपर हनुमान्जी हैं। फिर विजयके विषयमें क्या कहना है? 'माधवः पाण्डवश्चैव' यहाँपर 'एव' का अर्थ यह है—कुरुसेनापति भीष्मने प्रथम स्वयं शङ्ख बजाकर अनन्तर स्वसैनिकोंको बाजा बजानेमें जैसे प्रवृत्त कराया, वैसे ही पाण्डवसेनापति धृष्टद्युम्नको स्वयं प्रथम बाजा बजाना अनुरूप था, किन्तु वैसा नहीं किया। कृष्ण और अर्जुनने ही सर्वप्रथम अपनी सेनामें शङ्ख बजाये। इसमें हेतु यह है कि पूर्वमें 'प्र' नहीं है, इसमें 'प्र' है। 'प्र' से प्रकर्षका बोध होता है। सकल धार्तराष्ट्रमर्मभेदनपर्यन्त प्रकर्ष है, अतएव आगे स्पष्ट कहा है—'स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत्'। इससे यह भाव स्फुट होता है कि यदि धृष्टद्युम्न शङ्ख बजाते, तो भीष्मादिशङ्खवादनके समान पाण्डवसेनामें भी शङ्खवादन हुआ, यही प्रतीत होता, परन्तु यहाँ तावन्मात्र विवक्षित नहीं है, किन्तु परहृदयविदारण-समर्थ शङ्खध्वनि करनी चाहिये, इस अभिप्रायसे माधव और पाण्डवने प्रथम शङ्ख बजाये।] ॥ १४-१६ ॥

काश्यश्च परमेष्वासः शिखण्डी च महारथः ।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः ॥ १७ ॥
द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते ।
सौभद्रश्च महाबाहुः शङ्खान् दध्मुः पृथक्पृथक् ॥ १८ ॥
स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत् ।
नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयन् ॥ १९ ॥

महान् धनुर्धारी काशिराज, महारथ शिखण्डी, धृष्टद्युम्न, विराट और कभी भी पराजित न हुए सात्यकि तथा हे पृथिवीपते, राजा द्रुपद एवं द्रौपदीके सभी पुत्रों और महाबाहु सौभद्रने भी अपना-अपना अलग-अलग शङ्ख बजाया ॥१७,१८॥

आकाश और पृथ्वीको प्रतिध्वनिसे परिपूर्ण करते हुए उस शंखध्वनिने धृतराष्ट्रके भीष्म, द्रोण आदि सम्बन्धियोंके हृदयोंको विदीर्ण कर दिया ॥ १९ ॥

परमेष्वासः काश्यो महाधनुर्धरः काशिराजः । न पराजितः पारिजातहरणबाणयुद्धादिमहासङ्ग्रामेषु एतादृशः सात्यकिः । हे पृथिवीपते धृतराष्ट्र, स्थिरो भूत्वा शृण्वित्यभिप्रायः । सुगममन्यत् ॥ १७ ॥ १८ ॥

धार्तराष्ट्राणां सैन्ये शङ्खादिध्वनिरतितुमुलोऽपि न पाण्डवानां क्षोभकोऽभूत् । पाण्डवानां सैन्ये जातस्तु स शङ्खघोषो धार्तराष्ट्राणां धृतराष्ट्रस्य तव सम्बन्धिनां सर्वेषां भीष्मद्रोणादीनामपि हृदयानि व्यदारयत्, हृदयविदारणतुल्यां व्यथां जनितवानित्यर्थः । यतस्तुमुलोऽतितीव्रोः नभश्च पृथिवीं च प्रतिध्वनिभिरापूरयन् ॥ १९ ॥

परमेष्वासः काश्यः यानी महाधनुर्धर काशिराज । पारिजातहरण, बाणासुर-महासंग्राम आदिमें न पराजित अपराजित सात्यकि बड़े वीर हैं । हे पृथिवीपते-हे धृतराष्ट्र, सावधान होकर सुनिये । शेष सुगम है यानी व्याख्यानकी आवश्यकता नहीं है ।।१७,१८।।

कौरवसेनामें शङ्खध्वनि भयङ्कर हुई, लेकिन पाण्डवोंको क्षोभ-भय नहीं हुआ । परन्तु पाण्डवसैन्यमें जो शब्द हुआ, उसने आप धृतराष्ट्रके जितने सम्बन्धी भीष्म-द्रोण आदि थे, उन सबके भी हृदयोंको विदीर्ण कर दिया । हृदयविदारणसे जैसी व्यथा होती है उसीके समान व्यथा उत्पन्न की, यह अर्थ है । विदारण औपचारिक विवक्षित है, वास्तविक नहीं, क्योंकि तुमुल यानी अतितीव्र हुआ । प्रतिध्वनिसे आकाश और पृथिवीको पूर्ण करते हुए ।

['हृदयं चित्तवक्षसोः' इस निघण्टुके अनुसार हृदयसे वक्षःस्थल और मन दोनों का ग्रहण प्रकृत में विवक्षित है। मनका विदारण ज्ञान, इच्छा, मति, धैर्य उत्साहादिका नाश है। वक्षःस्थलका विदारण भयप्रयुक्त महाविपत्तियोंमें अनुभवसिद्ध मर्मभेदन है ये दोनों हृदयविदारणोक्तिसे विवक्षित हैं, अतः धार्तराष्ट्र, निहत ही हुये। 'मयैवेते निहताः पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्' इस भगवद्वचनसे पूर्वमेव यानी शङ्खवादनकालमें ही वे मारे गये। 'स घोषो' इत्यादि वाक्यसे भगवान् सत्यप्रतिज्ञ हैं, यह सूचित होता है। स्वयं युद्ध न कर पाण्डवोंके युद्धका सम्पादनकर पाण्डवोंको विजयश्री दिलायेंगे, यह भगवान्‌की प्रतिज्ञा थी, उसकी पूर्ति की। यहाँ 'एवकार' का अन्वय धार्तराष्ट्रके हृदयके साथ इष्ट है 'धार्तराष्ट्राणां हृदयान्येव व्यदारयत् न अन्येषाम्' अर्थात् दुर्योधनादिके हृदयोंका ही विदारण किया, दूसरोंके हृदयोंका नहीं, प्रत्युत अन्यको हर्षका कारण ही हुआ। आपके सब पुत्रोंके हृदय विदीर्ण हुये; उनमें कोई भी दृढ़चित्तनहीं था, इस अर्थके सूचनार्थ बहुवचन है।

शङ्का–घोष तो शब्द है, वह शस्त्रकी तरह हृदय-विदारण कैसे कर सकता है?

उत्तर हृदयशब्दसे यदि मन विवक्षित है, तो कोई शङ्का ही नहीं है, क्योंकि ज्ञानेच्छादिके बिना मनविदारण अप्रसिद्ध ही है। यदि वक्षःस्थल विवक्षित है, तो विजयाभिलाषियोंका विजयाभिलाषनाश ही विदारण यहाँ विवक्षित है। उन लोगोंको निश्चय हो गया था कि अब मेरी विजय न होगी। विजय निश्चय समूल नष्ट हो गया। समुद्रके भीतर पञ्चजन नामका कोई असुर रहता था, जिसका स्वरूप शङ्खके समान था। गुरुपुत्रानयनप्रसंगमें उस असुरको मारकर उसकी हड्डीसे उत्पन्न शङ्खको भगवान्‌ने ले लिया। वही शङ्ख पाञ्चजन्य कहलाता है। 'स तु पञ्चजनं हत्वा शङ्खं लेभे जनार्दनः। यस्य देवमनुष्येषु पाञ्चजन्य इति श्रुतिः॥' हरिवंशमें यह कथा प्रसिद्ध है। 'देवदत्तं च मे शङ्खं पुनः प्रादान्महारवम्। दिव्यं चेदं किरीटं मे स्वयमिन्द्रो युयोज ह॥' यह महाभारत है। 'भक्तिज्ञानं सवैराग्यं प्रज्ञा मेधा धृतिः स्थितिः। योगः प्राणो बलं चैव वृकोदर इति स्मृतः॥ एतद्दशात्मको वायुः तस्माद् भीमस्तदात्मकः।' 'नभश्च पृथिवीं चैव' यहाँ चकारसे विदारण और व्यनुनादन दोनोंका समुच्चय विवक्षित है। आकाश निरवयव है। उसका विदारण तो हो नहीं सकता, परन्तु लोकमें ऐसा प्रयोग देखा जाता है कि आकाश भी विदीर्ण हो गया। पृथिवीका विदारण तो देखा ही जाता है; जैसे विद्युत्‌के महाशब्दसे कूपादि फट जाते हैं। कर्णेन्द्रिय आकाशात्मक है। महाशब्दसे वह फट जाता है, इसको ही परदा फटना भी कहते हैं]॥ १९॥

अथ व्यवस्थितान्दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान्कपिध्वजः ।
प्रवृत्ते शस्त्रसंपाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः ॥ २० ॥
हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत ॥ २१ ॥

उस भयङ्कर शब्द सुन लेने के बाद भी धृतराष्ट्रके भीष्म आदि सम्बन्धियों-को युद्ध करनेके लिए डटे हुए देखकर कपिध्वज अर्जुनने शस्त्रसमूहोंके ग्रहण करनेके समय अपना धनुष उठाकर उस समय हे महीपते, हृषीकेश भगवान् श्रीकृष्णसे यह वाक्य कहा—हे अच्युत, इन दोनों सेनाओंके बीचमें मेरा रथ खड़ा कीजिये ॥ २०, २१ ॥

धार्तराष्ट्राणां भयप्राप्तिं प्रदर्श्य पाण्डवानां तद्वैपरीत्यमुदाहरति—'अथ' इत्यादिना । भीतिप्रत्युपस्थितेरनन्तरं पलायने प्राप्तेऽपि तद्विरुद्धतया युद्धो-द्योगेनाऽवस्थितानेव परान्प्रत्यक्षेणोपलभ्य तदा शस्त्रसंपाते प्रवर्तमाने सति, वर्तमाने क्तः । कपिध्वजः पाण्डवः । हनूमता महावीरेण ध्वजरूपतयाऽनुगृहीतोऽर्जुनः सर्वथा भयशून्यत्वेन युद्धाय गाण्डीवं धनुरुद्यम्य हृषीकेश-मिन्द्रियप्रवर्तकत्वेन सर्वान्तःकरणवृत्तिज्ञं श्रीकृष्णमिदं वक्ष्यमाणं वाक्यमाहोक्तवान्न त्वविमृश्यकारितया स्वयमेव यत्किंचित्कृतवानिति, परेषां विमृश्य-

---

दुर्योधन आदिको भयप्राप्ति दिखलाकर पाण्डवोंको उसकी विपरीतावस्था दिखलातेहैं—'अथ' इत्यादिसे ।

दुर्योधन आदिको भय उत्पन्न होनेसे भागना प्राप्त था, किन्तु तद्विपरीत युद्धोद्योगमें ही तत्पर शत्रुओंको प्रत्यक्ष देखकर, 'प्रवृत्त' में क्त प्रत्यय कर्त्तामें नहीं है, किन्तु वर्तमानमें है । वर्तमान शस्त्रसम्पातमें यानी शस्त्रसमुदायके प्रयोगके समय । कपिध्वज—पाण्डव । ध्वजस्थित महावीर श्रीहनुमान्जीसे अनुगृहीत अर्जुनने सर्वभयशून्य होकर युद्धके लिये गाण्डीव धनुष उठाकर, हृषीकेश [हृषीक नाम इन्द्रियोंका है 'हृषीकं विषयीन्द्रियम्' यह अमर-कोश है । उनके ईश सबके अन्तःकरणके ज्ञाता] श्रीकृष्णसे वक्ष्यमाण वाक्य कहा । बिना विचारे जो सहसा कार्य करता है वह अविमृश्यकारी कहलाता है, वैसा स्वयं कुछ नहीं किया, क्योंकि पर युधिष्ठिरादि विमृश्यकारी होनेसे स्वयं

कारितया परेषां राज्यं गृहीतवानसीति नोतिधर्मयोरभावात्तव जयो नास्तीति महीपत इति सम्बोधनेन सूचयति। तदेवार्जुनवाक्यमवतारयति—सेनयोरुभयोः स्वपक्षप्रतिपक्षभूतयोः संनिहितयोर्मध्ये मम रथं स्थापय स्थिरी कुर्विति सर्वेश्वरो नियुज्यतेऽर्जुनेन। अनेन किं हि भक्तानामशक्यं यद्भगवानपि तन्नियोगमनुतिष्ठतीति ध्रुवो जयः पाण्डवानामिति सूचयति। नन्वेवं रथं स्थापयन्तं मामेते शत्रवो रथाच्च्यावयिष्यन्तीति भगवदाशङ्कामाशङ्क्याऽऽह—'अच्युत' इति। देशकालवस्तुष्वच्युतं त्वां को वा च्यावयितुमर्हतीति भावः। एतेन सर्वदा निर्विकारत्वेन नियोगनिमित्तः कोपोऽपि परिहृतः॥ २०॥ २१॥

कुशल—निपुण हैं। आपके पुत्रने अविमृश्यकारी होनेसे पाण्डवोंका राज्य ले लिया है। अतः उसमें नीति और धर्म दोनोंका अभाव होनेसे आपकी जय नहीं है, यह 'महीपते' इस सम्बोधनसे सूचित करते हैं। जो अर्जुनने भगवान्से कहा, उसी अर्जुनवाक्यको कहते हैं—स्वसैन्य और परसैन्य दोनों सन्निहित हैं। इनके मध्यमें मेरा रथ खड़ा करो, यह सर्वेश्वर भगवान्को अर्जुन आज्ञा दे रहे हैं। भक्तोंको क्या असम्भव है? भगवान् भी जिनकी आज्ञाका पालन करते हैं। इससे पाण्डवोंकी विजय निश्चित है, यह सूचित होता है। रथस्थापनप्रवृत्त मुझको शत्रु कौरव रथसे गिरा देंगे, इस भगवान्की आशङ्काके निरासके लिये 'अच्युत' यह सम्बोधन किया। आप तो सदा अच्युत हैं; आपको कौन गिरा सकता है? क्योंकि आप देश, काल, वस्तु में व्यापकत्वेन सदा स्थित हैं, यह भाव है। इससे आप सदा निर्विकार हैं, अतः आज्ञानिमित्तक कोप भी आपमें नहीं हो सकता।

[बानर श्री हनुमान्ने श्रीरामको सीतालक्ष्मीको यथा प्राप्त कराया, वैसे ही शत्रुओंको पराजित कर पाण्डवोंको विजयलक्ष्मी देनेके लिये जिसकी ध्वजाके ऊपर बैठे हैं, इस अभिप्रायसे कपिध्वज यह विशेषण है। 'क्रीडया हृष्यति व्यक्तमीशः सन् सृष्टिरूपया। हृषीकेशत्वमीशस्य देवत्वं चास्य तत्स्फुटम्॥ अविकारितया जुष्टो हृषीको वीर्यरूपया। ईशः स्वातन्त्र्ययोगेन नित्यं सृष्ट्यादिकर्मणि॥ ऐश्वर्यं वीर्यरूपत्वं हृषीकेशत्वमुच्यते।' यह अहिर्बुध्न्यसहितामें स्पष्ट है। आश्रितान् न च्यावयति' इति अच्युतः। 'अच्युत' इस सम्बोधनका भाव यह है कि सेनामें स्थित बन्धुवर्गको देखकर मोहसे युद्धविरत होकर पूर्वप्रतिज्ञानुरूप कर्तव्यसे विरत

यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान् ।
कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन् रणसमुद्यमे ॥ २२ ॥

युद्ध करनेके लिए अवस्थित इन्हें कुछ देर देख तो लूं, कि इस युद्धोद्योगमें किनके साथ मुझे युद्ध करना है ॥ २२ ॥

मध्ये रथस्थापनप्रयोजनमाह—'यावदेतान्' इति । योद्धुकामान्न त्वस्माभिः सह सन्धिकामानवस्थितान्न तु भयात्प्रचलितान्, एतान्भीष्मद्रोणादीन्यावद्गत्वाऽहं निरीक्षितुं क्षमः स्यां तावत्प्रदेशे रथं स्थापयेत्यर्थः । यावदिति कालपरं वा । ननु त्वं योद्धा न तु युद्धप्रेक्षकः, अतस्तव किमेषां दर्शनेनेत्यत्राऽऽह— 'कैः' इति । अस्मिन् रणसमुद्यमे बन्धूनामेव परस्परं युद्धोद्योगे मया कैः सह योद्धव्यं मत्कर्तृकयुद्धप्रतियोगिनः के कैर्मया सह योद्धव्यं किंकर्तृकयुद्धप्रतियोग्यहमिति च महदिदं कौतुकमेतज्ज्ञानमेव मध्ये रथस्थापनप्रयोजन-मित्यर्थः ॥ २२ ॥

'च्युत' होनेसे निवारण करानेका—आश्रितोंको कर्तव्यसे च्युत न करानेका—आपका स्वभाव ही है, फिर मैं कैसे च्युत हो सकता हूँ । हृषीकेशका अभिप्राय यह है कि जो सब इन्द्रियोंका नियमन करता है, उसके लिये घोड़ोंका नियमन क्या है ? ॥२०-२१ ॥

मध्यमें रथस्थापनका प्रयोजन कहते हैं—'यावदेतान्' इत्यादि से । युद्ध-कामनासे ही, न कि हम लोगोंके साथ सन्धिकी कामनासे खड़े हुए, भयसे भागे नहीं । उन्हें यानो भीष्म, द्रोण आदिकोंको जाकर पूरा देख सकें, ऐसे स्थानपर रथ खड़ा कीजिये, यह अर्थ है । 'यावत्' शब्द यहाँ देशपरक है । अथवा कालपरक भी है । जितने समयमें पूरा देख सकें उतने समयतक खड़ा कीजिये ।

तुम तो युद्ध करनेवाले योद्धा हो, दर्शक नहीं हो । तुमको देखनेसे क्या प्रयोजन ? इसपर कहते हैं—'कैर्मया' इत्यादिसे ।

इस रणसमुद्यममें यानी अपने बन्धुओंके ही परस्पर युद्धोद्योगमें, किनके साथ मुझे युद्ध करना है और किनको मेरे साथ युद्ध करना है, मेरे युद्धमें प्रतिभट कौन है और किनके युद्धमें मैं प्रतिभट रहूँगा—यही देखना है, इसकी बड़ी उत्कण्ठा है, एतद्ज्ञान ही मध्यमें रथस्थापनका प्रयोजन है ।

[शङ्का—प्रार्थनाके समय निरीक्षण भावी है, वर्तमान नहीं, फिर वर्तमानमें लट् लकार कैसे हुआ ?

समाधान—'यावत् पुरा निपातयोः' [पा० ३।३।४] इस सूत्रसे 'पुरा'

योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः ।
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः ॥ २३ ॥

दुर्बुद्धि दुर्योधनका हित करनेकी इच्छासे जो ये भीष्म आदि इस युद्धमें इकट्ठे हुए हैं इन्हें मैं युद्ध करनेके लिए तैयार देखता हूँ, सन्धि करनेके इच्छुक नहीं ।२३।

ननु बन्धव एते परस्परं सन्धिं कारयिष्यन्तीति कुतो युद्धमित्याशङ्क्याऽऽह—'योत्स्यमानान्' इति । य एते भीष्मद्रोणादयो धार्तराष्ट्रस्य दुर्योधनस्य दुर्बुद्धेः स्वरक्षणोपायमजानतः प्रियचिकीर्षवो युद्धे, न तु दुर्बुद्ध्यपनयनादौ तान्योत्स्यमानानहमवेक्ष उपलभे, न तु संधिकामान् । अतो युद्धाय तत्प्रतियोग्यवलोकनमुचितमेवेति भावः ॥ २३ ॥

के योगमें वर्तमानमें लट्का विधान है । भाविनिरीक्षणका द्योतक यावन्निपात है] ॥ २२ ॥

ये सब बन्धुवर्ग ही हैं, अतः परस्पर सन्धि ही करायेंगे, युद्ध नहीं, यह आशङ्काकर कहते हैं---'योत्स्य०'इत्यादिसे ।

जो ये भीष्म, द्रोण आदि हैं वे स्वकीय रक्षाके उपायको न जाननेवाले धृतराष्ट्रपुत्र दुर्बुद्धि दुर्योधनका प्रिय युद्धमें ही करनेके इच्छुक हैं, दुर्बुद्धि आदिके अपनयनमें नहीं । इन्हें मैं युद्ध करनेके लिए स्थित देखता हूँ—पाता हूँ, न कि सन्धि करनेके इच्छुक यदि सन्धि करनेके इच्छुक होते, तो शत्रुसेनामें उपस्थित न होकर निष्पक्षभावसे तटस्थ होकर उपस्थित होते । अतः युद्धके लिये प्रतिभटोंको देखना आवश्यक है ।

[शङ्का—'निरीक्षेऽहम्' 'अवेक्षेऽहम्' यह दो बार आया है, अतः यहाँ पुनरुक्त दोष है, जो अप्रामाण्यका कारण है । 'तदप्रामाण्यमनृतव्याघातपुनरुक्तदोषेभ्यः' यह गौतम महर्षिका न्यायसूत्र है । इसमें अनृत, व्याघात और पुनरुक्तको अप्रामाण्यका स्पष्ट कारण कहा है ।

समाधान—एक 'निरीक्षे' शत्रुसेनास्थितप्रतिभटोंके दर्शनार्थ है और दूसरा 'अवेक्षे' दुर्योधनके दोषप्रकाशनार्थ है । अतिदुष्टाशय दुर्योधनके सहकारी भीष्म आदि युद्धेच्छुकोंको देखें । तात्पर्य भिन्न होनेसे पुनरुक्त दोष नहीं होता । अथवा स्वसेनास्थित प्रतिभटोंको देखनेके तात्पर्यसे प्रथम श्लोक है । शत्रुसेनाके प्रतिभटोंको देखनेके तात्पर्यसे द्वितीय श्लोक है । 'कैर्मया सह' इत्यादि प्रथम श्लोकमें मुझे किनके साथ

लड़ना है और किनको मेरे साथ लड़ना है—यही अर्थ स्वामीजीने किया है। इससे पर सैनिक योद्धाओंके दर्शनकी कामना ही अर्जुनकी प्रतीत होती है, वस्तुतः यदि ऐसी इच्छा होती, तो 'अन्तिके कुरुसेनायाः रथं स्थापय मेऽच्युत' ऐसा अर्जुन कहते। 'सेनयोरुभयोर्मध्ये' कहनेसे स्पष्ट प्रतीत होता है कि दोनों सेनाओंके वीरोंको देखनेके तात्पर्यसे 'मध्ये' कहा है। यद्यपि दोनों सेनाओंके वीरोंको पहलेसे ही जानते हैं, तथापि संग्रामौपयिक वेशभूषासाधनसमुत्साहादिके युद्धसौकर्यार्थ पूर्णरूपसे देखनेकी इच्छा अर्जुनको है, अतः 'कैर्मया सह योद्धव्यम्' का अर्थ करना चाहिये कि 'कैर्मया सह स्थित्वा परैर्योद्धव्यम्' अर्थात् मेरे साथ खड़े होकर कौन-कौन शत्रुसेनाओंसे लड़ेंगे—इस तात्पर्यसे अपनी सेनाके वीरोंको प्रथम देखा। 'योत्स्यमानानवेक्षेऽहम्' इत्यादि द्वितीय श्लोकसे परसेनासमवेत वीरोंको देखनेकी इच्छा स्फुट की। इस प्रकार पुनरुक्तकी शङ्का ही नहीं होती। भिन्न-भिन्न वाक्यार्थके तात्पर्यसे दो बार प्रयोग करना समुचित ही है। 'सेनयोरुभयोः' इत्यादि पदका स्वारस्य इसी अर्थमें है। 'तत्रापश्यत् स्थितान् पार्थ' इत्यादिसे सेनयोरुभयोरपि एतदन्त डेढ़ श्लोकसे उपसंहारमें दोनों सेनाओंके वीरोंको अर्जुनने देखा, यह स्पष्ट ही है। उपक्रमोपसंहारादिसे ही वाक्यका वास्तविक तात्पर्य निर्णीत होता है और स्वामीजीका यह अर्थ मत्कर्तृक युद्धका प्रतियोगी कौन है और किंकर्तृक युद्धका प्रतियोगी मैं हूँ। इस तात्पर्यसे कौरवसेनाको देखनेको ही कहा, यह उपक्रमोपसंहारके अनुकूल नहीं है और बिना अपनी शक्ति समझे दूसरेकी शक्ति देखनेसे स्वोत्कर्षका निश्चय भी नहीं होता, जो युद्धारम्भमें आवश्यक है और स्वामीजीका मत्कर्तृक युद्धका प्रतियोगी प्रतिभट कौन है इत्यादि अर्थद्वय बतलाना अर्थतः सिद्ध होनेसे अनावश्यक है। जिससे अर्जुन युद्ध करेंगे, वह अर्जुनसे युद्ध करेगा ही, अतः प्रतियोगित्व परस्पर स्फुट ही है। प्रथम जो जिससे युद्ध करेगा उसीका प्रतियोगी दूसरा होगा, द्वितीयका प्रथम नहीं। इसमें कुछ विनिगमक नहीं है और युद्धमें कौन प्रथम प्रहार करेगा, इसका युद्धारम्भसे पूर्व सार्वत्रिक निर्णय नहीं हो सकता। जिनके साथ मुझे युद्ध करना है उनको, और जो मेरे साथ रहकर शत्रुओंसे युद्ध करेंगे उनको, ऐसा यदि कहा गया होता, तो द्वितीय श्लोकका उच्चारण ही नहीं होता, किन्तु ऐसा कहा नहीं गया है। इसलिये मेरे साथ रहकर कौन-कौन शत्रुओंसे युद्ध करेंगे, इस तात्पर्यसे 'कैर्मया सह योद्धव्यम्' यह प्रथम श्लोक है और कौन-कौन मेरे साथ युद्ध करेंगे, इस तात्पर्यसे 'योत्स्यमानानवेक्षेऽहम्' इत्यादि द्वितीयश्लोक है। ऐसा अर्थ करनेमें पुनरुक्तिकी शङ्का ही नहीं होती। उपसंहार भी इसी अर्थमें हस्तावलम्ब देता है। 'तत्रापश्यत स्थितान् पार्थः' से लेकर 'सेनयोरुभयोरपि' इस श्लोकके अन्तसे

सञ्जय उवाच

एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम् ॥ २४ ॥
भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम् ।
उवाच पार्थ पश्यैतान्समवेतान्कुरूनिति ॥ २५ ॥

सञ्जयने कहा—हे भारत, इस प्रकार अर्जुनसे कहे गये हृषीकेश भगवान् श्रीकृष्णने दोनों सेनाओंके बीचमें भीष्म, द्रोण एवं सभी राजाओंके सामने दिव्य रथ खड़ा करके कहा—हे पार्थ, युद्ध करनेके लिए इकट्ठे हुए इन सभी कुरुवंशमें उत्पन्न हुए पुरुषोंको देख लो ॥ २४-२५ ॥

एवमर्जुनेन प्रेरितो भगवानहिंसारूपं धर्ममाश्रित्य प्रायशो युद्धोत्तं व्यावर्तयिष्यतीति धृतराष्ट्राभिप्रायमाशङ्क्य तं निराचिकीर्षुः सञ्जयो धृतराष्ट्रं प्रत्युक्तवानित्याह वैशम्पायनः ।

हे भारत-धृतराष्ट्र, भरतवंशमर्यादामनुसन्धायापि द्रोहं परित्यज ज्ञातीनामिति सम्बोधनाभिप्रायः । गुडाकाया निद्राया ईशेन जितनिद्रतया सर्वत्र सावधानेनार्जुनेनैवमुक्तो भगवानयं मद्भृत्योऽपि सारथ्ये मां नियोजयतीति दोषमासज्य नाकुप्यत, न वा तं युद्धान्न्यवर्तयत्, किन्तु सेनयोरुभयोर्मध्ये भीष्मदोणप्रमुखतस्तयोः प्रमुखे संमुखे सर्वेषां महीक्षितां च संमुखे, आद्यादित्वा-

---

स्पष्ट है कि दोनों सेनाओंके वीरोंको अर्जुनने देखा, यही मध्यमें रथस्थापनका प्रयोजन है] ॥ २३ ॥

इस प्रकार अर्जुनके कहनेपर भगवान् अहिंसारूप धर्मका आश्रय लेकर प्रायः अर्जुनको युद्धसे विरत करेंगे—इस धृतराष्ट्रके आशयको समझकर तन्निराकरणेच्छावान् सञ्जय धृतराष्ट्रके प्रति बोले, यह वैशम्पायनने जनमेजयसे कहा है ।

हे भारत--धृतराष्ट्र, भरतवंशकी मर्यादाका अनुसन्धानकर ज्ञातिके द्रोहका परित्याग करो, यह उक्त सम्बोधनका अभिप्राय है । गुडाका निद्रा, तदीश अर्थात् जितनिद्र यानी निद्राके विजयी, अतएव सब कामोंमें सावधान अर्जुनने भगवान्से उक्त बातें कहीं । भगवान्ने यह मेरा दास होकर भी सारथीके काममें मुझे नियुक्त करता है, यह दोष लगाकर अर्जुनके ऊपर कोप नहीं किया और न अर्जुनको युद्धसे उपरत ही किया, किन्तु दोनों सेनाओंके मध्यमें भीष्म-द्रोणप्रमुखतः—उन दोनोंके प्रमुख यानी आगे

त्सार्वविभक्तिकस्तसिः । चकारेण समासनिविष्टोऽपि प्रमुखतःशब्द आकृष्यते । भीष्मद्रोणयोः पृथक्कीर्तनमतिप्राधान्यसूचनाय । रथोत्तममग्निना दत्तं दिव्यं रथं भगवता स्वयमेव सारथ्येनाधिष्ठिततया च सर्वोत्तमं स्थापयित्वा हृषीकेशः सर्वेषां निगूढाभिप्रायज्ञो भगवानर्जुनस्य शोकमोहावुपस्थिताविति विज्ञाय सोपहासमर्जुनमुवाच—हे पार्थ, पृथायाः स्त्रीस्वभावेन शोकमोहग्रस्ततया तत्सम्बन्धिनस्तवापि तद्वत्ता समुपस्थितेति सूचयन् हृषीकेशत्वमात्मनो दर्शयति। पृथा मम पितुः स्वसा, तस्याः पुत्रोऽसीति सम्बन्धोल्लेखेन चाऽऽश्वासयति। मम सारथ्ये निश्चितो भूत्वा सर्वानपि समवेतान् कुरून् युयुत्सून् पश्य निःशङ्कतयेति दर्शनविध्यभिप्रायः। अहं सारथ्येऽतिसावधानस्त्वं तु साम्प्रतमेव रथित्वं त्यक्ष्यसीति किं तव परसेनादर्शनेनेत्यर्जुनस्य धैर्यमापादयितुं पश्येत्येतावत्पर्यन्तं भगवतो वाक्यम् । अन्यथा रथं सेनयोर्मध्ये स्थापयामासेत्येतावन्मात्रं ब्रूयात् ॥ २४, २५ ॥

और सब राजाओंके सामने भी, रथोत्तम—अग्निदेवसे दिया गया दिव्यरथ खड़ाकर कहा—हे पार्थ ? युद्धेच्छुक कौरवोंको देखो। 'प्रमुखतः' यहाँ प्रमुख शब्दको आद्यादि मानकर सार्वविभक्तिक तसिल्—प्रत्यय हुआ है। चकारसे कहीं समस्तैकदेशका भी आकर्षण होता है, इसलिए 'भीष्मद्रोणप्रमुखतः' यहाँपर 'प्रमुखतः' यह भीष्म एवं द्रोणके साथ समस्त है, फिर भी चकार से 'प्रमुखतः' का आकर्षणकर 'सर्वेषां महीक्षिताम्' के साथ भी सम्बन्ध माना जाता है। 'सर्वेषाम्' से सबका बोध हो ही जाता, पुनः भीष्म और द्रोणका पृथक् निर्देश उनमें अतिप्राधान्य सूचनके लिए ही है। अग्निदेवप्रदत्त दिव्य रथको, सारथीरूपसे स्वयं भगवान्के स्थित रहनेके कारण जो सर्वोत्तम है, खड़ाकर हृषीकेशने अर्थात् सबके हृदयके निगूढ़ आशयके ज्ञाता भगवान् श्रीकृष्णने 'अर्जुनको शोक-मोह उपस्थित है' यह जानकर भी सोपहास अर्जुनसे कहा—हे पार्थ, पृथा अर्जुनकी माता और श्रीकृष्णकी भगिनी थी, उसका स्वभाव तुममें आ गया, इसको सूचित करते हुए भगवान् अपनेमें हृषीकेशत्व सूचन करते हैं। पृथा मेरे पिताकी बहन है, तुम उसके पुत्र हो, इस सम्बन्धको सूचित करनेसे भगवान् अर्जुनको ढाढ़स दिलाते हैं। सारथीके कार्यमें मेरे नियुक्त रहते निश्चित होकर तुम इकट्ठे हुए युद्धेच्छुक इन सब कौरवों को 'देखो' यह निःशङ्करूपसे दर्शन के लिए आज्ञा देने में ही भगवान् का अभिप्राय है। मैं सारथी होकर खूब सावधान हूँ, तुम अभी रथित्वको छोड़ दोगे, तो फिर शत्रुसेना देखनेसे लाभ ही

तत्रापश्यत्स्थितान्पार्थः पितॄनथ पितामहान् ।
आचार्यान्मातुलान्भ्रातॄन्पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा ।
श्वशुरान्सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि ॥ २६ ॥

युद्धारम्भके पहले सैनिकोंके निरीक्षणके लिए भगवान्की आज्ञा होनेपर अर्जुनने उन दोनों सेनाओंमें स्थित अपने पितृव्य (चाचा), पितामह (दादा), आचार्य, मामा, भाई, पुत्र, पौत्र, सखा, ससुर तथा मित्र आदि सभीको देखा ॥२६॥

तत्र समरसमारम्भार्थं सैन्यदर्शने भगवताऽभ्यनुज्ञाते सति सेनयोरुभयोरपि स्थितान्पार्थोऽपश्यदित्यन्वयः । अथशब्दस्तथाशब्दपर्यायः । परसेना-

क्या ? इस प्रकार अर्जुनको दृढ़सङ्कल्प बनानेके लिए 'पश्य' यहाँतक भगवद्वाक्य है, अन्यथा दोनों सेनाओंके मध्यमें रथ खड़ा कर दिया, इतना ही कहते।

['भीष्मद्रोणप्रमुखतः' यहाँपर 'प्रमुख' शब्द आदिशब्दका समानार्थक है और षष्ठीके अर्थमें सार्वविभक्तिक तसिल् प्रत्यय हुआ है। 'षष्ठी चानादरे' [पा० २-३-२८] से अनादरमें षष्ठी है, इसलिये 'पश्य' का आक्षेप करना आवश्यक है। अतः यह अर्थ हुआ कि भीष्म, द्रोण आदिके सम्मुख, उनका यानी भीष्म, द्रोण आदिका तथा सब देखनेवाले राजाओंका अनादरकर बीचमें रथ खड़ा कर दिया। अथवा 'प्रमुखतः'का 'अग्रतः' अर्थ है। समस्तैकदेश 'प्रमुखतः' को पृथक्कर 'महीक्षिताम्' के साथ सम्बन्ध करना चाहिये। ऐसी स्थितिमें चकार समुच्चयार्थक है। गूढाभिप्राय यानी धृतराष्ट्रके प्रश्नका गूढाभिप्राय—दुर्योधनादि-हृदयविदारणादिक—सञ्जयने कहा।

प्रश्न--धृतराष्ट्रके प्रति सञ्जयने गीताके सब वाक्य कहे हैं, फिर पुनः 'सञ्जय उवाच' यह विशेषवचन क्यों कहा ?

उत्तर--सेनाद्वयके मध्यमें रथ खड़ा करनेसे अर्जुन स्वजनोंको देखेंगे। तदनन्तर उन्हें शोक और मोह अवश्य होगा —यह जानकर भी सर्वज्ञ भगवान्ने निषेध न कर दोनों सेनाओंके मध्यमें रथ खड़ा कर दिया और इसी प्रसङ्गमें निखिलशोकमोहनिवर्तक अध्यात्मतत्त्वके उपदेशसे अर्जुनपर अनुग्रह करूँगा, यहाँतक निश्चय किया। अतः अर्जुन धन्य है, भगवान्का भक्तवात्सल्य अपूर्व है इस अर्थविशेषको अभिव्यक्त करनेके लिए ही 'सञ्जय उवाच' यह विशेष वचन कहा है] ॥२४, २५॥

संग्राम आरम्भ करनेके लिये भगवान्ने अर्जुनको सैन्य देखनेकी सम्मति दी और दोनों सेनाओंके बीच प्रस्तुत वीरोंको उसने देखा भी। यहाँपर 'अथ' शब्द 'तथा' शब्दका पर्याय है, अर्थात् शत्रुसेनामें 'तथा' शब्दका अर्थ ही यहाँ 'अथ'

तान्समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान्बन्धूनवस्थितान् ।
कृपया परयाऽऽविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत् ॥ २७ ॥

युद्धके लिए अवस्थित उन सब बन्धुबान्धवोंको देखकर कुन्तीपुत्र अर्जुनने परम दयासे आक्रान्त तथा विषादको प्राप्त कर भगवान् श्रीकृष्णसे यह कहा ॥ २७ ॥

यां पितॄन्पितृव्यान्भूरिश्रवःप्रभृतीन्, पितामहान्भीष्मसोमदत्तप्रभृतीन्, आचार्यान्द्रोणकृपप्रभृतीन्, मातुलाञ्शल्यशकुनिप्रभृतीन्, भ्रातॄन् दुर्योधनप्रभृतीन्, पुत्राँल्लक्ष्मणप्रभृतीन्, पौत्राँल्लक्ष्मणादिपुत्रान्, सखीनश्वत्थामजयद्रथप्रभृतीन् वयस्यान्, श्वशुरान्भार्याणां जनयितॄन्, सुहृदो मित्राणि कृतवर्मभगदत्तप्रभृतीन् । सुहृद इत्यनेन यावन्तः कृतोपकारा मातामहादयश्च ते द्रष्टव्याः । एवं स्वसेनायामप्युपलक्षणीयम् ॥२६॥

एवं स्थिते महानधर्मो हिंसेति विपरीतबुद्ध्या मोहाख्यया शास्त्रविहितत्वेन धर्मत्वमिति ज्ञानप्रतिबन्धकेन च ममकारनिबन्धनेन चित्तवैक्लव्येन शोकाख्येनाभिभूतविवेकस्यार्जुनस्य पूर्वमारब्धाद्युद्धाख्यात्स्वधर्मादुपरिरंसा महानर्थपर्यवसायिनी वृत्तेति दर्शयति—'कौन्तेय' इति । स्त्रीप्रभवत्वकीर्तनं पार्थवत्तादात्विकमूढतामपेक्ष्य कृपया कर्त्र्या स्वव्यापारेणैवाऽऽविष्टो

शब्दका अर्थ है । पितॄन्, यानी पितृव्य (चाचा) भूरिश्रवा प्रभृति; पितामह यानी भीष्म, सोमदत्त प्रभृति; आचार्य यानी द्रोण, कृप प्रभृति; मातुल यानी शल्य, शकुनि आदि; भ्राता यानी दुर्योधन आदि; पुत्र यानी लक्ष्मण प्रभृति; पौत्र यानी लक्ष्मण आदिके पुत्र; सखा यानी अश्वत्थामा, जयद्रथ प्रभृति; श्वसुर यानी भार्याके पिता और सुहृद् यानी कृतवर्म, भगदत्त प्रभृति; 'सुहृद्' शब्दसे जिन लोगोंने उपकार किया है—मातामहादि, उन सभीका ग्रहण इष्ट है । इसी प्रकार स्वपक्षमें भी समझना चाहिये ॥ २६ ॥

ऐसी स्थितिमें 'युद्धमें हिंसा महान् अधर्म है' इस मोहनामक विपरीत बुद्धिसे तथा 'शास्त्रविहित युद्धहिंसा धर्म है' इस तत्त्वबुद्धिके प्रतिबन्धक 'ये मेरे हैं' इस ममकारप्रयुक्त चित्तवैकल्यरूप शोकसे आवृत विवेकज्ञानवाले अर्जुनको पूर्वसंकल्पित युद्धाख्य स्वधर्मसे विमुख होनेकी जो इच्छा हुई, वह महा अनर्थप्रद हुई, यह दिखलाते हैं—'कौन्तेय' इससे । स्त्रीसे तुम्हारी उत्पत्ति हुई है, अतः स्त्रीधर्म आना स्वाभाविक ही है, क्योंकि कारणगत

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम् ।
सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति ॥ २८ ॥

अर्जुन ने कहा—हे श्रीकृष्ण, समराङ्गणमें उपस्थित युद्धकी इच्छावाले इन आत्मीयोंको देखकर मेरे सभी अङ्ग शिथिल हो रहे हैं, और मुँहभी सूख रहा है २८

व्याप्तो न तु कृपां केनचिद्व्यापारेणाऽऽविष्ट इति स्वतःसिद्धैवास्य कृपेति सूच्यते । एतत्प्रकटीकरणाय परयेति विशेषणम् । अपरयेति वा छेदः । स्वसैन्ये पुराऽपि कृपाऽभूदेव, तस्मिन्समये तु कौरवसैन्येऽप्यपरा कृपाऽभूदित्यर्थः। विषीदन्विषादमुपतापं प्राप्नुवन्नब्रवीदित्युक्तिविषादयोः समकालतां वदन् सगद्गदकण्ठताश्रुपातादि विषादकार्यमुक्तिकाले द्योतयति ॥२७॥

धर्म कार्यमें आते ही हैं। 'कौन्तेय' शब्दसे यह सूचित किया गया है। जैसे पहले 'पार्थ' विशेषणसे तात्कालिक मूढ़ता सूचित की गयी है, वैसे ही यहाँ भी 'कौन्तेय' से मूढ़ता व्यक्त की गयी है। तात्कालिक प्राप्त मूढ़ताकी अपेक्षा करके—कृपयाविष्टः न तु तत्कृपामाविष्टः—अर्जुनको अपने व्यापारसे कृपा प्राप्त हुई, अर्जुन किसी व्यापारसे कृपाविष्ट नहीं हुए। कर्ता कारकसमुदायका प्रवर्तक होता है, प्रवर्त्य नहीं, अतएव वह स्वाभाविक होता है। क्रियाजन्यकृपाश्रय होनेसे आगन्तुकव्यापारविशिष्टका कर्म आगन्तुक ही होता है, प्रकृतमें कर्तृत्वरूपसे कृपा विवक्षित है, इसलिये स्वाभाविक है, आगन्तुक नहीं, यह सूचित होता है—इसीको प्रकट करनेके लिए 'परया' यह विशेषण दिया गया है।

अथवा 'कृपया परया' यहाँपर 'अपरया' यह पदच्छेद भी हो सकता है। [वस्तुतः प्रकृतमें युयुत्सुविषयक कृपा ही विवक्षित है, स्वाभाविक दीन, अनाथ आदिकी शरणागति आदिरूप कृपा नहीं। अजुनमें यदि यह दूसरी कृपा हो गयी होती, तो उसकी युद्धमें प्रवृत्ति ही नहीं होती। चूँकि युद्धमें प्रवृत्त अर्जुनको यह वृत्तान्त कहा गया है; इसलिये यह कृपा युयुत्सुविषयक ही है। 'मेरे द्वारा ये मारे जायँगे' इस मोहसे ही यह आयी है, अतः स्वाभाविक नहीं है। 'कृपाविष्ट' यहाँपर कर्तृत्वनिर्देश पिशाचाविष्टवत् ही है। पिशाचकर्तृक आवेश आगन्तुक ही होता है, स्वाभाविक नहीं। अतः आगन्तुक मोहविकार ही कृपा है, यही अर्थ समुचित है।] अपने सैन्यमें पहले भी कृपा थी ही, उस समय कौरवसैन्यमें भी दूसरी नयी कृपा हुई, यह अपरयाका भाव है। 'विषीदन् अब्रवीत्' यानी विषादग्रस्त होते हुए बोले, इस कथनसे विषाद और उक्ति में समकालता बतलाते हुए द्योतित करते हैं कि बोलनेके समय गला भर आना, अश्रुपात आदि विषादकार्य हुए ॥ २७ ॥

वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते ।
गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते ॥ २९ ॥

मेरे शरीर में कम्पन हो रहा है, रोंगटे खड़े हो रहे हैं, हाथसे गाण्डीव धनुष गिरा जा रहा है और शरीरकी त्वचा भी जल रही है ॥ २९ ॥

तदेव भगवन्तं प्रत्यर्जुनवाक्यमवतारयति सञ्जयः—'अर्जुन उवाच' इत्यादिना 'एवमुक्त्वाऽर्जुनः सङ्ख्ये' इत्यतः प्राक्तनेन ग्रन्थेन । तत्र स्वधर्मप्रवृत्तिकारणीभूततत्त्वज्ञानप्रतिबन्धकः स्वपरदेह आत्मात्मीयाभिमानवतोऽनात्मविदोऽर्जुनस्य युद्धेन स्वपरदेहविनाशप्रसङ्गदर्शिनः शोको महानासीदिति तल्लिङ्गकथनेन दर्शयति—त्रिभिः श्लोकैः । इमं स्वजनमात्मीयं बन्धुवर्गं युद्धेच्छुं युद्धभूमौ चोपस्थितं दृष्ट्वा स्थितस्य मम—पश्यतो ममेत्यर्थः । अङ्गानि व्यथन्ते, मुखं च परिशुष्यतीति श्रमादिनिमित्तशोकापेक्षयाऽतिशयकथनाय सर्वतोभाववाचिपरिशब्दप्रयोगः ।

वेपथुः कम्पः । रोमहर्षः पुलकितत्वम् । गाण्डीवभ्रंशेनाधैर्यलक्षणं दौर्बल्यं त्वक्परिदाहेन चान्तःसन्तापो दर्शितः ।

अवस्थातुं शरीरं धारयितुं च न शक्नोमीत्यनेन मूर्छा सूच्यते । तत्र

सञ्जय भगवान्के प्रति उस अर्जुनवाक्यका अवतरण करते हैं—'अर्जुन उवाच' इत्यादि वाक्यसे लेकर 'एवमुक्त्वाऽर्जुनः संख्ये' इसके पूर्वतकके ग्रन्थसे ।

स्वधर्म युद्धमें प्रवृत्तिका कारण जो तत्त्वज्ञान है यानी 'युद्धमें हिंसा धर्म है' उसका प्रतिबन्धक जो स्वपरदेहमें आत्मा और आत्मीयका अभिमान है तद्वान्, अतएव अनात्मज्ञ तथा युद्धमें स्वपरदेहविनाशप्रसङ्गदर्शी अर्जुनको बड़ा शोक हुआ, इसे कार्यज्ञापनपुरःसर तीन श्लोकोंसे स्फुट करते हैं । इन अपने उपस्थित बन्धुवर्गोंको युद्धेच्छु युद्धभूमिमें उपस्थित देखकर यहाँ अवस्थित हुए मेरे अवयव व्यथित होते हैं और मुख सूखता है । श्रम, थकावट आदि निमित्तजात शोककी अपेक्षा विशेष सूचन करनेके लिये 'परि' शब्दका प्रयोग हुआ है, जिसका अर्थ सर्वतोभाव है ।

वेपथु—कम्प । रोमहर्ष—रोमाञ्च होना । गाण्डीव खिसकनेसे अधैर्यलक्षण दुर्बलता तथा त्वक्परिदाहसे अन्तर्गत सन्ताप सूचित किया गया है ।

खड़े रहने और शरीर धारण में असमर्थ हूं, इससे मूर्च्छा सूचित

न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः ।
निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव ॥ ३० ॥

चूँकि मेरा मन चक्कर काट रहा है, इसलिए मैं खड़ा नहीं रह सकता तथा हे केशव, मैं निमित्त भी विपरीत (वामनेत्रस्फुरण आदि अनर्थसूचक) ही देख रहा हूँ ॥ ३० ॥

हेतुः—मम मनो भ्रमतीवेति । भ्रमणकर्तृसादृश्यं नाम मनसः कश्चिद्विकारविशेषो मूर्छायाः पूर्वावस्था। चो हेतौ । यत एवमतो नावस्थातुं शक्नोमीत्यर्थः। पुनरप्यवस्थानासामर्थ्ये कारणमाह—निमित्तानि च। सूचकतयाऽऽसन्नदुःखस्य विपरीतानि वामनेत्रस्फुरणादीनि पश्यामि अनुभवामि । अतोऽपि नावस्थातुं शक्नोमीत्यर्थः । अहमनात्मवित्त्वेन दुःखित्वाच्छोकनिबन्धनं क्लेशमनुभवामि त्वं तु सदानन्दरूपत्वाच्छोकासंसर्गीति कृष्णपदेन सूचितम् । अतः स्वजनदर्शने तुल्येऽपि शोकासंसर्गित्वलक्षणाद्विशेषात्त्वं मामशोकं कुर्विति भावः। केशवपदेन च तत्करणसामर्थ्यम्; को ब्रह्मा सृष्टिकर्ता, ईशो रुद्रः संहर्ता, तौ वात्यनुकम्प्यतया गच्छतीति तद्व्युत्पत्तेः । भक्तदुःखकर्षित्वं वा कृष्णपदेनोक्तम्, केशवपदेन च केश्यादिदुष्टदैत्यनिबर्हणेन सर्वदा भक्तान् पालयसीत्यतो मामपि शोकनिवारणेन पालयिष्यसीति सूचितम् ॥२८-३०॥

होती है । इसमें यह कारण है—मेरा मन घूम-सा रहा है। मन घूमनेका साम्य मनका कोई विकारविशेष यानी मूर्च्छाकी पूर्वावस्थारूपमें है । यहाँ 'च' हेतुमें है । 'यतः एवम्, अतो नावस्थातुं समर्थः' अर्थात् चूँकि ऐसा हो रहा है, अतः मैं खड़ा नहीं रह सकता, यह अर्थ है। खड़ा न रहनेमें और भी कारण कहते हैं—विपरीत यानी अचिरभावि-अनिष्टफलसूचक निमित्त वामनेत्रस्फुरण आदिका अनुभव कर रहा हूँ, इससे भी खड़ा नहीं रह सकता । मैं आत्मज्ञ नहीं हूँ, अतएव दुःखी होकर शोकका अनुभव करता हूँ। आप तो सदानन्दस्वरूप हैं, अतएव शोकसम्बन्धरहित—दुःखरहित— हैं, यह कृष्णपदसे सूचित किया है। आप और हम स्वजनोंको समान देख रहे हैं, पर आपमें शोकसम्बन्धाभाव विशेष होनेसे आप मुझे भी अशोक बनाइये, यह अर्जुनका अभिप्राय है। केशवपदसे शोकाकरणसामर्थ्यका प्रदर्शन किया गया है। क-ब्रह्मा-सृष्टिकर्ता, ईश-रुद्र—संहारकर्ता,

न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे।
न काङ्क्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च ॥३१॥

युद्धमें आत्मीयोंको मारकर मैं कोई कल्याण नहीं देखता। हे कृष्ण, मैं विजय नहीं चाहता। राज्य तथा विषयसुख आदि भी कुछ नहीं चाहता ॥ ३१ ॥

एवं लिङ्गद्वारेण समीचीनप्रवृत्तिहेतुभूततत्त्वज्ञानप्रतिबन्धकीभूतं शोकमुक्त्वा संप्रति तत्कारितां विपरीतप्रवृत्तिहेतुभूतां विपरीतबुद्धिं दर्शयति–'न च' इत्यादिसे। श्रेयः पुरुषार्थं दृष्टमदृष्टं वा। बहुविचारणादनु पश्चादपि न पश्यामि, अस्वजनमपि युद्धे हत्वा श्रेयो न पश्यामि ;

ये दोनों आपके दयनीय हैं, इसलिये दयार्थ जो उनके पास जाय, वह केशव है। 'केशौ वाति' इति केशवः। 'वा गतिगन्धनयोः' इस व्युत्पत्तिसे केशव संबोधन दिया। अथवा भक्तदुःखाकर्षक कृष्णपदसे सूचित किया है तथा केशवपदसे केशिनामक दुष्टदानवदलनसे सदा भक्तोंका पालन करते हैं, अतः मेरा भी शोकनिवारणकर पालन करेंगे, यह सूचित किया है ॥

[प्रश्न--मेरे कर, चरण आदि शिथिल हो रहे है, इस कारण मैं युद्ध नहीं करना चाहता। शरीर कर्म नहीं कर सकते हो, तो वाचिक ही युद्धकर्म करो ?

उत्तर--मेरा मुख सूखता है, अतः वाचिक कर्म भी नहीं कर सकता। इस समय ऐसा मत कहिये कि धैर्यसे खड़े ही रहो, क्योंकि मेरा शरीर काँप रहा है, अतः खड़ा भी नहीं रह सकता। मैं अन्तर्बलशून्य हूँ, इसे परिस्फुट करनेके लिये 'गाण्डीवं स्रंसते' यह कहा है। गाण्डीव धनुष हाथसे खिसक रहा है। अच्छा तो गाण्डीव रख चुपचाप खड़े रहो—यदि यह कहिये, तो यह भी नहीं हो सकता; क्योंकि मेरा मन चक्रके समान घूम रहा है। मूर्च्छाका पूर्वावस्थारूप विकार भ्रमण है। लोकोपकारार्थ जो मेरे ज्ञानका हरण आपने किया, वह मैं समझ गया, यह कृष्णसम्बोधनसे सूचित किया है] ॥ २८-३० ॥

इस तरह कार्य द्वारा समीचीनप्रवृत्तिकारण जो तत्त्वज्ञान है, तत्प्रतिबन्धक शोक कहकर, इस समय तत्प्रयुक्त विपरीत--असमीचीनप्रवृत्तिकारण विपरीत-अतात्त्विक बुद्धि दिखलाते हैं— 'न च' इत्यादिसे। श्रेयः पुरुषार्थ यानी कल्याण। दृष्ट और अदृष्ट यानी ऐहिक और पारलौकिक भेदसे पुरुषार्थ दो प्रकारका है। बहुत विचारके बाद भी यह निश्चय नहीं कर पाता कि युद्धकी हिंसा धर्म है, क्योंकि अस्वजनोंको [जो

किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा ।
येषामर्थे काङ्क्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च ॥३२॥
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च
आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः ॥ ३३ ॥
मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः संबन्धिनस्तथा ।
एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन ॥३४॥

हे गोविन्द, राज्यसे हमें क्या प्रयोजन ? या राज्यप्राप्तिजन्य भोगों तथा जीवनके साधनभूत विजयसे ही क्या मतलब है ? जिनके लिए हम राज्य, भोग और सुख चाहते हैं, वे ही ये सब अपने प्राण और धनका त्यागकर युद्धमें लड़नेके लिए डटे हैं। इनमें कोई हमारे आचार्य, कोई पिता, कोई पितामह, कोई मामा, कोई ससुर, कोई पोते, कोई साले और कोई सम्बन्धी हैं। हे मधुसूदन, ये भले ही मुझे मार डालें, लेकिन मैं इन्हें स्वर्गके राज्यके लिए भी नहीं मारना चाहता, फिर

" द्वाविमौ पुरुषौ लोके सूर्यमण्डलभेदिनौ ।
परिव्राड्योगयुक्तश्च रणे चाभिमुखो हतः ॥"

इत्यादिना हतस्यैव श्रेयोविशेषाभिधानात् । हन्तुस्तु न किंचित्सुकृतम् । एवमस्वजनवधेऽपि श्रेयसोऽभावे स्वजनवधे सुतरां तदभाव इति ज्ञापयितुं स्वजनमित्युक्तम् । एवमनाहववधे श्रेयो नास्तीति सिद्धसाधनवारणायाऽऽहव इत्युक्तम् ॥ ३१ ॥

ननु मा भूददृष्टं प्रयोजनं दृष्टप्रयोजनानि तु विजयो राज्यं सुखानि च

अपने बन्धुवर्ग नहीं हैं, उनको] भी मारनेसे पुरुषार्थ नहीं होता, फिर स्वजनोंको मारनेसे पुरुषार्थ होगा यह आशा ही नहीं। 'द्वाविमौ पुरुषौ लोके सूर्यमण्डलभेदिनौ। परिव्राड् योगयुक्तश्च रणे चाभिमुखो हतः ॥' इस श्लोकसे युद्धमें अभिमुख मरने वालेको ही स्वर्ग होता है, मारने वालेको कुछ भी पुण्य नहीं होता, यह कहा गया है। इस तरह पराये लोगोंको मारनेसे यदि श्रेयः नहीं होगा, तो स्वकीयजनोंको मारनेसे सुतराम् सुकृत आदि नहीं हो सकता, इसके ज्ञापनार्थ 'स्वजनम्' कहा है। इस प्रकार युद्धसे अन्य हिंसामें श्रेय नहीं है, इस सिद्धसाधनके परिहार के लिए 'आहवे' कहा है ॥३१॥

अच्छा, तो अदृष्ट कोई प्रयोजन ही है, ठीक है, परन्तु दृष्टप्रयोजन तो स्पष्ट ही है—विजय, राज्य, सुखभोग आदि। इसमें तो विवाद ही नहीं है, इसपर कहते

अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते ।
निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन ॥३५॥

पृथिवीके राज्यके लिए तो कहना ही व्यर्थ है ? हे जनार्दन, दुर्योधन आदि अपने बन्धुबान्धवोंको मारनेसे हमें कौन-सी प्रसन्नता मिल सकती है ? ॥ ३२-३५ ॥

निर्विवादानीत्यत आह'—न काङ्क्षे' इति । पूर्वत्र सुखं परतः फलाकाङ्क्षा ह्युपायप्रवृत्तौ कारणम्, अतस्तदाकाङ्क्षाया अभावात्तदुपाये युद्धे भोजनेच्छाविरहिण इव पाकादौ मम प्रवृत्तिरनुपपन्नेत्यर्थः ॥३१॥

कुतः पुनरितरपुरुषैरिष्यमाणेषु तेषु तवानिच्छेत्यत आह—'किं नो' इति । भोगैः सुखैर्जीवितेन जीवितसाधनेन विजयेनेत्यर्थः । विना राज्यं भोगान्कौरवविजयं च वने निवसतामस्माकं तेनैव जगति श्लाघनीयजीवितानां किमेभिराकाङ्क्षितैरिति भावः । गोशब्दवाच्यानीन्द्रियाण्यधिष्ठानतया नित्यं प्राप्तस्त्वमेव ममैहिकफलविरागं जानासीति सूचयन् संबोधयति—'गोविन्द' इति ॥ ३२ ॥

राज्यादीनामाक्षेपे हेतुमाह—'येषामर्थे' इति । एतेन स्वस्य वैराग्येऽपि स्वीयानामर्थे यतनीयमित्यपास्तम् । एकाकिनो हि राज्याद्यनपेक्षितमेव । येषां तु

हैं—'न कांक्षे' यह । पूर्वमें सुखज्ञान ततः फलेच्छा, साधनप्रवृत्तिमें कारण है । इसलिए सुखकी आकांक्षा न होनेपर सुखसाधन युद्धोपायमें प्रवृत्ति नहीं हो सकती । जैसे भोजनेच्छारहितकी भोजनसाधन पाकमें प्रवृत्ति नहीं होती, वैसे ही मेरी प्रवृत्ति भी उत्पन्न नहीं है, यह अर्थ है ॥ ३१ ॥

क्यों और पुरुषोंको ईप्सित है और आपको उसमें इच्छा नहीं है, इसपर कहते हैं—'किं नो' इत्यादिसे । भोगों यानी सुखोंसे अथवा जीवनके साधन विजयसे क्या लाभ ? राज्यभोग और कौरवके ऊपर विजय प्राप्त किये बिना ही वनमें निवास करनेवाले हमलोगोंका जीवन वननिवासमें ही स्पृहणीय था, इसलिये इनकी आकांक्षा व्यर्थ है, यह भाव है । गोशब्दार्थ इन्द्रियों-का सदा अधिष्ठाता होनेसे सांसारिक फलभोगसे वैराग्य जो मेरे मनमें है उसको आप स्वयं जानते हैं, यह सूचनार्थ 'गोविन्द' यह मित्रसम्बोधन है ॥ ३२ ॥

राज्य आदिके आक्षेपमें हेतु कहते हैं—'येषामर्थे' इत्यादि ।

इससे यह भी शङ्का नहीं हो सकती कि आपको राज्य आदि ईप्सित नहीं है, तो भी आत्मीयोंके प्रयोजनार्थ यत्न करना चाहिये । अकेलेके लिये राज्य आदि

बन्धूनामर्थे तदपेक्षितं त एते प्राणान् प्राणाशां धनानि धनाशां च त्यक्त्वा युद्धेऽवस्थिता इति न स्वार्थः स्वीयार्थो वाऽयं प्रयत्न इति भावः। भोगशब्दः पूर्वत्र सुखपरतया निर्दिष्टोऽप्यत्र पृथक्सुखग्रहणात्सुखसाधनविषयपरः। प्राण-धनशब्दौ तु तदाशालक्षकौ। स्वप्राणत्यागेऽपि स्वबन्धूनामुपभोगाय धनाशा संभवेदिति तद्वारणाय पृथग्धनग्रहणम् ॥ ३३ ॥

येषामर्थे राज्याद्यपेक्षितं तेऽत्र नाऽऽगता इत्याशङ्क्य तान्विशिनष्टि-'आचार्याः' इत्यादिः। स्पष्टम्।

ननु यदि कृपया त्वमेतान्न हंसि तर्हि त्वामेते राज्यलोभेन हनिष्यन्त्येव, अतस्त्वमेवैतान्हत्वा राज्यं भुङ्क्ष्वेत्यत आह—'एतान्' इति। त्रैलोक्यराज्यस्यापि हेतोस्तत्प्राप्त्यर्थमपि अस्मान्घ्नतोऽप्येतान्न हन्तुमिच्छामीच्छामपि न कुर्यामहं किं पुनर्हन्याम्, महीमात्रप्राप्तये तु न

अनपेक्षित ही है। जिन बन्धुवर्गोंके लिये अपेक्षित है, वे सब प्राणाशा और धनाशाका त्यागकर युद्धमें डटे हैं, इस प्रकार न स्वार्थ न स्वीयार्थ ही यह प्रयत्न हो सकता है, यह भाव है। पूर्वश्लोकमें 'भोग' शब्द सुखभोगपरक कहा गया है, यहाँ पृथक् सुखग्रहण है, अतः उक्त शब्द सुखसाधन विषयशब्दादिपरक है। प्राण और धनशब्द तो प्राणाशा और धनाशाके लक्षक हैं। यदि कहिये,लक्षणा क्यों? तो इसका उत्तर यह है कि वे प्राणका त्यागकर युद्धमें कैसे आ सकते हैं? युद्ध-भूमिमें स्थित निष्प्राण नहीं थे; हाँ, प्राणाशाका त्याग अवश्य कर चुके थे, इसलिये लक्षणा है।

प्रश्न—प्राणका त्याग कहनेसे धनत्याग भी अर्थतः प्राप्त ही है, पुनः पृथक् निर्देश क्यों किया?

उत्तर—स्वप्राणके त्यागनेपर भी स्वजनोंके उपकारार्थ धनाशा हो सकती है. अतः पृथक् तदुपादान है ॥ ३३ ॥

जिनके लिये राज्य आदि अपेक्षित है, वे तो यहाँ नहीं आये हैं, इस आशङ्कासे उनमें विशेषण देते है—'आचार्याः' इत्यादि। अर्थ स्पष्ट है।

यदि दयासे तुम इन्हें न मारोगे, तो राज्यसुखलोभसे वे तो तुम्हें अवश्य मारेंगे ही, अतः तुम्हीं इनको मारकर राज्यसुखका भोग करो, इसपर कहते हैं—'एतान्' इत्यादिसे। त्रैलोक्यराज्यप्राप्तिहेतुसे यानी त्रैलोक्यराज्यप्राप्त्यर्थ भी मुझको मारनेवाले भी इन्हें मारनेकी मैं इच्छा तक नहीं करता, मारना तो दूर रहा। फिर केवल पृथिवीके लिये मार ही नहीं सकता, इसमें कहना ही क्या? यह अर्थ है। भगवान् वैदिक

पापमेवाऽऽश्रयेदस्मान्हत्वैतानाततायिनः ।
तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान्स्वबान्धवान् ।
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव ॥ ३६ ॥

इन आततायियोंको मारनेसे हमें पाप ही लगेगा। इसलिए बन्धु-बान्धवों-के सहित इन दुर्योधन आदिको हम मारना नहीं चाहते। हे माधव, आत्मीयको मारकर भला हम कैसे सुखी रहेंगे ? ॥ ३६ ॥

हन्यामिति किमु वक्तव्यमित्यर्थः। मधुसूदनेति संबोधयन्वैदिकमार्गप्रवर्तकत्वं भगवतः सूचयति ॥ ३४ ॥

नन्वन्यान्विहाय धार्तराष्ट्रा एव हन्तव्यास्तेषामत्यन्तक्रूरतरतत्तद्दुःख-दातॄणां वधे प्रीतिसंभवादित्यत आह– 'निहत्य' इति। धार्तराष्ट्रान्दुर्योधनादी-न्भ्रातॄन्निहत्य स्थितानामस्माकं का प्रीतिः स्यात्, न काऽपीत्यर्थः। न हि मूढ-जनोचितक्षणमात्रवर्तिसुखाभासलोभेन चिरतरनरकयातनाहेतुर्बन्धुवधोऽस्माकं युक्त इति भावः। जनार्दनेति संबोधनेन यदि वध्या एते तर्हि त्वमेवै-ताञ्जहि, प्रलये सर्वपापासंसर्गित्वादिति सूचयति ॥ ३५ ॥

ननु "अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहः। क्षेत्रदारापहारी च षडेते

मार्गके प्रवर्तक हैं, यह अर्थविशेष 'मधुसूदन' सम्बोधनसे स्फुट सूचित करते हैं। [अथवा आपने भी मधुको मारकर अपने पुत्रकी रक्षा की, फिर हम अपने सम्बन्धियोंका नाश क्यों करें, यह उक्त संबोधनसे सूचित होता है] ॥ ३४ ॥

अच्छा, तो औरोंको छोड़कर धृतराष्ट्रके पुत्रोंको ही मारो, क्योंकि वे तुम्हें अत्यन्त भयंकर दुःख देनेवाले हैं। इन्हें मारनेसे प्रीति होनेका संभव है, इस शङ्कासे कहते हैं—'निहत्य' इत्यादि।

दुर्योधनादि भाइओंके मारनेसेभी क्या प्रीति होगी। कुछ भी नहीं। मूर्खजनो-चित क्षणमात्रवर्ति क्षणिक सुखके लोभसे अधिक कालतक नरक,कष्ट आदिका साधन बन्धुबान्धवादिवध हम लोगोंके लिये उचित नहीं है। मूर्ख क्षणिक सुखके लिये गुरुतर पाप करते हैं,परन्तु समझदार ऐसा नहीं कर सकता। यदि ये वध्य हैं,तो आप ही इनका बध कीजिये। प्रलयमें सब प्राणियोंका संहार करनेपर भी सब पापोंसे आप सदा मुक्त ही रहते हैं, यह अर्थ 'जनार्दन' विशेषणसे सूचित करते हैं ॥ ३५ ॥

'अग्निदो गरदश्चैव' इत्यादि वचनोंसे वे दुर्योधन आदि सब प्रकारके

ह्याततायिनः ॥" इति स्मृतेरेतेषां च सर्वप्रकारैराततायित्वात् ।

" आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन् ।
नाऽऽततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन ॥"

इति वचनेन दोषाभावप्रतीतेर्हन्तव्या एव दुर्योधनादय आततायिन इत्याशङ्क्याऽऽह—'पापमेव' इति । एतानाततायिनोऽपि हत्वा स्थितानस्मान्पाप-

---

आततायी हैं । 'आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन्'* 'आततायिवधे' इत्यादि वचनोंसे दोषाभाव स्फुट है, अतः दुर्योधन आदि हन्तव्य ही हैं । इनके हननमें दोष नहीं, इस आशंकासे कहते हैं—'पापमेव' इत्यादि ।

---

* धर्मशास्त्रसे औशनसाद्यर्थशास्त्रका निराकरण सिद्धप्राय है, अतः धर्मशास्त्रान्तर्गत ही राजनीतिलक्षण धर्मशास्त्र यहाँ विवक्षित है । अर्थशास्त्रका धर्मशास्त्र-स्मृतियोंसे विरोध होनेपर अर्थशास्त्रसे धर्मशास्त्र बलवान् होता है, यह मर्यादा है । यद्यपि दोनों वचनोंका कर्ता एक ही पुरुष है, अतः दोनोंमें विशेष नहीं है, प्रत्युत आप्तोक्तत्व समान ही है, तथापि आश्रयगत विशेष है । एकका विषय धर्म है और दूसरेका विषय अर्थ है । अर्थकी अपेक्षा धर्म प्रधान है । तदपेक्षासे अर्थ अप्रधान है । अतः धर्मशास्त्र बलवान् है । आश्रयगत बलाबल स्वरूपगत बलाबलसे अधिक माना जाता है । अतएव 'वेदं कृत्वा वेदिं करोति', 'क्षुत आचामेत्' इन दोनों वाक्योंमें जहाँ विरोध होता है, जैसे वेद (दर्भमुष्टिविशेष) बनानेके अनन्तर वेदी करना प्रकृत वचनसे प्राप्त है और 'छींक होने पर आचमन करना' उक्त वाक्यसे प्राप्त है । एक पुरुष एक कालमें दोनों नहीं कर सकता, फिर क्या करे ? इस शङ्कामें वैदिक कालसे स्मृतिका बाध करना औत्सर्गिक है । इसलिये 'वेदी बनानी चाहिये' यह पूर्वपक्षकर सिद्धान्त किया है कि यद्यपि अपौरुषेयत्वेन निर्दुष्ट वेदवाक्य स्वरूपतः प्रबल है, तथापि अर्थकी अपेक्षा अर्थनिष्ठ क्रमरूप धर्म तो अप्रधान है, तदाश्रित वेदवाक्य दुर्बल है और आचमनरूप प्रबलपदार्थाश्रित आचमनबोधक स्मृति प्रबल है । अतः स्मृतिसे श्रुतिका बाधकर 'आचमन करके ही वेदी बनानी चाहिये' यह भट्टपादने कहा है—'अत्यन्तबलवन्तोऽपि पौरजानपदादयः । दुर्बलैरपि बाध्यन्ते पुरुषैः पार्थिवाश्रितैः ॥' गरीब भी राजपुरुष स्वतः दुर्बल होनेपर भी प्रबल आश्रय राजबलसे बलवान् होकर, धनिक प्रबल नगरनिवासियोंको पकड़कर दण्ड देता ही है, यह लोकमें प्रसिद्ध ही है । एवं शास्त्रमें भी आश्रयबल उत्कृष्ट माना जाता है । इसके अनुसार धर्मशास्त्रसे अर्थशास्त्रका बाध करना समुचित है । विषयव्यवस्था या विकल्प यहाँ ठीक नहीं है ।

प्रश्न—इसका उदाहरण कौन है ?

उत्तर—'गुरुं वा बालवृद्धौ ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम् । आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन् ॥ नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन । प्रच्छन्नं वा प्रकाशं वा मन्युस्तं मन्युमृच्छति ॥' [मनु०८।३५०।५१] तथा 'आततायिनमायान्तमपि वेदान्तगं रणे । जिघांसन्तं जिघांसीयात् न तेन ब्रह्महा भवेत् ॥' यह अर्थशास्त्र है । 'इयं विशुद्धिरुदिता प्रमाप्याकामतो द्विजम् । कामतो ब्राह्मणवधे निष्कृतिर्न विधीयते ॥' [मनु० ११।८६] इत्यादि धर्मशास्त्र भी है। इन दोनोंके विरोधमें धर्मशास्त्र बलवान् है, यही स्वामीजीको विवक्षित है, सो ठीक नहीं है । यदि कहिये कि क्यों ? तो इसका उत्तर यह है कि बलाबलका विचार वहाँ होता है, जहाँ एक विषयमें विरुद्ध वचनोंकी प्रवृत्ति होती है; जैसे 'न हिंस्यात्सर्वाभूतानि' 'अग्नीषोमीयं पशुमालभेत' इत्यादिमें । प्रकृतमें उक्त वचन भिन्न-भिन्न विषयक हैं, इनमें विरोध ही नहीं है । तथाहि-'शस्त्रं द्विजातिभिर्ग्राह्यं धर्मो यत्रोपरुद्ध्यते' [मनु० ८।३४८] (धर्मविप्लवमें द्विजातियों-ब्राह्मणोंको भी शस्त्र ग्रहण करना चाहिये) यह उपक्रमकर 'आत्मनश्च परित्राणे दक्षिणानां च संगरे । स्त्रीविप्राभ्युपपत्तौ च घ्नन् धर्मेण न दण्डभाक् ॥' [मनु० ८।३४९] (आत्मरक्षार्थ दक्षिण, अन्न, धन आदिके अपहरणनिमित्तक संग्राममें स्त्रीब्राह्मणरक्षार्थ धर्मयुद्धसे शत्रुको मारता हुआ पुरुष दोषी नहीं होता) यह कहकर इसका अर्थवाद कहते हैं—'गुरुं वा बालवृद्धौ वा' इत्यादि । अत्यन्त अवध्य गुरु आदि भी यदि आततायी हो,तो मारना चाहिये, दूसरोंमें सन्देह ही कहाँ ? वाशब्दग्रहणसे तथा 'अपि वेदान्तपारगम्' इसमें अपिशब्दसे गुर्वादिमें वध्यत्व प्रतीति नहीं होती । यदि कहिये क्यों ? तो इसका उत्तर यह कि 'वा अपि' ये दोनों सम्भावनाके द्योतक हैं । सम्भावित अर्थ का अनुष्ठान नहीं होता । जैसे 'अपि स्तुयाद्विष्णुं किमन्यं न स्तुवीत' (अवाङ्मनसगोचर विष्णुकी स्तुति नहीं हो सकती, किन्तु जिसके लिये वह भी सम्भावित है उसके लिये अन्यस्तुतिमें कहना ही क्या) यह अन्यस्तुतिविषयक शक्त्युत्कर्षार्थक ही वाक्य है, विष्णुस्तुत्यर्थक नहीं, वैसे ही 'गुरुं वा' इत्यादि वाक्यका भी आततायी गुर्वादिके वधमें भी तात्पर्य नहीं, किन्तु तदितरके वधमें तात्पर्य है । अतएव 'नाततायिवधे दोषोऽन्यत्र गोब्राह्मणवधात्' यह सुमन्तुने स्पष्ट कहा है । 'आचार्यं च प्रवक्तारं मातरं पितरं गुरुम् । न हिंस्याद् ब्राह्मणान् गांश्च सर्वांश्चैव तपस्विनः ॥' [४।१६२] यह मनुवचन है । आततायी आचार्यादिके हिंसानिषेधार्थ ही यह वचन सार्थक होता है, अन्यथा नहीं । सामान्य हिंसाका प्रतिषेध तो 'न हिंस्यात्' इस सामान्यशास्त्रसे ही सिद्ध है । 'नाततायिवधे दोषः' इत्यादि वचन भी ब्राह्मणादिव्यतिरिक्तविषयक है । 'अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहः । क्षेत्रदारहरश्चैव षडेते ह्याततायिनः ॥' तथा 'उद्यतासिर्विषाग्निश्च शापोद्यतकरस्तथा । आथर्वणेन हन्ता च पिशुनश्चापि राजनि ॥ भार्यातिक्रमकारी च रन्ध्रान्वेषणतत्परः । एवमाद्यान् विजानीयात्सर्वाने-

माश्रयेदेवेति सम्बन्धः। अथवा पापमेवाऽऽश्रयेन्न किंचिदन्यद् दृष्टमदृष्टं वा प्रयोजनमित्यर्थः। "न हिंस्यात्" इति धर्मशास्त्रात् 'आततायिनं हन्यात्' इत्यर्थशास्त्रस्य दुर्बलत्वात्। तदुक्तं याज्ञवल्क्येन—

" स्मृत्योर्विरोधे न्यायस्तु बलवान्व्यवहारतः।
अर्थशास्त्रात्तु बलवद्धर्मशास्त्रमिति स्थितिः॥" इति।

अवश्य ही ये आततायी हैं, पर इनको भी मारनेपर हम लोगोंको पाप लगेगा ही, यह सम्वन्ध है। अथवा पाप ही हम लोगोंको लगेगा और दृष्ट-अदृष्ट कुछ भी फल नहीं है। 'न हिंस्यात्' इस निषेधसे 'आततायिनमायान्तम्' यह अर्थशास्त्र दुर्बल है, यह याज्ञवक्ल्यने कहा है—

'स्मृत्योर्विरोधे न्यायस्तु बलवान् व्यवहारतः।
अर्थशास्त्रात्तु बलवद्धर्मशास्त्रमिति स्थितिः॥'

[अथवा भीष्म, द्रोणादिका वध तो अतिनिन्दित है। इनको मारनेसे हमको अवश्य पाप लगेगा। यदि वे लोग शस्त्रग्रहण किये हुए हैं तथा जिघांसु हैं अतएव आततायी हैं, तो मैं भी शस्त्रग्रहीता तथा जिघांसु हूँ, अतः हम लोग भी आततायी ही हैं, इस तात्पर्यसे 'आततायिनः अस्मान्' आततायी हम लोगोंको पाप

बाततायिनः॥' ये सामान्यरूपसे आततायी दिखलाये गये हैं। निष्कर्ष यह है कि ब्राह्मणादिहिंसाके उद्देश्यसे नहीं, किन्तु आत्मरक्षाके तात्पर्यसे आततायीसे बचनेके लिये शस्त्र-प्रयोग किया जाता है। भूलसे ब्राह्मणादि आततायीकी हिंसा हो जाय, तो लघुप्रायश्चित्त है और राजदण्ड कुछ नहीं है, यह निश्चय है। अतः उक्त वचनका उदाहरण दूसरा है। यदि पूछिये, कौन ? तो उसका उत्तर यह है—'हिरण्यभूमिलाभेभ्यो मित्रलब्धिर्वरा यतः।' 'अतो यतेत तत्प्राप्तौ' [याज्ञ० आ०, रा० प्र०, श्लो० ३५२] यह अर्थशास्त्र है। तथा 'धर्मशास्त्रानुसारेण क्रोधलोभविवर्जितः' यह याज्ञवल्क्यस्मृति-व्यवहाराध्याय है। इन दोनोंका किसी विषयमें विरोध होता है, जैसे व्यवहारके समय एककी विजय करानेमें मित्रलाभ होता है, जो हिरण्यादिलाभसे भी उत्तम है। परन्तु धर्मशास्त्रके अनुकूल न होनेसे धर्मशास्त्रका अनुसरण नहीं होता, जिसका धर्मशास्त्रानुसारेण विशेष विधान है। दूसरेको विजय देनेसे धर्मशास्त्रका पूर्ण पालन होता है, किन्तु मित्रलाभ तो दूर रहा, तद्विपरीत शत्रुलाभ ही होता है। इस परिस्थितिमें 'अर्थशास्त्रात्तु बलवद्धर्मशास्त्रम्' इत्यादि वाक्य है। अतएव 'धर्मार्थसन्निपाते अर्थग्राहिण एतदेव' इस वचनसे घूस लेनेवालेको आपस्तम्बने अधिक प्रायश्चित्त कहा है, यह याज्ञवल्क्यस्मृतिकी मिताक्षरामें स्पष्ट है (देखिये—व्यवहाराध्याय, २१वें श्लोककी मिताक्षरा)।

यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः ।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम् ॥ ३७ ॥

यद्यपि लोभसे चित्तवृत्तिके नष्ट हो जानेके कारण कुलनाशसे होनेवाले दोष तथा विश्वासघातजनित पापका ये लोग विचार नहीं करते ॥ ३७ ॥

अपरा व्याख्या—ननु धार्तराष्ट्रान्घ्नतां भवतां प्रीत्यभावेऽपि युष्मान्घ्नतां धार्तराष्ट्राणां प्रीतिरस्त्येव, अतस्ते युष्मान्हन्युरित्यत आह—'पापमेव' इति। अस्मान्हत्वा स्थितानेतानाततायिनो धार्तराष्ट्रान्पूर्वमपि पापिनः सांप्रतमपि पापमेवाऽऽश्रयेन्नान्यत्किंचित्सुखमित्यर्थः। तथा चायुध्यतोऽस्मान्हत्वैत एव पापिनो भविष्यन्ति नास्माकं काऽपि क्षतिः पापसंबन्धादित्यभिप्रायः। 'तस्मान्नार्हा' इति। फलाभावादनर्थसंभवाच्च परहिंसा न कर्तव्येति 'न च श्रेयोऽनुपश्यामि' इत्यारभ्योक्तं तदुपसंहरति—'अदृष्टफलाभावोऽनर्थसंभवश्च तच्छब्देन परामृश्यते। दृष्टसुखाभावमाह—'स्वजनं हि' इति। माधवेति लक्ष्मीपतित्वान्नालक्ष्मीके कर्मणि प्रवर्तयितुमर्हसीति भावः ॥ ३६ ॥

कथं तर्हि परेषां कुलक्षये स्वजनहिंसायां च प्रवृत्तिस्तत्राऽऽह—

अवश्य लगेगा।]

अथवा द्वितीय व्याख्या—दुर्योधनादिके मारनेसे आपलोगोंको प्रीति न होगी, परन्तु आप लोगोंके मारनेसे दुर्योधनादिकोंको जो प्रीति होगी, इसलिये वे लोग हमलोगोंको मारेंगे, इसपर कहते हैं—'पापमेव' इत्यादि। हमलोगोंको मारनेसे इन आततायि दुर्योधनादिको, जो पूर्वमें भी पापी है, इस समय भी पाप लगेगा और कुछ भी सुख नहीं मिलेगा। युद्धविरत हमलोगोंको यदि वे मारेंगे, तो उन्हें पाप लगेगा, हमलोगोंकी कोई क्षति नहीं होगी, क्योंकि पापका संसर्ग हमलोगोंको नहीं होगा, यह अभिप्राय है।

फलके अभावसे तथा अनर्थसम्भवसे हिंसा नहीं करनी चाहिये। 'न च श्रेयोऽनुपश्यामि' यहाँसे आरम्भकर जो कहा है, उसका उपसंहार करते हैं—'तस्मान्नार्हा' इत्यादिसे। अदृष्टफलाभाव और अनर्थसम्भव, इन दोनोंका परामर्शक तच्छब्द है। दृष्टसुखाभाव कहते हैं—'स्वजनं हि' इत्यादिसे। आप लक्ष्मीपति हैं, अलक्ष्मीके कर्ममें कैसे प्रवृत्त कराते हैं, शुभकर्ममें ही प्रवृत्त कराना उचित है, अन्यत्र नहीं यह 'माधव' इस सम्बोधनका अभिप्राय है ॥ ३६ ॥

तो दूसरोंकी कुलनाश एवं स्वबन्धुवर्ग के संहारमें क्यों प्रवृत्ति है, इसपर कहते

'यद्यप्येते' इति। लोभोपहतबुद्धित्वात्तेषां कुलक्षयादिनिमित्तदोषप्रतिसंधानाभावात्प्रवृत्तिः संभवतीत्यर्थः। अत एव भीष्मादीनां शिष्टानां बन्धुवधे प्रवृत्तत्वाच्छिष्टाचारत्वेन वेदमूलत्वादितरेषामपि तत्प्रवृत्तिरुचितेत्यपास्तम्।

हैं—'यद्यप्येते' इत्यादि। लोभसे नष्ट विवेकबुद्धि होनेसे कुलनाशनिमित्त दोषका ध्यान न होनेसे उनकी प्रवृत्ति होती है, अतएव भीष्मादि शिष्टोंकी बन्धुवधमें प्रवृत्ति देखकर शिष्टाचारसे वेदमूलकत्वका अनुमानकर इतरकी भी तादृश कर्ममें प्रवृत्ति होती है, यह कहना ठीक नहीं है, 'हेतुदर्शनाच्च' [४।१।३।३] * मीमांसा-

* 'वैसर्जनाख्यहोमीयवाससोः ग्रहणस्मृतिः। प्रमा न वा श्रुत्यबाधात् प्रमा स्यादष्टकादिवत्॥ दृष्टलोभैकमूलत्वसम्भवे श्रुत्यकल्पनात्। सर्ववेष्टनवद्बाधहीनाऽप्येषा न हि प्रमा॥' 'वैसर्जनीयं वासो अध्वर्युर्गृह्णाति' यह स्मृति प्रमाण है। अथवा अप्रमाणमें यह विचार करते हैं-ऋषिकर्तृकत्वसमान धर्म इसमें भी है, अतः स्मृत्यन्तरवत् यह भी स्मृति प्रमाण है, यह पूर्वपक्षकर सिद्धान्त किया है कि दृष्टलोभमूलक होनेसे यह स्मृति प्रमाण नहीं है। भाव यह है कि स्मृति साक्षात् धर्ममें प्रमाण नहीं है। जिन स्मृतियोंकी मूलभूत श्रुतियाँ उपलब्ध हैं, वे तन्मूलकत्वेन प्रमाण हैं। जिनकी मूलभूत श्रुति दृष्ट नहीं है, वे दो प्रकारकी हैं—एक श्रुतिविरुद्धार्थक और दूसरी तदविरुद्धार्थक हैं। प्रथम स्मृतियाँ विरुद्धार्थक होनेसे प्रमाण नहीं मानी जातीं। द्वितीय स्मृतियोंमें तदर्थक श्रुतिका अनुमानकर तन्मूलकत्वेन प्रामाण्य माना जाता है; जैसे कि 'अष्टका कर्तव्या' यह अविरुद्धार्थ स्मृति है। इसमें एतदर्थक अनुमित श्रुति मूल है, अतः यह प्रमाण है। विरुद्धार्थक है—'औदुम्बरी सर्वा वेष्टयितव्या', क्योंकि 'औदुम्बरीं स्पृष्ट्वा उद्गायेत्' यह प्रत्यक्ष श्रुति है। स्पर्शनसे सर्ववेष्टनका बाध होता है। तृतीय यह है—'वैसर्जनीयं वासोऽध्वर्युर्गृह्णाति' यहाँ अष्टकास्मृतिके समान तदर्थक श्रुतिका अनुमानकर तन्मूलकत्वेन इसमें प्रामाण्य नहीं माना जाता। कहिये क्यों, तो इसका उत्तर है कि हेतु देखनेपर हेत्वन्तरका अनुमान नहीं होता। लोभहेतु यहाँ दृष्ट है, इसीसे स्मृतिकी उपपत्ति होती है, फिर अत्यन्तापरिदृष्ट वैदिक वचनकी कल्पना समुचित नहीं है। अवान्तरदीक्षाके विसर्जनार्थ होम वैसर्जनहोम है। उसके अनुष्ठानार्थ आरम्भमें यजमान, उसकी पत्नी, पुत्र और भाई नूतन वस्त्र धारण करते हैं। होमके अनन्तर उस वस्त्रका त्यागकर पूर्वधृत वस्त्रोंको धारण करते हैं। वहाँ यह प्रश्न होता है कि इन वस्त्रोंको कौन ग्रहण करे? किसी लोभी अध्वर्युने कहा कि 'वैसर्जनीयं वासो अध्वर्युर्गृह्णाति'। उसी समयसे यह स्मृति प्रसिद्ध हुई, अतः स्पष्ट लोभ ही इसमें मूल है, श्रुति नहीं, इसीसे यह प्रमाण नहीं है।

कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम् ।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन ॥ ३८ ॥

तथापि हे जनार्दन, कुलक्षयसे होनेवाले दोषको जानते हुए हमलोगोंको इस कुलक्षयजनित पापसे बचनेका विचार क्यों नहीं करना चाहिये ॥ ३८ ॥

हेतुदर्शनाच्चेति न्यायात् । तत्र हि लोभादिहेतुदर्शने वेदमूलत्वं न कल्प्यत इति स्थापितम् । यद्यप्येते न पश्यन्ति तथापि कथमस्माभिर्न ज्ञेयमित्युत्तरश्लोकेन संबन्धः ॥ ३७ ॥

ननु यद्यप्येते लोभात्प्रवृत्तास्तथाऽपि 'आहूतो न निवर्तेत द्यूतादपि रणादपि', इति, 'विजितं क्षत्रियस्य इत्यादिभिश्च क्षत्रियस्य युद्धं धर्मो युद्धार्जितं च धर्म्यं धनमिति धर्मशास्त्रे निश्चयाद्भवतां च तैराहूतत्वाद्युद्धे प्रवृत्तिरुचितैवेत्याशङ्क्याऽऽह—'कथं न' इति । अस्मात्पापाद्बन्धुवधफलकयुद्धरूपात् । अयमर्थः—श्रेयःसाधनताज्ञानं हि प्रवर्तकम्, श्रेयश्च तद्यदश्रेयोननुबन्धि, अन्यथा श्येनादीनामपि धर्मत्वापत्तेः । तथा चोक्तम्—

" फलतोऽपि च यत्कर्म नानर्थेनानुबध्यते ।
केवलप्रीतिहेतुत्वात्तद्धर्म इति कथ्यते ॥" इति ।

ततश्चाश्रेयोनुबन्धितया शास्त्रप्रतिपादितेऽपि श्येनादाविवास्मिन्युद्धेऽपि नास्माकं प्रवृत्तिरुचितेति ॥ ३८ ॥

सूत्रोक्त न्याय ही इसमें प्रमाण है । इस सूत्रमें लोभादिहेतुदर्शनसे वेदमूलत्वकी कल्पना नहीं हो सकती, यह स्थिर किया गया है । यद्यप्येते न पश्यन्ति, तथापि 'कथमस्माभिर्न ज्ञेयम्' इस उत्तरश्लोकसे सम्बन्ध है ॥ ३७ ॥

यद्यपि ये लोभसे युद्धमें प्रवृत्त हैं, तथापि 'आहूतो न निवर्तेत द्यूतादपि रणादपि ।' 'विजितं क्षत्रियस्य' इत्यादिसे क्षत्रियके लिये 'युद्धं धर्मो युद्धार्जितं च धर्म्यं धनम्' युद्ध धर्म तथा युद्धमें उपार्जित धन भी धर्मसे प्राप्त है, यह धर्मशास्त्रमें निश्चय किया गया है । उन लोगोंसे आप लोग आहूत हैं,अतएव युद्धमें आप लोगोंकी प्रवृत्ति उचित ही है, इस आशङ्कासे कहते हैं— 'कथं न' इत्यादि । इस बन्धुवधफलक युद्धरूप पापसे हम लोग क्यों न अलग रहें ? इसका यह अर्थ है—इष्टसाधनज्ञान प्रवर्तक होता है, इष्ट वही है, जो अनिष्टसे मिला-जुला न हो अर्थात् उभयात्मक न हो, अन्यथा श्येनयागादि भी धर्म हो जायगा । ऐसा ही कहा भी है—'फलतोऽपि च यत्कर्म नानर्थेनानुबध्यते । केवलं प्रीतिहेतुत्वात्तद्धर्म इति कथ्यते ॥' जो कर्म पापसंयुक्त नहीं है, किन्तु

कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः ।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत ॥ ३९ ॥

कुलका नाश होनेपर धर्म करनेवालेके न रहनेसे परम्पराप्राप्त कुलोचित धर्म नष्ट हो जाते हैं । धर्मके नष्टहो जानेपर सारे कुलको भी अधर्म स्वाधीन होकर व्याप्त कर लेता है ॥ ३९ ॥

एवं च विजयादीनामश्रेयस्त्वेनानाकाङ्क्षितत्वान्न तदर्थं प्रवर्तितव्यमिति द्रढयितुमनर्थानुबन्धित्वेनाश्रेयस्त्वमेव प्रपञ्चयन्नाह—'कुलक्षये' इति । सनातनाः परम्पराप्राप्ताः कुलधर्माः कुलोचिता धर्माः कुलक्षये प्रणश्यन्ति, कर्तुरभावात् । उतापि, अग्निहोत्राद्यनुष्ठातृपुरुषनाशेन धर्मे नष्टे, जात्यभिप्रायमेकवचनम्, अवशिष्टं बालादिरूपं कृत्स्नमपि कुलम धर्मोऽभिभवति स्वाधीनतया व्याप्नोति । उतशब्दः कृत्स्नपदेन संबध्यते ॥ ३९ ॥

उसका फल पापसंयुक्त है वह धर्म नहीं है, किन्तु जो धर्मफल छोटा भी पापयुक्त न हो, केवल प्रीतिहेतु हो, [केवलसे यहाँ दुःखमिश्रित सुखकी व्यावृति सर्माहित है] वही धर्म कहा जाता है । इस कारण दुःखयुक्त होनेसे शास्त्रप्रतिपादित श्येनादिके समान इस युद्धमें भी हम लोगोंकी प्रवृत्ति उचित नहीं है ।

[सदा पापादिलेपरहित परमेश्वर आप हैं इसलिये प्रलयमें सकल प्राणियोंके संहार करनेसे आप हीको पाप नहीं होता, दूसरेको तो हिंसासे पाप होता ही है, यह जनार्दनसम्बोधनसे सूचित करते हैं] ॥ ३८ ॥

इस प्रकार विजयादि श्रेय नहीं है, अतएव इप्सित भी नहीं है । तदर्थ प्रवृत्त होना ठीक नहीं है, इसको दृढ़ करनेके लिये पापमिश्रितत्वसे अश्रेय युद्धादि है, इसको विस्तारसे कहते हैं—'कुलक्षये' इत्यादिसे ।

सनातन—कुलपरम्पराप्राप्त, कुलधर्म यानी कुलोचित धर्म । कुलक्षय होनेपर कर्त्ताके न रहनेसे तदनुष्ठेय धर्म भी नष्ट हो जाते हैं । उत अप्यर्थक है । अग्निहोत्रादि कर्म करनेवालोंका नाश होनेपर धर्म नष्ट हो जाता है । जातिके अभिप्रायसे एकवचन है, व्यक्त्यभिप्रायसे नहीं । सब धर्म नष्ट हो जाते हैं, इसमें तात्पर्य्य है । उसके बाद अवशिष्ट बालादिरूप समस्त कुल अधर्मसे अभिभूत—निगृहीत हो जाता है यानी स्वाधीनरूपसे अधर्म व्याप्त हो जाता है । 'उत' शब्द कृत्स्नपदसे सम्बद्ध है ॥ ३९ ॥

अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः ।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसंकरः ॥ ४० ॥
संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च ।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः ॥ ४१ ॥

हे कृष्ण, अधर्मकी अभिवृद्धि होनेसे कुलाङ्गनाएँ दूषित हो जाती हैं और हे वार्ष्णेय, कुलाङ्गनाओंके दुष्ट हो जानेपर वर्णोंमें सङ्कीर्णता उत्पन्न हो जाती है ॥४०॥

वर्णसंकरसन्तति कुल और कुलका नाश करनेवाले दोनोंको नरकमें पहुँचाती है तथा उनके पितर भी पिण्डदान और तर्पण आदिसे वञ्चित होकर नरकमें ही गिरते हैं ॥ ४१ ॥

अस्मदीयैः पतिभिर्धर्ममतिक्रम्य कुलक्षयः कृतश्चेदस्माभिरपि व्यभिचारे कृते को दोषः स्यादित्येवं कुतर्कहताः कुलस्त्रियः प्रदुष्येयुरित्यर्थः । अथवा कुलक्षयकारिपतितपतिसंबन्धादेव स्त्रीणां दुष्टत्वम् । "आ शुद्धेः संप्रतीक्ष्यो हि महापातकदूषितः" इत्यादिस्मृतेः ॥ ४० ॥

कुलस्य संकरश्च कुलघ्नानां नरकायैव भवतीत्यन्वयः । न केवलं कुलघ्नानामेव नरकपातः, किन्तु तत्पितॄणामपीत्याह—'पतन्ति' इति । हिशब्दोऽप्यर्थे हेतौ वा । पुत्रादीनां कर्तॄणामभावाल्लुप्ता पिण्डस्योदकस्य च क्रिया येषां ते तथा । कुलघ्नानां पितरः पतन्ति नरकायैवेत्यनुषङ्गः ॥४१॥

हमारे पतियोंने धर्मका उल्लङ्घन कर कुलक्षय यदि किया, तो हम लोग भी व्यभिचार करें, तो फिर क्या दोष है ? एव कुतर्कशील स्त्रियाँ दुष्ट हो जायँगी यह अर्थ है । अथवा कुलक्षयकारी पतित पतिके सम्बन्धसे ही स्त्रियाँ दुष्ट होंगी । 'आशुद्धेः संप्रतीक्ष्यो हि महापातकदूषितः' इत्यादि स्मृति इस अर्थमें प्रमाण है ॥४०॥

[संकर यानी वर्णसंकर कुलका नाश करनेवालोंके और कुलके जो अधर्माभिभूत होते हैं, उन्हें नरक देनेवाला होता है ।] कुलका संकर कुलनाशकोंको नरक ही देनेवाला होता है, यह अन्वय है इस अर्थमें चकार पूरणार्थ है । केवल कुलहन्ताको ही नरक-निपात नहीं होता, किन्तु उनके पिता, पितामह आदिको भी नरकनिपात होता है, यह कहते हैं—'पतन्ति' इत्यादिसे । हिशब्द अप्यर्थक या हेत्वर्थक है । यदि अप्यर्थक है, तो पितरोंको भी नरक होता है । यदि हेत्वर्थक है, तो हेतु लुप्तपिण्डोदकक्रियत्व है । पुत्रादिके न रहनेसे पिण्ड, उदक दानादि क्रिया जिनकी लुप्त हो जाती है वे लुप्तपिण्डोदकक्रिय कुलघ्नोंके पितर नरकमें ही गिरते हैं, यहाँपर 'पतन्ति' के साथ अन्वय करनेके लिए 'नरकायैव' इसको खींच लाना चाहिये ॥ ४१ ॥

दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसंकरकारकैः ।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः ॥ ४२ ॥
उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन ।
नरके नियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम ॥ ४३ ॥
अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम् ।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः ॥ ४४ ॥

वर्णसङ्कर जाति पैदा करनेवाले कुलघातकोंके इन उक्त दोषोंसे सनातन जातिधर्म और कुलधर्म विनष्ट कर दिये जाते हैं ॥ ४२ ॥

हे जनार्दन, जिनके कुलधर्म नष्ट हो चुके हैं ऐसे मनुष्योंका नरकमें ही निःसन्देह निरन्तर वास होता है, ऐसा हमने आचार्योंके मुखसे सुना है ॥ ४३ ॥

इसलिए हम लोग राज्यसुखके लोभसे अपने बन्धु-बान्धवोंका विनाशरूप महा पाप करनेके लिए जो प्रवृत्त हुए हैं; यह बड़े आश्चर्य और खेदकी बात है ॥ ४४ ॥

जातिधर्माः क्षत्रियत्वादिनिबन्धनाः कुलधर्मा असाधारणाश्च । एतैर्दोषैरुत्साद्यन्त उत्सन्नाः क्रियन्ते विनाश्यन्त इत्यर्थः ॥ ४२ ॥

ततश्च प्रेतत्वपरावृत्तिकारणाभावान्नरक एव केवलं नितरां वासो भवति ध्रुवमित्यनुशुश्रुम इत्याचार्याणां मुखाद्वयं श्रुतवन्तः, न स्वाभ्यूहेन कल्पयाम इति पूर्वोक्तस्यैव दृढीकरणम् ॥ ४३ ॥

बन्धुवधपर्यवसायी युद्धाध्यवसायोऽपि सर्वथा पापिष्ठतरः, किं पुन-

---

जातिधर्म—क्षत्रियत्वजातिनिमित्तक धर्म और तत्तद्व्यक्तिगत असाधारण धर्म इन दोषोंके द्वारा उत्सन्न कर दिये जाते हैं यानी नष्ट कर दिये जाते हैं, यह अर्थ है ॥ ४२ ॥

तदनन्तर प्रेतत्वसे विमुक्तिका कारण न होनेसे केवल नरकमें ही निरन्तर (सतत) वास होता है, यह निश्चित सुना है—आचार्योंके मुखसे हम लोगोंने सुना है, अपनी प्रतिभाकी यह उपज नहीं है, जिसको कल्पना कहें। कुलविनाशक युद्ध है, इसीको दृढ़ किया है।

[कुलनाशक युद्धमें प्रवृत्त हम लोगोंका नरकनिपात निश्चित है, अतः उससे निवृत्ति ही अच्छी है। नरकसे त्राण पानेवाले आपकी सदा प्रार्थना जैसे करते हैं, वैसे ही हम उससे त्राण पानेके लिये आपकी प्रार्थना करते हैं, इसको व्यक्त करते हुये जनार्दन सम्बोधन किया है] ॥ ४३ ॥

बन्धुवधादिविषयक युद्ध निश्चय भी सर्वथा अतिपापीयान् है, युद्धकी तो बात

यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः ।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत् ॥ ४५ ॥

सञ्जय उवाच

एवमुक्त्वाऽर्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत् ।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः ॥ ४६ ॥

यदि शस्त्ररहित हो किसी प्रकारका प्रतीकार न कर रहे मुझको हाथमें शस्त्र लिये हुए ये धृतराष्ट्रके पुत्र आदि सगे-सम्बन्धी युद्धमें मार डालें, तो मेरा उनके द्वारा अधिक हित होगा ॥ ४५ ॥

सञ्जयने कहा—इस तरह कहकर शोकसे व्याकुलचित्त अर्जुन युद्धमें बाण-सहित अपना धनुष अलग फेंककर रथके ऊपर बैठ गये ॥ ४६ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन-संवादेऽर्जुनविषादयोगो नाम प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

युद्धमिति वक्तुं तदध्यवसायेनाऽऽत्मानं शोचन्नाह—'अहो बत' इति । यदीदृशी ते बुद्धिः कुतस्तर्हि युद्धाभिनिवेशेनाऽऽगतोऽसीति न वक्तव्यमविमृश्यकारितया मयौद्धत्यस्य कृतत्वादिति भावः ॥ ४४ ॥

ननु तव वैराग्येऽपि भीमसेनादीनां युद्धोत्सुकत्वाद्बन्धुवधो भविष्यत्येव, त्वया पुनः किं विधेयमित्यत आह—'यदि माम०' इति। प्राणादपि प्रकृष्टो धर्मः प्राणभृतामहिंसा, पापानिष्पत्तेः । तस्माज्जीवनापेक्षया मरणमेव मम

ही क्या ? यों युद्ध निश्चयसे अपनेको सोचते हुये कहते हैं—'अहो बत' इत्यादि ।

यदि ऐसी तुम्हारी बुद्धि है, तो युद्धाग्रहसे यहाँ क्यों आये हो, यह न कहिये, अविचारसे मैंने जल्दीबाजी की, यह अभिप्राय है ॥ ४४ ॥

अच्छा, तो तुमको वैराग्य है, फिर भी भीमसेन आदि युद्ध करनेके लिये उत्सुक हैं, अतएव बन्धुवध होगा ही, फिर तुमको क्या करना है ? इसपर कहते हैं—'यदि माम्' इत्यादि ।

प्राणसे भी उत्तम धर्म प्राणियोंकी अहिंसा है, क्योंकि इससे पाप नहीं होता । [अतएव 'अहिंसा परमो धर्मः' यह कहा गया है । याग,युद्ध आदिसे धर्म और अधर्म दोनों होता है ; अहिंसासे धर्म ही होता है, यही इसमें परमतत्व है,] अतः

क्षेमतरमत्यन्तं हितं भवेत् । प्रियतरमिति पाठेऽपि स एवार्थः । अप्रतीकारं स्वप्राणत्राणाय व्यापारमकुर्वाणं बन्धुवधाध्यवसायमात्रेणापि प्रायश्चित्तान्तररहितं वा । तथा च प्राणान्तप्रायश्चित्तेनैव शुद्धिर्भविष्यतीत्यर्थः ॥ ४५ ॥

ततः किं वृत्तमित्यपेक्षायाम्—'एवमुक्त्वा' इति । संख्ये सङ्ग्रामे रथोपस्थे रथस्योपर्युपविवेश । पूर्वं युद्धार्थमवलोकनार्थं चोत्थितः सञ्शोकेन संविग्नं पीडितमानसं यस्य सः ॥ ४६ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यविश्वेश्वरसरस्वतीपादशिष्यश्रीमधुसूदनसरस्वतीविरचितायां श्रीमद्भगवद्गीतागूढार्थदीपिकायां प्रथमोऽध्यायः ॥१॥

जीवनकी अपेक्षा मेरा मरना ही अति कल्याणकारक है—हित है । 'प्रियतरम्' इस पाठमें भी यही अर्थ है । अप्रतीकारका अर्थ है—अपने प्राणकी रक्षाके लिये भी कोई व्यापार न करना । अथवा बन्धुबान्धववधादिविषयक निश्चयमात्रसे प्रायश्चित्तान्तररहित । प्राणान्त प्रायश्चित्तसे ही शुद्धि होगी, यह अर्थ है ॥ ४५ ॥

तदनन्तर क्या हुआ ? ऐसी अपेक्षा होनेपर कहते हैं—'एवमुक्त्वा' इत्यादिसे ।

संख्ये यानी संग्राममें रथोपस्थ यानी रथके ऊपर अर्जुन बैठ गये । प्रथम युद्ध करनेवालोंको देखनेके लिये उठे, परन्तु शोकसे व्याकुलचित्त होकर फिर बैठ गये ॥ ४६ ॥

प्रथम अध्याय समाप्त

दूसरा अध्याय

सञ्जय उवाच

तं तथा कृपयाऽऽविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम् ॥
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः ॥ १ ॥

सञ्जयने कहा—पूर्वोक्त दयासे व्याप्त, आँसुओंसे भरे व्याकुल नेत्रोंवाले शोकाकुल अर्जुनको सम्बोधितकर भगवान् मधुसूदनने यह वक्ष्यमाण वचन कहा ॥१॥

अहिंसा परमो धर्मो भिक्षाशनं चेत्येवंलक्षणया बुद्धया युद्धवैमुख्यमर्जुनस्य श्रुत्वा स्वपुत्राणां राज्यमप्रचलितमवधार्य स्वस्थहृदयस्य धृतराष्ट्रस्य हर्षनिमित्तां 'ततः किं वृत्तम्' इत्याकाङ्क्षामपनिनीषुः सञ्जयस्तं प्रत्युक्तवानित्याह वैशम्पायनः। कृपा ममैत इति व्यामोहनिमित्तः स्नेहविशेषः। तया स्वभावसिद्धया आविष्टं व्याप्तम्। अर्जुनस्य कर्मत्वं कृपायाश्च कर्तृत्वं वदता तस्या आगन्तुकत्वं व्युदस्तम्। अत एव विषीदन्तं स्नेहविषयीभूतस्वजनविच्छेदाशङ्कानिमित्तः शोकापरपर्यायश्चित्तव्याकुलीभावो विषादस्तं प्राप्नुवन्तम्। अत्र विषादस्य कर्मत्वेनार्जुनस्य कर्तृत्वेन च तस्याऽऽगन्तुकत्वं सूचितम्।

'अहिंसा और भिक्षाशन परम धर्म है' इस बुद्धिसे अर्जुनका युद्धविषयक वैराग्य सुनकर, अपने पुत्रोंका राज्य अटल निश्चितकर स्वस्थहृदय, सुप्रसन्नचित्त धृतराष्ट्रकी हर्षनिमित्तक 'फिर क्या हुआ ?' इस आकांक्षाको निरवकाश करते हुए सञ्जय बोले, यह वैशम्पायनने जनमेजयसे कहा है—'सञ्जय उवाच' से।

कृपा 'ये मेरे हैं' एतद्मोहनिमित्तक स्नेहविशेष है, [वस्तुतः आत्मा असंग है। वह किसीका कोई है नहीं, फिर भी अनादि-अज्ञानहेतुक उक्त मोहसे सम्बन्धकी कल्पनाकर संसारीजन अपना-पराया भाव मानते हैं।] उस स्वतःसिद्ध कृपासे अर्जुनका मन व्याप्त था। अर्जुनमें कर्मत्व और कृपामें कर्तृत्व कहनेसे कृपामें आगन्तुकत्वका निरास किया गया है। [यदि कहिये, कर्तृत्वनिर्देशसे आगन्तुकत्वका निरास क्यों होता है ? तो इसका विशद उत्तर आगे चल कर दिया जायगा।] अतएव—विषीदन्तम्—स्नेहविषयीभूत स्वकीय जनोंके विनाश-

अत एव कृपाविषादवशादश्रुभिः पूर्णे आकुले दर्शनाक्षमे चेक्षणे यस्य तम्।

शङ्कानिमित्त शोकापरपर्याय चित्तकी व्याकुलता विषाद पदार्थ है,—तं प्राप्नुवन्तम्— उसे प्राप्त करते हुए। यहाँ 'विषाद' कर्मके प्राप्तिकर्ता अर्जुन 'उवाच' इस क्रियाके कर्म हैं' इसलिए विषादमें आगन्तुकत्व सूचित किया है।

अत्र* इत्यादि वाक्यसे स्ववाक्यार्थ कहते हैं, गीतावाक्यार्थ नहीं। यदि कहिये क्यों? तो इसका उत्तर यह है कि 'तं प्राप्नुवन्तम्' इस स्ववाक्यमें तत् शब्दार्थ विषाद कर्म है, अर्जुन कर्ता है, गीतावाक्यमें विषाद अर्जुनविशिष्ट कर्म है, कर्ता मधुसूदन हैं। 'इदमः सन्निकृष्टे' इस कोषवाक्यसे इदंशब्द सन्निकृष्टार्थक होता है, यह निश्चित है। अतः 'अत्र' का संग्राह्य स्व प्रथम वाक्य है और व्यावर्त्य गीता वाक्य है। अतएव कृपा विषादवश आँसुओंसे भरे और देखनेमें असमर्थ नेत्र हैं जिसके, उस अर्जुनके प्रति [भगवान् बोले]।

* इसपर किसी पण्डितका कहना है कि यह अत्रेत्यादि वाक्यका अर्थ नहीं, प्रत्युत खण्डन है; क्योंकि इससे यह झलकता है कि श्रीमधुसूदन सरस्वती अपने वाक्योंका ही अर्थ कहते हैं, जो उनकी गीताके प्रत्यक्षर व्याख्यानकी प्रतिज्ञासे विरुद्ध है। उनको साक्षात् या परंपरासे गीतावाक्यका अर्थ ही कहना चाहिये, न कि स्ववाक्योंका अर्थ।

ठीक है, गीतावाक्यका ही प्रथम स्ववाक्यसे प्रतिपादन किया है, उसीको विशेष तात्पर्यद्योतनार्थ स्फुट करते हैं।

प्रश्न—अच्छा तो यह गीतावाक्यार्थ नहीं है,' यह आपने क्यों लिखा?

उत्तर—यह भी ठीक ही लिखा; क्योंकि गीताका पदार्थ है, वाक्यार्थ नहीं। स्वका वाक्यार्थ है और गीताका पदार्थ है, इसमें विरोध ही क्या?

प्रश्न—वाक्य तो पदसमुदायात्म ही है।

उत्तर—हाँ, है। पर वह पद नहीं है, किन्तु वाक्य है। अतएव पदार्थसे भिन्न वाक्यार्थ माना जाता है। पद-वाक्य और तदर्थका विवेक सुनिये—'सुप्तिङन्तं पदम्' इस सूत्रके अनुसार सुबन्त-तिङन्त पद कहलाता है। 'विषीदन्तम्' यह सुबन्त होनेसे पद है, वाक्य नहीं। न्यायसूत्रकारने भी एतदनुसार 'ते विभक्त्यन्ताः पदम्' कहा है। 'शक्तं पदं वाचकम्' 'वर्णाः पदम्' इत्यादि लक्षणोंमें प्रयोगार्हत्वका निवेश है। 'अपदं न प्रयुञ्जीत' इस महाभाष्यकारोक्तिसे निर्विभक्तिकका प्रयोग असाधु होता है। बोध भी विभक्त्यन्त ही से होता है। अतएव एतत्संज्ञाफलभूतेत्यादि अर्थवत्त्वका परिष्कार शेखरकारने किया है। अब वाक्यका लक्षण सुनिये—'सुप्तिङन्तचयो वाक्यं क्रिया वा कारकान्विता।' यहाँ वाशब्द औरके अर्थमें है। सुबन्तचय, तिङन्तचय और तदुभयचय कारकान्वित क्रिया होनेसे वाक्य होता है।

एवमश्रुपातव्याकुलीभावाख्यकार्यद्वयजनकतया परिपोषं गताभ्यां कृपाविषादाभ्यामुद्विग्नं तमर्जुनमिदं सोपपत्तिकं वक्ष्यमाणं वाक्यमुवाच न तूपेक्षितवान्। मधुसूदन इति स्वयं दुष्टनिग्रहकर्ताऽर्जुनं प्रत्यपि तथैव वक्ष्यतीति भावः ॥ १ ॥

[प्रश्न—क्रमप्राप्त अश्रुपूर्णाकुलेक्षणकी व्याख्या न कर पश्चादुक्त 'विषीदन्तम्' के व्याख्यानमें क्या तात्पर्य है ?

उत्तर—कृपामें अश्रुपूर्णाकुलेक्षणत्व और विषाद ये दोनों निमित्त हैं, यह बतलानेके लिए विषादका पूर्वमें व्याख्यान किया है, अन्यथा केवल अश्रुपूर्णादिहेतुक कृपा प्रतीत होगी, तो उभयनिमित्तकमें अन्यतरनिमित्तकत्व कहना न्यूनता होगी। अतः तद्व्यावृत्त्यर्थ उभयका उपादान है। कृपा और विषाद ये दोनों आन्तर विभाव हैं, जो दूसरोंके साक्षात्कारके विषय नहीं। तत्कार्य बाह्य होनेके कारण प्रत्यक्ष हैं।]

इस प्रकार अश्रुपात और चित्तव्याकुलतारूप दो कार्योंके उत्पादकरूपसे परिपुष्ट हुए कृपा-विषादके द्वारा उद्विग्न अर्जुनके प्रति यह सयुक्तिक वक्ष्यमाण वाक्य कहा, भगवान्ने उसकी उपेक्षा नहीं की। भगवान्को यहाँ 'मधूसूदन' नामसे कहनेका तात्पर्य यह है कि स्वयं दुष्टोंको दण्ड देनेवाले (मधुनामक दैत्यको मारनेवाले) भगवान् अर्जुनके प्रति भी वैसा ही कहेंगे।

[शंका--शत्रु होनेके कारण वध्य दुर्योधनादिके विषयमें अर्जुनको दया क्यों उत्पन्न हुई ? अनाथ, अपाहिज, दुर्गत, परोत्पीडित आदिमें उन-उन दुःखोंकी प्रहाणेच्छाके अनुकूल चित्तवृत्तिविशेष ही लोकमें कृपा कही जाती है। उस समय उनमें वह सम्भव नहीं, क्योंकि दुर्योधनादि अनाथादिमें नहीं आते। अतएव 'कुतस्त्वा कश्मलमिदम्' इत्यादि वाक्यसे भगवान्ने उसे कश्मलशब्दसे कहा है, कश्मल कभी दया नहीं हो सकता।

प्रथम 'देवदत्तेन शयितव्यम्', द्वितीय 'पचति भवति', तृतीय 'घटमानय'—इत्यादि महाभाष्यमतसे 'पचति भवति' भी वाक्य है। 'पाको भवति' यह बोध होता है।

प्रश्न—अच्छा तो 'देवदत्तेन शयितव्यम्' यह भी तो सुबन्त है, अतः इसको पद और वाक्य भी कह सकते हैं ?

उत्तर—नहीं, कभी नहीं। सुबन्त वह कहलाता है, जिससे सुप्का विधान हो, तदादि तदन्त। जिसके अन्तमें सुप् हो, सो यहाँ विवक्षित नहीं है। यदि क्रियान्वित कारक नहीं है, तो

समाधान--ठीक है, इसीलिये 'तथाकृपा' कहा है। तथाका कृपाके साथ 'सुप्सुपा' से समास है। उक्तसमाससे 'तथाकृपा' यह एक पद है। स्वजनव्यामोह ही प्रसिद्ध कृपासे विलक्षण, यहाँ तादृश चित्तवृत्तिरूपसे परिणत 'तथाकृपा' का अर्थ है।

शंका--विवेकी अर्जुनने मोहात्मिका इस कृपाका निरास क्यों नहीं किया?

समाधान--आविष्ट-से जो हैं! जैसे पिशाचाविष्ट कहनेसे बलात् पिशाचावेश सूचित होता है, वैसे ही 'तथाकृपा' भी अर्जुनमें बलात् प्रविष्ट हुई। आविष्ट इव-आविष्टः—जैसे पिशाच प्रविष्ट होकर मनुष्यको अपने वशमें कर लेता है, वैसे ही वह 'तथाकृपा' भी प्रविष्ट हुई। पिशाचवत् 'तथाकृपा' भी दूसरेसे निवर्त्य है, अपनेसे नहीं; अतएव कृपाप्राप्तके समान न कहकर 'कृपाविष्टः' कहा गया है। स्वातन्त्र्यप्रयुक्त प्राबल्यके बोधनार्थ 'कृपयाविष्टः' यह कर्तृत्व-निर्देश है। पिशाचाविष्टका साधर्म्य अर्जुनमें कहते हैं--लोकमें देखा जाता है कि प्रायः पिशाचाविष्टके नेत्र अश्रुसे पूर्ण, आवृत तथा विकृत होते हैं और अनवसरमें ही उसे विषाद भी हो जाता है। इससे आगन्तुकत्वका निरास तो नहीं, किन्तु उक्त कृपामें स्वातन्त्र्य सूचित होता है। स्वामीजीके आगन्तुकत्वनिरासकथनका और मौलकर्तृत्व सूचनका स्वारस्य भी इसीमें है। अतएव अर्जुन उस कृपाको स्वयं नहीं हटा सके; किन्तु पिशाच झाड़नेवाला ओझा जैसे मन्त्र पढ़कर पिशाचको भगाता है, वैसे ही श्रीकृष्ण भगवान्ने 'कुतस्त्वा कश्मलम्' इत्यादि वाक्यरूप मन्त्र पढ़कर उक्त पिशाचको भगाया। जब युद्धोपरत अर्जुनने शस्त्र आदि रख दिया, तब श्रीकृष्ण भी उसका अनुमोदन ही करेंगे, यह धृतराष्ट्रकी आशा भी उक्त पिशाचके साथ ही दूर भाग गयी। जिसने महाबलवान् मधुनामक दैत्यको मिट्टीमें मिला दिया, उसे उस पिशाचके भगानेमें क्या परिश्रम लगेगा? यह 'मधुसूदन' शब्दसे सूचित होता है, यह भाव है]॥ १॥

वह सुबन्तचय वाक्य नहीं है; जैसे—'गौरश्वः पुरुषो हस्ती' इत्यादि। 'एकतिङ् वाक्यम्' यह कात्यायनका मत है। इसका अर्थ है—एकतिङन्तार्थमुख्यविशेष्यकबोधजनक वाक्य। इससे महाभाष्योक्त 'पचति भवति'-से विरोध नहीं आता, अथवा दो तिङ् रहनेसे उक्त वाक्यसे विरोध होगा। 'एकार्थकमेकं वाक्यं साकांक्षं चेद्विभागे स्यात्' यह जैमिनिका मत है। साकांक्ष पदसमुदाय वाक्य है। 'आकांक्षासन्निधियोग्यतावन्ति पदानि वाक्यम्', 'एकार्थावच्छिन्नपदसमुदायो वाक्यम्' इत्यादि वाक्यके लक्षण हैं। पद स्वार्थकी स्मृतिका जनक है और वाक्य पदार्थद्वयके संसर्गका बोधक है। न्यायमतमें संसर्गका बोध संसर्गमर्यादासे होता है। अन्विता-

मिधानवादीके मतमें पदसे, वाक्यशक्तिवादी वैयाकरणोंके मतमें वाक्यसे, मीमांसकभट्टपादके मतमें लक्षणासे—इत्यादि प्रकारभेद होनेपर भी पद-वाक्यभेद और पदार्थ-वाक्यार्थका भेद सर्वतन्त्रसिद्धान्त है। शोकापरनामक चित्तव्याकुलतारूपविषाद आगन्तुक उक्त शङ्कानिमित्तक होने से तो आगन्तुक ही है।

प्रश्न—साक्षात् विषादनिवर्तक उपदेश न देकर मोहनिवर्तक उपदेश देनेका हेतु क्या है?

उत्तर—भगवान्में भक्तवात्सल्य विषादनिवृत्ति दो प्रकारकी होती है—आत्यन्तिक और अनात्यन्तिक। जो निवृत्त होकर फिर उत्पन्न न हो, वह प्रथम है और जो निवृत्त होकर देशान्तर, कालान्तर तथा अवस्थान्तरमें फिर उत्पन्न हो, वह द्वितीय है। कारणके साथ कार्यकी निवृत्तिकामनासे विषादकारण व्यामोहनिवर्त्तक वाक्यका भगवान्ने उपदेश दिया। प्रथम अर्जुनको प्रकृतिस्थ करनेके लिये अधिक्षेपकर जन्ममरणसुख-दुःखादिसकलसंसारधर्मशून्य शुद्धानन्दस्वप्रकाशासंग आत्मस्वरूपका उपदेश भगवान्ने अर्जुनको दिया। 'कारणाभावात्कार्याभावः' इस न्यायानुसार मोहनिवृत्त होनेसे विषाद समूल सदाके लिये निवृत्त हो गया। केवल विषाद दुःखद होनेसे निवर्त्तनीय नहीं, किन्तु अनर्थकारण संसार ही निवर्त्तनीय इष्ट है। एतन्निवृत्ति द्वारा परम पुरुषार्थप्राप्तिपर्यन्त भगवान्का व्यापार है। यही भगवान्की भक्तवत्सलता है। यह स्व वाक्यार्थ है, गीतावाक्यार्थ नहीं है, यह गीतार्थखण्डन है या उक्त मधुसूदनसरस्वतीके द्वितीय वाक्यका फलितार्थ कथनहै—इसका निर्णय मैं पद-वाक्यतत्तदर्थविवेकियोंपर छोड़ देता हूँ। वे स्वयं निर्णय करें।

प्रकृतमें 'विषादं प्राप्नुवन्तम्' इस वाक्यसे विषादमें कर्मत्व और अर्जुनमें कर्तृत्वका बोध होता है। गीतावाक्यसे विषादविशिष्ट अर्जुनमें कर्मत्वका और मधुसूदनमें कर्तृत्वका बोध होता है। 'इदमः सन्निकृष्टे' इत्यादि कोषवाक्यसे इदंशब्द सन्निकृष्टार्थवाचक निश्चित है, अतः 'अत्र' विशेषणका संग्राह्य स्ववाक्य है और व्यावर्त्य गीतावाक्य है, इन दोनोंको स्फुट करनेके लिये तथोक्ति है।

शङ्का—'विषीदन्तम्' का विवरण विषण्णं विषादवन्तम् इत्यादि पदोंसे न कर वाक्यसे क्यों किया?

समाधान—इतर व्याख्यानकी अपेक्षा स्वव्याख्यानमें वैलक्षण्य सूचनार्थ। वैसा किया गया है। उक्त पदविवरणोंसे विषादमें कर्मत्व और अर्जुनमें कर्तृत्वकी सूचना नहीं होती। विषादमेंकर्मत्व सूचनासे आगन्तुकत्वकी सूचना होती है।

प्रश्न—कर्मत्वसे आगन्तुकत्वकी सूचना कैसे होती है?

उत्तर—कर्म क्रियाजन्यफलविशिष्ट कहलाता है। फल क्रियाजन्य होनेसे आगन्तुक है, अतः तद्विशिष्ट कर्म भी आगन्तुक है।

श्रीभगवानुवाच

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम् ।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥ २ ॥

भगवान्‌ने कहा—हे अर्जुन, तुझे अनवसरमें यह मोह कैसे आया, यह तो अधर्मियोंके योग्य, स्वर्गसे वञ्चित करनेवाला और अपयश फैलानेवाला है ॥ २ ॥

तदेव भगवतो वाक्यमवतारयति—'श्रीभगवानुवाच' इति ।

"ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः ।
वैराग्यस्याथ मोक्षस्य षण्णां भग इतीङ्गना ॥"

समग्रस्येति प्रत्येकं संबन्धः । मोक्षस्येति तत्साधनस्य ज्ञानस्य । इङ्गना

उसी भगवान्‌के वाक्यको कहते हैं—'श्रीभगवानुवाच' से । संपूर्ण ऐश्वर्य, समस्त धर्म, समस्त यश, समग्र श्री, संपूर्ण वैराग्य और संपूर्ण मोक्षके साधन ये छः भग कहे जाते हैं । इस श्लोकमें समग्रका संबन्ध प्रत्येकके साथ है ।

प्रश्न—अच्छा, तो कर्ता भी कृतिमान् होता है । कृति आगन्तुक है । तद्विशिष्ट कर्ता भी आगन्तुक ही है, फिर कर्मत्वसे ही आगन्तुकत्व सूचन करनेका क्या तात्पर्य है ?

उत्तर—अद्वैतमतमें ब्रह्मसे भिन्न सब तुच्छ और आगन्तुक ही है । आगन्तुकसामान्य बुबोधयिषित नहीं है, किन्तु कर्ताकी अपेक्षासे आगन्तुकत्वबोधन अभिप्रेत है, क्योंकि कर्तृव्यापारप्रयोज्यफलभागी कर्म होता है । स्वतन्त्रव्यापारवान् कर्ता होता है । कारकचक्र-प्रयोक्ता होनेसे सब कारकोंमें कर्ता प्रधान होता है । तदितर कर्तृव्यापाराधीन व्यापारवान् होनेसे अप्रधान अतएव प्रयोज्य होते हैं । अतः प्रयोजककी अपेक्षासे प्रयोज्य आगन्तुक कहे जाते हैं । किञ्च, धात्वर्थव्यापारवान् कर्ता है । धात्वर्थव्यापार सब स्थलमें स्पन्दात्मक ही नहीं है, किन्तु स्पन्द तद्भिन्न नित्यसाधारण है, जैसे—'भूसत्तायाम्' यहाँ भू धातुका सत्ता अर्थ है । सत्ता जाति हो या उपाधि—नित्य ही है, अनित्य नहीं । यद्यपि 'देवदत्तः स्वपितरं पश्यति' यहां कर्तृत्व और कर्मत्वका निर्देश होनेपर भी स्वरूपसे वैपरीत्य ही प्रतीत होता है, तथापि उक्त विशिष्टरूपसे कर्ममें आगन्तुकत्व ही यहांपर भी है ।

शङ्का—स्वयं सरस्वतीजीने कृपामें व्यामोहनिमित्तकत्व कहा है । व्यामोह परस्पर आत्मानात्मतादात्म्य-तद्धर्माध्यास आदि अविद्यानिमित्तक, अनादिप्रवाहोपनत अनागन्तुक है, अतः तन्निमित्तक विषाद भी अनागन्तुक ही हो सकता है । फिर कर्मत्वनिर्देशमात्रसे उसमें तद्विरुद्ध आगन्तुकत्व कैसे कहा ?

समाधान—'उक्त व्यामोहनिमित्तक अहं मम' इत्यादि ज्ञान अनागन्तुक ही है, किन्तु एतन्निमित्तक स्निग्ध स्वजन मरेंगे इत्यादि शङ्कानिमित्तक शोकसे व्याकुल अर्जुनमें कर्तृत्व और विषादमें कर्मत्वका निर्देश है । उक्त कर्मत्वसे विषादमें आगन्तुकत्व सूचित होता है, इसलिए ऐसा कहा ।

संज्ञा। एतादृशं समग्रमैश्वर्यादिकं नित्यमप्रतिबन्धेन यत्र वर्तते स भगवान्। नित्ययोगे मतुप्। तथा—

"उत्पत्तिं च विनाशं च भूतानामागतिं गतिम्।
वेत्ति विद्यामविद्यां च स वाच्यो भगवानिति॥"

तत्र भूतानामिति प्रत्येकं संबध्यते। उत्पत्तिविनाशशब्दौ तत्कारणस्याप्युपलक्षकौ। आगतिगती आगामिन्यौ संपदापदौ। एतादृशो भगवच्छब्दार्थः श्रीवासुदेव एव पर्यवसित इति तथोच्यते। इदं स्वधर्मातिपराङ्मुखत्वं कृपाव्यामोहाश्रुपातादिपुरःसरं कश्मलं शिष्टगर्हितत्वेन मलिनं विषमेऽसमयेऽस्थाने त्वा त्वां सर्वक्षत्रियप्रवरं कुतो हेतोः समुपस्थितं प्राप्तम्। किं मोक्षेच्छातः किं वा स्वर्गेच्छातः अथवा कीर्तीच्छात इति किंशब्देनाऽऽक्षिप्यते। हेतुत्रयमपि निषेधति त्रिभिर्विशेषणैरुत्तरार्धेन। आर्यैर्मुमुक्षुभिर्न जुष्टमसेवितं

[प्रश्न—ब्रह्मस्वरूपलक्षण मोक्ष तो एक ही है। उसमें समग्र विशेषणका तात्पर्य क्या है? अनेक अर्थोंका संभव होनेपर अर्थान्तरकी व्यावृत्तिके लिये विशेषण सार्थक होता है; जैसे—नील कमल। प्रकृतमें उक्त विशेषणका व्यावर्त्य क्या है?

उत्तर—यहाँपर मोक्ष शब्द तत्साधन ज्ञानपरक है।]

इङ्गना संज्ञाको कहते हैं अर्थात् उक्त ऐश्वर्यादि छहोंका नाम भग है। ये छहों भगवान्‌में ही रहते हैं। अतः यह नाम उन्हींका है। उक्त ऐश्वर्यादि नित्य बिना किसी प्रतिबन्धके जिसमें रहते हैं वह भगवान् है। यहाँ नित्ययोगमें 'मतुप्' प्रत्यय हुआ है। तथा—'प्राणियोंके जन्म-मरण, आवागमन, विद्या और अविद्याको जो जानता है उसे भगवान् कहते हैं।' इस श्लोकमें भी भूतोंका प्रत्येकके साथ सम्बन्ध है। उत्पत्ति और विनाश तत्कारणके भी बोधक हैं। आगति और गति ये दोनों आनेवाली सम्पत्ति और विपत्तिका भी बोध करानेवाली हैं। इस प्रकारका भगवच्छब्दार्थ वासुदेव श्रीकृष्ण ही हैं, यह निचोड़ निकला।

शिष्टजनों द्वारा निन्दित अपने धर्मके विपरीत कृपा, मोह, अश्रुपात आदिके साथ यह कश्मल (मोह) क्षत्रियश्रेष्ठ तुम्हारे पास किसलिए उपस्थित हुआ—तुम्हें कैसे प्राप्त हुआ? यह मोहका समय नहीं है, असमयमें इसके प्राप्त होनेका ही आश्चर्य है। 'किं' शब्दसे यहाँ तीन शंकाएँ की गयी हैं—(१) क्या मोक्षकी इच्छा है (२) या स्वर्गकी इच्छा है अथवा (३) कीर्तिकी इच्छा है? जिससे कि तुम्हें यह मोह प्राप्त हुआ है। उत्तरार्द्धगत '**अनार्यजुष्टम्**' इत्यादि तीनों विशेषणोंसे तीनों कारणोंका निषेध करते हैं। 'आर्यैर्न जुष्टमिति अनार्यजुष्टम्'

स्वधर्मैराशयशुद्धिद्वारा मोक्षमिच्छद्भिरपक्वकषायैर्मुमुक्षुभिः कथं स्वधर्मस्त्याज्य इत्यर्थः। संन्यासाधिकारी तु पक्वकषायोऽग्रे वक्ष्यते। अस्वर्ग्यं स्वर्गहेतुधर्मविरोधित्वान्न स्वर्गेच्छया सेव्यम्। अकीर्तिकरं कीर्त्यभावकरमपकीर्तिकरं वा न कीर्तीच्छया सेव्यम्। तथा च मोक्षकामैः स्वर्गकामैः कीर्तिकामैश्च वर्जनीयं एवम् तत्काम एव त्वं सेवस इत्यहो अनुचितं चेष्टितं तवेति भावः॥२॥

आर्य यानी मुमुक्षुजनोंसे असेवित यह अर्थ है, मुक्ति चाहनेवाले अपक्वकषाय मुमुक्षुजन अपने-अपने वर्णाश्रमानुकूल विहित स्वधर्मका अनुष्ठान तो अन्तःकरणशुद्धिके लिये करते ही हैं वे स्वधर्मका त्याग कैसे कर सकते हैं? यदि यह मोक्षहेतुक होता, तो उनसे अवश्य सेवित होता, लेकिन यतः उनसे यह असेवित है, अतः मोक्षहेतुक नहीं है, यह तुम्हें किस हेतुसे प्राप्त हुआ, यह तात्पर्य है। संन्यासके अधिकारी तो पक्वकषाय मुमुक्षु ही होते हैं, उनका आगे चलकर वर्णन किया जायगा [नित्य, नैमित्तिकादि कर्मोंके निष्काम अनुष्ठानसे अन्तःकरण शुद्ध होता है, इस विषयमें प्रमाण 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति' इत्यादि श्रुति है। 'ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात्पापस्य कर्मणः' इत्यादि स्मृतियोंसे भी सिद्ध होता है, कि शुद्धान्तःकरणमें ही तत्त्वज्ञानोत्पत्तिकी योग्यता होती है और वह अन्तःकरणशुद्धि निष्काम स्वधर्मानुष्ठानके बिना नहीं हो सकती, यह गीतामें आगे स्पष्ट ही है। मुमुक्षु दो प्रकार के होते हैं—एक पक्वकषाय और दूसरे अपक्वकषाय। इनमें अन्तिमको कर्मकी अपेक्षा है, तत्त्वज्ञानोत्पत्तिके प्रति प्रतिबन्धक कषायके परिपाकके लिये कर्मानुष्ठान आवश्यक है। 'कषाये कर्मभिः पक्वे मनो मोक्षे निवेशयेत्' इत्यादि स्मृतियाँ इसमें प्रमाण हैं। जो पूर्वजन्ममें ही स्वविहित धर्मानुष्ठानसे कर्मोंको पका चुके हैं और केवल कर्म शेष रह जानेसे ही संसारमें जन्म लेते हैं, वे पक्वकषाय संन्यासी हैं। उन्हें कर्म करनेकी आवश्यकता नहीं—लोकानुग्रहार्थ वे कर्म करें तो करें, अन्यथा कोई हानि नहीं। परन्तु यह पूर्वोक्त समास ठीक नहीं, क्योंकि यह पदव्युत्क्रमदोष से ग्रस्त है, इसलिए 'न आर्यः अनार्यः तेन जुष्टम्' इससे नीचजन सेवित यह अर्थ समुचित प्रतीत होता है।] अस्वर्ग्यम्—स्वर्ग धर्मानुष्ठानसे ही होता है और यह मोह स्वधर्मानुष्ठानमें विरोधी है; अतः वह स्वर्गेच्छुकसे सेव्य नहीं है। [अनार्य स्वर्गहेतु धर्मसाधन-यागादिके अधिकारी नहीं हैं, अतः तादृश धर्म तत्सेव्य नहीं है, यह अपशूद्राधिकरण' में स्पष्ट है। 'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः' कणादिमुनिके इस सूत्रसे धर्म स्वर्गका साधन निश्चित होता है। यदि यह स्वर्गसाधन होता, तो स्वर्गेच्छुकोंसे त्याज्य कैसे होता, यह तात्पर्य है।]

तृतीय विकल्पका निरास करते हैं—'अकीर्तिकरम्' से। यहाँ भी दो अर्थ होते हैं, यदि नञ्का अभाव अर्थ यहाँ मानें, तो अकीर्तिका कीर्त्यभाव अर्थ है और यदि नञर्थ विरोधी है, तो कीर्तिविरोधी अकीर्ति अर्थ है। विनगमनाविरहसे (किसी एक अर्थके ग्रहणमें प्रमाणविशेष न होनेसे) दोनों अर्थ विवक्षित हैं। अर्थात् कीर्तिका अभाव करनेवाला या अपकीर्ति दिलानेवाला यह मोह है, कीर्तिकामुकोंको ये दोनों हेय हैं। इससे यह अर्थ फलित हुआ कि मोक्षकाम, स्वर्गकाम और कीर्तिकाम इन तीनोंसे जो त्याज्य है वही तत्फलेच्छावान् होकर तुम कर रहे हो, तुम्हारी इस अनुचित चेष्टापर हमें आश्चर्य और खेद होता है।

[प्रश्न—'उवाच मधुसूदनः' यह कहकर फिर 'भगवानुवाच' कहनेमें क्या भाव है, क्योंकि दोनोंका अर्थ एक ही है ?

उत्तर—मधुनामक दैत्यका नाश करनेके लिये क्रियाशक्ति जैसी अपेक्षित है वैसी अर्जुनको मोहनिवृत्तिके लिये नहीं, यहाँ ज्ञानोपदेशमात्रकी अपेक्षा है। ज्ञान उत्पन्न होकर स्वसत्तामात्रसे मोहको निवृत्त करता है, उसे दूसरे सहकारीकी अपेक्षा ठीक उसी प्रकार नहीं होती, जिस प्रकार अन्धकारकी निवृत्तिमें प्रदीपको। अतएव मोहनिवृत्तिके उपयोगी ज्ञानशक्तिका प्राचुर्य द्योतित करनेके लिये 'भगवानुवाच' का पुनः कथन है। पहले 'भगवान्' शब्दका निर्वचन इसीलिये किया गया है।

मोक्षशब्दका मोक्षजनकज्ञानमें तात्पर्य है. यह भी कह ही चुके हैं। ज्ञानसे ही अज्ञानात्मक मोहकी निवृत्ति होती है, 'मोक्षकामो हरिं भजेत' यह स्मृति है। आत्मतत्त्व ज्ञानके बिना मोक्ष नहीं होता, इस विषयमें–नान्यः पन्था विद्यते अयनाय' यह श्रुति प्रमाण है। हे अर्जुन. तुम्हें 'दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण' इत्यादिसे प्रारम्भकर 'तन्मे क्षेमतरं भवेत्' यहाँतक पूर्वाध्यायमें कथित कश्मल मोह है। यद्यपि साक्षात् तावदुक्त मोह नहीं है, तथापि मोहहेतुक होनेसे मोह कहा गया है, कार्यमें कारणशब्दका औपचारिक प्रयोग भी पाया जाता है, अतएव 'तादर्थ्यात्ताच्छब्दम्' यह न्याय प्रसिद्ध है। 'मूर्च्छा तु कश्मलं मोहः' इस अमरकोशोक्तिसे मुख्य कश्मल-पदार्थ मोह है। विषमे—अनवसरमें यह मोह क्यों प्राप्त हुआ ?

शङ्का—त्वां से सम्बोध्य अर्जुनका बोध सिद्ध ही था, फिर 'त्वां अर्जुन' इन दोनोंके उपादानमें क्या तात्पर्य है ?

उत्तर—तुम नामतः एवं अर्थतः मोहके योग्य नहीं हो, 'वलक्षो धवलोऽर्जुनः' इस अमरकोशसे शुद्ध स्वभाववाची अर्जुनशब्द है, 'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन

तिष्ठति' इस श्लोककी व्याख्यामें भगवान् श्रीशङ्कराचार्यने कहा है कि अर्जुन शुद्ध-स्वभावान्तरात्मा विशुद्धान्तःकरण है 'अहश्च कृष्णमहरर्जुनं च' (ऋक् सं० ४।५।११।१) यह श्रुति प्रमाण है। इदृश नामधारी क्षत्रियश्रेष्ठ तुममें, सूर्यमें अन्धकार के समान, मोह उचित नहीं।

'विषमो दृष्टान्तः' इत्यादि प्रयोग देखने तथा सम-विषम द्वन्द्वसे उक्त शब्द असदृशवाची है, अयुक्तवाची नहीं; तथापि प्रकृत मोहोत्पत्तिके असदृश देशकालका बोधक होता हुआ औपचारिक अप्रयुक्तार्थक है। सब कार्य स्वदेशकालमें ही उत्पन्न होते हैं, यह वस्तुस्थिति है। इस समय समर-भूमिमें अस्त्रोंसे सज्जित शत्रुगण युद्धके लिये मोर्चेपर डटे हैं, सामने उन्हें देखते हुए तुम्हारा 'न योत्स्ये' यह शब्द तथा इसके अनुकूल बुद्धि इन दोनोंकी उत्पत्ति अयोग्य देशकालमें होनेसे अस्थाने—अयुक्त है। अयुक्तार्थक 'अस्थाने' शब्द सप्तम्यन्त प्रतिरूपक अव्यय है। इस प्रकार वह आकस्मिक मोह अत्यन्त अनुचित अतएव शोचनीय है, इसीको स्पष्ट करनेके लिये कहते हैं—'कुतः' से। कहाँसे आया? एतादृश तुम्हारा मोह ही शोच्य है। वे शोच्य नहीं हैं, जिन वीरोंको तुम सोचते हो, यह भगवान्‌का अभिप्राय है, जो 'अशोच्यान' इत्यादिसे व्यक्त होगा। 'दृष्ट्वेमं स्वजनम्' से ही लेकर 'विपरीतानि केशव' यहाँतक कश्मल ही है। करचरणादिकी शिथिलता, मुखशोष, शरीरकम्प आदि कायर पुरुषोंके व्यापार हैं, शूरोंमें ये कश्मल ही समझे जायँगे।

मैं युद्ध न करूँगा, यह कायरतासे नहीं, किन्तु स्वजनोंकी हिंसासे व्याकुल होकर कहता हूँ, यदि ऐसा कहें, तो उसका उत्तर देते हैं—'आर्यैः' इत्यादिसे। आर्य—आततायिवधके विधिज्ञ इस अनार्यजुष्टको नहीं मानते, क्योंकि आततायी स्वजन हो या अन्यजन, वह अवश्य शासनीय है—ऐसी धर्मशास्त्रोंकी मर्यादा है। श्रीयाज्ञवल्क्यजीने भी कहा है—'अपि भ्राता सुतोऽर्घ्यो वा श्वसुरो मातुलोऽपि वा। नादण्ड्यो नाम राज्ञोऽस्ति धर्माद् विचलितः स्वकात्॥' (आचार० प्र० १३ श्लोक ३५८)। 'अग्निदो गरदश्चैव' इत्यादिसे आततायीके लक्षण पृ० ६८ में कह चुके हैं, तदनुसार दुर्योधनादि आततायी हैं। उनको मारनेके लिये युद्धमें प्रवृत्त होकर अर्जुनका 'सीदन्ति मम गात्राणि' यह कहना कश्मल ही है। इस प्रकार 'पापमेवाश्रयेत्' से लेकर 'तन्मे क्षेमतरं भवेत्' यहाँतक तदुक्ति कश्मल ही है।

अस्वर्ग्यम्—स्वर्गविरोधी नरक उसका हितसाधन पाप, जसा कि आगे लिखा है-'ततः पापमवाप्स्यसि।' अथवा स्वर्ग्य—स्वर्गसाधन और तदन्य अस्वर्ग्य है, इससे युद्ध स्वर्गसाधन है, यह अर्थतः सिद्ध होता है। 'स्वर्गद्वारमपावृतम्'

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते ।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप ॥ ३ ॥

हे अर्जुन, अपनेमें नपुंसकता मत आने दो अर्थात् नपुंसक न बनो, क्योंकि यह तुम्हारे योग्य नहीं है। क्षुद्र हृदयकी दुर्बलता छोड़कर युद्धके लिए तैयार हो जाओ ॥ ३ ॥

ननु बन्धुसेनावेक्षणजातेनाधैर्येण धनुरपि धारयितुमशक्नुवता मया किं कर्तुं शक्यमत आह—'क्लैब्यम्' इति। क्लैब्यं क्लीबभावमधैर्यमोजस्तेज आदिभङ्गरूपं मा स्म गमो मा गाः। हे पार्थ-पृथातनय। पृथया देवलब्धे तत्तनयमात्रे वीर्यातिशयस्य प्रसिद्धत्वात्पृथातनयत्वेन त्वं क्लैब्याऽयोग्य इत्यर्थः। अर्जुनत्वेनापि तदयोग्यत्वमाह—'नैतत्' इति। त्वयि अर्जुने

इत्यादिसे इसीका स्पष्टीकरण किया गया है। 'न च श्रेयोऽनुपश्यामि' यह भी कश्मल ही है। युद्ध न करनेसे अपने धर्मका त्याग होगा, जो कि अनिष्ट है। युद्ध करनेसे स्वर्गप्राप्ति होगी. इस प्रकार युद्धसे अनिष्टपरिहार और इष्टप्राप्ति न होनेसे 'युद्धसे कल्याण नहीं देखते' अर्जुनका यह कथन मोहप्रयुक्त ही है।

'अकीर्तिकरम्' इसके भी दो अर्थ हैं, अपकीर्तिकर तथा कीर्तिभङ्गकर। 'आचार्याः पितरः पुत्राः' इत्यादिसे 'एतान्न हन्तुमिच्छामि' यहाँतक कश्मल ही है, यदि आचार्य आदिकोंको मारना अभीष्ट नहीं था, तो युद्धारम्भसे पूर्व युद्धोद्योगसे ही विरत होना चाहता था। यह तो जानी हुई बात थी कि इस समरमें प्रतिभट अवश्य ही रहेंगे। अतिपरिश्रमसे युद्ध प्रस्तुतकर 'ये आचार्य हैं, ये पितामह हैं, इन्हें न मारेंगे' आदि कहना अपकीर्तिकर ही है। 'भयाद्रणादुपरतम्' इत्यादि वाक्योंसे यही कहा गया है। देवराज इन्द्र तथा देवाधिदेव श्रीमहादेवसे युद्धकर जो कीर्ति पायी, उसके भङ्ग होनेसे कीर्तिभङ्गकर भी कहा गया है। सारांश यह है कि अर्जुनके सब वाक्य कश्मल ही सिद्ध होते हैं]॥ २ ॥

बन्धुसेनाके दर्शनसे उत्पन्न अधीरतावश मैं धनुर्धारणमें भी असमर्थ हूँ, अतः मैं कर ही क्या सकता हूँ? इस शङ्कापर भगवान् समाधान करते हैं—**'क्लैब्यम'** इत्यादिसे।

'क्लीबः षण्डो नपुंसके' इस अमरकोषसे क्लीबशब्द नपुंसकार्थक निश्चित है—तद्भाव—उसका भाव अर्थात धर्म ही क्लैब्य है। अधैर्य, ओज, तेज आदिके भङ्गरूप क्लैब्यको अपनेमें मत आने दो, यह भाव है। हे पार्थ यानी हे पृथातनय—पृथाके पुत्र।

साक्षान्महेश्वरेणापि सह कृताहवे प्रख्यातमहाप्रभावे नोपपद्यते न युज्यते एतत्क्लैब्यमित्यसाधारण्येन तदयोग्यत्वनिर्देशः। ननु "न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः" इति पूर्वमेव ममोक्तमित्याशङ्क्याऽऽह—'क्षुद्रम्' इति। हृदयदौर्बल्यं मनसो भ्रमणादिरूपमधैर्यं क्षुद्रत्वकारणत्वात्क्षुद्रं सुनिरसनं वा त्यक्त्वा विवेकेनापनीयोत्तिष्ठ युद्धाय सज्जो भव। हे परन्तप, परं शत्रुं तापयतीति तथा संबोध्यते हेतुगर्भम् ॥ ३ ॥

कुन्तीका दूसरा नाम पृथा था, उनके द्वारा समाराधित देवताके प्रसादसे प्राप्त उनके पुत्रमात्रमें अत्यधिक पराक्रम प्रसिद्ध है, अतः उनका पुत्र होनेके कारण तुम क्लैब्यके योग्य नहीं हो, यह तात्पर्य है। अर्जुनत्वसे भी तुममें क्लैब्ययोग्यता नहीं, यह कहते हैं-'नैतत्' इत्यादिसे। साक्षात् महादेवजीसे संग्राम करके अपने असाधारण युद्ध-कौशल, उत्साह आदिसे उन्हें सन्तुष्टकर तुमने वर प्राप्त किया था, इस कारण जो संसारमें तुम्हारी प्रतिष्ठा हुई, तदनुसार भी तुममें क्लैब्य आना उचित नहीं है। 'एतत्' विशेषण अर्जुनके क्लैब्यका द्योतक है, यह असाधारण क्लैब्य तुम्हारे योग्य नहीं अर्थात् ऐसे वीर पुरुषमें इसका होना सर्वथा अयोग्य है, यह भाव है।

'न च शक्नोम्यवस्थातुम्' इत्यादि वाक्योंसे मैं अपनी विवशता पूर्वमें ही प्रकट कर चुका हूँ, यदि ऐसी शङ्का करो, तो उसपर कहते हैं—'क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यम्' से। हृदयकी दुर्बलता यानी मनका भ्रमण आदि रूप अधैर्य क्षुद्रत्वरूपकारणसे क्षुद्र है अर्थात् शक्ति, सहायक आदिके अभावसे क्लैब्य नहीं प्राप्त है, किन्तु तुम्हारे हृदयमें ही क्षुद्रत्व आ गया है, तत्प्रयुक्त क्षुद्र यानी तुच्छहृदयदौर्बल्यको छोड़कर अथवा क्षुद्र होनेके कारण सरलतासे हटानेके योग्य है, अतः विवेकसे उसे दूरकर हे परन्तप, युद्धके लिये खड़े हो जाओ यानी लड़नेके लिये तैयार हो जाओ। हे परन्तप—शत्रुसन्तापक! यह सहेतुक अन्वर्थ सम्बोधन है। शत्रुतापकविशेषणसे सम्बोधनकर तद्विपरीत आचरण करना सर्वथा अनुचित है, यह तात्पर्य है।

['क्लैब्य' शब्द सदृशपरक है अर्थात यहाँ वीर्यनाशक मोह ही क्लैब्यके समान होनेसे क्लैब्यशब्दार्थ है। साधारण पुरुषोंमें ही उसके होनेका संभव है। तुममें उसका होना सर्वथा अनुचित है, क्योंकि 'पाण्डवानां धनञ्जय' इत्यादि वाक्योंसे मत्स्वरूपत्वके बोधनसे प्रचुरप्रभावका होना अनिवार्य ही है। यदि कहो कि 'हाँ, ठीक है पर क्या करूँ यह छूटता जो नहीं?' तो हे परन्तप, हृदयका बल विवेक है। वह मोहसे

अर्जुन उवाच

कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन।
इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन ॥ ४ ॥

अर्जुनने कहा—हे मधुसूदन, रणाङ्गणमें भीष्मपितामह तथा द्रोणाचार्यके साथ हम बाणों द्वारा कैसे युद्ध कर सकते हैं अर्थात् कदापि नहीं कर सकते क्योंकि हे अरिसूदन, वे दोनों पूज्य हैं ॥ ४ ॥

ननु नायं स्वधर्मस्य त्यागः शोकमोहादिवशात्, किन्तु धर्मत्वाभावादधर्मत्वाच्चास्य युद्धस्य त्यागो मया क्रियत इति भगवदभिप्रायमप्रतिपद्यमानस्यार्जुनस्याभिप्रायमवतारयति—'कथम्' इति।

भीष्मं पितामहं द्रोणं चाऽऽचार्यं संख्ये रण इषुभिः सायकैः प्रतियोत्स्यामि प्रहरिष्यामि कथम्, न कथंचिदपीत्यर्थः। यतस्तौ पूजार्हौ कुसुमादिभि-

---

दूषित होता है—'दुष्टं बलं यस्य हृदयस्य तद्दुर्बलं, तस्य भावः दौर्बल्यम्।' अतः मोहका त्यागकर युद्धके लिये खड़े हो जाओ। 'मोह दुर्निवार है, उसका छूटना संभव नहीं' इस भ्रमकी निवृत्तिके लिये हृदयदौर्बल्यको क्षुद्र कहा गया है। परन्तप—यह मोहनिरासमें हेतु है; शत्रुसन्तापक शत्रुको देखकर क्रोधसे शत्रुसन्तापनमें प्रवृत्त होता है, तुम तो कौरवसन्तापनमें प्रवृत्त होकर भी शत्रुताका ही विस्मरण कर रहे हो, यह सर्वथा अनुचित है। कौरवोंने तुम्हारे साथ घोर शत्रुताका व्यवहार किया है, अतः वे तुम्हारे स्वजन नहीं हैं। उन लोगोंने तुम लोगोंके साथ लाक्षागृहदाह, विषदान आदि अनेक अतिदारुण दुःखपूर्ण व्यवहार किये हैं। यदि तुम उन दुर्व्यवहारोंका स्मरण करो, तो स्वजनताका व्यामोह शीघ्र छुट सकता है, अतः उक्त मोहत्यागके लिये शत्रुताका बार-बार अनुसन्धान करो, यह तात्पर्य है] ॥ ३ ॥

निश्चय समझिये कि यह स्वधर्म-त्याग शोक-मोहादिसे वशीभूत होकर नहीं कर रहा हूँ, किन्तु यह धर्म नहीं प्रत्युत अधर्म ही है इस कारण युद्धका त्याग कर रहा हूँ, भगवदभिप्राय न जान रहे अर्जुनके इस अभिप्रायका अवतरण करते हैं—'कथम्' इत्यादिसे।

भीष्मपितामह और धनुर्विद्याके आचार्य द्रोणाचार्यके ऊपर रणभूमिमें बाणोंसे मैं कैसे प्रहार करूँगा? किसी प्रकार उनपर प्रहार उचित नहीं है, क्योंकि वे

र्चनयोग्यौ। पूजार्हाभ्यां सह क्रीडास्थानेऽपि वाचाऽपि हर्षफलकमपि लीलायुद्धमनुचितं किं पुनर्युद्धभूमौ शरैः प्राणत्यागफलकं प्रहरणमित्यर्थः। मधुसूदनारिसूदनेति सम्बोधनद्वयं शोकव्याकुलत्वेन,पूर्वापरपरामर्शवैकल्यात्। अतो न मधुसूदनारिसूदनेत्यस्यार्थस्य पुनरुक्तत्वं दोषः। युद्धमात्रमपि यत्र नोचितं दूरे तत्र वध इति प्रतियोत्स्यामीत्यनेन सूचितम्।

अथवा पूजार्हौ कथं प्रतियोत्स्यामि। पूजार्हयोरेव विवरणम्--'भीष्मं द्रोणं च' इति। द्वौ ब्राह्मणौ भोजय देवदत्तं यज्ञदत्तं चेतिवत्संबन्धः। अयं भावः—दुर्योधनादयो नापुरस्कृत्य भीष्मद्रोणौ युद्धाय सज्जीभवन्ति। तत्र ताभ्यां सह युद्धं न तावद्धर्मः पूजादिवदविहितत्वात्।

दोनों पुष्पोंसे पूजा करनेके योग्य हैं। पूज्य व्यक्तियोंके साथ खेलमें वाणीसे भी हर्षफलप्रद लीलायुद्ध करना जब अनुचित है, तो फिर समरभूमिमें प्राणहरणफलवाले बाणप्रहारकी बात ही क्या?, यह भाव है।

शंका—एक ही श्लोकमें मधुसूदन और अरिसूदन इन दो संबोधनोंका प्रयोग करनेमें क्या तात्पर्य है, अभिमुखीकरण तो एक हीसे सिद्ध था?

समाधान—शोकजन्य व्याकुलताके कारण पूर्वोत्तरके परामर्शमें वह समर्थ नहीं हो सका, अतः दोनोंका उपादान हुआ है, यह वाक्यविन्यासमें दोष नहीं प्रत्युत गुण ही है, अतः उक्त सम्बोधनरूपसे अर्थमें पुनरुक्तता दोष नहीं आता। यहाँपर शब्द तो भिन्न ही है, केवल अर्थमें पुनरुक्तता है जो दोष होनेसे त्याज्य होता, परन्तु शोक-व्याकुलताका पोषक होनेसे यहाँ वह भी दोष नहीं है, यह भाव है। आमोदार्थ नकली वाग्-युद्ध भी जहाँ मना है वहाँ वधरूप फलवाला युद्ध तो अत्यन्त ही अनुचित है, यह भाव 'प्रतियोत्स्यामि' से सूचित होता है।

उक्त पूज्योंको छोड़कर दुर्योधनादि शत्रुओंसे युद्ध करो, वे तो तुम्हारे पूज्य नहींहै, इसपर कहते हैं-'अथवा' से। दोनोंमें ही पूज्यत्वके लाभका विवरण करते हैं—'भीष्मं द्रोणं च' से। 'देवदत्त और यज्ञदत्त इन दोनों ब्राह्मणोंको भोजन कराओ' यहाँपर देवदत्तादिमें जैसे ब्राह्मणत्वका लाभ होता है, वैसे ही प्रकृतमें भी समझना चाहिये। उपसंहारके अनुसार ही उपक्रमवाक्यका भी अर्थ होना चाहिये, तद्विरुद्ध नहीं। यदि उपसंहारमें अब्राह्मण देवदत्तादि लेंगे, तो उपक्रमवाक्यसे विरोध स्पष्ट है। इससे प्रकृतमें क्या लाभ हुआ? यह कहते हैं—'अयं भावः' से। दुर्योधन आदि मेरे शत्रु भीष्मपितामह और द्रोणाचार्यको बिना आगे किये युद्धके लिये स्वयं

न चायमनिषिद्धत्वादधर्मोऽपि न भवतीति वाच्यम् । "गुरुं हुंकृत्य त्वंकृत्य" इत्यादिना शब्दमात्रेणापि गुरुद्रोहो यदाऽनिष्टफलप्रदर्शनेन निषिद्धस्तदा किं वाच्यं ताभ्यां सह सङ्ग्रामस्याधर्मत्वे निषिद्धत्वे चेति ॥ ४ ॥

तैयार न होंगे, ऐसी स्थितिमें पूजाके योग्य उन व्यक्तियोंके साथ युद्ध करना धर्म नहीं है, क्योंकि पूजादि के समान वह शास्त्रविहित नहीं है। अनिषिद्ध होनेसे यह अधर्म भी नहीं होगा, ऐसी भी आप आशङ्का नहीं कर सकते, क्योंकि 'गुरुं हुंकृत्य त्वंकृत्य' इत्यादि याज्ञवल्क्य-वचनसे जब शब्दमात्रसे गुरुद्रोह अनिष्ट-फलदायक दिखलाकर त्याज्य माना गया है, तब भला उन लोगोंके साथ किये जानेवाले युद्धमें अधर्मत्व तथा निषिद्धत्वके विषयमें कहना ही क्या ? उसमें अधर्मता और निषिद्धता तो अर्थतः सिद्ध हो जाती है, यह भाव है।

[भीष्म, द्रोणाचार्य आदि जब तुमपर बाणोंसे प्रहार करेंगे, तब क्या करोगे ? यदि ऐसा प्रश्न हो, तो उसका 'एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन' यही उत्तर है। 'मधुसूदन' इस सम्बोधनसे सूचित होता है कि जैसे आपने भी मधुनामक अत्याचारी शत्रुको मारा था, वैसे ही इस विषयमें मुझे भी प्रेरित करना उचित है, पूज्य गुरुजनोंके वधके विषयमें मुझे प्रेरित करना आपको शोभा नहीं देता।

इसपर यदि यह शङ्का हो कि मैंने भी तो पूज्य मातुल कंसका वध किया है, अतः पूजनीयोंके वधमें मेरी यह प्रेरणा अनुचित नहीं है ? तो इसका समाधान— 'अरिसूदन' सम्बोधनसे दिया गया है।

कंस तो आपका जन्मसे ही शत्रु था, अतः उसका वध ठीक है, परन्तु भीष्म, द्रोण तो मेरे वैसे शत्रु नहीं हैं। पिताके देहावसानके बाद इन्होंने हम-लोगोंका पितृतुल्य ही पालन-पोषण आदि किया है। द्रोणाचार्यने हमें अपने पुत्र अश्वत्थामा तथा राजपुत्र दुर्योधनादिसे भी अधिक स्नेहसे सरहस्य धनुर्विद्याका उपदेश दिया है, अतः वे पिताजीसे भी अधिक श्रेष्ठ हैं, जैसा कि शास्त्रमें लिखा है—'सा हि विद्या तातस्तं जनयति यच्छ्रेष्ठं जन्म शरीरमेव माता-पितरौ जनयतः' इति। और दूसरी बात यह भी है कि द्रोणाचार्य ब्राह्मण हैं, इसलिये उनको भी मार देना अत्यन्त अनुचित है। कारण 'यो ब्राह्मणाय अवगुरेत् तं शतेन पातयेत्' यह श्रुति है। 'विप्रं निर्जित्य वादतः' इत्यादि स्मृतिसे जब वादसे भी ब्राह्मणपराजय निषिद्ध है, तो उसके साथ वधफलक युद्धकी कथा ही क्या ? अथवा 'अरिसूदन' यह भिन्न वाक्यस्थ है, अतः पुनरुक्त दोष नहीं है] ॥ ४ ॥

गुरूनहत्वा हि महानुभावा-
ञ्छ्रेयो भोक्तुं भैक्षमपीह लोके ।
हत्वाऽर्थकामांस्तु गुरूनिहैव
भुञ्जीय भोगान् रुधिरप्रदिग्धान् ॥ ५ ॥

अतः महानुभाव गुरुजनोंका वध न कर इस लोकमें भिक्षान्न-भोजन करना ही हम अच्छा समझते हैं, क्योंकि गुरुजनोंको मारकर उनके रक्तसे सने अर्थ-कामरूप भोगोंको ही तो यहींपर भोगूँगा, मोक्ष तो न पाऊँगा, यह भाव है ॥ ५ ॥

ननु भीष्मद्रोणयोः पूजार्हत्वं गुरुत्वेनैव, एवमन्येषामपि कृपादीनाम्, न च तेषां गुरुत्वेन स्वीकारः सांप्रतमुचितः, "गुरोरप्यवलिप्तस्य कार्याकार्यमजानतः। उत्पथप्रतिपन्नस्य परित्यागो विधीयते"॥ इति स्मृतेः। तस्मादेषां युद्धगर्वेणावलिप्तानामन्यायराज्यग्रहणेन शिष्यद्रोहेण च कार्याकार्यविवेकशून्यानामुत्पथनिष्ठानां वध एव श्रेयानित्याशङ्क्याऽऽह—'गुरूनहत्वा' इति। गुरूनहत्वा परलोकस्तावदस्त्येव। अस्मिंस्तु लोके तैर्हृतराज्यानां नो नृपादीनां निषिद्धं भैक्षमपि भोक्तुं श्रेयः प्रशस्यतरमुचितम्, न तु तद्वधेन राज्यमपि श्रेय इति। धर्मेऽपि युद्धे वृत्तिमात्रफलत्वं गृहीत्वा पापमारोप्य ब्रूते। ननु—अवलिप्त-

जिस प्रकार भीष्म और द्रोण गुरुभावसे ही पूज्य हैं, उसी प्रकार कृपाचार्य आदि भी। परन्तु इस समय उनमें गुरुभाव स्वीकार करना उचित नहीं है, क्योंकि 'गुरोरप्यवलिप्तस्य कार्याकार्यमजानतः। उत्पथप्रतिपन्नस्य परित्यागो विधीयते ॥' ऐसा स्पष्ट स्मृतिवचन है। अतः इस समय युद्धाहङ्कारसे गर्वित, अन्यायपूर्वक राज्यग्रहणसे-द्यूत-क्रीडाद्वारा राज्य छीन लेनेसे दुर्योधनादिके पक्षपाती तथा शिष्यद्रोही (तुम लोग भी तो उनके शिष्य हो, फिर भी तुम लोगोंके द्रोही) होनेसे कर्तव्याकर्तव्य-विवेकशून्य (अन्यायाचरणोंसे शिष्यको निवृत्त करना, यह गुरुजनोंका कर्तव्य है, उससे रहित तथा अन्यायमें प्रवृत्त शिष्यादिकी सहायता करना अकर्तव्य है, इससे भी अपराङ्मुख) एवं उत्पथगामी गुरुजनोंका परित्याग करना ही श्रेष्ठ है, इस आशंकापर कहते हैं—'गुरूनहत्वा' इत्यादि।

गुरुजनोंको न मारनेसे परलोक तो होगा ही, इस लोकमें भी उन शत्रुओंके द्वारा राज्य छीन लिये जानेपर हम क्षत्रियोंको निषिद्ध भी भिक्षा-भोजन उससे कहीं श्रेष्ठ है, परन्तु उनका बध करके राज्य करना उचित नहीं है। यद्यपि धर्म होनेसे युद्ध ही श्रेय

त्वादिना तेषां गुरुत्वाभाव उक्त इत्याशङ्कयाऽऽह—'महानुभावान्' इति। महाननुभावः श्रुताध्ययनतपआचारदिनिबन्धनः प्रभावो येषां तान्। तथा च कालकामादयोऽपि यैर्वशीकृतास्तेषां पुण्यातिशयशालिनां नावलिप्तत्वादिक्षुद्र-पाप्मसंश्लेष इत्यर्थः। हिमहानुभावानित्येकं वा पदम्, हिमं जाड्यमपहन्तीति हिमहा आदित्योऽग्निर्वा, तस्येवानुभावः सामर्थ्यं येषां तान्। तथा चातितेज-स्वित्वात्तेषामवलिप्तत्वादिदोषो नास्त्येव।

'धर्मव्यतिक्रमो दृष्ट ईश्वराणां च साहसम्।
तेजीयसां न दोषाय वह्नेः सर्वभुजो यथा॥'

इत्युक्तेः।

है, भिक्षान्नभोजन नहीं, तथापि धर्म्म युद्धको भोगमात्रफलक मानकर तदनुसार उक्त अविवेकसे उस (युद्ध) में पापत्वका आरोप करके ही वैसा कह रहे हैं। यदि शंका हो कि अहंकारादिसे लिप्त होनेसे उनमें गुरुत्व कहां रह गया है, तो इसपर कहते हैं—'महानुभावान्' से। महान् अनुभावः—श्रुत, अध्ययन, तप, आचारादिनिमित्तक प्रभाव है, जिनका उन भीष्मपितामह आदिको। तात्पर्य यह कि जिन्होंने काल और काम आदिको भी वशमें कर लिया है, उन पुण्यातिशयशाली महानुभावोंमें अवलेप आदि तनिक भी पापका सम्पर्क नहीं है। [उनमें श्रुत, अध्ययन, सदाचार आदि कितना अधिक था, इसका पता तो शरशय्यापर मुमूर्षु अवस्थामें लेटकर महर्षियोंके समक्ष उनके जटिल धर्मविवेक और कितने आख्यानोंके उपदेशोंसे चलता है। 'उत्तरायण कालमें शरीर-त्याग करेंगे' इस प्रतिज्ञाके अनुकूल कालको भी तावत्कालकी प्रतीक्षा करनी पड़ी थी। वे नैष्ठिकब्रह्मचर्यसे ऊर्ध्वरेता थे। उनका ज्ञान सूक्ष्म विप्रकृष्टादि-विषयक अप्रतिहत था। इसी प्रकार द्रोणाचार्यका भी प्रताप-प्रभाव महाभारतके परिशीलनशील विद्वानोंसे छिपा नहीं है। धर्मातिशयशाली इन महात्माओंमें अवलेपादि स्वल्प भी दोष नहीं था, यह भाव पाठकोंके सामने है।]

अथवा—'हि महानुभावान्' यह एक ही पद है।—हिमं—अर्थात् जडता, अज्ञता या शीतको—हन्ति नाशयति—जो नष्ट करता है वह—हिमहा—अग्नि अथवा सूर्य हैं, इनके समान सामर्थ्य है, जिनमें ऐसे वे गुरुजन हैं। अतितेजस्वी होने से उनमें अवलेप आदि दोष का संभव नहीं है, कारण 'धर्मव्यतिक्रमो दृष्ट ईश्वराणां च साहसम्। तेजीयसां न दोषाय वह्नेः सर्वभुजो यथा॥' यह वचन है। अर्थात् समर्थोंमें धर्मका उलट-फेर देखा गया है तथा उनमें साहस भी देखा गया है। जैसे सर्वभक्षी अग्नि किसीसे दूषित नहीं होती।

ननु यदाऽर्थलुब्धाः सन्तो युद्धे प्रवृत्तास्तदैषां विक्रीतात्मनां कुतस्त्यं पूर्वोक्तं माहात्म्यम्, तथा चोक्तं भीष्मेण युधिष्ठिरं प्रति—

'अर्थस्य पुरुषो दासो दासस्त्वर्थो न कस्यचित्।
इति सत्यं महाराज बद्धोऽस्म्यर्थेन कौरवैः॥"

इत्याशङ्क्याऽऽह—'हत्वा' इति। अर्थलुब्धा अपि ते मदपेक्षया गुरवो भवन्त्येवेति पुनर्गुरुग्रहणेनोक्तम्। तुशब्दोऽप्यर्थे। ईदृशानपि गुरून्हत्वा भोगानेव भुञ्जीय, न तु मोक्षं लभेय। भुज्यन्त इति भोगा विषयाः कर्मणि घञ्। ते च भोगा इहैव न परलोके। इहापि च रुधिरप्रदिग्धा इवापयशोव्याप्तत्वेनात्यन्तजुगुप्सिता इत्यर्थः। यदेहाप्येवं तदा परलोकदुःखं कियद्वर्णनीयमिति भावः। अथवा गुरून्हत्वाऽर्थकामात्मकान्भोगानेव भुञ्जीय न तु धर्ममोक्षावित्यर्थकामपदस्य भोगविशेषणतया व्याख्यानान्तरं द्रष्टव्यम् ॥५॥

शङ्का हो कि जब अर्थके लोभी होकर वे युद्धमें सम्मिलित हैं, तब आत्माके बेचनेवाले उनमें पूर्वोक्त माहात्म्य कहाँसे आ सकता है? स्वयं भीष्मपितामहने युधिष्ठिरके प्रति कहा है—'अर्थस्य पुरुषो दासः' आदि, तो इसपर कहते हैं—'हत्वा' से। अर्थके लोभी भी वे मेरी अपेक्षा तो गुरु ही हैं, क्योंकि शिष्य भी तो अर्थलुब्ध है, यह द्वितीय गुरुप्रयोगका फल है। 'तु' शब्द अप्यर्थक है। ऐसे गुरुओंको मारकर भोगका ही उपभोग करेंगे, मोक्ष तो नहीं पायेंगे, यह भाव है। 'भुज्यन्त इति भोगाः' इस कर्मव्युत्पत्तिसे निष्पन्न भोगशब्द भोगसाधन रूप, रसादि विषयपरक है। वे भोग इसी लोकमें संभव हैं, परलोकमें नहीं। यहाँ भी वे शुद्ध नहीं, किन्तु रुधिरसे सने हाथके समान अशुचि, अयशपूर्ण अतएव अत्यन्त निन्दित हैं, यह अर्थ है। जब यहींपर ऐसे हैं तो परलोकमें कितने दुःखकर होंगे, क्योंकि वह लोक तो केवल पुण्यात्माओंका ही है, यह भाव है।

अथवा गुरुओंको मारकर अर्थकामात्मक भोगोंका ही भोग करेंगे, धर्म-मोक्षका नहीं, इससे अर्थ-कामकी सिद्धि हो सकती है, धर्म-मोक्षकी नहीं। अर्थ-कामको भोगमें विशेषण माननेसे यह दूसरा व्याख्यान समझना चाहिये। इन दोनों अर्थोंमें कोई विरोध नहीं है, अतः विनिगमनाविरहसे दोनों अर्थोंमें तात्पर्य है।

अथवा—'अनार्यजुष्ट' इत्यादि वाक्यसे युद्धनिवृत्तिमें भगवान्ने जो कश्मलत्व घोषित किया है वह नहीं जँचता, क्योंकि गुरुयुद्धनिवृत्तिमें कश्मलत्व नहीं प्रत्युत

युद्धमेंही है, यही बात 'महानुभावान्' से कहते हैं। उक्त व्याख्यानसे भीष्मादिमें अतिशयोक्ति स्पष्ट ही है। 'हि' शब्द प्रसिद्धिका द्योतक है। पूजामें बहुवचन किया गया है—'एकत्वं न प्रयुञ्जीत गुरावात्मनि चेश्वरे' ऐसी सभ्यमर्यादा है। विशिष्ट गुरुजनोंका वध न कर क्षत्रियोंके लिये यद्यपि भैक्षान्न निषिद्ध है, तथापि उससे वह कहीं श्रेय अर्थात् अच्छा है।

प्रश्न—भिक्षा न कहकर 'भैक्ष' क्यों कहा गया ?

उत्तर—एक भिक्षासे शरीरयात्रा न हो सके तो-भैक्ष-भिक्षासमूहसे करना यहाँ तक विधिका अनुग्रह है,इसी आशयसे भैक्ष्य कहा है। मधुसूदन, अरिसूदन इन दोनों विशेषणोंसे तादृश गुरुजनोंको मारकर अर्थकामात्मक ही भोग मिलेंगे वे भी परिशुद्ध नहीं, किन्तु रुधिरप्रदिग्ध जो अतिघृणित हैं। वस्तुतः वे अर्थ-काम रुधिरप्रदिग्ध नहीं हैं, तथापि सर्वतोमुख रुधिरप्रवाहके मध्यमें पतित अवश्य हैं,इनका अर्जन-रक्षण उक्त प्रवाहके बिना हो नहीं सकता। अतः उनमें रुधिरप्रदिग्धोक्ति अतिशयोक्ति है, जिसका जुगुप्सितमें तात्पर्य है। फिर भी वे भोग हम सबकी विजय होनेपर ही मिल सकते हैं, क्रियाफल होनेसे पूर्वमें वह [विजय] असर्वज्ञ हमलोगोंको स्वतः दुर्ज्ञेय है,फिर उसके निश्चयकी आशा ही क्या ? अतः उसमें संशय है। साथ ही यह भी निश्चय नहीं कि हमलोगोंको कौन गुरुतर है? यदि हमलोगोंकी पराजय हुई तो लेनेके बदले प्राण तक देने पड़ेंगे। इसलिये भी गुरुओंसे युद्ध करना अच्छा नहीं। यहाँपर 'महानुभाव तादृश गुरुओंको मारकर' इस कथनसे भीष्मादिके साथ युद्ध न करनेमें उक्त 'अनार्यजुष्टत्वादि' दोष नहीं, यह सिद्ध होता है। 'रुधिरप्रदिग्धान्, 'यदि वा नो जयेयुः' इन दोनों वाक्योंसे युद्धमें अपकीर्तिकरत्व दिखलाया गया है। इससे पूर्वोक्त अपकीर्त्ति दोषका निराकरण हुआ। युद्ध करनेपर यदि विजय प्राप्त हुई, तो 'गुरुओंको मारकर विजय प्राप्त करनेमें इन लोगोंको घृणा नहीं, प्रत्युत गर्व हो रहा है, धिक्कार है इन्हें !' इस प्रकार और यदि विजय न प्राप्त हुई अर्थात् पराजित होकर जीते रहे, तो इन 'मूढ़ निर्लज्जोंको देखो, जो अपनी शक्ति न तौलकर गर्वसे इस युद्धमें प्रवृत्त हुए, आखिर फल भी वैसा ही मिला। इस प्रकार दोनों तरहसे अपकीर्तिकर जनरव होगा। दोनों पक्षोंमें अपकीर्ति तुल्य है, परन्तु युद्धपक्षमें हमारी जय होनेपर वह अपकीर्ति परलोकहानिकी हेतु है, अतः अयुद्धपक्षकी अपकीर्ति उससे कहीं अच्छी है। सारांश यह निकला कि भीष्म, द्रोणादिसे युद्ध न करेंगे, इस अर्थमें 'अनार्यजुष्टत्व आदि भगवदुक्त कश्मलत्वादि दोष नहीं हैं]॥५॥

न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो
यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः ।
यानेव हत्वा न जिजीविषाम-
स्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः ॥ ६ ॥

तथा भिक्षा माँगना और युद्ध करना इन दोनोंमें हम लोगोंके लिए कौन श्रेष्ठ है, यह भी हम नहीं जानते । हम लोग इन शत्रुओंको जीत लेंगे या ये शत्रु ही हमें जीत लेंगे, यह भी हम नहीं जानते । जिन अपने बन्धुओंको मारकर हम जीवित रहनेकी इच्छा भी नहीं करते, वे ही धृतराष्ट्रके सम्बन्धी भीष्म, द्रोण आदि सब संग्राममें सामने आकर खड़े हैं ॥ ६ ॥

ननु भिक्षाशनस्य क्षत्रियं प्रति निषिद्धत्वाद्युद्धस्य च विहितत्वात्स्वधर्मत्वेन युद्धमेव तव श्रेयस्करमित्याशङ्क्याऽऽह—'न चैतद्विद्मः' इति। एतदपि न जानीमो भैक्षयुद्धयोर्मध्ये कतरन्नोऽस्माकं गरीयः श्रेष्ठं किं भैक्षं हिंसाशून्यत्वादुत युद्धं स्वधर्मत्वादिति । इदं च न विद्मः—आरब्धेऽपि युद्धे यद्वा वयं जयेमातिशयीमहि यदि वा नोऽस्माञ्जयेयुर्धार्तराष्ट्राः । उभयोः साम्यपक्षोऽप्यर्थाद्बोद्धव्यः । किं च जातोऽपि जयो नः फलतः पराजय एव। यतो यान्बन्धून्हत्वा जीवितुमपि वयं नेच्छामः किं पुनर्विषयानुपभोक्तुम्।

क्षत्रियोंको भिक्षा-भोजन धर्मशास्त्रसे निषिद्ध होनेसे अधर्म है और युद्ध शास्त्रविहित होनेसे धर्म है, अतः युद्ध ही तुम्हारे लिये अच्छा है, यह आशङ्का कर कहते हैं—'न चैतद्विद्मः' से ।

यह भी तो हम नहीं जानते कि भिक्षाएँ और युद्ध इन दोनोंमें हमलोगोंके लिये कौन श्रेष्ठ है—क्या हिंसारहित होनेसे भैक्ष श्रेष्ठ है, या स्वधर्म होनेसे युद्ध ? युद्ध आरम्भ करनेपर भी हम लोग जीतेंगे, या वे धार्तराष्ट्र—धृतराष्ट्रके पुत्र दुर्योधनादि हमलोगोंको जीतेंगे अथवा दोनों बराबर रहेंगे, यह भी हम नहीं जानते । यहाँ साम्यपक्ष यानी दोनों बराबर रहेंगे यह पक्ष अर्थतः प्राप्त हुआ समझना चाहिये । युद्धमें जय और पराजयके समान कहीं सन्धि भी पायी जाती है, पर वह शब्द द्वारा नहीं कहा गया है किन्तु अर्थात्—उपलक्षण द्वारा उसको भी समझ लेना चाहिये, यह भाव है। दूसरी बात यह कि प्राप्त भी विजय फलतः हम लोगोंकी पराजय ही होगी अर्थात् दोनोंका फल दुःखमूलक पराजय ही होगी, क्योंकि जिन बन्धुओंको मारकर

त एवावस्थिताः संमुखे धार्तराष्ट्रा धृतराष्ट्रसंबन्धिनो भीष्मद्रोणादयः सर्वेऽपि। तस्माद् भैक्षाद्युद्धस्य श्रेष्ठत्वं न सिद्धमित्यर्थः। तदेवं प्राक्तनेन ग्रन्थेन संसारदोषनिरूपणादधिकारिविशेषणान्युक्तानि। 'न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे' इत्यत्र रणे हतस्य परिव्राट्समानयोगक्षेमत्वोक्तेः 'अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव प्रेयः' इत्यादिश्रुतिसिद्धं श्रेयो मोक्षाख्यमुपन्यस्तम्। अर्थाच्च तदितरदश्रेय इति नित्यानित्यवस्तुविवेको दर्शितः, न काङ्क्षे विजयं कृष्णेत्यत्रैहिकफलविरागः, अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोरित्यत्र पारलौकिकफलविरागः, नरके नियतं वास इत्यत्र स्थूलदेहातिरिक्त आत्मा, किं नो राज्येनेति व्याख्यातवर्त्मना शमः, किं भोगैरिति दमः, यद्यप्येते न पश्यन्तीत्यत्र निर्लोभता, तन्मे क्षेमतरं भवेदित्यत्र तितिक्षा, इति प्रथमाध्यायार्थः स संन्याससाधनसूचनम्। अस्मिंस्त्वध्याये श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीत्यत्र

जीनेकी भी हम इच्छा नहीं करते, फिर उनके विषयोंके उपभोगकी तो बात ही क्या? वे ही धृतराष्ट्रके पुत्रादि सामने खड़े हैं और उन्हींमें भीष्म, द्रोण आदि भी सब हैं, इस कारण भैक्षसे युद्धमें श्रेष्ठत्व नहीं सिद्ध हुआ, यह अर्थ है।

इस तरह पूर्वके ग्रन्थसे संसारदोषके निरूपण द्वारा अधिकारीके विशेषण कहे गये हैं। उनमें 'न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा' इत्यादिसे संग्राममें हतपुरुषका परिव्राट्—संन्यासीके समान योगक्षेम है। 'अन्यच्छ्रेयः अन्यदुतैव प्रेयः, इस श्रुतिके अनुसार श्रेयः—मोक्ष दूसरा है और प्रेयः—स्वर्ग दूसरा है, दोनों भिन्न-भिन्न हैं यह निश्चित होता है। यहाँपर उक्त श्रुतिसिद्ध मोक्षनामक श्रेय कहा गया है। 'श्रेयो निश्श्रेयसामृतम्' इस अमरकोशसे भी श्रेयः मोक्षार्थक निश्चित है। तद्भिन्न अर्थात् अश्रेय है, इससे नित्य और अनित्य वस्तुओंका विवेक (भेद) दिखलाया गया है। 'न काङ्क्षे विजयं कृष्ण' इत्यादि वाक्यसे ऐहिक (इस लोकके) फलभोगोंमें विराग (रागका अभाव) बतलाया गया है। 'अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः' यहाँपर पारलौकिक (स्वर्ग आदि) फलभोगोंका विराग और 'नरके नियतं वासः' यहाँ स्थूलदेहसे भिन्न आत्मा बतलाया गया है। 'किन्नो राज्येन गोविन्द' यहाँपर उक्त रीतिसे शम, 'किं भोगैः' से दम, 'यद्यप्येते न पश्यन्ति' यहाँ लोभाभाव और 'तन्मे क्षेमतरं भवेत्' यहाँ तितिक्षा बतलायी गयी है। इस प्रकार प्रथम अध्यायका वह अर्थ संन्यासहेतुओंका सूचक है। इस अध्यायमें तो 'श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपि' यहाँ भिक्षाचरणसे उपलक्षित संन्यासका प्रतिपादन किया गया है।

भैक्षाचर्योपलक्षितः संन्यासः प्रतिपादितः । गुरूपसदनमिदानीं प्रतिपाद्यते, समधिगतसंसारदोषजातस्यातितरां निर्विण्णस्य विधिवद्गुरुमुपसन्नस्यैव विद्याग्रहणेऽधिकारात् ॥ ६ ॥

शास्त्रोंमें संन्यासीको विशेषरूपसे भिक्षाका विधान है, इसलिये धर्म द्वारा तदुपलक्षित संन्यास यहाँ विवक्षित है। अब गुरुसमीप गमन बतलाते हैं, क्योंकि संसारके सब दोषोंको अच्छी तरह समझकर संसारसे उपरत और सविधि गुरु-समीप प्राप्त हुएको ही विद्याग्रहणमें अधिकार है।

[यहाँ किसी विद्वान् का कहना है कि न तो यह प्रकरण संन्याससूचनार्थ है और न उक्तविशेषण योग्याधिकारिविशेषणार्थ ही है, कारण संसारसे वैराग्य दो ही कारणोंसे हुआ करता है—एक तो जन्मान्तरीय सुकृतके सुपरिपाकसे विषयके स्वाभाविक दोषोंको देख या शास्त्र द्वारा तत्त्वतः समझ कर स्वतः इससे उपराम (विराम) होता है, जो मोक्षाधिकारीमें विशेषण है और दूसरा बलवान् अनिष्टप्रद इष्टसाधनसे विराग होता है। जैसे विषमिश्रित मधुरान्नके भक्षणसे तृप्ति होनेपर भी तद्भक्षणसे अनिष्ट ही परिणाम होगा। यह विराग संसारी मनुष्यमात्रको होता ही है। वह मुमुक्षुका विशेषण नहीं है। प्रथम वैराग्य निरुपाधिक कहलाता है और दूसरा सोपाधिक। यहाँपर शम, दम, विवेक आदि जितने विशेषण अर्जुनमें कहे गये हैं, वे सबके सब सोपाधिक हैं, निरूपधिक कोई भी नहीं। ऐसे वैराग्य आदि सभीको होते ही रहते हैं। देखिये—'न हि प्रपश्यामि ममापनुद्यात् यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम्' यहाँपर ऐहिक-आमुष्मिक फलभोगोंसे विराग स्पष्टतः सोपाधिक है, यहाँपर परिणाम इन्द्रियोंका शोषक शोक स्पष्टरूपसे सोपाधिक कहा गया है। इसी तरह 'न कांक्षे विजयं कृष्ण', 'किन्नो राज्येन गोविन्द', 'येषामर्थे काङ्क्षितं नो' (स्वजनार्थ ही मेरी राज्याकांक्षा है, उनके निधन होनेपर राज्य लेकर क्या करेंगे) इत्यादिसे स्पष्ट है कि अर्जुनका यह वैराग्य बन्धुवर्गके वधरूप उपाधिसे युक्त है। 'यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः', 'कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिः' इत्यादिसे भी कुलक्षयकृत उपाधिसे युक्त ही निर्लोभता कही गयी है। 'तन्मे क्षेमतरम्' तथा 'दृष्ट्वेमं स्वजनम्' इत्यादि उपक्रमसे 'धार्तराष्ट्रा रणे हन्युः' इत्यादिमें धार्तराष्ट्रग्रहणसे स्वजनकर्तृक वधोपाधिक ही तितिक्षा है, दूसरेको मारनेमें तितिक्षाभाव स्पष्ट है। 'श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपि', हत्वार्थकामास्तु गुरूनिहैव' इत्यादिमें भी गुरुवधनिमित्तक ही भिक्षामें उत्तमत्व कहा गया है। 'न च श्रेयोऽनुपश्यामि' से भी लेकर 'हत्वा स्वजनमाहवे' इस उपसंहारसे भी स्वजनवधोपाधिक ही संन्यासीके समान योगक्षेम कहा है। इस प्रकार सब विशेषण सोपाधिक ही कहे

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः
पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः ।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ॥ ७ ॥

भगवन्, ये मेरे बन्धु-बान्धव हैं, इन सबोंके मर जानेपर मैं अकेला जीकर ही क्या करूँगा—इत्याकारक अभिनिवेशरूप ममता दोषसे मेरा युद्धोद्योगरूपी क्षात्र स्वभाव तिरस्कृत हो गया है। तथा धर्मके विषयमें कोई निर्णायक प्रमाण न मिलनेसे मेरा चित्त नानाविध संशयोंसे व्याप्त हो गया है। इसलिए मैं आपसे पूछता हूँ कि आत्यन्तिक परम पुरुषार्थभूत जो फल हो, वह मुझसे कहिये। मैं आपका शिष्य हूँ, अतः शरणागत मुझे आप शिक्षा दीजिये ॥ ७ ॥

तदेवं भीष्मादिसंकटवशात् 'व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति' इति श्रुत

गये हैं, निरुपाधिक नहीं। वे सोपाधिक वैराग्य आदि ज्ञानाधिकारीके विशेषण नहीं हो सकते, यह शास्त्रका निष्कर्ष है। अन्यथा स्वजनेष्टमरणादिनिमित्तक वैराग्य आदि सबको होते ही हैं, ये वैराग्य आदि उनके व्यावर्त्तक न होनेसे अधिकारिविशेषण हो ही नहीं सकेंगे, कारण इतरव्यावर्त्तक ही विशेषण सार्थक माना जाता है। यदि कहें कि संसारीको उक्त कारणोंसे जो वैराग्य आदि उत्पन्न होते हैं, वे अज्ञानमूलक तथा क्षणिक हैं। अर्जुनका वैराग्य तो उससे कहीं विलक्षण है, तो वह भी ठीक नहीं,कारण अर्जुनका वैराग्य भी अज्ञानमूलक अतएव क्षणिक ही है। इस अंशमें दोनोंमें वैलक्षण्य नहीं है। इसीलिये भगवान्ने आत्मतत्त्वका उपदेशकर अर्जुनका अज्ञान निवृत्त किया है,अज्ञानकी निवृत्ति होनेसे उक्त सोपाधिक वैराग्यादि भी 'कारणनिवृत्ति' न्यायसे निवृत्त हो गये। अतः 'दैवासुरसंपद्वि-भाग' के अवसरमें 'अभयं सत्त्वसंशुद्धिः' इत्यादिसे प्रस्तुतकर 'दैवीसंपद्विमोक्षाय' इत्यादिसे दैवीसंपत्तिको अधिकारीका विशेषण बतलाकर 'मा शुचः संपदं दैवी-मभिजातस्य पाण्डव' यह जो भगवान्ने अर्जुनके प्रति कहा है, वही अधिकारी निरूपणपरक है। यहाँ तो ज्ञानोपदेशके क्रममात्रसे अर्जुनके शोकमोहोत्पत्तिका प्रतिपादन किया है। उपर्युक्त दोनों पक्षोंमें विद्वानोंको जो उचित प्रतीत हो, उसे वे मानें।यह तो स्पष्ट है कि श्रीमधुसूदन सरस्वतीका लेख शाङ्करभाष्यव्याख्यानका भाव व्यञ्जक होनेसे तदनुसारी है। इस विषयपर हम विशेष आगे कहेंगे] ॥ ६ ॥

सिद्धभिक्षाचर्येऽर्जुनस्याभिलाषं प्रदर्श्य विधिवद्गुरूपसत्तिमपि तत्संकटव्याजे-नैव दर्शयति–'कार्पण्य०' इति। यः स्वल्पामपि वित्तक्षतिं न क्षमते स कृपण इति लोके प्रसिद्धः। तद्विधत्वादखिलोऽनात्मविदप्राप्तपुरुषार्थतया कृपणो भवति। 'यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वाऽस्माल्लोकात्प्रैति स कृपणः' इति श्रुतेः। तस्य भावः कार्पण्यमनात्माध्यासवत्त्वे तन्निमित्तोऽस्मिञ्जन्मन्येत एव मदीयास्तेषु हतेषु किं जीवितेनेत्यभिनिवेशरूपो ममतालक्षणो दोषस्तेनोपहत-स्तिरस्कृतः स्वभावः क्षात्रो युद्धोद्योगलक्षणो यस्य स तथा। धर्मे विषये निर्णायकप्रमाणादर्शनात्संमूढं किमेतेषां वधो धर्मः किं मे (किं वै) तत्परि-पालनं धर्मः। तथा किं पृथिवीपरिपालनं धर्मः किं वा यथावस्थितोऽरण्य-निवास एव धर्म इत्यादिसंशयैर्व्याप्तं चेतो यस्य स तथा। न चैतद्विद्मः कत-रन्नो गरीय इत्यत्र गरीय इत्यत्र व्याख्यातमेतत्। एवंविधः सन्नहं

इस प्रकार भीष्मादिसंकटसे अर्थात् भीष्मादि गुरुजनोंके वधके बिना न प्राप्त होनेवाले राज्य-सुख भोग आदिको छोड़कर, 'व्युत्थायाथ भिक्षार्यं चरन्ति' इस श्रुतिसे सिद्ध भिक्षाशनमें अर्जुनकी रुचि दिखलाकर शास्त्रविधानानुसार उसका गुरुसमीपगमन भी उक्त संकटके व्याजसे ही दिखलाते हैं--'कार्पण्य' इत्यादिसे। जो तनिक भी अपने धनकी हानि नहीं सहता वही कृपण होता है। इसमें 'यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वा अस्माल्लोकात्प्रैति स कृपणः' यह श्रुति प्रमाण है। कृपणका भाव (प्रकारीभूत असाधारण धर्म) कार्पण्य है। अनात्मभूत शरीरादिमें आत्माका अध्यास अर्थात् शरीरादिको ही आत्मा मानना कार्पण्य है, तद्धेतुक (कृपणतासे जन्य) इस जन्ममें ये ही मेरे हैं, इनके मारनेपर जीवनसे लाभ ही क्या ? इस प्रकार ममतारूप हठ ही दोष है, उससे उपहत (अभिभूत) है--स्वभावः क्षात्रः युद्धोद्योगलक्षणं यस्य सः--युद्धोद्योगस्वरूप क्षात्रियस्वभाव जिसका, वह। तथा धर्मविषयमें निश्चायक प्रमाण न देखनेसे संमूढ़ (अप्रबुद्ध) है 'क्या इनके विनाशमें धर्म है या रक्षामें, एवं क्या पृथिवीका परिपालन धर्म है वा पहिलेके समान वननिवास ही धर्म है' इत्यादि सन्देहोंसे व्याप्त (भरा) है चित्त जिसका वह। 'न चैतद्विद्मः' इत्यादि वाक्य से इसका पहले ही व्याख्यान हो चुका है कि 'युद्ध करना या न करना' इन दोनों में हम लोगोंके लिये श्रेष्ठ (लाभदायक) कौन है, यह भी संशय है। इस तरहका होकर यानी जब कि मेरा क्षात्रधर्म कार्पण्य दोषसे अभिभूत हो गया है और मेरा चित्त भी धर्मविषयक विचारमें सन्देहसे

त्वामिदानीं पृच्छामि। श्रेय इत्यनुषङ्गः। अतो यन्निश्चितमैकान्तिकमात्यन्तिकं च श्रेयः परमपुमर्थभूतं फलं स्यात्तन्मे मह्यं ब्रूहि। साधनानन्तरमवश्यंभावित्वमैकान्तिकत्वम्, जातस्याविनाश आत्यन्तिकत्वम्। यथा ह्यौषधे कृते कदाचिद्रोगनिवृत्तिर्न भवेदपि जाताऽपि च रोगनिवृत्तिः पुनरपि रोगोत्पत्त्या विनाश्यते, एवं कृतेऽपि यागे प्रतिबन्धवशात्स्वर्गो न भवेदपि जातोऽपि स्वर्गो दुःखाक्रान्तो नश्यति चेति नैकान्तिकत्वमात्यन्तिकत्वं वा तयोः। तदुक्तम्—

'दुःखत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा तदपघातके हेतौ।
दृष्टे साऽपार्था चेन्नैकान्तात्यन्ततोऽभावात्॥' इति।
'दृष्टवदानुश्रविकः स ह्यविशुद्धिक्षयातिशययुक्तः।
तद्विपरीतः श्रेयान्व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात्॥' इति च।

ननु त्वं मम सखा न तु शिष्योऽत आह—'**शिष्यस्तेऽहम्**' इति।

व्याप्त हो गया है तब मैं आपसे पूछता हूँ कि इनमें कौनसा श्रेय है? यहाँ भी श्रेयकी अनुवृत्ति है। अतः जो असंदिग्ध, ऐकान्तिक, और आत्यन्तिक श्रेय यानी परम पुरुषार्थभूत फल हो वह मुझसे कहिये। अवश्यंभावी साधनानन्तर का नाम ऐकान्तिक है तथा उत्पन्न हुएका सर्वथा अविनाश ही आत्यन्तिक है। जैसे—औषध करने पर भी कभी रोगनिवृत्ति नहीं होती, निवृत्ति हुई भी तो फिर रोग होनेसे वह निवृत्त हो जाती है अर्थात् उक्त विनाश आत्यन्तिक नहीं है। इसी प्रकार परलोकके फलोंमें भी है। याग करने पर भी प्रतिबन्धनके प्रभावसे स्वर्ग नहीं भी होता है * और यदि स्वर्ग हुआ भी तो वह दुःखमिश्रित तथा विनाशी ही रहता है। अतः ये दोनों ऐकान्तिक और आत्यन्तिक नहीं हैं। यही सांख्यकारिकामें भी कहा गया है—'दुःखत्रये' * इत्यादि।

तुम तो मेरे सखा हो शिष्य नहीं, इस शंकाकर कहते हैं- '**शिष्यस्तेऽहम्**'

---

* शंका—तब तो वेदप्रामाण्य ही भङ्ग हो जायगा?

समाधान—नहीं, प्रतिबन्धक न रहनेपर ही यागसे स्वर्ग होता है, यही वेदका तात्पर्य है। अथवा प्रारब्ध कर्मके प्रतिबन्धक रहनेसे यागोत्तर कालमें सद्यः स्वर्ग नहीं होता, किन्तु भोगादिसे उक्त प्रतिबन्धकी निवृत्ति होनेपर कालान्तरमें स्वर्ग होता है।

* तीन दुःख ये हैं—(१) आध्यात्मिक, (२) आधिदैविक और (३) आधि-

त्वदनुशासनयोग्यत्वादहं तव शिष्य एव भवामि न सखा न्यूनज्ञानत्वात्। अतस्त्वां प्रपन्नं शरणागतं मां शाधि शिक्षय करुणया न त्वशिष्यत्वशङ्कयो-पेक्षणीयोऽहमित्यर्थः। एतेन 'तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्,' "भृगुर्वै वारुणिर्वरुणं पितरमुपससार, अधीहि भगवो ब्रह्म" इत्यादिगुरूपसत्तिप्रतिपादकः श्रुत्यर्थो दर्शितः ॥ ७ ॥

से। चूँकि आपके अनुशासनके योग्य हूँ, इसलिए आपका मैं शिष्य ही हूँ—शिक्षा देनेके योग्य हूँ, सखा नहीं, क्योंकि मेरा ज्ञान न्यून है। अतः उपदेश-योग्य, प्रपन्न, शरणागत मुझको श्रेयःसाधन ज्ञानका दया करके उपदेश दीजिये; शिष्य नहीं है, इस दृष्टिसे मेरी उपेक्षा न कीजिये। इससे 'तद्विज्ञानार्थम्' इत्यादि मूलस्थ श्रुति-कथित गुरुसमीपगमनका प्रकार दिखलाया गया है।

[शंका—यहाँ स्वामीजीके अर्थमें आक्षेप यह होता है कि धर्मविवेकमें संमूढचित्त यानी पूर्वोक्त ('क्या इनका बध करना धर्म है अथवा परिपालन' इत्यादि) संशयसे आक्रान्तचित्त मैं (अर्जुन) इस समय कल्याण (श्रेयः) पूछता हूँ, अतः यद्धेतुक आत्यान्तिक ऐकान्तिक श्रेयः परमपुरुषार्थ मोक्षफल हो वह हमसे

भौतिक। आत्ममनोयोगसे ही उत्पन्न होनेवाला, विषयदोषदर्शनसे समुत्पन्न, आत्मस्वरूपा-ज्ञानहेतुक, सांसारिक भोगविरागफलक दुःख प्रथम (आध्यात्मिक) है। ग्रहादिके आवेशसे जनित दुःख द्वितीय (आधिदैविक) है। पशु, सर्प आदिसे समुत्पन्न दुःख तृतीय (आधिभौतिक) है। इन तीनोंके अवाञ्छित सम्बन्धसे इनके निवर्तक साधनकी जिज्ञासा (जाननेकी इच्छा) होती है। इच्छा प्रवृत्तिका कारण है। तदनन्तर तदुपायोंकी खोज होती है। शंका हो कि खोजकी आवश्यकता ही क्या? तदुपाय बोधक शास्त्र तो स्पष्ट ही हैं। जैसे—उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र, भगवद्गीता, योगवासिष्ठ प्रभृति अध्यात्मशास्त्र आध्यात्मिक दुःखके निवर्तक हैं, आधिदैविक दुःखनिवृत्तिके लिये मणि, मन्त्र, ग्रहशान्ति आदि बोधक ज्योतिष-तन्त्रशास्त्र प्रसिद्ध हैं तथा आधिभौतिक दुःखनिवृत्तिके लिये निर्बाधस्थानमें निवास आदि बोधक धर्मशास्त्र तथा आयुर्वेद प्रसिद्ध हैं साथ ही वे सुकर भी हैं, इनमें अधिक श्रम नहीं है, तो इसका निराकरण करते हैं—'न' से। निषेधमें हेतु है। दुःखादिका ऐकान्तिकाद्यभाव। उक्त अभाव लौकिक-वैदिक दोनों उपायोंसे नहीं हो सकता, किन्तु व्यक्त महदादि और अव्यक्त त्रिगुणात्मक प्रकृति तथा आत्माके विवेक-साक्षात्कारसे ही होता है। विशेष 'सांख्यतत्त्व कौमुदी' आदिमें देखिये।

कहिये, यह अर्जुनका प्रश्न ठीक नहीं है, क्योंकि धर्मविषयक सन्देहवान् मैं श्रेय (परम पुरुषार्थ) पूछता हूँ, यह असम्बद्ध प्रश्न है। यद्विषयक सन्देह होता है, तन्निर्णयार्थ तद्विषयक ही प्रश्न होता है, यह सर्वत्र प्रसिद्ध है। उक्त प्रश्न 'अन्यद्धुक्तम् अन्यद्वान्तम्' इस न्यायके समान है ?

समाधान—ठीक है, यहाँ धर्मशब्द 'धारयतीति धर्मः' इस व्युत्पत्तिसे ब्रह्मपरक है। ब्रह्मविषयक मोहसे हुए प्रश्नमें ब्रह्मप्राप्तिसाधनोपदेशविषयक भगवदुक्ति भी ठीक है, यह भी समाधान-आभास है। क्योंकि पूर्वमें 'क्या इनका वध धर्म है, या परिपालन' इत्यादि विशेषोक्तिसे स्पष्ट है कि धर्मशब्द उक्तार्थमें रूढ है, यौगिक नहीं, 'रूढिर्योगमपहरति' यह न्याय भी रूढि अर्थके ग्रहणमें अनुकूल है। यदि यही अभिप्राय होता,तो 'ब्रह्मसंमूढचेता' ऐसा ही पाठ होता। अतः स्वामीजी-का अभिप्राय यह है कि धर्म दो प्रकारके होते हैं, एक साभिसन्धि और दूसरे निरभिसन्धि। प्रथमका कर्मविधायकादिवाक्योक्त ही फल है, दूसरेका अन्तः-करणशुद्धिद्वारा तत्त्वज्ञानोत्पत्ति फल है। अतः यदि गुरु आदिका वध धर्म हो, तो दृष्टफललिप्सारहित होकर करनेसे मोक्ष हो सकता है, अन्यथा नहीं। अतः उक्तधर्मविषयक मोह कहाँ ? भगवद्वाक्यसे यह सूचित होता है कि निरभिसन्धि सब वर्णाश्रम धर्मोंसे परम्परया मोक्ष होता है, अतएव 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन' इत्यादि श्रुति संगत होती है।

प्रश्न—अच्छा, तो विजयार्थ युद्धमें प्रवृत्त अर्जुनके मोक्षविषयक प्रश्नका अवसर ही कहाँ है ?

उत्तर—पूर्वजन्मके पुण्यसे परिपूत-अन्तःकरणवाले, सद्वंशप्रसूत और सदा-चारपरायण पुरुषकी कर्मप्रवृत्तिके समय इसपर दृष्टि पड़ती है, कि इस कर्मका परिणाम (फल) क्या होगा ? क्योंकि आरम्भमें अमृतोपम और परिणाममें विषमोपम फलमें वे प्रवृत्त होनेकी इच्छा नहीं रखते। सब कर्मोंसे अन्तमें मोक्ष ही लिप्सयिषित रहता है और जब ऐसे पुरुषधौरेयका पथप्रदर्शक भगवान् हैं, तो मोक्षप्राप्तिका पूरा अवसर है। इसलिये उस समयमें श्रेयःप्राप्तिविषयक प्रश्न ही का अवसर है, अतः वही पूछा गया है।

अथवा—'न कर्मणा न प्रजया न धनेन त्यागेनैकेन अमृतत्वमानशुः' इस वचनसे कर्मादि मोक्षसाधन नहीं है, यह सिद्ध होता है। 'तमेतमित्यादि, वाक्यसे तथा 'सर्वापेक्षा च यज्ञादि श्रुतेः' इस सूत्रसे कर्म मोक्षसाधन कहा गया है। अत कर्म मोक्षसाधन है या नहीं, इस सन्देहसे मूढचित्त मैं पूछता हूँ कि जो श्रेयःसाधन हो उसे कहिये। कर्म मोक्षसाधन है, इस पक्षमें भी अनेक मत

न हि प्रपश्यामि ममापनुद्या
यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम् ।
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं
राज्यं सुराणामपि चाऽऽधिपत्यम् ॥ ८ ॥

पृथिवीपर शत्रुरहित एवं सम्पत्तिशाली राज्य तथा देवताओं के स्वामित्व को प्राप्त कर लेनेपर भी मैं उन उपायोंको नहीं देखता, जो मेरी इन्द्रियोंको सुखानेवाले शोकको नष्ट कर सकें ॥ ८ ॥

ननु स्वयमेव त्वं श्रेयो विचारय श्रुतसंपन्नोऽसि किं परशिष्यत्वेनेत्यत आह—'न हि प्रपश्यामि' इति ।

यच्छ्रेयः प्राप्तं सत् कर्तृ मम शोकमपनुद्यादपनुदेन्निवारयेत्तन्न पश्यामि । हि यस्मात्तस्मान्मां शाधीति 'सोऽहं भगवः शोचामि तं मा भगवाञ्शोकस्य पारं तारयतु' इति श्रुत्यर्थो दर्शितः । शोकानपनोदे को दोष इत्याशङ्क्य तद्विशेषणमाह—'इन्द्रियाणामुच्छोषणम्' इति । सर्वदा संतापकरमित्यर्थः । ननु युद्धे प्रयतमानस्य तव शोकनिवृत्तिर्भविष्यति,

हैं। कर्म अन्तःकरणशुद्धिद्वारा मोक्षहेतु है साक्षात् नहीं, यह एक मत है और दूसरा ज्ञानकर्मसमुच्चयसे मोक्ष होता है, एकैकसे नहीं । समुच्चयमें भी होता है यह तीसरा मत है। ज्ञानप्रधान समुच्चय, कर्मप्रधान समुच्चय, उभयप्रधान समुच्चय, यदि इन सबका विशेषरूपसे निर्णय करनेसे ग्रन्थ अधिक बढ़ जायगा और प्रकृतमें उसके विवेचनका उपयोग भी नहीं है। केवल संशय ही अपेक्षित है, वह उक्त प्रकारसे लब्ध हो जाता है। इसलिये सिद्ध हुआ कि स्वामीजीके अर्थमें उक्त आक्षेप ठीक नहीं है] ॥ ७ ॥

तुम श्रुताध्ययनसे सम्पन्न हो,तो स्वयं अपना कल्याण विचारो, दूसरेका शिष्य क्यों बनते हो,इस शंकापर कहते हैं—'न हि प्रपश्यामि' इत्यादिसे । युद्धसे प्राप्त जो कल्याण मेरे शोकोंको दूर करेगा उस कल्याणको मैं नहीं देख पाता, इसी कारण मेरी ऐसी स्थिति हुई है। अतः मुझे उपदेश दीजिये। इस कथनसे 'सोऽहं भगवः शोचामि तं मा भगवान् शोकस्य पारं तारयतु' इस श्रुतिका अर्थ दिखलाया गया है।

शोक दूर न होनेमें दोष क्या है, इस प्रकार शंका करके शोकके विशेषणसे समाधान करते हैं—'इन्द्रियाणाम्' से। इन्द्रियोंको अत्यन्त सुखानेवाला जो शोक होगा वह सदा सन्तापकारी रहेगा, यह अर्थ है। युद्धव्यापारमें मनोयोग देनेसे

जेष्यसि चेत्तदा राज्यप्राप्त्या, इतरथा च स्वर्गप्राप्त्या "द्वावेतौ पुरुषौ लोके" इत्यादिधर्मशास्त्रादित्याशङ्क्याऽऽह—'अवाप्य' इत्यादिना । शत्रुवर्जितं सस्यादिसंपन्नं च राज्यं तथा सुराणामाधिपत्यं हिरण्यगर्भपर्यन्तमैश्वर्यमवाप्य स्थितस्यापि मम यच्छोकमपनुद्यात्तन्न पश्यामीत्यन्वयः । "तद्यथेह कर्मजितो लोकः क्षीयत एवमेवामुत्र पुण्यजितो लोकः क्षीयते" इति श्रुतेः, 'यत्कृतकं

वह शोक निवृत्त हो जायगा। यदि उस समरमें विजयी होगे, तो राज्यप्राप्तिसे वह दूर होगा, अन्यथा स्वर्गप्राप्तिसे [मरना अशुभसूचक है, इसलिये 'युद्धमें मरनेपर' यह न कह 'इतरथा' कहा गया है] कारण धर्मशास्त्रोंमें लिखा है कि—'द्वाविमौ पुरुषौ लोके सूर्यमण्डलभेदिनौ'—युद्धमें सम्मुख मरनेवाले वीरोंको स्वर्ग मिलता है, इस शंकापर कहते हैं—'अवाप्य' से। जीवित रहनेपर तुम्हारी पराजय असंभव है, शत्रुशून्य निष्कण्टक धन-धान्यादिसम्पन्न विशालराज्य, देवताओंका यह स्वामित्व तथा हिरण्यगर्भ (ब्रह्मा) पर्यन्त ईश्वरत्व प्राप्तकर स्थित भी मेरे शोकको जो निवृत्त करेगा, उसे नहीं देख रहा हूँ—यह अन्वयार्थ है। ['अवाप्य' यहाँ ल्यप् है, यह ल्यप्-आदेश समानकर्तृक धातुद्वयघटित वाक्य-घटक अनञ्पूर्वक समस्तपूर्वधातुसे निष्पन्न क्त्वाके स्थानमें होता है। प्रकृतमें उत्तरमें कोई धातु न देखकर 'स्थितः' का अध्याहार किया गया है।] जैसे इस लोकमें कर्म-व्यापारसे किया गया कृषि आदि क्षीण होता है वैसे ही परलोकमें पुण्यचित स्वर्गादि भी क्षीण होता है—यह 'तद्यथेह कर्मचितः' इत्यादि मूलोद्धृत श्रुतिका अर्थ है। 'अपाम सोमममृता अभूम' इत्यादि श्रुतियोंका तात्पर्य चिरस्थायी अमृतत्वमें है, मुख्य अमृतत्वमें नहीं। 'अदृढा ह्येते प्लवा यागादयः' इत्यादि श्रुतिसे कर्म मुक्तिसाधन नहीं है, यह निश्चित होता है। इस श्रुत्यर्थमें संवादार्थ अनुकूल अनुमान भी है, जो इस प्रकार है—जो क्रियासे उत्पन्न है वह कृतक है और वह सर्वदा अनित्य होता है, वह घटादिवद्विनाशी है।

[शंका—ध्वंस भी कार्य है, परन्तु वह विनाशी नहीं है। ऐसी स्थितिमें आपका यह अनुमान व्यभिचरित हुआ ?

समाधान—भावत्वे सति न कार्यत्वम्, यह अनित्यत्वमें हेतु है। अतः अभावात्मक ध्वंसमें व्यभिचार नहीं है। कतिपय विद्वान् ध्वंसको भी विनाशी मानते हैं, अतः उनके मतमें भावत्व विशेषणकी आवश्यकता ही नहीं है। इसलिये स्वामीजीने भी इसकी चर्चा नहीं की।]

सञ्जय उवाच

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परन्तपः ।
न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह ॥९॥

निद्राके विजयी परन्तप अर्जुन सर्वान्तर्यामी श्रीकृष्णसे इस प्रकार कहकर मैं युद्ध न करूँगा, यह सर्वज्ञ भगवान्से कह चुप हो गये ॥ ९ ॥

तदनित्यम्' इत्यनुमानात्प्रत्यक्षेणाप्यैहिकानां विनाशदर्शनाच्च नैहिक आमुत्रिको वा भोगः शोकनिवर्तकः, किंतु स्वसत्ताकालेऽपि भोगपारतन्त्र्यादिना विनाशकालेऽपि विच्छेदाच्छोकजनक एवेति न युद्धं शोकनिवृत्तयेऽनुष्ठेयमित्यर्थः। एतेनेहामुत्रभोगविरागोऽधिकारिविशेषणत्वेन दर्शितः ॥ ८ ॥

तदनन्तरमर्जुनः किं कृतवानिति धृतराष्ट्राकाङ्क्षायाम्—सञ्जय उवाच—**'एवमुक्त्वा'** इति। गुडाकेशो जितालस्यः परंतपः शत्रुतापनोऽर्जुनो हृषीकेशं सर्वेन्द्रियप्रवर्तकत्वेनान्तर्यामिणं गोविन्दं गां वेदलक्षणां वाणीं विन्दतीति व्युत्पत्त्या सर्ववेदोपादानत्वेन सर्वज्ञमादावेवं 'कथं भीष्ममहं संख्ये' इत्यादिना युद्धस्वरूपायोग्यतामुक्त्वा तदनन्तरं 'न योत्स्य' इति युद्धफलाभावं चोक्त्वा

उक्त श्रुति और अनुमान से तथा प्रत्यक्ष प्रमाण से भी यानी लौकिक कृत्रिम घटादि प्रत्यक्षतः विनाशी देखा जाता है, इसलिए भी न यहाँ और न परलोकका ही भोग शोकनिवर्तक है, अपि तु भोग अपने स्थितिकालमें भी विषय-पारतन्त्र्य आदिसे - तदुत्कर्षनिकर्षतारतम्यसे और विनाशकालमें भी वियोग होनेके कारण शोकजनक ही है तन्निवर्तक नहीं। अतः शोकनिवृत्तिके लिये युद्ध करना ठीक नहीं है, यह अर्थ है। इससे पारलौकिक फलभोगविराग भी, जो मुमुक्षुमें विशेषण है, अर्जुनमें है—यह स्फुट किया गया। निष्कर्ष यह है कि आप ही उक्त शोकको हटानेमें समर्थ हैं, दूसरा नहीं, अतः उपदेश दीजिये ॥ ८ ॥

इसके बाद अर्जुनने क्या किया? इस प्रकार धृतराष्ट्रकी जिज्ञासाका सञ्जय समाधान करते हैं—'एवमुक्त्वा' इत्यादिसे। 'गुडाकाया ईशः–गुडाकेशः'- गुडाकाके तीन अर्थ हैं— निद्रा, आलस्य और पिण्डित केश। इन तीनों अर्थोंका विशेषणविधया समावेश अर्जुनमें है। यहाँ आलस्य अर्थ मानकर अर्जुनको जितालस्य कहा है। परन्तप – वैरिसन्तापक अर्जुन। हृषीकेश—सब इन्द्रियोंके प्रवर्तक सर्वान्तर्यामी। गोविन्द – गो अर्थात् वेदवाणी, उसके ज्ञाता। 'गां विन्दति इति गोविन्दः' इस व्युत्पत्तिसे सब वेदोंके उपादान कारण, अतएव सर्वज्ञ भगवान्से प्रथम 'भीष्म आदिको संग्राममें मैं कैसे मारूँगा' इस तरह युद्धको अकर्तव्य कहकर और उसके बाद—'न योत्स्ये'—युद्ध न करूँगा, इससे युद्धको निष्फल कहकर

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः ॥१०॥

हे भारत, दोनों सेनाओंके बीच में विषाद कर रहे अर्जुन से हृषीकेश भगवान् हँसते हुए से—यह वचन बोलने लगे ॥१०॥

तूष्णीं बभूव बाह्येन्द्रियव्यापारस्य युद्धार्थं पूर्वं कृतस्य निवृत्त्या निर्व्यापारो जात इत्यर्थः। स्वभावतो जितालस्ये सर्वशत्रुतापने च तस्मिन्नागन्तुकमालस्यमतापकत्वं च नाऽऽस्पदमाधास्यतीति द्योतयितुं हशब्दः। गोविन्दहृषीकेशपदाभ्यां सर्वज्ञत्वसर्वशक्तित्वसूचकाभ्यां भगवतस्तन्मोहापनोदनमनायाससाध्यमिति सूचितम् ॥ ९ ॥

एवं युद्धमुपेक्षितवत्यप्यर्जुने भगवान्नोपेक्षितवानिति धृतराष्ट्रदुराशानिरासायाऽऽह—'सेनयोरुभयो०' इति। सेनयोरुभयोर्मध्ये युद्धोद्यमेनाऽऽगत्य

चुप हो गये यानी युद्धार्थ पूर्वमें जो बाह्य कर-चरणादि इन्द्रियोंका व्यापार किया था उसकी निवृत्तिके साथ वे निर्व्यापार हो गये। पूर्ववत युद्धौपयिक व्यापारशील नहीं रहे, यह तात्पर्य है। स्वभावसे स्वतः आलस्यविजयी तथा शत्रुतापक अर्जुनमें आगन्तुक—कादाचित्क आलस्य तथा अतापकत्व कभी स्थान नहीं पा सकता। इसको स्फुट करनेके लिये 'ह' शब्द कहा है। सर्वज्ञत्व, सर्वशक्तिमत्त्वके सूचक 'गोविन्द' और 'हृषीकेश' इन पदोंसे भगवान्‌के लिए अर्जुनका मोहनिराकरण अनायास साध्य है, यह सूचित होता है।

[अथवा 'ह' शब्द आश्चर्यका द्योतक है। भगवान्‌के इतने समझानेपर भी अर्जुन राज्यप्राप्तिके कामुक नहीं हुए, यही आश्चर्य है। 'परमुत्कृष्टं तपो यस्य सः परन्तपः' इस व्युत्पत्तिसे अतितपस्वीका बोधक उक्त (परन्तप) शब्द यहाँ विवक्षित है, शत्रुतापक नहीं। और वह भी धृतराष्ट्रमें विशेषण है (संबोधन है।) आप धृतराष्ट्र अतितपस्वी, धन्य हैं, जिनके संबन्धी धर्मविमुख और अन्यायके पक्षपाती होनेपर भी श्रीकृष्णके सामने जीवन त्यागकर कृतार्थ होंगे, यह अभिप्राय सूचित होता है। अतएव 'पार्थास्त्रपूताः पदमापुरस्य' (३।२।२०) यह भागवत वचन संगत होता है] ॥ ९ ॥

'इस प्रकार युद्धकी उपेक्षा करनेवाले अर्जुनकी भगवान्‌ने भी उपेक्षा की होगी' धृतराष्ट्रकी इस दुराशाके निवृत्यर्थ सञ्जयने कहा—'सेनयोरुभयोः' इत्यादि। युद्धोत्साहसे दोनों सेनाओंके बीच आकर युद्धोद्योगादिके विरोधी विषाद और

तद्विरोधिनं विषादं मोहं प्राप्नुवन्तं तमर्जुनं प्रहसन्निवानुचिताचरणप्रकाशनेन लज्जाम्बुधौ मज्जयन्निव हृषीकेशः सर्वान्तर्यामी भगवानिदं वक्ष्यमाणमशोच्यानित्यादिवचः परमगम्भीरार्थमनुचिताचरणप्रकाशकमुक्तवान्न तूपेक्षितवानित्यर्थः। अनुचिताचरणप्रकाशनेन लज्जोत्पादनं प्रहासः। लज्जा च दुःखात्मिकेति द्वेषविषय एव स मुख्यः। अर्जुनस्य तु भगवत्कृपाविषयत्वादनुचिताचरणप्रकाशनस्य च विवेकोत्पत्तिहेतुत्वादेकदलाभावेन गौण एवायं प्रहास इति कथयितुमिवशब्दः। लज्जामुत्पादयितुमिव विवेकमुत्पादयितुमर्जुनस्यानुचिताचरणं भगवता प्रकाश्यते। लज्जोत्पत्तिस्तु नान्तरीयकतयाऽस्तु

मोहको प्राप्त हुए अर्जुनके प्रति परिहास करते हुए-जैसे अर्थात् अर्जुनके अनुचिताचरणके प्रकाशनसे उसे लज्जासमुद्रमें डुबाते हुए-जैसे सर्वान्तर्यामी भगवान्‌ने 'अशोच्यान्' इत्यादि वक्ष्यमाण वचन, जो अतिगम्भीरार्थ* तथा अनुचिताचरणका प्रकाशक है, कहा, अर्जुनकी उपेक्षा नहीं की। अनुचित चेष्टितके प्रकाशनसे लज्जाका उत्पादन ही प्रकृतमें प्रहास है। लज्जा दुःखस्वरूप है, अतः द्वेषविषयक ही वह मुख्य है। [अनुचिताचरणप्रकाशनसे लज्जा अवश्य होती है वह दुःखात्मिका है ही। इस प्रकार दोनों अंशोंका समावेश होनेपर एकांशाभावप्रयुक्त गौण प्रहास कैसे? यह आशङ्का नहीं कर सकते, क्योंकि दोनों अंशोंके तात्पर्यसे जहाँ प्रहास किया जाता है—अनुचिताचरणप्रकाशनसे लज्जित करना ही जहाँ इष्ट रहता है वहाँ वह मुख्य है और जहाँ उक्त प्रकाशनसे अर्थान्तर इष्ट (विवक्षित) रहता है वहाँ तन्नान्तरीयक (तदविनाभूत) लज्जा प्रतीत होती है, परन्तु वक्ताका उसमें तात्पर्य नहीं रहता (केवल तत्प्रकाशनमात्रमें तात्पर्य रहता है) इसलिए वह गौण ही है, मुख्य नहीं] प्रकृतमें भगवान्‌ने अर्जुनको लज्जितमात्र करनेके लिये उक्त प्रकाशन नहीं किया, किन्तु उससे अर्जुनको लज्जा हो या न हो, इसमें उदासीन रहकर केवल आत्मतत्त्वज्ञानोत्पत्तिके तात्पर्यसे उक्त प्रकाशन किया, इसलिये एकांशाभावप्रयुक्त गौण प्रहास है, यही कहनेके लिए यहाँ 'इव' शब्द दिया गया है। लज्जा उत्पन्न करनेके लिए यानी विवेक उत्पन्न करानेके लिए अर्जुनके अनुचिताचरणका प्रकाश भगवान्‌ने किया, नान्तरीयकरूपसे लज्जोत्पत्ति अर्जुन-

* 'निम्नं गभीरं गम्भीरमुत्तानं तद्विपर्यये' इस अमरकोषके अनुसार यहाँ गुरुतरार्थक गम्भीरशब्द है।

श्रीभगवानुवाच

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ॥ ११ ॥

हे अर्जुन, शोक न करने योग्य मनुष्यों के लिए शोक करते हो और साथ ही पण्डितों के समान वाणी भी बोलते हो। परन्तु जिनके प्राण चले गये हैं और जिनके प्राण नहीं गये हैं--उन दोनों के लिए पण्डित लोग शोक नहीं करते ॥११॥

माऽस्तु वेति न विवक्षितेति भावः। यदि हि युद्धारम्भात्प्रागेव गृहे स्थितो युद्धमुपेक्षेत तदा नानुचितं कुर्यात्। महता संरम्भेण तु युद्धभूमावागत्य तदुपेक्षणमतीवानुचितमिति कथयितुं सेनयोरित्यादिविशेषणम्। एतच्चाशोच्यानित्यादौ स्पष्टं भविष्यति ॥ १० ॥

तत्रार्जुनस्य युद्धाख्ये स्वधर्मे स्वतो जाताऽपि प्रवृत्तिर्द्विविधेन मोहेन तन्निमित्तेन च शोकेन प्रतिबद्धेति द्विविधो मोहस्तस्य निराकरणीयः। तत्राऽऽत्मनि स्वप्रकाशपरमानन्दरूपे सर्वसंसारधर्मासंसर्गिणि स्थूलसूक्ष्मशरीरद्वयतत्कारणाविद्याख्योपाधित्रयाविवेकेन मिथ्याभूतस्यापि संसारस्य सत्यत्वात्मधर्मत्वादिप्रतिभासरूप एकः सर्वप्राणिसाधारणः। अपरस्तु युद्धाख्ये

को हो या न हो,यह उन्हें विवक्षित नहीं है,यह भाव है। यदि युद्धारम्भसे पूर्व गृहमें रहकर ही युद्धकी उपेक्षा की होती, तो अर्जुनका यों कहना इतना अनुचित नहीं समझा जाता। परन्तु पूरी तैयारीके साथ समरांगणमें आकर प्रतिभटों और भटोंको देखनेके लिये दोनों सेनाओंके बीचमें खड़े होकर युद्धकी उपेक्षा अत्यन्त अनुचित है, इसको स्फुट करनेके लिये 'सेनयोरुभयोः' यह विशेषण है। यह 'अशोच्यान्' इस श्लोककी व्याख्यामें आगे चलकर स्पष्ट होगा ॥ १० ॥

स्वधर्म युद्धमें अर्जुनकी स्वतः प्रवृत्ति होनेपर भी दो प्रकारके मोह और तन्निमित्तक शोकसे वह रुक गई, अतः प्रवृत्तिके रोकनेवाले शोकको दूर हटाना चाहिये। प्रथम मोह तो सकल प्राणियोंपर जाता है, अतः वह साधारण है। स्वप्रकाश, परमानन्द, सकल संसारधर्मातीत आत्मामेंस्थूल शरीर-करचरणादि-विशिष्ट पाञ्चभौतिक प्रत्यक्ष शरीर और इन्द्रियादि सप्तदशभावोपेत लिङ्ग शरीररूप सूक्ष्म शरीर, इन दोनोंके कारणीभूत अविद्या, इन तीनों उपाधियोंके अविवेकसे असत्य संसारमें सत्यत्व आत्मधर्मत्वादि प्रतिभासरूप ही वह प्रथम मोह है।

स्वधर्मे हिंसादिबाहुल्येनाधर्मत्वप्रतिभासरूपोऽर्जुनस्यैव करुणादिदोषनिबन्धनोऽसाधारणः। एवमुपाधित्रयविवेकेन शुद्धात्मस्वरूपबोधः प्रथमस्य निवर्तकः सर्वसाधारणः। द्वितीयस्य तु हिंसादिमत्त्वेऽपि युद्धस्य स्वधर्मत्वेनाधर्मत्वाभाववबोधोऽसाधारणः। शोकस्य तु कारणनिवृत्त्यैव निवृत्तेर्न पृथक्साधनान्तरापेक्षेत्यभिप्रेत्य क्रमेण भ्रमद्वयमनुवदन् श्रीभगवानुवाच—'**अशोच्यानन्व०**' इति। अशोच्यान्शोचितुमयोग्यानेव भीष्मद्रोणादीनात्मसहितांस्त्वं पण्डितोऽपि सन्नन्वशोचोऽनुशोचितवानसि—ते म्रियन्ते मन्निमित्तमहं तैर्विना भूतः किं करिष्यामि राज्यसुखादिनेत्येवमर्थकेन 'दृष्ट्वेमं स्वजनम्' इत्यादिना। तथा चाशोच्ये शोच्यभ्रमः पश्वादिसाधारणस्तवात्यन्तपण्डितस्यानुचित इत्यर्थः। तथा कुतस्त्वा कश्मलमित्यादिना मद्वचनेनानुचितमिदमाचरितं

[अविवेकसे ही शरीरेन्द्रियादिमें रहनेवाला सुख-दुःख आत्मामें प्रतीत होता है, अन्यथा नहीं। यह प्राणियोंको सुषुप्ति अवस्थामें अनुभवसिद्ध है। विवेकज्ञान होनेसे ही इन धर्मोंसे छुटकारा मिलती है, यह नियम नहीं है। प्रसादावस्थामें विवेकज्ञानके बिना भी इन धर्मोंका अभाव रहता है, इसलिए इसका कारण अविवेकका अभाव है।] द्वितीय मोह तो स्वधर्म युद्धमें हिंसादिकी प्रचुरतासे अधर्मप्रतीतिरूप करुणादिदोषनिमित्तक अर्जुनको ही है, जो असाधारण है। इस प्रकार तीन उपाधियोंके विवेकसे शुद्ध शरीरेन्द्रियादिरूप उपाधिसे शून्य) आत्मस्वरूपावगम प्रथम मोहका निवर्त्तक है, जो सर्वसाधारण है। द्वितीय मोहका निवर्तक तो हिंसादि दोष-सहित भी युद्ध स्वधर्म होनेके कारण अधर्म नहीं है, यह ज्ञान ही है, जो असाधारण है। कारण की निवृत्तिसे ही शोककी निवृत्ति सिद्ध है, इसके लिए अलग कारण की अपेक्षा नहीं है—इस अभिप्रायसे क्रमशः दोनों भ्रमोंका अनुवाद करते हुए श्रीभगवान्‌ने कहा—'अशोच्यानन्व०' इत्यादि।

मेरे लिए वे मरेंगे, उनके बिना मैं राज्य सुखादि लेकर क्या करूँगा?, इस अभिप्रायवाले पूर्वोक्त 'दृष्ट्वेमम्' इत्यादि वचनसे शोकके अयोग्य ही अपने सहित भीष्म, द्रोण आदिके लिए विद्वान् होकर भी तुमने शोक किया। और शोकके अयोग्यमें शोच्यका-भ्रम होना पशुओंके समान होनेके कारण तुम्हारे-जैसे पूर्ण पण्डितके लिए अनुचित है, यह अर्थ है। [शरीरमात्रके लिए शोक तो कथंचित ठीक भी है, पर आत्माका मरणादिसे शोक करना अनुचित है—इसकी सूचनाके लिए आत्मसहितान्' कहा।] इसी प्रकार 'कुतस्त्वा कश्मलम्' इत्यादि अपने वचनसे यदि यह भान हो कि मैंने अनुचित किया है, तो यह विचार प्राप्त होनेपर भी,

मयेति विमर्शे प्राप्तेऽपि त्वं स्वयं प्रज्ञोऽपि सन् प्रज्ञानामवादान्प्रज्ञैर्वक्तुमनुचिताञ्शब्दांश्च 'कथं भीष्ममहं संख्ये' इत्यादीन्भाषसे वदसि, न तु लज्जया तूष्णीं भवसि। अतः परं किमनुचितमस्तीति सूचयितुं चकारः। तथा चाधर्मे धर्मत्वभ्रान्तिर्धर्मे चाधर्मत्वभ्रान्तिरसाधारणी तवातिपण्डितस्य नोचितेति भावः। प्रज्ञावतां पण्डितानां वादान्भाषसे परं न तु बुध्यस इति वा। भाषणापेक्षयाऽनुशोचनस्य प्राक्कालत्वादतीतत्वनिर्देशः। भाषणस्य तदुत्तरकालत्वेनाव्यवहितत्वाद्वर्तमानत्वनिर्देशः। छान्दसेन तिङ्व्यत्ययेनानुशोचसीति वर्तमानत्वं वा व्याख्येयम्। ननु बन्धुविच्छेदे शोको नानुचितो वसिष्ठादिभिर्महाभागैरपि कृतत्वादित्याशङ्क्याऽऽह—'गतासून०' इति।

भीष्म, द्रोण आदि गुरुओंका संग्राममें कैसे वध करूँ, इत्यादि विद्वानोंसे अवाच्य वचन विद्वान् होकर भी तुम कहते हो, न कि लज्जासे चुप रह जाते हो। इससे बढ़कर अनुचित क्या हो सकता है—इसकी सूचनाके लिए चकार है। ऐसी परिस्थितिमें तुम्हारे-जैसे महाविद्वान्की अधर्ममें धर्मत्वकी, धर्ममें अधर्मत्वकी असाधारण भ्रान्ति सर्वथा अनुचित है। अथवा पण्डितोंके कहने योग्य बड़ी-बड़ी बातें तो कहते हो, किन्तु समझते नहीं हो। भाषणके पूर्व शोक है, अतः 'अन्वशोचः' इत्यादिसे शोकमें अतीत कालका निर्देश है। और शोकके अनन्तर अव्यवहितरूपसे भाषण है, इसलिए 'भाषसे' इस पदसे भाषणमें वर्तमान कालका निर्देश है। अथवा तिङ्व्यत्ययको छान्दस मानकर 'अनुशोचसि' के सम्बन्धसे वर्तमानकी प्रतीति होती है, ऐसी व्याख्या करनी चाहिए।

[शङ्का—उक्त अर्थ करनेपर भाषणकालमें शोककी निवृत्ति प्रतीत होती है, जो गीतारम्भके प्रतिकूल होनेसे अनुपादेय है, क्योंकि शोक-मोहनिवृत्त्यर्थ ही ही गीताका उपदेश है, जैसा कि आगे गीतामें ही स्पष्ट है। भाषणके समय यदि शोक अतीत हो गया अर्थात् मिट गया तो फिर इस उपदेशकी क्या आवश्यकता ? और गीतोपदेशके बिना मोहनिवृत्ति होनेपर वह काम भी न होगा।

समाधान—भाषणके पूर्व 'अन्वशोचः' इस पदसे शोकका होना स्पष्ट है। भाषण कालमें भी 'नानुशोचन्ति पण्डिताः' इसमें तिङ्का छान्दसतिङ्विपर्यय होनेसे 'अनुशोचसि' के सम्बन्धसे शोकमें भी वर्तमान कालकी प्रतीति होती है। प्रथम पुरुषके बहुवचन प्रसङ्गमें मध्यम पुरुषका एकवचन इष्ट है। वस्तुतः अर्थानुसार विपर्यय इष्ट होनेसे छान्दस विपर्यासप्रयास व्यर्थ है।]

बन्धुओंके विनाशमें शोक करना अनुचित नहीं है, क्योंकि महर्षि वशिष्ठादिने भी ऐसी परिस्थितिमें शोक किया है। यह शङ्काकर कहते हैं—'गतासून०'

ये पण्डिता विचारजन्यात्मतत्त्वज्ञानवन्तस्ते गतप्राणानगतप्राणांश्च बन्धुत्वेन कल्पितान्देहान्नानुशोचन्ति। एते मृताः सर्वोपकरणपरित्यागेन गताः किं कुर्वन्ति क्व तिष्ठन्ति एते च जीवन्तो बन्धुविच्छेदेन कथं जीविष्यन्तीति न व्यामुह्यन्ति,समाधिसमये तत्प्रतिभासाभावात्। व्युत्थानसमये तत्प्रतिभासेऽपि मृषात्वेन निश्चयात्। न हि रज्जुतत्त्वसाक्षात्कारेण सर्पभ्रमेऽपनीते तन्निमित्त-भयकम्पादि संभवति, न वा पित्तोपहतेन्द्रियस्य कदाचिद् गुडे तिक्तताप्रति-भासेऽपि तिक्तार्थितया तत्र प्रवृत्तिः संभवति, मधुरत्वनिश्चयस्य बलवत्त्वात्। एवमात्मस्वरूपाज्ञाननिबन्धनभावाच्छोच्यभ्रमस्य तत्स्वरूपज्ञानेन तदज्ञानेऽप-नीते तत्कार्यभूतः शोच्यभ्रमः कथमवतिष्ठेतेति भावः। वसिष्ठादीनां तु

इत्यादि। जिन पण्डितोंने शास्त्रविचारसे आत्मतत्त्वका साक्षात्कार किया है, वे मृत-प्राणियों और जीवित प्राणियोंके लिए अर्थात् बन्धुत्वेन कल्पित शरीरके लिए शोक नहीं करते। [अन्त्येष्टिसंस्कारके लिए देह श्मशानभूमिमें ले जाते हैं, इससे प्राण ही इष्ट है, देह नहीं। प्राणशून्य शरीरको कोई क्षणभर भी नहीं रखता, अतः प्राणसम्बन्धसे ही शरीर उपादेय है। एवं सप्राण देहमें बन्धुत्वकी कल्पनासे शोक नहीं करते।] वे मर गये, सब सुखसाधनसामग्री छोड़कर चले गये, क्या करते हैं ? कहाँ ठहरते हैं ? वे जीते हुए भी बन्धुओंके वियोगसे कैसे जीवित रहेंगे ? इत्यादि व्यामोह नहीं करते, यह भाव है। [जैसे—दुर्योधन आदिके बिना गान्धारी और धृतराष्ट्र आदि कैसे जीवित रहेंगे ? इत्यादि व्यामोह अनुचित है।] ज्ञानियोंकी दो अवस्थाएँ हैं—एक समाधि और दूसरी व्युत्थान। समाधिके समय उनको (किसी वस्तुका) भान ही नहीं होता और व्युत्थानके समय ज्ञान (वस्तुका भान) होनेपर भी उनमें मिथ्यात्व निश्चय हो जाता है। रस्सीका यथार्थरूप समझ लेनेपर पूर्व ज्ञात सर्पभ्रम निवृत्त हो जाता है, फिर तन्निमित्तक भय, कम्पा-दिका कभी संभव ही नहीं रहता। पित्तदोषसे दूषित रसनावालेको गुडमें तिक्तताके प्रतीत होनेपर भी कभी भी तिक्तार्थी होकर उसमें (गुड़में) किसीकी प्रवृत्ति नहीं होती, कारण कि गुड़में माधुर्यज्ञानरूप बलवान् प्रतिबन्ध विद्यमान है। इसीप्रकार आत्मस्वरूपके अज्ञानसे ही शोच्यभ्रम होता है, आत्मस्वरूपका ज्ञान होनेपर वह अज्ञान शुक्तिज्ञानसे रजतज्ञानकी तरह जब निवृत्त हो जाता है, तो फिर अज्ञान-कार्यभूत शोच्यभ्रम ठहर ही कैसे सकता है ? यह भाव है।

प्रारब्धकर्मप्राबल्यात्तथा तथाऽनुकरणं न शिष्टाचारतयाऽन्येषामनुष्ठेयतामापादयति, शिष्टैर्धर्मबुद्ध्याऽनुष्ठीयमानस्यालौकिकव्यवहारस्यैव तदाचारत्वात्. अन्यथा निष्ठीवनादेरप्यनुष्ठानप्रसङ्गादिति द्रष्टव्यम् । यस्मादेवं तस्मात्त्वमपि पण्डितो भूत्वा शोकं मा कार्षीरित्यभिप्रायः ॥ ११ ॥

शंका—अच्छा तो वसिष्ठादि महर्षियोंकी क्या गति है ?

समाधान—प्रबल प्रारब्धकर्म रहने से उसके नुसार उनका वह नाटकमात्र है, शिष्टाचारत्वेन वह कभी उपादेय नहीं है। यदि फिर प्रश्न करें कि कृपया यह तो कहिये कि कौन-कौन सत्य होनेसे उपादेय और कौन-कौन नाटकमात्र हैं, तो इसका उत्तर यह है कि धर्मबुद्धिसे शिष्टलोग जो अलौकिक यानी परलोकविषयक व्यवहार करते हैं वे ही सदाचारत्वेन अनुकरणीय हैं, इतर व्यवहार कभी अनुकरणीय नहीं हैं, अन्यथा (शिष्टकर्तृक आचरणमात्रमें सदाचारत्वापत्ति होनेसे) उनके थूत्कारादि भी अनुष्ठेय—अनुकरणीय होने लगेंगे। चूँकि ऐसी स्थिति है, इसलिए हे अर्जुन, तुम भी पण्डित होकर शोक मत करो, यह भाव है* ॥ ११ ॥

*यहां श्रीमधुसूदन सरस्वतीने 'अगतासून्' का अर्थ किया है—जीवित स्वजन। उनका बन्धुविच्छेदनिमित्तक शोक निवर्तनीय है, सो ठीक नहीं है, कारण कि 'इष्वेमम्' इत्यादिसे सदाचारी और प्रिय भीष्मादि जो जीवित हैं तद्विषयक 'मेरे कारण ये मरेंगे,यह स्वगत शोक अर्जुनने साक्षात् कहा है, वही मुखतः निराचिकीर्षित है। अतः अगतासुशब्दसे भी स्वशोक हीका ग्रहण करना प्रस्तुत होनेसे उचित है, न कि युयुत्सुजनसंबन्धिबन्धुशोकका, क्योंकि वह अप्रस्तुत है। अन्यथा अर्जुनको गत-अगतासुविषयक शोकका लाभ नहीं होगा, केवल गतासुविषयक शोक ही निवृत्त होगा, फिर अगतासुविषयक शोक रुक जायगा।

प्रश्न—मृतविषयक शोकका निषेध करनेसे मरिष्यच्छोक (मरनेवालोंके शोकका) भी निषेध सिद्ध होता है, अतः पृथक् निषेधकी अपेक्षा नहीं है।

उत्तर—तो मृतसम्बन्धि बन्धुविच्छेद शोकनिषेध भी उसीसे कैमुतिकन्याय द्वारा सिद्ध है, फिर उसके लिये 'अगतासून् नानुशोचन्ति' यह कहनेकी आवश्यकता ही नहीं। अतः प्रस्तुतके निराससे अप्रस्तुतनिरासके अर्थतः सिद्ध होनेसे आसन्नविनाशविषयक भीष्मादिके शोकका ही अगतासुशोकसे ग्रहण करना चाहिये, यही व्याख्यान ठीक है। सारांश यह है कि अर्जुनका ही गतासु-अगतासुविषयक द्विविध मोह निरासनीय है। सम्बन्धियोंका शोक नहीं, इसलिये स्वामीजीका 'स्वजनसम्बन्धिशोक' व्याख्यान ठीक नहीं है। इसी प्रकार 'जीवत इव गतासून् न अनुशोचन्ति' यह माध्वव्याख्यान भी ठीक नहीं है, क्योंकि 'अगतासु' शब्द आसन्नमरण (अजीवि) वाचक होनेसे स्वस्थजीविवाचक नहीं है। 'इव' का भी श्लोकमें श्रवण

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः ।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ॥१२॥

ऐसी बात नहीं है कि मैं किसी कालमें नहीं था, या तू नहीं था अथवा ये राजा लोग नहीं थे और न ऐसी ही बात है कि इससे आगे-भविष्यमें हम सब लोग नहीं होंगे ॥ १२ ॥

न त्वेवेत्याद्येकोनविंशतिश्लोकैरशोच्यानन्वशोचस्त्वमित्येतस्य विवरणं क्रियते, स्वधर्ममपि चावेक्ष्येत्याद्यष्टभिः श्लोकैः प्रज्ञावादांश्च भाषस इत्यस्य, मोहद्वयस्य पृथक्प्रयत्ननिराकर्तव्यत्वात् । तत्र स्थूलशरीरादात्मानं विवेक्तुं नित्यत्वं साधयति—'न त्वेवाहम्' इति ।

'न त्वेवाहम्' आदि आगम इक्कीस श्लोकोंसे 'अशोच्यान्' इत्यादिका और 'स्वधर्ममपि चावेक्ष्य' इत्यादि आठ श्लोकोंसे 'प्रज्ञावादांश्च भाषसे' इत्यादिका विवरण किया गया है। कारण कि मोहद्वयका भिन्नप्रयत्नसे निराकरण करना है। उनमें प्रथम पाञ्चभौतिक स्थूल शरीरसे आत्माके विवेकार्थ सर्वप्रथम आत्मामें नित्यत्वको सिद्ध करते हैं—'न त्वेवाहम्' से।

नहीं है। समुच्चयवाचक चकारका उक्त रीतिसे मुख्यार्थमें अन्वय होनेमें बाधक न रहनेपर अगतिकगतिकल्पनासे अनेकार्थक मानना ठीक नहीं है। और दृष्टान्तपरत्वेन व्याख्यान भी उचित नहीं है। इसी तरह 'गतासून् देहान्, अगतासून् आत्मनश्च, नानुशोचन्ति' यह श्रीरामानुजाचार्यका व्याख्यान भी श्रद्धेय नहीं है। गतासु और अगतासुशब्द मृत और जीविवाचक लोकमें प्रसिद्ध है और उसी अर्थमें उन दोनों शब्दोंका सम्भव होनेसे अप्रसिद्धार्थकल्पना निर्मूल है। आत्मामें 'अगतासु' शब्दका प्रयोग अप्रसिद्ध है। 'गता असवः प्राणाः यस्मात्' इस विग्रहसे गतासु यानी देह और 'न गता असवः यस्मात्' इस विग्रहसे उक्त शब्द आत्मवाची है, यह भी ठीक नहीं, क्योंकि गतासुसे मृत और अगतासुसे अमृत प्राणीका ही लोकमें बोध प्रसिद्ध है। यहाँ गतासुसे अनित्य और अगतासुसे नित्य विवक्षित है, यह भी नहीं कहा जा सकता; अन्यथा घरमें गतासुका और आकाशमें अगतासुशब्दके प्रयोगका प्रसंग हो जायगा। लक्षणा माननेपर वही दोष होगा और 'संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता' इससे सम्भवत्प्राणसंयोगीमें अर्थात् प्राणसंयोगकालमें ही अगतासु और प्राणवियोगकालमें गतासुका प्रयोग लोकमें प्रसिद्ध है। उक्त शब्दोंसे जीवित और मृत प्राणी प्रतीत होते हैं। घटो मृतः, आकाशो मृतः' यह व्यवहार भी लक्षणावादीके मतमें प्रसक्त हो जायगा, अतः 'गतासून्—गतप्राणान् मृतान् इति यावत् अर्थात् मृत, अगतप्राणान् यानी जीवित' यह श्रीशङ्कराचार्यका व्याख्यान ही सुव्याख्यान है।

तुशब्दो देहादिभ्यो व्यतिरेकं सूचयति। यथाऽहमितः पूर्वं जातु कदाचिदपि नाऽऽसमिति नैवापि तु आसमेव तथा त्वमप्यासीः। इमे जनाधिपाश्चाऽऽसन्नेव। एतेन प्रागभावाप्रतियोगित्वं दर्शितम्। तथा सर्वे वयमहं त्वमिमे जनाधिपाश्चातः परं न भविष्याम इति न, अपि तु भविष्याम एवेति ध्वंसाप्रतियोगित्वमुक्तम्। अतः कालत्रयेऽपि सत्तायोगित्वादात्मनो नित्यत्वेनानित्याद्देहाद्वैलक्षण्यं सिद्धमित्यर्थः॥ १२॥

तुशब्दसे आत्मामें देहादिभेद सूचित करते हैं। जैसे मैं इससे पूर्व कभी नहीं था, यह बात नहीं है, किन्तु था ही, वैसे ही तू भी था और ये राजा लोग भी थे ही। पहले भी रहनेसे इनका प्राक् कालमें अभाव नहीं था, किन्तु भाव ही था, इससे इन सबमें 'प्रागभावाप्रतियोगित्व' दिखलाया है। इसी तरह हम सब अर्थात् हम, तुम और ये सब राजा लोग इससे आगे न रहेंगे, यह नहीं है, अपि तु रहेंगे ही, इससे 'ध्वंसाप्रतियोगित्व' कहा है। इसलिए भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों कालोंमें सत्तायोगी होनेसे आत्मा नित्य है, अतएव वह अनित्य देहादिसे विलक्षण है, यह सिद्ध हुआ।

[पूर्व श्लोकसे आत्मा स्थूल शरीरसे भिन्न है यह कहा। इस श्लोकसे सूक्ष्म-

प्रश्न—अच्छा, तो यह कहिये कि मृत प्राणी गतासु कैसे कहा जा सकता है? क्योंकि मृतावस्थामें भी तो लिङ्गशरीरका सम्बन्ध आत्माके साथ रहता ही है। वही इस लोक और परलोकमें आता-जाता है। पाँच प्राण, दस इन्द्रियाँ और बुद्धि—ये सोलह उसमें रहते हैं। इसमें प्रमाण 'सोऽशकलः पुरुषः' इत्यादि श्रुति है। लब्धवृत्तिक प्राणादि उसमें नहीं रहते और तादृश प्राणसंयोग और वियोग यहाँ उक्त शब्दोंसे विवक्षित है, यह भी कहना ठीक नहीं है, कारण कि स्वर्गीयादि शरीर मिलनेपर तादृशप्राणसंयुक्त ही आत्मा है।

उत्तर—स्थूलशरीरसंयुक्त आत्मामें प्राणादिकी प्रतीति होनेसे तद्देहविशिष्ट आत्मा ही प्राणादिसत्ताकालमें अगतासु और प्राणवियोगकालमें गतासु कहा जाता है।

प्रश्न—देहविशिष्टमें प्राणादिकी प्रतीति होती है, यह तो निर्विवाद है, परन्तु फिर भी प्राणसम्बन्ध देहके साथ है अथवा आत्माके साथ या दोनोंके साथ है? इसमें शास्त्रकारोंका मतभेद है। आपका इसमें क्या सिद्धान्त है?

उत्तर—वेदान्तसिद्धान्त ही मेरा सिद्धान्त है। 'असंगो ह्ययं पुरुषः नहि सज्जते' इस श्रुतिसे असंग आत्मामें वास्तविक किसीका सम्बन्ध इष्ट नहीं है, फिर प्राणसम्बन्धकी क्या चर्चा, यह पञ्चकोषव्याख्यानसे भी स्पष्ट है। अन्नमय, प्राणमय, मनोमयादि कोशसे परे तदसम्बद्ध आत्मा है। आत्मामें प्राणादिमत्त्वका व्यवहार शरीरोपाधिक है। लोकमें

शरीरविशिष्ट आत्मामें व्यवहारदृष्टिसे नित्यत्व सिद्ध किया, यह भेद है।

'अहं, त्वं, इमे,' इत्यादिसे आत्मभेदप्रतिपादन देहभेदानुभवाधीन औपाधिक है, न कि आत्मभेदाभिप्रायसे पारमार्थिक। इसपर थोड़ा सुन लीजिये—परमात्मा नित्य है, इसमें तो किसीको सन्देह नहीं, अतः तन्नित्यत्वकथन दृष्टान्तार्थ है। जैसे सर्वेश्वर (सर्वाधिपति) 'मैं नित्य हूँ' वैसे ही आप सब लोग भी नित्य हैं। अज्ञानसे मुग्ध अर्जुनके प्रति मोहनिवृत्तिके लिये पारमार्थिक नित्यत्वके उपदेशकालमें 'अहं, त्वं, इमे' इत्यादि भेदव्यवहार है। औपाधिकभेद माननेपर भेदके अतात्त्विक होनेसे तत्त्वोपदेशसमयमें तत्कथन असंगत होगा। आत्मभेद स्वाभाविक है। श्रुति भी यही कहती है—'नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां विदधाति कामान्' [कठो० २।५।१३।] चेतन नित्य एक परमात्मा बहुत चेतनोंके कामोंको करता है, यह उक्त श्रुत्यर्थ है। अज्ञानकृत भेदवादीके मतमें परमार्थदृष्टिसे यानी निर्विशेष कूटस्थनित्यचैतन्यात्माके यथार्थज्ञानसे निवृत्ताज्ञान-तत्कार्य होनेसे अज्ञानकृत भेददर्शन और तन्मूलक उपदेशादि व्यवहार संगत नहीं हो सकता।

परमात्मा यद्यपि अधिगताद्वैतज्ञान है, तथापि बाधितानुवृत्तिरूप भेदज्ञान, दग्धपटादिके समान, बन्धक नहीं है। जला हुआ वस्त्र वस्त्राकार प्रतीत होता हुआ भी शरीर ढँक नहीं सकता, यही उक्त न्यायका निचोड़ अर्थ है। इसीप्रकार उक्त भेदज्ञानको भी समझना उपपत्तियोग्य नहीं है, क्योंकि मरुमरीचिकाजलादि बाधित-अनुवृत्त होकर भी जलानयनादिप्रवृत्तिमें कारण नहीं होता। बाधितानुवृत्त उक्त जलवान् जलार्थी होनेपर भी उसमें प्रवृत्त नहीं होता, यह किसीको अज्ञात नहीं है। एवं अद्वैतज्ञान से बाधित भेदज्ञान अनुवर्तमान होकर भी मिथ्यार्थ-विषयक निश्चय होनेसे उपदेशादिप्रवृत्तिमें हेतु नहीं होता और ईश्वरमें प्रथम अज्ञान था, शास्त्रसे तत्त्वज्ञान हुआ, उससे पूर्वाज्ञान बाधित होकर अभी अनुवर्तमान है, यह नहीं कह सकते, क्योंकि 'यः सर्वज्ञः स सर्ववित्' [मुण्डकोप० १०।१।९], 'परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च' [श्वेता० ६।८]

उक्त व्यवहार (स्थूलशरीरोपाधिक गतासुत्वादिव्यवहार) प्रसिद्ध है, वही यहाँ भी विवक्षित है। निष्कर्ष यह है कि मृत (आसन्नविनाश) भीष्मादिका हो उक्तद्विविध अर्जुनगत मोहनिवृत्ति तत्त्वज्ञानोत्पादन द्वारा भगवान्‌को अभीष्ट है। 'दृष्ट्वेमम्' इत्यादि उपक्रमवाक्यसे वही प्रस्तुत है। जीवितस्वेष्टजनसमुच्छेदनिबन्धन शोकके अप्रस्तुत होनेसे उसका ग्रहण इष्ट नहीं है, यह भावार्थ है।

इन श्रुतियों तथा 'वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन। भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन [गीता ७।२६] इस स्मृतिसे ईश्वराज्ञानमें विरोध भी है। वस्तुतः बाधितानुवृत्ति भी नहीं कह सकते, कारण कि बाधक अद्वैतात्मज्ञानसे आत्मभिन्न भेदज्ञान कारण अनादि अज्ञानका नाश हो गया; फिर उक्तानुवृत्ति कैसी? द्विचन्द्रादिज्ञानमें तो चन्द्रैकत्वज्ञानसे पारमार्थिक तिमिरादि दोषका नाश नहीं होता। अतः यहाँ बाधितानुवृत्ति ठीक है। अनुवर्तमान भी प्रबल प्रमाणसे बाधित होकर अकिंचित्कर है। यहाँपर तो भेदज्ञानके सविषय सकारण पारमार्थिक (वस्तु यथार्थ) ज्ञानसे बाधित होनेके कारण किसी तरह अनुवृत्ति नहीं हो सकती। सर्वेश्वरको आजतककी गुरुपरम्पराका तत्त्वज्ञान है, यह भी कहना ठीक नहीं, क्योंकि तब तो भेदज्ञान और तत्कार्योपदेशादिका सम्भव ही नहीं होगा। चूँकि भेदज्ञान है,अतः उपदेशका सम्भव है। यदि अज्ञान है, तो सुतराम् उपदेशका सम्भव नहीं है। अज्ञान तत्त्वज्ञानका उपदेशक नहीं हो सकता, यह स्पष्ट है। और भी सुनिये—गुरुगत अद्वितीयात्मविज्ञानसे ही सकार्य ब्रह्माज्ञानकी निवृत्ति होनेसे उपदेश ही निष्फल है। अज्ञान और उसके कार्यकी निवृत्ति ही उपदेशका फल है, सो गुरुज्ञान ही से हो चुकी है, फिर शिष्यका तादृशज्ञान व्यर्थ है। गुरु और उसका ज्ञान यदि कल्पित है, तो शिष्य और उसके ज्ञानके भी कल्पित होनेसे वह भी निवर्त्तक नहीं है। कल्पित होनेपर भी पूर्वविरोधी होनेसे ही निवर्तक होता है, यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि वह तो गुरुज्ञानमें भी समान ही है, फिर शिष्यज्ञानकी क्या आवश्यकता? वही निवर्तक है, उपदेश व्यर्थ है, यह संक्षेपतः विशिष्टाद्वैतगीताभाष्यार्थ है।

जो 'अज्ञानमुग्ध' इत्यादिसे अर्जुनके प्रति भक्तवत्सल भगवान् श्रीकृष्णने पारमार्थिक भेद कहा है, इसका निराकरण भी सुनिये—देहभेदानुवृत्तिसे बहुवचन है, आत्मभेदाभिप्रायसे नहीं, यह गीताभाष्यमें स्वयं श्रीशङ्कराचार्यने कहा है, अतएव 'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत' इत्यादि वाक्यसे नाना शरीरोंमें स्थित जीव मुझको ही समझो, यह भगवान्‌ने स्वयं आत्माभिन्न जीवको कहा है। 'यथा स्वयंज्योतिरात्मा विवस्वान् अपो भिन्ना बहुधैकोऽनुविष्टः उपाधिना क्रियते भिन्नरूपो देवः क्षेत्रेषु एवमजो ह्ययमात्मा' इत्यादि श्रुतिसे ही उत्तर दिया गया है। और भी सुनिये—यहाँपर जीवभेद किंवा जीव और परमात्माका भेद प्रतिपाद्य नहीं है, क्योंकि यह तो प्रत्यक्षसे ही सिद्ध है। 'अप्राप्ते शास्त्रमर्थवत्' यह न्याय प्रसिद्ध ही है, अतः अनन्यलभ्य अभेद ही प्रतिपाद्य है। प्रत्यक्षसिद्ध आत्मभेदका 'अहं त्वं इमे' से अनुवादकर आत्मनित्यत्व ही प्रतिपाद्य है। 'क्षेत्रज्ञं

च' इत्यादिसे अद्वैत ही उत्तर छः अध्यायोंसे प्रतिपाद्य है। इस कारण अद्वैतियों को अनुपपत्तिका लेश भी नहीं है। द्वैतवादियोंको ही उक्त श्रुतिविरोध अपरिहार्य है। और भी 'अहं त्वं इमे' इस व्यवहारमात्रसे भेद नहीं सिद्ध होता। रामायणगत राम और परशुरामके संवादमें 'ब्राह्मणोऽसीति मे पूज्यो विश्वमित्रकृतेन च। अस्माच्छक्तो न ते राम मोक्तुं प्राणहरं शरम् ॥' [वा० रा० १।७६।६] 'न चेयं मम काकुत्स्थ व्रीडा भवितुमर्हति। त्वया त्रैलोक्यनाथेन यदहं विमुखीकृतः ॥' [वा० रा० १।७६।१९] इत्यादिसे राम और परशुरामने 'अहं, त्वं' का व्यवहार किया है, उनमें भी भेद हो जायगा। 'रामः शस्त्रभृतामहम्' [गीता १०।३१] राम शस्त्रधारियोंमें विभूति है अर्थान्तर नहीं है, यह तो आपने भी व्याख्यान किया है, अन्यथा अपसिद्धान्त होगा। यदि यह कहिये कि निश्चिताभेदमें भेदव्यवहार काल्पनिक है, तो प्रकृतमें भी समाधान तुल्य (बराबर) है। इससे श्रीकृष्णकी इस कालतक गुरुपरम्परा अनादि है, अतः अद्वितीयात्मतत्त्व ज्ञ न है, यह कहने पर तो निवृत्ताज्ञान तत्कार्यको अज्ञानकृत भेददर्शन और तन्मूलक उपदेश आदि व्यवहार ही अनुपपन्न हो जायगा। अतः कृष्णार्जुनसंवादरूप गीताशास्त्रकी भी असंगति हो जायगी। यदि उन्हें ज्ञान नहीं है तो अज्ञानी होनेसे उपदेशकर्ता नहीं हो सकते। अतः सुतरां गीताशास्त्रकी असंगति है, यह भी पूर्वदत्तदोष निरस्त हो गया। राम और परशुरामके संवादमें परस्पर अभेदज्ञान रहनेपरभी यानी भेददर्शनका सुतराम् अभाव होने पर भी तद्धेतुक जयपराजयव्यवहार और तदुक्ति-प्रत्युक्तिरूप संवादके समान यहां भी तद्व्यवहारादिकी उपपत्ति हो जायगी। राम और परशुराममें वास्तविक अभेद होनेपर भी औपाधिक भेददर्शन है यदि यह शङ्का हो तो यहाँ भी वही समाधान है। क्योंकि 'उपाधिना क्रियते भिन्नरूपः' यह श्रुति है ही। किञ्च, एक ही परमेश्वरने अपनी मायासे दो रूप धारणकर लीलासे परस्पर संवादके समान किया, वास्तविक संवादादि नहीं, यदि यह कहें, तो फिर यहाँ भी वही कहिये। वस्तुतस्तु ऐन्द्रजालिकको दूसरेके संमोहनार्थ स्वमायाकल्पित वृश्चिकादिमें मिथ्यात्वनिश्चय होनेपर भी दूसरेको दृश्यमान मिथ्याभूत सर्पादिप्रतिभासके समान भगवानको भी अद्वितीयात्मदर्शन रहनेपर भी हमलोगोंको उपलभ्यमान स्वमायाशक्तिकल्पित मिथ्याद्वैतप्रपंचका भान है ही। कल्पतरुकारकी ऐसी उक्ति है—'प्रतिबिम्बगताः पश्यन् ऋजुवक्रादिविक्रियाः। पुमान् क्रीडेत यथा ब्रह्म तथा जीवस्य विक्रिया'॥ मिथ्याभूत संसारको मिथ्यात्वेन देखनेवालेमें तत्त्वदर्शित्वका विरोध नहीं है, दोनोंका एकमें समावेश है। और जो यह कहा कि भगवान् निवृत्ताज्ञानतत्कार्य

होनेसे उपदेशादिव्यवहार नहीं कर सकते, क्योंकि व्यवहार द्वैतदर्शी ही कर सकता है। नित्य सर्वज्ञ ईश्वरमें शास्त्रद्वारा अज्ञाननिवृत्ति हम लोगोंकी तरह नहीं कह सकते, अतः उनमें निवृत्ताज्ञानत्व ही प्रसिद्ध है।

प्रश्न - अच्छा तो, अज्ञानरहितत्व यदि उनमें है। तो फिर अज्ञानमूलक उनका व्यवहार कैसे ?

उत्तर—महामायी भगवान्‌को अज्ञानराहित्य नहीं है, यह आगे कहेंगे। 'आश्रयत्वविषयत्वभागिनी निर्विभागचितिरेव केवला' इत्यादि वचनोंसे संक्षेप-शारीरकादिमें इसका पूर्ण उपपादन किया गया है। सर्वज्ञमें अज्ञानसम्बन्ध कैसे, उपाधिके प्रतिबिम्बपक्षपाती होनेसे तत्कार्य प्रतिबिम्ब जीवमें ही हो सकता है, बिम्ब ईश्वरमें नहीं, इसलिये विरोध नहीं है अर्थात् ईश्वरमें नित्यमुक्तत्वका विरोध नहीं है। एक हीमें ज्ञान और अज्ञान दोनों कैसे रहेंगे ? क्योंकि ज्ञान स्वविषयावरक अज्ञान के साथ नहीं रहता। अनावरकके साथ ज्ञानका विरोध नहीं है। उपाधि प्रतिबिम्बपक्षपाती होनेसे जीवका आवरक है, ईश्वरका नहीं, अतः भगवान्‌का तत्त्वज्ञान नित्य होनेपर भी ऐन्द्रजालिकके समान स्वाधीन मायानिमित्तक मिथ्याजगत्‌का प्रतिभास भी है। राम और परशुरामके व्यवहारके समान मायाहेतुक अर्जुनादिको उनका उपदेश भी संगत है। बाधितानुवृत्त भेदज्ञान है, अतः उपदेश भी युक्त ही है।

प्रश्न—ज्ञानसे अज्ञानका नाश होनेपर उपादान कारणके नाशसे तत्कार्य भी नष्ट हो जाता है, इसलिये भेददर्शन ही यदि नष्ट हो जायगा, तो फिर उसकी अनुवृत्ति कैसी ?

उत्तर—रज्जुतत्त्वज्ञानसे सर्पाज्ञान निवृत्त होनेपर भी भय, कम्प आदिकी कुछ देरतक अनुवृत्ति देखी जाती है। 'तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्ये अथ संपत्स्ये' इस श्रुतिसे बाधितकी अनुवृत्ति सिद्ध है। दृष्टमें कोई अनुपपत्ति नहीं होती, अन्यथा दृष्ट ही कैसे ?

प्रश्न—अनुवर्तमान शुक्तिरजतज्ञान रजतार्थीकी प्रवृत्तिमें हेतु जैसे नहीं होता, वैसे ही द्वैतज्ञान भी उपदेशार्थ प्रवृत्तिमें हेतु नहीं होगा।

उत्तर—वहाँ वासनासहित अज्ञानका क्षय होनेसे अर्थक्रियाप्राप्ति नहीं होती। यहाँ तो वासना रहती है, इसलिये अर्थक्रिया उपदेशादिकी उपपत्ति है। अज्ञानका नाश होनेपर तदाश्रित वासना कैसे रहेगी, यह शङ्का भी समाहित होती है। पिटारीसे कस्तूरी निकाल लेनेपर भी कुछ कालतक पिटारीमें सुगन्ध

रहती है। आश्रयनाशके अनन्तर क्षणभरतक कार्यद्रव्य रहता है, यह तार्किकोंका सिद्धान्त है। तद्वत् प्रकृतमें भी समझना चाहिये।

वस्तुतस्तु गुरुशिष्यका वास्तविक अभेद होनेपर भी घटाकाश, मठाकाशके समान औपाधिक भेद होनेसे मठनाश होनेपर तदुपलक्षित आकाशमें महाकाशतापत्ति होनेपर भी घटाकाशमें महाकाशतापत्ति जैसे नहीं होती, वैसे ही गुरुज्ञानसे अज्ञानका नाश होनेपर महाकाशतापत्ति गुरुमें ही हो सकती है, शिष्य अर्जुनमें उसका क्या सम्भव? इससे श्रीमाध्वरामानुजका यह व्याख्यान कि श्रीकृष्णका सामर्थ्यातिशय अर्जुन अनेक बार देख चुके हैं, अचिन्त्यशक्तिमत्त्वेन उनमें जीववैलक्षण्य भी जानते हैं, अतः उनमें नित्यत्व निश्चित होनेसे 'अह' कथन दृष्टान्तार्थ है। जैसे ईश्वर मैं नित्य हूँ, वैसे ही तुम और ये नृपतिगण भी नित्य ही हैं, यह विचारणीय है, कारण कि जीवनित्यत्व भी वेदान्तमें प्रसिद्ध ही है। अतः सन्देहाभावसे उसके प्रतिपादनकी भी आवश्यकता नहीं है।

शङ्का—'नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां विदधाति कामान्' इस श्रुतिसे 'नित्यानाम्' इस निर्धारणषष्ठीसे जीवोंमें नित्यत्व और ईश्वरमें परमनित्यत्व जाना जाता है। नाशाभाव ही नित्यत्व है। अभावमें कोई तारतम्य नहीं, फिर ईश्वरके नित्यत्वमें परमत्व क्या है? अतः जीवनित्यत्व लिङ्गशरीरवत्कल्पान्तस्थायित्वमें औपचारिक होनेसे तदनित्यत्वकी शङ्काको सुलभ समझकर प्रागभावध्वंसाप्रतियोगित्वसे जीवनित्यत्वका उपपादन करते हैं।

उत्तर—जीवनित्यत्वका प्रतिपादन भी 'न जायते म्रियते वा विपश्चित्' [कठो० २।१८] 'अविनाशी वा अरे अयमात्मा अनुच्छित्तिधर्मा' [बृहदा० । ४।१४] इत्यादि श्रुतियोंसे ही हो चुका है। 'नित्यानां चेतनानाम्' यानी नित्य चेतनोंके कामोंको एक ही ईश्वर करता है, इस प्रकार सामानाधिकरण्यसे अन्वय करनेसे श्रुत्यर्थकी अनायास ही उपपत्ति हो जाती है, फिर निर्धारणमें षष्ठी मानना व्यर्थ है। यदि यह कहिये कि जीवनित्यत्व अर्जुन जानते हैं, किन्तु यह भीष्मादिके अशोच्यत्वमें हेतु है, यह नहीं जानते; तदर्थ उपदेश युक्त ही है, तो श्रीकृष्णमें भी निश्चय नहीं है कि यह ईश्वर ही हैं, अन्यथा 'यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः' यह अर्जुन कैसे कहते? क्योंकि ईश्वरके साथ रहनेपर स्वविजयमें सन्देह ही नहीं हो सकता, पराजयकी चर्चा तो दूर है। अतः शङ्कानिवृत्त्यर्थ अहमर्थमें भी नित्यत्वप्रतिपादन आवश्यक है। परमात्मामें अनित्यत्वकी यदि शंका ही नहीं है, तो जीवमें भी नित्यत्वकी शंका नहीं है, यह समान ही है।

वस्तुवस्तु श्रीकृष्ण परब्रह्म हैं, यह निश्चय अभीतक अर्जुनको नहीं है। यद्यपि

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा ।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥१३॥

इस शरीरमें जैसे बाल्यावस्था, युवावस्था एवं वृद्धावस्था प्राप्त होती है वैसे ही शरीरान्तर भी प्राप्त होता है, इस विषयमें धीर पुरुष मोह नहीं करते ॥ १३ ॥

ननु देहमात्रं चैतन्यविशिष्टमात्मेति लोकायतिकाः । तथा च स्थूलोऽहं

भगवान्में अचिन्त्यसामर्थ्य असकृत् (अनेक बार) अर्जुन देख चुके हैं और युधिष्ठिर-के राजसूयमें भीष्मादिसे सुना भी है कि यह ईश्वर हैं, तथापि विश्वरूपदर्शनसे पूर्व भगवान्के समान बल-पराक्रमशाली योगादिसे प्राप्त दिव्यशक्तिसम्पन्न कोई महापुरुष हैं। उन लोगोंने ईश्वररूपसे स्तुति की है, यही निश्चय है। विश्वरूप-दर्शनके अनन्तर यह परब्रह्म हैं, ऐसा निश्चय हुआ।

प्रश्न · इसमें प्रमाण क्या है ?

उत्तर—अर्जुनके वाक्य ही प्रमाण हैं। 'सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं हे कृष्ण हे यादव हे सखेति। अजानता महिमानं तवेदं मया प्रमादात् प्रणयेन वाऽपि ॥ यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि विहारशय्यासनभोजनेषु । एकोऽथवाऽप्यच्युत तत्समक्षं तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम् ॥ 'पिताऽस्य लोकस्य चराचरस्य ।' [गीता ११ · ४१–४३] (हे भगवन्, आपकी महिमा न जानकर और लोगोंके समान ही आपको सखा मानकर इससे पूर्व विहारमें, शय्या, आसन और भोजनके समय जो कुछ अकेले या बहुतोंके बीचमें आपके उपहासके लिए मैंने आपका अनादर किया है, उसका मैं क्षमा चाहता हूँ। आप सकल संसारके पिता ब्रह्म है।) इत्यादि अर्जुनोक्तिसे स्पष्ट है कि विश्वरूपदर्शनसे पूर्व श्रीकृष्णमें ब्रह्मत्वनिश्चय अर्जुनको नहीं था। तद्दर्शनके बाद ही ब्रह्मत्वनिश्चय हुआ। यदि आदिसे ही भगवान्में अर्जुनको ब्रह्मत्व निश्चय होता, तो चौथे अध्यायमें भगवान्के प्रति 'अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः । कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवान् इति ॥' यह अर्जुन कैसे कहते। परब्रह्ममें आधुनिक आपका पूर्वसिद्ध विवस्वान्को उपदेश कैसे, इस प्रश्नका सम्भव ही नहीं होता। यदि यह सर्वज्ञ ईश्वर हैं, ईदृश निश्चय अर्जुनको होता, तो 'बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन। तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परन्तप ॥' यह उक्ति भगवान्की सार्थक होती, अतः 'न त्वेवाहं' यहाँ दृष्टान्तपरतया व्याख्यान श्रद्धेय नहीं है। तस्मात् श्रीशङ्करभगवत्पादकृत व्याख्यान ही साधु और श्रद्धेय है] ॥ १२ ॥

यदि यह शङ्का हो कि 'चैतन्यविशिष्ट देहमात्र आत्मा है' यह चार्वाकका मत है।

गौरोऽहं गच्छामि चेत्यादिप्रत्यक्षप्रतीतीनां प्रामाण्यमनपोहितं भविष्यति। अतः कथं देहादात्मनो व्यतिरेकः, व्यतिरेकेऽपि कथं वा जन्मविनाशशून्यत्वम्, जातो देवदत्तो मृतो देवदत्त इति प्रतीतेर्देहजन्मनाशाभ्यां सहाऽऽत्मनोपि जन्मविनाशोपपत्तेरित्याशङ्क्याऽऽह—'देहिनोऽस्मिन्' इति।

देहाः सर्वे भूतभविष्यद्वर्तमाना जगन्मण्डलवर्तिनोऽस्य सन्तीति देही। एकस्यैव विभुत्वेन सर्वदेहयोगित्वात्सर्वत्र चेष्टोपपत्तेर्न प्रतिदेहमात्मभेदे प्रमाणमस्तीति सूचयितुमेकवचनम्। सर्वे वयमिति बहुवचनं तु पूर्वत्र देहभेदानुवृत्त्या न त्वात्मभेदाभिप्रायेणेति न दोषः। तस्य देहिन एकस्यैव

उसे मान लेनेसे 'मै स्थूल (मोटा) हूँ' गौरवर्ण हूँ' लचता हूँ, आदि प्रत्यक्ष प्रतीतियोंका प्रामाण्य भी अखंण्डित होता है। फिर वह (आत्मा) देहसे भिन्न कैसे ? कदाचित् भेद मान भी लिया जाय,तो भी वह जन्मविनाशादिविकारशून्य कैसे हो सकता है, क्योंकि देवदत्त उत्पन्न हुआ, देवदत्त मर गया आदि प्रतीतियोंसे शरीरोत्पत्ति और विनाशके साथ आत्माका भी जन्म और विनाश देखा जाता है, यों आशङ्का कर कहते हैं—'देहिनोऽस्मिन्' से।

भूत,भविष्य,वर्त्तमान संसारमात्रवृत्ति सभी देह जिसे हैं वह देही अर्थात् आत्मा कहा जाता है। देहभेदसे आत्मभेदवादी तार्किकोंके मतका निराकरण करनेके लिए 'देहिनः' यह एकवचन किया गया है। तथा च सब देहोंमें जब एक ही आत्मा है,कारण कि वह विभु है, [तार्किक भी आत्माको व्यापक मानते हैं। जो उनके मतसे सर्वमूर्त्तसंयोगीत्वरूप है। इसी तरह शरीरमें भी 'परिच्छिन्नपरिमाणवत्त्वरूप' मूर्तत्व है ही] तो सर्वदेहसंयोगी होंनेसे एक ही आत्मासे सब शरीरोंमें चेष्टा हो सकती है, फिर अनेक आत्मा माननेका प्रयोजन ही क्या रहा ? उसमें कोई प्रमाण नहीं है, क्योंकि तार्किक मतमें सर्वशरीरोंके साथ संयोगके बिना आत्मामें अभिव्यापकत्व ही न बन सकेगा।

शंका—यदि एक वचनसे आत्मामें एकत्व विवक्षित है तो 'सर्वे वयम्' इस वहुवचनसे आत्मभेद ही क्यों न इष्ट हो ?

समाधान—ठीक है, परन्तु अब विचार करना यह है कि परस्पर विरुद्ध दो वाक्योंका समन्वय कैसे किया जाय ? एकको अमुख्यार्थकत्व स्वीकार किये बिना गौणप्रधानभावसे समन्वय ही न होगा। जन्मभेदसे एक आत्मामें देहभेद तो सिद्ध ही है, तदनुवृत्तिसे तदुपाधिक भेदानुवृत्तिपरक बहुवचन है। आत्मभेदाभिप्राय से नहीं, इसलिए कोई हानि नहीं है। आत्माभेद अप्रतीत होनेसे प्रतिपिपादयिषित अतएव मुख्यार्थकत्वपरक एकवचनसे आत्मैकत्व ही इष्ट है। [एक ही

सतोऽस्मिन्वर्तमाने देहे यथा कौमारं यौवनं जरेत्यवस्थात्रयं परस्परविरुद्धं भवति न तु तद्भेदेनाऽऽत्मभेदः, य एवाहं बाल्ये पितरावन्वभूवं स एवाहं वार्धके प्रणप्तॄननुभवामीति दृढतरप्रत्यभिज्ञानात्, अन्यनिष्ठसंस्कारस्य चान्यत्रानुसंधानाजनकत्वात्, तथा तेनैव प्रकारेणाविकृतस्यैव सत आत्मनो देहान्तरप्राप्तिरेतस्माद्देहादत्यन्तविलक्षणदेहप्राप्तिः स्वप्ने योगैश्वर्ये च तद्देहभेदानुसंधानेऽपि स एवाहमिति प्रत्यभिज्ञानात्। तथा च यदि देह एवाऽऽत्मा

आत्माका अनेक देहके साथ सम्बन्ध होता है, इसीको बुद्धिस्थ करनेके लिये उदाहरण है-'देहे' इत्यादि ।] जैसे एक ही उस आत्माकी इस वर्तमान देहमें बाल्य, यौवन, वार्द्धक्य—ये तीन परस्पर विरुद्ध अवस्थायें होती हैं, इनके भेदसे आत्मभेद कोई भी नहीं कहता। कारण कि जिस मैंने बाल्यावस्थामें माता-पिताका अनुभव किया है, वहीं मैं वृद्धावस्थामें परपोतोंका अनुभव करता हूँ, यह दृढ़ प्रत्यभिज्ञा होती है। यदि अवस्थाभेदसे आत्मभेद होता, तो जैसे देवदत्तके संस्कारसे यज्ञदत्तको स्मरण नहीं होता, वैसे ही बाल्यमें अनुभूतका वार्द्धक्यमें स्मरण नहीं होता। संस्कार और स्मरणका सामान्याधिकरण्येन कार्यकारणभाव है। इसी प्रकारसे अविकृत आत्माको देहान्तर प्राप्त होता है। भेद इतना ही है कि बाल्यादिशरीर सजातीय होते हैं और जन्मान्तरके शरीर अन्त्यन्तविजातीय होते हैं। [जाग्रदवस्थामें शरीरभेदसे आत्मभेद नहीं होता, यह सिद्धकर स्वप्नावस्थामें भी शरीरभेदसे आत्मभेद नहीं सिद्ध होता. यह दिखलाते हैं—'**स्वप्ने**' इससे। [किसीको पुण्यवश स्वप्नावस्थामें यदि देवशरीरप्राप्ति होती है, तो उस समय वह अपनेको देवता मान देवोचित भोगका भागी समझता है। स्वप्नके निवृत्त होने पर प्रकृतिस्थ होकर 'मैं देवशरीर नहीं हूँ' इस प्रकार देवशरीरका बाध होनेपर भी आत्माको देवशरीरमें बाधित नहीं करता कि मैंने उन भोगोंका भोग नहीं किया, किन्तु यही मानता है कि उस समय भी 'भोक्ता मैं ही था' यह प्रत्यभिज्ञा उसे होती है। बाधिताबाधित देहभिन्न होनेपर भी आत्मा दोनोंमें एक ही है। इसी तरह योगव्याघ्र तथा योगैश्वर्यकोभी समझना चाहिये। योगबलसे इच्छानुसार योगी व्याघ्रशरीर धारणकर पुनः प्रकृतिस्थ हो जाता है। शरीरभेदका अनुभव वहाँ शिष्यादिको भी होता है, आत्मभेदानुभव किसीको नहीं होता। एवं कर्दमादि ऋषियोंने योगैश्वर्यसे अनेक शरीर धारणकर प्रत्येक शरीरोंमें भिन्न-भिन्न क्रियाओंका एक ही आत्मासे सम्पादन किया, यह पुराणादिपरिशीलनशीलोंसे छिपा नहीं है। अब स्वयं विचारिये, यदि

भवेत्तदा कौमारादिभेदेन देहे भिद्यमाने प्रतिसंधानं न स्यात्। अथ तु कौमाराद्यवस्थानामत्यन्तवैलक्षण्येऽप्यवस्थावतो देहस्य यावत्प्रत्यभिज्ञं वस्तुस्थितिरिति न्यायेनैक्यं ब्रूयात्तदाऽपि स्वप्नयोगैश्वर्ययोर्देहधर्मिभेदे प्रतिसंधानं न स्यादित्युभयोदाहरणम्। अतो मरुमरीचिकादावुदकादिबुद्धेरपि भ्रमत्वमत्रश्यमभ्युपेयम्, बाधस्योभयत्रापि तुल्यत्वात्। एतच्च न जायत इत्यादौ प्रपञ्चयिष्यते। एतेन देहाद्व्यतिरिक्तो देहेन सहोत्पद्यते विनश्यति चेति पक्षोऽपि प्रत्युक्तः। तत्रावस्थाभेदे प्रत्यभिज्ञोपपत्तावपि धर्मिणो देहस्य भेदे प्रत्यभिज्ञानुपपत्तेः। अथवा यथा कौमाराद्यवस्थाप्राप्तिरविकृतस्याऽऽत्मन एकस्यैव तथा देहान्तरप्राप्तिरेतस्माद्देहादुत्क्रान्तौ। तत्र स एवाहमितिप्रत्यभिज्ञानाभावेऽपि जातमात्रस्य हर्षशोकभयादिसंप्रतिपत्तेः पूर्वसंस्कारजन्याया

देह ही आत्मा होती यानी देहभेदसे आत्मभेद होता, तो बाल्यादिशरीरभेदसे देहके भिद्यमान होनेपर आत्माओंमें स्मरण नहीं होता। यद्यपि बाल्यादि अवस्थाएँ अत्यन्त विलक्षण हैं, फिर भी अवस्थाके कारण 'जबतक प्रत्यभिज्ञा होती है तबतक पूर्ववस्तुकी ही स्थिति रहती है' इस न्यायसे एक ही देह मान लो, यदि यह कोई कहे, तो भी स्वप्न और योगैश्वर्यका देहधर्मिभेद होनेसे प्रत्यभिज्ञा न होगी, अतः दोनोंका उदाहरण है। अतः यह मरीचिकासैकतभूमिसंसृष्टसौरालोकादिमें उदकादिबुद्धिके समान 'स्थूलोऽहम्' (मैं मोटा-ताजा हूँ) इत्यादि बुद्धि भी भ्रम है, यह अवश्य मानना ही पड़ेगा, क्योंकि भ्रमत्वसाधक बाध दोनोंमें समान है। यह 'न जायते' इत्यादि स्थलमें विस्तारसे कहेंगे। इससे देहसे भिन्न आत्मा है, किन्तु देहके साथ उत्पन्न और विनष्ट होता है, यह पक्ष भी खण्डित हो गया। इस पक्षमें अवस्थाभेदस्थलमें प्रत्यभिज्ञाकी उपपत्ति होनेपर भी आत्माकी देहके भेदसे प्रत्यभिज्ञा नहीं होगी यानी स्वप्न और योगैश्वर्यादिके उदाहरणमें शरीरका नाश होनेसे आत्मभेद आवश्यक होनेसे प्रत्यभिज्ञाकी उपपत्ति नहीं होगी। अथवा जैसे अविकृत एक ही आत्मामें बाल्यादि अवस्थाओंकी क्रमशः प्राप्ति होती है, वैसे ही देहान्तरकी प्राप्ति है, इस देहसे निकलनेपर भी वहाँ यद्यपि 'वही मैं हूँ' यह प्रत्यभिज्ञा नहीं रहती, तथापि तत्काल उत्पन्न हुए बालकमें पूर्वजन्मके संस्कारसे हर्ष, शोक, भय आदिकी प्राप्ति देखी जाती है। [अवस्थान्तरमें योऽहमित्यादि उक्त

दर्शनात् । अन्यथा स्तन्यपानादौ प्रवृत्तिर्न स्यात्तस्या इष्टसाधनतादिज्ञानज-४ न्यत्वस्यादृष्टमात्रजन्यत्वस्य चाभ्युपगमात् । तथा च पूर्वापरदेहयोरात्मैक्य-

प्रत्यभिज्ञा होती है, जन्मान्तरमें तो ऐसी प्रत्यभिज्ञा नहीं होती, फिर जन्मान्तरीय आत्मा पूर्व जन्मकी आत्मा से अभिन्न है, इसमें क्या प्रमाण' यह शङ्का नहीं कर सकते, क्योंकि इस जन्ममें इष्टानिष्टविषयप्राप्ति-परिहारप्रयुक्त हर्षशोकादिका यदि अनुभव ही नहीं, तो तज्जन्य संस्कारकी क्या संभावना, इसको व्यक्त करनेके लिये 'जातमात्रस्य' कहा है। बाह्यचिन्त्यपरिचयाद्यभावसूचनार्थ यहाँ 'मात्र' पद है। किन्तु बात ऐसी नहीं है, उसको अकारण हर्ष, शोकभयादि देखा जाता है। बालक अकस्मात् कभी हँसता है, कभी रोता है, चिहुक उठता है, जो कि भयसे होता है। कारणके विना कार्य नहीं होते, यह सर्वत्र सिद्धान्त है। दृष्टहासादि कार्यका कोई दृष्टकारण नहीं देख पड़ता, इसलिये अदृष्ट जन्मान्तरानुभूततत्तद्विषयवासनाकी ही कल्पना की जाती है। यह शंका मत कीजिये कि जन्मान्तरानुभूत वासनासे जन्मान्तरीयजननीजनकजात्यादिका भी स्मरण क्यों नहीं होता ? इसमें कारण यह है कि कार्यसे संस्कारोन्मेषकी कल्पना होती है, अन्यथा नहीं। दृष्टाहेतुकहासादि देखनेसे जन्मान्तरीय वासनाकी अभिव्यक्तिकी कल्पना उचित है।] यदि जन्मान्तरीय वासनामात्रकी अनभिव्यक्ति मानेंगे, तो स्तनपानादिमें बालककी प्रवृत्ति ही न होगी ; क्योंकि इष्टसाधनतादिज्ञान और अदृष्टमात्र ये दोनों उस प्रवृत्तिमें कारण माने गये हैं। [क्योंकि चेतनप्रवृत्तिमात्रमें इष्टसाधनास्मृति कारण है। ऐहिक स्मृतिके संभवसे जन्मान्तरस्मृतिकी कल्पना होती है। जीवनादृष्ट ही तादृशवासनाका उद्बोधक माना जाता है। संस्कारान्तरस्मृतिके बिना जीवनानुपपत्ति नहीं होती। अतः तत्कल्पनामें कोई बीज नहीं है। इसी अभिप्रायसे यानी बालस्तनपानप्रवृत्तिमें इष्टसाधनताज्ञानजन्यत्व, एतद्द्वारा अदृष्टजन्यत्व तथा अदृष्टजन्यस्मृतिजन्य प्रवृत्तिमें साक्षात्स्मृतिजन्यत्व है, यों परम्परया अदृष्टजन्यत्व माननेसे उभयजन्यत्वोक्ति सिद्ध की गई है। अदृष्टजन्य ही प्रवृत्ति क्यों नहीं मानते, स्मृतिजन्यत्वकी क्या आवश्यकता ? यह शंका नहीं, कर सकते, क्योंकि दृष्ट सामग्रीसंघटनार्थ ही अदृष्ट व्यापार होता है, साक्षात्कार्योत्पादनार्थ नहीं अन्यथा कार्यमात्रमें अदृष्ट ही कारण है, यह भी कह सकेंगे। फिर कार्यमें दृष्टकारणजन्यत्वका अपलाप ही हो जायगा।] इस प्रकारसे पूर्वापरदेहमें एक ही आत्माकी सिद्धि हुई।

सिद्धिः, अन्यथो कृतनाशाकृताभ्यागमप्रसङ्गादित्यन्यत्र विस्तरः । कृतयोः पुण्यपापयोर्भोगमन्तरेण नाशः कृतनाशः । अकृतयोः पुण्यपापयोरकस्मात्फलदातृत्वमकृताभ्यागमः । अथवा देहिन एकस्यैव तव यथा क्रमेण देहावस्थोत्पत्तिविनाशयोर्न भेदो नित्यत्वात् तथा युगपत्सर्वदेहान्तर-

अन्यथा कृतनाश अकृताभ्यागमप्रसक्ति दोष होगा। इसका अन्यत्र विस्तृत वर्णन मिलेगा ही। किये गये पुण्य और पापका भोगके बिना जो नाश है वह कृतनाश है। यदि देहभेदसे आत्मभेद मानेंगे, तो वर्तमान देहमें जो देही पुण्य-पाप करता है उसका भोग जन्मान्तरमें भी होता है जन्मान्तरमें वर्तमान देह नहीं रहती, यह तो निश्चित ही है। यदि आत्मा भी न रहेगा, तो कृतकर्म, फल दिये बिना नष्ट होता है, यह मानना ही पड़ेगा, यही कृतानाश कहा गया है। जन्मकालमें ही नहीं किये गये पुण्य और पापोंमें अचानक फलदातृत्व शक्तिका आ जाना ही अकृताभ्यागम कहलाता है अर्थात् जन्मसमयमें देह और आत्मा ये दोनों यदि आगन्तुक हैं, तो सकलाङ्ग, विकलाङ्ग, धनी, दरिद्र, दीर्घायु, अल्पायु देही क्यों होते हैं ! एक ही माता-पितासे उत्पन्न देहियोंमें ये भेद पाये जाते हैं। उत्पत्तिके अनन्तर ही कोई देही सकलसुखसामग्रीसे सम्पन्न होता है, कोई दुःखसामग्रीसे सम्पन्न मिलता है, यह पूर्वका ही फल कहा जा सकता है। वर्तमानमें तो उत्पन्न होते ही वह कोई कर्म कर नहीं सकता, यही अकृत-आगम है। [ये दोनों नहीं माने जाते, अन्यथा संसार ही अव्यवस्थित हो जायगा। जन्मान्तर सुखेच्छासे शास्त्रविहित कर्ममें प्रवृत्ति तथा दुःखनिवृत्तीच्छासे अशक्तकर्मसे निवृत्ति भी किसीकी न होगी। ऐसी स्थितिमें मनुष्य पशुप्रकृतिप्राय हो जायगा। जो किसीको भी इष्ट नहीं है। जिस जन्ममें जो पुण्य और पाप करता है उसी जन्ममें वह सब भोग लेता है, जन्मान्तरके लिये कोई कर्म रहता ही नहीं। जन्मान्तरके इष्टानिष्ट प्राप्तिपरिहारार्थ कर्मविधान प्रतारणार्थ ही है, इसीको ऐकभविक कर्म कहते हैं। इस प्रश्नका तो उत्तर हम दे चुके हैं] [अनित्यात्मवादी चार्वाकादिके मतका निराकरणकर नित्यविभु-अनेकात्मवादिवैशेषिकादिमतनिराकरणपरक होनेसे उक्त ग्रन्थकी योजना करते हैं—'अथवा' से। या जैसे आपके मतमें एक ही नित्य विभु आत्मामें क्रमशः बाल्यादि अवस्थाओंके उत्पाद और विनाश होते हैं, तो भी इससे आत्मभेद नहीं है, क्योंकि आत्मा नित्य है; वैसे ही आपके मतमें भी एक कालमें ही सकल देहप्राप्तिप्रसंग है, क्योंकि आत्मा एक ही और विभु है।

प्राप्तिरपि तवैकस्यैव विभुत्वात्, मध्यमपरिमाणत्वे सावयवत्वेन नित्यत्वायोगात्, अणुत्वे सकलदेहव्यापिसुखाद्यनुपलब्धिप्रसङ्गात्, विभुत्वे निश्चिते सर्वत्र दृष्टकार्यत्वात्सर्वशरीरेष्वेक एवाऽऽत्मा त्वमिति निश्चितोऽर्थः। तत्रैवं सति

[सर्वमूर्त्तसंयोगी विभु माना जाता है, फिर एक आत्माका एक ही शरीरमें भोग होता है, शरीरान्तरमें नहीं, इसमें क्या कारण है, यदि यह कहें, तो इसका उत्तर यह है कि जिस आत्माका जिस शरीरके साथ स्वस्वामिभाव सम्बन्ध है उस आत्माको उसी शरीरसे भोग होता है, शरीरान्तरसे नहीं। अतः भोग प्रत्यात्माका प्रति शरीरमें नियत है, सर्वसाधारण नहीं है।

शङ्का—आत्मत्वेन आत्मा स्वामी और शरीरत्वेन शरीर स्व है, तो फिर ऐसी दशा में आत्मा आत्मत्वेन स्वामी है और सब शरीर शरीरत्वेन स्व हैं, इस प्रकार एक ही आत्मा सब शरीरोंका स्वामी है; फिर नियत भोग क्यों ?

समाधान—जो शरीर जिस आत्माके अदृष्टसे उत्पन्न होता है उसी शरीरका वह स्वामी होता है, सब शरीरोंका नहीं। स्वशरीरसे ही स्वका भोग होता है, शरीरान्तरसे नहीं।

प्रश्न—अच्छा, तो अदृष्ट हीका विचार कीजिये। एक शरीरारम्भक कर्म एक ही आत्मामें क्यों ? जिस शरीरक्रियासे धर्माधर्म जो अदृष्ट उत्पन्न होता है वह अदृष्ट उस शरीरसम्बन्धी आत्मामें उत्पन्न होता है, यह आपका मत है। उस शरीरमें सब आत्मायें हैं, फिर एक ही में उत्पन्न हुआ, दूसरेमें नहीं, इसमें क्या कारण है ? क्योंकि व्यापक होनेसे दूसरी भी आत्मा तो आत्मा है ही।

उत्तर—जिस आत्माके मनसे प्रेरित शरीरादि द्वारा जो कर्म होता है वह उसी आत्मामें होता है, दूसरेमें नहीं, यह उत्तर तो डूब रहेको तिनकेका सहारा है। आत्ममनःसंयोगमें भी तो यही प्रश्न होगा कि एक मनका संयोग एक ही आत्मामें क्यों ? क्या उस मनसे आत्मान्तरसंयोग नहीं मानते। यदि नहीं, तो फिर आत्मा व्यापक है, यह कैसे कहते हैं ? अनन्त मनके साथ यदि सम्बन्ध नहीं है, तो आपकी व्यापकोक्ति बालकोक्ति ही है, जिसका फल कौतुकमात्र है। इससे तत्त्वनिर्णय नहीं हो सकता।]

यदि आत्माको मध्यमपरिमाण मान लिया जाय, तो उसके सावयव होनेसे उसमें नित्यता नहीं रह सकती। [रामानुजीयादि मतनिराकरणार्थ 'अणुत्वे' इत्यादि कहते हैं।] यदि उसे अणु मान लेते हैं, तो फिर सकल देहोंमें व्याप्त सुख आदिकी उपलब्धि नहीं हो सकती। आत्मा अणु अतएव नित्य तथा प्रतिशरीर

भिन्न है। यदि अणु है, तो सकलशरीरव्यापि सुखादि (शैत्यादि) का ग्रहण कैसे होगा, [क्योंकि आत्मा जिस प्रदेशमें रहेगा, उसी प्रदेशमें प्रकाशक होगा, अन्यत्र नहीं। यद्यपि आत्मा अणु है, तथापि तत्प्रकाश चैतन्य तद्गुण सकल-शरीरव्यापक है अतः सकलशरीरस्थ शैत्यादिग्रहणमें आपत्ति नहीं है।

प्रश्न—यदि आत्मा और उसके गुण चैतन्यज्ञानमें गुणगुणीभाव है, तो गुणी (धर्मी) से शून्य प्रदेशमें गुण कैसे रह सकता है? घटादि गुणीका रूपादि गुण घटादिभिन्न देशमें नहीं पाया जाता।

उत्तर—जैसे प्रदीपका गुण प्रकाश प्रदीपभिन्न देशमें पाया ही जाता है; प्रदीप गृहके एक देशमें स्थित रहता है और तत्प्रकाश गृहोदरमात्रमें देखा जाता है। तद्वत् ज्ञानगुण शरीरव्यापक होता है। एवं पुष्प, कस्तूरी आदि सुगन्धित द्रव्य एक देशमें रहते हैं, तद्गुण गन्ध चारों दिशाओं में दूरतक फैली रहती है, इत्यादि अनेक उदाहरण हैं।

शङ्का—प्रदीप सावयव तेजोद्रव्य है, उसके अवयव प्रसरणशील हैं; इसलिए मूलसे सघन अनेक तेजोद्रव्यके अवयव निकल कर उनसे विभक्त होते रहते हैं। जहाँ तक विभक्त हो सकते हैं वहाँ तक वे जाते हैं। आगे उनकी गति रुक जाती है। जहाँ तक जाते हैं वहाँ तक तद्गुण प्रकाश भी रहता है, अन्यत्र नहीं। अतएव उत्तरोत्तरापेक्षया पूर्व-पूर्वमें अधिक प्रकाश और उष्मादिकी उपलब्धि होती है। जब दूरसे लोग पूरा नहीं देख पाते, तब प्रदीपको पास करके देखते हैं। पुष्पादि भी सावयव द्रव्य है, अतः वहाँ भी तदवयव द्रव्य प्रसरणशील है। इसलिए अवयव द्रव्यके साथ ही वायुवश दूरतक फैल जाता है, केवल गुणमात्र नहीं। अवयव-विश्लेष द्वारा विनष्ट हो जाने के भयसे अवयविद्रव्य कर्पूरादि अतिसुरक्षार्थ शीशी आदिमें प्रयत्नपूर्वक रखा जाता है।

समाधान—अच्छा तो, मणि द्रव्यको ही उदाहरणरूपमें ले लीजिए। मणि तेजोद्रव्य अति कठिन है। उसके अवयव प्रदीप-पुष्पाद्यवयवोंके समान प्रसरण-शील नहीं हैं और न तद्वत् आशुविनाशी ही है। मणिद्रव्य एकस्थ होकर स्वप्रभाद्वारा दूरतक जैसे देशको व्याप्त करता है वैसे ही ज्ञानगुणको भी समझना चाहिये।

शङ्का—क्या यह मत प्रभाकरमिश्रके अनुसार आत्माको अचेतन द्रव्य मानकर चैतन्यात्मक ज्ञानको तद्गुण मानता है अथवा नहीं।

वध्यघातकभेदकल्पनया त्वमधीरत्वान्मुह्यसि धीरस्तु विद्वान्न मुह्यति अहमेषां हन्तैते मम वध्या इति भेददर्शनाभावात् तथा च विवादगोचरापन्नाः सर्वे देहा एकभोक्तृका देहत्वात्त्वद्देहवदिति । श्रुतिरपि—"एको देवः सर्वभूतेषु

समाधान—मिश्रमतसे इस मतमें वैलक्षण्य है। इस मतमें आत्मा अचेतन नहीं है, किन्तु चेतन है।

शङ्का—आत्मा चेतन है और तद्गुण ज्ञान भी चेतन है। तब प्रकाशक आत्मा है अथवा ज्ञान किंवा दोनों ?

समाधान—दोनों। तब तो आत्माको अजागलस्तनके समान चेतन मानना है, कारण कि प्रकाश तो तद्गुण ज्ञानसे भी हो सकता है-इत्यादि विशेष बातें अन्यत्र देखिए। विस्तरभयसे विशेष निरूपण छोड़ देता हूँ।]

प्रकृतमें उक्त कारणोंसे आत्मा विभु है, यह निश्चित होनेपर सब शरीरोंमें आत्मकार्यदर्शनसे सबमें एक ही आतमा है, यही त्वमर्थ निश्चित है।

आत्मा सब शरीरोंमें एक है, इस दशामें हिंस्य-हिंसकभावसे आत्मामें भेद मानकर अज्ञानी तुम मोह प्राप्त कर रहे हो, ज्ञानी इसमें मोह नहीं करते, कारण कि हम इनके हन्ता हैं, वे मेरे वध्य हैं—इस तरहका भेदज्ञान उनको नहीं रहता और उचित भी यही है,क्योंकि सब देहोंमें एक ही आत्मा है या नाना,ऐसे विवादमें स्वयं अनुमानादिकुशल मेधावीको निर्णय करना चाहिए; ऐक्यानैक्यमें मुग्ध नहीं होना चाहिए। अनुमान इस प्रकार करो,—सब देहोंमें एकही भोक्ता है,देह होनेसे,तुम्हारी देहके समान, [देहवत्, इसकी जगह 'देहान्तरवत्'भी पाठ है, आत्माको नित्य विभु मान ही चुके हो, फिर आत्मभेदकी क्या सम्भावना। भेदके बिना वध्य-घातकभाव नहीं हो सकता। अंगुली अपनेको स्पर्श नहीं करती, किन्तु दूसरेको स्पर्श करती है। कैसा भी वाजीगर (खेलाड़ी) क्यों न हो,फिर भी वह अपने कन्धेपर नहीं चढ़ सकता। खूब विचारकर देखो। क्रिया-कर्तृकर्मभाव भेदमें ही होता है। किसी भी क्रियामें जो कर्ता है वही कर्म नहीं हो सकता, फिर रहना क्रियामें यह कैसे होगा ?

प्रश्न—इस व्याप्तिमें क्या प्रमाण है ? भिन्न आत्मा मानने पर क्या देह नहीं हो सकती ? वही व्याप्ति प्रामाणिक मानी जाती है, जिसमें अनुकूल तर्क हो, अन्यथा 'त्वद्देहो मद्देहात्मभिन्नात्मकः, देहत्वात्, देहान्तरवत्', 'सर्वे देहा भिन्नभोक्तृकाः देहत्वात्, त्वद्देहवत्' इत्यादि अनुमानसे आत्मभेद ही क्यों न माना जाय ?]

उत्तर—प्रथम उक्त व्याप्तिमें श्रुति भी प्रमाण है—'एको देवः सर्वभूतेषु'

गूढः सर्वव्यापि सर्वभूतान्तरात्मा" इत्यादि । एतेन यदाहुर्देहमात्रमात्मेति चार्वाकाः, इन्द्रियाणि मनः प्राणश्चेति तदेकदेशिनः, क्षणिकं विज्ञानमिति सौगताः, देहातिरिक्तः स्थिरो देहपरिमाण इति दिगम्बराः, मध्यमपरिमाणस्य नित्यत्वानुपपत्तेर्नित्योऽणुरित्येकदेशिनः तत्सर्वमपाकृतं भवति, नित्यत्वविभुत्वस्थापनात् ॥ १३ ॥

इत्यादि । [दिव्यति, क्रीड़ति, व्यवहरति-इति देवः, एक ही आत्मा यदि सब भूतोंमें है, तो एकत्वेन क्यों नहीं प्रतीत होता ? अतः 'गूढ़:' कहा । इसमें एकत्व आवृत है अर्थात् एकत्वेन आवृत है । 'शिखी ध्वस्तः' के समान गूढ़त्व विशेषणमात्रमें विवक्षित है । 'सविशेषणे विधिनिषेधौ विशेषण उपसंक्रामतः सति विशेष्ये बाधः' यह न्याय प्रसिद्ध है । इसमें हेतु है सर्वव्यापी यतः सर्वव्यापी अतः सर्वभूतान्तरात्मा ।

सर्वभूतात्मा ही ठीक है, फिर 'अन्तः' पद किस लिए है ? यदि यह पूछिये, तो इसका उत्तर यह है कि आत्मा चिदचिद्ग्रन्थि भी लोकमें प्रसिद्ध है, तद्व्यावृत्यर्थ ही 'अन्तः' पद है । उसके भी भीतर स्वप्रकाश चैतन्यरूप आत्मा वस्तुतः एक ही है । अतएव 'यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिवीं यमयति पृथिवीमन्तरा यं पृथिवी न वेद' इत्यादि अन्तर्यामिप्रकरणमें 'आत्मनि तिष्ठन्' इत्यादि वाक्य है । अतः लौकिकात्मव्यवच्छेदार्थ 'अन्तः' पद है—इत्यादि वहीं स्पष्ट है ।]

इससे चार्वाकोंने जो कहा वह ठीक नहीं है । देहमात्र ही आत्मा है, यह उनका मत है । तदेकदेशियोंका यह मत है कि इन्द्रियाँ, मन, प्राण आदि आत्मा हैं । क्षणिक विज्ञान आत्मा है, यह सौगतका मत है । देहादिव्यतिरिक्त स्थिरदेहपरिमाण आत्मा है, यह दिगम्बरका मत है । मध्यमपरिमाण आत्मा नित्य नहीं हो सकता, इसलिए नित्य अणु आत्मा है, यह श्वेताम्बरोंका मत है । ये सब मत पूर्व निराकरणसे निराकृत हो गये । एतन्निराकरणार्थ पृथक् प्रयासकी अपेक्षा नहीं है, क्योंकि इन मतोंमें आत्मा नित्य और विभु नहीं माना जाता है । विचार द्वारा तथा श्रुतिसे आत्मा नित्य और विभु माना गया है, अतः श्रुति-विरुद्ध ये सब कपोलकल्पित होनेसे अप्रामाणिक और कल्याणार्थियोंके लिए अनुपादेय हैं । श्रुतिसे तो आत्मामें नित्यत्व और विभुत्व व्यवस्थित है ही* ॥ १३ ॥

* कौमाराद्यवस्थाभेद होनेपर भी आत्मप्रत्यभिज्ञासे जन्म और विनाश जैसे आत्माके नहीं माना जाता, वैसे ही देहान्तरप्राप्तिमें जन्मादि शरीरका ही धर्म है, आत्माका नहीं, य

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः ।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ॥ १४ ॥

हे कुन्तीपुत्र अर्जुन ? शीत, गर्मी, सुख और दुःखको देनेवाले इन्द्रिय और विषयों के संयोग उत्पत्ति-विनाशशील एवं अनित्य हैं, अतएव हे भारत, उनका तूँ सहन कर ॥ १४ ॥

नन्वात्मनो नित्यत्वे विभुत्वे च न विवदामः प्रतिदेहमेकत्वं तु न सहामहे, तथाहि—बुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्माधर्मभावनाख्यनवविशेषगुणवन्तः प्रतिदेहं भिन्ना एव नित्या विभवश्चाऽऽत्मान इति वैशेषिका मन्यन्ते । इममेव

आत्माके नित्यत्व और विभुत्वमें हम विवाद नहीं करते हैं, किन्तु प्रतिदेहमें एक ही आत्मा है, इसको हम नहीं सह सकते हैं।

शंका—क्यों ?

उत्तर—बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और भावना—ये नवगुण आत्मामें हैं । एतन्नवगुणविशिष्ट आत्मा प्रतिदेह भिन्न है । इसी प्रकार नित्य और विभु आत्मा है, यह वैशेषिक मानते हैं । एतत्सम्मत ही आत्मा अक्षपाद और मीमांसक आदि भी मानते हैं । उन्हें इस विषयमें कोई विवाद नहीं है, परन्तु सांख्य

दृष्टान्त ठीक नहीं है, कारण कि देहान्तरप्राप्तिमें 'स एवाहम्' यह प्रत्यभिज्ञा नहीं होती ।

श्रुतिसे आत्मनित्यत्वका निश्चय किया जाता है, क्योंकि प्रत्येकवेद्य आत्मामें लौकिक प्रत्यभिज्ञाका अभाव अकिंचित्कर है, इस आशयसे कहते हैं—'धीरस्तत्र न मुह्यति' । 'न जायते म्रियते वा विपश्चित्' [कठो० ।२।१८], 'जीवापेतं वाव शरीरं म्रियते न जीवो म्रियते' [छा० उ० ६।११।३] इन श्रुतियोंसे आत्मतत्त्वज्ञ पण्डित धीर है । 'मत्वा धीरो न शोचति' [कठो० ६।६] इत्यादि श्रुतिप्रसिद्ध ही यहाँ धीर विवक्षित है ।

शङ्का—जब देहात्मैक्याध्यास ही नहीं बन सकता, तो फिर देहधर्मका अध्यास आत्मामें कैसे होगा, क्योंकि धर्म्यध्यासपूर्वक ही धर्माध्यास माना जाता है ।

समाधान—देहात्मभेद प्रत्यक्षसे सिद्ध है और भेदाग्रह अध्यासमें हेतु है । यदि कहिये, यह कैसे ? तो सुनिये—जिस बचपनमें मैंने माता-पिताको देखा था, वही मैं परपोतोंको देखता हूँ । बाल-वृद्धशरीरको भेदज्ञानके साथ आत्मैक्यप्रत्यभिज्ञा देखनेसे उन दोनों शरीरोंसे भिन्न और उनमें अनुवर्त्तमान आत्माका, पुष्पोंसे भिन्न और सब पुष्पोंमें अनुवर्त्तमान माला सूतके समान, भेद प्रत्यक्षसे ही सिद्ध है । प्रत्यक्षसिद्ध भेदोंका मिथः अध्यास कहीं भी दृष्ट नहीं है । अन्यथा 'मञ्चाः क्रोशन्ति' (चौकी या कुर्सी चिल्लाती है)

च पक्षं तार्किकमीमांसकादयोऽविप्रतिपन्नाः । सांख्यास्तु विप्रतिपद्यमाना अप्यात्मनो गुणवत्त्वे प्रतिदेहं भेदे न विप्रतिपद्यन्तेऽन्यथा सुखदुःखादिसंकरप्रसङ्गात् । तथा च भीष्मादिभिन्नस्य मम नित्यत्वे विभुत्वेऽपि सुखदुःखादियोगित्वाद्भीष्मादिबन्धुदेहविच्छेदे सुखवियोगो दुःखसंयोगश्च स्यादिति शोकमोहौ नानुचिताविति अर्जुनाभिप्रायमाशङ्क्य लिङ्गशरीरविवेकायाऽऽह 'मात्रा'

लोगोंको आत्माके गुणवत्त्वमें विवाद है, पर प्रतिदेह आत्मभेदमें विवाद नहीं है। कारण, यदि एक ही आत्मा माना जाय,तो सुख-दुःखका सांकर्य हो जायगा । इसलिए हम भीष्मादिभिन्न नित्य और विभु हैं, तो भी सुख-दुःखादि भोगी भी हैं ही। अतः पूज्य भीष्मादि बन्धुओंके शरीरविनाशसे सुखाभाव, और दुःखश्लेष अवश्य होगा । इसलिए शोक और मोह अनुचित नहीं है। इस अर्जुनके अभिप्रायकी आशंकाकर लिङ्गशरीरज्ञान के लिए भगवान् कहते हैं—'मात्रा०' इत्यादिसे ।

यहाँ भी अध्यासप्रसक्ति हो जायगी । इसी शङ्कासे कहते हैं—'अस्मिन् देहे' यह । भाव यह है—मेरी जो बाल्यावस्थामें अति कोमल देह थी, वही वृद्धावस्थामें अति जरठ हो गई है, यह प्रत्यभिज्ञा देखनेसे 'योऽहं बाल्ये' इत्यादि आपकी उक्त प्रत्यभिज्ञा कौमारजरावस्थाभेदमात्रविषयक होनेसे बाल-स्थविरदेहभेदग्राहिणी नहीं है, अतः आत्मैक्याध्यासकी अनुपपत्ति नहीं है ।

प्रश्न—अच्छा तो प्रत्यभिज्ञासे देहभेदग्रहण न सही, परिमाणभेदसे द्रव्यभेदग्रहण होता है । प्रकृतमें उक्तावस्थाद्वयगत परिमाणभेदग्रहणसे बाल-स्थविरशरीरभेद गृहीत ही हो जायगा, फिर अध्यास कैसे ?

उत्तर—एक ही देहमें कालभेदसे परिमाणभेद हो सकता है ।

शङ्का—अवयवोंके उपचय (वृद्धि) तथा अपचय (ह्रास) के बिना परिमाणभेद नहीं होता । उसमें अवयवापचय होनेपर समवायी कारण तत्तदवयवोंके नाशसे पूर्व अवयवीका विनाश अवश्य होगा, क्योंकि कार्यद्रव्यका नाश दो प्रकारसे तार्किक मानते हैं—एक समवायी कारणके नाशसे और दूसरा असमवायी कारणके नाशसे । अतः पूर्वावयवविनाश होनेपर पूर्वावयवीका भी विनाश होता है और अवशिष्ट तत्र स्थित अवयवोंसे दूसरे अवयवीकी उत्पत्ति होती है । एवं अवयवोपचयपक्षमें पूर्वसिद्ध अवयवोंमें पीछे आनेवाले अवयव कारण हो नहीं सकते, क्योंकि कार्यपूर्वक्षणवर्तीको ही वे लोग कारण मानते हैं। अतः पूर्वस्थित अवयवोंके सहित आगन्तुक मिलकर महान् अवयवीको उत्पन्न करते हैं, इसलिए

इति । मीयन्त आभिर्विषया इति मात्रा इन्द्रियाणि तासां स्पर्शा विषयैः संबन्धास्तत्तद्विषयाकारान्तःकरणपरिणामा वा । त आगमापायिन उत्पत्ति-

---

'मात्रा कर्णविभूषायां वित्ते माने परिच्छदे । अक्षरावयवे स्वल्पे क्लीवं कार्त्स्न्येऽवधारणे ॥' यह मेदिनीकोश है । 'अल्पे च परिमाणे स्यात् मात्रं कार्त्स्न्येऽवधारणे' यह अमरकोश है । एतद् उभयकोषसे यद्यपि मात्राशब्द इन्द्रियार्थक सिद्ध नहीं होता, तथापि 'मीयन्ते' इस व्युत्पत्तिसे इन्द्रियार्थकत्व सिद्ध करते हैं । इन्द्रियोंमें यौगिक उक्त शब्द है ; इन्द्रियोंका विषयोंके साथ सम्बन्ध स्पर्श है अथवा तत्तद्विषयाकार अन्तःकरणका परिणाम स्पर्श है । बहिरिन्द्रियोंके

परिमाणभेदसे द्रव्यभेद आवश्यक है । समान काल और देशमें मूर्तद्वयकी एकमें स्थितिविरुद्ध है, अतः उत्तरावयवीकी स्थितिके लिये पूर्वावयवीका नाश आवश्यक है, यह उनका मत समीचीन नहीं है ।

प्रश्न—क्यों ?

उत्तर—पटमात्रमें कुविन्दतन्तुतुरीसंयोगवेमादि कारण है, यह सर्वत्र निश्चित है । केवल अवयवमात्रसे पटकी उत्पत्ति नहीं होती, फिर उक्त कारणकलापके बिना केवल आगन्तुक अवयवबलसे पटान्तरोत्पत्ति कैसे होगी ? अन्यथा तुरीतन्तुसंयोगकुविन्दादि पटके कारण ही नहीं होंगे, जिसके रहनेसे जो हो, वह उसका कारण है, यह बात नहीं है, किन्तु जिसके रहनेसे ही जो हो अर्थात् न रहनेसे न हो वह उसका कारण है, यही उनका भी सिद्धान्त है । प्रकृतमें स्वसिद्धान्त विरुद्ध कर्ता आदि कारणके बिना दूसरे अवयवीकी उत्पत्ति कैसे हो सकती है ? यदि महापटोत्पत्ति के ही कुविन्दादि कारण हैं, खण्डपटोत्पत्तिके नहीं, तो महापटोत्पत्तिसे पूर्व खण्डपटमें भी कारण नहीं होंगे, फिर खण्डपटोत्पत्ति ही उक्तकारणकलापके बिना केवल अवयवमात्रसे क्यों नहीं होती और खण्डपट भी स्वन्यूनपटकी अपेक्षा महान् है ही, फिर उसमें कारण क्यों नहीं ? महापटमें तुरीतन्तुसंयोगादिजन्यपटसे ही उक्त कारण हैं; तदन्य पटमें नहीं, इत्यादि कथन बालभाषित है । अभीतक तदन्य पटकी सिद्धि ही नहीं हुई और अन्योन्याश्रय भी स्पष्ट ही है । बड़े-बड़े किलोंमें कुछ ईंटोंके खिसक जानेसे पूर्व किले नष्ट हो जाते हैं और क्षणभरमें नये किले उत्पन्न हो जाते हैं, यह किसीके मनमें आ नहीं सकता । इस असंभवार्थकल्पनासे आरम्भवादकी जड़ ही छिन्न-भिन्न हो जाती है, इत्यादि अन्यत्र देखिये । इससे कौमारादि देहभेद होनेपर भी 'वही मैं हूँ' इस प्रत्यभिज्ञासे देहभिन्न आत्मा है, एतत्प्रतिपादनपरक गीताका यह श्लोक है, इस माध्वव्याख्यानका भी निराकरण समझना

विनाशवतोऽन्तःकरणस्यैव शीतोष्णादिद्वारा सुखदुःखदाः, न तु नित्यस्य विभो- रात्मनः, तस्य निर्गुणत्वान्निर्विकारत्वाच्च। न हि नित्यस्यानित्यधर्माश्रयत्वं संभवति, धर्मधर्मिणोरभेदात्संबन्धान्तरानुपपत्तेः साच्यस्य साक्षिधर्मत्वानुपपत्तेश्च।

तात्पर्यसे स्पर्शका सम्बन्ध अर्थ किया गया है। मनके तात्पर्यसे तद्विषयाकार अन्तःकरण परिणाम स्पर्शका अर्थ किया गया। ये उत्पत्ति-विनाशशाली अन्तःकरणके धर्म हैं। उसीको शीतोष्ण द्वारा सुख-दुःख देते हैं; नित्य, विभु और अविक्रिय आत्माको नहीं, क्योंकि आत्मा निर्गुण और निर्विकार है।

शंका—आत्मा निर्गुण क्यों है ?

समाधान—अनित्य धर्म नित्य धर्मीमें नहीं रहते, इसलिए।

प्रश्न—क्यों ?

उत्तर—धर्म-धर्मीका तादात्म्य सम्बन्ध है, सम्बन्धान्तर नहीं। [नित्यानित्यका

चाहिये। 'अस्मिन् देहे कौमारं यौवनं जरा' इस प्रकार उक्त अवस्था भिन्न होनेपर देह वही है, इस प्रत्यभिज्ञासे देह एक ही है, यह कण्ठतः कहा गया है, अतः उक्त व्याख्यान मूलविरुद्ध है। केवल देह एक हो, पर कौमारादि-अवस्थाविशिष्टत्वसे भेदमें विरोध नहीं है, यह भी कहना ठीक नहीं, क्योंकि आत्मामें भी वैसा भेदके सुवच होनेसे देहात्मवादका निरास ही नहीं होगा।

देहिनः अर्थात् एक ही आत्माका जैसे कौमारादि-अवस्थाकी उत्पत्ति और नाशसे भेद नहीं होता, क्योंकि नित्य है; वैसे ही एककालावच्छेदसे सकलदेहप्राप्ति है, क्योंकि आत्मा विभु है अर्थात् सब देहोंमें एकही आत्मा है। ऐसी परिस्थितिमें वध्यघातककल्पना अर्थात् भीष्मादि वध्य हैं, मैं घातक हूँ, इस तरह भेदकल्पनासे तुम अधीर होकर मुग्ध होते हो और धीर विद्वान् इस विषयमें मुग्ध नहीं होते, यह सरस्वतीका व्याख्यान यानी युगपत्सर्वदेहप्राप्ति यह अशब्दार्थकल्पना है, क्योंकि मूलमें उक्तार्थवाचक कोई शब्द नहीं है तथा विभुत्वका अध्याहार भी समर्थनार्थ करना होगा, अतः भाष्योक्तार्थ ही ठीक है। अनेकार्थ गीता है, इस मतमें यह भी अर्थ है कि जीवनाश मानकर शोक तो नहीं कर सकते हो। 'नरके नियतं वासः' से तुम भी जीवको नित्य ही मानते हो। शरीरका नाश मानकर भी शोक करना उचित नहीं है। कौमारावस्थाविशिष्ट देहनाशमें इस कारण शोक नहीं होता कि उससे अच्छा युवा शरीर मिलता है। जीर्ण शरीर देकर अच्छा कौमार शरीर मिलेगा, इसमें शोक क्यों? पुराना वर्तन देकर नूतन बदलनेमें प्रत्युत हर्ष ही लोग मानते हैं। दोनों सप्तमी निमित्तार्थक है। जरा-जीर्ण देह देकर कमनीय सुकुमार बाल-शरीर लेनेमें क्या शोक है! 'केशेषु चमरीन् हन्ति' इसके समान ही यहाँ सप्तमी है।

तदुक्तम्—नर्ते स्याद्विक्रियां दुःखी साक्षिता का विकारिणः। धीविक्रिया सहस्राणां साक्षतोऽहमविक्रियः ॥ इति। तथा च सुखदुःखा-

अभेदरूपी तादात्म्य सम्बन्ध नहीं हो सकता, धर्मनाशसे तद्भिन्न धर्मिनाशापत्तिके कारण धर्मीका नित्यत्व असंगत हो जायगा।

धर्म और धर्मीका सम्बन्धान्तर क्यों नहीं हो सकता ? सम्बन्धान्तर समवाय तो नैयायिक मानते ही हैं। आत्मामें ज्ञान समवाय सम्बन्धसे रहता है इसमें क्या अनुपपत्ति ? प्रत्युत अनुमानसे उपपत्ति होती है। देखिये—'गुणवद्द्रव्यमित्यादिविशिष्टबुद्धिः विशेष्यविशेषणतत्सम्बन्धविषया विशिष्टबुद्धित्वात्, दण्डिपुरुष इति विशिष्टबुद्धिवत्'—इस अनुमानसे जो सम्बन्ध सिद्ध होता है उसमें संयोग लक्षणका बाध होनेसे वह संयोगस्वरूप नहीं कहा जा सकता है। इसलिए उससे अतिरिक्त समवायनामक सम्बन्धका उपपादन करते हैं—पर यह उनका उपपादन ठीक नहीं है। यदि कहिये, क्यों, तो इसपर सुनिये—

समवाय किस सम्बन्धसे धर्मीमें रहता है ? गुणके समान उक्त सम्बन्ध भी सम्बन्धीसे भिन्न है ; अतः किसी सम्बन्धसे रहकर ही सम्बन्धिताका नियामक होगा, अन्यथा हिमवान् और बिन्ध्य पर्वतकी भी सम्बन्धिता हो जायगी। इसका सम्बन्ध यदि कोई हो, तो उसका भी सम्बन्धान्तर पुनः उसका सम्बन्धान्तर—इस प्रकार सम्बन्धविशेषानुधावन करनेसे अनवस्था हो जायगी। अन्त्य सम्बन्धका यदि सम्बन्ध नहीं है, तो आमूल सम्बन्ध असिद्ध हो जायगा। इस दोषका वारण करनेके लिए यदि समवायका स्वरूपसम्बन्ध माना जाय, तो गुणगुणीका ही स्वरूपसम्बन्ध मान लेनेसे समवायसम्बन्धकी सिद्धिका उपपादन नहीं हो सकता। गुण-गुणीका स्वरूप तत्सम्बन्ध होगा, सो तादात्म्य ही में पर्यवसित होगा। इस लिए दोष ध्रुव है।]

और सुनिये—ज्ञान-सुख आदि गुण साक्ष्य हैं, इन सबोंका साक्षी आत्मा है। ज्ञाता चेतन साक्षी है, ज्ञेयता साक्ष्य है। साक्ष्य साक्षीका धर्म कैसे होगा ? देवदत्तके अभियोगका साक्षी यदि मैत्र होता है, तो वह अभियोग मैत्रका नहीं कहा जा सकता है। और यदि मैत्रका हो, तो वह अभियोगका साक्षी ही नहीं हो सकता ; सो 'नर्ते स्यात्' इत्यादिसे कहा है।

विकारके बिना आत्मा दुःखी नहीं हो सकता, इसके लिए यदि आत्माको विकारी मानें, तो उसमें साक्षित्व कैसे हो सकता है ? विकारी साक्ष्यकोटिमें है, साक्षिकोटिमें नहीं। 'अहं' आत्मा सहस्रों बुद्धिविकारोंका साक्षी है, अतः अविकारी है।

द्याश्रयीभूतान्तःकरणभेदादेव सर्वव्यवस्थोपपत्तेर्न निर्विकारस्य सर्वभासकस्याऽऽत्मनो भेदे मानमस्ति, सद्रूपेण च सर्वत्रानुगमात् । अन्तःकरणस्य तावत्सुखदुःखादौ जनकत्वमुभयवादिसिद्धम् । तत्र समवायिकारणत्वस्यैवाभ्यर्हितत्वात्तदेव कल्पयितुमुचितम्, न तु समवायिकारणान्तरानुपस्थितौ निमित्तत्वमात्रम् । तथा च 'कामः संकल्प' इत्यादिश्रुतिः 'एतत्सर्वं

इस प्रकार सुख-दुःखादि उक्त नव गुणोंके आश्रयीभूत अन्तःकरणके भेदसे प्रतिव्यक्ति नियत तद्भान व्यवस्थाकी उपपत्ति होती है । इसके लिए निर्विकार सर्वजगत्-भासक आत्माके भेदमें कुछ प्रमाण नहीं है । सद्रूप और स्फुरणरूपसे सर्वत्र आत्माका भान है । अस्ति, भातिका सर्वत्र व्यावहारिक जगत्में अनुवृत्ति है ।

शंका—'अहं सुखी, अहं दुःखी' इत्यादि प्रतीतिसे सुखादि आत्मनिष्ठतया प्रतीत होते हैं, फिर उनको मनोवृत्ति क्यों मानते हैं ?

समाधान—अन्तःकरणमें सुखादिजनकत्व आप और हम समानरूपसे ही मानते हैं । भेद इतना हो है कि आप निमित्त कारण मानते हैं, समवायी कारण नहीं । समवायसम्बन्धसे जिसमें कार्य हो, वह समवायी कारण है और समवायी कारणमें रहकर ही कारण हो, वह असमवायी कारण है । इन दोनों कारणोंसे भिन्न निमित्त कारण कहलाता है, यह नैयायिकोंकी प्रक्रिया है । इसमें विचारणीय बात यह है कि मन समवायी कारण है या निमित्त कारण ? इसके लिए इन तीनोंमें मुख्य कौन है ? इसका विचार करना चाहिए । समवायीके बिना असमवायी हो ही नहीं सकता, क्योंकि समवायघटित असमवायीका लक्षण है, अतः समवायीके अधीन असमवायीके होनेसे समवायी प्रधान है । निमित्त तो दोनोंके अधीन होनेसे दोनों कारणोंसे अप्रधान है । यदि मन प्रधान कारण हो सकता है, तो अप्रधान क्यों माना जाय ? इस कारणसे समवायी कारणत्वको अभ्यर्हित कहा है । समवायी कारणान्तरके निश्चित होनेसे मनको निमित्त कारण कह सकते हैं, किन्तु निश्चित यदि दूसरा समवायी कारण नहीं है, तो मनको ही समवायी कारण मानना उचित है ।

शंका—उक्त प्रतीति को समवायी कारणान्तरका निर्णायक दिखला चुके हैं।

समाधान—वह तो श्रुतिविरुद्ध होनेसे आभास है । 'अहं गौरः, अहं काणः' के समान सुखादिकोंके आत्मधर्म होनेमें प्रमाण नहीं है । देखिए—'कामः संकल्पः' तथा

मन एव' इति कामादिसर्वविकारोपादानत्वमभेदनिर्देशान्मनस आह। आत्मनश्च स्वप्रकाशज्ञानानन्दरूपत्वस्य श्रुतिभिर्बोधनान्न कामाद्याश्रयत्वम्। अतो वैशेषिकादयो भ्रान्त्यैवाऽऽत्मनो विकारित्वं भेदं चाङ्गीकृतवन्त इत्यर्थः। अन्तःकरणस्याऽऽगमापायित्वाद्दृश्यत्वाच्च नित्यदृग्रूपात्त्वत्तो भिन्नस्य सुखादिजनका ये मात्रास्पर्शास्तेऽप्यनित्या अनियतरूपाः, एकदा सुखजनकस्यैव शीतोष्णादेरन्यदा दुःखजनकत्वदर्शनात्; एवं कदाचिद्दुःखजनकस्याप्यन्यदा सुखजनकत्वदर्शनात्। शीतोष्णग्रहणमाध्यात्मिकाधिभौतिकाधिदैविकसुखदुःखोपलक्षणार्थम्। शीतमुष्णं च कदाचित्सुखं कदाचिद्दुःखं सुखदुःखे तु न

'एतत् सर्वं मन एव' ये श्रुतियाँ अभेदका निर्देश होनेसे काम आदि सब विकारोंका उपादान मनको ही बतलाती हैं।

[शंका—श्रुतिमें 'मनसि' न होकर 'मनः' ऐसा पाठ क्यों है ?

समाधान—'मृद् घटः' इत्यादिके समान उपादानोपादेयका अभेद सकलानुभव सिद्ध है। अतः कामाद्यखिल विकारोंका उपादानत्वबोधन करनेके लिए 'मनः'—ऐसा पाठ है। मनः प्रतिशरीर भिन्न तथा विकारी है।]

श्रुतियोंके द्वारा स्वप्रकाश ज्ञानानन्दस्वरूप आत्माका, बोध न होनेसे वह काम आदिका आश्रय नहीं है, अतः वैशेषिक आदिकों ने भ्रान्तिसे ही आत्माको विकारी और भिन्न स्वीकार किया है, यह तात्पर्य है। अन्तःकरण उत्पत्ति-विनाशशाली और दृश्य भी है। मन नित्य, दृग्, चैतन्यरूप त्वंपदार्थसे भिन्न है। उसमें जो सुखादिजनक मात्रास्पर्श हैं वे भी अनित्य और अनियतरूप हैं।

शंका—अनित्य होनेपर भी अनियतरूप क्यों मानते हैं ?

समाधान—एक समय जो शीत और उष्ण सुखजनक होते हैं वे ही दूसरे समय दुःखदायी बन जाते हैं अर्थात् शीतकालमें जो सूर्यकी किरण सुखद रहती है, ग्रीष्मकाल में वही किरण दुःखद होती है। ग्रीष्मकालमें शीतस्पर्श सुखप्रद है, किन्तु शिशिरमें वही दुःखप्रद है—यह सर्वानुभवसिद्ध है। इस प्रकार कदाचित् दुःखजनक कालान्तरमें सुख-जनक देखा गया है। शीतोष्णग्रहण आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक —इन त्रिविध दुःखोंका उपलक्षण है।

प्रश्न—परस्परविरोधी शीतोष्णके ग्रहणसे सुख-दुःखबोध सिद्ध था, फिर सुखादिका ग्रहण क्यों किया ?

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥ १५ ॥

हे नरपुंगव ! सुख-और दुःखको समान समझनेवाले जिस धैर्यवान् पुरुषको इन्द्रिय और विषयोंका संयोग व्याकुल नहीं करता, वह मोक्षका अधिकारी होता है ॥ १५ ॥

कदाऽपि विपर्ययेते इति पृथङ्निर्देशः। तथा चात्यन्तास्थिरां स्त्वद्भिन्नान् विकारिणः सुखदुःखादिप्रदान् भीष्मादिसंयोगवियोगरूपान् मात्रास्पर्शांस्तं तितिक्षस्व नैते मम किंचित्करा इति विवेकेनोपेक्षस्व दुःखितादात्म्याध्यासेनाऽऽत्मान दुःखिनं मा ज्ञासीरित्यर्थः। कौन्तेय भारतेति संबोधनद्वयेनोभयकुलविशुद्धस्य तवाज्ञानमनुचितमिति सूचयति ॥ १४ ॥

नन्वन्तःकरणस्य सुखदुःखाद्याश्रयत्वे तस्यैव कर्तृत्वेन भोक्तृत्वेन च चेतनत्वमभ्युपेयम्, तथा च तद्व्यतिरिक्ते तद्भासके भोक्तरि मानाभावान्नाममात्रे

उत्तर—शीत और उष्ण अनियत हैं,कभी सुखद और कभी दुःखद हैं, परन्तु सुख और दुःख ऐसे नहीं हैं,ये सदा अनुकूल वेदनीय और प्रतिकूल वेदनीय ही रहते हैं। इनका कभी विपर्यय नहीं होता, इस विशेषज्ञापनके लिए सुखादिका पृथक् निर्देश है।

अत्यन्त अस्थिर त्वद्भिन्न विकारी अन्तःकरणको सुखादिप्रद भीष्मादि संयोग-वियोगरूप मात्रास्पर्शको तुम सहो अर्थात् ये मेरा कुछ नहीं कर सकते—इस बुद्धिसे मात्रास्पर्शकी उपेक्षा कर दो। दुःखी अन्तःकरणके तादात्म्याध्याससे अपनेको दुःखी न समझो, यह भाव है।

प्रश्न—'कौन्तेय' और 'भारत' इन दोनों पदोंसे सम्बोधन करनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—पितृकुल और मातृकुल दोनोंमें—शुद्धि-सूचक तथा शुद्ध कुलद्वयमें प्रसूत तुम विशुद्ध हो, अतः इस तरहका अज्ञान अत्यन्त अनुचित है—इसी अभिप्रायको सूचित करने के लिए दोनों सम्बोधनोंका प्रयोग किया गया है ॥१४॥

सुख, दुःख आदिका आश्रय होनेसे अन्तःकरण कर्ता और भोक्ता है, इसीलिये उसको चेतन मानना चाहिये। इसके अतिरिक्त अन्तःकरणादिभासक भोक्तामें कुछ प्रमाण नहीं है। आत्मा और अन्तःकरण ये दो संज्ञायें हैं; संज्ञी

विवादः स्यात्, तदभ्युपगमे च बन्धमोक्षयो र्वैयधिकरण्यापत्तिः, अन्तःकरणस्य सुखदुःखाद्याश्रयत्वेन बद्धत्वात्, आत्मनश्च तद्व्यतिरिक्तस्य मुक्तत्वादित्याशङ्कामर्जुनस्यापनेतुमाह भगवान्—'यं हि' इति। यं स्वप्रकाशत्वेन स्वत एव प्रसिद्धम् "अत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिर्भवति" इति श्रुतेः पुरुषं पूर्णत्वेन पुरि शयानं "स वा अयं पुरुषः सर्वासु पूर्षु पुरिशयो नैतेन किंचनानावृतं नैतेन किंचनासंवृतम्" इति श्रुतेः, समदुःखसुखं समे दुःखसुखे अनात्मधर्मतया भास्यतया च यस्य निर्विकारस्य स्वयंज्योतिषःतम्,सुखदुःखग्रहणमशेषान्तःकरणपरिणामोपलक्षणार्थम्, "एष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्य न कर्मणा वर्धते नो कनीयान्" इति श्रुत्या वृद्धिकनीयस्तोरूपयोः सुखदुःखयोः

एक ही है; अतः केवल नाममें विवाद है, आत्मपदार्थमें नहीं। किसीके मतसे आत्मशब्दसे कहा जाता है और किसीके यहाँ अन्तःकरणशब्दसे, पर वस्तु एक ही हुई। यदि सुखादिका आश्रय अन्तःकरण है और इससे अतिरिक्त आत्मा मुक्त होता है, तो बन्ध और मोक्षमें वैयधिकरण्य हो जायगा। अर्थात् बन्ध अन्तःकरणका और मोक्ष आत्माका होगा, इस प्रकार भिन्न-भिन्न देशमें बन्ध और मोक्ष होने लगेगा, जो लोकानुभवविरुद्ध होनसे अनुचित है। जो बद्ध है वही मोक्षकी इच्छा करता है और मुक्त होता है। अन्तःकरण अचेतन सुखादिका आश्रय और विकारी है। आत्मा सदा शुद्ध स्वयंप्रकाश और मुक्त ही है, ऐसी परिस्थिति में वेदान्तोपदेश किसको मुक्तिके लिये अपेक्षित है, इस अर्जुनकी शङ्का के निवारणके लिये श्रीभगवान् ने कहा—'यं हि' इत्यादि।

प्रकाशान्तरानपेक्ष प्रकाशरूप स्वप्रकाश आत्मा 'अत्रायं पुरुषः' इत्यादि श्रुतिसे प्रसिद्ध है। संप्रसाद (सुषुप्ति) अवस्थामें पुरुष स्वयंज्योति है, क्योंकि इन्द्रिय मन की उपरति है। पूर्ण होनेसे शरीरमें रहने के कारण 'पुरुष' कहलाता है। इसमें 'स वा अयं पुरुषः' इत्यादि श्रुति प्रमाण है। समदुःखसुखे—अनात्मधर्म तथा भास्य होनेके कारण जिस निर्विकार स्वयंज्योति के दुःख-सुख दोनों एकसे रहते हैं उसको अर्थात् आत्माको सुख और दुःख समान है, कारण सुखादि आत्माका धर्म नहीं है। इसमें हेतु भास्यत्व है। साक्ष्य,साक्षीका धर्म नहीं हो सकता, यह पूर्वमें कहा जा चुका है। सुख और दुःखका ग्रहण समस्तमनोधर्मका उपलक्षण है। 'एष नित्यो महिमा०' (सकल मनोधर्मोंसे अतीत आत्मा शुभ कर्मसे न बढ़ता है और न पापकर्मसे घटता है) इस श्रुतिसे वृद्धि और लघुता रूप सुख और दुःखका

प्रतिषेधात्, धीरं धियमीरयति प्रेरयतीति व्युत्पत्त्या चिदाभासद्वारा धीतादात्म्याध्यासेन धीप्रेरकं धीसाक्षिणमित्यर्थः। "सधीः स्वप्नो भूत्वेमं लोकमतिक्रामति" इति श्रुतेः। एतेन बन्धप्रसक्तिर्दर्शिता। तदुक्तम्—

" यतो मानानि सिध्यन्ति जाग्रदादित्रयं तथा।
भावाभावविभागश्च स ब्रह्माऽस्मीति बोध्यते ॥ "इति।

एते सुख-दुःखदा मात्रास्पर्शाः हि यस्मान्न व्यथयन्ति परमार्थतो न विकुर्वन्ति सर्वविकारभासकत्वेन विकारायोग्यत्वात्।

" सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः" इति श्रुतेः।

है निषेध किया गयाहै। धीरम्—धियम् यानी बुद्धिको जो ईरयति यानी प्रेरित करता है इस व्युत्पत्तिसे चिदाभास द्वारा अर्थात् चित्प्रतिबिम्बविशिष्ट अन्तःकरणके साथ तादात्म्य (अभेद) का अध्यास (भ्रम) होनेसे बुद्धिके प्रेरक अर्थात् बुद्धिके साक्षी आत्माको, यह भाव है। इसमें "स धीरः स्वप्नो भूत्वा" इत्यादि श्रुति प्रमाण है। ['सधीः स्वप्नो भूत्वा' इस श्रुतिपाठमें 'धिया सह वर्तमानः' अर्थात् बुद्धिके साथ रहनेवाला—यह अर्थ होगा, इस प्रकार दोनों अर्थोंमें कोई भेद नहीं है। स्वयं ज्योति चिन्मात्र आत्मामें बुद्धिसहितत्व आध्यासिक ही है। 'इमं लोकम्' अर्थात् जागरित लोकको अतिक्रामति—अतिक्रमण करता है।] इससे आत्मामें बन्धकी प्रसक्ति दिखलाई गई है। वास्तविक बन्ध आत्मामें नहीं है, किन्तु आध्यासिक है। अज्ञानसे अन्तःकरणमें रहनेवाले सुख-दुःख, कर्तृत्व और भोक्तृत्व आदि समस्त संसारधर्मको आत्मामें मानकर अनात्मज्ञ सुखी और दुःखी होता है। इस विषयमें प्रमाण कहा भी है—'यतो मानानि सिध्यन्ति' (जिससे मान और, जागर, स्वप्न और सुषुप्ति ये तीन अवस्थायें तथा ; भाव, अभाव और सद्-असद्का विवेक सिद्ध होता है वह ब्रह्म मैं हूँ, यह बोध कराया जाता है।)

ये सुख-दुःख देनेवाले मात्रास्पर्श उस आत्माको वस्तुतः विकृत नहीं करते क्योंकि आत्मा सब विकारोंका भासक है, अतः स्वयं विकारयोग्य नहीं है। विकारी घटादिके समान जड़ हैं,अतएव भास्य हैं, भासक नहीं। इसमें "सूर्यो यथा" इत्यादि श्रुति दृष्टान्त है। वह भासक बाह्य दोषसे युक्त नहीं है। सकल विश्वके भगवान् सविता नेत्र हैं, क्योंकि उनके बिना नेत्र विषयका प्रकाशक नहीं होता। प्रदीपादिका आलोक भी सौर ही है। यहाँ सूर्यशब्द तेजोमात्रके तात्पर्यसे प्रयुक्त

अतः स पुरुषः स्वस्वरूपभूतब्रह्मात्मैक्यज्ञानेन सर्वदुःखोपादानताज्ञाननिवृत्त्युपलक्षिताय निखिलद्वैतानुपरक्तस्वप्रकाशपरमानन्दरूपायामृतत्वाय मोक्षाय कल्पते योग्यो भवतीत्यर्थः। यदि ह्यात्मा स्वाभाविकबन्धनाश्रयः स्यात्तदा स्वाभाविकधर्माणां धर्मिनिवृत्तिमन्तरेणानिवृत्तेर्न कदाऽपि मुच्येत। तथा चोक्तम्—

"आत्मा कर्त्रादिरूपश्चेन्मा काङ्क्षीस्तर्हि मुक्तताम्।
न हि स्वभावो भावानां व्यावर्तेतौष्ण्यवद्रवेः" ॥ इति

हुआ है। बाह्यालोक नेत्रका अनुग्राहक है। बाह्य चाक्षुष दोषसे सूर्य लिप्त नहीं होते। उसी प्रकार आत्मा सब प्राणियोंका अन्तरात्मा है। वह लौकिक बाह्य दुःखोंसे दुःखी नहीं होता। इस प्रदर्शित उदाहरणसे पुरुष उक्त रूप है। इसलिए वह पुरुष स्वस्वरूपब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानसे मुक्त होता है। आत्मा, ब्रह्म और एकत्व—ये सब ब्रह्मस्वरूप ही हैं, भिन्न नहीं। ईदृश निर्विकल्पक साक्षात्कार, सकल दुःख और उसके उपादान अज्ञानकी निवृत्तिसे उपलक्षित आत्मस्वरूप मोक्ष है। उक्त ज्ञानसे साक्षात् अज्ञानकी निवृत्ति होती है, क्योंकि ज्ञानका अज्ञानके साथ साक्षात् विरोध है। अज्ञानका कार्य, कारणरूप अज्ञानकी निवृत्तिसे निवृत्त होता है, इस प्रकार परम्परया अज्ञानकार्यका निवर्तक भी उक्तज्ञान माना जाता है। ज्ञानसे उभय निवृत्ति फलित होती है।

प्रश्न—यदि ज्ञाननिवृत्तिसे उपलक्षित आत्मस्वरूप ही मोक्ष है, तो वह सुखस्वरूप न होनेसे पुरुषार्थ कैसे हो सकता है? पुरुषार्थ न होनेसे उसके उद्देश्यसे पुरुषप्रवृत्ति कैसे होगी?

उत्तर—इसीलिये तो 'निखिलद्वैतानुपरक्त' इत्यादि द्वितीय विशेषण दिया है। सकल द्वैतसे असंस्पृष्ट स्वप्रकाश परमानन्दात्मरूप मोक्ष है। पुरुषार्थ दो हैं—दुःखनिवृत्ति और सुखप्राप्ति। पूर्व विशेषणसे दुःखनिवृत्ति और उत्तर विशेषणसे सुखप्राप्ति मोक्षमें कही गई है। दुःखकी निवृत्तिके बिना उक्त सुख नहीं मिल सकता, इस अभिप्रायसे क्रमशः दोनों विशेषण हैं।

प्रश्न—आत्मामें वास्तविक बन्ध होनेपर यदि आपत्ति हो, तो काल्पनिक बन्ध मानना चाहिये। अतएव तार्किक आदि आत्मामें वास्तविक बन्ध मानते हैं।

उत्तर—यदि आत्मामें वास्तविक बन्ध माना जायगा, तो उसकी मुक्ति कदापि नहीं हो सकती, क्योंकि वास्तविक धर्मोंकी निवृत्ति धर्मीकी निवृत्तिके बिना नहीं होती, ऐसा शास्त्रकारोंने कहा भी है—'आत्मा कर्त्रादिरूप॰ इत्यादि। यदि आत्मा वस्तुतः

प्रागभावासहवृत्तेर्युगपत्सर्वविशेषगुणानिवृत्तेर्धर्मिनिवृत्तिनान्तरीयक-त्वदर्शनात् । अथाऽऽत्मनि बन्धो न स्वाभाविकः किंतु बुध्द्याद्युपाधिकृत

धात्वर्थव्यापाराश्रयत्वरूप कर्तृत्वादिविशिष्ट है, तब मुक्तिकी इच्छा न कीजि क्योंकि भावोंका स्वभाव भावोंसे ऐसे पृथक् नहीं होता, जिस प्रकार सूर्यकी उष्ण सूर्यसे पृथक् नहीं होती।

सुवर्णसे कुण्डल बननेपर सुवर्णमें कुण्डल रहता है। अग्निमें तपाने वही सुवर्ण-खण्ड हो जाता है और उसमेंसे कुण्डलकी निवृत्ति हो जाती है। निवृत्ति प्रागभावसमानाधिकरण है, क्योंकि पुनः इस सुवर्णसे कुण्डल बन सक है, इसलिए भावी कुण्डलका प्रागभाव भी है। इस तरह अतीत कुण्डलकी निवृ और भावी कुण्डलका प्रागभाव—ये दोनों सुवर्णखण्डमें हैं, इसलिए यह निवृ प्रागभावसमानाधिकरण है। जबतक सोना रहेगा, तबतक कुण्डलनिवृत्ति त समानाधिकरण न होगी, अतः यह कुण्डलनिवृत्ति आत्यन्तिक नहीं है, कि अनात्यन्तिक है। यदि कुण्डलका आश्रय सुवर्ण भस्म कर दिया जाय, तो उस कुण्डलनिवृत्ति कुण्डलप्रागभावासमानाधिकरण होगी, क्योंकि स्वर्ण-भस्मसे कुण्ड नहीं बनेगा, अतः उसमें कुण्डलका प्रागभाव भी नहीं है। इसलिए धर्मीकी निवृत्ति बिना आत्यन्तिक धर्मकी निवृत्ति नहीं होती है, यह स्पष्ट देखा गया है।

['न अन्तरा भवति' इस अर्थमें नान्तरीयकशब्द व्युत्पन्न है। न औ अन्तरा—इन दोनाका अभाव अर्थ है। अन्तरा—धर्मिनाशके बिना धर्मनाश न होता, किन्तु धर्मिनाश होनेपर ही धर्मनाश होता है। अतः धर्मिनाश नान्तरीय धर्मनाश है। धर्मिनाशव्याप्य आत्यन्तिक धर्मनाश है, यह फलितार्थ हुआ शरीरकी निवृत्ति होनेपर रोगनिवृत्ति आत्यन्तिक है; शरीर रहनेपर रोगनिवृ अनात्यन्तिक है, यह स्पष्ट है। असत्कार्यवादी नैयायिक आदिसे सिद्ध प्रागभाव यद्यपि सत्कार्यवादी वेदान्ती नहीं मानते, अतः उक्त लक्षण स्वमतसे नहीं हो सकत तथापि प्रागभावपदसे कार्यशक्ति, तत्सूक्ष्मावस्थ वा निवृत्ति तिरोभावादिशब्द व्यपदेश्य लक्षणघटकत्वेन इष्ट है, इसलिए कोई दोष नहीं है।

शंका—जिस व्यक्तिकी निवृत्ति होती है, उस व्यक्तिका प्रागभाव उ व्यक्तिकी उत्पत्तिसे ही नष्ट हो जाता है अथवा तदुत्पत्ति ही तन्निवृत्ति मानी जा है। इसलिए वह निवृत्ति स्वप्रतियोगिप्रागभावासमानाधिकरण है और वह ध रहनेपर भी होती ही है, फिर उसको धर्मिनिवृत्तिनान्तरीयक क्यों कहते हैं?

समाधान—स्वप्रतियोगि-सजातीय प्रागभावासमानाधिकरणनिवृत्तिमें तात्पर्य है। साजात्य स्वप्रतियोगितावच्छेदकरूपसे लेना वा प्रतियोगिमात्रवृत्ति धर्मसे या प्रागभावपद स्वप्रतियोगि-सजातीयप्रागभावपरक है—इत्यादि साजात्यविवेचन विस्तरभयसे यहाँ नहीं लिखते हैं।

शंका—शरीररूपी धर्मीके रहनेपर भी बाल्य, यौवन आदि अवस्था-विशेषकी अत्यन्त निवृत्ति हो जाती है, क्योंकि पुनः उस शरीरमें बाल्यादि अवस्थाएँ नहीं आतीं। फिर धर्मिनिवृत्तिसे ही धर्मकी आत्यन्तिक निवृत्ति कैसे होती है ?

समाधान—अवयवोपचयापचयसे शरीरकी निवृत्ति भी इष्ट है, इसीसे सर्वधर्मनिवृत्ति कही। एकैक अवस्थारूप धर्मकी निवृत्ति होनेपर भी धर्मान्तरके रहनेसे सर्वधर्मकी निवृत्ति नहीं हुई। पूर्वधर्मोंकी निवृत्ति होनेपर भी उदीच्यधर्म तो रहेंगे ही, अन्यथा धर्मिकथन ही व्याहत होगा।

शंका—मुक्तिदशामें आत्यन्तिक दुःखादिकी निवृत्ति होनेपर भी नित्य होनेके कारण आत्मा और आकाशका संयोग उस अवस्थामें भी आत्मामें रहता है, अतः सकलगुणनिवृत्ति आत्मामें न होनेसे लक्षणसमन्वय नहीं होगा।

समाधान—इसीलिए तो विशेषपद कहा है। संयोग विशेष गुण नहीं है, जैसा कि कहा है—'रूपं गन्धो रसः स्पर्शः स्नेहः सांसिद्धिको द्रवः। बुद्ध्यादि भावनान्ताश्च शब्दो वैशेषिकाः गुणः'। कालभेदसे सकल विशेष गुणोंका अभाव धर्मीकी निवृत्तिके बिना भी रहता है, अतः 'युगपद्' कहा है। एक कालमें सब गुणोंका अभाव तत्त्वज्ञानसे ही होता है, अन्यथा नहीं। एकदेशकालवृत्तित्व सामानाधिकरण्य है, तद्भिन्न असामानाधिकरण्य है। तात्पर्य यह है कि तार्किक तत्त्वज्ञानसे आत्मामें स्वाभिमत अशेषविशेषगुणोंका उच्छेद मोक्ष मानते हैं। आत्मा आकाशके समान जड़ द्रव्य है, उसमें चैतन्यज्ञान गुणयोगित्वरूप है। काष्ठद्वयसंघर्षणसे जैसे अग्नि उत्पन्न होती है, उसी प्रकार आत्ममनःसंघर्षणसे प्रकाशात्मक ज्ञान उत्पन्न होता है। वही चैतन्य है। इसीलिए सुषुप्ति-अवस्थामें जब मन पुरीतति नाड़ीमें प्रविष्ट होता है, तब आत्मा अचेतन हो जाता है। शरीरादिका सम्बन्ध पुरातन अदृष्टके वश होता है। यद्यपि अदृष्ट, शरीरसंयोगके बिना आत्मामें नहीं हो सकता। इस प्रकार शरीरसे अदृष्ट सम्बन्ध और अदृष्टसम्बन्धसे शरीरसम्बन्ध होनेसे अन्योन्याश्रय होता है, तथापि पूर्व-पूर्व शरीरसे उत्तरोत्तर अदृष्ट तत्परम्परासे शरीरपरम्परा उत्पन्न होती है। बीजाङ्कुरकी तरह अन्योन्याश्रय और अनवस्था दोषकर नहीं है।

"आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः" इति श्रुतेः। तथा च धर्मि सद्भावेऽपि तन्निवृत्त्या मुक्त्युपपत्तिरिति चेत्, हन्त तर्हि यः स्वधर्ममन्यनि ष्ठतया भासयति स उपाधिरित्यभ्युपगमाद्बुद्ध्यादिरुपाधिः स्वधर्ममात्मनिष्ठ तया भासयतीत्यायातम्। तथा चाऽऽयातं मार्गे बन्धस्यासत्यत्वाभ्युपगमात् न हि स्फटिकमणौ जपाकुसुमोपधाननिमित्तो लोहितिमा सत्यः। अतः सर्व संसारधर्मासंसर्गिणोऽप्यात्मन उपाधिवशात्तत्संसर्गित्वप्रतिभासो बन्धः। स्वस्वरूपज्ञानेन तु स्वरूपाज्ञानतत्कार्यबुद्ध्याद्युपाधिनिवृत्त्या तन्निमित्तनि

अखिल कर्मभोगके बाद शरीर, इन्द्रिय और मनःसंयोगकी निवृत्ति होनेपर आ आत्मज्ञानेच्छासुखादिजन्य गुणोंकी निवृत्तिरूप मोक्ष होता है। मुक्त आत्मामें ज्ञान सुख आदिकी पुनः उत्पत्ति नहीं होती। आत्माके ज्ञान आदि गुण वास्तविक है कल्पित नहीं। इसीपर कटाक्ष होता है कि वास्तविक सकल धर्मकी एक काल निवृत्ति धर्मीकी निवृत्ति होनेपर ही होता है, अन्यथा नहीं। धर्मी आत्माको नि माननेसे तदीय सकलधर्मनिवृत्ति एक समयमें अदृष्टचर है—इत्यादि विस्तृत वि रण अन्यत्र देखिए।]

आत्मामें बन्ध स्वाभाविक नहीं है, किन्तु बुद्ध्यादि-उपाधिसम्बन्धसे है। जैसे जपादि कुसुमोपाधिसम्बन्धसे स्फटिकमणिमें अरुणिमा प्रतीत होती है। 'उप—समीपे स्थिते वस्तुनि स्वधर्ममाधत्ते' इत्युपाधिः। स्वसम्बद्ध = अ प्रत्यासन्न आत्मामें स्वधर्म बन्धका आधायक बुद्ध्यादि उपाधि कहलाती है। अतएव 'आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः' इन्द्रियमनोयुक्त आत्मा भोक्ता है एकाकी नहीं—ऐसा मनीषी लोग कहते हैं। यह श्रुति स्वयं बोधन करती है। ऐसी स्थितिमें धर्मीके रहनेपर उपाधिवियोगसे उपाधि द्वारा भाषित अशेष धर्मोंकी निवृत्ति होनेसे मुक्ति उपपन्न होती है। जो स्वधर्मको अन्यनिष्ठ होकर भासित कराती है उसे तो आप भी उपाधि कहते ही हैं। अतएव बुद्ध्यादि जो उपाधि है वह स्वधर्मबन्धका आत्मनिष्ठ होकर भान कराती है, यह आपके मतसे भी सिद्ध है। इस प्रकार अब आप रास्तेपर आ गये, क्योंकि बन्ध असत्य है, इसे आपको भी मानना ही पड़ा। चूँकि स्फटिक मणिमें जपाकुसुमोपाधिनिमित्तक अरुणिमा सत्य नहीं है, अतः निखिल धर्मासंसर्गी भी आत्मामें उपाधिवश ही संसारधर्मसंसर्गि भानरूप बन्ध है। आत्मस्वरूपविवेकज्ञानसे तो स्वस्वरूपाज्ञान तदीय कार्य बुद्ध्या

लभ्रमनिवृत्तौ निर्मृष्टनिखिलभास्योपरागतया शुद्धस्य स्वप्रकाशपरमानन्दतया पूर्णस्याऽऽत्मनः स्वत एव कैवल्यं मोक्ष इति न बन्धमोक्षयोर्वैयधिकरण्यापत्तिः। अत एव नाममात्रे विवाद इत्यपास्तम्, भास्यभासकयोरेकत्वानुपपत्तेः। दुःखी स्वव्यतिरिक्तभास्यो भास्यत्वाद्घटवदित्यनुमानाद्भास्यस्य भासकत्वादर्शनात्। एकस्यैव भास्यत्वे भासकत्वे च कर्तृकर्मविरोधादात्मनः।

द्युपाधिकी निवृत्ति होनेसे तन्निमित्तक सकलभ्रम निवृत्त होता है। ऐसी दशामें निर्मृष्टः निष्प्रोञ्छितः निखिल-भाष्यस्य दृश्यस्य उपरागः संसर्गो यत्रः तस्य भावः तत्ता तया अर्थात् निरस्त समस्तदृश्यसंसर्ग अतएव शुद्ध परिपूर्ण आत्माके स्वप्रकाश-परमानन्दरूप होनेसे उसमें स्वाभाविक कैवल्य यानी मोक्ष है, किसी हेतु द्वारा नहीं, अन्यथा वह आगन्तुक और 'अनृत' विनाशी हो जायगा। इस तरह बन्ध और मोक्षमें वैयधिकरण्यापत्ति नहीं है। औपाधिक बन्ध और स्वाभाविक कैवल्य—इनकी विषम-सत्ताक होनेसे एकत्र स्थितिमें विरोध हो भी नहीं सकता है। इसलिए नाममात्रमें विवाद है—यह पूर्वोक्त, विवाद भी निरस्त हुआ। भास्य ब्रह्म आदि और भासक चैतन्यमें अन्धकार और प्रकाशकी तरह एकता नहीं हो सकती—इसमें तर्ककुशलोंकी अग्रिम अनुमान इस प्रकार है:—'दुःखी स्वव्यतिरिक्तभास्यः भास्यत्वात्, घटवत्'। इससे सिद्ध है कि भास्य भासक नहीं हो सकता।

शंका—प्रदीप घट तथा स्वका भासक है, उसमें भास्यत्व और भासकत्व जैसे दोनों है, उसी प्रकार बुद्धिमें भास्यत्व और भासकत्व माननेमें क्या आपत्ति है।

समाधान—प्रदीपमें भी एक-एक निरूपित भास्य-भासकत्व नहीं है। घटका भासक और नेत्रका भास्य प्रदीप है। एकभानक्रियानिरूपित कर्तृत्व-कर्मत्व एक प्रदीपादिमें नहीं रह सकता। अपने कंधेपर कोई आरूढ़ नहीं हो सकता, यह नियम स्पष्ट है। इसलिए कर्ता और कर्मका विरोध होनेसे एक ही आत्मा भास्य और भासक नहीं हो सकता।

[सकलभासक आत्माका भान होता है या नहीं ? यदि होता है, तो स्व से या पर से। उक्त न्यायसे तो स्वसे हो नहीं सकता, परसे भान होनेपर, उसी तरह उसका भी परसे भान, उसका भी परसे भान—आदि कल्पनाएँ होनेसे अनवस्था हो जायगी, और पूर्व-पूर्वकथित आत्मामें अनात्मत्वप्रसक्तिरूप दोष होने लगेगा। अप्रकाशमान आत्मा हो ही नहीं सकता, क्योंकि ज्ञान अन्यत्र संशयात्मक होता है, पर आत्मामें नहीं। कोई भी प्राणी अपनी आत्मामें संशय नहीं करता, अतएव आत्मा सदा प्रकाशमान माना जाता है।] यदि यह

कथमिति चेत् , न, तस्य भासकत्वमात्राभ्युपगमात्, अहं दुःखीत्यादिवृत्ति सहिताहंकारभासकत्वेन तस्य कदाऽपि भास्यकोटावप्रवेशात् । अत एव दुःखी न स्वातिरिक्तभासकापेक्षो भासकत्वाद्दीपवदित्यनुमानमपि न, भास्यत्वे स्वातिरिक्तभासकत्वसाधकेन प्रतिरोधात् । भासकत्वं च भानकरणत्वं स्वप्रकाशमानरूपत्वं वा । आद्ये दीपस्येव करणान्तरानपेक्षत्वेऽपि स्वातिरि

कहिये कि आत्मा भास्य और भासक दोनों क्यों नहीं है, तो इसका यही समाधान है कि आत्मा भासक ही माना गया है, भास्य नहीं। दुःखाकारवृत्ति विशिष्ट अहंकारका भासक आत्मा है। आत्मामें दुःखादि नहीं होता—इसका निरूपण पूर्व कर चुके हैं। 'अहं दुःखी' यह भान अहंकरात्मक बुद्धिमें होता है। तादृशवृत्तिविशिष्ट अहंकारका भान आत्मासे होता है; इसलिए आत्मा भासक है, भास्य नहीं। भास्यकोटिमें आत्माका कभी भी प्रवेश नहीं है। अतएव 'दुःखी न स्वातिरिक्त भासकापेक्षः भासकत्वात्, प्रदीपवत्'—यह अनुमान भी निरस्त हुआ। दुःखी भास्य है, वह स्वातिरिक्तभासकत्वका साधक है यानी भास्य स्वातिरिक्तभासक घटके समान सापेक्ष है। अतः प्रतिरोध सत्प्रतिपक्ष है।

शंका—आत्माको अविक्रिय माननेपर भानप्रयोजक व्यापारशून्य वह भासक कैसे होगा ?

समाधान--भानकरणत्वरूप या स्वप्रकाशमानरूप भासकत्व उसमें है ही।

व्यापारवदसाधारणं कारणं करणम्' इस लक्षणके अनुसार कारणत्व निर्व्यापार आत्मामें नहीं रह सकता। इसलिए 'भानकरणत्वं स्वप्रकाशमानत्वं वा' इत्यादि कहा। द्वितीय पक्षमें हेतु असिद्ध है, दुःखी भानस्वरूप है—यह आपको इष्ट नहीं है। नैयायिक आत्माको भानाश्रय मानते हैं, भानस्वरूप नहीं। हमारे पक्षसे यद्यपि आत्मा भानस्वरूप है, किन्तु दुःखाश्रय नहीं है, अतः दुःखीमें भान उभयमतसे हेतु असिद्ध होता है। आपका हेतु असिद्धयादि हेतुसे न्यूनबल है और मेरा हेतु पञ्चरूपोपपन्न होनेसे अधिक बलवान् है। समानबल हेतुस्थलमें सत्प्रतिपक्ष होता है। 'दुःखी स्वातिरिक्तभास्यः, भास्यत्वात्, घटवत्'—यह वेदान्तियों का अनुमान है। 'दुःखी न स्वातिरिक्तभासकापेक्षः, भासकत्वात् , प्रदीपवत्'—यह नैयायिकोंका अनुमान है। इन दोनों हेतुओंसे सत्प्रतिपक्ष नहीं हो सकता, क्योंकि नैयायिकोंका हेतु दुष्ट होनेसे न्यूनबलवाला है। भासकत्व द्विधा विकल्पसे दूषित किया गया है। द्वितीय पक्षमें तो आपने सुन ही लिया। प्रथम पक्षमें कहना यह है कि भास्यत्व स्वातिरिक्त भासकसापेक्ष होता ही है। प्रदीप चेतन नहीं है—इसमें भास्यत्व तदतिरिक्त चेतन सापेक्ष है। यद्यपि प्रदीपको प्रदी

भानसापेक्षत्वं दुःखिनो न व्याहन्यतेऽन्यथा दृष्टान्तस्य साध्यवैकल्यापत्तेः। द्वितीये त्वसिद्धो हेतुरित्यधिकबलतया भास्यत्वहेतुरेव विजयते। बुद्धिवृत्त्यतिरिक्तभानानभ्युपगमाद्बुद्धिरेव भानरूपेति चेत्, न, भानस्य सर्वदेशकालानुस्यूततया भेदकधर्मशून्यतया च विभोर्नित्यस्यैकस्य चानित्यपरिच्छिन्नानेकरूपबुद्धिपरिणामात्मकत्वानुपपत्तेः। उत्पत्तिविनाशादिप्रतीतेश्चावश्यकल्प्यविषयसंबन्धविषयतयाऽप्युपपत्तेः। अन्यथा तत्तज्ज्ञानोत्पत्तिविनाशभेदादिकल्पनायामतिगौरवापत्तेरित्याद्यन्यत्र विस्तरः। तथाच श्रुतिः—"न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वात्, आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः, महद्भूतमनन्तमपारं विज्ञानघन एव, तदेतद्ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यमयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूः" इत्याद्या विभुनित्यस्वप्रकाशज्ञानरूपतामात्मनो दर्शयति।

रूप करणकी अपेक्षा नहीं है, किन्तु कर्ताकी अपेक्षा है ही। वस्तुतः चक्षूरूपी करणकी अपेक्षा रहती ही है, अन्यथा अंधका भी भासक हो जायगा। अतः प्रदीपभास्यत्व हेतु विजयी है, क्योंकि बुद्धिवृत्तिसे अतिरिक्त भान नहीं मानते हैं। इस प्रकारकी बुद्धिमें दुःख और तद्वृत्तिरूप भान आत्मासे होता है।

शंका—बुद्धि स्वयं भानस्वरूप है, और आत्मा जड़ है।

समाधान—यह तो अच्छा आपने श्रुति-सारांश निकाला। भान सब देश-काल में एकरस है। घटभान, पटभान, इत्यादि स्थलमें घट, पट आदि उपाधि पृथक् कर दी जाय, तो भानमात्र ही सर्वत्र अवशिष्ट रह जायगा। अतएव भेदक धर्म, जाति, गुण, क्रिया आदिसे शून्य है। भान विभु, नित्य, एक ही है और बुद्धि-परिणाम अनित्य परिच्छिन्नस्वरूप है। अतः वृत्त्यात्मक भान नहीं हो सकता?

शंका—'घटभानं जातं नष्टम्' इत्यादिसे भानमें भी उत्पत्ति और विनाश प्रतीत होता है, फिर यह नित्य कैसे हो सकता है?

समाधान—विषयका सम्बन्ध उत्पत्ति और विनाशशील है। तद्गततद्धर्मके भानमें 'घटाकाशो जातः' इत्यादिके समान आरोप है। आवश्यक विषय सम्बन्धगत बुद्ध्याद्यारोपसे भानमें तद्व्यवहार होता है, फिर भानमें वस्तुतः तत्सत्ता स्वीकारमें कोई प्रमाण नहीं है, प्रत्युत गौरव दोष है। विषयसम्बन्धमें उत्पत्त्यादि-अनुभव सिद्ध होनेसे आवश्यक है। जिज्ञासुओंको इन सबका विस्तृत विवरण आकरग्रन्थोंमें देखना चाहिए। यह कपोलकल्पित नहीं है, किन्तु श्रुतिमूलक है। 'न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते' इत्यादि श्रुतियाँ इसमें प्रमाण हैं। ये श्रुतियाँ दिखलाती हैं कि विभु, नित्य स्वप्रकाश और ज्ञानरूप आत्मा है।

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥ १६ ॥

असत् पदार्थकी सत्ता नहीं है और सत् पदार्थका अभाव नहीं है। इन दोनोंकी नियतरूपता तत्त्वज्ञानियों द्वारा निश्चित की गई है ॥ १७ ॥

एतेनाविद्यालक्षणादप्युपाधेर्व्यतिरेकसिद्धिः । अतोऽसत्योपाधिनिबन्धनबन्धभ्रमस्य सत्यात्मज्ञानान्निवृत्तौ मुक्तिरिति सर्वमवदातम् । पुरुषर्षभेति संबोधयन्स्वप्रकाशचैतन्यरूपत्वेन पुरुषत्वं परमानन्दरूपत्वेन चाऽऽत्मन ऋषभत्वं सर्वद्वैतापेक्षया श्रेष्ठत्वमजानन्नेव शोचसि, अतः स्वस्वरूपज्ञानादेव तव शोकनिवृत्तिः सुकरा " तरति शोकमात्मवित् " इति श्रुतेरिति सूचयति । अत्र पुरुषमित्येकवचनेन सांख्यपक्षो निराकृतः, तैः पुरुषबहुत्वाभ्युपगमात् ॥ १५ ॥

ननु भवतु पुरुषैकत्वं तथापि तस्य सत्यजडद्रष्टृत्वरूपः सत्य एव संसारः । तथाच शीतोष्णादिसुखदुःखकारणे सति तद्भोगस्याऽऽवश्यकत्वात्सत्यस्य च ज्ञानाद्विनाशानुपपत्तेः कथं तितिक्षा कथं वा सोऽमृतत्वाय कल्पत इति चेत्, न, कृत्स्नस्यापि द्वैतप्रपञ्चस्याऽऽत्मनि कल्पितत्वेन तज्ज्ञानाद्विना-

इसके द्वारा अविद्यालक्षणोपाधिसे भी आत्माका व्यतिरेक सिद्ध हुआ। इसलिए असत्योपाधिनिमित्तक बन्ध-भ्रमकी सत्यात्मक ज्ञानसे निवृत्ति होनेपर मुक्ति होती है। इस प्रकार सब शंकाएँ निवृत्त हो गईं।

प्रश्न—'पुरुषर्षभ' इस सम्बोधनका क्या तात्पर्य है ?

उत्तर—स्वप्रकाश चैतन्यरूपसे आत्मा पुरुष है। परमानन्दरूपसे श्रेष्ठ है, सब द्वैतकी अपेक्षा अपनेको श्रेष्ठ न समझकर शोक करते हो। अतः आत्मस्वरूप ज्ञानसे ही तुम्हारी शोकनिवृत्ति सुन्दर है। 'तरति शोकं आत्मवित्' यह श्रुति आत्मज्ञानको लोकनिवृत्तिका उपाय बतलाती है। यहाँ 'पुरुषम्' इस एक वचनसे पुरुषबहुत्व माननेवाले सांख्यमतावलम्बियोंके मतका निरास किया गया ॥ १५ ॥

मान लेता हूँ कि पुरुष एक ही है, किन्तु उस सत्य पुरुषका जड़-दर्शित्वरूप संसार सत्य है और सुखदुःखादि व्यवस्था अन्तःकरणभेदसे उपपन्न है। शीतोष्ण आदिरूप सुख-दुःख रहनेपर तद्भोग आवश्यक है। ज्ञानसे सत्यका विनाश नहीं होता है, फिर तितिक्षा कैसे होगी ? और कैसे मोक्ष होगा ? ऐसी शंका नहीं कर सकते, क्योंकि सकल विश्व आत्मामें कल्पित है, आत्मज्ञानसे उसका विनाश सहज

शोपपत्तेः, शुक्तौ कल्पितस्य रजतस्य शुक्तिज्ञानेन विनाशवत्। कथं पुनरात्मानात्मनोः प्रतीत्यविशेष आत्मवदनात्माऽपि सत्यो न भवेदनात्मवदात्माऽपि मिथ्या न भवेदुभयोस्तुल्ययोगक्षेमत्वादित्याशङ्क्य विशेषमाह भगवान्—'नासतो विद्यते' इति।

यत्कालतो देशतो वस्तुतो वा परिच्छिन्नं तदसत्। यथा घटादि जन्मविनाशशीलं प्राक्कालेन परकालेन च परिच्छिद्यते ध्वंसप्रागभावप्रतियोगित्वात्। कादाचित्कं कालपरिच्छिन्नमित्युच्यते। एवं देशपरिच्छिन्नमपि तदेव मूर्तत्वेन सर्वदेशावृत्तित्वात्। कालपरिच्छिन्नस्य देशपरिच्छेदनियमेऽपि देशपरिच्छिन्नत्वेनाभ्युपगतस्य परमाण्वादेस्तार्किकैः कालपरिच्छेदानभ्युपगमाद्देशपरिच्छेदोऽपि पृथगुक्तः स च किंचिद्देशवृत्तिरत्यन्ताभावः। एवं सजातीयभेदो विजातीयभेदः स्वगतभेदश्चेति त्रिविधो भेदो वस्तुपरिच्छेदः।

ही में हो जायगा। जैसे कि शुक्तिमें कल्पित रजतका नाश शुक्तिज्ञानसे होता है। आत्माका और अनात्माका प्रत्यक्ष समान है, फिर आत्माकी तरह अनात्मा सत्य क्यों नहीं है, अथवा आत्माकी तरह आत्मा मिथ्या क्यों नहीं है? दोनों तुल्ययोगक्षेम है, यों आशङ्काकर दोनोंमें विशेष क्या है, यह भगवान् कहते हैं—'नासतो' इत्यादिसे।

जो देश, काल और वस्तुसे परिच्छिन्न है, वह असत्य है, जैसे जन्म और विनाशशील घटादि पदार्थ पूर्व और परकालसे परिच्छिन्न हैं और अनित्य हैं। प्रागभावप्रतियोगित्व और ध्वंस-प्रतियोगित्वरूप पूर्वापरकालपरिच्छिन्नत्व, उनमें नियत है। कादाचित्कका अर्थ यह है जो कभी होते हैं, वे ही कालपरिच्छिन्न भी कहलाते हैं। इसीतरह वे किसी देशमें होते हैं, सर्वत्र नहीं; अतः वे मूर्त होनेसे देशपरिच्छिन्न भी कहलाते हैं।

शंका—जो काल-परिच्छिन्न हैं, वे मूर्त्त होनेसे देश-परिच्छिन्न भी हैं, अतः काल-परिच्छिन्नसे ही उनका बोध सिद्ध था, पुनः देशपरिच्छेदका पृथक् निर्देश क्यों किया?

समाधान—कालपरिच्छिन्न अवश्य देशपरिच्छिन्न है, देशपरिच्छिन्न यावत्कालपरिच्छिन्न नहीं है। परमाणु देशपरिच्छिन्न है, परन्तु नित्य होनेसे कालपरिच्छिन्न नहीं है। अतः कालपरिच्छिन्न परमाणुके संग्रहके लिए पृथक् देशपरिच्छेदका ग्रहण किया। किंचिद्देशवृत्त्यत्यन्ताभावप्रतियोगी देशपरिच्छिन्न कहलाता है। एवं सजातीय, विजातीय और स्वगत भेदसे वस्तुपरिच्छेदरूप भेद

यथा वृक्षस्य वृक्षान्तराच्छिलादेः पत्रपुष्पादेश्च भेदः। अथवा जीवेश्वरभेदो जीवजगद्भेदो जीवपरस्परभेद ईश्वरजगद्भेदो जगत्परस्परभेद इति पञ्चविधो वस्तुपरिच्छेदः। कालदेशापरिच्छिन्नस्याप्याकाशादेस्तार्किकैर्वस्तुपरिच्छेदाभ्युपगमात्पृथङ्निर्देशः। एवं सांख्यमतेऽपि योजनीयम्। एतादृशस्यासतः शीतोष्णादेः कृत्स्नस्यापि प्रपञ्चस्य भावः सत्ता पारमार्थिकत्वं स्वान्यूनसत्ताकतादृशपरिच्छेदशून्यत्वं न विद्यते न संभवति, घटत्वाघटत्वयोरिव परिच्छिन्नत्वापरिच्छिन्नत्वयोरेकत्र विरोधात्। न हि दृश्यं किंचित्क्वचित्काले देशे वस्तुनि वा न निषिध्यते सर्वत्राननुगमात्। न वा सद्वस्तु क्वचिद्देशे काले

तीन प्रकारका होता है। जैसे--वृक्षमें वृक्षान्तरका भेद सजातीय भेद है, शिलासे वृक्षका भेद विजातीय है और स्वावयव पत्र-शाखादिसे वृक्षका भेद स्वगत है। अथवा जीवसे ईश्वरका भेद, जीवसे जगत्का भेद, जीवोंका परस्पर भेद, ईश्वरका जगद्भेद, और जगत्का परस्पर भेद है; इस प्रकार वस्तुपरिच्छेद पाँच प्रकारका होता है। तार्किक आकाशको नित्य और व्यापक मानते हैं, पर वस्तुपरिच्छेद मानते हैं। अतएव उसके संग्रहके लिए वस्तुपरिच्छेदका पृथक् उपादान है। इसी प्रकार सांख्ययमतमें भी परिच्छेदकी योजना करनी चाहिए। 'भेदानां परिमाणात् समन्वयात्' इत्यादि कारिकामें स्पष्ट देखिए। एवंभूत असत्य शीतोष्ण आदि निखिल प्रपंचका भाव अर्थात् सत्ता पारमार्थिक नहीं है। प्रातिभासिक, व्यावहारिक और पारमार्थिक सत्ताओंमें पूर्व-पूर्वकी अपेक्षा उत्तरोत्तर सत्ता अन्यूनसत्ताक है। घटादि तद्गत त्रिविध भेद न्यायमतमें पारमार्थिकसत्ताक है, वेदान्तमतमें व्यावहारिकसत्ताक है। त्रिविध भेदवाले घटादिमें न्यूनसत्ताक भेदशून्यत्व रह सकता है, किन्तु अन्यूनसत्ताक भेदशून्यत्व नहीं रह सकता। अन्यूनसत्ताक भावाभावोंमें विरोध है। स्वपदसे उक्त त्रिविध भेद, तदन्यूनसत्ताक तादृश भेदाभाव इनमें नहीं है, इसीको 'घटत्वा०' इत्यादिसे स्फुट किया है। जैसे घटत्व और तदभाव समसत्ताक एकमें नहीं रहते, एवं परिच्छिन्नत्व और अपरिच्छिन्नत्व एक धर्मीमें नहीं रह सकते, कारण एकत्र स्थितिमें परस्पर विरोध है। यह तो नहीं हो सकता कि दृश्यका निषेध किसी देश या कालमें न हो सके, क्योंकि वह सर्वदेशकालवर्त्ती नहीं है। इसलिए जिस देशकालमें वह न रहेगा, उस देशकालमें उसका निषेध सुलभ है। सत् आत्मवस्तुका किसी देशकालमें निषेध नहीं कर

वस्तुनि वा निषिध्यते, सर्वत्रानुगमात्। तथाच सर्वत्रानुगते सद्वस्तुनि अननुगतं व्यभिचारि वस्तु कल्पितं रज्जुखण्ड इवानुगते व्यभिचारि सर्पधारादिकमिति भावः। ननु व्यभिचारिणः कल्पितत्वे सद्वस्त्वपि कल्पितं स्यात्तस्यापि तुच्छव्यावृत्तत्वेन व्यभिचारित्वादित्यत आह—'**नाभावो विद्यते सतः**' इति। सदधिकरणकभेदप्रतियोगित्वं हि वस्तुपरिच्छिन्नत्वम्' तच्च न तुच्छव्यावृत्तत्वेन तुच्छे शशविषाणादौ सत्त्वायोगात्। "सदसद्भ्यामभावो निरूप्यते" इति न्यायात्। एकस्यैव स्वप्रकाशस्य नित्यस्य विभोः सतः सर्वानुस्यूतत्वेन

सकते, और न किसी वस्तु में ही कर सकते, कारण वह सर्वत्र अनुगत है। सर्वानुगत सद्वस्तुमें जो अननुगत है वह व्यभिचारि अतएव वह कल्पित वस्तु है। तात्पर्य यह है कि 'शुक्तिशकले रजतवत्, रज्जुखण्डे सर्पधारावत्' यानी रज्जुखण्डमें कभी सर्प कभी जलधारा आदिसे भूछिद्रकी प्रतीति अनियत है।

यदि परिच्छिन्न वस्तु व्यभिचारी होनेसे कल्पित है, तो सद्वस्तु भी तुच्छव्यावृत्त होनेसे व्यभिचारी है। अतएव वह भी कल्पित ही होगा। 'सन् घटः' इत्यादि प्रतीतिके समान 'सत् खपुष्पम्' इत्यादि प्रतीति नहीं होती,अतः असद्व्यावृत्त सद्वस्तु व्यभिचारी है, इस आशङ्कापर कहते हैं—'**नाभावो विद्यते सतः**' इत्यादि। भाव यह है कि यद्यपि तुच्छनिष्ठ भेदप्रतियोगित्वरूप तुच्छव्यावृत्तत्वरूप वस्तुपरिच्छेद आत्मामें है, तथापि तुच्छ सत् नहीं है। तन्निष्ठ भेदप्रतियोगित्व सदधिकरणक नहीं है। जिस भेदके प्रतियोगित्व का अधिकरण सत् है वह भेदप्रतियोगित्व विवक्षित है।

शङ्का—'घटभिन्न आत्मा' यह भी तो भेद प्रसिद्ध है तथा 'आत्मभिन्नो घटः' यह भी प्रसिद्ध है—इनका आश्रयण कर क्यों नहीं दोष दिया?

समाधान—प्रथम भेदसे आत्मामें प्रतियोगित्वरूप व्यावर्त्यत्व नहीं आता, किन्तु घटमें ही आता है। द्वितीय भेद प्रामाणिक सदसद्रूप प्रतियोग्यधिकरणक नहीं है। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इत्यादि श्रुति तथा 'तदनन्यत्वमारम्भण०' इत्यादि सूत्र आदिसे कार्यकारणाभेद न्यायसे 'उक्त भेद' अप्रमाणिक है, इत्यादि अन्यत्र-विस्तृत विवरण है। शश-विषाण आदि—तुच्छमें सत्ता नहीं है,अतः तन्निष्ठ भेदप्रतियोगित्व सदधिकरणक नहीं हो सकता, क्योंकि सत् और असत्से अभावका निरूपण होता है। अधिकरणसत्त्वेन प्रतियोगी असत्त्वेन अभावप्रतीतिका कारण होता है, यह न्याय है। एक ही स्वप्रकाश, नित्य,विभु,सत्, सर्वत्रानुगत है। इसलिए सद्व्यक्तिके

सद्व्यक्तिभेदानभ्युपगमात्। घटः सन्नित्यादिप्रतीतेः सार्वलौकिकत्वेन सतो घटाद्यधिकरणकभेदप्रतियोगित्वायोगात्। अभावः परिच्छिन्नत्वं देशतः कालतो वस्तुतो वा सतः सर्वानुस्यूतसन्मात्रस्य न विद्यते न संभवति पूर्ववद्विरोधादित्यर्थः। ननु सन्नाम किमपि वस्तु नास्त्येव यस्य देशकालवस्तुपरिच्छेदः प्रतिषिध्यते, किं तर्हि सत्त्वं नाम परं सामान्यं तदाश्रयत्वेन द्रव्यगुणकर्मसु सद्व्यवहारः, तदेकाश्रयत्वसंबन्धेन सामान्यविशेषसमवायेषु। तथाचासतः प्रागभावप्रतियोगिनो घटादेः सत्त्वं कारणव्यापारात्सतोऽपि

भेदमें प्रमाण नहीं है। 'घटः सन्' इत्यादि प्रतीति सर्वलोकानुभवसिद्ध है, अतः घटनिष्ठ भेदप्रतियोगित्व सत्में संभावित ही नहीं है। 'नीलो घटः' इस समानाधिकरणप्रतीतिसे घटमें नीलाभेद सिद्ध है, तो उसमें नीलभेद नहीं हो सकता इससें अधिक कहनेकी आवश्यकता नहीं है। परिच्छिन्नत्व फलतः अभाव है, वं सब देश-कालवस्तुमें अनुगत नहीं है, किन्तु कहीं अन्यत्र जिसका भाव हैं, वही देशकालवस्तुपरिच्छिन्न है। सत् तो सर्वत्र अनुगत सन्मात्ररूप है, अतः उसका अभाव कहीं नहीं है, उसका अभाव माननेसे पूर्ववत् विरोध होने लगेगा यह तात्पर्य है।

सत्नामक कोई वस्तु है ही नहीं, जिससे देशकालवस्तुपरिच्छेदका निषेध किया जाय, किन्तु सत्त्वनाम पर सामान्य है, जिसके आश्रयसे द्रव्य गुण और कर्ममें सद्व्यवहार होता है। सामानाधिकरण्यसम्बन्धसे सामान्य विशेष और समवायोंमें सद्व्यवहार होता है। [वैशेषिकके मतमें सात पदार्थ हैं- द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय—ये छः भाव पदार्थ हैं तथा एक अभाव है। भाव सत्को कहते हैं,और अभाव असत्को। सत्में सत्ता जाती रहती है। सामान्य जातिपदार्थ है। सामान्य दो प्रकारका है—पर और अपर अधिकदेशवृत्ति पर है और न्यूनदेशवृत्ति अपर है। सत्ता इतर जातियोंसे अधिक देशमें रहती है, इसलिये पर है। द्रव्यत्वादि जाति उसकी अपेक्षा न्यून देशमें रहती है, इसलिये अपर है।] सत्ता द्रव्य, गुण, कर्ममें समवायसम्बन्धसे रहकर 'सत्' इस व्यवहारका कारण होती है। सामान्य विशेष और समवायमें सामान्याधिकरण्यसम्बन्धसे रहकर उक्त व्यवहार कराती है। इस प्रक्रियाके अनुसार कारणव्यापारसे पूर्वकालमें असद्घटमें सत्ता होती है

तस्याभावः कारणनाशाद्भवत्येवेति कथमुक्तं 'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः' इति। एवं प्राप्ते परिहरति-उभयोरपीत्यर्धेन । उभयोरपि सदसतोः सतश्चासतश्चान्तो मर्यादा नियतरूपत्वं यत्सत्तत्सदेव यदसत्तदसदेवेति दृष्टो निश्चितः श्रुतिस्मृतियुक्तिभिर्विचारपूर्वकम्। कैः; तत्त्वदर्शिभिर्वस्तुयाथात्म्यदर्शनशीलैर्ब्रह्मविद्भिर्न तु कुतार्किकैः। अतः कुतार्किकाणां न विपर्ययानुपपत्तिः। तुशब्दोऽवधारणे। एकान्तरूपो नियम एव दृष्टो न त्वनेकान्तरूपोऽन्यथाभाव इति, तत्त्वदर्शिभिरेव दृष्टो नातत्त्वदर्शिभिरिति वा। तथा च श्रुतिः "सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्" इत्युपक्रम्य "ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो," इत्युपसंहरन्ती सदेकं सजातीयविजातीयस्वगतभेदशून्यं सत्यं दर्शयति। "वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्" इत्यादिश्रुतिस्तु विकारमात्रस्य व्यभिचारिणो वाचारम्भ-

सत्तासम्बन्धी घटादिका—समवायी कारणके नाशसे नाश (अभाव) होता ही है, फिर 'नासतो विद्यते' इत्यादि कैसे कहा? ऐसी शङ्का होनेपर इसका परिहार करते हैं—'उभयो०' इत्यादि आधे श्लोकसे। उभय यानी सत् और असत्‌का अन्त (मर्यादा) अर्थात् नियतस्वरूपता—जो सत् है, सो सत् ही है और जो असत् है, सो असत् ही है—यह श्रुति, स्मृति और युक्तियोंसे विचार कर तत्त्वदर्शी विद्वानों द्वारा निश्चित किया गया है, कुतार्किकोंकी समझमें यह नहीं आया है। यह विषय तत्त्वदर्शियोंका है, साधारण विद्वानोंका नहीं। तत्—ब्रह्मत्व, जीव-तदुभयैक्यदर्शी। अथवा तद्—ब्रह्म तस्य भावस्तत्त्वं तद्दर्शी यानी ब्रह्मदर्शी। अथवा तत्त्वं वस्तुयाथात्म्यं ब्रह्मरूपं तद्दर्शी, उनके द्वारा अर्थात् ब्रह्मस्वरूपदर्शनशील ब्रह्मज्ञानियों द्वारा, न कि कुतार्किकों द्वारा। [रज्जु-भुजंगका वस्तुस्वरूप अधिष्ठानातिरिक्त स्वरूप नहीं माना जाता है, अतः कुतार्किकोंको भ्रम होना स्वाभाविक है, क्योंकि जब उनका विषय ही नहीं है, तो वे तत्त्वतः जानेंगे कैसे?] तुशब्द एवकारार्थ है। एकान्तरूप नियम ही तत्त्वदर्शियों द्वारा निश्चित किया गया है, न कि अनेकान्तरूप अन्यथाभाव। अथवा तत्त्वदर्शियोंके ही द्वारा निश्चित किया गया है, अतत्त्वदर्शियोंके द्वारा नहीं निश्चित किया गया है, यों एवकारार्थक तुशब्दकी योजना करनी चाहिये। देखिये श्रुति भी 'सदेव सोम्येदमग्र०' इत्यादिसे उपक्रमकर 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्' से उपसंहार करती हुई सजातीयविजातीयस्वगत भेदरहित सत्य पदार्थको दिखलाती है। 'वाचारम्भणम्'

णत्वेनानृतत्वं दर्शयति । "अन्नेन सोम्य शुङ्गेनापो मूलमन्विच्छाद्भिः सोम्य शुङ्गेन तेजो मूलमन्विच्छ तेजसा सोम्य शुङ्गेन सन्मूलमन्विच्छ सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः" इति श्रुतिः सर्वेषामपि विकाराणां सति कल्पितत्वं दर्शयति । सत्त्वं च न सामान्यं तत्र मानाभावात् पदार्थमात्रसाधारण्यात्सत्सदितिप्रतीत्या द्रव्यगुणकर्ममात्रवृत्तिसत्त्वस्य स्वानुपपादकस्याकल्पनात् । वैपरीत्यस्यापि सुवचत्वात् । एकरूपप्रतीतेरेकरूपविषयनिर्वाह्यत्वेन संबन्धभेदस्य स्वस्वरूपसत्त्वस्य चाकल्पयितुमनुचितत्वात् ।

इत्यादि श्रुति तो व्यभिचारि विकारमात्रको 'वाचैव केवलमारभ्यते, न तत्त्वत प्रदर्शन द्वारा मिथ्या कहती है । 'अन्नेन सोम्य शुङ्गेना०' (हे सोम्य, शुङ्ग कार्यसे कारण जाना जाता है । धूम से अग्नि की तरह अन्न - पृथिवी तत्कारण जल को, जल से उसके कारण तेज को तथा तेज से तन्मूल स ब्रह्मको समझो—इत्यादि) यह श्रुति बतलाती है कि सभी विकारोंकी कल्पना स ब्रह्ममें है । [छान्दोग्य श्रुतिमें तेजकी ही प्रथम सृष्टि है । उसके तात्पर्यसे 'तेजस इत्यादि हैं। 'तत्तेजोऽसृजत्' इत्यादि वहाँ स्पष्ट है। ऐतरेयमें वायु-आकाशकी भी सृ है । तत्तात्पर्यसे आकाश कार्यसे भी तन्मूल समझना चाहिये । वस्तुतः दृश्यमात्र क है, इसलिये दृश्यसे मूलभूत सत्को समझो, इस अर्थमें उदाहृत श्रुतिका तात्पर्य है वैशेषिकोंका यह कहना भी ठीक नहीं कि सत् सामान्य है, क्योंकि इसमें उन्होंने को प्रमाण भी नहीं दिया है । 'सत्' इत्याकारक प्रतीति ही प्रमाण है, यह न कहि क्योंकि 'सत् सामान्यम्' यह भी प्रतीति होती है, किन्तु उसमें सामान्य नहीं मानत द्रव्यादित्रिकवृत्ति ही मानते हैं, अतः सामान्यादि साधारण 'सत्' इत्यादि प्रती का उपपादक सत्त्व नहीं हुआ, अतः उक्त प्रतीति साधारण सत्त्वमें प्रमाण नहीं है समवायसम्बन्धसे सत्त्व द्रव्यादित्रिकमें ही रहता है, स्वाश्रयवृत्तित्वसम्बन्ध सामान्यादिमें भी रहता है, अतः यदि 'सामान्यं सत्' इस प्रतीतिका भी उपपाद सत्त्व है, तो फिर विपरीत ही क्यों न हो ? [समवायसम्बन्धसे सामान्यादिमें स रहता है और सामान्याधिकरण्यसम्बन्धसे द्रव्यादित्रिकमें रहता है, अतः विनिग काभावसे तात्त्विक निर्णय नहीं हुआ ।] और एक प्रतीतिका एक ही विषयसे निर्वा होना चाहिये, विषयभेदसे नहीं, अन्यथा प्रतीतिवैलक्षण्य हो जायगा । 'द्रव्यं सत इस प्रतीतिमें सत्त्वसंबन्ध समवाय है और 'सामान्यं सत्' इस प्रतीतिमें सत्त्व स्वाश्रयवृत्तित्व संबंध है—इस प्रकार संबंधविषय भिन्न होनेसे दोनों स्थलोंमें 'स

विषयस्याननुगमेऽपि प्रतीत्यनुगमे जातिमात्रोच्छेदप्रसङ्गात्। तस्मादेकमेव सद्वस्तु स्वतःस्फुरणरूपं ज्ञाताज्ञातावस्थाभासकं स्वतादात्म्याध्यासेन सर्वत्र सद्व्यवहारोपपादकम्। सन्घट इति प्रतीत्या तावत्सद्व्यक्तिमात्राभिन्नत्वं घटे विषयीकृतं न तु सत्तासमवायित्वमभेदप्रतीतेर्भेदघटितसंबन्धानिर्वाह्यत्वात्।

सत्' इस प्रकार समानाकारप्रतीति कैसे होगी। विषयभेद होनेपर भी यदि अनुगत प्रतीति मानेंगे, तो जातिमात्रका उच्छेद हो जायगा—गोत्वादि जाति भी न सिद्ध होगी। [गवादि निखिल व्यक्तियोंमें 'गौ गौः' इत्यादि अनुगत प्रतीतिके उपपादनार्थ गोत्वजाति मानते हैं। स्वरूप-समवायादि विषयभेद होनेपर भी यदि उक्त प्रतीतिका निर्वाह है, तो गोत्वादि जातिकी कल्पना ही वृथा है, यह स्वयं विचारिये।] अतः स्वतःप्रकाशक एक ही सद्वस्तु है, जो ज्ञात और अज्ञात दोनों अवस्थाओंका भासक है। घटं जानामि, घटं न जानामि—इसमें प्रथम ज्ञातावस्थाका बोधक है और द्वितीय अज्ञातावस्थाका बोधक है। स्वतादात्म्याध्यास द्वारा वह सर्वत्र 'सत्' व्यवहारका उपपादक है अर्थात् सकल वस्तु 'ज्ञातत्वेन' 'अज्ञातत्वेन' साक्षिचैतन्यविषयरूप है। [यह वेदान्तसिद्धान्त है, यह गम्भीर विषय है, इसका पूरा विवरण करनेपर ग्रंथ अतिविस्तृत हो जायगा, इसलिये इसे यहीं छोड़ रहा हूँ। अब प्रकृतमें 'सन् घटः' इत्यादि प्रतीति वेदान्तमतमें कैसे होती है, इसका उपपादन करते हैं—] 'सन् घटः' इत्यादि प्रतीति सद्व्यक्तिमात्रके अभेदका घटमें विषय करती है। जैसे कि 'नीलो घटः' यह प्रतीति घटमें नीलाभेदको विषय करती है।

घटादिविषय जड़ है, सत् स्वयंप्रकाश चित् है, दोनोंका अभेद असंभव है, फिर उक्त प्रतीतिका विषय कैसे? यह नहीं पूछ सकते, क्योंकि नील गुण है, घट द्रव्य है, यह आप (नैयायिक) मानते ही हैं, फिर 'नीलो घटः' यह अभेदभान क्यों होता है?

यहाँ तो 'गुणिलिङ्गास्तु तद्वति' इस कोषके अनुसार नीलपद नीलवान् में लाक्षणिक है।

तो फिर यहाँ भी सत्ताध्यास घटादिमें मानकर सर्वत्र 'सत्' इत्याकारक प्रतीतिकी उपपत्ति कीजिये। आध्यासिक सत्तादात्म्य ही सत्ता है, इस प्रकार 'सत्' इत्याकारकप्रतीतिविषय सद्व्यक्तिमात्राभिन्नत्व ही है,] सत्ता समवायित्व नहीं है। यदि कहिये, क्यों, तो सुनिये—

भेदघटित सम्बन्धसे अभेदप्रतीतिका निर्वाह नहीं होता, किन्तु

एवं द्रव्यं सद् गुणः सन्नित्यादिप्रतीत्या सर्वाभिन्नत्वं सतः सिद्धम्। द्रव्यगुणादिभेदासिद्ध्या च न तेषु धर्मिषु सत्त्वं नाम धर्मः कल्प्यते, किन्तु सति धर्मिणि द्रव्याद्यभिन्नत्वं लाघवात्। तच्च वास्तवं न संभवतीत्याध्यासिकमित्यन्यत्। तदुक्तं वार्तिककारैः—

"सत्तातोऽपि न भेदः स्याद्द्रव्यत्वादेः कुतोऽन्यतः।
एकाकारा हि संवित्तिः सद्द्रव्यं सन्गुणस्तथा" ॥ इत्यादि।

सत्ताऽपि नासतो भेदिका तस्याप्रसिद्धेः। द्रव्यत्वादिकं तु सद्धर्मत्वान्न

अभेदाख्य तादात्म्यसम्बन्धसे होता है। संयोगसम्बन्धसे दण्ड पुरुषमें रहता है और समवाय सम्बन्धसे तन्तुमें पट रहता है। 'दण्डः पुरुष', 'तन्तुः पटः' ऐसी समानाधिकरणप्रतीति कहाँ होती है ? एवं सत्ता समवायसम्बन्धसे द्रव्यादि माने, तो भी 'सद् द्रव्यम्' इस समानाधिकरणप्रतीतिका उपपादन नहीं होता। इस तरह 'सद् द्रव्यम्' 'सन् गुणः' इत्यादि प्रतीतिसे सर्वाभिन्नत्व सत्में सिद्ध हुआ। तत्त्वदृष्टिसे विचार करनेपर 'सत् द्रव्यं', 'सन् गुणः' इत्यादि प्रतीतिसे द्रव्य गुणादिसे भिन्न पदार्थ ही नहीं सिद्ध होते, तो उसमें सत्त्वधर्म कैसे सिद्ध हो सकता है। बल्कि लाघवात् सिद्ध तो होता है—उक्त धर्मिमें द्रव्याद्यभिन्नत्व। अनेक धर्मि सत्ता तथा तत्सम्बन्धकल्पनाकी अपेक्षासे सत्तादात्म्यकी कल्पना ही लाघवात् प्रतीतिका विषय है। वह तादात्म्य जड़-चेतनका वास्तविक नहीं हो सकता, अतः आध्यासिक है, यह दूसरी बात है। यही वार्तिककारने भी कहा है—'सत्तातोऽपि न भेदः' इत्यादि। द्रव्यत्व-गुणत्वादि धर्म स्वयं यदि भिन्न हों, तो द्रव्यत्वेन गुणत्वेन द्रव्य-गुणभेद हो सकता है। द्रव्यत्वादि सामान्य भी 'सत् सामान्यम्' इत्यादि प्रतीतिसे सद्भिन्न नहीं, किन्तु सत्स्वरूप ही है, तो तत्तद्रूपसे द्रव्य-गुणादिमें भेद नहीं सिद्ध होता। 'सद् द्रव्यं' 'सन् गुणः' इत्यादि सत्तांशमें एकाकार प्रतीति है। सत्ता जाति तो मानते ही हैं, सो किसका विशेषक है ? असत्का या सत्का ? असत्का विशेषक तो कहना ही व्याहत है, क्योंकि जो है ही नहीं, उसका कौन विशेषक होगा ? सत् एक ही है, उसमें भेदककी क्या आवश्यकता ? द्रव्यत्व-गुणत्वादि सत्स्वरूप हैं, अतः जब स्वतः भिन्न नहीं हैं, तो अपने आश्रयको कैसे भिन्न कर सकेंगे, इस तात्पर्यसे कहते हैं—सत्ता भी असत् की भेदिका नहीं है। अप्रसिद्ध होनेसे उसका ज्ञान ही नहीं है। द्रव्यत्व आदि सत्का भेदक नहीं है, क्योंकि स्वयं तद्धर्म है, यह मतलब

सतो भेदकमित्यर्थः । अत एव घटाद्भिन्नः पट इत्यादिप्रतीतिरपि न भेदसाधिका, घटपटतद्भेदानां सदभेदेनैक्यात् । एवं यत्रैव न भेदग्रहस्तत्रैव लब्धपदा

है। धर्म स्वधर्मिव्यतिरिक्तका भेदक है, स्वधर्मीका नहीं । उक्त वार्तिक भेद खण्डनपरक है।

शङ्का—अच्छा तो गुण और द्रव्यका भेद न सही, 'घटाद्भिन्नः पटः' इत्यादि बुद्धि तो भेदसाधक है।

समाधान—इसलिए तो यह भी भेदसाधक नहीं है, क्योंकि 'घटः सन्', 'पटः सन्', 'भेदः सन्', इत्यादि प्रतीतिसे घट, पट, भेद ये भी सत्से भिन्न नहीं हैं। [स्वाभिन्ना-भिन्नस्य स्वाभिन्नत्व नियम है। पटाभिन्न सत् तदभिन्न घटमें पटाभिन्न ही सिद्ध होगा, अतएव 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म,इत्यादि श्रुति सबको ब्रह्माभिन्न बोधन करती है ।

शङ्का—'घटाद्भिन्नः पटः' यह प्रत्यक्षबुद्धि श्रुतिजन्य घटपटविषयकाभेद बुद्धिकी प्रतिबन्धक है, फिर अभेदबुद्धि कैसे ।

समाधान—घट-पटमें बुद्धिभेद, बुद्धिमें घट-पटका भेद उक्त बुद्धिसे गृहीत नहीं हुआ, बुद्धि स्वग्रहणके विना स्वनिष्ठ या स्वप्रतियोगिक भेदका ग्रहण नहीं कर सकती। भेदग्रहमें प्रतियोग्यधिकरणज्ञान कारण है। एक क्रियामें स्वकर्तृक और स्वकर्मत्वका विरोध है, यह पूर्वमें कह चुके हैं। अतः घट-पटभेदका बुद्धिसे अभेदबोधन उक्त वाक्यसे होनेपर घट-पटादिका भी अभेदबोधनमें कोई प्रतिबन्ध नहीं रहेगा।

अच्छा, तो घट-घटभेदग्राहिबुद्धिमें स्वविषयभेद या स्वविषयमें स्वभेद अन्य बुद्धिसे गृहीत हो जायगा। बुद्ध्यन्तर ही उक्ताभेदबोधनमें बाधक होगा।

समाधान—बुद्ध्यन्तरके साथ ही बुद्ध्यन्तरविषयाभेदबोधनमें अन्यबुद्धि उक्त रीतिसे प्रतिबन्धक नहीं होगी। स्वमें स्वविषयाभेद स्वविषयमें स्वाभेदका बोध उक्त श्रुतिसे निर्बाध हो जायगा—इस प्रणालीसे भेद सिद्ध नहीं हो सकता। स्वविषयविशिष्ट पूर्व-पूर्व बुद्धिके उत्तरोत्तर बुद्धिसे अभिन्न होनेपर घट-पटादिमें अभेद स्वाभिन्नाभिन्न न्यायसे सिद्ध हो जायगा।

शङ्का—बुद्ध्यन्तरसे तद्बुद्धि विषयोंका भेदग्रह हो ही जायगा, तो फिर अभेदका बोध कैसे होगा ?

समाधान—इस प्रकार बुद्धिपरम्परानुसरण यदि कहीं रुकेगा नहीं, तो

सती सदभेदप्रतीतिर्विजयते। तार्किकैः कालपदार्थस्य सर्वात्मकस्याभ्युपगमा-त्तेनैव सर्वव्यवहारोपपत्तौ तदतिरिक्तपदार्थकल्पने मानाभावात्तस्यैव सर्वानु-स्यूतस्य सद्रूपेण स्फुरणरूपेण च सर्वतादात्म्येन प्रतीत्युपपत्तेः। स्फुरणस्यापि सर्वानुस्यूतत्वेनैकत्वान्नित्यत्वं विस्तरेणाग्रिमश्लोके वक्ष्यते। तथाच यथा

विषयान्तरका बोध ही न होगा। उत्तरबुद्धिसे पूर्वबुद्धिका नाश होता है, यह न्यायसिद्धान्त है। सजातीय बुद्धिविच्छेदके बिना विषयान्तरसञ्चार नहीं होगा। विजातीय बुद्धिविच्छेदसे पूर्व-पूर्व बुद्धि तद्विषयभेदग्राहिचरमबुद्धिमें स्वविषयभेद तद्विषयमें तद्बुद्धिभेदका ग्रहण हुआ नहीं, अतः उस बुद्धिमें तद्विषयाभेदबोधपर पैर जमाकर श्रुति निष्कण्टक सर्वाभेद बोधन करायगी।

शङ्का—अच्छा तो अनवस्थावश हमारी बुद्धिपरम्परा जहाँ विच्छिन्न होगी, वहाँ पुरुषान्तरबुद्धिसे भेदग्रह हो जायगा, तो फिर अभेदग्रह कैसे ?

समाधान–पुरुषान्तरबुद्धि आपकी चरमबुद्धि तद्विषयोमें भेदका ही ग्रहण करेगी, अभेदका नहीं, इसमें आपको क्या प्रमाण है ? क्योंकि पुरुषान्तर-बुद्धिका प्रत्यक्ष आपको हो नहीं सकता।

शङ्का—अच्छा तो अनुमानसे बुद्धि और तद्विषयका भेदग्रह कर लेंगे, इस तरह अनुमान होगा—चरमबुद्धि स्वविषयभिन्ना, बुद्धित्वात्, पूर्वबुद्धिवत्।

समाधान–या या बुद्धि सा सा स्वविषयभिन्ना, इस व्याप्तिग्राहक बुद्धिमें भी बुद्धित्व है, परन्तु यह बुद्धि स्वस्कन्धारोहणन्यायसे स्वभेदग्रहण नहीं करती, इसलिये इसीमें व्याप्तिग्रहका भङ्ग है, अतः उक्त व्याप्तिज्ञान द्वारा भी भेदग्रह नहीं हो सकता। यह भेदनिराकरणप्रकार खण्डनखण्डखाद्यमें अतिविस्तृत है, अतः विशेषजिज्ञासुजन वहीं देखें। इसी अभिप्रायसे लिखते हैं—'यत्रैवं' इत्यादि।] जहाँ भेदग्रह न हो, वही पैर जमाकर 'सद्द्रव्यम्' इत्याकारक प्रतीति सद्द्रव्याभेदबोधनमें विजयिनी है। तार्किक कालपदार्थको सर्वात्मक मानते हैं। उसीसे सकल व्यवहार हो सकता है, तदतिरिक्त पदार्थकल्पनामें प्रमाण नहीं है। वह सबमें संबद्ध है। यदि उसको स्फुरणरूप चैतन्यरूप मान लें, तो सर्वतादात्म्येन प्रतीतिकी उपपत्ति हो जाती है। स्फुरण भी सर्वानुस्यूत होनेसे नित्य तथा एक है। यह विस्तारपूर्वक अग्रिम श्लोकमें कहेंगे। [यद्यपि नैयायिक जन्य ही को कालोपाधि मानते हैं, नित्य आकाशादिको नहीं। 'आकाशः सन्' इत्याकारक प्रतीति उक्त रीतिसे नहीं हो सकती; तथापि जन्यमात्रमें लाघवार्थ यह मानना चाहिये।]

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम् ।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति ॥ १७ ॥

हे अर्जुन, जिस सद्रूप स्फुरणसे यह समस्त दृश्यसमूह व्याप्त है उसे तो तुम अविनाशी ही समझो । अविनाशी उस सद्रूप स्फुरणका विनाश करनेमें कोई समर्थ नहीं है ॥ १७ ॥

कस्मिंश्चिद्देशे काले वाऽघटस्य पटादेर्न देशान्तरे कालान्तरे वा घटत्वम् । एवं कस्मिंश्चिद्देशे काले वा घटस्यान्यत्राघटत्वं शक्रेणापि न शक्यते संपादयितुम्, पदार्थस्वभावभङ्गायोगात् । एवं कस्मिंश्चिद्देशे काले वा सतो देशान्तरे कालान्तरे वाऽसत्त्वं कस्मिंश्चिद्देशे काले वाऽसतोऽन्यत्र सत्त्वं न शक्यते संपादयितुम्, युक्तिसाम्यात् । अत उभयोर्नियतरूपत्वमेव द्रष्टव्यमित्यद्वैतसिद्धौ विस्तरः । अतः सदेव वस्तु मायाकल्पितासन्निवृत्त्याऽमृतत्वाय कल्पते सन्मात्रदृष्ट्या च तितिक्षाऽप्युपपद्यत इति भावः ॥ १६ ॥

श्रुतिप्रमाणसे आकाशादि अनित्य ही हैं । इनमें औपचारिक नित्यत्वाभिधान है । नव्य नैयायिक आकाश और कालको आत्मभिन्न नहीं मानते, इसलिये यह सदुपदेश प्राचीन तार्किकके लिये है । इससे सारांश यह निकला कि जो जिस देश-कालमें अघट—घटभिन्न पटादि है, वह देशान्तर या कालान्तरमें घट नहीं हो सकता, यह जैसे नियम है वैसे ही जिस देश-कालमें जो घट है, देशान्तर या कालान्तरमें उसमें अघटत्व त्रिलोकीश्वरसे भी नहीं हो सकता, दूसरेकी सामर्थ्यकी चर्चा ही क्या ? क्योंकि पदार्थस्वभावका भङ्ग अयुक्त है; यह नियतिनियत है । इसका परिवर्तन क्रियाविषय नहीं है । इसी प्रकार किसी देश वा कालमें सत्‌का कालान्तर या देशान्तरमें असत्त्व तथा किसी देश-कालमें असत्यका देशान्तर या कालान्तरमें सत्त्व सम्पादन किसीसे भी शक्य नहीं है, क्योंकि दोनोंमें युक्ति समान है । अतः दोनों सत् और असतोंमें नियतरूपता यानी सत्‌में सत्त्व और असत्‌में असत्त्व नियत है, न कि तार्किकमतसे उत्पत्तिके प्राक्काल तथा ध्वंसकालमें घटादि असत् तथा स्थितिकालमें सत् है—इत्यादि कुबुद्धिकल्पना ठीक नहीं है, इस विषयमें अधिक अद्वैतसिद्धिमें देखिये । इसलिए सत् ही वस्तु मायाकल्पित असन्निवृत्तिसे मोक्षभागी होती है । सन्मात्रदृष्टिसे तितिक्षा भी उत्पन्न होती है । अर्थात् जो है वह विनाशी नहीं है, जिसे विनाशी समझकर दुःखी होते हो । जब वह है ही नहीं, तो फिर दुःख करना उसके लिए मूर्खता ही है ॥ १६ ॥

नन्वेतादृशस्य सतो ज्ञानाद्भेदे परिच्छिन्नत्वापत्तेर्ज्ञानात्मकत्वमभ्युपे-
यम् । तच्चानाध्यासिकमन्यथा जडत्वापत्तेः । तथा चानाध्यासिकज्ञानरूपस्य
सतो धात्वर्थत्वादुत्पत्तिविनाशवत्त्वं घटज्ञानमुत्पन्नं घटज्ञानं नष्टमिति प्रती-
तेश्च । एवं चाहं घटं जानामीतिप्रतीतेस्तस्य साश्रयत्वं सविषयत्वं चेति
देशकालवस्तुपरिच्छिन्नत्वात्स्फुरणस्य कथं तद्रूपस्य सतो देशकालवस्तुपरि-
च्छेदशून्यत्वमित्याशङ्क्याऽऽह 'अविनाशि तु' इत्यादि । विनाशो
देशतः कालतो वस्तुतो वा परिच्छेदः सोऽस्यास्तीति विनाशि परिच्छिन्नं
तद्विलक्षणमविनाशि सर्वप्रकारपरिच्छेशून्यं तु एव तत्सद्रूपं स्फुरणं त्वं विद्धि
जानीहि । किं तत्, येन सद्रूपेण स्फुरणेनैकेन नित्येन विभुना सर्वमिदं दृश्य-
जातं स्वतः सत्तास्फूर्तिशून्यं ततं व्याप्तं स्वसत्तास्फूर्त्यध्यासेन रज्जुशकलेने-

उक्त सत् यदि ज्ञानसे भिन्न है, तो परिच्छिन्नत्व दोष होगा, इसलिए उसे ज्ञानस्वरूप ही कहना होगा । ज्ञान दो प्रकारका है—आध्यासिक और अनाध्यासिक। प्रथम पक्षमें जड़त्वापत्तिरूप दोष होगा । आध्यासिक ज्ञान होनेसे बुद्धि जड़ ही कह-लाती है। चैतन्यतादात्म्याध्याससे प्रकाशक होती है, पर स्वरूपसे जड़ ही है। एवं सत्में भी जड़त्वापत्ति होगी, अतः सत्को अनाध्यासिक ज्ञानरूप ही कहना पड़ेगा ओर वह ज्ञान 'ज्ञा'धात्वर्थ होगा, सो तो उत्पत्ति-विनाशवान् ही है । घटज्ञान उत्पन्न हुआ, घटज्ञान नष्ट हुआ, यह प्रतीति लोकमें प्रसिद्ध ही है । और भी देखिये सुनिये—मैं घट जानता हूँ-मैं घटज्ञानवान् हूँ, इस प्रतीतिसे ज्ञानमें सविषयत्व और साश्रयत्व प्रसक्तिसे देश-काल-वस्तुपरिच्छेद भी प्रतीत होता है, फिर स्फुरणरूप सत् देश-काल-वस्तुपरिच्छेदशून्य कैसे हो सकता है ? यह आशङ्काकर कहते हैं 'अविनाशी तु' इत्यादिसे ।

विनाश अर्थात् देशसे, कालसे, वस्तुसे जो परिच्छेद है वह जिसमें हो वह विनाशी है—परिच्छिन्न है, उससे विलक्षण अविनाशी है।

प्रश्न- वह कौन है ।

उत्तर—निखिलपरिच्छेदप्रकारशून्य 'सद्रूप स्फुरण' को तुम समझो यानी जान लो । जिस सद्रूप नित्य विभु एक स्फुरण से—जो स्वतः सत्तास्फुरणशून्य है, जिसकी सत्ता स्वयं नहीं जानी जाती, जड़की सत्ता चेतन के प्रकाशसे ही मानी जाती है ऐसा—सब सम्पूर्ण दृश्यप्रपञ्च व्याप्त है । आत्मसत्तास्फूर्त्तिके अध्याससे जैसे रज्जु

सर्पधारादि स्वस्मिन्समावेशितं तदविनाश्येव विद्धीत्यर्थः। कस्मात्, यस्माद्विनाशं परिच्छेदमव्ययस्यापरिच्छिन्नस्यापरोक्षस्य सर्वानुस्यूतस्य स्फुरणरूपस्य सतः कश्चित्कोऽपि आश्रयो वा विषयो वेन्द्रियसंनिकर्षादिरूपो हेतुर्वा न कर्तुमर्हति समर्थो न भवति कल्पितस्याकल्पितपरिच्छेदकत्वायोगात्। आरोपमात्रे चेष्टापत्तेः। अहं घटं जानामीत्यत्र हि अहंकार आश्रयतया भासते घटस्तु विषयतया। उत्पत्तिविनाशवती काचिदहंकारवृत्तिस्तु सर्वतो विप्रसृतस्य सतः स्फुरणस्य व्यञ्जकतया, आत्ममनोयोगस्य परैरपि ज्ञानहेतुत्वाभ्युपगमात्। तदुत्पत्तिविनाशेनैव च तदुपहिते स्फुरणरूपे सत्युत्पत्तिविनाशप्रतीत्युपपत्तेर्नैकस्य स्फुरणस्य स्वत उत्पत्तिविनाशकल्पनाप्रसङ्गः, ध्वन्यवच्छेदेन

खण्डसे सर्पधारादि व्याप्त है। रज्जुखण्ड ही में सर्पधाराका भान है वैसे ही स्वयंप्रकाश आत्म-स्फुरणमें सारा जड़वर्ग अध्यस्त होनेसे अधिष्ठानभूत आत्मस्फुरणसे ही स्फुरित होता है। उस सकल-दृश्याधिकरण परमार्थ सत्को अविनाशी ही समझो, यह तात्पर्य है।

प्रश्न—क्यों ?

उत्तर—यतः अपरिच्छिन्न अपरोक्षैकरस सर्वानुस्यूत स्फुरणरूप अव्यय सत्का कोई भी आश्रय, विषय या इन्द्रियसन्निकर्षादिरूप हेतु परिच्छेदात्मकविनाश नहीं कर सकता, उसके विनाशमें कोई समर्थ नहीं है। क्योंकि कल्पित (प्रातिभासिक) सत्ताक अकल्पित (पारमार्थिक) सत्ताकका परिच्छेदक नहीं होता। परिच्छेदका आरोप तो इष्ट है 'अहं घटं जानामि' (मैं घट जानता हूँ) यहाँपर अहमर्थका आश्रयरूपसे घटका विषयरूपसे भान है अर्थात् यन्निरूपित आश्रयत्व-विषयत्वका भान होता है वह उत्पत्ति-विनाशवती अन्तःकरणवृत्ति है, जो सौरालोकवत् सर्वत्र फैले हुये उस सद्रूप स्फुरणप्रकाशकी व्यञ्जिका है। नैयायिक भी आत्ममनःसंयोगको ज्ञानका कारण मानते ही हैं। अन्तःकरणगत उत्पत्ति-विनाशकी तदुपहित (तत्समीपस्थित) स्फुरणरूप सत्में प्रतीति होती है, अतः वस्तुतः एक स्फुरणमें स्वतः उत्पत्ति और विनाशकी कल्पना अयुक्त है। जैसे शब्द एक विभु आकाशमात्रमें व्याप्त है, वह सर्वत्र उपलब्ध नहीं होता, किन्तु जहाँ ध्वनि रहती है वहाँ शब्दोपलब्धि होती है। ध्वनिनाशसे शब्दानुपलब्धि होती है। इसीसे शब्द उत्पन्न हुआ, नष्ट हुआ, इत्यादि प्रतीति होती है। पर वस्तुतः विचार करनेपर शब्दव्यञ्जक ध्वनिकी उत्पत्ति और विनाश होता है, व्यङ्ग्यशब्दका

शब्दवद्घटाद्यवच्छेदेनाऽऽकाशवच्च । अहंकारस्तु तस्मिन्नध्यस्तोऽपि तदाश्र
तया भासते, तद्वृत्तितादात्म्याध्यासात् । सुषुप्तावहंकाराभावेऽपि तद्वासना
सिताज्ञानभासकस्य चैतन्यस्य स्वतःस्फुरणात् । अन्यथैतावन्तं काल
किमपि नाज्ञासिषमिति सुषुप्तोत्थितस्य स्मरणं न स्यात् । न चोत्थित

नहीं। फोनोग्राफ, रेडियो, इत्यादि यन्त्रोंसे यह स्पष्ट हो गया है कि शब्द
जो क्षणिक कहते हैं, वे व्यंजकध्वनिको ही शब्द समझते हैं, सो ठीक न
है। अस्तु, इसी तरह घटाकाश उत्पन्न हुआ, नष्ट हुआ—इत्यादि प्रतीति घटा
त्पत्ति और विनाशको आकाशमें आरोपित भान कराती है। अहंकार य
स्फुरणमें अध्यस्त है, अतः स्फुरणाश्रितरूपसे उसकी प्रतीति होनी चाहिये, प
ऐसा नहीं होता, किन्तु स्फुरणाश्रयरूपसे उसकी प्रतीति होती है।

प्रश्न—क्यों ?

उत्तर—अहङ्कारकी वृत्तिका स्फुरणमें तादात्म्याध्यास होनेसे स्फुरणवृत्त्या
ज्ञान होता है। वृत्ति अहंकारमें ही है, अतः तद्रूपेण ज्ञात स्फुरण भी अहम
श्रितरूपसे ही प्रतीत होता है।

शंका—यदि अहंकारवृत्तिसे चैतन्यका भान होता है, तो वृत्तिको
प्रकाशक मानिये, तदतिरिक्त स्फुरणके सद्भावको क्यों मानते हैं ?

समाधान—सुषुप्तिदशामें अहंकार नहीं रहता, अतएव वृत्तिका सुतरां अभाव
फिर भी अहंकारवासनाविशिष्ट अज्ञानभासक चैतन्यका स्वतःस्फुरण अनुभ
सिद्ध है। इसलिये अहंकारवृत्त्यतिरिक्त स्वतःस्फुरण आवश्यक है। अन्य
स्फुरणात्मक चैतन्य न हो, तो इतने समयतक यानी सुषुप्तितक 'मैं कुछ नहीं ज
सका ?' यह स्मरण सुप्तोत्थित यानी जागे हुए पुरुषको नहीं होगा।

[प्रश्न—क्यों ?

उत्तर—संस्कारसे स्मरण होता है और संस्कार अनुभवसे होता है,
समान नियम है। सुषुप्तिकालादिका अनुभव यदि नहीं है, तो फिर संस्कार
होगा ? बिना संस्कारके उक्त स्मरण नहीं हो सकता। चूँकि स्मरण होता है, इ
लिये तात्कालिक अनुभव मानना आवश्यक है।

तावत्काल मैं कुछ नहीं जाना, यह तो सुप्तोत्थितको ज्ञान होता है, पर
यह स्मरण होता है, इसमें कुछ प्रमाण नहीं, इसलिए यह अनुमानात्मक ज्ञान है

ज्ञानाभावानुमितिरियमिति वाच्यम् सुषुप्तिकालरूपपक्षाज्ञानाल्लिङ्गासंभवाच्च । अस्मरणादेर्व्यभिचारित्वात्स्मरणाजनकनिर्विकल्पकाद्यभावासाधकत्वाच्च । ज्ञा-

कैसा अनुमान है, यदि यह कहिये, तो सुनिये—अहं तदा ज्ञानसामान्याभाववान्, ज्ञानसामान्यप्रयोजकसामग्रीशून्यत्वात्, यदा नैवं तदा नैवम्, यथा जागरितः। कारणके बिना कार्य नहीं होता, यह तो विदित ही है। ज्ञानोत्पत्तिका साधारण कारण आत्ममनःसंयोग है, इसके बिना ज्ञानमात्र नहीं होते। सुषुप्तिदशामें मन पुरीतति नाडीमें प्रवेश करता है, इसलिये ज्ञानोत्पादक आत्ममनःसंयोगके न रहनेसे कोई ज्ञान नहीं होता, यह न्यायमत है। कारणाभावसे कार्याभावका अनुमान सर्वसंमत है, अतः उक्त ज्ञान स्मरणस्वरूप नहीं है, इसलिये उक्त स्फुरणमें कोई प्रमाण नहीं है।] यह जागे हुए पुरुष के ज्ञानाभावका अनुमान ठीक नहीं है, क्योंकि हेतुपक्षादिज्ञानके बिना अनुमान नहीं होता। सुषुप्तिकालीन आत्म-पक्षज्ञान तथा सामग्रीविरहरूप हेतुका ज्ञान उस समय कैसे हुआ? क्योंकि उस समय न तो उक्त पक्ष ही है और न हेतु ही है।

[यदि पूर्वापरकालसे मध्यकालका अनुमान करनेसे सुषुप्तिकालका पूर्वदिनावगत पदार्थस्मरणसे तत्कालमें आत्मसत्ताका अनुमान कर तत्कालीन आत्मामें अनुमित ज्ञानकारणाभावसे ज्ञानसामान्याभावका अनुमान है – 'न किञ्चिदवेदिषम्' इत्यादि। यदि यह कहें, तो यह भी ठीक नहीं। क्योंकि उक्त रीतिसे कथंचित् पक्षका ज्ञान हो भी जाय, तो भी ज्ञानाभावका यानी लिङ्गज्ञानजनकसामग्र्यभावका ज्ञान कैसे होगा। आत्ममनःसंयोगके बिना तदभावज्ञान नहीं हो सकता। आत्ममनःसंयोग उस कालमें है नहीं। यदि यह कहिये कि यदि उस कालमें ज्ञान होता, तो उसका स्मरण होता—जैसे स्वप्नका स्मरण होता है। चूँकि कुछ भी स्मरण नहीं है, इसलिये अस्मर्यमाणत्व ही हेतु है। सो भी ठीक नहीं, क्योंकि जितने ज्ञान उत्पन्न होते हैं, सबका स्मरण होता है, यह नियम नहीं है, क्योंकि उपेक्षात्मक ज्ञानका स्मरण नहीं होता और न उसके विषयका ही स्मरण होता है, अतएव नियमेनास्मर्यमाणत्व भी व्यभिचारी है। ग्राम जानेके समय अनेक तृणादिका स्पर्श होता है, पर सबका स्मरण नहीं होता, अन्यथा स्मरणमें ही मन व्यग्र रहेगा, तो ज्ञानान्तरोत्पत्तिका अवकाश ही न मिलेगा। एक कालमें विजातीय अनेक ज्ञान मनमें नहीं होते। देखिये न्यायसूत्र—'युगपज्ज्ञानानुपपत्तिर्मनसोलिङ्गम्'। अच्छा तो ज्ञानसामान्याभावसे ज्ञानसामग्र्याभावका अनुमान होगा, इसमें अन्योन्याश्रय दोष है—ज्ञानाभावसे तत्सामग्र्यभावका, तत् सामग्रीके अभावसे ज्ञानाभावका अनुमान यह व्यक्त ही अन्योन्याश्रय दोष है।

ज्ञानसामग्र्यभावस्य चान्योन्याश्रयग्रस्तत्वात् । तथा च श्रुतिः "यद्वै तन्न पश्यति पश्यन्वै तद्द्रष्टव्यं न पश्यति न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वात्" इत्यादि सुषुप्तौ स्वप्रकाशस्फुरणसद्भावं तन्नित्यतया दर्शयति । एवं

उक्तरीतिसे हेत्वन्तर स्मर्यमाणत्वादि व्यभिचारी है। किञ्च, ज्ञानाभावानुमान-पक्षमें सामग्रीके अभावज्ञानके लिये हेत्वन्तरज्ञान आवश्यक है। वह भी ज्ञान अनुमानात्मक ही होगा; इसलिये तज्ज्ञानार्थ पुनः हेत्वन्तरज्ञान तदर्थ पुनः हेत्वन्तरज्ञान, तदर्थ पुनः पुनः—इसतरह अनवस्था दोष भी है। किञ्च, अभाव-ज्ञानमें प्रतियोग्यधिकरणज्ञान कारण है। प्रतियोग्यादिका जो ज्ञान होगा, वह तो ज्ञानसामान्य ही होगा और ऐसा होनेसे तदभावानुमान ही असंगत हो जायगा। इस तरह जब उन दोनोंका ज्ञान न होगा, तो फिर अभावज्ञानके कारणके अभावसे तज्ज्ञान हो ही नहीं सकता, यह दोषपरम्पराव्यसन दुस्तर है।

भेदसादृश्य जैसे स्वरूपसे निर्विकल्पकज्ञानवेद्य होते हैं एवं अभाव भी उक्तोभयज्ञानके बिना स्वरूपेण तज्ज्ञानगोचर है, अन्यथा निर्विकल्पकपूर्वक सविकल्पक ज्ञान होता है, कारण कि विशिष्टज्ञानमें विशेषणज्ञान कारण होता है, यह तार्किकसिद्धान्त है। अभावसादृश्य सप्रतियोगिक है। किसका अभाव, किसके सदृश, यह नियमेन अपेक्षा होती है। सबका अभाव या सादृश्य सर्वत्र नहीं होता, किन्तु किसीका किसीमें होता है, इसलिये प्रतियोग्यादिप्रकारक ही भेदसादृश्यादि ज्ञान होते हैं,निर्विकल्पक नहीं, इसलिये स्वरूपेण कहा गया है। भेदत्वेन सादृश्यत्वेन तज्ज्ञान सप्रकारक ही होगा, यह ठीक है, किन्तु भेदादि वस्तुस्वरूप हैं। नैयायिक सादृश्यको अतिरिक्त नहीं मानते । वस्तुस्वरूपसे ज्ञान उक्त कारणके बिना भी होता है इस शङ्काकी निवृत्तिके लिये कहते हैं—'अस्मरणादे०' इत्यादि ।] स्मरणाभावके व्यभिचारी होनेसे सुषुप्तिकालमें निर्विकल्पक ज्ञानाभावका ज्ञान होनेपर भी तो वह स्मरणजनक नहीं होता, क्योंकि सविकल्पक ज्ञान ही संस्काराधायक होता है, निर्विकल्पक नहीं, अतः स्मरणाजनक निर्विकल्पक सुषुप्तिकालीन ज्ञान तत्कालमें ज्ञानाभावका साधक नहीं है और ज्ञानसामग्र्यभाव भी उक्त न्यायसे अन्योन्याश्रय तथा अनवस्थादोषसे दुष्ट है। उक्त कालमें ज्ञान रहता है, एतदर्थक श्रुति देखिये—'यद्वै तन्न पश्यति पश्यन् वै तद्द्रष्टव्यं न पश्यति' इत्यादि। [इस विषयकी विशेष जिज्ञासा हो, तो वेदान्तके बड़े-बड़े ग्रन्थोंको देखिये। यहाँ संक्षिप्त ही लिखना उचित है।] सुषुप्तिकालमें स्वप्रकाश स्फुरणकी सत्ता 'पश्यन् वै

घटादिर्विषयोऽपि तदज्ञातावस्थाभासके स्फुरणे कल्पितः, य एव प्रागज्ञातः स एवेदानीं मया ज्ञात इति प्रत्यभिज्ञानात् । अज्ञातज्ञापकत्वं हि प्रामाण्यं सर्वतन्त्रसिद्धान्तः । यथार्थानुभवः प्रमेति वदद्भिस्तार्किकैरपि ज्ञातज्ञापिकायाः स्मृतेर्व्यावर्तकमनुभवपदं प्रयुञ्जानैरेतदभ्युपगमात् । अज्ञातत्वं च घटादेर्न चक्षुरादिना परिच्छिद्यते तत्रासामर्थ्यात्तज्ज्ञानोत्तरकालमज्ञानस्यानुवृत्तिप्रसङ्गाच्च । नाप्यनुमानेन, लिङ्गाभावात् नहीदानीं ज्ञातत्वेन प्रागज्ञातत्वमनुमातुं

से श्रुति स्पष्टबोधन करती है। उसमें नित्यत्वसिद्धिके लिये अविनाशित्व हेतुका स्फुट निर्देश है। जैसे सवृत्तिक अहंकारका स्वप्रकाश स्फुरणमें अध्यास है वैसे ही घटादि पदार्थका घटाद्यज्ञानावस्थाभासक स्फुरणमें अध्यास कल्पित है। जड़-घटादिके भानार्थ स्फुरणमें अध्यास आवश्यक है। अज्ञातावस्थामें स्थित घटादिकी उसमें कल्पना क्यों होती है, यह नहीं कह सकते, क्योंकि जो पूर्वमें अज्ञात घटादि था वही अब प्रत्यभिज्ञात हुआ, ऐसी प्रत्यभिज्ञा (ज्ञातज्ञान होती है। [इस ज्ञानके द्वारा पूर्वापरकालावस्थित पदार्थमें ऐक्यका भान होता है। वही यह देवदत्त है, जिसको मथुरामें देखा था। देश-कालसे भिन्न होनेपर भी व्यक्तिमें अभेदप्रतीति होती है और घटज्ञान प्रामाण्यार्थ भी उक्तावस्थाविशिष्ट घटका स्वीकार अपेक्षित है] अज्ञातज्ञापकत्व स्मृतिव्यावृत ज्ञानमें प्रामाण्य है, यह सब शास्त्रकारोंका सिद्धान्त है।

शंका—नैयायिकोंने तो 'यथार्थानुभव' प्रमाका लक्षण किया है 'अज्ञातज्ञापकत्व' नहीं किया है, अतः यह सर्वतन्त्रसिद्धान्त कैसे ?

समाधान—शब्दतः भिन्न लक्षण है, पर अर्थतः उक्त लक्षण उन्हें भी अभिमत है। अनुभवपद स्मृतिव्यावृत्यर्थ ही है, अन्यथा 'यथार्थज्ञानं प्रमा' ऐसा ही लक्षण करते। ज्ञात पदार्थोंकी ज्ञापिका स्मृतिके व्यावर्तक अनुभव-पदका प्रयोग नहीं करते। यथार्थानुभवजन्य स्मृति भी यथार्थ है, परन्तु पदार्थव्यवस्थामें स्मृतिमूलभूतानुभवप्रामाण्य ही प्रयोजक होता है, क्योंकि वह स्वतन्त्र है। स्मृतिप्रामाण्य अनुभवप्रामाण्याधीन होनेसे गौण माना जाता है। गुण और प्रधानमें प्रधानका ही सर्वत्र आदर होता है। घटादिनिष्ठ अज्ञातावस्थाका चक्षुरादिसे ज्ञान नहीं हो सकता, क्योंकि उसमें सामर्थ्य नहीं है। यदि सामर्थ्य माना जाय, तो चक्षुर्विषयसंयोगोत्तरकालमें अज्ञानकी अनुवृत्ति हो जायगी। तो फिर अनुमानसे तद्ग्रहण कह सकते हैं। इस समयमें यह ज्ञात हुआ, इससे पूर्वमें अज्ञात था। 'इदं पूर्वमज्ञातम्' इदानींज्ञातत्वात्' यन्नैवं तन्नैवम्,

शक्यम्, धारावाहिकानेकज्ञानविषये व्यभिचारात्। इदानीमेव ज्ञातत्वं तु प्रा ज्ञातत्वे सतीदानीं ज्ञातत्वरूपं साध्याविशिष्टत्वादसिद्धम्। न चाज्ञातावस्था ज्ञानमन्तरेण ज्ञानं प्रति घटादेर्हेतुता ग्रहीतुं शक्यते, पूर्ववर्तित्वाग्रहात्। घ

यथा ज्ञानम्' यह अनुमानका रूप होगा। यह भी नहीं कह सकते, क्योंकि लिङ्ग अभाव है अर्थात् दो चार मिनट तक घटज्ञान ही निरन्तर होता रहे, मध्यमें ज्ञान न्तर यदि न हो,तो उसे धारावाहिक ज्ञान कहते हैं। इसमें प्रथमज्ञानका विषय उत्तरोत्तरज्ञानका विषय होता है, अतः उत्तरोत्तरज्ञानमें पूर्व-पूर्वज्ञान ज्ञातज्ञापक ही है, अज्ञातज्ञापकत्व नहीं। साध्याभाववान्में हेतुकी सत्ता होनेसे व्यभिचार है।

[जिस ज्ञानमें अज्ञातज्ञापकत्वरूप प्रामाण्य विवक्षित हो तज्ज्ञानाज्ञात ज्ञापकत्वरूप अभीके ज्ञातत्वहेतुसे प्राक्कालमें तज्ज्ञानाज्ञानत्वरूप प्राक्काल ज्ञातत्वका अनुमान करें, तो उक्त रीतिसे व्यभिचार नहीं है।

व्यभिचार तो नहीं है, पर उसका भाई साध्यसम दोष होगा अनुमितिमें पाँच दोष प्रधान हैं—सव्यभिचार, विरुद्ध, प्रकरणसम, साध्य सम और अतीत काल। इनमें कोई भी दोष हेतुमें रहे, तो वह साध्य नुमापक नहीं होता। साध्यसम उसको कहते हैं, जो साध्यके समान अनुमान पूर्व पक्षमें ज्ञात न हो। ज्ञात हेतुसे अज्ञात साध्यका अनुमान पक्षमें होता यह अनुमानकी प्रणाली है। यदि साध्यवत्साधन भी पक्षमें ज्ञात न हो, उन साध्य-साधनोंमें साध्य-साधनभाव ही कैसा? उनमें कौन साध्य है कौन साधन है—इसका निर्णय ही नहीं हो सकता। दोनों अज्ञातत्वेन साध्य हो सकते हैं। फिर भी यदि साध्य-साधनभाव कहें, तो विनिगमकविरह विपरित ही क्यों न कहें। अतः साध्यसम हेतु हेत्वाभाससे दुष्ट होनेसे अनुमा नहीं है।] इदानीमेव अर्थात् अभीके ज्ञातत्वसे पूर्व कालके अज्ञातत्वविशि एतज्ज्ञानविषयत्व हेतुका लाभ होगा। एवकारसे प्रागज्ञातत्वरूप साध्यका हेतुदलमें प्रवेश हो गया। साध्य तो अनुमानसे पूर्वमें अज्ञात रहता ही अन्यथा अनुमान ही न होगा। साध्यघटित हेतु ही साध्यसम है, अतः प्रागज्ञातत्व का अनुमान नहीं हो सकता, क्योंकि हेतु असिद्ध है। [प्रकारान्तरसे अज्ञातत्वांशग्रहणका उपपादन करते हैं—] यदि घटकी अज्ञातावस्था ज्ञान न होगा, तो घटज्ञानके प्रति घट कारण है, यह भी नहीं सिद्ध होगा, कारण कार्योत्पत्तिप्राक्क्षणवृत्तित्वरूप है। घटज्ञानोत्पत्तिसे पूर्व क्षणमें घट है,

न जानामिति सार्वलौकिकानुभवविरोधश्च । तस्मादज्ञातं स्फुरणं भासमानं स्वाध्यस्तं घटादिकं भासयति घटादीनामज्ञाते स्फुरणे कल्पितत्वसिद्धिः, अन्यथा घटादेर्जडत्वेनाज्ञातत्वतद्भानयोरनुपपत्तेः । स्फुरणं चाज्ञातं स्वाध्य-

ज्ञान होनेपर उसके ज्ञानकारणत्वका घटमें ग्रहण कर सकते हैं, अन्यथा किससे पूर्ववर्तित्वका ग्रहण करेंगे, अतः अज्ञातत्वविशिष्ट घटका उसकी ज्ञानोत्पत्तिसे पूर्वमें भी साक्षीसे ग्रहण होता है, यह सिद्ध हुआ । 'घटमहं न जानामि' यह सर्वलोकानुभव भी अज्ञानमें प्रमाण है । इसका विरोध होने लगेगा । [घटविषयका ज्ञानवान् अहम्, यह प्रत्यक्ष है । अज्ञानका साक्षीसे यदि प्रत्यक्ष न हो, तो फिर उसकी प्रतीति नहीं हो सकती ।

शङ्का—उक्त प्रतीति घटज्ञानाभावविषयक होनेसे भी हो सकती है । जिस इन्द्रियसे जिसका प्रत्यक्ष होता है उसी इन्द्रियसे उसके अभावका भी प्रत्यक्ष होता है, इस नियमके अनुसार ज्ञानका मानस प्रत्यक्ष है, अतः ज्ञानाभावका भी मानस प्रत्यक्ष है । 'घटमहं न जानामि ? मैं घटविषयक अज्ञानवान् हूँ, यह प्रत्यक्ष तो है ही ।

समाधान—अभावज्ञानमें प्रतियोग्यधिकरणज्ञान कारण है । यदि उभयज्ञान है, तो घटज्ञानाभाव विषय ही नहीं है । यदि नहीं है, तो ज्ञानाभावग्राहक सामग्री नहीं है । फिर उसके अभावका ज्ञान कैसे ? विस्तृत विवरण अन्यत्र देखिये ।]

इसलिये अज्ञात भासमान स्फुरण अर्थात् स्वयंप्रकाश स्फुरण स्वाध्यस्त घटादिका भासक है । अतः घटादि अज्ञात कल्पित है, यह सिद्ध हुआ, अन्यथा जडघटादिमें अज्ञातत्व और भान दोनोंकी अनुपपत्ति होगी ।

[यदि कहिये क्यों ? तो सुनिये—जड़के स्वयं प्रकाशानई होनेसे उसमें आवरण अपेक्षित नहीं है । जैसे प्रदीपके आलोकको तिरोहित करनेके लिये वही आवृत किया जाता है, घटादि नहीं । जिसके अनावरणसे घटादिमें प्रकाशप्रसक्ति है उसीमें प्रकाशनिवृत्तीच्छासे आवरण उचित है, घटादि तो स्वयं आवृत ही है, यदि प्रदीपादिके प्रकाशसे योग न हो ।

शङ्का—घटादिको भी छिपाते हैं यानी अप्रकाशार्थ कोठरीके भीतर रख देते हैं । कदाचित् दूसरी वस्तुसे ढक देते हैं ?

स्तेनैवाज्ञानेनेति स्वयमेव भगवान्वक्ष्यति—"अज्ञानेनाऽऽवृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः" इत्यत्र। एतेन विभुत्वं सिद्धम्। तथाच श्रुतिः "महद्भूत-मनन्तमपारं विज्ञानघन एव" इति "सत्यं ज्ञानमनन्तम्" इति च ज्ञानस्य महत्त्वमनन्तत्वं च दर्शयति। महत्त्वं स्वाध्यस्तसर्वसंबन्धित्वमनन्तत्वं त्रिविध-परिच्छेदशून्यत्वमिति विवेकः। एतेन शून्यवादोऽपि प्रत्युक्तः, निरधिष्ठानभ्र-मायोगान्निरवधिबाधायोगाच्च। तथा च श्रुतिः "पुरुषान्न परं किंचित्सा काष्ठा सा परा गतिः" इति सर्वबाधावधिं पुरुषं परिशिनष्टि। उक्तं च भाष्यकारैः सर्वं विनश्यद्वस्तुजातं पुरुषान्तं विनश्यति पुरुषो विनाशहेत्वभावान्न वि-

समाधान—हां, ऐसा भी होता है, परन्तु उसका तात्पर्य प्रकाशसंबंध रोकने में है। सूर्यप्रकाशको साक्षात् नहीं रोक सकते, इसलिये ऐसा उपाय करते हैं परन्तु वास्तवमें प्रकाशतिरोधानके लिये ही होता है,इसलिये जड़में अज्ञान न मानकर चेतनमें अज्ञान माना जाता है। अध्यासके बिना जड़में प्रकाशकी अनुपपत्ति स्पष्ट है। आगके अध्यासके बिना लोहामें प्रकाश कहाँ रहता है ?

प्रश्न—अच्छा तो स्फुरणका तिरोधायक कौन है ?

उत्तर—अज्ञान।

प्रश्न—अज्ञान यदि स्फुरणमें मानते हैं, तो निर्विशेष चिन्मात्र स्फुरण कैसे ?

उत्तर—वास्तविक अज्ञानकी स्थिति नहीं मानते, किन्तु यह मरीचिमें जल-स्थितिवत् अध्यस्त है। अध्यस्तका दोष-गुण अधिष्ठानमें नहीं आता, यह तो स्पष्ट है।]

अज्ञानने ज्ञानमें अध्यस्त होकर उसे आवृत किया है, यह भगवान् स्वयं आगे कहेंगे—'अज्ञानेनावृतम्' इस श्लोकमें। इससे स्फुरणमें विभुत्व भी सिद्ध होता है देखिये—'महद्भूतमनन्तमपारम्' 'विज्ञानघन एव' यह तथा 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' यह श्रुति भी ज्ञानकी महत्ता तथा अनन्तता दिखलाती है। स्व यानी स्फुरण। उसमें अध्य-स्त समस्त प्रपंच तत्संबन्धित्व महत्त्व तथा त्रिविधपरिच्छेदशून्यत्व अनन्तत्व है, यह जान लेना चाहिये। श्रुतिसंमत स्फुरणनिरूपणसे शून्यवाद भी निरस्त हुआ, क्योंकि निरधिष्ठान भ्रम अदृष्टचर है और बाध भी निरवधि नहीं होता। शून्यवादमें उपर्युक्त दोनों आपत्तियाँ हैं। देखिये—'पुरुषान्न परं किञ्चित्' यह श्रुति भी पुरुषको संपूर्ण बाधाओंकी अवधि घोषित करती है। 'सर्वं विनश्यद्वस्तुजा-

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः ।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत ॥ १८ ॥

ये सभी देह विनाशशील हैं। वे सबके सब नित्य, अपरिच्छिन्न आत्माके सम्बन्धी कहे गये हैं। चूँकि पूर्वोक्त न्यायसे नित्य, विभु, असंसारी तथा सदा एकरूप रहनेवाला आत्मा है, इसलिए हे भारत, तुम युद्ध करो—आत्माके नाशकी व्यर्थ आशङ्काकर युद्धसे मुख न मोड़ो ॥ १८ ॥

श्यति" इति । एतेन क्षणिकवादोऽपि परास्तः, अबाधितप्रत्यभिज्ञानादन्यदृष्टान्यस्मरणाद्यनुपपत्तेश्च । तस्मादेकस्य सर्वानुस्यूतस्य स्वप्रकाशस्फुरणस्य सतः सर्वप्रकारपरिच्छेदशून्यत्वादुपपन्नम्—'नाभावो विद्यते सतः' इति ॥ १७ ॥

ननु स्फुरणरूपस्य सतः कथमविनाशित्वं तस्य देहधर्मत्वाद्देहस्य चानुक्षणविनाशादिति भूतचैतन्यवादिनस्तान्निराकुर्वन्नासतो विद्यते भाव इत्येतद्विवृणोति—'अन्तवन्त' इति । अन्तवतो विनाशिन इमेऽपरोक्षा देहा उपचितापचितरूपत्वाच्छरीराणि । बहुवचनात्स्थूलसूक्ष्मकारणरूपा विराट्सूत्राव्याकृताख्याः समष्टिव्यष्ट्यात्मानः सर्वे नित्य-

पुरुषान्तः०' इत्यादि वाक्यसे भाष्यकारने भी बाधको सावधि कहा है, निरवधि नहीं । विनाशकी अवधि साक्षी पुरुषको बतलाती है । स्फुरणमें विभुत्वके व्यवस्थापनसे क्षणिक बाद भी निरस्त हुआ । [जिस मैंने बाल्यमें पिता माताका अनुभव किया, वही मैं वृद्धावस्थामें पौत्रोंका अनुभव करता हूँ, यह बाल्य और वार्द्धक्यमें एक ही स्थिर आत्मा है, इसका साधक अबाधित प्रत्यभिज्ञानात्मक ज्ञान है। और अन्यानुभूत पदार्थका स्मरण भी अन्यको नहीं होता, यह भी एक बात है। क्षणिक आत्मा होनेपर तो उक्त स्मरण नहीं हो सकेगा। इसलिये क्षणिकत्वपक्ष अयुक्त है।] अतः एक सर्वत्रानुवृत स्वयंप्रकाशात्मक स्फुरणमें सर्वप्रकारसे परिच्छेदशून्यत्व उपपन्न है। इस तात्पर्यसे 'नाभावो विद्यते सतः' यह समीचीन है ॥१७॥

स्फुरणरूप सत् अविनाशी क्यों ? स्फुरण देहधर्म है। देह प्रतिक्षण परिणामी होनेसे तद्धर्म स्फुरण भी प्रतिक्षण विनाशी है, यह भूतचैतन्यवादी चार्वाकादि कहते हैं। उनके निराकरणार्थ 'नासतो विद्यत भावः' इत्यादिका विवरण करते हैं—'अन्तवन्त' इत्यादिसे। ये अपरोक्ष देह अन्तवान्—विनाशी हैं, क्योंकि प्रतिक्षण शरीर आगन्तुकावयवोंसे उपचित और वर्तमान अवयवोंसे अपचित होते रहते हैं। शरीरमें अवयवोंका संयोग और वियोग अनिवार्य्य है। बहुवचनसे

स्याविनाशिन एव शरीरिण आध्यासिकसंबन्धेन शरीरवत एकस्या ऽऽत्मनः स्वप्रकाशस्फुरणरूपस्य संबन्धिनो दृश्यत्वेन भोग्यत्वेन चोक्ता श्रुतिभिर्ब्रह्मवादिभिश्च । तथाच तैत्तिरीयकेऽन्नमयाद्यानन्दमयान् तान् पञ्च कोशान्कल्पयित्वा तदधिष्ठानमकल्पितं "ब्रह्मपुच्छं प्रतिष्ठा" इति दर्शितम्। तत्र पञ्चीकृतपञ्चमहाभूततत्कार्यात्मको विराण्मूर्तराशिरन्नमयकोशः स्थूलसमष्टिः । तत्कारणीभूतोऽपञ्चीकृतपञ्चमहाभूततत्कार्यात्मको हिरण्यगर्भः सूत्रममूर्तराशिः सूक्ष्मसमष्टिः "त्रयं वा इदं नाम रूपं कर्म" इतिबृहदारण्यकोक्तत्र्यन्नात्मकः सर्वकर्मात्मकत्वेन क्रियाशक्तिमात्रमादाय प्राणमयकोश उक्तः। नामात्मकत्वेन ज्ञानशक्तिमात्रमादाय मनोमयकोश उक्तः। रूपात्मकत्वेन तदुभयाश्रयतया कर्तृत्वमादाय विज्ञानमयकोश उक्तः। ततः प्राणमयमनोमयविज्ञानमयात्मैक एव हिरण्यगर्भाख्यो लिङ्गशरीरकोशः। तत्कारणीभूतस्तु मायोपहितचैतन्यात्मा सर्वसंस्कारशेषोऽव्याकृताख्य आनन्दमय

त्रिविध शरीरका संग्रह विवक्षित है। स्थूल, सूक्ष्म और कारणरूप तीन शरीर हैं विराट् सूत्र और अव्याकृत भी इनका नाम है। ये समष्टिव्यष्टि स्वरूप हैं। ये सब नित्य यानी अविनाशी आध्यासिक सम्बन्धसे शरीरी स्वप्रकाश स्फुरणरूप एक आत्माके दृश्यतया भोग्यरूपसे सम्बन्धी हैं, यह श्रुति,स्मृति तथा ब्रह्मवादियोंने कहा है। दृश्यत्वके द्रष्टृत्वनिरूपित तथा भोग्यत्वके भोक्तृत्वनिरूपित होनेसे और द्रष्टा भोक्ता प्रधान है। तदर्थ जड़वर्ग तद्देह है। यह तैत्तिरीयक श्रुतिमें स्पष्ट है। अन्नमय प्राणमय, मनोमय,विज्ञानमय, आनन्दमय—इन पाँच कोशोंकी कल्पनाकर इन पाँचों के प्रतिष्ठानको 'ब्रह्मपुच्छं प्रतिष्ठा' इत्यादिसे अकल्पित बतलाया है। पञ्चीभूत पञ्च महाभूत (पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश) तथा उनका जो कार्य तत्स्वरूप विराट् मूर्तराशि जो अन्नमय कोश है वह स्थूलसमष्टि है। इसका कारणीभूत अपञ्चीभूत पञ्चमहाभूत तथा तत्कार्यात्मक हिरण्यगर्भ (सूत्र) अमूर्त राशि जो सूक्ष्मसमष्टि है वह 'त्रयं वा इदं नाम रूपं कर्म' इस बृहदारण्यकोक्ति त्र्यन्नात्मक सम्पूर्ण कर्मस्वरूप होनेसे एकमात्र क्रियाशक्तिको लेकर प्राणमयकोश कहा गया है। नामात्मक होनेसे ज्ञानशक्ति लेकर मनोमयकोश कहा गया है रूपात्मक होनेसे तदुभयाश्रय कर्तृत्व लेकर विज्ञानमयकोश कहा गया है। इसमें प्राणमय-मनोमय-विज्ञानमयात्मा एक ही हिरण्यगर्भनामक लिङ्गशरीरकोश है। उसके कारणरूपसे स्थित मायोपहित चैतन्यात्मा सर्व-संस्कारोंका शेषरूप अव्याकृत

कोशः। ते च सर्व एकस्यैवाऽऽत्मनः शरीराणीत्युक्तम्। "तस्यैष एव शारीर आत्मा यः पूर्वस्य" इति। तस्य प्राणमयस्यैष एवं शरीरे भवः शारीर आत्मा यः सत्यज्ञानादिलक्षणो गुहानिहितत्वेनोक्तः पूर्वस्यान्नमयस्य। एवं प्राणमय-मनोमयविज्ञानमयानन्दमयेषु योज्यम्। अथवेमे सर्वे देहास्त्रैलोक्यवर्तिसर्व-प्राणिसंबन्धिन एकस्यैवाऽऽत्मन उक्ता इति योजना। तथा च श्रुतिः—

"एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च"

इति सर्वशरीरसंबन्धिनमेकमात्मानं नित्यं विभुं दर्शयति। ननु नित्यत्वं यावत्कालस्थायित्वम्' तथाचाविद्यादिवत्कालेन सह नाशेऽपि तदुपपन्नमित्यत आह—'**अनाशिनः**' इति। देशतः कालतो वस्तुतश्च परि-

---

नामवाला आनन्दमयकोश है। ये सब एक ही आत्माके शरीर हैं, यह कहा गया है। इसमें श्रुति भी प्रमाण है, देखिये—'तस्यैव एष शारीर आत्मा यः पूर्वस्य' (उस प्राणमय कोशका यह शारीर—आत्मा है, जो पूर्वकोशका है)। [प्राणमय शरीरमें मायोपहित चैतन्यात्मा सर्वसंस्कारशेष होनेसे अव्याकृत कहलाता है। समस्त प्रपञ्चसंस्काररूपसे – शक्तिरूपसे रहता है। उसीसे प्रपञ्चका आविर्भाव होता है। सत्कार्यवादसिद्धान्तके अनुरोधसे कार्य अपने कारणमें लीन रहता है—सूक्ष्मरूपसे अवस्थित रहता है, अतः वह सर्वसंस्कारशेष है।] सत्यज्ञानादिरूप गुहानिहित शारीर–आत्मा जो प्राणमयकोशका है, वही पूर्वोक्त अन्नमयकोशका भी है। एवं प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमयोंमें भी योजना करनी चाहिये। अथवा ये सब शरीर सकललोकवर्त्ती तथा सर्वप्राणसम्बन्धी एक ही आत्माके कहे गये हैं, यह योजना करनी चाहिए। इसमें प्रमाण श्रुति है—'एको देवः सर्व०' इत्यादि। यह श्रुति सर्वशरीरसम्बन्धी एक, नित्य, विभु, आत्माको स्पष्ट दिखलाती है।

शङ्का—यदि यावत्कालावस्थायित्व नित्यत्व है, तो अविद्या यावत्कालस्थायी है, इसलिये नित्यत्व उसमें उपपन्न हो जायगा।

समाधान—काल भी अविद्या का विकार है, अतः उसके नाशके साथ काल-का भी नाश हो जाता है। इसलिये यावत्कालस्थायी नित्य वह कहलाती है। कालनाशोत्तर न रहनेपर भी उसके नित्यत्वमें कोई क्षति नहीं है, इसी अभिप्रायसे कहते हैं—'**अनाशिनः**' इत्यादि। अविद्यादि देश, काल और वस्तुसे

च्छिन्नस्याविद्यादेः कल्पितत्वेनानित्यत्वेऽपि यावत्कालस्थायित्वरूपमौप-
रिकं नित्यत्वं व्यवह्रियते "यावद्विकारं तु विभागो लोकवत्" इतिन्याया
आत्मनस्तु परिच्छेदत्रयशून्यस्याकल्पितस्य विनाशहेत्वभावान्मुख्यमेव
स्थनित्यत्वं नतु परिणामिनित्यत्वं यावत्कालस्थायित्वं चेत्यभिप्रायः। न
तादृशे देहिनि किंचित्प्रमाणमवश्यं वाच्यम् अन्यथा निष्प्रमाणस्य तस्या

परिच्छिन्न होनेके कारण कल्पित हैं, अतएव अनित्य हैं, फिर भी उनमें नि
व्यवहार जो होता है वह औपचारिक ही होता है यानी अगत्या याव
स्थायित्वनिमित्तक ही मानना पड़ता है क्योंकि 'यावद्विकारन्तु विभागो लोक
यह सूत्रोक्त न्याय है।

[उक्त सूत्रमें आकाशोत्पत्तिकी शङ्काके वारण के लिए यावद्विकार
जितने विकार दृष्ट हैं, वे किसीसे विभक्त हैं*, जो अविकृत हैं, वे विभक्त
हैं। आकाशका विभाग पृथिव्यादिसे है, इसलिये उत्पत्ति भी आवश्यक है।

शङ्का—इस प्रकार तो आत्मा भी आकाशादिसे विभक्त है, इसलिये घटा
के समान उसमें भी कार्यत्वप्रसक्ति आ जायगी।

समाधान—ऐसा नहीं, आत्मासे आकाश हुआ, यह तो 'आत्मनः आका
सम्भूतः' इस श्रुतिवाक्यमें सुना गया है। किन्तु आत्मा किसीसे उत्पन्न हुआ
एतदर्थक वाक्य कहाँ सुना गया है, कहीं नहीं। आत्माकी उत्पत्ति माननेमें अ
वस्था-शून्यवादापत्त्यादि दोष भी है। उत्पन्न विनाशी होता है। आत्माकी य
उत्पत्ति होगी, तो उसके विनाशकी भी आपत्ति होगी। आत्माका निराक
असम्भव है। आत्मा ही निराकर्त्ता है। वह विद्यमानदशामें अपना निषेध
ही नहीं सकता। अविद्यमान दशामें जो स्वयं नहीं है, तो फिर
अपने अभावका दर्शी कैसे हो सकता है ? असाक्षिक अभाव
कोई प्रमाण नहीं है—इत्यादि विशेष बातें भाष्यादिमें देखिये।
प्रकृतमें सत् परिच्छेदत्रयशून्य अकल्पित आत्मा विनाशकारणाभावसे कूटस्थनि
है। परिणामिनित्य नहीं, किन्तु कूटस्थनित्य ही मुख्य नित्यशब्दार्थ है। प
णामिनित्य तो गौण है। अभिप्राय यह कि यावत्कालस्थायित्व गौण ही है
एवंभूत देहीमें कुछ प्रमाण अवश्य कहना चाहिए, अन्यथा नि

* कारणसे कार्यका विभाग उत्पत्ति है। अविभाग और नाशको ही स्वरूप
आविर्भाव और तिरोभाव कहते हैं—एतत्परक यहाँ विभागशब्द है।

त्वापत्तेः शास्त्रारम्भवैयर्थ्यापत्तेश्च । तथाच वस्तुपरिच्छेदो दुष्परिहरः "शास्त्रयोनित्वात्" इति न्यायाच्च, अत आह—'**अप्रमेयस्य**' इति । "एकधैवानुद्रष्टव्यमेतदप्रमयं ध्रुवम्" अप्रमयमप्रमेयम् ।

"न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः ।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति"

इति च श्रुतेः स्वप्रकाशचैतन्यरूप एवाऽऽत्माऽतस्तस्य सर्वभासकस्य स्वभानार्थं न स्वभास्यापेक्षा, किंतु कल्पिताज्ञानतत्कार्यनिवृत्त्यर्थं कल्पित-

---

माण ईदृश आत्मामें अलौकिकत्वापत्ति तथा शास्त्रारम्भवैयर्थ्य ये दो दोष आ जायँगे। सभी शास्त्र आत्माके इष्टकी प्राप्ति और अनिष्टके परिहारके उपाय दिखलानेके लिए ही हैं। उन उपायोंको कर दृष्टा दृष्ट यानी दृष्ट—पशु, पुत्र आदि तथा अदृष्ट स्वर्गादि फल प्राप्त करो। इन कर्मोंका त्याग कर शरीररोगादि तथा नरकादिसे बचो—इसी उपदेशके लिए तो शास्त्र हैं। यदि आत्मा ही अप्रामाणिक है,तो उक्त उपायोंके प्रदर्शनके लिये जो शास्त्र हैं वे सभी व्यर्थ हो जायँगे। और देखिये—वस्तुपरिच्छेद भी दुष्परिहर है। यदि कहिये क्यों? तो उसका उत्तर यही है कि यदि आप उसमें कुछ प्रमाण कहेंगे, तो उस प्रमाणसे वह प्रमेय-परिछिन्न ही होगा, क्योंकि अभेदमें प्रमाण-प्रमेयभाव हो ही नहीं सकता। अतः वस्तुपरिच्छेद दृष्परिहर है। 'शास्त्रयोनित्वात्' यह न्याय भी प्रमाणरूपमें उपस्थित है। [इस सूत्रका भाष्यकारने दो अर्थ किया है—शास्त्रका योनि—कारण ब्रह्म है अथवा शास्त्रयोनि प्रमाण है जिस ब्रह्म में । उभयथा प्रमाण-प्रमेयभाव कार्य-कारणभाव भेदके बिना नहीं हो सकता, अतः कार्यप्रमाणनिष्ठ भेदप्रतियोगित्वरूप परिच्छिन्नत्व अर्थात् विनाश स्फुरणमें अनिवार्य है।] इसी दोषके परिहारके लिए '**अप्रमेयस्य**' यह कहा है। 'एकधैवानुद्रष्टव्यमेतदप्रमयं ध्रुवम्' अप्रमयम् यानी अप्रमेयम् 'न तत्र सूर्यो भाति' इत्यादि श्रुतियोंसे सिद्ध है कि स्वप्रकाश चैतन्य रूप ही आत्मा है। अतः सर्वप्रकाशकको अपने भान के लिए अपने भासककी अपेक्षा नहीं है।

[अन्यथा एकात्मनिरूपित भास्यत्व और भासकत्व प्रसंग हो जायगा, जो एकारोहणनिरूपित कर्तृत्व-कर्मत्वके समान विरुद्ध है। वस्तुतः दूसरेसे सिद्ध हुए पदार्थसद्भावमें प्रमाणकी अपेक्षा होती है, स्वयंसिद्धमें नहीं। जो सर्वसाधक है उसकी सिद्धि साधकान्तरसे नहीं होती। अन्यथा अनवस्थादि दोष प्रसंग होगा।]

वृत्तिविशेषापेक्षा, कल्पितस्यैव कल्पितविरोधित्वात्, "यक्षानुरूपो बलि इति न्यायात्। तथा च सर्वकल्पितनिवर्तकवृत्तिविशेषोत्पत्त्यर्थं शास्त्रारम्भ तस्य तत्त्वमस्यादिवाक्यमात्राधीनत्वात्। स्वतः सर्वदाभासमानत्वात्सर्वक नाधिष्ठानत्वाद्दृश्यमात्रभासकत्वाच्च न तस्य तुच्छत्वापत्तिः। तथा मेवाद्वितीयं सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मेत्यादिशास्त्रमेव स्वप्रमेयानुरोधेन स्वस्या

किन्तु कल्पित अज्ञान और उसके कार्यविशेषकी निवृत्तिके लिये कल्पितात वृत्तिविशेषकी अपेक्षा अवश्य है।

[स्वोपहितात्मविषयक कल्पित चरमवृत्तिसे अज्ञान और उसके का नाश होता है, यह वेदान्तिसंमत मार्ग है।] कल्पित ही कल्पितका विरोधी 'यक्षके अनुरूप बलि होती है' यह न्याय प्रसिद्ध है। ऐसी स्थितिमें सर्वक निवर्तकवृत्ति यानी चरमवृत्तिविशेषके उत्पादनके लिए शास्त्रारम्भ है। समस्त प्र उपादान अज्ञानकी निवृत्ति 'तत्त्वमस्यादि' वैदिक वाक्यसे होती है। उसीके शास्त्रारम्भ है। वह आत्मा सदा प्रकाश तथा सब कल्पनाओंका अधिष्ठान दृश्यमात्रका भासक होनेसे वह तुच्छ नहीं है।

[प्रश्न—जिसका प्रमाणसे ग्रहण नहीं होता, वह खपुष्पादि तुच्छ कहल है। उसी तरह आत्मा भी प्रमाणसंगृहीत न होनेसे तुच्छ क्यों नहीं कहलाता?

उत्तर—यदि उक्त लक्षण तुच्छका मानियेगा, तो अनवस्था दोष हो क्योंकि प्रमाणके ग्रहणके लिए दूसरे प्रमाणको स्वीकार करना आवश्यक जायगा, इसलिये मूलप्रमाण स्वयं प्रमाण है, इसके बिना दूसरी गति नहीं विषयभासकान्तःकरणवृत्ति जड़ है, वह स्वतः भासक नहीं हो सकती। परक्तताद्दशवृत्ति भासक है। उपरागके लिए स्वयंप्रकाश आत्माको स्वी करना आवश्यक ही है। प्रमाणाविषय आत्मा तुच्छ नहीं है।] देखिये मेवाद्वितीयम्' 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादि शास्त्र ही 'स्वप्रमेयके अनुरो स्व भी कल्पित है' यह कहते हैं।

[शङ्का—'तत्त्वमस्यादि' प्रमाणवाक्यकी सत्ता मानते हैं अथवा नहीं प्रथमपक्षमें अद्वैतभङ्ग है। द्वितीयपक्षमें कल्पित होनेसे अप्रामाण्यापत्ति है इस तरह उभयतः पाशारज्जु है।

समाधान—'यत्किंचित्सत्यं चानृतं च तत्सर्वं सत्यम्' इत्यादि तत्पदार्थशो वाक्यके प्रमेयको यदि सत्य कहेंगे, तो सत्यद्वयका अभेद असम्भव हो

कल्पितत्वमापादयति,अन्यथा स्वप्रामाण्यानुपपत्तेः। कल्पितस्य चाकल्पित-परिच्छेदकत्वं नास्तीति प्राक्प्रतिपादितम्। आत्मनः स्वप्रकाशत्वं च युक्ति-तोऽपि भगवत्पूज्यपादैरुपपादितम्। तथाहि यत्र जिज्ञासोः संशयविपर्यय-व्यतिरेकप्रमाणानामन्यतममपि नास्ति तत्र तद्विरोधि ज्ञानमिति सर्वत्र दृष्टम्। अन्यथा त्रितयान्यतमापत्तेः। आत्मनि चाहं वा नाहं वेति न कस्य-चित्संशयः, नापि नाहमिति विपर्ययो व्यतिरेकः प्रमा वेति तत्स्वरूपप्रमा सर्वदाऽस्तीति वाच्यं तस्य सर्वसंशयविपर्ययधर्मित्वात्, "धर्म्यंशे सर्वमभ्रान्तं

तद्बोधक वाक्य अप्रमाण हो जायगा। इसलिये तत्प्रमेयको कल्पित ही मानना होगा। उसके अनुसार वाक्यको भी कल्पित ही मानना उचित है।] अन्यथा स्वप्रामाण्य नहीं होगा। ['एकमेवाद्वितीयम्' से ब्रह्मातिरिक्त सब कल्पित है, यह बोध होता है। उक्त वाक्य यदि सत्य है, तो द्वैत होनेसे वाक्यमें प्रामाण्य अनुपपन्न होगा।] कल्पित अकल्पितका परिच्छेदक नहीं हो सकता, इसका पूर्वमें प्रतिपादन हो चुका है। अतः परिच्छिन्नत्वलक्षण विनाशकी शङ्का आत्मामें नहीं है। श्रीशङ्कराचार्यजीने 'आत्मा स्वप्रकाश है' इसका युक्ति द्वारा भी प्रतिपादन किया है। सुनिये—जिज्ञासुजनको जिस विषयमें संशय-विपर्ययव्यतिरेक प्रमाओंमें एक भी न हो, उस विषयका संशयादिविरोधिज्ञान नियमसे रहता है, वह सर्वत्र देखा गया है। यदि उक्त त्रितयविरोधिज्ञान न हो, तो उक्त त्रितयमें कोई एक अवश्य होगा। आत्मामें 'मैं हूँ अथवा नहीं' यह संशय किसीको नहीं होता। 'मैं नहीं हूँ' यह विपर्यय भी नहीं होता। किन्तु 'मैं हूँ' यह आत्मविषयक निश्चय सदा रहता है। [पदार्थान्तरव्यासक्तचित्त पुरुषको किसी विषयकी प्रमा न होनेपर भी उस विषयमें संशयादि नहीं होता। उक्त नियमव्यभिचारपरिहारार्थ 'जिज्ञासोः' यह कहा गया है। विषयान्तरासक्तचित्तको विषयान्तरकी जिज्ञासा ही नहीं होती।] सब संशय-विपर्ययका धर्मी आत्मा है। ['स्थाणुर्न वा' इत्यादि संशय आत्मामें होते हैं। संशयरूपधर्मका धर्मी आत्मा है। 'हमें यह संशय होता है'—इस प्रकार स्थाणु आदिके साथ आत्माका भी भान होता है। स्थाणु आदिमें यद्यपि संशय है तथापि आत्मांशमें निर्णय है। अथवा 'अयं स्थाणुर्न वा इत्याकारक संशय स्थाणु-त्वादिप्रकारीभूत कोटिमें है, किन्तु प्रकारीभूत धर्म का धर्म्यंश इदमंश में संशय नहीं है,किन्तु निश्चय ही है।] अतएव अभियुक्तोक्ति है—'धर्म्यंशे सर्वमभ्रान्तं

प्रकारे तु विपर्ययः" इति न्यायात् । अत एवोक्तम्—

"प्रमाणमप्रमाणं च प्रमाभासस्तथैव च ।

कुर्वन्त्येव प्रमां यत्र तदसंभावना कुतः" ॥ इति ।

प्रमाभासः संशयः । स्वप्रकाशे सद्रूपे धर्मिणि प्रमाणाप्रमाणयोर्वि- शेषो नास्तीत्यर्थः । आत्मनो भासमानत्वे च घटज्ञानं मयि जातं न वेत्या- दिसंशयः स्यात् । न चाऽऽन्तरपदार्थे विषयस्यैव संशयादिप्रतिबन्धक-

---

प्रकारे तु विपर्ययः' । (संशयादिज्ञान धर्म्यंशमें प्रमा होता है, केवल प्रकारांशमें विपर्यय होता है ।) अतएव कहा है—'प्रमाणमप्रमाणं च प्रमाभासस्तथैव च । कुर्वन्त्येव प्रमां यत्र तदसम्भावना कुतः ॥' (प्रमाण, अप्रमाण एवं प्रमाणाभास— धर्म्यंशमें प्रमा उत्पन्न करते ही हैं । उस धर्मीकी प्रमाणाभावसे असम्भावना कैसे की जा सकती है ।) [अन्य विषय प्रमाणज्ञानसे सिद्ध होते हैं । धर्मी—आत्मा तो स्वरूपज्ञानमात्रसे सिद्ध होता है । जो विषयान्तरका असाधक है, सो प्रकृतका साधक है, तो फिर इसकी असत्वकी सम्भावना कहाँ ।

शङ्का—प्रमाण और अप्रमाण—इन दो विकल्पोंसे ज्ञानमात्रका संग्रह हो जाता है, पुनः प्रमाणाभास क्यों कहा ?

समाधान—प्रमाणाभाससे संशयका संग्रह विवक्षित है । यद्यपि संशय प्रमाणाभास होनेसे उसका लाभ हो जाता है तथापि प्रमाण निश्चयात्मक और तद्भिन्ननिश्चयात्मक विषयका ही बोधक होगा, इस अभिप्रायसे प्रमाणाभासका पृथक् निर्देश है ।] प्रमाभासका ही नाम संशय है । स्वप्रकाश सद्रूप धर्मीमें प्रमाण और अप्रमाणमें कोई विशेष नहीं है । किन्तु घटादि जडपदार्थ विशेष साधकासाधकत्वप्रयुक्त विशेष इनमें है । आत्माके भासमान होनेपर ही घटज्ञान मुझे हुआ या नहीं, यह संशय होता है ।

[शङ्का—आत्माका भान न होनेपर 'मैं घटज्ञानवान् हूँ या नहीं, यह संशय नहीं हो सकता । धर्मिज्ञानाभावदशामें तद्विशेष्यक ज्ञानका सम्भव नहीं है । भान होनेपर घटज्ञानका निश्चय ही होगा, फिर संशय कैसे ?

समाधान—ज्ञानास्वप्रकाशपक्षमें आत्मस्वप्रकाशपक्षमें ही उक्त संशयाभिधान है ।]

शङ्का- यद्यपि आत्मामें संशय-विपर्यय नहीं है, तथापि वह स्वप्रकाश नहीं सिद्ध होता । यद्यपि अन्यत्र संशयविपर्ययाद्यभावका विरोधी ज्ञान प्रतिबन्धक

स्वभावः कल्प्यः, बाह्यपदार्थे क्लृप्तेन विरोधिज्ञानेनैव संशयादिप्रतिबन्धसंभवे आन्तरपदार्थे स्वभावभेदकल्पनाया अनौचित्यात् । अन्यथा सर्वविप्लवापत्तेः । आत्ममनोयोगमात्रं चाऽऽत्मसाक्षात्कारे हेतुः । तस्य च ज्ञानमात्रे हेतुत्वाद् घटादिभानेऽप्यात्मभानं समूहालम्बनन्यायेन तार्किकाणां प्रवरेणापि दुर्निवा-

है तथापि आत्मविषय संशयादिके प्रति आन्तर आत्मस्वभावविशेषको ही यदि प्रतिबन्धक मानें, तो कोई आपत्ति नहीं है। एकका जैसा स्वभाव है वैसा ही सबका है, यह नियम नहीं। संसार विचित्र स्वभावका है। समानस्वभावका नहीं। देखते ही हैं—अग्नि उष्ण और जल शीत है। इसी तरह बाह्य पदार्थोंकी अपेक्षा आन्तरस्वभाववैलक्षण्यप्रयुक्त ही यह भेद कह सकते हैं। बाह्य विषयमें उसकी प्रमा होनेपर ही उसके संशय आदिका अभाव कह सकते हैं, अन्यथा नहीं। आत्मा आदि आन्तर पदार्थमें तत्प्रमाव्यतिरेकमें भी संशय आदिका अभाव हो सकता है, फिर आत्मा स्वप्रकाश कैसे सिद्ध होता है ? यह भाव है।

समाधान - बाह्यपदार्थमात्रमें उसकी प्रमा होनेपर ही उसके संशयादिका अभाव क्लृप्त है। उसके अनुसार आत्मसंशयादिका अभाव भी आत्मनिश्चयप्रयुक्त है। यह मान लेनेसे उपपत्ति हो जाती है, तो फिर पृथक् स्वभावकल्पना गौरवादि-दोषदूषित होनेसे अयुक्त है। अन्यथा स्वभावभेद मानकर परिहार करनेपर सब धर्म सबमें कह सकते हैं। [जलमें उष्णत्व है, वह्निमें शीतत्व है,परन्तु वे प्रत्यक्ष क्यों नहीं होते। स्वभावभेदसे प्रत्यक्षत्व और अप्रत्यक्षत्वकी उपपत्ति हो सकती है। जलीयोष्णत्वका स्वभाव है कि जिस सामग्रीसे वह्निगत उष्णत्वका प्रत्यक्ष हो रहा है उस सामग्रीसे उसका प्रत्यक्ष नहीं होता, किन्तु उससे विलक्षण सामग्रीसे प्रत्यक्ष होता है। एवं वह्निगत शीतत्वमें भी सामग्रीभेद मान कर सब धर्मोंमें अनित्यत्वव्यवस्था हो जायगी, जो सर्वथा अनुचित है। विद्वानोंको लोकसिद्ध मर्यादाका उल्लंघन नहीं करना चाहिये, अन्यथा विनेयोंको उनके वचनमें विश्वास नहीं होगा—इत्यादि स्वयं समझिये। विषयसाक्षात्कारदशामें आत्मसाक्षात्कार-सामग्री न्यायमतमें भी है ही।] आत्मप्रत्यक्षमें आत्ममनःसंयोग कारण है। आत्ममनःसंयोग ज्ञानमात्रमें कारण है। घटादिज्ञानोत्पत्तिक्षणमें आत्मज्ञान सामग्री है।

प्रश्न—ऐसी दशामें दोनोंका प्रत्यक्ष क्यों न करें ? घट-पटोभयप्रत्यक्ष-सामग्रीसे तदुभयका समूहालम्बनप्रत्यक्ष सर्वश्रेष्ठ तार्किक मानते ही हैं।

रम् । न च चाक्षुषत्वमानसत्वादिसंकरः, लौकिकत्वालौकिकत्ववदंशभेदेनो पपत्तेः । संकरस्यादोषत्वाच्चाक्षुषत्वादेर्जातित्वानभ्युपगमाद्वा । व्यवसायमा एवाऽऽत्मभानसामग्र्या विद्यमानत्वादनुव्यवसायोऽप्यपास्तः । न च व्यवसा भानार्थं स, तस्य दीपवत्स्वव्यवहारे सजातीयानपेक्षत्वात् । न हि घटतज्ज्ञा

उत्तर—घट-पटके समूहालम्बनमें कोई आपत्ति नहीं, अतः तदुभयप्रत्य मानते हैं, किन्तु आत्मघटके प्रत्यक्षादिको समूहालम्बनात्मक मानें, तो उस ज्ञान चाक्षुषत्व और मानसत्वका साङ्कर्य हो जायगा, जो इष्ट नहीं है। 'चन्दनं सुरभि' इत्याकारक चन्दनसौरभ—उभयविषयक एक ज्ञान होता है। सौरभांशमें अलौ किकत्व और चन्दनांशमें लौकिकत्व मानकर अवच्छेदकभेदसे एक ज्ञानमें लौकिका लौकित्वस्थितिवत् घटात्मविषयावच्छेदक भेदसे चाक्षुषत्व और मानसत्व स्वीकारमें उक्त दोष नहीं है। एकावच्छेदेन उन दोनोंकी स्थितिमें सांकर्य होत है। सांकर्य द्रव्यगत जातिमें ही दूषक माना जाता है, क्योंकि गौ और अश्व ए एक व्यक्ति प्रसिद्ध नहीं है। अन्यत्र लाघवानुरोधसे एक माननेमें दोष नहीं है अथवा सांकर्य जातिका बाधक माना गया है, उपाधिका नहीं। [प्रकृतमें चाक्षुषत्व और मानसत्व जाति नहीं, किन्तु उपाधि है। समवेतत्वादिघटित जातिकी कल्पना पेक्षासे उपाधिकल्पनामें लाघव भी है। लाघवान्तर भी कहते हैं—]आत्मप्रत्यक्ष घटादिप्रत्यक्षसामग्रीसे तद्दशामें ही हो सकता है, इसलिये व्यवसायोत्तर आत्म प्रत्यक्षार्थ अनुव्यवसायकी कल्पना भी नहीं करनी पड़ती है, यह लाघव है।] यह लाघव तो नहीं है। यदि कहिये, क्यों, तो सुनिये—व्यवसायभानार्थ अनुव्यव साय मानना जरूरी नहीं है। 'अयं घटः' यह व्यवसाय है और 'घटमहं जानामि' यह अनुव्यवसाय है। अनुव्यवसायसे व्यवसायका प्रत्यक्ष होता है। व्यवसाय भानके लिये अनुव्यवसायका मानना कोई आवश्यक नहीं है, क्योंकि व्यवसाय भानमें प्रदीपवत्सजातीय प्रकाशकी अपेक्षा नहीं है। प्रदीपप्रकाशके लिए विजातीय चक्षु, घट आदिकी अपेक्षा है, सजातीय प्रदीपादिकी नहीं। एवं व्यवसायमें व्यवहर्तव्यज्ञानभिन्नज्ञानत्वसजातीय ज्ञानान्तर अपेक्षित नहीं है। जैसे घट विषय है और उसका ज्ञान विषयी है वैसे ही व्यवसाय विषय और अनुव्यवसाय विषयी है। घटतज्ज्ञाननिष्ठ विषयविषयित्वव्यवस्थापककी अपेक्षासे व्यवसायानु व्यवसायनिष्ठ विषयविषयित्वव्यवस्थापक विलक्षण कोई धर्म नहीं है

नयोरिव व्यवसायानुव्यवसाययोरपि विषयत्वविषयित्वव्यवस्थापकं वैजात्यमस्ति, व्यक्तिभेदातिरिक्तवैधर्म्यानभ्युपगमात् । विषयत्वावच्छेदकरूपेणैव विषयित्वाभ्युपगमे घटतज्ज्ञानयोरति तद्भावापत्तिरविशेषात् । ननु यथा घटव्यवहारार्थं घटज्ञानमभ्युपेयते तथा घटज्ञानव्यवहारार्थं घटज्ञानविषयं ज्ञानमभ्युपेयं व्यवहारस्य व्यवहर्तव्यज्ञानसाध्यत्वादिति चेत्, काऽनुपपत्तिरुद्भाविता देवानांप्रियेण स्वप्रकाशवादिनः । न हि व्यवहर्तव्यभिन्नत्वमपि

क्योंकि व्यक्तिभेदसे अतिरिक्त व्यवस्थापकवैधर्म्य (वैलक्षण्य) नहीं मानते। विषयत्वव्यवस्थापक व्यवसायनिष्ठ विषयत्वावच्छेदक अन्य हो, अनुव्यवसायनिष्ठ-विषयित्वावच्छेदक दूसरा हो, तो विषयत्वावच्छेदक विषयित्वावच्छेदक नहीं बनता, इसलिये घटादिमें विषयित्व नहीं हो सकता। सो है नहीं, व्यक्तिभेदमात्रवैलक्षण्य यदि उसका प्रयोजक हो, तो घटद्वयव्यक्तिभेदप्रयुक्त विषयविषयिभावापत्ति हो जायगी। व्यवसायमें जैसे विषयित्व है वैसे ही घटादिमें भी विषयित्वापत्ति हो जायगी, कारण कि विषयतावच्छेदकरूपसे दोनों तुल्य हैं।

प्रश्न—जैसे घटव्यवहारार्थ घटज्ञानकी नियमसे अपेक्षा होती है, वैसे ही घटादिज्ञानव्यवहारार्थ तज्ज्ञानविषयज्ञानकी अपेक्षा आवश्यक है। अज्ञात विषयका व्यवहार नहीं होता। अतः व्यवहर्तव्यविषयक ज्ञान व्यवहारमें कारण है, यह नियम है। प्रकृतमें व्यवसायव्यवहारार्थ व्यवसायज्ञानमें अनुव्यवसायकी अपेक्षा नियत होनेसे अनुव्यवसाय सिद्ध होता है।

उत्तर—ज्ञानस्वप्रकाशवादी के मतमें आप क्या अनुपपत्ति देते हैं? व्यवहर्तव्यभिन्नज्ञानत्वेन कारणताको आपने नहीं समझा है। यदि घटादि-व्यवहार चिकीर्षित है, तो घटज्ञानकी अपेक्षा है। घटज्ञानमें घटभिन्नत्व भी है। जिस समय घटज्ञान व्यवहर्तव्य है, उस समय तो घटज्ञानमें व्यवहर्तव्यत्वके रहनेसे ज्ञानत्व है ही। व्यवहर्तव्यज्ञानभिन्नका निवेश गौरवसे नहीं होता।

[शङ्का—ज्ञान स्वरूपको कर्मकर्तृविरोधसे नहीं प्रकाशित करता, इसलिये व्यवसायमें व्यवसायविषयकत्व नहीं है, फिर उसका व्यवहार कैसे ?

समाधान—जैसे ईश्वरको सर्वज्ञ मानते हैं। सब पदार्थमें स्वयंज्ञान भी आता है, उक्त विरोधसे यदि ज्ञान अपने स्वरूपको प्रकाशित न करेगा, तो सर्व-

ज्ञानविशेषणं व्यवहारहेतुतावच्छेदकं गौरवात् । तथेश्वरज्ञानवद्योगिज्ञानव मेयमितिज्ञानवच्च स्वेनैव स्वव्यवहारोपपत्तौ न ज्ञानान्तरकल्पनावकाशः अनुव्यवसायस्यापि घटज्ञानव्यवहारहेतुत्वं किं घटज्ञानज्ञानत्वेन किंवा घ ज्ञानत्वेनैवेति विवेचनीयम्, उभयस्यापि तत्र सत्त्वात् । तत्र घटव्यवहारे घ ज्ञानत्वेनैव हेतुतायाः क्लृप्तत्वात्तेनैव रूपेण घटज्ञानव्यहारेऽपि हेतुतोपपत्ते

विषयक ज्ञानवत्त्वेन ईश्वर सर्वज्ञ कैसे होंगे ? एवं योगी भी सर्वज्ञ माने ज हैं। उनका भी ज्ञान यदि अपनेको ग्रहण न करेगा, तो वे भी सर्वज्ञ नहीं सकते। इसी प्रकार प्रमेयत्वादि केवलन्वयि धर्म भी नहीं सिद्ध होंगे। स्व स्वस्थिति अन्योन्याश्रयादि दोषसे नहीं बनती। स्वावृत्ति होनेपर केवलान्वयित्वक्ष हो जायगी। इन स्थानोंमें जो परिहार होगा, सो व्यवसायव्यवहारमें भी दु वारित नहीं है।

शङ्का - तो क्या ज्ञानमें स्वकर्तृ-कर्मत्वके विरोधको त्याग दे।

समाधान—यहाँ तीन प्रकारके मत हैं—बौद्ध ज्ञानव्यवहारानुरोधसे स्व विरोधको ज्ञानातिरिक्तमें मानते हैं, ज्ञानमें नहीं। अन्यथा अव्यवस्था अथवा ज्ञा व्यवहारानुपपत्ति—इन दोनोंमें एक आवश्यक होगा, जो मान्य नहीं है। प्रभाक मिश्र-ज्ञानको स्वप्रकाश मानकर विषयत्वसंबन्धसे घटादिका, आश्रयत्वसंबन्ध आत्माका और असंबन्धसे स्वका घटादिज्ञान भासक होता है। स्वको स्वयं म विषय नहीं करता, तो भी वह स्वप्रकाश होनेसे स्वव्यवहारक्षम होता है। प्रकाश न्तरानपेक्ष स्वव्यवहारजनकत्व स्वप्रकाशत्व है—यह मानते हैं। वेदान्तिमत वृत्तिरूपज्ञान स्वप्रकाश नहीं है, किन्तु आत्मस्वरूपज्ञान मिश्रमतके समान स्वप्रका है। विशेष इतना है कि विषयज्ञानके बिना आत्माका भान मिश्रमतमें नहीं होता वेदान्तिमतमें आत्मस्फुरण सदा सुषुप्ति-प्रलयमें रहता है।]

इस तरह सिद्ध है कि ईश्वर और योगीके ज्ञानके समा प्रमेयज्ञान स्वयंप्रकाश होनेसे ज्ञानान्तरके बिना स्वव्यवहारजनक है अपने से ही अपने व्यवहारकी उपपत्ति हो जानेपर किसी दूसरे ज्ञान कल्पनाकी जरूरत नहीं है। अनुव्यवसायमें भी आप घटज्ञानव्यवहा हेतुत्व क्या घटज्ञानज्ञानत्वेन मानते हैं अथवा घटज्ञानत्वेन ? इसका विचा कीजिये, क्योंकि अनुव्यवसायमें दोनों है। घटव्यवहारमें घटज्ञानत्वेन हेतुत्व तो क्लृप्त है। इसी रूपसे घटज्ञानव्यवहारका भी यदि कारण हो सके, तो घटज्ञानज्ञानत्वे

न घटज्ञानज्ञानत्वं हेतुतावच्छेदकं गौरवान्मानाभावाच्च । तथा च नानुव्यवसायसिद्धिरेकस्यैव व्यवसायस्य व्यवसायतरि व्यवसेये व्यवसाये च व्यवहारजनकत्वोपपत्तेरिति त्रिपुटीप्रत्यक्षवादिनः प्राभाकराः । औपनिषदास्तु कल्पन्ते स्वप्रकाशज्ञानरूप एवाऽऽत्मा न स्वप्रकाशज्ञानाश्रयः, कर्तृकर्मविरोधेन तद्भानानुपपत्तेः । ज्ञानभिन्नत्वे घटादिवज्जडत्वेन कल्पितत्वापत्तेश्च । स्वप्रकाशज्ञानमात्रस्वरूपोऽप्यात्माऽविद्योपहितः सन्साक्षीत्युच्यते । वृत्तिमदन्तःकरणोपहितः प्रमातेत्युच्यते । तस्य चक्षुरादीनि करणानि । स चक्षुरादिद्वाराऽन्तःकरणपरिणामेन घटादीन्व्याप्य तदाकारो भवति । एकस्मिश्चान्तःकरणपरिणामे घटावच्छिन्नचैतन्यमन्तःकरणावच्छिन्नचैतन्यं चैकलोलीभावापन्नं भवति । ततो घटावच्छिन्नचैतन्यं प्रमात्रभेदात्स्वाज्ञानं नाशयदपरोक्षं भवति । घटं च स्वावच्छेदकं स्वतादात्म्याध्यासाद्भासयति । अन्तःकरणपरिणामश्च वृत्त्याख्योऽतिस्वच्छः स्वावच्छिन्नेनैव चैतन्येन भास्यत इत्यन्तःकरणतद्वृत्तिघटा-

पृथक् कारणत्वकी कल्पना अनावश्यक है। इसमें हेतु प्रमाणाभाव और गौरव है, फिर अनुव्यवसायकी सिद्धि नहीं होती। एक ही व्यवसाय, स्वव्यवसायि व्यवसाय और स्वव्यवसेय घटादि—इन तीनोंका व्यवहारजनक है, यह त्रिपुटीवादी प्रभाकरमिश्रका मत है। त्रयाणाम् मातृमेयमितीनां पुटानां समाहारः समुदायस्त्रिपुटी अर्थात् प्रमाण, प्रमेय और प्रमिति—इन तीनोंके समुदायको त्रिपुटी कहते हैं, इनका ज्ञापक ज्ञान होता है। वेदान्ती मानते हैं कि स्वप्रकाश ज्ञानरूप ही आत्मा है, स्वप्रकाशज्ञानाश्रय नहीं। कर्तृ-कर्मविरोधसे स्वयं स्वका ग्रहण नहीं करता, यह ठीक ही है। [ज्ञानक्रियानिरूपित कर्मत्व-कर्तृत्व विरोधसे हो नहीं सकता, इसलिये 'स्वप्रकाशज्ञानाश्रय' मिश्रमत हेय है।] और यदि आत्माको ज्ञानभिन्न मानें, तो घटादिके समान जड़ होनेसे वह कल्पित हो जायगा। स्वप्रकाशज्ञानमात्रस्वरूप आत्मा अविद्योपहित होकर साक्षी होता है तथा वृत्तिमदन्तःकरणोपहित होकर प्रमाता, यह कहते हैं। उसके चक्षुरादि करण हैं। वह प्रमाता चक्षुरादिद्वारा अन्तःकरणके परिणामसे घटादिको व्याप्तकर तदाकार होता है—अन्तःकरण विषयदेशमें प्राप्त होकर विषयाकार होता है। एक ही अन्तःकरणपरिणाममें घटावच्छिन्न चैतन्य तथा अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य प्रमातासे अभिन्न होता है। अतएव अपने ज्ञानका नाश करता हुआ वह अपरोक्ष होता है और स्वावच्छेदक घटका स्वतादात्माध्याससे भान कराता है। वृत्त्याख्य अन्तःकरणपरिणाम अति स्वच्छ है, अतएव स्वावच्छिन्न चैतन्यसे ही उसका भान होता है। इस तरह

नामपरोक्षता। तदेतदाकारत्रयमहं जानामि घटमिति। भासकचैतन्यस्यैक त्वेऽपि घटं प्रति वृत्त्यपेक्षत्वात्प्रमातृता, अन्तकरणतद्वृत्तीः प्रति तु वृत्त्यने त्वात्साक्षितेति विवेकः। अद्वैतसिद्धौ सिद्धान्तबिन्दौ च विस्तरः। यस्मा प्रागुक्तन्यायेन नित्यो विभुरसंसारी सर्वदैकरूपश्चाऽऽत्मा तस्मात्तन्नाशाश स्वधर्मे युद्धे प्राक्प्रवृत्तस्य तव तस्मादुपरतिर्न युक्तेति युद्धाभ्यनुज्ञया भग नाह—'तस्माद्युध्यस्व भारत' इति। अर्जुनस्य स्वधर्मे युद्धे प्रवृत्तस्य उपरतिकारणं शोकमोहौ। तौ च विचारजनितेन विज्ञानेन बाधिताविति वादापवादे उत्सर्गस्य स्थितिरिति न्यायेन युद्धस्वेत्यनुवादो न विधिः। प "कर्तृकर्मणोः कृति" इत्युत्सर्गः। "उभयप्राप्तौ कर्मणि" इत्यपवादः। "अ

अन्तःकरण तद्वृत्ति घटादिका अपरोक्ष भान होता है, यही आकारत्रय 'घट जानामि' है। भासक चैतन्यके एकरूप होनेपर भी घटके प्रति वृत्तिसापेक्ष हो प्रमाता कहलाता है, अन्तःकरण वृत्तिके प्रति वृत्त्यनपेक्ष होनेसे साक्षी है, दोनोंमें भेद है, यह जान लेना आवश्यक है। विस्तृत विवरण अद्वैतसिद्धि सिद्धान्तबिन्दुमें है। यतः पूर्वोक्त रीतिसे नित्य विभु असंसारी सदा एकरूप आ है,अतः उसके नाशकी आशङ्कासे स्वधर्म युद्धमें स्वतःप्रवृत्त तुम्हें उससे विमुख हो उचित नहीं है; इसप्रकार युद्धकी अनुमतिप्रदानद्वारा भगवान् कहते हैं—'तस्मा युद्ध्यस्व भारत' यह। स्वधर्म युद्धमें स्वतःप्रवृत्त अर्जुनकी निवृत्तिका कारण और मोह है। वे दोनों विचारनिष्पन्न निर्णयसे यदि बाधित हुए, तो प्र स्वतः है। 'अपवादकी निवृत्ति होनेपर उत्सर्गकी स्थिति होती है' इस न्या युद्धका अनुवाद है, विधि नहीं। [अप्रवृत्तप्रवर्तन विधि कहलाती है अर्थात् जि कार्यमें जो स्वयं प्रवृत्त नहीं है, किन्तु किसीकी प्रेरणासे करता है, वह विधि जैसे कि—राजप्रेरित भृत्यकी प्रवृत्ति। जिस कार्यमें जो स्वयं प्रवृत्त है, किन्तु कि प्रतिबन्धसे उपरत होता है और यदि कोई पुरुष उसके प्रतिबन्धका निराक कर देता है, तो वह पूर्ववत् स्वतःप्रवृत्त पुरुष फिर उस कार्यमें लग जाता है, अनुवाद कहलाता है,क्योंकि उसमें पुरुष स्वेच्छासे ही प्रवृत्त हुआ है। शास्त्रमें इ उदाहरण देते हैं—'यथा' इत्यादिसे।] देखिये—'कर्तृकर्मणोः कृति' यह उत्सर्ग कृत् प्रत्ययके योगमें कर्ता और कर्ममें 'षष्ठी' होती है। इसका अपवाद है—'उभ प्राप्तौ कर्मणि' पूर्वसूत्रसे यदि कर्ता और कर्म—दोनोंमें षष्ठीकी प्राप्ति हो, कर्ममें ही षष्ठी होती है, कर्तामें नहीं। ['देवदत्तेन तण्डुलस्य पाकः' यही प्रयोग

कारयोः स्त्रीप्रत्यययोः प्रयोगे नेति वक्तव्यम्" इति तदपवादः। तथाच मुमुक्षो-र्ब्रह्मणो जिज्ञासेत्यत्रापवादापवादे पुनरुत्सर्गस्थितेः 'कर्तृकर्मणोः कृति' इत्यनेनैव षष्ठी। तथा च 'कर्मणि च' इति निषेधाप्रसराद्ब्रह्मजिज्ञासेति कर्मषष्ठीसमासः सिद्धो भवति। कश्चित्त्वेतस्मादेव विधेर्मोक्षे ज्ञानकर्मणोः समुच्चय इति प्रलपति। तन्न, युध्यस्वेत्यतो मोक्षस्य ज्ञानकर्मसमुच्चयसाध्यत्वाप्रतीतेः। विस्तरेण चैतदग्रे भगवद्गीतावचनविरोधेनैव निराकरिष्यामः ॥ १८ ॥

है, 'देवदत्तस्य तण्डुलस्य पाकः' यह साधु नहीं है। 'पाकः' में पच् धातुसे भावमें 'घञ्' प्रत्यय हुआ है, अतः कर्ता और कर्म दोनों अनुक्त हैं, दोनोंमें षष्ठीकी प्राप्ति है।] परन्तु अपवादसूत्रके अनुसार कर्ममें ही षष्ठी साधु है। कर्ता-कर्म—दोनोंमें नहीं। 'उभयप्राप्तौ' का बाधक 'अकाकारयोः स्त्रीः प्रत्यययोः प्रयोगे नेति वक्तव्यम्' यह कात्यायनवचन है। स्त्रीत्वबोधक अक और अकार इसके योगमें 'उभयप्राप्तौ कर्मणि' इस अपवादशास्त्रका प्रतिषेध कर 'कर्तृकर्मणोः कृति' इस उत्सर्गशास्त्रकी प्रवृत्ति होती है [देखिये—'भेदिका विभित्सा वा रुद्रस्य जगतः' यहाँपर कर्ता रुद्र और कर्म जगत्—दोनोंमें उक्त शास्त्रसे षष्ठी सिद्ध होती है। 'भिद्' धातुसे 'भेदनं भेदिका' इस व्युत्पत्तिसे 'पर्यायार्हर्णोत्पत्तिषु' इस सूत्रसे अथवा 'धात्वर्थनिर्देश' इत्यादि वचनसे भावमें 'ण्वुल्' प्रत्यय होता है। ण और च' की इत्संज्ञा होनेपर 'युवोरनाकौ' से 'यु' के स्थानमें 'अक' उससे 'अजाद्यतष्टाप्' से 'टाप्'। 'प्रत्ययस्थात्कात्' इत्यादिसे इत्व होनेसे 'भेदिका' शब्द सिद्ध होता है।

भेत्तुमिच्छति विभित्सति इति विभित्सा 'भिद्' धातुसे 'धातोः कर्मणः स०' इत्यादिसे 'सन्'। 'सन्यङोः' से द्वित्व, हलन्ताच्च' इससे कित्व होनेसे गुणाभाव, 'अप्रत्ययात्' से अप्रत्यय, ततः टाप्, इस तरह 'विभित्सा' की सिद्धि होती है। यद्यपि 'स्त्रीप्रत्यययोरकाकारयोर्नायं नियमः' यह वार्तिक सिद्धान्तकौमुदीमें है, परन्तु अर्थमें भेद नहीं है। मोक्तुमिच्छुः मुमुक्षुः। मुच् धातु से सन् प्रत्यय करने के बाद 'सनाशंस०' 'इत्यादिसे 'उ' प्रत्यय करनेपर मुमुक्षुशब्द सिद्ध होता है जिज्ञासा, ज्ञाधातुसे भावमें सन् प्रत्यय है।] कर्ता मुमुक्षु और कर्म ब्रह्म—दोनोंमें अपवाद-प्रतिषेध होनेपर उत्सर्गसे दोनोंमें षष्ठी होती है। 'ब्रह्मणो मुमुक्षोर्ब्रह्मजिज्ञासा' यहाँपर अपवाद 'उभयप्राप्तौ' इत्यादिके अप्रवृत्ति होनेपर उत्सर्ग 'कर्तृकर्मणोः' इत्यादि की प्रवृत्ति होनेसे षष्ठी हुई है। इसी प्रकार 'कर्मणि च' इस सूत्रकी निषेधाप्रवृत्तिसे 'ब्रह्मजिज्ञासा' यहाँपर कर्ममें षष्ठीका समास सिद्ध

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥१९

जो इस आत्माको मारनेवाला तथा जो दूसरेके द्वारा मारा जानेवा समझता है, वे दोनों ही इसको ठीक ठीक नहीं समझते, क्योंकि यह न तो कि को मारता है और न किसीसे स्वयं मारा ही जाता है ॥ १९ ॥

नन्वेवमशोच्यानन्वशोचस्त्वमित्यादिना भीष्मादिबन्धुविच्छेद बन्धने शोकेऽपनीतेऽपि तद्वधकर्तृत्वनिबन्धस्य पापस्य नास्ति प्रतीकार नहि यत्र शोको नास्ति तत्र पापं नास्तीति नियमः, द्वेष्यब्राह्मणवधे शो विषये पापाभावप्रसङ्गात् । अतोऽहं कर्ता त्वं प्रेरक इति द्वयो हिंसानिमित्तपातकापत्तेरयुक्तमिदं वचनं तस्माद्युध्यस्व भारतेत्याश काठकपठितया ऋचा परिहरति भगवान्—'य एनं वेत्ति' इति

हुआ है। किसी विद्वान्का यह मत है कि 'युद्धस्व भारत' इस विधिसे ज्ञान समुच्चय मोक्षमें है। केवल ज्ञानसे यदि मोक्ष होता, तो 'युद्धस्व' से स्वध नुष्ठान व्यर्थ है, यह उनका प्रलापमात्र है। 'प्रलापोऽनर्थकं वचः' अर्थ वाक्य प्रलाप कहलाता है। 'युद्धस्व' में विधि नहीं है, किन्तु अनुवाद है, निर्णीत हो चुका है और 'युद्धस्व' इससे मोक्षमें ज्ञानकर्मसमुच्चय नहीं होता। आगे चलकर गीतावचनविरोधसे ही इसका हम विस्तारके साथ निरा करेंगे ॥ १८ ॥

'अशोच्यान्' इत्यादि पूर्ववाक्यसे भीष्मपितामहादि बन्धुवर्गकी हिं प्रयुक्त शोक-मोहका उक्त रीतिसे परिहार भले ही हो जाय, परन्तु तद्वधनिमि पापोत्पत्ति का प्रतीकार नहीं है। यह तो कोई नियम है नहीं कि जिस शोकादि नहीं हों, उसमें पाप नहीं होता। वैरि ब्राह्मणको मारनेपर शोक होता, किन्तु ब्राह्मणवधजन्य पाप होता हीं है। अतः श्येनयागको फल अधर्म कहा गया है। अतएव वृत्रासुरको मारनेसे उपस्थित पापका प्रतीकार उपायान्तरसे किया। वह पुराणोंमें प्रसिद्ध ही है। अतः मैं इस पापका कर्ता और आप प्रेरक हैं,इस कारण हम दोनोंको पाप लगेगा ही। अतः 'तस्मात् युद्ध इत्यादि यह आपका वाक्य ठीक नहीं है, इस आशंकापर काठकोपनिषद्में प ऋचासे भगवान् इसका परिहार करते हैं—'य एनं वेत्ति' इत्यादि। जो पु

एनं प्रकृतं देहिनमदृश्यत्वादिगुणं यो हन्तारं हननक्रियायाः कर्तारं वेत्ति अहमस्य हन्तेति विजानाति। यश्चान्य एनं मन्यते हतं हननक्रियायाः कर्मभूतं देहहननेन हतोऽहमिति विजानाति। तावुभौ देहाभिमानित्वादेनमविकारिणमकारकस्वभावमात्मानं न विजानीतो न विवेकेन जानीतः शास्त्रात्। कस्मात्, यस्मान्नायं हन्ति न हन्यते कर्ता कर्म च न भवतीत्यर्थः। अत्र य एनं वेत्ति हन्तारं हतं चेत्येतावति वक्तव्ये पदानामावृत्तिर्वाक्यालंकारार्था। अथवा य एनं वेत्ति हन्तारं तार्किकादिरात्मनः कर्तृत्वाभ्युपगमात्। तथा यश्चैनं मन्यते हतं चार्वाकादिरात्मनो विनाशित्वाभ्युपगमात्। तावुभौ न विजानीत इति योज्यम्। वादिभेदख्यापनाय पृथगुपन्यासः। अतिशूरातिकातरविषयतया वा पृथगुपदेशः। "हन्ता चेन्मन्यते हन्तुं हतश्चेन्मन्यते हतम्" इति पूर्वार्धे श्रौतः पाठः॥ १९॥

प्रकृत अदृश्यत्वादिगुणविशिष्ट इस देहीको हननक्रियाका कर्ता मानता है यानी 'मैं इसका हन्ता हूँ', यों जानता है तथा जो पुरुष इसे मारा गया यानी हननक्रियाका कर्मभूत जानता है अर्थात् देहहननसे आत्महनन जानता है, वे दोनों देहात्मवादी होनेसे अकारकस्वभाव अविकारी इस आत्माको नहीं जानते। वे दोनों आत्मविवेकशून्य हैं।

प्रश्न—क्यों?

उत्तर—चूँकि यह न तो किसीको मारता है और न स्वयं किसी से मारा ही जाता है। यह आत्मा न हननका कर्ता है और न उसका कर्म ही है, यह मतलब है। 'य एनम्' इत्यादि पूर्ववाक्यसे ही विवक्षित अर्थ सिद्ध होता है, फिर उत्तर पदानुवृत्ति वाक्यालङ्कारार्थ है। अथवा 'य एनं वेत्ति हन्तारम्' इत्यादिसे तार्किकमतका निरास है। वे लोग आत्माको कर्ता मानते हैं। एवं 'यश्चैनं मन्यते हतम्' (जो इसको हत मानता है,) यह चार्वाकका मत है, क्योंकि वे आत्माको विनाशी मानते हैं। वे दोनों यानी चार्वाक और तार्किक आत्मस्वरूपानभिज्ञ हैं। इस तरह योजना करनी चाहिये। वादिभेदज्ञापनके लिए अलग उपन्यास है। अथवा पूवार्धमें जो पाठ है उसके स्थानपर 'हन्ता चेन्मन्यते हन्तुं हतश्चेन्मन्यते हतम्' यह काठकश्रुतिमें पाठ मिलता है।

[अति शूर तथा अति कायरका विषय होनेसे पृथक् उपदेश है– इसका भाव यह है कि कायर प्रतिपक्षीको देखकर यह मारनेवाला ही है, वध्य नहीं है, इसलिए भागता है। और शूर प्रतिपक्षीको समझता है कि यह वध्य है, मारनेवाला नहीं;

न जायते म्रियते वा कदाचि-
न्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥२०॥

यह आत्मा कभी जन्म नहीं लेता और न कभी मरता ही है। भूतका होकर भविष्य में फिर कभी होनेवाला भी यह नहीं है। इसलिए यह अज, नि शाश्वत तथा पुराण है। शरीरके मार दिये जानेपर भी यह कभी मारा न जा सकता ॥ २० ॥

कस्मादयमात्मा हननक्रियायाः कर्ता कर्म च न भवति, अविक्रि त्वादित्याह द्वितीयेन मन्त्रेण—'न जायते म्रियते वा' इति।

अभी इसे हम मारते हैं। श्रीमधुसूदनसरस्वतीके उक्तार्थमें भाष्योत्कर्षदीपिकामें आक्षेप है कि —"कर्ता मुझमें और प्रेरक आपमें हिंसानिमित्तक पापापत्ति होग अतः यह वचन ठीक नहीं है, इस शंकाका उत्तर काठक ऋचासे देते हैं, विचारणीय है, क्योंकि उक्तऋचासे 'पाप नहीं होता' इसका परिहार कुछ न कहा है और कहना ठीक भी नहीं है, कारण कि हनननिमित्तक बन्धुनाश अभावसे 'आत्मा नित्य है' इस प्रतिपादनसे ही आत्माके नाशका प्रतिषेध कि होनेपर तन्मूलक पापका भी निवारण हो ही चुका, फिर पापोत्पत्तिकी शंका ही न होती, अतः उक्त रीतिसे नित्य विभु तथा असंसारी अतएव सदा एक रूप आ है, अतः स्वधर्म युद्धमें पहिले ही प्रवृत्त तुम्हारी तन्नाशकी शकासे उससे उप ठीक नहीं है, यह स्वकीय पूर्वोक्तिसे विरोध भी है। और यह जो कहा कि द्वे ब्राह्मणवधमें शोक नहीं होता, तो भी पाप होता ही है, यह दृष्टान्त भी समीची नहीं है, क्योंकि द्वेष्यत्व हेतु पापका असाधक है, यह सिद्ध ही नहीं है। शरी न्द्रियादिसंघातवधनिमित्तक पापाभावका क्षत्रधर्मबोधक अग्रिमग्रन्थसे वर्ण करेंगे। 'न त्वेवाहं जातु नासम्' इत्यादि उन्नीस श्लोकोंसे 'अशोच्यान् अन्वशो स्त्वम्' इत्यादिका विवरण करते हैं। 'स्वधर्ममपि चावेक्ष्य' इन आठ श्लोकों 'प्रज्ञावादांश्च भाषसे' इस मोहरूपका पृथक् प्रयत्नसे निराकरण करना है, इ स्वकीय आगेके ग्रन्थसे विरोध आता है"] ॥ १९ ॥

यह आत्मा हननक्रियाका कर्ता और कर्म क्यों नहीं होता, यह प्रश्न न कर सकते, क्योंकि यह अविक्रिय है। यही उत्तर ठीक श्रुतिके द्वितीय मन्त्र

"जायतेऽस्ति वर्धते विपरिणमतेऽपक्षीयते विनश्यतीति षड्भावविकारा इति वार्ष्यायणिः" इति नैरुक्ताः। तत्राऽऽद्यन्तयोर्निषेधः क्रियते—**'न जायते म्रियते वा'** इति। वाशब्दः समुच्चयार्थः। न जायते न म्रियते चेत्यर्थः कस्मादयमात्मा नोत्पद्यते, यस्मादयमात्मा कदाचित्कस्मिन्नपि काले न भूत्वाऽभूत्वा प्राग्भूयः पुनरपि भविता न। यो ह्यभूत्वा भवति स उत्पत्तिलक्षणां विक्रियामनुभवति। अयं तु प्रागपि सत्त्वाद्यतो नोत्पद्यतेऽतोऽजः। तथाऽयमात्मा भूत्वा प्राक्कदाचिद्भूयः पुनर्न भविता। 'न वा' शब्दाद्वाक्यविपरिवृत्तिः। यो हि प्राग्भूत्वोत्तरकाले न भवति स मृतिलक्षणां विक्रियामनुभवति। अयं तूत्तरकालेऽपि सत्त्वाद्यतो न म्रियतेऽतो नित्यो विनाशायोग्य इत्यर्थः। अत्र न भूत्वेत्यत्र समासाभावेऽपि नानुपपत्तिर्नानुयाजेष्वितिवत्, भगवता पाणिनिना महाविभाषाधिकारे नञ्समासपाठात्। यत्तु कात्यायने-

देते हैं—'न जायते' इत्यादि। जायते, अस्ति, वर्धते, विपरिणमते, अपक्षीयते, विनश्यति—ये छः भावविकार होते हैं, यह वार्ष्यायणिका मत है, यह निरुक्तकारने कहा है। इन छवों विकारोंमें आदि और अन्तका भागी—उत्पत्ति और विनाशका प्रतिषेध करते हैं—'न जायते म्रियते वा' इत्यादिसे। वाशब्द समुच्चयार्थ है। और न तो उत्पन्न होता है और न मरता ही है, यह अर्थ है।

प्रश्न—आत्मा क्यों नहीं उत्पन्न होता ?

उत्तर—चूँकि यह आत्मा कदाचित् यानी किसी कालमें भी न होकर अर्थात् पूर्वकालमें न रहकर आगे फिर नहीं होनेवाला है। जो उत्पत्तिसे पूर्व न रहकर उत्पन्न होता है वही उत्पत्तिक्रियाका अनुभव करता है। अपूर्व उत्पन्न होता है, घटादि अनित्यकी उत्पत्ति होती है। यह तो स्वोत्पत्तिसे पूर्व भी है, अनुत्पन्न होनेसे अज है। पहिले रहकर किसी समय फिर नहीं होगा, यह नहीं होगा ही—इस प्रकार वाक्यका परिवर्तन है। इसमें 'न वा' शब्दका स्वारस्य है। जो पूर्वकालमें होकर पश्चात् नहीं होता वही मरणलक्षण विकारका अनुभव करता है, वही विनाशी है। यह तो उत्तरकालमें भी रहता है। चूँकि यह नहीं मरता, अतः नित्य है। विनाशके योग्य नहीं है, यह अर्थ है। 'न भूत्वा' यहाँ पर्युदास होनेसे समास होना चाहिये, किन्तु यह समास विकल्प होता है। अतः 'अजातिषु ये यजामहं करोति नानुयाजेषु' यहाँ जैसे नानुयाजमें असमस्त नञ्का श्रवण है वैसे ही असमस्तका निर्देश यहाँ भी अनुचित नहीं है। इसीलिए भगवान् पाणिनि

नोक्तं समासनित्यताभिप्रायेण "वावचनानर्थक्यं तु स्वभावसिद्धत्वात्" इ
तद्भगवत्पाणिनिवचनविरोधादनादेयम् । तदुक्तमाचार्यशबरस्वामिना-
"असद्वादी हि कात्यायनः" इति । अत्र न जायते म्रियते वेति प्रतिज्ञा
कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूय इति तदुपपादनम् । अजो नित्य इ
तदुपसंहार इति विभागः । आद्यन्तयोर्विकाराणां तद्व्याप्यानां निषेधे जाते
गमनादिविकाराणामनुक्तानामप्युपलक्षणायापक्षयश्च वृद्धिश्च स्वशब्दै
निराक्रियते । तत्र कूटस्थनित्यत्वादात्मनो निर्गुणत्वाच्च न स्वरूपतो गुण
वाऽपचयः संभवतीत्युक्तम्-'**शाश्वतो**'इति । शाश्वत्सर्वदा भवति नापक्षी
नापचीयत इत्यर्थः । यदि नापक्षीयते तर्हि वर्धतामिति नेत्याह—'पुराण
इति । पुराऽपि नव एकरूपो न त्वधुना नूतनां कांचिदवस्थामनुभवति
यो हि नूतनां कांचिदुपचयावस्थामनुभवति स वर्धत इत्युच्यते लोके । अयं

आचार्यने महाविभाषाधिकारमें 'नञ्' का पाठ किया है । कात्यायनने 'वावचनान
क्यम्' इत्यादि वार्तिक पाठ द्वारा नञ् समास नित्य है, यह जो अपना अभि
सूचित किया है, सो ठीक नहीं है, क्योंकि उक्ताचार्यवचनविरुद्ध कात्यायनव
अग्राह्य है । अचार्य शबरस्वामीने भी यह व्यक्त किया है कि कात्यायन असद्वा
हैं । असमस्तपर्युदासार्थक 'नञ्' का प्रयोग लोक और वेदमें अनेक जगह पा
जाता है, इसलिये कात्यायनवचन अनुपादेय है—ग्राह्य नहीं है । यहाँ 'न जा
म्रियते वा' यह प्रतिज्ञा है, 'कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः' यह प्रतिज्ञा
अर्थका उपपादन है, 'अजो नित्यः' यह उसका उपसंहार है—इस प्रकार वा
विभाग है । आद्यन्तविकार यानी जन्म और मरणके निषेधसे उनके व्याप्य बीच
रहनेवाले विकारोंका निषेध सिद्ध होता है, फिर भी अनुक्त गमनादिविकारों
उपलक्षणार्थ अपक्षय और वृद्धिका नामतः निराकरण करते हैं । आत्मा कूट
है, नित्य निर्गुण है, अतः उसका स्वरूपसे या गुणसे अपचय नहीं होता है, य
'शाश्वतः'इत्यादिसे कह चुके हैं । शाश्वत 'मुहुः पुनः पुनः शश्वत्' इत्यादि कोशसे सा
दिक 'शाश्वत्' शब्दार्थ है यानी जो सदा रहता है उसका अपक्षय नहीं होता है । य
अपचय नहीं होता, तो वृद्धि क्यों नहीं होती, इसपर कहते हैं—'पुराण
इत्यादिसे । पहले भी यह नवीन एक रूप ही था, अब भी किसी नूतन अवस्था
अनुभव नहीं करता ।

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम्।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम् ॥ २१ ॥

हे पार्थ, जो इस आत्माको अविनाशी, नित्य, अज, अव्यय समझता है वह विद्वान् पुरुष भला कैसे किसको मारता है या किसी के द्वारा किसीको मारने के लिए प्रवृत्त करता है? ॥ २१ ॥

सर्वदैकरूपत्वान्नापचीयते नोपचीयते चेत्यर्थः। अस्तित्वविपरिणामौ तु जन्मविनाशान्तर्भूतत्वात्पृथङ्न निषिद्धौ। यस्मादेवं सर्वविकारशून्य आत्मा तस्माच्छरीरे हन्यमाने तत्संबद्धोऽपि केनाप्युपायेन न हन्यते न हन्तुं शक्यत इत्युपसंहारः ॥ २० ॥

नायं हन्ति न हन्यत इति प्रतिज्ञाय न हन्यत इत्युपपादितमिदानीं न हन्तीत्युपपादयन्नुपसंहरति—'**वेदाविनाशिनम्**' इति। न विनष्टुं शीलं यस्य तमविनाशिनमन्त्यविकाररहितम्। तत्र हेतुः- अव्ययं न विद्यते व्ययोऽवयवापचयो गुणापचयो वा यस्य तमव्ययमवयवापचयेन गुणापचयेन वा विनाशदर्शनात्तदुभयरहितस्य न विनाशः संभवतीत्यर्थः। ननु जन्यत्वेन विनाशित्वमनुमास्यामहे नेत्याह—'**अजम्**' इति।

जो कोई पदार्थ पूर्वावस्थासे विलक्षण नवीन अवस्था प्राप्त करता है वह बढ़ता है, ऐसा लोकमें प्रयोग होता है। यह तो सदा एक रूप है, अतः न घटता है, न बढ़ता है। सत्ता और परिणाम - ये दोनों जन्म और विनाशसे पृथक् नहीं हैं, इसलिए उनका अलग निषेध नहीं है। अतः सर्व-विकार शून्य आत्मा है, अतः शरीरके मारे जानेपर भी उससे सम्बद्ध इस आत्माका हनन किसी भी उपायसे नहीं हो सकता, यह उपसंहार है ॥ २० ॥

उक्त वचनसे प्रतिज्ञाकर 'आत्मा किसीसे मारा नहीं जाता' इसका उपपादन हो गया। अब 'न हन्ति' इसका उपपादन करते हुए उपसंहार करते हैं—'**वेदाविनाशिनम्**' इत्यादिसे। जिसका विनाश शक्य नहीं है वह अविनाशी अर्थात् अन्त्यविकाररहित है, जिसके अवयवोंके ह्रास या गुणोंके ह्राससे पदार्थका विनाश देखा जाता है, एतदुभयशून्य आत्माके विनाशका संभव नहीं है, यह तात्पर्य है।

प्रश्न - जन्यत्वलिङ्गसे आत्मामें विनाशित्वका अनुमान करेंगे। उसका स्वरूप ऐसा होगा—'आत्मा विनाशी, जन्यत्वात्, घटादिवत्'।

उत्तर—विकाररहित आत्मामें जन्यत्व यदि नहीं है, तो फिर उक्तलिङ्गक

न जायत इत्यजमाद्यविकाररहितम्। तत्र हेतुः—नित्यं सर्वदा विद्यमानः प्रागविद्यमानस्य हि जन्म दृष्टं न तु सर्वदा सत इत्यभिप्रायः। अथवा विनाशिनमबाध्यं सत्यमिति यावत्। नित्यं सर्वव्यापकम्। तत्र हेतुः अजमव्ययं जन्मविनाशशून्यं जायमानस्य विनश्यतश्च सर्वव्यापकत्वसत्यत्वयोरयोगात्। एवं सर्वविक्रियाशून्यं प्रकृतमेनं देहिनं स्वमात्मानं यो विजानाति शास्त्राचार्योपदेशाभ्यां साक्षात्करोति अहं सर्वविक्रियाशून्यः सर्वभासकः सर्वद्वैतरहितः परमानन्दबोधरूप इति स एवं विद्वान्पुरुषः पूर्णः कं हन्ति कथं हन्ति। किंशब्द आक्षेपे। न कमपि हन्ति न कथमपि हन्ती-त्यर्थः। तथा कं घातयति कथं घातयति कमपि न घातयति कथमपि घातयतीत्यर्थः। नहि सर्वविकारशून्यस्याकर्तुर्हननक्रियायां कर्तृत्वं संभवति तथा च श्रुतिः—

" आत्मानं चेद्विजानीयादयमस्मीति पूरुषः।
किमिच्छन्कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत् " ॥

विनाशित्वका अनुमान कैसे होगा ? यह कहते हैं—'अजम्' इस विशेषणसे। कभी उत्पन्न नहीं होता,इसलिये अज है यानी आद्यविकारशून्य है। यदि पूछिये वह अज क्यों ? तो सुनिये, उसमें यह हेतु है—वह नित्य है—सदा विद्यमान। जो पूर्वमें नहीं रहता, उसका जन्म देखा गया है। जो सदा है उसका जन्म नहीं देखा जाता, यह अभिप्राय है। अथवा अविनाशीका अर्थ है—अबाध्य यानी परमार्थ सत्य। नित्य—सर्व-व्यापक। इसमें हेतु है—अज और अव्यय अर्थात् जन्म और नाशसे रहित यानी जायमान और विनश्वरमें सर्वव्यापकत्व और सत्यत्व नहीं रहता। इस तरह सर्वविकारशून्य प्रकृत इस देहीको—अपनी आत्माको जो जानता है—शास्त्रोंसे तथा आचार्योपदेशोंसे जो जानता है–साक्षात्कार करता है (प्रकृतमें ज्ञान साक्षात्तात्पर्यसे है) 'मैं सब विकारोंसे शून्य सर्वभासक तथा सर्वद्वैतरहित परमानन्दबोधरूप हूँ'—इस तरह जो आत्मसाक्षात्कारसम्पन्न है वही ऐसा विद्वान् पुरुष पूर्णरूप है। वह भला किसको कैसे मारता है। 'किं' शब्द आक्षेपार्थ है। वह किसीको किसी तरह भी नहीं मारता, यह तात्पर्य है। तथा वह किसीको भी किसी तरह नहीं मरवाता। सर्वविकारशून्य अकर्तामें हननक्रिया कर्तृत्व कैसे हो सकता है। देखिये—'आत्मानं चेद्विजानीयादयमस्मी

इति शुद्धमात्मानं विदुषस्तदज्ञाननिबन्धनाध्यासनिवृत्तौ तन्मूलरागद्वेषाद्यभावात्कर्तृत्वभोक्तृत्वाद्यभावं दर्शयति। अयमत्राभिप्रायो भगवतः—वस्तुगत्या कोऽपि न करोति न कारयति च किंचित्सर्वविक्रियाशून्यस्वभावत्वात्परं तु स्वप्न इवाविद्यया कर्तृत्वादिकमात्मन्यभिमन्यते मूढः। तदुक्तम्—"उभौ तौ न विजानीतः" इति। श्रुतिश्च "ध्यायतीव लेलायतीव" इत्यादिः। अत एव सर्वाणि शास्त्राण्यविद्वदधिकारिकाणि। विद्वांस्तु समूलाध्यासबाधान्नाऽऽत्मनि कर्तृत्वादिकमभिमन्यते स्थाणुस्वरूपं विद्वानिव चोरत्वम्। अतो विक्रियारहितत्वाददद्वितीयत्वाच्च विद्वान्न करोति कारयति चेत्युच्यते। तथा च श्रुतिः—"विद्वान्न बिभेति कुतश्चन" इति। अर्जुनो हि स्वस्मिन्कर्तृत्वं भगवति च कारयितृत्वमध्यस्य हिंसानिमित्तं दोषमुभयत्राप्याशशङ्के। भगवानपि विदिताभिप्रायो हन्ति घातयतीति तदुभयमाचिक्षेप। आत्मनि कर्तृत्वं मयि च कारयितृत्वमारोप्य प्रत्यवायशङ्कां मा कार्षीरित्य-

---

पूरुषः' इत्यादि श्रुति भी शुद्धात्मतत्व विद्वान्‌को आत्मैकत्वाज्ञाननिमित्तक अध्यासनिवृत्तिदशामें तन्मूलक रागद्वेषाभावसे कर्तृत्व-भोक्तृत्वाद्यभावका प्रदर्शन करती है। भगवान्‌का यह अभिप्राय है—वस्तुतः कोई भी नहीं करता है और न कुछ कराता ही है, क्योंकि सर्वक्रियाशून्यस्वभाव है, किन्तु मूढ़ पुरुष आत्मामें कर्तृत्वादिका अविद्यासे अभिमान करता है जैसे कि स्वप्नमें। स्मृतिने भी ऐसा ही कहा है—'उभौ तौ न' इत्यादि। 'ध्यायतीव लेलायतीव' इत्यादि श्रुति भी उक्तार्थकी ही घोषिका है। अतएव सम्पूर्ण शास्त्रोंमें अविद्वान् ही का अधिकार है। समूल अध्यासका बोध होनेसे विद्वान्‌का शास्त्रमें अधिकार ही नहीं है। कारण कि वह कर्तृत्वादिका आत्मामें अभिमान नहीं करता। देखिये—जो स्थाणुतत्त्वको जानता है उसको स्थाणुमें चौरज्ञानका अधिकार नहीं है। स्थाणुतत्त्वके अविद्वान्‌को ही 'स्थाणुर्वा चौरो वा' यह संशय अथवा 'अयं चौरः' यह विपर्यय होता है। अधिष्ठानतत्त्वज्ञको नहीं। अतः विक्रियारहित तथा अद्वितीय होनेसे विद्वान् कर्म नहीं करता या न किसीसे कराता ही है, यह कहते हैं। देखिये श्रुति भी कहती है—'विद्वान् न बिभेति कुतश्चन' अपनेमें कर्तृत्व भगवान्‌में कारयितृत्वका अध्यास कर अर्जुनने हिंसादोषारोपणकी आशंका दोनोंमें की। अर्जुनाभिप्रायज्ञ भगवान्‌ने भी मारने और मरवाने दोनोंका आक्षेप किया। अपनेमें कर्तृत्वका और मुझमें कारयितृत्वका आरोप-

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥२२॥

जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रको उतारकर नवीन वस्त्र धारण करते हैं वैसे ही यह आ पुराने जीर्ण-शीर्ण शरीरका परित्याग कर अन्य नूतन शरीर धारण करता है ॥२

भिप्रायः॥ अविक्रियत्वप्रदर्शनेनाऽऽत्मनः कर्तृत्वप्रतिषेधात्सर्वकर्माक्षेपे भग भिप्रेते हन्तिरुपलक्षणार्थः पुरःस्फूर्तिकत्वात् । प्रतिषेधहेतोस्तुल्यत्वात्कर्मा राभ्यनुज्ञानुपपत्तेः । तथा च वक्ष्यति—तस्य कार्यं न विद्यत इति । अतो हननमात्राक्षेपेण कर्मान्तरं भगवताऽभ्यनुज्ञायत इति मूढजनजल्पितमपास्त तस्माद्युध्यस्वेत्यत्र हननस्य भगवताऽभ्यनुज्ञानाद्वास्तवकर्तृत्वाद्यभावस्य मात्रे समत्वादिति दिक् ॥ २१ ॥

नन्वेवमात्मनो विनाशित्वाभावेऽपि देहानां विनाशित्वाद्युद्धस

कर प्रत्यवायकी शंका मत करो, उनका यह अभिप्राय है। अविक्रियत्वप्रद कर्तृत्वका प्रतिषेध होता है, इससे अखिल कर्मोंके आक्षेपमें भगवान्का तात्पर्य इसलिये 'हन्ति' यह उपलक्षण है। जिसमें कर्तृत्वमात्रका प्रतिषेध है उसमें कर्मत्वमात्रका प्रतिषेध विफल है। सामान्याभावसे विशेषाभाव गतार्थ होता उस समय वही सामने उपस्थित था, इससे हन्तिका जो यह अर्थ लगाते हैं 'हन्ति' का प्रतिषेध इतर कर्मोंकी अभ्यनुज्ञाके लिये है—हनन निषिद्ध है, न विहित नित्य-नैमित्तिक कर्मानुष्ठान करे—इस अभिप्रायसे 'हन्ति' का उपादान सो ठीक नहीं है, क्योंकि अविक्रियत्वादिसे यदि हननकर्तृत्व नहीं है, तो तुल्यन्या विहित कर्म-कर्तृत्व भी नहीं है। अविक्रियत्वदर्शन दोनोंके अनुष्ठानमें विरोधी यह आगे कहेंगे—'तस्य कार्यं न विद्यते' इत्यादिसे। अतः यहाँ हननमात्रके आ कर्मान्तरानुष्ठानकी अनुमति भगवान् देते हैं—यह मूर्खजन प्रलाप उपेक्ष्य है 'तस्मात् युद्धयस्व' इत्यादिसे युद्धमें हनन भगवान्को अनुमत है। वास्तवमें कर्ता भोक्तृत्वादिका अभाव कर्ममात्रमें समान ही है। यह संक्षिप्त व्याख्या है॥ २१॥

आत्मा विनाशी नहीं है, तो भी देह तो विनाशी अवश्य है और युद्ध से

तन्नाशकत्वात्कथं भीष्मादिदेहानामनेकसुकृतसाधनानां मया युद्धेन विनाशः कार्य इत्याशङ्कायां उत्तरम्—'**वासांसि जीर्णानि**' इति। जीर्णानि विहाय वस्त्राणि नवानि गृह्णाति विक्रियाशून्य एव नरो यथेत्येतावतैव निर्वाहेऽपराणीति विशेषणमुत्कर्षातिशयख्यापनार्थम्। तेन यथा निकृष्टानि वस्त्राणि विहायोत्कृष्टानि जनो गृह्णातीत्यौचित्यायातम्। तथा जीर्णानि वयसा तपसा च कृशानि भीष्मादिशरीराणि विहायान्यानि देवादिशरीराणि सर्वोत्कृष्टानि चिरोपार्जितधर्मफलभोगाय संयाति सम्यग्गर्भवासादिक्लेशव्यतिरेकेण प्राप्नोति। देही प्रकृष्टधर्मानुष्ठातृदेहवान्भीष्मादिरित्यर्थः। "अन्यन्नवतरं कल्याणतरं रूपं कुरुते पित्र्यं वा गान्धर्वं वा दैवं वा प्राजापत्यं वा ब्राह्मं वा" इत्यादिश्रुतेः। एतदुक्तं भवति—भीष्मादयो हि यावज्जीवं धर्मानुष्ठानक्लेशेनैव जर्जरशरीरा वर्तमानशरीरपातमन्तरेण तत्फलभोगायासमर्था यदि धर्मयुद्धेन स्वर्गप्रतिबन्धकानि जर्जराणि शरीराणि पातयित्वा

नाशक है, इसमें सन्देह नहीं, फिर भीष्मादि महापुरुषकी देह अनेक जन्मोपार्जित सुकृतविशेषसे उत्पन्न है, साधारणदेहारम्भक सामग्रीसे नहीं। उनका युद्धमें 'मैं विनाश कैसे करूँ' इस उचित शंकाका उत्तर है कि विकारशून्य ही मनुष्य पुराने जीर्ण-शीर्ण वस्त्रोंको उतारकर नवीन वस्त्र धारण करता है। 'जैसे नवीन धारण करता है।' नवीन तो पुरानेसे भिन्न होता ही है, भिन्न तात्पर्यसे 'अपराणि' कहनेकी क्या आवश्यकता? सुनिये—'यथा' सिर्फ इतनेसे ही निर्वाह हो जाता है। उत्कर्षविशेषबोधनार्थ उक्त पद है। जैसे नवीन और पुराने वस्त्रोंमें विशेष है यानी नवीनमें उत्कर्ष और पुरानेमें अपकर्ष है वैसे ही नवीन और पुराने शरीरोंमें भी तारतम्य है। जीर्ण वस्त्रके समान अवस्था, तप आदिसे जीर्ण भीष्मादिदेहका त्यागकर अन्य नवीन देवादिशरीर बहुकालार्जितधर्मफलभोगके लिए ग्रहण करेंगे—तपःप्रभावसे गर्भवासादिक्लेशके बिना आनन्दपूर्वक प्राप्त कर लेंगे। देही यानी उत्कृष्टधर्मानुष्ठानपरायण भीष्मादि। इस अर्थमें प्रमाण 'अन्यन्नवतरं कल्याणरूपम्' इत्यादि श्रुति है। सुनिये—भीष्मादि पुरुषधौरेय जीवनतक धर्मानुष्ठानक्लेशसे जर्जरशरीर हैं, वर्तमान शरीरके त्यागके बिना सुकृत कर्मफल भोगनेमें असमर्थ हैं। धर्मयुद्धसे स्वर्गभोगप्रतिबन्धकीभूत जीर्ण शरीरका त्यागकर

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥ २३ ॥

उस आत्माको शस्त्र काट नहीं सकते, अग्नि जला नहीं सकती, जल … नहीं सकते और वायु भी सूखा नहीं सकती ॥ २३ ॥

दिव्यदेहसंपादनेन स्वर्गभोगयोग्याः क्रियन्ते त्वया तदाऽत्यन्तमुपकृता… ते । दुर्योधनादीनामपि स्वर्गभोग्यदेहसंपादनान्महानुपकार एव । तथा चा… न्तमुपकारके युद्धेऽपकारकत्वभ्रमं मा कार्षीरिति । अपराणि अन्यानि संया… तिपदत्रयवशाद्भगवदभिप्राय एवमभ्यूहितः । अनेन दृष्टान्तेनाविकृतत्वप्र… पादनमात्मनः क्रियत इति तु प्राचां व्याख्यानमतिस्पष्टम् ॥ २२ ॥

स्वर्गसुखभोगोपयोगिदिव्यशरीर धारण द्वारा यदि वे स्वर्गभोगयोग्य तुम्… सहायतासे हो जायं, तो वे तुमसे कृतकृत्य ही होंगे, अपकृत नहीं । यदि … दुर्योधनादिके अनिष्टोंमें शंका हो, तो सुनो, उनका भी स्वर्गभोग्यदेहसम्… द्वारा उपकार ही होगा । वे विहित ही स्वर्गभोगभागी होंगे । विचारसे अत्यन्… कारक युद्धमें अपकारत्वभ्रम मत करो । 'अपराणि, अन्यानि, संयाति' इन … पदोंसे भगवान्का अभिप्राय इस प्रकार सूचित किया है ।

[टीकान्तरमें 'लोग पुराने वस्त्रका त्यागकर नवीन वस्त्र ग्रहण करते हैं, … पुरुष विकारी नहीं होता एवं पूर्वशरीर त्याग कर उत्तर ग्रहणमें विकारी नहीं है,' … इतना ही अर्थ है, भीष्मादिके उपकार और अपकारकी सूचना नहीं है, … अपदार्थ होनेसे अमूल (कल्पनामात्र) है—इस भ्रमके निराकरणार्थ अपने उक्… उक्तपदत्रय दत्तहस्तावलम्ब है ।] इस दृष्टान्तसे आत्मामें अविकृतत्वप्रतिपा… करते हैं, यह प्राचीन व्याख्यान अति स्पष्ट है । [अति स्पष्टसे प्राचीन व्याख्या… कटाक्षकी सूचना है । व्याख्यान गूढ़तत्त्वोंका होना चाहिये, स्पष्ट तो अपने … ज्ञेय है । उसका शब्द द्वारा प्रकाशन व्यर्थ है । भाष्यकारने भी पूर्वापर प्रकर… नुरोधसे अविक्रियत्वप्रतिपादनमें उक्त वाक्यका तात्पर्य कहा है, अतः कटाक्ष … नहीं है । हाँ, यह कथन उपादेय है कि प्रकृतमें अन्य और अपरशब्द भिन्नार्थता… र्यमात्रसे प्रयुक्त नहीं है, किन्तु लक्षणया उत्कृष्टार्थक है । अन्यथा नवत्व और पु… णात्वसे उत्कृष्ट और अपकृष्टको सूचित करना होगा । पुरानेसे नवीन उत्कृष्ट ह… है, यह नियम नहीं है । चावल आदि कतिपय पदार्थ नूतनसे पुरातन ही अ… होते हैं । विक्रियासे प्रकृतमें मनोविकारको भी कह सकते हैं, इत्यादि विशेष क… प्रकृतमें उपयुक्त नहीं है, इसलिए विस्तार नहीं किया गया है] ॥ २२ ॥

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥ २४ ॥

चूंकि यह आत्मा अच्छेद्य, अदाह्य, अक्लेद्य और अशोष्य है, इसलिए नित्य, सर्वव्यापी, स्थाणु (अविकारी), स्थिर और सनातन (सर्वदा एकरूप) है ॥ २४ ॥

ननु देहनाशे तदभ्यन्तरवर्तिन आत्मनः कुतो न विनाशो गृहदाहे तदन्तर्वर्तिपुरुषवदित्यत आह—'नैनम्' इति।

शस्त्राण्यस्यादीनि अतितीक्ष्णान्यपि एनं प्रकृतमात्मानं न छिन्दन्ति अवयवविभागेन द्विधा कर्तुं न शक्नुवन्ति। तथा पावकोऽग्निरतिप्रज्वलितोऽपि नैनं भस्मीकर्तुं शक्नोति। न चैनमापोऽत्यन्तं वेगवत्योऽपि आर्द्रीकरणेन विश्लिष्टावयवं कर्तुं शक्नुवन्ति। मारुतो वायुरतिप्रबलोऽपि नैनं नीरसं कर्तुं शक्नोति। सर्वनाशकाक्षेपे प्रकृते युद्धसमये शस्त्रादीनां प्रकृतत्वादवयुत्यानुवादेनोपन्यासः। पृथिव्यप्तेजोवायूनामेव नाशकत्वप्रसिद्धेस्तेषामेवोपन्यासो नाऽऽकाशस्य ॥ २३ ॥

देहनाशसे तदन्तर्वर्ति पुरुषको दुःख क्यों नहीं होगा ? गृहदाह होते समय उसके भीतर स्थित पुरुषको दुःख होता ही है, इस शंकापर कहते हैं—'नैनम्' इत्यादि। असि आदि—तलवार, भाला, बर्छी आदि अति तीखे भी शस्त्र उक्तस्वरूप आत्माका छेदन नहीं कर सकते तथा अति प्रज्वलित-स्फुरज्ज्वालाजालजटिल पावक—अनल इसको भस्म नहीं कर सकता। इसको अत्यन्तवेगवान् जल आर्द्र बनाकर विश्लिष्ट-अवयव नहीं कर सकता तथा प्रबल वेगवान् मारुत यानी पवन भी नीरस नहीं कर सकता—सुखा नहीं सकता।

शङ्का—विष आदिका उपन्यास न करनेसे न्यूनता प्रतीत होतीहै।

समाधान—सबसे नाशाभावका आक्षेप उपलक्षणतया विवक्षित है। प्रकृत युद्धसमयमें शस्त्र आदिके प्रकृत होनेसे यानी युद्धमें नाशकान्तरकी प्रसक्तिके अभावसे संभवतः पृथिव्यादिका ही अवयुत्यानुवाद है। अवयुति—आंशिक सबमें कुछका नामनिर्देश है। पृथिव्यादिमें ही नाशकत्वप्रसिद्धि है, अतः इनका ही नामनिर्देश भगवान्‌ने किया है, आकाशका नहीं ॥ २३ ॥

शस्त्रादीनां तन्नाशकत्वासामर्थ्ये तस्य तज्जनितनाशार्हत्वे हेतुमाह—'अच्छेद्योऽयम०', इति। यतोऽच्छेद्योऽयमतो नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि। अदाह्योऽयं यतोऽतो नैनं दहति पावकः। यतोऽक्लेद्योऽयमतो नैनं क्लेदयन्त्यापः। यतोऽशोष्योऽयमतो नैनं शोषयति मारुत इति क्रमेण योजनीयम्। एवकारः प्रत्येकं संबध्यमानोऽच्छेद्यत्वाद्यवधारणार्थः। चः समुच्चये हेतौ वा। छेदाद्यनर्हत्वे हेतुमाहोत्तरार्धेन—नित्योऽयं पूर्वापरकोटिरहितोऽतोऽनुत्पाद्यः। असर्वगतत्वे ह्यनित्यत्वं स्यात्, "यावद्विकारं तु विभागः" इति न्यायात्पराभ्युपगतपरमाण्वादीनामनभ्युगमात्। अयं तु सर्वगतो विभुरतो नित्य एव। एतेन प्राप्यत्वं पराकृतम्। यदि चायं विकारी स्यात्तदा सर्वगतो न स्यात्। अ

शस्त्रादि आत्माका नाश करनेमें असमर्थ हैं और वह शस्त्रजन्यनाशके योग्य नहीं है, इसमें हेतुका निर्देश करते हैं—'अच्छेद्योऽय०' इत्यादिसे। चूँकि आत्मा छेदनके अयोग्य है, अतः शस्त्रादि उसके छेदनमें असमर्थ हैं। चूँकि यह अदाह्य—अशक्यदाह है, अतः अग्नि दहनमें असमर्थ है। चूँकि यह अक्लेद्य—जलसंयोगजनित शिथिलावयवसंयोगके योग्य नहीं है, अतः जल सड़ानेमें असमर्थ है। चूँकि यह अशोष्य—निपीतस्नेहयोग्य नहीं है, अतः वायु शोषणमें असमर्थ हैं—इस क्रमसे योजना करनी चाहिए। एवकारको प्रत्येक वाक्यमें संबंध होनेसे यह निश्चितार्थक है। अछेद्य ही है, छेद्य नहीं है। अदाह्य ही है दाह्य नहीं—इत्यादि। चकार समुच्चय या हेतुमें है। उत्तरार्ध श्लोकसे छेदादियोग्यत्वाभावमें हेतु कहते हैं—आत्मा नित्य—पूर्वापरकोटिरहित है। पूर्वकोटि प्रागभाव है और उत्तरकोटि ध्वंस है। अनित्यमें ये दोनों कोटियाँ रहती हैं, आत्मामें नहीं। प्रागभावका अप्रतियोगी रहते हुए ध्वंसाभावका अप्रतियोगी आत्मा है, अतः अनुत्पाद्य—उत्पादके अयोग्य है। यदि असर्वगत होता, तो अनित्य होता।

प्रश्न—क्यों ?

उत्तर—'यावद्विकारं तु विभागः' इस सूत्रमें कारण कह चुका हूँ, अतः पूर्वोक्त न्यायका स्मरण करो।

परमाणुको विभक्त तथा अनित्य नैयायिक मानते हैं, इसलिये विभक्तत्व तथा अनित्यत्व नहीं है—यह शङ्का असंगत है। वेदान्ती परमाणु नहीं मानते, अतः उक्त न्यायमें कोई दोष नहीं है। यह आत्मा तो सर्वगत और विभु है, इस कारण नित्य ही है। इससे प्राप्यत्व कर्मत्वको भी आत्मामें निराकृत ही समझना चाहिए

तु स्थाणुरविकारी। अतः सर्वगत एव। एतेन विकार्यत्वमपाकृतम्। यदि चायं चलः क्रियावान्स्यात्तदा विकारी स्याद्, घटादिवत्। अयं त्वचलोऽतो न विकारी। एतेन संस्कार्यत्वं निराकृतम्। पूर्वावस्थापरित्यागेनावस्थान्तरापत्तिर्विक्रिया, अवस्थैक्येऽपि चलनमात्रं क्रियेति विशेषः। यस्मादेवं तस्मात्सनातनोऽयं सर्वदैकरूपो न कस्या अपि क्रियायाः कर्मेत्यर्थः। उत्पत्त्याप्तिविकृतिसंस्कृत्यन्यतरक्रियाफलयोगे हि कर्मत्वं स्यात्। अयं तु नित्यत्वान्नोत्पाद्यः, अनित्यस्यैव घटादेरुत्पाद्यत्वात्। सर्वगतत्वान्न प्राप्यः, परिच्छिन्नस्यैव पय आदेः प्राप्यत्वात्। स्थाणुत्वादविकार्यः, विक्रियावतो घृतादेरेव विकार्यत्वात्। अचलत्वादसंस्कार्यः, सक्रियस्यैव दर्पणादेः संस्कार्यत्वात्। तथा च श्रुतयः—

[जो प्राप्त है, सो प्राप्ति क्रियाका कर्म होता है। जैसे ग्राम चैत्रप्राप्तिक्रियाका कर्म है। इसलिये चैत्र ग्राम जाते हैं—इस प्रयोगमें ग्राम कर्म है, जो सदा प्राप्त है, वह प्राप्तिक्रियाका कर्म नहीं हो सकता। जैसे—आकाश। एवं आत्मा विभु होनेसे प्राप्य नहीं है।] यदि आत्मा विकारी होता, तो सर्वगत न होता। यह ऐसा नहीं है, किन्तु यह स्थाणु—अविकारी है, अतः सर्वगत है। इससे विकार्य कर्मत्वका भी निराकरण होता है। अथवा यदि यह चलनक्रियावान् होता, तो घटादिवत् विकारी होता। यह तो अचल है, अतः विकारी नहीं है। इससे संस्कार्य कर्मत्वका भी निरास समझना चाहिये। पूर्वावस्थात्यागपूर्वक नवीनोत्तरावस्थाप्राप्तिका नाम विकार है। जैसे—चावलकी पाकावस्था स्वाभाविक कठिनावयवसंयोगनिवृत्तिपूर्वक तापजन्यशिथिलावयवसंयोग विकार है। विकार और क्रियामें भेद यह है कि विकारसे अवस्थाभेद होता है। जैसे—पक्क और अपक्क तण्डुल अवस्थासे भिन्न है। तथा क्रियामें अवस्था एक होनेपर भी चलन होता है। जैसे कि स्थिरपक्षमें घटादिमें चलन है। चूँकि यह ऐसा है, अतः यह सनातन—सदा एक रूप है। तात्पर्य यह कि यह किसी क्रियाका कर्म नहीं है। उत्पत्ति, विकृति, संस्कृति और आप्ति—एतच्चतुर्विध क्रियानिरूपित कर्मत्व होता है। इनमें अन्यतम उत्पत्त्यादि किसी क्रियाफलसे निरूपित कर्मत्व आत्मामें नहीं है। नित्य होनेसे आत्मा उत्पाद्य कर्म नहीं है। अनित्य घटादि ही उत्पाद्य कर्म हैं। सर्वगत होनेसे यह आकाशवत् प्राप्य नहीं है। परिच्छिन्न—असर्वगत घटादि ही प्राप्य हैं। स्थिर हैं, अतः अविकार्य हैं। विक्रियावान् घृतादि ही विकार्य होते हैं। मलिन दर्पणादि

"आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः" "वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकः," निष्कलं निष्क्रियं शान्तम्" इत्यादयः। "यः पृथिव्यां तिष्ठन्पृथिव्या अन्तरो योऽप्सु तिष्ठन्नद्भ्योऽन्तरो यस्तेजसि तिष्ठंस्तेजसोऽन्तरो यो वायौ तिष्ठन्वायोरन्तरः" इत्याद्या च श्रुतिः सर्वगस्य सर्वान्तर्यामितया तदविषयत्वं दर्शयति। यो हि शस्त्रादौ न तिष्ठति तं शस्त्रादयश्छिन्दन्ति। अयं तु शस्त्रादीनां सत्तास्फूर्तिप्रदत्वेन तत्प्रेरकस्तदन्तर्यामी। अतः कथमेनं शस्त्रादीनि स्वव्यापारविषयीकुर्युरित्यभिप्रायः। अत्र "येन सूर्यस्तपति तेजसेद्धः" इत्यादिश्रुतयोऽनुसंधेयाः। सप्तमाध्याये च प्रकटीकरिष्यति श्रीभगवानिति दिक्॥ २४

सुरखी-चूनासे साफ कर दिये जाते हैं। इसमें प्रमाण ये श्रुतियाँ हैं। 'आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः', 'वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठति' इत्यादि श्रुतियाँ सर्वगत आत्मा सर्वान्तर्यामी होनेसे वह सर्वक्रियाका विषय नहीं है—यह स्पष्ट बतलाती हैं। जो शस्त्रादिमें नहीं रहता, उसको शस्त्रादि काटते हैं। आत्मा तो शस्त्रादिमें सत्तास्फूर्तिप्रद है, आत्मासे ही शस्त्रादिसत्ताका ज्ञान होता है। यह तत्प्रेरक है, तदन्तर्यामी है। अतः शस्त्रादि इसे स्वव्यापारका कर्म कैसे बना सकते हैं, यह भाव है। इस अर्थमें 'येन सूर्यस्तपति तेजसेद्धः' इत्यादि श्रुतियोंका अनुसन्धान करना चाहिये। सप्तमाध्यायमें भगवान् स्पष्ट करेंगे।

[वस्तुतः अपने उक्त अर्थमें श्रुतिप्रमाणप्रदर्शन हृदयग्राही नहीं है, यह उक्त दीपिकामें है—प्रथम छः अध्यायोंसे त्वंपदार्थका शोधन है, यह भाष्यकारोंका सिद्धान्त है, आपने भी यही कहा है। 'गतासून्' इत्यादि उपक्रम है, 'देहिनोऽस्मिन्' इत्यादि तथा 'अन्तवन्त इमे देहाः' एवं 'वासांसि' इत्यादि परामर्श है, 'नित्यमवध्योऽयम्' इत्यादि उपसंहारप्रकरणार्थ है। तात्पर्यनिर्णायक षड्विधलिङ्गान्तर्गत उक्त उपक्रमपरामर्शोपसंहाररूप त्रिविधलिङ्गसे त्वंपदार्थनिरूपणकी प्रतीति स्फुट है। तत्त्वंपदार्थाभेदप्रतीति तो नियम्यनियामकभावनिर्मुक्त शुद्ध-चैतन्यमें है, वह वास्तविक है, औपाधिक तो जीव-ब्रह्ममें भेद ही है। 'अविद्याप्रत्युपस्थापितकार्यकरणोपाधिनिमित्तोऽप्ययं शरीरान्तर्यामिणोर्भेदव्यपदेशो न पारमार्थिकः' ऐसा भाष्यकारने भी कहा है। इस प्रकार जिस शुद्धका जिस शुद्धके साथ अभेद है उनमें नियामकत्व नहीं है, इसलिये 'अन्तर्यामि' श्रुत्युदाहरण प्रकृतमें उपयोगी नहीं है। औपाधिकभेदप्रतिपादक तो भगवान् बादरायणके ये सूत्र हैं। देखिये—'अन्तर्

स्यधिदैवादिषु तद्धर्मव्यपदेशात्' (१।२।१८) 'न च स्मार्तमतद्धर्माभिलापात्' (१।२।१९) शारीरश्चोभयेऽपि हि भेदेनैनमधीयते' (१।२।२०) और जो अछेद्यत्वादिमें निमित्त तदन्तःस्थिति बतलायी गयी है, सो भी उपेक्ष्य है। लोहासे लोहा कटता है। दोनोंमें लोहतत्त्व समान है, इसलिये सर्वज्ञ भाष्यकारने अच्छेद्यत्वादिमें निमित्तनिरवयवत्व कहा है, वही समीचीन है। छेदन अवयवविभागानुकूल व्यापार है, जो सावयवमें होता है, निरवयव आकाशादिमें उक्त व्यापारका संभव ही नहीं है। एवं निरवयव आत्मामें शस्त्रादिनिर्बंधन छेद्यत्वादिका असंभव स्पष्ट है।

शङ्का—'न जायते म्रियते' इत्यादि वाक्यसे आत्माके यथार्थस्वरूपका निरूपण हुआ, फिर पुनः पुनः कथित विषयका कथन पुनरुक्त दोषसे अनुपादेय होता है, ज्ञातज्ञापकवाक्यश्रवणमें सुननेवालोंको श्रद्धा भी नहीं होती, निष्प्रयोजन समययापन होता है और वक्ता भी अनवहित प्रतीत होता है। यह शङ्का सुननेवालेकी स्वाभाविक है कि पूर्वोक्तका वक्ताको स्मरण नहीं है, अन्यथा कथितकथनमें इसकी पुनः प्रवृत्ति नहीं होती। साधारण मनुष्योंमें ये दोष सहज हैं, पर भगवद्वाक्यमें ये क्यों आये। गीतामें तो इनकी भरमार है—नित्य, विभु, निरवयवत्व आदिका कथन आत्मामें है।

समाधान—क्रियाफल दो प्रकारका होता है--एक दृष्ट और दूसरा अदृष्ट। फलपर्यन्त व्यापार होना आवश्यक है। 'व्रीहीन् प्रोक्षति' व्रीहीन् अवहन्ति' ये दोनों वाक्य वैदिक हैं। प्रोक्षण अदृष्टार्थ है और अवघात दृष्टार्थ है। प्रोक्षण सकृत् किया जाता है। सकृत्समन्त्र प्रोक्षणसे अदृष्टफलकी उत्पत्ति हो जाती है, अतः पुनः तदनुष्ठान आवश्यक नहीं है,परन्तु अवघात असकृत् किया जाता है। यह दृष्ट (तण्डुलनिष्पत्तिरूप) फल है। फलार्थ उपायानुष्ठान विहित है, इसलिये जबतक फलकी उत्पत्ति नहीं हो जाती है तबतक उसकी आवृत्ति की जाती है, जो सर्वथा उचित ही है, अन्यथा सकृत् अनुष्ठान भी व्यर्थ ही हो जायगा। गीताका उपदेश अवघातके समान दृष्टफलार्थ है। जबतक निर्विचिकित्सनिर्विशेषनित्यानन्दज्ञानात्मैकत्वका निश्चय न हो, तबतक आत्मनिरूपणकी आवृत्ति अवघातके समान आवश्यक है। आत्मा दुर्बोध और दुष्प्रतिपाद्य है। अर्जुन श्रोता और भगवान् स्वयं वक्ता हैं, तो भी पुनरुक्तोंकी भरमार है। तदतिरिक्त वक्ता और श्रोताको जन्मभर कहने-सुनने में उक्त दोषकी शंका नहीं हो सकती, कारण कि असकृत् भगवदुपदेशसे अर्जुनको आत्माका यथार्थ-

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते ।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि ॥२५॥

यह आत्मा अव्यक्त, अचिन्त्य और अविकार्य कहा जाता है। इसे उपर्युक्त रीतिसे इस आत्माको जानकर तुम शोक नहीं कर सकते ॥ २५ ॥

छेद्यत्वादिग्राहकप्रमाणाभावादपि तदभाव इत्याह—'अव्यक्तोऽ...' इत्यर्धेन। यो हीन्द्रियगोचरो भवति स प्रत्यक्षत्वाद्व्यक्त इत्युच्यते। अयं तु ... दिहीनत्वान्न तथा। अतो न प्रत्यक्षं तत्र च्छेद्यत्वादिग्राहकमित्यर्थः। प्रत्य... भावेऽप्यनुमानं स्यादित्यत आह—'अचिन्त्योऽयम्'। चिन्त्योऽनुमेयस्तद्वि... णोऽयम्। क्वचित्प्रत्यक्षो हि वह्न्यादिर्गृहीतव्याप्तिकस्य धूमादेर्दर्शनात्क्वचिदनु... भवति। अप्रत्यक्षे तु व्याप्तिग्रहणासंभवान्नानुमेयत्वमिति भावः। अप्रत्य...

ज्ञान हो गया, जिसे उन्होंने स्पष्ट कहा है कि मेरा मोह निवृत्त हो गया। ... आपके वचनोंका पालन करूँगा। आजकल प्राचीनशुभकर्मवशपरिपूतान्तः... वृत्ति पुरुषधौरेयको असकृदुपदेशसे भी आत्माका यथार्थज्ञान यदि हो जाय, तो ... धन्य है। अन्यको तो इस दोषकी संभावना ही नहीं है। प्रतिश्लोकश्रवणमें ... अर्थके समान ही ज्ञान होता है, अतएव भगवान् व्यासजीने स्पष्ट कहा है 'आवृत्तिरसकृदुपदेशात्'। आत्मज्ञानके लिए श्रुतियोंमें असकृदुपदेश बतलाया ... है। यावदात्मज्ञानप्रत्ययावृत्तिसूचनार्थ 'असकृदुपदेश' है, तदनुसार गीतामें भी ... अधिक उत्कर्षदीपिकामें देखिये] ॥ २४ ॥

छेद्यत्वादिग्राहक प्रमाणके अभावसे भी छेद्यत्वादिका अभाव है, यह ... हैं—'**अव्यक्तोऽयम्**' इत्यादि आधे श्लोक से। जो इन्द्रियविषय होता है ... प्रत्यक्ष होनेसे व्यक्त कहा जाता है। आत्मा तो रूपादिशून्य होनेसे प्रत्यक्ष नहीं ... अतएव व्यक्त भी नहीं है, फिर छेद्यत्वादिग्राहक प्रत्यक्षकी क्या सम्भावना।

शंका—प्रत्यक्ष नहीं है, तो अनुमान क्यों नहीं ?

समाधान—यह अचिन्त्य है, चिन्त्य अनुमेय कहलाता है। उससे भी ... विलक्षण है। कहीं प्रत्यक्ष ही महानसादि स्थलमें अग्निका धूममें व्याप्तिसम्ब... ग्रहण होनेपर ही पर्वतादि में धूमसे अग्निका अनुमान होता है। अप्रत्यक्ष पदा... व्याप्तिग्रह न होनेसे अनुमान नहीं होता। अतः अनुमेय भी नहीं है।

स्यापीन्द्रियादेः सामान्यतोदृष्टानुमानविषयत्वं दृष्टमत आह–'अविकार्योऽयम् ।' यद्विक्रियावच्चक्षुरादिकं तत्स्वकार्यान्यथानुपपत्त्या कल्प्यमानमर्थापत्तेः सामान्यतोदृष्टानुमानस्य च विषयो भवति। अयं तु न विकार्यो न विक्रियावानतो नार्थापत्तेः सामान्यतोदृष्टस्य वा विषय इत्यर्थः। लौकिकशब्दस्यापि प्रत्यक्षादिपूर्वकत्वात्तन्निषेधेनैव निषेधः। ननु वेदेनैव तत्र च्छेद्यत्वादि ग्रहीष्यत

शंका—इन्द्रियादिसे सूर्यादिगतिका प्रत्यक्ष कहीं नहीं है, फिर भी सामान्यतोदृष्ट अनुमान इनका होता है, अतः तद्विषयत्व इनमें जैसे है वैसे ही आत्मामें भी तद्विषयत्व क्यों नहीं है ?

समाधान—आत्मा अविकार्य है, इसमें तद्विषयत्व नहीं है। जो पदार्थ विकारी होता है वही सामान्यतः दृष्टका विषय होता है। जैसे—चक्षुरादि विकारी हैं, क्योंकि विषयेन्द्रियसंयोगानुकूल व्यापार इन्द्रियोंमें पाया जाता है। अतः तत्तद्विषय प्रत्यक्षरूप तत्तत्कार्यान्यथानुपपत्ति होनेसे कल्प्यमान इन्द्रियादि अर्थापत्ति तथा सामान्यानुमानके विषय होते हैं। [जैसे—देवदत्तः चक्षुष्मान्, रूपादि दर्शित्वात्, अहमिव। अहं चक्षुष्मान्, रूपादिदर्शित्वात्, यन्नैवं तन्नैवं यथा अन्धः। अथवा रूपाद्युपलब्धिक्रिया सकरणिका, क्रियात्वात्, छेदनादि क्रियावत्–इत्यादि विस्तृत विवरण अन्यत्र देखिये।] सारांश यह है कि यह आत्मा तो विक्रियावान् नहीं है,अतः यह अर्थापति या सामान्य तो दृष्टका विषय नहीं है। [नित्यत्वादि अच्छेद्यत्वादिमें हेतु हैं। उनमें प्रमाण ये श्रुतियां हैं—'कूटस्थमचलं ध्रुवम्' (गी० १२।३), 'आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः निर्विकारोऽक्षरः शुद्धः निष्कलं निष्क्रियं शान्तम्' (श्वे० उ० ६।१९) 'आत्मा वा इदमेक एव अग्र आसीत्' (ऐ० उ० १।१) 'पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयंभू (कठो० २।४।१।) 'अप्राप्य मनसा सह (तै० २।४।१) इत्यादि श्रुतियोंसे क्रमशः नित्यसर्वगतादिस्वरूप आत्मा कहा गया है।]

[प्रश्न—अच्छा तो शब्दका विषय आत्मा हो सकता है।

उत्तर—शब्द दो प्रकारके हैं—लौकिक और वैदिक। लौकिक शब्दोंका विषय आत्मा नहीं है। इसका उपपादन करते हैं—] लौकिक शब्द भी प्रत्यक्षादिपूर्वक ही है। प्रत्यक्षका निषेध आत्मामें कर चुके हैं। उसीसे शब्दका भी निषेध सिद्ध होता है।

[प्रश्न—शब्द प्रत्यक्षपूर्वक कैसे ?

उत्तर—गृहीतशक्तिक ही शब्द अर्थका बोधक होता है, अगृहीतशक्तिक

इत्यत आह—'उच्यते'। वेदेन सोपकरणेनाच्छेद्याऽव्यक्तादिरूप एवायमुख्यं तात्पर्येण प्रतिपाद्यते। अतो न वेदस्य तत्प्रतिपादकस्यापि च्छेद्यत्वादिप्रतिपादकत्वमित्यर्थः। अत्र "नैनं छिन्दन्ति" इत्यत्र शस्त्रादीनां तन्नाशक

शब्द नहीं। शब्दशक्तिग्रह प्रयोज्य-प्रयोजकवृद्धव्यवहारसे होता है। वृद्धशब्द गृहीतशक्तिकपरक है। देखिये—प्रयोजकने प्रयोज्यसे कहा—घटमानय। प्रयोज्य घट लाकर रख दिया। इन दोनोंके समीप स्थित बालक यह अनुमान करता है 'यह प्रयोज्यप्रवृत्ति घटानयनधर्मिक-इष्टसाधनताज्ञानजन्य है, प्रवृत्ति होने से, मदीय स्तनपानादि प्रवृत्तिवत्'। इसको 'घटानयका ज्ञान' इस वाक्यसे हुआ, उसीसे लानेमें प्रवृत्त हुआ है। स्वतः उक्त कार्यमें प्रवृत्त नहीं हुआ, अन्यथा शब्दश्रवण पूर्वमें भी प्रवृत्त्यापत्ति आ जायगी। 'अतः घटानयनज्ञानं प्रयोजकशब्दजन्यं तदनन्तर्भावित्वात्, यो यदनन्तरं भवति स तज्जन्यो भवति' इससे घटानयनज्ञान शब्दात्मक वाक्यजन्यत्वका ज्ञान हुआ। तदनन्तर 'घटमानय' यह वाक्य घटानय ज्ञान ही का जनक है, अर्थान्तरज्ञानका नहीं। क्यों नहीं है? अतः फिर यह सन्धान करता है कि वाक्य स्वसम्बद्ध अर्थका ही प्रत्यायक होता है, असम्बद्ध अर्थका नहीं, अन्यथा एक ही वाक्यसे सकल पदार्थका बोध होने लगे वाक्यान्तर व्यर्थ हो जायँगे, इसलिये नियतार्थबोधान्यथानुपपत्त्या घटानयन अर्थ ही उक्त वाक्यका सम्बन्ध है, यह ज्ञान अर्थापत्तिसे होता है। इस तरह ज्ञशब्द सम्बन्धज्ञान प्रत्यक्ष, अनुमान और अर्थापत्ति—इन तीनों प्रमाणोंसे होता केवल प्रत्यक्षसे नहीं। तथापि प्रत्यक्ष सर्वप्रथम कारणत्वेन अपेक्षित है। तदनु अनुमान और अर्थापत्ति हैं। प्रत्यक्षसे 'घटानयन' देखकर ही इतरप्रमाणद्वय उत्पादन होता है, अतः प्रधान प्रत्यक्षनिवृत्तिसे शब्दकी निवृत्ति कही गयी इतरप्रमाणद्वयकी मूलभूतप्रत्यक्षनिवृत्तिसे निवृत्ति स्पष्ट है, इसलिये उन दोनों निवृत्तिकी चर्चा नहीं की है।]

शङ्का—अच्छा तो वैदिक शब्दोंसे आत्मामें छेद्यत्व ग्रहण करेंगे।

समाधान—'उच्यते' अर्थात् निगमनिरुक्ताद्यङ्गजातोपबृंहित वेदसे अच्छे अव्यक्तरूप ही आत्मा बोध्य है। यद्यपि 'यतो वाचो निवर्तन्ते' इत्यादि वेदवाक्य विशुद्ध आत्मा शब्दगम्य भी नहीं है,तथापि लक्षणया (तात्पर्यवृत्त्या) तद्बोधनमें तात्पर्य है यह कहते हैं। उक्तनिषेध शक्यांशद्वयगम्यत्वतात्पर्यसे है। अतः आत्मप्रतिपादक वेदमें छेद्यत्वादिप्रतिपादकत्व नहीं हो सकता। 'नैनं छिन्दन्ति' इत्यादि वचनों

मर्थ्याभावश्च उक्तः। अच्छेद्योऽयमित्यादौ तस्य च्छेद्यादिकर्मत्वायोग्यत्वमुक्तम्। अव्यक्तोऽयमित्यत्र तच्छेदादिग्राहकमानाभाव उक्त इत्यपौनरुक्त्यं द्रष्टव्यम्। वेदाविनाशिनमित्यादीनां तु श्लोकानामर्थतः शब्दतश्च पौनरुक्त्यं भाष्यकृद्भिः परिहृतम्—"दुर्बोधत्वादात्मवस्तुनः पुनः पुनः प्रसङ्गमापाद्य शब्दान्तरेण तदेव वस्तु निरूपयति भगवान् वासुदेवः कथं नु नाम संसारिणां बुद्धिगोचरमापन्नं तत्त्वं संसारनिवृत्तये स्यात्" इति वदद्भिः। एवं पूर्वोक्तयुक्तिभिरात्मनो नित्यत्वे निर्विकारत्वे च सिद्धे तव शोको नोपपन्न इत्युपसंहरति—'तस्मात्' इत्यर्धेन। एतादृशात्मस्वरूपवेदनस्य शोककारणनिवर्तकत्वात्तस्मिन्सति शोको नोचितः, कारणाभावे कार्याभावस्याऽऽवश्यकत्वात्। तेनाऽऽत्मानमविदित्वा यदन्वशोचस्तद्युक्तमेव। आत्मानं विदित्वा तु नानुशोचितुमर्हसीत्यभिप्रायः॥ २५॥

शस्त्रादिकोंमें आत्मछेदनसामर्थ्याभावका, 'अच्छेद्योऽयम्' इत्यादिसे आत्मामें शस्त्रकर्तृकछेद्यत्वाभावका, 'अव्यक्तोऽयम्' इत्यादिसे तदुभयग्राहकमानाभावका बोधन किया है, अतः पुनरुक्तकी शङ्का नहीं है। आर्थिक लब्धार्थतात्पर्यसे पुनरुक्त नहीं होता, किन्तु साक्षादभिहिताभिधानसे ही उक्त दोष होता है। 'वेदाविनाशिनम्' इत्यादि श्लोकोंमें पौनरुक्त्यका शब्दतः और अर्थतः—दोनों तरहसे भाष्यकारने 'आत्मवस्तु दुर्बोध है। असकृत् उपदेशसे भी अकृतबुद्धियोंको बुद्ध्यारूढ़ नहीं होता, अतः पुनः पुनः प्रसङ्ग लाकर शब्दान्तरसे फिर उसी वस्तुका निरूपण भगवान् वासुदेव करते हैं, जिसका निरूपण पूर्वमें कर चुके हैं। कैसे संसारी पुरुषोंके ज्ञानका विषय होकर तत्त्व संसारका निवर्तक हो।' यह कहते हुए परिहार किया है,अतः उसके परिहारप्रदर्शनार्थ प्रयास नहीं किया है। इस प्रकार पूर्वोक्त युक्तियोंसे आत्मा नित्य तथा निर्विकार है, यह सिद्ध होनेपर तुम्हारा शोक उचित नहीं है, यह उपसंहार करते हैं—'तस्मात्' इस अर्ध श्लोकसे। ईदृशात्मस्वरूपज्ञान शोकके कारणका निवर्तक है, फिर यह ज्ञान होनेपर शोक करना ठीक नहीं है। कारणाभावसे कार्याभाव आवश्यक है। [अग्निके न रहनेपर तो धूम नहीं रहता—इसका व्यभिचार नहीं है।] इसलिए यदि आत्माको वस्तुतः न जानकर शोक किया,तो ठीक ही है। आत्माको जानकर तो तुम शोक नहीं कर सकते हो, यह अभिप्राय है॥ २५॥

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम्।
तथापि त्वं महाबाहो नैवं शोचितुमर्हसि ॥२६॥

अथवा मेरे इस कथनको स्वीकार न कर किसी दूसरे मतका अवलम्ब करके यदि इस आत्माको तुम नित्य उत्पन्न या नित्य मरा हुआ समझते हो तो भी हे महाबाहो, तुम शोक नहीं कर सकते—शोक करना तो तुम्हें किसी दृष्टिसे भी उचित नहीं है ॥ २६ ॥

एवमात्मनो निर्विकारत्वेनाशोच्यत्वमुक्तमिदानीं विकारवत्त्वमभ्युपेत्यापि श्लोकद्वयेनाशोच्यत्वं प्रतिपादयति भगवान्। तत्राऽऽत्मा ज्ञानस्वरूपः प्रतिक्षणविनाशीति सौगताः। देह एवाऽऽत्मा स च स्थिरोऽप्यनुक्षणपरिणामी जायते नश्यति चेति प्रत्यक्षसिद्धमेवैतदिति लोकायतिकाः। देहातिरिक्तोऽपि देहेन सहैव जायते नश्यति चेत्यन्ये। सर्गाद्यकाल एवाऽऽकाशवज्जायते देहभेदेऽप्यनुवर्तमान एवाऽऽकल्पस्थायी नश्यति प्रलय इत्यपरे। नित्य एवाऽऽत्मा जायते म्रियते चेति तार्किकाः। तथाहि—प्रेत्यभावो जन्म। ... चापूर्वदेहेन्द्रियादिविच्छेदः। इदं चोभयं धर्माधर्मनिमित्तत्वात्तदाधारस्य नित्य

इस प्रकार आत्मा निर्विकार होनेसे अशोच्य है, यह कहा। अब आत्मामें विकार मानकर भी दो श्लोकोंसे 'अशोच्यत्व' का उपपादन भगवान् करते हैं। आत्मा ज्ञानस्वरूप है, प्रतिक्षण विनाशी है, यह सौगत—बौद्धका मत है। देह ही आत्मा है, सो स्थिर है, फिर भी प्रतिक्षण परिणामी है, अतएव वह उत्पन्न तथा नष्ट होता है, यह प्रत्यक्षसिद्ध है, यह चार्वाकमत है। देहातिरिक्त आत्मा है, परन्तु देहके साथ ही उत्पन्न और उसके साथ ही नष्ट होता है, यह किसीका मत है। सृष्टिके आरम्भकालमें ही आकाशादिके समान उत्पन्न होता है। प्रत्येक जन्ममें देहभेद होनेसे वही सब देहोंमें अनुवर्तमान होकर आता है। देहके साथ उत्पन्न नाशशील नहीं है, किन्तु कल्पतक स्थायी है। हाँ, प्रलयमें आकाशादिके समान नष्ट होता है, यह भी किसीका मत है। नित्य ही आत्मा उत्पन्न होता तथा मरता है, यह तार्किकोंका मत है। देखिये—प्रेत्य यानी मरकर भाव होना जन्म है। यह जन्म नवीनशरीरेन्द्रियादिसंबन्ध है। इसी प्रकार मरण भी पूर्वदेहेन्द्रियादिका वियोग है। ये दोनों धर्माधर्मनिमित्तक होनेसे तदाधार—धर्माद्याधार नित्य आत्मा

स्यैव मुख्यम्। अनित्यस्य तु कृतहान्यकृताभ्यागमप्रसङ्गेन धर्माधर्माधारत्वानुपपत्तेर्न जन्ममरणे मुख्ये इति वदन्ति। नित्यस्याप्यात्मनः कर्णशष्कुलीजन्मनाप्यऽऽकाशस्येव देहजन्मना जन्म तन्नाशाच्च मरणं तदुभयमौपाधिकममुख्यमेवेत्यन्ये। तत्रानित्यत्वपक्षेऽपि शोच्यत्वमात्मनो निषेधति—'अथ चैनम्' इति। अथेति पक्षान्तरे। चोऽप्यर्थे। यदि दुर्बोधत्वादात्मवस्तुनोऽसकृच्छ्रवणेऽप्यवधारणासामर्थ्यान्मदुक्तपक्षानङ्गीकारेण पक्षान्तरमभ्युपैषि। तत्राप्यनित्यत्वपक्षमेवाऽऽश्रित्य यद्येनमात्मानं नित्यं जातं नित्यं मृतं वा मन्यसे। वाशब्दश्चार्थे। क्षणिकत्वपक्षे नित्यं प्रतिक्षणं पक्षान्तरे आवश्यकत्वान्नित्यं नियतं जातोऽयं मृतोऽयमिति लौकिकप्रत्ययवशेन यदि कल्पयसि

के ही मुख्य धर्म हैं। यदि अनित्य आत्मा हो, तो कृतहानि और अकृताभ्यागमकी प्रसक्ति होगी। पूर्वकृतधर्मादिका मरणानन्तर भोग न होगा। कर्ता आत्मा देहके साथ नष्ट हो गया, दूसरे शरीरमें जो दूसरा आत्मा उत्पन्न होगा, तो उसमें जो दुःख-सुखादि होगा, वह अकृताभ्यागम होगा। उस आत्माने गर्भमें आनेसे पूर्व कोई सुकृत-दुष्कृत नहीं किया है। अकृत कर्मका फलभोग अकृताभ्यागम कहलाता है। एतदुभयदोषसे धर्माधर्माधार भी नहीं होगा, अतः जन्म-मरण मुख्य आत्माके नहीं हैं, किन्तु देहादिद्वारा हैं, यह कहते हैं। नित्य भी आत्माका देहके जन्मसे जन्म कानके छिद्राकाशके समान जन्म माना जाता है। कानका आकाश साक्षात् उत्पन्न नहीं होता, किन्तु कान उत्पन्न होता है, उसीकी उत्पत्तिसे 'कर्णपुटाकाशः जातः' इत्यादि व्यवहार होता है। अतः देहजन्मके साथ जन्म और तन्मरणके साथ मरण वे दोनों आत्मामें मुख्य नहीं हैं, किन्तु औपाधिक हैं, यह किसी औरका मत है। अनित्यत्व पक्षमें शोच्यत्वका निषेध करते हैं—'अथ चैनम्' इत्यादिसे। आत्मा शोच्य नहीं है। 'च' अपिके अर्थमें है। आत्मवस्तु दुर्बोध है, अनेकबार सुननेपर भी निश्चयात्मक ज्ञानसामर्थ्याभावसे मेरे कहे पक्षका त्यागकर यदि दूसरा पक्ष स्वीकार करते हो, उसमें भी अनित्यपक्ष ही का आश्रयण कर यदि इस आत्माको नित्यजात और नित्यमृत मानते हो। 'वा' शब्द 'च' के अर्थमें है। क्षणिकत्वपक्षमें नित्यम् यानी प्रतिक्षणम्, दूसरे पक्षमें अर्थात् नित्यत्वपक्षमें आवश्यक होनेसे 'यह निश्चित उत्पन्न हुआ, यह नष्ट हुआ' इस लौकिक प्रत्यक्षसे यदि कल्पना करते हो, तो

तथाऽपि हे महाबाहो पुरुषधौरेयेति सोपहासम् कुमताभ्युपगमात्, त्वय्येतादृशी कुदृष्टिर्न संभवतीति सानुकम्पं वा। एवम्—"अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम्" इत्यादि यथा शोचसि एवंप्रकारमनुशोकं कर्तुं स्वयमपि त्वं तादृश एव सन्नार्हसि योग्यो न भवसि। क्षणिकत्वपक्षे देहात्मवादपक्षे देहेन सह जन्मविकारनाशपक्षे च जन्मान्तराभावेन पापभयासंभवात्पापभयेनैव खलु त्वमनुशोचसि। तच्चैतादृशे दर्शने न संभवसीत्यर्थः। क्षणिकत्वपक्षे च दृष्टमपि दुःखं न संभवति बन्धुविनाशदर्शित्वाभावादित्यधिकम्। पक्षान्तरे दृष्टदुःखनिमित्तं शोकमभ्यनुज्ञातुमेवंकारः। दृष्टदुःखनिमित्तशोकसंभवेऽप्यदृष्टदुःखनिमित्तः शोकः सर्वथा नोचित इत्यर्थः प्रथमश्लोकस्य ॥ २६ ॥

भी हे महाबाहो—हे पुरुषधुरीण—पुरुषश्रेष्ठ, ['धूर्वहे धुर्यधौरेयधुरीणाः सधुरन्धराः' यह अमरकोश है।] 'महाबाहो' का प्रयोग करनेसे तदुपहास सूचित होता है। अथवा कुमत स्वीकारसे तादृश कुदृष्टिका तुममें संभव नहीं, यह सदय प्रयोग है। इस तरह—'अहो ? मैं बड़ा पाप करनेमें उद्यत हुआ' इत्यादि जैसा शोचते हो, एतादृश अनुशोक करनेके योग्य तुम नहीं हो, क्योंकि तुम भी तो स्वयं वैसा ही हो। क्षणिकत्वपक्षमें, देहात्मवादपक्षमें तथा देहके साथ ही आत्माका जन्म-विनाश होता है, इस पक्षमें भी इष्टबन्धुविनाशरूप दुःख भी नहीं हो सकता, क्योंकि आत्मा क्षणिक है। शोकक्षणमें आत्मा विभिन्न है। कालान्तरभावि-बन्धु-विनाशको देखता ही नहीं, तो फिर उसे शोक कैसा ? क्षणिकत्वातिरिक्त पक्षमें यानी देहके साथ आत्मा उत्पन्न होता है, नष्ट होता है,इत्यादि पक्षमें संप्रति उत्पन्नका नाश होनेपर फिर उत्पत्ति होगी नहीं, तो बन्धु वधादिप्रयुक्त पाप हमको जन्मान्तरमें कष्टदायी होगा, वह शोक कैसा। जन्मान्तराभावसे पापभयका असंभव है। पापके भयसे ही तुम शोक करते हो, सो तो उक्त दर्शन में संभव नहीं है। क्षणिकत्व-पक्षमें देखे गये दुःखका भी संभव नहीं है, क्योंकि बन्धुविनाशदर्शित्वका अभाव है, इतना यह भी अधिक समझ लेना चाहिये। पक्षान्तरमें दृष्टदुःख निमित्त शोककी अभ्यनुज्ञाके लिए एवकार है। दृष्टदुःखनिमित्तक शोकका संभव है, अदृष्ट-दुःखनिमित्त शोक सर्वथा अनुचित है, यह 'अव्यक्तोऽयम्' इत्यादि पूर्व श्लोकका निष्कर्ष है। अर्थात् अदृष्टदुःखनिमित्त शोक तो सर्वदा अनुचित है। उक्त दशा में यदि आत्माका उच्छेद नहीं है, तो तन्निमित्तक शोक ही कहाँ हो सकता है ? ॥२६॥

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च ।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ॥२७॥

हे अर्जुन, जो उत्पन्न हुआ है उसकी मृत्यु अवश्य ही होगी तथा जो मर चुका है उस प्राणीका भी जन्म अनिवार्य है। इसलिए जिसका किसी तरह भी परिहार नहीं किया जा सकता, ऐसे विषयमें तुम्हें शोक करना उचित नहीं है ॥२७॥

नन्वात्मन आभूतसंप्लवस्थायित्वपक्षे नित्यत्वपक्षे च दृष्टादृष्टदुःखसंभवात्तद्भयेन शोचामीत्यत आह द्वितीयश्लोकेन—'जातस्य हि' इति।

हि यस्माज्जातस्य स्वकृतधर्माधर्मादिवशाल्लब्धशरीरेन्द्रियादिसंबन्धस्य स्थिरस्याऽऽत्मनो ध्रुव आवश्यको मृत्युस्तच्छरीरादिविच्छेदस्तदारम्भककर्मक्षयनिमित्तः, संयोगस्य वियोगावसानत्वात्। तथा ध्रुवं जन्म मृतस्य च प्राग्देहकृतकर्मफलोपभोगार्थं सानुशयस्यैव प्रस्तुतत्वान्न जीवन्मुक्तेर्व्यभि-

'आभूतसंप्लवस्थानममृतत्वं हि भाष्यते' इस श्लोकोक्त नित्यत्वपक्षमें दृष्टादृष्टोभयविध दुःखका सम्भव है, अतः तन्निमित्तक शोक करता हूँ, इस शङ्कापर द्वितीय श्लोकसे कहते हैं—'जातस्य हि' इत्यादि। पूर्वजन्मकृत पुण्य-पापनिमित्तक जात शरीरेन्द्रियसंबन्ध स्थिर आत्माका मरण आवश्यक है, क्योंकि शरीरके आरम्भक कर्मोंसे शरीर उत्पन्न हुआ। और उस शरीरके उपभोगजनक प्रारब्ध कर्मकी स्थिति जबतक रहेगी, तबतक शरीरस्थिति नियत है। उसके आरम्भक अदृष्ट विनाशके उत्तर उसका विनाश अवश्यंभावी है। 'संयोगाः विप्रयोगान्ताः' यह सर्वसंमत सिद्धान्त है। संयोग-वियोग नियत है—जिनका मिथः संयोग हुआ है उनका वियोग जरूर होगा। एवं मृतका जन्म भी ध्रुव है।

प्रश्न—यह क्यों।

उत्तर—भोगकालिक शरीरोपार्जित शुभाशुभकर्मफलभोगार्थ पुनः शरीर धारण आवश्यक है।

शङ्का—मृतका जन्म यदि आवश्यक है, तो विदेहकैवल्य कैसे होगा? जीवन्मुक्तको शरीरपातानन्तर ही उसकी प्राप्ति होती है। यदि पुनः शरीरसम्बन्ध होगा, तो कैवल्य नहीं होगा और यदि वह न होगा, तो 'ध्रुवं जन्म मृतस्य च' का व्यभिचार है।

समाधान—व्यभिचार नहीं है, स्वानुशय जीवका शरीरवियोग मरण

चारः । तस्मादेवमपरिहार्ये परिहर्तुमशक्येऽस्मिञ्जन्ममरणलक्षणेऽर्थे विषये त्वमेवं विद्वान्न शोचितुमर्हसि । तथा च वक्ष्यति—"ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे" इति । यदि हि त्वया युद्धेऽनाहन्यमाना एते जीवेयुरेव तदा युद्धाय शोकस्तवोचितः स्यात् । एते तु कर्मक्षयात्स्वयमेव म्रियन्त इति तत्परिहारासमर्थस्य तव दृष्टदुःखनिमित्तः शोको नोचित इति भावः । एवमदृष्टदुःखनिमित्तेऽपि शोके "तस्मादपरिहार्येऽर्थे" इत्येवोत्तरम् । युद्धाख्यं कर्म क्षत्रियस्य नियतमग्निहोत्रादिवत् । तच्च "युध संप्रहारे" इत्यस्माद्धातोर्निष्पन्नं शत्रुप्राणवियोगानुकूलशस्त्रप्रहाररूपं विहितत्वादग्नीषोमीयादिहिंसावन्न प्रत्यवायजनकम् । तथा च गौतमः स्मरति–"न दोषो हिंसायामा-

---

प्रकृतमें विवक्षित है। जीवन्मुक्तकी कर्मराशि तत्त्वज्ञानसे भस्म हो जाती है। 'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन' यह भगवद्वाक्य है। शरीरभोगयोग्य कर्मविशेष अनुशय है। जीवन्मुक्त शरीरवियोगदशामें सानुशय नहीं रहता, इसलिये उसका शरीरवियोग मरण नहीं है, अतः उक्त व्यभिचारकी सम्भावना नहीं है। इसलिए जो परिहारके योग्य नहीं है, जन्ममरणचक्रका कोई परिहार नहीं कर सकता, अतः इस विषयमें तुम्हारे-जैसे विद्वान्को शोक करना उचित नहीं है। इस विषयमें आगे चलकर 'ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे' इत्यादि स्वयं भगवान् कहेंगे। यदि युद्धमें तुम्हारे द्वारा न मारे जानेपर ये जीवित रह सकते होते, तो फिर तुम्हारा इनके लिए शोक करना उचित होता, किन्तु ये तो भीष्मादि स्वकृत कर्मप्रत्ययसे स्वयं मरेंगे, फिर उसके परिहारमें तुम समर्थ नहीं हो। अतएव दृष्टदुःखनिमित्त शोक तुमको उचित नहीं है। इसी प्रकार अदृष्टनिमित्तक शोकमें जो अर्थ अपरिहार्य है, जिसको कोई भी रोक नहीं सकता, उसके होनेसे शोक क्या? वह तो होकर ही रहेगा, फिर युद्धादि कर्म तो क्षत्रियोंके लिये अग्निहोत्रादि नित्य कर्मके समान अवश्यानुष्ठेय है। उसके अनुष्ठानमें शोक नहीं? युद्धशब्द 'युध संप्रहारे' धातुसे भावमें क्त प्रत्यय करनेसे सिद्ध होता है। संप्रहार शत्रुप्राणवियोगजनक शस्त्र शत्रुशरीरसंयोगरूप है। यद्यपि हिंसाफलक वह कर्म है, इसलिये पापजनक मानकर यदि इसको त्यागते हो, तो अग्नीषोमीयादि याग भी पशुहिंसाफलक प्रत्यवायदर्शनसे त्याज्य ही मानोगे। वह विहित है, अतः उसमें प्रत्यवायजनक शङ्का यदि नहीं है, तो युद्ध भी उसी तरह तुम्हारे लिये विहित ही है, फिर इसमें शङ्का क्यों करते हो। गौतम

हवे" "अन्यत्र व्यश्वासारथ्यनायुधकृताञ्जलिप्रकीर्णकेशपराङ्मुखोपविष्टस्थलवृक्षारूढदूतगोब्राह्मणवादिभ्यः" इति। ब्राह्मणग्रहणं चात्रायोद्धृब्राह्मणविषयम्, गवादिप्रायपाठादिति स्थितम्। एतच्च सर्वं स्वधर्ममपि चावेक्ष्येत्यत्र स्पष्टीकरिष्यते। तथा च युद्धलक्षणेऽर्थेऽग्निहोत्रादिवद्विहितत्वादपरिहार्ये परिहर्तुमशक्ये तदकरणे प्रत्यवायप्रसङ्गाच्चमदृष्टदुःखभयेन शोचितुं नार्हसीति पूर्ववत्। यदि तु युद्धाख्यं कर्म काम्यमेव, "य आहवेषु युध्यन्ते भूम्यर्थमपराङ्मुखाः अकूटैरायुधैर्यान्ति ते स्वर्गं योगिनो यथा"॥ इति याज्ञवल्क्यवचनात्, "हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्" इति भगवद्वचनाच्च, तदाऽपि प्रारब्धस्य काम्यस्यापि अवश्यपरि-

---

महर्षिने कहा है कि 'न दोषो हिंसायामा०' इत्यादि। अश्वरहित, सारथिशून्य, आयुधरहित, बद्धाञ्जलि,मुक्तकेश, पृष्ठदर्शी स्थित, वृक्षारूढ, उच्चस्थलारूढ, दूत, अपने को गो तथा ब्राह्मण कहने वाला, इनसे व्यतिरिक्तको युद्धमें मारनेसे प्रत्यवायरूप दोष नहीं होता। [अश्वरथादिशून्यका तात्पर्य अश्वारूढको अश्वारूढसे युद्ध करना चाहिये। यदि प्रतिभट अश्वहीन हो गया हो, तो जबतक वह पुनः अश्वारूढ न हो जाय, तबतक उसके ऊपर शस्त्रप्रहार नहीं करना चाहिये, यह धर्मयुद्ध है, यह पापजनक नहीं है। आजकलका युद्ध स्पष्ट है।] इस स्मृतिवाक्यमें जो ब्राह्मणका ग्रहण किया है वह युद्ध न करनेवाले ब्राह्मणके लिए है। यह ब्राह्मणके साथ 'गो' के पाठसे प्रतीत होता है। यह सब 'स्वधर्ममपि चावेक्ष्य' इस श्लोकमें विशेषरूपसे आगे चलकर स्पष्ट करेंगे। युद्धलक्षण अर्थ अग्निहोत्रादिवत् विहित कर्म होनसे परिहारयोग्य भी नहीं है। अतः उसके न करनेमें ही प्रत्यवाय है। नित्याग्निहोत्रके न करनेपर प्रत्यवाय होता है, करनेपर नहीं। इसलिए इस युद्धके विषयमें तुमको शोक नहीं करना चाहिये,यह पूर्ववत् विवक्षित है। यदि युद्धको तुम नित्य न मानकर काम्य कर्म मानो, क्योंकि 'यः आहवेषु युध्यन्ते' इत्यादि याज्ञवल्क्य तथा 'हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं' इस भगवान्के वाक्यसे वह काम्य ही है। [जिस विधायक वाक्यमें कर्मफलका निर्देश न रहे वह काम्य कर्म है और जिसमें फलका निर्देश न हो, केवल कर्मका विधान हो वह नित्य कर्म है। नित्य कर्मके न करनेपर प्रत्यवाय लगता है, काम्य कर्मके न करने पर प्रत्यवाय नहीं लगता, क्योंकि नित्यकर्ममें प्रवृत्ति शास्त्रकी आज्ञासे होती है। उसे न करनेपर शास्त्राज्ञाभङ्ग होता है, जो राजाज्ञा-

समापनीयत्वेन नित्यतुल्यत्वात्त्वया च युद्धस्य प्रारब्धत्वादपरिहार्यत्वं तुल्यमेव। अथवाऽऽत्मनित्यत्वपक्ष एव श्लोकद्वयमर्जुनस्य परमास्तिकस्य वेदबाह्यमताभ्युपगमासंभवात्। अक्षरयोजना तु नित्यश्चासौ देहेन्द्रियादिसंबन्धवशाज्जातश्चेति नित्यजातस्तमेनमात्मानं नित्यमपि सन्तं जातं चेन्मन्यसे तथानित्यमपि सन्तं मृतं चेन्मन्यसे तथाऽपि त्वं नानुशोचितुमर्हसीति प्रतिज्ञाय हेतुमाह—'जातस्य हि' इत्यादिना। नित्यस्य

भङ्गसम है, अतः उसका उल्लंघन करनेवाला पुरुष प्रत्यवायी होकर दण्डनीय होता है। जैसे राजाज्ञाभङ्गकारी दण्डनीय होता है वैसे ही शास्त्राज्ञाभङ्गकारी भी दण्डनीय है। जैसे राजाज्ञाभङ्गकारी बिना अभियोग लगाये दण्डनीय नहीं होता, वैसे ही शास्त्राज्ञाभङ्ग करनेवालेके लिये भी प्रत्यवायरूप अभियोग है। काम्यकर्ममें फलानुरागसे तदुपायमें स्वतः पुरुषकी प्रवृत्ति होती है, केवल तत्फलोपाय कर्मका निर्देश शास्त्र करता है। जो स्वर्ग चाहता है, पर उसका उपाय नहीं जानता, उसके प्रति शास्त्र कहता है—यदि स्वर्ग चाहते हो, तो याग करो, चाह न हो, मत करो। ऐसा बोधन करनेपर यदि वह नहीं करता, तो शास्त्राज्ञाभङ्ग नहीं होता, वह तो उसकी इच्छापर निर्भर है।] तो भी प्रारब्धकाम्य अवश्य ही समाप्त होनेवाला है, अतः प्रारब्ध भी नित्यतुल्य ही है। यदि प्रारब्धकर्मवश युद्ध प्राप्त है, तो तुम परिहार नहीं कर सकते हो, दोनों तुल्य है। नित्यका परिहार नहीं करना चाहिये। प्रारब्धका परिहार स्वाधीन ही नहीं है, इसलिये दोनोंमें अपरिहार्यत्व तुल्य है। अथवा आत्मनित्यत्वपक्षमें ही दोनों श्लोकोंका अर्थ है। परम आस्तिक (परलोकफलोद्देशसे विहित कर्मानुष्ठाननिष्ठ) अर्जुनको वेदबाह्य (आत्मानित्य) पक्ष स्वीकार नहीं हो सकता। इस अर्थमें उक्तश्लोकाक्षरार्थ-योजना इस प्रकार है—नित्य जो देहेन्द्रियादिसंसर्गवश जात है वह नित्यजात है [यद्यपि आत्मा नित्य है तथापि अनित्य शरीरके सम्बन्धसे जात भी व्यवहृत होता है, जैसे कि—'घटाकाशो जातः'। इस प्रकार इस आत्माको नित्य न होते हुए भी जात यदि मानते हो तथा नित्य होते हुए भी इसको शरीरमरणसे मृत (मरा हुआ) मानते हो, तो भी तुम्हें शोक करना उचित नहीं है, यह प्रतिज्ञा कर इसमें हेतु कहते हैं—'जातस्य हि' इत्यादिसे। जो उत्पन्न हुआ है वह अवश्य मरेगा। और जो मर चुका है उसका जन्म भी निश्चित ही होगा, इसलिए अपरिहार्य

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥२८॥

हे भारत, पृथिवी आदि भूतमय ये जितने शरीर हैं वे सबके सब जन्मके पहले अव्यक्त ही रहते हैं—इनकी उपलब्धि नहीं होती, जन्म लेनेके बाद और मृत्युके पूर्व तक ये सभी व्यक्त—प्रत्यक्षविषय रहते हैं एवं मृत्यु हो जाने पर वे फिर अव्यक्त—अनुलब्ध हो ही जाते हैं। ऐसी स्थितिमें इन भूतोंके विषयमें कौन-सा दुःख रोना ?॥ २८॥

जातत्वं मृतत्वं च प्राग्व्याख्यातम्, स्पष्टमन्यत् । भाष्यमप्यस्मिन्पक्षे योजनीयम् ॥ २७ ॥

तदेवं सर्वप्रकारेणाऽऽत्मनोऽशोच्यत्वमुपपादितमथेदानीमात्मनोऽशोच्यत्वेऽपि भूतसंघातात्मकानि शरीराण्युद्दिश्य शोचामीत्यर्जुनाशङ्कामपनुदति भगवान्—'**अव्यक्तादीनि**' इति । आदौ जन्मनः प्रागव्यक्तानि अनुपलब्धानि भूतानि पृथिव्यादिभूतमयानि शरीराणि मध्ये जन्मानन्तरं मरणात्प्राग् व्यक्तानि उपलब्धानि सन्ति । निधने पुनरव्यक्तान्येव भवन्ति ।

अर्थमें मूढ़जनोंको शोक होता है, विद्वानोंको नहीं। तुम्हें शोक करना उचित नहीं है। नित्यमें जातत्व और मृतत्वका व्याख्यान तो हम पहले ही कर चुके हैं। और सब तो साफ ही है। इस पक्षमें भाष्यकी भी योजना करनी चाहिये। [वास्तवमें तो आत्मानित्यत्वपक्षमें ही भाष्यकारका तात्पर्य है। परमास्तिक अर्जुनको वेदबाह्य (आत्मानित्य) पक्ष अभिमत नहीं है, यह शङ्का भी ठीक नहीं है, क्योंकि भगवान्का यह अभ्युपगम वाक्य है—इत्यादि उत्कर्षदीपिकामें स्पष्ट है] ॥ २७ ॥

इस प्रकारसे आत्मामें अशोच्यत्वका उपपादन हुआ। अब आत्मा अशोच्य है, यह ठीक है, फिर भी पञ्चभूतात्मक शरीरके उद्देश्यसे शोक करता हूँ—इस अर्जुनकी शङ्काकाका भगवान् निवारण करते हैं—'अव्यक्तादीनि' इत्यादिसे। आदिमें यानी उत्पत्तिसे पूर्व अव्यक्त (अग्राह्य) पृथिव्यादिभूतमय शरीर, मध्यमें यानी जन्मके बाद और मरणसे पूर्व (जन्ममरणके मध्यमें) व्यक्त यानी प्रत्यक्षविषय हैं। मरणमें पुनः अव्यक्त ही हो जाते हैं। जैसे कि स्वप्न, इन्द्रजाल

यथा स्वप्नेन्द्रजालादौ प्रतिभासमात्रजीवनानि शुक्तिरूप्यादिवन्न तु ज्ञानात्प्रागूर्ध्वं वा स्थितानि दृष्टिसृष्ट्यभ्युपगमात्। तथा च "आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा" इति न्यायेन मध्येऽपि न सन्त्येवैतानि। "नासतो विद्यते भावः" इति प्रागुक्तेश्च। एवं सति तत्र तेषु मिथ्याभूतेष्वत्यन्ततुच्छेषु भूतेषु का परिदेवना को वा दुःखप्रलापो न कोऽप्युचित इत्यर्थः। न हि स्वप्ने विविधान्बन्धूनुपलभ्य प्रतिबुद्धस्तद्विच्छेदेन शोचति पृथग्जनोऽपि। एतदेवोक्तं पुराणे—"अदर्शनादापतितः पुनश्चादर्शनं गतः"। भूतसंघ इति शेषः। तथाच शरीराण्यप्युद्दिश्य शोको नोचित इति भावः। आकाशादिमहाभूताभिप्रायेण वा श्लोको योज्यः। अव्यक्तमव्याकृतमविद्योपहितचैतन्यमादिः प्रागवस्था येषां तानि तथा व्यक्तं नाम-

---

आदिमें [आदिसे सिनेमाका संग्रह है] जीवन एकमात्र प्रातिभासिक ही होता है। जितने कालतक भान है उतने कालतक स्वाप्निक तथा ऐन्द्रजालिक पदार्थोंकी स्थिति रहती है। चाँदी और सीपके समान वे भी हैं। ज्ञानसे पूर्व वा उत्तर वे नहीं रहते। दृष्टिसृष्टिका इसीमें स्वारस्य है। 'आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा' (जो आदि अन्तमें नहीं है वह वर्त्तमानकालमें भी वैसा ही यानी अवर्त्तमान ही है।) इस न्यायसे मध्यमें भी वे नहीं हैं। 'नासतो विद्यते भावः' यह पूर्वमें कह चुके हैं। इस प्रकारकी स्थिति रहते मिथ्याभूत अतएव तुच्छ भूतोंमें कौन-सी परिदेवना या कौन-सा दुःखप्रलाप ? [विलापः परिदेवनम्' यह अमरकोश है, प्रकृतमें दुःखविषयमें प्रलाप है, इसलिये दुःख प्रलाप है।] इस विषयमें तुम्हारा कोई भी प्रलाप उचित नहीं है, यह तात्पर्य है। विविध बन्धुवर्गोंको देखकर स्वप्नोत्थित मूढजन भी उनको न देख उनके लिए शोक नहीं करते, क्योंकि वे भी यह जानते हैं कि उस समय जिनको हम देख रहे थे, वे वास्तविक नहीं थे, केवल दर्शनमात्र था, यह प्रकृतिकी लीला (तमाशामात्र) है। तुम विद्वान् होकर भी वैसे पदार्थोंको शोचते हो, इससे अधिक आश्चर्य क्या है। पुराणमें भी यही कहा है—'अदर्शनादापतितः पुनश्चादर्शनं गतः।' यहाँपर 'भूतसंघः' यह शेष है। सारांश यह है कि शरीरोंको उद्देश्य बनाकर तुम्हें शोक करना उचित नहीं है। अथवा आकाशादि महाभूताभिप्रायपरक इस श्लोककी योजना करनी चाहिये। अव्यक्त-अविद्योपहित चैतन्य-अव्याकृत प्रपञ्च कारणावस्था जिनकी

रूपाभ्यामेवाऽऽविद्यकाभ्यां प्रकटीभूतं न तु स्वेन परमार्थसदात्मना मध्यं स्थित्यवस्था येषां तादृशानि भूतानि आकाशादीनि अव्यक्तनिधनान्येवाव्यक्ते स्वकारणे मृदीव घटादीनां निधनं प्रलयो येषां तेषु भूतेषु का परिदेवनेति पूर्ववत्। तथा च श्रुतिः "तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्तन्नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियत" इत्यादिरव्यक्तोपादानतां सर्वस्य प्रपञ्चस्य दर्शयति। लयस्थानत्वं तु तस्यार्थसिद्धम्, कारण एव कार्यलयस्य दर्शनात्। ग्रन्थातरे तु विस्तरः। तथा चाज्ञानकल्पितत्वेन तुच्छान्याकाशादिभूतान्यप्युद्दिश्य शोको नोचितश्चेत्तत्कार्याण्युद्दिश्य नोचित इति किमु वक्तव्यमिति भावः। अथवा सर्वदा तेषामव्यक्तरूपेण विद्यमानात्त्वाद्विच्छेदभावेन तन्निमित्तः प्रलापो नोचित

है वे तथा जिनकी मध्यावस्था व्यक्त यानी आविद्यक नाम और रूपोंसे ही प्रकट है, स्वकीय परमार्थ सद्रूपसे प्रकट नहीं है एवंभूत आकाशादिका अव्यक्त स्वकारण पदार्थमें निधन (लय) नियमित है। जैसे मिट्टीसे उत्पन्न घटका मिट्टीमें नियमसे लय होता है, वैसे ही अव्यक्तसे उत्पन्न आकाशादिका अव्यक्तमें लय नियत है। इनकी परिदेवना क्या अर्थात् इनके विषयमें शोक-दुःखादि करना व्यर्थ है। देखिये—'तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्तन्नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियत' यह श्रुति भी सम्पूर्ण प्रपञ्चमें अव्यक्तोपादानता दिखलाती है। अव्यक्त लयस्थान है, यह अर्थतः सिद्ध है, कारण ही में कार्यका लय होता है। मृद्घटन्यायसे कारणमें कार्यका लय दृष्ट है। पुराणादिमें ग्रन्थान्तरमें इसका विस्तार है। विस्तृत विवरण देखनेवालोंको पुराणादिमें देखना चाहिये। सारांश यह है कि अज्ञानकल्पित तुच्छ आकाशादि भूतोंके भी उद्देश्यसे यदि शोक करना उचित नहीं है यानी कारणोंकी जब यह अवस्था है, तो उनके कार्य शरीरादिके विषयमें क्या कहना? अर्थात् कैमुतिक न्यायसे शोकानौचित्य सिद्ध है, क्योंकि कारणसे विपरीतस्वभाव कार्य नहीं होते अथवा सर्वदा अव्यक्तरूपसे विद्यमान रहनेके कारण उनका कभी विच्छेद नहीं होता, अतः उनके लिए प्रलाप करना उचित नहीं है, यह अर्थ है। 'भारत' इस शब्दसे सम्बोधित करते हुए भगवान् यह सूचित करते हैं कि तुम विशुद्धवंशोत्पन्न हो, शास्त्रीय अर्थ समझनेके योग्य हो, फिर क्यों नहीं समझते हो। [वस्तुतः शरीराद्यव्यक्तोद्देश्यसे यह श्लोक है। पञ्चमहाभूतपरक नहीं। अतएव भाष्यमें 'अदर्शनादापतितः पुनश्चादर्शनं गतः। नासौ तव न तस्य त्वं

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेन-
माश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः ।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति
श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित् ॥२९॥

इस आत्माको कोई आश्चर्य-सा देखता है तथा कोई दूसरा इसे आश्चर्य-सा कहता है एवं कोई अन्य विद्वान् तो इस आत्माको आश्चर्य-सा सुनता है तथा सुनकर भी इसे कोई भलीभाँति नहीं जान पाता ॥ २९ ॥

इत्यर्थः । भारतेत्यनेन संबोधयञ्शुद्धवंशोद्भवत्वेन शास्त्रीयमर्थप्रतिपत्तुमर्होऽसि किमिति न प्रतिपद्यस इति सूचयति ॥ २८ ॥

ननु विद्वांसोऽपि बहवः शोचन्ति तत्किं मामेव पुनः पुनरेवमुपालभसे । अन्यच्च "वक्तुरेव हि तज्जाड्यं श्रोता यत्र न बुध्यते" इति न्यायात्त्वद्वचनार्थप्रतिपत्तिरपि मम न दोषः, तत्रान्येषामपि तवेवाऽऽत्मापरिज्ञानादेव शोक आत्मप्रतिपादकशास्त्रार्थाप्रतिपत्तिश्च तवाप्यन्येषामिव स्वा-

---

वृथा का परिदेवना ॥'—इसका अवतरण है । अर्जुन पञ्चमहाभूतोंके विषयमें नहीं शोच कर रहे थे, किन्तु भीष्मपितामहादिके शरीरोंके विषयमें ही शोच कर रहे थे, क्योंकि उन्हींका उस [समय निधन प्रसक्त था, अतः प्रतिषेध भी उसीका उचित है । हाँ, उस तात्पर्यसे भी श्लोकको संगति है, यह दूसरी बात है । कारणस्वभावका कार्यमें प्रदर्शन करनेसे अपरिहार्यत्व दृढ़ होता है] ॥ २८ ॥

शङ्का—बहुतसे विद्वान् भी शोच करते हैं, फिर बार-बार मेरी ही इस विषयमें आप शिकायत क्यों कर रहे हैं अर्थात् बार-बार मुझे ही क्यों कोस रहे हैं। 'वक्तुरेव हि तज्जाड्यं श्रोता यत्र न बुध्यते' इस न्यायके अनुसार यदि मुझे पदार्थोंका ज्ञान नहीं होता, तो फिर वह भी आपका ही दोष है, मेरा नहीं । क्योंकि ऐसी प्रसिद्धि है कि श्रोता न समझे, तो वक्ताकी ही जड़ता समझी जाती है। वक्तामें समझानेकी शक्ति ही नहीं है । श्रोताके अज्ञान-संशयको प्रथम समझना चाहिये कि इसको कैसा संशय है, किस विषयमें अज्ञान है । इसको पूरा समझ कर वक्ता प्रथम अज्ञानका निराकरण करे । तदनन्तर संशयकोटिका निराकरण करे । ज्ञेय अर्थको सहेतुक स्वल्प (परिनिष्ठित) शब्दोंसे कहे, जिससे कि श्रोताके हृदयमें वह बैठ जाय । यदि वक्ता समझानेमें निपुण नहीं है, तो अधिकारी भी

शयदोषादिति नोक्तदोषद्वयमित्यभिप्रेत्याऽऽत्मनो दुर्विज्ञेयतामाह—'**आश्चर्यवत्**' इति।

एनं प्रकृतदेहिनमाश्चर्येणाद्भुतेन तुल्यतया वर्तमानमाविद्यकनाना-

---

श्रोता नहीं समझ पाता। न समझनेसे श्रोतामें जाड्यनिर्णय उचित नहीं है। सम्भव है कि वक्ता ही में जाड्य हो, फिर श्रोताके न समझनेपर उसका कोई दोष नहीं है, बल्कि दोष है वक्ताका। अतः उसको ही सावधान होना चाहिये।

समाधान—हाँ, और लोग भी जो शोक करते हैं, वे भी तुम्हारे ही सदृश हैं। तुम्हारी तरह उन्हें भी यथार्थ आत्मज्ञान नहीं हो पाया है। और न उन्हें आत्मप्रतिपादक शास्त्रार्थोंकी प्रतिपत्ति ही हुई है। उनका अन्तःकरण शुद्ध नहीं है। आशयका ग्रहण यहाँ वासनाके तात्पर्यसे है। वासना सूक्ष्म, परन्तु प्रबल दोष है। दोषका लक्षण न्यायसूत्रमें प्रवर्तना लक्षण कहा है। रागद्वेष और मोह ये इष्टानिष्टप्राप्तिपरिहारोपायमें पुरुषकी प्रवृत्ति कराते हैं, अतः ये स्थूल दोष हैं। सारांश यह कि दूषितमनोवृत्ति पुरुष ही आत्मज्ञानाभावसे शोकसन्तप्त होते हैं। तुम्हें उनके समान शोक नहीं करना चाहिये, क्योंकि तुममें तो पूर्वोक्त दोनों दोष नहीं है। आपमें समझानेकी शक्ति नहीं है, इसलिए मैं नहीं समझ सका, इस अर्जुनाभिप्रायशङ्कासे आत्माको भगवान् दुर्विज्ञेय कहते हैं—'**आश्चर्यवत्**' इत्यादिसे। [आत्मा ही दुर्विज्ञेय स्वभाव है। श्रोता और वक्ताका दोष नहीं है। प्रतिपाद्य विषय ही दुर्विज्ञेयस्वभाव है। जो कुशाग्रबुद्धि भी असकृत् महापुरुषसे सुनने पर भी हृदयंगम नहीं कर सकता, इसीसे श्रवणके अनन्तर मननादिका विधान 'श्रोतव्यो मन्तव्यः' इत्यादि श्रुतिने किया है। इस वाक्यके तीन अर्थ सरस्वतीजीने किये हैं—'कश्चिदाश्चर्यवत् एनं पश्यति' ऐसी वाग्योजना करनेपर 'आश्चर्यवत्' का सम्बन्ध 'एनम्' के साथ है। दर्शनकर्म आत्मामें आश्चर्यवत्त्व विवक्षित है। 'कश्चिदेनं आश्चर्यवत्पश्यति' ऐसा वागविन्यास करके 'आश्चर्यवत्'का दर्शनके साथ सम्बन्ध करनेसे दर्शनक्रियामें आश्चर्यवत्त्व अभिप्रेत होता है। 'आश्चर्यवत्कश्चिदेनं पश्यति' इस पदसमभिव्याहारसे दर्शनकर्ता कश्चित्पदार्थमें आश्चर्यवत्त्व इष्ट है। प्रथमोक्त अर्थका पहले निरूपण करते हैं—] एनम् प्रकृतदेहिनम्—जिस आत्माके विषयमें हम लोग विचार कर रहे हैं उस प्रकृत देहमें अभिव्यक्त आत्मामें आश्चर्यवत् लोगोंकी समझ है 'अद्भुतेन तुल्यतया वर्तमानम्'

विधविरुद्धधर्मवत्तया सन्तमप्यसन्तमिव स्वप्रकाशचैतन्यरूपमपि जडमिवाऽऽनन्दघनमपि दुःखितमिव निर्विकारमपि सविकारमिव नित्यमप्यनित्यमिव प्रकाशमानमप्यप्रकाशमानमिव ब्रह्माभिन्नमपि तद्भिन्नमिव मुक्तमपि बद्धमिवाद्वितीयमपि सद्वितीयमिव संभावितचित्रानेकाकारप्रतीतिविषयं पश्यति

यह व्याकरणके अनुसार आश्चर्यवत्पदका व्युत्पत्त्यर्थ है। ['विस्मयोऽद्भुतमाश्चर्यम्' इस अमरकोशके अनुसार आश्चर्यका अद्भुत अर्थ है। 'तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः' इस सूत्रसे तृतीयान्त आश्चर्यशब्दसे 'वत्' प्रत्यय हुआ है। आश्चर्यप्रतियोगिक सादृश्यका वर्तमानमें अन्वय है। आश्चर्यप्रतियोगिकसादृश्यानुयोगि आत्मस्थिति, यह शब्दार्थ हुआ। जो जिस प्रकारकी प्रतीतिके योग्य न हो और उस प्रकारसे वह प्रतीत होता हो, तो उसको आश्चर्यवत्प्रतीतिविषय कहते हैं। आत्मामें आश्चर्यको स्फुट करते हैं—] वस्तुतः सकलधर्मशून्य आत्मा स्वप्रकाश सर्वसाधक स्वयं सिद्ध है, तथापि अविद्यासे अनेक विरुद्ध धर्मोंसे प्रतीत होता है। कोई इस आत्माको आश्चर्यवत् देखता है—रहते हुए भी नहीं-सा, स्वप्रकाश चैतन्यरूप होते हुए भी जड-सा, आनन्दघन होते हुए भी दुःखित हुए-सा, निर्विकार रहते हुए भी इसे विकारयुक्त-सा, नित्य होते हुए भी अनित्य-सा, प्रकाशमान होते हुए भी अप्रकाशमान-सा, ब्रह्म भिन्न होते हुए भी उससे पृथक्-सा, मुक्त होते हुए भी बद्ध-सा तथा अद्वितीय भी इसे सद्वितीय-सा देखता है। वस्तुतः जिसके योग्य नहीं है यही प्रतीयमान आत्मगत आश्चर्य है। [विरोधाभासालङ्कारालङ्कृत वाक्यसे वास्तविक और कल्पित विरुद्ध अनेकधर्मप्रकारक आत्मप्रतीति शब्द द्वारा स्पष्ट दिखलाते हैं—सदा वर्तमानमें 'जातो मृतः' 'नास्ति' इत्यादिसे असत्वका व्यवहार, स्वप्रकाश चैतन्यमें 'न जानामि जडः' इत्यादिका, आनन्दमयमें 'देवदत्तो दुःखी रुग्णः' इत्यादिका, निर्विकारमें सविकारका यानी बालः, युवा, स्थविरः—इसका, नित्यमें 'मृतो नष्टः' इत्यादि अनित्यका, स्वयं प्रकाशमानमें 'न बुद्ध्यते, न चेतयते' इत्यादि अप्रकाशमानका, ब्रह्माभिन्नमें 'नाहमीश्वरः ब्रह्म वा' इत्यादिका, सदा मुक्तमें 'अहं संसारी बद्धः' इत्यादिका, अद्वितीयमें सद्वितीयका व्यवहार तथा एक चन्द्रमामें अनेक चन्द्रका भान काल्पनिक नानाविध विरुद्ध धर्मोंके रहनेसे आत्मामें होता है।] इस प्रकार और भी अनेक धर्मोंकी सम्भावना है। 'ब्राह्मणः क्षत्रियः गौरः कृशः' इत्यादि अनेक धर्मप्रकारक प्रतीतिके विषय आत्माको देखता है।

शास्त्राचार्योपदेशाभ्यामाविद्यकसर्वद्वैतनिषेधेन परमात्मस्वरूपमात्राकारायां वेदान्तमहावाक्यजन्यायां सर्वसुकृतफलभूतायामन्तःकरणवृत्तौ प्रतिफलितं

पूर्वपूर्व वास्तविक स्वरूप है। उत्तरोत्तर इवशब्दघटित वाक्य प्रदर्शित पूर्व-विरुद्ध धर्म आविद्यक है। विरुद्धानेकधर्मप्रकारकप्रतीतिविषय आत्माका यथार्थस्वरूपनिश्चय सहज नहीं है, किन्तु शास्त्राचार्योपदेशसे पवित्रात्माको होता है, सबको नहीं होता। उपदेश समान होता है। जो शुद्धाशय हैं, उनको ज्ञान होता है। जो अशुद्धाशय हैं, उनको नहीं। जैसे कि मेघमुक्त जल समान है, किन्तु आश्रयभेदसे मधुर, अम्ल, लवण आदि भेदसे अनेक प्रकार का होता है। अश्रोत्रियाचार्यकी व्यावृत्तिके लिए शास्त्रोंका उपादान है। व्युत्पन्न स्वतः शास्त्रसे आत्मज्ञानी हो सकता है, इस भ्रमकी व्यावृत्तिके लिए आचार्यका ग्रहण है। 'श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यः' 'आचार्यवान् पुरुषो वेद' इत्यादि वाक्योंसे आत्मज्ञान एकैकसे नहीं होता, किन्तु शास्त्र और आचार्योपदेश दोनोंसे होता है। शास्त्र अभ्यर्हित और अल्प अच्वाला है, इसलिये पूर्वमें शास्त्रका निर्देश है। यद्यपि आचार्यके बिना भी व्युत्पन्नको शास्त्र द्वारा आत्मज्ञान शब्दात्मक हो सकता है, तथापि वह आत्मज्ञान मुक्तिजनक नहीं हो सकता, अतः वह विवक्षित नहीं है। यहां निर्विकल्पक आत्मसाक्षात्कार आत्मज्ञानसे इष्ट है। साक्षात्कारज्ञानोत्पादनोपायका भी निर्देश कहते हैं—'नेह नानास्ति किञ्चन' 'सर्वं तं परादात् योऽन्यत्रात्मनः पश्येत्' 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वं' इत्यादि श्रौतवाक्यसे आत्मा अद्वितीय परमार्थ सत् है, यह ज्ञात होता है। लेकिन घट, पट आदि अनेक पदार्थ आदि का प्रत्यक्ष उक्त ज्ञानमें विरोधी है। प्रत्यक्षमें लोककी अधिक श्रद्धा है और इसके सहायक अन्तःकरणके दोष हैं, जो श्रौतोक्तज्ञानोत्पत्तिमें प्रतिबन्धक हैं। यज्ञ, दान, तप आदि निरभिसन्धिकर्मानुष्ठानसे अन्तःकरणके पाप—राग-द्वेषादि दोष निवृत्त होते हैं। तदनन्तर मन परिशुद्ध होता है, तदनन्तर आत्मैकत्वज्ञानोत्पत्तियोग्यतावश उक्त वाक्यसे घटादि प्रपञ्चनिषेधज्ञान उत्पन्न होता है। प्रत्यक्ष शुक्ति-रजत, रज्जु-सर्पादि असत्पदार्थका भासक भी होता है और स्वप्नमें तो असत्पदार्थोंका भान निश्चित ही है। अतः प्रत्यक्षोपस्थित द्वैत अविद्याकल्पित शुक्ति-रजतादिके समान है। इसलिये प्रतीयमानाधिकरणमें प्रतीतिकालमें भी नहीं है, किन्तु मिथ्या प्रतीत होता है। इस भावनासे 'नेह नानास्ति' इत्यादि वाक्योंसे द्वैतप्रतिषेधमें विश्वास कर द्वैताभावविशिष्टात्मविषयक दृढ़ बोध होता है, यही बोध द्वैतज्ञानका बाधक है।

शङ्का—द्वैताभावविशिष्ट आत्मज्ञान द्वैतका बाधक नहीं हो सकता, प्रत्युत तत्साधक ही है। कारण कि द्वैतके बिना विशिष्ट पदार्थ ही नहीं होता, विशेष्य विशेषणसमुदायात्मक विशिष्ट है।

समाधान—विशिष्टज्ञानोत्तर द्वैताभावोपलक्षित चैतन्यात्मविषय प्रत्यक्षात्मक ज्ञान होता है, एतदर्थ मात्रपद है वही वास्तविक सकल द्वैतका निवर्तक है। निदिध्यासनोत्तर यह ज्ञान अन्तःकरणमें होता है। 'तत्त्वमसि' इस वेदान्त महावाक्यसे उक्त ज्ञान होता है। एतादृश अन्तःकरणवृत्ति सब सुकृतोंका फल है। फलेच्छाशून्य बुद्धिसे अनुष्ठित नित्यादि कर्मसे पापनिवृत्ति होती है। तदनन्तर अन्तःकरण परिशुद्ध होता है। तब समाधि परिपाक होता है यानी बहिर्विषयवृत्तिरहित मनमें निर्विकल्पक समाधि होती है, जिसको समाधिपरिपाक भी अर्थतः कहते हैं। तदनन्तर उक्त ज्ञान होता है। इसीको स्फुट करनेके लिये उक्त विशेषण है। इसी ज्ञानको चरमवृत्ति भी कहते हैं। इसका विशेष परिचय करना आवश्यक है, क्योंकि अध्यात्मशास्त्राभ्यासका मुख्य फल यही है। एतदर्थ ही संसारका त्याग कहा गया है। कर्तव्यकी समाप्तिकी यही सीमा है। इसको समझनेके लिये श्रोतागणको भी यथाशक्ति मनोयोग देना चाहिये। अनेकजन्मार्जितसुकृतफलभूतशुद्धचैतन्यमात्रविषयकान्तःकरणवृत्तिमें आत्माका प्रतिबिंब पड़ता है। उसी प्रतिबिम्बको प्रतिफलित कहा है, वही आत्मा है। उसीको अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्यस्वरूप जीव समाधिपरिपाकसे देखता है।

[शङ्का—आत्माका प्रतिबिम्ब आत्मासे भिन्न है, अतएव अवस्तुसत् है, आत्मा नहीं, फिर यह आत्मदर्शन कैसे हुआ ?

समाधान—प्रतिबिम्बसे भिन्न नहीं है, किन्तु बिम्बस्वरूप ही है, केवल अन्यत्र दर्शन भ्रम है, इसका निरूपण विस्तारसे बड़े ग्रन्थोंमें किया गया है।

शङ्का—'न दृष्टे द्रष्टारं पश्येः' 'अद्रेश्यम्', 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' इत्यादि श्रुतिवाक्योंसे यह समझाया गया है, कि शुद्ध आत्ममात्रविषयक मनोवृत्ति नहीं होती; इसलिये आत्मा विषय नहीं है, किन्तु विषयी है, फिर आप यहाँ चैतन्यमात्रविषयकान्तःकरणपरिणाम कैसे कहते हैं।

उत्तर—सकलद्वैतप्रतिषेधविषयकवृत्तिसद्भावदशामें आत्मा शुद्ध नहीं रहता, कारण कि वृत्तिसत्ता ही से वह द्वैत है, केवल नहीं। जब उक्त वृत्ति भी नहीं रहती, तब आत्मा केवल शुद्ध रहता है, यह समझ लें। उस समय वृत्तिविषयत्वकी सम्भावना नहीं है।

शङ्का—यदि वृत्तिसत्तासे आत्मा शुद्ध नहीं रहता, तो अविद्यातत्कार्याविषयक शुद्धात्मज्ञानसे द्वैतनिवृत्ति जो आप कहते हैं, सो कैसे होगी, वृत्ति रहनेपर आत्मा शुद्ध ही नहीं रहता। उसके शुद्ध रहनेपर वृत्ति ही असम्भव है।

समाधान—वृत्रि रहनेसे आत्मा शुद्ध नहीं रहता, यह ठीक है, किन्तु वृत्ति शुद्धात्मविषयक है।

प्रश्न—यह कैसे ?

उत्तर—वृत्तिसे आत्मा सद्वितीय होनेके कारण केवल नहीं है। यह तो आप समझ ही गये। अब वृत्तिको देखिये। वृत्ति केवलात्मविषयक है। स्वविषयक कर्म-कर्तृविरोधन्यायसे वह अपनेको विषय न कर केवल आत्माको ही अपना विषय बनाती है। अतएव वह अज्ञानतत्कार्याविषयक केवलात्मविषयक हुई। इसलिये समस्त द्वैतका निवर्तक है।

शङ्का—वृत्तिकालमें आत्मा शुद्ध नहीं है, फिर भी वृत्ति शुद्धात्मविषयक है। यह समझमें नहीं आता कि शुद्धात्मा नहीं है, तो भी तद्विषयक वृत्ति शुद्ध है—शुद्धात्म-विषयक है, यह कैसे हो सकता है ? प्रत्यक्षवृत्ति वर्तमानार्थविषयक होती है, यह प्रत्यक्षात्मक वृत्ति वर्त्तमानार्थक ही है।

समाधान—ठीक है, इसीसे तो भगवान् कहते हैं कि आत्मा दुर्बोध है। बुद्धिमानोंको भी शीघ्र समझमें नहीं आता। फिर दृष्टि दीजिये, वृत्तिदशामें आत्म सद्वितीय है, किन्तु भास्यकोटिमें केवल आत्मा ही है। वृत्ति भासक है। भासकका भास्यकोटिमें प्रवेश नहीं है।

शङ्का—प्रदीपका तो दोनों कोटियोंमें प्रवेश है। वह घटका भासक और स्वयं भास्य भी है।

समाधान—नहीं, वहाँ भासक दो हैं—प्रदीप और चक्षु। प्रदीपकी भास्य-कोटिमें केवल घटका ही प्रवेश है, प्रदीपका नहीं।

प्रश्न—क्यों ?

उत्तर—एक तो एककर्म-कर्तृन्यायका स्मरण कीजिये, दूसरा घटादि प्रकाशके लिये प्रदीपादिकी इसलिये अपेक्षा होती है कि घटावरक अन्धकारकी अन्यथा निवृत्ति नहीं होती। प्रदीप तो अन्धकार का विरोधी होनेसे उससे आवृत ही नहीं हो सकता, फिर किसकी निवृत्तिके लिये प्रदीपकी आवश्यकता है। चक्षुकी भास्यकोटिमें घटादिवत्प्रदीपका भी प्रवेश है, किन्तु उस कोटिमें भासक चक्षुका प्रवेश नहीं है, इसलिये यह सिद्ध हुआ कि केवलात्मविषयक वृत्तिप्रतिफलित आत्माको

समाधिपरिपाकेन (ण) साक्षात्करोति, कश्चिच्छमदमादिसाधनसंपन्नचरमशरीरः कश्चिदेव न तु सर्वः। तथा कश्चिदेनं यत्पश्यति तदाश्चर्यवदिति क्रियाविशेषणम्। आत्मदर्शनमप्याश्चर्यवदेव यत्स्वरूपतो मिथ्याभूतमपि सत्यस्य व्यञ्जकमाबिद्यकमप्यविद्याया विघातकमविद्यामुपन्नत्तत्कार्यतया स्वात्मानमप्युपहन्तीति। तथा यः कश्चिदेनं पश्यति स आश्चर्यवदिति कर्तृविशेषणम्। यतोऽसौ निवृत्ताविद्यातत्कार्योऽपि प्रारब्धकर्मप्राबल्यात्तद्वानिव व्यवहरति

जीव देखता है। इस दर्शनमें कठिनाई द्वैतभान के परिहारमें है। इन्द्रियाँ परागवृत्तिप्रवण होनेसे सुचिरबाह्यविषयाभ्यासपरायण होती हैं, इसलिये उनके प्रत्याहारार्थ योगाभ्यास परम आवश्यक है। इसके बिना उक्तज्ञान दुर्लभ है।] शम-दम आदि साधन से संपन्न विरक्त कोई महापुरुष उक्तात्मस्वरूप देखनेका अधिकारी है, सब नहीं हैं, इसलिये 'कश्चित्' है। [अब द्वितीय वाक्यार्थ को कहते हैं—'तथा' इत्यादिसे] कोई भी जो आत्माको देखता है, सो भी आश्चर्यवत् है। 'आश्चर्यवत्' यह विशेषण दर्शनक्रियामें है। आत्मदर्शनभी आश्चर्यसे रहित नहीं है, किन्तु तन्मय है।

प्रश्न—क्यों ?

उत्तर—इसके रहस्यपर दृष्टिपात कीजिये। स्वयं स्वरूपसे तो मिथ्या है, पर परमार्थसत् आत्माका व्यञ्जक है। स्वयं अविद्यासे उत्पन्न है, फिर भी अविद्याका नाशक है। [उपजीव्यविरोध अन्याय है, तो भी यह उससे विरत नहीं होता। 'उपघ्नमाश्रये' इस सूत्रसे उपघ्न आश्रय अर्थमें साधु है।] उक्तज्ञान अन्तःकरणपरिणामविशेष है, इसलिये मूलभूत अविद्यामें आश्रित होकर अविद्याका विनाशक है। उसके द्वारा अपना भी नाशक है। [भाव यह है कि सकल द्वैतकी निवृत्ति उक्त तत्त्वसाक्षात्कारसे होती है, तो भी अद्वैत आत्मा नहीं हो सकता। दूसरा उक्त ज्ञान नहीं होगा, इसलिये इसकी भी निवृत्ति आवश्यक है। इसका निवर्तक यदि ज्ञानान्तर कहें, तो आत्मज्ञानसे सकल द्वैतकी निवृत्ति होती है, यह सिद्धान्त ही भङ्ग होता है। द्वैतोंमें उक्त ज्ञान ही अवशिष्ट रह गया। तन्निवृत्त्यर्थ यदि ज्ञानान्तर कहें, तो फिर उसमें भी यही प्रश्न होगा कि उसकी निवृत्ति किससे होगी? ज्ञानान्तरकी चर्चामें अनवस्था दोष है। अद्वैतात्मसिद्ध्यभाव होगा, इसलिये उक्त चरमवृत्तिको स्वनाशक भी मानना पड़ता है, इसमें दृष्टान्त निर्मलीका रज है। पङ्किल जलमें

सर्वदा समाधिनिष्ठोऽपि व्युत्तिष्ठति व्युत्थितोऽपि पुनः समाधिमनुभवतीति प्रारब्धकर्मवैचित्र्याद्विचित्रचरित्रः प्राप्तदुष्प्रापज्ञानत्वात्सकललोकस्पृहणीयोऽत आश्चर्यवदेव भवति। तदेतत्त्रयमप्याश्चर्यमात्मा तज्ज्ञानं तज्ज्ञाता चेति परमदुर्विज्ञेयमात्मानं त्वं कथमनायासेन जानीया इत्यभिप्रायः। एवमुपदेष्टुरभावादप्यात्मा दुर्विज्ञेयः, यो ह्यात्मानं जनाति स एव तमन्यस्मै ध्रुवं ब्रूयात्, अज्ञस्योपदेष्टृत्वासंभवात्, जानंस्तु समाहितचित्तः प्रायेण कथं ब्रवीतु। व्युत्थितचित्तोऽपि परेण ज्ञातुमशक्यः। यथा कथंचिज्ज्ञातोऽपि लाभपूजा-

निर्मली घिसकर छोड़नेसे भूमिके रजको जलके निम्न भागमें वह बैठा देती है और स्वयं भी बैठ जाती है, जिससे जल स्वच्छ हो जाता है। एवं अग्नि काष्ठको नष्टकर स्वयं नष्ट हो जाती है, इत्यादि स्व-परनिवर्तकके अनेक उदाहरण हैं। स्व-परनाशक ऐसे ज्ञानको महात्मा लोग भी चाहते हैं। इसकी प्राप्तिके लिये वेदान्तशास्त्रका उपदेश है, यह भी कौतुक ही है।] अब तृतीय वाक्यार्थको स्फुट करते हैं—'यः कश्चित्' इत्यादि। जो कोई इसको देखता है, सो भी आश्चर्यवत् है। इस प्रकार 'आश्चर्यवत्' यह कर्ताका विशेषण है।

प्रश्न—इसमें क्या आश्चर्य है?

उत्तर—सम्पूर्ण अविद्या और उसके कार्योंसे निवृत्त होकर भी प्रारब्ध कर्मवश अविद्वान्-जैसा व्यवहार करता है। सदा समाधिनिष्ठ होकर भी समाधिसे उपरत होता है। उपरत होकर भी पुनः समाधिनिष्ठ होता है। प्रारब्ध कर्मके वश जैसा-जैसा उक्त कर्म चाहता है, वैसा-वैसा ज्ञानीको भी नाचना पड़ता है। जगद्विजयी होकर भी तुच्छ प्रारब्ध कर्मपर विजय नहीं कर सका, यह भी थोड़ा आश्चर्य नहीं है। पुरुषान्तरको दुष्प्राप्य आत्मैकत्वविज्ञानको पाकर सकल पुरुषोंकी श्रद्धा, आदर, स्तुति आदिका भाजन होता है, अतएव आश्चर्यवान् ही होता है। इस प्रकार आत्मा, उसका ज्ञान और उसका ज्ञाता—इन तीनोंमें आश्चर्य है। अतः परम दुर्विज्ञेय आत्माको अनायास ही तुम कैसे जान सकते हो, यह अभिप्राय है।

[शङ्का—'तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः' इस सूत्रसे व्युत्पन्न 'वति' प्रत्ययान्तका क्रिया ही के साथ सम्बन्ध होता है, अन्यत्र नहीं। अतएव 'पर्वतो वह्निमान्, महानसवत्' इत्यादि प्रयोगके साधुत्वार्थ 'भवितुमर्हति' इसका अध्याहार किया जाता है। यहाँ द्रष्टा आदि अक्रियामें उक्तार्थका अन्वय कैसे?

ख्यात्यादिप्रयोजनानपेक्ष वान्न ब्रवीत्येव। कथंचित्कारुण्यमात्रेण ब्रुवंस्तु परमेश्वरवदत्यन्तदुर्लभ एवेत्याह—'आश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः' इति। यथा जानाति तथैव वदति। एवमित्यनुकर्षणार्थश्चकारः। स चान्यः सर्वज्ञजनविलक्षणः। न तु यः पश्यति ततोऽन्य इति व्याघातात्। अत्रापि कर्मणि क्रियायां कर्तरि चाऽऽश्चर्यवदिति योज्यम्। तत्र कर्मणः कर्तुश्च प्राणाः

समाधान—अतएव यहाँ भी अवस्थान आदिका अध्याहार कर 'आश्चर्यवत् अवस्थितं आत्मानम् अर्थात् आश्चर्यवत् अवस्थित आत्मा—इत्यादि यथायोग्य क्रिया सम्बन्धसमझना चाहिये।

इसी प्रकार उपदेष्टाके अभावसे भी दुर्विज्ञेय है।

प्रश्न—क्यों?

उत्तर—जो आत्माको तत्त्वतः स्वयं जानता है वही दूसरेको निश्चितरूपसे कह सकता है। जो स्वयं उस विषयमें अज्ञ है, वह दूसरेको उपदेश क्या देगा! जो जानता है, वह समाधिनिष्ठ होनेपर कहेगा कैसे?

प्रश्न—समाधिसे व्युत्थित होनेपर तो कह सकता है।

उत्तर—हाँ, कह सकता है, परन्तु दूसरेको यह निश्चय करना ही कठिन है कि इस समय समाधिसे यह उपरतचित्त है। यदि क्रियाविशेषसे यह मालूम भी हो जाय और पूछा भी जाय, तो वे कहेंगे ही क्यों, उनका उसके कहनेमें निजी कोई स्वार्थ नहीं है। लाभ, पूजा, ख्याति आदि बाह्य आभ्यन्तर किसीकी उन्हें इच्छा तो है नहीं। हाँ, करुणासे सांसारिक दुःखमग्न पुरुषोद्धारेच्छासे यदि वह कहें भी, तो फिर वह परमेश्वरवत् दुर्लभ हैं, सबको नहीं प्राप्त हो सकते, यही कहते हैं—'आश्चर्यवत् वदति' इत्यादिसे। जैसा जानते हैं वैसा ही कहते हैं। आत्माके परामर्शार्थ चकार है।

शङ्का—यः पश्यति ततोऽन्यः वदति' ऐसा अर्थ गीतावाक्यसे आपाततः प्रतीत होता है, जो वर्तमान समयके अनुसार है, परन्तु भगवान्‌को वह अर्थ उस समय विवक्षित नहीं है।

समाधान—ईदृशकरुणायमस्वभाव मुमुक्षु उन सर्वज्ञ महर्षियोंसे भिन्न हैं। जो जानकर स्वयं तदानन्दानुभवानिपीतसमय होकर एकक्षण भी तादृशानन्द-सन्देहानुभववियोगासहिष्णु किसीसे मिलते ही नहीं। जो आत्माको देखता है, उससे अन्य कहता है, यह गीताका अर्थ नहीं है।

श्चर्यवत्त्वं व्याख्यातमिति क्रियायास्तु व्याख्यायते। सर्वशब्दावाच्यस्य शुद्धस्याऽऽत्मनो यद्वचनं तदाश्चर्यवत्। तथा च श्रुतिः—"यतो वाचो निवर्तन्ते, अप्राप्य मनसा सह" इति। केनापि शब्देनावाच्यस्य शुद्धस्याऽऽत्मनो विशिष्टशक्तेन पदेन जहदजहत्स्वार्थलक्षणया कल्पितसंबन्धेन लक्ष्यतावच्छेदकमन्तरेणैव प्रतिपादनं तदपि निर्विकल्पकसाक्षात्काररूपमत्याश्चर्यमित्यर्थः।

प्रश्न—क्यों ?

उत्तर—इस अर्थमें व्याघात दोष स्पष्ट है। जो ज्ञाता ही नहीं, वह तत्त्वतः कहेगा कैसे ? इस वाक्यार्थमें भी पूर्व वाक्यार्थवत् कर्ता, कर्म और क्रियामें आश्चर्यवत्त्वका सम्बन्ध समझना चाहिये। कर्म-कर्तामें आश्चर्यवत्त्वका व्याख्यान पूर्वमें कर चुके हैं। अब वदनक्रियागत आश्चर्यवत्त्वका व्याख्यान करते हैं—'यतो वाचो निवर्तन्ते' इत्यादि श्रुतिसे।

यह निश्चय हो चुका है कि ब्रह्म किसी शब्दका वाच्य नहीं है, अतएव वह सर्वशब्दावाच्य है। इसमें कारण यह है कि किञ्चित् धर्मविशिष्ट ही शब्दवाच्य होते हैं। स्वप्रवृत्तिनिमित्त धर्मविशिष्टके वाचक शब्द होते हैं, यह सर्वसिद्धान्त है। ब्रह्मस्वरूप आत्मा सकलधर्मशून्य चिन्मात्र है, अतएव शब्दवाच्य नहीं है। शब्दसे सप्रकारक ज्ञान होता है, इस नियममें, यह भी हेतु है कि केवल व्यक्तिमात्रका वाचक शब्द नहीं माना जाता। आत्मा व्यक्तिमात्र है, अतः शब्दवाच्य नहीं है।

शङ्का—तो फिर 'वदति' यह कैसे कहा ? क्या कोई कहता है ?

समाधान—इसीसे तो 'आश्चर्यवत्' कहा। कहनेका साधन नहीं है, फिर भी कहता है, यही तो आश्चर्य है।

प्रश्न—आखिर कहता तो है, सो कैसे ?

उत्तर—किसी भी जात्यादिविशिष्टार्थवाचक शब्दका शुद्धात्मा वाच्य नहीं है, यह तो समझ चुके हो, फिर भी जहदजहल्लक्षणासे विशिष्ट वाचक शब्दोंका काल्पनिक सम्बन्ध उक्त आत्मामें मानकर लक्ष्यावच्छेदक धर्मके विना उसका प्रतिपादन किया जाता है, सो भी शब्दज्ञान परोक्ष नहीं है, किन्तु निर्विकल्पात्म साक्षात्कारस्वरूप है, यह आश्चर्य है।

[भाव यह है–शब्द दो प्रकारके होते हैं–वाचक और लक्षक। रूढ-यौगिकादि

भेदसे वाचक चार प्रकारके होते हैं। शुद्धगौणादिलक्षणाभेदसे लक्षक अस्सी प्रकारके होते हैं। इनका विशेषनिरूपण साहित्यदर्पणादि साहित्यशास्त्रोंमें है। लक्षणाके आवान्तरभेद है—जहल्लक्षणा, अजहल्लक्षणा तथा जहदजहल्लक्षणा। जो शब्द स्वमुख्यार्थके दोनों विशेष-विशेषणों का त्यागकर अर्थान्तरके बोधक होते हैं उनमें जहत्स्वार्थलक्षणा मानी जाती है। जैसे कि 'गङ्गायां घोषः'। जो अपने उक्त दोनों अंशोंका न त्यागकर अधिक अर्थ कहते हैं उनमें अजहत्स्वार्था लक्षणा मानी जाती है। जैसे कि 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्। यहाँ काकशब्द स्वार्थके साथ दधिभक्षक प्राणिमात्रपरक है, क्योंकि दधिकी रक्षामें प्रकृत वाक्यका तात्पर्य है, काकसे द्वेष नहीं है। जहदजहल्लक्षणा उसमें है, जो शब्द अपने विशेषण अंशका त्यागकर केवल विशेष्यज्ञ अंशमात्रको कहता है। जैसे कि 'तत्त्वमसि' सोऽयं देवदत्तः' इत्यादि। यहाँ तच्छब्द सर्वज्ञत्वादिविशिष्ट चैतन्यका वाचक है। 'त्वम्' शब्द किञ्चिद्ज्ञत्वादिविशिष्ट चैतन्यका वाचक है। विशिष्टपदार्थद्वयका अभेद नहीं हो सकता। सर्वज्ञत्व और किञ्चिद्ज्ञत्व ये दोनों एक नहीं हो सकते, इसलिये विशेषणीभूत सर्वज्ञत्व और किञ्चिद्ज्ञत्वका त्यागकर 'तत्' और 'त्वम्' ये दोनों पद केवलचैतन्यमात्रके उक्त लक्षणासे बोधक होते हैं। यद्यपि अन्यलाक्षणिक शब्द स्वलक्ष्यतावच्छेदक विशिष्टार्थान्तरके बोधक होते हैं, इसलिये उन शब्दोंसे निर्विकल्पक शाब्द बोध नहीं होता, परन्तु जिन शब्दोंने स्वप्रवृत्तिका त्यागमात्र किया, अर्थान्तरका ग्रहण नहीं किया, उनसे निष्प्रकारक व्यक्तिमात्रविषयक ही बोध होता है। प्रकारविशेष शब्दोत्थ नहीं है, इसलिये व्यक्तिविशेष ही का बोध होता है। शाब्द बोधमें शब्दोपस्थित अर्थका ही भान होता है, यह नियम है।

प्रश्न—'तत्त्वमसि' इस वाक्यमें उक्त लक्षणा माननेकी क्या आवश्यकता?

उत्तर—अन्यथा 'तत्' और 'त्वम्' पदार्थका अभेदबोध न होगा। भेदबोधजनक सामग्री है नहीं। सर्वथा बोध न होनेपर अबोधकत्वलक्षण अप्रामाण्य की प्रसक्ति होगी।

प्रश्न—यह तो आप विपरीत ही कहते हैं 'चैतन्यमात्रकी पदद्वयसे लक्षणया यदि उपस्थिति मानेंगे, तो 'घटो घटः' की तरह यहाँ भी शाब्द बोध नहीं होगा। अभेदविषयक शाब्द बोधमें विरूपोपस्थिति कारण है। विभिन्नधर्मद्वयप्रकारक एकार्थविषयकोपस्थिति अभेदप्रकारक तत्संसर्गक शाब्द बोधमें कारण है। जैसे—'नीलो घटः' इत्यादि। नीलत्वघटत्वरूपधर्मद्वयप्रकारक घटविशेष्यको-पस्थितिरूपसे शाब्द बोध होता है। प्रकृतमें यदि 'तत्' और 'त्वम्' पदसे चैतन्य

मात्रकी उपस्थिति मानियेगा, तो उक्त बोधानुपपत्ति वज्रलिप्त होगी—'शुष्के पतिष्यामीति बुद्ध्या लंघयतः कर्दमे निपातः' इस न्यायकी आपत्ति होगी। किञ्च, आत्मा असङ्ग है, इसलिये यदि शब्दका शक्तिरूप सम्बन्ध नहीं हो सकता, अतएव शब्दवाच्य आत्मा नहीं है, तो लक्षणापक्षमें भी दृष्टि दीजिये। 'लक्षणा शक्यसम्बन्धः' इत्यादि वचनोंसे मुख्यार्थसम्बन्धवान्में ही लक्षणा भी होती है। सम्बन्धशून्यमें शक्तिवत् लक्षणा भी नहीं हो सकती, अतः प्राचीनोंसे स्वीकृत जहदजहल्लक्षणापक्ष उपादेय नहीं है।

उत्तर—ठीक है, इसी अरुचिसे मूलकारने कहा है—'विना सम्बन्धान्तरम्।' उक्त कारणसे शक्ति लक्षणा न सही, तात्पर्याख्यावृत्तिसे तत्त्वंपदसे शुद्धात्मविषयक बोध होगा। शब्द, वाच्य या लक्ष्यमें प्रमाण नहीं है, किन्तु तात्पर्यविषय अर्थमें प्रमाण माना जाता है। 'विषं भुङ्क्ष्व' यह वाक्य शत्रुगृहभोजननिवृत्तितात्पर्यपरक होनेसे उसी अर्थका तात्पर्यवृत्तिसे बोधक होकर प्रमाण है।

प्रश्न—तात्पर्याख्या वृत्ति यदि आत्मामें मानेंगे, तो आत्मा ससङ्ग हो ही गया, फिर शक्ति और लक्षणा माननेमें क्या अपराध है? असङ्गत्वरक्षार्थ शक्ति और लक्षणाका त्याग किया। तात्पर्याख्या वृत्ति माननेसे उक्त रक्षा तो नहीं हुई, किन्तु वही घट्टकुटीप्रभात न्यायानुस्मृति हुई।

उत्तर—ठीक है, इसी तात्पर्यसे 'सुषुप्तोत्थापक वाक्यवत्' कहते हैं। भाव यह है—जो पुरुष सुषुप्त है, उसके जागरणार्थ कोई उसका नाम लेकर पुकारता है कि 'अये देवदत्त' इस पर वह जाग जाता है। एक बार पुकारनेसे यदि न जाग सका, तो कई बार पुकारनेसे तो अवश्य ही जाग जाता है, यह तो निश्चित ही है। अब विचारना यह है कि उस शब्दका सम्बन्ध अपनेमें समझकर अर्थात् 'मैं' देवदत्तपद वाच्य हूँ, मेरे जगानेके लिये इस शब्दका प्रयोग हो रहा है, यह समझकर जागता है, अथवा शब्दसम्बन्धज्ञानके विना ही। प्रथम पक्षका सम्भव नहीं है, क्योंकि सुषुप्तिदशामें मन स्वकारणमें लीन है, इसलिये उसमें उक्त सम्बन्धज्ञान हो ही नहीं सकता। सम्बन्धज्ञानके विना केवल शब्दमात्र अगृहीतसम्बन्ध सुषुप्तपुरुषको बोध कराता है। हमें जागना चाहिये, यह समझकर ही जागता है। अन्यथा शब्दव्यापारसे पूर्व भी जागरणापत्ति हो जायगी। बिना जागे शब्द भी नहीं सुन सकता, सम्बन्धग्रह तो दूर है। बिना शब्द सुने जागता है, यह भी नहीं कह सकते, कारण कि शब्दोच्चारणकालिक जागरण यदि शब्दजन्य न होता, तो तदुच्चारणसे पूर्वमें भी जाग जाता, तथा यदि सुषुप्तका बोधक शब्द न

अथवा विना शक्तिं विना लक्षणां विना संबन्धान्तरं सुषुप्तोत्थापकवाक्यवत्तत्त्वमस्यादिवाक्येन यदात्मतत्त्वप्रतिपादनं तदाश्चर्यवत्, शब्दशक्तेरचिन्त्यत्वात्। नच विना संबन्धं बोधनेऽतिप्रसङ्गः, लक्षणापक्षेऽपि तुल्यत्वात्, शक्यसंबन्धरूपानेकसाधारणत्वात्। तात्पर्यविशेषान्नियम इति चेत्, न, तस्यापि सर्वान्प्रत्यविशेषात्। कश्चिदेव तात्पर्यविशेषमवधारयति न सर्व इति

मानियेगा, तो उसमें प्रबोधकारणत्वज्ञान न होनेसे जागरणार्थ कोई शब्दप्रयोग ही नहीं करेगा। अन्वय-व्यतिरेकसे शब्द प्रबोधका कारण है, यह लोग जानते ही हैं, इसलिये अगृहीतसम्बन्ध शब्द व्यक्तिविशेषका बोधक होता है, यह 'गले पादुका' न्यायसे मानना पड़ता है। तद्वत् 'तत्त्वमसि' आदि शब्द भी अगृहीतात्मसंसर्गक ही आत्मबोधक है, ऐसा माननेमें कोई आपत्ति नहीं है, अतः प्रकृतमें शक्ति-लक्षणाका विचार करना 'काकदन्तपरीक्षावत्' निष्फल है।] प्रकृतमें आश्चर्य व्यक्त करते हैं—अथवा उक्त रीतिसे तत्त्वमस्यादि वाक्यमें न शक्ति है, न लक्षणाग्रह है, न वृत्यन्तर-तात्पर्याख्यादिवृत्तिग्रह ही है, तो भी 'तत्त्वमसि' आदि वाक्य सुप्तोत्थापक वाक्यके समान आत्मबोधक है, यह आत्मप्रतिपादन शक्ति आदि सम्बन्धके बिना आश्चर्य है। शब्दसामर्थ्य वाणीके अगोचर है अर्थात् विना शक्तिग्रह, विना लक्षणा या बिना किसी अन्य सम्बन्धके सोये हुए पुरुषको उठानेवाले वाक्यकी तरह 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यसे जो आत्मतत्त्वप्रतिपादन है वह आश्चर्यवत् है।

शङ्का—बोधक स्वसम्बद्ध अर्थका बोधक होता है, असम्बद्धका नहीं। अन्यथा एक ही शब्दसे असम्बद्धत्वाविशेषात् सब अर्थोंका बोध हो सकता है। शेष शब्द ही व्यर्थ हो जायंगे। और असम्बद्धार्थ बोध पक्षमें नियामकाभावसे यह निश्चय नहीं हो सकेगा कि इस वाक्यसे यही अर्थ कहा गया है, अर्थान्तर नहीं। 'घटमानय' यह वाक्य सुनने पर भी घट लावे अथवा पटादि, यह संशय होगा ही। ऐसी दशामें शब्द द्वारा निश्चित असन्दिग्ध प्रवृत्ति न होगी, इस प्रकार लोकमर्यादाका भङ्ग हो जायगा, इसलिये लक्षणादि वृत्ति जरूर माननी चाहिये।

समाधान—लक्षणापक्षमें भी तो यही शङ्कापिशाची है, शक्यसम्बन्धवान्में लक्षणा मानते हैं, तो शक्यसम्बन्ध तो एक ही व्यक्तिमें नहीं, किन्तु अनेक व्यक्तिसाधारण है, अतः यह निर्णय करना कठिन है कि अमुक व्यक्तिमें ही लक्षणा है, व्यक्त्यन्तरमें नहीं। अतः 'भक्षितेऽपि लशुने व्याधि र्न शान्तः' इस

चेत्, हन्त तर्हि पुरुषगत एव कश्चिद्विशेषो निर्दोषत्वरूपो नियामकः। स चास्मिन्पक्षेऽपि न दण्डवारितः। तथा च यादृशस्य शुद्धान्तःकरणस्य

न्याय से लक्षणा वृत्ति माननेपर भी अमुक व्यक्ति ही अमुक पद का लक्ष्य है इस निर्णयके विना शब्दसे असन्दिग्ध प्रवृत्ति न होगी।

तात्पर्य विशेषके निर्णयसे व्यक्तिविशेषका निर्णय कर सकते हैं—जैसे 'सैन्धवमानय' इस वाक्यमें सैन्धवशब्द अश्व और नमक दोनोंका बोधक है, इस कारण उक्त वाक्यसे दोनोंको ले आना प्रतीत होता है। इन दोनोंमें क्या लावें, इस निर्णयके पूर्व वक्ताने किसको लानेके लिये इस वाक्यका प्रयोग किया है, इसका निर्णय आवश्यक है। वक्ताके तात्पर्य आदि का निर्णय प्रकरण आदिसे होता है। भोजन, यात्रा आदि प्रकरण है। प्रकृत में भोजनप्रकरणसे नमकमें और यात्राप्रकरणसे अश्वमें वक्ताका तात्पर्य निर्णय कर उक्त वाक्यार्थमें श्रोताकी असन्दिग्ध प्रवृत्ति होती है। इसी प्रकार प्रकृतमें भी तात्पर्यविशेषसे लिलक्षयिषित व्यक्तिविशेषका निर्णय हो जायगा।

उक्त तात्पर्यग्राहक भोजनादि प्रकरण दृश्य है, अतएव उनसे तात्पर्यनिर्णय होता है। प्रकृतमें आत्मा किंस्वरूप है सविशेष या निर्विशेष? तथा स्वप्रकाश अथवा अस्वप्रकाश? इत्यादि निर्णायक वाक्योंके अलौकिक अर्थविशेषका निर्णय साधारण जनोंको नहीं हो सकता, प्रत्युत सब पक्षोंमें तात्पर्य प्रतीत होता है। अतएव इस विषयमें संप्रदायभेद चिरकालसे चला आता है, यह भेद महर्षियोंकी तत्त्वदृष्टिसे है, दुराश्रय या पक्षपात आदि दृष्टि निमित्तोंसे नहीं।

ठीक है, किन्तु ईश्वरानुगृहीत किसी पुरुषधौरेयको ही 'तत्त्वमसि' आदिका तात्त्विक तात्पर्यनिर्णय होता है, सभी विद्वानों को नहीं। अतएव 'ईश्वरानुग्रहादेषा पुंसामद्वैतवासना। महाभयकृतत्राणा द्वित्राणामेव जायते॥' यह खण्डनकारने ठीक ही कहा है। परन्तु यह विशेष पुरुषगत है, न कि शब्दगत शक्तिलक्षणादिविशेष है, क्योंकि किसी पुरुषधुरीणमें ही उक्त वैदिक वाक्यके तात्पर्यविशेषके निर्णय करनेकी योग्यता होती है, सभों में नहीं। जिसमें उक्त योग्यता है; उसको ही निर्विचिकित्स 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यका अर्थबोध होता है, यह निष्कर्ष हुआ। ऐसी स्थिति में यह कहने में संकोच नहीं होता कि उक्त पुरुषको उसकी योग्यताके बलसे 'तत्त्वमसि' आदि वाक्योंसे आत्मैकत्वका निश्चयात्मक बोध होता है, यह योजना पुरुषगत विशेष निर्दोषत्वस्वरूप है, यही उक्तवाक्यार्थबोधोत्पत्तिमें नियामक है। असंबद्ध शब्द तद्बोधक है, इस पक्ष में भी वह

तात्पर्यानुसंधानपुरःसरं लक्षणया वाक्यार्थबोधो भवद्भिरङ्गीक्रियते तादृशस्यैव केवलः शब्दविशेषोऽखण्डसाक्षात्कारं विनाऽपि संबन्धेन जनयतीति किमनुपपन्नम्। एतस्मिन्पक्षे शब्दवृत्त्यविषयत्वाद्यतो याचो निवर्तन्त इति सुतरामुपपन्नम्। अयं च भगवदभिप्रायो वार्तिककारैः प्रपञ्चितः—

"दुर्बलत्वादविद्याया आत्मत्वाद्बोधरूपिणः।
शब्दशक्तेरचिन्त्यत्वाद्विद्मस्तं मोहहानतः॥
अगृहीत्वैव संबन्धमभिधानाभिधेययोः।
हित्वा निद्रां प्रबुध्यन्ते सुषुप्तेर्बोधिताः परैः॥
जाग्रद्वन्न यतः शब्दं सुषुप्ते वेत्ति कश्चन।
ध्वस्तेऽतो ज्ञानतोऽज्ञाने ब्रह्मास्मीति भवेत्फलम्॥
अविद्याघातिनः शब्दाद्याऽहं ब्रह्मेति धीर्भवेत्।
नश्यत्यविद्यया सार्धं हत्वा रोगमिवौषधम्" इत्यादिना ग्रन्थेन॥

पौरुषेय विशेष दण्डवारित नहीं है अर्थात् डंडा से हटाया नहीं गया है। इसके माननेमें दण्डप्रहारका भय नहीं है, यह भी कोई अर्थ करते हैं, यह विशेष कर्मात्मक नहीं है, जिसके लिये शास्त्रविधिकी अपेक्षा हो, किन्तु दोषाभावस्वरूप है-अतः कर्मसंन्यासियोंको भी अनायास लब्ध है। 'तथा च' से उपसंहार करते हैं, सारांश यह है कि यादृश शुद्धान्तःकरण ईश्वरानुगृहीत पुरुषरत्न को तदीययोग्यता के प्रभाव से तात्पर्यनिश्चयपूर्वक लक्षणावृत्ति से उक्त वैदिक वाक्यार्थबोध आप लोग मानते हैं, तादृश पुरुषरत्नको तदीययोग्यतासे 'तत्त्वमसि' आदि वाक्य लक्षणावृत्यादिज्ञानके बिना अखण्ड जीव-ब्रह्माभेद साक्षात्कार कराता है, ऐसा कहें, तो इसमें क्या अनुपपत्ति है, कुछ नहीं। बल्कि इस अर्थमें उपपादक श्रुति है—'यतो वाचो निवर्तन्ते' इत्यादि। यह श्रुति शक्तिलक्षणातात्पर्यादिवृत्त्यविषयत्वका आत्मामें स्पष्ट समर्थन करती है। 'शब्दवृत्याविषयत्वात्' यह पाठ मुद्रणदोषसे है। 'वृत्यविषयत्वात्' यह पाठ पुस्तकान्तरमें है, सो ठीक है। पूज्यपाद भगवच्छ्री शङ्कराचार्यके इस अभिप्रायका विस्तार वार्तिककारने 'दुर्बलत्वादविद्याया आत्मत्वाद्बोधरूपिणः।' * इत्यादि ग्रन्थसे किया है।

* आत्मज्ञानसे अविद्याकी निवृत्ति होती है, क्योंकि आत्मस्वरूप बोध प्रबल है; अविद्या

तदेवं वचनविषयस्य वक्तुर्वचनक्रियायाश्चात्याश्चर्यरूपत्वादात्मनो दुर्विज्ञानत्वमुक्त्वा श्रोतुर्दुर्मिलत्वादपि तदाह—'**आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति श्रुत्वाऽप्येनं न वेद**' इति। अन्यो द्रष्टुर्वक्तुश्च मुक्ताद्विलक्षणो मुमुक्षुर्वक्तारं ब्रह्मविदं विधिवदुपसृत्यैनं शृणोति श्रवणाख्यविचारविषयीकरोति वेदान्तवाक्यतात्पर्यनिश्चयेनावधारयतीति यावत्। श्रुत्वा चैनं मनननिदिध्यासनप-

इस प्रकार वचनका कर्मतया विषय, जिज्ञासित आत्मा तथा वक्ता एवं वचन क्रिया, ये तीनों आश्चर्यमय हैं। इसलिये आत्मामें दुर्विज्ञेयत्व कहकर श्रोता भी दुष्प्राप्य है, इस कारणसे भी आत्मामें दुर्विज्ञेयत्व है, यह कहते हैं—'**आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति श्रुत्वाप्येनं न वेद**' इससे। द्रष्टा और वक्ता इन दोनोंसे अन्य (विलक्षण) संसारी अतएव संसारका त्याग करनेकी चाह रखनेवाला शम-दमादिसाधनसम्पन्न मुमुक्षु सविधि श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ आचार्य वक्ताके समीप पहुँचकर आत्माको सुनता है—श्रवणनामक विचारको विषय बनाता है। अर्थात् वेदान्तवाक्योंके तात्पर्यका निर्णयकर अवधारण करता है।

[इसका यह तात्पर्य है—यहाँ श्रवणका 'गीतं शृणोति' के समान केवल शब्दश्रवणमात्रका 'श्रोतव्यः' से विधान नहीं है, किन्तु उसके अर्थज्ञानका भी विधान है। श्रुतिवाक्य विभिन्नप्रकारक आत्मविषयक बोधजनक है, इसलिये नाना वाक्योंसे श्रुत आत्मस्वरूपमें संशय होना स्वाभाविक है। संशयज्ञानसे वास्तविक असन्दिग्ध अर्थ में प्रवृत्ति नहीं होती, अतः उसका अर्थनिर्णय अपेक्षित है। निर्णय बिना विचारके नहीं होता, इसलिये विचार करना जरूरी है। विचारके समय वाक्यतात्पर्यनिर्णय अपेक्षित है। इसके बिना वाक्यार्थ निर्णय नहीं हो सकता, इसलिये श्रुतितात्पर्यनिर्णयपूर्वक यथार्थ-आत्मविषयक विबोधपर्यन्त

तदाश्रित दुर्बल है। प्रबल दुर्बलका बाधक होता है' यह लोकप्रसिद्ध है। शब्दशक्ति वाक्से परे हैं, अतः अज्ञानका नाश होनेपर शब्दार्थसम्बन्धज्ञानके बिना सुषुप्त पुरुषके समान अचिन्त्य शब्दशक्ति द्वारा 'मैं प्रबुद्ध होता हूँ' नींद ले रहा पुरुष पुकारनेपर जागता है। जागनेसे पहिले शब्दार्थसंबंध ज्ञान नहीं है, यह लोकमें प्रसिद्ध है। इसीको स्पष्ट करते हैं—जैसे जागता हुआ पुरुष शब्दार्थसंबंध जानता है, सुषुप्तिमें वैसा कोई नहीं जानता, अतः ज्ञानसे अज्ञानका नाश होनेपर 'अहं ब्रह्म' (मैं ब्रह्म हूँ) यह फल होता है। अविद्यानाशक शब्दसे मैं ब्रह्म हूँ, यह ज्ञान होता है। औषध जैसे रोगका नाश कर स्वयं नष्ट हो जाता है वैसे ही ज्ञान भी अविद्याका नाशकर उसके साथ ही स्वयं भी नष्ट हो जाता है, यह भावार्थ है।

रिपाकाद्वेदापि साक्षात्करोत्यपि आश्चर्यवत् तथा चाऽऽश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदे-
नमिति व्याख्यातम्। अत्रापि कर्तुराश्चर्यरूपत्वमनेकजन्मानुष्ठितसुकृतशालि-

'श्रोतव्यः' इस विधिका व्यापार है।] 'श्रुत्वा' का यह अभिप्राय है—एवंभूत वाक्यार्थबोधका सम्पादन कर कोई विरल पुरुष ही मनननिदिध्यासनपरिपाकसे इस आत्माका साक्षात्कार करता भी है, यह आश्चर्यवत् है। [दीर्घकालके आदरसे यानी नैरन्तर्यसत्कारसेवनादिसे मननादिका परिपाक होता है। एक बारके ध्यानसे आत्मसाक्षात्कार नहीं होता, किन्तु तत्परिपाकसे होता है।

शङ्का—यदि 'तत्त्वमसि' आदि वाक्य आत्मसाक्षात्कारजनक है, तो सकृत् श्रुत भी वह तादृशकार्यजनक होगा, क्योंकि सकृत् आनीत प्रदीप घटादिका प्रकाशक होता है। नहीं तो आवृत्ति भी व्यर्थ ही है। अकारणकी पुनः-पुनः आवृत्तिसे भी कार्य नहीं होता, बल्कि पूर्व-पूर्व आवृत्तिके समान उत्तरोत्तर आवृत्ति भी साक्षात्कारकी अजनक ही सिद्ध होगी।

समाधान—ऐसा नहीं है, जौहरी यानी रत्नपरीक्षक एक बारके देखनेसे रत्नतत्त्वका निर्णय नहीं कर सकता, किन्तु असकृत् देखनेसे उसके तत्त्वका साक्षात्कार कर पाता है।

शङ्का—रत्न तो गुणदोषविशिष्ट अवयवसमुदायात्मक है, इसलिये प्रत्यक्षसे किसी गुणके दोषको देखा, किसीसे किसीको, इस प्रकार पूर्व-पूर्व प्रत्यक्षागृहीत गुण-दोषादिग्रहणार्थ उत्तरोत्तर प्रत्यक्ष आवश्यक है। आत्मा तो गुण-दोषशून्य निरंशचैतन्यैकव्यक्तिमात्र है। यदि इसका प्रत्यक्ष हुआ, तो हो ही गया, आवृत्ति व्यर्थ है। नहीं हुआ, तो जन्मभर आवृत्ति करते रहिये, पूर्व-पूर्ववत् उत्तरोत्तर वाक्य या निदिध्यासन व्यर्थ ही है।

समाधान—व्यर्थ नहीं है, 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यजन्य जीवब्रह्माभेदविषयक बोधमें अयोग्यताज्ञान प्रतिबन्धक है। अयोग्यताज्ञानका मूल कारण अज्ञान है। अज्ञानजन्य अयोग्यताज्ञान अनेक प्रकारका है, अतः तत्तत् अयोग्यताज्ञानकी निवृत्तिके लिये वाक्यार्थकी आवृत्ति आवश्यक है। तत्तदावर्तमान वाक्यजन्य ज्ञानसे तत्तदयोग्यताज्ञानकी निवृत्ति होती है। निःशेष अयोग्यताज्ञानकी निवृत्ति होनेपर शेषमें एकबार श्रुत उक्त वाक्य प्रतिबन्ध न रहनेसे उक्त साक्षात्कारका जनक होता है। एवं उत्तरोत्तर ध्यान भी सार्थक होता है। विस्तृत विवरण अन्यत्र देखिये।]

तमनोमलतयाऽतिदुर्लभत्वात् । तथा च वक्ष्यति—

"मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये ।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः" इति ।

"श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः ।
आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धा आश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः" ॥

इति श्रुतेश्च ॥

एवं श्रवणश्रोतव्ययोराश्चर्यत्वं प्राग्वद्व्याख्येयम् । ननु यः श्रवणमननादिकं करोति स आत्मानं वेदेति किमाश्चर्यमत आह—**न चैव 'कश्चित्' इति** । चकारः क्रियाकर्मपदयोरनुषङ्गार्थः । कश्चिदेनं नैव वेद श्रवणादिकं

इस तरह 'आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनम्' का व्याख्यान हो गया । इसमें भी कर्तामें आश्चर्यवत्त्व यह है कि अनेक जन्मसे अनुष्ठित जो शुभ कर्म हैं उनके द्वारा मनोगत राग-द्वेषकामादि मलको जिसने निःशेष निवृत्त करा दिया है वही द्रष्टा है, सो अति दुर्लभ है, यह भगवान् स्वयं श्रीमुखसे गीतामें ही आगे चलकर कहेंगे —'मनुष्याणाम्' इत्यादिसे । श्रवण, वेदन, कथन आदि आश्चर्यमय है— इस अर्थको 'श्रवणायापि बहुभि०' 'आश्चर्योऽस्य वक्ता' इत्यादि श्रुतियां भी कहती हैं । इसी प्रकार श्रवण और श्रोतव्य—श्रुतिकर्म आत्मा में आश्चर्यवत्त्व, दर्शन और दर्शनकर्म आत्मगत आश्चर्यवत्त्वके समान है । पूर्वमें व्याख्यात आश्चर्यवत्त्वसे यह भी व्याख्यात है, इसलिये पुनर्व्याख्यानकी आवश्यकता नहीं है ।

'श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो द्रष्टव्यः' इस श्रुतिसे आत्मदर्शनोपाय स्पष्ट है । जो श्रवण, मनन और निदिध्यासन करेगा वह आत्मदर्शी होगा ही, फिर उक्त उपायसे आत्मदर्शनमें आश्चर्यवत्त्व ही क्या ? जो पथ्यका सेवन करेगा, वह नीरोग होगा ही, इसके अनुसार यदि कोई पथ्याशी नीरोग हो गया, तो फिर इसमें आश्चर्य ही क्या है ? उपायसे उपेयकी प्राप्ति होती ही है, यह निश्चित है । बल्कि श्रवणादि करनेपर भी आत्मदर्शन न हो, तो और अधिक आश्चर्य है, क्योंकि 'हृदि स्नेहक्षयो नाभूत्स्मरदीपे ज्वलत्यपि' इसके समान कारण रहनेपर भी कार्य नहीं हुआ । इसपर कहते हैं–**'न चैव कश्चित्'** यह । क्रिया और कर्म इन दोनों पदोंके सम्बन्धके लिए चकार है । कोई श्रवणादि करता ही रहता है, पर तो भी आत्माको

कुर्वन्नपि। तदकुर्वंस्तु न वेदेति किमु वक्तव्यम्। "ऐहिकमप्रस्तुतप्रतिबन्धे तद्दर्शनात्" इति न्यायात्। उक्तं च वार्तिककारैः—

"कुतस्तज्ज्ञानमिति चेत्तद्धि बन्धपरिक्षयात्।
असावपि च भूतो वा भावी वा वर्ततेऽथवा" इति॥

श्रवणादि कुर्वतामपि प्रतिबन्धपरिक्षयादेव ज्ञानं जायते। अन्यथा तु न। स च प्रतिबन्धपरिक्षयः कस्यचिद्भूत एव। यथा हिरण्यगर्भस्य। कस्यचिद्भावी। यथा वामदेवस्य। कस्यचिद्वर्तते। यथा श्वकेतोः। तथा च

नहीं जानता। जो श्रवणादि नहीं करता, वह नहीं जानता, इसमें क्या आश्चर्य है? चलनेसे भी प्राप्तव्यको नहीं पाया, इसमें आश्चर्य है। जो चला ही नहीं, वह यदि नहीं पा सका तो, इसमें क्या कहना है, यह कैमुतिकन्यायप्रसिद्ध अदर्शन है। न्याय देखिये—'ऐहिकमप्रस्तुतप्रतिबन्धे तद्दर्शनात्' [वेदान्तसूत्र ३।४।५१].

[इसमें यह विचार आया है कि श्रवणादिसे इसी जन्ममें आत्मविद्या प्राप्त होती है या जन्मान्तरमें भी। यहाँ पूर्वपक्ष है यह कि इसी जन्ममें, क्योंकि वर्तमान जन्ममें ही विद्यालाभके लिए श्रोताकी श्रवणादिमें प्रवृत्ति होती है। जन्मान्तरमें उक्त विद्या प्राप्त हो, इस इच्छा से कोई श्रवणादिमें प्रवृत्त नहीं होता। सिद्धान्त पक्ष सुनिये—ऐहिक विद्या है, पर प्रतिबन्धके प्रस्तुत न रहनेपर अर्थात् यदि विद्योत्पत्तिप्रतिबन्धक दुरितादि कोई न हो, तो इसी जन्ममें वह उत्पन्न होती है, अन्यथा जन्मान्तर में। जन्मान्तरमें भी विद्या पूर्वजन्मानुष्ठितसे होती है, इसमें 'गर्भस्थ एव वामदेव' इत्यादि श्रुति प्रमाण है। श्रवणायापि' इत्यादि श्रुतिसे विद्योत्पत्तिप्रतिबन्धक कर्म प्रसिद्ध है—इत्यादि विशेष विचार भाष्यमें है। यहाँ के लिये सारांशमात्र दिया गया है। श्रवण आदिका अनुशीलन करने पर भी आत्मविद्योत्पत्ति प्रतिबन्धक कर्मवश नहीं भी है.] यही वार्तिककारने भी 'कुतस्तज्ज्ञानमिति चेत्तद्धि बन्धपरिक्षयात्' इत्यादिसे कहा है। वार्त्तिकमें बन्धशब्द प्रतिबन्धपरक है।

प्रश्न—किसी श्रवणादिपरायणको इसी जन्ममें आत्मज्ञान क्यों होता है।

उत्तर—बन्धपरिक्षयसे। अन्यथा—प्रतिबन्धकक्षयाभावसे ज्ञानप्राप्ति इस जन्ममें नहीं होती। वह बन्धपरिक्षय किसीको जन्मसे पूर्वमें सिद्ध रहता है, किसीको वर्तमानमें होता है और किसीको भावी यानी भविष्य कालमें होता है। प्रथम पक्षमें दृष्टान्त हिरण्यगर्भ, द्वितीय पक्षमें वामदेव और तृतीय पक्षमें श्वेतकेतु है

प्रतिबन्धक्षयस्यातिदुर्लभत्वात् "ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात्पापस्य कर्मणः" इति स्मृतेश्च दुर्विज्ञेयोऽयमात्मेति निर्गलितोऽर्थः। यदि तु श्रुत्वाऽप्येनं वेद न चैव कश्चिदित्येव व्याख्यायेत तदा "आश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः" इति श्रुत्यैकवाक्यता न स्यात्, "यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः" इति भगवद्वचनविरोधश्चेति विद्वद्भिरविनयः क्षन्तव्यः। अथवा न चैव कश्चिदित्यस्य सर्वत्र संबन्धः न पश्यति न वदति न शृणोति श्रुत्वाऽपि वेदेति पञ्च प्रकारा उक्ताः कश्चित्पश्यत्येव न वदति कश्चित्पश्यति च वदति च कश्चित्तद्वचनं शृणोति च तदर्थं जानाति च कश्चिच्छ्रुत्वाऽपि

इस तरह प्रतिबन्धका क्षय अति दुर्लभ है। 'ज्ञानमुत्पद्यते पुसां क्षयात्पापस्य कर्मणः' यह स्मृति—प्रतिबन्धकीभूत पाप कर्मका नाश होनेपर ही आत्मज्ञान होता है, अन्यथा नहीं—इसमें प्रमाण है। आत्मा दुर्विज्ञेय है, यह निचोड़ अर्थ है।

शङ्का—आत्माको सुनकर भी कोई नहीं जानता, यह अर्थ 'श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्' का स्पष्ट प्रतीत होता है। इसको क्यों नहीं कहते हैं।

समाधान—यदि ऐसा व्याख्यान माना जाय, तो श्रुति के साथ एक वाक्यता न होगी और भगवद्वचनरूप स्मृतिसे विरोध भी होगा। 'देखिये—आश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः' (ब्रह्मवेत्ता कुशलबुद्धिसे सुशिक्षित ज्ञाता आश्चर्य है)' यह श्रुति तथा 'यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः' (सिद्धोंमें भी कोई तत्त्वतः मुझको ज्ञान पाता है) यह स्मृति है। उभय प्रमाणसे यह सिद्ध होता है कि आत्मज्ञानी कुशलाचार्योपदिष्ट है, फिर कोई आत्मदर्शी नहीं, यह विरुद्ध अर्थ कैसे माना जाय? इसलिये सुहृत्बुध्या उपदिष्ट अर्थको अस्वीकार करनेसे जो कुछ अनियम सूचित होता है, सो विद्वानोंसे क्षन्तव्य है, क्योंकि उनको यह विदित है कि श्रुति-स्मृतिका कितना गौरव है। इसके विरुद्ध कोई भी अर्थ, चाहे भले ही वह इष्ट हो या अनिष्ट, मान्य नहीं है। अथवा 'न चैव कश्चित्' का सर्वत्र सम्बन्ध है। कोई इसको नहीं देखता है, नहीं कहता है, न इसके वचनको सुनता है, सुनकर भी नहीं जानता [यह आदर्श पुस्तकानुसार अर्थ है, यह ठीक पाठ नहीं है। सुनकर नहीं जानता 'श्रुत्वा न वेद' यह पाठ होना चाहिये। द्वितीय पुस्तकमें ऐसा ही है।] यों पाँच प्रकार कहे गये हैं। कोई देखता ही है कहता नहीं, कोई देखता भी है कहता भी है, कोई आत्मबोधक वाक्यको सुनता

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि ॥ ३० ॥

हे भारत, चूँकि सम्पूर्ण प्राणियोंकी देहमें विद्यमान लिङ्गोपाधि यह आत्मा अवध्य है, यह निश्चित है। इसलिये स्थूल और सूक्ष्म भीष्मादिभावापन्न जितने भूत हैं उनके विषयमें तुम शोक करने योग्य नहीं हो—उनके लिए तुम्हें शोक करना उचित नहीं है ॥ ३० ॥

जानाति च कश्चित्तु सर्वबहिर्भूत इति। अविद्वत्पक्षे तु असंभावनाविपरीतभावनाभिभूतत्वादाश्चर्यतुल्यत्वं दर्शनवदनश्रवणेष्विति निगदव्याख्यातः श्लोकः। चतुर्थपादे तु दृष्ट्वोक्त्वा श्रुत्वाऽपीति योजना ॥ २९ ॥

इदानीं सर्वप्राणिसाधारणभ्रमनिवृत्तिसाधनमुक्तमुपसंहरति—देहि नित्यम०' इति। सर्वस्य प्राणिजातस्य देहे वध्यमानेऽप्ययं देही लिङ्गदेहोपाधि-

---

है और उसका अर्थ भी जानता है, कोई सुन कर भी नहीं जानता और कोई सबसे अलग रहता है।

शङ्का—अविद्वत्पक्षमें अर्थात् सर्वबहिर्भूतपक्षमें आश्चर्यवत्का सम्बन्ध कहाँ और क्यों ?

समाधान—दर्शन, वदन, श्रवण तीनोंमें सम्बन्ध है। परमात्मा सर्वज्ञ, सर्वशक्तिसमन्वित तथा सर्गकी उत्पत्ति, स्थिति और लयका मूल है और जीव किञ्चिद्ज्ञ, असर्वज्ञत्वादियुक्त उसके अधीन है। दोनों एक कभी नहीं हो सकता, यह अभेदासम्भावना है। जीव सदा ईश्वरसे भिन्न है, अनेक है और स्वकर्मका फल भोगता है; किन्तु ईश्वर इससे विपरीत है—तम और प्रकाशके समान विरुद्धस्वभाव है। इनका अभेद असंभव है, यह विपरीत भावना है। इन दोनों भावनाओंसे बुद्धि दब गई है, अभेदबोधोन्मुख ही नहीं होती, यह आश्चर्य है। शेष श्लोकार्थ निगदव्याख्यात है अर्थात् स्पष्टार्थक गीता शब्द ही व्याख्यान है। 'श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्' इस अन्तिम पादमें 'दृष्ट्वा' इत्यादिका सम्बन्ध है यानी देखकर सुनकर भी कोई नहीं जानता, यह योजना है ॥ २९ ॥

अब सर्वप्राणिसाधारण भ्रमकी निवृत्तिके कारणका उपसंहार करते हैं—'देही नित्यम०' इत्यादिसे। देहके नाशसे आत्मा नष्ट हो जाता है, क्योंकि देहके

रात्मा वध्यो न भवतीति । नित्यं नियतम्, यस्मात्तस्मात्सर्वाणि भूतानि स्थूलानि सूक्ष्माणि च भीष्मादिभावापन्नान्युद्दिश्य त्वं न शोचितुमर्हसि । स्थूलदेहस्याशोच्यत्वमपरिहार्यत्वात्, लिङ्गदेहस्याशोच्यत्वमात्मवदेवावध्यत्वा-

अनन्तर उसकी सत्तामें कुछ प्रमाण नहीं दीख पड़ता, यह सर्वसाधारण—पढ़, अपढ़ सबको भ्रम है, इसकी निवृत्तिका कारण प्राणिमात्रके देहवधसे आत्माका वध नहीं होता, यह निश्चय समझो ।

शङ्का—गीतामें देही अवध्य है, ऐसा लिखा है । देही देहविशिष्ट है । देहवधसे आत्मा अवध्य हो, परन्तु विशिष्ट देहीका वध तो अवश्य होता ही है, फिर देही अवध्य कैसे ।

समाधान—देह दो हैं—एक स्थूल और दूसरी सूक्ष्म, जिसको लिङ्ग शरीर कहते हैं । यह शरीर सर्गादिसे सर्गान्त तक एक ही रहता है । इसी शरीरमें इन्द्रियादि रहते हैं । इसीका प्रत्येक स्थूल शरीर में सम्बन्ध जन्म और तद्वियोग मरण कहा जाता है । सूक्ष्म होनेसे क्षुद्र जन्तु शरीरमें भी इसका अनायास प्रवेश हो जाता है । कर्मराशिका फल इस सूक्ष्म शरीरसे प्राणी भोग नहीं सकते, इसलिये स्थूल शरीरमें इसका प्रवेश आवश्यक है । लिङ्गोपाधि—लिङ्गशरीरोपहित चैतन्य आत्मा प्रकृतमें 'देही' पदसे विवक्षित है । उस देहका भी नाश नहीं होता । तदुपहित चैतन्यके नाशकी क्या सम्भावना ?

शङ्का—'नित्यम्' यह आत्मामें विशेषण नहीं है, अन्यथा 'नित्यः' पुल्लिङ्ग होता । अतः वधक्रियामें ही विशेषण है, सो तो अवध्य कहनेसे ही नित्यावध्य का लाभ हो जाता है, कारण कि जिसका कभी वध होगा, सो तो अवध्य नहीं कहा जा सकता ।

समाधान – ठीक है, यहाँ नित्य शब्द अविनाशीके तात्पर्यसे नहीं है, किन्तु नियत अर्थके तात्पर्यसे है । लिङ्गात्मामें अवध्यत्व निश्चित है, इस कारणसे यानी चूँकि सबकी देहमें विद्यमान यह आत्मा नित्य अवध्य है, इसलिए सभी भूत, चाहे वे स्थूल हों या सूक्ष्म भीष्मादिभावापन्न हैं, यों उद्देश्य करके उनमें किसीका भी तुम शोक मत करो ।

शङ्का—लिङ्ग शरीरका शोक नहीं, स्थूल शरीरका शोक तो उचित है ।

समाधान—यह तो अवश्य विनश्वर है । दिनके बाद रात्रि जैसे निश्चित है वैसे ही इस शरीरकी उत्पत्तिके अनन्तर विनाश भी इसका निश्चित ही है । इसको

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि ।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते ॥३१॥

तथा अपने धर्मका भी पर्यालोचन कर तुम विचलित नहीं हो सकते-अपने धर्मका खयाल कर, इस युद्धभूमिसे कभी नहीं हट सकते, क्योंकि धर्मयुद्धसे बढ़कर और कोई दूसरा श्रेयका साधन क्षत्रियके लिए नहीं है ॥ ३१ ॥

दिति न स्थूलदेहस्य लिङ्गदेहस्याऽऽत्मनो वा शोच्यत्वं युक्तमिति भावः ॥ ३० ॥

तदेवं स्थूलसूक्ष्मशरीरद्वयतत्कारणाविद्याख्योपाधित्रयाविवेकेन मिथ्याभूतस्यापि संसारस्य सत्यत्वात्मधर्मत्वादिप्रतिभासरूपं सर्वप्राणिसाधारणमर्जुनस्य भ्रमं निराकर्तुमुपाधित्रयविवेकेनाऽऽत्मस्वरूपमभिहितवान् । संप्रति युद्धाख्ये स्वधर्मे हिंसादिबाहुल्येनाधर्मत्वप्रतिभासरूपमर्जुनस्यैव करुणादिदोषनिबन्धनमसाधारणं भ्रमं निराकर्तुं हिंसादिमत्त्वेऽपि युद्धस्य स्वधर्मत्वेना-

---

कोई भी महापुरुष रोक नहीं सकता, यह प्रकृतिका स्वाभाविक नियम है। जो अपनी शक्तिसे परे है, उसके लिए शोक करना व्यर्थ है। वह तो अवश्य होगा ही। उसके सहनेके लिये सदा तैयार रहना चाहिये। उसमें चीं चूँ करना मूर्खता है, जो नासमझोंमें रहती है, अतः लिङ्गदेह नित्य है और स्थूल देहका नाश अपरिहार्य है। वह आत्मवत् शोच्य नहीं है, क्योंकि वे दोनों अवध्य हैं, यह समझ ही चुके हो। इस प्रकार स्थूल देह, सूक्ष्म देह और आत्मा—ये तीनों अशोच्यसिद्ध हुये। इनसे अतिरिक्त भीष्मादि हैं नहीं, फिर तुम किसको शोचते हो, इसपर दृष्टि दो, यह अभिप्राय है ॥ ३० ॥

अतः स्थूल और सूक्ष्म ये दोनों शरीर और इनका कारण अविद्या—इन तीनों उपाधियोंके अविवेकसे-- विवेकाभावसे मिथ्या संसारमें सत्यत्व-आत्मधर्मत्वका मिथ्याज्ञान सब प्राणियोंमें है, यही सर्वसाधारण भ्रम अर्जुनमें भी है, इसीका निराकरण करनेके लिये उक्तोपाधित्रयका विवेचन कर आत्मतत्त्वका उपदेश अर्जुनको किया [यह केवल अर्जुनमात्रके लिये नहीं, किन्तु सब अधिकारियोंके लिये भगीरथानीत गङ्गाप्रवाहवत् है।] सर्वसाधारणभ्रम, जो अर्जुनमें भी कह चुके हैं, उसका निराकरण कर अब अर्जुनमात्रके युद्धनामक स्वधर्ममें

धर्मत्वाभावं बोधयति भगवान्—'स्वधर्ममपि' इति ।

न केवलं परमार्थतत्त्वमेवावेक्ष्य किं तु स्वधर्ममपि क्षत्रियधर्ममपि युद्धापराङ्मुखत्वरूपमवेक्ष्य शास्त्रतः पर्यालोच्य विकम्पितुं विचलितुं धर्माद्-धर्मत्वभ्रान्त्या निवर्तितुं नार्हसि । तत्रैवं सति "यद्यप्येते न पश्यन्ति" इत्यादिना "नरके नियतं वासो भवति" इत्यन्तेन युद्धस्य पापहेतुत्वं त्वया यदुक्तं "कथं भीष्ममहं संख्ये" इत्यादिना च गुरुवधब्रह्मवधाद्यकरणं यदभिहितं तत्सर्वं धर्मशास्त्रापर्यालोचनादेवोक्तम् । कस्मात् हि यस्माद्धर्म्या-दपराङ्मुखत्वधर्मादनपेताद्युद्धादन्यत्क्षत्रियस्य श्रेयः श्रेयःसाधनं न विद्यते । युद्धमेव हि पृथिवीजयद्वारेण प्रजारक्षणब्राह्मणशुश्रूषादिक्षात्रधर्मनिर्वाहकमिति तदेव क्षत्रियस्य प्रशस्ततरमित्यभिप्रायः । तथा चोक्तं पराशरेण—

"क्षत्रियो हि प्रजा रक्षञ्शस्त्रपाणिः प्रदण्डवान् ।
निर्जित्य परसैन्यानि क्षितिं धर्मेण पालयेत्" इति ।

हिंसादिके बाहुल्यसे अधर्मत्वप्रतिभासरूप करुणादिदोषपूर्ण असाधारण भ्रमके निराकरणार्थ भगवान् अर्जुनको समझाते हैं—'स्वधर्ममपि चावेक्ष्य' इत्यादिसे ।

स्वधर्मको हिंसापूर्ण होनेसे अधर्म समझते हो, सो ठीक नहीं है । केवल परमार्थदर्शनसे ही अपनी भ्रान्ति दूर करो, यही नहीं, किन्तु अपने धर्मको भी देख भ्रान्ति दूर करो । स्वधर्म यानी क्षत्रियधर्म—युद्धसे पराङ्मुख न होना, किन्तु सोत्साह युद्धमें प्रवृत्त होना है । इसको केवल मेरे कथनसे ही नहीं, किन्तु महर्षिप्रणीत धर्मशास्त्रोंका विमर्श कर देखो, क्या लिखा है । मनोयोगसे यदि शास्त्रोंको देखो, तो तुम्हारी जो धर्ममें अधर्मबुद्धि हो गई है, जिससे युद्धसे विचलित हो रहे हो, सो न होगी । और यह भी बात न रहेगी कि 'यद्यपि लोभी दुर्योधनादि इस दोषको नहीं देखते हैं, तो भी मैं कैसे न देखूँ' तथा 'नरके नियतं वासः' इत्यन्त वाक्यसे जो तुमने युद्धमें पापकरणत्व कहा एवं 'कथं भीष्ममहं संख्ये' इत्यादिसे गुरुवध-ब्रह्मवधमें अकार्यत्वादि कहा—यह सब धर्मशास्त्रके रहस्यको न समझ कर ही कहा है ।

प्रश्न—क्यों ।

उत्तर—क्षत्रियोंका कल्याणकारण धर्मसे अनपेत—रहित नहीं है, किन्तु

मनुनाऽपि—

"समोत्तमाधमै राजा चाऽऽहूतः पालयन्प्रजाः ।
न निवर्तेत सङ्ग्रामात्क्षात्रं धर्ममनुस्मरन् ॥
सङ्ग्रामेष्वनिवर्तितत्वं प्रजानां चैव पालनम् ।
शुश्रूषा ब्राह्मणानां च राज्ञः श्रेयस्करं परम्" इत्यादिना ।

राजशब्दश्च क्षत्रियजातिमात्रवाचीति स्थितमेवेष्ट्यधिकरणे । तेन भूमिपालस्यैवायं धर्म इति न भ्रमितव्यम् । उदाहृतवचनेऽपि क्षत्रियो हीति

सहित ही है। क्षत्रियोंका धर्म युद्धसे पराङ्मुखत्व न होना है। क्षत्रियोंका युद्धसे अतिरिक्त धर्म नहीं है। कहनेका अभिप्राय यह है कि युद्ध ही पृथिवीविजय द्वारा प्रजाकी रक्षा तथा ब्राह्मणोंकी सेवा ही क्षत्रियधर्मका निर्वाहक है। यही क्षत्रियोंके लिए सर्वोत्तम है। यही पराशरने—व्यासभगवान्‌के पिताजीने कहा है—'क्षत्रियो हि' इत्यादिसे। और मनु भगवान्‌ने भी 'समोत्तमाधमै राजा चाहूतः पालयन् प्रजाः' इत्यादिसे कहा है। [उक्त अर्थमें दृढ़तर प्रामाण्यके लिये दो महर्षियोंके वचनोंका उपादान है। संवादसे प्रामाण्य अधिक दृढ़ होता है, यह लोकमें प्रसिद्ध है।

शङ्का—तो संप्रति राजा दुर्योधन हैं, भावी युधिष्ठिर हो सकते हैं, मैं तो इस समय भी राजा नहीं हूँ और भविष्यमें भी नहीं हो सकूँगा, फिर मेरे लिये तो अधर्म ही रहा न ?]

समाधान—राजशब्द राज्यसिंहासनारूढ़को ही नहीं कहता, अन्यथा ब्राह्मण-वैश्य भी उक्त सिंहासनस्थ राजशब्दार्थ हो जायंगे, किन्तु क्षत्रियजातिमात्रका वाचक है। इसका विचार 'राजा राजसूयेन यजेत स्वाराज्यकामः' यहाँ पर पूर्वमीमांसाके अइष्ट्यधिकरणमें है। वहाँ यही निष्कर्ष निकाला गया है कि राजशब्द क्षत्रियवाची है, अतः क्षत्रियोंका ही इस यागमें अधिकार है। ब्राह्मण और वैश्य यदि समर्थ भी हों, तो भी उनका इस यागमें अधिकार नहीं है, यह विस्तृत विचार है, इसलिये निष्कर्षमात्र यहाँ लिखा गया है। 'राज्ञि राट्पार्थिवक्ष्माभृन्नृपभूपमहीक्षितः'—यह क्षत्रियजातिवाचक पर्यायशब्दोंका बोध करानेवाला अमरकोश भी है। शब्दार्थनिर्णयमें सर्वसंमत प्रमाण कोश ही है। इससे भूमिपालका ही यह धर्म है, क्षत्रियजातिमात्रका नहीं, ऐसा भ्रम नहीं करना चाहिये।

क्षात्रं धर्ममिति च स्पष्टं लिङ्गम्। तस्मात्क्षत्रियस्य युद्धं प्रशस्तो धर्म इति साधु भगवताऽभिहितम्। "अपशवोऽन्ये गो अश्वेभ्यः पशवो गो अश्वाः"

उदाहृत पराशर और मनुवचनमें भी इसका निर्णायक लिङ्ग है। प्रथम वचनमें 'क्षत्रियो हि प्रजा रक्षन्' यह पाठ है और द्वितीयमें 'क्षात्रं धर्ममनुस्मरन्' यह पाठ है। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि युद्ध केवल भूमिपालमात्रके लिए ही विहित नहीं है, किन्तु क्षत्रियमात्रके लिए विहित है, चाहे वह राजा हो वा प्रजा हो। इन कारणोंसे युद्ध क्षत्रियोंका उत्तमधर्म है, यह भगवान्‌ने बहुत ही उत्तम कहा है।

[शङ्का—क्षत्रियोंका उत्तम धर्म है, इतना कहते तो ठीक था, परन्तु भगवान्‌का क्षत्रियोंके लिए दूसरा उपाय ही नहीं है, यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि श्रुतिविहित नित्यनैमित्तिकादि, भगवद्भक्ति, तत्त्वज्ञान आदि अनेक कर्मान्तर हैं, फिर इससे अतिरिक्त श्रेयस्कर उन लोगोंके लिए नहीं है, ऐसा उन्होंने क्यों कहा ?

समाधान—यह कहनेका एक प्रकार (ढङ्ग) है। किसी विशिष्ट अर्थकी स्तुति व्यक्त करनेके लिये बड़े लोग इस प्रकारका आश्रयण करते हैं, परन्तु उनका तात्पर्य प्रतिषेधमें नहीं रहता, कथित अर्थ सर्वोत्तम है, इसके द्वारा उसकी स्तुतिमें रहता है। स्तुति अविद्यमान गुणके आरोपसे ही होती है। विद्यमान गुण के कथनसे तो वस्तुतत्त्व ही सिद्ध होता है। बृहस्पतिको बृहस्पति कहनेसे स्तुति नहीं होती, किन्तु किसी मनुष्य पण्डितको कहिये कि यह तो बृहस्पति है, तो उसकी स्तुति अवश्य होती है। स्तुति दो प्रकारकी होती है। अन्यत्र विद्यमान गुणोंका अन्यत्र आरोप पहली स्तुति है, जैसे कि उक्त वाक्यसे बृहस्पतिके गुण अबृहस्पतिमें कहे गये हैं। द्वितीय स्तुति—तदारोपितगुणका अन्यत्र प्रतिषेध है, जैसे कि 'पार्थ एव धनुर्धर ? अर्जुन ही धनुर्धर हैं, दूसरा नहीं। पार्थसे अन्य भी धनुर्धर हैं, उनका निषेध वास्तविक नहीं करना है, किन्तु इनके समान दूसरा नहीं है, यह कहना है। वस्तुतत्त्व नहीं है, किन्तु स्तुतिमात्र है, जो गौओंके लौटानेमें स्पष्ट है। गीता-कालसे ही इस प्रकारका उदय नहीं हुआ, किन्तु श्रुतिमें भी ऐसा है। इसलिये यह प्रथा अति प्राचीन है।] देखिये श्रुति—अपशवो वा अन्ये गो अश्वेभ्यः पशवो गो अश्वाः। [लोमवल्लाङ्गूलवान् पशुशब्दका अर्थ है। जिनकी पूछमें केश होते हैं वे पशु हैं। लोमशून्य पूछवाले चूहादि पशु नहीं हैं। यहाँ श्रुतिसे कहा गया है कि गौ अश्वसे अतिरिक्त पशु नहीं है। गौ और अश्व ये ही दो पशु हैं। इसका तात्पर्य यदि इतरमें पशुत्वाभावबोधनमें माना जाय, तो 'पशुना यजेत' इत्यादिसे विहित

इतिवत्प्रशंसालक्षणमायुद्धादन्यच्छ्रेयःसाधनं न विद्यत इत्युक्तमिति स दोषः। एतेन युद्धात्प्रशस्ततरं किंचिदनुष्ठातुं ततो निवृत्तिरुचितेति निरस्तम्। "न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे" इत्येतदपि ॥ ३१ ॥

सोमादि याग में पशुसे छागादिका ग्रहण नहीं होगा। सोमादि यागमें पशुशब्दसे छाग ही का ग्रहण होता है, इसलिये अन्यत्र पशुत्वनिषेध गौ-अश्वमें इतरापेक्षया प्राशस्त्यबोधनार्थ स्तुतिमात्र है। अन्यकी अपेक्षा ये उत्तम पशु हैं, इसमें श्रुतिका तात्पर्य है।] एवं प्रकृत में भी युद्धस्तुतिमें उक्त वाक्यका तात्पर्य है, धर्मान्तरनिषेधमें नहीं, यह संक्षेप है।

शङ्का—यदि भगवान्‌को युद्धकी स्तुति ही करनी उस समय इष्ट थी, तो उक्त प्रथम पक्षका ही आश्रयण क्यों नहीं किया। निषेधपक्षके आश्रयणमें उनका क्या अभिप्राय था।

समाधान—यह तो प्रश्न ही उचित नहीं है।

प्रश्न—क्यों।

उत्तर—यदि प्रथम पक्षके अनुसार कहे हों, तो भी यह प्रश्न हो सकता है कि द्वितीय पक्षके अनुसार स्तुति न कर प्रथम पक्षानुसार स्तुति करनेमें क्या भाव था, अन्ततः किसी पक्षको लेकर कहना ही है; इनमें विशेष क्या।

प्रश्न—विशेष क्यों नहीं ? विधिपक्षमें अन्यत्र प्रसिद्धगुणोंका तुष्टूषित विषयमें आरोपमात्र करना है और कुछ नहीं। निषेधपक्षमें प्राशस्त्यका आरोप और अन्यत्र प्रतिषेध दोनों करने पड़ते हैं, अतः पूर्वमें लाघव और उत्तरमें गौरव दोष है। लघु उपायसे प्रतिपित्सित अर्थको समझा सके, तो गुरु उपायका आश्रयण उचित नहीं है। लोकमें कहावत है कि पासकी झाड़ीमें मधु मिल जाय, तो उसको लानेके लिये घोर जङ्गलमें क्यों जाया जाय।

उत्तर—यदि इतरका निषेधरूप द्वितीय पक्षका आश्रयण भगवान् करते, तो युद्धसे अतिरिक्त कोई अच्छे कर्म करनेके लिये युद्धसे निवृत्ति उचित है। युद्ध हिंसामय है, अतः धर्म होनेपर भी अहिंसामय अधर्मसे अच्छा नहीं है, इसीलिये आत्मकल्याणार्थ कर्मान्तरानुष्ठान ही उचित है, यह शङ्का अर्जुनको हो सकती थी। ईदृशशङ्कोदयावसरके निरासार्थ भगवान्‌ने तदितरका स्पष्ट प्रतिषेध ही कर दिया कि दूसरा इस युद्धसे बढ़कर अत्यन्त उत्तम अनुष्ठेय नहीं है, फिर तुम करोगे क्या ? 'न च श्रेयोऽनुपश्यामि' से जो कुछ कहा, सो भी इसीसे निरस्त हुआ। इसीसे तो क्षत्रियोंको श्रेयः होता है, तुम भूलते हो

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम् ।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम् ॥३२॥

बिना किसी यत्नके प्राप्त, स्वर्गप्रवेशके खुले हुए द्वारभूत ऐसे युद्धको जो क्षत्रिय प्राप्त करते हैं, हे पार्थ, वे अवश्य ही सुखी होते हैं, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है ॥ ३२ ॥

ननु युद्धस्य कर्तव्यत्वेऽपि न भीष्मद्रोणादिभिर्गुरुभिः सह तत्कर्तुमुचितमतिगर्हितत्वादित्याशङ्क्याऽऽह—'यदृच्छया' इति ।

यदृच्छया स्वप्रयत्नव्यतिरेकेण, चोऽवधारणे, अप्रार्थनयैवोपस्थितमीदृशं भीष्मद्रोणादिवीरपुरुषप्रतियोगिकं कीर्तिराज्यलाभदृष्टफलसाधनं युद्धं ये क्षत्रियाः प्रतियोगित्वेन लभन्ते ते सुखिनः सुखभाज एव । जये सत्यनायासेनैव यशसो

कि इसमें श्रेय नहीं है, किन्तु अन्यत्र है। अन्यत्र श्रेयः नहीं है, किन्तु इसीमें है। यदि श्रेय चाहते हो, तो युद्ध करो, यह भाव है ॥ ३१ ॥

प्रश्न—अच्छा तो युद्ध क्षत्रियोंका कर्तव्य ही है, यह मान लेते हैं, पर पूज्य भीष्मादिके साथ भी वह अवश्य कर्तव्य है, यह उचित नहीं समझते, क्योंकि यह अतिनिन्दित है। संसार इसको अच्छा नहीं मानता।

उत्तर—ठीक है। तुम्हारी दुश्चेष्टासे यदि यह युद्ध उपस्थित होता, जिसमें भीष्मादिवध अपरिहार्य है, तो लोकनिन्दा होनेसे गर्हित होता, इसमें सन्देह नहीं, किन्तु ऐसा यह नहीं है। यह दुर्योधनादिव्यापारसे, जिसमें तुम्हारा प्रयत्न नहीं है—बिना तुम्हारी चाहसे उपस्थित हुआ है, जिसमें भीष्म-द्रोणादिका वध अवश्यंभावी है। ऐसा युद्ध जिसमें कीर्ति, राज्य और धर्म—इन तीनोंकी प्राप्ति हो अर्थात् तीनों इष्ट फलोंका साधनरूप ईदृश युद्ध जिन क्षत्रियोंको मिलता है वे सुखके पात्र हैं। जिस युद्धमें भीष्मादि सब महारथी प्रतियोगी—प्रतिद्वन्द्वी प्रतिभट हैं उस युद्धकी विजयमें कीर्ति है। जो युद्धका मूल है वह अनुयोगी है, जो कर्तव्य-वश अन्योत्थापित युद्धमें प्रवृत्त होता है, वह प्रतियोगी है। प्रकृत युद्धका लाभ दोनों दलोंको है, पर दुर्योधनादिकोऽनुयोगितया लाभ है, अतः वे सुखी नहीं हैं और न कीर्त्यादिका लाभ ही उनको है, प्रत्युत यावच्चन्द्रदिवाकर अपकीर्ति ही रहेगी। तुमको प्रतियोगितया लब्ध है, इसलिये उक्तार्थफलक है। अथवा प्रतियोगीरूपसे यानी प्रतिभटरूपसे तुमको यह लब्ध है। भीष्मादिप्रतियोगिक

राज्यस्य च लाभात्। पराजये चातिशीघ्रमेव स्वर्गस्य लाभादित्याह—'स्वर्गद्वारमपावृतम्' इति। अप्रतिबद्धं स्वर्गसाधनं युद्धमव्यवधानेनैव स्वर्गजनकं ज्योतिष्टोमादिकं तु चिरतरेण देहपातस्य प्रतिबन्धाभावस्य चापेक्षणादित्यर्थः। स्वर्गद्वारमित्यनेन श्येनादिवत्प्रत्यवायशङ्का परिहृता। श्येनादयो

युद्धका प्रतिभट तुम हो—इस प्रकार तुल्यबलशाली प्रथितप्रभाव महापुरुषोंका युद्ध सबको नहीं मिल सकता। इसमें सब प्रकारका लाभ तुमको है, क्योंकि भगवान् तो परिणाम जानते ही थे, जिसकी पूरी हो चुकी थी, भीष्म अभयदान दे ही चुके थे, कर्ण कुन्तीकी प्रार्थनासे पाण्डवोंको अभयदान—अवध्यत्व दे ही चुके थे। द्रोणाचार्य अनकूल ही थे, फिर अनिष्टकी क्या आशंका। विजय होनेपर अनायास साम्राज्य तथा यशका लाभ है। पराजय होनेपर तुरत स्वर्ग होगा, यही 'स्वर्गद्वारमपावृतम्' से कहा है। अप्रतिबद्ध स्वर्गसाधन युद्ध है यानी बिना किसी व्यवधानके ही युद्ध स्वर्गजनक है। [स्वर्ग साधन दो प्रकारके हैं—एक प्रतिबन्धकसहित और दूसरा प्रतिबन्धकरहित। 'यजेत स्वर्गकामः' इत्यादि वाक्यविहित याग प्रथम है, क्योंकि यागोत्तर सद्यः स्वर्ग नहीं हो जाता। प्रारब्धकर्माधीन शरीर प्रतिबन्धक है। शरीरनाशोत्तर स्वर्ग होता है, अतः यागादि सप्रतिबन्ध कर्म है। द्वितीय युद्ध है। युद्धमें सविधि मरणानन्तर ही स्वर्ग होता है, क्योंकि प्रतिबन्धक शरीर है। उसका युद्धमें नाश ही हो जाता है, इसलिये यह अप्रतिबन्ध स्वर्गसाधन है। इस अभिप्रायसे 'स्वर्गद्वारमपावृतम्' कहा। युद्धमें स्वर्गद्वार खुला रहता है, कुछ भी स्वर्गप्राप्तिमें बिलम्ब नहीं। यागादिसे स्वर्ग विलम्बसे होता है, इसलिये उसमें द्वार खुला नहीं रहता। देहपातोत्तर द्वार खुलेगा। यागादिसे भी यह प्रशस्त स्वर्गोपाय है, इस अभिप्रायसे कहा है कि प्रतिबन्धशून्य स्वर्गसाधन युद्ध है, क्योंकि युद्धके अबिलम्बोत्तरकालमें स्वर्ग होता है] ज्योतिष्टोमादि याग देरसे स्वर्गजनक हैं। यागोत्तर जब शरीरपात होगा तब स्वर्ग होगा। इसमें प्रतिबन्धकीभूत देहाभावकी अपेक्षा है, यह मतलब है। 'स्वर्गद्वारम्' इससे श्येनादि यागमें जैसे पाप होता है वैसे इसमें भी हिंसा है, इसलिये पाप होगा, इस शङ्काका निरास हुआ। उक्त याग स्वर्ग कारण नहीं है किन्तु नरकका कारण है, यह वैसा नहीं है, यह स्वर्गका प्रवेशद्वार है।

प्रश्न—दोनों शास्त्रविहित हैं। हिंसा भी समान ही है, बल्कि युद्धमें गुरुतर हिंसा है, फिर श्येनवत् युद्धमें पाप क्यों नहीं।

हि विहिता अपि फलदोषेण दुष्टाः तत्फलस्य शत्रुवधस्य "न हिंस्यात्सर्वा भूतानि" "ब्राह्मणं न हन्यात्" इत्यादिशास्त्रनिषिद्धस्य प्रत्यवायजनकत्वात्फले विध्यभावाच्च न "विधिस्पृष्टे निषेधानवकाशः" इति न्यायावतारः। युद्धस्य हि फलं स्वर्गः स च न निषिद्धः। तथा च मनुः—

"आहवेषु मिथोऽन्योन्यं जिघांसन्तो महीक्षितः।
युध्यमानाः परं शक्त्या स्वर्गं यान्त्यपराङ्मुखाः" ॥ इति

उत्तर—श्येन स्वतः दुष्ट नहीं है, किन्तु इसका फल शत्रु मारण है। शत्रुका वध 'मा हिंस्यात्' इत्यादि श्रुतिसे निषिद्ध है, इसलिये तत्फल शत्रुवध दुष्ट होनेसे तदुपाय श्येनयाग भी फलदोषसे दुष्ट होता है।

शङ्का—शास्त्रविहित शत्रुवध निषिद्ध क्यों? शास्त्रसे क्या निषिद्धका भी भी विधान होता है।

उत्तर—नहीं, जो विहित है श्येन याग सो निषिद्ध नहीं है। जो निषिद्ध है शत्रुवध, सो विहित नहीं है। 'शत्रुवधकामः श्येनेनाभिचरन् यजेत' इस वाक्यसे उक्तयागमात्रका विधान है, शत्रुवधरूप फलका नहीं। इस अभिप्रायसे फलेविध्यभावाच्च' कहा है। अतएव 'विधिस्पृष्टे निषेधानवकाशः' इस न्यायकी प्रवृत्ति नहीं है। [शत्रुवध विधिस्पृष्ट नहीं है, अतः उसमें 'मा हिंस्यात्' इस निषेधका अवतार है। निषेध और विधिके अतिक्रमसे पाप होता है, यह शास्त्रका सिद्धान्त है।

शङ्का—फलमें विधि क्यों नहीं है?

उत्तर—जिसमें पुरुषकी प्रवृत्ति स्वतः नहीं होती, उसमें प्रवृत्ति करानेके लिये विधिकी आवश्यकता है, अन्यथा तत्कर्मानुष्ठान ही नहीं होगा, क्योंकि स्वतः न करेगा, विध्यभावसे विधिवश भी न करेगा, इसलिये उसमें विधि मानते हैं। आस्तिक पुरुषोंकी तदधीन प्रवृत्ति होनेसे फल सबको इष्ट है, अतः उसमें स्वतः प्रवृत्ति पुरुषोंकी होती है। उसमें प्रवर्तक विधिकी क्या आवश्यकता? युद्धका फल स्वर्ग है, सो निषिद्ध नहीं।

प्रश्न—क्यों?

उत्तर—'आहवेषु' इत्यादि मनुवचन देखिये।

शङ्का—[श्येन स्वतः दुष्ट नहीं है, किन्तु शत्रुवधरूप फल द्वारा दुष्ट कहा गया है। युद्ध तो स्वतः दुष्ट है, इसमें हिंसा ही प्रधान है, फिर स्वरूपतः निषिद्धका शास्त्रसे विधान क्यों? यदि निषिद्धका भी विधान मानते हो, तो निषिद्धका शास्त्रसे

विधान नहीं होता, यह कहना ही गलत है। ऐसी स्थितिमें शास्त्रके उल्लंघनसे पाप होता है, यह व्यवस्था भी ठीक नहीं है। हाँ, किसी शास्त्रके उल्लंघनसे पाप होता है, यह कहो, तो ठीक होगा।

समाधान—मनोयोगसे सुनो, धर्मकी गति गहन है, यह शास्त्रोंमें कहा गया है। 'मा हिंस्यात्सर्वभूतानि' यह शास्त्र कहता है कि जीवोंको मत मारो, पर इसके कहने मात्रसे जिसकी हिंसासे स्वार्थसिद्धि है उसकी उससे निवृत्ति नहीं होगी। वह पूछेगा—हम क्यों नहीं मारें। उसको यह समझाना आवश्यक होगा कि जीव-हिंसासे जितनी तुम इष्टसिद्धि समझते हो, उससे बहुत अधिक अनिष्टकी प्राप्ति होगी। यदि भविष्यमें अधिक अनिष्ट नहीं चाहते हो, तो हिंसा मत करो। इस प्रकार वह समझेगा कि हिंसासे पाप होता है, जिसका फल दुःख है, इसलिये हिंसा त्याज्य है। युद्धमें भी हिंसा है, इसलिये यह भी त्याज्य है, यह आपाततः प्रतीत अर्थ हुआ। अब दूसरा अर्थ सुनो—सोमेन यजेत स्वर्गकामः' इस वाक्यसे यह कहा गया है कि 'यदि स्वर्ग चाहते हो, तो सोमयाग करो'। सोमयागमें लिखा है—'अग्नीषोमीयं पशुमालभेत'। अग्निश्च सोमश्च अग्निषोमौ 'ईदग्नेः सोम-वरुणयोः' इस सूत्रसे अग्निका इकार दीर्घ हो जाता है। 'अग्ने स्तुत्स्तोमसोमाः' इस सूत्रसे सोमके सकारको षकार होता है। इस तरह 'अग्नीषोमौ' यह प्रयोग हुआ है। ये दोनों जिसके देवता हैं, सो अग्नीषोमीय पशु हुआ। उसका आलभन (वध) करना चाहिये अर्थात् उक्त यागमें हिंसा करनी चाहिये। अब यह विचार आवश्यक है कि पूर्व वचनसे यह कहा गया है कि हिंसा पापजनक है, इसलिये नहीं करनी चाहिये। और इस वचनसे यह कहा जाता है कि अग्नीषोमीय पशु-हिंसा पुण्यजनक है, इसलिये करनी चाहिये, क्योंकि बिना पुण्यसे स्वर्ग नहीं होगा। यागके प्रत्येक कर्म पुण्यजनक माने जाते हैं। प्रत्येक पुण्यसे महापुण्य होता है, जो स्वर्गका साधन है, यह अपूर्व प्रक्रिया मीमांसापरिभाषामें विस्तृत है, इसलिये विशेष जिज्ञासुओंको वहीं देखनी चाहिये। मिथोविरुद्ध वचनद्वयसे हिंसा पुण्यजनक है अथवा पापजनक है, यह संशय होता है। तदनुसार वह करनी चाहिये अथवा न करनी चाहिये, यह भी संशय होता है, इस विषयमें दो प्रकारका निर्णय है—एक सांख्यादिकोंका और दूसरा मीमांसकादिकोंका है। अद्वैतवेदान्ती मीमांसानुसारी हैं। किन्तु कुछ वेदान्ती भी सांख्यानुसारी हैं। सांख्या-धनुसारिसंक्षिप्तार्थ यह है कि 'मा हिंस्यात्' और 'अग्नीषोमीयम्' इन दोनों वाक्योंमें विरोधाभावसे बाध्य-बाधकभाव नहीं है। निषेधवाक्य विधिके आधीन और

अनारभ्याधीन है अर्थात् किसी यागप्रकरणमें नहीं पढ़ा गया है विधिवाक्य यागप्रकरणमें पढ़ा गया है, इसलिये अग्नीषोमीय पशुहिंसा क्रत्वर्थ—क्रतूपकारक है, एतावन्मात्रका बोधक है, पापजनक नहीं है, इस अर्थका बोधक नहीं। निषेधवाक्य भूतहिंसा पुरुषानर्थहेतु—पापजनक है, एतावन्मात्रका बोधक है यागोपकारक हिंसा नहीं है, इसका बोधक नहीं है। अतः यागोपकारकत्व और पापजनकत्व ये दोनों धर्म विरुद्ध नहीं हैं। यदि हिंसासे यागका उपकार हो और पाप भी हो, तो इसमें क्या विरोध है। जैसे 'न कलञ्जं भक्षयेत्' यह पुरुषार्थ निषेध है, वैसे ही 'मा हिंस्यात्' यह निषेध भी पुरुषार्थ है, क्रत्वर्थ नहीं है। यदि यागकर्ता कलंजभक्षण करे, तो याग विगुण होगा या नहीं, इस संशयमें निर्णय यह किया गया है कि कलंजभक्षणनिषेध पुरुषार्थ है, इसलिये भोक्ताको पाप होगा, किन्तु यागसिद्धिमें कोई हानि न होगी। याग करनेका उसे पुण्य होगा और कलञ्जभक्षण करनेका पाप भी होगा। दोनोंका फल सुख और दुःख कर्ताको होगा। जैसे कहा है—'यो नामक्रतुमध्यस्थः कलञ्जादीनि भक्षयेत्। न क्रतोस्तत्र वैगुण्यं यथा चोदितसिद्धितः' इति। तद्वत् यहाँ भी समझना चाहिये। अतएव पञ्चशिखाचार्यने कहा है कि 'स्वल्पः संकरः सपरिहार्यः सप्रत्यवमर्शः'। इसका अर्थ सुनिये—अग्नीषोमीयादि याग स्वपुण्य पश्वादिहिंसाजन्य स्वल्प पापसे संकीर्ण है।

शङ्का—यदि पाप भी होगा, तो उसमें पुरुषप्रवृत्ति क्यों होगी ?

समाधान—वह परिहार्य है। कुछ प्रायश्चितविधिसे उसका परिहार हो सकता है। पापनिवृत्तिके लिये प्रायश्चित्तका विधान है, इसके द्वारा पाप निवृत्त हो जायगा। केवल सुखमात्र ही भोगना होगा।

प्रश्न—यदि प्रमादादिसे प्रायश्चित न कर सका, तो ?

उत्तर—तो सप्रत्यवमर्श है। प्रत्यवमर्श—सहिष्णुता अर्थात् स्वर्गभोगसमयमें दुःख भी थोड़ा-थोड़ा भोगना पड़ेगा। कर्ममात्रमें क्लेश कुछ होता ही है, परन्तु तज्जन्य फलमें सुख अधिक होता है, इसलिये फलसाधनमें पुरुषकी प्रवृत्ति दृष्ट ही है। तद्वत् दुःखलवमिश्रित महासुखानुभवार्थ यागप्रवृत्तिमें कोई अड़चन नहीं है।

मीमांसकादि यह कहते हैं कि विशेष शास्त्रसे सामान्य शास्त्रका बाध होता है। सामान्य शास्त्र है निषेध, जो हिंसामात्रका निषेध करता है और 'अग्नीषोमीयम्' इत्यादि विशेष शास्त्र है, यह केवल अग्नीषोमीय पशुहिंसामें ही पापजनकत्वाभावका बोधन करता है, हिंसामात्रमें नहीं। दोनों शास्त्र हैं, अतः दोनोंको प्रमाण

माननी चाहिये, इसलिये यागाङ्ग पशुभिन्न पशुहिंसाके निषेधमें उक्त शास्त्रका तात्पर्य है, इस संकोच द्वारा विभिन्न विषयत्वसे दोनों प्रमाण हैं।

शङ्का—विशेषशास्त्र सामान्यशास्त्रका बाधक क्यों होता है?

समाधान—सामान्यशास्त्र पशुसामान्यकी हिंसाको निषेध करता है। सामान्यकी हिंसा ही असम्भव है। कारण कि सकल पशु एक समयमें उपस्थित ही नहीं हो सकते। एक तो भूभाग ही अति विस्तृत है, दूसरी बात यह है कि जलीय और वायवीय भी भूत हैं। सबकी हिंसा ईश्वरातिरिक्त मनुष्यसाध्य नहीं है। फिर कालके ऊपर दृष्टि दीजिये, तो असम्भवकी सीमा ही नहीं है। भूत, भावी और वर्तमान प्राणिसमुदायकी हिंसा प्रसक्त ही नहीं है। शास्त्र मनुष्यके लिये है, ईश्वरके लिये नहीं है, अतः सामान्य हिंसा असम्भव होनेसे सामान्य शास्त्रका विशेषव्यक्तिमें अनन्तर सम्बन्ध होगा अर्थात् प्रथम सामान्यमें तब उसके द्वारा विशेषमें और 'अग्नीषोमीयम्' इत्यादि विशेषशास्त्रका पहिले ही विशेषव्यक्तिके साथ सम्बन्ध है। उस समय सामान्यशास्त्रका विशेषव्यक्तिमें उपसर्पण ही नहीं था। शीघ्र प्रवृत्त विशेष शास्त्र बलवान् हुआ। पश्चात् प्रवृत्त सामान्यशास्त्र दुर्बल हुआ। बलवान्से दुर्बलका बाध होता है, इसमें सन्देह ही नहीं है। किञ्च, मा हिंस्यात्' यह निषेध यागीय हिंसाका निषेध नहीं करता, किन्तु मांसभक्षण रसिकोंकी हिंसामें जो रागतः प्राप्त है, उसीका निषेध करता है।

प्रश्न—क्यों।

उत्तर—सूक्ष्म दृष्टिसे देखिये—निषेधका ज्ञान निषेध्यज्ञानानुसारी होता है, इसीसे अभावज्ञानमें प्रतियोगिज्ञान कारण माना जाता है, जो घट जहाँ प्रसक्त होता है वहीं उसका 'घटो नास्ति' इस वाक्यसे निषेध होता है। इसलिये निषेध्यानुसारी निषेध माना गया है। निषेध्य हिंसा यदर्थ है निषेध भी तदर्थ ही होगा। हिंसा पुरुषार्थ है, अतः निषेध भी पुरुषार्थ ही है दर्शपूर्णमासप्रकरणमें 'नानृतं वदेत्' यह वाक्य है। इसका विचार पूर्वमीमांसामें इस प्रकार है—अनृतवदनप्रतिषेध याती मिथ्या बोलनेका निषेध क्रत्वर्थ है या पुरुषार्थ? इस निर्णयके लिये दूसरा भी विचार आवश्यक हुआ कि प्रतिषेध्य प्रवृत्ति किमर्थ है! अनृतवदनप्रवृत्ति किस प्रयोजनके लिये है, पहिले समझ लेना आवश्यक है क्योंकि जो यदर्थ प्रवृत्त होनेपर निवारित होता है—मना किया जाता है वह उसीके लिये निवारित होता है। किसके लिये हिंसामें प्रवृत्ति है, इसके निर्णयके लिये यह विचार आवश्यक है कि आख्यात लिङ्स्थानिक तकार कर्ताका वाचक है या नहीं? यदि वह कर्ताका वाचक है, तो प्रधान प्रत्ययसे कर्ताका अविधेय

होनेसे प्रवृत्तिके प्रयोजनकी आकांक्षामें प्रकरणका बाधकर आख्यातश्रुतिसे कर्ताके इष्टोपायार्थ प्रवृत्ति है, यह निर्णय होगा। यदि द्वितीयपक्षका आश्रयण है, तो प्रकरणका बाधक श्रुत्यादि नहीं है अर्थात् प्रवृत्तिके प्रति कर्ताके गुणभूत होनेसे प्रकरणसे प्रवृत्ति क्रत्वर्थ है, यह निर्णय होता है। यहाँ पूर्व पक्ष है—देवदत्तः किं करोतीति प्रश्ने पचति अर्थात् देवदत्त क्या करता है इस प्रश्नका उत्तर यह मिलता है कि वह पाक करता है। 'पचति' तकारस्थानिक आख्यातसे देवदत्तकी प्रतीति होती है। 'लः कर्मणि च' इत्यादि सूत्रसे चकारसे कर्ताका परामर्श कर कर्तामें लस्थानिक आख्यातका विधान होनेसे स्थानिवद्भावसे आख्यात कर्ताका वाचक है, इस पूर्व पक्षका सिद्धान्त किया है कि लकार कर्ताका वाचक नहीं है, किन्तु प्रधानी-भूत भावनाका वाचक है। 'प्रकृतिप्रत्ययौ सहार्थं ब्रूतस्तयोः प्रत्ययार्थः प्रधानम्' इस न्यायसे भी भावना ही अर्थ उचित है। वैयाकरण और मीमांसक दोनोंके मतमें भावनाविशेष्यक शाब्द बोध आख्यातान्त से होता है।

शङ्का—तो 'पचति' से कर्ताकी प्रतीति कैसे होगी?

उत्तर—भावना व्यापार है, यह बिना कर्ताके नहीं हो सकती, इसलिये भावनासे कर्ताका आक्षेपसे लाभ हो जायगा। 'अनन्यलभ्यो हि शब्दार्थः' यह न्याय है। इसका अर्थ यह है—जो अन्य उपायसे लभ्य न हो वही शब्दका अर्थ है। कर्ताके लाभका उपाय है, इसलिये वह आख्यातार्थ नहीं है और इसपर भी ध्यान देना चाहिये कि सूत्रमें चकारसे कर्ताका अनुकर्षण करनेपर भी उसमें आख्यातका विधान नहीं है, किन्तु 'द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने' इस सूत्रसे कर्तृगत एकत्वादिमें 'तिप्' आदिका विधान है, कर्तामें नहीं। जिस अर्थमें जिस प्रत्ययका विधान होता है वही अर्थ उस प्रत्ययसे उक्त होता है, अर्थान्तर नहीं।

शङ्का—यदि आख्यात कर्तामें न मानोगे, तो कर्ता अनुक्त है, इसलिये अनभिहित कर्तामें तृतीया होती है एतदर्थक 'अनभिहिते कर्तरि' इस सूत्रसे तृतीयावृत्ति होगी। ऐसी स्थितिमें 'देवदत्तेन पचति' यह प्रयोगापत्ति होने लगेगी। इस दोषके परिहारार्थ अभिधेयके स्थानमें गम्यमानका निवेशकर तद्गम्य-मानत्व ही तदुक्तत्व है। आख्यातसे भावना द्वारा कर्ता गम्य है, अतः उक्तदोष न होगा, यदि यह कहें, तो 'देवदत्तेन तण्डुलः पच्यते' यहाँ भी उक्तरीतिसे कर्ता गम्य-मान है। इसलिये तृतीया न होगी।

समाधान—यद्यपि भावनामें प्रत्यय करनेसे कर्ता अनभित है तथापि इतर कारकोंकी अपेक्षासे कर्ता ही प्रधान है, क्योंकि 'स्वतन्त्रः कर्ता' इस सूत्रसे स्वतन्त्र

व्यापारवान्को ही कर्ता कहते हैं। कारकचक्रप्रयोक्तृत्वरूप कर्तृत्वलक्षणसे भी यह प्रतीत होता है। कारकान्तर कर्तृव्यापाराधीन है। कर्ता स्वतन्त्र है—कारकान्तरानधीन है, इसलिये सबमें प्रधान कर्ता ही है। भावना कर्ताका व्यापार है, अतः प्रधानरूपसे कर्ता ही आख्यातद्योत्य है। 'अनभिहिते' इसका अधिकार करके कारकविभक्तियोंका विधान है। प्रधानरूपसे द्योतित अभिहित है। तदन्य अनभिहित है, इसीमें अनभिहिताधिकारका तात्पर्य है। 'पच्यते तण्डुलः' इत्यादिसे कर्ता प्रधानरूपसे द्योतित नहीं होता, किन्तु कर्मकी ही प्रधानरूपसे प्रतीति होती है। इसलिये उक्त प्रयोगमें तृतीयाप्राप्ति नहीं है। अनुपदोक्तमें तृतीयानुपपत्ति भी नहीं है, अतः अनृतवदन पुरुषार्थ नहीं है, किन्तु दर्शपूर्णमासप्रकरणपाठसे क्रत्वर्थ ही है, यह पूर्वमीमांसाका अतिसंक्षेप विचार है। इसी तरह 'न तौ पशौ करोति' इसका भी अर्थ समझ लेना चाहिये।

शङ्का—याग प्रकरणमें 'मा हिंस्यात्' का पाठ नहीं है, इसलिये अनृतवदननिषेधवत् हिंसाप्रतिषेध क्रत्वर्थ नहीं है, यह हमने मान लिया, फिर भी यह पुरुषार्थ है, यह कैसे सिद्ध होता है, क्योंकि इस वाक्यमें पुरुष तदर्थ कुछ भी नहीं है।

समाधान—'हिंस्यात्' इस वाक्यसे विधिसहित पुरुषव्यापारकी प्रतीति है। विधिविषय कौन है ? हिंसा तो हो नहीं सकती, कारण कि वह श्रेयःसाधन नहीं है, किन्तु पुरुषार्थको ही भाव्य मानना होगा। वह इष्टरूप श्रेयःसाधन है। क्षुन्निवृत्ति इष्ट है। उसका साधन भक्षण द्वारा हिंसा है, इसलिये पुरुषार्थके लिये प्रवृत्त पुरुष 'मा हिंस्यात्' इस निषेधवाक्यसे मना किया जाता है। 'यदर्थं प्रवर्तमानो निषिध्यते तदर्थो निषेधः' इस न्यायसे निषेध पुरुषार्थ है, क्रत्वर्थ नहीं, यह सिद्ध हुआ। निष्कर्ष 'मा हिंस्यात्' का यह हुआ कि जो पुरुषार्थहनन है, सो नहीं करना चाहिये।

शङ्का—क्रत्वर्थ-पुरुषार्थसाधारण दोनों हिंसाओंका अनुवाद कर निषेध करें, तो क्या आपत्ति है ? हिंसामात्र नहीं करनी चाहिये चाहे वह पुरुषार्थ हो या क्रत्वर्थ। यही 'मा हिंस्यात्सर्वा भूतानि' का अर्थ क्यों न हो।

समाधान - रागतः प्राप्त हिंसाविषयमें उक्त निषेधवाक्य चरितार्थ है, फिर क्रतुप्रकरणोपदिष्ट क्रत्वर्थहिंसामें अनुवादविषयत्व और निषेधविषयत्व माननेमें गौरव है और दोनोंके निषेधमें वाक्यभेद हो जायगा। एक ही वैदिक यह वाक्य है। इससे एक जातीय ही हिंसाका निषेध कर सकते हैं। उक्त युक्तिसे पुरुषार्थ ही हिंसाका यह निषेध है, यह निर्णय हो चुका। अब यदि क्रत्वर्थ हिंसाका

भी निषेध चाहते हो, तो उसके लिये अन्य निषेध वाक्य चाहिये। 'सकृदुक्तः सकृदेवार्थं गमयति' इस न्यायसे एक वाक्यसे दो अर्थोंका बोध नहीं होता, यह निश्चित है। जहाँ दो अर्थोंका बोध इष्ट होता है वहाँ वाक्यकी आवृत्ति की जाती है। परन्तु उसमें प्रमाण होना चाहिये। अतएव सोमेन यजेत' यहाँ मत्वर्थमें लक्षणा मानी गयी है, अन्यथा वाक्यभेद होगा। लक्षणासे भी वाक्यभेद दोष गुरु है। इसलिए लक्षणा मानी गई, वाक्यभेद नही, यह मीमांसामें स्पष्ट है। यहाँपर कोई विद्वान् उत्सर्गापवाद मानते हैं, उनका अभिप्राय यह है कि 'मा हिंस्याम्' यह निषेध क्रत्वर्थपुरुषार्थसाधारण हिंसामात्रका है, अतएव व्यापक विषय होनेसे उत्सर्ग है। 'अग्नीषोमीयम्' यह हिंसाविधायक वाक्य निषेधाप्राप्तियोग्यमें कहीं चारितार्थ नहीं है। अतः व्याप्यविषय होनेसे अपवाद है। उत्सर्ग और अपवादमें अपवाद बलवान् होता है, इसलिये उत्सर्गका बाधक होता है। उत्सर्गप्राप्तियोग्यमें अचरितार्थत्व ही अपवादकी बलवत्तामें प्रयोजक है। बाधका स्वरूप उत्सर्गशास्त्रीयोद्देश्यतावच्छेदकावच्छिन्नमें अपवादशास्त्रीयोद्देश्यतावच्छेदकावच्छिन्नातिरिक्तत्वेन संकोच है अर्थात् अग्नीषोमीयातिरिक्त पशुकी हिंसा पापजनक है, यह 'मा हिंस्यात्' इसका अर्थ है। और सुनिये, यागीय पशुहिंसामें उक्त वाक्यकी प्रवृत्ति नहीं होती, इसलिये यह हिंसा अनर्थकर नहीं है, अतएव 'आहवनीये जुहोति' 'पदे जुहोति' इन वाक्योंमें उत्सर्गापवादभाव मीमांसकोंने माना है। होममात्रमें आहवनीयसम्बन्ध 'आहवनीये जुहोति' से बोधित होता है। 'पदे जुहोति' 'स्कन्ने जुहोति' इत्यादि विशेष वाक्योंसे पदादिसम्बन्ध होममें कहा गया है, अतः आहवनीयाविषयमें कहीं अचरितार्थ पदादिवाक्य उक्तरीतिसे पदादिहोमातिरिक्त होमसम्बन्ध आहवनीयमें बोधन करते हैं। पदादि होमपद हीमें होता है, आहवनीयमें नहीं, सो ठीक नहीं है, कारण कि 'मा हिंस्यात्' यह वाक्य उक्त कारणोंसे रागतः प्राप्त भक्षणार्थस्वरूप पुरुषार्थ हिंसाविषयक है, क्रत्वर्थविषयक नहीं है। इसलिये उत्सर्गापवादकी यहाँ संभावना ही नहीं है। निषेधविषय पुरुषार्थ हिंसाविषय पशुव्यतिरिक्त क्रत्वर्थसाधन पशुमें अग्नीषोमीयादि वाक्य चरितार्थ है। कोई कहते हैं कि यह उत्सर्गापवाद है। देखिये—'मा हिंस्यात्' इस निषेधविधिका विषय हिंसामात्र है, जिसमें विहित क्रत्वर्थ हिंसा भी अन्तर्गत है। मरणफलक—मरणकारण पुरुषव्यापार हिंसा प्रसिद्ध है। तादृश हिंसात्वयागीय हिंसा में भी है।

शङ्का—यह तो ठीक नहीं है, कारण कि आख्याताभिहित भावनासे

आक्षिप्त जो कर्ता तच्छेशभूत हिंसा है वही हिंसा धातुसे प्रतीत होती है, क्रतु-प्रकरणाम्नात हिंसा नहीं, यह पूर्वमें कह चुके हैं।

समाधान—जरूर कहा है, पर ठीक नहीं कहा है।

प्रश्न—क्यों ?

उत्तर—उद्देश्य हिंसामें पुरुषार्थत्वादि विशेषण नहीं हो सकते। अन्यथा 'आहवनीये जुहोति' यहाँ भी आख्यातोक्त भावनाक्षिप्त कर्तासे होमका ही अनुवाद होगा, क्रत्वर्थ होमका नहीं, तो ज्योतिष्टोमक्रत्वर्थपदहोम उक्त विधिका विषय न होनेसे इन दोनोंमें मीमांसकाभिमत उत्सर्गापवाद ही न होगा।

शङ्का—उत्सर्गापवाद न होगा, तो दोष ही क्या है ? पदहोममें आहनीय संबन्धव्यावृत्ति उत्सर्गापवाद न्यायका फल है वह उपायान्तरसे भी हो गई, फिर उत्सर्गावपादभाव नहीं हुआ, तो कोई दोष नहीं है।

समाधान—दोष क्यों नहीं है ? क्रत्वर्थनारिष्ट होमादिका आहवनीयके साथ सम्बन्ध नहीं होगा। आहवनीयका केवल पुरुषार्थ होम ही के साथ सम्बन्ध मानते हैं।

उत्तर—अच्छा तो 'आहवनीये जुहोति' एतद्वाक्यघटक 'हु' धातुसे यावद् वचनबोधित होमका अनुवाद करते हैं, जिससे प्रत्यक्ष विधिबोधिनारिष्टानारिष्ट सकल होमका भी ग्रहण हो जायगा। वहाँ विशेष होम अनपेक्षित है। अतएव इसको उद्देश्य विशेषण माननेपर वाक्यभेद ध्रुव है, अतः पुरुषशेषत्व उद्देश्यमें विशेषण नहीं है। सकल होमका अनुवादक 'आहवनीये जुहोति' घटक 'हु' धातु है। प्रकृतमें 'नानृतं वदेत्' यह क्रत्वर्थ है, क्योंकि इसका दर्शपूर्णमासप्रकरणमें पाठ है और 'मा हिंस्यात्' यह किसी यागप्रकरणमें पठित नहीं है, तो भी यदि इससे लौकिक हिंसा और वैदिक हिंसा दोनोंका निषेध कीजियेगा, तो 'नानृतं वदेत्' इस वाक्यसे भी लौकिक अनृतवदनका क्रत्वर्थ अनृतवदनके साथ निषेध सिद्ध हो जायगा, जो इष्ट नहीं है। 'लौकिके वाक्ये पुरुषशेषत्वं वैदिके वाक्ये क्रतुशेषत्वम्' यह वाक्योंमें वैरूप्यापत्ति भी होगी। लोकानुसार ही वेदवाक्योंका अर्थबोध होता है। लौकिकार्थबोधशैलीका वेदमें त्याग नहीं है। 'मा हिंस्यात्' में लौकिक हिंसाका निषेध प्रतियोगितया ग्रहण है उत वैदिक हिंसाका ? इस शङ्कामें 'उपस्थितं परित्यज्य अनुपस्थितकल्पने मानाभावः' न्यायसे पुरुष विशेषणतया प्रतीयमान लौकिक हिंसा ही का ग्रहण होता है। अनुपस्थित क्रतुशेषभूत हिंसाका नहीं।

शङ्का—यह समाधान ठीक नहीं है। लौकिक-वैदिक उभयहिंसानिषेधमें

पुरुषार्थैकरूपत्व है। पापाजनकत्व दोनोंमें समान है। अग्नीषोमीय पशुहिंसा न करने से याग विगुण हो सकता है, पाप नहीं होगा। जो निषेध और निषेध्यका विषयैक्य कहा है, सो नियम नहीं है, स्त्रीगमन-मांसभक्षणादिका प्रतिषेध भी क्रत्वर्थ है। आपके कथित नियमसे तो इन कर्मोंमें लौकिक सुखार्थ ही प्रवृत्ति होती है, इसलिये इनका निषेध भी पुरुषार्थ ही होगा, क्रत्वर्थ नहीं। परन्तु वार्तिककारादिने इनका प्रतिषेध क्रत्वर्थ भी कहा है। 'स्त्र्युपायमांसभक्षादिपुरुषार्थोऽयमाश्रितः। प्रतिषेधः क्रतोरङ्गमिष्टः प्रकरणाश्रयात्॥' इसका अर्थ स्पष्ट है।

समाधान—अच्छा तो पुरुषार्थ भी क्रत्वर्थ होता है, इसलिये इस विषयमें 'यदर्थ निषेध्य है तदर्थ ही निषेध होता है' यह नियम छोड़ देते हैं, परन्तु यह क्रत्वर्थका निषेध क्रत्वर्थ ही होता है, इस अंशमें अभीतक व्यभिचारप्रदर्शन नहीं किया, इसलिये इस अंशको अब भी मानते हैं।

उत्तर—यह निर्युक्तिक है। 'यदर्थो निषेध्यस्तदर्थो निषेधः' यही सामान्य नियम आपके नियममें भी प्रयोजक है, इसका व्यभिचार स्त्रीगमनादिकमें दिखला चुके, तो फिर आपका इष्ट नियम भी कहाँ रहा? 'यो ब्राह्मणाय अवगुरेत्तं शतेन पातयेत्' इस वाक्यसे विहित लौकिक-वैदिकसाधारण अवगरणप्रतिषेध पुरुषार्थ माना जाता है, अन्यथा अनुष्ठानप्रतिबन्धक यागोपकरणमें पुरुषस्वातन्त्र्य-प्रसक्ति होगी।

शङ्का—क्रतुसम्बन्धी कार्यानुष्ठानार्थ भाषण यदि अनृत होगा, तो क्रतुमें वैगुण्य होगा और यदि क्रतुस्थित लौकिक कार्यार्थ भाषण करें और वह यदि अनृत हो जाय, तो क्रतुमें वैगुण्य नहीं होगा, किन्तु पुरुषको प्रत्यवाय होगा। अतः जबतक यज्ञमें यें स्थित रहें तबतक अनृतवदन न करे, यह कर्त्रधिकरणमें निर्णीत हो चुका है, सो उक्त नियम न माननेसे भङ्ग हो जायगा। नियमभङ्ग होनेपर जितने अनृतवदन हैं, चाहे—क्रत्वर्थ हों या पुरुषार्थ सबका निषेध क्रत्वर्थ ही हो जायगा।

समाधान—दर्शपूर्णमासप्रकरणमें 'नानृतं वदेत्' ऐसा पढ़ा गया है, इसका नञ्‌रहित वाक्य 'अनृतं वदेत्' यह हुआ। इसका अर्थ हुआ कि अनृत-वदनसे दर्शपूर्णमाससम्बन्धी उपकार करे, फिर 'नञ्' के साथ सम्बन्ध करनेसे अनृतवदनांश अनुवाद हो गया। अब विधि नहीं रहा। प्रथम अज्ञातज्ञापक उक्त वाक्य विधि था, पर द्वितीय बारके कथनसे उक्त अंश ज्ञातज्ञापक होनेसे अनुवाद हो गया। अतः नञ्‌घटित सम्पूर्ण वाक्यका यह अर्थ होता है कि अनृतवदनसे दर्शपूर्णमाससम्बन्धी जो उपकार करना था, सो न करो, इस प्रकार

उक्त वाक्यकी योजना वार्त्तिककारने बतलाई है, इस रीतिसे प्रकरणसामर्थ्यसे क्रत्वर्थानृतवदननिषेध ही क्रत्वर्थ है, इसका लाभ हो गया। अतएव तन्नियम-लाभार्थं क्त नियमकी आवश्यकता नहीं है।

शङ्का—प्रकरणाम्नात अनृतवदननिषेधवाक्यार्थकथनमें अनारभ्याधीत हिंसा निषेधवाक्यका क्रत्वर्थ हिंसा विषय नहीं है, किन्तु पुरुषार्थ हिंसामात्र पुरुषको हिंसासे जो उपकार करना था, सो न करे, यही अर्थ हुआ। हिंसासे पुरुषका उपकार है क्रतुका नहीं, क्योंकि उसके प्रकरणमें इसका पाठ नहीं है। अतः 'मा हिंस्यात्' 'अग्नीषोमीयम्' का उत्सर्गापवाद विषय नहीं हो सका। इसलिये तदर्थ आपका कथन यह कुटीप्रभातवत् है।

समाधान—क्रत्वर्थ हिंसासे भी पुरुषका उपकार अवश्य है। लौकिक हिंसा भक्षणार्थ होनेसे सद्यः साक्षात् उपकारक है। वैदिक हिंसा अदृष्ट द्वारा कालान्तरमें उपकारक है। भेद इतना है कि यह देरसे तथा परम्परया उपकारक है, इसलिये हिंसासे जो पुरुषका उपकार करना है, इसमेंसे लौकिक हिंसा और वैदिक हिंसा उपकारकल्प होनेसे दोनोंका संग्रह होता है साक्षात् अथवा क्रतूपकार द्वारा यथा कथञ्चित् पुरुषोपकारका अनुवाद्यकोटिमें प्रवेश है। अनृतवदन भी पुरुषार्थनिषेध क्रतूपकारक नहीं होता। यज्ञकर्ताका जब यज्ञाङ्ग द्रव्य कम हो गया, तो उसका सम्पादन करना आवश्यक है। उस समयके लिये द्रव्यार्जनोपाय जो बताये गये हैं सत्प्रतिपक्षादि, उन्हींके समान यह भी कहा गया है कि 'नानृतं वदेत्'। यदि कोई दाता द्रव्य देना चाहे, तो उससे उतना ही द्रव्य माँगना चाहिये, जितनेकी न्यूनता हो, अधिक नहीं, जैसा कि आजकल देखनेमें आता है। इस प्रकार अनृत-वदन भी पुरुषार्थसाधन द्वारा ही क्रतूपकारक है। इसी प्रकार पहले संकल्प किया कि व्रीहिसे यज्ञ करेंगे, पीछे देखा कि व्रीहि कम मिलेगा, इसलिये 'यवसे ही याग करें' यह संकल्प कर यवसंग्रहमें प्रवृत्त होनेपर 'नानृतं वदेत्' यह वचन प्रवृत्त होता है कि झूठ नहीं बोलना चाहिये। जो संकल्प किया, उसके अनुसार अनुष्ठान होना चाहिये, विपरीत नहीं, अतः यह निष्कर्ष निकला कि उद्देश्यकोटिमें भावना-क्षिप्त कर्तृविशेष पुरुषार्थहिंसा ही का ग्रहण है, वैदिक हिंसाका नहीं। इसलिये 'मा हिंस्यात्' का 'अग्नीषोमीयं पशुमालभेत' के साथ विरोध ही नहीं है। दोनों भिन्नविषयक हैं। निषेधवाक्य भोजनार्थ हिंसामें पापजनकत्वबोधन द्वारा पुरुषको उससे विलग करता है और अग्नीषोमीयवाक्य स्वर्गार्थी पुरुषको स्वर्गसाधनीभूत अग्नीषोमीय पशुहिंसामें पुण्यजनकत्वबोधनद्वारा स्वर्गसाधनीभूत उक्त हिंसामें

पुरुषको प्रवृत्त कराता है। इस प्रकारकी वचनव्यवस्था असङ्गत है। इसमें कारण कह चुके हैं कि नारिष्टहोमादिमें आवहनीयार्थत्वानुपपत्ति दोष होगा, अधिक विचार अन्यत्र देखिये।

शङ्का—निषेध्य और निषेध एकार्थक होते हैं, इस नियमका त्याग कर क्रत्वर्थपुरुषार्थसाधारणहिंसामात्रका 'मा हिंस्यात्' इस वाक्यसे निषेध होता है, ऐसा माननेसे सांख्य ही विजयी होंगे, क्योंकि वैदिक हिंसामें भी वे लोग अनर्थजनकत्व मानते हैं। यदि वह भी अनर्थजनक है, तो उसमें प्रवृत्ति कैसे होगी? कोई भी पुरुष जानकर अनर्थकर कार्य नहीं करता।

समाधान—यह शंका ही नहीं हो सकती।

प्रश्न—क्यों।

उत्तर—जिसमें दुःख थोड़ा हो और सुख अधिक हो, उस कार्यमें अधिक सुखलाभलोभसे पुरुष प्रवृत्त होते हैं, यह प्रसिद्ध है। 'कष्टं कर्म' इस न्यायसे न कर चुपचाप वैठे रहनेकी अपेक्षा कुछ करनेमें यानी शारीरक, वाचिक और मानसिक कोई भी व्यापार करनेमें कार्यानुसार कष्ट होता ही है। परन्तु सुखप्राप्तिके लिये लोग चाहे कितना भी कष्टकर कार्य क्यों न हो, पारलौकिक तथा ऐहिक कर्म करते ही हैं। कृच्छ्र चान्द्रायण, आजन्म ब्रह्मचर्य, जपशम-दमादि पारलौकिक कर्म तथा कृषि-व्यवसायार्थ अतिदूरदेशगमन एवं दूसरोंकी सेवादि लौकिक कार्य प्रसिद्ध ही है। तद्वत् स्वल्प दुःखद तथा भूरिसुखप्रद 'अग्नीषोमीयादि याग' में प्रवृत्ति क्यों न होगी? इसी प्रसङ्गमें आचार्य वाचस्पति मिश्रने कहा है कि 'मृष्यन्ते हि पुण्यसंभारोपनीतस्वर्गसुधामहाह्रदावगाहिनः कुशलः पापमात्रोपपादितां दुःखवह्निकणिकाम्' अर्थात् अग्नीषोमीयादि यागजन्य स्वर्गसुधानुभवके समय तदनुष्ठानसमयकृत पश्वादिहिंसाजन्य पापपरिपाकप्रभव दुःखलेश सहना ही पड़ता है। परन्तु सुखानुभवापेक्षया वह नगण्य है, इसलिये प्रवृत्तिमें बाधक नहीं है। जो उत्सर्गापवाद भावसे बाध्यबाधक भाव माना गया है, सो भी ठीक नहीं है, क्योंकि बाध्यबाधकभाव विरोध होनेपर ही होता है। यदि दोनोंमें विरोध ही नहीं है, तो वैदिक हिंसामें अनर्थजनकत्व और क्रतूपकारकत्व दोनों हैं, फिर उक्त न्यायसे 'मा हिंस्यात्' इस उत्सर्गका 'अग्नीषोमीयम्' इस अपवादसे बाध क्यों? यदि वैदिक हिंसामें 'मा हिंस्यात्' इस वाक्यकी प्रवृत्ति कराना इष्ट न हो, तो उक्त हिंसामें पुरुषार्थशेषत्व पहिले ही विशेषण दीजिये, भक्षणार्थ रागतः प्राप्त हिंसाके विषयमें सामान्यशास्त्र है, वैदिक हिंसा उक्तशास्त्रका विषय नहीं है। ऐसी

परिस्थितिमें उत्सर्गापवाद भावका सम्भव ही नहीं है। जहाँ अपवादशास्त्राधीन उत्सर्गशास्त्रकी विषयव्यवस्था होती है वहाँ उक्त न्याय होता है। यहाँ तो अपवादशास्त्र व्यापारके बिना ही प्रकारान्तरसे ही सामान्यशास्त्र लौकिक हिंसामें ही प्रवृत्त होता है, यह विषयव्यवस्था हुई है, अतः उत्सर्गापवादभाव नहीं है।

निषेध और निषेध्य एक ही विषयमें होते हैं, यह नियम मानकर पुरुषार्थ-हिंसाका ही सामान्यशास्त्रसे निषेध है, वैदिक हिंसाका नहीं, इसका समर्थन करने पर भी उत्सर्गापवाद न्याय दूर नहीं होता।

प्रश्न—क्यों।

उत्तर—बहुत हिंसाओंका परिहार करना आवश्यक है। देखिये—मरणान्त प्रायश्चित्त संग्रामाभिमुख हनन-चोर स्तेन-हननादि जो पुरुषार्थ हैं इनका भी परिहार करना इष्ट है। मरणान्त प्रायश्चित्तके विषयका उदाहरण यह है कि 'सुरापस्य ब्राह्मणस्य उष्णाप: सिञ्चेयुः सुरापास्ये मृतः शुध्येत्'। मद्यपी ब्राह्मणके मुखमें अतितप्त मद्यधारा छोड़े, जिससे वह मरकर शुद्ध हो जाय। यदि कोई ब्राह्मण मद्य पीकर शुद्ध होनेके लिये उक्त कर्म करे, तो उसको आत्मघातका पाप नहीं होता, कारण कि उसने धर्मशास्त्रोक्त शुद्धिके उपायका अनुष्ठान किया। इसलिये इस हिंसामें सामान्य उक्त शास्त्रकी प्रवृत्ति नहीं है एवं 'न दोषो हिंसायामाहवे' अर्थात् परस्पर ललकार कर प्रवृत्त हुए युद्धमें हिंसा दोष नहीं है तथा 'अदण्ड्यान्दण्डयन् राजा दण्ड्यांश्चैवाप्यदण्डयन्। अयशो महदाप्नोति नरकं चाधिगच्छति॥ 'स्तेनः प्रकीर्णकेशो मुसली राजानमीयात्कर्माचक्षाणः पूतो बन्धमोक्षाभ्यां घ्नन्नेव यशस्वी राजा।' हननयोग्यका हनन राजा न करे तो दोष है, हनन करे, तो दोष नहीं है, यह धर्मशास्त्रकी आज्ञा है। जिसका पालन अब भी होता है। समयभेदसे हननयोग्य निर्णयमें मतभेद है, परन्तु फाँसीकी सजा अब भी दी जाती है। फाँसी देनेवाला दोषी नहीं कहा जाता। इन सबका परिहार करना आवश्यक है, इसलिये पुरुषार्थहिंसानिषेधपक्षमें अनुपदिष्ट प्रायश्चित्तविहितहिंसातिरिक्तहिंसा-विषयमें सामान्यशास्त्र प्रवृत्त होता है, यह अवश्य ही मानना पड़ता है। और ऐसा ही वैदिक पशुहिंसाका भी उत्सर्गापवाद न्यायसे परिहार सिद्ध ही हो जाता है, फिर पूर्वमें ही पुरुषार्थहिंसाका ही सामान्यशास्त्र निषेध करता है, वैदिक हिंसा-का नहीं, यह कहनेका क्या प्रयोजन? अहिंसन् सर्वभूतानि अन्यत्र तीर्थेभ्यः' इस छान्दोग्योपनिषद्वाक्यसे हिंसानिषेधमें तीर्थपर्युदास स्फुट होनेसे हिंसानिषेध-विधानमें उत्सर्गापवाद न्यायका आश्रयण श्रुतिसंमत है। उपनिषद्गत तीर्थशब्दसे

अगर्हित हिंसाका पर्युदास विवक्षित है, अगर्हित वह हिंसा है, जिसमें प्रायश्चित्तका विधान नहीं है अथवा वेदविहित है। अतएव 'श्येनेनाभिचरन् यजेत' 'आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन्' इनसे विहित अभिचार आततायिवधमें प्रायश्चित्तका उपदेश है, अतः ये उपदिष्ट प्रायश्चित्त होनेसे पर्युदासकोटिमें नहीं हैं, अतः इनमें सामान्यशास्त्रकी प्रवृत्ति है। इससे वैदिक हिंसामें स्वल्प दोष है, यह माननेवाले सांख्य परास्त हुये। सांख्यमतका खण्डन करमें असमर्थ विद्वानोंने कहा है कि वैदिकी हिंसा हिंसा ही नहीं है, इसलिये सामान्यशास्त्रकी प्रवृत्ति नहीं होती। उनका मत यह है कि अनर्थप्रापक व्यापरवत्त्व हिंसाका लक्षण है अर्थात् जिस व्यापारसे हन्यमानको अनर्थप्राप्ति होती है वह हिंसा है। अग्नीषोमीयादि पशुको अनर्थप्राप्ति नहीं होती, किन्तु स्वर्गप्राप्ति होती है, इसलिये यागीय पशुहिंसा हिंसा नहीं है। मन्त्रलिङ्गसे—संज्ञपनमंत्रार्थसे पशुकी रक्षा ही प्रतीत होती है 'न वाडवेनम्म्रियसे न रिष्यसि देवाँ इदेषि पथिभिः सुगेभिः यत्र यन्ति सुकृतो नापि प्रकृतः तत्र त्वा देवः सविता दधातु' (हे पशो, तुम इस संज्ञपनव्यापारसे सर्वथा न मरोगे अतएव न विनाशी होगे, किन्तु सुख योग्य—सुखद मार्गसे देवलोकमें पहुँचोगे, जिस उत्तम लोकमें पुण्यवान् जाते हैं, पापी नहीं जाते, उस उत्तम लोकमें भगवान् सूर्य तुमको रखें)। इससे स्पष्ट है कि उत्तम लोकप्राप्ति पशुको होती है।

शङ्का—मन्त्रलिङ्गसे जो कुछ प्रतीत हो, यागीय पशुको दुःखप्राप्ति मारनेसे नहीं होती, यह कहना तो मिथ्या है, क्योंकि दुःखप्रद व्यापारके बिना मरण नहीं हो सकता।

समाधान—दुःखजनक व्यापार हिंसा नहीं है। रोगीके रक्षणार्थ शल्यव्यापार- नस्तर देना—दुःखजनक व्यापार है, परन्तु हिंसा नहीं है। नस्तर देनेका उद्देश्य रोगीको कष्ट पहुँचानेका नहीं है, किन्तु भावी भीषण कष्ट दूर करनेका है, जो तात्कालिक कष्टके बिना नहीं हो सकता, इसलिये भाविकष्टनिवृत्तिसाधक होनेसे तात्कालिक डाक्टरीका व्यापार होता है। वह हिंसा नहीं है। एवं सांसारिक कष्टनिवर्तक यागीय पशुसंज्ञपनव्यापार हिंसा नहीं है, किन्तु भावि-आनन्द प्रदानौपयिक व्यापार है। भेद इतना है कि डाक्टरके व्यापारसे इसी शरीरमें रोगीको सुखानुभव होता है, यागीय पशुको लोकान्तरमें शरीरान्तरसे होता है तथा यजमानको भी स्वर्ग होता है, यह डाक्टरकी फीस है।

शङ्का—अच्छा तो प्राणवियोगानुकूल व्यापारको हिंसा मानेंगे, डाक्टरका व्यापार उक्त रूप नहीं है और यागीय व्यापार उक्त रूप है।

समाधान—डाक्टरव्यापारसे भी कभी प्राणवियोग होता है, पर हिंसा नहीं मानी जाती, क्योंकि डाक्टरका उद्देश्य मारनेमें नहीं था, वह तो रोगका निराकरण कर दीर्घजीवी करनेमें था। पर अदृष्टवश विपरीत भी होता है। और जो प्राणवियोगानुकूल व्यापार नहीं है, उसमें भी हिंसाका प्रयोग होता है। सर्वस्वहरण नरकपीड़ामें भी हिंसाका प्रयोग होता है। ये प्राणवियोगानुकूल व्यापार नहीं हैं।

शङ्का—सर्वस्वहरणमें हिंसाका प्रयोग शास्त्रमें आता है, वृत्तिच्छेदो वधः स्मृतः इसके समान औपचारिक प्रयोग है।

समाधान—जब शास्त्रमें उक्तार्थमें हिंसाशब्दका प्रयोग पाया जाता है तब आपकी कल्पनाके विपरीत भी कह सकते हैं कि सर्वस्वहरणादिमें ही मुख्य प्रयोग है, प्राणवियोगानुकूल व्यापारमें औपचारिक है। विनिगमकविरहसे दोनोंमें समान प्रयोग है, अतः उक्त लक्षणमें अव्याप्ति दोष है, किन्तु पापजनक हिंसा प्राणवियोगानुकूल व्यापारत्व लौकिक हिंसाका लक्षण है। सर्वस्वहरण नरकादि साधारण अनर्थपर्यवसायि दुःखजनकव्यापारत्व है, प्रकृत यागीय हिंसामें अनर्थपर्यवसायित्व नहीं है, इसलिये यह हिंसा नहीं है। अतएव मनु भगवान्‌ने कहा है कि 'यज्ञार्थे पशवः सृष्टाः स्वयमेव स्वयंभुवा 'यज्ञोऽस्यभूत्यै सर्वस्य तस्माद्यज्ञे वोऽवधः' इस साधारण दृष्टिसे अनुवाद कर तात्त्विक शास्त्रदृष्टिसे वह अवध है। दुःखजनक व्यापार है, परन्तु अनर्थपर्यवसायी नहीं है। यजमान और पशु दोनोंको स्वर्ग होता है, अनर्थ किसीको नहीं होता।

प्रश्न—आपके मतमें उत्सर्गापवादभाव कैसे ?

उत्तर—सामान्यविषयमें अनवकाशशास्त्रसे विशेषशास्त्रविषयमें सावकाश सामान्यका बाध होता है। बाध विशेषशास्त्रविषयातिरिक्तका समान्यशास्त्र-विषयमें संकोच है। प्रवृत्तका निवर्त्तकत्वलक्षण बाध नहीं होता, अन्यथा शास्त्रमें अप्रमाण्यापत्ति प्रसङ्ग होगा और 'भुक्तवन्तं प्रति मा भुङ्क्ष्व' इस न्यायसे प्रवृत्त्युत्तर बाध व्यर्थ है। इन सबका निष्कर्ष यह हुआ कि 'मा हिंस्यात्' 'अग्नीषोमीयम्' इत्यादि विधि-निषेधशास्त्रोंमें उत्सर्गापवाद न्याय नहीं है। अतः प्रतिषेधजन्य दुःख तो है परन्तु वह स्वल्प है और यागजन्य जो सुख है वह अधिक है इसलिए यागमें प्रवृत्ति होती है।

युद्धं तु अग्नीषोमीयाद्यालम्भवद्विहितत्वान्न निषेधेन स्प्रष्टुं शक्यते षोडशिग्रहणादिवत्। ग्रहणाग्रहणयोस्तुल्यबलतया विकल्पवत्सोमान्यशास्त्रस्य विशेषशास्त्रेण संकोचसंभवात्। तथा च "विधिस्पृष्टे निषेधानवकाशः"

शङ्का—वेदान्तमतमें उत्सर्गापवाद न्याय है, इसलिये यागहिंसामें पाप नहीं होता। उत्सर्गशास्त्रमें अपवादातिरिक्त विषयकत्वका निवेश होता है। हिंसा प्राणवियोगानुकूल व्यापार ही है, सोमयागमें भी है। श्रीरामाजीयनुजीय मतमें यागहिंसा हिंसा ही नहीं है, इसलिये निषेधशास्त्रकी प्रवृत्ति नहीं होती, परन्तु यह मत प्रकारान्तरसे शाङ्कर मत ही है। संकोचोत्तर निष्कर्षका स्वीकार है। हिंसाका शास्त्रमें विधान नहीं है, किन्तु पिष्टपश्वादिका विधान है—इत्यादि अशास्त्रीय अर्थका निरूपण उपेक्ष्य है। इस तात्पर्यसे इसकी चर्चा ही हमने छोड़ दी है। प्रसङ्गानुप्रसङ्गविचारधारा बहुत दूरतक बह आयी। हम मूल स्थानसे बहुत दूर चले आये। शायद श्रोतृगण इतना सुननेमें समय न लगाना चाहते हों, अतः इस शुष्कविचारके पत्रेको उलटकर गीतार्थका अवलोकन करनेकी इच्छा रखते हो, तो यह लेख व्यर्थ होगा, इसलिये अब इसको यहीं हम समाप्त करते हैं और संक्षेपमें यह कह देना अनुचित न होगा कि यह दार्शनिक विचार है, इसमें न्याय-वेदान्त-मीमांसादिका श्रुति-स्मृति-तर्कानुकूल गवेषणापूर्ण विचार अतिविस्तृत है। दिग्दर्शन-मात्र इसमें किया गया है। अब हम प्रकृतमें आते हैं।] विधिप्रयुक्तमें निषेध-शास्त्रका प्रवेश नहीं होता है। 'अग्नीषोमीय' हिंसाके समान युद्धहिंसा विहित है, अतः पापजनक नहीं है। 'अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति' 'नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति' में जैसे विकल्प होता है अर्थात् ग्रहणाग्रहण दोनों शास्त्रविहित हैं, समान-बल विधिनिषेध है, अतः बाध्यबाधकभाव नहीं होता। अन्यथा एकतर वचन व्यर्थ हो जायगा, वैसे ही यहाँ विकल्प नहीं है, किन्तु उत्सर्गापवादन्यायसे बाध्यबाधक भाव है। उक्त न्यायसे दोनों शास्त्रोंकी विषयव्यवस्था होनेसे परस्पर विरोध का परिहार होता है। यागादि हिंसामें अनर्थजनकत्वकी भी व्यावृत्ति होती है यही 'विधिस्पृष्टे निषेधानवतारः' न्यायका फल है। युद्ध पापजनक नहीं है, यह निष्कर्ष हुआ।

शङ्का—यह तो शास्त्र और लोकव्यवहारसे सिद्ध है कि युद्धमें पाप नहीं है, परन्तु पूज्य भीष्म, द्रोणादि गुरु-ब्राह्मणवधनिमित्तक दोष तो होगा ही। युद्ध इनके साथ करना है, यही अनुचित है, फिर उसमें इनको मारना कहाँतक उचित हो सकता है।

इति न्यायाद्युद्धं न प्रत्यवायजनकम्, नापि भीष्मद्रोणादिगुरुब्राह्मणादिवध-निमित्तो दोषः' तेषामाततायित्वात् । तदुक्तं मनुना—

"गुरुं वा बालवृद्धौ वा ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम् ।
आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन् ॥
आततायिनमायान्तमपि वेदान्तपारगम् ।
जिघांसन्तं जिघांसीयान्न तेन ब्रह्महा भवेत् ॥
नाऽऽततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन " इत्यादि ॥

ननु—" स्मृत्योर्विरोधे न्यायस्तु बलवान्व्यवहारतः ।
अर्थशास्त्रात्तु बलवद्धर्मशास्त्रमिति स्थितिः " ॥

समाधान—ऐसा नहीं है, मनुने कहा है—'गुरुं वा बालवृद्धौ वा ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम् । आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन् ॥ आततायिनमायान्तमपि वेदाङ्गपारगम् । जिघांसन्तं जिघांसीयान्न तेन ब्रह्महा भवेत् ॥' इत्यादि । यहाँ स्पष्ट कहा गया है कि आततायीके वधमें दोष नहीं है । ये पूज्य हैं, गुरु हैं, ब्राह्मण हैं, इत्यादि विचारको छोड़कर देखते ही मार डालना चाहिये । इनके वधमें कोई दोष नहीं है ।

शङ्का—'स्मृत्योर्विरोधे न्यायस्तु बलवान् व्यवहारतः । अर्थशास्त्रात्तु बलवद्धर्म-शास्त्रमिति स्थितिः ॥' इस याज्ञवल्क्यश्लोकसे यह सिद्ध है कि स्मृतिके दो वचनोंमें विरोध आनेपर व्यवहारसे न्याय बलवान् है अर्थात् उन दोनों वचनोंकी विषय-व्यवस्था उत्सर्गापवाद न्यायसे करनी चाहिये, यह न्याय बलवान् है । बलवान् द्वाराकी गई व्यवस्थाको दोनों विरोधी मानते हैं, यह लोकमें दृष्ट है ।

शङ्का—[उत्सर्गापवाद न्यायको कैसे समझें ?

समाधान—वृद्धव्यवहारसे ।

शङ्का—अच्छा तो जहाँ अर्थशास्त्र और धर्मशास्त्रका परस्पर विरोध हो वहाँ कौन मानना चाहिये ?

समाधान—इन दोनोंके विरोधमें अर्थशास्त्रसे धर्मशास्त्र बलवान् है ।

शङ्का—दोनों वचन एक ही आचार्यके हैं, अतः स्वरूपगत श्रुति-स्मृतिके समान कोई विशेष नहीं है, फिर भी धर्मशास्त्र अर्थशास्त्रसे बलवान् क्यों ?*

---

* इसका उत्तर प्रथमाध्याके ३९ वें श्लोकमें विस्तारसे दिया गया है, वहीं देखिये ।

समाधान—स्वविषयके बलाबलसे स्वमें भी बलाबल होता है। अर्थकी अपेक्षा धर्म बलवान् है, इसलिये धर्म प्राबल्यसे तद्वचनमें प्राबल्य है, यह शास्त्रकी मर्यादा है, अतः धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्रके विरोधमें अर्थशास्त्रका बाध ही होता है। न तो विषयव्यवस्था होती है और न विकल्प ही होता है।

प्रश्न—इसमें उदाहरण क्या है ?

उत्तर—'गुरुं वा बालवृद्धं वा ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम्। आततायिनमायान्त हन्यादेवाविचारयन्॥ नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन। प्रच्छन्नं वा प्रकाशं वा मन्युस्तं मन्युमृच्छति॥' यह मनुस्मृति है तथा 'आततायिनमायान्तमपि वेदान्त-पारगम्। जिघांसन्तं जिघांसीयात् न तेन ब्रह्महा भवेत्॥' इत्यादि अर्थशास्त्र है। 'इयं विशुद्धिरुदिता प्रमाप्यकामतो द्विजं। कामतो ब्राह्मणवधे निष्कृतिर्न विधी-यते॥' इत्यादि धर्मशास्त्र है। पूर्व वाक्यसे यह कहा गया है कि यदि जान कर ब्राह्मणका वध करे, तो निष्कृति (तत्पापनिवृत्तिका उपाय नहीं है) अर्थात् ब्राह्मणके वधका पूरा पाप लगेगा, इसमें विरोध स्पष्ट है, इसलिये निर्णय आवश्यक है कि क्या कर्तव्य है ?

उत्तर—ये दोनों वचन एकविषयक नहीं हैं, अतः इनमें विरोध ही नहीं है, फिर बलाबलन्यायके विचारका अवसर कहाँ ? 'शस्त्रं द्विजातिभिर्ग्राह्यं धर्मो यत्रोपरुध्यते। यह मनुवचन है अर्थात् जहाँ धर्मका उपरोध हो यानी धर्म करनेमें रुकावट हो वहाँ द्विजातियोंको शस्त्रग्रहण करना चाहिये। विरोधियोंका विनाश कर धर्मका प्रचार करना चाहिये, इसके उपक्रममें 'आत्मनश्च परित्राणे दक्षिणानांच संगरे। स्त्रीविप्राभ्युपपत्तौ च घ्नन् धर्मे सो न दण्डभाक्॥' अर्थात् आत्मरक्षण, दक्षिणा, यज्ञसाधनसामग्रीकी रक्षामें, युद्धमें, स्त्री-ब्राह्मणकी हिंसामें आततायीको शस्त्रसे मारनेसे पुरुष दण्डभागी नहीं होता, यह कहकर [यह अर्थवाद स्तुति वाक्य है, कर्तव्यार्थबोधक नहीं है] 'गुरुं वा बालवृद्धौ वा' इत्यादिसे जो कहा है उस पर भी ध्यान देना चाहिये। अर्थात् जो सर्वदा अत्यन्त अवध्यगुर्वादि हैं उनका भी वध करे, यदि वे आततायी हों। दूसरे आततायीके वधमें तो सन्देह ही क्या है ? प्रथम मनुश्लोकमें 'वा' शब्द है और द्वितीय श्लोकमें 'अपि' है। इन दोनों शब्दोंके श्रवणसे यह स्पष्ट ज्ञान होता है कि ये आततायी होनेपर भी वध्य नहीं हैं, अतएव 'नाततायिवधे दोषोऽन्यत्र ब्राह्मणवधात्' इस सुमन्तुके वचनसे स्पष्ट अवध्योक्ति है। 'आचार्यं च प्रवक्तारं मातरं पितरं गुरुम्। न हिंस्याद् ब्राह्मणान् गांश्च सर्वांश्चैव तपस्विनः॥' यह मनुवचन है। आततायी

आचार्यादिकी हिंसाका प्रतिषेध करके ही यह वचन सार्थक होता है, अन्यथा नहीं। हिंसामात्रका प्रतिषेध तो 'मा हिंस्यात्' इत्यादि पूर्व वचनसे ही सिद्ध है, निषेध आततायिगुर्वादिपरक है।

शङ्का—'नाततायिवधे दोषः' इत्यादि वचन फिर क्यों ?

उत्तर—यह वचन ब्राह्मणादिव्यतिरिक्त आततायिवधपरक है। 'अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहः। क्षेत्रदारहरश्चैव षडेते ह्याततायिनः ॥' तथा 'उद्यतासिः विषाग्निश्च शापोद्यतकरस्तथा। आथर्वणेन हन्ता च पिशुनश्चापि राजनि ॥ भार्यातिक्रमकारी च रन्ध्रान्वेषणतत्परः। एवमाद्यान् विजानीयात्सर्वानेवाततायिनः ॥' इत्यादि वचनोंसे आततायिसामान्यका निर्देश किया है। ब्राह्मणव्यतिरिक्त आततायीका वध तो बिना विचारके करना चाहिये, इसमें सन्देह नहीं, पर ब्राह्मण और गुरुके आततायी होनेपर भी इनकी हिंसा ज्ञानपूर्वक नहीं करनी चाहिये। आत्मरक्षार्थ मारनेकी इच्छासे नहीं। यदि किसी उपायसे इनका वध हो जाय, तो 'नाततायिवधे दोषः' इत्यादि वचनोंसे उसका प्रायश्चित्त कम होता है, क्योंकि मारनेका उद्देश्य नहीं था। केवल आत्मपरित्राणार्थ उपायसे इनकी यदि मृत्यु हुई, तो राजदण्ड भी नहीं होगा, अतः यह अर्थशास्त्रसे धर्मशास्त्र बलवान् है, इसका उदाहरण नहीं हुआ। अच्छा तो उदाहरणान्तर सुनिये,—'हिरण्यभूमिलाभेभ्यो मित्रलब्धिर्वरा यतः। अतो यतेत तत्प्राप्तौ' इत्यादि अर्थशास्त्र है। 'धर्मशास्त्रानुसारेण क्रोधलोभविवर्जितः।' यह धर्मशास्त्र है। सुवर्णभूमिलाभसे भी मित्रलाभ उत्तम है, यह अर्थशास्त्रका अर्थ है। धर्मशास्त्रोपदेशानुसार क्रोध-लोभसे बचे रहना चाहिये, यह धर्मशास्त्रके वचनका भाव है। किसी विषयमें इन दोनोंका विरोध भी होता है। जैसे—व्यवहारमें दो अभियुक्त हैं, एककी विजयसे मित्रलाभ होता है, धनलाभ नहीं होता। दूसरेकी विजयसे धर्मका पालन होता है, पर मित्रलाभ नहीं होता, बल्कि शत्रुलाभ होता है। धनलाभसे भी मित्रलाभ उत्तम है, यह पूर्वमें कह चुके हैं। ऐसे अवसरमें किसकी विजय चाहे तथा उसके लिये उचित सहायता करे, इस संशयमें यह न्याय प्रवृत्त होता है कि 'अर्थशास्त्रसे धर्मशास्त्र बलवान् है' इसलिए धर्मप्राप्तिकी चेष्टा उचित है, अर्थप्राप्तिकी नहीं। अतएव धर्मार्थविरोधमें जो धर्मकी उपेक्षाकर अर्थग्रहणमें प्रवृत्त होता है वह धर्मशास्त्रबलवत्ताबोधक उक्त न्यायका अतिक्रम करता है इसलिये आपस्तम्बने उसके लिये बारह वर्षका प्रायश्चित्त कहा है। सारांश यह है कि आततायिब्राह्मणवधबोधक वाक्यमें 'वा' और 'अपि' ये दो शब्द हैं,

इति याज्ञवल्क्यवचनादाततायिब्राह्मणवधेऽस्त्येव। "ब्राह्मणं न हन्यात्" इति हि दृष्टप्रयोजनानपेक्षत्वाद्धर्मशास्त्रम्, " जिघांसन्तं जिघांसीयान्न तेन ब्रह्महा भवेत् " इति च स्वजीवनार्थत्वादर्थशास्त्रम्। अत्रोच्यते—ब्रह्मणे ब्राह्मणमालभेत " इतिवद्युद्धविधायकमपि धर्मशास्त्रमेव "सुखदुःखे समे कृत्वा "

जिससे उक्त वाक्य अर्थवाद प्रतीत होता है, विधि नहीं। अर्थवादवाक्यका स्वार्थमें परम तात्पर्य नहीं रहता, किन्तु विधेयार्थकी स्तुतिमें रहता है 'उत अपि वा' इत्यादि घटित वाक्य स्तावक होनेसे सम्भावितार्थक भी कहे जाते हैं। सम्भावितार्थका अनुष्ठान नहीं होता, यह धर्मशास्त्रकी मर्यादा है। सम्भावित अर्थ दो प्रकारके होते हैं—एक तो अशक्य और दूसरे गर्हितानुष्ठान। पहिला यह है —'अपि स्तुयाद्विष्णुं किं पुनर्देवदत्तम्'। किसीने कहा—यह देवदत्तकी स्तुति कर सकते हैं। दूसरेने कहा—अवाङ्मनसगोचर विष्णुकी स्तुति यह कर सकते हैं, देवदत्तकी स्तुतिमें क्या लाभ ? यहाँपर 'अपि स्तुयाद्विष्णुम्' यह सम्भावितार्थ वाक्य है, क्योंकि विष्णुकी स्तुति अशक्य है। इसमें कारण अवाङ्मनसगोचरत्व स्पष्ट कहा गया है, केवल स्तुति शक्तिके उत्कर्षबोधनके लिये 'अपि स्तुयाद्विष्णुम्' यह अपि घटित है। अन्यथा 'स्तुयाद्विष्णुम्' ऐसा ही वाक्य होता। दूसरा 'अपि वेदान्तपारगम्' है। इसका अनुष्ठान अशक्य नहीं है। उक्तको मार सकते हैं। पर धर्मशास्त्रसे निषिद्ध होनेसे गर्हित है। आततायी ब्राह्मणका वध धर्मशास्त्रमें विहित नहीं है, अतः यहाँ उत्सर्ग 'न ब्राह्मणं हन्यात्' का 'आततायिवधबोधक वाक्य अपवाद नहीं है , किन्तु विषयव्यवस्था है। ब्राह्मणव्यतिरिक्त आततायीके वधमें दोषशङ्का नहीं है, आततायी यदि ब्राह्मण, गुरु, आचार्य आदि हो, तो उसका वध न करना, यह मिताक्षरानुसारी धर्मशास्त्रकी व्यवस्था है।] इससे सिद्ध है कि आततायी ब्राह्मणके वधमें दोष तो है ही। 'ब्रह्मणं न हन्यात' यह दृष्ट प्रयोजन न होनेसे धर्मशास्त्र है तथा 'जिघांसन्तं जिघांसीयात' यह स्वजीवनार्थ होनेसे अर्थशास्त्र है। 'अत्रोच्यते' से इसका समाधान करते हैं। 'न ब्राह्मणं हन्यात्' यह निषेध उत्सर्ग है। इसका अपवाद है—'ब्रह्मणे ब्राह्मणमालभेत' ब्रह्माके लिये ब्राह्मणवध करना चाहिये, जैसे यह वाक्य है वैसे ही युद्धविधायक भी वाक्य धर्मशास्त्र ही है—'आहूतो न निवर्तेत द्यूतादपि रणादपि' इत्यादि। अतः पूर्वोत्तरवाक्यानुसार ब्रह्मदैवत्ययाग युद्धातिरिक्त स्थलमें ब्रह्मवध न करना, यह अर्थ निकलता है। इसलिये युद्धमें इसकी चिन्ता नहीं है। दृष्ट प्रयोजनकी

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं सङ्ग्रामं न करिष्यसि ।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि ॥ ३३ ॥

यदि तुम यह धर्मोपेत संग्राम न करोगे, तो फिर तुम अपने धर्म और कीर्तिका परित्याग कर यानी नाश कर पाप प्राप्त करोगे ॥ ३३ ॥

इत्यत्र दृष्टप्रयोजनानपेक्षत्वस्य वक्ष्यमाणत्वात्। याज्ञवल्क्यवचनं तु दृष्टप्रयोजनोद्देश्यककूटयुद्धादिकृतवधविषयमित्यदोषः । मिताक्षराकारस्तु 'धर्मार्थसंनिपातेऽर्थग्राहिण एतदेवेति द्वादशवार्षिकप्रायश्चित्तस्यैतच्छब्दपरामृष्टस्याऽऽपस्तम्बेन विधानान्मित्रलब्ध्याद्यर्थशास्त्रानुसारेण चतुष्पाद्व्यवहारे शत्रोरपि जये धर्मशास्त्रातिक्रमो न कर्तव्य इत्येतत्परं वचनमेतत्'इत्याह । भवत्वेवं न नो हानिः । तदेवं युद्धकरणे सुखोक्तेः "स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव" इत्यर्जुनोक्तमपाकृतम् ॥ ३२ ॥

ननु नाहं युद्धफलकामः " न काङ्क्षे विजयं कृष्ण" "अपि त्रैलोक्य-

---

अपेक्षा नहीं है इसका वर्णन 'सुखदुःखे समे कृत्वा' यहां पर आगे चलकर मिलेगा। 'स्मृत्योर्विरोधः' इत्यादि याज्ञवल्क्यका वचन दृष्टप्रयोजनके लिये है तथा कूट युद्ध—अन्याय युद्धके विषयमें है। भूमि आदि लाभके लिये तथा निरस्त्र अथवा धोखा देकर आततायी ब्राह्मणको भी नहीं मारना चाहिये, इस तात्पर्यसे है, सो प्रकृतमें नहीं है, अतः कुछ दोष नहीं है। मिताक्षराकारका अभिप्राय तो स्पष्ट कर चुके हैं कि धर्मार्थसन्निपातमें धर्मका अतिक्रमणकर अर्थग्रहणमें प्रवृत्त हुआ, 'एतच्छब्द' से उसका परामर्शकर द्वादशवार्षिक प्रायश्चित्तका अभिधान है। इस प्रकार आपस्तम्बवचनकी व्याख्याकर चतुष्पादव्यवहारमें भी शत्रुविजयके लिये धर्मशास्त्रका अतिक्रम नहीं करना चाहिये, यह स्पष्ट कहा है। एतदर्थ उक्त न्याय है। प्रकृतमें उसका सम्बन्ध नहीं है। उक्त रीतिसे ब्राह्मणालम्भनवचनवत् युद्धविधायक वचन भी प्रामाणिक है। इसलिए उसके अनुष्ठानमें कोई दोष नहीं है। अच्छा तो जो आप कहते हैं वही हो, इसमें हमारी हानि नहीं है। 'हे माधव, अपने आदमियोंको मारकर हम कैसे सुखी होंगे', यह अर्जुनकी शङ्का भगवान्ने निवृत्त कर दी। आत्मा मरता ही नहीं, उसके मरनेका ज्ञान ही भ्रम है। शरीर विनश्वर ही है, इसका शोक ही व्यर्थ है, यह तात्पर्य है ॥ ३२ ॥

शङ्का—ठीक है, उक्त विवेचनसे युद्धमें दोष नहीं है, फिर भी फलकामनासे

राज्यस्य" इत्युक्तत्वात्तत्कथं मया कर्तव्यमित्याशङ्क्याकरणे दोषमाह—'अथ चेत्त्व०' इति । अथेति पक्षान्तरे । इमं भीष्मद्रोणादिवीरपुरुषप्रतियोगिकं धर्म्यं हिंसादिदोषेणादुष्टं सतां धर्मादनपेतमिति वा । स च मनुना दर्शितः—

"न कूटैरायुधैर्हन्याद्युध्यमानो रणे रिपून् ।
न कर्णिभिर्नापि दिग्धैर्नाग्निज्वलिततेजनैः ॥
न च हन्यात्स्थलारूढं न क्लीबं न कृताञ्जलिम् ।
न मुक्तकेशं नाऽऽसीनं न तवास्मीतिवादिनम् ॥
न सुप्तं न विसन्नाहं न नग्नं न निरायुधम् ।
नायुध्यमानं पश्यन्तं न परेण समागतम् ॥
नाऽऽयुधव्यसनप्राप्तं नाऽऽर्तं नातिपरिक्षतम् ।
न भीतं न परावृत्तं सतां धर्ममनुस्मरन्" इति ॥

सतां धर्ममुल्लङ्घ्य युध्यमानो हि पापीयान्स्यात्, त्वं तु परैराहूतोऽपि सद्धर्मोपेतमपि सङ्ग्रामं युद्धं न करिष्यसि धर्मतो लोकतो वा भीतः

कर्म किया जाता है। जिनकी फलेच्छा नहीं होती, वे कर्म नहीं करते, 'अपि त्रैलोक्यराज्यस्य' इत्यादि वाक्योंसे आपके समक्ष यह निवेदन कर चुका हूँ कि न तो मैं विजय चाहता हूँ और न तीनों लोकोंका राज्य ही चाहता, किन्तु भिक्षावृत्तिद्वारा अपना जीवननिर्वाह करना चाहता हूँ, फिर मैं यह युद्ध क्यों करूँ ?

उत्तर—अब यदि तुम युद्ध न करोगे, तो तुमको पाप होगा, यह अर्जुनके प्रति भगवान् कहते हैं—'अथ' इत्यादिसे। यहाँ 'अथ' शब्द पक्षान्तरमें है। प्रत्यक्ष भीष्म-द्रोणादि महापराक्रमशाली पुरुषोंसे समवेत धर्मसंपृक्त यह युद्ध है। पूर्वोक्तरीतिसे यह निश्चय हो चुका है कि युद्धहिंसामें दोष नहीं है, अतः यह अदुष्ट है अथवा सबसे बड़े धर्मज्ञानी भीष्म हैं, उन्होंने इसका अनुसरण किया है, इसलिये सदाचारसे भी धर्माधर्मका ज्ञान होता है। तुम वस्तुतः जैसा समझते हो वैसा दोषपूर्ण यदि यह कार्य होता, तो भीष्म स्वयं करनेको प्रवृत्त न होते। कैसा युद्ध गर्हित है, इसको मनुभगवान्ने 'न कूटैरायुधैर्हन्याद्' इत्यादि श्लोकोंसे स्पष्ट कहा है। 'सतां धर्ममनुस्मरन्' इस मनुवाक्यसे धर्मका उल्लंघन कर जो युद्ध करता है, सो अधिक पापी है। तुमको तो युद्धके लिये शत्रुओंने ललकारा है। तब तुम इस युद्धमें आये हो, अतः धर्मसंपृक्त भी यदि यह संग्राम न करोगे, धर्मसे या लोकसे

परावृत्तो भविष्यसि चेत्ततो "निर्जित्य परसैन्यानि क्षितिं धर्मेण पालयेत्" इत्यादिशास्त्रविहितस्य युद्धस्याकरणात्स्वधर्मं हित्वाऽननुष्ठाय कीर्तिं च महादेवादिसमागमनिमित्तां हित्वा "न निवर्तेत सङ्ग्रामात्" इत्यादि शास्त्रनिषिद्धसङ्ग्रामनिवृत्त्या च रणजन्यं पापमेव केवलमवाप्स्यसि न तु धर्मं कीर्तिं चेत्यभिप्रायः। अथवाऽनेकजन्मार्जितधर्मं त्यक्त्वा राजकृतं पापमेवावाप्स्यसीत्यर्थः। यस्मात्त्वां परावृत्तमेते दुष्टा अवश्यं हनिष्यन्ति अतः परावृत्तहतः संश्चिरोपार्जितनिजसुकृतपरित्यागेन परोपार्जितदुष्कृत मात्रभाङ्मा भूरित्यभिप्रायः। तथा च मनुः—

"यस्तु भीतः परावृत्तः सङ्ग्रामे हन्यते परैः।
भर्तुर्यद्दुष्कृतं किंचित्तत्सर्वं प्रतिपद्यते॥
यच्चास्य सुकृतं किंचिदमुत्रार्थमुपार्जितम्।
भर्ता तत्सर्वमादत्ते परावृत्तहतस्य तु" इति॥

डरकर यानी धर्मनाशकी आशङ्कासे या भीष्मादि लोकके नाशसे भीरु होकर युद्धसे लौटोगे, तो 'निर्जित्य' इत्यादि शास्त्रविहित युद्ध न करनेसे स्वधर्मका अनुष्ठान न कर तथा महादेवादिसमागम निमित्त कीर्तिका परित्याग कर 'न निवर्तेत संग्रामाद्' इत्यादि शास्त्रनिषिद्ध संग्रामनिवृत्तिसे जन्य केवल पाप ही पावोगे। धर्म और कीर्ति तुम्हें न मिलेगी, अर्थात् स्वाश्रमविहित धर्मके अनुष्ठानाभावसे पाप होना निश्चित है। धर्म तथा कीर्ति मिलनेकी तो आशा ही नहीं है, यह अभिप्राय है। अथवा अनेक जन्मोंसे अर्जित जो पुण्य है उसका त्यागकर राजकृत जो पाप है वही पावोगे, यह अभिप्राय है। यदि तुम युद्धसे हटोगे, तो हटते समय तुम्हें ये दुष्ट अवश्य मारेंगे। इनको पापका भय तो है नहीं। भय है तुम्हें, तुम हटोगे, तो अवसर पाकर धर्माधर्मका विचार न कर तुम्हें अवश्य मारेंगे, अतः लौटकर सुरक्षित रहनेपर भी अनन्त कालके अति परिश्रमसे संचित जो सुकृत हैं, उनका त्याग हो जायगा और राजकृत जो दुष्कृत हैं, वे अनायास मिल जायँगे, इष्टवियोग और अनिष्टसंयोग अवश्य होंगे, उसका भागी मत बनो, यह अभिप्राय है।

शंका—मेरे सुकृत निवृत्त होंगे और राजकृत पाप मुझको प्राप्त होंगे, ऐसा क्यों?

समाधान—इसमें प्रमाणभूत 'यस्तु भीतः परावृतः' इत्यादि मनु वचन देखो। इसमें साफ है कि जो डरकर संग्रामसे पराङ्मुख होता है और शत्रुओंसे मार खाता

अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम् ।
संभावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते ॥ ३४ ॥

और देवता तथा मनुष्य आदि सबके सब तुम्हारी अकीर्तिका वर्णन करते रहेंगे अर्थात् 'यह अर्जुन धर्मात्मा नहीं है, वीर नहीं है' इस तरह आपसमें कहते रहेंगे। और सम्भावित पुरुषको अकीर्ति मरणसे भी बढ़कर है ॥ ३४ ॥

याज्ञवल्क्योऽपि " राजा सुकृतमादत्ते हतानां विपलायिनाम् " इति । तेन यदुक्तं—

"पापमेवाश्रयेदस्मान्हत्वैतानाततायिनः ।
एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन "

इति तन्निराकृतं भवति ॥ ३३ ॥

एवं कीर्तिधर्मयोरिष्टयोरप्राप्तिरनिष्टस्य च पापस्य प्राप्तिर्युद्धपरित्यागे

है वह स्वामीका जो कुछ पाप होता है उन सबका भागी होता है और भागनेवालेका जो उसका जन्मान्तरार्जित पुण्य रहता है उन सबको उसका स्वामी पाता है, यह उचित ही है । [अन्यथा योद्धा राजकीय सेनामें भर्ती होकर अन्य दिनोंमें आराम कर युद्धमें उपस्थित होनेपर भागना आरम्भ कर देंगे, इस भगदड़को रोकनेके लिये नैतिक बलसे पूर्वमें ही रोके जाते हैं । यदि सैनिक युद्धसे भागें, तो उनका सम्पूर्ण पुण्य स्वामिगामी हो जायगा । केवल यही आपत्ति नहीं है, किन्तु स्वामिकृत सकल पापोंका भोक्ता भी होना होगा । यह समझनेपर ही लोग संग्राममें दृढ़ रहेंगे, इसलिये संसारस्थितिके अनुकूल ही यह नियम है ।] याज्ञवल्क्यकी भी कुछ अंशमें स्पष्ट सम्मति है । देखो—'राजा सुकृतमादत्ते' इत्यादि । [इससे यह निर्णय करना अनुचित नहीं है कि यह मनूक्तार्थका अवयुत्या अनुवाद है, दोनोंका प्रयोजन एक है । यदि अन्यदीय पुण्यका अन्यमें संश्लेष होता है, तो वैसे ही पापका भी संश्लेष हो सकता है । इसमें कोई आपत्ति नहीं है । युद्धसे भागनेवाले राजाके पापके भागी होते हैं, इसका निषेध याज्ञवल्क्यजीने नहीं किया है । अतः 'अप्रतिषिद्धमनुमतं भवति' इस न्यायसे मनूक्त सर्वांशमें याज्ञवल्क्यकी भी सम्मति है ।] इस भगवदुपदेशसे अर्जुनने 'पापमेवाश्रयेदस्मान्हत्वैतानाततायिनः' 'एतान्न हन्तुमिच्छामि' इत्यादि जो कहा था उन सबका खण्डन हो गया ॥ ३३ ॥

इस प्रकार इष्ट—कीर्ति और धर्म इन दोनोंकी अप्राप्ति तथा अनिष्ट—पापकी

दर्शिता। तत्र पापाख्यमनिष्टं व्यवधानेन दुःखफलदमामुत्रिकत्वात्, शिष्टगर्हालक्षणं त्वनिष्टमासन्नफलदमत्यसह्यमित्याह—'अकीर्तिम्' इति।

भूतानि देवर्षिमनुष्यादीनि ते तवाव्ययां दीर्घकालमकीर्तिं न धर्मात्माऽयं न शूरोऽयमित्येवंरूपां कथयिष्यन्त्यन्योन्यं कथाप्रसङ्गे। कीर्तिधर्मनाशसमुच्चयार्थौ निपातौ। न केवलं कीर्तिधर्मौ हित्वा पापं प्राप्स्यसि अपि तु अकीर्तिं च प्राप्स्यसि। न केवलं त्वमेव तां प्राप्स्यसि अपि तु भूतान्यपि कथयिष्यन्तीति वा निपातयोरर्थः। ननु युद्धे स्वमरणसंदेहात्तत्परिहारार्थमकीर्तिरपि सोढव्या, आत्मरक्षणस्यात्यन्तापेक्षितत्वात्। तथा चोक्तं

प्राप्ति युद्धके परित्यागमें भगवान्ने दिखलाई। इसमें अनिष्ट—पाप पारलौकिक है, इसलिये देशान्तर तथा कालान्तरमें वह फल देगा। अतः इसका फल देश-कालादिसे व्यवहृत होनेसे तत्काल चित्तपरितापक नहीं है। शिष्टगर्हालक्षण प्रतिष्ठित पुरुषोंसे जो अधिक्षेप होगा, सो अतिसंनिहित और बहुत असह्य होगा। देवर्षिनारदादि मनुष्य प्रसिद्ध ही हैं। ये लोग बहुत दिनोंतक तुम्हारी अकीर्ति कहेंगे कि न तो यह धर्मात्मा है और न शूरवीर ही है। इत्यादिरूप अकीर्ति कहेंगे ही। परस्पर बातचीतके प्रसंगमें तुम्हारा अपयश ही मुख्य विषय हो जायगा। नवीन अद्भुत विषयकी प्रायः सर्वत्र चर्चा होती ही है। सबसे नवीन अद्भुत युद्धसे तुम्हारा पलायन होगा, जो कि स्वप्नमें भी किसीके मनोगोचर न था। 'अपि' और 'च'—ये दोनों निपात कीर्ति और धर्म इन दोनोंके नाशके समुच्चायक हैं। धर्मनाशके साथ कीर्तिनाश भी होगा। केवल कीर्त्ति और धर्मका त्याग ही नहीं होगा, अपितु अकीर्त्ति भी प्राप्त होगी। [अप्रकाशरूपसे ये अनिष्ट तुमको न मिलेंगे, किन्तु प्रकाशरूपसे प्राप्त होंगे। इसको स्फुट कहते हैं—'भूतानि' से।] अथवा केवल तुम्हीं अकीर्ति प्राप्त करोगे, ऐसी बात नहीं है, किन्तु सब लोग भी कहेंगे—यह जनता भी कहेगी। पक्षान्तरमें उक्त निपातद्वयका अर्थ है।

प्रश्न—युद्धमें मरणकी संभावना रहती है, अतः उसके परिहारके लिये अकीर्ति सोढव्य है, क्योंकि 'आत्मानं सततं रक्षेद्दारैरपि धनैरपि' इत्यादि वाक्यसे आत्मरक्षण अत्यन्त अपेक्षित है। ['गुणोंका ग्रहण और दोषोंका परिहार' सब कुछ आत्मार्थ ही है। प्रधानीभूत आत्माकी रक्षा यदि कीर्ति और धर्मके नाशसे भी हो, तो कर्तव्य है। 'जीवन् नरो भद्रशतानि भुङ्क्ते' इस न्यायसे रक्षित आत्मा कालान्तर तथा देशान्तरमें पुनः कीर्ति और धर्मका लाभ कर सकता है। अतएव

शान्तिपर्वणि—

"साम्ना दानेन भेदेन समस्तैरुत वा पृथक् ।
विजेतुं प्रयतेतारीन्न युद्ध्येत कदाचन ॥
अनित्यो विजयो यस्माद्दृश्यते युध्यमानयोः ।
पराजयश्च सङ्ग्रामे तस्माद्युद्धं विवर्जयेत् ॥
त्रयाणामप्युपायानां पूर्वोक्तानामसंभवे ।
तथा युद्ध्येत संपत्तौ विजयेत रिपून्यथा" इति ॥

एवमेव मनुनाऽप्युक्तम् । तथा च मरणभीतस्य किमकीर्तिदुःखमिति

'गुणप्रधानयोर्विरोधे गुणेत्वन्याय कल्पना' यह शास्त्रका निष्कर्ष है। सारांश यह कि गुण और प्रधान दोनोंकी रक्षा न हो सके, तो प्रधानकी ही रक्षा करनी चाहिये। गुणरक्षासे प्रधानकी उपेक्षा उचित नहीं है।] अतएव शान्तिपर्वमें लिखा है— 'साम्ना दानेन भेदेन' इत्यादि। साम, दान, भेद और दण्ड अर्थ साधनके ये चार उपाय शास्त्रमें कहे गये हैं। पूर्व-पूर्वके विफल होनेपर उत्तरोत्तरका आश्रयण कहा गया है। सर्वप्रथम साम है। शान्तिसे जो कार्य हो सके, तो उसके लिये उपायान्तरका प्रयोग नहीं करना चाहिये। सामसे न हो, तो दानसे। इससे भी न हो, तो भेदसे, उससे भी न हो अर्थात् एकैक उपायसे न हो, तो तीनोंका साथ ही प्रयोग करना चाहिये। युद्धसे शत्रुपर विजयका प्रयास करना उचित नहीं है।

[प्रश्न—क्यों ?

उत्तर—युद्ध करनेवालोंमें किसकी विजय होगी, यह निश्चित नहीं रहती। जय तथा पराजय दोनों अनियत हैं, यह भी देखनेमें आता है कि युद्धमें जिसकी विजय समझी जाती है, उसकी पराजय हो जाती है और जिसकी पराजय निश्चित रहती है उसीकी विजय हो जाती है। इसलिये ये दोनों युद्धमें अनियत रहते हैं। इसलिये विचारशीलोंका यही कथन है कि जहाँ तक हो सके, सामादि प्रयोगसे ही शत्रुपर विजय प्राप्त करनी चाहिये, युद्धसे नहीं।

प्रश्न—तो फिर युद्धका बिधान क्यों है ?

उत्तर—यदि पूर्वोक्त उपायोंसे शत्रुपर विजय न हो सके, तो अन्तिम उपाय युद्ध है, किन्तु अनुकूल समय देखकर यानी अपनी साधनसामग्रीको शत्रुकी सामग्रीसे विशिष्ट देखकर ऐसा युद्ध करे, जिससे शत्रुपर विजय अवश्य ही कर सके।] इसी प्रकार भगवान् मनुने भी कहा है। युद्धसे हटने पर अकीर्ति दोष

शङ्कामपनुदति—संभावितस्य धर्मात्मा शूर इत्येवमादिभिरनन्यलभ्यैर्गुणैर्बहुमतस्य जनस्याकीर्तिर्मरणादप्यतिरिच्यतेऽधिका भवति । चो हेतौ । एवं यस्मादतोऽकीर्तेर्मरणमेव वरं न्यूनत्वात् । त्वमप्यतिसंभावितोऽसि महादेवादिसमागमेन । अतो नाकीर्तिदुःखं सोढुं शक्ष्यसीत्यभिप्रायः । उदाहृतवचनं त्वर्थशास्त्रत्वात् "न निवर्तेत सङ्ग्रामात्" इत्यादिधर्मशास्त्राद्दुर्बलमिति भावः ॥ ३४ ॥

आप कहते हैं, युद्धमें लगनेसे मरणका सन्देह है। मरणत्राससे भीरुको अकीर्त्तिलाभ कोई दोष ही नहीं है। कीर्त्ति हो, अकीर्त्ति जीवन रहना चाहिये, इस शङ्काका निवारण करते हैं—'संभावितस्य' इत्यादिसे। पुरुषान्तरके जो दुष्प्राप्य गुण हैं यानी यह धर्मात्मा है, शूर-वीर है पराक्रमशाली है, इत्यादि जो गुण हैं इनसे सम्भावित जो पुरुष है उसकी समयपर सब गुण नहीं हैं। इसमें पूर्वगुणोंसे विपरीत कायरता आदि दुर्गुण हैं। इस प्रकारकी अकीर्ति मरणसे भी अधिक दुःखद है। यद्यपि सब दुःखोंसे बड़ा दुःख मरण है, पर उससे भी यह दुःख असह्य है। 'च' हेतुमें है। चूँकि बात ऐसी है, इसलिए अकीर्तिसे मरण ही अच्छा है, क्योंकि इसमें कम दुःख है।

शङ्का—हाँ, सम्भावित पुरुषके किये तो आपका यह उपदेश बहुत ठीक है। लेकिन भीष्म-द्रोणादिके सामने मैं सम्भावित कैसे ?

समाधान—यह भी लोग जानते हैं कि तुमने संग्राममें विशेषप्रकर्षलाभके लिये गुह्यक पर्वतपर जगत्संहारैकलील भगवान् भूतभावन करुणाकर श्रीशङ्करजीकी उग्र तपस्याकर उनका साक्षात्कार किया है। भगवान् शङ्करके पूछनेपर कि तुम क्या चाहते हो ? इसके उत्तरमें तुमने कहा था—'भारतमें विजयलाभ करूँ इसके योग्य अस्त्र चाहता हूँ तथा हम लोगोंकी आप रक्षा करें, इत्यादि चाहता हूँ तथा जो कुछ विजय करनेमें आवश्यक हो, सो कृपया आप दें, यही चाहता हूँ। भगवान् शङ्करने कहा—यह काम तुमसे न होगा। इसके लिये हम समरमें आकर तुम्हारी इष्टसिद्धि करेंगे। इन अपराजित अस्त्रोंको लो, नाम तुम्हारा ही होगा। मैं अदृश्य होकर तुम्हारा काम करूँगा। तुम मुझे देख सकोगे। इन सब कारणोंसे तुम भी अति सम्भावित ही हो। अतः युद्धसे भागनेपर तुम्हारी अकीर्ति मरणसे भी जघन्य होगी, जिस अकीर्तिको तुम सह न सकोगे। 'न युद्ध्येन कदाचन' यह उदाहृत वचन अर्थशास्त्र होनेसे 'न निवर्तेत संग्रामात्' इत्यादि धर्मशास्त्रसे दुर्बल है, अतएव

भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः ।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम् ॥३५॥

जो महारथ भीष्मपितामह आदि तुम्हें गुणी समझकर आदरकी दृष्टिसे देखते हैं वे ही लोग डरकर युद्धसे भगेड़ू तुम्हें समझेंगे। अतः युद्धसे उपरत होकर तुम लघुताको प्राप्त होओगे सब जगह तुम्हारा अनादर होने लगेगा ॥ ३५ ॥

ननूदासीना जना मां निन्दन्तु नाम भीष्मद्रोणादयस्तु महारथाः कारुणिकत्वेन स्तोष्यन्ति मामित्यत आह—'भयाद्रणा०' इति।

कर्णादिभ्यो भयाद्युद्धान्निवृत्तं न कृपयेति त्वां मंस्यन्ते भीष्मद्रोणदुर्यो-

तद्बाध्य है। धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्रके परस्पर विरोधमें धर्मशास्त्र बलवान् है, इसकी व्यवस्था पूर्वमें हो चुकी है, अतः सम्प्रति युद्ध करना ही श्रेय है, यह अभिप्राय है ॥ ३४ ॥

जिनका युद्धसे विशेष सम्बन्ध नहीं है, किन्तु इसमें उदासीन हैं वे हमारी निन्दा अवश्य करेंगे, किन्तु महारथ भीष्मपितामह आदि महापुरुष तो, जो मेरे धार्मिक विचारोंसे परिचित हैं, करुणासे अर्जुन युद्धविरत हुये. हम लोगोंकी हिंसा उनको सह्य न हुई—इस प्रकार मेरी स्तुति ही करेंगे। बड़े पुरुषोंकी स्तुति-निन्दा उपादेय-हेय है। इतर जो निन्दाप्रिय हैं, वे तो उचित कार्य करनेपर भी आरोपित दोषसे निन्दा करते ही हैं 'परानेकः करमर्पयिष्यति' इस न्यायसे उनका मुँह बन्द करना तो असम्भव ही है, इसपर कहते हैं—'भयाद्रणा०' इत्यादिसे।

उत्तर—भीष्मपितामहादि महापुरुष भी यही कहेंगे कि अर्जुन युद्धमें कर्णसे डर कर वहाँसे भाग गया, न कि हम लोगोंके ऊपर दया आ जानेसे, [क्योंकि कर्ण कुन्तीसे यह कह चुका है कि हम युधिष्ठिरादि चारोंको नहीं मारेंगे, हमारा लक्ष्य अर्जुन ही है। तुम्हारे पाँचों पुत्रोंकी रक्षा अर्जुनके मारनेपर भी रहेगी, पाँचवाँ मैं रहूँगा। दुर्योधनादिको भी यह विश्वास था कि कर्ण ही अर्जुन पर विजय कर सकता है, दूसरा नहीं। अर्जुनादिने द्रोणाचार्यसे अस्त्रविद्या पायी थी और कर्णने द्रोणाचार्यके गुरु श्री परशुराम भगवान्से विधिवत् अस्त्रविद्या ग्रहण की थी। इस कारण गुरुता विशेष कर्णमें विद्यमान है। इसलिए तुम्हारी दयालुतापर दृष्टिपात न कर भीरुता ही को देखेंगे। करुणबुद्धि तो युद्धस्थलागमनसे पूर्वमें भी हो सकती थी, किन्तु सैन्यावलोकनानन्तर निवृत्तिमें कारणत्वजिज्ञासासे भय ही प्रथम उपस्थित होगा।]

अवाच्यवादांश्च बहून्वदिष्यन्ति तवाहिताः ॥
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम् ॥३६॥

तुम्हारे शत्रु सब तुम्हारी सामर्थ्यकी निन्दा करते हुए बहुत कुवाच्य बोलियाँ बोलेंगे। तब तुम्हारे लिए उससे बढ़कर और भला दुःख ही क्या होगा ॥३६॥

धनादयो महारथाः। ननु ते मां बहु मन्यमानाः कथं भीतं मंस्यन्त इत्यत आह—येषामेव भीष्मादीनां त्वं बहुमतो बहुभिर्गुणैर्युक्तोऽयमर्जुन इत्येवं मतस्त एव त्वां महारथा भयादुपरतं मंस्यन्त इत्यन्वयः। अतो भूत्वा युद्धादुपरत इति शेषः। लाघवमनादरविषयत्वं यास्यसि प्राप्स्यसि। सर्वेषामिति शेषः। येषामेव त्वं प्राग्बहुमतोऽभूस्तेषामेव तादृशो भूत्वा लाघवं यास्यसीति वा ॥ ३५ ॥

शङ्का—साधारण पुरुषोंके मनमें भय ही प्रथम उपस्थित होगा, यह सही है, पर भीष्मादि हमको बहुत मानते हैं, इसलिये युद्धमें भीरु मुझे कदापि न मानेंगे।

उत्तर—हाँ, भीष्मादि ही, जो युद्धसे पूर्व तुमको बहुत मानते थे—सौर्यतेजः प्रभादिगुणसम्पन्न मानते थे, वे ही युद्धका भगेड़ू तुम्हें मानेंगे ? 'बहुमतो भूत्वा लाघवं यास्यसि' इस वाक्यके मध्यमें कुछ और शब्दोंकी आवश्यकता है। अन्यथा बहुमत होकर लघु होंगे क्यों ? इस आकांक्षाकी शान्ति नहीं होती। इसलिये मध्यमें युद्धादुपरतः' इसका सम्बन्ध करते हैं। पूर्वमें उनको बहुमत होकर युद्धसे उपरत होकर लघु होगे, इस प्रकार लाघवका हेतु युद्धोपरति कही गई है। लाघवसे अनादरकी सूचना है। केवल भीष्मादिके ही अनादर भाजन न बनोगे, किन्तु सबके अनादर भाजन बनोगे। सब लोग यही समझेंगे कि यह चंचापुरुषके समान निर्वीर्य है। अथवा लाघव और गौरवमें भीष्मादिका ही सम्बन्ध विवक्षित नहीं है, किन्तु सर्वसाधारणका। इस अभिप्रायसे जिनको युद्धसे पूर्व बहुमत समादृत थे, युद्धसे उपरत होकर उन सबके अनादरभाजन बनोगे। 'वा' शब्दसे यह सामान्यार्थ सूचित है। [महाभारतमें विजयलाभके लिये युधिष्ठिरादि चारों भाइओंसे शस्त्रादिग्रहणार्थ कायक्लेशसहन आदि कर्म प्रधानतः अधिक अर्जुनने ही किया था, इसलिये अधिकप्रभावशाली होनेसे सबके आदरपात्र थे। युद्ध आरम्भ होनेपर सबसे निकृष्ट कर्म युद्धपलायन करनेको भी अर्जुन ही प्रवृत्त हुये, इसलिये 'सबके अनादर पात्र होगे' यह भगवान्का कहना सयुक्तिक ही है। आदर-अनादर-गुण-दोष हेतुक है, यह भाव है] ॥ ३५ ॥

ननु भीष्मादयो महारथा न बहु मन्यन्तां दुर्योधनादयस्तु शत्रवो बहु मंस्यन्ते मां युद्धनिवृत्तं तदुपकारित्वादित्यत आह—'अवाच्य' इति।

[भीष्मादि महारथी युद्धोपरतिसे मेरा सम्मान न करें, क्योंकि वह क्षात्रधर्मके धुरंधर पण्डित हैं। अम्बालाके विवाहप्रसङ्गसे स्वगुरु श्रीपरशुराम भगवान्से लड़ गये थे। माता भगवती भागीरथीने पुत्रवात्सल्यसे आकर पलँगपर पड़े श्रीपरशुरामजीके बाणोंसे बेचैन भीष्मसे कहा—'बेटा, तुम यह काम अच्छा नहीं करते हो, जिनकी कृपासे तुमको धनुर्विद्या प्राप्त हुई, जिससे कोई क्षत्रिय वीर तुम्हारा सामना नहीं कर सकता, उन महापुरुष गुरुसे तुम युद्ध करते हो, बाणोंसे उनको मारते हो, उस समय उनमें शत्रुभाव करते हो, यह कितना अनुचित है। अगर वह तुम्हारा सिर भी काटना चाहें, तो काटने दो। उनसे मत लड़ो; धर्मविरुद्ध कार्य नहीं करना चाहिये, फिर तुम विशिष्ट कुलोत्पन्न धार्मिक पुरुष हो' इत्यादि भीष्मपितामहने कहा—'माँ, उचित ही करता हूँ। अनुचित नहीं करता। मुझपर दयाकर आप ही अन्यथा कहती हैं। मैं क्षत्रिय हूँ, मेरा परम धर्म है—'आहूतं न निवर्तेत'। मैंने स्वयं गुरुजीसे युद्ध आरम्भ नहीं किया, किन्तु उन्होंने श्रीमुखसे कहा कि या तो इससे सादी करो या सवेरे युद्धके लिये मैदानमें आओ। मैं पितृवचनप्रतिज्ञाबद्ध था, इसलिये सादी नहीं कर सकता था, फिर युद्ध करना ही मेरे लिये अनिवार्य हुआ। मैंने गुरुकी आज्ञा मानकर प्रातः रणस्थलमें पहुँच गया, यह मैं जानता हूँ कि उनसे मेरी पराजय निश्चित है, फिर भी यावच्छक्ति युद्ध करूँगा। युद्धके समय भी उनमें मेरा शत्रुभाव नहीं रहता, गुरुभाव ही रहता है, फ़िर भी दावँमें कसर नहीं करता। मरने-जीनेका तो प्रश्न ही नहीं है, प्रश्न है धर्मका यानी स्वधर्मत्याग कैसे करूँ ? धर्मत्यागी पुत्रके जीवनसे आपको भी क्या लाभ ? इसलिये अन्ततक मैं युद्ध करूँगा' इत्यादि विस्तृत वर्णन महाभारतमें ही देखिये। जिनके स्वभाव ऐसे हैं] वे भीष्मादि तो अवश्य मेरा आदर न करेंगे, किन्तु जिनको मेरे युद्धोपरमसे लाभ है वे दुर्योधनादि मेरा तो बहुमान करेंगे, इसपर कहते हैं—'अवाच्य' इत्यादिसे।

नहीं, वे भी तुम्हारी प्रसिद्ध सामर्थ्यकी निन्दा ही करेंगे और जो न कहना चाहिये, उन अनेक प्रकारके शब्दोंका तुममें प्रयोग करेंगे। जैसे शण्ड, तिल आदि। 'तृतीया प्रकृतिः शण्डः क्लीबः षण्डो नपुंसकम्' यह अमरकोश है। शण्डशब्द नपुंसकका वाचक है। अनेक जगह 'षण्ड' यह पाठ मिलता है। अर्थात् सांड़की

तवासाधारणं तत्सामर्थ्यं लोकप्रसिद्धं तन्निन्दन्तस्तव शत्रवो दुर्योधनादयोऽवाच्यान्वादान्वचनानर्हान्शण्ढतिलादिरूपानेव शब्दान्बहूननेकप्रकारान्वदिष्यन्ति न तु बहु मंस्यन्त इत्यभिप्रायः । अथवा तव सामर्थ्यं स्तुतियोग्यत्वं तव निन्दन्तोऽहिता अवाच्यवादान्वदिष्यन्तीत्यन्वयः । ननु भीष्मद्रोणादिवधप्रयुक्तं कष्टतरं दुःखमसहमानो युद्धान्निवृत्तः शत्रुकृतसामर्थ्यनिन्दनादिदुःखं सोढुं शक्यामीत्यत आह—ततस्तस्मान्निन्दाप्राप्तिदुःखात्किं नु दुःखतरं ततोऽधिकं किमपि दुःखं नास्तीत्यर्थः ॥ ३६ ॥

तरह खा पीकर मोटा बना है, इसमें काम करनेकी कुछ भी शक्ति नहीं है। मनुष्यमें जो काले दाग होते हैं उनमें भी तिलशब्दका प्रयोग होता है 'तिलकः तिलकालकः' यह अमरकोश ही इसमें भी प्रमाण है। पर 'तिल स्नेहने' धातुसे तिलशब्द बनता है। इसका अन्वर्थ उस अर्थमें घटता है—जिससे तेल निकलता है, पर वही मुख्य तिलशब्दका अर्थ है। मनुष्यशरीरगत काला दाग तिलके समान होता है, इसलिये उसको भी तिल कहते हैं, लेकिन उससे तेलकी आशा करना व्यर्थ है। वैसे ही अर्जुनको धनुर्धारी देखकर कोई वीर कह सकता है, पर वीरत्वकी आशा इनमें मृगतृष्णा ही समझनी चाहिये। यद्यपि 'तिलकः क्षुरकः श्रीमान्' इस अमरकोशमें तिलक है, तिल नहीं है, तथापि 'तिल इव' इस व्युत्पत्तिसे 'कन्' प्रत्ययान्त तिलकशब्द है। 'तिलो द्रुमरोगाश्वभेदेषु तिलकालके। क्लीबं सौवर्चलक्लोम्नोर्न श्रियां तु विशेषके॥' इस विश्व तथा मेदिनीमें भी काले तिलका वाचक तिल शब्द है। तात्पर्य यह है कि युद्धविमुख होनेपर तुम्हारी निन्दा इतनी अधिक होगी कि जीवन भार हो जायगा। तुम्हें आदरकी दृष्टिसे कोई नहीं देखेगा। अथवा—तुम्हारी सामर्थ्यकी यानी स्तुतियोग्यताकी निन्दा करते हुए तुम्हारे दुश्मन कुवाच्य बोलियां बोलेंगे, यह अन्वय है।

ठीक है, हम भीष्मद्रोणादिवधसे जो अति कष्ट होगा, उसको न सहकर युद्धसे निवृत्त होकर दुर्योधनादिकृत सामर्थ्यनिन्दा दुःख सह सकेंगे। स्वसामर्थ्यनिन्दादुःख उतना दुःसोढ नहीं है जितना कि पूज्यचरणोंके वधसे जायमान दुःख। इसके परिहारार्थ 'ततः' यह कहा। ततः अर्थात् 'निन्दादुःखसे बढ़कर और अधिक दुःख हो ही क्या सकता है? अर्थात् निन्दादुःखसे अधिक दुःख कोई है ही नहीं। [भीष्मादिवधजन्यदुःख तो अपरिहार्य है। भीष्मके लिये शिखण्डी तथा द्रोणाचार्य

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम् ।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः ॥ ३७ ॥

युद्धमें यदि तुम किसी तरह मार दिये जाओगे, तो फिर मरकर तुम स्वर्ग प्राप्त करोगे और यदि युद्धमें अपने दुश्मनोंको जीत लोगे, तो उन्हें जीतकर पृथ्वीका राज भोगोगे। दोनों तरहसे तुम्हें लाभ है। इसलिए हे कौन्तेय, या तो मैं इन शत्रुओंपर विजय प्राप्त करूँगा या स्वयं मर जाऊँगा—ऐसा दृढ़ निश्चय करके युद्धके लिए उठ जाओ—तैयार हो जाओ ॥ ३७ ॥

ननु तर्हि युद्धे गुर्वादिवधवशान्मध्यस्थकृता निन्दा ततो निवृत्तौ तु शत्रुकृता निन्देत्युभयतः पाशारज्जुरित्याशङ्क्य जये पराजये च लाभध्रौव्याद्युद्धार्थमेवोत्थानमावश्यकमित्याह—'हतो वा' इति ।

स्पष्टं पूर्वार्धम् । यस्मादुभयथाऽपि ते लाभस्तस्माज्जेष्यामि शत्रून्मरि-

---

लिये धृष्टद्युम्न है ही। तुम्हारी उपरतिसे इनके वधका परिहार नहीं हो सकता। तुम्हारी निन्दादुःख परिहार्य है। जो परिहार्य है उसका परिहार न करोगे, तो दोनों दुःख सहने पड़ेंगे। इसलिये मनस्वियों का जो सबसे अधिक निन्दादुःख है उसका परिहार अवश्य करो] ॥ ३६ ॥

शङ्का—युद्धमें पूज्य गुरुजनोंका वध करें, तो जो युद्धमें लिप्त नहीं हैं, किन्तु उदासीन सज्जन वृन्द हैं वे अवश्य कहेंगे कि विचारशील अर्जुनने तुच्छलाभके लिये परमोपकारी पितामहाचार्यका वध किया, यह उनके योग्य कर्म नहीं था, और यदि युद्धसे निवृत्त होते हैं, तो शत्रु निन्दा करेंगे कि धनुर्विद्यामें कुशल था, परन्तु कायर—डरपोक यानी प्राणप्रिय था। शौर्यादि गुण इसमें नहीं हैं, इत्यादि। अतः दोनों तरफ पाशारज्जु है। युद्ध करें, तो निन्दा, न करें, तो भी निन्दा। निन्दा पिण्ड नहीं छोड़ती। इसलिये क्या करें? सो कृपाकर आप बतलाइये।

समाधान—सुनो, जय-पराजयमें लाभ ध्रुव है। जयमें भूमिलाभ और पराजयमें स्वर्ग—इस तरह दोनों हाथमें लड्डू है। अतः युद्ध करनेके लिये उठ खड़े हो जाओ, यही उचित कर्म है। यही भगवान्‌ने कहा है—'हतो वा' इत्यादिसे। इस श्लोकका पूर्वार्द्ध स्पष्ट है। चूँकि दोनों प्रकारसे तुम्हें लाभ निश्चित है, अतः शत्रुओं-को जीतेंगे अथवा युद्धमें मरेंगे, इस प्रकार दृढनिश्चयी होकर युद्धके लिये उठ

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥ ३८ ॥

सुख-दुःख तथा लाभ-अलाभ एवं जय और पराजय—सबको समान समझ कर फिर युद्धके लिए सन्नद्ध हो जाओ। ऐसा करनेसे तुम्हें पाप न लगेगा ॥ ३८ ॥

ष्यामि वेति कृतनिश्चयः सन्युद्धायोत्तिष्ठ, अन्यतरफलसंदेहेऽपि युद्धकर्तव्यताया निश्चितत्वात्। एतेन "न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयः" इत्यादि परिहृतम् ॥ ३७ ॥

नन्वेवं स्वर्गमुद्दिश्य युद्धकरणे तस्य नित्यत्वव्याघातः, राज्यमुद्दिश्य युद्धकरणे त्वर्थशास्त्रत्वाद्धर्मशास्त्रापेक्षया दौर्बल्यं स्यात्, ततश्च काम्यस्याकरणे

जाओ। विजयासन्दिग्ध होनेसे तत्फल राज्यलाभ सन्दिग्ध है। मरनेपर स्वर्ग भी सन्दिग्ध है।

प्रश्न—क्यों ?

उत्तर—कूटयुद्धसे स्वर्ग नहीं होता, किन्तु शास्त्रविहित उपायसे। युद्धमें सर्वथा विधिपालन तो मर्यादा पुरुषसे भी नहीं हो सका। यदि यह सन्देह हो, तो भी युद्ध करना ही न्याय है, क्योंकि क्षत्रियोंको युद्ध विहित है, इसका निश्चय कर चुके हैं। इससे 'यह नहीं जानते कि दोनोंमें कौन अच्छा है' इत्यादिका परिहार हो गया ॥ ३७ ॥

यदि स्वर्गके उद्देश्यसे युद्ध करोगे, तो युद्ध नित्यकर्म नहीं हो सकेगा, जो फलके उद्देश्यसे कर्म किया जाता है वह काम्य कर्म है। जैसे—'अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकामः०' इत्यादि। राज्यलाभके उद्देश्यसे युद्ध करोगे, तो अर्थशास्त्र धर्मशास्त्रसे दुर्बल होता है, इस नियमसे अर्थशास्त्रनिमित्तक युद्ध नहीं करना चाहिये। 'मा हिंस्यात्' इस प्रबल धर्मशास्त्रसे बोधित निवृत्ति ही उचित है। तन्निवृत्तिमें सम्भावना भी नहीं है। राज्यफलक होनेसे युद्ध काम्य कर्म हुआ, नित्य नहीं। काम्य कर्मका यदि अनुष्ठान न करे, तो पुरुषको पाप नहीं होता। काम्य कर्म इच्छाधीन है और इसमें गुरुब्राह्मणादिका वध अवश्यंभावी है, यह तद्वध राज्यलाभार्थ होनेसे दृष्टफलक है अर्थात् इसका ऐहिक राज्य लाभफल है, तो इसमें धर्म कहाँ ? ऐसी स्थितिमें आपने जो यह कहा कि यदि तुम इस धर्मयुद्धको न

कुतः पापं दृष्टार्थस्य गुरुब्राह्मणादिवधस्य कुतो धर्मत्वं तथा चाथ चेदिति· श्लोकार्थो व्याहत इति चेत्तत्राऽऽह—

समताकरणं रागद्वेषराहित्यम्। सुखे तत्कारणे जये च रागमकृत्वा, एवं दुःखे तद्धेतावलाभे तद्धेतावजये च द्वेषमकृत्वा ततो युद्धाय युज्यस्व संनद्धो भव। एवं सुखकामनां दुःखनिवृत्तिकामनां वा विहाय स्वधर्मबुद्ध्या

करोगे, तो कीर्ति और धर्म दोनों नष्ट हो जायँगे, सो आपने व्याहत—असङ्गत कहा। यदि अदृष्टार्थ युद्ध होता, तो आपका वचन उक्तार्थमें लागू होता। यह तो उक्तरीतिसे दृष्टार्थक है। इसमें पुरुष स्वतन्त्र है। करे या न करे, इसमें धर्मशास्त्रका दबाव नहीं है। उसपर कहते हैं—'सुखदुःखे' इत्यादिसे। [सुख दुःख, लाभालाभ, जय-पराजय—इनको सम मानकर तुम युद्ध करो, पाप न होगा। अभिप्राय यह है कि यथा अग्निहोत्र कर्म दो प्रकारके हैं—नित्य और काम्य। फलके बिना जो किया जाता है वह नित्याग्निहोत्र है और स्वर्गकामनासे जो किया जाता है, सो काम्य है, एवं युद्ध राज्यलाभादि दृष्टफलके उद्देश्यसे यदि किया जायगा, तो काम्य कर्म होगा। यदि राज्यादिफलकी कामनाका त्यागकर केवल मेरा धर्म युद्ध है, इस भावसे आहूत होनेपर कुछ फल हो या न हो जो किया जाता है वह नित्य है। नित्य बुद्धिसे जो करता है उसको पाप नहीं होता, जो फलेच्छासे युद्ध करता है उसीको पाप होता है।

प्रश्न—सुख अनुकूल वेदनीय है। प्राणिमात्र इसको सदा चाहता है। दुःख प्रतिकूल वेदनीय है। प्राणिमात्र इससे द्वेष करते हैं, कोई नहीं इसका स्वागत करता, फिर विरुद्ध दोनोंका लाभ कैसे हो सकता है।]

उत्तर—राग-द्वेषराहित्य समताका कारण है। सुख और उसके कारण जयमें राग न करके तथा दुःख एवं उसके हेतु अलाभ और उसके हेतु पराजयमें द्वेष न करके उसके बाद युद्धके लिए सन्नद्ध हो जाओ। [सुखमें स्वभावतः राग और दुःखमें द्वेष सबको रहता है। राग-द्वेषके त्यागनेपर दोनों समकक्ष हो जा सकते हैं। मनका गुण होनेसे दोनों सम हैं ही। भेदक उक्त रूप ही थे, उनका त्याग ही कर दिया, फिर तो दोनों सम ही हुये। एवं सुखकारण लाभ, और लाभकारण जय—इनमें भी रागका त्याग करे तथा दुःख और तत्कारण अलाभ तत्कारण पराजय, इनमें द्वेषका त्याग करे, तो सुख-दुःख, लाभालाभ, जय-पराजय—ये सब

युध्यमानो गुरुब्राह्मणादिवधनिमित्तं नित्यकर्माकरणनिमित्तं च पापं न प्राप्स्यसि। यस्तु फलकामनया करोति स गुरुब्राह्मणादिवधनिमित्तं पापं प्राप्नोति यो वा न करोति स नित्यकर्माकरणनिमित्तम्। अतः फलकामनामन्तरेण कुर्वन्नुभयविधमपि पापं न प्राप्नोतीति प्रागेव व्याख्यातोऽभिप्रायः। "हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्" इति त्वानुषङ्गिकफल-

सम हो जाते हैं। युद्धमें विजय लाभार्थ लोग चाहते हैं। लाभ सुखार्थ है। सुख वास्तविक पुरुषार्थ है। साक्षात्साधन लाभ परम्परया तत्साधन विजय है, इसलिये ये भी पुरुषार्थ माने जाते हैं, अतएव तदर्थ पुरुषप्रवृत्ति होती है। एवं दुःख द्वेष्य है। तत्साधन अलाभ साक्षात् तद्धेतु पराजय परम्परया तत्साधन द्वेष्य है, इसलिये एतदर्थ पुरुषप्रवृत्ति नहीं होती। यदि राग-द्वेष छोड़ दिया जाय, तो ये सब सम ही हैं, जैसे कि दूसरेके जय-पराजय, लाभालाभ, सुख-दुःख, उदासीनको सम होते हैं, क्योंकि उनसे उदासीनको सुख-दुःख नहीं होता।] इस प्रकार सुखकामना तथा दुःखनिवृत्तिकामनाका त्यागकर 'मेरा धर्म है' इस बुद्धिसे युद्ध करते हुए तुम गुरुब्राह्मणादिहिंसाजन्य पापको नहीं पा सकते और नित्य कर्माकरणजन्य प्रत्यवायका भी भागी नहीं हो सकते। युद्ध न करने पर तो नित्य कर्माकरणजन्य प्रत्यवाय क्षत्रियको होता है। युद्ध करने पर तद्जन्य पाप नहीं होता। अर्थात् धर्मबुद्धिसे करने पर अर्थबुद्धिसे नहीं, इसलिये पाप भी नहीं होता। जो अर्थलाभबुद्धिसे युद्ध करता है और यदि उसमें ब्राह्मणादिका वध हो जाता है, तो वह पापभागी होता है। जो क्षत्रिय नहीं करता, तो वह नित्यकर्माकरणजन्य प्रत्यवायी होता है, अतः फलकामनात्यागी युद्ध करता हुआ भी गुरुब्राह्मणादिहिंसाजन्य और नित्यकर्म युद्धाकरणप्रयुक्त—एतदुभयविध पापका भागी नहीं होता। यह अभिप्राय पूर्वमें ही कह चुके हैं।

[शङ्का- युद्ध नित्यकर्म है, यह आपका कथन भगवद्वाक्यविरुद्ध है; क्योंकि 'हतो वा' इत्यादि वाक्यसे विजयी होनेपर तथा मरनेपर दोनों प्रसङ्गोंमें फल कहा गया है। इससे युद्ध काम्य कर्म है अतएव एकतर फलकी कामना कर युद्ध करो, यह उपदेश—मरणपक्षमें फलाभावशङ्कानिवृत्तिके लिये स्वर्ग फलका निर्देश उपयुक्त है।

समाधान—फल दो प्रकारका है—एक मुख्य और दूसरा आनुषङ्गिक। जो

प्रवृत्ति मुख्य फल कामनासे होती है वही काम्य है। जैसे—'तप्ते पयसि दध्यानयति सा वैश्वदेवी आमिक्षा वाजिभ्यो वाजिनं त्विति।' गरम दूधमें दही छोड़नेसे दूधका दो प्रकारसे परिणाम होता है—एक घनीभूत अंश, जिसको संस्कृतमें आमिक्षा और भाषामें छना कहते हैं और दूसरा जलका अंश है, जो वाजिन कहलाता है, भाषामें जो कहते हों। आमिक्षा और वाजिन—ये दो द्रव्य हुये। प्रथम द्रव्यके देवता विश्वेदेवा और द्वितीयके वाजी हैं। द्रव्यदेवता यागके स्वरूप माने जाते हैं, इसलिये वैश्वदेवदेवतात्मक आमिक्षाद्रव्यक वैश्वदेव याग तथा वाजिदेवताक वाजिनद्रव्यक वाजिन याग है। यहाँपर पूर्वमीमांसामें यह विचार है कि दधि-संयोगसे गरम दूधके दो परिणाम हुए—आमिक्षा और वाजिन। इनमें कौन कार्य गरम दूधमें दधिसंयोगका प्रयोजक है, यदि यह पूछें, तो यही कहना पड़ेगा कि दोनों। दोनोंको प्रयोजक माननेमें गौरव है। एक ही को प्रयोजक मानें, तो दोष क्या है? दोष तो कोई नहीं है, पर विनिगमक कुछ नहीं है कि अमुक ही प्रयोजक है, अमुक नहीं। विनिगमक तो सूक्ष्म दृष्टिसे प्रतीत होगा। 'आमिक्षा' बनानेके लिये तप्त दुग्धमें दधिसंयोग होगा, तो 'वाजिन' आपसे सिद्ध होगा। उसके लिये पृथक् व्यापार नहीं करना होगा। यद्यपि यह भी कह सकते हैं कि 'वाजिन' बनानेके लिये उक्त उपाय करेंगे, तो 'आमिक्षा' भी आपसे आप बन जायगी, उसके लिये अलग प्रयत्नकी जरूरत नहीं है, तो यह भी आपका कहना ठीक है, कह सकते हैं, किन्तु यह भी कहिये कि दोनोंको प्रयोजक कहना उचित है अथवा एकको।

उचित तो एक ही को कहना है, अतः आमिक्षा मुख्य प्रयोजन है 'वाजिन' अनुनिष्पाद्य होनेसे आनुषङ्गिक प्रयोजन है। आमिक्षा प्रयोजन प्रथम कहा गया है और सारवान् वस्तु है और 'वाजिन' अनन्तरोक्त और निःसार है। मिठाई बनानेवाले रसगुल्ला बनानेके लिये दूध फाड़ते हैं, तो आमिक्षाके उद्देश्यसे, अतः उसको ग्रहण कर 'वाजिन' को फेंक देते हैं, क्योंकि वह निःसार है। याज्ञिक लोग उसको भी काममें लाते हैं, यह उनकी बुद्धिमत्ता है। पर तप्त दूधमें दधि मिलानेका मुख्य प्रयोजन आमिक्षा ही है। 'वाजिन' आनुषङ्गिक फल है। एवं 'आम्राश्च सिक्ताः पितरश्च तृप्ताः' इत्यादि है। आम्रथालामें पितृतर्पण करनेसे पितृ-तृप्ति मुख्य प्रयोजन सिद्ध होता है और आम्रवृक्षसेक आनुषङ्गिक फल है। एवं फलकी इच्छासे आम्र वृक्ष लगाया जाता है। छाया और पुष्पके समय गन्ध भी मिलती है, यह आनुषङ्गिक फल है, मुख्य फल फलास्वाद ही है;] 'हतो वा' इत्यादि तो आनुषङ्गिक फलका कथन है, इसलिए दोष नहीं है। यह महर्षि आप-

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि ॥३९॥

हे पार्थ, परमार्थवस्तुविवेकविषयमें यह मैंने सर्वानर्थनिवृत्तिकारणभूत ज्ञानका उपदेश तुम्हें दे दिया। इस तरह सांख्यबुद्धिका उपदेश देनेपर भी यदि तुम्हें आत्मतत्त्वसाक्षात्कारकी सम्भावना नहीं दीखती, तो फिर अन्तःकरणकी शुद्धि द्वारा तत्त्वसाक्षात्कारके लिए कर्मयोगविषयमें बुद्धिका श्रवण करो, जिस बुद्धिसे युक्त होकर तुम कर्मात्मक बन्धका अच्छी तरह त्याग कर दोगे॥ ३९॥

कथनमिति न दोषः। तथा चाऽऽपस्तम्बः स्मरति—"तद्यथाऽऽम्रे फलार्थे निमित्ते छायागन्धावनूत्पद्येते एवं धर्मं चर्यमाणमर्था अनूत्पद्यन्ते न धर्महा निर्भवति" इति। अतो युद्धशास्त्रस्यार्थशास्त्रत्वाभावात् "पापमेवाऽऽश्रयेदस्मान्" इत्यादि निराकृतं भवति ॥ ३८ ॥

ननु भवतु स्वधर्मबुद्ध्या युध्यमानस्य पापाभावः, तथाऽपि न मां प्रति

स्तम्बने 'तद्यथाऽऽम्रे फलार्थे निर्मिते छायागन्धे इत्यनूत्पद्येते' इत्यादिसे स्पष्ट कहा है। कर्मानुष्ठानशीलको अर्थप्राप्ति होती है, यह धार्मिक पुरुष है, यह समझ कर लोकका अनुराग होता है, अनुरागका फल है—दान। जिसमें जिसका अनुराग होता है उसको ही वह यथाशक्ति देता है, यह समझकर देनेमें दाताको सन्तोष होता है कि मेरा दत्त द्रव्य समुचित कार्यमें विनियुक्त होगा। अगर कोई न भी दे, तो प्रधानीभूत उद्देश्यमें हानि नहीं। द्रव्यप्राप्ति तो आनुषङ्गिक थी। सारांश यह निकला कि स्वधर्मबुद्धिसे युद्ध करो, राज्यदिलाभ आनुषङ्गिक फल है। उसकी प्राप्ति और अप्राप्तिकी चिन्ता मत करो। प्राप्तिसे हर्ष नहीं और अप्राप्तिसे विषाद नहीं। अप्राप्तिपक्षमें फलाभावशङ्कासे तदुपरति अनुचित है। तुम्हारे युद्ध करनेका मुख्य फल तो धर्म वा मतभेदसे प्रत्यवायनिवृत्ति है, सो तो नियत है। आनुषङ्गिक फल हुआ तो कोई हर्ष नहीं, नहीं हुआ, तो भी कोई विषाद नहीं, इस दृष्टिसे युद्ध अर्थशास्त्र नहीं हुआ। राज्यलाभदृष्टिसे किया जाता, तो अर्थशास्त्र होता, यह तो स्वधर्मदृष्टिसे करोगे, तो धर्मशास्त्र ही होगा। धर्ममें हिंसा दोष नहीं है, यह स्पष्ट कह चुके हैं, अतः 'पापमेवाश्रयेत्' इत्यादिसे युद्ध करनेमें प्रायश्चित्ती होंगे, यह अर्जुनकी आशङ्का निराकृत हो गई ॥ ३८ ॥

प्रश्न—अच्छा, तो स्वधर्मबुद्धिसे युद्ध करनेवालेको पाप नहीं होता, यही

युद्धकर्तव्यतोपदेशस्तवोचितः, "य एनं वेत्ति हन्तारम्" "कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम्" इत्यनेन विदुषः सर्वकर्मप्रतिक्षेपात्। नह्यकर्त्रभोक्तृशुद्धस्वरूपोऽहमस्मि युद्धं कृत्वा तत्फलं भोक्ष्य इति च ज्ञानं संभवति, विरोधात्। ज्ञानकर्मणोः समुच्चयासंभवात्प्रकाशतमसोरिव। अयं चार्जुनाभिप्रायो ज्यायसी चेदित्यत्र व्यक्तो भविष्यति। तस्मादेकमेव मां प्रति ज्ञानस्य कर्मणश्चोपदेशो नोपपद्यत इति चेत्, न, विद्वदविद्वदवस्थाभेदेन ज्ञानकर्मोपदेशोपपत्तेरित्याह भगवान्—'एषा तेऽभिहिता' इति।

सही, पर मैं युद्ध करूँ, इसके लिये आपका उपदेश उचित नहीं है, क्योंकि 'य एनं वेत्ति हन्तारं' इत्यादिसे तथा 'कथं स पुरुषः पार्थ' इससे विद्वान्‌के सब कर्मोंका प्रतिक्षेप ही समर्थित है, अर्थात् जो मारनेवालेको मारनेवाला समझता है वह अनात्मज्ञ है। निर्व्यापार उदासीन आत्मामें प्राणवियोगानुकूल क्रिया कहाँ? आत्मज्ञके प्रति आपका उपदेश है। 'पार्थ, कौन किसको मारता है, कौन मरवाता है' प्रेरणात्मक व्यापार भी उदासीन आत्मामें नहीं रहता। इस परिस्थितिमें तत्त्ववेत्तामें सब कर्मोंका वास्तविक अभाव ही समर्थित है। जब कि मैं यह जानता हूँ कि किसी भी कर्मका कर्ता मैं नहीं हूँ और न तत्फलभोक्ता ही हूँ—इस प्रकार जब मैंने अपनेको अकर्ता और अभोक्ता मान लिया है तब युद्ध करके युद्धफल-राज्यस्वर्गादिका भोग करूँ, यह ज्ञान मुझको नहीं हो सकता, क्योंकि एक ही आत्मामें अकर्तृत्वज्ञानविरोधी कर्तृत्वादिज्ञानका सम्भव नहीं है। प्रकाश और तमके समान ज्ञान-कर्मका समुच्चय—दोनोंकी एकत्र स्थिति नहीं हो सकती, यह अर्जुनका अभिप्राय 'ज्यायसी चेत्' इस अग्रिमश्लोकमें स्पष्ट होगा। अतः मेरे एक ही के प्रति ज्ञान और कर्मका उपदेश ठीक नहीं जँचता।

उत्तर—एक ही पुरुषके प्रति अज्ञानावस्था तथा ज्ञानावस्थाके भेदसे ज्ञान और कर्म इन दोनोंका उपदेश असम्भव नहीं है। एक कालमें दोनोंका पालन नहीं हो सकता, यह ठीक है, पर अवस्थाभेदसे दोनोंके अनुष्ठानमें कोई बाधा नहीं है यही भगवान् कहते हैं— 'एषा तेऽभिहिता' इत्यादिसे। प्रथम 'न त्वेवाहम्' से लेकर २१ श्लोकोंसे सांख्यबुद्धि—ज्ञानबुद्धि कही गई।

प्रश्न—श्रीकपिलमुनिप्रणीत पञ्चविंशतितत्त्वोपदेशपरक शास्त्रमें सांख्य-शब्द रूढ़ है। उसमें प्रकृति और पुरुषका विवेचन है। पुरुषस्वरूप वेदान्त-

एषा न त्वेवाहमित्याद्येकविंशतिश्लोकैस्ते तुभ्यमभिहिता सांख्ये सम्य-
क्ख्यायते सर्वोपाधिशून्यतया प्रतिपाद्यते परमात्मतत्त्वमनयेति संख्योपनिष-

मतानुरूप अकर्तृ, अभोक्तृ, चैतन्यमात्ररूप है, परन्तु एवंभूत आत्मा प्रतिशरीर भिन्न है। एवं परमात्माके स्वीकारका निर्देश भी सांख्यमें नहीं है। अतः तत् और त्वं पदार्थके शोधनका अवकाश नहीं है, फिर 'तत्त्वमसि'से अखण्डार्थबोधकी क्या सम्भावना? गीतामें तत् और त्वं पदार्थके शोधनका आपने पूर्वमें ही समर्थन कर उसके अनुसार ही आत्मस्वरूपका निरूपण किया है—नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा श्रोता' इत्यादिसे। श्रुत्यनुसार आत्मैकत्वका आपने समर्थन किया है, फिर सांख्यानुसारीमें आत्मतत्त्वका आपने उपदेश दिया, यह क्यों कहते हैं।

उत्तर—यहाँ सांख्य-उपनिषत्प्रतिपाद्य आत्मा है, शास्त्र नहीं।

प्रश्न—कैसे ?,

उत्तर—सम्यक्‌यथार्थतः ख्यायते—सर्वोपाधिकर्तृत्व-भोक्तृत्वादि तच्छू-न्यतया तद्बहिर्भूततया प्रतिपाद्यते—बोध्यते परमात्मतत्त्वं परमं-अविद्याद्युपाधि-रहितमात्मतत्त्वं चैतन्यमात्रम् अथवा 'परमश्चासौ आत्मा चेति परमात्मा'—परमात्मा तदेव तत्त्वं सर्वबाधावधिः। वस्तुतः सकलकल्पनाधिष्ठान वही शिष्ट रहता है, तदितर सबकी निवृत्ति हो जानेसे वे अतत्त्व हैं। त्रिकालाबाध्य ब्रह्म ही तत्त्व है, इसका प्रतिपादन—निरूपण जिससे होता है वह संख्या उपनिषत् है। उपनिषत्से जो प्रतिपादित होता है, सो सांख्य पुरुष है, शास्त्र नहीं।

शङ्का—'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' 'अशब्दमस्पर्शम-रूपमव्ययम्' इत्यादि श्रुतियोंसे आत्मा विशिष्टशब्दवाच्य नहीं है, इसका पूर्वमें निरूपण कर फिर यहाँ उपनिषत्से वह प्रतिपाद्य है यह पूर्वापर विरुद्ध कहते हैं। विरुद्धकथनसे श्रोताकी श्रद्धा ही उपदेशश्रवणमें नहीं होती, मानना तो दूर रहा।

समाधान—लक्षणाशक्तिसे शब्दप्रतिपाद्य ब्रह्म नहीं, यह ठीक ही कहा गया है, क्योंकि शक्तिलक्षणा कोई भी धर्म असंग ब्रह्ममें नहीं रहता, किन्तु पूर्वोक्तरीतिसे तात्पर्यवृत्तिसे ही उपनिषत्प्रतिपाद्य ब्रह्म है।

तात्पर्यवृत्ति भी तो वृत्ति है। शक्त्यादिवृत्तिवत् यह वृत्ति भी ब्रह्ममें कैसे रहेगी, इस संशयका समाधान पूर्वमें कह चुके हैं—प्रसुप्तोत्थापक शब्दवत् अगृहीतसम्बन्ध ही शब्द तद्बोधक होता है, इत्यादि, फिर भी यदि संशय हो

त्तयैव तात्पर्यपरिसमाप्त्या प्रतिपाद्यते यः स सांख्य औपनिषदः पुरुष इत्यर्थः। तस्मिन्बुद्धिस्तन्मात्रविषयं ज्ञानं सर्वानर्थनिवृत्तिकारणं त्वां प्रति मयोक्तं नैतादृशज्ञानवतः क्वचिदपि कर्मोच्यते, तस्य कार्यं न विद्यत इति वक्ष्यमाणत्वात्। यदि पुनरेवं मयोक्तेऽपि तवैषा बुद्धिर्नोदेति चित्तदोषात्, तदा तदपनयेनाऽऽत्मतत्त्वसाक्षात्काराय कर्मयोग एव त्वयाऽनुष्ठेयः। तस्मिन्योगे कर्मयोगे तु करणीयामिमां "सुखदुःखे समे कृत्वा" इत्यत्रोक्तां फलाभिसंधित्यागलक्षणां बुद्धिं विस्तरेण मया वक्ष्यमाणां शृणु। तुशब्दः

तो वहीं देखिये। सांख्य है यहाँ औपनिषद पुरुष। उसमें बुद्धि—तन्मात्रविषयक ज्ञान, बुद्धिमात्रसे सकल उपाधिकी निवृत्ति सूचित होती है। अद्वैतात्मविषयक निर्विकल्प ज्ञान ही सम्पूर्ण अनर्थोंकी निवृत्तिका कारण है, यह तुम्हारे प्रति मैंने कहा है। एतादृश ज्ञानवान् पुरुषको कहीं भी कर्म करनेके लिये नहीं कहा गया है, क्योंकि उसके प्रति 'तस्य कार्यं न विद्यते' इस शास्त्रने स्वयं आगे चलकर कहा है कि उसको कोई कर्तव्य नहीं है। [अतएव वह कृतकार्य कहा जाता है। जो कर्तव्य था, सो सब कर चुका, अब कुछ करनेके लिये बाकी नहीं है। क्यों कर्तव्य नहीं है, इसका उत्तर श्रुतिने स्वयं दिया है कि उसको करण—कार्यका साधन ही नहीं रहा, तो करेगा कैसे ? 'यत्र सर्वमात्मैवाभूत् तत् केन कं पश्येत्' इत्यादि श्रुतिसे शरीरेन्द्रियादि रहनेपर भी उनमें मिथ्यात्वनिर्णय मानता है, इसलिए ममताद्यभिमाननिवृत्तिसे वे करण नहीं हो सकते। ममताभिमानपुरःसर ही सब लोग व्यवहार करते हैं। अपनी आँखोंसे देखता हूँ, अपने हाथोंसे काटता हूँ इत्यादि। और साध्य-साधन इतिकर्तव्यता क्रियाफल भेदज्ञानोपमर्दन होनेसे कर्तव्यबुद्धि हो ही नहीं सकती।] यदि इस प्रकार मेरे कहनेपर भी तुमको ऐसी बुद्धि नहीं होती, तो इसमें कारण तुम्हारा चित्तदोष है। जबतक उसकी निवृत्ति न होगी, तबतक उपदेशसे आत्मज्ञान नहीं होगा, इसलिये तन्निवृत्ति द्वारा आत्मसाक्षात्कार करनेके लिये कर्मयोग ही का अनुष्ठान करो। [कर्मयोगसे चित्तदोष निवृत्त होगा, तब आत्मसाक्षात्कारोत्पत्तियोग्यता उसमें होगी। तत्त्वज्ञानोत्पत्तिप्रतिबन्धक मनोदुरित है, इसमें प्रमाण 'ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात्पापस्य कर्मणः।' इत्यादि स्मृति है।] वह योग करनेके लिये जो बुद्धि आवश्यक है, वह 'सुखदुःखसमे कृत्वा' यहाँपर कह चुके हैं। उसी फलाकांक्षारहित अवश्यकरणीय बुद्धिका विस्तारसे आगे वर्णन करता हूँ, उसको सावधान होकर सुनो और समझो। 'योगे तु' इस मूलमें

पूर्वबुद्धेर्योगविषयत्वव्यतिरेकसूचनार्थः। तथा च शुद्धान्तःकरणं प्रति ज्ञानोपदेशोऽशुद्धान्तःकरणं प्रति कर्मोपदेश इति कुतः समुच्चयशङ्कया विरोधावकाश इत्यभिप्रायः। योगविषयां बुद्धिं फलकथनेन स्तौति—यया व्यवसायात्मिकया बुद्ध्या कर्मसु युक्तस्त्वं कर्मनिमित्तं बन्धमाशयाशुद्धिलक्षणं ज्ञानप्रतिबन्धं प्रकर्षेण पुनः प्रतिबन्धानुत्पत्तिरूपेण हास्यसि त्यक्ष्यसि। अयं भावः—कर्मनिमित्तो ज्ञानप्रतिबन्धः कर्मणैव धर्माख्येना (णा) पनेतुं शक्यते "धर्मेण पापमपनुदति" इति श्रुतेः। श्रवणादिलक्षणो विचारस्तु कर्मात्मकप्रतिबन्धरहितस्यासंभावनादिप्रतिबन्धं दृष्टद्वारेणापनयतीति न कर्मबन्धनिराकरणायोपदेष्टुं शक्यते। अतोऽत्यन्तमलिनान्तःकरणत्वाद्बहिरङ्ग

'तु' शब्द पूर्वबुद्धि योगविषयक नहीं है, किन्तु सांख्यविषयक है, एतज्ज्ञापनार्थ है। इससे सारांश यह निकला कि जो शुद्धान्तःकरण हैं, उनके लिये ज्ञानोपदेश है और जो अशुद्धान्तःकरण हैं, उनके लिये कर्मोपदेश है। इस व्यवस्थासे समुच्चयशङ्कासे जो विरोध प्रतीत होता था उसका अवसर ही नहीं रहा। कर्म-ज्ञानके अधिकारी भिन्न हैं। अवस्थाभेदसे एकमें ज्ञान-कर्मका भी कालभेदसे समावेश है। एक कालमें एक ही पुरुष युवा और वृद्ध नहीं हो सकता, पर कालभेदसे होता ही है। एवं ज्ञान-कर्माधिकारमें विरोध नहीं है। फलकथन द्वारा योगबुद्धिकी स्तुति करते हैं—जिस व्यवसायात्मक बुद्धिसे कर्ममें व्यापृत होकर तुम कर्मनिमित्तक बन्धका प्रकर्षसे त्याग करोगे। त्यागमें प्रकर्ष है कि फिर दोष चित्तमें न होंगे। आत्यन्तिक दोषत्यागका यह अभिप्राय है कि कर्मनिमित्तक जो ज्ञानोत्पत्तिप्रतिबन्धक चित्तदोष दुरित राग-द्वेषादि हैं उनकी निवृत्ति कर्म ही से कर सकते हो, क्योंकि 'धर्मेण पापमपनुदति' यह श्रुति धर्मको पापनिवृत्तिका उपाय कहती है। श्रवणादिलक्षणविचार तो कर्मात्मक प्रतिबन्धरहित पुरुषका जो असम्भावनादि दृष्ट दोष प्रतिबन्ध है उसीका निवर्तक है, इस कारण कर्मबन्धनिराकरणार्थ उसका उपदेश नहीं कर सकते। [सारांश यह है कि आत्मसाक्षात्कारोत्पत्तिप्रतिबन्धक दोष हैं—दृष्ट और अदृष्ट। कर्मसे ही अदृष्ट पापादि दोष चित्तमें होते हैं, अतः उनकी निवृत्ति शुभकर्मजन्यपुण्यरूप अदृष्टसे होती है। इसमें प्रमाण उदाहृत 'धर्मेण' इत्यादि श्रुति है। दृष्ट दोष असम्भावनादि है। आत्मा कर्ता, भोक्ता, सुखी, दुःखी, अल्पज्ञ, अल्पशक्ति, प्रतिशरीरव्यावृत्तसंसारधर्मवान् प्रतीत होता

साधनं कर्मैव त्वयाऽनुष्ठेयम्, नाधुना श्रवणादियोग्यताऽपि तव जाता, दूरे तु ज्ञानयोग्यतेति। तथा च वक्ष्यति—"कर्मण्येवाधिकारस्ते" इति। एतेन

है। उसका यदि कोई भी उपदेश करे कि वह अकर्ता, अभोक्ता, सुख-दुःखादि-रहित, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिसम्पन्न, सकलशरीरमें एक अनुवृत्त, संसारधर्मातीत ब्रह्मस्वरूप है, तो उसको असम्भव प्रतीत होता है कि यह कभी हो ही नहीं सकता, उपदेष्टाके गौरवसे क्षोदक्षेम न करे, तो भी इस उपदेशको केवल मनोरञ्जनार्थ समझकर पदिष्ट उपायमें प्रवृत्त नहीं होता, अतः दोनों प्रतिबन्धोंकी निवृत्ति आवश्यक है। अदृष्ट दोषकी निवृत्ति अदृष्ट शुभकर्मजन्य पुण्यसे तथा दृष्ट असम्भावनादि दोषकी निवृत्ति दृष्ट श्रवण-मननाद्युपायसे होती है, यह व्यवस्था है। इसलिये अदृष्ट दोषकी निवृत्तिके लिये श्रवणादिका उपदेश नहीं कर सकते, क्योंकि उसका वह साधन ही नहीं है।] तुम अर्जुन अत्यन्त मलिनान्तःकरण हो, अतः बहिरङ्ग साधन कर्मानुष्ठान ही तुमको करना चाहिये। तुममें अभी श्रवणादियोग्यता नहीं उत्पन्न हुई है, फिर ज्ञानोत्पत्तियोग्यता तो बहुत दूर है। [भाव यह है कि ज्ञानोपत्तिके दो साधन हैं- एक बहिरङ्ग और दूसरे अन्तरङ्ग। जो परम्परया उपकारजनक हैं वे बहिरङ्ग हैं। जैसे, निरभिसन्धि कर्मानुष्ठान। इनसे धर्म होगा, उसकी फल-कामना न होनेसे वह अन्तःकरणके मलोंका निवर्तक होगा, मलनिवृत्तिसे अन्तः-करण शुद्ध होगा। जैसे कि शीशामें कज्जलादि मल होनेसे प्रकाश साफ नहीं निकलता। चूना आदिसे साफ करनेपर प्रकाश विशद होता है, जिससे सूक्ष्म वस्तु भी देख सकते हैं, जिनका मलिनावस्थामें देखना असम्भव-सा प्रतीत होता था। इसलिये ये शुद्धियाँ परम्परया प्रकाशप्रकर्षका कारण होनेसे उसमें बहिरङ्ग साधन हैं। अन्तरङ्ग साधन श्रवण-मननादि हैं। ये आत्मज्ञानोत्पत्तिप्रतिबन्धक असम्भावनादि दोषनिवर्तक हैं। ज्ञानोत्पत्तियोग्यता होनेपर भी प्रतिबन्धवश ज्ञानोत्पत्ति नहीं होती, अतः ज्ञानोत्पत्तिका साक्षात् प्रतिबन्धक असम्भावनादिदोष है। अतः ये अन्तरङ्ग दोष हैं। इनका निवर्तक श्रवण-मननादि अन्तरङ्ग साधन हैं। बहिरङ्ग साधनके बिना अन्तरङ्ग साधनमें प्रवृत्ति व्यर्थ है। कारण कि अन्तरङ्ग साधनकी उत्पत्ति ही बहिरङ्ग साधनके बिना नहीं होती, फिर उसके उपायानुष्ठानसे कालक्षेप व्यर्थ है। आजकल ऐसे ही अधिक श्रोता पाये जाते हैं, जो बहिरङ्गानुष्ठानको कठिन समझकर त्याग देते हैं। अन्तरङ्ग श्रवणादिमें लगे रहते हैं। लगे रहें, पर उन्हें ज्ञानोत्पत्ति कहाँ? अन्तरङ्गसाधन बहिरङ्गसाधनके बिना व्यर्थ है। शीशा

सांख्यबुद्धेरन्तरङ्गसाधनं श्रवणादि विहाय बहिरङ्गसाधनं कर्मैव भगवता किमित्यर्जुनायोपदिश्यत इति निरस्तम्। कर्मबन्धं संसारमीश्वरप्रसादनिमित्त-

साफ नहीं है तो तेल उत्तम मार्केका ही क्यों न हो तथा बत्ती भी अच्छी क्यों न हो, पर प्रकाश विशद नहीं होगा, इसलिये अन्तरङ्ग साधनके विना भी बहिरङ्ग साधन सफल है, पर बहिरङ्गसिद्धिके बिना अन्तरङ्ग साधनका अनुष्ठान केवल क्लेशप्रद ही है।] ऐसा ही आगे चलकर भगवान् स्वयं कहेंगे—'कर्मण्येवाधिकारस्ते' इत्यादिसे। तुम्हारा कर्म ही में अधिकार है, अभी ज्ञानमें नहीं। इसमें हेतु चित्तदोष कह चुके हैं। बहिरङ्गसाधनोंका ही अभी अनुष्ठान करो, इससे किसीकी यह शङ्का भी निरस्त हुई कि सांख्यबुद्धिके अन्तरङ्गसाधन श्रवणादिका उपदेश न देकर बहिरङ्ग साधन कर्मानुष्ठानका ही उपदेश अर्जुनको भगवान् क्यों देते हैं ? [भगवान्ने पहले सांख्यबुद्धिका उपदेश दिया, पर अर्जुनकी समझमें नहीं आई। आवे कैसे ? बहिरङ्गसाधनवैकल्यसे चित्तमें तदुत्पत्ति योग्यता ही नहीं थी। योग्यता सूक्ष्मपदार्थ है, अतः कार्यसे तत्सत्ता और कार्याभावसे तदसत्ताका बोध होता है। सांख्यबुद्धिका उपदेश करनेपर भी जब अर्जुनके चित्तमें उसका उदय न हुआ, तब कार्याभावसे योग्यताविरहका निश्चय कर योग्यतोत्पादनार्थ कर्मयोगका उपदेश देना उचित समझकर उसीका भगवान्‌ने उपदेश दिया।

शङ्का—आप कहते हैं कि तत्त्वज्ञानोत्पत्तियोग्यतासम्पादनार्थ कर्मयोगका उपदेश अर्जुनको भगवान्‌ने दिया है, किन्तु यह कथन भगवद्वाक्यसे विरुद्ध है। भगवद्वाक्य तो ऐसा है कि 'यया कर्मबन्धं प्रहास्यसि' जिस कर्मयोगव्यवसायात्मक बुद्धिसे कर्मनिमित्तक बन्धका त्याग करोगे। इससे स्पष्ट है कि यह साक्षात्पुरुषार्थसाधन है। इसीसे बन्धनिवृत्ति हो जायगी, अतएव श्रवणादि अन्तरङ्ग साधनोंकी आवश्यकता ही न होगी। अथवा आपका अन्तरङ्ग-बहिरङ्गविवेचन ही असंगत है। दोनों साक्षाद्बन्धनिवृत्तिके कारण होनेसे अन्तरङ्ग ही हैं।

समाधान—भगवदुक्तिका अभिप्राय यह है कि बहिरङ्ग कर्मयोगबुद्धि भी तो उक्त ज्ञानका कारण ही है। बहिरङ्ग होनेपर भी उक्त बुद्धिका साधन है, इसलिये कर्मयोगबुद्धिसे ईश्वरप्रसाद, इसको धर्म भी कहते हैं, प्राप्त होता है। 'तदिह पुण्यमपुण्यमन्यत्' इत्यादि ईश्वरप्रसादसे चित्तशुद्धि द्वारा ज्ञानोत्पत्ति, तदा-

ज्ञानप्राप्त्या प्रहास्यसीति प्राचां व्याख्याने त्वध्याहारदोषः कर्मपदवैयर्थ्यं च परिहर्तव्यम् ॥ ३९ ॥

कर्मबन्धप्रहाण, इस प्रकार उक्त भगवद्वाक्यका तात्पर्य है। जैसे लोकमें भी कहा जाता है कि 'गोघृत लाओ' इसका अर्थ यह नहीं होता कि घृत दुग्धके समान साक्षात् गौसे निकलता है, किन्तु गौसे दुग्ध, ततः दही, फिर उसके मथनसे घृत होता है, यह प्राचीन रीति है। गो दुग्ध दधि घृतकी अपेक्षा संक्षिप्ताभिधान-तात्पर्यसे गोघृत कहा जाता है। इसीसे घृतान्तरकी व्यावृत्ति होती है, फिर इसके लिये अधिक शब्दोपादान व्यर्थ है! एवं] कर्मयोगबुद्धिसे ईश्वरप्रसाद, ईश्वर-प्रसादसे आत्मज्ञान, आत्मज्ञानसे मुक्ति, इस तात्पर्यसे परम्परया कर्मयोगबुद्धिसे कर्मबन्ध—संसारमूलप्रत्यवायसमुदायका भी त्याग करोगे, यह अर्थ प्राचीनोंने किया है। [इसका खण्डन करते हैं—'एतेन' इत्यादिसे। अभिप्राय यह है कि 'यया' इस तृतीयान्तका 'कर्मबन्धं प्रहास्यति' इस वाक्यसे बोध्य-कर्मबन्धोचित प्रहाण-क्रियामें करणतया अन्वय किया जाय, तो प्राचीन व्याख्यान उचित हो सकता है, पर उसमें 'यया' का अन्वय विवक्षित नहीं है, किन्तु सन्निहित युक्त घटक युज् धात्वर्थके साथ अन्वय भगवान्को अभीष्ट है। जिस बुद्धिसे युक्त होकर कर्मबन्ध-का त्याग करोगे। बन्धका अर्थ यहां प्रतिबन्ध है। तत्त्वज्ञानोत्पत्तिका प्रतिबन्धक कर्म है। कर्म उपलक्षण है। राग, द्वेषादि चित्तदोषका जिस कर्मयोगबुद्धिसे त्याग करोगे, यह अर्थ भगवान्को अभीष्ट है। अतएव कर्म पद भी सार्थक होता है। संसारबन्धका इससे त्याग न होगा, किन्तु कर्मबन्ध ही का त्याग होगा। उक्त बन्धका त्याग तो तत्त्वज्ञान ही से होगा। 'परम्परया' इस बुद्धिसे भी संसारबन्धका त्याग होता है,] इस प्राचीनोक्त अर्थमें कर्मपद सार्थक नहीं होता और अध्याहार दोष स्पष्ट है। [ईश्वरप्रसादरूप धर्म तथा संसार गीताके इस श्लोकमें है नहीं, अतः उसका और तत्त्वज्ञान तथा संसारका अध्याहार करना होगा. यह वाक्यदोष है। वक्ताकी असावधानता इससे सूचित होती है। अवश्य वक्तव्य शब्दोंके त्यागसे वाक्यार्थबोध परिनिष्ठित नहीं होता, इसलिये मैंने जो अर्थ किया है कि जिस कर्मयोगबुद्धिसे अन्तःकरणदोषोंकी, जो ज्ञानोत्पत्तिप्रतिबन्धक हैं, अतएव कर्मबन्ध भी कहे जाते हैं, निवृत्ति करोगे, इस अर्थमें 'कर्म' पद सार्थक होता है। कर्मबन्ध ही का इस बुद्धिसे त्याग होता है, संसारबन्धका नहीं। उसका त्याग तो तत्त्वज्ञान ही से होगा, अध्याहार दोष भी मेरे अर्थमें नहीं है। इन दोनों अर्थोंके समा-लोचकोंका कहना है कि 'कर्मपद' स्वर्ग और नरकादिके साधन पुण्य और पापका

वाची है। उसका अन्तःकरणदोष अर्थ मानकर संकोच करना चाहिये। व्यापक अर्थको छोड़कर व्याप्य अर्थ करनेमें प्रमाण नहीं है। एवं बन्धशब्दका प्रतिबन्ध- प्रतिबन्धक अर्थमें भी प्रमाण नहीं है। कर्म और बन्ध, ये दोनों लाक्षणिक मानने पड़ेंगे। सामान्यवाची शब्दोंका विशेष अर्थमें लक्षणा ही से प्रयोग होता है। जैसे, किसीने कहा—मकान बढ़िया क्यों नहीं बनवाते? उत्तर मिला—द्रव्य नहीं है। यहां द्रव्यशब्द रुपयोंके तात्पर्यसे प्रयुक्त हुआ है; पृथिवी, जल, वायु आदिका अभाव नहीं है, इस अर्थमें नहीं, इसलिये द्रव्यशब्द लाक्षणिक है। शक्यार्थबोधसे उपपत्ति हो सके, तो फिर जघन्य लक्षणा वृत्तिका आश्रयण उचित नहीं है. जो मूलकार यह कहते हैं कि दृष्ट असंभावनादि दोष श्रवणादिसे ही निवृत्त होता है, कर्मयोगसे नहीं, सो भी ठीक नहीं है, क्योंकि 'श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यः' यह वचन आत्मज्ञानार्थ श्रवणका विधायक है। इसमें नियमविधि है, अपूर्वविधि नहीं है। ज्ञानार्थ श्रवण प्राप्त ही है। अत्यन्ताप्राप्तमें अपूर्व विधि होती है, नियमविधि पक्षमें अप्राप्त की होती है। आत्मश्रवण श्रुतिवाक्यसे होता है, और भाषावाक्यसे भी। जिस समय भाषा- वाक्य द्वारा पुरुष श्रवणमें प्रवृत्त होगा उस समय श्रुतिवाक्य अप्राप्त है। अतः उसकी प्राप्तिके लिए 'श्रोतव्यः' यह नियमविधि है। श्रुतिवाक्य ही से आत्मश्रवण करना चाहिये, भाषावाक्यसे नहीं, यह नियमविधि है।

शङ्का—आत्मज्ञान तो दोनों प्रकारसे होगा, फिर श्रुतिवाक्यसे ही सुनना ऐसा 'नियम' क्यों।

समाधान—नियमसे अदृष्ट होता है। जो असंभावनानिमित्त दुरितादि- प्रयुक्त चित्ताशुद्धिका 'निवर्तक' होता है, यह विवरणाचार्यने कहा है। वेदान्त- श्रवणजन्य पुण्यसे पापनिवृत्ति होती है। निवृत्तपापको समीचीन आत्म-तत्त्वज्ञान होता है, यह सर्वसंमत है। 'जन्मबन्धविनिर्मुक्ता' यहां जैसे जन्मपद है वैसे कर्मबन्धमें कर्मपद भी बन्धस्वरूपज्ञापनार्थ है। बन्ध अनेक प्रकारके होते हैं— रज्जु, निगड़ प्रभृति। किस बन्धकी निवृत्ति होती है। इसको स्पष्ट करनेके लिये 'कर्म' पद है। आत्मज्ञानोपदेशानन्तर तच्चिन्तनरूप ज्ञानयोग ही का उपदेश उचित था, परन्तु कर्मयोगके बिना ज्ञानयोग नहीं हो सकता, इसलिये उत्पत्ति- क्रमानुसार पूर्वमें कर्मयोगका निरूपण किया गया है। इसके अनन्तर 'प्रजहाति यदा कामान्' से एतत्फलस्वरूप ज्ञानयोग आगे कहेंगे। आत्मज्ञानपूर्वक मोक्षके साधनभूत कर्मानुष्ठानमें जो बुद्धियोग कहना है, सो यहां योग है। भाष्यकारने 'कर्मैव बन्धः कर्मबन्धः' यह कहा है, संसार नहीं]॥ ३९॥

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥ ४० ॥

निष्काम कर्मयोगमें प्रारम्भका नाश नहीं है और इसमें कोई प्रत्यवाय भी नहीं है। इस धर्मका थोड़ा भी अनुष्ठान जन्म-मरण आदिरूप महान् संसार-भयसे रक्षा करता है ॥ ४० ॥

ननु "तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽ-

---

['तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति' इत्यादि श्रुति इस आत्माको वेदानुवचन, यज्ञ-दानादिसे ब्राह्मण जानना चाहते हैं। यहांपर शंका यह होती है कि 'विविदिषन्ति'* से वेदन और इच्छा दोनोंकी प्रतीति होती है। यागादिकरण ब्रह्मवेदनका है अथवा तदिच्छाका ? इसका समाधान यह है कि—यद्यपि इच्छा ही प्रधान है, वेदन इच्छामें विशेषण है, पदार्थका पदार्थप्रदजन्योपस्थितीयमुख्य विशेष्यताश्रय अर्थके साथ अन्वय होता है, क्योंकि वही प्रधान पदार्थ कहा जाता है। विशेषणतया उपस्थित गुण पदार्थ कहलाता है। उसमें अन्वय नहीं होता। यहां 'विद्' धातुसे इच्छाके कर्ममें सन् प्रत्यय हुआ है। 'विविदिषन्ति' से ब्रह्मवेदन-विषक इच्छाकी प्रतीति होती है, इसलिये इच्छा ही प्रधान है। उसीके करण याग-दानादि हैं। अन्य लोगोंका यह मत है कि यद्यपि इच्छा शब्दतः प्रधान है, तथापि अर्थतः प्राधान्य ज्ञानमें है। ज्ञान इच्छाका कर्म है। कर्ताके अति अभीष्टकी कर्मसंज्ञा होती है। और ब्रह्मज्ञानका फल मोक्ष है। वह फलप्रद होनेसे अभीष्ट है, इसलिये इच्छाकी अपेक्षासे ब्रह्मज्ञान ही प्रधान है; अतः उसीके साधन यागादि कर्म हैं, अतएव 'अश्वेन ग्रामं जिगमिषति' यहां 'अश्व' गमनक्रियाका करण है, तदिच्छाका नहीं। एवं 'यज्ञेन ब्रह्मविविदिषन्ति' यहांपर 'यज्ञ' ब्रह्मज्ञानका करण है, तदिच्छाका नहीं।

शङ्का—शब्दतः प्राधान्य जैसे इच्छामें है वैसे ही अर्थतः प्राधान्य ब्रह्मज्ञानमें भी है। ब्रह्मज्ञानमें यज्ञादिका अन्वय करनेसे पदार्थका प्रधान पदार्थके साथ अन्वय होता है, गुणभूतके साथ नहीं—इस नियमका अतिक्रमण होता है।

समाधान—ठीक है, अर्थप्राधान्य ब्रह्मज्ञानमें मानते हैं, पर शाब्दान्वय

---

* यहां दो धातु हैं—एक 'विद्', जिसको 'भूवादयो धातवः' से धातु संज्ञा होती है और दूसरा विविदिस है, उसको 'सनाद्यन्ता०'से धातु संज्ञा होती है। यज्ञादि करणत्वका किसमें अन्वय है, सन्प्रकृत्यर्थमें अथवा सन्नान्तार्थमें उत दोनोंमें है।

अर्थप्राधान्यके अनुसार नहीं होता, किन्तु शब्दप्राधान्यके अनुसार ही होता है। अतएव 'राज्ञः पुरुषमानय' (राजाके पुरुषको बुलावो) ऐसा कहनेपर शब्दतः प्रधान पुरुषका ही 'आनयन' क्रियामें अन्वय होता है, अर्थतः प्रधान राजाका नहीं। यदि अयोग्यार्थ होनेसे इसमें श्रद्धा न हो, तो 'आनय' के स्थानमें 'पश्य' कहिये— राज्ञः पुरुषं पश्य। दर्शनक्रियामें राजाका अन्वय नहीं हो सकता, यह शाब्द नय है, इसलिये विविदिषा ही में अन्वय है। फिर भी 'अश्वेन जिगमिषति' यहां क्यों अश्व गमनका ही करण होता है, इच्छाका नहीं, इसका उत्तर यह है कि इसमें अयोग्यता है। इसका विशेष निरूपण करनेसे ग्रन्थ बढ़ जायगा और श्रोताको विशेष लाभ भी नहीं होगा, इसलिये इस विचारको यही रोक देते हैं। इतने अंशका निर्देश ग्रन्थ समझनेके लिये आवश्यक है। निष्कर्ष हुआ कि मतभेदसे दो, दोनों या एक उद्देश्य हो सकता है, किन्तु मूलमें 'विविदिषां ज्ञानं वोद्दिश्य' ऐसा पाठ नहीं है, 'ज्ञानं विविदिषां चोद्दिश्य' ऐसा ही पाठ है। इस पाठसे तो ज्ञान और विविदिषा दोनों उद्देश्य प्रतीत होते हैं, सो कैसे हो सकता है, इसकी उपपत्ति नहीं की गई है। इसकी उपपत्ति इस प्रकार है—शुद्ध इच्छाकी उपस्थिति 'विविदिषन्ति' से नहीं है, किन्तु वेदनविशिष्ट इच्छाकी उपस्थिति 'विविदिषन्ति' से है। वेदन और इच्छा दोनों उपस्थित हैं, इसलिये विशिष्टमें यागादि करणत्वका संबन्ध करनेसे विशेषणज्ञान और विशेष्य-इच्छा, इन दोनोंके उद्देश्यसे यागादिकरणत्वका विधान है। इस तात्पर्यसे 'विविदिषां ज्ञानं चोद्दिश्य' यह मूल है। अथवा विविदिषा ज्ञानार्थ है, अतः दोनों उद्देश्य हैं। अब संयोगपृथक्त्वका संक्षिप्त समाधान सुनिये—विशेष जिज्ञासा हो, तो मीमांसा देखिये। उक्त न्यायके स्वरूपमात्रका ज्ञान होनेके लिये यहां थोड़ी विवेचना करते हैं—मीमांसाके चतुर्थाध्यायमें यह विचार है कि 'खादिरे पशुं बध्नाति' 'खादिरं वीर्यकामस्य यूपं कुर्वीत' अग्नीषोमीय पशु बाँधनेके लिये यूपकी आवश्यकता होती है। 'यूपं तक्षति' 'यूपमष्टाश्रीकरोति' इत्यदि वाक्यसे यूपसामान्यका विधान है, किस काष्ठका यूप होना चाहिये, इस जिज्ञासासे 'औदुम्बरो यूपो भवति' 'खादिरो यूपो भवति' इन वाक्योंसे गूलर या खैरका यूप बनाना चाहिये। देशानुसार व्यवस्था है। कहीं खैर सुलभ है, गूलर नहीं, कहीं गूलर सुलभ है, तो खैर नहीं। जहां जो मिल सके वहाँ वही लेना चाहिये। धान और यवके समान विकल्प है। फिर कहा—'वीर्यकामस्य खादिरं यूपं कुर्वीत' (यागद्वारा जिसको बलकी कामना हो, वह खैरका यूप बनावे, यहांपर यह संशय होता है कि खैरका दो बार विधान है। पूर्व वाक्यमें किसी कामनाका निर्देश नहीं है, इसलिये यागमें 'खादिरत्व नित्य

है। दूसरे वाक्यमें 'वीर्यकामस्य' इस फलका निर्देश है, अतः जिसको बलकी कामना हो, सो खैरका यूप बनावे। जिसको न हो, सो न बनावे, इससे खादिरत्व अनित्य सिद्ध होता है। यदि काम्य खादिरत्व है, तो नित्यसे भिन्न तो नहीं कह सकते, अन्यथा नित्यत्व ही भङ्ग हो जायगा। इसलिये एक ही खादिरत्वमें नित्यत्व और काम्यत्व दोनों मानने पड़ते हैं। इसमें कारण कहते हैं—'एकस्य तूभयत्वे संयोगपृथक्त्वम्' [मी. सू.···] एकस्य उभयत्वे—नित्यत्वे नैमित्तिकत्वे च संयोग-पृथत्वं कारणम्—एक ही में उक्त दोनों धर्म हैं, इसमें कारण संयोगपृथक्त्व है। एक संयोग है—खादिरे बध्नाति' और दूसरा संयोग है—'खादिरं वीर्यकामस्य' (वीर्यकाम खादिरका यूप करे)। अतः नित्यार्थमें कामनाके लिये खादिरत्वका विधान है।

शङ्का—पूर्व ही का शेष क्यों नहीं मानते ? खादिरका फल वीर्य है, ऐसा माननेसे वह और यह दोनों एक वाक्य ही है।

समाधान—नहीं, ये दोनों भिन्न अर्थ हैं। जो खादिरका 'बध्नाति'के साथ संयोग है और जो वीर्यके साथ संयोग है, ये दो अर्थ हैं और दोनों विधीच्छा-विषय हैं। एक अर्थ होनेसे एक वाक्य माना जाता है। यहाँ दो अर्थ होनेसे वाक्य भेद होता है। देखिये—'जुहोति'के साथ संयुक्त एक विधिविभक्तिका असंभव होनेसे श्रौत विधानका समभिव्याहृत गुणका विधान हो सकता है। उसके असंभव होनेपर गुणफलसंबन्धका विधान होता है। वाक्यके अनुरोधसे श्रुतिका अत्यन्त त्याग नहीं होता। एक ही कालमें संभवासंभव नहीं होता। इसलिए जो नैमित्तिक है वही नित्यार्थ भी है। सारांश यह है कि एक खादिरत्वका क्रत्वर्थ-पुरुषार्थत्वोभयात्मकत्वमें संयोगपृथक्त्ववचनरूपसे क्रतुशेषत्व फलशेषत्वलक्षण संयोग भेद अर्थ एक खादिरत्व क्रत्वर्थ है और पुरुषार्थ भी है। यज्ञनिष्पादक और बलसंपादक है। प्रथम पक्षमें नित्य है, द्वितीय पक्षमें अनित्य है। 'खादिरो यूपो भवति' इस वाक्यसे नित्य प्रयोगाङ्गसे खादिरत्वका विधान है। 'खादिरं वीर्यकामस्य यूपं कुर्वीत' इस वाक्यसे अनित्य प्रयोगाङ्गत्वेन खादिरत्वका विधान है। नित्य प्रयोगाङ्गत्व और अनित्य प्रयोगाङ्गत्वका एक वाक्यसे बोध करानेमें विरोध है, क्योंकि एकसे क्रत्वर्थका बोधन करायेंगे, तो पुरुषार्थत्वका बोध नहीं करा सकते। पुरुषार्थत्वबोधनपक्षमें क्रत्वर्थत्वका बोध नहीं करा सकते। सकृदुक्त न्यायसे एक वाक्य द्वारा एक ही अर्थका बोध होता है, दो अर्थोंका नहीं। परन्तु यहाँ दो वाक्य हैं, इस लिये उभयबोधनमें क्षति नहीं है, एवं 'दध्ना जुहोति' 'दध्ना जुहुयादिन्द्रिय-

नाशकेन" इति श्रुत्या विविदिषां ज्ञानं चोद्दिश्य संयोगपृथक्त्वन्यायेन सर्वकर्मणां विनियोगात्तत्र चान्तःकरणशुद्धेर्द्वारत्वान्मां प्रति कर्मानुष्ठानं विधीयते। तत्र "तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयत एवमेवामुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते" इति श्रुतिबोधितस्य फलनाशस्य संभवाज्ज्ञानं विविदिषां

कामस्य' इत्यादिमें भी पूर्वोत्तर पक्ष जानना चाहिये। एवं 'चमसेनापः प्रणयेत्' यहाँपर यह अयःप्रणयन क्रत्वर्थ है। 'गोदोहनेनापः प्रणयेत्' इस वाक्यसे विहित अयःप्रणयन पुरुषार्थ है। पूर्व अयःप्रणयन नित्य है और उत्तर अनित्य है। वचनरूपसे एक ही अयःप्रणयनमें नित्यत्व और अनित्यत्व दोनोंका बोधन होता है, अतः दोष नहीं है। प्रकृतमें नित्यकर्मोंका दुरितक्षयके लिये विधान है। जिस फलको उद्देश्य कर जिस कर्मका विधान है उस कार्यका वही फल है, फलान्तर नहीं। आप नित्य कर्मोंको वेदन तथा वेदनेच्छामें कारण कहते हैं, सो कैसे होगा। अर्थात् नित्यत्वानित्यत्वके समान प्रत्यवायशुद्ध्यर्थत्व और मोक्षसाधनज्ञानौपयिकान्तःकरणशुद्धि एतदुभयार्थक कैसे होगा ? इसका उत्तर संयोगपृथक्त्व न्यायसे है। यहाँ भी दो वाक्य हैं,—एक प्रत्यवायानुत्पत्तिबोधक, जो कर्म विधिस्थलमें है और दूसरा 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति' इत्यादि। एकसे प्रत्यवायनिवर्तकत्व और दूसरेसे मोक्षज्ञानोत्पादाङ्गत्वका बोधन है। वचनमें अचिन्त्यशक्ति है, अतः कोई दुर्बोध नहीं है। यद्यपि नित्यकर्मोंका ही ज्ञानोत्पत्तिमें हेतु यहाँ कहा गया है, तथापि आगे इसी न्यायसे काम्य-नैमित्तिक कर्मोंका भी ज्ञानोत्पत्तिमें उपयोग कहेंगे, इस तात्पर्यसे 'सर्वकर्मणां विनियोगात्' यह लिखा है। वाक्यार्थोपयोगी पदार्थोंका निर्णय कर अब मूलपङ्क्तियोंकी व्याख्या करते हैं—] अर्जुन शंका करते हैं कि ब्रह्मवेदनेच्छा यानी ब्रह्म जानने की चाह तथा ब्रह्मज्ञान, इन दोनोंके उद्देश्यसे संयोगपृथक्त्व न्यायसे तत्तत्फलोद्देशसे विहित कर्मोंके भी 'तमेतम्' इत्यादि वाक्यसे विनियोगका विधान है। उक्त यज्ञादि कर्म साक्षात् ज्ञानके उत्पादक नहीं हैं, किन्तु अन्तःकरणशुद्धिद्वारा हैं। अन्तःकरणशुद्धि द्वार है। जैसे,—गृहमें प्रवेश करनेसे पूर्व द्वारमें प्रवेश करना आवश्यक है। इसके बिना गृहप्रवेश नहीं हो सकता। एवं यज्ञादिसे ज्ञानोत्पादनमें अन्तःकरण शुद्धि द्वार है, इसके विना वे ज्ञानसाधन नहीं होते हैं, इसी लिये मुझे कर्मानुष्ठानका उपदेश है कि मेरा अन्तःकरण कर्मोंसे शुद्ध हो, तदनन्तर मुझको ज्ञानप्राप्ति हो। परन्तु इस प्रकार ज्ञानोत्पत्तिकी आशा हमको नहीं है, अत एव वक्ष्यमाणमें मेरी प्रवृत्ति न हो सकेगी।

चोद्दिश्य क्रियमाणस्य यज्ञादेः काम्यत्वात्सर्वाङ्गोपसंहारेणानुष्ठेयस्य यत्किंचिदङ्गासंपत्तावपि वैगुण्यापत्तेर्यज्ञेनेत्यादिवाक्यविहितानां च सर्वेषां कर्मणामेकेन पुरुषायुषपर्यवसानेऽपि कर्तुमशक्यत्वात्कुतः कर्मबन्धं प्रहास्यसीति फलं प्रत्याशेत्यत आह भगवान्—'**नेहाभिक्रम०**' इति।

अभिक्रम्यते कर्मणा प्रारभ्यते यत्फलं सोऽभिक्रमस्तस्य नाशस्तद्यथेहे-

---

प्रश्न—क्यों आशा नहीं है ?

उत्तर—'तद्यथेह कर्मचितः' इत्यादि। पहिले तो कर्मजन्य फल ही अनित्य है। जैसे इस लोकमें कृष्यादिकर्मसंपादित धान्यादि फल अनित्य है वैसे ही यागादिकर्मजन्य परलोकमें स्वर्गादि फल भी विनाशी है। श्रुत्यनुसारी अनुमानसे भी यही सिद्ध होता है। देखिये—स्वर्गो विनाशी, भावत्वे सति कर्मजन्यत्वात्, कृष्यादिफलवत्। ध्वंसमें व्यभिचारवारणार्थ 'भावत्व' विशेषण है। कर्मोपादान श्रुत्यादरार्थ उपरंजकमात्र है। जन्यत्वमात्रमें तात्पर्य है। दूसरा कारण यह है कि यज्ञादिके उद्देश्यसे क्रियमाण यज्ञादि काम्य कर्मके साधन इतिकर्तव्यतामें कुछ भी विगुणता—अन्यथाभाव होगा, तो याग ही विगुण हो जायगा। विगुण यागसे फल नहीं होता, अतएव जहां यागसे फल नहीं हुआ, वहाँ व्यभिचारवारणार्थ 'न कर्तृकर्मसाधनवैगुण्यात्' इस न्यायसूत्रसे उक्त वैगुण्यत्रय फलाभावमें कारण कहा गया है। सब अङ्गोंका यथार्थ अनुष्ठान करो, जिससे वैगुण्य न हो, यह तो कहने-सुननेकी बात है। मनुष्यमें भ्रमप्रमादादिके कारण किसी अनुष्ठानमें कुछ वैगुण्य न होने देंगे, यह कहना भी अनुचित ही है। दुरदृष्टवश किसी अनुष्ठेयादिमें कुछ वैगुण्य होगा, जिसकी प्रायः संभावना रहती है, तो सब गुड़ गोबर हो जायगा। केवल परिश्रम ही हाथ लगेगा, जो फलके बिना सबको अनिष्ट है। तीसरा कारण यह है—जिसके स्मरणसे ही यह कार्य बाहुसे समुद्र तरणके समान अशक्य प्रतीत होता है, 'यज्ञेन' इत्यादि श्रुतिसे विहित यज्ञदानतपःप्रभृति सकल कर्मोंका अनुष्ठान। एक मनुष्य समर्थ होनेपर भी अपनी आयु भरमें भी नहीं कर सकता, फिर वह कैसे इनके द्वारा कर्मबन्धसे छुटकारा पा सकता है ? इस शंका का भगवान् उत्तर देते हैं—'**नेहाभिक्रम०**' इत्यादिसे। कर्मसे प्रारब्ध होता है, सो अभिक्रम है। 'तद्यथेह' इत्यादि श्रुतिप्रतिपादित विनाश इसका नहीं होता अर्थात् निष्काम कर्मयोगका विनाश नहीं होता।

त्यादिना प्रतिपादित इह निष्कामकर्मयोगे नास्ति, एतत्फलस्य शुद्धेः पाप-क्षयरूपत्वेन लोकशब्दवाच्यभोग्यत्वाभावेन च क्षयासंभवात्। वेदनपर्यन्ताश

प्रश्न—क्यों ?

उत्तर—'कर्मचितो लोकः' इस श्रुतिमें 'लोक' शब्दका प्रयोग है। 'यः कर्मचितः स क्षीयते' ऐसा ही कहना उचित था, क्योंकि कर्मजन्यत्वावच्छेदेन विनाशित्वबोधन उक्त श्रुतिका अर्थ है, यह आप कहते हैं और मानते भी हैं, फिर 'लोक' पदका प्रयोग क्यों किया गया ? व्यर्थ तो कह नहीं सकते, अतः 'लोक' शब्द भोग्यका बोधक है। कर्मजन्य भोग्य कोई भी अभिनाशी नहीं है। भोग्यातिरिक्त कर्मजन्य अविनाशी यदि कोई हो, तो उसका निषेध श्रुति नहीं करती, प्रत्युत उसकी सत्ता मानती है। अतः इसकी व्यावृत्तिके लिए 'लोक' शब्दका स्वयं प्रयोग किया है।

प्रश्न—निष्काम कर्मजन्य फल भोग्य क्यों नहीं है ? अभोगजनक कर्मानुष्ठानमें विद्वानोंकी प्रवृत्ति कैसे होगी ? 'नहि प्रयोजनमनुद्दिश्य मन्दोऽपि प्रवर्तते' तथा मनु भगवान्‌ने भी कहा है कि 'न कुर्याच्च वृथा चेष्टाम्' अर्थात् जिससे सुखप्राप्ति या दुःखनिवृत्ति न हो, ऐसी चेष्टा वृथा है। वह नहीं करनी चाहिये।

उत्तर—ठीक है, यह फल चित्तशुद्धि है, जो पापक्षयात्मक है। भावभूत पदार्थ नहीं है। अतएव भोग्य भी नहीं है। अभावका उपभोग कहाँ ? इसीसे इसकी निवृत्ति नहीं होती। दण्डप्रहारजन्य घटनिवृत्ति उक्त कारणजन्य है। परन्तु उसका विनाश नहीं होता, अन्यथा घटका पुनः प्रादुर्भाव हो जायगा। अतएव 'जन्य विनाशी, भावत्वात्, घटादिवत्' यह अनुमान साधु है। विनाशित्वकी व्याप्ति केवल जन्यत्वके साथ नहीं, किन्तु जन्यत्वविशिष्ट भावत्वके साथ है। जन्य भावमात्र अनित्य होता है। पापक्षय भावस्वरूप नहीं है, किन्तु अभावस्वरूप है। अतएव विनाशी नहीं है। ज्ञानेच्छा विविदिषा है। फलोत्पत्तिके अनन्तर इच्छाकी निवृत्ति होती है, वह अनुभवसिद्ध है। ज्ञान उत्पन्न होकर स्वाव्यवहितोत्तरक्षणमें अज्ञानका नाश करेगा। तदनन्तर स्वयं नष्ट हो जायगा, तो कोई भय नहीं है। मोक्षप्राप्त्य-नन्तर सकल द्वैतकी निवृत्ति इष्ट ही है। फल दिये बिना अज्ञानका विना नाश किये ज्ञान नष्ट हो जायगा, इसकी संभावना ही नहीं है। अज्ञाननिवृत्तिरूप फल ज्ञानका है, इसका तो नाश ही नहीं होगा। नाशका नाश मानें, तो अनवस्था होगी और

एव विविदिषायाः कर्मफलत्वाद्वेदनस्य चाव्यवधानेनाज्ञाननिवृत्तिफलजनकस्य फलमजनयित्वा नाशासंभवादिह फलनाशो नास्तीति साधूक्तम्। तदुक्तम्—

"तद्यथेहेति या निन्दा सा फले न तु कर्मणि।
फलेच्छां तु परित्यज्य कृतं कर्म विशुद्धिकृत्" इति॥

प्रतियोग्युन्मज्जनापत्ति भी होगी। कर्मयोगका फल ब्रह्मज्ञान और तद्बुद्धिविविदिषा, ये दोनों बिना 'फल' दिये नहीं नष्ट होंगे। विविदिषाका फल ब्रह्मसाक्षात्कारात्मक ज्ञान है। फलसिद्धिके बिना इच्छाका नाश नहीं होता। फलसिद्धि ही इच्छाकी नाशक मानी जाती है। इसमें सन्देह ही नहीं है। ज्ञानका फल अज्ञाननाश है, सो ज्ञानोत्पत्ति-अनन्तरक्षणमें नियत ही है, फिर उसका नाश नहीं होता। अन्तिम फलसदृश मोक्ष है, सो नित्य ही है। अतएव भगवान्‌ने ठीक ही कहा है—'नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति' इत्यादि। अभियुक्तोंका यह कथन है कि 'तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयत' इत्यादिसे कर्मफल क्षयी है, यह निन्दा फलकी की गई है, कर्मकी नहीं। निन्द्यकी निन्दा निन्दार्थ नहीं की जाती। बेमतलबकी निन्दा करना अनुचित है, अतएव शिष्टजनोपेक्ष्य है। किन्तु त्यागके लिये निन्दा की जाती है, जो त्याज्य है उसमें त्यागेच्छा उत्पादनार्थ निन्दा की जाती है। निन्द्यदोषोंको देखकर पुरुष उसमें प्रवृत्त नहीं होगा। कर्मफलकी निन्दासे उसका ही त्याग विवक्षित है, कर्मका नहीं, क्योंकि उसकी निन्दा ही नहीं की गई है।

शङ्का—यदि कर्मफल निंद्य होनेसे त्याज्य है, तो कर्म करेंगे ही क्यों? कर्म तो स्वतः पुरुषार्थ नहीं है, तत्फल पुरुषार्थ होता है, सो त्याज्य ही है।

समाधान—फलत्यागपूर्वक कर्मानुष्ठानका फल अन्तःकरणशुद्धि है, तदर्थ कर्मानुष्ठान करना चाहिये।

शङ्का—यह तो बालवञ्चनामात्र है।

समाधान—क्यों?

'यमधिकृत्य पुरुषः प्रवर्तते तत्प्रयोजनम्' यह न्यायसूत्र है (जिसके उद्देश्यसे पुरुष प्रवृत्त होता है, सो प्रयोजन या फल है) फल और प्रयोजन एकार्थक है। बिना फलकी इच्छासे किसी कर्ममें अविक्षिप्तकी प्रवृत्ति नहीं होती। चेतनप्रवृत्तिमात्रमें इष्टसाधनताज्ञान कारण है, 'न हि फलमनुद्दिश्य मन्दोऽपि प्रवर्तते' यह तो कर्म प्रसिद्ध है। अतः यदि अन्तःकरणशुद्धिकामनासे कर्म करेंगे, तो वही फल हुआ, अतः यह साभिसन्धि कर्म ही हुआ, निरभिसन्धि नहीं। यदि उसकी भी

तथा प्रत्यवायोऽङ्गवैगुण्यनिबन्धनं वैगुण्यमिह न विद्यते, तमितिवाक्येन नित्यानामेवोपात्तदुरितक्षयद्वारेण विविदिषायां विनियोगात्। तत्र च

इच्छाका त्याग कर कर्म करे, तो इष्टसाधनताज्ञान प्रवृत्तिमें कारण है, इसका व्यभिचार होगा। जो यह नहीं जानता कि निरभिसन्धि कर्मसे मनःशुद्धि होती है उसकी फलेच्छाके बिना किसी विहित कर्ममें प्रवृत्ति नहीं होती, फिर यह भी विचारणीय है कि कर्मयोगमें पक्व, पच्यमान तथा पक्ष्यमाण कर्मोंपर दृष्टि भी रखनी पड़ती है। इतने मेरे कर्म पक्व हुये, इतने पच्यमान हैं और इतने पक्ष्यमाण हैं, ऐसी दृष्टि रहनेपर फलत्याग कहा गया है। शब्दसे न कहे, पर मनःशुद्धिरूप फलकी इच्छा ही से कर्म करेगा, इसलिये निरभिसन्धि कर्मानुष्ठान ही नहीं हो सकता।

हाँ, यह तो है, परन्तु शास्त्रमें निरभिसन्धि कर्मानुष्ठानका विधान है इसलिये ऐसा होता ही नहीं, ऐसा कहना ठीक नहीं है। विचित्र संसार है इसलिये हम ऐसा न कर सकें, यह तो कहना ठीक है, पर कोई भी पुरुष निरभिसन्धि नहीं कर सकता, यह कहना साहसमात्र है। अथवा—निरभिसन्धिका अर्थ है,—भोग्यफलेच्छाभाव। भोग्यफलेच्छासे जो कर्म किया जाता है, उसका फल विनाशी है। अन्तःकरणशुद्धि दुरिताभावात्मक है। दुरिताभाव भोग्य नहीं है, अतः इस इच्छासे जो कर्म किया जाता है, सो निरभिसन्धि कर्म है। इस अर्थमें कोई दोष नहीं है।

अङ्गवैगुण्यसे अङ्गिवैगुण्यकी आशंकाकी निवृत्ति करते हैं—'प्रत्यवायो' इत्यादिसे। अङ्गका वैगुण्य कर्तृवैगुण्यसंस्कारोपहतत्वानधिकारित्वायथाविहितकारित्वादि है। साधनवैगुण्य व्रीहीत्यादि साधनमें अन्यायोपार्जितत्वामेध्यत्वादि है। कर्मवैगुण्य यथाविहितानुष्ठानत्वाभाव न्यूनाधिकाङ्गोपेतत्वादि है। यह 'कर्तृकर्मसाधनवैगुण्यात्' इस न्यायसूत्र में स्पष्ट है। उक्तवैगुण्य की इसमें आशंका नहीं है।

प्रश्न—क्यों ?

उत्तर—'तमेतम्' इत्यादि श्रुतिवाक्यसे दिनदिन उपचीयमान दुरितनिवृत्त्यर्थ नित्य कर्मोंका ही विविदिषामें विनियोग कहा गया है, काम्यादिका नहीं। नित्यकर्मानुष्ठानमें यह नियम नहीं है, कि यावद्विहित कर्मका अनुष्ठान करे, किन्तु उसमें यह स्वतन्त्रता है कि जितना हो सके उतना ही करो, छोड़ो मत। संन्ध्यावन्दनोत्तर अष्टोत्तर शत गायत्री जपनेसे प्रत्यवाय न होगा। यदि उतनेका भी समय न मिले, तो आठ बार ही जप करे। इस प्रकार न्यून वा अधिक अङ्गवैकल्यसे नित्य कर्ममें वैकल्य

सर्वाङ्गोपसंहारनियमाभावात्। काम्यानामपि संयोगपृथक्त्वन्यायेन विनियोग इति पक्षेऽपि फलाभिसंधिरहितत्वेन तेषां नित्यतुल्यत्वात्। न हि काम्यनित्याग्निहोत्रयोः स्वतः कश्चिद्विशेषोऽस्ति। फलाभिसंधितदभावाभ्यामेव तु काम्यत्वनित्यत्वव्यपदेशः। इदं च पक्षद्वयमुक्तं वार्तिके—

"वेदानुवचनादीनामैकात्म्यज्ञानजन्मने।
तमेतमितिवाक्येन नित्यानां वक्ष्यते विधिः॥
यद्वा विविदिषार्थत्वं काम्यानामपि कर्मणाम्।
तमेतमिति वाक्येन संयोगस्य पृथक्त्वतः॥" इति॥

नहीं है। प्रत्यवायनिवृत्ति दोनोंमें सम है, इस लिये कहते है कि सर्वाङ्गोपसंहारका नियम नित्य कर्ममें नहीं है। [विहित सब अङ्गोंका अनुष्ठान द्वारा अङ्गीके साथ संबन्धस्पर्श सर्वाङ्गोपसंहार है। विहित पूर्वोत्तराङ्गसमुदायका बिना विलम्बके अनुष्ठान करना चाहिये, यह निष्कर्ष है।] जिस संयोगपृथक्त्वन्यायसे नित्य कर्मोंका विनियोग विविदिषामें कहा गया है उसी न्यायसे काम्य कर्मोंका भी विविदिषामें विनियोग है, इस पक्षमें भी कोई दोष नहीं है।

प्रश्न—क्यों ?

उत्तर—काम्य फलोंकी अपेक्षा न कर उनका अनुष्ठान करेंगे, तो वे भी नित्यकर्मतुल्य ही हुये। [इन दोनोंमें भेद तो यही था कि नित्य कर्मोंका अनुष्ठान फलकामनाके बिना किया जाता है और काम्य कर्मोंका अनुष्ठान कामनासे होता है। यदि इनका भी कामना छोड़कर अनुष्ठान किया जाय, तो दोनों फलाभिसन्धिशून्य पुरुषकर्तृकत्वेन सम हैं। साम्यमें दृष्टान्त कहते हैं—'नहि' इत्यादिसे।] 'अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकामः' यह काम्य अग्निहोत्र है। स्वर्गकामी पुरुष इसका अनुष्ठान करता है। जिसको स्वर्गसुख की इच्छा नहीं रहती वह नहीं करता। न करनेमें कोई प्रत्यवाय नहीं लगता। 'यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति' यह नित्य अग्निहोत्र है। इसमें फलकामनाका निर्देश नहीं है। जीवन इसमें निमित्त कहा गया है। इन दोनों अग्निहोत्रोंमें द्रव्य-देवतादिप्रयुक्त भेद नहीं है। दोनोंके देवता द्रव्यादि सम हैं, फिर भी एक नित्य है और दूसरा काम्य है। इस भेदका कारण केवल कामना और तदभाव है। कामना त्याग दी जाय, तो दोनोंमें कोई भेदक नहीं रहा। इसलिये काम्य भी नित्यतुल्य हुआ। कामनाशून्यत्व दोनोंमें है। ये दोनों पक्ष वार्तिकमें 'वेदानुवचनादीनां०' इत्यादिसे कहे गये हैं। नित्य कर्मोंका विविदिषामें विनियोग

तथा च फलाभिसंधिना क्रियमाण एव कर्मणि सर्वाङ्गोपसंहारनियमा-त्तद्विलक्षणं शुद्ध्यर्थे कर्मणि प्रतिनिध्यादिना समाप्तिसंभवान्नाङ्गवैगुण्य-

है, काम्यका नहीं; यह प्रथम पक्ष है। काम्य कर्मोंका भी उक्त रीतिसे विविदिषामें विनियोग होता है—ये दो पक्ष वार्तिकमें हैं। प्रथम श्लोकका अर्थ यह है—और ब्रह्मैक्यात्म्यज्ञानोत्पत्तिके लिये—'अहं ब्रह्माऽस्मि' इस ज्ञानोत्पत्तिके लिये 'तमेतं वेदानुवचनेन' इत्यादि वाक्यसे वेदानुवचन यज्ञदानादि नित्य कर्मोंका विविदिषामें विनियोग कहेंगे। ['यद्वा' से द्वितीय पक्ष कहते हैं—] विविदिषामें काम्य कर्मोंका भी संयोगपृथक्त्वन्यायसे 'तमेतम्' इत्यादि वाक्यसे विनियोग है। फलेच्छासे काम्य कर्मानुष्ठानमें ही सर्वाङ्गोपसंहारका नियम है, तद्विलक्षण जो अन्तःकरणशुद्धिके लिये कर्म किया जाता है, उसमें अङ्गवैगुण्यकी संभावना बहुत कम है या है ही नहीं। क्योंकि इच्छानुसार उसका अनुष्ठान होता है। [धूपाभावे अक्षतं समर्पयामि, जैसे ...भावमें भी उक्त प्रतिनिधि हो सकता है, यद्यपि काम्य कर्ममें यजमानका प्रतिनिधि नहीं होता। इसका विचार मीमांसामें विस्तृत है कि किसके प्रतिनिधि हो सकते हैं, किसके नहीं। यहां उनका विचार करें, तो ग्रन्थकलेवर बहुत बढ़ जायगा, इसलिये वह छोड़ देते हैं। नित्यकर्ममें कर्ताका भी प्रतिनिधि होता है—'हावयेन्न तु हापयेत् स्वामिनोऽस्ति प्रतिनिधिर्न वा द्रव्यवदस्ति सः। न मृते प्रेरकाभावाज्जीवनेऽप्यपरस्वतः॥' यह धर्मशास्त्रका वचन है। नित्याग्निहोत्रीको यदि अशौच हो जाय, या ज्वरादिसे स्नानादिमें असमर्थ तथा कर्म करनेमें भी असमर्थ हो, तो अग्निहोत्र दूसरेसे करावे। अथवा अग्निहोत्र ही तबतकके लिये बन्द कर दे, जबतक कि वह समर्थ न हो जाय; इस संशयसे पूर्वपक्ष है कि कर्ताका प्रतिनिधि नहीं होता, इसलिये कर्मको ही बन्द करना उचित है। उत्तरपक्ष है कि काम्यकर्ममें कर्ताके प्रतिनिधिका निषेध है, क्योंकि 'शास्त्रदेशितं फलमनुष्ठातरि' इस मी० सूत्रसिद्धान्तके अनुसार कर्मका फल कर्त्ताको होता है, दूसरेको नहीं। इसलिये यदि कर्ताका प्रतिनिधि मानकर कर्म किया जायगा, तो यजमानको फल नहीं होगा, इसलिये यजमानका प्रतिनिधि नहीं होता। नित्य कर्ममें तो यह शंका नहीं हो सकती, क्योंकि इसमें फल है ही नहीं। अतः इसमें किसी योग्यको प्रतिनिधि बनाकर अग्निहोत्र कर्म करावे। 'हावयेन्न तु हापयेत' किसीके द्वारा हवन करावे, त्याग न करे। 'हुदानादानयोः' और 'ओहाक् त्यागे' इन धातुओंसे णिच् प्रत्ययकर लिङ् लकारमें 'हावयेत्' 'हापयेत्' रूप बनते हैं। इस तात्पर्यसे कहते हैं कि कर्त्ताका भी प्रतिनिधि

निमित्तः प्रत्यवायोऽस्तीत्यर्थः। तथाऽस्य शुद्धयर्थस्य धर्मस्य तमेतमित्यादिवाक्यविहितस्य स्वल्पमपि संख्ययेतिकर्तव्यतया वा यथाशक्तिभगवदाराधनार्थं किंचिदप्यनुष्ठितं सन् महतः संसारभयात्त्रायते भगवत्प्रसादसंपादनेनानुष्ठातारं रक्षति।

"सर्वपापप्रसक्तोऽपि ध्यायन्निमिषमच्युतम्।
भूयस्तपस्वी भवति पङ्क्तिपावनपावनः" ॥

इत्यादिस्मृतेः'। तमेतमिति वाक्ये समुच्चयविधायकाभावाच्चाशुद्धितारत-

नित्यकर्ममें होता है, अतः किसी कारणसे स्वयं न कर सके, तो प्रतिनिधिके द्वारा कर्म समाप्त हो जाता है, इसलिये अङ्गवैगुण्यादि दोषकी सम्भावना नहीं है। यद्यपि नित्यकर्मकी समाप्ति जीवनसमाप्तिपर ही होती है, मध्यमें समाप्ति नहीं होती, तथापि काम्यकर्मोंका सावधिक होनेपर भी फल त्यागकर अनुष्ठान करनेसे नित्य तुल्य है,] इसलिये इनकी समाप्ति प्रतिनिधिद्वारा भी हो जाती है, अतः अङ्गवैगुण्य-प्रयुक्त प्रत्यवाय नहीं है, यह अर्थ है। शुद्धयर्थ अनुष्ठीयमान 'तमेतम्' इत्यादि वाक्यविहित वेदानुवचन यज्ञ-दान-तप प्रभृतिमें संख्यापेक्षासे या इतिकर्तव्यतापेक्षासे थोड़ा भी [अष्टोत्तरशतकी अपेक्षा आठ बार संख्यासे न्यून है। षोड़शोपचार पूजा न हो सके, तो पञ्चोपचार ही पूजा करे, इत्यादि कुछ अङ्गोंका त्याग कर अङ्गीका अनुष्ठान करे, इस प्रकार इतिकर्तव्यता से थोड़ा हुआ] यथाशक्ति परमेश्वरप्रसादके लिये कुछ भी जो अनुष्ठित होता है, सो बड़े संसारभयसे रक्षा करता है। भगवत्प्रसादकर होनेसे थोड़ा भी यथातथा कृत कर्म करनेवालेकी रक्षा करता है। इसमें 'सर्वपापः' इत्यादि स्मृति प्रमाण है। सब पापोंमें प्रसक्त भी पुरुष क्षणभर भी अच्युत भगवान्‌का ध्यान करता हुआ फिर तपस्वी हो जाता है।

प्रश्न—कैसा तपस्वी होता है ?

उत्तर—पङ्क्तिपावनपावनः *—पङ्क्तिपावनोंको भी पवित्र करनेवाला।

[यज्ञ, दान, तप, वेदानुवचन आदि सकल कर्मोंका एक जन्ममें अनुष्ठान ही अशक्य होनेसे कर्मयोगबुद्धिसे उक्तानुष्ठान असम्भव है, इस शङ्काकी निवृत्ति करते हैं—] 'तमेतम्' इत्यादि वाक्यमें सब कर्मोंके समुदायका विधान नहीं है,

* पंक्तिपावनका लक्षण मनु भगवान्‌ने तृतीयाध्यायके १८३ वें श्लोकसे उपक्रमकर कहा है—'अपांक्तयोपहतापंक्तिः पाव्यते यैर्द्विजोत्तमैः। तान्निबोधत कार्त्स्न्येन द्विजाग्र्यान् पंक्ति-

म्यादेवानुष्ठानतारतम्योपपत्तेर्युक्तमुक्तं कर्मबन्धं प्रहास्यसीति ॥ ४० ॥

किन्तु इनमें जिससे जितना हो सके, उतना ही करे। [हाँ, यह आवश्यक है कि जिस पुरुषके अन्तःकरणमें जितनी अधिक अशुद्धियाँ हैं उसको अधिक कर्मोंके अधिक कालतक अनुष्ठानकी आवश्यकता है। जिनकी अशुद्धियाँ कम हैं उनको कर्मानुष्ठान कम अपेक्षित है। इस तात्पर्यसे कहते हैं—] अशुद्धितारतम्यन्यूनाधिक्यसे ही कर्मानुष्ठानमें तारतम्यसे अन्तःकरणशुद्धिकी उपपत्ति हो जाती है, इसलिए 'कर्मबन्धं प्रहास्यसि' यह भगवदुपदेश युक्तियुक्त है ॥ ४० ॥

पावनान् ॥' साथ भोजन करनेमें अयोग्यस्तेनादि यदि एक पंक्तिमें भोजन करें, तो वह पंक्ति दूषित हो जाती है। उसको पवित्र करने वाले ब्राह्मणोंमें जो श्रेष्ठ हैं, उन सबको कहते हैं, सुनिये—'अग्र्याः सर्वेषु वेदेषु सर्वप्रवचनेषु च। श्रोत्रियान्वयजाश्चैव विज्ञेयाः पंक्तिपावनाः॥' चारों वेदोंमें श्रेष्ठ चतुर्वेदाध्ययनकुशलमति ब्राह्मण पंक्तिपावन हैं, जो सर्वप्रवचन-सहित वेदाङ्गवेत्ता हों, साङ्ग चतुर्वेदाभिज्ञ हों, एवं श्रोत्रियकुलोत्पन्न भी हों वे पंक्तिपावन हैं। 'वेदवित्प्रवक्ता च ब्रह्मचारी सहस्रदः। शतायुश्चैव विज्ञेयो ब्राह्मणाः पंक्तिपावनाः॥' यदि वेदको गुरुमुखसे सम्यक् न पढ़ा हो, गुरूपदेशसे वेदार्थ जानता हो, उसका प्रवचन करता हो, ब्रह्मचारी—प्रथमाश्रमी हो, सहस्रदायी हो, यद्यपि देय पदार्थका निर्देश नहीं है कि क्या दे? 'गावो वै यज्ञस्य मातरः' इस श्रुतिसे गौकी स्तुतिकी गई है, इसलिये सहस्र गौका बहुप्रदमें उपलक्षण है। शतवर्षजीवी हो तथा जो श्रोत्रिय हो, सो ब्राह्मण पंक्तिपावन है।

शङ्का—उसको भी पवित्र करनेवाला अच्युतध्यान कर्ता है, वह सब पापोंसे युक्त हो और क्षण भर ही ध्यान करे, तो उक्त रूप है। इस प्रकारके श्लोकोंसे मनुष्यका हित या अहित है, इसका विद्वान् लोग स्वयं विचार करें। यदि यह ठीक है, तो किसी पाप कर्मसे डरना नहीं चाहिये। अच्युतध्यान मानसी क्रिया है, साक्षात्कार तो है नहीं, फिर प्रायश्चित्तके करनेमें क्या देर? यदि यह कहिये कि शुद्ध तो हो जायगा, किन्तु कृत कर्मोंका फल भोगना ही पड़ेगा। तत्फलभोगसे निवृत्ति तो नहीं कही गई है।

समाधान—शुद्धि तो पापनिवृत्ति होनेपर ही हो सकती है। यदि पूर्ववत् स्थित हैं, तो शुद्धि कहाँ? यदि वे फल दिये बिना ही अच्युत-स्मरणसे निवृत्त हो गये, तो फिर दुष्कर्म-भोगका भय कैसा? यदि भक्तविशेषके लिये उक्त श्लोक है, सर्वसाधारणके लिये नहीं, तो उसकी विशेषताको ही पवित्रका हेतु कह सकते हैं, क्योंकि वह अव्यभिचरित है और भक्त क्षणमात्र ही क्यों ध्यान करेगा, इत्यादिसे यह अर्थवाद है अथवा विधि है, यह अपनी बुद्धिके अनुसार विद्वान् स्वयं विचार करें।

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन ।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥४१॥

हे कुरुनन्दन, इस मोक्षमार्गमें आत्मतत्त्वनिश्चयात्मक बुद्धि एक ही है, जो चारों आश्रमोंके पुरुषोंके लिए साध्य विवक्षित हैं तथा अव्यवसायी पुरुषोंकी–प्रमाणजनितविवेकबुद्धिरहित कामियोंकी बुद्धियां बहुत शाखाओंवाली अनन्त हैं ॥ ४१ ॥

एतदुपपादनाय तमेतमितिवाक्यविहितानामेकार्थत्वमाह—'व्यवसायात्मिका' इति । हे कुरुनन्दन, इह श्रेयोमार्गे तमेतमितिवाक्ये वा व्यवसायात्मिकाऽऽत्मतत्त्वनिश्चयात्मिका बुद्धिरेकैव चतुर्णामाश्रमाणां साध्या विवक्षिता,

उक्तार्थोपपत्तिके लिये 'तमेतम्' इत्यादिवाक्यविहित यज्ञ, दान आदि एकार्थक हैं, यह कहते हैं—'व्यवसायात्मिका' इत्यादिसे। हे कुरुनन्दन, इस श्रेयोमार्ग—मोक्षमार्गमें अथवा 'तमेतम्' इस वाक्यमें व्यवसायात्मिका–आत्मतत्त्वनिश्चयात्मिका बुद्धि एक ही है। विशिष्ट अवसायस्तत्त्वनिश्चयः आत्माऽस्या इति व्यवसायात्मिका। बुद्धि—अन्तःकरणवृत्ति यानी 'अहं ब्रह्माऽस्मि' इस वाक्यसे उत्पन्न ब्रह्माकारान्तःकरणवृत्ति, जो समस्त वृत्तियोंको बाधकर उत्पन्न होती है, सो एक ही है। यह बुद्धि चारों आश्रमविहित कर्मोंसे साध्य है। [वेदानुवचन—वेदाध्ययन, यह ब्रह्मचर्याश्रममें प्रधान है। यज्ञ और दान, ये दोनों गृहस्थाश्रममें प्रधान हैं। 'पत्नीसे प्रत्यवेक्षित आज्य होता है, इसके अनुसार आज्यसंस्कारार्थ प्रत्यवेक्षण आवश्यक है। अतः ब्रह्मचर्य और संन्यासमें याग नहीं हो सकता। वैखानसमें भी पत्नीका रहना आवश्यक नहीं है। वह केवल कामनाशनतपःप्रधान है, अतः यज्ञ, दान गृहस्थाश्रममें प्रधान है। संन्यास तो मुख्य ही है। ये यज्ञदानादि तत्तत् आश्रमविहित कर्मोंके उपलक्षण हैं। निरभिसन्धितत्तदाश्रमविहित निखिल कर्मोंसे अज्ञाननिवर्त्तक ब्रह्मात्मैक्यसाक्षात्कार होता है।

शङ्का - यदि निखिल कर्मोंसे यह बुद्धि होती है, यह माना जाय, तो 'ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत्' इस वाक्यसे यह कहा गया कि यदि अन्तःकरण ब्रह्मचर्याश्रममें ही पवित्र हो गया हो, तो गृहस्थाश्रम ग्रहण करनेकी आवश्यकता नहीं है। उसी आश्रममें व्यवसायात्मक बुद्धिके उत्पादनार्थ श्रवण, मनन आदि करे; ऐसा करनेसे गृहस्थाद्याश्रमादि कर्म नहीं हुये, अतः सकल कर्मोंसे अन्तःकरण शुद्धि कैसे ?

"वेदानुवचनेन" इत्यादौ तृतीयाविभक्त्या प्रत्येकं निरपेक्षसाधनत्वबोधनात्। भिन्नार्थत्वे हि समुच्चयः स्यात्। एकार्थत्वेऽपि दर्शपूर्णमासाभ्यामितिवद्द्वंद्वस-

समाधान—इसका अर्थ यह नहीं है कि तावत्कर्मसमुदायसे उक्त बुद्धि होती है। समुदायबोधक शब्द नहीं है। जहाँ समुदायमें कारणत्व विवक्षित होता है वहाँ द्वन्द्व समास या चकारका निर्देश रहता है, यह आगे स्पष्ट होगा।] यहाँपर 'यज्ञेन दानेन' इत्यादिसे प्रत्येक साधनके आगे तृतीया विभक्तिका निर्देश है, इसलिये वेदानुवचन इतरनिरपेक्ष उस बुद्धिमें कारण है। [जन्मान्तरानुष्ठित यज्ञ-दानादिसे जिसका मन शुद्ध है, उसके लिये केवल वेदानुवचन ही उक्त बुद्धिके लिये अपेक्षित है। एवं गृहस्थाश्रमादिमें पूर्वजन्मार्जित ब्रह्मचर्याश्रमकर्मपरिनिष्ठित मनवालेको गृहस्थाद्याश्रमविहित यज्ञ-दानादिसे ही उक्त बुद्धि होती है। इतराश्रमकर्मकी उस अवस्थामें आवश्यकता नहीं रहती। जो उक्तस्वरूप नहीं है उनके लिये दोनों आश्रमकर्मोंकी ज़रूरत है। एवं उत्तरोत्तर आश्रममें भी समझ लेना चाहिये। शुक, वामदेव आदिको ब्रह्मचर्याश्रमकर्मोंकी भी आवश्यकता नहीं हुई। अतः अन्तःकरणाशुद्धितारतम्यसे एक दो तीन या चारों आश्रमकर्मोंकी अपेक्षा है। यदि प्रत्येकमें कारणत्व न माना जाय, तो किसीको प्रथम आश्रममें किसीको द्वितीयमें, किसीको तृतीयमें और किसीको चतुर्थमें तत्त्वज्ञान होता है। किसीको किसीमें नहीं, यह व्यवस्था नहीं बन सकेगी। इस तात्पर्यसे 'वेदानुवचनादि' को प्रत्येक मात्रमें कारणत्वबोधनके लिये इतरनिरपेक्ष कहा। यज्ञ, दान आदि निरपेक्ष वेदानुवचन ही केवल उक्त बुद्धिमें कारण है। एवं वेदानुवचनादिनिरपेक्ष यज्ञ-दानादि ही उसमें कारण है, अतः प्रत्येकमें कारणत्व है।

शङ्का—'देवदत्तः काष्ठैः स्थाल्यां तण्डुलं पचति' यहाँपर एक ही पाकके लिये सब कारकोंका व्यापार होता है, परन्तु पाककारणता कारकव्यापारसमुदायमें है, एकैकव्यापारमें नहीं। अन्यथा काष्ठाद्यभावदशामें भी पाकापत्ति हो जायगी। तद्वत् यहाँ समुदायमें कारणत्व क्यों नहीं? एकैकाश्रममें जहाँ तत्त्वज्ञानोत्पत्ति होती है वहाँ जन्मान्तरानुष्ठित कर्म कह सकते हैं।

समाधान—'भिन्नार्थत्वे' इत्यादि। भाव यह है कि जहाँ प्रधानफल-निष्पादक व्यापार भिन्न भिन्न होते हैं वहाँ एक कारकके न रहनेपर प्रधानोत्पादक तदीय व्यापार नहीं होता, अतः प्रधान फल भी नहीं होता। जैसे कि उक्त उदाहरणमें कर्तृ-कर्म-करणादिव्यापार भिन्न है, कर्ताका व्यापार काष्ठोत्क्षेपण फूत्कारादि,

मासेन यदग्नये च प्रजापतये चेतिवचशब्देन न तथाऽत्र किंचित्प्रमाणमस्तीत्यर्थः।

कर्मका शिथिलावयवसंयोगानुकूल व्यापार और करणका प्रज्वलनानुकूल व्यापार है। इन सब भिन्न-भिन्न स्वकीयावान्तरव्यापार द्वारा उक्त कारणकलाप पाकके साधक हैं। इनमें एकका व्यापार न हो, तो पाक नहीं हो सकता, इसलिये यहाँ समुदायत्वेन कारणता मानी जाती है, सो ठीक ही है, यहाँ प्रधानीभूत फल है व्यवसायात्मक बुद्धि। यज्ञदानादि चित्तशुद्धिद्वारा इसमें कारण हैं। चित्तशुद्ध्यात्मक व्यापार एक ही है, सो यदि यज्ञ-दान ही से हो गया, तो तत्त्वज्ञानोत्पत्ति भी हो ही जायगी, फिर इतर कारणका विरह अकिंचित्कर है। इसलिये यहाँ समुदायत्वेन कारणता असम्भव है, अतः प्रधानौपयिक व्यापारभेद रहनेपर ही समुदायत्वेन कारणता होती है, सो यहाँ नहीं है। यज्ञदानादि सब कर्मोंका चित्तशुद्धि ही स्वकीयावान्तर व्यापार है, सो एकैकसे भी हो जाती है। इसलिए समुदायमें कारणत्व नहीं हो सकता।

भिन्नार्थ हीमें समुदायत्वेन कारणता होती है, एकार्थमें नहीं, यह नियम नहीं है। जहाँ प्रमाणद्वारा समुदायमें कारणत्व कहा गया है वहाँ यह माना जाता है कि इतरसापेक्ष ही एक कार्योत्पादक होता है, स्वतन्त्र नहीं। जैसे 'दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत स्वर्गकामः' यह श्रुति है। आग्नेय, ऐन्द्रदधि और ऐन्द्रपय—ये तीन दर्श हैं। आग्नेय, अग्नीषोमीय और उपांशु—ये तीन पौर्णमास हैं। दर्शमें उक्त यागत्रय होते हैं, इसलिये उनका नाम दर्श है। जो पूर्णमासीमें होते हैं उन तीनोंका नाम पूर्णमास है। 'दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत स्वर्गकामः' वहाँ एक ही स्वर्गके लिये दोनोंका विधान है। दर्शपूर्णमास याग देवतोद्देश्यक वैधाधारमें सविधि द्रव्यत्यागानुकूल व्यापार है, सो क्षणिक है। शरीरपातानन्तर स्वर्ग होगा, उस समय स्वरूपसे उक्त याग नहीं रह सकता। कार्योत्पत्त्यव्यवहित पूर्वक्षणवृत्ति ही कारण होता है, इसलिये उक्तयागमें कारणत्वनिर्वाहार्थ तद्व्यापारको अपूर्व मानते हैं। अपूर्व अनेक प्रकारके होते हैं, परन्तु यहाँ अपूर्वसे प्रधानापूर्व विवक्षित है। उक्तयागद्वय स्वजन्यप्रधानापूर्वावान्तरव्यापारद्वारा स्वर्गसाधन है। यद्यपि स्वर्गोत्पत्तिपूर्वक्षणमें क्षणविनश्वर क्रियाकलापरूप याग नहीं है। तथापि तज्जन्य प्रधानापूर्व व्यापार है। इसलिए कारणमें क्षति नहीं है।] यहाँपर 'दर्शपूर्णमासाभ्याम्' यह इतरेतरयोग द्वन्द्व समास है। इससे दर्शपूर्णमाससमुदायमें कारणत्व बोधन किया गया है, इसलिये एकैकमें कारणत्व नहीं है। दोनोंसे प्रधानापूर्व एक ही होता है, इसलिये यहाँ एकार्थकत्व दोनोंमें है।

[शङ्का—दर्शयाग अमावस्यामें होता है और पूर्णमास पूर्णमासीमें होता है, दोनों एक समयमें नहीं रह सकते, फिर दोनों मिलकर प्रधानापूर्वके कारण हैं, यह कैसे ? तदुभयसमुदाय ही एक समयमें नहीं है।

समाधान—दर्शसे एक अपूर्व होगा और पूर्णमाससे एक अपूर्व होगा। दोनों अपूर्वोंसे प्रधानापूर्व होगा, सो एक ही होगा।

शङ्का—दर्शमें आपने तीन याग कहे हैं—आग्नेय, ऐन्द्रदधि और ऐन्द्रपय। ये तीनों तीन दिनोंमें होते हैं। एक चतुर्दशीमें, एक अमावसमें, और एक प्रतिपद्में। एवं पूर्णमास याग भी उक्त क्रमसे ही तीन दिनोंमें होते हैं। इन छः यागोंका समुदाय जैसे एक समयमें नहीं रहता वैसे ही दर्शत्रय और पूर्णमासत्रयका भी समुदाय एक समयमें नहीं रहता, अतः दर्शापूर्व एवं पूर्णमासापूर्वके उत्पादक कैसे होंगे ?

समाधान—ठीक है, दर्शत्रयसे तीन अपूर्व होते हैं, जो उत्पत्त्यपूर्व कहे जाते हैं। एवं पूर्णमाससे भी तीन अपूर्व होते हैं। इनका भी नाम वही है, जो पूर्वमें कह चुके हैं। इन तीन-तीन उत्पत्त्यपूर्वोंसे दो अवान्तरापूर्व होते हैं, दोनों अवान्तरापूर्वोंसे प्रधानापूर्व होता है। प्रधानापूर्वसे स्वर्ग होता है—यह मीमांसकोंकी प्रक्रिया है। विशेष जिज्ञासा हो, तो मीमांसा ही देखिये। यहाँ तो केवल दिग्दर्शनमात्र करा दिया गया है। तात्पर्य है द्वन्द्वनिर्देशसे समुदायमें कारणत्वबोधन करानेमें। यह ध्यानमें अवश्य रखना चाहिये कि यहाँ दोनों यागोंका व्यापार प्रधानापूर्व एक ही है, भिन्न-भिन्न व्यापार नहीं है, तो भी कारणान्तर समुदायमें है, एकैकमें नहीं। द्वितीय उदाहरण यह है—'यदग्नये प्रजापतये च सायं प्रातर्जुहोति' 'अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकामः'। इस वाक्यसे स्वर्गके लिये अग्निहोत्रका विधान है। अग्निहोत्र किस द्रव्यसे करे ? इस आकांक्षासे 'दध्ना जुहोति' 'पयसा जुहोति' इस वाक्यसे द्रव्यविशेषका निर्देश किया, फिर आकांक्षा हुई कि किस देवताके लिये होम है और किस कालमें करना चाहिये, तो कहा कि 'अग्नये प्रजापतये च सायं प्रातर्जुहोति'।

शङ्का—यदि इसको देवताविधायक मानियेगा, तो वाक्यभेद हो जायगा। 'प्राप्ते कर्मणि नानेको विधातुं शक्यते गुणः। अप्राप्ते तु विधीयन्ते बहवोऽप्येकयत्नतः॥' वचनान्तरसे यदि कर्म प्राप्त हो, अर्थात् कर्मका विधान हो, तो उसमें अनेक गुणोंका विधान नहीं कर सकते, अन्यथा वाक्यभेद हो जायगा। यदि प्राप्तकर्म न हो, तो अनेक गुण निर्दिष्ट कर्मका एक ही यत्नसे विधान कर सकते हैं।

यहाँ अग्निहोत्र कर्म वाक्यान्तरसे प्राप्त है, अतः तदुद्देश्यसे दोनों देवताओंका विधान नहीं कर सकते।

समाधान—ठीक है, यहाँ 'अग्निर्ज्योतिः' इत्यादि मन्त्रसे प्राप्त अग्नि देवताका अनुवाद कर प्रजापति देवताका विधान करनेसे उभयदेवताक होम सिद्ध होगा।

प्रश्न—'प्रजापतये च' में चकारका क्या प्रयोजन है ?

उत्तर—'च' के बिना प्रजापतिसे अग्निदेवताका बाध हो जायगा।

प्रश्न—क्यों ?

उत्तर—'तद्धितेन चतुर्थ्या वा मन्त्रवर्णेन वा पुनः।
देवताया विधिस्तत्र दुर्बलन्तु परम्परम् ॥'

तद्धितसे, चतुर्थीसे और मन्त्रवर्णसे देवताकी विधि होती है। परस्पर विरोधमें उत्तर-उत्तर पूर्व-पूर्वसे दुर्बल है।

यहाँ चतुर्थीसे प्रजापतिका विधान है और मन्त्रवर्णसे अग्निकी प्राप्ति है दुर्बल मन्त्रवर्णसे प्राप्त अग्निको बाधकर चतुर्थीसे प्राप्त प्रबल प्रजापति ही हो जायँगे, इसलिये 'च' है। 'च' से अग्निसमुचित प्रजापतिका विधान इष्ट है, केवल प्रजापतिका नहीं। अब यदि अग्निका बाध हो, तो केवल प्रजापति ही रह जायँगे, अग्निसमुचित प्रजापति तो अग्निदेवता रहनेपर ही हो सकते हैं, अन्यथा नहीं। इसलिये प्रजापतिदेवतासे अग्निदेवताका बाध नहीं हो सकता। एकदेवताक होमसे स्वर्ग नहीं हो सकता, इसलिये उभयदेवताक होम माना गया। यहाँ भी उक्त न्यायसे स्वर्गजनक व्यापार एक ही है, भिन्न नहीं। तथापि 'च' कारसे समुच्चय प्रतीत होता है, इसलिये समुच्चयमें कारणता है। अर्थशब्द यहाँ प्रयोजनवाची है। प्रयोजन दो हैं—मुख्य और गौण। मुख्य है—व्यवसायात्मक बुद्धि और गौण है—चित्तशुद्धि। मुख्य प्रयोजन भिन्न होनेपर तो समुच्चयमें कारणत्वका संभव नहीं है। जैसे—घट-पट भिन्न हैं। इनके कारण-में—चक्र-दण्ड-चीवरादि तथा तुरी-तन्तु-वेमादि, इनके समुदायमें कारणत्वका संभव नहीं है, घट-पटोभयात्मक कार्य अदृष्टचर है, अतः अर्थसे यहाँ गौण अर्थका ग्रहण है। चित्तशुद्धिमें भिन्नार्थत्व और अभिन्नार्थत्वका विचार है। तत्तदशुद्धिके भावतात्पर्यसे भिन्नार्थ है। अशुद्धित्वावच्छिन्नप्रतियोगिताक अशुद्धि-सामान्याभावकी विवक्षासे अभिन्नार्थत्व है। जिसके अन्तःकरणमें अधिक अशुद्धियाँ हैं उसको ब्रह्मचर्यगृहस्थाद्याश्रमोचित कर्मानुष्ठानकी आवश्यकता है। जिसको अशुद्धि न्यून है उसके लिये एक वा दो आश्रम कर्मकी आवश्यकता होती है। सारांश

सांख्यविषया योगविषया च बुद्धिरेकफलत्वादेका व्यवसायात्मिका सर्वविपरीतबुद्धीनां बाधिका निर्दोषवेदवाक्यसमुत्थत्वादितरास्त्वव्यवसायिनां बुद्धयो बाध्या इत्यर्थ इति भाष्यकृतः। अन्ये तु परमेश्वराराधनेनैव संसारं तरिष्यामीति निश्चयात्मिकैकनिष्ठैव बुद्धिरिह कर्मयोगे भवतीत्यर्थमाहुः। सर्वथाऽपि तु ज्ञानकाण्डानुसारेण "स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्" इत्युपपन्नम्। कर्मकाण्डे पुनर्बहुशाखा अनेकभेदाः कामानामनेकभेदत्वात्,

यह है—] सांख्यविषयक और योगविषयक बुद्धि एकफलक होनेसे एक ही है, जो व्यवसायात्मक कही गई है। यह बुद्धि बहुशाखाओंवाली सब बुद्धियोंकी बाधिका है।

प्रश्न - क्यों ?

उत्तर—निर्दोषवेदवाक्यजन्य होनेसे प्रमात्मक है, इतर अव्यवसायियोंकी बुद्धियाँ बाध्य हैं। अव्यवसायी प्रमाणजनितविवेकबुद्धिरहित हैं, अतः उनकी बुद्धि अतत्त्वविषयक है। तत्त्वविषयक बुद्धिसे अतत्त्वविषयक बुद्धिका रज्जुसर्पादिवत् बाधबुद्धि सुप्रसिद्ध है, यह भाष्यकार कहते हैं। अपना अभिप्राय 'अन्ये तु' से व्यक्त करते हैं— परमेश्वरके आराधनसे ही संसारसे तरेंगे — एतादृश निश्चयात्मक परमेश्वरनिष्ठ बुद्धि इस कर्मयोगमें होती है, यह अर्थ अन्य यानी भाष्यकारसे अन्य कहते हैं। [यद्यपि 'भाष्यकृतः' 'अन्ये तु' इस लेखसे दोनोंमें भेद प्रतीत होता है तथापि व्यवसायात्मकबुद्धिदार्ढ्यसंपादनार्थ 'परमेश्वर' इत्यादि बुद्धि है। इस विश्वासके विना परमेश्वरार्पणबुद्धिसे कर्मानुष्ठानमें प्रवृत्ति न होगी, इसलिए तद्दार्ढ्यार्थ उक्त बुद्धि आवश्यक है, अतः मतभेद नहीं है।] सर्वथा ज्ञानकाण्डके अनुसार इन धर्मोंमें 'थोड़ा भी अनुष्ठित भयानक भवभयसे रक्षा करता है', यह युक्तियुक्त हुआ। कर्मकाण्डकी बुद्धियाँ बहुशाखाओंवाली हैं।

प्रश्न—बुद्धिमें शाखा कहाँ ?

उत्तर—शाखाशब्दका अर्थ भेद है। बहुशाखका अर्थ बहुभेद है।

प्रश्न— क्यों ?

उत्तर—काम्य फल ही अनेक हैं, अतः फलके बहुशाख होनेसे तद्बुद्धि भी बहुशाख हैं। इसमें आश्चर्य ही क्या है ? [जैसे व्यवसायबुद्धि विषयके एक होनेसे एक कही गई है वैसे ही कर्मकाण्डीय काम्यफलविषयकबुद्धि भी विषयफलके भेदसे बहुभेदवाली कही गई है। अन्तःकरणवृत्तिरूप स्वरूपभेदसे तो दोनों बुद्धियाँ बहुशाखावाली ही हैं।]

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः ।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीतिवादिनः ॥ ४२ ॥
कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम् ।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति ॥ ४३ ॥
भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयाऽपहृतचेतसाम् ।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥ ४४ ॥

हे पार्थ, वेदोंमें प्रतिपादित हुए अर्थवादवाक्योंमें ही रत रहनेवाले, अतः कर्मकाण्ड तथा उसके फलकी अपेक्षा ज्ञानकाण्ड एवं उसके फलको निरतिशय न

अनन्ताश्च कर्मफलगुणफलादिप्रकारोपशाखाभेदात्, बुद्धयो भवन्त्यव्यवसायिनां तत्तत्फलकामानाम् । बुद्धीनामानन्त्यप्रसिद्धिद्योतनार्थो हिशब्दः । अतः काम्यकर्मापेक्षया महद्वैलक्षण्यं शुद्ध्यर्थकर्मणामित्यभिप्रायः ॥ ४१ ॥

अव्यवसायिनामपि व्यवसायात्मिका बुद्धिः कुतो न भवति, प्रमाणस्य

शङ्का—भेद होनेसे भी बहुभेदवाली कह सकते हैं।

समाधान—हाँ, कह क्यों नहीं सकते, पर यहाँ बहुशब्द अनन्तके तात्पर्यसे प्रयुक्त हुआ है। अनन्त फल होनेसे अनन्तभेदवाली * हैं। कर्मफल और गुणफलसे भेद अव्यवसायि-बुद्धियाँ अपरिसंख्येयभेदवाली हैं। कर्मफल 'दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत स्वर्गकामः' इस वाक्यसे विहित दर्शपूर्णमास कर्मका फल स्वर्ग है। 'गोदोहनेनापः प्रणयेत् पशुकामस्य' इस वाक्यसे विहित गोदोहनापःप्रणयन गुण है। उक्त यागमें यदि चमसः (सोमरस पानपात्र) से अपःप्रणयन करेगा, तो स्वर्ग ही फल है। उसी यागमें यदि गोदोहनीसे अपःप्रणयन करेगा, तो पशु होंगे। यहाँ याग एक ही है, पर गुणभेदसे फलभेद होता है। एवं 'दध्ना जहुयात्' इन्द्रियकामस्य खादिरं वीर्यकामस्य यूपं कुर्यात्' इत्यादि स्थलमें गुणभेदसे फलभेद समझना चाहिये]। अव्यवसायिनां—गुणप्रधानफलकामियोंकी बुद्धिमें आनन्त्य प्रसिद्ध है, एतद्द्योतनार्थ 'हि' शब्द है। अतः काम्य कर्मकी अपेक्षा शुद्ध्यर्थ कर्ममें महा वैलक्षण्य है, यह अभिप्राय है ॥ ४१ ॥

प्रश्न—अव्यवसायियोंको व्यवसायात्मक बुद्धि क्यों नहीं होती, प्रमाण

---

* अथवा प्रधान फल बहुत हैं, इसलिये अव्यवसायी बुद्धियाँ बहुभेद हैं। गुण फल

माननेवाले, स्वर्गको ही एकमात्र परम पुरुषार्थ समझनेवाले, विचारजन्यतात्पर्यके परिज्ञानसे शून्य जो कामात्मा पुरुष हैं वे लोग इस वक्ष्यमाण जिस आपात-रमणीय, जन्म, कर्म तथा फल प्रदान करनेवाली, भोग एवं ऐश्वर्यके प्रति साधनभूत अग्निष्टोम आदि क्रियाविशेषोंकी प्रतिपादक वाणीको कहते हैं यानी प्रकृष्ट परमार्थस्वर्गादि फलवाली कहते हैं। उस वाणीसे अपहृत चित्तवाले उन भोग और ऐश्वर्यमें आसक्ति रखनेवाले पुरुषोंके अन्तकरणमें व्यवसायात्मिका बुद्धि प्रविष्ट नहीं होती ॥ ४२-४४ ॥

तुल्यत्वादित्याशङ्क्य प्रतिबन्धकसद्भावान्न भवतीत्याह त्रिभिः—'यामिमाम्' इति। यामिमां वाचं प्रवदन्ति तया वाचाऽपहृतचेतसामविपश्चितां व्यवसायात्मिका बुद्धिर्न भवतीत्यन्वयः। इमामध्ययनविध्युपात्तत्वेन प्रसिद्धां पुष्पितां पुष्पितपलाशवदापातरमणीयाम्, साध्यसाधनसम्बन्धप्रतिभानान्निरतिशयफलाभा-

---

तो दोनोंके लिये समान है। जिन वेदवाक्योंसे व्यवसायियोंको उक्त बुद्धि होती है, उन्हीं वेदवाक्योंसे अव्यवसायियोंको वह बुद्धि नहीं होती, इसमें क्या कारण है?

उत्तर—कारण प्रतिबन्धकबाहुल्य है, यह कहते हैं—'यामिमाम्' इत्यादि तीन श्लोकोंसे। कर्मकाण्डके विद्वान् जो इस कर्मकाण्डवाणीको कहते हैं तद्वाक्योक्तफलरागवशीभूत अतएव तदपहृतचित्तवालोंको व्यवसायात्मक बुद्धि नहीं होती, यह अन्वय है।

प्रश्न—यह 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इस अध्ययनविधिके विषयरूपसे प्रसिद्ध ऋग्यजुःसामलक्षणा त्रयी कैसी है।

उत्तर—पुष्पिताम् यानी फूले पलाशके समान आपातरमणीय है। परिणाम पर दृष्टि न देनेपर इतर वृक्षोंसे बहुत पलाश जैसे अच्छा प्रतीत होता है वैसे ही यह है। पलाश फूलनेपर बहुत अच्छा दीख पड़ता है, परन्तु उसमें पुष्प ही होता है, फल नहीं, अतः निष्फल है। इसीसे आपातरमणीय है। केवल देखने भरके लिये है, आपातरमणीयत्वमें हेतु है—साध्य-फल, साधन-कर्म, तत्सम्बन्ध-उपायोपेयभाव और फलके साथ आत्माके स्वस्वामिभाव आदिका प्रतिभान है

अनन्त हैं, इसलिये अनन्त हैं। प्रधानगुणफलभेदद्वयप्रतिपादनार्थं बहुशाख और अनन्त पदद्वय है। अतः पुनरुक्तिकी शङ्का नहीं है, अन्यथा बहुशाख और अनन्त इन दोनोंमें एक पद व्यर्थ हो जायगा।

वाच। कुतो निरतिशयफलत्वाभावस्तदाह–जन्मकर्मफलप्रदां जन्म चापूर्वशरीरेन्द्रियादिसंबन्धलक्षणं तदधीनं च कर्म तत्तद्वर्णाश्रमाभिमाननिमित्तं तदधीनं च फलं पुत्रपशुस्वर्गादिलक्षणं विनश्वरं तानि प्रकर्षेण घटीयन्त्रवदविच्छेदेन ददातीति तथा ताम्। कुत एवमत आह—भोगैश्वर्यगतिं प्रति क्रियाविशेषबहुलाममृतपानोर्वशीविहारपारिजातपरिमलादिनिबन्धनो यो भोगस्त-

तथा फल भी सातिशय है—छोटा-बड़ा है। निरतिशय यानी जिससे उत्तम न हो सके अर्थात् सर्वोत्तम—पूर्ण फल भी नहीं है।

प्रश्न—क्यों?

उत्तर—'जन्म' इत्यादि। जन्म कर्म और फल—इन तीनोंको देनेवाली है। आत्माका जन्म अभूत्वाभवन तो नहीं होता, अतः 'अपूर्वशरीरेन्द्रियादि सम्बन्ध' कहा। शरीरेन्द्रियादिसम्बन्ध जीवनपर्यन्त रहता है, तन्निमित्तक जन्मव्यवहारापत्तिपरिहारार्थ 'अपूर्व' कहा। उत्पत्तिके क्षणमें अपूर्वशरीरादिसम्बन्ध है, आगे पूर्व शरीरादिका सम्बन्ध है, अपूर्व शरीरादिका नहीं, इसलिये उक्त दोष नहीं है। जन्माधीन ही कर्म है, क्योंकि कर्मानुष्ठानमें तत्तद्वर्ण और आश्रमका अभिमान नियत निमित्त है। ब्राह्मणको जो विहित कर्म है उसको ब्राह्मणाभिमानी ही करता है। एवं क्षत्रिय, वैश्य, शूद्रादिमें भी नियम है। आश्रमोचित कर्म आश्रमाभिमानी ही करता है, अन्य नहीं, यह अति स्पष्ट है। कर्माधीन फल है, जो जैसा उत्तम, मध्यम कर्म करता है वह वैसा फल भोगता है। फल ऐहिक और पारलौकिक भेदसे दो प्रकारके हैं। ऐहिक पुत्र, पशु आदि और पारलौकिक स्वर्ग आदि हैं। आदि पदसे नरकका ग्रहण है। ये सब फल कर्मजन्य होनेसे विनाशी हैं। इन सबको घटीयन्त्र—जलकी चर्खीकी तरह कर्मकाण्डविद्या देती है। घटीयन्त्रमें अनेक कलसी बँधी रहती हैं। यह निरन्तर आती जाती रहती है, सदा जल देती रहती है, एक गई, तो दूसरी आई। कभी इसका उक्त कार्यमें विराम नहीं होता, तद्वत् जन्मकर्मफलोंका निरन्तर प्रवाह चलता रहता है। एवं भूत कर्मकाण्डवाणी है।

प्रश्न—क्यों ऐसी है?

उत्तर—भोग और ऐश्वर्यकी प्राप्तिके प्रति क्रियाविशेषोंसे बहुत ज्यादा विस्तृत है। स्वर्गमें जो अमृतपान, उर्वशी-अप्सराविशेषके साथ विहार, रतिक्रीड़ासुखानुभव तथा पारिजात (देववृक्षविशेष) आदिकी गन्धजनितसुख होता है वह भोग है और उसमें जो कारण ऐश्वर्य है ['मन्दारः पारिजातकः'

त्कारणं च यदैश्वर्यं देवादिस्वामित्वं तयोर्गतिं प्राप्तिं प्रति साधनभूता ये क्रियाविशेषा अग्निहोत्रदर्शपूर्णमासज्योतिष्टोमादयस्तैर्बहुलां विस्तृतामतिबाहुल्येन भोगैश्वर्यसाधनक्रियाकलापप्रतिपादिकामिति यावत्। कर्मकाण्डस्य ज्ञानकाण्डापेक्षया सर्वत्रातिविस्तृतत्वं प्रसिद्धम्। एतादृशीं कर्मकाण्डलक्षणां वाचं प्रवदन्ति प्रकृष्टां परमार्थस्वर्गादिफलामभ्युपगच्छन्ति। के येऽविपश्चितो विचारजन्यतात्पर्यपरिज्ञानशून्याः। अत एव वेदवादरता वेदे ये सन्ति वादा अर्थवादाः "अक्षय्यं ह वै चातुर्मास्ययाजिनः सुकृतं भवति" इत्येवमादयस्ते-

'परिमलविमर्दोत्थे परिमलो गन्धे जनमनोहरे' यह अमरकोश है। आदि दिव्यरूपस्पर्शादि इन विषयोंके सेवनसे जो सुखानुभव मिलता है, सो भोग है, इसमें कारण ऐश्वर्य—शक्तिविशेष देवादि स्वामित्व है, एतद्भोक्ता कुछ देवताओंका भी स्वामी होता है। देवलोकके परिचारक देवगण ही होते हैं भोग्यविषयकी प्राप्ति उन्हींके अधीन रहती हैं, अतः उनपर स्वामित्व होना आवश्यक है। उक्त दिव्य विषयभोग और तत् देवेश्वरत्व—] इन दोनोंकी प्राप्तिमें साधन—कारण जो क्रियाविशेष—अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, ज्योतिष्टोम आदि हैं, इनसे अतिविस्तृत है यानी अधिकतर भोगैश्वर्यसाधनक्रियाकलापोंका प्रतिपादन करनेवाली है, यह अभिप्राय है। ज्ञानकाण्डकी अपेक्षा कर्मकाण्ड सर्वत्र अतिविस्तृत प्रसिद्ध है। [तत्तत्स्वर्गसुखादिके लिये अनेक याग, दान और होमका विधान है। मोक्षकी तो चर्चा भी नहीं है। ज्ञानकाण्डकी अपेक्षा कर्मकाण्ड विषयतः तथा स्वरूपतः अतिविशाल है, यह प्रसिद्ध है। संहिता-ब्राह्मणोंके जितने बृहद् ग्रन्थ हैं उतने उपनिषदोंके नहीं हैं, फिर प्रतिपाद्य विषय केवल एक आत्मा ही उपनिषदोंमें है, कर्मकाण्डमें तो अनेक यागादि प्रतिपाद्य विषय हैं। उपनिषत्प्रमेयके लिये एक उपनिषत् ही प्रमाण है। कर्मविद्यामें प्रमाण छः हैं अधिकारी भी अनेक हैं। मोक्षमें वीतराग कोई एक कभी होता है, इस तात्पर्यसे 'सर्वत्र' कहा] एवंभूत कर्मकाण्डलक्षण वाणीको कहते हैं अर्थात् प्रकृष्ट—परमार्थस्वर्गादिफलप्रद कहते हैं।

प्रश्न—कौन कहते हैं ?

उत्तर—जो वस्तुतः पण्डित नहीं हैं अर्थात् विचारजन्यवेदवाक्यतात्पर्यसे शून्य हैं, अतएव जो वेदवादरत हैं यानी वेदमें जो 'अक्षय्यं ह वै चातुर्मास्य' इत्यादि अर्थवाद हैं उन्हींमें वे रत हैं। उनकी यह समझ है कि जो वेदमें विहित

न्वेव रता वेदार्थसत्यत्वेनैवमेवैतदिति मिथ्याविश्वासेन संतुष्टाः हे पार्थ, अत एव नान्यदस्तीतिवादिनः कर्मकाण्डापेक्षया नास्त्यन्यज्ज्ञानकाण्डं सर्वस्यापि वेदस्य कार्यपरत्वात्, कर्मफलापेक्षया च नास्त्यन्यन्निरतिशयं ज्ञानफलमिति वदनशीला महता प्रबन्धेन ज्ञानकाण्डविरुद्धार्थभाषिण इत्यर्थः । कुतो मोक्ष-

है या श्रुत है सब सत्य ही है। वेदमें मिथ्या वा अन्यथा नहीं लिखा है। यदि चातुर्मासजन्य सुकृत क्षयी ही होता, तो 'अक्षय्य' क्यों कहा जाता? यह हो नहीं सकता कि स्वर्ग कारण सुकृतके रहनेपर ही हो और तज्जन्य स्वर्ग विनाशी हो—यह उन लोगोंका विश्वास मिथ्या है। परन्तु वे सत्य समझकर सन्तुष्ट हैं। हे अर्जुन, अतएव यानी मिथ्या विश्वास-जन्य सन्तोषसे ही वे कहते हैं कि स्वर्गादिसे अन्य मोक्ष है ही नहीं। इसके लिये तत्प्रतिपादक शास्त्रोंका भी अभाव कहते हैं। उनके मनसे कर्मकाण्डसे अतिरिक्त ज्ञानकाण्ड है ही नहीं। सम्पूर्ण वेदकार्य धर्मतत्परक हैं। कर्मफलकी अपेक्षा अन्य निरतिशयत्वेन इष्ट ज्ञानका फल मोक्ष है, ऐसा नहीं कहते हैं। बड़े प्रबन्धसे ज्ञानविरुद्ध अर्थ कहते हैं, यह अर्थ है। [प्रबन्धकल्पना यह है 'आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्' इस मीमांसासूत्रसे यह विचार किया है कि वेद क्रियार्थ-कर्तव्यार्थबोधक है, जिसके अनुष्ठानपरिवर्जनसे मनुष्य सुखप्राप्ति और दुःखनिवृत्ति कर सके। उसी अर्थके लिए वेद है। वह अर्थ असिद्ध अतएव अनुष्ठेय है। ब्रह्म सिद्ध अर्थ है, साध्य नहीं। अतः उसका बोधक वेद नहीं है, कर्मकाण्ड कर्तव्यार्थोपदेशक है, इसलिये प्रमाण है। उपनिषत्काण्ड यागकर्तृ-आत्मसमर्पकत्वेन कर्मविध्येकवाक्यतासे प्रमाण है, साक्षात् नहीं। केवल ब्रह्मज्ञान अपुरुषार्थ है, अतः उसका उपदेश व्यर्थ है। सात द्वीपकी पृथिवी है—इत्यादिवत्। इस बातको सुनकर किसमें प्रवृत्त होकर इष्टलाभ करे या किससे निवृत्त होकर अनिष्टनिवृत्ति मनुष्य करे, कर्तव्यार्थका तो निर्देश हुआ नहीं है। 'नायं सर्पः रज्जुरेषा' इस वाक्यको सुन कर जैसे भयकामादिकी निवृत्ति होती है एवं तुम ब्रह्म हो, संसारी नहीं, सिर्फ इतने उपदेशसे संसारधर्मकी निवृत्ति हो जाती है, कर्मानुष्ठानकी आवश्यकता नहीं है, यह कहना तो बालप्रलोभनमात्र है। 'असकृत्' इस उपदेशसे किसीकी संसारधर्मनिवृत्ति नहीं देखी जाती। प्रति-दिन उपनिषत्का जो पाठ करते हैं वे भी पूर्ववत्संसारी देखे जाते हैं और ब्रह्म सिद्धार्थ होनेसे प्रमाणान्तरका भी विषय हो जायगा, तो उपनिषत् लौकिकवाक्यवत् अनुवादक

द्वेषिणस्ते। यतः कामात्मानः काम्यमानविषयशताकुलचित्तत्वेन काममयाः। एवं सति मोक्षमपि कुतो न कामयन्ते यतः स्वर्गपराः स्वर्ग एवोर्वश्याद्युपेतत्वेन पर उत्कृष्टो येषां ते तथा। स्वर्गातिरिक्तः पुरुषार्थो नास्तीति भ्राम्यन्तो विवेकवैराग्याभावान्मोक्षकथामपि सोढुमक्षमा इति यावत्। तेषां च पूर्वोक्तभोगैश्वर्ययोः प्रसक्तानां क्षयित्वादिदोषादर्शनेन निविष्टान्तःकरणानां तया क्रियाविशेषबहुलया वाचाऽपहृतमाच्छादितं चेतो विवेकज्ञानं येषां तथा-

होगा, अज्ञातज्ञापकत्वरूप प्रामाण्य ही उसमें भङ्ग हो जायगा। इसलिये यदि उपनिषत्को प्रमाण मानना है, तो कार्यार्थक मानिये, सिद्धार्थक नहीं-इत्यादि बड़ी-बड़ी कल्पनाओंसे उपनिषत्प्रतिपाद्यात्मैकत्वविज्ञानफल मोक्षका निराकरण मीमांसकोंने किया है, सब लिखनेसे यही ग्रन्थ हो जायगा, इसलिये हमने अति संक्षिप्त लिखा है।]

प्रश्न - मीमांसक मोक्षसे विद्वेष क्यों करते हैं ?

उत्तर—वे कामात्मा हैं। काम्य - पशु-पुत्र-स्वर्गादि सैकड़ों विषयोंसे उनका चित्त आकुल है। तत्तत् कामनाओंमें ही व्यस्तचित्त रहते हैं। मोक्षके विचारका उनको अवकाश ही नहीं रहता।

शङ्का—अन्य कामोंकी अपेक्षा मोक्ष तो अधिक कमनीय है, फिर इसकी कामना क्यों नहीं करते।

समाधान - उर्वश्यादि अप्सराओंसे संयुक्त स्वर्ग ही उन्हें सबसे उत्कृष्ट प्रतीत होता है, मोक्ष नहीं। स्वर्गानुरागनिमग्नचित्त होनेसे 'इससे अतिरिक्त उत्तम पुरुषार्थ नहीं है।' इस भ्रममें पड़कर अतएव विवेकवैराग्यशून्य होनेसे मोक्ष-कथा सुननेके लिये भी क्षम नहीं हैं, विचार तो दूर रहा।

शङ्का - विषयपराधीनत्व, सातिशयत्व, क्षयित्व आदि दोष—इन भोगोंमें स्पष्ट है। इनसे मुमुक्षुओंको जैसे विवेक-वैराग्य होता है वैसे इनको क्यों नहीं होता।

समाधान—पूर्वोक्त भोगैश्वर्यमें ये इतने निमग्नचित्त रहते हैं कि इनको क्षयित्वादि दोषका ज्ञान ही नहीं होता, इसलिये वे उक्त भोगमें ही परिनिष्ठितान्तःकरण होते हैं तथा विविध याग, दान, होम आदि क्रियाप्रतिपादक कर्मकाण्ड-वाक्योंके विचारसे ही उनके चित्तको अवकाश नहीं रहता। तद्विचारप्रचुरक वेदवाक्यसे—[भाष्यमें चित्तशब्द तद्वृत्तिविशेष विवेकपरक है, इस आशयसे

भूतानामर्थवादाः स्तुत्यर्थास्तात्पर्यविषये प्रमाणान्तराबाधिते वेदस्य प्रामाण्यमिति सुप्रसिद्धमपि ज्ञातुमशक्तानां समाधावन्तःकरणे व्यवसायात्मिका बुद्धिर्न विधीयते न भवतीत्यर्थः। समाधिविषया व्यवसायात्मिका बुद्धिस्तेषां न भवतीति वा। अधिकरणे विषये वा सप्तम्यास्तुल्यत्वात्। विधीयत इति कर्मकर्तरि लकारः। समाधीयतेऽस्मिन्सर्वमिति व्युत्पत्त्या समाधिरन्तःकरणं वा परमात्मा वेति नाप्रसिद्धार्थकल्पनम्। अहं ब्रह्मेत्यवस्थानं समाधिस्तन्निमित्ता व्यवसायात्मिका बुद्धिर्नोत्पद्यत इति व्याख्याने तु रूढिरेवाऽऽदृता।

चेतोविवेकज्ञान कहा] तिरोहित--ढका है विवेकज्ञान जिनका एवंभूत जो पूर्वोक्त मीमांसक हैं उनको भूतार्थवाद स्तुत्यर्थ है। प्रमाणान्तराबाधित तात्पर्यविषयमें वेद प्रमाण है, यह सुप्रसिद्ध है, फिर भी इसके जाननेमें अशक्त मीमांसकोंके अन्तःकरणमें व्यवसायात्मक बुद्धि नहीं होती [सारांश यह है कि मीमांसकोंको भोगैश्वर्यमें ही आत्मकर्तव्यत्वबुद्धि दृढ़ है, तदीयदुराग्रहगृहीत चित्तमें स्वर्ग सर्वोत्तम पुरुषार्थ है, यह किस प्रमाणसे सिद्ध हो, इसके लिये व्याकुलचित्त होकर अन्वेषण करनेपर 'अक्षय्यं ह वै चातुर्मास्ययाजिनः सुकृतं भवति' इस वाक्यको देखा। देखते ही उनका मन इसके ऐसा वशंवद हुआ कि यह वाक्य स्तावक है, इसका मुख्य तात्पर्य कहाँ है, यह विवेक ही छिप गया—लुप्तप्राय हो गया, इसलिये स्वाभीष्टसाधकके गुण और दोषपर विचार न कर इसीमें उनका चित्त अभिनिविष्ट हुआ। इस प्रकार अविवेकाभिनिविष्टचित्तमें व्यवसायात्मक बुद्धि नहीं होती, आश्चर्य क्या है ?] अथवा उन्हें समाधिविषयक व्यवसायात्मिका बुद्धि नहीं होती, यह अर्थ है। अधिकरण या विषयमें सप्तमीका विधान समान है। 'विधधीयते' यह कर्मकर्तामें लकार है। [संप्रज्ञात और असंप्रज्ञात भेदसे दो प्रकारकी समाधि—अन्तःकरणवृत्ति होती है, यह योगमें प्रसिद्ध है। उसमें बुद्धिकी प्रसक्ति ही नहीं, तो निषेध व्यर्थ है। समाधि स्वयं बुद्धि स्वरूप ही है, इसलिये उसकी प्रसक्ति समाधिमें कहाँ ? इस शङ्कासे भाष्यकारने यहाँ समाधिशब्द योगवृत्तिसे चित्तपरक है, यह व्याख्यान किया, 'समाधीयते' इत्यादि भाष्यकारकी व्युत्पत्तिसे समाधि अन्तःकरण हुआ, पुरुष भोगके लिये सब अन्तःकरणमें समाहित होता है। आत्मा तो असङ्ग है, अतः साक्षात् है। उसमें किसीकी समाधि नहीं।] अथवा 'समाधीयते अस्मिन् सर्वम्' इस व्युत्पत्तिसे परमात्मा समाधिशब्दसे गृहीत होता है, [क्योंकि 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इत्यादि श्रुतिके

अनुसार निखिल प्रपञ्चका अधिष्ठान ब्रह्म ही है। अतः परमात्मा समाधि है। भोगौपयिक बुद्धि वासनाद्दष्टादि सब अन्तःकरणमें होते हैं। प्रयोजनके बिना किसीकी उत्पत्ति नहीं होती, यह सर्वमान्य सिद्धान्त है। सकल संसार जीवके भोगार्थ होनेसे तदद्दष्टाधीन है, सबका निमित्त अद्दष्ट अन्तःकरणमें रहता है। भोग भी अन्तःकरणमें है। अद्दष्ट द्वारा सर्वसमाधि अन्तःकरण भी होता है। अन्तिम पक्षसे अन्तःकरणमें व्यवसायात्मक बुद्धिवृत्ति नहीं होती, यह अर्थ है। ब्रह्मपक्षमें ब्रह्मविषयक बुद्धि उनको नहीं होती, यह अर्थ है। अधिकरण तीन प्रकारका होता है,— औपश्लेषिक, वैषयिक और अभिव्यापक। अन्तःकरण-पक्षमें औपश्लेषिकाधिकरण सप्तमी और ब्रह्मपक्षमें वैषयिक सप्तमी है। समाधिसे विवक्षित ब्रह्ममें विषयितासम्बन्धसे व्यवसायात्मक बुद्धि है। तद्विपयक ब्रह्मभाव अन्तःकरणमें समझना चाहिये। 'प्रतियोग्यभावौ तुल्ययोगक्षेमौ' इस न्यायसे जहाँ प्रतियोगीकी प्रसक्ति है वहीं निषेध होता है, इस नियमसे बुद्धि अन्तःकरणमें होती है। तन्निषेधाधिकरण अर्थात् अन्तःकरण है, यह अर्थ लब्ध होता है।] दोनोंमें किसी अर्थमें सप्तमी माननेसे अर्थमें भेद नहीं होता—अप्रसिद्ध अर्थकी कल्पना नहीं करनी पड़ती।

शङ्का—विपूर्वक धाञ् धातु सकर्मक है। कर्ममें प्रत्यय करनेसे 'विधीयते' यह रूप होता है। इसका विवरण 'भवति' कैसे होगा? भूधातु अकर्मक है।

समाधान—कर्मको कर्तृत्वेन विवक्षा करनेसे उक्त धातु भी अकर्मक हो जाता है। कर्तृव्यापारसौकर्यविवक्षार्थ कर्मको कर्तृत्वेन विवक्षा कर कर्तामें लकार करनेसे 'पच्यते तण्डुलः स्वयमेव' इत्यादि प्रयोग जैसे होता है वैसे ही 'विधीयते'में भी व्यवसायात्मक बुद्धि कर्मको कर्तृत्वेन विवक्षा कर कर्तामें लकार करनेसे होता है। 'कर्मवत् कर्मणा' इस सूत्रसे यह प्रत्यय तथा आत्मनेपद आदि होता है। 'विधीयते' का 'स्वयमेव भवति' यह अर्थ हुआ। इस अभिप्रायसे 'कर्मकर्तरि' कहा।

शङ्का—संप्रज्ञात और असंप्रज्ञात समाधि दोनोंमें निरूढ़ समाधि शब्द है। इसका ब्रह्म या अन्तःकरण अर्थ कैसे हो सकता है?

समाधान—'समाधीयते' इत्यादि उक्त व्युत्पत्तिसे यहाँ समाधि यौगिक विवक्षित है, रूढ़ि नहीं। यौगिक समाधिशब्दका प्रयोग ब्रह्म अथवा अन्तःकरणमें कर सकते हैं। इसलिये अप्रसिद्धार्थकी कल्पना नहीं है। जो यौगिकार्थ भी न हो उसमें प्रयोग करनेसे अप्रसिद्धार्थकल्पना होती है, सो दोष प्रकृतमें नहीं है।

शङ्का—'रूढिर्योगमपहरति' इस न्यायसे योगार्थापेक्षया रूढ्यर्थका ग्रहण होता है, अतएव 'रथकारो वर्षासु अग्नीनादधीत' इस श्रुत्यर्थ विचाराव-सरमें रथकारसे बढ़ईका ग्रहण होता है। द्विजातिका नहीं, क्योंकि आपत्कालमें जीविकानिर्वाहार्थ द्विजाति भी रथादिका निर्माण करता ही है। स्वकीय वृत्तिसे निर्वाह न हो सके, तो परकीय वृत्तिका आश्रयण करे, यह धर्मशास्त्रमें विहित है, यह संशय कर पूर्वपक्ष किया कि योगार्थका ही ग्रहण करना चाहिये। वेदके अग्न्याधान मन्त्रोंका उच्चारणकर अग्न्याधान होता है। द्विजातियोंको वेद पढ़नेका अधिकार है। बढ़ईका ग्रहण करोगे, तो उसको तो वेदाधिकार है नहीं, अतः वह वैदिक मन्त्रोंको पढ़कर अग्न्याधान कैसे करेगा? सिद्धान्त किया है कि उक्त न्यायसे बढ़ईका ही ग्रहण इष्ट है, क्योंकि रूढ़ि शीघ्रस्वार्थोपस्थापक होती है। अवयवार्थ-चिन्तनोत्तर यौगिक शब्द देरसे स्वार्थकी उपस्थिति कराता है। असंजात विरोधि-त्वेन प्रथमोपस्थित अर्थमें शास्त्र कृतार्थ हो जाता है, इसलिये विलम्बोपस्थित अर्थकी आकांक्षा ही नहीं रहती। यद्यपि उसको वेदाधिकार नहीं है। 'स्त्रीशूद्रौ नाधीयेयाताम्' से प्रतिषेध है। तथापि अग्न्याधानान्यथानुपपत्तिसे आधानौपयिक वेदमन्त्राध्ययनाधिकारकी इसीसे कल्पना होती है। फलमुखकल्पनामें गौरव दोष नहीं है, अतः रूढिके अनुसार बढ़ई वर्षाकालमें अग्न्याधानाधिकारी है, यह पूर्वमीमांसाका सिद्धान्त है। तद्वत्समाधि यहाँ रूढ्यर्थक विवक्षित है। ब्रह्म और अन्तःकरण उक्त शब्दका योगार्थ है, रूढ्यर्थ नहीं।]

समाधान—'अहं ब्रह्मास्मि' यह जो अवस्थिति है यही यहाँ समाधि है। ध्याता और ध्यानका परित्याग करके क्रमशः ध्येयैकगोचरवृत्ति असंप्रज्ञात समाधि है, अतः रूढ्यर्थ ही समाधि प्रकृतमें विवक्षित है। इस समाधिका निमित्त है—व्यवसायात्मक बुद्धि। निष्काम कर्मानुष्ठानसे अन्तःकरणकी शुद्धि होनेपर ही यह बुद्धि होती है। व्यवसायात्मक बुद्धिका यह फल है। 'फलमपीह हेतुः' इस अभियुक्तोक्तिसे समाधि भी निमित्त हुई। व्यवसायात्मक बुद्धि और समाधि दोनोंमें निमित्तत्व है। भेद यह है कि व्यवसायात्मक बुद्धिमें लौकिक निमित्तत्व है और समाधिमें वाचनिकत्व। वाचनिक निमित्तसे 'निमित्तात्कर्मयोगे' इस वार्तिकसे सप्तमी होती है, अतएव 'चर्मणि द्विपिनं हन्ति दन्तयो र्हन्ति कुञ्जरम्। केशेषु चमरीं हन्ति सीम्नि पुष्कलको हतः॥ इस श्लोकमें हनननिमित्त चर्मादिमें सप्तमी है। तद्वत् समाधिमें भी सप्तमी है, इस अर्थमें रूढ़िका ही आदर है। रूढ्यर्थक समाधि यहाँ है, यौगिक नहीं।

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवाऽर्जुन ।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ॥४५॥

समस्त वेद काममूल—संसार विषयक ही हैं, अतः हे अर्जुन, तुम निष्काम हो जाओ एवं निर्द्वन्द्व, निश्चल धैर्यमें स्थित, योग और क्षेमसे रहित तथा आत्मवान् हो जाओ ॥ ४५ ॥

अयं भावः—यद्यपि काम्यान्यग्निहोत्रादीनि शुद्ध्यर्थेभ्यो न विशिष्यन्ते तथाऽपि फलाभिसंधिदोषान्नाऽऽशयशुद्धिं संपादयन्ति । भोगानुगुणा तु शुद्धिर्न ज्ञानोपयोगिनी । एतदेव दर्शयितुं भोगैश्वर्यप्रसक्तानामिति । फलाभिसंधिमन्तरेण तु कृतानि ज्ञानोपयोगिनीं शुद्धिमादधतीति सिद्धं विपश्चिदविपश्चितोः फलवैलक्षण्यम् । विस्तरेण चैतदग्रे प्रतिपादयिष्यते ॥ ४२–४४ ॥

शङ्का—अग्निहोत्रादि कर्म निरभिसन्धि कर्मानुष्ठानियोंका और कामि पुरुषोंका समान ही है, स्वरूपतः विशेष नहीं है, फिर क्यों निष्काम पुरुषोंके समान सकामपुरुषोंकी अन्तःकरण शुद्धि नहीं होती ।

समाधान—ठीक है, कर्म तो दोनोंका एक ही सा है, परन्तु कामिपुरुषान्तःकरणकी शुद्धिमें प्रतिबन्धक कामनायें हैं । काम्यकी इच्छासे कृत कर्म कालान्तरमें फल प्रदानके लिये स्वव्यापार धर्मादिका चित्तमें आधायक होता है और वही चित्तकी अशुद्धियाँ हैं । निष्काम पुरुष केवल वही कर्म करता है, परन्तु फल कामना न रहनेसे वे कर्म फलौपयिक अदृष्टाधायक न होकर चित्तगत अशुद्धिके निवारक होते हैं ।

शङ्का- पापसे चित्त अशुद्ध होता है, पुण्यसे नहीं । अग्निहोत्रादि काम्य कर्मसे भी तो पुण्य ही होगा, अतः कामी जनोंकी भी चित्तशुद्धि उक्त कर्मोंसे उचित है।

समाधान—शुद्धि दो प्रकारकी है—एक भोगानुगुण और दूसरी तद्विपरीत। भोगानुगुण यानी पुण्यजन्यभोगानुकूल शुद्धि तत्त्वज्ञानजनक नहीं है, किन्तु स्वर्गादि भोगजनक है, यही दिखलानेके लिये 'भोगैश्वर्यप्रसक्तानाम्' फिर कहा गया है । फलेच्छाके बिना जो कर्म किये जाते हैं, वे ज्ञानोत्पत्त्यनुकूल शुद्धि अन्तःकरणमें उत्पादक होते हैं । अतः विद्वान् और अविद्वान्के कर्ममें फल वैलक्षण्यसे भेद सिद्ध ही है । आगे चलकर इसका और विस्तारसे प्रतिपादन करेंगे ॥ ४२–४४ ॥

ननु सकामानां मा भूदाशयदोषाद्व्यवसायात्मिका बुद्धिः, निष्कामानां (णां) तु व्यवसायात्मकबुद्ध्या कर्म कुर्वतां कर्मस्वाभाव्यात्स्वर्गादिफलप्राप्तौ ज्ञानप्रतिबन्धः समान इत्याशङ्क्याऽऽह—'त्रैगुण्यविषया' इति।

त्रयाणां गुणानां कर्म त्रैगुण्यं काममूलः संसारः। स एव प्रकाश्यत्वेन विषयो येषां तादृशा वेदाः कर्मकाण्डात्मका यो यत्फलकामस्तस्यैव तत्फलं बोधयन्तीत्यर्थः। न हि सर्वेभ्यः कामेभ्यो दर्शपूर्णमासाविति विनियोगेऽपि सकृदनुष्ठानात्सर्वफलप्राप्तिर्भवति तत्तत्कामनाविरहात्। यत्फलकामनयाऽनुतिष्ठति तदेव फलं तस्मिन्प्रयोग इति स्थितं योगसिद्ध्यधिकरणे।

अच्छा तो सकाम पुरुषोंका अन्तःकरण दुष्ट है, शुद्ध नहीं, इसलिए व्यवसायात्मक बुद्धिकी उत्पत्ति मत हो, निष्काम पुरुषोंको तो अर्थात् व्यवसायात्मक बुद्धिसे कर्म करनेवालोंको तो काम्याग्निहोत्रादि कर्म करनेसे कर्मका फलदातृत्व स्वभाव है, अतः स्वकर्म फल स्वर्गादि प्राप्ति होनेपर ज्ञानोत्पत्ति प्रतिवन्ध समान है [भाव यह है कि कर्म जन्य जो धर्मादि है वही चित्तमें अशुद्धि है। फलकामियोंका कर्म फलदानानुकूल धर्मका उत्पादक होनेसे चित्तमें कर्म द्वारा अशुद्धि वढ़ती ही जायगी, इसलिये शुद्धिकी सम्भावना नहीं, परन्तु इस प्रकारकी अशुद्धियाँ तो निष्काम कर्मियोंको भी होंगी। पापके फलकी कोई भी कामना नहीं करता, पर वह फल देता ही है, क्योंकि कर्मका यह स्वभाव है कि फलकी इच्छा करे अथवा न करे, फल अवश्य होता है, इस नियमसे निष्काम कर्मानुष्ठानियोंको भी स्वर्गादि फलकी प्राप्ति अवश्य होगी, तो ज्ञानोत्पत्ति प्रतिबन्ध समान ही रहा, फिर दोनोंके कर्मोंमें क्या विशेष ?], यह आशङ्का कर कहते हैं-'त्रैगुण्य०' इत्यादिसे। तीनों सत्त्व, रज और तम गुणोंका कर्म त्रैगुण्य है। सत्त्वादिगुणत्रय संसारकी उत्पत्तिमें कारण है। कारणका कर्म कार्य होता है, अतः तीनों गुणोंका कर्म संसार है। काममूल संसार है, यह प्रसिद्ध है। यही संसार प्रकाश्यत्वेन जिनको विषय है वे वेद कर्मकाण्डात्मक हैं। जो जिस फलका कामी है उसीको उस फलका बोधन कराते हैं, यह अभिप्राय है। 'सर्वेभ्यः कामेभ्यो दर्शपूर्णमासौ' इसका विनियोग होनेपर भी एक वार दर्शपूर्णमासके अनुष्ठानसे सम्पूर्ण फलोंकी प्राप्ति नहीं होती, क्योंकि इनमें तत्तत्कामनाका निर्देश नहीं है। जो जिस फलकी कामनासे जिसका अनुष्ठान करता है उस प्रयोगमें वह वही फल प्राप्त करता है। यह योगसिद्धि-अधिकरणमें कहा गया है। ['सर्वेभ्यः कामेभ्यो दर्शपूर्णमासौ'

इसका अर्थ यह है—जितने काम्य फल हैं वे सब दर्शपूर्णमासके हैं। इसमें य शङ्का होती है कि यदि सब फल दर्शपूर्णमासके हैं, तो फलविशेषके लिये याग विशेषका विधान ही व्यर्थ है। एक ही बार दर्शपूर्णमास करनेसे सकल फलकी प्राप्ति हो जायगी, तो फिर कर्मान्तरविधान ही व्यर्थ है, इस शङ्काके परिहारके लिये यह निर्णय किया गया है कि एक बार दर्शपूर्णमास करनेसे सब फल नहीं मिलेंगे, किन्तु प्रत्येक फलके लिये अनुष्ठानभेद आवश्यक है। एक अनुष्ठानका फल एक ही होता है, फलान्तरकी इच्छा हो, तो फिर तदनुष्ठानान्तर अपेक्षित होगा। जिस प्रयोगमें जो कामना होगी, वही कामना उस प्रयोगसे सिद्ध होगी।

शङ्का—यदि सकलफलदानसामर्थ्य दर्शपूर्णमासमें है, तो सकृदनुष्ठानसे भी सब फल होने चाहिये, यदि नहीं है, तो तत्तत्फलके लिये पृथक् पृथक् अनुष्ठान करनेपर भी वे फल नहीं होंगे। जैसे घट-पटादिके प्रकाशनकी सामर्थ्य प्रदीपमें है, तो घटप्रकशनार्थ आनीत प्रदीपसे पटका भी प्रकाश हो ही जाता है। गन्धादि-प्रकाशनसामर्थ्य प्रदीपसे नहीं है, इसलिये तत्प्रकाशनेच्छासे आनीत भी प्रदीप गन्धका प्रकाश नहीं करा सकता।

समाधान—प्रदीप स्वरूपसे घट-पटका प्रकाशक है। दर्शपूर्णमास क्रिया-कलापात्मक होनेसे विनाशी है, अतः वह कालान्तरभावी स्वर्गादिका कारण स्वरूपेण नहीं हो सकता, किन्तु स्वजन्यप्रधानापूर्वावान्तरव्यापार द्वारा हो सकता है। प्रधानापूर्व केवल दर्शपूर्णमाससे नहीं होता, किन्तु पूर्वोत्तराङ्गानुष्ठान-जन्य उत्पत्त्यपूर्वोंसे कृत जो दर्शाद्यपूर्व हैं उनके द्वारा परमापूर्व होता है। यदि अङ्गोंके अनुष्ठानमें कुछ भी वैगुण्य हो जायगा, तो परमापूर्वकी उत्पत्ति न होगी, अतः शब्दैकसमधिगम्य अर्थ तथाशब्दको ही मानना चाहिये। कर्तृपुरुष-विशेषण कामना है—'स्वर्गकामः, पशुकामः' इत्यादि। तत्तत्पुरुषकामना ही अपूर्वोत्पादक है। काम एकवचनान्त है, इसलिये एक ही कामनासे अनुष्ठानमें अपूर्वोत्पत्ति होगी, अनेक कामनासे नहीं, अतः सकृदनुष्ठानमें निखिल कामना नहीं हो सकती। इसलिये सकलफलदानसामर्थ्य रहनेपर भी उक्त यागसे अनेक फल एक समयमें नहीं होते, किन्तु जिस प्रयोगमें जो फलकामना होगी, उस प्रयोगसे वही फल होगा, सब नहीं। अतएव 'यजेत स्वर्गकामः' ऐसा कहा गया है। 'स्वर्गाय यजेत' ऐसा नहीं। ऐसा निर्देश होता, तो कामना यागाङ्ग होती। उस दशामें सब फल देनेकी शक्ति यदि दर्शपूर्णमासमें है, तो एक बार दर्शपूर्णमास करनेपर सकलफलापत्ति दे सकते। फलकामना केवल यागस्वरूप

त्पत्तिमात्रमें कारण नहीं है, अन्यथा उक्त दोषका परिहार नहीं हो सकेगा, किन्तु यागजन्यादृष्टका भी कारण है। एवं च तत्तत्फलजनकादृष्टसहकृत दर्शाद्यपूर्व प्रधानापूर्वके निष्पादक हैं, एक बारके प्रयोगसे सकल फलावाप्ति नहीं है।

शङ्का—ठीक है, परन्तु 'सर्वेभ्यो दर्शपूर्णमासौ' इस वाक्यमें कामना नहीं है, फिर आपके कहनेमें क्या मूल है।

समाधान—पशुस्वर्गादितत्तत्फलविधायकवचनोत्तर उक्त वाक्यका पाठ है। पूर्व वाक्योंमें 'पशुकामः' 'स्वर्गकामः' इत्यादि वाक्यसे पशु-स्वर्गादि फलोपरक्त कामना प्रक्रान्त है। प्रक्रान्तका वाची सर्वशब्द होता है, यह लोकमें प्रसिद्ध है। जैसे देवदत्तने नीबू खाया, यज्ञदत्तने केला खाया, विष्णुमित्रने सेव खाया, चैत्रने सब खाया। यहाँ 'सब' शब्द प्रक्रान्त नीबू, केला और सेवका ही बोधक है, विश्वमात्रका नहीं, वैसे ही 'सर्वेभ्यः' यहाँका 'सर्व' शब्द तत्तत्फल-निरूपित कामनाओंका बोधक है। अतः 'तत्तत्फलकामः' यह अर्थतः प्राप्त होता है। 'कामः' यह पुरुषका विशेषण है। इस प्रकार कामनाका लाभ होता है, यहींके लिये 'फलकामः' का सम्बन्ध इस प्रणालीसे है, सो नहीं है, अन्यत्र भी ऐसा ही सम्बन्ध माना जाता है। 'प्रतितिष्ठन्ती ह्वाय एता रात्रीरुपयन्ति' यह अर्थवाद-वाक्य है। इसमें प्रतिष्ठाफलका निर्देश है। रात्रिसत्रविधायक वाक्यमें फलका निर्देश नहीं है। विना फलके किसीकी इसमें प्रवृत्ति नहीं होगी, इसलिये फलकी कल्पना आवश्यक है। यद्यपि फलकल्पनाके बारेमें 'स स्वर्गः सर्वान् प्रत्यविशिष्ट-त्वात्' (यह मीमांसासूत्र है।) किस फलकी कल्पना की जाय? यदि कुछ नियम न होगा, तो इच्छानुसार फलकल्पनासे शास्त्र अव्यवस्थित हो जायगा, इसलिये ऐसे फलकी कल्पना करनी चाहिये, जो सबको अभीष्ट हो। पुत्र-पश्वादि फल ऐसे नहीं हैं, जो सबको इष्ट ही हों। स्वर्ग ऐसा है, जो सब चाहता है। अनुक्तफल कर्मस्थलमें स्वर्ग ही की कल्पना करनी चाहिये, फलान्तरकी नहीं, यह कहकर कहा है कि ठीक है, अन्यत्रके लिये यही नियम है, किन्तु जहाँ अर्थ-वादवाक्यमें फलकी श्रुति है वहाँ आर्थवादिक ही फलका ग्रहण करना उचित है, अन्यथा अर्थवादवाक्य ही असङ्गत हो जायगा। इसलिये 'प्रतिष्ठाकामः रात्रि-सत्रं कुर्यात्' यह कहा गया है।

शङ्का—'सर्वेभ्यः' इस बहुवचननिर्देशसे फलसमुदायकी कामनासे भी उक्त याग होता है, फिर आप किस आधारपर कहते हैं कि फलसमुदाय फल नहीं है।

यस्मादेवं कामनाविरहे फलविरहस्तस्मात्त्वं निस्त्रैगुण्यो निष्कामो भव हेऽर्जुन। एतेन कर्मस्वाभाव्यात्संसारो निरस्तः। ननु शीतोष्णादिद्वन्द्व-

समाधान—बहुत्वसंख्या उद्देश्यगत है, इसलिये अविवक्षित है। 'ग्रहं सम्मार्ष्टि' यहाँपर मीमांसकोंका ऐसा विचार है कि ग्रहमें एक वचन निर्देशसे एक ही ग्रहका सम्मार्जन करना चाहिये या सब ग्रहोंका? 'गृह्यते सोमरसः अस्मिन्निति ग्रहः अर्थात् सोमरसाधार पात्र, सो ऐन्द्रवायवादिभेदसे अनेक हैं। उनकी शुद्धिके लिये 'ग्रहं सम्मार्ष्टि' से सम्मार्जनका विधान है। परन्तु वाक्यमें एकवचनान्त ग्रहशब्द है, इसलिये एक ही ग्रहका सम्मार्जन वचनसे प्राप्त होता है—यह पूर्व पक्ष कर निर्णय किया है कि उद्देश्यगत संख्याकी विवक्षा नहीं है, अतः एकत्व विशिष्ट ग्रह संमिमृक्षित—सम्मार्जनेच्छाविषय नहीं है, किन्तु सब ग्रहोंका सम्मार्जन इष्ट है। तद्वत् 'सर्वेभ्यः' एतद्गत बहुत्व अविवक्षित है। एकैक फल है, फलसमुदाय यहाँ फलत्वेन विवक्षित नहीं है, अतः एकैकफलकामनावान् दर्शपूर्णमासाधिकारी है। तत्तत्फलकी कामना भी परम्परया उक्त फलमें कारण है, अतः यत्फलकामनावान् कर्ता होगा तत्फलोत्पत्त्यनुकूलादृष्ट ही उक्त यागसे उत्पन्न होगा, फलान्तरोत्पत्त्यनु-कूल अदृष्ट नहीं। यद्यपि तत्तत्फलोत्पत्तिशक्ति दर्शपूर्णमासमें है, परन्तु तत्कारक-दृष्टोत्पादककामनावैकल्यसे फलान्तरोत्पत्ति नहीं होती। यद्यपि 'सर्वेभ्यः कामेभ्यः' ऐसा पाठ है, तो भी केवल कामनाका निर्देश होनेपर भी तत्तत्फलोंका लाभ उक्त प्रकारसे ही होगा। इत्यादि सारवान् विचारोंसे मीमांसकोंने जिस संसारको वस्तुतः संसार अतएव अनुच्छेद्य कहा है उन्हीं विचारोंसे वेदान्तियोंने निःसार अतएव सुच्छेद्य सिद्ध किया है, यह विद्याका वैभव है। इस विचारका सारांश यह है कि काम्य कर्ममें कामना भी फलजनक है, अतः निष्काम दृष्टिसे जो नित्य कर्म किये जायँगे उनका निर्दिष्ट फल न होकर केवल चित्तशुद्धि ही होगी।]

चूँकि इस तरह कामनाके अभावसे फलका अभाव होता है, अतः हे अर्जुन, तुम निस्त्रैगुण्य हो जाओ। [यह काम्य कर्मके विषयमें है, नित्य कर्ममें तो कामना है नहीं, इसलिये उसका अनुष्ठान उक्त रूप ही से होगा, फिर भी गीतामें आगे नित्यकर्मानुष्ठानका आनुषङ्गिक फल स्वर्ग है. यह कहेंगे। उसके साथ विरोध नहीं है। आनुषङ्गिक ऐहिक और पारलौकिक फल नित्य कर्मोंसे होते है, ऐसा माननेपर भी उन कर्मोंसे ईश्वर प्रसन्न होते हैं, इसलिये निष्काम कहे जाते हैं। वे अन्तःकरणशुद्धिके भी कारण होते हैं। कामना करनेसे रागरूपदोष

प्रतीकाराय वस्त्राद्यपेक्षणात्कुतो निष्कामत्वमत आह—निर्द्वंद्वः। सर्वत्र भवेति संबध्यते। मात्रास्पर्शास्त्वित्युक्तन्यायेन शीतोष्णादिद्वंद्वसहिष्णुर्भव। असह्यं दुःखं कथं वा सोढव्यमित्यपेक्षायामाह—नित्यसत्त्वस्थो नित्यमचञ्चलं

अन्तःकरणमें होता है। कामना त्यागनेसे उक्त दोष नहीं होता, यही सकाम और निष्काम पुरुषमें वैलक्षण्य है। लोकमें भी जो पुरुष अपने कर्तव्यका पालन करता है और स्वामीसे कुछ माँगता नहीं, जो मिलता है उसीमें सन्तुष्ट रहता है, उसके ऊपर स्वामी प्रसन्न रहता है और जो पुरुष कर्तव्य पूरा नहीं करता, बार-बार फलकी प्रार्थना करता है उसके ऊपर स्वामीकी प्रसन्नता नहीं रहती। परमात्मा सब कर्मोंका फल देते हैं। मनुष्य भूल भी सकता है, परन्तु परमात्मा नहीं भूलते] इससे संसार कर्मस्वभाव है, अतः सकाम कर्मसे संसार ही रहेगा, छूटेगा नहीं, इसका खण्डन हो गया। [कामशून्य कर्मसे संसारनिवृत्ति सिद्ध होती है, अतः संसारभीरुओंको भगवत्प्रीतिरूप फलवाले कर्मोंसे अतरिक्त कर्म नहीं करना चाहिये।]

शङ्का—ऐहिक सब कामनाओंका त्याग कैसे हो सकता है? जाड़ा पड़ने पर वस्त्रकी अपेक्षा और गर्मीमें शीतल छायाकी अपेक्षा अवश्य होगी। अन्यथा उनकी अनिवृत्तिसे दुःख होगा, फिर निष्कामत्व कैसे?

समाधान—'निर्द्वन्द्व हो जाओ सर्वत्र हो जाओ'—इसका सम्बन्ध जोड़ते हैं। अर्थात् सर्वत्र निर्द्वन्द्व होकर उनको सहो। [द्वन्द्व—सुख-दुःख, मानापमान, शत्रु-मित्र, शीतोष्ण, इत्यादि युगल—द्वन्द्व है। जिसमें एक सुखका कारण है, दूसरा दुःखका कारण है। सुख-दुःख और उक्त तत्कारणोंका जोड़ा द्वन्द्व है, जो परस्पर प्रतिद्वन्द्वी—विरोधी है। निर्गतः द्वन्द्वो यस्मात्स भव यानी द्वन्द्वसे रहित हो जाओ] 'मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय' इस श्लोकमें उक्त न्यायसे शीतोष्णादि द्वन्द्व सहो।

प्रश्न—दुःख प्रतिकूल वेदनीय अतएव असह्य है, उसको कैसे सहें?

उत्तर—नित्य जो सत्त्व है उसमें स्थित होकर।

प्रश्न—सत्त्वको सांख्य नित्य ही मानते हैं, उसमें नित्य विशेषण क्यों?

उत्तर—यहाँ नित्यका अर्थ अचञ्चल है। जो सत्त्व है उसका दूसरा नाम धैर्य है। उसमें जो स्थित रहता है वह नित्यसत्त्वस्थ कहा जाता है। अर्थात् अचल धैर्य धारण करो। [अन्तःकरण त्रिगुण—सत्त्व, रज और तम एतदात्मक है। इनमें रज और तमको दबाकर सत्त्वगुणका जब अधिक परिणाम होता है

यत्सत्त्वं धैर्यापरपर्यायं तस्मिंस्तिष्ठतीति तथा। रजस्तमोभ्यामभिभूतसत्त्वो हि शीतोष्णादिपीडया मरिष्यामीति मन्वानो धर्माद्विमुखो भवति। त्वं तु रजस्तमसी अभिभूय सत्त्वमात्रालम्बनो भव। ननु शीतोष्णादिसहनेऽपि क्षुत्पिपासादिप्रतीकारार्थं किंचिदनुपात्तमुपादेयमुपात्तं च रक्षणीयमिति तदर्थं यत्ने क्रियमाणे कुतः सत्त्वस्थत्वमित्यत आह—निर्योगक्षेमः, अलब्ध-

तब प्रकाश—सुखस्फूर्ति आदि चित्तमें होती है और जब रजोगुण सत्त्व और तमको दब कर स्वयं अधिकरूपसे परिणत होता है, तो दुःख, चिन्ता, अशान्ति, चञ्चलता प्रभृति उत्पन्न होते हैं तथा जब सत्त्व और रजको दबाकर तम स्वयं उपचित होता है तब मोह, आलस्य, गुरुत्वादि होते हैं। इनका कारण सुख, दुःख है। मोहका कारण विषयका संसर्ग, स्मरण आदि और अदृष्ट भी है। इसीसे चित्त चञ्चल होता है। एवं गुणद्वयसे भी एकैकका अभिभव होता है—सत्त्व और रजसे तमका, सत्त्व और तमसे रजोगुणका, रज और तमसे सत्त्वका। यदि दो गुणोंका उपचय होगा, तो दोनों गुणोंके धर्म प्रतीत होंगे। जो अभिभूत होगा उसीके गुणोंका अभाव रहेगा।]

जिसके चित्तका सत्त्व रज और तमसे अभिभूत हो जाता है यानी दब जाता है, उस पुरुषके चित्तमें यह भावना होती है कि जाड़ा और गर्मीकी पीड़ासे मर जायँगे, यह मानकर धर्माचरणसे विरत हो जाता है, यह साधारण मनुष्यों का स्वभाव है। तुम विशिष्ट पुरुष हो इसलिये रज और तमके उद्रेकको दबाकर सत्त्वमात्रका आलम्बन करो। [उक्त संकल्पमें रजोगुणोंके उद्रेकसे शीतोष्णादि सहनमें दुःख प्रतीत होता है। तमोगुणोंके उद्रेकसे तदाचरणसे निवृत्ति होती है, अतः यहाँ गुणद्वयोद्रेकसे एक गुणका अभिभव है।]

शङ्का—खैर, जाड़ा गर्मी सहेंगे, पशु, पक्ष्यादि सहते ही हैं न, परन्तु भूख प्यास कैसे सहें? यह तो प्रतिदिन दुःख देनेवाले अपवारितद्वार हैं, अतः इनकी निवृत्तिके लिये प्रतिदिन भक्ष्य और पेयका संग्रह करना आवश्यक है। अगर महीना-पन्द्रह दिनके लिये संग्रह भी कर लें, तो उसकी रक्षा करना आवश्यक है जिसके लिये भी प्रयत्न आवश्यक है, फिर नित्यसत्त्वस्थ कैसे हो सकते हैं? रजो-गुणके प्रादुर्भावके बिना प्रयत्न नहीं होगा। उक्त गुणके उद्रेकसे सत्त्व दब जायगा और चित्त चञ्चल हो जायगा।

समाधान—'निर्योगः' इत्यादि। अलब्धका लाभ योग है। लब्धका परि-

लाभो योगः, लब्धपरिरक्षणं क्षेमस्तद्रहितो भव। चित्तविक्षेपकारिपरिग्रहरहितो भवेत्यर्थः। न चैवं चिन्ता कर्तव्या—कथमेवं सति जीविष्यामीति। यतः सर्वान्तर्यामी परमेश्वर एव तव योगक्षेमादि निर्वाहयिष्यतीत्याह—आत्मवान्; आत्मा परमात्मा ध्येयत्वेन योगक्षेमादिनिर्वाहकत्वेन च वर्तते यस्य स आत्मवान्। सर्वकामनापरित्यागेन परमेश्वरमाराधयतो मम स

पालन क्षेम है, इन दोनोंसे रहित हो जाओ। अर्थात् चित्तमें विक्षेप पैदा करनेवाले परिग्रहसे रहित हो जाओ। [इतना अधिक संग्रह मत करो कि उसकी रक्षणादिचिन्तासे चित्तमें विक्षेप हो। क्षुत्पिपासादि जितनेसे निवृत्त हो जायँ, उतना संग्रह करो, इस प्रकार एक दिन तो फिर विक्षेप न होगा। एवं दिनान्तरमें भी पुनः-पुनः विक्षेपका परिहार अनायाससे हो सकता है। अधिक सञ्चय करनेपर असकृद् विक्षेपका सम्भव है] यह चिन्ता न करना कि ऐसा करनेसे कैसे जीवित रह सकूँगा ? क्योंकि सबके अन्तर्यामी भगवान् परमेश्वर स्वयं तुम्हारे योगक्षेमका निर्वाह करेंगे [केवल चित्तमें यह दृढ़ता होनी चाहिये। कितने ही महात्मा इस समय भी इस विश्वाससे हैं और उनका निर्वाह परमात्मा कर ही रहे हैं], यह कहते हैं—'आत्मवान्' से। आत्मा—परमात्मा ध्येयत्वेन योगक्षेमनिर्वाहकत्वेन च अस्ति यस्य स आत्मवान्। ध्यानविषय परमात्मा जिसके हृदयमें हैं वह आत्मवान्—निरन्तरात्मध्यानपरायण है। फलित अर्थ यह होता है—योगक्षेमनिर्वाहक परमात्मा जिसके हृदयस्थ हैं, सो आत्मवान् है। [यद्यपि सकल प्राणी आत्मवान् हैं, क्योंकि सबके हृदयमें अन्तर्यामी भगवान् विराजते हैं, 'हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति' 'भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया' इस वक्ष्यमाण गीताश्लोकसे भी यह स्पष्ट है। अतः आत्मवान् यह विशेषण अव्यावर्तक होनेसे व्यर्थ है, इस शङ्काके परिहारके लिए 'योगक्षेमनिर्वाहकत्वेन' यह विशेषरूपसे कहा गया है। केवल ध्येयत्वेन कहनेसे विवक्षित पुरुषविशेषका संग्रह नहीं होता। प्रायः ध्यानगोचर आत्मा सबके हृदयमें रहते हैं। प्रातः सायं प्रायः संसारी भी परमात्माका ध्यान करते हैं, परन्तु योगक्षेमनिर्वाहक परमात्मा उन्हीं महापुरुषोंके हृदयमें रहते हैं, जो परमात्मामें पूर्ण भक्तिभावसे सारी अपनी निर्वाहचिन्ता भी उन्हींके चरणकमलोंमें समर्पण कर स्वयं अचल मनसे भगवद्ध्यानपरायण होते हैं।] सम्पूर्ण कामनाओंका परित्याग कर परमेश्वरकी आराधनामें व्याप्त हो 'मेरा वही शरीरयात्राके लिये अपेक्षित वस्तुजातका सम्पादन करेंगे', यह निश्चय

एव देहयात्रामात्रमपेक्षितं संपादयिष्यतीति निश्चित्य निश्चिन्तो भवेत्यर्थः। आत्मवानप्रमत्तो भवेति वा ॥ ४५ ॥

कर तद्विषयकी चिन्ता छोड़ो, यह अभिप्राय है। अथवा 'आत्मवान् यानी अप्रमत्त हो जाओ' यह अर्थ है। ['वलक्षो धवलोऽर्जुन' इस अमरकोशसे 'अर्जुन' शब्द शुक्लवर्णका वाची है। 'अर्जुनः ककुभे पार्थे कार्तवीर्यमयूरयोः। मातुरेकसुतेऽपि स्याद्धवले पुनरन्यवत् ॥' इससे अर्जुनशब्द अनेकार्थ है। 'अर्ज अर्जने' धातुसे 'अर्जेर्णिलुक्च' इस उणादि सूत्रसे णि का लुक् 'उनन्' प्रत्ययसे 'अर्जुन' सिद्ध होता है। अर्जयति भगवदुपदेशफलं सम्पादयति इति अर्जुनः। अर्जुनशब्द शुक्लपर्याय-वाची है। सत्त्व भी शुक्ल है। एतद्वाची अर्जुनशब्दसे सम्बोधन करनेका तात्पर्य अर्जुनमें सत्त्वगुणप्राचुर्यबोधन द्वारा आत्मज्ञानोपदेशाधिकारित्व सूचित किया है। तुममें सत्त्वगुण प्राचुर्य सिद्ध है, उसीको बढ़ाओ। विहिताकरण निषिद्धा-नुष्ठानसे रज और तमको मत बढ़ाओ।

शङ्का—यह तो ठीक नहीं है। यदि कहिये क्यों, तो सुनिये, 'निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन' इस वाक्यसे गुणत्रयसाधारणनिषेधकी प्रतीति है, फिर रज और तमको न बढ़ाओ, सत्त्वगुण ही को बढ़ाओ, यह अर्थ कैसे करते हैं ?

समाधान—उक्त निषेध संकीर्णविषयक है। रज और तमसे मिश्रित सत्त्वगुणविषयक प्रतिषेध है। शुद्ध सत्त्वका प्रतिषेध उक्त वाक्यसे नहीं किया गया है। अन्यथा 'नित्यसत्त्वस्थः' इसके साथ विरोध होगा।

रज और तमकी वृद्धि मत करो, किन्तु सत्त्वकी वृद्धि करो, इस प्रकार निषेध और विधि दोनों ठीक नहीं है। यदि इसपर आप प्रश्न करें कि क्यों ? तो इसका उत्तर यह है कि यह रज है, यह तम है, इसको मैं बढ़ाता हूँ, इस बुद्धिसे किसीकी प्रवृत्ति ही नहीं है, जिससे उक्त रूपसे निषेध हो सके और सत्त्व सत्त्ववृद्धिका उपाय भी नहीं जानता, जिससे उक्तोपायमें प्रवृत्ति हो। अतः मुमुक्षु रज और तमकी वृद्धि न करे, किन्तु सत्त्वकी वृद्धि करे, तो कैसे करे, इस आशयसे 'निर्योगक्षेम आत्मवान्' कहा है।

शङ्का—निर्योगक्षेमका बोधन करते हैं, तो क्या आत्मज्ञानोपयिक श्रवणादि व्यापार भी न करे ?

समाधान—नहीं, आत्मस्वरूपप्राप्तिसे अतिरिक्त अर्थोंका—योगप्राप्ति प्राप्त अर्थ का त्याग कर 'आत्मवान्' होओ—आत्मान्वेषणपरायण होओ अर्थात् आत्मप्राप्तिसाधक श्रवण-मननादिमें आत्मवान – अप्रमत्त होओ। इसमें प्रमाद-अनवधानता न होने पावे, यह भी अभिप्राय हो सकता है]॥ ४५ ॥

यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके ।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥ ४६ ॥

स्नान, पान आदि जितना प्रयोजन जैसे छोटे-छोटे जलाशयोंमें सिद्ध होता है उतना प्रयोजन सर्वत्र व्याप्त जलवाले महान् जलाशयोंमें भी सिद्ध होता ही है, वैसे ही समस्त वेदोक्त काम्य कर्मोंमें हिरण्यगर्भानन्दपर्यन्त जितना प्रयोजन सिद्ध होता है उतना प्रयोजन ब्रह्मतत्त्वसाक्षात्कार कर चुके ब्राह्मणको भी अवश्य होता ही है ॥ ४६ ॥

न चैवं शङ्कनीयं सर्वकामनापरित्यागेन कर्म कुर्वन्नहं तैस्तैः कर्मजनितैरानन्दैर्वञ्चितः स्यामिति । यस्मात्—'यावानर्थः' इति ।

उदपाने क्षुद्रजलाशये, जातावेकवचनम्, यावानर्थो यावत्स्नानपानादि प्रयोजनं भवति, सर्वतः संप्लुतोदके महति जलाशये तावानर्थो भवत्येव । यथा हि पर्वतनिर्झराः सर्वतः स्रवन्तः क्वचिदुपत्यकायामेकत्र मिलन्ति तत्र

यह तो शङ्का ही मत करो कि सब कामनाओंका परित्याग करके यदि हम कर्म करेंगे, तो तत्तत्कर्मफल आनन्दोंसे वञ्चित ही रह जायँगे। क्योंकि उदपानमें—जलाशयमें । यहाँ जातिमें एव वचन है। अर्थात् छोटे जलाशयोंमें जितना इष्ट कार्य—स्नान-पानादि जितना प्रयोजन होता है (अर्थका यहाँ अर्थ प्रयोजन है) उतना प्रयोजन 'सर्वतः सम्प्लुतोदके यानी बड़े महाह्रदोंमें भी होता ही है। जैसे पर्वतके झरने चारों तरफ बहते हुये कहीं उपत्यकामें एकत्र मिलते हैं, ['उपत्यकाद्रेरासन्ना भूमिरूर्द्ध्वमधित्यका' इस अमरकोशके अनुसार पर्वतके भूप्रदेश दो प्रकारके होते हैं, जो पर्वतके ऊपरकी समतल भूमि है वह 'अधित्यका' है और जो पर्वतके समीप निम्न प्रदेश है उसको 'उपत्यका' कहते हैं। अनेक दिशाओंसे छोटे-छोटे झरने निम्नभागमें एकत्रित होकर महाजलाशय हो जाते हैं, यह पर्वतीय लोगोंको तो ज्ञात ही है। अपर्वतीय भी जिन लोगोंने कुतूहलवश या तीर्थयात्रावश पर्वतोंको जाकर देखा है, उनसे भी यह छिपा नहीं है। इसमें किसीको यह सन्देह नहीं हो सकता कि छोटे-छोटे झरनोंमें जो स्नानादिसुख होता है वह उन झरनोंमें न जाकर बड़े जलाशयोंमें जायँगे, तो उन स्नान-पानादि सुखोंसे कोरे रह जायँगे,

प्रत्येकं जायमानमुदकप्रयोजनं समुदिते सुतरां भवति, सर्वेषां निर्झराणामेकस्मिन् कासारेऽन्तर्भावात्। एवं सर्वेषु वेदेषु वेदोक्तेषु काम्यकर्मसु यावानर्थो हैरण्यगर्भानन्दपर्यन्तस्तावान्विजानतो ब्रह्मतत्त्वं साक्षात्कृतवतो ब्राह्मणस्य ब्रह्म बुभूषोर्भवत्येव। क्षुद्रानन्दानां ब्रह्मानन्दांशत्वात्तत्र क्षुद्रानन्दानामन्तर्भावात्। "एतस्यैवाऽऽनन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति" इति श्रुतेः। एकस्याप्यानन्दस्याविद्याकल्पिततत्तदुपाधिपरिच्छेदमादायांशांशिवद् व्यपदेश आकाशस्येव घटाद्यवच्छेदकल्पनया। तथा च निष्कामकर्मभिः

क्योंकि बिखरे साधनोंसे जो सुख होता है वह एकत्र समुदितसे क्यों नहीं होगा! बल्कि उससे कहीं अधिक होगा। झरनोंमें उद्धृत स्नान होता है, गोता लगा कर स्नान महाजलाशयोंमें होता है। उद्धृत स्नानसे गोता मार स्नानमें बहुत अधिक सुख है। महाह्रदावगाहनसुखानुभवी पुरुष झरनेके स्नानसुखका पछतावा कभी नहीं करता।] वहाँ प्रत्येक जायमान प्रयोजन अच्छी तरहसे समुदितमें होता ही है, कारण कि सब झरनोंका समावेश एकत्र महासरमें—तडागमें है ही। ['कासारः सरसी सरः' इस अमरकोशसे 'कासार' तडागको कहते हैं, यह दृष्टान्त है। अब दार्ष्टान्तिक अर्थ सुनिये—यथा महासरोवरमें झरनोंका जल एकत्रित है] एवं वेदोक्तनिखिलकाम्य कर्मोंके जितने फल हैं—मनुष्यलोकसे लेकर हिरण्यगर्भलोकपर्यन्तमें जितने छोटे-बड़े आनन्द हैं यानी तत्तत्काम्यकर्मानुष्ठानजन्य जितने सुख हैं, वे सब सुख ब्रह्मतत्त्वसाक्षात्कारवान् ब्राह्मणको यानी ब्रह्म बुभूषुको होते ही हैं, इसमें सन्देह नहीं है, क्योंकि छोटे आनन्द ब्रह्मानन्दके अंश हैं, अतएव ब्रह्मानन्दके अन्तर्गत हैं।

प्रश्न—वैषयिक आनन्द विषयेन्द्रियसम्पर्कजन्य अतएव सातिशय है किन्तु ब्रह्मानन्द नित्य निरतिशय है। नित्यानन्दके अनित्य आनन्द अंश कैसे! अंशांशिभाव सांशमें ही होता है। ब्रह्म निरंश मानते हो, उसमें अंशांशिभाव कथा कैसी?

उत्तर—परमार्थतः आनन्द एक ही है, इसमें प्रमाण 'एतस्यैव' इत्यादि श्रुति है।

आनन्द एक ही है, फिरभी अविद्याकल्पित तत्तदुपाधिविषयेन्द्रियादि परिच्छेदको लेकर अंशांशिभावके समान व्यवहार है। घटावच्छेदभेदकी कल्पनासे एक ही आकाशमें घटावच्छिन्न आकाश अंश है और महाकाश अंशी

शुद्धान्तःकरणस्य तवाऽऽत्मज्ञानोदये परब्रह्मानन्दप्राप्तिः स्यात्तयैव च सर्वानन्दप्राप्तौ न क्षुद्रानन्दप्राप्तिनिबन्धनवैयग्र्यावकाशः। अतः परमानन्दप्रापकाय तत्त्वज्ञानाय निष्कामकर्माणि कुर्वित्यभिप्रायः। अत्र यथा तथा भवतीतिपदत्रयाध्याहारो यावांस्तावानितिपदद्वयानुषङ्गश्च दार्ष्टान्तिके द्रष्टव्यः ॥ ४६ ॥

है, यह व्यवहार जैसे लोकमें कल्पित ही है, वास्तविक अंशांशिभाव अद्वितीयमें नहीं है वैसे ही विषयानन्द महानन्दमें भी काल्पनिक अंशांशिभाव कहा जाता है। ब्रह्मानन्दसे विषयानन्द भिन्न नहीं है. ऐसी दशामें निष्काम कर्मानुष्ठानसे परिशुद्धान्तःकरण तुमको आत्मज्ञान होनेपर परमानन्दप्राप्ति ब्रह्मसाक्षात्कारात्मक आनन्दानुभव होगा। उसीसे सब आनन्दोंकी प्राप्ति हो जायगी, इसलिये विषयानन्दसुखाप्राप्तिप्रभवचित्तव्याकुलीभाव न होगा। जैसे एक जिलामें जितने ग्राम हों उनमें प्रत्येकके मिलनेसे जो आनन्द होता है वह आनन्द उस मण्डल (जिला) के मिलनेसे होता है, अतएव उनमेंसे किसीके न मिलनेका पश्चात्ताप नहीं होता है। कारण कि वे सब ग्राम मण्डलके अन्तर्गत हैं, अतएव तत्प्राप्तिसुखमें सकल तदन्तर्गत ग्रामप्राप्तिसुखोंका अन्तर्भाव है, वैसे ही ब्रह्मानन्दमें सकल वैषयिकानन्दोंका अन्तर्भाव है। विशेष केवल इतना ही है कि यहाँ अंशांशिभाव वास्तविक है। एकैक ग्राम अंश है तत्समूह मण्डल अंशी है अतएव तत्प्राप्तिसुखमें भी अंशांशिभाव है, क्योंकि ये दोनों सुख अन्तःकरणवृत्तिविशेषस्वरूप हैं, ब्रह्मानन्द वृत्तिविशेषात्मक नहीं है, अतः उसके साथ इन आनन्दोंका घटाकाश और महाकाशके समान काल्पनिक अंशांशिभाव है। अतः परमानन्दप्रद तत्त्वज्ञानप्राप्तिके लिये निष्काम कर्मोंको करो, यह भगवान्का अभिप्राय है। इस श्लोकमें 'यथा, तथा, भवति' इन तीन पदोंका अध्याहार करना चाहिये तथा 'यावान्' 'तावान्' इन दो पदोंका सम्बन्ध भी दार्ष्टान्तिकमें देखना चाहिये [अर्थात् अभिमत वाक्यार्थके बोधके लिये 'यावान् अर्थः फलं वेदेषु वैदिक कर्मसु तावान् अर्थो ब्रह्मज्ञानिनः' (जितना प्रयोजन वैदिक कर्मोंमें है उतना ब्रह्मज्ञानमें हैं)—इसके लिये 'यावान्' 'तावान्' इन पदोंका उत्तर वाक्यमें सम्बन्ध करना चाहिये। वेदमें जैसे प्रयोजन होता है वैसे ब्रह्मज्ञानमें प्रयोजन होता है, इसके लिये 'यथा, तथा और भवति' इन तीन पदोंका अध्याहार करना चाहिये। किसीने इसका यह अर्थ किया है कि पूर्वश्लोकमें यह कहा है—आत्मवान् होओ

अर्थात् आत्मज्ञानी बनो। आत्मज्ञानी चित्तशुद्धि होनेपर ही होगा, अन्यथा नहीं। चित्तशुद्धि सकल निष्काम वैदिक कर्मानुष्ठानसे ही होती है। सकल कर्मानुष्ठान एक जन्ममें असम्भव है। सम्भव होनेपर निस्त्रैगुण्यत्व दुर्लभ ही है। इस शंकाकी निवृत्तिके लिये कहते हैं कि बड़े जलाशयमें जितने जलसे पुरुषका स्नान-पानादि होता है, उतना ही जल पुरुष लेता है। यदि एक घड़े जलसे उसका उक्त कार्य होता है, तो वह उतना ही लेता है, अधिक नहीं; वैसे ही वेदमें अनेक कर्मोंका विधान है। रहने दो, ब्रह्मज्ञानीको जितनेसे मतलब है उतना ही ग्रहण करना चाहिये। ब्रह्मज्ञानमें श्रवण, मनन आदिकी अपेक्षा है, इसलिये मुमुक्षुको उतना ही कर्म करना चाहिये, सब नहीं, सो एक जन्ममें सुलभ है। सकल कर्मानुष्ठान एक जन्ममें असम्भव है, यह ठीक है, पर उन सब कर्मोंकी ब्रह्मज्ञानमें आवश्यकता ही नहीं है।

शङ्का—चित्तशुद्धि कैसे होगी।

समाधान—चित्तशुद्धि जन्मान्तरीय यत्किञ्चित्कर्मानुष्ठानसे या ऐहिक किंचित्कर्मानुष्ठानसे होगी। अनन्तर उपनिषत्के श्रवणसे निस्त्रैगुण्यत्वका सम्भव है।

शङ्का—श्लोकमें 'ब्राह्मणस्य विजानतः' ऐसा पाठ है। भाष्यकारने 'ब्राह्मणस्य' का अर्थ 'संन्यासिनः' किया है। भाष्यकारके मतसे ब्राह्मण ही को संन्यासका अधिकार है और उसीको ब्रह्मज्ञान होता है, दूसरेको नहीं। यदि ऐसी मर्यादा है, तो अर्जुन क्षत्रिय हैं, ब्राह्मण नहीं। अतः इनको संन्यास या ब्रह्मज्ञानमें अधिकार नहीं है, तो मर्यादापालक भगवान् स्वयं ब्रह्मविद्याका उपदेश अर्जुनको कैसे दे रहे हैं और इसपर भी ध्यान देना चाहिये कि वेदमें त्रैवर्णिकका अधिकार माना गया है, तो ब्रह्मविद्यामें क्षत्रिय और वैश्यका अधिकार नहीं है, केवल ब्राह्मणका ही है, यह क्यों? 'विज्ञानतः' यह विशेषण भी निष्प्रयोजन प्रतीत होता है। कर्मकाण्डमें भी कर्मज्ञानीका अधिकार माना गया है, विज्ञानीका अधिकार सर्वत्र है। अज्ञानी कैसे करेगा—जिसको जिसका ज्ञान ही नहीं है उसकी उसमें प्रवृत्ति ही कैसे होगी? प्रवृत्तिसामर्थ्यसे ही ज्ञानका लाभ हो जाता है, फिर 'विजानतः' यह व्यर्थ ही प्रतीत होता है।

समाधान—यहाँ ब्राह्मणशब्द 'ब्रह्म-जानाति' इस विग्रहसे 'तदधीते तद्वेद' इस सूत्रसे ब्रह्मसे अण्प्रत्यय करके निष्पन्न हुए ब्राह्मण' के अर्थमें है। ब्राह्मण जातिपरक नहीं है। क्षत्रिय और वैश्य भी ब्रह्मज्ञ हों, तो इस ब्राह्मणशब्दके वे भी अर्थ हैं।

शङ्का—यह समाधान ठीक नहीं है, 'ब्रह्म वेत्ति' इस विग्रहसे 'ब्राह्म' यह प्रयोग बनेगा, ब्राह्मणः' यह नहीं बन सकता, कारण कि 'ब्राह्मोऽजातौ' यह पाणिनि आचार्यका सूत्र है। इससे जातिभिन्न अर्थमें 'ब्राह्म' यह निपातन किया गया है। अतः ब्राह्मणत्वजातिविशिष्ट अर्थमें 'ब्राह्मण' यह शब्द साधु है। इसलिये अर्जुनको क्यों उपदेश दे रहे हैं? यदि भाष्यकारका मत इष्ट नहीं है, तो 'ब्राह्मणः' यह क्यों कहा?

समाधान—ठीक है, ब्रह्म अणतीति ब्राह्मणः, ब्रह्मपूर्वक शब्दार्थक अण् धातु से पचाद्यच्। ब्रह्म+अण, शकन्ध्वादिसे पररूप, तब ब्रह्मण हुआ। प्रज्ञादि मानकर अण् प्रत्यय हुआ, तो 'ब्राह्मणः' यह शब्द सिद्ध हुआ। ब्रह्मसे यहाँ वेदका ग्रहण है। 'यावान् वेदेषु सर्वेषु' इस वाक्यसे वेद ही प्रसक्त है। उसीका ग्रहण उचित है। अतः यहाँ 'ब्राह्मण' शब्द वैदिकमात्रपर है, इसलिये क्षत्रियको उपदेश देनेमें कोई आपत्ति नहीं है।

शङ्का—अच्छा, 'ब्राह्मण शब्द' इस युक्तिसे क्षत्रियादिका वाची है, तो भी उक्त युक्तिसे वह ब्रह्मज्ञानवान् सूचित होता है, सो तो मुक्त ही है। उसके लिये उपदेश व्यर्थ है।

समाधान—ब्रह्मज्ञानी वही है, जिसको ब्रह्मका साक्षात्कार है। उसके लिये उपदेश नहीं है, यह उपदेशका फल है कि वही ब्राह्मण यहाँ विवक्षित है जिसको ब्रह्मसाक्षात्कार है।

शङ्का—तो 'विजानतः' का भी अर्थ यही है, इसलिये पुनरुक्त दोष होता है।

समाधान—'विजानतः' का अर्थ हेयोपादेयविषयक ज्ञानवत्त्वरूप विशिष्ट ज्ञानवत्त्व विवक्षित है, इसलिये भिन्नार्थवाची होनेसे पुनरुक्त दोष नहीं है। हेयोपादेयविषयक ज्ञानवान् मुमुक्षु होता है। ऐहिकामुष्मिक स्वर्गादि फल आपातरमणीय होनेसे मधुसंपृक्तान्नवत् हेय है। भगवत्प्राप्तिसाधक श्रवण-मननादि उपादेय है, यह ज्ञान जिसको है वही मुमुक्षु होता है, उस ज्ञानोपदेशसे वही ब्राह्मण होता है. ब्रह्मसाक्षात्कारवान् वही मुक्त है, यही उपदेशका फल है]॥ ४६ ॥

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥ ४७ ॥

अशुद्धान्तःकरण, तात्त्विक ज्ञानोत्पत्तिके अयोग्य तुम्हारा कर्ममें ही अधिकार है, ज्ञाननिष्ठारूप वेदान्तवाक्योंके विचार आदिमें नहीं है और कर्म करते हुए तुम्हारा उनके फलोंमें अधिकार किसी भी अवस्थामें (कर्मानुष्ठानसे पहले, पीछे या तत्कालमें) नहीं है, अतः कर्मफलके हेतु तुम मत होओ, फलोंके अभावमें भी कर्म न करनेमें तुम्हारी प्रीति न हो ॥ ४७ ॥

ननु निष्कामकर्मभिरात्मज्ञानं सम्पाद्य परमानन्दप्राप्तिः क्रियते चेदात्मज्ञानमेव तर्हि सम्पाद्यम्, किं बह्वायासैः कर्मभिर्बहिरङ्गसाधनभूतैरित्याशङ्क्याऽऽह—'**कर्मण्येवा०**' इति ।

ते तवाशुद्धान्तःकरणस्य तात्त्विकज्ञानोत्पत्त्ययोग्यस्य कर्मण्येवान्तःकरणशोधकेऽधिकारो मयेदं कर्तव्यमिति बोधोऽस्तु, न ज्ञाननिष्ठारूपे वेदान्तवाक्यविचारादौ । कर्म च कुर्वतस्तव तत्फलेषु स्वर्गादिषु कदाचन कस्यांश्चिदप्यवस्थायां कर्मानुष्ठानात्प्रागूर्ध्वं तत्काले वाऽधिकारो मयेदं भोक्तव्यमिति बोधो माऽस्तु । ननु मयेदं भोक्तव्यमितिबुद्ध्यभावेऽपि कर्म स्वसामर्थ्यादि

निष्काम कर्मोंसे आत्मज्ञानका सम्पादन कर परमानन्दप्राप्ति की जाती है, यदि यही सिद्धान्त है, तो आत्मज्ञानार्जनके लिये ही प्रयत्न करना चाहिये, क्योंकि साक्षात् मोक्षसाधन तो यही है, इसका करना परमावश्यक है । परम्परया साधक –अधिक प्रयत्नसे–साध्य बहिरङ्ग कर्मानुष्ठान एतदर्थ व्यर्थ है, यह आशङ्का कर कहते हैं—'**कर्मण्येवा०**' इत्यादिसे । तुम्हारा अन्तःकरण अशुद्ध है, अतः साक्षात् ज्ञानसाधन श्रवण-मननादिसे तुममें ज्ञानोत्पत्तिका सम्भव नहीं है, इसलिये अन्तःकरणशोधक कर्ममें ही अभी अधिकार है । अधिकारानुसार कृतप्रयत्न फलग्राही होता है, अन्यथा नहीं । मुझको करना चाहिये, यही बोध तुमको हो, ज्ञाननिष्ठारूप वेदान्तवाक्य विचारादिमें नहीं । कर्म करते समय तुमको कर्मफल स्वर्गादिमें कभी भी कर्मानुष्ठान कालमें या तत्पूर्व कालमें या तदुत्तर कालमें अधिकार यानी मुझको भोग हो, यह बोध मत हो ।

शङ्का—हमको इसका भोग हो, इस बुद्धिके न रहनेपर भी कर्मस्वभावसे ही फलप्रद होता है । दुरित कर्मका कर्ता यह नहीं चाहता कि इसका फल हमको

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय ॥
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥४८॥

हे धनञ्जय, योगमें स्थित होकर फलकी अभिलाषा तथा कर्तृत्वाभिमान छोड़कर सिद्धि और असिद्धिमें सम होकर कर्मोंको करो, क्योंकि समता ही योग कहलाता है ॥ ४८ ॥

फलं जनयिष्यतीति चेन्नेत्याह—मा कर्मफलहेतुर्भूः। फलकामनया हि कर्म कुर्वन् फलस्य हेतुरुत्पादको भवति। त्वं तु निष्कामः सन् कर्मफलहेतुर्मा भूः। न हि निष्कामेन (ण) भगवदर्पणबुद्ध्या कृतं कर्म फलाय कल्पत इत्युक्तम्। फलाभावे किं कर्मणेत्यत आह—मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि। यदि फलं नेष्यते, किं कर्मणा दुःखरूपेणेत्यकरणे तव प्रीतिर्मा भूत् ॥ ४७ ॥

पूर्वोक्तमेव विवृणोति—'योगस्थः' इति।

हे धनञ्जय, त्वं योगस्थः सन् सङ्गं फलाभिलाषं कर्तृत्वाभिमानं च त्यक्त्वा कर्माणि कुरु। अत्र बहुवचनात्कर्मण्येवाधिकारस्त इत्यत्र जातावेकवचनम्।

हो, पर वह कृत कर्म स्वफलदाता होता ही है। एवं सुकृत भी स्वफल प्रदानके लिये उक्त बुद्धिकी अपेक्षा न कर अपने स्वभावसे ही फल देता है।

समाधान—नहीं, कर्मफलमें हेतु तृष्णा है, उसका उत्पादक मत होओ। फलकी कामनासे कर्म करनेवाला फलहेतु तृष्णाका उत्पादक होता है। तुम निष्काम होकर कर्मफलहेतु मत होओ। निष्काम अतएव भगवदर्पणबुद्धिसे किया हुआ कर्म फलके लिये नहीं होता, यह कह चुके हैं। फलाभावमें भी अकर्ममें तुम्हारा सङ्ग मत हो, यदि फलेच्छा नहीं, तो दुःखमय कर्म करनेसे क्या मतलब? इस प्रकार कर्माभावमें—कर्म न करनेमें भी तुम्हारी प्रीति न हो ॥ ४७ ॥

पूर्वोक्त ही का विवरण करते हैं—'योगस्थः' इत्यादिसे। हे धनञ्जय, तुम योगस्थ हो कर फलाभिलाषा तथा कर्तृत्वाभिमान छोड़कर कर्म करो।

शङ्का—पूर्व श्लोकमें 'कर्मण्येव' यहाँ कर्मशब्दोत्तर एक वचनसे एक कर्म करनेका अधिकार कहा गया है इस श्लोकमें कर्मशब्द बहुवचनान्त है, इसलिये अनेक कर्मोंको योगस्थ होकर करो, यह प्रतीत होता है। इस प्रकार यथाश्रुत विरोधका परिहार कैसे हो?

सङ्गत्यागोपायमाह—सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा। फलासिद्धौ हर्षं फलासिद्धौ च विषादं त्यक्त्वा केवलमीश्वराराधनबुद्ध्या कर्माणि कुर्वित्यर्थः। ननु योगशब्देन प्राक्कर्मोक्तम्, अत्र तु योगस्थः कर्माणि कुर्वित्युच्यते; अतः कथमेतद्बोद्धुं शक्यमित्यत आह—समत्वं योग उच्यते। यदेतत्सिद्ध्यसिद्ध्योः समत्वमिदमेव योगस्थ इत्यत्र योगशब्देनोच्यते, न तु कर्मेति न कोऽपि विरोध इत्यर्थः। अत्र पूर्वार्धस्योत्तरार्धेन व्याख्यानं क्रियत इत्यपौनरुक्त्यमिति भाष्यकारीयः पन्थाः। "सुखदुःखे समे कृत्वा" इत्यत्र जयाजयसाम्येन युद्धमात्रकर्तव्यता प्रकृतत्वादुक्ता। इह तु दृष्टादृष्टसर्वफलपरित्यागेन सर्वकर्मकर्तव्यतेति विशेषः॥ ४८॥

समाधान—इसमें बहुवचन होनेसे अनेक कर्मोंको योगस्थ बुद्धिसे करो, यह तो निश्चित ही है। इसके अनुसार पूर्व श्लोकमें कर्मपद जातितात्पर्यसे एकवचनान्त प्रयुक्त हुआ है। 'जात्याख्यायामेकस्मिन्' इत्यादि सूत्रसे अनेकार्थकी विवक्षासे जातिपक्ष मानकर एकवचनान्त भी साधु है। अतः पूर्व श्लोकस्थ कर्मपद अनेक कर्मका बोधक है। इसप्रकार पूर्वापर कर्मशब्दोंका एक ही अर्थ है।

सङ्गत्यागका उपाय कहते हैं—'सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा'। फलसिद्धिमें हर्षका और फलासिद्धिमें विषादका त्यागकर केवल परमात्माराधनबुद्धिसे कर्मोंको करो।

शङ्का—पूर्वमें योगशब्दसे कर्म कहा था, यहाँ योगस्थ होकर कर्म करो, यह कहते हैं, इसका अर्थ क्या हुआ, यह नहीं समझमें आता।

समाधान—यहाँ योगसे समत्व विवक्षित है। सिद्धि और असिद्धिमें समता ही यहाँ योग है, कर्म नहीं, इसलिये कोई विरोधशङ्का नहीं है। यहाँ पूर्वार्द्धका उत्तरार्द्धसे व्याख्यान है, इसलिये पौनरुक्त्यकी शङ्का नहीं है, यह भाष्यकारका मार्ग है। 'सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ' इत्यादिसे जयाजयसाम्य-प्रतिपादन द्वारा युद्ध अवश्य करना चाहिये। युद्ध ही यहाँ प्रक्रान्त है, तदनुसार तत्फलमें साम्यबुद्धि रखकर कर्म अवश्य करना चाहिये, क्योंकि यह क्षत्रियोंका अपना धर्म है। यहाँपर तो दृष्ट और अदृष्ट सकल फलोंका त्यागकर सब कर्म करना चाहिये, यह कहा गया है, यही पूर्व और उत्तरमें विशेष है।

[यद्यपि 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' इस पातञ्जल योगसूत्रमें योगशब्द चित्त-

वृत्तिनिरोधका वाची है, सकल वृत्तियोंका निरोध होनेपर चित्त एकाग्र होता है, चित्तके चञ्चलताका कारण वृत्तियाँ हैं, तथापि यहाँ तदेकदेश हर्षविषादात्मक वृत्तित्यागके तात्पर्यसे योगशब्दका प्रयोग हुआ है।

शङ्का—सङ्गका त्यागकर और सिद्धि एवं असिद्धिमें सम होकर कर्म करो, यह अर्जुनके प्रति भगवान्का उपदेश है। इसमें शङ्का यह है कि सङ्गत्याग और समत्व दोनोंको योग न कहकर, केवल समत्व ही को योग क्यों कहा ? यदि वही 'योगस्थः' इस पदमें योगशब्दसे विवक्षित है, तो योगस्थ होकर कर्म करो, इसके अनन्तर 'सङ्गं त्यक्त्वा' कहनेकी क्या आवश्यकता, क्योंकि यह तो योग नहीं है।

समाधान—सङ्गत्याग भी योग ही है। तात्पर्य यह है कि बिना सङ्गत्यागसे सिद्धि और असिद्धिमें समता नहीं हो सकती। सङ्गत्याग उक्त समताबुद्धिमें कारण है। कार्यग्रहणसे कारणका ग्रहण अर्थात् हो जाता है, इसलिये संक्षेपाभिधानके तात्पर्यसे समत्वग्रहणका उपदेश है। उक्त समताके ग्रहणसे सङ्गत्यागका स्वतः ग्रहण हो जाता है, अतः विशिष्य सङ्गत्यागका उपादान नहीं है। पटग्रहणसे तत्कारण तन्तुका ग्रहण स्वतः सिद्ध है, अतः पट ग्रहण करो, इसीसे तन्तु ग्रहण करो, यह अर्थतः सिद्ध हो जाता है, इसलिये पट और तत्कारण तन्तुका ग्रहण करो, यह नहीं कहा जाता। तद्वत् प्रकृतमें भी समझना चाहिये।

शङ्का—समत्व और योग भिन्न है, यह शङ्का किसने की ? क्योंकि समाधानार्थ दोनों एक ही हैं, भिन्न नहीं। एतद्बोधनार्थ समत्वयोगका ऐक्यप्रतिपादन 'समत्वं योग उच्यते' से योग क्या है, इस आकांक्षासे सिद्धि एवं असिद्धिकी समता—ये दोनों योग हैं, यह भगवान्की व्याख्या है। समे यानी स्वल्पबुद्धिवाले यह भी समझ सकते हैं कि सङ्गत्याग और सिद्धि एवं असिद्धिमें समता—यह योगसे अतिरिक्त है, उनके ऊपर दया कर भगवान्ने स्वयं व्याख्या कर दी कि उक्त न्यायसे सङ्गत्यागके साथ समता योग है। इससे मन्द बुद्धिवालोंका भूयान् उपकार हुआ। विशिष्ट बुद्धिवाले तो अपने प्रज्ञावैभवसे दोनोंको योग समझ लेंगे, परन्तु मन्द बुद्धिवालोंको बिना उपदेशसे उक्तार्थका बोध नहीं होगा, इसलिये जगत्पिता परमात्माकी विशेष अनुकम्पा यहाँ मन्द बुद्धिवालोंपर है, उन्हींकी अनुजिघृक्षा—अनुग्रहेच्छासे 'समत्वं योगः' यह कहा है। योगैकदेशमें यहाँ योगशब्दका गौण प्रयोग है]॥ ४८॥

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय ।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ॥ ४९ ॥

हे धनञ्जय, बुद्धियोगकी अपेक्षा—आत्मबुद्धि साधनभूत निष्काम कर्मयोगकी अपेक्षा—फलाभिसन्धिसे किया जानेवाला कर्म अत्यन्त निकृष्ट होनेसे अधम है। इसलिए सर्वानर्थनिवर्तक परमात्मबुद्धिमें शरण गहो, क्योंकि फलकी अभिलाषा रखनेवाले मनुष्य सर्वदा परवश बने रहते हैं ॥ ४९ ॥

ननु किं कर्मानुष्ठानमेव पुरुषार्थो येन निष्फलमेव सदा कर्तव्यमित्युच्यते "प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते" इति न्यायात्, तद्वरं फलकामनयैव कर्मानुष्ठानमिति चेन्नेत्याह—'दूरेण ह्यवरम्' इति।

बुद्धियोगादात्मबुद्धिसाधनभूतान्निष्कामकर्मयोगाद् दूरेणातिविप्रकर्षेणावरमधमं कर्म फलाभिसंधिना क्रियमाणं जन्ममरणहेतुभूतम्। अथवा परमात्मबुद्धियोगाद् दूरेणावरं सर्वमपि कर्म हि यस्माद्धे धनञ्जय तस्माद् बुद्धौ सर्वानर्थनिवर्तिकायां शरणं प्रतिबन्धकपापक्षयेण रक्षकं निष्कामकर्मयोगमन्विच्छ

क्या कर्मानुष्ठान स्वयं पुरुषार्थ है? कि उसका सतत अनुष्ठान करो, उसमें यह मत देखो कि इसका कुछ फल है या नहीं, यह आप कहते हैं। अल्पज्ञ पुरुष भी फलकी कामनाके बिना कोई कर्म नहीं करता, इससे तो यही अच्छा है कि यदि कर्मानुष्ठान आवश्यक है, तो फलकामना ही से अनुष्ठान किया जाय। यदि फलकामना नहीं है, तो तदनुष्ठानका त्याग ही अच्छा है।

नहीं, यह बात नहीं है। बुद्धियोगात् यानी आत्मज्ञानके कारणभूत निष्कामकर्मयोगकी अपेक्षा फलकामनासे अनुष्ठीयमान कर्म, जो जन्ममरणका हेतु है, अतिनिकृष्ट होनेसे अवर—अधम है। [कारण कि काम्य कर्मका फल—जन्ममरणादि फल—अधम है, अतः फल द्वारा 'अवर' कहा गया है। स्वरूपसे तो वही कर्म है, जो निष्काम बुद्धिसे किया जाता है।] अथवा परमात्मबुद्धियोगकी अपेक्षा अतिनिकृष्ट होनेसे सब कर्म अधम है। हे अर्जुन, जिस हेतुसे उक्त बुद्धियोगकी अपेक्षा सब कर्म अधम है, इस हेतुसे सब अनर्थोंकी निवृत्तिका कारण परमात्मबुद्धिकी शरण गहो।

प्रश्न—शरण क्या है?

उत्तर—परमात्मबुद्धिकी उत्पत्तिमें प्रतिबन्धक पाप है, यह तुमको समझा चुके हैं। उस प्रतिबन्धक पापोंका निवर्तक निष्काम कर्मयोग है, यह भी विस्तारसे

कर्तुमिच्छ। ये तु फलहेतवः फलकामा अवरं कर्म कुर्वन्ति ते कृपणाः सर्वदा जन्ममरणादिघटीयन्त्रभ्रमणेन परवशा अत्यन्तदीना इत्यर्थः। "यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वास्माल्लोकात्प्रैति स कृपणः" इति श्रुतेः। तथा च त्वमपि कृपणो मा भूः, किन्तु सर्वानर्थनिवर्तकात्मज्ञानोत्पादकं निष्कामकर्मयोगमेवानुतिष्ठेत्यभिप्रायः। यथा हि कृपणा जना अतिदुःखेन धनमर्जयन्तो यत्किञ्चिद्दृष्टसुखमात्रलोभेन दानादिजनितं महत्सुखमनुभवितुं न शक्नुवन्तीत्यात्मानमेव वञ्चयन्ति तथा महता दुःखेन कर्माणि कुर्वाणाः क्षुद्रफल-

---

समझा चुके हैं। और एक बात यह भी है कि उक्त कर्मयोग पापक्षय द्वारा उक्त बुद्धिका रक्षक है। 'शरणं गृहरक्षित्रोः' इस कोषसे रक्षिताको भी 'शरण' कहते हैं, उसको करनेकी इच्छा कर, निष्काम कर्मानुष्ठान कर, यह मतलब है। जो लोग फलकी कामनासे अधम कर्म करते हैं वे कृपण हैं यानी सदा जन्ममरण-जराव्याधिके घटीयन्त्रवत् परिणामसे परवश रहते हैं—जैसे जलचरखीमें बँधी छोटी-छोटी कलसी सतत घूमती रहती है, कभी ऊपर कभी नीचे चरखी चलने पर घटी क्षणभर भी स्थिर नहीं रह सकती, वैसे ही प्राणिमात्र कर्मप्रवाहमें पराधीन हो जन्ममरणादिप्रवाहसे क्षण भर भी छूट नहीं सकता। एक अवस्था बीतने पर दूसरी अवस्था भोगनेके लिये सदा उपस्थित रहती है, इनका विराम कभी नहीं होता, अतएव वे दीन हैं। परमार्थज्ञानशून्य कृपण हैं। इसमें श्रुति प्रमाण देते हैं—'यो वा' इत्यादि। इस तरह तुम भी कृपण मत हो, किन्तु सब अनर्थोंके निवारणमें समर्थ आत्मज्ञानका उत्पादक जो निष्काम कर्मयोग है उसका अनुष्ठान करो, यह अभिप्राय है। जैसे कृपण पुरुष बड़े परिश्रमसे धनका उपार्जन करता है उस धनसे दो प्रकारके सुख हो सकते हैं—एक तो योग्य पुरुषको सविधि दान करनेपर होता है, जो महान् सुख है और एक दृष्ट सामग्रीके द्वारा यानी प्रशस्त खान, पान, निवासादिके सम्पादन द्वारा प्राप्त होता है। जो दृष्ट सुख है, वह बहुत छोटा है, छोटे सुखके लोभसे परिश्रमोपार्जित धनको दृष्ट साधनके सञ्चयमें व्यय कर अपनेको कृतकृत्य मानता है, वह कृपण है। वह उस धनसे सुपात्रको दान देकर उसके द्वारा महान् सुखका भोग कर सकता था, किन्तु वैसा न कर अपनेको ही उस सुखसे उसने वञ्चित किया, वैसे ही जो बड़े परिश्रमसे कर्म कर उसको क्षुद्रानन्दप्राप्तिमें ही व्यय कर देते हैं और परमानन्द मोक्षकी प्राप्तिसे वञ्चित हो जाते हैं, उनके विषयमें भी यह महान्

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते ।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ॥५०॥

कर्मोंमें समत्वबुद्धिसे युक्त पुरुष सत्त्वशुद्धिज्ञानप्राप्ति द्वारा पुण्य और पाप दोनोंका परित्याग कर देता है, इसलिए तुम समत्वबुद्धिरूप योगके लिए उद्युक्त हो जाओ, क्योंकि समत्वबुद्धिरूप योग ईश्वरार्पित चित्तवाले, कर्मोंमें प्रवृत्त पुरुषका महान् कौशल है ॥ ५० ॥

मात्रलोभेन परमानन्दानुभवेन वञ्चिता इत्यहो दौर्भाग्यं मौढ्यं च तेषामिति कृपणपदेन ध्वनितम् ॥ ४९ ॥

एवं बुद्धियोगाभावे दोषमुक्त्वा तद्भावे गुणमाह—'बुद्धियुक्तो' इति। इह कर्मसु बुद्धियुक्तः समत्वबुद्ध्या युक्तो जहाति परित्यजति उभे

आश्चर्य है। इसका कारण उनका दौर्भाग्य और मूढ़ता ही है, यह कृपणशब्दसे सूचित किया है।

[सारांश यह है कि प्रधानफलके त्यागके अनन्तर फलकी सिद्धि और असिद्धिमें समता एतदुभयस्वरूप बुद्धियोगसे इतर सकाम कर्म अतिनिकृष्ट है। इन दोनोंमें महान् यह वैलक्षण्य है कि बुद्धियोग सब सांसारिक दुःखोंकी निवृत्तिकर परम पुरुषार्थलक्षण मोक्ष देता है। दूसरा सकाम किया गया कर्म अपरिमित दुःखस्वरूप संसारको देता है, अतः कर्म करते समय उक्त बुद्धिकी शरण गहो। उसी बुद्धिमें स्थिर रहो। यह निश्चय समझो कि जो फलकामनासे कर्म करेंगे, वे नियमसे संसारी होंगे। तुम स्वयं अपने कर्मोंपर ध्यान दो कि एक समय वह था, जब सब राजाओंके ऊपर विजयकर जो तुमने धनसञ्चय किया, उससे युधिष्ठिरने राजसूय यज्ञ किया। उसीमें दुर्योधन अपनेको अपमानित समझकर द्यूतक्रीडाकी योजना की। उसमें तुम लोगोंने पराजित होकर वनवास किया। उसके बाद यह युद्ध प्राप्त हुआ। इस प्रकार काम्य कर्मोंका दुष्परिणाम देखते हो, अतः इन दुःखोंसे बचनेका उपाय यही है कि सब कर्मोंको करो, पर फलकामनासे मत करो, केवल ईश्वरार्पणबुद्धिसे करो, फिर तो सांसारिक सकल दुःखोंसे मुक्त होकर अवश्य ही परमपद मोक्षफलका भागी बनोगे] ॥ ४९ ॥

इस प्रकार बुद्धियोगाभावमें दोष कहकर बुद्धियोगके सद्भावमें गुण कहते हैं—'बुद्धियुक्तो' इत्यादिसे। इन कर्मोंमें समत्वबुद्धियुक्त होकर पुरुष सत्त्वशुद्धिज्ञानप्राप्ति द्वारा समस्त सुकृत-दुष्कृतका—पुण्य और पापोंका त्याग करता है।

सुकृतदुष्कृते पुण्यपापे सत्त्वशुद्धिज्ञानप्राप्तिद्वारेण । यस्मादेवं तस्मात्समत्वबुद्धियोगाय त्वं युज्यस्व घटस्वोद्युक्तो भव । यस्मादीदृशः समत्वबुद्धियोग ईश्वरार्पितचेतसः कर्मसु प्रवर्तमानस्य कौशलं कुशलभावो यद्बन्धहेतूनामपि कर्मणां तदभावो मोक्षपर्यवसायित्वं च तन्महत्कौशलं समत्वबुद्धियुक्तः

[भाष्यकारने 'इह' शब्दका इस लोकमें पुण्य और पापका त्याग करता है, ऐसा अर्थ किया है। इससे कर्मके साथ सम्बन्ध नहीं है, यह सूचित होता है, परन्तु मूलकारने कर्मके साथ सम्बन्ध कर 'इह' का 'कर्मसु' ऐसा अर्थ किया है। फलतः विशेष नहीं है। एकके साथ शाब्दिक सम्बन्ध है, दूसरेके साथ आर्थिक वा प्राकरणिक सम्बन्ध है। 'इह' का 'लोकमें' यह अर्थ माननेसे कर्मके साथ प्राकरणिक सम्बन्ध है। 'इह' का कर्मके साथ शाब्दिक सम्बन्ध न करनेसे त्याग मरणसे पूर्व इस लोक ही में होता है, लोकान्तरमें नहीं, अतः अर्थतः लोकका लाभ हो जाता है, अतः आर्थिक सम्बन्ध है।

शङ्का—पुण्य और पापकी निश्शेष निवृत्ति तो ज्ञानसे होती है, कर्मसे नहीं, फिर कर्मयोगसे पुण्य और पापकी निवृत्ति कैसे ?

उत्तर—यहाँ साक्षात् कर्मयोग उक्त निवृत्तिका कारण है, इसमें तात्पर्य नहीं, किन्तु परम्परया तन्निवर्तक है, इसमें तात्पर्य है। इसको स्पष्ट कहते हैं—अन्तःकरणकी शुद्धि द्वारा ज्ञानोत्पत्तिका कर्मयोग कारण है। ज्ञानसे निश्शेष कर्मकी निवृत्ति होती है, इसलिये ज्ञानद्वारा उक्त निवृत्तिमें कर्मयोग कारण है।] चूँकि कर्मयोग तत्त्वज्ञानका साधन है, इसलिए बुद्धियोग ही में युक्त होओ – उद्युक्त होओ। अर्थात् इसीके सम्पादनका यत्न करो, इससे समस्त इष्ट सिद्ध होगा। क्योंकि समत्वबुद्धियोग कर्मयोग ईदृश—प्रभावशाली है, ईश्वरके चरणारविन्दमें अपने चितको सर्वात्मना निवेशित करके जो कर्म करते हैं यानी कर्मोंमें जो प्रवर्तमान हैं उनका कौशल—उनकी कुशलता है।

प्रश्न—क्या कौशल है ?

उत्तर—कर्म बन्धनका हेतु है। जो कर्म करेगा, वह अवश्य बद्ध होगा, यह प्राकृतिक नियम है। वही कर्म वे लोग करते हैं, परन्तु उन कर्मोंमें बन्धनहेतुत्व नहीं होता, किन्तु तदभाव होता है। यही कर्ताका कौशल है। इतना ही कौशल नहीं, किन्तु उन कर्मोंसे मोक्ष होता है, यह महान् कौशल है। युक्त यानी समत्व-

कर्मयोगः कर्मात्माऽपि सन् दुष्टकर्मक्षयं करोतीति महाकुशलस्त्वं तु न कुशलो यतश्चेतनोऽपि सन् सजातीयदुष्टत्तयं न करोषीति व्यतिरेकोऽत्र ध्वनितः। अथवा—इह समत्वबुद्धियुक्ते कर्मणि कृते सति सत्त्वशुद्धिद्वारेण बुद्धियुक्तः परमात्मसाक्षात्कारवान्सञ्जहात्युभे सुकृतदुष्कृते। तस्मात्समत्वबुद्धियुक्ताय कर्मयोगाय युज्यस्व। यस्मात्कर्मसु मध्ये समत्वबुद्धियुक्तः कर्मयोगः कौशलं कुशलो दुष्टकर्मनिवारणचतुर इत्यर्थः ॥ ५० ॥

बुद्धिसे युक्त कर्मयोग कर्मस्वरूप होकर भी दुष्कर्म—पापका नाश करता है, इस कारण कर्मयोग बड़ा कुशल है तुम तो कुशल नहीं हो, क्योंकि चेतन होकर भी सजातीय दुर्योधनादि दुष्टोंका नाश नहीं करते हो, यह व्यतिरेक ध्वनित होता है। [कर्मयोग सजातीय दुष्टका नाश करता है, इससे दोषयुक्तका सर्वदा नाश करना चाहिये, चाहे सजातीय हो या विजातीय। अनिष्टकारीकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये। अतएव कालिदासने भी कहा है—अङ्गुलीवोरगक्षता। अतिप्रिय अंगुलीको यदि सर्प काट ले, तो अंगुली काट देनी चाहिये। उसमें ममता नहीं करनी चाहिये कि यह मेरी अंगुली है इतर अंगुलियोंके समान अच्छी है। यह अंगुली सर्पविषसे दुष्ट है। दुष्टका सर्वदा नाश करना चाहिये। उसमें सजातीय-विजातीयका विचार ही नहीं करना चाहिये। दोष अनिष्टकारी होनेसे द्वेष्य अतएव पर-शत्रु ही होता है।] अथवा यह समत्वबुद्धियुक्त कर्म करनेपर—समत्वबुद्धिसे नित्यकाम्य आदि कर्म करनेपर अन्तःकरणशुद्धि द्वारा बुद्धियुक्त परमात्मसाक्षात्कारवान् होकर सुकृत और दुष्कृत दोनोंका त्याग करता है। [प्रथम अर्थमें बुद्धियुक्त इस बुद्धिसे कर्मयोग बुद्धिका ग्रहण किया, किन्तु वह सुकृत-दुष्कृतकी साक्षान्निवृत्तिका कारण नहीं है, इसलिये अन्तकरणशुद्धि की ब्रह्मसाक्षात्कार द्वारा परम्परया 'जहाति'के साथ सम्बन्ध किया, द्वितीय अर्थमें 'इह' शब्दसे पूर्वोक्त समताबुद्धिका परामर्शकर 'कर्मयोगबुद्धियुक्ते कर्मणि कृते सति' यहाँ स्यन्तार्थका 'इह पद' के अनुरोधसे 'सति सप्तमी' मानकर उक्त कर्म करनेपर मनकी शुद्धि होगी, ततः ब्रह्मसाक्षात्कार जो होगा, वही बुद्धियुक्त यहाँ 'बुद्धि' से विवक्षित है। यह बुद्धि सुकृतादिके त्यागमें साक्षात हेतु है—यही दोनों व्याख्यानोंमें भेद है। मुख्य अर्थ एक ही है] अतः समत्वबुद्धियुक्त कर्मयोगके लिये प्रयत्न करो, क्योंकि कर्मोंके मध्यमें समत्वबुद्धियुक्त कर्मयोग कौशल है यानी कुशल है। दोषयुक्त कर्मोंके निवारणमें चतुर है, यह अर्थ है ॥ ५० ॥

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः ।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥ ५१ ॥

चूँकि समबुद्धिसे युक्त पुरुष कर्मजनित फलका त्यागकर केवल परमेश्वरकी आराधनाके लिए कर्म करते हुए सत्त्वशुद्धिद्वारा आत्मज्ञानी हो जाते हैं और वैसा होते हुए वे जन्मात्मक बन्धनसे सदाके लिए छुटकारा पाकर अविद्या और तत्कार्यात्मक रोग रहित मोक्षनामक परमपदको—पुरुषार्थको प्राप्त हो जाते हैं, इसलिए तुम भी ऐसे कर्मयोगका अनुष्ठान करो ॥ ५१ ॥

ननु दुष्कृतहानमपेक्षितं न तु सुकृतहानं पुरुषार्थभ्रंशापत्तेरित्याशङ्क्य तुच्छफलत्यागेन परमपुरुषार्थप्राप्तिं फलमाह—'कर्मजम्' इति ।

समत्वबुद्धियुक्ता हि यस्मात्कर्मजं फलं त्यक्त्वा केवलमीश्वराराधनार्थं कर्माणि कुर्वाणाः सत्त्वशुद्धिद्वारेण मनीषिणस्तत्त्वमस्यादिवाक्यजन्यात्ममनीषावन्तो भवन्ति । तादृशाश्च सन्तो जन्मात्मकेन बन्धेन विनिर्मुक्ता विशेषेणाऽऽत्यन्तिकत्वलक्षणेन निरवशेषं मुक्ताः पदं पदनीयमात्मतत्त्वमानन्दरूपं ब्रह्मानामयमविद्यातत्कार्यात्मकरोगरहितमभयं मोक्षाख्यं पुरुषार्थं

शङ्का—दुष्कृतका त्याग तो उचित है, क्योंकि इसका फल दुःखानुभव है, जो प्राणिमात्रको इष्ट नहीं है, परन्तु सुकृतका हान तो अच्छा नहीं है। इसका फल सुखानुभव है, जो सब प्राणियोंको इष्ट है। इसके त्यागसे तो पुरुषार्थ ही से गिर जाना होगा।

समाधान—सांसारिक फल तुच्छ हैं। इनका त्याग कर परमपुरुषार्थरूप अतुच्छ फल प्राप्त करो, यह कहते हैं—'कर्मजम्' इत्यादिसे। समत्वबुद्धियुक्त पुरुष कर्मज फलका त्यागकर केवल ईश्वराराधनार्थ कर्म करते हैं और सत्त्वशुद्धि द्वारा विद्वान् होते हैं। यहाँ विद्वान्से 'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्यजन्य जो ब्रह्मात्मैकत्वज्ञान है तद्वान् विवक्षित है। विद्वान् होकर जन्मस्वरूप बन्धसे बिलकुल छूट जाते हैं। विनिर्मुक्ताः' यहाँ 'वि और निर्' इन दोनों उपसर्गोंसे विवक्षित अर्थको स्फुट करते हैं—आत्यन्तिकत्वरूप विशेष 'वि' का और निरवशेषत्वरूप अर्थ 'नि' का यहाँ विवक्षित है। आत्यन्तिक बन्धसे मुक्त हो जाते हैं। मुक्त होकर पदम्—पदनीय—गमनीयको—आत्मतत्त्वपरमानन्दरूप ब्रह्मको प्राप्त हो जाते हैं, जो अनामय है। अर्थात् आमय रोगका नाम

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति ।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥ ५२॥

जब तुम्हारी बुद्धि अविवेकात्मक कालुष्य पार कर जायगी तब तुम श्रोतव्य और श्रुत कर्मफलमें निर्वेदको प्राप्त होओगे—तब तुममें कर्मफलकी चाह न रहेगी ॥ ५२ ॥

गच्छन्त्यभेदेन प्राप्नुवन्तीत्यर्थः। यस्मादेवं फलकामनां त्यक्त्वा समत्व-बुद्ध्या कर्माण्यनुतिष्ठन्तस्तैः कृतान्तःकरणशुद्धयस्तत्त्वमस्यादिप्रमाणोत्पन्ना-त्मतत्त्वज्ञानविनष्टाज्ञानतत्कार्याः सन्तः सकलानर्थनिवृत्तिपरमानन्दप्राप्ति-रूपं मोक्षाख्यं विष्णोः परमं पदं गच्छन्ति तस्मात्त्वमपि यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे इत्युक्तेः श्रेयोजिज्ञासुरेवंविधं कर्मयोगमनुतिष्ठेति भगवतोऽभिप्रायः ॥ ५१ ॥

है, [रोग शरीरमें होता है, ब्रह्म अशरीर है, इसलिए उसमें रोग नहीं है, फिर भी निरामयसे उसका उसमें प्रतिषेध व्यर्थ है, इस शङ्काके परिहारार्थ अनामयकी व्याख्या करते हैं—रोग दुःखदायी होता है, जो जिसमें रह कर दुःख दे वही उसमें रोग है। शरीरमें ज्वरादि रहकर शरीरीको दुःख देते हैं, अतः जैसे ज्वरादि रोग हैं, एवं अविद्या और उसके कार्य परमात्मामें रहकर जीवोंके दुःखदायी हैं, अतः आत्मामें ये ही रोग हैं।] एतद्रोगरहित अभय मोक्षनामक पुरुषार्थ वे प्राप्त करते हैं। अभेदरूपसे प्राप्त करते हैं, यह अर्थ है। [जैसे नगरगन्ता-के गन्तव्य नगरको प्राप्त करनेपर भी दोनोंका भेदेन अवस्थान रहता है। गन्ता पुरुष नगर नहीं हो जाता, वैसे ही यहां भेदेन अवस्थान नहीं है, किन्तु गन्ता और गन्तव्य ब्रह्मस्वरूप हो जाता है, इस तात्पर्यसे 'अभेदेन प्राप्नुवन्ति' यह कहा।] चूँकि इस प्रकार फलकी कामनाका त्याग कर समत्वबुद्धिसे कर्मोंको कर उन कृत कर्मोंसे परिशुद्धान्तःकरण होते हुए यानी 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यप्रमाणोत्पन्न जो 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्याकारक आत्मतत्त्वज्ञान है, इससे अविद्या और तत्कार्य समस्त प्रपञ्चका नाश करते हुए वे सकलानर्थनिवृत्तिरूप-परमानन्दप्राप्तिरूप मोक्षापरनामक विष्णुके परम पदको जाते हैं, इसलिए तुम भी 'यच्छ्रेयः स्यात्' इत्यादि वाक्यसे ज्ञात होता है कि श्रेयोऽर्थजिज्ञासु हो, तो ऐसा ही कर्मयोग करो, यह भगवान्का अभिप्राय है ॥ ५१ ॥

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला ।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ॥ ५३ ॥

अनेकविध फल वर्णन करनेवाली श्रुतियोंसे विक्षिप्त हुई तुम्हारी बुद्धि जब निश्चल होकर परमात्मामें दृढ़ हो जायगी तब तुम जीवपरमात्मैक्यरूपी अखण्डसाक्षात्कारको, जो समस्त योगोंका फल है, प्राप्त करोगे ॥ ५३ ॥

एवं कर्माण्यनुतिष्ठतः कदा मे सत्त्वशुद्धिः स्यदित्यत आह—'यदा ते' इति । नह्येतावता कालेन सत्त्वशुद्धिर्भवतीति कालनियमोऽस्ति । किन्तु यदा यस्मिन्काले ते तव बुद्धिरन्तःकरणं मोहकलिलं व्यतिक्रमिष्यति अविवेकात्मकं कालुष्यमहमिदं ममेदमित्याद्यज्ञानविलसितमतिगहनं व्यतिक्रमिष्यति रजस्तमोमलमपहाय शुद्धभावमापत्स्यत इति यावत् । तदा तस्मिन्काले श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च कर्मफलस्य निर्वेदं वैतृष्ण्यं गन्तासि प्राप्तासि । "परीक्ष्य लोकान्कर्मचितान्ब्राह्मणो निर्वेदमायात्" इति श्रुतेः । निर्वेदेन फलेनान्तःकरणशुद्धिं ज्ञास्यसीत्यभिप्रायः ॥ ५२ ॥

अन्तःकरणशुद्ध्यैवं जातनिर्वेदस्य कदा ज्ञानप्राप्तिरित्यपेक्षायामाह—

इस तरह कर्म करनेसे मेरा मन कब शुद्ध होगा, इसपर कहते हैं—'यदा' इत्यादिसे । इतने समयमें उक्त कर्मोंसे मनकी शुद्धि होती है, यह कालनियम नहीं है, किन्तु अवधि यही समझो कि जिस समय तुम्हारा मन अविवेकस्वरूप कालुष्य 'मैं यह हूँ' 'यह मेरा है' इत्यादि जो अज्ञानका कार्य अति जटिल है, उसको पार कर जायगा यानी रज और तमके मलको छोड़कर शुद्धस्वभावापन्न हो जायगा तब समझना कि मेरा मन परिशुद्ध हो गया । उस समय श्रोतव्य—श्रवणयोग्य और श्रुत कर्मफलकी तृष्णा निवृत्त हो जायगी । वैतृष्ण्य प्राप्त करोगे, यह शब्दार्थ हुआ । इसमें प्रमाण 'परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान्' इत्यादि श्रुति है । निर्वेदरूप फलसे यानी फलवैतृष्ण्यसे अन्तःकरणकी शुद्धि जानोगे, यही शुद्धिका ज्ञापक है । श्रोतव्य और श्रुत दोनों निष्फल प्रतीत होगा, यह अभिप्राय है ॥ ५२ ॥

अन्तःकरणकी शुद्धिसे इस प्रकारका वैराग्य होनेपर कब ज्ञानकी प्राप्ति होगी,

'श्रुतिविप्रति०' इति ।

ते तव बुद्धिः श्रुतिभिर्नानाविधफलश्रवणैरविचारिततात्पर्यैर्विप्रतिपन्नाः

ऐसी जिज्ञासा होनेपर कहते हैं—'श्रुति०' इत्यादिसे।

तुम्हारी बुद्धि जब परमात्मामें निश्चल होकर स्थित होगी तब तत्त्वज्ञान होगा, यही अवधिका ज्ञापक है। इस समय तो श्रुतियोंसे—अनेकविध फलश्रवणसे किन श्रुतियोंका क्या तात्पर्य है, इस विचारके बिना उक्त श्रुतियोंसे–विप्रतिपन्न है। [विप्रतिपत्तिसे संशय यानी विरुद्धकोटिद्वयावगाहिज्ञान होता है। जैसे सामने स्थित मनुष्यदेहसममें मन्द अन्धकारमें 'स्थाणुर्न वा' यह संशय होता है, इससे स्थाणुत्वकोटि और एतद्विरुद्ध स्थाणुत्वाभावकोटि, दोनोंका भान होता है। विरुद्ध धर्मरूप एक धर्मीमें नहीं रहता, पर एकतरकोटिका निर्णायक जबतक कोई ज्ञान नहीं होता, तबतक यह संशय बना रहता है। यदि स्थाणुत्वव्याप्य शाखापत्रादिका ज्ञान हो जाय, तो यह स्थाणु है, यह निश्चय हो जायगा, फिर उक्त संशय भी निवृत्त हो जायगा। संशयज्ञान अप्रमाण है। एवं विपर्यास विभ्रमको कहते हैं। जैसे कि शुक्तिमें रजतज्ञान और रज्जुमें सर्पज्ञान—ये भ्रम ही हैं, अतद्वति तत्प्रकारक ज्ञान भ्रम है। शुक्तिमें रजतत्व नहीं है, फिर भी 'इदं रजतम्' यह ज्ञान शुक्तिमें रजतको बतलाता है, अतः यह भ्रम है। इसकी निवृत्ति वास्तविक शुक्तिज्ञानसे होती है। ऐसी तुम्हारी बुद्धि संशयात्मक है, क्योंकि इस ज्ञानकी सामग्री तुम्हारे मनमें है। श्रुति द्वारा अनेकफलश्रवणसे संशय होना उचित ही है। 'अपाम सोमं अमृता अभूम' इसके श्रवणसे यह ज्ञान होता ही है। सोमपान सोमयागमें होता है, इसलिये सोमपानसे सोमयाग विवक्षित है। सोमयागादिसे भी आत्यन्तिक—निश्शेष बन्धकी निवृत्ति होती है। बन्धनिवृत्ति होनेपर ही अमृतप्राप्ति होती है। उक्त श्रुतिसे यह अर्थ स्फुट प्रतीत होता है कि सोम पिया कि मुक्त हो गये। 'तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयते एवं कर्मचितो लोकः क्षीयते' यथा कर्मजन्य सस्यादि क्षयी है, एवं कर्मजन्य स्वर्ग भी क्षयी है। क्षयित्वमें कारण कर्मजन्यत्वादि है। इस विरुद्ध श्रुतिद्वयके श्रवणसे मोक्षके लिये कर्मका आश्रयण करना चाहिये अथवा नहीं, यह संशय तबतक बना रहेगा, जबतक कि तात्पर्यनिर्णयानन्तर यथार्थ ज्ञान नहीं होगा। तात्पर्यनिर्णय विचारके बिना नहीं होता, इसलिये 'अविचारित' यह कहा। 'नान्यः

नेकविधसंशयविपर्यासवत्त्वेन विक्षिप्ता प्राक्, यदा यस्मिन्काले शुद्धिजविवेकजनितेन दोषदर्शनेन तं विक्षेपं परित्यज्य समाधौ परमात्मनि निश्चला जाग्रत्स्वप्नदर्शनलक्षणविक्षेपरहिताऽचला सुषुप्तिमूर्छास्तब्धीभावादिरूपलयलक्षण-

पन्था विद्यतेऽयनाय' इत्यादि श्रुत्यन्तरसे तथा कर्मजत्वादि लिङ्गसे यागादिजन्य फलमें विनाशित्वका ज्ञान होता है, यह कर्मस्तावक वाक्य है. इसका फलकी नित्यतामें तात्पर्य नहीं है, मुख्य तात्पर्य यागादि कर्मकी स्तुतिमें है। अमृत' पद तदनुसार अविनाशिपरक नहीं है, किन्तु चिरस्थायिपरक है, अतएव 'आभूत संप्लवस्थानममृतत्वं हि भाषते' इत्यादि स्मृतिवचन संगत होता है। इस तरह विपर्य्ययमें भी समझना चाहिये।] अर्थात् उक्त रीतिसे अनेकविध संशयविपर्ययसे पहिले बुद्धि विक्षिप्त है [क्षिप्त, विक्षिप्त, मूढ, एकाग्र और निरुद्ध—ये पांच चित्तकी भूमियाँ हैं। एकाग्र और निरुद्ध ये दोनों तत्त्वज्ञानोपयोगी हैं। शेष तीन भूमियां अयोग्य हैं। इनको शुद्ध करनेपर तत्त्वज्ञान हो सकता है। क्षिप्त, विक्षिप्त और मूढमें उत्तरोत्तर निकृष्ट हैं। प्रकृतमें अर्जुनकी बुद्धि विक्षिप्त कही गई है। अज्ञानमें दो शक्ति वेदान्ती मानते हैं— आवरण और विक्षेप। आवरणशक्तिसे वस्तुतत्त्वका आवरण होता है और विक्षेपशक्तिसे उसमें रूपान्तरका भान होता है। इसीसे संशय-विपर्यय होता है। अभी अर्जुनकी बुद्धिमें अज्ञानकार्य होनेसे तद्गत विक्षेपशक्ति विद्यमान है। इसलिये आत्मोपदेश करनेपर भी यथार्थ ज्ञान नहीं हुआ, अतः निष्काम कर्म द्वारा इस विक्षेपशक्तिरूप मनोदोषको निवृत्त करो। तदनन्तर तत्त्वज्ञानोत्पत्तियोग्यता मनमें होगी, यह अभिप्राय भगवान्का है।

प्रश्न - विक्षेपशक्तिकी निवृत्तिका उपाय क्या है ?

उत्तर—निकामकर्मजन्यशुद्धिविशिष्टमनःपरिणामरूपविवेकज्ञान है।] जब कामनाप्रयुक्त कर्मानुष्ठानजन्य फलमें सातिशयत्वक्षयित्वदि दोषदर्शनसे उस विक्षेपका त्याग-कर समाधिमें यानी परमात्मामें वह निश्चल होगी यानी जाग्रत्स्वप्नदर्शनरूप विक्षेपसे रहित दृढ होगी—सुषुप्तिमूर्च्छास्तब्धीभावादिरूप लयलक्षण चलनसे रहित होकर स्थिर होगी। [प्रकृतमें जाग्रत्स्वप्न-प्रदर्शनलक्षण विक्षेप विक्षेपसे विवक्षित है। इन दोनों दोषोंसे बुद्धि चञ्चल होती है। इनकी निवृत्तिसे बुद्धिमें स्थिरता होती है। जागर कालमें अनेक विषयोंके दर्शन, श्रवण आदिसे बुद्धि एक विषयमें स्थिर नहीं रह सकती, एवं स्वप्नावस्थामें भी

चलनरहिता सती स्थास्यति, लयविक्षेपलक्षणौ दोषौ परित्यज्य समाहिता भविष्यतीति यावत्। अथवा निश्चलाऽसंभावनाविपरीतभावनारहिताऽचला दीर्घकालादरनैरन्तर्यसत्कारसेवनैर्विजातीयप्रत्ययादूषिता सती निवातप्रदीपवदात्मनि स्थास्यतीति योजना। तदा तस्मिन्काले योगं जीवपरमात्मैक्यल-

विविध स्वाप्निक पदार्थोंका ज्ञान होता है। संस्कारात्मक विक्षेप बुद्धिमें है ही। सुषुप्ति-मूर्च्छा-स्तब्धीभावादिदशामें बुद्धि ही नहीं रहती। बुद्धि अन्तःकरणका परिणाम है। उस समय अन्तःकरण स्वकारणमें लीन हो जाता है, इसकारण वृत्ति ही नहीं हो सकती, स्थिर वृत्तिकी क्या संभावना! ये लयलक्षण विक्षेप कहलाते हैं। इन दोनों प्रकारके विक्षेपोंसे रहित जब बुद्धि होती है तब वह स्थिर–निश्चल होती है।] लय-विक्षेपलक्षण दोषोंका परित्याग कर बुद्धि समाहित होगी, यह तात्पर्य है। [अथवासे अर्थान्तर कहते हैं--] अथवा जब असंभावना और विपरीत भावना, इनसे अर्थात् जीव और ब्रह्मका अभेद नहीं हो सकता, यह असंभावना है तथा ब्रह्म जीवसे अत्यन्त भिन्न है, यह विपरीत भावना है, इन दोनों भावनाओंसे रहित अतएव अचल यानी दीर्घकालादरनैरन्तर्यसत्कारसेवनद्वारा विजातीय प्रत्ययसे अदूषित होती हुई वातरहित प्रदीपके समान आत्मामें स्थिर रहेगी, यह योजना है। [भाव यह है कि अचलबुद्धि वह कही जाती है, जो एक विषयमें चिरकालतक स्थिर रहे। जैसे घटविषयक बुद्धि हुई, वह दश-पन्द्रह मिनटतक घटविषयक ही रहे, मध्यमें विषयान्तर का भान न हो। इसीको योगशास्त्रमें प्रत्ययैकतानता कहते हैं यानी विजातीय वृत्तिविषयनिरासपूर्वक गृहीतविषयकी निरन्तर चित्तवृत्तिका समुत्पाद कहते हैं। यह तो सर्वानुभवसिद्ध है कि किसी विषयकी वृत्ति होती है, तो तुरत विषयान्तरकी वृत्ति चित्तमें हो जाती है। वह वृत्ति भिन्नविषयक होनेसे विजातीय कही जाती है। अभिन्नविषयकत्वेन साजात्य है और भिन्नविषयकत्वेन वैजात्य है। यदि एक ही विषयमें वृत्ति निवातप्रदीपशिखावत् स्थिर रहे, विषयान्तरमें न जाय, तो वह वृत्ति स्थिर कही जाती है। ईश्वरध्यानके समय ईश्वरविषयक वृत्ति ही होती रहे, विषयान्तरकी वृत्ति न हो। एक ही वृत्ति अनेकक्षण नहीं रह सकती। दीपशिखावत् पूर्वपूर्वनिवृत्तिपूर्वक उत्तरोत्तरोत्पाद आवश्यक है। इसलिए गृहीत विषयकी वृत्तियां चित्तमें निरन्तर उत्पन्न हों, विषयान्तरकी न हों, तो वह वृत्ति स्वरूपतः स्थिर नहीं है। स्वरूप तो बदलता ही जाता है, किन्तु विषयतः स्थिर है अर्थात् उन वृत्तियोंमें विषय स्थिर है। स्थिरविषयकत्वेन वृत्ति भी स्थिर कही जाती

अर्जुन उवाच

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव ।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम् ॥५४॥

अर्जुनने कहा--हे केशव, समाधिमें स्थित स्थितप्रज्ञ पुरुषका क्या लक्षण है। स्थितप्रज्ञ कैसे भाषण करेगा, कैसे अवस्थित रहेगा और कैसे वह गमन करेगा ॥ ५४ ॥

क्षणं तत्त्वमस्यादिवाक्यजन्यमखण्डसाक्षात्कारं सर्वयोगफलमवाप्स्यसि । तदा पुनः साध्यान्तराभावात्कृतकृत्यः स्थितप्रज्ञो भविष्यसीत्यभिप्रायः ॥५३॥

एवं लब्धावसरः स्थितप्रज्ञलक्षणं ज्ञातुमर्जुन उवाच—यान्येव हि जीव-

है, इस तात्पर्यसे 'निर्वातप्रदीपवत् आत्मनि स्थास्यति' यह लिखा है।] उस समय जब आत्मामें स्थिर वृत्ति होगी तब योग यानी जीवपरमात्मैक्यलक्षण तत्त्वमसि आदि वाक्यजन्य अखण्डसाक्षात्कार जो सब योग का फल है, वह पावोगे। [अखण्डसे जीव-ब्रह्म का जो अभेदसबन्ध है उसका भी भान न हो, क्योंकि संसर्गानवगाही बोध विवक्षित है। संसर्गका भान होनेपर विशेषणविशेष्यभावका भी भान दुर्निवार है। विशेषण आदिका भान होनेपर अद्वैतब्रह्मसाक्षात्कार न होगा, यही मोक्षका अज्ञाननिवर्त्तनद्वारा अभिव्यञ्जक है। इसलिये 'ऐक्यलक्षण' कहा। दोनोंका एक ही रूप वस्तुतः है, अज्ञानसे भिन्नरूप प्रतीत होते हैं। अज्ञाननिवृत्त्युत्तर ऐक्य प्रतीत होना ठीक है।] उस समय कुछ कर्तव्यान्तर अवशिष्ट नहीं रहता, इसलिए कृतकृत्य—कृतं कृत्यं येन स— जो सब अपने कर्तव्योंको कर चुका है वह कृतकृत्य कहा जाता है, वही स्थितप्रज्ञ होता है। स्थिता प्रज्ञा यस्य स—जिसकी बुद्धि स्थिर है, जिसका स्वरूप कह चुके हैं, सो स्थितप्रज्ञ है। उक्त बुद्धि होनेपर उस समय पुनः साधनान्तर न होनेसे तुम भी कृत्यकृत्य तथा स्थितप्रज्ञ हो जावोगे, यह अभिप्राय है [श्रुतिविप्रतिपन्नसे श्रवणज्ञान, उसके अनन्तर तदुपासन, जिसको ज्ञाननिष्ठा भी कहते हैं। अचला बुद्धि यही है, ध्यानमें ही बुद्धि अचल होती है, तदनन्तर आत्मसाक्षात्कार और ततः मोक्ष यानी ब्रह्मात्मना अवस्थान होता है] ॥ ५३ ॥

इस प्रसङ्गसे अवसर पाकर अर्जुन स्थितप्रज्ञका लक्षण पूछते हैं—'**स्थित-**

न्मुक्तानां लक्षणानि तान्येव मुमुक्षूणां मोक्षोपायभूतानीति मन्वानः—'स्थितप्रज्ञस्य' इति ।

स्थिता निश्चलाऽहं ब्रह्मास्मीति प्रज्ञा यस्य स स्थितप्रज्ञोऽवस्थाद्वयवान् समाधिस्थो व्युत्थितचित्तश्चेति । अतो विशिनष्टि—समाधिस्थस्य स्थितप्रज्ञस्य का भाषा, कर्मणि षष्ठि । भाष्यतेऽनयेति भाषा लक्षणं समाधिस्थः स्थितप्रज्ञः केन लक्षणेनान्यैर्व्यवह्रियत इत्यर्थः । स च व्युत्थितचित्तः स्थितधीः

प्रज्ञस्य' इत्यादिसे । जो जीवन्मुक्तके लक्षण हैं वे ही मुमुक्षुओंके मोक्षोपाय हैं-मोक्षफलक ज्ञानके उत्पादक हैं, यह मानकर अर्जुन बोले—'स्थित' इत्यादि। जिसकी 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्याकारक बुद्धि निश्चल है—यानी सतत यही भान होता है, विषयान्तरका सम्पर्क नहीं होता, वह स्थितप्रज्ञ है । उस पुरुषकी दो अवस्थाएं होती हैं । अवस्थाभेदसे वह युञ्जानः यानी दो प्रकारकी अवस्थाओंसे युक्त होकर समाधिस्थ और व्युत्थित कहा जाता है, इसलिये व्युत्थितकी व्यावृत्तिके लिये 'समाधिस्थ' यह विशेषण दिया गया है । [व्युत्थित स्थितप्रज्ञका लक्षण नहीं पूछता हूँ, किन्तु समाधिस्थ स्थितप्रज्ञका । व्यावर्तक विशेषणसे स्थितप्रज्ञ दो प्रकारके होते हैं-समाधिस्थ और व्युत्थित, इतना ज्ञान अर्जुनको था, अन्यथा स्थितप्रज्ञका लक्षण और भेद दोनों पूछते—स्थितप्रज्ञ कौन है और उनके भेद कितने हैं, यह पूछते, अस्तु,] स्थितप्रज्ञकी क्या भाषा है, किन लक्षणोंसे युक्त उनको देखकर लोग यह कहते हैं कि यह 'स्थितप्रज्ञ' है [केशव, इस संबोधनसे अर्जुनका यह अभिप्राय प्रतीत होता है कि जैसे आप भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र केशि का हनन करनेसे केशव कहलाते हैं । केशिहननकर्तृत्व ही 'केशव' का लक्षण है, सो आपमें है, इस कारण आप केशव कहलाते हैं, वैसे ही स्थितप्रज्ञ किन लक्षणों से लक्षित है, जिन लक्षणोंको देखकर लोग उनको स्थितप्रज्ञ कहते हैं । ज्ञानजनक ज्ञानविषय लक्षण होता है । जैसे जटा आदि देखकर लोग यह कहते हैं कि ये तपस्वी हैं । तपस्वित्वज्ञानका जनक ज्ञान जटाज्ञान है, तद्विषयक जटा तापसत्वका लक्षण है, तद्वत् प्रकृतमें स्थितप्रज्ञका क्या लक्षण है ।] यहाँ भाष्यतेऽनया इस व्युत्पत्तिसे भाषा शब्द लक्षणार्थक है । स्थितप्रज्ञका क्या लक्षण है । अर्थात् समाधिस्थ स्थितप्रज्ञको किस लक्षणसे अन्य लोग 'यह स्थितप्रज्ञ है', ऐसा समझते हैं और जब व्युत्थितचित्त स्थितप्रज्ञ होता है, तो स्वयं क्या कहता है ! [समाधिमें स्थित तो कुछ

स्थितप्रज्ञः स्वयं किं प्रभाषेत स्तुतिनिन्दादावभिनन्दनद्वेषादिलक्षणं किं कथं प्रभाषेत। सर्वत्र संभावनायां लिङ्। तथा किमासीतेति व्युत्थितचित्तनिग्रहाय कथं बहिरिन्द्रियाणां निग्रहं करोति। तन्निग्रहाभावकाले च किं व्रजेत कथं विषयान्प्राप्नोति। तत्कर्तृकभाषणासनव्रजनानि मूढजनविलक्षणानि कीदृशानीत्यर्थः। तदेवं चत्वारः प्रश्नाः समाधिस्थे स्थितप्रज्ञे एकः, व्युत्थिते स्थितप्रज्ञे त्रय इति। केशवेति सम्बोधयन् सर्वान्तर्यामितया त्वमेवैतादृशं रहस्यं वक्तुं समर्थोऽसीति सूचयति ॥ ५४ ॥

बोल ही नहीं सकता, कारण कि प्रेरणा ही से इन्द्रियां स्वविषयग्रहणमें प्रवृत्त होती हैं। समाधि अवस्थामें देशविशेषमें मन निरुद्ध है, इन्द्रियोंके साथ मनका संघटन नहीं है, तो प्रेरणा कैसे कर सकता है, अतः उस अवस्थामें बोलने आदि का प्रश्न नहीं हो सकता। व्युत्थितचित्तमें ही भाषणादिका संभव है। इसलिये प्रश्न है -किं प्रभाषेत अर्थात् स्वयं क्या कहता है। गुणारोप—परवाक्यस्तुति, दोषारोपण—परवाक्यनिन्दा आदि सुननेपर हर्षसूचक वाक्य अभिनन्दन, द्वेष, अप्रियारोप, परवाक्य निन्दा एवं द्वेषादिवाक्य—इन सबमें 'किं प्रभाषेत'का संबन्ध है। स्तुतिनिन्दाका अवसर उपस्थित होनेपर अभिनन्दन, द्वेष आदि बोधक वाक्य कैसे बोलता है अर्थात् क्या स्तुति करता है, क्या निन्दा करता है, क्या अभिनन्दन करता है, क्या द्वेषबोधक वाक्य बोलता है, इसप्रकार] संभावनार्थक लिङ्का सर्वत्र संबन्ध है। एवं 'किमासीत' समाधिसे उपरतचित्तके निग्रहके लिए—एकत्र विषयविशेष रोकने के लिए बाह्येन्द्रियोंका निग्रह कैसे करता है तथा इन्द्रियनिग्रहाभावकालमें विषयोंको कैसे पाता है, तत्कर्तृक भाषण, आसन, व्रजन आदि मूर्ख पुरुषोंके भाषण, आसन, व्रजन आदिसे अवश्य विलक्षण होंगे, परन्तु उसमें वैलक्षण्य क्या है, यही प्रश्न है। इसतरह यहां चार प्रश्न हुए—इनसे समाधिस्थ स्थितप्रज्ञमें एक और व्युत्थितचित्त स्थितप्रज्ञमें तीन प्रश्न हैं, इसतरह भाषण, आसन और व्रजन, ये कुल चार प्रश्न हुए। आप सबके अन्तर्यामी हैं, अतः इन सब गूढ़ प्रश्नोंका आप ही उत्तर कह सकते हैं, दूसरा नहीं, यह 'केशव' संबोधनसे सूचित हुआ ॥ ५४ ॥

प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान् ।
आत्मन्येवाऽऽत्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥५५॥

श्रीभगवान्ने कहा—हे पार्थ, जब समाधिस्थ मनुष्य मनोगत सभी कामोंका परित्याग कर देता है और स्वप्रकाशचिद्रूपसे भासमान परमानन्दरूप आत्मामें ही परितृप्त रहता है तब वह स्थितप्रज्ञ कहा जाता है ॥ ५५ ॥

कामान् कामसङ्कल्पादीन् मनोवृत्तिविशेषान् प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतिभेदेन तन्त्रान्तरे पञ्चधा प्रपञ्चितान् सर्वान्निरवशेषान् प्रकर्षेण कारणबाधेन यदा जहाति परित्यजति सर्ववृत्तिशून्य एव यदा भवति स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते समाधिस्थ इति शेषः । कामानामनात्मधर्मत्वेन परित्यागयोग्यतामाह—'मनोगतान्' इति । यदि ह्यात्मधर्माः स्युस्तदा न त्यक्तुं शक्येरन् वह्न्यौष्ण्य-

इन चारों प्रश्नोंका क्रमशः उत्तर इस अध्यायकी समाप्ति तक भगवान् देते हैं—'प्रजहाति' इत्यादिसे शुरू कर । काम, अभिलाष, संकल्प, मानसकर्म—वे सब मनके परिणामविशेष होनेसे मनके धर्म हैं । गीतामें कामशब्द मनोमात्रवृत्ति धर्मका लक्षक है । तन्त्रान्तरमें—योगशास्त्रमें प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृतिके भेदसे मनोवृत्तिका विस्तार पांच प्रकारसे किया गया है । इन सबको जिस समय निरवशेषरूपसे यानी भलीभांति कारणबाधद्वारा त्याग करता है । [त्याग दो प्रकारका है—हान और प्रहाण । जो त्यक्त फिर आविर्भूत होता है उसका वह त्याग हान है, जिस त्यक्तका कभी पुनः प्रादुर्भाव न हो वह त्याग प्रहाण कहलाता है । जहाँ कारणके विना कार्यमात्रका नाश होता है, वह छिन्नबदरीवत् पुनः कार्य होता है, जहाँ कारणके साथ कार्यनाश होता है वहाँ पुनः कार्य नहीं होता, इसलिये वह प्रहाण है ।] जब सर्वविषयक वृत्तिसे शून्य होता है तब स्थितप्रज्ञ होता है यहाँ 'समाधिः' यह शेष है । अर्थात् समाधिस्थ ही होगा, व्युत्थित नहीं । काम आदि आत्मधर्म नहीं हैं, अतः वे परित्यागयोग्य हैं, यह कहते हैं—'मनोगतान्'से । वे मनके धर्म हैं, अतः त्यागयोग्य हैं । [यदि आत्मधर्म होते, तो त्यागके योग्य न होते ।

प्रश्न—क्यों ?

उत्तर—धर्मप्रहाण धर्मिप्रहाणव्याप्य है, यह पूर्वमें कह चुके हैं । आत्मा

यवत्स्वाभाविकत्वात्। मनसस्तु धर्मा एते। अतस्तत्परित्यागेन परित्यक्तुं शक्या एवेत्यर्थः। ननु स्थितप्रज्ञस्य मुखप्रसादलिङ्गगम्यः सन्तोषविशेषः प्रतीयते स कथं सर्वकामपरित्यागे स्यादित्यत आह—आत्मन्येव परमानन्दरूपे न त्वनात्मनि तुच्छे, आत्मना स्वप्रकाशचिद्रूपेण भासमाने न तु वृत्त्या तुष्टः परितृप्तः परमपुरुषार्थलाभात्। तथा च श्रुतिः—

"यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि स्थिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते"इति॥

धर्मी नित्य है। यदि इसके धर्म काम, आदि होंगे, जैसा कि नैयायिकादि कहते हैं, तो आत्माकी निवृत्ति तो होगी नहीं, अतः काम आदिकी भी आत्यन्तिक निवृत्ति न होगी। मनोधर्म माननेपर मन विनाशी है, अतः आत्यन्तिक सकारणनाश काम आदिका हो सकता है।] यदि वह्निगत औष्ण्यप्रकाशके समान काम आदि भी आत्मधर्म माने जायँ, तो जबतक वह्निकी स्थिति रहती है तबतक जैसे औष्ण्य आदिकी स्थिति रहती है, क्योंकि औष्ण्य आदि वह्निके स्वाभाविक धर्म हैं, एवं कामादि भी आत्माके स्वाभाविक धर्म होनेसे जबतक आत्मा की स्थिति रहेगी तबतक ये भी रहेंगे ही। आत्मा नित्य होनेसे कभी निवृत्त होता ही नहीं, अतः कामादिकी भी आत्यन्तिक निवृत्ति न होगी। ये मनके धर्म हैं, मनके परित्याग से इनका परित्याग सुखकर है।

शङ्का—मुखप्रसादलिङ्गसे स्थितप्रज्ञका सन्तोषविशेष प्रतीत होता है। यद्यपि मनुष्य पर मानसान्तर्गत संतोषादिको चक्षुरादिसे नहीं जान सकता, क्योंकि वे सर्वथा दूसरेको ऐन्द्रियक नहीं हैं, तथापि अनुमान द्वारा इनका ज्ञान दूसरेको भी होता है। जैसे मुखमालिन्यसे दुःखका अनुमान होता है, वैसे ही मुखप्रसादसे सन्तोषादिका अनुमानद्वारा ज्ञान होता है—'समाधिस्थः सन्तोषवान्, मुखप्रसादवत्त्वात्, यन्नैवं तन्नैवं, यथा म्लानमुखः'। लेकिन आप इनमें सब कामोंका आत्यन्तिक अभाव कहते हैं, वह कैसे हो सकता है। संतोष भी तो मानस ही धर्म है, सो समाधिस्थमें है, वह मुखप्रसादलिङ्गकानुमानसे स्पष्ट ही है।

समाधान—वह परमानन्दस्वरूप आत्मामें सन्तुष्ट है, अनात्मा यानी मनमें नहीं। भाव यह है कि सन्तोष दो प्रकारका है—एक अनात्मविषयक यानी अनात्मनिष्ठ और दूसरा आत्मस्वरूप। प्रथम सन्तोष मानसवृत्तिस्वरूप है, वह

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥ ५६ ॥

दुःखोंके प्राप्त होनेपर जिसका मन उद्विग्न नहीं होता, जो सुखोंमें स्पृहा नहीं करता और जो राग, भय एवं क्रोधसे शून्य रहता है वह मननशील संन्यासी स्थितप्रज्ञ कहा जाता है ॥ ५६ ॥

तथा च समाधिस्थः स्थितप्रज्ञ एवंविधैर्लक्षणवाचिभिः शब्दैर्भाष्यत इति प्रथमप्रश्नस्योत्तरम् ॥ ५५ ॥

इदानीं व्युत्थितस्य स्थितप्रज्ञस्य भाषणोपवेशनगमनानि मूढजनविलक्षणानि व्याख्येयानि । तत्र किं प्रभाषेतेत्यस्योत्तरमाह द्वाभ्याम्—'दुःखेष्वनु०' इति ।

दुःखानि त्रिविधानि शोकमोहज्वरशिरोरोगादिनिमित्तान्याध्यात्मिकानि व्याघ्रसर्पादिप्रयुक्तान्याधिभौतिकानि अतिवातातिवृष्ट्यादिहेतुकान्याधि-

---

स्थितप्रज्ञमें नहीं रहता । द्वितीय संन्तोष स्वप्रकाशचिद्रूपसे भासमान आत्मामें है। वह भी आत्मस्वरूप ही है। इसीसे समाधिस्थ तुष्ट प्रतीत होता है। मनोधर्म संतोषसे नहीं, परमपुरुषार्थलाभसे परितुष्ट है। इस अर्थमें प्रमाण 'यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽऽस्य हृदि स्थिताः' इत्यादि श्रुति है । निष्कर्ष यह हुआ कि समाधिस्थ स्थितप्रज्ञ इसतरहके लक्षणवाचक इन शब्दोंसे कहा जाता है अर्थात् 'आत्मसंतुष्टः, आत्मारामः, आत्मक्रीड़ः, स्थितप्रज्ञः' इत्यादि शब्दोंसे कहा जाता है, यह प्रथम प्रश्नका उत्तर हुआ ॥ ५५ ॥

समाधिस्थ स्थितप्रज्ञके लक्षणकथनानन्तर अब व्युत्थित स्थितप्रज्ञके भाषणोपवेशनगमन मूर्खजनोंके भाषणोपवेशनगमनादिसे विलक्षण है, वह भी विशेषरूपसे कहना चाहिये, इस अपेक्षासे प्रथम 'किं प्रभाषेत' इसका उत्तर देते हैं—'दुःखेष्वनुद्विग्न०' इन दो श्लोकोंसे । दुःख तीन प्रकारके होते हैं—आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक। शोकमोहज्वरादिरोगसे जायमान दुःख आध्यात्मिक हैं, व्याघ्रसर्पादिसे जायमान दुःख आधिभौतिक हैं, इन दुःखोंके निमित्त सर्पादि भूत हैं। भूतानि अधिकृत्य जात यानी भूतोंके निमित्तसे उत्पन्न दुःख आधिभौतिक हैं। अतिवायु—अन्धड़, तूफान; एवं अतिवृष्टि—बाढ़ आदिसे

दैविकानि, तेषु दुःखेषु रजःपरिणामसन्तापात्मकचित्तवृत्तिविशेषेषु प्रारब्धपापकर्मप्रापितेषु नोद्विग्नं दुःखपरिहाराक्षमतया व्याकुलं न भवति मनो यस्य सोऽनुद्विग्नमनाः। अविवेकिनो हि दुःखप्राप्तौ सत्यामहो पापोऽहं धिङ्मां दुरात्मानमेतादृशदुःखभागिनं को मे दुःखमीदृशं निराकुर्यादित्यनुतापात्मको भ्रा-

जायमान दुःख आधिदैविक हैं, देवतानिमित्त ये दुःख होते हैं, अतः आधिदैविक हैं। रजोगुणका जो सन्तापात्मक मनःपरिणाम—चित्तवृत्तिविशेष है, ये ही सब तीनों दुःख हैं। [ये दुःख पूर्वानुष्ठित प्रारब्ध पाप कर्मसे प्राप्त होते हैं। पाप कर्म यद्यपि पर्वकाल में उत्पन्न हुआ, फिर भी उस समय स्वफल दुःख नहीं दे सका, कारण कि कृत पाप सद्यः फल देता है, यह नियम नहीं है। यदि प्रारब्ध फलप्रदानोन्मुख कर्मान्तरसे प्रतिबद्ध होकर बीजरूपसे स्थित रहता है, तो कर्मान्तर अपना फल देकर जब निवृत्त हो जाते हैं तब उनका फल होता है। प्रारब्ध कर्मोंका भी क्रम परमेश्वरसे नियत है, अतः स्वपरिपाकावसरमें उपस्थित दुरदृष्टनिमित्तसे चित्तके सत्त्व और तमको दबाकर रजोगुणका प्राधान्येन प्रादुर्भाव होता है। रजोगुणका प्रधानपरिणाम अप्रीत्यात्मक दुःख होता है, वह 'प्रीत्यप्रीतिविषादात्मका' इस कारिकामें प्रसिद्ध है। इन त्रिविध दुःखोंमें किसी दुःखके या त्रिविध दुःखके साथ मिलकर उपस्थित होनेपर यदि दुःखके परिहारमें उपायाज्ञानसे या उपायाभावादिसे मनुष्य असमर्थ होता है, तो उसका चित्त व्याकुल हो जाता है, यह सर्वानुभवसिद्ध है। इसके परिचयके लिये अधिक व्याख्यानकी आवश्यकता नहीं है। कलियुगमें तो यह प्रत्यात्म वेदनीय है—हर एक मनुष्यको मालूम है, किन्तु] इन दुःखोंकी उपस्थितिमें भी यानी ऐसे दुस्समयमें भी इन दुःखोंके परिहारमें क्षम न होनेसे जिसका चित्त व्याकुल न हो वह 'अनुद्विग्नमना' है। [नोद्विग्नं मनो यस्य सोऽनुद्विग्नमनाः, यह विग्रह है। 'ओविजी भयचलनयोः' इस धातुसे उद्विग्न शब्द बना है। धात्वर्थ भय और चलन दोनों है। यहाँ भयका ग्रहण नहीं है। 'वीतरागभयक्रोधः' इस वाक्यमें भयका स्वतन्त्ररूपसे ग्रहण है, यहाँ भी भयका ग्रहण करनेसे पुनरुक्त दोष हो जायगा, अतः यहाँ चलनमात्र विवक्षित है अर्थात् दुःखोंसे जिसका चित्त स्वकर्तव्यसे विचलित न हो। अथवा अनुद्विग्नसे दुःखाभावकी विवक्षा है, जिसका चित्त दुःखी न हो वह अनुद्विग्नमना है।] दुःख उपस्थित होनेपर अविवेकी पुरुषको—प्रायः मैं बड़ा पापी हूँ, मुझको धिक्कार है, दुरात्मा दुःखभागी मुझे धिक्कार है, कौन हमारे ऐसे दुःखका निराकरण कर सकता

न्तिरूपस्तामसश्चित्तवृत्तिविशेष उद्वेगाख्यो जायते । यद्ययं पापानुष्ठानसमये स्यात्तदा तत्प्रवृत्तिप्रतिबन्धकत्वेन सफलः स्यात् । भोगकाले तु भवन् कारणे सति कार्यस्योच्छेत्तुमशक्यत्वान्निष्प्रयोजनो दुःखकारणे सत्यपि किमिति मम दुःखं जायत इति अविवेकजभ्रमरूपत्वान्न विवेकिनः स्थितप्रज्ञस्य संभवति । दुःखमात्रं हि प्रारब्धकर्मणा प्राप्यते न तु तदुत्तरकालीनो भ्रमोऽपि । ननु दुःखान्तरकारणत्वात्सोऽपि प्रारब्धकर्मान्तरेण प्राप्यतामिति चेत्, न; स्थितप्रज्ञस्य भ्रमोपादानाज्ञाननाशेन भ्रमासंभवात्तज्जन्यदुःखप्रापकप्रारब्धाभावात् । यथाकथंचिद्देहयात्रामात्रनिर्वाहकप्रारब्धकर्मफलस्य भ्रमाभावेऽपि बाधितानुवृत्त्योपपत्तेरिति विस्तरेणाग्रे वक्ष्यते । तथा सुखेषु सत्त्वपरिणामरूपप्रीत्या-

है—इस प्रकार पश्चात्तापात्मक भ्रान्तिरूप तामस चित्तवृत्तिविशेष होता है। इसी वृत्तिविशेषका नाम उद्वेग है। यदि पापकर्मानुष्ठानके समय ऐसी वृत्ति हो, तो यह उद्वेग तादृश कर्मानुष्ठानमें प्रतिबन्धक होकर सफल हो। दुःखानुभवकालमें दुःखकारण पूर्वकृत दुरित रहनेपर उसका उच्छेद करना असम्भव है। दुःखका कारण दुरित है, परन्तु अविवेक न होनेसे वह दुरित निष्प्रयोजन है। बिना अविवेकके केवल दुरित दुःखका कारण नहीं है, किन्तु अविवेक सहोत्थ दुरित दुःखदायक है। विवेकीमें निष्प्रयोजन दुरित होनेपर भी क्यों हमें दुःख होता है, यह अविवेकोत्पन्न भ्रम नहीं होता। प्रारब्ध कर्मसे दुःखमात्र प्राप्त होता है, किन्तु तदुत्तरकालिक क्यों मुझे दुःख होता है, यह भ्रम विवेकी स्थितप्रज्ञ को नहीं होता।

शङ्का—दुःखान्तरका कारण होनेसे वह भी प्रारब्ध कर्मान्तरसे प्राप्त हो।

समाधान—स्थितप्रज्ञमें भ्रमोपादानाज्ञानका नाश हो गया, अतः भ्रमोत्पत्तिका संभव ही नहीं है, कारण कि तादृश भ्रमजन्य दुःखप्रापक प्रारब्धाभाव है।

प्रश्न—यदि विवेकीको भ्रम नहीं है, तो शरीरयात्राका निर्वाह कैसे होगा? एतदर्थ शरीरेन्द्रियादिकोंमें मदीयत्व भ्रम, भोजनादिमें मदिष्ट साधनत्वादि भ्रम आवश्यक है।

उत्तर—देहयात्रामात्रनिर्वाहोपयोगी प्रारब्ध कर्मफलका निर्वाह भ्रम न होनेपर भी बाधितानुवृत्तिसे हो जाता है। जैसे रज्जुके दग्ध होनेपर भी उसमें ऐंठनकी अनुवृत्ति देख पड़ती है, वैसे ही विवेकीमें बाधित भ्रमकी अनुवृत्ति तादृश व्यवहारमात्रके लिये होती है। तदनुपयोगी कार्यमें वह भी नहीं होती। इसको विस्तारसे आगे चलकर कहेंगे। एवं सुखमें सत्त्वपरिमाणरूप प्रीत्यात्मक चित्तवृत्तिविशेषके

त्मकचित्तवृत्तिविशेषेषु त्रिविधेषु प्रारब्धपुण्यकर्मप्रापितेषु विगतस्पृहः आगामितज्जातीयसुखस्पृहारहितः। स्पृहा हि नाम सुखानुवृत्तिकाले तज्जातीयसुखस्य कारणं धर्ममननुष्ठाय वृथैव तदाकाङ्क्षारूपा तामसी चित्तवृत्तिर्भ्रान्तिरेव। सा चाविवेकिन एव जायते। न हि कारणाभावे कार्यं भवितुमर्हति। अतो

विषयमें 'सत्त्वं लघुप्रकाशकम्' इत्यादि कारिकासे यह निर्णय किया गया है कि सत्त्वका परिणाम लघु प्रकाशक इष्ट सुखात्मक है। मनके सत्त्वका जिस कालमें प्रधान परिणाम होता है वह प्रीत्यात्मक—सुखात्मक है।

[शङ्का—वह प्रीति है, ऐसा न कहकर प्रीत्यात्मक है, ऐसा कहनेमें क्या भाव है।

समाधान—भाव यह है कि जो दुःख पदार्थ है, तदभाव ही सुख है। यह स्वयं भावस्वरूप पदार्थ नहीं है। भाव और अभावमें जैसे विरोध है वैसे ही सुखदुःखोंमें भी विरोध है। सुख पृथक् पदार्थ माना जायगा, तो उसका अभाव भी स्वतन्त्र मानना पड़ेगा, इससे सुखका दुःखाभावमें ही लाघवात् अन्तर्भाव मानना चाहिये। अतएव तमका तेजके अभावमें अन्तर्भाव मानकर नैयायिकोंने सात ही पदार्थ माना है।

आप सुखका दुःखाभावमें अन्तर्भाव करते हैं, तो दूसरा कोई यह भी कह सकता है कि सुख ही पदार्थ है और उसका अभाव दुःख है। इसमें कोई विनिगमक नहीं है कि यही पदार्थ है, यह तदभाव है, इसलिये दोनों भावात्मक स्वतन्त्र पदार्थ हैं। एतत् सूचनार्थ प्रीति न कहकर प्रीत्यात्मक कहा है।] आत्मभाव-स्वभाव तदात्मक चित्तवृत्तिविशेष है, यह भी दुःखवत् त्रिविध है और जो प्रारब्ध पुण्यकर्मविपाकसे प्राप्त होता है, उसमें जिसकी स्पृहा—इच्छा न हो वह विगतस्पृह है—भावितज्जातीयसुखेच्छारहित है। सुखानुभवकालमें तज्जातीयसुखकारण धर्म तो किया नहीं, फिर भी वृथा एतज्जातीयसुखानुभव बना रहे, ऐसी आकांक्षाका नाम स्पृहा है। यह तामसी चित्तवृत्ति भ्रान्ति ही है, ऐसी वृत्ति अविवेकीको ही होती है, [इसको यह निर्णय नहीं है कि यह मेरे कृत सुकृतोंका फल है। जबतक सुकृत क्षीण न होगा तबतक यह सुख रहेगा, चाहे उसकी प्रार्थना करे या न करे। फलभोगसे कर्मनाश होता है, यह नियम है। जब ऐसा सुखप्रद कर्मका नाश हो जायगा, तो यह सुख नहीं रहेगा, इसका कारण सुकृत है, स्पृहा नहीं, यह ज्ञान विवेकीको

यथा सति कारणे कार्यं मा भूदिति वृथाकाङ्क्षारूप उद्वेगो विवेकिनो न संभवति तथैवासति कारणे कार्यं भूयादिति वृथाकाङ्क्षारूपा तृष्णात्मिका स्पृहाऽपि नोपपद्यते, प्रारब्धकर्मणः सुखमात्रप्रापकत्वात् हर्षात्मिका वा चित्तवृत्तिः स्पृहाशब्देनोक्ता। साऽपि भ्रान्तिरेव—अहो धन्योऽहं यस्य ममेदृशं सुखमुपस्थितं को वा मया तुल्यस्त्रिभुवने केन चोपायेन ममेदृशं सुखं न विच्छिद्येतेत्येवमात्मिकोत्फुल्लतारूपा तामसी चित्तवृत्तिः। अत एवोक्तं भाष्ये—"नाग्निरिवेन्धनाद्याधाने यः सुखान्यनुविवर्धते स विगतस्पृहः" इति। वक्ष्यति च—"न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्" इति। साऽपि न विवेकिनः संभवति भ्रान्तित्वात्। तथा वीतरागभयक्रोधः। रागः शोभनाध्यासनिबन्धनो विषयेषु रञ्जनात्मकश्चित्तवृत्तिविशेषोऽत्यन्ता-

रहता है, अविवेकीको नहीं, इसलिये विवेकीमें स्पृहा नहीं होती। अविवेकीमें स्पृहा होती है।] यह तो निश्चित है कि कारण न रहनेपर कार्य नहीं होता, तत्सुख प्रापक सुकृत न रहनेपर तत्कार्य सुखानुभव न होगा, इससे यह सिद्ध हुआ कि दुःखकारण दुरित रहनेपर दुःख न हो, यह वृथा इच्छा—उद्वेग अविवेकीको ही होती है, विवेकीको नहीं। एवं सुखकारण सुकृत न रहने पर भी सुखानुभव बना ही रहे, यह भी वृथा इच्छा (स्पृहा) अविवेकीको ही होती है, विवेकीको नहीं। प्रारब्ध कर्म सुखमात्रका प्रापक है। हर्षात्मक जो चित्तवृत्ति है वही स्पृहा है, यह भी भ्रान्ति ही है। अहो, धन्य मैं हूं, जिसको ऐसा सुख उपस्थित है, मेरे समान संसारमें कौन दूसरा है ? किस उपायसे मेरा ऐसा उत्तम सुख विच्छिन्न न हो, ईदृशात्मक मनोविकाररूप तामसी चित्तवृत्ति होती है, अतएव भाष्यमें कहा है—'नाग्निरिवेन्धना०' इत्यादि। (जैसे इन्धनके अर्पणसे अग्नि बढ़ती है, शान्त नहीं होती, वैसे ही सुखोंको जो न बढ़ावे, किन्तु स्पृहाशून्य हो, वह विगतस्पृह है। [यह वैधर्म्य दृष्टान्त है, तृष्णासे अज्ञका प्राप्त सुख बढ़ता है, विद्वान्का प्राप्त सुख तृष्णाभावसे नहीं बढ़ता] आगे भी गीतामें कहेंगे—'न प्रहृष्येत्' इत्यादि। यह स्पृहा विवेकीको नहीं होती, क्योंकि स्पृहा भ्रमरूप है। तथा वीतरागभयक्रोधः यानी राग, भय और क्रोधसे शून्य।

प्रश्न—राग* क्या है ?

उत्तर—'रञ्ज रागे' इस धातुसे राग बना है। विषयमें शोभनाध्यास क्र

* 'सुखानुशयी रागः' यह योगसूत्र है।

भिनिवेशरूपः। रागविषयस्य नाशके समुपस्थिते तन्निवारणासामर्थ्यमात्मनो मन्यमानस्य दैन्यात्मकश्चित्तवृत्तिविशेषो भयम्। एवं रागविषयविनाशके समुपस्थिते तन्निवारणसामर्थ्यमात्मनो मन्यमानस्याभिज्वलनात्मकश्चित्तवृत्तिविशेषः क्रोधः। ते सर्वे विपर्ययरूपत्वाद्विगता यस्मात्स तथा। एतादृशो मुनिर्मननशीलः संन्यासी स्थितप्रज्ञ उच्यते। एवंलक्षणः स्थितधीः स्वानुभवप्रकटनेन शिष्यशिक्षार्थमनुद्वेगनिस्पृहत्वादिवाचः प्रभाषत इत्यन्वय उक्तः। एवं चान्योऽपि मुमुक्षुर्दुःखे नोद्विजेत्सुखे न प्रहृष्येत्, रागभयक्रोधरहितश्च भवेदित्यभिप्रायः ॥ ५६ ॥

तन्निमित्तक विषयमें रञ्जनात्मक चित्तवृत्तिविशेष—अत्यन्त अभिनिवेश राग है। [भाव यह है कि वस्तुतः विषय बन्धनस्वभाव होनेसे अशोभन हैं, किन्तु उनमें शोभनका अध्यास कर उनमें सुखात्मक साभिनिवेश चित्तवृत्ति राग है, जो सबको विदित है।] रागविषय वस्तुका नाशक यदि कोई उपस्थित होता है और उसके परिहार करनेकी सामर्थ्य अपनेमें नहीं होती तब जो दैन्यात्मक चित्तवृत्तिविशेष पुरुषमें होती है, वही भय है। इसी तरह रागविषयनाशकके उपस्थित होनेपर तन्निवारणसामर्थ्य अपनेमें मानते हुये कि मनुष्यकी चित्ताभिज्वलनात्मक चित्तवृत्ति विशेष क्रोध होता है। ये सब विपर्ययरूप हैं। ये जिनसे निवृत्त हो, वह वीतरागभयक्रोध है अर्थात् राग, भय और क्रोध—एतज्जनकसामग्री उपस्थित होनेपर भी जिसके चित्तमें राग, भय और क्रोध न हो वह मननशील मुनि है। [महाकवि कालिदासजीने सदाशिवके वर्णनमें स्पष्ट ही कहा है—विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः।' विकार—राग, भय आदिके कारण उपस्थित होनेपर भी वे जिसके चित्तमें उत्पन्न न हों, वे ही धीर—तत्त्वज्ञानी हैं] एवंभूत संन्यासी स्थितप्रज्ञ कहा जाता है। एवं लक्षणलक्षित स्थितधीः अपने अनुभवके प्रकाशद्वारा [प्रकाशका प्रयोजन ख्यातिलाभ, लोभ, प्रतिष्ठा आदि नहीं है, किन्तु शिष्यशिक्षा है,] शिष्यशिक्षाके लिये—शिष्य भी ऐसा ही आचरण करे, इस शिक्षाके लिये अनुद्वेग, निःस्पृहत्व आदि गुणविशिष्ट वाणी बोलता है, यह अन्वय कह चुके हैं, इस तरह अन्य भी मुमुक्षु दुःख उपस्थित होनेपर दुःखी न हो, और सुख होनेपर सुखी न हो, रागभयक्रोधसे रहित रहे, यह अभिप्राय है ॥ ५६ ॥

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम् ।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ५७ ॥

जो मुनि सब देहोंमें यानी जीवन आदिमें भी स्नेह रहित रहता है तथा तत् तत् प्रारब्धकर्मसे प्राप्त शुभ विषयको पाकर उसकी प्रशंसा नहीं करता एवं दुःखके हेतु अशुभ विषय पाकर उससे द्वेष नहीं करता, उसकी प्रज्ञा प्रतिष्ठित है—फलपर्यवसायिनी है ॥ ५७ ॥

किं च—'यः सर्वत्र' इति ।

सर्वदेहेषु जीवनादेष्वपि यो मुनिरनभिस्नेहः, यस्मिन्सत्यन्यदीये हानिवृद्धी स्वस्मिन्नारोप्येते स तादृशोऽन्यविषयः प्रेमापरपर्यायस्तामसी वृत्तिविशेषः स्नेहः सर्वप्रकारेण तद्रहितोऽनभिस्नेहः। भगवति परमात्मनि तु सर्वथाऽभिस्नेहवान्भवेदेव, अनात्मस्नेहाभावस्य तदर्थत्वादिति द्रष्टव्यम् । तत्तत्प्रारब्ध-

किञ्च 'यः सर्वत्र' इत्यादि और सुनो। जो सब प्रिय विषयोंमें स्नेहरहित रहता है।[अप्रियमें स्नेह किसीका नहीं होता, अतः यहां सर्वत्र प्रिय वस्तुपरक है।] यहां तककी स्वजीवनादिमें भी जो मुनि स्नेहरहित रहता है । जिसके रहनेपर दूसरेकी हानि-वृद्धि, दुःखसुख साधन अपनेमें आरोपित होता है वैसा अन्यविषय प्रेमापरपर्याय तामस वृत्तिविशेष स्नेह है । जिसको पुत्र, दारादिमें अधिक स्नेह रहता है वह पुत्रदारादिगत हानिवृद्धि तत्प्रयुक्त सुखदुःखादि अपनेमें आरोपकर अपनेको हानिवृद्धिमान् मानकर तत्प्रयुक्त सुखादिमान् भी अपनेको मानता है । इसका मुख्य कारण स्नेह ही है। रज और तम एतदुभयात्मक मनपरिणामविशेष है । जिसमें स्नेह नहीं है उसकी हानि और लाभ देखकर लोग इस बुद्धिसे उदासीन होते हैं कि यह मेरी हानि और वृद्धि नहीं है । सर्व प्रकारसे उक्त स्नेहरहित जो है वह अनभिस्नेह है । भगवान् परमात्मामें तो सर्व प्रकारसे स्नेहवान् होता ही है। अनात्माओंमें स्नेहका अभाव परमात्मस्नेहार्थ है। [जो अनात्मा परमात्मासे अतिरिक्त सांसारिक पदार्थोंमें स्नेह करता है उसका स्नेह परमात्मामें नहीं होता, यह प्रसिद्ध है । जैसे जलप्रवाह निम्न भूमिमें ही होता है, ऊर्ध्वस्थलमें प्रवाहकी कामना किसीको हो, तो निम्नस्थलप्रवाहोन्मुख जलको निम्नस्थलसे रोककर जैसे ऊपरको चढ़ाया जाता है। एवं विषयोंसे स्नेह हटाकर परमात्मामें चढ़ाया जाता है, अन्यथा नहीं । अतः मुमुक्षुको सर्वत्र अनभिस्नेह रहना युक्त ही है।] तत्तत्प्रारब्धकर्मपरिपाकपरिप्राप्तशुभसुखहेतु विषयको

कर्मपरिप्रापितं शुभं सुखहेतुं विषयं प्राप्य नाभिनन्दति हर्षविशेषपुरःसरं न प्रशंसति। अशुभं दुःखहेतुं विषयं प्राप्य न द्वेष्टि अन्तरसूयापूर्वकं न निन्दति। अज्ञस्य ही सुखहेतुर्यः स्वकलत्रादिः स शुभो विषयस्तद्गुणकथनादिप्रवर्तिका धीवृत्तिर्भ्रान्तिरूपाऽभिनन्दः। स च तामसः, तद्गुणकथनादेः परप्ररोचनार्थस्वभावेन व्यर्थत्वात्। एवमसूयोत्पादनेन दुःखहेतुः परकीयविद्याप्रकर्षादिरेनं प्रत्यशुभो विषयस्तन्निन्दादिप्रवर्तिका भ्रान्तिरूपा धीवृत्तिर्द्वेषः। सोऽपि तामसः, तन्निन्दाया निवारणार्थत्वाभावेन व्यर्थत्वात्। ताव-

प्राप्तकर अभिनन्दन नहीं करता। हर्षसहित प्रशंसा अभिनन्दन है। हर्ष सविशेषके साथ प्रशंसा नहीं करता—खुशीसे बड़ाई नहीं करता। एवम् अशुभ—दुःखहेतु विषयको प्राप्त कर उससे द्वेष भी नहीं करता, दोषारोपपूर्वक निन्दा भी नहीं करता। मूढ़ पुरुषको सुखहेतु जो कलत्र आदि है, सो शुभ विषय है, तद्‌गुणकथनप्रवर्तक धीवृत्ति—चित्तवृत्ति भ्रान्तिरूप अभिनन्दन तामस है, तद्गुणकथनादि परप्ररोचनार्थ होनेसे व्यर्थ है। ['प्ररोचयति अनेन' इति प्ररोचना, इस व्युत्पत्तिसे प्ररोचना वाक्यस्तुतिविषय प्रवृत्तिका प्रयोजक होती है। जैसे गौकी यह स्तुति की जाती है—कि 'यह बहुत सीधी है, अधिक दुग्ध देनेवाली है, साल सालभर पर प्रसव करनेवाली है, जीवद्वत्सा है और कम खानेवाली है।' इस गुण कथनका प्रयोजन यही है कि जिसकी गौ लेनेकी इच्छा कम है वह पुरुष भी यह समझता है कि, ऐसी गौ भाग्यसे ही मिलती है, खोजनेसे नहीं मिलेगी, आखिर दो चार महीनेके बाद लेना है, तो फिर इसी समय क्यों न ले लें, समयपर ऐसी नहीं मिलेगी, अतः वह पुरुष गाय खरीदनेमें प्रवृत्त हो जाता है। इसलिये प्ररोचना प्रवृत्तिप्रयोजक होती है। प्रकृतमें भार्यादिगुणकी स्तुति वैसी नहीं है। स्तावककी यह इच्छा नहीं है कि मेरी भार्याको कोई ग्रहण करे। अगर कोई ग्रहण करना चाहे, तो वह द्वेष्य ही होता है। अतः ऐसी स्तुतियां व्यर्थ हैं।] एवं असूया यानी परगुणमें दोषोत्पादनद्वारा दुःखहेतु परकीयविद्याप्रकर्षादि इसके प्रति अशुभ विषय है, तन्निन्दादिप्रवर्तक भ्रान्तिरूप धीवृत्ति द्वेष है, वह भी तामस है, क्योंकि असूयाकृत निन्दासे किसीकी निवृत्ति नहीं हो सकती। [किसीका ऐसा स्वभाव होता है कि वह दूसरेके गुणोत्कर्षश्रवणसे दुःखी होकर उसकी दोषारोपपुरःसर निन्दा करता है, यह तो प्रसिद्ध है और इसका अनुवाद भी व्यर्थ

भिनन्दद्वेषौ भ्रान्तिरूपौ तामसौ कथमभ्रान्ते शुद्धसत्त्वे स्थितप्रज्ञे संभवेताम्? तस्माद्विचालकाभावात्तस्यानभिस्नेहस्य हर्षविषादरहितस्य मुनेः प्रज्ञा परमात्मतत्त्वविषया प्रतिष्ठिता फलपर्यवसायिनी स स्थितप्रज्ञ इत्यर्थः। एवमन्योऽपि मुमुक्षुः सर्वत्रानभिस्नेहो भवेत्। शुभं प्राप्य न प्रशंसेत्, अशुभं प्राप्य न निन्देदित्यभिप्रायः। अत्र च निन्दाप्रशंसादिरूपा वाचो न प्रमापेतेति व्यतिरेक उक्तः॥ ५७॥

है। इसको विशेषरूपसे स्फुट करना भी पाप है, अतः छोड़ दिया, ऐसा करनेसे निन्दकके मनमें कुछ सन्तोष हो जाता है। परन्तु निन्दा करनेवालेकी—यह असूया स्वभाव है यानी दूसरोंके प्रति डाह करना इसका स्वभाव है, यह समझकर उसकी ही लोग उपेक्षा करते हैं। जिसमें लोग प्रवृत्त न हो, इस इच्छासे निन्दा की, परन्तु उसमें लोगोंकी प्रवृत्ति होती है। वस्तुतः असूयावदाशयकृत निन्दा स्वनिन्दामें ही परिणत होती है।] ये दोनों अभिनन्दन और द्वेष तामस होनेसे अभ्रान्त—भ्रमरहित शुद्धाशय स्थितप्रज्ञमें कैसे हो सकते हैं? पूर्वोक्त कारणोंसे चित्तविक्षेपकाभावसे सर्वत्र अनभिस्नेह अतएव हर्ष और विषादसे रहित मननशीलकी प्रज्ञा—परमात्मतत्त्वविषया प्रज्ञा—बुद्धि प्रतिष्ठित होती है अर्थात् मोक्षफलप्रद होती है। वही प्रज्ञावान् पुरुष स्थितप्रज्ञ है। एवं अन्य भी मुमुक्षु सर्वत्र अनभिस्नेह हो। शुभ हर्षके हेतुकी प्राप्तिपर हर्ष न करे, अशुभकी प्राप्तिमें निन्दा न करे, यह अभिप्राय है। [वस्तुतः स्थितप्रज्ञके स्वभावका निरूपण स्थितप्रज्ञके कामका नहीं है, संसारीको भी केवल श्रवणकौतुकके अतिरिक्त फलान्तर नहीं है, फिर यह निरूपण व्यर्थ है। शास्त्र तो वही कहता है, जिसके सुननेपर इष्टसाधन कर्ममें प्रवृत्त होकर इष्ट सिद्ध करे अथवा अनिष्ट साधन कर्मोंसे निवृत्त होकर अनर्थका परिहार करे, अन्यथा 'सात खण्ड नौ द्वीपकी पृथिवी है' इत्यादि वाक्यवत् यह भी व्यर्थ है, इस शंकाके परिहारार्थ इसका प्रयोजन कहते हैं कि अन्य मुमुक्षु भी ऐसा ही आचरण करें, अन्यथा फलप्राप्तिसे वञ्चित रह जायंगे, इसलिये यह उपदेश मुमुक्षुओंके बड़े कामका है।] निन्दाप्रशंसादि वाक्य न बोले, यह यहां व्यतिरेक फलित होता है॥ ५७॥

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ५८ ॥

जैसे कछुआ अपने सब अङ्गोंको समय-समयपर समेट लेता है वैसे ही जब यति अपनी सब इन्द्रियोंको शब्दादि इन्द्रियार्थोंसे अच्छी तरह समेट लेता है तब उसकी प्रज्ञा सिद्ध होती है ॥ ५८ ॥

इदानीं किमासीतेति प्रश्नस्योत्तरं वक्तुमारभते भगवान्षड्भिः श्लोकैः । तत्र प्रारब्धकर्मवशाद्व्युत्थानेन विक्षिप्तानीन्द्रियाणि पुनरुपसंहृत्य समाध्यर्थमेव स्थितप्रज्ञस्योपवेशनमिति दर्शयितुमाह—'यदा संहरते' इति ।

अयं व्युत्थितः सर्वशः सर्वाणीन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यः शब्दादिभ्यः सर्वेभ्यः । चः पुनरर्थे । यदा संहरते पुनरुपसंहरति । तत्र दृष्टान्तः कूर्मोऽङ्गानीव । तदा तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठितेति स्पष्टम् । पूर्वश्लोकाभ्यां व्युत्थान-

---

अब छः श्लोकोंसे 'किमासीत' इस प्रश्नका उत्तर कहनेका भगवान् आरम्भ करते हैं—उनमें समाधिसे विरत होनेपर प्रारब्धकर्मवश स्वविषयोंमें प्रवृत्त इन्द्रियोंका फिर उपसंहार कर—स्वस्वविषयोंसे निवृत्तकर समाधिके लिये 'स्थितप्रज्ञ' को बैठना चाहिये, यह दिखलानेके लिये कहते हैं—'यदा संहरते' इत्यादि । मैं समाधिसे व्युत्थित हूं, यह समझकर समाधिसे उठा हुआ यह योगी सब इन्द्रियार्थोंसे—शब्दस्पर्शरूपरसगन्धादि ग्राह्यविषयोंसे सब इन्द्रियोंको जब लौटा लेता है यानी पुनः संकोचित करता है । यहाँ पर 'च' 'पुनः' के अर्थमें है । संकोचमें दृष्टान्त कहते हैं—'कूर्म' इत्यादिसे । जैसे कूर्म—कछुआ अपने सिर और पैरको कभी खोपड़ीसे बाहर करता है, कभी उसीमें उनको संकोचित कर लेता है । संकोचितावस्थामें पैर तथा गर्दन आदि अपना व्यापार नहीं करते, किन्तु सर्वतः संकुचितवृत्ति ही रहते हैं, ऐसा ही मुमुक्षु व्युत्थानसे अपने इन्द्रियादिको विषयप्रवाहोन्मुखसे हटाकर फिर समाधिसिद्ध्यनुकूल कर लेता है, तब उसकी प्रज्ञा प्रतिष्ठित होती है 'तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता' यह स्पष्ट है, इसकी व्याख्या करनेकी आवश्यकता नहीं है । पूर्व दोनों श्लोकोंसे व्युत्थानदशामें भी तामस वृत्तिका अभाव कहा है, इस समय समाधिदशामें सकल वृत्त्यभाव कहा, दोनोंमें यह विशेष है । [समाधिसे विरत होनेपर यद्यपि प्रवृत्तिस्वभाव इन्द्रियां प्राचीन वासनावश पुनः

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥ ५९ ॥

इन्द्रियोंसे विषयोंका आहरण न कर रहे देहाभिमानी मूढके भी शब्दादि विषय निवृत्त हो जाते हैं, किन्तु तृष्णा छोड़कर यानी अज्ञानीके विषय तो निवृत्त हो जाते हैं, लेकिन राग नहीं निवृत्त होता। परन्तु स्थितप्रज्ञका तो परब्रह्मको जानकर राग भी निवृत्त हो जाता है ॥ ५९ ॥

दशायामपि सकलतामसवृत्त्यभाव उक्तः। अधुना तु पुनः समाध्यवस्थायां सकलवृत्त्यभाव इति विशेषः ॥ ५८ ॥

ननु मूढस्यापि रोगादिवशाद्विषयेभ्य इन्द्रियाणामुपसंहरणं भवति, तत्कथं तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठितेत्युक्तमत आह—'**विषया विनिवर्तन्ते**' इति।

शब्दादिविषयग्रहणार्थं प्रवृत्त होती हैं, उस अवस्थामें यदि योगी असावधान हो जाय, तो पुनः तामस वृत्तियां होंगी, जो समाधिके सर्वथा प्रतिकूल हैं, इसलिये समयसे फिर उसके उपसंहारका यत्न करे। सात्त्विक स्वल्प वृत्तियां विशेष हानिप्रद नहीं हैं, इसलिये उनका प्रादुर्भाव होनेपर उतनी हानि नहीं है, फिर भी सकलवृत्त्यभावके लिये समाधिमें ही योगीको विशेष यत्न करना चाहिये, शेष श्लोकार्थ स्पष्ट है] ॥ ५८ ॥

रोगवश मूढजनोंकी इन्द्रियाँ भी स्वविषयसे उपरत होती हैं, परन्तु वे प्रतिष्ठितप्रज्ञ नहीं होते, अतः स्वस्वविषयोंसे इन्द्रियप्रत्याहारमात्रसे कोई भी प्रतिष्ठितप्रज्ञ नहीं होता, फिर उसकी प्रज्ञा प्रतिष्ठित होती है, यह कैसे कहा?

[रोगादिवश निराहार देही इन्द्रियोंसे विषयका असामर्थ्यसे ग्रहण नहीं कर सकता, इसलिये इन्द्रियाँ नहीं प्रवृत्त होतीं, यह ठीक है। एवं कष्टसे तपश्चरणमें प्रवर्तमान काष्ठतपस्वीकी—ज्ञानसाधनानुष्ठानके बिना केवल कायक्लेश करनेमें ही जिनकी प्रवृत्ति है, इनकी—भी इन्द्रियाँ विषयासेवनसे दुर्बल होती हैं, अतएव विषयग्रहणोन्मुख नहीं होतीं। काष्ठतपस्वीका अभिप्राय भी यही है। काष्ठवज्जड़ जो केवल कायक्लेश ही से परम पुरुषार्थप्राप्तिकी आशा करते हैं, वे भी स्थितप्रज्ञ हो जायंगे।]

इसका परिहार करते हैं—'**विषया**' इत्यादिसे। निराहारस्य—आहार-

निराहारस्येन्द्रियैर्विषयाननाहरतो देहिनो देहाभिमानवतो मूढस्यापि रोगिणः काष्ठतपस्विनो वा विषयाः शब्दादयो विनिवर्तन्ते, किन्तु रसवर्जं रसस्तृष्णा तं वर्जयित्वा। अज्ञस्य विषया निवर्तन्ते। तद्विषयो रागस्तु न निवर्तत इत्यर्थः। अस्य तु स्थितप्रज्ञस्य परं पुरुषार्थं दृष्ट्वा तदेवाहमस्मीति साक्षात्कृत्य स्थितस्य रसोऽपि क्षुद्रसुखरागोऽपि निवर्तते। अपिशब्दाद्विषयाश्च। तथा च 'यावानर्थं' इत्यादौ व्याख्यातम्। एवं च सरागविषयनिवृत्तिः स्थितप्रज्ञस्य लक्षणमिति न मूढे व्यभिचार इत्यर्थः। यस्मान्नासति परमात्मसम्यग्दर्शने सरागविषयोच्छेदस्तस्मात्सरागविषयोच्छेदिकायाः सम्यग्दर्शनात्मिकायाः प्रज्ञायाः स्थैर्यं महता यत्नेन संपादयेदित्यभिप्रायः॥ ५९॥

पानी, भोजनादि, उससे रहित अर्थात् जो इन्द्रियोंसे विषयग्रहण नहीं करता, उस देहिनः—देहाभिमानी मूढ पुरुषके भी या रोगी या काष्ठतपस्वीके भी शब्दादि विषय निवृत्त हो जाते हैं, किन्तु उसकी तृष्णा—विषयग्रहणकी इच्छा निवृत्त नहीं होती है। [विषयोंके सन्निधानदशामें असामर्थ्यसे इन्द्रियाँ न प्रवृत्त हों, परन्तु इनके ग्रहणकी इच्छा मनमें बनी रहती है।] अज्ञके—विषय निवृत्त होते हैं, किन्तु तद्विषयक राग निवृत्त नहीं होता, यह अर्थ है। परन्तु इस स्थितप्रज्ञका परम पुरुषार्थ देखकर 'वही हम हैं' यह साक्षात्कार कर जो स्थित है उसकी विषयानुभवजन्य क्षुद्र सुखकी तृष्णा भी निवृत्त हो जाती है। 'अपि' शब्दसे विषय भी निवृत्त होते हैं, यह 'यावान उदपाने' इत्यादिमें व्याख्यात है। निष्कर्ष यह है कि रागके साथ विषयकी निवृत्ति स्थितप्रज्ञका लक्षण है, अतः मूढजनमें विषयनिवृत्ति होनेपर भी राग है, इसलिये व्यभिचार नहीं है, यह अर्थ है। [केवल विषयनिवृत्ति लक्षण नहीं, वस्तुतः रागनिवृत्ति लक्षण है। नीरागमें विषयनिवृत्ति अर्थतः सिद्ध है. परन्तु गीतामें 'विषयाः विनिवर्तन्ते' यह लिखा है। तदनुरोधसे दोनोंकी निवृत्ति कही गई है। मन्दजनानुग्रहार्थ विषयनिवृत्तिका समावेश किया गया है। रागवत्तान्निवृत्ति भी परकीयान्तःकरण धर्म होनेसे स्वतः दुर्ज्ञेय है। विषयनिवृत्ति द्वारा रागनिवृत्ति ज्ञेय है, इसलिये तदुक्ति है, यह गीतावाक्यका अभिप्राय है।] परमात्मतत्त्वज्ञानके बिना सराग विषयोच्छेद नहीं होता, अतः सरागविषयोच्छेदक सम्यग् ज्ञानरूप प्रज्ञाके स्थैर्यका बड़े प्रयत्नसे संपादन करे, यह अभिप्राय है॥ ५९॥

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः ।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ॥ ६० ॥

हे कौन्तेय, मोक्षके विषयमें विवेकी पुरुषके बार-बार विषयदोष-दर्शनात्मक यत्न करते रहनेपर भी चञ्चल कर देनेवाली इन्द्रियाँ उसके चित्तको बलात्कार खींच लेती हैं ॥ ६० ॥

तत्र प्रज्ञास्थैर्ये बाह्येन्द्रियनिग्रहो मनोनिग्रहश्चासाधारणं कारणं तदुभयाभावे प्रज्ञानाशदर्शनादिति वक्तुं बाह्येन्द्रियनिग्रहाभावे प्रथमं दोषमाह—'यततो' इति ।

हे कौन्तेय यततः भूयो भूयो विषयदोषदर्शनात्मकं यत्नं कुर्वतोऽपि, चक्षिङो ङित्त्वकरणादनुदात्तेतोऽनावश्यकमात्मनेपदमिति ज्ञापनात्परस्मैपदमविरुद्धम् । विपश्चितोऽत्यन्तविवेकिनोऽपि पुरुषस्य मनः क्षणमात्रं निर्विकारं

इस प्रज्ञास्थैर्यमें बाह्येन्द्रियोंका तथा मनका निग्रह मुख्य करण है। इनके विना उक्त स्थैर्य नहीं हो सकता। यदि ये दो न हों, तो प्रज्ञाका नाश ही देखा गया है, यह कहनेके लिये बाह्येन्द्रियोंके निग्रहाभावमें पहिला दोष कहते हैं—'यततो' इत्यादिसे । हे कौन्तेय—हे अर्जुन, विषयोंमें क्षयित्वादिदोष-दर्शनात्मक प्रयत्न बार-बार करनेपर भी तादृशयत्नशील विद्वान् पुरुषके मनको इन्द्रियाँ हरती हैं, इसके साथ 'यततः' का सबन्ध है।

प्रश्न—'यती प्रयत्ने' आत्मनेपदी धातु है। इसका 'यतमानस्य' यह प्रयोग साधु है। 'यततः' यह प्रयोग साधु नहीं है।

उत्तर—'अनुदात्तङित आत्मनेपदम्' इस सूत्रसे अनुदात्तेत् जो धातु और ङित् जो धातु हैं, उनसे आत्मनेपद होता है। एध वृद्धौ, एधते; शीङ् स्वप्ने, शेते; यह उदाहरण है।

'चक्षिङ् व्यक्तायां वाचि' यहाँ इकार आत्मनेपदके लिये है, सो चक्षिङ्के इकारको अनुदात्त मानकर इत्संज्ञा होती ही है, अतः अनुदात्तेत् मानकर चष्टेमें आत्मनेपद सिद्ध ही है, फिर ङकारग्रहण क्यों किया ?

ङकारग्रहण यह बोधन कराता है कि अनुदात्तलक्षण आत्मनेपद अनित्य है, इस ज्ञापनके बाद यदि ङ न रहेगा, तो चक्षिधातुसे भी कदाचित् परस्मैपद हो जायगा, इसलिये ङकार स्वांशमें चरितार्थ हुआ और यह सिद्ध हुआ कि

कृतमपीन्द्रियाणि हरन्ति विकारं प्रापयन्ति। ननु विरोधिनि विवेके सति कुतो विकारप्राप्तिस्तत्राऽऽह—प्रमाथीनि प्रमथनशीलानि अतिबलीयस्त्वाद्विवेकोपमर्दनक्षमाणि। अतः प्रसभं प्रसह्य बलात्कारेण पश्यत्येव। विपश्चिति

ङकारानुबन्धक धातुसे नित्य ही आत्मनेपद होता है, परस्मैपद नहीं, अन्य अनुदात्तेत् धातुओंसे कदाचित् परस्मैपद भी होता है, इससे 'यती धातु' से परस्मैपद भी साधु है। अतः 'यततः' यह असाधु नहीं है, यह समाधान ऋषियोंके लिये ही है, सर्वसाधारणके लिये नहीं।

[प्रश्न—अस्तु भगवान् स्वतन्त्र हैं, फिर उनको अनुशासनके शासनकी क्या अपेक्षा ?

उत्तर—यद्यपि भगवान् स्वतन्त्र हैं, तथापि लोकशिक्षानुरोधसे वे भी व्यवहारदशामें अपने अनुशासनका पालन करते हैं। अन्यथा 'यद्-यद् आचरति श्रेष्ठः' इस न्यायसे अन्य लोग भी उपेक्षा करेंगे, तो मेरा ही अनुशासन भङ्ग हो जायगा। 'श्रुतिस्मृती ममैवाज्ञे' इस वक्ष्यमाण वचनसे साङ्ग वेद और स्मृति भगवदाज्ञा है, यह माना जाता है, इसलिये शिष्टोंके प्रयोगमें अनुदात्तेत् धातुओंसे परस्मैपदका प्रयोग आ जाय, तो असाधु नहीं है, यह अर्थ 'चक्षिङ् धातुके' ङकारसे ज्ञापित कर उक्त अनुशासनकी पूर्ण रक्षा की गई है।]

विपश्चित् यानी अत्यन्तविवेकी पुरुषके मनको, जो कृतनिर्विकार है, क्षणमात्रमें इन्द्रियाँ विकृत कर देती हैं।

शङ्का—मनोविकारका विरोधी विवेकज्ञान है। विवेकज्ञान रहनेपर विकार कैसे प्राप्त होगा ? महाकवि कालिदासने भी कहा है—'सूर्ये तपत्यावरणाय दृष्टेः कल्पेत लोकस्य कथं तमिस्रा।' आकाशमें सूर्य तपते हैं, तो लोकदृष्टिके आवरणार्थ तमिस्रा—अँधेरी रात कैसे आ सकती है ? अन्धकार और प्रकाशका परस्पर विरोध है—एक कालमें एकाधिकरणवृत्तित्व ही विरोध है, कालभेदसे दोनों एक आश्रयमें रहते ही हैं।

समाधान—प्रमथ्नाति एवं शीलं येषां तानि प्रमाथीनि—प्रपूर्वक 'मथेर्हिंसायाम्' से ताच्छील्य अर्थमें णिनि प्रत्यय हुआ है, इस तात्पर्यसे 'प्रमथनशील' कहा। प्रकृतमें हिंसाविषयोंमें मनका समावेश है। विवेकसे बलवान् इन्द्रियाँ जबर्दस्ती मनको विषयग्रहणोन्मुख करती हैं। इन्द्रियोंमें बल राग ही है, अतएव मनु भगवान्ने कहा है कि—'बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपकर्षति' राग निवृत्त होनेपर इन्द्रियाँ

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः ।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ६१ ॥

उन सब इन्द्रियोंका संयम कर और योगयुक्त होकर जो केवल मेरा भक्त होता है, अर्थात् मुझमें अपना मन लगा देता है, तथा जिस पुरुषके वशमें इन्द्रियाँ हैं उसकी प्रज्ञा स्थित है—वही स्थितप्रज्ञ है ॥ ६१ ॥

स्वामिनि विवेके च रक्षके सति सर्वप्रमाथित्वादेवेन्द्रियाणि विवेकजप्रज्ञायां प्रविष्टं मनस्ततः प्रच्याव्य स्वविषयाविष्टत्वेन हरन्तीत्यर्थः । हिशब्दः प्रसिद्धिं द्योतयति । प्रसिद्धो ह्ययमर्थो लोके यथा प्रमाथिनो दस्यवः प्रसभमेव धनिनं धनरक्षकं चाभिभूय तयोः पश्यतोरेव धनं हरन्ति तथेन्द्रियाण्यपि विषयसंनिधाने मनो हरन्तीति ॥ ६० ॥

एवं तर्हि तत्र कः प्रतीकार इत्यत आह—'तानि सर्वाणि' इति ।

दुर्बल होती हैं, अन्यथा नहीं । अतः विवेकके उपमर्दन—पछाड़नेमें समर्थ इन्द्रियाँ विवेकको दबाकर बलात्कार विषयोंको देखती ही हैं । विद्वान् स्वामी है, रक्षक विवेक भी है, तो भी सबको दबानेवाली इन्द्रियाँ विवेकप्रज्ञामें प्रविष्ट मनको विवेकप्रज्ञासे हटाकर विषयग्रहणोन्मुख करती हैं । 'हि' शब्द प्रसिद्धिका द्योतक है । अर्थात् यह समाचार लोकमें प्रसिद्ध है । जैसे चोर, डाकू प्रमाथी होते हैं; ये सब धनी तथा धनके रक्षकको पहिले दबाकर—जीतकर इन लोगोंके देखते-देखते धन लूट लेते हैं, क्योंकि स्वामी और रक्षकसे डाकू अधिक संख्यामें रहनेसे बलवान् होते हैं, वैसे ही इन्द्रियाँ भी अधिक हैं । विषयसन्निधानदशामें आत्मा—स्वामी एवं रक्षक-विवेकको दबाकर मनको जबर्दस्ती विषयोंकी ओर खींच ले जाती हैं—विषयोंमें प्रविष्ट कराती हैं, [इसलिये राग निवृत्त करना आवश्यक है ।

शङ्का—इन्द्रियोंपर विजय आत्मदर्शनसे होगा, आत्मदर्शन इन्द्रियजयसे होगा, इस प्रकार अन्योन्याश्रयदोषदुष्ट ज्ञाननिष्ठा दुष्प्राप्य ही है ।

समाधान—इसका समाधान अगले श्लोकसे स्पष्ट है] ॥ ६० ॥

प्रश्न—यदि विवेकसे इन्द्रियाँ प्रबल हैं, तो फिर प्रज्ञाप्रतिष्ठाका उपाय क्या है ?

उत्तर—'तानि' इति । उपाय तो यह है कि ज्ञान और कर्मकी साधनभूत

तानीन्द्रियाणि सर्वाणि ज्ञानकर्मसाधनभूतानि संयम्य वशीकृत्य युक्तः समाहितो निगृहीतमनाः सन्नासीत निर्व्यापारस्तिष्ठेत् । प्रमाथिनां कथं स्ववशीकरणमिति चेत्तत्राऽऽह—'मत्परः' । इति अहं सर्वात्मा वासुदेव एव पर उत्कृष्ट उपादेयो यस्य स मत्पर एकान्तमद्भक्त इत्यर्थः । तथा चोक्तम्—"न वासुदेवभक्तानामशुभं विद्यते क्वचित्" इति । यथा हि लोके बलवन्तं राजानमाश्रित्य दस्यवो निगृह्यन्ते राजाश्रितोऽयमिति ज्ञात्वा च ते स्वयमेव तद्वश्या भवन्ति तथैव भगवन्तं सर्वान्तर्यामिणमाश्रित्य तत्प्रभावेणैव दुष्टानीन्द्रियाणि निग्राह्याणि । पुनश्च भगवदाश्रितोऽयमिति मत्वा तानि तद्वश्यान्येन भवन्तीति भावः । तथा च भगवद्भक्तेर्महाप्रभावत्वं तथा विस्तरेणाग्रे व्याख्यास्यामः । इन्द्रियवशीकारे फलमाह—'वशे हि' इति । स्पष्टम् । तदे-

---

इन्द्रियाँ हैं, क्योंकि इनके बिना न तो ज्ञान हो सकता है और न कर्मानुष्ठान ही । अतः एतदुभयसाधनभूत इन्द्रियोंको अच्छी तरह आत्माके वशमें कर समाहितचित्त—एकाग्रचित्त होकर यानी मनको रोककर सकल व्यापार यानी कायिक-वाचिक-मानसिक सकल व्यापारसे विरत होकर चुपचाप बैठे ।

प्रश्न—प्रमाथी (डाकू-बलवान्) इन्द्रियोंको अपने वशमें कैसे करें ?

उत्तर—'मत्परः' इति । मत्पर होकर इनको वशमें ला सकते हो । अहं वासुदेवः सर्वान् वासयति स च देवः वासुदेवः । मैं सर्वान्तर्यामी वासुदेव ही पर यानी उत्कृष्ट उपादेय—ग्राह्य है, ईदृश बुद्धि जिसको हो, वह मत्पर है । परमात्मव्यतिरिक्तमें उपादेय बुद्धि न हो, किन्तु हेयबुद्धि हो । एकान्त मद्भक्त नियमसे मद्भक्त होकर, यह तात्पर्य है । ऐसा ही कहा है कि—'न वासुदेवभक्तानामशुभं विद्यते क्वचित्' वासुदेवभक्तोंको अशुभ कहीं नहीं है । जैसे लोकमें बलवान् राजाका आश्रय लेकर पुलिस और फौजकी सहायतासे डाकू पकड़े जाते हैं, यह राजाश्रित है, राजा इसका सहायक है, यह समझ अन्तमें वे आत्मसमर्पण कर देते हैं वैसे ही सर्वान्तर्यामी भगवान्का आलम्बन लेनेपर दुष्ट इन्द्रियाँ इसका आलम्बन भगवान् है, यह जानकर स्वयं निगृहीत हो जाती हैं—तद्वत् आत्मसमर्पण कर देती हैं, फिर वे डाकूके स्वभाववाली नहीं रह जातीं । डाकू भी तो अपना स्वभाव छोड़ देता है । इस प्रकार भगवद्भक्तिका बड़ा प्रभाव है, इसका आगे विस्तारसे व्याख्यान करेंगे । इन्द्रियोंके वश करनेका फल कहते हैं—'वशे हि'

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते ।
सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥६२॥
क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥६३॥

शब्दादि विषयोंका मनसे बार-बार चिन्तन कर रहे पुरुषको उन विषयोंमें आसक्ति होती है, आसक्ति होनेपर उनको प्राप्त करनेकी प्रबल इच्छा होती है और इच्छाकी किसी प्रकार पूर्ति न होनेपर क्रोध उत्पन्न होता है ॥६२॥

क्रोध होनेपर संमोह—कार्याकार्यविवेकका अभाव हो जाता है, संमोह होनेसे शास्त्राचार्योंके उपदिष्ट अर्थों (वचनों) के स्मरणमें भ्रम हो जाता है तथा स्मृतिविभ्रम होनेपर बुद्धिका नाश हो जाता है और बुद्धिनाश होनेसे प्राणी नष्ट (मृततुल्य) हो जाता है ॥ ६३ ॥

तद्वशीकृतेन्द्रियः सन्नासीतेति किमासितेति प्रश्नस्योत्तरमुक्तं भवति ॥ ६१ ॥

ननु मनसो बाह्येन्द्रियप्रवृत्तिद्वाराऽनर्थहेतुत्वं निगृहीतबाह्येन्द्रियस्य तूत्खाततदंष्ट्रोरगवन्मनस्यनिगृहीतेऽपि न काऽपि क्षतिर्बाह्योद्योगाभावेनैव कृतकृत्यत्वादतो युक्त आसीतेति व्यर्थमुक्तमित्याशङ्क्य निगृहीतबाह्येन्द्रियस्यापि युक्तत्वाभावे सर्वानर्थप्राप्तिमाह द्वाभ्याम्—'ध्यायतो विषयान्' इति ।

से । अर्थ स्पष्ट है । जिसके वशमें इन्द्रियाँ हैं, उसकी प्रज्ञा प्रतिष्ठित है । भगवद्भक्तिसे इन्द्रियोंको वशमें करके बैठे । 'किमासीत' इस प्रश्नका 'ईदृश आसीत' यह उत्तर कहा गया है ॥ ६१ ॥

शङ्का—बाह्येन्द्रिय प्रवृत्तिद्वारा मन अनर्थका हेतु होता है । यदि बाह्येन्द्रियानिगृहीत है, तो मनके अनिगृहीत होनेपर वह कोई आपत्ति नहीं करता । मन तो बाह्येन्द्रियप्रवर्तन द्वारा अनर्थहेतु है; जैसे सर्प दाँतके द्वारा अनर्थकारी है । यदि उसका दाँत निकाल दिया जाय, तो स्वरूपसे रहकर भी किसीको अनर्थप्रद नहीं होता, एवं बहिरिन्द्रियोंका निग्रह होनेपर अनर्थनिवृत्ति सिद्ध है, क्योंकि विषयसेवनादि बहिरिन्द्रियव्यापारके बिना नहीं होता । बाह्योद्योग न होनेसे पुरुष कृतकृत्य होता है, अतः 'युक्तः आसीत' यह उत्तर व्यर्थ ही कहा है. यह शंका कर समाधान करते हैं कि निगृहीतबाह्येन्द्रिय पुरुष भी यदि युक्त न हो, तो सर्वानर्थभाजन है, यह दो श्लोकोंसे कहते हैं 'ध्यायतः' इत्यादि ।

निगृहीतबाह्येन्द्रियस्यापि शब्दादीन् विषयान् ध्यायतो मनसा पुनः पुनश्चिन्तयतः पुंसस्तेषु विषयेषु सङ्ग आसङ्गः ममात्यन्तं सुखहेतव एत इत्येवंशोभनाध्यासलक्षणः प्रीतिविशेष उपजायते । सङ्गात्सुखहेतुत्वज्ञानलक्षणात्संजायते कामः ममैते भवन्त्विति तृष्णाविशेषः । तस्मात्कामात्कुतश्चित्प्रतिहन्यमानात्तत्प्रतिघातकविषयः क्रोधोऽभिज्वलनात्माऽभिजायते । क्रोधाद्भवति संमोहः कार्याकार्यविवेकाभावरूपः । संमोहात्स्मृतिविभ्रमः स्मृतेः शास्त्राचार्योपदिष्टार्थानुसंधानस्य विभ्रमो विचलनं विभ्रंशः । तस्माच्च स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धेरैकात्म्याकारमनोवृत्तेर्नाशो विपरीतभावनोपचयदोषेण प्रतिबन्धादनुत्पत्तिरुत्पन्ना-

---

बाह्येन्द्रियनिग्रहकर्ता भी यदि शब्दस्पर्शादि विषयोंका चित्तसे स्मरण करता है, तो उस पुरुषका चित्त उन विषयोंमें आसक्त हो जाता है ।

प्रश्न—सङ्ग क्या है ?

उत्तर—'मेरे अत्यन्त सुख हेतु ये हैं' इत्याकारक शोभनाध्यासलक्षण प्रीति संग है । यद्यपि न विषय शोभन है, न स्वसंबन्धी है और न सुखहेतु है, वस्तुतः इनसे विपरीत है, फिर भी प्राचीनवासनावश अवशेन्द्रियोंको उक्त स्वरूपका अध्यास होता है । सुखहेतुत्व ज्ञानलक्षण संगसे काम—अभिलाष उत्पन्न होता है । मेरे ये सदा रहें, इनका मुझसे वियोग किसी समय न हो, यह तृष्णाविशेष काम यानी अभिलाषा है । इसका मनसे यदि उक्त कामनाविषयपदार्थका कोई विघात करनेके लिये प्रवृत्त होता है, तो प्रतिघातकविषय क्रोध—चिन्ताभिज्वलनात्मक—उत्पन्न होता है । क्रोधसे चित्त गरम हो जाता है । क्रोधसे सम्मोह—कार्याकार्यविवेकाभावका—क्या करना, क्या न करना, इसका परिज्ञान लुप्त हो जाता है । सम्मोहसे स्मृतिविभ्रम होता है, शास्त्राचार्य द्वारा उपदिष्ट अर्थके स्मरणका नाश होता है । शास्त्रमें क्या करनेको लिखा है, आचार्यका कर्तव्याकर्तव्य विषयकोपदेश क्या है, दोनोंका लोप हो जाता है, इस स्मृतिविभ्रंशसे—स्मृतिविश्लेषसे एकात्माकार बुद्धिका नाश होता है । एक ही आत्मा है, आत्मान्तर नहीं । आत्मान्तरबुद्धिसे अनिष्टसाधनप्रवृत्ति स्वानिष्टसाधनार्थ होती है ।

शङ्का—ऐकात्म्यमें अनैकात्म्य भान क्यों होता है ?

समाधान—विपरीत भावनोपचयदोषसे 'यह मै हूं, वह अन्य है, यह

याश्च फलायोग्यत्वेन विलयः। बुद्धिनाशात्प्रणश्यति तस्याश्च फलभूताया बुद्धेर्विलोपात्प्रणश्यति सर्वपुरुषार्थायोग्यो भवति। यो हि पुरुषार्थायोग्यो जातः स मृत एवेति लोके व्यवह्रियते। अतः प्रणश्यतीत्युक्तम्। यस्मादेवं मनसो निग्रहाभावे निगृहीतबाह्येन्द्रियस्यापि परमानर्थप्राप्तिस्तस्मान्महता

विपरीत भावना है। एक ही आत्मामें उपाधिभेदसे अनेकात्मभावना है, यह यद्यपि उक्तोपायसे शिथिल होता है, परन्तु क्रोध उक्तोपदिष्टार्थविषयक स्मृतिका विभ्रंश—अभाव होता है। स्मृत्यभावसे ऐकात्म्याकार मनकी वृत्तिका नाश होता है [नाशसे अभाव विवक्षित है। अभाव दो प्रकारका है— एक'प्रागभाव और दूसरा ध्वंस। प्रथम प्रतिबन्धकवश होता है, प्रतिबन्धक कहते हैं—] क्रोध आदि दोषोंका उपचय (वृद्धि) दोष उक्त ऐकात्म्य बुद्धिका प्रतिबन्धक है, इसीसे उक्त बुद्धिकी उत्पत्ति नहीं होती और जो तादृश बुद्धि उत्पन्न होती है, वह फलदानमें अयोग्य होकर नष्ट हो जाती है। [प्रतिबन्धकासहकृत ऐकात्म्यबुद्धि फलजनक है। उक्त प्रतिबन्धकवश उत्पन्न होकर बुद्धि नष्ट हो जाती है। जैसे मणि, मन्त्र आदि अदाहक अग्निका प्रतिबन्धक है। यदि प्रतिबन्धक युक्त अग्नि हो, तो दाह फलदानके बिना ही अग्नि नष्ट हो जाती है। इसी तरह प्रकृतमें भी समझना चाहिये। 'अनुत्पन्नयाश्च' यह पाठ मुद्रणादिदोषसे असंगत है। उत्पन्नायाश्च ऐसा पाठ होना चाहिये, क्योंकि अनुत्पन्नका विलय असंभव है। अनुत्पन्नकी दो श्रेणी हैं—एक अत्यन्तासत्-खपुष्पादि और दूसरा अनुत्पन्न-आकाशादि नित्यपदार्थ। इन दोनोंका नाश नहीं हो सकता। उत्पत्तिसे लब्धसत्ताक पदार्थका अभाव नाशात्मक होता है, जो उत्पन्न ही नहीं, उसका विलय कैसा ?] बुद्धिनाशसे प्रणाश होता है, फलभूत ऐकात्म्यबुद्धिके लोपसे पुरुषका प्रणाश होता है। यद्यपि स्वरूपसे पुरुष नष्ट नहीं होता, तथापि सब पुरुषार्थोंके अयोग्य होता है। [धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इनमें कोई भी पुरुषार्थ नष्टबुद्धि पुरुषको नहीं होता। पुरुषार्थायोग्यत्वेन औपचारिक नाशका प्रयोग प्रकृतमें है, इसको स्फुट करते हैं—] जो पुरुष पुरुषार्थके योग्य नहीं है उसको लोकमें मृत ही कहते हैं, इस भावसे प्रणश्यति कहा है। [स्वरूप-नाश तात्पर्यसे नहीं, प्रारब्ध कर्माधीन जीवन तो रहता ही है। स्वरूपनाश तो प्रारब्ध कर्मनाशाधीन है।] चूँकि मनोनिग्रहके बिना बाह्येन्द्रियनिग्रह विफल है,

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥ ६४ ॥

मनके अधीन हुई राग-द्वेषसे रहित इन्द्रियों द्वारा शब्दादि विषयोंका उपभोग करता हुआ मनको वशमें करनेवाला पुरुष चित्तमें शान्ति प्राप्त करता है अर्थात् परमात्माके साक्षात्कारकी योग्यता प्राप्त करता है ॥ ६४ ॥

प्रयत्नेन मनो निगृह्णीयादित्यभिप्रायः। अतो युक्तमुक्तं तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीतेति ॥ ६२, ६३ ॥

मनसि निगृहीते तु बाह्येन्द्रियनिग्रहाभावेऽपि न दोष इति वदन् व्रजेतेत्यस्योत्तरमाहाष्टभिः—'रागद्वेष०' इति।

योऽसमाहितचेताः स बाह्येन्द्रियाणि निगृह्यापि रागद्वेषदुष्टेन मनसा विषयांश्चिन्तयन्पुरुषार्थाद्भ्रष्टो भवति। विधेयात्मा तु। तुशब्दः पूर्वस्माद्व्यतिरेकार्थः। वशीकृतान्तःकरणस्तु आत्मवश्यैर्मनोधीनैः स्वाधीनैरिति वा राग-

---

क्योंकि परमार्थप्राप्तिके लिये बहिरिन्द्रियोंका निग्रह किया, सो तो मनोनिग्रहके बिना नहीं हो सकता, इसलिये बड़े प्रयत्नसे मनका निग्रह करना चाहिये, अन्यथा केवल बाह्येन्द्रियनिग्रह कायादिशोषणफलार्थक ही होगा, यह अभिप्राय है। अतः यह ठीक ही कहा कि—सब इन्द्रियोंका संयम कर मत्पर स्थित रहे ॥ ६२, ६३ ॥

मनका निग्रह कर ले, तो बाह्येन्द्रियोंका निग्रह न रहने पर भी दोष नहीं है, इस कथनके साथ 'किं व्रजेत' इसका उत्तर करते हैं आठ श्लोकोंसे—'रागद्वेष०' इत्यादि। जो असमाहितचित्त 'यानी विषयदोषदर्शनादिसे निरूद्धवृत्तिकचित्त नहीं है किन्तु केवल बाह्येन्द्रियमात्रका निग्रह किया है वह पुरुष रागद्वेषदूषित मनसे विषयोंकी भावना करता हुआ पुरुषार्थसे च्युत होता है, केवल बाह्येन्द्रिय निग्रह विफल है। इस श्लोकमें दोनों आत्मशब्द मनःपरक है। विधेयात्मा अर्थात् वशीकृतमना 'विधेयो विनयग्राही' इत्यादि श्लोकसे 'विधेय' शब्द वश्यपरक है। जिसने चित्तको अपने वशमें कर लिया है वह पुरुष मनोवश्य है मनोधीन इन्द्रियोंसे अथवा आत्माधीन इन्द्रियोंसे जिसके वशमें मन है उसके वशमें मनोधीन इन्द्रियाँ भी हैं, स्वदासका दास स्वदासवत् है, अतएव रागद्वेषसे रहित इन्द्रियोंसे

द्वेषाभ्यां वियुक्तैर्विरहितैरिन्द्रियैः श्रोत्रादिभिर्विषयान् शब्दादीननिषिद्धांश्चानुपलभमानः प्रसादं प्रसन्नतां चित्तस्य स्वच्छतां परमात्मसाक्षात्कारयोग्यतामधिगच्छति। रागद्वेषप्रयुक्तानीन्द्रियाणि दोषहेतुतां प्रतिपद्यन्ते। मनसि स्ववशे तु न रागद्वेषौ। तयोरपि च न तत्त्वाधीनेन्द्रियप्रवृत्तिः। अवर्जनीयतया तु विषयोपलम्भो न दोषमावहतीति न शुद्धिव्याघात इति भावः। एतेन विष-

(श्रोत्रादिकोंसे) विषयान्—अनिषिद्ध शब्दस्पर्शादिका ग्रहण करते रहनेपर भी चित्तप्रसादको—स्वच्छताको यानी परमात्मसाक्षात्कारयोग्यताको प्राप्त करता है। रागद्वेषप्रयुक्त श्रोत्रादि इन्द्रियोंसे विषयग्रहण जो करता है उसीकी इन्द्रियाँ रागद्वेषदोषसे दुष्ट होती हैं। [रागद्वेषादिदोषके नष्ट होनेपर स्वभावतः विषयग्रहणमें यदि इन्द्रियाँ प्रवृत्त होती हैं, तो वे दुष्ट नहीं होतीं। रागद्वेषाभावमें कारण कहते हैं—] जब मन स्ववशमें हो जाता है, तो इन्द्रियोंसे विषयग्रहण करनेपर भी रागद्वेष नहीं होता। [केवल विषयग्रहणसे उक्त दोष नहीं होता, किन्तु रागादिपूर्वक विषयग्रहणसे होता है। राग मनोधर्म है, इसलिये मनका परिशोधन अत्यावश्यक है। रागद्वेष न हो, तो विषयोंमें इन्द्रियप्रवृत्ति भी नहीं होती। अर्थोपलब्धि दो प्रकारकी होती है– एक रागद्वेषादिपुरस्सर, जो दोषोत्पादक है और दूसरी अवर्जनीयसन्निधिप्रयुक्त, जो दोषोत्पादक नहीं है। विषयेन्द्रियसन्निकर्ष होनेपर तदुपलब्धि अवर्जनीय है, कारण कि विषयोपलब्धि विषयतन्त्र है, पुरुषेच्छातन्त्र नहीं है। यात्राके समय अपशकुन देखना-सुनना कोई नहीं चाहता, किन्तु विषयके उपस्थित होनेपर देखना-सुनना होता ही है। उनको कोई रोक नहीं सकता। इस प्रकार निगृहीतमानस पुरुषको शुभाशुभ विषयोंके साथ इन्द्रियसंबन्ध होनेसे विषयग्रहण होता है, वह अवर्जनीय सन्निधिप्रयुक्त है, रागादिप्रयुक्त नहीं है, इसलिये वह दोषोत्पादक नहीं है। [अतएव श्रीहनुमान् जी जब लङ्कामें रात्रिके समय छिपकर रावणके महलमें विश्रब्धप्रसुप्त रानियोंके गोप्य-अगोप्य सभी अङ्गोंको देखकर जगत्पावनी श्रीजनकसुताको न देखकर बाहर निकले, तो प्रथम यह पश्चात्ताप करने लगे कि मैंने बड़ा पाप किया, कारण कि 'नाक्षयन्तीं स्वके नेत्र' इत्यादि मन्वादि स्मृतियोंमें स्पष्ट है कि परनारीको छिपकर देखना तथा प्रसुप्तादि अवस्थाविशेषमें स्वभावतः प्राप्त अनावृत्त विशेषाङ्गोंका निरीक्षण करना अधिक अनुचित है, सो मैंने सीतान्वेषणकी कामनासे किया, इस कारण मैंने बड़ा पाप किया, इत्यादि कल्पनाकर फिर विवेकबुद्धि से विचार किया, तो उन्होंने कहा कि मैंने अपने कर्तव्यका पालन

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते ।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥ ६५ ॥

चित्तके स्वच्छ होनेपर पुरुषके सब दुःखोंका नाश हो जाता है और प्रसन्न-चित्त पुरुषकी बुद्धि शीघ्र ही स्थिर हो जाती है ॥ ६५ ॥

याणां स्मरणमपि चेदनर्थकारणं सुतरां तर्हि भोगस्तेन जीवनार्थं विषयान् भुञ्जानः कथमनर्थं न प्रतिपद्येतेति शङ्का निरस्ता । स्वाधीनैरिन्द्रियैर्विषयान् प्राप्नोतीति च किं व्रजेतेति प्रश्नस्योत्तरमुक्तं भवति ॥ ६४ ॥

किया है, कुछ भी पाप नहीं किया है। भगवान् की सीतान्वेषणकी आज्ञा स्वीकार कर मैं लङ्कामें आया हूँ, स्त्रियोंका अन्वेषण स्त्रियोंमें ही हो सकता है, पशुपक्ष्यादिमें नहीं। रावणकी स्त्रियोंमें उनका अन्वेषण समयान्तरमें असंभव है, इसलिये मैंने ऐसा किया, जो किसी भी एवंशीलका कर्तव्य है, फिर सबसे बड़ा प्रमाण तो यह है कि मेरे मनमें दर्शनके समय या इस समय कुछ भी विकार नहीं है। दर्शनसे पूर्व जैसा निर्विकार चित्त मेरा था वैसा ही उस समय और इस समय भी है, अतएव इस कर्मसे मुझे प्रत्यवाय नहीं हो सकता। मैंने रागादिवश ऐसा नहीं किया है, अतएव दर्शनकाल और स्मरणकाल इन दोनोंमें मेरा मन वैसा ही निर्विकार है, जैसा कि दर्शनाभाव कालमें था। भावभेदसे पुण्य और पाप आदि होते हैं, अन्यथा नहीं। मेरा मन ही इसमें प्रमाण है कि मैंने पाप नहीं किया, किन्तु स्वकर्तव्यका पालन किया है। ठीक ही है। अतएव महाकवि कालीदासने कहा है कि—'सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः'] इस अभि-प्रायसे कहा है कि 'न शुद्धिव्याघातः'। शुद्धिका नाश नहीं होता इसमें कारण राग द्वेषाभाव है, इससे यह व्यक्त होता है कि यदि विषयोंका स्मरण अनर्थकारण है, तो भोग अनर्थकारण है, यह तो विना कहे भी ज्ञात हो जाता है। इसलिये 'सुतरां' कहा। इससे जीवननिर्वाहार्थ विषयोपभोगीको क्यों अनर्थ न होगा, यह शंका निरस्त हो गई। [केवल विषभोगमात्रसे अनर्थ नहीं होता, किन्तु रागपूर्वक विषयोपभोगसे रागाद्यभावदशामें भी विषयभोग अनर्थजनक होता है।] स्ववशीभूत इन्द्रियोंसे विषयोंको प्राप्त करता है, यह 'किं व्रजेत' इस प्रश्नका उत्तर दिया गया है ॥ ६४ ॥

प्रसादमधिगच्छतीत्युक्तं तत्र प्रसादे सति किं स्यादित्युच्यते—'प्रसादे सर्व०' इति।

चित्तस्य प्रसादे स्वच्छत्वरूपे सति सर्वदुःखानामाध्यात्मिकादीनामज्ञानविलसितानां हानिर्विनाशोऽस्य यतेरुपजायते। हि यस्मात्प्रसन्नचेतसो यतेराशु शीघ्रमेव बुद्धिर्ब्रह्मात्मैक्याकारा पर्यवतिष्ठते परि समन्तादवतिष्ठते स्थिरा भवति विपरीतभावनादिप्रतिबन्धाभावात्। ततश्च प्रसादे सति बुद्धि-

प्रश्न—'प्रसादमधिगच्छति' चित्तमें प्रसाद—स्वच्छता—ब्रह्मज्ञानोत्पत्ति योग्यता प्राप्त होती है, यह कहा परन्तु चित्तप्रसाद स्वयं पुरुषार्थ नहीं है, अतः फल-विषयक प्रश्न है कि प्रसाद होनेपर क्या फल होता है ?

उत्तर—चित्तप्रसाद होनेपर यानी स्वच्छ होनेपर अज्ञानकल्पित आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक निखिलदुःखोंकी हानि होती है। अस्य यानी इस यतिके। क्योंकि जिसका चित्त प्रसन्न होता है उस प्रसन्नचित्त मुमुक्षुकी बुद्धि—ब्रह्मात्मैक्यविषयक 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्याकारक बुद्धि शीघ्र ही परिनिष्ठित होती है। परि यानी सर्वतः—स्वरूप और विषयसे भी स्थिर होती है [यद्यपि अन्तःकरणवृत्तिरूप बुद्धि, जो न्यायमें आत्मसमवेत मानी जाती है वह, स्वरूपतः स्थिर नहीं कही जा सकती, क्योंकि उनके मतमें क्षणत्रयसे अधिक कोई ज्ञान बुद्धि ठहर नहीं सकती, तथापि बुद्धि अन्तःकरणपरिणामस्वरूप है, यह माननेवाले वेदान्ती जबतक एक ही विषयका भान हो, तबतक वह वृत्ति एक ही बनी रहती है, अनेक व्युत्पत्तिनिरोधकल्पना गौरवग्रस्त होनेसे हेय है, अतः स्वमतसे परितः यानी स्वरूपतः भी बुद्धि स्थिर—निर्वातप्रदीपशिखावन्निश्चल होती है। विषयान्तर-ग्रहणसे बुद्धि अस्थिर होती है, यह तो स्पष्ट ही है। स्वविरोधी वृत्तिकी उत्पत्तिसे पूर्व वृत्तिका निरोध होता है। एक विषयक होनेपर भी वृत्त्यन्तरोत्पादक होनेसे धारावाहिक ज्ञानमें अस्थिर हो बुद्धि होती है। चित्तप्रसाद होनेपर ही बुद्धि स्थिर होती है।

प्रश्न—क्यों ?

उत्तर—बुद्धिस्थिरतामें प्रतिबन्धक विपरीत विषयभावना है। आत्मैक्य-बुद्धि होनेपर विषयान्तर ही नहीं, तो विपरीत विषयान्तर कहां, अतः] स्थिरता-प्रतिबन्धक विपरीतभावनाविरहसे विशुद्ध चित्तकी बुद्धि स्थिर होती है, इस

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ॥६६॥

अजितचित्तवाले पुरुषको आत्मविषयक बुद्धि नहीं होती,आत्मविषयक बुद्धि न होनेपर उस अजितेन्द्रिय पुरुषके अन्तःकरणमें निदिध्यासनात्मक भावना नहीं होती अर्थात् वह परमात्माका ध्यान नहीं कर पाता और आत्मभावना न कर रहे पुरुषको शान्ति प्राप्त नहीं होती अशान्त पुरुषको मोक्षका आनन्द किस प्रकार मिल सकता है ॥ ६६ ॥

पर्यवस्थानं ततस्तद्विरोध्यज्ञाननिवृत्तिः, ततस्तत्कार्यंसकलदुःखहानिरिति क्रमेऽपि प्रसादे यत्नाधिक्याय सर्वदुःखहानिकरत्वकथनमिति न विरोधः ॥ ६५ ॥

इममेवार्थं व्यतिरेकमुखेन द्रढयति—'नास्ति' इति ।

अयुक्तस्याजितचित्तस्य बुद्धिरात्मविषया श्रवणमननाख्यवेदान्तविचारजन्या नास्ति नोत्पद्यते । तद्बुद्ध्यभावे न चायुक्तस्य भावना निदिध्यासनात्मिका विजातीयप्रत्ययानन्तरितसजातीयप्रत्ययप्रवाहरूपा । सर्वत्र

कारणसे प्रसाद होनेपर बुद्धिका स्थैर्य होता है। स्थिरबुद्धिसे तद्विरोधी अज्ञानकी निवृत्ति होती है, उसके अनन्तर सकलदुःखकी हानि होती है, यह क्रम है इसका त्याग विवक्षित नहीं है, फिर भी प्रसादावस्था ही में सकलदुःखकी निवृत्ति कहनेका तात्पर्य यह है कि उसके संपादनमें अधिक यत्न करना चाहिये, यही प्रधान उपाय कठिन है, इसके सम्पन्न होनेपर शेष क्रमप्राप्त उपाय सुकर हैं, इस भावसे कोई विरोध नहीं है कि प्रसादावस्था ही में सकलदुःखनिवृत्ति क्यों कहा? फलकथन-प्ररोचना द्वारा तत्संपादनार्थ है, तत्त्वकथन नहीं है ॥ ६५ ॥

मनःप्रसादसे ही सकलदुःखनिवृत्ति होती है इसी अर्थको व्यतिरेक मुखसे दृढ़ करते हैं—'नास्ति' इत्यादि गीतावाक्यसे। अयुक्तको यानी अवशीकृत चित्तको अर्थात् जिसने उक्तोपायसे मनपर विजय नहीं प्राप्त की है उस अयुक्त पुरुषको वेदान्तवाक्यश्रवणमननादिजन्य आत्मविषयक बुद्धि नहीं होती यानी उत्पन्न नहीं होती। उस बुद्धिके अभावमें यानी उक्त वाक्यविचारजन्य परोक्षात्मक बुद्धिविरहसे निदिध्यासनध्यानापरपर्यायबुद्धि अयुक्तको नहीं हो सकती, [सन्दिग्ध-श्रुतार्थकानिर्णय वेदान्तवाक्यसे युक्त चित्त ही को होता है, इतरको नहीं।

नञोऽस्तीत्यनेनान्वयः। न चाभावयत आत्मानं शान्तिः सकार्यविद्यानिवृत्तिरूपा वेदान्तवाक्यजन्या ब्रह्मात्मैक्यसाक्षात्कृतिः। अशान्तस्याऽऽत्मसाक्षात्कारशून्यस्य कुतः सुखं मोक्षानन्द इत्यर्थः॥ ६६॥

प्रश्न—क्यों ?

उत्तर—प्रमाणप्रमेयोभयविषयक असंभावना बुद्धिकी निवृत्ति नहीं होती। असंभावना आत्मैक्यविषयकनिर्णयमें प्रतिबन्धक है। निर्णय होनेपर निदिध्यासन आत्मैक्यसाक्षात्कारजनक नहीं हो सकता। संदिग्धात्मक स्थाणुर्न वा इसका चिरकालतक निदिध्यासन करनेपर भी यह स्थाणु है, वा अन्य, इसका निर्णय नहीं हो सकता, प्रत्युत अनिर्णय ही बढ़ता जायगा। असंभावनाकी निवृत्तियुक्त ही को होती है, इतरको नहीं, यह सिद्ध हुआ। अतः अयुक्तको भावना आत्मैक्यनिश्चय नहीं होता, यह बहुत अच्छा कहा।

प्रश्न—निदिध्यासन क्या है ?

उत्तर—इसका स्वरूप पूर्वमें कह चुके हैं। यदि स्मरण नहीं है, तो तदर्थ संक्षेपसे पुनः स्वरूप सुनिये—] विजातीयप्रवाहानन्तरितसजातीयप्रत्ययप्रवाहरूप है। [प्रत्यय ज्ञान है। इसमें साजात्य समानविषयकत्व है, तद्भिन्नविषयकत्व वैजात्य है। चित्त अति चंचल है। उसमें घटविषयक वृत्ति होकर इच्छा न रहनेपर भी स्वतः पटादिविषयक होती है, पुनः अतियत्न करनेपर घटविषयक होकर फिर पटादिविषयक होती है, इस तरह अयुक्तको घटविषयक ज्ञानपरंपरा विजातीय पटादिविषयक ज्ञानसे व्यवहित होती है। इष्ट है, पटादिविषयक ज्ञानसे व्यवहित घटज्ञान परंपरा न हो, 'घटः घटः' ज्ञानमात्रका ही प्रवाह होता रहे, यह चञ्चलचित्तमें नहीं हो सकता, इसलिये चित्तशुद्धि अपेक्षित होती है। हिंडोलापर स्थित वस्तु तबतक स्थिर नहीं हो सकती, जबतक हिंडोलाकी गति रोकी न जाय। मनशुद्धिसे उक्त स्वरूप निदिध्यासन होता है।] सर्वत्र नञ्का अस्तिके साथ संबन्ध है। जो निदिध्यासन नहीं कर सकता, उसको शान्ति नहीं मिलती। अर्थात् वेदान्तवाक्यजन्य सकल कार्योंके सहित सकलोपादानाविद्यानिवृत्ति ब्रह्मात्मैक्यसाक्षात्कारस्वरूपा नहीं होती। अशान्तको यानी आत्मसाक्षात्कारशून्यको सुख यानी मोक्षानन्द कहाँ? ['तरति शोकमात्मवित्' इत्यादि श्रुतियोंसे आत्मसाक्षात्कार जिनको हुआ है उन्हींको मोक्षानन्द होता है, अन्यको नहीं, इसमें किसीको विवाद नहीं है]॥ ६६॥

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनु विधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ॥ ६७ ॥

जैसे वायु जलमें नौकाको बहा ले जाती है, उसी प्रकार अपने विषयोंमें विचरती हुई इन्द्रियोंके मध्यमें जिस इन्द्रियको लक्ष्य कर मन रहता है वह एक ही इन्द्रिय, जिसके पीछे मन दौड़ गया है, अजितेन्द्रिय पुरुषकी आत्मविषयक बुद्धिको हर ले जाती है ॥ ६७ ॥

अयुक्तस्य कुतो नास्ति बुद्धिरित्यत आह—'इन्द्रियाणाम्' इति। चरतां स्वविषयेषु प्रवर्तमानानामवशीकृतानामिन्द्रियाणां मध्ये यदेकमपीन्द्रियमनुलक्षीकृत्य मनो विधीयते प्रेर्यते प्रवर्तत इति यावत्। कर्मकर्तरि लकारः। तदिन्द्रियमेकमपि मनसाऽनुसृतमस्य साधकस्य मनसो वा प्रज्ञामात्मविषयां शास्त्रीयां हरति अपनयति मनसस्तद्विषयाविष्टत्वात्। यदैकमपीन्द्रियं प्रज्ञां हरति तदा सर्वाणि हरन्तीति किमु वक्तव्यमित्यर्थः। दृष्टान्तस्तु स्पष्टः। अम्भस्येव वायोर्नौकाहरणसामर्थ्यं न भुवीति सूचयितुमम्भसीत्युक्तम्। एवं दार्ष्टान्तिकेऽप्यम्भःस्थानीयमनश्चाञ्चल्ये सत्येव प्रज्ञाहरणसामर्थ्यमिन्द्रियस्य न तु भूस्थानीये मनःस्थैर्ये इति सूचितम् ॥ ६७ ॥

शङ्का,—अयुक्तको बुद्धि क्यों नहीं होती?

समाधान—'इन्द्रियाणाम्' यह। स्वस्वविषयमें प्रवर्तमान अर्थात् स्वविषयग्रहणपरायण, अतएव अवशीकृत इन्द्रियोंके मध्यमें जिस एक भी इन्द्रियको लक्ष्यकर मन प्रेरणा करता है, तो मन प्रेरित वह एक भी इन्द्रिय आत्मविषयक प्रज्ञाका अपहरण करती है, आत्मासे हटाकर अनात्मविषयक करती है, क्योंकि मन इन्द्रियानुसारी हो गया है।

प्रश्न—किसकी प्रज्ञाका अपहरण करता है?

उत्तर—अस्य यानी साधककी अथवा मनकी। शास्त्रबोधित आत्मविषयक प्रज्ञा दूर करती है, क्योंकि मन इन्द्रिय विषयमें ही खींच जाता है। एक भी इन्द्रिय जब प्रज्ञाको खींच लेती है, तब सब इन्द्रियां खींच लेती हैं। इसमें कहना ही क्या है, यह तो कैमुतिकन्यायसिद्ध है।

मन इन्द्रियमनुविधत्ते' ऐसा पाठ उक्तार्थानुसारी साधु है, सो नहीं है, किन्तु 'मनोऽनुविधीयते' ऐसा पाठ है।

प्रश्न—क्यों ?

उत्तर—यहां कर्मकर्तामें लकार है अर्थात् 'इन्द्रियमनु मनः साधकः अनुविधत्ते प्रेरयति इति। किंसाधकेन' इस प्रकार कर्मव्यापारसौकर्यविवक्षासे कर्म मनमें कर्तृत्वकी विवक्षाकर कर्मकर्ता में लकार हुआ है। 'कर्मवत्कर्मणा तुल्यक्रियः' इस सूत्रसे कर्मवद्भाव, ततः यक्, आत्मनेपद होनेसे उक्तरूप निष्पन्न हुआ है। [यद्यपि आत्मा मनसा युज्यते, मनः इन्द्रियेण, इन्द्रियमर्थेन, इत्यादि (आत्माको जब विषयकी बुभुत्सा वा जिघृक्षा होती है तब आत्मा मनसे संयुक्त होकर उस विषयको समझने अथवा ग्रहण करनेके लिये मनकी प्रेरणा करता है। मन उस विषयग्राहक इन्द्रियसे संयुक्त होकर इन्द्रियकी प्रेरणा करता है, इत्यादि) क्रम नियत है, अचेतन मन स्वयं प्रवृत्त नहीं होता; तथापि यहां भी वह क्रम है। उसके त्यागमें तात्पर्य नहीं है, केवल कर्मकी पदसौकर्यविवक्षामें ऐसे प्रयोग होते हैं, यह शाब्दिक संप्रदाय है। मधसूदनीव्याख्यामें यत् तत् शब्दसे इन्द्रियोंका ग्रहण किया गया है और प्रज्ञापहरणमें वही कारण कहा गया है तथा 'अस्य' से 'साधकस्य मनसो वा' यह अर्थ लिखा है, सो ठीक नहीं है, कारण अपहरणमें हेतु मन ही है, इन्द्रियां नहीं, अतः यत् तत् शब्दसे मन ही विवक्षित है, इन्द्रियां नहीं। 'अस्य' से साधक ही विवक्षित है, मन नहीं, कारण कि पूर्वसे साधक ही प्रकृत है. इसको आगे स्फुट करेंगे।

शङ्का—प्रज्ञापहारकत्व इन्द्रियोंमें शास्त्रसे सिद्ध है। देखिये—'इन्द्रियाणान्तु सर्वेषां यदेकं स्खलतीन्द्रियम्। तेनास्य क्षरति प्रज्ञा दृतेः पादादिवोधकम्॥ यह मनु भगवानने स्पष्ट ही कहा है। इन्द्रियोंके मध्यमें यदि एक भी इन्द्रिय स्खलित हो— प्रतिषिद्ध विषयका सेवन करे, तो साधककी प्रज्ञा अपने वास्तविक लक्ष्यसे च्युत हो जाती है—ध्येय विषयको छोड़कर चिरपरिशीलित बाह्यविषयप्रवण हो जाती है। अन्य इन्द्रियाँ भी इसी तरह स्वस्वविषयग्रहणोन्मुख हो जाती हैं, फिर विषयनिगृहीत इन्द्रिय द्वारा जो प्रज्ञा साधकको ईप्सित है, वह नष्ट हो जाती है। आत्मविषयक दूसरी बुद्धि उत्पन्न नहीं होती, जो उत्पन्न है वह नष्ट हो जाती है, इसमें दृष्टान्त कहते हैं—दृतेः इत्यादि। 'दृति' चर्मनिर्मितजलाहरण साधन जो मशक नामसे लोकमें प्रसिद्ध है। जिसको भिस्ती प्रायः व्यवहार करते हैं, उसमें पैरके समान चारचर्मखण्ड लगे रहते हैं, वे भी सछिद्र होनेसे जलानयन करते हैं। उसके एक पादमें भी यदि छिद्र हो, तो उसके द्वारा उसीके जलमात्रका नहीं, किन्तु मशकके जलका भी क्षरण हो जाता है, क्योंकि उसका संबन्ध दृतिके साथ है,

तद्वत् प्रकृतमें भी समझना चाहिये, अतएव 'बलवान् इन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति' यह भी मनुजीने कहा है। अतः मधुसूदनोक्त अर्थ समीचीन है।

समाधान—'नास्तिबुद्धिरयुक्तस्य' इस पूर्वश्लोकसे इन्द्रियानुगत मनमें ही प्रज्ञापहारकत्व पूर्वमें निर्दिष्ट है, तद्विरुद्ध इन्द्रियमें तादृशधर्म कथन उचित नहीं है और भगवत्पाद श्रीशङ्कराचार्य, श्रीरामानुजाचार्य श्रीमाध्वाचार्य, प्रभृति भाष्यकारोंने 'इन्द्रियाणां' में कर्ममें षष्ठी है, निर्धारणमें नहीं, यह कहा है, यही उनके व्याख्यानोंसे स्पष्ट प्रतीत भी होता है और शाब्दन्यायसे भी यही उचित है। अन्यथा मनः पद श्रुत न होता जैसा उक्त मनुश्लोकमें है। और दो वार इन्द्रियपदका उच्चारण है इसलिये वहाँ निर्धारणमें षष्ठी मानना ठीक है। इन्द्रियाणां मध्ये यदि एकमपि इन्द्रियं हरति तदा अस्य प्रज्ञामपहरति, यह अर्थ ठीक है।

प्रश्न—अच्छा 'तो प्रज्ञापहारकत्व आप मनमें ही मानते हैं, इन्द्रियोंमें नहीं। मनु भगवान्‌ने तो इन्द्रियोंमें भी प्रज्ञापहारकत्व स्पष्ट कहा है, सो कैसे संगत होगा?

उत्तर—इन्द्रियोंमें मनोवृत्तिरूप प्रज्ञापहारकत्व है, इस तात्पर्यसे वैसा लिखा है। वहाँ युक्त प्रक्रान्त नहीं है, इसी तात्पर्यसे स्वामीजीने मानसवृत्ति कहा है, फिर प्रकरणका अनुसंधानकर 'साधकस्य' वा, यह लिखा। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि गीतामें 'अस्य' से साधक ही का ग्रहण उचित है। यही अरुचि मानसप्रज्ञापहणमें है, अतः मनुश्लोकके तात्पर्यसे मानसवृत्तिको और प्रकृत गीताश्लोकके तात्पर्यसे साधककी प्रज्ञाको समझना चाहिये। मानसप्रज्ञा मनोवृत्तिरूप है और पौरुषेय बोध प्रज्ञा साधककी है, इसका विशेष विवेचन करनेसे ग्रन्थ बढ़ जायगा, इस भयसे यहां छोड़ देते हैं। 'यत्, तत्' ये दोनों शब्द मनोविषयक ही हैं, इन्द्रिय विषयक नहीं।

प्रश्न—क्यों?

उत्तर—प्रज्ञाके अपहरणमें मन ही प्रधान कारण है। 'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।' इत्यादि प्रसिद्ध है। प्रज्ञा मनका धर्म है। धर्म धर्मीके अधीन होता है, यह भी प्रसिद्ध ही है। मन सब इन्द्रियोंका अनुविधान करता है। फिर इन्द्रियोंके मध्यमें जो इन्द्रिय है वह मनसे अनुगत होती है, यह निर्धारण व्यर्थ है। निर्धार्यमाणसे—निर्धारिणतावच्छेदकरूपसे जहां निर्धारणावधिकी व्यावृत्ति होती है, वहां निर्धारणमें षष्ठी होती है। जैसे 'गवां कृष्णा गौः बहुक्षीरा' गायोंमें काली गौ अधिक दूध देनेवाला है। यहां जैसे कृष्णत्व काली गौओंसे अतिरिक्तमें

नहीं है, वैसेही यहां इन्द्रियान्तरमें मनोनुविधानत्व नहीं है यह नहीं कह सकते हैं, क्योंकि कैमुतिकन्यायसे सब इद्रियोंमें मनोऽनुविधान माना गया है। अथवा एक एक इन्द्रियके तात्पर्यसे कथंचित् कह सकते हैं, फिर भी अश्रुतादिका परिहार नहीं होता। जो इन्द्रिय मनका अनुविधान करती है, वह प्रज्ञापहरण करती है, यह अर्थ ठीक भी नहीं है, मनोऽनुविधानमात्रसे प्रज्ञापहारकत्व नहीं हो सकता। युक्तमनोनुवृत्तिसे प्रज्ञापहारकत्व नहीं है, मनोऽनुविधान है।

शङ्का—अच्छा तो मनु भगवान्ने कैसे 'इन्द्रियाणान्तु सर्वेषाम्' इत्यादिसे इन्द्रियोंमें ही प्रज्ञापहारकत्व कहा है ?

समाधान—उक्त श्लोकमें मनका उपादान नहीं है और दो बार इन्द्रियों-का उपादान है तथा एक ग्रहण है, इसलिये 'इन्द्रियाणां मध्ये एकमिन्द्रियम्' इत्यादि निर्धारणार्थक ही षष्ठी है। निर्धारणधर्म एकत्वविशिष्टविषयप्रवणत्व है। यहां वैसा नहीं है। इन्द्रियव्यतिरिक्त मनका भी उपादान है। 'अनुविधीयते' इस पदकी शुद्धिमें इस अर्थमें 'पुरुषो मनो अनुविधत्ते इति पुरुषेण मनोऽनुविधीयते अर्थात् पुरुषका ही दोष है, जो स्वयं विषयप्रवण मनका अनुविधानकर प्रज्ञा-हरणमें सहायक होता है] दृष्टान्त तो स्पष्ट है। जलस्थित नौकाके अपहरणमें वायुकी सामर्थ्य है, भूमिस्थनौकाके अपहरणमें नहीं, इसलिये 'अम्भसि' कहा। एवं दार्ष्टान्तिकमें भी जलसदृश चंचल मनमें स्थित प्रज्ञाके अपहरणका सामर्थ्य इन्द्रियोंमें है, भूसदृशस्थिर मनमें नहीं, यह सूचित होता है। [जलस्थित नौका-चालक वायु दो प्रकारकी होती है, एक अनुकूल है, नाविक लोग उस वायुसे पालके द्वारा गन्तव्यस्थलमें नौका ले जाते हैं। इस वायुको नौकापहारक नहीं कहते। दूसरी प्रतिकूल है, जो यात्रियोंको अनिष्ट देशमें पहुँचाती है, उसको नौकापहारक कहते हैं। अपहरण देशान्तरप्राप्ति और नाश दोनों कहलाता है। कभी वायुसे देशान्तर प्राप्ति होती है, कभी वायुसे नौका डूबती है, दोनों अर्थ प्रकृतमें उपयोगी हैं। वस्तुतः 'नास्तिबुद्धिरयुक्तस्य' इस गीतावाक्यसे इन्द्रियानुगत मनमें ही बुद्धि-हरण कर्तृत्व स्पष्ट है। अतः मनका त्याग कर प्रस्तुत एक इन्द्रियका 'यत्' पदसे परामर्श भी ठीक नहीं है। भाष्यकारने स्पष्ट लिखा है—आत्मविषयां प्रज्ञां हृत्वा मनःविषयविषयां कल्पनां करोति, मन आत्मविषयक प्रज्ञाको छोड़कर विषय-विषयक कल्पना करता है। इसके अनुसार चित्तमें ही विषयापहारकत्व है, इन्द्रियोंमें नहीं, इन दोनों अर्थोंमें कौन अर्थ अच्छा है, यह विद्वान् स्वयं विचार कर लें]॥ ६७॥

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ६८ ॥
या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥ ६९ ॥

इसलिये हे महाबाहो, जिस पुरुषकी इन्द्रियाँ सब प्रकारसे विषयोंसे सर्वदा विमुख हो गयी हैं उसकी बुद्धि स्थिर है ॥ ६८ ॥

हे अर्जुन, मैं ब्रह्म हूँ, इत्याकारक साक्षात्कारस्वरूप जो प्रज्ञा सम्पूर्ण प्राणियोंकी रातके समान होनेसे रात है उस ब्रह्मविद्यारूपी समस्त प्राणियोंकी रातमें संयमी पुरुष जागता है और जिस द्वैतदर्शनरूप अविद्यारूपी निद्रामें सोये हुए सब जीव जागते हैं वह आत्मतत्त्वका अपरोक्षरूपसे साक्षात्कार कर रहे मननशील स्थितप्रज्ञकी रात्रि है ॥ ६९ ॥

हि यस्मादेवम्—'तस्माद्' इति ।

सर्वशः सर्वाणि समनस्कानि । हे महाबाहो, इति संबोधयन्सर्वशत्रुनिवारणक्षमत्वादिन्द्रियशत्रुनिवारणेऽपि त्वं क्षमोऽसीति सूचयति । स्पष्टमन्यत् । तस्येति सिद्धस्य साधकस्य च परामर्शः । इन्द्रियसंयमस्य स्थितप्रज्ञं प्रति लक्षणत्वस्य मुमुक्षुं प्रति प्रज्ञासाधनत्वस्य चोपसंहरणीयत्वात् ॥ ६८ ॥

'यततो ह्यपि कौन्तेय' इत्यादि वाक्योंसे प्रक्रान्तप्रस्तावित अर्थका अनेक प्रकारसे उपपादनकर उसका उपसंहार करते हैं—'तस्मात्' इत्यादिसे । चूँकि बात ऐसी है, इसलिए हे महाबाहो हे—विशालभुज अर्जुन, बाहुबलसे ही शत्रुओंको पराजित किया जाता है, तुम्हारे बाहु बलवान् हैं, अतः तुम बाह्य सकल शत्रुओंके निवारणमें समर्थ होकर आन्तरिक शत्रु इन्द्रियोंको जीतनेमें भी समर्थ हो, यह अर्थ उक्त संबोधनसे सूचित होता है । शेष श्लोकार्थ स्पष्ट है । जिस पुरुषकी इन्द्रियाँ स्वविषयशब्दादिसे निगृहीत हैं अर्थात् विषयलोलुप नहीं हैं, उसकी प्रज्ञा प्रतिष्ठित है । 'तस्य' इससे सिद्ध और साधक दोनोंका परामर्श है । ['युक्त' सिद्ध है 'युञ्जान' साधक है । इन्द्रियसंयम सिद्धका लक्षण है, जो स्थितप्रज्ञ सिद्ध हैं—तत्त्वज्ञानी हैं, उनका इन्द्रियसंयम लक्षण ब्रह्मव्यतिरिक्तमें मिथ्यात्वनिश्चयसे उनमें इन्द्रियोंकी प्रवृत्ति नहीं होती । शुक्तिरजतको मिथ्या माननेवाला कौन पुरुष उसके ग्रहणके लिये हाथ बढ़ायेगा ।] 'युञ्जान' यानी साधकके प्रति इन्द्रियनिग्रहका प्रज्ञासाधनत्वेन उपसंहार है । [प्रज्ञासाधन इन्द्रियनिग्रह है, इसपर सतत ध्यान रहे] ॥ ६८ ॥

तदेवं मुमुक्षुणा प्रज्ञास्थैर्याय प्रयत्नपूर्वकमिन्द्रियसंयमः कर्तव्य इत्युक्तम्, स्थितप्रज्ञस्य तु स्वतः सिद्ध एव सर्वेन्द्रियसंयम इत्याह—'या निशा' इति ।

या वेदान्तवाक्यजनितसाक्षात्काररूपाऽहं ब्रह्मास्मीति प्रज्ञा सर्वभूतानामज्ञानां निःशेषनिशा तान्प्रत्यप्रकाशरूपत्वात् । तस्यां ब्रह्मविद्यालक्षणायां सर्वभूतनिशायां जागर्ति अज्ञाननिद्रायाः प्रबुद्धः सन्सावधानो वर्तते संयमीन्द्रियसंयमवान्स्थितप्रज्ञ इत्यर्थः । यस्यां तु द्वैतदर्शनलक्षणायामविद्यानिद्रायां प्रसुप्तान्येव भूतानि जाग्रति स्वप्नवद्व्यवहरन्ति सा निशा न प्रकाशत आत्मतत्त्वं पश्यतोऽपरोक्षतया मुनेः स्थितप्रज्ञस्य । यावद्धि न प्रबुध्यते तावदेव स्वप्नदर्शनं बोधपर्यन्तत्वाद्भ्रमस्य । तत्त्वज्ञानकाले तु न भ्रमनिमित्तः कश्चिद्-

---

पूर्ववाक्यसन्दर्भसे मुमुक्षुको प्रज्ञाकी स्थिरताके लिये इन्द्रियसंयम प्रयत्नके साथ करना चाहिये, यह कहा, स्थितप्रज्ञजीवन्मुक्तको यह संयम स्वतः सिद्ध है, यह कहते हैं—'या निशा' इत्यादिसे । 'तत्त्वमसि' 'अहंब्रह्मास्मि' इत्यादि वेदान्तवाक्यजन्य 'मैं ब्रह्म हूँ' इत्याकारक साक्षात्काररूप प्रज्ञा सबप्राणियोंकी निशाके समान होनेसे निशा है । 'निशा' शब्द यद्यपि रात्रिका वाचक है, उक्त प्रज्ञा रात्रि नहीं है, इसलिये लक्षणावृत्तिसे उक्त शब्द अप्रकाशमय अर्थका लक्षक है । जैसे रात्रिमें सब प्राणी सो जाते हैं, उसपर कुछ भी अवधान नहीं देते, उसी प्रकार उक्त प्रज्ञामें साधारण लोग निश्चिन्त रहते हैं, उसकी प्राप्तिके लिये कोई चेष्टा नहीं करते और न तदप्राप्तिसे मनमें कुछ दुःख ही मानते हैं । उसके स्वरूपको भी नहीं जानते, यह रात्रिकी अपेक्षा विशेष है । उस ब्रह्मविद्या—उक्तात्मविद्या जिसको सर्वभूतोंकी निशा कहा है । उसमें अज्ञानरूपी निद्रासे प्रबुद्ध—जागा हुआ इन्द्रियसंयमनशील संयमी जागता है—सावधान रहता है । संयमी यानी संयमवाला स्थितप्रज्ञ है और जिस द्वैतलक्षण अविद्यारूपी निद्रामें प्रसुप्त—निद्राप्राप्त प्राणी जागते हैं यानी स्वप्नवत व्यवहार करते हैं, वह निशा आत्मतत्त्व साक्षात्कार कर रहे मननशील स्थितप्रज्ञको प्रकाशित नहीं होती । जबतक प्रबुद्ध नहीं होता, तभीतक स्वप्नदर्शन होता है, क्योंकि भ्रम भी तबतक बना रहता है, जबतक बोध नहीं होता । तत्त्वज्ञान होनेपर तो भ्रमनिमित्त कोई व्यवहार नहीं होता ।

व्यवहारः । तदुक्तं वार्तिककारैः—

" कारकव्यवहारे हि शुद्धं वस्तु न वीक्ष्यते ।
शुद्धे वस्तुनि सिद्धे च कारकव्याप्टतिस्तथा ॥
काकोलूकनिशेवायं संसारोऽज्ञात्मवेदिनोः ।
या निशा सर्वभूतानामित्यवोचत्स्वयं हरिः" इति ॥

तथा च यस्य विपरीतदर्शनं तस्य न वस्तुदर्शनम् वस्त्वदर्शनजन्यत्वात् । यस्य च वस्तुदर्शनं तस्य न विपरीतदर्शनम्, विपरीतदर्शनकारणस्य वस्त्वदर्शनस्य वस्तुदर्शनेन बाधितत्वात् । तथा च श्रुतिः "यत्र वा अन्यदिव स्यात्तत्रान्योऽन्यं पश्येत् । यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत् "

शङ्का—यह तो विरुद्ध कहते हैं कि सोये हुचे प्राणी जागते हैं। यदि सो गये हैं, तो जागते नहीं हैं, यदि जागते हैं, तो सोये नहीं हैं, दोनों कैसे हो सकता है कि जो सो गया हो वह जागता भी रहे ?

समाधान—स्वप्नावस्थामें दोनों देखा जाता है, इसलिये विरोध नहीं है। सोया हुआ पुरुष वासनोपनीत स्वाप्निक पदार्थोंका व्यवहार करता है। अभिवन्दनादिलक्षण कोई भी व्यवहार जागरणके बिना नहीं हो सकता, अतः व्यवहारदर्शनसे जागरण माना जाता है। बाह्यविषयोंका व्यवहार न देखनेसे स्वाप भी माना जाता है वह निशा स्थितप्रज्ञके लिये रात्रि है। जिसमें प्राणी व्यवहार करते हैं। अज्ञानकल्पित द्वैतमें यह द्वैतसमुदाय प्रबुद्धकी निशा है, यह निशा अप्रकाशमय है, वह कभी देखता ही नहीं है। जिस समयमें व्यवहार नहीं होता, वह समय रात्रिसम है। सायं कालमें व्यवहार है। भ्रमकार्य होनेपर भ्रमविषयपदार्थवैधुर्यसे व्यवहार कहा हो, निर्विषयक व्यवहार नहीं होता] इसको वार्त्तिककारने कहा है—'कारकव्यवहारे हि' इत्यादिसे। कारक व्यवहारमें शुद्ध वस्तु नहीं देखी जाती' कारकव्यवहार तत्साधनसे होता है। 'यत्र सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्' इत्यादि श्रुतियोंसे आत्मज्ञानोत्तर निखिल द्वैतभेदके लोप होनेसे कोई व्यवहार नहीं होता। व्यवहारकालमें बाधकज्ञान उदयसे व्यवहार होता है, बाधकज्ञान शुद्धात्मविषयक है। शुद्धवस्तुदर्शनोत्तर व्यवहार नहीं देखा जाता, अज्ञानी और आत्मज्ञानी—इन दोनोंको यह प्रत्यक्ष संसार काकोलूकवत् विपरीत है। काक दिनमें देखता है

इति विद्याविद्ययोर्व्यवस्थामाह। यथा काकस्य रात्र्यन्धस्य दिनमुलूकस्य दिवान्धस्य निशा रात्रौ पश्यतश्चोलूकस्य यद्दिनं रात्रिरेव सा काकस्येति महदाश्चर्यमेतत्। अतस्तत्त्वदर्शिनः कथमाविद्यकक्रियाकारकादिव्यवहारः स्यादिति स्वतः सिद्ध एव तस्येन्द्रियसंयम इत्यर्थः॥ ६९॥

अतएव उसीमें अपना सब व्यवहार करता है, परन्तु उलूक (काकशत्रु पक्षिविशेष उल्लू) के लिये दिन ही रात्रि है। इसमें अपने सब व्यवहारोंको त्यागकर एकान्तमें वास करता है। उलूक रात्रिमें देखता है, अतः उसके लिये रात्रि ही दिन है। उसमें वह व्यापार करता है, यह काकादिके लिये वह रात्रि है। एवम् अनात्मज्ञ और आत्मज्ञ दोनों संसारके विषयमें काक और उलूकके समान हैं। अनात्मज्ञ द्वैतदर्शी होकर सकल व्यापार करता है, अद्वैत प्रकाश होनेपर उसमें सर्वथा निर्व्यापार रहता है। आत्मज्ञ अद्वैतत्वप्रकाशदर्शी होनेसे इसीमें उसका जागरण है, द्वैतका अप्रकाश होनेसे वह रात्रिसम है। इसमें निवृत्तनिखिल व्यापार है। [वस्तुतः दिनरात्रि कल्पित ही है, यह भी वास्तविक नहीं है। दिन सबके लिये दिन नहीं है। रात्रि भी सबके लिये रात्रि नहीं है। कितने प्राणी हैं, जो रात्रिमें ही देखते हैं, दिनमें नहीं, कितने दिनमें ही देखते हैं, रात्रिमें नहीं। कितने ऐसे भी हैं, जो दोनोंमें समदृष्टि हैं। इसपर वस्तुतः ध्यान दिया जाय, तो दिन-रात्रि तत्प्राप्तिकी अपेक्षासे कल्पित, अतएव पारिभाषिक है। वास्तविक व्यवस्थित नहीं है। संसार भी ऐसा ही प्राणिविशेषापेक्षया कल्पित है। जिसमें संसारी भोगते हैं, उसीमें तत्त्वज्ञानी भोगरहित आनन्दमग्न रहते हैं। स्वयं भगवान् हरिने 'या निशा सर्वभूतानाम्' इत्यादिसे कहा है। जो पुरुष विपरीतदर्शी यानी अनेकात्मदर्शी अथवा आत्मभिन्नदर्शी है, वह वस्तुतत्त्व—आत्मैकत्वदर्शी नहीं है।

प्रश्न—क्यों ?

उत्तर—विपरीतज्ञान वस्त्वज्ञानजन्य होताहै। जैसे शुक्तिशकलमें रजतज्ञान, यह विपरीतदर्शन है, सो शुक्तिशकलाज्ञानसे ही होता है। अधिष्ठानाज्ञान अध्यस्तका प्रयोजक है, अतएव यावत् तत्त्वज्ञान कल्पित रहता है। अधिष्ठानके तत्त्वज्ञानसे अध्यस्तकी निवृत्ति होती है, यह लोकमें प्रसिद्ध ही है, इस अभिप्रायसे कहते हैं—जो वस्तुतत्त्वदर्शी है वह विपरीतदर्शी नहीं होता, विपरीतदर्शननिमित्त स्वरूपाज्ञानका वस्तुज्ञानसे बाध हो जाता है, अतः निमित्ताभावसे विपरीत दर्शन नहीं होता। इसमें प्रमाण 'यत्र वा अन्यदिव' इत्यादि श्रुति है। जिस अवस्थामें

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं
समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत् ।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे
स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥ ७० ॥

अनेक नदियोंके द्वारा सब प्रकारसे परिपूर्ण होनेपर भी अपनी पूर्व मर्यादाको न छोड़नेवाले समुद्रमें वृष्ट्यादिसे बढ़नेवाली नदियोंके जल जैसे उपविष्ट होते हैं उसी तरह विकाररहित जिस स्थितप्रज्ञ पुरुषमें विकार उत्पन्न करनेवाले शब्दादि विषय प्रारब्धकर्मवश प्रविष्ट होते हैं, वह पुरुष ज्ञानबलसे परम शान्तिको प्राप्त करता है—वह विकारको नहीं प्राप्त होता। विषयोंकी इच्छा करनेवाले पुरुषको शान्ति नहीं मिलती है ॥ ७० ॥

एतादृशस्य स्थितप्रज्ञस्य सर्वविक्षेपशान्तिरप्यर्थसिद्धेति सदृष्टान्तमाह—'**आपूर्यमाणम०**' इति ।

अज्ञानकल्पित अनात्मपदार्थ आत्मभिन्नके समान होता है, उस अवस्थामें अन्य अन्यको देखता है। यहां श्रुतिमें स्थित शब्दसे वास्तविक आत्मभिन्नका निराकरण है, केवल तद्वत् प्रतीत होता है, यह अज्ञानावस्थाका अनुवाद है। ज्ञानावस्थामें सब आत्मा ही हो जाता है। आत्मव्यतिरिक्त वस्तुमात्रका अप्रभाव हो जाता है, तो आत्मदर्शी किससे किसको देखे। कर्मकरणादि सबकी निवृत्ति होनेसे आत्म-व्यतिरिक्त दर्शनाभाव स्वतः प्राप्त होता है। इससे विद्या और अविद्याकी व्यवस्था कही है। जैसे रात्र्यन्ध काकका दिन दिवान्ध उलूककी निशा है। रात्रिमें देखनेवाले उलूकका जो दिन है वह काककी रात्रि ही है, यह महा आश्चर्य है। तत्त्वदर्शीको अविद्याकल्पित क्रियाव्यवहार कैसे हो सकता है? इस तरह स्वतः सिद्ध ही उनका इन्द्रियसंयम है। [भाव यह है कि जो लौकिक और वैदिक व्यवहार है, सो उत्पन्न-तत्त्वज्ञानवान्को नहीं होता, क्योंकि व्यवहारमात्र अज्ञाननिमित्तक है। तत्त्वविद्यासे अज्ञानकी निवृत्ति हो जाती है। त्वम्, अहम् भावरूपरात्रि सब पदार्थोंके अविवेकका हेतु है, परमार्थतत्त्व अज्ञानियोंकी निशा है। उसमें संयमी योगी जागता है—प्रबुद्ध होता है। सब कर्म अविद्यादशामें ही उत्पन्न होते हैं। सूर्योदय होनेपर नैशान्धकारवत् अज्ञान नष्ट हो जाता है, तन्मूलक सकल पदार्थकी निवृत्ति हो जाती है] ॥ ६९ ॥

ऐसे स्थितप्रज्ञकी सकल विक्षेपशान्ति भी अर्थतः सिद्ध है, यह दृष्टान्तके साथ कहते हैं—**आपूर्यमाणम्** इत्यादिसे। संपूर्ण नदियोंसे आपूर्यमाण होते हुए

सर्वाभिर्नदीभिरापूर्यमाणं सन्तं वृष्ट्यादिप्रभवा अपि सर्वा आपः समुद्रं प्रविशन्ति। कीदृशमचलप्रतिष्ठमनतिक्रान्तमर्यादम्। अचलानां मैनाकादीनां प्रतिष्ठा यस्मिन्निति वा गाम्भीर्यातिशय उक्तः। यद्वयेन प्रकारेण निर्विकारत्वेन तद्वत्तेनैव निर्विकारत्वप्रकारेण यं स्थितप्रज्ञं निर्विकारमेव सन्तं कामा अज्ञैर्लोकैः काम्यमानाः शब्दाद्याः सव विषया अवर्जनीयतया प्रारब्ध-

यानी सब नदियां साक्षात् या परंपरया समुद्रमें ही गिरती हैं। इनके जलोंसे आपूर्यमाण होनेपर, तथा फिर कैसे यानी अचल प्रतिष्ठा—अचला प्रतिष्ठा यस्य—जो अपनी मर्यादाका अतिक्रम—त्याग नहीं करता ऐसे समुद्रमें वृष्टि आदिके द्वारा उत्पन्न हुए सभी नदियोंके जल प्रविष्ट होते हैं [जैसे इतर नदियां वर्षाकालमें अपनी-अपनी मर्यादाका अतिक्रमकर दूरस्थग्रामोंको भी जलाप्लावनसे कष्ट पहुँचाती हैं, बहुत छोटी-छोटी पहाड़ी नदियाँ तो ग्रीष्म कालमें जब जलकी आवश्यकता रहती है तो सूख जाती हैं और वर्षाकालमें जब जलकी आवश्यकता नहीं रहती, तो समुद्रवद् दुःस्पार हो जाती हैं। उन सब नदियों एवं महानदियोंका जल समुद्रमें ही आता है, पर समुद्र अपनी मर्यादाका त्याग नहीं करता—न कभी घटता है और न कभी बढ़ता ही है। सब जल समुद्र हीमें जाता है और समुद्रसे बाहर कहीं नहीं निकलता, फिर भी समुद्र एक इञ्च न बढ़ता है और न घटता ही है। अनादि कालसे जलका प्रवाह हजारों मार्गसे समुद्रमें जाता है तथा कितनी मट्टी वर्षा कालमें नदियाँ बहाकर ले जाती हैं लेकिन उनसे एक इञ्च भी नहीं पटता। चार महीनेमें ही कितने दियर नदियों में होते हैं, वह कहीं वहाँ देख नहीं पड़ती। गङ्गासागर अब भी वैसा ही है, जैसा पूर्वमें था।] अथवा अचल मैनाकादि पर्वत उनकी प्रतिष्ठा 'प्रतिष्ठति अस्याम्' इति प्रतिष्ठा यानी आश्रय है। इससे गाम्भीर्यातिशय कहा है। [इतना अथाह है कि कितने पर्वत उसके गर्भमें हैं, परन्तु वे समुद्रको उथल पुथल नहीं कर सकते] यद्वत् यानी जिस प्रकारसे निर्विकाररूपसे समुद्र स्थित रहता है तद्वत् यानी उसी प्रकारसे निर्विकाररूपसे जिस स्थितप्रज्ञको समुद्रवत् निर्विकार अतिगम्भीरस्वभाव स्थितप्रज्ञको नदीजलके समान अज्ञानी पुरुष जिसको सदा चाहते हैं वे कामशब्दादि विषय प्रारब्धकर्मवश अवर्जनीय होनेसे प्रविष्ट होते हैं, किन्तु उस स्थितप्रज्ञके चित्तको विकृत नहीं कर सकते [यद्यपि स्थितप्रज्ञ उन कृत सुफलोंको अनायास उपस्थितोंको नहीं चाहता, जिनके लिये साधारणजन अतियत्न करते हैं, तथापि उन कामोंका प्रवेश प्रारब्ध-

कर्मवशात्प्रविशन्ति, न तु विकर्तुं शक्नुवन्ति, स महासमुद्रस्थानीयः स्थितप्रज्ञः शान्तिं सर्वलौकिकालौकिककर्मविक्षेपनिवृत्तिं बाधितानुवृत्ताविद्याकार्य-

विकृत नहीं कर सकते ।

शङ्का—आपने अचल प्रतिष्ठाका दूसरा भी अर्थ किया है कि अचल मैनाकका आश्रय समुद्र है, यह पुराण प्रमाणसे सिद्ध तो है। पुराणमें ऐसी कथा है कि पूर्वकालमें पर्वतोंको भी पक्ष—पंख—थे, अतः स्वेच्छासे उड़कर पक्षीके समान वे भी चाहे जहाँ जा बैठते थे, इससे प्राणियोंको अपार क्षति होती थी, ग्रामादि-पूर्ण प्रदेशमें पर्वतोंके बैठनेसे जब लोकसंहार होने लगा, तो इस दुःखको देखकर दुःखी पृथिवी-देवताने इनके परित्राणार्थ इन्द्रदेवके सम्मुख उपस्थित होकर उक्त अत्याचार सुनाया। इन्द्र तीनों लोकोंके राजा हैं, इनका धर्म है—प्रजापालन। इसहेतु वे अतिक्रुद्ध होकर पर्वतोंका पक्ष वज्रसे काटने लगे। उस समय मैनाकने भयभीत होकर समुद्रकी शरण ली। इसकारण उसका पक्ष अभी है, पर यहाँ कहा नहीं है, यह वृत्तान्त संक्षेपसे श्रीवाल्मीकीय रामायणके सुन्दरकाण्डमें भी है, परन्तु इसमें शङ्का यह है कि समुद्रमें मैनाक यदि सपक्ष है, तो वह चलता फिरता भी है, अन्यथा पक्षरक्षाश्रय प्रयोजन ही नष्ट हो जायगा। यदि वह चालू है तो, अचल कैसे ?

समाधान—'न चलः अचलः' यह अचल शब्दका योगार्थ है। रूढ्यर्थ पर्वत है। यहां रूढ्यर्थके तात्पर्यसे अचल शब्दसे मैनाक कहा गया है. अतएव 'गमेर्डोः' इस व्युत्पत्तिसे जो गो शब्द बनता है; उसका योगार्थ है—जो चले, सो गौ है, पर प्रयोग इस अर्थके तात्पर्यसे नहीं होता, अन्यथा मनुष्यादिमें भी 'गो' शब्दका प्रयोग होने लगेगा और बैठी हुई गौमें उक्त शब्दका प्रयोग नहीं हो सकेगा, कारण वह उस समय चलती नहीं है। तद्वत् रूढिके तात्पर्यसे उक्त प्रयोग मैनाकमें युक्त है। भाष्यकारने यह अर्थ नहीं किया, यह ठीक है, परन्तु इस अर्थका निषेध भी नहीं किया है, अतः 'अप्रतिषिद्धमनुमतं भवति' इस न्यायसे भाष्यके अनुमत कह सकते हैं अथवा 'अचले ब्रह्मणि प्रतिष्ठा यस्य तम्।'] स्थितप्रज्ञ महासमुद्रस्थानीय है, वह लौकिक अलौकिक जितने कर्म हैं, उन सब कर्मोंसे निवृत्तिरूप शान्तिको प्राप्त करता है। यद्यपि शरीरेन्द्रियविषयादि अनात्म पदार्थ आत्माके ज्ञानसे बाधित हैं, तथापि प्रारब्ध-कर्मवश उनकी अनुवृत्ति भी, दग्धरज्जुकी अनुवृत्तिवत्, स्थितप्रज्ञको होती ही है, तो भी अज्ञानकी निवृत्ति भी होती है, अतः शान्ति और अज्ञाननिवृत्ति दोनों

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निस्पृहः ।
निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति ॥ ७१ ॥

जो पुरुष समस्त कामनाओंको छोड़कर स्पृहारहित, अहंकाररहित, ममतारहित वर्ताव करता है, वह पुरुष परम शान्ति प्राप्त करता है ॥ ७१ ॥

निवृत्तिं चाऽऽप्नोति ज्ञानबलेन । न कामकामी कामान्विषयान्कामयितुं शीलं यस्य स कामकाम्यज्ञः शान्तिं व्याख्यातां नाऽऽप्नोति । अपि तु सर्वदा लौकिकालौकिककर्मविक्षेपेण महति क्लेशार्णवे मग्नो भवतीति वाक्यार्थः । एतेन ज्ञानिन एव फलभूतो विद्वत्संन्यासस्तस्यैव च सर्वविक्षेपनिवृत्तिरूपा जीवन्मुक्तिर्दैवाधीनविषयभोगेऽपि निर्विकारतेत्यादिकमुक्तं वेदितव्यम् ॥७०॥

यस्मादेवं तस्मात्प्राप्तानपि—'विहाय कामान्' इति ।

सर्वान्बाह्यान्गृहक्षेत्रादीनान्तरान्मनोराज्यरूपान्वासनामात्ररूपांश्च पथि गच्छतस्तृणस्पर्शरूपान् कामांस्त्रिविधान्विहायोपेक्ष्य शरीरजीवनमात्रेऽपि

फलोंको स्थितप्रज्ञ पाता है] जो पुरुष कामोंकी कामना करता वह उक्त फल नहीं पाता । कामकामी—कामान्—विषयान् पशुपुत्रस्वर्गादीन् कामयितुं शीलं यस्य स कामकामी यानी अज्ञ—कामकाम्यादि स्वरूपभेदको जाननेवाला द्वैतदर्शी—उक्त शान्ति नहीं पाता, किन्तु सदा लौकिकालौकिक कर्मविक्षेपसे बड़े शोकसमुद्रमें निमग्न रहता है, यह वाक्यर्थ प्रमाणमें है । इससे विद्वत्संन्यास जो उक्त ज्ञानका फल है, सो ज्ञानियोंको ही होता है । क्योंकि सर्वकर्मविक्षेपनिवृत्तिरूप जीवन्मुक्ति भी ज्ञानीको होती है । यद्यपि प्रारब्धकर्मवश भोग जीवन्मुक्तको भी होता है, पर उस भोगसे मनमें विकार नहीं होता, अपितु सदा चित्त निर्विकार ही रहता है । ज्ञानवान् पुरुष संसारकी हानि-लाभसे वास्तविक सुखदुःख नहीं मानता इत्यादि जो पूर्वमें कहा है, वह सब समझिये ॥ ७० ॥

जिस कारण कामकामियोंको शान्ति नहीं मिलती, संयमशीलोंको ही शान्ति मिलती है, इस कारण सब वाह्यभोगसाधन गृह, खेत, वाटिका आदि आन्तर मनोराज्य रूप हैं । यह करेंगे तो यह प्राप्त होगा, फिर इससे ऐसा भोग होगा, इत्यादि मनःकल्पनासे जो सुख होता है, उसका साधन वासनामात्ररूप जो आन्तरिक मन है तन्मात्रकल्पित विषय आन्तरिक हैं । मार्गमें चलनेके समय जैसे तृणस्पर्श है,

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति ।
स्थित्वाऽस्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥७२॥

हे पार्थ, यह ब्राह्मी स्थिति यानी ब्रह्म प्राप्त करने वाली निष्ठा आपसे मैंने कही। जो पुरुष इस ब्रह्मनिष्ठाको प्राप्त कर लेता है, वह मोहमें नहीं पड़ता और अन्तिम वयमें भी इस निष्ठामें स्थित होकर ब्रह्मानन्दको प्राप्त करता है ॥ ७२ ॥

निस्पृहः सन्। यतो निरहङ्कारः शरीरेन्द्रियादावयमहमित्यभिमानशून्यः, विद्यावत्त्वादिनिमित्तात्मसंभावनारहित इति वा। अतो निर्ममः शरीरयात्रामात्रार्थेऽपि प्रारब्धकर्माक्षिप्ते कौपीनाच्छादनादौ ममेदमित्यभिमानवर्जितः सन् यः पुमांश्चरति प्रारब्धकर्मवशेन भोगान्भुङ्क्ते यादृच्छिकतया यत्र क्वापि गच्छतीति वा। स एवंभूतः स्थितप्रज्ञः शान्तिं सर्वसंसारदुःखोपरमलक्षणामविद्यातत्कार्यनिवृत्तिमधिगच्छति, ज्ञानबलेन प्राप्नोति, तदेतदीदृशं व्रजनं स्थितप्रज्ञस्येति चतुर्थप्रश्नस्योत्तरं परिसमाप्तम् ॥ ७१ ॥

तदेवं चतुर्णां प्रश्नानामुत्तरव्याजेन सर्वाणि स्थितप्रज्ञलक्षणानि मुमुक्षुकर्तव्यतया कथितानि। संप्रति कर्मयोगफलभूतां सांख्यनिष्ठां फलेन

वह्नत् अनीप्सित होनेपर यानी अनुपादेय होनेपर भी अवश्यंभावी है। इन त्रिविध भोगोंका त्याग कर शरीरजीवनमात्रोपयोगी पदार्थोंमें भी निःस्पृह अथवा निरहंकार। शरीरेन्द्रियोंमें द्विविध अहङ्कार प्रसिद्ध है, यह मेरा शरीर है, यह मैं हूँ, इन द्विविध अहंकारोंसे शून्य मैं विद्वान् हूँ, इस संभावनासे रहित, अतः निमर्म—ममतासेरहित यानी शरीरयात्राके उपयोगी अर्थमें भी जो प्रारब्धकर्मवश प्राप्त होते हैं—कौपीनाच्छादन—लङ्गोट लगाना-आदिमें भी—'यह मेरा है' इस अभिमानसे शून्य—होकर जो पुरुष प्रारब्धकर्मवश भोगोंका उपभोग करता है, स्वेच्छासे जहां कहीं भी जाय, वह स्थितप्रज्ञ संसारदुःखनिवृत्तिलक्षण अज्ञानतत्कार्यनिवृत्तिरूप शान्तिको ज्ञानबलसे प्राप्त करता है। इस प्रकारका व्रजन (चलन) स्थितप्रज्ञका है, इस चतुर्थ प्रश्नका उत्तर समाप्त हो गया ॥ ७१ ॥

इस प्रकार चारों प्रश्नोंका उत्तर देनेके बहाने स्थितप्रज्ञके सब लक्षण, जो मुमुक्षुओंको अवश्य कर्तव्य हैं, कह दिये। अब कर्मयोगफलभूत सांख्यनिष्ठाकी फल-

सूचयन्नुपसंहरति—'एषा' इति। स्थितप्रज्ञलक्षणव्याजेन कथिता 'एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिः' इति च प्रागुक्ता स्थितिर्निष्ठा सर्वकर्मसंन्यासपूर्वकपरमात्मज्ञानलक्षणा ब्राह्मी ब्रह्मविषया। हे पार्थ, एनां स्थितिं प्राप्य यः कश्चिदपि पुनर्न विमुह्यति। नहि ज्ञानबाधितस्याज्ञानस्य पुनः संभवोऽस्ति, अनादित्वेनोत्पत्त्यसंभवात्। अस्यां स्थितावन्तकालेऽप्यन्त्येपि वयसि स्थित्वा ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मणि निर्वाणं निर्वृतिम्, ब्रह्मरूपं निर्वाणमिति वा,

---

सूचना द्वारा स्तुति करते हुये उपसंहार करते हैं—'एषा ब्राह्मी' इत्यादिसे। यह स्थितप्रज्ञलक्षणकथनके बहाने कही गई 'एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु' इत्यादि पूर्वोक्त स्थिति (निष्ठा) सब कर्मोंके त्यागपूर्वक परमात्मज्ञानलक्षणा ब्राह्मी—ब्रह्मविषया—है। हे पार्थ, इस स्थितिको पाकर कोई भी कर्माधीन पुरुष फिर मुग्ध नहीं होता। उनको कोई रोक भी नहीं सकता, इसलिये अवर्जनीयतया कहा गया है। वह स्थितप्रज्ञ महासमुद्रस्थानापन्न है। वह ज्ञानकालसे सम्पूर्ण लौकिक अलौकि यावत्कर्म विक्षेपनिवृत्तिरूप तथा बाधितानुवृत्त-अविद्याकार्य निवृत्तिरूप शान्ति पाता है। [तत्तत्फललिप्सासे तत्तत्कर्मानुष्ठानमें चित्त व्यापृत होनेसे उसमें अशान्ति होती है। फलकामना निवृत्त होनेसे और फल तत्साधनोंमें मिथ्याज्ञान होनेसे तदर्थ चित्तमें विक्षेप नहीं होता। भोगावस्थामें भी चित्त चञ्चल होता है, परन्तु प्रारब्धकर्मवश वे भोग उपस्थित होते हैं। परन्तु स्थितप्रज्ञ चित्तको कुछ नहीं होता। [ज्ञानबाधित अज्ञानका पुनः संभव नहीं है। अज्ञान अनादि है, अनादिकी उत्पत्ति नहीं होती, अन्यथा अनादित्व ही व्याहत हो जायगा, इसलिये पुनः उत्पत्तिकी संभावना नहीं है। इसमें स्थित होकर अन्तकालमें यानी अन्त्यावस्था—वृद्धावस्थामें स्थित होकर ब्रह्ममें निर्वाण यानी निवृति अथवा ब्रह्मस्वरूप निर्वाण यानी मोक्ष प्राप्त करता है यानी अभेदरूपसे प्राप्त करता है [अन्त्य पक्षमें मोक्ष, तत्प्राप्तिकर्ता एवं प्राप्तिकर्म एक ही है, इसलिये 'अभेदेन' कहा। गन्तव्य और गन्ता एक ही है, प्राप्ति औपचारिक है, आत्मा तो सदा मुक्त ही है, अज्ञानवश औपाधिक बन्धको आत्मगत मानकर दुःखी है। आत्मा ही ज्ञात होनेसे अनात्मविवेक आत्मामें होता है। उस समय मानता है कि 'मैं मुक्त हूँ' इत्यादि अन्यत्र विस्तृत विवरण है] अन्त्य कालमें जिसको उक्त ज्ञान होता है, सो ब्रह्मरूप हो जाता है और जो ब्रह्मचर्य हीसे संन्यास लेकर इस ब्राह्मी स्थितिमें रहता है सो

ऋच्छति गच्छत्यभेदेन । किमु वक्तव्यं यो ब्रह्मचर्यादेव संन्यस्य यावज्जीवमस्यां ब्राह्मयां स्थिताववतिष्ठते स ब्रह्मनिर्वाणमृच्छतीत्यपिशब्दार्थः ॥

ज्ञानं तत्साधनं कर्म सत्वशुद्धिश्च तत्फलम् ।
तत्फलं ज्ञाननिष्ठैवेत्यध्यायेऽस्मिन्प्रकीर्तितम् ॥ ७२ ॥

इतिश्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यविश्वेश्वरसरस्वतीपादशिष्यश्रीमधुसूदनसरस्वतीविरचितायां श्रीमद्भगवद्गीतागूढार्थदीपिकायां सर्वगीतार्थसूत्रणं नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

मोक्ष पाता है इसमें आश्चर्य ही क्या ? उसको तो मोक्ष कैमुतिकन्यायसिद्ध ही है, यह 'अपि' शब्दका अर्थ है ॥

अध्यायोक्तार्थका संक्षेपसे संग्रह करते हैं—ज्ञान, तत्साधन कर्म, तत्फल अन्तःकरणशुद्धि और तत्फल ज्ञाननिष्ठा—ये ही पदार्थ इस अध्यायमें कहे गये हैं ॥ ७२ ॥

इतिश्री म० म० पण्डितप्रवरश्रीहरिहरकृपालुद्विवेदिविरचितगीतामधुसूनी-भाषानुवादमें दूसरा अध्याय समाप्त

तीसरा अध्याय

अर्जुन उवाच

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन ।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव ॥ १ ॥

हे जनार्दन, निष्काम कर्मकी अपेक्षा यदि आत्माका ज्ञान अधिक श्रेष्ठ आपको अभिमत है, तो हे केशव, आप मुझे हिंसा आदि आयाससाध्य कर्मोंमें क्यों प्रवृत्त करते हैं ॥ १ ॥

एवं तावत्प्रथमेनाऽध्यायेनोपोद्घातितो द्वितीयेनाऽध्यायेन कृत्स्नः शास्त्रार्थः सूत्रितः । तथाहि—आदौ निष्कामकर्मनिष्ठा । ततोऽन्तःकरणशुद्धिः । ततः शमदमादिसाधनपुरःसरः सर्वकर्मसंन्यासः । ततो वेदान्तवाक्यविचारसहिता भगवद्भक्तिनिष्ठा । ततस्तत्त्वज्ञाननिष्ठा, तस्याः फलं च त्रिगुणात्मकाविद्यानिवृत्त्या जीवन्मुक्तिः प्रारब्धकर्मफलभोगपर्यन्तम्, तदन्ते च विदेहमुक्तिः । जीवन्मुक्तिदशायां च परमपुरुषार्थावलम्बनेन परवैराग्यप्राप्ति-

---

'स प्रसङ्ग उपोद्घातो हेतुताऽवसरस्तथा ।
निर्वाहकैककार्यैक्ये षोढा संगतिरिष्यते' ॥

—इस श्लोकमें प्रदर्शित रूपसे संगति छः प्रकारकी होती है । गीतामें विवक्षितार्थके साथ प्रथम अध्यायकी उपोद्घात संगति है । प्रथम अध्यायसे जिस अर्थका उपोद्घात किया गया है, वह अर्थ द्वितीय अध्यायमें सूत्ररूपमें संक्षेपसे कहा गया है । तथाहि—इस ग्रन्थसे सूचितार्थको स्फुट करते हैं—सर्व प्रथम निष्काम कर्मकी निष्ठाका निरूपण किया गया है, तदन्तर अन्तःकरणकी शुद्धि, तदनन्तर शमदमादि साधन सहित सर्वकर्मसंन्यास-त्याग, तदन्तर वेदान्त-वाक्य-विचारसहित भगवद्भक्तिनिष्ठा, तदनन्तर तत्त्वज्ञाननिष्ठा, ज्ञाननिष्ठाका फल-त्रिगुणात्मक अविद्यानिवृत्तिसे जीवन्मुक्ति प्रारब्ध फल भोगपर्यन्त, उसके अन्तमें विदेहमुक्ति । जीवन्मुक्तिकालमें परमपुरुषार्थ मोक्षका अवलम्बन कर परवैराग्यप्राप्तिरूप शुभ वासना ग्राह्य है ।

दैवसंपदाख्या च शुभवासना तदुपकारिण्यादेया। आसुरसंपदाख्या त्व-शुभवासना तद्विरोधिनी हेया। दैवसंपदोऽसाधारणं कारणं सात्त्विकी श्रद्धा। आसुरसंपदस्तु राजसी तामसी चेति हेयोपादेयविभागेन कृत्स्नशास्त्रार्थपरि-समाप्तिः। तत्र 'योगस्थः कुरु कर्माणि' इत्यादिना सूत्रिता सत्त्वशुद्धि-साधनभूता निष्कामकर्मनिष्ठा सामान्यविशेषरूपेण तृतीयचतुर्थाभ्यां प्रपञ्च्यते। ततः शुद्धान्तःकरणस्य शमदमादिसाधनसंपत्तिपुरःसरा 'विहाय कामान्यः सर्वान्' इत्यादिना सूत्रिता सर्वकर्मसंन्यासनिष्ठा संक्षेपविस्तर-रूपेण पञ्चमषष्ठाभ्याम्। एतावता च त्वंपदार्थोऽपि निरूपितः। ततो वेदान्तवाक्यविचारसहिता 'युक्त आसीत मत्परः' इत्यादिना सूत्रिताऽनेक-प्रकारा भगवद्भक्तिनिष्ठाऽध्यायषट्केन प्रतिपाद्यते। तावता च तत्पदार्थोऽपि निरूपितः। प्रत्यध्यायं चावान्तरसंगतिमवान्तरप्रयोजनभेदं च तत्र तत्र

वासना दो प्रकारकी है—दैवी और आसुरी। प्रथमा शुभवासना तथा उप-कारिणी है, इसलिए उपादेय है, उसके संग्रहार्थ सदा प्रयत्नशील होना चाहिए, द्वितीया आसुरी संपत् है, यह अशुभ वासना तथा विरोधिनी है, अतएव त्याज्य है। दैवी सम्पत्तिका असाधारण कारण सात्त्विक श्रद्धा है। राजस और तामस श्रद्धा आसुरी संपदाका कारण है. इस प्रकार ग्राह्य-त्याज्यके विभागसे सम्पूर्ण गीता-शास्त्रार्थकी परिसमाप्ति है। उसमें 'योगस्थः कुरु कर्माणि' इत्यादि वाक्यसे सूत्ररूपसे सत्त्वशुद्धिसाधनभूत निष्कामकर्मनिष्ठासामान्य संक्षेप-विशेष रूपसे तृतीय-चतुर्थ अध्यायोंसे प्रतिपादित है। तदनन्तर विशुद्धान्तःकरण पुरुषको शमदमादि साधन सहित 'विहाय कामान् यः सर्वान्' इत्यादि वाक्यसे सूत्रित सर्वकर्मसंन्यासनिष्ठा संक्षेप विस्तार रूपसे पञ्चम षष्ठ अध्यायोंसे कही गई है। इतने सन्दर्भसे 'त्वम्' पदार्थ संसारी आत्माका निरूपण हुआ, तदन्तर वेदान्तवाक्यविचार सहित 'युक्त आसीत मत्परः' इत्यादिसे सूत्रित अनेक प्रकार भगवद्भक्ति छः अध्यायोंसे कही गई है। इतने ग्रन्थसे तत्पदार्थ परमात्माका निरूपण हुआ है, हर एक अध्यायोंमें अवान्तर संगति, प्रयोजनविशेष आगे स्पष्ट करेंगे, इस अध्यायका इस अध्यायके साथ क्या संगति है और क्या प्रयोजन है, यह उसी २ अध्यायके व्याख्यानके समय कहेंगे, वहीं ही जिज्ञासित भी होगा। इस समयके उपदेशको मन्दबुद्धि विस्मृतकर समयपर पुनः संगति और प्रयोजन पूछेंगे, तदनुरोधसे पुनः कहना आवश्यक होगा,

प्रदर्शयिष्यामः। ततस्तत्त्वंपदार्थैक्यज्ञानरूपा 'वेदाविनाशिनं नित्यम्' इत्यादिना सूत्रिता तत्त्वज्ञाननिष्ठा त्रयोदशे प्रकृतिपुरुषविवेकद्वारा प्रपञ्चिता। ज्ञाननिष्ठायाश्च फलम्—'त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन' इत्यादिना सूत्रितम्, त्रैगुण्यनिवृत्तिश्चतुर्दशे सैव जीवन्मुक्तिरिति गुणातीतलक्षणकथनेन प्रपञ्चिता। 'तदा गन्तासि निर्वेदम्' इत्यादिना सूत्रिता परवैराग्यनिष्ठा संसारवृक्षच्छेदद्वारेण पञ्चदशे। 'दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः' इत्यादिना स्थित-प्रज्ञलक्षणेन सूत्रिता परवैराग्योपकारिणी दैवी संपदादेया। 'यामिमां पुष्पितां वाचम्' इत्यादिना सूत्रिता तद्विरोधिन्यासुरी संपच्च हेया षोडशे। दैवसंपदोऽ-साधारणं कारणं च सात्त्विकी श्रद्धा 'निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थः' इत्यादिना सूत्रिता तद्विरोधिपरिहारेण सप्तदशे। एवं सफला ज्ञाननिष्ठाऽध्यायपञ्चकेन प्रतिपादिता। अष्टादशेन च पूर्वोक्तसर्वोपसंहार इति कृत्स्नगीतार्थसंगतिः। तत्र पूर्वाध्याये सांख्यबुद्धिमाश्रित्य ज्ञाननिष्ठा भगवतोक्ता—'एषा तेऽ-

---

इसलिए यही उत्तम प्रतीत होता है कि उसी समय इनका निर्देश किया जाय, तद-नन्तर तत्त्वंपदार्थैक्यज्ञानरूप 'वेदाविनाशिनं नित्यम्' इत्यादिसे सूत्रित तत्त्वज्ञान-निष्ठा तेरहवें अध्यायमें प्रकृतिपुरुषविवेक द्वारा सविस्तर कही गई है। ज्ञाननिष्ठाका फल 'त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन' इत्यादिसे सूत्रित है। त्रैगुण्यनिवृत्ति चौदहवें अध्यायमें निरूपित है, वही जीवन्मुक्ति है; यह गुणातीतलक्षणकथनसे विस्तृत कही गई है। 'तदा गन्तासि निर्वेदम्' इत्यादिसे सूत्रित परवैराग्यनिष्ठा संसारवृक्षच्छेदन द्वारा पन्द्रहवें अध्यायमें कही गई है। 'दुःखेष्वनुद्विग्नमना' इत्यादि स्थितप्रज्ञलक्षणसे सूत्रित परवैराग्योपयोगिनी दैवी सम्पत्ति ग्राह्य है। 'यामिमां पुष्पितां वाचम्' इत्यादिसे सूत्रित तद्विरोधिनी आसुरी सम्पदा हेय है, यह सोलहवें अध्यायमें कहा है। दैवी सम्पत्तिको असाधारण कारण सात्त्विकी श्रद्धाका, जो 'निर्द्वन्द्वो नित्य सत्त्वस्थः' इत्यादि से सूत्रित है, इसका विरोध परिहार द्वारा सत्रहवें अध्यायमें कथन है। इस प्रकार सफल ज्ञाननिष्ठा पांच अध्यायोंसे कही गई है। अठारहवें अध्यायसे सम्पूर्ण गीताशास्त्रार्थोंका उपसंहार है। इस प्रकार गीतार्थोंकी संगति है। इसमें पूर्वाध्यायमें सांख्यबुद्धिका आश्रयण कर

भिहिता सांख्ये बुद्धिः' इति। तथा योगबुद्धिमाश्रित्य कर्मनिष्ठोक्ता 'योगे त्विमां शृणु' इत्यारभ्य 'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि' इत्यन्तेन। न चाऽनयोर्निष्ठयोरधिकारिभेदः स्पष्टमुपदिष्टो भगवता। न चैकाधिकारिकत्वम्, उभयोः समुच्चयस्य विवक्षितत्वादिति वाच्यम्; 'दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय' इति कर्मनिष्ठाया बुद्धिनिष्ठापेक्षया निकृष्टत्वाभिधानात्। 'यावानर्थ उदपाने' इत्यत्र च ज्ञानफले सर्वकर्मफलान्तर्भावस्य दर्शितत्वात्। स्थितप्रज्ञलक्षणमुक्त्वा च—'एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ' इति सप्रशंसं ज्ञानफलोपसंहारात्। 'या निशा सर्वभूतानाम्' इत्यादौ ज्ञानिनो द्वैतदर्शनाभावेन कर्मानुष्ठानासंभवस्य चोक्तत्वात्। अविद्यानिवृत्तिलक्षणे मोक्षफले ज्ञानमात्रस्यैव लोकानुसारेण साधनत्वकल्पनात्। 'तमेव

भगवान्‌ने ज्ञाननिष्ठा कही है—'एषा तेऽभिहिता सांख्ये' इत्यादि। तथा योगबुद्धिका आश्रयण कर कर्मनिष्ठा कही है—'योगे त्विमां शृणु' यहाँ से 'कर्मण्येवाधिकारस्ते:', 'मा ते सङ्गोस्त्वकर्मणि' एतत्पर्यन्त ग्रन्थसे। परन्तु इसमें रहस्य यह है कि ज्ञाननिष्ठा और कर्मनिष्ठा के अधिकारी विशेषका निरूपण नहीं किया।

शङ्का—यह रहस्य क्या है, यह तो स्पष्ट है कि मोक्ष ज्ञानकर्मसमुच्चयसे होता है, जैसा कि भागवत लोग मानते हैं। यदि दोनोंके अधिकारी भिन्न होते, तो उनका निरूपण भगवान् अवश्य करते, तद्भेदाकथनसे सूचित होता है कि भगवान्‌को भी मोक्षमें ज्ञानकर्मसमुच्चय इष्ट है।

समाधान—भगवान्‌को समुच्चय इष्ट नहीं, 'दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय' इस वाक्यसे कर्मनिष्ठा ज्ञाननिष्ठासे निकृष्ट है, यह भगवान् स्वयं श्रीमुखसे कहते हैं 'यावानर्थ उदपाने' यहाँ भी ज्ञानफलमें सब कर्मोंके फलोंका अन्तर्भाव दिखलाया है। स्थितप्रज्ञका लक्षण कहकर 'एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ' यों फलोपसंहार द्वारा ज्ञाननिष्ठाकी स्तुति की है, 'या निशा सर्वभूतानांम्' यहाँ पर ज्ञानीको द्वैतदर्शन नहीं होता, यह कहा है; इससे ज्ञानीमें कर्माभाव अनायास सिद्ध होता है। कर्मानुष्ठान द्वैतदर्शनके बिना असम्भव है, यह तो अतिस्पष्ट है। ज्ञानी द्वैतदर्शी नहीं—यह भगवान् जब स्वयं कहते हैं, तब कर्मानुष्ठानाभाव सिद्ध ही हुआ, अविद्यानिवृत्तिलक्षण मोक्षरूपी फलका केवल ज्ञान ही साधन है। यदि दोनोंको उक्त फलमें कारण मानें तो गौरव दोष ही होगा। लोकमें भी अज्ञाननिवृत्तिमें ज्ञान ही कारण माना जाता

विदित्वाऽति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' इति श्रुतेश्च। ननु तर्हि तेजस्तिमिरयोरिव विरोधिनोर्ज्ञानकर्मणोः समुच्चयासंभाद्भिन्नाधिकारिकत्वमेवास्तु, सत्यमेवं संभवति; एकमर्जुनं प्रति तूभयोपदेशो न युक्तः। नहि कर्माधिकारिणं प्रति ज्ञाननिष्ठोपदेष्टुमुचिता न वा ज्ञानाधिकारिणं प्रति कर्मनिष्ठा। एकमेव प्रति विकल्पेनोभयोपदेश इति चेत्, न, उत्कृष्टापकृष्टयोर्विकल्पानुपपत्तेः। अविद्यानिवृत्त्युपलक्षितात्मस्वरूपे मोक्षे तारतम्यासंभवाच्च। तस्माज्ज्ञानकर्मनिष्ठयोर्भिन्नाधिकारिकत्व एकं प्रत्युपदेशायोगादेकाधिकारिकत्वे च विरुद्धयोः समुच्चयासंभवात्कर्मापेक्षया ज्ञानप्राशस्त्यानुपप-

---

है, तदतिरिक्त नहीं, 'तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति' इस श्रुतिमें दृष्ट 'एव' कारसे ज्ञानातिरिक्तमें मोक्षसाधनत्वका निषेध स्पष्ट है।

अच्छा, तो तम और प्रकाशके समान विरोधी ज्ञान और कर्मका समुच्चय हो नहीं सकता, इसलिए भिन्नाधिकारिनिष्ठ ही मानना उचित है। ठीक है, परन्तु इसमें भी एक बड़ा दोष यह है कि एक ही अर्जुनके प्रति दोनोंका उपदेश उचित नहीं, जो जिसका अधिकारी हो, उसका उसको उपदेश देना चाहिये। अर्जुन किसके अधिकारी हैं, यह तो भगवान्को अविदित है, यह नहीं कह सकते, तथा न यही कह सकते हैं कि अधिकारीके निश्चयके विना भगवान्ने अर्जुनको उपदेश देना प्रारम्भ कर दिया। हाँ, यह कह सकते हैं कि अर्जुन दोनोंके अधिकारी हैं, क्योंकि उनके प्रति दोनोंका भगवदुपदेश है, पर यह अर्थ भी परस्पर विरोधसे नहीं कह सकते, कर्माधिकारीके प्रति न तो ज्ञाननिष्ठाका उपदेश उचित है और न ज्ञानीके प्रति कर्मनिष्ठाका उपदेश ही उचित है, अतः एक ही के प्रति विकल्पसे दोनोंका उपदेश है, चाहे कर्मनिष्ठा हो या चाहे ज्ञाननिष्ठा दोनोंमें से यथारुचि एक ही का आश्रयण करो।

यह भी ठीक नहीं, क्योंकि उत्तम निकृष्टका विकल्प नहीं हो सकता। विकल्प सममें ही होता है। अविद्यानिवृत्त्युपलक्षित आत्मस्वरूप मोक्षमें तारतम्य नहीं है, फलतारतम्यसे साधनमें भी तारतम्य कह सकते हैं। यदि फलतारतम्य इष्ट नहीं, तो तारतम्यभेदसे साधनद्वयका समावेश नहीं हो सकता। अतः ज्ञाननिष्ठा और कर्मनिष्ठाके भिन्न एवं अभिन्नाधिकारी भी नहीं कह सकते।

प्रश्न—क्यों ?

उत्तर—एक ही अर्जुनके प्रति दोनोंका उपदेश देखते हैं, यदि वे भिन्ना-

त्तेश्च विकल्पाभ्युपगमे चोत्कृष्टमनायाससाध्यं ज्ञानं विहाय निकृष्टमनेकायासबहुलं कर्मानुष्ठातुमयोग्यमिति मत्वा पर्याकुलीभूतबुद्धिः अर्जुन उवाच—'ज्यायसी चेत्' इति।

हे जनार्दन, सर्वैर्जनैरर्द्यते याच्यते स्वाभिलषितसिद्ध्य इति त्वं तथाभूतो मयाऽपि श्रेयोनिश्चयार्थं याच्यस इति नैवानुचितमिति संबोधनाभिप्रायः। कर्मणो निष्कामादपि बुद्धिरात्मतत्त्वविषया ज्यायसी प्रशस्तरा चेद्यदि ते तव मता तत्तदा किं कर्मणि घोरे हिंसाद्यनेकायासबहुले मामतिभक्तं नियोजयसि कर्मण्येवाधिकारस्त इत्यादिना विशेषेण प्रेरयसि। हे केशव सर्वेश्वर। सर्वेश्वरस्य सर्वेष्टदायिनस्तव मां भक्तं शिष्यस्तेऽहं शाधि मामित्यादिना त्वदेकशरणतयोपसन्नं प्रति प्रतारणाऽनोचितेत्यभिप्रायः॥ १॥

धिकारिक होते तो एकके प्रति भगवान्का उपदेश न होता। यदि भगवदुपदेशानुसार दोनोंको एकाधिकारिक मानें तो उपपत्तिविरोध होता है। दोनोंका अनुष्ठान एक समयमें पुरुष कर ही नहीं सकता। और जब दोनोंका फल मोक्ष है, तब कर्मकी अपेक्षा ज्ञानकी प्रशंसा कैसे हो सकती है, यहाँ फलापेक्षासे प्राशस्त्याप्राशस्त्य रूप विवक्षित है, स्वरूपापेक्षासे नहीं। विकल्प माननेसे उत्कृष्ट अनायास स्वल्पपरिश्रमसाध्य ज्ञानको छोड़कर निकृष्ट अनेक कायिक, वाचिक, मानसिक प्रयत्नोंसे साध्य कर्मका अनुष्ठान उचित नहीं, इसको मानकर अव्यवस्थितबुद्धि अर्जुन बोले—'ज्यायसी चेत्' इति।

हे जनार्दन! 'अर्द गतौ याचने च'—यों गति और याचन अर्दधातुके अर्थ है। द्वितीय अर्थको लेकर व्युत्पत्ति कहते हैं कि स्वस्वाभिष्ट फलकी सिद्धिके लिए निखिल जनोंसे याच्यमान आप हैं, इसलिए मोक्षनिश्चयके लिये मैं भी याचना करता हूँ, यह मेरी याचना अनुचित नहीं। जो सकलशिष्टचरित मार्ग है, उस मार्गपर चलनेसे किसी भी गन्ताको कोई भी अपथगामी नहीं कहता, अतः मेरी याचना आपसे अनुचित नहीं, यह जनार्दन पदसे संबोधन करनेका अभिप्राय है। निष्काम कर्मसे भी आत्मतत्त्वविषयक बुद्धि बड़ी है, यह यदि आप मानते हैं, तो क्यों हिंसादि अनेक प्रयत्नोंसे साध्य अनर्थबहुल कठिन संग्राममें मेरी प्रेरणा करते हैं, मैं आपका भक्त हूँ, आज्ञाकारी हूँ, मेरे प्रति आप कहते हैं कि तुम्हारा कर्ममें ही अधिकार है। इसलिए तुम स्वधर्म युद्धादि करो। 'कं ब्रह्माणं ईशं च वाति अनुचि-

व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे ।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् ॥२॥

कहीं ज्ञानकी प्रशंसा तो कहीं कर्मकी प्रशंसा – यों आपके संदेहकारक जो वाक्य हैं, उनसे आप मानो मेरी बुद्धिको मोहित कर रहे हैं यानी मेरे लिए कर्म अच्छे हैं या ज्ञान अच्छा है, यह नहीं जान पाता, अतः ज्ञान और कर्म दोनोंमें से जिस किसीसे मैं कल्याण प्राप्त करूं, उसे आप निश्चय करके मुझे कहिए ॥ २ ॥

ननु नाहं कञ्चिदपि प्रतारयामि, किं पुनस्त्वामतिप्रियम्, त्वं तु किं मे प्रतारणाचिह्नं पश्यसीति चेत् तत्रा ऽऽह—'व्यामिश्रेणेव' इति ।

तव वचनं व्यामिश्रं न भवत्येव, मम त्वेकाधिकारिकत्वभिन्नाधिकारिक-

कम्पयिषया तत्समीपं गच्छति इति केशवः'। आप अतिदयालु हैं—ब्रह्मा और रुद्रके अनुग्रहार्थ उनके समीप स्वयं जाते हैं, उनके ईश्वर होनेसे आप सबके ईश्वर हैं, तथा सबके मनोरथ पूर्ण करनेवाले हैं। 'शिष्यस्तेहं शाधि माम्' इत्यादि वाक्यसे पूर्वमें आपको आत्मसमर्पण कर चुका हूँ, अतएव आप ही मेरी एकमात्र शरण हैं, ऐसे अनन्य भक्तको आपसे प्रतारणा (बहकाना) उचित नहीं—यह अर्जुनका उक्त शब्दसे संबोधन करनेका अभिप्राय है। आत्मदर्शनका हेतु ज्ञाननिष्ठा ही है, यह पूर्व प्रबन्धसे निर्णय हो चुका है। कर्मनिष्ठा ज्ञाननिष्ठाका हेतु है, आत्मदर्शनका साक्षात् हेतु नहीं, अतः साक्षात्-मोक्षज्ञानहेतुत्व 'ज्यायस्त्वबुद्धि' में ही है, कर्ममें नहीं और ज्ञाननिष्ठाके संपादनार्थ सब इन्द्रियोंके स्वविषयक प्रवृत्ति-लक्षण व्यापारोंको रोकना आवश्यक बतलाया। यदि बुद्धि ही निश्रेयससाधनत्वेन इष्ट है, तो सर्वेन्द्रियव्यापारसाध्य कर्ममें, जो उक्त ज्ञानका विरोधी है, मेरी प्रेरणा क्यों करते हो, यह अर्जुनका अभिप्राय है ॥ १ ॥

भगवान् उत्तर देते हैं—मैं तो किसी भी प्राणीकी प्रतारणा नहीं करता, फिर तुम तो मेरे प्रिय शिष्य हो, तुम्हारी प्रतारणाकी क्या सम्भावना। अपि च, तुम कौन प्रतारणाका लक्षण मुझमें देखते हो, इसका उत्तर अर्जुन देते हैं—'व्यामिश्रेणेव' इत्यादिसे।

सर्वेन्द्रियव्यापारोंके उपरामसे होनेवाला आत्मदर्शन निश्रेयसका साधन है, यह कहकर फिर कहते हैं—'कर्मण्येवाधिकारस्ते'। इससे पूर्वोक्त निश्रेयस सधनासे

त्वसंदेहाद् व्यामिश्रं संकीर्णार्थमिव ते यद्वाक्यं मां प्रति ज्ञानकर्मनिष्ठाद्वयप्रतिपादकं तेन वाक्येन त्वं मे मम मन्दबुद्धेर्वाक्यतात्पर्यापरिज्ञानाद्बुद्धिमन्तःकरणं मोहयसीव भ्रान्त्या योजयसीव। परमकारुणिकत्वात्त्वं न मोहयस्येव मम तु स्वाशयदोषान्मोहो भवतीतीवशब्दार्थः। एकाधिकारित्वे विरुद्धयोः समुच्चयानुपपत्तेरेकार्थत्वाभावेन च विकल्पानुपपत्तेः प्रागुक्तेर्यद्यधिकारिभेदं मन्यसे तदैकं मां प्रति विरुद्धयोर्निष्ठयोरुपदेशायोगात्तज्ज्ञानं वा कर्म वैकमे

विरुद्ध सकलेन्द्रियव्यापारोंसे होनेवाले कर्मको कहते हैं, निःश्रेयसका साधन इसलिये मैं यह नहीं समझ सका कि मैं कर्मसंन्यास करूँ या कर्म करूँ, मुझे अभी तक यही प्रतीत हो रहा है कि मेरे लिए दोनों कर्तव्य कहे गये हैं, पर दोनों एक समयमें नहीं हो सकते, इसलिए मैं इसको 'व्यामिश्रवाक्य' समझकर प्रार्थना करता हूँ कि ऐसी प्रतारणा भक्तके प्रति क्यों ? मैं यह भी समझता हूँ कि आपका वाक्य मिश्रित नहीं है, किन्तु स्वान्तःकरणकी अशुद्धिसे संशय होता है कि यह वाक्य एकाधिकारिक है, या भिन्नाधिकारिक अर्थात् एक ही अधिकारीके उद्देश्यसे दोनों वाक्य हैं अथवा भिन्नाधिकारीके उद्देश्यसे दो वाक्य हैं यानी किसी के प्रति कर्मनिष्ठाका उपदेश है और किसीके प्रति ज्ञाननिष्ठाका। द्वितीय अर्थमें वाक्य व्यवस्थित है परन्तु प्रथम अर्थमें व्यामिश्रित है। तात्पर्यनिर्णयके बिना एकतर अर्थका निश्चय नहीं होगा, अतः मैं आपके वाक्यको संकीर्ण सा मानकर मेरे प्रति आपके वाक्यसे ज्ञाननिष्ठा कर्मनिष्ठा दोनोंका प्रतिपादन किया गया है। मैं कर्मयोग करूँ और ज्ञानयोग भी। पर दोनों एक समयमें एक पुरुषसे नहीं हो सकते और आप अपने उन वाक्योंसे अशुद्धान्तःकरणके कारण आपके तात्पर्यको ठीक तरहसे न समझनेवाले मुझको मुग्ध सा कर रहे हो। मेरे अन्तःकरणमें भ्रान्ति सी हो रही है, आप तो परम दयालु हैं, व्यर्थमें किसीके अन्तःकरणको भ्रान्तियुक्त नहीं करते, पर अपने मनोदोषसे मुग्ध हो रहा हूँ, यह 'इव' शब्दका अभिप्राय है।

एक अधिकारीसे ज्ञाननिष्ठा-कर्मनिष्ठा—इन दोनोंका सहानुष्ठान (एक साथ अनुष्ठान) समुच्चय अनुपपन्न है, अतः ये दोनों निष्ठाएँ एकार्थक नहीं है, अतः विकल्प भी अयुक्त ही है, एक ही अधिकारीमें अनुष्ठानविकल्प 'इदं वा कुरु, इदं वा कुरु' हो सकता है, यह पूर्वमें कह चुके हैं। इन दोनोंके अधिकारी भिन्न होनेके कारण वे व्यवस्थित हैं, विकल्पित नहीं। यदि अधिकारीका भेद मानते हैं, जैसा कि मैं समझता हूँ, तो मेरे एकके प्रति परस्पर विरुद्ध दो निष्ठाओंका उपदेश ठीक नहीं

वाधिकारं मे निश्चित्य वद। येनाऽधिकारनिश्चयपुरःसरमुक्तेन त्वया मया चाऽनुष्ठितेन ज्ञानेन कर्मणा वैकेन श्रेयो मोक्षमहमप्नुयां प्राप्तुं योग्यः स्याम्। एवं ज्ञानकर्मनिष्ठयोरेकाधिकारित्वे विकल्पसमुच्चययोरसंभवादधिकारिभेद-ज्ञानायाऽर्जुनस्य प्रश्न इति स्थितम्।

इहेतरेषां कुमतं समस्तं श्रुतिस्मृतिन्यायबलान्निरस्तम्,
पुनः पुनर्भाष्यकृताऽतियत्नादतो न तत्कर्तुमहं प्रवृत्तः॥
भाष्यकारमतसारदर्शिना ग्रन्थमात्रमिह योज्यते मया,
आशयो भगवतः प्रकाश्यते केवलं स्ववचसो विशुद्धये॥ २॥

अतः ज्ञान अथवा कर्म जिस किसी एकका अधिकार मुझमें हो उसको निश्चयकर कहिये; जिससे अधिकारनिश्चयपूर्वक आपसे उपदिष्ट और मेरेसे अनुष्ठित ज्ञान या कर्म एकही से मोक्ष पाऊँ अर्थात् जिसमें मेरा अधिकार हो उसका निश्चयकर तदनुरूप मुझको उपदेश करें कि तुम कर्मके अधिकारी हो—कर्म ही करो अथवा ज्ञानके अधिकारी हो, इसलिए सर्व-कर्मसंन्यासपुरःसर आत्मज्ञानोपाय श्रवण आदिमें प्रवृत्त हो। ऐसा निश्चय कर स्पष्ट ज्ञान ही अथवा कर्म जिसका मैं वस्तुतः अधिकारी हूँ, वही एक कहिये, आपके आदेशानुसार उसी एक के ही अनुष्ठानसे मैं मोक्ष पाऊँ या मोक्ष पानेके योग्य हो जाऊँ। इस प्रकार ज्ञाननिष्ठाओं तथा कर्मनिष्ठाओंका एक ही अधिकारी नहीं हो सकता, कारण एक अधिकारी माननेमें दो ही प्रकार हैं—विकल्प और समुच्चय। उक्त रीतिसे ये दोनों नहीं बन सकते, इसलिए अधिकारिभेदज्ञानके लिए अर्जुनका प्रश्न है यह स्थिर हुआ।

यहाँ पर अन्यविद्वानोंके सब कुत्सित मतोंका श्रुति, स्मृति और न्यायके बलसे भाष्यकारने जो निराकरण किया है, एक बार नहीं, किन्तु अनेक बार और बड़े प्रयत्नसे, उसके लिए मेरी प्रवृत्ति नहीं है, क्योंकि वे पूर्णरूपसे निरस्त हो चुके हैं, अब उनके पुनरुज्जीवनकी सम्भावना नहीं और न कोई निराकरणयुक्तियां ही अवशिष्ट हैं, जिनके प्रदर्शनार्थ मेरे व्यापारकी आवश्यकता हो। भाष्यकारोक्त सारदर्शी 'मैं' केवल ग्रन्थकी योजनामात्र करता हूँ—भगवान् भाष्यकारके केवल आशयमात्रका प्रकाश करता हूँ वह भी इसलिए नहीं कि भाष्यकारके वचनोंसे उनका आशय स्पष्ट प्रतीत नहीं होता, अतः मैं अच्छे ढंगसे उनका आशय सर्वसाधारणके लिए प्रकाशित कर दूँ, क्योंकि ऐसी योग्यता मुझमें नहीं और भाष्यकारकी प्रतिपादनशैली सर्वोत्तम है प्रत्युत

श्रीभगवानुवाच—

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयाऽनघ ॥
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ॥ ३ ॥

भगवान्ने कहा–हे पापरहित अर्जुन, इस लोकमें ज्ञानस्थिति और कर्मस्थिति–यों दो प्रकारकी स्थितियां हैं, ऐसा पूर्व अध्यायमें मैंने कहा। उनमें आत्मज्ञान पाये हुए शुद्धचित्त योगियोंकी ज्ञानस्थिति है और कर्माधिकारी अशुद्धचित्तोंकी कर्मस्थिति है ॥ ३ ॥

अस्मिन्नधिकारित्वाभिमते लोके शुद्धाशुद्धान्तःकरणभेदेन द्विविधे जने द्विविधा द्विप्रकारा निष्ठा स्थितिर्ज्ञानपरता कर्मपरता च पुरा पूर्वाध्याये मया त्वदत्यन्तहितकारिणा प्रोक्ता प्रकर्षेण स्पष्टत्वलक्षणेनोक्ता। तथाचाधिकार्यैक्यशङ्कया मा ग्लासीरिति भावः। हेऽनघापापेति संबोधयन्नुपदेशयोग्य-

---

इसलिए कि भाष्यार्थसंसर्गसे मेरा कलुषित वचन भी पवित्र हो जाय, बस, इसी अपने अभिप्रायसे वचनोंकी मैंने भाष्यार्थके साथ योजना की है। रथ्योदक (नालाका जल) भी गंगाप्रवाहके साथ संयुक्त होकर पवित्र हो जाता है तथा साधारण शब्द महापुरुषके शब्दार्थके साथ संयुक्त होनेपर पवित्र हो जाते हैं, ऐसा ही श्रीवाचस्पति मिश्रने भाष्यटीका भामतीके आरम्भमें कहा है, वही वक्तव्य यहाँ भी है, स्वकीय विनम्रता प्रकाशनमें मुख्य तात्पर्य है। कुत्सितमतोंका निराकरण भाष्यमें विशद है। अतः मैं भी निष्प्रयोजन व्यर्थ दूसरोंके खण्डनसे विरत हुआ ॥ २॥

इस प्रकार अधिकारिभेदका प्रश्न अर्जुनने किया, तदनुरूप उत्तरवाक्यसे भगवान् बोले–भगवानुवाच–'लोके' इति। अधिकारित्वने इष्ट इस लोकमें शुद्धान्तःकरण और अशुद्धान्तःकरण भेदसे दो प्रकारके अधिकारी जन होते हैं–'लोकस्तु भुवने जने, इस अमरकोषके अनुसार यहाँ लोक शब्द जनवाची है। दो प्रकारके मनुष्य हैं, इसलिए हमने दो निष्ठायें पूर्वमें स्पष्ट कहीं यानी एक ज्ञानपरता और द्वितीय कर्मपरता। पूर्वाध्यायमें सर्वजनहितकामनासे मैंने स्पष्ट कहा। ऐसी स्थितिमें दोनों निष्ठाओंका एक अधिकारी है इस आशयसे ऐसा निश्चय मत करो कि यह असम्भव उपदेश करते हैं। भगवान तो ऐसा कहेंगे नहीं, किन्तु मेरी बुद्धिका दोष है कि मैं भगवदभिप्रायको नहीं समझ रहा हूँ, इत्यादि। हे अनघ हे अपाप, इस

तामर्जुनस्य सूचयति। एकैव निष्ठा साध्यसाधनावस्थाभेदेन द्विप्रकारा, न तु द्वे एव स्वतन्त्रे निष्ठे इति कथयितुं निष्ठेत्येकवचनम्। तथाच वक्ष्यति—'एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति' इति. तामेव निष्ठां द्वैविध्येन दर्शयति सांख्येति—संख्या सम्यगात्मबुद्धिस्तां प्राप्तवतां ब्रह्मचर्यादेव कृतसंन्यासानां वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थानां ज्ञानभूमिमारूढानां शुद्धान्तःकरणानां सांख्यानां ज्ञानयोगेन ज्ञानमेव युज्यते ब्रह्मणाऽनेनेति व्युत्पत्त्या योगस्तेन निष्ठोक्ता 'तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः' इत्यादिना। अशुद्धान्तःकरणानां तु ज्ञानभूमिमनारूढानां योगिनां कर्माधिकारयोगिनां कर्मयोगेन कर्मैव युज्यतेऽन्तःकरणशुद्ध्याऽनेनेति व्युत्पत्त्या योगस्तेन निष्ठोक्ता

सम्बोधनसे अर्जुनमें उपदेशयोग्यता सूचित होती है। 'ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात् पापस्य कर्मणः' इत्यादि स्मृति वाक्यसे-निष्पापान्तःकरणमें उपदेशवाक्यसे आत्मज्ञान उत्पन्न होते है, सपापान्तःकरणमें नहीं। एक ही निष्ठा साध्यसाधनावस्थाके भेदसे दो प्रकारकी मैंने कही है, उक्त दोनों निष्ठायें स्वतन्त्र हैं, इस अभिप्रायसे नहीं, इसको स्पष्ट करनेके लिए निष्ठा एकवचनान्तका उपादान किया, 'निष्ठे' ऐसा द्विवचनान्तका नहीं ? इसी अभिप्रायसे आगे भी कहेंगे—'एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति सपश्यति' दो प्रकार वही निष्ठा दिखलाते हैं। संख्याशब्द यहाँ एकत्वादि संख्यापरक नहीं है, इसको स्पष्ट करनेके लिए यहाँ संख्याका अर्थ समीचीन आत्मबुद्धि है जो प्राप्तात्मबुद्धि है, ब्रह्मचर्याश्रमसे ही शमदमादि-साधन-सम्पत्ति, समावेशसे सकलफल तत्तद्कर्मके त्यागी हैं, वेदान्तवाक्यश्रवणआदिसे जिनको सुनिश्चित वेदार्थज्ञान है, तथाभूत शुद्धान्तःकरण, अतएव ज्ञानभूमिकामें आरूढ़ सांख्यको ज्ञानयोगसे 'ज्ञानमेव योगः ज्ञानयोगः, 'युज्यते ब्रह्मणा अनेन इति योगः' 'साधकका ज्ञान द्वारा ब्रह्मयोग ब्रह्मस्वरूपाविर्भाव होता है, इसलिए ज्ञानयोग भी कहलाता है, जो योगसे निष्ठा कही गई है—'तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः' इत्यादिसे। सो अशुद्धान्तःकरण हैं, अतएव ज्ञानभूमिमें अनारूढ़ हैं, जिनके अन्तः करणमें तत्त्वज्ञानोत्पत्तियोग्तता नहीं है, वे केवल योगी हैं, उन कर्माधिकारियोंके लिए कर्मयोगका यह अर्थ है कि—''कर्मैव युज्यते अन्तःकरणशुद्ध्यादिना इति कर्मयोगः' अनभिसन्धिकृतमित्यादि कर्मोंसे अन्तःकरण शुद्ध होगा, तदनन्तर तत्त्वज्ञानद्वारा ब्रह्मयोग होगा, यतः उनके लिए कर्मयोग कहा गया है। कर्ममें योगसे निष्ठा कही है।

अन्तःकरणशुद्धिद्वारा ज्ञानभूमिकारोहणार्थं 'धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते' इत्यादिना। अत एव न ज्ञानकर्मणोः समुच्चयो विकल्पो वा। किन्तु निष्कामकर्मणा शुद्धान्तःकरणानां सर्वकर्मसंन्यासेनैव ज्ञानमिति चित्तशुद्ध्यशुद्धिरूपावस्थाभेदेनैकमेव त्वां प्रति द्विविधा निष्ठोक्ता—'एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु' इति। अतो भूमिकाभेदेनैकमेव प्रत्युभयोपयोगान्नाधिकारभेदेऽप्युपदेशवैयर्थ्यमित्यभिप्रायः। एतदेव दर्शयितुमशुद्धचित्तस्य चित्तशुद्धिपर्यन्तं कर्मानुष्ठानम् न कर्मणामनारम्भाद् इत्यादिभिः 'मोघं पार्थ स जीवति' इत्यन्तैस्त्रयोदशभिर्दर्शयति। शुद्धचित्तस्य तु ज्ञानिनो न किंचिदपि कर्मापेक्षितमिति दर्शयति यस्त्वात्मरतिरिति द्वाभ्याम्।

अन्तःकरण शुद्धि द्वारा ज्ञानभूमिकाके आरोहणार्थ 'धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत् क्षत्रियस्य न विद्यते' इत्यादिसे, स्वधर्मानुष्ठानसे अन्तःकरणशुद्धि, तदनन्तर ज्ञानोत्पत्ति होती है, इसलिए ज्ञानभूमिकाप्रवेशार्थ कर्मयोग कहा गया है अतएव ज्ञानका समुच्चय अथवा विकल्प ये दोनों नहीं हैं, किन्तु निष्कामकर्मानुष्ठानसे परिपूतान्तःकरणको सब कर्मोंका त्याग करनेसे ही ज्ञान होता है, इस तरह चित्तकी 'अशुद्धि' अवस्था और 'शुद्धि' अवस्थाके भेदसे एक ही तुमको द्विविधनिष्ठा कही है, जबतक अन्तःकरण शुद्ध न हो, तबतक तुम्हारा कर्मयोगमें अधिकार है, इसलिए तुमको कर्मयोग ही करना चाहिये, ज्ञानयोग नहीं, जब अन्तःकरण शुद्ध हो जाय तब ज्ञानयोग उचित है, कर्मयोग नहीं, इसलिए अवस्था भेदसे मिथोविरुद्ध दोनों निष्ठायें एक पुरुषमें भी होती है, अतः भूमिका अवस्थाभेदसे एक पुरुषके प्रति भी दोनोंका उपदेश उचित है, इसलिए अधिकार भेदसे निष्ठाद्वय है, एकके प्रति दोनोंका उपदेश व्यर्थ है, यह समझना ठीक नहीं एकही पुरुषमें दो भूमी है, तदनुसार दोनोंके अनुष्ठानार्थ दोनोंका उपदेश अपेक्षित है, इसीको दिखलानेके लिये अशुद्धिचित्तके प्रति यावत्चित्तशुद्धि न हो, तावत्पर्यंत कर्मका अनुष्ठान "न कर्मणामनारम्भात्" से लेकर "मोघं पार्थ स जीवति" एतत्पर्यंत तेरह श्लोकोंसे दिखलाते हैं, और शुद्धचित्त ज्ञानीको कोईभी कर्म अपेक्षित नहीं, क्योंकि कर्म अन्तःकरणशुध्यर्थ है। ज्ञानीका अन्तःकरण शुद्धही है, फिर उसके लिए कर्मोंकी अपेक्षा क्यों हो ? नदी पार करनेको नौकाकी आवश्यकता पड़ती है, समुत्तीर्णनदीको (जो नदी पार कर चुका है) उसको—नौकाकी क्या आवश्यकता, इस अभिप्रायसे भगवान स्वयं दिखलाते हैं, "यस्त्वात्ममतिरेवेत्यादि" श्लोक द्वयसे

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते ।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥ ४ ॥

भद्र, आत्माके ज्ञानके लिए जो कर्म (वेदाध्ययनादि) विवक्षित हैं, उनका अनुष्ठान किये बिना पुरुष कर्मशून्यता प्राप्त नहीं कर सकता और चित्तशुद्धि हुए बिना किये गये संन्याससे सिद्धि (ज्ञाननिष्ठा) प्राप्त नहीं कर सकता ॥ ४ ॥

'तस्मादसक्त' इत्यारभ्य तु बन्धहेतोरपि कर्मणो मोक्षहेतुत्वं सत्त्वशुद्धिज्ञानोत्पत्तिद्वारेण संभवति फलाभिसंधिराहित्यरूपकौशलेनेति दर्शयिष्यति । ततः परन्तु, 'अथ केन' इति प्रश्नमुत्थाप्य कामदोषेणात्र काम्यकर्मणः शुद्धिहेतुत्वं नास्ति । अतः कामराहित्येनैव कर्माणि कुर्वन्नन्तःकरणशुद्ध्या ज्ञानाधिकारी भविष्यसीति यावदध्यायसमाप्ति वदिष्यति भगवान् ॥ ३ ॥

'न कर्मणाम्' इति । तत्र कारणाभावे कार्यानुपपत्तेः कर्मणाम् । 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽ-

"तस्माद्सक्तः" यहांसे लेकर बन्धहेतु भी कर्म मोक्षहेतु है केवल कामनासे जो कर्म किये जाते हैं, वे मोक्षहेतु नहीं है । कामना ही दोष है, इससे अन्तःकरण दूषित होता है, कामनात्याग करने पर उनसे भी सत्व शुद्धि होती है, ततः ज्ञानोत्पत्ति-द्वारा बन्धहेतु भी कर्म मोक्षहेतु होते हैं, केवल कर्त्तामें कौशल चाहिये कौशल फलराहित्य है, संखिया विषमारक है पर मारकत्व अंशको शुद्धकर जीवनार्थ भी वैद्य उसका उपयोग करते हैं, मारकत्व, और जीवनोपयोगित्व, दोनों "वैद्य" के कौशलसे होते हैं; तद्वत् बन्धहेतुत्व और मोक्षहेतुत्व कर्तृकौशलसे कर्ममें हैं, ततःपर "अथ केन" इत्यादि ग्रन्थसे प्रश्नको उठाकर कामदोषसे काम्यकर्मशुद्धिहेतु नहीं होते, अतः कामनाशून्य होकर कार्य करनेवाला शुद्धान्तःकरण होकर ज्ञानाधिकारी होता है, इसतरह तुम भी ज्ञानाधिकारी होगे यह यावदध्यायसमाप्ति-प्रकृताध्याय-समाप्तिपर्यन्त भगवान कहेंगे ॥ ३ ॥

'न कर्मणाम्' इत्यादि इसमें कारणके अभावमें कार्यका भी अभाव होता है, "तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा" इत्यादि श्रुतिसे आत्मज्ञानके साधनरूपसे उपदिष्ट

नाशकेन' इति श्रुत्याऽऽत्मज्ञाने विनियुक्तानामनारम्भादननुष्ठानाच्चित्तशुद्ध्यभावेन ज्ञानायोग्यो बहिर्मुखः पुरुषो नैष्कर्म्यं सर्वकर्मशून्यत्वं ज्ञानयोगेन निष्ठामिति यावत्, नाश्नुते न प्राप्नोति। ननु 'एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति' इति श्रुतेः सर्वकर्मसंन्यासादेव ज्ञाननिष्ठोपपत्तेः कृतं कर्मभिरित्यत आह—न च संन्यसनादेव। चित्तशुद्धिं विना कृतात्सिद्धिं ज्ञाननिष्ठालक्षणां सम्यक्फलपर्यवसायित्वेन नाधिगच्छति नैव प्राप्नोतीत्यर्थः। कर्मजन्यां चित्तशुद्धिमन्तरेण संन्यास एव न संभवति। यथाकथञ्चिदौत्सुक्यमात्रेण कृतोऽपि न फलपर्यवसायीति भावः ॥ ४ ॥

कर्मोंके अनुष्ठानसे चित्तशुद्धि होगी नहीं, इसलिए वह पुरुष ज्ञानके अयोग्य अतएव बहिर्मुख बाह्यविषयग्रहणपरायण सर्वकर्मशून्यत्वनैष्कर्म्य (निष्क्रियोक्तस्वरूपेण अवस्थान) ज्ञानयोगसे निष्ठाको नहीं पाता।

शंका—'ननु एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः' इत्यादि श्रुतिसे सर्वकर्म संन्याससे ही ज्ञान निष्ठाकी उपपत्तिकी गई है, फिर एतदर्थ कर्मोंका अनुष्ठान व्यर्थ है।

समाधान—चित्त शुद्धिके बिना केवलकर्म संन्यासमात्रसे ज्ञाननिष्ठारूप सिद्धि कोई नहीं पाता, यदनन्तर मोक्ष रूप फल होता है, तादृशनिष्ठा फलपर्यवसायिनी है सो कर्मज शुद्धि सहित चित्तको ही होती है, चित्त शुद्धिके बिना केवल कर्मसन्याससे मोक्ष नहीं होता।

शंका—तो फिर श्रुतिमें ऐसा क्यों कहा गया ?

समाधान—श्रुति शुद्धान्तःकरण पुरुषपरक है क्योंकि जो रागद्वेषसे आविलचित्त हैं, वे सब भूतोंको सर्वात्मना अभयदान—('अभयः सर्वभूतेभ्यो दत्वा नैष्कर्म्यमाचरेदिति') नहीं दे सकते। अतः यह ठीक ही है, 'नच सन्यसनादेवेति' केवल कर्मत्यागमात्रसे मोक्ष नहीं होता, वस्तुतः कर्मजन्य चित्तशुद्धिके बिना समीचीन कर्मत्याग ही नहीं होता, उत्कण्ठामात्रसे सन्यास करने पर भी फलप्रद नहीं होता, फल आत्मैकत्वावलोकन है ॥ ४ ॥

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥ ५ ॥

जो पुरुष जितेन्द्रिय नहीं है, वह चूँकि क्षणभरके लिए भी कुछ न कुछ कर्म किये विना रह ही नहीं सकता, इसलिए ऐसा पुरुष संन्यासी नहीं बन सकता, शुद्धचित्तसे वर्जित पुरुष परवश होकर स्वभावजनितरागादिसे लौकिक, अलौकिक कर्म करता ही रहता है ॥ ५ ॥

'न हि' इति। तत्र कर्मजन्यशुद्ध्यभावे बहिर्मुखः—

हि यस्मात्क्षणमपि कालं जातु कदाचित्कश्चिदप्यजितेन्द्रियोऽकर्मकृत्सन्न तिष्ठति। अपि तु लौकिकवैदिककर्मानुष्ठानव्यग्र एव तिष्ठति। तस्मादशुद्धचित्तस्य संन्यासो न संभवतीत्यर्थः। कस्मात्पुनरविद्वान्कर्माण्यकुर्वाणो न तिष्ठति। हि यस्मात्सर्वः प्राणी चित्तशुद्धिरहितोऽवशोऽस्वतन्त्र एव सन्प्रकृतिजैः प्रकृतितो जातैरभिव्यक्तैः कार्याकारेण सत्त्वरजस्तमोभिः स्वभाव-

मनमें कर्मजन्य शुद्धि न होनेसे बाह्यविषयमें सदा पुरुषकी प्रवृत्ति होती है, यही 'न हीति' से कहते है। यहाँ 'हि' हेत्वर्थ है, प्रसिद्धार्थक नहीं। हि—यस्मात्, अजितेन्द्रिय, इन्द्रिय-वशंवदप्राणी एक क्षणभी किसी समयमें कर्मके विना नहीं रह सकता सदा वैदिक, वा लौकिक, कर्मानुष्ठानमें विकलचित्त रहता है, यह किया, यह करते हैं, यह करना है, इसके लिए इतनी सामग्री एकत्रित है, शेषके लिए ये व्यापार करने हैं, इत्यादि चिन्तासे चित्त व्याकुल रहता है। कर्मफलकामनासे ही किये जाते हैं अतः फलार्थी शुद्ध चित्त नहीं हो सकता, इसलिए फल तत्कर्मरूप सन्यास उसको नहीं होता।

प्रश्न—अविद्वान् कर्म विना क्यों नहीं रह सकता ?

उत्तर—कारण यह है कि प्राणिमात्र चित्त शुद्धि रहित अतएव अवश (पराधीन) होते हैं, जिनका चित्त शुद्ध है वे ही स्वतन्त्र हैं, अन्य सब प्रकृतिके परतन्त्र हैं. प्रकृति जो चाहती है वही कराती है, प्रकृतिके सत्व-रज-तम ये तीन गुण हैं, ये प्रकृतिसे उत्पन्न हैं।

शंका—ऐसा मत कहिये वे तीनों गुण नित्य हैं, इनकी उत्पत्ति कहाँ ?

समाधान—उत्पत्तिका तात्पर्य अभिव्यक्तिसे है।

शंका—एतत्त्रिगुणात्मक ही तो प्रकृति है, फिर प्रकृतिसे गुणत्रयाभिव्यक्तिका कथन गुणत्रयसे गुणत्रयाभिव्यक्ति कथनवदात्माश्रयदोषसे दुष्ट है ?

प्रभवैर्वा रागद्वेषादिभिर्गुणैः कर्म लौकिकं वैदिकं वा कार्यते । अतः कर्माण्यकुर्वाणो न कश्चिदपि तिष्ठतीत्यर्थः । यतः स्वाभाविका गुणाश्चालका अतः परवशतया सर्वदा कर्माणि कुर्वतो शुद्धबुद्धेः सर्वकर्मसंन्यासो न संभवतीति न संन्यासनिबन्धना ज्ञाननिष्ठा संभवतीत्यर्थः ॥ ५ ॥

समाधान—अच्छा तो 'कार्याकारेण परिणतैः गुणैः सत्वरजस्तमोभिः प्रेरितः पुरुषः करोति यह भगवान आगे कहेंगे 'प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः'। 'अहंकार विमूढात्माकर्त्ताहमिति मन्यते' अथवा प्रकृतिर्गुणसाम्ये स्यादमात्यादिस्वभावयोः, इस कोशके अनुसार यहाँ प्रकृति शब्द स्वभाववाची है, मनके स्वाभाविक गुण राग, द्वेष, मोह, हैं जो क्रमशः सत्वरजस्तमः प्रभव हैं, अतः वे ही गुण रागादिना परिणत हो कर बलात्कर्म कराते हैं, उक्तगुणत्रय प्रतिक्षण परिणामी है एक क्षणभी बिना परिणामके नहीं रह सकते, फिर उनसे उत्पन्न और तदात्मकार्य स्थिर कैसे रह सकता है, तत्कार्यमें स्थिरता सम्पादनके लिए शास्त्रोक्त उपायका आलम्बन करना चाहिये, बिना शास्त्रोपायज शुद्धिके अशुद्धचेता, प्राणी कर्मके बिना क्षणभर भी नहीं रह सकता, यह बिलकुल ठीक है, कारण इसमें यही है कि गुण स्वयं चालक है, अतः इनके जो अधीन है वे सदा कर्म करते ही रहेंगे, कर्मानुष्ठानसे प्रतिदिन बुद्धि अशुद्ध होती रहेगी, अतः सर्वकर्मसन्यास उसमें असम्भव ही समझना चाहिये अतः सन्यासहेतुक ज्ञाननिष्ठा उनमें नहीं हो सकती।

[शंका—जातु शब्द और क्षणशब्द ये दोनों कालवाची हैं, अतः दोनोंके उपादानमें पुनरुक्त दोषका परिहार कैसे ?

समाधान—जातु शब्द दिवसादि स्थूलकालका बोधक है और क्षण तदवान्तर सूक्ष्मकालका बोधक है, अर्थभेदसे पुनरुक्त दोष नहीं है। एक दिनमें ऐसा कोई क्षण नहीं बीतता जिसमें प्राणी कर्म न करे, किन्तु सदा कर्म करता ही रहता है।

शंका—तब जातुशब्द व्यर्थ हुआ। कोई क्षण ऐसा नहीं जाता जिसमें प्राणी कर्म न करे, यही कहना ठीक है, दिन स्थूलकालका अभिधान व्यर्थ है।

समाधान—प्रलयकालमें निर्व्यवहार ही जीव रहता है इसलिए दिनादि आवश्यक है, प्रलयमें सूर्यादिके न रहनेपर दिन व्यवहार नहीं होता।

शंका—सूर्यपरिस्पन्दसे क्षणादि व्यवहार भी होता है, अतः प्रलयादिमें क्षण व्यवहार कैसे ?

समाधान—परमाण्वादिविभागजनक क्रियासे क्षणादि व्यवहार शास्त्र संगत

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् ।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥६॥

राग-द्वेषसे दूषित अन्तःकरणवाला जो पुरुष उत्सुकतासे बाह्य इन्द्रियोंसे कर्म न कर मनसे इन्द्रियोंके अर्थोंका स्मरण करता रहता है—मैं संन्यासी हूँ, यों अभिमान कर कर्मोंसे विरत रहता है, वह उसका 'पापाचार' कहता है ॥ ६ ॥

यथाकथंचिदौत्सुक्यमात्रेण कृतसंन्यासस्त्वशुद्धचित्तस्तत्फलभाङ्न भवति यतः—'कर्मेन्द्रियाणि' इति ।

होता है। ब्रह्माके दिनमें सृष्टि और उनकी रात्रिमें प्रलय, ब्रह्माका दिन हजार युग चौकड़ीका होता है। रात्रिभी उतनी ही बड़ी होती है, इत्यादि विस्तार अन्यत्र देखिये।

शंका—सुषुप्तिकालमें कोई कर्म नहीं करता फिर कैसे कहते हैं सदा कर्म करता है?

समाधान—ठीक तो कहते हैं उक्त कालमें सुषुप्ति ही कर्म करता है, श्वास-प्रश्वास भी तो पुरुषव्यापारतन्त्र है, अन्यथा मृतपुरुषमें भी तत्प्रसंग हो जायगा, अतएव धर्मशास्त्रोंमें समय विशेषमें स्वापका प्रतिषेध है 'दिवा स्वापं न कुर्वीत संध्ययोरुभयोरपि' इत्यादि पुरुषयत्नसाध्यका ही विधि तथा प्रतिषेध होता है; 'नान्तरिक्षे अग्निश्चेतव्य इत्यादि' अशक्यार्थ प्रतिषेध हिरण्यस्तुत्यर्थ हैं, यह भी मीमांसामें स्पष्ट है। अकर्मकृतकर्माभाव करता है यह अर्थ नहीं अभावकृति साध्य नहीं है, यदि कृतिसाध्य हो तो कर्मही होगा अकर्म नहीं फिरभी कृतिसाध्य हो तो व्याहताभिधान है, अतः कर्मका अकर्ता क्षणभर भी नहीं रहता किन्तु सदा कार्य करता ही रहता है यह तात्पर्य है।

शंका—सर्वशब्दसे ज्ञाननिष्ठाका भी ग्रहण स्वतः सिद्ध है तो वह भी सदा कर्म करता ही रहता है यदि ऐसा है तो सन्यास किसीको भी हो ही नहीं सकता? फिर इसका विधान ही व्यर्थ है और ज्ञाननिष्ठा चर्चा भी नहीं हो सकती।

समाधान—कर्मयोगसे जिन लोगोंने चित्तके मलको क्षीणकर लिया है उनसे व्यतिरिक्त सर्वशब्दार्थमें वे नहीं है॥ ५॥]

उत्कृष्ट इच्छासे अनधिकारी होनेपर भी—किसी तरह कृतसन्यास अशुद्धचित्त पुरुष सन्यास फलभागी नहीं होता, यह कहते हैं 'कर्मेति'से। विशेष रूपसे

यो विमूढात्मा रागद्वेषादिदूषितान्तःकरण औत्सुक्यमात्रेण कर्मेन्द्रियाणि वाक्पाण्यादीनि संयम्य निगृह्य बहिरिन्द्रियैः कर्माण्यकुर्वन्निति यावत्। मनसा रागादिप्रेरितेनेन्द्रियार्थान्शब्दादीन्नत्वात्मतत्त्वं स्मरन्नास्ते कृतसंन्यासोऽहमित्यभिमानेन कर्मशून्यस्तिष्ठति स मिथ्याचारः सत्त्वशुद्ध्यभावेन फलायोग्यत्वात्पापाचार उच्यते,

'त्वंपदार्थविवेकाय संन्यासः सर्वकर्मणाम्।
श्रुत्येह विहितो यस्मात्तत्यागी पतितो भवेत्' ॥'

इत्यादिधर्मशास्त्रेण। अत उपपन्नं न च संन्यसनादेवाशुद्धान्तःकरणः सिद्धिं समधिगच्छतीति ॥ ६ ॥

मूढ है जिसका आत्मा ऐसा जो रागद्वेषमोहादिसे दूषितान्तःकरण पुरुष है, वह उत्कटेच्छामात्रसे वागादि इन्द्रियोंका निग्रह कर, अर्थात् बहिरिन्द्रियोंसे कर्म न कर रागादि प्रेरित मनसे इन्द्रियार्थ शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धादि, विषयोंका स्मरण करता रहता है, आत्मतत्वका स्मरण नहीं करता जिसके लिए सन्यास किया है, अब मैं सन्यासी हूँ, मुझे कोई कर्म नहीं करना है, इस अभिमानसे कर्मशून्य होकर चुपचाप बैठा रहता है वह मिथ्याचार है, सत्वशुद्धि अन्तःकरण शुद्धिके अभावसे फलके अयोग्य होनेसे वह पापाचार कहाता है, त्वं पदार्थ विवेकके लिये सर्वकर्मोंका सन्यास श्रुत्यादिसे विहित है। त्वं पदार्थके विवेकके बिना कर्मत्यागसे पतित होता है, जो यह कहते हैं कि 'दण्डग्रहणमात्रेण नरो नारायणो भवेत्' उनको इसका मनन करना चाहिये। विद्वत्सन्यास तो स्वतः सिद्ध है उनके बारेमें कुछ कहना ही नहीं है, परन्तु अविद्वत्सन्यास-आत्मतत्वके विवेदार्थ है, कर्मानुष्ठानसे इसमें बाधा न पहुँचे इसलिए सब कर्मोंका त्याग कहा गया है, कर्मके त्यागसे सन्यासी की हानि नहीं, क्योंकि उसको किसी फलकी इच्छा नहीं, नित्यकर्मप्रत्यवायपरिहारार्थ जो विहित है, वे सन्यासी के लिए अतिस्वल्प है। यह कर्मसंक्षेप आत्मज्ञानोपाय श्रवणादिसम्पादनार्थक है यदि मुख्य 'त्वं' पदार्थ विवेक पर ध्यान न देकर केवल संन्यासमात्रसे मोक्ष हो जायगा, इस लोभमें पड़कर आत्मश्रवणादि नहीं करता, केवल कर्ममात्रका परित्याग करता है वह पापाचार है, अतः यह अर्थ उपपत्तियुक्त है कि कर्म सन्यासमात्रसे कोई भी पुरुष सिद्धि नहीं पाता, यह कहना बहुत ही उत्तम है। मिथ्याचार इसलिए कहाता है कि अन्यथा संकल्प कर अन्यथा आचरण करता है, संकल्प तो यह किया कि अब हम सब कर्मोंका त्याग कर ज्ञान योगके

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्याऽऽरभतेऽर्जुन ।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ॥ ७ ॥

फलोंकी इच्छा छोड़कर और मनके साथ सब ज्ञानेन्द्रियोंको विषयोंसे हटा कर जो पुरुष कर्मेन्द्रियोंसे विहित कर्मोंका अनुष्ठान करता है, वह पापाचार पुरुषसे उत्तम है ॥ ७ ॥

औत्सुक्यमात्रेण सर्वकर्माण्यसंन्यस्य चित्तशुद्धये निष्कामकर्माण्येव यथाशास्त्रं कुर्यात् । यस्मात्—'यस्तु' इति ।

तुशब्दोऽशुद्धान्तःकरणसंन्यासिव्यतिरेकार्थः । इन्द्रियाणि ज्ञानेन्द्रियाणि श्रोत्रादीनि मनसा सह नियम्य पापहेतुशब्दादिविषयासक्तेर्निवर्त्य मनसा विवेकयुक्तेन नियम्येति वा, कर्मेन्द्रियैर्वाक्पाण्यादिभिः कर्मयोगं

साधनोंका अनुष्ठान करेंगे, परन्तु संन्यास लेने पर भी उक्त व्यापारमें प्रवृत्ति न होकर प्राचीन अशुद्ध संस्कारसे मनके द्वारा विषयोंका ही सेवन करता है । लोक-वञ्चनार्थ केवल बहिरिन्द्रियोंका ही संयम करता है बाह्येन्द्रियप्रवृत्ति फल अति-स्फुट है, लोकको ज्ञात हो जायेगा तो मेरी अप्रतिष्ठा होगी । इसलिए उसका ही परित्याग करता है, मनोवृत्ति किसीको विदित नहीं होती, इसलिए तद्द्वारा इष्टविषयों-के स्मरणसे मनोराज्य सुखानुभव करता है, वह मिथ्याचार है यह यथार्थ ही है । उत्तम फलाशासे प्रवृत्त होकर तदुपायानुष्ठान न कर तद्विपरीत कर्मानुष्ठानसे पतित हो जाता है यह संन्यासियोंको अवश्य ध्यानमें रखना चाहिये ॥ ६ ॥

उत्कटेच्छावश सब कर्मोंका त्यागकर चित्तशुद्धिके लिये निष्काम कर्मको ही शास्त्रानुसार करे, यह कहते हैं—'यस्मात्-यस्त्विति' इत्यादिसे । श्लोकमें 'तु' शब्द अशुद्धान्तःकरण जो सन्यासी हैं, उनको अलग करता है । इन्द्रियशब्द यहाँ ज्ञाने-न्द्रियपरक है । श्रोत्रादि ज्ञानेन्द्रियोंका मनके साथ निग्रहकर पापजनक विषया-सक्तिसे उनको निवृत्तकर अर्थात् प्रतिषिद्ध विषयसेवनका त्यागकर अथवा विहित अविहित सभी विषयोंमें प्रवृत्तिशील इन्द्रियोंको विवेकबुद्धियुक्त मनसे विहित विषयमें ही रोककर (लगाकर), यह भी अर्थ हो सकता है । नियन्त्रण दो प्रकारका होता है—एक प्रतिकूल विषयसे व्यावृत्ति और दूसरा अनुकूल विषयमें प्रवृत्ति । इसलिये दोनों अर्थ कहा ।

शुद्धिहेतुतया विहितं कर्मारभते करोत्यसक्तः फलाभिलाषशून्यः सन् यो विवेकी स इतरस्मान्मिथ्याचाराद्विशिष्यते। परिश्रमसाम्येऽपि फलातिशयभाक्त्वेन श्रेष्ठो भवति। हेऽर्जुनाऽऽश्चर्यमिदं पश्य—यदेकः कर्मेन्द्रियाणि निगृह्य ज्ञानेन्द्रियाणि व्यापारयन्पुरुषार्थशून्योऽपरस्तु ज्ञानेन्द्रियाणि निगृह्य कर्मेन्द्रियाणि व्यापारयन् परमपुरुषार्थभाग्भवतीति ॥ ७॥

यद्यपि अनुकूलके प्रवृत्तिनियमसे प्रतिकूल-व्यावृत्ति अर्थतः सिद्ध होती है, तथापि प्रतिकूलव्यावृत्तिसे अनुकूलप्रवृत्ति अर्थतः सिद्ध होती है, यह भी कह सकते हैं। उभयतः प्रवृत्तिनिवृत्तिसे भी यह सिद्ध होती है, अतः कैसा नियन्त्रण शब्द है, कैसा अर्थ, इसमें विनिगमक नहीं। अतः उभयार्थाभिधान उचित ही है। भाव यह है कि कर्मयोगके लिए समस्त इन्द्रियोंका सर्वविषयोंसे निरोध करना व्याहत है; क्योंकि कर्म्मानुष्ठानके लिये विहितविषयोंमें प्रवृत्ति आवश्यक है। केवल प्रतिकूल विषयोंसे इन्द्रियोंको रोकना परमावश्यक है। इन्द्रियोंसे प्रतिकूल और अनुकूल आदिका ज्ञान नहीं हो सकता, इसलिये मनमें ही यह ज्ञान होगा। मनोधीन इन्द्रियाँ हैं, इसलिये विवेकयुक्त मनसे नियम्य कहा। प्रथम अर्थमें यदि मन स्वयं प्रतिषिद्ध विषयमें प्रवृत्त होगा तो वह इन्द्रियोंको नहीं रोक सकता, इस अभिप्रायसे साहित्य अर्थमें तृतीया मानकर मनके साथ इन्द्रियोंको असद्विषयोंसे रोकना कहा है। द्वितीय अर्थमें मनको विवेकी कहा, इसकारण असद्विषयमें मनकी स्वतः ही प्रवृत्ति न होगी। उससे नियन्त्रण करना व्यर्थ है। 'मनसा' करणमें तृतीया है। जो पुरुष शास्त्रीयकर्म बहिरिन्द्रियोंसे चित्तशुद्धिके लिये फलाभिलाषारहित होकर करता है सो मिथ्याचारसे बहुत अच्छा है। यद्यपि मिथ्याचार और विवेकी दोनोंको इन्द्रियनिग्रहादि व्यापार सम है, तथापि विवेकी फलभागी होता है, मिथ्याचार नहीं, क्योंकि उसने मनकी शुद्धिके लिये कर्मानुष्ठान नहीं किया, अतः शुद्धिरूप फलभागी नहीं होता, फिर परमपुरुषार्थ प्राप्तिकी क्या सम्भावना? अतः दोनोंमें विवेकी श्रेष्ठ है। हे अर्जुन, यह आश्चर्य है कि कर्मेन्द्रियोंको रोककर ज्ञानेन्द्रियोंको व्यावृत्त कर रहा एक पुरुष तो पुरुषार्थसे शून्य रह जाता है और दूसरा ज्ञानेन्द्रियोंको रोककर कर्म्मेन्द्रियोंसे व्यापारकर परम पुरुषार्थका भागी होजाता है॥ ७॥

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः ।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः ॥ ८ ॥

तुम नियत कर्म करो, कर्म न करनेकी अपेक्षा कर्म करना ही श्रेष्ठ है। कर्म किये बिना शरीरका चलाना भी पूरा नहीं हो सकता अर्थात् शरीरका बसर भी नहीं हो सकता ॥ ८ ॥

'नियतम्' इति। यस्मादेवं तस्मान्मनसा ज्ञानेन्द्रियाणि निगृह्य कर्मेन्द्रियैः—

त्वं प्रागननुष्ठितशुद्धिहेतुकर्मा नियतं विध्युद्देशे फलसम्बन्धशून्यतया नियमितं निर्निमित्तेन विहितं कर्म श्रौतं स्मार्तं च नित्यमिति प्रसिद्धं कुरु। कुर्विति मध्यमपुरुषप्रयोगेणैव त्वमिति लब्धे त्वमिति पदमर्थान्तरे सं-

इस प्रकार दोनों विशेष विषय हैं, अतः मनसे ज्ञानेन्द्रियोंका निग्रह कर कर्मेन्द्रियोंसे यतः तुमने पूर्व जन्ममें मनकी शुद्धिके लिये कर्म्म नहीं किया है, इसलिये नित्यकर्म करो।

शङ्का—नियतसे नित्यकर्मका लाभ कैसे होता है।

समाधान—काम्यकर्मोंके बोधक वाक्योंमें विधिके उद्देश्यमें फलका सम्बन्ध नियमसे रहता है। यथा—'स्वर्गकामो यजेत्' इत्यादि। यहाँ स्वर्गकामका उद्देश्य-कर यागका विधान है। जो स्वर्गको चाहे, वह याग करे। यागविधिके उद्देश्यमें स्वर्गका फल श्रुत है इसलिये यह काम्य कर्म है और जिस कर्मविधायकवाक्यके उद्देश्यांशमें फलाभाव नियत है—'अहरहः सन्ध्यामुपासीत' इत्यादि। वहाँ शुचिविहित-कालजीवित्वके उद्देश्यसे नित्यकर्मका—सन्ध्याका—विधान है, इसलिये उद्देश्यांशमें फलाभाव होनेसे वही नियतवाक्य है। यह विहित सन्ध्या नित्यकर्म है, यह श्रौत नित्यकर्म है। एवं स्मृतिप्रोक्त जो पञ्चमहायज्ञादि कर्म हैं, उनको नित्यकर्मसे प्रसिद्धि लोकमें है, इसको करो।

शङ्का—युष्मदर्थमें मध्यमपुरुष होता है, अतः मध्यमपुरुष 'कुरु' से ही 'त्वम्' (तुम) का लाभ सिद्ध है फिर 'त्वं' शब्दका प्रयोग क्यों, कुरु कहनेसे ही 'त्वं कुरु' इस अर्थका लाभ सर्वानुभव सिद्ध है। जो बिना शब्दोच्चारणसे प्रतीत नहीं, उसके लिये शब्दोच्चारण आवश्यक माना जाता है।

समाधान—ठीक है, यहाँ 'त्वम्' शब्द अर्थान्तर संक्रमित है यानी

क्रमितम्। कस्मादशुद्धान्तःकरणेन कर्मैव कर्तव्यं हि यस्मादकर्मणोऽकरणात्कर्मैव ज्यायः प्रशस्यतरम्। न केवलं कर्माभावे तवान्तःकरणशुद्धिरेव न सिध्येत् तथाच प्रागुक्तम्। अपि चेत्यन्तःकरणशुद्धिसमुच्चयार्थः ॥ ८ ॥

अर्थान्तरबोधनार्थ है—अन्योंको असुलभ सकल कल्याणभाजन प्रिय शिष्य तुम ही हो, इसलिये तुमसे यह शास्त्ररहस्य कहते हैं। इस विशेष अर्थके बोधनके लिये 'त्वम्' शब्दका प्रयोग किया गया है। यह साहित्यका विषय है 'अतः विशेष परिचय करानेमें अधिक लिखना होगा, इसलिये सामान्यरूपसे एक उदाहरण देते हैं—'रामोऽस्मि सर्वं सहे'। यह वाक्य सीताविरहातुर, लीलावतार, मर्यादा-पुरुष भगवान् श्रीरामचन्द्रजीका है। वर्षाकालिक समुन्नत मेघबलाकादिको आकाशमें देखकर अभिव्यक्तमनोविकार होकर बोले कि मैं तो राम हूँ, सब सह लूँगा, पर सीताजी कैसे सहेगी, यहाँ वाणीसे तथा 'अस्मि सहे' इत्यादिसे भगवान्का बोध सिद्ध ही था, फिर 'राम' पदको क्या आवश्यकता थी, इसका उत्तर आलंकारिक यह देते हैं कि राम शब्द दशरथापत्यविशेषका वाचक है, उसका लाभ उक्त रीतिसे हो जायगा, इसमें सन्देह नहीं है, उसके तात्पर्यसे यहाँ रामका प्रयोग भगवान्ने नहीं किया, किन्तु अत्यन्त दुःखसहिष्णु अर्थबोधके तात्पर्यसे उक्त शब्दका प्रयोग है। राज्यच्युति, वनवास, प्रियवियोगादि सहन करनेवालेको यह दुःख 'असह्य' नहीं, दुःख सहनेके लिये ही मेरा जन्म हुआ है, 'दुःखसंवेदनायैव रामे चैतन्यमर्पितम्' इत्यादि वाक्यान्तरसे स्पष्ट है, यद्यपि इस विषयके अनेक उदाहरण हैं, तथापि भगवद्वाक्यमें भी ऐसे शब्दोंका प्रयोग होता है, इसमें दार्ढ्योत्पादनके लिये भगवद्वाक्यका उपन्यास किया है, अन्यथा 'त्वामस्मि वच्मि विदुषां समुदायोऽत्रतिष्ठति' इत्यादिका अनुरूप उदाहरण देते, कर्म करनेमें हेतु कहते हैं—कर्म न करनेकी अपेक्षा कर्म करना ही अच्छा है, केवल कर्म न करनेसे तुम्हारा अन्तःकरण शुद्ध न होगा, यही हानि नहीं है, किन्तु युद्धकर्म न करनेसे तुम्हारी शरीरकी स्थिति भी न रह सकेगी, भिक्षावृत्ति तुम्हारे लिये गर्हित है, वह केवल ब्राह्मणोंके लिये है, तुम्हारी तो उत्कृष्टवृत्ति क्षात्रवृत्तिसे लब्ध विषयोंसे उचित है, जो युद्धके विना नहीं हो सकती, इस तात्पर्यसे 'त्वम्' शब्दका उपादान है, वह पूर्वमें कह चुके हैं, अपि च यह शब्द अन्तःकरणशुद्धिका समुच्चयाथ करनेके लिये है, यह भी न होगा ॥ ८ ॥

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः ।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर ॥ ९ ॥

हे अर्जुन, यज्ञके कार्य यानी ईश्वरार्पण कर्मके अतिरिक्त दूसरा कोई भी कर्म इस जगत्में कर्मबन्धनरूप ही है ऐसा समझो, अतः फलाभिलाषशून्य होकर ईश्वर आराधनके लिये वर्णाश्रमोचित कर्म करो ॥ ९ ॥

'कर्मणा बध्यते जन्तुः' इति स्मृतेः सर्वं कर्म बन्धात्मकत्वान्मुमुक्षुणा न कर्तव्यमिति मत्वा तस्योत्तरमाह—'यज्ञार्थात्' इति ।

यज्ञः परमेश्वरः 'यज्ञो वै विष्णुः' इति श्रुतेः । तदाराधनार्थं यत्क्रियते कर्म तद्यज्ञार्थं तस्मात्कर्मणोऽन्यत्र कर्मणि प्रवृत्तोऽयं लोकः कर्माधिकारी कर्मबन्धनः कर्मणा बध्यते न त्वीश्वराराधनार्थेन । अतस्तदर्थं कर्म वै कौन्तेय त्वं कर्मण्यधिकृतो मुक्तसङ्गः सन् समाचर सम्यक्श्रद्धादिपुरःसरमाचर ॥९॥

शङ्का—'कर्मणा बध्यते जन्तुः' इस स्मृतिसे स्पष्ट है कि कर्म ही से प्राणी-'बद्ध' होते हैं अर्थात् कर्म ही बन्ध है, मुमुक्षु इसीसे मुक्त होना चाहता है, मैं भी मुमुक्षु हूँ, फिर मेरे लिये विपरीत उपदेश क्यों, मुक्तीच्छासे कर्म करना तो विपरीत है ।

समाधान—'यज्ञार्थात्' इति 'यज्ञो वै विष्णुः' इत्यादि श्रुतिसे यज्ञशब्दार्थ यहाँ विष्णु भगवान् हैं, 'यज्ञः अर्थः प्रयोजनं यस्य तत् तस्मात्' परमेश्वरके आराधनार्थ जो कर्म किये जाते हैं उनसे अतिरिक्त जो कर्म होते हैं वे बन्धन हैं । यह उक्त स्मृतिके वचनका तात्पर्य है । ईश्वराराधनकर्मव्यतिरिक्त काम्यकर्मकलापमें प्रवृत्त पुरुष कर्मका अधिकारी यानी काम्यकर्मविधायक वाक्योंसे तत्तत्फलकामत्ताधिकारिविषयत्वेन श्रुत है । 'स्वर्गकामः पशुकामः' इत्यादि काम्यकर्मानुष्ठानसे जन्मग्रहण आवश्यक है अन्यथा फलभोगो नहीं हो सकेगा । शरीर धारण करनेपर संसार नियत है, इसलिये कर्मको बन्धन कहा है । ईश्वराराधनार्थ कर्म बन्धन नहीं है, अतः ईश्वराराधनार्थ कर्म हे कौन्तेय, तुम कर्ममें ही अधिकृत हो, मुक्तसङ्ग—फलासक्ति रहित होकर सम्यक् श्रद्धा विधिके साथ भक्ति परायण होकर इससे तुमको बन्धन न होगा, प्रत्युत बन्धनकी निवृत्ति होगी अर्थात् यज्ञार्थात्-यज्ञ कर्मस्वरूप निर्वाहार्थ जो द्रव्यार्जनादि कर्म शास्त्रविहित हैं, उससे बन्ध नहीं होता, किन्तु उसमें स्वार्थ बुद्धि करने पर वह बन्धक होता है । यतः यज्ञार्थ कर्म बन्धक नहीं है,

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥ १० ॥

सृष्टिके आरम्भमें ब्रह्माने यज्ञ (नित्यानित्यनियम) और प्रजा (जनों) को उत्पन्न करके कहा कि इस यज्ञके अनुष्ठानसे अर्थात् स्वाश्रमोचित धर्मोंके अनुष्ठानसे तुम्हारी उत्तरोत्तर वृद्धि होगी, इसे तुम लोग अपनी इष्टफलदेनेवाली कामधेनु समझो ॥ १० ॥

प्रजापतिवचनादप्यधिकृतेनं कर्म कर्तव्यमित्याह—'सहयज्ञाः' इत्यादिचतुर्भिः ।

सहयज्ञेन विहितकर्मकलापेन वर्तन्त इति सहयज्ञाः कर्माधिकृता इति यावत् 'वोपसर्जनस्य' इति पक्षे सादेशाभावः प्रजास्त्रीन्वर्णान्पुरा कल्पादौ

इसलिये तदर्थ कर्म करो, किन्तु उस कर्मके करनेमें जो कौशल है, उस पर ध्यान रहे कौशल मुक्तसंग है । उसमें कुछ फलकी इच्छा न करो ।

शङ्का—बिना फलेच्छासे प्रवृत्ति कैसे होगी ।

समाधान—मित्रके कार्यमें सहायतार्थ जो सज्जन कर्म करते हैं अपना निजका कोई प्रयोजन नहीं रखते, तद्वत् केवल ईश्वरार्पण बुद्धिसे कर्म करो, ऐसे कर्मसे सन्तुष्ट ईश्वर अनादि कर्मवासनाकी निवृत्तिकर आत्मसाक्षात्कारद्वारा मोक्षफल तुमको अवश्य देंगें ।

कर्ममें ल्युट्का विधान नहीं है, प्रवृत्तपदका अध्याहारादि दोष तथा बहुव्रीहि न माननेसे पुल्लिङ्गकी उत्पत्ति नहीं, तथा भाष्य भी विरुद्ध है । दर्दुर दृष्टियोंको इस पर ध्यान देना चाहिये, यहाँ पर भाष्यकारने 'कर्म बन्धनं यस्य सः' बहुव्रीहि समास माना है, तदनुसार बन्धनशब्द भावल्युडन्त है । स्वामीजीने 'कर्मणा बध्यते' यहाँ लिखकर कर्मल्युडन्त माना है, सो ठीक नहीं ॥ ९ ॥

ब्रह्माजीके आदेशसे भी यह निश्चित है कि अधिकारीको कर्म करना चाहिये यह कहते हैं 'सह यज्ञाः' इत्यादि चार श्लोकोंसे ।

यज्ञ शास्त्रविहित कर्मसमुदायका उपलक्षण है । 'तेन सह वर्तते इति' 'सह यज्ञा 'वोपसर्जनस्य' इस सूत्रसे सहके स्थानमें विकल्पसे 'स' आदेश होता है, अतः

सृष्ट्वोवाच । प्रजानां पतिः स्रष्टा । किमुवाचेत्याह— अनेन यज्ञेन स्वाश्रमोचितधर्मेण प्रसविष्यध्वं प्रसूयध्वम् । प्रसवो वृद्धिः । उत्तरोत्तरामभिवृद्धिं लभध्वमित्यर्थः । कथमनेन वृद्धिः स्यादत आह— एष यज्ञाख्यो धर्मो वो युष्माकमिष्टकामधुक्, इष्टानभिमतान्कामान्काम्यानि फलानि दोग्धि प्रापयतीति तथा । अभीष्टभोगप्रदोऽस्त्वित्यर्थः । अत्र यद्यपि यज्ञग्रहणमावश्यककर्मोपलक्षणार्थमकरणे प्रत्यवायस्याग्रे कथनात् । काम्यकर्मणां च प्रकृते प्रस्तावो नास्त्येव 'मा कर्मफलहेतुर्भूः' इत्यनेन निराकृतत्वात्, तथाऽपि

सयज्ञाः, सहयज्ञाः ये दोनों प्रयोग साधु हैं । पूर्वकल्पमें प्रजा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य इन तीनोंकी सृष्टिकर कहा ।

शङ्का—क्या कहा ?

समाधान—इस यज्ञसे और स्वाश्रमोचितधर्मोंके अनुष्ठानसे अपनी वृद्धि करो, उत्तरोत्तर समृद्धिका लाभ करो।

शङ्का—इससे वृद्धि कैसे होगी ?

समाधान—यह यज्ञनामक धर्म आप लोगोंको इष्टप्रद है, इष्टको काम्यपशुपुत्रस्वर्गादिफलोंको 'दोग्धि प्रापयति इति इष्टकामधुक्' जो चाहोगे सो फल यह देगा, अतः यह आप लोगोंके बड़े कामका है । यद्यपि ब्रह्मा केवल काम्ययज्ञोंको ही 'इष्टधुक्' नहीं कह रहे हैं, अन्यथा 'नित्य' कर्मोंका संग्रह नहीं होगा । काम्य कर्मोंका 'मा कर्मफलहेतुर्भूः' इसवचनसे प्रतिषेध होनेसे उनका प्रसंग ही नहीं है, किन्तु चित्तशुद्धिसम्पादककर्मोंका ही यहाँ अवश्यकर्त्तव्यत्वेन उपदेश है, जिनके न करनेसे चित्तशुद्धि न हो, करनेसे चित्तशुद्धि हो, वे यहाँ विवक्षित हैं, अतएव यज्ञ शब्दको अवश्यकर्मोपलक्षणार्थक मानकर नित्यकर्मका भी संग्रह किया है। परन्तु वे इष्टफलप्रदान ही हैं । अन्यथा उनमें भी काम्यत्वापत्ति हो जायगी । प्रधान फलका निर्देश तदुत्पत्तिबोधक वाक्यमें नहीं है, इसलिये वे अफल कहे जाते हैं । आनुषङ्गिक फल तो उनका भी होता है, नित्य कर्मानुष्ठानका प्रत्यवायपरिहार फल तो माना ही जाता है, नित्यकर्म न करने पर पाप होता है, करनेपर पाप नहीं होता । पाप दुःखका कारण है; प्रत्यवायपरिहारद्वारा दुःखनिवृत्ति फल नित्यकर्मोंका है, जैसे कण्टकाकीर्णभूमिमें चलनेसे कण्टकवेधजन्य दुःख होता है, तद्भूमिका परिहार करनेसे कण्टकवेधजन्य दुःखका परिहार होता है, तद्वत् प्रकृतमें

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः ।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥ ११ ॥

इस धर्मरूपी यज्ञके द्वारा देवताओंका पूजन करनेसे देवता तुमपर प्रसन्न होंगे। इसप्रकार परस्पर विश्वास रखनेसे परम कल्याण प्राप्त करोगे ॥ ११ ॥

नित्यकर्मणामप्यानुषङ्गिकफलसद्भावात्, 'एषवोऽस्त्विष्ठकामधुक्' इत्युपपद्यते। तथा चापस्तम्बः स्मरति-'तद्यथाऽऽम्रे फलार्थे निर्मिते छायागन्धावनूत्पद्येते एवं धर्मं चर्यमाणमर्था अनूत्पद्यन्ते नो चेदनूत्पद्यन्ते न धर्महानिर्भवति' इति। फलसद्भावेऽपि तदभिसंध्यनभिसंधिभ्यां काम्यनित्ययोर्विशेषः। अनभिसंहितस्याऽपि वस्तुस्वभावादुत्पत्तौ न विशेषः। विस्तरेण चाग्रे प्रतिपादयिष्यते ॥ १० ॥

कथमिष्टकामदोग्धृत्वं यज्ञस्येति तदाह—देवान् इति।

भी समझना। इस अभिप्राय से कामधुक् वे भी हैं, यह प्रजापतिका अभिप्राय है धर्मसूत्रकार आपस्तम्बने भी कहा है—'तद्यथेत्यादि' वचन ऊपर देखिये उक्त वचनका अर्थ पूर्वमें कह चुके हैं, जैसे फलार्थ आमके लगानेसे छाया, गन्ध, आनुषंगिक फल होता; एवं धर्म करनेवालेको अर्थप्राप्ति होती है यह धार्मिक है, मेरे द्रव्यका सदुपयोग करेंगे, जिससे हमको भी धर्म होगा इस अभिप्रायसे लोग द्रव्य देते हैं और उस दानसे भी धर्म होता है, फल होनेपर धर्महानि नहीं होती है।

शङ्का—यदि नित्य कर्मका भी फल है तो नित्यकाम्य कर्मोंमें भेद ही क्या?

समाधान—काम्यकर्मफल संकल्पपूर्वक होता है और नित्यकर्म तदपूर्वक फलेच्छापूर्वकत्व तदभावप्रयुक्त दोनोंमें वैलक्षण्य है।

शङ्का—यदि फलसंकल्प नहीं होता तो फल क्यों होगा?

समाधान—यह तो वस्तुका स्वभाव है कि दाहेच्छासे अग्निसंयोग हो या तदनिच्छासे, अग्निसंयोगमें दाहकत्व वस्तुस्वभाव है, इससे उसमें उभयथा दाह होता ही है तद्वत् मनः संकल्पादि प्रयुक्त विशेष नहीं यह विस्तारसे आगे कहेंगे ॥ १० ॥

शङ्का—इष्टफलदाता यज्ञ कैसे होते हैं, भाव यह है कि याग क्रियाकलापात्मक होनेसे क्षणप्रध्वंसी है, स्वर्गादिफल कालान्तरमें होगा, उस समय याग नहीं

इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः ।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः ॥ १२ ॥

यज्ञसे सन्तुष्ट देवतालोग तुमको अभिलषित भोग देंगे यानी मनःकामना पूरी करेंगे। देवताओं द्वारा दिये गये पदार्थको न देकर जो स्वयं भोगता है, वह चोर है ॥ १२ ॥

अनेन यज्ञेन यूयं यजमाना देवानिन्द्रादीन्भावयत हविर्भागैः संवर्धयत तर्पयतेत्यर्थः। ते देवा युष्माभिर्भाविताः सन्तो वो युष्मान्भावयन्तु वृष्ट्यादिनाऽन्नोत्पत्तिद्वारेण संवर्धयन्तु एवमन्योन्यं संवर्धयन्तो देवाश्च यूयं च परं श्रेयोऽभिमतमर्थं प्राप्स्यथ देवास्तृप्तिं प्राप्स्यन्ति यूयं च स्वर्गाख्यं परं श्रेयः प्राप्स्यथेत्यर्थः ॥ ११ ॥

न केवलं पारत्रिकमेव फलं यज्ञात्, किन्त्वैहिकमपीत्याह—'इष्टान्' इति ।

रह सकता तो याग उस फलका कारण कैसे होगा, कार्यके पूर्वक्षणमें वर्तमान ही कार्य्यका कारण माना जाता है, क्रियाफल क्रियाकालमें ही देखा जाता है। मर्दनक्रियाजन्यसुख मर्दनक्रियाकालमें ही अनुभूत है, कालान्तरमें नहीं, तद्वत् यागक्रियाकालमें जो फल हो, वही तत्फल हो सकता है, अन्य नहीं।

समाधान—स्वामिसेवा कालान्तरमें भी फलप्रद होती है, इस अभिप्रायसे उत्तर देते हैं कि इस यज्ञसे आप लोग देवताओंको तत्तद्धविर्भाग प्रदान द्वारा परितृप्त करें। आप लोगोंसे उक्तोपायद्वारा परितृप्त देवता सुवृष्टिसमुत्पन्न अन्नादिसे आपको तृप्त करें, क्योंकि यज्ञादि संन्तुष्ट देवता सुवृष्टि करती हैं ततः व्रीहियवादि धान्योत्पत्ति होती है, सुभिक्षसे प्रजा बढ़ती है, यह सिद्ध अर्थ है। इस प्रकार परस्पर आप देवताओंको बढ़ावें, देवता आपको बढ़ावें। इस तरह परस्परके बढ़ावसे आप और देवता दोनों कल्याणको पावें। देवता यज्ञादिसे तृप्ति पावें और आप लोग स्वर्गनामक परमश्रेयस्कर दुःखामिश्रित सुख पावें ॥ ११ ॥

यज्ञ से केवल पारलौकिक ही फलप्राप्ति नहीं होती, किन्तु इस लोकमें भी फल प्राप्ति होती है यह कहते हैं—'इष्टान्' इत्यादिसे। परलोकमें जो फल स्वर्गादि होता है वह पारलौकिक है, जो फल इस लोक ही में भोगार्थ मिलता है उसको ऐहलौकिक कहते हैं। यज्ञादिसे दोनों फलकी प्राप्ति होती है।

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः ।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥१३॥

यज्ञसे अवशिष्ट अन्नका भक्षण कर रहे श्रेष्ठ पुरुष सब पापोंसे मुक्त हो जाते हैं और जो पापी पुरुष अपने शरीरके पोषणके लिये ही पकाते हैं, वे पापको खाते हैं ॥ १३ ॥

अभिलषितान्भोगानपश्यन्नहिरण्यादीन्वो युष्मभ्यं देवा दास्यन्ते वितरिष्यन्ति । हि यस्माद्यज्ञैर्भाविवतास्तोषितास्ते । यस्मात्तैर्ऋणवद्भवद्भयो दत्ता भोगास्तस्मात्तैर्देवैर्दत्तान्भोगानेभ्यो देवेभ्योऽप्रदाय यज्ञेषु देवोद्देशेनाऽऽहुतीः असंपाद्य यो भुङ्क्ते देहेन्द्रियाण्येव तर्पयति स्तेन एव तस्कर एव स देवस्वापहारी देवर्णानपाकरणात् ॥ १२ ॥

'यज्ञशिष्टाशिनः' इति

ये तु वैश्वदेवादियज्ञावशिष्टममृतं येऽश्नन्ति ते सन्तः शिष्टाः वेदोक्त-

---

इष्ट इच्छाविषय भोगसाधन पशु, सुवर्ण, रजतादि आपलोगोंको देवता देंगे।

शङ्का—क्यों ?

समाधान—आप लोगोंने यज्ञमें देवताओंको सन्तुष्ट किया है, देवता ऋणी नहीं रह सकते वे खूब जानते हैं कि 'कृते प्रतिकर्त्तव्यमेष धर्मः सनातनः'। विषयप्राप्ति तदुपभोगका सामर्थ्य आप लोगोंमें देवाधीन ही है, मनुष्य देवताके ऋणी हैं, जिस मनुष्यको देवताओंने भोगसाधन इस कामनासे दिया है कि यह यज्ञमें हमको सन्तुष्ट करेगा, अतः मनुष्य इन भोगसाधनोंको उत्तमर्ण देवताओंको न देकर अर्थात् देवोद्देश्यक होमादि न कर स्वयं उपभोग करता है—अपने शरीरेन्द्रियोंको तृप्त करता है, वह मनुष्य स्तेन है यानी देवांशका अपहरण करता है, इसलिये चोर है। दूसरेकी वस्तुओंको अपनानेवाला चोर कहा जाता है, देवताके ऋणको नहीं चुकाया इसलिये उसकी निन्दा चोरसे की गई है ॥ १२ ॥

'यज्ञशिष्टाशिनः' इति। जो मनुष्य बलिवैश्वदेवादि नित्यकर्म करके यज्ञमें देवताओंको देनेके बाद अवशिष्ट (बचा) अन्न जो कि शास्त्रोंमें अमृततुल्य कहा गया है उसको भोजन करते हैं, वे सन्त शिष्ट हैं, मान्य हैं, क्योंकि

कारित्वेन देवर्णापाकरणात् । अतस्ते मुच्यन्ते । सर्वैर्विहिताकरणनिमित्तैः पूर्वकृतैश्च पञ्चसूनानिमित्तैः किल्बिषैः भूतभाविपातकासंसर्गिणस्ते भवन्ती त्यर्थः । एवमन्वये भूतभाविपापाभावमुक्त्वा व्यतिरेके दोषमाह—ते वैश्वदेवाद्यकारिणोऽघं पापमेव । तुशब्दोऽवधारणे । ये पापाः पञ्चसूनानिमित्तं प्रमादकृतहिंसानिमित्तं च कृतपापाः सन्त आत्मकारणादेव पचन्ति न तु वैश्वदेवाद्यर्थम् । तथा च पञ्चसूनादिकृतपापे विद्यमान एव वैश्वदेवादिनित्यकर्माकरणनिमित्तमपरं पापमाप्नुवन्तीति भुञ्जते ते त्वघं पापा इत्युक्तम् । तथा च स्मृतिः—

'कण्डनी पेषणी चुल्ली उदकुम्भी च मार्जनी ।
पञ्च सूना गृहस्थस्य ताभिः स्वर्गं न विन्दति' ॥

वे वेदोक्त कर्म करनेसे देवताओंके ऋणको चुका दिये हैं, अतः वे मुक्त हैं। जो कर्म विहित है उनका न करना विहिताकरण है, तन्निमित्तक और पञ्चसूनानिमित्तक जो पाप होते हैं, उन सबसे मुक्त हो जाते हैं, भूतभाविपापोंका सम्बन्ध उनमें नहीं होता। ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, पितृयज्ञ, मनुष्ययज्ञ, भूतयज्ञ ये पाँच महायज्ञ हैं। 'पाठो होमश्चातिथीनां सपर्या तर्पणं बलिः एते पञ्च महायज्ञाः' ये पाँच महायज्ञ कहाते हैं। उक्त अमरकोषके श्लोकसे सिद्ध ये नित्यकर्ममें आते हैं। गृहस्थको पाँच सूना है, चुल्ली (पाक-पात्राधार) कण्डनी, उलूखल, मुसल, पेषणी (जाता), मार्जनी (झाडू), उदकुम्भ (जलाधारपात्र)—ये पाँच हिंसाके कारण गृहस्थको नियत रहते हैं, इनके विना काम नहीं चल सकता। इन सब साधनोंसे जो पातक होते हैं, वे नित्यकर्मानुष्ठान करनेवालेको नहीं लगते। जो इन कर्मोको नहीं करता वह उक्त कारणोंसे पातकी होता है, इस तरह अन्वयमुखसे अर्थात् जो इन कर्मोको करता है वह पापसंसर्गी नहीं होता यह कहकर व्यतिरेकमुखसे कहते हैं, जो इन कर्मोको नहीं करता, न करनेवाले दो प्रकारके हैं अनधिकारी और अधिकारी प्रथमको दोष नहीं, क्योंकि उनको इन कर्मोंके करनेका अधिकार ही नहीं प्रत्युत करने पर पाप होगा। इसलिये द्वितीयपक्षवालेंके तात्पर्यसे कहते हैं 'वैश्वदेवाधिकारिण इति त्रैवर्णिकः' पाप ही तु शब्दका अवधारण अर्थ है—'पापमेव भुञ्जते' उसीका उपभोग करते हैं। जो पापी उक्त पञ्चसूनानिमित्तक और

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसंभवः ।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥ १४ ॥

सम्पूर्ण प्राणी अन्नसे उत्पन्न होते हैं और अन्नकी उत्पत्ति वृष्टिसे होती है और वृष्टि यज्ञसे होती है और यज्ञ कर्मसे उत्पन्न होता है ॥ १४ ॥

'पञ्चसूनाकृतं पापं पञ्चयज्ञैर्व्यपोहति' इति । श्रुतिश्च—'इदमेवास्य तत्साधारणमन्नं यदिदमद्यते स य एतदुपास्ते न स पाप्मनो व्यावर्तते मिश्रं ह्येतत्' इति । मन्त्रवर्णोऽपि—

'मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः सत्यं ब्रवीमि वध इत्स तस्य ।
नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी ॥' इति

इदं चोपलक्षणं पञ्चमहायज्ञानां स्मार्तानां श्रौतानां च नित्यकर्मणाम् । अधिकृतेन नित्यानि कर्माण्यवश्यमनुष्ठेयानीति प्रजापतिवचनार्थः ॥ १३ ॥

न केवलं प्रजापतिवचनादेव कर्म कर्तव्यमपि तु जगच्चक्रप्रवृत्तिहेतुत्वा-

---

अनवधानतावशकृत जीवहिंसानिमित्तकपाप करनेवाले अपने लिये ही पाक करते हैं, वैश्वदेवादिके लिये नहीं वे पापभोगी होते हैं, पञ्चसूनाकृत पापके रहते पर ही वैश्वदेवादि कर्मोंके न करनेसे दूसरे पापको भी पाते हैं। इसीलिये "भुञ्जते ते त्वघं पापाः" ऐसा कहा गया है तथा च मनुस्मृतिः ऊपर देखिये अर्थपूर्वमें कह चुके हैं। पञ्चयज्ञसे पञ्चसूनाकृत पापकी निवृत्तिकी जाती है। मन्त्रवर्ण भी इसी अर्थका प्रतिपादन करता है मन्त्रवर्ण भी ऊपर देखिये। 'अस्त्री पङ्कः पुमान् पाप्मा पापं किल्विषकल्मषम्' इस अमरकोषके अनुसार पाप शब्द नपुंसक है, परन्तु यहाँ पापीपरक अथवा पापशब्दसे अस्ति अर्थमें 'अर्शाद्यच' है यह औपचारिक प्रयोग है, इसलिये पाप यह पुल्लिङ्ग प्रयोग हुआ है। एवं 'अघं भुञ्जते' यहाँ अघशब्द औपचारिक है। अपने लिये जो अन्नपाक करता है उस भोजनसे पाप होता है अतः पापपरक भोजनको पाप कहा है यह पञ्चयज्ञनामका उल्लेख श्रौतस्मार्त नित्यकर्मोंका उपलक्षण है, प्रजापतिका कहना यह है कि जो अधिकारी है उसको नित्यकर्मका अनुष्ठान करना ही चाहिये ॥ १३ ॥

केवल प्रजापतिके वाक्यसे ही कर्म करना चाहिये, यह बात नहीं है, किन्तु

दपीत्याह—'अन्नात्' इति त्रिभिः—

अन्नाद्भुक्ताद्रेतोलोहितरूपेण परिणताद्भूतानि प्राणिशरीराणि भवन्ति जायन्ते। अन्नस्य संभवो जन्म अन्नसंभवः पर्जन्याद्वृष्टेः। प्रत्यक्षसिद्धमेवैतत्। अत्र कर्मोपयोगमाह—यज्ञात्कारीर्यादेरग्निहोत्रादेश्चापूर्वाख्याद्धर्माद्भवति पर्जन्यः। यथा चाग्निहोत्राहुतेर्वृष्टिजनकत्वं तथा व्याख्यातमष्टाध्यायीकाण्डे जनकयाज्ञवल्क्यसंवादरूपायां षट्प्रश्न्याम्। मनुना चोक्तम्

संसारचक्रकी प्रवृत्तिका कारण है, इनको न करनेसे जगचक्र ही न चल सकेगा, इसलिये भी ये कर्म अवश्य कर्तव्य हैं—यह 'अन्नाद्' इत्यादि तीन श्लोकोंसे कहते हैं।

अन्नसे प्राणी होते हैं, अन्नभोजन होने पर लोहितवीर्यरूपसे वह परिणत होता है। वीर्यसे प्राणियोंकी उत्पत्ति होती है, आत्माकी उत्पत्ति नहीं होती वह नित्य है। भूतशब्द शरीरादिविशिष्टचेतनपरक है, विशेष्य चेतनमें उत्पत्ति बाधित होनेसे विशेषण शरीरके साथ सम्बन्ध होता है, इसलिये 'शरीराणि' कहा है पर्जन्य (मेघ) से अन्नका सम्भव (जन्म) है। मेघके वर्षणसे व्रीहि, यवादि अन्नकी उत्पत्ति होती है यह प्रसिद्ध है।

शङ्का—पर्जन्योत्पत्तिमें यज्ञादि कर्मका किस तरह उपयोग है?

समाधान—'कारीर्या यजेत वृष्टिकामः' इस श्रुतिसे सूखते हुये धानोंके समुज्जीवनार्थ कारीरी यागका विधान है। अतः उक्त कर्मसे अपूर्वकी उत्पत्ति होती है, उससे मेघ होते हैं ततः वृष्टि होती है।

प्रश्न—वह तो काम्यकर्म है, नित्यकर्मोंमें उसका समावेश नहीं, नित्यकर्मसे मेघोत्पत्तिके विषयमें प्रश्न है।

उत्तर—ठीक है यह तो आप मान चुके हैं कि कर्मजन्य अपूर्वसे मेघोंकी उत्पत्ति होती है, अब यही न्याय अग्निहोत्रादिकर्ममें भी लगाइये, इनके अपूर्वोंसे भी मेघ होते हैं। वचन दोनोंमें समान हैं, वाचनिक अर्थमें सन्देह नहीं। जिस तरह अग्निहोत्राहुति वर्षाकी जनक है, उस तरहसे अष्टाध्यायी काण्डमें व्याख्यात है। 'अष्टानामध्यायानां समाहारः' अष्टाध्यायी बृहदारण्यक उपनिषत् उसमें आठ अध्याय हैं उसमें राजा जनक याज्ञवल्क्यमहर्षिके प्रश्नोत्तरात्मक सम्वादमें छः प्रश्न श्रीयाज्ञवल्क्यसे किये हैं उन सबका उत्तर उक्त महर्षिने दिया है।

**कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥ १५ ॥**

उस कर्मको तूँ वेदसे पैदा हुआ जानों और वेद अविनाशी परमात्मासे उत्पन्न हुआ है, इससे सर्वव्यापी 'परम अक्षर' परमात्मा सदाही यज्ञमें प्रतिष्ठित है ॥ १५ ॥

'अग्नौ प्रास्ताऽऽहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते ।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः ॥' इति

स च यज्ञो धर्माख्यः सूक्ष्मः कर्मसमुद्भव ऋत्विग्यजमानव्यापारसाध्यः । यज्ञस्य हि अपूर्वस्य विहितं कर्म कारणम् ॥ १४ ॥

तच्चापूर्वोत्पादकम्—'कर्म' इति

ब्रह्मोद्भवं ब्रह्म वेदः स एवोद्भवः प्रमाणं यस्य तत्तथा । वेदविहितमेव

उसमें इसका भी प्रश्नोत्तररूपसे विशेष कथन है 'अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते । आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजा इति' यह धर्मापरपर्याय कर्मोंसे उत्पन्न यज्ञ अतिसूक्ष्म है। ऋत्विग् यजमानके व्यापारसे सिद्ध होता है, विहित जो कर्म है वही अपूर्वाख्य यज्ञका कारण है ॥ १४ ॥

यज्ञकारणीभूत कर्म अपूर्वोत्पादक है यह कहते हैं—'कर्म' इत्यादि।

यज्ञकारणीभूत कर्मका कारण ब्रह्म वेद है। ब्रह्म (वेद) उद्भव प्रमाण है जिसमें 'स ब्रह्मसमुद्भवः'। इससे स्मार्त कर्मोंका भी संग्रह हो जाता है। यद्यपि उपलब्ध वेदोंमें स्मार्त सब कर्म नहीं देखे जाते, इसलिये उनको वेदोद्भव नहीं कह सकते पर स्मृतियोंमें उनके विधानसे यह माना जाता है कि ये कर्म श्रुतिप्रमाणसिद्ध हैं 'विरोधे त्वनपेक्षं स्यादसति ह्यनुमानम्' इस मीमांसा सूत्रके अनुसार जो प्रत्यक्ष श्रुतिविरुद्ध स्मार्तकर्म हैं, वह उपेक्ष्य है। जिसमें न विरोध है न उसकी विधि ही है, उनके विषयमें यह आदेश है कि तद्विषयक श्रुति अवश्य है। स्मृति देखनेसे यह अनुमान होता है पर वह उपलभ्यमान शाखामें नहीं पाई जाती तो अनुपलभ्यमान शाखामें अवश्य होगी। अनुपलभ्यमानशाखाओंके विषयमें मतभेद है। न्यायमतसे वे शाखायें अध्येताओंके अभावसे विच्छिन्न हो गई हैं, मीमांसक कहते है कि पूर्वकालमें भी इनका अध्ययन नहीं था। इसलिये नित्यानु-

कर्माऽपूर्वसाधनं जानीहि, न त्वन्यत्पाषण्डप्रतिपादितमित्यर्थः। ननु पाषण्डशास्त्रापेक्षया वेदस्य किं वैलक्षण्यम्, यतो वेदप्रतिपादित एव धर्मो न्याय इत्यत आह—ब्रह्म वेदाख्यमक्षरसमुद्भवमक्षरात्परमात्मनो निर्दोषात्

मेय हैं अस्तु, जो कुछ हो इसमें इस समय विवाद करना व्यर्थ है। प्रयोजन यह है कि मतद्वयसे स्मार्तकर्म श्रुतिप्रमाणक है, यह मतद्वयसिद्ध है। इसलिये कारण न कहकर प्रमाण कहा है। 'जनिरुत्पत्तिरुद्भवः' इस अमरकोषसे उद्भवशब्द उत्पत्ति-का वाचक है, तदनुसार 'उद्भवति अस्मादित्युद्भवः' कारण यह अर्थ ऋजुदृष्टिसे प्रतीत होता है, तथापि स्मार्तकर्मोंका संग्रह नहीं होगा। 'तदर्थःप्रमाणं यस्य' ऐसा व्याख्यान किया है। वेद विहितकर्मको ही अपूर्वका कारण जानो, पाखण्डियोंका मतान्तर नहीं।

शङ्का—पाखण्डशास्त्रोंकी अपेक्षा वेदमें क्या विशेष है? वैदिक कर्म अपूर्व साधन है? पाखण्डिशास्त्रोक्त नहीं?

समाधान—ब्रह्म (वेद) अक्षर, निर्दोषपुरुष परमात्मा है। समुद्भव (उत्पत्ति) कारण है जिस वेदका सो वेद शास्त्रान्तरापेक्षया विलक्षण है, शास्त्रान्तरके प्रणेता रागादिदोषवान् है, अतः तत्प्रणीतग्रन्थसे विश्वास नहीं, यह भाव है। शब्दमें न अप्रमाण्यप्रयोजक दोष ही है, न प्रमाण्य प्रयोजक गुण है, किन्तु वक्ताके दोष-गुणसे शब्द प्रामाणिक या अप्रमाणिक होता है। वेदवक्ता ईश्वरमें दोष-गुणकी संभावना ही नहीं। न्यायमतसे ईश्वर सर्वज्ञ है, अतः प्रकृतवाक्यार्थ पदार्थज्ञानवत्व-गुणमें कोई सन्देह नहीं है। मीमांसाकादिमतसे दोषाभावसे ही प्रामाण्य माना जाता है। ईश्वरमें दोषाभाव सर्वमान्य है। अन्य तीर्थंकरोंमें जो भ्रमप्रमादादि दोष हैं वे पुरुष साधारणमें अनिवार्य हैं।

शङ्का—ठीक है परन्तु मीमांसक और वेदान्ती भी वेदको अपौरुषेय मानते हैं। वेद नित्य हैं कोई भी वेदका प्रणेता नहीं, फिर उसके विरुद्ध आप कहते हैं कि वेद ब्रह्मसमुद्भव है?

समाधान—ठीक कहते हैं, प्रमाणान्तरसे वाक्यार्थका निश्चय कर तदर्थबु-बोधयिषासे जो वाक्य प्रयुक्त होते हैं वे पौरुषेय है यथा महाकवि कालिदास प्रयुक्त-वाक्यादि। वेदवाक्योंका प्रयोग ईश्वरने प्रमाणान्तरव्यापारपूर्वक नहीं किया है किन्तु यथा सुप्तपुरुषके श्वास-प्रश्वास अबुद्धिपूर्वक होते हैं, मैं श्वास बाहर करूँ भीतर खींचूँ, इस बुद्धिके बिना स्वतः होते रहते हैं अतएव सुषुप्तिदशामें भी प्रश्वासादिव्यापारका

पुरुषनिश्वासन्यायेनाबुद्धिपूर्वं समुद्भव आविर्भावो यस्य तदक्षरसमुद्भवम्। तथाचापौरुषेयत्वेन निरस्तसमस्तदोषासङ्कं वेदवाक्यं प्रमितिजनकतया प्रमाणमतीन्द्रियेऽर्थे, न तु भ्रमप्रमादकरणापाटवविप्रलिप्सादिदोषवत्प्रणीतं पाखण्डवाक्यं प्रमितिजनकमिति भावः। तथा च श्रुतिः—'अस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः

विराम नहीं होता अन्यथा तत्कालमें ज्ञानसामान्याभावके निश्चयसे प्रश्वासादिकी अनुपपत्ति होगी। तद्वत् वेद ईश्वरोद्भव है इसको स्फुट करते हैं—पुरुषनिश्वासन्यायेन अबुद्धिपूर्वक वेदका अविर्भाव ईश्वरसे हुआ है। पाखण्डियों या सनातनियोंके ग्रन्थागार ऐसे नहीं किन्तु वे सब बुद्धिपूर्वक परिश्रमसे रचे गये हैं, इसलिये उनमें प्रामाण्य श्रुतिमूलकत्वेन अथवा प्रमाणान्तरसंवादादिना माना जाता है अन्यथा नहीं, यह विशेष है। इस अभिप्रायसे कहते हैं 'अपौरुषेयत्वेन' इत्यादि उक्तरीतिसे वेद अपौरुषेय होनेसे निरस्तसमस्तदोषासङ्ग-वाक्यार्थप्रमितिप्रतिबन्धक निखिलदोषोंकी शङ्का जिसमें निरस्त है एवंभूत वेदवाक्य स्वार्थप्रमितिजनक है, अतएव अतीन्द्रिय अर्थ-इन्द्रियोंसे जिन अर्थोंका ग्रहण नहीं हो सकता, उन अर्थोंमें प्रमाण है उसीको तद्विलक्षण अनाप्तवाक्यमें स्फुट करते हैं। भ्रमप्रमादविप्रलिप्सा-करणापाटव—पाखण्डसे जात अतस्मिंस्तद्बुद्धि भ्रम है। अनवधानता जो विषयान्तर-व्यावृतचित्तमें होती है वह है। विप्रलिप्सा ठगनेकी इच्छा-धोखा देनेकी इच्छा करना इन्द्रियादिमें अपटुता-विषय ग्रहणमें पूर्ण सामर्थ्याभाव, कुछ कहा कुछ सुना इत्यादि दोष प्रसिद्ध है। एतद्दोषवत्प्रणीतपाखण्डवाक्य प्रमाण नहीं होता यह भाव है। यह केवल स्वमनः कल्पना विलास नहीं है, किन्तु इस अर्थको श्रुतिने स्वहस्तगत किया है। श्रुति ऊपर देखिये इन कारणोंसे साक्षात्परमात्मासे समुत्पन्न होनेसे सर्वगत सर्वप्रकाशक, नित्य, अविनाशी वेदाख्य ब्रह्म वेदका भी नाम है। 'ब्रह्म-तत्त्वतपोवेदे न द्वयोःपुंसि वेधसि ऋत्विग्योग भिदोर्विप्रे चाध्यात्मज्ञानयोस्तथा" इति मेदिनी। उक्त वेद धर्ममें प्रतिष्ठित है।

शङ्का—धर्म वेदान्ती मनमें मानते हैं और नैयायिक आत्मामें सो अतीन्द्रिय है, किसी इन्द्रियसे उसका ग्रहण नहीं होता एवंभूत धर्म वेदका अधिकरण कैसे ?

समाधान—'तात्पर्यवृत्त्या' इति सभी वेदोंका तात्पर्य धर्ममें है। तात्पर्य-विषयत्वसम्बन्धसे वेद धर्ममें है। वेदमूलक धर्म है। अतः पाखण्डमतका धर्म त्यागकर वेदप्रतिपादितका ही अनुष्ठान करना चाहिये।

पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानान्यस्यैवैतानि निःश्वसितानि' इति। तस्मात्साक्षात्परमात्मसमुद्भवतया सर्वगतं सर्वप्रकाशकं नित्यमविनाशि च ब्रह्म वेदाख्यं यज्ञे धर्माख्येऽतीन्द्रिये प्रतिष्ठितं तात्पर्येण। अतः पाषण्डप्रतिपादितोपधर्मपरित्यागेन वेदबोधित एव धर्मोऽनुष्ठेय इत्यर्थः॥ १५॥

शङ्का—'निःश्वसितमेतद् ऋग्वेदो यजुर्वेदः' इत्यादि श्रुतिसे यह प्रतीत होता है कि निःश्वासके समान ऋग्वेदादिकी उत्पत्ति है। निःश्वाससाम्य अक्लेशनिस्सरणसे भी हो सकता है, अबुद्धिपूर्वकत्वसे भी हो सकता है, ठीक है परन्तु इसमें सन्देह यह है कि 'सोऽकामयत स इदं सर्वमसृजत्' परमात्माने इच्छाके अनन्तर सबकी सृष्टिकी, इच्छा ज्ञानके बिना नहीं हो सकती, इसलिये स्रष्टव्यकालका ज्ञान भी था, यह सिद्ध होता है। 'ईक्षतेर्नाशब्दम्' इस सूत्रकी व्याख्यामें यह स्पष्ट है कि ईक्षापूर्वक सृष्टि है, इसीसे प्रधानकारणवादका निराकरण किया गया है कि अचेतन प्रधानमें ईक्षणका संभव नहीं!

समाधान—नाम रूपकी सृष्टि है। नाममें और ऋग्वेदादिरूपमें आकाशादि विवक्षित है। रूपसृष्टि बुद्धिपूर्वक ही है अबुद्धिपूर्वक नहीं केवल नामसृष्टिके विषयमें निःश्वसितश्रुत्यनुरोधसे अबुद्धिपूर्वक सृष्टि मानना चाहिये। ऐसा माननेमें कोई विरोध नहीं।

शङ्का—नामश्रुतिमें 'इष्टं हुतमशितं पायितमयं च लोकः परश्च लोकः' इत्यादि वाक्योंसे नाम रूपका भी साथ ही उल्लेख है। यदि नामप्रपञ्चवत् रूपप्रपञ्चकी उत्पत्ति अबुद्धिपूर्वक माने तो 'सेऽकामयत' यह श्रुति निर्विषय हो जावेगी। कार्यमें पुरुष स्वतंत्र होनेसे प्रधान होता है। पुरुषमें स्वातंत्र्य तभी होगा जब कि पुरुषमतिपूर्वक कारण माना जाय अन्यथा जैसे मनुष्यमें जो रोग होते हैं उनका कारण मनुष्य अवश्य है पर वे बुद्धिपूर्वक नहीं होते इसीलिये पुरुष उसमें अस्वतंत्र नहीं माना जाता है। रोगोत्पत्तिमें जैसे पुरुष प्रधान नहीं वैसे ही वेदोत्पत्तिमें ईश्वर भी अप्रधान हो जायँगे, 'अनादिनिधनम्' इत्यादि वचनसे यह कहते हैं कि वेद नित्य है फिर ब्रह्मसे वेद उत्पन्न हुआ इन दोनों वाक्योंमें परस्पर विरोध होता है?

समाधान—उत्पत्तिको यहां अभिव्यक्ति तात्पर्यसे कहते हैं, वस्तुतः वेद नित्य ही है। एवं शास्त्रयोनित्वाधिकरणमें वेदका कारणत्वकथन अभिव्यक्तितात्पर्यसे है, इत्यादि विस्तार अन्यत्र देखिये॥ १५॥

**एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः ॥
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ॥ १६ ॥**

सबसे पहले परमेश्वरसे सबका प्रकाशक दोषरहित वेदोंका आविर्भाव, फिर कर्मोंका परिज्ञान, उसके बाद उनका अनुष्ठान—इत्यादिरूपसे परमेश्वरके द्वारा चलाये हुए समस्त जगत्का निर्वाह करनेवाले चक्रका जो पुरुष अनुसरण नहीं करता उसका जीवन पापमय है, हे पार्थ! वह निरर्थक ही जीवन यापन करता है, ऐसे पुरुषका मरण ही जीवनकी अपेक्षा श्रेष्ठ है ॥ १६ ॥

भवत्वेवं ततः किं फलितमित्याह—'एवम्' इति

आदौ परमेश्वरात्सर्वावभासकनित्यनिर्दोषवेदाविर्भावः। ततः कर्मपरिज्ञानं ततोऽनुष्ठानाद्धर्मोत्पादः। ततः पर्जन्यस्ततोऽन्नं ततो भूतानि पुनस्तथैव भूतानां कर्मप्रवृत्तिरित्येवं परमेश्वरेण प्रवर्तितं चक्रं सर्वजगन्निर्वाहकं यो नानुवर्तयति नानुतिष्ठति सोऽघायुः पापजीवनो मोघं व्यर्थमेव जीवति,

अस्तु, वेद धर्ममें प्रतिष्ठित है, इससे प्रकृतमें क्या लाभ हुआ, इस प्रश्नका उत्तर 'एवम्' इत्यादिसे कहते हैं। सर्वप्रथम सर्वावभासक सबका बोधक नित्यनिर्दोष वेदका आविर्भाव परमात्मासे हुआ। वेदसे कर्म (कर्तव्य) का ज्ञान होता है। तदनन्तर वेदविहित कर्मके अनुष्ठानसे धर्मकी उत्पत्ति होती है। धर्मसे मेघमण्डलका प्रादुर्भाव होता है. ततः वृष्टि द्वारा अन्नकी उत्पत्ति होती है। अन्नसे भूतोंकी उत्पत्ति फिर पूर्ववत् भूतोंका कर्म नित्य निर्दोष वेदसे आविर्भूत होता है, इसप्रकार परमेश्वरसे चालितसंसारचक्र जो सब जगत्का निर्वाहक है इस चक्रके अनुसार जो अनुष्ठान नहीं करता वह अघायु है—उसकी आयु आघायु है यानी उसका जीवन पापका कारण है, क्योंकि वह वेदोक्तकर्मानुष्ठान न कर केवल इन्द्रियसुखमें ही निरत रहता है। कारणमें कार्यवाचक शब्दका औपचारिक प्रयोग है पापसंबन्धी जीवन है इसलिये व्यर्थ है। 'अघायुः' इन्द्रियाराममें हेतु है। इन्द्रियाराम व्यर्थजीवनमें हेतु है। भाव यह है कि कर्मवश उच्चावच अनेकयोनिमें भ्रमणके अनन्तर पूर्वसुकृतवश मनुष्यजन्ममें आविर्भूत होकर आत्मकल्याणार्थ वेदविहितकर्मोंका यथाधिकार अनुष्ठान न कर इतरयोनिवत् केवल ऐन्द्रियक क्षणिक सुखोंमें ही समय व्यतीत करता है उसका जीवन व्यर्थ

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः ।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥१७॥

जो पुरुष आत्मामें प्रेम रखता है, आत्मामें तृप्ति पाता है और आत्मामें ही सन्तुष्ट रहता है, वह कृतकृत्य है, उस पुरुषको कोई भी कर्म चाहे भौतिक हो या वैदिक हो, करनेकी आवश्यकता नहीं है ॥ १७ ॥

हे पार्थ, तस्य जीवनान्मरणमेव वरं जन्मान्तरे धर्मानुष्ठानसंभवादित्यर्थः । तथा च श्रुतिः—'अथो अयं वा आत्मा सर्वेषां भूतानां लोकः स यज्जुहोति यद्यजते तेन देवानां लोकोऽथ यदनुब्रूते तेन ऋषीणामथ यत् पितृभ्यो निपृणाति यत्प्रजामिच्छते तेन पितॄणामथ यन्मनुष्यान्वासयते यदेभ्योऽशनं ददाति तेन मनुष्याणामथ यत्पशुभ्यस्तृणोदकं विन्दति तेन पशूनां यदस्य गृहेषु श्वापदा वयांस्यापिपीलिकाभ्य उपजीवन्ति तेन तेषां लोकः' इति । ब्रह्मविदं व्यावर्तयति—'इन्द्रियारामः' इति । यत इन्द्रियै-र्विषयेष्वारमति अतः कर्माधिकारी संस्तदकरणात्पापमेवाऽऽचिन्वन्व्यर्थमेव जीवतीत्यभिप्रायः ॥ १६ ॥

यस्त्विन्द्रियारामो न भवति परमार्थदर्शी स एवं जगच्चक्रप्रवृत्ति-

ही है। हे पार्थ ! उसका जीवनसे मरण ही अच्छा है।

सम्भव है कि जन्मान्तरमें कर्मानुष्ठान करे। श्रुति ऊपर देखिये इसमें स्पष्ट है कि तत्तद्वैदिक कर्म करनेसे ही तत्तल्लोकप्राप्ति होती है।

शङ्का—ब्रह्मवेत्ता कर्म नहीं करता, क्या वह अघायु नहीं है ? जो ईश्वरचक्रका अनुवर्तन नहीं करता वह अघायु है, यह नहीं कह सकते है।

समाधान—ठीक है, तदतिरिक्त इन्द्रियाराम जो उक्तकर्म न कर इन्द्रियाराम होता है वह अघायु है। तत्त्ववेत्ता यद्यपि कर्म नहीं करता तथापि वह इन्द्रियाराम नहीं, अतः वह अघायु नहीं, क्योंकि वह विषयमें इन्द्रियोंसे रमण नहीं करता है, अर्थात् जो केवल विषयसेवनमें ही परायण रहता है, कर्माधिकारी होकर भी कर्म नहीं करता सो व्यर्थ जीता है यह अभिप्राय है ॥ १६ ॥

जो इन्द्रियाराम नहीं है, किन्तु परमार्थदर्शी ज्ञानी है, वह ईदृश जगच्चक्र-प्रवर्तक कर्म नहीं करता तो भी उसको पाप नहीं होता।

हेतुभूतं कर्मानतुतिष्ठन्नपि न प्रत्यवैति कृतकृत्यत्वादित्याह द्वाभ्याम्—'यस्त्वा०' इत्यादि।

इन्द्रियारामो हि स्रक्चन्दनवनितादिषु रतिमनुभवति मनोज्ञान्नपानादिषु तृप्तिं पशुपुत्रहिरण्यादिलाभेन रोगाद्यभावेन च तुष्टिम्। उक्तविषयाभावे रागिणामरत्यतृप्त्यतुष्टिदर्शनाद्रतितृप्तितुष्टयो मनोवृत्तिविशेषाः साक्षिसिद्धाः। लब्धपरमात्मानन्दस्तु द्वैतदर्शनाभावादतिफल्गुत्वाच्च विषयसुखं न कामयत इत्युक्तम्—'यावानर्थ उदपाने' इत्यत्र। अतोऽनात्मविषयरतितृप्तितुष्ट्यभावादात्मानं परमानन्दमद्वयं साक्षात्कुर्वन्नुपचारादेवमुच्यते—

शङ्का—क्यों?

समाधान—वह कृतकृत्य है वह अपने सब कर्तव्योंको कर चुका है अब उसके अनुष्ठेय कोई कर्म नहीं हैं यह दो श्लोकोंसे कहते हैं 'यस्तु' इत्यादिसे।

इन्द्रियाराम पुरुष माला, चन्दन, वनितादिमें ही रतिका अनुभव करता है और उत्तमोत्तम अन्नपान से तृप्त होता है इसीमें अपना सौभाग्य मानता है। घोड़ा, हाथी हो, पुत्र हो सोना, चाँदी मिलती रहे, शरीरमें रोग न हो, क्योंकि रोगी शरीरको सुख नहीं होता चाहे जितनी भी सुख संपत्ति क्यों न हो इसलिये तदभाव आवश्यक है। रोगियोंकी तुष्टि उक्त विषयोंसे ही होती है, यदि उक्त विषय न हो तो उनको आनन्द नहीं आता, न तृप्ति, न तुष्टि ही होती है। रति, तृप्ति यह मनोवृत्ति विशेष हैं। इनमें प्रमाण साक्ष्यनुभवसिद्ध है। जो प्राप्त परमानन्द हैं, वे विषय सुख नहीं चाहते।

शङ्का—क्यों?

समाधान—अद्वैतात्मदर्शनसे-द्वैतविषयकज्ञानका उपमर्दन होनेपर विषयोंका भी उपमर्दन हो जाता है, वे हैं ही नहीं तो उनके द्वारा सुखेच्छा कैसे हो? संस्कारात्मनानुवृत्त होनेसे भी तज्जन्य सुख आत्मसुखसे जघन्य है। इसलिये ये भी विषयसुखकी कामना नहीं करते। राज्यसुखभोक्ता भिक्षुसुखको नहीं चाहता, यह स्पष्ट है। आत्मानन्दमें क्षुद्रानन्द अन्तर्भूत है। 'यावानर्थ उदपाने' इसके व्याख्यान के समय कह चुके हैं।

आत्मरतिरात्मतृप्त आत्मसंतुष्ट इति। तथा च श्रुतिः—'आत्मक्रीड आत्मरतिः क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः' इति। आत्मतृप्तश्चेति चकार एवकारानुकर्षणार्थः। मानव इति यः कश्चिदपि मनुष्य एवंभूतः स एव कृतकृत्यो, न तु ब्राह्मणत्वादिप्रकर्षेणेति कथयितुम्। आत्मन्येव च संतुष्ट इत्यत्र चकारः समुच्चयार्थः। य एवंभूतस्याऽधिकारहेत्वभावात्किमपि कार्यं वैदिकं लौकिकं वा न विद्यते ॥ १७ ॥

शङ्का—यद्यपि रति, तृप्ति और तुष्टि द्वैतमें होती है, आत्मव्यतिरिक्तवस्तुकी अभावदशामें जब आत्मा ही केवल स्वयं प्रकाश रहता है और ज्ञानी अपनेको स्वयं प्रकाशानन्दस्वरूप मानता है तो आत्मरति, आत्मतृप्ति, आत्मतुष्टि कैसे हो सकती है, रतितृप्त्यादि पदार्थ ही नहीं है तो आत्मरत्ति कैसे कही जा सकती है ?

समाधान—सत्य है। यहाँ अनात्मविषयक रतितृप्ति (तुष्टि) गृहीत है, इसलिये औपचारिक प्रयोग है 'आत्मरतिः आत्मतृप्ति आत्मनि तुष्ट इत्यादि' इस प्रकारका कथन गीतामें नहीं हैं किन्तु श्रुतिमें भी ऐसा ही कहा गया है 'आत्मक्रीड आत्मरतिः' इत्यादि। आत्मतृप्तिश्चेति यहाँ चकार एवकारार्थ है, अथवा एवकारका अनुकर्षण करता है, अन्य दोनोंमें एवकार है केवल तृप्तमें चकार है। यह भी अर्थ पूर्वोत्तरवद्विवक्षित है। इसलिये चकार एवकार खींचनेकेलिये है और खींचकर 'आत्मन्येव तृप्तः' इस अर्थका बोध कराता है जो कोई मनुष्य इस तरह है वह कृतकृत्य है ब्राह्मणत्वादि लाभसे कोई कृतकृत्य नहीं।

शङ्का—'आत्मतृप्तः' यहांका चकार एवकारानुकर्षणार्थ है पर 'आत्मन्येव च सन्तुष्टः' यहाँका चकार क्यों, वहाँ तो एवकार स्वतः है।

समाधान—यहाँका समुच्चयार्थ है, रति, तृप्ति, तुष्टिका समुच्चय है। एवका समुच्चय अर्थ नहीं। ईदृश ज्ञानीको किसी कर्ममें अधिकार ही नहीं।

शङ्का—क्यों ?

समाधान—कर्माधिकारमें हेतु तत्फलकामना और विधिनिषेधमें श्रद्धा ये दोनों तत्त्वज्ञानीको नहीं हैं। दोनोंका मूल अज्ञान है। उसका समूलनाश होनेपर हेतुत्वभावसे कोई लौकिक वैदिक कर्म करना नहीं है ॥ १७ ॥

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन ।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥ १८ ॥

आत्मामें प्रेम रखनेवाले पुरुषको कर्म न करनेसे यहाँ न तो कोई अभ्युदय निःश्रेयसरूप प्रयोजन सिद्ध होता है और न करनेसे कोई दोष ही लगता है, क्योंकि ब्रह्मासे लेकर स्थावरपर्यन्त समस्त भूतोंमें इस ज्ञानीको किसी तरहका प्रयोजन दीखता ही नहीं, जिसके लिए उनमें अपना सम्बन्ध चाहे ॥ १८ ॥

नन्वात्मविदोऽपि अभ्युदयार्थं निःश्रेयसार्थं प्रत्यवायपरिहारार्थं वा कर्म स्यादित्यत आह— 'नैव' इति

तस्याऽऽत्मरतेः कृतेन कर्मणाऽभ्युदयलक्षणो वाऽर्थः प्रयोजनं नैवास्ति, तस्य स्वर्गाद्यभ्युदयानर्थित्वात्, निःश्रेयसस्य च कर्मासाध्यत्वात् तथा च श्रुतिः—'परीक्ष्य लोकान्कर्मचितान्ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन' इति । अकृतो नित्यो मोक्षः कृतेन कर्मणा नास्तीत्यर्थः । ज्ञानसाध्यस्यापि व्यावृत्तिरेवकारेण सूचिता । आत्मरूपस्य हि निःश्रेयसस्य नित्यप्राप्तस्याऽज्ञानमात्रमप्राप्तिः । तच्च तत्त्वज्ञानमात्रापनोद्यम् । तस्मिंस्तत्त्वज्ञानेनापनुत्ते तस्याऽऽत्मविदो न किञ्चित्कर्मसाध्यं ज्ञानसाध्यं वा प्रयोजनमस्तीत्यर्थः । एवंभूतेनापि प्रत्यवायपरिहारार्थं कर्माण्येवानुष्ठेयानीत्यत आह—'नाकृतेन' इति । भावे निष्ठा । नित्यकर्माकरणेनेह लोके गर्हितत्वरूपः प्रत्यवाय-

---

आत्मज्ञानीको भी अभ्युदयार्थ, मोक्षार्थ या प्रत्यवायपरिहारार्थ कर्म करना होगा ? इस शङ्का पर कहते हैं—'नैव' इति ।

आत्मरतिको कर्म करनेसे अभ्युदय अथवा निःश्रेयस कोई भी प्रयोजन नहीं है क्योंकि स्वर्गाद्यभ्युदयका अर्थी नहीं है, रहा निश्रेयस सो कर्मसाध्य नहीं।

शङ्का—निःश्रेयस कर्म साध्य क्यों नहीं ?

समाधान—ऊपर श्रुति देखिये—अकृतमोक्ष कृतककर्मसे नहीं होता। एवकारसे ज्ञानसाध्य भी प्रयोजन नहीं है, आत्मरूप निःश्रेयसकी, जो नित्य ही प्राप्त है, अप्राप्ति है—केवल अज्ञान तत्त्वज्ञानसे ही नष्ट होता है। जब अज्ञान तत्त्वज्ञानसे हटा दिया गया, तब आत्मज्ञानीके लिये ऐसा कोई प्रयोजन नहीं रहता, जो कि कर्मसाध्य या ज्ञानसाध्य हो। ईदृश ज्ञानीको प्रत्यवायपरिहारार्थ कर्मका अनुष्ठान करना ही चाहिये, इसपर कहते हैं—'ना०' इति । 'कारणं कृतत्' भावमें निष्ठा ह

प्राप्तिरूपो वा कश्चनार्थो नास्ति । सर्वत्रोपपत्तिमाहोत्तरार्धेन । चो हेतौ । यस्मादस्याऽऽत्मविदः सर्वभूतेषु ब्रह्मादिस्थावरान्तेषु कोऽपि अर्थव्यपाश्रयः प्रयोजनसंबन्धो नास्ति । कञ्चिद्भूतविशेषमाश्रित्य कोऽपि क्रियासाध्योऽर्थो नास्तीति वाक्यार्थः। अतोऽस्य कृताकृते निष्प्रयोजने। 'नैनं कृताकृते तपतः' इति श्रुतेः। 'तस्य ह न देवाश्च नाभूत्या ईशत आत्मा ह्येषां स भवति' इति श्रुतेर्देवा अपि तस्य मोक्षाभवनाय न समर्था इत्युक्तेर्न विघ्नाभावार्थमपि देवाराधनरूपकर्मानुष्ठानमित्यभिप्रायः। एतादृशो ब्रह्मविद्भूमिकासप्तकभेदेन निरूपितो वसिष्ठेन—

'ज्ञानभूमिः शुभेच्छाख्या प्रथमा परिकीर्तिता ।
विचारणा द्वितीया स्यात्तृतीया तनुमानसा ॥
सत्त्वापत्तिश्चतुर्थी स्यात्ततोऽसंसक्तिनामिका ।
पदार्थाभावनी षष्ठी सप्तमी तुर्यगा स्मृता ॥ इति ॥'

तत्र नित्यानित्यवस्तुविवेकादिपुरःसरा फलपर्यवसायिनी मोक्षेच्छा प्रथमा। ततो गुरुमुपसृत्य वेदान्तवाक्यविचारः श्रवणमननात्मको द्वितीया।

प्रत्यय है। नित्यकर्म न करनेसे दो प्रकारका अनर्थ होता है—एक तो लोकमें निन्दा और प्रत्यवायप्राप्ति। इन दोनोंसे ज्ञानीको कुछ मतलब नहीं, क्योंकि वह लोकनिन्दास्तुतिसे उदासीन रहता है और प्रत्यवाय होता ही नहीं। उत्तरार्द्ध श्लोकसे सर्वत्र उपपत्ति कहते हैं—जिस कारणसे आत्मवेत्ताको ब्रह्मादि-वृक्षान्त सब भूतोंमें कोई प्रयोजन संबन्ध यानी किसी भूतविशेषको लेकर क्रिया-साध्य प्रयोजन नहीं है, यह वाक्यार्थ है। आत्मज्ञानीको कृताकृतसे कुछ प्रयोजन नहीं। श्रुति भी देखिये ऐसा ही कहती है। 'आगे भी इसको मोक्ष न हो इस भावनामें समर्थ नहीं हैं।' इस कथनसे विघ्नविरहार्थ भी देवताओंके आराधनकी अपेक्षा नहीं, स्वयं देवता विघ्न करनेसे निवृत्त हैं। ईदृश ब्रह्मवेत्ता सात भूमिका-भेदसे निरूपित है अर्थात् ज्ञानीकी सातभूमिकायें (अवस्थायें) हैं। वसिष्ठजीने सातों भूमिकाओंका निरूपण किया है श्लोक ऊपर देखिये। नित्यानित्यवस्तुविवेक-पुरस्सरफलपर्यन्त मोक्षेच्छा प्रथम भूमिका है। तदनन्तर गुरुके समीप जाकर वेदान्तवाक्य विचारश्रवणमननात्मक द्वितीया भूमिका है। ततः निदिध्यासनके

ततो निदिध्यासनाभ्यासेन मनस एकाग्रतया सूक्ष्मवस्तुग्रहणयोग्यत्वं तृतीया। एतद्भूमिकात्रयं साधनरूपं जाग्रदवस्थोच्यते योगिभिः, भेदेन जगतो भानात्। तदुक्तम्—

'भूमिकात्रितयं त्वेतद्राम जाग्रदिति स्थितम्।
यथावद्भेदबुद्ध्येदं जगज्जाग्रति दृश्यते॥ इति॥'

ततो वेदान्तवाक्यान्निर्विकल्पको ब्रह्मात्मैक्यसाक्षात्कारश्चतुर्थी भूमिका फलरूपा सत्त्वापत्तिः स्वप्नावस्थोच्यते। सर्वस्यापि जगतो मिथ्यात्वेन स्फुरणात्। तदुक्तम्—

'अद्वैते स्थैर्यमायाते द्वैते प्रशममागते।
पश्यन्ति स्वप्नवल्लोकं चतुर्थीभूमिकामिताः॥ इति॥'

सोऽयं चतुर्थभूमिं प्राप्तो योगी ब्रह्मविदित्युच्यते। पञ्चमीषष्ठीसप्तम्यस्तु भूमिका जीवन्मुक्तेरेवावान्तरभेदाः। तत्र सविकल्पकसमाध्यभ्यासेन निरुद्धे मनसि या निर्विकल्पकसमाध्यवस्था साऽसंसक्तिरिति सुषुप्तिरिति चोच्यते। ततः स्वयमेव व्युत्थानात्। सोऽयं योगी ब्रह्मविद्वरः। ततस्तदभ्यासपरिपाकेण चिरकालावस्थायिनी सा पदार्थाभावनीति गाढसुषुप्तिरिति चोच्यते।

अभ्यासखे मनके एकाग्र होनेसे सूक्ष्मवस्तुग्रहणयोग्यत्व तृतीयावस्था है। ये तीनों भूमिकायें साधनरूप हैं, इसको योगी जाग्रदवस्था कहते हैं। क्योंकि भेदसे जगत् का भान होता है। कहा है—'भूमिका त्रितयन्त्वेतद्राम जाग्रदितिस्थिम्' इस पुस्तक में अभेदेन यह अपपाठ है द्वितीय पुस्तकमें 'भेदेन यह शुद्ध पाठ है। तदन्तर वेदान्त वाक्यसे निर्विकल्प ब्रह्मात्मका साक्षात्कार चौथी भूमिका है। फलरूपा है—सत्वापत्ति रूपा है, इसको स्वप्नावस्था कहते हैं। सम्पूर्ण जगत् मिथ्यारूपसे स्फुरित होता है कि 'अद्वैते स्थैर्यमायाते द्वैते प्रशममागते। पश्यन्ति स्वप्नवल्लोकं चतुर्थभूमिकामिताः'। यह योगी चतुर्थी अवस्था प्राप्तकर ब्रह्मवित् कहा जाता है। पञ्चमी षष्ठी और सप्तमी भूमिका जीवन्मुक्तिका अवान्तर भेद है। उसमें सविकल्प समाधिके अभ्याससे चित्त निरुद्ध होनेपर निर्विकल्पक समाध्यवस्था उसीको असंसक्ति तथा सुषुप्ति कहते हैं। उससे स्वयं व्युत्थित होता है, अतः वह योगी ब्रह्मविद्वर है, तदनन्तर तदभ्यास परिपाकसे जो चिरकालावस्थायिनी बाह्यपदार्थाभावनीति गाढसुषुप्ति यह

ततः स्वयमनुत्थितस्य योगिनः परप्रयत्नेनैव व्युत्थानात् । सोऽयं ब्रह्मविद्वरीयान् । उक्तं हि—

'पञ्चमीं भूमिकामेत्य सुषुप्तिपदनामिकाम् ।
षष्ठीं गाढसुषुप्त्याख्यां क्रमात्पतति भूमिकाम् ॥ इति ॥'

यस्यास्तु समाध्यवस्थाया न स्वतो न वा परतो व्युत्थितो भवति सर्वथा भेददर्शनाभावात्। किन्तु सर्वदा तन्मय एव स्वप्रयत्नमन्तरेणैव परमेश्वरप्रेरितप्राणवायुवशादन्यैर्निर्वाह्यमाणदैहिकव्यवहारः परिपूर्णपरमानन्दघन एव सर्वतस्तिष्ठति । सा सप्तमी तुरीयावस्था । तां प्राप्तो ब्रह्मविद्वरिष्ठ इत्युच्यते । उक्तं हि—

'षष्ठ्यां भूम्यामसौ स्थित्वा सप्तमीं भूमिमाप्नुयात् ।
किञ्चिदेवैष संपन्नस्त्वथवैष न किञ्चन ॥
विदेहमुक्तता तूक्ता सप्तमी योगभूमिका ।
अगम्या वचसां शान्ता सा सीमा योगभूमिषु इति ॥'

यामधिकृत्य श्रीमद्भागवते स्मर्यते—

'देहं च नश्वरमवस्थितमुत्थितं वा
सिद्धो न पश्यति यतोऽध्यगमत्स्वरूपम् ।
दैवादुपेतमथ दैववशादपेतं
वासो यथा परिकृतं मदिरामदान्धः ॥

भी कही जाती है। ततः स्वयमनुत्थित योगी को परप्रयत्नसे उत्थान कराया जाता है। वह योगी ब्रह्मवेत्ताओंमें श्रेष्ठ है यह कहा है। 'पञ्चमी भूमिकामेत्य सुषुप्तिपदनामिकाम् षष्ठीं गाढसुषुप्त्याख्यां क्रमात्पतति भूमिकाम्' जिस समाध्यवस्थासे स्वतः परतः व्युत्थित नहीं होता क्योंकि सर्वथा भेददर्शन नहीं है किन्तु तन्मय एवं स्वप्रयत्नके विना परमेश्वर प्रेरित प्राणवायुवशसे अन्यसंपादित शरीरयात्रौपयिक व्यापारपरिपूर्ण परमानन्दधन ही सर्वतः रहता है वह सप्तमी तुरीयावस्था है इस अवस्थाको प्राप्त कर ब्रह्मविद्वरिष्ठ-ब्रह्मवेत्ताओंमें सर्वोत्तम हैं। यह कहा है—छठीं भूमिकामें प्राप्त होकर सप्तमी भूमिकाको प्राप्त करे। विदेहमुक्तता सप्तमी भूमिका है

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पुरुषः ॥ १९ ॥

इसलिए हे पार्थ ! आसक्ति छोड़कर निरन्तर कर्म करते चलो, क्योंकि आसक्ति छोड़कर कर्म कर रहा पुरुष उत्तम मोक्षरूप फल प्राप्त करही लेता है ॥१९॥

देहोऽपि दैववशगः खलु कर्म याव
त्स्वारम्भकं प्रतिसमीक्षत एव सासुः।
तं सप्रपञ्चमधिरूढसमाधियोगः
स्वाप्नं पुनर्न भजते प्रतिबुद्धवस्तुः ॥ इति।

श्रुतिश्च—'तद्यथाऽहिनिर्ल्वयनी वल्मीके मृता प्रत्यस्ता शयीतैवमेवेदं शरीरं शेतेऽथायमशरीरोऽमृतः प्राणो ब्रह्मैव तेज एव' इति। तत्रायं संग्रहः—

'चतुर्थी भूमिका ज्ञानं तिस्रः स्युः साधनं पुरा।
जीवन्मुक्तेरवस्थास्तु परास्तिस्रः प्रकीर्तिताः॥

अत्र प्रथमभूमित्रयमारूढोऽज्ञोऽपि न कर्माधिकारी, किं पुनस्तत्त्वज्ञानी तद्विशिष्टो जीवन्मुक्तो वेत्यभिप्रायः ॥ १८ ॥

यस्मान्न त्वमेवंभूतो ज्ञानी किं तु कर्माधिकृत एव मुमुक्षुः— 'तस्मात्' इति।

असक्तः फलकामनारहितः सततं सर्वदा न तु कदाचित्कार्यमवश्य-कर्तव्यं यावजीवादिश्रुतिचोदितम्,' तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदि-

श्रीमद्भागवतमें भी इस अवस्थाका वर्णन है, श्रुति भी ऊपर देखिये, चतुर्थी भूमिका ज्ञान है। पूर्वमें तीन भूमिकायें साधन हैं उत्तर तीन अवस्थायें जीवन्मुक्ति की हैं। प्रथम तीन भूमिकाको प्राप्त करनेवाला अज्ञ पुरुष भी कर्मका अधिकारी नहीं होता तो फिर तत्त्वज्ञानीके लिये क्या कहना ॥ १८ ॥

जिस कारणसे तुम ऐसे ज्ञानी नहीं हो किन्तु कर्माधिकृत हो मुमुक्षु हो अतः असक्त फलेच्छा रहित सदा अवश्य कर्तव्य कार्य जो यावज्जीवन श्रुतिविहित है 'तमेतं

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः ॥
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि ॥ २० ॥

चूँकि जनक, अजातशत्रु आदि वेद प्रसिद्ध बड़े बड़े विद्वान् क्षत्रिय भी कर्मोंके ही साथ साथ ज्ञाननिष्ठा प्राप्त किये हुए थे, इसलिए तुम भी क्षत्रियत्वके नाते कर्म करो। हे मित्र, 'सभी धर्म राजाके आश्रित हैं' इस प्रमाण वचनसे लोगोंको अपने अपने धर्ममें प्रवृत्ति कराने के उद्देश्यको देखते हुए भी तुम्हें कर्म करना चाहिए ॥ २० ॥

षन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन' इति श्रुत्या ज्ञाने विनियुक्तं कर्म नित्यनैमित्तिकलक्षणं सम्यगाचर यथाशास्त्रं निर्वर्तय। असक्तो हि यस्मादाचरन्नीश्वरार्थं कर्म कुर्वन्सत्त्वशुद्धिज्ञानप्राप्तिद्वारेण परं मोक्षमाप्नोति पूरुषः पुरुषः स एव सत्पुरुषो नान्य इत्यभिप्रायः ॥ १९ ॥

ननु विविदिषोरपि ज्ञाननिष्ठाप्राप्त्यर्थं श्रवणमनननिदिध्यासनानुष्ठानाय सर्वकर्मत्यागलक्षणः संन्यासो विहितः। तथा च न केवलं ज्ञानिन एव कर्मानधिकारः किं तु ज्ञानार्थिनोऽपि विरक्तस्य। तथा च मयाऽपि विरक्तेन ज्ञानार्थिना कर्माणि हेयान्येवेत्यर्जुनाशङ्कां क्षत्रियस्य संन्यासानधिकारप्रतिपादनेनापनुदति भगवान्—'कर्मणैव' इति।

जनकादयोऽपि जनकाजातशत्रुप्रभृतयः श्रुतिस्मृतिपुराणप्रसिद्धाः क्षत्रियाः

वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति' इत्यादि श्रुतिसे आत्मज्ञानमें नियुक्त कर्म नित्यनैमित्तिक कर्म अच्छी तरह करो, शास्त्रानुसार कर्म संपादन करो। फलमें असक्त ईश्वरसन्तुष्ट्यर्थ कर्म करता हुआ प्राणी सत्वशुद्धि और ज्ञानप्राप्तिद्वारा परममोक्षको प्राप्त करता है। वही पुरुष सत्पुरुष है दूसरा नहीं, यह अभिप्राय है ॥ १९ ॥

ब्रह्मजिज्ञासुको भी ज्ञाननिष्ठा प्राप्त्यर्थ और श्रवण मनन निदिध्यासनके लिये सर्वकर्म त्यागलक्षण संन्यास विहित है तब तो केवल ज्ञानीको ही कर्मानधिकार है यह बात नहीं किन्तु विरक्त ज्ञानार्थीको भी अनधिकार है। मैं विरक्त ज्ञानार्थी हूँ, मेरे लिये कर्म त्याज्य है इस अर्जुनकी आशंकाका 'क्षत्रियको संन्यास का अधिकार नहीं है' एतत्प्रतिपादनद्वारा भगवान् निराकरण करते हैं 'कर्मणा' इत्यादिसे। राजा जनक अजातशत्रुप्रभृतिक जो श्रुतिपुराणोंमें क्षत्रिय विद्वान् प्रसिद्ध हैं वे सब

विद्वांसोऽपि कर्मणैव सह न तु कर्मत्यागेन सह संसिद्धिं श्रवणादिसाध्यां ज्ञाननिष्ठामास्थिताः प्राप्ताः। हि यस्मादेवं तस्मात्त्वमपि क्षत्रियो विविदिषुर्विद्वान्वा कर्म कर्तुमर्हसीत्यनुषङ्गः। 'ब्राह्मणाः पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति' इति संन्यासविधायके वाक्ये ब्राह्मणत्वस्य विवक्षितत्वात्। 'स्वराज्यकामो राजा राजसूयेन यजेत' इत्यत्र क्षत्रियत्ववत्। 'चत्वार आश्रमा ब्राह्मणस्य त्रयो राजन्य द्वौ वैश्यस्य' इति च स्मृतेः। पुराणेऽपि—

'मुखजानामयं धर्मो यद्विष्णोर्लिङ्गधारणम्।
बाहुजातोरुजातानां नायं धर्मः प्रशस्यते ॥'

इति क्षत्रियवैश्ययोः संन्यासाभाव उक्तः। तस्माद्युक्तमेवोक्तं भगवता

कर्मत्यागके विना कर्मके साथ ही श्रवणादि साध्यज्ञाननिष्ठारूप संसिद्धिको पाये हैं। गीतास्थ ही शब्दका हेतु अर्थ है। यदि यह कारण है तब तुम भी क्षत्रिय हो चाहे विविदिषु हो या विद्वान् हो कर्म करनेके योग्य हो। अन्तिम पादस्थ 'अर्हसि' का सम्बन्ध यहां विवक्षित है। उत्तर पदका पूर्वमें सम्बन्ध अनुषङ्ग और पूर्वपदका उत्तर संबन्धको अनुवृत्ति कहते हैं यह शास्त्र सम्प्रदाय है। 'अर्हसि' उत्तरमें है पूर्वमें भी इसका सम्बन्ध आवश्यक होनेसे इस सम्बन्धको आनुषङ्गिक कहा है। 'ब्राह्मणाः इति श्रुतिः' ब्राह्मण पुत्रैषणा, वित्तैषणा, लोकैषणासे व्युत्थित होकर (विरत होकर) भिक्षाचरण करते हैं। इस संन्यास विधायक वाक्यमें ब्राह्मणत्व विवक्षित है 'राजा राजसुयेन यजेत' इस वाक्यमें राजपदसे जैसे क्षत्रियत्व विवक्षित है, तद्वत् उक्त संन्यास विधायक वाक्यमें ब्राह्मणत्वकी विवक्षा है। ब्राह्मणत्वविशिष्ट ब्रह्मबुभुत्सुका संन्यासमें अधिकार है क्षत्रियत्वविशिष्टका नहीं। तुम क्षत्रिय हो तुम्हारा संन्यासमें अधिकार नहीं तुम कर्म ही करो। 'चत्वारः आश्रमाः ब्राह्मणस्य' इत्यादि श्रुतिसे ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वैखानस्, संन्यास ये चार आश्रम ब्राह्मणके हैं। संन्यासको छोड़कर तीन आश्रम क्षत्रियोंको है। वैखानस् संन्यासको छोड़कर ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य ये दो आश्रम वैश्यके हैं। पुराणमें भी ऐसा ही है 'मुखजानामयं धर्मो यद्विष्णो लिङ्गधारणम्। बाहुजातोरुजातानां नायं धर्मः प्रशस्यते' इति। परमात्मलिङ्ग दण्डधारण मुखोत्पन्न ब्राह्मणोंका धर्म है। बाहुजात क्षत्रिय, ऊरुजात वैश्य इनके लिये संन्यास धर्म श्रेष्ठ नहीं। उक्तवचनसे क्षत्रिय वैश्य-

'कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः' इति। 'सर्वे राजाश्रिता धर्मा राजा धर्मस्य धारकः' इत्यादिस्मृतेर्वर्णाश्रमधर्मप्रवर्तकत्वेनापि क्षत्रियोऽवश्यं कर्म कुर्यादित्याह—'लोक०' इति। लोकनां स्वे स्वे धर्मे प्रवर्तनमुन्मार्गान्निवर्तनं च लोकसंग्रहस्तं पश्यन्नपिशब्दाज्जनकादिशिष्टाचारमपि पश्यन्कर्म कर्तुमर्हस्येवेत्यन्वयः। क्षत्रियजन्मप्रापकेण कर्मणाऽऽरब्धशरीरस्त्वं विद्वानपि जनकादिवत्प्रारब्धकर्मबलेन लोकसंग्रहार्थं कर्म कर्तुं योग्यो भवसि, न तु त्यक्तुं ब्राह्मणजन्मालाभादित्यभिप्रायः। एतादृशभगवदभिप्रायविदा भगवता भाष्यकृता ब्राह्मणस्यैव संन्यासो नान्यस्येति निर्णीतम्। वार्तिक-

---

को संन्यासाभाव कहा गया है। अतः भगवान्ने ठीक ही कहा है 'कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः' इति 'सर्वे राजाश्रिता' इस वचनसे सब धर्म राजाके आश्रित हैं। राजा सब धर्मोंका पोषक है। वर्णधर्म और आश्रमधर्मका प्रवर्तक राजा होता है इस कारण भी राजाको अवश्य कर्म करना चाहिये, यह कहा 'लोक' इत्यादिसे अपने अपने धर्ममें लोगोंका प्रवर्तन तथा कुपथसंनिवर्तन यह लोक संग्रह है। जो जिस वर्ण, आश्रम, धर्मका अधिकारी है उसको उसी वर्ण, आश्रम, धर्मका पालन करना चाहिये इतरका नहीं यह राज नियन्त्रणके विना नहीं होता आज कल राज नियन्त्रण न होनेसे वर्ण आश्रम दोनों अव्यवस्थित हो रहे हैं। नियन्त्रण न होनेके कारण राजा वर्णाश्रमी नहीं है इस कारण राजा स्वयं वर्णाश्रमी होकर उनके धर्मोंके पालनमें स्वयं प्रजाको प्रोत्साहित करे जो स्वयं उक्त धर्मोंका पालन नहीं करेगा वह दूसरोंको उसके लिये क्यों बाधित करेगा इसी अनुभवके अनुसार यह यथार्थ वचन है 'यथा राजा तथा प्रजा' इति। इसको देखते हुए अपि शब्दसे जनकादिके शिष्टाचारको भी देखते हुए तुम कर्म कर ही सकते हो क्षत्रियजन्यप्रापक कर्मसे तुम्हारी शरीर बनी है तुम विद्वान् भी हो फिर भी जनकादिके समान प्रारब्धकर्मवश लोक संग्रहार्थ कर्म करनेके योग्य हो, ब्राह्मणवर्णमें जन्माभावसे तुम कर्म त्याग करनेके अधिकारी नहीं अतः कर्म मत त्यागो ईदृश भगवद् अभिप्रायज्ञ भगवान् भाष्यकार ब्राह्मणको ही संन्यास है दूसरेको नहीं यह निर्णय किया है। वार्तिककार बृहदारण्यकभाष्यवार्तिककार प्रौढिवादसे क्षत्रिय वैश्यको भी संन्यासका अधिकार है यह निर्णय किया है। वार्तिककारका यह अभिप्राय है कि वैदिक कर्ममें

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ॥
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥ २१ ॥

बड़े लोग लौकिक या वैदिक जिस किसी कमको प्रमाण रूप मान बैठते हैं अन्य लोग उसीका अनुसरण करने लग जाते हैं ॥ २१ ॥

कृता तु प्रौढिवादमात्रेण क्षत्रियवैश्ययोरपि संन्यासोऽस्तीत्युक्तमिति द्रष्टव्यम् ॥ २० ॥

ननु मया कर्मणि क्रियमाणेऽपि लोकः किमिति तत्संगृह्णीयादित्याशङ्क्य श्रेष्ठाचारानुविधायित्वादित्याह—'यत्' इति । श्रेष्ठः प्रधानभूतो राजादिर्यद्यत्कर्माऽऽचरति शुभमशुभं वा तत्तदेवाऽऽचरतीतरः प्राकृतस्तदनुगतो जनः, न त्वन्यत्स्वातन्त्र्येणेत्यर्थः । ननु शास्त्रमवलोक्य अशास्त्रीयं श्रेष्ठाचारं परित्यज्य शास्त्रीयमेव कुतो नाऽऽचरति लोक

द्विजातिमात्रका अधिकार है औपनिषदात्मज्ञान भी वैदिक फल है, सत्वशुद्धिद्वारा पूर्वकाण्ड विहित नित्यादि कर्मानुष्ठानसे संशुद्ध चित्त, कोई भी ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य श्रवणादिसाधन संन्यास संग्रहणपूर्वक औपनिषदात्मज्ञानका अधिकारी है ब्राह्मण पद द्विजका उपलक्षक है अतएव जाबाल श्रुतिमें ब्राह्मणका उल्लेख नहीं है। 'ब्रह्मचारी भूत्वा गृही भवेत् गृही भूत्वा वनी भवेत्' इत्यादि श्रुतिमें आश्रमानुक्रम विधान है परिशुद्धान्तःकरणके लिये 'यद् हरेव विरज्जेत् तद् हरेव प्रव्रजेत्' इत्यादि श्रुतिसे संन्यास व्युत्क्रमसे भी माना गया है। जनक, अजातशत्रु अश्वपति प्रभृति राजाओंका संन्यासाधिकार संगत होता है इत्यादि सो प्रौढ़िवाद है, यह प्रमाण शून्याभिधान है, ब्राह्मण उपलक्षण है इसमें प्रमाण नहीं जनकादिके संन्यासमें प्रमाण नहीं सदाचारसे भी विरुद्ध है। संन्यासमें ब्राह्मणका ही अधिकार है क्षत्रियादिका नहीं विशेष इस विषयमें अन्यत्र कहेंगे ॥ २० ॥

मेरे कर्म करने पर लोक संग्रह कैसे होगा अर्थात् लोक भी कर्म संग्रह क्यों करेगा जो श्रेष्ठ पुरुष करते हैं, उनका अनुविधान-अनुकरण इतर लोगभी करते हैं इसको कहते हैं 'यत्' इत्यादिसे प्रधान पुरुष, श्रेष्ठ राजादि जो जो कर्म करते हैं शुभ या अशुभ हो वही कर्म और लोग करते हैं, तदनुगामी प्राकृत अज्ञ जन भी वही कर्म करते हैं स्वातन्त्र्य कर्मान्तर नहीं।

शङ्का—शास्त्र देखकर अशास्त्रीय शिष्टाचारको छोड़कर शास्त्रीय शिष्टाचार ही क्यों नहीं करते ?

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन ॥
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥ २२ ॥

हे पार्थ, तीनों लोकोंमें ऐसा कोई भी मेरे लिए अप्राप्त फल प्राप्त करने का है ही नहीं, जिसके लिए मुझे कोई कर्म करना पड़े फिर भी मैं कर्म करता ही हूँ ॥२२॥

इत्याशङ्क्याऽऽचारवत्प्रतिपत्तावपि श्रेष्ठानुसारितामितरस्य दर्शयति—'स यत्' इति। स श्रेष्ठो यल्लौकिकं वैदिकं वा प्रमाणं कुरुते प्रमाणत्वेन मन्यते तदेव लोकोऽप्यनुवर्तते प्रमाणं कुरुते न तु स्वातन्त्र्येण किञ्चित् इत्यर्थः। तथा च प्रधानभूतेन त्वया राज्ञा लोकसंरक्षणार्थं कर्म कर्तव्यमेव प्रधानानुयायिनो जनव्यवहारा भवन्तीति न्यायादित्याभिप्रायः ॥ २१ ॥

अत्र चाहमेव दृष्टान्त इत्याह त्रिभिः—'न मे' इति

हे पार्थ, मे मम त्रिष्वपि लोकेषु किमपि कर्तव्यं नास्ति। यतोऽनवाप्तं फलं किञ्चिन्ममावाप्तव्यं नास्ति। तथाऽपि वर्त एव कर्मण्यहं कर्म करोम्येवेत्यर्थः। पार्थेति संबोधयन् विशुद्धक्षत्रियवंशोद्भवस्त्वं शूरापत्यापत्यत्वेन चात्यन्तं मत्समोऽहमिव वर्तितुमर्हसीति दर्शयति ॥ २२ ॥

समाधान—शिष्टाचार यथाचारमें निर्णायक है तथा श्रेष्टत्व प्रतिपत्तिमें भी शिष्टाचार ही निर्णायक है, श्रेष्ठ जन लौकिक वा वैदिक जिसको प्रमाण मानते हैं लोक भी उसीकी अनुवृत्ति करते हैं वे भी उसीको प्रमाण मानते हैं। स्वतन्त्र प्रमाणान्तर नहीं मानते ऐसी परिस्थितिमें तुम प्रधान राजा हो तुमको लोकके संरक्षणार्थ कर्म कर्तव्य ही है क्योंकि प्रधानानुयायी लोक व्यवहार होता है, प्रधान लोग जैसा व्यवहार करते हैं उनके अनुयायी भी वैसा ही करते हैं यह न्याय लोकमें प्रसिद्ध है ॥ २१ ॥

इसमें हम ही दृष्टान्त हैं ऐसा कहते हैं 'नमे' इत्यादि तीन श्लोकोंसे। हे पार्थ, पृथापुत्र अर्जुन! तीनों लोकोंमें मेरा कुछभी कर्त्तव्य नहीं है, क्योंकि अनवाप्त-अप्राप्त कर्मफलको लाभ करनेकी आवश्यकता प्रतीत होती है अवाप्तकाम ईश्वर है उनके लिये कर्म करनेकी आवश्यकता नहीं है फिर भी कर्ममें रहते हैं कर्म करते ही हैं तुमभी मेरे सम्बन्धी हो इसलिये मेरा अनुकरण करो। पार्थ, इस सम्बोधनसे विशुद्धक्षत्रियवंशोत्पन्न विशुद्धशूरवीरकी बेटीके बेटे होनेसे तुम मेरे समान ही वर्ताव करो यह दिखलाते हैं ॥ २२ ॥

यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः ॥
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥ २३ ॥
उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम् ॥
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ॥ २४ ॥

हे पार्थ यदि कदाचित् आलस्य रहित होकर मैं कर्म न करूँ तो कर्मके अधिकारी सभी मनुष्य लोग मेरा ही अनुसरण करने लगेंगे ॥ २३ ॥

ईश्वर होते हुए यदि मैं कर्म न करूँ तो मेरे अनुयायी मनु-आदिकोंके कर्म न करनेसे संसारस्थितिकारणसे कर्मलोप होनेपर समस्त प्राणी नष्ट हो जायगें फिर वर्णसंकर का कर्ता हमीं बनने लगेंगे जिससे समस्त प्रजाओंके धम लोपसे नष्ट होनेके प्रधान कारण हमीं बनने लगेंगे। अतः जैसा आचरण हम करते हैं वैसा ही तुम्हें भी करना चाहिये अपने मनसे कुछ न करना चाहिये ॥ २४॥

लोकसंग्रहोऽपि न ते कर्तव्यो विफलत्वादित्याशंक्याह—'यदि' इति।

यदि पुनरहमतन्द्रितोऽनलसः सन्कर्मणि जातु कदाचिन्न वर्तेयं नानुतिष्ठेयं कर्मणि तदा मम श्रेष्ठस्य सतो वर्त्म मार्गं हे पार्थ मनुष्याः कर्माधिकारिणः सन्तोऽनुवर्तेरन् सर्वशः सर्वप्रकारैः ॥ २३ ॥

श्रेष्ठस्य तव मार्गानुवर्तित्वं मनुष्याणामुचितमेव अनुवर्तित्वे को दोष इत्यत आह—'उत्सादेयुः' इति।

निष्फल लोक संग्रहार्थं आपको कर्म नहीं करना चाहिये। इस प्रश्नके उत्तरमें कहते हैं 'यदि' इत्यादि। कर्म मेरे लिये निष्फल है फिर भी दूसरे लोगोंके हितार्थ मैं कर्म करता हूं।

शङ्का—आपके कर्म करनेसे दूसरेका हित कैसे है।

समाधान—यदि मैं आलस्य छोड़कर कदाचित् कर्म न करूँ तो हे पार्थ, कर्माधिकारी मुझे श्रेष्ठ समझकर मेरे आचरणको उत्तम मानकर उसीको सब तरहसे अनुवृत्ति करेंगे ॥ २३ ॥

तो इसमें हानि क्या है आप श्रेष्ठ हैं आपके मार्गका अनुसरण उचित ही है इस शङ्काके उत्तरमें कहते हैं 'उत्सीदेयुः' इत्यादि।

अहमीश्वरश्चेद्यदि कर्म न कुर्यां तदा मदनुवर्तिनां मन्वादीनामपि कर्मानुपपत्तेर्लोकस्थितिहेतोः कर्मणो लोपेनेमे सर्वे लोका उत्सीदेयुर्विनश्येयुः। ततश्च वर्णसंकरस्य च कर्ताऽहमेव स्याम्। तेन चेमाः सर्वाः प्रजा अहमेव उपहन्यां धर्मलोपेन विनाशयेयम्। कथं च प्रजानामनुग्रहार्थं प्रवृत्त ईश्वरोऽहं ताः सर्वा विनाशयेयमित्यभिप्रायः। यद्यदाचरतीत्यादेरपरा योजना—न केवलं लोकसंग्रहं संपश्यन्कर्तुमर्हसि अपितु श्रेष्ठाचारत्वादपीत्याह—यद्यदिति। तथा च मम श्रेष्ठस्य यादृश आचारस्तादृश एव मदनुवर्तिना त्वयाऽनुष्ठेयो न स्वातन्त्र्येणान्य इत्यर्थः। कीदृशस्तवाऽऽचारो यो मया अनुवर्तनीय इत्याकाङ्क्षायां न मे पार्थेत्यादिभिस्त्रिभिः श्लोकैस्तत्प्रदर्शनमिति॥ २४॥

समाधान—इसमें दोष है इसको उत्सीदेयुः इत्यादिसे कहते हैं। मैं ईश्वर होकर यदि कर्म न करूँ तो मेरी अनुवृत्ति करनेवाले मन्वादि भी कर्म न करेंगे। लोकस्थितिका हेतु तो कर्म ही है उसका लोप होनेसे सब लोक विनष्ट हो जायगा, इससे हम ही वर्णसंकरके कर्त्ता और सम्पूर्ण प्रजाके धर्मनाशद्वारा नाशक होंगे। यह कैसे हो सकता है कि प्रजाओंके अनुग्रहार्थ प्रवृत्त ईश्वर मैं उन सबको नष्ट करूँगा, यह भगवानका अभिप्राय है। 'यद्यदाचरति' इत्यादि वाक्यार्थयोजना प्रकारान्तरसे करते हैं—केवल लोकसंग्रह देखकर ही तुम्हें कर्म करना चाहिये यही नहीं, किन्तु श्रेष्ठ जनोंका आचार है इसलिये भी यह कर्म करना चाहिये यों यद्यदाका अभिप्राय है। इस स्थितिमें मैं श्रेष्ठ हूँ मेरा जैसा आचार है वैसा ही आचार तुमको भी करना चाहिये, क्योंकि तुम मेरे अनुवर्ती हो, अनुवर्ती वास्तविक वही है जो कायिक वाचिकादि आचारसे स्वामीके विपरीत न करे, जो जैसा आचरण करता है वह तादृश आचरणशीलके ऊपर ही प्रसन्न होता है। सेवा भी स्वामी-प्रीति ही है यह लोकमें भी प्रसिद्ध है। स्वतन्त्र यानी स्वाम्याचरणसे भिन्न आचरण तुमको नहीं करना चाहिये। आपका आचार कौनसा है जिसका मुझे आचरण करना चाहिए, इस प्रकार आकांक्षा होनेपर 'न मे पार्थ' इत्यादि तीन श्लोकोंसे आचरणका प्रदर्शन किया गया है॥ २४॥

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्याद्विद्वांस्तथाऽसक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥ २५ ॥

हे भारत ! मूर्खलोग फल की इच्छासे जैसे कर्म करनेमें प्रवृत्त होते हैं वैसे ही लोकसंग्रहकी इच्छा करनेवाले विद्वान् भी असक्त होते हुए कर्म करें ॥ २५ ॥

ननु तवेश्वरस्य लोकसंग्रहार्थं कर्माणि कुर्वाणस्यापि कर्तृत्वाभिमानाभावान्न काऽपि क्षतिः। मम तु जीवस्य लोकसंग्रहार्थं कर्माणि कुर्वाणस्य कर्तृत्वाभिमानेन ज्ञानाभिभवः स्यादित्यत आह—'सक्ताः' इति।

सक्ताः कर्तृत्वाभिमानेन फलाभिसंधिना च कर्मण्यभिनिविष्टा अविद्वांसोऽज्ञा यथा कुर्वन्ति कर्म लोकसंग्रहं कर्तुमिच्छुर्विद्वानात्मविदपि तथैव कुर्यात्। किन्तु असक्तः सन् कर्तृत्वाभिमानं फलाभिसन्धिं चाकुर्वन्नित्यर्थः। भारतेति भरतवंशोद्भवत्वेन भा ज्ञानं तस्यां रतत्वेन वा त्वं यथोक्तशास्त्रार्थबोधयोग्योऽसीति दर्शयति ॥ २५ ॥

शंका—आप ईश्वर हैं, लोकसंग्रहार्थ कर्म करते हैं, फिर भी आपमें कर्तृत्वाभिमान न होनेसे कोई हानि नहीं है। मैं तो जीव हूँ, इसलिये लोकसंग्रहार्थ भी कर्म करनेसे कर्तृत्वाभिमान मुझे अवश्य हो जायगा अतः मैं यह कर्म करूँगा तो आत्मज्ञानका तिरोधान हो जानेसे मेरी हानि होगी। अकर्तृत्वाद्यनुचिन्तन आत्मतत्त्वज्ञानके उपयोगी हैं, कर्तृत्वाभिमान तद्विरोधी है इस पर कहते हैं—'सक्ताः' इत्यादि।

समाधान-सक्त यानी फलकामना और कर्तृत्वाभिमानसे अनुबद्धान्तःकरण अतएव कर्माभिनिवेशपुरस्सर अनात्मज्ञ अविद्वान जैसे कर्म करते हैं वैसा ही तुम भी कर्म करो किन्तु आसक्तिरहित होकर करो। कर्म करनेमात्रसे उक्त ज्ञानका अभिभव नहीं होता, किन्तु आसक्तिसे। आसक्ति ही दोष है। आसक्ति न रहनेपर जो कर्म करोगे वह अन्तःकरणशुद्धिद्वारा ज्ञानोत्पत्तिमें सहायक होगी और लोकानुवृत्ति भी होगी। अतः लोक संग्रहचिकीर्षु विद्वान् भी वैसा ही कर्म करें, भेद इतना ही रहे कि अविद्वान् उभयत्र आसक्त होकर काम करता है मुमुक्षु तद्रहित होकर। भारत संबोधनका अभिप्राय भरतवंशमें जन्म होनेसे है किन्तु भरतवंशमें दुर्योधनादिका भी जन्म है अतः प्रतिष्ठित कुलोत्पन्न सब समान होंगे इसलिये अर्थान्तर कहते हैं—भा ज्ञानको भी

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम् ।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन् ॥ २६ ॥

कर्म करने की जिनकी दृढ़ इच्छा है ऐसे अज्ञानी लोगोंमें बुद्धिभेद (अश्रद्धा, अविश्वास) ज्ञानी पुरुषको उत्पन्न न होने देना चाहिये। किन्तु उसको स्वतः निष्काम, बुद्धियुक्त होकर, अपने आचरणको प्रदर्शित करते हुये अज्ञानी पुरुषको कर्ममें प्रवृत्त कराना चाहिए ॥ २६ ॥

ननु कर्मानुष्ठानेनैव लोकसंग्रहः कर्तव्यो न तु तत्त्वज्ञानोपदेशेनेति को हेतुरत आह—'न बुद्धिभेदम्' इति ।

अज्ञानामविवेकिनां कर्तृत्वाभिमानेन फलाभिसंधिना च कर्मसङ्गिनां कर्मण्यभिनिविष्टानां या बुद्धिरहमेतत्कर्म करिष्य एतत्फलं च भोक्ष्य इति तस्या भेदं विचालनमकर्त्रात्मनोपदेशेन न कुर्यात्। किन्तु युक्तोऽवहितः सन् विद्वाँल्लोकसंग्रहं चिकीर्षुरविद्वदधिकारिकाणि सर्वकर्माणि समाचरंस्तेषां श्रद्धाम् उत्पाद्य जोषयेत्प्रीत्या सेवयेत् । अनधिकारिणामुपदेशेन बुद्धिविचालने कृते कर्मसु श्रद्धानिवृत्तेर्ज्ञानस्य चानुत्पत्तेरुभयभ्रष्टत्वं स्यात् । तथा चोक्तम्—

कहते हैं, तुम ज्ञानरत हो, तुम्हें आत्मज्ञानमें अनुराग है, इतरको नहीं। अतः ईदृशी शिक्षाके अधिकारी तुम्हीं हो, इसलिये शास्त्रीयार्थबोधनयोग्य समझकर तुमको उपदेश देते हैं—आसक्तिरहित होकर शास्त्रीय कर्म करो ॥ २५ ॥

कर्मानुष्ठानसे ही लोकसंग्रह करना चाहिये, तत्त्वज्ञानोपदेशसे नहीं, इसमें क्या कारण है। इस शंकाका समाधान करते हैं—'न बुद्धिभेदम्' इत्यादिसे।

जिनको अकर्तृत्वादि विवेक नहीं हैं उन अज्ञानियोंके फलके लिये मैं कर्म करता हूँ इस फलाभिसन्धि तथा कर्तृत्वाभिमानसे कर्मप्रवृत्त पुरुषोंकी बुद्धिका भेदचालन 'आत्मा वस्तुतः अकर्ता है' इत्यादि उपदेशसे नहीं करना चाहिये किन्तु सावधान होकर लोकसंग्रह करनेकी इच्छासे, जिनकर्मोंमें अविद्वान् अनात्मज्ञका अधिकार हैं उन सब कर्मोंका विधिवत् सुचारुरूपसे स्वयं अनुष्ठान कर उनमें उनकी श्रद्धा उत्पादन कर प्रीतिसे सेवन करे। अनधिकारियोंको उपदेश द्वारा बुद्धि विचलित करने पर रही सही भी श्रद्धा निवृत्त हो जायगी, श्रद्धा

'अज्ञस्यार्धप्रबुद्धस्य सर्वं ब्रह्मेति यो वदेत् ।
महानिरयजालेषु स तेन विनियोजितः ॥' इति ॥ २६ ॥

निवृत्तिसे कर्मानुष्ठानकी भी निवृत्ति हो जायगी कथञ्चित् कोई अविश्वाससे करेगा भी तो अकृतसम ही है, क्योंकि 'अश्रद्धया हुतं दत्तम्' इत्यादि स्मृतिवाक्यसे ये श्रद्धारहित सुकृतभी कर्मफलप्रद नहीं होता यह स्पष्ट है।

कर्ममें निवृत्त होनेसे किम्वा श्रद्धारहित होनेसे फल प्रायः कर्मपथसे और ज्ञानपथसे दोनोंसे भ्रष्ट हो जायगा यह कहा है—'अज्ञस्य' इत्यादिसे। अर्धप्रबुद्ध अतएव अज्ञके प्रति यह सब ब्रह्म है इस प्रकार जो उपदेश देता है वह उपदेष्टा उस उपदेश्यको बड़े नरकजालमें नियोजित करता है-ढकेलता है। यह ठीक ही है जो स्वार्थी है वही अनधिकारीको उत्तमफलप्राप्तिका लालच देकर अनधिकृतोपायमें प्रवृत्त कराता है और उपदेशके परिणामपर ध्यान नहीं देता इसका कारण मुख्य तो उसका अज्ञान है, दूसरा कारण यह भी है कि उपदेष्टाके ऊपर पूर्णविश्वास कर लेता है उसकी परीक्षा नहीं करता। इस समय इसका प्रचार अधिक है 'कलौ-वेदान्तिनः सर्वे' इस श्लोकसे इसकी सूचना बहुत पहिले शास्त्रोंमें दी जा चुकी है, ज्ञान अथवा भक्तिका अधिकारी कौन है इसपर दृष्टि न देकर सबको संसारसे मुक्तिका लालच देकर ज्ञान भक्तिका उपदेश कलिकालमें अधिक होगा कर्मके उपदेशका न कोई शुश्रूषु मिलेगा न कोई उपदेश ही क्योंकि आलस्यवश कर्म करना कोई नहीं चाहता फल केवल स्वल्प उपायसे चाहता है। कर्मव्यतिरिक्त दो मार्ग और हैं जो कर्मानुष्ठानके अनन्तर पूर्वकालमें उपदिष्ट होते थे। किसी उत्तमपुरुषका पूर्व जन्मानुष्ठानसे चित्त शुद्ध था इसलिये उसको कर्मोपदेश न देकर ज्ञानभक्तिका उपदेश पूर्वमें किया वह तो ठीक ही था, पर उसी दृष्टान्तसे अब कर्मकी उपेक्षा कर ज्ञान, भक्तिको कर्मनिरपेक्ष पुरुषार्थ-साधन है यह मानकर उत्तमफल लाभके लिये ज्ञान और भक्तिके ही विशेष उपदेष्टा तथा श्रोता हैं 'अज्ञस्य' इत्यादि श्लोकार्थसे जो तत्त्व कहा गया है उसपर कोई ध्यान नहीं देता अगर ध्यान दे तो शान्त कर्मके विना ज्ञानभक्ति न होगी जैसा कि गीतामें स्वयं भगवान् बराबर कह रहे हैं, यह कहनेवालेको स्थान नहीं रह जाता कि इस उपदेशसे परिणाममें अनधिकारियोंको क्या लाभ है इत्यादि विवेचन इस समय नहीं कर सकते जो इस विषयमें कुछ लिखा उसमें भी भय है कि कहीं दुर्दृष्टियोंको इससे अर्थान्तरका भ्रम न हो जाय ॥ २६ ॥

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताऽहमिति मन्यते॥ २७॥

ये अखिल कर्म शरीर, इन्द्रिय आदि मायाके कार्यसे ही किये जाते हैं। परन्तु अहंकारी पुरुष ऐसा समझता है कि 'यह मैंने किया' 'मैं कर्ता हूँ॥ २७॥

विद्वदविदुषोः कर्मानुष्ठानसाम्येऽपि कर्तृत्वाभिमानतदभावाभ्यां विशेषं दर्शयन्सक्ताः कर्मणीतिश्लोकार्थं विवृणोति द्वाभ्याम्—'प्रकृतेः' इति।

प्रकृतिर्माया सत्त्वरजस्तमोगुणमयी मिथ्याज्ञानात्मिका पारमेश्वरी शक्तिः, 'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्' इति श्रुतेः। तस्याः प्रकृतेर्गुणैर्विकारैः कार्यकारणरूपैः क्रियमाणानि लौकिकानि वैदिकानि च कर्माणि सर्वशः सर्वप्रकारैरहङ्कारेण कार्यकारणसङ्घातात्मप्रत्ययेन विमूढः स्वरूपविवेकासमर्थ आत्माऽन्तःकरणं यस्य सोऽहङ्कारविमूढात्माऽनात्मन्यात्माभिमानी तानि कर्माणि कर्ताऽहमिति करोम्यहमिति मन्यते कर्तृत्वाध्या-

यद्यपि विद्वानों और अविद्वानोंके कर्मानुष्ठान सम होनेपर भी कर्तृत्वाभिमान तदभावरूपविशेष दोनों दिखलाते हुए 'सक्ताः कर्मणि' इस श्लोकके अर्थका विवरण करते हैं दो श्लोकोंसे—'प्रधानं प्रकृतिः स्त्रियां' यह कोश है इसके अनुसार चराचर जगत्के कारणको प्रकृति कहते हैं, सांख्यमतसे सत्त्व, रजस्तम, एतद्गुणत्रयात्मक प्रधान उक्त शब्दार्थ है तादृशगुणत्रयात्मको वेदान्ती माया कहते हैं, इसी भेदसे परिणामवादका मायावादसे व्यवहार होता है। माया मिथ्याज्ञानात्मिका है, परमेश्वर की शक्ति है, स्वतन्त्र नहीं, सांख्य प्रकृतिको स्वयंभू-स्वतंत्र मानते हैं यह मतद्वयमें विशेष है, प्रकृतिको माया कहते हैं इसमें प्रमाण श्रुति है सो मूलमें पढ़िये उक्त प्रकृतिके विकारभूत जो कार्य्यकारणरूप गुण हैं उनसे क्रियमाण जो लौकिक वैदिक कर्म सब प्रकारके हैं। अहंकारकार्य-शरीरकारण-इन्द्रियाँ इनका जो संघात-समुदाय है उसमें आत्मप्रत्यय-आत्मज्ञान है उस समुदायको ही आत्मा मानते हैं अतएव विमूढ़ स्वरूपविवेकासमर्थ आत्मा उक्त समुदायसे अतिरिक्त है तथापि अतिरिक्त जाननेमें असमर्थ अन्तःकरण जिनका है वे अनात्मामें आत्माभिमानी उन सब कर्मोंको मैं करता हूँ ऐसा मानते हैं उक्त समुदायमें वस्तुतः कर्तृत्व है यह वह 'अहम्'

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः ।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते ॥ २८ ॥

हे महाबाहो ! गुण और कर्मोंके विभागके स्वरूपको समझनेवाला विद्वान् गुण (चक्षु आदि) गुणोंमें (रूपादि विषयोंमें) अनुवृत्त होते हैं ऐसा समझकर आसक्त नहीं होता ॥ २८ ॥

सेन । कर्ताऽहमिति तृन्प्रत्ययः, तेन 'न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम्' इति षष्ठीप्रतिषेधः ॥ २७ ॥

विद्वांस्तु तथा न मन्यत इत्याह—'तत्त्ववित्तु' इति ।

तत्त्वं याथात्म्यं वेत्तीति तत्त्ववित् । तुशब्देन तस्याज्ञाद्वैशिष्ट्यमाह । कस्य तत्त्वमित्यत आह—गुणकर्मविभागयोः, गुणा देहेन्द्रियान्तःकरणानि

पदार्थ नहीं जो 'अहम्' पदार्थ है उसमें कर्तृत्व नहीं है, धर्माध्यासान्तर धर्मविनिमयसे मैं करता हूँ ऐसा अभिमान करते हैं कर्ताका अध्यासकर उक्त प्रत्यय होता है।

'तानि अहं कर्ता' यह प्रयोग व्याकरणसे परिशुद्धि नहीं जँचता क्योंकि कर्तामें तृच् प्रत्यय करने पर 'कर्तृकर्मणोः कृति' इस पा० सूत्रसे कर्म-तानिमें षष्ठी होनेसे तेषामहं कर्ता यह प्रयोग साधु है ठीक है इस शङ्कासे कहते हैं कि कर्ता अहमिति तृन् प्रत्ययः, इससे 'न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम्' इस पा० सूत्रसे षष्ठीके निषेध होने पर उत्सर्गसूत्रसे उक्तरूप साधु है ॥ २७ ॥

विद्वान् ऐसा नहीं मानते यह कहते हैं—'तत्त्ववित्' इत्यादिसे। 'तत्त्वं यथार्थं वेत्ति इति तत्त्ववित्' जो पदार्थ जिस रूपसे रहता है उसको उसी रूपसे जो जानता है वही तत्त्ववित् कहा जाता है जैसे शुक्तिको जो शुक्तित्वेन जानता है वह शुक्तिका तत्त्ववित् है जो जिस रूपसे जिस पदार्थको जानता है परन्तु उस रूपसे वह पदार्थ नहीं रहता वह अतत्त्ववित् है यथा शुक्तिरजतदर्शी यही तद्विषयमें भ्रान्त कहाता है। तु शब्दसे तत्त्ववेत्तामें अतत्त्ववित्से विशेष कहते हैं।

शङ्का—तत्त्व तो प्रतिवस्तु भिन्न है किस पदार्थका तत्त्ववित् यहाँ इष्ट है ?

समाधान—गुण यहाँ अहमित्याकारकप्रतीतिविषय शरीरेन्द्रियान्तःकरण विवक्षित है क्योंकि इनमें 'श्यामोऽहम्, बधिरोऽहं, मूढोऽहम्' मैं श्याम हूँ बधिर हूँ, मूढ हूँ इत्यादि प्रतीतियाँ लोकमें भी प्रसिद्ध है। कर्मसे उनके देहेन्द्रियान्तः

अहंकारास्पदानि कर्माणि च तेषां व्यापारभूतानि ममकारास्पदानीति गुणकर्मेति द्वंद्वैकवद्भावः। विभज्यते सर्वेषां जडानां विकारिणां भासकत्वेन पृथग्भवतीति विभागः स्वप्रकाशज्ञानरूपोऽसङ्ग आत्मा गुणकर्म च विभागश्चेति द्वन्द्वः। तयोर्गुणकर्मविभागयोर्भास्यभासकयोर्जडचैतन्ययोर्विकारिनिर्विकारयोस्तत्त्वं याथात्म्यं यो वेत्ति स गुणाः करणात्मका गुणेषु विषयेषु प्रवर्तन्ते विकारित्वात् न तु निर्विकार आत्मेति मत्वा न सज्जते सक्तिं कर्तृत्वाभिनिवेशमतत्त्वविदिव न करोति। हे महाबाहो! इति सम्बोधयन् सामुद्रिकोक्तसत्पुरुषलक्षणयोगित्वान्न पृथग्जनसाधारण्येन सममविवेकी भवितुमर्हसीति सूचयति। गुणविभागस्य कर्मविभागस्य च तत्त्वविदिति वा। अस्मिन्पक्षे गुणकर्मणो-

करणके व्यापारस्वरूप ममकारविषय इष्ट है, मैं अपने नेत्रसे देखा, अपने कानसे सुना इत्यादि भी सबको प्रसिद्ध ही है। 'गुणकर्मविभागयोः' इसमें द्विवचनोपपत्तिके लिये समास कहते हैं—'गुणश्च कर्म च विभागश्च' इसप्रकार तीनों पदोंका इतरेतरद्वंद्वसमास करनेपर 'गुणकर्मविभागाः' बहुवचनान्त हो जायगा इसके परिहारार्थ 'गुणश्च कर्म च अनयोः समाहारः गुणकर्म' समाहारसे एकवचन होना न्यायप्राप्त है क्योंकि समुदाय एक है आत्मबोधनार्थ विभागपदकी व्युत्पत्ति दिखलाते हैं 'विभज्यते' इति 'विभागः' सब विकारिजड़ोंसे भासक होनेसे पृथक्, है भास्य घटादिसे भासक प्रदीप भिन्न है यह लोकमें भी प्रसिद्ध ही है, प्रकृतमें भासक स्वप्रकाशानन्दज्ञानरूप आत्मा असङ्ग है। गुणकर्म च विभागश्च इन दोनों पदोंका इतरेतरद्वन्द्वसमास होनेसे गुणकर्मविभागौ 'परवल्लिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयोः' इस पा० सूत्रसे पुल्लिग होकर प्रथम द्विवचनमें उक्तरूप हुआ षष्ठी द्विवचनमें गुणकर्मविभागयोः यह रूप निष्पन्न होता है उन दोनों भास्यभासकोंका अर्थात् जड़ चैतन्यविकारि निर्विकारका जो तत्त्व है याथात्म्य अद्वैतात्मत्व उसको जो जानता है वह गुण जो कारणात्मक इन्द्रियां हैं, वे गुण-विषयमें प्रवृत्त होती हैं क्योंकि वे विकारी हैं निर्विकार आत्मा प्रवृत्त नहीं होता यह मानकर आसक्ति कर्तृत्वाभिनिवेश 'कर्तृत्वाभिमान' अतत्त्ववेत्ताके समान तत्त्ववेत्ता नहीं करता। हे महाबाहो! इससे संबोधन करते हुये सामुद्रिकशास्त्रोक्त सत्पुरुषोंके लक्षणोंसे युक्तमन साधारणमनुष्यके समान अविवेकी होनेके योग्य नहीं यह सूचित करते हैं। गुणविभागस्य कर्मविभागस्य वा तत्त्ववेत्ता यह भाष्यव्याख्यानका निर्देश है उसमें अपरितोष कहते हैं

रित्येतावतैव निर्वाहे विभागपदस्य प्रयोजनं चिन्त्यम् ॥ २८ ॥

इस पक्षमें गुणकर्मणोः इतनेसे ही निर्वाह हो जाता है विभागपदका प्रयोजन चिन्त्य है।

['गुणविभागस्य' 'कर्मविभागस्य' इसभाष्यका अर्थ उत्कर्षदीपिकामें इस प्रकार किया है कि—मैं कार्यकरणसंघातात्मा नहीं हूँ, इस प्रकार गुणोंसे आत्म-विभाग तथा मुझमें कर्म नहीं है, इसप्रकार कर्मोंसे अपनी आत्माको विभागका ज्ञाता अर्थात् गुणकर्म विभक्त आत्मसाक्षात्कारवान् , तत्त्ववेत्ता, अहंकारविमूढात्मा नहीं कहा जा सकता और न वह कर्ममें आसक्त ही होता है, जिससे मैं कर्ता हूं अभिमान करें, क्योंकि उन दोनोंसे अतिरिक्त आत्माको जानता है। विभागपदके न रहने पर यह अर्थ नहीं हो सकता इस अर्थको स्फुट करनेके लिये 'विभागश्च विभागश्च विभागौ गुणकर्मभ्यो विभागौ गुणकर्मविभागौ तयोः गुणकर्मविभागयोः' यह समास समझना, इससे 'गुणविभागस्य कर्मविभागस्य' 'तत्त्वविदिति वा' यह भाष्यका अनुवाद कर कहा कि इस पक्षमें 'गुणकर्मणोरित्येतावतैव निर्वाहे विभागपदस्य प्रयोजनं चिन्त्यम् इति' यह सरस्वतीजीका आक्षेप भाष्यके ऊपर उक्तरीतिसे निस्सार है। और जो व्याख्याकी है वह गुण देहेन्द्रियान्तःकरण है, जो अहंकार विषय प्रसिद्ध है, कर्म उनके व्यापाररूप ममकारास्पद है. गुण' कर्मेत्यादि पूर्वमें कह चुके हैं अर्थात जड़ आत्माके स्वरूपको यथार्थ जो जानता है सो भी ठीक नहीं 'गुणकर्म च विभागश्च' इन पदोंका इतरेतरद्वन्द्व करने पर विभागपद अल्पाच् और आत्मबोधक होनेसे अभ्यर्हित है।

अतः 'अल्पाच्तरम्' 'अभ्यर्हितं च' इन दोनों पा० सूत्रोंसे विभागपदका ही पूर्वनिपात होगा तो गुणकर्मविभागयोः यह प्रयोग ही असंगत हो जायगा। पूर्वनिपात प्रकरणको अनित्य मानकर उक्त प्रयोगकी उपपत्ति तो अगतिकी गति है जो गति रहनेपर अनुचित मानी जाती है, विभागपदका प्रसिद्ध अर्थ छोड़ कर अप्रसिद्धार्थ कल्पना अनुचित कही जाती है।

सारांश यह है कि भाष्यका ही अर्थ सरस्वतीजीकी व्याख्यासे भी प्रतीत होता है, पर उधर दृष्टि न देकर समासके पचड़ेमें पड़कर व्यर्थ आक्षेप किया है, इस पर दर्दुर दृष्टियोंको ध्यान देना चाहिये कि व्याख्याकारको कितनी स्वतन्त्रता चाहिये, इससे भाष्यमें सरस्वतीजीकी श्रद्धा कम नहीं हुई है ॥२८॥]

प्रकृतेर्गुणसंमूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु ।
तानकृत्स्नविदो मन्दान्कृत्स्नविन्न विचालयेत् ॥ २९ ॥

मायाके कर्मोंमें अभिनिवेश रखनेवाले पामरजन इन्द्रियोंद्वारा किये जानेवाले कार्योंमें आसक्ति करते हैं, उन मन्द अतत्त्वज्ञ पुरुषोंको पूर्णतत्त्वज्ञ कभी भी विचलित न करे ॥ २९ ॥

तदेवं विद्वदविदुषोः कर्मानुष्ठानसाम्येन विद्वानविदुषो बुद्धिभेदं न कुर्यादित्युक्तमुपसंहरति—'प्रकृतेः' इत्यादिना ।

प्रकृतेः पूर्वोक्तायाः मायाया गुणैः कार्यतया धर्मैर्देहादिभिर्विकारैः सम्यङ्मूढाः स्वरूपास्फुरणेन तानेवाऽऽत्मत्वेन मन्यमानास्तेषामेव गुणानां देहेन्द्रियान्तःकरणानां कर्मसु व्यापारेषु सज्जन्ते सक्तिं वयं कर्म कुर्मस्तत्फलायेति दृढतरामात्मीयबुद्धिं कुर्वन्ति ये तान्कर्मसङ्गिनोऽकृत्स्नविदोऽनात्माभिमानिनो

इस प्रकार विद्वान् अविद्वान्का कर्मानुष्ठान समान है, पर विद्वान स्वाभिप्रायानुसार उपदेश देकर अविद्वान्के हृदयको विचलित न करे, किन्तु उसके सत्य और हितकर वही उपदेश देना चाहिए जिसमें उपदेश्यका कल्याण हो, जिस समीचीन उपदेशसे भी उसका अहित हो उसका उपदेश नहीं देना चाहिए, इससे उक्तार्थका उपसंहार करते हैं 'प्रकृतेः' इत्यादिसे । 'प्रकृति-पूर्वोक्तत्रिगुणात्मक परमेश्वरशक्तिरूपमायाके गुण कार्य होनेसे मायाके धर्म देहादि विकार हैं। शंका यह है कि शरीरादि मायाके गुण कैसे हैं इसका उत्तर देते हैं कि रूपादिवद्देहादि गुण नहीं है किन्तु कार्य होनेसे कारणके गुण कहे जाते हैं।

शंका—क्यों ?

समाधान—कार्यकारणमें कारण प्रधान होता है, कारणमें ही कार्य रहता है, कारणके नाशसे कार्यका नाश होता है इस प्रकार कार्य कारणाधीन होनेसे कारणकी अपेक्षा गुण प्रधान है, कार्यकी अपेक्षा कारण प्रधान है, इस अभिप्रायसे शरीरादिको तत्कार्य होनेसे तद्गुण कहा है । इन गुण भूतविकारोंसे संमूढ़ है ।

शंका—विकारोंसे समूढ़ क्यों ?

समाधान—तात्त्विक आत्मस्वरूपका स्फुरण न होनेसे इन्हींको आत्मा मान बैठते हैं; अतः इन गुणभूत देहेन्द्रियान्तःकरणके व्यापारमें सक्त होते हैं, हम फलके लिए कर्म करते हैं, इसप्रकार दृढ़तर आत्मबुद्धि जो करते हैं, उन कर्मसङ्गिओंको

मन्दानशुद्धचित्तत्वेन ज्ञानाधिकारमप्राप्तान्कृत्स्नवित्परिपूर्णात्मवित्स्वयं न विचालयेत्कर्मश्रद्धातो न प्रच्यवेदित्यर्थः। ये त्वमन्दाः शुद्धान्तःकरणास्ते स्वयमेवमविवेकोदयेन विचलन्ति ज्ञानाधिकारं प्राप्ता इत्यभिप्रायः। कृत्स्ना-कृत्स्नशब्दावात्मानात्मपरतया श्रुत्यर्थानुसारेण वार्तिककृद्भिर्व्याख्यातौ—

'सदेवेत्यादिवाक्येभ्यः कृत्स्नं वस्तु यतोऽद्वयम्।
संभवस्तद्विरुद्धस्य कुतोऽकृत्स्नस्य वस्तुनः॥
यस्मिन्दृष्टेऽप्यदृष्टोऽर्थः स तदन्यश्च शिष्यते।
तथाऽदृष्टेऽपि दृष्टः स्यादकृत्स्नस्तादृगुच्यते' इति॥

अनात्मनः सावयवत्वादनेकधर्मत्वाच्च केनचिद्धर्मेण केनचिदवयवेन च विशिष्टे तस्मिन्नेकस्मिन्घटादौ ज्ञातेऽपि धर्मान्तरेणावयान्तरेण वा विशिष्टः स एवाज्ञातोऽवशिष्यते। तदन्यत्र पटादिरज्ञातोऽवशिष्यते तथा तस्मिन्घटादावज्ञातेऽपि पटादिर्ज्ञातः स्यादिति तज्ज्ञानेऽपि तदन्यस्य च ज्ञानात्तद-

---

अकृत्स्नविद् अनात्माभिमानी मन्द अशुद्धचित्तवाले अप्राप्त ज्ञानाधिकारियोंको कृत्स्नविद् (पूर्णात्मवेत्ता) कर्मश्रद्धासे विचलित न करें जो शुद्धान्तःकरण अत एव अमन्द है वे तो तत्त्वज्ञान होनेसे 'नाऽहं कर्त्ता भोक्ता वा' इत्यादि बुद्धिसे स्वयं विचलित होते हैं, क्योंकि वे ज्ञानाधिकार प्राप्त हैं यह अभिप्राय है।

अकृत्स्नवित् शब्दोंकी आत्मानात्मपरकत्वेन वार्तिककारने व्याख्याकी है आत्मवित्को कृत्स्नवित् कहा है अनात्मवित्को अकृत्स्नवित कहा है अतः श्रुतिसे वार्तिककारोक्त अर्थमें स्वारस्य है, इसलिए उक्त अर्थमें श्रुति प्रमाण है। 'सदेव' इत्यादि से वार्तिकका निर्देश मूलमें देखिये। आत्मासे भिन्न घटादिपदार्थ सावयव, कपालादि अनेकावयवविशिष्ट तथा अनेक धर्मवान् है। घटत्व, द्रव्यत्व रूप रसादिमत्वधर्म प्रसिद्ध है; किञ्चिदवयव, चक्षुर्गोचर, अनावृत, सम्मुखावयव विशिष्ट तथा 'अयं घट इत्याकारक' प्रतीतिदशामें घटत्वविशिष्ट एक घटका ज्ञान होने पर धर्मान्तर द्रव्यत्वादिसे आवृत पृष्ठभागावयवान्तर है वही घट अज्ञात रहता है। घट भिन्न पटादि तो अज्ञात रहते ही हैं एवं उसी घटादिके अज्ञात रहने पर भी पटादि ज्ञात होता है, पटादिका ज्ञान होनेपर तदन्य अज्ञात रहेगा ही उसका ज्ञान रहने पर तदन्य अज्ञात रहता ही है, तदन्याज्ञान होने पर उसका ज्ञान होता ही है, अतः घटादि अकृत्स्न है कृत्स्न तो 'अद्वय आत्मा' है,

ज्ञानेऽप्यन्यज्ञानाच्च सोऽकृत्स्न उच्यते। कृत्स्नस्त्वद्वय आत्मैव तज्ज्ञाने कस्यचिदवशेषस्याभावादिति श्लोकद्वयार्थः ॥ २९ ॥

अद्वयात्मकके ज्ञान होने पर कोई अज्ञात अवशिष्ट नहीं रहता है यह वार्तिकका अर्थ है, भाव यह है कि निर्विशेष, स्वयंप्रकाश चैतन्यमात्र आत्मा है, इसमें न अवयव है, न कोई धर्म है, केवल एक वस्तु है सो भी स्वयं प्रकाश है। अगर कोई भी धर्म उसमें मानोगे तो वह अस्वप्रकाश होगा और एकधर्म माननेपर 'भिक्षुपाद प्रसारिका' न्यायसे धर्मान्तर भी मानना पड़ेगा। एक धर्म विशिष्ट आत्मज्ञान होनेपर धर्मान्तरविशिष्टत्वेनाज्ञातत्व आत्मामें भी आयेगा, आत्मा या तो ज्ञात होता है या अज्ञात, ज्ञाताज्ञात रूपसे उसकी स्थिति नहीं मानी जाती यह शुद्धात्माका निरूपण है, संसारीका नहीं, तद्भिन्न प्रमेय घटादि ऐसे नहीं, ये सावयव हैं और अनेक धर्मविशिष्ट हैं इसलिए इनमें ज्ञातत्व अज्ञातत्व दोनों धर्म अवयव भेदसे, धर्म भेदसे, एक ही वस्तुमें एक ही कालमें रहते हैं। इसलिए किञ्चिदवयवकिञ्चिद्धर्मविशिष्टत्वेन ज्ञान होने पर भी अवयवान्तर-धर्मान्तर विशिष्टत्वेन स्वयं अज्ञात रहते हैं। पदार्थान्तरकी कथा ही क्या, अतः कृत्स्न आत्मा है, तदन्य अकृत्स्न है। अतएव 'सदेव साम्येदमग्रमासीत्' 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' यह श्रुति प्रपञ्चमात्रको ब्रह्म कहती है। उत्पत्तिसे पूर्व इदं शब्दसे उपस्थाप्य व्याकृत नामरूपात्मक प्रपञ्च 'सदेव ब्रह्मात्मना आसीत्' अर्थात् अव्याकृत नाम रूपसे ब्रह्मात्मक था यह सत्कार्यवाद वेदान्त सम्मत है।

कार्यकारणका अभेद भी इस मतमें हैं, अभेद कहनेका तात्पर्य है कारणसे अतिरिक्त कार्यका प्रतिषेध, कारण ही तत्तदवस्थापन्न कार्य है, कारणसे अतिरिक्त कार्य है यह मत उपपत्तिशून्य है। तन्तु व्यतिरिक्त पट यदि हो तो तन्तुके अलग करनेपर भी पटकी उपलब्धि होनी चाहिए, अवयव परिमाणसे अतिरिक्त अवयवीमें परिणामकी उपलब्धि होनी चाहिये, ये होती नहीं, दो सेर तन्तुसे बना पट चार सेरका कहाँ होता है। द्रव्यका लक्षण परिमाण है, अतिरिक्त परिमाणके अदर्शनसे अवयवातिरिक्त अवयवी है यह अर्थशून्य केवल वाग्जालमात्र है। भिन्न शब्द प्रयोगसे अभिन्नाकार प्रतीति भिन्नोपाधि निबन्धक एक अर्थमें भी होती है। पिता, पुत्र, जामाता इत्यादि लोकमें प्रसिद्ध है, अतः आत्मव्यतिरिक्त अकृत्स्न पदार्थ है 'तथा च आत्मविद् कृत्स्नवित्, अनात्मवित् अकृत्स्नवित् है, कृत्स्नवित्‌को चाहिये कि स्वप्रज्ञानुसार आत्मा अकर्त्ता अभोक्ता है, इस उपदेशसे अज्ञानी कर्मशीलोंकी

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ॥ ३० ॥

तुम अध्यात्मबुद्धिसे सम्पूर्ण कर्मोंको मेरेमें अर्पण कर एवं आशा, ममता और शोकका परित्यागकर युद्ध करो ॥ ३० ॥

एवं कर्मानुष्ठानसाम्येऽप्यज्ञविज्ञयोःकर्तृत्वाभिनिवेशतदभावाभ्यां विशेषः उक्तः। इदानीमज्ञस्यापि मुमुक्षोरमुमुक्ष्वपेक्षया भगवदर्पणं फलाभिसन्ध्यभावं च विशेषं वदन्नज्ञतयाऽर्जुनस्तं कर्माधिकारं द्रढयति—'मयि' इति।

मयि भगवति वासुदेवे परमेश्वरे सर्वज्ञे सर्वनियन्तरि सर्वात्मनि सर्वाणि कर्माणि लौकिकानि वैदिकानि च सर्वप्रकाराणि अध्यात्मचेतसाऽहं कर्ता-

---

बुद्धिमें अश्रद्धा उत्पन्नकर शुभकर्मानुष्ठानोंसे उनको विचलित न करे, आजकलके लिये यह उपदेश अत्यावश्यक है ॥ २९ ॥

इस प्रकार अज्ञानी ज्ञानी दोनोंका कर्मानुष्ठान समान है, केवल कर्तृत्वाभिनिवेश और तदभावसे दोनोंमें विशेष कहा, ज्ञानीको फलकामना और कर्तृत्वाभिमान नहीं है, इस फलके लिए इस कर्मको मैं करता हूँ इस अभिप्रायसे कर्मशील अज्ञानीको फलकामना और कर्तृत्वाभिनिवेश ये दोनों हैं एतत्प्रयुक्त विशेष दोनोंमें कहा है। अज्ञानी मुमुक्षु भी स्वकर्मोंको भगवान्में अर्पण करें और फलकामनाका त्याग करें, यह अमुमुक्षु पुरुषकी अपेक्षा विशेष कहते हुए अज्ञ अर्जुनके प्रति कर्म कर्तव्य है यह दृढ़ करते हैं—'मयि' इत्यादिसे। अमुमुक्षु फलकामनासे साभिनिवेश कर्म करता है। अज्ञानी मुमुक्षु भी वैसा कर्म करता है तो एकको मोक्ष मिलता है, दूसरेको नहीं, यह क्यों? इस शंका का समाधान इस प्रकार है—भगवान् कहते हैं कि मुमुक्षु फलकामनाका त्याग करें और कर्तृत्वाभिनिवेशरहित होकर कर्मानुष्ठान करें, फलकामनाके त्याग करनेपर कर्मानुष्ठानमें प्रवृत्ति न होगी, यह ठीक है, किन्तु उन कर्मोंका मेरेमें अर्पण करे, ये कर्म किए हैं इनको मैं भगवान्में अर्पण करता हूँ, उनकी इच्छा इन कर्मोंका जो चाहे फल दे न दे, इसकी चिन्ता मुझे नहीं है, इस संभावनासे कर्म करनेपर मोक्ष होता है। अज्ञानी मुमुक्षुको यही करना चाहिए, यही 'मयि' इत्यादिसे कहते हैं। सर्वज्ञ, सर्वकर्त्ता, सर्वनियन्ता, सर्वात्मा, भगवान् वासुदेव मुझमें लौकिक, वैदिक, जितने कर्म हैं उन सब कर्मोंको अध्यात्मचित्तसे—

अन्तर्याम्यधीनस्तस्मा एवेश्वराय राज्ञ इव भृत्यः कर्माणि करोतीत्यनया बुद्ध्या संन्यस्य समर्प्य नीराशीर्निष्कामो निर्ममो देहपुत्रभ्रात्रादिषु स्वीयेषु ममताशून्यो विगतज्वरः। संतापहेतुत्वाच्छोक एव ज्वरशब्देनोक्तः, ऐहिकपारत्रिकदुर्यशो नरकपातादिनिमित्तशोकरहितश्च भूत्वा त्वं मुमुक्षुर्युध्यस्व विहितानि कर्माणि कुर्वित्यभिप्रायः। अत्र भगवदर्पणं च सर्वकर्म साधारणं मुमुक्षोः। निर्ममत्वं त्यक्तशोकत्वं च युद्धमात्रे प्रकृत इति द्रष्टव्यम्, अन्यत्र ममताशोकयोरप्रसक्तत्वात् ॥ ३० ॥

अध्यात्मचित्तको स्फुट करते हैं—मैं कर्त्ता हूँ स्वतन्त्र नहीं, किन्तु अन्तर्यामीके अधीन हूँ। जैसे किंकर स्वामीकी आज्ञासे कर्म करता है स्वतन्त्र नहीं, अतः उनका फल राजगामी है भृत्यगामी नहीं, वैसे अन्तर्यामीके अधीन मैं इन कर्मोंको किया हूँ, उन सबको स्वामी अन्तर्यामीके चरणकमलोंमें अर्पित कर निष्काम निराशी-आशारहित होकर, स्त्री-पुरुष, भाई आदि ये मेरे हैं, मैं इनका हूँ इत्यादि समताशून्य विगतज्वर-विशोक होकर—यद्यपि गीतामें विगतज्वर पाठ है इसपर यह शंका हो सकती है कि 'ज्वर रोगे' धातुसे ज्वर निष्पन्न होता है अतः सामान्यतः रोग शब्दार्थ है विशोक अर्थ कैसे, परन्तु प्रकरणानुसार यहाँ शारीरिक रोग नहीं विवक्षित है, किन्तु सन्तापहेतुत्वेन शोक भी ज्वर शब्दार्थ है, यथा शरीरज्वरादि सन्तापप्रद होनेसे रोग है एवं शोक भी उक्त हेतुसे रोग है अतः विगतज्वरका विशोक अर्थमें तात्पर्य है, ऐहिक शोक, दुर्यश, नरकनिपतनादि पारलौकिक शोकसे रहित होकर, मुमुक्षु तुम युद्ध करो, युद्ध उपलक्षण है, स्वाविहित कर्मोंका वर्णाश्रम विहित धर्म करो यह भगवान्‌का अभिप्राय है। यहाँ चार विषयोंका निर्देश किया गया है उनमें दो सर्वसाधारण हैं भगवदर्पण यह सर्व मुमुक्षु साधारण है, पुरुष ब्राह्मण हो या क्षत्रियादि यथा नित्यनैमित्तिकादि सब कर्म साधारण हैं एवं निष्कामत्व सर्व मुमुक्षु पुरुषके सर्व कर्म साधारण हैं निष्काम होकर मुमुक्षुमात्र सर्व कर्मोंको भगवान्‌में अर्पण करे।

निर्मम और विगतज्वरसे विवक्षित विशोक ये दोनों प्रकृत युद्धमात्रमें विवक्षित हैं क्योंकि ममता और शोक दोनों प्रकृत कर्मानुष्ठानके प्रतिकूल हैं; युद्धातिरिक्त नित्यनैमित्तिकादि कर्मानुष्ठानमें ममता और शोककी प्राप्ति ही नहीं तो फिर निषेध करना ही व्यर्थ है, वे मेरे भाई, पुत्र, गुरु, आचार्य हैं इत्यादि की ममता का कर्मानुष्ठानसमयमें प्रसङ्ग ही नहीं है उसमें फलसाधनभूत कर्तव्यतादिका प्रसङ्ग

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः ।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः ॥३१॥

जो लोग मेरे इस आदेशका अनसूयापूर्वक श्रद्धाके साथ सदा अनुसरण करते हैं वेभी नाना दुःखोंके हेतु पुण्य पाप कर्मोंसे छुटकार पा जाते हैं ॥ ३१ ॥

फलाभिसंधिराहित्येन न मदर्पणबुद्ध्या विहितकर्मानुष्ठानं सत्त्वशुद्धि-ज्ञानप्राप्तिद्वारेण मुक्तिफलमित्याह—'ये' इति ।

इदं फलाभिसंधिराहित्येन विहितकर्माचरणरूपं मम मतं नित्यं नित्य-वेदबोधितत्वेनानादिपरम्परागतमावश्यकमिति वा सर्वदेति वा मानवा

हैं, फल साधनभूत कर्तव्योंका स्मरण साधक है उसका प्रतिषेध नहीं, फल कामना-मात्रका प्रतिषेध विवक्षित है क्योंकि वहीं केवल प्रतिकूल है और ऐहिक शोकका निमित्त जैसे युद्धमें दुर्यश है—प्रतिष्ठित कुलोत्पन्न, विद्या, तप और सदाचारसम्पन्न विवेकी हे अर्जुन, तुच्छ फलके लिए पितामह पुत्र पौत्र आचार्यादि की हिंसा यह गर्हित कर्म-क्रिया इत्यादि है, इसका प्रसङ्ग युद्ध ही में है, कर्म करनेसे सुयश होगा एवं पारलौकिक नरकपातादिजन्य शोक भी युद्धमें कह सकते हैं, कर्मसे तो उत्तम लोक प्राप्ति होती है उसमें शोकका क्या प्रसङ्ग इस अभिप्रायसे ठीक ही कहा गया है कि अन्यत्र ममता शोकका प्रसङ्ग ही नहीं ॥ ३० ॥

फल कामना रहित होकर भगवदर्पण बुद्धिसे विहित कर्मानुष्ठान चित्त शुद्धि और ज्ञान प्राप्ति द्वारा मोक्ष फलक है यह कहते हैं—'ये' इत्यादिसे। फल कामना रहित होकर भगवदर्पण बुद्धिसे विहित कर्मानुष्ठानरूप मेरा मत नित्य वेदबोधित होनेसे औपचारिक, नित्य है क्योंकि कर्मानुष्ठान क्रियाकलापात्मक होनेसे साक्षान्नित्य नहीं है किन्तु तद्बोधक वेद नित्य है, इस कारण बोधकगत नित्यत्वका बोध्यमें आरोप कर औपचारिक नित्य कर्मानुष्ठान कहा गया है अथवा अनादि परम्पराप्राप्त होनेसे आवश्यक है। इसलिए नित्य अथवा सदा यह बहुत ठीक है इस तात्पर्यसे लोकमें नित्य शब्द प्रयोग बहुत पाये जाते हैं; अग्नि नित्य प्रज्वलित रहती है, देवदत्त नित्य हँसते हैं, यह तो नित्य ही झूठ बोलते हैं, श्री काशी विश्वनाथका नित्य दर्शन करते हैं इत्यादि, सदाके तात्पर्यसे नित्य शब्दोंका प्रयोग अधिक होते हैं।

मनुष्या ये केचिन्मनुष्याधिकारित्वात्कर्मणां श्रद्धावन्तः शास्त्राचार्योपदिष्टे-ऽर्थेऽननुभूतेऽप्येवमेवैतदिति विश्वासः श्रद्धा तद्वन्तः। अनसूयन्तः। गुणेषु दोषाविष्करणमसूया। सा च दुःखात्मके कर्मणि मां प्रवर्तयन्नकारुणिकोऽयमित्येवंरूपा प्रकृते प्रसक्तां तामसूयां मयि गुरौ वासुदेवे सर्वसुहृद्यकुर्वन्तो येऽनुतिष्ठन्ति तेऽपि सत्त्वशुद्धिज्ञानप्राप्तिद्वारेण सम्यग्ज्ञानिवन्मुच्यन्ते कर्मभिः धर्माधर्माख्यैः॥ ३१॥

शङ्का—मनुष्य ही क्यों क्या देवता मोक्ष नहीं चाहते ?

समाधान—चाहते क्यों नहीं इन्द्रविरोचनाद्युपाख्यानमें मोक्षकामना देवासुरोंमें भी होती है यह प्रसिद्ध है, परन्तु मर्त्यलोकका शास्त्र मनुष्योंके लिए है देवासुरोंके लिए नहीं इस तात्पर्यसे अधिकारप्राप्त मनुष्य ही मच्छब्दार्थ विवक्षित है। जो कोई मनुष्य श्रद्धावान्—शास्त्राचार्योपदिष्ट अर्थमें जिस अर्थका साक्षादनुभवसे सिद्धि नहीं गुरु या शास्त्र उसका उपदेश करता है कि यह अर्थ ऐसा है उसमें यह ऐसा ही है अन्यथा नहीं इस विश्वासको श्रद्धा कहते हैं श्रद्धाशील हो एवं असूयावान-गुणोंमें दोषोंका आरोप करना असूया है, किसी विद्वानने कहा कि सूर्योदयसे पूर्व स्नान सन्ध्यादि करो. साधारणके लिए यह सुख निद्राका समय है उसने किसीसे कहा कि आप इनको विद्वान, दयावान कहते हैं पर मैं ऐसा इनको नहीं समझता 'मेरे साथ इनका कोई विरोध भी नहीं है, फिर स्वभाववश यह मुझसे कहे कि तुम सवेरे उठकर स्नानादि कर्म करो इसमें इनको क्या लाभ होगा, उस समय कैसा निद्रा सुख मुझे होता है सो मैं ही जानता हूँ यह सुख इनको न हो इस इच्छासे ऐसा कहते हैं यह केवल दयाभावका फल है यदि इनमें कुछ दया भी होती तो मेरे सुख पर ध्यान अवश्य देते ये दृष्टान्त बहुत अच्छे हैं पर वस्तुतः शुभ कामनासे उपदिष्ट कर्म असूयासे उपदिष्ट है यह मानकर उपदेष्टाके गुणोंमें दोषका आरोप करना असूया है, प्रकृतमें यह प्रसक्त है, सर्व गुरु, सबके सुहृद, पिता, माता, सहस्रसे अधिक वत्सल मेरेमें उक्त असूयाको न करते हुए मेरे उपदेशानुसार जो अनुष्ठान करते हैं वे भी सत्वशुद्धि, आत्मतत्त्वज्ञानप्राप्तिद्वारा ज्ञानिवत् मुक्त होते हैं, इस प्रकारसे धर्माधर्म फल साधक कर्मोंसे भी मुक्ति होती है साक्षात्कर्म मोक्षजनक नहीं इसको मानकर भी उक्त प्रणालीसे कर्मको मोक्षका कारण माननेमें कोई आपत्ति नहीं आपत्तिपुरस्सर मोक्षमें साक्षात् जन्यत्वका निषेध है अर्थात् ज्ञानवान् स्वतन्त्र कारण नहीं

ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम् ।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः ॥ ३२ ॥

जो ब्राह्मणादि अविवेक वश दूषित करते हुए मेरे इस शासनका अनुष्ठान नहीं करते, उन अविवेकियोंको ब्रह्मज्ञानमें मूढ़ और पुण्यलोकसे भ्रष्ट जानों ॥ ३२ ॥

एवमन्वये गुणमुक्त्वा व्यतिरेके दोषमाह—'ये' इति ।

तुशब्दः श्रद्धावद्वैधर्म्यमश्रद्धां सूचयति । तेन ये नास्तिक्यादयश्चाश्रद्दधाना अभ्यसूयन्तो दोषमुद्भावयन्त एतन्मम मतं नानुवर्तन्ते तानचेतसो दुष्टचित्तान्त एव सर्वज्ञानविमूढान्सर्वत्र कर्मणि ब्रह्मणि सगुणे निर्गुणे च यज्ज्ञानं तत्र विविधं प्रमाणतः प्रमेयतः प्रयोजनतश्च मूढान्सर्वप्रकारेणायोग्यान्नष्टान्सर्वपुरुषार्थभ्रष्टान्विद्धि जानीहि ॥ ३२ ॥

है किन्तु परम्परा कारणत्व इष्ट है 'तमेतम्' इत्यादि श्रुतिसे यह स्पष्ट है। इसमें किसीका विवाद नहीं ॥ ३१ ॥

अन्वयमें गुण कहकर व्यतिरेकमें दोष कहते है 'ये' इत्यादिसे। अन्वयः—'तत्सत्वे तत्सत्वम्' है जो उक्त मेरे मतको मानते हैं वे कर्मसे भी मुक्त होते हैं यह अन्वय हुआ अब जो उक्त मत नहीं मानते उनके विषयमें दोष कहते हैं यह व्यतिरेक है। त शब्द श्रद्धा विरोधि अश्रद्धाका द्योतक है। नास्तिकतासे जिनमें अश्रद्धा है, 'वे इस मेरे मतमें दोषका उद्भावन करते हैं अतएव इस मतका अनुवर्तन नहीं करते इसके अनसार कर्मानुष्ठान नहीं करते, वे अचेता यद्यपि जीवन दशामें चित्तरहित नहीं रह सकते तथापि चित्त निन्दाके सूचनार्थ यहाँ अचेता हैं अर्थात दुष्टचित्त अतएव सर्वज्ञानविमूढ, सबमें, कर्ममें, ब्रह्ममें, सगुण निर्गुणमें, एतद्विषयक जो ज्ञान है इसमें विविध मूढ़त्व कहते हैं—प्रमाणतः प्रमेयतः प्रयोजनतः मौढ्य है, इसीको स्पष्ट करते हैं कर्ममें क्या प्रमाण है, क्या आभास है यह कर्मज्ञानमें मूढ होनेसे नहीं जानते प्रमाणको अप्रमाण, अप्रमाणको प्रमाण मानते हैं, यह आश्चर्य नहीं दोषका लक्षण विपरीत भासकत्व है। चित्तमें दोष है तो ज्ञान विवेकात्मक कैसे होगा एवं ब्रह्मस्वरूप सगुण निर्गुणादिमें भी प्रमाणतः विमूढ़त्व समझना, प्रमेयतः 'किं कर्म किमकर्म' से आगे स्फुट होगा, बड़े बड़े विद्वान् भी इसमें मूढ़ हो गये हैं फिर दुष्टचित्तों की क्या कथा ? प्रयोजन फल इस विषयमें भी इनका चित्त

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि ।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ॥३३॥

क्योंकि सभी प्राणी प्रकृतिको प्राप्त होते हैं, अर्थात् अपने स्वभावसे परवश होकर कर्म करते हैं, ज्ञानवान् भी अपनी प्रकृतिके अनुसार चेष्टा करता है, फिर इसमें किसीका हठ क्या करेगा ॥ ३३ ॥

ननु राज्ञ इव तव शासनातिक्रमे भयं पश्यन्तः कथमसूयन्तस्तव मतं नानुवर्तन्ते कथं वा सर्वपुरुषार्थसाधने प्रतिकूला भवन्तीत्यत आह—'सदृशम्' इति ।

प्रकृतिर्नाम प्राग्जन्मकृतधर्माधर्मज्ञानेच्छादिसंस्कारो वर्तमानजन्मनि अभिव्यक्तः सर्वतो बलवान् 'तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते पूर्वप्रज्ञा च' इति-श्रुतिप्रमाणकः । तस्याः स्वकीयायाः प्रकृतेःसदृशमनुरूपमेव सर्वो जन्तुर्ज्ञानवान्ब्रह्मविदपि 'पश्वादिभिश्चाविशेषात्' इतिन्यायात्, गुणदोषज्ञानवान्वा

मूढ़ होता है, कर्मानुष्ठानसे स्वर्गादि हो सकता है तदुद्देशेन कर्मोंका शास्त्रमें विधानहै, किन्तु मोक्षका नहीं, इत्यादि प्रयोजनांश भी मौढ्य हैं, सबोंके निर्देशमें ग्रन्थ गौरव होगा इसलिए सूक्ष्मरूपसे सूचित किया हूँ, श्रुतिका अर्थ स्पष्ट है विशेष व्याख्यानकी आवश्यकता भी नहीं । सब प्रकारसे अयोग्य अतएव नष्ट सब पुरुषार्थोंसे प्रच्युत समझो ॥ ३२ ॥

['अपशवोऽन्ये गवाश्वेभ्यः' इस श्रुतिसे गवाश्वव्यतिरिक्त पशुमें अपशुत्व बोधन तन्निन्दार्थ है तत्त्व कथन नहीं अतः तच्चित्तमें तत्प्रतिषेध तन्निन्दार्थ है ॥]

राजाज्ञाके न पालन करनेमें भय देखकर प्रजाजन जैसे तदनुसार प्रवृत्त होते हैं और राजा की असूया कर उसके शासन का अतिक्रम नहीं करते वैसे ही सकल लोक हे नाथ, आपकी आज्ञाको भयसे पालन क्यों नहीं करते असूयापूर्वक उसका अतिक्रम क्यों करते हैं और सब पुरुषार्थसाधन भक्त आपके शासनके प्रतिकूल क्यों होते हैं ? इस शङ्काका समाधान करते हैं ।

'सदृशम्' इत्यादिसे । पूर्वजन्मकृत, धर्माधर्म, ज्ञानेच्छादिसंस्कार प्रकृति है, वह वर्तमान जन्ममें अभिव्यक्त होकर सबसे बलवान होती है इसमें प्रमाण श्रुति है उसको ऊपर देखो। पूर्वजन्ममें जैसे धर्माधर्म ज्ञानादि होते हैं और तदनुरूप वासनापरपर्याय संस्कार होता है इस जन्ममें अपूर्व शरीरेन्द्रियादि संबन्ध

चेष्टते किं पुनर्मूर्खः। तस्माद्भूतानि सर्वे प्राणिनः प्रकृतिं यान्ति अनुवर्तन्ते पुरुषार्थभ्रंशहेतुभूतामपि। तत्र मम वा राज्ञो वा निग्रहः किं

अभिव्यक्त होता है उसको प्रकृति कहते हैं तदनुसार प्राणियोंकी चेष्टा होती है, गुणदोषज्ञ भी प्रकृतिका अतिक्रम नहीं कर पाते मूर्खोंकी बात ही क्या है।

यहाँ ज्ञानवान्से आत्मज्ञानी विवक्षित है इस तात्पर्यसे ब्रह्मवेत्ता कहा। ब्रह्मज्ञानीका व्यवहार भी विधिनिषेधके प्रतिकूल होता है इसमें 'पश्वादिभिश्चाविशेषात्' इस भगवत्पाद वचनका स्वारस्य है इस आशयसे उक्त वचनका निर्देश है और पश्वादिव्यवहार अविवेकपूर्वक है इसमें सन्देह ही नहीं क्योंकि उनको शास्त्रका उपदेश नहीं है।

शङ्का—विद्वान् तो शास्त्र जानता है फिर इसका उपदेश तद्वत् क्यों?

समाधान—प्रकृति बलवान होती है उसके सामने विधि निषेधका वश नहीं चलता यह अतीत कालमें पुराणेतिहासमें प्रसिद्ध है, वर्तमान समयमें यह अति स्पष्ट है। जन्मसे ही कोई साधुप्रकृतिके होते हैं कोई असाधुप्रकृतिके, जैसे प्राचीन समयमें ध्रुव, प्रह्लादादि साधु प्रकृति प्रसिद्ध हैं। वर्तमान समयमें मास्टर मथुरा प्रसाद, लोकमान्य तिलक, पूज्य मदनमोहन मालवीय जी आदि। एवमसाधु प्रकृति भी प्रसिद्ध है, उनके निर्देशकी आवश्यकता नहीं। यदि वहाँ विद्वान्से विद्वस्यमानकर्मकाण्डादिशास्त्रज्ञ विवक्षित हैं ब्रह्मवेत्ता नहीं क्योंकि उनके लिए शास्त्र नहीं है यह 'अविद्वद्विषयाणि शास्त्राणि' इस भगवद्वाक्यसे सुस्फुट है तो उसका अर्थान्तर करते हैं—गुणदोषज्ञानवान् वा गुण दोष जानकर भी गुणानुरूप चेष्टा नहीं करना दोषानुरूप चेष्टा करना है इसमें कारण प्रकृति प्राबल्य है धृतराष्ट्रको भगवान्ने भी समझाया और वह स्वयं कहा भी है, 'जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिः जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः। केनापि देवेन हृदिस्थितेन यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि' इत्यादि प्रसिद्ध है अतः मेरे अनुशासनके अतिक्रममें प्रकृति बलवती कारण है इसलिए प्राणी स्वप्रकृति की अनुवृत्ति करते हैं और प्रकृत्यनुसार शुभाशुभ कर्म करते हैं, इसपर दृष्टि नहीं देते कि यह प्रकृति पुरुषार्थसे प्रच्युत कराने वाली है, अतः पुरुषार्थप्राप्त्यनुगुण नहीं है। उसमें मेरा अथवा राजाका निग्रह क्या कर सकता है कुछ भी नहीं जिसकी कैदके दुःखके अनुभवानुकूल प्रकृति है वह राजाज्ञाका उल्लंघन करता ही है उसका राज निग्रह क्या कर सकता है इसी तरह जिनकी सांसारिक दुःखानुभवानुकूल प्रकृति है उसके लिए मेरा अनुशासन व्यर्थ है, परद्रव्यापहरणादि इस

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ॥ ३४ ॥

इसलिये मनुष्यको चाहिये कि इन्द्रिय इन्द्रियके अर्थमें अर्थात् सभी इन्द्रियोंके भोगोंमें स्थित, जो राग और द्वेष हैं, उन दोनोंके वशमें नहीं होवे, क्योंकि इसके वे दोनों ही कल्याणमार्गमें विघ्न करनेवाले महान् शत्रु हैं ॥ ३४ ॥

करिष्यति रागौत्कट्येन दुरितान्निवर्तयितुं न शक्नोतीत्यर्थः। महानरकसाधनत्वं ज्ञात्वाऽपि दुर्वासनाप्राबल्यात्पापेषु प्रवर्तमाना न मच्छासनातिक्रमदोषाद्बिभ्यतीति भावः ॥ ३३ ॥

ननु सर्वस्य प्राणिवर्गस्य प्रकृतिवशवर्तित्वे लौकिकवैदिकपुरुषकार-

---

लोक परलोक दोनोंमें अनिष्टजनक है फिर भी उत्कण्ठरागसे उसमें प्रवृत्ति होती है।

राग दो प्रकारका है एक उत्कट दूसरा अनुत्कट। दोषाज्ञानपूर्वक इष्टमें प्रवृत्ति रागसे होती है, प्रवृत्तिजनक राग है। द्वेषानिवृत्तिजनक या प्रवृत्तिप्रतिबन्धक कहिए जो इष्ट और द्विष्ट दोनोंमें है उसमें कभी निवृत्ति कभी प्रवृत्ति होती है इसमें कारण यह है कि यदि उत्कट राग होता तो प्रवृत्ति होगी यदि उत्कट द्वेष होगा तो निवृत्ति होगी, यदि राग द्वेष दोनों सम हैं तो उदासीन रहेगा, प्रवृत्ति की इच्छा भी न होगी। प्रवृत्तिकालमें दोषज्ञान है तो भी अनुचित कर्ममें प्रवृत्ति होती है, उसका कारण उत्कट राग है। इसी प्रकार उत्कट द्वेषमें भी है। राजाका अथवा मेरा निग्रह उत्कट राग होने से प्रवृत्तिको दुरिताचरणसे रोक नहीं सकता, उस कालमें उक्त निग्रह या तो स्मृतिगोचर नहीं होता या उपेक्षित होता है, जैसे सुरापानादि-कर्म यहाँ नरकसाधन है यह जानकर भी प्राचीन दुष्टवासनासे सुरापानादि आचरणमें प्रवर्तमान जन मेरी आज्ञाके उल्लंघनसे नहीं डरते यह तात्पर्य है ॥ ३३ ॥

यदि सकल प्राणी प्रकृतिके वशीभूत होकर तदनुरूप ही चेष्टा करते हैं यह मान लिया जाय तो लौकिक वैदिक इष्टानिष्ट प्राप्ति परिहारके लिए 'स्वर्गकामो यजेत्' 'न कलञ्जं भक्षयेत्' ज्वरितः पथ्यमश्नीयात्, न सर्पाय अङ्गुलिं दद्यात्' इत्यादि जो विधि निषेध है इनकी क्या गति होगी जो इष्ट-स्वर्गादि चाहते हैं और उसका उपाय नहीं जानते किन्तु उपायके अन्वेषणमें

विषयाभावाद्विधिनिषेधानर्थक्यं प्राप्तं, न च प्रकृतिशून्यः कश्चिदस्ति यं प्रति तदर्थवत्त्वं स्यादित्यत आह—'इन्द्रियस्य' इति

इन्द्रियस्येन्द्रियस्येति वीप्सया सर्वेषामिन्द्रियाणामर्थे विषये शब्दे स्पर्शे रूपे रसे गन्धे च। एवं कर्मेन्द्रियविषयेऽपि वचनादावनुकूले शास्त्रनिषिद्धेऽपि रागः प्रतिकूले शास्त्रविहितेऽपि द्वेष इत्येवं प्रतीन्द्रियार्थं रागद्वेषौ व्यवस्थितावानुकूल्यप्रातिकूल्यव्यवस्थया स्थितौ न त्वनियमेन

तत्पर हैं उनके प्रति कहते हैं कि तुम यज्ञ करो, यज्ञसे तुमको स्वर्ग होगा एवं निषेध वाक्यसे यह कहा जाता है कि यदि तुम दुःखसे बचना चाहते हो तो कलञ्जादि भक्षण मत करो, इस प्रकार परमकारुणिक शास्त्र पुरुषके हित साधन और अहित परिहारके लिए कर्तव्याकर्तव्यका बोधन कराते हैं। यदि पुरुष प्रकृतिवशवर्त्ती होकर तदनुसार ही कर्म करेगा तो ये शास्त्र व्यर्थ हैं, यागाद्यनुगुण जिसकी प्रकृति होगी, वह प्रकृतिवश ही कर्म करेगा 'यजेत् स्वर्गकामः' इत्यादि विधिवश नहीं एवं 'न सर्पाय अङ्गुलिं दद्यात्' इत्यादि निषेध शास्त्र अनिष्ट साधनोन्मुख नरके प्रति मना करते हैं कि ऐसा मत करो, परन्तु वैसा करनेके लिए यदि प्रकृति प्रेरणा कर रही है तो प्रकृति बलवान् है अतः वह वैसा करेगा ही, तो निषेध शास्त्र भी व्यर्थ ही है, जहाँ कहीं निषेधानुसार निवृत्ति कहिएगा वहाँ भी प्रकृतिकी प्रेरणासे निवृत्त हुआ यह कह सकते हैं, यह तो सम्भव नहीं कि जो प्रकृतिशून्य है उनके लिए विधि निषेध है इस पर यदि शङ्का हो कि क्यों तो उसका समाधान इस प्रकार हो सकता है। 'वीतरागः जन्मादर्शनात्' इस गौतम सूत्रसे और तत्त्वेवाहम्' इत्यादि गीतावाक्यसे संसार अनादि है इसमें किसीका अभूत्वा भवन नहीं है किन्तु यावज्जन्म-जन्म पूर्वक ही है, पूर्व जन्मार्जित प्रकृति सबके साथ है उससे शून्य कोई है ही नहीं इस पर कहते हैं 'इन्द्रियस्य' इत्यादि। 'इन्द्रियस्येन्द्रियस्य' दो बार इन्द्रियके ग्रहणरूप वीप्सासे इन्द्रियार्थत्वव्यापकत्व रागद्वेषान्यतरमें लब्ध होता है; अर्थात् सबका लाभ होता है। सब इन्द्रियोंके विषय शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध हैं, ये पाँच ज्ञानेन्द्रियके विषय हैं। इसी प्रकार पाँच कर्मेन्द्रियोंके विषय वचनादान विहरणोत्सर्गानन्द हैं इन विषयोंमें जो विषय अनुकूल है शास्त्रसे निषिद्ध भी है तो भी उसमें राग होता है। इसी प्रकार जो प्रतिकूल जँचता है वह शास्त्रविहित भी हो तो भी द्वेष होता है। इस प्रकार हर एक इन्द्रियोंके विषयोंमें राग द्वेष व्यवस्थित है। आनुकूल्य व्यवस्थासे राग

सर्वत्र तौ भवतः। तत्र पुरुषकारस्य शास्त्रस्य चायं विषयो यत्तयोर्वशं नाऽऽगच्छेदिति। कथं। या हि पुरुषस्य प्रकृतिः सा बलवदनिष्टानुबन्धित्वज्ञानाभावसहकृतेष्टसाधनत्वज्ञाननिबन्धनं रागं पुरस्कृत्यैव शास्त्रनिषिद्धे कलञ्जभक्षणादौ प्रवर्तयति। तथा बलवदिष्टसाधनत्वज्ञानाभावसहकृतानिष्टसाधनत्वज्ञाननिबन्धनं द्वेषं पुरस्कृत्यैव शास्त्रविहितादपि संध्यावन्दनादेर्निवर्तयति। तत्र शास्त्रेण प्रतिषिद्धस्य बलवदनिष्टानुबन्धित्वे ज्ञापित सहकार्यभावात्केवलं दृष्टेष्टसाधनताज्ञानं मधुविषसंपृक्तान्नभोजन इव तत्र न

प्रातिकूल्य व्यवस्थासे द्वेषस्थित है। ये दोनों अनियमसे सर्वत्र नहीं होते प्रतिकूलमें राग अनुकूलमें द्वेष कभी नहीं होता। अब इसमें पुरुष प्रयत्नका और शास्त्रका यह विषय है कि रागद्वेषके वशीभूत मत हो।

प्रश्न—क्यों।

उत्तर—जो पुरुषकी प्रकृति है वह बलवदनिष्टानुबन्धित्वज्ञानाभावसहकृत-इष्टसाधनत्वज्ञाननिबन्धन रागको आगे करके ही शास्त्रनिषिद्ध कलञ्ज भक्षणादिमें प्रवृत्ति कराती है। भाव यह है कि प्रकृति जिस विषयमें प्रवृत्ति कराती है उस विषयमें सर्वप्रथम अनुकूलत्वबोधन कराती है ततः राग उत्पन्न होता है। रागोत्पत्तिमें कारण इष्टसाधनत्वज्ञान है उसीको अनुकूलत्वज्ञान भी कहते हैं। इष्टसाधनत्वप्रकारकज्ञान द्विविध है। बलवदनिष्टानुबन्धित्वज्ञानाभावसहकृत-तदसहकृत परिशुद्ध अन्नमें प्रथम है, क्षुन्निवृत्ति सबको इष्ट है उसका साधन भक्ष्यमाण अन्न है और वह अन्न बलवान् जो अनिष्ट मरणका भी साधन है यह ज्ञान नहीं है किन्तु तदभाव है अतः बलवदनिष्टानुबन्धित्वज्ञानाभावसहकृत इष्टसाधनत्वज्ञान अन्नमें है अतः उसमें राग होता है विषमिश्रित अन्नमें रागोत्पत्ति-वारणार्थ बलवदनिष्टानुबन्धित्वज्ञानाभावसहकृत विशेषण है। विषमिश्रित अन्नमें इष्टसाधनत्वज्ञान तो है, भोजनसे भूख निवृत्त होगी किन्तु भूखनिवृत्तिसे जो सुख होगा उससे बलवान् बहुत बड़ा अनिष्ट दुःख मरण होगा। इसलिये जिजीविषु पुरुष विषमिश्रित अन्न अतिभूख लगने पर भी नहीं खाता। अनिष्टमें बलवत्व-विशेषणका प्रयोजन यह है कि भोजनजन्यतृप्ति सुखार्थ है जो पुरुष पाक करता है उसमें भी तो दुःख ही है विशेषतः वहाँ जहाँ नियतस्थिति साधन नहीं है जैसे पथिकको सब सामग्री प्रस्तुत करना है उसमें दुःख अवश्य है पर वह भोजन सुखसे बलवान् नहीं है इस कारण अनिष्टानुबन्धित्वज्ञानसहकृतइष्टसाधनत्वज्ञान

रागं जयतुं शक्नोति। एवं विहितस्य शास्त्रेण बलवदिष्टानुबन्धित्वे बोधिते सहकार्यभावात्केवलमनिष्टसाधनत्वज्ञानं भोजनादाविव तत्र न द्वेषं जनयितुं शक्नोति। ततश्चाप्रतिबद्धं शास्त्रं विहिते पुरुषं प्रवर्तयति निषिद्धाच्च निवर्तय-

पाकमें है। और प्रवृत्ति भी होती है इस व्यभिचारपरिहारके लिये अनिष्ट्में बलवत्त्वविशेषण है पाकौपयिक श्रमदुःख भोजनसुखसे बलवान् नहीं है बलवद-निष्टानुबन्धित्वज्ञान मरणादिज्ञान है तदभावसहकृतइष्टसाधनताज्ञान पाकमें है इस तरह विशेषणाभावप्रयुक्तविशिष्टाभाव लेकर उक्तदोषका परिहार होता है। परन्तु सुमेरुश्रृङ्गानयनादि बलवद्निष्टानुबन्धित्वज्ञानाभावसहकृत इष्टसाधन-विषय है। पर उसमें प्रवृत्ति नहीं होती। अतः व्यभिचार परिहारके लिये कृतिसाध्यत्वका निवेश करना चाहिये। अतएव तार्किकादि कहते हैं कि बलवद-निष्टानुबन्धित्वविशिष्टकृतिसाध्यत्वविशिष्टेष्टसाधनप्रकारकज्ञान प्रवृत्तिप्रयोजक है। प्रभाकरमिश्र कृतिसाध्यत्वप्रकारकज्ञान प्रवृत्तिप्रयोजक है ऐसा कहते हैं। कोई इष्टसाधनत्वप्रकारकज्ञान प्रवृत्तिजनक कहते हैं। इस विषयका विचार न्याय, वेदान्त, मीमांसामें विशेष है विषय भी विचारणीय है। शास्त्रान्तरोंका विचार एक जगह मिल जाता, जिज्ञासु अधिकारियोंका इससे उपकार भी होता परन्तु सब कर्कश-तर्कयुक्त विचारोंसे ग्रन्थका कलेवर बहुत बढ़ जायगा और अनुवाद नियमके प्रतिकूल भी है इसलिये इच्छा रहने पर भी उन सबकी विवेचना यहाँ छोड़ दी गई। मोक्षहेतुभूतज्ञानीजनके लिये तदुपयोगी पदार्थोंकी चर्चा करनी उचित भी है अन्यथा प्रसंग लाकर सबका व्याख्यान यहाँ प्रसक्त हो सकता है, व्यर्थ विचारोंसे समययापन उचित नहीं। एवं पुरुषकी प्रकृति शास्त्रविहितसे पुरुषको निवृत्त कराती है तो उसमें द्वेष को आगे करके ही अन्यथा नहीं। जैसे राग में कारण कहे हैं वैसे ही द्वेषमें भी कारण कहते हैं। बलवदिष्टसाधनत्वज्ञानाभावसहकृतानिष्टसाधनत्वज्ञान-निबंधन द्वेष होता है, जिसमें अनिष्टसाधनत्वज्ञान होता है। यह मेरा अनिष्ट करेगा उसमें द्वेष होता है यह सर्वानुभवसिद्ध है। कुछ न करना चुप रहकर बैठे रहना इससे कुछ भी करने में परिश्रमजन्यदुःख छोटा बड़ा कार्यानुकूल परिश्रमभाव में है अत एव कष्ट कर्म यह प्रसिद्धि है। कर्ममात्र कष्टफलकत्वात् कष्ट है, सबमें द्वेष होगा तो किसी कर्ममें किसी की प्रवृत्ति न होगी। इसीलिये इष्टसाधनत्वज्ञाना-भावसहकृत यह विशेषण दिया। जो इष्टसाधन है उसमें साधनत्वज्ञानाभावा-सहकृत अनिष्टसाधनत्वज्ञान नहीं होता। कारण इष्टसाधनत्वप्रकारकज्ञान होनेसे वह अनिष्टसाधनत्वज्ञान सहकृत है तदभाव सहकृत नहीं इससे द्वेष नहीं होता।

तीति शास्त्रीयविवेकविज्ञानप्राबल्येन स्वाभाविकरागद्वेषयोः कारणोपमर्देनो-पमर्दात्प्रकृतिर्विपरीतमार्गे पुरुषं शास्त्रदृष्टिं प्रवर्तयितुं शक्नोतीति न शास्त्रस्य पुरुषकारस्य च वैयर्थ्यप्रसङ्गः । तयो रागद्वेषयोर्वशं नाऽऽगच्छेत्-

स्वशरीरताडनादिमें बलवदिष्टसाधनत्वज्ञानाभावसहकृत अनिष्टसाधनत्वज्ञान है इस-लिये कोई भी अपने पैरमें कुल्हाड़ी नहीं मारता। विषसंपृक्त अन्न भी तृप्तिरूप इष्टका साधन है अतः इष्टसाधनत्वप्रकारकज्ञानसहकृत ही अनिष्टसाधनत्वप्रकारज्ञान है, तो उसमें द्वेषजनकत्व न होगा और उससे निवृत्ति नहीं होगी इसलिये इष्टमें बलवत्त्व विशेषण दिया। उक्तरीतिसे मरणदुःखापेक्षया तृप्तिसुख बलवान् नहीं इसलिये उक्तरीतिसे विशेषणाभावप्रयुक्तविशिष्टाभाव यहाँ भी है। इसलिये द्वेषोत्पादनद्वारा-पुरुषको विषयुत अन्नके भक्षणसे रोकती है अब प्रकृतमें ध्यान दीजिये। जो शास्त्रसे प्रतिषिद्ध है कलञ्जभक्षणादि उसमें शास्त्र बलवदिष्टानुबन्धित्वज्ञान कराता है। अर्थात् कलञ्जभक्षणसे जो सुख होगा उससे अधिक दुःख होगा यह 'न कलञ्जं-भक्षयेत्, शास्त्र कहता है। जिस पुरुषको शास्त्रीय संस्कार है उस पुरुषकी प्रकृति कलञ्जभक्षणमें रागको उत्पादन नहीं कर सकती, कारण बलवदनिष्टा-नुबन्धित्वज्ञानाभावसहकृत इष्टसाधनत्वज्ञान नहीं है किन्तु तत्सहकृत उक्तज्ञान है, रागोत्पत्ति न होनेसे पुरुष कलंजभक्षणमें नहीं प्रवृत्त होता अतः शास्त्र व्यर्थ नहीं है। शास्त्र न होता तो प्रकृति कलंजभक्षणमें भी रागोत्पादनद्वारा पुरुषप्रवर्तक होती। किन्तु शास्त्र होनेसे जहाँ जहाँ शास्त्र बलवान् अनिष्टका बोधन करायेगा वहाँ वहाँ प्रकृति रागोत्पादन न करेगी अतः पुरुषप्रवृत्ति भी न होगी। एवं शास्त्रविहित जो कर्म है उनमें शास्त्र इष्टसाधनत्वका बोधन कराता है, ये कर्म पुरुषके इष्टके साधन हैं उसमें प्रकृति अनिष्ट साधनद्वारा द्वेष नहीं उत्पन्न करा सकती, कारण केवल अनिष्टसाधनत्वप्रकारकज्ञान द्वेषोत्पादक नहीं किन्तु इष्टसाधनत्वप्रकारकज्ञानाभावसहकृत उक्तज्ञान द्वेषोत्पादक है। शास्त्र स्वविहित कर्ममें जब इष्टसाधनत्वप्रकारकज्ञानका उत्पादन कराता है कि यह इष्टसाधन है तब इष्टसाधनत्वप्रकारकज्ञानसहकृत अनिष्टसाधनत्वप्रकारक प्रकृतिजज्ञान है तदभाव सहकृत नहीं। अतः शास्त्रविहित कर्ममें प्रकृति द्वेषोत्पादन-द्वारा पुरुषनिवर्तक नहीं होती इस प्रकार प्रकृतिसे अप्रतिबद्ध शास्त्रविहित-सन्ध्यावन्दनादि कर्ममें प्रवर्तक होता है एवं निषिद्ध कलंजादिभक्षणसे पुरुषको निवृत्त कराता है। प्रबलशास्त्रीय विवेकज्ञान स्वाभाविक प्रवृत्ति निवृत्तिका जो

तदधीनो न प्रवर्तेत निवर्तेत वा किंतु शास्त्रीयतद्विपक्षज्ञानेन तत्कारणवि-
घटनद्वारा तौ नाशयेत् । हि यस्मात्तौ रागद्वेषौ स्वाभाविकदोषप्रयुक्तावस्य
पुरुषस्य श्रेयोर्थिनः परिपन्थिनौ शत्रू श्रेयोमार्गस्य विघ्नकर्तारौ दस्यू इव

रागद्वेष है इसका मूलभूत जो प्राचीनजन्मानुष्ठित धर्माधर्मादि संस्काररूप प्रकृति है उसका उपमर्दन-ध्वंस हो जाता है कारणके ध्वंससे जो रागद्वेष विपरीत प्रवृत्तिनिवृत्तिका कारण है उसका नाश हो जाता है । विपरीतभावनात्मक प्रकृति न रहनेसे जो पुराने संस्कार बचे हैं सो शास्त्रादेशके अनुकूल ही हैं प्रतिकूल होते तो उनका भी विनाश हो जाता । अवशिष्ट प्रकृति शास्त्रका विरोधाभावसे प्रति-बन्धक नहीं अतः प्रकृतिसे अप्रतिबद्धशास्त्रविहितमें पुरुषको प्रवृत्त कराता है कलञ्जभक्षणादि विपरीत मार्गमें शास्त्रद्रष्टाको प्रवृत्ति नहीं करा सकता । इस प्रकार शास्त्र तथा पुरुषार्थ व्यर्थ नहीं है । माता, पिता, मित्र, आदि जो हितैषी हैं उनका व्यापार भी शास्त्रवत् प्रकृतिको बदल सकता है । परन्तु ऐसा देखा गया है कि किसीकी प्रकृति ऐसी हठोली होती है कि शास्त्र और पुरुषार्थ कोई काम नहीं आता । किसीका उपदेश सुनता ही नहीं यदि किसी तरह हृदयमें तत्वकी झलक आ भी जाय तो उसको स्वीकार करनेसे अपनी अयोग्यता प्रकट हो जायगी इस पर दृष्टि देता हुआ उसका गजनिमीलन न्यायसे निराकरण ही करता है, यद्यपि अपनी त्रुटि स्वीकार करनेमें ही प्रतिष्ठा तथा सुपरिणाम होता है परन्तु पण्डितंमन्यको विपरीत ही प्रतीत होते हैं उनके तात्पर्यसे भगवानने ठीक कहा है कि 'प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति' उन हतभाग्योंके लिये शास्त्र और पुरुषार्थ फलेग्रही न हुआ तो व्यर्थ नहीं हो सकते । ऐसे भी पुरुष हैं जिनकी प्रकृतियोंको परिशुद्धकरनेपर इष्टानिष्ट परिहारके कारण होते हैं । भगवानका सदुपदेश यह है कि रागद्वेषके वशवर्ती न हो केवल रागद्वेषके अधीन होकर किसीमें प्रवृत्त या निवृत्त न हो, किन्तु जो शास्त्रीय स्वाभाविक रागद्वेषका विपक्ष (विरोधी) ज्ञान है उससे रागद्वेषकारणीभूत जो स्वाभाविकाभिव्यक्तवासना है उसके विघटन (विनाश) द्वारा उक्त स्वाभाविकरागद्वेषका नाश करो । पूर्वजन्मोपचितदुर्वासना-रूपकारण नाशके बिना स्वाभाविक राग द्वेष नहीं नष्ट होंगे । अतः तन्नाशक-शास्त्रीय सत्पुरुषव्यापार अपेक्षित है । इसके द्वारा विपरीत वासनाकी निवृत्तिके लिये निरन्तर चेष्टा करनी चाहिये ।

प्रश्न—क्यों राग, द्वेष नष्ट करना चाहिये ?

उत्तर—स्वाभाविक रागद्वेष स्वाभाविक दोषज होनेसे श्रेयार्थी पुरुषके शत्रु

पथिकस्य। इदं च 'द्वये ह प्राजापत्या देवाश्चासुराश्च ततः कनीयसा एव देवा ज्यायसा असुरास्त एषु लोकेष्वस्पर्धन्त' इत्यादि श्रुतौ स्वाभाविकराग-द्वेषनिमित्तशास्त्रविपरीतप्रवृत्तिमसुरत्वेन शास्त्रीयप्रवृत्तिं च देवत्वेन निरूप्य व्याख्यातमतिविस्तरेणेत्युपरम्यते ॥ ३४ ॥

हैं और कल्याणप्रद मार्गके निग्रहकर्त्ता हैं, जैसे पथिकजनके प्रतिकूल डाकू होते हैं वैसेही इनको जानो। स्वाभाविक चित्तवृत्तियोंको असुर कह कर शास्त्रीयोपदेशानुसार शुभ चित्तवृत्तियोंको देवता कहते हैं। आसुरी चित्तवृत्तियाँ प्राचीन वासनानुसार जन्मा-नन्तरमें अभिव्यक्त होनेसे वस्तुतः ज्येष्ठ हैं और शास्त्रीयवासना शास्त्रीयाभ्यासोत्तर-कालिक होनेसे तत्वत कनिष्ठ हैं दोनों प्रजापतिसे उत्पन्न हैं अतः प्राजापत्य हैं, इन विरुद्ध वृत्तियोंमें परस्पर स्पर्द्धा होती है कि मेरी सर्वत्र विजय रहे, इनकी संख्या भी अधिक है, दैवी वृत्तियाँ थोड़ी होती हैं जब वे उत्पन्न होकर किसी सत्कर्म करनेका संकल्प करती हैं तो विपरीत आसुरी वृत्तियाँ अनेक अनर्थकी सम्भावना कर यह सुझाती हैं कि इन कर्मोंसे दूर रहने ही में आराम है, इस तरह अनेक बार दैवी वृत्तियोंके पराजय होने पर इन्होंने विचार किया कि बिना दैव बलके प्रचुर आसुरी वृत्तियों और मुष्टिमेय दैवी वृत्तियोंके संग्राममें हम लोगोंकी विजय नहीं हो सकती इसलिए प्रकर्षलाभार्थ उद्‌गीथगानके लिए वाग् इन्द्रियसे कहा कि तुम उद्‌गीथका गान करो जिसके प्रभावसे प्रभावित होकर हम लोग असुरोंको पराजित करें इत्यादि बृहदारण्यकोपनिषदमें वर्णित है। इसीके स्मरणार्थ श्रुति ऊपर कही गई है इससे जो तत्व निकलता है उसको कहते हैं—स्वाभाविक रागद्वेषका कारण यानी शास्त्र विपरीत प्रवृत्तिको असुर कहा गया है। 'असुषु प्राणेषु रमन्ते इति असुराः' जो वृत्तियाँ विहित अथवा प्रतिषिद्ध उपायसे प्राणोंको खुश करनेमें ही सदा प्रयत्नशील रहती हैं, वे आसुर-वृत्तियाँ कही गई हैं। इनको धर्माधर्मसे भय नहीं, सब प्राणियोंमें ये जन्मसे ही उत्पन्न होती हैं और अशिक्षित आत्माको अतिप्रिय होती हैं, कामचार वादभक्षमें प्रवृत्त कराता है यही इनका ध्येय है। शास्त्रीय कर्मवासनाजन्य वृत्तियाँ जो सदसद्विवेकिनी होती हैं, वे क्षणिक भोगकालीन अखिल खको हानिकर हैं अतएव उपेक्ष्य बतलाकर और आरम्भमें क्लेश होने पर परिणाममें भूरि सुखप्रद समझा कर स्वाभाविक प्रकृति प्रवर्त्तित भोगसे आत्माको विरत कराती हैं इसीसे दोनोंमें वैरभाव है, इनका विशेष वर्णन उक्त उपनिषदमें है। अतः इस चर्चासे उपरत होते हैं जिसको इस विषयकी जिज्ञासा होवे वे उक्त ग्रन्थ देखें ॥ ३४ ॥

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥ ३५ ॥

इसलिये उन दोनोंको जीतकर सावधान होकर स्वधर्मका आचरण करे, क्योंकि अच्छी प्रकार आचरण किये हुए दूसरेके धर्मसे गुणरहित भी अपना धर्म अति उत्तम है, अपने धर्ममें मरना भी कल्याणकारक है और दूसरेका धर्म भयको देनेवाला है ॥ ३५॥

ननुस्वाभाविकारागद्वेषप्रयुक्तपश्वादिसाधारणप्रवृत्तिग्रहणेन शास्त्रीयमेव कर्म कर्तव्यं चेत्तर्हि यत्सुकरं भिक्षाशनादि तदेव क्रियतां किमतिदुःखावहेन

शङ्का—पश्वादि साधारण स्वाभाविक रागद्वेषप्रयुक्त प्रवृत्तिको हटा कर शास्त्रीय ही कर्म करना चाहिये यदि यही आपके उपदेशका सार है तो कर्त्तव्या-कर्त्तव्य पथप्रदर्शक शास्त्रके जो अधिकारी नहीं हैं, वे पशुपक्ष्यादि स्वभावतः स्वहित-साधन भक्षणादिमें प्रवृत्त होते हैं और अनिष्टसाधन वस्तुभक्षणसे स्वयं निवृत्त होते हैं, उनकी पूर्वार्जित प्रकृति ही प्रवृत्तिनिवृत्तिका नियन्त्रण करती है। भगवान्की यह असीम दया है कि पश्वादिकी प्रवृत्तिको ऐसा नियन्त्रित किया है कि उनके जीवन निर्वाहके लिए स्वप्रकृतिव्यतिरिक्तकी आवश्यकता ही नहीं। मुझे और पशुओंकी प्रकृतिका विशेष परिचय नहीं है पर गौ-बैलकी प्रकृतिका कुछ परिचय है, वे जब कभी बीमार होते हैं तो भोजन छोड़ देते हैं और कोई भी प्रिय वस्तु उनके सामने रखिये सूँघकर छोड़ देते हैं और खाते नहीं, ऐसा तीन चार दिन तक देखा गया है अच्छे होने पर ग्रास ग्रहण करते हैं इत्यादि अनेक अद्भुत शक्ति भक्ष्याभक्ष्यके विषयमें है। ऋतुकालाभिगामी वे मनुष्य ऐसे नहीं हैं फिर भी वे आहार निद्रा, भय, मैथुनादिमें वे पूर्ण नियन्त्रित हैं वैसा ही मनुष्य भी यदि व्यवहार करे तो पश्वादिसे मनुष्यमें विशेष क्या रहा, पश्वादिकी प्रकृति इतना ही समझाकर प्रवृत्ति कराती है कि यह तुम्हारे अनुकूल है, निवृत्ति करानेमें भी इतना ही समझाना है कि यह तुम्हारे प्रतिकूल है, उनके लिए शुद्धाशुद्ध पुण्यपापका विचार नहीं है, जिसका सेवन अनुकूल है वह ग्राह्य है, जिसका प्रतिकूल है वह अग्राह्य है, मनुष्यका धर्माधर्मके साथ सम्बन्ध है इसलिए पश्वादिसाधारणप्रवृत्तिको त्यागकर शास्त्रीय कर्म ही कर्त्तव्य है। अतः शास्त्रीय कर्म जो सुकर है जैसे भिक्षा लेकर भोजन करना यह शास्त्रीय भी है और सुकर भी है यही करना चाहिये युद्धादि कर्म अतिदुःखप्रद है अतः इसका त्याग ही अच्छा है इसके करनेकी क्या आवश्यकता?

युद्धेनेत्यत आह—'श्रेयान्' इति ।

श्रेयान्प्रशस्यतरः स्वधर्मो यं वर्णमाश्रमं वा प्रति यो विहितः स तस्य स्वधर्मो विगुणोऽपि सर्वाङ्गोपसंहारमन्तरेण कृतोऽपि परधर्मात्स्वं प्रत्यविहितात्स्वनुष्ठितात्सर्वाङ्गोपसंहारेण संपादितादपि । न हि वेदातिरिक्तमानगम्यो धर्मः । येन परधर्मोऽप्यनुष्ठेयो धर्मत्वात्सवंधर्मवदित्यनुमानं तत्र मानं स्यात्,

समाधान—'श्रेयान्' इत्यादि स्वधर्म अति प्रशस्त है ।

शङ्का—स्वधर्म क्या है ?

समाधान—जिस वर्णाश्रमीके उद्देश्यसे जिस धर्मका शास्त्रमें विधान है उस वर्णाश्रमीका वह धर्म स्वधर्म है, वह यदि सामर्थ्याभावसे पूर्वोत्तराङ्गोपेत सविधि न हो किन्तु पूर्वोत्तराङ्गरहित हो तो वह विगुण कहा जाता है, परधर्मका अच्छी तरह अनुष्ठान कर सकते हैं स्वधर्मका पूरा अनुष्ठान नहीं कर सकते ऐसी दशामें अपूर्णसम्पादित स्वकर्मकी अपेक्षा सुखेन सविधि अनुष्ठित परधर्म ही करना चाहिये इस कल्पनाकी निवृत्तिके लिए भगवान कहते हैं कि नहीं ऐसा नहीं अपना धर्म यथाशक्ति जितना हो सके उतना ही करना उचित है, परधर्म अनुष्ठान अपने लिए व्यर्थ है ।

प्रश्न—क्यों ?

उत्तर—परधर्म परके लिए अनुष्ठेय होनेसे धर्म है अन्यके लिए न वह धर्म ही है, न अनुष्ठेय ही । इसमें रहस्य यह है कि धर्माधर्म शास्त्रैकसमधिगम्य है, जिसके लिए जो अनुष्ठेय शास्त्रसे विहित है उसके लिए वह धर्म है दूसरेके लिए नहीं अतएव धर्मका लक्षण है 'वेदप्रतिपाद्य प्रयोजनवदर्थो धर्मः वेदप्रतिपाद्य प्रयोजनवान्' । अर्थ धर्म है, भोजनादि भी तृप्त्यादि प्रयोजवान् है इसमें भी धर्मत्वापत्ति होगी तद्वारणार्थ 'वेदप्रतिपाद्य' कहा गया है, स्वर्गादि फल वेदप्रतिपाद्य अर्थ है इसमें धर्मत्वापत्ति परिहारार्थ प्रयोजनवान् कहा, प्रयोजन स्वर्गादि स्वयं है उसमें प्रयोजनान्तर नहीं है अतः प्रयोजनवत्त्वाभावसे वह धर्म नहीं । श्येनादिमें धर्मत्ववारणार्थ अर्थपदोपादान है । श्येन यद्यपि स्वरूपतः अधर्म नहीं है तथापि तत्फल अनर्थ है, इस हेतुसे श्येनादि अनर्थ कहाते हैं । उनकी निवृत्तिके लिए अर्थ कहा, श्येन अर्थ नहीं, इस लक्षणसे यह स्पष्ट कहा गया है कि धर्माधर्म वेदातिरिक्त मानगम्य नहीं अतः 'परधर्मोप्यनुष्ठेयः

'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' इति न्यायात्। अतः स्वधर्मे किंचिदङ्गहीनेऽपि स्थितस्य निधनं मरणमपि श्रेयः प्रशस्यतरं परधर्मस्थस्य जीवितादपि। स्वधर्मस्थस्य निधनं हीह लोके कीर्त्यावहं परलोके च स्वर्गादिप्रापकम्। परधर्मस्तु इहाकीर्तिकरत्वेन परत्र नरकप्रदत्वेन च भयावहो यतोऽतो रागद्वेषादिप्रयुक्तस्वाभाविकप्रवृत्तिवत्परधर्मोऽपि हेय एवेत्यर्थः। एवं तावद्भगवन्मताङ्गीकारिणां श्रेयः—प्राप्तिस्तदनङ्गीकारिणां च श्रेयोमार्गभ्रष्टत्व-

---

धर्मत्वात् स्वधर्मवत्' अन्यदीय धर्म भी अनुष्ठेय है क्योंकि उसमें भी धर्मत्व है स्वधर्मवत् यह अनुमान असंगत है।

प्रश्न—क्यों ?

उत्तर—असिद्धिहेत्वाभास है। परधर्ममें अन्यदीयापेक्षासे धर्मत्वही नहीं है अर्थात् गोत्वादि जातिके समान धर्मत्व जाति नहीं है कि गवान्तरमें गोत्वादि जाति दर्शनसे तादात्म्येन गवाद्यनुमितिवत् परकीयानुष्ठेयमें धर्मत्वज्ञानसे अनुष्ठेयानुमिति भी हो जायगी अगर ऐसा माना जाय तो धर्मशास्त्रैकसमधिगन्य नहीं होगा किन्तु अनुमानादिगम्य भी होगा किन्तु ऐसा नहीं है, 'अशुद्धिमिति चेन्न शब्दा' इस वेदान्त सूत्रमें इसका विशद विवेचन किया गया है वहाँ यही सिद्ध किया गया है कि धर्माधर्मादि केवल वेदैकसमधिगम्य है, अनुमानादिगम्य नहीं इसीमें 'चोदना लक्षणोऽर्थो धर्मः' यह मीमांसा सूत्र प्रमाण है, चोदना वैदिक वाक्य है, वही लक्षणज्ञापक है जिसका वह धर्म है, वह श्येनादिका भी ज्ञापक वैदिक वाक्य है अतः उसमें भी धर्मत्वापत्ति होगी इसलिए अर्थ कहा गया, श्येनादि उक्तरीतिसे अर्थ नहीं अतः उसकी व्यावृत्ति हुई इसमें 'चौदनैव साच लक्षणमेव' इत्यादि मीमांसाभाष्यकारोक्त अर्थका विशेष निर्देश ग्रन्थगौरवादिके भयसे नहीं किया अतः समग्राङ्गसहित स्वधर्म न हो सकनेपर भी किञ्चिदङ्गहीन यथाशक्ति अनुष्ठित स्वधर्ममें स्थित पुरुषका मरण भी प्रशस्त है। परधर्मके जीवनसे स्वधर्मस्थितका मरण इस लोकमें कीर्तिकर है और परलोकमें स्वर्गादिकप्रद है इसलिए स्वधर्मानुष्ठान ही सबसे अच्छा है, परधर्मानुष्ठान इस लोकमें अकीर्त्तिकर होनेसे और परलोकमें नरकप्रद होनेसे भयंकर है। अतः रागद्वेषादि प्रयुक्त स्वाभाविक प्रवृत्तिवत् परधर्म भी त्याज्य है, शास्त्रनिरपेक्ष पूर्वजन्मार्जित धर्मादिवासनारूप प्रकृति प्रवृत्तिवद् प्रतिषिद्ध कलञ्ज भक्षणादि प्रवृत्ति यथा हेय है तथा पर धर्मानुष्ठान भी हेय ही है। इस प्रकार भगवन्मत स्वीकार करनेवालोंको

अर्जुन उवाच—

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः ।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय ! बलादिव नियोजितः ॥३६॥

इसपर अर्जुनने पूछा कि हे कृष्ण ! फिर यह पुरुष बलात्कारसे लगाये हुएके सदृश, न चाहता हुआ भी किससे प्रेरित होकर पापका आचरण करता है ॥ ३६ ॥

मुक्तम् । श्रेयोमार्गभ्रंशेन फलाभिसन्धिपूर्वककाम्यकर्माचरणे च केवलपापमात्राचरणे च बहूनि कारणानि कथितानि ये-त्वेतदभ्यसूयन्त इत्यादिना । तत्रायं संग्रहश्लोकः—

श्रद्धाहानिस्तथाऽसूया दुष्टचित्तत्वमूढते ।
प्रकृतेर्वशवर्तित्वं रागद्वेषौ च पुष्कलौ ॥
परधर्मरुचित्वं चेत्युक्ता दुर्मार्गवाहकाः ॥ ३५ ॥

तत्र काम्यप्रतिषिद्धकर्मप्रवृत्तिकारणमपनुद्य भगवन्मतमनुवर्तितुं यत्कारणावधारणाय—'अथ' इति ।

'ध्यायतो विषयान्पुंसः' इत्यादिना पूर्वमनर्थमूलमुक्तम् । सांप्रतं च 'प्रकृतेर्गुणसंमूढाः' इत्यादिना बहुविस्तारं कथितम् । तत्र किं सर्वाण्यपि

मोक्ष प्राप्ति होती हैं, उनके मतको न माननेवालोंका मोक्ष मार्गसे अधःपात होता है यह कह चुके हैं। मोक्ष मार्गअधःपातसे फलकामनापूर्वक काम्यकर्म करनेमें केवल पाप करनेके बहुत मार्ग कहे गये है 'येत्वेतदभ्यसूयन्ते' इत्यादिसे। यहाँ पर कुपथ व्यापकोंका संक्षेपसे संग्राहक श्लोक है 'श्रद्धाहानिः' इत्यादि असूया, परगुणेषु दोषाविष्करण, दुष्टचित्तत्व-मूढ़त्व, प्रकृतिवशवर्तित्व, सम्पूर्ण रागद्वेषादि और परधर्मरुचित्व ये सब त्याज्य हैं ॥ ३५ ॥

काम्य प्रतिषिद्ध कर्म प्रवृत्तिके कारणोंका निराकरण कर भगवन्मतानुवृत्तिके लिए तत्कारणोंके निश्चयार्थ 'ध्यायतो विषयान् पुंसः' इत्यादि ग्रन्थसे पूर्वमें अनर्थहेतुविषय स्मरण कहा। इस समय 'प्रकृतेर्गुणसम्मूढ़ाः' इत्यादि ग्रन्थसे बहुत विस्तार कहा उसमें क्या सब बराबरके कारण हैं अथवा एक मुख्य कारण है शेष

समप्राधान्येन कारणानि । अथवैकमेव मुख्यं कारणमितराणि तु तत्सहकारीणि केवलम् । तत्राऽऽद्ये सर्वेषां पृथक्पृथङ्निवारणे महान्प्रयासः स्यात् । अन्त्ये त्वेकस्मिन्नेव निराकृते कृतकृत्यता स्यादित्यतो ब्रूहि मे केन हेतुना प्रयुक्तः प्रेरितोऽयं त्वन्मताननुवर्ती सर्वज्ञानविमूढः पुरुषः पापमनर्थानुबन्धि सर्वं फलाभिसंधिपुरःसरं काम्यं चित्रादि शत्रुवधसाधनं च श्येनादि प्रतिषिद्धं च कलञ्जभक्षणादि बहुविधं कर्माऽऽचरति स्वयं कर्तुमनिच्छन्नपि न तु निवृत्तिलक्षणं परमपुरुषार्थानुबन्धित्वत्वदुपदिष्टं कर्मेच्छन्नपि करोति। न च पारतन्त्र्यं विनेत्थं संभवति । अतो येन बालादिव नियोजितो राज्ञेव भृत्यस्त्वन्मताविरुद्धं सर्वानर्थानुबन्धित्वं जानन्नपि तादृशं कर्माऽऽचरति तमनर्थ-

---

सहकारी कारण है यथा अङ्कुरमें प्रधान कारण बीज है और आर्द्रक्षिति संयोग सहकारी कारण है। प्रथम पक्षमें हर एक कारणोंको निराकरण करनेके लिए अलग २ प्रयत्न अपेक्षित होंगे अतः अधिक प्रयास होगा। अन्तिम पक्षमें एकके निराकरण करनेसे कृत्यकृत्यता हो जायगी, भाव यह है कि यदि अनेक स्वतंत्र कारण होंगे तो सबके निराकरणके लिए अलग २ प्रयत्न करना ही होता है यदि प्रधान एक ही कारण है उसके निराकरणसे तत्कार्यकी निवृत्ति हो जाती है इसमें श्रम स्वल्प है इस अभिप्रायसे अर्जुन भगवानसे पूछते हैं कि आप मुझसे कहिये कि किस कारणसे प्रेरित त्वन्मतानुवर्त्तिजन सब ज्ञानविमूढ़ अनर्थकारण पाप तथा फलकामनापूर्वक सम्पूर्ण काम्यकर्म पशुफलप्रद चित्रादि 'चित्रया यजेत पशुकामः' इत्यादि विहित 'श्येनेनाभिचरेत्' इत्यादि विहित श्येनादि और प्रतिषिद्ध कलञ्ज भक्षणादि कर्म करते हैं। स्वयं करनेकी इच्छा न रहने पर भी अनेकविधि कर्म करते हैं, मोक्ष लाभोपयोगी भवदुपदिष्ट निवृत्तिलक्षणधर्म करनेमें इच्छुक होने पर भी नहीं करते हैं, पराधीनताके बिना यह सम्भव नहीं कि जो चाहे सो न करे जो न चाहे सो करे। 'पर' यहाँ कौन है इस विषयमें बहुत सोचने पर भी अभी तक यह नहीं समझ पाया कि 'पर' कौन है जिसके इच्छानुसार ही कर्म किया जाता है, राजप्रेरित भृत्यके समान जीव आपके मतसे प्रतिकूल अनेक अनर्थोंसे युक्त कर्म करता है। उस अनर्थको जो प्रतिकूल मार्गमें प्रवृत्त करता है उसको हमसे कहिये। उसको जान कर ही उसका नाश कर सकते हैं। अतः

श्रीभगवानुवाच—

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥ ३७ ॥

इस प्रकार अर्जुनके पूछने पर श्रीकृष्ण महाराज बोले, हे अर्जुन! रजोगुणसे उत्पन्न हुआ यह काम ही क्रोध है, यही महाअशन अर्थात् अग्निके सदृश भोगोंसे न तृप्त होनेवाला और बड़ा पापी है, इस विषयमें इसको ही तूं वैरी जान ॥ ३७ ॥

मार्गप्रवर्तकं मां प्रति ब्रूहि ज्ञात्वा समुच्छेदायेत्यर्थः । हे वार्ष्णेय ! वृष्णिवंशे मन्मातामहकुले कृपयाऽवतीर्णेतिसम्बोधनेन वार्ष्णेयीसुतोऽहं त्वया नोपेक्षणीय इति सूचयति ॥ ३६ ॥

एवमर्जुनेन पृष्टे 'अथो खल्वाहुः काममय एवायं पुरुष इति' 'आत्मैवेदमग्र आसीदेक एव सोऽकामयत जाया मे स्यादथ प्रजायेयाथ वित्तं मे स्यादथ कर्म कुर्वीय' इत्यादिश्रुतिसिद्धमुत्तरम् श्रीभगवानुवाच ।

उसके विनाशके लिये उससे पूँछता हूँ । हे वार्ष्णेयि ! वृष्णि वंशज जो मेरे मातामहका कुल है उसमें कृपापूर्वक आप अवतीर्ण हैं, वार्ष्णेय सुत हम हैं इस सम्बन्ध से भी आप मेरी उपेक्षा न करेंगे यह उक्त सम्बोधनसे भी सूचित होता है ॥ ३६ ॥

इस प्रकार अर्जुनके पूछने पर 'अथोखल्वाहुः' इत्यादि श्रुति सिद्ध उत्तर भगवानने अर्जुनको दिया । उल्लिखित श्रुतिका संक्षिप्त अर्थ यह है कि सृष्टिसे पूर्व प्रथम एक ही आत्मा था, उसने इच्छाकी कि मेरे स्त्री हो उसको कामना होते ही स्त्री हो गई फिर इसमें पुत्रादि सन्तान हो इस प्रकार इच्छा होनेपर सन्तान भी हो गया । सन्तान होने पर भी द्रव्यकी आवश्यकता हुई । इसलिये द्रव्यकी कामनाको, द्रव्य भी प्राप्त हुआ । द्रव्यलाभका फल साधु कर्म करना है इसलिये उसका संकल्प किया कि साधु कर्म करें इत्यादि । तात्पर्य यह है कि जैसे स्वप्नावस्थामें पुरुष अकेला हो सोता है इस स्थितिमें स्वप्नमें कल्पना होती है कि रेलगाड़ी पर चढ़ें । रेलगाड़ीमें सब पथिक उपस्थित होते हैं । जहाज पर चढ़नेको इच्छा हुई जहाज समुद्र सब स्वप्नमें देख उपस्थित होते हैं । वास्तविक वे हैं नहीं किन्तु उस समय कल्पनासे सब देख पड़ते हैं उनके उपयोगसे सुख भी होता है उस समय उसको हम यथार्थ ही

यस्त्वया पृष्टो हेतुर्बलादनर्थमार्गे प्रवर्तकः स एष काम एव महान् शत्रुः। तन्निमित्ता सर्वानर्थप्राप्तिः प्राणिनाम्। ननु क्रोधोऽप्यभिचारादौ प्रवर्तको दृष्ट इत्यत आह—क्रोध एषः काम एव केनचिद्धेतुना प्रतिहतः क्रोधत्वेन परिणमतेऽतः क्रोधोऽप्येषः काम एव। एतस्मिन्नेव महावैरिणि निवारिते सर्वपुरुषार्थप्राप्तिरित्यर्थः। तन्निवारणोपायज्ञानाय तत्कारणमाह—रजोगुणसमुद्भवः। दुःखप्रवृत्तिबलात्मको रजोगुण एव समुद्भवः कारणं यस्य, अतः कारणानुविधायित्वात्कार्यस्य सोऽपि तथा। यद्यपि तमोगुणोऽपि तस्य कारणं तथाऽपि दुःखे प्रवृत्तौ च रजस एव प्राधान्यात्तस्यैव

समझते हैं पर जागने पर असल तत्वका पता चलता है कि ये सब कल्पनिक थे, असली नहीं। एवं संसार दशामें जीवके कल्पनानुसार अनेक पदार्थ उपलब्ध होते हैं। पर इनकी वास्तविकता पर विचार करनेसे स्वाप्निक समान ही ये भी सिद्ध होते हैं। इनका निवर्तक आत्मसाक्षात्कार और रेलका निवर्तक जागरण है, इत्यादि। श्री भगवान कहते हैं कि अनर्थ मार्गमें बलसे प्रवृत्त करानेवालेको जो तुमने पूछा है सो यह सर्व लोकानुभवसिद्ध महाशत्रु काम हैं, तन्निमित्तक ही सब अनर्थोंकी प्राप्ति प्राणियोंको होती है।

शङ्का—कामका ही नाम क्यों लेते हैं क्रोध भी तो अनर्थबहुल श्येनादि यागमें प्रवर्त्तक है अतः उसका भी नाम कहना चाहिये।

समाधान—क्रोध भी तत्वतः काम ही है।

प्रश्न—कैसे ?

उत्तर—किसी कामनासे किसी कर्ममें पुरुष प्रवृत्त हुआ उस कर्ममें कोई विघ्न डालता है तो वह काम नहीं होता। इसलिये वह क्रोधरूपसे परिणत हो जाता है अतः क्रोध भी काम ही है इसी महाशत्रु कामके निवारण करनेसे सब पुरुषार्थोंकी प्राप्ति होती है। उसके निवारणके उपायज्ञानके लिये कामको कारण कहते हैं। 'रजोगुणसमुद्भवः' रजो गुणसे काम होता है इसलिये इसका कारण रजोगुण है, कार्य्यकारण स्वभावानुयायी होता है। इसलिये यह भी रजोगुणके जो स्वभाव दुखप्रवृत्ति हैं तद्वत् काम भी है। यथा मृद्घट तत्स्वभावानुवर्ती है सुवर्ण घट सुवर्ण स्वभावानुवर्ती है, तद्वत् रजोगुण कार्य काम रजोगुणस्वभावानुवर्ती है। यद्यपि क्रोधात्मक कामका तो विशेष रूपसे तमोगुण कारण है पर काम जो रागात्मक है उसका भी सामान्यतः तमोगुण कारण है तथापि दुःख प्रवृत्तिमें प्रधान

निर्देशः। एतेन सात्त्विक्या वृत्त्या रजसि क्षीणे सोऽपि क्षीयत इत्युक्तम्। अथवा तस्य कथमनर्थमार्गे प्रवर्तकत्वमित्यत आह—रजोगुणस्य प्रवृत्त्यादिलक्षणस्य समुद्भवो यस्मात्। कामो हि विषयाभिलाषात्मकः स्वयमुद्भूतो रजः प्रवर्तयन्पुरुषं दुःखात्मके कर्मणि प्रवर्तयति। तेनायमवश्यं हन्तव्य इत्यभिप्रायः। ननु सामदानभेददण्डाश्चत्वार उपायास्तत्र प्रथमत्रिकस्यासंभवे चतुर्थो दण्डः प्रयोक्तव्यो न तु हठादेवेत्याशङ्क्य त्रयाणाम-

कारण रजोगुण ही माना गया है। इसलिये रजोगुणका ही कारणत्वेन निर्देश है, तमोगुणका नहीं। इससे सात्त्विक प्रवृत्तिसे रजोगुणके क्षीण होने पर काम भी क्षीण होता है। तैलके क्षीण होने पर प्रदीपप्रकाश भी क्षीण होता है यह उक्तप्राय ही है। अथवा काम अनर्थ मार्गमें कैसे प्रवर्तक होता है यह कहते हैं।

प्रवृत्ति दुःखादिलक्षण रजोगुणके प्रादुर्भावका कारण काम है, काम ही से उक्त गुणकी उत्पत्ति होती है। कामविषयाभिलाषात्मक प्रसिद्ध ही है। वह जब स्वयं उत्पन्न होता है तो रजोगुणका प्रवर्त्तक होकर दुखात्मक कर्ममें पुरुषको प्रवृत्त कराता है। इसलिये इसका हनन अवश्य करना चाहिये यह अभिप्राय है।

शङ्का—साम, दाम, दण्ड, भेद ये चार उपाय अर्थ साधनके लिये शास्त्रमें कहे गये हैं वहाँ पर यह भी निर्णय किया कि प्रथम सामका प्रयोग करना और सामके असफल होने पर दामका, उसके असफल होने पर भेद, इसके भी असफल होने पर जब तीनों उपायोंसे काम न चले तो चतुर्थ उपाय 'दण्ड' काममें लाना चाहिये सहसा नहीं। अतएव सुन्दरकाण्डमें हनुमानजीने लंकादहनोपक्रमसे पूर्व रामायणमें किस नीतिका प्रयोग करना चाहिये इस विचारके समय (६९ में) कहा है कि—"

न साम रक्षस्सु गुणाय कल्पते न दानमर्थोपचितेषु युज्यते।
न चापि भेदो बलदर्पितेषु पराक्रमस्त्वेष ममेह रोचते॥

राक्षसोंमें सामवाद प्रयोगको क्या सम्भावना। इनमें सामवाद प्रतप्त घीमें जल विन्दुके समान विपरीत गुणकारी होगा, जिसको लंका ही सोनेकी है उसको द्रव्यदानसे कौन तुष्टकर सकता है। भेद भी बल दर्पितमें काम नहीं दे सकता अतः यहाँ तीनों उपाय काम नहीं दे सकते। इसलिये पराक्रम ही उचित प्रतीत होता है। मेरे एकाकीके पराक्रमको देखकर कुछ विचार करें तो हो सकता है। इस आशासे उक्त तीनों उपायोंको असफल कहकर तब चतुर्थ उपायमें प्रवृत्त

संभवं वक्तुं विशिनष्टि— महाशनो महापाप्मेति। महदशनमस्येति महाशनः।

'यत्पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः।
नालमेकस्य तत्सर्वमिति मत्वा शमं व्रजेत्'॥ इति स्मृतेः॥

अतो न दानेन संधातुं शक्यः। नापि सामभेदाभ्यां। यतो महापाप्मा ऽत्युग्रः। तेन हि बलात्प्रेरितोऽनिष्टफलमपि जानन्पापं करोति। अतो विद्धि जानीहि एनं काममिह संसारे वैरिणम्। तदेतत्सर्वं विवृतं वार्तिककृरैः 'आत्मैवेदमग्रमासीत्' इतिश्रुतिव्याख्याने—

प्रवृत्तौ निवृत्तौ च यथोक्तस्याधिकारिणः।
स्वातन्त्र्ये सति संसारसृतौ कस्मात्प्रवर्तते॥

हुये। तद्वत् यहाँ भी तीनों उपायोंके असम्भव प्रदर्शनार्थ विशेषण देते हैं 'महाशनो महापाप्मा' इति। महत् अशनं यस्य स महाशनः,

यत्पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवस्त्रियः।
नालमेकस्य तत्सर्वमिति मत्वा शमं व्रजेत्॥

यह स्मृति दी हुई है इसका अर्थ अति स्पष्ट हैं। पृथ्वीमें जितने अन्न व्रीहि, यव हैं यह अन्नमात्रका उपलक्षण है। तथा जितना सोना, पशु और स्त्रियां है ये सब एकके लिये पर्य्याप्त नहीं है इनके पानेपर भी स्वर्ग भोगरूप अप्सराओं पर दृष्टि पड़ती है। इस कारण दानसे इसके साथ संधि नहीं होती।

शङ्का—तो सामभेदसे संधि करनी चाहिये?

समाधान—महापापात्मा है यानी यह महापापी है रावणादिकके समान यह सामभेदका विषय ही नहीं है। अनिष्ट अवश्य होगा यह जानता हुआ पुरुष काम प्रेरित होकर पापमें प्रवृत्त होता है। जो अनिष्ट जानकर पाप करता है उसको इसमें अनिष्ट होगा ऐसा समझाकर कौन निवृत्त करा सकता है, आप अपना रास्ता देखिये, मैं स्वयं जानता हूँ जो आप कहते हैं इत्यादि कहकर कहने वालेपर रोष प्रकट करता है। अतः इस संसारमें कामको वैरी मानों। 'आत्मैवेदमग्रमासीत्' इस श्रुतिका व्याख्यान करते हुये वार्तिककारने इन सबका विशेषरूपसे विवरण किया है 'प्रवृत्तौ च निवृत्तौ च' इत्यादिसे वार्तिक मूलमें देखिये। प्रसिद्धिचेतन आत्मा स्व-प्रवृत्ति निवृत्तिमें स्वतन्त्र कारण है पराधीन नहीं तो अनेकानर्थ पूर्ण संसारमें क्यों

न तु निःशेषविध्वस्तसंसारानर्थ वर्त्मनि ।
निवृत्तिलक्षणे वाच्यं केनायं प्रेर्यतेऽवशः ॥
अनर्थपरिपाकत्वमपि जानन्प्रवर्तते ।
पारतन्त्र्यमृते दृष्टा प्रवृत्तिर्नेदृशी क्वचित् ॥
तस्माच्छ्रेयोर्थिनः पुंसः प्रेरकोऽनिष्टकर्मणि ।
वक्तव्यस्तन्निरासार्थमित्यर्था स्यात्परा श्रुतिः ॥
अनाप्तपुरुषार्थोऽयं निःशेषानर्थसंकुलः ।
इत्यकामयतानाप्तान्पुमर्थान्साधनैर्जडः ॥
जिहासति तथाऽनर्थानविद्वानात्मनि श्रितान् ।
अविद्योद्भूतकामः सन्नथो खन्विति च श्रुतिः ॥

प्रवृत्त होता है। कोई भी जानकर करतलानलका संयोग नहीं कराता तथा समस्त संसारानर्थनिवर्तक निवृत्तिलक्षण धर्ममें किससे प्रेरित होकर प्रवृत्त होता है अनर्थाज्ञानसे प्रवृत्त होता है यह भी नहीं कह सकते। यह जानता है कि इसमें अत्यन्त दुःख होगा फिर भी उसमें बलात्प्रवृत्त होता है। चौर्य, परदारागमनादिमें परिपाक-परिणाम अनर्थ होगा यह जानकर भी प्रवृत्त होता है, परतन्त्रताके बिना ऐसी प्रवृत्ति कहीं देखते नहीं। परतन्त्रतासे तो मनुष्य फाँसी पर चढता ही है किन्तु स्वतन्त्र नहीं। जहाँ कोई स्वयं फाँसी लगाता है वहाँ भी कोई असह्य दोष अवश्य रहता है तस्मात् श्रेयोर्थी पुरुषका अनिष्ट कर्मप्रवृत्तिका प्रेरक कोई अवश्य कहना चाहिये। दुःख कोई नहीं चाहता दुःखसाधनमें फिर क्यों प्रवृत्त होता है अज्ञानवश भी नहीं कह सकते जानकारकी भी प्रवृत्ति देखते हैं। इसलिये यह कल्पना होती है कि इष्टानिष्टमें पुरुषप्रवृत्ति स्वतन्त्र नहीं कोई प्रेरक है जो किसीको इष्टमें प्रवृत्ति कराता है किसीको अनिष्टमें। शास्त्रोपदेश भी सबके प्रति समान है।

फिर भी प्रवृत्ति विचित्र देखते हैं। अतः अनिष्ट कर्ममें श्रेयोर्थीका प्रेरक कौन है उसको अवश्य कहिये इसका उत्तर देनेके लिये उक्त श्रुतिकी प्रवृत्ति है। अप्राप्तपरमपुरुषार्थ, अमुक्त अतएव अखिल सांसारिक दुःखोंसे व्याकुल, जडमति नर अप्राप्तपुरुषार्थको साधनसे पानेकी कामना तथा अज्ञ अपनेमें स्थित अनर्थोकी जिहासा करता है, मेरेमें जितने दुःख हैं सबकी निवृत्ति साधनसे चाहता है।

धूमेनाव्रियते वह्निर्यथाऽऽदर्शो मलेन च ।
यथोल्बेनाऽऽवृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ॥ ३८ ॥

जैसे धुएंसे अग्नि और मलसे दर्पण ढका जाता है तथा जैसे उल्वसे गर्भ ढका हुआ है, वैसे ही उस कामके द्वारा यह ज्ञान ढका हुआ है ॥ ३८ ॥

अकामतः क्रियाः काश्चिद्दृश्यन्ते नेह कस्यचित् ।
यद्यद्धि कुरुते जन्तुस्तत्तत्कामस्य चेष्टितम् ॥
काम एष क्रोध एष इत्यादिवचनं स्मृतेः ।
प्रवर्तको नापरोऽतः कामादन्यः प्रतीयते ॥ इति ॥
अकामत इति मनुवचनम् । अन्यत्स्पष्टम् ॥ ३७ ॥

तस्य महापाप्मत्वेन वैरित्वमेव दृष्टान्तैः स्पष्टयति—

तत्र शरीरारम्भात्प्रागन्तःकरणस्यालब्धवृत्तिकत्वात्सूक्ष्मः कामः शरीरारम्भकेण कर्मणा स्थूलशरीरापरिच्छिन्ने लब्धवृत्तिकेऽन्तःकरणे कृताभिव्यक्तिः सन्स्थूलो भवति। स एव विषयस्य चिन्त्यमानावस्थायां पुनः पुनरुद्रिच्यमानः स्थूलतरो भवति । स एव पुनर्विषयस्यभुज्यमानतावस्थायामत्यन्तोद्रेकं प्राप्तः

अविद्यासे उद्भूत समुत्पन्न कामी अविद्वान्पुरुष अविद्यावश तत्फलोंको कामनासे प्रवृत्त होता है यह श्रुति स्मृति तथा अनुभवसे सिद्ध है, मनु भगवान्ने भी कहा है ।

'अकामतः क्रिया काचित् दृष्यते नेह कस्यचित् ।
यद्यद्धि कुरुते जन्तुस्तत्कामस्य चेष्टितम् ' इत्यादि अन्य स्पष्ट है ॥३७॥

काममें महापापित्व प्रदर्शनद्वारा दृष्टान्तसे वैरित्व स्पष्ट करते हैं—धूमेनेति शरीरारम्भके पूर्व अंतःकरण अलब्ध वृत्ति होता है अतः उसमें काम सूक्ष्म रहता है शरीराम्भक कर्मसे जब स्थूल शरीरका आरम्भ होता है तो स्थूल शरीर बिना मनःसम्बन्धके भोग सम्पादनासमर्थ होनेसे उन्हीं शरीरारम्भक कर्मोंसे अन्तःकरणका शरीरके साथ सम्बन्ध होता है और वह अन्तःकरण स्थूल शरीरावच्छिन्न होकर वृत्ति लाभ करता है। सुखदुःखाद्याकारवृत्ति शरीरावच्छिन्न मनमें होती है। उस अन्तःकरणमें अभिव्यक्त कामादि स्थूल होता है। वहीं विषयकी चिन्त्यमानावस्थामें पुनः उपचीयमान-वर्द्धमान स्थूलतर होता है, वहां फिर विषयको भोगावस्थामें

स्थूलतमो भवति। तत्र प्रथमावस्थायां दृष्टान्तः—यथा धूमेन सहजेनाप्रकाशात्मकेन प्रकाशात्मको वह्निराव्रियते। द्वितीयावस्थाया दृष्टान्तः–यथा आदर्शो मलेनासहजेनाऽऽदर्शोत्पत्त्यनन्तरमुद्रिक्तेन। चकारोऽवान्तरवैधर्म्यसूचनार्थः। आव्रियत इति क्रियानुकर्षणार्थश्च। तृतीयावस्थायां दृष्टान्तः—यथोल्बेन जरायुणा गर्भवेष्टनचर्मणाऽतिस्थूलेन सर्वतो निरुध्याऽऽवृतस्तथा प्रकारत्रयेणापि तेन कामेनेदमावृतम्। अत्र धूमेनाऽऽवृतोऽपि वह्निर्दाहादिलक्षणं स्वकार्यं करोति। मलेनाऽऽवृतस्त्वादर्शः प्रतिबिम्बग्रहणलक्षणं स्वरथं न करोति। स्वच्छताधर्ममात्रतिरोधानात्स्वरूपतस्तूपलभ्यत एव। उल्बेनाऽऽवृतस्तु गर्भो न हस्तपादादिप्रसारणरूपं स्वकार्यं करोति न वा स्वरूपत प्रतिलभ्यत इति विशेषः॥ ३८॥

अत्यन्तोद्रेक-अतिवृद्धिको प्राप्त कर स्थूलतम होता है वहाँ प्रथमावस्थामें दृष्टान्त कहते हैं—जैसे सहजोत्पन्न स्वाभाविक अप्रकाशात्मक धूमसे प्रकाशक वह्नि आवृत होता है, द्वितीयावस्थामें दृष्टान्त है—जैसे दर्पण उत्पत्तिके अनन्तर शनैः शनैः वर्द्धमान मलसे आवृत होता है, चकार अवान्तर वैलक्षण्य सूचनार्थ है और आव्रियते क्रियाके अनुकर्षणार्थ है। तृतीयावस्थामें दृष्टान्त है—जैसे जरायु गर्भवेष्टनसूक्ष्मकोमलचर्मसे सर्वांश गर्भको रोक कर आवृत कर लेता है एवं उक्त तीनों प्रकारोंसे कामसे यह आवृत है इनमें धूमसे आवृत अग्नि स्वकार्य यानी दाहादि कर्म करता है, मलसे आवृत आदर्श-पैना प्रतिबिम्ब यानी छायाग्रहण रूप स्वकार्य नहीं करता है, किन्तु स्वच्छतामात्र धर्म ही तिरोहित होता है। स्वरूपसे तो दर्पणका ग्रहण होता ही है। उल्व से आवृत गर्भ तो हाथपाँव फैलानारूप स्वकार्य नहीं करता और न स्वरूपसे ही प्रतीत होता है यह विशेष है। किसी का मत है कि इदंशब्दसे जीवेश्वरान्तःकरण ये तीनों विवक्षित हैं, एतदनुरूप तीन दृष्टान्त हैं जैसे धूमसे आवृत प्रकाशात्मक भी अग्नि दूसरेका प्रकाशित नहीं करती वैसे ही परमात्मा सर्वप्रकाशक स्वयंप्रकाश होने पर भी आवृत होकर दूसरेको स्फुट प्रकाशित नहीं होता, जैसे दर्पण मलसे आवृत होकर सुखादिको प्रकाशित नहीं करता एवं आवृत अन्तःकरण परमात्माके अभिव्यक्तिका हेतु नहीं होता, यथा उल्वसे आवृत गर्भ स्वकार्य-हस्तपादादिप्रसारणरूप नहीं कर सकता तथा कामसे आवृत जीव ईश्वरादिज्ञानरूप स्वकार्यमें समर्थ नहीं होता। स्थूलादिभेदसे कामकी तीन अवस्थायें कही गई हैं। अज्ञात विषयस्वाद अतएव

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा ।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च ॥ ३९ ॥

और हे अर्जुन ! इस अग्निसदृश न पूर्ण होनेवाले कामरूप ज्ञानियोंके नित्य-वैरीसे ज्ञान ढका हुआ है ।

तथा तेनेदमावृतमिति संग्रहवाक्यं विवृणोति—'**आवृतम्**' इति । ज्ञायतेऽनेनेति ज्ञानमन्तःकरणं विवेकविज्ञानं वेदंशब्दनिर्दिष्टमेतेन कामेनाऽऽवृतम् । तथाऽप्यापाततः सुखहेतुत्वादुपादेयः स्यादित्यत आह—ज्ञानिनो नित्यवैरिणा । अज्ञो हि विषयभोगकाले कामं मित्रमिव पश्यंस्तत्कार्ये दुःखे प्राप्ते वैरित्वं जानाति कामेनाहं दुःखित्वमापादित इति । ज्ञानी तु भोगकालेऽपि जानात्यनेनाहमनर्थे प्रवेशित इति । अतो विवेकी दुःखी भवति भोगकाले च तत्परिणामे चानेनेति ज्ञानिनोऽसौ नित्यवैरीति सर्वथा तेन हन्तव्य एवेत्यर्थः । तर्हि किंस्वरूपोऽसावित्यत आह—कामरूपेण काम इच्छा तृष्णा सैव रूपं यस्य तेन । हे कौन्तेयेति संबन्धाविष्कारेण प्रमाणं सूच-

अभिनिवेशराहित्य प्रथम अवस्था है, विषयचिन्तासे प्रवर्द्धमानत्वद्वितीय अवस्था है, विषय सेवनसे अत्यन्त प्रवर्द्धमानत्व तृतीय अवस्था है ॥३८॥

'तथा तेनेदमावृतम्' इसका विवरण करते हैं—'ज्ञायते अनेन' इस व्युत्पत्तिसे ज्ञान अन्तःकरण अथवा विवेक विज्ञान ये ही इदंशब्दसे निर्दिष्ट है ये कामसे आवृत होते हैं तो वे ही सुख हेतु होते हैं और इस अविवेकसे ग्राह्य होते हैं। इसलिये ज्ञानीका नित्य वैरी काम है, अज्ञजन भोगकालमें कामको मित्रके समान देखता है परन्तु दुःखप्राप्ति कालमें उसको वैरी मानता है, क्योंकि उसने दुःख दिया है ज्ञानी तो भोग कालमें भी यह जानता है कि काम वैरी है परिणाममें वैरित्व तो सबको स्फुट ही है अतः नित्य वैरी कहा इसका सदा त्याग ही श्रेयस्कर है ।

शङ्का—अच्छा तो उसका स्वरूप बतलाइये जिससे मैं पहचान कर उसका त्याग करूँ ।

समाधान—काम इच्छा तृष्णा यही है रूप जिसका एवंरूप काम है, हे

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते ।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ॥ ४० ॥

तथा इन्द्रियां, मन और बुद्धि इसके वासस्थान कहे जाते हैं और यह काम इन मन, बुद्धि और इन्द्रियोंद्वारा ही ज्ञानको अच्छादित करके इस जीवात्माको मोहित करता है ॥ ४० ॥

यति। ननु विवेकिनो हन्तव्योऽप्यविवेकिन उपादेयः स्यादित्य आह—दुष्पूरेणानलेन च। चकार उपमार्थः। न विद्यतेऽलं पर्याप्तिर्यस्येत्यनलो वह्निः। स यथा हविषा पूरयितुमशक्यस्तथाऽयमपि भोगेनेत्यर्थः। अतो निरन्तरं संतापहेतुत्वाद्विवेकिन इवाविवेकिनोऽपि हेय एवासौ। तथा च स्मृतिः—

'न जातु कामः कामनामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते' ॥ इति ॥

अथवेच्छाया विषयसिद्धिनिवर्त्यत्वादिच्छारूपः कामो विषयभोगेन स्वयमेव निवर्तिष्यते किं तत्रातिनिर्बन्धेनेत्यत उक्तं—दुष्पूरेणानलेन चेति। विषयसिद्धया तत्कालमिच्छातिरोधानेऽपि पुनः प्रादुर्भावान्न विषयसिद्धिरिच्छानिवर्तिका। किन्तु विषयदोषदृष्टिरेव तथेति भावः ॥३९॥

ज्ञाते हि शत्रोरधिष्ठाने सुखेन स जेतुं शक्यत इति तदधिष्ठानमाह—

कौन्तेय! कुन्तीके पुत्र! संबन्ध कथनसे प्रेमातिशय सूचित होता है। ठीक है विवेकीको काम त्याज्य हो अविवेकीके लिये क्यों त्याज्य है।

उत्तर—यहां चकार उपमार्थक है 'न विद्यते अलं पर्याप्तिर्यस्य स अनलः' जैसे अग्निकी तृप्ति हविःप्रदानसे नहीं होती वैसे कामकी तृप्ति भोगोंसे नहीं होती अतः सदा संतापक होनेसे अविवेकीको भी वह त्याज्य ही है, मनु भगवान्ने भी लिखा है 'न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति' इत्यादि, अथवा विषय प्राप्तिसे इच्छाकी निवृत्ति होती है अतः काम विषयसेवनसे स्वयमेव निवृत्त हो जायगा उसकी निवृत्तिका आग्रह व्यर्थ है अतः दुष्पूरेण कहा। विषय प्राप्तिकालमें तदिच्छा निवृत्त होने पर भी कालान्तरमें पुनः होती ही है अतः विषयप्राप्ति आत्यन्तिक इच्छाविरहका कारण नहीं किन्तु विषयदोष दृष्टि ही उसका वास्तविक कारण है ॥ ३९ ॥

शत्रुका निवासस्थान ज्ञात होने पर उसका सुखसे निग्रह हो सकता है

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥ ४१ ॥

इसलिये हे अर्जुन ! तूं पहिले इन्द्रियोंको वशमें करके, ज्ञान और विज्ञानके नाश करनेवाले इस काम पापीको निश्चयपूर्वक मारो ॥ ४१ ॥

इन्द्रियाणि शब्दस्पर्शरूपरसगन्धग्राहकाणि श्रोत्रादीनि वचनादानगमनविसर्गानन्दजनकानि वागादीनि च। मनः संकल्पात्मकं बुद्धिरध्यवसायात्मिका च। अस्य कामस्याधिष्ठानमाश्रय उच्यते। यत एतैरिन्द्रियादिभिः स्वस्वव्यापारवद्भिराश्रयैर्विमोहयति विविधं मोहयति एव कामो ज्ञानं विवेकज्ञानमावृत्याऽऽच्छाद्य देहिनं देहाभिमानिनम् ॥ ४० ॥

यस्मादेवम्—

यस्मादिन्द्रियाधिष्ठानः कामो देहिनं मोहयति तस्मात्त्वमादौ मोहनात्पूर्वं

अन्यथा नहीं इस जिज्ञासासे कामका अधिष्ठान कहते है 'इन्द्रियाणि' इत्यादिसे। शब्द, स्पर्श रूप, रस, गन्ध ये पांच श्रोत्रादि पांच इन्द्रियोंके विषय है इनके ग्राहक उक्त पांच ज्ञानेन्द्रियाँ है, वाक्, पाणि, पाद, उपस्थ और आनन्द ये पांच कर्मेन्द्रिया है इनके वचनादान विहरणोत्सर्गानन्द ये पांच विषय है। संकल्पोपादक मन है, अध्यवसायात्मक बुद्धि है, यहां कामके आश्रय कहे गये है।

स्वद्विषयग्रहण व्याकुलव्यापारविशिष्ट पूर्वोक्त इन्द्रियादि अधिष्ठानद्वारा विविध मोह-कामको उत्पन्न करता है, यह कार्य विवेकज्ञानका आवरण कर 'देहिनं' आत्माको विमुग्ध करता है और काम सर्व प्रथम इन्द्रियोंमें आता है जैसे नेत्रसे शत्रुको देखा उसी समय इन्द्रियप्रदेशमें क्रोध होता है, तदनन्तर मन संकल्प करता है, ततः बुद्धिमें विश्वासद्वारा तत्वज्ञानका आवरणकर आत्माको मुग्ध कर तदनिष्टमें प्रवृत्त कराता है, इसी तरह इन्द्रियान्तरके विषयमें भी समझना। अतःसर्व प्रथम इन्द्रियोंका नियन्त्रण करना चाहिये, जिससे क्रोधादि इन्द्रियोंमें न आवे ऐसी चेष्टा पहिले ही करनी चाहिये, इसी तरह सब आश्रमोंपर अधिकारकर शत्रुको भी भगाना चाहिये, मनका पृथक् ग्रहण है अतः इन्द्रिय शब्द हरिन्द्रियपरक है अथवा वेदान्तीमतमें मन इन्द्रिय नहीं है अतः पृथक् उपादान युक्त ही है ॥ ४० ॥

अतः इन्द्रियाधिष्ठानद्वारा काम आत्माको विमुग्ध करता है अतः तू पहिले ही मोहनसे पूर्व अथवा काम निरोधसे पूर्व ही श्रोत्रादि इन्द्रियोंको वशमें करो, वाङ्

कामनिरोधात्पूर्वमिति वा। इन्द्रियाणि श्रोत्रादीनि नियम्य वशीकृत्य, तेषु हि वशीकृतेषु मनोबुद्धयोरपि वशीकरणं सिध्यति संकल्पाध्यवसाययोर्बाह्येन्द्रियप्रवृत्तिद्वारैवानर्थहेतुत्वात्। अत इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरिति पूर्वं पृथङ्निर्दिश्यापीहेन्द्रियाणीत्येतावदुक्तम्। इन्द्रियत्वेन तयोरपि संग्रहो वा। हे भरतर्षभ, महावंशप्रसूतत्वेन समर्थोऽसि। पाप्मानं सर्वपापमूलभूतमेनं कामं वैरिणं प्रजहिहि परित्यज। हि स्फुटं प्रजहि प्रकर्षेण मारयेति वा। जहि शत्रुमित्युपसंहाराच्च। ज्ञानं शास्त्राचार्योपदेशजं परोक्षं विज्ञानमपरोक्षं तत्फलं तयोर्ज्ञानविज्ञानयोः श्रेयःप्राप्तिहेत्वोर्नाशनम् ॥ ४१ ॥

न्द्रियोंके वशमें करनेसे मन और बुद्धिका वश करना अनायास सिद्ध होता है क्योंकि काम इन्द्रियद्वारा ही मन बुद्धिमें प्रविष्ट होता है, जब इन्द्रियोंमें स्थान न पा सकेगा तो आगेको कैसे बढ़ेगा. मन बुद्धिके धर्म संकल्पाध्यवसाय बाह्येन्द्रियप्रवृत्तिद्वारा अनर्थ हेतु हैं साक्षात् नहीं, इस अभिप्रायसे मन बुद्धिका इन्द्रियोंसे पृथक् निर्देश किया है अथवा इन्द्रियोंमें बुद्धि मनका भी संग्रह हो सकता है। हे भारत! बड़े कुलीन होनेसे तुम इसके त्यागमें समर्थ हो यह उक्त सम्बोधनका व्यङ्गय अर्थ है। सब पापोंका आदि कारण काम है, इस वैरी कामका त्याग करो, हनन करना त्याग ही है। शस्त्रादिसे शिरच्छेदनरूप लौकिक हनन काममें संभव नहीं। वस्तुतः 'जहि' हन् धातुकारूप नहीं है किन्तु ओहाक् त्यागेका प्रजहिहि* यह रूप है, प्रकर्षेण मारय यह अर्थ ठीक है, जहिका त्यज यही अर्थ किया है, युक्त भी यही है, कामका हनन त्यागनेसे अतिरिक्त और क्या हो सकता है, उपक्रम न्यायसे 'जहि शत्रुम्' इस उपसंहार वाक्यमें 'जहि' यह रूप हन धातुका है उसका अर्थ उपक्रम वाक्यानुसार त्याग ही है।

शङ्का—तत्वज्ञानसे मोहकी निवृत्ति होती है या तन्मूलक कामकी।

समाधान—शास्त्राचार्योपदेशसे समुत्पन्न आत्मतत्वज्ञान परोक्षात्मकज्ञान है, विज्ञान उक्त ज्ञानका फलभूत आत्मतत्व साक्षात्कार, इन दोनोंका नाशक काम है, ज्ञान विज्ञान ये दोनों मोक्षसाधन है, इनका नाशक उक्त काम है, इसलिये मुमुक्षुको उसका त्याग करना चाहिये।

* 'रावणो जहिहि द्वेषं जहाहि प्रमदावनन्' इति माट्टिः, जहाहि जहीहि, जहिहि ये तीन रूप प्रसिद्ध हैं।

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥ ४२ ॥

यदि तूं समझो कि इन्द्रियोंको रोककर कामरूप वैरीको मारनेकी मेरी शक्ति नहीं है तो तेरी यह भूल है, क्योंकि इस शरीरसे इन्द्रियोंको परे (श्रेष्ठ, बलवान और सूक्ष्म) कहते हैं और इन्द्रियोंसे परे मन है और मनसे परे बुद्धि है और जो बुद्धिसे भी अत्यन्त परे है, वह आत्मा है ॥ ४२ ॥

ननु यथाकथंचिद्बाह्येन्द्रियनियमसंभवेऽप्यान्तरतृष्णात्यागोऽतिदुष्कर इति चेत् । न, 'रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते' इत्यत्र परदर्शनस्य रसाभिधानीयकतृष्णात्यागसाधनस्य प्रागुक्तेः । तर्हि कोऽसौ परो यद्दर्शनात्तृष्णानिवृत्तिरित्याशङ्क्य शुद्धमात्मानं परशब्दवाच्यं देहादिभ्यो विविच्य दर्शयति—'इन्द्रियाणि' इति ।

श्रोत्रादीनि ज्ञानेन्द्रियाणि पञ्च स्थूलं जडं परिच्छिन्नं बाह्यं च देहमपेक्ष्य पराणि सूक्ष्मत्वात्प्रकाशकत्वाद्व्यापकत्वादन्तःस्थत्वाच्च प्रकृष्टान्याहुः

शङ्का—ज्ञान होने पर काम स्वयं नष्ट हो जायगा फिर पूर्वमें ही इन्द्रियजयमें परिश्रम करनेसे क्या लाभ ।

समाधान—इन्द्रियजयके विना उक्त ज्ञान नहीं उत्पन्न हो सकेता तदुत्पत्तिमें यही प्रतिबन्धक है 'ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात्पापस्य कर्मणः' यह स्मृति है, काम पाप है सो प्रकृत श्लोकमें स्पष्ट ही है ॥ ४१ ॥

प्रश्न—इन्द्रियोंका जैसे तैसे नियमन हो सकता है पर आन्तर तृष्णाका त्याग अत्यन्त दुष्कर है ।

उत्तर—'रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते' इस पूर्व श्लोकसे परमात्मदर्शन रसात्मतृष्णाका निवर्तक है यह पूर्वमें कह चुके हैं ।

प्रश्न—कौन आत्मा है जिसके दर्शनसे तृष्णाकी निवृत्ति होती है ।

उत्तर—शुद्ध पर शब्द वाच्य आत्माको देहादिसे विवेककर दिखलाते हैं 'इन्द्रियाणि' इत्यादिसे । श्रोत्र, त्वग् नेत्र, रसना, नासिका पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ स्थूल बाह्यपरिच्छिन्न परिमित देहकी अपेक्षा सूक्ष्म प्रकाशक, व्यापक एवं अन्तःस्थ होनेसे प्रकृष्ट कहे गये हैं ।

पण्डिताः श्रुतयो वा । तथेन्द्रियेभ्यः परं मनः संकल्पविकल्पात्मकं तत्प्रवर्तकत्वात् । तथा मनसस्तु परा बुद्धिरध्यवसायात्मिका । अध्यवसायो हि निश्चयस्तत्पूर्वक एव संकल्पादिर्मनोधर्मः । यस्तु बुद्धेः परतस्तद्भासकत्वेनावस्थितः यं देहिनमिन्द्रियादिभिराश्रयैर्युक्तः कामो ज्ञानावरणद्वारेण मोहयतीत्युक्तं स बुद्धेर्द्रष्टा पर आत्मा । 'स एष इह प्रविष्टः' इतिवद्व्यवहितस्यापि देहिनस्तदा परामर्शः । अत्रार्थे श्रुतिः—

'इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान्परः ॥
महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः ।
पुरुषान्न परं किंचित्सा काष्ठा सा परा गतिः' ॥ इति ॥

अत्राऽऽत्मनः परत्वस्यैव वाक्यतात्पर्यविषयत्वादिन्द्रियादिपरत्वस्याविवक्षितत्वादिन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था इति स्थानेऽर्थेभ्यः पराणीन्द्रियाणीति विवक्षाभेदेन भगवदुक्तं न विरुध्यते । बुद्धेरस्मदादिव्यष्टिबुद्धेः सकाशात्

प्रश्न—कौन ऐसा कहा है ?

उत्तर—विद्वान् और श्रुतियाँ । एवं इन्द्रियोंसे पर संकल्पात्मक जो मन है वह इन्द्रियोंका प्रवर्तक है तथा मनसे पर बुद्धि अध्यवसायात्मक यानी निश्चयात्मक ज्ञान है तत्पूर्वक ही संकल्पविकल्पादि मनोधर्म है । जो बुद्धिसे तद्भासक होनेसे परस्थित है जिसको देहेन्द्रियादि आश्रयसे युक्त काम ज्ञानावरणद्वारा मुग्ध करता है यह पूर्वमें कहा है, वही बुद्धिका द्रष्टा पर आत्मा है । 'स एष इह प्रविष्ट' इतिवत् व्यवहृत देही आत्माका परामर्श तत्तच्छब्दसे है । इस अर्थमें श्रुति ऊपर देखिये इस श्रुतिमें आत्मामें ही परत्व विवक्षित है इन्द्रियादिमें परत्व अविवक्षित है, अतः श्रुतिमें इन्द्रियोंसे परे अर्थ है ऐसा कहा ।

शङ्का—यहां इन्द्रियोंसे पर मन है ऐसा श्रुति विरुद्ध कहा है, अतः एतदर्थक श्रुति कैसे ?

समाधान—अर्थादिमें परत्व विवक्षित नहीं है, विवक्षित अर्थमें विरोध नहीं, दोनों प्रकारकी विवक्षा हो सकती है अतः विवक्षाभेदसे दोनों ठीक है अर्थ इन्द्रियसमान जातीय है यथा शब्दात्मक आकाश और श्रोत्र हैं, तथा स्पर्शात्मक वायु रूपा-

महानात्मा समष्टिबुद्धिरूपः परः 'मनो महान्मतिर्ब्रह्मा पूर्बुद्धिः ख्यातिरीश्वरः' इति वायुपुराणवचनात्। महतो हैरण्यगर्भ्यात् बुद्धेः परमव्यक्तमव्याकृतं सर्वजगद्बीजं मायाख्यं 'मायां तु प्रकृतिं विद्यात्' इति श्रुतेः, 'तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्' इति च। अव्यक्तात्सकाशात्सकलजडवर्गप्रकाशकः पुरुषः पूर्ण आत्मा परः। तस्मादपि कश्चिदन्यः परः स्यादित्यत आह—पुरुषान्न परं किंचिदिति। कुत एवं यस्मात्सा काष्ठा समाप्तिः। सर्वाधिष्ठानत्वात्। सा परा गतिः 'सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम्' इत्यादिश्रुतिप्रसिद्धा परा गतिरपि सैवेत्यर्थः। तदेतत्सर्वं 'यो बुद्धेः परतस्तु सः' इत्यनेनोक्तम्॥ ४२॥

त्मक तेज, रसात्मक जल, गन्धात्मक पृथिवी तत्तद्गुणाकृततत्तदुद्भूतात्मक श्रोत्रत्वक्चक्षुरादिको क्रमसे समझना अतः दोनोंमें विरोध नहीं, बुद्धिसे हम लोगोंकी व्यष्टिबुद्धि समझना, 'आत्मा महान् परः' यहांपर महान्से बुद्धि अर्थ विवक्षित है, किन्तु बुद्धिसे बुद्धिमें परत्व नहीं हो सकता है इसलिये प्रथम बुद्धि हम लोगोंकी व्यष्टिबुद्धि है इससे पर महानात्मा समष्टिबुद्धिरूप है, 'मनोमहान्मति र्ब्रह्मा पूर्बुद्धिः ख्यातिरीश्वरः' इस वायुपुराणके वचनसे स्पष्ट है। महत् हिरण्यगर्भ बुद्धिसे पर अव्यक्त अव्याकृत सब प्रपंचका बीज माया है 'मायान्तु प्रकृतिं विद्यान् मायिनन्तु महेश्वरम्' इस श्रुतिसे स्पष्ट है अव्यक्तसे सकल जडपदार्थका प्रकाशक, पुरुष पूर्ण आत्मा पर है।

शङ्का—इससे भी कोई पर होगा ?

समाधान—पुरुषसे पर कोई नहीं है।

प्रश्न—क्यों ?

उत्तर—वही काष्ठा समाप्ति है क्योंकि समस्त जगत्का मूल कारण होनेसे सबसे परे हैं अतएव सबका अधिष्ठान होनेसे वही परागति है। 'सोऽध्वनः' इत्यादि श्रुति प्रतिपादित परागति वही है, वह सब यो 'बुद्धेःपरतस्तु' इससे कहा गया है सो बुद्धिसे भी परे है, वह ज्ञानपदवाच्य उल्वसे गर्भके समान कामसे आवृत होता है, व्यवहारके साथ संबन्ध है अतः सर्वत्र परशब्द उत्कृष्टार्थक है, तथाच श्रुतिः—'यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञः तद्यच्छेज्ज्ञानमात्मनि। ज्ञानमात्मनि महति तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि' इति। वागादि वाह्येन्द्रियादि व्यापार त्याग कर मनोमात्रसे स्थित रहे, विषयविकल्पप्रवण भी ज्ञानात्मशब्दबोध्य बुद्धिमें धारण करे उस बुद्धिको भी समष्टिबुद्धिमें धारण करे उस महानात्मा समष्टिबुद्धिको निष्कल ब्रह्मज्योतिमें धारण करे यह निष्कर्ष है॥४२॥

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्याऽऽत्मानमात्मना ।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ॥ ४३ ॥

इस प्रकार बुद्धिसे परे अर्थात् सूक्ष्म तथा सब प्रकार बलवान् और श्रेष्ठ अपने आत्माको जानकर और बुद्धिके द्वारा मनको वशमें करके, हे महाबाहो! अपनी शक्तिको समझकर इस दुर्जय कामरूप शत्रुको मारो ॥ ४३ ॥

फलितमाह—

'रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते' इत्यत्र यः परशब्देनोक्तस्तमेवंभूतं पूर्णमात्मानं बुद्धेः परं बुद्ध्वा साक्षात्कृत्य संस्तभ्य स्थिरीकृत्याऽऽत्मानं मन आत्मनैतादृशनिश्चयात्मिकया बुद्ध्या जहि मारय शत्रुं सर्वपुरुषार्थशातनं हे महाबाहोर्हि शत्रुमारणं सुकरमिति योग्यं सम्बोधनम्। कामरूपं तृष्णारूपं दुरासदं दुःखेनाऽऽसादनीयं दुर्विज्ञेयानेकविशेषमिति यत्नाधिक्याय विशेषणम् ॥ ४३ ॥

उपायः कर्मनिष्ठाऽत्र प्राधान्येनोपसंहृता ।
उपेया ज्ञाननिष्ठा तु तद्गुणत्वेन कीर्तिता ॥ १ ॥

फलित अर्थ कहते हैं 'एवम्' इत्यादिसे। 'रसोप्यस्य परं दृष्ट्वा वहाँपर पर शब्दसे जो कहा गया है उस उक्त गुणविशिष्ट पूर्ण आत्माको बुद्धिसे पर समझकर साक्षात् करके यानी स्थिर करके पूर्वोक्त निश्चयात्मकबुद्धिसे कामका त्याग करो, वह पुरुषार्थका शत्रु है, महाबाहो इस सम्बोधनसे शत्रुका परित्याग तुमको सहज है यह सूचित होता है। काम रूप यानी तृष्णारूप दुरासद-दुर्विज्ञेय अनेक विशेष है, वस्तुतः आत्मा निर्विशेष है फिर भी अनेक विशेषका कथन तद्विशेषफलाधिक्यार्थ है तत्वार्थक नहीं, तत्वज्ञानोपाय कर्मनिष्ठाका यहां प्रधानरूपसे उपसंहार किया गया है, साध्यरूप ज्ञाननिष्ठा कर्मनिष्ठामें गुणरूपसे कही गइ है, सारांश यह है कि आत्मतत्वज्ञानसे अज्ञानका तबतक समूलोच्छेद नहीं होता जब तक कामका समूलोच्छेद नहीं होता अतः बुद्धिसे पर समझ कर कामका त्याग करो उसके नष्ट होनेपर संसाररूपी अनर्थका उच्छेद होगा ॥ ४३ ॥

इतिश्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यविश्वेश्वरसरस्वतीपादशिष्यश्रीमधुसूदन सरस्वतीविरचितायां श्रीमद्भगवद्गीतागूढार्थदीपिकायां ज्ञान-निष्ठावर्णनं नाम तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

इतिश्री म० म० पण्डितप्रवरश्रीहरिहरकृपालुद्विवेदिविरचितमधुसूदनी-भाषानुवाद तीसरा अध्याय समाप्त



चौथा अध्याय

श्रीभगवानुवाच—

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् ।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥ १ ॥

इसके उपरान्त श्रीकृष्ण महाराज बोले, हे अर्जुन ! मैंने इस अविनाशी योगको कल्पके आदिमें सूर्यके प्रति कहा था और सूर्यने अपने पुत्र मनुके प्रति कहा और मनुने अपने पुत्र राजा इक्ष्वाकुके प्रति कहा ॥ १ ॥

यद्यपि पूर्वमुपेयत्वेन ज्ञानयोगस्तदुपायत्वेन च कर्मयोग इति द्वौ योगौ कथितौ तथाऽपि 'एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति' इत्यनया दिशा साध्यसाधनयोः फलैक्यादैक्यमुपचर्य साधनभूतं कर्मयोगं साध्यभूतंच ज्ञानयोगमनेकविधगुणविधानाय स्तौति वंशकथनेन।भगवान्—'इमम्' इति ।

इममध्यायद्वयेनोक्तं योगं ज्ञाननिष्ठालक्षणं कर्मनिष्ठोपायलभ्यं विवस्वते सर्वक्षत्रियवंशबीजभूतायाऽऽदित्याय प्रोक्तवान्प्रकर्षेण सर्वजगत्परिपालकः सर्गादिकाले राज्ञां बलाधानेन तदधीनं सर्वं जगत्पालयितुम् । कथमनेन

यद्यपि प्रथम उपायस्वरूप कर्मयोग तदुपेय ज्ञानयोग इन दोनों योगोंको कहा तथापि 'एकं सांख्यं च योगं च' इत्यादि वाक्यसे साध्य ज्ञानयोग साधन कर्मयोग इन दोनोंका फलैक्य अर्थात् दोनोंका फल मोक्ष एक है, इसलिये दोनोंमें ऐक्यका आरोप कर साधनभूत कर्मयोग, साध्यभूत ज्ञानयोगमें अनेक गुण विधानके लिए स्तुति करते हैं, यह कहते हैं 'इमम्' इत्यादिसे । वंश कथनद्वारा भगवान् अध्याय द्वयोक्त योग ज्ञाननिष्ठा स्वलक्षण जो कर्मनिष्ठा योगमें प्राप्त है। सब क्षत्रियोंके आदि कारण आदित्यसे अच्छी तरहसे कहा जिससे सकल संशयका निराकरण होता है उस तरह कहा ।

प्रश्न—कौन ?

उत्तर—मैं सर्व जगत्परिपालक वासुदेव, इससे सर्गके आदि कालमें राजाओंमें बलाधान हो तदधीन ही सम्पूर्ण जगत्का परिपालन हो सकता है यह अर्थ है ।

एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः ।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप ॥ २ ॥

इस प्रकार परम्परासे प्राप्त हुए इस योगको राजर्षियोंने जाना, परन्तु हे अर्जुन ! वह योग बहुत कालसे इस पृथिवीलोकमें लुप्त हो गया था ॥ २ ॥

बलाधानमिति विशेषणेन दर्शयति—अव्ययमव्ययवेदमूलत्वादव्ययमोक्षफलत्वाच्च न व्येति स्वफलादित्यव्ययमव्यभिचारिफलम् । तथा चैतादृशेन बलाधानं शक्यमिति भावः । स च मम शिष्यो 'विवस्वान्मनवे वैवस्वताय स्वपुत्राय प्राह । स च मनुरिक्ष्वाकवे स्वपुत्रयाऽऽदिराजायाब्रवीत् । यद्यपि प्रतिमन्वन्तरं स्वायंभुवमन्वादिसाधारणोऽयं भगवदुपदेशस्तथाऽपि सांप्रतिकवैवस्वतमन्वन्तराभिप्रायेणाऽऽदित्यमारभ्य संप्रदायो गणितः ॥ १ ॥

एवमादित्यमारभ्य गुरुशिष्यपरम्परया प्राप्तमिमं योगं राजानश्च त ऋषयश्चेति राजर्षयः प्रभुत्वे सति सूक्ष्मार्थनिरीक्षणक्षमा निमिप्रमुखाः स्वपित्रादिना-

---

प्रश्न—कैसे इससे बलाधान होता है ।

उत्तर—इसको विशेषण द्वारा दिखलाते हैं—अव्यय अविनाशी वेद है, तन्मूलक यह योग है फल मोक्ष भी अव्यय है । 'न व्येति व्यभिचरति स्वफलात्' इति वह अव्यय, अव्यभिचारिफलक है । योगद्वयका फल अवश्य होता है, योगद्वय होने पर फल न हो ऐसी सम्भावना नहीं, तथा च ऐसे योगसे बलाधान हो सकता है, यह भाव है । वह मेरा शिष्य विवस्वान् स्वपुत्र वैवस्वत मनुसे कहा और मनु अपने पुत्र इक्ष्वाकुसे कहा । यद्यपि प्रति मन्वन्तर स्वायम्भुवादिमनुसाधारणको यह भगवदुपदेश है । तथापि एतत् कल्पीय वैवस्वत मन्वन्तराभिप्रायसे आदित्यसे लेकर सम्प्रदाय माना है ॥ १ ॥

शङ्का—स्वायम्भुवादिभेदसे मनु १४ हैं, प्रतिकल्पमें भिन्न-भिन्न नामक मनु होते हैं, वर्तमान कल्पमें वैवस्वत मनु हैं, यदि वैवस्वत मनुसे ही यह योग कहा होता तो योग अव्यय नहीं कहा जा सकता, भगवान् श्रीमुखसे योगको अव्यय कहते हैं इसलिए प्रति कल्पमें इसी क्रमसे गीतोपदेशका इस लोकमें अवतरण होता है । प्रकृत कल्पमें वैवस्वत मनु हैं अतः उपलक्षणतया तन्निर्देशके

प्रोक्तं विदुः। तस्मादनादिवेदमूलत्वेनानन्तफलत्वेनानादिगुरुशिष्यपरम्परा-प्राप्तत्वेन च कृत्रिमत्वशङ्कानास्पदत्वान्महाप्रभावोऽयं योग इति श्रद्धातिश-याय स्तूयते। स एवं महाप्रयोजनोऽपि योगः कालेन महता दीर्घेण धर्मह्रास-करेणेहेदानीमावयोर्व्यवहारकाले द्वापरान्ते दुर्बलानजितेन्द्रियाननधिकारिणः प्राप्य कामक्रोधादिभिरभिभूयमानो नष्टो विच्छिन्नसंप्रदायो जातः। तं विना पुरुषार्थाप्राप्तेरहो दौर्भाग्यं लोकस्येति शोचति भगवान्। हे परन्तपः परं कामक्रोधादिरूपं शत्रुगणं शौर्येण बलवता विवेकेन तपसा च भानुरिव तापयतीति परन्तपः शत्रुतापनो जितेन्द्रिय इत्यर्थः। उर्वश्युपेक्षणाद्यद्भुत-कर्मदर्शनात्। तस्मात्त्वं जितेन्द्रियत्वादत्राधिकारीति सूचयति ॥ २ ॥

भगवत्तात्पर्य है ? इस प्रकार आदित्यसे लेकर गुरु शिष्य परम्परासे प्राप्त यह है उसको राजर्षि कहते हैं।

प्रश्न—राजर्षिका लक्षण क्या है ?

उत्तर—'प्रभुत्वे सति सूक्ष्मार्थदर्शित्वम्' द्वितीय दलसे केवल राजाओंकी व्यावृत्ति होती है, प्रथम दलसे केवल ऋषियोंकी व्यावृत्ति समझना, पृथ्वीका पति होकर सूक्ष्मार्थदर्शी जो निमिप्रमुख राजा हुये, वे स्वपितृप्रोक्त योग जानते थे। अतः अनादि वेदमूलक तथा अनन्त फलक होनेसे और अनादि गुरु शिष्य परम्परा प्राप्त होनेसे बनावटी शंकाका यह स्थान नहीं। अत्यन्त श्रद्धा होनेके लिए महाप्रभावों का यह योग है, यह स्तुतिकी गई है। एवं महा प्रभावशाली अति प्रयो-जन योग भी धर्मापचयात्मक होनेसे अति दीर्घकालसे नष्ट हो गया, इस समय हम दोनोंके व्यवहार कालमें द्वापरके अन्तमें दुर्बल अजितेन्द्रिय अतएव अनधिकारि काम, क्रोध लोभमोहादिपरिपीत सत्वस्वभाव क्षत्रियोंको पाकर नष्ट हो गया, विच्छिन्न सम्प्रदाय होगया, उसके बिना धर्मार्थकामादि पुरुषार्थकी भी प्राप्ति नहीं होती। अहो! आश्चर्य खेदका सूचक है, लोकका दुर्भाग्य है जो इस योगसे वञ्चित हुआ। भगवान् इसको सोचते हैं। हे परन्तप ! कामक्रोधादि आन्तर शत्रुसमुदायको बलव-द्विवेकसे यानी अप्रमाण्य ज्ञानानास्कन्दितासन्दिग्ध विवेकसे तथा तपसे सूर्यके समान ताप देनेवाले यानी वैरिसंताप देनेवाले, यह उक्त सम्बोधनका भाव है। तुम जितेन्द्रिय हो इन्द्रकी अराधनाके समयमें तपो भंगार्थ आई हुई उर्वशीकी उपेक्षा तुमनेकी अतः तुम जितेन्द्रिय हो, चलेन्द्रिय ऐसा नहीं कर सकता इत्यादि अद्भुत कर्मोके देखनेसे तुम जितेन्द्रिय होनेसे इसमें तुम अधिकारी हो यह सूचित करते हैं ॥ २ ॥

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः ।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ॥ ३ ॥

वह ही यह पुरातन योग अब मैंने तेरे लिये वर्णन किया है, क्योंकि तूँ मेरा भक्त और प्रिय सखा है, इसलिये यह योग बहुत उत्तम और रहस्य अर्थात् अति मर्मका विषय है ॥ ३ ॥

य एव पूर्वमुपदिष्टोऽप्यधिकार्यभावाद्विच्छिन्नसंप्रदायोऽभूत् । यं विना च पुरुषार्थो न लभ्यते । स एवायं पुरातनोऽनादिगुरुपरम्परागतो योगोऽद्य

[अजितेन्द्रिय राजाओं को पाकर और नष्ट योगको मुझसे पाकर जितेन्द्रिय तुम फिर लोक में उसको स्थिर करो यह निष्कर्ष है । किसीकी शंका है कि अव्ययका अविच्छिन्न सम्प्रदाय यह अर्थ पूर्वमें आपने कहा सो ठीक नहीं क्योंकि आगे आप फिर 'स कालेनेह महता योगो नष्टः' यहाँ नष्टः का विच्छिन्न सम्प्रदाय यह कहते हो, इसमें पूर्वोक्ति परोक्तिमें विरोध स्पष्ट प्रतीत होता है ।

उत्तर—यह आक्षेप ठीक नहीं, अव्ययका अविच्छिन्न सम्प्रदाय किसी पुस्तकमें प्रमाद पाठ होगा, मदुपलभ्यमान पुस्तकमें नहीं है । संन्यासमें ब्राह्मण ही का अधिकार है क्षत्रियादिका नहीं अतः क्षत्रियोंके लिये यह योग कहा गया है यह नीलकण्ठका मत ठीक नहीं, कारण स्वकीय पूर्वापर विरोध है । इदं शब्दसे द्वितीयाध्यायार्थका ग्रहण नहीं होगा, इष्टापत्ति भी नहीं कह सकते, अध्यायद्वयोक्तार्थमें अप्रामाण्य शंका निराकरणार्थ ही विद्या सम्प्रदायका प्रदर्शन है, यह सोक्ति असंगत होती है, द्वितीयाध्यायार्थका ग्रहण इष्ट नहीं, यदि इष्ट है तो द्वितीयाध्यायोक्त अर्थमें उक्त सम्प्रदायप्रदर्शन अप्रमाण्य शंका निरासक नहीं हो सकता है इससे राजा ही अधिकारी है यह परास्त हुआ । अध्यायद्वयसे प्रतिपादित वेदार्थमें ब्राह्मणोंका अधिकार नहीं रहैगा ।

जो किसीने लिखा—'राजानः जनकअजातशत्रुकैकेयप्रभृतयः ऋषयः सनकवशिष्ठाद्याराजर्षयः' राजर्षिमें तत्पुरुष समास नहीं । 'अभ्यर्हितं च'से ऋषिकी पूर्वप्रयोगापत्ति हो जायगी ॥ इति ॥]

उक्त रीतिसे यो पूर्वोपदिष्ट भी योग था, वह विच्छिन्न सम्प्रदाय हो गया जिसके बिना पुरुषार्थ नहीं मिल सकता है; वही यहाँ पुराना अनादि गुरु

अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः ।
कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति ॥ ४ ॥

इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र महाराजके वचन सुनकर अर्जुनने पूछा, हे भगवन्! आपका जन्म तो आधुनिक अर्थात् अब हुआ है और सूर्यका जन्म बहुत पुराना है, इसलिये इस योगको कल्पके आदिमें आपने कहा था यह मैं कैसे जानूँ ॥ ४ ॥

संप्रदायविच्छेदकाले मयाऽतिस्निग्धेने ते तुभ्यं प्रकर्षेणोक्तः । न त्वन्यस्मै कस्मैचित् । कस्मात् भक्तोऽसि मे सखा चेति, इतिशब्दो हेतौ । यस्मात्त्वं मम भक्तः शरणागतत्वे सत्यत्यन्तप्रीतिमान्सखा च समानवयाः स्निग्धसहायोऽसि सर्वदा भवसि अतस्तुभ्यमुक्त इत्यर्थः । अन्यस्मै कुतो नोच्यते तत्राऽऽह—हि यस्मादेतज्ज्ञानमुत्तमं रहस्यमतिगोप्यम् ॥ ३ ॥

या भगवति वासुदेवे मनुष्यत्वेनासर्वज्ञत्वानित्यत्वाशङ्का मूर्खाणां ताम-

परम्परासे आगत योग इस समय सम्प्रदायविच्छेद कालमें स्नेहसे मैं तुमसे पूर्ण रूपसे कहा, अन्य जिस किसीसे नहीं ।

प्रश्न—क्यों ?

उत्तर—तुम्हारे सदृश दूसरा कोई भक्त नहीं था, तुम भक्त भी हो और सखा भी । इतिशब्दका यहाँ कारण अर्थ है । जिस कारणसे तुम मेरे भक्त हो इस कारणसे तुमसे कहता हूँ । भक्तका लक्षण कहते हैं—'शरणेति' शरणागत होकर अत्यन्त प्रीतिमान् हो सो भक्त है । सखा तुल्यावस्थाको कहते हैं, स्नेही तुम सहायक हो इस कारणसे तुमसे कहा, दूसरेसे क्यों नहीं कहा इसमें कारण कहते हैं कि यह उत्तम ज्ञानरहस्य अति गोप्य है ॥ ३ ॥

[केवल भक्त केवल सखा बहुत हैं, किन्तु भक्तत्व, सखित्व एतदुभयविशिष्ट तुम ही हो इसलिये तुमसे कहा अन्यसे नहीं यह निष्कर्ष है ।]

भगवान् वासुदेव श्रीकृष्णजीमें मनुष्यत्वप्रयुक्त असर्वज्ञत्व एवं अनित्यत्वकी शंका जो अज्ञानियोंको है, उनकी निवृत्तिके लिये तदनुवादपूर्वक अर्जुन शंका करते हैं 'अपरम्'इत्यादिसे । अर्जुन भगवान्को मनुष्य नहीं समझते किन्तु परमेश्वर ही मानते हैं परन्तु इतर अनभिज्ञजन मनुष्य मानते हैं, उनकी मनुष्यत्वादि शंका पर उनके

पनेतुमनुवदन्नर्जुन आशङ्कते अर्जुन उवाच—'अपरम्' इत्यादि।

अपरमल्पकालीनमिदानींतनं वसुदेवगृहे भवतो जन्म शरीरग्रहणं विहीनं च मनुष्यत्वात्। परं बहुकालीनं सर्गादिभवमुत्कृष्टं च देवत्वात्, विवस्वतो जन्म। अत्राऽऽत्मनो जन्मभावस्य प्राग्व्युत्पादितत्वाद्देहाभिप्रायेणैवार्जुनस्य प्रश्नः। अतः कथमेतद्विजानीयामविरुद्धार्थतया एतच्छब्दार्थमेव विवृणोति—त्वमादौ प्रोक्तवानिति। त्वमिदानींतनो मनुष्योऽसर्वज्ञः सर्गादौ पूर्वतनाय सर्वज्ञायाऽऽदित्याय प्रोक्तवानिति विरुद्धार्थमेतदिति भावः। अत्रायं निर्गलितोऽर्थः—एतद्देहानवच्छिन्नस्य तव देहान्तरावच्छेदेन वाऽऽदित्यं प्रत्युपदेष्टृत्वमेतद्देहेन वा। नाऽऽद्यः। जन्मान्तरानुभूतस्यसर्वज्ञेन स्मर्तुमशक्यत्वात्। अन्यथा ममापि जन्मान्तरानुभूतस्मरणप्रसङ्गः तव मम च मनुष्यत्वेनासर्वज्ञत्वाविशेषात्। तदुक्तमभियुक्तैः—'जन्मान्तरानुभूतं

विश्वासार्थ ही भगवान्के उत्तरकी कामनासे अर्जुन पूँछते हैं—'अपरम्' इत्यादि। स्वल्पकालिक इस समय श्री वसुदेवजीके गृहमें आपका जन्म अपूर्व शरीरसे हुआ। शरीर ग्रहण मनुष्य योनिज होनेसे देवशरीरसे विहीन अपकृष्ट है पर बहुकालिक स्वर्गादिमें समुत्पन्न देव होनेसे उत्कृष्ट विवस्वान् सूर्यका जन्म है।

शङ्का—'न जायते म्रियते वा कदाचित्' इत्यादिसे आत्माका जन्म विनाश नहीं होता यह अर्जुनको निश्चित ही है फिर उक्त शंका कैसे हुई?

समाधान—देहके अभिप्रायसे अर्जुनका प्रश्न है व्यवहार दशामें शरीरात्मवाद तत्वज्ञानियोंमें भी पाया जाता है। प्रत्यक्ष प्रमाण विरुद्धार्थक होनेसे यह कैसे मानें कि यही योग प्रथम आपने विवस्वान्से कहा था, पूर्व समयमें विवस्वान् तो थे पर आप नहीं थे आप इस समयके मनुष्य हैं अतएव असर्वज्ञ हैं, सर्गादिमें समुत्पन्न सर्वज्ञ आदित्यसे आपने सर्व प्रथम योगका उपदेश दिया यह कैसे मानूँ यह तो स्पष्ट विरुद्धार्थक है। यह निचोड़ अर्थ है—आदित्यके प्रति आपका उपदेश एतद्देहविशिष्टसे हुआ या देहान्तरविशिष्टसे प्रथम ठीक नहीं। असर्वज्ञ जन्मान्तरानुभूत पदार्थका जन्मान्तरमें स्मरण ही नहीं कर सकता क्योंकि स्मरणके विना उपदेश असम्भव है, अन्यथा परजन्मान्तरानुभूतका असर्वज्ञको स्मरण होगा तो मेरे को भी जन्मान्तरानुभूतका स्मरण होने लगेगा कि मैं पूर्वमें

श्रीभगवानुवाच—

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप ॥ ५ ॥

इसपर श्रीकृष्ण महाराज बोले, हे अर्जुन ! मेरे और तेरे बहुतसे जन्म हो चुके हैं, परन्तु हे परंतप ! उन सबको तूं नहीं जानता है और मैं जानता ॥ ५ ॥

च न स्मर्यते' इति । नापि द्वितीयः सर्गादाविदानीं तस्य देहस्यासद्भावात् । तदेवं देहान्तरेण सर्गादौ सद्भावसंभवेऽपीदानीं तत्स्मरणानुपपत्तिः । अनेन देहेन स्मरणोपपत्तावपि सर्गादौ सद्भावानुपपत्तिरित्यसर्वज्ञत्वानित्यत्वाभ्यां द्वावर्जुनस्य पूर्वपक्षौ ॥ ४ ॥

तत्र सर्वज्ञत्वेन प्रथमस्य परिहारम् कथयति श्रीभगवान्—'बहूनि' इति । जन्मानि लीलादेहग्रहणानि लोकदृष्ट्यभिप्रायेणाऽऽदित्यस्योदयवन्मे

ऐसा था इत्यादि, क्योंकि मनुष्य होनेसे हम आप दोनों ही समान असर्वज्ञ हैं केवल इसमें तर्क ही मूल नहीं हैं अपि तु प्रामाणिक जनोंकी उक्ति भी मूल है उसीको कहते हैं 'जन्मान्तरानुभूतं च न स्मर्यते' इतिसे । द्वितीय पक्ष भी ठीक नहीं क्योंकि सर्गादि कालमें यह शरीर थी ही नहीं अतः देहान्तरविशिष्ट आपकी सर्गादिमें सत्ता रह सकती है पर इस कालमें तद्विशिष्टानुभूतका स्मरण असम्भव है । अनुभव स्मरणका समान देहावच्छेदेन कार्य कारणभावका नियम है, यदि इस शरीरसे स्मरण होता है तो यह शरीर सर्गादिमें नहीं थी इस प्रकार असर्वज्ञत्व अनित्यत्वसे अर्जुनका दो पूर्व पक्ष हैं ॥ ४ ॥

हम तुम दोनों नित्य हैं, किन्तु मैं सर्वज्ञ हूँ, सब अतीत अनागत जानता हूँ अतः सर्वज्ञत्वसे प्रथम पक्षका परिहार करते हैं श्रीभगवान् । यद्यपि जन्म, कर्मनिमित्तक होता है भगवान्‌का शुभाशुभ कर्म नहीं, कारण मिथ्याज्ञानसे रागद्वेष हेतुभूत कर्मसे पुण्य पापात्मक कर्म होते हैं भगवान् में मिथ्या ज्ञान नहीं इसलिए उनका वास्तविक जन्म नहीं तथापि लीलया जन्म ग्रहण करते ही हैं, इस जन्मको भी लोक दृष्टिसे जन्म कहा जाता है यथा सूर्य सदा आकाशमें घूमते ही रहते हैं, लोकमें प्रभातकालमें सूर्य उदय होते हैं सायंकालमें अस्त होते हैं यह व्यवहार होता है, प्रतिदिन सूर्योदय भिन्न भिन्न माना जाता है तथा भगवान्‌का लीलया शरीर धारण अनेक

मम बहूनि व्यतीतानि तव चाज्ञानिनः कर्मार्जितानि देहग्रहणानि। तव चेत्युपलक्षणमितरेषामपि जीवानां, जीवैक्याभिप्रायेण वा। हेऽर्जुन श्लेषेणार्जुनवृक्षनाम्ना सम्बोधयन्नावृतज्ञानत्वं सूचयति। तानि जन्मान्यहं सर्वज्ञः सर्वशक्तिरीश्वरो वेद जानामि। सर्वाणि मदीयानि त्वदीयान्यन्यदीयानि च। न त्वमज्ञो जीवस्तिरोभूतज्ञानशक्तिर्वेत्थं न जानासि स्वीयान्यपि किं पुनः परकीयाणि। हे परंतप परं शत्रु भेददृष्ट्या परिकल्प्य हन्तुं प्रवृत्तोऽसीति विपरीतदर्शित्वाद्भ्रान्तोऽसीति सूचयति। तदनेन संबोधनद्वयेनाऽऽवरणविक्षेपौ द्वावप्याज्ञानधर्मौ दर्शितौ ॥ ५ ॥

मानकर बहुत जन्म कहा गया है, मेरे बहुत जन्म बीत गये हैं और तुम अज्ञानियोंके वास्तविक कर्मजन्य अनेक जन्म व्यतीत हुये हैं। 'तव' यह उपलक्षण है अन्य जीवोंके भी अनेक जन्म बीते हैं अथवा एक जीवके अभिप्रायसे 'तव' कहा है। अर्जुनके जन्मसे सब जन्मोंका संग्रह स्फुट है फिर उपलक्षण माननेकी आवश्यकता नहीं। वृक्ष विशेषका भी अर्जुन नाम है, वृक्ष अचेतन अज्ञानी प्रसिद्ध है। संकृत् उच्चरित जो शब्द अनेक अर्थका बोधक होता है वहाँ श्लेष माना जाता है, एक वृक्षमें जैसे दो फल श्लिष्ट (संबद्ध) रहते हैं वैसे ही एक शब्दमें दो अर्थ भासित होते हैं। प्रकृतमें अर्जुनशब्दसे पार्थ अर्जुन और वृक्षविशेष दोनों प्रतीत होते हैं। वृक्ष अज्ञानित्वेन प्रसिद्ध है, तन्नामसे अर्जुनका सम्बोधन कर भगवान् अर्जुन आवृतज्ञान हैं यह सूचित किया है। आवृतज्ञान अज्ञानीमें होते हैं और उन्हींको मोह होता है 'अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः' यह गीतामें भगवान्‌ने स्पष्ट ही कहा है, उन जन्मोंको सर्व शक्तिसम्पन्न सर्वज्ञ हम ही जानते हैं, तुम्हारे हमारे अन्य लोगोंके सब जन्मोंको तुम अज्ञानी नहीं जानते हो, कारण तुम जीव हो तुम्हारा ज्ञान आवृत है इस कारण नहीं जानते हो, तुम अपने तो जानते ही नहीं दूसरेके जन्मोंको कैसे जानोगे पर शत्रुको ताप देने वाले हो अतः परन्तप यह सम्बोधन किया है, वस्तुतः पर तो कोई नहीं है 'नान्योऽतो द्रष्टा श्रोता' इत्यादि श्रुतिसे चैतन्य एक ही है किन्तु भेद दृष्टिसे पर-शत्रुकी कल्पना कर उसके हननके लिए प्रवृत्त हो, विपरीतदर्शी होनेसे तुम भ्रान्त हो यह सूचित करते हैं इन दोनों सम्बोधनोंसे आवरण विशेष दोनों अज्ञान धर्मोंको दिखलाया ॥ ५ ॥

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन् ।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया ॥ ६ ॥

तथा मेरा जन्म प्राकृत मनुष्योंके सदृश नहीं है, मैं अविनाशीस्वरूप, अजन्मा होनेपर भी तथा सब भूतप्राणियोंका ईश्वर होनेपर भी, अपनी प्रकृतिको अधीन करके योगमायासे प्रकट होता हूँ ॥ ६ ॥

नन्वतीतानेकधर्मवत्त्वमात्मनः स्मरसि चेत्तर्हि जातिस्मरो जीवस्त्वं परजन्मज्ञानमपि योगिनः सर्वात्म्याभिमानेन 'शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत्' इति न्यायेन संभवति। तथाचाऽऽह वामदेवो जीवोऽपि 'अहं मनुरभवं सूर्यश्चाहं कक्षीवानृषिरस्मि विप्रः' इत्यादिदाशतय्याम्। अत एव न मुख्यः सर्वज्ञत्वम्। तथाच कथमादित्यं सर्वज्ञमुपदिष्टवानस्यनीश्वरः सन्। न हि जीवस्य मुख्यं सार्वज्ञं संभवति व्यष्ट्युपाधेः परिच्छिन्नत्वेन सर्वसम्बन्धित्वाभावात्। समष्ट्युपाधेरपि विराजः स्थूलभूतोपाधित्वेन सूक्ष्मभूतपरिणामविषयं मायापरिणामविषयं च ज्ञानं न संभवति। एवं सूक्ष्मभूतोपाधेरपि हिरण्यगर्भस्य तत्कारणमायापरिणामाकाशादिसर्गक्रमादिविषयज्ञानाभावः सिद्ध एव। तस्मादीश्वर एव कारणोपाधित्वादतीतानागतवर्तमानसर्वार्थविषयज्ञानवान्मुख्यः सर्वज्ञः। अतीतनागतवर्तमान-

---

शङ्का—यदि बीते अपने अनेक जन्मोंको आप स्मरण करते हो तो जातिस्मर जीव हो अन्य जन्मका भी ज्ञान योगिजनोंको सर्वात्माभिमानसे 'शास्त्रदृष्ट्या तु उपदेशो वामदेववत्' इस न्यायसे होता है वामदेव जीव होकर भी मैं मनु हुआ, मैं सूर्य हुआ, मैं ब्राह्मण काक्षीवान् ऋषि हूँ अतएव आपमें मुख्य सर्वज्ञता नहीं तो फिर सर्वज्ञ आदित्यको आपने कैसे उपदेश दिया कारण अनीश्वर हैं, जीवमें मुख्य सर्वज्ञता नहीं रहती है क्योंकि उपाधि परिच्छिन्न होनेसे सर्व सम्बन्ध नहीं होता। यहाँ सर्वतादात्म्यवत्वही सर्वज्ञत्व है, समष्ट्युपाधि विराट्को भी स्थूल भूतोपाधि होनेसे सूक्ष्मभूत, माया परिणामविषयकका ज्ञान नही हो सकता, इसी प्रकार सूक्ष्म भूतोपाधि हिरण्यगर्भको तत्कारण माया परिणाम आकाशादि सर्गक्रमके ज्ञानका अभाव स्पष्ट ही है अतः कारणोपाधि ईश्वर ही भूत, भविष्य, वर्तमान सब विषयोंका ज्ञानवान् मुख्य सर्वज्ञ है

विषयं मायावृत्तित्रयमेकैव वा सर्वविषया मायावृत्तिरित्यन्यत्। तस्य च नित्येश्वरस्य सर्वज्ञस्य धर्माधर्माद्यभावेन जन्मैवानुपपन्नमतीतानेकजन्मवत्त्वं तु दूरोत्सारितमेव। तथाच जीवत्वे सर्वज्ञ्यानुपपत्तिरीश्वरत्वे च देहग्रहणानुपपत्तिरिति शङ्काद्वयं परिहरन्ननित्यत्वपक्षस्यापि परिहारमाह—'अजोऽपि' इति।

अपूर्वदेहेन्द्रियादिग्रहणं जन्म। पूर्वगृहीतदेहेन्द्रियादिवियोगो व्ययः। यदुभयं तार्किकैःप्रेत्यभाव इत्युच्यते। तदुक्तम्। 'जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च' इति। तदुभयं च धर्माधर्मवशाद्भवति। धर्माधर्मवशत्वं चाज्ञस्य जीवस्य देहाभिमानिनः कर्माधिकारित्वाद्भवति। तत्र यदुच्यते सर्वज्ञस्येश्वरस्य इदृग्देहग्रहणं नोपपाद्यत इति न तथैव। कथं, यदि तस्य शरीरं स्थूलभूतकार्यं स्यात्तदा व्यष्टिरूपत्वे जाग्रदवस्थाऽस्मदादितुल्यत्वं, समष्टिरूपत्वे च विराड्जीवत्वं तस्य तदुपाधित्वात्।

अतीतानागतवर्तमानविषयक माया वृत्तित्रय अथवा एक ही मायावृत्ति यह दूसरी बात है, काल भेदसे तीन मायाकी वृत्तिमें या एकहीमें कालिक पदार्थविषयकवृत्ति सर्व विषयक ज्ञान है, जो मुख्य सर्वज्ञ ईश्वर हैं उनका धर्माधर्मविरहसे जन्म ही असम्भव है। भूतानेकजन्मवत्व तो दूर ही रहा जिसका एकही जन्म नहीं हो सकता उसके अनेक जन्मकी क्या सम्भावना? इसी परिस्थितिमें यदि आप जीव हैं तो सर्वज्ञता आपमें नहीं यदि ईश्वर हैं तो जन्म ही नहीं इस शंकाद्वयका परिहार करते हुये अनित्य चक्षुत्वका भी परिहार करते हैं 'अजोऽपि' इत्यादिसे। अपूर्व देहेन्द्रियादि ग्रहण जन्म हैं पूर्व गृहीत देहेन्द्रियादि वियोग व्यय हैं। तार्किक इन्हीं दोनोंको प्रेत्यभाव मानते हैं यह कहा है—'जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च' धर्माधर्मसे ये दोनों होते हैं, वह देहाभिमानी भी वही कर्माधिकारी है अतः उसीको पूर्वोक्त जन्म मरणादि होता है, सर्वज्ञ ईश्वरका जन्म नहीं होता यह आपकी उक्ति ठीक ही है। कारण, यदि ईश्वरका शरीर स्थूल भूतोंका होगा तो व्यष्टिरूप होनेसे जागरणावस्थामें हम लोगोंके तुल्य ही होगा यदि समष्टिरूप होगा तो विराट् जीव होगा। विराट् भी स्थूल भूतोपाधिक है, यदि सूक्ष्मभूत कार्य शरीर होगा तो व्यष्टिरूप होगा,

अथ सूक्ष्मभूतकार्यं तदा व्यष्टिरूपत्वे स्वप्नावस्थाऽस्मदादितुल्यत्वं, समष्टिरूपत्वे च हिरण्यगर्भजीवत्वं तस्य तदुपाधित्वात्। तथाच भौतिकं शरीरं जीवानाविष्टं परमेश्वरस्य न संभवत्येवेति सिद्धम्। न च जीवाविष्ट एव तादृशे शरीरे तस्य भूतावेशवत्प्रवेश इति वाच्यम्। तच्छरीरावच्छेदेन तज्जीवस्य भोगाभ्युपगमेऽन्तर्यामिरूपेण सर्वशरीरप्रवेशस्य विद्यमानत्वेन शरीरविशेषाभ्युपगमवैयर्थ्यात्। भोगाभावे च जीवशरीरत्वानुपपत्तेः। अतो न भौतिकं शरीरमीश्वरस्येति पूर्वार्धेननाङ्गीकरोति—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्निति।

अजोऽपि सन्नित्यपूर्वदेहग्रहणमव्ययात्माऽपि सन्निति पूर्वदेहविच्छेदं भूतानां भवनधर्मणां सर्वेषां ब्रह्मास्तम्बपर्यन्तानामीश्वरोऽपि सन्निति धर्माधर्मवशत्वं निवारयति। कथं तर्हि देहग्रहणमित्युत्तरार्धेनाऽऽह—प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय

स्वप्नावस्था-हमलोगोंके तुल्यत्व ही रहेगा, समष्टिरूप होगा तो हिरण्यगर्भ जीव होगा क्योंकि हिरण्यगर्भ सूक्ष्म भूतोपाधिक है, ऐसी दशामें भौतिक शरीर जीवाविष्ट ही होता है अनाविष्ट नहीं, फिर ईश्वरका शरीर यदि भौतिक है तो जीवाश्रित ही होगा, ईश्वराश्रित नहीं अतएव सर्वज्ञ नहीं, यदि सर्वज्ञ ईश्वर है तो भौतिक शरीर न होनी चाहिए किन्तु आपकी भौतिक शरीर तो स्पष्ट ही देख पड़ती है फिर सर्वज्ञ ईश्वर नहीं सिद्ध हुए थे।

शङ्का—जीवाविष्ट भौतिक ईदृश स्थूल शरीरमें भूतावेशके समान ईश्वरका प्रवेश हो सकता है क्योंकि भूत दूसरे शरीरमें प्रवेश करता है उसी प्रकार ईश्वर भी दूसरी शरीरमें प्रविष्ट हो सकता है अतः ईश्वरके भौतिक शरीरमें आपत्ति क्यों?

समाधान—यदि उस शरीरमें भोग होगा तो अन्तर्यामिरूपसे सर्व शरीरोंमें प्रविष्ट होनेसे सर्वत्र विद्यमान ही है फिर विशेष शरीर मानना व्यर्थ है, यदि भोग नहीं होता तो यह मानना पड़ेगा कि जीव शरीर ही नहीं हो सकता अतः ईश्वरकी भौतिक शरीर नहीं हो सकता यह पूर्वार्धसे स्वीकार करते हैं, 'अजोपि' इत्यादिसे। अज होने पर भी इससे अपूर्व देहग्रहणका अव्ययात्मा होने पर भी इससे पूर्व देहके विच्छेदका ब्रह्मासे लेकर स्तम्बपर्यन्त उत्पत्तिशील सकल पदार्थोंका ईश्वर होकर भी धर्माधर्माधीनताका वारण करते हैं।

शङ्का—फिर देह कैसे ग्रहण किये हैं यह उत्तरार्द्धसे कहते हैं।

संभवामि प्रकृतिं मायाख्यां विचित्रानेकशक्तिमघटमानघटनापटीयसीं स्वां स्वोपाधिभूतामधिष्ठाय चिदाभासेन वशीकृत्य संभवामि तत्परिणामविशेषैरेव देहवानिव जात इव च भवामि। अनादिमायैव मदुपाधिभूता यावत्काल-स्थायित्वेन च नित्या जगत्कारणत्वसंपादिका मदिच्छयैव प्रवर्तमाना विशुद्धसत्त्वमयत्वेन मम मूर्तिस्तद्विशिष्टस्य चाजत्वमव्ययत्वमीश्वरत्वं चोपपन्नम्। अतोऽनेन नित्येनैव देहेन विवस्वन्तं च त्वां च प्रतीमं योगमुपदिष्टवानहमित्युपपन्नम्। तथाच श्रुतिः—'आकाशशरीरं ब्रह्म' इति। आकाशोऽत्राव्याकृतम्। 'आकाश एव तदोतं च प्रोतं च' इत्यादौ तथा दर्शनात्, 'आकाशश्चेत्तत्राऽऽह'— आत्ममाययेति। स्वमाययैव मयि मनुष्यत्वादिप्रतीतिर्लोकानुग्रहाय न तु वस्तुवृत्त्येति भावः। तथा चोक्तं मोक्षधर्मे—

'माया ह्येषा मया सृष्टा यन्मां पश्यसि नारद।
सर्वभूतगुणैर्युक्तं न तु मां द्रष्टुमर्हसि'॥ इति॥

समाधान—विचित्रानेकशक्ति असम्भवको सम्भव करने वाली स्वकीय माया स्वोपाधिभूतको लेकर चिदाभाससे वशमें करके अवतार लेते हैं, उसके परिणाम विशेष से देहवानिव-देहवान-सदृश यानी जातके सदृश होते हैं। मेरी उपाधिभूत अनादि माया यावत्काल स्थायित्वेन नित्य जगत्कारणभूत सम्पादक मेरी इच्छासे ही विशुद्ध सत्वमयी प्रवर्तमान मेरी मूर्त्ति है, तद्युक्त मुझमें अजत्व, अव्ययत्व और ईश्वरत्व उपपन्न होता है, अतः नित्य इस देहसे सूर्यको और तुमको भी हमने उपदेश दिया है यह युक्तियुक्त ही है। तथा च श्रुतिः—'आकाशशरीरं ब्रह्मेति' आकाश दो प्रकारका है। १ व्याकृत २ अव्याकृत। प्रकृतमें अव्याकृत आकाशका ग्रहण है, 'आकाशे एव तदोतं च प्रोतं च' इस श्रुतिमें अव्याकृत आकाशका ही ग्रहण है—आकाशस्तल्लिङ्गात् इस वेदान्त सूत्रमें 'आकाश इति हो वाच' इसे श्रुतिमें आकाशसे परमात्मा ही लिया गया है कारण तत्कार्य सर्वभूत परमात्माके ही लिंग (ज्ञापक) हैं।

शङ्का—अच्छा तो अभौतिक शरीर होनेसे भौतिक शरीरवृत्ति मनुष्यत्वादि आपमें क्यों प्रतीत होते हैं।

समाधान—अपनी मायासे मेरेमें मनुष्यत्वादि प्रतीति लोकानुग्रहके लिये है वास्तविक मनुष्यत्व मुझमें नहीं है, मोक्ष धर्ममें यही कहा है 'मायाह्येषा' इत्यादि—मैंने ऐसी मायाकी सृष्टि की जिससे हे नारद! तुम मुझको देखते हो सब

सर्वभूतगुणैर्युक्तं कारणोपाधिं मां चर्मचक्षुषा द्रष्टुं नार्हसीत्यर्थः। उक्तं च भगवता भाष्यकारेण—'स च भगवाञ्ज्ञानैश्वर्यशक्तिबलवीर्यतेजोभिः सदा संपन्नस्त्रिगुणात्मिकां वैष्णवीं स्वां मायां प्रकृतिं वशीकृत्याजोऽव्ययो भूतानामीश्वरो नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावोऽपि सन्स्वमायया देहवानिव जात इव च लोकानुग्रहं कुर्वन्लक्ष्यते स्वप्रयोजनाभावेऽपि भूतानुजिघृक्षया' इति। व्याख्यातृमिश्रोक्तं स्वेच्छाविनिर्मितेन मायामयेन दिव्येन रूपेण संबभूवेति।

नित्यो यः कारणोपाधिर्मायाख्योऽनेकशक्तिमान्।
स एव भगवद्देह इति भाष्यकृतां मतम्॥

अन्ये तु परमेश्वरे देहदेहिभावं न मन्यन्ते। किं तु यश्च नित्यो विभुः सच्चिदानन्दघनो भगवान्वासुदेवः परिपूर्णो निर्गुणः परमात्मा स एव तद्विग्रहो नान्यः कश्चिद्भौतिको मायिको वेति। अस्मिन्पक्षे योजना—'आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः' 'अविनाशी वा अरेऽयमात्माऽनुच्छित्ति-

भूतगुणोंसे युक्त मुझको तुम वास्तविक नहीं देख सकते हो और कारणोपाधिस्वरूप मुझको चर्मचक्षुसे नहीं देख सकते। भगवान् भाष्यकारने भी कहा है-वह भगवान् ज्ञानैश्वर्य शक्ति, बल, वीर्य, तेजोंसे सदा संयुक्त त्रिगुणात्मक स्वकाय वैष्णवी मायारूप प्रकृतिको वशमें करके अव्यय एवं भूतोंका ईश्वर भी होकर नित्य शुद्ध बुद्धमुक्त-स्वभाववाले भी स्वमायासे देहवान्के समान लोकका अनुग्रह करते हुये लक्षित होते हैं, यद्यपि स्वरूप धारणमें अपना कुछ प्रयोजन नहीं है तथापि लोकानुग्रह अवश्य है, तन्नाम और तच्चरितकीर्तन यानी गानादिसे असंख्य जीव तरते हैं। इसको व्याख्याकारोंने भी कहा है, स्वेच्छा निर्मित मायामय दिव्यरूपसे परमात्मा प्रकट हुये और नित्य जो कारणोपाधि माया अनेक शक्तिमान् है वही भगवद्देह है यह भाष्यकारका मत है, अन्य लोग परमेश्वरमें देहदेहिभाव नहीं मानते किन्तु जो नित्य, विभु, सच्चिदानन्दघन भगवान् वासुदेव परिपूर्ण निर्गुण परमात्मा वही परमात्माका विग्रह शरीर है दूसरा भौतिक शरीर नहीं। इस पक्षमें योजनानुसार 'आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः अविनाशी वा' इत्यादि श्रुतियोंसे उक्तार्थ सिद्ध होता है।

शङ्का—यथा आकाशादिकी उत्पत्ति है तथा ब्रह्मकी भी उत्पत्ति क्यों नहीं मानते?

धर्मा' इत्यादिश्रुतेः 'असंभवस्तु सतोऽनुपपत्तेः' 'नाऽऽत्माऽश्रुतेर्नित्यत्वाच्च ताभ्यः' इत्यादिन्यायाच्च वस्तुगत्या जन्मविनाशरहितः सर्वभासकः सर्वकारणमायाधिष्ठानत्वेन सर्वभूतेश्वरोऽपि सन्नहं प्रकृतिं स्वभावं सच्चिदानन्दघनैकरसम्। मायां व्यावर्तयति—**स्वामिति**। निजस्वरूपमित्यर्थः। 'स भगवः कस्मिन्प्रतिष्ठितः स्वे महिम्नि' इति श्रुतेः स्वस्वरूपमधिष्ठाय स्वरूपावस्थित एव सन्संभवामि देहदेहिभावमन्तरेणैव देहिवद्व्यवहरामि। कथं तर्ह्यदेहे सच्चिदानन्दघने देहत्वप्रतीतिरत आह—**आत्ममाययेति**। निर्गुणे शुद्धे सच्चिदानन्दरसघने मयि भगवति वासुदेवे देहदेहिभावशून्ये

समाधान—'असम्भवस्तु सतोऽनुपपत्तेः' यह वेदान्त सूत्र है इसमें तु शब्द ब्रह्मोत्पत्ति शङ्का निराकरणार्थ है क्योंकि सद्ब्रह्मकी उत्पत्ति असम्भव है।

प्रश्न—क्यों ?

उत्तर—'न चास्य' इत्यादि श्रुति स्वयं उत्तर देती है कि ब्रह्मका कोई उत्पादक नहीं युक्तिसे भी उसका कोई कारण नहीं हो सकता क्योंकि अनवस्थाभयसे मूल कारण एक मानना आवश्यक है। 'नात्माश्रुते र्नित्यत्वाच्च ताभ्यः' इस वेदान्त-सूत्रसे आकाशादिवत् आत्मा नहीं उत्पन्न होता यह निश्चित है।

प्रश्न—क्यों ?

समाधान—जैसे आकाशकी 'एतस्मादात्मनः आकाशो जायते' इत्यादि श्रुतिमें आकाशोत्पत्ति श्रुत है वैसे ब्रह्मकी उत्पत्ति किसी श्रुतिमें श्रुत नहीं।

शङ्का—बुद्ध्याद्युत्पत्तिके समान आनुमानिक तदुत्पत्ति मानिये।

समाधान—नित्य शब्द और अजन्यत्वादिसे तदुत्पत्तिका निषेध सिद्ध है ?

प्रश्न—नित्यत्वादिक क्यों मानते हैं ?

उत्तर—श्रुति ही आत्मा को नित्य कहती है, श्रुति मूलमें देखिये वस्तुतः आत्मा जन्मविनाशशून्यः सर्वभासक सर्वकारण मायाधिष्ठान होनेसे सर्वभूतेश्वर भी है। प्रकृति स्वभाव सच्चिदानन्दघनैक्य रस मायाको मेरा स्वरूप व्यावृत करता है 'स भगवः कस्मिन् प्रतिष्ठितः' इस प्रश्नका उत्तर यह है कि स्वमहिमामें ही स्थित होकर अवतार ग्रहण करते हैं, देहिदेहिभावके बिना ही देहीके समान व्यवहार करते हैं।

प्रश्न—अदेहस्वरूप सच्चिदानन्दघनमें देह की प्रतीति क्यों होती है ?

उत्तर—सच्चिदानन्दघन मुझ भगवान्‌में देहदेहिभावके बिना ही तद्रूप प्रतीति

तद्रूपेण प्रतीतिर्मायामात्रमित्यर्थः। तदुक्तम्—

'कृष्णमेनमवेहि त्वमात्मानमखिलात्मनाम्।
जगद्धिताय सोऽप्यत्र देहीवाऽऽभाति मायया' इति ॥
'अहो भाग्यमहो भाग्यं नन्दगोपव्रजौकसाम्।
यन्मित्रं परमानन्दं पूर्णं ब्रह्म सनातनम्' इति च ॥

केचित्तु नित्यस्य निरवयवस्य निर्विकारस्यापि परमानन्दस्यावयवावयविभावं वास्तवमेवेच्छन्ति ते 'निर्युक्तिकं ब्रुवाणस्तु नास्माभिर्विनिवार्यते' इति न्यायेन 'नापवाद्याः। यदि संभवेत्तथैवास्तु किमतिपल्लवितेनेत्युपरम्यते ॥ ६ ॥

मायामात्र है सो कहा है, 'कृष्णमेनम्' इत्यादि मूलमें देखिये कोई नित्य निरवयव, निर्विकार, परमानन्द परमात्माका वास्तविक अवयवावयविभाव मानते हैं, वे निर्युक्तिक कहते हैं, उनका निराकरण मैं नहीं करता, हो सके तो वैसा ही हो व्यर्थ विस्तारसे उपरत होते हैं. परानने कःकरमर्पयिष्यति यह प्रसिद्ध है ॥ ६ ॥

प्रकृतिमिति यहाँ प्रकृष्टाकृति र्यस्याः सकाशात् सा इस व्युत्पत्तिसे भगवान्की दैवी माया विवक्षित है सांख्याभिमत सत्वरजसाम्यावस्था प्रकृति नहीं क्योंकि उसको ये स्वतन्त्र तन्त्र मानते हैं यहाँ इस विशेषणसे ईश्वराधीन कहा है, ब्रह्म वैवर्तमें यह स्फुट है प्रकृष्टवाचकःप्रश्च कृतिश्च सृष्टिवाचक 'सृष्टौप्रकृष्टा या देवी प्रकृतिःसा प्रकीर्तिता। गुणे प्रकृष्टे सत्वे च प्रशब्दो वर्तते श्रुतौ ॥ मध्यमे कृश्च रजसि, तिशब्दस्तमसि स्मृतः। त्रिगुणात्मस्वरूपायाः सर्वशक्ति समन्विता। प्रधाना सृष्टिकरणे प्रकृतिस्तेन कथ्यते। प्रथमे वर्तते प्रश्च कृतिःस्यात् सृष्टिवाचकः। सृष्टिराद्या च या देवी प्रकृतिः सा प्रकीर्तिता ॥ साचब्रह्म स्वरूपा स्यात् माया नित्या सनातनी। यह त्रिपुरा रहस्यमें लिखा है, पररूपे ह्यदेहेस्मिन् मुह्यन्ति स्थूल बुद्धयः। अभियुक्ताश्च तैर्ध्यातो यत्र यत्र यथा यथा ॥ तथा दत्तेऽनेकरूपं भक्तचिन्तामणिः स्वयम्। अतश्चेतन एवेशःतद्देहः स्याच्चितिः पुरा ॥ चितिरेव महासत्तासाम्राज्ञो परमेश्वरी त्रिपुरा भासते यस्यामविभिन्नं विभिन्नवत्। इति पूर्वोक्त ब्रह्म वैवर्तपुराणके अनुसार ब्रह्मात्मकब्रह्मस्वरूपवाची प्रकृतिद्वय यहाँ विवक्षित है, इसके अनुसार भगवान्का देह यथार्थ है मायाकालीन नहीं यह तथा अवतारार्थ यानी जन्महेतु कहते हैं परमेश्वरके अव्ययत्व एवं सर्वेश्वरत्वादि निमित्तधर्मोंको न छोड़कर अपने स्वभावरूप प्रकृतिका अधिष्ठान कर अपने ही सात्विक देहसे स्वेच्छासे ही नतु कर्मवश उत्पन्न होते हैं, भगवान्का अपना स्वरूप कैसा है यह श्रुति कहती है 'आदित्य वर्णः तमसः परस्तात्' यजुः ३१।१८ 'त्वयन्तमस्य रक्षः

पराके' ५।१।२।५ ब्रह्मस्वरूप यहाँ स्वरूप ब्रह्मणोऽपरमित्यादि अभियुक्त प्रयोगसे शरीरवाची है, आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्से अप्राकृत अतएव स्वकीय असाधारण निरतिशय दीप्तियुक्त सिद्ध होता है अतएवच देश विशेष वैकुण्ठादिमें देशस्थितत्व नित्य सूरिसेव्यत्वलक्ष्मी-पतित्वादि भी अवश्य रहते हैं, यद्यपि रजोगुण व्यापक है फिर भी वैकुण्ठादि स्वनिवासस्थलमें वास करनेसे दुःखमय रजोगुणका निरासक है इस प्रकार परमपदका आश्रय भगवान्का विग्रह नित्य है यह उक्त श्रुतिद्वयसे सिद्ध होता है, अबभी अव्यव भी सर्वं भूतेश्वर भी अपनी मायासे अवतार लेते हैं, 'माया वयुनं ज्ञानं' इस निघण्टुसे मायाशब्द ज्ञानवाची है यद्यपि भगवान् नित्य है अतः "तान्निमित्तक अवतार सदा होना चाहिये तथापि ज्ञान संकल्पका हेतु आगे कहेंगे, समस्तकल्याण गुणात्मकोऽसौ स्वशक्तिलेशाद्भूत सर्गः इच्छागृहीताभिमतो-रुदेहः संसाधिताशेषजगद्धितोऽसौ। इति वि० पु० ६।५।८४ इससे स्पष्ट है कि भगवान् अपनी इच्छासे अपने अपहतपरमत्वादि निखिल गुणोंको लेकर ही स्वयं देवमनुष्यादि सजातीय आकृति करते हुये देवादिरूप होते हैं इसी तात्पर्यसे श्रुति कहती है 'अजायमानो बहुधा विजाय-ते' इत्यादि। इतर पुरुषसाधारण कर्मनिबन्धन शरीरग्रहण न कर देवादिरूपसे अपने संकल्पसे होते हैं यह उक्त श्रुतिका तात्पर्य है अतएव बहूनिमे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन। तान्यहं वेद सर्वाणिइत्यादि। 'तदात्मानं सृजाम्यहम्' 'जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं प्राप्नोति तत्त्वतः' इत्यादि पूर्वापर वचनोंमें विरोध नहीं होता।

प्रश्न—वास्तविक जन्म ग्रहण न कर मिथ्याभूत जन्माग्रहणसे भी विरोध परिहार हो सकता है?

उत्तर—हां हो सकता है पर इस पक्षमें 'तान्यहं वेद सृजामि दिव्यम्' इत्यादिका स्वारस्य हमारे अर्थमें ही है भगवान्का विग्रह नित्यमानें तो भी वह वैकुण्ठ लोकमें ही रहता है, परिच्छिन्न पदार्थ एक समयमें अनेक देशमें नहीं रह सकता और वह स्वरूपधर्म चक्षुर्ग्राह्य भी नहीं, भगवानका स्वरूप वह भी है जिसको दिव्य चक्षुदेकर अर्जुन को दिखलाया था वह तो कृष्णस्वरूप है नहीं, कृष्णशरीरको तो अर्जुन ही नहीं सब कोई देखता था वह शरीर तो नित्य नहीं हो सकती अतएव 'देवमनुष्यादि सजातीयसंस्थानं कुर्वन् आत्मसंकल्पेन देवादिरूपः सम्भवामि' यह श्रीरामानुजाचार्यने व्याख्यान किया है इससे और श्रीशङ्कराचार्यके व्याख्यानमें शाब्दिक सिद्धान्तके अभावे कोई विशेष भेद नहीं है जो किसीको स्वरूपसे बाध्य है वह परमार्थ सत् नहीं है, जैसे मनुष्यादि शरीर वैसा ही श्रीकृष्णकी शरीर यह भेद तो दोनों मानते है कि उनकी शरीर कर्म परतन्त्र नहीं अतएव समस्त ईश्वरधर्मका उसमें समावेश है इसीसे विभूति स्वरूपोंमें 'वृष्णीनां वासुदेवोऽहम्' इसका स्पष्ट निर्देश किया है। वह भगवान्के अवतार स्वरूपके विषयमें श्रीरामानुजीयसंक्षेपार्थ है, अब इस विषय में मध्वाचार्यका संक्षेप अर्थ सुनिये।

'अव्ययात्मा अव्ययः आत्मा देहोजोऽपि अनन्तं विश्वतो मुखम्' ।११।११। वह स्वरूप विशेषण है आगे 'एतन्नानावताराणां निधानं बीजमव्ययम्' । भाग १।३।५) 'जगृहे' १३।१ वह अभिव्यक्ति तात्पर्य से है उत्पति तात्पर्य से नहीं, आत्मामें अनादित्व तो समान है फिर ईश्वरमें विशेष यही है कि ईश्वर को शरीर भी नित्य है जीवको शरीर नित्य नहीं होती।

प्रश्न—अनादिका जन्म कैसे ?

उत्तर—प्रकृतिसे वसुदेवादिकी उत्पत्ति तो हुई है, उन्हीकी मायासे प्रादुर्भूत भगवान्को भी लोगोंने भ्रान्तिसे उत्पन्न समझा है भागवतादिमें स्पष्ट लिखा हुआ है कि शंखचक्रादिसे चतुर्भुज वनमालादिसे विभूषित भगवान् देवकी वसुदेवके सामने प्रकट हुये किन्तु देवकीके प्रार्थनासे भगवान् प्राकृत रूपसे देख पड़ने लगे अथवा प्राकृतरूपका धारण भक्तानुग्रहके लिये किया जैसे पहिले लोगोंको मालुम हुआ कि देवकीको पुत्र हुआ पीछे लोगोंने कन्या हुई है यह समझा इस भ्रान्तिके समान ही कृष्ण भगवान के प्राकृतिक स्वरूपोत्पत्तिमें भी भ्रम ही है।

शङ्का—तमोरूप प्रकृतिके अनुसार यदि भगवान् माता पिताके सम्बन्धको मान लिया तो तन्निमित्तक दुःखादि भी उनमें प्रसक्त होगा ?

समाधान—प्रकृति भगवानके अधीन है, प्रकृति के अधीन भगवान् नहीं। शुभाशुभ कर्म द्वारा जीव प्रकृतिके अधीन होता है भगवान्में वे कर्म नहीं है अतः वह प्रकृतके अधीन नहीं फिर प्रकृतिप्रयुक्त दुःखादि की संभावना उनमें कहाँ प्रकृतिसे तो सब पदार्थ की सृष्टि होती है अतः उसकी व्यावृत्तिके लिये आत्ममायया कहा, माया शब्द यहाँ ज्ञानवाची है। 'केतुः चेतश्चिचित्ति श्चित्तं धीः क्रतुर्मनीषाशचीमाया' यह वैदिक कोष । ६ । १३ । प्रकृतिंस्वामधिष्ठायसे पूर्वमें प्रकृतिको कह चुके हैं फिर यहाँ आत्मामायासे प्रकृतिका ग्रहण करेंगे तो पुनरुक्त दोष हो जायगा अतः यहाँ मायासे संकल्पात्मकज्ञान अथवा तत्प्रसूत इच्छाका ही ग्रहण उचित है, प्रकृतिसे वसुदेवादि की सृष्टि करके विमोहिका मायासे वहाँ प्रादुर्भूत हुये, इसमें प्रमाण 'महदादेश्च' माना या 'श्रीभूमिरिति कल्पिता विमोहिका च दुर्गाख्या ताभिर्विष्णुरजोऽपीहि जातवत्प्रथते आह्याचिद्बलान्मूढचेतसाम्' यह आगम है यह संक्षेपसे माध्वसंप्रदायानुसारी अर्थ है, इसमें भी वाङ्विन्यासमात्रका भेद है भ्रान्ति विषयस्वरूप भगवान्को यह भी मानना पड़ा है, गोलोकस्थ तात्त्विक स्वरूप तो यह नहीं है इत्यादि स्पष्ट है।

अब हनुमानजीकी बात सुनिये।

प्रश्न—नित्य ईश्वर आपका जन्म कैसे ? क्यों कि जन्मधर्मादिनिमित्तक ही होता है सो आपमें नहीं। इस अर्जुनके प्रश्नपर भगवान् उत्तर देते हैं, 'अजोऽपि' जन्म रहित भी अव्ययात्मा अपक्षीण ज्ञानशक्तिस्वभावः ब्रह्मासे लेकर वृक्षलतादिपर्यन्त भूतोंके ईश्वर भी

मैं प्रकृति स्वकीय वैष्णवीमायायुतत्रिगुणात्मक प्रसिद्ध हैं जिसके वशमें संपूर्ण जगत् है जिससे मोहित मुझको वासुदेव नहीं जानते इस प्रकृतिको वशमें करके देहवान्के समान, जातके समान होते हैं, अपनी मायासे होते हैं, इसके कहनेका तात्पर्य यह है कि जैसे और लोगोंका वास्तविक कर्मजन्म फलभोगार्थ होता है वैसा मेरा नहीं है क्योंकि मुझसे शुभाशुभ कर्म हुए नहीं अतएव मैं प्रकृतिके अधीन नहीं हूँ।

प्रश्न—वास्तविक जन्मनाशका अभाव तो जीवमें भी है फिर उनसे आपमें क्या विशेष है ?

उत्तर—'संभवामि' यहाँपर संशब्दसे है, सम्यक् अप्रच्युतज्ञानशक्ति बलैश्वर्यादिसे हो होता हूँ और केवलज्ञानबलादिप्रयुक्त जीवकी अपेक्षासे मुझमें विशेष नहीं किन्तु जन्मसे भी विशेष मुझमें है, त्रिगुणात्मक अपनी मायाको अपने वशमें करके होता हूँ। प्रकृत्यधीन जीव कर्म परतन्त्र है अतः उनका जन्म उनके कर्मके अनुरूप ही होता है। ये रमणीयचरणास्तेरमणीयांयोनिमापद्यन्ते, ये कपूयचरणास्ते कपूयां योनिमित्यादि श्रुति भी उक्त अर्थमें प्रमाण है, परमेश्वरका जन्म प्रकृतिके अधीन नहीं किन्तु इनकी इच्छाके अनुसार होता है यहां पर मायासे जन्म लेता हूँ, यह भगवान्ने कहा है कि देहग्रहणरूपजन्म माया निर्मित होनेसे मायामय भगवद्देह है इसमें सन्देह ही नहीं अतएव श्रीशंकराचार्यने यही सिद्धान्त किया है इत्यादि अद्वैतवेदान्तमतानुसारी है।

अब श्रीवल्लभाचार्यके मतानुसार इस श्लोकका अर्थ सुनिये।

प्रश्न—अनादि अविनाशी आपका जन्म ही कैसे यह तो जीवका ही धर्म है ?

उत्तर—ठीक है तौभी अजभी अव्ययात्मा भी कर्मपारतन्त्र्यसे विमुक्त भी अपनी माया से जन्म ग्रहण करता हूं, स्वतन्त्र माया निमित्तक मेरा जन्म है। माया शब्द किसी शास्त्रमें हरिसामर्थ्यका वाचक है क्वाप्यविद्यामृषावाची, कृपाकपटविक्षणाक् इसके अनुसार अपने भक्तोंके ऊपर कृपा अथवा अपनी कृपासे आविर्भूत होते हैं, अप्रच्युतज्ञान बल ऐश्वर्यादि शक्तिरूप सर्वभवन सामर्थ्यसे होता हूँ, मायात्व कहनेका तात्पर्य शक्तिमेंमोहिनीत्वतः इसके अनुरोधसे मोहकत्व उसमें सूचित होता है।

प्रश्न—फिर भी आपके स्वरूपके विपरीत जन्मसे आपमें जीवत्व ही आता है ?

उत्तर—प्रकृतिमें असाधारण स्वरूप अथवा स्वभाव सच्चिदानन्दमात्र नित्यसिद्ध ज्ञानक्रिया शतवाश्रयषड्गुणाश्रय अधिष्ठान अपरित्यज्य ही होते हैं जीवके समान स्वरूपसे प्रच्युत नहीं होता, जीवतो व्युच्चारणके अनन्तर माया पराभिध्यानसे तिरोहित आनन्दादिषड्गुण संसारी होता हैं इस हेतुसे जन्म मरणके आवर्तनका अनुभव करता है मैंतो वैसा जन्मादिमान नहीं हूँ अजत्व अव्ययत्वादि श्रुति ही इसमें प्रमाण है इसीसे यह भाव विकारोंका भी निराकरण सिद्ध होता है यद्यपि जीवोंमें भी छ विकार नहीं है किन्तु प्रकृतिके परि-

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदाऽऽत्मानं सृजाम्यहम् ॥ ७ ॥

हे भारत! जब-जब धर्मकी हानि और अधर्मकी वृद्धि होती है तब-तब ही मैं अपने रूपको रचता हूँ अर्थात् प्रकट करता हूँ ॥ ७ ॥

एवं सच्चिदानन्दघनस्य तव कदा किमर्थं वा देहिवद्व्यवहार इति तत्रोच्यते—'यदा' इति।

धर्मस्य वेदविहितस्य प्राणिनामभ्युदयनिःश्रेयससाधनस्य प्रवृत्तिनिवृत्तिलक्षण वर्णाश्रमतदाचारव्यङ्ग्यस्य यदा यदा ग्लानिर्हानिर्भवति हे भारत

इस प्रकार हे सच्चिदानन्दस्वरूप आपमें देहादि व्यवहार कब और क्यों होता है, इसका उत्तर स्वयं भगवान् देते हैं–'यदा यदा' इति प्राणियों के अभ्युदय और निश्रेयस वर्ण आश्रम और दोनोंके आचारोंसे व्यवहृतधर्मकी जब जब ग्लानि यानी

णामरूप देह ही में वे हैं तथापि आविर्भाव, तिरोभाव जन्मनाशविकल्पवत् शरीरी जगत्के जीवात्माओंमें विकारोंका प्रतीति कराती है और वही संसारी बनाती है क्योंकि शरीर प्रकृतिजन्य है, अतएव वेदान्तसूत्रकार ने कहा है कि 'पराभिध्यानात्तु तिरोहितं ततो ह्यस्य बन्धविपर्ययौ' ब्र० सू० ३ । २ । ५ । इति अस्य जीवस्य 'ऐश्वर्यादि तिरोहितं है उसमें हेतु हैं 'पराभिध्यानात् इति' पर भगवान्का अभिध्यान अपनी सर्वतः भोगेच्छा अतः ईश्वरकी इच्छासे व्युच्चारित जीवका भेद। भगवान्के धर्मका तिरोभाव ऐश्वर्यतिरोभाव दीनत्व पराधीनत्ववीर्यके तिरोभवसे जन्मादि सर्वापदिपयत्व ज्ञानके तिरोभावसे देहादिमें अहंबुद्धि यद्य विपरीतज्ञान भी वैराग्यतिरोभावसे विषयोंमें आसक्ति बन्धचरोंका कार्य है विपर्य है विपर्ययदाके तिरोभावसे होता है अन्यथा नहीं। यह अर्थ ठीक है आनन्दका तो पूर्वमें ही तिरोहित था इसीसे जीवभाव होता है अतएव काममयः आनन्द यदि आवृत न होता तो आनन्दरूप जीव काममय क्यों होता निदामो भगवत्शक्ति सुतरां तिरोभाव करनेवाली है। अतः इस प्रस्तावसे जीवमें धर्मतिरोभाव कहा गया है अन्यथा भगवात् की लीला निर्विषय हो जायगी अतः जीवस्वरूपपर्यालोचना ही कुछ आशंका का विषय नहीं। इससे देवोंजीका जन्म नाश कहा गया है, भगवान्का आविर्भावतिरोभाव इस आशयसे नित्यापरिच्छिन्न शरीर में अभिव्यक्ति प्राकट्य यह सम्भव कहा गया है। इससे मैं दीख पड़रहा हूँ। अवतारोंसे पुरुषोत्तम वही अन्यत्र भी प्रादुर्भूत होते हैं यह स्पष्ट ही कहा गया है, अतः और अजन्मान्तरवान् भी एक भी अनेक इत्यादि विरुद्ध धर्माश्रय हूँ इसमें कुछ अनुपपत्ति नहीं'

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥ ८ ॥

क्योंकि साधु पुरुषोंका उद्धार करनेके लिये और दूषित कर्म करनेवालोंका नाश करनेके लिये तथा धर्म स्थापन करनेके लिये, युग-युगमें प्रकट होता हूँ ॥८॥

भरतवंशोद्भवत्वेन भा ज्ञानं तत्र रतत्वेन वा त्वं न धर्महानिं सोढुं शक्नोषीति संबोधनार्थः। एवं यदा यदाऽभ्युत्थानमुद्भवोऽधर्मस्य वेदनिषिद्धस्य नानाविधदुःखसाधनस्य धर्मविरोधिनस्तदा तदाऽऽत्मानं देहं सृजामि नित्यसिद्धमेव सृष्टमिव दर्शयामि मायया ॥ ७ ॥

तत्किं धर्मस्य हानिरधर्मस्य च वृद्धिस्तव परितोषकारणं येन तस्मिन्नेव काले आविर्भवतीति तथा चानर्थावह एव तवावतारः स्यादिति नेत्याह— 'परित्राणाय' इति।

धर्महान्या हीयमानानां साधूनां पुण्यकारिणां वेदमार्गस्थानां परित्राणाय परितः सर्वतो रक्षणाय। तथाऽधर्मवृत्या वर्धमानानां दुष्कृतां पापकारिणां वेदमार्गविरोधिनां विनाशाय च। तदुभयं कथं स्यादिति तदाह—धर्मसंस्थापनार्थाय धर्मस्य सम्यगधर्मनिवारणेन स्थापनं वेद-

---

हानि होती है, हे भारत ! भरतवंश समुत्पन्न अथवा भा ज्ञान उसमें रत-अनुरक्त उभय था तुम धर्म हानि नहीं सह सकते हो यह प्रकृत सम्बोधनका तात्पर्यार्थ है, एवं जब जब वेद निषिद्ध नाना प्रकारके कारण धर्मविरोधी अधर्मका अभ्युत्थान अधिक आविर्भाव होता है तब तब अपने देहको सृष्टि करता हूँ यद्यपि मेरा शरीर नित्य सिद्ध है फिर भी मायासे सृष्टके समान दिखलाता हुँ ॥ ७ ॥

प्रश्न—क्या धर्मकी हानि और अधर्मकी वृद्धि आपके सन्तोषका कारण है जिससे उसी समयमें आप प्रादुर्भूत होते हैं यदि ऐसा है तो आपका अवतार अनर्थप्रद होगा ?

उत्तर—नहीं, धर्मकी हानिसे वेदमार्गस्थ पुण्यकारि साधुओंकी हानि देख उनकी रक्षाके लिए यानी परित्राण-सर्वतो भावसे रक्षा अर्थात् शरीर आचरण धर्म कर्मानुष्ठानादि रक्षा अभिप्रेत है और अधर्म वृद्धिसे बढ़ते हुये दुष्कर्म पापकारि वेद मार्गविरोधियोंके विनाशार्थ अवतार लेता हूँ, ये दोनों कैसे हों यह कहते हैं—

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः ।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥९॥

इसलिये, हे अर्जुन ! मेरा वह जन्म और कर्म दिव्य अर्थात् अलौकिक है, इस प्रकार जो पुरुष तत्त्वसे जानता है वह शरीरको त्यागकर फिर जन्मको नहीं प्राप्त होता है, किन्तु मुझे ही प्राप्त होता है ॥ ९ ॥

मार्गपरिरक्षणं धर्मसंस्थापनं तदर्थं संभवामि पूर्ववत्, युगे युगे प्रतियुगम् ॥ ८ ॥

'लालने ताडने मातुर्नाकारुण्यं यथाऽर्भके ।
तद्वदेव महेशस्य नियन्तुर्गुणदोषयोः' इति ॥ ८ ॥

जन्म नित्यसिद्धस्यैव मम सच्चिदानन्दघनस्य लीलया तथाऽनुकरणम् । कर्म च धर्मसंस्थापनेन जगत्परिपालनं मे मम नित्यसिद्धेश्वरस्य दिव्य-

अधर्म निवारण कर धर्मका समीचीन स्थापन एतदर्थ अवतार लेते हैं, प्रतियुगमें अवतार ग्रहण करते हैं सत्ययुग द्वापर त्रेता कलियुगोंमें भिन्न भिन्न रूपसे अवतार होता है उद्देश्य उक्त ही है ॥ ८ ॥

किसीका मत है कि भगवान्के अवतार लेनेका प्रयोजन तीन है, साधुओंकी रक्षा, पापियोंका विनाश और धर्मका संस्थापन, धर्म संस्थापनमात्रसे साधुओंकी रक्षा और पापियोंका विनाश नहीं सिद्ध होता, वसुदेवजीके गृहमें अवतार लेकर भगवान् तीन कार्य किये हैं, गीताके उपदेशसे धर्म संस्थापन, युधिष्ठिरादि परिपालन से साधु परित्राण, कंसादि मारणसे पापियोंका विनाश, गीताके उपदेशमात्रसे जो जो अर्जुनकी जहाँ जहाँ रक्षाकी है सो नहीं हो सकती इससे साधुरक्षा एवं दुष्टवधसे धर्म संस्थापन हो जाता है, यह कहना असंगत है कि किसी धर्मका संस्थापन नहीं होता अन्यथा धर्म संस्थापक व्यासावतार ही व्यर्थ हो जायगा। श्रीव्यासजीने साधु संरक्षण पापियोंका विनाश नहीं किया, आपके कथनानुसार उक्त कर्मद्वयसे ही धर्म संस्थापन होता है यह नहीं सिद्ध होता अतः किसी समय एक प्रयोजनके लिए और किसी समय दो प्रयोजनके लिये वा किसी समय तीनों प्रयोजनोंके लिए भगवान्का अवतार होता है यही कहना उचित प्रतीत होता है ॥ ८ ॥

नित्य सिद्ध सच्चिदानन्दघन मेरी लीलासे जन्म तथानुकरण कर्म धर्म संस्थापनसे जगत्के परिपालनके लिये हैं। मेरा नित्य सिद्ध ईश्वरका जन्म, कर्म

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः ।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ॥ १० ॥

और हे अर्जुन! पहिले भी राग, भय और क्रोधसे रहित अनन्यभावसे मेरेमें स्थितिवाले मेरे शरण बहुत-से पुरुष, ज्ञानरूपसे पवित्र हुए मेरे स्वरूपको प्राप्त हो चुके हैं ॥ १० ॥

मप्राकृतमन्यैः कर्तुमशक्यमीश्वरस्यैवासाधारणम् । एवमजोऽपि सन्नित्यादिना प्रतिपादितं यो वेत्ति तत्त्वतो भ्रमनिवर्तनेन । मूढैर्हि मनुष्यत्वभ्रान्त्या भगवतोऽपि गर्भवासादिरूपमेव जन्म स्वभोगार्थमेव कर्मेत्यारोपितम् । परमार्थतः शुद्धसच्चिदानन्दरूपत्वज्ञानेन तदपनुद्याजस्यापि मायया जन्मानुकरणमकर्तुरपि परानुग्रहाय कर्मानुकरणमित्येवं यो वेत्ति स आत्मनोऽपि तत्त्वस्फुरणात्त्यक्त्वा देहमिमं पुनर्जन्म नैति । किं तु मां भगवन्तं वासुदेवमेव सच्चिदानन्दघनमेति संसारान्मुच्यत इत्यर्थः । हेऽर्जुन ॥ ९ ॥

मामेति सोऽर्जुनेत्युक्तं तत्र स्वस्य सर्वमुक्तप्राप्यतया पुरुषार्थत्वमस्य मोक्षमार्गस्यानादिपरम्परागतत्वं च दर्शयति—

रागस्तत्तत्फलतृष्णा । सर्वान्विषयान्परित्यज्य ज्ञानमार्गे कथं जीवितव्य-

अप्राकृत है दूसरेके करनेके योग्य नहीं है, ये ईश्वरके ही असाधारण चिन्ह हैं इसी प्रकार 'अजोपि सन्' इत्यादिसे कहा उसको जो तत्वतः भ्रमको दूर करता है वही जानता है । मूर्ख मनुष्य भ्रान्तिसे भगवान्का भी गर्भवास पूर्वक ही जन्म तथा स्वयोगार्थ ही कर्म समझते हैं, परमार्थतः सच्चिदानन्दरूपका ज्ञान उनको है नहीं, आरोपित को सत्य मानते हैं, मूर्ख धारणाका त्याग कर मेरा अजातका जन्म मायासे है, मैं अकर्ता हूँ, किन्तु परानुग्रहार्थ मेरा कर्मानुकरण है जो यही जानता है, वह आत्मतत्वका बोध होनेसे इस देहका त्याग कर फिर सांसारिक शरीरमें जन्म नहीं लेता, किन्तु मुझमें ही मिल जाता है, मैं सच्चिदानन्दघन भगवान् वासुदेव हूँ। हे अर्जुन! जो जानता है वह संसारसे मुक्त हो जाता है ॥ ९ ॥

हे अर्जुन! वह मेरेमें मिल जाता है यह कहा। आप ही सब मुक्तोंके प्राप्य हैं अतः यह मोक्ष मार्ग पुरुषार्थ है तथा अनादि परम्परासे समागत है, यह दिखलाते हैं—'वीतराग' इत्यादिसे, राग तत्फल तृष्णा सब विषयोंका त्याग कर ज्ञान

मिति त्रासो भयम्। सर्वविषयोच्छेदकोऽयं ज्ञानमार्गः कथं हितः स्यादिति द्वेषः क्रोधः। त एते रागभयक्रोधा वीता विवेकेन विगता येभ्यस्ते वीतरागभयक्रोधाः शुद्धसत्त्वाः। मन्मया मां परमात्मानं तत्पदार्थं त्वंपदार्थाभेदेन साक्षात्कृतवन्तो मदेकचित्ता वा। मामुपाश्रिता एकान्तप्रेमभक्त्या मामीश्वरं शरणं गताः। बहवोऽनेके ज्ञानतपसा ज्ञानमेव तपः सर्वकर्मक्षयहेतुत्वात्, 'न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते' इति हि वक्ष्यति। तेन पूताः क्षीणसर्वपापाः सन्तो निरस्ताज्ञानतत्कार्यमलाः। मद्भावं मद्रूपत्वं विशुद्धसच्चिदानन्दघनं मोक्षमागता अज्ञानमात्रापनयेन प्राप्ताः। ज्ञानतपसा पूता जीवन्मुक्ताः सन्तो मद्भावं मद्विषयं भावं

रागस्तत्तत्फलतृष्णा। सर्वान्विषयान्परित्यज्य ज्ञानमार्गे कथं जीवितव्य

मार्गमें कैसे जीवेंगे यह भय है, सब विषयोंका नाशक ज्ञान मार्गसे कैसे हित होगा यह द्वेष क्रोध है ये तीनों राग भय और क्रोधसे निवृत्त हो गये जिनके वे शुद्ध सत्व अतएव मन्मय मुक्त परमात्मा तत्पदार्थको 'त्वम्' तुम पदार्थाभिन्नत्वसे मुझमें जीवके अभेदका साक्षात्कार करके भेदका चित्र अतएव मेरे आश्रित होकर ऐकान्तिक भक्तिसे मेरे शरणमें आकर बहुत लोग ज्ञानरूपी तपसे दुष्कर्मका नाश करते हैं।

प्रश्न—ज्ञानरूपी तप कैसे ?

उत्तर—तपसे जैसे दुष्कर्मका क्षय होता है वैसे ही ज्ञानसे सब शुभाशुभ कर्मोंका शमन होता है इसलिए कर्मनाशकत्वेन ज्ञानमें भक्ति या तपशब्दका प्रयोग उचित हो है 'न हि ज्ञानेन सदृश पवित्रमिह विद्यते' यह आगे स्वयं भगवान् कहेंगे ज्ञानरूपी तपसे पवित्र होकर अर्थात् निवृत्त पाप होकर अतएव अज्ञान तत्कार्यमलका त्याग कर सद्भाव मत्स्वरूपत्व विशुद्धचिद्घनानन्दमोक्षको प्राप्त कर लेनेपर मुक्त हो जाता है। यद्यपि पूर्वमें भी मुक्त हो थे, किन्तु अज्ञानवश आरोपित संसारधर्मसे संसारी थे, ज्ञान होने पर समूल अज्ञानको दूर कर मोक्षको प्राप्त किये, 'चामीकर ग्रैवेयवत्' ज्ञान तपसा पूत जीवन यानी मुक्त होकर मद्विषयक भाव प्रेमाख्य भावमें आ गये यह भी अर्थ है। दोनों मुक्तोंका संग्रह विवक्षित है विदेह मुक्त और जीवन मुक्त प्रथम व्याख्यासे प्रथमका और द्वितीय व्याख्यासे द्वितीयका संग्रह किया गया है, भगवान् आगे कहेंगे 'नतेषां' इत्यादिसे। प्रेमाणमागता वा यहाँ वकार अनास्थामें है

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥ ११ ॥

क्योंकि हे अर्जुन ! जो मेरेको जैसे भजते हैं, मैं भी उनको वैसे ही भजता हूँ, इस रहस्यको जानकर ही बुद्धिमान् मनुष्यगण सब प्रकारसे मेरे मार्गके अनुसार बर्तते हैं ॥ ११ ॥

रत्याख्यं प्रेमाणमागता इति वा । 'तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते' इति हि वक्ष्यति ॥ १० ॥

ननु ये ज्ञानतपसा पूता निष्कामास्ते त्वद्भावं गच्छन्ति, येत्वपूताः सकामास्ते न गच्छन्तीति फलदातुस्तव वैषम्यनैर्घृण्ये स्यातामिति नेत्याह—

य आर्ता आर्थार्थिनो जिज्ञासवो ज्ञानिनश्च यथा येन प्रकारेण सकामतया निष्कामया च मामीश्वरं सर्वफलदारं प्रपद्यन्ते भजन्ति तांस्तथैव तदपेक्षितफलदानेनैव भजाम्यनुगृह्णाम्यहं न विपर्ययेण । तत्राहमुमुक्षूनार्तानर्थार्थिनश्चाऽऽर्तिहरणेनार्थदानेन चानुगृह्णामि । जिज्ञासून्विविदिषन्ति यज्ञेनेत्यादिश्रुतिविहितनिष्कामानुष्ठानज्ज्ञानेन ज्ञानिनश्च मुमुक्षून्मोक्षदानेन न

जीवन्मुक्त यहाँ विवक्षित नहीं है पूर्व श्लोकमें त्यक्तदेहामित्यादि कहा गया है। देह त्याग विदेह कैवल्यमें माना जाता है जीवन मुक्त दशामें नहीं ॥ १० ॥

प्रश्न—जो ज्ञान तपसे पवित्र हैं अतएव निष्काम हैं वे ईश्वरभाव मोक्ष पा लेते हैं किन्तु जो सकाम हैं वे त्वद्भाव मोक्ष नहीं पाते ऐसी स्थितिमें फलदायक आपमें वैषम्य नैर्घृण्य दोष आता है ।

उत्तर—कभी नहीं जो आर्त अर्थार्थी 'जिज्ञासु तथा ज्ञानी हैं वे जिस प्रकारसे सकामभावसे अथवा निष्काम भावसे सर्व फलप्रद मुझ ईश्वरको भजते हैं उनको उसी प्रकारसे तदिष्ट फलदान कर अनुगृहीत करता हूँ। मोक्षार्थीको मोक्ष अर्थार्थीको अर्थ, आर्तको तन्निवृत्ति, ज्ञानार्थीको ज्ञान देता हूँ सबको न सब फल देता हूँ और न विपरीत। अर्थार्थीको मोक्ष ज्ञानार्थीको मोक्ष नहीं देता तथापि तत्तदभीष्ट सब फल यथाधिकार सबको देता हूँ इसलिए सब फलदाता मैं हूँ। जिज्ञासु जनोंको 'विविदिषन्ति यज्ञेन' इत्यादि श्रुति निष्काम कर्मानुष्ठानियोंको ज्ञान

काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः ।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा ॥ १२ ॥

और जो मेरेको तत्त्वसे नहीं जानते हैं, वे पुरुष, इस मनुष्यलोकमें कर्मोंके फलको चाहते हुए देवताओंको पूजते हैं और उनके कर्मोंसे उत्पन्न हुई सिद्धि भी शीघ्र ही होती है, परन्तु उनको मेरी प्राप्ति नहीं होती, इसलिये तूं मेरेको ही सब प्रकारसे भज ॥ १२ ॥

त्वन्यकामायान्यद्ददामीत्यर्थः । ननु तथाऽपि स्वभक्तानामेव फलं ददासि न त्वन्यदेवभक्तानामिति वैषम्यं स्थितमेवेति नेत्याह—मम सर्वात्मनो वासुदेवस्य वर्त्म भजनमार्गं कर्मज्ञानलक्षणमनुवर्तन्ते हे पार्थ सर्वशः सर्वप्रकारैरिन्द्रादीनप्यनुवर्तमाना मनुष्या इति कर्माधिकारिणः । 'इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुः' इत्यादिमन्त्रवर्णात् 'फलमत उपपत्तेः' इति न्यायाच्च सर्वरूपेणापि फलदाता भगवानेक एवेत्यर्थः च वक्ष्यति येऽप्यन्यदेवताभक्ता इत्यादि ॥ ११ ॥

ननु त्वामेव भगवन्तं वासुदेवं किमिति सर्वे न प्रपद्यन्त इति तत्राऽऽह—

दानसे ज्ञानी मुमुक्षुओंको मोक्ष दानसे अनुगृहीत करता हूँ । अन्य कामनावानको अन्य फल नहीं देता !

प्रश्न—फिर भी अपने भक्तोंको ही फल देते हैं दूसरेदेवताओंके भक्तोंको नहीं इस हेतु वैषम्य तो रही गया ?

उत्तर—नहीं मेरा वासुदेव सर्वात्माका वर्ती भजन मार्ग कर्म ज्ञान एतदुभय लक्षका जो अनुवर्तन सतत अनुष्ठान करते हैं । हे पार्थ ! सब प्रकारसे इन्द्रादि-देवताओंकी उपसना करते हैं कर्माधिकारसे 'इन्द्र वरुणमग्निमाहुः' इत्यादि मन्त्रवर्णसे 'फलमतः उपपत्तेः' इस न्यायसे सबरुपसे फलदाता भगवान् एक ही हैं यही कहैगे 'येऽप्यन्यदेवते' इत्यादिसे ।

इतर मनुष्य भी मेरे मार्गकी अनुवृत्ति करते हैं तुम तो मेरे सम्बन्धी होकर भी मेरी अनुवृत्ति नहीं करते हो, यह आश्चर्य है । यह पार्थ इस सम्बोधनसे सूचित करते हैं ॥ ११ ॥

शंका—यदि आप ही सब फल देते हैं तो सब आप ही भगवान् वासुदेवको क्यों नहीं भजते तत्तद्फलेच्छासे देवतान्तरकी उपासना क्यों करते हैं ?

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः ।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम् ॥ १३ ॥

तथा हे अर्जुन ! गुण और कर्मोंके विभागसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र मेरेद्वारा रचे गये हैं, उनके कर्ताको भी मुझ अविनाशी परमेश्वरको तू अकर्ता ही जान ॥ १३ ॥

कर्मणा, सिद्धिं फलनिष्पत्तिं काङ्क्षन्त इह लोके देवता देवानिन्द्राग्न्याद्यान्यजन्ते पूजयन्ति अज्ञानप्रतिहतत्वान्न तु निष्कामाः सन्तो मां भगवन्तं वासुदेवमिति शेषः। कस्मात्, हि यस्मादिन्द्रादिदेवतायाजिनां तत्फलकाङ्क्षिणां कर्मजा सिद्धिः कर्मजन्यं फलं क्षिप्रं शीघ्रमेव भवति मानुषे लोके। ज्ञानफलं त्वन्तःकरणशुद्धिसापेक्षत्वान्न क्षिप्रं भवति। मानुषे लोके कर्मफलं शीघ्रं भवतीति विशेषणादन्यलोकेऽपि वर्णाश्रमधर्मव्यतिरिक्तकर्मफलसिद्धिर्भगवता सूचिता। यत्र सा तत्क्षुद्रफलसिद्ध्यर्थं सकामा मोक्षविमुखा अन्या देवता यजन्तेऽतो न मुमुक्षव इव मां वासुदेवं साक्षात्ते प्रपद्यन्त इत्यर्थः ॥१२॥

शरीरारम्भकगुणवैषम्यादपि न सर्वे समानस्वभावा इत्याह—

उत्तर—कर्म फलोत्पत्तिकी इच्छासे इन्द्रादि देवताकी पूजा करते हैं वे भी मेरे मार्गकी अनुवृत्ति करते हैं पर अज्ञान मूढ़ होनेसे निष्काम भावनासे भगवान् वासुदेवरूप मुझको नहीं भजते।

प्रश्न—क्यों ?

उत्तर—मनुष्य लोकमें इन्द्रादिदेव प्रार्थियोंको कर्मजन्य फलसिद्धि शीघ्र होती है ज्ञान फल तो अन्तः करण शुद्ध होने पर भी होता है इसीसे फल विलम्बसे होता है शीघ्र नहीं, मनुष्य लोकमें कर्मफल शीघ्र होता है, इस विशेषणसे अन्य लोकमें भी वर्णाश्रम धर्मातिरिक्त कर्मफल सिद्धि होती है, भगवान्ने सूचित किया यतः तत्ताद् क्षुद्र न्यूनफल सिद्ध्यर्थं सकाम अतएव मोक्ष विमुख होकर अन्य देवको पूजा करते हैं इस कारण वे मुमुक्षुके ही समान मुझ भगवान् वासुदेवको साक्षात् नहीं भजते किन्तु देवान्तर द्वारा भजन करते हैं मनुष्य लोकमें ही वर्णाश्रम धर्म है लोकान्तरमें नहीं इस विशेषणसे सूचित होता है ॥ १२ ॥

प्रश्न—जिस कारणसे आपहीके मार्गको सब अनुवृत्ति करते हैं, दूसरे

चत्वारो वर्णा एव चातुर्वर्ण्यं स्वार्थे ष्यञ् । महेश्वरेण सृष्टमुत्पादितं गुणकर्मविभागशो गुणविभागशः कर्मविभागशश्च । तथाहि सत्त्वप्रधाना ब्राह्मणास्तेषां सात्त्विकानि शमदमादीनि कर्माणि । सत्त्वोपसर्जनरजःप्रधानाः क्षत्रियास्तेषां च तादृशानि शौर्यतेजःप्रभृतीनि कर्माणि । तम उपसर्जनरजःप्रधाना वैश्यास्तेषां च कृष्यादीनि तादृशानि कर्माणि । तमःप्राधाना शूद्रास्तेषां च तामसानि त्रैवर्णिकशुश्रूषादीनि कर्माणीति मानुषे लोके व्यवस्थितानि । एवं तर्हि विषमस्वभावचातुर्वर्ण्यस्रष्टृत्वेन तव वैषम्यं दुर्वारमित्याशङ्क्य नेत्याह—तस्य विषमस्वभावस्य चातुर्वर्ण्यस्य व्यवहारदृष्ट्या

मार्गकी अनुवृत्ति नहीं करते हैं इसका उत्तर देते हैं 'चातुर्वर्ण्यम्' इत्यादिसे—अथवा शरीरारम्भक गुण वैषम्यसे भी सब लोग समान स्वभावके नहीं होते यही कहते हैं। 'चातुर्वर्ण्यमिति' चार वर्ण ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र हैं. 'चातर्वर्ण्यम्' का चार वर्ण ही अर्थ है। स्वार्थमें 'ष्यञ' तद्धित प्रत्यय है। ईश्वर मैं इनको गुणके विभागसे और कर्मके विभागसे, उत्पन्न किया। सत्वप्रधान ब्राह्मण हैं उनमें सात्विक शमदमादि कर्म होते हैं 'चतुर्वर्णादीन्संख्यार्थे उपसंख्यानम' इस वार्तिकसे स्पष्ट है। सत्वोपसर्जन रजः प्रधान क्षत्रिय होते हैं उनके अनेक वैसे ही शौर्यप्रभृति कर्म होते हैं। तमउपसर्जन रजः प्रधान वैश्य होते हैं और उनके तादृश कृष्यादि कर्म हैं। तमः प्रधान शूद्र होने हैं और उनके तादृश तामस यानी ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य इन वर्णोंकी सेवाकर्म मनुष्यलोकमें व्यवस्थित है।

प्रश्न—फिर भी विषम स्वभाव उक्त त्रैवर्णिक सृष्टिसे आपमें वैषम्य आ ही गया।

उत्तर—नहीं। वैषम्य नहीं आया, विषमस्वभाव चातुर्वर्ण्यका व्यवहार दृष्टिसे मैं कर्ता हूँ, परमार्थ दृष्टिसे मैं कर्ता नहीं हूँ, अकर्त्ता ही होनेसे एवं अव्यय अहंकार रहित होनेसे अक्षीण स्वभाव ईश्वर ही मैं हूँ। इस अर्थमें कुछ अनुपपत्ति है जो यह कहा कि शरीरारम्भक गुणवैषम्यसे सब समान स्वभाव नहीं हैं इससे तो यही कहना चाहिए कि गुण कर्म विभागसे चार वर्ण उत्पन्न हुए फिर 'मया सृष्टम्' कहनेकी आवश्यकता नहीं। ईश्वरेच्छा समानरूपसे सृष्टि करनेकी होती तो गुणनाशक नहीं हो सकता। 'गुणकर्मविभागशः' का अर्थ यह है कि 'गुणाश्च कर्माणि च तेषां समाहारः गुणकर्म' अर्थात् चातुर्वर्ण्यको सृष्टि गुण और कर्म विभागसे की, कर्म विभागसे यानी साधारण असाधारण विभागसे कर्म-अग्निहोत्रादि 'गुण-द्रव्यदेवता-

कर्तारमपि मां परमार्थदृष्ट्या विद्ध्यकर्तारमव्ययं निरहंकारत्वेनाक्षीणमहिमानम् ॥ १३ ॥

रूप साधारणदान-जपादि सर्वसाधारण कर्म हैं, अग्निहोत्रादि त्रैवर्णिकका ही कर्म है किन्तु क्षुद्रका नहीं। राजसूयादि क्षत्रियोंका कर्म है ब्राह्मणोंका नहीं, वैश्यस्तोम वैश्य ही का कर्म है तदितरका नहीं, इस प्रकार कर्म, गुण ईश्वर सृष्ट होनेसे देवता ईश्वर सृष्ट ही हैं। पुत्रप्रीतिसे जैसे पिताकी तृप्ति होती है वैसे ही देवताओंको याग द्वारा तृप्त करने पर परमात्मा भी तृप्त होकर देवयाजियोंको ईप्सित फल देता है, इस प्रकारके अर्थसे विषम स्वभाव, चातुर्वर्ण्य सृष्टि और तद्वृत्ति व्यापारका उत्पादक आप ही हैं, वैषम्य कर्मफल कर्त्तामें होगा ही अतः कर्त्तृत्व, भोक्तृत्व आपमें प्रसक्त होता है इसलिये आप संसारी हैं ईश्वर नहीं।

मुझमें मायासे कर्त्तृत्व है वास्तविक नहीं, नित्य मुक्त मैं हूँ, संसारिस्वभाव नहीं हूँ, इस आशयसे कहते हैं कि 'चातुर्वर्ण्यम्'। कर्त्तृत्व मायासे हैं वस्तुतः मुझे अकर्त्ता समझो अतएव भोक्तृत्व मायिक ही है वास्तविक नहीं ॥ १३ ॥

[अन्यार्थः—वर्णव्यवस्थाविध्वंसकारी पण्डितंमन्योंका कहना है कि गुण कर्म भेदसे चारों वर्णोंकी सृष्टि है, अपने अपने असाधारण गुण कर्मके अनुसार ब्राह्मणत्वादि जातियोंकी कल्पनाकी गई ऐसी परिस्थितिमें यदि शूद्र जातिमें शमदमादि गुण पाये जायँ तो वह ब्राह्मण है, विशुद्ध ब्राह्मण जाति पितृजन्य होनेपर भी शमदमादि शून्य हो तो वह ब्राह्मण नहीं है, इसी तरह शौर्य, तेज आदि गुणोंसे सम्पन्न क्षत्रिय हैं, क्षत्रिय माता पितृजन्यमात्र क्षत्रिय नहीं यदि इतर जातिमें उक्त गुण हो तो वही क्षत्रिय है। इसी तरह वैश्य शूद्रमें भी जानना। ब्राह्मण सृष्टिके अनन्तर यदि उनमें उक्त गुणोंकी सृष्टि मानी जाय तो सब ब्राह्मणोंमें शमदमादि गुण होने चाहिये, इतर जातियोंमें उक्त गुण न होने चाहिए, किन्तु ऐसा नहीं देखा जाता बहुत ब्राह्मणोंमें ये गुण नहीं होते, कतिपय इतर जातियोंमें ये गुण पाये जाते हैं अतः अधिक व्यभिचार देखनेसे ब्राह्मणसृष्टिके अनन्तर उनमें ही उक्त गुण उत्पन्न किये गये यह अर्थ ठीक नहीं; किन्तु गुण कर्मके अनुसार जाति माननी चाहिए अतः जिसमें शमदमादि हो वही ब्राह्मण है और शौर्यतेजप्रभृति गुण जिसमें हो वह क्षत्रिय है इत्यादि ठीक है इसमें प्रमाण महाभारत है, तथाहि-सर्पने युधिष्ठिरसे प्रश्न किया कि 'ब्राह्मणः को भवेद्राजन्' इसपर युधिष्ठिरने उत्तर दिया 'सत्यं दानं क्षमा शीलमनाल्यं तपो घृणा। दृश्यते यत्र नागेन्द्र स ब्राह्मण इति स्मृतः ॥ शूद्रे तु यद्भवेल्लक्ष्म द्विजे

तच्च न विद्यते। न वै शूद्रो भवेच्छूद्रो ब्राह्मणो नच ब्राह्मणः। यत्रैतल्लक्ष्यते सर्प वृत्तं स ब्राह्मणः स्मृतः। यत्रैतन्न भवेत् सर्प तं शूद्रमिति निर्दिशेत्। महाभारत। ३।१८०।२१।२६।। इति ।। शमदमादि ब्राह्मण लक्षण शूद्रमें हो और ब्राह्मणोंमें वे न हों, वह शूद्र जिसमें शमादि हैं वह शूद्र नहीं किन्तु ब्राह्मण लक्षण योगी होनेसे ब्राह्मण है और स्वगुणशून्य ब्राह्मण ब्राह्मण नहीं जिसमें ये ब्राह्मण गुण हों वही ब्राह्मण है जातिसे कोई ब्राह्मण नहीं यह स्पष्ट प्रतीत होता है और भी उसी स्थानपर 'ब्राह्मणः केन भवति क्षत्रियो वा द्विजोत्तम। वैश्यः शूद्रश्च विप्रर्षेतद्ब्रूहि वदतांवर ।। इसके द्वारा भरद्वाजके इस प्रश्नका उत्तर भृगुने दिया कि सत्यं दानमथाद्रोह अनाशंस्यं भयो घृणा, तपश्च दृश्यते यत्र स ब्राह्मण इति स्मृतः ।। क्षत्रजं सेवेत कर्म वेदाध्ययनसंगतः दानादान रतिर्यस्तु सवै क्षत्रिय उच्यते ।। वाणिज्यं पशुरक्षा च कृष्यादान रतिः, शुचिः। वेदाध्ययनसम्पन्नः स वैश्य इति संज्ञितः ।। सर्वभक्षरतिर्नित्यं सर्वकर्मकरोऽशुचिः त्यक्तवेदस्त्वनाचारः स वै शूद्र इति स्मृतः ।। म० भा० १२।१८९।१।४।८। इति। यहां भी गुणकर्मानुसार ही जाति की व्यवस्था है, पूर्वोक्तार्थसे ही इसका भी अर्थ स्पष्ट है इस कारण इसका अर्थ नहीं किया, सारांश यही है कि गुणकर्मानुसार जाति है जात्यनुसार गुणकर्म नहीं अतः जाति ब्राह्मण अब्राह्मण क्षत्रियादि गुण सम्पन्न होने पर क्षत्रियादि हो सकते हैं तथा क्षत्रियादि उन ब्राह्मण गुणोंसे ब्राह्मण भी हो सकते हैं अतः जन्म हीसे ब्राह्मणत्वादि आते हैं अन्यथा नहीं यह उक्त श्लोकोंसे सुस्पष्ट विरुद्ध है ऐसाही भागवतमें भी है 'यस्य यल्लक्षणं प्रोक्तं पुंसो वर्णाभिव्यञ्जकम्'। यदन्यत्रापि दृश्येत तत्तेनैव विनिर्दिशेत्। इस लक्षणानुसारसे ही ब्राह्मणत्वादिका निर्देश कहा गया है अतः ब्राह्मणादिमें ब्राह्मणत्वादि जन्मसे होता है, यह भगवान्को अभिप्रेत नहीं और यह मत प्रमाणसे विरुद्ध भी है केवल वञ्चकोंकी वञ्चकतामात्र है इसको उच्चैः स्वरसे कहते है, इसका उत्तर सुनिये भगवद्वाक्यमें प्रथम उद्देश्य विधेयभावका विचार कीजिये। समुत्पन्न ब्राह्मणके उद्देश्यसे गुणकर्मका विधान है किंवा गुणकर्मके उद्देश्यसे ब्राह्मणादि वर्णका। इसका निर्णायक भगवद्वाक्य ही है, भगवद्वचन यह है- ब्राह्मण क्षत्रिय विशां शूद्राणां च परन्तप। कर्माणिप्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ।। यहां पर ब्राह्मणादिकोंके कर्म ब्राह्मणत्वावच्छिन्नीयोद्देश्यतानिरूपितविधेयताश्रयकर्म स्वभावजगुणसे विभक्त हैं, आहारनिद्राभयादि प्राणिमात्र साधारण होनेसे विशेषक नहीं है। ब्राह्मणोद्देशक विहित कर्मानुष्ठानमें अधिकार प्राप्तिके लिए तदनुष्ठानसे पूर्वमें ही ब्राह्मणत्वादि अपेक्षित हैं अतः उन कर्मोंसे ब्राह्मणत्वादि सिद्धि नहीं कह सकते, सिद्धसाधन दोष होगा,

ब्राह्मणत्वादि अनुष्ठानसे पूर्वमें ही सिद्ध है फिर वह अनुष्ठानसे कैसे होगा, एकमें सिद्धत्वसाध्यत्व पूर्वापर कालवृत्तिविरुद्ध धर्म नहीं रह सकते अनधिकारि कृतकर्म श्रेयःसाधक नहीं बल्कि 'परधर्मोभयावहः' इस भगवद्वचनसे निन्दित होनेसे वह प्रत्यवायजनक है। शम, दम, शौर्य, तेज इत्यादि, ब्राह्मणत्व, क्षत्रियत्वादि जाति प्रयोजक नहीं हैं किन्तु ब्राह्मणत्वादि जाति प्रयोज्य हैं अतएव 'स्वभावजम्' यह उक्त श्लोकमें कहा गया है 'किञ्च येऽपि स्युः पापयोनयः स्त्रियो वैश्या स्तथा शूद्राः' इस भगवद्वचनसे जन्मसे ही जाति भेद अभिमत है इनमें शंकाका लेश भी नहीं तदनुसृज् धातु और शस् प्रत्ययके स्वारस्यसे गुण कर्मका विभाग करके चातुर्वर्ण्यम् ईश्वरने सृष्ट किया यहाँ व्याख्यान ठीक है महाभारतमें यही 'अर्थ पुष्ट किया गया है प्रजापतिः प्रजाः सृष्ट्वा तासु कर्म विधाय च। वर्णो वर्णे समाधत्त एकैकं गुणभाग्गुणम्॥ ब्राह्मणे वेद म्यंजन्तु क्षत्रिये तेजउत्तमम्। दाक्ष्यं वैश्ये च शूद्रे च सर्ववर्णानुकूलताम्॥ यहाँ पर वर्ण सृष्टिके बाद गुण कर्मका विभागसे आधान किया गया है यह सुस्पष्ट है, महाभारतको भी जन्म सिद्ध ब्राह्मणत्वादि अभिप्रेत है यह सुखसे प्रतीत होता है, कण्ठरवसे भी यही कहा है, जन्मनैव महाभागो ब्राह्मणो नाम जायते। मः भाः। १३।३५।१। वह्वीस्तु संसरन् योनीः जायमानः पुनः पुनः। पर्याये तात कस्मिश्चिद् ब्राह्मणो नाम जायते॥ मः भाः १३।२८।२९।१२।

शंका—अच्छा तो पूर्वमें जो कहा शूद्रे तु यद्भवेदित्यादिसे उसकी क्या गति होगी।

समाधान—'नविशषंविषमित्याहुः ब्रह्मस्व विषमुच्यते। ब्रह्मस्वत्वमें दृढ़ विषत्वारोपके लिए विषमें विषका निषेध किया है तद्वद् शूद्रत्वके आरोपार्थ ही ब्राह्मणमें ब्राह्मणत्वका निषेध है आरोप्यमाण और आरोप्याधिकरणका भेद सर्वजन्मप्रसिद्ध है अतः उक्तवचनका जन्मतः ब्राह्मणत्वनिषेधमें तात्पर्य नहीं किन्तु सत्त्वादि गुणविशिष्ट ब्राह्मणकी प्रशंसामें तात्पर्य है अन्यथा शूद्रतु यद्भवेत् लक्ष्म द्विजे तच्च न विद्यते। यहाँ प्रथम श्लोकार्द्धमें ब्राह्मण शूद्रका कुछ अर्थ न होनेसे वे अनर्थक हो जायगें आपके मतसे तत्तद् गुण विशिष्ट ही शूद्रादि हैं तत्तद् वर्ण व्यञ्जक गुण तो उनमें हैं नहीं फिर उनका अर्थ क्या होगा जन्मसे वर्ण व्यवस्था माननेसे उक्त गुण न होने पर भी जन्मतः ब्राह्मणादि शूद्र हैं।

शंका—अच्छा तो फिर शूद्रादिमें शूद्रत्वादिका निषेध कैसे किया गया।

समाधान—गुणहीन ब्राह्मणमें शूद्र साधर्म्यमात्र विवक्षित है न तु वस्तुतः शूद्रत्वका विधान है अतएव उसी जगह कहा है—तावच्छूद्रसमोह्येष यावद्वेदेन

जायते' ॥ म. भा. ३।१८।३३ ॥ इसी प्रकार शूद्र पक्षमें भी समझना, इसी तरह 'यस्य यल्लक्षणमित्यादि' भागवतमें शौर्यादिविशिष्ट ब्राह्मणमें गुणसादृश्यसे क्षत्रियत्व गौण कहा गया है, जन्मसिद्ध ब्राह्मणत्वाभावका बोधक नहीं लोकमें भी सिंहो देवदत्तः यहाँपर क्रौर्य शौर्यादि सादृश्यसे सिंह शब्दका प्रयोग होता है, उसका तात्पर्य सादृश्यमें है, वस्तुतः सिंहमें नहीं क्योंकि मनुष्य वस्तुतः सिंह नहीं हो सकता शास्त्रमें भी गौण व्यवहार देखा जाता है, यथा अत्रिसंहितामें लिखा है अस्त्रहस्ताः सुधन्वानः संग्रामे सर्वसम्मुखे। आरम्भे निर्जिता येन स विप्र क्षत्रउच्यते ॥ कृषिकर्मरतो यश्च गवां च प्रतिपालकः। वाणिज्यं व्यवसायश्च स विप्रो वैश्यउच्यते'। १२।४।८। उक्त श्लोकमें जाति ब्राह्मण ही शौर्यादि गुण विशेष सम्बन्धसे क्षत्रियादि पदसे व्यवहृत किये गये हैं गौण व्यवहारमात्रसे ब्राह्मण वास्तविक क्षत्रिय नहीं हो सकते तादृश व्यवहारमात्र विवक्षित है, व्यवहार प्रकृतिमें गौण ही है मुख्य नहीं 'दशाष्ट पञ्च त्रिगुणशतमुर्द्धान्वितौ क्रमात्। विप्रौनृपौ विशौ शूद्रौ द्वौ द्वौ नागेषु कीर्तितौ ॥ अग्निपुराण २९४।३। सर्पोंमें भी ब्राह्मणादि भेद कहा गया है तथा हाथियोंमें भी ब्राह्मणादि व्यवहार शास्त्रमें है, विप्रः शुचिर्मधुमयः परमान्नसर्पिः। चूतप्रसून समगन्ध सुगन्धिताङ्गः स्र क्षत्रियोविविध शस्त्रनिपातशूरः शूद्रोऽपि तूर्णमुपशाम्यति वैश्य जातिः। मातङ्ग लीला ॥ ८।५।११ ॥ सुगन्धा ब्राह्मणी भूमिः रक्तगन्धातु क्षत्रिया, मधुगन्धा भवेद् वैश्या मद्यगन्धा च शूद्रिणी। विश्व षा. शा. १।३५१। मनुष्य व्यतिरिक्त पश्वादिमें तथा अचेतन मही आदिमें भी वर्ण व्यवहार पाया जाता है उनमें तद्गुण नहीं है अतः जन्म हीसे वर्ण व्यवस्था माननी चाहिए गुणसे नहीं, उदाहृत स्थलमें व्यभिचार स्फुट है। विप्रादि संज्ञक सर्पादि या जन्वादि ब्राह्मण कर्माधिकारी नहीं हैं, न ब्राह्मणादिके साथ विवाहादिक ही प्रसक्त है यह वचनके बिना ही सिद्ध है वैसे ही मनुष्योंमें भी समझना, यह वारतान्त स्मृतिमें विस्पष्ट है। देहान्तर बिना धर्मसादृश्येनापि वर्णता यीच्येत, ज्ञानतद्वर्ण पूजोद्वाहादिषु स्थितो इति। गुण कर्म व्यभिचार दर्शन विरोध भी नहीं क्योंकि सोपाधिक होनेसे अन्यथासिद्ध हैं, सृष्टि-न्यायसे अधिक होनेसे व्यवहारकी उपपत्ति होती है। पू. भी. १।४।२७ सृष्टिरुपदधातीति इत्यादिकमें स्पष्ट है। गुण व्यभिचार देखने पर भी एक देशविकृत न्यायसे जाति ब्राह्मणत्व रहती ही है तपः श्रुतं च योनिश्चेत्येतद्ब्राह्मणलक्षणम् तपः श्रुताभ्यां यो हीनः जातिब्राह्मण एव सः। म. भा. २।२।२६। इस ब्राह्मणलक्षणमें भी वैसे ही देखा जाता है अतः वर्णव्यवस्था जन्म सिद्ध है। ब्राह्मणादिसे ही शास्त्रसम्मत तथा शिष्टसम्मत है केवल गुण कर्मानुसारी नहीं इसमें शंकाका लेश नहीं सूतसंहितामें यही उद्घोषित है—सर्वेषां जन्मना जातिर्नान्यथा कर्मकोटिभिः,

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा ।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते ॥ १४ ॥
एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः ।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम् ॥ १५ ॥

क्योंकि कर्मोंके फलमें मेरी स्पृहा नहीं है, इसलिये मेरेको कर्म लिप्पायमान नहीं करते, इस प्रकार जो मेरेको तत्त्वसे जानता है, वह भी कर्मोंसे नहीं बँधता है ॥ १४ ॥

तथा पहिले होनेवाले मुमुक्षु पुरुषोंद्वारा भी इस प्रकार जानकर ही कर्म किया गया है, इससे तूं भी पूर्वजोंद्वारा सदासे किये हुए कर्मको ही कर ॥ १५ ॥

कर्माणि विश्वसर्गादीनि मां निरहंकारत्वेन कर्तृत्वाभिमानहीनं भगवन्तं न लिम्पन्ति देहारम्भकत्वेन न बध्नन्ति । एवं कर्तृत्वं निराकृत्य भोक्तृत्वं निराकरोति न मे ममाऽऽप्तकामस्य कर्मफले स्पृहा' इति श्रुतेः । कर्तृत्वाभिमानफलस्पृहाभ्यां हि कर्माणि लिम्पन्ति तदभावान्न मां कर्माणि लिम्पन्तीति । एवं योऽन्योऽपि मामकर्तारमभोक्तारं चाऽऽत्मत्वेनाभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यतेऽकर्त्रात्मज्ञानेन मुच्यत इत्यर्थः ॥ १४ ॥

यतो नाहं कर्ता न मे कर्मफलस्पृहेति ज्ञानात्कर्मभिर्न बध्यतेऽतः—

पश्वादीनां यथा जाति र्जन्मनैव न चान्यथा । शि. मा. ख. १४।५१॥ सब श्रुति स्मृति पुराण इतिहासोंका यही सिद्धान्त है अधिक अन्यत्र देखिये यह संक्षेप है। अथगीतानुवाद ॥ १३ ॥

'न मां कर्माणि' इति—विश्वोत्पत्ति, स्थिति, संहारादिकर्म, अहंकारशून्य अतएव कर्तृत्वाभिमानरहित भगवानके देहारम्भक होकर बन्धन नहीं होते इस प्रकार कर्तृत्वका निरास कर भोक्तृत्वका भी निरास करते हैं, प्राप्तकाम मुझको कर्म फलमें स्पृहा-तृष्णा नहीं है 'आप्त कामस्य का स्पृहा' श्रुति स्पष्ट ईश्वरमें कामनाके अभावका बोधन कराती है, कर्तृत्वाभिमान और फल स्पृहासे ही कर्मबन्धन होते हैं इसलिये कर्मका लेपबन्धन मुझमें नहीं, इसी तरह कोई दूसरा भी अकर्ता अभोक्ता आत्मस्वरूपको जानता है वह भी कर्मसे बद्ध नहीं होता आत्मा अकर्ता है इस ज्ञानसे मुक्त हो जाता है ॥ १४ ॥

न मैं कर्ता हूं न मेरेमें कर्म फलकी तृष्णा है इस ज्ञानसे कर्म बन्ध नहीं

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः ॥
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥ १६ ॥

परन्तु, कर्म क्या है और अकर्म क्या है? ऐसे इस विषयमें बुद्धिमान् पुरुष भी मोहित हैं, इसलिये मैं वह कर्म अर्थात् कर्मोंका तत्त्व तेरे लिये अच्छी प्रकार कहूँगा कि जिसको जानकर तू अशुभ अर्थात् संसारबन्धनसे छूट जायगा ॥ १६ ॥

एवमात्मनोऽकर्तुः कर्मालेपं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरतिक्रान्तैरपि अस्मिन् युगे ययातियदुप्रभृतिभिर्मुमुक्षुभिः। तस्मात्त्वमपि कर्मैव कुरु न तूष्णीमासनं नापि संन्यासम्। यद्यतत्त्ववित्तदाऽऽत्मशुद्ध्यर्थं तत्त्ववित्चेल्लोकसंग्रहार्थम्। पूर्वैर्जनकादिभिः पूर्वतरमतिपूर्वं युगान्तरेऽपिकृतम्। एतेनास्मिन्युगेऽन्ययुगे च पूर्वपूर्वतरैः कृतत्वादवश्यं त्वया कर्तव्यं कर्मेति दर्शयति ॥ १५ ॥

ननु कर्मविषये किं कश्चित्संशयोऽप्यस्ति येन पूर्वैः पूर्वतरं कृतमित्याति-निर्बध्नासि अस्त्येवेत्याह—किं कर्मेति

नौस्थस्य निष्क्रियेष्वपि तटस्थवृक्षेषु गमनभ्रदर्शनात्तथा दूराच्चक्षुःसंनि-कृष्टेषु गच्छत्स्वपि पुरुषेष्वगमनभ्रमदर्शनात् परमार्थतः किं कर्म किं वा पर-

होता इस प्रकार अकर्त्ता आत्मामें कर्मलेपाभाव अबन्ध जानकर पूर्वोत्पन्न इस युगमें ययाति यदुप्रभृति मुमुक्षुओंने जो कर्म किया है तज्जातीय कर्म तुम भी करो न कर्म छोड़कर बैठो न संन्यास ही ग्रहण करो, यदि तत्त्वज्ञानी न हो तो आत्म शुद्धिके लिये कर्म करो यदि तत्त्वज्ञानी हो तो भी जनकादिके समान लोकसंग्रहार्थी कर्म करो। जनक पूर्वयुगमें हो चुके उनसे पहिले उत्पन्न लोगोंने कर्म किये हैं अतः पूर्व पूर्वतर लोगोंने कर्म किये, इसलिये तुम भी कर्म करो यही दिखलाते है ॥ १५ ॥

शङ्का—क्या कर्म विषयमें कुछ सन्देह भी है जिस कारण बहुत अनुरोध कर रहे हो कि पूर्व लोगोंने कर्म किये हैं इसलिये तुम भी कर्म करो।?

समाधान—हाँ, है जैसे—नौकामें बैठे हुये पुरुषको क्रिया रहित तीर वृक्षोंमें चलनभ्रम होता है, नौकाको गति वृक्षोंमें प्रतीत होती है मानों वृक्ष ही चल रहे हैं तथा गतिवान दूरस्थ पुरुषमें यह नहीं चलता है ऐसा भ्रम होता है, अक्रियावान्में क्रियाका और क्रियावान्में अक्रियाका भ्रम होता है। यह लोकमें प्रसिद्ध उदाहरण है।

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः ॥
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ॥ १७ ॥

कर्मका स्वरूप भी जानना चाहिये और अकर्मका स्वरूप भी जानना चाहिये तथा निषिद्ध कर्मका स्वरूप भी जानना चाहिये, क्योंकि कर्मकी गति गहन है ॥१७

मार्थतोऽकर्मेति कवयो मेधाविनोऽप्यत्रास्मिन्विषये मोहिता मोहं निर्णयासामर्थ्यं प्राप्ता अत्यन्तदुर्निरूपत्वादस्यादित्यर्थः। तत्तस्मात्ते।तुभ्यमहं कर्म, अकारप्रश्लेषण च्छदादकर्म च प्रवक्ष्यामि प्रकर्षेण संदेहोच्छेदेन वक्ष्यामि। यत्कर्माकर्मस्वरूपं ज्ञात्वा मोक्ष्यसे मुक्तो भविष्यस्यशुभात्संसारात् ॥ १६ ॥

ननु सर्वलोकप्रसिद्धत्वादहमेवैतज्जानामि देहेन्द्रियादिव्यापारः कर्म तूष्णीमासनमकर्मेति तत्र किं त्वया वक्तव्यमिति तत्राऽऽह—

हि यस्मात्कर्मणः शास्त्रविहितस्यापि तत्त्वं बोद्धव्यमस्ति, विकर्मणश्च प्रतिषिद्धस्य, अकर्मणश्च तूष्णींभावस्य। अत्र वाक्यत्रयेऽपि तत्त्वमस्तीत्यध्याहारः। यस्माद्गहना दुर्ज्ञाना। कर्मण इत्युपलक्षणं कर्माकर्मविकर्मणाम् गतिस्तत्त्वमित्यर्थः ॥ १७ ॥

परमार्थतः क्या कर्म है, क्या अकर्म है इस विषयमें बड़े विद्वान भी विमुग्ध होते हैं। निर्णयमें असमर्थ रहे क्योंकि इस विषयका निर्णय अति कठिन है अतः तुमसे कर्म अकर्मका भेद कहेंगे। 'वक्ष्यामि' न कह करके प्रवक्ष्यामि कहा। 'प्र' का तात्पर्य शंसयनिर्वतक कथनमें है जिस कर्माकर्मके स्वरूपको जानकर संसारसे मुक्त हो जावोगे ॥ १६ ॥

शङ्का—सर्वलोक प्रसिद्ध कर्माकर्मको हम स्वयं जानते ही हैं देहेन्द्रियादि व्यापारकर्म है, चुप निष्क्रिय बैठना अकर्म है इसमें अधिक आपको क्या कहना है?

समाधान—शास्त्र विहित कर्मका तत्व समझना चाहिये। प्रतिषिद्ध कर्म विकर्म है। तृष्णींभाव-कुछ न करना अकर्म है इनके भी तत्व जानना चाहिए इन तीनों वाक्योंमें बोधव्यका आध्याहार है, कर्म, विकर्म, अकर्म इन तीनोंकी गति यथार्थ स्वरूप गहन है अति कठिन कर्म उपलक्षण है उक्त तीनोंका तत्व दुर्ज्ञेय है ॥ १७ ॥

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः ॥
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥ १८ ॥

जो पुरुष कर्ममें अर्थात् अहंकाररहित की हुई संपूर्ण चेष्टाओंमें अकर्म अर्थात् वास्तवमें उनका न होना देखे और जो पुरुष अकर्ममें अर्थात् अज्ञानी पुरुषद्वारा किये हुए संपूर्ण क्रियाओंके त्यागमें भी, कर्मको अर्थात् त्यागरूप क्रियाको देखे, वह पुरुष मनुष्योंमें बुद्धिमान् है वह योगी सम्पूर्ण कर्मोंका करनेवाला है॥१८॥

कीदृशं तर्हि कर्मादीनां तत्त्वमिति तदाह—'कर्मणि' इति।

कर्मणि देहेन्द्रियादिव्यापारे विहिते प्रतिषिद्धे चाहं करोमीति धर्म्यध्यासेनाऽऽत्मन्यारोपिते नौस्थेनाचलत्सु तटस्थवृक्षादिषु समारोपिते चलन इवाकर्त्रात्मस्वरूपालोचनेन वस्तुतः कर्माभावं तटस्थवृक्षादिष्विव यः पश्येत्पश्यति। तथा देहेन्द्रियादिषु त्रिगुणमायापरिणामत्वेन सर्वदा सव्यापारेषु निर्व्यापारस्तूष्णीं सुखमास इत्यभिमानेन समारोपितेऽकर्मणि व्यापारोपरमे दूरस्थचक्षुःसंनिकृष्टपुरुषेषु गच्छत्स्वप्यगमन इव सर्वदा सव्यापारदेहेन्द्रियादिस्वरूपपर्यालोचनेन वस्तुगत्या कर्म निवृत्त्याख्यप्रयत्नरूपं व्यापारं यः

कर्मादिका तत्व कैसा है ? इसको बतलाते हैं 'कर्मणि' इत्यादिसे। देहेन्द्रियादि व्यापार विहित हो या प्रतिषिद्ध उसमें मैं करता हूँ यह धर्माध्यास आत्मामें आरोपित है, देहेन्द्रियादिका आत्मामें तादात्म्याध्यास है इसीसे 'अहं गौरः वधिरः' इत्यादि प्रतीतियाँ होती हैं, तादात्म्याध्यास होने पर तद्धर्म कर्तृत्वादिका आरोप होता है जैसे लोहेमें अग्नि तादात्म्याध्यास होने पर तद्धर्म दाहादिका आरोप कर 'अयो दहति' यह प्रयोग होता है वैसे ही मैं करता हूँ यह भी प्रतीति आरोपित कर्तृत्वविषयक है, नौकास्थ पुरुष निश्चल तटस्थ वृक्षोंमें चलनारोपके समान अकर्ता आत्मस्वरुपका निश्चय करनेसे वस्तुतः क्रियारहित तीरस्थ वृक्षोंके समान कर्माभाव देखता है तथा माया परिणाम अतएव सदा सव्यापार देहेन्द्रियादिमें व्यापाराभाव यानी चुप बैठ हैं कुछ नहीं करते है इस अभिमानसे आरोपित अकर्ममें और व्यापाराभावदशामें एवं दूरस्थ चक्षुः सन्निकृष्ठ चलते पुरुषमें गमनाभावके समान हर समयमें व्यापार सहित देहेन्द्रियादि स्वरुपका अवधान कर वस्तुतः कर्माभाव रूप प्रयत्न देखें, और जैसे दूरस्थ पुरुषमें चलन है पर दूरस्थ दोषसे

पश्येदुदाहृतपुरुषेषु गमनमिव। औदासीन्यावस्थायामप्युदासीनोऽहमास इत्यभिमान एव कर्म। एतादृशः परमार्थदर्शी स बुद्धिमानिन्द्रियादिना बुद्धिमत्त्वयोगयुक्तत्वसर्वकर्मकृत्त्वैस्त्रिभिर्धर्मैः स्तूयते। अत्र प्रथमपादेन कर्मविकर्मणोस्तत्त्वं कर्मशब्दस्य विहितप्रतिषिद्धपरत्वात्, द्वितीयपादेन चाकर्मणस्तत्त्वं दर्शितमिति द्रष्टव्यम्। तत्र यावन्मन्यसे कर्मणो बन्धहेतुत्वात्तूष्णीमेव मया सुखेन स्थातव्यमिति तन्मृषा। असति कर्तृत्वाभिमाने विहितस्य प्रतिषिद्धस्य वा कर्मणो बन्धहेत्वाभावात्। तथा च व्याख्यातं न मां कर्माणि लिम्पन्तीत्यादिना। सति च कर्तृत्वाभिमाने तूष्णीमहमास इत्यौदासीन्याभिमानात्मकं यत्कर्म तदपि बन्धहेतुवस्तुतत्त्वापरिज्ञानम्। तस्मात्कर्मविकर्माकर्मणां तत्त्वमीदृशं ज्ञात्वा विकर्माकर्मणी परित्यज्य कर्तृत्वाभिमानफलाभिसंधिहानेन विहितं कर्मैव कुर्वित्यभिप्रायः। अपरा व्याख्या—कर्मणि

तदभाव देख पड़ता वैसे ही कर्माभाव सदा कर्मशील देहादिमें देखें।

प्रश्न—उदासीन अवस्थामें कोई कर्म नहीं रहता उस समय आरोपित कर्माभाव कैसे। क्योंकि उस समय तो तदभाव वास्तविक ही है!

उत्तर—उदासीन मैं हूँ यह अभिमान ही कर्म है एतादृश परमार्थदर्शी पुरुष सब मनुष्योंमें बुद्धिमान् एवं योग युक्त है वही सकल साधु कर्म करता है बुद्धिमत्व योगयुक्तत्व सकल धर्म कर्तृत्वसे उसीकी स्तुति करते हैं, यहां पर प्रथम पादसे कर्मविकर्मका तत्व, कर्म शब्दविहित प्रतिषिद्धपरक है, द्वितीय पादसे अकर्मका स्वरूप दिखलाया यह समझना, इसमें जो आप यह समझते है कि कर्म बन्धहेतु है यदि उसको न कर चुप वैठे रहैगें तो सुखसे रहैगें यह समझ असत्य है, कर्तृत्वाभिमान न रहने पर विहित या प्रतिषिद्ध कर्म बन्धहेतु नहीं होता यह पूर्वमें भगवान् ने स्वयं स्पष्ट किया है 'न मां कर्माणि लिम्पन्ति, इत्यादिसे, कर्तृत्वाभिमान रहने पर मैं निवृत्त व्यापार वैठा हूँ, औदासीन्याभिमानात्मक जो कर्म हैं यह भी बन्धनका हेतु है क्योंकि वस्तुतत्वका परिज्ञान नहीं है जब तक वस्तुतत्व का परिज्ञान न होगा तब तक पुरुष कर्म शून्य नहीं रह सकता अतः कर्म विकर्म और अकर्मका तत्व ईदृश है यह जानकर विकर्माकर्मका परित्याग कर कर्तृत्वाभिमान फलाभिसन्धिका त्याग कर विहित कर्म ही करो यह अभिप्राय है।

दूसरी व्याख्या ज्ञानकर्म दृश्यजड़में सद्रूपसे तथा प्रकाशरूपसे जो अनु-

ज्ञानकर्मणि दृश्ये जडे सद्रूपेण स्फुरणरूपेण चानुस्यूतं सर्वभ्रमाधिष्ठानम-कर्मविधं स्वप्रकाशचैतन्यं परमार्थदृष्ट्या यः पश्येत्। तथाऽकर्मणि च स्वप्रकाशे दृग्वस्तुनि कल्पितं कर्म दृश्यं मायामयं न परमार्थं सत्, दृग्दृश्ययोः सम्बन्धानुपपत्तेः—

'यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्येवानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चाऽऽत्मानं ततो न विजुगुप्सते ' इति श्रुतेः ॥

एवं परस्पराध्यासेऽपि शुद्धं वस्तु यः पश्यति मनुष्येषु मध्ये स एव बुद्धिमान्नान्यः। अस्य परमार्थदर्शित्वादन्यस्य चापरमार्थदर्शित्वात्। स च बुद्धिसाधनयोगयुक्तोऽन्तकरणशुद्ध्यैकाग्रचित्तः। अतः स एवान्तकरणशुद्धि-साधनकृत्स्नकर्मकृदिति वास्तवधर्मैरेव स्तूयते। यस्मादेवं तस्मात्त्वमपि परमार्थदर्शी भव तावतैव कृत्स्नकर्मकारित्वोपपत्तेरित्यभिप्रायः। अतो यदुक्तं यज्ज्ञात्वा मन्यसेऽशुभादिति, यच्चोक्तं कर्मादीनां तत्त्वं बोद्धव्यमस्तीति, स बुद्धिमानित्यादिस्तुतिश्च, तत्सर्वं परमार्थदर्शने संगच्छते। अन्यज्ञानाद-शुभात्संसारान्मोचानुपपत्तेः। अतत्त्वं चान्यत्त बोद्धव्यं न वा तज्ज्ञाने बुद्धिमत्त्वमिति युक्तैव परमार्थदर्शिना व्याख्या। यत्तु व्याख्यानं कर्मणि

स्यूत है वहा सब विभ्रमोंका अधिष्ठान है एव परमार्थ दृष्टिसे स्व प्रकाश चैतन्यको जो देखता है तथा अकर्म स्वप्रकाश ज्ञानरूप वस्तुमें कल्पित कर्म दृश्य मायामय है परमार्थ सत् नहीं कारण दृक् और दृश्यका सम्बन्ध ही नहीं बन सकता 'यस्तु सर्वाणि' इत्यादि श्रुतिमें यह स्पष्ट किया गया है इसी तरह परस्पराध्यास में शुद्ध वस्तुको जो देखता है वही मनुष्योंके मध्यमें बुद्धिमान् है दूसरा नहीं यही परमार्थदर्शी है अन्य सब अपरमार्थदर्शी हैं, वह बुद्धि साधन योगयुक्त अन्तःकरण शुद्धिसे एकाग्रचित्त अतः वही अन्तःकरण शुद्धि साधन सकल कर्मोंका कर्त्ता है इस प्रकार वास्तव धर्मसे स्तुति है क्योंकि पूर्वोक्त परमार्थदर्शी स्तुत होता है अतः तुम भी परमार्थदर्शी बनो, उसीसे सकल धर्मकारित्वकी उपपत्ति होगी इस कारणसे जो कहा 'यद् ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्' और जो कहा कर्मादिका तत्व जानना चाहिए वह बुद्धिमान् है इत्यादि स्तुति यह सब परमार्थ दर्शनमें सङ्गत होती है अन्य ज्ञानसे अशुभमयसंसारसे निवृत्ति नहीं हो सकती, अन्य अतत्वको नहीं समझना चाहिए और न उस ज्ञानसे बुद्धिमत्व ही है, अतः परमार्थदर्शियोंकी व्याख्या ही युक्त है

नित्ये परमेश्वरार्थेऽनुष्ठीयमाने बन्धहेतुत्वाभावादकर्मेदमिति यः पश्येत्। तथाऽकर्मणि च नित्यकर्माकरणे प्रत्यवायहेतुत्वेन कर्मेदमिति यः पश्येत्स बुद्धिमानित्यादि तदसंगतमेव। नित्यकर्मण्यकर्मेदमिति ज्ञानस्याशुभमोक्षहेतुत्वाभावात्, मिथ्याज्ञानत्वेन तस्यैवाशुभत्वाच्च। न चैतादृशं मिथ्याज्ञानं बोद्धव्यं तत्त्वं नाप्येतादृशज्ञाने बुद्धिमत्त्वादिस्तुत्युपपत्तिर्भ्रान्तित्वात्। नित्यकर्मानुष्ठानं हि स्वरूपतोऽन्तःकरणशुद्धिद्वारोपयुज्यते न तत्राकर्मबुद्धिः क्वाप्युपयुज्यते शास्त्रेण नामादिषु ब्रह्मदृष्टिवदविहितत्वात्। नापीदमेव वाक्यं तद्विधायकमुपक्रमादिविरोधस्योक्तेः। एवं नित्यकर्माकरणमपि स्वरूपतो नित्यकर्मविरुद्धकर्मलक्षकतयोपयुज्यते न तु तत्र कर्मदृष्टिः क्वाप्युपयुज्यते।

जो व्याख्यान है, नित्य कर्म परमेश्वरार्थ किये जाते हैं उनको अबन्धक होनेसे अकर्म जाने क्योंकि कर्म बन्धक हेतु ही होता है जो बन्धन हेतु नहीं वह कर्म नहीं ईश्वरार्पण बुद्धि से जो निरभिसन्धि कर्म किया जाता है उस अबन्ध हेतु कर्मको अकर्म ही जानना चाहिए एवं अकर्म नित्य कर्मानुष्ठानाभावमें प्रत्यवाय हेतु होनेसे यह कर्म है यह जो देखे सो बुद्धिमान् है इत्यादि असङ्गत है, नित्यकर्म को यह अकर्म है इस दर्शनसे संसारसे मुक्ति नहीं हो सकती मिथ्या ज्ञानसे वह ज्ञान ही अशुभ है यह मिथ्या ज्ञान बोद्धव्य तत्व नहीं और न ऐसे ज्ञानसे बुद्धिमत्वादि स्तुति ही हो सकता है क्योंकि यह तो मिथ्या ज्ञान है नित्य कर्मानुष्ठान करनेसे अतः करण शुद्धि होती है 'अकर्म बुद्धिसे उसमें क्या उपभोग जो स्वरूपसे कारण है उसमें बुद्धिका क्या उपभोग, वह्निस्वरूपसे दाह कारण है उसमें अबुद्धि बुद्धि होने पर भी यदि स्वरूपसे है तो' अवश्य दाह होगा चाहे जो बुद्धि हो।

शङ्का—जैसे 'ब्रह्मोपासीव' इस श्रुतिसे अब्रह्मनाममें ब्रह्म दृष्टिका विधान तत्व ज्ञानोत्पातिके लिए किया गया है तथा प्रकृतमें भी विधान ज्ञानोपयोगी प्रयोगोंके लिए हो सकता है?

समाधान—नामादिमें तत्फलके लिए ब्रह्मदृष्टिका उक्त शास्त्रसे विधान है प्रकृतमें किसी शास्त्रसे उक्त विधान नहीं है।

शङ्का—वाक्यान्तर न सही यही वाक्य उक्तका विधायक है। उपक्रमादि विरोध होगा यह कह रहे हैं-इसी प्रकार नित्य कर्मानुष्ठानाभावस्वरूपसे नित्यकर्म विरुद्ध कर्म लक्षक होनेसे उपयुक्त होता है, उसमें कर्म दृष्टिका तो कहीं भी उपयोग

नापि नित्यकर्माकरणात्प्रत्यवायः, अभावाद्भावोत्पत्त्ययोगात् । अन्यथा तदपि शेषेण सर्वदा कार्योत्पत्तिप्रसङ्गात् । भावार्थाः कर्मशब्दास्तेभ्यः क्रिया प्रतीयेतैष ह्यर्थो विधीयत इति न्यायेन भावार्थस्यैवापूर्वजनकत्वात् । 'अतिरात्रे षोडशिनं न गृह्णाति' इत्यादावपि संकल्पविशेषस्यैवापूर्वजनकत्वाभ्युपगमात्, 'नेक्षेतोद्यन्तमादित्यम्' इत्यादिप्रजापतिव्रतवत् । अतो नित्यकर्मानुष्ठानार्हे काले तद्विरुद्धतया यदुपवेशनादि कर्म तदेव नित्यकर्माकरणोपलक्षितं प्रत्यवायहेतुरिति वैदिकानां सिद्धान्तः । अत एवाकुर्वन्विहितं कर्मेत्यत्र लक्षणार्थे शता व्याख्यातः । 'लक्षणहेत्वोः क्रियायाः' इत्यविशेषस्मरणेऽप्यत्र हेतुत्वानुपपत्तेः । तस्मान्मिथ्यादर्शनापनोदे प्रस्तुते मिथ्या-

नहीं और जो नित्य कर्म न करनेसे प्रत्यवाय कहा सो भी ठीक नहीं कारण अभावसे कहीं भावकी उत्पत्ति नहीं होती अन्यथा सदा नित्यकर्म नहीं होता काल विशेषमें ही होता है, कालान्तरमें तद्भाव है अतः प्रत्यवाय ही होता रहेगा । पूर्वमीमांसामें लिखा है 'भावार्थाः कर्म शब्दास्तेभ्यः क्रिया प्रतीयेत एवह्यर्थो विधीयते' इस न्यायसे भावार्थक ही अपूर्वजनक माना गया है 'अतिरात्रे षोडशिनं न गृह्णाति' यहाँ पर तद् ग्रहण संकल्प ही अपूर्वजनक है ग्रहणाभाव नहीं । प्रजापति व्रतके विषयमें लिखा है 'नेक्षेतोद्यन्तमादित्य नास्तं यान्तं कदाचन' यहाँ पर अनीक्षण सकल्प ही अनुष्ठेय है वही अपूर्वजनक है, ईक्षणाभाव कृतिसाध्य नहीं हो सकता अतएव विवक्षित नहीं, यह सर्व सिद्धान्त है इसलिए दृष्टान्त रूपसे कहा गया है ।

शङ्का—तो फिर नित्य कर्म नकरनेसे प्रत्यवाय कैसे कहा जाता है ?

समाधान—नित्यकर्मानुष्ठानके समय कर्म न कर बैठना तद्व्यापारशून्य बैठना ही भावरूप होनेसे प्रत्यवाय जनक है अथवा उस कालमें नित्य कर्म न कर अनुष्ठीयमान कर्मान्तर ही प्रत्यवायका कारण है, उस कालका नित्यकर्माकरण नहीं वह किसीका कारण ही नहीं है, अतएव श्रुतिमें कहा—'कथमसतः सज्जायेत' यह आश्चर्य प्रकट किया गया है अतः नित्यकर्माकरणोपलक्षित उपवेशनादि प्रत्यवायजनक है यह वैदिक सिद्धान्त है 'अतएव अकुर्वन् विहितं कर्म' यहाँ लक्षणमें 'अकुर्वन्' यह शतृ प्रत्ययान्त लिखा गया है, कर्म त्याग कर उदासीन बैठना ही प्रत्यवायजनक है यह उक्त प्रत्ययान्तका तात्पर्य है ?

प्रश्न—'लक्षण हेत्वोः क्रियायाः' इस पाणिन्याचार्यके सूत्रसे अकुर्वन् यहाँ

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः ।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ॥ १९ ॥

हे अर्जुन ! जिसके संपूर्ण कार्य कामना और संकल्पसे रहित हैं, ऐसे उस ज्ञानरूप अग्निद्वारा भस्म हुए कर्मोंवाले पुरुषको ज्ञानीजन भी पण्डित कहते हैं ॥१९॥

दर्शनव्याख्यानं न शोभतेतराम् । नापिनित्यानुष्ठानपरमेवैतद्वाक्यं, नित्यानुकुर्यादित्यर्थे कर्मण्यकर्म यः पश्येदित्यादि तदबोधकं वाक्यमुपयुञ्जानस्य भगवतः प्रतारकत्वापत्तेरित्यादि भाष्य एव विस्तरेण व्याख्यातमित्युपरम्यते ॥ १८ ॥

तदेतत्परमार्थदर्शिनः कर्तृत्वाभिमानाभावेन कर्मालिप्तत्वं प्रपञ्च्यते ब्रह्मकर्मसमाधिनेत्यन्तेन—'यस्य' इति ।

यस्य पूर्वोक्तपरमार्थदर्शिनः सर्वे यावन्तो वैदिका लौकिका वा समारम्भाः समारभ्यन्त इति व्युत्पत्त्या कर्माणि कामसंकल्पवर्जिताः कामः फलतृष्णा संकल्पोऽहं करोमीति कर्तृत्वमभिमानस्ताभ्यां वर्जिताः । लोकसंग्रहार्थं

लक्षणमें शतृ प्रत्यय है यद्यपि लक्षण और हेतु दोनों अर्थोंमें शतृप्रत्ययका विधान समानरूपसे है, हेतुमें नहीं यह कैसे हो सकता है ?

उत्तर—प्रयोगान्तरमें वहाँ लक्षण हेतु दोनोंमें विवक्षा भेदसे उक्त प्रत्यय होता है 'जहाँ दोनोंमें उपपत्ति होती है । हेतुमें यहाँ तदनुपपत्तिसे तदविवक्षा है अनुपपत्ति अभावसे भाव नहीं होता यह कहा ही है । मिथ्या दर्शनके निराकरण प्रसङ्गमें मिथ्या दर्शनकी व्याख्या शोभित नहीं होती और न नित्य कर्मानुष्ठानपरक ही यह वाक्य है नित्य कर्मोंको करना वह अर्थ 'कर्मण्यकर्मम' इत्यादि वाक्यसे नहीं प्रतीत होता अप्रत्यायक वाक्यके प्रयोगसे भगवान्में प्रतारकत्वापत्ति होगी इत्यादि भाष्यमें विस्तारपूर्वक कहा गया है अतः इस निरूपणसे उपरत होता हूँ ॥ १८ ॥

परमार्थदर्शीमें कर्तृत्वका अभिमान न रहनेसे कर्मलोप नहीं होता इसीका प्रपञ्चविस्तार आगे करते हैं 'यस्येत्यादिसे' । 'ब्रह्मकर्म समाधिना' यहाँतकके ग्रन्थसे जिन परमार्थ दर्शियोंके जितने लौकिक या वैदिक समारम्भकर्म कामसंकल्प रहित हैं, काम, फल, तृष्णा संकल्प मैं करता हूँ यह कर्तृत्वाभिमान इन दोनोंसे रहित

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः ॥
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित्करोति सः ॥ २० ॥

जो पुरुष, सांसारिक आश्रयसे रहित सदा परमानन्द परमात्मा तृप्त है, वह कर्मोंके फल और सङ्ग अर्थात् कर्तृत्व-अभिमानको त्यागकर कर्ममें अच्छी प्रकार बर्तता हुआ भी नहीं करता है ॥ २० ॥

वा जीवनमात्रार्थं वा प्रारब्धकर्मवेगाद्वृथाचेष्टारूपा भवन्ति । तं कर्मादावकर्मादिदर्शनं ज्ञानं तदेवाग्निस्तेन दग्धानि शुभाशुभलक्षणानि कर्माणि यस्य 'तदधिगम उत्तरपूर्वार्धयोरश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशात्' इति न्यायात्, ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तं बुधा ब्रह्मविदः परमार्थतः पण्डितमाहुः । सम्यग्दर्शी हि पण्डित उच्यते न तु भ्रान्त इत्यर्थः ॥ १९ ॥

भवतु ज्ञानाग्निना प्राक्तनानामप्रारब्धकर्मणां दाह आगामिनां चानुत्पत्तिः । ज्ञानोत्पत्तिकाले क्रियमाणं तु पूर्वोत्तरयोरनन्तर्भावात्फलाय भवेदिति भवेत्कस्यचिदाशङ्का तामपनुदति—'त्यक्त्वा' इति ।

कर्मणि फले चाऽऽसङ्गं कर्तृत्वाभिमानं भोगाभिलाषं च त्यक्त्वाऽकर्त्रभोक्त्रात्मसम्यग्दर्शने बाधित्वा नित्यतृप्तः परमानन्दस्वरूपलाभेन सर्वत्र

है लोक संग्रहार्थ शरीरयात्रोपयोगि प्रारब्धकर्मबलसे वृथा चेष्टा रूप होते हैं। वही कर्मादिमें अकर्मादिदर्शन ही अग्नि है, उससे भस्म हो गये हैं, शुभाशुभकर्म जिसका उसको ब्रह्मवेत्ता पण्डित कहते हैं, अशेषकर्म दाहमें तदधिगमें उत्तर पूर्वार्धयोरश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशात्' वेदान्त सूत्र प्रमाण है आत्मज्ञानसे पूर्व कर्मका विनाश और उत्तर अग्रिमका असंसर्ग होता है, यद्यपि अघ शब्द पाप वाची है तथापि बन्धकत्वेन् कर्म सामान्यपरक है इससे पुण्यका भी संग्रह सिद्ध होता है, समीचीनदर्शी पण्डित माना जाता है भ्रान्त नहीं ॥ १९ ॥

शङ्का—अच्छा ज्ञानाग्निसे प्रारब्ध व्यतिरिक्त पूर्वकर्मोका दाह हो तथा उत्तर कालिककर्मोंकी अनुत्पत्ति हो पर ज्ञानोत्पत्तिकालमें जो कर्म होते हैं उनका पूर्वोत्तर कर्मोंमें समावेश नहीं है अतः वे फलप्रद होंगे यह किसी की शंका हो तो उसका निराकरण करते हैं 'त्यक्तेति'। कर्मारम्भमें और फलमें क्रमशः असंग तथा कर्तृत्वाभिमान भोगाभिलाषका त्याग कर अकर्ता अभोक्ता आत्मा है इस समीचीन ज्ञानसे बाधित कर नित्य तृप्त होकर परमानन्द लाभसे सब विषयोंसे निराकांक्ष निस्पृह

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः ।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥

जिसने अन्तःकरण जीत लिया है और शरीर तथा संपूर्ण भोगोंकी सामग्री जिसने, त्याग दी है ऐसा आशारहित पुरुष केवल शरीरसंबंधी कर्मको करता हुआ भी पापको नहीं प्राप्त होता है ॥ २१ ॥

निराकाङ्क्षः । निराश्रय आश्रये देहेन्द्रियादिरद्वैतदर्शनेन निर्गतो यस्मात्स निराश्रयो देहेन्द्रियाद्यभिमानशून्यः । फलकामना यः कर्तृत्वाभिमानस्य च निवृत्तौ हेतुगर्भं क्रमेण विशेषणद्वयम् । एवंभूतो जीवन्मुक्तो व्युत्थानदशायां कर्मणि वैदिके लौकिके वाऽभिप्रवृत्तोऽपि प्रारब्धकर्मवशाल्लोकदृष्ट्याऽभितः साङ्गोपाङ्गानुष्ठानाय प्रवृत्तोऽपि स्वदृष्ट्या नैव किंचित्करोति स निष्क्रियात्मदर्शनेन बाधितत्वादित्यर्थः ॥ २० ॥

यदाऽत्यन्तविक्षेपहेतोरपि ज्योतिष्टोमादेः सम्यग्ज्ञानवशान्न तत्फलजनकत्वं तदा शरीरस्थितिमात्रहेतोरविक्षेपकस्य भिक्षाटनादेर्नास्त्येव बन्धहेतुत्वमिति कैमुत्यन्यायेनाऽऽह—

निराशीर्गततृष्णो यतचित्तात्मा चित्तमन्तःकरणमात्मा बाह्येन्द्रियसहितो

होता है। निराश्रय आश्रय देहेन्द्रियादि अद्वैत दर्शनसे देहेन्द्रियादिका निराकरण कर ज्ञानी निराश्रय होता है अर्थात् देहेन्द्रियादिके अभिमानसे रहित होता है जीवन्मुक्त दशामें देहादि रहते ही है उक्त निरास विदेह कैवल्यमें होता फल कामना और अभिमान निवृत्तिमें क्रमसे हेतु घटित दोनों विशेषण हैं ईदृश जीवन्मुक्त समाधिके उपरमदशामें लौकिक तथा वैदिक कर्ममें प्रवृत्त होकर प्रारब्ध कर्मबलसे लोकदृष्टिसे प्रवृत्त होकर भी स्वदृष्टिसे वह कुछ नहीं करता निष्क्रियात्मदर्शनसे सब कर्म बाधित हो जाते हैं ॥ २० ॥

जब अति विक्षेपहेतु ज्योतिष्टोमादि सम्यग् ज्ञान वशसे फलप्रद नहीं होते तब स्वशरीर स्थिति हेतु अविक्षेपक भिक्षाचरणादि फलप्रदानद्वारा बन्धक नहीं होते, यह कैमुतिन्याय सिद्ध है इस आशयसे कहते हैं 'निराशीगतस्पृहः' यतचितात्मा चित्र अन्तःकरण आत्मा बाह्येन्द्रिय सहित देह ये दोनों संयत विषय पराङ्मुखबे

देहस्तौ संयतौ प्रत्याहारेण निगृहीतौ येन सः। यतो जितेन्द्रियोऽतो विगततृष्णत्वात्त्यक्तसर्वपरिग्रहस्त्यक्ताः सर्वे परिग्रहा भोगोपकरणानि येन सः। एतादृशोऽपि प्रारब्धकर्मवशाच्छारीरं शरीरस्थितिमात्रप्रयोजनं कौपीनाच्छादनादिग्रहणभिक्षाटनादिरूपं यतिं प्रति शास्त्राभ्यनुज्ञातं कर्म कायिकं वाचिकं मानसं च, तदपि केवलं कर्तृत्वाभिमानशून्यं पराध्यारोपितकर्तृत्वेन कुर्वन्परमार्थतोऽकर्त्रात्मदर्शनान्नाऽऽप्नोति न प्राप्नोति किल्बिषं धर्माधर्मफलभूतमनिष्टं संसारं पापवत्पुण्यस्याप्यनिष्टफलत्वेन किल्बिषत्वात्। ये तु शरीरनिर्वर्त्यं शारीरमिति व्याचक्षते तन्मते केवलं कर्म कुर्वन्नित्यतोऽधिकार्थालाभादव्यावर्तकत्वेन शारीरपदस्य वैयर्थ्यम्। अथ वाचिकमानसिकव्यावर्तनार्थमिति ब्रूयात्तदा कर्मपदस्य विहितमात्रपरत्वेन शारीरं विहितं कर्म कुर्वन्नाऽऽप्नोति

निगृहीत स्ववशीभूत हैं क्योंकि वह जितेन्द्रिय है इसलिये विगततृष्ण होकर सर्व परिग्रह यानी सकल भोग साधनोंको छोड़ दिया है ऐसा होने पर भी प्रारब्ध कर्मवश शरीरस्थितिमात्रके प्रयोजनसे कौपीनाच्छादनको ग्रहणकर भिक्षार्चनादि करनेवाले संन्यासीका शास्त्रविहित कर्म कायिक, वाचिक, मानसिक है उसको भी कर्तृत्वाभिमानशून्य दूसरे लोग उसमें कर्तृत्वका आरोप कर कर्त्ता कहते हैं किन्तु वास्तविक कर्त्ता नहीं है अकर्तात्म ज्ञानसे पाप नहीं लगता. पाप यहाँ धर्माधर्मका बोधक है जो दुःखमय संसारमें ही होता है।

शङ्का—अधर्मफल संसारमें दुःखमय न हो किन्तु धर्मका फल तो संसारिक सुख होना चाहिए क्योंकि किल्विष नहीं लगता है इसको भगवान् भी कहते हैं। 'पापं किल्विष कल्मषम्' इस अमरकोषसे उक्त शब्द पुण्यका बोधक नहीं ?

उत्तर—यहाँ किल्विष शब्द अनिष्टार्थक है। तत्वज्ञानीको पापके समान पुण्य भी बन्धक होनेसे अनिष्ट है अतः वह भी किल्विष ही है। जो किसीने व्याख्यान किया है कि शरीर निर्वर्त्य शरीरसाध्यकर्म शारीर है उनके मतमें 'केवलं कर्म कुर्वन्' इससे अधिकार्थका लाभ नहीं है अतः शारीर पद अव्यावर्त्तक होनेसे व्यर्थ हो जायगा, यदि कहो कि वाचिक मानसकी व्यावृत्तिके लिए शरीर विशेषण है तो कर्मशब्द विहितमात्र परक होनेसे शरीरसे विहित कर्म करते हुये पाप नहीं पाता यह अर्थ होगा यह ठीक नहीं है क्योंकि ज्ञानीको शास्त्र विहित

किल्बिषमित्यप्रसक्तप्रतिषेधोऽनर्थकः। वाचिकं मानसं च विहितं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषमिति च शास्त्रविरुद्धमुक्तं स्यात्। विहितप्रतिषिद्धसाधारण्यपरत्वेऽप्येवमेव व्याघात इति भाष्य एव विस्तरः॥ २१॥

शारीर कर्म प्रसक्त ही नहीं फिर उसका निषेध ही व्यर्थ है वाचिक मानसिक विहित कर्म करता हुआ ज्ञानी किल्विष पाता है यह अर्थ शास्त्र विरुद्ध है, विहित प्रतिषिद्ध साधारण परक होनेमें यही व्याघात है यह भाष्यमें ही विस्तर है॥ २१॥

किञ्चसे भाष्यकारने विकल्प किया है, क्या शरीर साध्यकर्म शारीर है अथवा शरीरस्थितिमात्रप्रयोजन शारीर कर्म इष्ट है, शरीर साध्यकर्म शारीर है इस पक्षमें क्या दोष है, शरीर स्थितिमात्र प्रयोजन शारीर हैं इस पक्षमें क्या फल है इस अभिप्रायसे पूर्ववादी पूछता है।

उत्तर—सुनिये कहते हैं, शरीर साध्य जो कर्म है सो क्या प्रतिषिद्ध हैं अथवा विहित। प्रथममें विरोध है क्योंकि प्रतिषिद्धाचरण करनेपर अनिष्ट न होगा तो प्रतिषेधशास्त्र विरोध स्पष्ट है, द्वितीय पक्षमें विहित कर्म करने पर ज्ञानीको अनिष्ट प्राप्ति नहीं होती यह अप्राप्त प्रतिषेध है क्योंकि ज्ञानीको कर्मका विधान ही नहीं, यदि है भी तो विहित कर्म करनेपर अनिष्ट प्राप्ति किसीको नहीं होती फिर ज्ञानीमें उसकी प्रसक्ति कहाँ अतः निषेध व्यर्थ है, शास्त्रीय दृष्टप्रयोजनसे कर्मकारी यदि 'वृष्टिकामः कारीर्या यजेत' इस वाक्यसे विहित है अदृष्ट प्रयोजन स्वर्गादिसाधन ज्योतिष्टोमादि है, शरीर साध्यकर्म शारीर है इस पक्षमें दूसरा भी दोष कहते हैं केवल शारीर कर्म यहाँ केवल विशेषणसे वाणी तथा मनसे साध्य विधिप्रतिषेधविषय धर्माधर्म शब्द वाच्य करता हुआ संन्यासी पापभागी होगा यह फलितार्थ हुआ।

शङ्का—वाणी और मनसे भी अकर्म करनेसे संन्यासीको पाप होता ही है इसमें सन्देह ही क्या।

उत्तर—विकल्पसे देते हैं क्या वाक्‌मनसे विहितानुष्ठानमें पाप प्राप्ति है अथवा प्रतिषिद्धानुष्ठानमें। प्रथम पक्षमें ध्यान विधि विरोध स्पष्ट है, द्वितीयपक्षमें सत्यार्थानुवादमात्र अनर्थक है, वागमनसे भी निषिद्ध कर्मका अनुष्ठान करनेसे संन्यासीको पातक होता है यह निश्चितार्थ ही है फिर इसके अनुवादसे क्या प्रयोजन? शरीरनिर्वर्त्य कर्म शारीर है इस पक्षका निराकरण कर द्वितीय पक्षमें लाभ दिखलाते है। यदि शरीर स्थितिमात्रप्रयोजन शारीर कर्म मानते है तो दृष्टादृष्ट प्रयोजनसे कर्मविधि प्रतिषेधविषय शरीर वाग्मनसे करनेके योग्य है वरन्तु शरीर स्थितिमात्रप्रयोजनसे भिन्न है उनके बिना शरीर स्थिति बाधा नहीं उनको न करता हुआ संन्यासी उन्हीं शरीरादि कैसे शरीर स्थितिमात्रप्रयोजन मानता है केवल विशेषणसे अहंकारी 'मैं' इस अभिमानसे रहित लोक दृष्टिसे शरीर चेष्टामात्र कर्म करता हुआ संन्यासी पातकी नहीं होगा यह भाष्यको विस्तृत अर्थ है।

यदृच्छालाभसंतुष्टो द्वंद्वातीतो विमत्सरः ॥
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वाऽपि न निबध्यते ॥२२॥

और अपने आप जो कुछ भी प्राप्त हो उसमें ही संतुष्ट रहनेवाला और हर्ष-शोकादि द्वन्द्वोंसे अतीत हुआ तथा मत्सरता अर्थात् ईर्ष्यासे रहित सिद्धि और असिद्धिमें समत्व-भाववाला पुरुष, कर्मोंको करके भी नहीं बंधता है ॥ २२ ॥

त्यक्तसर्वपरिग्रहस्य यतेः शरीरस्थितिमात्रप्रयोजनं कर्माभ्यनुज्ञातं तत्रा-न्नाच्छादनादिव्यतिरेकेण शरीरस्थितेरसंभवाद्याच्ञादिनाऽपि स्वप्रयत्नेनान्नादिकं संपाद्यमिति प्राप्ते नियमायाऽऽह—'यदृच्छया' इति।

शास्त्रानुमतप्रयत्नव्यतिरेको यदृच्छा तयैव यो लाभोऽन्नाच्छादनादेः शास्त्रानुमतस्य स यदृच्छालाभस्तेन संतुष्टस्तदधिकतृष्णारहितः। तथा च शास्त्रं 'भैक्षं चरेत्' इति प्रकृत्य अयाचितमसंक्लृप्तमुपपन्नं यदृच्छया' इति याच्ञासंकल्पादिप्रयत्नं वारयति। मनुरपि—

'न चोत्पातनिमित्ताभ्यां न नक्षत्राङ्गविद्यया।
नानुशासनवादाभ्यां भिक्षां लिप्सेत कर्हिचित्' ॥ इति

यतयो भिक्षार्थं ग्रामं प्रविशन्तीत्यादिशास्त्रानुमतस्तु प्रयत्नः कर्तव्य एव। एवं लब्धव्यमपि शास्त्रनियतमेव—

सकल भोगसाधन वस्तुके परित्यागी संन्यासीको शरीरस्थितिमात्र प्रयोजन-कर्मकी अभ्यनुज्ञा यानी अनुमति शास्त्रमें है, इसमें अन्न वस्त्रके विना शरीर स्थिति नहीं रह सकती अतः याच्ञारूप स्वप्रयत्नसे भी अन्नादि ग्रहण करना यह भी प्राप्त होता है अतः नियमार्थ कहते हैं—'यदृच्छया' इति। शास्त्रासम्मत प्रयत्नव्यतिरिक लाभ यदृच्छा है उसीसे जो अन्नादिका लाभ हो वही शास्त्रसंमत यदृच्छा लाभ है उसीसे सन्तुष्ट होकर उससे अधिककी तृष्णासे रहित होना ही शास्त्र माना है। 'भैक्षं चरेत्' इसके प्रकरणमें 'अयाचितमसंक्लृप्तमुपपन्नं यदृच्छया'। यह शास्त्र याच्ञासंकल्पादि प्रयत्नको,मना करता है 'न चोत्पात निमित्ताभ्यां न नक्षत्राङ्ग विद्यया' 'नानु शासनवादाभ्यां भिक्षां लिप्सेत् कर्हिचित् ॥' 'यतयो लक्षार्थ ग्रामं विशन्ती-त्यादि' शास्त्रानुमत प्रयत्न तो करना ही चाहिए कितना लेना चाहिए यह भी

'कौपीनयुगलं वासः कन्थां शीतनिवारिणीम् ।
पादुके चापि गृह्णीयात्कुर्यान्नान्यस्य संग्रहम्' ।। इत्यादि

एवमन्यदपि विधिनिषेधरूपं शास्त्रमूह्यम् । ननु स्वप्रयत्नमन्तरेणालाभे शीतोष्णादिपीडितः कथं जीवेदत आह—द्वंद्वातीतः, इति द्वंद्वानि क्षुत्पिपासाशीतोष्णवर्षादीनि अतीतोऽतिक्रान्तः समाधिदशायां तेषामस्फुरणात् । व्युत्थानदशायां स्फुरणेऽपि परमानन्दाद्वितीयाकर्त्रभोक्त्रात्मप्रत्ययेन बाधितैर्द्वन्द्वैरुपहन्यमानोऽप्यक्षुभितचित्तः । अत एव परस्य लाभे स्वस्यालाभे च विमत्सरः :परोत्कर्षासहनपूर्विका स्वोत्कर्षवाञ्छामत्सरस्तद्रहितोऽद्वितीयात्मदर्शनेन निर्वैरबुद्धिः । अत एव समस्तुल्यो यदृच्छालाभस्य सिद्धावसिद्धौ

शास्त्रसे नियत है, कौपीनयुगलं वासः कन्थां शीतनिवारणीम् 'पादुकेचापि गृह्णीयात् कुर्यान्नान्यस्य संग्रहम्' इत्यादि इसी प्रकार और भी विधि प्रतिषेध पर शास्त्र समझना ।

शङ्का—आत्मप्रयत्नके विना यदि कन्थादि न मिलै तो सरदी गर्मीसे पीडित होकर यति कैसे जीवैगा ?

उत्तर—द्वन्द क्षुधा, पिपासा सरदी, गर्मी, वर्षा, धूप आदि है इनसे अतीत होकर आगे हो जाय अर्थात् समाधि लगावै उस दशामें इनका भान ही नहीं होगा। ये व्युत्थान वेलामें ही प्रतीत होते हैं इस समय केवल आत्मा ही का स्फुरण प्रकाश है ।

शङ्का—ठीक है पर व्युत्थान दशामें तो उनका स्फुरण होगा ही फिर क्या उपाय ।

उत्तर—परमानन्दाद्वितीय अकर्त्ता, अभोक्ता आत्मा है इस ज्ञानसे उक्त द्वन्दोंका बाध हो जाता है यदि कुछ अवशेष रहै तो उनसे पीडित होने पर चित्तमें क्षोभन करना चाहिए अतएव दूसरेको मिला और अपनेको अन्नवस्त्रादि न मिला इस दशामें विमत्सर होना चाहिए ।

प्रश्न - मत्सर क्या है ।

उत्तर—परोत्कर्षाऽसहनपूर्वक स्वोत्कर्षवाञ्छा मत्सर है तद्रहित होना चाहिए अर्थात् दूसरेके उत्कर्षको न सहकर अपने उत्कर्षकी इच्छा ही मत्सर है तद्भाववान् ही अद्वितीयात्म ज्ञानसे निर्वैरबुद्धि अतएव समतुल्य यदृच्छा

गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः ॥
यज्ञायाऽऽचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ॥ २३ ॥

क्योंकि आसक्तिसे रहित ज्ञानमें स्थित हुए चित्तवाले यज्ञके लिये आचरण करते हुए, मुक्त पुरुषके संपूर्ण कर्म नष्ट हो जाते हैं ॥ २३ ॥

न सिद्धौ न हृष्टः नाप्यसिद्धौ विषण्णः स स्वानुभवेनाकर्तैव परैरारोपितकर्तृत्वः शरीरस्थितिमात्रप्रयोजनं भिक्षाटनादिरूपं कर्म कृत्वाऽपि न निबध्यते बन्धहेतोः सहेतुकस्य कर्मणो ज्ञानाग्निना दग्धत्वादितिपूर्वोक्तानुवादः ॥२२॥

त्यक्तसर्वपरिग्रहस्य यदृच्छालाभसंतुष्टस्य यतेर्यच्छरीरस्थितिमात्रप्रयोजनं भिक्षाटनादिरूपं कर्म तत्कृत्वा न निबध्यत इत्युक्ते गृहस्थस्य ब्रह्मविदो जनकादेर्यज्ञादिरूपं यत्कर्म तद्बन्धहेतुः स्यादिति भवेत्कस्यचिदाशङ्का तामपनेतुं त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गमित्यादिनोक्तं विगृह्णाति—'गतसङ्गस्य' इति।

गतसङ्गस्य फलासङ्गशून्यस्य मुक्तस्य कर्तृत्वभोक्तृत्वाद्यध्यासशून्यस्य ज्ञानावस्थितचेतसो निर्विकल्पकब्रह्मात्मैक्यबोध एव स्थितं चित्तं यस्य तस्य स्थितप्रज्ञस्येत्यर्थः। उत्तरोत्तरविशेषणस्य पूर्वपूर्वहेतुत्वेनान्वयो

लाभको सिद्धि असिद्धिमें समान रहै, सिद्धिमें प्रसन्न न हो असिद्धिमें उदास न हो वह अपने अनुभवसे अकर्त्ता है, दूसरा उसमें कर्तृत्वका आरोप करता है, इससे हानि नहीं शरीरस्थितिसाधन भिक्षाचरणादि कर्म करके भी बद्ध नहीं होता, बन्धहेतु सहेतुक कर्मका ज्ञानाग्निसे नाश हो गया है यह पूर्वोक्तानुवाद है ॥ २२ ॥

सब परिग्रह भोग साधनका त्यागकर यदृच्छालाभ सन्तुष्ट संन्यासीका शरीरस्थितिहेतु भिक्षाटनादिरूप कर्म करने पर बन्ध नहीं होता यह कहनेसे गृहस्थ ब्रह्मज्ञानी जनकादिका यज्ञादिरूप जो कर्म हुआ वह बन्ध हेतु होगा यह किसीकी शङ्का हो तो उसके निरासके लिए त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गमित्यादिसे जो कहा उसीका विवरण करते हैं—'गत संगस्य' इत्यादिसे। फलासक्तिशून्य मुक्तकर्तृत्व भोक्तृत्वादिके अध्याससे शून्य ज्ञानावस्थित चित्त होकर निर्विकल्प अखण्ड ब्रह्मात्मैक्य बोधमें स्थितचित्त स्थितप्रज्ञका यज्ञके लिए समग्र कर्म नष्ट हो जाता है यह आगेसे अन्वय है। उत्तरोत्तर विशेषण पूर्व पूर्वका हेतु समझना।

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ॥
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्म कर्मसमाधिना ॥ २४ ॥

उन यज्ञके लिए आचरण करनेवाले पुरुषोंमेंसे कोई तो इस भावसे यज्ञ करते हैं, कि अर्पण अर्थात् स्रुवादिक भी ब्रह्म है अर्थात् हवन करने योग्य द्रव्य भी ब्रह्म है और ब्रह्मरूप अग्निमें ब्रह्मरूप कर्ताके द्वारा जो हवन किया गया है वह भी ब्रह्म ही है, इसलिये ब्रह्मरूप कर्ममें समाधिस्थ हुए उस पुरुष-द्वारा जो प्राप्त होने योग्य है, वह भी ब्रह्म ही है ॥ २४ ॥

द्रष्टव्यः। गतसङ्गत्वं कुतो यतोऽध्यासहीनत्वं तत्कुतो यतः स्थितप्रज्ञत्वमिति। ईदृशस्यापि प्रारब्धकर्मवशाद्यज्ञाय यज्ञसंरक्षणार्थं ज्योतिष्टोमादियज्ञे श्रेष्ठाचारत्वेन लोकप्रवृत्त्यर्थं यज्ञाय विष्णवे तत्प्रीत्यर्थमिति वा। आचरत कर्म यज्ञदानादिकं समग्रं सहाग्रेन फलेन विद्यत इति समग्रं प्रविलीयते प्रकर्षेण कारणोच्छेदेन तत्त्वदर्शनाद्विलीयते विनश्यतीत्यर्थः ॥२३॥

ननु क्रियमाणं कर्म फलमजनयित्वैव कुतो नश्यति ब्रह्मबोधेन तत्कारणोच्छेदादित्याह—'**ब्रह्मार्पणम्**' इति।

अनेककारकसाध्या हि यज्ञादिक्रिया भवति। देवतोद्देशेन हि द्रव्य-

---

गतसङ्ग क्यों यतः अध्यास रहितत्व है यही क्योंकि वह स्थितप्रज्ञत्व है ईदृश पुरुष धौरेयका प्रारब्ध कर्मवशसे यज्ञके लिये 'संरक्षणार्थ ज्योतिष्टोमादि यज्ञमें श्रेष्ठाचारतया लोक प्रवृत्तिके लिए 'यज्ञाय विष्णवे' अर्थात् विष्णुप्रीत्यर्थ यह भी अर्थ हो सकता है। यज्ञदानादि समग्र शब्द यद्यपि समस्त वाची है तथापि यौगिक अर्थसे फल सहित साधनपरक है इस भावसे कहते हैं, सहाग्रेणेति, सम शब्द सर्व पर्याय है शकन्ध्वादित्वात्पररूप है, यदि उपसर्ग है तो ठीक ही है वस्तुत लक्षणासे उक्त।शब्द साधन फलोभमपरक है, समं फल साधनोभयं ग्रसते इति यहाँ समग्रं 'गसु अदने' भ्वादि है। 'सहाग्रेण फलेन विद्यते' इस व्युत्पत्तिसे समग्रका फलसहित अर्थ है, प्रविलीन होता है, कारणके नाशसे यानी तत्वदर्शनसे विलीन होता है नष्ट होता है यह अर्थ है ॥ २३ ॥

शङ्का—क्रियमाण कर्म फलादि बिना क्यों नष्ट होता है ?

समाधान—ब्रह्मज्ञान होने पर कर्मके कारणोंका नाश हो जाता है यही उत्तर ब्रह्मार्पणसे है, यागादि क्रिया अनेक कारकसाध्य होती है, देवतोद्देश्यक

त्यागो यागः। स एव त्यज्यमानद्रव्यस्याग्नौ प्रक्षेपाद्धोम इत्युच्यते। तत्रोद्देश्या देवता संप्रदानं, त्यज्यमानं द्रव्यं हविःशब्दवाच्यं साक्षाद्धात्वर्थकर्म, तत्फलं तु स्वर्गादि व्यवहितं भावनाकर्म। एवं धारकत्वेन हविषोऽग्नौ प्रक्षेपे साधकतमतया जुह्वादि करणं प्रकाशकतया मन्त्रादिकरणमपि कारकज्ञापकभेदेन द्विविधम्। एवं त्यागाऽग्नौ प्रक्षेपश्च द्वे क्रिये। तत्राऽऽद्यायां यजमानः कर्ता। प्रक्षेपे तु यजमानपरिक्रीताऽध्वर्युः। प्रक्षेपाधिकरणं चाग्निः एवं देशकालादि कमप्यधिकरणं सर्वक्रियासाधारणं द्रष्टव्यम्। तदेवं सर्वेषां क्रियाकारकादिव्यवहाराणां ब्रह्माज्ञानकल्पितानां रज्ज्वज्ञानकल्पितानां सर्पधारादण्डादीनां

द्रव्यत्याग याग है वही त्यज्यमान द्रव्यका अग्निमें छोड़ना होम है इसमें उद्देश्य देवता सम्प्रदान है क्योंकि उद्देश्य ही को सम्प्रदान संज्ञा होती है, देवतोद्देश्यक त्यज्यमान द्रव्यको हवि कहते हैं, होममें देवताके द्रव्य देते समय स्वाहा कहा जाता है स्वहा 'देवहविर्दाने' इत्यादि कोष इसमें प्रमाण हैं, साक्षात् धात्वर्थकर्म हवि होता है तत्फल स्वर्गादिव्यवहित लिङर्थभावना कर्म होता हैं 'होमेन स्वर्ग 'भावयेत्' यह अर्थ 'जुहुयात स्वर्ग' कामसे प्रतीत होता है जुहुयात्में क्रियाद्वयकी प्रतीति होती है एक धात्वर्थ दूसरी लिङर्थ, लिङर्थको शाब्दी भावना कहते हैं धात्वर्थको आर्थी भावना कहते हैं, शाब्दो भावनाका कर्म आर्थी भावना है आर्थी भावनाका कर्म स्वर्गादि है।

अतः शाब्दी भावनाका कर्म स्वर्गादि है किन्तु आर्थी भावनासे व्यवहित है इसलिए व्यवहित स्वर्गादि कहा विशेष पूर्वमीमांसामें देखिये। हविको जुहूमें रखकर, अग्निमें प्रक्षेप किया जाता है, प्रक्षेप अग्निमें हवि त्यागका अतिशय साधक जुहू है। इस कारण वह करण है, प्रकाशक मन्त्रादि भी करण है, करण दो प्रकारके होते हैं कारक और प्रकाशक, कारक जुह्वादि है प्रकाशक मन्त्रादि, इसी तरह त्याग और अग्निमें प्रक्षेप यहाँ भी दो क्रियायें हैं इनमें प्रथम क्रियामें यजमान कर्त्ता है द्वितीय प्रक्षेपमें दक्षिणादिसे परिक्रीत अध्वर्युः, प्रक्षेपका अधिकरण अग्नि है इसी तरह जिस देश कालमें जो होता है उसका अधिकरण वह देश काल भी होता है यह सब क्रिया साधारण है, कोई क्रिया किसी देश काल ही में होगी अन्यथा नहीं अतः देश काल सर्व क्रियाओंका साधारण अधिकरण है यह समझना चाहिए इस प्रकार सब क्रिया कारकादि व्यवहार

रज्जुतत्त्वज्ञानेनेव ब्रह्मतत्त्वज्ञानेन बाधे बाधितानुवृत्त्या क्रियाकारकादिव्यवहाराभासो दृश्यमानोऽपि दग्धपटन्यायेन न फलाय कल्पत इत्यनेन श्लोकेन प्रतिपाद्यते। ब्रह्मदृष्टिरेव च सर्वयज्ञात्मिकेति स्तूयते। तथाहि—अर्प्यतेऽनेनेति करणव्युत्पत्त्याऽर्पणं जुह्वादि मन्त्रादि च। एवमर्प्यतेऽस्मा इति व्युत्पत्त्याऽर्पणं देवतारूपं संप्रदानम्। एवमर्प्यतेऽस्मिन्निति व्युत्पत्त्याऽर्पणमधिकरणं देशकालादि। तत्सर्वं ब्रह्मणि कल्पितत्वाद्ब्रह्मैव रज्जुकल्पितभुजंगवदधिष्ठानव्यतिरेकेणासदित्यर्थः। एवं हविस्त्यागप्रक्षेपक्रिययोः साक्षात्कर्म कारकं तदपि ब्रह्मैव। एवं यत्र प्रक्षिप्यतेऽग्नौ सोऽपि ब्रह्मैव। ब्रह्माग्नाविति समस्तं पदम्। तथा येन कर्त्रा यजमानेनाध्वर्युणा च त्यज्यते प्रक्षिप्यते च तदुभयमपि कर्तृकारणं कर्तरि विहितया तृतीयाऽनूद्य ब्रह्मेति

ब्रह्म ज्ञानसे ही कल्पित है अतएव ब्रह्मतत्व ज्ञानसे इनका बाध हो जाता है यथा रज्जुके अज्ञानसे कल्पित रज्जुमें कल्पित सर्प दण्डधारादिकोंका अधिष्ठानभूत रज्जुतत्व साक्षात्कारसे बाध होता है ब्रह्मतत्व ज्ञानसे बाध होने पर भी संस्कारसे बोधितोंकी भी प्रारब्ध कर्मवश अनुवृत्ति होती है परन्तु वह क्रिया कारकादि व्यवहार आभासमात्र है शुक्तिरजतके समान अर्थकारी नहीं अतएव दृश्यमान भी वह भस्मीभूत कपड़ेके समान फलदायक नहीं होता यही इस श्लोकसे कहते हैं। ब्रह्मदृष्टि ही सर्व यज्ञात्मक है यह स्तुति करते हैं, स्तुति प्रकार कहते हैं तथाहि' इत्यादिसे। अर्प्यते अनेन इति करणव्युत्पत्तिसे अर्पण जुह्वादि मन्त्रादि भी करण है एवं अर्प्यतेऽस्मै इस व्युत्पत्तिसे अर्पण सम्प्रदान देवता है, अर्प्यते अस्मिन् इति व्युत्पत्तिसे अर्पण अधिकरण देश कालादि ये सब ब्रह्ममें कल्पित हैं अतः ब्रह्म ही हैं यथा रज्जुमें कल्पित सर्प रज्जुसे अतिरिक्त नहीं किन्तु तदात्म स्वरूप ही है तथा ब्रह्ममें कल्पित ये सब ब्रह्म स्वरूप ही हैं तदतिरिक्त नहीं तदव्यतिरिक्तत्वेन असत् है इसी प्रकार हवित्याग प्रक्षेप क्रियाओंमें जो साक्षात् कर्म कारक हैं वह भी ब्रह्म ही हैं एवं जिस अग्निमें प्रक्षेप करते हैं वह अधिकरण अग्नि भी ब्रह्म ही है 'ब्रह्माग्नौ' यह समस्त पद है व्यस्त नहीं 'चाग्नि ब्रह्माग्निः एवं येन यजमानेन' जो यजमान अध्वर्युका त्याग करता है, तथा प्रक्षेप करता है वे दोनो कर्तृकारकसे संगृहीत होते हैं

विधीयते ब्रह्मणेति। एवं हुतमिति हवनं त्यागक्रिया प्रक्षेपक्रिया च तदपि ब्रह्मैव, तथा तेन हवनेन यद्गन्तव्यं स्वर्गादि व्यवहितं कर्म तदपि ब्रह्मैव। अत्रत्य एवकारः सर्वत्र संबध्यते। हुतमित्यत्रापीत एव ब्रह्मेत्यनुषज्यते। व्यवधानाभावात्साकाङ्क्षत्वाच्च 'चित्पतिस्त्वा प्रनातु' इत्यादावच्छिद्रेणेत्यादिपरवाक्यशेषवत्। अनेन रूपेण कर्मणि समाधिर्ब्रह्मज्ञानं यस्य स कर्मसमाधिस्तेन ब्रह्मविदा कर्मानुष्ठानोऽपि ब्रह्म परमानन्दाद्वयं गन्तव्यमित्यनुषज्यते। साकाङ्क्षत्वादव्यवधानाच्च 'या ते अग्ने रजाशये'त्यादौ तनूर्वर्षिष्ठेत्यादिपूर्ववाक्यशेषवत्। अथवाऽर्प्यतेऽस्मै फलायेति व्युत्पत्त्याऽर्पणपदेनैव स्वर्गादिफलमपि ग्राह्यम्, तथा च 'ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना'

अतएव कर्तृ तृतीयासे दोनोंका अनुवाद कर ब्रह्मका विधान है 'ब्रह्मणा' इससे। एवं 'हुत' यह हवन त्याग क्रिया और प्रक्षेप क्रिया यह भी दोनों ब्रह्म ही हैं, एवं जिस हवनसे गन्तव्य स्वर्गादि एवं जो देश कालादि व्यवहित कर्म हैं वह भी ब्रह्म ही है यहाँके एवका सब जगह सम्बन्ध है। 'हुतम्' यहाँ पर भी ब्रह्मैवसे ब्रह्मका अनुषङ्ग पूर्व स्थितके साथ सम्बन्ध है, हुत ब्रह्मके बीचमें कोई पद नहीं है अतः किसीसे व्यवधान नहीं है पूर्वपदका उत्तर पदके साथ सम्बन्ध अनुवृत्ति कहाती है उत्तरका पूर्वके साथ सम्बन्ध अनुषङ्ग कहाता है हुत और ब्रह्म समान विभक्तिक होनेसे मिथः उद्देश्य विधेय भावसे अन्वित होनेमें साकांक्ष है।

शङ्का—पूर्वका उत्तरमें सम्बन्ध तो असकृत् दृष्ट है उत्तरका पूर्वमें सम्बन्ध कहाँ दृष्ट है?

उत्तर—'चित्पतिस्त्वापुनातु' इत्यादिमें 'अच्छिद्रेण' इत्यादि उत्तर वाक्य शेषका सम्बन्ध होता है उसी तरह प्रकृतमें भी समझना। इस रूपसे कर्ममें समाधि है ब्रह्मज्ञान जिसका अर्थात् कर्ममें ही ब्रह्मज्ञान भावना है जिसकी वह कर्म समाधि है उस ब्रह्मवेत्ता कर्मानुष्ठानकारीको परमानन्द अद्वितीय ब्रह्म ही गन्तव्य है, इसका अनुषङ्ग है। वह कर्म करने पर भी ब्रह्ममें ही मिलता है उसको स्वर्गादि बन्धन नहीं होता। 'ब्रह्मैव गन्तव्यम्' का सम्बन्ध समाधिनाके साथ है यहाँ भी सकांक्ष और अव्यवधान सम्बन्ध कारण है, या ते 'अग्नेरजाशया' इत्यादिमें 'तनूर्वर्षिष्ठा' इत्यादि पूर्व वाक्य शेषके तरह। अथवा अर्प्यते अस्मै फलाय इस व्युत्पत्तिसे अर्पणपदसे स्वर्गादि फल भी ग्रहण कर सकते हैं, ऐसा मानने पर 'ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्म कर्म समाधिना' यह आगेके लिए ज्ञानफल कथनार्थ है

इत्युत्तरार्धज्ञानफलकथनायैवेति समञ्जसम्, अस्मिन्पक्षे ब्रह्मकर्मसमाधिनेत्येकं वा पदम्। पूर्वं ब्रह्मपदं हुतमित्यनेन संबध्यते चरमं गन्तव्यपदेनेति भिन्नं वा पदम्, एवं च नानुषङ्गद्वयक्लेश इति द्रष्टव्यम्। ब्रह्म गन्तव्यमित्यभेदेनैव तत्प्राप्तिरुपचारात्। अत एव न स्वर्गादि तुच्छफलं तेन गन्तव्यं विद्ययाऽऽविद्यककारकव्यवहारोच्छेदात्। तदुक्तं वार्तिककृद्भिः—

कारकव्यवहारे हि शुद्धं वस्तु न वीक्ष्यते।
शुद्धे वस्तुनि सिद्धे च कारकव्यापृतिः कुतः ? ॥ इति ॥

अर्पणादिकारकस्वरूपानुपमर्देनैव तत्र नामादाविव ब्रह्मदृष्टिः क्षिप्यते संपन्मात्रेण फलविशेषायेति केषांचिद्व्याख्यानं भाष्यकृद्भिरेव निराकृतमुपक्रमादिविरोधाद्ब्रह्मविद्याप्रकरणे सम्पन्मात्रस्याप्रसक्तत्वादित्यादियुक्तिभिः ॥ २४ ॥

यह ठीक है, इस पक्षमें-ब्रह्मैव कर्म 'ब्रह्म कर्म तस्मिन् समाधिर्यस्य स ब्रह्मकर्मसमाधिः तेन, यह एक पद है। अथवा पूर्व ब्रह्मपदका हुतके साथ सम्बन्ध है अन्तिम का गन्तव्यके साथ सम्बन्ध है, इस प्रकार भिन्न भी पद हो सकता है ऐसा मानने पर अनुषङ्ग क्लेश नहीं होता है यह देखना चाहिये। ब्रह्म गन्तव्य ज्ञानी वस्तुतः ब्रह्म ही है गन्तृ गन्तव्यभाव भेदमें होता है यहाँ पर ब्रह्माभेद होनेसे औपचारिक ब्रह्म प्राप्ति है, इसलिए तुच्छ स्वर्गादि फल उसका गन्तव्य नहीं विद्यासे आविद्यिक कारकादि व्यवहारका उच्छेद हो जाता है कारकबुद्धिरहित यज्ञादि कर्म कहीं देखा नहीं गया है। वार्तिककारने कहा है—कारक व्यवहारमें शुद्ध वस्तु नहीं दीखता शुद्ध वस्तु सिद्ध हो तो कारक व्यवहार कैसे हो सकता है? अर्पणादि कारकत्व रूपानुपमर्दनके बिना ही उस नामादिमें ब्रह्मदृष्टिके समान दृष्टिका विधान है फल विशेषके लिए संपन्मात्र है अनुत्तमाधिकरणमें उत्तम वस्तुका आरोप सम्पत् कहाता है जैसे मनोवृत्तिमें विश्वेदेवाका आरोप 'अनन्तं वैमनः अनन्ता विश्वेदेवा' इत्यादि। प्रकृतमें यज्ञादिमें उत्तम ब्रह्मदृष्टिका आरोप सम्पत् है, किसीके इस व्याख्यानको उपक्रमादि विरोधसे भाष्यकारने निराकरण किया है—ब्रह्मविद्याप्रकरणमें सम्पन्मात्रकी प्रसक्ति ही नहीं इत्यादि युक्तियोंसे, अतः विशेष जिज्ञासुको भाष्य देखना चाहिये ॥ २४ ॥

दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते ।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति ॥ २५ ॥

और दूसरे योगीजन देवताओंके पूजनरूप यज्ञको ही अच्छी प्रकार उपासते हैं, अर्थात् करते हैं और दूसरे ज्ञानीजन परब्रह्म परमात्मारूप अग्नि यज्ञके द्वारा ही यज्ञको हवन करते हैं ॥ २५ ॥

अमुना सम्यग्दर्शनस्य यज्ञरूपत्वेन स्तावकतया ब्रह्मार्पणमन्त्रे स्थिते पुनरपि तस्य स्तुत्यर्थमितरान्यज्ञान्नुपन्यस्यति—दैवमित्यादिना ।

देवा इन्द्राग्न्यादय इज्यन्ते येन स दैवयज्ञस्तमेव यज्ञं दर्शपूर्णमासज्योतिष्टोमादिरूपमपरे योगिनः कर्मिणः पर्युपासते सर्वदा कुर्वन्ति न ज्ञानयज्ञम् । एवं कर्मयज्ञमुक्त्वाऽन्तःकरणशुद्धिद्वारेण तत्फलभूतं ज्ञानयज्ञमाह—ब्रह्मेति । ब्रह्माग्नौ सत्यज्ञानानन्तानन्दरूपं निरस्तसमस्तविशेषं ब्रह्म तत्पदार्थस्तस्मिन्नग्नौ यज्ञं प्रत्यगात्मानं त्वंपदार्थं यज्ञेनैव, यज्ञशब्द आत्मनामसु यास्केन पठितः । इत्थंभूतलक्षणे तृतीया । एवकारो भेदाभेदव्यावृत्त्यर्थः । त्वंपदार्थाभेदेनैवोपजुह्वति तत्स्वरूपतया पश्यन्तीत्यर्थः । अपरे पूर्वविलक्-

इस समय यज्ञ रूपसे तत्त्वज्ञानकी स्तुति ब्रह्मार्पण श्लोकमें स्थित रहने पर भी पुनः इसकी स्तुतिके लिये इतर यज्ञोंका भी निर्देश करते हैं–दैवमित्यादिसे । देव इन्द्र अग्नि प्रभृति पूजित हों जिससे वह दैव यज्ञ है, जैसे—ज्योतिष्टोम दर्श पौर्णमासादि रूपको कर्मयोगी उपासना करते हैं सदा ज्ञान यज्ञ नहीं करते हैं। इस प्रकार कर्म यज्ञको कहकर मनः शुद्धिद्वारा तत्तद् फलभूत ज्ञानयज्ञ कहते हैं— 'ब्रह्म' इत्यादिसे । ब्रह्म स्वरूपाग्निमें सत्यज्ञानानन्द रूप निरस्त समस्त विशेष ब्रह्म-तत्पदार्थ उसी अग्निमें प्रत्यगात्म यज्ञस्वरूप स्वात्मामें 'त्वं पदार्थको यज्ञसे हवन करते हैं, यास्क मुनिने आत्मनाममें यज्ञ शब्दका पाठ किया है। यहाँ 'इत्थं भूतलक्षणमें तृतीया है, एवकार भेदाभेदनिवृत्तिके लिये है, त्वं पदार्थके अभेदसे हवन करते हैं अर्थात् तत्स्वरूपतया देखते हैं (अभिप्राय यह है कि यज्ञ शब्द यहाँ आत्माका वाची है वस्तुतः स्वात्मा भी परब्रह्म ही है किन्तु बुद्ध्याद्युपाधि-संयुक्त अतएव अध्यस्त सर्वोपाधिधर्मको यज्ञसे आत्मामें हवन करते हैं सोपाधिक आत्माका निरुपाधि ब्रह्मस्वरूपसे जो दर्शन है वही उसमें होम है उसीको सन्यासी करते हैं ब्रह्मको स्वात्मासे अभिन्न देखते हैं यही होम है)

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति ।
शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति ॥ २६ ॥

और अन्य योगीजन श्रोत्रादिक सब इन्द्रियोंको संयम अर्थात् स्वाधीनता-रूप अग्निमें हवन करते हैं, अर्थात् इन्द्रियोंको विषयोंसे रोककर अपने वशमें कर लेते हैं और दूसरे योगीलोग शब्दादिक विषयोंको इन्द्रियरूप अग्निमें हवन करते हैं, अर्थात् रागद्वेषरहित इन्द्रियोंद्वारा विषयोंको ग्रहण करते हुए भी भस्म-रूप करते हैं ॥ २६ ॥

णास्तत्त्वदर्शननिष्ठाः संन्यासिन इत्यर्थः । जीवब्रह्माभेददर्शनं यज्ञत्वेन संपाद्य तत्साधनयज्ञमध्ये पठ्यते 'श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञ' इत्यादिना स्तोतुम् ॥ २५ ॥

तदनेन मुख्यगौणौ द्वौ यज्ञौ दर्शितौ । यावद्धि किंचिद्वैदिकं श्रेयःसाधनं तत्सर्वं यज्ञत्वेन संपाद्यते—**श्रोत्रादी**त्यादिना ।

तत्र श्रोत्रादीनि ज्ञानेन्द्रियाणि तानि शब्दादिविषयेभ्यः प्रत्याहृत्यान्ये प्रत्याहारपराः संयमाग्निषु, धारणा ध्यानं समाधिरिति त्रयमेकविषयं संयमशब्देनोच्यते । तथा चाऽऽह भगवान्पतञ्जलिः— *'त्रयमेकत्र संयमः'

यहाँ अपरेका पूर्व विलक्षण तत्त्वदर्शी संन्यासी यह अर्थ है । जीव ब्रह्माभेद दर्शनको यज्ञत्वेन सम्पादन कर तत्साधन यज्ञके मध्यमें पढ़ते हैं श्रेयान्नित्यादिसे स्तुतिके लिए ॥ २५ ॥

इससे मुख्य गौणभेदसे दो यज्ञ बतलाये । जितना जो कुछ वैदिक श्रेयःसाधन है उन सबको यज्ञत्वसे सम्पादन करते हैं श्रोत्रादिसे उनमें श्रोत्रादि ज्ञानेन्द्रियाँ इनको शब्दादि अपने २ ग्राह्य विषयोंसे हटाकर अन्य योगीजन प्रत्याहार पर होकर हटाई हुई इन्द्रियोंको संयम रूपी अग्निमें हवन करते हैं।

प्रश्न—संयम किसको कहते हैं ।

उत्तर—एक विषयक धारणा ध्यान और समाधि ये तीनों संयम हैं । यह स्वकल्पित नहीं योग सूत्रमें भगवान् पतञ्जलिने यह कहा है 'त्रयमेकत्र संयमः' ।

* 'त्रयमेकत्र संयमः' यो० सू० एक विषयमें धारणा ध्यान और समाधि इन तीनोंको संयम यह शास्त्रीय परिभाषा है एक विषयक इस विशेषणसे भिन्न विषय इन तीनोंका संयम पदसे व्यवहार नहीं होता इसको स्फुट करनेकेलिए 'तत्र हृत्पुण्डरीकादौ इत्यादि' विनियोगस्थलमें तीनोंके व्यवहारार्थ तीनपदोंके उच्चारणकी अपेक्षा लाघवार्थ संयम

इति। तत्र हृत्पुण्डरीकादौ मनसश्चिरकालस्थापनं धारणा। एवमेकत्र धृतस्य चित्तस्य भगवदाकारवृत्तिप्रवाहोऽन्तराऽन्तराऽन्याकारप्रत्ययव्यवहितो ध्यानम्। सर्वथा विजातीयप्रत्ययानन्तरितः सजातीयप्रत्ययप्रवाहः समाधिः।

धारणाका लक्षण है—'चित्तस्य देशबन्धो धारणा' उसमें देश विशेष हृदय कमलमें अधिक कालतक चित्तको स्थित रखना धारणा है। विषयमें तीनोंकी एकता विवक्षित है। यद्विषयक धारणा हो तद्विषयक ध्यान समाधि होनी चाहिए।

संज्ञा की गई है इससे एक पदसे तीनोंका व्यवहार होता है जैसे "परिणामत्रयसंयमा" दित्यादि स्थलमें संयम पदसे ही तीनोंका व्यवहार होता है।

चित्तभूमिके भेदसे योग दो प्रकारका है सम्प्रज्ञात और असंप्रज्ञात संप्रज्ञातमें धेयाकार सात्त्विक वृत्ति रहती है असंप्रज्ञातमें कोई वृत्ति चित्तमें नहीं रहती सबका निरोध रहता है 'निरुध्यन्ते प्रमाणादि वृत्तयोऽस्मिन्नवस्थाविशेषे स' वह चित्तका अवस्था विशेष योग है।

प्रश्न—वृत्तिनिरोध योगका लक्षण सम्प्रज्ञात समाधिमें अव्याप्त है क्योंकि उसमें धेयाकार वृत्ति रहती हैं?

उत्तर—'सर्वेतिभाष्यं' लक्षणमें सर्ववृत्ति निरोध नहीं कहा गया है राजस तामस वृत्तियोंका निरोध सम्प्रज्ञातमें भी रहता ही है अतः अव्याप्ति नहीं यदि सर्ववृत्ति निरोध कहे होते तो उक्तमें अव्याप्ति होती।

प्रश्न—क्षिप्तादिमें भी यत्किञ्चित् वृत्ति निरोध है अतः उसमें अतिव्याप्ति स्पष्ट है?

उत्तर—क्लेशादिविरोधित्व चित्तवृत्तिनिरोधत्व योगद्वय साधारण लक्षण है।

प्रश्न—एक ही चित्तका क्षिप्तादिके साथ सम्बन्ध होता है और क्षिप्तादि भूमि सम्बद्ध चित्तकी वृत्तियाँ किसलिए रोकी जाय?

उत्तर—प्रथमका प्रख्यातत्त्वज्ञान तच्छील चित्त सत्त्वगुण है, प्रवृत्तिशील होनेसे रजोगुणात्मक है, स्थितिशील होनेसे तमोगुणात्मक है प्रख्या उपलक्षण है अन्य भी प्रसाद लाघवादि समझना एवं राजसतामसोंमें भी समझना। बात यह है कि एक भी चित्त त्रिगुण निर्मित है और गुणोंमें मिथो वैषम्य होनेसे परस्पर अपचय वैचित्र्यसे विचित्र परिणाम होकर अनेक अवस्थाको प्राप्त करता है चित्तरूपसे परिणत सत्त्व चित्तसत्त्व है सत्त्वके प्रख्यारूप होनेसे चित्तमें सत्त्व प्राधान्य दिखलाया सत्त्वसे किंचिन्न्यून रजस्तम जिसमयमें सम होते है उस समय ऐश्वर्य और शब्दादि विषय ये ही प्रिय है जिसके वह ऐश्वर्य विषय प्रिय होता है सत्त्व प्राधान्यसे, चित्त प्रणिधानके समय सत्त्व तमसे आवृत होकर अणिमादि ऐश्वर्यको ही तत्त्व मानकर उसके ही प्रणिधानकी इच्छा करता है और क्षणभर प्रणिधान करता भी है। अनन्त रजोगुणसे चालित उसमें भी स्थिर न रहकर तत् प्रियमात्र ही होता है शब्दादिमें चित्तका स्वभाव न है प्रेम दृढ हुआ है, एवं विक्षिप्तादिमें भी समझना। विशेष जिज्ञासा हो तो योगभाष्य देखिये।

स तु चित्तभूमिभेदेन द्विविधः संप्रज्ञातोऽसंप्रज्ञातश्च। चित्तस्य हि पञ्च भूमयो भवन्ति क्षिप्तं मूढं विक्षिप्तमेकाग्रं निरुद्धमिति। तत्र रागद्वेषादिवशाद्विषयेष्वभिनिविष्टं क्षिप्तं, तन्द्रादिग्रस्तं मूढं, सर्वदा विषयासक्तमपि कदाचिद्ध्याननिष्ठं क्षिप्ताद्विशिष्टतया विक्षिप्तं, तत्र क्षिप्तमूढयोः समाधिशङ्कैव नास्ति। विक्षिप्ते तु चेतसि कादाचित्कः समाधिर्विक्षेपप्राधान्याद्योगपक्षे न वर्तते, किं तु तीव्रपवनविक्षिप्तप्रदीपवत्स्वयमेव नश्यति। एकाग्रं तु एकविषयकधारावाहिकवृत्तिसमर्थं सत्त्वोद्रेकेण तमोगुणकृततन्द्रादिरूपलयाभावादात्माकारा वृत्तिः। सा च रजोगुणकृतचाञ्चल्यरूपविक्षेपाभावादेक-

प्रश्न—ध्यान क्या है ?

उत्तर—'तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्' चित्त जिस विषयको आलम्बन किया तद्विषयाकार चित्तवृत्ति हो जैसे भगवान्का आलम्बन चित्तने किया तो भगवदाकार तद्वृत्ति प्रवाह मध्यमें किसी दूसरे विषयकी वृत्तिसे व्यवहित न हो फिर विषयान्तरको छोड़कर पुनः २ भगवद् भक्ति प्रवाह हो तो वह ध्यान है क्योंकि ऐसा भगवद्विषयक चित्तवृत्ति प्रवाह विषयान्तर विषयक वृत्तिसे व्यवहित है।

प्रश्न—अच्छा समाधि क्या है ?

उत्तर—'समाधिश्चित्तवृत्ति निरोधः' सर्वथा विजातीय वृत्तिसे अव्यवहित गृहीत विषयक सजातीय प्रत्यय प्रवाह समाधि है। चित्तकी भूमियाँ भिन्न २ है अतः समाधि दो प्रकारकी है १. संप्रज्ञात २. असंप्रज्ञात। चित्तकी पाँच भूमियाँ क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, एकाग्र, और निरुद्ध। इनमें रागद्वेषके कारण विषयमें लिप्त चित्त क्षिप्त है वह विषयको कभी छोड़ता नहीं। सदा आलस्य शील मूढ़ है, विषयासक्त होने पर भी किसी समय ध्याननिष्ठ होता अतः क्षिप्तसे विक्षिप्त अच्छा है क्षिप्त कभी भी ध्यानोन्मुख नहीं होता पूर्वसे विशिष्ट होनेसे विक्षिप्त कहाता है क्षिप्त मूढ़में समाधिका सम्भव ही नहीं। विक्षिप्त चित्तमें समाधि कदाचित हो सकती है, यह विक्षेपकी प्रधानतासे भी योगके योग्य नहीं है किन्तु, तीव्र वायु विक्षिप्त प्रदीपके तरह स्वयं नष्ट हो जाता है। चित्त एक विषयमें धारावाहिक (लगातार) वृत्ति होनेसे योगके योग्य है सत्त्व गुण वृद्धिसे तमोगुणका अभिभव होता है अतएव तत्कृत तन्द्रादि रूप लयाभावसे आत्माकार वृत्ति एकाग्र है वह वृत्ति रजोगुण प्रयुक्त चञ्चलता रूप विक्षेपके अभावसे एक विषयक ही रहती है

विषयैवेति शुद्धे सत्त्वे भवति चित्तमेकाग्रम्, अस्यां भूमौ संप्रज्ञातः समाधिः। तत्र ध्येयाकारा वृत्तिरपि भासते। तस्या अपि निरोधे निरुद्धं विरामसंप्रज्ञातसमाधिभूमिः ; तदुक्तं योगसूत्रे—*'तस्या अपि निरोधे सर्ववृत्तिनिरोधान्निर्बीजः समाधिः' इति। अयमेव सर्वतो विरक्तस्य समाधिफलमपि सुखमनपेक्षमाणस्य योगिनो दृढभूमिः सन् धर्ममेघ इत्युच्यते। तदुक्तम्—† प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथाविवेकख्यातेर्धर्ममेघः समाधिः, ततः क्लेशकर्म-

विशेष प्रयुक्त विषयान्तराकार वृत्ति होती है एकैक गुणोद्भवसे गुणद्वयका तिरोभाव होनेसे तत्प्रयुक्त वृत्तियाँ नहीं होती शुद्ध सत्त्वोपचय कालमें चित्त एकाग्र होता है, इस भूमिमें सम्प्रज्ञात समाधि होती है उसमें ध्येयाकार वृत्तिका भी भान होता है उस वृत्तिका भी निरोध करने पर निरुद्ध चित्त एकाग्र होता है वही असंप्रज्ञात समाधि भूमि है। यह योगसूत्रमें लिखा है, सूत्र ऊपर देखिये। यही विरक्त योगीको समाधिफल सुखकी भी अपेक्षा न करनेसे दृढ़ भूमि होकर धर्ममेघ कहा जाता है इसका भी योगसूत्र मूलमें देखिये। विषयसे निगृहीत=

* 'तस्या अपि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः'' प्रज्ञाके संस्कारोंका प्रयोजन है भोगाधिकार समाप्ति यह पूर्वमें कह चुके हैं प्रज्ञासंस्कार सहित चित्त प्रज्ञासंस्कार धारा जनक होनेसे चित्त पूर्ववत्साधिकार ही होगा अतः भोगाधिकार शान्तिके लिए अन्य कुछ उपायका भी आश्रयण करना आवश्यक है। सूत्रसे उत्तर कहते हैं—तस्या इति। ज्ञानप्रसाद लक्षण परवैराग्यसे संस्कारोत्पत्तिद्वारा उस प्रज्ञा कृत संस्कारका भी निरोध करने पर प्रज्ञाका ही निरोध नहीं यह अपि शब्दका अर्थ है सम्पूर्ण जायमान संस्कार प्रज्ञा प्रवाहका निरोध करने पर कारणके अभावसे कार्यानुत्पत्तिसे यह निर्बीज समाधि होती है यह निर्बीज समाधि समाधिप्रज्ञाविरोधी परवैराग्यसे उत्पन्न स्वकारण विरोधी प्रज्ञारूपसंस्कारोंका भी यह विरोधी है।

शङ्का—पर वैराग्यजात समीचीन विज्ञान ज्ञानमात्रका बाधक है समीचीनज्ञानसे असमीचीन ज्ञानका बाध लोकमें दृष्ट है यथा—स्वप्नदृष्टार्थके स्मरणका जाग्रद्बोधसे बाध होता है 'निरुद्ध्यतेऽनेन प्रज्ञा' इति निरोधः पर वैराग्य उससे उत्पन्न निरोधजं संस्कारः दीर्घकालादि सेवित पर वैराग्यसे उत्पन्न होनेसे संस्कारसे प्रज्ञासंस्कारका बाधक है निष्कर्ष यह है कि यहाँ संस्कारत्वेन बाध्य बाध कभाव है ज्ञानत्वसे नहीं अतः शंका ही अनुचित है विस्तार भाष्यादिमें देखिये।

† 'प्रसंख्यानेप्यकुसीदस्य सर्वथा विवेकख्याते धर्ममेघः समाधिः' पूर्वोक्त प्रकारसे व्युत्थान निरोधोपाय प्रसंख्यानको कहकर प्रसंख्यानके निरोधके उपायको कहते हैं—प्रसंख्यानेति। उस प्रसंख्यानसे भी कुछ सब भावोंके अधिष्ठाता मैं ही हो जाऊँ इत्यादि प्रार्थना न करे बल्कि उसमें भी क्लेश ही का अनुभव करे क्योंकि उनमें भी परिणामित्वादि

निघृष्टिः' इति। अनेकरूपेण संयमानां भेदादग्निष्विति बहुवचनम्। तेषु इन्द्रियाणि जुह्वति धारणाध्यानसमाधिसिद्ध्यर्थं सर्वाणीन्द्रियाणि स्वस्वविषयेभ्यः प्रत्याहरन्तीत्यर्थः। तदुक्तम्—*'स्वस्वविषयासंप्रयोगे चित्तस्वरूपानु-

प्रत्यावर्तित इस रूपसे संयम भिन्न भिन्न है इसलिए "संयमाग्निषु" यह बहुवचन है संयम सामान्य रूपसे एक ही है अतः तद्रूपसे एकवचन ही उचित होता, संयमाग्निमें इन्द्रियोंका हवन करते हैं धारणा ध्यान और समाधि सिद्धिके लिए सब इन्द्रियोंको अपने २ विषयसे खींच लेते हैं यह भी योग सूत्र ऊपर देखिये। विषयोंसे आकृष्ट इन्द्रियाँ चित्तरूप ही होती हैं, इस कारणसे विक्षेप होता नहीं उसके न होनेसे चित्त धारणा ध्यान समाधिको धारण करता है—अर्थात्

दोष दर्शनसे विरक्त होकर सर्वथा विवेक ख्यातिमान ही रहै तब उस योगीको धर्ममें घ-समाधि होती है फिर उसको ज्ञानान्तर नहीं होते इसीसे सदा विवेक ख्याति ही रहती है 'प्रसंख्यान विवेकः साक्षात्कारः कुसीदं वृद्धिजीविका' यह अमरकोष है जैसे ऋण देकर सूद लेते है और उससे अपना खर्च चलाते हैं वैसे प्रसंख्यानसे कोई सिद्धि न चाहै ऐसा करने पर उसके योगमें कोई विघ्न नहीं होता किन्तु निरन्तर विवेक ख्याति होनेसे धर्ममेघ नामक संप्रज्ञान योगकी पराकाष्ठा होती है धर्मं मेहति सिञ्चति इति धर्ममेघः मिह सेचने से कर्ममें अण प्रत्यय है।

उसका प्रयोजन कहते हैं—ततः क्लेशकर्मनिवृत्तिः उससे क्लेश कर्मकी निवृत्ति होती हैं तदनन्तर जीवी विद्वान् मुक्त हो जाता है।

शङ्का—अत्यन्त दुःख निवृत्ति मोक्ष है जीवीको दुःख अवश्य होता है फिर मुक्ति कैसे अतएव 'न ह वै सशरीरस्य प्रियाप्रिय' इत्यादि श्रुति जीवीमें दुःखका समर्थन करती है?

उत्तर—दुःखके निदान जो अविद्यादि क्लेश है उनका अत्यन्त उच्छेद होनेसे मुक्ति यहाँ गौण है इसमें प्रमाण अनुपलब्धि है सो भाष्यकार कहते हैं—'नहि क्षीणः विपर्ययः कश्चित् केनचित् क्वचिज्जातो दृश्यते' इति। अर्थ—मिथ्या ज्ञान रहित किसीको किसीने किसी जगह उत्पन्नको दृष्टिगोचर नहीं करता। न्यायाचार्य श्रीगौतम मुनिने भी कहा है—'वीतराग जन्मादर्शनात्' इति अर्थात् सराग ही का जन्म देखा जाता है। पञ्चशिखाचार्यने इसको मोक्ष कहा है—द्वितीयो रागक्षयादिति।

* 'स्व स्व विषयाऽसंप्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार एवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः' इति यो० सू०—चित्तके निरोध करने पर चित्तके समान इन्द्रियाँ भी निरुद्ध हो जाती है एक इन्द्रियके जय करने पर दूसरी इन्द्रियाँ स्वयं जित न होती किन्तु उनके जयके लिये पृथक् यत्न करना पड़ता है वैसा चित्तके जयमें नहीं किन्तु चित्तके समान इन्द्रियाँ भी निरुद्ध हो जाती है इतरेन्द्रिय जयके समान उपायान्तरकी आवश्यकता नहीं इसमें अनुरूप दृष्टान्त कहते हैं—जैसे मधुकरराज, मधुमक्खियोंमें एक मधुकर सब

कार एवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः' इति । विषयेभ्यो निगृहीतानीन्द्रियाणि चित्तरूपाण्येव भवन्ति, ततश्च विक्षेपाभावाच्चित्तं धारणादिकं निर्वहतीत्यर्थः। तदनेन प्रत्याहारधारणाध्यानसमाधिरूपं योगाङ्गचतुष्टयमुक्तम्। तदेवं समाध्यवस्थायां सर्वेन्द्रियवृत्तिनिरोधो यज्ञत्वेनोक्तः । इदानीं व्युत्थानावस्थायां रागद्वेषराहित्येन विषयभोगो यः सोऽप्यपरो यज्ञ इत्याह—'शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति' इति अन्ये व्युत्थितावस्थाः श्रोत्रादिभिरविरुद्धविषयग्रहणं स्पृहाशून्यत्वेनान्यसाधारणं कुर्वन्ति, स एव तेषां होमः ॥ २६ ॥

उसमें धारणादि होते हैं। इस तरह इस कथनसे प्रत्याहार धारणा ध्यान समाधिरूपचतुष्टय योगाङ्ग कहा। इस प्रकार समाध्यवस्थामें सब इन्द्रिय वृत्तियोंका निरोध यज्ञ भावसे कहा है। अब व्युत्थान अवस्था अर्थात् समाध्युपरम कालमें राग द्वेष रहित विषयोपभोग जो है वह दूसरा यज्ञ है यह शब्दादिसे कहते हैं। अन्य योगी शब्दादि विषयको इन्द्रियाग्निमें हवन करते हैं अन्यका अभिप्राय व्युत्थान कालिक योगीमें है व्यक्ति भेद नहीं किन्तु उपाधि भेद मात्र है, श्रोत्रादि इन्द्रियोंसे योगाविरुद्ध विषयोंका ग्रहणकर तृष्णाशून्य होकर अन्य साधारण विषय ग्रहण करते हैं यही उनका होम है भेद इतना ही है कि अन्य तृष्णा युक्त होकर विषय ग्रहण करते हैं ये लोग स्पृहा शून्य होकर विषय ग्रहण करते हैं विषय ग्रहण उन दोनोंके साधारण है ॥ २६ ॥

मक्खियोंका राजा होता है उसके उड़ने पर अर्थात् पूर्वस्थानको छोड़कर निवासान्तर बनानेके लिये उड़ता है तो सब मक्खियां उसके पीछे उड़ती हैं और जहाँ वह राजा स्थान बनानेके लिये बैठता है वहां ही सबमक्खियाँ उसका इच्छाके अनुसार बैठ कर स्थान बनाना आरम्भ करती है वैसा ही चित्ताधीन इन्द्रियां चित्तके निरुद्ध होने पर स्वयं निरुद्ध हो जाती है यही प्रत्याहार है। सप्रयोजन यह प्रत्याहार विष्णुपुराणमें लिखा है "शब्दादिष्वनुरक्तानि प्रगृह्याक्षाणि योगवित्। कुर्याच्चित्तानुकारीणि प्रत्याहारपरायणः। वश्यतापरमा तेन जायते निष्कलात्मनाम्। इन्द्रियाणामवश्यैस्तै न योगी योगसाधकः" इति।

अर्थ—स्पष्ट है। निष्कर्ष यह है कि ध्यान कालमें जब चित्त ध्येयवस्त्वाकार होता है तब जितेन्द्रिय पुरुषकी चक्षुरादि इन्द्रियाँ भी तत्समानाकारके समान ही होती है स्वतन्त्र मनके साथ एक होकर विषयान्तरका संकल्प नहीं करती अजितेन्द्रिय पुरुषको उस समयमें भी चक्षुरादि इन्द्रियां मनसे रूपादि विषयोंमें ही दौड़ती है अतएव मनुभगवान्ने कहा है 'इन्द्रियाणां हि सर्वेषां यद्येकं क्षरतीन्द्रियम्। तेनास्य क्षरति प्रज्ञा दृतेः पादादिवोदकम्' ॥ इति। अजितेन्द्रियकी भी इन्द्रियाँ भोगकालमें चित्तानुकारि होती है तदव्यावृत्तिके लिये

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे ।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते ॥ २७ ॥

और दूसरे योगीजन संपूर्ण इन्द्रियोंकी चेष्टाओंको तथा प्राणोंके व्यापारको ज्ञानसे प्रकाशित हुई, परमात्मामें स्थितिरूप योगाग्निमें हवन करते हैं ॥ २७ ॥

तदेवं पातञ्जलमतानुसारेण लयपूर्वकं समाधिं ततो व्युत्थानं च यज्ञद्वयमुक्त्वा ब्रह्मवादिमतानुसारेण बाधपूर्वकं समाधिं कारणोच्छेदेन व्युत्थानशून्यं सर्वफलभूतं यज्ञान्तरमाह—सर्वेत्यादिना। द्विविधो हि समाधिर्भवति लयपूर्वको बाधपूर्वकश्च। तत्र 'तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः' इति न्यायेन कारणव्यतिरेकेण कार्यस्यासत्त्वात्पञ्चीकृतपञ्चभूतकार्यं व्यष्टिरूपं समष्टिरूपविराट्कार्यत्वात्तद्व्यतिरेकेण नास्ति। तथा समष्टिरूपमपि पञ्चीकृतपञ्चभूतात्मकं कार्यमपञ्चीकृतपञ्चमहाभूतकार्यत्वात्तद्व्यतिरेकेण नास्ति। तत्रापि पृथिवी शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाख्यपञ्चगुणा गन्धेतरचतुर्गुणापकार्यत्वात्तद्व्यतिरेकेण नास्ति, ताश्चतुर्गुणा आपो गन्धरसेतरत्रिगुणात्मकतेजःकार्य-

इस प्रकार पातञ्जल मतानुसार लय पूर्वक समाधि ततः व्युत्थानरूप यज्ञद्वय कहकर अद्वैत ब्रह्मवादिमतानुसार बाधपूर्वक समाधिको कारणविनाशसे व्युत्थान शून्य सर्व फलभूत यज्ञान्तर कहते हैं—'सर्व' इत्यादिसे। दो तरहकी समाधि होती है—लयपूर्वक और बाधपूर्वक उसमें "तदनन्यत्वआरम्भणशब्दादिभ्य" इस सूत्रोक्त न्यायसे कारणसे अतिरिक्त वस्तुतः कार्य है ही नहीं अतएव पञ्चीकृत भूतकार्य जो व्यष्टिरूप तत्तदसाधारण इतर व्यावृत्ताकार प्रतीत होता है वह व्यष्टिरूप कार्य समष्टिरूप विराट् कार्य है अतः कारणीभूत समष्टिरूप विराट्से अतिरिक्त नहीं ऐसे ही समष्टिरूप भी कार्य अपञ्चीकृत पञ्चभूत कार्य होनेसे वह भी अपञ्चीकृत पञ्चमहाभूतसे अतिरिक्त नहीं उसमें भी पृथ्वी शब्द स्पर्श रूप रस गन्धाख्य पञ्चगुणात्मिका हैं। गन्धसे अतिरिक्त चतुर्गुण जल कार्य हैं अतः जलसे अतिरिक्त पृथ्वी नहीं है जल भी गन्ध रस व्यतिरिक्त

स्वविषयाऽसंप्रयोग कहा है। ध्यानकालमें चक्षुरादि तुल्यवृत्ति का ही होती है चक्षुरादि की नहीं इनमें तो वृत्तिका अभाव ही रहता है अतः 'अनुकार इव' यह कहा अतएव 'पिबन्निव च चक्षुर्भ्यां पादौ सम्वाहयन्निव चित्तेन्द्रियैस्ततो ध्यायेत्तन्मूर्तिं विजितेन्द्रियः' इत्यादि स्मृतियोंमें भी इसका प्रयोग है।

त्वात्तद्व्यतिरेकेण न सन्ति, तदपि त्रिगुणात्मकं तेजो गन्धरसरूपेतर-द्विगुणवायुकार्यत्वात्तद्व्यतिरेकेण नास्ति। सोऽपि द्विगुणात्मको वायुः शब्दमात्रगुणाकाशकार्यत्वात्तद्व्यतिरेकेण नास्ति। स च शब्दगुण आकाशो बहु स्यामितिपरमेश्वरसंकल्पात्मकाहंकारकार्यत्वात्तद्व्यतिरेकेण नास्ति, सोऽपि संकल्पात्मकोऽहंकारो आयेक्षणरूपमहत्तत्त्वकार्यत्वात्तद्व्यति-रेकेण नास्ति, तदपीक्षणरूपं महत्तत्त्वं मायापरिणामत्वात्तद्व्यतिरेकेण नास्ति, तदपि मायाख्यं कारणं जडत्वेन चैतन्येऽध्यस्तत्वात्तद्व्यतिरेकेण नास्तीत्यनुसंधानेन विद्यमानेऽपि कार्यकारणात्मके प्रपञ्चे चैतन्यमात्रगोचरो यः समाधिः स लयपूर्वक उच्यते। तत्र तत्त्वमस्यादिवेदान्तमहावाक्यार्थ-ज्ञानाभावेनाविद्यातत्कार्यस्याक्षीणत्वात्। एवं चिन्तनेऽपि कारणसत्त्वेन पुनः कृत्स्नप्रपञ्चोत्थानादयं सुषुप्तिवत्सबीजः समाधिर्न मुख्यः। मुख्यस्तु तत्त्वमस्यादिमहावाक्यार्थसाक्षात्कारेणाविद्याया निवृत्तौ सर्गक्रमेण तत्कार्य-निवृत्तेरनाद्यविद्यायाश्च पुनरुत्थानाभावेन तत्कार्यस्यापि पुनरुत्थानाभावा-न्निर्बीजो बाधपूर्वकः समाधिः, स एवानेन श्लोकेन प्रदर्श्यते। तथाहि—

त्रिगुणात्मक तेज कार्य होनेसे तेजसे अतिरिक्त नहीं है, तेज भी द्विगुणात्मक वायु कार्य होनेसे वायुसे भिन्न नहीं, वायु भी शब्दमात्रैक गुण आकाश कार्य है अतः आकाश व्यतिरिक्त नहीं, वह शब्दैकगुणक आकाश भी 'एकोऽहं बहु स्याम्' इस परमेश्वर संकल्पात्मकाहङ्कार कार्य होनेसे तदतिरिक्त नहीं, वह भी संकल्पात्मक अहङ्कार न्यायेक्षणरूप महत्तत्व कार्य है इसलिए स्वकारणीभूत महत्तत्वसे अतिरिक्त नहीं वह भी ईक्षणरूप महत्तत्व माया परिणाम होनसे मायासे अतिरिक्त नहीं, वह भी मायाख्य कारण जड़ होनेसे चैतन्यमें अध्यस्त हैं अधिष्ठानसे अतिरिक्त माया भी नहीं, इस आलोचनसे कार्यकारणात्मक प्रपञ्चके विद्यमान रहने पर भी चैतन्यमात्र गोचर लय पूर्वक समाधि कही जाती है। उसमें तत्त्वमस्यादि महावाक्यार्थ ज्ञान न होनेसे अविद्या तत्कार्यका क्षय नहीं होता। इसी प्रकार चिन्तनमें भी कारण रहता ही है फिर समस्त प्रपञ्चका आविर्भाव होता है इसलिए सुषुप्तिके समान यह सबीजसमाधि मुख्य नहीं किन्तु गौण है। मुख्य तो तत्त्वमस्यादि महावाक्यार्थ साक्षात्कारसे अविद्याकी निवृत्ति होने पर सर्गक्रमसे तत्कार्य निवृत्ति होती है, अनादि अविद्याका फिर उत्थान न होनेसे तत्कार्योंका सुतरां पुनरुत्थान नहीं होता अतः निर्बीज बाधपूर्वक निर्बीज समाधि

सर्वाणि निखिलानि स्थूलरूपाणि संस्काररूपाणि चेन्द्रियकर्माणीन्द्रियाणां श्रोत्रत्वक्चक्षुरसनघ्राणाख्यानां पञ्चानां वाक्पाणिपादपायूपस्थाख्यानां च पञ्चानां बाह्यानामान्तरयोश्च मनोबुद्ध्योः कर्माणि—शब्दश्रवणस्पर्शग्रहण-रूपदर्शनरसग्रहणगन्धग्रहणानि वचनादानविहरणोत्सर्गानन्दाख्यानि च संकल्पाध्यवसायौ च। एवं प्राणकर्माणि च प्राणानां प्राणापानव्यानोदान-समानाख्यानां पञ्चानां कर्माणि बहिर्नयनमधोनयनमाकुञ्चनप्रसारणादि अशितपीतसमनयनमूर्ध्वनयनमित्यादीनि। अनेन पञ्च ज्ञानेन्द्रियाणि पञ्च कर्मेन्द्रियाणि पञ्च प्राणा मनो बुद्धिश्चेति सप्तदशात्मकं लिङ्गमुक्तम्। तच्च सूक्ष्मभूतसमष्टिरूपं हिरण्यगर्भाख्यमिह विवक्षितमिति वदितुं सर्वाणीति विशेषणम्। आत्मसंयमयोगाग्नौ, आत्मविषयकः संयमो धारणाध्यान-संप्रज्ञातसमाधिरूपस्तत्परिपाके सति योगो निरोधसमाधिः। यं पतञ्जलिः सूत्रयामास—*"व्युत्थाननिरोधसंस्कारयोरभिभवप्रादुर्भावौ निरोधक्षणचित्ता-

होती है वही इस श्लोकसे दिखलाते हैं। ऐसा है कि सब स्थल रूप और संस्कार रूप इन्द्रिय कर्म, श्रोत्र त्वक् चक्षु रसना घ्राणनामक पाँच तथा वाक् हाथ पांव गुदालिङ्ग बाह्य पाँचों, आन्तरमनो बुद्धिके कर्म—क्रमसे शब्द श्रवण स्पर्श ग्रहण रूप दर्शन रस ग्रहण गन्ध ग्रहण वचनादान विहरणोत्सर्गानन्द संकल्पा-ध्यवसाय है। इसी प्रकार प्राणकर्म—प्राणापान व्यानोदान समान नामक पञ्चप्राणोंके कर्म बाहर निकालना, नीचे गिराना, दूरस्थको समीप खींचना, फैलाना, भुक्त पीतका समनयन ऊर्ध्व नयनादि हैं। इससे पाँच ज्ञानेन्द्रिय पाँच-कर्मेन्द्रिय पाँच प्राण मन बुद्धि यह सत्रह वस्तुओंका समूह लिङ्ग शरीर कहा गया है। यह सूक्ष्म भूत समष्टि रूप है यही हिरण्य गर्भ है यही विवक्षित है यह कहनेके लिए "सर्वाणि" यह-विशेषण है आत्मसंयम योगाग्नि आत्मविषयक संयम धारणा ध्यान समाधिस्वरूप तत्फल होने पर निरोध समाधि योग होता है। जिसके विषयमें भगवान् पतञ्जलिका सूत्र है—व्युत्थानेत्यादि ऊपर देखिये।

* व्युत्थाननिरोध संस्कारयोरभिभवप्रादुर्भावौ निरोधक्षणचित्तान्वयो निरोधपरिणामः' यो. सू 'परिणामत्रयसंयमादतीतानागतज्ञानम्' इस आगामिसूत्रव्याख्यानमें तीनों परिणामोंका उपयोग होगा अतः परिणामत्रयका स्फुट करनेकी इच्छासे पूछते हैं—अथेति। व्युत्थान और संप्रज्ञातमें चित्तके परिणामका भेद स्पष्ट होनेसे वहाँ प्रश्नका अवसर ही नहीं निरोधमें परिणामका अनुभव नहीं यदि अनुभव नहीं तो परिणाम नहीं है यही क्यों न मान लिया जाय यह आक्षेप ठीक नहीं कारण 'चलं गुणवृत्तं' इस न्यायसे गुण

न्वयौ निरोधपरिणामः" इति । व्युत्थानं क्षिप्तमूढविक्षिप्ताख्यं भूमित्रयं तत्संस्काराः समाधिविरोधिनस्ते योगिप्रयत्नेन प्रतिदिनं प्रतिक्षणं चाभिभूयन्ते, तद्विरोधिनश्च निरोधसंस्काराः प्रादुर्भवन्ति । ततश्च निरोध-मात्रक्षणेन चित्तान्वयो निरोधपरिणाम इति । तस्य फलमाह—"ततः

व्युत्थान-क्षिप्तमूढ़ विक्षिप्तस्वरूप भूमि-त्रय और उनके संस्कार समाधि विरोधी हैं प्रतिदिन प्रतिक्षण योगियोंके अधिक यत्नसे इनका निराकरण करना चाहिए ऐसा करने पर ही तद्विरोधी निरोध संस्कार उत्पन्न होते हैं। इस कारणसे निरोध मात्र क्षणसे चित्तका अन्वय निरोध परिणाम हैं अर्थात् यावत् क्षणनिर्वृत्तिक चित्त है° तावत्क्षण निरोध परिणाम है । उसका फल कहते हैं—'ततः

परिणामके बिना क्षणभर भी नहीं रह सकते असंप्रज्ञातकी अपेक्षा संप्रज्ञात भी व्युत्थान ही है इस तात्पर्यसे भाष्यकार कहते हैं 'व्युत्थान निरोधसंस्कारा' इति निरुध्यते· अनेन इस व्युत्पत्तिसे निरोध ज्ञानप्रसाद पर वैराग्य है दोनों व्युत्थान निरोध संस्कारोंका अभिभव और प्रादुर्भाव होता है उसमें व्युत्थान संस्कारका अभिभव और निरोध संस्कारका आविर्भाव यहाँ अभिभव है क्रमशः ह्रास है प्रादुर्भाव क्रमशः वृद्धि है। निरोध लक्षण चित्तान्वयो निरोध परिणाम है प्रत्येक निरोधक्षणमें एक ही स्थिर चित्तमें अन्वित रहता है एक ही चित्त धर्मी उक्त संस्कारोंके अभिभव प्रादुर्भावसे स्वरूपतः भिन्न नहीं होता निरोध कालमें जायमान संस्कार निरोध संस्कार विवक्षित है इससे संप्रज्ञात कालीन प्रज्ञा जन्य संस्कारका भी संग्रह हुआ ।

शङ्का—जैसे अविद्या मूलक क्लेश अविद्यानिवृत्तिसे निवृत्त होते हैं उनको निवृत्तिके लिए यत्नान्तरकी अपेक्षा नहीं एवं व्युत्थानमूल संस्कार व्युत्थान निवृत्तिसे ही निवृत्ति हो जायगें उनकी निवृत्तमें निरोध संस्कारकी अपेक्षा नहीं ?

उत्तर—कारणमात्रकी निवृत्तिसे कार्यमात्रकी निवृत्ति नहीं होती अन्यथा तन्तुवायकी निवृत्तिसे पटकी भी निवृत्ति हो जायगी किन्तु जो अन्वयि कारण है उसकी निवृत्तिसे कार्यकी निवृत्ति होती है जैसे तन्तुनिवृत्तिसे पट निवृत्ति, उक्त क्लेश अविद्यान्वयी है अतः अविद्या-निवृत्तिसे तन्निवृत्ति ठीक ही है प्रकृतमें संस्कार प्रत्ययान्वयी नहीं है क्योंकि प्रत्ययके चिरातीत होने पर भी कालान्तरमें वर्त्तमान तत्संस्कारसे स्मरण होता है अतः प्रत्यय निवृत्त होने पर भी संस्कार निवृत्तिके लिए निरोध संस्कारका सम्पादन करना आवश्यक है प्रत्यय संस्कारका निमित्त कारण है अन्वयि नहीं यह निष्कर्ष है ।

प्रश्न—व्युत्थान संस्कारका सर्वथा अभिभव होने पर बलवान् निरोध परिणामसे चित्तका कैसा परिणाम होता है ?

उत्तर—व्युत्थान संस्कार मलरहित निरोध संस्कार परम्परा वाहिता प्रशान्त वाहिता निश्चल निरोध धारा प्रवाह निरोध संस्कार बलसे ही होता है अतः निरोध संस्कार और तत्प्रादुर्भाव आवश्यक है निरोध संस्कार पाटव प्रकृतमें अपेक्षित है केवल संस्कारमात्र नहीं मन्दसंस्कार होने पर व्युत्थान संस्कारसे निरोध संस्कार ही का अभिभव हो जायगा ।

प्रशान्तवाहिता संस्कारात्" इति। तमोरजसोः क्षयाल्लयविक्षेपशून्यत्वेन शुद्धसत्त्वरूपं चित्तं प्रशान्तमित्युच्यते। पूर्वपूर्वप्रशमसंस्कारपाटवेन तदाधिक्यं प्रशान्तवाहितेति। तत्कारणं च सूत्रयामास— * 'विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः' इति। विरामो वृत्त्युपरमस्तस्य प्रत्ययः कारणं वृत्त्युपरमार्थः पुरुषप्रयत्नस्तस्याभ्यासः पौनःपुन्येन संपादनं तत्पूर्वकस्तज्जन्यशेषोऽन्यः संप्रज्ञाताद्विलक्षणोऽसंप्रज्ञात इत्यर्थः। एतादृशो य आत्मसंयमयोगः स

प्रशान्तवा' इत्यादिसे.। रजोगुण तमोगुणके नाश होनेसे विक्षेप शून्य होनेसे शुद्ध सत्त्वस्वरूप चित्त प्रशान्त यह कहा जाता है पूर्व पूर्व प्रशम संस्कारकी पटुतासे संस्काराधिक्य ही प्रशान्तवाहित है उसका कारण सूत्र 'विरामप्रत्ययेति' मूल देखिये। विराम वृत्तिका उपरम = अवसान उसका प्रत्यय कारण वृत्त्युपरमार्थ है पुरुषका प्रयत्न उसका अभ्यास पुनः पुनः सम्पादन तत्पूर्वक तज्जन्य कारण पूर्वक ही कार्य होता है अतः कारण पूर्व पदार्थ है अन्य सम्प्रज्ञातसे विलक्षण असंप्रज्ञात यह अर्थ है। एतादृश जो आत्मसंयम योग वहीं है अग्नि ज्ञानदीपित

* असंप्रज्ञात समाधिके अवतारार्थ भाष्यकार पूछते हैं कि असंप्रज्ञात समाधिका क्या उपाय और क्या स्वभाव है? सूत्रसे उत्तर देते हैं—विरामेत्यादि, पूर्वपदसे उपाय कहते है संस्कार शेष और अन्य इन दोनों पदोंसे स्वरूपका निर्देश हैं वृत्तिरूपज्ञान भी न हो यह विराम प्रत्यय है इसका पर वैराग्य उपाय है ज्ञानमें भी अलंबुद्धि व्यर्थ बुद्धि ज्ञान भी शान्त हो जाय। विराम वृत्तियोंका अभाव उसका प्रत्यय कारण उसका अभ्यास तदनुष्ठान पौनः पुन्य वही पूर्वमें है जिसके वह विराम प्रत्ययाभ्यास पूर्व है किसीका मत है पूर्व पदसे उपाय कथन है मध्यम पदसे लक्षण कथन है और अन्त्य पदसे लक्ष्य कथन है अन्त्य असंप्रज्ञात।

प्रश्न—अपर वैराग्य निरोधका कारण क्यों नहीं होता।

उत्तर—वह सालम्बन है कार्यका स्वरूप ही कारण होता है विरूप नहीं अपर वैराग्य इसके विरूप है पुरुषपर्यन्त किसी आलम्बनमें चित्तकी एकाग्रताका अभ्यास असंप्रज्ञात समाधिका साक्षात् साधन नहीं है क्योंकि वह सालम्बन होनेसे विरूप है प्रकृत समाधि निरालम्बन है अतः निरालम्बन ज्ञान प्रसादमात्रसे असंप्रज्ञातसंप्रज्ञातकी उत्पत्ति ठीक है धर्ममेघ समाधि ही जो कि रजः मनोमल रहित बुद्धिसत्त्वसे उत्पन्न हुई है तत्तद्विषयातिक्रम कर अनन्त विषयोंमें दोषदर्शी अतएव समस्त विषयोंके परित्यागसे स्वरूपप्रतिष्ठ निरालम्बन संस्कारमात्र शेष निरालम्बन समाधिका कारण है क्योंकि दोनों निरालम्बनत्वेन समान है वृत्तिरूप कार्योंके अभावसे अभाव प्राप्तके समान चित्त होनेसे निर्बीज निरालम्बन समाधि हैं निरालम्बन जो पर वैराग्य है वही असंप्रज्ञातका साधन है क्योंकि वह जैसे निर्वस्तुक है अर्थात् कोई ध्येय वस्तु नहीं है क्योंकि असंप्रज्ञात ध्येयवदन्य है अतः पर वैराग्य भी सर्वार्थ शून्य है इस प्रकार निरालम्बनत्वसे दोनों समान है।

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथाऽपरे ।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः ॥ २८ ॥

और दूसरे कई पुरुष ईश्वर-अर्पण-बुद्धिसे लोकसेवामें द्रव्य लगानेवाले हैं, वैसे ही कई पुरुष स्वधर्मपालनरूप तपयज्ञको करनेवाले हैं और कई अष्टाङ्गयोगरूप यज्ञको करनेवाले हैं और दूसरे अहिंसादि तीक्ष्ण व्रतोंसे युक्त यत्नशील पुरुष भगवानके नामका जप तथा भगवत्प्राप्तिविषयक शास्त्रोंका अध्ययनरूप ज्ञानयज्ञके करनेवाले हैं ॥ २८ ॥

एवाग्निस्तस्मिन्ज्ञानदीपिते ज्ञानं वेदान्तवाक्यजन्यो ब्रह्मात्मैक्यसाक्षात्कार-स्तेनाविद्यातत्कार्यनाशद्वारा दीपितेऽत्यन्तोज्ज्वलिते बाधपूर्वके समाधौ समष्टिलिङ्गशरीरमपरे जुह्वति प्रविलापयन्तीत्यर्थः। अत्र च सर्वाणीति आत्मेति ज्ञानदीपित इति विशेषणैरग्नावित्येकवचनेन च पूर्ववैलक्षण्यं सूचितमिति न पौनरुक्त्यम् ॥ २७ ॥

एवं त्रिभिः श्लोकैः पञ्च यज्ञानुक्त्वाऽधुनैकेन श्लोकेन षड्यज्ञानाह— द्रव्येत्यादिना। द्रव्यत्याग एव यथाशास्त्रं यज्ञो येषां ते द्रव्ययज्ञाः पूर्त-दत्ताख्यस्मार्तकर्मपराः। तथाच स्मृतिः—

'वापीकूपतडागादि देवतायतनानि च। अन्नप्रदानमारामः पूर्तमित्यभिधीयते ॥
शरणागतसंत्राणं भूतानां चाप्यहिंसनम्। बहिर्वेदि च यद्दानं दत्तमित्यभिधीयते' इति॥

इष्टाख्यं श्रौतं कर्म तु 'दैवमेवापरे यज्ञम्' इत्यत्रोक्तम्। अन्तर्वेदि

ज्ञानप्रज्वलित, उसमें ज्ञानवेदान्त वाक्यजन्य ब्रह्मात्मैक्य साक्षात्कार उससे अविद्या तत्काय नाशके द्वारा दीपित अत्यन्त लहरती हुई बाधपूर्वक समाधिमें समष्टि लिङ्गशरीरको दूसरा योगी ही हवन करते हैं उसमें प्रविलीन करते हैं यह स्फुटार्थ है यहाँ पर "सर्वाणि" 'आत्मा' 'ज्ञातदीपित' इन विशेषणोंसे और "अग्नौ" सप्तमीके एकवचनसे पूर्वसे वैलक्षण्य सूचित हुआ है इससे पुनरुक्ति नहीं है ॥ २७ ॥

इस प्रकार तीन श्लोकोंसे पाँच यज्ञोंको कहकर इस समय एक श्लोकसे छः यज्ञोंको 'द्रव्य' इत्यादिसे कहते हैं, शास्त्रानुसारि तीर्थविशेष पात्रविशेषमें द्रव्यविशेष रजत सुवर्णादिका लोष्ट पाषाणादिका नहीं, धर्मबुद्धिसे त्यागही है यज्ञ जिनका वे द्रव्ययज्ञ हैं = पूर्वदत्ताख्य स्वरूप स्मार्त कर्मानुष्ठानपरायण। यहाँ ऐसी स्मृति है —'वापी कूप तडागादि' इत्यादि ऊपर मूलमें देखिये। इष्टाख्य श्रौतकर्म तो 'दैवमेवापरे' इत्यादि श्लोकमें कह चुके हैं। वेदीमें दान जो अन्तर्वेदि दान

दानमपि तत्रैवान्तर्भूतम् । तथा कृच्छ्रचान्द्रायणादि तप एव यज्ञो येषां ते तपोयज्ञास्तपस्विनः । तथा योगश्चित्तवृत्तिनिरोधोऽष्टाङ्गो यज्ञो येषां ते योगयज्ञा यमनियमासनादियोगाङ्गानुष्ठानपराः । *यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयो हि योगस्याष्टावङ्गानि । तत्र प्रत्याहारः श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्य इत्यत्रोक्तः । धारणाध्यानसमाधय आत्मसंयमयोगाग्नाविन्यत्रोक्ताः । प्राणायामोऽपाने जुह्वति प्राणमित्यनन्तरश्लोके वक्ष्यते । यमनियमासनान्यत्रोच्यन्ते । कानि योगाङ्गानीत्यपेक्षायां अहिंसासत्यास्ते

है वह भी दैवयज्ञ ही के अन्तर्गत है एवं तप कृच्छ्र चान्द्रायणादि तप ही यज्ञ है जिनका वे तपोयज्ञ तपस्वी हैं तथा योग अष्टाङ्ग चित्तवृत्ति निरोध नामक यज्ञ है जिनका वे योग यज्ञ यम नियमादि योगाङ्गानुष्ठान पर होते हैं ।

प्रश्न—योगके आठ अङ्ग कौन है ?

उत्तर—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, समाधि ये आठ योगके अङ्ग है । उनमें प्रत्याहार 'श्रोत्रादीनीन्द्रियण्यन्ये' यहाँ कह चुके हैं धारणा ध्यान और समाधि ये तीनों 'आत्मसंयम योगाग्नौ' में कहे गये हैं । प्राणायाम 'अपाने जुह्वति प्राण' इस समनन्तर श्लोकमें कहेंगें यम नियम आसन यहाँ कहते हैं ।

प्रश्न—यम क्या है और कितने हैं ?

* यम नियम आसन प्राणायाम प्रत्याहार धारणाध्यान समाधि ये आठ योगके अङ्ग है अभ्यास वैराग्य श्रद्धावीर्यादिको यथायोग स्वरूपतः अविनाभावतः इसीमें अन्तर्भूत समझना, यथाक्रम इनका अनुष्ठान और स्वरूप अग्रिम सूत्रोंसे कहा जायगा परन्तु यह प्रतिज्ञा भाष्यकारको है मेरी नहीं क्योंकि मुझे उन्हीं सूत्रोंकी व्याख्या करनी है जिनका निर्देश व्याख्येय टीकामें है ।

'अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः' योगाङ्ग अहिंसाकी स्तुति करते हैं सर्वप्रकारोंसे सब कालोंमें प्राणियोंका द्रोह न करना अहिंसा है केवल प्राण वियोगानुकूल व्यापार ही नहीं जो पुरुष इस अहिंसाका परिपालन नहीं करता वह यमनियमादिका भी पालन नहीं कर सकता यदि किसी प्रकार करे तो भी निष्फल होनेसे अकृतके समान ही है अहिंसा सिद्धिके लिये ही उनका अनुष्ठान अपेक्षित है ।

प्रश्न—यदि अहिंसा ही यमादिका मूल है तो वे अहिंसा सिद्धि परक कैसे ? कार्य कारण सिद्धपरक कहा इष्ट है ।

उत्तर—सिद्धिसे यहाँ ज्ञान ईप्सित है उत्पत्ति नहीं धूमसे वह्निका ज्ञान होता ही है यदि अहिंसा ज्ञानार्थ यमादि है तो वे व्यर्थ है श्रुति स्मृत्यादिसे अहिंसा ज्ञान सिद्ध ही है अवदातेति. यदि अग्रिमकर्मोंको अनुष्ठान न किया जायगा तो अहिंसा असत्यादिसे मलिन हो जायगी अतः परिशुद्ध अहिंसा ज्ञानार्थ अग्रिमोंका अनुष्ठान है ।

यमब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः पञ्च । शौचसंतोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि

उत्तर—अहिंसा, सत्य, अस्तेय ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पाँच यम हैं।

प्रश्न—नियम क्या और कितने हैं ?

उत्तर—शौच, सन्तोष, तप स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान पाँच नियम हैं।

— शौच सन्तोष तपः स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान ये पाँच नियम हैं मिट्टी जलादिसे मल प्रक्षालन द्वारा उत्पन्न शुद्धि है यहाँ आदि शब्दसे, पञ्चगव्यादि गोमूत्र यावकादि मेध्य है, इनके भक्षणसे उत्पन्न शुद्धि, एवं आदि शब्दसे अशनपरिमाण संख्यादिका नियम भी समझना। चित्तके मल मद मान, असूयादिका हटाना मनका शौच है, प्राणरक्षामात्र हेतुसे अधिक न लेनेकी इच्छा सन्तोष है यानी लेकर छोड़नेसे पहिले तादृश इच्छा सन्तोष है सर्दी, गर्मी द्वन्द्वका सहना तप है भूख-पिपासा आदि द्वन्द्व जोड़े हैं, काष्ठमौन किसी चेष्टासे अपने अभिप्रायका अप्रकाश यानी न बोलना रूप ही आकार मौन है यही दोनोंमें भेद है कृच्छ्रचान्द्रायणादि तप है स्वाध्याय, मोक्षशास्त्रका अध्ययन यदि उक्त शास्त्रका अध्ययन कर चुका हो अथवा करनेकी योग्यता न हो तो प्रणवका जप करना है, परम गुरु परमेश्वरमें सब कर्मोंका अर्पण करना ईश्वर प्रणिधान है।

स्थिरसुखमासनम् इति यो० सू०।

जो स्थिर स्थायिसुखप्रद है वह आसन है यह सूत्रका अर्थ है 'आस्यते अनेन' यह व्युत्पत्ति आसनकी है उसके कई प्रकार भाष्यमें है कुछ निर्देश यहाँ करते हैं—पद्मासन भद्रासन स्वस्तिक आदि इनमें पद्मासन प्रसिद्ध है, वृषण कोशके समीपमें पादतलको सम्पुट कर उसके ऊपर पाणिकच्छिका करे वह भद्रासन है और दोनों हाथ और तथाक्रम दोनों पैरोंको मोड़कर भूमि पर रखकर कच्छपाकार हो जाना उक्त आसन है, वायें पैरको सिकोडकर दक्षिण जाँघ ऊरूके मध्यमें करके और दहिने पैरको बाँई जाँघ और ऊरूके बीचमें करे यह स्वस्तिकासन है इत्यादि विस्तार भाष्य और वैशारदीमें देखिये जिज्ञासार्थ लिख दिया है। टीकाके लिये विशेष उपयोगी नहीं आसन गौण है मुख्य चित्तैकाग्रता है जिससे सुखपूर्वक चित्तकी एकाग्रता हो वही आसन भगवान् सूत्रकारको अभिमत है।

'ते जाति देशकालानवच्छिन्नाः सार्वभौममहाव्रतम्'

जात्यवच्छिन्ना अहिंसा जैसे मछली मारनेवालेकी अहिंसा मछरीको न मारेंगे है यह जात्यवच्छिन्ना है मत्स्यत्व जातीयमें ही नियत है अन्य जातिमें नहीं यही तीर्थमें न मारेंगे यह देशावच्छिन्न है, पुण्य दिनोंमें हिंसा न करेंगे यही कालावच्छिन्न है सब भूमियोंमें सब विषयोंमें सर्व प्रकारसे हिंसा न हो तो वही अहिंसा सार्व भौम होनेसे महाव्रत है।

नियमाः पञ्च। स्थिरसुखमासनं पद्मकस्वस्तिकाद्यनेकविधम्। अशास्त्रीयः प्राणिवधो हिंसा। सा च कृतकारितानुमोदितभेदेन त्रिविधा। एवम् यथार्थभाषणमवध्यहिंसानुबन्धि यथार्थभाषणं चानृतम्। स्तेयमशास्त्रीयमार्गेण परद्रव्यस्वीकरणम्। 'अशास्त्रीयः स्त्रीपुंसव्यतिकरो मैथुनम्' शास्त्रानिषिद्धमार्गेण देहयात्रानिर्वाहकाधिकभोगसाधनस्वीकारः परिग्रहः। एतन्निवृत्तिलक्षणा उपरमा यमाः, 'यम उपरमे' इति स्मरणात्। तथा शौचं द्विविधं बाह्यमाभ्यन्तरं च। मृज्जलादिभिः कायादिक्षालनं हितमितमेध्याशनादि च बाह्यं, मैत्रीमुदितादिभिर्मदमानादिचित्तमलक्षालनमान्तरम्, संतोषो विद्यमानभोगोपकरणादधिकस्यानुपादित्सारूपा चित्तवृत्तिः। तपः क्षुत्पिपासा-

प्रश्न—आसन क्या और कितने हैं ?

उत्तर—स्थिर सुख आसन है वह पद्मक, स्वस्तिकादि भेदसे अनेकविध है।

प्रश्न—हिंसा क्या है ?

उत्तर—अशास्त्रीय प्राणिवध, शास्त्र विहित प्राणिवध हिंसा नहीं अतएव मनुने कहा है 'तस्मात् यज्ञे वधोऽवध' इति। वह हिंसा कृत, कारित, अनुमोदित, भेदसे तीन प्रकारकी है।

प्रश्न—अनृत क्या है और कति विध है ?

उत्तर—असत्य बोलना और जिस सत्य भाषणसे अवध्य ब्रह्मचर्यादिका वध हो वह सत्य भी अनृत ही है यह एक ही प्रकारका है।

प्रश्न—स्तेय क्या है ?

उत्तर-अशास्त्रीय उपायसे परकीय द्रव्यग्रहण, अशास्त्रीय स्त्रीपुरुषसंयोग मैथुन है, शास्त्रप्रतिषिद्ध उपायसे और शरीर निर्वाहक भोगसे अधिक साधन ग्रहण प्रतिग्रह है इससे निवृत्ति स्वरूप उपरम यम है 'यम उपरमे' यह भगवान् आचार्य पाणिनीयका धातु पाठ है। एवं शौच दो प्रकारका है—बाह्य और आभ्यन्तर, मिट्टी जलसे शरीरस्थ मलनिवृत्तिरूप प्रक्षालन, और हितमितमेध्य भोजन यह बाह्य शुद्धि है। हित यानी अनुकूल, मित यानी परिमित अर्थात् अधिक नहीं मेध्य यानी पवित्र सात्त्विक, राजस, तामस, अपवित्र नहीं मैत्री मुदितादिसे मदमानादिरूप मनोमलका प्रक्षालन आन्तर शुद्धि है, सन्तोष विद्यमान भोगसाधनसे अधिक न लेनेकी इच्छाका अभावस्वरूप चित्तवृत्ति है।

शीतोष्णादिद्वंद्वसहनं काष्ठमौनाकारमौनादिव्रतादि च। इङ्गितेनापि स्वाभिप्रायाप्रकाशनं काष्ठमौनमवचनमात्रमाकारमौनमिति भेदः। स्वाध्यायो मोक्षशास्त्राणामध्ययनं प्रणवजपो वा। ईश्वरप्रणिधानं सर्वकर्मणां तस्मिन्परमगुरौ फलनिरपेक्षतयाऽर्पणम्, एते विधिरूपा नियमाः। पुराणेषु येऽधिका उक्तास्त एष्वेव यमनियमेष्वन्तर्भाव्याः। एतादृशयमनियमाद्यभ्यासपरा योगयज्ञाः। स्वाध्याययज्ञानयज्ञाश्च—यथाविधि वेदाभ्यासपराः स्वाध्याययज्ञाः, न्यायेन वेदार्थनिश्चयपरा ज्ञानयज्ञाः। यज्ञान्तरमाह—यतय इति। यतयो यत्नशीलाः संशितव्रताः सम्यक्शितानि तीक्ष्णीकृता-

---

प्रश्न--तप क्या है ?

उत्तर--भूख पिपासा सर्दी गर्मी आदि द्वन्द्वोंका सहन काष्ठवत्मौनाकार मौनादिव्रत है। यहाँ काष्ठवत्मौनका अर्थ यह है कि जो मुँहसे न बोलकर लिखकर या चेष्टासे समझाना है वह काष्ठमौन नहीं है किन्तु वस्तुतः अभिप्रायके वक्र मार्गसे सूचित करना ही है तो फिर ऋजुमार्ग शब्द ही से सूचित करना अच्छा है अतएव काष्ठमौन और आकारमौन दोनों कहा है। काष्ठमौनका स्वरूप स्फुट करते हैं-'इङ्गितेन'से। अर्थ चेष्टासे भी अपने अभिप्रायका प्रकाशन न करना काष्ठमौन है। वचन यानी शब्द न बोलना किन्तु आकारादिसे जो सूचित करते हैं वे आकारमौन है, काष्ठमौन आकारमौनमें उक्त भेद है, हम ऊपर कह आये हैं-स्वाध्याय मोक्ष शास्त्रोंका अध्ययन और प्रणव जप। यदि उन शास्त्रोंको न पढ़ा हो तो पढ़े यदि न पढ़ सके वा पढ़ चुका हो तो प्रणवका जप करे, ईश्वर प्रणिधान सब साधु कर्मोंका परमगुरु परमात्मामें फलेच्छा रहित समर्पण ये विधिरूप नियम हैं पुराणमें जो अधिक कहे गये हैं वे इन्हीं यम नियमोंके अन्तर्गत है एतादृश यम नियमाद्यभ्यासमें परायण योगयज्ञ उक्त याग ही है यज्ञ जिनका वे योगयज्ञ कहे जाते हैं अथवा योग संयोग प्राप्ति पुण्यतीर्थोंमें जाना वहाँ निवास करना यह भी अर्थ हो सकता है। 'स्वाध्यायज्ञान यज्ञाश्च' विधानानुसार वेदाध्ययनमें जो रत है वे स्वाध्याय यज्ञ कहाते हैं, ज्ञानयज्ञ यानीज्ञान ही है यज्ञ जिनका वे ज्ञान यज्ञ हैं, ज्ञानसे यहाँ वेदार्थ ज्ञान विवक्षित है न्यायसे अर्थात् 'पूर्वोत्तर मीमांसा विचाररूपसे' कर्मकाण्ड एवं ज्ञानकाण्डसे वेदार्थनिर्णयमें ही जो प्रयत्नशील है वे ज्ञान यज्ञ है। दूसरा यज्ञ भी कहते हैं 'यतयः यत्नशीलसंशितव्रता' सम्यक् शितानि तीक्ष्णीकृतानि

न्यतिदृढानि व्रतानि येषां ते संशितव्रता व्रतयज्ञा इत्यर्थः। तथा च भगवान्पतञ्जलिः—'ते जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम्' इति। ये पूर्वमहिंसाद्याः पञ्च यमा उक्तास्त एव जात्याद्यनवच्छेदेन दृढभूमयो महाव्रतशब्दवाच्याः। तत्राहिंसा जात्यवच्छिन्ना यथा मृगयोर्मृगातिरिक्तान्न हनिष्यामीति। देशावच्छिन्ना न तीर्थे हनिष्यामीति सैव कालावच्छिन्ना यथा न चतुर्दश्यां न पुण्येऽहनीति। सैव प्रयोजनविशेषरूपसमयावच्छिन्ना यथा क्षत्रियस्य देवब्राह्मणप्रयोजनव्यतिरेकेण न हनिष्यामीति च। एवं विवाहादिप्रयोजनव्यतिरेकेणानृतं न वदिष्यामीति एवमापत्कालव्यतिरेकेण-क्षुद्र्याद्यतिरिक्तस्तेयं न करिष्यामीति एवमृतुव्यतिरिक्तकाले पत्नीं न

अतिदृढानि अहिंसारूपाणि व्रतानि येषां अर्थात् अहिंसादि रूपव्रतमें जो अति दृढ संकल्प है वे ही संशितव्रत यज्ञ है ऐसा ही भगवान् पतञ्जलिने कहा है 'ते जाति देशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम्' इति जो पूर्वमें अहिंसादि पाँच यज्ञ कहे गये है वे ही जात्यादि नियम रहित अतएव दृढ भूमि महाव्रत कहाते है उनमें जात्यवच्छिन्ना अहिंसा है, मृगयू यानी व्याधकी मृगातिरिक्त जानवरोंको न मारेंगे इस संकल्पसे मृग जातिकी हिंसाका परिहार नहीं हुआ किन्तु इतर जातीयहिंसाका ही निषेध हुआ इस कारण यह अहिंसा जात्यच्छिन्न है; तीर्थमें न मारेंगे यह तीर्थ देश विशेषावच्छिन्न होनेसे देशावच्छिन्न है क्योंकि देश नियत है इससे अन्य देशमें हिंसा करेंगे यह फलित होता है वही कालावच्छिन्न भी होती है जैसे न चतुर्दशीमें न पुण्य दिनोंमें हिंसा करेंगे वही प्रयोजन विशेषरूपसमयसे अवच्छिन्न समयावच्छिन्न होती है जैसे क्षत्रियकी। देवता ब्राह्मणोंके प्रयोजनसे अतिरिक्त प्रयोजनके लिये हिंसा न करेंगे एवं युद्धके बिना हिंसा न करेंगे यह भी समयावच्छिन्न है इसी प्रकार विवाहादि प्रयोजनके बिना झूठ न बोलेंगे विवाह परिहासादिमें झूठ बोलनेका निषेध नहीं है प्रत्युत अनुमति है एवं विपत्ति कालको छोड़ भूखके भयसे रहित होने पर चोरी न करेंगे। भूखकी निवृत्तिके चोरी करनेका निषेध नहीं अतएव श्रीविश्वामित्रमहर्षिने धर्मव्याधके सूनागृहसे श्वजाघनी यानी कुत्तेकी टाँग रात्रिमें चोराई थी यह पुराणमें प्रसिद्ध है एवं ऋतुकालातिरिक्त कालमें भार्यागमन न

गमिष्यामीति एवं गुर्वादि प्रयोजनमन्तरेण न परिग्रहीष्यामीति यथायोग्यमवच्छेदो द्रष्टव्यः। एतादृगवच्छेदपरिहारेण यदा सर्वजातिसर्वदेशकालसर्वप्रयोजनेषु भवाः सार्वभौमा अहिंसादयो भवन्ति महता प्रयत्नेन परिपाल्यमानत्वात्, तदा ते महाव्रतशब्देनोच्यन्ते। एवं काष्ठमौनादिव्रतमपि द्रष्टव्यम्। एतादृशव्रतदार्ढ्यं च काममक्रोधलोभमोहानां चतुर्णामपि नरकद्वारभूतानां निवृत्तिः। तत्राहिंसया क्षमया क्रोधस्य ब्रह्मचर्येण वस्तुविचारेण कामस्य, अस्तेयापरिग्रहरूपेण संतोषेण लोभस्य, सत्येन यथार्थज्ञानरूपेण विवेकेन मोहस्य, तन्मूलानां च सर्वेषां निवृत्तिरिति द्रष्टव्यम्। इतराणि च फलानि सकामानां योगशास्त्रे कथितानि ॥ २८ ॥

करेंगे ऋतौ भार्यामुपेयादित्यादि वचनोंमें तत्तत्कालमें भार्यागमन विहित है न करनेमें प्रत्यवाय है एवं गुरु दक्षिणादि प्रयोजनके विना प्रतिग्रहादि न लेंगे यह अपरिग्रह अवच्छिन्न है गुरु दक्षिणादि प्रयोजनके लिये प्रतिग्रह शास्त्र सम्मत है अतएव वरतन्तुशिष्य कौत्स १४ करोड रुपया मागनेके लिये श्रीरघु राजाके यहाँ गये और सैकड़ों ऊटों खच्चरोंसे सोना गुरुजीके पास लाये यह रघुवंश में प्रसिद्ध है, यथा सम्भव जाति देशकालाद्यवच्छेद इनमें समझना उक्त अवच्छेदसे रहित जब सब जाति सब देश सब काल सब प्रयोजनोंमें होने वाली सार्वभौम अहिंसादि होते हैं तब वे महाव्रत कहे जाते है क्योंकि बड़े परिश्रमसे उनकी रक्षा होती है इसी प्रकार काष्ठमौनव्रतको भी समझना इस व्रतके सुदृढ होने पर काम क्रोध लोभ मोह ये चारों जो नरकके द्वार प्रसिद्ध है इनकी निवृत्ति हो जाती है, उनमें क्रोधकी निवृत्ति अहिंसा और क्षमासे होती है, ब्रह्मचर्य और तात्विक विचारसे कामकी निवृत्ति होती है, अस्तेयापरिग्रह और सन्तोषसे चौर्यकी निवृत्ति होती है, अर्थात् चोरी करनेसे निवृत्ति होती है समीचीन ज्ञान सत्य है वही विवेक है उससे मोहकी निवृत्ति होती है यह जानना इनसे अन्य फल भी जो योगशास्त्रमें प्रसिद्ध है वे भी फल सकाम पुरुषोंको होते हैं अर्थात् तत्तत्फल कामियोंको योगशास्त्रोक्त फल भी होते हैं ॥ २८ ॥

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथाऽपरे ॥
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः ॥२९॥
अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति ।

दूसरे योगीजन अपानवायुमें प्राणवायुको हवन करते हैं, वैसे ही अन्य योगीजन प्राणवायुमें अपानवायुको हवन करते हैं, तथा अन्य योगीजन प्राण और अपानकी गतिको रोककर, प्राणायाम के परायण होते हैं ॥ २९ ॥ दूसरे नियमित आहार करनेवाले योगीजन प्राणोंको प्राणोंमें ही हवन करते हैं ।

प्राणायामयज्ञमाह सार्धेन—

अपानेऽपानवृत्तौ जुह्वति प्रक्षिपन्ति प्राणवृत्तिं । बाह्यवायोः शरीराभ्यन्तरप्रवेशेन पूरकाख्यं प्राणायामं कुर्वन्तीत्यर्थः । प्राणेऽपानं तथाऽपरे जुह्वति शरीरवायोर्बहिर्निर्गमनेन रेचकाख्यं प्राणायामं कुर्वन्तीत्यर्थः । पूरकरेचककथनेन च तदविनाभूतो द्विविधः कुम्भकोऽपि कथित एव । यथाशक्ति वायुमापूर्यानन्तरं श्वासप्रश्वासनिरोधः क्रियमाणोऽन्तःकुम्भकः । यथाशक्ति सर्ववायुं विरेच्यानन्तरं क्रियमाणो बहिःकुम्भकः । एतत्प्राणायामत्रयानुवादपूर्वकं चतुर्थं कुम्भकमाह—प्राणापानगती मुखनासिकाभ्यामान्तरस्य

प्राणायाम यज्ञ कहते है 'अपाने' इत्यादि डेढ श्लोकसे । अपानवायु यानी गुदास्थ वायुवृत्तिमें प्राणवृत्तिका निक्षेपरूप हवन करते हैं बाह्यदेशस्थित वायुका शरीरके भीतर प्रवेश करनेसे पूरक नामक प्राणायाम करते हैं, प्राणमें अपानका उसी प्रकार दूसरे हवन करते हैं अर्थात् शरीर स्थित वायुके बाहर निकालनेसे रेचक नामक प्राणायाम करते हैं रेचक पूरकका कथन तो है पर कुंभकका निर्देश नहीं है विना कुम्भकके उक्त दोनों नहीं हो सकते अतः उनसे कुम्भकका भी आक्षेप होता है क्योंकि 'येन विना यन्नोपपद्यते तेनतदाक्षिप्यते' यह न्याय प्रसिद्ध है जैसे भोजनके विना पीनत्व मोटापन नहीं हो सकता अतः मोटाईसे भोजनका आक्षेप होता है वैसे प्रकृतमें भी समझना आक्षिप्त कुम्भक दो प्रकारका है सामर्थ्यानुसार वायुको पूर्णकर तदनन्तर क्रियमाण श्वास प्रश्वासका गतिनिरोध अन्तःकुम्भक कहाता है जहाँ तक हो सके सब वायुको निकाल कर बाद क्रियमाण बहिः कुम्भक कहाता है इन तीनों प्राणायामोंका अनुवाद कर चतुर्थ प्राणायाम कुम्भकको कहते हैं प्राणापानगती इत्यादिसे । मुख नासिका इन दोनोंसे भीतरके वायुको बाहर

वायोर्बहिर्निर्गमः श्वासः प्राणस्य गतिः। बहिर्निर्गतस्यान्तःप्रवेशः प्रश्वासोऽपानस्य गतिः। तत्र पूरके प्राणगतिनिरोधः। रेचकेऽपानगतिनिरोधः। कुम्भके तूभयगतिनिरोध इति क्रमेण युगपच्च श्वासप्रश्वासाख्ये प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः सन्तोऽपरे पूर्वविलक्षणा नियताहारा आहारनियमादियोगसाधनविशिष्टाः प्राणेषु बाह्याभ्यन्तरकुम्भकाभ्यासनिगृहीतेषु प्राणाञ्ज्ञानेन्द्रियकर्मेन्द्रियरूपाञ्जुह्वति चतुर्थकुम्भकाभ्यासेन विलापयन्तीत्यर्थः। तदेतत्सर्वं भगवता पतञ्जलिना संक्षेपविस्तराभ्यां सूत्रितम्। तत्र संक्षेपसूत्रम्—'तस्मिन्सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदलक्षणः प्राणायामः' इति। तस्मिन्नासने स्थिरे सति प्राणायामोऽनुष्ठेयः। कीदृशः, श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदलक्षणः श्वासप्रश्वासयोः प्राणापानधर्मयोर्वा गतिः पुरुषप्रयत्नमन्तरेण स्वाभाविकप्रवहणक्रमेण युगपच्च पुरुषप्रयत्नविशेषेण तस्या विच्छेदो निरोध एव लक्षणं स्वरूपं यस्य स तथोक्तः। एतदेव विवृणोति—'बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः'

करना यानी श्वास बाहर जाना प्राणकी गति है बहिष्कृत वायुका भीतर प्रवेश प्रश्वास अपानकी गति है पूरकमें प्राणकी गतिका निरोध रेचकमें अपानकी गतिका निरोध और कुम्भकमें दोनोंकी गतियोंका निरोध इस क्रमसे अथवा एक कालमें श्वास प्रश्वास नामक प्राणापानगतिको रोकर प्राणायामपरायण तत्पर होते हुये दूसरे योगिजन पूर्व योगियोंसे विलक्षण संयताहार हितमितमेध्य आहारादि जो योगियोंको विहित है उन सभी योगसाधनोंमें श्रद्धायुक्त बाह्याभ्यन्तर कुम्भकाभ्याससे बशीकृत प्राणोंमें प्राण ज्ञानेन्द्रिय कर्मेन्द्रिय रूपको हवन करते हैं चतुर्थ कुम्भकके अभ्याससे विलीन यानी विनष्ट करते हैं। यह सब भगवान् पतञ्जलि महर्षिने संक्षेप विस्तारसे सूचित किया है अर्थात् दोनों प्रकारके सूत्र बनाये हैं उनमें पहिला सूत्र है 'तस्मिन् सति श्वास प्रश्वासयोगति विच्छेदलक्षणः प्राणायामः' इति। अर्थ आसन स्थिर होने पर प्राणायाम करना चाहिये अन्यथा नहीं कैसा प्राणायाम है, श्वास प्रश्वास गतिविच्छेदलक्षण है, श्वास प्रश्वास यानी प्राणापान इन दोनोंकी पुरुष व्यापारके विना स्वाभाविक जो गति है उसका क्रमसे अथवा एक कालमें पुरुष व्यापार विशेषसे विच्छेद निरोध है यही निरोध का लक्षण स्वरूप है जिसका वह प्राणायाम है इसका विवरण करते हैं—'बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्ति

बाह्याभ्यन्तर स्तम्भवृत्ति देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः इति यो० सू०

वृत्तिशब्दका प्रत्येकके साथ सम्बन्ध है। रेचक, पूरक, कुम्भक भेदसे प्राणायाम तीन प्रकारका है प्रश्वासके साथ प्राणगतिका अवरोध रेचक है वही बाह्यवृत्ति रेचक नामक प्राणायाम है, जहाँ श्वासपूरकके साथ गतिका अभाव है वह आभ्यन्तरवृत्तिपूरक नामक प्राणायाम, है जहां अभ्यास निरपेक्ष एकबारके प्रयत्नसे श्वास प्रश्वास इन दोनोंकी गतिका अभाव है वह स्तम्भवृत्ति कुम्भक नामक प्राणायाम है, वक्ष्यमाणकुम्भक विशेष जो चतुर्थ है उसकी व्यावृत्तिके लिये 'सकृत्प्रयत्नात्' यह विशेषण है वह असकृत्प्रयत्नसे होता है यह वहां ही स्पष्ट है एक ही समयमें बाह्याभ्यन्तर प्राणोंके विलायनमें दृष्टान्त है कि जैसे सन्तप्त पत्थरके ऊपर प्रक्षिप्तजल सर्वतः सूखता हुआ संकुचित होता है वैसेही बहनशील यह वायु बलवान् विधारक प्रयत्नसे निरुद्धक्रिय होकर सूक्ष्मरूपसे शरीरमें ही रहता है पूरण न करनेसे पूरक नहीं रेचन न करनेसे रेचक भी नहीं वैसेही बाह्याभ्यन्तर दोनोंमें देश काल संख्या परि दृष्ट इस विशेषण देनेका यह अर्थ है कि इतने देश इतने काल और इतनी संख्यासे परिमित रेचकादि मुझे करना है इसका निश्चय करले और नासिकासे आगे प्रादेश परिमित अथवा बारह अंगुलसे परिच्छिन्न बाह्य देश रेचकका विषय है इसका निश्चय सरपतकी रुईसे किया जाता है, पूरकका पादतल यानी पैरका तलआसे लेकर मस्तक पर्यन्त आभ्यन्तर विषय है वह चींटीके स्पर्शके समान स्पर्शसे अनुमेय यानी उसका अनुमान किया जाता है कुम्भकका रेचक और पूरकका जो कथित देश है वही बाह्याभ्यन्तर देश है इन्हीं दोनों देशोंमें प्राणका विलय होता है यह उक्त रुई की क्रिया है और उक्त स्पर्श न होनेसे जाना जाता है यद्यपि संख्यासे कालनियम किया जाता है तथापि प्रकार भेदसे दोनोंका उल्लेख है संख्यार्थ मात्रा मार्कण्डेय पुराणमें है निमिषोंके मात्रा 'तालो लघ्वक्षरं तथा प्राणायामस्य संख्यार्थं स्मृतो द्वादश मात्रिकः' इति। विशेष योगवार्तिकादिमें देखिये बाह्यान्तर विषयाक्षेपी चतुर्थ बाह्याभ्यन्तर विषयक जो बाह्याभ्यन्तर वृत्ति जो पूर्वसूत्रमें कह चुके है रेचक पूरक इन दोनोंका अतिक्रमणकर अर्थात् त्याग कर केवल स्वयं रहता एवं भूत जो प्राणायाम सो चौथा है इस चौथेकी कुम्भक संज्ञा है यह वशिष्ठजीके वाक्यसे स्पष्ट होगा, पूर्व सूत्रोक्त कुम्भक तो नियमसे रेचक पूरकके मध्यमें ही होता है इस कारण इन दोनोंका अतिक्रम नहीं करता रेचक पूरकके विषयोंके अतिक्रमलाभार्थ विषयघटित लक्षण कहा है अन्यथा 'रेचकातिक्रमो' ऐसा सूत्र होता यह कुम्भक रेचक पूरकके देशमें नहीं होता क्योंकि यह व्यापक है और काल संख्या परिच्छिन्न भी नहीं है क्योंकि स्वेच्छासे मास वर्षकालतक स्थायी हो सकता है ध्रुवका यह प्राणयाम विष्णु पुराणमें लिखा है तपके समय ध्रुवके प्राण निरोधसे सब जीवोंके प्राणोंका निरोध हुआ यह वहाँ कहा

गया है यह चौथा प्राणायाम वशिष्ठसंहितामें ऐसा लिखा है 'प्रस्वेदं जनयेद् यस्तु प्राणायामो हि सोऽधमः। मध्यमः कम्पनात्प्रोक्त उत्थानं चोत्तमे भवेत्॥ पूर्वं पूर्वं प्रकुर्वीत यावदुत्तमसंभवः। निश्वासोच्छ्वासकौ देहे स्वाभाविकगुणावुभौ। तस्यापि नश्यतस्तेन प्राणायामोत्तमेन हि। तयोर्नाशे समर्थः स्यात् कर्तुं केवलकुम्भकम्। रेचकं पूरकं त्यक्त्वा सुख्यं यद् वायुधारणम्। प्राणायामो प्रमित्युक्तः स वै केवलकुम्भकः। सहितं केवलं वापि कुम्भकं नित्यमभ्यसेत्। यावत्केवलसिद्धिः स्यात् तावत्सहितमभ्यसेत्। केवले कुम्भके सिद्धे रेचकपूरकवर्जिते न तस्य दुर्लभं किञ्चित् त्रिषु लोकेषु विद्यते इति॥ आकाशमें गमन करनेकी शक्तिके प्रादुर्भावसे स्वेच्छानुचार चाहें जहां जा सकता है बाह्यविषयरेचक प्रथम देशकाल और संख्यासे परिच्छिन्न होता है पीछे देशादिके साथ हो आविस होकर तदतिक्रामित होता है सूत्रमें देशवाची विषयशब्द काल संख्याका भी उपलक्षक है यह संक्षिप्त सूत्रार्थ है।

यो० सू० तस्मिन्सति श्वासप्रश्वासयोः गतिविच्छेदः प्राणायामः, वक्ष्यमाण चार प्रकारके प्राणायामोंका सामान्यलक्षण गतिविच्छेद है शास्त्रानुसार स्वाभाविक गतिका अभाव स्वेच्छानुसार नहीं यह सामान्य लक्षण रेचक पूरक और कुम्भक इन तीनोंमें अनुगत है।

शंका—प्रत्येक प्राणायाममें सामान्य लक्षणकी अतिव्याप्ति होगी कारण रेचकादि तीनों मिलित प्राणायाम है 'एकैक नहीं' प्राणायामस्तु विशेयो रेचकपूरककुम्भकैः' यह अभियुक्तोक्ति है ?

समाधान—एकैक भी प्राणायाम इष्ट ही हैं अतः लक्षणानुगति इष्टसाधिका है अनिष्टापादिका नहीं पूर्वापरीभावसे प्रथम भूमिकामें साथही अनुष्ठानका नियम होनेसे तीनोंमें एकत्वव्यवहार है यही उक्तवाक्यका तात्पर्य है तीनों मिलित प्राणायाम है एकैक नहीं इसीसे वशिष्ठसंहितामें 'रेचकं पूरकं त्यक्त्वा सुखं यद्वायुधारणम्। प्राणायामोऽभियुक्तः स वै केवलकुम्भकः॥ यह कहा गया है, केवलकुम्भकमें भी प्राणायामत्व इष्ट ही है आसन ठीक होने पर प्राणायाम प्रत्याहार धारणाध्यान और समाधि इन पाचोंको करना चाहिये। 'सत्यासने' इस भाष्योक्तिका तात्पर्य यह है कि जैसे कालान्तरकृत यमनियमादि योगाङ्ग है वैसा आसन नहीं किन्तु प्राणायामादिके साथ तदङ्ग है समाधिपर्यन्त सत्यासनेकी अनुवृत्ति है बाह्य वायुका अन्तःप्रवेश कर धारणा करना पूरकमें श्वास प्रश्वासका गति विच्छेद हैं जहां भीतरके वायुको निकालकर बाहर धारण करते हैं रेचकमें वहां पर भी श्वासप्रश्वास की गतिका विच्छेद है इसी प्रकार कुम्भकमें भी समझना। इति'।

इति । बाह्यगतिनिरोधरूपत्वाद्बाह्यवृत्तिः पूरकः । आन्तरगतिनिरोधरूपत्वादान्तरवृत्ती रेचकः । कैश्चित्तु बाह्यशब्देन रेचक आन्तरशब्देन च पूरको व्याख्यातः । युगपदुभयगतिनिरोधः स्तम्भस्तद्वृत्तिः कुम्भकः । तदुक्तं यत्रोभयोः श्वासप्रश्वासयोः सकृदेव विधारकात्प्रयत्नादभावो भवति न पुनः पूर्ववदापूरणप्रयत्नौघविधारणं नापि रेचनप्रयत्नौघविधारणं, किं तु यथा तप्त उपले निहितं जलं परिशुष्यत्सर्वतः संकोचमापद्यत एवमयमपि मारुतो वहनशीलो बलवद्विधारकप्रयत्नावरुद्धक्रियः शरीर एव सूक्ष्मभूतोऽवतिष्ठते। न तु पूरयति येन पूरकः, न तु रेचयति येन रेचक इति। त्रिविधोऽयं प्राणायामो देशेन कालेन संख्यया च परीक्षितो दीर्घसूक्ष्मसंज्ञो भवति। यथा घनीभूतस्तूलपिण्डः प्रसार्यमाणो विरलतया दीर्घः सूक्ष्मश्च भवति तथा प्राणोऽपि देशकालसंख्याधिक्येनाभ्यस्यमानो दीर्घो दुर्लक्ष्यतया सूक्ष्मोऽपि संपद्यते। तथाहि—हृदयान्निर्गत्य नासाग्रसंमुखे द्वादशाङ्गुल

देशकाल संख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः' इति। बाह्यगति निरोधरूप होनेसे बाह्यवृत्ति पूरक है। भीतरगति निरोधरूप होनेसे आभ्यन्तर वृत्ति रेचक है कोई विद्वान् तो बाह्यशब्दसे रेचकका आन्तर शब्दसे पूरकका व्याख्यान किया है एक कालमें श्वास प्रश्वास दोनोंकी गतिका निरोध स्तम्भवृत्ति कुम्भक है यह कहा है, जहाँ दोनों श्वास प्रश्वासोंका विधारक प्रयत्नसे एक ही समयमें अभाव होता है पूर्ववत् फिर न आपूरण प्रयत्नौघ विधारण होता है और न रेचन प्रयत्नौघ विधारण ही होता है किन्तु तपे पत्थल पर जैसे प्रक्षिप्त जल सूखता हुआ सब जगहोंसे संकुचित हो जाता है वैसे यह भी मारुत यानी 'वायु' वहनगतिशील बलवान् विधारक प्रयत्न "व्यापार"से प्रतिबद्धगति होकर शरीरमें ही सूक्ष्म होकर रहता है पूरण नहीं करता जिससे पूरक कहा जाय और न रेचन ही करता है जिससे रेचन कहा जाय। तीन प्रकारका यह प्राणायाम देशसे कालसे और संख्यासे परिच्छिन्न होने पर दीर्घ सूक्ष्म नामका होता है घनीभूत तूलपिण्ड यानी जमी रूई यानी दगलाको धुन कर फैलानेसे बड़ा होता है अर्थात् अधिक देश व्यापी होता है और समेटने पर सूक्ष्म यानी छोटा होता है तद्वत् प्राण भी देश काल और संख्याकी अधिकतासे अभ्यस्यमान बड़ा और देखनेके अयोग्य होनेसे सूक्ष्म भी होता है तथाहिसे यही दिखलाते हैं, हृदय प्रदेशसे वहिर्गत नासा यानी नाकके सामने बारह अङ्गुल पर्यन्त

पर्यन्ते देशे श्वासः समाप्यते। तत एव च परावृत्य हृदयपर्यन्तं प्रविशतीति स्वाभाविकी प्राणापानयोर्गतिः। अभ्यासेन तु क्रमेण नाभेराधाराद्वा निर्गच्छति। नासातश्चतुर्विंशत्यङ्गुलपर्यन्ते षट्त्रिंशदङ्गुलपर्यन्ते वा देशे समाप्यते। एवं प्रवेशोऽपि तावानवगन्तव्यः। तत्र बाह्यदेशव्याप्तिर्निवाते देश इषीकादिसूक्ष्मतूलक्रिययाऽनुमातव्या। अन्तरपि पिपीलिकास्पर्शसदृशेन स्पर्शेनानुमातव्या। सेयं देशपरीक्षा। तथा निमेषक्रियावच्छिन्नस्य कालस्य चतुर्थो भागः क्षणस्तेषामियत्ताऽवधारणीया, स्वजानुमण्डलं पाणिना त्रिः परामृश्य च्छोटिकावच्छिन्नः कालो मात्रा। ताभिः षट्त्रिंशता मात्राभिः प्रथम उद्घातो मन्दः। स एव द्विगुणीकृतो द्वितीयो मध्यः। स एव त्रिगुणीकृतस्तृतीयस्तीव्र इति। नाभिमूलात्प्रेरितस्य वायोर्निरिच्यमानस्य

देशमें श्वास समाप्त होता है वहाँ ही से लौटकर हृदयमें प्रवेश करता है यह प्राण और अपानकी स्वाभाविक गति है अभ्याससे तो क्रमसे नाभीके आधार द्वारा निकलता है नासान्त चौबिस अंगुलपर्यन्त वा छत्तिस अंगुलपर्यन्त देशमें समाप्त होता है इसी प्रकार प्रवेश भी उतना ही समझना वहाँ बाह्य देश व्याप्ति कैसे प्रतीत होगी कि यहाँ तक वायुका प्रवेश हुआ क्योंकि वायुका चाक्षुष प्रत्यक्ष है नहीं स्पर्श प्रत्यक्ष शरीरहीमें होता है बाह्यप्रदेशमें नहीं इस शङ्काके वारणार्थ कहते हैं—निर्वातेति। वायुरहित देशमें सर्पतको सूक्ष्म रूईकी क्रियासे व्याप्तिका अनुमान किया जाता है अर्थात् १२ या ३६ अंगुलकी दूरी पर रखी हुई रूई यदि हीलने लगे तो समझना चाहिये कि वायु वहाँ तक गया व ह्यवायुप्रयुक्त क्रिया व्यावृत्तिके लिये निर्वात प्रदेश कहा है भीतर प्रवेशका ज्ञान कैसे होगा भीतर रूईकी क्रियाका सम्भव नहीं इसके समाधानार्थ कहते हैं—अन्तरपीति। भीतर भी जब वायु प्रवेश करता है चीटीके स्पर्शके समान भीतर स्पर्श ज्ञान होता है उसीसे उसका अनुमान होता है यही देशपरीक्षा है निमेष क्रिया पलक गिरना तदवच्छिन्न कालका चौथा भाग क्षण कहा जाता है उनकी भी इयत्परिमाणता समझना। अपने जानुमण्डलको यानी जाँघको तीन चार वार छूना छोटिकावच्छिन्न काल मात्रा है जितने समयमें अपनी जाँघ तीन वार छुई जाय उतना समय मात्रा है उन छत्तिस मात्राओंसे पहिला उद्घात मन्द है उसीके दूनेको दूसरा मध्य कहते हैं वही तिगुना होकर तीसरा तीव्र है।

शिरस्यभिहननमुद्घात इत्युच्यते। सेयं कालपरीक्षा। संख्यापरीक्षा च प्रणवजपावृत्तिभेदेन वा संख्यापरीक्षा श्वासप्रवेशगणनया वा। कालसंख्ययोः कथंचिद्भेदविवक्षया पृथगुपन्यासः। यद्यपि कुम्भके देशव्याप्तिर्नावगम्यते तथाऽपि कालसंख्याव्याप्तिरवगम्यत एव। स खल्वयं प्रत्यहमभ्यस्तो दिवसपक्षमासादिक्रमेण देशकालप्रचयव्यापितया दीर्घः परमनैपुण्यसमधिगमनीयतया च सूक्ष्म इति निरूपितस्त्रिविधः प्राणायामः। चतुर्थं फलभूतं सूत्रयति स्म—"बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः" इति। बाह्यविषयः श्वासो रेचकः। आभ्यन्तरविषयः प्रश्वासः पूरकः। वैपरीत्यं वा। तावुभावपेक्ष्य सकृद्बलवद्विधारकप्रयत्नवशाद्भवति बाह्याभ्यन्तरभेदेन द्विविधस्तृतीयः कुम्भकः। तावुभावनपेक्ष्यैव केवलकुम्भकाभ्यासपाटवेनासकृत्तत्.

नाभिमूलसे प्रेरित रिच्यमान वायुका शिरमें अभिघात ठोकर उद्घात कहाता है यह काल परीक्षा है, संख्या परीक्षा प्रणव जपादिकी आवृत्ति भेदसे अथवा श्वास प्रश्वासकी गणनासे होती है, काल परीक्षा और संख्या परीक्षा वस्तुतः समानही हैं फिरभी दोनोंका स्वरूप वस्तुतः भिन्न है अतः कथं चिद् भेद मानकर औपाधिक भेदसे अलग उल्लेख किया गया है यद्यपि कुम्भकमें देश व्याप्ति नहीं मालूम पड़ती तो भी काल संख्या व्याप्ति ज्ञान होती ही है यही वह प्राणायाम प्रतिदिनके अभ्याससे उत्तरोत्तर बढ़ता है, दिन मास वर्षादि पर्यन्त प्राणायाम स्थायी होता है अतएव देशका प्रचय व्यापी होने से दीर्घ अति निपुण बुद्धिसे जाननेके योग्य सूक्ष्म हैं इस प्रकार त्रिविध प्राणायामका निरूपण हुआ। फलभूत चतुर्थका सूत्र कहते हैं—बाह्येत्यादि। बाह्य विषय श्वास रेचक आभ्यन्तर विषय प्रश्वास पूरक अथवा विपरीत बाह्य विषय पूरक आभ्यन्तर विषय रेचक ऐसाभी व्याख्यान हो सकता है कारण रेचक भीतरसे बाहर निकलता है उसमें आन्तर और बाह्य दोनों विषय हैं विनिगमनाविरहसे दोनों कह सकते हैं एवं पूरक बाह्य वायुको भीतर खींचना सो भी बाहर भीतर एतदुभय विषयक हैं अतः व्याख्यानद्वयमें अर्थ भेद नहीं इन दोनोंकी अपेक्षा कर, सकृत् एक बारके बलवान विधारक प्रयत्नसे बाह्याभ्यन्तर भेदसे द्विविध तीसरा कुम्भक होता है उन दोनोंकी अपेक्षा न करके ही केवल कुम्भकाभ्यास पटुतासे बारबार तत्तद् प्रयत्न वश होता है यह चतुर्थ

अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति ।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः ॥ ३० ॥

और दूसरे नियमत आहार करनेवाले योगीजन प्राणोंको प्राणोंमें ही हवन करते हैं, इस प्रकार यज्ञोंद्वारा नाश हो गया है पाप जिनका, ऐसे यह सब ही पुरुष यज्ञोंको जाननेवाले हैं ॥ ३० ॥

त्वयत्नवशाद्भवति चतुर्थः कुम्भकः । तथा च बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपीति तदनपेक्ष इत्यर्थः । अन्या व्याख्या—बाह्यो विषयो द्वादशान्तादिराभ्यन्तरो विषयो हृदयनाभिचक्रादिः । तौ द्वौ विषयावाक्षिप्य पर्यालोच्य यः स्तम्भरूपो गतिविच्छेदः स चतुर्थः प्राणायाम इति । तृतीयस्तु बाह्याभ्यन्तरौ विषयावपर्यालोच्यैव सहसा भवतीति विशेषः । एतादृशश्चतुर्विधः प्राणायामोऽपाने जुह्वति प्राणमित्यादिना सार्धेन श्लोकेन दर्शितः ॥ २९ ॥

तदेवमुक्तानां द्वादशधा यज्ञविदां फलमाह—

यज्ञान्विदन्ति जानन्ति विन्दन्ति लभन्ते वेति यज्ञविदो यज्ञानां ज्ञातारः कर्तारश्च । यज्ञैः पूर्वोक्तैः क्षपितं नाशितं कल्मषं पापं येषां ते

कुम्भक है तथा च बाह्यान्तर विषयाक्षेपीका अर्थ है बाह्यान्तर विषयानपेक्षही चतुर्थ कुम्भक होता है यदि उक्त विषयोंको अपेक्षा हो तो तदपेक्षी ऐसा सूत्र ही व्यर्थ होगा पूर्व कुम्भकसे अतिरिक्त न होगा पूर्वोक्त स्वरूप तो कहही चुके हैं अतः उक्त व्याख्याही ठीक है । दूसरी भी व्याख्या सुनिये बाह्यविषय १२ आदि अङ्गुलादि आभ्यन्तर विषय हृदय नाभि चक्रादि उन दोनों विषयोंका आक्षेपक अर्थात् पर्यालोचनकर जो स्तम्भ रूप गति विच्छेद हैं वह चतुर्थ प्राणायाम है तीसरा तो उन दोनों विषयोंका पर्यालोचन करके नहीं शीघ्र हो जाता है यह दोनोंमें भेद है एतादृश चतुर्थ प्राणायाममें 'अपाने जुह्वति प्राणमित्यादिसे है ॥ २९ ॥

उक्त बारह प्रकारके यज्ञ वेत्ताओंका फल कहते हैं यज्ञविद्की व्युत्पत्ति दिखलाते हैं यज्ञान् विदन्ति जानन्ति 'विद् ज्ञाने' धातु यज्ञोपपदकविदसे यज्ञविद्की सिद्धि है यज्ञान् विन्दन्ति यह व्युत्पत्ति 'विद्लृ लाभे' से बनने वाले यज्ञवित्की है दोनों व्युत्पत्ति प्रकृतमें विवक्षित है अतः उक्त शब्दसे यज्ञवेत्ता और यज्ञकर्ता ये दोनों अर्थ विवक्षित है पूर्वोक्त यज्ञोंसे क्षपित विनाशित

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम् ॥
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम ॥ ३१ ॥

और हे कुरुश्रेष्ठ अर्जुन ! यज्ञों के परिणामरूप ज्ञानमृतको भोगनेवाले योगीजन, सनातन परब्रह्म परमात्माको प्राप्त होते हैं और यज्ञरहित पुरुषको यह मनुष्यलोक भी सुखदायक नहीं है, फिर परलोक कैसे सुखदायक होगा ॥ ३१ ॥

यज्ञक्षपितकल्मषाः । यज्ञान्कृत्वाऽवशिष्टे कालेऽन्नममृतशब्दवाच्यं भुञ्जत इति यज्ञशिष्टामृतभुजः । ते सर्वेऽपि सत्त्वशुद्धिज्ञानप्राप्तिद्वारेण यान्ति ब्रह्म-सनातनं नित्यं संसारान्मुच्यन्त इत्यर्थः ॥ ३० ॥

एवमन्वये गुणमुक्त्वा व्यतिरेके दोषमाहार्धेन यज्ञेत्यादिना—

उक्तानां यज्ञानां मध्येऽन्यतमोऽपि यज्ञो यस्य नास्ति सोऽयज्ञस्त-स्यायमल्पसुखोऽपि मनुष्यलोको नास्ति सर्वानिन्द्यत्वात्, कुतोऽन्यो विशिष्ट-साधनसाध्यः परलोको हे कुरुसत्तम ! ॥ ३१ ॥

कल्मष पाप है जिनका यज्ञोंको करके शेष कालमें अमृत शब्द वाच्य अन्नका भोजन करते हैं वस्तुतः यज्ञ शिष्ट अन्न स्वरूपतः अमृत नहीं है तथापि स्तुतिके लिये पारिभाषिक अमृतशब्दका प्रयोग है इसको व्यक्त करनेके लिए अमृत शब्द वाच्य कहा है 'यज्ञशिष्टामृतभुजः' ये सब सत्व शुद्धि द्वारा ज्ञान प्राप्ति द्वारा सनातन ब्रह्मको प्राप्त करते हैं नित्य संसारसे मुक्त होते हैं ॥३०॥

इस प्रकार यज्ञान्वयमें संसारके मुक्तिरूप गुणको कहकर व्यतिरेक यज्ञ न करने पर दोष कहते हैं डेढ़ श्लोक 'यज्ञ' इत्यादिसे—उक्त यज्ञोंमें एकविध जो यज्ञ नहीं किया यह अयज्ञ, यज्ञशून्य है उसको स्वल्प सुख संसार मनुष्य लोक भी नहीं है क्योंकि हीन दशा होने पर सर्व निन्द्य होता है, विशिष्ट साधन प्राप्ति-योग्य परलोक उसको कहाँ, 'कुरुसत्तम' इस सम्बोधनसे कुरु लोक यज्ञवेत्ता हुए हैं तुम उनमें श्रेष्ठ हो अतः तुम भी अवश्य यज्ञविद् बनो यह अभिप्राय सूचित किया ॥ ३१ ॥

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे ॥
कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे ॥ ३२ ॥

ऐसे बहुत प्रकारके यज्ञ वेदकी वाणीमें विस्तार किये गये हैं, उनको शरीर, मन और इन्द्रियोंकी क्रियाद्वारा ही उत्पन्न होनेवाले जानो, और इस प्रकार तत्त्वसे जानकर निष्काम कर्मयोगद्वारा संसारबन्धनसे मुक्त हो जायगा ॥ ३२ ॥

किं त्वया स्वोत्प्रेक्षामात्रेणैवमुच्यते न हि वेद एवात्र प्रमाणमित्याह—एवमिति। एवं यथोक्ता बहुविधा बहुप्रकारा यज्ञाः सर्ववैदिकश्रेयःसाधनरूपा वितता विस्तृता ब्रह्मणो वेदस्य मुखे द्वारे वेदद्वारेणैवैतेऽवगता इत्यर्थः। वेदवाक्यानि तु प्रत्येकं विस्तरभयान्नोदाह्रियन्ते। कर्मजान्कायिकवाचिकमानसकर्मोद्भवान्विद्धि जानीहि तान् सर्वान्यज्ञान्नाऽऽत्मजान्। निर्व्यापारो ह्यात्मा न तद्व्यापारा एते किं तु निर्व्यापारोऽहमुदासीन इत्येवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसेऽस्मात्संसारबन्धनादिति शेषः ॥ ३२ ॥

क्या यह आप स्वयं अपनी ऊहासे कह रहे हैं या इसमें कुछ प्रमाण भी है।

हाँ। प्रमाण वेद ही है यह कहते हैं इस प्रकार जैसा कहा है अनेक प्रकार यज्ञ सब वैदिक कल्याण कर वेद मुख वेद द्वारमें विस्तृत है वेद द्वारा ही मैं भी जाना है स्वप्रतिभामात्रसे नहीं, प्रत्येक वेद वाक्योंका उदाहरणसे अन्यमें जिसके उदाहरण न देंगे उनमें अविश्वास हो जायगा उदाहृत वाक्योंसे प्रतीयमान यज्ञमें विश्वास होगा इसलिए इतना ही कहना पर्य्याप्त है कि इस प्रकारके अनेक याग वेद विहित हैं जिनके अनुष्ठानसे अनेक पुरुष धौरेय भवबन्धनसे विमुक्त होकर मुक्त हो गये हैं ये यज्ञ कायिक वाचिक और मानस व्यापारसे उत्पन्न होते हैं यह समझो उनसब यज्ञोंको आत्मासे उत्पन्न समझो वस्तुतः आत्मा निर्व्यापार है, ये, आत्मके व्यापार नहीं हैं किन्तु मैं निर्व्यापार अतएव उदासीन हूँ इस प्रकारके ज्ञानसे संसार बन्धनसे विमुक्त होंगे यह शेष है वाक्यसे नहीं प्रतीत होता किन्तु एतदर्थक वाक्यका यहाँ आर्थिक या शाब्दिक सम्बन्ध कर लेना चाहिए ॥ ३२ ॥

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परन्तप ।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ! ज्ञाने परिसमाप्यते ॥ ३३ ॥

और हे अर्जुन ! सांसारिक वस्तुओंसे सिद्ध होनेवाले यज्ञसे ज्ञानरूप यज्ञ सब प्रकार श्रेष्ठ है, क्योंकि हे पार्थ ! संपूर्ण यावन्मात्र कर्म ज्ञानमें शेष होते हैं, अर्थात् ज्ञान उनकी पराकाष्ठा है ॥ ३३ ॥

सर्वेषां तुल्यवन्निर्देशात्कर्मज्ञानयोः साम्यप्राप्तावाह—श्रेयानित्यादिना । श्रेयान्प्रशस्यतरः साक्षान्मोक्षफलत्वात्, द्रव्यमयाद्द्रव्योपलक्षिताज्ज्ञान-शून्यात्सर्वस्मादपि यज्ञात्संसारफलाज्ज्ञानयज्ञ एक एव हे परंतप ! कस्मादेवं यस्मात्सर्वं कर्मेष्टिपशुसोमचयनरूपं श्रौतमखिलं निरवशेषं स्मार्तमुपासनादि-रूपं च यत्कर्म तज्ज्ञाने ब्रह्मात्मैक्यसाक्षात्कारे समाप्यते प्रतिबन्धक्षयद्वारेण पर्यवस्यति । " तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तप-सा नाकेन " इति "धर्मेण पापमपनुदति " इति च श्रुतेः " सर्वापेक्षा च यज्ञादि श्रुतेरश्ववत् " इति न्यायाच्चेत्यर्थः ॥ ३३ ॥

सबके तुल्यवन्निर्देशसे कर्म ज्ञानमें समानता प्राप्त होता है अर्थात् दोनों बराबर हैं इस भ्रमके निराकरणार्थ भगवान कहते हैं "श्रेयानित्यादि"। अतिशय प्रशस्य श्रेयान् क्योंकि मोक्षका हेतु है ज्ञानका फल मोक्ष है। द्रव्ययज्ञोपलक्षित् ज्ञानशून्य सब संसार फलक यागोंसे ज्ञानयज्ञ एक ही है हे परंतप।

प्रश्न—क्यों ?

उत्तर—यतः सर्व इष्टि पशुसोमचयनादि श्रुति प्रतिपाद्य श्रौत और स्मार्त उपासना रूप कर्म आत्मैक्यब्रह्मैक्य साक्षात्कारमें समाप्त होता है तत्व ज्ञानोत्पत्ति प्रतिबन्धक दुरितनाश द्वारा उक्त ज्ञानमें पर्यवसान होता है तथा च श्रुतिः—'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा, विविदिषन्ति' इत्यादि, 'धर्मेण पापम-पनुदति' यह भी श्रुति है 'सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत्' यह न्यायसे भी यह अर्थ सिद्ध होता है ॥ ३३ ॥

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥ ३४ ॥

इसलिये तत्त्वको जाननेवाले ज्ञानी पुरुषोंसे, भली प्रकार दण्डवत् प्रणाम तथा सेवा और निष्कपटभावसे किये हुए प्रश्नद्वारा उस ज्ञानको जान, वे मर्मको जाननेवाले ज्ञानीजन तुझे उस ज्ञानका उपदेश करेगें ॥ ३४ ॥

एतादृशज्ञानप्राप्तौ कोऽतिप्रत्यासन्न उपाय इति उच्यते—

तत्सर्वकर्मफलभूतं ज्ञानं विद्धि लभस्व । आचार्यानभिगम्य तेषां प्रणिपातेन प्रकर्षेण नीचैः पतनं प्रणिपातो दीर्घनमस्कारस्तेन । कोऽहं कथं बद्धोऽस्मि केनोपायेन मुच्येयमित्यादि [ना] परिप्रश्नेन । सेवया सर्वभावेन तदनुकूलकारितया । एवं भक्तिश्रद्धातिशयपूर्वकेणावनतिविशेषेणाभिमुखाः सन्त उपदेक्ष्यन्ति उपदेशेन संपादयिष्यन्ति ते तुभ्यं ज्ञानं परमात्मविषयं साक्षान्मोक्षफलज्ञानिनः पदवाक्यन्यायादिमाननिपुणास्तत्त्वदर्शिनः कृतसाक्षात्काराः । साक्षात्कारवद्भिरुपदिष्टमेव ज्ञानं फलपर्यवसायि न तु तद्रहितैः पदवाक्यमाननिपुणैरपीति भगवतो मतं "तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छे

एतादृश ज्ञान प्राप्ति होनेपर कौन उपाय अति सन्निहित होता है सो कहते हैं—सब कर्मोंके फल भूत ज्ञान प्राप्त करो । आचार्योंके समीप जाकर उनको विनीतभावसे अतिशय भूमिपतन साष्टांग दण्डवत् करके यह पूछो कि हम कौन हैं ? देहेन्द्रियादि मनोबुद्धियोंमें से कोई है या तदतिरिक्त कैसे बद्ध हुए किस उपायसे मुक्त होंगे ? इत्यादि अनेक विषयक प्रश्नोंसे सब प्रकारकी सेवा तत्त्वज्ञानियोंकी सेवा कायिक अधिक नहीं होती किन्तु उनके अनुकूल आचरण करना प्रतिकूल नहीं यही सेवा है, एवं इसी तरह भक्ति श्रद्धाधिक्यसे अतिविनय विशेषसे अभिमुख उपदेशदानोन्मुख होकर ज्ञानी साक्षात मोक्षफलक ज्ञानका उपदेश तुमको देंगे, यह व्याकरणवाक्य मीमांसान्यायादिशास्त्र निपुणमति कृतात्मैक्य साक्षात्कार तत्त्वदर्शी जिनको आत्मैक्य साक्षात्कार हो चुका है उन्हींके उपदेशसे मोक्षजनक ज्ञान होता है साक्षात्कार जिनको नहीं है उनका उपदेश फलजनक ज्ञान नहीं होता वे चाहे पद व्याकरणादि शास्त्रमें कितना भी निपुण हो यह भगवान्का मत है । तद्विज्ञानार्थ "स गुरुमेवाभिगच्छेदित्यादि" श्रुति श्रोत्रिय

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव ।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि ॥ ३५ ॥

कि, जिसको जानकर तूं फिर इस प्रकार मोहको नहीं प्राप्त होगा और हे अर्जुन ! जिस ज्ञानके द्वारा सर्वव्यापी अनन्त चेतनरूप हुआ अपने अन्तर्गत समष्टि-बुद्धिके आधार संपूर्ण भूतोंको देखेगा और उसके उपरान्त मेरेमें अर्थात् सच्चिदानन्दस्वरूपमें एकीभाव हुआ सच्चिदानन्दमय ही देखेगा ॥ ३५ ॥

त्समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्" इतिश्रुतिसंवादि । तत्रापि श्रोत्रियमधीतवेदं ब्रह्मनिष्ठं कृतब्रह्मसाक्षात्कारमिति व्याख्यानात् । बहुवचनं चेदमाचार्यविषयमेकस्मिन्नपि गौरवातिशयार्थं न तु बहुत्वविवक्षया । एकस्मादेव तत्त्वसाक्षात्कारवत आचार्यतत्त्वज्ञानोदये सत्याचार्यान्तरगमनस्य तदर्थमयोगादिति द्रष्टव्यम् ॥ ३४ ॥

एवमतिनिर्बन्धेन ज्ञानोत्पादने किं स्यादत आह—

यत्पूर्वोक्तं ज्ञानमाचार्यैरुपदिष्टं ज्ञात्वा प्राप्य, ओदनपाकं पचतीतिवत्स्यैव धातोः सामान्यविवक्षया प्रयोगः । न पुनर्मोहमेवं बन्धुवधादिनिमित्तं

अधीतवेद तदर्थाभिज्ञ केवल शब्दाभिज्ञ नहीं ब्रह्मनिष्ठ कृतब्रह्मसाक्षात्कार हुआ हो 'एकत्वं न प्रयुञ्जीत गुरावात्मनि चेश्वरे" इस स्मृतिके अनुसार एक गुरुको विवक्षामें भी बहुवचन ही उचित होता है इसलिए बहुवचनसे अनेक गुरुकी विवक्षा है यह समझ ठीक नहीं तत्त्वदर्शीको एक ही आचार्यसे तत्त्वज्ञानोत्पत्ति होती है तो अनेक गुरुके पास तदर्थ ठीक नहीं ॥ ३४ ॥

शङ्का—इस तरह अति आग्रहसे ज्ञानोत्पादनसे क्या होगा ?

उत्तर—पूर्वोक्त पूर्वका अर्थतः ज्ञान जिसका उपदेश आचार्योंने दिया है उसको जानकर पाकर, 'ज्ञानं ज्ञात्वा' यह प्रयोग तो साधु नहीं अतएव 'पाकं पचति' यह प्रयोग इष्ट नहीं फलमें फलका अन्वय नहीं हो सकता इत्यादि शाब्दिक नयमें प्रसिद्ध है ठीक है 'ओदनपाकं पचति' यह प्रयोग सामान्य विवक्षासे पच् धातुका ही अनुप्रयोग जैसे माना जाता है तद्वत् प्रकृतमें भी समझना, भाष्यकारने तो 'ज्ञात्वा'का पर्याय 'अधिगम्य' यह किया है 'अधिगम्य'का अर्थ 'प्राप्य' किया है तदनुसार ही मूलमें भी 'ज्ञात्वा'का 'प्राप्य' अर्थ किया है ऐसा

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः ।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि ॥ ३६ ॥

और यदि तूं सब पापियोंसे भी अधिक पाप करनेवाला है तो भी ज्ञानरूप नौकाद्वारा निःसन्देह संपूर्ण पापोंको अच्छी प्रकार तर जायगा ॥ ३६ ॥

भ्रमं यास्यसि हे पाण्डव ! कस्मादेवं यस्मादेवं ज्ञानेन भूतानि पितृपुत्रादीनि अशेषेण ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तानि स्वाविद्याविजृम्भितानि आत्मनि त्वयि त्वंपदार्थे अथो अपि मयि भगवति वासुदेवे तत्पदार्थे परमार्थतो भेदरहिते धिष्ठानभूते द्रक्ष्यस्यभेदेनैव, अधिष्ठानातिरेकेण कल्पितस्याभावात् । म भगवन्तं वासुदेवमात्मत्वेन साक्षात्कृत्य सर्वाज्ञाननाशे तत्कार्याणि भूतानि न स्थास्यन्तीति भावः ॥ ३५ ॥

किं च शृणु ज्ञानस्य माहात्म्यम्—

अपि चेदित्यसंभावितार्थाभ्युपगमप्रदर्शनार्थौ निपातौ । यद्यप्यसमर्थो न

माननेमें कोई आपत्ति नहीं फिर बन्धुवधादि निमित्तक मोह भ्रममें न जाओगे अर्थात् मुग्ध भ्रान्त न होओगे ।

हे पाण्डव ! इस सम्बोधनसे जैसा मैं इस समय 'मैं पाण्डु पुत्र हूँ ये मेरे हैं इस अहंकार' से मुग्ध हुये हो वैसे मोहोच्छेदक ज्ञानके लाभ होने पर मोह न प्राप्त करोगे यह सूचित होता है । 'अथो' अप्यर्थ है और भी जिस ज्ञानसे भूत पितृपुत्रादि सबको अपनेमें त्वं पदार्थमें भगवान् वासुदेव मुझमें तत्पदार्थमें वास्तविक भेदरहित स्वाधिष्ठानभूतमें अभिन्न बुद्धिसे देखोगे अधिष्ठानसे अतिरिक्त कल्पित वस्तु नहीं है रज्जुमें कल्पित सर्प रज्जुसे अतिरिक्त नहीं यह स्पष्ट है एवं ब्रह्ममें कल्पित निखिल प्रपञ्च ब्रह्मसे भिन्न नहीं मुझ भगवान् वासुदेव-को स्वात्मरूपसे साक्षात्कार करने पर सम्पूर्ण अज्ञानका नाश हो जायगा तो अज्ञान कार्य सब भूत न रहेंगे यह भाव है ॥ ३५ ॥

और भी ज्ञानका माहात्म्य सुनिये 'अपि च' ये दोनों अव्यय असम्भावित पदार्थ स्वीकारके द्योतक हैं असम्भावितका अनुष्ठान नहीं होता केवल अर्थवाद है अपिच देवदत्त पर्वतको शिरसे तोड़ सकते हैं घटके तोड़नेमें क्या सन्देह किन्तु यहाँ यह सब बताना सम्भव नहीं इस तात्पर्यसे कहते हैं—यह असम्भव है

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन ।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥ ३७ ॥

क्योंकि, हे अर्जुन ! जैसे प्रज्वलित अग्नि इन्धनको भस्ममय कर देता है, वैसे ही ज्ञानरूप अग्नि संपूर्ण कर्मोंको भस्ममय कर देता है ॥ ३७ ॥

संभवत्येव तथाऽपि ज्ञानफलकथनायाभ्युपेत्योच्यते । यद्यपि त्वं पापकारिभ्यः सर्वेभ्योऽप्यतिशयेन पापकारी पापकृत्तमः स्यास्तथाऽपि सर्वं वृजिनं पापमतिदुस्तरत्वेनार्णवसदृशं ज्ञानप्लवेनैव नान्येन ज्ञानमेव प्लवं पोतं कृत्वा संतरिष्यसि सम्यगनायासेन पुनरावृत्तिवर्जितत्वेन च तरिष्यसि अतिक्रमिष्यसि । वृजिनशब्देनात्र धर्माधर्मरूपं कर्म संसारफलमभिप्रेतं मुमुक्षोः पापवत्पुण्यस्याप्यनिष्टत्वात् ॥ ३६ ॥

ननु समुद्रवत्तरणे कर्मणां नाशो न स्यादित्याशङ्क्य दृष्टान्तान्तरमाह—

तथापि ज्ञानफल कथनार्थं मानकर कहते हैं—यद्यपि सब पाप कर्मियोंसे तुम अधिक पाप कारी हो। अतिशयेन पापकारी इति पापकृत्तम हो तो भी सब पाप अति दुस्तर दुःख सभी तरनेके अयोग्य अर्णव (समुद्र) सदृश पाप ज्ञान रूपी नौकासे ज्ञानसे अतिरिक्त कोई दूसरा उपाय तरनेका नहीं है—'तरिष्यति' न कहकर 'सन्तरिष्यति' कहा है यहाँ समका अर्थ स्फुट करनेके लिए कहते हैं सम्यग् पुनरावृत्ति रहित तरोगे उपायान्तरसे उक्त समुद्र तरने पर पुनः आगमन और तरण होता ही रहता है अतः इस प्रकारका तरण सन्तरण नहीं है उक्त समुद्रका संल्लंघन करोगे। वृजिनशब्द यद्यपि पापवाची है तथापि संसारफल धर्माधर्म दोनोंका बोधक है। मुमुक्षुको पापके सदृश पुण्य भी अनिष्ट है केवल पुण्यसे स्वर्गका बन्धन रहेगा अतः यह भी अनिष्ट है अतः उसका भी अतिक्रमण आवश्यक है ॥ ३६ ॥

श्रुति सिद्ध यह अर्थ है। (तथा ह मा वेद न ह वैतस्य केचन कर्मणा लोको नीयते नास्ते ये त्व भ्रूणहत्यया न साधुना कर्मणा भूयान् भवति नो एवासाधुना कनीयान् त्रिशीर्माणं त्वाष्ट्रमहनम् मरुन्मुखान् यतीन् शालावृकेभ्यः प्रायच्छम्) इत्यादि ।

शङ्का—समुद्रके समान तरनेसे जो कर्मका नाश न होगा यदि कर्म रहेगा

यथैधांसि काष्ठानि समिद्धः प्रज्वलितोऽग्निर्भस्मसात्कुरुते भस्मीभावं नयति हेऽर्जुन ! ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि पापानि पुण्यानि चाविशेषेण प्रारब्धफलभिन्नानि भस्मसात्कुरुते तथा तत्कारणाज्ञानविनाशेन विनाशयतीत्यर्थः । तथा च श्रुतिः—

" भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे " इति ॥

"तदधिगम उत्तरपूर्वार्धयोरश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशात्", "इतरस्याप्येवमसंश्लेषः पाते तु," इति च सूत्रे । अनारब्धे पुण्यपापे नश्यत एवेत्यत्र सूत्रम्—" अनारब्धकार्ये एव तु पूर्वे तदवधेः " इति । ज्ञानोत्पादकदेहारम्भकाणां तु तद्देहान्त एव विनाशः । "तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ संपत्स्ये " इति श्रुतेः, "भोगेन त्वितरे क्षपयित्वा संपद्यते " इति सूत्राच्च । आधिकारिकाणां तु यान्येव ज्ञानोत्पादकदेहारम्भकाणि तान्येव देहान्तरारम्भकाण्यपि । यथा वसिष्ठापान्तरतमःप्रभृतीनाम् । तथा च सूत्रं

तो फिर बन्धका सम्भव रहेगा ही तो सम्यक् तरण कैसे होगा ? यह शङ्का कर दूसरा दृष्टान्त देते हैं—जैसे काष्ठोंको प्रदीप्त अग्नि धधकती हुई आग भस्म कर देती है। हे अर्जुन ! ज्ञानरूपी अग्नि सब कर्मोंको चाहे पाप ही अथवा पुण्य ही, समान रूपसे केवल प्रारब्ध फलभूत पुण्य पापोंको छोड़कर बाकी सबको भस्मीभाव कर देती है तथा तत्कारण अज्ञानके नाशद्वारा तत्कार्य धर्माधर्मको भी नष्ट करती है यह श्रुति भी कहती है—भिद्यते हृदयग्रन्थिरित्यादि । वेदान्त सूत्र भी ऊपर देखिये । जो कर्म पुण्य पाप स्वरूप अपना फल सुख दुख भोग नहीं दे चुके हैं किन्तु देने वाले हैं वे अनारब्ध पुण्य पाप हैं ये तो नष्ट होते ही हैं इसमें सूत्र है अनारब्ध कार्येत्यादि, ज्ञानोत्पादक देहारम्भक कर्मोंका देहनाशक समय नाश हो जाता है पहिले नहीं इसीसे प्रारब्ध कर्मसे इतर सञ्चित कर्मोंका तत्त्व ज्ञानसे नाश होता है यदि प्रारब्धका भी नाश माना जाय तो जीवन्मुक्ति ही असम्भव हो जायगी अतएव इस अर्थमें श्रुति एवं सूत्र है-'तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्य अथ सम्पत्स्ये' 'भोगेन त्वितरे क्षपयित्वा सम्पद्यते' इति । अधिकारियोंके तो जो कर्म ज्ञानोत्पादक देहके आरम्भक हैं वे ही देहान्तरके भी आरम्भक होते हैं जैसे वसिष्ठ अपान्तरतमा प्रभृति महर्षियोंका, इसमें प्रमाण सूत्र है

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनाऽऽत्मनि विन्दति ॥३८॥

इसलिये, इस संसारमें ज्ञानके समान पवित्र करनेवाला निःसन्देह कुछ भी नहीं है, उस ज्ञानको कितने कालसे अपने आप समत्वबुद्धिरूप योगके द्वारा अच्छी प्रकार शुद्धान्तःकरण हुआ पुरुष आत्मामें अनुभव करता है ॥ ३८ ॥

'यावदधिकारमवस्थितिराधिकारिकाणाम्" इति । अधिकारोऽनेकदेहारम्भकं बलवत्प्रारब्धफलं कर्म । तच्चोपासकानामेव नान्येषाम् । अनारब्धफलानि नश्यति आरब्धफलानि तु यावद्भोगसमाप्ति तिष्ठन्ति । भोगश्चैकेन वेति न विशेषः । विस्तरस्त्वाकरे द्रष्टव्यः ॥ ३७ ॥

यस्मादेवं तस्मात्—

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रं पावनं शुद्धिकरमन्यदिह वेदे लोकव्यवहारे वा विद्यते, ज्ञानभिन्नस्याज्ञानानिवर्तकत्वेन पुनः पापोदयाच्च । ज्ञानेन त्वज्ञाननिवृत्त्या समूलपापनिवृत्तिरिति तत्सममन्यन्न विद्यते । तदात्मविषयं

"यावदधिकारमवस्थितिराधिकारिणाम्" । अधिकार अनेक देहोंके आरम्भ है बलवत् प्रारब्ध कर्म बलवत्तरत्व ज्ञानसे भी अनाश्य है यही इनमें बलवत्ता का ईदृश कर्म उपासकोंको ही होता है दूसरेको नहीं । अनारब्ध कर्म अर्थात् संचित तो नष्ट होते ही हैं आरब्ध फल कर्म जब तक भोग होता रहेगा तब तक रहेंगे ही अन्यथा भोग ही अनियत हो जायगा सुख दुःख भोगमें कोई नियम न रहनेसे क्रमशः उभय भोग जो श्रुत है सो अव्यवस्थित हो जायगें एवं निर्हेतुक कार्य नहीं होता अतः भोग ही न होगा, भोगायतन ही शरीर है, भोग समाप्ति ही शरीर समाप्तिका कारण है । भोग एक शरीरसे हो या अनेक शरीरसे इसमें कुछ विस्तार देखना हो तो बड़े ग्रन्थोंमें देखिये ॥ ३७ ॥

यतः ज्ञान ऐसा है अतः ज्ञानके समान पवित्र दूसरा शुद्धिकर इस लोकमें अथवा वेदमें नहीं है ज्ञानसे अतिरिक्त कोई अज्ञान निवर्त्तक नहीं है अतः समूल पाप निवर्त्तक ज्ञान नहीं है पाप निवृत्तिके बिना शुद्धि नहीं अतः यह बहुत ठीक कहा गया है ज्ञानसे अतिरिक्त संसारमें कोई पवित्र नहीं अज्ञानकी यदि न निवृत्ति होगी तो मूलकारण रहने पर फिर पापोदय हो सकता है ज्ञानसे अज्ञानकी निवृत्ति

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः ।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥ ३९ ॥

और हे अर्जुन ! जितेन्द्रिय, तत्पर हुआ, श्रद्धावान् पुरुष ज्ञानको प्राप्त होकर तत्क्षण भगवत्प्राप्तिरूप परम शान्तिको प्राप्त हो जाता है ॥ ३९ ॥

ज्ञानं सर्वेषां किमिति झटिति नोत्पद्यते तत्राऽऽह—तज्ज्ञानं कालेन महता योगसंसिद्धो योगेन पूर्वोक्तकर्मयोगेन (भ) संसिद्धः संस्कृतो योग्यतामापन्नः स्वयमात्मन्यन्तःकरणे विन्दति लभते न तु योग्यतामापन्नोऽन्यदत्तं स्वनिष्ठतया न वा परनिष्ठं स्वीयतया विन्दतीत्यर्थः ॥ ३८ ॥

येनैकान्तेन ज्ञानप्राप्तिर्भवति स उपायः पूर्वोक्तप्रणिपाताद्यपेक्षयाऽप्यासन्नतर उच्यते—

गुरुवेदान्तवाक्येष्विदमित्थमेवेतिप्रमारूपास्तिक्यबुद्धिः श्रद्धा तद्वान्पुरुषो लभते ज्ञानम् । एतादृशोऽपि कश्चिदलसः स्यात्तत्राऽऽह—तत्परः गुरूपासनादौ

होनेसे समूल पापकी निवृत्ति होती है अतः ज्ञानके सदृश दूसरा कोई नहीं है—

प्रश्न—अच्छा तो आत्मविषयक ज्ञान सबको क्यों शीघ्र नहीं होता ?

उत्तर—वह ज्ञान बहुत दिन कर्म योगसे संसिद्ध संस्कृत ज्ञानोत्पत्ति योग्यता पवित्रान्तःकरणयोग्यता पवित्रान्तःकरणको होता है स्वयमन्तःकरण मनमें पाता है योग्यतापन्न होकर अन्यप्रदत्त ज्ञानको नहीं पाता न अन्यज्ञानको ही आत्मीय बुद्धिसे प्राप्त करता है किन्तु कर्म योग सिद्धके अन्तःकरणमें स्वयं उत्पन्न होता है अतः तदुत्पत्ति कामनासे चिरकाल तक कर्मयोग करना चाहिए तुम भी यदि उस ज्ञानको चाहते हो तो चिरकाल तक निष्काम कर्म करो यह भाव है, आचार्याद्युपदेश परीक्षा ज्ञानमें ही उपयोगी है ॥ ३८ ॥

जो उक्त ज्ञानका अचूक साधन है वह पूर्वोक्त ज्ञानोपाय प्रणिपातादिके अपेक्षासे भी अति सन्निकट हुये हैं, गुरु तथा वेदान्त वाक्योंमें यह जैसा कहा गया है वैसा ही है यथार्थ बुद्धि रूप आस्तिक्य बुद्धि श्रद्धा, श्रद्धावान् पुरुष ज्ञान लाभ करता है 'श्रद्धावान् लभते ज्ञानं' यह भगवान् स्वयं कहेंगे संशय विपर्यादि बुद्धि होने पर साभिनिवेश सोत्साहता साधनमें प्रवृत्ति नहीं होती ऐसा भी कोई आलसी हो तो ज्ञानोत्पत्ति न होगी फिर श्रद्धा अति सन्निहित साधन नहीं इसलिए कहते हैं—तत्परः इति गुरूपासना गुरु शुश्रूषा ज्ञानोपायमें सदा व्यापृत होना चाहिए ।

ज्ञानो पायेऽत्यन्ताभियुक्तः। श्रद्धावांस्तत्परोऽपि कश्चिदजितेन्द्रियः स्यादत आह—संयतानि विषयेभ्यो निवर्तितानीन्द्रियाणि येन स संयतेन्द्रियः। य एवं विशेषणत्रययुक्तः सोऽवश्यं ज्ञानं लभते। प्रणिपातादिस्तु बाह्यो मायाविन्यादिसंभवादनैकान्तिकोऽपि। श्रद्धावत्त्वादिस्त्वैकान्तिक उपाय इत्यर्थः। ईदृशेनोपायेन ज्ञानं लब्ध्वा परां चरमां शान्तिमविद्यातत्कार्यनिवृत्तिरूपां मुक्तिमचिरेण तदव्यवधानेनैवाधिगच्छति लभते। यथा हि दीपः स्वोत्पत्तिमात्रेणैवान्धकारनिवृत्तिं करोति न तु कंचित्सहकारिणमपेक्षते तथा ज्ञानमपि स्वोत्पत्तिमात्रेणैवाज्ञाननिवृत्तिं करोति न तु किंचित्प्रसंख्यानादिकमपेक्षत इति भावः॥ ३९॥

अत्र च संशयो न कर्तव्यः कस्मात्—

अज्ञोऽनधीतशास्त्रत्वेनाऽऽत्मज्ञानशून्यः। गुरुवेदान्तवाक्यार्थ इदमेवं न भवत्येवेतिविपर्ययरूपा नास्तिक्यबुद्धिरश्रद्दधानः। इदमेवं भवति न वेति

शङ्का—श्रद्धावान् तत्पर होकर भी यदि अजितेन्द्रिय होगा तो भी ज्ञान नहीं होगा इसलिए कहते हैं—संयेतन्द्रिय होना चाहिए संयत विषय पराङ्मुख हो इन्द्रियाँ जिनकी वह स्ववशीकृतेन्द्रिय जो उक्त विशेषणत्रयसे संयुक्त होगा उसको अवश्य ज्ञान प्राप्ति होगी। बाह्य प्रणिपातादि तो मायावीमें भी हो सकते हैं अतः व्यभिचारि ज्ञान साधन है श्रद्धावत्त्वादि ऐकान्तिक अव्यभिचारी उपाय हैं ईदृश उपायसे ज्ञान लाभकर उत्कृष्ट अन्तिम शान्ति अविद्या तत्कार्यप्रपञ्च निवृत्तिरूप मुक्ति अचिर अति शीघ्र ज्ञानोत्पत्तिके अव्यवहित उत्तरक्षणमें लाभ करता है जैसे प्रदीप स्वोत्पत्तिके अनन्तर क्षणमें ही अन्धकार समूहकी निवृत्ति करता है कोई सहकारि कारणकी अपेक्षा नहीं करता वैसे ज्ञान भी स्वोत्पत्ति मात्रसे सब अज्ञानकी निवृत्ति करता है कोई ज्ञानान्तरकी अपेक्षा नहीं करता, प्रसंख्यान तत्त्वज्ञान है॥ ३९॥

इसमें संशय नहीं करना चाहिए—

प्रश्न—क्यों?

उत्तर—अज्ञ शास्त्राध्ययन रहित अतएव आत्मज्ञान रहित गुरु और वेदान्त वाक्योंके अर्थमें यह ऐसा हो नहीं सकता यह विपर्यय भ्रम ज्ञान रूप नास्तिक्य ज्ञानका लाभ कर सकता है एवं अश्रद्दधान भी युक्ति युक्त बातको सुनकर श्रद्धावान्

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति ।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ॥४०॥

और हे अर्जुन ! भगवत् विषयको न जाननेवाला तथा श्रद्धारहित और संशययुक्त पुरुष, परमार्थसे भ्रष्ट हो जाता है, उनमें भी संशययुक्त पुरुषके लिये तो न सुख है और न यह लोक है, न परलोक है, अर्थात् यह लोक और परलोक दोनों ही उसके लिये भ्रष्ट हो जाते हैं ॥ ४० ॥

सर्वत्र संशयाक्रान्तचित्तः संशयात्मा विनश्यति स्वार्थाद्भ्रष्टो भवति । अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च विनश्यतीति संशयात्मापेक्षया न्यूनत्वकथनार्थं चकाराभ्यां तयोः प्रयोगः, कुतः संशयात्मा हि सर्वतः पापीयान् यतो नायं मनुष्यलोकोऽस्ति वित्तार्जनाद्यभावात्, न परो लोकः स्वर्गमोक्षादिर्धर्मज्ञानाद्यभावात्, न सुखं भोजनादिकृतं संशयात्मनः सर्वत्र संदेहाक्रान्तचित्तस्य । अज्ञस्याश्रद्दधानस्य च परो लोको नास्ति मनुष्यलोको भोजनादिसुखं च वर्तते संशयात्मा तु त्रितयहीनत्वेन सर्वतः पापीयानित्यर्थः ॥ ४० ॥

एतादृशस्य सर्वानर्थमूलस्य संशयस्य निराकरणायाऽऽत्मनिश्चयमुपायं वदन्नध्यायद्वयोक्तां पूर्वापरभूमिभेदेन कर्मज्ञानमयीं द्विविधां ब्रह्मनिष्ठामुपसंहरति—

भी हो सकता है अतः वे दोनों परलोक भागी हो सकते हैं सदा संशयग्रस्त वैसा नहीं होता किन्तु अति पापी है इस प्रकार सब उपदिष्ट अर्थों में संशयसे व्याकुल चित्त अतएव संशयात्मा सन्दिग्ध चित्त विनष्ट हो जाता है स्वरूपसे तो विनाश नहीं होता स्वार्थसे भ्रष्ट प्रच्युत होता है यही विनाशसे विवक्षित है, अज्ञ और अश्रद्धान दोनों नष्ट होते हैं, संशय आत्माकी अपेक्षासे उक्त दोनोंमें न्यूनता कथनार्थ चकारका प्रयोग किया गया है ॥ ४० ॥

प्रश्न—क्यों ? संशयात्मा सबसे अधिक पापी है ?

उत्तर—सर्वत्र सन्देह होनेसे धनार्जनोपायमें भी सन्देह होगा कि व्यापार कृषि, आदि घाटा लगनेके भयसे न करेगा तो यह मनुष्य लोक भी उसका अच्छा न होगा न परलोक स्वर्ग मोक्षादि—तत्साधन धर्म ज्ञान संशयात्माको होता नहीं यतस्तद् भाव कैमुतिकन्याय सिद्ध है क्योंकि वह सर्वत्र संशयाक्रान्तचित्त रहता

योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम् ।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय ॥ ४१ ॥

और हे धनंजय ! समत्वबुद्धिरूप योगद्वारा भगवत्-अर्पण कर दिये हैं सपूर्ण कर्म जिसने और ज्ञानद्वारा नष्ट हो गये हैं सब संशय जिसके ऐसे परमात्म-परायण पुरुषको कर्म नहीं बांधते हैं ॥ ४१ ॥

योगेन भगवदाराधनलक्षणसमत्वबुद्धिरूपेण संन्यस्तानि भगवति समर्पितानि कर्माणि येन । यद्वा परमार्थदर्शनलक्षणेन योगेन संन्यस्तानी त्युक्तानि कर्माणि येन तं योगसंन्यस्तकर्माणम् । संशये सति कथं योगसंन्यस्तकर्मत्वमत आह—योगसंछिन्नसंशयं ज्ञानेनाऽऽत्मनिश्चयलक्षणेन च्छिन्नः संशयो येन तम् । विषयवश्यत्वरूपप्रमादे सति कुतो ज्ञानोत्पत्तिरित्यत आह—आत्मवन्तमप्रमादिनं सर्वदा सावधानम् । ईदृशमप्रमादित्वेन ज्ञानवन्तं ज्ञानसंछिन्नसंशयत्वेन योगसंन्यस्तकर्माणं कर्माणि

है अज्ञ और अश्रद्धानको परलोक नहीं होता यह लोक तो होता है मनुष्यलोकमें भोजनादि सुख होता है इष्ट प्रयोजन साधनमें उत्साह प्रवृत्ति होती है संशयात्मा तो इह लोक स्वर्ग और मोक्ष इन तीनोंसे रहित अतएव महा पापी होता है ।

एवंभूत सब दुःखका निदान संशयके निराकरणार्थ आत्मनिश्चयरूप उपायको कहते हुए अध्याय द्वयोक्त पूर्वापर भूमिका भेदसे कर्म ज्ञानमयी द्विविधा ब्रह्मनिष्ठाका उपसंहार करते हैं—भगवदाराधनलक्षण समत्वरूप बुद्धिसे रूप योगसे संन्यस्त भगवान्में समर्पित किया है कर्मोंको जिसने अथवा परमार्थ दर्शन रूप योगसे सम्यक् त्याग किया है कर्मोंको जिसने उस योग संन्यस्त को,

प्रश्न—संशय रहनेपर योगसन्यस्त कर्म कैसे ?

उत्तर—आत्मनिश्चयात्मक ज्ञानसे नष्ट किया है संशयको जिसने उस ज्ञानावच्छिन्न संशयविषयाधीन स्वभावको प्रमाद हो सकता है ।

प्रश्न—प्रमाद होने पर कैसे ज्ञानोत्पत्ति होगी ?

उत्तर—ठीक है प्रमादीको नहीं किन्तु आत्मवान्को आत्म विषयमें सदा सावधान अतएव ईदृश प्रमादशून्य ज्ञानवान् ज्ञानवत्त्वसे निवृत्त

तस्मादज्ञानसंभूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनाऽऽत्मनः ।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ! ॥ ४२ ॥

इससे हे भरतवंशी अर्जुन ! तू समत्वबुद्धिरूप योगमें स्थित हो और अज्ञानसे उत्पन्न हुए हृदयमें स्थित इस अपने संशयको ज्ञानरूप तलवारद्वारा छेदन करके युद्धके लिये खड़ा हो जाओ ॥ ४२ ॥

लोकसंग्रहार्थानि वृथाचेष्टारूपाणि वा न निबध्नन्ति अनिष्टमिष्टं मिश्रं वा शरीरं नारभन्ते हे धनञ्जय ! ॥ ४१ ॥

यस्मादेवंतस्मात्—

अज्ञानादविवेकात्संभूतमुत्पन्नं हृत्स्थं हृदि बुद्धौ स्थितं, कारणस्याऽऽश्रयस्य च ज्ञाने शत्रुः सुखेन हन्तुं शक्यत इत्युभयोपन्यासः । एनं सर्वानर्थमूलभूतं संशयमात्मनो ज्ञानासिनाऽऽत्मविषयकनिश्चयखड्गेन छित्त्वा योगं सम्यग्दर्शनोपायं निष्कामकर्माऽऽतिष्ठ कुरु । अत इदानीमुत्तिष्ठ युद्धाय हे भारत ! भारतवंशे जातस्य युद्धोद्योगो न निष्फल इति भावः ॥ ४२ ॥

संशय अतएव योग सन्यस्त कर्मको लोकसंग्रह बुद्धिसे कृत कर्म चेष्टा रूपादि नहीं बाँधते अनिष्ट, इष्ट, मिश्र उभयात्मक वा शरीरका आरम्भ नहीं करते हैं। हे धनञ्जय ! राजगण अति बलवान् हैं उनका विजय कर, धनापहरण करनेकी सामर्थ्य मुझमें है या नहीं इस संशयको अति प्रबल आत्म निश्चयसे छोड़कर धन जीतनेवाला तुम हो दृष्टान्त हो इसके ध्वननार्थ धनञ्जय विशेषण है ॥ ४१ ॥

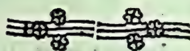
जिस कारणसे ऐसा है ततः अज्ञान अविवेक ज्ञानसे समुत्पन्न हृदय स्थित बुद्धिस्थ करण और आश्रयके ज्ञानसे बुद्धिमें स्थित अज्ञानको ज्ञानसे सुखसे अनायाससे नाश कर सकते हैं इस हेतु दोनोंका उपन्यास है इस सर्वानर्थ मूल संशयको आत्मविषयक निश्चय खड्ग, तलवारादि रूप ज्ञानसे छेदनकर यथार्थ ज्ञानके उपाय कर्मानुष्ठान करो इस समय तो स्वधर्म युद्ध करनेके लिए उठो। योग्यता सूचनार्थ भारत सम्बोधन है तस्मात् इस चतुर्थाध्यायसे योग सम्प्रदाय सिद्ध है।

स्वस्यानीशत्वबाधेन भक्तिश्रद्धे दृढीकृते ।
धीहेतुः कर्मनिष्ठा च हरिणेहोपसंहृता ॥ १ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे ब्रह्मार्पणयोगो नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

भगवान् वासुदेव सर्वज्ञ तथा ईश्वर हैं इसका प्रतिपादन कर योग्यता सम्पादनके लिए कर्म निष्ठा और तत्साध्य ज्ञान निष्ठा उसमें प्रणिपातादि वहिरङ्ग साधन श्रद्धादि अन्तरङ्ग साधन उसका फल सर्वानर्थ निवृत्तिपूर्वक ब्रह्मभाव है अतिपापिष्ठ संशयको कहते हुए सम्पूर्ण दोषवान् संशयको छोड़कर उत्तमाधिकारीको ज्ञान निष्ठा, कर्मीको कर्म निष्ठा इसको स्थापित किया। स्वस्यानीशत्वेति। अपनेमें अनीश्वरत्वका बाधकर भक्ति श्रद्धाको दृढ़ किया ज्ञान हेतु कर्म निष्ठाको भी दृढ़ किया इसीका भगवान्ने उपसंहार किया।

इसप्रकार म० म० पण्डितप्रवर श्रीहरिहरकृपालुद्विवेदिविरचितमधुसूदनी-भाषानुवाद चौथा अध्याय समाप्त



अथ पञ्चमोऽध्यायः।

म० टी०—अध्यायाभ्यां कृतो द्वाभ्यां निर्णयः कर्मबोधयोः।
कर्मतत्त्यागयोर्द्वाभ्यां निर्णयः क्रियतेऽधुना ॥

तृतीयेऽध्याये "ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते" इत्यादिनाऽर्जुनेन पृष्टो भगवाञ्ज्ञानकर्मणोर्विकल्पसमुच्चयासंभवेनाधिकारिभेदव्यवस्थया "लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मया" इत्यादिना निर्णयं कृतवान्। तथा चाज्ञाधिकारिकं कर्म न ज्ञानेन सह समुच्चीयते तेजस्तिमिरयोरिव युगपदसंभवात्कर्माधिकारहेतुभेदबुद्ध्यपनोदकत्वेन ज्ञानस्य तद्विरोधित्वात्। नापि विकल्प्यते, एकार्थत्वाभावात्, ज्ञानकार्यस्याज्ञाननाशस्य कर्मणा कर्तुमशक्यत्वात् "तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय" इति श्रुतेः।

अध्यायाभ्यामित्यादि। पूर्व में दो अध्यायों से ज्ञान कर्म का निर्णय किया गया है अब कर्म और उस के त्याग का निर्णय दो अध्यायों से करते हैं। तृतीय अध्याय में ज्यायसीचेदित्यादि से कर्म से बुद्धि अधिक श्रेष्ठ है यदि यह आपका निश्चय है तो मुझे अपने भक्त को कठिन कर्म में क्यों नियुक्त करते हैं। इस प्रकार अर्जुन भगवान से प्रश्न किया, भगवान ज्ञान कर्मों का विकल्प तथा समुच्चय को असंभव मान कर अधिकारि भेद शुद्धान्तःकरण और अशुद्धान्तःकरण के भेद से दोनों की व्यवस्था है इस अभिप्राय से 'लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा इत्यादि से अर्जुन को उत्तर दिया अर्थात् अज्ञानियों को कर्मनिष्ठा और ज्ञानियों को ज्ञाननिष्ठा भेद से दो प्रकार की निष्ठा इस लोकमें मैंने कही है यह भगवान् ने श्रीमुखसे निर्णय किया इस स्थितिमें अज्ञानाधिकारी के लिये विहित कर्म का ज्ञान के साथ समुच्चय नहीं है कारण प्रकाश और अन्धकार के समान दोनों का सामानाधिकरण्य एक काल में एक पुरुष में दोनों की स्थिति असंभव है एवं कर्माधिकारहेतु साध्यसाधनादिभेदज्ञानोपमर्दकत्वसे ज्ञान कर्म का विरोधी है और न दोनों का विकल्प ही हो सकता है क्योंकि दोनों भिन्नार्थक हैं एकार्थक नहीं ज्ञान का कार्य अज्ञान नाश है जो कर्मसे नही हो सकता 'तमेव विदित्वा अतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यते अयनाय' आत्मा को ही जान कर मृत्यु का अतिक्रमण कर सकता है दूसरा मार्ग मुक्ति के लिये नहीं यह श्रुति है, ज्ञान उत्पन्न होने पर कर्म को बुद्ध बार ही

ज्ञाने जाते तु कर्मकार्यं नापेक्ष्यत एवेत्युक्तं "यावानर्थ उदपाने" इत्यत्र। तथा च ज्ञानिनः कर्मानधिकारे निश्चिते प्रारब्धकर्मवशाद्वृथाचेष्टारूपेण तदनुष्ठानं वा सर्वकर्मसंन्यासो वेति निर्विवादं चतुर्थे निर्णीतम्। अज्ञेन त्वन्तःकरणशुद्धिद्वारा ज्ञानोत्पत्तये कर्माण्यनुष्ठेयानि "तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन" इति श्रुतेः, "सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते" इति भगवद्वचनाच्च। एवं सर्वकर्माणि ज्ञानार्थानि। तथा सर्वकर्मसन्यासोऽपि ज्ञानार्थः श्रूयते—"एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति," "शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वाऽऽत्मन्येवाऽऽत्मानं पश्येत्," "त्यजतैव हि तज्ज्ञेयं त्यक्तुः प्रत्यक्परं पदम्," "सत्यानृते सुखदुःखे वेदानिमं लोकममुं च परित्यज्याऽऽत्मानमन्विच्छेत्," इत्यादौ। तत्र कर्मतत्त्यागयोराराद्रुपकारकसंनिपत्योपकारकयोः प्रयाजावघातयोरिव न समुच्चयः संभवति विरुद्धत्वेन यौगपद्याभावात्।

नही मनःशुद्धिद्वारा ज्ञानोत्पादन ही कर्म का प्रयोजन है ज्ञान हो ही चुका फिर कर्म का क्या प्रयोजन कुछ नहीं 'यावानर्थ उदपाने' इस के व्याख्यान के अवसर में पूर्व में ही कह चुके हैं उस प्रकार ज्ञानी को कर्मानुष्ठानमें अधिकार नही है यह निश्चित होने पर भी पूर्ववासनानुसार तदनुष्ठान अथवा सर्वकर्मसंन्यास ज्ञानी के लिये है। यह चतुर्थ अध्याय में विवादरहित निर्णय हो चुका है। अज्ञ तो मनःशुद्धिद्वारा ज्ञानोत्पत्ति के लिये अवश्य ही करें। तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणाः। विविदिषन्ति' इत्यादि श्रुति उक्तार्थ का बोधक है 'सर्वं कर्माखिलं' पार्थ 'ज्ञाने परिसमाप्यते' यह भगवद्वचन भी उक्तार्थक है। इस प्रकार सब कर्म ज्ञानार्थ हो जाते हैं तथा सर्व कर्मसंन्यास भी ज्ञानार्थ ही श्रुत है 'एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः' इत्यादि श्रुतिमूल में देखिये 'त्यजतैव हि तज्ज्ञेयम्' इत्यादि भी 'सत्यानृते सुखदुःखे' इत्यादि इन का अर्थ अतिस्पष्ट है उस में कर्म और उसका त्याग जो कि आराद्रुपकारक और संनिपत्योपकारक स्वरूप है इन का प्रयाजानुयाज के समान समुच्चय नहीं हो सकता। 'समिधो यजति, तनूनपातं' यजति, इडो यजति बर्हिर्यजति स्वाहाकारं यजति, इन वाक्यों से विहित ये समिदादि पाँच प्रयाज हैं इन में पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष शास्त्रदीपिका में इस प्रकार है क्या, समिदादि को देवता मानकर तत्संस्कारार्थ तदुद्देशेन याग विधान है अथवा आराद्रुपकारक यागविधान है यह संशय कर सामवायिकलाभेच्छा से देवतासंस्कार विधि है यद्यपि।

तद्धितेन चतुर्थ्या वा मन्त्रवर्णेन वा पुनः देवताया विधिरित्यादिवचन से समिदादि में देवता की प्रतीति नहीं होसकती क्योंकि देवता विधायक तद्धितादि कोई नहीं है तथापि 'समिधो यजति' इत्यादि वाक्य देखने से देवताभिधान में द्वितीया भी समर्थ है यह पूर्वपक्ष कर उत्तर दिया कि उद्देश पूर्वक त्याग यजिका अर्थ है त्याग में देवता कर्म नहीं होती किन्तु संप्रदान ही होती है, उद्देश पूर्वक त्याग याग है तदेकक-देश उद्देशगत कर्मत्व का त्याग में उपचार आरोपकर 'विष्णुं यजति' इत्यादि प्रयोग है पाँचो पर विधि में उपचार उक्त नहीं केवल याग ही का यहाँ विधान है। इन पाचों का कार्य विशेष फल विशेष श्रुत्यादि से प्रतीत नहीं होता है इसलिये प्रकरण से आरा-दुपकारक प्रयाजादि हैं समिदादिशब्द मन्त्रवर्णप्राप्तदेवतानिमित्त कर नामधेय ही है यह मान कर देवता के अनुवादक हैं अनुवाद में उपचार दोष नहीं। आरादुपकारक प्रयाज है यह सिद्धान्त पूर्वमीमांसा का है भाव यह है कि याग के उपकारक अङ्ग दो प्रकार के होते हैं एक सन्निपत्योपकारक जो सामवायिक भी कहलाते हैं दूसरे आरादुपकारक कहे जाते हैं यागके दो स्वरूप हैं द्रव्य और देवता इनके संस्कारक कर्म सन्निपत्योपकारक हैं ये साक्षात् द्रव्यदेवता संस्कार द्वारा प्रधान याग के उपकारक हैं जैसे 'व्रीहीन् प्रोक्षति व्रीहीन् अवहन्ति' इत्यादि। यद्यपि प्रोक्षित वा अप्रोक्षित व्रीहि के अवघात करने पर तण्डुल निष्पत्ति समान ही है तथापि प्रोक्षण से व्रीहि में संस्कार होता है जिससे प्रोक्षित अवहत व्रीहि निष्पन्न तण्डुल पुरोडाशहोम से आग्नेयादिषड्यागजन्य अपूर्वकी उत्पत्ति होती है अन्यथा नहीं प्रयाजादि द्रव्यदेवता संस्कारक नहीं है किन्तु दर्शपूर्णमास प्रकरण में इनका पाठ है जो जिसका उप-कारक होता है उसी का उसके प्रकरण मे पाठ होता है दर्शपूर्णमास प्रकरण में इन का पाठदेखनेसे ये दर्शपूर्णमास के अङ्ग हैं यह निश्चय स्वाभाविक है 'दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत स्वर्गकाम' इस वाक्य से स्वर्ग के लिये दर्शपूर्णमास यागका विधान है उक्तयागसे स्वर्ग कैसे करे इस कथंभावाकांक्षासे प्रकरण पठित प्रयाजादि से उपकार संपादन करके यह आकांक्षा उक्त याग की है तथा प्रयाजादिक वाक्य में फल का निर्देश नहीं है अतः मुझसे क्या फल होगा यह आकांक्षा प्रयाजादि की है क्योंकि फल के विना प्रयाजादिका कोई अनुष्ठान ही नहीं करेगा विना अनुष्ठान के विधि ही व्यर्थ है अतः उभयाकांक्षारूपप्रकरण से 'नष्टाश्वदग्धरथवत्' दोनों का सबन्ध है। आग्नेयादिषड्याग भिन्न २ काल में होते हैं इनका समुदाय एकसमय में नहीं रह सकता अतः एक एक याग से एक २ अपूर्व होता है जिस को उत्पत्त्यपूर्व कहते हैं प्रयाजादि अपूर्व सहकृत ये छ अपूर्व अथवा तदपूर्वद्वारा उक्त षड्याग प्रधानापूर्वके उत्पादक होते है अथवा प्रधानापूर्व द्वारा उक्त षड्याग स्वर्ग का

नापि कर्मतत्त्यागयोरात्मज्ञानमात्रफलत्वेनैकार्थत्वात् अतिरात्रयोः षोड-शिग्रहणाग्रहणयोरिव विकल्पः स्यात्, द्वारभेदेनैकार्थत्वाभावात्। कर्मणो हि पापक्षयरूपमदृष्टमेव द्वारं, सन्यासस्य तु सर्वविक्षेपाभावेन विचारावसरदानरूपं दृष्टमेव द्वारं, नियमापूर्वं तु दृष्टसमवायित्वादवघातादाविव न प्रयोजकम्।

उत्पादक होता है यह निष्कर्ष है सारांश यह है कि यद्यपि स्वर्गार्थ ही प्रोक्षण अवघात आदि हैं एवं तदर्थ ही प्रयाजादि भी हैं किन्तु इनका समुच्चय नहीं हो सकता भिन्नकालिक होने से तदभाव स्पष्ट ही है इस अभिप्राय से कहते हैं–यौगपद्या-संभव से समुच्चय नहीं हो सकता और न कर्म और तत्त्याग का विकल्प ही हो सकता। यद्यपि दोनों आत्मज्ञानमात्रफलक हैं अर्थात् दोनों से आत्मज्ञान ही ईप्सित है अतएव अतिरात्रात्वमें षोडशिग्रहण और तदग्रहण का विकल्प 'अतिरात्रे षडशिनं गृह्णाति, नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति' इस वचन से षोडशिग्रहण और अग्रहण का विकल्प है यद्यपि दोनों विरुद्ध हैं तथापि एकार्थक होने से इन का विकल्प होता है तद्वत् कर्मतत्त्याग परस्पर विरुद्ध होने पर भी एक आत्मज्ञानमात्रफलक विकल्प नहीं होता, कारण द्वारभेदसे दोनों एकार्थक हीं हैं कर्म का पापक्षयरूप अदृष्ट ही द्वार है और संन्यास का चित्तविक्षेपाभावसंपादनद्वारा विचारावकाश-दानरूप दृष्ट प्रयोजन है कर्मानुष्ठान समयमें साध्यसाधनादिविषयक मनोवृत्ति होने से आत्मव्यतिरिक्त विषय में चित्तविक्षेप का होना स्वाभाविक है इससे निरन्तर आत्मविचार में अवसर न मिलने से बाधा पडेगी। कर्मत्याग करने से तदनुष्ठान का समय भी आत्मविचार ही में मिलेगा इस तरह तत्त्याग आत्मविचा-रावसरप्रद होने से दृष्टप्रयोजनक है अतः द्वारभेदसे दोनों का विकल्प नहीं होता।

नियमापूर्वमित्यादि यह भाव है विधि तीन प्रकार की होती है अपूर्वविधि नियमविधि और परिसंख्याविधि। प्रमाणान्तरसे अप्राप्त अर्थ का विधान अपूर्वविधि है जैसे 'यजेत, स्वर्गकामः' यहां यागमें स्वर्गजनकत्व किसी प्रमाण से ज्ञात न हो उस का प्रापक उक्तवाक्य ही है अतः यह अपूर्व विधि है। पक्ष मे अप्राप्त का प्रापक नियम विधि है जैसे 'व्रीहीन् अवहन्ति' यहां व्रीहि का अवघात कूटना तण्डुल निष्पत्ति के लिये विहित है अवघात में तण्डुल निष्पादकत्व अन्वय व्यतिरेक दर्शन द्वारा प्रत्यक्षादि प्रमाणसिद्ध हैं सर्वथा अप्राप्त नहीं किन्तु पक्ष में अप्राप्त है, धान से चावल निकालने का दो उपाय है–एक कूटना दूसरा नखविदलन नख से छकेलना जिस पक्षमें नख से निकोल कर चावल निकालेगें उस पक्ष में अवघात अप्राप्त है अतः उक्त नियमविधि है अवघात ही से चावल निकालना नखविदलन से नहीं।

शंका। तण्डुल निष्पत्ति दोनों उपायों से समान ही है फिर अवघात में क्या विशेष जो अवघात ही करना यह नियम मानते हैं।

उत्तर—अवघातजन्य तण्डुल संस्कार अपूर्व विशेष होता है जो पुरोडाशहोमद्वारा आग्नेयादिजन्य अपूर्व का उत्पादक होता है अन्यथा निष्पन्न तण्डुल से पुरोडाशद्वारा यागकरने पर उक्तापूर्वसहकारि वैकल्यसे उक्तयागजन्य अपूर्व न होगा इसलिये नियमा पूर्वोत्पत्त्यर्थ अवघात ही का विधान है। परिसंख्या विधि का उदाहरण 'पञ्च पञ्च नखा भक्ष्या' है यहां क्षुन्निवृत्ति के लिये 'पंचनख अपंचनख साधारण में रागतः भक्षण प्राप्त है अतः पंचनख में भी भक्षण रागतः प्राप्त ही है, प्राप्त में विधि होती नही इसलिये पंचनख का.तदन्य में और भक्ष का अभक्ष्य में लक्षणा होती है। 'पंचनख पांच से अन्य अभक्ष्य है शशक शाही गोधा खड्ग कूर्म कछुआ इन पाचों से अतिरिक्त पंचनख भक्ष्य नही इतर में भक्ष्यत्व निषेध की विधि पंचनख में भक्षण की विधि नहीं अन्यथा उक्तपंचनख का जो भक्षण न करेगा उस को प्रत्यवाय होगा परिसंख्या में तीन दोष है। स्वार्थत्याग इतरार्थग्रहण और प्राप्त का बाध।

'विधि रत्यन्तमप्राप्तौ नियमः पाक्षिके सति
तत्र चान्यत्र च प्राप्तौ परिसंख्येति गीयते

परिसंख्या त्रिदूषणा इति च यह पूर्वमीमांसा में अतिस्पष्ट है प्रकृतमें अवघात जन्य नियमापूर्व भी अवघात का प्रयोजक और तण्डुलनिष्पत्ति दोनों है तण्डुलनिष्पत्ति ही नहीं अतः अवघात अदृष्टार्थ भी, केवल फिर दृष्टार्थ ही क्यों यदि यह कहिये कि अपूर्व अवघातजन्य है वह अवघात-समयमें सिद्ध नहीं किन्तु साध्य है प्रयोजक वही होता है जो प्रयोज्यकालमें सिद्ध हो एक ही में सिद्धत्व साध्यत्व दोनों धर्म एक कालमें नहीं रह सकते क्यों वे दोनों पूर्वापरकालघटित हैं एक ही काल पूर्वपर नहीं होसकता तो तण्डुलनिष्पत्तिपर भी दृष्टि दीजिये वह भी तो अपूर्ववद् सावी ही है वही कैसे प्रयोजक होगा इसका उत्तर यह है कि प्रवृत्तिसें क्रियाफल सर्वत्र प्रवृत्तिप्रयोजक माना जाता है यद्यपि फल स्वरूपसे प्रवृत्तिसमयमें सिद्ध नहीं है तथापि बुद्धिमें विषयतासम्बन्धसे है अतः बुद्धिविषयत्वेन सिद्ध मान कर प्रयोजक कहा जाता है अतः एव 'फलमपि हेतुः' यह अभियुक्तोंका सिद्धान्त है।

प्रश्न—यदि दोनो समान है तो अवघातमें क्या विनिगमनक है जो प्रयोजकत्व मानते हैं? तत्समवायिअपूर्व में नहीं।

उत्तर—तण्डुल अन्तरङ्ग है अतः पूर्व उपस्थित होता है और दृष्ट भी है अपूर्व तण्डुलमें होने पर तदाश्रित परकालमें होगा और अदृष्ट है अतः अन्तरङ्ग पूर्वोपस्थित

तथा चादृष्टार्थदृष्टार्थयोराराद्युपकारकसंनिपत्योपकारकयोरेकप्रधानार्थत्वेऽपि विकल्पो नास्त्येव, प्रयाजावघातादीनामपि तत्प्रसङ्गात्। तस्मात्क्रमेणोभयमप्यनुष्ठेयम्। तत्रापि संन्यासानन्तरं कर्मानुष्ठानं चेत्तदा परित्यक्तपूर्वाश्रमस्वीकारेणाऽऽरूढपतितत्वात्कर्मानधिकारित्वं प्राक्तनसंन्यासवैयर्थ्यं च तस्यादृष्टार्थत्वाभावात्। प्रथमकृतसंन्यासेनैव ज्ञानाधिकारलाभे तदुत्तरकाले कर्मानुष्ठानवैयर्थ्यं च।

तण्डुल ही अवघातका प्रयोजक माना जाता है तत्समवेत अपूर्व नहीं जो तत् प्रयोजक है वह तदर्थ है इस न्याय से अवघात दृष्टतण्डुलार्थ है तदपूर्वार्थ नहीं एवं त्यजतैवेत्यादिसे त्यागविधि नियमविधि माने तो भी त्याग जन्य नियमापूर्वार्थ त्यागार्थ नहीं हो सकता किन्तु दृष्ट आत्मविचारावकाशप्रदानार्थ ही है दृष्टार्थक और अदृष्टार्थक का विकल्प नहीं होता इस अभिप्रायसे कहते हैं कि 'नियमापूर्वन्तु' इत्यादि। अवघात नियमविध्यपूर्व दृष्टतण्डुलसमवायी तण्डुलवृत्ति होनेसे जैसे अवघातका प्रयोजक नहीं वैसे ही त्यागनियमविध्यपूर्व त्यागका प्रयोजक नहीं किन्तु उक्तावसरप्रदान ही त्यागका प्रयोजक है अतः दृष्टार्थक त्याग है और कर्म अदृष्टार्थक है दोनोंका विकल्प नहीं माना जाता। अन्यथासे बाधक कहते हैं यदि मानें तो प्रयाजावघातका भी विकल्प कह सकते हो प्रयाज अदृष्टार्थ है और अवघात उक्तरीतिसे दृष्टार्थ है अतः क्रम से ही कर्म और तत्त्यागका अनुष्ठान करना चाहिये।

प्रश्न—तो क्या संन्यास लेकर भी कर्मानुष्ठान नहीं हो सकता ?

उत्तर—कभी नहीं।

प्रश्न—क्यों ?

उत्तर—तत्रापीति संन्यास के बाद यदि कर्म कोई करेगा तो पूर्वाश्रम का त्याग कर उत्तराश्रम संन्यास में आरूढ़ होकर भी पुनः परित्यक्तपूर्वाश्रम स्वीकारसे आरूढपतित होनेसे कर्माधिकारी ही नहीं है और पूर्व स्वीकृतसंन्यास भी व्यर्थ हो जायगा क्योंकि सन्यास तो अदृष्टार्थ है नहीं उसमें दृष्टार्थकत्व का प्रतिपादन विशदरूपसे अभी कर ही चुके हैं और प्रथम स्वीकृत सन्याससे ही ज्ञानाधिकारका लाभ हो गया फिर तदुत्तरकाल में कर्मानुष्ठान व्यर्थ है। अतः सर्वप्रथम भगवदर्पणबुद्धिसे निष्कामकर्मानुष्ठान करना चाहिये उससे अन्तःकरणमनकी शुद्धि होने पर इससे तीव्रवैराग्य से विविदिषा ब्रह्मज्ञानेच्छा दृढ़ होगी तदनन्तर सर्व कर्म

तस्मादादौ भगवदर्पणबुद्ध्या निष्कामकर्मानुष्ठानादन्तःकरणशुद्धौ तीव्रेण वैराग्येण विविदिषायां दृढायां सर्वकर्मसंन्यासः श्रवणमननादिरूपवेदान्तवाक्यविचाराय कर्तव्य इति भगवतो मतम्। तथा चोक्तम्—"न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते" इति। वक्ष्यते च—

"आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते" इति॥

योगोऽत्र तीव्रवैराग्यपूर्विका विविदिषा। तदुक्तं वार्तिककारैः—

"प्रत्यग्विविदिषासिद्ध्यै वेदानुवचनादयः।
ब्रह्मावाप्त्यै तु तत्त्याग ईप्सन्तीतिश्रुतेर्बलात्" इति॥

स्मृतिश्च—"कषायपक्तिः कर्माणि ज्ञानं तु परमा गतिः।
कषाये कर्मभिः पक्वे ततो ज्ञानं प्रवर्तते" इति॥

संन्यास श्रवणमननिदिध्यासनरूप वेदान्तवाक्यविचार केलिये करना चाहिये यही भगवान को अभिमत है। ऐसा ही कहा है न-कर्मणामित्यादि कर्म न करने से ही मोक्ष नहीं होता। आगे भी गीतामें भगवान्‌ने श्रीमुखसे कहेंगे 'आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते 'इत्यादि' योग यहां तीव्र वैराग्यपूर्वक ब्रह्मज्ञानेच्छा विवक्षित है, यह वार्त्तिककारने कहा है 'प्रत्यग्विविदिषासिद्ध्यै' इत्यादि मूल देखिये। 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति इत्यादि श्रुतिविहितवेदानुवचनादि आत्मविविदिषोत्पत्ति के लिए विहित है ब्रह्मप्राप्तिरूपमोक्षके लिये तो कर्मत्यागका ही विधान है 'इमं लोकममुंच परित्यज्य आत्मानमन्विच्छेत्' इत्यादि उक्तार्थ में मूल है स्मृति भी है। 'कषायपक्तिः कर्माणि ज्ञानं तु परमा गतिः' हेतुहेतुमत्की अभेद यहापर विवक्षा से प्रथम द्वितीय पाद है क्रमसूचनार्थ तृतीयचतुर्थपाद है मोक्षधर्म में भी लिखा हैं कषायं पाचयित्वा चेत्यादि। तीनों श्रेणी तीनों आश्रमों में ब्रह्मचर्य गार्हस्थ्य और वैखानस में तत्तदाश्रमविहितकर्मोंसे मनके मल को पचा कर अनुत्तम न उत्तमं यस्मात् तदनुत्तमं सर्वोत्तमं परंस्थानं उत्कृष्टस्थान संन्यास आश्रम का ग्रहण करें इससे आश्रमानुक्रम संन्यास सूचित होता है। संसार की बहुविधयोनिमें भ्रमण करता हुआ परिशुद्धान्तःकरण प्रथम आश्रम ब्रह्मचर्याश्रम में ही मोक्ष पा लेता है, यहाँ मोक्ष वैराग्यपरक है, वैराग्य मोक्ष को पाकर दृष्टार्थ अतएव विद्वान् मुक्त परब्रह्म विविदिषावान्

मोक्षधर्मे च—"कषायं पाचयित्वा च श्रेणीस्थानेषु च त्रिषु।
प्रव्रजेच्च परं स्थानं पारिव्राज्यमनुत्तमम् ॥
भावितैः करणैश्चायं बहुसंसारयोनिषु।
आसादयति शुद्धात्मा मोक्षं वै प्रथमाश्रमे ॥
तमासाद्य तु मुक्तस्य दृष्टार्थस्य विपश्चितः।
त्रिष्वाश्रमेषु को न्वर्थो भवेत्परमभीप्सतः" इति ॥

मोक्षं वैराग्यम्। एतेन क्रमाक्रमसंन्यासौ द्वावपि दर्शितौ। तथा च श्रुतिः-"ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भवेद्गृहाद्वनीभूत्वा प्रव्रजेद्यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेद्गृहाद्वा वनाद्वा यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेत्" इति। तस्मादज्ञस्याविरक्तताद‌शायां कर्मानुष्ठानमेव। तस्यैव विरक्ततादशायां सन्यासः श्रवणाद्यवसरदानेन ज्ञानार्थ इति दशाभेदेनाज्ञमधिकृत्यैव कर्मतत्त्यागौ व्याख्यातुं पञ्चमषष्ठावध्यायावारभ्येते। विद्वत्संन्यासस्तु ज्ञानबलादर्थसिद्ध एवेति संदेहाभावान्नात्र विचार्यते। तत्रैकमेव जिज्ञासुमज्ञं प्रति ज्ञानार्थत्वेन कर्मतत्त्यागयोर्विधानात्तयोश्च विरुद्धयोर्युगपदनुष्ठानासंभवान्मया जिज्ञासुना किमिदानीमनुष्ठेयमिति संदिहानः-

---

को तीनों आश्रमों से क्या प्रयोजन इससे अक्रम संन्यास सूचित होता है, इस प्रकार द्विविध संन्यास सूचित हुआ, ऐसी ही श्रुति है ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भवेदित्यादि इतरथा ब्रह्मचर्यादेवे प्रव्रजेदित्यादि। अतः अज्ञ को अविरक्तता दशा में कर्मानुष्ठान ही, विहित है वही करना चाहिये, उसी को वैराग्य की अवस्था में संन्यास श्रवणादि के अवसरप्रदानार्थ है, इस प्रकार अवस्थाभेद से अज्ञ के प्रति ही कर्म और तत्त्याग के व्याख्यान के लिये प्रथम और षष्ठ अध्याय का आरम्भ है। विद्वान् का संन्यास तो ज्ञानबल से अर्थतः सिद्ध है, क्योंकि संन्यास के बिना ज्ञान हो ही नहीं सकता, ज्ञान हो गया तो अर्थतः वैराग्यसिद्धि मानी जाती है, अतः वैराग्य में सन्देह न होने से उसका विचार नहीं किया गया, संदिग्ध का ही विचार होता है असंदिग्ध का 'नहीं सन्दिग्धे हि न्यायः प्रवर्तते' यह सिद्धान्त है, एक ही जिज्ञासु अज्ञ के प्रति ज्ञानार्थ ही कर्म और तत्त्याग का विधान है, विरुद्ध इन दोनों का एक काल में अनुष्ठान असंभव है, जिज्ञासु मैं इस समय क्या करूँ इस प्रकार सन्दिग्ध अर्जुन बोले। हे कृष्ण! सदानन्दस्वरूप अथवा भवदुःखापहारक 'यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहुयादित्यादि' श्रुति-

अर्जुन उवाच—

संन्यासं कर्मणां कृष्ण! पुनर्योगं च शंससि।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम् ॥ १ ॥

उसके उपरान्त अर्जुनने पूछा, हे कृष्ण! आप कर्मोंके संन्यासकी और फिर निष्काम कर्मयोगकी प्रशंसा करते हो, इसलिये इन दोनोंमें एक जो निश्चय किया हुआ कल्याणकारक होवे, उसको मेरे लिये कहिये ॥ १ ॥

हे कृष्ण सदानन्दरूप भक्तदुःखकर्षणेति वा। कर्मणां यावज्जीवादिश्रुतिविहितानां नित्यानां नैमित्तिकानां च संन्यासं त्यागं जिज्ञासुमज्ञं प्रति कथयसि वेदमुखेन पुनस्तद्विरुद्धं योगं च कर्मानुष्ठानरूपं शंससि "एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति" "तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन" इत्यादिवाक्यद्वयेन,

"निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाऽऽप्नोति किल्बिषम्"

"छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत!" इति गीतावाक्यद्वयेन वा। तत्रैकमज्ञं प्रति कर्मतत्त्यागयोर्विधानाद्युगपदुभयानुष्ठानासंभवादेतयोः कर्मतत्त्यागयोर्मध्ये यदेकं श्रेयः प्रशस्यतरं मन्यसे कर्म वा तत्त्यागं वा तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितं तव मतमनुष्ठानाय ॥ १ ॥

वचनों से विहित जीवनकाल पर्यन्त अनुष्ठेय नित्य नैमित्तिक कर्मों का संन्यास त्याग अज्ञ के प्रति कहते हो, फिर तद्विरुद्ध योग कर्मानुष्ठानस्वरूप योग भी वेदमुख से कहते हो 'एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति' 'तमेतं वेदानुवचनेने' त्यादि वाक्यद्वय से। 'निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रह इत्यादि, छित्वैनं संशयम्' इत्यादि दो गीतावाक्यों से यह भी अर्थ हो सकता है कि वेद और गीता दोनों भगवद्वाक्य ही है अतः वाक्य रूप से दोनों का संग्रह होता है। इसमें एक अज्ञ के प्रति कर्म और तत्त्याग का विधान होने से एक काल में दोनों का अनुष्ठान ही असंभव है, अतः कर्म और तत्त्याग इन दोनों के मध्य में जो एक श्रेय अधिक प्रशस्त मानते हो कर्म अथवा तत्त्याग सो मुझ से सुनिश्चित कहिये अनुष्ठान के लिये अर्थात् 'तुम कर्म करो अथवा तुम कर्मत्याग करो' इस तरह स्पष्ट कहिये जिससे मैं सन्देहरहित होकर करूँ ॥ १ ॥

म० टी०--एवमर्जुनस्य प्रश्ने तदुत्तरं श्रीभगवानुवाच--

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते ॥ २ ॥

इस प्रकार अर्जुन के पूछने पर श्रीकृष्ण महाराज बोले, हे अर्जुन! कर्मों का संन्यास अर्थात् मन, इन्द्रियों और शरीरद्वारा होनेवाला सम्पूर्ण कर्मों में कर्तापनका त्याग और निष्काम कर्मयोग अर्थात् समत्वबुद्धि से भगवदर्थ कर्मों का करना, यह दोनों ही परम कल्याण के करनेवाले हैं, परन्तु उन दोनों में कर्मों के संन्यास से निष्काम कर्मयोगसाधन में सुगम होने से श्रेष्ठ है ॥ २ ॥

निःश्रेयसकरौ ज्ञानोत्पत्तिहेतुत्वेन मोक्षोपयोगिनौ । तयोस्तु कर्मसंन्यासादनधिकारिकृतात्कर्मयोगो विशिष्यते श्रेयानधिकारसंपादकत्वेन ॥ २ ॥

अर्जुन के इस प्रश्न का उत्तर भगवान् कहते हैं-'संन्यास' इत्यादि से-संन्यास और कर्मयोग ये दोनों निःश्रेयसकर तत्त्वज्ञानोत्पत्तिहेतु होने से तद्वारा मोक्षोपयोगी हैं मोक्ष नित्य है इसलिये मोक्षोत्पत्तिका न कहकर मोक्षोपयोगी कहा; प्रतिबन्धकीभूत अविद्यापनयनद्वारा मोक्षाभिव्यंजक है। इन दोनों में अनधिकारि कृत कर्मसंन्यास से कर्मयोग उत्तम है, क्योंकि अधिकारिता संपादक कर्मयोग है, अपूतान्तःकरण कर्मसंन्यास से पतित हो जायगा और कर्मयोग से कुछ दिनों बाद कर्मसन्यास का अधिकारी हो सकता है, अतः अज्ञ को कर्मयोग ही उत्तम है ॥ २ ॥

म० टी०--तमेव कर्मयोगं स्तौति त्रिभिः—

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति ।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो! सुखं बन्धात्प्रमुच्यते ॥ ३ ॥

इसलिये हे अर्जुन! जो पुरुष न किसी से द्वेष करता है और न किसी की आकांक्षा करता है वह निष्काम कर्मयोगी सदा संन्यासी ही समझने योग्य है, क्योंकि रागद्वेषादि द्वन्द्वों से रहित हुआ पुरुष सुखपूर्वक संसाररूप बन्धन से मुक्त हो जाता है ॥ ३ ॥

स कर्मणि प्रवृत्तोऽपि नित्यं संन्यासीति ज्ञेयः । कोऽसौ यो न द्वेष्टि भगवदर्पणबुद्ध्या क्रियमाणं कर्म निष्फलत्वशङ्कया न कांक्षति स्वर्गादिकम् । निर्द्वन्द्वो रागद्वेषरहितो हि यस्मात्सुखमनायासेन हे महाबाहो! बन्धादन्तःकरणा-

शुद्धिरूपाज्ज्ञानप्रतिबन्धात्प्रमुच्यते नित्यानित्यवस्तुविवेकाद्धि प्रकर्षेण मुक्तो भवति ॥ ३ ॥

तीन श्लोकों से उसी कर्मयोग की स्तुति करते हैं—

वह कर्म करता हुआ भी नित्य ही संन्यासी है यह समझना चाहिए।

प्रश्न—कौन ?

उत्तर—जो द्वेष नहीं करता भगवदर्पणबुद्धि से कर्म करता है, स्वर्गादि फल नहीं चाहता। निर्द्वन्द्व राग द्वेष रहित, 'हि' हेत्वर्थ है, यस्मात् जिससे 'सुखम् अनायासं' से हे महाबाहु! अन्तःकरण शुद्धरूप ज्ञान प्रतिबन्ध से मुक्त हो जाता है।

"कषाये कर्मभिः पक्वे ततो ज्ञानं प्रवर्तते।

ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात् पापस्य कर्मणः॥" इत्यादि वचनों से मन की अशुद्धि तत्त्वज्ञानोत्पत्ति में प्रतिबन्धक है कर्मयोग से उस अशुद्धि से मुक्त हो जाता है उसका मन तत्त्वज्ञानोत्पत्तियोग्य हो जाता है। नित्यानित्यवस्तुविवेकप्रकर्ष से मुक्त हो जाता है, वस्तुतस्तु 'यो न द्वेष्टि न कांक्षति' इस वाक्य से दुःख तत्साधन सामान्य से द्वेष नहीं करता और न सुख तत्साधन की इच्छा ही करता है रागद्वेषशून्यत्व-रूपसंन्यासगुणयोग से वह कर्मी भी संन्यासी ही है, यह व्यापक अर्थ ही प्रकृत में विवक्षित है। भगवदर्पणबुद्धि से क्रियमाण कर्म से निष्फलत्व शंका से उससे द्वेष नहीं करता और न उससे स्वर्गादि चाहता है, इस अर्थ से राग द्वेष केवल निष्काम कर्म-मात्रविषयक संकुचित किया गया है, एतावन्मात्र संन्यासिगुण भी नहीं है, जिससे तद्गुणयोग से वह संन्यासी कहा जाय। वस्तुतस्तु निर्द्वन्द्वःसे राग द्वेष सामान्याभाव का बोध सिद्ध ही है, अतः स्वामीजी का संकुचित अर्थ ठीक है॥ ३॥

म० टी०—ननु यः कर्मणि प्रवृत्तः स कथं संन्यासीति ज्ञातव्यः कर्मतत्त्यागयोः स्वरूपविरोधात्, फलैक्यात्तथेति चेत्? न स्वरूपतो विरुद्धयोः फलेऽपि विरोधस्यौचित्यात्। तथाच निःश्रेयसकरावुभावित्यनुपपन्नमित्या-शङ्क्याऽऽह—

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।

एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्॥ ४॥

और हे अर्जुन! ऊपर कहे हुए संन्यास और निष्काम कर्मयोगको मूर्खलोग अलग अलग फलवाले कहते हैं न कि पंडितजन, क्योंकि दोनों में से एक में भी अच्छी प्रकार स्थित हुआ पुरुष दोनों के फलरूप परमात्मा प्राप्त होता है॥ ४॥

संख्या सम्यगात्मबुद्धिस्तां वहतीति ज्ञानान्तरङ्गसाधनतया सांख्यः संन्यासः, योगः पूर्वोक्तः कर्मयोगः। तौ पृथग्विरुद्धफलौ बालाः शास्त्रार्थविवेकज्ञानशून्याः प्रवदन्ति न पण्डिताः। किं तर्हि पण्डितानां मतम्। उच्यते—एकमपि संन्यासकर्मणोर्मध्ये सम्यगास्थितः स्वाधिकारानुरूपेण सम्यग्यथाशास्त्रं कृतवान्सन्नुभयोर्विन्दते फलं ज्ञानोत्पत्तिद्वारेण निःश्रेयसमेकमेव ॥ ४ ॥

प्रश्न—जो कर्म करता है वह संन्यासी कैसे माना जाय, क्योंकि कर्मतत्त्यागका स्वरूप ही विरुद्ध है दोनों का फल एक है, अतः फलतः अविरोध कह सकते हैं यह भी कहना ठीक नहीं, विरुद्धस्वरूपों का फल भी विरुद्ध ही होता है, जैसे अग्निसंयोग का फल उष्णस्पर्श, जलसंयोग का फल शीतस्पर्श ऐसी परिस्थिति में दोनों मोक्षोपयोगी हैं यह कथन सर्वथा उपपत्तिशुन्य है, इस शंका से कहते हैं सांख्येति। संख्या सम्यग् आत्मबुद्धिः तां वहति प्रापयति इति सांख्यः 'तद्वहति रथयुगप्रासंगम्' इस से संख्या शब्द से यत्प्रत्यय हुआ 'यस्येति च' से आकार का लोप हुआ, सांख्य प्रकृत में संन्यास है संन्यास ज्ञान का अन्तरङ्ग साधन है, साधन साध्य का प्रापक होता है, यह सर्वसंमत है योग पूर्वोक्त कर्मयोग ये दोनों भिन्न फलक हैं, यह शास्त्रज्ञजन अतएव बालक कहते हैं पण्डित ऐसा नहीं कहते।

प्रश्न—तो पण्डितों का क्या मत है ?

उत्तर—ऊच्यते। संन्यासकर्मों में एक भी सम्यगास्थित अपने अधिकार के अनुरूप यथाशास्त्र शास्त्र का उल्लंघन कर नहीं यथाविधान जो किया सो दोनों के फल का भागी होता है क्योंकि ज्ञानोत्पत्ति द्वारा दोनों का फल एक ही मोक्ष है।

प्रश्न—एक के अनुष्ठान से दोनों का फल कैसे पाता है ?

उत्तर—ज्ञाननिष्ठ सांख्य संन्यासी शास्त्रीय कर्मानुष्ठानरहित प्राचीन जन्मकृत कर्म से ही संस्कृतान्तःकरण हैं वे श्रवणादिपूर्वक ज्ञाननिष्ठा से जो प्रसिद्ध स्थान है अर्थात् जहाँ सदा स्थिति ही रहे कभी वहाँ से न हो वही वास्तविक स्थान है, वह है मोक्ष 'न स पुनरावर्तते' इत्यादि श्रुति से वहां से पुनरावृत्ति नहीं होगी यह निश्चय है।

शङ्का—मोक्ष तो आत्मस्वरूप होने से सदा प्राप्त ही है उसकी प्राप्ति कैसी ?

उत्तर—वस्तुतः प्राप्त है, पर अज्ञानवश अप्राप्तवत् प्रतीत होता है, ज्ञान होने पर प्राप्त अप्राप्त के समान प्रतीत होता है केवल मोक्षावरण अज्ञान के हटाने से वह लब्ध होता है, योग भगवदर्पण बुद्धि से फलकामनाशून्य कृत कर्म निरभिसन्धि कर्म

कहाते हैं वे शास्त्रीय हों तो योग कहाते हैं एवंभूत कर्म जिनके हैं वे भी योग कहाते हैं 'योगः अस्ति अस्य' इस अर्थ में मत्वर्थीय अच् आदि मानकर अच् प्रत्यय होता है। वे योगी भी इस जन्म या जन्मान्तर के साधु कर्मों से अन्तःकरणशुद्धि द्वारा श्रवणमननादिपूर्वक ज्ञाननिष्ठा से सम्पन्न होकर उसी स्थान में जाते हैं, जहां संन्यासी जाते हैं, अतः एक मोक्षरूप फल होने से एक सांख्ययोग को जानता है यही सम्यग्दर्शी है दूसरा नहीं, यह तात्पर्य है, जिनकी संन्यासपूर्वक ज्ञाननिष्ठा देखी जाती है उसी ज्ञाननिष्ठास्वरूप हेतु से पूर्वजन्ममें भगवदर्पण बुद्धि से कृत कर्मानुष्ठान निष्ठा का अनुमान होता है, क्योंकि कारण के विना कार्य की उत्पत्ति नहीं होती सो कहा है।

म० टी०—एकस्यानुष्ठानात्कथमुभयोः फलं विन्दते तत्राऽऽह—

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥ ५ ॥

तथा ज्ञानयोगियोंद्वारा जो परमधाम प्राप्त किया जाता है, निष्काम कर्मयोगियोंद्वारा भी वही प्राप्त किया जाता है, इसलिए जो पुरुष ज्ञानयोगको फलरूप से एक देखता है, वह ही यथार्थ देखता है ॥ ५ ॥

सांख्यैर्ज्ञाननिष्ठैः संन्यासिभिरैहिककर्मानुष्ठानशून्यत्वेऽपि प्राग्भवीयकर्मभिरेव संस्कृतान्तःकरणैः श्रवणादिपूर्विकया ज्ञाननिष्ठया यत्प्रसिद्धं स्थानं तिष्ठत्येवास्मिन्न तु कदाऽपि च्यवति इति व्युत्पत्त्या मोक्षाख्यं प्राप्यत आवरणाभावमात्रेण लभ्यत इव नित्यप्राप्तत्वात् । योगैरपि भगवदर्पणबुद्ध्या फलाभिसंधिराहित्येन कृतानि कर्माणि शास्त्रीयाणि योगास्ते येषां सन्ति तेऽपि योगाः। अर्शआदित्वान्मत्वर्थीयोऽच्प्रत्ययः । तैर्योगिभिरपि सत्वशुद्ध्या संन्यासपूर्वकश्रवणादिपुरःसरया ज्ञाननिष्ठया वर्तमाने भविष्यति वा जन्मनि संपत्स्यमानया तत्स्थानं गम्यते । अत एकफलत्वादेकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स एव सम्यक्पश्यति नान्यः । अयं भावः—येषां संन्यासपूर्विका ज्ञाननिष्ठा दृश्यते तेषां तयैव लिङ्गेन प्राग्जन्मसु भगवदर्पितकर्मनिष्ठाऽनुमीयते कारणमन्तरेण कार्योत्पत्त्ययोगात् । तदुक्तम्—

"यान्यतोऽन्यानि जन्मानि तेषु नूनं कृतं भवेत् ।
यत्कृत्यं पुरुषेणेह नान्यथा ब्रह्मणि स्थितिः" इति ॥

एवं येषां भगवदर्पितकर्मनिष्ठा दृश्यते तेषां तयैव लिङ्गेन संन्यासपूर्व-ज्ञाननिष्ठाऽनुमीयते सामग्र्याः कार्याव्यभिचारित्वात् । तस्मादज्ञेन मुमुक्षुणाऽन्तःकरणशुद्धये प्रथमं कर्मयोगोऽनुष्ठेयो न तु संन्यासः । स वैराग्यतीव्रतायां स्वयमेव भविष्यति ॥ ५ ॥

"यान्यतोऽन्यानि जन्मानि तेषु नूनं कृतं भवेत् ।
यत्कृत्यं पुरुषेणेह नान्यथा ब्रह्मणि स्थितिः इति ॥"

ज्ञाननिष्ठावान् पुरुष को देखकर यह निश्चयात्मक ज्ञान होता है कि इस पुरुष ने पूर्व जन्म में ब्रह्मज्ञानोत्पत्ति के योग्य साधुकर्म भगवदर्पण बुद्धि से निरभिसन्धि कर्म अवश्य किया है अन्यथा ब्रह्म में स्थिति नहीं होती, दृष्टान्त व्यतिरेकी है जो नहीं किया है ऐसा नहीं है, इस प्रकार जिनकी भगवदर्पित कर्मनिष्ठा देखी जाती है उनकी उसी ज्ञाननिष्ठा नियम से भावी अगले जन्म में संन्यासपूर्वक ज्ञाननिष्ठा का अनुमान होता है, क्योंकि सामग्री कार्य का व्यभिचार नहीं करती ; कारण रहने पर अवश्य कार्य होता है कारण रहने पर कार्य न हो तो वह व्यभिचार है, पर ऐसा नहीं होता[1] नदीपूर से जातवृष्टि का और मेघोत्पत्यादि से भविष्यद् वृष्टि का अनुमान लौकिक पुरुष भी करते हैं अतः अज्ञ मुमुक्षजन को प्रथम अन्तःकरण शुद्धि के लिये अवश्य कर्म करना चहिये, तत्त्याग रूप संन्यास नहीं, कर्मसंन्यास तो तीव्र वैराग्य होने पर स्वयं हो जायगा ॥ ५ ॥

[1]'सर्वेषां ब्रह्मादीनां सांवपर्यन्तानां भूतानामात्मभूत 'आत्मा प्रत्यक् चेतनो यस्य' इस भाष्य व्याख्यान का 'सर्वेषां भूतानाम्आत्मभूत इत्यादि से अनुवाद कर उसमें दोष स्वामीजी देते हैं **सर्वभूतात्मा** इसी से भाष्योक्तार्थ का लाभ हो जाता है फिर आत्मभूत यह पद व्यर्थ हो जायगा, इस आपत्ति में भाष्यकार के मत को दूषित कर 'सर्वभूत जड़भूत आत्मभूत अजड़भूत आत्मा यस्य' व्याख्यान कर दोनों पदों को सार्थक कहा है, परन्तु यह बालबंचनमात्र है, सर्व शब्द अखिलार्थक होने से जड़ और अजड़ दोनों का उक्त शब्द से परामर्श कर सर्वभूतात्मा इसी से स्वामीजी के अर्थ का लाभ सुख से हो जाता है फिर आत्मभूत वैयर्थ्य स्वमतमें भी वज्रलिप्त है, 'यश्चोभयोः समो दोषः' इस न्याय से स्वामीजी का भाष्य पर आक्षेप अनुचित है । किंच भाष्यमत में 'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्य से ही जीवात्मा परमात्मा का अभेद सिद्ध है, तदर्थक गीतावाक्य मानना उचित है, आप के मत में केवल श्रौताभेद से ही निर्वाह नहीं किन्तु कार्यकारणाभेदलिङ्ग का अनुमान से जड़साधारण आत्मपरमात्म का ऐक्य प्रतीत होता है, अतः भाष्योक्त ही अर्थ समीचीन है, दर्दुर दृष्टियों को इस पर ध्यान देना चाहिये,

म० टी०--अशुद्धान्तःकरणेनापि संन्यास एव प्रथमं कुतो न क्रियते ज्ञाननिष्ठाहेतुत्वेन तस्याऽऽवश्यकत्वादिति चेत्तत्राऽऽह--

संन्यासस्तु महाबाहो ! दुःखमाप्तुमयोगतः ।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति ॥ ६ ॥

परन्तु हे अर्जुन ! निष्काम कर्मयोग के विना, संन्यास अर्थात् मन, इन्द्रियों और शरीर द्वारा होने वाले संपूर्ण कर्मोंमें कर्तापन का त्याग प्राप्त होना कठिन है और भगवत्स्वरूपको मनन करने वाला निष्काम कर्मयोगी परब्रह्म परमात्माको शीघ्र ही प्राप्त हो जाता है ॥ ६ ॥

अयोगतो योगमन्तःकरणशोधकं शास्त्रीयं कर्मा न्तरेण हठादेव यः कृतः संन्यासः स तु दुःखमाप्तुमेव भवति अशुद्धान्तःकरणत्वेन तत्फलस्य ज्ञाननिष्ठाया असंभवात् । शोधके च कर्मण्यनधिकारात्कर्मब्रह्मोभयभ्रष्टत्वेन परमसंकटापत्तेः । कर्मयोगयुक्तस्तु शुद्धान्तःकरणत्वान्मुनिर्मननशीलः संन्यासी भूत्वा ब्रह्म सज्ज्ञानादिलक्षणमात्मानं नचिरेण शीघ्रमेवाधिगच्छति साक्षात्करोति प्रतिबन्धकाभावात् । एतच्चोक्तं प्रागेव--

"न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते ।
न च संन्यासनादेव सिद्धिं समधिगच्छति" इति ॥

अत एकफलत्वेऽपि कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यत इति यत्प्रागुक्तं तदुपपन्नम् ॥ ६ ॥

प्रश्न—अशुद्धान्तःकरण पुरुष ज्ञाननिष्ठा हेतुभूत कर्मसन्यास ही प्रथम क्यों नहीं करते संन्यास ज्ञाननिष्ठा का हेतु है तो इससे उक्त फल हो ही जायगा, फिर क्लिष्ट कर्मानुष्ठान से क्या लाभ ?

उत्तर—'अयोगतः' इत्यादि योग अन्तःकरणशोधक शुद्धिकारण शास्त्रविहित तत्तत्कर्मानुष्ठान इसके विना हठ से किया गया कर्मत्यागरूप संन्यास दुःख ही देनेवाला होता है, क्योंकि अशुद्धान्तःकरण होने से तत्फल संन्यासफल ज्ञाननिष्ठा हो ही नहीं सकती। संन्यास ग्रहण करने पर फिर शोधककर्मानुष्ठान में अधिकार भी नहीं रहता कर्म ब्रह्म दोनों से च्युत होने पर क्लेशप्रद अवस्था हो जायगी, कर्मयोगयुक्त तो शुद्धान्तःकरण युक्त होने से मुनि मननशील अर्थात् संन्यासी होकर सत्यज्ञानानन्दलक्षण ब्रह्म शीघ्र ही प्राप्त कर लेता है, प्रतिवन्धक दुरित का कर्म द्वारा नाश होने से ब्रह्म साक्षात् करता है यह पहले ही कह चुके हैं 'न कर्मणामनारम्भात्' इत्यादि अतः एक फल होने पर भी कर्मसंन्यास से कर्मयोग विशिष्ट है यह उपपत्तियुक्त है ॥६॥

म० टी०--ननु कर्मणो बन्धहेतुत्वाद्योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्माधिगच्छतीत्यनुपपन्नमित्यत आह--

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥ ७ ॥

तथा वशमें किया हुआ है शरीर जिसके ऐसा जितेन्द्रिय और विशुद्ध अन्तःकरणवाला एवं संपूर्ण प्राणियों के आत्मस्वरूप परमात्मा में एकीभाव हुआ निष्काम करता हुआ भी लिप्यमान नहीं होता ॥ ७ ॥

भगवदर्पणफलाभिसंधिराहित्यादिगुणयुक्तं शास्त्रीयं कर्म योग इत्युच्यते। तेन योगेन युक्तः पुरुषः प्रथमं विशुद्धात्मा विशुद्धो रजस्तमोभ्यामकलुषित आत्माऽन्तःकरणरूपं सत्त्वं यस्य स तथा। निर्मलान्तःकरणः सन्विजितात्मा स्ववशीकृतदेहः। ततो जितेन्द्रियः स्ववशीकृतसर्वबाह्येन्द्रियः। एतेन मनूक्तस्त्रिदण्डी कथितः—

"वाग्दण्डोऽथ मनोदण्डः कायदण्डस्तथैव च।
यस्यैते नियता दण्डाः स त्रिदण्डीति कथ्यते" इति ॥

वागिति बाह्येन्द्रियोपलक्षणम्। एतादृशस्य तत्त्वज्ञानमवश्यं भवतीत्याह–सर्वभूतात्मभूतात्मा सर्वभूत आत्मभूतश्चाऽऽत्मा स्वरूपं यस्य स तथा। जडाजडात्मकं सर्वमात्ममात्रं पश्यन्नित्यर्थः सर्वेषां भूतानामात्मभूत आत्मा यस्येति व्याख्याने तु सर्वभूतात्मेत्येतावतैवार्थलाभादात्मभूतेत्यधिकं स्यात्। सर्वात्मपदयोर्जडाजडपरत्वे तु समञ्जसम्। एतादृशः परमार्थदर्शी कुर्वन्नपि कर्माणि परदृष्टया न लिप्यते तैः कर्मभिः स्वदृष्टया न तदभावादित्यर्थः।

प्रश्न—कर्म तो बन्ध का कारण है फिर कर्मानुष्ठानशील योगयुक्त मुनी ब्रह्म प्राप्त करता है यह सोपपत्तिक नहीं, इस पर उत्तर कहते हैं योगयुक्त इत्यादि भगवदर्पणफलाभिसन्धिरहितत्वगुणयुक्त शास्त्रविहित कर्मयोग कहाता है, उस योग से युक्त पुरुष प्रथम विशुद्धात्मा होकर अर्थात् रजोगुणतमोगुणरूप कलङ्कसे निर्मुक्त अन्तःकरण हो गया जिसका, अतएव विजितात्मा द्वितीय आत्म शब्द देहपरक है, देहको अपने वश में कर उसके बाद बाह्येन्द्रियों को वश में कर जो पुरुष उक्त तीनों को वश में कर लेता है वह त्रिदण्डी कहाता है, तथा च मनुः।

"वागदण्डोऽथ मनोदण्डः कामदण्डंस्तथैव च ।
यस्यैते नियताः दण्डाः स त्रिदण्डीति कथ्यते ॥" इति

वाग् यह बाह्येन्द्रियों का उपलक्षण है, ऐसे पुरुषको तत्त्वज्ञान अवश्य होता है, यह सर्वभूतात्मभूतात्मा से कहते हैं। सर्वभूतः सर्वस्वरूपापन्न और आत्मभूत आत्मा स्वरूप है जिसका वह जड़ाजड़ सब जगत् को आत्मस्वरूप ही देखता है, अतिरिक्त नहीं। सब भूतों का आत्मभूत आत्मस्वरूप है आत्मा जिसका ऐसा व्याख्यान करने में सर्वभूतात्मा यही पर्याप्त है फिर आत्मभूत यह व्यर्थ हो जायगा। सर्वशब्द जड़परक और आत्मशब्द अजड़परक होने से दोनों सार्थक होते हैं, अतः यही अर्थ भगवान् को अभीष्ट है, ऐसा परमार्थदर्शी परदृष्टिसे कर्म करता हुआ भी लिप्त नहीं होता अर्थात् तज्जन्य पुण्यपापसे संश्लिष्ट नहीं होता। यही कर्म श्रेय है सो नहीं होता कारण आत्मदृष्टिसे कुछ करता ही नहीं अतः कर्माभाव ही है ॥ ७ ॥

म० टी०--एतदेव विवृणोति द्वाभ्याम्--

नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित् ।
पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन् ॥ ८ ॥
प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ॥ ९ ॥

और हे अर्जुन ! तत्त्वको जाननेवाला सांख्ययोगी तो देखता हुआ, सुनता हुआ, स्पर्श करता हुआ, सूंघता हुआ, भोजन करता हुआ, गमन करता हुआ, सोता हुआ, श्वास लेता हुआ, बोलता हुआ, त्यागता हुआ, ग्रहण करता हुआ तथा आंखों को खोलता और मीचता हुआ भी, सब इन्द्रियां अपने अपने अर्थों में वर्त रही हैं, इस प्रकार समझता हुआ, निःसन्देह ऐसे माने, कि मैं कुछ नहीं करता हूँ।

चक्षुरादिज्ञानेन्द्रियैर्वागादिकर्मेन्द्रियैः प्राणादिवायुभेदैरन्तःकरणचतुष्टयेन च तत्तच्चेष्टासु क्रियमाणासु इन्द्रियाणीन्द्रियादीन्येवेन्द्रियार्थेषु स्वस्वविषयेषु वर्तन्ते प्रवर्तन्ते न त्वहमिति धारयन्नवधारयन्नैव किंचित्करोमीति मन्येत मन्यते तत्त्ववित्परमार्थदर्शी युक्तः समाहितचित्तः । अथवाऽऽदौ युक्तः कर्मयोगेन (ण) पश्चादन्तःकरणशुद्धिद्वारेण तत्त्वविद्भूत्वा नैव किंचित्करोमीति

मन्यत इति संवन्धः। तत्र दर्शनश्रवणस्पर्शनघ्राणाशनानि चक्षुःश्रोत्रत्वग्घ्राणरसनानां पञ्चज्ञानेन्द्रियाणां व्यापाराः पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्नित्युक्ताः। गतिः पादयोः, प्रलापो वाचः, विसर्गः, पायूपस्थयोः, ग्रहणं हस्तयोरिति पञ्च कर्मेन्द्रियव्यापारा गच्छन्प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नित्युक्ताः। श्वसन्निति प्राणादिपञ्चकस्य व्यापारोपलक्षणम्। उन्मिषन्निमिषन्निति नागकूर्मादिपञ्चकस्य। स्वपन्नित्यन्तःकरणचतुष्टयस्य। अर्थक्रमवशात्पाठक्रमं भङ्क्त्वा व्याख्याताविमौ श्लोकौ। यस्मात्सर्वव्यापारेष्वप्यात्मनोऽकर्तृत्वमेव पश्यति अतः कुर्वन्नपि न लिप्यत इति युक्तमेवोक्तमिति भावः ॥ ८ ॥ ९ ॥

दो श्लोकों से इसी का विवरण करते हैं—

चक्षुरादिज्ञानेन्द्रियों से, वागादिकर्मेन्द्रियों से, प्राणादि वायुविशेष से, चतुर्विध अन्तःकरण से तत्तच्चेष्टारूप क्रिया करते समय इन्द्रियां ही स्वस्व विषय इन्द्रियार्थ में प्रवृत्त हो रही हैं, मैं नहीं उसमें प्रवृत्त हूँ, इस धारणा से मैं कुछ नहीं करता हूँ यह तत्त्वदर्शी परमार्थदर्शी युक्त समाहितचित्त मानता है अथवा प्रथम कर्मयोग से युक्त होकर पीछे अन्तःकरणशुद्धिद्वारा तत्त्ववित् होकर कुछ नहीं करते हैं यह मानता है यह संवन्ध इष्ट है। उसमें दर्शन श्रवण स्पर्शन घ्राण अशन चक्षुःश्रोत्रत्वग्घ्राणरसना पाँच ज्ञानेन्द्रियों के व्यापार पश्यन् शृण्वन् स्पृशन् जिघ्रन् अश्नन् ये कहे हैं। पैर की गति, वाणी का प्रलाप, पायूपस्थ का विसर्ग, हाथों का ग्रहण ये पाँच कर्मेन्द्रियों के व्यापार 'गच्छन्' 'प्रलपन्' 'विसृजन्' 'गृह्णन्' से कहा 'उन्मिषन्' 'निमिषन्' इत्यादि नागकूर्माख्य पाँच प्राणों का व्यापार है। 'स्वपन्' आदि का सर्वत्र सम्बन्ध है यह अन्तःकरण चित्त अहंकार बुद्धि मन इन चारों का व्यापार पाठक्रम का त्याग कर अर्थक्रम के अनुसार इन दोनों श्लोकों का व्याख्यान किया है। 'पाठक्रमादर्थक्रमो बलीयान्' यह न्याय प्रसिद्ध है, अर्थबोधार्थ ही शब्दप्रयोग होता है वही इष्टानिष्टसाधनद्वारा पुरुषार्थ है, इसलिये अर्थक्रम ही प्रधान है। विरोध होने पर अर्थक्रम ही का अनुसरण करना युक्तियुक्त है, अतः सब व्यापारों को अनात्मकर्तृक मानता है, अतः कर्म करता हुआ भी उससे लिप्त नहीं होता यह ठीक ही कहा ॥ ८ ॥

म० टी०—तर्ह्यविद्वान्कर्तृत्वाभिमानाल्लिप्येतैव तथाच कथं तस्य संन्यासपूर्विका ज्ञाननिष्ठा स्यादिति तत्राऽऽह—

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥ १० ॥

परन्तु हे अर्जुन ! देहाभिमानियोंद्वारा यह साधन होना कठिन है और निष्काम कर्मयोग सुगम है क्योंकि जो पुरुष सब कर्मोंको परमात्मा में अर्पण करके और आसक्ति को त्यागकर कर्म करता हैं, वह पुरुष जलसे कमलके पत्तेकी सदृश पापसे लिप्त नहीं होता ॥ १० ॥

ब्रह्मणि परमेश्वरे आधाय समर्प्य सङ्गं फलाभिलाषं त्यक्त्वेश्वरार्थं भृत्य इव स्वाम्यर्थं स्वफलनिरपेक्षतया करोमीत्यभिप्रायेण कर्माणि लौकिकानि वैदिकानि च करोति यो लिप्यते न स पापेन पापपुण्यात्मकेन कर्मणेति यावत्। यथा पद्मपत्रमुपरिप्रक्षिप्तेनाम्भसा न लिप्यते तद्वत्। भगवदर्पणबुद्ध्याऽनुष्ठितं कर्म बुद्धिशुद्धिफलमेव स्यात् ॥ १० ॥

प्रश्न—अविद्वान् तो कर्तृत्वाभिमान से लिप्त होता ही है क्योंकि वह तो तत्तद्व्यापारसमय से अपने को कर्ता मानता ही है, इसलिये उसकी क्या गति होगी; संन्यासपूर्वक ज्ञाननिष्ठा उसकी कैसी हो सकती हैं ?

उत्तर—सविशेष निर्विशेष बोधक वेदान्तवाक्य द्वारा आत्मश्रवण करने पर संशय होना स्वाभाविक है क्योंकि अपौरुषेय दोनों वाक्यों में प्रामाण्य समान है, विरुद्धधर्मद्वयविशिष्ट एक धर्मी हो नहीं सकता; अन्यथा विरोध ही लुप्त हो जायगा। संशयनिवृत्ति के लिये मनन का विधान 'मन्तव्य' इस श्रुति से किया गया है। 'मनन' अनुमानात्मक है कुसुमाञ्जलि में 'न्यायचर्चेयमीशस्य मननव्यपदेशभाक् उपासनैव क्रियते श्रवणानन्तरागता इत्यादि स्पष्ट है' न्याय पंचावयव वाक्य है 'प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनान्यवयवा' इत्यादि अन्यत्र विस्तर है, मनन से संशयनिवृत्ति होती है, इस अभिप्राय से कहते हैं, लब्धश्रवणमननफल से लब्धं 'श्रावणमननयोः फलं' येन स ईदृश पुरुष के सब असंभावनाओं से शून्य होने पर भी विपरीतभावनावान् हो सकता है, अतः वही प्रतिबन्धक हो जायगी, अतः जीवात्मपरमात्मैक्यसाक्षात्कार नहीं होगा, अतः निदिध्यासन कहते हैं यह भाव है, तत्त्वमसीत्यादिवाक्य से विहित जीवब्रह्माभेदसात्क्षात्कार में असंभावनाज्ञान और विपरीतभावनाज्ञान प्रतिबन्धक है। संशयमूलक असंभावनाज्ञान की निवृत्ति मनन से होती है, विरुद्धधर्मविशिष्ट का अभेद बाधित है, सर्वज्ञत्वकिंचिज्ज्ञत्वादि विरुद्धधर्मविशिष्ट जीवब्रह्म का अभेद घटपटाभेद के समान बाधित है तथा

स्वस्वामी का अभेद जैसे असंभव है वैसे ही जीवेश्वर का भी इस विपरीतभावना की निवृत्ति के लिए निदिध्यासन की निदिध्यासितव्य से विधान है, निदिध्यासन प्रत्ययैकतानतारूप ध्यानापरपर्याय है, 'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्यजन्यज्ञान का निरन्तर चिन्तन करने से विपरीतभावनारूप प्रतिबन्धक की निवृत्ति से अप्रतिबद्ध उक्त वाक्य अभेदसाक्षात्कार का जनक होता है।

प्रश्न—उक्त वाक्य में तदभेद साक्षात्कार जनक सामर्थ्य है या नहीं, यदि है तो सकृत् श्रुत वाक्यार्थज्ञान ही तदुत्पादक हो सकता है, पुनः उसकी आवृत्ति धारा ही व्यर्थ है, द्वितीय पक्ष में पूर्व ज्ञान तदुत्तरोत्तर ज्ञान भी अविशेष से जनक नहीं हो सकते अतः निदिध्यासन व्यर्थ है यदि कहिए कि एक एक ज्ञान में उक्त ज्ञान-जनकत्व नहीं है किन्तु तत्समुदाय में है तो यह भी ठीक नहीं क्षणिक ज्ञानों का तावत्समुदाय एक समय में रही नहीं सकता तो उक्तसमुदाय उक्त ज्ञान का कारण कैसे होगा ?

उत्तर—ठीक है विपरीतभावना अनादिकालपरंपरापरिप्राप्त प्रचुर है यद्यपि वे स्वरूप से नहीं हैं किन्तु उनकी वासनायें हैं ही जबतक वासनायें रहेंगी तब तक विपरीत ज्ञान प्रतिबन्धक स्वरूप होते रहेंगे, अतः एक एक वासना की निवृत्ति के लिये एक एक उक्त वाक्यार्थ ज्ञान तद्वासना की आवश्यकता है सर्वफलविपरीत ज्ञानवासना की निवृत्ति के बाद सकृत् श्रुत उक्त वाक्य अप्रतिबद्ध होकर उक्ताभेद साक्षात्कारजनक होता है इत्यादि विशेष मत्कृत बृहदारण्यकवार्तिकसार की भाषा टीका में देखिये—इस अभिप्राय से कहते हैं सर्वप्रतिबन्धापगमादित्यादि मनन से असंभावना निदिध्यासन से विपरीतभावनारूप प्रतिबन्ध निवृत्ति होने से सर्वप्रतिबन्धापगम स्फुट है इति दिक्।

सन्यासपूर्वक ज्ञाननिष्ठा कैसी हो सकती है इसका उत्तर ब्रह्मणीतिसे है यथा सुभृत्य स्वार्थ त्यागकर केवल स्वामिगत फल के लिये कर्म करता है तथा फल में संग तदभिलाष का त्यागकर ईश्वरार्थ कर्म जो करता है इस अभिप्राय से लौकिक वा वैदिक जो करता है वह पाप तथा पुण्य एव सुभयात्मक कर्म से लिप्त नहीं होता। इसमें अनुरूप दृष्टान्त कहते हैं पद्मपत्र कमल के पत्ते में पानी छोड़ने पर भी पानी उसमें सटता नहीं बिन्दु होकर निकल जाता है वह पूर्ववत् रहता है जलार्द्र नहीं होता, पत्रान्तर या वस्त्रादि जैसे भीगते हैं वैसा वह भीगता नहीं कारण उसमें जल ठहरता ही नहीं अतः तद्गुणाधान नहीं होता एवं अज्ञानी भी उक्त प्रकार से कर्मलिप्त नहीं होता भगवदर्पण बुद्धि से कर्म करता है, इसलिये उन कर्मों से उसकी अन्तःकरण की शुद्धि होती है, इस प्रकार के कृत कर्मों का फल अन्तःकरणशुद्धि ही है ॥ १० ॥

म० टी०--तदेव विवृणोति--

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि ।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वाऽऽत्मशुद्धये ॥ ११ ॥

इसलिये निष्काम कर्मयोगी ममत्वबुद्धिरहित केवल इन्द्रिय, मन, बुद्धि और शरीर द्वारा भी आसक्ति को त्यागकर अन्तःकरणकी शुद्धि के लिये कर्म करते हैं ॥ ११ ॥

कायेन मनसा बुद्ध्येन्द्रियैरपि योगिनः कर्मिणः फलसङ्गं त्यक्त्वा कर्म कुर्वन्ति । कायादीनां सर्वेषां विशेषणं केवलैरिति । ईश्वरायैव करोमि न मम फलायेति ममताशून्यैरित्यर्थः । आत्मशुद्धये चित्तशुद्ध्यर्थम् ॥ ११ ॥

इसी का विवरण करते हैं कायेनेत्यादि से ।

शरीर मन और बुद्धीन्द्रियों से कर्मी योगी फलेच्छा त्यागकर कर्म करते हैं शरीरादि सबों का विशेषण है 'केवलैः' यह । केवल शरीर, केवल मन, केवल इन्द्रियों से ईश्वरार्थ कर्म करता हूं अपने फल के लिये नहीं इस प्रकार ममताशून्य होकर कर्म करने से अन्तःकरण शुद्ध होता है, फलेच्छुक होने पर वह कर्म आत्मकर्तृक भी हो जायगा । केवल कायादिकर्तृक नहीं इसलिये केवल विशेषण है यहां आत्मशब्द चित्तपरक है, चित्तशुद्ध्यर्थ कर्म होता है, वस्तुतः आत्मा तो सदा शुद्ध ही है, कभी अशुद्ध होता ही नहीं 'वृत्तिसारूप्यमितरत्र' इस योगसूत्र के अनुसार जैसा चित्त संनिहित होता है वैसा ही आत्मा प्रतीत होता है अतः तुम भी युक्त होकर करो, इस प्रकार कर्म से बन्ध की शङ्का नहीं यह भगवान का अभिप्राय है ॥ ११ ॥

म० टी०--कर्तृत्वाभिमानसाम्येऽपि तेनैव कर्मणा कश्चिन्मुच्यते कश्चित्तु बध्यत इति वैषम्ये को हेतुरिति तत्राऽऽह--

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम् ।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ॥ १२ ॥

इसी से निष्काम कर्मयोगी कर्मोंके फलको परमेश्वरके अर्पण करके भगवत्प्राप्तिरूप शान्तिको प्राप्त होता है और सकामी पुरुष फलमें आसक्त हुआ कामनाके द्वारा बंधता है, इसलिये निष्काम कर्मयोग उत्तम है ॥ १२ ॥

प्रश्न—कर्तृत्वाभिमान समान होने पर भी उसी कर्म से कोई मुक्त होता है कोई बद्ध होता है इस वैषम्यमें क्या कारण ?

युक्त ईश्वरायैवैतानि कर्माणि न मम फलायेत्येवमभिप्रायवान्कर्मफलं त्यक्त्वा कर्माणि कुर्वञ्शान्तिं मोक्षाख्यामाप्नोति नैष्ठिकीं सत्त्वशुद्धिनित्यानित्यवस्तुविवेकसंन्यासज्ञाननिष्ठाक्रमेण जातामिति यावत् । यस्तु पुनरयुक्त ईश्वरायैवैतानि कर्माणि न मम फलायेत्यभिप्रायशून्यः स कामकारेण कामतः प्रवृत्त्या मम फलायैवेदं कर्म करोमीति फले सक्तो निबध्यते कर्मभिर्नितरां संसारबन्धं प्राप्नोति । यस्मादेवं तस्मात्त्वमपि युक्तः सन्कर्माणि कुर्विति वाक्यशेषः॥ १२॥

उत्तर—युक्त इत्यादि । ईश्वरार्थ ही ये कर्म हैं मेरे फल के लिये नहीं, एतदाशयवान् कर्मफल का त्यागकर कर्मों को करता हुआ मोक्षनामक शान्ति को प्राप्त करता है, यही नैष्ठिक शान्ति है । मुक्त को फिर अशान्ति कभी नहीं होती अतः मोक्ष ही शान्ति है । यह शान्ति साक्षात् कर्मानुष्ठानमात्र से नहीं होती, किन्तु सत्त्वशुद्धिनित्यानित्यवस्तुविवेकसंन्यासज्ञाननिष्ठाक्रम से ही होती है, अन्यथा कर्मजन्य होने पर अनित्य हो जायगी। मोक्षहेतुज्ञानसाधनोत्पत्तिक्रम से ज्ञानोत्पन्न होने पर है, जो अयुक्त है, ईश्वरार्थ ही ये कर्म हैं मेरे फल के लिये नहीं इस भाव से शून्य कामकारतःतत्फलेच्छा अपने फल के लिये इन कामों को करता हूं इस प्रकार फल में जो आसक्त हैं वह कर्मोंसे बद्ध होता है निउपसर्ग से नियतत्व बन्ध में सूचित किया गया है अतः 'बध्यते' न कहकर 'निबध्यते' कहा संसार के विना सांसारिक फल नहीं मिल सकता सांसारिक फल कामियों को संसारबन्धन आवश्यक ही है यत एवं ततः यदि ऐसा है तो तुम भी युक्त ही कर्मों को करो बन्धन का भय इस प्रकार से नहीं यह वाक्यशेष है पूर्व वाक्यको पर्यवसितार्थ करने के लिए इतना और जोड़ देना चाहिए ॥ १२ ॥

म० टी०—अशुद्धचित्तस्य केवलात्संन्यासात्कर्मयोगः श्रेयानिति पूर्वोक्तं प्रपञ्च्याधुना शुद्धचित्तस्य सर्वकर्मसंन्यास एव श्रेयानित्याह—

सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्याऽऽस्ते सुखं वशी ।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन् ॥ १३ ॥

और हे अर्जुन ! वशमें अन्तःकरण जिसके ऐसा सांख्ययोगका आचरण करनेवाला पुरुष तो, निःसन्देह न करता हुआ और न करवाता हुआ नवद्वारोंवाले शरीररूप घरमें सब कर्मोंको मनसे त्यागकर अर्थात् इन्द्रियां इन्द्रियोंके अर्थोंमें वर्तती हैं ऐसे मानता हुआ, आनन्दपूर्वक सच्चिदानन्दघन परमात्माके स्वरूपमें स्थित रहता है ॥ १३ ॥

नित्यं नैमित्तिकं काम्यं प्रतिषिद्धं चेति सर्वाणि कर्माणि मनसा 'कर्मण्यकर्म यः पश्येदि' त्यत्रोक्तेनाकर्त्रात्मस्वरूपसम्यग्दर्शनेन संन्यस्य परित्यज्य प्रारब्धकर्मवशादास्ते तिष्ठत्येव । किं दुःखेन नेत्याह—सुखमनायासेन, आयासहेतुकायवाङ्मनोव्यापारशून्यत्वात् । कायवाङ्मनांसि स्वच्छन्दानि कुतो न व्याप्रियन्ते तत्राऽऽह—वशी स्ववशीकृतकार्यकरणसंघातः । क्वाऽऽस्ते नवद्वारे पुरे द्वे श्रोत्रं द्वे चक्षुषी द्वे नासिके वागेकेति शिरसि सप्त द्वे पायूपस्थाख्ये अध इति नवद्वारविशिष्टे देहे देही देहभिन्नात्मदर्शी प्रवासीव परगेहे तत्पूजापरिभवादिभिरप्रहृष्यन्नविषीदन्नहंकारममकारशून्यस्तिष्ठति । अज्ञो हि देहतादात्म्याभिमानाद्देह एव न तु देही । स च देहाधिकरणमेवाऽऽत्मनोऽधिकरणं मन्यमानो गृहे भूमावासने वाऽहमास इत्यभिमन्यते न तु देहेऽहमास इति भेददर्शनाभावात् । संघातव्यतिरिक्तात्मदर्शी तु सर्वकर्मसंन्यासी भेददर्शनाद्देहेऽहमास इति प्रतिपद्यते । अत एव देहादिव्यापाराणामविद्ययाऽऽत्मन्यक्रिये समारोपितानां विद्यया बाध एव सर्वकर्मसंन्यास इत्युच्यते । एतस्मादेवाज्ञवैलक्षण्याद्युक्तं विशेषणं नवद्वारे पुर आस्त इति । ननु देहादिव्यापाराणामात्मन्यारोपितानां नौव्यापाराणां तीरस्थवृक्ष इव विद्यया बाधेऽपि स्वव्यापारेणाऽऽत्मनः कर्तृत्वं देहादिव्यापारेषु कारयितृत्वं च स्यादिति नेत्याह—नैव कुर्वन्न कारयन्, आस्त इति संबन्धः ॥ १३ ॥

अशुद्ध चित्त वाले को केवल संन्यास से कर्मयोग ही अतिश्रेष्ट है यह पूर्वोक्त का विस्तार से निरूपण कर अब शुद्धचित्त को सब कर्मो का त्याग ही अति उत्तम है यह कहते हैं सर्वकर्माणीत्यादि से । नित्य नैमित्तिक काम्य और प्रतिषिद्ध ये ही सब कर्म है इनका मनसे कर्म में अकर्म देखता इस प्रकार पूर्वकथनानुसार आत्मा वस्तुतः कर्त्ता नहीं है अकर्तृस्वरूपात्मसमीचीनज्ञान से त्यागकर कर्म वश से केवल स्थित रहता है ।

प्रश्न—क्या दुःख में जीवनयापन करता है ?

उत्तर—सुख से अनायास से आयास श्रम कहाता है अजितेन्द्रियोंको इन्द्रिय विषयों के संग्रहादिमें आयास करना आवश्यक है इसीको स्फुट करते हैं आयास हेतु कायिक वाचिक मानसिक व्यापार रहित होने से आयास की क्या संभावना ?

प्रश्न—वाक् का और मन स्वतंत्र स्वयं क्यों नहीं प्रवृत्त होते ?

उत्तर—वे स्वतन्त्र हुई नहीं शरीरेन्द्रियादि को अपने वश में कर लिया है।

प्रश्न—सुख से कहां रहता है नौ द्वार वाले नगर में नौ द्वार कौन है ?

उत्तर—दो कान दो आंख दो नाक एक वाक् सातवा शिर और दो पायूपस्थ दिशापिसा व की इन्द्रियां देही देह से भिन्न आत्मा के जानने वाला यथा दूसरे के गृह में विदेशी रहता है गृहस्वामी की आदर से न प्रसन्न होता है न निरादरसे अप्रसन्न अहंकार ममकार से रहित केवल रहता है अज्ञ पुरुष देहतादात्म्याभिमान से देहस्वरूप ही आत्मा को जानता है अतएव अहं गौरः कृश इत्यादि प्रतीतोतियां को यथार्थ मानता है अत एव वह देह के अधिकरण को अपना अधिकरण मानता है गृह में आसन पर भूमिपर हर जगह देह रहता है वहीं अपना अधिकरण समझकर 'घर में हैं आसन पर हम हैं' इत्यादि प्रयोग करता है यह नहीं कहता कि हम देहमें है कारण भेदज्ञानाभाव है देह से भिन्न आत्माको जानता नहीं फिर कहें कैसे देहादिसमुदाय से आत्मा अतिरिक्त है यह जानने वाला भिन्न दर्शी तो सर्व कर्म त्यागी अत एव देह में हम हैं ऐसा जानता है अत एव देहादि व्यापारों को अक्रिय क्रियाशून्य आत्मामें अज्ञान से आरोपितों का विद्या से वाध ही कर्मसंन्यास का हाता है इसी अज्ञ वैलक्षण्य से ठीक विशेषण है नवद्वार पुरमें रहता है।

प्रश्न—यथा तीरस्थ वृक्षों में नौकास्थित चलन व्यापार को वृक्ष में आरोप करता है तथा आत्मा में आरोपित देहादि व्यापारों का विद्या से वाध होनेपर भी अपने व्यापार से आत्मा में कर्तृत्व तथा देहादि व्यापार से कारयितृत्व हो सकता है देहादि व्यापार से आत्मा न हो निजव्यापार से कर्ता कारयिता होने में क्या आपत्ति ?

उत्तर—नहीं न वह करता है न कारयिता है कूटस्थ चैतन्य में क्रिया का सम्भव नहीं 'आस्ते' का सम्बन्ध कर लेना चाहिये ॥ १३ ॥

म० टी०—देवदत्तस्य स्वगतैव गतिर्यथा स्थितौ सत्यां न भवति एवमात्मनोऽपि कर्तृत्वं कारयितृत्वं च स्वगतमेव स तत्संन्यासे सति न भवति अथवा नभसि तलमलिनतादिवद्वस्तुवृत्त्या तत्र नास्त्येवेति संदेहापोहायाऽऽह—

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥ १४ ॥

और परमेश्वर भी भूतप्राणियोंके न कर्तापनको और न कर्मोंको तथा न कर्मोंके फल के संयोगको वास्तवमें रचता है, किन्तु परमात्माके सकाशसे प्रकृति ही वर्तती है, अर्थात् गुण ही गुणोंमें वर्त रहे हैं ॥ १४ ॥

लोकस्य देहादेः कर्तृत्वं प्रभुरात्मा स्वामी न सृजति त्वं कुर्विति नियोगेन तस्य कारयिता न भवतीत्यर्थः। नापि लोकस्य कर्माणीप्सिततमानि घटादीनि स्वयं सृजति कर्ताऽपि न भवतीत्यर्थः। नापि लोकस्य कर्म कृतवतस्तत्फलसंबन्धं सृजति भोजयिताऽपि भोक्ताऽपि न भवतीत्यर्थः। "स समानः सन्नुभौ लोकावनुसंचरति ध्यायतीव लेलायतीव सुधीः" इत्यादिश्रुतेः। अत्रापि "शरीरस्थोऽपि कौन्तेय! न करोति न लिप्यते" इत्युक्तेः, यदि किंचिदपि स्वतो न कारयति न करोति चाऽऽत्मा कस्तर्हि कारयन्कुर्वंश्च प्रवर्तत इति तत्राऽऽह—स्वभावस्तु, अज्ञानात्मिका दैवी माया प्रकृतिः प्रवर्तते ॥ १४ ॥

देवदत्त में वस्तुतः गति रहती है खड़े होने पर निवृत्त हो जाती है एवं आत्मा में भी कर्तृत्व कारयितृत्व वास्तविक मान कर उसी के संन्यास को सन्यास क्यों नहीं कहते अथवा आकाश में नीलिमा के समान वास्तविक कर्तृत्वादि आत्मा में नहीं है इस सन्देह निवृत्ति के लिये कहते हैं तलमलिनता इन्द्रनीलमणिनिर्मितावाङ्मुखकटाहतलगतमालिन्य जो आकाश में प्रतीत होती है वह वस्तुतः उसमें नहीं है लोक देह का प्रभु आत्मा कर्तृत्व का सर्जन नहीं करता तू कर्म कर ऐसी प्रेरणा नहीं करता जिससे वह कारयिता कहा जाय और न लोक के कर्म इष्टतम घटपटादि स्वयं करता है अतः कर्ता ही नहीं है कर्म करने वाले लोक का कर्ता के साथ हमारा कर्मके फल सबन्धकी सृष्टि भी नहीं करता संबन्ध की भी सृष्टि नहीं करता भोजयिता भी नहीं है भोक्ता भी नहीं है "स समानः सन्नुभौ लोकौ अनुसञ्चरति ध्यायतीव लेलायतीव सुधीः" यह श्रुति है गीता में भी कहा है, शरीरस्थोऽपि कौन्तेय! न करोति न लिप्यते' इति।

प्रश्न—यदि आत्मा स्वयं कुछ नहीं कराता न कर्ता है तो फिर कौन कराता कर्त्ता है?

उत्तर—इसका स्वभाव कराता कर्त्ता है अज्ञानस्वरूप दैवी माया प्रकृति स्वभाव है वही प्रकृति करती कराती है ॥ १४ ॥

नाऽऽदत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः ।
अज्ञानेनाऽऽवृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥ १५ ॥

और सर्वव्यापी परमात्मा, न किसीके पापकर्मको और न किसीके शुभकर्मको भी ग्रहण करता है, किन्तु मायाके द्वारा ढका हुआ है, इससे सब जीव मोहित हो रहे हैं ॥ १५ ॥

म० टी०—नन्वीश्वरः कारयिता जीवः कर्ता, तथा च श्रुतिः—"एष उ ह्येव साधु कर्म कारयति तं यमुन्निनीषते । एष उ एव साधु कर्म कारयति तं यमधो निनीषते," इत्यादिः । स्मृतिश्च—

"अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः ।
ईश्वरप्रेरितो गच्छेत्स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा" इति ॥

तथा च जीवेश्वरयोः कर्तृत्वकारयितृत्वाभ्यां भोक्तृत्वभोजयितृत्वाभ्यां च पापपुण्यलेपसंभवात्कथमुक्तं स्वभावस्तु प्रवर्तत इति तत्राऽऽह परमार्थतः—'नादत्ते' इति ।

विभुः परमेश्वरः कस्यचिज्जीवस्य पापं सुकृतं च नैवाऽऽदत्ते परमार्थतो जीवस्य कर्तृत्वाभावात्परमेश्वरस्य च कारयितृत्वाभावात् । कथं तर्हि श्रुतिः स्मृतिर्लोकव्यवहारश्च तत्राऽऽह—अज्ञानेनाऽऽवरणविक्षेपशक्तिमता मायाख्येना-

प्रश्न—ईश्वर कारयिता है 'तं एभ्यो लोकेभ्यः' श्रुति भी ऐसी ही कहती है उससे व साधु कर्म कारयिता से यमुन्निनीषते इत्यादि 'अज्ञो जन्तुरनीशोऽय' मित्यादि एतदर्थक स्मृति भी है ऐसी स्थिति में जीव कर्ता ईश्वर कारयिता जीव भोक्ता ईश्वर भोजयिता मानने से पुण्य पाप के संसर्ग का संभव है फिर कैसे कहते हैं स्वभाव ही प्रवृत्त कराता कर्त्ता है ?

उत्तर—परमार्थतः यह है 'नादत्ते' इत्यादि विभु परमेश्वर किसी भी जीव का पाप पुण्य नही लेता कारण तत्त्वतः जीव कर्त्ता ही नहीं है परमेश्वर भी वस्तुतः कारयिता नही कर्त्ता तत्त्वतः कोई हो तो कारयिता भी वास्तविक हो सकता है, प्रकृत में सो है नही ।

प्रश्न—तो उक्त श्रुति स्मृति और लोक व्यवहार इस विषय का कैसे संगत होगा ?

उत्तर—आवरणविक्षेपशक्तिशाली माया नामक अज्ञान तम से आच्छादित आवृत ज्ञान जीवेश्वरजगद्भेदभ्रमाधिष्ठानभूतनित्यत्वप्रकाशचिदानन्दस्वरूप

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ॥ १६ ॥

परन्तु जिनका वह अन्तःकरणका अज्ञान आत्मज्ञानद्वारा नाश हो गया है, उनका वह ज्ञान सूर्यके सदृश उस सच्चिदानन्दघन परमात्माको प्रकाशता है, अर्थात् परमात्माके स्वरूपको साक्षात् करता है ॥ १६ ॥

नृतेन तमसाऽऽवृतमाच्छादितं ज्ञानं जीवेश्वरजगद्भेदभ्रमाधिष्ठानभूतं नित्यं स्वप्रकाशं सच्चिदानन्दरूपमद्वितीयं परमार्थसत्यं, तेन स्वरूपावरणेन मुह्यन्ति प्रमातृप्रमेयप्रमाणकर्तृकर्मकरणभोक्तृभोग्यभोगाख्यनवविधसंसाररूपं मोहमतस्मिंस्तदवभासरूपं विक्षेपं गच्छन्ति जन्तवो जननशीलाः संसारिणो वस्तुस्वरूपादर्शिनः । अकर्त्रभोक्तृपरमानन्दाद्वितीयात्मस्वरूपादर्शननिबन्धनोऽयं जीवेश्वरजगद्भेदभ्रमः प्रतीयमानो वर्तते मूढानाम् । तस्यां चावस्थायां मूढप्रत्ययानुवादिन्यावेते श्रुतिस्मृती वास्तवाद्वैतबोधिवाक्यशेषभूते इति न दोषः ॥ १५ ॥

अद्वितीयपरमार्थसत् इस स्वरूपावरण से प्रजा मुग्ध होती है। अर्थात् 'एक मेवाद्वितीयं ब्रह्म' इत्यादि श्रुतियों से उक्त ज्ञानस्वरूप आत्मा एक ही परमार्थ सत् है माया से जब उक्त स्वरूप आत्मा आवृत हो जाता है तो उसी में जीवेश्वर भेद कल्पना समस्त चराचर जगत् की कल्पना होती है निरधिष्ठान कल्पना नहीं होती कल्पित अधिष्ठान हो नहीं सकता कारण कल्पना से पूर्व कल्पित नहीं है इसलिये वह कल्पना का अधिष्ठान नहीं हो सकता अतः स्वप्रकाश सदा सिद्ध स्वरूप आत्मा ही कल्पित निखिल जगत्का अधिष्ठान है उक्त कल्पनानुसार प्रमातृ प्रमाण प्रमेय कर्तृ कर्म करण भोक्तृ भोग्य भोग इस प्रकार नवविध संसार रूप मोह विपर्यय अतस्मिन् तदवभासरूप रजत भिन्न शक्ति शकल में रजत ज्ञान के समान मोहरूप विक्षेप को प्राप्त होते हैं। अतः जननशील संसारी वस्तु के यथार्थ ज्ञान से शून्य रहते हैं अकर्ता अभोक्ता परमानन्द अद्वितीय आत्मस्वरूप के अज्ञान से ही यह जीवेश्वरादि जगद्विभ्रम मूढ़ों को रहता है उस अवस्था में मूढ पुरुषों के विद्यमान के अनुवाद करने वाली उक्त श्रुति स्मृत्यादि है वस्तुतः अद्वैतबोधि वाक्य के शेषभूत है अतः प्रकृति में कोई दोष नहीं ॥ १५ ॥

म० टी०—तर्हि सर्वेषामनाद्यज्ञानावृतत्वात्कथं संसारनिवृत्तिः स्यादत आह—'ज्ञानेन' इति ।

तदावरणविक्षेपशक्तिमदनाद्यनिर्वाच्यमनृतमनर्थव्रातमूलमज्ञानमात्माश्रयविषयमविद्यामायादिशब्दवाच्यमात्मनो ज्ञानेन गुरूपदिष्टवेदान्तमहावाक्यजन्येन श्रवणमनननिदिध्यासनपरिपाकनिर्मलान्तःकरणवृत्तिरूपेण निर्विकल्पकसाक्षात्कारेण शोधिततत्त्वंपदार्थाभेदरूपशुद्धसच्चिदानन्दाखण्डैकरसवस्तुमात्रविषयेण नाशितं बाधितं कालत्रयेऽप्यसदेवासत्तया ज्ञातमधिष्ठानचैतन्यमात्रतां प्रापितं

प्रश्न—अच्छा तो अनादि अज्ञान से सब आवृत ही हैं फिर संसार निवृत्ति कैसे होगी ?

उत्तर—ज्ञानेनेत्यादि । ज्ञानावरण विक्षेप दो प्रकार की शक्तियां अज्ञान में होती हैं आवरण शक्ति से अधिष्ठान के विशेषांशका आवरण और विक्षेप शक्ति से पदार्थान्तर का आरोप भ्रम से होता है शुक्तित्व विशेष का आवरण और रजत का आरोप शुक्त्यज्ञान से होता है यह लोक में प्रसिद्ध है, एवं आत्मज्ञान में वर्तमान आवरण शक्ति से स्वप्रकाशचैतन्याद्वितीयानन्दस्वरूप के आनन्दादि कल्पित विशेषांश का आवरण और विक्षेप शक्ति से जीवेश्वरादिभेद आरोपित होता है इस अर्थ को प्रौढ रचना से कहते हैं आवरणविक्षेपशक्तिद्वयशाली अनादि सदसदादि विलक्षण अनृत अनर्थ समुदाय का मूल आत्मा में रहने वाला और आत्मविषयका अविद्यामायादिपर्याय अज्ञान आत्मा में रहता है ।

आश्रयत्वविषयत्वभागिनी निर्विभागचितिरेव केवला ।
पूर्वसिद्धतमसो हि पश्चिमो नाश्रयो भवति नापि गोचरः ॥

यह संक्षेप शारीरक का मत है इसके अनुसार अज्ञान ब्रह्माश्रय और ब्रह्मविषयक है वाचस्पति मिश्र के मत में जीवाश्रित जीवविषयक है ज्ञान अधिष्ठान कहने से ज्ञानस्वरूप जीवात्मा परमात्मा दोनों हैं किमाश्रय विषयक अज्ञान है सके इस्फुटकरने के लिये ज्ञानमें अग्रिमविशेषण है नित्य स्वप्रकाश भी दोनों हैं इनसे बौद्धनैयायिकाभिमत आत्मस्वरूपका व्यवच्छेद होता है 'सच्चिदानन्दरूपं' परमार्थ सत्य सच्चिदानन्दरूपसे और द्वितोयसे भागवताभिमत आत्मस्वरूपका व्यवच्छेद है वे आनन्दवान् और सद्वितीय आत्मा मानते हैं यह पूर्व श्लोकमें कहचुके हैं उक्त अज्ञान गुरूपदिष्टतत्त्वमस्यादिवेदान्तमहावाक्यजन्यश्रवणमनननिदिध्यासनाभ्यासातिशयसे निर्मलपरिशुद्धान्तःकरणवृत्तिरूप अतएव निर्विकल्पक साक्षात्कार शोधित तत्त्वंपदार्थाभेदरूप सच्चिदानन्दाखण्डैकरस वस्तुमात्रविषयक ज्ञान से नष्ट बाधित होता है भूत भविष्यत् वर्तमान तीनों कालों में असत् ही असत्स्वरूप से ज्ञात अधिष्ठान चैतन्यमात्र स्वरूपताको प्राप्त किया जाता है ।

शुक्ताविव रजतं शुक्तिज्ञानेन येषां श्रवणमननादिसाधनसंपन्नानां भगवदनुगृहीतानां मुमुक्षूणां तेषां तज्ज्ञानं कर्तृ आदित्यवत्, यथाऽऽदित्यः स्वोदयमात्रेणैव तमो निरवशेषं निवर्तयति न तु कंचित्सहायमपेक्षते तथा ब्रह्मज्ञानमपि शुद्धसत्त्वपरिणामत्वाद्व्यापकप्रकाशरूपं स्वोत्पत्तिमात्रेणैव सहकार्यन्तरनिरपेक्षतया सकार्यमज्ञानं निवर्तयेत्परं सत्यज्ञानानन्तानन्दरूपमेकमेवाद्वितीयं परमात्मतत्त्वं प्रकाशयति प्रतिच्छायाग्रहणमात्रेणैव कर्मतामन्तरेणाभिव्यनक्ति।

'अधिष्ठानावशेषो हि नाशः कल्पितवस्तुनः'

इस वचन के अनुसार कल्पित वस्तुका बाध अधिष्ठान स्वरूप होता है। जैसे शुक्ति में रजत शुक्तिज्ञान से बाधित होकर शुक्तिरूप ही रजत था, अतिरिक्त नहीं; श्रवणमननादि तत्त्वज्ञानोत्पत्तिसाधनसम्पन्न भगवान्के दयापात्र मुमुक्षुओं का ज्ञान यहीं 'प्रकाशयति' क्रियाका कर्ता है इसमें दृष्टान्त 'आदित्यवत्' है। जैसे आदित्य स्वकीय उदय मात्र से संपूर्ण अन्धकार निवृत्त करता है, कुछ वाकी नहीं छोड़ता और तन्निवृत्ति में स्वोदय से अतिरिक्त की कुछभी सहायता की अपेक्षा नहीं करता; वैसे ब्रह्मज्ञान भी शब्दसत्त्वगुण का परिणाम होने से व्यापक प्रकाशरूप स्वोत्पत्तिमात्र से सहकारि कारणान्तर का व्यवच्छेदक है अति स्पष्ट है। सहकारि कारणान्तर निरपेक्ष भी कक्षा कार्यके साथ अज्ञान की निवृत्ति करता हुआ परमात्मज्ञानानन्दस्वरूप एक अद्वितीय परमात्मतत्त्वका प्रकाश करता है।

प्रश्न—शुद्ध आत्मा तो अविषय है, फिर वह घटादिवत् ज्ञान का कर्म कैसे होगा? ज्ञान स्वस्वरूपातिरिक्त को विषयविधया ही प्रकाशित करता है।

उत्तर—ठीक है, ज्ञान का कर्म आत्मा नहीं है, फिर भी अन्तःकरण अति शुद्ध होने से उसमें आत्माका प्रतिबिम्ब पड़ता है, तद्विशिष्ट जडात्मक वृत्ति अविषय स्वरूपके सदृश तादृश चैतन्य को अभिव्यक्त करती है।

प्रश्न—शुद्धचैतन्य से अनाश्य अतएव तदावरक अज्ञान तत्प्रतिबिम्ब विशिष्टवृत्ति से कैसे नष्ट होगा? क्या बिम्ब की अपेक्षा प्रतिबिम्ब में विशेष अतिशय है?

उत्तर—बिम्ब अज्ञान का साधक है, अतः वह बाधक नहीं हो सकता। प्रतिबिम्बविशिष्ट वृत्ति तन्नाशक होती है यह लोकमें दृष्टचर है। जैसे सूर्य के आलोक से तृण रुई भस्म नहीं होती, सीसा में सूर्य प्रतिबिम्बसे वह भस्म होती है, वैसेही शुद्ध से अज्ञान का नाश न होने परभी तत्प्रतिबिम्ब विशिष्ट वृत्ति से समूल समस्त अज्ञान का

अत्राज्ञानेनाऽऽवृतं ज्ञानेन नाशितमित्यज्ञानस्याऽऽवरणत्वज्ञाननाश्यत्वाभ्यां ज्ञानाभावरूपतत्त्वं व्यावर्तितम्। न ह्यभावः किंचिदावृणोति न वा ज्ञानाभावो ज्ञानेन नाश्यते स्वभावतो नाशरूपत्वात्तस्य। तस्मादहमज्ञो मामन्यं च न जानामीत्यादिसाक्षिप्रत्यक्षसिद्धं भावरूपमेवाज्ञानमिति भगवतो मतम्। विस्तरस्त्वद्वैतसिद्धौ द्रष्टव्यः। येषामिति बहुवचनेनानियमो दर्शितः। तथाच श्रुतिः—"तद्यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत्तथर्षीणां तथा मनुष्याणां तदिदमप्येतर्हि य एवं वेदाहं ब्रह्मास्मीति स इदं सर्वं भवति" इत्यादिर्यद्विषयं यदाश्रयमज्ञानं तद्विषयतदाश्रयप्रमाणज्ञानात्तन्निवृत्तिरिति न्यायप्राप्तमनियमं दर्शयति। तत्राज्ञानगतमावरणं द्विविधम्—एकं सतोऽप्यसत्त्वापादकमन्यत्तु भातोऽप्यभानापादकम्। तत्राऽऽद्यं परोक्षापरोक्षसाधारणज्ञानमात्रान्निवर्तते। अनुमितेऽपि वह्न्यादौ पर्वते वह्निर्नास्तीत्यादिभ्रमादर्शनात्। तथा "सत्यं

नाश होता है, इसमें आश्चर्य ही क्या? अज्ञानसे ज्ञान आवृत होता है, ज्ञान से उस आवरण का नाश होता है; इस कथन से अज्ञानमें आवरकत्वज्ञाननाश्यत्व इन दोनों विशेषणों से अज्ञान नैयायिकाभिमत ज्ञानाभाव स्वरूप हैं, इसकी व्यावृत्ति की गई है, अर्थात् भावाभावविलक्षण अनिर्वचनीय है क्योंकि अभाव किसी का आवरण नहीं करता और न ज्ञानाभावका ज्ञान नाश ही करता है। स्वभाव से ही वह नाशस्वरूप है, अतः मैं अज्ञ हूं, मैं अपने को और अन्यको नहीं जानता हूँ; इत्यादि साक्षिप्रत्यक्षसिद्ध भावाभावविलक्षण स्वरूप ही अज्ञान भगवान् को अभिमत है, इस से विस्तार,अद्वैत सिद्धि में देखिये। 'येषां' इस बहुवचन से देव मनुष्यादिका नियम नहीं है, इसी अर्थ का पोषक श्रुति है–'तद्योयो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत् तथर्षीणां तथा मनुष्याणां तदिदमप्येतर्हिय एवं वेद अहं ब्रह्मास्मीति स इदं सर्वं भवति इत्यादि।

यद्विषयकयदाश्रयकअज्ञान तद्विषयकतदाश्रयकप्रमाणज्ञान से निवृत्ति होती है यह न्यायप्राप्त नियम दिखलाते हैं। उसमें अज्ञानगत आवरण दो प्रकार का होता है। वस्तु रहने परभी तदसत्त्वापादक दूसरा भान होने पर भी अभानापादक, उसमें प्रथम परोक्षापरोक्ष साधारण है। प्रमाणज्ञानमात्र से उसकी निवृत्ति होती है। पर्वतादि में वह्निका अनुमान ज्ञान होने परभी पर्वत में अग्नि नहीं है यह भ्रम नहीं देखा जाता है; कारण परोक्ष वह्न्यनुमान प्रमाण ज्ञान से वह्न्यज्ञान का

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥ १७ ॥

और हे अर्जुन ! तद्रूप है बुद्धि जिनकी तथा तद्रूप है मन जिनका और उस सच्चिदानन्दघन परमात्मामें ही है निरन्तर एकीभावसे स्थिति जिनकी ऐसे तत्परायण पुरुष ज्ञान के द्वारा पापरहित हुए अपुनरावृत्तिको अर्थात् परमगतिको प्राप्त होते हैं॥ १७॥

ज्ञानमनन्तं ब्रह्मास्ति" इति वाक्यात्परोक्षनिश्चयेऽपि ब्रह्म नास्तीति भ्रमो निवर्तत एव अस्त्येव ब्रह्म किं तु मम न भातीत्येकं भ्रमजनकं द्वितीयमभानावरणं साक्षात्कारादेव निवर्तते। स च साक्षात्कारो वेदान्तवाक्यनैव जन्यते निर्विकल्पक इत्याद्यद्वैतसिद्धावनुसंधेयम् ॥ १६ ॥

म० टी०—ज्ञानेन परमात्मतत्त्वप्रकाशे सति—तस्मिञ्ज्ञानप्रकाशिते परमात्मतत्त्वे सच्चिदानन्दघन एव बाह्यसर्वविषयपरित्यागेन साधनपरिपाकात्पर्यवसिता बुद्धिरन्तःकरणवृत्तिः साक्षात्कारलक्षणा येषां ते तद्बुद्धयः सर्वदा निर्बीजसमाधिभाज इत्यर्थः। तत्किं बोद्धारो जीवा बोद्धव्यं ब्रह्मतत्त्वमिति बोद्धृबोद्धव्यलक्षणभेदोऽस्ति नेत्याह—तदात्मानः, तदेव परं ब्रह्माऽऽत्मा येषां ते तथा। बोद्धृबोद्धव्यभावो हि मायाविजृम्भितो न

नाश होता है तथा 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' है, इस परोक्षवाक्यजन्य निश्चय होने पर भी ब्रह्म नहीं है यह भ्रम निवृत्त होता है ही, ब्रह्म है किन्तु हमारे भानमें नहीं आता, हमको उसका भान नहीं होता; यह एक भ्रम जनक द्वितीय अभानापादक आवरण है, इसका साक्षात्कार से ही निवृत्ति होती है, तदन्य परोक्षप्रमाणजन्य ज्ञान से नहीं वह साक्षात्कारवेदान्तवाक्य ही से होता है। निर्विकल्पस्वरूप निर्गतः विकल्पः गुणादि धर्मः यस्मात्' इस व्युत्पत्ति से चैतन्यव्यक्तिमात्रविषयकज्ञान निर्विकल्प कहा जाता है इत्यादि विस्तार अद्वैत सिद्धि में देखिये। ॥ १६ ॥

ज्ञान से प्रकाशित उस परमात्मतत्व में सच्चिदानन्दघनस्वरूप में ही बाह्य सब विषयों के परित्याग से साधनपरिपाक होता है, उससे पर्यवसित परिनिष्पन्न अन्तःकरणवृत्ति साक्षात्कार लक्षण जिनकी वे ही तद्बुद्धयः कहाते हैं। सदा निर्बीजसमाधि निरत रहते हैं, तो क्या बोद्धा समझने वाला जीव बोद्धव्य ब्रह्मतत्त्व यह बोद्धबोद्धव्य लक्षण भेद है नहीं, किन्तु 'तदात्मानः' व परब्रह्म है आत्मा जिनका वे तदात्मानः बोद्धबोद्धव्यभाव मायिक है, अतः वास्तविक जीव ब्रह्माभेदका बाधक नहीं यह भाव है।

वास्तवाभेदविरोधीति भावः । ननु तदात्मान इति विशेषणं व्यर्थम्। अविद्वद्व्यावर्तकं हि विद्वद्विशेषणम् । अज्ञा अपि हि वस्तुगत्या तदात्मान इति कथं तद्व्यावृत्तिरिति चेत्? न, इतरात्मत्वव्यावृत्तौ तात्पर्यात्। अज्ञा हि अनात्मभूते देहादावात्माभिमानिन इति न तदात्मान इति व्यपदिश्यन्ते। विज्ञास्तु निवृत्तदेहाद्यभिमाना इति विरोधिनिवृत्त्या तदात्मान इति युक्तं विशेषणम्। ननु कर्मानुष्ठानविक्षेपे सति कथं देहाद्यभिमाननिवृत्तिरिति तत्राऽऽह—तन्निष्ठाः, तस्मिन्नेव ब्रह्मणि सर्वकर्मानुष्ठानविक्षेपनिवृत्त्या निष्ठा स्थितिर्येषां ते तन्निष्ठाः, सर्वकर्मसंन्यासेन तदेकविचारपरा इत्यर्थः। फलरागे सति कथं तत्साधनभूतकर्मत्याग इति तत्राऽऽह—तत्परायणाः, तदेव परमयनं प्राप्तव्यं येषां ते तत्परायणाः, सर्वतो विरक्ता इत्यर्थः। अत्र तद्बुद्धय इत्यनेन साक्षात्कार उक्तः। तदात्मान

शंका—तदात्मानः यह विशेषण व्यर्थं है, क्योंकि सब जीव ब्रह्मस्वरूप ही है कोई जीव अब्रह्म स्वरूप होता तो उसकी व्यावृत्तिकर उक्त विशेषण सार्थक होता।

उत्तर—अविद्वान् के आत्मा की व्यावृत्ति के लिये उक्त विशेषण है। अज्ञात्मा भी तो ब्रह्म स्वरूप ही है फिर उनकी व्यावृत्ति कैसे ?

उत्तर—भिन्नात्म आवृत्ति में तात्पर्य है। अज्ञ लोग अनात्म आत्मभिन्न देहमें आत्माका अभिमाव करते हैं, इस कारण उनका तदात्मानः से व्यवहार नहीं होता। ज्ञानी तो निवृत्त देहा भिमान होने से विरोधिदेहाभिमान की निवृत्ति से, तदात्मानः से उनका व्यवहार होता है, अतः विशेषण ठीक है।

शंका—कर्म करने की अवस्था में साध्यसाधनेतिकर्त्तव्यताज्ञान से चित्त विक्षेप अवश्य होगा, उस समय 'तदात्मानः' कैसे होंगें ? देहाभिमान भी उस समय रहेगा ही।

उत्तर—'तन्निष्ठाः' उसी ब्रह्म में ही निष्ठा अखिल कर्मानुष्ठान विक्षेप की निवृत्तिसे निष्ठा की स्थिति है जिनकी वे 'तन्निष्ठा' हैं सब कर्मों को छोड़कर ब्रह्मैक विचारपरायण उसीके मननमें निरत हैं।

शंका—फल में अनुराग रहने पर उसका साधनकर्म का त्यागही कैसे होगा ?

उत्तर—'तत्परायणः' वही ब्रह्म पर उत्कृष्ट अयन प्राप्तव्य है जिनका वे तत्परायण हैं, सब प्रकार से विरक्त है यहां 'तद्बुद्धयः' से साक्षात्कार कहा है।

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥ १८ ॥

ऐसे वे ज्ञानीजन विद्या और विनय युक्त ब्राह्मणमें तथा गौ, हाथी, कुत्ते और चाण्डालमें भी, समभावसे देखनेवाले ही होते हैं ॥ १८ ॥

इत्यनात्माभिमानरूपविपरीतभावनानिवृत्तिफलको निदिध्यासनपरिपाकः, प्रमाणप्रमेयगतासंभावनानिवृत्तिफलको वेदान्तविचारः श्रवणमननपरिपाकरूपः, 'तत्परायणाः' इत्यनेन वैराग्यप्रकर्ष इत्युत्तरोत्तरस्य पूर्वपूर्वहेतुत्वं द्रष्टव्यम्। उक्तविशेषणा यतयो गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं पुनर्देहसंबन्धाभावरूपां मुक्तिं प्राप्नुवन्ति। सकृन्मुक्तानामपि पुनर्देहसंबन्धः कुतो न स्यादिति तत्राऽऽह—**ज्ञाननिर्धूतकल्मषा इति**। ज्ञानेन निर्धूतं समूलमुन्मूलितं पुनर्देहसंबन्धकारणं कल्मषं पुण्यपापात्मकं कर्म येषां ते तथा। ज्ञानेनानाद्यज्ञाननिवृत्त्या तत्कार्यकर्मक्षये तन्मूलकं पुनर्देहग्रहणं कथं भवेदिति भावः ॥ १७ ॥

म० टी०—देहपातादूर्ध्वं विदेहकैवल्यरूपं ज्ञानफलमुक्त्वा प्रारब्धकर्मवशात्सत्यपि देहे जीवन्मुक्तिरूपं तत्फलमाह—**विद्येत्यादिना**।

'तदात्मानः' से अनात्मा देहादि में आत्माभिमानरूप विपरीतधारणा निवृत्तिफलक निदिध्यासन परिपाक। 'तन्निष्ठाः' इस विशेषण से सर्वकर्मसंन्यासपूर्वक प्रमाण प्रमेयगत असंभावनानिवृत्तिफलकवेदान्त विचार। श्रवण मनन परिपाकरूप' तत्परायण से वैराग्यप्रकर्ष, इस प्रकार उत्तरोत्तरको पूर्व पूर्व हेतु है इसपर दृष्टि देना, उक्त विशेषणविशिष्ट संन्यासी पुनर्देहसम्बन्धाभावरूप मुक्ति प्राप्त करते हैं।

शंका—मुक्तों को एकबार भी फिर देह संबन्ध क्यों न ही होता ?

उत्तर—'ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः' ज्ञान से निर्मूल किया है पुनर्देहसंबन्ध का हेतु कल्मष पुण्यपापात्मक कर्म जिनका वे ज्ञाननिर्धूतकल्मष हैं। तत्त्वज्ञानसे अनाद्यनर्थहेतुभूत अज्ञान की निवृत्ति से अज्ञानकार्य कर्मके क्षय से तन्मूल देह ग्रहण कैसे हो सकता है ? यह तात्पर्य है ॥ १७ ॥

देहनाशोत्तर विदेह कैवल्यफल कह कर प्रारब्ध कर्मवश देह रहने पर भी जीवन्मुक्तिरूप फल कहते हैं—विद्येत्यादि से। विद्या वेदार्थज्ञान अथवा ब्रह्मविद्या

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः ।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥ १९ ॥

इसलिये जिनका मन समत्वभावमें स्थित है उनके द्वारा इस जीवित अवस्थामें ही संपूर्ण संसार जीत लिया गया, अर्थात् वे जीते हुए ही संसारसे मुक्त हैं क्योंकि सच्चिदानन्द परमात्मा निर्दोष और सम है, इससे वे सच्चिदानन्दघन परमात्मामें ही स्थित हैं ॥ १९ ॥

विद्या वेदार्थपरिज्ञानं ब्रह्मविद्या वा । विनयो निरहंकारत्वमनौद्धत्यमिति यावत् । ताभ्यां संपन्ने ब्रह्मविदि विनीते च ब्राह्मणे सात्त्विके सर्वोत्तमे, तथा गवि संस्कारहीनायां राजस्यां मध्यमायां, तथा हस्तिनि शुनि श्वपाके चात्यन्ततामसे सर्वाधमेऽपि, सत्त्वादिगुणैस्तज्जैश्च संस्कारैरस्पृष्टमेव समं ब्रह्म द्रष्टुं शीलं येषां ते समदर्शिनः, पण्डिता ज्ञानिनः यथा गङ्गातोये तडागे सुरायां मूत्रे वा प्रतिबिम्बितस्याऽऽदित्यस्य न तद्गुणदोषसंबन्धस्तथा ब्रह्मणोऽपि चिदाभासद्वारा प्रतिबिम्बितस्य नोपाधिगतगुणदोषसंबन्ध इति प्रतिसंदधानाः सर्वत्र समदृष्ट्यैव रागद्वेषराहित्येन परमानन्दस्फूर्त्या जीवन्मुक्तिमनुभवन्तीत्यर्थः ॥ १८ ॥

विनय अहंकार राहित्य अनौद्धत्य अदुर्व्यवहारता अनुद्दण्डता इन दोनों से संपन्न सुप्रयुक्त ब्रह्म वेत्ता में सात्त्विक विनीत विनयसंपन्न सबसे उत्तम श्रेष्ठ ब्राह्मणमें एवं संस्कार हीन गौ में जो राजसी रजोगुण प्रधान है अत एव मध्यमा कहा तथा हस्ती कुत्ता, चाण्डाल, सर्वाधम अत्यन्त तामस में तम, सत्त्वरजस्तमसः क्रमसे अनादि व्यवहार होता आया है तदनुसार मध्यमा रजोगुणमयी का ग्रहण है दुग्ध-घृतादि उत्तम पदार्थोपादान होने से राजसी है तथा हाथी, कुत्ता चाण्डाल अत्यन्त तामस ये हैं, अत एव सवसे अधम तामस है । सत्त्वादिगुण तज्जनित संस्कार से सर्वथा असंयुक्त सम ब्रह्म दर्शन का शील है जिनका वे समदर्शी पण्डित ज्ञानी होते हैं। जैसे गङ्गाजल में तालाव के जल में मद्य में, मूत्र में प्रतिबिम्वित आदित्य में प्रतिबिम्बाधार वस्तुगत गुणदोषका संवन्ध नहीं होता वैसे चिदाभास द्वारा प्रतिबिम्बित ब्रह्म में भी उपाधिगत गुण दोष का संबन्ध नहीं है। इसका प्रतिसन्धानकारी पुरुष सब स्थल में सम दृष्टि से युक्त राग द्वेष रहित परमानन्द प्रकाश से जीवन्मुक्ति का अनुभव करते हैं ॥ १८ ॥

म० टी०—ननु सात्त्विकराजसतामसेषु स्वभावविषमेषु प्राणिषु समत्वदर्शनं धर्मशास्त्रनिषिद्धम्। तथाच तस्यान्नमभोज्यमित्युपक्रम्य गौतमः स्मरति—"समासमाभ्यां विषमसमे पूजातः" इति। समासमाभ्यामिति चतुर्थीद्विवचनम्। विषसम इति द्वन्द्वैकवद्भावेन सप्तम्येकवचनम्। चतुर्वेदपारगाणामत्यन्तसदाचाराणां यादृशो वस्त्रालंकारान्नादिदानपुरस्सरः पूजाविशेषः क्रियते तत्समायैवान्यस्मै चतुर्वेदपारगाय सदाचाराय विषमे तदपेक्षया न्यूने पूजाप्रकारे कृते, तथाऽल्पवेदानां हीनाचाराणां यादृशो हीनसाधनः पूजाप्रकारः क्रियते तादृशायैवासमाय पूर्वोक्तवेदपारगसदाचारब्राह्मणापेक्षया हीनाय तादृशहीनपूजाधिके मुख्यपूजासमे पूजाप्रकारे कृते, उत्तमस्य हीनतया हीनस्योत्तमतया पूजातो हेतोस्तस्य पूजयितुरन्नमभोज्यं भवतीत्यर्थः। पूजयिता प्रतिपत्तिविशेषमकुर्वन्धनाद्धर्माच्च हीयत इति च दोषान्तरम्, यद्यपि यतीनां निष्परिग्रहाणां पाकाभावाद्धनाभावाच्चाभोज्यान्नत्वं धनहीनत्वं च स्वत एव विद्यते तथाऽपि धर्महानिर्दोषो

शंका—सात्त्विक राजस तामसों में जो स्वभाव से ही विषय प्राणी हैं उनमें समदृष्टि करना धर्मशास्त्रसे विरुद्ध है। तथाहि 'तस्य अन्नमभोज्यम्' उसका अन्न भोजन के योग्य नहीं, इसको उपक्रम कर गौतम की स्मृति है—

'समासमाभ्यां विषयसमे पूजातः' इति।

'समासमाभ्याम्' यह चतुर्थी विभक्ति का द्विवचन है।

विषमसमे द्वन्द्वसमास में एकवद्भाव करने से सप्तमी का एकवचन है, इसका अर्थ है कि चारों वेदों का पारंगत विद्वान् अत्यन्त सदाचारी की जैसी वस्त्रालङ्कारादि से विशेषपूजा की जाय, उसीके समान अन्य विद्वान् जो चारों वेदों का पारंगत सदाचार संपन्न है उसमें विषम न्यून पूजा करने से तथा अल्प वेदाभिज्ञ हीनाचार का जैसे हीन साधन पूजा प्रकार है किया जाता है तादृश ही, अतएव असम पूर्वोक्तवेदपारंगत सदाचारी ब्राह्मण की अपेक्षा से हीन की तादृश हीन पूजासे अधिक मुख्यपूजा समपूजा प्रकार करने से; अर्थात् उत्तम की हीन प्रकार की पूजासे, हीन की उत्तम पूजा से पूजा पिता का अन्न अभोज्य होता है, यह उक्त स्मृति का अर्थ है। पूजा करने वाला पात्र के अवधान न कर धन और धर्म से रहित होता है, यह दूसरा दोष है। यद्यपि सञ्चयशील यति नहीं होते, अतः उनमें पाकाभाव तथा धनाभावसे अभोज्यान्नत्व धनहीनत्व स्वतः सिद्ध है। संन्यासी

भवत्येव । अभोज्यान्नत्वं चाशुचित्वेन पापोत्पत्त्युपलक्षणम् । तपोधनानां च तप एव धनमिति तद्धानिरपि दूषणं भवत्येवेति कथं समदर्शिनः पण्डिता जीवन्मुक्ता इति प्राप्ते परिहरति—इहैवेत्यादिना ।

तैः समदर्शिभिः पण्डितैरिहैव जीवनदशायामेव जितोऽतिक्रान्तः सर्गः सृज्यत इति व्युत्पत्त्या द्वैतप्रपञ्चः । देहपातादूर्ध्वमतिक्रमितव्य इति किमु वक्तव्यम् । कैः, येषां साम्ये सर्वभूतेषु विषमेष्वपि वर्तमानस्य ब्रह्मणः समभावे स्थितं निश्चलं मनः, हि यस्मान्निर्दोषं समं सर्वविकारशून्यं कूटस्थनित्यमेकं च ब्रह्म तस्मात्ते समदर्शिनो ब्रह्मण्येव स्थिताः । अयं भावः—दुष्टत्वं हि द्वेधा भवति अदुष्टस्यापि दुष्टसंबन्धात्स्वतोदुष्टत्वाद्वा । यथा गङ्गोदकस्य मूत्रगर्तपा-

रसोई बनाते ही नहीं, स्वयं दूसरे के गृह में भिक्षा करते हैं जिसको अपने भोजन के लिये अन्न नही उसमें धनहीनत्व, अभोज्यान्नत्व स्वतः सिद्ध है। अतः यति उक्तस्मृति के लक्ष्य नही, अतः उनके समदर्शन में कोई स्मृतिविरोध की शङ्का नहीं, तौभी धर्महानिदोष होता ही है । अभोज्यान्नत्व अशुचित्व सम्पादनद्वारा पापोत्पत्ति में उपलक्षण है । तपोधनपतियों को तप ही धन है, उस तपरूपी धनकी हानि भी दोष ही है । अतः समदर्शी जीन्मुक्त पण्डित कैसे हो सकते हैं इस संन्देह का परिहार करते हैं—'इहैवेति' से ।

वे समदर्शी पण्डित (इहैव) यहाँ ही जीवनदशामें ही 'सृज्यते इति सर्गः' द्वैत प्रपञ्च को जीत लिया अर्थात् सर्गप्रपञ्च को जीतलिया अर्थात् सर्गप्रपञ्च से अतिक्रान्त रहते हैं शरीरपात के अनन्तर सर्ग का अतिक्रम करना है; इसकी चर्चाही क्या ? उस समय तो स्वतः सिद्ध है ।

प्रश्न—किसने सर्ग जीता ?

उत्तर—सब भूतोंमें विषयो में भी वर्तमान ब्रह्म के साम्य में मन स्थित जिनका स्थिर है, क्योंकि निर्दोष अत एव सम, सर्वविकार रहित, कूटस्थ नित्य एक ब्रह्म है, अतः वे समदर्शी ब्रह्महो में स्थित हैं । भाव यह है—दुष्टता दो प्रकार की होती है । अदुष्ट में दुष्ट संबन्धसे वा स्वतः दुष्टता से भी, प्रथम का उदाहरण—गङ्गाजल स्वतः अदुष्ट है, किन्तु मूत्र के गढेमें गिरने से तत्संबन्ध से दूषित होता है। स्वतः दूषित मूत्रादि प्रसिद्ध ही है, उनमें स्वतः दुष्ट श्वपाकादि में स्थित ब्रह्म उसके दोषसे दूषित होता है । ब्रह्म भी यह

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम् ।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद्ब्रह्मणि स्थितः ॥ २० ॥

और जो पुरुष प्रियको अर्थात् जिसको लोग प्रिय समझते हैं उसको प्राप्त होकर हर्षित नहीं हो और अप्रियको अर्थात् जिसको लोग अप्रिय समझते हैं उसको प्राप्त होकर उद्वेगवान् न हो, ऐसा स्थिरबुद्धि, संशयरहित, ब्रह्मवेत्ता पुरुष, सच्चिदानन्द घन परब्रह्म परमात्मामें एकीभावसे नित्य स्थित है ॥ २० ॥

तावत्, स्वत एव वा यथा मूत्रादेः । तत्र दोषवत्सु श्वपाकादिषु स्थितं तद्दोषैर्दुष्यति । ब्रह्मेति मूढैर्विभाव्यमानमपि सर्वदोषासंसृष्टमेव ब्रह्म व्योमवदसङ्गत्वात् "असङ्गो ह्ययं पुरुषः,"

"सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः ।

एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः" इति श्रुतेः ॥

नापि कामादिधर्मवत्तया स्वत एव कलुषितं कामादेरन्तःकरणधर्मत्वस्य श्रुतिस्मृतिसिद्धत्वात् । तस्मान्निर्दोषब्रह्मरूपा यतयो जीवन्मुक्ता अभोज्यान्नादिदोषदुष्टाश्चेति व्याहतम् । स्मृतिस्त्वविद्वद्गृहस्थविषयैव तस्यान्नमभोज्यमित्युपक्रमात्, पूजात इति मध्ये निर्देशात्, धनाद्धर्माच्च हीयत इत्युपसंहाराच्चेति द्रष्टव्यम् ॥ १९ ॥

मूर्खोंकी संभावना होती है, लेकिन ब्रह्म सब दोषों से सदा असंबद्धही है; क्योंकि आकाश के तरह ब्रह्म असंग है । 'असङ्गोऽह्ययं पुरुषः' ऐसी ही श्रुति कहती है । 'सूर्यो यथा सर्वलोकस्य' इत्यादि मूल देखो । सब लोक का नेत्र सूर्य बिना सूर्य प्रभा केवल नेत्र वस्तु प्रकाशन में समर्थ नहीं है । अतः सूर्यभी सबलोकोंके नेत्र हैं उनका सम्बन्ध मेध्यामेध्य सब के साथ होता है, परन्तु वाहय अशुचिपदार्थ के संसर्ग से दूषित नहीं होते तथा सबभूतों के अन्तरात्मलोकके दुःखादि दोषसे लिप्त नही होते, स्वतः भी दोष आत्मा में नहीं; क्यों कि कामादि दोष अन्तःकरण के धर्म हैं आत्मा के नहीं इसमें प्रमाण श्रुतिस्मृत्यादि है । ततः निर्दोष ब्रह्मस्वरूप यति जीवन्मुक्त अभोज्यान्नादि दोष से दुष्ट होते हैं यह कहना ही व्याहत है ।

प्रश्न—फिर उक्त स्मृति की क्या गति है ?

म० टी०—यस्मान्निर्दोषं समं ब्रह्म तस्मात्तद्रूपमात्मानं साक्षात्कुर्वन्नाह-नेति "दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः" इत्यत्र व्याख्यातं पूर्वार्धम्। जीवन्मुक्तानां स्वाभाविकं चरितमेव मुमुक्षुभिः प्रयत्नपूर्वकमनुष्ठेयमिति वदितुं लिङ्प्रत्ययौ। अद्वितीयात्मदर्शनशीलस्य व्यतिरिक्तप्रियाप्रियप्राप्त्ययोगान्न तन्निमित्तौ हर्षविषादावित्यर्थः। अद्वितीयात्मदर्शनमेव विवृणोति—स्थिरबुद्धिरिति। स्थिरा निश्चला संन्यासपूर्वकवेदान्तवाक्यविचारपरिपाकेण सर्वसंशयशून्यत्वेन निर्विचिकित्सा निश्चिता ब्रह्मणि बुद्धिर्यस्य स तथा, लब्धश्रवणमननफल इति यावत्। एतादृशस्य सर्वासंभावनाशून्यत्वेऽपि विपरीतभावनाप्रतिबन्धात्साक्षात्कारो नोदेतीति निदिध्यासनमाह—असंमूढः, निदिध्यासनस्य विजातीयप्रत्य-

उत्तर—उक्त स्मृति अविद्वान गृहस्थ विषयक है। कारण, उसका अन्न अभोज्य है इसके प्रकरण में पाठ है। 'पूजातः' यह मध्यमें निर्देश है, धन और धर्म हीन होता है उपक्रम मध्यमें, अभ्यास अन्तमें उपसंहारसे शास्त्र का तात्पर्य निर्णय किया जाता है ॥ १९ ॥

जिस कारण दोष शून्य सम ब्रह्म है, अतः तद्रूप अपने को साक्षात्कार करता हुआ दुःख उपस्थित होने पर चित्तमें उद्वेग न करना, सुख प्राप्ति की इच्छा न करना, यहाँ पर पूर्वार्द्ध का व्याख्यान कर चुके हैं। जीवन्मुक्तों के स्वभाविक चरित मुमुक्षुओं के प्रयत्न पूर्वक अनुष्ठेय है अर्थात् उनके स्वाभाविक चरित्र मुमुक्षुओं के प्रयत्न पूर्वक किये जाते हैं। मुमुक्षु की अपेक्षा जीवन्मुक्त उच्चश्रेणी के हैं 'प्रहृष्येत्' इत्यादि इसको अभियुक्त करने के लिये लिङ् प्रत्यय है अद्वैतात्मदर्शनस्वभाव अतएव अद्वितीयात्मदर्शन परायण को ब्रह्म अतिरिक्त प्रियाप्रियाप्राप्ति का अयोग होने से तन्निमितक हर्षविषाद नहीं होना। प्रियप्राप्ति होने से हर्ष नहीं होता, अप्रिय प्राप्ति होने से विषाद नहीं होता। अद्वितीयात्मदर्शन का विवरण करते हैं—स्थिर बुद्धि स्थिर निश्चल कर्मत्यागपूर्वक वेदान्त वाक्यश्रवणादि विचार परिपाक से सब प्रकार संसार निवृत्त हो जाता है, अत एव 'विचिकित्सा तु संशयः' इस कोषसे विचिकित्सा संशय कहाता है। असंदिग्ध निश्चित ब्रह्ममें बुद्धि है जिसकी वह श्रवण मनन फल लाभ युक्त ऐसे को सब असंभावनाओं से शून्य को विपरीत भावनारूप प्रतिबन्धक के कारण ब्रह्म साक्षात्कार नहीं उत्पन्न होता है अतः निदिध्यासन कहते हैं। निदिध्यासन शब्दार्थ स्फुट करते है—विजाती येत्यादि

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम् ।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते ॥ २१ ॥

और बाहरके विषयोंमें अर्थात् संसारिक भोगोंमें आसक्तिरहित अन्तः-करणवाला पुरुष, अन्तःकरण में जो भगवत्-ध्यानजनित आनन्द है, उसको प्राप्त होता है और वह पुरुष सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्मारूप योगमें एकीभावसे स्थित हुआ अक्षय आनन्दको अनुभव करता है ॥ २१ ॥

यानन्तरितसजातीयप्रत्ययप्रवाहस्य परिपाकेण विपरीतभावनाख्यसंमोहरहितः। ततः सर्वप्रतिबन्धापगमाद्ब्रह्मविद्ब्रह्म साक्षात्कारवान् । ततश्च समाधिपरिपाकेण निर्दोषे समे ब्रह्मण्येव स्थितो नान्यत्रेति जीवन्मुक्तः स्थितप्रज्ञ इत्यर्थः एतादृशस्य द्वैतदर्शनाभावात्प्रहर्षोद्वेगौ न भवत इत्युचितमेव। साधकेन तु द्वैतदर्शने विद्यमानेऽपि विषयदोषदर्शनादिना प्रहर्षविषादौ त्याज्यावित्य-भिप्रायः ॥ २० ॥

से। विजातीय सांसारिक घटादिज्ञान से अन्तरित अव्यहित सजातीयज्ञानप्रवाह निदिध्यासन है। १०।१५ मिनट्, जहां तक होसके आत्मज्ञानधारा लगातार होती रहे, मध्य में विच्छेदन और न विषयान्तर के ज्ञान से व्यहित ही हो ज्ञान का स्वभाव ही क्षणिक है। एक ज्ञान चिरकाल तक स्वरूपसे नहीं रह सकता, जिस विषय का आलम्बन कर ज्ञान उत्पन्न हो उसी विषयका आलम्बन उत्तरोत्तर-क्षणोत्पन्नज्ञान भी करता जाय तो ज्ञानधारा तावत्काल तक सजातीय विषय का ही आलम्बन किया विजातीय घटादि का नहीं; इस लिये विजातीय प्रत्ययानन्तरित सजातीय प्रत्यय प्रवाहरूप निदिध्यासन ध्यानापरपर्याय प्रसिद्ध है। इसके परिपाकसे फलोन्मुख होने से विपरीतभावनाख्य संमोह से रहित होता है, इससे सबप्रतिबन्धकों के अभाव से 'ब्रह्मवेत्ता ब्रह्मसाक्षात्कारवान् भवति' तब समाधि-परिपाकसे दोषशून्य अतएव समब्रह्म में ही अन्यत्र नहीं, इस प्रकार ब्रह्म स्थित जीवन्मुक्त ही है वही स्थितप्रज्ञ है। ईदृश महात्मा पुरुष को द्वैत दर्शनाभाव प्रयुक्त हर्षोद्वेगाभाव उचित ही है। साधक द्वैतदर्शन रहने पर भी विषय दोषदर्शन से हर्ष विषाद को त्यागना चाहिये । शास्त्र तो वस्तुतः साधक के लिये है, साधकावस्था में उपयोग इसी प्रकार हो सकता है; यह अभिप्राय है ॥ २० ॥

म० टी०—ननु बाह्यविषयप्रीतेरनेकजन्मानुभूतत्वेनातिप्रबलत्वात्तदासक्तचित्तस्य कथमलौकिके ब्रह्मणि दृष्टसर्वसुखरहिते स्थितिः स्यात्, परमानन्दरूपत्वादिति चेत् ? न, तदानन्दस्याननुभूतचरत्वेन चित्तस्थितिहेतुत्वाभावात्। तदुक्तं वार्तिके—

"अप्यानन्दः श्रुतः साक्षान्मानेनाविषयीकृतः।
दृष्टानन्दाभिलाषं स न मन्दीकर्तुमप्यलम्" ॥ इति ॥

तत्राऽऽह-बाह्येत्यादि । इन्द्रियैः स्पृशन्त इति स्पर्शाः शब्दादयः, ते च बाह्या अनात्मधर्मत्वात्। तेष्वसक्तात्माऽनासक्तचित्तस्तृष्णाशून्यतया विरक्तः सन्नात्मनि अन्तःकरण एव बाह्यविषयनिरपेक्षं यदुपशमात्मकं सुखं तद्विन्दति लभते निर्मलसत्त्ववृत्त्या। तदुक्तं भारते—

"यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम्।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम्" ॥ इति ॥

प्रश्न—दृष्टसांसारिक सुखसाधन से समुत्पन्न प्रीति अनेकजन्मानुभूत होने से अतिप्रबल है, अतः उसमें आसक्त चित्तका अलौकिक लोकप्रमाणविषय ब्रह्म में जो दृष्ट सब सुखों से रहित है उसमें वह स्थित कैसे होगी ? यदि कहिये कि सब वैषयिक आनन्दों से उत्कृष्ट है, अतः प्रवृत्ति क्यों न होगी. तो वह आनन्द अनुभूत नहीं। इसलिये शब्दबोधनमात्र से उसमें चित्तस्थिति नहीं हो सकती। वार्तिककारने भी यही कहा है-'अप्यानन्द' इत्यादिसे । साक्षात् श्रुतभी परमानन्द मननसे विषयभूत न होने पर अर्थात् मनोऽगोचर होने पर दृष्ट लौकिकानन्द के अभिलाषा की चाहमें मन को शिथिल भी नहीं कर सकता, उससे हटाना तो दूर रहा ?

उत्तर—बाह्येति। इन्द्रियाँ जिनका जिनका स्पर्श शब्दादि हैं, वे बाह्य हैं, क्योंकि वे अनात्मधर्म हैं उनमें आसक्तिशून्य है आत्मा जिसका वह तृषाशून्य विरक्त होकर आत्मा अन्तःकरणमें, यहाँ रजस्तमःशून्य सात्त्विक चित्तवृत्तसे आत्मशब्द अन्तःकरण तात्पर्य से प्रयुक्त है। निरपेक्ष उपशमनात्मक सुख का लाभ करता है यही भारत में कहा है 'यच्च कामसुखम्' इत्यादि से। लोकमें वैषयिक जो काम सुख है और देवलोकमें दिव्य स्वर्गादि सुख है ये दोनों तृष्णाक्षयजन्य सुख की सोरहवीं कला अंश के बराबर नहीं हो सकते। अथवा आत्मनि प्रत्यगात्मनि

अथवा प्रत्यगात्मनि त्वंपदार्थे यत्सुखं स्वरूपभूतं सुषुप्तावनुभूयमानं बाह्यविषयासक्तिप्रतिबन्धादलभ्यमानं तदेव तदभावाल्लभते न केवलं त्वंपदार्थसुखमेव लभते किंतु तत्पदार्थैक्यानुभवेन पूर्णसुखमपीत्याह–'स' इति। तृष्णाशून्यो ब्रह्मणि परमात्मनि योगः समाधिस्तेन युक्तस्तस्मिन्व्यापृत आत्माऽन्तःकरणं यस्य स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा। अथवा ब्रह्मणि तत्पदार्थे योगेन वाक्यार्थानुभवरूपेण समाधिना युक्त ऐक्यं प्राप्त आत्मा त्वंपदार्थस्वरूपं यस्य स तथा, सुखमक्षयमनन्तं स्वस्वरूपभूतमश्नुते व्याप्नोति सुखानुभवरूप एव सर्वदा भवतीत्यर्थः। नित्येऽपि वस्तुन्यविद्यानिवृत्त्यभिप्रायेण धात्वर्थयोग औपचारिकः। तस्मादात्मन्यक्षयसुखानुभवार्थी सन्बाह्यविषयप्रीतेः क्षणिकाया महानरकानुबन्धिन्याः सकाशादिन्द्रियाणि निवर्तयेत्तावतैव च ब्रह्मणि स्थितिर्भवतीत्यभिप्रायः॥ २१॥

त्वंपदार्थ जीव में जो स्वरूपभूत सुख है सुषुप्तिमें अनुभूयमान बाह्यविषयाशक्ति प्रतिबन्धकवश से लब्ध नहीं होता, वही सुखप्रतिबन्धकाभाव से अनुभव करता है। केवल त्वंपदार्थ सुख का ही लाभ नहीं करता, किन्तु तत्पदार्थनुभवजन्य पूर्णसुख का भी लाभ करता है यह कहते हैं–'स' इत्यादि से। स वह तृष्णाशून्य हो ब्रह्म (परमात्मा) में योग समाधिचित्त समावेश इससे युक्त अर्थात् ब्रह्म में ही सब लीन है अन्तःकरण जिसका वह है ब्रह्मयोगयुक्तात्मा। अथवा ब्रह्म तत्पदार्थ में योग वाक्यार्थानुभवरूपसमाधि से युक्त ब्रह्मैक्य प्राप्त आत्मा त्वंपदार्थस्वरूप जिसका वह ब्रह्मयोगयुक्तात्मा अनन्त अक्षय सुखस्वरूप भूतमें व्याप्त रहता है। 'अशूङ् व्याप्तौ' से 'अश्नुते' बना है, सदा सुखानुभव स्वरूप ही रहता है।

प्रश्न—मोक्ष से पूर्व में भी त्वंपदार्थ की व्याप्ति तत्पदार्थ में उभयाभेद से सदा रहती है तद्दशा में विशेष क्या ?

उत्तर—ठीक है जीवब्रह्माभेद नित्य वस्तु है इसमें मुख्य वह्नि धूम के समान व्याप्ति नहीं है। अविद्या की अनिवृत्ति से तत्पदार्थ से अपने को भिन्न मानता है तन्निवृत्युत्तर प्राप्त मानता है। इसलिये औपचारिक धात्वर्थव्याप्ति तद्योग समझना, इस कारण आत्मा में अक्षय सुखानुभव का इच्छुक होकर बाह्यविषयक क्षणिकप्रीति जो महानरकनिदान है उससे इन्द्रियों को निवृत्त करें इसीसे ब्रह्म में स्थिति होती है यह अभिप्राय है॥ २१॥

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते ।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय ! न तेषु रमते बुधः ॥ २२ ॥

और जो यह इन्द्रिय तथा विषयोंके संयोगसे उत्पन्न होनेवाले सब भोग हैं, वे यद्यपि विषयी पुरुषोंको सुखरूप भासते हैं, तो भी निःसन्देह दुःख के ही हेतु हैं, और आदि अन्तवाले अर्थात् अनित्य हैं, इसलिये हे अर्जुन ! बुद्धिमान्, विवेकी पुरुष उनमें नहीं रमता ॥ २२ ॥

म० टी०—ननु बाह्यविषयप्रीतिनिवृत्तावात्मन्यक्षयसुखानुभवस्तस्मिंश्च सति तत्प्रसादादेव बाह्यविषयप्रीतिनिवृत्तिरितीतरेतराश्रयवशान्नैकमपि सिध्येदित्याशङ्क्य विषयदोषदर्शनाभ्यासेनैव तत्प्रीतिनिवृत्तिर्भवतीति परिहारमाह—'ये हि' इत्यादिना । हि यस्माद्ये संस्पर्शजा विषयेन्द्रियसंबन्धजा भोगाः क्षुद्रसुखलवानुभवा इह वा परत्र वा रागद्वेषादिव्याप्तत्वेन दुःखयोनय एव ते, ते सर्वेऽपि ब्रह्मलोकपर्यन्तं दुःखहेतव एव । तदुक्तं विष्णुपुराणे—

"यावतः कुरुते जन्तुः संबन्धान्मनसः प्रियान् ।
तावन्तोऽस्य निखन्यन्ते हृदये शोकशङ्कवः" ॥ इति

एतादृशा अपि न स्थिराः किं तु आद्यन्तवन्तः, आदिर्विषयेन्द्रियसंयोगोऽन्तश्च तद्वियोग एव तौ विद्येते येषां ते पूर्वापरयोरसत्त्वान्मध्ये स्वप्नवदाविर्भूताः

प्रश्न—बाह्य विषय में प्रीति न होने से आत्मा में अक्षयसुख का अनुभव होता है। आत्मा में उक्तानुभव होने से बाह्यविषयप्रीति की निवृत्ति होती है इससे परस्पराधीन उत्पत्ति होने से अन्योन्याश्रय दोष है इससे एक भी नहीं सिद्ध होगी। दोनों में किसी की भी उत्पत्ति न होगी ?

उत्तर—अन्योन्याश्रय नहीं है, बाह्यविषयप्रीतिनिवृत्ति विषयदोषदर्शन से हो जाती है उसके लिये तादृशानुभव की आवश्यकता नहीं, इस आशय से परिहार करते हैं–ये ही 'त्यादि से। हि यतः जो, विषयेन्द्रियसंबन्ध से भोग होते हैं अतिस्वल्प सुखलेशानुभव इस लोक में तथा परलोक में रागद्वेषमिश्रित होने से वे दुःख के मूल ही हैं। वे सब ब्रह्मलोकपर्यन्त कार्यब्रह्मलोक तक सब दुःख के हेतु ही हैं, यह विष्णुपुराण में कहा गया है–'यावतः कुरुते जन्तुः' इत्यादि। प्राणी जितने प्रियपदार्थों के साथ मनका संबन्ध करता है उतने शोक के कीलें हृदय में

क्षणिका मिथ्याभूताः। तदुक्तं गौडपादाचार्यैः—

"आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा"। इति॥

यस्मादेवं तस्मात्तेषु बुधो विवेकी न रमते प्रतिकूलवेदनीयत्वान्न प्रीतिमनुभवति। तदुक्तं भगवता पतञ्जलिना—"परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः" इति। सर्वमपि विषयसुखं दृष्टमानुश्रविकं च दुःखमेव प्रतिकूलवेदनीयत्वात्, विवेकिनः परिज्ञातक्लेशादिस्वरूपस्य न त्वविवेकिनः। अक्षिपात्रकल्पो हि विद्वानत्यल्पदुःखलेशेनाप्युद्विजते यथोर्णातन्तुरतिसुकुमारोऽप्यक्षिपात्रे न्यस्तः स्पर्शेन दुःखयति नेतरे-

गाड़ता है एक कील की व्यथा हृदय को सह्य नहीं अनेक कीलों की व्यथा कैसे सह सकता है? प्रिय मानस विषयों से सुख की अपेक्षा दुःख ही अधिक होता है, ऐसे भी स्थिर नहीं, किन्तु उत्पत्ति विनाश शील हैं, विषयेन्द्रिय संयोग आदि है, तद्वियोग तत्संयोगाभाव अन्त है, ये दोनों विद्यमान हैं जिनमें वे पूर्व में उत्तर में भी नहीं ही हैं मध्यमें कुछ समयतक स्वाप्निक पदार्थों के समान उत्पन्न क्षणिक मिथ्याभूत होते हैं। गौडपादाचार्यजीने यही कहा है-'आदावन्ते' इत्यादि। जो आदि अन्त में नहीं है, वर्तमान अवस्था में भी वह नहीं है यह विषयों का स्वभाव है। अतः विवेकी स्वभावज्ञ पुरुष उनमें नहीं रमता। प्रतिकूलवेदनीय दुःखप्रद होने से प्रीति का उनमें अनुभव नहीं करता। महर्षि पतञ्जलिने भी ऐसा ही कहा है-'परिणामतापसंस्कारदुःखैर्वृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः' इति। सब विषयसुख दृष्ट ऐहिक अदृष्ट वैदिकप्रमाणसिद्धस्वर्गादि प्रतिकूलवेदनीय होने से दुःख ही है।

प्रश्न—किस को?

उत्तर—विवेकी को।

प्रश्न—क्यों?

उत्तर—उस को क्लेशादि स्वरूप का यथार्थ परिचय है। अविवेकी विषय के यथार्थस्वरूप को नहीं जानता, इसलिये उनमें वे रमण करते है आंख में सूत्रपात गिरना भी आँख को सहन नहीं है। दूसरे अवयवोंको सूत्रसबन्धसे दुःख नहीं प्रत्युत सुख ही है इसीको स्फुट करते हैं-विद्वान् विषयस्वरूपाभिज्ञ आंख के समान है, अतिस्वल्प दुःखलेश से भी उद्विग्न होते हैं। जैसे मकरीका सूत अतिसूक्ष्म अतिकोमल आँखरूप पात्र में पर स्पर्शमात्र से दुःख देता है दूसरे

ष्वङ्गेषु तद्वद्विवेकिन एव मधुविषसंपृक्तान्नभोजनवत्सर्वमपि भोगसाधनं कालत्रयेऽपि क्लेशानुविद्धत्वाद्दुःखं न मूढस्य बहुविधदुःखसहिष्णोरित्यर्थः। तत्र परिणामतापसंस्कारदुःखैरिति भूतवर्तमानभविष्यत्कालेऽपि दुःखानुविद्धत्वादौपाधिकं दुःखत्वं विषयसुखस्योक्तं, गुणवृत्तिविरोधाच्चेत्यनेन स्वरूपतोऽपि दुःखत्वम्। तत्र परिणामश्च तापश्च संस्कारश्च तएव दुःखानि तैरित्यर्थः। इत्थंभूतलक्षणे तृतीया। तथाहि—रागानुविद्ध एवं सर्वोऽपि सुखानुभवः, न हि तत्र न रज्यति तेन सुखी चेति संभवति। राग एव च पूर्वमुद्भूतः सन्विषयप्राप्त्या सुखरूपेण परिणमते। तस्य च प्रतिक्षणं वर्धमानत्वेन स्वविषयाप्राप्तिनिबन्धनदुःखस्यापरिहार्यत्वाद्दुःखरूपतैव। या हि भोगेष्विन्द्रियाणामुपशान्तिः परितृप्तत्वात्तत्सुखम्। या लौल्यादनुपशान्तिस्तद्दुःखम्। न चेन्द्रियाणां भोगाभ्यासेन वैतृष्ण्यं कर्तुं शक्यम्; यतो भोगाभ्यासमनुविवर्धन्ते रागाः कौशलानि

अङ्गों में नहीं तथा विवेकी को ही दुःख देता है अविवेकी को नहीं। मधुविष संमिश्रितान्नभोजन के सदृश सब भोगसाधन तीनों कालों में क्लेशानुस्यूत व्याप्त होने से दुःख ही है। अनेकविधदुःखसहनशील मूढ़ को दुःख नहीं मालुम होता यह अर्थ है। उनमें 'परिणामतापसंस्कारदुःखैः' भूत वर्तमान भविष्य काल में दुःखानुसंबद्ध होने से विषय सुखमें औपाधिक दुःखत्व ही है। परिणामतापसंस्कार ही दुःख है उनसे इत्थम्भूतलक्षणमें तृतीयाविभक्ति है तथाहि से उक्तार्थ को स्फुट करते हैं। सब वैषयिकसुखानुभव रागानुविद्ध ही है। जिसमें जो अनुरक्त नहीं होता उससे वह सुखी नहीं होता। पूर्वकालोत्पन्न राग ही विषय प्राप्ति से सुखरूपसे परिणत होता है। प्रतिक्षण उसके बढ़ने से जब उसके विषय की प्राप्ति न होगी तो दुःख अवश्य ही होगा उसका परिहार नहीं हो सकता है। सदा विषयप्राप्ति का तो 'संयोगा विप्रयोगान्ताः' से निराकरण कर ही चुके हैं। भोगों में जो इन्द्रियों की शान्ति है परितृप्त होने से वही सुख है। विषय लोलुपता से जो चंचलात्मक अशान्ति है वही दुःख है। यह तो जानी हुई बात है कि भोग द्वारा इन्द्रियों की तृप्ति अनेकजन्म में भी नहीं हो सकती बल्कि तृष्णा बढ़ती ही जाती है। इन्द्रियों में यह कौशल नैपुण्य अर्थात् चमत्कार है कि भोग के पश्चात् राग दिन दूना रात चौगुना बढ़ता ही जाता है। मनुभगवान् ने स्पष्ट कहा है—

वेन्द्रियाणाम्। स्मृतिश्च—"न जातु कामः" इत्यादिः। तस्माद्दुःखात्मकराग-परिणामत्वाद्विषयसुखमपि दुःखमेव कार्यकारणयोरभेदादिति परिणामदुःखत्वम्। तथा सुखानुभवकाले तत्प्रतिकूलानि दुःखसाधनानि द्वेष्टि। नानुपहत्य भूतान्युपभोगः संभवतीति भूतानि च हिनस्ति। द्वेषश्च सर्वाणि दुःखसाधनानि मे मा भूवन्निति संकल्पविशेषः। न च तानि सर्वाणि कश्चिदपि परिहर्तुं शक्नोति। अतः सुखानुभवकालेऽपि तत्परिपन्थिनं प्रति द्वेषस्य सर्वदैवावस्थितत्वात्तापदुःखं दुष्परिहरमेव। तापो हि द्वेषः, एवं दुःखसाधनानि परिहर्तुमशक्तो मुह्यति चेति मोहदुःखताऽपि व्याख्येया। तथाचोक्तं योगभाष्यकारैः—'सर्वस्य द्वेषानुविद्धश्चेतनाचेतनासाधनाधीनस्तापानुभव' इति। तत्रास्ति द्वेषजः

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्द्धते॥

जैसे घी डालने से आग बुझती नहीं, किन्तु बढ़ती है अतिवेग से जितना ही घृत बढ़ेगा उसके अनुसार अग्नि प्रदीप्त होती जायगी वैसे ही विषयोपभोग से इन्द्रियां शान्त नहीं होतीं, इन्द्रियशान्ति ही सुख है। अतः सुखार्थी को भोग में प्रवृत्त नहीं होना चाहिये यह भाव है। दुखात्मक राग का परिणाम होने से विषयसुख भी दुःख ही है। कार्य कारण का हेमकुण्डल के समान अभेद है, अतः विषय भोग में परिणामदुःखत्व है। इसी प्रकार सुखत्वानुभवकालमें सुखविरोधी दुःखसाधनों से सुखार्थी द्वेष करता है। प्राणी पीडन के विना विषयोपभोग होता नहीं, इसलिये भूतों की हिंसा भोगी करते कराते ही हैं। द्वेष का स्वरूप यह है सब दुःखसाधन हम को न हो यह संकल्प मानसभावविशेष सब दुःखसाधनों का परिहार कोई भी संसारी जीव नहीं कर सकता। अतः सुखानुभवसमय में भी सुखविरोधी के प्रति सदैव द्वेष बना ही रहता है। तापदुःख भी दुष्परिहार हुई है, ताप ही द्वेष है, इस प्रकार दुःखसाधनों के परिहार करने में असमर्थ होकर मोह को प्राप्त होता है इस प्रकार मोह दुःखताहेतु समझना, यह योगभाष्यकारने कहा है—'सर्वस्येत्यादि' से सब को द्वेषसंयुक्ताचेतनचेतन के अधीन तापानुभव है।

भोग के साधन दो श्रेणियों में विभक्त हैं, चेतन और अचेतन से दोनों द्वेषसंयुक्त हैं अतः इन के अधीन तापानुभव है।

कर्माशयः। सुखसाधनानि च प्रार्थयमानः कायेन वाचा मनसा च परिस्पन्दते। ततः परमनुगृह्णात्युपहन्ति चेति परानुग्रहपीडाभ्यां धर्माधर्मावुपचिनोति सकर्माशयो लोभान्मोहाच्च भवत्येषा तापदुःखतोच्यते। तथा वर्तमानः सुखानुभवः स्वविनाशकाले संस्कारमाधत्ते। स च सुखस्मरणं, तच्च रागं, स च मनःकायवचनचेष्टां, सा च पुण्यापुण्यकर्माशयौ, तौ च जन्मादीनि संस्कारदुःखता। एवं तापमोहयोरपि संस्कारौ व्याख्येयौ। एवं कालत्रयेऽपि दुःखानुवेधाद्विषयसुखं दुःखमेवेत्युक्त्वा स्वरूपतोऽपि दुःखतामाह—**गुणवृत्तिविरोधाच्चेति।** गुणाः सत्त्वरजस्तमांसि सुखदुःखमोहात्मकाः परस्परविरुद्धस्वभावा अपि तैलवर्त्यग्नय इव दीपं पुरुषभोगोपयुक्तत्वेन त्र्यात्मकमेकं कार्यमारभन्ते तत्रैकस्य प्राधान्ये द्वयोर्गुणभावात्प्रधानमात्रव्यपदेशेन सात्त्विकं राजसं तामसमिति त्रिगुणमपि कार्यमेकेन गुणेन व्यपदिश्यते। तत्र सुखोपभोगरूपोऽपि प्रत्यय उद्भूतसत्त्वकार्यत्वेऽप्यनुद्भूतरजस्तमःकार्यत्वात्त्रिगुणात्मक एव। तथा च सुखात्मकत्ववद्दुःखात्मकत्वं च तस्य

उनमें द्वेषज कर्माशय है, सुख साधनों का प्रार्थी शारीरिक, वाचिक मानसिक चेष्टा करता है, उससे दूसरे का अनुग्रह निग्रह करता है। परोपकार-व्यहार से धर्माधर्म की वृद्धि होती है, वह कर्माशय लोभ मोह से होता है। यही ताप दुःखता कही जाती है। यथा—वर्तमान सुखानुभव स्वनाशकाल में संस्कार का आधान करता है। संस्कार सुखका स्मरण कराता है वह स्मरण राग उत्पन्न करता है। राग मन शरीर वचन चेष्टा करता है। चेष्टा पुण्यपापात्मक कर्माशय को उत्पन्न करती है। पुण्यापुण्य कर्माशय जन्मादि करता है। इस प्रकार संस्कार दुःखता एवं तमरूप मोह के संस्कारों का व्याख्यान कर लेना। इसप्रकार तीनों कालों में दुःख संसर्ग से विषयसुख दुःखही है, यह कहकर स्वरूप से भी दुखत्व कहते हैं-गुण सत्त्वरजस्तम क्रमशः सुखदुःखमोहात्मक मिथोविरुद्धस्वभाव होने पर भी तेल वत्ती और अग्नि जैसे प्रदीप के आरम्भक होते हैं वैसे ही पुरुषोपभोग-योग्य सुखदुःखमोहात्मक एकैक कार्य करते हैं। सुखादि त्रिगुणपरिणाम है, अतस्त्रितापात्मक है। एकैक में एकैक गुणप्रधान होने से सात्त्विक, राजस, तामस, इस तरह त्रिगुण भी कार्य एकैक गुण से व्यवहृत होता है। उनमें सुखोपभोगरूप भी प्रत्यय उपचित सत्त्वकार्य अनुद्भूतरजस्तमःकार्य होने से त्रिगुणात्मक है ऐसी

ध्रुवमिति दुःखमेव सर्वं विवेकिनः। न चैतादृशोऽपि प्रत्ययः स्थिरः, यस्माच्चलं च गुणवृत्तमिति क्षिप्रपरिणामि चित्तमुक्तम्। नन्वेकः प्रत्ययः कथं परस्परविरुद्धसुखदुःखमोहत्वान्येकदा प्रतिपद्यत इति चेत्? न, उद्भूतानुद्भूतयोर्विरोधाभावात्। समवृत्तिकानामेव हि गुणानां युगपद्विरोधो न विषमवृत्तिकानाम्। यथा धर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्याणि लब्धवृत्तिकानि लब्धवृत्तिकैरेवाधर्माज्ञानावैराग्यानैश्वर्यैः सह विरुध्यन्ते न तु स्वरूपसद्भिः, प्रधानस्य प्रधानेन सह विरोधो न तु दुर्बलेनेति हि न्यायः। एवं सत्त्वरजस्तमांस्ययपि परस्परं प्राधान्यामात्रं युगपन्न सहन्ते न तु सद्भावमपि रागद्वेषमोहानां युगपत्सद्भावो व्याख्यातः प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाररूपेण क्लेशानां चतुरवस्थत्वात्। तथा हि—"अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्च क्लेशाः। अविद्याक्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम्। अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या। दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवा

स्थिति में सुखात्मकत्व के समान दुःखात्मक मोहात्मक भी निश्चित ही है। अतः विवेकी को सब दुःख ही है, ऐसा भी प्रत्यय स्थिर नहीं; क्योंकि गुणवृत्त चल क्षणिक परिणामस्वभाव है।

प्रश्न—एक ही प्रत्यय परस्परविरुद्ध सुखदुःख मोहत्व का एकसमय में कैसे आश्रय होगा?

उत्तर—उद्भूतानुद्भूत का विरोध नहीं होता। समवृत्तिक गुणों का एककाल में ही विरोध होता है विषमवृत्तियों का विरोध नहीं होता, समवृत्ति गुणों का ही विरोध होता है। यथा धर्म ज्ञान वैराग्य ऐश्वर्यलब्धवृत्तिक का अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य, अनैश्वर्यलब्धवृत्तिक के साथ विरोध है। स्वरूपसे वर्तमान का नहीं; प्रधान का प्रधान के साथ विरोध है, दुर्बल के साथ नहीं, यही न्याय है। इसीप्रकार सत्त्वरजस्तम परस्पर प्राधान्यमात्र का सहन नहीं करते, स्वरूप से रहने के विरोधी नहीं है। गुणत्रय का सर्वत्र समावेश सब मानता ही है, इसीसे परिणामतापसंस्कार दुःख में भी राग, द्वेष, मोहका एककाल में समावेश समझना। प्रसुप्त तनु विच्छिन्न उदाहरणरूप से क्लेशों की चार अवस्थायें हैं 'तथाहि' से इसी को स्फुट करते हैं। अविद्यास्मिता से लेकर 'भोगाः' पर्यन्त योग सूत्र है। मूल में देख सकते हैं—उनमें यथाक्रम प्रथम निर्दिष्ट अविद्या का लक्षण कहते हैं—'अतस्मिन् तद्बुद्धिवि पर्यय मिथ्याज्ञान अविद्या ये दोनों शब्द पर्याय वाची हैं।

स्मिता । सुखानुशयी रागः । दुःखानुशयी द्वेषः । स्वरसवाही विदुषोऽपि तथा रूढोऽभिनिवेशः । ते प्रतिप्रसवहेयाः सूक्ष्माः । ध्यानहेयास्तद्वृत्तयः । क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः । "सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः" इति पातञ्जलानि सूत्राणि । तत्रातस्मिंस्तद्बुद्धिर्विपर्ययो मिथ्याज्ञानमविद्येति पर्यायाः तस्या विशेषः संसारनिदानम् । तत्रानित्ये नित्यबुद्धिर्यथा-ध्रुवा पृथिवी ध्रुवा सचन्द्रतारका द्यौरमृता दिवौकस इति । अशुचौ परमबीभत्से काये शुचिबुद्धिर्यथा—नवेव शशाङ्कलेखा कमनीयेयं कन्या मध्वमृतावयवनिर्मितेव चन्द्रं भित्वा निःसृतेव ज्ञायते नीलोत्पलपत्रायताक्षी हावगर्भाभ्यां लोचनाभ्यां जीवलोकमाश्वासयतीवेति कस्य केन संबन्धः ।

" स्थानाद्बीजादुपष्टम्भान्निष्यन्दान्निधनादपि ।
कायमाधेयशौचत्वात्पण्डिता ह्यशुचिं विदुः " ॥

इति च वैयासिकः श्लोकः । एतेनापुण्ये पुण्यप्रत्ययोऽनर्थे चार्थप्रत्ययो व्याख्यातः । दुःखे सुखख्यातिरुदाहृता परिणामतासंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिन इति । अनात्मन्यात्मख्यातिर्यथा—शरीरे मनुष्योऽह-

---

अविद्याविशेष संसारका मूल कारण है। अनित्य में नित्यबुद्धि यथा ध्रुवा पृथिवी नित्य अथवा अचल है। यह अनित्य पृथिवी में नित्यबुद्धि अविद्या है। चन्द्रतारा से युक्त आकाश है, जरामरण रहित देवता है, इत्यादि ज्ञान मिथ्या अविद्या है।

अशुचि परम अति घृणित शरीरमें पवित्रबुद्धि यथा शशिकलाके समान सुन्दरी यह कन्या है। मधु अमृत अवयवों से निर्मित के समान चन्द्रका भेदनकर निकली सी ज्ञात होती है। नील कमलदल के समान लम्बे नेत्र हैं, वह गर्भ लोचनों से जीवलोक को आश्वासन देती सी मालूम पड़ती है। स्वयं आप विचारिये, किसके साथ किसका संबन्ध है। व्यास भगवान् का यह श्लोक देखिये, या सुनिये इस विषय में क्या कहते हैं—

'स्थानाद्बीजादुपष्टम्भात् निष्यन्दान्निधनादपि ।
कायमाधेयशौचत्वात् पण्डिता अशुचिं विदुः ॥ इति ।

इसी से अपुण्य में पुण्य ज्ञान अनर्थ में अर्थ ज्ञान भी समझना। दुःख में सुखज्ञान कहही चुके हैं। वैषयिक सुखज्ञान अनात्मा में आत्मज्ञान। जैसे शरीर में

मित्यादिः। इयं चाविद्या सर्वक्लेशमूलभूता तम इत्युच्यते। बुद्धिपुरुषयोरभेदाभिमानोऽस्मिता मोहः। साधनरहितस्यापि सर्वं सुखजातीयं मे भूयादिति विपर्ययविशेषो रागः। स एव महामोहः। दुःखसाधने विद्यमानेऽपि किमपि दुःखं मे मा भूदिति विपर्ययविशेषो द्वेषः। स तामिस्रः। आयुरभावेऽप्येतैः शरीरेन्द्रियादिभिरनित्यैरपि वियोगो मे मा भूदित्यविद्वदङ्गनाबालः स्वाभाविकः सर्वप्राणिसाधारणो मरणत्रासरूपो विपर्ययविशेषोऽभिनिवेशः। सोऽन्धतामिस्रः। तदुक्तं पुराणे—

"तमो मोहो महामोहस्तामिस्रो ह्यन्धसंज्ञितः।
अविद्या पञ्चपर्वैषा प्रादुर्भूता महात्मनः" ॥ इति ॥

एते च क्लेशाश्चतुरवस्था भवन्ति। तत्रासतोऽनुत्पत्तेरनभिव्यक्तरूपेणावस्थानं सुप्तावस्था। अभिव्यक्तस्यापि सहकार्यलाभात्कार्याजनकत्वं तन्ववस्था।

आत्मज्ञान अहं मनुष्यः, कृष्णः, गौर इत्यादि। मनुष्यत्व, कृष्णत्व, गौरत्वादि देहधर्म है, आत्मधर्म नहीं मनुष्यत्वादि सामानाधिकरण्येन प्रतीयमान आत्मत्व शरीर वृत्ति ही प्रतीत होता है। आत्मा शरीर नहीं है, किन्तु उससे अतिरिक्त है। यही अविद्या सब क्लेशोंका मूलभूत अतएव तम कहाती है।

बुद्धि पुरुषका अभेदाभिमान असस्मिता है, इसको मोह कहते हैं। उपायरहित भी पुरुष चाहता है कि सब सुख हमको हो, यह विपर्यय विशेष राग है, यही महामोह है, दुःख हमको न हो यह विपर्यय विशेष द्वेष है, यह तामिस्र कहाता है। अपने न रहने पर भी इन अनित्य शरीरेन्द्रियादि से मेरा वियोग न हो यह पण्डित सी बालकपर्यन्त सर्वप्राणी साधारण मरणभयरूप विपर्ययविशेष अभिनिवेश है, यही अन्धतामिस्र है। यह पुराणमें कहा है–'तमो मोहो महामोह' इत्यादि। चार अवस्था के ये क्लेश होते हैं। असत् की उपत्ति होती नहीं, स्वपुष्पादि कहां होते हैं। अतः उत्पत्ति से पहले भी कारण में कार्य रहता है। यह जो 'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः' इस के अनुसार गीता सम्मत है तदनुरूप अर्थ करते हैं। उत्पत्तिशब्द अभिव्यक्ति परक है। उत्पत्तिसे पूर्व और नाश के बाद भी कारण में कार्य रहता है, उत्पत्ति होने पर ही सर्वसाधारण बुद्धिगोचर होता है, इसलिये कारण में कार्य दो रूप से रहता है। अभिव्यक्त और अनभिव्यक्त रूपसे विद्यमानता दशा में अभिव्यक्तरूप से उत्पत्ति से पूर्व विना के अनन्तर अनभिव्यक्तरूप से रहता है। अनभिव्यक्तरूप से क्लेशावस्थान सुप्तावस्था है, अभिव्यक्त होने पर भी सहकारण

अभिव्यक्तस्य जनितकार्यस्यापि केनचिद्बलवताऽभिभवो विच्छेदावस्था। अभिव्यक्तस्य प्राप्तसहकारिसंपत्तेरप्रतिबन्धेन स्वकार्यकरत्वमुदारावस्था। एतादृगवस्थाचतुष्टयविशिष्टानामस्मितादीनां चतुर्णां विपर्ययरूपाणां क्लेशानामविद्यैव सामान्यरूपं क्षेत्रं प्रसवभूमिः, सर्वेषामपि विपर्ययरूपत्वस्य दर्शितत्वात्। तेनाविद्यानिवृत्त्यैव क्लेशानां निवृत्तिरित्यर्थः। ते च क्लेशाः प्रसुप्ता यथा प्रकृतिलीनानां, तनवः प्रतिपक्षभावनया तनूकृता यथा योगिनाम्। त उभयेऽपि सूक्ष्माः प्रतिप्रसवेन मनोनिरोधेनैव निर्बीजसमाधिना हेयाः। ये तु सूक्ष्मवृत्तयस्तत्कार्यभूताः स्थूला विच्छिन्ना उदाराश्च विच्छिद्य तेन तेनाऽऽत्मना पुनः प्रादुर्भवन्तीति विच्छिन्नाः, यथा रागकाले क्रोधो विद्यमानोऽपि न प्रादुर्भूत इति विच्छिन्न उच्यते एवमेकस्यां स्त्रियां चैत्रो रक्त इति नान्यासु विरक्तः किंत्वेकस्यां रागो लब्धवृत्तिरन्यासु च भविष्यद्वृत्तिरिति स तदा विच्छिन्न उच्यते, ये यद्विषयेषु लब्धवृत्तयस्ते तदा सर्वात्मना प्रादुर्भूता उदारा उच्यन्ते, त उभयेऽप्य-

का लाभ न होने पर कार्याजनकत्व अवस्था तनु अवस्था है। अभिव्यक्त आरब्ध कार्य का किसी बलवान् से अभिभव पराजय प्रतिरुद्धारब्धकार्यत्व विच्छेदावस्था है। अभिव्यक्त प्राप्तसहकारी संपत्ति अप्रतिबन्ध से स्वकार्यकरत्व उदारावस्था है। ईदृश अवस्थाचतुष्टयविशिष्ट अस्मितादि चारों का विपर्ययरूप क्लेशों का अविद्या ही सामान्यरूपा उत्पत्ति भूमि है, सब विपर्ययरूप है। यह दिखला चुके हैं इससे यह स्पष्ट है कि अविद्यानिवृत्ति होने से ही क्लेशों की निवृत्ति होती है यह अर्थ है। वे क्लेशप्रसुप्त कहाते हैं-जैसे प्रकृतिचिन्तकों को प्रकृति में ही लय होता है, उन के क्लेश शरीरादि सहकारि कारणविरह से कार्य नहीं कर सकते, इसवास्ते तावत्सुप्त रहेगें जब तक प्रकृति लीन हैं। अनन्तर शरीरादि सबन्ध होने पर फिर स्वकार्यारम्भ करेगें। तनुविरोधिभावना से निर्बल किये गये जैसे योगियों के ये दोनों सूक्ष्म हैं प्रतिप्रसव मनोनिरोध निर्बीज समाधिसे हेय-निवर्त्तनीय है और सूक्ष्मवृत्ति है। अथवा सूक्ष्म के कार्यभूत स्थूल विच्छिन्न और उदार रुक रुक कर स्वरूप से फिर उत्पन्न होते हैं। विच्छिन्न का उदाहरण देते हैं-यथा राग काल में क्रोध विद्यमान रहता है, प्रादुर्भूत नहीं है इसलिये विच्छिन्न है-एवं एक ही स्त्री में चैत्रनामक पुरुष अनुरक्त है, दूसरी स्त्री में विरक्त नहीं, किन्तु एक में रागलब्धवृत्ति है अन्यस्त्रियों में भविष्यद्वृत्ति अतः उस समय विच्छिन्न कहा जाता है। जो जिस समय जिस विषय में लब्धवृत्ति है वह उससमय सर्वात्मभाव से प्रवृत्त है, प्रादुर्भूत है, इसलिये उदार कहाते हैं ये दोनों अतिस्थूल हैं शुद्ध सत्त्वमय शुद्धसात्त्विक भग-

तिस्थूलत्वाच्छुद्धसत्त्वमयेन भगवद्ध्यानेन हेया न मनोनिरोधमपेक्षन्ते। निरोधहेयास्तु सूक्ष्मा एव, तथा च परिणामतापसंस्कारदुःखेषु प्रसुप्ततनुविच्छिन्नरूपेण सर्वे क्लेशाः सर्वदा सन्ति। उदारता तु कदाचित्कस्यचिदिति विशेषः। एते च बाधनालक्षणं दुःखमुपजनयन्तः क्लेशशब्दवाच्या भवन्ति। यतः कर्माशयो धर्माधर्माख्यः क्लेशमूलक एव। सति च मूलभूते क्लेशे तस्य कर्माशयस्य विपाकः फलं जन्माऽयुर्भोगश्चेति। स च कर्माशय इह परत्र च स्वविपाकारम्भकत्वेन दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः। एवं क्लेशसंततिर्घटीयन्त्रवदनिशमावर्तते। अतः समीचीनमुक्तम्—

'ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्त' इति।

दुःखयोनित्वं परिणामादिभिर्गुणवृत्तिविरोधाच्च आद्यन्तवत्त्वं गुणवृत्तस्य चपलत्वादिति योगमते व्याख्या। औपनिषदानां तु अनादिभावरूपमज्ञानमविद्या। अहंकारधर्माध्यासोऽस्मिता। रागद्वेषाभिनिवेशास्तद्भिच्छित्तिविशेषा इत्यविद्यामूलत्वात्सर्वेऽप्यविद्यात्मकत्वेन मिथ्याभूता रज्जुभुजंगा-

---

घद्ध्यान से हेय है, इनकी हानि के लिये मनोनिरोध की अपेक्षा नहीं, मनोनिरोध से हेय सूक्ष्म ही है तथा च परिणामता संस्कारदुःख में प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाररूप से सब क्लेश सदा रहते हैं, उदारता कदाचित् किसी की होती है। ये क्लेश बाधनालक्षण दुःख को उत्पन्न करते हैं, अतः क्लेशशब्द वाच्य है। यतः धर्माधर्मरूप कर्माशय क्लेशमूलक ही है, मूलभूत क्लेश के रहने पर उस कर्माशय का विपाकफल जाति आयुर्भोग है। वह कर्माशय इस लोक परलोक में स्वविपाकजात्यादि का आरम्भक होने से दृष्टादृष्टजन्म वेदनीय है। इस प्रकार क्लेशसन्तान घटी यन्त्र के समान प्रतिक्षण चलता रहता है, अतः ठीकही कहा है-'ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते' आद्यन्तवन्त इति। दुःखयोनित्व परिणामादि से निर्गुण वृत्तिविरोध से चलत्वहेतु से गुणवृत्त में आद्यन्तवत्व है, यह व्याख्यान योगमत से है, औपनिषद् अद्वैत वेदान्ती के सम्मत यह व्याख्यान है—अनादिभावरूप अज्ञान अविद्या है, अहंकार धर्म्यध्यास अस्मिता है। रागद्वेष अभिनिवेश अन्तःकरण के धर्मविशेष हैं, इसचाल से ये सब अविद्यामूलक हैं, अतः अविद्यात्मक होने से मिथ्याभूत ही हैं। रज्जु में सर्पाध्यास के सदृश मिथ्या होने पर भी दुःख के कारण हैं,

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात्।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ॥ २३ ॥

जो मनुष्य शरीरके नाश होनेसे पहले ही काम और क्रोध से उत्पन्नहुए वेगको सहन करने में समर्थ है, अर्थात् काम, क्रोधको जिसने सदाके लिये जीत लिया है वह मनुष्य इस लोकमें योगी है और वही सुखी है।

ध्यासवन्मिथ्याभूतत्वेऽपि दुःखयोनयः स्वप्नादिवद्दृष्टिसृष्टिमात्रत्वेनाऽऽद्यन्तवन्तश्चेति बुधोऽधिष्ठानसाक्षात्कारेण निवृत्तभ्रमस्तेषु न रमते, मृगतृष्णिकास्वरूपज्ञानवानिव तत्रोदकार्थी न प्रवर्तते। न संसारे सुखस्य गन्धमात्राप्यस्तीति बुद्ध्वा ततः सर्वाणीन्द्रियाणि निवर्तयेदित्यर्थः ॥ २२ ॥

म० टी०—सर्वानर्थप्राप्तिहेतुर्दुर्निवारोऽयं श्रेयो मार्गप्रतिपक्षः कष्टतमो दोषो महता यत्नेन मुमुक्षुणा निवारणीय इति यत्नाधिक्यविधानाय पुनराह—'शक्नोती'त्यादिना।

आत्मनोऽनुकूलेषु सुखहेतुषु दृश्यमानेषु श्रूयमाणेषु स्मर्यमाणेषु वा तद्गुणानुसंधानाभ्यासेन यो रत्यात्मको गर्धोऽभिलाषस्तृष्णा लोभः स कामः।

स्वप्नादिवद्दृष्टिसृष्टिमात्र से आद्यन्तवान् है। बुध अधिष्ठानभूतशुद्धात्मा साक्षात्कार से निवृत्तभ्रम उन विषयों में नहीं रमण करते। उदकार्थी पुरुष मृगतृष्णा में उदकाभावका किम्वा सूर्य मरीचिका ज्ञान होने से तदादानादि में नही प्रवृत्त होता एवं ब्रह्मवेत्ता भी प्रपञ्चाधिष्ठान के साक्षात्कार होने से प्रपञ्चाभाव किम्बा ब्रह्म ही को देखता हुआ प्रवृत्त नहीं होता। ब्रह्म स्वयं है तदतिरिक्त है नहीं कहाँ, प्रवृत्त हो संसार में सुखका लेश भी नहीं है, यह जानकर सांसारिक सब विषयों से इन्द्रियों की निवृत्ति करे यह अर्थ है ॥ २२ ॥

सब अनर्थों की प्राप्ति का कारण श्रेयोमार्ग मोक्षमार्ग का प्रतिपक्ष प्रबल शत्रु यह दोष अतिशयेन कष्टकारी कष्टतम अतिदुर्निवार है। बड़े परिश्रम से मुमुक्षु इसका त्याग करे, इसप्रकार यत्नात्तद्गुणस्मरणाभ्यास से जो अनुरागात्मक अभिलाषाधिक्य अतिपराक्रम विधान के लिये भी कहते हैं-शक्नोतीति से। आत्मा के अनकूल सुख हेतु दृश्यमान श्रूयमाण स्वर्यमाण दीख पड़ता हो, सुनपड़ता हो, स्मृतिविषय होता है। दृश्यमानादिविषय के गुणों का अनुसन्धानाभ्यास तुरत स्मरणाभ्यास से जो रागात्मक गर्द्ध विषयाभिलाषतृष्णा लोभ वही काम है। स्त्रीपुरुष का

स्त्रीपुंसयोः परस्परव्यतिकराभिलापे त्वत्यन्तनिरूढः कामशब्दः । एतदभिप्रायेण 'कामः क्रोधस्तथा लोभ' इत्यत्र धनतृष्णा लोभः स्त्रीपुंसव्यतिकरस्तृष्णा काम इति कामलोभौ पृथगुक्तौ । इह तु तृष्णासामान्याभिप्रायेण कामशब्दः प्रयुक्त इति लोभः पृथङ्नोक्तः । एवमात्मनः प्रतिकूलेषु दुःखहेतुषु दृश्यमानेषु श्रूयमाणेषु स्मर्यमाणेषु वा तद्दोषानुसंधानाभ्यासेन यः प्रज्वलनात्मको द्वेषो मन्युः स क्रोधः । तयोरुत्कटावस्था लोकवेदविरोधप्रतिसंधानप्रतिबन्धकतया लोकवेद-विरुद्धप्रवृत्त्युन्मुखत्वरूपा नदीवेगसाम्येन वेग इत्युच्यते । यथा हि वेगो वर्षा-स्वतिप्रबलतया लोकवेदविरोधप्रतिसंधानेनानिच्छन्तमपि गर्ते पातयित्वा मज्जयति चाधो नयति च, तथा कामक्रोधयोरपि वेगो विषयाभिध्यानाभ्या-सेन वर्षाकालस्थानीयेनातिप्रबलो लोकवेदविरोधप्रतिसंधानेनानिच्छन्तमपि विषयगर्ते पातयित्वा संसारसमुद्रे मज्जयति चाधो महानरकान्नयति चेति वेगपदप्रयोगेण सूचितम् । एतच्च 'अथ केन प्रयुक्तोऽयम्' इत्यत्र विवृतम् । तमेतादृशं

परस्पर संपर्काभिलाष में अत्यन्त निरूढ काम शब्द है, इस अभिप्राय से 'कामः क्रोधस्तथा लोभः' यहां पर लोभ ही तृष्णा लोभ स्त्रीपुरुष संसर्ग काम है, एतदर्थ दोनों का अलग निर्देश किया है । यहाँ तृष्णा परसामान्य के अभिप्राय से काम शब्द का प्रयोग है, इसीसे लोभका अलग उपदेश नहीं किया । काम से ही लोभ का भी संग्रह हो जाता है, इसीप्रकार आत्मप्रतिकूल स्वविरोधि दुःखहेतु दृश्यमान प्रमाण स्मर्णमाण वर्त्तमान दृष्टिश्रुति ख्याति विषयों में उन के दोषानुसंधानाभ्यास दोषस्मरणपाटवसे अन्तःकरण की प्रज्वलनात्मक वृत्ति का मन्यु द्वेष क्रोध इत्यादि शब्द से व्यवहार करते हैं । लोभ, क्रोधकी विशेषाभिव्यक्ति अवस्था लोकशास्त्रविरुद्धाप्रतिसंन्धान प्रतिबन्धक होने से विषयप्रवृत्यादि अनुचित है. अकर्तव्य है । एतत्स्मरण का प्रतिबन्धक होने से लोक वेदविरुद्ध विषयक प्रवृत्ति उन्मुख रूप हेतु होने से नदी वेग के सदृश है । इस लिये वेग कहाता है । जैसे वर्षाकाल में नदी वेग अतिप्रबल हो लोक शास्त्रविरुद्ध प्रतिसन्धान से पुरुष, की इच्छा नहीं है कि हम प्रवाह में गिर कर डूब जाँय, गिर जाँय फिर भी विवश होकर नदी प्रवाह से डूबता है, गढ्ढे में गिरता है, जल के नीचे दब जाता है, वैसे ही कामक्रोधका भी वेग विषयध्यानाभ्याससे वर्षाकाल स्थानापन्न अतिबलवान् होने से लोकवेदविरुद्धस्मरण से इच्छा न होने पर भी अनिच्छुक पुरुष को विषयरूप गढ्ढा में गिराकर संसाररूपी समुद्र में डुबा देता है, नीचें महानरक में ले जाता है, यह भाव वेगपद से सूचित किया है । यह

कामक्रोधोद्भवं वेगमन्तःकरणप्रक्षोभरूपं स्तम्भस्वेदाद्यनेकबाह्यविकारलिङ्गमाशरीरविमोक्षणाच्छरीरविमोक्षपर्यन्तमनेकनिमित्तवशात्सर्वदा संभाव्यमानत्वेनाविस्रम्भणीयमन्तरुत्पन्नमात्रमिहैव बहिरिन्द्रियव्यापाररूपाद्गर्तपतनात्प्रागेव यो यतिर्धीरस्तिमिंगिल इव नदीवेगं विषयदोषदर्शनाभ्यासजेन वशीकारसंज्ञकवैराग्येण सोढुं तदनुरूपकार्यासंपादनेनानर्थकं कर्तुं शक्नोति समर्थो भवति, स एव युक्तो योगी, स एव सुखी, स एव नरः पुमान्पुरुषार्थसंपादनात्, तदितरस्त्वाहारनिद्राभयमैथुनादिपशुधर्ममात्ररतत्वेन मनुष्याकारः पशुरेवेति भावः। प्राक्शरीरविमोक्षणादित्यत्रान्यद्व्याख्यानम्—यथा मरणादूर्ध्वं विलपन्तीभिर्युवतीभिरालिङ्ग्यमानोऽपि पुत्रादिभिर्दह्यमानोऽपि प्राणशून्यत्वात्कामक्रोधवेगं सहते, तथा मरणात्प्रागपि जीवन्नेव यः सहते स युक्त इत्यादि।

'अथ केन प्रयुक्तोऽयम्' यहाँ पर विशेषरूपसे निरूपित है। इसप्रकार के काम क्रोध से उत्पन्न वेग जो अन्तःकरण प्रक्षुब्ध-अतिचंचल करने वाला है, स्तम्भ प्रवृत्ति प्रतिरोध स्वेद पसीना आदि अनेक बाहर के विकारों का ज्ञापक है। जो कामी क्रोधी में देखे जाते हैं जिनको देख कर यह स्पष्ट हो जाता है कि यह कामी है यह क्रोधी है वही यहाँ स्तम्भ स्वेदादि से विवक्षित है वे ही वाह्य विकार हैं। उनका ज्ञापक उक्त वेग है शरीरत्यागपर्यन्त अनेक कारणों से सदा संभाव्यमान होने से अविश्वनीय भीतर उत्पन्न के समय में तुरत यहां ही बहिरिन्द्रियादिव्यापाररूप गर्त-गढ्ढे में गिरने से पूर्व ही जो संन्यासी ज्ञानी तिमिंगिलमत्स्य-मछली के समान नदी वेग को विषयदोषदर्शन के अभ्याससे उत्पन्न वशीकारसंज्ञक वैराग्यसे सहनकरने में अर्थात् तदनुकूल कार्य न कर उसको विफल करने में समर्थ होता है वही युक्त है वही योगी सुखी होता है वही मनुष्य पुरुष है, पुरुषार्थ संपादन ही पुरुष का कर्त्तव्य है। इससे भिन्न 'आहारनिद्राभयमैथुनञ्चसामान्यमेतत्पशुभिर्नराणाम्' इस श्लोक के अनुसार तद्धर्ममात्रनिष्ठ होने से मनुष्याकार पशु ही है, यह भाव है। 'प्राक्शरीर विमोक्षणात्' इसका दूसरा भी व्याख्यान है—जैसे मरने के बाद विलाप करती हुई स्त्रियों से आलिंग्यमान प्रायः मरने के बाद स्त्रियां माता, भगिनी, स्त्री, लड़की आदि रोती और तदुपकारप्रकाशद्वारा विलाप करती शव से चारों तरफ लपट जाती हैं, वाहर लेजाने में वाधा डालती हैं यह चाल है, एवं पुत्रादि से दह्यमान होने पर प्राण शून्य है, इसलिये काम क्रोध का वेग सहता है, वैसे मरण से पूर्व जीता ही

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथाऽन्तर्ज्योतिरेव यः ।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥ २४ ॥

जो पुरुष निश्चयकरके अन्तरात्मा में ही सुखवाला है और आत्मामें ही आराम वाला है तथा जो आत्मामें ही ज्ञानवाला है, ऐसा वह सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्माके साथ एकीभाव हुआ सांख्ययोगी शान्त ब्रह्मको प्राप्त होता है ॥ २४ ॥

अत्र यदि मरणवज्जीवनेऽपि कामक्रोधानुत्पत्तिमात्रं ब्रूयात्तदैतद्युज्येत । यथोक्तं वशिष्ठेन—

"प्राणे गते यथा देहः सुखं दुःखं न विन्दति ।
तथा चेत्प्राणयुक्तोऽपि स कैवल्याश्रमे वसेत्" इति ॥

इह तूत्पन्नयोः कामक्रोधयोर्वेगसहने प्रस्तुते तयोरनुत्पत्तिमात्रं न दृष्टान्त इति किमतिनिर्बन्धेन ॥ २३ ॥

म० टी०—कामक्रोधवेगसहनमात्रेणैव मुच्यत इति न, किं तु—अन्तर्बाह्यविषयनिरपेक्षमेव स्वरूपभूतं सुखं यस्य सोऽन्तःसुखो बाह्यविषयजनितसुखशून्य

जो उक्त वेग को सहता है वही युक्तयोगीसुखी है इत्यादि समझना। ऐसा ही श्रीवशिष्ठजीने कहा है 'प्राणे गते' इत्यादिसे। यहां तो उत्पन्न काम क्रोध के वेग को सहना प्रस्तुत है उन दोनों की अनुत्पत्तिमात्र दृष्टान्त में है, अतः दृष्टान्त दार्ष्टान्तिक में वैषम्य है। असल बात यह है कि वशिष्ठजीने जिन का देहाद्यध्यास निवृत्त हो चुका है, जीवन्मुक्त हैं उनके विषय में कहा है। प्रकृत गीताश्लोक आरुरुक्षु योगी के विषय में है, इसलिये उक्त दृष्टान्त प्रकृत में लागू नहीं हो सकता। मृत शरीर प्राणादि शून्य अतएव काष्ठ लोष्टसम अचेतन है, इसलिये उसमें कामादि हो ही नहीं सकते। प्रकृत तितिक्षु सप्राणादि है इसमें कारण से कामादि का पूरा संभव है, फिर भी यावज्जीवन इनके रोकने का प्रयत्न जो पुरुष करेगा वही योगी सुखी है इतर नहीं यह भाव है इस तात्पर्य से कहते हैं अधिक दुराग्रह व्यर्थ है ॥ २३ ॥

काम क्रोध सहन मात्र से मुक्त होता है यह नहीं, किन्तु अन्तर्बाह्यविषय निरपेक्ष स्वरूपभूत सुख हो जिसको वह अन्तःसुख शब्दादि बाह्य विषयोत्पन्न सुख से शून्य यह अर्थ है।

इत्यर्थः। कुतो बाह्यसुखाभावस्तत्राऽऽह—अन्तरात्मन्येव न तु स्त्र्यादिविषये बाह्यसुखसाधन आराम आरमणं क्रीडा यस्य सोऽन्तरारामस्त्यक्तसर्वपरिग्रहत्वेन बाह्यसुखसाधनशून्य इत्यर्थः। ननु त्यक्तसर्वपरिग्रहस्यापि यतेर्यदृच्छोपनतैः कोकिलादिमधुरशब्दश्रवणमन्दपवनस्पर्शनचन्द्रोदयमयूरनृत्यादिदर्शनातिमधुरशीतलगङ्गोदकपानकेतकीकुसुमसौरभाद्यवघ्राणादिभिर्ग्राम्यैः सुखोत्पत्तिसंभवात्कथं बाह्यसुखतत्साधनशून्यत्वमिति तत्राऽऽह—**तथाऽन्तर्ज्योतिरेव** इति। यथाऽन्तरेव सुखं न बाह्यैर्विषयैस्तथाऽन्तरेवाऽऽत्मनि ज्योतिर्विज्ञानं न बाह्यैरिन्द्रियैर्यस्य सोऽन्तर्ज्योतिः श्रोत्रादिजन्यशब्दादिविषयविज्ञानरहितः। एवकारो विशेषणत्रयेऽपि संबध्यते। समाधिकाले शब्दादिप्रतिभासाभावाद्व्युत्थानकाले तत्प्रतिभासेऽपि मिथ्यात्वनिश्चयान्न बाह्यविषयैस्तस्य सुखोत्पत्तिसं-

प्रश्न—बाह्य सुखाभाव क्यों ?

उत्तर—उसमें कहते हैं अन्तरात्मा में ही एवकार से बाह्यसुखसाधन पुत्र कलत्रादि की व्यावृत्ति करते हैं। आराम क्रीड़ा है जिसकी 'रमु क्रीडायाम्' आङ् पूर्वक उक्त धातु से आराम शब्द की निष्पत्ति है, त्यक्त सर्वपरिग्रह निखिल भोग-साधन संग्रह का त्यागी बाह्यसाधन शून्य होता ही है।

प्रश्न—त्यक्त सर्वपरिग्रह संन्यासी को भी यह प्राप्त कोकिलादि कोयल प्रभृति पक्षियों के मीठे रसीले शब्दों का सुनना। मन्दसमीरसंपर्क चन्द्रोदय (मयूर नृत्य) मोर का नाच देखना अति मधुर शीतल गङ्गाजल पीना। केतकीपुष्पके सुगन्धको सूंघना। श्रोत्र त्वक् नेत्र रसना घ्राण इन पांचों इन्द्रियों के साथ अनायास प्राप्त उक्त पांच विषयों का सम्बन्ध होने पर ग्राम्य सुख सांसारिक पुरुषों के सुख की उत्पत्ति अवश्य होगी। उसका परिहार योगी नहीं कर सकता फिर बाह्यसाधन-शून्य कैसे कहा जा सकता है ?

उत्तर—'अन्तर्ज्योति रित्यादि। जैसे—भीतर ही सुख होता है, बाहर के विषयों से नहीं भीतर ही आत्मा में विज्ञान उत्पन्न होता है, बाह्येन्द्रियोंसे नहीं, जिसमें से वह अन्तर्ज्योति श्रोत्रादि पंचेन्द्रियजन्य शब्दादिज्ञानरहित एवका संबन्ध अन्तःसुख अन्तराराम अन्तर्ज्योति इन तीनों विशेषणों के साथ है समाधि-समयमें निरुद्धचित्तावस्था में शब्दादि विषयों का भान ही नहीं होता। समाधि से विरत होने पर उत्थान दशा में शब्दादि का भान होने पर भी उनमें मिथ्यात्व निश्चय से बाह्य तादृश विषयों से योगी को सुखोत्पत्ति का संभव ही नहीं मिथ्यारंज-

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः ।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ॥ २५ ॥

और नाश हो गये हैं सब पाप जिनके तथा ज्ञानकरके निवृत्त हो गया है संशय जिनका और संपूर्ण भूतप्राणियों के हितमें है रति जिनकी, एकाग्र हुआ है भगवान् के ध्यानमें चित्त जिनका, ऐसे ब्रह्मवेत्ता पुरुष शान्त परब्रह्मको प्राप्त होते हैं॥ २५ ॥

भव इत्यर्थः। य एवं यथोक्तविशेषणसंपन्नः स योगी समाहितो ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्म परमानन्दरूपं कल्पितद्वैतोपशमरूपत्वेन निर्वाणं तदेव कल्पितभावस्याधिष्ठानात्मकत्वात्, अविद्यावरणनिवृत्त्याऽधिगच्छति नित्यप्राप्तमेव प्राप्नोति। यतः सर्वदैव ब्रह्मभूतो नान्यः, "ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्योति" इति श्रुतेः, "अवस्थितेरिति काशकृत्स्नः" इति न्यायाच्च ॥ २४ ॥

म० टी०—मुक्तिहेतोर्ज्ञानस्य साधनान्तराणि विवृण्वन्नाह—'**लभन्ते**' इत्यादिना प्रथमं यज्ञादिभिः क्षीणकल्मषाः, ततोऽन्तःकरणशुद्ध्या—ऋषयः सूक्ष्मवस्तुविवेचनसमर्थाः संन्यासिनः, ततः श्रवणादिपरिपाकेण छिन्नद्वैधा निवृत्त-

नादि से भला कौन सुखी होता है ? यह अर्थ है जो पूर्वोक्त गुणगण है। वह योगी समाहित होकर निरुद्ध वाह्य विषयवित्तिक हो ब्रह्मनिर्वाण ब्रह्म परमानन्दरूप निर्वाण मोक्ष कल्पित द्वैताभाव से उपलक्षित ब्रह्म ही मोक्ष है। कल्पित का अभाव अधिष्ठानस्वरूप ही होता है। रज्जु में कल्पित भुजंग का अभाव रज्जुस्वरूप ही है, अज्ञानरूप आवरण की निवृत्ति से प्राप्त ही को पाता है। यतः 'सदा ब्रह्मभूतः नान्यः योगी स्वयं ब्रह्मस्वरूप ही है तदतिरिक्त नहीं। अपने को सदा अपनी प्राप्ति रहती है, भेद इतना है कि सांसारिक स्वको सदा ज्ञात रहती है। ब्रह्म होकर ही ब्रह्म पाता है, एतदर्थक ब्रह्मैवेत्यादि श्रुति है। इसी में वेदान्तसूत्र प्रमाण देते हैं—अवस्थितेरित्यादिसूत्रोक्तन्याय से भी उक्तार्थ सिद्ध होता है। ॥ २४ ॥

मुक्तिहेतुज्ञान के साधनान्तर अन्यसाधनों का विवरण करते हैं—'**लभन्ते**' इत्यादि से। सर्वप्रथम यज्ञदानादिकों से अन्तःकरण के पापों का क्षय करना, तदनन्तर अन्तःकरण शुद्ध होता है, उससे सूक्ष्मवस्तुओं के विवेचन में समर्थ होते हैं तदनन्तर श्रवणमननादि के परिपाक से छिन्नद्वैध निवृत्तसंदेह होते हैं, तदनन्तर

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम् ।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम् ॥ २६ ॥

और काम, क्रोधसे रहित जीते हुए चित्तवाले, परब्रह्म परमात्माका साक्षात्कार किये हुए ज्ञानी पुरुषोंके लिये सब ओरसे शान्त परब्रह्म परमात्मा ही प्राप्त है ॥ २६ ॥

सर्वसंशयाः ततो निदिध्यासनपरिपाकेण संयतात्मानः परमात्मन्येवैकाग्रचित्ताः। एतादृशाश्च द्वैतादर्शित्वेन सर्वभूतहिते रता हिंसाशून्या ब्रह्मनिर्वाणं लभन्ते,
" यस्मिन्सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद्विजानतः ।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः" इति श्रुतेः ॥
बहुवचनं "तद्यो यो देवानाम्" इत्यादिश्रुत्युक्तानियमप्रदर्शनार्थम् ॥ २५॥

म० टी०—पूर्वं कामक्रोधयोरुत्पन्नयोरपि वेगः सोढव्य इत्युक्तमधुना तु तयोरुत्पत्तिप्रतिबन्ध एव कर्तव्य इत्याह—कामक्रोधयोगस्तदनुत्पत्तिरेव

निदिध्यासनपरिपाक से संयतात्मा का अर्थ—परमात्मा में ही जिनका सदा एकान्तचित्त रहता है वे संयतात्मा कहलाते हैं। यहां आत्मशब्द मनःपरक है एतादृश पुरुष द्वैतादर्शी होने से सब प्राणियों के हित में अनुरक्त रहते हैं। अतः वे हिंसाशून्य ब्रह्मवेत्ता ब्रह्मनिर्वाण का लाभ करते हैं। यस्मिन्नित्यादि ।

प्रश्न—'सर्वभूतहिते रताः' यहां बहुवचन है। तद्योदेवाना मित्यादिमें एकवचन है, अतः श्रुत्यनुसारि एकवचनत्याग में क्या भाव है ?

उ॰—बहुवचन ही ठीक है, श्रुति में एकवचन विवक्षित नहीं, एतत्सूचनार्थ उक्त श्लोक में बहुवचन का प्रयोग किया है अथवा 'ब्रह्मचारी भूत्वा गृही भवेत् इत्यादि श्रुति से एवंभूत पुरुषरत्न संन्यासीही हो सकते हैं अन्य आश्रमी नहीं, आश्रमैकत्वविवक्षा से एकवचन का ही प्रयोग करना उचित है, बचन का नहीं, इस संदेह की व्यावृत्ति करते हैं। बहुवचन 'तद्योयो देवानां प्रत्यबुद्धत' इसश्रुति के अनुसार आश्रमानुक्रम नियत नहीं 'यदहरेवविरजेत्तदहरेव प्रव्रजेत् इत्यादिश्रुति ही अनियम कहती है; अतः सब आश्रमों में एवंभूत योगी हो सकते हैं एतत्सूचनार्थ उक्तगीताश्लोक में बहुवचन है ॥ २५ ॥

काम क्रोध के उत्पन्न होनेपर उनके वेग को सहना चाहिये, यह कहा—अब तो वह कहते हैं कि उनकी उत्पत्ति ही को रोकना चाहिये। काम क्रोध का वियोग दो

स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः ।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ ॥ २७ ॥
यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः ।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ॥ २८ ॥

और हे अर्जुन ! बाहरके विषयभोगोंको न चिन्तन करता हुआ बाहर ही त्यागकर और नेत्रोंकी दृष्टिको भृकुटीके बीचमें स्थिर करके तथा नासिकामें विचारने वाले प्राण अपानवायुको समकरके ॥ २७ ॥

जीती हुई हैं इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि जिसकी ऐसा जो मोक्षपरायण मुनि परमेश्वर के स्वरूपका निरन्तर मनन करनेवाला । इच्छा, भय और क्रोधसे रहित है, वह सदा मुक्त ही है ॥ २८ ॥

तद्युक्तानां कामक्रोधवियुक्तानाम् । अत एव यतचेतसा संयतचित्तानां यतीनां यत्नशीलानां संन्यासिनां विदितात्मनां साक्षात्कृतपरमात्मनामभित उभयतो जीवतां मृतानां च तेषां ब्रह्मनिर्वाणं मोक्षो वर्तते नित्यत्वात्, न तु भविष्यति साध्यत्वाभात् ॥ २६ ॥

म० टी०—पूर्वमीश्वरार्पितसर्वभावस्य कर्मयोगेना (णा) न्तःकरण-शुद्धिस्ततः सर्वकर्मसंन्यासस्य ततः श्रवणादिपरस्य तत्त्वज्ञानं मोक्षसाधनमुदेती-त्युक्तम् । अधुना स योगी ब्रह्मनिर्वाणमित्यत्र सूचितं ध्यानयोगं सम्यग्दर्शन-स्यान्तरङ्गसाधनं विस्तरेण वक्तुं सूत्रस्थानीयांस्त्रीञ्श्लोकानाह भगवान् । एतेषामेव

प्रकार से होता है । उत्पन्न का ध्वंस करने से अथवा तदुत्पत्तिप्रतिबन्ध करने से पहिला तो कहचुके हैं । दूसरा कहते हैं—कामक्रोधवियुक्तानाम् इत्यादि से अतएव 'यतचेतसा' वशी अन्तःकरण यत यत्नशील संन्यासी अत एव विदितात्मब्रह्मसाक्षात्कृतात्मा को दोनों दशामें—जीवित मरण दशामें ब्रह्मनिर्वाण रहता है मोक्षनित्य है भावी नहीं अतएव 'भविष्यति' न कहकर 'वर्तते' कहा ॥ २६ ॥

पहले ईश्वर में समर्पित सर्वभाव का योग कर्मयोग निरभिसन्धिकर्मा-नुष्ठान से अन्तःकरणशुद्धि होती है । तदनन्तर सब कर्मों का सन्यास ततः श्रवण निदिध्यासनशील को मोक्षकारणतत्त्वज्ञानं उत्पन्न होता है यह कहा । इस समय वह योगी 'ब्रह्मनिर्वाणमधिगच्छति' से सूचित तत्त्वज्ञान का अन्तरङ्गसाधन ध्यान योग का विस्तृतकथनार्थ तत्सूत्रस्थानीय भगवान् ३ श्लोक कहते हैं—सूत्र संक्षिप्तार्थक होता

वृत्तिस्थानीयः कृत्स्नः षष्ठोऽध्यायो भविष्यति। तत्रापि द्वाभ्यां संक्षेपेण योग उच्यते। तृतीयेन तु तत्फलं परमात्मज्ञानमिति विवेकः—स्पर्शाञ्शब्दादीन्बाह्यान्बहिर्भवानपि श्रोत्रादिद्वारा तत्तदाकारान्तःकरणवृत्तिभिरन्तः प्रविष्टान्पुनर्बहिरेव कृत्वा परवैराग्यवशेन तत्तदाकारां वृत्तिमनुत्पाद्येत्यर्थः। यद्येत आन्तरा भवेयुस्तदोपायसहस्रेणापि बहिर्न स्युः स्वभावभङ्गप्रसङ्गात्। बाह्यानां तु रागवशादन्तःप्रविष्टानां वैराग्येण बहिर्गमनँ संभवतीति वदितुँ बाह्यानिति विशेषणम्। तदनेन वैराग्यमुक्त्वाऽभ्यासमाह—**चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः**, कृत्वेत्यनुषज्यते। अत्यन्तनिमीलने हि निद्राख्या लयात्मका वृत्तिरेका भवेत्। प्रसारणे तु प्रमाणविपर्ययविकल्पस्मृतयश्चतस्रो विक्षेपात्मिका वृत्तयो भवेयुः। पञ्चापि तु वृत्तयो निरोद्धव्या इति अर्धनिमिलनेन भ्रूमध्ये चक्षुषो निधानम्। तथा प्राणापानौ समौ तुल्यांवूर्ध्वाधोगतिविच्छेदेन नासाभ्यान्तरचारिणौ कुम्भकेन कृत्वा, अनेनोपायेन यताः संयता इन्द्रियमनोबुद्धयो यस्य स तथा। मोक्षपरा-

हैं उसका विस्तृत व्याख्यान भाष्य हो जाता है। तदल्पव्याख्यान वृत्ति कहाती है। सूत्रार्थ समझने के लिये वृत्ति की परम आवश्यकता होती है, परमदयालु भगवान उक्त सूत्रों का अर्थ एतद्वृत्तिस्वरूप षष्ठाध्याय से स्वयं करेंगे, उनमें भी दो पक्षों को संक्षेप से योग कहते हैं। तीसरे से योगफल परमात्मा का ज्ञान यह विवेक है। स्पर्श बाह्य शब्दादिविषय श्रोत्रादीन्द्रियद्वारा जो अन्तःप्रविष्ट है उनको फिर बाहर करके यह वैराग्यवश से तत्तदाकारवृत्ति को अनुत्पन्न कर यदि वस्तुतः आन्तरिक होते तो हजारों उपायों से बाहर न हो सकते। अन्यथा वस्तुस्वभावका ही भङ्ग हो जायगा, बाहरवाले किसीके द्वारा भीतर घुस गये हैं तो उनका वैराग्य से बाहर निकालना हो सकता है। यही कहने के लिये बाह्यान् यह स्पर्शादि में विशेषण है। इससे वैराग्य कहकर अभ्यास कहते हैं—'चक्षुश्चैवान्तरे' इत्यादि 'भ्रुवोरन्तरे चक्षुः' कृत्वा दोनों भ्रुकुटियों के मध्य में नेत्र करके अत्यन्त आंख बन्दकरने पर लयात्मक निद्रावृत्ति ही हो जायगी वह एक है। नेत्र फैलाने से प्रमाणविपर्ययविकल्प स्मृति ये चार विक्षेपात्मक वृत्तियाँ न होंगीं पांचों वृत्तियोंका निरोध करना है इसलिये अर्द्धनिमीलन आधी आंख बन्द करने के लिये भोहों के मध्यमें आंख के अर्द्ध मीलन का विधान है। इसी तरह प्राण अपान तुल्य ऊर्द्धवगति और अधोगति को रोककर नासिका के भीतर ही कुम्भकप्राणायामविशेषसे संचार करके इस उपाय से संयत है इन्द्रिय मन बुद्धि जिसका वह तथा यतेन्द्रिय

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् ।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥ २९ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे
सन्यासयोगो नाम
पंचमोऽध्यायः।

और हे अर्जुन ! मेरा भक्त मेरेको यज्ञ और तपोंका भोगनेवाला और संपूर्ण लोकोंके ईश्वरोंका भी ईश्वर तथा संपूर्ण भूतप्राणियोंका सुहृद् अर्थात् स्वार्थरहित प्रेमी, ऐसा तत्त्वसे जानकर शान्तिको प्राप्त होता है और सच्चिदानन्द घन परिपूर्ण शान्त ब्रह्मके सिवाय उसकी दृष्टिमें और कुछ भी नहीं रहता, केवल वासुदेव ही वासुदेव रह जाता है ॥ २९ ॥

यणः सर्वविषयविरक्तो मुनिर्मननशीलो भवेत् । विगतेच्छाभयक्रोध इति 'वीतरागभयक्रोध इत्यत्र व्याख्यातम् । एतादृशो यः संन्यासी सदा भवति मुक्त एव सः न तु तस्य मोक्षः कर्तव्योऽस्ति । अथवा य एतादृशः स सदा जीवन्नपि मुक्त एव ॥ २७ ॥ २८ ॥

म० टी०—एवं योगयुक्तः किं ज्ञात्वा मुच्यत इति तदाह—भोक्तारमिति । सर्वेषां यज्ञानां तपसां च कर्तृरूपेण देवतारूपेण च भोक्तारं भोगकर्तारं पालकमिति वा 'भुज् पालनाभ्यवहारयोः' इति धातुः सर्वेषां लोकानां महान्तमीश्वरं हिरण्यगर्भादीनामपि नियन्तारं सर्वेषां प्राणिनां सुहृदं प्रत्युपकारनिरपेक्षतयोपकारिणं सर्वान्तर्यामिणं परिपूर्णसच्चिदानन्दैकरसं परमार्थसत्यं

मनोबुद्धि मोक्षपरायण सब विषयों से विरक्त मुनि मननशील हो—मननतत्पर हो, विगतेच्छाभयक्रोध—इसका व्याख्यान 'वीतरागभयक्रोध' पर कर चुके हैं। अतः इनका यहां व्याख्यान की आवश्यकता नहीं। एतादृशगुणविशिष्ट संन्यासी सदा मुक्त ही होता है उसको मोक्ष कर्त्तव्य नहीं अथवा एतादृश पुरुष सदा जीता हुआ भी मुक्त ही है ॥ २७ ॥ २८ ॥

इसीतरह योगयुक्त क्या जान कर मुक्त होता है ? यह कहते हैं-भोक्तेति से सब यज्ञों का तपों का कर्त्तृरूप से, देवतारूप से अथवा पालन कर्त्ता यह अर्थ है । 'भुज पालनाभ्यवहारयोः' इस धातु से भोक्ता बना, अतः इसका भोग कर्त्ता, पालक दोनों अर्थ है। सब लोगों का महान ईश्वर कर्त्ता भोक्ता महेश्वर इस से परमात्मा का प्रतिबिम्ब जाव है। बिम्ब प्रतिबिम्ब एक ही है भेदावभास भ्रान्ति है। जीवकर्तृक याग ईश्वरकर्तृक है जीव कर्तृक

सर्वात्मानं नारायणं मां ज्ञात्वा आत्मत्वेन साक्षात्कृत्य शान्तिं सर्वसंसारोपरतिं मुक्तिमृच्छति प्राप्नोतीत्यर्थः त्वां पश्यन्नपि कथं नाऽहं मुक्त इत्याशङ्कानिराकरणाय विशेषणानि उक्तरूपेणैव मम ज्ञानं मुक्तिकारणमितिभावः ॥ २९ ॥

अनेकसाधनाभ्यासनिष्पन्नं हरिणेरितम् ।
स्वस्वरूपपरिज्ञानं सर्वेषां मुक्तिसाधनम् ॥

इति श्रीमत्परहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीविश्वेश्वरसरस्वतीयपादशिष्य मधुसूदनसरस्वतीविरचितायां श्रीभगवद्गीतागूढार्थदीपिकायां स्वरूपपरिज्ञानं नाम पंचमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

तत्फल भोग ईश्वरकर्तृक ही है 'भुज् पालनाभ्यवहारयोः' इस सूत्र के अनुसार 'भुज्' धातु का दो अर्थ है पालन और अभ्यवहार दोनों प्रकृत में विवक्षित हैं इस आशय से पालक भी अर्थ उचित ही है। सब लोकों का महान् ईश्वर हिरण्यगर्भ अपरब्रह्म उनका भी नियन्ता शासनकर्ता सब प्राणियों का सुहृद, सच्चा मित्र प्रत्युपकार न चाहकर उपकारी संसार में मित्र ऐसे ही मिलते हैं जो अपने उपकार के लिये दूसरे का उपकार करते हैं। भगवान् का कोई उपकार ही क्या कर सकता है? वस्तुतः वे पूर्णकाम हैं उनको उपकार की आवश्यकता ही नहीं, फिर भी प्राणियों का सदा उपकार करते हैं। सबके अन्तर्यामी, सबके भासक, परिपूर्ण-सच्चिदानन्दैकरसपरमार्थसत्य, सर्वात्मा, नारायण मुझ को जानकर अर्थात् स्वात्माभिन्नत्वेन देखकर सर्वसंसारनिवृत्तिस्वरूपशान्ति मुक्ति प्राप्त करता है।

प्रश्न—यदि ऐसी बात है तो मैं आप को देख रहा हूँ फिर मुक्त क्यों न हुआ?

उत्तर—इस आशंका के निराकरणार्थ उक्त विशेषण है। जिस रूपसे कहा है उसरूपसे ही मेरा ज्ञान मुक्ति का कारण है रूपान्तर से नहीं, तुम उसरूप से अभी मुझे देख ही नहीं सकते जिसरूप से देख रहे हो, वह दर्शन मुक्ति का कारण ही नहीं, अनेक साधनों से उत्पन्न भगवदुपदिष्टतत्स्वरूपपरिज्ञान सब को मुक्ति का कारण है, केवल संन्यासी ही ज्ञान से मुक्त होते हैं दूसरे नहीं यह कार्पण्य भगवान् में नहीं, किसी भी आश्रमी को तादृशज्ञान हो तो वही मुक्त होता है। मुक्ति में आश्रमविशेष प्रतिबन्ध नहीं यह अभिप्राय है ॥ २९ ॥

इस प्रकार महामहोपाध्याय पं० हरिहरकृपालु
द्विवेदिविरचित मधुसूदनी भाषा टीका का
पाँचवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ षष्ठोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः ।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः ॥ १ ॥

उसके उपरान्त श्रीकृष्ण महाराज बोले हे अर्जुन ! जो पुरुष कर्मके फलको न चाहता हुआ करने योग्य कर्म करता है, वह संन्यासी और योगी है और केवल अग्निको त्यागनेवाला संन्यासी, योगी नहीं है तथा केवल क्रियाओंको त्यागनेवाला भी संन्यासी, योगी नहीं है ॥ १ ॥

पूर्वोत्तर अध्यायों की संगति भाष्यकार इस प्रकार दिखलाई है—सम्यक् दर्शन का अन्तरङ्गसाधन ध्यानयोग के सूत्रस्वरूप 'स्पर्शान् कृत्वा वहिः' इत्यादि तीन श्लोकों से उपदेश दिया है उन्हीं का विवरणस्वरूप छठवाँ अध्यायका आरंभ होता है उसमें ध्यान योग का वहिरङ्ग हेतु है। इसको यावद् ध्यान योगारोहण में समर्थ न हो तावत्काल अधिकारी गृहस्थ कर्म करें इस कारण कर्म की स्तुति करते हैं-अनाश्रित इति ।

प्रश्न—कर्म करने की अवधि ध्यानयोगारोहण सीमा क्यों कहते हैं श्रुति तो यावज्जीवन कर्मानुष्ठान का विधान करती है 'यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति' इति ।

उत्तर—नहीं, योगारोहणेच्छुक को कर्म करना चाहिए क्योंकि योगारोहण में कर्म कारण है आरोहणेच्छा विशेषण है आरोहण निष्पन्न होने पर तदिच्छा की निवृत्ति हो जायगी तदारूढ़ का शम से ही सम्बन्ध है । आरुरुक्षु और आरूढ़ दोनों को शम कर्म ये दोनो करने चाहिए यह यदि भगवान् को अभिप्रेत होता है तो आरुरुक्षु आरूढ़ यह विभाग करना तथा शम कर्म विषय भेद से विशेषण ये दोनों अनर्थक हो जायगें पुनः शंका आश्रमियों में ही कोई योग पर आरुरुक्षु है कोई आरूढ़ है अन्य कोई न आरुरुक्षु है न आरूढ़ है। उनकी अपेक्षा से आरुरुक्षोः आरूढ़ ये विशेषण विभाग कारण हैं नहीं पुरुषभेद से व्यवस्था इष्ट नहीं तस्यैव इस विशेषण से जिसको आरोहणेच्छा काल में कर्मापेक्षा है उसी को आरोहणोत्तर शमापेक्षा कहते हैं कर्मापेक्षा नहीं पुनर्योगग्रहण से जो पूर्व योगारुरुक्षु था वही जब योगारूढ़ हो जाय तब उस योगारूढ़ को योग फल के प्रति

योगफल के लिए शम ही कर्तव्य कारण है दूसरा नहीं अतः कोई भी कर्म यावज्जीवन कर्तव्यत्त्वेन प्राप्त नहीं योगभ्रष्टवचन से भी उक्तार्थ ही सिद्ध होता है गृहस्थ कर्मी को यदि योग विहित होता तो छठें अध्याय में वह कर्मी गृहस्थ योग विभ्रष्ट होने पर भी कर्म फल पाता ही है फिर उसकी नाश की आशंका अयुक्त है, किया हुआ काम्यकर्म हो अथवा नित्य हो मोक्ष नित्य होने से कार्य ही नहीं अतः स्वफल देगा ही नित्यकर्म का कुछ फल नहीं यह कथन निर्मूल है। वेदप्रमाण से नित्यकर्म का भी विधान है अतः उसका भी फल अवश्य है यह कह चुके हैं अन्यथा वेद अनर्थक हो जायगा और कर्म रहने पर उभयविभ्रष्ट का कुछ अर्थ ही नहीं। कर्मी के विभ्रंश का कोई कारण ही नहीं।

प्रश्न—ईश्वर में कर्म का अर्पण की बुद्धि से अनुष्ठान किया इसलिए कर्मी को फल नहीं होगा यह कथन ठीक नहीं ईश्वर में समर्पित कर्म के सन्यास का फल तो अधिक होगा ?

प्रश्न—मोक्ष के लिए होगा स्वयंकृत कर्मों का ईश्वर में सन्यास करने पर मोक्ष ही फल देता है दूसरा नहीं। योगसहित कर्मसंन्यासी मुक्त होता है योग भ्रष्ट होकर यदि संन्यासी होगा तो मुक्त होगा नहीं, कारण योग सहित नही ईश्वर में कर्मफल का संन्यास कर चुका है अतः फलान्तर नहीं इस परिस्थिति में नाश की आशंका ठीक ही है।

उत्तर—ध्यानसहित ईश्वरसमर्पित कर्म का फल मोक्ष ही है इसमें कुछ प्रमाण नहीं इस कारण गृहस्थ योगभ्रष्टशब्द से नहीं कहा जा सकता। दूसरा हेतु यह है कि 'एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः'। 'ब्रह्मचारिव्रते स्थितः' इत्यादि बचनों से कर्मसंन्यास का विधान है उक्त विशेषणों का गृहस्थ में सम्भव ही नहीं इसलिए स्पष्ट प्रतीत होता है कि गृहस्थ के प्रति ध्यानयोग की विधि नहीं है अतः उनके प्रति योगभ्रष्ट वचन लागू नहीं।

प्रश्न—गृहस्थ भी ध्यानकाल में एकाकी रहता है क्योंकि उक्तकाल में स्त्री की सहायता की आवश्यकता नहीं आज्यावेक्षणादि केलिए अग्निहोत्रादिकर्म में यथा स्त्रीसहायता की अपेक्षा है, अतएव विधुर अग्निहोत्रादि में अधिकारी नहीं होता तथा ध्यानकाल में स्त्री की सहायता की अपेक्षा नहीं अतः अप्राप्तस्त्री-सहायत्व का 'एकाकी' इत्यादि से प्रतिषेध अनर्थक है ?

उत्तर—'निराशीः अपरिग्रहः' इत्यादिविशेषणान्तरों पर ध्यान देने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि यह वचन गृहस्थों के अनुकूल नहीं। और भी कारण हैं गृहस्थ

म० टी०—कर्मणां फलमनाश्रितोऽनपेक्षमाणः फलाभिसन्धिरहितः सन् कार्यं कर्तव्यतया शास्त्रेण विहितं नित्यमग्निहोत्रादि कर्म, करोति यः सकर्म्यपि सन् संन्यासी योगी चेति स्तूयते। संन्यासो हि त्यागः, चित्तगत-

में एकाकित्व का विधान कर यदि ध्यानयोग का विधान किया जायगा तो उभय विभ्रष्ट प्रश्न का उत्थान ही नहीं हो सकता क्योंकि योगभ्रष्ट होने से ज्ञानभ्रंश होने पर भी कार्यभ्रंश नहीं हो सकता कारण वर्तमान कार्यभ्रंश होने पर भी पूर्वकृतकर्म का तो फल अवश्य ही होगा अतः उक्तप्रश्न का पर्यालोचन से गृहस्थ के प्रति कर्म की विधि है ध्यान की विधि नहीं है।

प्रश्न—'अनाश्रित' इत्यादि वाक्य से कर्मी गृहस्थ में ही संन्यासित्व योगित्व कहा है प्रतिषेध भी किया निरग्नि अक्रिय से सन्यासित्व योगित्व का ?

उत्तर—ठीक है ध्यानयोग के प्रति वहिरङ्गकारण कर्म के फलाकांक्षा के सन्यास का विधान नहीं किन्तु उक्तवाक्य स्तुतिपरक है केवल निरग्नि अक्रिय ही संन्यासी योगी नहीं किन्तु कर्मी भी फलासक्ति का त्याग कर चित्तशुद्धि के लिए कर्मानुष्ठाननिष्ठ सन्यासी योगी हो सकता है यह उसकी स्तुति है। एक वाक्य से कर्मफलासङ्गन्यासस्तुति, चतुर्थाश्रमसन्यासप्रतिषेध, का सम्भव नहीं। निरग्नि और अक्रिय परमार्थसन्यासी में श्रुत्यादिविहितलोकप्रसिद्धसंन्यासित्व का भगवान् प्रतिषेध करते हैं अन्यथा 'सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्य' 'नैव कुर्वन्' इत्यादि स्ववाक्यविरोध हो जायगा अतः योगारुरुक्षु को विहित अग्निहोत्रादिकर्म फल निरपेक्ष क्रियमाण ध्यानयोगारोहण का साधन होता है इस कारण वह संन्यासी योगी है इससे वह स्तुत होता है कर्म फलकामनाशून्य कर्मफल अनाश्रित कहाता है। एवं भूत होकर काम्यकर्म से विपरीत नित्य अग्निहोत्रादिकर्म जो करता है वह कर्मी इतर कर्मियों से विशिष्ट है यही वह संन्यासी योगी से कहते हैं शेष भाष्य स्पष्ट है ॥

पञ्चमाध्याय के अन्तिम तीन श्लोकों से जो योगसूत्रमें कहा है उसी के विस्तृत व्याख्यानार्थ छठवाँ अध्याय का आरम्भ करते हैं। उसमें सब कर्मों को त्याग कर योग का विधान करेंगे त्यज्यमान कर्मयोग कौन है इस आशंका से उसकी स्तुति करते हैं दो श्लोकों से—श्री भगवानुवाच इत्यादि से। कर्म के फलों की अपेक्षा न कर फलकामनारहित होकर शास्त्रविहित हैं अतएव हमारा कर्तव्य है कि हम नित्य अग्निहोत्रादि कर्म करें इस बुद्धि से जो करता है वह कर्मी भी संन्यासी योगी है यह उसकी स्तुति है। संन्यास त्याग है, चित्तगत विक्षेपा-

विक्षेपाभावश्च योगः तौ चास्य विद्येते फलत्यागात् फलतृष्णारूपचित्तविक्षेपाभावाच कर्मफलतृष्णात्याग एवात्र गौण्या वृत्त्या संन्यासयोगशब्दाभ्यामभिधीयते सकामानपेक्ष्य प्राशस्त्यकथनाय। अवश्यं भाविनौ हि निष्कामकर्मानुष्ठातुर्मुख्यौ संन्यासयोगौ तस्मादयं यद्यपि न निरग्निः अग्निसाध्यश्रौतकर्मत्यागी न भवति न चाक्रियः अग्निनिरपेक्षस्मार्तक्रियात्यागी च न भवति तथापि संन्यासी योगी चेति मन्तव्यः। अथवा 'न निरग्निर्न चाक्रियः' संन्यासी योगी चेति मन्तव्यः किं तु साग्निः सक्रियश्च निष्कामकर्मानुष्ठायी संन्यासी योगी चेति मन्तव्य इति स्तूयते 'अपशवो अन्ये गो अश्वेभ्यः पशवो गो अश्वाः' इत्यत्रेव प्रशंसालक्षणयानया अन्वयोपपत्तिः। अत्र चाक्रिय इत्यनेनैव सर्वकर्मसंन्यासीति लब्धे निरग्निरिति व्यर्थं स्यादित्यग्निशब्देन सर्वाणि कर्माण्यु-

---

भाव योग है, ये दोनों इसको हैं फलत्याग से फलतृष्णारूप चित्तविक्षेपाभाव से कर्मफलेच्छात्याग ही गौणी वृत्ति से यहाँ संन्यास योगशब्द से कहा गया है सकाम कर्मियों की अपेक्षा कर्मयोगी प्रशस्त हैं। निष्काम कर्मानुष्ठाननिष्ठ को मुख्यसंन्यासयोग अवश्य होगा। यद्यपि वह निरग्नि अर्थात् अग्निसाध्य श्रौत कर्मत्यागी नहीं है और न अक्रिय अग्नि निरपेक्ष स्मार्त्त कर्मत्यागी ही है तथापि संन्यासी तथा योगी माना जाता है साग्नि और सक्रिय निरभिसन्धिकर्मानुष्ठानकर्त्ता को संन्यासी योगी जानना चाहिए। इसी तरह उसकी स्तुति है इस प्रकार के शब्दप्रयोग वेद में भी पाये जाते हैं 'तथाहि अपशवो वा अन्ये गो अश्वेभ्यः पशवो गो अश्वा' इत्यादि 'लोमवल्लाङ्गूलवान्' पशु शब्दार्थ है, लोमयुक्तः पूँछ वाला जानवर प्राणी पशु हो कहाता है गो अश्व के पूँछ में केश होते हैं अतः ये पशु हैं इनसे अतिरिक्त महिषादि के पूँछ में भी लोम होते हैं अतः वे भी पशु हैं किन्तु श्रुति ही कहती है कि वे पशु नहीं है। पशु में नञर्थ पशुभेद के अन्वयार्थ पशु शब्द की प्रशस्त पशु में लक्षणा है अर्थात् प्रशस्त पशु से भिन्न महिषादि हैं क्योंकि वे प्रशस्त नहीं हैं एवं निरग्नि संन्यासी अक्रिय योगी है फिर भी प्रशस्त नहीं। ध्यानसहित निरभिसन्धि कर्मानुष्ठायी कर्मी गृहस्थ ही प्रशस्त संन्यासी योगी है इस प्रकार यह स्तावक वाक्य है विधायक नहीं। यहाँ अक्रिय से ही अग्निसाध्य श्रौतकर्म तदसाध्य स्मार्तादिसकलकर्म के प्रतिषेध का लाभ हो सकता है। श्रौतकर्माभावबोधनतार्थ निरग्नि यह शब्द व्यर्थ है इस शंका की निवृत्ति के लिए अग्निशब्द से सब कर्मों

यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव ।
न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन ॥ २ ॥
आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते ।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥ ३ ॥

इसलिये हे अर्जुन ! जिसको संन्यास ऐसा कहते हैं, उसीको तूं योग जान, क्योंकि संकल्पोंको न त्यागनेवाला कोई भी पुरुष योगी नहीं होता ॥ २ ॥

और समत्व बुद्धिरूप योगमें आरूढ़ होनेकी इच्छावाले मननशील पुरुषके लिये योगकी प्राप्ति में निष्कामभावसे कर्म करना ही हेतु कहा है और योगारूढ़ हो जानेपर उस योगारूढ़ पुरुषके लिये सर्व संकल्पों का अभाव ही कल्याणमें हेतु कहा है ॥ ३ ॥

पलक्ष्य निरग्निरिति संन्यासी, क्रियाशब्देन चित्तवृत्तीरुपलक्ष्याक्रिय इति निरुद्धचित्तवृत्तिर्योगी च कथ्यते तेन न निरग्निः संन्यासी मन्तव्यो न चाक्रियो-योगी मन्तव्य इति यथासङ्ख्यमुभयव्यतिरेको दर्शनीयः एवं सति नञ्द्वय-मप्युपपन्नमिति द्रष्टव्यम् ॥ १ ॥

म० टी०—असंन्यासेऽपि संन्यासशब्दप्रयोगे निमित्तभूतं गुण-योगं दर्शयितुमाह—यं संन्यासमिति । यं सर्वकर्मतत्फलपरित्यागं संन्यास-मिति प्राहुः श्रुतयः-न्यास एवात्यरेचयत् तद् ब्राह्मणाः पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणा-याश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्तीत्याद्याः, योगं फलतृष्णाकर्तृत्वाभिमानयोः

को लक्ष्य कर निरग्नि से संन्यासी क्रियाशब्द से चित्तवृत्तियों को लक्ष्य कर अक्रिय शब्द से निरुद्धचित्तवृत्ति योगी कहा जाता है इससे निरग्नि मात्र से संन्यासी नहीं समझना चाहिए अक्रिय मात्र से योगी नहीं समझना चाहिए इस प्रकार से दोनों का भेद दिखलाने से नञ्द्वय उपपन्न होता है अर्थात् दोनों नञ् सार्थक होते हैं ॥ १ ॥

असंन्यास में संन्यास शब्दप्रयोग का निमित्तभूत गुणयोग दिखलाने के लिए कहते हैं-यमिति। जिस परित्याग को संन्यास श्रुतियाँ कहती हैं 'संन्यास एवात्यरेचयत् ब्राह्मणाः पुत्रैषणायाश्च' इत्यादि। पुत्रवित्तलोकैषणा से निवृत्त होकर भिक्षाटन करते हैं योगफल तृष्णा कर्त्तव्याभिमान इन दोनों का त्याग कर विहित कर्मानुष्ठान

परित्यागेन विहितकर्मानुष्ठानं तं संन्यासं विद्धि हे पाण्डव ! अब्रह्मदत्तं ब्रह्मदत्तमित्याह तं वयं मन्यामहे ब्रह्मदत्तसदृशोऽयमिति न्यायात्परशब्दः परत्र प्रयुज्यमानः सादृश्यं बोधयति गौण्या वृत्त्या तद्भावारोपेण वा, प्रकृते तु किं सादृश्यमिति तदाह—न हि इति। यस्मात् असंन्यस्तसङ्कल्पः अत्यक्तफलसङ्कल्पः कश्चन कश्चिदपि योगी न भवति अपि तु सर्वो योगी त्यक्तफलसङ्कल्प एव भवतीति फलत्यागसाम्यात्तृष्णारूपचित्तवृत्तिनिरोधसाम्याच्च गौण्या वृत्त्या कर्मैव संन्यासी च योगी च भवतीत्यर्थः। तथा हि योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः, प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतय इति वृत्तयः पञ्चविधाः तत्र प्रत्यक्षानुमानशास्त्रोपमानार्थापत्त्यभावाख्यानि प्रमाणानि षडिति वैदिकाः। प्रत्यक्षानुमाना-

रूप को संन्यास समझो हे पाण्डव! अदेवदत्त को देवदत्त कहने से माना जाता है कि देवदत्त सदृश यह है इस न्याय से परशब्द परत्र शक्यार्थातिरिक्त लक्ष्य में प्रयुज्यमान गौणीवृत्ति से अथवा तद्भाव से तदीय प्रवृत्ति निमित्तारोप से तत्सादृश्य का बोधक होता है प्रकृत में क्या सादृश्य है? यह कहते हैं—जिस कारण से असंन्यस्तसंकल्प अर्थात् फलसंकल्पत्याग के विना कोई भी योगी नहीं हो सकता है किन्तु सब योगी फलसंकल्प त्यागी ही होता है अतः फलत्याग सादृश्य तृष्णारूप चित्तवृत्तिनिरोध सादृश्य से गौणीवृत्तिद्वारा कर्मी ही संन्यासी एवं योगी होता है। तथाहि(१) 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' प्रमाणविपर्ययेत्यादि। पाँच प्रकार की वृत्तियाँ हैं, वैदिकों के मत से प्रत्यक्षानुमानोपमानशास्त्रार्थापत्ति अनुपलब्धिभेद से छ प्रमाण हैं। प्रत्यक्ष अनुमान और आगम

(१) योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः। जिस अवस्था विशेषमें चित्तकी प्रमाणादि वृत्तियां रोकी जाय वह अवस्था विशेष योग है वह दो प्रकार का है संप्रज्ञात और असंप्रज्ञात यह आगे कहेंगे।

प्रश्न—संप्रज्ञात योग में इस लक्षण की अव्याप्ति है अर्थात् उसमें यह लक्षण नहीं जाता क्यों कि सात्त्विकवृत्तियों का निरोध संप्रज्ञात में नहीं होता यदि कहिये कि लक्षण में सर्वशब्द का निवेश नहीं है सर्ववृत्ति निरोध कहते तो दोष होता राजस-तामसवृत्तियों का निरोध तो होता ही है अतः किञ्चिद्वृत्तिनिरोध लेकर लक्षणसमन्वय हो जायगा यह ठीक नहीं कारण विक्षिप्तादिमें यत्किञ्चिद्वृत्तिनिरोध रहता ही है उसको लेकर अतिव्याप्ति स्पष्ट है।

उत्तर—ठीक है क्लेशकर्मविपाकाशयविरोधि निरोधमें विशेषण देते हैं, उक्त विरोधी चित्तवृत्ति निरोध योग है क्षिप्तादिमें यत्किञ्चिद् वृत्तिनिरोध है किन्तु यह क्लेशादिविरोधी नहीं है

प्रत्युत अविरोधी है अतः अतिव्याप्ति नहीं। संप्रज्ञात में जो राजस तामस निरोध है वह उक्त क्लेशादि का विरोधी है सात्त्विकवृत्ति स्वयं उक्त क्लेशादि की विरोधिनी है तन्निरोध तदनुकूल ही होगा प्रतिकूल नहीं इस कारण वह लक्षण घटक नहीं।

प्रश्न—एक ही चित्त में क्षिप्तादि पांच भूमियों का सम्बन्ध कैसे और क्यों ऐसी अवस्था से युक्त चित्त की वृत्तियां रोकने के योग्य है?

उत्तर—पहले प्रश्न के उत्तर में हेतु कहते हैं—चित्त प्रख्याप्रवृत्तिस्थितिशील होने से त्रिगुणात्मक है प्रख्याग्रहण उपलक्षणार्थ है इस से अन्य प्रसादलाघवादि का भी संग्रह होता है चित्त प्रख्याशील होने से सत्त्वात्मक है प्रवृत्तिशील होने से रजोगुणात्मक है स्थितिशील होने से तमोगुणात्मक है। प्रवृत्ति से परितापशोकादिकादिराजसों एवं स्थितिग्रहण से गौरवावरण दैन्यादि तामसों का भी उपलक्षण तथा ग्रहण समझना।

'सत्त्वं लघुप्रकाशकमिष्टमुपष्टम्भकं चलं च रजः। गुरुवरणकमेव तमः प्रदीपवच्चार्थतोवृत्तिः।

उत्तर का निष्कर्ष यह कि चित्त एक ही है फिर भी त्रिगुणात्मक होने से गुणों के मिथः उपचयापचय वैचित्र्य से विचित्र परिणत होता हुआ अनेक अवस्था से युक्त होता है। चित्तरूप से परिणत सत्त्व चित्तसत्त्व है इससे प्रख्यारूप होने से चित्त में सत्त्व से थोड़ा कम रज और तम जब परस्पर बराबर होते हैं तब ऐश्वर्य और विषय शब्द स्पर्शरूप रस गन्ध येही चित्त को प्रिय होते हैं। सत्त्वप्रधान चित्त होता हुआ भी तत्त्व में प्रणिधान की इच्छा करता है परन्तु स्वोपसर्जनीभूत तमसे तत्त्व का आवरण हो जाता है इस हेतु से अणिमादि ऐश्वर्य को ही तत्त्व समझकर उसके प्रणिधान की इच्छा करता है तथा प्रणिधान भी करता है क्षण भर, अनन्तर ही रजोगुण से परिचालित होकर उस में भी स्थिर न रहकर केवल ऐश्वर्यादि प्रियमात्र ही होता है क्योंकि शब्दादि में चित्त का स्वभाविकप्रेमबद्धमूल है इससे विक्षिप्तावस्था में अतिव्याप्ति का परिहार हुआ। मूढावस्था में अतिव्याप्ति का परिहार भाष्यकार करते हैं-**तदेव तमसेति**। जब रजोगुण को जीतकर तमोगुण बढ़ता है तब चित्तसत्त्व का आवरक तमके हटाने में असमर्थ होने से तमसे तिरोहित चित्तसत्त्व अधर्मोन्मुख होता है अधर्म अज्ञान अवैराग्य अनैश्वर्य प्रवण होता है अज्ञान भ्रमज्ञान निद्राज्ञान भी गृहीत होता है इससे मूढावस्था भी सूचित हुई। अनैश्वर्य सब जगह इच्छा का विघात जो चाहे वह न हो और जब वही चित्त सत्त्व संजातसत्त्व तमःसमुदायरहित रजोगुण सहित होता है तब धर्मज्ञान वैराग्य ऐश्वर्यविषयक होता है। प्रवर्तक रजोगुणलेश से संसृष्ट होने से चित्त को धर्मादि में प्रवृत्त कराता है वही चित्तसत्त्व रजोगुणलेशरूपतम से रहित अतः स्वरूपप्रतिष्ठसत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्र चित्त धर्ममेघख्यातोन्मुख होता है धर्ममेघ आगे कहेंगे। योगिजन सत्त्वपुरुषान्यताख्याति मात्र चित्त धर्ममेघपर्यन्त को पर प्रसंख्यान कहते हैं यद्यपि चित्त प्रसंख्यान ही है किन्तु तद्वृत्तिविशेषप्रसंख्यान है तथापि धर्मधर्मी का अभेद मानकर चित्त को प्रसंख्यान कहा है

प्रसंख्यान तत्त्वज्ञान है प्रख्या भौतिकप्रकाशभिन्न यथार्थविषयप्रकाश गुणसत्त्वगुण है सत्त्व का परिणाम विशेष ज्ञान है 'सत्त्वात्संजायते ज्ञानम्' इत्यादि के अनुसार सत्त्व ही प्रकाशक है निरोधावस्था में भी लक्षणसमन्वय करते हुए सकारण निरोध का स्वरूप कहते हैं—चितिशक्तिरित्यादि से। संप्रज्ञात समय में संसार कारणत्वादि दोषदर्शन से ही इतरवृत्तिनिरोध हुआ उसकी सिद्धि होने पर विवेकख्याति में भी वैराग्य होता है इससे सब वृत्तियों का निरोध होता है यह प्रक्रिया है। जैसी विवेकख्यातिनिष्ठा विवेकख्याति वैराग्य में हेतु है उसको प्रथम दिखलाते हैं—ख्यातिरित्यन्त से। चितिशक्ति पुरुषरूप परिणामिनी नहीं है पूर्वधर्मनिवृत्ति उत्तरधर्म उत्पत्ति परिणाम है तद्रहिता कूटस्थ नित्या परमार्थसत्या है विशेष आकरग्रन्थों में देखिये।

प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः ये पाँच चित्त की वृत्तियाँ हैं। प्रमितिः प्रमाणं विकल्पनं विकल्पः विपरीतिः विपर्ययः निद्राणं निद्रा स्मृतिः स्मरणं तत्करण भी करण व्युत्पत्ति से प्रमाणादि पाँच है। इनमें प्रमाण का विभाग करते हैं—प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि। अनधिगततत्त्वबोधः पौरुषेयो व्यवहारहेतुः प्रमा, संशयव्यावृत्ति के लिये अनधिगतत्व विशेषण है। संशय अधिगतविषयक होता है अनधिगतमें संस्काराभाव से कोटि की उपस्थिति नहीं अतः संशयाभाव स्फुट है भ्रमव्यावृत्तिके लिये तत्त्वविशेषण है निर्विकल्पादिव्यावृत्ति के लिये व्यवहार हेतु विशेषण है तत्करण व्यावृत्तिके लिये पौरुषेय विशेषण है। इनमें प्रत्यक्ष का लक्षण करते हैं—इन्द्रियप्रणालिकया चित्तस्य बाह्यवस्तूपरागात् तद्विषया सामान्यविशेषात्मनोऽर्थस्य विशेषावधारणप्रधाना वृत्तिः प्रत्यक्षम्, अर्थ से समारोपितत्व का निषेध है बौद्ध अद्वैतादि मतमें आरोपित अर्थ का भान होता है अतएव प्रत्यक्षादि में व्यावहारिक प्रामाण्य है पारमार्थिक नहीं। योगशास्त्रानुसार अर्थ वास्तविक है बौद्धमतमें अर्थ ज्ञानाकार है, ज्ञान स्वीकार मात्र का ग्राही होता है कारण ज्ञान भीतर होता है घटादिविषय बाह्य है और दूरस्थ तथा व्यवहित है उनके साथ ज्ञान का संबन्धही नहीं है प्रकाशक असंबद्ध का भासक नही होता अन्यथा असंबद्धत्वाविशेष से एक ही ज्ञान से त्रिलोकी का भान हो जायगा अतः अर्थाकार परिणतज्ञानाकार को ज्ञान ग्रहण करता है वासना से ज्ञान भेद की सिद्धि स्वप्नादि के समान उपपन्न होती है फिर बाह्यार्थ सद्भाव में कुछ प्रमाण नहीं इत्यादि के खण्डनार्थ बाह्यगोचर कहा। बाह्यविषयके साथ ज्ञान का संबन्ध नहीं है यह बौद्धों का आक्षेप प्रलापमात्र है बाह्येन्द्रियद्वारा आहंकारिक अन्तःकरण बाह्यविषय के साथ संबद्ध होकर तदाकार परिणत होता है। अर्थ सामान्यविशेषोभयात्मा माना जाता है। अनुमानादि से व्यावृत्ति के लिये 'विशेषावधारणप्रधाना' यह विशेषण है अनुमानादि से सामान्याकार से अर्थ की प्रतीति होती है धूमदर्शन से पर्वत में अग्नि है एतावन्मात्र की प्रतीति होती है अग्निगत तार्णत्व अतार्णत्व हस्तवितस्त्यादिदेशस्थत्वादिविशेषका अवधारण नहीं हो सकता प्रत्यक्षसे इन विशेषणों का भी अवधारण होता है। यद्यपि सामान्याकार भी ज्ञान प्रत्यक्षमें होता है तथापि वह प्रधान रूप से नहीं किन्तु विशेष में गुणविधया भासित होता है अतः ठीक कहा—विशेषावधारणप्रधाना

वृत्तिः प्रत्यक्षम्। प्रमाण फल के विषय में विप्रतिपत्ति का निराकरण करते है—फलमविशिष्टः पौरुषेयः चित्तवृत्तिबोधः।

प्रश्न—चित्तगत वृत्ति का पुरुषगत बोध फल कैसे हो सकता है क्रियासमानाधिकरण तत्फल होता है। खदिरमें कुठारसंयोग से पलाश से छिदा नहीं होती ?

उत्तर—अविशिष्ट से देते है बोध पुरुषमें नहीं उत्पन्न होता अन्यथा परिणामित्वापत्ति होगी, किन्तु दर्पण के समान अतिस्वच्छ बुद्धिमें प्रतिबिम्बित चैतन्य ही बुद्धिवृत्ति से अर्थाकार तथा तदाकारतापन्न फल है। बुद्धिमें जो चैतन्यका प्रतिबिम्ब पड़ा है वही पौरुषेय प्रमा है बिम्ब-भूतवृत्ति और चैतन्यप्रतिबिम्ब दोनों बुद्धिमें ही है इसलिये क्रियाफलभाव की अनुपपत्ति नहीं अत एव भाष्यकारने कहा-अविशिष्टः अर्थात् अर्थाकारापन्न प्रतिबिम्ब और बिम्बभूतवृत्ति दोनों ब्रह्मात्मक होने से अविशिष्ट हैं बिम्बप्रतिबिम्ब का अभेद अन्यत्र विस्तार से सुनिरूपित है। 'अयं घट' इत्याकारक ज्ञान वृत्तिरूप बिम्ब है मैं जानता हूँ वह बोध पौरुषेय प्रमा है वस्तुतस्तु

"तस्मिंश्चिद्दर्पणे स्फारे समस्ता वस्तुदृष्टयः। इमास्ता प्रतिबिंबन्ति सरसीव तटद्रुमाः॥

यथा संलक्ष्यते रक्तः केवलः स्फटिको जनैः। रञ्जकाद्युपधानेन तद्वत्परमपूरुषः॥

इत्यादि स्मृतिवचनों से चैतन्यमें बुद्धिवृत्ति का प्रतिबिम्ब प्राचीनों ने माना है यह सिद्ध होता है अतः विषयाकार बुद्धि प्रमाण है तो वृत्ति फल है इत्यादि अन्यत्र विस्तार है। प्रत्यक्षानन्तर प्रत्यक्ष आदिमूलक अनुमान का निरूपण करते हैं—अनुमेयस्य तुल्यजातीयेषु अनुवृत्तः विजातीयेभ्यो व्यावृत्तः सम्बन्धो यस्तद्विषया सामान्यावधारणप्रधाना वृत्तिरनुमानम्। विजातीयधर्मविशिष्टधर्मी अनुमेय है उसका तुल्यजातीय साध्यधर्मसामान्य से समान सपक्षमें अनुवृत्त इस से विरुद्ध असाधारणत्वका निरास हुआ। भिन्न जातीय असपक्ष है वे विरुद्ध और साध्याभाववान् विपक्ष है वे व्यावृत्त हुए, इससे साधारण अनैकान्तिक का निरास हुआ। 'सम्बद्ध्यते' इस व्युत्पत्ति से संबन्ध शब्द यहां लिङ्ग परक है इससे पक्षधर्मता दिखलाते हुये असिद्धत्वका वारण करते हैं। तद्विषया तन्निबन्धना सामान्यावधारणप्रधाना से प्रत्यक्षविषय से व्यवच्छेद करते है। सम्बन्धज्ञाना-धीन अनुमान है विशेषमें सम्बन्धग्रहण नहीं होता किन्तु सामान्य के साथ ही सम्बन्धग्रहण होता है अतः सामान्यावधारणप्रधाना अनुमिति होती है विशेषावधारण प्रधाना नहीं। गृहीतव्यापकता-वच्छेदक धर्मावच्छिन्न विधेयताक ही अनुमति होती है अन्यथा नहीं। उदाहरण है चन्द्रतारकादि गतिमान है देशान्तर प्राप्ति से जैसे चैत्रादि सवेरे पूर्वदिशामें सूर्य को देखता सायं कालमें पश्चिम दिशामें देखता तो देशान्तर प्राप्ति स्फुट है इससे गतिका अनुमान होता है। चैत्रादि में गतिपूर्वक ही देशान्तरप्राप्ति दृष्ट है तदनुसार चन्द्रतारकादि में भी तदनुमान होता है। वैधर्म्य दृष्टान्त है विन्ध्यप्राप्ति है क्यों कि उसमें गति नहीं है। आगम वृत्ति का लक्षण कहते हैं-आप्तेन दृष्टोऽनुमितो वार्थः परत्रोधसंक्रान्ते ये शब्देन उपदिश्यते शब्दात्तदर्थविषया वृत्तिः श्रोतुरागमः, दृष्ट तथा अनुमित अर्थ का श्रोता में स्वबोधसंक्रान्ति के लिये शब्द से उपदेश करते हैं।

शब्द से तद्वृत्ति जो श्रोता को होती है वह आगम है। जिस वाक्य का वक्ता अश्रद्धेयार्थं तथा दृष्टानुमितार्थ नहीं वह आगम प्रमाग नहीं किन्तु वह आगमाभास है मूल वक्ता यदि दृष्टानुमितार्थं नहीं है तो वह आगम प्रमाण है।

तत्त्वदर्शन कारुण्य करणापाटवाभिसंबन्ध आप्ति है उपदिश्यमान का ज्ञान हो यही दया है दयाशून्य पूँछनेपर भी ठीक नहीं कहता प्रायः वैसे पुरुष प्रतारणा ही करते है 'आप्त्या वर्तते इति आप्तः' उससे दृष्ट वा अनुमति जो अर्थ का दृष्टानुमितही में अन्तर्भाव है इस कारण अलग नहीं कही गई आप्तपुरुषमें जो ज्ञान है वह श्रोतामें नहीं जा सकता. अतः तत्त्वज्ञान सदृश ज्ञानोत्पादन श्रोता के चित्त में जो होता है वही प्रकृत में स्वबोधसंक्रान्ति है वही अर्थ श्रोता के हिताहित प्राप्ति परिहार के लिये कहा जाता है जिस आगम का वक्ता अश्रद्धेयार्थ है जैसे जो अनार है वे अपूप मालपूये है अदृष्टनुमितार्थ 'चैत्यं वन्देत स्वर्गकामः' इत्यादि।

प्रश्न—यदि ऐसा है तो मनुस्मृत आदि भी आगम नहीं होंगे क्योंकि वे भी दृष्टानुमितार्थ नहीं है जैसे कहा है ?

"यः कश्छित् कस्यचिद्धर्मः मनुना परिकीर्तितः। स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः"

उत्तर—इसमें मूल वक्तरि कहा मूल वक्ता वहाँ ईश्वर दृष्टानुमित्यर्थ है।

'विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम्। विपर्यय यह लक्ष्य है मिथ्याज्ञानमित्यादि लक्षण है ज्ञानमें जो रूप प्रकाशित होता है उस रूपमें ज्ञान प्रतिष्ठित न रहना ही अतद्रूप प्रतिष्ठ है, जैसे शुक्ति में 'इदं रजतम्' इस ज्ञान में रजत का भान है परन्तु उसमें प्रतिस्थिर नहीं 'नेदं रजतम्' इस बाधक के होने पर अतद्रूपरजतभिन्न शक्तिरूप में प्रतिष्ठ हो जाता है। अनित्याशुचीत्यादि सूत्रोक्तोदाहरण स्पष्ट है। योगवार्तिक के मतमें ज्ञानाकारक विषयमें आरोप होता है ज्ञानाकारणोपस्थित शुक्त्यादि को छोड़कर दूरस्थरजत विषय कल्पना में गौरव दोष है। वैशेषिक से इतना अन्तर है कि वे बाह्य रजत का आरोप करते हैं यहाँ ज्ञानाकारक इससे संशय का भी संग्रह हो जाता है ज्ञान प्रतिभासि कोटिद्वय में स्थाणुपुरुष दोनों कोटियों में प्रतिष्ठित ज्ञान नहीं रहता बाध निश्चयोत्तर एककोटि में वह प्रतिष्ठित हो जाता है।

प्रश्न—विकल्प भी तद्रूपा प्रतिष्ठित होनेके विचार से वह विपर्यय ही हो सकता है ?

उत्तर—नही विपर्यय मिथ्याज्ञान है विकल्प तद्भिन्न है इस की व्यावृत्ति के लिये मिथ्या ज्ञान का निर्देश है इससे सर्वानुभवसिद्ध बाध दिखलाया यह विपर्यय में ही है विकल्पमें नहीं उसका तो सदा व्यवहार होता ही है विचारशील प्रशस्त पंडितों को ही उसमें बाध बुद्धि होती है।

प्रश्न—फिर वह क्यों प्रमाण नहीं ?

उत्तर—अनुपजात विरोधी उत्तर ज्ञान से पूर्व ज्ञान का बाध उचित नहीं उत्तर ज्ञानोत्पत्ति वेलामें तद्विरोधी उत्तर ज्ञान उपजात विरोधी है पूर्वज्ञान अनुपजात विरोधी है अतः पूर्व ज्ञान से ही उत्तर ज्ञान का बोध होना उचित है।

भूतार्थ सत्यार्थ विषयक प्रमाण है प्रमाण से अप्रमाण का बाध दृष्ट है जैसे तैमिरिकादि दोष से एक चन्द्र में द्विचन्द्रत्व बुद्धि का बाध होता है एक चन्द्रत्व दर्शन से, क्योंकि बुद्धियों का तत्त्व में पक्षपात है उपजातानुपजातविरोधिबाध के विषय में यह व्यवस्था है कि जहाँ की अपेक्षा कर उत्तर ज्ञान उत्पन्न होता है वहां ही अनुपजात विरोधि उत्तर ज्ञान का बाध होता है यहां तो पूर्व की अपेक्षा न कर स्वस्वकारण मात्र से दोनों ज्ञान होते हैं विशेष अन्यत्र देखिये। यह पंचपर्वा अविद्या है अविद्या सामान्य अविद्यास्मित्यादि पाचों में है अव्यक्त महदहंकार पञ्चतन्मात्र इन आठों में जो अनात्मा है इनमें आत्म बुद्धि अविद्या है इसी को योगी जघन्य कहते हैं इसी प्रकार योगियों को आठ अणिमादिकों ने जो अश्रेय ऐश्वर्य है उनमें श्रेयो बुद्धि आठ प्रकार का मोह है पूर्वसे भी यह जघन्य है इसको अस्मिता कहते हैं। योग से अष्टविध ऐश्वर्य को प्राप्तकर दिव्य शब्दादि दश विषयों का उपभोग करेंगे ईदृश बुद्धि महामोह है इसी को राग भी कहते हैं इत्यादि अन्यत्र देखिये। 'शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः शब्दश्च ज्ञानं शाब्दं च शब्दज्ञाने अनुपातिनीयस्य स शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः'।

प्रश्न—यदि शब्दज्ञानानुपाती विकल्प है तो आगम प्रमाण के अन्तर्गत विकल्प होगा यदि वह निर्वस्तुक पदार्थशून्य है तो विपर्यय होगा ?

उत्तर—इस शंका के वारणार्थ भाष्यकार कहते हैं कि न प्रमाण के अन्तर्गत है न विपर्यय के अन्तर्गत है।

प्रश्न—क्यों ?

उत्तर—वस्तु शून्य है तो भी शब्द ज्ञान के प्रभाव से तन्नेत्रक व्यवहार देखा जाता है उदाहरण--पुरुष चैतन्य स्वरूप है। यदि चिति ही पुरुष है तो किससे कौन विशेषित हो, बात यह है कहीं अभेद में भेदका आरोप किया जाता है कहीं भिन्नों में अभेद का इस कारण भेद और कोई वस्तु नहीं अतः तदाभास विकल्प प्रमा ज्ञानही और विपर्यय ही है क्योंकि व्यवहार का विसंवादन ही बाधन शास्त्रप्रसिद्ध उदाहरण है। 'पुरुषस्य चैतन्यम्' व्यपदेश विशेष्यभाव उसमें वाक्य की वृत्ति होती है जैसे—चैत्र की गौ है यहां चैत्र स्वत्वसबन्धसे गौ में विशेषण है वस्तुतः इन दोनों का भेद है और स्वस्वामिभाव संबन्ध भी है इत्यादि।

अभावप्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रा। प्रमाणादि पाचों में वृत्तित्वका विवाद परीक्ष को नहीं है और प्रमाणादि सूत्र में वृत्ति का ग्रहण हुई है फिर यहां वृत्तिग्रहण अनुवादार्थक है विधेयार्थक नहीं अनुवाद निरर्थक नहीं किन्तु विशेष विधान के लिये है निद्रा के वृत्तित्व में विद्वानों का विवाद है अतः यहाँ वृत्तित्व का विधान है प्रकृत अनुवादार्थक वृत्तिपद यहां अनुवर्तमान भी विधायक नहीं हो सकता इसलिये फिर वृत्तिग्रहण है। जागर स्वप्न वृत्तियों का अभाव उसका प्रत्यय कारण बुद्धि के सत्त्वगुणका आच्छादक तम वही आलम्बन है विषय जिस की वही वृत्ति निद्रा है त्रिगुण

बुद्धि सत्वमें जब सत्वरजस्तम को अभिभव कर संपूर्ण कारण इन्द्रियों के आवरक तम आविर्भूत होता है तब बुद्धि के विषयाकारक परिणाम के अभाव से प्रादुर्भूत तमोमयी बुद्धि का अनुभव करता हुआ पुरुष सुषुप्त अतएव अन्तः संज्ञ कहाता है।

प्रश्न—क्यों नहीं निरोध कैवल्यदशा के समान वृत्यभावही निद्रा में नहीं मानते ?

उत्तर—सुप्तोत्थितपुरुष उत्पत्ति के साथ निद्राका स्मरण करता है 'सुखमहमस्वाप्सं न किंचिदवेदम्' इत्यादि में सुख से सोया कुछ भी नहीं जाना कि कहाँ है क्या करना है इत्यादि जब सत्वसहकृततम आविर्भूत होता है तब सुप्तोत्थित को ऐसा स्मरण होता है मैं सुख पूर्वक सोया मेरा मन प्रसन्न है बुद्धि को विशद करता है। और जब रजः सहकृत तमका आविर्भाव होता है तब इसका प्रकार का स्मरण होता है दुःख से सोया गर्मी मच्छर आदि से निद्रा कठिन से कुछ हुई मेरा मन कुण्ठित है कोई कार्य करना नहीं चाहता अकर्मण्य है भ्रमता है इत्यादि जब सत्व और रजको अत्यन्त अभिभवकर तम उपचित होता है कि गाढमूढ मैं था मेरे शरीर के सब अवयव भारी मालूम पड़ते है बहुत श्रान्त मन है आलस्य से भरा है चुराया हुआ प्रतीत होता है यदि उस समय अनुभव न होता तो उक्त स्मरण नहीं हो सकता स्मरणमें संस्कारद्वारा अनुभव कारण है अतः प्रत्यक्ष ज्ञान विशेष ही निद्रा है।

प्रश्न—व्युत्थान चित्त के अधिकारि प्रमाणादि वृत्तियों का विरोध हो क्योंकि वे चित्तैकाग्र्यरूप समाधि के प्रतिकूल हैं निद्रा तो एकाग्रबुद्धि के सदृश है जैसे समाधिमें चित्त विक्षेप नहीं होता एक विषयक ही चित्त रहता है वैसे ही निद्रा में भी अतः यह समाधि के अनुकूल ही है प्रतिकूल नहीं फिर इस का निरोध क्यों ?

उत्तर—एकाग्र तुल्य होने पर भी यह तामस होने से समाधिके प्रतिकूल अतएव निरोधार्ह है।

अनुभूतविषयासंमोषः स्मृतिः। प्रमाणादिकों से अनुभूत विषय में जो असंप्रमोष अचौर्य वह स्मरण है। संस्कारमात्रजन्य जो ज्ञान तत्कारण जो संस्कारकारणीभूत जो अनुभव उससे भाषित जो अर्थ स्मरण का अपना है उसमें अधिक का ग्रहण करना चौर्य है। पराये का ग्रहण चोरी है स्मरण चोर नहीं है अपने ही विषयमात्रका ग्रहण नहीं 'मुष स्तेये' इस धातु से सम्पूर्वक से घञ् करने से संप्रमोष बनता है पर स्मरण पूर्वानुभव मर्यादा का अतिक्रम नहीं करता अर्थात् अनुभूत ही का ज्ञापक होता है इतर का नहीं अनुभूत से कदाचित् न्यून का ज्ञापक हो जाता है यदंश में संस्कार अनुद्बुद्ध वा अनुत्पन्न किम्वा प्रतिरुद्ध हुआ उसका स्मरण नहीं होता अर्थात् अपना छोड़ देता है पर परायेका ग्रहण नहीं करता। वृत्यन्तर से स्मृति में यह विशेष है। संशय करते है—क्या चित्त ज्ञान का स्मरण करता है या ग्राह्य विषय का ? किं प्रत्ययस्य—चित्तमित्यादि से। प्रत्ययस्य विषयस्येत्यादि में 'अधीगर्थदयेशां कर्मणि' से कर्म में षष्ठी है। स्मृति विषयज्ञानोभयविषयक होती है क्योंकि उभयविषयक स्मरण में उभयविषयक संस्कार कारण है सो युक्तम है।

गमाः प्रमाणानि त्रीणीति योगाः अन्तर्भावबहिर्भावाभ्यां सङ्कोचविकासौ द्रष्टव्यौ, अतएव तार्किकादीनां मतभेदाः। विपर्ययो मिथ्याज्ञानम्, तस्य पञ्चभेदाः, अविद्याऽस्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः त एव च क्लेशाः। शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्योऽवभासो विकल्पः, प्रमाभ्रमविलक्षणोऽसदर्थव्यवहारः शशविषाणमसत्पुरुषस्य चैतन्यमित्यादिः, अभावप्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रा, चतसृणां वृत्तीनामभावस्य प्रत्ययः कारणं तमोगुणस्तदालम्बना वृत्तिरेव निद्रा न तु ज्ञानाद्यभावमात्रमित्यर्थम्।

तीन प्रमाण योगी मानते हैं, अन्तर्भाव बहिर्भावभेद से संख्याभेद है उपमान का अनुमान में, अर्थापत्ति का केवल व्यतिरेकी अनुमान से, अभाव का प्रत्यक्ष में, अन्तर्भाव मान से उक्त तीन प्रमाण हैं। बहिर्भाव मानने से वैदिक मीमांसक वेदान्ती छै प्रमाण मानते हैं, फल में विशेष नहीं इसीसे तार्किक नैयायिक वैशेषिक के मतभेद हैं। नैयायिक ४ प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान शब्द प्रमाण मानते हैं, वैशेषिक शब्द उपमान में अन्तर्भाव कर दो २ ही प्रमाण मानते हैं। विपर्यय मिथ्याज्ञान है उनका पाँच भेद है अविद्या अस्मिता, रागद्वेष और अभिनिवेश ये ही क्लेश हैं 'शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्योऽवभासो विकल्पः' यह ज्ञान भ्रम प्रमा से विलक्षण है इसमें अत्यन्त असत् अर्थ का व्यवहार होता है। भ्रम में अन्यत्र विद्यमान पूर्वदृष्टि का भान होता है अथवा अनिर्वचनीय प्रातिभासिक रजतादि का इसमें अत्यन्त अप्रसिद्ध अतएव अदृष्टपूर्व अत्यन्तासत् का व्यवहार होता है—यथा शशविषाणं पुरुषस्य चैतन्यमित्यादि। अभावप्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रा' चारों वृत्तियों के अभाव का कारण तमोगुण है। तदाश्रयावृत्ति निद्रा है ज्ञानाभावमात्र नहीं।

प्रश्न—घटमात्र का 'अयं घटः' यह अनुभव है अनुभवविषयक यह नहीं है अतः तज्जन्य विषय मात्रका संस्कार होगा उससे विषय का ही स्मरण होगा ज्ञान का नहीं ?

उत्तर—ग्राह्योपरक्तेत्यादि। 'घटमहं जानामि' इस अनुव्यवसाय में केवल ज्ञान का भान नहीं है किन्तु विषय घटपटादि विशिष्ट ज्ञान का अनुव्यवसायात्मक अनुभव है अतः तज्जन्य संस्कार उभयविषयक होने से ज्ञानविषयोभयविषयक स्मरण होता है।

प्रश्न—व्यवसायरूप वृत्ति को स्वप्रकाश मानकर तज्जन्योभयविषयक संस्कार हो सकता है अनुव्यवसाय पर्यन्तानुसरण व्यर्थ है ?

उत्तर—कर्म कर्तृ विरोध से व्यवसाय अपना अनुभव नहीं कर सकता। अननुभूत का संस्कार नहीं होता अतः अनुव्यवसाय आवश्यक है अधिक योगभाष्यादि में देखिये।

अनुभूतविषयासम्प्रमोषः स्मृतिः पूर्वानुभवसंस्कारजं ज्ञानमित्यर्थः; सर्ववृत्तिजन्यत्वादन्ते कथनम् लज्जादिवृत्तीनामपि पञ्चस्वेवान्तर्भावो द्रष्टव्यः। एतादृशा सर्वासां चित्तवृत्तीनां निरोधो योग इति च समाधिरिति च कथ्यते फलसङ्कल्पस्तु रागाख्यस्तृतीयो विपर्ययभेदस्तन्निरोधमात्रमपि गौण्या वृत्त्या योग इति संन्यास इति न विरोधः ॥ २ ॥

म० टी०—तत् किं प्रशस्तत्वात् कर्मयोग एव यावज्जीवमनुष्ठेय इति नेत्याह—**आरुरुक्षोरिति।** योगमन्तःकरणशुद्धिरूपं वैराग्यमारुरुक्षोरारोढुमिच्छोर्न त्वारूढस्य मुनेः भविष्यतः कर्मफलतृष्णात्यागिनः कर्म शास्त्रविहितमग्निहोत्रादि नित्यं भगवदर्पणबुद्ध्या कृतं कारणं योगारोहणे साधनमनुष्ठेयमुच्यते वेदमुखेन मया योगारूढस्य योगमन्तःकरणशुद्धिरूपं वैराग्य-

---

अनुभूतविषयासंप्रमोष प्रत्यय स्मृति है, पूर्वानुभवसंस्कारजन्य ज्ञान यह स्पष्ट अर्थ है। प्रत्यक्षानुमानादि सकलवृत्तिजन्य होने से स्मरण का सब वृत्तियों के अन्त में निर्देश किया है। लज्जादिवृत्तियों का उक्त पञ्चक में अन्तर्भाव है। इन सब वृत्तियों के निरोध योग और समाधि इन शब्दों से व्यवहृत होता है। फल संकल्प भी रागाख्य रागनामक तीसरा विपर्यय विशेष है तदीय निरोधमात्र भी गौणी वृत्ति से योग और संन्यास से कहा जाता है। रागाख्य-वृत्ति यदि पृथक होती तो पाँच ही मनोवृत्तियाँ हैं इस कथन से विरोध होता है। यदि इसका विपर्यय में अन्तर्भाव हो जाता तो पाँच प्रकार की मनोवृत्तियाँ हैं यह कहना अटल रहता है जिसको वेदों ने संन्यास कहा है हे पाण्डव! उसको कर्मयोग समझो यह कथन कर्मयोग और संन्यास के अभेदाभिप्राय से नहीं है किन्तु माणवक में सिंहशब्द प्रयोग के समान निष्काम कर्म में संन्यास शब्द का प्रयोग उक्त कर्म प्राशस्त्य सूचनार्थ है ॥ २ ॥

तो क्या कर्मयोग प्रशस्त है इसलिए यावज्जीवन इसी का अनुष्ठान करना चाहिए? नहीं, योग अन्तःकरणशुद्धिरूप वैराग्य आरुरुक्षु के लिए है तदारूढ के लिए नहीं। भावि मुनि जो कर्मफल तृष्णा त्यागी है शास्त्रविहित अग्निहोत्रादि कर्म भगवदर्पणबुद्धि से किया है वही योगारोहण में हेतु है। वेद द्वारा उसी को मैंने अनुष्ठेय कहा है अन्तःकरणशुद्धि योगाख्य वैराग्यारूढ हो गया है अर्थात् इस

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते ।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ॥ ४ ॥

और जिस कालमें न तो इन्द्रियोंके भोगोंमें आसक्त होता है, उस कालमें सर्व संकल्पों का त्यागी पुरुष योगारूढ़ कहा जाता है ॥ ४ ॥

प्राप्तवतस्तु तस्यैव पूर्वं कर्मिणोऽपि सतः शमः सर्वकर्मसंन्यास एव कारणमनुष्ठेयतया ज्ञानपरिपाकसाधनमुच्यते ॥ ३ ॥

म० टी०—कदा योगारूढो भवतीत्युच्यते---यदा हीति। यदा यस्मिन् चित्तसमाधानकाले इन्द्रियार्थेषु शब्दादिषु कर्मसु च नित्यनैमित्तिककाम्यलौकिकप्रतिषिद्धेषु नानुषज्यते तेषां मिथ्यात्वदर्शनेनात्मनोऽकर्त्रभोक्तृपरमानन्दाद्वयस्वरूपदर्शनेन च प्रयोजनाभावबुद्ध्याऽहमेतेषां कर्ता ममैते भोग्या इत्यभिनिवेशरूपमनुषङ्गं न करोति हि यस्मात्सर्वसङ्कल्पानामिदं मनोवृत्तिविशेषाणां तद्विषयाणां च काम्यानां च कर्मणां त्यागशीलः तदा शब्दादिषु कर्मसु चानुषङ्गस्य तद्धेतोश्च सङ्कल्पस्य योगारोहणप्रतिबन्धकस्याभावात् योगं समाधिमारूढो योगारूढ इत्युच्यते ॥ ४ ॥

वैराग्य को प्राप्त कर चुका है उसी उक्त कृतकर्मी को शम सर्वकर्मसंन्यास ही ज्ञान परिपाक का मोक्षाभिव्यक्ति साधन है उसी का अनुष्ठान युक्त है यही मैंने कहा है ॥ ३ ॥

कब योगारूढ़ होता है यह कहते हैं–यदेति से। जिस चित्तसमाधिकाल में इन्द्रियार्थ शब्द स्पर्शादि में तथा नित्य नैमित्तिक काम्य लौकिक प्रतिषिद्धों में अनुरक्त न हो कारण उनमें दृढ़ मिथ्यात्व निश्चय होने से आत्मा अकर्ता अभोक्ता परमानन्द अद्वितीय है इस निश्चय से प्रयोजनाभाव बुद्धि से मैं इनका कर्त्ता हूँ ये मेरे भोग्य हैं यह अभिनिवेश आग्रहरूप अनुषङ्ग सम्बन्ध नहीं करता यतः सर्व संकल्प सन्यासी सब संकल्पों का यह मेरा कर्तव्य है यह मेरा भोक्तव्य है एवं भूत मनोवृत्ति विशेषों का तथा तद्विषयों के कर्तों का और तत्साधन कर्मों का त्यागी होता है तब शब्दादि विषयों में तद्धेतु कर्मों में अनुषङ्ग तथा तत्कारण संकल्प वस्तुतः ये ही दोनों योगारोहण के प्रतिबन्धक हैं इनके अभाव से योगसमाधि में योगारुढ़ कहा जाता है ॥ ४ ॥

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥ ५ ॥

और यह योगारूढ़ता कल्याण में हेतु कही है, इसलिये मनुष्यको चाहिये कि, अपने द्वारा आपका संसारसमुद्र से उद्धार करे और अपने आत्माको अधोगति में न पहुँचावे, क्योंकि यह जीवात्मा आप ही तो अपना शत्रु है, अर्थात् और कोई दूसरा शत्रु या मित्र नहीं है ॥ ५ ॥

म० टी० यो यदैवं योगरूढो भवति तदा तेनात्मनैवात्मोद्धृतो भवति संसारानर्थव्रातादित्याह-उद्धरेदिति । आत्मना विवेकयुक्तेन मनसा आत्मानं स्वं जीवं संसारसमुद्रे निमग्नं तत उद्धरेत् उत् ऊर्ध्वं हरेत् विषयासङ्गपरित्यागेन योगारूढतामापादयेदित्यर्थः न तु विषयासङ्गेनात्मानमवसादयेत् संसारसमुद्रे मज्जयेत् हि यस्मादात्मैवात्मनो बन्धुर्हितकारी संसारबन्धनान्मोचनहेतुः न्यायः कश्चिल्लौकिकस्य बन्धोरपि स्नेहानुबन्धेन बन्धहेतुत्वात् आत्मैव नान्यः कश्चित्

जो जिसकाल में योगारूढ़ होता है उसीकाल में उसने सांसारिक दुःख समूह से अपने से अपना उद्धार किया, कर लिया। यहाँ प्रथम आत्मविवेकयुक्त मनःपरक है द्वितीय आत्मशब्द जीव परक है विवेकी मन से संसाररूपी समुद्र में डूबे हुए स्वस्वरूप जीव का उद्धार करे अन्तस्तल से ऊपर निकाले विषयों की आसक्ति को त्याग कर योगारूढ हों विषयासक्तिद्वारा आत्मा का अवसाद समुद्र में डुबावे नहीं, क्योंकि आत्मा उक्त विवेका निष्ठ मन ही आत्म-जीव का परम हितकारी होने से वास्तविक बन्धु है अर्थात् संसारबन्धन से मुक्त कराने का हेतु है दूसरा लौकिक बन्धु उक्त बन्ध से छुड़ा नहीं सकता अतः वह पारमार्थिक बन्धु नहीं प्रत्युत लौकिक बन्धु स्नेहादि द्वारासंसार बन्धन हेतु होने से तदाभास है तथा आत्मा ही दूसरा कोई नहीं अहितकारी विषय बन्धन गृहप्रवेश द्वारा कोषकार-कीटविशेष के समान अपना जीव का शत्रू है।

प्रश्न—बाह्य भी शत्रु होते ही हैं फिर आत्मा ही यह अवधारण कैसे संगत हो सकता है ?

उत्तर—बाह्य शत्रु भी मन ही से बनते हैं कोई जन्म से ही मनुष्य का मनुष्य शत्रु नहीं होता किन्तु विरोध से मित्र भी शत्रु बन जाता है विरोध विषयासक्ति

बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः ।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥ ६ ॥

उस "जीवात्माका" तो वह आप ही मित्र है, कि जिस जीवात्माद्वारा मन और इन्द्रियोंसहित शरीर जीता हुआ है और जिसके मन और इन्द्रियोंसहित शरीर नहीं जीता गया है, उसका वह आप ही शत्रु के सदृश शत्रुतामें वर्तता है ॥ ६ ॥

रिपुः शत्रुरहितकारी विषयबन्धनागारप्रवेशककोशकार इवात्मनः स्वस्य बाह्यस्यापि रिपोरात्मप्रयुक्तत्वाद्युक्तमवधाणमात्मैव रिपुरात्मन इति ॥ ५ ॥

म० टी०—इदानीं किं लक्षण आत्मात्मनो बन्धुः किं लक्षणो वात्मनोरिपुरित्युच्यते—**बन्धुरिति**। आत्मा कार्यकरणसंघातो येन जितः स्ववशी कृतः आत्मनैव विवेकयुक्तेन मनसैव न तु शस्त्रादिना तस्यात्मा स्वरूपमात्मनो बन्धु रुच्छृङ्खलप्रवृत्त्यभावेन स्वहितकरणात् अनात्मनस्तु अजितात्मन इत्येतत् शत्रुत्वे शत्रुभावे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् बाह्यशत्रुरिवोच्छृङ्खलप्रवृत्त्या स्वस्य स्वेनानिष्टाचरणात् ॥ ६ ॥

द्वारा ही होता है यह प्रसिद्ध है। जिसका मन विषयासक्ति से पराङ्मुख होकर अन्तर्मुख हो जाय तो उसके बाह्य शत्रु कहाँ, अतः ठीक ही कहा बाह्य शत्रु भी मनः प्रयुक्त ही होते हैं अतः यह बहुत ठीक है मन ही आत्मा का बन्धु है और मन ही आत्मा का शत्रु है ॥ ५ ॥

इस समय कीदृश आत्मा-मन आत्मा--जीव का बन्धु है कीदृश आत्मा आत्मा का शत्रु है। ज्ञापक चिह्न को लक्षण कहते हैं यथा उष्णस्पर्श अग्नि का लक्षण है तथा प्रकृति में किस लक्षण से मन बन्धु या शत्रु समझा जाता है, इसपर बन्धुरियादि से उत्तर देते हैं। आत्मा कार्य शरीर करण इन्द्रियाँ एतदुभयात्मक संघात जिसने अपने वश में कर लिया विवेकी मन से ही शास्त्रादि से नहीं मन ही विवेकशील स्वयं उक्त संघात को जीत लिया है वही आत्मा, आत्मा–जीव का बन्धु है क्योंकि निर्मर्याद प्रवृत्तिकर न होने से जीव का हितकारी है जो जितेन्द्रिय है वही मन बन्धु है जो मन उक्त संघात की विजयी नहीं है वह मन अजितात्मा है उन अजितात्मा मन में शत्रुभाव शत्रुत्व का व्यवहार अर्थात् बाह्य शत्रुवद्व्यवहार करेगा बाह्य शत्रु जैसे उच्छृंखलप्रवृत्ति से अनिष्ट करता है वैसे यह मन अपने से ही अपना अनिष्टकारी है ॥ ६ ॥

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः ॥ ७ ॥
ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः ।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः ॥ ८ ॥

और हे अर्जुन ! सर्दी गर्मी और सुख दुःखादिकोंमें तथा मान और अपमानमें, जिसके अन्तःकरणकी वृत्तियां अच्छी प्रकार शान्त हैं, अर्थात् विकार रहित हैं ऐसे स्वाधीन आत्मावाले पुरुषके ज्ञानमें सच्चिदानन्दघन परमात्मा सम्यक् प्रकारसे स्थित हैं, अर्थात् उसके ज्ञानमें परमात्मा के सिवाय अन्य कुछ है ही नहीं ॥ ७ ॥

और ज्ञान विज्ञानसे तृप्त है अन्तःकरण जिसका तथा विकाररहित है स्थिति जिसकी और अच्छी प्रकार जीती हुई हैं इन्द्रियां जिसकी तथा समान है मिट्टी, पत्थर और सुवर्ण जिसके, वह योगी युक्त अर्थात् भगवत्की प्राप्तिवाला है ऐसे कहा जाता है ॥ ८ ॥

म० टी०—जितात्मनः स्वबन्धुत्वं विवृणोति—जितात्मन इति। शीतोष्णसुखदुःखेषु चित्तविक्षेपकरेषु सत्स्वपि तथा मानापमानयोः पूजापरिभवयोश्चित्तविक्षेपहेत्वोः सतोरपि तेषु समत्वेनेति शेषः । जितात्मनः प्रागुक्तस्य जितेन्द्रियप्रशान्तस्य सर्वत्र समबुद्ध्या रागद्वेषशून्यस्य परमात्मा स्वप्रकाशज्ञानस्वभावः आत्मा समाहितः समाधिविषयो योगारूढो भवति परमिति वा छेदः जितात्मनः प्रशान्तस्यैव परं केवलमात्मा समाहितो भवति नान्यस्य तस्माज्जितात्मा प्रशान्तश्च भवेदित्यर्थः ॥ ७ ॥

जितात्मा स्वविजित मन बन्धु है इसीका विवरण करते हैं—चित्त के विक्षेप चंचल करने वाले शीतोष्ण सुखादि रहने पर भी तथा चित्त विक्षेप कर मानापमान आदर अनादर होनेपर भी उनमें सम बुद्धि जितात्मा को होती है जितेन्द्रिय अतः प्रशान्तात्मा सब विषयों में साम्य बुद्धि होने से राग द्वेष शून्य होकर परमात्मा स्वप्रकाश ज्ञान स्वभाव समाहित समाधि विषय होता है अर्थात् वही योगारूढ होता है अथवा परमात्मा इति छेदः । परमात्मा शुद्ध तत्पदार्थ समाहित साक्षादात्मस्वरूप प्रतीत होता है वही जीवन्मुक्त होता है जिसने कार्य करण संघातरूप आत्मा को जीत लिया है उसी का केवल आत्मा समाहित होता है दूसरे का नहीं अतः जितात्मा और प्रशान्त होना चाहिए ॥ ७ ॥

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥ ९ ॥

और जो पुरुष सुहृद्, स्वार्थरहित सबका हित करनेवाला, मित्र, वैरी, उदासीन पक्षपातरहित, मध्यस्थ दोनों ओरकी भलाई चाहनेवाला, द्वेषी और बन्धुगणोंमें तथा धर्मात्माओंमें और पापियोंमें भी समान भाववाला, है वह अति श्रेष्ठ है ॥ ९ ॥

म० टी०—किंच ज्ञानेति । ज्ञानं शास्त्रोक्तानां पदार्थानामौपदेशिकं ज्ञानं विज्ञानं तत्प्रामाण्यशङ्कानिराकरणफलेन विचारेण तथैव तेषां स्वानुभवेनापरोक्षीकरणं ताभ्यां तृप्तः संजातालम्प्रत्यय आत्मा चित्तं यस्य स तथा कूटस्थो विषयसन्निधानेऽपि विकारशून्यः, अत एव विजितानि रागद्वेषपूर्वकाद्विषयग्रहणाद्व्यावर्तितानीन्द्रियाणि येन सः, अत एव हेयोपादेयबुद्धिशून्यत्वेन समानि मृत्पिण्डपाषाणकाञ्चनानि यस्य सः योगी परमहंसपरिव्राजकः परवैराग्ययुक्तो योगारूढ इत्युच्यते ॥ ८ ॥

म० टी०—सुहृन्मित्रादिषु समबुद्धिस्तु सर्वयोगिश्रेष्ठ इत्याह सुहृन्मित्रेति । सुहृत्प्रत्युपकारमनपेक्ष्य पूर्वस्नेहं संबन्धं च विनैवोपकर्ता, मित्रं

और भी सुनिये ज्ञानशास्त्रीय पदार्थों का गुरूपदेशपूर्वक परोक्षशाब्दबोधात्मकज्ञान इससे अप्रामाण्यशंका निराकरणार्थ स्वयं विचार करना। विचार का फल है संशय निवृत्ति इसके होने पर उपदिष्टार्थ में प्रामाण्य ग्रहण होता है इससे जैसा सुना है वैसे ही अपने अनुभव से प्रत्यक्ष करना। उपदेश और प्रत्यक्ष इन दोनों ज्ञान विज्ञानों से तृप्त अब इस विषय का पूरा परिज्ञान हो चुका है इसमें कुछ विचारणीय विषय नही है संजातालंप्रत्यय का यही भाव है। संजात-समुत्पन्न अलं प्रत्यय पूर्णज्ञान तद्विषय में जिस मन में ईदृश चित्त है जिसका वही संजातालंप्रत्यय पुरुष है इस विषय का पूर्ण विचार हो चुका है यही तत्त्व है। अब यहाँ कुछ विचारणीय अंश नहीं रह गया है वह कूटस्थ अविकारशील शब्दादिविषयसमीप में रहने पर तत्प्रयुक्त विकारशून्य अतएव इन्द्रियविजयी अर्थात् इष्टानिष्टों से रागद्वेष पुरस्सर इन्द्रियों को जिसने पृथक् कर लिया है यह पुरुष हेयोपादेय बुद्धि रहित होनेसे तुल्य है। मिट्टीका टुकड़ा पत्थर का रोड़ा सुवर्ण का खण्ड बराबर है जिसको वह योगी परमहंस परिव्राजक परमवैराग्ययुक्त योगारूढ़ कहा जाता है ॥ ८ ॥

सुहृन्मित्रादि में समबुद्धि तो सब योगियों में श्रेष्ठ है यह कहते हैं— सुहृदित्यादि से। बदले में मेरा भी समयपर उपकार करेगा इसकी अपेक्षा न कर

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः ।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥ १० ॥

इसलिये उचित है कि, जिसका मन और इन्द्रियों सहित शरीर जीता हुआ है ऐसा वासनारहित और संग्रहरहित योगी अकेला ही एकान्त स्थानमें स्थित हुआ निरन्तर आत्माको परमेश्वरके ध्यानमें लगावे ॥ १० ॥

स्नेहेनोपकारकः, अरिः कृतोपकारमनपेक्ष्य स्वभावक्रौर्येणापकर्ता, उदासीनो-विवदमानाविवदमानयोरुभयोरप्युपेक्षकः, मध्यस्थो विवदमानयोरुभयोरपि हितैषी, द्वेष्यः स्वकृतापकारमपेक्ष्यापकर्ता, बन्धुः संबन्धेनोपकर्ता एतेषु साधुषु शास्त्रविहितकारिषु पापेषु शास्त्रप्रतिषिद्धकारिष्वपि चकारादन्येषु च सर्वेषु समबुद्धिः कः कीदृक्कर्मेत्यव्यापृतबुद्धिः सर्वत्र रागद्वेषशून्यः विशिष्यते सर्वत-उत्कृष्टो भवति विमुच्यत इति वा पाठः ॥ ९ ॥

म० टी०—एवं योगारूढस्य लक्षणं फलं चोक्त्वा तस्य साङ्गं योगं विधत्ते—योगीत्यादिभिः 'स योगी परमो मतः' इत्यन्तैस्त्रयोविंशत्या श्लोकैः। तत्र

और पूर्व के प्रेम तथा सम्बन्ध के बिना जो उपकार करता है वह सुहृत् है। स्नेह से जो उपकार करता है वह मित्र है। पूर्व किये अपकार की अपेक्षा न कर अर्थात् उसका पूर्व में कुछ भी अपकार नहीं किया गया है फिर भी क्रूरस्वभाव से अप-कारकर्त्ता अरि कहाता है। (उदासीन) झगड़ेवाले दोनों की उपेक्षा करने वाला दोनों में किसी का पक्षपाती नहीं, दोनों का हितैषी वह मध्यस्थ है।

द्वेष्य—स्वकृत अपने अपकार की अपेक्षा कर बदला चुकाने की बुद्धि से अपकारकर्त्ता।

बन्धु—सम्बन्धनिमित्तक उपकारकारी। इनमें तथा शास्त्रविहित कर्म करने वाले साधुओं में शास्त्रप्रतिषिद्धकर्मकारी पापियों में, चकार से अन्य सब पुरुषों में समबुद्धि कौन क्या करता है इस अनुसन्धान से रहित सब में रागद्वेषशून्य विशिष्ट—सबसे उत्कृष्ट होता 'विमुच्यते' यह भी पाठ है तो वह संसारबन्धन से विमुक्त होता है ॥ ९ ॥

इस प्रकार योगारूढ़ का लक्षण तथा फल कहकर उसको साङ्गयोग का विधान करते हैं—योगीत्यादि से 'स योगी परमो मत' इत्यन्त तेईस २३ श्लोकों

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥ ११ ॥
तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥ १२ ॥

कैसे कि शुद्ध भूमिमें कुशा, मृगछाला और वस्त्र हैं उपरोपरि जिसके ऐसे अपने आसन को, न अति ऊंचा और न अति नीचा स्थिर स्थापन करके ॥ ११ ॥

और उस आसनपर बैठकर तथा मनको एकाग्रकरके, चित्त और इन्द्रियोंकी क्रियाओंको वशमें किया हुआ अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये योगका अभ्यास करे ॥ १२ ॥

एवमुक्तफलप्राप्तये योगीति योगी। योगारूढः आत्मानं चित्तं सततं निरन्तरं युञ्जीत क्षिप्तमूढविक्षिप्तभूमिपरित्यागेनैकाग्रनिरोधभूमिभ्यां समाहितं कुर्यात् रहसि गिरिगुहादौ योगप्रतिबन्धकदुर्जनादिवर्जितदेशे स्थितः एकाकी त्यक्तसर्वगृहपरिजनः संन्यासी चित्तमन्तःकरणमन्तः देहश्च संयतौ योगप्रतिबन्धकव्यापारशून्यौ यस्य स यतचित्तात्मा यतो निराशीर्वैराग्यदार्ढ्येन विगततृष्णः अतएव चापरिग्रहः शास्त्राभ्यनुज्ञातेनापि योगप्रतिबन्धकेन परिग्रहेण शून्यः ॥ १० ॥

से। उत्तमफलप्राप्ति के लिये योगी योगारूढ़, आत्मा चित्त, आत्मशब्द यहाँ चित्तपरक है सतत अनवरत (लगातार) योग करे, क्षिप्त, मूढ, विक्षिप्त भूमि से चित्त को हटाकर एकाग्र निरुद्ध भूमि से युक्त करे। एकान्त में निर्जनप्रदेशमें पर्वत की गुफादि में योग प्रतिबन्धक दुर्जनादिशून्यप्रदेश में रहकर अकेला सब का त्याग कर संन्यासी होकर चित्तअन्तः करण, आत्मादेह ये दोनों संयत योगप्रतिबन्धक व्यापार शून्य हैं जिसके वही यत चित्तात्मा है जिससे निराशी पर वैराग्य की दृढ़ता से विगत तृष्ण सब विषय की कामना से रहित इसी से अपरिग्रह सिद्ध होता है।

शंका—अपरिग्रह कहने का क्या भाव है ?

उत्तर—अनेक झोला पुस्तकादि परिग्रहशून्य हो समयान्तरोपयोगिविषयों का संग्राहो न हो तात्कालिक अत्यावश्यक वस्तु मात्र का संग्रह निश्चित नहीं है शास्त्र सम्मत भी योग प्रतिबन्धक परिग्रह शून्य हो यद्यपि अनेक कन्था पुस्तकादि का परिग्रह शास्त्र से अभ्यनुज्ञात है तथापि चित्त विक्षेपकर होने से एकाग्रता में प्रतिबन्धक है अतः उनका त्याग ही श्रेयान है ॥ १० ॥

म० टी०—तत्रासननियमं दर्शयन्नाह द्वाभ्यां शुचावित्यादिना। शुचौ देशे शुचौ स्वभावतः संस्कारतो वा शुद्धे जनसमुदायरहिते निर्भये गङ्गातटगुहादौ देशे समे स्थाने प्रतिष्ठाप्य स्थिरं निश्चलं नात्युच्छ्रितं नात्युच्चं नाप्यतिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरं चैलं मृदुवस्त्रं अजिनं मृदुव्याघ्रादिचर्म च कुशेभ्य उत्तरे उपरितने यस्मिन् तदास्यतेऽस्मिन्नित्यासनं कुशमयवृष्युपरि मृदुचर्म तदुपरि मृदुवस्त्ररूपमित्यर्थः। तथा चाह भगवान्–पतञ्जलिः स्थिरसुखमासनमिति। आत्मन इति परासनव्यावृत्त्यर्थं तस्यापि परेच्छानियमाभावेन योगविक्षेपकरत्वात् एवमासनं प्रतिष्ठाप्य किं कुर्यादिति तत्राह तस्मिन्नासने उपविश्यैव न तु शयानस्तिष्ठन्वा आसीनः संभवादिति न्यायात् यताः संयता उपरताश्चित्तस्येन्द्रि-

योग करे यह कहाँ कहाँ पर कैसे करे ऐसी आकाङ्क्षा होने पर तदङ्ग आसनादि नियम को कहते हैं—शुचौ देशे इत्यादि दो श्लोंको से। आसन नियम दिखलाते हैं और कहते हैं—शुचि दो प्रकार की होती हैं स्वतः स्वभावतः अथवा परिमार्जनादि से, दोनों में कोई भी हो पवित्र देश में जन समुदाय रहित निर्भय देहिसंग जन्तु से शून्य गंगातट गिरि गुहादि देश में सम स्थान में ऊंचा नीचा स्थान न हो समतल हो उसमें स्थिर निश्चल न अति ऊँचा और न अति नीचा हो 'चैलाजिनकुशोत्तर आसन रक्खे, चैल-कोमल वस्त्र, अजिन कोमल व्याघ्रादि चर्म, ये दोनों कुशासन के ऊपर रहे 'उपरि उपरि आस्यते अस्मिन् इति आसनम् कुशासन के ऊपर व्याघ्र चर्मासन, उसके ऊपर मृदु वस्त्रासन होना चाहिये। 'चैलाजिने कुशेभ्य उत्तरोत्तरेसः यास्मिन्' इस विग्रह से पूर्व चैलासन तदुपरिव्याघ्र चर्मासन तदुपरि कुशासन रखना ऐसा प्रतित होता है पर इस प्रकार का आसन सुखद नहीं हो सकता इसलिए ते वस्त्राजिने कुशेभ्य उत्तरे उपरितने यस्मिन् यह विग्रह पूर्वोक्तसमीचीनार्थ लाभ के लिए मूलकार ने दिखलाया है। स्वोक्त समास से लब्ध अर्थ को स्फुट करते हैं—कुशमयेत्यादि से। यही योगसूत्रकार भगवान पतञ्जलि ने कहा है–'स्थिर सुखमानसनम्' इति अपना आसन हो आसन में अपना विशेषण पराये आसन कीव्यावृत्ति के लिए है दूसरे की इच्छा नियत नहीं हो सकती न जाने कब कहें कि मेरा आसन देदो यह सन्देह चित्त विक्षेपकर होने से योग में प्रतिबन्धक है इसलिए ठीक ही कहा अपना आसन ॥ ११ ॥

याणां च क्रियावृत्तयोयेन संयतचित्तेन्द्रियक्रियः सन् योगं समाधिं युञ्जीताभ्यसेत् किमर्थं आत्मविशुद्धये आत्मनोऽन्तःकरणस्य सर्वविक्षेपशून्यत्वेनातिसूक्ष्मतया ब्रह्मसाक्षात्कारयोग्यतायै 'दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिरिति' श्रुतेः किं कृत्वा योगमभ्यसेदिति तत्राह एकाग्रं राजसतामसव्युत्थानाख्यप्रागुक्तभूमित्रयपरित्यागेनैकविषयकधारावाहिकानेकवृत्तियुक्तमुद्रिक्तसत्त्वं मनः कृत्वा दृढभूमिकेन प्रयत्नेन संपाद्य एकाग्रताविवृद्धयर्थं योगं संप्रज्ञातसमाधिमभ्यसेत् सच ब्रह्माकारमनोवृत्तिप्रवाह एव निदिध्यासनाख्यः तदुक्तं ।

'ब्रह्माकारमनोवृत्तिप्रवाहोऽहंकृतिं विना
संप्रज्ञातसमाधिः स्याद्ध्यानाभ्यसप्रकर्षतइति'

इस प्रकार आसन बिछाकर क्या करना चाहिए इसमें कहते हैं—वह उस आसन पर बैठकर ही सो कर या खड़ा होकर नहीं बैठकर ही योग का सम्भव है यह न्याय है सम्भवतः बैठना स्वतः प्राप्त है उसी का अनुवाद 'आसीनः' है विधि नहीं। संयत सम्यक नियन्त्रित है स्व स्व विषय ग्रहण व्यावृत्त है चित्त और इन्द्रियों की वृत्तियाँ जिसकी वह यतजित्तेन्द्रिय होकर योग समाधि करे उसका अभ्यास पुनः आवर्तन करे।

प्रश्न--क्यों ऐसा करे ?

उत्तर--आत्मा की शुद्धि के लिए, आत्मा अन्तः करण सब विक्षेपों से रहित होने से अति सूक्ष्म चित्त होगा अत उसमें ब्रह्मसाक्षाकार करने की योग्यता उत्पन्न होगी तदर्थ समाधि आवश्यक है इसमें 'दृश्यते त्वग्रया बुद्ध्या' इत्यादि श्रुति प्रमाण है

प्रश्न—क्या करके योगाभ्यास करे ?

उत्तर—एकाग्र मनकर राजस तामस व्युत्थान नामक पूर्वोक्त भूमित्रय का परित्याग कर एक विषयक धाराबाहिक अनेक वृत्तियुक्त अतएव उपचित सत्त्व मन करके जिस विषय की वृत्ति हो उस विषय की वृत्ति लगातार होती रहे विषयान्तर की वृत्ति न हो यही योग का अभ्यास है। दृढ़ भूमिक प्रयत्न से तथाभूत मन का सम्पादन कर एकाग्रता बढ़ाने के लिए योग 'संप्रज्ञात' नामक समाधि का अभ्यास करे। यही संप्रज्ञात समाधि ब्रह्माकार मनोवृत्ति धारा ही निदिध्भासन कहाता है।

'ब्रह्माकारमनोवृत्तिप्रवाहोऽहं कृतिं विना ।
संप्रज्ञातसमाधिः स्यात् ध्यानाभ्यासप्रकर्षतः ॥ इति ।

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥ १३ ॥

उसकी विधि इस प्रकार है, कि काया, शिर और ग्रीवाको समान और अचल धारण किये हुए दृढ़ होकर, अपने नासिकाके अग्रभाग को देखकर, अन्य दिशाओंको न देखता हुआ ॥ १३ ॥

एतदेवाभिप्रेत्य ध्यानाभ्यासप्रकर्षं विदधे भगवान् योगी युञ्जीत सततं युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये युक्त आसीत मत्पर इत्यादि बहुकृत्यः ॥ ११ ॥ १२ ॥

म० टी०—तदर्थः बाह्यमासनमुक्ताऽधुना तत्र कथं शरीरधारण-मित्युच्यते समं कायेति। कायः शरीरमध्यं स च शिरश्च ग्रीवा च कायशिरोग्रीवं मूलाधारस्य मूर्धापर्यन्तं समम् अवक्रं अचलमकम्पं धारयन्नेकतत्त्वाभ्यासेन विक्षेपसहभाव्यंगमेजयत्वाभावं संपादयन् स्थिरः दृढ़प्रयत्नो भूत्वा किं च स्वं स्वीयं नासिकाग्रं संप्रेक्ष्यैव लयविक्षेपराहित्याय विषयप्रवृत्तिरहितोऽर्द्धनिमीलितनेत्रः

इसी के अनुरोध से ध्यानाभ्यास के प्रकर्ष का भगवान् ने विधान किया है 'योगी युञ्जीत सततम्' इत्यादि वाक्य से अनेकवार ॥ १२ ॥

योगार्थ बाह्यासन कह कर इस समग्र आसन पर कैसे शरीर धारण करे यह कहते हैं —कायः—शरीरमध्य वह और शिर ग्रीवा, कण्ठ ये काय शिरोग्रीव ये प्राण्यङ्ग होने से द्वन्द्वैकवद्भाव है। मूलाधार से लेकर मूर्द्धान्त पर्यन्त को सम सीधा कर टेढ़ा न कर अचल-कम्प रहित धारण करते हुए एक तत्त्व का ही अभ्यास से विक्षेप के साथ होने वाले अङ्गमें जेयत्व शरीर कम्पादि के अभाव का सम्पादन करते हुए दृढ़ प्रयत्न होकर अपने नासिका के अग्र भाग को देखकर ही लय विक्षेप राहित्य के लिए खुली आँख रखकर आँख मीचने पर निद्रा आ जायगी वह यदि स्वप्नात्मक होगी तो चित्त में विक्षेप होगा यदि सुषुप्त्यात्मक होगी तो चित्त का प्राण में लय हो जायगा ये दोनों योग विरोधी है अतःएतद् भावार्थ आँख खुली रहना ही ठीक है। अथवा निमीलित नेत्र होने से निद्रा उससे चित्त का लय हो जायगा अतः नासिकाग्र देखने का विधान है। 'अवलोकयन्नेव' विक्षेप व्यावृत्यर्थ 'दिशश्चानवलोकयन्' का विधान है। दिशाओं को देखकर नेत्र स्थित कोई भी वस्तु

प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः ।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः ॥ १४ ॥

और ब्रह्मचर्यके व्रतमें स्थित रहता हुआ भयरहित तथा अच्छी प्रकार शान्त अन्तःकरणवाला और सावधान होकर, मनको वश करके, मेरेमें लगे हुए चित्तवाला और मेरे परायण हुआ स्थित होवे ॥ १४ ॥

म० टी०—किंच प्रशान्तात्मेति । निदाननिवृत्तिरूपेण प्रकर्षेण शान्तः रागादिदोषरहितआत्मान्तःकरणं यस्य स प्रशान्तात्मा शास्त्रीयनिश्चय-दार्ढ्याद्विगतभीः सर्वकर्मपरित्यागे युक्तत्वायुक्तत्वशङ्का यस्य स विगतभीः ब्रह्म-चारिव्रते ब्रह्मचर्यगुरुशुश्रूषाभिक्षाभोजनादौ स्थितः सन् मनः संयम्य विषया-कारवृत्तिशून्यं कृत्वा मयि परमेश्वरे प्रत्यक्चिति सगुणे निर्गुणे वा चित्तं यस्य स मच्चित्तो मद्विषयकधारावाहिकचित्तवृत्तिमान् पुत्रादौ प्रिये चिन्तनीये प्राप्ते कथमेवं स्यादत आह मत्परः अहमेव परमानन्दरूपत्वात्परः पुरुषार्थः इत्यर्थः दिशश्चानवलोकयन् अन्तरान्तरा दिशां चावलोकनमकुर्वन् योगप्रतिबन्धकत्वात्तस्य एवंभूतः सन्नासीतेत्युत्तरेण संबन्धः ॥ १३ ॥

दीखपड़ने से विक्षेप अवश्यक हो जायगा अतः ठीक कहा कि दिशा को न देखना नासिकाग्र देखने के विषयान्तर की वृत्ति न हो एतदर्थ सकल तत्त्वाभ्यास में दृढ़ प्रयत्न कहा है मध्य मध्य में दिशाओं को न देखना, दिग्दर्शन भी योगका प्रतिबन्धक है एवंभूत होकर आसन पर बैठे रहना उत्तर—श्लोकस्थ 'आसती' क्रिया के साथ सम्बन्ध है ॥ १३ ॥

विशेषणान्तर भी कहते हैं—**किञ्च से** । निदान—राग द्वेषादि तन्निवृत्ति से प्रशान्त **है** आत्मा जिसका, आत्मा—अन्तःकरण विवक्षित है । प्रशान्त आत्मा में रागद्वेशादि का सम्भव ही नहीं शास्त्र के निश्चय की दृढ़ता से विगत निवृत्त है भी भय जिसका सब कर्मों के त्याग से योग होगा कि नहीं इस शंका से रहित अथवा सर्व कर्म परित्याग उचित है या नहीं इत्यादि शास्त्रीय सर्व कर्म परित्याग है अतः युक्त ही है इस निश्चय से असंदिग्ध बुद्धि विगत भीः । ब्रह्मचारि व्रत ब्रह्मचर्य गुरु शुश्रूषादि भिक्षा भोजन स्नान शौचादि के पालन में स्थित होकर मन संयम कर विषयाकार वृत्ति से रहित कर मयि-युक्त परमेश्वर में स्वयं प्रकाशित चैतन्य, सगुण

सति कथमेनं स्यादत आह—मत्परः, अहमेव परमानन्दरूपत्वात्परः पुरुषार्थः प्रियो यस्य स तथा 'तदेतत्प्रेयः पुत्रात्प्रेयो वित्तात्प्रेयोऽन्यस्मात्सर्वस्यान्तरतरो यदयमात्मेति श्रुतेः' एवं विषयाकारसर्ववृत्तिनिरोधेन भगवदेकाकारसर्ववृत्तियुक्तः संप्रज्ञातसमाधिमानासीतोपविशेद्यथाशक्ति न तु स्वेच्छया व्युत्तिष्ठेदित्यर्थः, भवति कश्चिद्रागी स्त्रीचित्तो न तु स्त्रियमेव परत्वेनाराध्यत्वेन गृह्णाति किं तर्हि राजानं वा देवं वा, अयं तु मच्चित्तो मत्परश्च सर्वाराध्यत्वेन मामेव मन्यत इति भाष्यकृतां व्याख्या व्याख्यातृत्वेपि मे नात्र भाष्यकारेण तुल्यता गुञ्जायाः किं नु हेम्नैकतुलारोहेपि तुल्यता ॥ १४ ॥

प्रश्न—प्रिय पुत्रादि चिन्तनीय रहनेपर परमेश्वर ही में धारा वाहिक चित्त वृत्ति कैसे हो सकती है ?

उत्तर—'मत्परः' मैं ही परमान्द स्वरूप होने से पर सर्वोत्कृष्ट पुरुषार्थ प्रिय हूँ जिसके वही 'मत्परः' है इस अर्थ में श्रुति प्रमाण कहते हैं—'तदेतत् प्रेयः पुत्रा इत्यादि, इस प्रकार विषयाकार सव वृत्तियों के निरोधद्वारा भगवदाकार चित्तवृत्ति युक्त होता है। संप्रज्ञात समाधिमान् होकर आसन पर वैठा रहे जव तक वैसी वैठने की शक्ति रहे शक्ति सहित होकर स्वेच्छा से उपरत न हो शक्ति न रहने पर व्युत्थान उचित ही है, ऐसा भी प्रकृत रागी स्त्रीचित्त होता है परन्तु फिर भी स्त्री को ही पर आराध्य मानता है यह योगी तो 'मच्चित्तः मत्परः' होकर सर्वाराध्य मुझको ही मानता है यह भाष्यकार की व्याख्या है।

प्रश्न—भाष्यकार का तात्पर्य है कि मच्चित्त से मत्पर का लाभ हो ही जाता है फिर तदुपादान का क्या तात्पर्य ?

उत्तर—'यथा कश्चित् रागी' इत्यादि, स्त्रीचित्त होने पर भी स्त्री को ही आराध्य नहीं मानता इसलिए 'मत्परः' यह विशेष के प्रकाशनार्थ आवश्यक है। गीता का व्याख्यान भाष्यकार ने किया है मैं भी किया हूँ। दोनों में व्याख्यातृत्व धर्म रहने पर भी भाष्यकार की समता मुझ में नहीं है जैसे गुञ्जा (घुंघुची) से सोना तौला जाता है यह तो लोक प्रसिद्ध है तौलने के समय तुला (तराजू) में दोनों साथ ही चढ़ते हैं, तो भी घुंघुची सोना के समान कीमती नहीं होती यह भी प्रसिद्ध ही है ॥ १४ ॥

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति ॥ १५ ॥

इस प्रकार आत्माको निरन्तर परमेश्वरके स्वरूपमें लगाता हुआ स्वाधीन मनवाला योगी मेरेमें स्थितरूप परमानन्द पराकाष्ठावाली शान्तिको प्राप्त होता है ॥ १५ ॥

म० टी०—एवं संप्रज्ञातसमाधिनासीनस्य किं स्यादित्युच्यते—युञ्जन्नेवमिति। एवं रहोऽवस्थानादिपूर्वोक्तनियमेनात्मानं मनो युञ्जन् अभ्यासवैराग्याभ्यां समाहितं कुर्वन् योगी सदा योगाभ्यासपरोऽभ्यासातिशयेन नियतं निरुद्धं मानसं मनो येन नियतानिरुद्धा मानसा मनोवृत्तिरूपा विकारा येनेति वा नियतमानसः सन् शान्तिं सर्ववृत्त्युपरतिरूपां प्रशान्तवाहितां निर्वाणपरमां तत्त्वसाक्षात्कारोत्पत्तिद्वारेण सकार्याविद्यानिवृत्तिरूपां मुक्तिपर्यवसायिनीं

उक्त रीति से सम्प्रज्ञात समाधिस्थ होने पर क्या होगा यह कहते हैं युञ्जन्नेवमित्यादिसे। पूर्वोक्त नियम से आत्मा मन को योगशील करता हुआ अभ्यास वैराग्य से मन को निरोधोन्मुख करता हुआ योगी सदा योगानुष्ठान परायण अभ्यासातिशय से नियत—निरुद्ध है मानस मन जिससे अथवा नियत निरुद्ध किया है मानस मनोवृत्तिरूप विकार जिसमें वह भी अर्थ विवक्षित हो सकता है। 'स्वान्तं हृन्मासं मनः' इस कोष से मानस, मन, दोनों पर्यायवाची हैं यथेच्छ किसी का प्रयोग किया जाता है तो भी लाघवानुसार मन ही का प्रयोग प्रायः गीता में देखा जाता है। यहाँ पर उक्तार्थ लाभ के लिए लाघवन्याय की उपेक्षा कर मानस कहा गया है 'मनसि भवा मानसा विकाराः' इस व्युत्पत्ति के तात्पर्य से द्वितीयार्थ है। वस्तुतः विषयाकार वृत्त्यादिनिरोध ही मन का नियन्त्रण है वह नियत कहने से गतार्थ हो जाता है इसलिये उक्त व्युत्पत्तिप्रदर्शन अनावश्यक है अतः अनास्थासूचक वा शब्द का प्रयोग है, अतएव भाष्यकार ने मानस का विवरण मन ही किया है अन्य व्याख्याकारों ने मानस का मन ही अर्थ किया है। नियतमानस होकर निखिलवृत्त्युपरतिरूपशान्ति तत्तद्विषयवृत्तियाँ ही मन में अशान्ति है तदभावरूप ही उनकी शान्ति है इसको प्रशान्तवाहिता कहते हैं। राजस तामस वृत्तियों से अनभिभूत गृहीतविषयक सात्त्विक चित्तप्रवाहरूप निर्वाण परमात्मतत्त्व साक्षात्कारोत्पत्तिद्वारा कार्य के साथ तत्कारणीभूत अविद्या

मत्संस्थां मत्स्वरूपपरमानन्दरूपां निष्ठामधिगच्छति न तु सांसारिकाण्यैश्वर्याणि अनात्मविषयसमाधिफलान्यधिगच्छति तेषामपवर्गोपयोगिसमाध्युपसर्गत्वात् तथा च तत्तत्समाधिफलान्युक्त्वाह भगवान् पतञ्जलिः 'ते समाधावुपसर्गाव्यु-

निवृत्तिरूप मुक्ति पर्यवसायी मत्संस्था मत्स्वरूप परमानन्दरूप निष्ठा को प्राप्त करता है। सांसारिक ऐश्वर्योंको जो अनात्मपदार्थ हैं तद्विषयक समाधि फल नहीं पाता क्योंकि ये अपवर्ग मोक्षसाधनभूत समाधि के प्रतिबन्धक हैं। सर्ववृत्त्युपरमरूप शान्ति में ही ये सब विशेषण हैं 'निर्वाण परमा मोक्षफला' इसमें हेतु हैं तत्त्वज्ञानोत्पत्तिद्वारा उक्त शान्तियुक्त चित्त में ही तत्त्वज्ञान की उत्पत्ति होती है। तत्त्वज्ञानोत्पत्ति से कार्य संसार इसके साथ अविद्या को निवृत्ति होती है, उपादानकी निवृत्ति से उपादेय कार्य निवृत्त होता है। अविद्या का साक्षाद् विरोध है विद्या अविद्या की समूल तत्कार्यनिवृत्ति करती है अविद्यानिवृत्ति अभाव अधिकरणस्वरूप माना जाता है एतदनुसार ब्रह्मस्वरूप ही अविद्या निवृत्ति है अतिरक्त नहीं अतएव—

'अविद्यास्तमयो मोक्षः सा च बन्ध उदाहृतः'।

यह वचन संगत होता है। इस अभिप्रायसे अविद्या निवृत्तिरूप मोक्ष पर्यवसायिनी कहा, उक्त शान्ति का अन्तिम फल मुक्ति है इसलिये मुक्ति पर्यवसायिनी ठीक ही है अविद्या निवृत्ति अभावस्वरूप होने से अपुरुषार्थ है इस मन्दाशंका की निवृत्ति के लिये मत्संस्था मत्स्वरूप परमानन्द 'मन्निष्ठा मयि भगवति चिदानन्दरूपे निष्ठा स्थितिः मदभिन्नात्मकस्थिति को प्राप्त करता है यह भाव है।

उक्त समाधि के प्रतिबन्धक अनात्म ऐश्वर्य हैं यह समाधि फल कहने के अनन्तर भगवान् पतञ्जलि ने स्पष्ट कहा है—(१) ते समाधाविति। अर्थात् तत्तत् समाधि फल समाधि में प्रतिबन्धक है। व्युत्थानकाल में सिद्धियाँ हैं।

१—आत्मविषयसंयम में प्रवृत्त योगी को आत्मसंयम के प्रभाव से किसी समय इन अर्थान्तर सिद्धियों को प्राप्तकर अपने को कृतकृत्य समझ कर योग से विरत हो जायगा इसलिये परमकारुणिक सूत्रकार योगियों को सावधान करने के लिये कहते हैं—'ते समाधौ उपसर्गाव्युत्थाने सिद्धयः अ० ३ सू० ३७ इति'। 'व्युत्थितचित्त' उनको सिद्धि मानता है—जैसे सुदामा के समान जन्मदरिद्र पुरुष दश पाँचरुपये को पाकर मानो खजाना पागये ऐसा समझता है समाहित चित्तयोगी को ये स्वयं प्राप्त सिद्धियाँ हेय हैं इनसे सदा विरत रहना चाहिये। आध्यात्मिक आधिदैविक आधिभौतिक दुःखत्रय का आत्यन्तिकनिवृत्तिरूप परमपुरुषार्थ मोक्षकाम वह योगी तद्विरोधिसिद्धियां में कैसे अनुरक्त होगा यह सूत्र भाष्य का अर्थ है।

स्थाने सिद्धय इति' (१) स्थान्युपनिमन्त्रणे सङ्गस्मयाकरणं पुनरनिष्टप्रसङ्गादिति च,स्थानिनो देवाः तथाचोद्दालको देवैरामन्त्रितोऽपि तत्र सङ्गमादरं स्मयं गर्वं च कृत्वा देवानवज्ञाय पुनरनिष्टप्रसङ्गनिवारणाय निर्विकल्पकमेव समाधिमकरो-दिति वसिष्ठेनोपाख्यायते मुमुक्षुभिर्हेयश्च समाधिः सूत्रितः पतञ्जलिना (२) वितर्कविचारानन्दास्मितानुगमात्संम्प्रज्ञातः सम्यक् संशयविपर्ययानध्य-

(१) स्थान्युपनिमन्त्रणेत्यादि यो० सू०। स्थानी देवता स्व स्व ऐश्वर्यों के ऊपर अधिकार करने के भय से उनके समाधि भङ्गार्थ योगियों को निमन्त्रण देते हैं जो उसको स्वीकार करते हैं वे परम पुरुपार्थ से वञ्चित हो जाते हैं जो नहीं स्वीकार करते वे परम पुरुपार्थ भागी होते हैं इसलिए योगसूत्रकारने योगियों को सावधान करने के लिए कहा है—'स्थानिन' इत्यादि। उद्दालक मुनि देवताओं से आमन्त्रित होने पर भी उसमें आदर तथा गर्व न कर देवतागणों को उपेक्षा अनादर कर पुन अनिष्टापत्तिप्रसङ्ग भय वारणार्थ निर्विकल्प समाधि ही की यह वशिष्ठ जी का उपाख्यान है। मुमुक्षुओं को समाधि भी हेय है एतदर्थक सूत्र पतञ्जलि ने रचा है—वितर्केत्यादि। संशय विपर्यय अनध्यवसाय निश्चयाभाव से रहित 'प्रज्ञायते' प्रकर्ष

(१)—'स्थान्युपनिमन्त्रणे सङ्गस्मयाकरणं पुनरनिष्टप्रसङ्गात्। अ० ३ सू० ५१ कहीं 'स्थान्यन्यनियन्त्रणे' यह पाठ है दोनों का अर्थ देवा यही है। चार प्रकार के योगी होतें हैं उनमें अभ्यासवान् प्रवृत्तमात्र जो है वह प्रथम है, 'ऋतंभरप्रज्ञ' दूसरा है, भूत और इन्द्रियों का विजयी तृतीय है अतिक्रान्त भावनीय चतुर्थ है। इनमें चौथा समाधि की सप्तविध प्रान्तभूमि की प्रज्ञा को प्राप्त हुआ है। मधुमतीसंज्ञक द्वितीयभूमिका साक्षात्कारि 'ऋतंभरप्रज्ञ' का निमन्त्रण स्थानी देवता करते हैं। दिव्यस्त्री वसनादिक से सत्कार करना चाहते हैं उसमें सङ्ग अभिलाष या स्मय आश्चर्य या अहङ्कार योगी को नही करना चाहिये। सङ्गका दुष्परिणाम तो स्पष्ट ही है विषय सेवी होने से मुक्ति मार्ग ही से प्रच्युत हो जायगा। समय से समाधि में शिथिल प्रयत्न होजायगा अपने को अहो! धन्य मैं हूँ ऐसा मानेगा देवता सत्कार कर रहे हैं इससे अधिक क्या करना है अतः संग स्मय दोनों योगी को नहीं करना चाहिये।

(२)—वितर्कविचारानन्दास्मितारूपानुगमात्संप्रज्ञातः। अ० १ सू० १७ संप्रज्ञातपूर्वक असंप्रज्ञात समाधि होती है इसलिये प्रथम संप्रज्ञात का निरूपण है संप्रज्ञात सामान्य वितर्क विचारानन्दास्मिता के स्वरूप के अनुगम से समझना यह श्रीवाचस्पति के अनुसार अर्थ है। योगवार्तिककार ने उक्तसूत्र में रूप का पाठ प्रामाणिक है ऐसा लिखा है, इसमें हेतु

वसायरहितत्वेन प्रज्ञायते प्रकर्षेण विशेषरूपेण ज्ञायते भाव्यस्वरूपं येन स संप्रज्ञातः समाधिर्भावनाविशेषः भावना हि भाव्यस्य विषयान्तरपरिहारेण चेतसि पुनः पुनर्निवेशनं भाव्यं च त्रिविधं ग्राह्यग्रहणग्रहीतृभेदात् ग्राह्यमपि

से विशेषरूप से ज्ञात होता है भाव्यरूप जिससे वह संप्रज्ञात समाधिभावना विशेष है, ध्येयस्वरूप का सविशेष दृढ़ निश्चय संप्रज्ञात समाधि से होता है, भावना को स्फुट करते हैं—भावनाहीत्यादि से। विषयान्तरवृत्ति निरासपूर्वक गृहीत ध्येय-विषयक निरन्तर चित्तवृत्त्युत्पाद ध्यानापरपर्याय भावना है। भाव्य तीन प्रकार का है—ग्राह्य ग्रहण, गृहीत, स्थूल सूक्ष्म भेद से ग्राह्य भी दो प्रकार का है यह योग

दिया है—'वितर्कविकलः सविचारः' इत्यादि भाष्यप्रयोग। इसमें रूपशब्द का प्रयोग नहीं है आद्यसूत्र में भी भाष्यकार का 'वितर्कानुगतः विचारानुगतः' ऐसा ही पाठ है चारो में संप्रज्ञातशब्द प्रयोग का प्रवृत्तिनिमित्त है साक्षात्कार विशेषरूप है यह आगे स्फुट होगा। स्वरूपसाक्षात्कारवती प्रज्ञा आभोग है, वह स्थूलविषयक होने से स्थूल से जैसे धानुष्क धन्वा से वाण चलाने वाला पुरुष पहिले अभ्यासार्थ स्थूल लक्ष्यका ही वेधन करता है उसके अनन्तर सूक्ष्म लक्ष्यका वेधन करता है वैसे प्रथम योगी पांचभौतिक पृथिव्यादि पंचभूतों से वनी चतुर्भुजादिध्येय का साक्षात्कार करता है, अनन्तर सूक्ष्मका, इस प्रकार सूक्ष्म चित्त के आलम्बन का साक्षात्कार होता है स्थूलकारणभूत सूक्ष्म पंचतन्मात्रालिंगालिंगविषयकविचार अर्थात् स्थूलभूत आलंवन में कारणत्वेन उसमें स्थितप्रकृतिमहदहंकार पञ्चतन्मात्र भूतेन्द्रियों का सूक्ष्म अर्थ तदाकार सूक्ष्म जो चित्त का साक्षात्कार सूक्ष्मगत अशेष प्रत्यक्ष है वह विचार है। विशेष से चरण सूक्ष्मपर्यन्त गमन उसमें अनुगत युक्त निरोध विचारानुगत नामक योग है इसविचार का ही अवान्तर भेद सविचार निर्विचार आगे कहेगें। ग्राह्यविषयक संप्रज्ञात को कहकर ग्रहणविषयक संप्रज्ञात कहते हैं—अस्मिता से। इन्द्रियां हुई है इसकारण इन्द्रियों का सूक्ष्मरूप अस्मिता है अस्मिता ग्रहीता आत्मा के साथ एकात्मकबुद्धि संवित् है। उसमें ग्रहीता का अन्तर्भाव होने से गृहीतविषयक संप्रज्ञात होता है एक आलम्बन में चित्त की केवल पुरुषाकार जो वृत्ति होती है अस्मितामात्र आकार होने से वह साक्षात्कार अस्मिता है। यह प्रत्यक्ष जीव विषयक और परमात्मविषयक होने से दो प्रकार का [illegible] कारणानुगत कार्य होता है कार्यानुगत कारण न हो अतः स्थूल प्रत्यक्ष सूक्ष्मेन्द्रियास्मिता कारणचतुष्टय से अनुगत होता है अगले तीन दो एक कारणक होने से तीन दो एक रूप होते हैं। असंप्रज्ञात में त्रिभेदक कहते हैं ये सव सालम्बन समाधियां है। असंप्रज्ञात निरालम्बन होता है।

द्विविधं स्थूलसूक्ष्मभेदात् तदुक्तं क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेर्ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु तत्स्थतदञ्जनतासमापत्तिः क्षीणा राजसतामसवृत्तयो यस्य तस्य चित्तस्य ग्रहीतृग्रहणग्राह्येऽनात्मेन्द्रियविषयेषु तत्स्था तत्रैवैकाग्रता तदञ्जनता तन्मयता न्यग्भूते चित्ते भाव्यमानस्यैवोत्कर्ष इति यावत् तथाविधा समापत्तिस्तद्रूपः परिणामो भवति यथाभिजातस्य निर्मलस्य स्फटिकमणेस्तत्तदुपाश्रयवशात्तत्तद्रूपापत्तिरेवं निर्मलस्य चित्तस्य तत्तद्भावनीयवस्तूपरागात्तद्रूपापत्तिः समापत्तिः समाधिरिति च पर्यायः यद्यपि गृहीतगृहणग्राह्येष्वित्युक्तं तथापि भूमिकाक्रमवशाद् ग्राह्यगृहण-

---

सूत्र में कहा है—**क्षीणवृत्तेरित्यादि** । क्षीण हैं राजस तामस वृत्तियां जिसकी उस चित्त का गृहीत, ग्रहण ग्राह्य में आत्मा, इन्द्रिय विषय में तत्स्थता उसी में एकाग्रता तदञ्जनता तन्मयता विनीत चित्त में ध्येय का ही उत्कर्ष होता है तथाविध समापत्ति तद्रूप परिणाम होता है। जैसे निर्मल स्फटिकमणि में तत्समीपस्थित जपाकुसुमादिगत आरुण्यप्रतिविम्ब से स्फटिकमणि भी अरुण (लाल) प्रतीत होती है वस्तुतः उक्त मणि लाल नहीं है वैसे ही मलरहित चित्त तद्ध्येयवस्तुरूपरूपित अत एव तद्रूपापन्न होता है यही तद्रूपापत्ति समापत्ति है। समापत्ति समाधि ये पर्य्याय वाची है। यद्यपि सूत्रकार ने गृहीत ग्रहण ग्राह्य कहा है तथापि

'क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेर्ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु तत्स्थतदंजनता समापत्तनम्' सू० ९ अ १। अभ्यास ओर वैराग्य से राजस तामस वृत्तियां क्षीण होगई है जिस चित्तकी उस चित्तका इससे चित्त सत्त्व जो स्वभाव से स्वच्छ है रजस्तम से उसका अभिभवाभाव स्फुट किया गया इसमें दृष्टान्त स्पष्ट कहते हैं—**यथेति** से। जैसे स्वभावस्वच्छ स्फटिकमणि जपाकुसुमादि उपाधिवश तत्सरूपापन्न भासित होता है उपाधिका जो अपना रूप है नीलपीतादि तदुपरक्तमणि प्रतीत होता है दार्ष्टान्तिक में तथा से भाष्यकार योजना करते हैं। ग्राह्य जो आलंबन तदुपरक्त जो चित्त इससे ग्रहीतृग्रहण का व्यवच्छेद होता है ग्राह्यसमापन्न चित्त ग्राह्याकार से प्रतीत होता है भूतसूक्ष्मोपरक्त भूतसूक्ष्मसमापन्न भूतसूक्ष्मस्वरूपाभास होता है। स्थूलरूपसमापन्न स्थूलरूपाभास होता है इससे वितर्क विचारानुगत समाधि दिखलाया जिससे अर्थ का ग्रहण होता है वे ग्रहण इन्द्रियां है। ग्रहणरूप जो आलंबन उससे उपरक्त अन्तःकरण अपने रूपको छिपाकर इन्द्रिय के समान चित्त होजाता हैं इससे आनन्दानुगत कहकर अस्मितानुगत कहते हैं—**गृहीतृपुरुषेति**। अस्मिता से ग्रहीता पुरुष विवक्षित है ग्रहीता के आलम्बन करने पर चित्त ग्रहीता के समान प्रतीत होता है एवं मुक्तपुरुष शुकादि का जब चित्त आलम्बन करता है तो तत्समान चित्त होता है

ग्रहीतृ [illegible] बोद्धव्यं यतः प्रथमं ग्राह्यनिष्ठ एव समाधिर्भवति ततो ग्रहणनिष्ठस्ततो ग्रहीतृनिष्ठ इति ग्रहीत्रादिक्रमोऽप्यग्रे व्याख्यास्यते तत्र यदा स्थूलं महाभूतेन्द्रियात्मकषोडशविकाररूपं विषयमादाय पूर्वापरानुसन्धानेन शब्दार्थोल्लेखेन च भावना क्रियते तदा सवितर्कः समाधिः अस्मिन्नेवालम्बने पूर्वापरानुसन्धाने शब्दार्थोल्लेखशून्यत्वेन यदा भावना प्रवर्तते तदा निर्वितर्कः एतावुभावप्यत्र वितर्कशब्देनोक्तौ तन्मात्रान्तःकरणलक्षणं सूक्ष्मं विषयमालम्ब्य तस्य देशकालधर्मावच्छेदेन यदा भावना प्रवर्तते तदा सविचारः अस्मिन्नेव अवलम्बने देशकालधर्मावच्छेदं विना धर्मिमात्रावभासित्वेन यदा भावना प्रवर्तते तदा निर्विचारः एतावुभावप्यत्र विचारशब्देनोक्तौ तथा च भाष्यं वितर्कश्चित्तस्याऽऽलम्बने स्थूल आभोगः सूक्ष्मे विचार इति इयं ग्राह्यसमापत्तिरिति व्यपदिश्यते

भूमिकाक्रमवश से ग्राह्यग्रहणगृहीता समझना चाहिये क्योंकि प्रथम ग्राह्य विषयक ही समाधि होती है तदनन्तर ग्रहणनिष्ठ बाद गृहीतनिष्ठ यह क्रम स्वाभाविक है, स्थूलालम्बनपूर्वक ही सूक्ष्मावलम्बन चित्त होता है गृहीतादि का क्रम आगे व्याख्यान करेंगे। उनमें जिससमय स्थूल महाभूतेन्द्रियादि षोडश विकाररूप पृथ्वी, जल, तेज, वायु, और आकाश ये पाँच महाभूत पाँच ज्ञानेन्द्रिय पाँच कर्मेन्द्रिय और एक मन ये षोडश विकार हैं। इनमें किसी एक का आलम्बन कर पूर्वपर के अनुसन्धान के साथ इसका वाचक यह शब्द है इस शब्द का इस प्रकार अर्थ है इस प्रकार शब्दार्थभावनापुरस्सर गृहीतविषय की भावना करते हैं तब यह सवितर्क समाधि है इसी पूर्वगृहीत आलम्बन में पूर्वपरानुसन्धान तथा शब्दार्थोल्लेखशून्य जब भावना करते हैं तब वह निर्वितर्क समाधि है ये दोनों भी यहां वितर्कशब्द से कहे गये हैं। तन्मात्रा अन्तःकरणरूप सूक्ष्मविषय का आलम्बन कर उसमें देशकालप्रयुक्त धर्मविशिष्ट की जब भावना करते हैं तब सविचार समाधि कहाती है। जब इसी आलम्बन में काल धर्म सम्बन्ध के विना धर्मीमात्रभानपुरस्पर भावना होती है तब निर्विचारसमाधि होती है ये दोनों भी यहाँ विचारशब्द से कहे गये हैं। इसी के अनुसार भाष्य है 'वितर्कश्चित्तस्य स्थूले आलम्बनसूक्ष्मे विचारः' यही ग्राह्य समापत्तिशब्द से व्यवहृत होती

उस ग्रहीतग्रहणग्राह्य में चित्त लगाने पर ध्यान परिपाकवश निवृत्तरजस्तमो मन चित्तका जो तत्स्थ तदंजनता तदाकारता वही समापत्ति संप्रज्ञात योग है। ४१

यद्यपि सूत्रमें ग्रहीतग्रहणग्राह्य लिखा है तथापि भूमिका क्रम से ग्राह्यग्रहणग्रहीतसमापत्ति कही गई है स्थूलालम्बनपूर्वक सूक्ष्मालम्बन चित्तसमापत्ति होती है इसलिये तदनुसार व्याख्यात है।

यदा रजस्तमोलेशानुविद्धमन्तःकरणसत्त्वं भाव्यते तदा गुणभावाच्चिच्छक्तेः सुखप्रकाशमयस्य सत्त्वस्य भाव्यमानस्योद्रेकात्सानन्दः समाधिर्भवति। अस्मिन्नेव समाधौ ये बद्धादरास्तत्त्वान्तरं प्रधानपुरुषरूपं न पश्यन्ति ते विगतदेहाहङ्कारत्वाद्विदेहशब्देनोच्यन्ते इयं ग्रहणसमापत्तिः, ततःपरं रजस्तमोलेशानभिभूतं शुद्धं सत्त्वमालम्बनीकृत्य या भावना प्रवर्तते तस्यां ग्राह्यस्य सत्त्वस्य न्यग्भावाच्चितिशक्तेरुद्रेकात्सत्तामात्रावशेषत्वेन समाधिःसास्मित इत्युच्यते। न चाहङ्कारास्मितयोरभेदः शङ्कनीयः यतो यत्रान्तःकरणमहमित्युल्लेखेन विषयान् वेदयते सोऽहङ्कारः, यत्र त्वन्तर्मुखतया प्रतिलोमपरिणामेन प्रकृतिलीने चेतसि सत्तामात्रमवभाति सास्मिता, अस्मिन्नेव समाधौ ये कृतपरितोषास्ते परं पुरुषमपश्यन्तश्चेतसः प्रकृतौ लीनत्वात्प्रकृतिलया इत्युच्यन्ते सेयं गृहीतृसमापत्तिरस्मितामात्ररूपगृहीतृनि-

है। जब रजस्तमोगुण के लेश से सम्बद्ध अन्तःकरणगत सत्त्वगुण की भावना करते हैं तब चिच्छक्ति के गुणभावहोनेसें सुखप्रकाशमय ध्येय सत्य के उपचय से सानन्द समाधि होता है इसी समाधि में जो बद्धादर होकर प्रधानपुरुषरूप तत्त्वान्तर को नहीं देखते वे देहाहङ्काररहित होने से विदेहशब्द से कहे गये हैं यह ग्रहण समापत्ति है। इसके बाद रजस्तमोगुण के लेश से अनभिभूत अतिरोहित शुद्धसत्त्व का आलम्बन कर जो भावना की जाती है उस भावना में ग्राह्यतत्त्व न्यग्भाव होने से चैतन्यशक्ति के उपचय से सत्तामात्रभानपुरस्सरसमाधि सस्मिता कही जाती है। अहंकार और सस्मिता ये दोनों एक हैं ऐसी शंका ठीक नहीं क्योंकि जिसमें अहं उल्लेखपुरस्सर विषयका ज्ञान होता है वह अहंकार है यथा 'अहं घटं जानामि' अर्थात् मैं घड़े को जानता हूं। जहाँ अन्तर्मुखतया प्रतिलोमपरिपाक से प्रकृतिलीनचित्त में सत्तामात्र का भान होता है वह सस्मिता है। भाव यह है कि अन्तःकरण का अन्तर्मुख और बहिर्मुख भेद से दो प्रकार का परिणाम होता है। यथा—घटेन्द्रियसन्निकर्ष होने पर अन्तःकरण इन्द्रियद्वारा घट से सम्बद्ध होकर घटाकार परिणत होता है उस घटाकारवृत्ति में चैतन्य का प्रतिबिम्ब पड़ने से घट का प्रकाश होता है इसी कारण अहमर्थ का उल्लेख होता है और जब अन्तर्मुख अतएव अन्तःकरण का प्रतिलोम परिणाम होता है तो वह चित्त प्रकृति में लीन होने से अहमर्थ का उल्लेख न होकर केवल पदार्थसत्तामात्र का भान होता है वह सस्मिता है। इसी समाधि में जो लोग सन्तुष्ट हो जाते हैं वे

छुत्रात्। ये तु परं पुरुषं विविच्य भावनायां प्रवर्तन्ते तेषामपि केवलपुरुषविषया विवेकख्यातिर्गृहीतृसमापत्तिरपि न सास्मितः समाधिर्विवेकेनास्मितायास्त्यागात्। तत्र गृहीतृभानपूर्वकमेव गृहणभानं तत्पूर्वकं च सूक्ष्मग्राह्यभानं तत्पूर्वकं च स्थूलग्राह्यमानमिति स्थूलविषयो द्विविधोऽपि वितर्कश्चतुष्टयानुगतः द्वितीयो-वितर्कविकलत्रितयानुगतः तृतीयो वितर्कविचाराभ्यां विकलो द्वितयानुगतश्चतुर्थो वितर्कविचारानन्दैर्विकलोऽस्मितामात्र इति चतुरवस्थोऽयं संप्रज्ञात इति। एवं सवितर्कः सविचारः सानन्दः सस्मितश्च समाधिरन्तर्धानादिसिद्धिहेतुतया मुक्तिहेतुसमाधिविरोधित्वाद्धेय एव मुमुक्षुभिः गृहीतृगृहणयोरपि चित्तवृत्तिविषयतादशायां ग्राह्यकोटौ निक्षेपाद्धेयोपादेयविभागकथनाय ग्राह्यसमापत्तिरेव विवृता सूत्रकारेण। चतुर्विधा हि ग्राह्यसमापत्तिः स्थूलग्राह्यगोचरा द्विविधा सवितर्का निर्वितर्का

प्रकृति पुरुष को न देखकर चित्त प्रकृति में लीन होने से प्रकृतिलय कहे जाते हैं। योगी गृहीत समापत्ति है क्योंकि अस्मितामात्ररूप गृहीतनिष्ठ है। जो लोग पर-पुरुष परमात्मा का विवेक कर भावना करते हैं उनकी भी केवल पुरुषविषयक विवेकज्ञान गृहीतसमापत्ति होने पर भी सस्मिता नहीं है क्योंकि वे लोग विवेकपुरस्सर सस्मिता का त्याग कर चुके, इनमें गृहीतभानपूर्वक ही ग्रहण का भान तत्पूर्वक सूक्ष्मग्राह्य भान होता है। दो प्रकार के स्थूल विषय १ वितर्कचतुष्टयानुगत २ वितर्कविकल ३ तृतीयानुगत, वितर्कविचार से रहित दो से अनुगत हैं ४ वितर्क विचार आनन्द इन तीनों से रहित होकर सस्मितामात्र है।

इस प्रकार चार अवस्था सम्प्रज्ञात समाधि की है। इसीप्रकार सवितर्क सविचार, सानन्द, सस्मिता, ये चारों समाधियाँ अन्तर्धानादिसिद्धिहेतु समाधि के विरोधि हैं अतः मुमुक्षुओं के ये त्याज्य हैं। जिस सिद्धि से समाधि स्थित पुरुष को कोई देख नहीं सकता उसको अन्तर्धानसिद्धि कहते हैं, जिस पुरुष को उक्त समाधियाँ होती हैं वह पुरुष चाहे जहाँ जन समूह में जाय उसको कोई देख सकता नहीं, गृहीत ग्रहण समाधियों में चित्तवृत्ति विषयतादशा में ग्राह्य कोटि में प्रक्षेप होने से हेयोपादेय त्याज्य ग्राह्य विभाग कहने के लिये ग्राह्यसमापत्ति का ही सूत्रकार ने विशेषविवरण किया है। चार प्रकार की ग्राह्यसमापत्ति हैं। स्थूलगोचर दो प्रकार की है १—सवितर्क २—निर्वितर्क। सूक्ष्मग्राह्यगोचर भी दो प्रकार की हैं १—सविचार २—निर्विचार। उसमें शब्दार्थज्ञान 'विकल्पैः संकीर्णः

च, सूक्ष्मग्राह्यगोचरापि द्विविधा सविचारा निर्विचारा च । तत्र (१) शब्दार्थज्ञानविकल्पैः सङ्कीर्णा सवितर्का। शब्दार्थज्ञानविकल्पसंभिन्ना स्थूलार्थावभासरूपा सवितर्का समापत्तिः स्थूलगोचरा सविकल्पकवृत्तिरित्यर्थः। (२) स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्ये वार्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का, तस्मिन्नेव स्थूलालम्बने शब्दार्थे स्मृतिप्रति-

---

सवितर्क' अर्थात् शब्दार्थज्ञानविकल्प से मिली हुई स्थूलार्थभानस्वरूप सवितर्का समापत्ति है स्थूलविषयक सविकल्पवृत्ति यह निष्कर्ष है।

उसी स्थूल आलम्बन में शब्दार्थ स्मृति न होकर सुस्पष्ट ग्राह्याकारमात्र का भान होने से ज्ञानांश का तिरोधान होने से स्वरूपशून्य के समान निर्वितर्का समापत्ति है ज्ञानांश यदि तिरोहित न होता उसका भान होता तो स्वरूपशून्या न कहाती अतएव लिखा है—'ध्यातृध्याने परित्याज्यं क्रमात् ध्येयैकगोचरः' इत्यादि

---

(१) शब्दार्थज्ञानविकल्पैः संकीर्णा सवितर्का ॥४२॥

सामान्य समापत्ति कही गई, यह अवान्तर भेदसे ४ प्रकार की है सवितर्का निर्वितर्का समापत्ति का लक्षक यह सूत्र है शब्दार्थज्ञान विकल्पका उदाहरण देते हैं 'गौरितिशब्दः गौरित्यर्थः गौरिति ज्ञानं' इन विभक्तों का अविभाग से ग्रहण लोकमें दृष्ट है शब्दार्थज्ञानों में वस्तुतःभेद है अभेद नहीं किन्तु अभेदप्रत्यय विकल्प है शब्दज्ञानानुपातीत्यादि सूत्र वस्तुशून्य प्रत्यय विकल्प कहाता है।

प्रश्न—प्रतीतिबलसे तीनों का अभेद ही मानिये तो विकल्प न होगा ?

उत्तर—परीक्षकों से अन्वयव्यतिरेकद्वारा विभाग करने पर अर्थज्ञान धर्म से भिन्न शब्द धर्म तारत्वमन्दत्वादि है इसीप्रकार अर्थ धर्म जडत्व मूर्तत्वादिशब्दज्ञान धर्म से भिन्न है एवं ज्ञानधर्म प्रकाशामूर्तत्वादि शब्दार्थधर्म से अन्य है इसतरह इन तीनों का भिन्न २ मार्ग है। समापत्ति ही विकल्परूप है स्थूलभूत इन्द्रियों में समाहित योगी की समाधिप्रज्ञा में समारूढ जो गवाद्यर्थ या नारायणाद्यर्थ वह यदि शब्दार्थज्ञानविकल्प से प्रतीत होता है शब्दार्थज्ञानाभेद मायानुविद्ध विषयीकृत होता है तब संकीर्णा विकल्पमिश्रित समापत्ति सवितर्कसंज्ञक होती है यह इस गौ है अंशमें शब्दार्थ का अभेद विकल्प है भासते इस अंशमें अर्थज्ञान का अभेद विकल्प है एवं 'नारायणोऽयं भासते' इत्यादिरूप से सवितर्का समापत्ति है शब्दार्थज्ञानविकल्प से यथासंभव अन्य विकल्प भी समझना। ४२।

(२) स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का ॥४३॥

सूत्रयोजना के लिये प्रथम निर्वितर्का का व्याख्यान करते है—यदा मनुरिति। जैसा शब्दार्थ संगति ग्रहण होता है वैसा ही स्मरण होता है तदनुसारी आगम और अनुमान होता है संगतिग्रह

'अयं गौः' यह गौ है शब्दार्थज्ञानका परस्पराध्यासस्वरूप है इससे जो शब्द तथा अनुमान होगा वह भी विकल्प ही होगा इससे आगमानुमानपूर्वक समाधि प्रज्ञा सवितर्का है। यदि पुनः अर्थमात्र के आदर से अतएव अर्थमात्रप्रवणचित्तसे संकेत का त्याग करते हैं तो समाधिमें तन्मूलक विकल्प नहीं होता अतः विकल्पशून्य समाधिप्रज्ञा में स्वरूपमात्र स्थित अर्थ स्वरूपमात्र से ज्ञात होता है विकल्पिताकार से नहीं वही निर्वितर्का समापत्ति है वही योगियों का पर प्रत्यक्ष है असत् का लेशमात्र आरोप नहीं।

पर प्रत्यक्ष से अर्थतत्त्व का ग्रहण कर योगी उपदेश देते हैं तथा पदार्थ का उपपादन करते हैं परन्तु प्रश्न यह है कि यदि आगम और अनुमान शुद्धार्थ मिथ्याऽध्यासशून्य केवल अर्थमात्र विषय होता ही नहीं तो फिर वह अर्थ अज्ञात अनुमान का विषय नहीं है तो अविषय अर्थ का उपदेश या उपादान कैसे होगा शब्दादि से स्वविषय का उपदेश उपादान करते हैं यह सर्वानुभवसिद्ध अर्थ है अन्यथा एक ही शब्द से सबका उपदेश हो सकता है शब्दान्तर व्यर्थ ही हो जायगें अतः आगम और अनुमान मिथोऽध्यस्ततांविषयक विकल्प ही हैं परभी प्रत्यक्ष विकल्प ही है अतः कहा–तच्चेति। वह श्रत आगम अनुमानका बीज है अर्थात् अविकल्प प्रत्यक्ष से अर्थतत्त्व का ग्रहण कर पश्चात् शब्दानुमानद्वारा उपदेशादि करते हैं श्रुतानुमानसहभूततत्कालिक विशेषदर्शन है परन्तु इक्षुक्षीर माधुर्यविशेष को जैसे शब्द से कोई नही कह सकता तद्वत् पदार्थगत तत्त्वविशेषशब्द विषय नहीं जो जिसका कारण होता है वह तद्विषयक नहीं होता जैसे-धूमज्ञान वह्निज्ञान का कारण है वह धूमज्ञान विषयक नही होता एवं श्रवण मनन का कारण है अतः परप्रत्यक्ष विषयार्थ का, शब्दादिद्वारा श्रवणादि नहीं हो सकता। व्याख्येयसूत्र की योजना करते हैं शब्दसंकेत श्रुत अनुमान इनका ज्ञान ही विकल्प है उससे स्मृति परिशुद्धि अपगम निवृत्ति उसमें संकेत स्मृति परिशुद्धि हेतु है 'श्रुतानुमानस्मृतिपरिशुद्धिः हेतुमती अनुमानशब्दम् अनुमीयते इत्याद्य नुमानं' इस कर्मण्युत्पत्ति से अनुमेयार्थक है भाष्यार्थ शब्दसंकेत श्रुतानुमानज्ञानस्मृति परिशुद्धिस्मृत्यागम होने पर ग्राह्यस्वरूपोपरक्त प्रज्ञा 'स्वमिव' यहां स्वं इव पद भिन्नक्रिय है जहां पठित है वहां से हटाकर अन्यत्र इनका अन्वय है 'त्यक्त्वा' के साथ संवन्ध है 'त्यक्त्वा' इन स्वरूपग्रहणात्मक का त्याग कर पदार्थमात्रस्वरूप ग्राह्यस्वरूपापन्न के समान वह होती है तब निर्वितर्का समापत्ति कहाती है

प्रश्न—निर्वितर्क साक्षात्कार का विषय अवयव है या अवयवी प्रथमपक्षमें वक्ष्यमाण निर्विचार समापत्तिके साथ एक विषयत्वापत्ति हो जायगी अन्त्यपक्ष में अवयवी कल्पित होने से तद्विषयक निर्विकल्प में विकल्पशून्यत्व की अनुपपत्ति होगी अर्थात् विकल्पात्मक होने से अप्रमाण हो जायगा यह शंका कर अवयवी कल्पित नहीं किन्तु वस्तु है यह सिद्ध करते हुये अवयवीविषयक यह साक्षात्कार है यह वृद्धवाक्य से निश्चित करते हैं भाष्यकार 'तथा च' से लेकर 'लोक' इत्यन्त वाक्य से पूर्वाचार्योंने निर्वितर्का का गवादि घटादि लोक आलम्बन है ऐसा कहा है।

प्रश्न—अवयवातिरिक्त अवयवी में क्या प्रमाण है ?

उत्तर—एकत्वबुद्ध्युपक्रम इति । एक गौ इत्यबुद्धि का अपक्रम आरम्भ करता है अवयव अन्यथा अवयवों के अनेक होने से एकत्वबुद्धि न होगी अतः अवयव अवयवी बुद्धि का निर्वाहक नहीं हो सकते ।

प्रश्न—अच्छा तो एक प्रत्यय के अनुरोध से एक विज्ञान ही अवयवी व्यवहार हेतु मानिये ?

उत्तर—अर्थात्मा इति । दृश्यस्वरूप यदि विज्ञानमात्र ही अनवयव होगा तो तद्विज्ञान से दृश्य न होगा स्वसे स्वदर्शन में कर्मकर्तृ विरोध असकृत् कह चुके हैं ।

प्रश्न—यदि अवयवों से अतिरिक्त अवयवी मानते हो तो कपाल घट हुआ तन्तु पट हुआ इत्यादि अवयवावयवी का अभेद प्रत्यक्ष न होगा ?

उत्तर—अणुप्रचयविशेषात्मा इति । अणुओं का जो प्रचयाख्यसंयोग तन्निमित्तक जो विशेष परिणामरूप तत्स्वरूप यह अर्थ है ऐसी परिस्थिति में सामान्यविशेष का भेदाभेद मान कर अभेदप्रत्यय भी युक्त ही होता है ।

प्रश्न—भेदाभेद का तो परस्पर विरोध है एकमें दोनों कैसे मान सकते हैं.

उत्तर—भेद अन्योन्याभावस्वरूप है अभेद अविभाग वा तादात्म्यस्वरूप है अतः विरोध नही। यदि अभेद भेदाभावस्वरूप होता अथवा अभेदाभावस्वरूप भेद होता है तो मिथोविरोध होता सो है नहीं यह भाव है ।

प्रश्न—यदि अवयवी मानते हो तो क अवयव के नाश से अवयवी का भी नाश मानना योग हो तदनन्तर उसको अनुपलब्धि भी माननी होगी । किंच यदि अवयवी नित्य है तो सदा कार्यापत्ति भी होगी यदि अनित्य मानें तो असदुत्पत्ति माननी पड़ेगी और शशशृङ्गादि अत्यन्तासत्को भी अवयवी कारणव्यापार से उत्पत्तिप्रसंग हो जायगा ?

उत्तर—सचेति । वह स्थूल अवयवकारणभूत सूक्ष्मों का साधारण है प्रत्येकमें परिसमाप्त है द्वित्वादि के समान व्यासज्यवृत्ति नहीं अन्यथा एकावयव व्यवधान में अप्रत्यक्ष हो जायगा अतः एक अवयव के नाश होने पर भी अव अवान्तर में अवयवी रहता है अतः तदुपलब्धि होती है अवयवविभाग विशेष आरम्भक संयोग प्रतिद्वन्द्वी विभाग अवयवि विनाशक है तथा आत्मभूत होने से सदा भूतसूक्ष्ममें अनुगत रहता है अतः शशादि में शृङ्गादिकी उत्पत्ति नहीं उसमें प्रमाण कहते हैं—फलेनेत्यादि । फल-कार्य उसकी अभिव्यक्ति से अनुमिति होती है कि यह कार्य इसमें था । यदि असत्की अभिव्यक्ति कारण से होगी सबकी सबसे अभिव्यक्ति हो जायगी ।

प्रश्न—सब समय अभिव्यक्ति क्यों नही होती !

प्रविलये प्रत्युदितस्पष्टग्राह्याकारप्रतिभासितया न्यग्भूतज्ञानांशत्वेन स्वरूपशून्यैव निर्वितर्का समापत्तिः स्थूलगोचरा निर्विकल्पकवृत्तिरित्यर्थः। (१) एतयैव सविचारा निर्विचारा च सूक्ष्मविषया, व्याख्याता। सूक्ष्मस्तन्मात्रादिर्विषयो यस्याः सा सूक्ष्मविषया समापत्तिर्द्विविधा सविचारा निर्विचारा च सविकल्पनिर्विकल्पकभेदेन एतयैव सवितर्कया निर्वितर्कया च स्थूलविषयया समा-

स्थूलविषयक निर्विकल्पकवृत्ति निर्विकल्पकज्ञान के स्वरूप का भान होता है यह सर्वानुभव सिद्ध है।(१) एतयैवेत्यादि। सूक्ष्मशब्दादिजन्मा विषय है। वह सूक्ष्म-विषया समापत्ति दो प्रकार की है १—सविचारा २—निर्विचारा। सविकल्पक सविचारा है, निर्विकल्प निर्विचारा है, स्थूलविषयक इसी सविचारा निर्विचारा से सवितर्का, निर्वितर्का समापत्ति से सविचारा, निर्विचारा व्याख्यातप्राय है।

उत्तर—**स्वव्यञ्जकेति**। स्वाभिव्यक्ति का जो कारण वही अंजन-व्यंजक है जिसका व तथा भूत आविर्भूत होता है वर्तमान अवस्था को प्राप्त होता है सदा नहीं, इसीप्रकार मुद्गरपाताादि-कारण से धर्मान्तरविनाशरूपतिरोधान को प्राप्त करता है कारण में लीन हो जाता है यही अवयवी अवयवों का धर्म कहाता है। **यस्य पुनरि**त्यादि ग्रन्थ से वैनाशिकमतका निराकरण है ग्रन्थविस्तारभय से प्रकृत में उसका उपयोग न देखकर छोड़ दिया जिज्ञासु जन तद्भाष्यादि देखें इति ॥ ४३ ॥

(१) एतयैव च सविचारा निर्विचारा च सूक्ष्मविषया व्याख्याता ॥४४॥

अभिव्यक्तः घटादिनाधर्मा यैःभिव्यक्तधर्मा, जिनसे घटादिरूपधर्म अवयवी अभिव्यक्त होता है वे भूतसूक्ष्म हैं उन देश कालनिमित्त और अनुभवसे अवच्छिन्नों में जो समापत्ति है वह सविचारा है। देश—ऊपर नीचे बगल आदि, काल—वर्तमान निमित्त पार्थिवपरमाणु के गन्धतन्मात्रा प्रधान पञ्चतन्मात्राओं से उत्पत्ति होती है अतः गन्धतन्मात्रप्रधानपंचतन्मात्र पार्थिवपरमाणु का निमित्त है इसी प्रकार जलपरमाणुका गन्धतन्मात्ररहितरसतन्मात्राओं से तैजस का गन्धरसतन्मात्ररहित रूपतन्मात्रप्रधान तीन तन्मात्राओंसे वायवीय का गन्धरसरूपतन्मात्रा से रहित स्पर्शप्रधान दो स्पर्शशब्द तन्मात्राओं से एवं आकाश की उत्पत्ति केवल शब्दतन्मात्रा से होती है इनमें देश कालनिमित्तों का अनुभव होता है तदवच्छिन्न में अनुभूत विशेषोंकी विशेष्य में बुद्धि नहीं होती।

प्रश्न—सवितर्का के साथ सविचारा का क्या सारूप्य है ?

उत्तर—तत्रापीति। वहां भी एक बुद्धिविषयवर्तमानधर्मविशिष्ट भूतसूक्ष्म आलंबनीभूत समाधि प्रज्ञामें आरूढ़ होता है पार्थिवपरमाणु पंचतन्मात्रप्रचयात्मा एक बुद्धिनिग्राह्य एक परमाणु है इत्याकारक बुद्धिविषय, इसी तरह जलादि परमाणुओं में चार तीन दो एक

पत्या व्याख्याता शब्दार्थज्ञानविकल्पसहितत्वेन देशकालधर्माद्यवच्छिन्नः सूक्ष्मोऽर्थः प्रतिभाति यस्यां सा सविचारा, शब्दार्थज्ञानविकल्परहितत्वेन देशकालधर्माद्यनवच्छिन्नत्वेन च धर्मिमात्रतया सूक्ष्मोऽर्थः प्रतिभाति यस्यां सा निर्विचारा, सविचारनिर्विचारयोः सूक्ष्मविषयत्वविशेषणात्सवितर्कनिर्वितर्कयोः

शब्दार्थज्ञान विकल्प के साथ देशकालावच्छिन्नत्वविशिष्ट सूक्ष्म अर्थ का जिस में भान होता है वह सविचारा है एतत् तद्वाच्य ईदृश देश काल में वर्तमान एवं भूत अर्थ है ऐसा भान जिसमें होता है वह सविचारा है। शब्दार्थज्ञानविकल्पशून्यत्वेन अर्थात् देशकालधर्माद्यविशिष्टत्वेन केवलधर्मिमात्रविषयकसूक्ष्मार्थ का भान जिसमें हो वह निर्विचारा समापत्ति है। अमुक देश अमुक काल अमुक धर्मविशिष्ट एतत् पदवाच्य यह अर्थ है। इसका भान न होकर केवल सूक्ष्मार्थमात्र का भान हो वही उक्त समापत्ति है। सविचारा, तथा निर्विचारा इन दोनों में सूक्ष्म विषयत्व विशेषण दिया गया है अतः सवितर्क निर्वितर्क इन दोनों में स्थूल विषयत्व अर्थात् प्राप्त है।

तन्मात्रात्म को भी एकबुद्धि निर्ग्राह्यत्व समझना। इससे संकेतस्मृत्यागमानुमानविकल्पानुवेध सूचित होता है क्योंकि स्थूलविषयक प्रत्यक्ष में परमाणुका प्रकाश नही होता कि आगमों से ही प्रकाशित हो सकते हैं अतः इसमें संकीर्णत्व ठीक है। निर्विचारा को कहते हैं—या पुनरिति। जो फिर सर्वनीलपीतादिप्रकार सबसे सब देशकालानुभवों से यह अर्थ है अविच्छिन्न सर्वधर्मयुक्त सर्वधर्मात्मकों में समापत्ति है वह निर्विचारा कही जाती है ईदृश स्वरूप यह भूतसूक्ष्म इसी स्वरूप से आलंबनीभूत होकर समाधिप्रज्ञा के स्वरूप का उपरंजक है। प्रज्ञा स्वरूपशून्य के समान अर्थमात्रस्वरूप होती हैं तब निर्विचारा होती है उसमें महद्वस्तु विषया सवितर्का निर्वितर्का च सूक्ष्मवस्तुविषया सविचारा निर्विचारा च, इस प्रकार दोनों का इसी निर्वितर्का से विकल्प की हानि व्याख्यात हुई। योगवार्तिकानुसार महत् से केवल विकृति विवक्षित है प्रकृतिविकृति उभय नहीं इससे भूतपरमाणु और इन्द्रियों का संग्रह है सूक्ष्म के मध्य में भूतपरमाणुओं का प्रवेश उचित नहीं अगले सूत्र में पार्थिवपरमाणुगन्धतन्मात्रा सूक्ष्म है यह आगे भाष्यकार कहेंगे सूक्ष्मत्व प्रकृत में तत्त्वान्तर कारणत्व है परमाणु तत्त्वान्तर के कारण नहीं है। वस्तुतस्तु प्रकृति महदहंकार पंचतन्मात्रायें ये आठ प्रकृतियां सूक्ष्म हैं ये ही तत्त्वान्तर के कारण भी है।

प्रश्न—शब्दार्थज्ञानविकल्पसंकीर्णत्व का ही **एतया** से अतिदेश क्यों नहीं करते ?

स्थूलविषयत्वमर्थाद्व्याख्यातम्। सूक्ष्मविषयत्वं चालिङ्गपर्यवसानं सविचारायाः निर्विचारायाश्च समापत्तेर्यत्सूक्ष्मविषयत्वमुक्तं तदलिङ्गपर्यन्तं द्रष्टव्यं तेन सानन्दसास्मितयोर्गृहीतगृहणसमापत्त्योरपि ग्राह्यसमापत्तावेवान्तर्भाव इत्यर्थः, तथा हि पार्थिवस्याणोर्गन्धतन्मात्रं सूक्ष्मो विषयः, आप्यस्यापि रसतन्मात्रं तैजसस्य रूपतन्मात्रं वायवीयस्य स्पर्शतन्मात्रं नभसः शब्दतन्मात्रं तेषामहङ्कारः तस्य लिङ्गमात्रं महत्तत्त्वं तस्याप्यलिङ्गं प्रधानं सूक्ष्मो विषयः सप्तानामपि

'सूक्ष्मविषयत्वञ्च अलिङ्गपर्यवशानम्'। अर्थ—सविचार निर्विचार समापत्ति में जो सूक्ष्मविषयत्व कहा है वह प्रधानपर्यन्त समझना, इससे सानन्द सस्मिता वे ही ग्रहीतृग्रहण समापत्तियों का भी ग्राह्यसमापत्ति में अन्तर्भाव है। अलिंग पर्यवसान जो सूक्ष्म विषयक कहा है उसीको स्फुट करते हैं—तथाही त्यादिसे। पृथ्वी के परमाणुओं में जो गन्धतन्मात्रा है वह सूक्ष्मविषय है यदि इन परमाणु में जो रसतन्मात्रा है एवं तैजस परमाणु में जो रूपतन्मात्रा है, वायु के परमाणु में स्पर्शतन्मात्रा, आकाश के परमाणु में शब्दतन्मात्रा ये सूक्ष्म-विषय हैं। इनका कारण, अहंकार सूक्ष्मविषय है। इन सातों प्रकृतियों

उत्तर—इसी निर्वितर्कासे विकल्पहानि व्याख्यात हुई। विकल्पादि नहीं तो उक्त संकीर्णत्व का अतिदेश कैसे? पूर्व भूमिका में जिस विषय का त्याग हो चुका है उत्तर भूमिका में उसका संभव तो नहीं ॥ ४४ ॥

सूक्ष्मविषयत्वं चालिङ्गपर्यवसानम् ॥४५॥

प्रश्न—क्या भूतसूक्ष्म में ही ग्राह्यविषया समापत्ति परिसमाप्ति है?

उत्तर—नहीं किन्तु सूक्ष्मविषयत्व अलिङ्गपर्यन्त है। पार्थिवपरमाणु की जो गन्धतन्मात्रा वह समापत्ति का सूक्ष्मविषय है इसी प्रकार जलीयपरमाणु का रसतन्मात्रा तैजसपरमाणु का रूपतन्मात्रा। वायवीयपरमाणु का स्पर्शतन्मात्रा आकाश का शब्दतन्मात्रा इनका कारण अहंकार है इसका भी लिङ्गमात्रसूक्ष्मविषय है, लिङ्ग से महत्तत्त्व, क्यों कि वह स्वकारण प्रधान में लीन हो जाता है, लिङ्गमात्र का सूक्ष्मविषय है, अलिङ्ग प्रधान है क्योंकि वह किसी में लीन नही होता अलिङ्गसे परे कोई सूक्ष्म नहीं।

प्रश्न—अलिङ्ग से सूक्ष्म पुरुष है फिर अलिङ्ग पर्यन्त ही सूक्ष्म क्यों?

उत्तर—ठीक है पुरुष सूक्ष्म है किन्तु 'उपादानत्वे सति सूक्ष्मत्वम्' यहां विवक्षित है लि० कारण प्रधानवत् पुरुष भी है परन्तु प्रधान (उपादान) कारणं अन्वयि कारण है, पुरुष महत्ता० का निमित्त कारण है जैसे प्रधान महदाद्याकार से परिणत होता है वैसा पुरुष नहीं उपसंहार करते हैं—अतः से। प्रधान में सौक्ष्म्य निरतिशय व्याख्यात हुआ ॥४५॥

प्रकृतीनां प्रधान एव सूक्ष्मता विश्रान्तेस्तत्पर्यन्तमेव सूक्ष्मविषयत्वमुक्तम्। यद्यपि प्रधानादपि पुरुषः सूक्ष्मोऽस्ति तथाप्यन्वयिकारणत्वाभावात्तस्य सर्वान्वयिकारणे प्रधान एव निरतिशयं सौक्ष्म्यं व्याख्यातं पुरुषस्तु निमित्तकारणं सदपि नान्वयिकारणत्वेन सूक्ष्मतामर्हति अन्वयिकारणत्वाविवक्षायां तु पुरुषोऽपि सूक्ष्मो भवत्येवेति द्रष्टव्यम्। (१) ता एव सबीजः समाधिः। ताश्चतस्रः समापत्तयो ग्राह्येण

की सूक्ष्मता प्रधान में ही विश्रान्त है अतः प्रधानपर्यन्त ही सूक्ष्मविषय कहा है 'मूले मूलाभावात् अमूलं मूलम्' इस वचन के अनुसार तथा तर्कादि से प्रधान किसी का कार्य नहीं है यदि वह कार्य माना जाय तो उसका भी कोई कारणान्तर मानना पड़ेगा एवं वह भी कार्य हो उसके भी कारणान्तर की कल्पना करनी होगी, इस रीति से अनवस्था होगी कोई मूलकारण नहीं सिद्ध होगा इसके बिना कार्यकारणभावव्यवस्था असङ्गत हो जायगी इसलिए कहीं कहीं कारणान्तर कल्पना का त्याग करना होगा, प्रधान में ही उक्त कल्पना का त्याग समुचित है अतः प्रधान अलिङ्ग अर्थात् अकारण है। सब कार्यों का मूलकारण प्रधान है इसलिए सबसे सूक्ष्म प्रधान ही माना जाता है। यद्यपि प्रधान की अपेक्षा पुरुष अतिसूक्ष्म है, तथापि वह कार्यमात्र में निमित्तकारण है अन्वयी अर्थात् उपादान कारण (कार्यानुगत) कारण नहीं है जैसे प्रकृति के साथ रजस्तम आदि गुण कार्यमात्र में पाये जाते हैं वैसे चैतन्य के गुण कार्य में दृष्ट नहीं है। अन्वयी प्रकरण में तत्पर्यन्त अर्थात् पुरुषपर्यन्त न कहकर प्रधानपर्यन्त ही सौक्ष्म्य की व्याख्या की गई है। पुरुष तो निमित्तकारण होने पर भी अन्वयी कारण नहीं इसलिये तत्सूक्ष्मता नहीं कही गई है, यदि अन्वयकी कारण विवक्षा न करे, तो पुरुष में भी सूक्ष्मता आजायगी यह सारांश है। सूत्र—'ता एव सबीजः समाधिः' अर्थ—वे चारों समापत्तियाँ ग्राह्यबीज के साथ रहती हैं अतः सबीज

ता एव सबीजः समाधिः ॥४६॥ वें चारों समापत्तियां बहिर्वस्तुबीज होने से समाधि भी सबीज है, ग्रहीतृग्रहणग्राह्य में जो समापत्तियां कह चुके हैं, वे ही सबीजसमाधिसंप्रज्ञात योग है।

प्रश्न—ग्रहीतृग्रहणान्तसमापत्तियों से वितर्कविचारास्मितानुगत तीन ही का संग्रह होता है आनन्दानुगत का नहीं फिर कैसे ता एव अवधारण कहा ?

उत्तर—आनन्द बुद्धिधर्म होने से ग्राह्यमध्य में ही प्रविष्ट है।

प्रश्न—दुःखबीजसंस्कार हेतु होने से समापत्तियां ही सबीज है वृत्तिनिरोधात्मक योग नहीं फिर योग को सबीज कैसे कहते हो ?

बीजेन सह वर्तन्त इति सबीजः समाधिर्वितर्कविचारानन्दास्मितानुगमात्संप्रज्ञात इति प्रागुक्तः स्थूलेऽर्थे सवितर्को निर्वितर्कः सूक्ष्मेऽर्थे सविचारो निर्विचार इत्यर्थः, सूक्ष्मेऽर्थे सविचारो निर्विचारश्चेति तत्रान्तिमस्य फलमुच्यते—(१) निर्विचारवैशारद्ये-

समाधि वितर्क, विचार, आनन्द अस्मिता इनके सम्बन्ध से संप्रज्ञातसमाधि पूर्व में कहा है। स्थूल अर्थ में सवितर्क, निर्वितर्क समाधि है। २५। १

उत्तर—ताश्चतस्र इति। 'बहिर्वस्तुनि अनात्मधर्माः संस्कारधर्मोदयः दुःखबीजानि जायन्ते आभ्यः इति बहिर्वस्तुबीजाः' संप्रज्ञातनिष्ठ भी संस्कार हेतु होता है और धर्ममेघ भी है एवकार भिन्नक्रम है। यदि यथाश्रुत का अन्वय मानेंगे तो येही सबीज कहावेगी गृहीतृग्रहणगोचर में सबीजत्व नहीं होगा अतः एवकार का संबन्ध सबीज के साथ है तो 'ताः सबीजा एव' चार ग्राह्यसमापत्तियां सबीजा ही है सबीजता से वे नियत हुई सबीजता स्वयं अनियत होकर ग्रहीतृ-ग्रहण विषयक समापत्ति में विकल्पाविकल्पभेद से अनिवारिता सती व्यवस्थित होती है इस कारण ग्राह्य में चार समापत्तियां और ग्रहीतृग्रहण में चार संकलन करने पर आठ सिद्ध होती हैं।

प्रश्न—स्थूल सूक्ष्म समापत्तियां ही चार हैं आनन्दास्मिता समापत्ति मिलाने से छै होगी चार ही कैसे कहते हैं ?

उत्तर—तत्र स्थूले इति भाष्यम्, चारों समापत्तियों के मध्य में स्थूल अर्थ में एक ही समाधि है किन्तु अवान्तर भेद से सवितर्क निर्वितर्करूप से दो कही गई है। इसी प्रकार सूक्ष्म अर्थ में भी एक ही समाधि है अवान्तर भेद से सविचार निर्विचाररूप से दो कही गई है इस कारण वितर्कानुगतादिरूप से पूर्व में संप्रज्ञात चारप्रकार का कहा गया है मिश्रजी की व्याख्या से आठ समापत्तियां सिद्ध होती है परन्तु योगवार्तिककार उस व्याख्या का खण्डन किया है ग्रहणाख्य इन्द्रियों में सानन्द निरानन्द दो समापत्ति ग्रहीता में सास्मित निरस्मितरूप दो समापत्तियां इस प्रकार आठ समापत्तियां सिद्ध होती है वह प्रमाणाभाव से ठीक नहीं आनन्दानुगता अस्मितानुगताओं में निरानन्दनिरस्मितत्वरूप विशेष का संभव ही नहीं आनन्द आह्लादमात्र है और अस्मिता चैतन्यमात्रसंवित् यह भाष्यकार ने कहा है ह्लादशब्द से इन्द्रियों का ग्रहण और अस्मिताशब्द से अहंकारोपरक्तचैतन्य के ग्रहण से लक्षणा माननी पड़ेगी। और कैसे ह्लाद वा संप्रज्ञात में ह्लादशून्यत्व और विविक्तचिन्मात्रसंविद् से युक्त संप्रज्ञात में तच्छून्यत्व रहेगा इति दिक्।

(१) निर्विकारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः ।।४७।।

चारों ग्राह्यसमापत्तियों में निर्विचारा को उत्तम कहते हैं, वैशारद्यपदार्थ भाष्यकार कहते हैं—अशुद्धीति। रजस्तम की वृद्धि अशुद्धि है वही आच्छादकलक्षण मूल है उससे रहित प्रकाश-

ध्यात्मप्रसादः। स्थूलविषयत्वे तुल्येऽपि सवितर्कं शब्दार्थज्ञानविकल्पसङ्कीर्णमपेक्ष्य तद्रहितस्य निर्विकल्परूपस्य प्राधान्यं ततः सूक्ष्मविषयस्य सविकल्पकप्रतिभासरूपस्य निर्विचारस्य प्राधान्यं तत्र पूर्वेषां त्रयाणां निर्विचारार्थत्वान्निर्विचारफलेनैव फलवत्त्वं निर्विचारस्य तु प्रकृष्टाभ्यासबलाद्वैशारद्ये रजस्तमोऽनभिभूतसत्त्वोद्रेके सत्यध्यात्मप्रसादक्लेशवासनारहितस्य चित्तस्य भूतार्थविषयः क्रमाननुरोधी स्फुटः प्रज्ञानलोकः प्रादुर्भवति तथा च भाष्यम्—

सूक्ष्म अर्थ में सविचार और निर्विचार समाधि है इनमें अन्तिम जो निर्विचार समाधि है उसका फल कहते हैं-सू० निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः। स्थूलविषय समान होने पर भी सवितर्क शब्दार्थज्ञानविकल्पमिश्रित की अपेक्षा तद्रहीत अतएव निर्विकल्परूप निर्वितर्क समाधिप्रधान है। उसके बाद सूक्ष्म विषयक सविकल्प प्रणिधानरूप सविचार प्रधान है उससे भी सूक्ष्मविषय निर्विकल्प ज्ञानरूप निर्विचार प्रधान है। इन चारो में पूर्व तीनों निर्विचारार्थ हैं अर्थात् निर्विचार के अङ्ग हैं इसलिए निर्विचार के फल से ही वे वे तीनों फलवान् हैं उक्त तीनों का पृथक् फल नहीं है 'फलवत्सन्निधौ अफलं तदङ्गम्' यह न्याय प्रसिद्ध है। निर्विचार के प्रकृष्टाभ्यास के बल से असकृत् अभ्यास परिपाक से जब उक्त विचार परिपक्व होता है रजोगुण तमोगुण से न दबकर सत्त्व का उपचय अधिक होता है तब अध्यात्मप्रसाद होता है अर्थात् क्लेशवासना रहित परमार्थविषयक क्रमाननुरोधि स्पष्ट चित्त का प्रज्ञालोक ज्ञानप्रकाश उत्पन्न-प्रादुर्भाव होता है। इसी प्रकार भाष्य है—

स्वभाव बुद्धिसत्त्व का अनभिभूत स्वच्छस्थितिप्रवाह वैशारद्य है जिससमय निर्विचार समाधि का स्वच्छ प्रवाह होता है उससमय योगी का अध्यात्मप्रसाद होता है तो यथार्थविषय युगपत् एक ही समय में सर्वार्थग्राही स्फुटबुद्ध्यालोक होता है इसी अर्थ में परम ऋषियों की गाथा का उदाहरण देते हैं—प्रज्ञाप्रसादमारुह्य इति। बुद्धिप्रकाशप्रकर्ष से 'तरति शोकमात्मवित्' इत्यादि श्रुति के अनुसार स्वयं अपने को अशोच्य मान कर अन्य सब जन को दुःखित देखना है जो पुरुष स्वयं शोच्य है वह मूर्खतावश किसी को सुखी के समान देखना है यह पूर्ण सुखी है और जो पुरुष स्वयं अशोच्य है वह वस्तुतः दुःखार्णव निमग्न सब जीवों को दुःखित ही देखता है क्यों कि वह मूढ़ नहीं, यथार्थदर्शी है निर्विचारवैशारद्य होने पर प्रकृतिपुरुष के विवेक का किं वा परमेश्वरतत्त्व का साक्षात्कार करता है फिर साक्षात्कार करने के लिये योग की अपेक्षा नही यही निर्विचारा में उत्कर्ष है ॥ ४७ ॥

'प्रज्ञाप्रसादमारुह्य अशोच्यः शोचतो जनान् ।
भूमिष्ठानिव शैलस्थः सर्वान्प्राज्ञोऽनुपश्यति ॥इति॥'

(१) 'ऋतंभरा तत्र प्रज्ञा । तत्र तस्मिन् प्रज्ञाप्रसादे सति समाहितचित्तस्य योगिनो या प्रज्ञा जायते सा ऋतं सत्यमेव बिभर्ति न तत्र विपर्यासगन्धोऽप्यस्तीति यौगिक्येवेयं समाख्या सा चोत्तमो योगः तथा च भाष्यम्—

आगमेनानुमानेन ध्यानाभ्यासरसेन च ।
त्रिधा प्रकल्पयन् प्रज्ञां लभते योगमुत्तमम् । इति ॥

प्रज्ञाप्रसादमारुह्य अशोच्यः शोचतो जनान् ।
भूयिष्ठानिव शैलस्थः सर्वान् प्राज्ञोऽनुपश्यति ॥ इति ।

प्रज्ञालोक को पाकर स्वयं अशोच्य और लोगों को शोचते हुये देखता हैं, शैलस्थ पुरुष पर्वत के चोटी पर स्थित प्राज्ञभूमि में रहने वालों (सब मनुष्यों) को जैसे देखता है अर्थात् स्वयं उत्कृष्टावस्था का अनुभवकरता हुआ अधःस्थित लोगों को हीनावस्था में देखता है तथा व्यधान होने से सब लोगों को एकसमूह में देखता है इसमें सूत्र है —'ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा, अर्थ —पूर्वोक्त प्रज्ञाप्रसाद होने पर समाहित योगी को जो बुद्धि उत्पन्न होती है वह ऋतम्भरा बुद्धि कहाती है 'ऋतं सत्यमेव बिभर्त्ति' अर्थात् सत्यमात्र ही को विषय करती है, विपर्यास के गन्धमात्र की उसमें सम्भावना नहीं, इसी कारण सत्यमात्रविषयक उक्त बुद्धि ऋतम्भरा कहाती है 'ऋतम्भरा' यह यौगिक शब्द है, योगार्थ कह चुके हैं यह उत्तम योग है, भाष्य भी ऐसा ही है—

आगमनेनानुमानेन ध्यानाभ्यासरसेन च ।
त्रिधा प्रकल्पयन् प्रज्ञां लभते योगमुत्तमम् ॥

(१) ऋतंभरा तत्र प्रज्ञा ४८

उनमें समाहित चित्त को जो प्रज्ञा होती है वह ऋतंभरा कहाती है यह संज्ञा अन्वर्थ है 'ऋतं सत्यं बिभर्ति' विपर्यय का गन्ध भी उसमें नहीं रहता यह कहा है—

आगमेनानुमानेन ध्यानाभ्यासरसेन च ।
त्रिधा प्रकल्पयन् प्रज्ञां लभते योगमुत्तमम् ॥ इति ।

ध्यान चिन्तन का जो अभ्यास असकृदावर्तन उसमें जो आदर उससे आगम श्रवण अनुमान मनन ध्यान निदिध्यासन इन तीनों कारणों से सबीज योगकाल में प्रकर्ष से विपर्यासादिराहित्य से प्रज्ञा को उत्पादन करता हुआ योगी प्रज्ञा से परवैराग्यद्वारा वक्ष्यमाण उत्तमयोग निर्बीज का लाभ करता है ॥४८॥

सा तु (१) श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया विशेषार्थत्वात् श्रुतमागमविज्ञानं तत्सामान्यविषयमेव न हि विशेषेण सह कस्यचिच्छब्दस्य सङ्गतिर्गृहीतुं शक्यते तथानुमानं सामान्यं विषयमेव, न हि विशेषेण सह कस्यचिद्व्याप्तिर्गृहीतुं शक्यते तस्माच्छ्रुतानुमानविषयो न विशेषः कश्चिदस्ति न चास्य सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टस्य वस्तुनो लोकप्रत्यक्षेण ग्रहणमस्ति किन्तु समाधिप्रज्ञानिर्ग्राह्य एव सविशेषो भवति भूतसूक्ष्मगतो वा पुरुषगतो वा तस्मान्निर्विचारवैशारद्यसमुद्भवायां श्रुतानुमानविलक्षणायां सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टसर्वविशेषविषयायामृतंभरायामेव प्रज्ञायां योगिना महान् प्रयत्न आस्थेय इत्यर्थः।

इसमें श्रवण से अनुमान से और निज ध्यानाभ्यास परिपाक से इन तीन प्रकारों से जिसकी बुद्धि उत्पन्न होती है वह उत्तम योग लाभ करता है।

वह ऋतम्भरा प्रज्ञा शाब्द अनुमान, बुद्धि से विशेषार्थभान के कारण भिन्न विषयक है। क्योंकि शब्दजन्यज्ञानसामान्यविषयक ही होता है क्योंकि सामान्य ही के साथ व्यवहारादि से शब्दशक्तिग्रह होता है, विशेष के साथ किसी शब्द का सङ्केतग्रह नहीं हो सकता क्योंकि विशेष आश्रय के अनन्त होने से अनन्त हैं। तथा अनुमान भी सामान्यविषयक ही रहता है उक्त न्याय से विशेष के साथ किसी हेतु का व्याप्ति ग्रह नहीं हो सकता कारण पूर्वोक्त ही है इस कारण शब्द और अनुमान से विशेष को नहीं कहा जा सकता अर्थात् उक्तज्ञान विशेष का कोई नहीं है किन्तु सामान्य ही है इस सूक्ष्म व्यवहित विप्रकृष्ट (दूरस्थ) वस्तु का लेकिन प्रत्यक्ष से अर्थात् चक्षुरादि से ज्ञान नहीं होता किन्तु समाधि बुद्धि ग्राह्य ही सविशेष भूत सूक्ष्मगत अथवा पुरुषगत होता है इस कारण श्रुतानुमान विलक्षण निर्विचारवैशारद्यसमुत्पन्न होने से सूक्ष्म व्यवहित विप्रकृष्ट सर्व विशेष विषयक ऋतम्भरा प्रज्ञा में ही योगियों को महान् प्रयत्न रखना चाहिए यह निष्कर्ष हुआ।

(१) श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया विशेषार्थत्वात् ॥४९॥

समाधिसामान्य जो प्रज्ञा श्रुतानुमानरूप प्रज्ञा से अतिरिक्त विषया है

प्रश्न—क्यों ?

उत्तर—विशेषार्थत्वात् विशेषार्थविषयक है।

प्रश्न—आगम और अनुमान से अधिगत जो अर्थ तद्विषयक भावनाप्रकर्षबल से प्राप्तनिर्विचारा आगमानुमानविषयक विषय कहीं होगी क्योंकि अन्यविषयानुभवजन्यसंस्कार

अन्यविषयकज्ञान का उत्पादन नहीं कर सकता यह निश्चित है अन्यथा अतिप्रसङ्ग हो जायगा कामिनीभावनाजन्यसंस्कार से ब्रह्म प्रत्यक्षापत्ति हो जायगी अतः निर्विचारा यदि ऋतंभरा है तो अभ्यस्यमान प्रज्ञा भी ऋतंभरा होगी ?

उत्तर—**श्रुतानुमानेत्यादि।** बुद्धि सत्त्व प्रकाशस्वभाव है अतःसर्वार्थदर्शन समर्थ है किन्तु तमोगुण से आवृत रहता है जब जिस विषयमें जो तमोगुण है उसका रजोगुण से अभिभव होता है उसी विषय को ग्रहण करता है और जब अभ्यास वैराग्य से पराकृत रजस्तमस्त्व अतएव निर्दुष्ट वैशारद्य उपन्न होता है तब मानमेयसीमा को पार कर अनन्त अबाधप्रकाश होने पर किसको अविषय नहीं करता अर्थात् सबको ग्रहण करता है जिसको ग्रहण नहीं करता वह दृष्ट नहीं है यह भाव है। श्रुत आगमजन्य ज्ञानसामान्यविषयक होता है पदार्थतावच्छेदकरूपसे पदार्थ शाब्द-बोध में प्रतीत होता है पदार्थतावच्छेदक घटत्वादि सामान्य होता है घटादिगत विशेष नहीं क्योंकि वे अनन्त है अतएव सबोंकी एक समय में उपस्थिति नहीं इस कारण तत्तद्विशेषधर्मो में शक्तिग्रहका संभव नहीं विशेषों का परस्पर व्यभिचार भी है श्रुत अर्थ में भी विशेष का संशय दृष्ट है अतः विशेष के साथ शब्द का संकेतग्रह नहीं, इस कारण विशेष के साथ वाच्यवाचक सम्बन्ध की प्रतीति नहीं। अनुमान से भी सामान्यरूप से ही अर्थ का ज्ञान होता है विशेषरूप से नहीं गृहीतव्यापकतावच्छेदकगतित्वादिसामान्यरूप से ही गतिका अनुमान होता है क्रिया-गत विशेषरूप से नहीं' यत्राप्राप्तिस्तत्र न गतिः' इस भाष्य लेख से अप्राप्ति में हेतुत्व की प्रतीति होती है सो ठीक नहीं क्योंकि व्यतिरेकिस्थल में साध्याभाव ही हेत्वभाव का लिंग होता है इस लिये यत्रतत्र के स्थान का परिवर्तन करना 'यत्र न गतिस्तत्र न प्राप्तिः' यह भाव है।

प्रश्न—अच्छा तो आगमाविषय अर्थ लौकिकप्रत्यक्ष का ही विषय मानिये क्योंकि प्रत्यक्ष तो सबन्ध ग्रहापेक्ष से नहीं फिर योगजप्रत्यक्ष की भी आवश्यकता ही है ?

उत्तर—**नचास्येति।** सूक्ष्मव्यवहित विप्रकृष्टपदार्थ का लौकिक प्रत्यक्ष हो ही नहीं सकता इन्द्रियों की उसमें योग्यता ही नहीं है।

प्रश्न—प्रमाणाभाव से तादृश विशेषाभाव ही क्यों न कहा ?

उत्तर—विना विशेष के सामान्य होता ही नहीं इसन्याय से तथा अनुभव से सब वस्तुओं में विशेष रहता है यह मानना आवश्यक है इसमें मिश्रजी की उपपत्ति भी है कि प्रमाण प्रमेय का न व्यापक है और न कारण ही जिस से व्यापकाभाव से अथवा कारणाभाव से प्रमेयाभाव कह सकें। चन्द्रादि का परभाग प्रत्यक्ष नहीं होने पर उसमें लोगों का सन्देह होता ही है यदि प्रमाण निवृत्ति प्रमेय की निवृत्ति मानी जाय तो परभागाभाव निश्चित ही हो जायगा फिर उसमें संशय कैसे ? वस्तुतः प्रमाणनिवृत्ति भी नहीं है समाधि प्रज्ञा निर्ग्राह्य है विशेष वैशारदी योगवार्तिकादिमें देखिये ॥ ४९ ॥

ननु क्षिप्तमूढविक्षिप्ताख्यव्युत्थानसंस्काराणामेकाग्रतायामपि सवितर्कनिर्वितर्कसविचारजानां संस्काराणां सद्भावात्तैश्चाल्यमानस्य चित्तस्य कथं निर्विचारवैशारद्यपूर्वकाध्यात्मप्रसादलभ्या ऋतंभरा प्रज्ञा प्रतिष्ठिता स्यादत आह—(१) तज्जः संस्कारोऽन्यसंस्कारप्रतिबन्धी। तया ऋतंभरया प्रज्ञया जनितो यः संस्कारः स तत्त्वविषयया प्रज्ञया जनितत्वेन बलवत्त्वादन्यान् व्युत्थानजान् समाधिजांश्च संस्कारानतत्त्वविषयप्रज्ञाजनितत्वेन दुर्बलान् प्रतिबध्नाति स्वकार्याक्षमान् करोति नाशयतीति वा तेषां संस्काराणामभावात्तत्प्रभवाः प्रत्यया न भवन्ति ततः समाधिरुपतिष्ठते ततः समाधिजा प्रज्ञा ततः प्रज्ञाकृताः संस्कारा इति नवो नवः संस्काराशयो वर्धते ततश्च प्रज्ञा ततश्च संस्कारा इति।

शंका—संक्षिप्त मूढ़ विक्षिप्त नामक व्युत्थान संस्कार एकाग्रदशा में भी सवितर्क निर्वितर्क सविचार से जो समुत्पन्न हुये हैं संस्कारों के सद्भाव से उनसे चाल्यमानचित्त निर्विचारवैशारद्यपूर्वक अध्यात्मप्रसादलभ्य ऋतम्भरा प्रज्ञा कैसे प्रतिष्ठित अर्थात् सुस्थिर हो सकती है ?

उत्तर-सू० 'तज्जः संस्कारोऽन्यसंस्कारप्रतिबन्धी'। अर्थ—तत् 'तया ऋतम्भरया प्रज्ञया जनितो यः संस्कारः स तज्जः' अर्थात् ऋतम्भरा प्रज्ञा समुत्पन्न संस्कार स तज्जः' अर्थात् ऋतम्भराप्रज्ञा समुत्पन्न संस्कार तत्त्वविषयक बुद्धि से उत्पन्न होने के कारण बलवान् है अन्य व्युत्थानजन्य और समाधिजन्य संस्कार अन्यस्व विषयक ज्ञान उत्पन्न होने से दुर्बल होते हैं बलवान् दुर्बल का बाधक होता है यह लोकप्रसिद्ध न्याय है इसके अनुसार ऋतम्भराप्रज्ञाजन्य संस्कार तदितर संस्कारों का प्रतिबन्धक स्वकार्याक्षम अथवा नाश करते हैं। प्रतिबन्ध, पूर्ण कार्य सामग्री रहने पर जिसके कारण से कार्य नहीं होता वह प्रतिबन्ध कहा जाता है। सत्कार्यवाद में वस्तु का अत्यन्त नाश नहीं होता किन्तु स्वकारण में लीन होने से स्वकार्याक्षम नहीं होता। असत् कार्यवाद के अभिप्राय से 'नश्यति' यह द्वितिय अर्थ कहा है। सर्वथा इन संस्कारों का ऋतम्भराप्रज्ञा संस्कार से तिरोभाव होने से तत् संस्कार निमित्तक ज्ञान नहीं होते ततः इसमें समाधि होती है, तदनन्तर निर्विचार समाधि से ऋतम्भरा प्रज्ञा होती है प्रज्ञा से फिर संस्कार, इस रीति से नये नये प्रज्ञासंस्कारातिशय बढ़ते जाते हैं उनमें प्रज्ञा उनमें संस्कार इति।

(१) तज्जः संस्कारोऽन्यसंस्कारप्रतिबन्धी ॥५०॥

ननु भवतु व्युत्थानसंस्काराणामतत्त्वविषयज्ञाजनितानां तत्त्वमात्रविषयसंप्रज्ञातसमाधिप्रज्ञाप्रभवैः संस्कारैः प्रतिबन्धस्तेषां तु संस्काराणां प्रतिबन्धकाभावादेकाग्रभूमावेव सबीजः समाधिः स्यान्न तु निर्बीजो निरोधभूमाविति

शंका—अतत्त्वबुद्धि जनित व्युत्थान संस्कारों का तत्त्वमात्र (परमार्थमात्र) विषयक संप्रज्ञात समाधि प्रज्ञा से, उत्पन्न संस्कारों से प्रतिबन्ध हो इन संस्कारों का प्रतिबन्धकाभाव से एकाग्र भूमिका में ही सबीज समाधि होगी निर्विरोध भूमि में निर्बीज समाधि न होगी ?

परमार्थविषय संप्रज्ञात मानिये किन्तु अनादिकाल से प्राप्त अतएव प्ररूढ़मूल व्युत्थान संस्कार से समाधिप्रज्ञा अचिरागत होने से अपुष्ट मूल वात्यन्धमध्यवर्ती प्रदीपपरमाणु के समान स्वयं नष्ट हो जायगी इस शंका की निवृत्ति के लिये सूत्र का अवतरण देते हैं—**समाधि प्रज्ञेति।** तत् शब्द से निर्विचारा समापत्ति का परामर्श है अन्यसे व्युत्थान को कहते हैं बुद्धियों का तात्त्विक अर्थ में पक्षपात अभिनिवेश है यह स्वभाव है अव्यवस्थित बुद्धि तबतक घूमती रहती है जबतक तात्त्विक पदार्थ को नहीं विषय करती तात्त्विक पदार्थ के पाने पर उसपर पैर जमाकर संस्कार बुद्धि संस्कार बुद्धि चक्रक्रमसे आवर्तमान अनादि अतत्त्वसंस्कार बुद्धि क्रमका बाधक होता है वेदवाह्यों ने भी कहा है—

निरुपद्रवभूतार्थस्वभावस्य विपर्ययैः ।
न बाधानादिमत्त्वेऽपि बुद्धेस्तत्पक्षपाततः ॥ इति ।

प्रमाणजन्यपरमार्थविषयकबुद्धि का अनादिविपर्ययों से बाध नहीं होता इसमें हेतु है बुद्धिका तत्त्वमें पक्षपात कवियों ने भी कहा है 'भवन्ति भव्येषु हि पक्षपाताः' । अच्छा तो समाधिप्रज्ञा से व्युत्थान संस्कार का निरोध हो समाधि से जायमान जो संस्कारविशेष वह समाधिप्रज्ञोत्पादकहेतु अविकल ही है अतः चित्त पूर्ववत्साधिकार ही रहेगा यह शङ्का करते हैं, इसका परिहार करते हैं—**न त** इति । वे प्रज्ञाजन्य संस्कार क्लेशनाश हेतु हैं अतः वे चित्तको साधिकार नहीं करते । चित्तके दो कार्य हैं—शब्दस्पर्शादिविषयों का उपभोग और विवेकख्याति उसमें क्लेशकर्माशयसहित—चित्त उक्त विषयोपभोग में प्रवृत्त होता है प्रज्ञोत्पन्नसंस्कारों में निमूलित क्लेशकर्माशय समाप्तप्राय अधिकारत्व चित्त का कार्य विवेकख्यातिमात्र बाकी रहती है अर्थात् क्लेशकर्माशयसहकृत चित्त भोगसाधन है और तदभावसहकृतचित्त योगसाधन है सहकारिभेद से दोनों कार्य व्यवस्थित है, अतः समाधिसंस्कार चित्त के सर्गाधिकार हेतु नहीं है किन्तु उसके विरोधी है स्वकार्यभोगस्वरूप से प्रच्युत करते है असमर्थ करते है ।

प्रश्न—क्यों विवेकख्याति पर्यन्त ही चित्तका व्यापार है ?

तत्राह—तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः। तस्य संप्रज्ञातस्य समाधेरेकाग्रभूमिजस्य अपिशब्दात् क्षिप्तमूढविक्षिप्तानामपि निरोधे योगिप्रयत्नविशेषेण विलये सति सर्वनिरोधात्समाधेः समाधिजस्य संस्कारस्यापि निरोधान्निर्बीजो निरालम्बनोऽसंप्रज्ञातसमाधिर्भवति स च सोपायः प्राक् सूचितो विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्य इति विरम्यतेऽनेनेति विरामो वितर्कविचारानन्दास्मितादिरूपचिन्तात्यागः, तस्य प्रत्ययः कारणं परं वैराग्यमिति यावत् विरामश्चासौ प्रत्ययश्चित्तवृत्तिविशेष इति वा तस्याभ्यासः पौनः पुन्येन चेतसि निवेशनं तदेव पूर्वं कारणं यस्य स तथा संस्कारमात्रशेषः सर्वथा निर्वृत्तिकोऽन्यः पूर्वोक्तात्सबीजाद्विलक्षणो निर्बीजोऽसंप्रज्ञातसमाधिरित्यर्थः।

उत्तर सू०—(१) तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः। अर्थ—तस्य सम्प्रज्ञातस्य समाधिः एकाग्रभूमिजन्यस्य, एकाग्रभूमिजन्य संम्प्रज्ञातसमाधि के अपि शब्द से क्षिप्त मूढविक्षिप्त संस्कारों का भी योगीके प्रयत्न विशेष से, लय होने से सब संस्कारों का लय हो जाता है इस कारण समाधिजात संस्कार का भी लय होने से निर्बीज निरालम्बन असम्प्रज्ञातसमाधि होती है वह उपाय पूर्व में सूत्रकार ने कहा है—विरामप्रत्याभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः अर्थ—विरम्यते अनेनेति विरामः, वितर्क विचार आनन्द और अस्मिता के स्मितादिरूप चिन्ता का त्याग विराम शब्दार्थ है उसका कारण पर वैराग्य वस्तुतः विराम शब्दार्थ है। 'विरामश्चासौ प्रत्ययः चित्तवृत्ति विशेषः' यह भी अर्थ है उसका अभ्यास बारम्बार चित्तमें सन्निवेश वही पूर्व कारण है जिसको स तथा। संस्कारमात्र शेष सर्वथा निर्वृत्तिक सकलवृत्ति शून्य अन्य याने भिन्न हैं पूर्वोक्त सबीज से विलक्षण निर्बीज असंप्रज्ञात समाधि है यह तात्पर्य है।

उत्तर—तबतक ही चित्त भोग के लिये चेष्टा करता है जबतक विवेकख्याति का अनुभव नहीं करता विवेकख्यातियुक्त चित्तका क्लेशनिवृत्ति होने पर भोगाधिकार नहीं ॥ ५० ॥

(१) तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधात् निर्बीजः समाधिः ॥५१॥

प्रज्ञासंस्कारों का प्रयोजन भोगाधिकार प्रशम है यह कहा है, पूछते हैं इसको क्या होता है—प्रज्ञासंस्कारविशिष्ट चित्त प्रज्ञासंस्कारधाराजनक होने से पूर्ववत्साधिकार ही चित्त रहेगा अतः संस्कारोंच्छेद के लिये अन्य भी किसी की अपेक्षा है सूत्र से उत्तर कहते हैं—तस्यापीति। ज्ञानप्रसादलक्षण परवैराग्य से संस्कारोत्पादनद्वारा प्रकृतसंस्कार का निरोध होने पर

केवल प्रज्ञा का ही नहीं उत्पद्यमान सब संस्कारप्रवाह के निरोध से 'कारणाभावात् कार्याभाव' इस न्याय से कार्यानुत्पाद से यह निर्बीज समाधि होती है, भाव यह है कि पूर्व पूर्व असंप्रज्ञात से प्रज्ञा का ही निरोध होता है संस्कार केवल लघु हो जाते हैं इसक्रम से प्रज्ञाकृतसंस्कार का असंप्रज्ञातपरंपरा से निरोध करने पर चरम असंप्रज्ञात निर्बीजयोग का पराकाष्ठा होती है जिसकारण से प्रज्ञा और तत्संस्कार अत्यन्तविलय कर दिया गया अतः निर्बीज है दुःखबीजसंस्कारों से शून्य यह अर्थ है। पूर्व पूर्व असंप्रज्ञात व्यक्तियों में क्रमसे बीज तनुभाव को प्राप्त होता है अतः गौणनिर्बीजत्व है अन्तिम असंप्रज्ञात में सब प्रसंस्कार क्षीण होते हैं अतः चित्तको साधिकार नहीं करते यह भाव है।

प्रश्न—वैराग्य से जायमानज्ञान समीचीनज्ञान है अतः प्रज्ञाबाधक होता है यह ठीक है संस्कार जो ज्ञानस्वरूप नहीं फिर उसको कैसे बाधता है यह तो देखा गया है कि जागापुरुष स्वप्रदृष्ट अर्थ का स्मरण करता है जागरणज्ञान से मिथ्याभूत स्वप्नज्ञान का बाध होने पर भी उसका स्मरण होता है यदि संस्कार का भी बाधक होता तो स्मरण न होगा स्मरण में उद्बुद्धसंस्कार हेतु है।

उत्तर—निरोध से देते हैं—'निरुद्ध्यते अनेन प्रज्ञा' इस व्युत्पत्ति से निरोधशब्द परवैराग्यपरक है। उससे जातनिरोधसंस्कार दीर्घकालादि से चित्त, परवैराग्यजन्यसंस्कार से प्रज्ञा संस्कार का बाध होता है विज्ञान से नहीं।

प्रश्न—अच्छा तो निरोध संस्कार ही में क्या प्रमा क्योंकि उसका प्रत्यक्ष तो होता नहीं स्मरणकार्यलिङ्गक अनुमान से भी नहीं सिद्ध हो सकता सब वृत्तियों के निरोध होने पर योगी को प्रत्यक्ष ही नहीं होता कि उसको प्रमाण कहैं, न स्मरण ही है वह वृत्तिमात्र का निरोध होने से स्मृतिजनक नहीं हो सकता स्मृति भी तो वृत्त्यात्मक ही है।

उत्तर—निरोधेति। निरुद्धावस्थचित्त की स्थिति के कालक्रम का अनुभव होता है, मुहूर्त आधाप्रहर एकप्रहर एकदिनरात इत्यादि का अनुभव होता है कि इतने कालतक चित्त निरुद्ध था यह योगीको अनुभव होता है यह माना जाता है वैराग्याभ्यासप्रकर्ष के अनुरोधी निरोधप्रकर्ष मुहूर्तयामादिव्यापकत्व से योगी को प्रतीत होता है यदि वैराग्यक्षण परस्पर क्रमनियत न होते तो तत्कालव्यापी संस्कार को नहीं उत्पन्न कर सकते अतस्तद्वैराग्यक्षणप्रचयजन्य स्थायी संस्कारप्रचय मानना आवश्यक है।

प्रश्न—तो प्रज्ञासंस्कार नष्ट हो निरोधसंस्कार कैसे नष्ट होंगे यदि उनका उच्छेद न होगा तो चित्त साधिकार ही रहेगा?

उत्तर—व्युत्थानेति। व्युत्थान और उसका निरोधसमाधि संप्रज्ञात एतदुभयजन्य संस्कार कैवल्यभागीय संस्कार निरोधसंस्कार व्युत्थानप्रज्ञासंस्कार चित्तमें प्रकर्ष से लीन हो जाते हैं

संप्रज्ञातस्य हि समाधेद्वावुपायावुक्तावभ्यासो वैराग्यं च, तत्र सालम्बनत्वादभ्यासस्य न निरालम्बनसमाधिहेतुत्वं घटत इति निरालम्बने परं वैराग्यमेव हेतुत्वेनोच्यते

संप्रज्ञात समाधि का २ उपाय कहा है १. अभ्यास २. वैराग्य, उनमें अभ्यास सालम्बन है इस कारण निरालम्बन समाधि का हेतु नहीं हो सकता इसलिए निरालम्बन जो परवैराग्य है वही कारण कहा जाता है,

इस कारण चित्त व्युत्थानप्रज्ञासंस्कारवत् होता है निरोधसंस्कार वर्तमान हो चित्तमें रहता है निरोध संस्कार रहने पर भी चित्त साधिकार नहीं होता पुरुषार्थजनकचित्त साधिकार होता है शब्दादिविषयों का उपभोग और विवेकख्याति ये ही दोनों पुरुषार्थ हैं ये होचुके हैं, व्युत्थानज्ञानसामान्य निरोधसमाधि असंप्रज्ञात तदुभयजन्यसंस्कार के सांकेतकैवल्यहेतुकर्म संस्कारविशिष्टचित्त नित्यस्वकीयप्राप्ति में स्वयं लीन होजाता है दग्धेन्धनाग्नि के समान आत्यन्तिक जीवन होजाता है क्योंकि चित्तपरिणामिस्वभाव है चित्तका विसदृश परिणाम ही तत्स्वामी पुरुष का भोग है पुरुषार्थ न होने से फिर विसदृश परिणाम नहीं होता विशेष योगवार्त्तिक में देखिये ॥५१॥

'त्रयमेकत्र संयम' इसयोग सूत्र के अनुसार यद्विषयक धारणा हो तद्विषयक ही ध्यान समाधि हो तो उक्त तीनों संयम कहाते हैं। संप्रज्ञात भी तद्विषयक ही विवक्षित है साध्यसंप्रज्ञात समान विषय संयम अन्तरङ्ग है यमादि चित्तस्थैर्यसाधनद्वारा संप्रज्ञात के बहिरंग साधन है अतएव जडभरतादि जिन महापुरुषों का चित्त प्राग्जन्मार्जित कर्मवश संयमयोग्य था उनको अन्तरङ्ग साधन की भी अपेक्षा नहीं यह गरुडपुराण में लिखा है—

आसनस्थानविधयो न योगस्य प्रसाधकाः।
विलम्बजननाः सर्वे विस्ताराः परिकीर्तिताः॥
शिशुपालः सिद्धिमाप स्मरणाभ्यासगौरवात्॥ इति॥

अतएव गीता में भी संयमाशक्त के लिये ही अभ्यासादिकर्मों का विशेष उपदेश है। 'मय्येव मन आधत्स्व' इत्यादि 'अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव' इत्यन्त।

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह'।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते।

इस श्रुति से ज्ञातकर्मों का साहित्य कहा है सो उसका अङ्गाङ्गि का औत्सर्गिक सहानुष्ठान में तात्पर्य है मोक्ष फल में दोनों का समुच्चय नहीं विवक्षित है।

अतएव—'न केवलेन योगेन प्राप्यते परमं पदम्।
ज्ञानं तु केवलं सम्यगपवर्गप्रदायकम्। इत्यादि

अतएवयोगवासिष्ठ में कहा है—

उभाभ्यामेव पक्षाभ्यां यथा खे पक्षिणां गतिः।
तथैव ज्ञानकर्मभ्यां तत्र ते परमं पदम्। १७॥

अभ्यासस्तु संप्रज्ञातसमाधिद्वारा प्रणाड्योपयुज्यते तदुक्तं 'त्रयमन्तरङ्गं पूर्वेभ्यः' धारणाध्यानसमाधिरूपं साधनत्रयं यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहाररूपसाधनपञ्चकापेक्षया सबीजस्य समाधेरन्तरङ्गं साधनं साधनकोटौ च समाधिशब्देनाभ्यास एवोच्यते मुच्यते तदनेन चित्तसारूप्येण भ्रान्ताः केचित्तदेव चेतनमित्याहुः

अभ्यास तो संम्प्रज्ञात समाधि द्वारा परम्परया हेतु हैं, सूत्रकार ने ऐसा ही कहा है 'त्रयमन्तरङ्गम् पूर्वेभ्यः। अर्थात् पूर्व कारणों से ये तीन अन्तरङ्ग हैं धारण ध्यान समाधि रूपसे ये तीन साधन यम, नियम आसन प्राणायाम प्रत्याहार रूप इन पाँचों साधनों की अपेक्षा सबीज समाधि के उक्त तीनों अन्तरङ्ग साधन हैं। साधन कोटि में जो समाधि शब्द का प्रयोग आया है वह अभ्यास के तात्पर्य से अन्यथा साध्य साधन कोटिद्वय में समाधि शब्द प्रयोग असङ्गत हो जायगा। क्योंकि मुख्य समाधि साध्य है किसी का साधन नहीं फिर साधन कोटि में मुख्यार्थ समाधि शब्दके प्रयोगकी असंगति स्फुट है।

सू०—(१) तदपि बहिरङ्गं निर्बीजस्य'। अनिर्बीजसमाधि का धारण ध्यान समाधि रूप उक्तत्रय बहिरङ्ग (परम्परया) उपकारक है पर वैराग्य ही अन्तरङ्ग साधन है यह भी दो प्रकार का है १. भव प्रत्यय २ उपाय प्रत्यय। सू०—(२) 'भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिलयानाम्'। अर्थ—विदेहानाम् सानन्दानाम् प्रकृतिलया-

(१) तदपि बहिरङ्गं निर्बीजस्य ॥१८॥

वह भी अन्तरङ्ग-साधनत्रयसंयम निर्बीजयोग का बहिरङ्ग साधन है उक्त साधनत्रय संप्रज्ञात ही अन्तरङ्ग है, असंप्रज्ञात में नहीं क्योंकि असंप्रज्ञात निर्बीज होने से उसके साथ समानविषयत्व ही नहीं और समानविषयत्वप्रयुक्त ही अन्तरङ्गत्व है यमादि के चिरनिरोध होने पर ज्ञानप्रसादरूपपरवैराग्य से असंप्रज्ञात होता है, असंप्रज्ञात के पूर्वक्षण में न रहने से संयम कारण ही नहीं तो उसमें अन्तरङ्गत्व की कथा संभावना बहिरंग ईश्वरप्रणिधान से भी समाधि होती है इस कारण यदनन्तर उत्पत्ति हो वह अन्तरङ्ग है यह नहीं कह सकते, अन्यथा बहिरङ्ग ईश्वरप्रणिधान में भी अन्तरङ्गत्व की आपत्ति हो जायगी समानाविषयक होने से ईश्वरप्रणिधान बहिरंग साधन है अन्तरंग नहीं ॥ १८ ॥

(२)भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिलयानाम् ॥१९॥

लोके योगभ्रष्टानामित्यादि यो० वा०। योगभ्रष्ट अतएव देवभावों को देवलोक में भवप्रत्यय योग का विस्तार से कहने की इच्छा से 'सूचीकटाह' न्याय से प्रथम भवप्रत्यय

नान्य इत्यादि, विदेह और सानन्द प्रकृति लय और सास्मिता पूर्व में व्याख्यात जो देवादिक है जन्मविशेष, ओषधि विशेष मन्त्रविशेषों से इनमें किसी के कारण जो समाधि होती है वह भवप्रत्यय है। भवः आत्मानात्मविवेकाभावरूप संसार वह प्रत्यय कारण है जिसका वह भवप्रत्यय है जैसे जन्ममात्र से पक्षियों में आकाश गमन संस्कार है तद्वत् यह पुनः संसार हित होने से मुमुक्षुओं से भवप्रत्यय हेय ही

त्याग के लिये कहते हैं मुमुक्षु को यह उपादेय नहीं है, मिश्रजी ने 'भवन्ति जायन्तेऽस्यां जन्तवः' इति भवः, अविद्या, यह भव की व्याख्या की है भूतों में इन्द्रियों में वा विकारों में अथवा प्रकृति में अव्यक्त महदहंकार पञ्चतन्मात्राओं में अनात्माओं में आत्मख्याति तौष्टिकवैराग्यसंपन्नों को जो होती है वह यह भवप्रत्यय निरोध समाधि है उक्त सब अनात्म सब पदार्थों में योग्यतानुसार आत्मभ्रम होने से आत्मा मानकर उपासना कर संतुष्ट हो गये अर्थात् वास्तविक आत्मा की उपासना है यह समझकर संतुष्ट हुये वे तौष्टिकवैराग्यसम्पन्न हैं यह भवप्रत्यय है। इन में उपाय प्रत्यय जो अग्रिमसूत्र से वक्ष्यमाण है वही योगियों को उपादेय है विशेष के विधान से शेष में मुमुक्षु संबन्ध का निषेध करते हैं।

प्रश्न—भवप्रत्यय किनका है ?

सूत्र से उत्तर देते हैं—**भवप्रत्यय** इत्यादि। विदेह और प्रकृतिलय इनको भवप्रत्यय निरोधहोता है। भूतेन्द्रियों में किसी को आत्मा मान कर उसकी उपासना से तद्वासनावासितान्तः-करण शरीरत्यागोत्तर इन्द्रियों में वा भूतों में उपासनानुसार लीन संस्कारमात्रावशेषचित्त षाट्-कौशिकशरीर मनुष्यादिशरीर से रहित विदेह कहाते हैं। वे संस्कारमात्र के उपयोगमात्र से वृत्ति का अभाव सूचित करते हैं। कैवल्यमोक्ष के समान करते हुए विदेह कहाते हैं वृत्तिशून्यत्व ही कैवल्य के साथ सादृश्य है मोक्ष से भेद कहते हैं—साधिकार संस्कारशेषता वैषम्य है मोक्षनिरधि-कारचित्त प्रकृतिलीन होता है इसमें साधिकारचित्त भूतेन्द्रियादिमें न होता है यह भेद है। **'संस्कारमात्रोपभोग'** ऐसा भी कहीं पाठ है इसका अर्थ है संस्कार मात्र ही उपभोग है जिसका वह वृत्ति नहीं होती अवधिकी समाप्ति होने पर स्वयं संस्कारविपाक तथाजातीयक का अतिक्रम करते हैं अर्थात् फिर भी संसार में प्रविष्ट होते हैं ऐसा ही वायुपुराण में कहा है—

[दशमन्वन्तराणीह तिष्ठन्तीन्द्रियचिन्तकाः।
भौतिकास्तु समं पूर्णम् इत्यादि॥

ऐसा ही प्रकृतिलय। अव्यक्त महदहंकार पंचतन्मात्राओं में किसी को आत्मा मानकर उसकी उपासना से तद्वासनावासितान्तःकरणशरीर वियोगानन्तर अव्यक्त में उपासनानुसार किसीमें लीन होते हैं किन्तु चित्त साधिकार ही रहता है चरितार्थ नहीं होता चित्तचरितार्थ तब होता यदि विवेकख्यातिको भी उत्पन्न करता प्रकृतिपुरुष के विवेक को न उत्पन्न कर अतएव

है। सू०—श्रद्धा, वीर्य, स्मृति समाधि, प्रज्ञापूर्वक इतरेषाम्'। जन्म औषधि मन्त्र तपः सिद्धियों से व्यतिरिक्त आत्मानात्मविवेक, दर्शियों की जो समाधि वह श्रद्धापूर्वक है। श्रद्धादयः पूर्वे उपाया यस्य स तथा, पूर्व शब्द उपायोपपरक है उपेय से पूर्व नियम से उपाय रहता है अतः वह उपायप्रत्यय है, श्रद्धादिकों में योगविषय में चित्तप्रसन्नता श्रद्धा है, वही माता के समान योगभी की रक्षा करती है इससे श्रद्धावान् विवेकार्थी को एकाग्रता समाधि होती है। समाहितचित्त को विवेकसे भाव्यविषयक बुद्धि होती है उस अभ्यास और पर वैराग्य से मुमुक्षुओं की असंप्रज्ञात समाधि होती है। भाष्य है—प्रतिक्षण परिणामिनो हि भावा ऋते चितिशोक्तः' इति।

अचरितार्थ चित्तमें साधिकारता रहती है प्रकृतिसाम्यको प्राप्तकर के भी अवधि को समाप्त कर फिर भी उत्पन्न होता है उससे विवेक होता है इसमें अनुरूप दृष्टान्त कहते हैं—जैसे वर्षा बीतने पर मेघहीकी शरीर सूख (कमही) हो जाती है मेघके जल जलसंपर्क से फिर मेघा की शरीर होजाती है यह भी वायुपुराण में लिखा है—

सहस्रं त्वाभिमात्रिकाः, बौद्धा दश सहस्राणि तिष्ठन्ति विगतज्वराः। पूर्णं शतसहस्रंतु तिष्ठन्त्यव्यक्तचिन्तकाः पुरुषं निर्गुणं प्राप्य कालसंख्या न विद्यते इति। अतः यह पुनर्जन्मकारण होने से हेय हैं।

इसमें आक्षेप यह है कि इन्द्रियादि प्रकृतिचिन्तकों में अविद्याहेतुक असंप्रज्ञात समाधि होती है यह मिश्रजी के व्याख्यान का सार है सो ठीक नहीं कारण पर वैराग्यहेतुक असंप्रज्ञातका अविद्वान में संभव नहीं वायुपुराण का वाक्य इन्द्रियाद्युपासक अनुत्पन्नज्ञान कर्मदेवों के तत्तस्थितिकाल का ही बोधक है उनके असंप्रज्ञात समाधि अथवा देशाद्यभावप्रयुक्त वृत्यभाव काल से नहीं इन्द्रियादिध्यानमात्र से असंप्रज्ञात नहीं हो सकता और इन्द्रियाद्युपासक का इन्द्रियाद्यभिमानि सूर्यादिपद प्राप्ति ही फल है यह अन्यत्र स्पष्ट है इति ॥१९

श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम् ॥२०॥ उपाय प्रत्यय योगियों को होता है उपपत्ति श्रद्धादि है

प्रश्न—श्रद्धा तो इन्द्रियादि चिन्तकों को भी है?

उत्तर—श्रद्धा चित्त की प्रसन्नता है वह आगम अध्यात्मशास्त्र आचार्य का उपदेश अनुमान आगमाद्यविरोधी इनसे समझ लिया है तत्त्व यथार्थस्वरूप जिस तत्त्व का तद्विषयक चेतःप्रसार श्रद्धा है इन्द्रियाद्युपासकों में यह नहीं है इसी को स्फुट करते हैं—अभिरुचीत्यादि से। क्यों कि उनकी अभिरुचि मोहमूलक होने से वह संप्रसाद नहीं।

प्रश्न—क्यों यही श्रद्धा है?

इस न्याय से इस समाधि में भी सम्पूर्ण चित्तवृत्तियों की निरोधावस्था में चित्त का स्वरूप परिणाम धारा तथा तज्जन्य संस्कारधारा होती ही है इस अभिप्राय से संस्कारशेष कहा उस संस्कार का प्रयोजन सूत्रकार ने कहा है सूत्र—(१) ततः प्रशान्तवाहिता संस्कारात्'। अर्थ—प्रशान्तवाहिता अवृत्तिकचित्त का इन्धनशून्य अग्नि की तरह प्रतिलोम परिणाम से उपशम शान्ति। लोक में काष्ठ न रहने पर अग्नि जैसे शनैः शनैः स्वकारणलयद्वारा क्षीण होती जाती है उसी तरह चित्त का शनैः शनैः कारण में लय प्रतिलोम परिणामरूपक्षय होता है यही यथा से कहते हैं—लकड़ी घृतादि आहुति प्रक्षेप से उत्तरोत्तर वृद्धि से अग्नि प्रज्वलित होती है और काष्ठादि के क्षय होने पर प्रथम क्षण में कुछ कमी होती है उत्तरोत्तर क्षण में अधिक २ शान्ति होती है इस प्रकार अग्नि की शान्ति बढ़ती जाती है इसी प्रकार चित्तकी अधिकाधिक शान्तिधारा बढ़ती जाती है इनमें पूर्वप्रशमजनित संस्कार उत्तरोत्तर प्रशम का कारण है जब काष्ठशून्य अग्नि के समान चित्त क्रम से शान्त होता हुआ व्युत्थानसमाधि निरोधसंस्कारों के साथ अपनी प्रकृति में लीन होता है तब समाधि परिपाकोत्पन्न वेदान्तवाक्य जन्य समीचीनज्ञान से अविद्यानिवृत्ति होती है अतः तद्धेतुक दृग् दृश्यहेतु संयोग के अभाव से प्रमाणादि पञ्चप्रकार की वृत्तिता निवृत्त होती है अतएव

उत्तर—सा हीति। अनर्थफलक अपन्मार्ग से माता के समान योगी की रक्षा करती है यह इच्छाविशेष श्रद्धा इच्छाविषय में प्रयत्न करती है विवेकार्थी में वीर्य होता है स्मृति अनाकुलध्यान इससे चित्त समाहित होता है यमनियमादि के विना न होने वाली समाधि के उपादान से यमनियमादि भी सूचित हुए। इस प्रकार अखिलभोगाङ्गसंपन्न को संप्रज्ञातसमाधि होती है प्रज्ञा में विवेकप्रकर्ष होता है संप्रज्ञातपूर्वक असंप्रज्ञात की उत्पत्ति कहते हैं—तदभ्यासादिति। तत्तद्भूमिकाप्राप्त होने पर तत्तद्विषयवैराग्य से असंप्रज्ञातसमाधि होती है वह ही मोक्ष का हेतु है सत्त्वपुरुषान्यताख्याति पूर्व ही निरोधभोगापवर्गरूप अखिलकार्यसंपादान करने से चरितार्थ चित्तको अधिकार से रहित करता है ॥२०॥

(१) ततः प्रशान्तवाहिता संस्कारात् ॥१०॥ तृतीयपाद।

प्रश्न—सर्वथाव्युत्थान संस्कार मलरहित निरोधसंस्कार धाराप्रवाह प्रशान्तवाहिता है

उत्तर—तस्येति व्युत्थानसंस्कार मल रहित निरोधसंस्कारधाराप्रवाह प्रशान्तवाहिता है।

प्रश्न—क्यों संस्कार पाटव की अपेक्षा है संस्कार मात्र की नहीं ?

उत्तर—निरोधसंस्कार यदि मन्द होगा तो व्युत्थानसंस्कार से निरोधसंस्कार का अभिभव होजायगा

स्वरूप प्रतिष्ठा केवल शुद्धपुरुष मुक्त कहा जाता है। सा सूत्रकार ने कहा है—(१) तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थाज्ञानम्' इति। तब सब वृत्तियों के निरोध होने पर वृत्ति दशा में यद्यपि नित्य अपरिणामि चैतन्यस्वरूप आत्मा सदा शुद्ध ही रहता है तथापि अनादि दृग् दृश्य संयोग से अन्तःकरण में तदात्माध्यासवश अन्तःकरणवृत्ति सारूप्य का अनुभव करता हुआ अर्थात् अन्तःकरण के धर्म को वस्तुतः आत्मधर्म मानता हुआ स्वरूप से दुःखों का अभोक्ता होने पर भी अध्यासरूप से भोक्ता

(१) तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ॥३॥

असंप्रज्ञातयोगकालमें द्रष्टा चितिशक्तिपुरुषका स्वरूप निर्विषय चैतन्य में अवस्थान रहता है जैसे जपाकुसम के असन्निधान काल में अलोहित स्वस्वरूप में स्फटिकमणि का अवस्थान रहता है तद्वत् वृत्तिके अभावकालमें वृत्तिप्रतिबिम्बशून्य में स्वस्वरूप में पुरुष का अवस्थान रहता है यो॰ भा॰ चित्तकी असंप्रज्ञात अवस्था विषयभान न होने से विषयाकारपरिणतबुद्धि बोधात्मा पुरुष किं स्वभाव होता है ये आक्षेप हैं भाव यह है कि तद्विषयाकारपरिणतबुद्धि से उपरक्त ही सदा पुरुष प्रतीत होता है बुद्धि बोधरहित नहीं अतः जैसे सूर्य का प्रकाश स्वभाव है वैसे ही पुरुष को बुद्धि बोधस्वभाव है संस्कारमात्रावशिष्ट चित्तमें बुद्धिबोध है नहीं स्वभाव को छोड़कर पदार्थ रहता नहीं।

प्रश्न—संस्कारशेष ही बुद्धि को पुरुष क्यों नहीं जानता ?

उत्तर—**विषयाभाव** इति। बुद्धिमात्र पुरुष का विषय नहीं किन्तु पुरुषार्थवती बुद्धि पुरुष का विषय है विवेकख्याति विषयभोग पुरुषार्थ हैं ये दोनों निरुद्धावस्था में नहीं है। इससे विषयाभाव स्फुट है भूत से परिहास करते हैं।

तदेति। स्वरूप इससे आरोपित शान्तमूढत्व का निराकरण करते हैं पुरुष का वास्तविक स्वरूप चैतन्य है शान्तादिरूप बुद्धिबोध नहीं वह तो स्फटिक के लौहित्य के समान औपाधिक है। उपाधि की निवृत्ति से उपहित की निवृत्ति नहीं होती अन्यथा लौहित्यनिवृत्ति से स्फटिक की भी निवृत्ति हो जायगी यह आपत्ति है स्वाभिन्नस्वरूप में भेद की कल्पना कर अधिकरणत्व कहा है यही अर्थ भाष्यकार स्फुट करते हैं **स्वरूपप्रतिष्ठेति**। निरोधावस्था में व्युत्थानावस्था में नहीं।

प्रश्न—व्युत्थानावस्था में अप्रतिष्ठित स्वस्वरूप में चितिशक्ति निरोध अवस्था में प्रतिष्ठित होती हुई परिणामिनी हो जायगी ?

उत्तर—**व्युत्थानचित्ते** त्विति। कूटस्थनित्या चितिशक्ति कभी भी स्वस्वरूप से च्युत नहीं होती इससे जैसे व्युत्थान में वैसे निरोध में शुक्तिकामें रजतभ्रम होने पर रजतज्ञान विषय होने से स्वरूप का उत्पाद नाश नहीं होता केवल ज्ञाता पुरुष रजत भिन्न को रजत मानता है निरोधसमाधि की अपेक्षा संप्रज्ञात भी व्युत्थान ही है।

होता है यह सूत्रकार ने कहा है-सूत्र-(१)वृत्तिसारूप्यमितरत्र'। इतरत्र वृत्तिप्रादुर्भावे, वृत्तियों के उत्पन्न होने पर। इसीं का विवरण सूत्रकार ने किया है। सूत्र—

(१) 'वृत्तिसारूप्यमितरत्र'—

इतरत्र ४ व्युत्थानमें से चित्त के साथ द्रष्टा का वृत्ति होने पर सारूप्य है व्युत्थान में बिम्बप्रतिबिंबरूप बुद्धिपुरुषवृत्तिका सारूप्य है। व्युत्थान में जो चित्तकी वृत्तियां होती है दीपशिखा के समान द्रव्य विनश्वर अवस्थापरिणाम भूषानिषिद्धद्रुततात्रके समान स्वर्सयुक्त अर्थाकार त्रिगुणकार्य होने से सुखदुःखमोहाश्रयत्व से शान्त घोर मूढाख्य होती है, उन वृत्तियों के समान वृत्तियां है जिस पुरुष की वह पुरुष वृत्तिसरूप होता है। सारूप्य में सशब्द एकार्थक है यह कहा गया है कि जपाकुसुम स्फटिक के समान अतिसन्निधानवश अभेदग्रह होने से बुद्धिवृत्तियों का पुरुष में आरोप कर 'शान्त हूँ दुःखित हूँ मूढ हूँ' यह निश्चय करता है जैसे मलिनदर्पण में प्रतिबिंबित मुखको मलिन मानकर अपने को शोचता है मैं मलिन हूँ यद्यपि शब्दादिविज्ञानवत्व पुरुषमालिन्यादिसमावेश बुद्धिवृत्ति है और यद्यपि प्रकृतिविकार होने से अचिद्रूप है अतएव अनुभाव्य है अथापि बुद्धि में पुरुषत्व का आपादन करता हुआ पुरुषवृत्ति के समान अनुभव के समान भासित होता है तथा च आत्मा विपर्यशून्य है फिर विपर्ययवान् के समान अभोक्ता भी भोक्ता के समान विवेकख्यातिरहित भी तत्सहित के समान विवेकख्याति से प्रकाशित होता है। इसका 'चित्तेरप्रतिसंक्रमन्त्या' इसके व्याख्यान के समय उपपादन करेंगे यह मतान्तर में भी सिद्ध है पञ्चशिखाचार्य का सूत्र है—'एकमेव दर्शनम्, ख्यातिरेव दर्शनम्'।

प्रश्न—एकही दर्शन है यह कैसे क्योंकि शब्दादिविषया विवेकविषयाबुद्धि वृत्तिरूपजड अतएव अनुभव विषय है दर्शन उससे भिन्न पुरुषका चैतन्य अनुभव दर्शन है ?

उत्तर—ख्यातिरेवदर्शनम् उत्पन्नापवर्गिणी वृत्तिख्याति के लौकिकी अभिप्राय से यह कहा है कि एक ही है। चैतन्य तो पुरुषका स्वभाव है ख्यातिका नहीं सोतो लौकिक प्रत्यक्षविषय नहीं किन्तु आगमानुमानविषय है इससे व्युत्थानकालमें मूलकारण अविद्या को दिखलाते हुए तद्धेतुक संयोग भोगहेतु है। स्वस्वामिभाव भी सूचित हुआ इसका उपपादन करते हैं—चित्त पुरुष स्वामीका स्व है।

प्रश्न—चित्तकृत उपकार का सेवीं चेतन चित्तका स्वामी हो सकता है किन्तु यहाँ पुरुष में चित्तकृत उपकार का कुछ भी संभव नहीं ?

प्रश्न—क्यों ?

उत्तर—चित्तका पुरुष के साथ संवन्ध ही नहीं और पुरुष उपकार्य भी नहीं।

प्रश्न—यदि दोनों मानें तो ?

उत्तर—तो पुरुष परिणामी हो जायगा।

उत्तर—अयस्कान्तमणिकल्पमित्यादि पुरुषसंयुक्त चित्त नहीं यह ठीक है किन्तु पुरुष सन्निहित है सन्निधान दैशिक कालिक नहीं क्योंकि देशादिसंबन्ध भी पुरुष में नहीं किन्तु योग्यतालक्षण संवन्ध है, पुरुषमें भोक्तृलक्षण और चित्तमें भोग्यलक्षण शक्तिरूप योग्यता है विशेष आकर ग्रन्थों में देखिये ॥४॥

(१) 'दृग्दृश्योपरक्तं चित्तं सर्वार्थम्' इति। 'दृग्दृश्योपरक्तं चित्तमेव विषयिविषयनिर्भासं चेतनाचेतनस्वरूपापन्नम्' आत्मा चेतन है चित्त अचेतन है तथा आत्मा विषयी है चित्त विषय है, दोनों के परस्पराध्यास होने पर अचेतन चित्त चेतनधर्मक चेतन आत्मा अचेतनधर्मक परस्पर अध्यस्तधर्मके होने से वस्तुतः विषयात्मकचित्त अविषयात्मक के समान अचेतन भी चेतनके समान जपाकुसुमसन्निहित स्फटिकमणि के समान सर्वार्थ कहा जाता है इसी चित्तसारूप्य से

(१) दृग्दृश्योपरक्तं चित्तं सर्वार्थम्॥

जैसे घटादिविशेषितचित्त घटादि अर्थ को प्रत्यक्षप्रमाण से सिद्ध करता है इसीप्रकार द्रष्टाकी छायाके संपर्क से तदुपरक्त चित्त द्रष्टा को भी प्रत्यक्ष से सिद्ध करता है। तीन आकारों का ज्ञान है—'घटमहं संप्रत्येमि' मैं घट जानता हूं ज्ञेय, ज्ञाता, और ज्ञान तीनों का भान होता है अतः ज्ञेयके समान ज्ञान प्रत्यक्षसिद्ध है तोभी यह चित्तबुद्ध्यादि व्यतिरिक्त चैतन्यरूप से अर्थात् पारमार्थिकस्वरूप से नहीं सिद्धकर सकता, जैसे जलमें चन्द्रमा का बिम्ब प्रत्यक्ष होता है परन्तु बिंब प्रतीयमानरूपसे पारमार्थिक नहीं है बिम्ब चञ्चल तथा स्वल्पपरिमाण जल के भीतर प्रतीत होता है पर है विपरीत केवल बिंबसत्ता में प्रमाण है इससे बिंब अप्रत्यक्ष है यह नहीं कह सकते प्रत्यक्षबिंब जलगत है इसमें जैसे अप्रमाण है वैसे बिंबस्वरूप में भी अप्रमाण है यह नहीं कह सकते तस्मात् चित्त में प्रतिबिंबित चैतन्यविषयकचित्तवृत्ति चैतन्याविषयक नहीं यही चित्तमें सर्वार्थत्व है यही कहते हैं—मनो हीत्यादि से। विषयाकारापत्ति से मन्तव्य अर्थ से उपरक्त मन है इतना ही नहीं किन्तु वह स्वयं विषय होने से पुरुष से आत्मीयवृत्ति से अभिसंबद्ध है यह चित्त दृग्दृश्योपरक्त विषयविषयिनिर्भासचेतनाचेतन स्वरूपापन्न विषयात्मक भी अविषयात्मक के समान अचेतन चेतन के समान स्फटिकमणिकल्प सर्वार्थ कहा जाता है यह चित्तमें चैतन्यच्छायापत्ति वैनाशिकों को भी मान्य है अन्यथा वे भी चित्तमें चैतन्य का आरोप कैसे करेंगे कोई वैनाशिक चित्तको ही वे चेतन मानते हैं—'अपरे विज्ञानवादिनः'।

प्रश्न—यदि चित्तही द्रष्टाकार और दृश्याकार प्रतीत होता है तो चित्त से अभिन्न ही द्रष्टा और दृश्य है, कहाभी है—'अभिन्नोऽपि हि बुद्ध्यात्मा विपर्यासितदर्शनैः'

ग्राह्यग्राहकसंवित्तिभेद वा चित्त और आत्मा दोनों अभिन्न है किन्तु भ्रान्त को चित्तग्राह्य है आत्मा ग्राहक है इसप्रकार ग्राह्यग्राहकभाव से भिन्न के समान प्रतीत होते हैं फिर कैसे वे अनुग्राह्य है?

उत्तर—समाधिप्रज्ञायाम् इति। कर्मकर्तृविरोधादि पूर्वयुक्तियों से चित्तातिरिक्त अपरिणामी नित्यचेतन है यह स्वीकार कराकर अष्टाङ्गयोगोपदेश से समाधिप्रज्ञामें उतार कर समझना समाधि में स्वयं चित्तारिक्त आत्मा प्रतीत होगा अतः वेभी आत्मज्ञ होकर संसारानर्थ से मुक्त हो

(१) तदसङ्ख्येयवासनाभिश्चित्रमपि परार्थं संहत्यकारित्वात् यस्य भोगापवर्गार्थं तत् स एव परश्चेतनोऽसंहतः पुरुषो न तु घटादिवत् संहत्यकारि चित्तं चेतनमित्यर्थः।

भ्रान्त तार्किकादिक उसको चेतना कहते हैं। सूत्र —'तदसंख्येयवासनाभिश्चित्तमपि परार्थं संहत्यकारित्वादिति'। अर्थ—जिसके भोग व अपवर्ग के लिए चित्त है वही चेतन असंहत असमुदायात्मक चेतन परपुरुष है। घटादिवत् संहत्यकारि चित्त चेतन नहीं है जैसे घटादि समुदायात्मक होने से पर प्रयोजनकारि है

जायगे इसप्रकार वे भी दयनीय हैं। समाधिप्रज्ञा में जो ज्ञेयप्रतिबिम्बभूत आत्मा है वह किसका प्रतिबिम्ब है आत्मा तो आलम्बन ही है अतः जिसका प्रतिबिम्ब है वह कूटस्थ चैतन्य भिन्न ही है।

प्रश्न—चित्तसे अभिन्न ही आलंबन क्यों न हो स्पष्टता से समझाने पर भी यदि ऐसा कहें कि वह आत्मा चित्तमात्र ही है उससे अतिरिक्त नहीं स्वरूपका निश्चय कैसे करेगी जैसे अंगुलीका अग्रभाग अपने से अपना स्पर्श नहीं करता ?

उत्तर—इसपर तो यह उत्तर देना कि प्रज्ञा अपने से अपने गर्दन पर स्वयं नहीं चढ़ सकता क्योंकि एक क्रिया में एकही कर्त्ता कर्म नहीं हो सकता यह लोकानुभवसिद्ध है तथा प्रज्ञासे प्रज्ञाका अवधारण भी नहीं हो सकता ॥ ४॥

(१) तदसंख्येयवासनाभिश्चित्तमपि परार्थं संहत्यकारित्वात्।

चित्तसे अतिरिक्त आत्मा है इसमें अन्य हेतु कहते हैं—तदित्यादि। अगणितवासना से चित्रित चित्त पदार्थ है स्वातिरिक्त के भोगापवर्गार्थ हैं।

प्रश्न—क्यों ?

उत्तर—संहत्यकारित्वात्। मिलकर कार्यकारी है अकेला नहीं जो मिलकर कार्य करते हैं वे परार्थ ही दृष्ट हैं यथा शयन आसन अभ्यंगादि, संहत्यकारि चित्त स्वार्थ नहीं प्रवृत्त होता सुख सुखार्थ नहीं किन्तु अन्यार्थ है एवं चित्तको भी समझना। यद्यपि संख्यातिगकर्मवासनायें और क्लेशवासना चित्तमें ही रहती है पुरुषमें नहीं ऐसी स्थिति में वासनाधीन फलभोग चित्तको ही भोक्ता सिद्ध करते हैं भोक्ता के लिये भोग्य है अतः सब चित्तार्थ ही है यही प्राप्त है तथापि चित्त अगणितवासना से चित्रित भी परार्थ है क्योंकि संहत्यकारी है।

चित्त संहत्यकारी भी हो और स्वार्थ भी इसमें क्या विरोध है यह यदि कोई कहे तो उसके प्रति कहते हैं—संहत्येति। सुखचित्त भोगोपलक्षणार्थ है इससे दुःखचित्त भी समझना ज्ञान से अपवर्ग कहा है। चित्तका दोही कर्तव्य है अनुकूलात्मकसुख प्रतिकूलात्मकदुःख अपने लिये अनुकूल प्रतिकूल नहीं होते क्योंकि सुखादि सुखादि में नहीं रह सकते अन्यथा स्थितिविरोध स्पष्ट

एवं (१) विशेषदर्शिन आत्मभावनानिवृत्तिः, एवं योऽन्तःकरणपुरुषयोर्विशेपदर्शी तस्य योऽन्तःकरणे प्रागविवेकशादात्मभावनासीत्सा निवर्तते भेददर्शने सत्यभेदभ्रमानुपपत्तेः सत्त्वपुरुषयोर्विशेपदर्शनं च भगवदर्पितनिष्कामकर्मसाध्यं तल्लिङ्ग

वैसे ही चित्तभी संहत्यकारि होने से परार्थ है इस तरह सूत्र—विशेषदर्शिन आत्मभावभावनानिवृत्तिः' पूर्वोक्तरीति से जो अन्तःकरण और पुरुष इन दोनोंमें पूर्वोक्त विशेष का जानकार है उसके अन्तःकरण में अविवेकवश सर्वकाल में उत्पन्न जो वासना थी उसकी निवृत्ति होती है क्योंकि भेदसाक्षात्कार होने से अभेदभ्रम नहीं होता है, सत्पुरुष के विवेक का साक्षात्कार भगवच्चरणारविन्द में समर्पित निष्कामकर्म से होता है। इसका लिङ्ग योगभाष्य में भाष्यकार ने दिखलाया है

है भिन्नमें आधाराधेयभाव होता है अभिन्न में नहीं, संहत्यकारी अन्य भी कोई साक्षात् वा परंपरा से सुखदुःख भोगता हुआ सुखादि से अनुकूलनीय वा प्रतिकूलनीय है अतः जो साक्षात् वा परंपरा से सुखदुःखों में व्यापार करता है वही उनदोनों से अनुकूलनीय वा प्रतिकूलनीय है वह नित्य उदासीन पुरुष है वही मुक्त होता है। एवं ज्ञेयपरतन्त्र ज्ञान भी स्वात्मामें पूर्वोक्तवृत्तिविरोध संज्ञानार्थं नहीं बाह्यविषकज्ञान से अपवर्ग का संभव नहीं अन्यथा विदेहप्रकृतिलयों को भी मुक्ति हो जायगी अतः ज्ञान भी स्वार्थ नहीं और न परार्थ ही किन्तु पुरुषार्थ है।

प्रश्न—शयनादि जो परार्थ दृष्ट है वे सब संहत—परार्थ ही हैं शरीरेन्द्रियादि संघातविशिष्ट ही आत्मा के लिये शयनादि है केवल के लिये नहीं अतः उक्तानुमान से भी संहत ही आत्मा सिद्ध होगा उदासीन चैतन्यमात्र नहीं ?

उत्तर—संहत पर मानने से वह भी संहत होने से उसमें भी परार्थत्वानुमिति होगी एवं रीति से अनवस्था होगी अतः असंहतपदार्थ सिद्ध समझना पुरुष का भोगसुखादि साक्षात्कार ही है अपवर्ग विवेकख्याति साक्षात्कार अथवा स्वरूप से अवस्थान वह सर्वथा चैतन्यमात्र है क्योंकि पुरुष अपरिणामी और निर्धर्म है।

प्रश्न—परार्थत्वमात्र से पुरुष की सिद्धि नहीं हो सकती विनाशादि में भी परार्थत्व संभव है विनाशार्थ ही उत्पत्ति कुछ लोग मानते हैं ?

उत्तर—भोगापवगार्थ नहीं पर यहां साध्यकोटि में प्रविष्ट है अतः सामान्य यत्किंचित्पर से सिद्धसाधन अथवा अर्थान्तर नहीं जो यों विशेषपुरुषाख्य पर है वह कूटस्थ नित्य होने से संहत्यकारी नहीं अतः उसमें परार्थत्वापत्ति से अनवस्था नहीं यो० वा० ॥२४॥

(१) विशेषदर्शिन आत्मभावभावनानिवृत्तिः ॥२५॥

च योगभाष्ये दर्शितं यथा प्रावृषि तृणाङ्कुरस्योद्भेदेन तद्बीजसत्तानुमीयते तथा मोक्षमार्गश्रवणेन सिद्धान्तरुचिवशात् यस्य लोमहर्षाश्रुपातौ दृश्येते तत्राप्यस्तिविशेषदर्शनबीजमपवर्गभागीयं कर्मभिर्निर्वर्तितमित्यनुमीयते यस्य तु तादृशं कर्मबीजं नास्ति तस्य मोक्षमार्गश्रवणे पूर्वपक्षयुक्तिषु रुचिर्भवत्यरुचिश्च सिद्धान्तयुक्तिषु तस्य 'कोऽहमासं कथमहमासम्, इत्यादिभिरात्मभावभावना स्वाभाविकी प्रवर्तते

'यथा प्रावृषि' इत्यादि, वर्षाकाल में तृणाङ्कुर के भूमिभेदन से उस भूमि में तद्बीज के सत्ता का अनुमान होता है वैसे ही मोक्षोपायश्रवण से पूर्वसिद्ध अन्तःकरण रुचिवश जिसमें रोमाञ्च अश्रुपातादि देखे जाते हैं उनमें विशेषदर्शनबीज अपवर्ग हेतु पूर्वजन्मार्जित है यह अनुमान होता है जिसमें ऐसा कर्मबीज नहीं है उसका मोक्षोपायश्रवण में पूर्वपक्षयुक्तियोंमें ही रुचि होती है, सिद्धान्तयुक्तियों में अरुचि होती है उसको मैं कौन था कैसे था। इत्यादि आत्मभावना स्वाभाविक होती है उक्तभावना विशेषदर्शी में नहीं होती है।

प्रश्न—ऐसा होने पर होता है ?

मोक्षमूलबीज युक्तिप्रचुर आत्मदर्शन कहकर तदुपदेश के अधिकारी पुरुष की अनधिकृत पुरुषकी व्यावृत्ति कहते हैं—**विशेषदर्शिन** इत्यादि। जिसकी आत्मभावमें भावना है उसकी अष्टाङ्ग योगोपदेश के अनुसार तदनुष्ठानशील पुंज्ञान की योगाङ्ग के अनुष्ठानपरिपाक से सत्त्वपुरुष के विवेकदर्शन से आत्मभावना की निवृत्ति होती है, जिसकी आत्मभावना ही नहीं है नास्तिक की उपदेशानधिकृतपुरुष जिसको आत्मतत्त्व परलोकसद्भाव का निश्चय नहीं उसको न उपदेश है न विशेषदर्शन न आत्मभावना की निवृत्ति यह सूत्रका अर्थ है।

प्रश्न—आत्मभावना चित्तमें रहनेवाली है उसका ज्ञान कैसे ?

उत्तर—**यथेति**। प्राग्जन्मार्जित तत्त्वदर्शनबीज अपवर्गभागीय जो कर्म अष्टाङ्गयोगानुष्ठान अथवा तदेकदेशका अनुष्ठान उसको इसपुरुष ने किया है यह अनुमान होता है उसकी आत्मभावना अवश्यवस्तु के अभ्यास के विना स्वाभाविकी होती है। पूर्वपक्ष कर्मफल नहीं है अतः परलोक भी नहीं है इनमें उसकी रुचि होती हैं और निर्णय में कर्मफल है परलोकी और परलोक ये दोनों हैं इस में अरुचि होती है। स्वर्ग नरक मोक्षादि से विचित्ररूपता चित्तमें ही होती है चिन्मात्रमें नहीं यह निश्चित होने पर आत्मभाव चित्तता नहीं होती। श्रुतिभी है—'एतं ह वाव न तपति किमहं साधु नाकरवं किमहं पापमकरवम्' इति। आत्मभावना का स्वरूप भाष्यकार ने कहा है मैं कौन था? क्या मनुष्यादिरूप था? कैसे था? दुःखसे दर्शनवान् था वर्तमान भी यह मेरा स्वरूप क्या देह है? वा मन आदि है विशेष योगवार्तिक देखिये इति ॥२५॥

सा तु विशेषदर्शिनो निवर्तत इति एवं सति किं स्यादिति तदाह 'तदा विवेकनिम्नं कैवल्यप्राग्भारं चित्तम्'। निम्नं जलप्रवहणयोग्यो नीचदेशः प्राग्भारस्तदयोग्य उच्चप्रदेशः चित्तं च सर्वदा प्रवर्तमानवृत्तिप्रवाहेण प्रवहज्जलतुल्यं तत्प्रागात्माविवेकरूपविमार्गवाहिविषयभोगपर्यन्तमस्यासीत् अधुना त्वात्मानात्मविवेकमार्गवाहि कैवल्यपर्यन्तं संपद्यत इति अस्मिंश्च विवेकवाहिनि चित्ते येऽन्तरायास्ते सहेतुका निवर्तनीया इत्याह सूत्राभ्यां 'तच्छिद्रेषु प्रत्ययान्तराणि संस्कारेभ्यः। हानमेषां क्लेशवदुक्तम्'। तस्मिन्विवेकवाहिनि चित्ते छिद्रेष्वन्तरालेषु प्रत्ययान्तराणि व्युत्थान-

उत्तर—सू०—'तदा विवेकनिम्नं कैवल्यप्राग्भारं चित्तम्' इति। अर्थ—निम्न जलवहनयोग्य नीचप्रदेश प्राग्भार है तदयोग्य उच्चप्रदेश है। चित्त सदा वर्तमान धाराप्रवाह से वहता हुआ जल के समान है विवेकज्ञान से पूर्ण आत्मानात्मविवेकरूप जो मार्ग उससे जो विपरीतमार्ग अनात्मविषयकभोग तत्परतया इस समय आत्मानात्मविवेकमार्गवाही होने से कैवल्यपर्यन्त सम्पन्न होता है इस विवेकवाही चित्त में जो विघ्न हैं वे सहेतुक और और निवर्तनीय हैं यह तो सूत्रों से सूत्रकार ने कहा है। सू०—(१) तच्छिद्रेषु प्रत्ययान्तराणि संस्कारेभ्यः। (२) हानमेषां क्लेशवदुक्तम्। अर्थ—इस विवेकवाही चित्त में बीच बीच में

'योगभाष्ये दर्शितम्' इसी सूत्र के योगभाष्य में दिखलाया है। 'तदा विवेकनिम्नं कैवल्यं प्राग्भारं चित्तम्' विषयदर्शीका कैसा चित्त होता है सूत्रसे उत्तर कहते हैं—तदेति। कैवल्य में प्राग्भार आभिमुख्य है जिसका एवंभूत चित्त होता है विशेदषर्शनावस्था स्वर्गादि में वैराग्यवश चित्त अन्यथा तदभिलाषुक नहीं होता विषयाभिमुख चित्त अज्ञान निम्न अज्ञानमार्ग संचारी होता है प्राग्भार आभिमुख्य यह यो० वा० है। 'तद्यो उच्चप्रदेश' मधूसूदनी है।

(१) तच्छिद्रेषु प्रत्ययान्तराणि संस्कारेभ्यः ॥ २७ ॥

प्रश्न—विशेषदर्शन यदि विवेकनिष्ठ होगा तो कभी भी व्युत्थित न होगा देखते हैं भिक्षाटनादि दशामें व्युत्थित चित्त ?

उत्तर—तच्छिद्रेत्यादिसूत्र। प्रतीति होती है जिससे वह प्रत्यय चित्तसत्त्व है इससे चिति का विवेक है उससे निम्न का 'जानामि साक्षान्मोक्षम्' जानता हूँ विवेककर दिखलाया गया है नहीं जानता हूँ यह मोह है एतन्मूलक अहंकार ममकार है 'अहमस्मि' मैं हूं इससे अहंकार ममसे ममकार दिखलाये हैं ये क्षीयमाणवीज पूर्वसंस्कार व्युत्थानसंस्कारों से होते हैं। २७

(२) हानमेषां क्लेशवदुक्तम् ॥२८॥

रूपाण्यहं ममेत्येवंरूपाणि व्युत्थानानुभवजेभ्यः संस्कारेभ्यः क्षीयमाणेभ्योऽपि प्रादुर्भवन्ति एषां च संस्काराणां क्लेशानामिव हानमुक्तं यथाक्लेशा अविद्यादयो-ज्ञानाग्निना दग्धबीजभावान् पुनश्चित्तभूमौ प्ररोहं प्राप्नुवन्ति तथा ज्ञानाग्निना दग्धबीजभावाः संस्काराः प्रत्ययान्तराणि न प्ररोढुमर्हन्ति ज्ञानाग्निसंस्कारास्तु यावच्चित्तमनुशेरत इति। एवं च प्रत्ययान्तरानुदयेन विवेकवाहिनि चित्ते स्थिरीभूते सति प्रसङ्ख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथा विवेकख्यातेर्धर्ममेघः समाधिः प्रसङ्ख्यानं

व्युत्थानरूप 'अहं मम' इत्याकारक ज्ञानान्तर होते हैं। ज्ञानान्तर व्युत्थानानुभव संस्कारों से होते हैं, यद्यपि वे संस्कार क्षीयमाण हैं तो भी उक्तप्रत्यय होते हैं उन संस्कारों का योग क्लेशवत् कहा है जैसे अविद्यादिक्लेश ज्ञानाग्निदग्ध-बीजभाव होने से चित्तभूमि में फिर अङ्कुर लाभ नहीं कर सकते वैसे ही ज्ञानाग्नि से दग्धबीजसंस्कार ज्ञानान्तररूप अङ्कुर का उत्पादन नहीं कर सकते, ज्ञानाग्निसंस्कार तो यावच्चित्त रहते हैं, इसप्रकार ज्ञानान्तर की अनुत्पत्ति से विवेकवाही चित्त स्थिर होने पर। सू०—(१) प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथा विवेकख्यातेर्धर्ममेघः समाधिः प्रसंख्यानं सत्त्वपुरुषान्यता ख्यातिः। चित्त से आत्मा भिन्न है यह ज्ञान प्रसंख्यान है। शुद्ध आत्मज्ञान यह फलितार्थ है, इसमें बुद्धि के सात्त्विकपरिणाम में जो संयम किया है उसको सब गुण परिणामों में स्वामी के समान सर्वाधिष्ठातृत्व होता है उन्हीं को शान्तोदिताव्यप-

प्रश्न—अच्छा तो यदि विवेकज्ञान होने पर भी व्युत्थानसंस्कार—ज्ञानान्तर जबतक होते हैं तो इनके हानि का क्या उपाय है जिससे फिर ज्ञानान्तर को उत्पन्न न करे?

उत्तर—हानमित्यादिसूत्र। जिसको परिपक्वविवेकज्ञान नहीं हुआ है उस अपरिपक्व-विवेकज्ञान का अक्षीयमाणसंस्कार प्रत्ययान्तर ज्ञानान्तर को उत्पन्न करते हैं परिपक्वविवेकज्ञान के संस्कार ज्ञानान्तरजनक नहीं होते जैसे विवेकरन्ध्र में (गर्त में) उत्पन्न भी क्लेश संस्कारान्तर के उत्पादक नहीं होते यह क्यों होता है इसका कारण यह है कि इन क्लेशों के बीजत्व का विवेकज्ञान से दाह हो जाता है इसी प्रकार व्युत्थानसंस्कार भी भस्म हो जाते हैं।

प्रश्न—व्युत्थानसंस्कारों का निरोध विवेकज्ञानसंस्कारों से करना और विवेकसंस्कारों का निरोध निरोधसंस्कार से करना, निरोधसंस्कारों का निरोध किससे होगा? क्योंकि वे अबाह्यविषय बतलाये गये हैं?

उत्तर—चित्ताधिकारसमाप्ति होने पर चित्त के साथ ही प्रकृति में सदा लीन हो जाते हैं॥२८॥

(१) प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथाविवेकख्यातेर्धर्ममेघः समाधिः॥

सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिः शुद्धात्मज्ञानमिति यावत्। तत्र बुद्धेः सात्त्विके परिणामे कृतसंयमस्य सर्वेषां गुणपरिणामानां स्वामिवदाक्रमणं सर्वाधिष्ठातृत्वं तेषामेव च शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मित्वेन स्थितानां यथावद्विवेकज्ञानं सर्वज्ञातृत्वं च विशोकानाम सिद्धिः फलंतद्वैराग्याच्च कैवल्यमुक्तं सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्व-

देश्यधर्मित्वेन स्थित को जबतक विवेकज्ञान रहता है सर्वज्ञातृत्व भी रहता है वह विशोका नाम सिद्धि है उसका फल उसके वैराग्य होने से मोक्ष है।

सूत्र—(१) सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञातृत्वं चैतद् वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम्' इन दोनों सूत्रों में अर्थ इस प्रसंख्यान में अकुसीदस्य फललिप्सारहितस्य, ज्ञानान्तर के अनुदय होने से सब प्रकार से विवेकख्याति का परिपोष होने से धर्ममेघसमाधि होती है।

सूत्रकार उक्त प्रकार से व्युत्थाननिरोधोपाय विवेकज्ञान को कहकर प्रसंख्यान के निरोध का उपाय कहते हैं—प्रसंख्यानेऽपीति। प्रसंख्यान विवेकसाक्षात्कार उसमें भी जो अकुसीद कृषीवल (किसान) के समान सर्वभावाधिष्ठातृत्वादिरूपसिद्धि को न चाहे प्रत्युत उससे भी क्लेश ही माने क्योंकि परिणामित्वादिदोष उसमें भी है अतः उससे भी विरक्त सर्वथा विवेकख्यातिनिष्ठ ही हो इसी का विवरण करते हैं—यदि व्युत्थानप्रत्यय हो तो यह ब्राह्मण सर्वथा विवेकख्यातिनिष्ठ नहीं है यह समझना, क्योंकि विवेकख्यातिनिष्ठ को ज्ञानान्तर नहीं होता उसीसे वह सर्वथा विवेकख्याति कहाता है तब इसको धर्ममेघ समाधि होती है निष्कर्ष यह है कि विवेकसाक्षात्कार में भी विरक्त निरोध के उपाय को चाहता है वह धर्ममेघ समाधि की उपासना करे उसकी उपासना से सर्वथा विवेकख्याति होती हैं तब उसके निरोध में समर्थ होता है धर्मं मेहति वर्षति सिञ्चति वा इति धर्ममेघः ॥२९॥

(१) सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञातृत्वं च ॥४९॥

रजस्तमरूपमलरहित बुद्धिसत्त्व का परवैशारद्यरूप वशीकार संज्ञा वर्तमान चित्त योगी को सर्वभावों में अधिष्ठातृत्व अर्थात् प्रकृति तत्तत्कार्य पुरुषों में अधिष्ठातृत्व स्वेच्छा से विनियोग करने की शक्ति अपने देह के समान होती है एवं प्रकृतिपुरुषादि सर्व ज्ञातृत्व भी होता है यह भी संयमसाक्षात्कारपर्यन्त इष्ट हैं संयमनिष्पत्ति ही सिद्धि का हेतु है।

प्रश्न—तत्तदर्थात् इस सूत्र में उक्त संयम की अपेक्षा इस में क्या विशेष है जिससे उसमें पुरुषता न सिद्धि है इससे न दूसरी सिद्धि?

भावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञातृत्वं च (१) तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यमिति सूत्राभ्यां तदेतदुच्यते तस्मिन् प्रसङ्ख्याने सत्यप्यकुसीदस्य फलमलिप्सोः प्रत्ययान्तराणामनुदये सर्वप्रकारं विवेकख्यातेः परिपोषाद्धर्ममेघः समाधिर्भवति ।

'इज्याचारदमो हिंसादानस्वाध्यायकर्मणाम् ।

अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम् ॥ इति स्मृतेर्धर्मं प्रत्यग्ब्रह्मैक्यसाक्षात्कारं मेहति सिञ्चतीति धर्ममेघस्तत्त्वसाक्षात्कारहेतुरित्यर्थः, ततः क्लेशकर्मनिवृत्तिः

इज्याचारदमो हिंसादानस्वाध्यायकर्मणाम् ।

अयन्तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम् ॥

यह स्मृति है। यज्ञ आचार दम (इन्द्रियों का दमन या उपशमन) अहिंसा, दान, स्वाध्याय, कर्म ये सब धर्म हैं। इनमें योगद्वारा आत्मदर्शन उत्कृष्ट धर्म है। धर्मजीवब्रह्मैक्यसाक्षात्काररूप को सींचता है इसलिए धर्ममेघ है. तत्त्वसाक्षात्कार का हेतु है यह अर्थ है। सू०—'ततः क्लेशकर्मनिवृत्तिः।' अर्थ—धर्ममेघसमाधि से अथवा धर्म से अविद्यादिपञ्चविध क्लेशों का एवं रक्त कृष्ण शुक्ल भेद से त्रिविध

उत्तर—वहां सुखाद्यनुभवरूपपुरुषप्रत्यय अतएव परिच्छिन्न में संयम कहा है अपरिच्छिन्न में नहीं, यहां पर उस संयम से ज्ञानपरिपूर्णपुरुष में संयम कहते हैं यह विशेष है।

प्रश्न—सत्त्व यह विशेषोपादान व्यर्थ है पुरुषान्यता यही कहना ठीक है?

उत्तर—रजस्तम से पुरुष में साक्षादविवेक नहीं होता किन्तु बुद्धिसत्त्वाविवेकद्वारा ही देहेन्द्रियादि में अविवेक होता है स्वप्नव्याधियादि अवस्था में चेतन में देहेन्द्रियभेद बालकों से भी सुज्ञेय है, परवैशारद्य परमस्वच्छता अतिसुक्ष्मवस्तु प्रतिबिम्बग्रहणसामर्थ्य परम वशीकारसंज्ञा परमाणुमहत्त्वान्त वशीकरणसंज्ञा अशेषगृह्येति संकल्पमात्र से पुरुष संयुक्त असंयुक्त अशेषवस्तु भाग्याकार से परिणत होकर योगी के प्रति उपस्थित होते हैं; क्षेत्र से स्वामी यद्यपि सब पुरुष समानरूप से सब गुणों के स्वामी हैं तथापि मायादिप्रतिबन्ध से सब गुण सदा सब पुरुषों के प्रति भोग्यत्व से उपस्थित नहीं होते यह श्रुति में है—'स यदि पितृलोककामः संकल्पादेवास्य पितरः समुपतिष्ठन्ति' इत्यादि क्रियैश्वर्यरूपसिद्धि का व्याख्यान कर ज्ञानैश्वर्यरूप की व्याख्या करते हैं—बद्धमुक्त ईश्वर तथा शान्तादिरूपधर्मविशिष्टों का एक ही समय में ज्ञान होता है यही सर्वज्ञातृत्व है जिसको प्राप्त कर योगी सर्वज्ञ क्षीणक्लेशबन्धन वशी विहार करता है इसी को विशोकासिद्धि कहते हैं।

(१) तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम् ॥५०॥

दूसरे संयमो का फल आभासमात्र है वास्तविक नहीं विवेकख्याति का संयम परम-

ततो धर्ममेघात्समाधेर्धर्माद्वा क्लेशानां पञ्चविधानामविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशानां कर्मणां च रक्तकृष्णशुक्लभेदेन त्रिविधानामविद्यामूलानामविद्याक्षये बीजक्षयादात्यन्तिकी निवृत्तिः कैवल्यं भवति कारणनिवृत्त्या कार्यनिवृत्तेरात्यन्तिक्या उचितत्वादित्यर्थः। एवं स्थिते 'युञ्जन्नेवं सदात्मानम्' इत्यनेन संप्रज्ञातः समाधिरेकाग्रभूमावुक्तः, 'नियतमानस' इत्यनेन तत्फलभूतोऽसंप्रज्ञातसमाधिर्निरोधभूमावुक्तः, शान्तिमिति निरोधसमाधिजसंस्कारफलभूता प्रशान्तवाहिता निर्वाणपरमामिति धर्ममेघस्य समाधेस्तत्त्वज्ञानद्वारा कैवल्यहेतुत्वं मत्संस्थामित्यनेनौपनिषदाभिमतं कैवल्यं दर्शितम्, यस्मादेवं महाफलो योगस्तस्मात्तं महता प्रयत्नेन संपादयेदित्यभिप्रायः॥ १५॥

प्रकार की अविद्यामूल अविद्या के क्षय होने से बीजक्षय से आत्यन्तिकनिवृत्तिरूप कैवल्य होता है कारण निवृत्ति से अत्यन्तकार्यनिवृत्ति उचित ही है उस परिस्थिति में 'युञ्जन्नेवं सदात्मानम्' इस वचन से एकाग्रभूमि में संप्रज्ञात समाधि कहा है। 'नियतमानसः' इस शब्द से तत्फलभूत असंप्रज्ञातसमाधि निरोधभूमि में कहा है। 'शान्त' इस विशेषण से निरोधसमाधिजसंस्कार का फलभूत प्रशान्तवाहिता कही है। 'निर्वाणपरमां' इस शब्द से धर्ममेघसमाधि तत्त्वज्ञानद्वारा कैवल्य हेतु है यह स्फुट किया। 'मत्संस्था' इस शब्द से औपनिषदाभिमतकैवल्य दिखलाया। जिस कारण ईदृश महाफलयोग है अतः बड़े प्रयत्न से उस योग का संपादन करो—यह भगवान् का अभिप्राय है।

पुरुषार्थ है इसको दिखलाने के लिये विवेकख्याति का परवैराग्यजननद्वारा मोक्षाख्यफल कहते हैं—तद्वैराग्य इति। जब इस योगी के कर्मों का क्षय हो जाता है तब ऐसा ज्ञान होता है कि चितिशक्ति ही पुरुष है तथा च उक्त सिद्धि में वैराग्य होने पर असंप्रज्ञातयोग से दुःखदोषबीज निखिलकर्मवासनाओं का चित्त के साथ लय होने पर पुनर्गुणासंयोगरूप कैवल्य होता है विशेष यो० वा० में देखिये ॥५८॥

ततः क्लेशकर्मनिवृत्तिः ॥३॥ (यह ७०७ में देखिये)

धर्ममेघसमाधि का फल कहते हैं—तत इति। मूल क्लेशसंस्कार उनके साथ क्लेश अभिनिवेश से अतिरिक्त छिन्न हो जाते हैं अतएव प्रारब्धातिरिक्तकर्माशय क्लेश के साथ नष्ट हो जाते हैं फिर उनकी उत्पत्ति नहीं होती।

प्रश्न—दुःख की अत्यन्तनिवृत्ति मोक्ष है जीवित पुरुषमें दुःख अवश्य रहेगा ही

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः ।
न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥१६॥

परन्तु हे अर्जुन ! यह योग न तो बहुत खानेवालेका सिद्ध होता है और न बिल्कुल न खानेवालेका तथा न अतिशयन करने स्वभाववालेका और न अत्यन्त जागनेवालेका ही सिद्ध होता है ॥१६॥

एवं योगाभ्यासनिष्ठस्याहारादिनियममाह द्वाभ्यां—नातीति। यद्भुक्तं सञ्जीर्यति शरीरस्य च कार्यक्षमतां संपादयति तदात्मसम्मितमन्नं तदतिक्रम्य लोभेनाधिकमश्नतो न योगोऽस्ति अजीर्णदोषेण व्याधिपीडितत्वात्, न चैकान्तमनश्नतो योगोऽस्ति अनाहारादत्यल्पाहाराद्वा रसपोषणाभावेण शरीरस्य कार्याक्षमत्वात् 'यदुह वा आत्मसम्मितमन्नं तदवति तन्न हिनस्ति यद्भूयो हिनस्ति

इसी प्रकार योगाभ्यासपरायणपुरुष का दो श्लोकों से नियम कहते हैं, जो खाया हुआ अन्न पचकर शरीर को स्वकार्य समर्थ करता है उस अन्न को आत्मसम्मित कहते हैं। उसका लंघन करके लोभ से तृष्णा से अधिक भोजन करनेवाले को योग नहीं होता अजीर्ण दोष से जो व्याधिरोग उससे पीडित रहता है। सर्वथा न खानेवाले को भी योग नहीं होता क्योंकि अनाहार अथवा स्वल्पाहार से रसपोषण न होने से शरीर अपना कार्य करने में समर्थ नहीं होता। 'यदुह वा आत्मसम्मितमन्नं तदवति तन्न हिनस्ति यद् भूयो हिनस्ति तत् कनीयः न तदवति' ऐसी शतपथ श्रुति है,—अर्थ—उक्तरीत्या आत्मसम्मित अन्न भुक्त होने पर रसादिद्वारा शरीर की रक्षा करता है वह शरीर का नाश नहीं करता, अधिक भुक्त अन्न शरीर का नाशक है जो स्वल्प अन्न वह शरीर की रक्षा नहीं करता यह अर्थ है।

श्रुति भी ऐसा ही कहती है—'नह वै सरीरस्य प्रियाप्रियोपहतिरस्ति' इति, तो फिर जीवन्मुक्ति कैसे हो सकती है यही प्रश्न करते हैं—**कस्मादितिसे**।

उत्तर—**यस्मादिति**। मिथ्याज्ञान संसार का कारण है निवृत्तिविपर्यय कोई भी कहीं किसीने उत्पन्न नहीं देखा अतएव गौतममहर्षि ने कहा है—'वीतरागजन्मादर्शनात्' इति। दुःख निदान का अत्यन्तसमुच्छेद गौणमुक्ति है पंचशिखाचार्य इस को भी मोक्ष कहा है—'द्वितीयो रागक्षयात्' इति। द्वितीयो गौण इत्यर्थः। जीवन्मुक्तों में सवासनक्लेशों का अत्यन्त विनाश ही हो जाता है यह सर्वसंमत मार्ग है ॥२०॥

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥ १७ ॥

यह दुःखोंका नाश करनेवाला योग तो यथायोग आहार और विहार करने वालेका तथा कर्मोंमें यथायोग चेष्टा करनेवाले का और यथायोग्य शयन करने तथा जागने वालेका ही सिद्ध होता है ॥ १७ ॥

तद्यत्कनीयो न तद्भवतीति शतपथश्रुतेः' तस्माद्योगी नात्मसम्मितादन्नादधिकं न्यूनं वाऽश्नीयादित्यर्थः, अथवा 'पूरयेदशनेनार्धं तृतीयमुदकेन तु। वायोः सञ्चरणार्थं तु चतुर्थमवशेषयेत्॥' इत्यादियोगशास्त्रोक्तपरिमाणादधिकं न्यूनं वाऽश्नतो योगो न संपद्यत इत्यर्थः, तथाऽतिनिद्राशीलस्यातिजाग्रतश्च योगो नैवास्ति हे अर्जुन ! सावधानो भवेत्यभिप्रायः। एकश्चकार उक्ताहारातिक्रमसमुच्चयार्थः, अपरोऽत्रानुक्तदोषसमुच्चयार्थः, यथा मार्कण्डेयपुराणे—

'नाध्मातः क्षुधितः श्रान्तो न च व्याकुलचेतनः।
युञ्जीत योगं राजेन्द्र! योगी सिद्ध्यर्थमात्मनः॥ नातिशीते न चैवोष्णे न द्वन्द्वे नानिलान्विते। कालेष्वेतेषु युञ्जीत न योगं ध्यानतत्पर' इत्यादि ॥१६॥

म० टी०—एवमाहारादिनियमविरहिणो योगव्यतिरेकमुक्त्वा तन्नियमवतो योगान्वयमाह—युक्तेति। आह्रियत इत्याहारोऽन्नम्, विहरणं विहारः पादश्रमः तौ

इस कारण से योगी आत्मसम्मित अन्न से अधिक अथवा न्यून अन्न न खाया करे। अथवा—

'पूरयेदशनेनार्धं तृतीयमुदकेन तु।
वायोः संचरणार्थं तु चतुर्थमवशेषयेत्' ॥

इत्यादि योगशास्त्र कथित परिणाम से अधिक न्यून अथवा न खाने से योग नहीं सम्पन्न होता। एवं अधिक सोनेवाले को अतिजागरणशील को योग नहीं होता है, हे अर्जुन ! सावधान हो जाओ। एक चकार कथिताहार के अतिक्रम का समुच्चयार्थ है, दूसरा अनुक्तदोष समुच्चयार्थ है, मार्कण्डेयपुराण में लिखा है—'नाध्मातः क्षुधित इत्यादि (मूलमें देखो) ॥ १६ ॥

उक्त आहारादि नियमरहितको योगाभाव कहकर उक्त नियमशीलको योग होता है यह कहते हैं—युक्तसे 'आह्रियते इत्याहारोऽन्नम्' विहार पादश्रम ये दोनों नियत परि-

युक्तौ नियतपरिमाणौ यस्य तथा अन्येष्वपि प्रणवजपोपनिषदावर्तनादिषु कर्मसु युक्ता नियतकालचेष्टा यस्य तथा स्वप्नो निद्रा अवबोधो जागरणं तौ युक्तौ निमितकालौ यस्य तस्य योगो भवति साधनपाटवात् समाधिः सिध्यति नान्यस्य एवं प्रयत्नविशेषेण संपादितो योगः किं फल इति तत्राह—दुःखहेति। सर्वसंसारदुःखकारणविद्योन्मूलनहेतुब्रह्मविद्योत्पादकत्वात्समूलसर्वदुःखनिवृत्तिहेतुरित्यर्थः। अत्राहारस्य नियतत्वम् अर्धमशनस्य सव्यञ्जनस्य तृतीयमुदकस्य तु वायोः सञ्चारणार्थं तु चतुर्थमवशेषयेदित्यादि प्रागुक्तम्, विहारस्य नियतत्वं योजनान्न परं गच्छेदित्यादि कर्मसु चेष्टाया नियतत्वं वागादिचापलपरित्यागः रात्रेस्त्रिभागत्रयं कृत्वा प्रथमान्त्ययोर्जागरणं मध्ये स्वपनमिति स्वप्नावबोधयोर्नियतकालत्वं, एवमन्येऽपि योगशास्त्रोक्ता नियमा द्रष्टव्याः॥ १७॥

णाम हैं जिसके उसको तथा अन्य में भी प्रणव जप उपनिषद् पाठादि कर्म में युक्त अर्थात नियत काल चेष्टा है जिसकी तथा निद्रा सूतना जागना युक्त अर्थात् नियत काल है जिसका उस पुरुष को योग होता है, क्योंकि उक्त साधन शील की इन्द्रियां परिपुष्ट होती हैं जिससे समाधि सिद्ध होती है अन्य दुर्बलेन्द्रियों को योग नहीं सिद्ध होता।

प्रश्न—इस प्रकार अतिपरिश्रम से समुत्पादित योग का क्या फल है?

उत्तर—दुःखहा इति। सर्वसंसारदुःखकारणीभूत अविद्या उसके निश्शेषनिवृत्तिहेतु जो ब्रह्मविद्या उसका उत्पादक होने से सकल सकारण सर्वदुःखनिवृत्ति का हेतु है। यहाँ पर आहार नियत है सव्यञ्जनभोजन पेट का आधा हिस्सा अन्न से जलसे तीसरा हिस्सा पूर्ण करे अर्थात् पेट को चारभागों में विभक्त कर उसके आधेभाग को अन्नसे पूर्ण करे तृतीयभागकी जल से पूर्ति करे और चौथाभाग वायुसंचार के लिये खाली रक्खे इत्यादि पूर्व में कह चुके हैं। चार कोश से अधिक न चलना चाहिये यह विहार नियम है, कर्म में चेष्टा का नियम वागादि चपलता का त्याग प्रयोजन से अधिक न बोलना रात्रिका तीनभाग कर प्रथम और अन्त्यभाग में जागना मध्यभागमें सूतना यही शयन निद्रा का नियम है इसी प्रकार योगशास्त्रोक्त अन्य नियमों का भी प्रयत्न पूर्वक पालन करना॥ १७॥

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते ।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा ॥ १८॥

इस प्रकार योगके अभ्यास से अत्यन्त वशमें किया हुआ चित्त, जिस कालमें परमात्मा में ही भली प्रकार स्थिर हो जाता है, उस कालमें संपूर्ण कामनाओं से स्पृहारहित हुआ पुरुष, योगयुक्त ऐसा कहा जाता है ॥ १८ ॥

म० टी०—एवमेकाग्रभूमौ संप्रज्ञातं समाधिमभिधाय निरोधभूमावसंप्रज्ञातं समाधिं वक्तुमुपक्रमते–यदेतिसे। यदा यस्मिन् काले परवैराग्यवशाद्विनियतं सर्ववृत्तिशून्यतामापादितं चित्तं विगतरजस्तमस्कमन्तःकरणसत्त्वं स्वच्छत्वात्सर्वविषयाकारग्रहणसमर्थमपि सर्वतो निरुद्धवृत्तिकत्वादात्मन्येव प्रत्यक्चिति अनात्मानुपरक्ते वृत्तिराहित्येऽपि स्वतः सिद्धस्यात्माकारस्य वारयितुमशक्यत्वाच्चितेरेव प्राधान्यात् न्यग्भूतं सदवतिष्ठते निश्चलं भवति तदा तस्मिन् सर्ववृत्तिनिरोधकाले-

इसप्रकार एकाग्रभूमिमें संप्रज्ञात समाधि कहकर निरोधभूमिमें असंप्रज्ञात समाधि कहने का आरम्भ करते हैं—यदेति। जब पर वैराग्यवश विशेषरूप से नियन्त्रित चित्त वृत्यभाववश सर्वशून्यतापन्न रजस्तमसे रहित अन्तःकरणसत्त्व स्वच्छ होने से सर्वाकारग्रहणसमर्थ भी सबसे निरुद्धवृत्तिक होकर अनात्मानुपरक्त प्रत्यक्चैतन्य में न्यग्भूत (दबकर) गुणभाव से अवस्थित होता है अर्थात् निश्चल रहता है, भाव यह है कि 'वृत्तिसारूप्यमितरत्र' इससूत्र के अनुसार अस्मितादिद्वारा अनात्मविषयक वृत्त्युपरक्त आत्मविषयक चित्तवृत्ति होती है तो वह शुद्धचैतन्याकारवृत्ति न होने से चित्त निश्चल नही रह सकता सर्ववृत्तिशून्यत्वही निश्चलत्व है अनात्मविषयकवृत्तिदशामें वृत्ति ही प्रधान रहती है आत्मा तदनुसारी प्रतीत है अतः न्यग्भूत होकर ही प्रतीत होता है। और जब पर वैराग्य से सकल अनात्मविषयकवृत्ति निरुद्ध हो जाती है अतएव निर्वृत्तिक मन शुद्ध अनुपरक्त आत्मा के सम्मुख स्थित होता है तो अतिस्वच्छ होने से चितिका प्रतिबिम्ब पड़ता है इस कारण तदाकारवृत्ति रहने से सर्ववृत्तिशून्यत्वरूपनिश्चलत्व चित्तमें कैसे हो सकता है ? इस शङ्का का वारण करते हैं कि वह स्वतः सिद्ध है उसका वारण कोई नहीं कर सकता है, वारण तो आगन्तुकों का ही होता है जैसे स्वच्छदर्पणादि सम्मुख स्थित की छाया दुष्परिहर है वैसा ही अन्तःकरणसत्त्वमें चिति छाया भी दुष्परिहर है चितिप्राधान्य होने से वह वृत्ति चित्त चाञ्चल्यमें हेतु नहीं उस वृत्तिनिरोध काल में वह योगी युक्त कहाता है ।

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः॥ १९॥

और जिस प्रकार वायु रहित स्थान में स्थित दीपक नहीं चलायमान होता है, वैसे ही उपमा परमात्मा के ध्यानमें लगे हुए योगी के जीते चित्त की कही गई है।

युक्तः समाहित इत्युच्यते कः यः सर्वकामेभ्यो निःस्पृहः निर्गतो दोपदर्शनेन सर्वेभ्यो दृष्टादृष्टविषयेभ्यः कामेभ्यः स्पृहा तृष्णा यस्येति परं वैराग्यमसंप्रज्ञातसमाधेरन्तरङ्गं साधनमुक्तं तथा च व्याख्यातं प्राक्॥ १९॥

म० टी०---समाधौ निर्वृत्तिकस्य चित्तस्योपमानमाह—यथेति। दीपचलनहेतुना वातेन रहिते देशे स्थितो दीपो यथा चलनहेत्वभावान्नेङ्गते न चलति सोपमा स्मृता सदृष्टान्तश्चिन्तितो योगज्ञैः कस्य योगिन एकाग्रभूमौ संप्रज्ञातसमाधिमतोऽभ्यासपाटवात् यतचितस्य निरुद्धसर्वचित्तवृत्तेरसंप्रज्ञातसमाधिरूपं योगं निरोधभूमौ युञ्जतोऽनुतिष्ठतो य आत्मान्तःकरणं तस्य निश्चलतया सत्त्वोद्रेकेण प्रकाशकतया च निश्चलो दीपो दृष्टान्त इत्यर्थः। 'आत्मनो योगं युञ्जत' इति व्याख्याने दार्ष्टा-

प्रश्न—कौन ?

योगी जो सबकामों से निस्पृह है विषयदोषदर्शन से सर्वदृष्टादृष्टविषयक कामों से जिसकी तृष्णा निवृत्त हो चुकी है पर वैराग्य असंप्रज्ञात समाधि का अन्तरङ्ग साधन है वैसा ही पूर्वमें व्याख्यान किया॥१८॥

समाधिमें निवृत्तिक चित्तकी उपमा कहते हैं—यथेतिसे। प्रदीप प्रकंपनहेतु पवन शून्यप्रदेश में स्थित प्रदीपचांचल्यकारणाभावसे जैसे नहीं चलता वही उपमा योगियों से स्मृत हुई है।

प्रश्न—किस योगी का ?

उत्तर—एकाग्रभूमि में संप्रज्ञातसमाधियुक्त अभ्यासपाटव से संयतचित्त अतएव निरुद्धसर्ववृत्तिक का असंप्रज्ञातसमाधिरूपयोग निरुद्धभूमि में योगानुष्ठायी का जो आत्मा अन्तःकरण उसकी निश्चलता से सत्त्वोपचय होने से प्रकाशक भी है निश्चलदीप दृष्टान्त है यह अर्थ है। भाष्य के व्याख्यान में अपनी अरुचि प्रकाश करते हैं—'आत्मनो योगं युञ्जते' इति व्याख्याने दार्ष्टा-

न्तिकालाभः सर्वावस्थस्यापि चित्तस्य सर्वदाऽत्माकारतयाऽत्मपदवैयर्थ्यं च, न हि योगेनात्माकारता चित्तस्य संपाद्यते किन्तु स्वत एवात्माकारस्य सतोऽनात्माकारता निवर्त्यत इति तस्माद्दार्ष्टान्तिकप्रतिपादनार्थमेवात्मपदं यतचित्तस्येति वाभावपरो निर्देशः कर्मधारयो वा यस्य चित्तस्येत्यर्थः ॥ १९ ॥

न्तिकालाभ' इति। यहाँ यह भाव है कि 'यतचित्त' और 'आत्मा' ही दो शब्द है चित्तशब्द अन्तःकरणवाची है यह प्रसिद्ध है, आत्मशब्द गौणीवृत्ति से चित्त का वाचक है दार्ष्टान्तिक लाभ के लिये प्रसिद्धचित्त का ही ग्रहण करना चाहिये मुख्यार्थ का त्याग कर गौणार्थग्रहण युक्तियुक्त नहीं, 'यतचित्त' बहुव्रीहिसमास, से योगी में विशेषण नहीं है किन्तु कर्मधारयसमास मानकर 'यतं च तत् चित्तं च' इसप्रकार संयतचित्त का लाभ होता है यही दार्ष्टान्तिक है, 'यतचित्तस्य योगिनः' यहां सामानाधिकरण्य में षष्ठी नहीं जिससे यतचित्तयोगी का बोध हो किन्तु व्यधिकरण में षष्ठी है योगी का यतचित्त दोष के समान है, अथवा भावप्रधान मानकर यतचित्त से 'तस्य भावस्त्वतलौ' 'सूत्र से भाव में त्वप्रत्यय मानकर प्रकृत्यर्थ में प्रकारीभूतधर्म भाव कहाता है अतः यतचित्तत्व का अर्थ यतचित्त होगा अन्यपदार्थप्रधानबहुव्रीहि में चित्त प्रकृत्यर्थ में प्रकार है अतः वही त्वप्रत्ययार्थ है इस में समासतद्धितरूपवृत्तिद्वयकल्पना में गौरव है 'अतः' कर्मधारयो वा' यह आगे स्वयं कहेंगे। भाष्यव्याख्यान में आत्मपदवैयर्थ्योद्भावन भी असङ्गत है, विवेकादियुक्तभाव से अविद्यानिवृत्ति होने पर आत्मा स्वयं प्रकाशित होता है इस अर्थ में 'मनसैवानुद्रष्टव्यं' के समान योग से आत्मा में अनात्माकारता की निवृत्ति कर स्वतः सिद्धात्माकारता का जो स्फुरणरूप है उसका अनुष्ठायी योगी का चित्त निर्वातप्रदीप के समान निश्चल है इस अर्थ में 'आत्मज्ञो योगं युञ्जन्' इस वाक्य के प्रयोग में आत्मपद सार्थक है व्यर्थ नहीं अन्यथा 'आत्मसंस्थं मनः कृत्वा' इस वाक्य में आत्मपद व्यर्थ हो जायगा 'युञ्जन्नेवं सदात्मानम्' आत्मा इसके समान अन्तःकरण समाधिनिरोध का अनुष्ठान असंप्रज्ञात समाध्यभिमुख का यह भी भाष्यार्थ हो सकता है इस में आत्मपद सार्थक्य स्पष्ट है आत्मशब्द चैतन्यपरक है यह तो भाष्यकार कहा नहीं फिर व्यर्थ कैसे।

प्रश्न—चित्त की निश्चलता में प्रदीप ही दृष्टान्त क्यों दिया पर्वतादि क्यों न कहा ?

उत्तर—प्रदीप में प्रकाशकत्व निश्चलत्व दोनों धर्म है चित्त में भी आत्मसम्बन्ध से प्रकाशत्वादि है अतः यही दृष्टान्त उचित है पर्वतादि नहीं ॥१८॥

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥ २० ॥

और हे अर्जुन ! जिस अवस्थाओं में, योगके अभ्यास से निरुद्ध हुआ चित्त उपरम हो जाता है और जिस अवस्थामें परमेश्वर के ध्यानसे शुद्ध हुई सूक्ष्म बुद्धिद्वारा परमात्माको साक्षात् करता हुआ, सच्चिदानन्दघन परमात्मामें ही सन्तुष्ट होता है ॥ २० ॥

म० टी०—एवं सामान्येन समाधिमुक्त्वा निरोधसमाधिं विस्तरेण विवरीतुमारभते **यत्रोपरमत** इति। यत्र यस्मिन् परिणामविशेषे योगसेवया योगाभ्यासपाटवेन जाते सति चित्तं निरुद्धं एकविषयकवृत्तिप्रवाहरूपामेकाग्रतां त्यक्त्वा निरिन्धनाग्निवदुपशाम्यन्निर्वृत्तिकतया सर्ववृत्तिनिरोधरूपेण परिणतं भवति, यत्र च यस्मिंश्च परिणामे सति आत्मना रजस्तमोऽनभिभूतशुद्धसत्त्वमात्रेणान्तःकरणेनात्मानं प्रत्यक्चैतन्यं परमात्माभिन्नं सच्चिदानन्दघनमनन्तमद्वितीयं पश्यन् वेदान्तप्रमाणजया वृत्त्या साक्षात्कुर्वन्नात्मन्येव परमानन्दघने तुष्यति न देहेन्द्रियसङ्घाते न वा तद्भोग्येऽन्यत्र परमात्मदर्शने सत्यतुष्टिहेत्वभावात्तुष्यत्येवेति वा

पूर्वोक्त रीति से सामान्यतः समाधि कह कर विस्तार से निरोध समाधि के विवरण का आरम्भ करते हैं—यत्रेतिसे। जिस चित्त परिणाम विशेष में योग से वा योगानुष्ठान परिपाक से होने पर चित्तनिरुद्ध गृहीतैकविषयकवृत्तिधारारूप एकाग्रता का त्याग कर काष्ठरहित अग्नि के समान शान्त होता हुआ निर्वृत्तिकस्वरूप होकर सर्ववृत्तिनिरोधरूप से परिणत होता है और जिस परिणाम के होने पर रजस्तम से अतिरोहित शुद्धसत्त्वमात्र अन्तःकरण से प्रत्यक्चैतन्य संसारस्वभावप्रतिकूल चैतन्यपरमात्माभिन्नसच्चिदानन्दघन अनन्त अद्वितीय देखता हुआ अर्थात् वेदान्तप्रमाणजन्यवृत्ति से प्रत्यक्ष करता हुआ परमानन्दघनस्वरूप आत्मा में ही सन्तुष्ट होता है देहेन्द्रियादि समुदाय में नहीं तद्भोग्य अन्य शब्द स्पर्शादि विषयों में भी नहीं। परमात्मा दर्शन होने पर अतुष्टि के कारणाभाव से सन्तुष्ट होता ही है, एवकार अतुष्टि का व्यावर्त्तक है उसमें कारण है तद्धेत्वभावसर्ववृत्तिनिरोधरूप उक्त अन्तःकरणपरिणाम को योग समझना यह उत्तर ग्रन्थ के साथ योजना है

सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥ २१ ॥

तथा इन्द्रियों से अतीत केवल शुद्ध हुई सूक्ष्म बुद्धिद्वारा ग्रहण करने योग्य जो अनन्त आनन्द है, उसको जिस अवस्था में अनुभव करता है और जिस अवस्थामें स्थित हुआ यह योगी भगवत् स्वरूप से नहीं चलायमान होता है ॥ २१ ॥

तमन्तःकरणपरिणामं सर्वचित्तवृत्तिनिरोधरूपं योगं विद्यादिति परेणान्वयः। 'यत्र काले' इति तु व्याख्यानमसाधु तच्छब्दाऽनन्वयात् ॥ २० ॥

म० टी०—आत्मन्येव तोषे हेतुमाह-सुखमिति। यत्र यस्मिन्नवस्थाविशेष आत्यन्तिकमनन्तं निरतिशयं ब्रह्मस्वरूपम् अतीन्द्रियं विषयेन्द्रियसंप्रयोगानभिव्यङ्ग्यं बुद्धिग्राह्यं बुद्ध्यैव रजस्तमोमलरहितया सत्त्वमात्रवाहिन्या ग्राह्यं सुखं योगी वेत्ति अनुभवति, यत्र च स्थितोऽयं विद्वांस्तत्त्वत आत्मस्वरूपान्नैव चलति तं योगसंज्ञितं विद्यादिति परेणान्वयः समानः । अत्रात्यन्तिकमिति ब्रह्मसुखस्वरूपकथनम्, अतीन्द्रियमिति विषयसुखव्यावृत्तिः तस्य विषयेन्द्रियसंयोगसापेक्षत्वात्

किसी ने 'यत्र' का अर्थ जिस काल में यह कहा है सो असंगत है कारण 'तं योगं विद्यात्' घटक तच्छब्दार्थ के साथ अन्वय नहीं हो सकता क्यों कि काल योग नहीं है यह स्फुट है ॥ २० ॥

आत्मा में ही सन्तोष का कारण कहते हैं जिस अवस्थाविशेष में आत्यन्तिक अनन्त निरतिशय ब्रह्मस्वरूप अतीन्द्रिय विषयेन्द्रियसंयोग से अनभिव्यङ्ग्य लौकिकसुख विषयेन्द्रियसंयोग से अभिव्यक्त होता है तद् विपरीत आत्मसुख तदनभिव्यङ्ग्य उचित ही है। बुद्धि से ही गृहीत होता है लौकिक सुख भी तो बुद्धि ग्राह्य ही है अतः बुद्धि में विशेषण देते हैं रजस्तममलिनरहित सत्त्वमात्रवाहिनी बुद्धि से ग्राह्यसुख का अनुभव करता है। लौकिकसुख मलिनबुद्धिग्राह्य है आत्मसुख शुद्धबुद्धिग्राह्य है यही दोनों में महान् अन्तर है। जहाँ पर स्थित होकर तत्त्वज्ञानी आत्मस्वरूप से वस्तुतः नहीं चलता है उसकी योगसंज्ञा समझना यह उत्तर के साथ अन्वय है बराबर है। यहाँ आत्यान्तिक से ब्रह्म सुखस्वरूप का कथन है वही सर्वथा दुःखासंभिन्न है स्वर्गादिसुख अन्ततः क्षयित्वादिज परितापयुक्त ही है अतीन्द्रिय से विषयसुख व्यावृत्त इष्ट है क्योंकि वैषयिकसुख विषयेन्द्रियसंयोगा-

बुद्धिग्राह्यमिति सौषुप्तसुखव्यावृत्तिः सुषुप्तौ बुद्धेर्लीनत्वात् समाधौ निर्वृत्तिकाया-स्तस्याः सत्त्वात्, तदुक्तं गौडपादैः—

'लीयते तु सुषुप्तौ तन्निगृहीतं न लीयत' इति।

तथा च श्रूयते 'समाधिनिर्धूतमलस्य चेतसो निवेशितस्यात्मनि यत्सुखं भवेत् न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा यदेतदन्तःकरणेन गृह्यत' इति। अन्तःकरणेन निरुद्धसर्ववृत्तिकेनेत्यर्थः, वृत्त्या तु सुखास्वादनं गौडाचार्यैस्तत्र प्रतिषिद्धम्—

'नास्वादयेत् सुखं तत्र निःसङ्गः प्रज्ञया भवेत्' इति।

महदिदं समाधौ सुखमनुभवामीति सविकल्पवृत्तिरूपा प्रज्ञा सुखास्वादः तं व्युत्थानरूपत्वेन समाधिविरोधित्वाद्योगी न कुर्यात् अतएव तादृश्या प्रज्ञया सह सङ्गं परित्यजेत् तां निरुध्यादित्यर्थः। निर्वृत्तिकत्वेन तु चित्तेन स्वरूपसुखानुभवस्तैः प्रतिपादितं 'स्वस्थं शान्तं सनिर्वाणमकथ्यं सुखमुत्तमम्' इति स्पष्टं चैतदुपरिष्टात् करिष्यते॥ २१॥

धीन प्रसिद्ध ही है। बुद्धिग्राह्य से सुषुप्तिकालिक सुख की व्यावृत्ति होती है क्योंकि सुषुप्ति स्वकारण बुद्धि में लीन रहती है समाधि में निर्वृत्तिकबुद्धि रहती है। गौडपादाचार्य ने कहा है--

'लीयते तु सुषुप्तौ तन्निगृहीतं न लीयते' इति।

अर्थ—सुषुप्ति काल में तद्बुद्धिरूप अन्तःकरण लीन हो जाता है। समाधि में योग से निगृहीतचित्त लीन नहीं होता किन्तु निर्वृत्तिक होकर रहता है। 'समाधिनिर्धूतमलस्येत्यादि। आत्मा में सन्निवेशित निरस्तरजस्तममलचित्त का जो सुख होता है उसका उससमय वाणी से वर्णन नहीं होसकता किन्तु स्वयं अन्तःकरण से गृहीत होता है इति। अन्तःकरणनिरुद्ध सर्ववृत्तिक अन्तःकरण परक है उस समय उस सुख का वृत्तिद्वारा अनुभव गौडपादाचार्य ने मना किया है-नास्वादयेत् सुखं तत्रेत्यादिसे उस समय सुखास्वाद न करे प्रत्युत प्रज्ञा से निस्सङ्ग हो समाधि में इस महान् सुख का अनुभव करता हूँ ईदृश सविकल्पवृत्तिरूपा प्रज्ञा सुखास्वाद है इस में सङ्ग न रक्खे समाधिविरोधि होने से उस सुखास्वाद को व्युत्थानरूप से भावना कर योगी न करे अतएव ईदृश प्रज्ञा के साथ सङ्ग न करे उसका भी निरोध करे निर्वृत्तिक चित्त से स्वरूप सुखानुभव उन लोगों ने कहा है—'स्वस्थं शान्तम्' इत्यादि इसका अर्थ आगे स्पष्ट करेंगे॥ २१॥

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।
यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणाऽपि विचाल्यते ॥२२॥
तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम् ।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा ॥२३॥

और परमेश्वरकी प्राप्तिरूप जिस लाभको प्राप्त होकर उससे अधिक दूसरा कुछभी लाभ नही मानता है और भगवत्प्राप्तिरूप जिस अवस्थामें स्थित हुआ योगी बड़े भारी दुःखसे भी चलायमान नहीं होता है ॥ २२ ॥

और जो दुःखरूप संसारके संयोगसे रहित है तथा जिसका नाम योग है, उसको जानना चाहिये, वह योग न उकताये हुए चित्तसे अर्थात् तत्पर हुए चित्तसे निश्चयपूर्वक करना कर्तव्य है ॥ २३ ॥

म० टी०—'यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वत' इत्युक्तमुपपादयति-यं लब्ध्वेति। यं च निरतिशयात्मकसुखव्यञ्जकं निवृ त्तिकचित्तावस्थाविशेषं लब्ध्वा सन्तताभ्यासपरिपाकेन संपाद्य परं लाभं ततो अधिकं न मन्यते कृतकृत्यं प्राप्तं प्रापनीयमित्यात्मलाभान्न परं विद्यत इति स्मृतेः । एवं विषयभोगवासनया समाधेर्विचलनं नास्तीत्युक्त्वा शीतवातमशकाद्युपद्रवनिवारणार्थमपि तन्नास्तीत्याह-यस्मिन् परमात्मसुखमये निवृत्तिकचित्तावस्थविशेषे स्थितो योगी गुरुणा महता शस्त्रनिपातादिनिमित्तेन महताऽपि दुःखेन न विचाल्यत किमुत क्षुद्रेणेत्यर्थः ॥ २२ ॥

जहाँ पर स्थित होकर योगी तत्त्वतः नहीं चलता है इस पूर्वोक्तार्थ का उपपादन करते हैं—यमिति । निरतिशयात्मक सुखव्यञ्जक निर्वृत्तिकचित्तावस्थाविशेष का लाभ कर निरन्तर समाधिभावनापरिपाक से प्राप्त कर दूसरे लाभ को उससे अधिक नही मानता 'कृतकृत्यम्' इत्यादिसे कर्तव्य कर चुके प्राप्तव्य को प्राप्त करचुके क्योंकि आत्मलाभ से उत्कृष्टलाभ दूसरा नहीं यह स्मृति का अर्थ है । इस प्रकार विषयभोगवासना से. समाधि मे विचलन नहीं होता यह कहकर सर्दी, गर्मी, धूप, मच्छर आदिके उपद्रव वारणार्थ समाधि से चलन नहीं होता यह कहते हैं—जिस परमात्मसुखसमय में निर्वृत्तिक चित्तावस्थाविशेष में स्थित योगी बड़े शस्त्रपातादिनिमित्तक भय के दुःख से विचलित नहीं होता क्षुद्र अतिस्वल्प मशकाद्युपद्रव से क्या हो सकता है ॥ २२ ॥

म० टी०—तमिति। 'यत्रोपरमत' इत्यारभ्य बहुभिर्विशेषणैर्यो निर्वृत्तिकः परमानन्दाभिव्यञ्जकश्चित्तावस्थाविशेष उक्तस्तं चित्तवृत्तिनिरोधं चित्तवृत्तिमयसर्वदुःखवियोगमेव सन्तं योगसंज्ञितं वियोगशब्दार्हमपि विरोधिलक्षणया योगशब्दवाच्यं विद्यात् जानीयात् तु योगशब्दानुरोधात् कश्चित् संबन्धं प्रतिपद्येतेत्यर्थः। तथा च भगवान् पतञ्जलिरसूत्रयत्-'योगश्चित्तवृत्तिनिरोध इति' 'योगो भवति दुःखहा' इति यत्प्रागुक्तं तदेतदुपसंहृतम्। एवंभूतयोगे निश्चयानिर्वेदयोः साधनत्वविधानायाह-स इति। यथोक्तफलो योगो निश्चयेन शास्त्राचार्यवचनतात्पर्यविषयोऽर्थः सत्य एवेत्यध्यवसायेन योक्तव्योऽभ्यसनीयः अनिर्विण्णचेतसा एतावतापि कालेन योगो न सिद्धः किमतः परं कष्टमित्यनुतापो निर्वेदस्तद्रहितेन चेतसा इह जन्मनि जन्मान्तरे वा सेत्स्यति किं त्वरयेत्येवं धैर्ययुक्तेन मनसेत्यर्थः, तदेतद्गौडपादा उदाजह्रुः—

'यत्रोपरमते' से लेकर जितने विशेषणों से परमानन्दाभिव्यञ्जक आत्मावस्था विशेष योग कहा है उस चित्तवृत्तिनिरोध चित्तवृत्तिमय निखिलदुःखविरोधी होने से दुःखाभाव के समान वर्तमान योगसंज्ञक है, यद्यपि दुःखाभाव को वियोगशब्द से कहना चाहिए तथापि विरोधी लक्षण से योगशब्दवाच्य जानना। यद्यपि उक्त योग का दुःखाभाव के साथ विरोध नहीं है तथापि सकलद्वैत का विरोधी उक्तयोग है अतः द्वैतरूप दुःखाभाव का भी विरोध होने से विरोधि लक्षण कहा है यह योगशब्द का मुख्य अर्थ है अतएव उपादेय है इस बुद्धि से उसमें सङ्ग सम्बन्ध न करे यह अर्थ है। भगवान् पतञ्जलि ने ऐसा ही कहा है 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोध इति। 'योगो भवति दुःखहा' यह जो पूर्व में कहा है उसका यह उपसंहार हुआ ऐसे योग में निश्चय अनिर्वेद इनदोनों में योग साधनता विधान के लिए कहते हैं-कथितफलकयोगशास्त्र आचार्य वचनों के तात्पर्य का विषय योग सत्य है यह दृढ़निश्चय अध्यवसाय से अभ्यसनीय है निर्वेदरहितचित्त से उसका अभ्यास करे इतना दिन बीत गया योग सिद्ध नहीं हुआ इससे अधिक कष्ट और क्या होगा यह चित्त परिताप निर्वेद है तद्रहित चित्त से इस जन्म में किं वा जन्मान्तर में योगसिद्ध होगा जल्दी करना व्यर्थ है ईदृश धैर्ययुक्त मन से। गौडपादाचार्य ने इसका उदाहरण दिया है—

उत्सेक उदधेर्यद्वत्कुशाग्रेणैकविन्दुना ।

मनसो निग्रहस्तद्वद्भवेदपरिखेदतः इति ।

उत्सेक उत्सेचनं शोषणाध्यवसायेन जलोद्धरणमिति यावत्, अत्र संप्रदायविद आख्यायिकामाचक्षते—'कस्यचित् किल पक्षिणोऽण्डानि तीरस्थानि तरङ्गवेगेन समुद्रोपजहार। स च समुद्रं शोषयिष्याम्येवेति प्रवृत्तः स्वमुखाग्रेणैकैकं जलबिन्दुमुपरि प्रचिक्षेप तदा च बहुभिः पक्षिभिर्बन्धुवर्गैर्वार्यमाणोऽपि नैवोपरराम यदृच्छया च तत्रागतेन नारदेन निवारितोऽप्यस्मिन् जन्मनि जन्मान्तरे वा येन केनाप्युपायेन समुद्रं शोषयिष्याम्येवेति प्रतिजज्ञे। ततश्च दैवानुकूल्यात् कृपालुर्नारदो गरुडं तत्साहाय्याय प्रेषयामास 'समुद्रस्त्वज्ज्ञातिद्रोहेण त्वामवमन्यत' इति वचनेन, ततो-गरुडपक्षवातेन शुष्यन्समुद्रो भीतस्तान्यण्डानि तस्मै पक्षिणे प्रददाविति। एवमखेदेन मनोनिरोधे परमधर्मे प्रवर्तमानं योगिनमीश्वरोऽनुगृह्णाति ततश्च पक्षिण इव तस्याभिमतं संसिध्यतीति भावः ॥ २३ ॥

'उत्सेक उदधेर्यद्वत्कुशाग्रेणैकविन्दुना। मनसो निग्रहस्तद्वत् भवेदपरिखेदतः॥

उत्सेचन वा जल वाहर करना सुखाने के अभिप्राय से जल निकालना यह फलितार्थ है इस विषय में किसी पक्षी के पूर्वाचार्योंनें आख्यायिका को कहा है—

तीरस्थ अण्डों को तरङ्ग लहर के वेग से समुद्र वहा ले गया वह पक्षी समुद्र को सुखा ही देगा इस निश्चय से प्रवृत्त होकर अपने चोंच से एक २ जलविन्दु ऊपर फेंकने लगा उस समय अनेक पक्षियों के बन्धुवर्गोंके मना करने पर न माना उक्त कर्म से विरत न हुआ। वाद यदृच्छा से आगत श्रीनारद जी ने भी मना किया कि इस प्रकार से समुद्र नहीं सुखासकते हो, इस जन्म अथवा जन्मान्तर में जिस किसी उपाय से समुद्र सुखावेंगे ही यह प्रतिज्ञा की, तदनन्तर प्रारब्धानुकूलता से दयालु नारद उसकी सहायता के लिए गरुड़ को भेजा 'समुद्र तुम्हारी जाति के विद्रोह से तुम्हारी अपमान कर रहा है' इसके अनन्तर गरुड के पखों से सूखता हुआ समुद्र डरकर उन अण्डों को पक्षी को दे दिया। इस प्रकार अखेद से मनोनिरोधरूप परमधर्म में प्रवर्त्तमान योगी का अनुग्रह ईश्वर करते हैं उससे पक्षी के समान योगी का मनोरथ सिद्ध होता है ॥ २३ ॥

संकल्पप्रभावान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः ॥ २४ ॥

इसलिये मनुष्यको चाहिये कि संकल्प संकल्पसे उत्पन्न होनेवाली संपूर्ण कामनाओंको निःशेषतासे अर्थात् वासना और आसक्तिसहित त्यागकर और मनके द्वारा इन्द्रियोंके समुदायको सब ओरसे ही अच्छी प्रकार वशमें करके ॥ २४ ॥

म० टी०—किंच कृत्वा योगोऽभ्यसनीय इत्यत आह-संकल्प इति। सङ्कल्पो दुष्टेष्वपि विषयेष्वशोभनत्वादिदर्शनेन शोभनाध्यासः, तस्माच्च सङ्कल्पादिदं मे स्यादिदं मे स्यादित्येवंरूपाः कामाः प्रभवन्ति तान् शोभनाध्यासप्रभवान् विषयाभिलाषान् विचारजन्यशोभनत्वनिश्चयेन शोभनाध्यासबाधाद्दृष्टेषु स्रक्चन्दनवनितादिष्वदृष्टेषु चेन्द्रलोकपारिजातात्सरःप्रभृतिषु श्वान्तपायसवत्स्वत एव सर्वान् ब्रह्मलोकपर्यन्तानशेषतः निरवशेषतः निरवशेषान् सवासनांस्त्यक्त्वा-अतएव कामपूर्वकत्वादिन्द्रियप्रवृत्तेस्तदपाये सति विवेकेन मनसैवेन्द्रियग्रामं चक्षुरादिकरणसमूहं विनियम्य समंततः सर्वेभ्यो विषयेभ्यः प्रत्याहृत्य शनैः शनैरुपरमेदित्यन्वयः ॥ २४ ॥

प्रश्न—क्या कर योगाभ्यास करना चाहिए?

उत्तर—संकल्पेति। दूषित विषयों में भी दोषादर्शन से शोभनत्वाध्यास संकल्प है उस संकल्प से यह मुझ को हो एवंरूप कामना होती है। उन शोभनाध्यासों से जायमान विषयाभिलाष विचार समुत्पन्न अशोभनत्व निश्चय से शोभनाध्यास का बाध होने पर दृष्ट माला चन्दन वनितादि तथा अदृष्ट इन्द्रलोक पारिजात अप्सरा प्रभृतियों में कुत्ता के वान्त पायस खीर के समान स्वतः ही ब्रह्म पर्यन्त सकल वासनाओं का त्याग कर अतएव कामना पूर्वक ही इन्द्रयों की स्वं विषय में प्रवृत्त होती है प्रवृत्तिकारणीभूत काम के अभाव होनेपर विवेकयुक्त मन से इन्द्रियसमूह चक्षुरादि करणसमुदायकी सब विषयों से सर्वथा खींच कर नियन्त्रित कर धीरे धीरे संसार से उपरक्त हो यह अन्वय है ॥२४॥

शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया ।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत् ॥२५॥

क्रमक्रमसे अभ्यास करता हुआ उपरामताको प्राप्त होवे तथा धैर्ययुक्त बुद्धिद्वारा मनको परमात्मामें स्थित करके, परमात्माके सिवाय और कुछ भी चिन्तन न करे ॥ २५ ॥

म० टी०—भूमिकाजयक्रमेण शनैः शनैरुपरमेत्, धृतिर्धैर्यमखिन्नता तया गृहीता या बुद्धिरवश्यकर्तव्यतानिश्चयरूपा तया यदा कदाचिदवश्यंभविष्यत्येव योगः किं त्वरयेत्येवंरूपया शनैः शनैर्गुरूपदिष्टमार्गेण मनोनिरुन्ध्यात्, एतेनानिर्वेदनिश्चयौ प्रागुक्तौ दर्शितौ तथा च श्रुतिः—

यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञानमात्मनि ।
ज्ञानं महति नियच्छेत् तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि इति ।

वागिति वाचं लौकिकीं वैदिकीं च मनसि व्यापारवति नियच्छेत् 'नानुध्यायात् बहूञ्छब्दान् वाचो विग्लापनं हि तत्' इति श्रुतेर्वाग्वृत्तिनिरोधेन मनोवृत्तिमात्रशेषो भवेदित्यर्थः। चक्षुरादिनिरोधोऽप्येतस्यां भूमौ द्रष्टव्यः, मनसीति छान्दसं दैर्घ्यं तन्मनः कर्मेन्द्रियज्ञानेन्द्रियसहकारि नानाविधविक-

---

भूमिकाजय क्रम से धीरे धीरे उपरत हो 'धृतिः' अर्थ है—धैर्य, अखिन्नता इससे जो बुद्धि अवश्यकर्तव्यतानिश्चयरूपा योग अवश्य करेंगे यह निश्चयरूप बुद्धि जैसे किसीसमय योग अवश्य होगा यह जल्दी करना व्यर्थ है एवंरूपा पूर्वा बुद्धि उससे धीरे धीरे गुरूपदेशानुसार मन को रोके इस उक्ति से पूर्वोक्ति अनिर्वेद निश्चय दिखलाया ऐसी ही श्रुति है—

'यच्छेद् वाङ्मनसी प्राज्ञः' इत्यादि ऊपर देखिये। अर्थ—लौकिक एवं वैदिक वाणियों का व्यापारविशिष्ट मन से नियन्त्रण करना 'नानुध्यायाद् बहूञ्छब्दान्' इत्यादि श्रुति से बोलना वाग्विग्लापनरूप दोष कहा है वाक्वृत्ति के निरोध से मनोवृत्तिमात्र शेष योगी हो अर्थात् न बोल कर केवल विषयविषयक मनवृत्तिमात्रवान हो। इस भूमि में चक्षुरादियों का भी निरोध समझना 'मनसी' यहां दीर्घ छान्दस है वाग्‌मन का द्वन्द्वसमास नहीं वह मन कर्मेन्द्रिय ज्ञानेन्द्रिय का सहकारि और नानाविध संकल्प विकल्प हेतुभूत करण है। 'जानातीति ज्ञानम्' इस व्युत्पत्ति से

त्वसाधनं करणम् ज्ञानं जानातीति व्युत्पत्त्या ज्ञातर्यात्मनि ज्ञातृत्वोपाधावहङ्कारे नियच्छेत् मनोव्यापारान् परित्यज्याहङ्कारमात्रं परिशेषयेत्। तच्च ज्ञानं ज्ञातृत्वोपाधिमहङ्कारमात्मनि महति महत्तत्त्वे सर्वव्यापके नियच्छेत्। द्विविधो ह्यहङ्कारो विशेषरूपः सामान्यरूपश्चेति। 'अयमहमेतस्य पुत्रः' इत्येवं व्यक्तमभिमन्यमानो विशेषरूपो व्यष्टयहङ्कारः, अस्मीत्येतावन्मात्रमभिमन्यमानः सामान्यरूपः समष्टयहङ्कारः, स च हिरण्यगर्भो महानात्मेति च सर्वानुस्यूतत्वादुच्यते। ताभ्यामहङ्काराभ्यां विविक्तो निरुपाधिकः शान्तात्मा सर्वान्तरश्चिदेकरसस्तस्मिन्महान्तमात्मानं समष्टिबुद्धिं नियच्छेत् एवं तत्कारणमव्यक्तमपि नियच्छेत्ततो निरुपाधिकस्त्वंपदलक्ष्यः शुद्ध आत्मा साक्षात्कृतोभवति शुद्धेहि चिदेकरसे प्रत्यगात्मनि जडशक्तिरूपमनिर्वाच्यमव्यक्तं प्रकृतिरुपाधिः, स च सामान्याहङ्काररूपं महत्तत्त्वं नाम धृत्वा व्यक्तीभवति ततोवहिर्विशेषाऽहङ्काररूपेण ततो बहिर्वागादीन्द्रियरूपेण तदेतच्छ्रुत्याभिहितम्—

ज्ञानशब्द ज्ञाता जो आत्मा है अर्थात् ज्ञातृत्वोपाधि अहंकारमें निरोध करना। मनो व्यापारमात्र का भी परित्याग कर अहंकारमात्रावशिष्ट करे, उस ज्ञानको अर्थात् ज्ञातृत्वोपाधिक अहंकार को महत्तत्वरूप आत्मा में जो व्यापक है निरोध करे। अहंकार २ प्रकार का है १—विशेषरूप २—सामान्यरूप। 'मैं इनका पुत्र हूँ' एवंरूप व्यक्त अभिमान विशेषरूप व्यष्टि अहंकार है, प्रत्येक व्यक्तिका एवंभूत अहंकारविशेष लोकप्रसिद्ध है। 'मैं हूँ' एतावन्मात्र अभिमान सामान्यरूप समष्ट्यहंकार है यह भी लोकप्रसिद्ध है। वह हिरण्यगर्भ सबसे बड़ा आत्मा है सर्वानुगत होने से महानात्मा कहाता है, द्विविध अहंकारों से विवेचित निरुपाधिक अतएव शान्त सर्वान्तर चिदेकरस है उसमें हिरण्यगर्भरूप महान आत्मा समष्टिबुद्धिरूप का निरोध करे। इसी प्रकार तत्कारण अव्यक्त का भी निरोध करे, तब निरुपाधिक त्वंपद का लक्ष्य शुद्ध आत्मा का प्रत्यक्ष होता है शुद्ध चिदेकरस स्वयं प्रकाश आत्मा में जड़ शक्तिरूप (स्वभाव) सदसद से अनिर्वाच्य अव्यक्त सूक्ष्मप्रकृति उपाधि है। वह प्रकृति पहले पहल सामान्याहंकाररूप महत्तत्व का नाम धरकर स्फुट होती है, बाद विशेषाहंकाररूप से तदनन्तर बाहर मनोरूप से उसके बाद बाहर वागादि इन्द्रियरूप से व्यक्त होती है यह श्रुतिमें कहा है—'इन्द्रियाणि पराण्याहुः' इत्यादि।

'इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान्परः ।
महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः । पुरुषान्न परं किञ्चित्सा काष्ठा सा परा गतिः ॥' इति । तत्र गवादिष्विव वाङ्निरोधः प्रथमा भूमिः, बालमुग्धादिष्विव निर्मनस्त्वं द्वितीया. तन्द्रादिष्विवाहङ्काररराहित्यं तृतीया, सुषुप्ताविव महत्तत्त्वराहित्यं चतुर्थी तदेतद्भूमिचतुष्टयमपेक्ष्य शनैः शनैरुपरमेदित्युक्तम् । यद्यपि महत्तत्त्वशान्तात्मनोर्मध्ये महत्तत्त्वोपादानमव्याकृताख्यं तत्त्वं श्रुत्योदाहारि तथापि तत्र महत्तत्त्वस्य अव्याकृते नियमनं नाभ्याधायि सुषुप्ताविव । ['जीवस्वरूपस्य सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति' इति श्रुतेः] स्वरूपलयप्रसङ्गात् । तस्य च कर्मक्षये सति पुरुषप्रयत्नमन्तरेण स्वत एव सिद्धत्वात्तत्त्वदर्शनानुपयोगित्वात् 'दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः' इति पूर्वमभिधाय सूक्ष्मत्वसिद्धये निरोधसमाधेरभिधानात् । स च तत्त्वदिदृक्षोर्दर्शनसाधनत्वेन दृष्टतत्त्वस्य च जीवन्मुक्तिप्रतिबन्धरूपक्लेशक्षयायापेक्षितः ।

(मूलमें देखिये) । उसमें गवादिके तरह वाङ्निरोध प्रथमा भूमि है । अर्थात् जैसे गवादि पशु वाक्शून्य होते हैं वैसे ही हो । बालमुग्धादि में यद्यपि कुछ वाणी है तथापि मनोवृत्तिपूर्वक नहीं होती इसलिए उनमें मनोवृत्तिनिरोधरूप द्वितीय भूमि है । आलस्यादिवश अहंकार वृत्ति विरह तृतीया भूमि है । सुषुप्ति के समान महत्तत्व शून्यता चौथी भूमि है, अर्थात् सुषुप्ति में जैसे विषय ज्ञान नहीं होता उसी तरह इसी चौथी भूमिमें विषयविषयक मनोवृत्तिविरह इष्ट है इन भूमि चतुष्टय की अपेक्षा से शनैः शनैः (धीरे धीरे) उपरत हो यह कहा । यद्यपि महत्तत्व और शान्तात्माके बीचमें महत्तत्त्व के उपादान अव्याकृतसंज्ञकतत्त्वका श्रुति में निरोधोदाहरण दिया है, यहाँ उक्त भूमिमें इसके निरोधका उदाहरण नहीं दिखलाया तो भी महत्तत्वका भी निरोध नहीं कहा सुषुप्तिके समान जीवस्वरूपस्य 'सता सौम्य तदा संपन्नो भवति" इस श्रुतिके अनुसार जीवस्वरूपका लाभ हो जायगा उसका कर्म क्षय होने पर पुरुषव्यापार विना स्वतः सिद्ध है और तत्तदज्ञान का उपयोगी नहीं है ।

"दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः ।"

इस श्रुति से प्रथम उसको कहकर उसमें सूक्ष्मत्वसिद्धि के लिए निरोध समाधि का कथन है । वह तत्त्व दिदृक्षु के दर्शनहेतु होने से दृष्टतत्त्व की जीवन्मुक्तिरूप क्लेशक्षय के लिए अपेक्षित है ।

ननु शान्तात्मन्यवरुद्धस्य चित्तस्य वृत्तिरहितत्वेन सुषुप्तिवददर्शनहेतुत्वमिति चेत्? न, स्वतःसिद्धस्य दर्शनस्य निवारयितुमशक्यत्वात्। तदुक्तम्—'आत्मानात्माकारं स्वभावतोऽवस्थितं सदा चित्तं आत्मैकाकारतया तिरस्कृतानात्मदृष्टि विदधीत' इति। यथा घट उत्पद्यमानः स्वतो वियत्पूर्ण एवोत्पद्यते जलतण्डुलादिपूरणं तूत्पन्ने घटे पश्चात्पुरुषप्रयत्नेन भवति, तत्र जलादौ निःसारितेऽपि वियन्निःसारयितुं न शक्यते मुखपिधानेप्यन्तर्वियदवतिष्ठत एव तथा चित्तमुत्पद्यमानं चैतन्यपूर्णमेवोत्पद्यते उत्पन्ने तु तस्मिन् मूषानिषिक्तद्रुतताम्रवद्घटदुःखादिरूपत्वं भोगहेतुधर्माधर्मसहकृतसामग्रीवशाद्भवति। तत्र

प्रश्न—शान्तात्मा में अवरुद्ध चित्तवृत्तिरहित होने से सुषुप्ति के समान दर्शनहेतु कैसे होगा अर्थात् सुषुप्तिकाल में विषयवृत्तिसहित मन होने से विषयदर्शनहेतु नहीं हो सकता वैसे ही यदि निरोध समाधि में निर्वृत्तिक मन रहेगा तो वह आत्मदर्शनहेतु कैसे होगा ?

उत्तर—स्वतःसिद्ध दर्शन का निवारण अशक्य है अर्थात् विषय जड़ है अतएव तद्विषयक मनोवृत्तिद्वारा उसका प्रकाश होता है आत्मा। उससे विपरीत स्वयंप्रकाश स्वरूप है, इस कारण मनोवृत्ति की आवश्यकता नहीं, यह कहा है—

आत्मानात्माकारं स्वभावतोऽवस्थितं सदा चित्तम्।
आत्मा आत्मैकाकारतया तिरस्कृतानात्मदृष्टि विदधीत॥

अर्थ—स्वभाव से चित्त सदा आत्माकार रहता है आत्मैकाकारवृत्ति से अनात्मदृष्टि का निराकरण करो, अर्थात् चित्त स्वाभाविक आत्मानात्माकार सदा रहता है इसमें आत्माकारत्व सदा प्राप्तहोने से विधेय नहीं है किन्तु उसकी सदा अभिव्यक्ति के लिए तद्विरोधी अनात्माकारवृत्ति निरसनीय है, यथा उत्पद्यमान घट स्वभावतः आकाश पूर्ण उत्पन्न होता है आकाशपूर्ति में पुरुषव्यापार की अपेक्षा नहीं। चावल जल से पूर्ति उत्पन्न घटमें पीछे पुरुष व्यापार से होती है, उसमें जलादि के निकालने पर भी आकाश को निकाल नहीं सकते, घट के मुंह बन्द करने पर भी जलादि से घट की पूर्ति नहीं होती परन्तु आकाशपूर्ति उस अवस्था में भी उसमें रहती है वैसे ही उत्पद्यमान चित्त चैतन्य पूर्ण ही उत्पन्न होता है, चित्त उत्पन्न होने पर उसमें पूषा (ताम्रादि के रस ढ़ालकर वस्तु तैयार करने वाला पात्र) में द्रवीभूत ताम्रादि डालने पर जैसे आधारभूत पात्र का आकार होता है तदाकार ताम्रादि पात्र होता है, भोगहेतु धर्माधर्म सहकृत

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम् ।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥ २६ ॥

परन्तु जिसका मन वशमें नहीं हुआ हो उसको चाहिये कि, यह स्थिर न रहने वाला और चञ्चल मन जिस जिस कारणसे सांसारिक पदार्थोंमें विचरता है, उस उससे रोककर बारम्बार परमात्मामें ही निरोध करे ॥ २६ ॥

घटदुःखाद्यनात्माकारे विरामप्रत्ययाभ्यासेन निवारितेऽपि निर्निमित्तश्चिदाकारो वारयितुं न शक्यते, ततो निरोधसमाधिना निर्वृत्तिकेन चित्तेन संस्कारमात्रशेषतयाऽतिसूक्ष्मत्वेन निरुपाधिकचिदात्ममात्राभिमुखत्वाद्वृत्ति विनैव निर्विघ्नमात्माऽनुभूयते । तदेतदाह—

'आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत्।' इति ।

आत्मनि निरुपाधिके प्रतीचि संस्था समाप्तिर्यस्य तदात्मसंस्थं सर्वप्रकारवृत्तिशून्यं स्वभावसिद्धात्माकारमात्रविशिष्टं मनः कृत्वा धृतिगृहीतया विवेकबुद्ध्या संपाद्यासंप्रज्ञातसमाधिस्थः सन् किंचिदपि अनात्मानमात्मानं वा न चिन्तयेत् न वृत्त्या विषयीकुर्यात् अनात्माकारवृत्तौ हि व्युत्थानमेव स्यात् आत्माकारवृत्तौ च संप्रज्ञातः समाधिरित्यसंप्रज्ञातसमाधिस्थैर्याय कामपि चित्तवृत्तिं नोत्पादयेदित्यर्थः ॥ २५ ॥

सामग्रीवश से मन भी तद्रुप होता है इसमें घटदुःखादि अनात्माकार का विराम अनात्माकार का विराम प्रत्ययाभ्यास से निवारण करने पर भी निर्निमित्तक निर्हेतुक चिदाकार का वारण नहीं कर सकते उस निरोधसमाधि से निर्वृत्तिक चित्त संस्कारमात्रावशिष्ट अतएव अतिसूक्ष्म निरुपाधिक चिदात्मा के सम्मुख होने से वृत्ति के विना ही निर्बोध आत्मानुभव होता है, यह कहा है—'आत्मसंस्थं मनः कृत्वा' इत्यादि । 'आत्मनि निरुपाधिके प्रत्यगात्मनि संस्था समाप्तिर्यस्य स आत्मसंस्थः' कहाता है सर्वप्रकार की वृत्तियों से रहित स्वभावप्राप्त आत्माकारमात्रविशिष्ट मन करके धृतगृहीतबुद्धि से सम्पादन कर असंप्रज्ञातसमाधिरत होकर कुछ भी आत्मा अनात्मा का चिन्तन न करना अर्थात् उक्त विषयक मनोवृत्ति न करना क्योंकि अनात्माकारवृत्ति होने पर समाधि से व्युत्थान ही होगा। आत्माकार वृत्ति होने से सम्प्रज्ञात समाधि होगी इस कारण असंप्रज्ञात समाधिस्थिरता के लिए कोई भी चित्तवृत्ति मन में न उत्पन्न करना यह अर्थ है ॥ २५ ॥

म० टी०—**यतो यत** इति। एवं निरोधसमाधिं कुर्वन् योगी शब्दादीनां चित्तविक्षेपहेतूनां मध्ये यतोयतो यस्माद्यस्मान्निमित्ताच्छब्दादेर्विषयाद्रागद्वेषादेश्च चञ्चलं विक्षेपाभिमुखं सत् मनो निश्चरति विक्षिप्तं सत् विषयाभिमुखीं प्रमाणविपर्ययविकल्पस्मृतीनामन्यतमामपि समाधिविरोधिनीं वृत्तिमुत्पादयति तथा लयहेतूनां निद्राशेषबहुशनश्रमादीनां मध्ये यतो यतो निमित्तादस्थिरं लयाभिमुखं सन्मनो निश्चरति लीनं सत्समाधिविरोधिनीं निद्राख्यां वृत्तिमुत्पादयति ततस्ततो विक्षेपनिमित्ताल्लयनिमित्ताच्च नियम्यैतन्मनो निर्वृत्तिकं कृत्वात्मन्येव स्वप्रकाशपरमानन्दघने वशं नयेत् निरुन्ध्यात्। यथा न विक्षिप्येत न वा लीयेतेति एवकारोऽनात्मगोचरत्वं समाधेर्वारयति। एतच्च विवृतं गौडाचार्यपादैः—

उपायेन निगृह्णीयाद्विक्षिप्तं कामभोगयोः
सुप्रसन्नं लये चैव यथा कामो लयस्तथा ॥ १ ॥
दुःखं सर्वमनुस्मृत्य कामभोगान्निवर्तयेत्।
अजं सर्वमनुस्मृत्य जातं नैव तु पश्यति ॥ २ ॥
लये संबोधयेच्चित्तं विक्षिप्तं शमयेत्पुनः।
सकषायं विजानीयात्समप्राप्तं न चालयेत् ॥ ३ ॥

इस प्रकार निरोध समाधि करता हुआ योगी चित्तविक्षेपकारण शब्दादिकों के मध्य में जिस जिस निमित्त से शब्दादिविषय और रागद्वेष से विक्षेपोन्मुख चंचल होता हुआ मन विषयाभिमुख हो प्रमाण विपर्यय विकल्प स्मृति इनमें एक भी कोई समाधि विरोधिनी वृत्ति का उत्पादन करता है तथा लयकारण निद्राशेष बहु अशन अधिक भोजन समाधिकों के मध्यमें जिस जिस निमित्त से चञ्चल अतएव लयोन्मुख होता हुआ मन निकालता है समाधि विरोधिनी निद्राख्यवृत्ति को उत्पन्न करता है उस उस विक्षेपकारण से और लयकारण से चित्त को नियन्त्रित कर अर्थात् निर्वृत्तिक कर स्वप्रकाशानन्द घन आत्मा के वश में ही करना अर्थात् आत्मा में ही निरोध करना, जिस तरह से विक्षिप्त और लीन न हो। एवकार समाधि में अनात्मगोचरत्व का वारण नहीं करता यह गौडपादाचार्य ने विवृत किया है—

'उपायेन निगृह्णीयात् विक्षिप्तं कामभोगयोः।'

नास्वादयेत्सुखं तत्र निःसङ्गः प्रज्ञया भवेत् ।
निश्चलं निश्चरच्चित्तमेकीकुर्यात्प्रयत्नतः ॥ ४ ॥
यदा न लीयते चित्तं न च विक्षिप्यते पुनः ।
अनिङ्गनमनाभासं निष्पन्नं ब्रह्म तत्तदा ॥ ५ ॥' इति

पञ्चभिः श्लोकैः उपायेन वक्ष्यमाणेन वैराग्याभ्यासेन कामभोगयोर्विक्षिप्तं प्रमाणविपर्ययविकल्पस्मृतीनामन्यतमयापि वृत्त्या परिणतं मनो निगृण्हीयात् निरुन्ध्यादात्मन्येवेत्यर्थः। कामभोगयोरिति चिन्त्यमानावस्थाभेदेन द्विवचनम्, तथा लीयतेऽस्मिन्निति लयः सुषुप्तं तस्मिन् सुप्रसन्नमायासवर्जितमपि मनो निगृण्हीयादेव। सुप्रसन्नं चेत्कुतो निगृह्यते? तत्राह—यथा कामो विषय-गोचरप्रमादिवृत्त्युत्पादनेन समाधिविरोधी तथा लयोऽपि निद्राख्यवृत्त्युत्पादनेन समाधिविरोधी सर्ववृत्तिनिरोधो हि समाधिः अतः कामादिकृतविक्षेपादिव श्रमादिकृतलयादपि मनो निरोद्धव्यमित्यर्थः ॥ १ ॥ उपायेन निगृणीयात्केने-त्युच्यते—सर्वं द्वैतमविद्याविजृम्भितमल्पं दुःखमेवेत्यनुसृत्य 'यो वै भूमा

इत्यादि पाँच श्लोकों से। वक्ष्यमाण वैराग्याभ्यासोपाय से कामभोग में विक्षिप्त तत्तद्विषयक प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, स्मृतियों में इसी प्रकार वृत्ति से परिणत मन का निग्रह अर्थात् निरोध करना।

प्रश्न—कहाँ निरोध करना चाहिए ?

उत्तर—आत्मा में ही, काम और भोग चिन्त्यमान अवस्था और भुज्यमान अवस्था, भेद से द्विवचन है वस्तुतः कामभोग एक ही है दो पदार्थ नहीं। उसीप्रकार लीन होता है जिसमें उसका लय है उसमें सुप्रसन्न अतएव आयास परिश्रम रहित मन का निग्रह करना।

प्रश्न—यदि मन सुप्रसन्न है तो उसका निग्रह क्यों ?

उत्तर—यथा कामविषयविषयकप्रमाणादिवृत्तिके उत्पादनद्वारा समाधि विरोधी है तथा लय भी निद्राख्यवृत्तिके उत्पादनद्वारा समाधिविरोधी अतः उसका भी निरोध युक्त ही है। क्योंकि सर्ववृत्ति निरोध समाधि है इसकारण कामादिकृत विक्षेप के समान समाधिकृतलय से भी मन का निरोध करना चाहिए। 'उपायेन निगृह्णीयात्' यह कहा है ॥१॥ किस उपाय से यह कहते हैं—सम्पूर्ण द्वैतप्रपञ्च अज्ञान विजृम्भित है अल्प अतएव दुःखमय है एवंरूप से अनुसन्धान कर 'यो वै भूमा'

तत्सुखं नाल्पं सुखमस्ति, अथ यदल्पं तन्मर्त्यं तद्दुःखम्' इति श्रुत्यर्थं गुरूपदेशादनुपश्चात्पर्यालोच्य कामान् चिन्त्यमानावस्थान् विषयान् भोगान् भुज्यमानावस्थांश्च विषयान्निवर्तयेत् मनसः सकाशादिति शेषः। कामश्च भोगश्च कामभोगं तस्मान्मनो निवर्तयेदिति वा। एवं द्वैतस्मरणकाले वैराग्यभावनोपाय इत्यर्थः। द्वैतविस्मरणं तु परमोपाय इत्याह—अजं ब्रह्म सर्वं न ततोऽतिरिक्तं किञ्चिदस्ति, इति शास्त्राचार्योपदेशादनन्तरमनुस्मृत्य तद्विपरीतं न पश्यत्येव, अधिष्ठाने ज्ञाते कल्पितस्याभावात्। पूर्वोपायापेक्षया वैलक्षण्यसूचनार्थस्तुशब्दः ॥ २ ॥ एवं वैराग्यभावनातत्त्वदर्शनाभ्यां विषयेभ्यो निवर्त्यमानं चित्तं यदि दैनंदिनलयाभ्यासवशाल्लयाभिमुखं भवेत् तदा निद्राशेषाजीर्णबह्वशनश्रमाणां लयकारणानां निरोधेन चित्तं सम्यक् प्रबोधयेदुत्थानप्रयत्नेन, यदि पुनरेवं प्रबोध्यमानं दैनंदिनप्रबोधाभ्यासवशात् कामभोगयोर्विक्षिप्तं स्यात् तदा वैराग्यभावनया तत्त्वसाक्षात्कारेण च पुनः शमयेत्। एवं पुनः पुनरभ्यस्तो लयात्संबोधितं विषयेभ्यश्च व्यावर्तितं नापि समप्राप्तमन्तरालावस्थं चित्तं

इत्यादि श्रुति का अर्थ गुरूपदेश के पश्चात् (बाद) स्वयं पर्यालोचन कर काम अर्थात् चिन्त्यमानावस्थाविशेषभोग भुज्यमान अवस्था विषय से चित्त को निवृत्त करना। 'कामश्च भोगश्च अनयोः समाहारः' कामभोग उससे कामना को निवृत्त करना इस प्रकार द्वैतप्रपञ्च स्मरणसमय से वैराग्यभावना का उपाय है। द्वैत का विस्मरण तो परम उपाय है यही कहते हैं—'अजं ब्रह्म' इत्यादि से यह सब ब्रह्म है उससे अतिरिक्त कुछ नहीं है इसका शास्त्राचार्योपदेश के बाद अनुसन्धान कर उक्त उपदेश से विपरीत प्रपञ्चसमुदाय नहीं देखता है अधिष्ठानलीन होने पर कल्पितवस्तु का अभाव वस्तुतः होता ही है। पूर्वोपाय की अपेक्षा से इस उपाय में विलक्षणता सूचनार्थ 'तु' यह शब्द है ॥२॥ इस प्रकार वैराग्यभावना और तत्त्वदर्शन से विषयों से आकृष्यमाण चित्त यदि प्रतिदिन के लयाभ्यास के वश से लयाभिमुख हो तो निद्रावशेष जीर्ण अधिकान्नभोजन श्रम ये लय के कारण है इनके निरोध से उत्थानप्रयत्नद्वारा अच्छी तरह से समझना, फिर भी यदि इस प्रकार समझाने पर प्रतिदिन के कामभोगाभ्यासवश काम भोगों में विक्षिप्त तत्प्रवृत्त्युन्मुख हो तो वैराग्यभावना और तत्त्वसाक्षात्कार से फिर शान्त करना। इस प्रकार पुनः पुनः अभ्यास करने से लय से सम्बोधित समुत्थापित विषयों से व्यावर्तित चित्त होता है इसको जानना मध्य

स्तब्धीभूतं सकषायं रागद्वेषादिप्रबलवासनावशेन स्तब्धीभावाख्येन कषायेण दोषेण युक्तं विजानीयात् समाहिताच्चित्ताद्विवेकेन जानीयात्, ततश्च नेदं समाहितमित्यवगम्य लयविक्षेपाभ्यामिव कषायादपि चित्तं निरुन्ध्यात्, ततश्च लयविक्षेपकषायेषु परिहृतेषु परिशेषाच्चित्तेन समं ब्रह्म प्राप्यते, तच्च समप्राप्तं चित्तं कषायलयभ्रान्त्या न चालयेत् विषयाभिमुखं न कुर्यात् किं तु धृतिगृहीतया बुद्ध्या लयकषायप्राप्तेर्विविच्य तस्यामेव समप्राप्तावतियत्नेन स्थापयेत् ॥ ३ ॥ तत्र समाधौ परमसुखव्यञ्जकेऽपि सुखं नास्वादयेत् 'एतावन्तं कालमहं सुखी' इति सुखास्वादरूपां वृत्तिं न कुर्यात् समाधिभङ्गप्रसङ्गादिति प्रागेव कृतव्याख्यानं प्रज्ञया यदुपलभ्यते सुखं तदप्यविद्यापरिकल्पितं मृषैवेत्येवंभावनया निःसङ्गो निस्पृहः सर्वसुखेषु भवेत् । अथवा प्रज्ञया सविकल्पसुखाकारवृत्तिरूपया सह सङ्गं परित्यजेत् न तु स्वरूपसुखमपि निर्वृत्तिकेन चित्तेन नानुभवेत् स्वभावप्राप्तस्य तस्य वारयितुमशक्यत्वात् । एवं सर्वतो निवर्त्य निश्चलं प्रयत्नवशेन कृतं चित्तं

स्थितचित्त (अन्तरालावस्था चित्त) स्तब्धीभूत सकषाय रागद्वेषमोहादि प्रवल वासनास्तब्धीभाव नामक कषाय दोष से युक्त समाहितचित्त से भिन्न विवेक से जानना। ईदृश चित्त ब्रह्म प्राप्त नही है तदनन्तर यह चित्त समाहित नहीं है यह समझ कर लय विक्षेप के समान कषाय से भी चित्त का निरोध करना। लय विक्षेप कषाय इन तीनों का परिहार करने पर परिशेष से चित्त समब्रह्म प्राप्त करता है वह समब्रह्म चित्त कषाय लय भ्रान्ति से विषयाभिमुख न चला आवे किन्तु धृतिगृहीतवुद्धि से लय कषाय प्राप्ति से विवेक कर|उसी समब्रह्मप्राप्ति में|अति परिश्रम से स्थापित करे ॥३॥ उत्कृष्टसुखव्यञ्जक उस समाधि में सुखास्वादन करे 'इतने समय मैं सुखी रहा' इत्याकारा सुखास्वादरूपा वृत्ति न करे क्योंकि ऐसा करने से समाधि का भंग हो जायगा यह पूर्व में ही कह चुके हैं। जो सुख वृत्ति से उपलब्ध होता है वह अविद्याकल्पित अतएव मिथ्या है इस भावना से निस्सङ्ग होकर सब सुखों से वितृष्ण (विमुख) होजाय। अथवा सविकल्पक सुखाकारवृत्ति प्रज्ञा से सम्बन्ध परित्याग करे। स्वरूप सुख का परित्याग न करे किंतु निर्वृत्तिकचित्त से उसका अनुभव करे क्योंकि स्वतः प्राप्त वह सुख वारण करने में अशक्य है। इस

स्वभावचाञ्चल्याद्विषयाभिमुखतया निश्चरद् बहिर्निर्गच्छत् एकीकुर्यात् प्रयत्नतः निरोधप्रयत्नेन समे ब्रह्मण्येकतां नयेत् ॥ ४ ॥ समप्राप्तं चित्तं कीदृशमुच्यते—यदा न लीयते नापि स्तब्धीभवति तामसत्वसाम्येन लयशब्देनैव स्तब्धीभावस्योपलक्षणात्। न च विक्षिप्यते पुनः न शब्दाद्याकारवृत्तिमनुभवति नापि सुखमास्वादयति राजसत्वसाम्येन सुखास्वादस्यापि विक्षेपशब्देनोपलक्षणात्, पूर्वं भेदनिर्देशस्तु पृथक्प्रयत्नकरणाय। एवं लयकषायाभ्यां विक्षेपसुखास्वादाभ्यां च रहितम् अनिङ्गनमिङ्गनं चलनं सवातप्रदीपवत् लयाभिमुखरूपम् अनाभासं न केनचिद्विषयाकारेणाभासत इत्येतत् कषायसुखास्वादयोरुभयान्तर्भाव उक्त एव। यदैवं दोषचतुष्टयरहितं चित्तं भवति तदा तच्चितं ब्रह्मनिष्पन्नं समं ब्रह्म प्राप्तं भवतीत्यर्थः ॥ ५ ॥

एतादृशश्च योगः श्रुत्या प्रतिपादितः—

'यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टति तामहुः परमां गतिम् ॥

प्रकार सब विषयों से निवृत्त कर निश्चल चित्त स्वभाव चञ्चलवश विषयाभिमुख बाहर निकले तो फिर एक करे, निरोधप्रयत्न से समब्रह्म से अभेद करे ॥४॥

प्रश्न—समप्राप्त चित्त कैसा होता है ?

उत्तर—जब लीन न हो और न स्तब्धीभूत हो लय और स्तब्धीभाव त्वेन समान हैं अतः लय शब्द स्तब्धीभावमें भी उपलक्षण है। और विक्षिप्त न हो अर्थात् फिर शब्दाद्याकारवृत्ति का अनुभव न करे और न सुखास्वद करे राजसत्व का साम्य से विक्षेपशब्द सुखास्वाद का भी उपलक्षण है पूर्व में दोनों' का अलग अलग निर्देश अलग २ प्रयत्न करने के लिए है। इस प्रकार लय कषाय और विक्षेप सुखास्वादों से रहित चित्त सवातप्रदीप के समान लयाभिमुखरूप चलन इंगण हैं उससे रहित निर्वातप्रदीप सदृश न कि इसी विषयाकार से आभासमानस्वरूपतः सत्।

कषाय सुखास्वाद का दोनों में अन्तर्भाव कहा है जिस समय इन चारो दोषों से रहित चित्त होता हैं तो वह चित्त-ब्रह्मनिष्पन्न समब्रह्म प्राप्त होता हैं इस प्रकार का योग श्रुतिप्रतिपादित है—'यदा पञ्चावतिष्ठन्ते, अप्राप्य मनसासह'-

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम् ।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ॥ २७ ॥

क्योंकि जिसका मन अच्छी प्रकार शान्त है और जो पापसे रहित है और जिसका रजोगुण शान्त हो गया है, ऐसे इस सच्चिदानन्द ब्रह्मके साथ एकीभाव हुए योगी को अति उत्तम आनन्द प्राप्त होता है ॥ २७ ॥

तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम् ।
अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ ॥' इति ।

एतन्मूलकमेव च 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोध' इति सूत्रम्, तस्माद्युक्तं ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेदिति ॥ २६ ॥

म० टी०--एवं योगाभ्यासबलादात्मन्येव योगिनः प्रशाम्यति मनः ततश्च प्रशान्तेति । प्रकर्षेण शातं निर्वृत्तिकतया निरुद्धं संस्कारमात्रशेषं मनो यस्य तं प्रशान्तमनसं वृत्तिशून्यतया निर्मनस्कं निर्मनस्कत्वे हेतुगर्भं विशेषणद्वयं 'शान्तरजसम् 'अकल्मषम्' इति शान्तं विक्षेपकं रजो यस्य तं विक्षेपकं शून्यम्, तथा न विद्यते कल्मषं लयहेतुस्तमो यस्य तमकल्मषं लय-

---

इत्यादि । जिस समय मन के साथ पञ्चेन्द्रियजन्यज्ञान स्थित रहते हैं बुद्धि चेष्टा नही करती उसको परमा गति कहते हैं उस स्थिर इन्द्रिय धारणाको योग मानते हैं। उस समय उत्पत्ति और नाश में योगी अप्रमत्त होता है एतन्मूलक 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' यह सूत्र है, अतः बहुत ठीक कहा है कि उन उन विषयों से चित्त को हटा कर आत्मा के वश में ही करे ॥२६॥

इस तरह से योगाभ्यास बल से योगी का मन आत्मा में ही शान्त होता है तदनन्तर प्रकृष्टशान्तनिवृत्ति रहित होने से निरुद्धसंस्कारमात्रावशिष्ट मन है जिसका उस प्रशान्त मन योगी को उत्तमसुख प्राप्त होता है प्रशान्त मन का फलितार्थ है निर्मनस्क उसमें हेतुगर्भ विशेषण दो हैं प्रथम 'शान्तरजसम्' दूसरा 'अकल्मषम्'। रजोगुण ही मन का चालक है इसके शान्त होने से मन विक्षेपशून्य होता है अर्थात् निर्वृत्तिक होता है, वृत्ति न होने से योगी निर्मनस्क कहाता है तथा 'नहि विद्यते कल्मषं लयहेतुः तमो यस्य' इस विग्रह से लय हेतु (कारण) कल्मष न रहने से

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः ।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते ॥ २८ ॥

और वह पापरहित योगी इस प्रकार निरन्तर आत्माको परमात्मामें लगाता हुआ सुखपूर्वक परब्रह्म परमात्माकी प्राप्तिरूप अनन्त आनन्दको अनुभव करता है ॥ २८ ॥

शून्यम्, शान्तरजसमित्यनेनैव तमोगुणोपलक्षणे अकल्मषं संसारहेतुधर्मादिविवर्जितमिति वा ब्रह्मभूतं ब्रह्मैव सर्वमिति निश्चयेन समं ब्रह्म प्राप्तं जीवन्मुक्तम् एनं योगिनम् एवमुक्तेन प्रकारेणेति **श्रीधरः**—उत्तमं निरतिशयं सुखमुपैत्युपगच्छति। मनस्तद्वृत्त्योरभावे सुषुप्तौ स्वरूपसुखाविर्भावप्रसिद्धिं द्योतयति हि शब्दः, तथा च प्राग्व्याख्यातं सुखमात्यन्तिकं यत्तदित्यत्र ॥ २७ ॥

म० टी०—उक्तं सुखं योगिनः स्फुटीकरोति—**युज्जन्नेवमिति** । एवं मनसैवेन्द्रियग्राममित्याद्युक्तक्रमेणात्मानं मनः सदा युञ्जन् समादधत् योगी योगेन नित्यसंबन्धी विगतकल्मषः विगतमलः संसारहेतुधर्माधर्मरहितः सुखेनानायासेन ईश्वरप्राणिधानात् सर्वान्तरायनिवृत्त्या ब्रह्मसंस्पर्शं सम्यक् तेन

चित्त लय शून्य होता है। 'शान्तरजसम्' इसी से तमोगुण का उपलक्षणतया बोध हो सकता है फिर 'अकल्मषम्' यह पृथक् पद संसारहेतु धर्माधर्मादिरहितत्वार्थक है, यह भी अर्थ है। ब्रह्मभूत ब्रह्म ही सब है इस निश्चय से समब्रह्मप्राप्त इस जीवन्मुक्त उत्तम योगी को। एवं उक्त प्रकार से। यह श्रीधरस्वामी जी का मत है—उत्तम निरतिशयसुख प्राप्त होता है। 'हि' शब्द, मन और तद्वृत्तियोंके अभावसे सुषुप्ति में स्वरूप सुखाविर्भाव प्रसिद्ध है इसका द्योतक है 'सुखमात्यन्तिकं यत्' इस जगह व्याख्यान कर चुके हैं ॥ २७ ॥

'युञ्जन्' इसि से योगी के सुख को स्पष्ट करते हैं 'मनसैवेन्द्रियग्रामम्' इस श्लोकोक्तक्रम से आत्माशब्द मनोवाची है सदा समाहित करता हुआ योगी योगशब्द से नित्यसम्बन्धी अर्थ में मत्वर्थ इनिप्रत्यय है। यहाँ योगीशब्द नित्ययोगसम्बन्धीपरक है विगतकल्मष विक्षालितमलः संसारहेतुधर्माधर्मरहितः, अनायास से ईश्वरोपासना से सम्पूर्ण विघ्नों की निवृत्ति होती है तद्द्वारा ब्रह्मका सम्यक् स्पर्श

विषयासंस्पर्शेण सह ब्रह्मणः स्पर्शस्तादात्म्यं यस्मिन् तद्विषयासंस्पर्शि ब्रह्मस्वरूपमित्येतत् अत्यन्तं सर्वानन्तान् परिच्छेदानतिक्रान्तं निरतिशयं सुखमानन्दरश्नुते व्याप्नोति सर्वतोनिर्वृत्तिकेन चित्तेन लयविक्षेपविलक्षणमनुभवति विक्षेपे वृत्तिसत्त्वात् लये च मनसोऽपि स्वरूपेणाऽसत्त्वात् सर्ववृत्तिशून्येन सूक्ष्मेण मनसा सुखानुभवः समाधावेवेत्यर्थः । अत्र चानायासेनेत्यन्तरायनिवृत्तिरुक्ता ते चान्तराया दर्शिता योगसूत्रेण (१) 'व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरति-

तत् तादात्म्यप्राप्ति करता है। विषयसंस्पर्श के साथ ब्रह्मसंस्पर्श ब्रह्मतादात्म्य है जिस विषयासंस्पर्शी 'ब्रह्मसंस्पर्शम' इसका अत्यन्त' सब अनन्त अपरिच्छेद निरतिशयसुख आनन्द को प्राप्त करता है। सबसे निर्वृत्तिक चित्त होने से लय विक्षेप विलक्षण का अनुभव करता है क्योंकि विक्षेप में मानस वृत्ति रहती है और लय में मन स्वरूप से भी नहीं रहता सूक्ष्म मन से सुखानुभव समाधि में ही होता है यहाँ पर 'अनायासेन' इससे विघ्ननिवृत्ति कही गई है। योगसूत्रकारने विघ्नों को बताया है—'व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्यविभ्रान्तिदर्शनात् लब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्ते अन्तरायाः चित्तं विक्षिपन्ति योगात् अपनयन्ति,

(१) चित्तविक्षेप के हेतु व्याध्यादि नव अन्तराय हैं। ये चित्तवृत्तियां योगके अन्तराय योगविरोधिनी है। चित्त के विक्षेपक ये व्याध्यादि योग से चित्त को हटाकर अन्यत्र ले जाती है अतः विक्षेप है। योगविरोधित्व में हेतु कहते हैं—**सह एते** इति। अन्वयव्यतिरेकसे विक्षेप हेतुत्व व्याध्यादिमें सिद्ध करते हैं। व्यतिरेक दिखलाते हैं—**एतेषामिति**। संशय भ्रान्तिदर्शन ये दोनों वृत्तियां हैं अतः साक्षात् निरोध के प्रतिकूल है। जो व्याध्यादि वृत्तिस्वरूप नहीं हैं वे भी वृत्तिसाहचर्य्यसे वृत्तिप्रतिकूल हैं। वातपित्तकफ ये शरीर के धारण करनेवाले हैं इस कारण धातु कहे जाते हैं, भुक्तपीत आहारपरिणामविशेष रस है, करण इन्द्रियां हैं, न्यूनाधिकभाव कम वेसी होना वैषम्य है। अकर्मण्यता कर्मायोग्यता, संशय उभयकोटिविषयक 'स्थाणु र्नवा' इत्यादि। यद्यपि संशय विपर्यय मिथ्याज्ञान से समान है, तथापि संशय उभयकोटिविषयक है विपर्यय एककोटिविषयक है जैसे 'इदं रजतम्' एककोटिविषयकत्वाविषयकत्वरूप अवान्तरविशेष विवक्षा से भेद से दोनों का उपादान है। समाधिसाधनों का अभावन तद्विषयक प्रयत्नाभाव प्रमाद है, शरीर तथा चित्त के गुरुत्व (भारीपना) से अप्रवृत्ति आलस्य है, कफादि से शरीर में तमोगुण से चित्त में गुरुत्व होता है, विषयसेवनजन्यतत्तृष्णा अविरति है, मधुमत्वादि समाधिभूमियों का अलाभ अलब्धभूमिकत्व है, किसी भूमि का लाभकर उतने ही से सुस्थित चित्त मानने को समाधिवृत्ति

भ्रान्तिदर्शनालब्धभूमिकत्वानवस्थितकत्वानि' चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः चित्तं विक्षिपन्ति योगादपनयन्तीति चित्तविक्षेपा योगप्रतिपक्षाः संशयभ्रान्तिदर्शने तावद्वृत्तिरूपतया वृत्तिनिरोधस्य साक्षात्प्रतिपक्षौ व्याध्यादयस्तु सप्रवृत्तिसहचरिततया तत्प्रतिपक्षा इत्यर्थः। व्याधिर्धातुवैषम्यनिमित्तो विकारो ज्वरादिः, स्त्यानमकर्मण्यता गुरुणा शिक्ष्यमाणस्याप्यासनादिकर्मानर्हतेति यावत्। योगः साधनीयो न वेत्युभयकोटिस्पृग्विज्ञानं संशयस्तद्रूपप्रतिष्ठत्वेन विपर्ययान्तर्गतोऽपि सन्नुभयकोटिस्पर्शित्वैककोटिस्पर्शित्वरूपावान्तरविशेषविवक्षयात्र विपर्ययाद्भेदेनोक्तः, प्रमादः समाधिसाधनानामनुष्ठानसामर्थ्येऽप्यननुष्ठानशीलता

अर्थात योग से चित्त के हटाने वालों को चित्तविक्षेप कहते हैं। चित्तविक्षेप योग के विरोधी हैं संशय और भ्रान्तिदर्शन ये दोनों वृत्तिरूप होने से तन्निरोध के साक्षात् विरोधी हैं क्योंकि वृत्ति होने से तन्निरोध न होगा निरोध होने से वृत्तियाँ न होंगी। व्याध्यादिक योग सहकारी प्रवृत्तिप्रतिबन्धक होने से सामग्रीविघटनद्वारा परम्परया विरोधी हैं। 'व्याधि-धातुवैषम्यमूलक विकार ज्वरादि, स्त्यान अकर्मण्यता कर्मानुष्ठानानुत्साहता' गुरु से सिखाये जाने पर भी आसनादि कर्म में अयोग्यता से सत्र करें या नहीं यह। योग तदभावोभयकोटिविषयक ज्ञान संशय है। अतद्रूपप्रतिष्ठ होने से यद्यपि विपर्यय में ही अन्तर्भाव हो जाता है पुनः संशय का पृथक् निर्देश क्यों ? इस शंका की निवृत्ति करने के लिए दोनों में अवान्तर विशेषधर्म दिखलानेके लिए पृथक् निर्देश है। संशय उभयकोटिविषयक होता है और विपर्यय एककोटिविषयक होता है इस प्रकार उभय कोटिकत्व एककोटिकत्व विवक्षा से विपर्ययभिन्न संशय कहा। प्रमाद समाधिसाधन में सामर्थ्य होने पर भी अनुष्ठान स्वभावता।

हो सकती है इस हेतु से उसे लब्धभूमि का भी अपाय हो सकता है अतः जिससे समाधि लाभ होनेपर चित्त उसमें स्थित रहे वैसा प्रयत्न करना चाहिये।

प्रश्न—भूमिलाभोत्तर तद्भ्रंश होने से क्या क्षति है ?

उत्तर—समाधि प्रतिलम्भ यहां ध्येयसाक्षात्कार विवक्षित है तात्पर्य यह है कि साक्षात्कार पर्यन्त ही चित्तका भूम्यवस्थान है अकृत साक्षात्कार योगारूढ़ का भी भ्रंश अनवस्थितत्व ही होता है।

'आरूढयोगोऽपि निपात्यतेऽधः सङ्गेन योगी किमुताल्पसिद्धिः।'

इत्यादि स्मृति इसमें प्रमाण है अतः ये नव योगमल योगप्रतिपक्ष जो अन्तराय भी कहाते हैं।

विषयान्तरव्यापृततया योगसाधनेष्वौदासीन्यमिति यावत्, आलस्यं सत्यामप्यौदासीन्यप्रच्युतौ कफादिना तमसा च कायचित्तयोर्गुरुत्वव्याधित्वेनाप्रसिद्धमपि योगविषये प्रवृत्तिविरोधि, अविरतिश्चित्तस्य विषयविशेषे एकान्तिकोऽभिलाषः, भ्रान्तिदर्शनं योगसाधनेऽपि तत्साधनत्वबुद्धिस्तथा तत्साधनेऽप्यसाधनत्वबुद्धिः, अलब्धभूमिकत्वं समाधिभूमेरैकाग्रतायाश्च अलाभः क्षिप्तमूढविक्षिप्तरूपत्वमिति यावत्, अनवस्थितत्वं लब्धायामपि समाधिभूमौ प्रयत्नशैथिल्याच्चित्तस्य तत्राप्रतिष्ठितत्वम्, त एते चित्तविक्षेपा नवयोगमला योगप्रतिपक्षायोगान्तराया इति चाभिधीयन्ते ॥ दुःखदौर्मनस्याङ्गमेजयत्वश्वासप्रश्वासविक्षेपसहभुवः ॥

विषयान्तर में व्यापार करने से योगसाधन में उदासीनता ही है, आलस्य उदासीनताबुद्धि के न रहने पर भी कफादि तथा तमोगुण से शरीर चित्त में भारीपना, यद्यपि यह व्याधित्वेन लोकप्रसिद्ध नहीं है तथापि योगप्रवृत्ति विरोधी होने से योगविषय में व्याधि है। अविरति एकविषय में चित्तका अत्यान्तिक अभिलाप है अर्थात् जिस किसी एकविषय में चित्तका सदा अभिलाष रहेगा उसकी उससे निवृत्ति कठिन रहेगी। भ्रान्तिदर्शन योग के अकारण में योगकारणत्व बुद्धि है तथा तत्कारण में अकारणत्व बुद्धि है। अलब्धभूमिकत्व समाधिभूमि और एकाग्रता का लाभाभाव क्षिप्तमूढ़ विक्षिप्तरूपता यह फलितार्थ है। अनवस्थितत्वभूमि के लब्ध होनेपर भी प्रयत्न की शिथिलता से चित्त की उसमें अस्थिरता ये सब योगमल हैं योगविरोधी योग के अन्तराय विघ्नभूत चित्तविक्षेप कहे जाते हैं। (१) 'दुःखदौर्मनस्याङ्गमेजयत्वश्वासप्रश्वासविक्षेपसहभुवः'। चित्त का बांधना

(१) दुःखदौर्मनस्यांगमेजयत्वश्वासप्रश्वासविक्षेपसहभुवः ॥३१॥

ये केवल नव अन्तराय ही नहीं किन्तु दुःखादि भी इन के साथ होते हैं दुःखेत्यादि से यही कहते हैं। प्रतिकूलवेदनीय दुःख है, आध्यात्मिक शरीररोगों से होते हैं, कामक्रोधादिवश मानस आधिभौतिक व्याघ्रादि हिंसकजन्तुनिमित्तक ग्रहपीड़ादि जनित है यह दुःख प्रतिकूल वेदनीय होने से प्राणिमात्र को हेय है। यद्यपि दुःखमात्र मानस है तथापि मनोविकारजन्यत्वाजन्यत्व से त्रिधा विभक्त है—इच्छा के विघात से मन में क्षोभ चञ्चलता अंगमें जयत्व शरीर कम्प पुरुष के विना स्वयं प्राण जो बाह्यवायु को पीता है अर्थात् भीतर प्रवेश करता है वह श्वासनामक विकार समाध्यङ्ग रेचक का विरोधी है पेट के भीतर के वायुको जो निकालता है वाहर करता है पुरुष की इच्छा के विना भी वह प्रश्वास समाध्यङ्ग पूरक का विरोधी है ॥३१॥

दुःखं चित्तस्य रजसः परिणामो बाधनालक्षणः तच्चाध्यात्मिकं शारीरं च व्याधिवशात्कामादिवशाच्च भवति, आधिभौतिकं व्याघ्रादिजनितम् अधिदैविकं ग्रहपिडादिजनितं द्वेषाख्यविपर्ययहेतुत्वात्समाधिविरोधि, दौर्मनस्यमिच्छाविघातादिबलवद्दुःखानुभवजनितश्चित्तस्य तामसः परिणामविशेषः क्षोभापरपर्यायस्तब्धीभावः स तु कषायत्वाल्लयवत्समाधिविरोधी, अङ्गमेजयत्वमङ्गकम्पनमासनस्थैर्यविरोधि, प्राणेन बाह्यस्य वायोरन्तःप्रवेशनं श्वासः समाध्यङ्गरेचकविरोधी, प्राणेन कोष्ठयस्य वायोर्बहिर्निःसारणं प्रश्वासः, समाध्यङ्गपूरकविरोधी समाहितचित्तस्यैते न भवन्ति विक्षिप्तचित्तस्यैव भवन्तीति विक्षेपसहभुवोऽन्तराया एव एतेऽभ्यासवैराग्याभ्यां निरोद्धव्याः। ईश्वरप्रणिधानेन च तीव्रसंवेगानामासन्ने समाधिलाभे प्रस्तुते (१) ईश्वरप्रणिधाना-

लक्षण रजोगुण परिणाम दुःख है, वह आध्यात्मिक शारीरिक और मानसिक तीन प्रकार का है व्याधिवश तथा कामादिवश होता है। व्याघ्रादिजनित दुःख आधिभौतिक है, ग्रहपीड़ादिजनित दुःख आधिदैविक है। द्वेषनामक विपर्यय हेतु होने से समाधिविरोधी हैं। दौर्मनस्य इच्छा का विघातादि जो चाहे सो न हो अतिदुःखानुभव से समुत्पन्न चित्त का तामस परिणामविशेष क्षोभापरनामक स्तब्धीभाव है, वह तो कषाय होने से लय के सदृश समाधिविरोधी है अङ्ग में जयत्व शरीर कम्पन है यह आसन की स्थिरता में विरोधी है। प्राण से बाह्य वायु का आभ्यन्तर प्रवेशन श्वास है यह समाधिहेतु रेचक विरोधी है प्राण से कुक्षिस्थवायु का बाहर निकालना प्रश्वास है यह समाधिकारण पूरक विरोधी है। समाहितचित्त को ये नहीं होते किन्तु विक्षिप्तचित्त को ही हैं इस कारण विक्षेप के साथ जायमान विघ्न कहाते हैं। ये अभ्यास वैराग्यों से निरोद्धव्य हैं। ईश्वरोपासना से तीव्रसंवेगवालों के समीप समाधि लाभ के प्रस्ताव में 'ईश्वरप्रणिधानाद्वा' यह पक्षान्तर कहकर प्रणिधेय ईश्वर का क्लेश-

(१) ईश्वरप्रणिधानाद्वा।

तीव्रसंवेग को समाधि लाभ आसन्नतम है इसके प्रस्ताव में 'ईश्वरप्रणिधानाद्वा' इस सूत्रसे पक्षान्तर सूचित किया है। प्रणिधान यहाँ भक्तिविशेष इष्ट है भक्ति मानसिक वाचिक अथवा कायिक कोई भी हो उससे अभिमुखीकृत ईश्वर उस भक्त का अनुग्राहक होते हैं प्रेमलक्षण भक्तिरूप वक्ष्यमाण प्रणिधान से चिन्तन करने का अभिध्यानमात्र से अर्थात् इसको

द्वेति पक्षान्तरमुक्त्वा प्रणिधेयमीश्वरं—(१) क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः। तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्, स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदादिति त्रिभिः सूत्रैः प्रतिपाद्य तत्प्रणिधानं द्वाभ्यामसूत्रयत्।

कर्मादि तीन सूत्रों से प्रतिपादन कर उनकी उपासना का दो सूत्र लिखे—

समाधि मोक्षलाभ आसन्नतम हो ईदृश इच्छामात्र से रोगाशक्त्यादि वश उपानुष्ठान मन्द होने पर भी वे अनुग्रह करते हैं ॥३१॥

चेतनाचेतन से ही संसार निष्पन्न है दूसरे से नहीं, यदि ईश्वर अचेतन है तो प्रधान ही है प्रधान के विकारों का प्रधान में ही अन्तर्भाव है ऐसी स्थिति में ईश्वर का अभिमुखीकरण नहीं होसकता क्योंकि वह अचेतन है; यदि वह चेतन है तो भी चितिशक्ति उदासीन तथा असंसारी होनेसे अस्मितादिरहित है अतः आवर्जन कैसे और कैसे उक्ताभिध्यान ही हो सकता है इस अभिप्राय से कहते हैं—अथेति। इसमें सूत्र से उत्तर कहते है।

(१) क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः ॥२४॥

अविद्यादि क्लेश हैं, क्योंकि वे ही संसारीपुरुष को क्लेश देते है विविधदुःखों की मारसे कुशलाकुशल, धर्माधर्म कर्मजन्य हैं कारण उपचार वृत्ति से कर्म है विपाक जात्यायुर्भोग विपाकानुरूपवासना चित्तभूमि में रहती है इससे आशय कही जाती है। उष्ट्रजातिसमुत्पादक कर्म पूर्वजन्म की उष्ट्रभोगजन्यवासना को जबतक अभिव्यक्त न करेगी तबतक उष्ट्रानुकूल भोग नहीं हो सकता अतः उष्ट्रजात्यनुभवजन्यवासना उष्ट्रविपाकानुगुण होती है।

प्रश्न—ये क्लेशादि बुद्धिधर्म है पुरुषधर्म नहीं अतः कोईभी पुरुष इनसे संम्बद्ध नहीं है अतः पुरुषपद से हीं तदपरामर्श सिद्ध है पुनः क्लेशकर्मेत्यादिप्रवेश व्यर्थ है ?

उत्तर—ते चेत्यादि। वे मनमें रहते हुए सांसारिक पुरुष में भी व्यवहृत होते हैं क्योंकि वही तत्फल भोक्ता चेतन है अतः पुरुषत्व से ईश्वर में भी क्लेशादि संबन्ध की प्रसक्ति है इस लिए उसका प्रतिषेध युक्त ही है यही कहते हैं—यो ह्यनेनेति। बुद्धिमें स्थित पुरुषमात्रसाधारण भोग से अपरामृष्ट असंबद्ध वही पुरुषविशेष ईश्वर है पुरुषान्तर से व्यवच्छिन्नविशेष के व्यावर्त्य को दिखलाने की कामना से शंकापूर्वक परिहार करते हैं—कैवल्यमित्यादि। प्रकृतिलयोंका प्राकृतबन्ध है विदेहों का वैकारिकबन्ध है, दिव्यादिव्य भोगभागियों का दक्षिणादिबन्ध है इन्ही तीन बन्धनों का छेदन कर मोक्षप्राप्त हुए हैं। प्रकृतिभावनासंस्कृतमनों का देहनियोगान्तर ही प्रकृतिमें लीन हुए हैं अतः इनमें पूर्वबन्धकोटि स्फुट है उसके विधान का संभव नहीं अतः उत्तर कोटिमात्र का विधान है अर्थात् ये पूर्वमें तो बद्ध थे ही उत्तर में अवधिसमाप्त होने पर फिर बद्ध होंगे त्रैकालिकबन्धनिषेध इनमें नहीं है ईश्वर में पूर्वापरोभयकोटि का निषेध है ईश्वरमें न बन्धन था न है न होगा किन्तु सदा मुक्त है और सदा ईश्वर है ज्ञानक्रियाशक्ति संपत ऐश्वर्य है

ज्ञानके विषय में पूछते हैं—योऽसाविति। ज्ञान क्रिया इन दोनोंका अपरिणामिचितिशक्ति में संभव नहीं अतः रजस्तम से रहित विशुद्धचित्तसत्त्व में ही रहते हैं यही कहना होगा। सदामुक्त ईश्वर का अविद्याजन्यचित्तसत्त्वसमुत्कर्ष के साथ स्वस्वामिभाव नहीं किन्तु दुःखत्रयाभिभूत प्रेत्यभावमहार्णवनिमग्न प्राणियों का उद्धार करेंगे, ज्ञान धर्मोपदेशद्वारा ज्ञानक्रिया का सामर्थ्यातिशय संपत्ति के विना ज्ञान धर्मोपदेश नही हो सकता। निवृत्तरजस्तमोमल विशुद्धसत्त्वोपादन के विना उक्तसंपत्ति नहीं हो सकती यह विचार कर अविद्या अपरामृष्ट भगवान् सत्त्वप्रकर्षका ग्रहण करते हैं अविद्याभिमानी अविद्या के तत्त्वको न जानकर होता है अविद्यात्वसे अविद्या का जानकार अविद्याभिमानी नहीं होता। नाटकादिमें नर श्रीरामादिरूप धारण कर भगवानकी उन उन चेष्टाओंको दिखाता हुआ भ्रान्त नहीं होता किन्तु वह जानता है कि मैं श्रीराम नहीं हूँ अतएव यह इसका आहार्य बाधकालिक इच्छाजन्यस्वरूप है तात्त्विक नहीं।

उद्धार की इच्छा से भगवान् सत्त्वका ग्रहण करेंगे और सत्त्वके उपादान से उद्धार की इच्छा होगी क्योंकि यह भी तो प्राकृत ही है तब तो स्पष्ट अन्योन्याश्रय दोष है अतः शाश्वतिक कहा, हाँ यह दोष होता यदि यह सर्ग पहिला होता अनादिसर्ग प्रलयप्रवाह में सृष्ट्यन्तर में समुत्पन्न जो भगवान् की संहारेच्छा रहने समय तक प्रलय रहेगा अनन्तर फिर सृष्टि होगी इसके अनुसार अवधि के पूर्ण होने पर मैं फिर सत्त्व प्रकर्ष का ग्रहण करूंगा इसका अवधान कर भगवान् सर्ग का संहार किया। उस समय उक्त संकल्पवासनावासित ईश्वर चित्तसत्त्वप्रधानसदृश हो कर भी प्रलयावधि के पूर्ण होने पर उक्त संकल्पवासनावश उसी प्रकार ईश्वर चित्तसत्त्वभाव से परिणत होता है, लोकमें जैसे चैत्रादि बड़े सवेरे उठता है यह संकल्प कर सूत गया वैसा ही उक्त संकल्पवासना से उठता है अतः ईश्वरप्रणिधान सत्त्वप्रकर्षोपादान इन दोनों को शाश्वतिक अनादि होने से अन्योन्याश्रय दोष नहीं।

ईश्वरका चित्तसत्त्व प्रलय में भी प्रकृति के सरूप नही यह कहना ठीक नही, कारण जो कभी भी प्रधानस्वरूप नही होता वह प्रधानविकार ही नही कहा जा सकता और चितिशक्ति उसको कह नही सकते क्योंकि वह अज्ञ है इन दोनों से अतिरिक्तप्रमाणाभाव से कोई पदार्थ ही नही है इस मत में प्रकृति पुरुष से अतिरिक्त पदार्थ नहीं विश्व का इन्ही में अन्तर्भाव है ईदृश ईश्वर का शाश्वतिक उत्कर्ष है।

प्रश्न- अच्छा तो यह ईश्वर का शाश्वतिक उत्कर्ष सप्रमाण है अथवा निष्प्रमाण ?

उत्तर—तस्येति। श्रुति स्मृति इतिहास पुराण शास्त्र हैं ये ही उत्कर्ष में प्रमाण हैं।

प्रश्न—शास्त्र में क्या निमित्त है ईश्वर के सत्त्वप्रकर्ष का किसी को प्रत्यक्ष या अनुमान है नही ? शास्त्र ईश्वरप्रत्यक्ष से उत्पन्न है इसमें प्रमाण नहीं अपने ऐश्वर्य के प्रकाशनार्थं कल्पनाकरके भी कह सकते हैं लोक में ऐसा व्यवहार देखा जाता है ?

उत्तर—प्रकृष्टसत्त्वेति । भाव यह है ईश्वरप्रणीत मन्त्रायुर्वेदादि में संवादिप्रवृत्ति देखने से अर्थात् व्यभिचार निश्चय से प्रामाण्य सिद्ध होता है औषध विशेषों का तत्संयोग विशेष मन्त्रों का तत्तद्वर्णों के घटाने वढाने से लौकिक प्रमाणव्यवहारी हजारजन्म से भी अन्वयव्यतिरेक जो कारणत्वग्राहक है उसको नहीं जान सकता आगम से अन्वयव्यतिरेक-ग्रहण से अन्योन्याभावदोष स्पष्ट है । आगम से अन्वयव्यतिरेक और उनसे आगम अनादि मानकर इस दोषका परिहार नहीं हो सकता, प्रलय में महाप्रलय में दोनों के सन्तानों का विच्छेद हो जाता है । महाप्रलय में क्या प्रमाण है प्रधान का विकारजगत् 'प्रधान मे अभिन्न है, यह आगे कहेंगे । सदृशपरिणामियों का असदृशपरिणाम भी इष्ट है तस्मात् प्रधान किसी समय महदहंकारादिरूप विसदृशरूप से परिणत होता है और किसी काल में सदृशरूप से परिणाम होता है, जिस कालमें सदृशपरिणाम होता है वही सदृशपरिणाम प्रलय है । अतः मन्त्रायुर्वेदादिशास्त्रों की रचना से भगवान का रजस्तमोमलरहित निरावरण सर्वतः प्रकाशशील अतएव विश्वविषयकज्ञान माना जाता है इसीमें अभ्युदयनिःश्रेयसफलको-पदेशप्रधानवेदराशि ईश्वरविरचित तद्बुद्धिप्रकर्ष ही से हो सकते हैं अन्यथा नहीं सत्त्वोत्कर्ष होनेपर रजस्तमनिमित्तक भ्रमविप्रलम्भोंका सम्भव नहीं अतः यह सिद्ध हुआ कि शास्त्र प्रकृष्टसत्त्वनिमित्तक है विशेष वैशारदी आदिमें देखिये ॥२४॥

तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम् ॥ २५ ॥ (यह ७३८ के मूलमें देखिये)

उक्त प्रकारसे ईश्वरके ज्ञान क्रियाशक्तिमें शास्त्रप्रमाण कह कर ज्ञानशक्तिमें अनुमान प्रमाण है यह कहते हैं—किञ्चेति । बुद्धिसत्त्वावरकतमोग्रहणके अपचयके तारतम्यसे जो अतीत अनागत भावी प्रत्युत्पन्न वर्त्तमान एकैक का अथवा समुदायका तथा अतीन्द्रियोंका अल्प अधिक जो ज्ञान वह सर्वज्ञ वीज है कारण है । कोई पुरुष अतीतादि कुछ ही पदार्थ जानता है सब नहीं, कोई बहुत अतीतादिकों का ग्रहण करता कोई उससे भी बहुतर जानता है उससे अधिकतम जानता है । ग्राह्यविषय की अपेक्षासे ग्रहण ज्ञानमें अल्पत्व बहुत्व यहाँ इष्ट है अल्पविषयकज्ञानमें अल्पत्व बहुविषयकज्ञानमें बहुत्व कहा है यह उत्कर्ष वढता हुआ जहां समाप्त हो जाता है उसके आगे फिर किसी में अतिशय नहीं निरतिशय अतिशय जिसके ज्ञानमें है वही सर्वज्ञ है । इससे प्रमेय प्रमा का निरवधि उत्कर्ष कहा गया है इसको प्रमाणित करते हैं—अस्तीत्यादिसे । निरतिशयत्व-काष्ठा है जिससे परे अतिशयवान् दूसरा नहीं इससे अवधि लेकर सिद्ध साधन नहीं, सातिशयत्व हेतु है जो जो सातिशय है वह सब निरतिशय है जैसे आमलक बिल्वादि में सातिशयमहत्व आत्मामें निरतिशय है परिणामवत्से यह व्याप्ति दिखलाते हैं—'ईश्वर-ज्ञानं निरतिशयं सातिशयत्वात् परिमाणवत्' यह अनुमान का आकार है इस व्याप्ति से व्यभिचार की आशङ्का करते हैं—न च गरिमेति ।

अवयवगत गुरुत्व की अपेक्षा से अवयविगत गुरुत्व अतिशयी नहीं है किन्तु परमाणुसे लेकर अन्त्यावयविपर्यन्त के जितने अवयव हैं उनमें प्रत्येक के गुरुत्वको इकट्ठाकर अवयवगुरुत्वसे अवयविगुरुत्व बड़ा है यह अभिमानमात्र है। भाव यह है कि गुरुत्व गुण है, वह जन्य होनेसे स्वसमवायी कारणमात्र में ही रहता है एकही गुरुत्व यदि अनेकमें होता तो कहीं अपकृष्ट कहीं उत्कृष्ट होने से सातिशयी कहाता किन्तु जिनके अवयव थोड़े हैं उनमें गुरुत्व कम है जिनके अवयव अधिक हैं उनमें गुरुत्व अधिक है यह कहा जाता है, वस्तुतः उन दोनों अवयवियों का गुरुत्व एक न हो किन्तु प्रतिव्यक्ति विश्रान्त भिन्न भिन्न है अतः एकही गुरुत्व कहीं छोटा होता और वही अन्यत्र बड़ा होता तो सातिशयी कह सकते किन्तु ऐसा है नहीं। वस्तुतस्तु अवयवगुरुत्वसे अतिरिक्त अवयविगुरुत्व हुआ नहीं है अन्य १ सेर सूतसे बने कपड़े में कमसे कम दो सेर का वजन होना चाहिये, एक तोला सोने से बनी अंगूठी दो तोले की होनी चाहिये इससे स्पष्ट है कि अवयवी मे गुरुत्व है ही नहीं फिर सातिशयत्व की शङ्का कैसे हो सकती है इसीसे वेदान्तादिमतमें अवयवात्मक अवयवी है अज्ञानमें यह बात नहीं एकही ज्ञान अल्पविषयक बहुविषयक हो सकता है यह प्रतिज्ञेय विश्रान्त नहीं है।

प्रश्न—बुद्ध आर्हत कपिल प्रभृति अनेकशास्त्रकार हैं वे ही सर्वज्ञ क्यों न माने जाय?

उत्तर—बुद्धादिप्रणीत आगम आभास है आगम नहीं सब प्रमाणों से बाधित क्षणिक नैरात्मादिमार्गके उपदेशक होनेसे विप्रलम्भक (वंचक) है। श्रुतिस्मृति प्रमाणादिरूप आगमसे ही 'आगच्छन्ति बुद्धिविषयीभवन्ति अभ्युदयनिश्रेयसं पाया यस्मात्' इस व्युत्पत्तिसे आगम है इससे संज्ञा ईश्वरादिविशेष का निश्चय होता है ईश्वरादि संज्ञाविशेष श्रुत्यादिमें प्रसिद्ध हैं। वायुपुराण में—

'सर्वज्ञता तृप्तिरनादिबोधः स्वतन्त्रता नित्यमलुप्तशक्तिः।
अनन्तशक्तिश्च विभोर्विधिज्ञाः षडाहुरङ्गानि महेश्वरस्य॥'

तथा—'ज्ञानवैराग्यमैश्वर्यं तपः सत्यं क्षमा धृतिः।
स्रष्टृत्वमात्मसंबोधो ह्यधिष्ठातृत्वमेव च॥
अव्ययानि दशैतानि नित्यं तिष्ठन्ति शंकरे।'

वा० पु० १०। ६ इति। विशेष आकर ग्रन्थों में देखिये॥२५॥

स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्॥२६॥ (यह ७३८ के मूलमें देखिये)

भगवान् में ब्रह्मादि से विशेषण कहते हैं वही यह पूर्व हिरण्यगर्भादि के भी गुरु हैं एवं गुरुकाल से अवछिन्न हैं किसी कालमें हैं किसी में नहीं जहां अवच्छेदभाव से काल नहीं है अर्थात् कालत्रयवर्ती है वही पुरानों का भी गुरु है, जैसे सर्गादि में आगम से ईश्वर

तस्य वाचकः प्रणवः' (१) 'तज्जपस्तदर्थभावनम्' इति। ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽ-

तस्य वाचकः प्रणवः, तज्जपः तदर्थभावनम् इति। 'ततः प्रत्यक् चेतनाधिगमोऽप्यन्त-

सिद्धि होती है वैसे ही बीते हुये सर्गान्तरों में भी समझना। आगम—'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै' इत्यादि श्रुति है।

प्रश्न—तो प्रकृति स्वतन्त्र कैसे ?

उत्तर—**निमित्तप्रयोजकमित्यादि**। अग्रिम सूत्रसे निमित्त कारण ईश्वरसे प्रकृतिके स्वातन्त्र्यका विघात नहीं यह स्फुट करेंगे ईश्वर सब जीवोंके पिता हैं इसके अनुसार अग्नि विस्फुलिङ्ग दृष्टान्तसे भी जीव ब्रह्मका अंशांशिभाव और दोनोंका अभेद भी समझना। स्मृति भी ऐसा कहती है—

'यथा दीपसहस्राणि दीप एकः प्रसूयते।
तथा जीवसहस्राणि स वै एकः प्रसूयते।'
सलीले करकास्मेव दीपोऽप्राविव तन्मयः।
जीवो मौढ्यात्पृथग् बुद्धो युक्तो ब्रह्मणि लीयते॥'

इत्यादि आकरों में स्पष्ट है॥ २६॥

(१) तस्य वाचकः प्रणवः॥ २७॥

पूर्वोक्त प्रबन्ध से भगवान् को दिखलाया, अब उनके ध्यान करने के लिये उनके वाचक-शब्द को कहते हैं—**तस्येति से**। तथा च **स्मृतिः**—

'अदृष्टविग्रहो देवो भावग्राह्यो मनोमयः।
तस्योंकारः स्मृतो नाम तेनाहूतः प्रसीदति॥'

इति योगियाज्ञवल्क्यः। अदृष्टविग्रहः अक्षुराशरीरः देवः परमात्मा भावग्राह्यो मनोमयः मनस्तुल्यकारणोपाधिशबलोऽयःशकलाग्निवत् इत्यादिरर्थः। ईश्वर का वाचक प्रणव है विचारद्वारा परमतका उपन्यास करते हैं—**किमस्येति**। वाचकत्वं प्रतिपादकत्वम्. दूसरों का कहना है कि यदि शब्दार्थों का स्वाभाविक संबन्ध संकेत इस शब्द से इस अर्थ को समझना इससे अभिव्यक्त होगा तो जहां सम्बन्ध नहीं है वहां सैकड़ों संकेतों से अभिव्यक्त न होगा। प्रदीपव्यङ्ग्य घट जहां नहीं है वहां हजारों प्रदीपों से तदभिव्यक्ति शक्य नहीं यदि उन दोनों का संबन्ध कृत्रिम है कृतसंकेत करभशब्द हाथी में प्रतिपादकत्वेन दृष्ट है अर्थात् तत्प्रतिपादक देखा गया है तो संकेत ही वाचकत्व है ऐसा विचारकर इष्टका अवधारण करते हैं—**स्थितोऽस्येति**। भाव यह है कि सब शब्द सब अर्थोंके कहनेमें समर्थ है इस परिस्थितिमें सब शब्दोंका सब अर्थोंके साथ नित्यसम्बन्ध ही है ईश्वर संकेतप्रकाशक तथा नियामक है यदि सब शब्दोंमें वाचकत्वसमान है तो वाचत्वका पक्षविभाग कैसे क्योंकि अवाचकही अपभ्रंश कहे जाते हैं ?

उत्तर—जिसमें ईश्वर संकेत है वहुवाचक है जिसमें उक्त संकेत नहीं वह अपभ्रंश है अतः ईश्वरसंकेतासंकेतकृतही से उक्त विभाग समझना इसमें दृष्टान्त कहते हैं-यथेतिसे। जैसे पिता पुत्र का सम्बन्ध स्थितही यह इसके पिता है यह इसका पुत्र है इस संकेतसे अभिव्यक्त होता है तद्वत् ।

प्रश्न—शब्द भी तो प्रधानका विकारही है महाप्रलय में प्रधानमें जब शब्द लीन हो जायगा तो उसकी शक्ति भी लीन ही हो जायगी फिर महदादिक्रमसे उत्पन्न अवाचकशब्द की वाचकशक्ति की महेश्वर संकेतसे अभिव्यक्ति नहीं हो सकती क्योंकि अभिव्यक्ति वर्तमान की होती है विनष्ट की नहीं ?

उत्तर—**सर्गान्तरेत्यादि** । यद्यपि शक्तिके साथ शब्द प्रधानमें लीन हुआ है तथापि सर्गादिमें जब शब्द आविर्भूत होता है तो अपनी स्वाभाविक वाचकत्वशक्तिके साथ ही आविर्भूत होता है न्यायादिमत के समान महाप्रलयमें पदार्थोंका अत्यन्त विनाश नहीं होता किन्तु स्वकारणमें सूक्ष्मरूपसे अवस्थान रहता है उसीको लय कहते हैं यह 'नासतो विद्यते भावः' इसकी व्याख्यामें स्फुट होगा इसमें दृष्टान्त है—वर्षा वीतने पर मण्डूककी शरीर सूखकर मिट्टी हो जाती वर्षा होने पर फिर ज्योंकि त्यों मण्डूकशरीर वन जाती है तद्वत्, अतः पूर्वसर्गसंकेतके अनुसारही उत्तरसर्गमें भी भगवान शब्दार्थोंका संकेत करते हैं अतः सदृशव्यवहारपरम्परासे नियत होनेसे शब्दार्थ सम्बन्ध नित्य है कूटस्थ नित्य नहीं यह आगमिकोंका मत है ।

प्रश्न—शक्ति नित्य हो परन्तु देवदत्तादि के समान किसी समय व्यक्तिभेद होने पर शब्द का दूसरा भी अर्थ हो सकता है जैसे देवदत्त का संकेत कल्पर में भी होता है वह भी उस शब्द का अर्थ ही है ऐसे ही प्रणव का सर्गान्तर में भी शक्ति हो सकती है फिर प्रणवार्थ सदा यही है यह संप्रतिपत्ति कैसे हो सकती है ?

उत्तर—**सर्गान्तरेति** । यह संकेत लौकिक नहीं है जो पुरुषभेद से भिन्न हो किन्तु यह वैदिक है यहां का संकेत करनेवाला पुरुष सर्वज्ञ है अतः सर्गान्तरसिद्धशक्ति का स्मरण कर वर्तमान सर्ग में उसी अर्थ में उस शक्ति को उस पद में अभिव्यक्त करता है अतः वैदिकसब्दार्थमें अनाश्वास का संभव नहीं ॥२७॥

वाचक को कहकर प्रणिधान कहते हैं—**तज्जपस्तदर्थभावनम्** ॥ २८ ॥
प्रणव का जप प्रणववाच्य ईश्वर की भावना फिर फिर चित्त में सन्निवेष ।

प्रश्न—इसे क्या होता है ?

उत्तर—केवल भगवान् में ही चित्त रमता है इसी अर्थ में व्यासजी की गाथा का उदाहरण देते हैं—

'स्वाध्याद्योगमासीत योगात् स्वाध्यायमामनेत् ।

स्वाध्याययोगसंपत्या परमात्मा प्रकाशते ॥' इति ।

सारांश यह है—वाच्यवाचकभाव सवन्ध जानकर प्रणव जप के साथ ब्रह्म का ध्यान करे स्मृति भी ऐसा ही कहती है—'प्रणवेन परं ब्रह्म ध्यायीत नियतो यतिः' इति । यद्यपि प्रणवार्थ श्रुत्यादि में वहुविध कहा है परन्तु संक्षेप से गरुडपुराणोक्त अर्थ यहाँ लिखते हैं—'व्यक्ताव्यक्ते च पुरुषस्तिस्रो मात्राः प्रकीर्तिताः । अर्द्धमात्रा परं ब्रह्म ज्ञेयमध्यात्मचिन्तकैः ॥' इति । प्रणवार्थ चित्त दो प्रकार का है—प्रथम अंश अंशिकार्य कारणशक्ति शक्तिमान् इन सबका अभेद से एकीभाव कर—'अहं ब्रह्म सर्वं खलु ब्रह्म तमेतमात्मानमेति ब्रह्मणा एकीकृत्य ब्रह्म चात्मानमित्येकीकृत्य' इत्यादि श्रुति है 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत' यह भी श्रुति है—

'एकं समस्तं यदि हास्ति किंचित्तदच्युतो नास्ति परं ततोऽन्यत् ।

सोऽहं स च त्वं स च सर्वमेतदात्मस्वरूपं त्यज भेदमोहम् ॥' इति स्मृतिः ।

दूसरा प्रकृतितत्कार्य और पुरुषके विवेकसे जानकर केवल ब्रह्मचिन्मात्रमें आत्मचिन्तन करना, 'ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानं स्वस्ति वः पाराय तमसः परस्तात् तयैवैकं जानथ आत्मानम् आत्मेत्येवोपासीत' यह श्रुति है—

'प्रकृतिं पुरुषे स्थाप्य पुरुषं ब्रह्मणि न्यसेत् ।

अहं ब्रह्म परं ज्योतिः प्रसंख्याय विमुच्यते ॥

यः सर्वभूतचित्तज्ञो यश्च सर्वहृदि स्थितः ।

यश्च सर्वान्तरे ज्ञेयः सोऽहमस्मीति चिन्तयेत् ॥'

इत्यादि विशेष योगवार्त्तिकमें देखिये ॥ २८ ॥

ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च ॥ २९ ॥

और भी इसका फल है—तत इत्यादि । प्रतीपं प्रतिकूलमञ्चति जानाति इति प्रत्यक् स च चेतनश्च प्रत्यक्चेतन अविद्यावान् ईश्वर से भिन्न प्रत्यक्चेतन जीव यहाँ विवक्षित है यह सूचित हुआ। प्रत्यक् चेतन को अपने स्वरूप का यथार्थज्ञान होता है और विघ्नाभाव भी है ।

प्रश्न—ईश्वर ध्यान ईश्वर विषयक है वह प्रत्यक्चेतन का साक्षात्कार कैसे करेगा अन्यविषयक ध्यान यदि अन्यविषय का साक्षात्कारी हो तो कामिनी प्रणिधान से सनत्कुमार का भी साक्षात्कार हो जायगा ?

उत्तर—यथैवेत्यादि । जैसे ईश्वर पुरुष शुद्ध कूटस्थनित्य होने से उपजना पापरहित है प्रसन्न क्लेशरहित केवल धर्माधर्मशून्य अतएव अनुपसर्ग ज्ञात्या तुभोगवर्जित सादृश्य

प्यन्तरायाभावश्च। ततः प्रणवजपरूपात्तदर्थध्यानरूपाच्चेश्वरप्रणिधानात् प्रत्यक्चेतनस्य पुरुषस्य प्रकृतिविवेकेनाधिगमः साक्षात्कारो भवति उक्तानामन्तरायाभावोऽपि भवतीत्यर्थः। अभ्यासवैराग्याभ्यामन्तरायनिवृत्तौ कर्तव्याभ्यासदार्ढ्यार्थमाह—(१)'तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः'। तेषामन्तरायाणां प्रतिषेधार्थमेकस्मिन्कस्मिंश्चिदभिमते तत्त्वेऽभ्यासश्चेतसः पुनः पुनर्निवेशनं कार्यं

रायाभावश्च'। उस तदर्थ ध्यानरूप प्रणव जप से और ईश्वरप्रणिधान से प्रत्यक् चेतनका अर्थात् पुरुषका, प्रकृतिविवेक से अधिगम-प्रत्यक्ष होता है। उक्त अन्तराय के अभाव भी होता है। अब अभ्यास वैराग्यसे अन्तराय (विघ्न) के निवृत्ति हो जानेपर कर्त्तव्य अभ्यास दार्ढ्यार्थ कहते हैं—'तत् प्रतिषेधार्थम् एकतत्वाभ्यास' इति। उन अन्तरायों की निवृत्ति के लिए जिस किसी इष्ट एक विषय में अभ्यास चित्त का पुनः पुनः स्थापन करना तथा 'मैत्रीकरुणामुदितो-

किंचिद्भेदमें होता है इस लिये भेदकधर्म कहते हैं—बुद्धि का प्रतिसंवेदी बुद्धिप्रतिष्ठितार्थं को स्वात्मगत अभ्यास से मानता है ईश्वर नहीं। भेद यह है कि अत्यन्त विसदृश का ध्यान तद्भिन्न का साक्षात्कारी नहीं होता जैसे कामिनी का चिन्तन सनत्कुमार का साक्षात्कारी नहीं होता यह ठीक है परन्तु सदृश का चिन्तन सदृशान्तर का साक्षात्कारक होता है एक शास्त्रका अभ्यास तत्सदृशार्थशास्त्रान्तर ज्ञानका उपयोगी होता है यह सर्वानुभवसिद्ध है ॥२९॥

(१) तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः ॥ ३२ ॥

एक तत्त्व ईश्वर क्योंकि वही प्रकृत प्रस्तुत है विक्षेपों के प्रतिषेधार्थ एकतत्त्व चित्त का अभ्यास करे। वैनाशिकमत का निराकरणार्थ **परस्येत्यादि** का उपन्यास है जिसके मत में एक एक व्यक्ति में ही ज्ञान विश्रान्त है जब तक अर्थ का भान है तब तक अर्थ और ज्ञान दोनों है क्षणान्तर में दोनों नष्ट हो जाते हैं। ऐसा भी ज्ञान है कि प्रथम एक अर्थ का ग्रहण कर पीछे दूसरे अर्थ का ग्रहण करे क्योंकि ज्ञानादि क्षणिक है और क्षण भी व्यक्तिमात्र है उसमें कोई भेदक विशेषण न रहने से वह अभेद्य है अतः पूर्वपश्चाद्भाव भी न हो सकता हमारे मतमें अक्षणिक चित्त स्वविषय एक वा अनेक में प्रतिक्षण त्यागोपादान से अव्यवस्थित है अर्थात् प्रणिधान दशा में एक अर्थ का ही अनेक क्षणों तक ज्ञान अवगाहन करता है विक्षिप्त दशामें अर्थान्तरविषयक ही होता जाता है अतः विक्षेप परित्याग को हटाकर उसमें एकाग्रता का आधान कर सकते हैं इसलिये तदुपदेश तदर्थ प्रवृत्तियां अनर्थ नहीं।

प्रश्न— अच्छा तो एक क्षणिक विज्ञानमें एकाग्रताका आधान नहीं हो सकता यह ठीक है किन्तु अक्षणिक अनादि चित्तसन्तानमें विक्षेपको हटाकर एकाग्रताका आधान करेंगे ?

तथा 'मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावना-तश्चित्तप्रसादनम्' मैत्री सौहार्दं, करुणा कृपा, मुदिता हर्षः, उपेक्षा औदासीन्यं, सुखादिशब्दैस्तद्वन्तः प्रतिपाद्यन्ते। सर्वप्राणिषु सुखसंभोगसम्पन्नेषु साध्वेतन्मम

पेक्षाणाम्'। मैत्री सौहार्द सुहृद्भाव, करुणा दया, मुदिता आनन्द, उपेक्षा औदासीन्य, सुखादिशब्द से सुखादिमान पुरुषविशेष प्रतिपाद्य है। सम्पूर्ण प्राणियों में जो सुख सम्पन्न है उनमें मेरे मित्रों को बहुत अच्छा सुख है इस

उत्तर—इस दर्शनमें एकाग्रताप्रवाह चित्तका धर्म है अथवा संतानका प्रथमपक्ष ठीक नहीं क्रमसे उत्पन्न होनेवाले ज्ञानोंमें एकत्वग्राहिचित्त अनुगत नहीं दूसरे क्षणमें उत्पन्न जो ज्ञान होगा उस क्षणमें पूर्वचित्त अनुगत नहीं अन्यथा क्षणिकत्व ही भङ्ग हो जाय॥ क्योंकि आपके मतमें जो है सब क्षणिक ही है अक्षणिक है नहीं। अथ सांशत आविद्यिक प्रवाह का अंश प्रत्ययपरमार्थ सत है उस प्रत्ययमें प्रयत्नसाध्य एकाग्रताधर्म हो सकती है इसको दूषते हैं इत्यादि विस्तृत योगभाष्यादि में देखिये अग्रिमानुवाद प्रकृतमें उपयोगी नही है इस कारण छोड़ दिया।

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्र-सादनम् ॥ ३३ ॥ (यह सूत्र ७४५ में देखिये)

परिकर्म मलवर्जन क्रिया शरीर शोभाधायकसंस्कार प्रकृतमें मनके मल असूयादि है तन्निवर्तक कर्म मैत्रीकरुणादि परिकर्म है इस तात्पर्य से 'अपरिकर्मितमनसः असूयादिमन्मतः' यह मिश्रजीने लिखा है। असूयादिमच्चित्त में समाधि तदुपसंपत्ति नही होती अतः असूयादिविरोधि चित्तप्रसादनोपाय कहते हैं—सुखितोंसे मैत्री सौहार्दभावना करनेवाले चित्त में ईर्षाकालुष्यादि दोष नहीं होता। मित्रके सुखमें किसीको असूया नहीं होती यदि हो तो वह वस्तुतः मित्रही नहीं दुःखितोंमें जैसे अपने दुःखी होनेपर करुणा होती है वैसाही उनमे दुःखनिवृत्तीच्छारूप करुणा की भावनासे परोपकारचिकीर्षारूप कालुष्य निवृत्ति होती है। पुण्यशील प्राणियों मे मुदिता हर्ष खुशीकी भावना करनेसे असूया कालुष्य चित्तसे निवृत्त होता है। अपुण्यशीलों में उपेक्षाकी भावना से अमर्ष कालुष्य की निवृत्ति होती है तदनन्तर राजस तामस धर्म निवृत्त होनेपर सात्त्विक शुक्लधर्म उत्पन्न होता है ततः चित्तसत्त्वप्रकर्षसम्पन्न होता है। वृत्तिनिरोधपक्षमें प्रसादस्वभावसे चित्त प्रसन्न होता है प्रसन्नचित्त वक्ष्यमाण उपायों से स्थैर्यका लाभ करता है मैत्र्यादिभावना न रहने पर उक्त उपायो से चित्त एकाग्र नही होता विशेष आकर ग्रन्थमें देखिये।

मित्राणां सुखित्वमिति मैत्रीं भावयेत् न त्वीर्ष्यां दुखितेषु कथं नु नामैषां दुःखनिवृत्तिः स्यादिति कृपामेव भावयेत् नोपेक्षां न वा हर्षम्। पुण्यवत्सु पुण्यानुमोदनेन हर्षं कुर्यान्नतु द्वेषं न चोपेक्षाम्, अपुण्यवत्सु चौदासिन्यमेव भावयेन्नानुमोदनं न वा द्वेषम्, एवमस्य भावयतः शुक्लो धर्म उपजायते ततश्च विगतरागद्वेषादिमलं चित्तं प्रसन्नं सदेकाग्रतायोग्यं भवति। मैत्र्यादिचतुष्टयं चोपलक्षणम्—'अभयं सत्त्वसंशुद्धिः' इत्यादीनाम् 'अनित्वमदम्भित्वम्' इत्यादीनां च धर्माणां सर्वेषामेतेषां शुभवासनारूपत्वेन मलिनवासनारूपत्वेन मलिनवासना-निवर्तकत्वात्, रागद्वेषौ महाशत्रू सर्वपुरुषार्थप्रतिबन्धकौ महता प्रयत्नेन परिहर्तव्याविर्त्येतत्सूत्रार्थः। एवमन्येऽपि प्राणायामादय उपायाश्चितप्रसादनाय दर्शिताः, तदेतच्चित्तप्रसादनं भगवदनुग्रहेण यस्य जातं तं प्रत्येवैतद्वचनं सुखेनेति अन्यथा मनःप्रशमानुपपत्तेः॥ २८॥

प्रकार मैत्री की भावना करे, ये क्यों सुखी है इस प्रकार ईर्ष्या न करे। दुःखी प्राणियों में उनकी दुःखनिवृत्ति कैसे होगी इस प्रकार दया की भावना करना तथा उपेक्षा न करना और न हर्ष करना। पुण्यवान् प्राणियों में पुण्य के अनुमोदन से हर्ष करना, द्वेष या उपेक्षा न करना, अपुण्यवान् प्राणियों में औदासिन्यभावना करना अनुमोदन और द्वेष की नहीं; इसप्रकार भावनाशील पुरुष का शुद्धधर्म बढ़ता है उससे रागद्वेषादि मल से विमुक्त चित्त प्रसन्न होता हुआ एकाग्रता के योग्य होता है। मैत्रादि चारों उपलक्षण हैं 'अभयं सत्त्वसंशुद्धि' इत्यादि का, तथा 'अमानित्त्वमदम्भित्त्वम्' इत्यादि सब धर्मों का। ये सब शुभवासनारूप होने से मलिनवासना के निवर्त्तक हैं राग और द्वेष बड़े शत्रु हैं सब पुरुषार्थों के विरोधी हैं इनका परिहार बड़े परिश्रम से करना चाहिए ये सूत्रार्थ हैं। इसी तरह अन्य प्राणायामादि उपाय चित्त शोधन के लिये दिखलाये हैं यह चित्तप्रसन्नता भगवान् के अनुग्रह से हो जाती है उनके प्रति यह वचन है 'सुखमश्नुते' ईश्वर प्रसाद के विना मनः प्रशान्ति नहीं होती॥२८॥

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥ २९ ॥

और हे अर्जुन ! सर्वव्यापी अनन्त चेतनमें एकीभावसे स्थितरूप योगसे युक्त हुए आत्मावाला तथा सबमें समभावसे देखनेवाला योगी आत्माको संपूर्ण भूतोंमें बर्फमें जलके सदृश व्यापक देखता है और संपूर्ण भूतोंको आत्मामें देखता है, अर्थात् जैसे स्वप्नसे जगा हुआ पुरुष स्वप्नके संसारको अपने अन्तर्गत संकल्पके आधार देखता है वैसे ही वह पुरुष संपूर्ण भूतोंको अपने सर्वव्यापी अनन्त चेतन आत्माके अन्तर्गत संकल्पके आधार देखता है ॥ २९ ॥

म० टी०—तदेवं निरोधसमाधिना त्वंपदलक्ष्ये च शुद्धे साक्षात्कृते तदैक्यगोचरा तत्त्वमसीत्रेवेदान्तवाक्यजन्या निर्विकल्पकसाक्षात्काररूपा वृत्तिर्ब्रह्मविद्याभिधाना जायते, ततश्च कृत्स्नाऽविद्या तत्कार्यनिवृत्त्या ब्रह्मसुखमत्यन्तमश्नुत इत्युपपादयति त्रिभिः श्लोकैः । तत्र प्रथमं त्वंपदलक्ष्योपास्थितिमाह—सर्वभूतस्थमिति । सर्वेषु भूतेषु स्थावरजङ्गमेषु शरीरेषु भोक्तृतया स्थितमेकमेव नित्यं विभुमात्मानं प्रत्यक्चेतनं साक्षिणं परमार्थसत्यमानन्दघनं साक्ष्येभ्योऽनृतजडपरिच्छिन्नदुःखरूपेभ्यो विवेकेनेक्षते साक्षात्करोति तस्मिंश्चात्मनि साक्षिणि सर्वाणि भूतानि साक्ष्याण्याध्यसिकेन संबन्धानेन भोग्यतया कल्पितानि साक्षिसाक्ष्ययोः संबन्धान्तरानुपपत्तेर्मिथ्याभूतानि परिच्छिन्नानि

इस प्रकार निरोध समाधि से त्वं पद का लक्ष्य और तद् पद का लक्ष्य जो शुद्ध ब्रह्म है उसके प्रत्यक्ष करने पर तदभेदविषयकबुद्धि जो 'तत्त्वमसि' वाक्यजन्य है निर्विकल्प साक्षाद्रूपा वृत्ति जो ब्रह्मविद्यापदवाच्य है वह होती है। उससे सम्पूर्ण अविद्या और तत्कार्यों की निवृत्ति से अत्यन्त ब्रह्मसुख व्याप्त करता है अर्थात् प्राप्त करता है। यह तीन श्लोकों के पहले हैं उसमें पहिले त्वंपद लक्ष्य आत्मा की उपस्थिति कहते हैं—सर्वेत्यादिसे। स्थावर जङ्गमादि भेद भिन्न सब भूतों और शरीरों में भोक्तृरूप से स्थित एक ही नित्य व्यापक आत्मा साक्षी परमार्थसत्य आनन्दघन को साक्षी अनृत जड़ परिच्छिन्न दुःखरूप से देखता है उस साक्षी आत्मा में सब भूत सब साक्षिविषय जो कि आध्यासिकसम्बन्ध से भोगविषतया कल्पित हैं क्योंकि साक्ष्यसाक्षी का कल्पित सम्बन्ध से अतिरिक्त सम्बन्ध नहीं बनता। अतः वे साक्षी कल्पित होने से

जडानि दुःखात्मकानि साक्षिणो विवेकेनेक्षते, कः ? योगयुक्तात्मा, योगेन निर्विचारवैशारद्यरूपेण युक्तः प्रसादं प्राप्त आत्मा अन्तःकरणं यस्य स तथा तथाच प्रागेवोक्तं–निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः, ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा, श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषयाविशेषार्थत्वादिति। तथा च शब्दानुमानागोचरयथार्थविवेकवस्तुगोचरयोगजप्रत्यक्षेण ऋतंभरसंज्ञेन युगपत् सूक्ष्मं व्यवहितं विप्रकृष्टं च सर्वं तुल्यमेव पश्यतीति सर्वत्र समं दर्शनं यस्येति सर्वत्र समदर्शनः सन्नात्मानमनात्मानं च योगयुक्तात्मा यथावस्थितमीक्षत इति युक्तम्, अथवा यो योगयुक्तात्मा यो वा सर्वत्र समदर्शनः स आत्मानमीक्षत इति योगिसमदर्शिनावात्मेक्षणाधिकारिणावुक्तौ, यथा हि चित्तवृत्तिनिरोधः साक्षिसाक्षात्कारहेतुः तथा जडविवेकेन सर्वानुस्यूतचैतन्यपृथक्करणमपि नावश्यं योग एवापेक्षितः अत एवाह वसिष्ठः—

'द्वौ क्रमौ चित्तनाशस्य योगो ज्ञानं च राघव।
योगो वृत्तिनिरोधो हि ज्ञानं सम्यगवेक्षणम्॥

मिथ्या परिच्छिन्न जड़ दुःखात्मक है, अतएव तद्विपरीत साक्षी से भिन्न है इस विवेक से देखता है।

प्रश्न—कौन देखता है ?

उत्तर—योगयुक्तात्मा, निर्विचारवैशारद्यरूपयोग से जो युक्त हैं तथा प्रसन्नचित्त हैं वे यह पूर्व में कहा है—'श्रुतानुमानेत्यादिसे तथा च शब्दानुमानाविषय यथार्थ विवेकवस्तुविषयक योगजप्रत्यक्ष से ऋतम्भरा संज्ञक हैं। एक समय सूक्ष्म व्यवहित दूरस्थ सम्पूर्ण को तुल्य ही देखता है सब जगह बराबर है दर्शन जिसका वह समदर्शन होता हुआ आत्मा और अनात्मा को योगयुक्त पुरुष जो जैसा है उसको वैसा देखता है यह ठीक है अथवा योगयुक्तात्मा जो है सर्वत्र समदर्शन सब में आत्मा को देखता है योगी और समदर्शन ये दोनों आत्मदर्शन के अधिकारी यह कहा जैसे चित्तवृत्तिनिरोध साक्षी के प्रत्यक्ष में हेतु है तथा जड़ विवेक से सर्वत्र अनुगत चैतन्य पृथक् करण भी हेतु है उसके लिए योग ही अवश्य अपेक्षित नहीं किन्तु दोनों उपाय हैं अतएव वसिष्ठ जी ने भी कहा है—

असाध्यः कस्यचिद्योगः कस्यचित्तत्त्वनिश्चयः ।
प्रकारौ द्वौ ततो देवोजगाद परमः शिव ॥' इति ।

चित्तनाशस्य साक्षिणः सकाशात्तदुपाधिभूतचित्तस्य पृथक्करणात्तददर्शनस्य तस्योपायद्वयं एकोऽसंप्रज्ञातसमाधौ हि आत्मैकाकारवृत्तिप्रवाहयुक्तमन्तःकरणसत्त्वं साक्षिणाऽनुभूयते निरुद्धसर्ववृत्तिकं तूपशान्तत्वान्नानुभूयत इति विशेषः। द्वितीयस्तु साक्षिणि कल्पितं साक्ष्यमनृतत्वान्नास्त्येव साक्ष्येव तु परमार्थसत्यः केवलो विद्यत इति विचारः। तत्र प्रथममुपायं प्रपञ्चपरमार्थतावादिनो हैरण्यगर्भादयः प्रपेदिरे तेषां परमार्थस्य चित्तस्यादर्शनेन साक्षिदर्शने निरोधातिरिक्तोपायासंभवात् श्रीमच्छङ्करभगवत्पूज्यपादमतोपजीविनस्त्वौपनिषदाः प्रपञ्चानृतात्ववादिनो द्वितीयनेवोपायमुपेयुः तेषां ह्यधिष्ठानज्ञानदार्ढ्ये सति तत्र कल्पितस्य बाधितस्य चित्तस्य तद्विषयस्य चादर्शनमनायासेनैवोपपद्यते अतएव भगवत्पूज्यपादाः कुत्रापि ब्रह्मविदां योगापेक्षां न व्युत्पादयांबभूवुः अतएव चौपनिषदाः परमहंसाः श्रौते वेदान्तवाक्यविचार

द्वौ क्रमौ चित्तनाशस्य योगो ज्ञानं च राघव !

इत्यादि मूलमें देखो। साक्षी के उपाधिभूतचित्त का साक्षी से अलग करने के दो उपाय हैं—एक चित्त नाश और दूसरा साक्षिविषयादर्शन, पहिला असंप्रज्ञात समाधि है क्योंकि असंप्रज्ञात समाधि में आत्मैक्याकार केवल आत्मविषयक वृत्तिधाराविशिष्ट अन्तःकरण सत्त्वसाक्षी से अनुभूत होता है, निरुद्धसर्ववृत्तिक चित्त लीन होने से साक्षी से अनुभूत नही होता यही विशेष है। दूसरा साक्षी में कल्पित साक्षी विषय नहीं ही है परमार्थसत्य केवल साक्षी विद्यमान है यह विचार है। जिसमें प्रथम उपाय प्रपञ्च सत्यवादी योगशास्त्रवालों का है उसमें परमार्थचित्त के अदर्शन से साक्षी के दर्शन निरोधोपाय से अतिरिक्त उपाय का असंभव है। श्रीमच्छंङ्करभगवतपूज्यपादमतानुयायी वेदान्ती प्रपञ्च मिथ्यावादी द्वितीय उपाय का अनुसरण करते हैं, इनके मत में साक्षीकी अधिष्ठान साक्षात्कार दृढ़ होने से कल्पित, अतएव बाधित चित्त और साक्षी के विषय का अदर्शनसुख से उत्पन्न होता है अतएव भगवत् पूज्यपाद श्री शंकराचार्य ने कहीं भी ब्रह्मज्ञानी लोगों के लिये योग की अपेक्षा का उपपादन नहीं किया है। अतएव अद्वैत वेदान्ती परमहंस श्रौत, वेदान्तवाक्य विचार में गुरु के

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥ ३० ॥

और जो पुरुष संपूर्ण भूतों में बसे आत्मरूप मुझ वासुदेवको ही व्यापक देखता है और संपूर्ण भूतों को मुझ वासुदेवके अन्तर्गत देखता है, उसके लिये मैं अदृश्य नहीं होता हूँ और वह मेरे लिये अदृश्य नहीं होता है, क्योंकि वह मेरेमें एकी भाव से स्थित है ॥ ३० ॥

एवं गुरुमुपसृत्य प्रवर्तन्ते ब्रह्मसाक्षात्काराय न तु योगे विचारणैव चित्तदोषनिराकरणेन तस्यान्यथासिद्धत्वादिति कृतमधिकेन ॥ २९ ॥

म० टी०—एवं शुद्धं त्वंपदार्थं निरूप्य शुद्धं तत्पदार्थं निरूपयति-यो मामिति। यो योगी मामीश्वरं तत्पदार्थमशेषप्रपञ्चकारणमायौपाधिकमुपाधिविवेकेन सर्वत्र प्रपञ्चे सद्रूपेण स्फुरणरूपेण चानुस्यूतं सर्वोपाधिविनिर्मुक्तं परमार्थसत्यमानन्दघनमनन्तं पश्यति योगजेन प्रत्यक्षेणापरोक्षीकरोति तथा सर्वं च प्रपञ्चजातं मायया मय्यारोपितं मद्भिन्नतया मृषात्वेनैव पश्यति तस्यैवं विवेकदर्शिनोऽहं तत्पदार्थो भगवान्न प्रणश्यामि ईश्वरः कश्चिन्मद्भिन्नोऽस्तीति परोक्षज्ञानविषयो न भवामि किंतु योगजापरोक्षज्ञानविषयो भवामि यद्यपि वाक्यजापरोक्षज्ञानविषयत्वं त्वंपदार्थाभेदेनैव तथापि केवलस्यापि

पास जाकर ब्रह्म साक्षात्कार के लिए प्रवृत होते हैं। योग में नहीं, विचार द्वारा चित्तदोष का अपाकरण होता है अतः चित्तदोषनाश अन्यथा सिद्ध है, इस विषय में अधिक कहना व्यर्थ है ॥ २९ ॥

इस प्रकार शुद्ध त्वंपदार्थ का निरूपण कर शुद्ध तत्पदार्थ का निरूपण करते हैं—जो योगी मुझ ईश्वर तत्पदार्थ सम्पूर्ण प्रपञ्च कारण मायोपाधिक है उस ईश्वर को उपाधि विवेक से सब प्रपञ्चों में तद्रूप से तथा (प्रकाशरूप से) अनुगत सर्वोपाधिसे शून्य परमार्थ सत्य आनन्द घन को योगजप्रत्यक्ष से देखता है तथा सब प्रपञ्चसमुदाय मुझमें माया से नियमेन आरोपित है अतएव मद्भिन्नत्वेन मृषा देखता है उस एवं विवेकदर्शी को तत्पदार्थ अहं (मैं) भगवान् प्रनष्ट नहीं होता हूँ ईश्वर मुझसे भिन्न कोई है इस परोक्षज्ञान का विषय नहीं होता हूँ। यहाँ परोक्षज्ञान विषयप्रणाश विवक्षित है मुख्य नाश नहीं किन्तु योगजप्रत्यक्ष ज्ञानविषय होता हूँ। यद्यपि वेदान्तवाक्यजन्य परोक्षज्ञानविषयत्व त्वं पदार्थों

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ॥ ३१ ॥

इस प्रकार जो पुरुष एकीभावमें स्थित हुआ संपूर्ण भूतोंमें आत्मरूपसे स्थित मुझ सच्चिदानन्दघन वासुदेव को भजता है, वह योगी सब प्रकारसे वर्तता हुआ भी मेरेमें ही बर्तता है, क्योंकि उसके अनुभवमें मेरे सिवाय अन्य कुछ है ही नहीं ॥ ३१ ॥

तत्पदार्थस्य योगजापरोक्षज्ञानविषयत्वमुपपद्यत एव एवं योगजेन प्रत्यक्षेण मांपरोक्षीकुर्वन् स च मे न प्रणश्यति परोक्षो न भवति स्वात्मा हि मम स विद्वानतिप्रियत्वात् सर्वदा मदपरोक्षज्ञानगोचरो भवति 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्' इत्युक्तेः । तथैव शरशय्यास्थभीष्मध्यानस्य युधिष्ठिरं प्रति भगवद्वचनोक्तेः। अविद्वांस्तु स्वात्मानमपि सन्तं भगवन्तं न पश्यति अतो भगवान् पश्यन्नपि तं पश्यति 'स एनमविदितो न भुनक्ति' इति श्रुतेः विद्वांस्तु सदैव सन्निहितोऽनुग्रहभाजनमित्यर्थः ॥ ३० ॥

म० टी०—एवं त्वंपदार्थं तत्पदार्थं च शुद्धं निरूप्य तत्त्वमसीति-वाक्यार्थं निरूपयति—सर्वभूत इति । सर्वेषु भूतेष्वधिष्ठानतया स्थितं

भेद से ईश्वर में भी है तथापि त्वं पदार्थभेद के विना केवल तत्तत् पदार्थ में योगजप्रत्यक्ष ज्ञानविषयता उत्पन्न होती है, इस प्रकार योगजप्रत्यक्ष से मुझको प्रत्यक्ष करता हुआ योगी हमको प्रनष्ट नहीं होता अर्थात् परोक्ष नहीं होता क्योंकि वह मेरा ही आत्मा है इस प्रकार का विद्वान् अतिप्रिय होने से सदा मेरे प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय होता है क्योंकि 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते' ये पूर्व में कह चुके हैं। इसी प्रकार शरशय्यास्थित भीष्मपितामह के अपरोक्ष ज्ञानका विषय मैं हूं यह युधिष्ठिर के प्रति भगवान् ने कहा है। अविद्वान् आत्मस्वरूप होते हुए भी श्री भगवान् को नहीं देखता इस कारण भगवान् भी उसको नहीं देखते क्योंकि 'स एनम् अविदितो न भुनक्ति' यह श्रुति है। अज्ञात परमात्मा इस पुरुष का पालन नहीं करता, विद्वान् तो सदा सन्निहित होने से भगवान के अनुग्रह का पात्र होता है ॥ ३० ॥

शुद्ध तत्पदार्थ और त्वं पदार्थ का निरूपण कर 'तत्त्वमसि' इस वाक्य का वाक्यार्थ को निरूपण करते हैं—कल्पित सब भूतों में अधिष्ठानस्वरूप

सर्वानुस्यूतसन्मात्रं मामीश्वरं तत्पदलक्ष्यं स्वेन त्वंपदलक्ष्येण सहैकत्वमत्यन्ताभेदमास्थितः सन् 'घटाकाश' इत्यत्रैवोपाधिभेदनिराकरणेन निश्चिन्वन् यो भजति 'अहं ब्रह्मास्मि, इति वेदान्तवाक्यजेन तत्त्वसाक्षात्कारेणापरोक्षीकरोति सो विद्यातत्कार्यनिवृत्त्या जीवन्मुक्तः कृतकृत्य एव भवति यावत्तु तस्य बाधितानुवृत्त्या शरीरादिदर्शनमनुवर्तते तावत्प्रारब्धकर्मप्राबल्यात् सर्वकर्मत्यागेन वा याज्ञवल्क्यादिवत् विहितेन कर्मणा वा जनकादिवत् प्रतिषिद्धेन कर्मणा वा दत्तात्रेयादिवत् सर्वथा येन केनापि रूपेण वर्तमानोऽपि व्यहरन्नपि स योगी ब्रह्माहमस्मीति जानन् विद्वान् मयि परमात्मन्येवाभेदेन वर्तते सर्वथा तस्य मोक्षं प्रति नास्ति प्रतिबन्धशङ्का, 'तस्य ह न देवाश्च नाभूत्या ईशत आत्मा ह्येषां स भवति, इति' श्रुतेः। देवा महाप्रभावा अपि तस्य मोक्षमवनाय नेशते किमुतान्ये क्षुद्रा इत्यर्थः। ब्रह्मविदो निषिद्धकर्मणि प्रवर्तकयो रागद्वेषयोरसंभवेन निषिद्ध-

---

से स्थित सर्वत्रानुगत सन्मात्र तत्पदलक्ष्य मुझ ईश्वर को त्वंपदलक्ष्य स्व के साथ एकत्व अत्यन्ताभेद मानकर घटाकाश महाकाश के उपाधि निराकरण करने पर जैसे एकत्वनिश्चय होता है वैसे ही प्रकृति में त्वंतत् के उपाधिनिराकरण से एकत्वनिश्चय करता हुआ जो भजन करता है 'मैं ब्रह्म हूँ' इसका वेदान्तवाक्यजन्य तत्त्वसाक्षात्कार से प्रत्यक्ष करता है वह अविद्यातत्कार्यनिवृत्तिद्वारा जीवन्मुक्त अतएव कृतकृत्य होता है। विशेष यह है कि जबतक बाधितानुवृत्ति से शरीरादिज्ञान की अनुवृत्ति होती है तबतक प्रारब्ध कर्म के प्राबल्य से याज्ञवल्क्य के तरह सर्व कर्म का परित्याग कर अथवा जनकादि के समान विहित कर्म से किंवा दत्तात्रय के समान प्रतिषिद्धकर्मद्वारा जिस किसी कर्म से वा किसीरूप से वर्तमान व्यवहार करता हुआ योगी 'मैं ब्रह्म हूं' यह जानता हुआ विद्वान् मुझ परमात्मा में ही अभेद भाव से रहता है सर्वथा उसके मोक्ष में प्रतिबन्ध शंका नहीं, 'तस्य ह न' इत्यादि श्रुति है। अर्थ महामहिमशालि देवगण भी उसको मोक्ष न हो इसमें समर्थ नहीं है' दूसरे क्षुद्रों की क्या कथा जो कार्य देवसाध्य नहीं वह क्षुद्र साध्य कैसे ? इसमें हेतु है—आत्मा हीत्यादि। देवताओं की भी आत्मा वह योगी है मोक्ष से आत्मा को वञ्चित करना कौन चाहेगा ? निषिद्धकर्मप्रवर्त्तक राग द्वेष ब्रह्मवेत्ता में नहीं रहता इसलिए उस निषिद्धकर्म का सम्भव नहीं फिर भी ज्ञानस्तुत्यर्थ

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥ ३२ ॥

और हे अर्जुन ! जो योगी अपनी सादृश्यतासे सम्पूर्ण भूतोंमें सम देखता है और सुख अथवा दुःखको भी सबमें सम देखता है, वह योग परम श्रेष्ठ माना गया है ॥ ३२ ॥

कर्मासंभवेऽपि तदङ्गीकृत्य ज्ञानस्तुत्यर्थमिदमुक्तं—सर्वथा वर्तमानोऽपीति। 'हत्वापि स इमांल्लोकान्न हन्ति न निबध्यत' इतिवत् ॥ ३१ ॥

म० टी०—एवमुत्पन्नेऽपि तत्त्वबोधे कश्चिन्मनोनाशवासनाक्षययोरभावाज्जीवन्मुक्तिसुखं नानुभवति चित्तविक्षेपेण च दृष्टदुःखमनुभवति सोऽपरमो योगी देहपाते कैवल्यभागित्वात् देहसद्भावपर्यन्तं च दृष्टदुःखानुभवात् तत्त्वज्ञानमनोनाशवासनाक्षयाणां तु युगपदभ्यासाद्दृष्टदुःखनिवृत्तिपूर्वकं जीवन्मुक्तिसुखमनुभवन् प्रारब्धकर्मवशात् समाधेर्व्युत्थानकाले आत्मैवोपलभ्यमुपमा तेनात्मदृष्टान्तेन सर्वत्र प्राणिजाते सुखं वा यदि वा दुःखं समं तुल्यं यः पश्यति स्वस्यानिष्टं यथा न संपादयति प्रद्वेषशून्यत्वात् एवं स्वस्येष्टं यथा संपादयति तथा परस्यापीष्टं यः संपादयति रागशून्यत्वात् स निर्वासनत

निषिद्ध कर्म मानकर यह कहा है—'सर्वथा वर्तमानोऽपि' 'हत्वापि स इमान् लोकान न हन्ति न निवध्यते' इतिवत् ॥ ३१ ॥

इन सब लोगों को मारकर भी न मारता है न बद्ध होता है। एवं तत्त्वज्ञान उत्पन्न होने पर भी मनोनाशवासनाक्षय के न होने से कोई योगी जीवन्मुक्ति के सुख का अनुभव नहीं करता, चित्त विक्षेप से दृष्टदुःख ही का अनुभव करता है यह अपरम योगी है। देह नाश होनेपर मुक्त होगा यावदेह दुःख का अनुभव करता है और जो योगी तत्त्वज्ञान मनोनाश और वासना इन तीनों का क्षय एककाल में आभास करता है वह जीवन्मुक्ति सुख का अनुभव करता हुआ समाधि से व्युत्थानकाल में प्रारब्धकर्मवश आत्मदृष्टान्त से ही सब प्राणियों में सुख किं वा दुःख बराबर देखता है अपना अनिष्ट अपने से नहीं करता वैसे ही दूसरे का भी अनिष्ट नहीं करता क्योंकि द्वेषरहित है तथा अपना जैसे हित करता है वैसे ही दूसरे का भी हित करता है कारण राग रहित

योपशान्तमनाः योगी ब्रह्मवित् परमः श्रेष्ठो मतः पूर्वस्मात् हे अर्जुन ! अतस्तत्त्वज्ञानमनोनाशवासनाक्षयाणामक्रममभ्यासाय महान् प्रयत्न आस्थेय इत्यर्थः। तत्र इदं सर्वं द्वैतजातमद्वितीये चिदानन्दात्मनि मायया कल्पितत्वान्मृषैवं आत्मैवैकः परमार्थसत्यः सच्चिदानन्दाद्वयो 'अहमस्मि' इति ज्ञानं तत्त्वज्ञानं प्रदीपज्वालासन्तानवद्वृत्तिसन्तानरूपेण परिणममानमन्तःकरणद्रव्यं मननात्मकत्वान्मन इत्युच्यते, तस्य नाशो नाम वृत्तिरूपपरिणामं परित्यज्य सर्ववृत्तिविरोधिना निरोधाकारेण परिणामः, पूर्वापरपरामर्शमन्तरेण सहसोत्पद्यमानस्य क्रोधादिवृत्तिविशेषस्य हेतुश्चित्तगतः संस्कारविशेषो वासना पूर्वपूर्वाभ्यासेन चित्ते वास्यमानत्वात्, तस्याः क्षयो नाम विवेकजन्यायां चित्तप्रशमवासनायाँ दृढायां सत्यपि बाह्ये निमित्ते क्रोधाद्यनुत्पत्तिः। तत्र तत्त्वज्ञाने सति मिथ्या-

---

वासना रहित प्रशान्तमना योगी ब्रह्मवेत्ता परम पूर्व से श्रेष्ठ माना गया है। हे अर्जुन!—तत्त्वसाक्षात्कार मनोनाश वासनाक्षय इन तीनों का एक समय अभ्यास के लिए बहुत बड़ा प्रयत्न करना चाहिए यह अर्थ है उसमें यह सब द्वैतसमुदाय अद्वितीय सच्चिदानन्दाद्वय मैं हूँ यही ज्ञान तत्त्वज्ञान है। प्रदीपशिखा के समान उक्त वृत्तिसन्तानरूप से परिणत अन्तःकरणद्रव्य मननात्मक होने से मन कहा जाता है उसका नाश यह है कि वृत्तिरूप परिणाम का त्याग कर सब वृत्तयों का विरोधी जो निरोध परिणाम है तद्रूप से परिणाम। भाव यह है कि अन्तःकरण वस्तुतः तैजस द्रव्य है उसमें मननात्मकादि वृत्तयाँ होने से विशेषरूप से मन कहा जाता है जब उसमें मननात्मक वृत्तयाँ नही होती तो वह मन नही किन्तु तैजस द्रव्य मान्य है पूर्व्वी पर विचार के विना अतिशीघ्र उत्पन्न क्रोधादि वृत्तविशेष का हेतु चित्तनिष्ठ संस्कारविशेष वासना है क्योंकि पूर्वापूर्व के अभ्यास से चित्त वासित है।

प्रश्न—पूर्वापर परामर्श क्रोधादिवृत्त का निमित्त है अतः उसके विना कहाँ वासनोद्बोध ?

उत्तर—अदृष्टवश होता है अतः सहसा वासना का क्षय तत्त्वज्ञानजन्य चित्त शांतिवासना दृढ़ होनेपर क्रोधादि निमित्त बाह्यवस्तु सद्भाव दशा में क्रोध की अनुत्पत्ति होती है उसमें तत्त्वज्ञान होने पर मनुष्य के श्रृङ्ग के समान

भूते जगति नरविषाणादाविव धीवृत्त्यनुदयादात्मनश्च दृष्टत्वेन पुनर्वृत्त्यनुपयोगा-न्निरिन्धनाग्निवन्मनो नश्यति, नष्टे च मनसि संस्कारोद्बोधकस्य बाह्यस्य निमित्तस्याप्रतीतौ वासना क्षीयते, क्षीणायां वासनायां हेत्वभावेन क्रोधादि-वृत्त्यनुदयान्मनो नश्यति, नष्टे च मनसि शमदमादिसंपत्त्या तत्त्वज्ञानमुदेति, एवमुत्पन्ने तत्त्वज्ञाने रागद्वेषादिरूपा वासना क्षीयते, क्षीणायां च वासनायां प्रतिबन्धाभावात्तत्त्वज्ञानोदय इति परस्परकारणत्वं दर्शनीयम्। अत एव भगवान् वसिष्ठ आह—

'तत्त्वज्ञानं मनोनाशो वासनाक्षय एव च।
मिथः-कारणतां गत्वा दुःसाध्यानि स्थितानि हि॥
तस्माद्राघव! यत्नेन पौरुषेण विवेकिना।
भोगेच्छां दूरतस्त्यक्त्वा त्रयमेतत्समाश्रयेत्॥' इति।

पौरुषो यत्नः 'येन केनाप्युपायेनावश्यं संपादयिष्यामि' इत्येवंविधोत्साहरूपो निर्बन्धः, विवेको नाम विविच्य निश्चयः तत्त्वज्ञानस्य श्रवणादिकं साधनं मनोनाशस्य योगः वासनाक्षयस्य प्रतिकूलवासनोत्पादनमिति। एतादृशविवेक-

---

मिथ्याभूत संसार में बुद्धि वृत्ति ही नहीं होती आत्मदर्शन हो ही चुका है। इन्धन काष्ठादि रहित अग्नि के समान स्वयं शान्त हो जाता है मन के नाश होने पर संस्कारोद्बोधक बाह्यपदार्थ ज्ञान न होने से वासना नष्ट हो जाती है अर्थात् वासना क्षीण होने से प्रतिबन्धकाभावप्रयुक्त तत्त्वज्ञानोत्पाद होता है उक्त ज्ञानोत्पत्ति में वासना प्रतिबन्धक है अतः इनके परस्पर कार्यकारणभाव जानना। अतएव भगवान् वसिष्ठजी ने कहा है—

'तत्त्वज्ञानं मनोनाशः वासनाक्षय एव च।
मिथः कारणतां गत्वा दुःसाध्यानि स्थितानि हि॥'

इत्यादि श्लोक स्पष्ट है। किसी भी उपाय से योग अवश्य सिद्ध करेंगे एवंभूत उत्साहविशेष निर्बन्धापरपर्याय पौरुष प्रयत्न है, विचार कर निश्चय करना विवेक है, तत्त्वज्ञानोत्पत्ति का कारण श्रवणादि है, और मनोनाश का कारण योग है, वासना नाश का कारण विरोधिवासनोत्पादन, शमदमानुकूल-वृत्त्युत्पादन है एवंभूत विवेकादियुक्त उक्त पौरुषप्रयत्न से स्वल्प भी भोगेच्छा

युक्तेन पौरुषेण प्रयत्नेन भोगेच्छायाः स्वल्पाया अपि 'हविषा कृष्णवर्त्मेव' इति न्यायेन वासनावृद्धिहेतुत्वाद् दूरत इत्युक्तम्। द्विविधो हि विद्याधिकारी कृतोपास्तिरकृतोपास्तिश्च, तत्र य उपास्यसाक्षात्कारपर्यन्तामुपास्तिं कृत्वा तत्त्वज्ञानाय प्रवृत्तस्तस्य वासनाक्षयमनोनाशयोर्दृढतरत्वेन ज्ञानादूर्ध्वं जीवन्मुक्तिः स्वत एव सिध्यति इदानीन्तनस्तु प्रायेणाकृतोपास्तिरेव मुमुक्षुरौत्सुक्यमात्रात् सहसा विद्यायां प्रवर्तते योगं विना चिज्जडविवेकमात्रेणैव च मनोनाशवासनाक्षयौ तात्कालिकौ संपाद्य शमदमादिसंपत्त्या श्रवणमनननिदिध्यासनानि संपादयति तैश्च दृढाभ्यस्तैः सर्वबन्धविच्छेदि तत्त्वज्ञानमुदेति। अविद्याग्रन्थिरब्रह्मत्वं हृदयग्रन्थिः संशयाः कर्माणि सर्वकामत्वं पुनर्जन्म चेत्यनेकविधोबन्धो ज्ञानान्निवर्तते। तथा च श्रूयते 'यो वेद निहितं गुहायां सोऽविद्याग्रन्थिं विकिरतीह सोम्य ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति,

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥

सत्यं ज्ञानमनन्तं गुहायां परमे व्योमन् सोऽश्नुते सर्वान् कामान् स ब्रह्मणा विपश्चिता तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति।

'हविषा कृष्णवर्त्मेव' इस न्याय से (घृताग्नि न्याय से) वासना वृद्धि का हेतु है अतः भोगेच्छा दूरतः परित्याज्य है यह कहा है। विद्याधिकारी दो प्रकार के होते हैं—एक कृतोपास्ति, दूसरा अकृतोपास्ति. इनमें प्रथम जो उपास्य प्रत्यक्ष पर्यन्त उपासना कर तत्त्वज्ञान के लिए प्रवृत्त है वह है उसकी वासना का क्षय और मनोनाश दृढ़ होने से ज्ञान से ऊपर जीवन्मुक्ति स्वतः सिद्ध होती है, आधुनिक प्रायः अकृतोपासन ही मुमुक्षु हैं उपासना न कर उत्कण्ठावश सहसा विद्या ही में प्रवृत्त हो जाती हैं। योग के विना चिज्जड़ आत्मानात्मविवेकमात्र से तात्कालिक अस्थायि मनोनाशवासनाक्षय का सम्पादन कर शमदमादि सम्पत्ति से श्रवण मनन निदिध्यासन करते हैं। दृढ़ अभ्यस्त इन श्रवणादि साधनों से सब के साथ सम्बन्ध है उनके अभ्यास से बन्धनाशशील तत्त्वज्ञान होता है अविद्या की गाँठ 'मैं ब्रह्म भिन्न हूँ' ब्रह्मभिन्नत्व हृदयग्रन्थि है. संशय कर्म सर्वकामत्व मृत्युपुनर्जन्म इत्यादि अनेक प्रकार के बन्ध तत्त्वज्ञान से निवृत्त होते हैं ऐसी ही श्रुति है—यो वेत्यादि। 'स इदं सर्वं भवति' इत्यन्त मूलमें देखिये । असर्वज्ञत्व

यस्तु विज्ञानवान् भवत्यमनस्कः सदा शुचिः ।
स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद्भूयो न जायते ॥
य एवं वेदाहं ब्रह्मास्मीति स इदं सर्वं भवति'

इत्यसर्वज्ञत्वनिवृत्तिफलमुदाहार्यम् । सेयं विदेहमुक्तिः सत्यपि देहे ज्ञानोत्पत्तिसमकालीना ज्ञेया ब्रह्मण्यविद्याध्यारोपितानामेतेषां बन्धानामविद्यानाशे सति निवृत्तौ पुनरुत्पत्त्यसंभवात्, अतः शैथिल्यहेत्वभावात्तत्त्वज्ञानं तस्यानुवर्तते मनोनाशवासनाक्षयौ तु दृढाभ्यासाभावाद्भोगप्रदेन प्रारब्धेन कर्मणा बाध्यमानत्वाच्च सवातप्रदेशप्रदीपवत् सहसा निवर्तेते, अत इदानीन्तनस्य तत्त्वज्ञानिनः प्राक्सिद्धे तत्त्वज्ञाने न प्रयत्नापेक्षा किंतु मनोनाशवासनाक्षयौ प्रयत्नसाध्याविति । तत्र मनोनाशोऽसंप्रज्ञातसमाधिनिरूपणेन निरूपितः प्राक्, वासनाक्षयस्त्विदानीं निरूप्यते,—तत्र वासनास्वरूपं वसिष्ठ आह—
'दृढभावनया त्यक्तपूर्वापरविचारणम् ।
यदादानं पदार्थस्य वासना सा प्रकीर्तिता' ॥

निरास फल कहते हैं—जो जानता है 'मैं ब्रह्म हूँ' वह यह सब होता है सर्वविषयक सर्वतादात्म्य ही उसमें सर्वविषयतारूप सर्वज्ञता है यह विदेहमुक्ति देह रहने पर भी ज्ञानोत्पत्तिसमकालिक ही समझना। इसमें देहनाश की अपेक्षा नहीं ब्रह्म में आरोपित उक्त बन्धों की अविद्या नाश होने पर निवृत्ति हो जाती है। अविद्याकारण के अभाव से फिर उनकी उत्पत्ति नहीं होती अतः ज्ञात शैथिल्य हेतु न रहनेसे उसको तत्त्वज्ञान की उत्तरोत्तर अनुवृत्ति रहती है। मनोनाश वासनाक्षय तो दृढ़ अभ्यास न होने से भोगप्रद प्रारब्ध कर्म से बाध्यमान होकर सवातप्रदेशस्थित दीप के समान सहसा निवृत्त हो जाते हैं, यथा वायु से प्रदीप का नाश होता है तथा प्रारब्ध कर्म से मनोनाशवासना क्षय का भी नाश होता है अतः आधुनिक योगी को तत्त्वज्ञान के पूर्वसिद्धि तत्त्वज्ञान में प्रयत्न की अपेक्षा नहीं किन्तु मनोनाशवासना क्षय में ही विशेषप्रयत्न की अपेक्षा है उसके लिए पूर्ण श्रम करना चाहिए। इस में असम्प्रज्ञातसमाधि निरूपण से मनोनाश का निरूपण पूर्व में कर चुके हैं। वासनाक्षय इस समय कहते हैं—वासना का स्वरूप वशिष्ठ जी ने कहा है—दृढ़भावनायेत्यादि। पूर्वापरविचार के विना दृढ़ पूर्वाभ्यास से जो

अत्र च स्वस्वदेशाचारकुलधर्मस्वभावभेदतद्गतापशब्दस्तु शब्दादिषु प्राणिनामभिनिवेशः समान्येनोदाहरणम् सा च वासना द्विविधा मलिना शुद्धा च, शुद्धा दैवी सम्पत् शास्त्रसंस्कारप्राबल्यात् तत्त्वज्ञानसाधनत्वेनैकरूपैव मलिना तु द्विविधा बाह्याऽभ्यन्तरा च, बाह्या तु—

३ त्रिविधा—लोकवासना शास्त्रवासना देहवासना चेति सर्वे जना यथा न निन्दन्ति तथैवाचरिष्यामीत्यशक्यार्थाभिनिवेशो लोकवासना तस्याश्च 'को लोकमाराधीयितुं समर्थ' इति न्यायेन सम्पादयितुमशक्यत्वात् पुरुषार्थानुपयोगित्वाच्च मलिनत्वम् शास्त्रवासना तु त्रिविधा—पाठव्यसनम्, बहुशास्त्रव्यसनम्, अनुष्ठानन-

पदार्थोपादान वह वासना है इसमें अपने अपने देश कुल आधार धर्म स्वभावादि से तत्तदपशब्द अशोभनशब्द शोभनशब्दादि में अभिनिवेश आग्रह जो प्राणियों में पाया जाता है सामान्य से यही उदाहरण है, अर्थात् गुण दोष विचार के बिना आचार धर्मादि का जिस देश में प्रचार है उस देश के मनुष्यों में उन कर्मों में प्रवृत्ति साग्रह होती है ये ही वासना के चिह्न हैं जैसे कुछ देशों में मांस भक्षण की प्रवृत्ति विद्वान् ब्राह्मणों में भी पाई जाती है इसी प्रकार अन्य उदाहरण भी समझना। वह वासना दो प्रकार की है शुद्धा और मलिना। शुद्धा दैवी सम्पत् शास्त्रसंस्कारप्राबल्य से तत्त्वज्ञानसाधन होने से एकरूप ही है, मलिना तीन प्रकार की है—लोकवासना, शास्त्रवासना, देहवासना, भेद से। सब लोग जैसे निदान करें वैसा ही आचरण करेंगें यह अशक्य अर्थ है इसमें अभिनिवेश लोकवासना है।

"सुदुर्लभाः सर्वमनोरमा गिरः" के अनुसार उक्तार्थ असम्भव है। लोक सदसत् स्वभाव भेदसे दो प्रकारके मनुष्य हैं उनमें "प्रकृत्य भिन्ना हि सतामसाधवः" इसके अनुसार असत्पुरुष सदाचार की निन्दा करते हैं सत्पुरुष असदाचार की निन्दा करते हैं क्योंकि लौकिकसदसत्व वासनारूप है इसलिए सर्वावाच्य आचरणादि अशक्य है यह ठीक ही है अतएव 'को लोकमाराधयितुं क्षमः' कौन लोगों के प्रसन्न करने में समर्थ है प्रथम तो इसका अनुष्ठान ही है फिर पुरुषार्थोपयोगी भी नहीं अतः सर्वथा अननुष्ठेय होने से यह वासना मलिना है। शास्त्र भी तीन प्रकार की है—पाठव्यसन, बहुशास्त्रव्यसन, अनुष्ठानव्यसन। क्रम से

व्यसनश्चेति क्रमेण भरद्वाजस्य दुर्वासनो निदाघस्य च प्रसिद्धा, मलिनत्वं चास्याः क्लेशावहत्वात् पुरुषार्थानुपयोगित्वाद्दर्पहेतुत्वाच्च। देहवासनाऽपि त्रिविधा आत्मत्वभ्रान्तिर्गुणाधानभ्रान्तिर्दोषापनयनभ्रान्तिश्चेति। तत्रात्मत्वभ्रान्तिविरोचनादिषु प्रसिद्धा सार्वलौकिका। गुणधानं द्विविधं लौकिकं शास्त्रीयं च, समीचीनशब्दादिविषयसंपादनं लौकिकम्, गङ्गास्नानशालग्रामतीर्थादिसंपादनं शास्त्रीयम् दोषापननयनमपि द्विविधं लौकिकं शास्त्रीयञ्च चिकित्सकोक्तैरोषधैर्व्याध्याद्यपनयनं लौकिकं वैदिकस्नानाचमनादिभिरशौचाद्यपनयनं वैदिकम् एतस्याश्च सर्वप्रकाराया मलिनत्वमप्रामाणिकत्वादशक्यत्वात्पुरुषार्थानुपयोगित्वात्पुनर्जन्महेतुत्वाच्च शास्त्रे प्रसिद्धम्, तदेतल्लोकशास्त्रदेहवासनात्रयमविवेकिनामुपादेयत्वेन प्रतिभासमानमपि त्रिविदिषोर्वेदनोत्पत्तिविरोधित्वाद्विदुषो ज्ञाननिष्ठाविरोधित्वाच्च विवेकिभिर्हेयम्। तदेवं बाह्यविषयवासना त्रिविधा निरूपिता, आभ्यन्तरवासना तु कामक्रोधदम्भदर्पाद्यसुररूपा सर्वानर्थमूलं मानसी

इनका उदाहरण देते हैं—भरद्वाज दुर्वासा और निदाघ में प्रसिद्ध हैं इनमें मालिन्य है, क्लेशकरत्व पुरुषार्थानुपयोगित्व दर्पहेतुत्व और जन्महेतुत्व। देहवासना भी तीन प्रकार की है—आत्मत्वभ्रान्ति, गुणाधानभ्रान्ति, दोषापनयनभ्रान्ति। उनमें आत्मत्वभ्रान्ति 'अहं गौरः' इत्यादि सर्वलोकप्रसिद्ध है, शास्त्रोपाख्यान से विरोचनादि में भी प्रसिद्ध हो है। गुणाधान दो प्रकार का है—शास्त्रीय और लौकिक। समीचीन शब्दादिविषयसम्पादन लौकिक है जैसे—गंगाजलस्नान, शालिग्राम नर्मदेश्वरादि समाराधन, तीर्थादि सेवनादि साधु शब्द प्रयोग मेध्यमितहितशुचिविहित भक्षणादि दोषापनयन भी दो प्रकार का है—लौकिक और शास्त्रीय, वैद्यकों के औषध से रोगनिवर्तन प्रथम है वैदिक स्नानशौचादि द्वारा अशुद्धि निष्कासन शास्त्रीय है। सब तरह से इनमें मलिनत्व, अप्रामाणिकत्व, अशक्यत्व पुरुषार्थानुपयोगित्व पुनर्जन्महेतुत्व शास्त्र में प्रसिद्ध है अतः ये लोकशास्त्र देहवासना अविवेकी पुरुषों के ग्राह्यत्वेन प्रतीत होने पर भी, ब्रह्म विविधदृष्टि की वेदनोत्पत्ति का विरोधी तथा विद्वान् के ज्ञाननिष्ठा का विरोधी होने से विवेकियों को त्याज्य है। इस प्रकार त्रिविध वासना व्याख्यात हुई, आभ्यन्तरवासना काम क्रोध दम्भदर्पादि आसुरसम्पद्रूप सब अनर्थों दुःखों का मूल

वासनेत्युच्यते, तदेवं बाह्याभ्यान्तरवासनाचतुष्टयस्य शुद्धवासनया क्षयः संपादनोयः तदुक्तं वसिष्ठेन—

'मानसीर्वासना: पूर्वं त्यक्त्वा विषयवासना: ।
मैत्र्यादिवासना राम ! गृहाणामलवासना ॥' इति ।

तत्र विषयवासनाशब्देन पूर्वोक्तास्तिस्रो लोकशास्त्रदेहवासना विवक्षिताः मानसवासनाशब्देन कामक्रोधदम्भदर्पाद्यासुरसम्पद्विवक्षिता । यद्वा शब्दस्पर्श रूपरसगन्धा विषयाः तेषां भुज्यमानत्वदशाजन्यः संस्कारो विषयवासना काम्यमानत्वद शाजन्यः संस्कारो मानसवासना अस्मिन्पक्षे पूर्वोक्तानां चतसृणामनयोरेवान्तर्भावः बाह्याभ्यन्तरव्यतिरेकेण वासनान्तरासंभवात् । तासां वासनानां परित्यागो नाम तद्विरुद्धमैत्र्यादिवासनोत्पादनम्, ताश्च ताश्च मैत्र्यादिवासनाः भगवता पतञ्जलिना सूत्रिताः प्राक् सङ्क्षेपेण व्याख्याता अपि पुनर्व्याख्यायन्ते—चित्तं हि रागद्वेषपुण्यपापैः कलुषीक्रियते तत्र सुखानुशयी रागः, मोहादनुभूयमानं सुखमनुशेते कश्चिद्धीवृत्तिविशेषो-

---

मानसी वासना कही जाती है। पूर्वोक्तरीति से बाह्याभ्यन्तरभेदभिन्न वासना से क्षय करना चाहिए यह वशिष्ठजी ने कहा है—'मानसीर्वासना पूर्वम्' इत्यादि । इस श्लोक में वासनाशब्द से पूर्वोक्त लोक शास्त्र देह वासना ये तीनों विवक्षित हैं। मानसवासना शब्द से काम क्रोध दम्भ दर्प आसुर सम्यक् विवक्षित है, अथवा शब्द स्पर्श रूप रस, गन्ध ये पाँच विषय भी यहां ग्राह्य हैं इनकी भुज्यमानत्व दशा में जो संस्कार होता है वह विषयवासना है, काम्यमानस्थ अवस्था में जो संस्कार होता है वह मानसवासना है इस पक्ष में पूर्वोक्त चारों का इन दोनों में ही अन्तर्भाव हो जाता है । बाह्याभ्यन्तर भेद से दो ही वासनायें हैं वासनान्तर नहीं है इन वासनाओं का परित्याग एतद्विरुद्ध पूर्वोक्त मैत्रादि वासनोत्पादन है वे मैत्रादिवासना में भगवान् पातञ्जलि ने सूत्र से कहा है पूर्व में संक्षेप से व्याख्यात भी है फिर भी व्याख्यान करते हैं। यह निश्चय जानिये कि चित्त पुण्य पाप राग द्वेष से मलिन होता है इनमें सुखानुशयी राग है अज्ञान से अनुभूयमान सुखाभिलाष राजस चित्तवृत्ति विशेष राग है, यह अनुकूलोपादेय से तृष्णावश सब सुख हमको हो, मूर्खता से यह नहीं समझना कि साधनाधीन सुख है इच्छाधीन नहीं सब साधनों का मुझमें सम्भव नहीं

राजसः सर्वं सुखजातीयं मे भूयादिति । तच्च दृष्टादृष्टसामग्र्यभावात्सम्पादयितुमशक्यम् अतः स रागश्चित्तं कलुषीकरोति, यदा तु सुखिषु प्राणिष्वयं मैत्रीं भावयेत् सर्वेऽप्येते सुखिनो मदीया इति तदा तत्सुखं स्वकीयमेव सम्पन्नमिति भावयतस्तत्र रागो निवर्तते यथा स्वस्य राज्यनिवृत्तावपि पुत्रादिराज्यमेव स्वकीयं राज्यं तद्वत् । निवृत्ते च रागे वर्षाव्यपाये जलमिव चित्तं प्रसीदति तथा च दुःखानुशयी द्वेषः दुःखं सर्वदा मे मा भूदिति । तच्च शत्रुव्याघ्रादिषु सत्सु न निवारयितुं शक्यम्, न च सर्वे ते दुःखहेतवो हन्तुं शक्यन्ते अतः स द्वेषः सदा हृदयं दहति, यदा तु स्वस्येव परेषां सर्वेषामपि दुःखं माभूदिति करुणां दुःखिषु भावयेत् तदा वैर्यादिद्वेषनिवृत्तौ चित्तं प्रसीदति तथा च स्मर्यते—

'प्राणा यथात्मनोऽभीष्टा भूतानामपि ते तथा ।
आत्मौपम्येन भूतेषु दयां कुर्वन्ति साधवः ॥' इति ।

अतः तदिच्छा ही व्यर्थ है । इनमें दो उपाय हैं दृष्ट और अदृष्ट, सब दृष्टादृष्ट पायों का सम्पादन के ही एक पुरुष से अशक्य हैं अतः वह राग चित्त को मलिन करता है जब सब सुखी प्राणियों में मैत्री की भावना करेगा तो ये सब सुखी प्राणी मेरे ही हैं तब उन लोगों का वह सुख अपना ही है इस भावना में उसमें रागनिवृत्ति होती है । उत्कटेच्छाविशेष राग है, विषयप्राप्ति से निवृत्ति होती है । उक्त भावना से सब सुखों में मत्सम्बोधिताज्ञान से उक्त सुखानुराग नहीं होता यथा राजा स्वराज्य स्वपुत्र को देने पर राज्यत्याग के दुःख का अनुभव नहीं करता, पुत्र का राज्य अपना ही है । राग के निवृत्त होने पर वर्षा बीतने पर जैसे जल साफ होने लगता है वैसा चित्त भी प्रसन्न होने लगता है । एवं दुःखानुशयी द्वेष दुःखानुशयी है तमोनुस्यूतरजः परिणामनिवृत्ति विशेष हृदय सन्तापात्मकद्वेष लोक में प्रसिद्ध है ऐसा सब दुःख हमको न हो पर शत्रु व्याघ्रादि रहने पर दुःख का परिहार इच्छामात्र से नहीं कर सकते जिस समय में अपने के समान सब प्राणियों को दुःख न हो इस प्रकार दुःखियों में दया की भावना करता है उस समय शत्रु आदि नहीं रहते अतः चित्त प्रसन्न होता है वह स्मृति है 'प्राणा यथात्मनोऽभीष्टा' इत्यादि । यही यहाँ भी

एतदेवेहाऽप्युक्तम्—'आत्मौपम्येन सर्वत्र इत्यादि। तथा प्राणिनः स्वभावत एव पुण्यं नानुतिष्ठन्ति तदाहुः—

'पुण्यस्य फलमिच्छन्ति पुण्यं नेच्छन्ति मानवाः।

न पापफलमिच्छन्ति पापं कुर्वन्ति यत्नतः॥' इति।

ते च पुण्यपापेअक्रियमाणक्रियमाणे पश्चातापं जनयतः। स च श्रुत्यानूदितः 'किमहं साधु नाकरवं किमहं पापमकरवम्' इति। यद्यसौ पुण्यपुरुषेषु मुदितां भावयेत्तदा तद्वासनावान् स्वयमेवाप्रमत्तः अशुक्लकृष्णे पुण्ये प्रवर्तते तदुक्तम्—'कर्माशुक्लकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम् अयोगिनां त्रिविधं शुक्लं शुभं कृष्णमशुभं शुक्लंकृष्णं शुभाशुभम्' इति तथा पापपुरुषेषूपेक्षां भावयन् स्वयमपि तद्वासनावान् पापान्निवर्तते, ततश्च पुण्याकरणपापकरणनिमित्तस्य पश्चात्तापस्याभावे चित्तं प्रसीदति। एवं सुखिषु मैत्रीं भावयतो न केवलं रागो निवर्तते किंत्वसूयेर्ष्यादयोऽपि निवर्तन्ते, परगुणेषु दोषाविष्कर-

---

कहा है—'आत्मौपम्येन सर्वत्र' इत्यादि। तथा प्राणी प्रायः पुण्य नहीं करते किन्तु पाप ही करते हैं चाहते हैं सुख यह शास्त्रमें कहा है—'पुण्यस्य फलमिच्छन्ति' इत्यादि। पुण्य और पाप क्रियमाण अक्रियमाण उभयथा पश्चात्ताप के कारण है, श्रुति में ऐसा ही अनुवाद किया है—'किमहं साधु नाकरवम्' इत्यादि। क्यों कि मैंने अच्छा कर्म नहीं किया क्यों मैंने पाप कर्म किया ? इत्यादि।

यदि योगी पुण्य पुरुष में मुदिता की भावना करेगा तो तदीय वासनावान् स्वयं सावधान होकर अशुक्ल कृष्ण पुण्य में प्रवृत्त होता है सो कहा है—कर्माशुक्लकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम्' इति।

अयोगियों के तीन प्रकार के कर्म होते हैं—शुभ शुक्ल, कृष्ण अशुभ, शुक्ल कृष्ण शुभाशुभ इति। तथा पापी पुरुषों में उपेक्षा की भावना करता हुआ स्वयं उपेक्षावासनावान् हो पाप से निवृत्त होता है। तथा च पुण्य का अकारण और पाप के कारण ये दोनों पश्चात्ताप के हेतु हैं इनके न होने से चित्त प्रसन्न होता है इसी प्रकार सुखियों में मैत्री की भावना से केवल राग की ही निवृत्ति नहीं होती किन्तु असूया इत्यादि की भी निवृत्ति होती है। ईर्ष्या परोत्कर्षासहिष्णुता, परके उत्कर्ष दर्शन से तदसहिष्णुता अन्तर्दाह, परगुणों

णमसूया, परगुणानामसहनमीर्ष्या, यदा मैत्रीवशात्परसुखं स्वीयमेव सम्पन्नं तदा परगुणेषु कथमसूयादिकं संभवेत् तथा दुःखिषु करुणां भावयतः शत्रुवधादिकरो द्वेषो यदा निवर्तते तदा दुःखिप्रतियोगिकस्वसुखित्वप्रयुक्तदर्पोऽपि निवर्तते एवं दोषान्तरनिवृत्तिरप्यूहनीया वासिष्ठरामायणादिषु। तदेवं तत्त्वज्ञानं मनोनाशो वासनाक्षयश्चेति त्रयमभ्यसनीयम् तत्र केनाऽपि द्वारेण पुनःपुनस्तत्त्वानुस्मरणं तत्त्वज्ञानाभ्यासः तदुक्तम्—

'तच्चिन्तनं तत्कथनमन्योन्यं तत्प्रबोधनम्।
एतदेकपरत्वं च ब्रह्माभ्यासं विदुर्बुधाः॥
सर्गादावेव नोत्पन्नं दृश्यं नास्त्येव सर्वदा।
इदं जगदहं चेति बोधाभ्यासं विदुः परम्॥' इति।

में दोषों का आरोपण करना असूया है। जब मैत्रादिभावनावश परसुख अपना ही मालुम पड़ता है तब परगुणों में असूयादि कैसे हो, अपने गुण में असूयादि नहीं होती वैसे ही परगुण में नहीं होते वस्तुतः उसकी अपेक्षा परगुण ही नहीं है। तथा दुःखियों में करुणादि की भावना से शत्रु हननादि जब निवृत्त हो जाता है सुखित्वप्रतियोगिक दुःखित्वप्रयुक्त दर्प भी निवृत्त होता है भाव यह है कि सुखित्व और दुःखित्व सनिरूपक पिता पुत्रादि शीतोष्णादि के समान सापेक्ष हैं एक की सत्ता के विना दूसरा नही रह सकता, उक्त भावना से जब दुःखनिमित्त द्वेषादि की निवृत्ति होती है यों दुःखित्व निवृत्ति द्वारा सुखित्व की भी निवृत्ति हो जाती है, जो किसी को दुःखी नहीं देखता वह यह सुखी है कैसे देखेगा? सुखित्व न रहने से तत्प्रयुक्त दर्प की भी निवृत्ति होती है इसी प्रकार दोषान्तर निवृत्ति की ऊहा करना विशेष जिज्ञासा हो तो योग वाशिष्ठ देखना।

सारांश यह है कि तत्त्वज्ञान मनोनाश, वासनाक्षय इन तीनों का प्रयत्न से सम्पादन करना चाहिए। उनमें किसी द्वार से पुनः पुनः तत्त्व का स्मरण तत्त्वज्ञनाभ्यास है सो योगवाशिष्ठ में कहा है 'तच्चिन्तनं तत्प्रकथनम्' इत्यादि। ब्रह्म का चिन्तन, ब्रह्म का कथन परस्पर ब्रह्म सम्बोधन सदा ब्रह्मपरता, विद्वान् ब्रह्माभ्यास कहे हैं। प्रपञ्च सर्गादि में ही नहीं उत्पन्न हुआ अतएव सदा कालत्रय में नहीं है यह जगत है यह मैं हूँ जगत से विविक्त आत्मदर्शन को बोधाभ्यास

अर्जुन उवाच

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन! ।
एतस्याऽहं न पश्यामि चञ्चलत्वात्स्थितिं स्थिराम् ॥३३॥

इस प्रकार भगवान्के वाक्योंको सुनकर अर्जुन बोला, हे मधुसूदन! जो यह ध्यान योग आपने समत्व भावसे कहा है, इसकी मैं मनके चञ्चल होनेसे बहुत कालतक ठहरनेवाली स्थितिको नहीं देखता हूँ ॥ ३३ ॥

दृश्याभावविरोधियोगाभ्यासो मनोनिरोधाभ्यासः तदुक्तम्—

'अत्यन्ताभावसम्पत्तौ ज्ञातुर्ज्ञेयस्य वस्तुनः ।
युक्त्या शास्त्रैर्यतन्ते ये तेऽप्यत्राभ्यासिनः स्थिताः' इति ।

ज्ञातृज्ञेययोर्मिथ्यात्वधीरभावसम्पत्तिः स्वरूपेणाप्रतीतिरत्यन्ताभावसम्पत्तिस्तदर्थं युक्त्या योगेन—

'दृश्यासंभवबोधेन रागद्वेषादितानवे ।
रतिर्घनोदिता याऽसौ ब्रह्माभ्यासः स उच्यते ।' इति ।

रागद्वेषादिना क्षीणतारूपवासनाक्षयाभ्यास उक्तः तस्मादुपपन्नमेतत्तत्त्वज्ञानाभ्यासेन च रागद्वेषशून्यतया यः स्वपरसुखदुःखादिषु समदृष्टिः स परमो योगी मतो यस्तु विषमदृष्टिः स तत्त्वज्ञानवानप्यपरमो योगीति ॥ ३२ ॥

कहे हैं, प्रपञ्चाभाव विरोधी योगाभ्यास मनोनिरोधाभ्यास है सो कहा है—

'अत्यन्ताभावसम्पत्तौ ज्ञातुर्ज्ञेयस्य वस्तुनः ।
युक्त्या शास्त्रैर्यतन्ते ये तेऽप्यत्राभ्यासिनः स्मृताः'॥

ज्ञातृ ज्ञेय में मिथ्यात्वबुद्धि का अभाव सम्पत्ति है एतदर्थ योग से दृश्यासम्भवज्ञान से रागद्वेषादि दोष कम होने पर,—

'रतिर्घनोदिता याऽसौ ब्रह्माभ्यासः स उच्यते' इति ।

रागद्वेषादिक्षीणतारूप वासनाक्षयाभ्यास कहा गया है अतः यह सोपपत्तिक है कि तत्त्वज्ञान के अभ्यास से मनोनाश के अभ्यास से, वासनाक्षयाभ्यास से रागद्वेषादि रहित होकर जो स्वपरदुःखादि में समदृष्टि है वह परम योगी माना जाता है और जो विषमदृष्टि परसुख को पर का ही सुख मानता है अपना नहीं वह परमयोगी है ॥३२॥

चञ्चलं हि मनः कृष्ण ! प्रमाथि बलवद्दृढम्।
तस्याऽहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥ ३४ ॥

क्योंकि हे कृष्ण ! यह मन बड़ा चञ्चल और प्रमथन स्वभाववाला है तथा बड़ा दृढ़ और बलवान् है, इसलिये उसका वशमें करना मैं वायुकी भांति अति दुष्कर मानता हूँ ॥ ३४ ॥

म० टी०—उक्तमर्थमाक्षिपन् अर्जुन उवाच—योऽयं योग इति। योऽयं सर्वत्र समदृष्टिलक्षणः परमो योगः साम्येन समत्वेन चित्तगतानां रागद्वेषादीनां विषमदृष्टिहेतूनां निराकरणेन त्वया सर्वज्ञेनेश्वरेणोक्तः हे मधुसूदन सर्ववैदिकसंप्रदायप्रवर्तक ! एतस्य त्वदुक्तस्य योगस्य स्थितिं विद्यमानतां स्थिरां दीर्घकालानुवर्तिनीं न पश्यामि न संभावयामि अहमस्मद्विधोऽन्यो वा योगाभ्यसनिपुणः कस्मान्न संभावयसि तत्राह—चञ्चलत्वान्मनस इति शेषः ॥ ३३ ॥

म० टी०—सर्वलोकप्रसिद्धत्वेन तदत्र चञ्चलत्वमुपपादयति—चञ्चलमिति। चञ्चलम् अत्यर्थं चलं सदा चलनस्वभावं मनः हि प्रसिद्धमेवैतत् भक्तानां पापादिदोषान् सर्वथा निवारयितुमशक्यानपि कृषति निवारयति तेषामेव सर्वथा प्राप्तुमशक्यानपि पुरुषार्थानाकर्षति प्रापयतीति

उक्त अर्थ का आक्षेप करते हुए अर्जुन बोले—सर्वत्र समदृष्टिरूप जो यह परम योग रागद्वेषादि चित्तगत में विषमदृष्टि हेतु से हटाकर सर्वज्ञ ईश्वर आपने कहा—हे मधुसूदन ! सब वैदिकसम्प्रदायप्रवर्त्तक भवदुक्त सर्वमनोवृत्ति-निरोध लक्षण यह योग चिरकाल तक स्थिर रहेगा इसकी सम्भवाना मैं नहीं करता मैं और मेरे सदृश अन्य योगाभ्यास पर।

प्रश्न - क्यों नहीं सम्भावना करते हो ?

उत्तर—मन चञ्चल है ॥३३॥

सर्वजन प्रसिद्ध मनोगत चाञ्चल्य का निरूपण करते हैं—अतिचञ्चल सदा मन, चलन स्वभाव है 'हि' प्रसिद्धि का द्योतक है। यह लोक में प्रसिद्धि ही है कि मन अतिचञ्चल है दूसरे के परिहारायोग्य भक्तगत पापों का सर्वथा कर्षण निराकरणकर्त्ता और उन्हीं भक्तों को दुष्प्राप्य पुरुषार्थ को आकर्षति प्राप्त

वा कृष्णस्तेन रूपेण संबोधयन् दुर्निवारमपि चित्तचाञ्चल्यं निवार्य दुष्प्रापमपि समाधिसुखं त्वमेव प्रापयितुं शक्नोषीति सूचयति, न केवलमत्यर्थं चञ्चलं किंतु प्रमथितुं शरीरमिन्द्रियाणि च प्रक्षोभयितुं शीलं यस्य तत् क्षोभकतया शरीरेन्द्रियसङ्घातस्य विवशताहेतुरित्यर्थः। किंच बलवत् अभिप्रेताद्विषयात् केनाऽप्युपायेन निवारयितुमशक्यम्, किंच दृढं विषयवासनासहस्रानुस्यूततया भेत्तुमशक्यं तन्तुनागो नागपाशः ता तनीति गुर्जरादौ प्रसिद्धो महाह्रदनिवासी जन्तुविशेषो वा तस्यातिदृढतया बलवतो बलवत्तया प्रमाथिनः प्रमाथितयाऽतिचञ्चलस्य महामत्तवनगजस्येव मनोनिग्रहं निरोधं निर्वृत्तिकतयाऽवस्थानं सुदुष्करं सर्वथा कर्तुमशक्यमहं मन्ये वायोरिव यथाकाशे दोधूयमानस्य वायोर्निश्चलत्वं सम्पाद्य निरोधनमशक्यं तद्वदित्यर्थः। अयं भावः—जातेऽपि तत्त्वज्ञाने प्रारब्धकर्मभोगाय जीवतः पुरुषस्य कर्तृत्वभोक्तृत्वसुखदुःखरागद्वेषादिलक्षणश्चित्तधर्मः क्लेशहेतुत्वाद्बाधितानुवृत्त्याऽपि बन्धो भवति

कहाते हैं अतः कृष्ण यह आपका अन्वर्थ नाम है अतः उसी रूप से सम्बोधन करते हुए दुर्निवार चित्तचाञ्चल्य का निराकरण कर दुष्प्राप्य समाधिसुख आप ही प्राप्त करा सकते हैं यह सूचित होता है। मन केवल अतिचञ्चल ही नहीं किन्तु शरीर इन्द्रियों को प्रमथन क्षुब्ध करने वाला स्वभाव है जिसका वह प्रमाथी है, क्षोभक होने से शरीरेन्द्रिय की विवशता का हेतु है। किञ्च ईप्सित अर्थ से किसी उपाय से वारण करने में अशक्य है तथा अनेक दृढ़वासना अनुबद्ध होने से भेदन करने में अशक्य है। भाष्य में है—'तन्तुनागवत् अच्छेद्यस्तन्तुनागो नागपाशः' तान्तनी यह गुजरात में प्रसिद्ध है। महाह्रदनिवासी जलचर जन्तुविशेष तन्तुनाग है यह भी किसी का मत है। मन, अतिदृढ़, बलवान् प्रमाथी अतिचञ्चल है, महामत्त गजराज के समान इसका निग्रह निरोध अर्थात् वृत्तिशून्यतया अवस्थान सर्वथा दुष्कर है, वायु निरोध के समान अशक्य माना जाता है यथा आकाश के चञ्चल वायु में निश्चलत्व का सम्पादन कर रोकना अशक्य है तद्वत् मन का भी यह अर्थ है। अभिप्राय यह है कि तत्त्वज्ञान होने पर भी प्रारब्ध कर्म भोगने के लिए जब तक पुरुष जीता है तबतक कर्तृत्व भोक्तृत्व. सुख, दुःख, राग, द्वेषादि से लक्षण चित्त धर्म क्लेशहेतु होने से बाधितानुवृत्ति से भी पुरुष का बन्ध है चित्तवृत्ति निरोधरूपयोग से बन्ध का

चित्तवृत्तिनिरोधरूपेण तु योगेन तस्य निवारणं जीवन्मुक्तिरित्युच्यते, यस्याः सम्पादनेन स योगी परमो मत इत्युक्तं तत्रेदमुच्यते बन्धः किं साक्षिणो निवार्यते किं वा चित्तात्? नाद्यस्तत्त्वज्ञानेनैव साक्षिणो बन्धस्य निवारितत्वात्, न द्वितीयः स्वभावविपर्ययायोगात् विरोधिसद्भावाच्च, न हि जलादार्द्रत्वमग्नेर्वोष्णत्वं निवारयितुं शक्यते 'प्रतिक्षणपरिणामिनो हि भावा ऋते चितिशक्तेः' इतिन्यायेन प्रतिक्षणपरिणामस्वभावत्वाच्चित्तस्य प्रारब्धभोगेन च कर्मणा कृत्स्नाऽविद्यातत्कार्यनाशने प्रवृत्तस्य तत्त्वज्ञानस्यापि प्रतिबन्धं कृत्वा स्वफलदानाय देहेन्द्रियादिकमवस्थापितम्, न च कर्मणा स्वफलसुख-दुःखादिभोगश्चित्तवृत्तिभिर्विना सम्पादयितुं शक्यते तस्माद्यद्यपि स्वाभाविका-नामपि चित्तपरिणामानां कथंचिद्योगेनाभिभवः शक्येत कर्तुं तथापि तत्त्व-

निवारण जीवन्मुक्त कहा जाता है, जिसके सम्पादन से वह परमयोगी कहा जाता है यह कह चुके हैं। उस में यह कहते हैं—बन्ध का क्या साक्षी से निवारण करते हैं किम्वा चित्त से? प्रथम पक्ष ठीक नहीं, साक्षी का बन्ध तत्त्वज्ञान ही से निवारित हो चुका है, द्वितीय पक्ष भी ठीक नही. स्वभाव का विपर्यय अभाव नहीं हो सकता। द्वितीय विरोधी सद्भावना हैं, जल में आर्द्रत्व और अग्नि में उष्णत्व. इसका वारण नहीं कर सकते ; क्योंकि वे उक्त पदार्थों के स्वभाव हैं यावत्पदार्थ स्थिति तावत्स्वभाव स्थिति मानी जाती है 'प्रतिक्षणं परिणामिनो हि भावा ऋते चितिशक्ते' इस योगभाष्योक्तन्याय से चित्त प्रतिक्षण परिणाम स्वभावी होने से और प्रारब्धभोग से कर्म से सम्पूर्ण अविद्या तत्कार्य नाश में प्रवृत्त तत्त्व-ज्ञान का प्रतिबन्धकर सफल ज्ञान के लिए देहेन्द्रियादिक को स्थापित करता है। अर्थात् तत्त्वज्ञान अविद्या तत्कार्य के नाश में प्रवृत्त होता है, परन्तु प्रारब्धकर्म बलवान् होने से भोग जनक शरीरेन्द्रियादिक को स्थापित करता ही है तत्त्वज्ञान प्रारब्धकर्मेतर अविद्या तत्कार्यका नाशक माना जाता है अतएव 'क्षीयन्ते' चास्य कर्माणि' इसके प्रारब्धेतरकर्म अर्थ किया जाता है। प्रारब्धकर्म भोग ही से नष्ट होता है उपायान्तर से नहीं। कर्म चित्तवृत्ति के विना सफल सुखदुःखादि का भोग नहीं कहा जा सकता एतदर्थ चित्तवृत्ति भी उक्त कर्मवश रहती है इस कारण स्वाभाविक चित्तपरिणामों का कथञ्चित् योग से निरोध कर सकते हैं

श्रीभगवानुवाच

असंशयं महाबाहो ! मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
अभ्यासेन तु कौन्तेय ! वैराग्येण च गृह्यते ॥ ३५ ॥

इस प्रकार अर्जुनके पूछने पर श्रीकृष्ण भगवान् बोले, हे महाबाहो ! निःसन्देह मन चञ्चल और कठिनता से वशमें होनेवाला, हे कौन्तेय ! हे कुन्तीपुत्र अर्जुन ! अभ्यास* अर्थात् स्थिति के लिये बारम्बार यत्न करने से वशमें होता है, इसलिये इसको अवश्य वशमें करना चाहिये ॥ ३५ ॥

ज्ञानादिव योगादपि प्रारब्धफलस्य कर्मणः प्राबल्यादवश्यंभाविनि चित्तस्य चाञ्चल्ये योगेन तन्निवारणमशक्यमहं स्वबोधादेव मन्ये तस्मादनुपपन्नमेतदात्मौपम्येन सर्वत्र समदर्शी परमो योगी मत इत्यर्जुनस्याक्षेपः ॥ ३४ ॥

म० टी०—तमिममाक्षेपं परिहरन् श्रीभगवानुवाच—**असंशयमिति।** सम्यग्विदितं ते चित्तचेष्टितं मनो निग्रहीतुं शक्ष्यसीति संतोषेण संबोधयति—हे महाबाहो महान्तौ साक्षान्महादेवेनापि सह कृतप्रहरणौ बाहू यस्येति निरतिशयमुत्कर्षं सूचयति, प्रारब्धकर्मप्राबल्यादसंयतात्मना दुर्निग्रहं दुःखेनाऽपि निग्रहीतुमशक्यं प्रमाथि बलवद्दृढमिति विशेषणत्रयं पिण्डीकृत्यैतदुक्तं चलं

तथापि तत्त्वज्ञान के समान योग से भी प्रारब्धफलक कर्म प्रबल होने से चित्त-विक्षेप अवश्यम्भावी है योग से उसका निवारण अशक्य अपने बोधानुसार ही मानता हूँ अतः यह सर्वथा अनुपपन्न है कि आत्मदृष्टान्त से सर्वत्र समदर्शी परमयोगी माना जाता है यह अर्जुन का आक्षेप है ॥३४॥

इस आक्षेप का परिहार करते हुए भगवान् बोले—तुम्हारे चित्त के विषय को मैं पूर्ण जान गया हूँ। तुम मन के निग्रह में समर्थ होओगे इस सन्तोष से समझाते हैं हे महाबाहो ! महान्तौ साक्षात् महादेवेनापि सह कृतप्रहरणौ यस्य स महाबाहुः तत्सम्बुद्धौ हे महाबाहो ! (अर्जुन के तपश्चरण के समय भिल्ल-रूपधारी श्रीमहादेवजी के साथ बाहुयुद्ध हुआ है यह इतिहास में प्रसिद्ध है। इस प्रकार अर्जुन के बाहु में सामर्थ्यातिशय उक्त सम्बोधन से सूचित करते हैं। प्रारब्धकर्मप्राबल्य से अनियन्त्रित आत्मा से दुर्निग्रह दुःख से भी निरोध करने में अशक्य 'प्रमाथि बलवत् दृढम्' इन तीनों विशेषणों को एक कर निचोड़ कर दुर्निग्रह कहा। अर्थात् दुर्निग्रहमें तीनों अन्तर्भूत हो जाते हैं, चल स्वभाव

स्वभावचञ्चलं मन इत्यसंशयं नास्त्येव संशयोऽत्र सत्यमेवैतद् ब्रवीषीत्यर्थः। एवं सत्यपि संयतात्मना समाधिमात्रोपायेन योगिनाऽभ्यासेन वैराग्येण च गृह्यते निगृह्यते सर्ववृत्तिशून्यं क्रियते तन्मन इत्यर्थः। अनिग्रहीतुरसंयतात्मनः सकाशात् संयतात्मनो निग्रहीतुर्विशेषद्योतनाय तु शब्दः। मनोनिग्रहेऽभ्यास-वैराग्ययोः समुच्चयबोधनाय चशब्दः, हे कौन्तेयेति पितृष्वसृपुत्रस्त्वमवश्यं मया सुखीकर्तव्य इति स्नेहसंबन्धसूचनेनाश्वासयति। अत्र प्रथमार्धेन चित्तस्य हठनिग्रहो न संभवतीति द्वितीयार्धेन तु क्रमनिग्रहः संभवतीत्युक्तम्। द्विविधो हि मनसो निग्रहः हठेन क्रमेण च तत्र चक्षुःश्रोत्रादीनि कर्मेन्द्रियाणि च तद्गोलकमात्रोपरोधेन हठान्निगृह्यन्ते तद्दृष्टान्तेन मनोऽपि हठेन निग्रहीष्यामीति मूढस्य भ्रान्तिर्भवति न च तथा निग्रहीतुं शक्यते तद्गोलकस्य हृदयकमलस्य

चञ्चल मन है इसमें संशय नहीं है, सत्य ही कहते हो; ऐसा होनेपर भी संयतात्मा से समाधिमात्रोपाय योगी से अभ्यास और वैराग्य से मन निग्रहीत यानी सर्ववृत्तिशून्य किया जाता है। अनिगृहीत असंयतात्मा पुरुष मन का निग्रह नहीं कर सकता। उससे संयतात्मा में जो कि मन का निग्रह कर सकता है उसमें विशेषद्योतन करने के लिए श्लोक में 'तु' शब्द है। मनोनिग्रह में अभ्यास वैराग्य इन दोनों का समुच्चय हेतु है एकैक नहीं इसके सूचना के लिए 'च' शब्द है। हे कौन्तेय! यह सम्बोधन पितृभगिनीपुत्र आप हैं अवश्य आप को सुखी करूंगा। इस स्नेहसम्बन्ध सूचन से अर्जुन का आश्वासन करते हैं। इस श्लोक में पहले के आधे से चित्त का हठ निग्रह का सम्भव नहीं, द्वितीयार्द्ध से क्रमनिग्रह का सम्भव है यह कहा। दो प्रकार का मनोनिग्रह होता है। हठ से और क्रम से, इसमें चक्षुश्रोत्रादि ज्ञानेन्द्रिय और वाक्पाण्यादि कर्मेन्द्रियाँ तत्तद् गोलकमात्र अर्थात् तत्तद् अभिव्यञ्जकस्थान का बलान्निरोध करने से इन्द्रियाँ निरुद्ध हो जाती है। जैसे आँख मीचने से चक्षुरिन्द्रिय निरुद्ध हो ही जाती है इसी प्रकार शेष इन्द्रियों का भी हठ से निग्रह करना समझना।

इसी दृष्टान्त से मन का भी हठ से निग्रह करेंगे यह मूढ़ को भ्रान्ति होती है, किन्तु मन का वैसा निग्रह नहीं कर सकते क्योंकि तद् गोलक तद् अभिव्यञ्जक हृदयकमल का निरोध अशक्य है अतएव मन का क्रम निग्रह

कर्माशुक्लकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम् ।

सिद्धयोग अतएव क्षीणक्लेश योगी का कर्म शरीरादि व्यापार अशुक्ल कृष्ण होता है। वह पुण्यपाप का हेतु नहीं होता है अन्य अयोगियों का कर्म तीन प्रकार का होता है। कर्मसामान्य चार प्रकार का है—दुःखफलप्रद तथा तमोगुणवर्द्धक कृष्ण है शुक्ल कृष्ण सुख दुःखफलप्रद एवं रजोवर्द्धक है। शुक्ल सुखफलप्रद तथा सत्त्वगुणवर्द्धक होता है, अशुक्ल कृष्ण सुखदुःखफलशून्य क्योंकि वह गुणों का हेतु नहीं है। यहां अशुक्लकृष्ण कर्मों के सुखदुःखरूपफल का ही प्रतिषेध किया है फलसामान्य का नहीं इससे अन्तःकरणशुद्धिरूपफल होता है। अन्तःकरणशुद्धि ज्ञान से ही हो जायगी फिर उक्त कर्म का वह फल नहीं यह शङ्का ठीक नहीं कारण कर्म भी ज्ञानाङ्ग होने से अन्तःकरणशुद्धि का हेतु है यह ज्ञानकर्म साहित्यवादियों का मत है। वस्तुतस्तु सत्त्वशुद्धिके अनन्तर ही ज्ञानोत्पत्ति है अतनसे शुद्धि नहीं हो सकती है अतएव—

'ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात्पापस्य कर्मणः ।'

यह स्मार्त वचन है। पापक्षयरूपा सत्त्वशुद्धि इष्ट है—

'कायेन मनसा बुद्धया केवलैरिन्द्रियैरपि ।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये ॥'

अन्यथा वशिष्ठयादि महर्षियों में कर्मानुष्ठानादि की उपपत्ति नहीं हो सकेगी। यदि कहिये कि लोकसंग्रहार्थ है तो उत्तर यह है कि लोकसंग्रह स्वतः पुरुषार्थ नहीं है किन्तु कैवल्यहेतु सत्त्वशुद्धिद्वारा उक्तार्थ में ही पर्यवसन्न है। चार प्रकार के कर्मों का क्रम से उदाहरण योगभाष्य में है। पापियों के जितने कर्म शरीरेन्द्रियादिभिन्न साधन साध्य है सर्वों में किसी प्राणी की पीड़ा अवश्य होती है। व्रीह्यादिसाध्य कर्म पुरोडाशादि होम भी अवघातादिसमय में चींटी आदि के वध से बरी नहीं। दक्षिणादानादि से ब्राह्मणों का उपकार होता है अतः यज्ञादि शुक्ल कृष्ण है इसमें पुण्यपापहेतु रहने से सुखदुःखोभयफलप्रदत्व है। तपः स्वाध्यायध्यानवत् असंन्यासिका है क्योंकि उक्त कर्म केवल मन से होता है अतः बहिःसाधन की अपेक्षा नहीं। मानस कर्म में किसी की हिंसा नहीं होती इसलिये सुखप्रदपुण्यफलक होने से शुक्ल ही है अशुक्ल कृष्ण संन्यासियों का है क्योंकि उनके प्रति किसी कर्म का विधान नहीं है अतः वे बहिःसाधनसाध्य कर्म में नहीं प्रवृत्त होते अतः उनका कर्माशय कृष्ण नहीं होता। योगानुष्ठान से उत्पन्न कर्माशय फल का ईश्वर में समर्पण करने से शुक्ल भी कर्माशय नहीं, निरवद्यफल शुक्ल कहाता है जिस का फल ही नहीं है उसमें निरवद्यत्व की क्या संभावना इस प्रकार चतुष्टयी जाति भाष्यकार ने कहा है। (यह टिप्पणी ७६३के ८वे लाईनमें देखिये)

निरोद्धुमशक्यत्वात् अतएव च क्रमनिग्रह एव युक्तस्तदेतद्भगवान् वसिष्ठ आह—

उपविश्योपविश्यैव चित्तज्ञेन मुहुर्मुहुः ।
न शक्यते मनो जेतुं विना युक्तिमनिन्दिता ॥
अङ्कुशेन विना मत्तो यथा दुष्टमतङ्गजः ।
अध्यात्मविद्याधिगमः साधुसङ्गम एव च ॥
वासनासंपरित्यागः प्राणस्पन्दनिरोधनम् ।
एतास्ता युक्तयः पुष्टाः सन्ति चित्तजये किल ॥
सतीषु युक्तिष्वेतासु हठान्नियमयन्ति ये ।
चेतस्ते दीपमुत्सृज्य विनिघ्नन्ति तमोऽञ्जनैः ॥' इति ।

क्रमनिग्रहे चाध्यात्मविद्याधिगम एक उपायः, सा हि दृश्यस्य मिथ्यात्वं दृग्वस्तुनश्च परमार्थसत्यपरमानन्दस्वप्रकाशत्वं बोधयति । तथा च सत्येतन्मनः स्वगोचरेषु दृश्येषु मिथ्यात्वेन प्रयोजनाभावं प्रयोजनवति च परमार्थसत्यपरमा-

---

ही मुक्त है यह भगवान् वसिष्ठ ने कहा है—

'उपविश्योपविश्यैव चित्तज्ञेन मुहुर्मुहुः ।'

इत्यादि मूलमें देखिये। बैठ बैठकर बारम्बार चित्तज्ञ पुरुष भी अदूषित युक्तिके बिना मन का विजय नहीं कर सकता, जैसे दुष्टमत्तगज (हाथी) अंकुश के बिना वश में नहीं आता किन्तु अंकुश से ही वश में आता है तथा साधु संगत से ही अध्यात्मविद्या होती है। वासना संपरित्याग प्राणचलन निरोध ये ही चित्तनिरोध में प्रबल युक्तियाँ हैं। इन युक्तियों के रहते हुए जो लोग हठ से मन को नियन्त्रित करते हैं वे लोग दीप का त्याग कर अंजन से तम की निवृत्ति करना चाहते हैं, दीप से ही तमोनाश होता है अञ्जन से नहीं। क्रम निग्रह में अध्यात्मविद्याधिगम एक उपाय है अर्थात् प्रधान उपाय है यह विद्या दृश्यमात्र को मिथ्या और दृग् वस्तु को परमार्थसत्य परमानन्द स्वप्रकाश बोधन कराती है। ऐसा मन होने पर यह मन स्वविषय दृश्यों में मिथ्यात्वप्रकाश (दर्शन) से प्रयोजनाभाव समझ कर और प्रयोजनवान् परमार्थसत्य परमानन्दरूप दृग्वस्तु स्वप्रकाश होने से स्वाविषयत्व को समझ कर और काष्ठादि

नन्दरूपे द्वयवस्तुनि स्वप्रकाशत्वेन स्वागोचरत्वं बुद्ध्वा निरिन्धनाग्निवत् स्वयमेवोपशाम्यति, यस्तु बोधितमपि तत्त्वं न सम्यग्बुध्यते यो वा विस्मरति तयोः साधुसङ्गम एवोपायः, साधवो हि पुनः पुनर्बोधयन्ति स्मारयन्ति च। यस्तु विद्यामदादिदुर्वासनया पीड्यमानो न साधूननुवर्तितुमुत्सहते तस्य पूर्वोक्तविवेकेन वासनापरित्याग एवोपायः, यस्तु वासनानामतिप्राबल्यात्तास्त्यक्तुं न शक्नोति तस्य प्राणस्पन्दवासनयोश्चित्तयोर्निरोधे चित्तशान्तिरुपपद्यते तदेतदाह स एव—

'द्वे बीजे चित्तवृक्षस्य प्राणस्पन्दनवासने।
एकस्मिंश्च तयोः क्षीणे क्षिप्रं द्वे अपि नश्यतः॥
प्राणायामदृढाभ्यासैर्युक्त्या च गुरुदत्तया।
आसनाशनयोगेन प्राणस्पन्दो निरुध्यते॥

असङ्गव्यवहारित्वाद्भवभावनवर्जनात्। शरीरनाशदर्शित्वाद्वासना न प्रवर्तते।

वासनासंपरित्यागाच्चित्तं गच्छत्यचित्तताम्।
प्राणस्पन्दनिरोधाच्च यथेच्छसि तथा कुरु॥

एतावन्मात्रकं मन्ये रूपं चित्तस्य राघव!। यद्भावनं वस्तुनोऽन्तर्वस्तुत्वेन रसेन च॥

यदा न भाव्यते किञ्चिद्धेयोपादेयरूपि यत्।
स्थीयते सकलं त्यक्त्वा तदा चित्तं न जायते॥

शून्य अग्नि की तरह स्वयमेव शान्त हो जाता है। जो सम्बोधित भी तत्त्व को सम्यक् नहीं समझता अथवा भूल जाता है इन दोनों के लिए साधुसंगम ही उपाय है क्यों कि साधु लोग फिर फिर समझावेंगे तथा स्मरण करावेंगे। जो पुरुष विद्या, अहंकार, दुर्वासना से पीड़ित होकर साधुओं की अनुवृत्ति करने का उत्साह नहीं करता उसको वासनापरित्याग पूर्वोक्त विवेक से होता है अतः पूर्वोपाय ही है। और जो अतिप्रबल वासनाओं के त्याग में समर्थ नहीं है उसका प्राणस्पंद निरोध ही उपाय है। प्राणस्पंद तथा वासना ये दोनों चित्त के प्रेरक हैं इनके निरोध से चित्त शान्त होता है यह वहाँ ही वशिष्ठ जी ने कहा है—'द्वे बीजे चित्तवृक्षस्य' इत्यादि।

अवासनत्वात्सततं यदा न मनुते मनः।

अमनस्ता तदोदेति परमात्मपदप्रदा ॥' इति।

अत्र द्वावेवोपायौ पर्यवसितौ प्राणस्पन्दनिरोधार्थमभ्यासः वासनापरित्यागार्थं च वैराग्यमिति साधुसङ्गमाध्यात्मविद्याधिगमौ त्वभ्यासवैराग्योपपादकतयान्थासिद्धौ तयोरेवान्तर्भवतः, अतएव भगवताऽभ्यासेन वैराग्येण चेति द्वयमेवोक्तम्। अतएव भगवान् पतञ्जलिरसूत्रयत्—'अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः' इति। तासां प्रागुक्तानां प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतिरूपेण पञ्चविधाना-

यहाँ पर दो ही उपाय वस्तुतः सिद्ध हुए, प्राणस्पंद निरोधार्थ अभ्यास और वासना परित्यागार्थ वैराग्य साधुसंगम और अध्यात्मविद्याधिगम ये दोनों अभ्यास वैराग्यादि के उत्पादक होने से अन्यथा सिद्ध हैं अर्थात् स्वतः प्राप्त हैं अतः अभ्यास वैराग्य ही में अन्तर्भाव है अतएव भगवान् ने अभ्यास और वैराग्य इन्हीं दोनों उपायों को कहा है। भगवान् पतञ्जलि ने भी सूत्र रचा है, सूत्र—(१) अभ्यास वैराग्याभ्यां तन्निरोधः'। पूर्वोक्त प्रमाण विपर्यय विकल्प निद्रा स्मृतिरूप से पञ्चप्रकार

(१) निरोध के उपाय को कहते हैं—अभ्य सवैराग्येति। अभ्यास वैराग्य का आगे निरूपण करेंगे। निरोध की उत्पत्ति में अवान्तर व्यापार भेद से अभ्यास वैराग्य का समुच्चय हेतु है एकैक नहीं। एकैक होता तो व्रीहियववद्विकल्प होता। यही चित्तनदीत्यादि से कहते हैं—चित्त नामक नदी दो धारों से वहती है। एक धारा कल्याण के लिये वहती है दूसरी धारा पाप के लिये वहती है दो धारों से वहने का कल्याण और पाप स्पष्ट प्रयोजन कहा है। कल्याण मोक्ष पाप संसार क्योंकि पाप का कारण संसार है कार्य में कारण का प्रयोग है सो कहा है—

'प्रत्यग्दृशां विमोक्षाय निवन्धाय परागदृशाम्।

अपामार्गलतेवायं विरुद्धफलदो भवः ॥'

जो अपने मार्ग पर दृष्टि देकर चलता है वह तो चिचिरी से बच जाता है और जो अन्यत्र दृष्टि देकर चलता है वह उसमें फँस जाता है वैसा ही मोक्ष बन्ध दोनों विरुद्धफल को देने वाला संसार है। प्राग्भार का अभिमुख अर्थ है निम्न का अर्थ नीची भूमि है क्योंकि जल नीची भूमि से ही वहता है विवेकाभिमुख विवेकविषय निम्नप्रदेश है जिसका एवंभूत चित्त नदी मोक्षदायिनी है। मिश्रजी ने प्राग्भार का प्रबन्ध और निम्न का गम्भीर अर्थ किया है। वैराग्य से चित्त नदी के विषगामी धारा को बलवान् करते हैं, जैसे नदी से नहर

मनन्तानामासुरत्वेन क्लिष्टानां दैवत्वेनाक्लिष्टानामपि वृत्तीनां सर्वासामपि निरोधो निरिन्धनाग्निवदुपशमाख्यः परिमाणोऽभ्यासेन वैराग्येण च समुच्चितेन भवति। तदुक्तं योगभाष्ये—चित्तनदीनामुभयतो वाहिनी वहति कल्याणाय वहति पापाय च। तत्र या कैवल्यप्राग्भारा विवेकनिम्ना सा कल्याणवहा, या त्वविवेकनिम्ना संसारप्राग्भारा सा पापवहा। तत्र वैराग्येण विषयस्रोतः खिलीक्रियते विवेकदर्शनाभ्यासेन च कल्याणस्रोत उद्घाट्यते इत्युभयाधीनश्चित्तवृत्तिनिरोध इति। प्राग्भारनिम्नपदे तदा विवेकनिम्नं कैवल्यप्राग्भारं चित्तमित्यत्र व्याख्यायते—यथा तीव्रवेगापेतं नदीप्रवाहं सेतुबन्धनेन क्षेत्राभिमुखं तिर्यक्प्रवाहान्तरमुत्पाद्यते तथा वैराग्येण चित्तनद्या विषयप्रवाहं निवार्य समाध्यभ्यासेन प्रशान्तवाहिता सम्पाद्यत इति द्वारभेदात्समुच्चय एव। एकद्वारत्वे हि व्रीहियववद्विकल्प इति शङ्कां निवारयितुमभ्यासं सूत्रयतिस्म—

वृत्तिस्वरूप से अनन्त आसुरत्वेन क्लिष्ट दैवत्वेन अक्लिष्ट सब वृत्तियों का विरोध काष्ठशून्य अग्निवत् उपशमाख्य चित्त का परिणामविशेष अभ्यास वैराग्य के समुचय से होता है, यह योगभाष्य में लिखा है—चित्तं नदीनाम, उभयतो वाहिनी वहति, इत्यादि प्राग्भार निम्नप्रदेश; सूत्र—तदा विवेकनिम्नं कैवल्यं प्राग्भारं चित्तम्' इस सूत्र पर व्याख्यान करेंगे। तीव्रवेगसंयुक्त नदी का प्रवाह सेतुबन्धद्वारा वारण कर नहर के द्वारा क्षेत्राभिमुख तिर्यक्प्रवाहान्तर उत्पन्न किया जाता है, यथा नहर वाले सेतु से नदी के वेग को रोककर नदीजल नहर द्वारा खेतों में पहुँचाते हैं उसी प्रकार चित्त नदी के विषयाभिमुख प्रवाह को वैराग्य से निरोध कर समाधि के अभ्यास से प्रशान्तवाहिता चित्त में सम्पादित होती है द्वारभेद से समुच्चय है अर्थात वैराग्य से चित्तनदी के विषयप्रवाह का निवारण और अभ्यास से प्रशान्तवाहिता होगी।

इस प्रकार प्रशान्तवाहिता में दोनों का समुच्चय निहित है एक द्वार होने पर व्रीहि यव की तरह विकल्प हो जाता है यथा "व्रीहिभिर्यजेत" "यवैर्यजेत"

निकाली जाती है वैसे ही प्रकृति में समझना। इस प्रकार निरोध और उद्घाटनरूप व्यापार भेद से दोनों चित्तवृत्ति का निरोध होता है एक एक से नहीं अतः अभ्यास वैराग्य की वृत्तिनिरोध में समुचय हेतु है विकल्प नहीं।

(१) 'तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यास' इति। तत्र स्वरूपावस्थिते द्रष्टरि शुद्धे चिदात्मनि चित्तस्यावृत्तिकस्य प्रशान्तवाहितारूपा निश्चलतास्थितिस्तदर्थं यत्नो मानस उत्साहः स्वभावचाञ्चल्याद्बहिः प्रवाहशीलं चित्तं सर्वथा निरोत्स्यामीत्येवंविधः स आवर्त्यमानोऽभ्यास उच्यते (२)---'स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारसेवितो

इन वाक्यों से व्रीहि और यव इन दोनों का यागसाधकत्वेन विधान है पुरोड़ाश दोनों का द्वार है उक्त साधनता में पुरोड़ाशस्वरूपद्वारा एक होने से व्रीहि और यव का विकल्प है अर्थात् एकैक से ही याग किया जाता है दोनों से नहीं तद्वत् यहाँ भी द्वार एक होता तो अभ्यास वैराग्य का विकल्प हो जाता, समुच्चय नहीं होता सो प्रकृत में नहीं है।

प्रश्न—मन्त्र जप देवता ध्यानादिरूप क्रियाओं का पुनः पुनः आवर्त्तन लक्षण अभ्यास सम्भव है, सर्वव्यापाराभावसमाधि में अभ्यास क्या हो सकता है अर्थात् किसका पुनः पुनः आवर्त्तन किया जायगा क्योंकि क्रिया ही साक्षात्साध्य है अन्य नहीं निरोध क्रिया की अभावरूप है, अतः कृतिसाध्य नहीं ?

उत्तर—इस शंकाके वारण करनेके लिए सूत्र है—"तत्रास्थितौ यत्नोऽभ्यासः" इति। तत्र स्वरूपावस्थिते अर्थात् स्वरूपसे स्थित शुद्ध चिदात्मामें वृत्तिशून्य चित्तकी प्रशान्तवाहितारूप निश्चलता स्थिति तदर्थ यत्न मानस उत्साह स्वभावचाञ्चल्यसे बहिःप्रवाहशील चित्तका सर्वथा निरोध करेंगे एवंविध आवर्तमान उत्साह अभ्यास कहा गया है—'स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारसेवितो अनिर्वेद से दीर्घ

(१) तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः।

उस अभ्यास वैराग्य के मध्यमें राजसतामसवृत्तिरहित चित्त की स्थित प्रशान्तवाहिता हर्षशोकादिरहित एकाग्रवृत्तिधारा और शास्त्रान्तर में शान्ति भी कहा है—

'श्रुत्वा स्पृष्ट्वा च दृष्ट्वा च भुक्त्वा घ्रात्वा शुभाशुभम्।
न हृष्यति न ग्लायति च स शान्त इति कथ्यते॥' इति।

स्थिति शब्दार्थ का अर्थ है स्थितौ में तदर्थ 'चर्मणि द्विपिनं हन्ति' यहां जैसे चर्मार्थ यह अर्थ है, वैसे स्थितौ का अर्थ स्थित्यर्थ है इसको निमित्त कहते है निर्वृत्तिक चित्तसंपादन की इच्छा से श्रद्धा वीर्यस्मृति समाधि प्रज्ञादिवक्ष्यमाण साधनों का अनुष्ठान अभ्यास है।

(२) 'स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारसेवित इत्यादि'

अनादि विरोधी व्युत्थान संस्कार से प्रतिरुद्ध अभ्यास स्थितिका संपादन कैसे करेगा इस शंका का उत्तर देते है सूत्रकार—स तु इत्यादि से। यह अभ्यास दीर्घकालसेवित निरन्तरसेवित

विच्छेदाभावेन निरन्तरासेवितः सत्कारेण श्रद्धातिशयेन वा सेवितः सोऽभ्यासो दृढभूमिर्विषयसुखवासनया चालयितुमशक्यो भवति अदीर्घकालत्वे दीर्घकालत्वेऽपि विच्छिद्य विच्छिद्य सेवने श्रद्धातिशयाभावे च लयविक्षेपकषायसुखास्वादानामपरिहारे व्युत्थानसंस्कारप्राबल्याद् दृढभूमिरभ्यासः फलाय न स्यादिति त्रयमुपात्तम् वैराग्यं तु द्विविधं परम् अपरं च। यतमानसंज्ञाव्यतिरेकसंज्ञैकेन्द्रियसंज्ञावशीकारसंज्ञाभेदैरपरं चतुर्धा। तत्र पूर्वभूमिजयेनोत्तरसंपादनविवक्षया चतुर्थमेवासूत्रयत्—'दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा-वैराग्यम्' इति। स्त्रियोऽन्नपानमैश्वर्यमित्यादयो दृष्टा विषयाः स्वर्गो विदेहता

काल से सेवित मध्य में विच्छेदरहित सेवित व्यवधानशून्य सेवित और श्रद्धातिशयरूपसत्कार से सेवित वह अभ्यास दृढ़भूमि अर्थात् विषयसुख वासना से चलाने के अशक्य होता है अदीर्घ काल अर्थात् थोड़ सेवन समय में अधिक सेवन समय में भी रुक रुक कर सेवन करने से श्रद्धातिशय न होने से लय विक्षेप सुखादि का परिहार नहीं कर सकते। व्युत्थान संस्कार प्राबल्य से अदृढ़भूमि अभ्यास फल के लिए न होगा इसलिए तीनों विशेषणों का आदान है। वैराग्य दो प्रकार का है अपर और दूसरा पर यतमान संज्ञा व्यतिरेकसंज्ञा एकेन्द्रियसंज्ञा, वशीकारसंज्ञा, भेद से अपर वैराग्य चार प्रकार का है। इनमें पूर्व भूमि के जप करने पर उत्तर २ भूमि सम्पादनार्थ चतुर्थ सूत्र है—दृष्टानुश्रविक-विषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्' इति। स्त्रियः अन्नपान ऐश्वर्य इत्यादि दृष्ट विषय हैं। स्वर्ग विदेहता प्रकृतिलय इत्यादि वैदिक होने से आनुश्रविक

सत्कारासेवित तप से ब्रह्मचर्य से विद्या से श्रद्धा से कृतसत्कारवान् दृढ़भूमि होता है। व्युत्थान-संस्कार से अनभिभूत संस्कारविषयक अभ्यास होता है। यदि ऐसा अभ्यास कर योगी उपरत होगा तो कालक्रम से अभिभूत हो जायगा अतः उपरत न होना एतदर्थ उपदेश है।

'दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्।'

दृष्टविषय चेतन दारादिअचेतन अन्नपानादि ऐश्वर्य आदिमें तृष्णाका अभाव एवं वेदोक्त स्वर्गादिमें तृष्णाका अभाव विदेह (देहरहित) इन्द्रियलीन कोई प्रकृतिको ही आत्मा मानकर तदुपासनारत साधिकार प्रकृतिमें लीन एतत्प्राप्तियोग्य वैदिकविषयमें अनुश्रव वेद है तद्विषयमें वितृष्णाही स्वर्गादिविषय कहा जाता है। रागाभावमात्रका विषय दोषदर्शनजन्य रागाभावमात्रका वैराग्य नहीं है अन्यथा विषयाप्राप्तिसमय में रोगादिवश अरुचि से जायमान रागाभाव

प्रकृतिलय इत्यादयो वैदिकत्वेनानुश्रविका विषयास्तेषूभयविधेष्वपि सत्स्वपि तृष्णायां विवेकतारतम्येन यतमानादित्रयं भवति। अत्र जगति किं सारं किमसारमिति गुरुशास्त्राभ्यां ज्ञास्यामीत्युद्योगो यतमानं स्वचित्ते पूर्वविद्यमानदोषाणां मध्येऽभ्यस्यमानविवेकेनैते पक्वाः एतेऽवशिष्टा इति चिकित्सकवद्विवेचनं व्यतिरेकः दृष्टानुश्रविकविषयप्रवृत्तेर्दुःखात्मत्वबोधेन बहिरिन्द्रियप्रवृत्तिमजनयन्त्या अपि तृष्णायाः औत्सुक्यमात्रेण मनस्यवस्थानमेकेन्द्रियं मनस्यपि तृष्णाशून्यत्वेन सर्वथा वैतृष्ण्यं तृष्णाविरोधिना चित्तवृत्तिर्ज्ञान-

विषय है। अनुपश्चात् श्रूयते एव न तु केनचित् क्रियते इत्यनुश्रवो वेदः तत्र ज्ञातः आनुश्रविकः अपौरुषेय विदित विषय है। इन दोनों प्रकारों के रहते भी तृष्णा होने पर विवेक के न्यूनाधिकभाव से यतमानादि तीन होते हैं। इस संसार में क्या तत्त्व है परमार्थ तत्त्व, क्या अतत्त्व है। यह गुरु और शास्त्रों से जानेगें यह उद्योग यतमानसंज्ञक है। पूर्व विद्यमान दोषों का स्वचित्त में पूर्व दोषों के मध्य में आभास्यमान विवेक से इतने नाश हैं इस प्रकार का चिकित्सक के समान विवेचन व्यतिरेकसंज्ञा है। जैसे चिकित्सक रोगी के दोषों का विवेक करता है इतने दोष बचे इतने अभी बाकी हैं। बाकी दोषों का पचाना आवश्यक है। दृष्टानुश्रविक विषयप्रवृत्ति दुःखात्मक है इस बोध से बहिरिन्द्रियों की प्रवृत्ति न कराती हुई तृष्णा औत्सुक्यमात्र मन में स्थित रहती है यह एकेन्द्रियसंज्ञक है अर्थात् उत्कण्ठामात्र से चित्त में तृष्णा रहती है किन्तु इन्द्रियों की प्रवृत्ति दृष्टानुश्रविक विषयों में नहीं कराती कारण उसमें यह दृढ़ निश्चय है कि उक्त सकलप्रवृत्ति अनर्थकर है यह प्रतिबन्ध है मन तृष्णाशून्य होने से सर्वथा वैतृष्ण्य तृष्णाविरोधिनी ज्ञानप्रसादरूपा वशीकारसंज्ञा वैराग्य

में वैराग्य की आपत्ति हो जायगी विषयदोषदर्शनजन्य वैराग्य के बाद भी सौभर्यादि को विषय के रहने पर चित्तके क्षोभ से समाधि का भङ्ग हुआ, अतः वैतृष्ण्यमात्र वैराग्य का लक्षण नहीं है किन्तु उक्त विशेषणविशिष्ट वशीकारसंज्ञा वैराग्य है। आसंगदोषरहित उपेक्षा बुद्धिवशीकारसंज्ञा है तत्त्वज्ञानबल से यह होती है आध्यात्मिकादि त्रिविध परितापयुक्त विषय है इस भावना से उक्त साक्षात्कारात्मक ज्ञान होता है यतमानसंज्ञा व्यतिरेकसंज्ञा एकेन्द्रियसंज्ञा वशीकारसंज्ञा ये चार संज्ञायें हैं विशेष भाष्यवार्तिकादिमें देखिये।

प्रसाररूपा वशीकारसंज्ञा वैराग्यं सम्प्रज्ञातस्य समाधेरन्तरङ्गं साधनम्, असम्प्रज्ञातस्य तु बहिरङ्गं तस्य त्वन्तरङ्गसाधनं परमेव वैराग्यं तच्चासूत्रयत्–(१)'तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम्' इति । सम्प्रज्ञातसमाधिपाटवेन गुणत्रयात्मकात्प्रधानाद्विविक्तस्य पुरुषस्य ख्यातिः साक्षात्कार उत्पद्यते ततश्चाशेषगुणत्रयव्यवहारेषु वैतृष्ण्यं यद्भवति तत्परं श्रेष्ठं फलभूतं वैराग्यं तत्परिपाकनिमित्ताच्च चित्तोपशमपरिपाकादविलम्बेन कैवल्यमिति ॥३५॥

ही सम्प्रज्ञातसमाधि का अन्तरङ्ग और असम्प्रज्ञातसमाधि का बहिरङ्ग साधन है। असम्प्रज्ञातसमाधि का अन्तरङ्गसाधन पर ही वैराग्य है। यह पतञ्जलिने सूत्र रचा है—'तत्परः पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम्' इति। सम्प्रज्ञातसमाधि के पाटव से गुणत्रयात्मकप्रधान से विविक्त पुरुषों की ख्यातिसाक्षात्कार उत्पन्न होती हैं उससे सम्पूर्ण गुणत्रय व्यवहारों में तृष्णाभाव जो होता है तत्फलभूत श्रेष्ठ पर वैराग्य हैं तत्परिपाक निमित्त से चित्त की शान्ति का परिपाक होने से अतिशीघ्र कैवल्य होता है ॥३५॥

(१) तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम् ।

अपर वैराग्य कह कर पर वैराग्य कहते है—तत्परमित्यादि से। अपर वैराग्य पर वैराग्य का कारण हैं उसमें द्वार है दृष्टानुश्रविक विषयदोषदर्शी विरक्त इससे अपर वैराग्य दिखलाया। शास्त्र अनुमान और आचार्य के उपदेश से ज्ञात पुरुष का जो दर्शन उसके अभ्यास पुनः पुनः मन से उस दर्शन की शुद्धि रजस्तम त्यागपूर्वक जो सत्वैकतानता उससे जो गुण पुरुष का प्रकृष्टविवेक पुरुष शुद्ध है अनन्त है इससे विलक्षण गुण है इससे जिस योगी की बुद्धि तृप्त है वह योगी विरक्त है इससे धर्म मेघसमाधि कही हैं। वैसा वह योगी व्यक्ताव्यक्तधर्मक गुणों ने सर्वथा विरक्त गुणात्मक सत्त्वपुरुषन्यताख्याति में भी विरक्त होता है अतः परापर भेदसे दो वैराग्य है। अपर वैराग्य सत्त्वोचय निरस्ततमोगुण रजोगुण कलङ्क संयुक्त चित्तमें होता है यह तौष्टिक में भी समान है वे उसी से प्रकृति में लीन हुए हैं इन दोनों वैराग्यों में जो उत्तर हैं वह ज्ञानप्रसादमात्र है शब्दविषयाभाव को सूचित करता है। वही उस प्रकार का चित्त सत्त्व रजोलेश से असंस्पृष्ट ज्ञानप्रसाद कहाता है। यद्यपि चित्त सत्त्वप्रसाद स्वभाव है तथापि रजस्तम संपर्क से मालिन्य का अनुभव करता है वैराग्याभ्यास विमल वारिधाराधौत निखिलरजस्तमोमल अतिप्रसन्न ज्ञानप्रसादमात्र परिशेष होता है जिसके उत्पन्न होने पर योगी तत्त्वज्ञानी होता है प्राप्तव्य मोक्ष प्राप्त हुआ आगे कहेंगे 'जीवन्नेव विद्वान् मुक्तो भवति' इति। जैन प्राप्त हुआ क्षीण क्लेश वासनासहित अविद्यादि नष्ट हुई इत्यादि विस्तृत आकर ग्रन्थो में देखिये इति।

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः॥ ३६॥

क्योंकि, मनको वशमें न करनेवाले पुरुषद्वारा योग दुष्प्राय है, अर्थात् प्राप्त होना कठिन है और स्वाधीन मनवाले प्रयत्नशील पुरुषद्वारा साधन करने से प्राप्त होना सहज है, यह मेरा मत है॥ ३६॥

म० टी०—यत्तु त्वमवोचः प्रारब्धभोगेन कर्मणा तत्त्वज्ञानादपि प्रबलेन स्वफलदानाय मनसोवृत्तिषूत्पाद्यमानासु कथं तासां निरोधः कर्तुं शक्य इति तत्रोच्यते—**असंयतात्मनेति।** उत्पन्नेऽपि तत्त्वसाक्षात्कारे वेदान्तव्याख्यानादिव्यासङ्गादालस्यादिदोषाद्वाऽभ्यासवैराग्याभ्यां न संयतो निरुद्ध आत्मान्तःकरणं येन तेनासंयतात्मना तत्त्वसाक्षात्कारवताऽपि योगो मनोवृत्तिनिरोधः दुष्प्रापः दुःखेनापि प्राप्तुं न शक्यते प्रारब्धकर्मकृताच्चित्तचाञ्चल्यादिति चेत्त्वं वदसि तत्र मे मतिः मम संमतिस्तत्तथैवेत्यर्थः। केन तर्हि प्राप्यते? उच्यते—वश्यात्मना तु वैराग्यपरिपाकेन वासनाक्षये सति वश्यः स्वाधीनो विषयपारतन्त्र्यशून्य आत्मा अन्तःकरणं यस्य तेन, 'तु' शब्दोऽसंयतात्मनो वैलक्षण्यद्योत-

जो आपने कहा प्रारब्ध भोग से तत्त्वज्ञान से भी प्रबल कर्म से अपने फल देने के लिए मन में वृत्तियाँ जो उत्पन्न होती हैं उनका निरोध कैसे किया जा सकता है? इसका उत्तर देते हैं—तत्त्वप्रत्यक्ष के उत्पन्न होने पर भी वेदान्त व्याख्यानादि और आलस्यादिदोष से तथा 'अभ्यासवैराग्याभ्यां न संयतो निरुद्ध आत्मा अन्तःकरणम् येन स तेन असंयतात्मना' अनिरुद्ध चित्त तत्त्व साक्षात्कारवान् से भी मनोवृत्तिनिरोध योग दुष्प्राप्य है दुःख से भी नहीं प्राप्त कर सकता। प्रारब्ध कर्मकृत चित्तचञ्चलता ही हेतु है। यदि यह तुम कहते हो तो इस अर्थ में मेरी सम्मति तुम्हारी सम्मति के समान ही हैं यह अर्थ है।

प्रश्न—किससे प्राप्त होता है?

उत्तर—वैराग्य परिपाक से वासनाक्षय होने पर वश्य स्वाधीनविषय पारतन्त्र्यशून्य आत्मा—अन्तःकरण है जिसका अन्तःकरण विषयपरतन्त्रता से रहित अतएव स्वतन्त्र है उसी पुरुष को योग प्राप्त होता है। श्लोक में 'तु' शब्द असंयतात्मा की अपेक्षा संयतात्मा में वैलक्षण्य बोधनार्थ है। एतादृश

नार्थोऽवधारणार्थो वा, एतादृशेनाऽपि यतता यतमानेन वैराग्येण विषयस्रोतः खिलीकरणेप्यात्मस्रोत उद्घाटनार्थमभ्यासं प्रागुक्तं कुर्वता योगः सर्वचित्तवृत्तिनिरोधः शक्योऽवाप्तुं चित्तचाञ्चल्यनिमित्तानि प्रारब्धकर्माण्यप्यभिभूय प्राप्तुं शक्यः, कथमतिबलवतामारब्धभोगानां कर्मणामभिभवः ? उच्यते उपायतः उपायात् उपायः पुरुषकारस्तस्य लौकिकस्य वैदिकस्य वा प्रारब्धकर्मापेक्षया प्राबल्यात् अन्यथा लौकिकानां कृष्यादिप्रयत्नस्य वैदिकानां ज्योतिष्टोमादिप्रयत्नस्य च वैयर्थ्यापत्तेः सर्वत्र प्रारब्धकर्म सदसत्त्वविकल्पग्रासात्प्रारब्धकर्मसत्त्वे तत एव फलप्राप्तेः किं पौरुषेण प्रयत्नेन तदसत्त्वे तु सर्वथा फलाऽसंभवात्किं तेनेति । अथ कर्मणः स्वयमदृष्टरूपस्य दृष्टसाधनसम्पत्तिव्यतिरेकेण फलजननासमर्थत्वादपेक्षितः कृष्यादौ पुरुषप्रयत्न इति चेत् ? योगाभ्यासेऽपि समं समाधानं तत्साध्यायाः जीवन्मुक्तेरपि सुखातिशयरूपत्वेन प्रारब्धकर्मफलान्तर्भावात् । अथवा यथा प्रारब्धकर्मफलं तत्त्वज्ञानात्प्रबलमिति

यतमान वैराग्य से विषयप्रवाह बन्द कर आत्मप्रवाह उद्घाटनार्थ अर्थात् खोलने के लिए पूर्वोक्त अभ्यास करता हुआ योगी चित्तवृत्ति निरोधरूप योग प्राप्त कर सकता है। चित्तचाञ्चल्यकारणीभूत प्रारब्ध कर्मों का अभिभव कर योग प्राप्त कर सकता है।

प्रश्न—अतिबलवान् कर्मभोग का कर्म से पराभव कैसे ?

उत्तर—उपाय से पुरुष प्रयत्न लौकिक हो अथवा वैदिक प्रारब्ध कर्म की अपेक्षा प्रबल है अन्यथा यदि ऐसा न हो तो कृष्यादि लौकिक प्रयत्न वैदिक ज्योतिष्टोमादि प्रयत्न भी व्यर्थ हो जायेंगे, क्योंकि उक्त स्थल में उक्तोपायद्वारा फलप्राप्ति होती है उसमें भी प्रारब्धकर्म हैं अथवा नहीं ? यदि हैं तो उसी से उक्त फल की प्राप्ति हो जायगी पुरुष प्रयत्न व्यर्थ है। द्वितीय पक्ष में सर्वथा फल असम्भव ही हैं, पुरुषप्रयत्न व्यर्थ ही है। अथ अदृष्टरूप कर्म दृष्टसाधन सम्पत्ति के विना फल देने में असमर्थ है अतः अदृष्टरूप कर्म प्रारब्ध कहाता है। उसको कृष्यादिफल में पुरुषप्रयत्न को अपेक्षा है अन्यथा सहकारि कारणरूप दृष्टहेतु सम्पत्ति नहीं हो सकती। यदि ऐसा मानें तो योगाभ्यास में भी यही समाधान है तत्साध्य जीवन्मुक्ति भी सुखातिशय स्वरूप होने से प्रारब्धफल के अन्तर्गत है। अथवा जैसे प्रारब्ध कर्मफल तत्त्वज्ञान से प्रबल

कल्प्यते दृष्टत्वात्, तथा तस्मादपि कर्मणो योगाभ्यासः प्रबलोऽस्तु शास्त्रीयस्य प्रयत्नस्य सर्वत्र ततः प्राबल्यदर्शनात्। तथा चाह भगवान् वसिष्ठः—

'सर्वमेवेह हि सदा संसारे रघुनन्दन! ।
सम्यक्प्रयुक्तात्सर्वेण पौरुषात्समवाप्यते ॥
तत्रोच्छास्त्रमनर्थाय परमार्थाय शास्त्रितम् ।'

उच्छास्त्रं शास्त्रप्रतिषिद्धं अनर्थाय नरकाय, शास्त्रितं शास्त्रविहितं अन्तःकरणशुद्धिद्वारा परमार्थाय चतुर्ष्वर्थेषु परमाय मोक्षाय ।

शुभाशुभाभ्यां मार्गाभ्यां वहन्ती वासना सरित् ।
पौरुषेण प्रयत्नेन योजनीया शुभे पथि ॥
अशुभेषु समाविष्टं शुभेष्वेवाऽवतारय । स्वमनः पुरुषार्थेन बलेन बलिनां वर ॥

यह कल्पना करते हैं क्योंकि ये दृष्ट हैं तदनुरूप कल्पना उचित होती है तभी प्रारब्ध कर्म से योगाभ्यास भी प्रबल हो दृष्ट हेतु से यह भी मानिये। शास्त्रीय प्रयत्न सब जगह उससे बलवान् देखा गया है ऐसा ही भगवान् वसिष्ठ ने कहा है—(१) 'सर्वमेवे हि सदा संसारे रघुनन्दन ! ।' इत्यादि ।

---

(१) हे रघुनन्दन! इस संसार में सब पुरुष साधुप्रयुक्त पुरुषार्थ से सब पाता है। उच्छास्त्र और शास्त्रित भेद से पौरुष दो प्रकार का होता है उनमें उच्छास्त्र अनर्थ प्राप्ति के लिये है। और परमार्थप्राप्ति के लिये शास्त्रित है। उच्छास्त्र शास्त्रप्रतिषिद्ध अनर्थ नरकादिप्राप्ति हेतु है। शास्त्रित अन्तःकरणशुद्धिद्वारा चारों पुरुषार्थों में परम मोक्षास्पद पुरुषार्थ का हेतु है। वासनारूप नदी शुभाशुभ दो मार्गों से बहती है उसको पुरुषप्रयत्न से शुभमार्ग से संयुक्त करना चाहिये उससे प्रवाहित करना चाहिये। अशुभमार्ग प्रतिरोध के विना उक्तार्थ सिद्धि नहीं होती अतस्तत्प्रतिरोध आवश्यक है अशुभ से समाविष्ट स्वमन को हे बलवानों में श्रेष्ठ शुभमार्ग में उतारो स्वकीय पुरुषार्थ से अभ्यासवश जब तुम्हारी शुभवासना शीघ्र उदित उत्पन्न हो तब अभ्यास का साफल्य समझना, हे अरिमर्दन! सन्दिग्ध होनेपर भी शुभवासना को ही करो शुभवासना के बढ़ने पर भी कुछ दोष नहीं। जबतक आप अज्ञात तत्पदार्थ हैं अतएव अव्युत्पन्नचित्त हैं गुरु और शास्त्रप्रमाणों से निर्णीत का तबतक आचरण करो, उससे दोष परिपाक होने से निश्चित ज्ञाततत्त्व आप से शुभ भी वासनासमूह निःशंक मनसे त्याज्य है। इति।

अर्जुन उवाच

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः ।
अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण ! गच्छति ॥ ३७ ॥

इसपर अर्जुन बोला, हे कृष्ण ! योगसे चलायमान हो गया है मन जिसका ऐसा शिथिल यत्नवाला श्रद्धायुक्त पुरुष योगकी सिद्धिको अर्थात् भगवत् साक्षात्कारको न प्राप्त होकर किस गतिको प्राप्त होता है ? ॥ ३७ ॥

द्रागभ्यासवशाद्याति यदा ते वासनोदयम् ।
तदाऽभ्यासस्य साफल्यं विद्धि त्वमरिमर्दन ॥' वासना शुभेतिशेषः ।
'सन्दिग्धायामपि भृशं शुभामेव समाहर ।
शुभायां वासनावृद्धौ तात ! दोषो न कश्चन ॥
अव्युत्पन्नमना यावद्भवानज्ञाततत्पदः । गुरुशास्त्रप्रमाणैस्त्वं निर्णीतं तावदाचर ॥
ततः पक्वकषायेण नूनं विज्ञातवस्तुना ।
शुभोऽप्यसौ त्वया त्याज्यो वासनौघो निरोधिना ॥' इति ।

तस्मात्साक्षिगतस्य संसारस्याविवेकनिबन्धनस्य विवेकसाक्षात्कारादपनयेऽपि प्रारब्धकर्मपर्यवस्थापितस्य चित्तस्य स्वाभाविकीनामपि चित्तवृत्तीनां योगाभ्यासप्रयत्नेनापनये सति जीवन्मुक्तः परमो योगी चित्तवृत्तिनिरोधाभावे तु तत्त्वज्ञानवानप्यपरमो योगीति सिद्धम् अवशिष्टं जीवन्मुक्तिविवेके सविस्तरमनुसन्धेयम् ॥ ३६ ॥

म० टी०—एवं प्राक्तनेन ग्रन्थेनोत्पन्नतत्त्वज्ञानोऽनुत्पन्नजीवन्मुक्तिरपरमो योगी मतः उत्पन्नतत्त्वज्ञान उत्पन्नजीवन्मुक्तिस्तु परमो योगी मत इत्युक्तं

तस्मात अविवेक मूलक साक्षिगत संसार का विवेकप्रत्यक्ष से निराकरण होने पर प्रारब्धकर्मावशिष्टचित्त की स्वाभाविक वृत्तियाँ योगाभ्यास प्रयत्न से निराकृत होने पर परमयोगी जीवन्मुक्त हैं चित्तवृत्ति के निरोधाभाव होने से तत्त्वज्ञानवान् भी अपरम योगी है यह सिद्ध हुआ अवशिष्ट वक्तव्य जीवन्मुक्त विवेक नामक ग्रन्थ में सविस्तर समझना ॥३६॥

इस प्रकार पूर्व ग्रन्थ से उत्पन्न तत्त्वज्ञानवान् अनुत्पन्न जीवन्मुक्ति अपरमयोगी माना जाता है । उत्पन्न तत्त्वज्ञान और उत्पन्न जीवन्मुक्ति परम योगी है

तयोरुभयोरपि ज्ञानादज्ञाननाशेऽपि यावत्प्रारब्धभोगं कर्म देहेन्द्रियसङ्घातावस्थानात्प्रारब्धभोगकर्मापाये च वर्तमानदेहेन्द्रियसंघातापायात्पुनरुत्पादकाभावाद्विदेहकैवल्यं प्रति क्वापि नास्त्याशङ्का, यस्तु प्राक्तकर्मभिर्लब्धविविदिषापर्यन्तचित्तशुद्धिः कृतकार्यत्वात्सर्वाणि कर्माणि परित्यज्य प्राप्तपरमहंसपरिव्राजकभावः परमहंसपरिव्राजकमात्मसाक्षात्कारेण जीवन्मुक्तं परप्रबोधनदक्षं गुरुमुपसृत्य ततो वेदान्तमहावाक्योपदेशंप्राप्य तत्रासंभावनाख्यप्रतिबन्धनिरासाय 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासेत्याद्यनावृत्तिः शब्दादित्यन्तया चतुर्लक्षणमीमांसया श्रवणमनननिदिध्यासनानि गुरुप्रसादात्कर्तु मारभते। स श्रद्धधानोऽपि सन्नायुषोऽल्पत्वेनाल्पप्रयत्नत्वादलब्धज्ञानपरिपाकः श्रवणमनननिदिध्यासनेषु क्रियमाणेष्वेव मध्ये व्यापद्यते, स ज्ञानपरिपाकशून्यत्वेनानष्टाज्ञानो न मुच्यते नाऽप्युपासनासहितकर्मफलं देवलोकमनुभवत्यर्चिरादिमार्गेण नापि केवलकर्मफलं पितृलोक-

---

यह आपने कहा उन दोनों में ज्ञान से अज्ञाननाश होने पर यावत्प्रारब्धकर्मभोग अर्थात् जबतक पूर्वकृतकर्मों का फल भोग न हो जाय तावत्काल उक्त कर्म देहेन्द्रियसमुदाय से प्रारब्धकर्म योग के न होने पर वर्तमान देहेन्द्रियसंघात के अभाव से पुनः देहेन्द्रियसंघातोत्पादक न होने से विदेहमुक्ति के प्रति कोई शङ्का नहीं है। जो पुरुष प्राक्कृत कर्मों से विविदिषापर्यन्त चित्तशुद्धि का लाभ कर चुका है वह कृतकार्य होने से सब कर्मों का परित्याग कर परमहंस परिव्राजक भाव को प्राप्त कर आत्मसाक्षात्कार के जीवन्मुक्त परमहंस परिव्राजक प्राप्त दूसरे के समझाने में समर्थ गुरु के समीप जाकर उनसे वेदान्त महावाक्योपदेश प्राप्त कर उसमें असम्भावना विपरीतभावना नामक प्रतिबन्धनिरासार्थ 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' से लेकर 'अनावृत्तिः शब्दात्' एतदन्त चतुर्लक्षणी मीमांसा से श्रवण मनन निदिध्यासन का गुरुप्रसाद से करना आरम्भ करता है। वह श्रद्धायुक्त आयु अल्प होने से अल्प प्रयत्न होकर ज्ञान परिपक्व को न लाभ कर श्रवण मनन निदिध्यासन करने के समय में मध्य में ही मृत्यु हो गई, तो वह पुरुष अज्ञानपरिपाकशून्य अर्थात् अनुत्पन्न तत्त्वज्ञान होने से अज्ञान का नाश हुआ नहीं अतः मुक्त होता नहीं और न उपासनासहित कर्मफल देवलोक का अर्चिरादि मार्ग से अनुभव करता है, और न धूमादि मार्ग से प्राप्त होकर केवल

मनुभवति धूमादिमार्गेण कर्मणामुपासनानां च त्यक्तत्वात् अत एतादृशो योगभ्रष्टः कीटादिभावेन कष्टां गतिमियात् अज्ञत्वे सति देवयानपितृयानमार्गासंबन्धित्वात् वर्णाश्रमाचारभ्रष्टवदथवा कष्टां गतिं नेयात् शास्त्रनिन्दितकर्मशून्यत्वाद्वामदेववदिति संशयपर्याकुलमना: अर्जुन उवाच—अयतिरित्यादिना। यतिर्यत्नशील: अल्पार्थे नञ् अलवणा यवागूरित्यादिवदयतिरल्पयत्नः श्रद्धाया: गुरुवेदान्तवाक्येषु विश्वासबुद्धिरूपयोपेतो युक्तः श्रद्धा च स्वसहचरितानां शमादीनामुपलक्षणम् 'शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः श्रद्धान्वितो भूत्वात्मन्येवात्मानं पश्यति' इति श्रुतेः। तेन नित्यानित्यवस्तुविवेक इहामुत्रभोगविरागशमदमोपरतितितिक्षाश्रद्धादिषट्सम्पत् मुमुक्षुता चेति साधनचतुष्टयसम्पन्नः गुरुमुपसृत्य वेदान्तवाक्यश्रवणादिकुर्वन्नपि परमायुषोऽल्पत्वेन मरणकाले चेन्द्रियाणां व्याकुलत्वेन साधनानुष्ठानासंभवात् 'योगाच्चलितमानसः' योगाच्छ्रवणादिपरिपाकलब्धजन्मनस्तत्त्वसाक्षात्काराच्चलितं तत्फलमप्राप्तं मानसं यस्य सः

कर्मफल पितृलोक का अनुभव करता है। क्योंकि कर्मों और उपासनाओं का त्याग कर चुका है अतएव ईदृश योगभ्रष्ट पुरुष कीटादि के समान कष्टगति पावेंगे। अज्ञ होने से देवयान और पितृयान मार्ग के सम्बन्धि नहीं हैं। यथा वर्णभ्रष्ट आश्रमभ्रष्ट और आचारभ्रष्ट ये उक्त मार्ग के सम्बन्धि नहीं हैं तद्वत्। अथवा शास्त्रप्रतिषिद्ध कर्मशून्य होने से वामदेव के समान कष्टगति प्राप्त नहीं करेगा, इस संशय से आकुल मन अर्जुन बोले,—अयतिरित्यादिसे। यतिः यत्नशील अल्पार्थ में नञ् है। अयतिः स्वल्प यत्नवाला 'अलवणा यवागू' 'अनुदरा कन्या' के समान स्वल्पार्थक नञ् है। गुरुवेदान्त वाक्य में श्रद्धा से विश्वास बुद्धिरूप से संयुक्त श्रद्धात सहचरितशमदमादि में उपलक्षण है "शान्तोदान्तः उपरतः तितिक्षुः श्रद्धान्वितो भूत्वा आत्मन्येव आत्मानं पश्यति" इस श्रुति के अनुसार नित्यानित्य वस्तुविवेक इहलोक परलोक फलविराग, शमदमोपरति, तितिक्षा श्रद्धादिसम्पत् मुमुक्षुता, इन साधनचतुष्टयों से सम्पन्न गुरु के समीप जाकर वेदान्तवाक्यश्रवणादि करता हुआ भी आयु के अल्प होने से मरणकाल में इन्द्रियों की व्याकुलता से साधनानुष्ठान असम्भव है अतः योग श्रवणादिपरिपाकलब्ध तत्त्वसाक्षात्कार से चलित अर्थात् अप्राप्त तत्त्वज्ञान मन है जिसका वह योगी। योग निष्पत्ति से योग सिद्धि को न पाकर

कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति ।
अप्रतिष्ठो महाबाहो ! विमूढो ब्रह्मणः पथि ॥ ३८ ॥

और हे महाबाहो ! क्या वह भगवत्प्राप्तिके मार्गमें मोहित हुआ आश्रय-रहित पुरुष छिन्न भिन्न बादलकी भाँति दोनों ओरसे अर्थात् भगवत्प्राप्ति और सांसारिक भोगोंसे भ्रष्ट हुआ नष्ट तो नहीं हो जाता है ? ॥ ३८ ॥

योगनिष्पत्त्यैवाप्राप्य योगसंसिद्धिं तत्त्वज्ञाननिमित्तामज्ञानतत्कार्यनिवृत्ति-मपुनरावृत्तिसहितामप्राप्य अतत्त्वज्ञ एव मृतः सन् कां गतिं हे कृष्ण ! गच्छति सुगतिं दुर्गतिं वा कर्मणां परित्यागाज्ज्ञानस्य चानुत्पत्तेः शास्त्रोक्तमोक्षसाधना-नुष्ठायित्वाच्छास्त्रगर्हितकर्मशून्यत्वाच्च ॥ ३७ ॥

म० टी०—एतदेव संशयबीजं विवृणोति—कच्चिदिति । साभिलाप-प्रश्ने हे महाबाहो ! महान्तः सर्वेषां भक्तानां सर्वोपद्रवनिवारणसमर्थाः पुरुषार्थ-चतुष्टयदानसमर्था वा चत्वारो बाहवो यस्येति प्रश्ननिमित्तक्रोधाभावस्तदुत्तर-दानसहिष्णुत्वं च सूचितम् ब्रह्मणः पथि ब्रह्मप्राप्तिमार्गे ज्ञाने विमूढः विक्षिप्तः अनुत्पन्नब्रह्मात्म्यैक्यसाक्षात्कार इति यावत् अप्रतिष्ठः देवयानपितृयानमार्ग-गमनहेतुभ्यामुपासनाकर्मभ्यां प्रतिष्ठाभ्यां साधनाभ्यां रहितः सोपासनानां

अर्थात् तत्त्वज्ञान से अज्ञान तत्कार्यनिवृत्ति अपुनरावृत्ति सहित न पाकर अतत्त्वज्ञ ही मर गया तो किस गति को प्राप्त करेगा ? हे कृष्ण ! उसकी सुगति होगी या दुर्गति ? क्योंकि कार्यों का परित्याग किया, और ज्ञान उत्पन्न नहीं हुआ शास्त्रोक्त मोक्षहेतु कर्म का अनुष्ठाता है, शास्त्रविहित कर्म उसमें नहीं है अर्थात् सुगति दुर्गति के विशेष कारण न होने से यह संशय होता है कि उसकी क्या गति होगी ? ॥ ३७ ॥

इसी संशयके बीजका विवरण करते है—'कच्चिदितिसे । हे महामाहो ! महान् सर्वेषां भक्तानाम्, सर्वोपद्रवनिवारणसमर्थः, अर्थात् सब भक्तों के निखिलोपद्रव शान्ति करने में समर्थ और पुरुषार्थचतुष्टय धर्मार्थ काम मोक्ष के दान में समर्थ चार हाथ हैं जिनको वह महाबाहु है । प्रश्न से क्रोधाभाव तदुत्तरदान सहिष्णुता को सूचित किया । ब्रह्मप्राप्ति मार्ग ज्ञान से विमूढ़ विक्षिप्त अजात ब्रह्मात्मैक्य हैं अतएव देवयान पितृयान मार्ग गमन हेतु उपासना कर्म से रहित होकर उपासना

एतन्मे संशयं कृष्ण ! छेत्तुमर्हस्यशेषतः ।
त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते ॥ ३९ ॥

हे कृष्ण ! मेरे इस संशयको संपूर्णता से छेदन करनेके लिए आप ही योग्य हैं, क्योंकि आपके सिवाय दूसरा इस संशयका छेदन करनेवाला मिलना सम्भव नहीं है ॥ ३९ ॥

सर्वेषां कर्मणां परित्यागात् । एतादृश उभयविभ्रष्टः कर्ममार्गाज्ज्ञानमार्गाच्च विभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव वायुना छिन्नं विशकलितं पूर्वस्मान्मेघाद्भ्रष्टमुत्तरं मेघमप्राप्तमभ्रं यथा वृष्ट्ययोग्यं सदन्तराल एव नश्यति तथा योगभ्रष्टोऽपि पूर्वस्मात्कर्ममार्गाद्विच्छिन्नो दुत्तरं च ज्ञानमार्गमप्राप्तोऽन्तराल एव नश्यति कर्मफलं च लब्धुमयोग्यो न किमिति प्रश्नार्थः। एतेन ज्ञानकर्मसमुच्चयो निराकृतः एतस्मिन् हि पक्षे ज्ञानफलालाभेऽपि कर्मफललाभसंभवेनोभयविभ्रष्टत्वाऽसंभवात् । न च तस्य कर्मफलसंभवेऽपि फलकामनात्यागात्तत्फलभ्रंशवचनमवकल्पत इति वाच्यम्, निष्कामानामपि कर्मणां फलसद्भावस्यापस्तम्बवचनाद्युदाहरणेन बहुशः प्रतिपादितत्वात् तस्मात् सर्वकर्मत्यागिनं प्रत्येवायं प्रश्नः अनर्थप्राप्तिशङ्कायास्तत्रैव संभवात् ॥ ३८ ॥

सहित सब कर्मों के परित्याग से उक्त मार्ग में अप्रतिष्ठ हैं। एतादृश उभयविभ्रष्ट अर्थात् कर्म मार्ग दोनों से शून्य छिन्नाभ्र के समान नष्ट हो जाता है जैसे वृष्टि के लिए मेघ समुदाय आकाश में एकत्र होते हैं किन्तु प्रबलवायुवेग से छिन्न भिन्न होकर उत्तरोत्तर एक मेघ दूसरे मेघ से अलग होकर वृष्टि न कर वृष्टि के अयोग्य अवस्था को प्राप्त कर बीच में ही नष्ट हो जाता है वैसे ही योगभ्रष्ट भी पूर्व कर्ममार्ग से भ्रष्ट होकर उत्तर ज्ञानमार्ग को न प्राप्त कर बीच ही में नष्ट हो जाता है। कर्मफल और ज्ञानफल दोनों के पाने का अधिकारी नहीं है। 'किम्' प्रश्नार्थ है इससे ज्ञान कर्म समुच्चय का निरास किया। इस पक्ष में ज्ञान फल के न मिलने पर कर्म फल का सम्भव प्रयुक्त उभयविभ्रष्ट का सम्भव नहीं। यदि कहो कर्म सम्भव होने पर भी फल का कामना का त्याग किया इसलिए तत्फल में वंचित रहेगा यह कल्पना करते हैं सो ठीक नहीं, निष्काम कर्मों का भी आपस्तम्ब वचनाद्युदाहरण से फलसद्भाव अनेकस्थल में कहा गया है। अतः सर्व कर्म त्यागी के प्रति यह प्रश्न है क्योंकि इसी में अनर्थप्राप्ति की शङ्का है ॥ ३८ ॥

श्रीभगवानुवाच—

पार्थ ! नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते ।
न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात ! गच्छति ॥ ४० ॥

इस प्रकार अर्जुनके पूछनेपर श्रीकृष्ण भगवान् बोले हे पार्थ ! उस पुरुषका न तो इस लोकमें और न परलोकमें ही नाश होता है, क्योंकि हे प्यारे कोई भी शुभकर्म करनेवाला, अर्थात् भगवत्-अर्थकर्म करनेवाला दुर्गतिको नहीं प्राप्त होता है ॥ ४० ॥

म० टी०—यथोपदर्शितसंशयापाकरणाय भगवन्तमन्तर्यामिणमर्थयति पार्थः—**एतन्मे** इति। एतत् एतं पूर्वोपदर्शितं मे मम संशयं हे कृष्ण ! छेत्तुमपनेतुमर्हस्यशेषतः संशयमूलाधर्माद्युच्छेदेन मदन्यः कश्चिदृषिर्वा देवो वा त्वदीयमिमं संशयमुच्छेत्स्यतीत्याशङ्क्याह—**त्वदन्य** इति। त्वत् परमेश्वरात्सर्वज्ञाच्छास्त्रकृतः परमगुरोः कारुणिकादन्तः अनीश्वरत्वेनासर्वज्ञः कश्चिदृषिर्वा देवो वाऽस्य योगभ्रष्टपरलोकागतिविषयस्य संशयस्य छेत्ता साम्यगुत्तरदानेन नाशयिता, हि यस्मान्नोपपद्यते न संभवति तस्मात्त्वमेव प्रत्यक्षदर्शी सर्वस्य परमगुरुः संशयमेतं मम छेत्तुमर्हसीत्यर्थः ॥ ३९ ॥

म० टी०—एवमर्जुनस्य योगिनं प्रति नाशाशङ्कां परिहरन्नुत्तरं श्रीभगवानुवाच—**पार्थ ! नैवेहेति**। उभयविभ्रष्टो योगी नश्यतीति कोऽर्थः ?

उक्त संशय के निराकरणार्थ अन्तर्यामी भगवान् से अर्जुन प्रार्थना करते हैं—हे कृष्ण ! पूर्व में कहे इस संशय का पूर्वरूप से निवारण आप ही कर सकते हैं। मुझ से अतिरिक्त कोई ऋषि अथवा देवता तुम्हारे इस संशयको निवृत्ति करेगा इस शंका से कहते हैं अर्जुन—आप परमेश्वर सर्वज्ञ सब शास्त्र के रचने वाले परम कारुणिक और परम गुरु आप से अन्य अनीश्वर होने से असर्वज्ञ कोई ऋषि अथवा देवता इस योगभ्रष्ट पर लोकगत विषय संशय का छेत्ता उत्तरप्रदान से नाशयिता नहीं है, तस्मात् प्रत्यक्षदर्शी आपही सबके गुरु हैं एव इस संशय की निवृत्ति करने में योग्य हैं ॥ ३६ ॥

इस प्रकार योगी के प्रति अर्जुन के शंका का परिहार करते हैं—श्रीभगवानुवाच से। उभयविभ्रष्ट योगी नष्ट होता है इसका क्या अर्थ है? क्या इस

किमिह लोके शिष्टगर्हणीयो भवति वेदविहितकर्मत्यागात्, यथा कश्चिदुच्छृङ्खलः किं वा परत्र निकृष्टां गतिं प्राप्नोति यथोक्तं श्रुत्या—'अथैतयोः पथोर्न कतरेण च न ते कीटाः पतङ्गा यदिदं दन्दशूकम्' इति। तथा चोक्तं मनुना—

'वान्ताश्युल्कामुखः प्रेतो विप्रो धर्मात्स्वकात् च्युतः इत्यादि।

तदुभयमपि नेत्याह—हे पार्थ! नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य यथाशास्त्रं कृतसर्वकर्मसंन्यासस्य सर्वतो विरक्तस्य गुरुमुपसृत्य वेदान्तश्रवणादिकुर्वतोऽन्तराले मृतस्य योगभ्रष्टस्य विद्यते। उभयत्रापि तस्य विनाशो नास्तीत्यत्र हेतुमाह—हि यस्मात् कल्याणकृत् शास्त्रविहितकारी कश्चिदपि दुर्गतिमिहाकीर्तिं परत्र च कीटादिरूपतां न गच्छति, अयं तु सर्वोत्कृष्ट एव सन् दुर्गतिं न गच्छतीति किमु वक्तव्यमित्यर्थः। तनोत्यात्मानं पुत्ररूपेणेति पिता तत उच्यते स्वार्थिकोऽणि तत एव तातः राक्षसवायसादिवत्, पितैव च पुत्ररूपेण भवतीति पुत्रस्थानीयस्य

लोक में अच्छे लोगों से निन्दित होता है क्योंकि वेदविहित कर्मों का त्याग किया है। जैसे उच्छृंखल स्वतन्त्राचार विचार पुरुष किम्वा परलोक में नीच गति प्राप्त करता है श्रुति में ऐसा कहा है—"अथैतयोः पथोर्न कतरेण च न ते कीटा पतङ्गा यदि दन्दशूकम्' इन दोनों मार्गों में किसी मार्ग से जो नहीं जाता वह पतङ्ग और सर्प है। मनु ने भी ऐसा कहा है—

'वान्ता श्युल्कामुखः प्रेतो विप्रो धर्मात् स्वकात् च्युतः।'

अपने धर्म से च्युत ब्राह्मण वान्ताशी और उल्कामुख प्रेत होता है, ये दोनों नहीं हैं। हे पार्थ! इह लोक पर लोक दोनों में इसका विनाश नहीं होता शास्त्रानुसार सम्पूर्ण कर्मों का संन्यास करने वाला सबसे विरक्त गुरु के समीप जाकर वेदान्त श्रवणादि करता हुआ यदि मर जाता है तो उक्त योगभ्रष्ट का दोनों जगह विनाश नहीं होता। इसमें हेतु कहते हैं—हि यस्मात् शुभ कर्म का कर्म शास्त्रविहित, कर्मानुष्ठायी कोई भी पुरुष इस लोक में अकीर्ति और पर लोक में कीटादिरूपता गति को नहीं प्राप्त करता, यह तो सर्वोत्तम होता हुआ दुर्गति नहीं पाता इसमें कहना ही क्या है। 'तनोति आत्मानं पुत्ररूपेण इति पिता तत उच्यते' अर्थात् पिता अपने को पुत्र से उत्पन्न मानता है इसलिये पिता तत कहाता है, स्वार्थ में अण् करने से राक्षस वायसादिवत तत एव तात रक्ष एव राक्षसः वय

शिष्यस्य तातेति संबोधनम्। कृपातिशयसूचनार्थं यदुक्तं योगभ्रष्टः कष्टां गतिं गच्छति अज्ञत्वे सति देवयानपितृयानमार्गान्यतरासंबन्धित्वात् स्वधर्मभ्रष्टवदिति, तदयुक्तम्—एतस्य देवयानमार्गासंबन्धित्वेन हेतोरसिद्धत्वात् पञ्चाग्निविद्यायां य इत्थं विदुर्ये चामी अरण्ये श्रद्धां सत्यमुपासते तेऽर्चिरभिसंभवन्तीत्यविशेषण पञ्चाग्निविदामिवातत्क्रतूनां श्रद्धासत्यवतां मुमुक्षणामपि देवयानमार्गेण ब्रह्मलोकप्राप्तिकथनात्। श्रवणादिपरायणस्य च योगभ्रष्टस्य श्रद्धान्वितोभूत्वेत्यनेन श्रद्धायाः प्राप्तत्वात् शान्तो दान्तो इत्यनेन चानृतभाषणरूपवाग्व्यापारनिरोधरूपस्य सत्यस्य लब्धत्वात् बहिन्द्रियाणामुच्छृङ्खलव्यापारनिरोधो हि दमः, योगशास्त्रे चाहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमा इति योगाङ्गत्वेनोक्तत्वात्, यदि तु सत्यशब्देन ब्रह्मैवोच्यते तदापि न क्षतिः वेदान्तश्रवणादेरपि सत्यब्रह्मचिन्तनरूपत्वात् अतत्क्रतुत्वेऽपि च पञ्चाग्निविदामिव ब्रह्मलोकप्राप्तिसंभवात्। तथा च स्मृतिः—'संन्यासाद् ब्रह्मणः स्थानम्' इति। तथा प्राप्तैहिकवेदान्तवाक्यविचारस्यापि

एव वायसः इत्यादिवत् सिद्ध होता है। पिता ही पुत्र रूप से उत्पन्न होता है इति पुत्र स्थानीय शिष्य का तात यह सम्बोधन कृपातिशय सूचनार्थ है। जो कहा योगभ्रष्ट कष्ट गति को पाता है क्योंकि अज्ञ होने से देवयान और पितृयान मार्गों में एक का भी सम्बन्धी नहीं है जैसे स्वधर्मभ्रष्ट पुरुष, सो ठीक नहीं। इसका देवयान मार्ग सम्बन्धाभाव में हेतु असिद्ध है, अर्थात् कोई कारण नहीं कि वह देवयान मार्ग सम्बन्धी न हो। पंचाग्नि विद्या में 'य इत्थं विदुः ये च अमी अरण्ये श्रद्धां सत्यमुपासते ते अर्चिरभि सम्भवन्ति' इस श्रुति में समानरूप से पंचाग्नि विद्वानों के समान अतत्क्रत श्रद्धा-सत्य-सम्पन्न मुमुक्षओं का भी देवयानमार्ग द्वारा ब्रह्मलोकप्राप्ति स्फुट होने से श्रवणादि परायण योगभ्रष्ट को 'श्रद्धान्वितोभूत्वा' इस वाक्य से श्रद्धा प्राप्त ही है। 'शान्तो दान्तः' इससे अनृत भाषणरूप व्यापार निरोधरूप सत्य लब्ध ही है। बहिरिन्द्रियों का स्वच्छाचार व्यापार जो शास्त्रविरुद्ध है उसका निरोध दम है। योगशास्त्र में 'अहिंसासत्यास्तेय ब्रह्मचर्य्यापरिग्रहा यमाः' इस सूत्र से योगाङ्गत्वेन सत्य का उपादान है। यदि सत्य शब्द से ब्रह्म कहते हैं तो भी आपत्ति नहीं क्योंकि वेदान्तश्रवणादि सत्य ब्रह्मचिन्तनरूप है अतत्संकल्प होने पर भी पंचाग्नि विद्वानों के समान ब्रह्मलोक प्राप्ति का सम्भव नहीं है। तथा च स्मृतिः—'संन्यासात् ब्रह्मणः स्थानम्' इति। तथा

प्राप्य पुण्यकृतांल्लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥ ४१ ॥

किन्तु वह योगभ्रष्ट पुरुष पुण्यवानों के लोकोंको अर्थात् स्वर्गादि उत्तम लोकोंको प्राप्त होकर, उनमें बहुत वर्षोंतक वासकरके शुद्ध आचरणवाले श्रीमान् पुरुषोंके घरमें जन्म लेता है ॥ ४१ ॥

कृच्छ्राशीतितुल्यफलत्वं स्मर्यते। एवं च संन्यासश्रद्धासत्यब्रह्मविचाराणामन्यतमस्यापि ब्रह्मलोकप्राप्तिसाधनत्वात्समुदितानां तेषां तत्साधनत्वं किं चित्रम्? अतएव सर्वसुकृतरूपत्वं योगिचरितस्य तैत्तिरीयाः आमनन्ति 'तस्य ह वा एवं विदुषो यज्ञस्य' इत्यादिना स्मर्यते च—

'स्नातं तेन समस्ततीर्थसलिले सर्वादत्ता च वनि-
र्यज्ञानां च कृतं सहस्रमखिला देवाश्च संपूजिताः।
संसाराच्च समुद्धृताः स्वपितरस्त्रैलोक्यपूज्योऽप्यसौ
यस्य ब्रह्मविचारणे क्षणमपि स्थैर्यं मनः प्राप्नुयात् इति।' ॥४०॥

म० टी०—तदेवं योगभ्रष्टस्य शुभकृतत्वेन लोकद्वयेऽपि नाशाभावे किं भवतीत्युच्यते योगमार्गप्रवृत्तः सर्वकर्मसंन्यासी वेदान्तश्रवणादि कुर्वन्नन्तराले म्रियमाणः कश्चित्पूर्वोपचितभोगवासनाप्रादुर्भावाद्विषयेभ्यः स्पृहयति। कश्चित्तु

प्राप्त यह लोक वेदान्तवाक्य विचार का भी कृच्छ्राशीतिफल के तुल्य फल का स्मरण है अर्थात् अस्सीकृच्छ्र करने से जो फल वह ऐहिक वेदान्तविचार का भी होता है। इस तरह संन्यास श्रद्धा सत्य ब्रह्म विचारों में अन्यतम का एकैक में ब्रह्मलोकप्राप्ति साधनत्व है तत्समुदायों में साधनत्व का क्या आश्चर्य है? अतएव सर्व ऋतुरूपफल योगचरित में तैत्तरीयों ने कहा है—(तैत्तरीय का अर्थ है तित्तिरि शाखाध्यायी) 'तस्यैवं विदुषो यज्ञस्य' इत्यादिना। स्मृति में भी है—'स्नातं तेन समस्ततीर्थसलिले' इत्यादि श्लोक ऊपर देखिये इत्यादि अर्थ स्पष्ट है ॥४०॥

इस प्रकार योगभ्रष्टपुरुष शुभकर्मकारी होने से दोनों लोकों में उसका नाश नहीं होता। तब क्या होता है? यह कहते हैं—उच्यते से। योगमार्ग में प्रवृत्त हो सर्वकर्मसंन्यास कर वेदान्त श्रवणादि करता हुआ यदि बीच में मरता है तो कोई पूर्वजन्म के भोग की वासना प्रादुर्भाव से विषयों की इच्छा करता है,

अथवा योगिनमेव कुले भवति धीमताम् ।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ॥ ४२ ॥

अथवा वैराग्यवान् पुरुष उन लोकोंमें न जाकर ज्ञानवान् योगियोंके ही कुलमें जन्म लेता है, परन्तु इस प्रकारका जो यह जन्म है सो संसारमें निःसन्देह अति दुर्लभ है ॥ ४२ ॥

वैराग्यभावनादार्ढ्यान्न स्पृहयति, तयोः प्रथमः प्राप्य पुण्यकृतामश्वमेधयाजिनां लोकानर्चिरादिमार्गेण ब्रह्मलोकान् एकस्मिन्नपि । भोगभूमिभेदापेक्षया बहुवचनम् । तत्र चोषित्वा वासमनूभूय शाश्वतीर्ब्रह्मपरिमाणेनाक्षयाः समाः संवत्सरान् शुचीनां शुद्धानां श्रीमतां महाराजचक्रवर्तिनां गेहे कुले भोगवासनाशेषसद्भावादजातशत्रुजनकादिवद्योगभ्रष्टोऽभिजायते भोगवासनाप्राबल्यात् ब्रह्मलोकान्ते सर्वकर्मसंन्यासायोग्यो महाराजो भवतीत्यर्थः ॥ ४१ ॥

म० टी०—द्वितीयं प्रतिपक्षान्तरमाह—अथवेति । श्रद्धावैराग्यादिकल्याणगुणाधिक्ये तु भोगवासनाविरहात्पुण्यकृतां लोकानप्राप्यैव योगिनामेव दरिद्राणां ब्राह्मणानां न तु श्रीमतां राज्ञां कुले भवति धीमतां ब्रह्मविद्यावताम्

कोई वैराग्यभावना दार्ढ्य से विषयों की स्पृहा नहीं करता । इन दोनों में पहिला पुण्यकारी अश्वमेधयज्ञ करने वालों का जो ब्रह्मलोक प्राप्य स्थान है उसको अर्चिरादि मार्ग से प्राप्त कर (यद्यपि ब्रह्मलोक एक ही है अतः एकवचन होना उचित है तथापि योगभूमियाँ अनेक हैं तदपेक्षया बहुवचन है) ब्रह्मलोक में अवस्थिति का अनुभव कर ब्रह्मा के परिणाम से सिद्ध जो संवत्सर है वहाँ रह कर 'शुचीनाम्' शुद्ध धनियों के महाराज चक्रवर्त्तियों के गृह में भोगवासनाशेष में अजातशत्रु जनकादि के समान योगभ्रष्ट उत्पन्न होता है । भोगवासना के प्राबल्य से ब्रह्मलोक भोगान्त में सर्व कर्मों के संन्यास करने में अयोग्य महाराज होता है ॥४१॥

दूसरे के प्रति (पक्षान्तर कहते हैं) श्रद्धा वैराग्यादि कल्याण गुणों की अधिकता से भोगवासना नहीं, अतः पुण्यकारी के लोगों को अप्राप्त करही दरिद्र ब्राह्मण योगियोंके कुल में उत्पन्न होता है लक्ष्मीसम्पन्न राजाओं के कुल में नहीं, क्योंकि तदनुकूलभोगवासना नहीं है । 'धीमताम्' ब्रह्मविद्या सम्पन्न उच्च

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम् ।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुन्दन! ॥ ४३ ॥

और वह पुरुष, वहां उस पहिले शरीरमें साधन किये हुए बुद्धि के संयोगको अर्थात् समत्वबुद्धियोगके संस्कारोंको अनायास ही प्राप्त हो जाता है। और हे कुरुनन्दन ! उसके प्रभाव फिर अच्छी प्रकार भगवत्प्राप्तिके निमित्त यत्न करता है ॥ ४३ ॥

एतेन योगिनामिति न कर्मिग्रहणं यच्छुचीनां श्रीमतां राज्ञां गृहे योगभ्रष्ट-जन्म तदपि दुर्लभम्, अनेकसुकृतसाध्यत्वान्मोक्षपर्यवसायित्वाच्च। यत्तु शुचीनां दरिद्राणां ब्राह्मणानां ब्रह्मविद्यवतां कुले जन्म एतद्धि प्रसिद्धं शुकादिवत् दुर्लभतरं दुर्लभं लोके यदीदृशं सर्वप्रमादकारणशून्यं जन्मेति द्वितीयः स्तूयते भोगवासनाशून्यत्वेन सर्वकर्मसंन्यासार्हत्वात् ॥ ४२ ॥

म० टी०—एतादृशजन्मद्वयस्य दुर्लभत्वं कस्मात् यस्मात्—तत्रेति। तत्र द्विप्रकारेऽपि जन्मनि पूर्वदेहे भवं पौर्वदेहिकं सर्वकर्मसंन्यासगुरूपसदन-श्रवणमनननिदिध्यासनानां मध्ये यावत्पर्यन्तमनुष्ठितं तावत्पर्यन्तमेव तं ब्रह्मात्मैक्यविषया बुद्ध्या संयोगं तत्साधनकलापमितियावत्, लभते प्राप्नोति न

ब्राह्मण कुल में जन्म होता है। इससे 'योगिनाम्' इस शब्द से योगियों के कुल में होता है कर्मियों के कुल में नहीं। लक्ष्मीसम्पन्न पवित्र राजगृह में योगभ्रष्ट जन्म जो होता है वह भी अनेकपुण्यसाध्य होने और मोक्षफलावसान होने से अतिदुर्लभ है और जो ब्रह्मविद्यासम्पन्न दरिद्रब्राह्मण के गृह में जन्म वह जन्मप्रसिद्ध शुकादिवत् अतिदुर्लभ है। लोक में इस प्रकार का जन्म सर्व-प्रमाद कारण से शून्य है अति दुर्लभ है इस प्रकार द्वितीय जन्म की स्तुति करते हैं, भोगवासनारहित होने से यह सर्वकर्म संन्यास के योग्य है ॥ ४२ ॥

प्रश्न—एतादृश जन्मद्वय में दुर्लभत्व क्यों है ?

उत्तर—जिस कारण उक्त दोनों जन्मों में पौर्वदेहिक अर्थात् पूर्वदेहोत्पन्न सर्वकर्मसंन्यास गुरूपसदन श्रवण मनन निदिध्यासनों के मध्य में जितना किया है उतना ही ब्रह्मात्मैक्यविषया बुद्धि से उस संयोग का लाभ करता है अर्थात् यावन्मोक्षसाधन कर्मकलाप किया है उतना पाता है। केवल उतना ही नहीं पाता

केवलं लभत एव किंतु • ततस्तल्लाभानन्तरं भूयोऽधिकं लब्धाया भूमेरग्रिमां भूमिं सम्पादयितुं संसिद्धौ संसिद्धिर्मोक्षस्तन्निमित्तं यतते च यावन्मोक्षं भूमिकाः सम्पादयतीत्यर्थः। हे कुरुनन्दन! तवापि शुचीनां श्रीमतां कुले योगभ्रष्टजन्म जातमिति पूर्ववासनावशादनायासेनैव ज्ञानलाभो भविष्यतीति सूचयितुं महाप्रभावस्य कुरोः कीर्तनम्, अयमर्थो भगवद्वसिष्ठवचने व्यक्तः यथा श्रीरामः—

एकामथ द्वितीयां वा तृतीयां भूमिकामुत।
आरूढस्य मृतस्याथ कीदृशी भगवन्! गतिः ॥'

पूर्वं हि सप्तभूमयो व्याख्याताः। तत्र नित्यानित्यवस्तुविवेकपूर्वकादिहामुत्रार्थभोगवैराग्याच्छमदमश्रद्धातितिक्षासर्वसंन्यासादिपुरःसरा मुमुक्षा शुभेच्छाख्या प्रथमा भूमिका साधनचतुष्टयसम्पदिति यावत्। ततो गुरुमुपसृत्य वेदान्तवाक्यविचारणात्मिका द्वितीया भूमिका श्रवणमननसम्पदिति यावत् २। ततः श्रवणमननपरिनिष्पन्नस्य निर्विचिकित्सतारूपा तनुमानसा नाम तृतीया भूमिका निदिध्यासनसम्पदितियावत् ३। चतुर्थी भूमिका तु तत्त्वसाक्षात्कारएव ४।

किन्तु उसके पाने के बाद फिर अधिक लब्धभूमि से अग्रिमभूमि का सम्पादन करने के लिए 'संसिद्धि मोक्ष' तदर्थ प्रयत्न करता है। जब तक मोक्ष नहीं पाता तब तक भूमि का सम्पादन करता है। हे कुरुनन्दन! तुम्हारा भी श्रीसम्पन्न पवित्र कुल में योगभ्रष्ट जन्म हुआ है अतः पूर्ववासनावश अनायास से तुमको ज्ञान का लाभ होगा इसके सूचनार्थ महाप्रभाव कुरुका ग्रहण है यह। अर्थ भगवान्वशिष्ठ के वचन अतिस्फुट हैं यथा श्री रामः—'एकामथ द्वितीयां च तृतीयां भूमिकामुत। आरूढस्य मृतस्याथ कीदृशी भगवान् गतिः' इति ॥ पूर्व में सात भूमियों का व्याख्यान हो चुका उसमें नित्यानित्यवस्तु विवेक ऐहलौकिक पारलौकिक अर्थभोग, वैराग्य, शम, दम, श्रद्धा, तितिक्षा, सर्व कर्मसन्यासादि पुरस्पर मुमुक्षा शुभेच्छा प्रथमाभूमि का अर्थात साधनचतुष्टय सम्पन्न ततः गुरु समीप जाकर वेदान्तवाक्य विचारणात्मक द्वितीयाभूमिका अर्थात् श्रवणमननसम्पद्रूपा। ततः श्रवण, मननपरिनिष्पन्न तत्त्वज्ञान की निर्विचिकित्सतारूपा तनुमानसा नामक तृतीया भूमिका है अर्थात्निदिध्यासनसम्पन्न। चौथी भूमिका तो तत्त्वसाक्षात्कार

पञ्चमषष्ठसप्तमभूमयस्तु जीवन्मुक्तेरवान्तरभेदा इति तृतीये प्राग्व्याख्यातम्। तत्र चतुर्थीं भूमिं प्राप्तस्य मृतस्य जीवन्मुक्त्यभावेऽपि विदेहकैवल्यं प्रति नास्त्येव संशयः तदुत्तरभूमिकात्रयं प्राप्तस्तु जीवन्नपि मुक्तः किमु विदेह इति नास्त्येव भूमिकाचतुष्टये शङ्का साधनभूतभूमिकात्रये तु कर्मत्यागाज्ज्ञानालाभाच्च भवति शङ्केति तत्रैव प्रश्नः, श्रीवसिष्ठः—

'योगभूमिकयोत्क्रान्तजीवितस्य शरीरिणः।
भूमिकांशानुसारेण क्षीयते पूर्वदुष्कृतम्॥
ततः सुरविमानेषु लोकपालपुरेषु च। मेरूपवनकुञ्जेषु रमते रमणीसुखः॥२॥
ततः सुकृतसंभारे दुष्कृते च पुराकृते।
भोगक्षयात्परिक्षीणे जायन्ते योगिनो भुवि ३॥
शुचीनां श्रीमतां गेहे गुप्ते गुणवतां सताम्।
जनित्वा योगमेवैते सेवन्ते योगवासिताः॥४॥
तत्र प्राग्भावनाऽभ्यस्तं योगभूमिक्रमं बुधाः।
दृष्ट्वा परिपतन्त्युच्चैरुत्तरं भूमिकाक्रमम्॥ ५॥' इति।

अत्र प्रागुपचितभोगवासनाप्राबल्यादल्पकालाभ्यस्तवैराग्यवासनादौर्बल्येन प्राणोत्क्रान्तिसमयेऽनुद्भूतभोगास्पृहः सर्वकर्मसंन्यासी यः स एवोक्तः,

ही है पंचम, षष्ठ सप्तम भूमियाँ तो जीवन्मुक्ति के अवान्तर भेद हैं इसका तृतीयाध्याय में पूर्व में व्याख्यान हो चुका है। इसमें चतुर्थीभूमिप्राप्त मृत का जीवन्मुक्ति के अभाव में भी विदेह कैवल्य के प्रति संशय नहीं है तदुत्तर भूमित्रयप्राप्त योगी जीता हुआ भी मुक्त ही है शरीर पात के अनन्तर मुक्ति में कहना ही क्या है। इसलिए भूमि का चतुष्टय में मोक्ष की शंका नहीं। साधनभूत भूमिकात्रय में कर्मत्याग से और ज्ञान न होने से शंका होती है अतः उसी में यह प्रश्न है। वसिष्ठ जी ने कहा है—

योगभूमिकयोत्क्रान्तजीवितस्य शरीरिणः।

इत्यादि ऊपर देखिए। इनमें प्राक्सम्पादित भोगवासनाप्राबल्य से अल्पकालकृत वैराग्यवासना दौर्बल्य से प्राण निकलने के समय उत्पन्न भोगस्पृहा सर्वकर्मसन्यासी जो है वही कहा गया है। जो वैराग्य वासना की प्रबलता से और प्रबल

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते ॥ ४४ ॥

और वह विषयोंके वशमें हुआ भी उस पहिलेके अभ्याससे ही निःसन्देह भगवत् की ओर आकर्षित किया जाता है तथा समत्वबुद्धिरूप योगका जिज्ञासु भी वेदमें कहे हुए सकाम कर्मों के फलको उल्लंघन कर जाता है ॥ ४४ ॥

यस्तु वैराग्यवासनाप्राबल्यात्प्रकृष्टपुण्यप्रकटितपरमेश्वरप्रसादवशेन प्राणोत्क्रान्तिसमयेऽनुद्भूतभोगस्पृहः संन्यासी भोगव्यवधानं विनैव संभवान्नास्ति पूर्वस्यैव मोक्षं प्रत्याशङ्केति स च वसिष्ठेनोक्तो भगवता तु परमकारुणिकेनाथवेति पक्षान्तरं कृत्वोक्त एव स्पष्टमन्यत् ॥ ४३ ॥

म० टी०—ननु यो ब्रह्मविदां ब्राह्मणानां सर्वप्रमादकारणशून्ये कुले समुत्पन्नस्तस्य मध्ये विषयभोगव्यवधानाभावादव्यवहितप्राग्भवीयसंस्कारोद्बोधात्पुनरपि सर्वकर्मसंन्यासपूर्वकः ज्ञानसाधनलाभो भवतु नाम यस्तु श्रीमतां महाराजचक्रवर्तिनां कुले बहुविधविषयभोगव्यवधानेनोत्पन्नस्तस्य विषयभोगवासनाप्राबल्यात्प्रमादकारणसंभवाच्च कथमतिव्यवहितज्ञानसंस्कारोद्बोधः, क्षत्रियत्वेन सर्वकर्मसंन्यासानर्हस्य कथं वा ज्ञानसाधनलाभ इति ?

पुण्य सम्पादित परमेश्वर कृपा वश से प्राण निकलने के समय अनुत्पन्न भोग स्पृह सन्यासी भोग व्यवधान के विना सर्वप्रमाद कारणशून्य ब्रह्मविद् ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुआ उसका प्राक्तनसंस्कार के आविर्भाव अनायास से हो जाता है इस मोक्ष की आशंका नहीं सो भगवान् वसिष्ठने ही कहा परन्तु परमकारुणिक भगवान् श्रीकृष्ण जी ने पक्षान्तर करके कहा ही है बाकी स्पष्ट है ॥ ४३॥

प्रश्न—सर्वप्रमाद कारणरहित ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मणों के कुल में समुत्पन्न है उसको मध्य में विषयभोग व्यवधान न होने से अव्यवहित प्राचीनसंस्कार समुद्बोध से सर्वकर्मसंन्यासपुरस्सर ज्ञानसाधन लाभ हो परन्तु महालक्ष्मी सम्पत् महाराज चक्रवर्त्तियों के कुल में (अनेक प्रकार) विषयभोग व्यवधान से जो उत्पन्न हुआ है उसका विषयभोग वासनाप्राबल्य से प्रमादकारण सम्भव से अतिव्यवहित संस्कार समुद्बोध कैसे होता है ? क्षत्री होने से सबकर्म सन्यासानर्ह को ज्ञानसाधन लाभ कैसे होता है ?

तत्रोच्यते—**पूर्वाभ्यासेनेति ।** अतिचिरव्यवहितजन्मोपचितेनापि तेनैव पूर्वाभ्यासेन प्रागर्जितज्ञानसंस्कारेणावशोऽपि मोक्षसाधनायाप्रयतमानोऽपि ह्रियते स्ववशीक्रियते अकस्मादेव भोगवासनाभ्यो व्युत्थाप्य मोक्षसाधनोन्मुखः क्रियते ज्ञानवासनाया एवाल्पकालाभ्यस्ताया अपि वस्तुविषयत्वेनावस्तुविषयाभ्यो भोगवासनाभ्यः प्राबल्यात् । पश्य यथा त्वमेव युद्धे प्रवृत्तो ज्ञानायाप्रयतमानोऽपि पूर्वसंस्कारप्राबल्यादकस्मादेव रणभूमौ ज्ञानोन्मुखोऽभूरिति अतएव प्रागुक्तम्—**नेहाभिक्रमनाशोऽस्तीति ।** अनेकजन्मसहस्रव्यवहितोऽपि ज्ञानसंस्कारः स्वकार्यं करोत्येव सर्वविरोध्युपमर्देनेत्यभिप्रायः। सर्वकर्मसंन्यासाभावेऽपि हि क्षत्रियस्य ज्ञानाधिकारः स्थित एव यथा पाटच्चरेण बहूनां रक्षिणां मध्ये विद्यमानमपि अश्वादिद्रव्यं स्वयमनिच्छदपि तान्सर्वानभिभूय स्वसामर्थ्यविशेषादेवापह्रियते पश्चात्तु कदाऽपहृतमिति । एवं बहूनां ज्ञानप्रतिबन्धकानां मध्ये विद्यमानोऽपि योगभ्रष्टः स्वयमनिच्छन्नपि ज्ञानसंस्कारेण बलवता स्वा-

---

उत्तर—अतिदीर्घकाल व्यवहित जन्मसंचित उसी पूर्वाभ्यास से पूर्वोपार्जित ज्ञानसंस्कारों से विवश हो मोक्षसाधन के लिए प्रयास न करने पर भी अपहृत होता है अर्थात् अकस्मादेव योगवासनाओं से पराङ्मुख हो मोक्षसाधनाभिमुख उन्हीं से किया जाता है । ज्ञानवासना स्वल्पकालीना अभ्यस्त भी परमार्थ वस्तुविषयक होने से मिथ्याविषयक भोगवासनाओं से प्रबल है अर्थात् अचिरजात वस्तुविषयक अतएव अतिप्रबल ज्ञानवासनापरक व्यवहित भोगवासना को दबा कर पुरुष को मोक्षसाधनोन्मुख करती है। देखो—तुम ही युद्ध में प्रवृत्त होकर ज्ञान के लिए प्रयास न करते हुए भी संस्कारप्राबल्य से अकस्मादेव संग्रामभूमि ज्ञानोन्मुख हुए हो अतएव पूर्व में कहा है—'नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति' हजारों जन्मों से व्यवहित भी ज्ञानसंस्कार सर्वविरोधियों का पराभव कर अपना कार्य करता ही है। अभिप्राय यह है कि सर्वकर्म संन्यासभाव में भी क्षत्रिय को ज्ञानाधिकार है ही जैसे डाकू बहुत रक्षकों के मध्य में स्थित अश्वादिद्रव्य स्वयं इच्छा न करते हुये को उन सब का अभिभव कर अपने शक्तिविशेष से चुरा लेता है पीछे कब चुराया है यह विचार होता है। उसी प्रकार अनेक ज्ञानप्रतिबन्धकों के मध्य में विद्यमान योगभ्रष्ट इच्छाशून्य को भी बलवान ज्ञानसंस्कार

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः ।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ॥ ४५ ॥

जब कि इस प्रकार मन्दप्रयत्न करनेवाला योगीभी परमगति को प्राप्त हो जाता है, तब क्या कहना है कि, अनेक जन्मोंसे अन्तःकरणकी शुद्धिरूप सिद्धिको प्राप्त हुआ और अतिप्रयत्न से अभ्यास करनेवाला योगी संपूर्ण पापोंसे अच्छी प्रकार शुद्ध होकर, उस साधनके प्रभाव से परमगतिको प्राप्त होता है, अर्थात परमात्माको प्राप्त होता है ॥ ५ ॥

सामर्थ्यविशेषादेव सर्वान् प्रतिबन्धकानभिभूयात्मवशीक्रियत इति हञः प्रयोगेण सूचितम् । अतएव संस्कारप्राबल्यात् जिज्ञासुर्ज्ञातुमिच्छुरपि योगस्य मोक्षसाधनज्ञानस्य विषयं ब्रह्मज्ञानं प्रथमभूमिकायां स्थितः संन्यासीति यावत् सोऽपि तस्यामेव भूमिकायां मृतोन्तराले बहून् विषयान् भुक्त्वा महाराजचक्रवर्तिनां कुले समुत्पन्नोऽपि योगभ्रष्टः प्रागुपचितज्ञानसंकारप्राबल्यात् तस्मिञ्जन्मनि शब्दब्रह्म वेदकर्मप्रतिपादकम् अतिवर्तते अतिक्रम्य तिष्ठति कर्माधिकरातिक्रमेण ज्ञानाधिकारी भवतीत्यर्थः । एतेनाऽपि ज्ञानकर्मसमुच्चयो निराकृत इति द्रष्टव्यम्, समुच्चये हि ज्ञानिनोऽपि कर्मकाण्डातिक्रमाभावात् ॥ ४४ ॥

म० टी०—यदा चैवं प्रथमभूमिकायां मृतोऽपि अनेकभोगवासनाव्यवहितमपि विविधप्रमादकारणवति महाराजकुलेऽपि जन्म लब्ध्वापि योगभ्रष्टः

स्वशक्तिविशेष से सब प्रतिबन्धकों का पराजय कर आत्मवश करता है यह 'हृञ् हरणे' इस धातुके प्रयोग से सूचित हुआ। अतएव संस्कारप्राबल्य से जिज्ञासु मोक्षसाधन ज्ञानयोग का विषय ब्रह्मज्ञान प्रथमभूमिका में स्थित संन्यासी वह भी उसी भूमिका में मृतमध्य में अनेक विषयों का भोग कर महाराज चक्रवर्ती के कुल में उत्पन्न योगभ्रष्ट प्राचीन जन्मार्जित ज्ञानसंस्कार प्राबल्य से उस जन्म में कर्मप्रतिपादक शब्दब्रह्मरूपवेद का अतिक्रम कर स्थित होता है अर्थात् कर्माधिकारी का उल्लंघन कर ज्ञानाधिकारी होता है इसमें भी ज्ञानकर्म समुच्चय का निराकरण समझना समुच्चय में ज्ञानी को भी कर्मकाण्ड के अतिक्रम को अभाव प्रसिद्ध ही है ॥४४॥

जब इस प्रकार प्रथम भूमिका में मृत अनेक भोगवासना व्यहित अनेक प्रमाद हेतुओं से महाराज कुल में समुत्पन्न योगभ्रष्ट पूर्वार्जित ज्ञानसंस्कार प्राबल्य

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन! ॥ ४६ ॥

क्योंकि योगी तपस्वियोंसे श्रेष्ठ है और शास्त्रके ज्ञानवालोंसे भी श्रेष्ठ माना गया है, तथा सकाम कर्म करनेवालों से भी योगी श्रेष्ठ है, इससे हे अर्जुन ! तूँ योगी हो ॥ ४६ ॥

पूर्वोपचितज्ञानसंस्कारप्राबल्येन कर्माधिकारमतिक्रम्य ज्ञानाधिकारी भवति तदा किमु वक्तव्यं द्वितीयायां तृतीयायां वा भूमिकायां मृतो विषयभोगाऽन्ते लब्धमहाराजकुलजन्मा यदि । वा भोगमकृत्वैव लब्धब्रह्मविद्ब्राह्मणकुलजन्मा योगभ्रष्टः कर्माधिकारातिक्रमेण ज्ञानाधिकारो भूत्वा तत्साधनानि सम्पाद्य तत्फललाभेन संसारबन्धनान्मुच्यत इति तदेतदाह—**प्रयत्नादिति** । प्रयत्नात्पूर्वकृतादप्यधिकमधिकं यतमानः प्रयत्नातिरेकं कुर्वन् योगी पूर्वोपचितसंस्कारवान् तेनैव योगप्रयत्नपुण्येन संशुद्धिकिल्बिषः धौतज्ञानप्रतिबंधकपापमलः अतएव संस्कारोपचयात्पुण्योपचयाच्च अनेकैर्जन्मभिः संसिद्धः संस्कारातिरेकेण पुण्यातिरेकेण च प्राप्तचरमजन्मा ततः साधनपरिपाकाद्याति परां प्रकृष्टां गतिं मुक्तिं नास्त्येवात्र कश्चित्संशय इत्यर्थः ॥ ४५ ॥

म० टी०—इदानीं योगी स्तूयतेऽर्जुन प्रति श्रद्धातिशययोत्पादनपूर्वकं विधातुं **तपस्विभ्यः** इति । कृच्छ्रचान्द्रायणादितपःपरायणेभ्योऽपि अधिक

से कर्माधिकारी का उल्लंघन कर ज्ञानाधिकारी होता है तब क्या कहना है द्वितीय या तृतीयभूमि में मृत विषयभोग के अन्त में प्राप्त महाराजकुल जन्म । यदि वा भोग विना किये हुए ब्रह्मविद् ब्राह्मण कुल में जन्म पाकर योगभ्रष्ट कर्माधिकारों का उल्लङ्घन कर ज्ञानाधिकारी होकर सब साधनों का सम्पादन कर तत्फल लाभ से संसारबन्धन से मुक्त होता है । यही कहते हैं--प्रयत्न से पूर्व किये हुए से अधिकाधिक यतमान प्रयत्नविशेष करता हुआ योगी पूर्वसम्पादित संस्कारवान् उसी योगप्रयत्न निपुणता से विशुद्धपाप अर्थात् ज्ञानोत्पत्ति प्रतिबन्धक पापरूप मलरहित अतएव संस्कार बुद्धि से पुण्याधिक्य से अनेक जन्मों से संसिद्ध संस्कारातिरेक और पुण्यातिरेक से अन्तिम जन्म पाकर ज्ञानसाधन परिपाक से परमुक्तिरूप उत्कृष्ट गति को प्राप्त करता है इसमें कोई सन्देह नहीं ॥४५॥

इस समय अतिश्रद्धोत्पादनपूर्वक योगविधान के लिए अर्जुन के प्रति योगी की स्तुति करते हैं—तपस्वी कृच्छ्रचान्द्रायणादि तपःपरायण से योगी

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥ ४७ ॥

और हे प्यारे ! संपूर्ण योगियोंमें भी जो श्रद्धावान् योगी मेरेमें लगे हुए अन्तरात्मासे मेरेको निरन्तर भजता है, वह योगी मुझे परमश्रेष्ठ मान्य है ॥४७॥

उत्कृष्टो योगो तत्त्वज्ञानोत्पत्त्यनन्तरं मनोनाशवासनाक्षयकारी—'विद्यया तदारोहन्ति यत्र कामाः परागताः ।

न तत्र दक्षिणा यान्ति नाविद्वांसस्तपस्विन ॥ इति श्रुतेः ।

अतएव कर्मिभ्यो दक्षिणासहितज्योतिष्टोमादिकर्मानुष्ठायिभ्यश्चाधिको योगी कर्मिणां तपस्विनां चाज्ञत्वेन मोक्षानर्हत्वात् ज्ञानिभ्योऽपि परोक्षज्ञानवद्भ्योऽपि अपरोक्षज्ञानवानधिको मतो योगी । एवमपरोक्षज्ञानवद्भ्योऽपि मनोनाशवासनाक्षयाभावादजीवन्मुक्तेभ्यो मनोनाशवासनाक्षयवत्त्वेन जीवन्मुक्तो योग्यधिको मतः मम संमतो यस्मादेवं तस्मादधिकाधिकप्रयत्नबलात्त्वं योगभ्रष्ट इदानीं तत्त्वज्ञानमनोनाशवासनाक्षयैर्युगपत्सम्पादितैर्योगी जीवन्मुक्तो यः स योगी परमोमत इति प्रागुक्तः स तादृशो भव।साधनपरिपाकात् हे अर्जुनेति शुद्धेति संबोधनार्थः ॥ ४६ ॥

उत्कृष्ट है तत्त्वज्ञ नोत्पत्ति के वाद मनोनाश और वासनानाश का विनाशकारी

'विद्यया तदारोहन्ति यत्र कामा· परागताः ।

न तत्र दक्षिणा यन्ति नाविद्वांसस्तपस्विनः ॥' यह श्रुति है ।

अतएव दक्षिणासहित ज्योतिष्टोमादि यागानुष्ठायी कर्मियों से अधिक योगी हैं क्योंकि कर्मी और तपस्वी ये दोनों अविद्वान् होने से मोक्ष के योग्य नहीं परोक्षज्ञानवान् ज्ञानियों से अपरोक्षज्ञानवान् योगी अधिक माना जाता है, इसी प्रकार मनोनाश वासनाक्षयाभाव से अजीवन्मुक्त अपरोक्षज्ञानवान् योगी से मनोनाश वासनाक्षययुक्त जीवन्मुक्त योगी को मैं अधिक मानता हूँ अतः अधिक बल से योगभ्रष्ट तुम एक काल में तत्त्वज्ञान मनोनाश वासनाक्षयों को सम्पादन कर जो जीवन्मुक्त से योगी उत्कृष्ट है यह पूर्व में कहा है, साधनपरिपाक से तुम वैसा हो, हे अर्जुन ! शुद्ध यह सम्बोधन का अर्थ है ॥४६॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे आत्मसंयम-
योगो नाम षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

म० टी०—इदानीं सर्वयोगिश्रेष्ठं योगिनं वदन्नध्यायमुपसंहरति—योगिनामिति योगिनां वसुरुद्रादित्यादिक्षुद्रदेवताभक्तानां सर्वेषामपि मध्ये मयि भगवति वासुदेवे पुण्यपरिपाकविशेषाद्गतेन प्रतिवशान्निविष्टेन मद्गतेनान्तरात्मनान्तःकरणेन प्राग्भवीयसंस्कारपाटवात्साधुसङ्गाच्च मद्भजन एव श्रद्धावानतिशयेन श्रद्दधानः सन् भजते सेवते सततं चिन्तयति यो मां नारायणमीश्वरेश्वरं सगुणं निर्गुणं वा मनुष्योऽयमीश्वरान्तरसाधारणोऽयमित्यादिभ्रमं हित्वा स एव मद्भक्तो योगी युक्ततमः सर्वेभ्यः समाहितचित्तेभ्यो युक्तेभ्यः श्रेष्ठो मे मम परमेश्वरस्य सर्वज्ञस्य मतो निश्चितः समानोऽपि योगाभ्यासक्लेशे समानेऽपि भजनायासे मद्भक्तिशून्येभ्यो मद्भक्तस्यैव श्रेष्ठत्वात्त्वं मद्भक्तः परमो युक्ततमोऽनायासेन भवितुं शक्ष्यसीति भावः। तदनेनाध्यायेन कर्मयोगस्य बुद्धिशुद्धिहेतोर्मर्यादां दर्शयता ततश्च कृतसर्वकर्मसंन्यासस्य साङ्ख्ययोगं विवृण्वता मनोनिग्रहोपायं चाऽक्षेपनिरासपूर्वकमुपदर्शिता योगभ्रष्टस्य पुरुषार्थशून्यताशङ्कां

इस समय सर्वयोगीश्रेष्ठ योगी को कहते हुए अध्याय का उपसंहार करते हैं,—वसु, रुद्र, आदित्यादि, क्षुद्र देवताभक्त एवं सब योगियों के मध्य में वासुदेव भगवान् मुझ में पुण्यविशेष के प्रादुर्भाव से प्रेमवश निविष्ट मद्गत अन्तःकरण से प्राचीन संस्कारसामर्थ्य से साधुसङ्ग से मेरे भजन में ही अतिशय श्रद्धायुक्त होकर जो मेरा भजन करते हैं, अर्थात् निरन्तर मेरा चिन्तन करते हैं, नारायण ईश्वर सगुण अथवा निर्गुण का ध्यान करते हैं सर्वज्ञ मुझ परमेश्वर को श्रेष्ठ निश्चित है। योगाभ्यास क्लेश समान होने पर भजन परिश्रम में मेरे भक्ति से शून्य से मेरे भक्त ही में ज्येष्ठत्व है तुम मेरा भक्त होकर अनायास परमयोगी हो सकते हो यह तात्पर्य है। इस अध्याय से बुद्धि विशुद्ध कारण कर्म योग की मर्य्यादा को दिखलाते हुए सर्वकर्मसन्यास का साङ्ख्ययोग का विवरण करते हुए शंकासमाधान पूर्वक मनोनाश निग्रहोपाय का उपदेश करते हुए

च शिथिलयता कर्मकाण्डं त्वंपदार्थनिरूपणं च समापितम्। अतः परं 'श्रद्धावान् भजते यो माम्' इति सूत्रितं भक्तियोगं भजनीयं च भगवन्तं वासुदेवं तत्पदार्थं निरूपयितुमग्रिममध्यायषट्कमारभ्यत इति शिवम् ॥ ४७ ॥

इति श्रीमत्परहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीविश्वेश्वरसरस्वतीयपादशिष्य-
मधुसूदनसरस्वतीविरचितायां श्रीभगवद्गीतागूढार्थ-
दीपकायाम् अध्यात्मयोगो नाम
षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

योगभ्रष्ट के पुरुषार्थशून्य शंका को शिथिल करते हुए त्वं पदार्थनिरूपण कर्मकाण्ड को समाप्त किया। इसके आगे 'श्रद्धावान् भजते यो माम्' इससे सूचित भक्तियोग और भजनीय भगवान् वासुदेव तद् पदार्थ के निरूपणार्थ अग्रिम छः अध्यायों का आरम्भ करते हैं॥ इति शिवम्॥

इस प्रकार महामहोपाध्याय पं० हरिहरकृपालु
द्विवेदिकृत गीतामधुसूदनी के छठवाँ
अध्याय का अनुवाद
समाप्त हुआ

अथ सप्तमोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच

मय्यासक्तमनाः पार्थ ! योगं युञ्जन्मदाश्रयः ।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु ॥ १ ॥

उसके उपरान्त श्रीकृष्ण भगवान् बोले, हे पार्थ ! तूं मेरेमें अनन्यप्रेमसे आसक्त हुए मनवाला और अनन्यभावसे मेरे परायण योगमें लगा हुआ मुझको संपूर्ण विभूति, बल ऐश्वर्यादि गुणोंसे युक्त सबका आत्मरूप जिसप्रकार संशयरहित जानेगा उसको सुन ॥ १ ॥

श्रीकृष्णाय गीतामृतदुहे नमः ।

म० टी०—यद्भक्तिं न विना मुक्तिर्यः सेव्यः सर्वयोगिनाम् ।
तं वन्दे परमानन्दघनं श्रीनन्दनन्दनम् ॥

एवं कर्मसंन्यासात्मकसाधनप्रधानेन प्रथमषट्केन ज्ञेयं त्वंपदलक्ष्यं सयोगं व्याख्यायाऽधुना ध्येयब्रह्मप्रतिपादनप्रधानेन मध्यमेन षट्केन तत्पदार्थो व्याख्यातव्यः । तत्रापि—

'योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मत ॥' इति ।

सातवाँ अध्याय

जिसकी भक्ति के विना मुक्ति नहीं होती जो सब योगियों का परम आराध्य है उस परमानन्द घन श्रीनन्दनन्दन श्रीकृष्णचन्द्रजी की वन्दना करता हूँ । इस प्रकार कर्म और संन्यास एतदुभयात्मक साधनप्रधान प्रथम छः अध्यायों से ज्ञेय (जाने के योग्य) त्वं पदलक्ष्य का योगसहित व्याख्यान कर इस समय ध्येय ब्रह्मनिरूपण प्रधान मध्यम छः अध्यायों से तत् पदार्थ व्याख्येय है, उसमें भी 'योगिनामपि सर्वेषाम्' इत्यादि वचनों से निर्दिष्ट भगवद् भजन के व्याख्यान

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः ।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥ २ ॥

मैं तेरे लिये इस रहस्यसहित तत्त्वज्ञानको संपूर्णतासे कहूँगा, कि जिसको जानकर संसारमें फिर और कुछ भी जानने योग्य शेष नहीं रहता है ॥ २ ॥

प्रागुक्तस्य भगवद्भजनस्य व्याख्यानाय सप्तमोऽध्याय आरभ्यते-तत्र कीदृशं भगवतो रूपं भजनीयं कथं वा तद्गतोऽन्तरात्मा स्यादित्येतद्द्वयं प्रष्टव्यमर्जुनेनापृष्टमपि परमकारुणिकतया स्वयमेव विवक्षुः श्रीभगवानुवाच—'मय्यासक्त' इत्यादिना। मयि परमेश्वरे सकलजगदायतनत्वादिविविधविभूति-भागिनि आसक्तं विषयान्तरपरिहारेण सर्वदा निविष्टं मनो यस्य तव सत्त्वम् अतएव मदाश्रयो मदेकशरणः राजाश्रयो भार्याद्यासक्तमनाश्च राजभृत्यः प्रसिद्धो मुमुक्षुस्तु मदाश्रयो मदासक्तमनाश्च त्वं त्वद्विधो वा योगं युञ्जन् मनःसमाधानं षष्ठोक्तप्रकारेण कुर्वन् असंशयं यथा भवत्येवं समग्रं सर्वविभूतिबलशक्त्यै-श्वर्यादिसम्पन्नं मां यथा येन प्रकारेण ज्ञास्यसि तच्छृणूच्यमानं मया ॥ १ ॥

के लिए सप्तम अध्याय का आरम्भ करते हैं-- उसमें भगवान् का कैसा स्वरूप भजनीय ध्येय है और कैसे भक्त तद्गत अन्तरात्मा होगा ये दोनों यद्यपि अर्जुन से पूँछने के योग्य हैं, परन्तु पूँछा नहीं ; तो भी परम दयावान् भगवान् अपने से ही कहने की इच्छावान् होकर बोले—मुझ परमेश्वर में जो कि सम्पूर्ण प्रपञ्च का आश्रय और अनेकप्रकार की विभूतिसंयुक्त है उसमें आशक्त विषयान्तर का परित्याग कर सर्वदा अवस्थित है मन जिसका वह तुम मदाश्रय मदेकशरण हो। यद्यपि लोक में नौकर राजाश्रय और स्त्री में आसक्त मन प्रसिद्ध है, परन्तु मुमुक्षुजन मदाश्रय और मदासक्त मन होते हैं। छठवें अध्याय में कहे हुए प्रकार से मनः समाधान कर तुम या तुम्हारे समान मदासक्त मदाश्रय योग करता हुआ असंदिग्ध जैसे होता है तथा समग्र बल विभूति शक्ति ऐश्वर्यादि संपन्न मुझको जिस प्रकार से जानोगे सो मैं कहता हूँ, सुनो ॥१॥

म० टी०—ज्ञास्यसीत्युक्ते परोक्षमेव तज्ज्ञानं स्यादिति शङ्कां व्यावर्तयन् स्तौति श्रोतुराभिमुख्याय—ज्ञानमिति । इदं (१) मद्विषयं स्वतोऽपरोक्षज्ञानम् असंभावनादिप्रतिबन्धेन फलमजनयत् परोक्षमित्युपचर्यते, असंभावानादिनिरासे तु विचारपरिपाकान्ते तेनैव प्रमाणेन जनितं ज्ञानं प्रतिबन्धाभावात्फलं जनयदपरोक्षमित्युच्यते विचारपरिपाकनिष्पन्नत्वाच्च तदेव विज्ञानं तेन विज्ञानेन सहितमिदपरोक्षमेव ज्ञानं शास्त्रजन्यं ते तुभ्यमहं परमाप्तः वक्ष्याम्यशेषतः साधनफलादिसहितत्वेन निरवशेषं कथयिष्यामि । श्रौतीमेकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञामनुसरन्नाह—यत् ज्ञानं नित्यचैतन्यरूपं ज्ञात्वा वेदान्तजन्यमनोवृत्तिविषयीकृत्य इह भूयः पुनरपि अन्यत्किञ्चिदपि ज्ञातव्यं नावशिष्यते सर्वाधिष्ठानसन्मात्रज्ञानेन कल्पितानां सर्वेषां बाधे सन्मात्रज्ञानेनैव त्वं कृतार्थो भविष्यसीत्यभिप्रायः ॥ २ ॥

'ज्ञास्यसि' कहने से परोक्ष ही परमेश्वर ज्ञान होगा इस शङ्का को निवारण करते हुए सुनने वाले के अभिमुख होने के लिये स्तुति करते हैं—मद्विषयक यह अपरोक्ष ज्ञान असंभावनादि ज्ञानोत्पत्तिप्रतिबन्धक होने से फलोत्पत्ति नहीं करता; अतः यह प्रत्यक्ष परोक्ष के समान ही कहा जाता है। असंभावनादि प्रतिबन्धक निरास होने पर उसी विचार परिपाक से उसी प्रमाण से उत्पन्न ज्ञान प्रतिबन्धाभाव से फलोत्पादन करता हुआ अपरोक्ष कहा जाता है। विचार परिपाक से निष्पन्न वही विज्ञान उसी विज्ञान के सहित यह अपरोक्ष ही ज्ञान शास्त्रजन्य सत्यभाषी यथार्थ वक्ता मैं तुम से सम्पूर्ण कहूँगा, साधन फलादि सहित निरशेष ज्ञान का उपदेश करेंगे। श्रुतिसिद्ध एकविज्ञान से सर्वविज्ञान प्रतिज्ञा अनुसरण कहते हैं—जो ज्ञान नित्य चैतन्यरूप जान कर अर्थात् वेदान्तवाक्यजन्य मनोवृत्ति विषय कर इस व्यापार भूमि में फिर दूसरा कुछ भी ज्ञातव्य बाकी न रहेगा सर्वाधिष्ठान सन्मात्र ज्ञान ही से तुम कृतार्थ होओगे यह अभिप्राय है ॥२॥

(१) यहाँ पर सरस्वतीजी ने ज्ञान मद्विषयक ज्ञान विज्ञान से सहित अपरोक्ष ही शास्त्रजन्यज्ञान तुमसे कहेंगे, शब्द से भी 'दशमस्त्वसि' इत्यादि स्थल में अपरोक्ष ज्ञान होता है यह जाना जाता है। अन्यथा अपरोक्ष ज्ञान की निवृत्ति न होगी जो ज्ञान नित्य चैतन्यरूप जान कर ज्ञातव्य कुछ बाकी न रहेगा, यह कहा है। उत्कर्षकारक इसमें आक्षेप है कि

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये ।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ॥ ३ ॥

परन्तु हजारों मनुष्योंमें कोई ही मनुष्य मेरी प्राप्ति के लिये यत्न करता है और उन यत्न करनेवाले योगियोंमें भी कोई पुरुष मेरे परायण हुआ मेरेको तत्त्वसे जानता है, अर्थात् यथार्थमर्म से जानता है ॥ ३ ॥

म० टी०—अतिदुर्लभं चैतन्मदनुग्रहमन्तरेण महाफलं ज्ञानं यतः **मनुष्याणामिति।** मनुष्याणां शास्त्रीयज्ञानकर्मयोग्यानां सहस्रेषु मध्ये कश्चिदेकोऽनेकजन्मकृतसमासादितनित्यानित्यवस्तुविवेकः सन् यतति यतते सिद्धये सत्त्वशुद्धिद्वारा ज्ञानोत्पत्तये यततां यतमानानां ज्ञानाय सिद्धानां प्रागर्जितसुकृतानां साधकानामपि मध्ये कश्चिदेकः श्रवणमनननिदिध्यासनपरिपाकान्ते मामीश्वरं वेत्ति साक्षात्करोति तत्त्वतः प्रत्यगभेदेन तत्त्वमसीत्यादि गुरूपदिष्टमहावाक्येभ्यः अनेकेषु मनुष्येष्वात्मज्ञानसाधनानुष्ठायी परमदुर्लभः साधनानुष्ठायिष्वपि मध्ये फलभागी परमदुर्लभ इति किं वक्तव्यमस्य ज्ञानस्य माहात्म्यमित्यभिप्रायः ॥ ३ ॥

मेरी कृपा के बिना महाफल यह ज्ञान दुर्लभ है। क्योंकि शास्त्रीयज्ञान और कर्मयोग के योग्य हजारों मनुष्य के मध्य में कोई एक जो कि पूर्वजन्म सम्पादित पुण्यपुञ्ज से सम्प्राप्त नित्यानित्य वस्तुविवेक है, अर्थात् वही सत्त्वशुद्धि द्वारा ज्ञानोत्पत्ति के लिये यत्न करता है। ज्ञान के लिये प्रयत्न करने वाले सिद्धों में और पूर्वार्जित सुकृति साधकों के मध्य में कोई एक श्रवण, मनन, निदिध्यासन परिपाकावसान में मुझ ईश्वर को जानता है। अर्थात् 'तत्त्वमसि' इत्यादि गुरूपदिष्ट वेदान्तमहावाक्य से वस्तुतः स्वाभिन्न मेरा साक्षात्कार करता है अनेक मनुष्यों में आत्मज्ञान साधन अनुष्ठान करने वाला परम दुर्लभ है साधानानुष्ठायियों के मध्य में फलभागी परमदुर्लभ है इस तरह ज्ञान का माहात्म्य कहाँ तक कहा जाय यह अभिप्राय है ॥ ३ ॥

यच्छब्द से विज्ञान सहित ज्ञान का पूर्व में परामर्श किया फिर चैतन्य परामर्श कैसे होगा ! भाष्यकार ने स्पष्ट कहा है कि 'तच्च मद्विषयं ज्ञानं ते तुभ्यम्' इत्यादि। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि चैतन्यपरक महाज्ञान वही है किन्तु भगवद्विषयक है। यद्यपि तात्पर्य में विशेष भेद नहीं है तथापि शाब्द अर्थ में भेद है इसमें युक्तत्वायुक्तत्व का पाठकगण स्वयं विचार करें।

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥ ४ ॥

और हे अर्जुन ! पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और आकाश तथा मन, बुद्धि और अहङ्कार भी ऐसे यह आठ प्रकारसे विभक्त हुई मेरी प्रकृति है ॥ ४ ॥

म० टी०—एवं प्ररोचनेन श्रोतारमभिमुखीकृत्यात्मनः सर्वात्मकत्वेन परिपूर्णत्वमवतारयन्नादावपरां प्रकृतिमुपन्यस्यति—'भूमिराप' इति। साङ्ख्यैर्हि पञ्चतन्मात्राण्यहङ्कारो महानव्यक्तमित्यष्टौ प्रकृतयः पञ्चमहाभूतानि पञ्चकर्मेन्द्रियाणि पञ्चज्ञानेन्द्रियाणि उभयसाधारणं मनश्चेति षोडशविकारा उच्यन्ते, एतान्येव चतुर्विंशतितत्त्वानि। तत्र 'भूमिरापोऽनलो वायुः खम्' इति। पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशाख्यपञ्चमहाभूतसूक्ष्मावस्थारूपाणि गन्धरसरूपस्पर्शशब्दात्मकानि पञ्चतन्मात्राणि लक्ष्यन्ते, बुद्ध्यहङ्कारशब्दौ तु स्वार्थावेव मनःशब्देन च परिशिष्टमव्यक्तं लक्ष्यते प्रकृतिशब्दसामानाधिकरण्येन स्वार्थहानेरावश्यकत्वात्, मनःशब्देन वा स्वकारणमहङ्कारो लक्ष्यते पञ्चतन्मात्रसन्निकर्षात्।

इस प्रलोभन से श्रोता को सुनने के लिए अभिमुख कर अपने में सर्वात्मकत्व परिपूर्णत्व अवतरण करते हुए प्रथम अपरा प्रकृति का निर्देश करते हैं—सांख्य विद्वान् शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध' में पञ्चतन्मात्राएं अहंकार और बुद्धितत्त्व प्रधान ये आठ प्रकृतियाँ और पृथिवी जल, तेज, वायु, आकाश ये पाँच महाभूत वाक्पाण्यादि पाँच कर्मेन्द्रियाँ उभयसाधारण मन ये ही षोडशविकार कहे जाते हैं और ये ही चौवीस तत्त्व हैं। उनमें भूमि, जल, अग्नि, वायु, आकाश में पञ्चतत्त्वात्मक महाभूत की सूक्ष्मावस्था रूप, गन्ध, रसरूप, स्पर्श शब्दात्मक पञ्च तन्मात्राएं यहाँ लक्षित हैं। बुद्धि अहंकार स्वार्थ पर है अर्थात् बुद्धिपरक है और अहंकार परक है। मन शब्द से परिशिष्ट प्रधान लक्षित है, प्रकृति शब्द सामानाधिकरण्य से स्वार्थहानि स्वार्थत्याग अनावश्यक है अर्थात भूम्यादि विकृति हैं। और गीता में इनका प्रकृतिरूप से निर्देश किया गया है इस विरोध परिहार के लिए भूम्यादि विकृतिवाची शब्द की स्वप्रकृति पञ्चतन्मात्रा में लक्षणा है। इसी प्रकार से मनः शब्द की स्वकारण अहंकार में लक्षणा है क्योंकि पञ्च

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो! ययेदं धार्यते जगत् ॥ ५ ॥

सो यह आठ प्रकारके भेदोंवाली तो अपरा है, अर्थात् मेरी जड़ प्रकृति है और हे महाबाहो! इससे दूसरीको मेरी जीवरूप परा अर्थात् चेतन प्रकृति जान, कि जिससे यह संपूर्ण जगत् धारण किया जाता है ॥ ५ ॥

बुद्धिशब्दस्त्वहङ्कारकारणे महत्तत्त्वे मुख्यवृत्तिरेव, अहङ्कारशब्देन च सर्ववासनावासितमविद्यात्मकमव्यक्तं लक्ष्यते प्रवर्तकत्वाद्यसाधारणधर्मयोगाच्च इति उक्तप्रकारेण इयमपरोक्षा साक्षिभास्यत्वात् प्रकृतिर्मायाख्या पारमेश्वरी शक्तिरनिर्वचनीयस्वभावात्त्रिगुणात्मिका अष्टधा भिन्ना अष्टभिः प्रकारैर्भेदमागता सर्वोऽपि जडवर्गो तत्रैवान्तर्भवतीत्यर्थः। स्वसिद्धान्ते च ईक्षणसङ्कल्पात्मकौ मायापरिणामावेव बुद्ध्यहङ्कारौ पञ्चतन्मात्राणि चापञ्चीकृतपञ्चमहाभूतानीत्यसकृदवोचाम ॥ ४ ॥

म० टी०—एवं क्षेत्रलक्षणायाः प्रकृतेरपरत्वं वदन् क्षेत्रज्ञलक्षणां परां प्रकृतिमाह—**अपरेयमिति**। या प्रागष्टधोक्ता प्रकृतिः सर्वाचेतनवर्गरूपा सेयमपरा निकृष्टा जडत्वात्परार्थत्वात्संसारबन्धरूपत्वाच्च इतस्त्वचेतनवर्गरूपायाः

तन्मात्रा के समीप है. बुद्धि शब्द की अहंकारकारण महतत्त्व में मुख्यवृत्ति है ही, अहंकारशब्द से सब वासनाओं से संयुक्त लक्षित है क्योंकि प्रेरकत्वादि असाधारणधर्म का सम्बन्ध है। इस प्रकार यह अपरोक्षा माया जो साक्षी (१) भाष्य है वही प्रकृति है। परमेश्वर की अनिर्वचनीयस्वभाव शक्ति है जो यह त्रिगुणात्मक भिन्न आठ प्रकारों से आठ प्रकार की है। यद्यपि स्वरूप से एकरूपा है तथापि प्रकारभेद से अष्टधा मानी जाती है, सम्पूर्ण भी जड़ जात इसी में अन्तर्भूत होते हैं। अपने सिद्धान्त में ईक्षण और संकल्प, बुद्धि, अहङ्कार माया के परिणाम ही हैं पञ्चतन्मात्रयें अपञ्चीकृत पञ्चमहाभूतस्वरूप हैं, यह अनेकों वार कह चुके हैं ॥ ४ ॥

इस प्रकार क्षेत्र लक्षण प्रकृति में अपरत्व कहते हैं—पूर्वोक्त अष्टप्रकार जो प्रकृति है, वह सब अचेतनस्वरूप अतएव अपरा निकृष्टा प्रकृति है क्योंकि जड़ है परार्थ है, चेतनोपभोगार्थ है और स्वरूप है, अतएव निकृष्ट है।

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ॥ ६ ॥

और हे अर्जुन ! तूं ऐसा समझ, कि संपूर्ण भूत इन दोनों प्रकृतियों से ही उत्पत्तिवाले हैं और मैं संपूर्ण जगत्का उत्पत्ति तथा प्रलयरूप हूँ, अर्थात् संपूर्ण जगत्का मूलकारण हूँ ॥ ६ ॥

क्षेत्रलक्षणायाः प्रकृतेरन्यां विलक्षणाम्, 'तु' शब्दाद्यथाकथञ्चिदप्यभेदायोग्यां जीवभूतां चेतनात्मिकां क्षेत्रलक्षणां मे समात्मभूतां विशुद्धां परां प्रकृष्टां प्रकृतिं विद्धि। हे महाबाहो ! यया क्षेत्रज्ञलक्षणया जीवभूतयाऽन्तरनुप्रविष्टया प्रकृत्या इदं जगदचेतनजातं धार्यते स्वतो विशीर्यं उत्तभ्यते 'अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' इति श्रुतेः, न हि जीवरहितं धारयितुं शक्यमित्यभिप्रायः ॥ ५ ॥

म० टी०—(१) उक्तप्रकृतिद्वये कार्यलिङ्गकमनुमानं प्रमाणयन् स्वस्य तद्द्वारा जगत्सृष्ट्यादिकारणत्वं दर्शयति—एतद्योनीनीति। एते अपरत्वेन परत्वेन च प्रागुक्ते क्षेत्रक्षेत्रज्ञलक्षणे प्रकृती योनिर्येषां तान्येतद्योनीनि

इससे अचेतनरूप क्षेत्रलक्षण प्रकृति से अन्य विलक्षण, 'तु' शब्द वैलक्षण्यार्थ है। जिस किसी प्रकार अभेदयोग्य जीवभूत चेतनात्मक क्षेत्रज्ञलक्षण मेरा आत्मस्वरूप अतएव विशुद्ध परमोत्कृष्ट प्रकृति जानो। हे महाबाहो ! क्षेत्रज्ञलक्षण सर्वान्तरप्रविष्ट जीवस्वरूप से यह अचेतनसमुदाय जगत् उत्पन्न होता है, यह प्रकृति से स्थित है। 'अनेन जीवेनात्मना अनुप्रविश्य नामरूपे व्याकवाणि" इस श्रुति से आत्माधीन जगत् की अवस्थिति है। जीवरहित को कोई धारण नहीं कर सकता यह अभिप्राय है ॥ ५ ॥

उक्त दोनों प्रकृतियों में कार्यहेतुक अनुमान को प्रमाणित करते हुए तद्द्वारा अपने में जगत् सृष्टि के आदिकारणत्व को दिखलाते हैं—परत्वेन पूर्वोक्त क्षेत्रक्षेत्रज्ञलक्षण प्रकृति योनि (कारण) है जिनको वे यह भूत

(१) उक्त प्रकृतिद्वये कार्यलिङ्गमनुमानं प्रमाणयन्नित्यादि।

भाव यह है कि कार्य विना कारण व्यापार के नहीं होता, यह लोक में दृष्ट है। वेदान्ती कारण दो प्रकार के मानते हैं निमित्त और उपादान, जैसे घटादि कार्य में निमित्त-

भूतानि भवनधर्मकानि सर्वाणि चेतनाऽचेतनात्मकानि जनिमन्ति निखिलानीत्येवमुपधारय जानीहि। कार्याणां चिदचिद्ग्रन्थिरूपमनुमिन्वित्यर्थः। एवं क्षेत्रक्षेत्रज्ञलक्षणे ममोपाधिभूते यतः प्रकृती जगतस्ततस्तद्द्वाराऽहं सर्वज्ञः सर्वेश्वरोऽनन्तशक्तिमायोपाधिः कृत्स्नस्य चराचरात्मकस्य जगतः सर्वस्य कार्यवर्गस्य प्रभव उत्पत्तिकारणं प्रलयस्तथा विनाशकारणं स्वाप्निकस्येव प्रपञ्चकस्य मायिकस्य मायाश्रयत्वविषयत्वाभ्यां मायाव्यहमेवोपादानं द्रष्टा चेत्यर्थः ॥ ६ ॥

अर्थात् उत्पत्ति सम्पूर्ण चेतनाचेतनात्मक सब उत्पत्तिमान् है यह समझो कार्याणाम्—कार्य चिदचित् ग्रन्थिरूप हैं उनका कारण भी चिदचिद् ग्रन्थि (गाँठ) रूप है इसलिये तत्कारण चिदचित् ग्रन्थिरूप का अनुमान करो इसप्रकार क्षेत्र-क्षेत्रज्ञलक्षण मेरी जो उपाधियाँ भूत हैं वे ही जगत् की प्रकृतियाँ होती हैं तद्वान् सर्वज्ञ और सर्वेश्वर अनन्तशक्ति मायोपाधिक सम्पूर्ण चराचरात्मक जगत् का सत्कार्यवर्ग का उपादानकारण तथा प्रलय विनाश कारण मैं हूँ जैसे मायिक स्वप्नावस्था में भासमान प्रपञ्च मायी जीव में रहता तथा नष्ट होता है वैसे मायाश्रय मायाविषय होने से मायावी मैं ही उपादान और द्रष्टा हूँ ॥६॥

कारण कुलाल दण्डादि, और उपादानकारण मृत्तिका है इसको नैयायिक समवायिकारण कहते हैं। असमवायिकारण का निमित्तकारण में अन्तर्भाव है या है ही नहीं क्योंकि कारण से अतिरिक्त कार्य नहीं है, कारण की अवस्थाविशेष ही कार्य है। इस मत में असमवायिकारण की आवश्यकता ही नहीं आरम्भवाद में अवयवद्वारा अवयवी की उत्पत्ति का निराकरण वेदान्त सूत्रों से किया गया है यह स्पष्ट है। निमित्तकारण और उपादानकारण एक नहीं हो सकता यह न्यायादि मत है। वेदान्ती निमित्तत्व उपादानत्व में विरोध ही नहीं मानते अतः ब्रह्म उपादान और निमित्त दोनों है। स्वाश्रय मायाद्वारा उपादान है और चैतन्यच्छायाद्वारा निमित्त है, अथवा ईक्षणसंकल्पादि द्वारा निमित्त है। अचेतन चेतनाधिष्ठान के विना कार्य करने में समर्थ नहीं, कारण समुदाय से कार्य होता है चेतन व्यापार के विना कारण समुदाय ही नहीं बन सकता। यदि समुदाय कथंचित् हो भी कार्यानुकूल कारणों का विन्यास तदभिज्ञ चेतन के विना नहीं हो सकता। तक्षा—बढ़ई के बिना काष्ठरथ नहीं हो सकता। दण्डादि समुदाय का संघटन और तद्व्यापार चेतन व्यापाराधीन है अतः चेतन निमित्त कारण होता है। घटादि कार्य जो चेतन कुलालादिजन्य लोक में देखे जाते हैं वे सब

शरीरजन्य है, अतः शरीरजन्यत्वावच्छेदेन चेतनकर्तृत्व का अनुभव नहीं हो सकता है। कार्यमात्र में चेतनकर्तृकत्व की सिद्धि नहीं हो सकती। अङ्कुरादिकार्य चेतनव्यापार के बिना ही देखे जाते हैं। यदि उसको पक्षसम मान कर वहाँ भी चेतनकर्तृत्व का अनुमान करें, तो इस प्रकार अनुमान होगा कि 'कार्यं तदुपादानगोचरापरोक्षज्ञानादिजन्यं कार्यत्वात् घटादिवत्'।

प्रश्न—हाँ तो इस अनुमान से शरीरजन्यत्व उपाधि है। जहां २ घटादि सपक्ष में कार्यत्व दृष्ट है वहां वहां शरीरजन्यत्व है, अतः साध्य सकर्तृकत्वादि का व्यापकसाधन कार्यत्व का अव्यापक उक्त उपाधि है। कारण कार्यत्व अङ्कुरादि में है शरीरजन्यत्व नहीं है, अनुमान सोपाधिक होने से प्रमाण नहीं किन्तु तदाभासमात्र है?

उत्तर—उपाधि दो प्रकार से अनुमान का दूषक होता है व्यभिचारोन्नायकत्व से अथवा सत्प्रतिपक्षमुद्रया पक्ष में साध्याभावानुमापकत्व से। प्रकृत में उक्त उपाधि स्वयं दुष्ट होने से आभास है। अतः उभयानुमापक नहीं हो सकता। तथाहि 'कार्यत्वम् उक्तकर्तृकत्वव्यभिचारि उक्तव्यापकशरीरजन्यत्वव्यभिचारित्वात् धूमव्यापकार्द्रेन्धनव्यभिचारिवह्निवत्, व्यापकव्यभिचारीनियम से व्याप्यव्यभिचारी होता है। एवं 'अङ्कुरादि प्रेक्षावत्पूर्वकत्वाभाववत् शरीरजन्यत्वात् आकाशवत्'। आकाश को नैयायिक नित्य मानते हैं, अतः उनके मत में दृष्टान्त आकाश है यह ठीक नहीं, इसमें व्याप्यत्व सिद्धि है अजन्यत्व से ही उक्त साध्याभाव सिद्ध होता है फिर शरीरपद व्यर्थ है। आकाश में अजन्यत्वप्रयुक्त ही उक्त साध्याभाव है शरीरजन्यत्व प्रयुक्त नहीं अजन्यत्वाभाव यदि उपाधि है तो अङ्कुरादि में तदभावप्रयुक्त स्वरूपासिद्धि है अतः न्यायाचार्य श्रीमदुदयनाचार्य ने स्पष्ट ही कहा है कि—'एकाप्रसिद्धिं परिहरतो द्वितीयापत्तिः' इति। अर्थात् एक असिद्धि व्याप्यत्वासिद्धि का परिहार करने वाले को द्वितीय स्वरूपासिद्धि होती है। इसी प्रकार व्यभिचारोद्भावना में भी समझना। वहां भी शरीरपद व्यर्थ है यदि शरीर को छोड़ कर अन्यत्र मात्र कहें, तो अङ्कुरादि में अजन्यत्व स्वरूपासिद्धि है जन्यत्वमात्र साधनव्यापक होने से उपाधि ही नहीं बन सकती। अनुकूलता भी इस व्याप्ति में नहीं इत्यादि विशेष अन्यत्र स्पष्ट है। अङ्कुरादि चेतन मनुष्य कर्तृकत्व दृष्ट नहीं अतः अशरीर चेतन ईश्वर ही तत्कर्ता सिद्ध होते हैं। प्रकृत में प्रकृतिद्वय का अनुमान उत्कर्षदीपिका में ऐसा लिखा है कि 'भूतानि चेतनाचेतनपरापरप्रकृतिकानि चेतनाचेतनरूपत्वात् यन्नैवं तन्नैवं यथा शुद्धश्चेतनः' इति। मट्टी से घड़ा होता है वैसे ही परापरोभयप्रकृति का कारण मैं हूँ मुझसे ही दोनों प्रकृतियां उत्पन्न हुई है, वे ही सब जगत् के कारण हैं। तद्द्वारा मैं संसार का प्रभव उत्पत्ति का कारण तथा प्रलय विनाश का कारण हूँ। निमित्त और उपादान उभयात्मक हूँ। वे परापर क्षेत्रक्षेत्रज्ञ लक्षणप्रकृति योनि कारणभूत हैं। जिन सर्वभूतों का वे

एतद्योनि से हैं। यह निश्चय समझो भगवान् व्यासजी ने लिखा है—जन्माद्यस्य यतः 'प्रकृतिश्च प्रतिज्ञा दृष्टान्तानुपरोधात्' इत्यादि। परमेश्वर जगत् के उपादान और निमित्त कारण हैं एतदर्थ परतया ये सूत्र उत्तर मीमांसा में व्याख्यात है।

प्रश्न—कार्य यह जगत् सावयव अचेतन और अशुद्ध है। इसका कारण भी ऐसा ही होना चाहिये क्योंकि कार्य कारण मृद्घटादि में सादृश्य देखते हैं, ब्रह्म निष्कल निष्क्रिय शान्त निरञ्जन है अतः यह उपादान नहीं हो सकता किन्तु इससे भिन्न स्मृति प्रसिद्ध अशुद्ध अचेतन प्रधान को ही जगत् का कारण मानना चाहिये ब्रह्मकारणत्वबोधक श्रुतियों का तात्पर्य ब्रह्म निमित्तकारणत्व में है इस शंका के निराकरणार्थ कहा—'**प्रकृतिश्च**' उपादान कारण भी ब्रह्म को समझना चाहिये केवल निमित्त कारण ही नहीं। इसमें हेतु है प्रतिज्ञा दृष्टान्तानुपरोध। प्रतिज्ञा 'उत्तमादेशमप्राक्षः येनाश्रुतं श्रुतम्' इत्यादि यह एक विज्ञान से सब के विज्ञान की प्रतिज्ञा है। उपादान विज्ञान होने पर तन्मय सब उपादेय कार्य विज्ञान हो जाता है, क्योंकि कार्य कारण से व्यतिरिक्त नहीं। तथा दृष्टान्त भी 'यथा सोम्य एकेन मृत्पिण्डेन ज्ञातेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्यात् वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्' इत्यादि उपादान विषयक ही दृष्टान्त दिया गया है इत्यादि विशेष उत्कर्षदीपिका में देखिये।

दैवी प्रकृति माया अविद्या भेद से दो प्रकार की है "माया च अविद्या च स्वयमेव भवति" यह श्रुति है। अत एव—

'तमोरजःसत्त्वगुणा प्रकृतिर्द्विविधा मता।
सत्त्वशुद्ध्यविशुद्धिभ्यां माया विद्ये च ते मते॥
मायाबिम्बो वशीकृत्य तां स्यात्सर्वज्ञ ईश्वरः।
अविद्यावशगस्त्वन्यस्तद्वैचित्र्यादनेकधा॥' इति।

माया प्रकृति ईश्वराधिष्ठित हो कर जीवों को मुग्ध करती है यह शारीरक भाष्यानुसारी अर्थ है। 'अविद्यात्मिका हि बीजशक्तिरव्यक्तशब्दनिर्देश्या परमेश्वराश्रया मायामयी महासुषुप्तिः यस्यां स्वरूपबोधरहिताः शेरते संसारिणो जीवाः' इत्यादि वाचस्पति के मत में जीवाश्रित ही अविद्या है।

प्रश्न—जीवाश्रित अविद्या, इस पक्ष में क्या अविद्या में प्रतिबिम्बित चैतन्य जीव है किं वा अविद्यावच्छिन्न चैतन्य?

उत्तर—अविद्याकल्पित भेद जीव है।

प्रश्न—इन तीनों पक्षों में अन्योन्याश्रय दोष है?

उत्तर—क्या अन्योन्याश्रय दोष उत्पत्ति में है या ज्ञान में है अथवा स्थिति में। प्रथम पक्ष तो ठीक नहीं क्योंकि दोनों अनादि है बीजाङ्कुर के समान पूर्व पूर्व उत्तरोत्तर में हेतु माना ही जाता है परस्पर ज्ञानोत्पादक मानने में उक्त दोष होता है। द्वितीय पक्षभी

ठीक नहीं अज्ञान चिद्भास्य होने पर भी चित् स्वयं प्रकाश होने मे उसके भान से अज्ञान की अपेक्षा नहीं, अतः दोनों का ज्ञान परस्पराधीन नहीं। तृतीय पक्ष भी ठीक नहीं क्या वह परस्परा-श्रयाश्रयिभाव से कहते हो या परस्परसापेक्षस्थितकत्व से, दोनों असंगत है अज्ञान चिदाश्रय और चिदधीन स्थितिक है अर्थात् अज्ञान निराश्रय नहीं हो सकता अतः चिदाश्रय है परन्तु चित् स्वयं सिद्ध अविद्याश्रित नहीं और न अविद्या स्थितिक ही है।

प्रश्न—तो दोनों अन्योन्याधीन नहीं किन्तु स्वतन्त्र है ऐसा भी कह सकते हैं?

उत्तर—नहीं समानकालिक पदार्थो में भी अवच्छेद्यावच्छेदकभाव से अन्योन्याधीनत्व होता है, जैसे घट और तदवच्छिन्न आकाशमें जैसे वा प्रमाण प्रमेय में घट आकाश दोनों स्वतन्त्र है। पर घटाकाश के व्यवहार में अवच्छेदक घटकी अपेक्षा है, अन्यथा शुद्धाकाश तथा घटाकाशादि से व्यावृत्ति न होगी। एवं प्रमाण प्रत्यक्षादि प्रमेय घटादि ये दोनों स्वरूप से स्वतन्त्र हैं पर प्रमाण प्रमेयभावसे परस्पराधीन है। 'प्रमीयते अनेन' एतद्व्युत्पत्ति सिद्ध प्रमाण प्रमेय प्रमिति करण है यदि प्रमेय हीन होगा तो प्रमाण ही किसका होगा। अत एव सप्तम रसका कोई प्रमाण नहीं। एवं प्रमाण जन्य प्रमितिविषय प्रमेय है। यदि प्रमाण न हो तो प्रमेय कैसे एतदर्थक श्लोक है—

'स्वेनैव कल्पिते देशे व्योम्नि यद्वद् घटादिकम्।
तथा जीवाश्रयाविद्यां मन्यन्ते ज्ञानकोविदाः' ॥ इति।

अर्थ पूर्वोक्त स्पष्ट है।

प्रश्न—इस प्रकार चैत्र मैत्र का परस्पर आरोहण की आपत्ति हो सकती है?

उत्तर—परस्पर आश्रयाश्रयिभाव नहीं माना है यह कह चुके हैं। चैत्र मैत्र के परस्पर आरोहणमें वह दुर्निवार है।

प्रश्न—जीव ईश्वर ईश्वर जीव कल्पित मानने पर अन्योन्याश्रयदोष होगा जीव कल्पित ईश्वर सिद्ध हो तो ईश्वर कल्पित जीव होगा दोनों की सिद्धि अन्योन्याश्रित है शुद्धचित् अज्ञानाश्रय न होने से कल्पक नहीं हो सकती?

उत्तर जीवाश्रित अविद्या ही जीवेश कल्पिका है यह माना जाता है अतः उक्त विकल्प असंगत है। जीव और अविद्या का अधिष्ठान ब्रह्म चैतन्य ही है वही सब प्रपञ्चों का अधिष्ठान है।

'अधिष्ठानं विवर्त्तानामाश्रयो ब्रह्म शुक्तिवत्।
जीवाविद्यादिकानां स्यादिति सर्वमनाकुलम्' ॥ इति।

अत एव भगवान् ने कहा है—

'दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया' इति ।

शुक्ति जैसे रजतरूप से प्रतीत होती है वैसे ही परमात्मा अनादि अविद्यावच्छेद से प्राप्त जीव भाव भेद से प्रतीत होता है उन जीवों को अविद्या है सर्वोपाधिरहित परमात्मा को नही ।

प्रश्न—जो पराधीन है वह दूसरे से बलात् कारागृह (जेल) में प्रविष्ट कराया जाता है सर्वज्ञ सर्वशक्ति परमात्मा स्वयं क्यों संसारी होता है ?

उत्तर—जीव अनादि है अतः उक्त आक्षेप ठीक नही गुणमयी सत्त्वरजस्तमोमयी देवाधीन दैवी प्रधानवत् स्वतन्त्र नहीं किस देवता की इस अपेक्षासे हम कहा । 'दुरत्यया' दुःखसे अत्यय अतिक्रमण जिसका ।

प्रश्न—अतिक्रमण में क्या उपाय है ?

उत्तर—**'मामेव'** इत्यादि एव कार से माया की व्यावृत्ति करते हैं । सर्वात्मना जो मेरे शरण में आते मेरी दयासे आत्मबुद्धियोग प्राप्तकर इस माया का अतिक्रम करते हैं । यहां यह भी अवधान करने के योग्य है कि अनादि अनिर्वचनीय भूत प्रकृति चित्संबन्धिनी माया है, उसमें चित्प्रतिबिम्ब ईश्वर है उसी आवरण विक्षेप शक्ति प्रधान परिच्छिन्न अनन्तप्रदेशस्थित अविद्या में चित्प्रतिबिम्ब जीव है यह भी किसी का मत है ।

'जीवेशौ आभासेन करोति माया चाविद्या च स्वेनैव भवति ।

यह श्रुति है । एकही मूल प्रकृति विक्षेप प्राधान्य से मायाशब्द वाच्य ईश्वर की उपाधि है । आवरण प्राधन्य से अविद्यापदवाच्य जीव की उपाधि है यह भी किसी का मत है। कर्मोपाधि यह जीव है कारणोपाधि ईश्वर इसके अनुसार अविद्या में चित्प्रतिबिम्ब ईश्वर है अन्तः करण में चित्प्रतिबिम्ब जीव यह भी किसी का मत है । इस प्रकार जीवेश्वर विभाग में जो बिम्बस्थानीय ब्रह्म है वही मुक्त प्राप्य है इत्यादिविस्तार उत्कर्षदीपिका में देखिये। माया किमाश्रय किंविषया किं प्रमाणिका कीदृग्रूपा किमधीना ये पांच प्रश्न है, क्रम से पांचों प्रश्नों का पूर्वार्द्ध से उत्तर देते हैं दैवीति । 'एको देवः सर्वभूतेषु गूढ़' इत्यादि श्रुतिप्रसिद्ध दीप्तिशील स्वप्रकाश चैतन्य में है, शुद्ध चैतन्याश्रया तद्विषया च माया इससे स्वप्रकाश चैतन्य ही माया का आश्रय और विषय है यह उत्तर दिया गया ।

'आश्रयत्वविषयत्वभागिनी निर्विभागचितिरेव केवला ।'

यह संक्षेपशारीरिकोक्ति है । तृतीय प्रश्न का उत्तर 'अहमज्ञः अहमन्यं च न जानामि' यह सकलजन प्रत्यक्ष प्रमाण हैं । हि शब्द से उक्त प्रत्यक्ष के प्रसिद्धि का द्योतन किया ।

प्रश्न—अज्ञान तो शुद्ध चिन्मात्र में है अहमर्थ में नहीं फिर अहमर्थाश्रयत्वेन अज्ञान की प्रतीति कैसे ?

मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनंजय! ।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥ ७ ॥

इसलिये हे धनंजय ! मेरेसे सिवाय किंचिन्मात्रा भी दूसरी वस्तु नहीं है यह संपूर्ण जगत् सूत्र में सूत्रके मणियोंके सदृश मेरेमें गुंथा हुआ है ॥ ७ ॥

म० टी०—यस्मादहमेव मायया सर्वस्य जगतो जन्मस्थितिभङ्गहेतुस्तस्मात्परमार्थतः—**मत्तः परतरमिति ।** निखिलदृश्याकारपरिणतमायाधिष्ठानात्सर्वभासकान्मतः सद्रूपेण स्फुरणरूपेण च सर्वानुस्यूतात्स्वप्रकाशपरमानन्दचैतन्यघनात्परमार्थसत्यात् स्वप्नदृश इव स्वाप्निकं मायाविन इव मायिकं शुक्तिशकलावच्छिन्नचैतन्यादिव ज्ञानं कल्पितं रजतं परतरं परमार्थसत्यमन्यत्किञ्चिदपि नास्ति हे धनञ्जय ! मयि कल्पितं परमार्थतो न मत्तो भिद्यत इत्यर्थः, 'तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्य' इति न्यायात् । व्यवहारदृष्ट्या तु मयि सद्रूपे स्फुरणरूपे च सर्वमिदं जडजातं प्रोतं ग्रथितं मत्सत्तया सदिव

जिस कारण माया से मैं सम्पूर्ण जगत् के जन्मस्थिति नाश का हेतु हूँ वह मैं वस्तुतः सम्पूर्ण दृश्यरूप से परिणत माया का आश्रय हूँ सम्पूर्ण का भासक हूँ सद्रूप स्वस्फुरणरूप से सर्वान्तर्गत होने से स्वप्रकाश परमानन्द चैतन्यघन परमार्थ सत्य हूँ। यथा स्वप्न देखनेवाला अवश्य मायावी परमार्थ सत्य होता है स्वाप्निक और मायिक शुक्तिरूपावच्छिन्न चैतन्यादि के समान तज्ज्ञान कल्पित रजत परमार्थ सत्य मुझसे अतिरिक्त कुछ नहीं है। हे धनञ्जय ! मेरे में कल्पित वस्तु है मुझसे भिन्न नहीं है 'तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः' इस न्याय से। व्यवहारदृष्टि से तो सद्रूप स्फुरणरूप मुझ में परिपूर्ण जगत् प्रोत (ग्रथित) मेरी सत्ता से सत्तावान् के समान मेरी स्फुरण से प्रकाशवान् के

उत्तर—अज्ञानाश्रय अहमर्थ में तदाश्रय चैतन्य के तादात्म्याध्यास से 'अयो दहति'। इसप्रकार चौथे प्रश्न का उत्तर—**गुणमयीति** । सत्त्वरजस्तम एतद्गुणत्रयात्मिका त्रिवृत् रज्जु के समान अतिदृढ है अत एव तत्त्वज्ञान के विना उच्छेदन हो। पञ्चम प्रश्न का उत्तर—**मम मायेति** से। मुझ परमेश्वर के वशवर्त्तिनी अतः मदधीन माया को मद्भक्त ही तरते हैं ।

'तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः । नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ।'

यह भगवान् स्वयं कहेंगे । यह ठीक है कि ब्रह्मतत्त्वज्ञान से माया की निवृत्ति होती है यह वही संसार में दुर्लभ है अतः 'मामेव ये प्रपद्यन्ते' है इत्यादि विस्तार वहीं देखिये ।

सत्स्फुरणेन च स्फुरदिव व्यवहाराय मायामयाय कल्पते सर्वस्य चैतन्यग्रथितत्वमात्रे दृष्टान्तः—**सूत्रे मणिगणा इवेति।** अथवा सूत्रे तैजसात्मनि हिरण्यगर्भे स्वप्नदृशि स्वप्नप्रोता मणिगणा इवेति सर्वांशे दृष्टान्तो व्याख्येयः, अन्ये तु (१) 'परमतः सेतून्मानसंबन्धभेदव्यपदेशेभ्य' इति सूत्रोक्तस्य पूर्वपक्षस्योत्तरत्वेन श्लोकमिमं व्याचक्षते। मत्तः सर्वज्ञात् सर्वशक्तेः सर्वकारणात् परतरं प्रशस्यतरं सर्वस्य जगतः सृष्टिसंहारयोः स्वतन्त्रं कारणमन्यन्नास्ति हे धनञ्जय! यस्मादेवं तस्मान्मयि सर्वकारणे सर्वमिदं कार्यजातं प्रोतं ग्रथितं नान्यत्र। **सूत्रे मणिगणा इवेति** दृष्टान्तस्तु ग्रथितत्वमात्रे न तु कारणत्वे कनके कुण्डलादिवदिति तु योग्यो दृष्टान्तः ॥ ७ ॥

समान मायामय व्यवहार के लिए कल्पित होता है, सब चैतन्य में अनुस्यूत (ग्रथित) है। इनमें दृष्टान्त है 'सूत्रे मणिगणा इव।' अथवा तैजसात्मा हिरण्यगर्भ वही सूत्रस्थानापन्न स्पप्रद्रष्टा है उसमें स्वाप्निक पदार्थ मणिगण की तरह 'प्रोत (गुथे) हैं' इस प्रकार सर्वांश में दृष्टान्त है। कोई विद्वान् 'परमतः सेतु' इत्यादि वेदान्तसूत्रोक्त पूर्वपक्ष का उत्तररूप से इस श्लोक का व्याख्यान करते हैं। सर्वज्ञ सर्वशक्ति और सर्वकारण से परतर अर्थात् सर्वश्रेष्ठ जगत् के सृष्टि संहार में स्वतन्त्र कारण से ऐसी परिस्थिति है ततः सर्वकारण मुझ में सम्पूर्ण यह कार्यजात गूँथा है दूसरे में नहीं। 'सूत्रे मणिगणा इव' यह दृष्टान्त केवल गूंथने मात्र में है क्योंकि सूत्र मणियों का कारण नहीं है अतः तद्भिन्न है। कनककुण्डलादिवत् यह योग्य दृष्टान्त है, क्यों कि कुण्डल का कारण और आश्रय दोनों सुवर्ण हैं ॥७॥

(१) परमतः सेतून्मानसबन्धभेदव्यपदेशेभ्यः। वे० सू० में ब्रह्म से पर दूसरा है या नहीं श्रुतियों की विप्रतिपत्ति से संशय होता है किसी वाक्य से आपाततः प्रतीत होता है कि पर भी तत्त्व दूसरा है उसके परिहार के लिये यह उपक्रम है। ब्रह्म से पर भी कोई तत्त्व है क्या?

उत्तर—सेतु व्यवहार से एवं उन्मानन व्यवहार सम्बन्धव्यवहार और भेदव्यवहार से। सेतुव्यपदेश प्रथम कहते हैं—'अथ य आत्मा स सेतुर्विधृतिः' इससे आत्म शब्दार्थ ब्रह्म में सेतुत्व कहा गया है, लोक में जलाशय पार करने के लिये लकड़ी या नदी का जो पुल बनाया जाता है उसका वाचक सेतु है, सेतु शब्द का प्रयोग आत्मा में है अतः लौकिक सेतु के

रसोऽहमप्सु कौन्तेय ! प्रभाऽस्मि शशिसूर्ययोः ।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु ॥ ८ ॥

कैसे कि हे अर्जुन जलमें मैं रस हूं तथा चन्द्रमा और सूर्यमें प्रकाश हूँ और संपूर्ण वेदोंमें ओंकार हूँ तथा आकाशमें शब्द और पुरुषोंमें पुरुषत्व हूँ ॥ ८ ॥

म० टी०—अबादीनां रसादिषु प्रोतत्वप्रतीतेः कथं त्वयि सर्वमिदं प्रोतमिति च न शङ्क्या रसादिरूपेण ममैव स्थितत्वादित्याह पञ्चभिः श्लोकैः—

प्रश्न—पृथिवी जलादि गन्ध रसादि में प्रोत प्रतीत होते हैं आप में कैसे यह सब गूंथा है ?

उत्तर—यह शङ्का ठीक नहीं, मैं जलादि में रसादिरूप से स्थित हूँ यह पाँच श्लोकों से कहते हैं। पुण्य तन्मात्ररूप सब जलों का कारणभूत जो मधुर

समान आत्मसेतु से भी अन्य वस्तु कोई है यह प्रतीत होता है, यथा 'सेतुं तीर्त्वा' यहां तरति शब्द का प्रयोग है। जैसे लौकिक सेतु को पार कर जङ्गल में लोग जाते हैं श्रीरामजी सेतु से समुद्र पार कर सेतु से आगे लङ्का गये वैसे ही यहां भी ब्रह्म को पार कर ब्रह्म से आगे जो कोई परतत्त्व है उसमें गये या जाते हैं यह प्रतीत होता है अतः तत्पर भी कोई तत्त्व है। उन्मान व्यवहार भी ब्रह्म में है 'तदेतद् ब्रह्म चतुष्पात् अष्टांशकं षोडशकलं' जो लोक में उन्मित परिच्छिन्न है उससे दूसरा वस्तु लोक में रहता है यह प्रसिद्ध है, ब्रह्म भी परिच्छिन्न है अतः इससे भी वस्त्वन्तर है यह प्रतीत होता है। तथा सम्बन्ध व्यपदेशीय है 'सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति प्राज्ञेनात्मना संपरिष्वक्तः' यह श्रुति है। मित का मित के साथ संबन्ध होता है जैसे मनुष्य का मनुष्य के साथ जीव का ब्रह्म के साथ सम्बन्ध सुषुप्ति में श्रुति कहती है, अतः उससे पर अन्य कोई है यह प्रतीत होता है। एवं भेद से भी पर वस्त्वन्तर की प्रतीति है यह शंका कर, उत्तर दिया कि ब्रह्म से पर भी कोई वस्तु है इस में कोई प्रमाण नहीं अन्य है इसमें कोई प्रमाण नहीं मिलता सम्पूर्ण वस्तु समुदाय का जन्मस्थिति भङ्ग ब्रह्म ही से होता है कारण से भिन्न कार्य नहीं, ब्रह्म से अतिरिक्त कोई अंश है नहीं 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' इसमें अवधारण है। एक विज्ञान से सर्व विज्ञान प्रतिज्ञा भी है अतः ब्रह्मव्यतिरिक्त वस्त्वन्तर नहीं विशेष विस्तार ब्रह्मसूत्रभाष्य में देखिये। यत्तु से अरुचि है ब्रह्म से परतत्त्व दूसरा नहीं, गीतार्थ भी यही है किन्तु प्रसङ्गाभाव से उक्त सूत्र शंका के समाधानार्थ यह नहीं किन्तु स्वतन्त्र है।

पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चाऽस्मि विभावसौ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चाऽस्मि तपस्विषु ॥ ९ ॥

तथा पृथिवीमें पवित्र गन्ध और अग्निमें तेज हूँ और संपूर्ण भूतोंमें उनका जीवन हूँ अर्थात् जिससे वे जीते हैं, वह मैं हूँ और तपस्वियोंमें तप हूँ ॥ ९ ॥

'रसोऽहमप्सु कौन्तेय! इति। पुण्यो मधुरस्तन्मात्ररूपः सर्वासामपां सारः कारणभूतो योऽप्सु सर्वास्वनुगतः सोऽहं हे कौन्तेय !, तद्रूपे मयि सर्वा आपः प्रोता इत्यर्थः। एवं सर्वेषु पर्यायेषु व्याख्यातव्यम् इयं विभूतिराध्यानायोपदिश्यत इति नातीवाभिनिवेष्टव्यम्, तथा प्रभा प्रकाशः शशिसूर्ययोरहमस्मि प्रकाशसामान्यरूपे मयि शशिसूर्यौ प्रोतावित्यर्थः। तथा प्रणव ओङ्कारः सर्ववेदेष्वनुस्यूतोऽहं तद्यथा शङ्कुना 'सर्वाणि पर्णानि सतृणान्येवमोङ्कारेण सर्वा वाक् इति श्रुतेः, संतृण्णानि ग्रथितानि सर्वा वाक् सर्वो वेद इत्यर्थः। शब्दः पुण्यस्तन्मात्ररूपः खे-आकाशेऽनुस्यूतोऽहं पौरुषं पुरुषत्वसामान्यं नृषु पुरुषेषु यदनुस्यूतं तदहं सामान्यरूपे मयि सर्वे विशेषाः प्रोताः श्रौतैर्दुन्दुभ्यादिदृष्टान्तैरिति सर्वत्र द्रष्टव्यम् ॥ ८ ॥

रस जल में है सब में अनुगत सो हे कौन्तेय ! मैं ही हूँ तद्रूप रसरूप मुझमें सब जल गूंथे हैं। इसी प्रकार सब पर्याय शब्दों में व्याख्यान करना। ये विभूति केवल ध्यान के लिए उपदिष्ट हैं इसलिए इसमें विशेष आग्रह नहीं। अभ्यास से भी विभूतिफलक उपासना होती है तथा चन्द्र सूर्य में जो प्रकाश है वह मैं हूँ, प्रकाशरूप मुझ में चन्द्र सूर्य गुंथे हैं तथा ओंकाररूप प्रणव सब वेदों में अनुस्यूत है तथा च श्रुतिः—'शङ्कुना सर्वाणि पर्णानि सतृणानि एवं ॐकारेण सर्वा वाक्' इत्यादि श्रुति है। सतृणानि ग्रथितानि—जैसे सब पत्ते कील से ग्रथित रहते हैं वैसे ही सम्पूर्ण वाक् ॐकार से ग्रथित हैं। शब्द पुण्य तन्मात्ररूप जो आकाश में अनुस्यूत है वह मैं हूँ। सब पुरुष में पुरुषत्व सामान्यरूप अनुस्यूत है यह पौरुष मैं हूँ सामान्यरूप मुझ में सब विशेष गुंथे हैं. दुन्दुभ्यादि श्रौत दृष्टान्त से यह सर्वत्र समझना ॥८॥

म० टी०—पुण्यः सुरभिरविकृतो गन्धः सर्वपृथिवीसामान्यरूपस्तन्मात्राख्यः पृथिव्यामनुस्यूतोऽहम्, चकारो रसादीनामपि पुण्यत्वसमुच्चयार्थः। शब्दस्पर्शरूपरसगन्धानां हि स्वभावत एव पुण्यत्वमविकृतत्वं प्राणिनामधर्मविशेषात्तु तेषामपुण्यत्वं न तु स्वभावत इति द्रष्टव्यम् । तथा विभावसावग्नौ यत्तेजः सर्वदहनप्रकाशनसामर्थ्यरूपमुष्णस्पर्शसहितं सितभास्वरं पुण्यं तदहमस्मि चकाद् यो वायौ पुण्य उष्णस्पर्शातुराणामाप्यायकः शीतस्पर्शः सोऽप्यहमिति द्रष्टव्यम्। सर्वभूतेषु सर्वेषु प्राणिषु जीवनं प्राणधारणमायुरहमस्मि तद्रूपे मयि सर्वे प्राणिनः प्रोता इत्यर्थः। तपस्विषु नित्यं तपोमुक्तेषु वानप्रथादिषु यत्तपः शीतोष्णक्षुत्पिपासादिद्वन्द्वसहनसामर्थ्यरूपं तदहमस्मि तद्रूपे मयि तपस्विनः प्रोताः विशेषणाभावे विशिष्टाभावात् । तपश्चेति चकारेण चित्तैकाग्र्यमान्तरं जिह्वोपस्थादिनिग्रहलक्षणं बाह्यं च सर्वं तपः समुच्चीयते ॥ ९ ॥

पवित्र सुगन्ध सम्पूर्ण पृथिवीका सामान्यरूप तन्मात्रा है। पृथिवीतन्मात्रा में अनुस्यूत है वह मैं हो हूँ। चकार वक्ष्यमाण रसादि में पुण्यत्व समुच्चयार्थ है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धों में स्वाभाविक पुण्यता अविकृततत्त्वरूपा है। प्राणियों के पापविशेष से उन में अपूतत्व आता है स्वाभाविक नही यह समझना। इसी प्रकार अग्नि में जो तेज है सब वस्तु के दहन और प्रकाशन में समर्थ और उष्णस्पर्शसहित शुक्ल प्रकाशमानरूप पुण्य है वह मैं हूँ। चकार से वायु में उष्ण स्पर्श से पीड़ितों का आनन्ददायक जो पुण्य शीत स्पर्श है वह भी मैं हूँ यह समझना। सब जीवों में जीवन प्राणधारण आयु मैं हूँ तद्रूप मुझमें सब प्राणी गुथे हुए हैं। नित्य तपः परायण वानप्रस्थादिकों में जो तप है शीत उष्ण क्षुत्पिपासाद्वन्द्वसहन सामर्थ्यरूप वह मैं हूँ तद्रूप मुझ में तपस्वी गुथे हुए हैं। अपुण्यगन्धादि में मैं नहीं रहता क्योंकि विशेषणाभाव रहने पर विशिष्ट नहीं रहता। 'तपश्च' इस चकार से आन्तर (भीतर) चित्त की एकाग्रता और जीवोपस्थादिनिग्रहलक्षणबाह्य सब तपों का समुच्चय है ॥९॥

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ ! सनातनम्।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ॥ १० ॥
बलं बलवतां चाऽहं कामरागविवर्जितम्।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ ! ॥ ११ ॥

तथा हे अर्जुन ! तूं संपूर्ण भूतोंका सनातन कारण मेरेको ही जान, मैं बुद्धिमानोंकी बुद्धि और तेजस्वियोंका तेज हूँ ॥ १० ॥

और हे भरतश्रेष्ठ ! मैं बलवानोंका आसक्ति और कामनाओंसे रहित बल अर्थात् सामर्थ्य हूँ और सब भूतोंमें धर्मके अनुकूल अर्थात् शास्त्रके अनुकूल काम हूँ ॥ ११ ॥

म० टी०--सर्वाणि भूतानि स्वस्वबीजेषु प्रोतानि न तु त्वयीति चेन्नेत्याह--बीजं मामिति । यत्सर्वभूतानां स्थावरजङ्गमानामेकं बीजं कारणं सनातनं नित्यं बीजान्तरानपेक्षं न तु प्रतिव्यक्तिभिन्नमनित्यं वा तदव्याकृताख्यं सर्वबीजं मामेव विद्धि न तु मद्भिन्नं हे पार्थ ! अतो युक्तमेकस्मिन्नेव मयि सर्वबीजे प्रोतत्वं सर्वेषामित्यर्थः । किञ्च बुद्धिस्तत्त्वातत्त्वविवेकसामर्थ्यं तादृशबुद्धिमतामहमस्मि बुद्धिरूपे मयि बुद्धिमन्तः प्रोताः विशेषणाभावे विशिष्टाभावस्योक्तत्वात्। तथा तेजः प्रागल्भ्यं पराभिभवसामर्थ्यं परैश्चानभिभाव्यत्वं तेजस्विनां तथाविधप्रागल्भ्ययुक्तानां तत्तदहमस्मि तेजोरूपे मयि तेजस्विनः प्रोता इत्यर्थः ॥ १० ॥

प्रश्न—सब भूत अपने अपने बीजों में गुथे हैं आप में नहीं ?

उत्तर—सब स्थावर जङ्गम भेद, भिन्न सब भूतों का सनातन नित्य एक बीजान्तरानपेक्ष मूलकारण मुझको ही समझो, प्रतिव्यक्ति भिन्न २ अनित्य बीजान्तर साक्षेप कारण मुख्य नहीं है क्योंकि उनका भी कारण मैं हूँ। अव्याकृताख्य सब का कारण मुझ को ही समझो हे अर्जुन ! मुझसे भिन्न कोई इदृश परम कारण नहीं है अतः यह बहुत ठीक कहा कि सर्व बीज एक मुझ में ही सब प्रोत हैं (गुथे) हैं। और तत्त्वातत्त्व सत्य मिथ्या विवेचन समर्थ बुद्धिमानों की बुद्धि मैं हूँ। बुद्धिरूप मुझ में सम्पूर्ण बुद्धिमान गुथे हैं, विशेषणाभाव में विशिष्टाभाव कह चुके हैं। तथा दूसरे के दबाने में सामर्थ्यरूप प्रागल्भ्य तथा दूसरों से पराभव के अयोग्य जो तेजस्वियों का तेज है वह मैं हूँ। तेजरूप मुझ में सम्पूर्ण तेजस्वी गुथे हैं ॥१०॥

म० टी०—अप्राप्तो विषयः प्राप्तिकारणाभावेऽपि प्राप्यतामित्याकारश्चित्तवृत्तिविशेषः कामः, प्राप्तो विषयः क्षयकारणे सत्यपि क्षीयतामित्येवमाकारश्चित्तवृत्तिविशेषो रञ्जनात्मा रागःताभ्यां वर्जितं सर्वथा तदकारणं रजस्तमो विरहितं यत्स्वधर्मानुष्ठानाय देहेन्द्रियादिधारणसामर्थ्यं सात्त्विकं बलं बलवतां तादृशसात्त्विकबलयुक्तानां संसारपराङ्मुखानां तदहमस्मि तद्रूपे मयि बलवन्तः प्रोता इत्यर्थः। चशब्दस्तु शब्दार्थे भिन्नक्रमः कामरागविवर्जितमेव बलं मद्रूपत्वेन ध्येयं न तु संसारिणां कामरागकारणं बलमित्यर्थः। क्रोधार्थो वा रागशब्दो व्याख्येयः। धर्मो धर्मशास्त्रं तेनाविरुद्धो प्रतिषिद्धो धर्मानुकूलो वायो भूतेषु प्राणिषु कामः शास्त्रानुमतजायापुत्रवित्तादिविषयोऽभिलाषः सोऽहमस्मि हे भरतर्षभ ! शास्त्राऽविरुद्धकामभूते मयि तथाविधकामयुक्तानां भूतानां प्रोतत्वमित्यर्थः ॥ ११ ॥

जो विषय अप्राप्त है उसकी प्राप्ति का हेतु न रहने पर भी वह विषय प्राप्त हो इत्याकारक चित्तवृत्ति विशेष काम है, प्राप्तविषय क्षयकारणक होने से भी क्षय न हो इत्याकारक चित्तवृत्तिविशेषरूपसे रञ्जनस्वरूप राग है। उन रागों से विशेषरूप से रहित सर्वथा तदाकार रजस्तमःशून्य जो अपने धर्म से अनुष्ठान के लिए अर्थात् देहेन्द्रियादि धारण सामर्थ्य सात्त्विक बल हैं, तादृश सात्त्विक बलवानों का जो कि संसार से विमुख हैं उनका सात्त्विक बल मैं हूँ तादृश बल युक्त मुझ में सब बलवान गुथे हैं। 'च' शब्द 'तु' शब्द के अर्थ में है वह भिन्न क्रम है अर्थात् जहाँ उच्चरित है उससे अन्यत्र अन्वय है। काम राग वर्जित बल मेरे रूप से ध्यान करने योग्य है संसारियों का काम राग कारण जो बल है उसका मद्रूप से ध्यान न करना। अथवा राग शब्द का क्रोधार्थ व्याख्यान करना धर्मशास्त्र से अनिषिद्ध अतएव अविरुद्ध अर्थात् धर्मानुकूल जो प्राणियों में काम है अर्थात् शास्त्रसंमत पुत्रकलत्रवित्तादिविषयक मनोरथ वह मैं हूँ। हे भरतर्षभ ! शास्त्राविरुद्ध कामरूप मुझ में शास्त्राविरुद्ध कामयुक्त प्राणी गुथे हैं ॥११॥

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये।
मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि ॥ १२ ॥
त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम् ॥ १३ ॥

तथा और भी जो सत्त्वगुणसे उत्पन्न होनेवाले भाव हैं और जो रजोगुणसे तथा तमोगुणसे होनेवाले भाव हैं, उन सबको तूँ मेरेसे ही होनेवाले हैं ऐसा जान, परन्तु वास्तवमें उनमें मैं और वे मेरेमें नहीं हैं ॥ १२ ॥

किन्तु गुणोंके कार्यरूप सात्त्विक, राजस और तामस इन तीनों प्रकारके भावोंसे अर्थात् रागद्वेषादि विकारोंसे और संपूर्ण विषयों से यह सब संसार मोहित हो रहा है, इसलिये इन तीनों गुणोंसे परे मुझ अविनाशी को तत्त्वसे नहीं जानता ॥ १३ ॥

म० टी०—किमेवं परिगणनेन—**ये चैवेति।** ये चान्येऽपि भावाश्चित्तपरिणामाः सात्त्विकाः शमदमादयः ये च राजसा हर्षदर्पादयः ये च तामसाः शोकमोहादयः प्राणिनामविद्याकर्मादिवशाज्जायन्ते तान्मत्त एव जायमानान् इति अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभव इत्याद्युक्तप्रकारेण विद्धि समस्तानेव अथवा सात्त्विका राजसास्तामसाश्च भावाः सर्वेऽपि जडवर्गा व्याख्येयाः विशेषहेत्वभावात्। एवकारश्च समस्तावधारणार्थः। एवमपि न त्वहं तेषु मत्तो जातत्वेऽपि तद्वशस्तद्विकाररूपितो रज्जुखण्ड इव कल्पितसर्पविकाररूपितोऽहं न भवामि संसारीव ते तु भावा मयि रज्ज्वामिव सर्पादयः कल्पिता मदधीनसत्तास्फूर्तिकाः मदधीना इत्यर्थः ॥ १२ ॥

यह परिगणन व्यर्थ है अन्य भी जो चित्त परिणामरूपभाव सात्त्विक शमदमादि और जो राजस हर्षदर्पादि हैं और जो तामस शोकमोहादि प्राणियों के अविद्याकर्मादिवश उत्पन्न होते हैं सो मैं हूँ। सम्पूर्ण जगत् का प्रभव उक्तरूप से समस्त कारण मुझको समझो अथवा सात्त्विक राजस तामस भाव सम्पूर्ण जड़ वर्गों को समझना क्योंकि विशेष कारण नहीं है फिर भी मैं उनमें नहीं हूँ मुझसे वे उत्पन्न हैं अवश्य किन्तु तद्वश तद्विकारविशिष्ट रज्जुखण्डकल्पित सर्पविकार विशिष्ट के समान संसारी के समान नहीं हूँ। वे भाव रज्जु में सांप की तरह मुझ में कल्पित है, अर्थात् मदधीन ही उनमें सत्ता और स्फुरण है अतः वे मदधीन ही हैं ॥१२॥

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥ १४ ॥

क्योंकि यह अलौकिक अर्थात् अति अद्भुत त्रिगुणमयी मेरी योगमाया बड़ी दुस्तर है, परन्तु जो पुरुष मेरेको ही निरन्तर भजते हैं, वे इस मायाको उल्लंघन कर जाते हैं, अर्थात् संसारसे तर जाते हैं ॥ १ ॥

म० टी०—तव परमेश्वरस्य स्वातन्त्र्ये नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावत्वे च सति कुतो जगतस्त्वदात्मकस्य संसारित्वम् एवंविधमत्स्वरूपापरिज्ञानादिति-चेत् ? तदेव कुत इत्यत आह—**त्रिभिर्गुण** इति। एभिः प्रागुक्तैस्त्रिभिस्त्रिवि-धैर्गुणमयैः सत्त्वरजस्तमोगुणविकारैर्भावैः सर्वैरपि भवनधर्मभिः सर्वमिदं जगत्प्रा-णिजातं मोहितं विवेकायोग्यत्वमापादितं सत् एभ्यो भावेभ्यः परम् एषां कल्पना-धिष्ठानमत्यन्तविलक्षणमव्ययं सर्वविक्रियाशून्यमप्रपञ्चमानन्दघनमात्मप्रकाश-मव्यवहितमपि मां नाभिजानाति ततश्च स्वरूपापरिचयात् संसरतीव' इत्यहो दौर्भाग्यम्, अविवेकिजनस्येत्यनुक्रोशं दर्शयति भगवान् ॥ १३ ॥

म० टी० यथोक्तानादिसिद्धमायागुणत्रयबद्धस्य जगतः स्वातन्त्र्याभावेन तत्परिवर्जनासामर्थ्यान्न कदाचिदपि मायाऽतिक्रमः स्याद्वस्तुविवेकासामर्थ्यहेतोः

प्रश्न—यदि परमेश्वर आप नित्य शुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव अत एव स्वतन्त्र हैं तो त्वदात्मक जगत् में संसारित्व कैसे हुआ ?

उत्तर—तथाविध (तादृश) मत्स्वरूप ज्ञानाभाव से संसारित्व हुआ ।

प्रश्न—अज्ञान से ही संसारित्व कैसे हुआ ?

उत्तर—प्रागुक्त त्रिविध गुणमय अर्थात् सत्त्वरजस्तमोगुणमय विकार सब भाव से उत्पन्नमात्र यह सब जगत् प्राणीसमूह मोहित हुआ अर्थात् विवेका-योग्य होता हुआ सगुणमय भावों से पर (अतीत) इन गुणों का कल्पनाधिष्ठान अत्यन्त विलक्षण अव्यय सब विकारों से शून्य प्रपञ्च रहित आनन्दघन अव्य-वहित आत्मप्रकाशरूप मुझको नहीं जानता इस कारण इस रूप के विवेकाभाव से संसारी होता है 'इत्यहो दौर्भाग्यम्' अविवेकी मूढ़ जन का दौर्भाग्य है यह सदय भगवान् दिखलाते हैं ॥१३॥

प्रश्न—यदि अनादि सिद्ध माया गुणत्रयबद्ध जगत् स्वतन्त्र नहीं है तो उससे छुड़ानेका सामर्थ्य न होने से किसी समय भी माया छूट नहीं सकती।

सदातनत्वादित्याशङ्क्य भगवदेकशरणतया तत्त्वज्ञानद्वारेण मायाऽतिक्रमः संभवतीत्याह—**दैवी ह्येषेति**। दैवी एको देवः सर्वभूतेषु गूढ इत्यादिश्रुतिप्रतिपादिते स्वतोद्योतनवति देवे स्वप्रकाशचैतन्यानन्दे निर्विभागे तदाश्रयतया तद्विषयतया च कल्पिता,—

'आश्रयत्वविषयत्वभागिनी निर्विभागचितिरेव केवला।'

इत्युक्तेः, एषा (१) साक्षिप्रत्यक्षत्वेनापलापानर्हा।

यदि कहो कि वस्तुविवेक के सामर्थ्य से छूट जायगी सो ठीक नहीं क्योंकि विवेकासामर्थ हेतु माया सदा अटल है ?

उत्तर—ठीक अटल है परन्तु भगवान् शरणपरायणों को तत्त्वज्ञानद्वारा मायातिक्रम होता है। दैवी 'एको देवः सर्व भूतेषु गूढः' इत्यादि श्रुतिप्रतिपादित स्वतः दीप्तिविशिष्ट देव स्वप्रकाश चैतन्यानन्द निरंश से तदाश्रय तद्विषय कल्पिता माया दैवी है।

'आश्रयत्वविषयत्वभागिनी निर्विभाग चितिरेव केवला।'

इस संक्षेपशारीरोक्ति से परमात्मविषयक परमात्माश्रयक माया कल्पित है स्वासाक्षिप्रत्यक्ष होने से यह नहीं कह सकते कि प्रमाणाभाव से माया नहीं है। उक्त साक्षिप्रत्यक्ष ही तत्सद्भाव में प्रमाण है।

अन्तःकरणोपहित चैतन्य साक्षी है तद्वेद्य अज्ञान है 'अहं न जानामि, मयि ज्ञानं नास्ति,' इत्याकारक साक्षिप्रत्यक्षभावरूप अज्ञान में प्रमाण है।

प्रश्न—'मयि ज्ञानं नास्ति' यह प्रतीति आत्मा में ज्ञानसामान्याभाव का अवगाहन करती है भावरूपा ज्ञान की नहीं ?

उत्तर—अभावप्रत्यक्ष में प्रतियोगी ज्ञान और अधिकरण ज्ञान कारण माना जाता है, क्योंकि 'इदमिह नास्ति' यह यहाँ नहीं है ऐसी प्रतीति होती है। ज्ञानाभाव का प्रतियोगी ज्ञान है और अधिकरण आत्मा है यदि इन दोनों का ज्ञान आत्मा में है तो ज्ञानसामान्याभाव ही व्याहत है, क्योंकि एक अधिकरण में एक समय प्रतियोगी और तदत्यन्ताभाव नहीं रह सकता अन्यथा भावाभाव के निरोध का ही भङ्ग हो जायगा। अतः 'मयि ज्ञानं नास्ति' इस प्रतीति का विषय भी भावरूप अज्ञान ही है इस हेतु से 'अहमज्ञः, मयि ज्ञानं नास्ति', ये दोनों भावरूपा ज्ञानविषयक होने से समानार्थक है। 'मयि ज्ञानं नास्ति' यह प्रतीति 'वायौ रूपं नास्ति' वायु में रूप शुक्ल नीलादि नहीं है यह प्रतीति जैसे वायु में रूपत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकरूपीय यावद्वि-

शेषाभाव : शुक्लनीलपीतादि के अभाव से अतिरिक्तरूपसामान्याभाव का अवगाहन करती है अथवा रूपत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकरूपीययावद्विशेषाभाव का अवगाहन करती है वैसे मुझमें ज्ञान नहीं है यह प्रतीति भी सामान्यावच्छिन्नविशेषाभावान्यसामान्याभावावगाहिनी है। अथवा सामान्यावच्छिन्नयावद्विशेषाभावावगाहिनी है, दोनों प्रकार से प्रतियोगि अधिकरण के ज्ञान तदभाव से क्यों व्याघात नहीं है? प्रथम पक्ष में अभाव ही नहीं रह सकता तो उसका प्रत्यक्ष कैसे? द्वितीय पक्ष में प्रत्यक्ष का कारण ही नहीं तो प्रत्यक्ष कैसे' कारणाभावदशा में कार्य का आपादन करना व्याहत है, यत् किञ्चिद्विशेषाभावसामान्यावच्छिन्नप्रतियोगिताक नहीं होता जिससे ज्ञानविशेषाभावतात्पर्य से ज्ञान नहीं है यह सामान्यरूप से कह सके।

प्रश्न—क्यों प्रतियोगी कोटि में प्रकारतया भासमानधर्म ही प्रतियोगितावच्छेदक होता है अन्यथा सामान्याभावकी सिद्धि नहीं होगी, विशेषाभावकूट से अतिरिक्त सामान्याभाव न मानने पर भी यही दोष है यत्किंचिद्विशेषाभाव यदि सामान्यावच्छिन्नप्रतियोगिताक माना जाय तो घटादि धारणदेश में भी घटविशेषाभावतात्पर्य से 'घटो नास्ति' यह सामान्यरूप से प्रतीति हो जायगी पर ऐसी प्रतीति उक्तस्थल में नहीं होती यदि ऐसी प्रतीति हो तो आपत्ति क्या?

उत्तर—वायु में रूप नहीं है उस स्थल में घट नहीं है प्रामाणिक पुरुष के ऐसा कहने पर भी वायु रूपवान् है या नहीं, उक्त स्थल घटवान् है कि नहीं, यह संशय निवृत्ति न होगा एक विशेष के अभाव को कहने पर भी विशेषान्तर लेकर संशय हो जायगा क्योंकि उक्त सामान्यरूप से विशेष का ही अभाव कहा गया है।

प्रश्न—सामान्यरूप से विशेषाभावबुद्धि को भी सामान्यसंशय का विरोधिनी माने तो क्या दोष?

उत्तर—घटत्वरूप से घट नहीं है यह बुद्धि भी यह घटवान् है इस बुद्धि की विरोधिनी हो जायगी अतः अभावांश में प्रतियोगी जिस रूप से प्रकार होता है तदवच्छिन्नप्रतियोगिताकधीत्व से ही तद्रूपविशिष्टवत्ताधीविरोधित्व तुमको भी मानना पड़ेगा। यदि अभावबोध में पूर्वानुपस्थितप्रकारीभूत धर्म का संसर्गमर्यादा से शाब्दबोध में तथा अन्यत्र भी भान मानें तो कोई दोष नहीं। एवं च तत्तद्विशेषाभाव तत्तद्विशेषावच्छिन्नप्रतियोगिताक है फिर भी तत्समुदाय में सामान्यधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्व व्यासज्यवृत्ति मानें तो एक विशेषवान् में सामान्यरूप से विशेषान्तराभावनिबन्धन 'घटो नास्ति' इत्यादि प्रतीति की आपत्ति नहीं। एवं सामान्यावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्व एकैकसामान्याभाव में विश्रान्त मानें तो भी वायु रूपवान् है या नहीं यह संशय नहीं हो सकता। सारांश यह है कि सामान्यरूप से घटाद्यभावविशेषाभावकूटस्थल में या सामान्याभावस्थल में ही प्रतीत होगा यत्किंचिद्विशेषाभावस्थल में नहीं, क्योंकि सामान्यधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वविशेषाभावकूट ही में पर्याप्त है एकैकाभाव में नहीं केवल सामान्या-

भाव में ही उक्तधर्म एकैकाभाव में पर्याप्त है अतः उक्त प्रामाणिक प्रयोगस्थल में संशय नहीं होगा। ठीक है तो प्रकृति में ज्ञानविशेषाभावतात्पर्य से 'मयि ज्ञानं नास्ति' यह प्रयोग भी नहीं हो सकता किन्तु विशेषाभावातिरिक्तसामान्याभावतात्पर्य से किंवा विशेषाभावकूटतात्पर्य से इन दोनों अभावों की स्थिति प्रतियोगिविशेषाधिकरण में नहीं रह सकती इसकी प्रतीति अधिकरणज्ञान रहने पर 'मयि ज्ञानं नास्ति' यह व्याहत है अतः यह भी प्रतीतिभावरूपाज्ञानविषयक ही है क्योंकि उक्ताभावद्वयप्रतीति से यह विलक्षण है। प्रतीतिवैलक्षण्यविषय वैलक्षण्य के बिना नही हो सकती अतः सामान्याभाव विशेषाभावकूट से विलक्षणभावरूप अज्ञानविलक्षण विषय है यह सिद्ध हुआ। विषय के अज्ञान का अनुभव करके ही पुरुष विचार में प्रवृत्त होता है। फल तदज्ञान निवृत्ति है। यदि 'न जानामि' इस प्रतीति का विषय ज्ञानविशेषाभाव माना जाय तो ज्ञातविषयस्थल में भी 'न जानामि' यह प्रतीति हो जायगी यावद्विशेषज्ञान तो असर्वज्ञ को असम्भव ही है तद्विचारार्थ प्रवृत्ति भी हो जायगी।

प्रश्न—ज्ञानाभावविलक्षण अज्ञान भी तो ज्ञानविरोधी ही है तमोमायाप्रकृत्यादि शब्द से जहाँ अज्ञान कहा जाता है वहाँ भी ज्ञानविरोधिमिथ्यार्थकरत्वेनैव प्रतीत होता है इसमें दृष्टान्त है प्रलयादिवत्। 'प्रलयो नष्टचेष्टता' इस वचन के अनुसार सर्गविरोध्यभाव की प्रतीति होती, नष्ट नहीं है तो भी तथा मायादि शब्द से भी उक्तार्थ प्रतीति होती है अतएव विवरणकार ने लिखा है—'द्वयसापेक्षज्ञानपर्युदासेनाभिधानात्' इति। इसका इस विषय में जो यद् ज्ञान तद्विरोधित्व से अज्ञान का भान होता है इससे अज्ञान स्वाश्रय विषयक नहीं है यह स्फुट होता है। तथा च प्रमाणजन्यवृत्त्यभावकाल में ही आपके मत में भी 'न जानामि' यह बुद्धि होगी अन्यथा अविद्यावृत्तिकाल में उक्त बुद्धि न होगी ऐसी परिस्थिति में आपको भी व्याघात है क्योंकि प्रमाणवृत्तिसामान्यविरोधित्वेन 'न जानामि' इस बुद्धि की उत्पत्ति होती है इसमें उक्तवृत्तिविरोधित्वसाक्षिभास्य नहीं किन्तु वृत्तिभाष्य है, तथा च वृत्तिदशा में अज्ञान प्रतीति नहीं तदभावदशा में तद्भासक नहीं अज्ञान पक्ष में भी व्याघात समान है। यदि उक्त विरोधित्वस्मरण से 'न जानामि' इस बुद्धि का संभव कहिये तो कहीं इस प्रकार से उपपत्ति हो सकती है सर्वत्र ऐसा नियम न अतः 'न जानामि' यह ज्ञान उक्तवृत्तिसापेक्ष है अतएव व्याघात समान है?

उत्तर—साक्षिवेद्यभावरूपा ज्ञान यद्यपि प्रमाणवृत्ति निवर्त्य है तथापि विरोधि ज्ञान तद्व्यावर्तकविषयग्राहक तत्साधकसाक्षि से उसका नाश नही होता इस लिये मेरे मत में व्याघात नही साक्षी अज्ञान साधक है। साधक बाधक नहीं होता अज्ञानग्रहण में विषयगोचर प्रमा की अपेक्षा मानें तो व्याघात होगा वह कहते नहीं फिर व्याघात क्यों? विवरण में कहा है सर्वं ज्ञानतया अज्ञानतया वा साक्षि चैतन्यविषय एवेति।

प्रश्न—इस प्रकार तो ज्ञानाभाव पक्ष में भी व्याघात का परिहार होता है विषयादि ज्ञान साक्षिरूप है और 'न जानामि' यह बुद्धिप्रमाणकरणभावविषया है अतः व्याघात नहीं?

उत्तर—यह परिहार नहीं हो सकता, भावरूपाज्ञान साक्षात् साक्षिवेद्य है यह कह सकते हैं, परन्तु ज्ञानाभाव अनुपलब्धिगम्य साक्षात् साक्षिवेद्य नहीं अतः तद्द्वारा तदवच्छेदकविषमादि साक्षिवेद्य नहीं यह वैषम्य है। यद्यपि ज्ञान साक्षिवेद्य है तद्द्वारा तदवच्छेदक विषयी साक्षिवेद्य है तथापि ज्ञानाभाव साक्षिवेद्य नहीं क्योंकि यह अनुपलब्धि प्रमाणगम्य है। उत्पन्न ज्ञान साक्षात् साक्षिवेद्य है ज्ञान उत्पन्न होने पर उसके विषय का भी स्फुरण होता है फिर ज्ञानाभाव कैसे साक्षात् साक्षिभाष्य हो सकता है। एवं च ज्ञानतदभावों में एक के रहने पर दूसरे का न रहना नियत है अविद्यमान के साथ अनावृत चित्तादात्म्य होता नहीं अतः दोनों में एक काल में साक्षिवेद्यत्व का सम्भव नहीं।

प्रश्न—अवच्छेदक विषयादि यदि पूर्व में ज्ञात नहीं तो तद्विशिष्ट अज्ञान का ज्ञान कैसे हो सकता है जो रक्त नहीं जानता उसको 'रक्तो दण्डः' अर्थात् रक्त विशिष्ट दण्ड है यह प्रतीति नहीं होती कारण विशिष्टज्ञान में विशेषणज्ञान कारण माना जाता है ?

उत्तर—विशिष्टज्ञान में विशेषणज्ञान कारण है इसमें प्रमाण नहीं अत एव अज्ञात योगित्व अभावत्व का अभावबोध में प्रकारतया ज्ञान नैयायिकादि भी मानते हैं। 'अहमज्ञः' 'अहं मन्यं च न जानामि, 'मयि ज्ञानं नास्ति' इत्यादि प्रत्यक्ष भावरूपाज्ञान में प्रमाण है यह संक्षेप है। विस्तार अद्वैतसिद्धि में देखिये इति।

भ्रमोपादनमज्ञानम् यह अज्ञान का लक्षण है, यथा शुक्ति में यह रजत है ऐसा ज्ञान होता है इसका उपादान कारण शुक्त्यवच्छिन्न चैतन्यगत अज्ञान है क्योंकि यावत्तदज्ञान उक्त भ्रम रहता है 'इयं शुक्तिः' इस अधिष्ठान प्रमासे उक्त भ्रम की निवृत्ति होती है यह सर्वानुभव सिद्ध है।

प्रश्न—'जन्माद्यस्य यतः' 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इत्यादि स्थल में संसारका उपादान ब्रह्म ही है अतः भ्रमोपादानत्व ब्रह्म भी है वह अज्ञान नहीं ब्रह्ममें अतिव्याप्ति होने से यह लक्षण नहीं हो सकता ?

उत्तर—विश्वभ्रमका उपादान माया है तदधिष्ठान ब्रह्म है, इसकारण स्वाश्रयाविद्या द्वारा ब्रह्म में उपादानत्व व्यवहार है इस मत से लक्षण है अतः ब्रह्म में अतिव्याप्ति नहीं मतान्तर में ब्रह्म ही उपादान है ब्रह्मसहित अविद्या उपादान है इन मतों में अतिव्याप्तिवारणार्थ 'परिणामित्वे सति अचेतनत्वे सति' इत्यादि विशेषण देना चाहिये। ब्रह्म अपरिणामी तथा चेतन है इसलिये उसमें अतिव्याप्ति नहीं अभावारोपनिवर्तक प्रमानिवर्त्य में अतिव्याप्ति नहीं वह भी भ्रमोपादान ही है अतएव उक्त लक्षण का लक्ष्य ही है।

प्रश्न—भ्रम में भावविलक्षणाज्ञानोपादानकत्व नहीं घटता भ्रम यदि भावविलक्षण है तो उपादेय ही नहीं हो सकता यदि भाव है तो भावोपादानकत्व नियम से होगा ?

उत्तर—अज्ञान और भ्रम भावविलक्षण है तो भी उपादानोपादेयभाव होता है क्योंकि भावत्व उपादानत्व या उपादेयत्व में प्रयोजक नहीं, ब्रह्म में भावत्व है किन्तु उसमें उपादानत्व उपादेयत्व नहीं किन्तु अन्वयिकारणत्व उपादानत्व में प्रयोजक है सादित्व उपादेयत्व में प्रयोजक है ये दोनों भावत्व नियत नहीं।

प्रश्न—यदि भावत्व उपादेयत्व का नियामक नहीं तो ध्वंस भी सादि होने से उपादेय हो जायगा?

उत्तर—इष्ट ही है।

प्रश्न—ज्ञानप्रागभाव ही को उपादान मानिये क्योंकि भावत्व तो उपादान का नियामक नहीं फिर अभाव को उपादान मानने में क्या आपत्ति?

उत्तर—प्रतियोगिजनक जो प्रागभावमात्र का है वह उपादान नहीं हो सकता।

प्रश्न—क्यों?

उत्तर—प्रतियोगी की उत्पत्ति से प्रागभाव की निवृत्ति हो जाती है अथवा प्रतियोगी की उत्पत्ति ही प्रागभाव की निवृत्ति है यावद्भ्रमस्थिति प्रागभाव रह नहीं सकता अतः उसमें उपादानत्व का संभव हो नहीं।

प्रश्न—भ्रमनिवर्तकप्रमा प्रागभाव तो यावद्भ्रमकाल में रहेगा उसको कार्यान्वयी कह सकते हैं प्रमा के होने पर तत्प्रागभावरूप उपादान की निवृत्ति होने से तदुपादेय भ्रम की निवृत्ति इष्ट ही है?

उत्तर—प्रागभाव प्रतियोगीमात्र का जनक है अन्य का नहीं, प्रमाप्रागभाव स्वप्रतियोगी प्रमा का ही जनक हो सकता है भ्रम का नहीं, भ्रम के प्रति जनकत्व ही नहीं तो तद्विशेष उपादानत्व की क्या सम्भावना। वस्तुतः प्रागभाव में प्रमाण नहीं नव्यनैयायिक प्रागभाव नहीं मानते हैं जो मानते हैं उनके मत में भी मनोनिष्ठपरोक्षप्रमा प्रागभाव में शुक्तिरूप्योपादानत्व का सम्भव नहीं उक्त प्रागभाव मन में है शुक्तिरूप्य शुक्तिगत प्रतीत होता है कार्यकारणभाव समानाधिकरण में ही होता है अपरोक्षप्रमा में विषयाकार परिणामद्वारा सामानाधिकरण्य ही हो सकता है इस लिये परोक्षप्रमा का निर्देश है। जिस विषय में कभी प्रत्यक्ष प्रमा नहीं हुई वहाँ उसका प्रागभाव तो अलीक ही है प्रतियोगी की उत्पत्ति से तत्प्रागभाव की कल्पना होती है जिसका प्रतियोगी कभी उत्पन्न ही नहीं हुआ उस प्रागभाव की सिद्धि नहीं होती अतः सद्विलक्षण अज्ञान में काम का उपादानोपादेयभाव ठीक नहीं है।

प्रश्न—यदि अज्ञान भ्रम का उपादान है मृत्तिका से अनुवृत्त घट मृद्घट जैसे प्रतीत होता है वैसे ही अज्ञानानुविद्ध भ्रम की भी प्रतीति होनी चाहिये?

(१) हिशब्दाद्भ्रमोपादानत्वादर्थापत्तिसिद्धा च गुणमयी सत्त्वरजस्तमोगुणत्रयात्मिका त्रिगुणरज्जुरिवातिदृढत्वेन बन्धनहेतुः, मम मायाविनः परमेश्वरस्य सर्वजगत्कारणस्य सर्वज्ञस्य सर्वशक्तेः स्वभूता स्वाधीनत्वेन जगत्सृष्ट्यादिनिर्वाहिका माया तत्त्वप्रतिभासप्रतिबन्धेनातत्त्वप्रतिभासहेतुरावणविक्षेपशक्तिद्वयवत्यविद्या सर्वप्रपञ्चप्रकृतिः 'मायां तु तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्' इति श्रुतेः ।

हि शब्दाद्वारा भ्रमोपादानत्व से अर्थापत्ति प्रसिद्ध है। गुणमयी सत्त्वरजस्तम एतद् गुणत्रयात्मक है, त्रिगुण रज्जु की तरह अतिदृढ़ होने से बन्धन का हेतु है। मायावी परमेश्वर सर्वजगत् कारण सर्वज्ञ सर्वशक्ति स्वभूता (मदधीना) जगत्सृष्ट्यादि निर्वाहिका माया तत्त्वज्ञान का स्वप्रतिबन्ध कर अतत्त्वज्ञान का हेतु है। आवरण और विक्षेपशक्ति एतत्शक्तिद्वयविशिष्टा अविद्या सकल संसार की प्रकृति है। 'मायान्तु' इत्यादि श्रुति माया प्रकृति एक ही है इसमें प्रमाण है । कहीं पर ऐसी

उत्तर— जो यदुपादानक है वह तदनुविद्ध ही प्रतीत होता है यह व्याप्ति ही सिद्ध नही अतएव घटोपादानरूपादि रूप घट है ऐसा घटानुविद्ध नहीं प्रतीत होता किसी धर्म से तदनुवेध तो प्रकृति में भी इष्ट है जैसे 'शुक्लो घटः' इत्यादि से शुक्लत्वेन अनुवेध है वैसे जडत्वेन प्रकृत में हुई है अज्ञान भ्रम दोनों में जडत्व अनुवृत्त है ।

प्रश्न—भ्रम का उपादान आत्मा ही को क्यों नहीं मानते तार्किक ऐसा ही मानते हैं ?

उत्तर—यदि भ्रम सत्योपादान होगा तो सत्य हो जायगा सत्य है नहीं अतः आत्मा उपादान नहीं मानती तो स्वरूप से सत्य ही है केवल विषयबाधित होने से असत्य है तद्बाधज्ञान में असत्यत्व व्यवहार है यह कथन ठीक नहीं यदि पटादि प्रमाज्ञान के समान भ्रमज्ञान भी स्वरूप से सत्य होता तो तद्वत् बाध ही नहीं होता बाध अनुभव सिद्ध है अतः भ्रमस्वरूप से भी सत्य नहीं विशेष आकर ग्रन्थ में देखिये । इति ।

(१) हि शब्दात् भ्रमोपादानत्वादर्थापत्तिसिद्धा चेति । भाव यह है कि अनिर्वचनीयाज्ञानरूप माया में अर्थापत्ति भी प्रमाण है विभ्रमोपादानत्वान्यथानुपपत्ति भी अविद्यास्वरूप माया में प्रमाण है अज्ञानातिरिक्त भ्रम का कोई उपादान नहीं हो सकता। भ्रम सोपादान है भ्रम में सोपादानत्व अज्ञान के विना नहीं बनता अतः सोपादानत्वान्यथानुपपत्तिरूप अर्थापत्ति तत्सद्भाव में प्रमाण है ।

प्रश्न—अर्थापत्ति में दो दोष रह सकता है अन्यथैवोपपत्ति अन्यथाप्युपपत्ति ये दोष जहाँ रहते है वह अर्थापत्ति आभास है प्रमाण नहीं प्रकृत में अन्यथाप्युपपत्ति की शंका है

अन्तःकरण में भ्रम उत्पन्न होता है अतः अन्तःकरण ही उपादान है अतएव तार्किक आत्मा में भ्रमज्ञान मान कर आत्मा को ही उपादान कहते हैं ?

उत्तर—ज्ञानोत्पादन में अन्तःकरण प्रमाणान्तर सापेक्ष है प्रमाणाविषय शुक्तिइत्यादि ज्ञान में जनक नहीं हो सकता तथा अन्तःकरण सादि होने से अनादिभ्रम परम्परा का उपादान नही हो सकता।

प्रश्न—अच्छा तो ब्रह्म ही को उपादान मानिये ?

उत्तर—वह तो अपरिणामी है उपादान कैसे हो सकता है।

प्रश्न—विवर्ताधिष्ठान शुक्त्यादि का ही उपादान है यह मानिये।

उत्तर—अविद्या के बिना अनादित्वका अन्यथाभवन लक्षण विवर्त्त ही नही हो सकता और शुक्त्यादि अधिष्ठानतावच्छेदक हैं अधिष्ठान शुक्त्यवच्छिन्न चैतन्य है शुक्त्यादि नहीं ?

प्रश्न—उपादानापेक्ष विवर्तका तात्त्विक ब्रह्मातिरिक्त अज्ञान को जैसे उपादान मानते हैं वैसे आश्रय सापेक्ष अज्ञानादि का ब्रह्मसे अतिरिक्त अतात्त्विक अधिकरण भी मानिये ?

उत्तर—अविकारि नित्यब्रह्म में उपादानत्व मानने से विकारित्व अनित्यत्वादि दोष जैसे प्राप्त होता है वैसे आश्रयत्व मानने से कोई दोष नहीं अतः ब्रह्म ही अधिकरण है दूसरा नहीं।

प्रश्न—घटादि में स्वसमानसत्ताकोपादानकत्व हो देखा गया है मृत्तिका और तत्कार्य घट दोनों व्यावहारिक सत्ताक ही है प्रपञ्च में भी वैसे ही उपादानकी कल्पना करने पर घटादि स्वाधिक पारमार्थिक सत्तानपेक्ष उपादानक के समान आकाशादि ब्रह्मोपादानक न होगा। क्यों आकाशादि व्यावहारिक सत्ताक है ब्रह्म पारमार्थिक सत्ताक है, उक्त दृष्टान्तसे कार्य कारण समानसत्ताक ही होना चाहिये यह निश्चित है फिर प्रपञ्च का विषमसत्ताक ब्रह्म उपादान कैसे हो सकता है ?

उत्तर—'तदभिध्यादेवं तु लिङ्गात् स' इस वेदान्तसूत्रोक्त न्याय से घटादि भी मृदवस्थ चैतन्योपादानक ही है अतः उसमें भी तादृशोपादानानपेक्ष अधिकसत्ताकोपदानानपेक्षत्व असिद्ध है इस हेतु दृष्टान्तसे उक्तापत्ति असङ्गत है अतएव रूप्य में भी स्वसमानसत्ताक निमित्त की कल्पना करनी चाहिये। निमित्तमात्र में यह कल्पना करते हैं वा निमित्तविशेषों! प्रथम कल्प ठीक नहीं, अधिष्ठानरूप निमित्त सब जगह अधिक सत्ताक है उसमें समसत्ताकत्व न होने से तादृशव्याप्ति ही असिद्ध है। द्वितीय पक्षमें उत्तरोत्तर भ्रम में पूर्व पूर्व भ्रम निमित्त होने से इष्टापत्ति है अर्थात् वहाँ समान निमित्तकत्व है ही विशेष आकर ग्रन्थ में देखिये इति।

अत्रैवं प्रक्रिया—जीवेश्वरजगद्विभागशून्ये शुद्धे चैतन्येऽध्यस्तानादिरविद्या सत्त्वप्राधान्येन स्वच्छदर्पण इव मुखाभासं चिदाभासमागृह्णाति, ततश्च बिम्बस्थानीयः परमेश्वर उपाधिदोषास्कन्दितः प्रतिबिम्बस्थानीयश्च जीव उपाधिदोषास्कन्दितः ईश्वराच्च जीवभोगायाकाशादिक्रमेण शरीरेन्द्रियसंघातस्तद्भोग्यश्च कृत्स्नः प्रपञ्चो जायत इति कल्पना भवति। बिम्बप्रतिबिम्बमुखानुगतमुखस्वरूपवच्च ईशजीवानुगतं मायोपाधि चैतन्यं साक्षीति कल्प्यते, तेनैव स्वाध्यस्ता माया तत्कार्यं च कृत्स्नं प्रकाश्यते अतः साक्ष्यभिप्रायेण—दैवीति, । बिम्बेश्वराभिप्रायेण तु ममेतिभगवतोक्तम्। यद्यप्यविद्याया एकत्वात् प्रतिबिम्ब एक एव जीवस्तथाप्यविद्यागतानामन्तःकरणसंस्काराणां भिन्नत्वात्तद्भेदेनान्तःकरणोपाधेस्तस्यात्र भेदव्यपदेशः, 'मामेव ये प्रपद्यन्ते, 'न मांदुष्कृतिनो मूढा प्रपद्यन्ते' 'चतुर्विधा भजन्ते माम्' इत्यादिः। श्रुतौ च—'तद्यो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत्तथर्षीणां तथा मनुष्याणम्' इत्यादिः। अन्तःकरणोपाधिभेदपर्यालोचने तु जीवत्वप्रयोजकोपाधेरेकत्वादेकत्वेनैवात्र व्यपदेशः। 'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि

प्रक्रिया है कि जीव ईश्वर जगत् इन विभागों से शून्य शुद्ध चैतन्य ब्रह्म में अनादि अविद्या अध्यस्त है। सत्त्वप्राधान्य से स्वच्छदर्पण में मुखप्रतिबिम्ब के समान उक्त माया ब्रह्म प्रतिबिम्ब का ग्रहण करती है ततः बिम्बस्थानीय परमेश्वर उपाधि दोष से रहित और प्रतिबिम्बस्थानीय जीव उपाधिदोष सहित होता है। जीव भोग के लिए आकाशादिक क्रम से शरीरेन्द्रियसंघात तद्भोग्य सारा प्रपञ्च ईश्वर से होता है यह कल्पना होती है। बिम्बप्रतिबिम्ब इन दोनों में जैसे मुखतत्सम्बद्ध रहता है तथा मायोपाधिचैतन्य जो ईशजीवानुगत है वह साक्षी है यह कल्पना की जाती है। उसी से अपने में अध्यस्त माया और तत्कार्य यह सब प्रकाशित होते हैं, अतः साक्षि के अभिप्राय से दैवी, बिम्बेश्वर अभिप्राय से 'मम' यह भगवान् ने कहा है। यद्यपि अविद्या प्रतिबिम्ब एक ही जीव है तथापि आविद्यिक अन्तःकरण संस्कारों के भेद से अन्तःकरणोपाधि से उसका यहाँ भेद व्यवहार है। 'मामेव ये प्रपद्यन्ते' 'न मां दुष्कृतिनो मूढ़ा प्रपद्यन्ते' 'चतुर्विधा भजन्ते माम्' इत्यादि। श्रुतिमें भी 'तद्यो देवानाम्' इत्यादि अन्तःकरणभेदोपाधि के अपर्यालोचन से जीवत्वप्रयोजक उपाधि एक है अतः एकत्वेनैव यहाँ जीव का व्यवहार

सर्वक्षेत्रेषु' 'प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि', 'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातन' इत्यादिः। श्रुतौ च—'ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्तदाऽऽत्मानमेव वेदाऽहं ब्रह्माऽस्मि' इति। तस्मात्तत्सर्वमभवत् 'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः' 'अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य, वालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्प्यत' इत्यादिः। दर्पणगतश्चैत्रप्रतिबिम्बः स्वं परं च न जानात्यचेतनांशस्यैव तत्र प्रतिबिम्बितत्वात् तथापि चित्प्रतिबिम्बित्वादेव स्वं परं च जानाति प्रतिबिम्बपक्षे बिम्बचैतन्य एवोपाधिस्थत्वात्। स च यावत्स्वबिम्बैक्यमात्मनो न जानाति तावज्जलसूर्य इव जलगतकम्पादिकमुपाधिगतं विकारसहस्रमनुभवति तदेतदाह—**दुरत्ययेति**। बिम्बभूतेश्वरैक्यसाक्षात्कारमन्तरेण अत्येतुं तरितुमशक्येति दुरत्यया, अत एव जीवोऽन्तःकरणावच्छिन्नत्वात्तत्संबन्धमेवाक्ष्यादिद्वारा भासयन् किञ्चिज्ज्ञो भवति ततश्च जानामि करोमि भुञ्जे चेत्यनर्थशतभाजनं भवति। स चेद्बिम्बभूतं भगवन्तमनन्तशक्तिं मायानियन्तारं सर्वविदं सर्वफलदातारमनिशमानन्दघनमूर्तिमनेका-

---

है। 'क्षेत्रज्ञञ्चापि मां विद्धि' इत्यादि मूल में (देखिये) प्रसिद्ध है। श्रुति में भी 'ब्रह्म वा इदमग्र' इत्यादि। यद्यपि दर्पणगत चैत्रादि का प्रतिबिम्ब अपने पराये को नहीं जानता क्योंकि अचेतनांश पार्थिवादि मुख का ही प्रतिबिम्ब होता है चैतन्य का नहीं तथापि माया में चैतन्य का प्रतिबिम्ब है अतः अपने पराये को वह जानता है। प्रतिबिम्ब पक्ष में बिम्ब चैतन्य में उपाधिस्थत्वमात्र कल्पित है, आभास पक्ष में वह अनिर्वचनीय होने से जड़विलक्षण है। वह जब तक १३२ स्वबिम्बभूत आत्मा को नहीं जानता तावत्पर्यन्त जल प्रतिबिम्बित सूर्य के समान उपाधिगत विकार जलकम्पादिका अनुभव करता है यही कहते हैं—दुरत्यया से। बिम्बभूत ईश्वरैक्य साक्षात्कार के विना माया का तरण अशक्य (असम्भव है अतः 'दुरत्यया' है। जीव अन्तःकरणसम्बद्ध नेत्रादिद्वारा विषय को भान नहीं कराता हुआ तदभिज्ञ होता है अतएव किञ्चिज्ज्ञ है उसी से जानता हूँ करता हूँ भोगता हूँ यह दुःख शत का भाजन होता है। यदि वह बिम्बभूत भगवान् अनन्तशक्ति माया के नियामक सर्वज्ञ सब फलों के देने वाले सदा

नवतारान् भक्तानुग्रहाय विदधन्तमाराधयति। परमगुरुमशेषकर्मसमर्पणेन तदा बिम्बसमर्पितस्य प्रतिबिम्बे प्रतिफलनात्सर्वानपि पुरुषार्थानासादयति एतदेवाभिप्रेत्य प्रह्लादेनोक्तम्—

'नैवात्मनः प्रभुरयं निजलाभपूर्णो-
मानं जनादविदुषः करुणो वृणीते।
यन्मज्जनो भगवते विदधीत मानम्
तच्चात्मने प्रतिमुखस्य यथा मुखश्रीः ॥' इति।

दर्पणप्रतिबिम्बितस्य मुखस्य तिलकादिश्रीरपेक्षिता चेद् बिम्बभूते मुखे समर्पणीया सा स्वयमेव तत्र प्रतिफलति नान्यः कश्चित्तत्प्राप्तावुपायोऽस्ति यथा तथा बिम्बभूतेश्वरे समर्पितमेव तत्प्रतिबिम्बभूतो जीवो लभते नान्यः कश्चित्तस्य पुरुषार्थलाभेऽस्त्युपाय इति दृष्टान्तार्थः। तस्य यदा भगवन्तमनन्तमनवरतमाराधयतोऽन्तःकरणं ज्ञानप्रतिबन्धकपापेन रहितं ज्ञानानुकूल-

---

आनन्दघन मूर्ति भक्तों के अनुग्रहार्थ अनेक अवतारों के साधारण करने वालों की आराधना करता है। परमपुरुष परमगुरु में सम्पूर्ण कर्मों के समर्पण से बिम्ब में समर्पित वस्तु का प्रतिबिम्ब में प्रतिच्छाया होने से सब पुरुषार्थों को पाता है। इसी अभिप्राय से प्रह्लाद ने कहा है—

'नैवात्मनः प्रभुरयं निजलाभपूर्णः
मानं जनादविदुषः करुणो वृणीते।
यन्मज्जनो भगवते विदधीत मानम्
तच्चात्मने प्रतिमुखस्य यथा मुखश्रीः ॥' इति।

दर्पण प्रतिबिम्ब मुख की तिलकादि शोभा यदि बदलनी इष्ट हो तो बिम्बभूत मुख में ही करने योग्य है प्रतिबिम्ब में तिलक नहीं लग सकता, बिम्ब में लगाने से प्रतिबिम्ब में स्वतः लगी प्रतीत होती है, दूसरा कोई उपाय उसमें नहीं है। उसी प्रकार बिम्बभूत ईश्वर में समर्पित का तत्प्रतिबिम्ब जीव लाभ करता है, दूसरा कोई उपाय जीव का पुरुषार्थ लाभ करने में नहीं है यह दृष्टान्तार्थ है। जब उस भगवान् अनन्त का सदा आराधन करता है तो उसका अन्तःकरण ज्ञानोत्पत्ति प्रतिबन्धक पाप से रहित होकर ज्ञानोपयिक पुण्य से समृद्ध होता है, तब

पुण्येन चोपचितं भवति, तदाऽतिनिर्मले मुकुरमण्डल इव मुखमतिस्वच्छेऽन्तःकरणे सर्वकर्मत्यागशमदमादिपूर्वकगुरूपसदनवेदान्तवाक्यश्रवणमनननिदिध्यासनैः संस्कृते तत्त्वमसीति गुरूपदिष्टवेदान्तवाक्यकरणिका 'अहं ब्रह्माऽस्मि' इत्यनात्माकारशून्या निरुपाधिचैतन्याकारा साक्षात्कारात्मिका वृत्तिरुदेति। तस्यां च प्रतिफलितं चैतन्यं सद्य एव स्वविषयाश्रयामविद्यामुन्मूलयति दीप इव तमः। ततस्तस्या नाशात्तया वृत्त्या सहाखिलस्य कार्यप्रपञ्चस्य नाशः, उपादाननाशादुपादेयनाशस्य सर्वतन्त्रसिद्धान्तसिद्धत्वात् तदेतदाह भगवान्—'मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते' इति, 'आत्मेत्येवोपासीत, तदात्मानमेवावेत्, तमेव धीरो विज्ञाय, तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति, इत्यादिश्रुतिवदिहापि मामेवेत्येवकारोऽन्यानुपरक्तताप्रतिपत्त्यर्थः। मामेव सर्वोपाधिविरहितचिदानन्दसदात्मानमखण्डं ये प्रपद्यन्ते वेदान्तवाक्यजन्यया निर्विकल्पकसाक्षात्काररूपया निर्वचनानर्हशुद्धचिदाकारत्वधर्मविशिष्टया सर्वसुकृतफलभूतया

निर्मल दर्पणमण्डल में जैसे मुख की शोभा प्रतीत होती है वैसे ही स्वच्छ अन्तःकरण में सर्वकर्मत्याग शमदमादिपूर्वक गुरुसमीप गमन वेदान्तवाक्य श्रवण मनन निदिध्यासनों से संस्कृत उक्त अन्तःकरण में गुरूपदिष्ट 'तत्त्वमसि' इत्यादि वेदान्तवाक्यजन्य 'अहं ब्रह्माऽस्मि' मैं ब्रह्म हूँ इत्याकारक अनात्माकारशून्य निरुपाधि चैतन्याकार साक्षात्कारस्वरूपावृत्ति उत्पन्न होती है। तत्प्रतिबिम्बित चैतन्य तुरत स्वाश्रया विद्या का उन्मूलन करता है, यथा दीप उत्पन्नमात्र से तम का नाशक है तथा उक्त साक्षात्कार स्वोदयमात्र से अविद्या का नाशक है, सहकार्यन्तर की अपेक्षा नहीं करता। तदनन्तर अविद्यानाश से अखिलप्रपञ्च की वृत्ति के साथ नाश होता है उपादानकारण के नाश से तत्कार्य का नाश सर्वशास्त्र सम्मत है यही भगवान् कहते हैं—'मामेव ये प्रपद्यन्ते' इत्यादि। 'आत्मा इत्येव उपासीत' इत्यादि इन श्रुतियों के समान यहाँ भी अन्याविषयक मदेकविषयक बुद्धि इष्ट है। जो लोग सब उपाधियों से रहित चिदानन्द अखण्ड सदात्मस्वरूप मुझको वेदान्तवाक्यजन्य निर्विकल्पक संसर्गाविषयक वृत्तिरूप साक्षात्कार से, साक्षात्कार में ही अग्रिम विशेषण है। सदसत्; निर्वचनानर्ह अनिर्वचनीय शुद्धात्माकारत्वधर्मविशिष्ट सब पुण्यों का फलभूत निदिध्यासन

निदिध्यासनपरिपाकप्रसूतया चेतोवृत्त्या सर्वाज्ञानतत्कार्यविरोधिन्या विषयीकुर्वन्ति ते ये केचित् एतां दुरतिक्रमणीयामपि मायामखिलानर्थजन्मभुवमनायासेनैव तरन्ति अतिक्रामन्ति 'तस्य ह न देवाश्च नाभूत्या ईशत आत्मा ह्येषां संभवति इति श्रुतेः। सर्वोपाधिनिवृत्त्या सच्चिदानन्दघनरूपेणैव तिष्ठन्तीत्यर्थः। बहुवचनप्रयोगो देहेन्द्रियादिसंघातभेदनिबन्धनात्मभेदभ्रान्त्यनुवादार्थः। प्रपश्यन्तीति वक्तव्ये 'प्रपद्यन्त' इत्युक्तेः ये मदेकशरणा सन्तो मामेव भगवन्तं वासुदेवमीदृशमनन्तसौन्दर्यसारसर्वस्वमखिलकलाकलापनिलयमभिनवपङ्कजशोभाधिकचरणकमलयुगलप्रभमनवरतवेणुवादननिरतवृन्दावनक्रीडासक्तमानसहेलोद्धृतगोवर्धनाख्यमहीधरं गोपालं निषूदितशिशुपालकंसादिदुष्टसंघमभिनवजलदशोभासर्वस्वहरणचरणपरमानन्दघनमयमूर्तिमतिवैरिञ्चप्रपञ्चमनवरतमनुचिन्तय-

---

परिपाक से समुत्पन्न निखिल अज्ञान तत्कार्य विरोधि वृत्तिविषय करते हैं वे लोग अखिलदुःख निदान दुस्तर माया से तरते हैं माया का नाश करते हैं-तस्येत्यादि श्रुति है। उसके कार्य में देवता विघ्न करने में समर्थ नहीं होते हैं क्योंकि वह देवताओं का भी आत्मा है अपने से अपना विरोध कोई नहीं करता शरीरेन्द्रियादि सब उपाधियों से रहित सच्चिदानन्दघनरूप से अर्थात् वास्तविक अपने स्वरूप से रहते हैं यह अर्थ है। जीवात्मैक्य पक्ष में बहुवचन का समर्थन करते हैं—बहुवचन इत्यादि। देह इन्द्रिय मन अहङ्कार बुद्धि समुदाय भेद से एतदुपाधिक आत्मा भिन्न ही है इस लौकिक भ्रान्ति के अनुवादार्थ बहुवचन है, 'ये प्रपश्यन्ति' यह कहना उचित था किन्तु वैसा न कहकर 'प्रपद्यन्ते' कहने का भाव यह है कि मैं ही एक शरण हूँ जिनके वे मदेकशरण वासुदेव अनन्त सुन्दरता का जो सार तत्त्व पदार्थ उसका सर्वस्व सम्पूर्ण ६४ कलाएँ उनका कलाप (समुदाय) उसका निलय (आश्रय) अभिनव सद्योजात कमल शोभा से अधिक चरणकमल युग कारण सतत वंशीवादनानुरागि वृन्दावन की क्रीडा (खेल) में आसक्त मानस अपरिश्रम से ऊपर उठाया है गोवर्धन नामक पर्वत को जिसने गौओं के चराने तथा पालन करने वाले शिशुपाल कंसादि दुष्ट समुदायों के मारने वाले नवजलपूर्णमेघ शोभा सर्वस्व हरण करने वाला चरण है जिसका, आनन्दघनमय मूर्ति ब्रह्मार्चित प्रपञ्चातिग मुझको निरन्तर चिन्ता करते हुए दिन विताते हैं वे

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः ।
माययाऽपहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः ॥ १५ ॥

इस प्रकार आत्माको निरन्तर परमेश्वरके स्वरूपमें लगता हुआ स्वाधीन मनवाला योगी मेरेमें स्थितरूप परमानन्द पराकाष्ठावाली शान्तिको प्राप्त होता है ॥ १५ ॥

न्तो दिवसानतिवाहयन्ति ते मत्प्रेममहानन्दसमुद्रमग्नमनस्तया समस्तमायागुणविकारैर्नाभिभूयन्ते किन्तु मद्विलासविनोदकुशला एते मदुन्मूलनसमर्था इति शङ्कमानेव माया तेभ्योऽपसरति वारविलासिनीव क्रोधनेभ्यस्तपोधनेभ्यः तस्मान्मायातरणार्थी मामीदृशमेव सन्ततमनुचिन्तयेदित्यप्यभिप्रेतं भगवतः श्रुतयः स्मृतयश्चात्रार्थे प्रमाणीकर्तव्याः ॥ १४ ॥

म० टी०—यद्येवं तर्हि किमिति निखिलानर्थमूलमायोन्मूलनाय भवन्तं वासुदेवभगन्तमेव सर्वे न प्रतिपद्यन्ते इत्याशंक्य चिरसञ्चितदुरितप्रतिबन्धान्न प्रपद्यन्ते इत्याह—न मामिति । भगवान् दुष्कृतिनः दुष्कृतेन पापेन सह नित्ययोगिनः अतएव नरेषु मध्येऽधमा इह साधुभिर्गर्हणीयाः परत्र चानर्थ-

मेरे प्रेमरूप आनन्द समुद्र में डुबकी लगाने वाले मन होने से सम्पूर्ण मायागुण विकारों से पराजित नहीं होते किन्तु मेरी क्रिया में जो आनन्द तत् कुशल वे हैं अतएव मेरे नाश में समर्थ है इस प्रकार की शंकमान सदृश माया उन लोगों से क्रोधी तपस्वी जनों से वेश्या के समान उनसे माया हट जाती है इस कारण माया तरणार्थी पूर्वोक्त रूप से निरन्तर मेरी चिन्तना करें यह भगवान् का अभिप्राय है इस अभिप्राय में श्रुति स्मृतियाँ प्रमाण हैं ॥ १४ ॥

प्रश्न—यदि ऐसा है तो निखिल दुःखमूल माया नाश के लिए भगवान् आप के ही शरण में सब क्यों नहीं आते ?

उत्तर—अनन्तसंख्यक पापरूप प्रतिबन्धक से यह भगवान् कहते हैं—दुष्कृतशब्द पाप वाची है, नित्य योग में-इनि प्रत्यय है 'दुष्कृतिनः' सतत् पापिनः दुष्कृती अर्थात् नित्य पापी मनुष्यों में अधम जो साधुओं से सर्वथा निन्दनीय परलोक में हजारों दुःखों को भोगने वाले।

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन !।
आर्त्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरर्षभ! ॥ १६ ॥

और हे भरतवंशियों में श्रेष्ठ अर्जुन! उत्तम कर्मवाले अर्थार्थी, आर्त्त, जिज्ञासु, और ज्ञानी अर्थात् निष्कामी ऐसे चार प्रकारके भक्तजन मेरेको भजते हैं॥ १६ ॥

सहस्रभाजः कुतो दुष्कृतमनर्थहेतुमेव सदा कुर्वन्ति यतो मूढाः इदमर्थसाधनमिदमनर्थसाधनमिति विवेकशून्याः, सति प्रमाणे कुतो न विविंचन्ति यतो मायथाऽपहृतज्ञानाः शरीरेन्द्रियसङ्घाततादात्म्यभ्रान्तिरूपेण परिणतया मायया पूर्वोक्तयाऽपहृतं प्रतिबद्धं ज्ञानं विवेकसामर्थ्यं येषां ते तथा अतएव ते 'दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च' इत्यादिनाऽग्रे वक्ष्यमाणमासुरं भावं हिंसानृवादिस्वभावमाश्रिता मत्प्रतिपत्त्ययोग्याः सन्तो न मां सर्वेश्वरं प्रपद्यन्ते न भजन्ते अहो ! दौर्भाग्यं तेषामित्यभिप्रायः ॥ १५ ॥

म० टी०—ये त्वासुरभावरहिताः पुण्यकर्माणो विवेकिनस्ते पुण्यकर्मतारतम्येन चतुर्विधाः सन्तो मां भजन्ते क्रमेण च कामनाराहित्येन मत्प्रसादा-

प्रश्न—क्यों वे दुःख हेतु पाप ही सदा करते हैं?

उत्तर—मुधा यह सुख साधन है यह दुःख साधन है इस विवेक से शून्य मूर्ख हैं।

प्रश्न—प्रमाण रहने पर क्यों विवेक नहीं करते?

उत्तर—मायापहृत ज्ञान त्वगेन्द्रियसंघातरूप पिण्ड में आत्मतादात्म्य भ्रान्तिरूप से परिणत मायावश अपहृत है अर्थात् प्रतिबद्ध हैं विवेकसामर्थ्य जिनका वे. तथा मायोपहृतज्ञान एवं भूत वे 'दम्भो' दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च' इत्यादि आगे वक्ष्यमाण आसुरभाव हिंसा मिथ्या भाषणादि स्वभाव के आश्रित हो मेरे समझाने के योग्य नहीं अतः सर्वेश्वर मुझ को नहीं भजते यह उनका दौर्भाग्य है यह भगवान् का अभिप्राय है ॥ १५ ॥

जो आसुर भाव रहित पुण्य कर्माविवेकी हैं वे पुण्य के तारतम्य, से न्यूनाधिकभाव से चार प्रकार के हुए मुझको ही भजते हैं। क्रम से

न्मायां तरन्तीत्याह—**चतुर्विधा** इति। ये सुकृतिनः पूर्वजन्मकृतपुण्यसञ्चयाः जनाः सफलजन्मानस्त एव नाऽन्ये ते मां भजन्ते सेवन्ते। हे अर्जुन! ते च त्रयः सकामा एकोऽकाम इत्येवं चतुर्विधाः, के ते इत्यत आह—आर्त्तः आर्त्यां शत्रुव्याध्याद्यापदाग्रस्तस्तन्निवृत्तिमिच्छन् यथा मखभङ्गेन कुपत इन्द्रे वर्षति व्रजवासी जनः यथा वा जरासन्धकारागारवर्त्ती राजनिचयः द्यूतसभायां वस्त्रापकर्षणे द्रौपदी च ग्राहग्रस्तो गजेन्द्रश्च जिज्ञासुरात्मज्ञानार्थी मुमुक्षुः यथा मुचुकुन्दः, यथा वा मैथिलो जनकः श्रुतदेवश्च निवृत्ते मौसले, यथा चोद्धवः। अर्थार्थी इह वा परत्र वा यद्भोगोपकरणं तल्लिप्सुः तत्रेह यथा सुग्रीवो विभीषणश्च यथा चोपमन्युः परत्र यथा ध्रुवः एते त्रयोऽपि भगवद्भजनेन मायां तरन्ति। तत्र जिज्ञासुर्ज्ञानोत्पत्त्या साक्षादेव मायां तरति आर्त्तोऽर्थार्थी च जिज्ञासुत्वं प्राप्येति विशेषः। आर्त्तस्यार्थार्थिनश्च जिज्ञासुत्वसंभवाज्जिज्ञासो-

---

कामना शून्य होने से मेरे अनुग्रह से माया तरते हैं यह कहते हैं—जो पुण्यकारीजन पूर्वजन्मकृत पुण्यसंचयी जन है सफल जन्मा वे ही दूसरे नहीं मेरी सेवा करते हैं। हे अर्जुन! वे तीन सकाम हैं उनमें एक अकाम इस कारण चतुर्विध हैं जो अति शत्रुव्याघ्रादि हिंसक जन्तु निमित्तक विपत्तिसे ग्रस्त हैं वे विपत्ति की इच्छा करते हैं। उदाहरण—यज्ञभंग क्रुद्ध इन्द्र जब बरसने लगे तो व्रजवासी जन दुःखी होकर वृष्टिकी आपत्ति से बचने के लिए मेरा भजन किये, अथवा जैसे जरासन्ध के कारागार में रहने वाले राजसमूह द्यूतसभा में वस्त्र खींचने के समय में द्रौपदी और ग्राहग्रस्त गजेन्द्र वे आर्त्त के उदाहरण हैं। जिज्ञासु आत्मज्ञानेच्छावान् मुक्ति पाने का इच्छुक, उदाहरण यथा मुचुकुन्द; यथा वा मैथिली जनक श्रुतदेव मौसल के निवृत्त होनेपर जैसे उद्धव इत्यादि अर्थार्थी यह लोक या परलोक में भोगसाधन पाने की इच्छावान् उदाहरण—जैसे यह लोक के भोग साधना के अर्थी सुग्रीव विभीषण और विभीषण और उपमन्यु परलोक में भोग साधनार्थी ध्रुव ये तीनों भी भगवान् के भजनद्वारा माया तरते हैं उनमें जिज्ञासु ब्रह्मज्ञानार्थी तज्ज्ञानोत्पत्ति से साक्षात् ही मुझको जानता है। और अर्थार्थी जिज्ञा-

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥ १७ ॥

उनमें भी नित्य मेरेमें एकीभावसे स्थित हुआ अनन्यप्रेमभक्तिवाला ज्ञानी भक्त अति उत्तम है, क्योंकि मेरेको तत्त्वसे जाननेवाले ज्ञानीको मैं अत्यन्त प्रिय हूँ और वह ज्ञानी मेरेको अत्यन्त प्रिय है ॥ १७ ॥

श्चार्तत्वज्ञानोपकरणार्थार्थित्वसंभवादुभयोर्मध्ये जिज्ञासुरुद्दिष्टः । तदेते त्रयः सकामा व्याख्याताः, निष्कामश्चतुर्थ इदानीमुच्यते—ज्ञानि चेति । ज्ञानं भगवत्तत्त्वसाक्षात्कारस्तेन नित्ययुक्तो ज्ञानी तीर्णमायो निवृत्तसर्वकामः चकारो यस्य कस्यापि निष्कामप्रेमभक्तस्य ज्ञानिन्यन्तर्भावार्थः, हे भरतर्षभ ! त्वमपि जिज्ञासुर्वा ज्ञानीवेति कतमोऽहं भक्त इति मा शङ्किष्ठा इत्यर्थः । तत्र निष्कामभक्तो ज्ञानी यथा सनकादिर्यथा नारदो यथा प्रह्लादो यथा पृथुर्यथा वा शुकः निष्कामः शुद्धप्रेमभक्तो यथा गोपिकादिर्यथा वाऽक्रूरयुधिष्ठिरादिः । कंसशिशुपालदयस्तु भयाद्द्वेषाच्च सन्ततभगवच्चिन्तापरा अपि न भक्ताः भगवदनुरक्तेरभावात् भगवदनुरक्तिरूपायास्तु भक्तेः स्वरूपं साधनं भेदास्तथाऽभक्तानामपि भगवद्भक्तिरसायनेऽस्माभिः सविशेषं प्रपञ्चिता इतीहोपरम्यते ॥ १६ ॥

सुत्व प्राप्त कर अनन्तर जानता है यह विशेष है। आर्त्त और अर्थार्थी में जिज्ञासुत्व का सम्भव है। जिज्ञासु में आर्तत्वज्ञानोपकरणार्थित्वके संभवसे अर्थित्व का सम्भव है इसलिए दोनों के मध्य में जिज्ञासुत्व का निर्देश किया है ये तीनों सकाम हैं। चौथा निष्काम अब कहते हैं—ज्ञानि च से। ज्ञान भगवत्तत्त्व यथार्थप्रत्यक्ष उसका नित्य योगी ज्ञानी उत्तीर्ण और निवृत्ति सर्वकाम चकार निष्काम प्रेमभक्त जिस किसी का ज्ञानी में अन्तर्भाव के लिये हैं। हे भरतर्षभ ! तूँ भी जिज्ञासु वा ज्ञानी इनमें मैं कौन भक्त हूँ यह शङ्का मत करो इनमें निष्काम भक्तज्ञानी यथा सनकादिक यथा नारद प्रह्लाद यथा शुकदेव निष्काम शुद्ध प्रेम भक्त यथा गोपादि, यथा अक्रूर युधिष्ठिरादि। कंस शिशुपालादि भय और द्वेष से यद्यपि सतत भगवत चिन्तन पर थे तथापि वे भक्त नहीं कारण भगवान का अनुराग उनमें नही था भगवत्प्रेमरूपभक्ति का स्वरूप साधन और भेद तथा अभक्तों का भी भगवद्भक्तिरसायननामकग्रन्थ में मैंने विशेषरूप से कहा है इसलिए यहाँ समाप्त करते है ॥ १६ ॥

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम् ॥१८॥

यद्यपि यह सब ही उदार हैं, अर्थात् श्रद्धासहित मेरे भजनके लिये समय लगानेवाले होनेसे उत्तम हैं, परन्तु ज्ञानी तो साक्षात् मेरा स्वरूप ही है ऐसा मेरा मत है, क्योंकि वह स्थिरबुद्धि ज्ञानी भक्त अति उत्तम गतिस्वरूप मेरेमें ही अच्छी प्रकार स्थित है ॥ १८ ॥

म० टी०—('ननु न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः' इत्यनेन तद्विलक्षणाः सुकृतिनो मां भजन्त इत्यर्थात्प्राप्तेऽपि तेषां चातुर्विध्यं 'चतुर्विधा भजन्ते माम्' इत्यनेन दर्शिताः, ततस्ते सर्वे सुकृतिन एव निर्विशेषादिति चेत्तत्राह–) चतुर्विधानामपि सुकृतित्वे नियतेऽपि सुकृताधिक्येन निष्कामतया प्रेमाधिक्यात् ज्ञानी विशिष्यते इत्याह––तेषामिति। चतुर्विधानां तेषां मध्ये ज्ञानी तत्त्वज्ञानवान्निवृत्तसर्वकामः विशिष्यते सर्वतोऽतिरिच्यते सर्वोत्कृष्ट इत्यर्थः। यतो नित्ययुक्तः भगवति प्रत्यगभिन्ने सदा समाहितचेताः विक्षेपकाभावात् अत एवैकभक्तिः एकस्मिन्भगवत्येव भक्तिरनुक्तिर्यस्य स तथा तस्यानुरक्तिविषयान्तराभावात् । हि यस्मात् प्रियो निरुपाधिप्रेमास्पदमत्यर्थमत्यन्तातिशयेन ज्ञानिनोऽहं प्रत्यगभिन्नः परमात्मा च तस्मादत्यर्थं स मम परमेश्वरस्य प्रियः आत्मा प्रियोऽतिशेन भवतीति श्रुतिलोकयोः प्रसिद्धमेवेत्यर्थः ॥ १७ ॥

चार प्रकार के भक्तों में पुण्यशालित्व नियत होने पर भी सुकृताधिक्य से और निष्काम प्रेमाधिक्य से ज्ञानी विशिष्ट है यह कहते हैं तेषां से चार प्रकार के उक्त भक्तों में ज्ञानी तत्त्वज्ञानवान् निवृत्ति सर्वकाम विशिष्ट है अर्थात् सबसे अतिरिक्त है तथा सबसे उत्कृष्ट (विशिष्ट) क्योंकि स्वात्माऽभिन्न भगवान् में सदा समाहित चित्त रहता है अतएव विक्षेप नहीं होता इसी से एक भगवान् में भक्ति अनुरक्ति उसकी रहती है तब वह एक भक्ति कहाता है क्योंकि उसके अनुराग के विषय विषयान्तर नहीं हैं। 'हि' हेतु में है इसी से वह प्रिय अर्थात् निरुपाधि प्रेमास्पद अतएव अत्यन्त प्रत्यग् जीवाभिन्न परमात्मा ही मैं प्रिय हूँ ऐसा वह मुझ परमात्मा को अति प्रिय है आत्मा सब को अति प्रिय होता है यह लोक और वेद में प्रसिद्ध है ॥ १७ ॥

म० टी०—तत्किमार्त्तादयस्तव न प्रियाः, न अत्यर्थमिति विशेषणादित्याह—**उदारा** इति। एते आर्त्तादयः सकामा अपि मद्भक्ताः सर्वे त्रयोऽप्युदारा एव उत्कृष्टा एव पूर्वजन्मार्जितानेकसुकृतराशित्वात्, अन्यथा हि मां न भजेयुरेव आर्त्तस्य जिज्ञासोरर्थार्थिनश्च मद्विमुखस्य क्षुद्रदेवताभक्तस्यापि बहुलमुपलम्भात्, अतो मम प्रिया एव ते न हि ज्ञानवानज्ञो वा कश्चिदपि भक्तो ममाप्रियो भवति किंतु यस्य यादृशी प्रीतिरिति स्वभावसिद्धमेतत्। तत्र सकामानां त्रयाणां काम्यमानमपि प्रियः ज्ञानिनस्तु प्रियान्तरशून्यस्याहमेव निरतिशयप्रीतिविषयः अतः सोऽपि मम निरतिशयप्रीतिविषय इति विशेषः अन्यथा हि मम कृतज्ञता न स्यात् कृतघ्नता च स्यात्, अतएवात्यर्थमिति विशेषणमुपात्तं प्राक्। यथा हि 'यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति' इत्यत्र तरबर्थस्य विवक्षितत्वाद्विद्यादिव्यतिरेकेण कृतमपि कर्म वीर्यवद्भवत्येव तथात्यर्थंज्ञानी भक्तो मम प्रिय इत्युक्तेः, यो ज्ञानव्यति-

---

तब क्या आर्त्तादिक आप के प्रिय नहीं हैं, ऐसा नहीं अतिप्रिय नहीं हैं। ये आर्त्तादि सकाम भी मेरे भक्त हैं अतएव उदार उत्कृष्ट हैं क्योंक पूर्व पूर्व जन्मार्जित अनेक पुण्यव्रत इनमें हैं अन्यथा मेरा भजन ही नहीं करते क्योंकि आर्त्त जिज्ञासु अर्थार्थी ऐसे भी पाये जाते हैं जो मुझसे विमुख और क्षुद्र देवताओं के भक्त हैं अतः वे तीनों मेरे प्रिय हैं। ज्ञानवान् अथवा अज्ञ कोई भी भक्त मेरा अप्रिय नहीं होता किन्तु जिसकी जैसी मुझ में प्रीति है मेरी भी उसमें वैसी ही प्रीति है यह स्वभाव सिद्ध है उनमें सकाम तीनों को कामनाविषयीभूत पदार्थ प्रिय है और मैं भी प्रिय हूँ और ज्ञानी को दूसरा प्रिय है ही नहीं मैं ही अतिप्रिय हूँ अतः वह भी मेरा अतिप्रिय विषय है, यह उनकी अपेक्षा ज्ञानी में विशेष है अन्यथा मुझमें कृतज्ञता न होकर कृतघ्नता हो जायगी अतएव 'अत्यर्थम्' यह विशेषण पूर्व में कहा है। 'तथाहि यदेव विद्यया करोति श्रद्धया उपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरम् भवति' श्रुति है, यहाँ पर तरप् प्रत्यय का अर्थ अतिशय विवक्षित है अतः विद्या विना किया हुआ कर्म बलवान् होता है तथा अत्यर्थ ज्ञानी भक्त मेरा प्रिय है यह कहने से जो ज्ञान के विना भक्त है

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते ।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥ १९ ॥

और जो बहुत जन्मोंके अन्तके जन्ममें तत्त्वज्ञानको प्राप्त हुआ ज्ञानी सब कुछ वासुदेव ही है अर्थात् वासुदेवके सिवाय अन्य कुछ है ही नहीं, इस प्रकार मेरेको भजता है वह महात्मा अति दुर्लभ है ॥ १९ ॥

रेकेण भक्तः सोऽपि प्रिय इति पर्यवस्यत्येव अत्यर्थमिति विशेषणस्य विवक्षितत्वात् । उक्तं हि 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्' इति। अतो मात्मत्वेन ज्ञानवान् ज्ञानी आत्मैव न मत्तो भिन्नः किं त्वहमेव स इति मम मतं निश्चयः । 'तु' शब्दः सकामभेददर्शित्रितयापेक्षया निष्कामत्व-भेदादर्शित्वविशेषद्योतनार्थः । हि यस्मात्स ज्ञानी युक्तात्मा सदा मयि समाहितचित्तः सन् मां भगवन्तमानन्दघनमात्मानमेवानुत्तमां सर्वोत्कृष्टां गतिं गन्तव्यं परमं फलमास्थितः अङ्गीकृतवान् न तु मद्भिन्नं किमपि फलं स मन्यत इत्यर्थः ॥ १८ ॥

म० टी०—यस्मादेवं तस्मात् बहूनामिति बहूनां जन्मनां किञ्चित्किञ्चित्पुण्योपचयहेतूनामन्ते चरमे जन्मनि सर्वसुकृतविपाकरूपे वासुदेवः सर्वमिति ज्ञानवान् सन् मां निरुपाधिप्रेमास्पदं प्रपद्यते सर्वदा समस्तप्रेमविषय-

---

वह भी प्रिय है यह सिद्ध होता है। अत्यर्थ यह विशेषण विवक्षित है। कहा भी है—'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्' इति। अतः मुझको अपना आत्मा समझने वाला ज्ञानी मेरा आत्मा ही है मुझसे भिन्न नहीं किन्तु मैं ही वह हूँ यह मेरा निश्चय है। 'तु' शब्द जो सकामभेददर्शी तीनों हैं उनकी अपेक्षा निष्कामत्व अभेददर्शित्वरूप विशेष ज्ञानी में है एतत् सूचनार्थ है। हि हेतु में है यतः वह ज्ञानी है। युक्तात्मा सदा मेरे में समाहित होकर आनन्दघन अनन्त भगवान् अनुत्तम सर्वोत्कृष्ट परम गन्तव्यफल का अङ्गीकार किया है। मद्भिन्न मदतिरिक्त कोई भी फल वह नहीं मानता ॥१८॥

जिसलिये ऐसा है अतः अनेक जन्म थोड़े थोड़े पुण्यार्जन हेतु से अन्तजन्म में पूर्व जन्म के पुण्यों के समुदाय परिपाक होने पर वासुदेव सब है ईदृश ज्ञानवान् होकर निरुपाधि प्रेमविषय मुझको पाता है तदा समस्त प्रेमविषय मुझको

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः ।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया ॥ २० ॥

और हे अर्जुन ! जो विषयासक्त पुरुष हैं वे तो अपने भावसे प्रेरे हुए तथा उन उन भोगोंकी कामनाद्वारा ज्ञानसे भ्रष्ट हुए उस उस नियमको धारणकरके, अर्थात् जिस देवताकी पूजाके लिये जो जो नियम लोकमें प्रसिद्ध है उस उस नियमको धारणकरके अन्य देवताओंको भजते हैं, अर्थात् पूजते हैं ॥ २० ॥

त्वेन भजते सकलमिदमहं च वासुदेव इति दृष्ट्या सर्वप्रेम्णां मय्येव पर्यवसायित्वात्, अतः स एवं ज्ञानपूर्वकमद्भक्तिमान् महात्मात्यन्तशुद्धान्तःकरणत्वाज्जीवन्मुक्तः सर्वोत्कृष्टो न तत्समोऽन्योऽस्ति अधिकस्तु नास्त्येव अतः स दुर्लभः मनुष्याणां सहस्रेषु दुःखेनापि लब्धुमशक्यः अतः स निरतिशयमत्प्रीतिविषय इति युक्तमेवेत्यर्थः ॥ १९ ॥

म० टी०—तदेवमार्त्तादिभक्तत्रयापेक्षया ज्ञानिनो भक्तस्योत्कर्षः 'तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते' इत्यत्र प्रतिज्ञातो व्याख्यातः। अधुना तु सकामत्वे भेददर्शित्वे च समेऽपि देवतान्तरभक्तापेक्षयाऽऽर्त्तादीनां त्रयाणां स्वभक्तानामुत्कर्षः। 'उदाराः सर्व एवैते' इत्यत्र प्रतिज्ञातो भगवता व्याख्यायते यावदध्यायसमाप्ति। समानेऽप्यायासे सकामत्वे भेददर्शित्वे च मद्भक्ता

भजता है; सकल यह दृश्य और मैं वासुदेव हूँ इस बुद्धि से सब प्रेम मुझमें ही समाप्त होता है, अतः वही ज्ञानपूर्वक मेरा भक्त है। भक्तिमान् और महात्मा शुद्धान्तःकरण होने से जीवन्मुक्त सर्वोत्तम है उसके समान दूसरा अधिक तो नहीं ही है अतः हजारों मनुष्यों में वह दुर्लभ है अतः वह अत्यन्त मेरे प्रीति का विषय है, यह ठीक ही है यह अर्थ है ॥१९॥

इस प्रकार आर्त्तादि भक्तत्रय की अपेक्षा ज्ञानी भक्त का उत्कर्ष 'तेषां ज्ञानी नित्ययुक्तः' इत्यादि से प्रतिज्ञात व्याख्यात हुआ, अब सकाम से भेददर्शी तुल्य होने पर दूसरे देवताओं के भक्तों की अपेक्षा आर्त्तादित्रय स्वभक्तों का उत्कर्ष 'उदाराः सर्व एवैते' यहाँ प्रतिज्ञात को भगवान् व्याख्या करते हैं यावत् आध्याय समाप्ति। परिश्रम बराबर होने पर भी तथा सकामत्व भेददर्शित्व के

भूमिकाक्रमेण सर्वोत्कृष्टं मोक्षाख्यं फलं लभन्ते क्षुद्रदेवताभक्तास्तु क्षुद्रमेव पुनः पुनः संसरणरूपं फलम् अतः सर्वेऽप्यार्त्ता जिज्ञासवोऽर्थार्थिनश्च मामेव प्रपन्नाः सन्तोऽनायासेन सर्वोत्कृष्टं मोक्षाख्यं फलं लभन्तामित्यभिप्रायः। परमकारुणिकस्य भगवतः तत्र परमपुरुषार्थफलमपि भगवद्भजनमुपेक्ष्य क्षुद्रफले क्षुद्रदेवताभजने पूर्ववासनाविशेष एव साधारणो हेतुरित्याह—कामैरिति। मोहनस्तम्भनाकर्षवशीकरणमारणोच्चाटनादिविषयै भगवत्सेवया लब्धुमशक्यत्वेनाभिमतैस्तैस्तैः क्षुद्रैः कामैरभिलापैर्हृतमवहृतं भगवतो वासुदेवाद्विमुखीकृत्य तत्तत्फलदातृत्वाभिमतक्षुद्रदेवताभिमुख्यं नीतं ज्ञानमन्तःकरणं येषां तेऽन्यदेवताः भगवतो वासुदेवादन्याः क्षुद्रदेवताः तं तं नियमं जपोपवासप्रदक्षिणानमस्कारादिरूपं तत्तद्देवताराधने प्रसिद्धं नियममास्थायाश्रित्य प्रपद्यन्ते भजन्ते तत्तत्क्षुद्रफलप्राप्तीच्छया क्षुद्रदेवतामध्येऽपि केचित्कांचिदेव भजन्ते स्वया प्रकृत्या नियताः असाधारणया पूर्वाभ्यासवासनया वशीकृताः सन्तः ॥ २० ॥

तुल्य होने पर भी मेरे भक्त भूमिका क्रम से सर्वोत्कृष्ट सर्वोत्तम मुक्ति फल लाभ करते हैं, क्षुद्र देवताभक्त तो क्षुद्ररूप ही पुनः पुनः जन्ममरणरूप फल पाते हैं अतः सब आर्त्तजिज्ञासु और अर्थार्थी मेरा ही भजन कर अनायास से सर्वोत्तम मोक्षफल लाभ करते हैं यह अभिप्राय परम दयालु भगवान् का है। उनमें परम पुरुषार्थफल भी भगवान् के भजन की उपेक्षा कर क्षुद्रफल क्षुद्रदेवता भजन में पूर्वजन्म की वासनाविशेष असाधारण कारण है यह कहते हैं, मोहन, स्तम्भन, आकर्षण, वशीकरण, मारण, उच्चाटनादि विषयों से भगवत् सेवा में जो कि तन्त्रशास्त्रों में प्रसिद्ध हैं वे फल भगवान् की आराधना से लाभ के योग्य नहीं हैं उन उन अभिमत (इष्ट) स्वल्प काम से अपहृत हैं अर्थात् भगवान् वासुदेव से विमुख कर तत्तत्फलदायित्व से अभिमत क्षुद्रदेवता के सम्मुख प्राप्त है अन्तःकरण जिनका वे अन्य देवता भगवान् वासुदेव से अन्य जो क्षुद्र देवता हैं उसमें नियम जप उपवास प्रदक्षिणा नमस्कारादिरूप तत्तद् देवता के आराधन में प्रसिद्ध नियम का आश्रय लेकर भजन करते हैं तत्तत्क्षुद्रफल प्राप्ति इच्छा से क्षुद्र देवताओं के मध्य में कोई किसी देवता का पूर्वजन्म अभ्यास वासना असाधारण से नियत अपनी प्रकृति से वशीकृत हो कर भजन करता है ॥२०॥

योयो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति ।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ॥ २१ ॥

जो जो सकामी भक्त जिस देवताके स्वरूपको श्रद्धासे पूजना चाहता है, उस उस भक्तकी मैं उस ही देवताके प्रति श्रद्धाको स्थिर करता हूँ ॥ २१ ॥

म० टी०—तत्तद्देवताप्रसादात्तेषामपि सर्वेश्वरे भगवति वासुदेवे भक्तिर्भविष्यतीति न शङ्कनीयं यतः—**यो यो यां यामिति**। येषां मध्ये यो यः कामी यां यां तनुं देवतामूर्तिं श्रद्धया जन्मान्तरवासनाबलप्रादुर्भूतया भक्त्या समर्चितुम् अर्चयितुमिच्छति प्रवर्तते चौरादिकस्यार्चयतेर्णिजभावपक्षे रूपमिदम्, तस्य तस्य कामिनस्तामेव देवतातनुं प्रति श्रद्धां पूर्ववासनावशात् प्राप्तां भक्तिमचलां स्थिरां विदधामि करोम्यहमन्तर्यामी न तु मद्विषयां श्रद्धां तस्य तस्य करोमीत्यर्थः। 'तामेव श्रद्धाम्' इति व्याख्याने यच्छब्दानन्वयः स्पष्टस्तस्मात्प्राप्तिशब्दमध्याहृत्य व्याख्यातम् ॥ २१ ॥

प्रश्न—तत्तद् देवताओं के प्रसाद से उन क्षुद्रदेवता भक्तों की भी सर्वेश्वर भगवान् वासुदेव में भक्ति होगी यह शंका ठीक नहीं क्योंकि—उनके मध्य में जो जो कामनावान् जिस जिस देवतामूर्ति का जन्मान्तर वासनावश प्राप्त श्रद्धा भक्तिसंयुक्त होकर आराधना करने की इच्छा करता है अर्थात् आराधना में प्रवृत्त होता है। 'अर्च' पूजायाम् यह चुरादि धातु है अतः तुमुन् प्रत्यय करने पर 'अर्चयितुम्' यह रूप होता है 'अर्चितुम्' यह रूप ठीक नहीं इस आक्षेप की निवृत्ति के लिए समाधान देते हैं कि जिस पक्ष में णिच् नहीं होता उस पक्ष में 'अर्चितुम्' यह रूप साधु है, उस उस कामनावान् उसी देवता शरीर के प्रति पूर्ववासनावश प्राप्त श्रद्धा भक्ति को अचल स्थिर करता हूँ क्योंकि मैं अन्तर्यामी हूँ अतः स्वविषयक श्रद्धा उनमें नहीं करता हूँ यह अर्थ है। 'तामेव श्रद्धाम्' अर्थात् उसी श्रद्धा का व्याख्यान करने पर यच्छब्द का अन्वयाभाव स्पष्ट है अतः प्रति-शब्द पूर्व वासनावशात् 'प्राप्तां तां' यह अध्याहार करके व्याख्यान किया है ॥२१॥

स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते ।
लभते च ततः कामान् मयैव विहितान् हि तान् ॥२२॥
अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम् ।
देवान् देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि ॥२३॥

तथा वह पुरुष उस श्रद्धासे युक्त हुआ, उस देवताके पूजनकी चेष्टा करता है और उस देवता से मेरेद्वारा ही विधान किये हुए उन इच्छित भोगोंको निःसन्देह प्राप्त होता है ॥ २२ ॥

परन्तु उन अल्पबुद्धिवालोंका वह फल नाशवान् है तथा वे देवताओंको पूजनेवाले देवताओंको प्राप्त होते हैं और मेरे भक्त चाहे जैसे ही भजें शेपमें वे मेरेको ही प्राप्त होते हैं ॥ २३ ॥

म० टी०—स कामी तया मद्विहितया स्थिरया श्रद्धया युक्तस्तस्याः देवतातन्वा राधनं पूजनमीहिते निर्वर्तयति। उपसर्गरहितोऽपि राधयतिः पूजार्थः, सोपसर्गत्वे ह्याकारः श्रूयेत, लभते च ततस्तस्याः देवतातन्वाः सकाशात् कामानीप्सितान् तान् पूर्वसङ्कल्पितान् । हि प्रसिद्धे । मयैव सर्वज्ञेन सर्वकर्मफलदायिना तत्तद्देवतान्तर्यामिणा विहितान् तत्तत्फलविपाकसमये निर्मितान् हितान्मनः प्रियानित्यैकपद्यं वा अहितत्वेऽपि हिततया प्रतीयमानानित्यर्थः ॥ २२ ॥

वह कामी स्थिर विहित श्रद्धा से युक्त हो उस देवता शरीर का पूजन करता है। आङ् उपसर्ग रहित भी 'राध्' धातु पूजार्थक है, यदि आङ् उपसर्ग होता तो उसका श्रवण हो जाता, श्रुत है नहीं इसलिए उपसर्ग रहित 'राध्' धातु का यहाँ प्रयोग है उसी देवता शरीर में इष्टकाम जो पूर्व संकल्पित है। 'हि' प्रसिद्धार्थक है। सर्वज्ञ सर्वकर्मफलदायी तत्तद् देवता अन्तर्यामी मुझसे तत्तत् कर्मफल परिपाक समय में निर्मित (सम्पादित) कामों को प्राप्त करता है अथवा 'हितान्' यह एक पद है इस पक्ष में हितान् का अर्थ मनःप्रिय है। वस्तुतः अहित होने पर भी हितत्वेन भ्रान्ति से प्रतीयमान यह भी अर्थ होता है ॥२२॥

म० टी०—यद्यपि सर्वा अपि देवताः सर्वात्मनो ममैव तनवस्तदाराधनमपि वस्तुतो मदाराधनमेव सर्वत्राऽपि च फलदातान्तर्याम्यहमेव, तथापि साक्षान्मद्भक्तानां च तेषां च वस्तुविवेकाविवेककृतं फलवैषम्यं भवतीत्याह—'अन्तवत्त्विति'। अल्पमेधसां मन्दप्रज्ञत्वेन वस्तुविवेकासमर्थानां तेषां तत्तद्देवताभक्तानां तन्मया विहितमपि तत्तद्देवताराधनजं फलम् अन्तवदेव विनाश्येव न तु मद्भक्तानां विवेकिनामिवानन्तं फलं तेषामित्यर्थः। कुत एवम्? यतो देवानिन्द्रादीनन्तवन्त एव देवयजो मदन्यदेवताराधनपरा यान्ति प्राप्नुवन्ति, मद्भक्तास्तु त्रयः सकामाः प्रथमं मत्प्रसादादभीष्टान् कामान्प्राप्नुवन्ति। अपिशब्दप्रयोगात् ततो मदुपासनापरिपाकान्मामनन्तमानन्दघनमीश्वरमपि यान्ति प्राप्नुवन्ति, अतः समानेऽपि सकामत्वे मद्भक्तानामन्यदेवताभक्तानां च महदन्तरं तस्मात्साधूक्तम् 'उदाराः सर्व एवैत' इति ॥ २३ ॥

प्रश्न—यद्यपि सब देवतायें सर्वात्मा मेरा ही शरीर है अतः उन शरीरों का आराधन वस्तुतः मेरा ही आराधन है क्योंकि सब जगह अन्तर्यामी होने से मैं ही फलदाता हूँ ?

उत्तर—तथापि साक्षात् मेरे भक्तों में और उनमें क्षुद्र देवता भक्तों में विवेकाविवेककृत फलवैषम्य होता ही है, अल्पबुद्धियों में बुद्धि शैथिल्य से वस्तुविवेकों में असमर्थ उन तत्तद् देवता भक्तों का मद्विहित भी तत्तद् देवताराधन फल अन्तवान् विनाशी होता है. विवेकी मेरे भक्तों के समान उनका फल अविनाशी नहीं होता है।

प्रश्न—क्यों ऐसा होता है ?

उत्तर—यतः इन्द्रादि देवता अन्तवान् ही हैं. देवताओं के यज्ञ करने वाले मदन्य देवता के आराधन में तत्पर विनाशी फल पाते हैं सकाम तीनों मेरे भक्त प्रथम मेरे अनुग्रह से अभीष्ट फल पाते हैं। 'अपि' शब्द प्रयोग से मेरी उपासाना के परिपाक से अनन्त आनन्दघन ईश्वर को भी पाते हैं अतः सकामत्व होने पर भी अन्य देवताभक्तों से मेरे भक्तों में बड़ा भेद है तस्मात् ठीक कहा 'उदाराः सर्व एवैत' इति ॥ २३ ॥

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः ।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ॥ २४ ॥

ऐसा होनेपर भी सब मनुष्य मेरा भजन नहीं करते इसका कारण यह है, कि बुद्धिहीन पुरुष मेरे अनुत्तम अर्थात् जिससे उत्तम और कुछ भी नहीं ऐसे अविनाशी परम भावको, अर्थात् अजन्मा अविनाशी हुआ भी अपनी मायासे प्रकट होता हूँ, ऐसे प्रभावको तत्त्वसे न जानते हुए मन, इन्द्रियोंसे परे मुझ सच्चिदानन्दघन परमात्माको मनुष्यकी भांति जन्म-कर, व्यक्तिभावको प्राप्त हुआ मानते हैं ॥ २४ ॥

म० टी०—एवं भगवद्भजनस्य सर्वोत्तमफलत्वेऽपि कथं प्रायेण प्राणिनो भगवद्विमुखा इत्यत्र हेतुमाह भगवान्—अव्यक्तमिति । अव्यक्तं देहग्रहणात् प्राक् कार्याक्षमत्वेन स्थितमिदानीं वसुदेवगृहे व्यक्तिं भौतिकदेहावच्छेदेन कार्यक्षमतां प्राप्तं कंचिज्जीवमेव मन्यन्ते मामीश्वरमप्यबुद्धयो विवेकशून्याः अव्यक्तं सर्वकारणमपि मां व्यक्तिं कार्यरूपतां मत्स्यकूर्माद्यनेकावताररूपेण प्राप्तमिति वा । कथं ते जीवास्त्वां न विविञ्चन्ति तत्राबुद्धय इत्युक्तं हेतुं विवृणोति—परं सर्वकारणरूपमव्ययं नित्यं मम भावं स्वरूपं सोपाधिकमजानन्तस्तथा निरुपाधिकमप्यनुत्तमं सर्वोत्कृष्टमनतिशयाद्वितीयपरमानन्दघनमनन्तं मम स्वरूपमजानन्तो जीवानुकारिकार्यदर्शनाज्जीवमेव कंचिन्मां

इस प्रकार भगवद् विमुख भजन सर्वोत्तम फल होने पर भी क्यों प्रायः प्राणी भगवत् विमुख होते हैं इसमें भगवान् कारण कहते हैं—अव्यक्त से । प्रथम अर्थात् देह धारण से पहले कार्य करने में असमर्थ रूप से स्थित इस समय वासुदेव गृह में भौतिक शरीररूप से कार्यक्षमताप्राप्त व्यक्त जीवविशेष ही मुझको मानते हैं जो अबुद्धि विवेकशून्य हैं अथवा अव्यक्त सबका कारणभूत मुझको व्यक्ति कार्यरूपता मत्स्य कूर्मादि अनेक अवताररूप से प्राप्त यह भी अर्थ है। क्यों वे जीव अपना विवेचन नहीं करते इसका उत्तर 'अबुद्धयः' से दिया, इसमें हेतु का विवरण करते हैं—पर सर्वकारणरूप अव्यय, अविनाशी, नित्य, मद्भावरूप सोपाधिक अनन्त तथा निरुपाधिक सर्वोत्कृष्ट अद्वितीय परमानन्दघन अनन्त मेरे स्वरूप को नहीं जानते किन्तु जीव कार्य के समान कार्य करने से कोई जीव

नाऽहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः ।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ॥२५॥

तथा अपनी योगमायासे छिपा हुआ मैं सबके प्रत्यक्ष नहीं होता हूँ, इसलिये यह अज्ञानी मनुष्य मुझ जन्मरहित, अविनाशी परमात्माको तत्त्वसे नहीं जानता है, अर्थात् मेरेको जन्मने, माननेवाला समझता है ॥ २५ ॥

मन्यते ततो मामनीश्वरत्वेनाभिमतं विहाय प्रसिद्धं देवतान्तरमेव भजन्ते ततश्चान्तवदेव फलं प्राप्नुवन्तीत्यर्थः । अग्रे च वक्ष्यते—'अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रित' इति ॥ २४ ॥

म० टी०—ननु जन्मकालेऽपि सर्वयोगिध्येयं श्रीवैकुण्ठस्थमैश्वरमेव रूपमाविर्भावितवति संप्रति च श्रीवत्सकौस्तुभवनमालाकिरीटकुण्डलादिदिव्योपकरणशालिनि कम्बुकमलकौमोदकीचक्रवरधारिचतुर्भुजे श्रीमद्वैनतेयवाहने

विशेष ही मुझको मानते हैं इस कारण ईश्वरत्वेन इष्ट मुझको छोड़ दूसरे देवता का ही भजन करते हैं उससे अविनाशी ही फल पाते हैं यह अर्थ है । आगे कहेंगे—'अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्' ॥ २४ ॥

प्रश्न—जन्म समय में ही आपने सकल योगीजन ध्येय श्री वैकुण्ठस्थ परमेश्वरस्वरूप को दिखलाया था और वर्तमान समय में भी सकल मनुष्य जीव विलक्षण दिव्य भूषणादिभूषित दिव्य देहधारी आपमें मनुष्यबुद्धि जीवबुद्धि अविवेकी पुरुष की कैसे हो सकती है यह अर्जुन को शङ्का है—'तमद्भुतं वालकमम्बुजेक्षणम्' इत्यादि श्रीमद्भागवत में वर्णित जन्मकालिक स्वरूप श्रीवैकुण्ठस्थ परमेश्वरस्वरूप है प्राकृतिक मनुष्यस्वरूप नहीं जिससे मनुष्यादि शङ्का हो। यदि उस रूप को देवकी वसुदेवादि ने ही देखा है सब नहीं अतः जिन लोगों ने वह रूप नहीं देखा है उनको उक्त शङ्का हो सकती है इसलिए कहते हैं कि वर्तमान आपका जो स्वरूप हम देख रहे हैं वह मनुष्यादि का नहीं हो सकता किन्तु परमेश्वर का है, मैं कैसा रूप देख रहा हूँ उसका निर्देश करते हैं श्रीवत्सकुक्षिस्थ भृगुचिह्न कौस्तुभमणिविशेष जो भगवान् वासुदेव ही धारण करते हैं दूसरे के पास है ही नहीं, वनमाला, कुण्डल, किरीटादि दिव्यभूषणधारी यह इतर व्यावृत्त चिह्न है तथा कम्बु (शंख) कमल (पद्म) कौमोदकी (गदा) चक्रवर

निखिलसुरलोकसम्पादितराजराजेश्वराभिषेकादिमहावैभवे सर्वसुरासुरजेतरि विविधदिव्यलीलाविलासशीले सर्वावतारशिरोमणौ साक्षाद्वैकुण्ठनायके निखिललोकदुःखविस्ताराय भुवमवतीर्णे विरश्चिप्रपञ्चासंभवि निरतिशयसौन्दर्यसारसर्वस्वमूर्तौ बाललीलाविमोहितविधातरि तरणिकिरणोज्ज्वलदिव्यपीताम्बरे निरुपमश्यामसुन्दरे करदीकृतपारिजातार्थपराजितपुरन्दरे बाणयुद्धविजितशशाङ्कशेखरे समस्तसुरासुरविजयी नरकप्रभृतिमहादैतेयप्रकरप्राणपर्यन्त सर्वस्वहारिणि श्रीदामादिरपरमरङ्कमहावैभवकारिणि षोडशसहस्रदिव्यरूपधारिण्यपरिमेयगुणगरिमणि महामहिमनि नारदमार्कण्डयादिमहामुनिगणस्तुते त्वयि कथमविवेकिनोऽपि मनुष्यबुद्धिर्जीवबुद्धिर्वेत्यर्जुनाशङ्कामपनिनीपुराह भगवान्—**नाऽहमिति।** अहं सर्वस्य लोकस्य न प्रकाशः स्वेन रूपेण प्रकटो न

सुदर्शनादि चतुर्भुजधारी विनता (गरुड़माता तत्पुत्र) वैनतेय (गरुड़) आपके वाहन हैं। सम्पूर्ण सुरगण विरचित राजराजेश्वराभिषेकजन्य महावैभव सर्वदेवविरोधिदानवों के विनाश करने से सन्तुष्ट देवता ने सहर्ष आपका प्रधानरूप से अभिषेक किया है तद्द्वारा महावैभव आपमें ही है अन्य में नहीं अखिल देवदानव के विजयी अनेक प्रकार दिव्य लीला निलय सब अवतारों में शिरोमणि सर्वश्रेष्ठ साक्षात् वैकुण्ठ नायक सकल संसारानर्थ निवारणार्थ वसुधातलाऽवतीर्ण विरञ्चि (ब्रह्मा) तन्निर्मित तव सम्भव जो निरुपम सौन्दर्य तत्सारभूत द्युति तद्विशिष्ट मूर्तिस्वरूप बाललीला (कौमारक्रीड़ा) से ब्रह्मा के भी मोहक तरणि सूर्य तत किरण रश्मि उज्वल अवदात पीताम्बरधारी अतुल श्यामल सुन्दर, करराज ग्राह्यभाग उसको देने वाला करद कहाता है, जो प्रथम कर नहीं देता है स्वतन्त्र ही पीछे पराजित होने पर कर देता है वह करदीकृत कहाता है। रुक्मिणी के प्रसादार्थ इन्द्र को पराजित कर नन्दनवन से पारिजात लाकर श्रीकृष्णजी ने उनके आँगन में रोपदिया यह पौराणिक कथा है। पारिजातार्थ इन्द्र को पराजित करने वाले बाणासुर के संग्राम में बाण सहायतार्थ आगत रुद्र विजयी सकल सुरासुर के विजयी नरकादि महा असुर के प्राणपर्यन्त सर्वस्व हरणकारी, सुदामा के सदृश परमदरिद्र को अतिविभवकारी, सोलह हजार दिव्यरूपधारी अपरिमेय गुणगरिम महामहिमशाली आप में नारद मारकण्डेयादि महामुनिगणों से स्तुत आप में अविवेकियों की भी मनुष्यबुद्धि वा जीवबुद्धि कैसे हो सकती है, इस अर्जुन की शङ्का के निराकरण करने की इच्छा से भगवान कहते

वेदाऽहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन! ।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन ॥ २६ ॥

और हे अर्जुन! पूर्वमें व्यतीत हुए और वर्तमानमें स्थित तथा आगे होनेवाले सब भूतोंको मैं जानता हूँ, परन्तु मेरेको कोई भी श्रद्धा भक्तिरहित पुरुष नहीं जानता है ॥ २६ ॥

भवामि किंतु केषांचिन्मद्भक्तानामेव प्रकटो भवामीत्यभिप्रायः। कथं सर्वस्य लोकस्य न प्रकट इत्यत्र हेतुमाह--**योगमायासमावृत** इति। योगो मम सङ्कल्पस्तद्वशवर्तिनी माया योगमाया तयाऽयमभक्तो जनो मां स्वरूपेण न जानाति सङ्कल्पानुविधायिन्या मायया सम्यगनावृत्तः, सत्यपि ज्ञानकारणे ज्ञानविपयत्वायोग्यः कृतः, अतो यदुक्तम्—'परं भावमजानन्त' इति। तत्र मम सङ्कल्प एव कारणमित्युक्तं भवति अतो मम मायया मूढ आवृतज्ञानः सन्नयं चतुर्विधभक्तविलक्षणो लोकः सत्यपि ज्ञानकारणे मामजमव्ययमनाद्यनन्तं परमेश्वरं नाऽभिजानाति किंतु विपरीतदृष्ट्या मनुष्यमेव कंचिन्मन्यत इत्यर्थः। विद्यमानं वस्तुस्वरूपमावृणोत्यविद्यमानं च किञ्चिद्दर्शयतीति लौकिकमायायामपि प्रसिद्धमेतत् ॥ २५ ॥

हैं—मैं सब लोक को उक्त रूप से स्पष्ट नहीं दिखाई देता हूँ किसी किसी भक्त को ही प्रकट होता हूँ यह अभिप्राय है।

प्रश्न—क्यों सब लोगों को प्रकट नहीं है? इसमें हेतु कहते हैं—'योगमायासमावृत' इत्यादि। योग यहाँ भगवान का संकल्प है तद्वशीभूत माया यह मेरा भक्त है वास्तविकस्वरूप से मुझको जाने। एतत्सङ्कल्पानुसारि माया से विहित छिपा रहता हूँ, ज्ञान कारण रहने पर भी त्राणायोग्य बना रहता हूँ अतः 'परं भावमजानन्तः' यह जो कहा उसमें मेरा संकल्प कारण है मेरी तिरोहित-ज्ञान मूढ़जन उक्त चतुर्विध भक्त विलक्षण लोग ज्ञान कारण रहने पर अज अव्यय अनादि अनन्त परमेश्वर मुझको नहीं जानता किन्तु भ्रान्ति से कोई मनुष्य ही मानता है यह अर्थ है। विद्यमानरूप को छिपाकर अविद्यमान कुछ स्वरूप दिखलाना यह लौकिक माया से प्रसिद्ध है ॥२५॥

इच्छाद्वेषमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत!।
सर्वभूतानि संमोहं सर्गे यान्ति परंतप! ॥ २७ ॥

क्योंकि, हे भरतवंशी अर्जुन! संसारमें इच्छा और द्वेषसे उत्पन्न हुए सुखःदुखादि द्वन्दरूप मोहसे संपूर्ण प्राणी अति अज्ञानताको प्राप्त हो रहे हैं ॥ २७ ॥

म० टी०—अतो मायया स्वाधीनया सर्वव्यामोहकत्वात्स्वयमप्रतिबद्धज्ञानत्वात् वेदाऽहमिति अहम् अप्रतिबद्धसर्वविज्ञानः मायया सर्वांल्लोकान् मोहयन्नपि समतीतानि चिरविनष्टानि वर्तमानानि च भविष्याणि च एवं कालत्रयवर्तीनि भूतानि स्थावरजङ्गमानि सर्वाणि वेद जानामि हे अर्जुन! अतोऽहं सर्वज्ञः परमेश्वर इत्यत्र नास्ति संशय इत्यर्थः। मां तु तुशब्दो ज्ञानप्रतिबन्धद्योतनार्थः, मां सर्वदर्शिनमपि मायाविनमिव मन्मायामोहितः कश्चन कोऽपि मदनुग्रहभाजनं मद्भक्तं विना न वेद मन्मायामोहितत्वात् अतो मत्तत्त्ववेदनाभावादेव प्रायेण प्राणिनो मां न भजन्त इत्यभिप्रायः ॥ २६ ॥

म० टी०—योगमायां भगवत्तत्त्वविज्ञानप्रतिबन्धे हेतुमुक्त्वा देहेन्द्रियसंघाताभिमानातिशयपूर्वकं भोगाभिनिवेशं हेत्वन्तरमाह—इच्छाद्वेष इति। इच्छाद्वेषाभ्यामनुकूलविषयाभ्यां समुत्थितेन शीतोष्णसुखदुःखादिद्वन्द्वनिमित्तेन

इस कारण से स्वाधीन माया से मैं सबका मोहक तथा अप्रतिबद्धज्ञान होने से सबको मुग्ध करता हुआ चिरनष्ट वर्तमान तथा भविष्य सब चराचर भूतों को जानता हूँ, हे अर्जुन! इसी से मैं सर्वज्ञ परमेश्वर हूँ इसमें संशय नहीं है। 'तु' शब्द ज्ञानप्रतिबन्धक के द्योतनार्थ है। मायावी के समान सब के दर्शस्वरूप भी मुझको मेरी माया से मोहित होने से मत्कृपापात्र मेरे भक्त के विना कोई नहीं जानता, कारण मायाकृत मोह है अतः मेरे यथार्थस्वरूप को न जानकर ही प्रायः प्राणी मेरा भजन नहीं करते यह अभिप्राय है ॥२६॥

भगवत्तत्व ज्ञानोत्पत्ति में प्रतिबन्ध कारण योगमाया कह कर कारणान्तर कहते हैं—देहेन्द्रियादि संघात जीव शरीर में आत्माभिमानातिशयपूर्वक भोग में आसक्ति भी उक्त ज्ञान में प्रतिबन्धक है अनुकूलविषयक इच्छा और प्रतिकूलविषयक द्वेष लोकप्रसिद्ध है। इच्छा द्वेष से समुत्पन्न शीतोष्णादिद्वन्द्वहेतुक मोह

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम् ।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः ॥ २८ ॥

परन्तु निष्कामभावसे श्रेष्ठ कर्मोंका आचरण करनेवाले जिन पुरुषोंका पाप नष्ट हो गया है, वे रागद्वेषादि द्वन्द्वरूप मोहसे मुक्त हुए और दृढ़ निश्चयवाले पुरुष मेरेको सब प्रकार से भजते हैं॥ २८॥

मोहेन 'अहं दुःखीत्यादिविपर्ययेण सर्वाण्यपि भूतानि संमोहं विवेकायोग्यत्वं सर्गे स्थूलदेहोत्पत्तौ सत्यां यान्ति हे भारत ! हे परंतप! इति संबोधनद्वयस्य कुलमहिम्ना स्वरूपशक्त्या च त्वां द्वन्द्वमोहाख्यः शत्रुर्नाभिभवितुमलमिति भावः। नहीच्छाद्वेषरहितं किञ्चिदपि भूतमस्ति, न च ताभ्यामाविष्टस्य बहिर्विषयमपि ज्ञानं संभवति किं पुनरात्मविषयम् ; अतो रागद्वेषव्याकुलान्तःकरणत्वात्सर्वाण्यपि भूतानि मां परमेश्वरमात्मभूतं न जानन्ति अतो न भजन्ते भजनीयमपि ॥ २७ ॥

म० टी०—यदि सर्वभूतानि संमोहं यान्ति कथं तर्हि 'चतुर्विधाः भजन्ते माम्' इत्युक्तम्, सत्यं सुकृताऽतिशयेन तेषां क्षीणपापत्वादित्याह—येषामिति ।

से मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ इस मिथ्याज्ञान से सब भूत संमोह विवेक योग्यत्वाभाव सर्ग स्थूल देहोत्पत्ति तत्समय में ही मुग्ध हो जाते हैं। वस्तुतः आत्मा में सुख दुःखादि धर्म नहीं है किन्तु मनोवृत्ति है, परन्तु स्थूल शरीरोत्पत्ति समय में ही तादात्म्याध्यास हेतुक उक्त विपर्यय से मुग्ध होते हैं। हे भारत ! हे परन्तप ! इन दोनों सम्बोधनों से क्रमशः कुलप्रभाव से और स्वगतशक्ति से सुखद्वन्द्वादि (द्वन्द्व) शत्रु तुम्हारा पराजय नहीं कर सकता। संसार में कोई भी भूत इच्छा द्वेष रहित नहीं है और इच्छा द्वेषाकुलचित्त को बाह्यविषयक ज्ञान भी नहीं होता आत्मविषयक ज्ञान तो दूर रहा अतः रागद्वेषविकल कारण होने से सर्वभूत परमेश्वर आत्मस्वरूप मुझको नहीं जानते अतएव भजनीय का भजन नहीं करते ॥२७॥

यदि सब भूत सम्मोह को प्राप्त होते हैं तो यह कैसे हो सकता है कि चार प्रकार के भक्त मेरा भजन करते हैं आपने यह कहा सो ठीक कहा है—

येषां तु इतरलोकविलक्षणानां जनानां सफलजन्मनां पुण्यकर्मणामनेकजन्मसु पुण्याचरणशीलानां तैस्तैः कर्मभिर्ज्ञानप्रतिबन्धकं पापमन्तगतम् अन्तमवसानं प्राप्तं ते पापाभावेन तन्निमित्तेन द्वन्द्वमोहेन रागद्वेषादिनिबन्धनविपर्यासेन स्वत एव निर्मुक्ताः पुनरावृत्त्ययोग्यत्वेन त्यक्ताः दृढव्रताः अचाल्यसङ्कल्पाः सर्वथा भगवानेव भजनीयः, स चैवंरूप एवेति प्रमाणजनिताप्रामाण्यशङ्काशून्य-विज्ञानाः सन्तो मां परमात्मानं भजन्ते अनन्यशरणाः सन्तः सेवन्ते एतादृशा एव चतुर्विधा भजन्ते मामित्यत्र सुकृतिशब्देनोक्ताः। अतः 'सर्वभूतानि संमोहं यान्ति' इत्युत्सर्गः तेषां मध्ये ये सुकृतिनस्ते संमोहशून्याः मां भजन्त इत्यपवाद इति न विरोधः। अयमेवोत्सर्गः प्रागपि प्रतिपादितस्त्रिभिर्गुण-मयैर्भावैरित्यत्र, तस्मात्सत्त्वशोधकपुण्यकर्मसञ्चयाय सर्वदा यतनीय-मिति भावः ॥ २८ ॥

येषां से। अन्य लोगों से विलक्षण अतएव सफल जन्म पुण्य कर्म हैं अनके उनके जन्म उन उन पुण्यकर्मों से तत्त्वज्ञानोत्पत्तिप्रतिबन्धक दुरितनाश हो जाता है वे पाप न होने से तन्निमित्तक द्वन्द्वमोह से रागद्वेषादि हेतुक भ्रान्ति से स्वत एव विनिर्मुक्त होकर पुनः जन्मग्रहण के अयोग्य होने से उत्पत्ति से त्यक्त छूटे हुए दृढ़ संकल्प सर्वथा भगवान् ही भजनीय है। वह एवं स्वरूप ही है इस प्रकार प्रमाणजन्य और अप्रमाणजन्य ज्ञानशून्य हो परमात्मा मुझको अनन्यशरण होकर अन्य के शरण में न जाकर भजते हैं इस तरह के चार प्रकार के भक्त ही मेरा भजन करते हैं ये ही 'सुकृतिनः' से कहे गये हैं। अतः सब भूत मोह प्राप्त होते हैं यह उत्सर्ग है उसमें जो सुकृति है वह सम्मोहरहित होने से मेरी सेवा करते हैं वह अपवाद है। सामान्रूप से प्राप्त का विशेष से बाध अपवाद कहाता है अतः विरोध नहीं। सब का अर्थ उक्त भक्तातिरिक्त सब मुग्ध होते हैं, भक्त नहीं यही उत्सर्ग पूर्व में भी कहा है—'त्रिभिर्गुणमयैः' इत्यादि स्थल में। अतः सत्त्व अन्तःकरणगत सत्त्वगुण शोधनार्थ सदा पुण्य करना चाहिये यह तात्पर्य है ॥२८॥

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये ।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम् ॥२६॥

और जो मेरे शरण होकर जरा और मरणसे छूटनेके लिए यत्न करते हैं, वे पुरुष उस ब्रह्मको तथा संपूर्ण अध्यात्मोंको और संपूर्ण कर्मको जानते हैं ॥ २६ ॥

म० टी०—अथेदानीमर्जुनस्य प्रश्नमुत्थापयितुं सूत्रभूतौ श्लोकावुच्येते अनयोरेव वृत्तिस्थानीयः उत्तरोऽध्यायो भविष्यति—**जरामरणमोक्षायेति**। ये संसारदुःखान्निर्विण्णाः जरामरणमोक्षाय जरामरणादिविविधदुःसहसंसारदुःखनिरासाय तदेकहेतुं मां सगुणं भगवन्तमाश्रित्य इतरसर्ववैमुख्यशरणं गत्वा यतन्ति यतन्ते मदर्पितानि फलाभिसन्धिशून्यानि विहितानि कर्माणि कुर्वन्ति ते क्रमेण शुद्धान्तःकरणाः सन्तस्तज्जगत्कारणं मायाधिष्ठानं शुद्धं परं ब्रह्म निर्गुणं तत्पदलक्ष्यं मां विदुः, तथा आत्मानं शरीरमधिकृत्य प्रकाशमानं शरीरमधिकृत्य प्रकाशमानं कृत्स्नम् उपाध्यपरिच्छिन्नं त्वंपदलक्ष्यं विदुः कर्म च तदुभयवेदनसाधनं गुरूपसदनश्रवणमननाद्यखिलं निरवशेषं फलाव्यभिचारी विदुर्जानन्तीत्यर्थः ॥ २९ ॥

अब इस समय अर्जुन के प्रश्नोपस्थापनार्थ सूत्रभूत श्लोकद्वय कहते हैं—जरेत्यादि। इन्हीं सूत्रभूत दोनों श्लोकों की वृत्तिरूप से उत्तर अध्याय का आरम्भ का होगा। जो संसारदुःख से अत्यन्त उपरत हो चुके हैं जरामरणादि नानाविध सांसारिक दुःखसमुच्छेद के लिये तदेकनिदान सगुण भगवान् इतर सबसे विमुख होकर के मदेकशरण में आकर यत्न करते हैं, फलेच्छारहित बुद्धि सविहित कर्मों को कर मेरे में अर्पण करते हैं वे क्रम से शुद्धान्तःकरण होते हुए जगत्कारण मायाश्रय शुद्ध परब्रह्म गुणातीत तत्पदलक्ष्य मुझको जानते हैं। तथा शरीर में प्रकाशमान सम्पूर्ण उपाधियों से अपरिच्छिन्न त्वं पद लक्ष्य है तज्ज्ञानसाधन कर्म गुरुसमीपगमन श्रवण मननादि समस्त जानतें हैं। फलाव्यभिचारि जिस ज्ञान के अनन्तर अवश्य फल होता है वह फलाव्यभिचारी ज्ञान है ॥२६॥

साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः॥ ३०॥

और जो पुरुष अधिभूत और अधिदैवके सहित तथा अधियज्ञके सहित सबका आत्मरूप मेरेको जानते हैं, अर्थात् जैसे भाफ, बादल, धूम, पानी और बर्फ यह सभी जलस्वरूप हैं, वैसे ही अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञ आदि सब युक्त चित्तवाले पुरुष अन्तकालमें भी मुझको ही जानते हैं, अर्थात् प्राप्त होते हैं॥ ३०॥

ॐतत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे ज्ञानविज्ञानयोगो नाम सप्तमोऽध्यायः॥ ७॥

म० टी०—न चैवंभूतानां मद्भक्तानां मृत्युकालेऽपि विवशकरणतया मद्विस्मरणं शङ्कनीयं यतः साधिभूताधिदैवाभ्यां सहितं तथा साधियज्ञं च अधियज्ञेन च सहितं मां ये विदुश्चिन्तयन्ति ते युक्तचेतसः सन्तस्तत्संस्कारपाटवात् प्रयाणकाले प्राणोत्क्रमणकाले करणग्रामस्यात्यन्तव्यग्रतायामपि चकारादयत्नेनैव मत्कृपया मां सर्वात्मानं विदुर्जानन्ति तेषां मृतिकालेऽपि मदाकारैव चित्तवृत्तिः पूर्वप्रचितसंस्कारपाटवाद् भवति, तथा च ते मद्भक्तियोगात् कृतार्थ एवेतिभावः। अधिभूताधिदैवाधियज्ञशब्दानुत्तरेऽध्यायेऽर्जुन-

इस प्रकार के मृत्युकाल में भी मदूभक्तों को जब कि इन्द्रियाँ विवश रहती हैं तो भी मेरा विस्मरण नहीं होता। यतः साधिभूत साधिदैव अर्थात् अधिभूत अधिदैव के सहित अधियज्ञ के सहित मेरी चिन्तना करते हैं—'युक्तचेतसः' अर्थात् सदा मुझ में ही समाहित चित्त है जिनका वे सर्वजनव्यामोहक सर्वप्राणि विकलहेतु मृत्युकाल में भी जानते ही हैं। भावना की दृढ़ता से प्राण निकलने के समय इन्द्रियों के अत्यन्त विकलता अवस्था में भी चकार से मत् कृपया मेरी कृपा से ही वे परिश्रम सर्वात्मा मुझको जानते हैं। मृत्युकाल में भी मदाकार चित्तवृत्ति पूर्वभावना के प्रचुर संस्कारपाटव से होती है। तथा च मेरे भक्त भक्तियोग से वे कृतार्थ ही होते हैं यह भाव है। अधिभूत

प्रश्नपूर्वकं व्याख्यास्यति भगवानिति सर्वमनाविलम्। तदत्रोत्तमाधिकारिणं प्रति ज्ञेयं मध्यमाधिकारिणं प्रति च ध्येयं लक्षणया मुख्यया च वृत्त्या तत्पद-प्रतिपाद्यं ब्रह्म निरूपितम् ॥ ३० ॥

इति श्रीभगवद्गीतागूढार्थदीपिकायां मधुसूदनसरस्वती-
विरचितायामधिकारिभेदेन ज्ञेयध्येय
प्रतिपाद्यतत्त्वब्रह्मनिरूपणं नाम
सप्तमोऽध्यायः ॥७॥

अधिदैव, अधियज्ञ शब्द का अगले अध्याय में अर्जुन के प्रश्न के अनन्तर भगवान् व्याख्यान करेंगे। यहाँ दोष रहित है इसलिए उत्तमाधिकारियों के प्रति ज्ञेय और मध्यमाधिकारी के प्रति लक्षणा और मुख्यवृत्ति से तत्पद प्रतिपाद्य ब्रह्म ही है इसका निरूपण हो चुका ॥३०॥

इस प्रकार महामहोपाध्याय पं० हरिहरकृपालु
द्विवेदिकृत गीतामधुसूदनी के छठवाँ
अध्याय का अनुवाद
समाप्त हुआ



अष्टमोऽध्यायः

अर्जुन उवाच

किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम! ।
अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते ॥ १ ॥

इस प्रकर भगवान्के वचनोंको न समझकर अर्जुन बोला—हे पुरुषोत्तम ! जिसका आपने वर्णन किया वह ब्रह्म क्या है ? तथा कर्म क्या है ? और अधिभूत नामसे क्या कहा गया है ? तथा अधिदैव नामसे क्या कहा जाता है ? ॥ १ ॥

म॰ टी॰—चतुर्षु भगवत्प्रियेष्वपि मतोऽधिकं यः प्रभो-
रुदारपदतः परः समचकार तं मामयम् ।
परोपनिपदर्थदैरमलवाक्यदीपैस्तमो-
निवार्य परमं भजे तमिह काशिराजं गुरुम् ॥

पूर्वाध्यायान्ते 'ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम्' इत्यादिना सार्धश्लोकेन सप्तपदार्थाः ज्ञेयत्वेन भगवता सूत्रितास्तेषां वृत्तिस्थानीयोऽयमष्टमोऽध्याय आरभ्यते—तत्र सूत्रितानि सप्तवस्तूनि विशेषतो बुभुत्समानः श्लोकाभ्यां अर्जुन उवाच—किमिति । तत्र ज्ञेयत्वेनोक्तं ब्रह्म

आठवाँ अध्याय

चारों भगवत् प्रियों में जो अधिक माने गये निर्दुष्ट वाक्यप्रदीपरूप उत्कृष्ट उपनिषद वेदार्थ प्रकाशक से अज्ञानरूपि तम का निवारण कर प्रभु के उदार पद से भी पर जो मेरा संस्कार किया उन काशिरज गुरु को प्रणाम करता हूँ । पूर्व के अध्यायान्त में—

"ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम्" ।

इत्यादि डेढ़ श्लोक से सात पदार्थ जानने के लिए भगवान ने संक्षेप से सूचित किया है । उनकी वृद्धिरूप अर्थात् विशेषव्याख्यारूप अष्टमाध्यायका आरम्भ करते हैं—उसमें जो सात वस्तु सूत्रित हैं उनको विशेषरूप से जानने की इच्छा से दो श्लोकों से अर्जुन भगवान से पूछते हैं किमिति । जो ब्रह्म ज्ञेय आप कहा है वह सोपाधिक

अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन् मधुसूदन ! ।
प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः ॥ २ ॥

और हे मधुसूदन ! यहां अधियज्ञ कौन है ? और वह इस शरीर में कैसे है ? और युक्त चित्तवाले पुरुषोंद्वारा अन्त समयमें आप किस किस प्रकार जाननेमें आते हो ॥ २ ॥

किं सोपाधिकं निरुपाधिकं वा एवमात्मानं देहमधिकृत्य तस्मिन्नधिष्ठाने तिष्ठतीत्याध्यात्मं किं श्रोत्रादिकरणग्रामो वा प्रत्यक्चैतन्यं वा तथा 'कर्म चाऽखिलम्' इत्यत्र किं कर्म यज्ञरूपमन्यद्वा 'विज्ञानं यज्ञं तनुते कर्माणि तनुतेऽपि च' इति श्रुतौ द्वैविध्यश्रवणात् तव मम च समत्वात् कथं त्वं मां पृच्छसीति शङ्कामपनुदन् सर्वपुरुषेभ्यः उत्तमस्य सर्वज्ञस्य तव न किंचिदज्ञेयमिति संबोधनेन सूचयति—हे पुरुषोत्तमेति । 'अधिभूतं च किं प्रोक्तम्' पृथिव्यादिभूतमधिकृत्य यत्किञ्चित्कार्यं अधिभूतपदेन विवक्षितं किं वा समस्तमेव कार्यजातम्, चकारः सर्वेषां प्रश्नानां समुच्चयार्थः ; अधिदैवं किमुच्यते देवताविषयमनुध्यानं वा सर्वदेवतेष्वादित्यमण्डलादिष्वनुस्यूतं चैतन्यं वा ॥१॥

अथवा निरुपाधिक है। इसी प्रकार का देह के अधिकार में देहाश्रय में स्थित आत्मा क्या इन्द्रियसमूह है या तद्विपरीत प्रत्यक्‌चैतन्य तथा सम्पूर्ण कर्म यहाँ पर यज्ञरूप कर्म है अथवा दूसरा। क्योंकि कर्म शब्द का प्रयोग दोनों में पाया जाता है 'विज्ञानं यज्ञं तनुते कर्माणि तनुतेऽपि च' यह दो प्रकार की श्रुतियाँ हैं।

प्रश्न—तुम मेरे समान ही हो फिर तुम मुझसे क्यों पूछते हो इस शंका का वारण करते हुए अर्जुन भगवान को 'पुरुषोत्तम' शब्द से सम्बोधन करते हैं। जिस कारण आप सब पुरुषों से उत्तम सर्वज्ञ हैं अतः कोई पदार्थ आपको अज्ञात नहीं, यह उक्त सम्बोधन से सूचित करते हैं। अधिभूत पद से क्या कहा—पृथिव्यादि भूतों के अधिकार से जो कुछ कार्य है वह अधिभूत पद से विवक्षित है कि वा सम्पूर्ण कार्य · चकार सब प्रश्नों के समुच्चयार्थ है। अधिदैव क्या कहते हैं देवताविषयक स्थान अथवा आदित्यमण्डलादि सब देवताओं में अनुस्यूत चैतन्य वा ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते ।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः ॥ ३ ॥

इस प्रकार अर्जुनके प्रश्न करनेपर, श्रीकृष्ण भगवान बोले, हे अर्जुन! परम अक्षर अर्थात् जिसका कभी नाश नहीं हो, ऐसा सच्चिदानन्दघन परमात्मा तो ब्रह्म है और अपना स्वरूप अर्थात् जीवात्मा अध्यात्म नामसे कहा जाता है तथा भूतोंके भावको उत्पन्न करनेवाला शास्त्रविहित यज्ञ, दान और होम आदिके निमित्त जो द्रव्यादिकोंका त्याग है, वह कर्म नामसे कहा गया है ॥ ३ ॥

म० टी०--अधियज्ञो यज्ञमधिगतो देवतात्मा वा परब्रह्म वा स च कथं केन प्रकारेण चिन्तनीयः किं तादात्म्येन किं वात्यन्ताभेदेन सर्वथाऽपि स किमस्मिन्देहे वर्तते ततो बहिर्वा देहे चेत्? स कोऽत्र बुद्ध्यादिस्तद्व्यतिरिक्तो वा। अधियज्ञः कथं कोऽत्रेति न प्रश्नद्वयं किंतु स प्रकार एक एव प्रश्न इति द्रष्टव्यम्। परमकारुणिकत्वादनायासेनैव सर्वोपद्रवनिवारकस्य भगवतोऽनायासेन मत्सन्देहोपद्रवनिवारणमीषत्करमुचितमेवेति सूचयन् संबोधयति—हे मधुसूदनेति। प्रयाणकाले च सर्वकरणग्रामवैयग्र्याच्चित्तसमाधानानुपपत्तेः कथं केन प्रकारेण नियतात्मभिः समाहितचित्तैर्ज्ञेयोऽसीति उक्तशङ्कासूचनार्थश्चकारः। एतत्सर्वं सर्वज्ञत्वात्परमकारुणिकत्वाच्च शरणागतं मां प्रति कथयेत्यभिप्रायः ॥ २ ॥

अधियज्ञ यज्ञ में ज्ञात देवतात्मा वा परब्रह्म वह किस प्रकार से ध्येय है क्या तादात्म्य से अर्थात् भेदाभेद से, अथवा अत्यन्ताभेद, सर्वथा क्या वह इसी देह में है अथवा बाहर भी देह में है, यदि हैं? तो वह कौन है बुद्ध्यादि अथवा तद्व्यतिरिक्त। 'अधियज्ञः' अधियज्ञ कैसे है यहाँ कौन अधियज्ञ है इस प्रकार दो प्रश्नों में तात्पर्य नहीं किन्तु सब प्रकार एक ही प्रश्न है यह समझना। परमकारुणिक होने से सम्पूर्ण उपद्रवों का निवारक भगवान अनायास से मदीय सन्देहोपद्रव का निवारण उचित ही है यह सूचित करते हुए मधुसूदन शब्द से अर्जुन सम्बोधन करते हैं। मरणकाल में सम्पूर्ण इन्द्रियसमूह के वैकल्य से चित्त का एकाग्र होना अनुत्पन्न है किस प्रकार से एकाग्र चित्त से आप ज्ञेय हैं यह पूर्वोक्त शंका सूचनार्थ चकार है यह सब सर्वज्ञ और परम दयाशील होने से शरणागत मेरे प्रति कहिये यह अर्जुन का अभिप्राय है ॥२॥

म० टी०—एवं सप्तानां क्रमेणोत्तरं त्रिभिः श्लोकैः श्रीभगवानुवाच—अक्षरमित्यादिना। प्रश्नक्रमेण हि निर्णये प्रष्टुरभीष्टसिद्धिरनायासेन स्यादित्यभिप्रायवानत्र श्लोके प्रश्नत्रयं कमेण निर्धारितवान्, एवं द्वितीयश्लोके त्वेकमिति विभागः निरुपाधिकमेव ब्रह्मात्र विवक्षितं ब्रह्मशब्देन, न तु सोपाधिकमिति. प्रथमप्रश्नस्योत्तरमाह—अक्षरमिति। न क्षरतीत्यविनाशि अश्नुते वा सर्वमिति सर्वव्यापकम् (अक्षरत्वात्) 'एतद्वै तदक्षरं गार्गि ! ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्थूलमनण्वित्याद्युपक्रम्य एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि ! सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः नान्यदतोऽस्ति द्रष्टेत्यादिमध्ये परामृश्य एतस्मिन्नु खल्वक्षरे गार्ग्याकाश ओतश्च प्रोतश्चेत्युपसंहृतम्' श्रुत्या सर्वोपाधिशून्यं सर्वस्य प्रशासितृ अव्याकृताकाशान्तस्य प्रपञ्चस्य धारयितृ अस्मिंश्च शरीरेन्द्रियसङ्घाते विज्ञातृ निरुपाधिकं चैतन्यं तदिह ब्रह्मेति एतदेव विवृणोति—परममिति। परमं स्वप्रकाशपरमानन्दरूपं प्रशासनस्य कृत्स्नजडवर्गधारणस्य च लिङ्गस्य तत्रैवोपपत्तेः 'अक्षरमम्बरान्तरधृतेः' इति।

इन सातों प्रश्नों का उत्तर तीन श्लोकों से भगवान ने कहा—अक्षर से। प्रश्नक्रमसे उत्तर देने में प्रश्नकर्त्ता को अनायास से अभीष्ट सिद्धि होती है इस भावना से भगवानने इस श्लोक में तीन प्रश्न का क्रम से निर्णय किया। इसी प्रकार दूसरे श्लोक में भी प्रश्नत्रय का निर्णय किया, तृतीयश्लोक में एक प्रश्न का निर्णय किया यह उत्तर विभाग है। निरुपाधिक ही ब्रह्म 'ब्रह्म' शब्द से यहाँ विवक्षित है सोपाधिक नहीं यह प्रथम प्रश्न का उत्तर कहा। 'अक्षरं' न क्षरति इत्यक्षरम्—इस व्युत्पत्ति से अक्षर शब्द कालत्रयाविनाश बोधक है अथवा 'अश्नुते व्याप्नोति सर्वं' इस व्युपत्ति से अक्षरशब्द सर्वव्यापक का बोधक है 'एतद्वै तदक्षरं गार्गि !' इससे उपक्रम कर 'एतस्मिन् खलु अक्षरे गार्ग्याकाशः ओतश्च प्रोतश्च' यह उपसंहार श्रुति ने किया। सर्वोपाधिशून्य सम्पूर्ण का शासन करने वाला अव्याकृत आकाशान्त समस्त विश्व का धारयिता और इस शरीरेन्द्रिय समुदाय में विज्ञात निरुपाधिक चैतन्य वह ब्रह्म ही विवक्षित है ये ही इसका विशेषविवरण करते हैं स्वप्रकाश परमानन्दरूप समस्त जड़वर्ग धारण प्रशासनरूप चिह्न का उसी में उपपत्ति है क्योंकि 'अक्षरमम्बरान्तधृते' आकाशान्त का आश्रय अक्षर

न्यायात्, न त्विहाक्षरशब्दस्य वर्णमात्रे रूढत्वाच्छ्रुतिलिङ्गाधिकरणन्यायमूलकेन 'रूढिर्योगमपहरति इति' न्यायेन रथकारशब्देन जातिविशेषवत्प्रणवाख्यमक्षरमेव ग्राह्यं तत्रोक्तलिङ्गासंभावात्। ओमित्येकाक्षरं ब्रह्मेति च परेण विशेषणात् 'आनर्थक्यप्रतिहतानां विपरीतं बलाबलइति न्यायात्, 'वर्षासु' रथकार आदधीत' इत्यत्र तु जातिविशेषे नास्त्यसंभव इति विशेषः अनन्यथासिद्धेन तु लिङ्गेन श्रुतेर्बाधः 'आकाशस्तल्लिङ्गात्' इत्यादौ विवृतः। एतावांस्त्वित्वह विशेषः अनन्यथासिद्धेन लिङ्गेन श्रुतेर्बाधे यत्र योगः संभवति तत्र स एव गृह्यते मुख्यत्वात् यथा 'आज्यैः स्तुवते' 'पृष्ठैः स्तुवत' इत्यादौ यथा चात्रैवाक्षरशब्दः। यत्र तु योगोऽपि न संभवति तत्र गौणी वृत्तिर्यथाऽऽकाशप्राणादिशब्देषु, आकाशशब्दस्यापि ब्रह्मणि 'आसमन्तात् काशत' इतियोगः संभवतीति चेत्? स एव गृह्यतामिति पञ्चपादीकृतः तथा च पारसर्षं सूत्रं 'प्रसिद्धेश्च' इति कृतमत्र विस्तरेण। तदेवं किं तद्ब्रह्मेति निर्णीतम्, अधुना किमध्यात्ममिति निर्णीयते। 'यदक्षरं

ब्रह्म ही है। अक्षर शब्द यद्यपि वर्णमात्र में अर्थात् लिपिमात्र में रूढ़ है तथापि श्रुतिलिङ्गाधिकरणक्रममूलकसे 'रूढ़िर्योयोगमपहरति इस न्याय से रथकार शब्द से सौधन्वापरपर्याय जातिविशेष के समान अक्षर शब्द से प्रणवाख्य ही ग्राह्य है क्योंकि उसमें उक्त लिङ्गों का सम्भव नही। 'ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म' यह आगे विशेषण है 'आनर्थक्यप्रतिहतानां विपरीतं बलाबलम्' इस न्यायसे 'वर्षासु रथकार आदधीत' यहाँ पर तो उक्त जातिविशेष में अग्न्याधान असम्भव नहीं। अनन्यथासिद्ध लिङ्ग से श्रुति का बाध होता है ऐसाही 'आकाशः तल्लिङ्गात्' यहाँ पर किया गया है। केवल इतना ही यहाँ विशेष है अन्यथा सिद्ध लिङ्ग से जहाँ श्रुति का बाध है वहाँ योग का सम्भव है मुख्य होने से वहाँ वही लिया जाता है यथा—'आज्यै स्तुवते' इत्यादि में अथवा 'यथा च' यहाँ ही अक्षर शब्द में। जहाँ योग का सम्भव नही वहाँ गौणी वृत्ति में ली जाती है जैसे आकाश प्राणादि शब्दों में। आकाश शब्द का ही 'आ समन्तात् काशते' यह व्युत्पत्ति आकाश शब्द में भी हो सकती है यह यदि कहिये तो ब्रह्म में भी आकाश शब्द यौगिक ही है यह पञ्चपादिकाकार का मत है पारमर्ष सूत्र 'प्रसिद्धेश्च' सूत्र भी ऐसा ही है। विस्तार व्यर्थ हैं अतः 'किं तद्ब्रह्म' इसका निर्णय हुआ अब 'किमध्यात्मम्' इसका निर्णय करते हैं—'यदक्षरं ब्रह्म' यह कहा है उसीका

ब्रह्म' इत्युक्तं तस्यैव स्वभावः स्वोभावः स्वरूपं प्रत्यक्चैतन्यं न तु स्वस्वभाव इति षष्ठीमासः लक्षणाप्रसङ्गात्। षष्ठीतत्पुरुषबाधेन कर्मधारयपरिग्रहस्य श्रुतपदार्थान्वयेन निषादस्थपत्यधिकरणसिद्धत्वात्, तस्मान्न ब्रह्मणः संबन्धि किंतु ब्रह्मस्वरूपमेव। आत्मानं देहमधिकृत्य भोक्तृतया वर्तमानमध्यात्मशब्देनाभिधीयते न करणग्राम इत्यर्थः। यागदानहोमात्मकं वैदिकं कर्मैवात्र कर्मशब्देन विवक्षितमिति तृतीयप्रश्नोत्तरमाह—भूतानां भवनधर्मकाणां स्थावरजङ्गमानां भावमुत्पत्तिम् उद्भवं वृद्धिं च करोति यो विसर्गस्त्यागस्तत्तच्छास्त्रविहितो यागदानहोमात्मकः स इह कर्मसंज्ञितः कर्मशब्देनोक्त इति यावत्। तत्र देवतोद्देशेन द्रव्यत्यागो याग उत्तिष्ठद्धोमो वषट्कारप्रयोगान्तः, स एव उपविष्टहोमः स्वाहाकारप्रयोगान्तः आसेचनपर्यन्तोहोमः, परस्वत्वापत्तिपर्यन्तः स्वस्वत्वत्यागो दानं, सर्वत्र च त्यागांशोऽनुगतः तस्य च भूतभावोद्भवकरत्वम्—

स्वो भावः अर्थात् स्वरूप प्रत्यक् चैतन्य अध्यात्म है। 'स्वस्य भावः' इस षष्ठीसमास से तद्गतधर्मविशेष नहीं क्योंकि षष्ठी समास मानने से पूर्वपद स्व का सम्बन्धी में लक्षणा माननी पड़ेगी। षष्ठीतत्पुरुष का बाध कर कर्मधारयसमास परिग्रह अच्छा है क्योंकि श्रुतपदार्थ के साथ अन्वय होने से 'निषादस्थपत्यधिकरण' न्याय सिद्ध है, 'अतः ब्रह्मस्वभाव ब्रह्मसम्बन्धी नहीं किन्तु ब्रह्मस्वरूप ही ग्राह्य है। 'आत्मानं देहमधिकृत्य भोक्तृतया वर्तमानम् अध्यात्मम्' यह कहा जाता है अध्यात्म शब्द से इन्द्रियसमूह विवक्षित नहीं यह अर्थ है। याग दान होमात्मक वैदिक कर्म ही कर्म शब्द से विवक्षित है यह तीसरे प्रश्न का उत्तर कहा—जो भवनधर्मक उत्पत्तिशील स्थावर जङ्गम सब पदार्थों की उत्पत्ति तथा वृद्धि करता है जो विसर्ग त्याग तत्तत् शास्त्रविहित याग दान होमात्मक कर्म ही कर्म शब्द से कहा गया है उसमें देवता को लक्ष्य कर विहित द्रव्यत्याग याग है। उतिष्ठद्धोम वषट्कार प्रयोगान्त और वही उपविष्ट होम स्वाहाकार प्रयोगान्त आसेचनपर्यन्त होम है परस्वत्वोत्पत्तिपर्यन्त स्वस्वत्व त्याग दान है सब जगह त्याग अनुस्यूत है वही भूतभावोद्‌भव कर हैं क्योंकि—

अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम् ।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर ! ॥ ४ ॥

तथा उत्पत्ति, विनाश धर्मवाले सब पदार्थ अधिभूत हैं और हिरण्य-मय पुरुष अधिदैव हैं और हे देहधारियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन ! इस शरीर में मैं वासुदेव ही विष्णुरूपसे अधियज्ञ हूं ॥ ४ ॥

'अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते ।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः ॥' इति स्मृतेः ।
'ते वा एते आहुतिः हुते उत्क्रामत इत्यादि श्रुतेश्च ॥ ३ ॥

म० टी० — संप्रत्यग्रिमप्रश्नत्रयस्योत्तरमाह— **अधिभूतमिति** । क्षरतीति क्षरो विनाशी भावो यत्किञ्चिज्जनिमद्वस्तु भूतं प्राणिजातमधिकृत्य भवतीत्यधिभूतमुच्यते । पुरुषो हिरण्यगर्भः समष्टिलिङ्गात्मा व्यष्टिसर्वकरणानुग्राहकः 'आत्मैवेदमग्र आसीत्पुरुषविध' इत्युपक्रम्य स 'यत् पूर्वोऽस्मात्सर्वस्मात्सर्वान् पाप्मन औषत्तस्मात्पुरुषः' इत्यादि श्रुत्या प्रतिपादितः । चकारात्—

'अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते ।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः ॥'

यह स्मृति है । 'तदा एते आहुतिहुते उत्क्रामत' इत्यादि श्रुति भी है ॥३॥

अब अग्रिम प्रश्नत्रय का उत्तर कहते हैं—**अधिभूतम्** इस से । 'भूतं प्राणिजातमधिकृत्य भवति' इति अधिभूतम्–प्राणियों के अधिकार से उत्पन्न होने वाला अधिभूत है वह क्षरभाव है । 'क्षरति विनश्यति' इस व्युत्पत्तिसे क्षरशब्द विनाशवाची है । भावः जो कुछ उत्पत्तिमान् पदार्थ है वह 'भवति' इस व्युत्पत्ति से भाव कहाता है । 'अधिदैवं किमुच्यते' इस प्रश्न का उत्तर कहते हैं –'पुरुषश्च अधिदैवतम्' इत्यादि । पुरुष शब्द का अर्थ यह है कि सम्पूर्ण पुरों में शयन करने वाला सूर्यमण्डलान्तर्गत सम्पूर्ण प्राणियों के नेत्रादि का अनुग्राहक समष्टि लिङ्गात्माव्यष्टि सर्व कारणानुग्राहक हिरण्यगर्भ पुरुष 'आत्मैवेदम् अग्र आसीत् पुरुषविधः' इससे उपक्रम कर स 'यत्पूर्वो अस्मात् सर्वस्मात् सर्वान् पाप्मनः औषत् तस्मात् पुरुषः' इत्यादि श्रुति से प्रतिपादित है । और चकार से 'स वै शरीरी प्रथमः स वै पुरुष उच्यते' इत्यादि स्मृति से भी

'स वै शरीरी प्रथमः स वै पुरुष उच्यते।
आदिकर्ता स भूतानां ब्रह्माऽग्रे समवर्तत ॥'

इत्यादि' स्मृत्या च प्रतिपादितः। अधिदैवतं देवताग्न्यादित्यादीन्यधिकृत्य चक्षुरादिकरणान्यनुगृह्णातीति तथोच्यते। अधियज्ञः सर्वयज्ञाधियज्ञः सर्वयज्ञफलदायकश्च सर्वयज्ञाभिमानिनी विष्ण्वाख्या देवताः 'यज्ञो वै विष्णुः' इति श्रुतेः। स च विष्णुरधियज्ञोऽहं वासुदेव एव न मद्भिन्नः कश्चित्, अत एव परब्रह्मणः सकाशादत्यन्ताभेदेनैव प्रतिपत्तव्य इति कथमिति व्याख्यातम्। स च ऽत्रास्मिन् मनुष्यदेहे यज्ञरूपेण वर्तते बुद्ध्यादिव्यतिरिक्तो विष्णुरूपत्वात् एतेन स किमस्मिन्नदेहे ततो बहिर्वा देहे चेत्? कोऽत्र बुद्ध्यादिस्तद्व्यतिरिक्तो वेति सन्देहो निरस्तः। मनुष्यदेहे च यज्ञस्यावस्थानं यज्ञस्य मनुष्यदेहनिर्वर्त्यत्वात् 'पुरुषो वै यज्ञः पुरुषस्तेन यज्ञो यदेनं पुरुषस्तेन तनुत' इत्यादि श्रुतेः हे देहभृतां वर! सर्वप्राणिनां श्रेष्ठ इति संबोधयन् प्रतिक्षणं मत्संभाषणात् कृतकृत्यस्त्वमेतद् बोधयोग्योऽसीति प्रोत्साहयत्यर्जुनं भगवान्। अर्जुनस्य सर्वप्राणिश्रेष्ठत्वं भगवदनुग्रहातिशयभाजनत्वात्प्रसिद्धमेव ॥ ४ ॥

प्रतिपादित है वही अधिदैवत है। आदित्यादि देवताओं का अधिकार कर नेत्रादि इन्द्रियसंमूह का अनुग्रह करता है अतः अधिदैवत कहा जाता है। 'अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन् मधुसूदन!' इस छठे प्रश्न का उत्तर कहते हैं— 'अधियज्ञ' इत्यादि से। यज्ञ देह से उत्पन्न होता है अतः देह वृत्ति है। इसीसे यज्ञका अधिकरण देह माना जाता है इस देह में अधियज्ञ सर्वयज्ञार्थ मानिनी देवता विष्णुरूपा है। क्योंकि 'यज्ञो वै विष्णुः' ऐसी श्रुति है। सो वह अधियज्ञ विष्णु मैं ही हूँ। कैसे यह अवान्तर प्रकार प्रश्न इसीसे समाहित हुआ अर्थात् यज्ञाभिमानिनी विष्णुदेवतारूपसे मैं अधियज्ञ हूँ। इससे क्या इस देह में अथवा उससे बाहर भी यदि देह में है तो कौन? बुद्ध्यादि अथवा अतिरिक्त यह सन्देह निरस्त हुआ। मनुष्य देह में यज्ञ की स्थिति किस कारण है कि मनुष्य देह से यज्ञ उत्पन्न होता है 'पुरुषो वै यज्ञः' इत्यादि श्रुति इस अर्थ में प्रमाण है। हे सर्व प्राणियों में श्रेष्ठ! यह सम्बोधन करते हुए भगवान मेरे सम्भाषण से प्रतिक्षण कृतकृत्य तुम मदुत्साहार्थ बोधयोग्य हो इस प्रकार अर्जुन का उक्त सम्बोधन से प्रोत्साहन करते हैं। अर्जुन में सर्वप्राणिश्रेष्ठता भगवत् कृपाविशेष भाजन होने से प्रसिद्ध ही है ॥४॥

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम् ।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः ॥ ५ ॥

और जो पुरुष अन्तकालमें मेरेको ही स्मरण करता हुआ शरीरको त्यागकर जाता है, वह मेरे साक्षात् स्वरूपको प्राप्त होता है, इसमें कुछ भी संशय नहीं है ॥ ५ ॥

म० टी०—इदानीं प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसीति सप्तमस्य प्रश्नस्योत्तरमाह—**अन्तकाले चेति** । मामेव भगवन्तं वासुदेवं अधियज्ञं सगुणं निर्गुणं वा परमक्षरं ब्रह्म न त्वध्यात्मादिकं स्मरन् सदा चिन्तयन् तत्संस्कारपाटवात्समस्तकरणग्रामवैयग्र्यवत्यन्तकालेऽपि स्मरन् कलेवरं मुक्त्वा शरीरेऽहंममाभिमानं त्यक्त्वा प्राणवियोगकाले यः प्रयाति सगुणध्यानपक्षे 'अग्निर्ज्योतिरहः शुक्ल' इत्यादिवक्ष्यमाणेन देवयानमार्गेण पितृयानमार्गात्प्रकर्षेण याति स उपासको मद्भावं मद्रूपतां निर्गुणब्रह्मभावं हिरण्यगर्भलोकभोगान्ते याति प्राप्नोति निर्गुणब्रह्मस्मरणपक्षे तु कलेवरं त्यक्त्वा प्रयातीति लोकदृष्ट्यभिप्रायं 'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्त्यत्रैव समवलीयन्त' इति श्रुतेस्तस्य प्राणोत्क्रमणाभावेन गत्यभावात् स मद्भावं साक्षादेव याति 'ब्रह्मैव सन्ब्रह्माऽप्येति श्रुतेः,

इस समय मृत्युकाल में कैसे आप ज्ञेय हैं इस सातवें प्रश्न का उत्तर कहते हैं- अन्तसे । अधियज्ञ सगुण अथवा निर्गुण परब्रह्म भगवान् वासुदेव का ही, अध्यात्म का नहीं स्मरण करता हुआ सदा संस्कार सामर्थ्यातिशय से समस्त इन्द्रियग्राम की वैकल्यावस्थारूप मरणकाल में उक्त मत्स्वरूप का ही स्मरण करता हुआ शरीर में अहं ममाभिमान का त्याग करना यही शरीरत्याग वस्तुतः विवक्षित है। प्राणवियोगकाल में जो स्वर्ग जाता है वह सगुण ध्यानपक्ष में 'अग्निर्ज्योतिरहः शुक्ल' इत्यादि वक्ष्यमाण देवयान मार्ग से जाता है पितृयानमार्ग से देवयानमार्ग उत्कृष्ट है एतत्सूचनार्थ प्रयातिमें प्र उपसर्ग है। उपासकः मत्स्वरूपता अर्थात् निर्गुण ब्रह्म स्वरूपता हिरण्यगर्भलोक के भोगावसान में प्राप्त होता है। निर्गुणब्रह्म स्मरण पक्ष में शरीरत्याग कर जाता है यह कथन लोकदृष्टि के अभिप्राय से है। वस्तुतः उसका जाना कहीं नहीं होता 'न तस्य प्राणाः उत्क्रामन्ति अत्रैव समवलीयन्ते' इस श्रुति से निरुपाधिक ब्रह्मज्ञानी का प्राणोत्क्रमणाभाव से गत्यभाव है अतः यह साक्षात् मद्भाव प्राप्त करता है अर्थात् ब्रह्मभावापन्न हो जाता है

यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय! सदा तद्भावभावितः॥ ६॥

कारण कि हे कुन्तीपुत्र अर्जुन! यह मनुष्य अन्तकालमें जिस जिस भी भावको स्मरण करता हुआ शरीरको त्यागता है, उस उसको ही प्राप्त होता है, परन्तु सदा उस ही भावको चिन्तन करता हुआ, क्योंकि सदा जिस भावका चिन्तन करता है, अन्तकालमें भी प्रायः उसीका स्मरण होता है॥ ६॥

नास्त्यत्र देहव्यतिरिक्त आत्मनि मद्भावप्राप्तौ वा संशयः, आत्मा देहाद्यतिरिक्तो न वा देहव्यतिरेकेऽपि ईश्वराद्भिन्नो न वेति सन्देहो न विद्यते 'छिद्यन्ते सर्वसंशयाः' इति श्रुतेः। अत्र च कलेवरं मुक्त्वा प्रयातीति देहाद्भिन्नत्वं मद्भावं यातीति चेश्वरादभिन्नत्वं जीवस्योक्तमिति द्रष्टव्यम्॥ ५॥

म० टी०—अन्तकाले भगवन्तमनुध्यायतो भगवत्प्राप्तिर्नियतेति वदितुमन्यदपि यं कंचित्काले ध्यायतो देहं त्यजतस्तत्प्राप्तिरवश्यं भाविनीति दर्शयति—यं यं वाऽपीति। न केवलं मां स्मरन् मद्भावं यातीति नियमः

इसमें प्रमाण "ब्रह्मैव सन् ब्रह्माऽप्येति" यह श्रुति है इसमें संदेह नहीं है। कि आत्मा देहातिरिक्त ही है और न मत्स्वरूप प्राप्ति में ही संदेह है। आत्मा देह से अभिन्न है अथवा नहीं भेदपक्ष में मत्स्वरूप प्राप्त होता है अर्थात् जीव ईश्वराभिन्न है यह समझना॥५॥

अन्तकाल में भगवद् ध्यानी को भगवत्प्राप्ति निश्चित है यह कहने के लिए जिस किसी काल में भगवद् ध्यानी देहत्यागी को भगवत्प्राप्ति अवश्य होती है यह दिखलाते हैं—**यं यं** से। और जिस किसी काल में ध्यान करने वाले और देहत्याग करने वाले को भगवत्प्राप्ति अवश्य होगी केवल मेरा स्मरण करता हुआ मद्भावापन्न होता है यही नियम आत्मा देह से अतिरिक्त नहीं है इसमें और न मद्भाव प्राप्ति में ही संशय है। 'आत्मा देहाद् व्यतिरिक्तो न वा' देहातिरिक्तपक्ष में ईश्वर से भिन्न है वा नहीं यह संशय नहीं होता क्योंकि 'छिद्यन्ते सर्वसंशयाः' ऐसी श्रुति है। इसमें शरीर का त्याग कर जाता है इससे देहादि भिन्नत्व और मद्भाव हो जाता है इससे ईश्वराभेद जीव में कहा गया है यह

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ॥ ७ ॥

इसलिये हे अर्जुन ! तूँ सब समयमें निरन्तर मेरा स्मरण कर और युद्ध भी कर, इस प्रकार मेरेमें अर्पण किये हुए मन, बुद्धिसे युक्त हुआ निःसन्देह मेरेको ही प्राप्त होगा ॥ ७ ॥

किं तर्हि यं यं भावं देवताविशेषं चकारादन्यदपि यत्किञ्चिद्वा स्मरंश्चिन्तयन्नन्ते प्राणवियोगकाले कलेवरं त्यजति स तं तमेव स्मर्यमाणं भावमेव नान्यमेति प्राप्नोति । हे कौन्तेयेति पितृष्वसृपुत्रत्वेन स्नेहातिशयं सूचयति, तेन चावश्यानुग्राह्यत्वं तेन च प्रतारणाशङ्काशून्यत्वमिति । अन्तकाले स्मरणोद्यमासंभवेऽपि पूर्वाभ्यासजनिता वासनैव स्मृतिहेतुरित्याह—सदेति । सदा सर्वदा तस्मिन् देवताविशेषादौ भावो भावना वासना तद्भावः संभावितः सम्पादितो येन स तथा भावितद्भाव इत्यर्थः । आहिताग्न्यादेराकृतिगणत्वाद्भावितपदस्य परनिपातः, तद्भावेन तच्चिन्तनेन भावितो वासितचित्त इति वा ॥ ६ ॥

म० टी०—यस्मादेवं पूर्वस्मरणाभ्यासजनितान्त्या भावनैव तदानीं परवशस्य देहान्तरप्राप्तौ कारणम्, तस्मान्मद्विषयकार्यभावनोत्पत्त्यर्थं सर्वेषु

समझना । किन्तु जिस जिस देवताविशेष चकार से और भी मृग पश्वादिका ध्यान करता हुआ अन्तसमय में शरीरत्याग करता है वह पुरुष नहीं वही स्मृति विषय पदार्थस्वरूप को प्राप्त करता है दूसरा स्वरूप नहीं। हे कौन्तेय! पितृभगिनीपुत्र होने से स्नेहविशेष उक्त सम्बोधन से सूचन करते हैं, इससे तुम अवश्य मेरे अनुग्राह्य हो इससे प्रतारण वञ्चना) की शंकाशून्यत्व सूचित होता है। अन्तकाल में स्मरणोपयोगी उद्योग असम्भव होने पर भी पूर्वाभ्यास से उत्पन्न वासना ही स्मरण का हेतु है यह कहते हैं—'सदा तद्भावभावितः' से। सदा हर समय उसी देवताविशेष में जो भावना वासना उससे भावित सम्पादित है जिससे वह तथा यहाँ पर 'तद्भावः भावितः वासनाविषयीकृतः तद्भावः ध्येयभावः येन सः' यह विग्रह है। आहिताग्नि आकृतिगण है उससे भावित पद का परनिपात हुआ अथवा तद्भावसे तच्चिन्तन से भावित वासित चित्त यह भी अर्थ है ॥ ६ ॥

जिस कारण पूर्वजन्माभ्यासोत्पन्न अन्तिम भावना ही मृत्युकाल में पराधीन जीव के दूसरे देहप्राप्ति में कारण है। तस्माद् मद् विषय कार्यभावना की उत्पत्ति

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना ।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन् ॥ ८ ॥

और हे पार्थ ! यह नियम है, कि परमेश्वरके ध्यानके अभ्यासरूप योगसे युक्त, अन्य तरफ न जानेवाले चित्तसे निरन्तर करता हुआ पुरुष, परमप्रकाशस्वरूप, दिव्य पुरुषको अर्थात् परमेश्वरको ही प्राप्त होता है ॥ ८ ॥

कालेषु पूर्वमेवादरेण मां सगुणमीश्वरमनुस्मर चिन्तय यद्यन्तःकरणाशुद्धिवशान्न शक्नोषि सततमनुस्मर्तुं ततोऽन्तःकरणशुद्धये युध्य च अन्तःकरणशुद्ध्यर्थं युद्धादिकं स्वधर्मं कुरु । युध्येति युद्धस्वेत्यर्थः । एवं च नित्यनैमित्तिककर्मानुष्ठानेनाशुद्धिक्षयात् मयि भगवति वासुदेवे अर्पिते सङ्कल्पाध्यवसायलक्षणे मनोबुद्धी येन त्वया स त्वमीदृशः सर्वदा मच्चिन्तनपरः सन्मामेवैष्यसि प्राप्स्यसि असंशयो नात्र संशयो विद्यते । इदं च सगुणब्रह्मचिन्तनमुपासकानामुक्तं तेषामन्त्यभावनासापेक्षत्वात्, निर्गुणब्रह्मज्ञानिनां तु ज्ञानसमकालमेवाज्ञाननिवृत्तिलक्षणाया मुक्तेः सिद्धत्वान्नास्त्यन्त्यभावनापेक्षेति द्रष्टव्यम् ॥ ७ ॥

तदेवं सप्तानामपि प्रश्नानामुत्तरमुक्त्वा प्रयाणकाले भगवदनुस्मरणस्य भगवत्प्राप्तिलक्षणं फलं विवरीतुमारभते—अभ्यासेति । अभ्यासः सजातीय-

के लिए सब काल में प्रथम ही सगुण मुझ ईश्वर का चिन्तन करो । यदि मलिनान्तःकरण के कारण सतत स्मरण नहीं कर सकते हो तो अन्तःकरणशुद्धि के लिए युद्ध करो अन्तःकरण शुद्धि कामनया स्वधर्म (युद्ध करो । 'युध् सम्प्रहारे' यह धातु आत्मनेपदी है इसलिये 'युध्यस्व' कहा, स्ववर्ण धर्म युद्ध है) । इस प्रकार नित्यनैमित्तिक कर्मों के करने से और सिद्धि के क्षय होने पर भगवान वासुदेव मुझमें समर्पित संकल्पाध्यवसायलक्षण मन और बुद्धि जिसमें एवंभूत तुम सदा मच्चिन्तनपर होता हुआ मुझको ही प्राप्त करोगे इसमें सन्देह नहीं । यह सगुण ब्रह्मचिन्तन उपासकों के लिए कहा है, क्योंकि उनकी मत्प्राप्ति अन्तिम भावना सापेक्ष है, निर्गुणब्रह्मज्ञानियों का तत्त्वज्ञानकाल में ही अज्ञाननिवृत्तिरूप संसार मुक्ति सिद्ध होने से अन्तिम भावना की अपेक्षा नहीं है यह समझना ॥७॥

इस प्रकार सातों प्रश्न का उत्तर कह कर मरण काल में भगवत् स्मरण का फल भगवत्प्राप्ति है उसके विवरण के लिए आरम्भ करते हैं—अभ्यासेत्यादि से ।

कविं पुराणमनुशासितारमणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः ।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ।।९।।

इससे जो पुरुष सर्वज्ञ, अनादि, सबके नियन्ता सूक्ष्मसे भी अति सूक्ष्म, सबके धारणपोषण करनेवाले, अचिन्त्यरूप, सूर्यके सदृश नित्य चेतन प्रकाशरूप, अविद्यासे अति परे, शुद्ध, सच्चिदानन्दघन परमात्मा-को स्मरण करता है ।। ९ ।।

प्रत्ययप्रवाहो मयि विजातीयप्रत्ययानन्तरितः षष्ठे प्राग्व्याख्यातः, स एव योगः समाधिस्तेन युक्तं तत्रैव व्यापृतम् आत्माकारवृत्तीतरवृत्तिशून्यं यच्चेतस्तेन चेतसा अभ्यासपाटवेन नान्यगामिना न अन्यत्र विषयान्तरे निरोधप्रयत्नं विनाऽपि गन्तुं शीलमस्येति तेन परमं निरतिशयं पुरुषं पूर्णं दिव्यं दिवि द्योतनात्मन्यादित्ये भवं 'यश्चासावादित्ये' इतिश्रुतेः, याति गच्छति । हे पार्थ! अनुचिन्तयन् शास्त्राचार्योपदेशमनुध्यायन् ।। ८ ।।

म० टी०—पुनरपि तमेवानुचिन्तयितव्यं च पुरुषं विशिनष्टि—कविमिति । कविं क्रान्तदर्शिनं तेनातीतानागताद्यशेषवस्तुदर्शित्वेन सर्वज्ञं पुराणं चिरन्तनं सर्वकारणत्वादनादिमिति यावत्, अनुशासितारं सर्वस्य

सजातीयज्ञानधारा मुझमें विजातीयविषयक ज्ञानान्तर से अव्यवहित छठवाँ अध्याय में जो व्याख्यात है वही योगसमाधि है उससे युक्त अर्थात् उसीमें सदा रत आत्माकारवृत्ति से भिन्न विषयवृत्तियों से रहित यो चित्त उस चित्त के सामर्थ्य से जो अन्य गामी नहीं हैं अर्थात निरोधाख्यप्रयत्न के विना भी जाने का विषयान्तर में स्वभाव नहीं है जिसका उससे निरतिशय पुरुष पूर्ण प्रकाशात्मा सूर्यमण्डलमें जाता है 'यश्च असौ आदित्यः' श्रुतिः है, हे पार्थ! शास्त्राचार्य उपदेश का ध्यान करता हुआ उक्त गन्तव्य को जाता है ।। ८ ।।

फिरभी ध्येय और गन्तव्य पुरुषमें विशेषण देते हैं—कविमित्यादिसे । क्रान्तदर्शिनं सर्वज्ञं पुराणं चिरन्तनम्, इस विशेषणसे अतीत और अनागत अर्थात् भूत भावी तथा वर्तमान वस्तु दर्शी होनेसे सर्वज्ञ है सर्व कारण होनेसे अनादि है

प्रयाणकाले मनसाऽचलेन
भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव ।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक्
स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥ १० ॥

वह अभियुक्त पुरुष, अन्तकालमें भी योगबलसे भृकुटीके मध्य में प्राणको अच्छी प्रकार स्थापनकरके फिर निश्चल मनसे स्मरण करता हुआ उस दिव्य स्वरूप परमपुरुषपरमात्माको ही प्राप्त होता है ॥ १० ॥

जगतो नियन्तारं अणोरणीयांसं सूक्ष्मादप्याकाशादेः सूक्ष्मतरं तदुपादानत्वात् सर्वस्य कर्मफलजातस्य धातारं विचित्रतया प्राणिभ्यो विभक्तारं 'फलमतः उपपत्तेः' इति न्यायात्। न चिन्तयितुं शक्यमपरिमितमहित्वेन रूपं यस्य तम्, आदित्यस्येव सकलजगदवभासको वर्णः प्रकाशो यस्य तं सर्वस्य जगतोऽवभासकमिति यावत्, अत एव 'तमसः परस्तात्' तमसो मोहान्धकारादज्ञानलक्षणात्परस्तात् प्रकाशरूपत्वेन तमोविरोधिनमिति यावत्। अनुस्मरेच्चिन्तयेद्यः कश्चिदपि स तं यातीति पूर्वेणैव संबन्धः। स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यमिति परेण वा संबन्धः ॥ ९ ॥

तथा सम्पूर्ण जगत्का अन्तर्यामी है अणु से भी छोटा क्यों कि उसकाभी वह उपादान कारण है। सम्पूर्ण फलसमुदाय का भासक है अर्थात् प्राणियोंको विभक्त करने वाला है इसमें प्रमाण 'फलमत उपपत्तेः' यह सूत्र है। अपरिच्छिन्न महिमा होनेसे उसका स्वरूपचिन्तन करनेके योग्य नहीं है सूर्यके समान सम्पूर्ण जगत्के प्रकाशकक्षम वर्ण है अर्थात् प्रकाश है जिसका सम्पूर्ण जगत का प्रकाशक अतएव अन्धकार से पर मोहान्धकार जो अज्ञानस्वरूप है उससे प्रकाशकस्वरूप होने से उसका विरोधी अतएव भिन्न है। जो कोई भी उसका ध्यान करेगा वह उसी में जायगा यह पूर्व के साथ सम्बन्ध है। वह परम प्रकाश है परम प्रकाशरूप दिव्य पुरुष प्राप्त करता है इस उत्तर के साथ अथवा सम्बन्ध करना ॥९॥

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति
विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः ।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति
तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये ॥ ११ ॥

और हे अर्जुन ! वेदके जाननेवाले विद्वान् जिस सच्चिदानन्दघनरूप परमपदको ॐकार नामसे कहते हैं और आसक्तिरहित यत्नशील महात्माजन जिसमें प्रवेश करते हैं तथा जिस परमपदको चाहनेवाले ब्रह्मचर्यका आचरण करते हैं, उस परमपदको तेरेलिए संक्षेपसे कहूँगा ॥ ११ ॥

म० टी०—कदा तदनुस्मरणे प्रयत्नातिरेकोऽभ्यस्यते तदाह—**प्रयाणकाल** इति । प्रयाणकाले अन्तकाले अचलेन एकाग्रेण तं पुरुषं योऽनुस्मरेदित्यनुवर्तते । कीदृशः ? भक्त्या परमेश्वरविषयेण परमेण प्रेम्णा युक्तो योगस्य समाधेर्बलेन तज्जनितसंस्कारसमूहेन व्युत्थानसंस्कारविरोधिना च युक्त एव प्रथमं हृदयपुण्डरीके वशीकृत्य तत ऊर्ध्वगामिन्या सुषुम्नया नाड्या गुरूपदिष्टमार्गेण भूमिजयक्रमेण भ्रुवोर्मध्ये आज्ञाचक्रे प्राणमावेश्य स्थापयित्वा सम्यगप्रमत्तो ब्रह्मरन्ध्रादुत्क्रम्य स एवमुपासकस्तं 'कविं पुराणमनुशासितारम्' इत्यादिलक्षणं परं पुरुषं दिव्यं द्योतनात्मकमुपैति प्रतिपद्यते ॥ १० ॥

किस समय उसके ध्यान के लिए विशेष प्रयत्न करना अपेक्षित है उसको कहते हैं—प्रयाण से । प्रयाणकाल मरणकाल में निश्चल एकाग्र मन से उस पुरुष का जो अनुस्मरण करेगा 'अनुस्मरेत्' की यहाँ अनुवृत्ति है । कीदृश पुरुष स्मरण करे जो परमेश्वरविषयक उत्कृष्ट प्रेम से युक्त है, समाधि के बल से अर्थात् तदुत्पन्न संस्कारसमूह से जो कि व्युत्थानसंस्कार का विरोधी है उससे युक्त । इस प्रकार प्रथम हृदयकमल में वश करके अनन्तर उर्ध्वगामी जो प्रसिद्ध सुषुम्ना नाड़ी है उससे गुरुकथितमार्ग से भूमिजय क्रम से दोनों भ्रुवों के मध्य में जो आज्ञाचक्र है उसमें प्राण को स्थापित कर प्रमादरहित हो कर ब्रह्मरन्ध्र से उत्क्रान्त होकर वह उपासक चिरन्तन कवि जो पूर्वोक्तलक्षण द्योतनात्मक प्रकाशात्मक दिव्यपुरुष है उसको प्राप्त होता है ॥ १० ॥

म० टी०—इदानीं येन केनचिदभिधानेन ध्यानकाले भगवदनुस्मरणप्राप्ते—

'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति।

यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येत्॥

इत्यादिश्रुतिप्रतिपादितत्वेन प्रणवेनैवाभिधानेन तदनुस्मरणं कर्तव्यं नान्येन मन्त्रादिनेति नियन्तुमुपक्रमते—**यदक्षरमिति**। यदक्षरमविनाशि ओङ्काराख्यं ब्रह्म वेदविदो वदन्ति 'एतद्वै तदक्षरं गार्गि! ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घम्' इत्यादिवचनैः सर्वविशेषनिवर्तनेन प्रतिपादयन्ति न केवलं प्रमाणकुशलैरेव प्रतिपन्नं किंतु मुक्तोपसृप्यतया तैरप्यनुभूतमित्याह—**'विशन्ति'** इति। स्वरूपतया सम्यग्दर्शनेन यदक्षरं यतयो यत्नशीलाः संन्यासिनो वीतरागानिस्पृहाः न केवलं सिद्धैरनुभूतं साधकानामपि सर्वोऽपि प्रयासस्तदर्थं इत्याह—**'यदिच्छन्तः'** इति। ज्ञातुं नैष्ठिका ब्रह्मचारिणो ब्रह्मचारिणो ब्रह्मचर्यं गुरुकुलवासादि तपश्चरन्ति यावज्जीवं तदक्षराख्यं पदं पदनीयं ते तुभ्यं सङ्ग्रहेण सङ्क्षेपेणाहं प्रवक्ष्ये प्रकर्षेण कथयिष्यामि यथा तव बोधो

इस समय जिस किसी शब्द से ध्यानकाल में भगवान का स्मरण प्राप्त होता है उसमें शब्दविशेष का नियम कहते हैं—'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' इत्यादि श्रुति। इस श्रुति से प्रतिपादित ॐकाररूप प्रणव शब्द से भगवत् स्मरण चाहने वाले ब्रह्मचर्य करते हैं, इस लिए उसी शब्द से भगवत स्मरण करना चाहिए दूसरे मन्त्रादिकों से नहीं। इसके नियम करने का उपक्रम करते हैं—यदक्षरमित्यादि से। अक्षर अविनाशी ॐकार नामक जो ब्रह्म है ब्रह्मवेत्ता लोग कहते हैं—'एतद् वै तदक्षरं गार्गि!' इत्यादि वचनों से सम्पूर्ण विशेषधर्मों की निवृत्ति कर प्रतिपादन करते हैं केवल प्रमाण निपुण पुरुष ही ज्ञात नहीं किन्तु जो मुक्ति चाहते हैं उनमें भी अनुभूत करते हैं-'विशन्ति' से। समीचीनज्ञानद्वारा यत्नशील संन्यासी वीतराग अर्थात् निस्पृह जिसमें प्रविष्ट होते हैं केवल सिद्धों को ही अनुभूत नहीं किन्तु साधकों का सम्पूर्ण प्रयत्न तत्प्रयास उसके लिए कहते हैं—यत् से। जिसकी इच्छा करने वाले जानने वाले नैष्ठिक ब्रह्मचारी ब्रह्मचर्य गुरुगृह वासादिरूप तप करते हैं जीवनपर्यन्त उस अक्षराख्य गेयपद को संक्षेप से तुम से कहेंगे जिससे तुमको पूरा

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च ।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम् ॥ १२ ॥

हे अर्जुन ! सब इन्द्रियोंके द्वारोंको रोककर अर्थात् इन्द्रियोंको विषयोंसे हटाकर तथा मनको हृद्देशमें स्थिरकरके और अपने प्राणको मस्तकमें स्थापनकरके, योगधारणमें स्थित हुआ ॥ १२ ॥

भवति तथा, अतस्तदक्षरं कथं मया ज्ञेयमित्याकुलो मा भूरित्यभिप्रायः। अत्र च परस्य ब्रह्मणो वाचकरूपेण च यः पुनरेतत्त्रिमात्रेणओमित्यनेनैवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत स तमधिगच्छतीत्यादिवचनैर्मन्दमध्यमबुद्धीनां क्रममुक्तिफलकमुपासनमुक्तं तदेवेहापि विवक्षितं भगवताऽतोयोगधारणासहितमोङ्कारोपासनं तत्फलं स्वस्वरूपं ततः पुनरावृत्तिस्तन्मार्गश्चेत्यर्थजातमुच्यते यावदध्यायसमाप्ति ॥ ११ ॥

म० टी०—तत्र 'प्रवक्ष्य' इति प्रतिज्ञातमर्थं सोपकरणमाह द्वाभ्यां—सर्वद्वाराणीत्यादिना। सर्वाणीन्द्रियद्वाराणि संयम्य स्वस्वविषयेभ्यः प्रत्याहृत्य विषयदोषदर्शनाभ्यासात्तद्विमुखतामापादितैः श्रोत्रादिभिः शब्दादिविषयग्रहणमकुर्वन् बाह्येन्द्रियनिरोधेऽपि मनसः प्रचारः स्यादित्यत आह—

बोध होगा, अतः उस अक्षर को मैं कैसे जानूँ इसमें व्याकुल मत होओ यह भगवान् का अभिप्राय है। यहाँ पर परब्रह्म का वाचकरूप से प्रतिमा के समान प्रतीक रूप से भी जो त्रिमात्र इस ॐकार अक्षर से परमपुरुष का ध्यान करेगा वह उसको प्राप्त करता है इत्यादि वचनों से मन्द मध्यम बुद्धियों का क्रममुक्ति फलक उपासना कही गई है वही यहाँ भी भगवान को विवक्षित है। अतः योगधारण सहित ॐकार की उपासना तत्फल स्वस्वरूप अपुनरावृत्ति तन्मार्ग इन अर्थ समुदायों को अध्याय समाप्ति पर्यन्त कहते हैं ॥११॥

इसमें 'प्रवक्ष्ये' इस पूर्व प्रज्ञात अर्थ का सानुबन्ध वन्ध कहते हैं दो श्लोकोंसे—सम्पूर्ण इन्द्रिय द्वारों को अपने अपने विषयों से अर्थात् विषयों के दोष ज्ञानाभ्यास से तत्तत् विषयों से इन्द्रिय श्रोत्रादिकों को विषयग्रहण से पराङ्मुख कराना इसी प्रकार बाह्येन्द्रियनिरोध में भी मन का प्रचार होगा इस शंका से कहते हैं—

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ॥ १३ ॥

जो पुरुष, ॐ ऐसे इस एक अक्षररूप ब्रह्मको उच्चारण करता हुआ और उसके अर्थस्वरूप मेरेको चिन्तन करता हुआ शरीर को त्याग-करता है, वह पुरुष परमगतिको प्राप्त होता है ॥ १३ ॥

मनो हृदि निरुध्य च अभ्यासवैराग्याभ्यां षष्ठे व्याख्याताभ्यां हृदयदेशे मनो निरुध्य निर्वृत्तिकतामापाद्य च अन्तरपि विषयचिन्तामकुर्वन्नित्यर्थः। एवं बहिरन्तरुपलब्धिद्वाराणि सर्वाणि संनिरुध्य क्रियाद्वारं प्राणमपि सर्वतो निगृह्य भूमिजयक्रमेण मूर्ध्न्याधाय भ्रुवोर्मध्ये तदुपरि च गुरूपदिष्टमार्गेणावेश्यात्मनो-योगधारणाम् आत्मविषयसमाधिरूपां धारणामास्थितः। 'आत्मनः' इति देवतादि-व्यावृत्त्यर्थम् ॥ १२ ॥

म० टी०—ओमिति। ओमित्येकम् अक्षरं ब्रह्मवाचकत्वात् प्रतिमावद् ब्रह्मप्रतीकत्वाद्वा ब्रह्म व्याहरन्नुच्चरन्, ओमिति व्याहरन्नित्येतावतैव निर्वाहे एकाक्षरमित्यनायासकथनेन स्तुत्यर्थम्, ओमिति व्याहरन् एकाक्षरम्

हृदय में मन को अभ्यासवैराग्य से जो छठवें अध्याय में व्याख्यात है उन से मन को निवृत्ति कर बाद भीतर भी विषय चिन्ता न करे। इसी प्रकार बाहर भीतर इन्द्रियों को रोक कर क्रिया का द्वारभूत प्राण को सब तरह रोक कर भूमिजय क्रम से शिर में स्थापन कर भ्रुवों के मध्य में उसके ऊपर गुरु कथित मार्ग से आधान कर आत्मविषयक समाधिरूप धारणा का आश्रित हो। देवतादि व्यावृ-त्यर्थ 'आत्मनः' कहा ॥१२॥

ॐमित्येकमक्षरम्' यहाँ ॐ शब्द ब्रह्मवाचक है, प्रतिमा के समान ब्रह्म प्रतीक होने से, वा ब्रह्म ॐ को कहते हैं। वैयाकरण वाच्यवाचक का अभेद मानते हैं, शास्त्र लोक में 'गौरिति शब्दः गौरित्यर्थः; शब्द अर्थ को एक ही पद से कहते हैं अतः ब्रह्मवाचक ॐ ब्रह्म है अथवा विष्णुप्रतिमा को जैसे विष्णु कहते हैं वैसा ही प्रकृत ब्रह्म प्रतीक ॐ ब्रह्म है उसका उच्चारण करता हुआ, ॐ का उच्चारण करता हुआ इतना कहने से ही अर्थ सिद्ध हो जाता है। एकाक्षर यह अनायास कथन से स्तुत्यर्थ है, एक अक्षर के उच्चारण से स्वल्पश्रम है। ॐ का उच्चारण करता

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याऽहं सुलभः पार्थ! नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥ १४॥

और हे अर्जुन! जो पुरुष मेरेमें अनन्यचित्तसे स्थित हुआ, सदा ही निरन्तर मेरेको स्मरण करता है, उस निरन्तर मेरेमें युक्त हुए योगीके लिये मैं सुलभ हूँ, अर्थात् सहज ही प्राप्त हो जाता हूँ॥ १४ ॥

एकमद्वितीयमक्षरमविनाशि सर्वव्यापकं ब्रह्म माम् ओमित्यस्यार्थं स्मरन्निति वा तेन प्रणवं जपंस्तदभिधेयभूतश्च मां चिन्तयन् मूर्धन्यया नाड्या देहं त्यजन् यः प्रयाति स याति देवयानमार्गेण ब्रह्मलोकं गत्वा तद्भोगान्ते परमां प्रकृष्टां गतिं मद्रूपाम्। अत्र पञ्जलिना 'तीव्रसंवेगानामासन्नः समाधिलाभः' इत्युक्त्वा 'ईश्वर प्रणिधानाद्वा' इत्युक्तम्, ईश्वरप्रणिधानं च व्याख्यातम्—'तस्य वाचकः प्रणवः' 'तज्जपस्तदर्थभावनम्' इति, 'समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्' इति च। इह तु साक्षादेव ततः परमगतिलाभ इत्युक्तं तस्मादविरोधाय 'ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्' आत्मनो योगधारणामास्थित इति व्याख्येयम्, विचित्रफलत्वोपपत्तेर्वा न विरोधः॥ १३ ॥

हुआ एकाक्षर अद्वितीय अविनाशी सर्वव्यापक ब्रह्म मुझको स्मरण करता हुआ अथवा तदर्थ स्मरण करता हुआ यह भी अर्थ है, इससे प्रणव का जप तदर्थ मेरा स्मरण करता हुआ मूर्द्धन्यनाड़ी से देह का त्याग करता हुआ जो पुरुष जाता है। देवयान मार्ग से ब्रह्मलोक जाकर तल्लोकभोग भोगने के अनन्तर मद्रूप प्रकृष्टगति प्राप्त करता है। यहाँ पर पतञ्जलि ने लिखा है—'तीव्रसंवेगानामासन्नः समाधिलाभः' यह कहकर 'ईश्वरप्रणिधानाद्वा' यह कहा प्रणिधान की व्याख्या कर चुके हैं। 'तस्य वाचकः प्रणवः' 'तजपस्तदर्थभावनम्' इति, 'समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्' इन सबोंका। यहाँ तो साक्षात् ही उससे परमगति का लाभ होता है यह कहा, अतः अविरोध केलिए ॐमित्येकाक्षर ब्रह्म का उच्चारण करता हुआ मेरा स्मरण करता हुआ 'आत्मनः योगधारणामास्थितः' ऐसा व्याख्यान करना चाहिए अथवा विचित्रफलोत्पत्ति से भी विरोध का परिहार करना॥ १३ ॥

म० टी०---य एवं वायुनिरोधवैधुर्येण भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य मूर्धन्यया नाड्या देहं त्यक्तुं स्वेच्छया न शक्नोति किंतु कर्मक्षयेणैव परवशो देहं त्यजति तस्य किं स्यादिति तदाह—**अनन्यचेता** इति। न विद्यते मदन्यविषये चेतो यस्य सोऽनन्यचेताः सततं निरन्तरं नित्यशो यावज्जीवं यो मां स्मरति तस्य स्ववशतया परवशतया वा देहं त्यजतोऽपि नित्ययुक्तस्य सततसमाहितचित्तस्य योगिनः सुलभः सुखेन लभ्योऽहं परमेश्वरः इतरेषामतिदुर्लभोऽपि हे पार्थ! तवाहमतिसुलभो मा भैषीरित्यभिप्रायः। अत्र तस्येति षष्ठी शेषे, संबन्धसामान्ये कर्तरि 'न लोक' इत्यादिना निषेधात्। अत्र चानन्यचेतस्त्वेन सत्कारोऽत्यादरः सततमिति नैरन्तर्यं नित्यश . इति दीर्घकालत्वं स्मरणस्योक्तं ते न स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिरिति पातञ्जलं मतमनुमतं भवति। तत्र सततमित्यभ्यास उक्तोऽपि स्मरणपर्यवसायी तेन यावज्जीवं प्रतिक्षणं विक्षेपान्तरशून्यतया भगवदनुचिन्तनमेव परमगतिहेतुः, मूर्धन्यया नाड्या तु स्वेच्छया प्राणोत्क्रमणं भवतु न वेति नातीवाग्रहः॥ १४॥

जो उक्त प्रकार से वायुनिरोध में समर्थ तथा भ्रुवों के मध्य में प्राण चढ़ाकर मूर्द्धन्यनाड़ी से स्वेच्छा से देहत्याग करने में समर्थ नहीं किन्तु कर्मक्षय होने पर परवश होकर देहत्याग करता है उसको क्या होगा यह कहते हैं—अनन्य से। मुझसे अतिरिक्त विषय में जिसका चित्त नहीं रहता वह पुरुष अनन्यचेता है। सदा यावज्जीवन जबतक जीता है मेरा ही स्मरण करता है उस स्वेच्छा से अथवा परेच्छा से शरीरत्याग करने वाले को मैं सुलभ हूँ क्योंकि वह नित्य समाहित योगी है सुख से लभ्य हूँ इतर को दुर्लभ होने पर भी हे पार्थ! तुमको मैं अति सुलभ हूँ मत डरो यह अभिप्राय भगवान् का है। यहाँ पर 'तस्य' यह षष्ठी शेष में है सम्बन्धसामान्य में कर्ता में 'न लोकाव्यय' इत्यादि सूत्र षष्ठी का निषेधक है। अनन्यचित्तत्व से अति आदररूपसत्कार नैरन्तर्य से दीर्घकालत्व स्मरण में कहा, इससे 'स तु दीर्घकाल' इत्यादि सूत्रानुसारि तन्मत का अनुसरण है उसमें 'सततं' इससे अभ्यास का परामर्श योग्य है स्मरण का नहीं तथापि स्मरणपर्यवसायी अभ्यास इष्ट है इससे जीवनपर्यन्त प्रतिक्षण विषयान्तरशून्य मन से भगवान का चिन्तन ही परमगति हेतु है, मूर्द्धन्यनाड़ीद्वारा स्वेच्छा से प्राणोत्क्रमण हो अथवा न हो उक्त नाड़ीद्वारा उत्क्रमण में अधिक आग्रह नहीं॥१४॥

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः ॥ १५ ॥
आब्रह्म भुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन!।
मामुपेत्य तु कौन्तेय! पुनर्जन्म न विद्यते ॥ १६ ॥

और वे परमसिद्धिको प्राप्त हुए महात्माजन मेरेको प्राप्त होकर, दुःखके स्थानरूप क्षणभंगुर पुनर्जन्मको नहीं प्राप्त होते हैं ॥ १५॥

क्योंकि, हे अर्जुन! ब्रह्मलोकसे लेकर सब लोक पुनरावर्ती स्वभाववाले अर्थात् जिनको प्राप्त होकर पीछे संसारमें आना पड़ता है, परन्तु हे कुन्तीपुत्र! मेरेको प्राप्त होकर उसका पुनर्जन्म नहीं होता है, क्योंकि मैं कालातीत हूँ और यह सब ब्रह्मादिकोंके लोक कालकरके अवधिवाले होने से अनित्य हैं ॥ १६॥

म० टी०—भगवन्तं प्राप्ताः पुनरावर्तन्ते संदेहे नावर्तन्त इत्याह—**मामुपेत्य पुन**रिति। मामीश्वरं प्राप्य पुनर्जन्म मनुष्यादिदेहसंबन्धं कीदृशं दुःखालयं गर्भवासयोनिद्वारनिर्गमनाद्यनेकदुःखस्थानम् अशाश्वतमस्थिरं दृष्टनष्टप्रायं नाप्नुवन्ति पुनर्नावर्तन्त इत्यर्थः। यतो महात्मानः रजस्तमोमलरहितान्तःकरणाः शुद्धसत्त्वाः समुत्पन्नसम्यग्दर्शना मल्लोकभोगान्ते परमां सर्वोत्कृष्टां संसिद्धिं मुक्तिं गतास्ते अत्र 'मां प्राप्य सिद्धिं गताः' इति वदतोपासकानां क्रममुक्तिर्दर्शिता ॥ १५ ॥

भगवत्प्राप्ति होने पर फिर संसार में आना पड़ता है या नहीं इस सन्देह से कहते हैं—**मामुपेत्य** से। नहीं आना पड़ता है क्योंकि मुझ ईश्वर को प्राप्त कर फिर जन्म नहीं लेते, जन्म का विशेषण कहते हैं-दुःखालय दुःखों का गृह आश्रय गर्भ में निवास योनिद्वार से निकलना ही अनेक दुःख स्थान अनित्य दृष्टनष्टप्राय देखा गया वा नष्ट हुआ स्वप्नोपम एवं भूत मनुष्यादि देह सम्बन्ध नहीं पाते। इसमें हेतु कहते हैं महान् है आत्मा अन्तःकरण जिनका रजस्तमःशून्य शुद्धसत्त्वगुणोपचितान्तःकरण अतएव संजाततत्त्वज्ञान मदीयलोक भोगावसान में सर्वोत्कृष्ट संसिद्धि अर्थात् मुक्ति में प्राप्त करते हैं यहाँ पर 'मां प्राप्य सिद्धिं गताः' इस कथन से उपासकों को क्रम मुक्ति दिखलाई गई है ॥१५॥

म० टी०--भगवन्तमुपागतानां सम्यग्दर्शिनामपुनरावृत्तौ कथितायां ततो विमुखानामसम्यग्दर्शिनां पुनरावृत्तिरसिद्धेत्याह--**आब्रह्मेति**। आब्रह्मभुवनात् भवन्त्यत्र भूतानीति भुवनं लोकः अभिविधावाकारः, ब्रह्मलोकेन सह सर्वेऽपि लोकाः मद्विमुखानामसम्यग्दर्शिनां भोगभूमयः पुनरावर्तिनः पुनरावर्तनशीलाः, ब्रह्मभवनादिति पाठे भवनं वासस्थानमिति स एवार्थः। हे अर्जुन स्वतः प्रसिद्धमहापौरुष! किं तद्वदेव त्वां प्राप्तानामपि पुनरावृत्ति-र्नेत्याह--**मामिति**। मामीश्वरमेकमुपेत्य 'तु' शब्दो लोकान्तरवैलक्षण्यद्योत-नार्थः, अवधारणार्थो वा मामेव प्राप्य निर्वृतानां हे कौन्तेय! मातृतोऽपि प्रसिद्धमहानुभाव! पुनर्जन्म न विद्यते पुनरावृत्तिर्नास्तीत्यर्थः। अत्रार्जुन कौन्तेयेति संबोधनद्वयेन स्वरूपतः कारणतश्च शुद्धिर्ज्ञानसंपत्तये सूचिता। अत्रेयं व्यवस्था ये क्रममुक्तिफलाभीरुपासनाभिर्ब्रह्मलोकं प्राप्तास्तेषामेव तत्रोत्पन्नसम्यग्दर्शनानां ब्रह्मणा सह मोक्षः, ये तु पञ्चाग्निविद्यादिभिरतत्क्रतवो-

---

भगवत् शरणागत तत्त्वज्ञानियों की पुनरावृत्ति नहीं होती इसके कहने पर भगवद् विमुख अतत्त्वज्ञानी हैं इनकी पुनरावृत्ति अर्थतः सिद्ध है यह कहते हैं—'आब्रह्म भुवनात्' इत्यादि से। जिसमें भूत प्राणी उत्पन्न होते हैं वह भुवन लोक कहाता है 'आब्रह्म' में आकार अभिविधि में है। ब्रह्मलोक के साथ सब लोक भगवद् विमुख अतत्त्वज्ञानियों के भोगभूमि और पुनरावर्ति हैं 'आब्रह्म भवनात्' यदि यह पाठ है तो भवन का वासस्थान अर्थ है। अर्थ वही है जो कह चुके हैं हे अर्जुन! स्वतः सिद्ध महापराक्रम।

प्रश्न—क्या वैसे ही आपको प्राप्त कर फिर आवृत्ति होती है?

उत्तर—नहीं, एक ईश्वर मुझको प्राप्त कर आवृत्ति नहीं होती है। 'तु' शब्द लोकान्तरविलक्षणता सूचनार्थ अथवा अवधारणार्थ है। द्वितीय अर्थ मुझको ही प्राप्त कर कृतकृत्य होकर हे कौन्तेय! प्रसिद्ध महानुभाव फिर जन्म नहीं होता पुनरावृत्ति नहीं होती यह अभिप्राय है। अर्जुन! कौन्तेय! इन दो सम्बोधनों से स्वरूपतः और हेतुतः शुद्धि ही ज्ञानोत्पत्ति के लिए आवश्यक है यह सूचित किया। यहाँ पर यह व्यवस्था है जो लोग क्रममुक्तिफलक उपासना से ब्रह्मलोक प्राप्त करते हैं उन्ही को ब्रह्मलोक में तत्त्वज्ञानोत्पत्ति होने से ब्रह्म के साथ मोक्ष होता है, जो पञ्चाग्निविद्यादि से ब्रह्मलोक प्राप्त करते हैं वे अतत्क्रतु

सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः।
रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः॥ १७॥

हे अर्जुन! ब्रह्माका जो एक दिन है उसको हजार चौकड़ी युग-तक अवधिवाला और रात्रिको भी हजार चौकड़ी युगतक अवधिवाली जो पुरुष तत्त्वसे जानते हैं, अर्थात् कालकरके अवधिवाला होनेसे ब्रह्म लोकको भी अनित्य जानते हैं, वे योगीजन कालके तत्त्वको जानने-वाले हैं॥ १७॥

ऽपि तत्र गतास्तेषामवश्यंभावि पुनर्जन्म, अतएव क्रममुक्त्याभिप्रायेण 'ब्रह्मलोक-मभिसंपद्यते नच पुनरावर्तते अनावृत्तिः शब्दात्' इति श्रुतिसूत्रयोरुपपत्तिः। इतरत्र तेषामिह न पुनरावृत्तिः 'इमं मानवमावर्तनं नावर्तन्त इति हेम इति च विशेषणाद्गमनाधिकरणकल्पादन्यत्र पुनरावृत्तिः प्रतीयते॥ १६॥

म० टी०—ब्रह्मलोकसहिताः सर्वे लोकाः पुनरावर्तिनः कस्मात् काल-परिच्छिन्नत्वादित्याह—सहस्रेति। मनुष्यपरिमाणेन सहस्रयुगपर्यन्तं सहस्रं युगानि चतुर्युगानि पर्यन्तोऽवसानं यस्य तत् 'चतुर्युगसहस्रं तु ब्रह्मणो दिनमुच्यत' इति हि पौराणिकं वचनं तादृशं ब्रह्मणः प्रजापतेरहर्दिनं यत् ये विदुः तथा रात्रिं युगसहस्रपर्यन्तां ये विदुरिति अनुवर्तते तेऽहोरात्रविदः त

होने से अर्थात् तत्संकल्प रहित होने से अवश्यम्भावी पुनर्जन्म है। अतएव क्रममुक्ति के अभिप्राय से 'ब्रह्मलोकमभिसंपद्यते नच पुनरावर्तते' इन श्रुति-सूत्रों की उपपत्ति होती है। अन्यत्र ब्रह्मलोक प्राप्त को पुनरावृत्ति नहीं होती 'इम-मानवमावर्तनं न आवर्तन्ते' 'इह इमं' इस विशेषण से गमनाधिकरण से अन्यत्र पुनरावृत्ति प्रतीत होती है॥१६॥

ब्रह्मलोक सहित सब लोक क्यों पुनरावर्ति है इसमें हेतु कहते हैं—कालपरि-च्छिन्नत्व। मनुष्य परिमाण से हजार युग पर्यन्त चारों युगों का हजार पर्यन्त चतुरयुगसहस्र ब्रह्मा का एक युग कहा जाता है। 'चतुर्युगसहस्रन्तु ब्रह्मणो दिन-मुच्यते' यह पौराणिक वचन है। प्रजापति ब्रह्मा का चार हजार युग पर्यन्त दिन जो जानते हैं तथा चतुर्युग एक सहस्र पर्यन्त इनकी रात्रि जो जानते हैं वे अहो-

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे ।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥ १८ ॥

इसलिये वे भी जानते हैं, कि संपूर्ण दृश्यमात्र भूतगण ब्रह्माके दिनके प्रवेशकालमें, अव्यक्तसे अर्थात् ब्रह्माके सूक्ष्म शरीरसे उत्पन्न होते हैं और ब्रह्माकी रात्रिके प्रवेशकालमें उस अव्यक्त नामक ब्रह्माके सूक्ष्म शरीरमें ही लय होते हैं ॥ १८ ॥

एवाहोरात्रविदो योगिनो जनाः, ये तु चन्द्रार्कगत्यैव विदुस्तेनाहोरात्रविदः स्वल्पदर्शित्वादित्यभिप्रायः ॥ १७ ॥

म० टी०—यथोक्तैरहोरात्रैः पक्षमासादिगणनया पूर्णं वर्षशतं प्रजापतेः परमायुरिति कालपरिच्छिन्नत्वेनानित्योऽसौ तेन तल्लोकात्पुनरावृत्तिर्युक्तैव । ये तु ततोऽर्वाचीनास्तेषां तमहर्मात्रपरिच्छिन्नत्वात्तत्तल्लोकेभ्यः पुनरावृत्तिरिति किमु वक्तव्यमित्याह—अव्यक्ता दिति । अत्र दैनन्दिनसृष्टिप्रलययोरेव वक्तुमुपक्रान्तत्वात्तत्र चाकाशादीनां सत्त्वादव्यक्तशब्देनाव्याकृतावस्था नोच्यते किंतु प्रजापतेः स्वापावस्थैव, स्वापावस्थः प्रजापतिरिति यावत्

रात्रविदः, अर्थात् ब्रह्मा के दिन एक रात्रि के जानने वाले योगीजन हैं। जो सूर्य चन्द्रमा के गति से ही काल जानते हैं वे अल्पज्ञ होने से ब्रह्मा के अहोरात्र को नहीं जानते यह अभिप्राय है ॥१७॥

पूर्वोक्त अहोरात्र से पक्ष मासादिगणना से पूर्ण सौ वर्ष ब्रह्मा की परमायु है। अर्थात् पन्द्रह दिनों का पक्ष को पक्षों का एक मास और बारह मासों का एक वर्ष होता है, हम लोगों के पक्ष मास वर्ष के समान ही प्रजापति का भी पक्ष मास वर्ष है, भेद केवल इतना है कि हम लोगों का दिन रात सूर्य चन्द्र की गति से होता है और उनकी दिनरात्रि युगसहस्र से होती है। उक्त रीति से काल-परिच्छिन्न होने से वह भी अनित्य है। इससे उस लोक से पुनरावृत्ति उचित ही है जो उनसे न्यून है उनके दिनमात्र से परिच्छिन्न होने से तत्तल्लोक से पुनरावृत्ति होने में कहना ही क्या है। यहाँ प्रतिदिन सृष्टि प्रलय को कहने का उपक्रम है उसमें आकाशादि रहते हैं अतः अव्यक्त शब्द से अव्यक्तावस्था नहीं कहते हैं किन्तु प्रजापति की स्वापावस्था ही कहते हैं। प्रजापति स्वापावस्थ हैं यह तात्पर्य है। दिन

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते ।
राज्यागमेऽवशः पार्थ! प्रभवन्त्यहरागमे ॥ १९ ॥

और वह ही यह भूतसमुदाय उत्पन्न हो होकर, प्रकृतिके वशमें हुआ, रात्रिके प्रवेशकालमें लय होता है और दिनके प्रवेशकालमें फिर उत्पन्न होता है, हे अर्जुन ! इस प्रकार ब्रह्मके एक सौ वर्ष पूर्ण होनेसे अपने लोकसहित ब्रह्मा भी शान्त हो जाता है ॥ १९ ॥

अहरागमे प्रजापतेः प्रबोधसमये अव्यक्तात्तत्स्वापावस्थारूपाद्व्यक्तयः शरीरविषयादिरूपा भोगभूमयः प्रभवन्ति व्यवहारक्षमतयाऽभिव्यज्यन्ते राज्यागमे तस्य स्वापकाले पूर्वोक्ताः सर्वा अपि व्यक्तयः प्रलीयन्ते । तिरोभवन्ति यत आविर्भूतास्तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके कारणे प्रागुक्ते स्वापावस्थे प्रजापतौ ॥ १८ ॥

म० टी०—एवमाशु विनाशित्वेऽपि संसारस्य न निवृत्तिः क्लेशकर्मादिभिरवशतया पुनः पुनः प्रादुर्भावात् प्रादुर्भूतस्य पुनः क्लेशादिवशेनैव तिरोभावात् संसारे विपरिवर्तमानानां सर्वेषामपि प्राणिनामस्वातन्त्र्यादवशानामेव जन्ममरणादिदुःखप्रबन्धसंबन्धादलमनेन संसारेणेति वैराग्योत्पत्त्यर्थं समाननामरूपत्वेन च पुनः पुनः प्रादुर्भावात् कृतनाशाकृताभ्यागमपरिहारार्थं

होने में अर्थात् प्रजापति के जागने के समय अव्यक्त से जो तत् प्रजापति की स्वापावस्था है उससे शरीर विषयादिरूप भोगभूमियाँ उत्पन्न होती हैं अर्थात् व्यवहारयोग्य होने से अभिव्यक्त होती हैं। रात्री के आने में अर्थात् प्रजापति के स्वापकाल में सम्पूर्ण व्यक्तियाँ प्रलीन हो जाती हैं जिससे व्यक्त हुई हैं वही प्रगुक्त अव्यक्तसंज्ञक कारण में जो कि स्वापावस्थ प्रजापति है उसीमें लीन होती हैं ॥१८॥

इस प्रकार शीघ्र विनाशी होने पर भी संसार की निवृत्त नहीं विवश होकर क्लेशकर्मादि से पुनः पुनरभिव्यक्ति और अभिव्यक्त का पुनः क्लेशादिवश स्वकारण में लय संसार में होनेवाले सम्पूर्ण प्राणियवर्ग का अस्वतन्त्र होने से विवश का ही जन्ममरणादि दुःखप्रवाह सबन्ध होता है अतः यह संसार व्यर्थ है। इस प्रकार वैराग्योत्पादन के लिए समान नामरूप से पुनः पुनः लयादि कहा है अथवा कृतनाश अकृताभ्यागमपरिहार के लिए भूतसमुदाय स्थावर जङ्गम

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः ।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति ॥ २० ॥

परन्तु उस अव्यक्तसे भी अति परे, दूसरा अर्थात् विलक्षण जो सनातन अव्यक्त भाव है, वह सच्चिदानन्द पूर्णब्रह्म परमात्मा, सब भूतोंके नष्ट होनेपर भी नहीं नष्ट होता है ॥ २० ॥

त्याह--भूतग्राम इति। भूतग्रामो भूतसमुदायः स्थावरजङ्गमलक्षणो यः पूर्वस्मिन्कल्पे स्थितः स एवायम् एतस्मिन् कल्पे जायमानोऽपि न तु प्रतिकल्पमन्योऽन्यश्च असत्कार्यवादानभ्युपगमात्,—

'सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्।
दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथोस्वः ॥'

इति श्रुतेः, 'समाननामरूपत्वादावृत्तावप्यविरोधो दर्शनात् स्मृतेश्च इति न्यायाच्च। 'अवश' इत्यविद्याकामकर्मादिपरतन्त्रः। हे पार्थ ! स्पष्टमितरत् ॥ १९ ॥

म० टी०—एवमवशानामुत्पत्तिविनाशप्रदर्शनेन 'आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनः' इत्येतद्व्याख्यातम्, अधुना 'मामुपेत्य पुनर्जन्म न विद्यत' इत्येतद्व्याचष्टे द्वाभ्यां--परस्तस्मादिति। तस्माच्चराचरस्थूलप्रपञ्चकारणभूताद्धिरण्यगर्भाख्यादव्यक्तात् परो व्यतिरिक्तः श्रेष्ठो वा तस्यापि कारणभूतः

लक्षण जो पूर्वकल्प में था वही यह नये कल्प में अभिव्यक्त होता है प्रतिकल्प में कल्पभेद से संसार भिन्न नहीं होता क्योंकि असत् कार्यवाद का स्वीकार नहीं जो चीज नहीं है वह नवीन नहीं होती—'सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्' इत्यादि श्रुति उक्तार्थ में प्रमाण है। 'समाननामरूपत्वादावृत्तावप्यविरोधो दर्शनात् स्मृतेश्च' यह न्याय है। 'अवशः' इससे अविद्या कामकर्मादि पराधीन संसार है, हे पार्थ अर्जुन ! अन्य स्पष्ट है ॥१९॥

इस प्रकार अवश पराधीनों के उत्पत्ति विनाश प्रदर्शन से 'आब्रह्म भुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनः' यह व्याख्यात हुआ अब 'मामुपेत्य पुनर्जन्म न विद्यते' इसका व्याख्यान दो श्लोकों से करते हैं–'परः' इससे। तस्मात् चर अचर स्थूल संसारकारण हिरण्यगर्भाख्य अव्यक्त से पर अतिरिक्त अथवा श्रेष्ठ उसका अधिकारभूत अतिरिक्त

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम् ।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥ २१ ॥

और जो वह अव्यक्त, अक्षर ऐसे कहा गया है, उस ही अक्षर नामक अव्यक्त भावको परमगति कहते हैं तथा जिस सनातन अव्यक्त भावको प्राप्त होकर मनुष्य पीछे नहीं आते हैं, वह मेरा परमधाम है ॥ २१ ॥

व्यतिरेकेऽपि सालक्षण्यं स्यादिति नेत्याह—अन्योऽत्यन्तविलक्षणः 'न तस्य प्रतिमा अस्ति' इति श्रुतेः । अव्यक्तो रूपादिहीनतया चक्षुराद्यगोचरो भावः कल्पितेपु सर्वेषु कार्येषु सद्रूपेणानुगतः अत एव सनातनो नित्यः 'तु' शब्दो हेयादनित्यादव्यक्तादुपादेयत्वं नित्यस्याव्यक्तस्य वैलक्षण्यं सूचयति । एतादृशो यो भावः स हिरण्यगर्भ इव सर्वेषु भूतेषु नश्यत्स्वपि न विनश्यति उत्पद्यमानेष्वपि नोत्पद्यत इत्यर्थः । हिरण्यगर्भस्य तु कार्यस्य भूताभिमानित्वात्तदुत्पत्तिविनाशाभ्यां युक्तावेवोत्पत्तिविनाशौ न तु तदनभिमानिनो कार्यस्य परमेश्वरस्येति भावः ॥ २० ॥

म० टी०—यो भाव इहाव्यक्त इत्यक्षर इति चोक्तेऽन्यत्रापि श्रुतिषु स्मृतिषु च तं भावमाहुः श्रुतयः स्मृतयश्च 'पुरुषान्न परं किञ्चित्सा काष्ठा सा

पक्ष में समानरूपता को भी 'न इत्याह' अर्थात् नहीं हैं अत्यन्त विलक्षण जिसका सादृश्य नहीं है अतएव 'न तस्य प्रतिमाऽस्ति' यह श्रुति । है अव्यक्त रूपादि शून्य होनेसे चक्षुराद्यविषय कल्पित सब कार्यों में सद्रूप से अनुगत भाव अतएव सनातन नित्य 'तु' शब्द हेय, अनित्य, अव्यक्त से उपादेयत्व नित्य अव्यक्त वैलक्षण्य सूचित होता है । इस तरह का जो भाव है वह हिरण्यगर्भ के समान सब भूतों के नाश होने पर नष्ट नहीं होता उत्पन्न होने पर उत्पन्न नहीं होता यह अर्थ है । हिरण्यगर्भ तो कार्यभूताभिमानी होने से तदुत्पत्ति विनाश से युक्त हो उत्पत्ति विनाश है तत् अनभिमानी अकार्य परमेश्वर का उत्पत्ति विनाश नहीं ॥२०॥

जो भाव यह अव्यक्त और अक्षर कहा गया है अन्य श्रुति स्मृतियों में भी उस भाव को श्रुति स्मृतयों में कहा है—'पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा

पुरुषः स परः पार्थ! भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम्॥ २२॥

और हे पार्थ! जिस परमात्माके अन्तर्गत सर्व भूत हैं और जिस सच्चिदानन्दघन परमात्मासे यह सब जगत् परिपूर्ण है वह सनातन अव्यक्त परमपुरुष, अनन्यभक्तिसे प्राप्त होने योग्य है॥ २२॥

परा गतिः' इत्याद्याः परमामुत्पत्तिविनाशशून्यस्वप्रकाशपरमानन्दरूपां गतिं पुरुषार्थविश्रान्तिम्। यं भावं प्राप्य न पुनः निवर्तन्ते संसाराय तद्धाम स्वरूपं मम विष्णोः परमं सर्वोत्कृष्टम्। 'मम धाम' इति 'राहोः शिरः' इतिवद्भेदकल्पनया षष्ठी, अतोऽहमेव परमा गतिरित्यर्थः॥ २१॥

म० टी०—इदानीम् 'अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः। तस्याऽहं सुलभः' इति प्रागुक्तं भक्तियोगमेव तत्प्राप्त्युपायमाह—**पुरुष** इति। स वरो निरतिशयः पुरुषः परमात्माऽहमेव। अनन्यया न विद्यतेऽन्यो विषयो यस्यां तया प्रेमलक्षणया भक्त्यैव लभ्यो नान्यथा। स कः? इत्यपेक्षायामाह—**यस्ये**ति। यस्य पुरुषस्यान्तःस्थान्यन्तर्वर्तीनि भूतानि सर्वाणि कार्याणि कारणान्तर्वर्तित्वात्कार्यस्य अत एव येन पुरुषेण सर्वमिदं कार्यजातं ततं व्याप्तं 'यस्मात्परं नाऽपरमस्ति किञ्चिद्यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित् वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्ये

सा परागतिः' उत्पत्तिविनाशशून्य स्वप्रकाश परमानन्दरूप पुरुषार्थ विश्रान्ति परमागति हैं। जिस भाव को प्राप्त कर संसार के लिए फिर नही लौटते वहीं स्वरूप विष्णु मेरा है वही सर्वोत्कृष्ट है। 'मम धाम' यहाँ पर 'मम' में षष्ठी 'राहोः शिरः' के समान अभेद में भेद कल्पना से है .अतः मैं ही परमा गति हूँ, यहाँ मोक्ष सारूप्य विवक्षित है सालोक्य नहीं॥२१॥

उस समय 'अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः। तस्याऽहं सुलभः' इस प्रागुक्त भक्तियोग ही भगवत्प्राप्ति का उपाय है वही पर निरतिशय पुरुष परमात्मा मैं ही हूँ। 'अनन्यया' नहीं है अन्यविषय जिसमें उस प्रेमलक्षण शक्ति से ही मैं लभ्य हूँ अन्यथा नहीं। वह कौन है? इस अपेक्षा में कहते हैं—यस्य से। जिस पुरुष के भीतर ही सम्पूर्ण कार्यात्मक भूत हैं क्योंकि कार्य कारण के भीतर ही रहता है अतएव जिस पुरुष से सम्पूर्ण कार्य तत् अर्थात् व्याप्त है जिससे पर अपर कुछ नहीं है जिससे कोई बड़ा छोटा नहीं निश्चल वृक्ष के समान एक ही आकाश

यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः।
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ ! ॥ २३ ॥

और हे अर्जुन ! जिसकालमें शरीर त्यागकर गये हुए योगीजन पीछा न आनेवाली गतिको और पीछा आनेवाली गतिको भी, प्राप्त होते हैं, उस कालको अर्थात् मार्गको कहूँगा ॥ २३ ॥

कस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्। यच्च किञ्चिज्जगत्सर्वं दृश्यते श्रूयतेऽपि वा अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः, 'स पर्यगाच्छुक्रम्' इत्यादिश्रुतिभ्यः ॥ २२ ॥

म० टी०—सगुणब्रह्मोपासकास्तत्पदं प्राप्य न निवर्तन्ते किं तु क्रमेण मुच्यन्ते तत्र तल्लोकभोगात्प्रागनुत्पन्नसम्यग्दर्शनानां तेषां मार्गापेक्षा विद्यते न तु सम्यग्दर्शिनामिव तदनपेक्षेत्युपासकानां तल्लोकप्राप्तये देवयानमार्ग उपदिश्यते पितृयानमार्गोपन्यासस्तु तस्य स्तुतये अत आह—यत्रकाल इति। प्राणोत्क्रमणान्तनरं यस्मिन्काले कालाभिमानिदेवतोपलक्षिते मार्गे प्रयाता योगिनो ध्यायिनः कर्मिणश्च अनावृत्तिमावृत्तिं च यान्ति देवयाने पथि प्रयाता ध्यायिनोऽनावृत्तिं यान्ति पितृयाने पथि प्रयाताश्च कर्मिण आवृत्तिं यान्ति।

में स्थित है जिस पुरुष से सब पूर्ण है—

'यच्च किञ्चित् जगत्सर्वं दृश्यते श्रूयतेऽपि वा।
अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः॥'

'स पर्यगाच्छुक्रम्' इत्यादि श्रुतियों से ॥ २२ ॥

सगुण ब्रह्मोपासक ब्रह्मलोक प्राप्त कर लौटते नहीं किन्तु क्रम से मुक्त होते है उसमें तल्लोक भोग से पूर्व तत्त्वज्ञानोत्पत्ति है नहीं इसलिए उन लोगों को वहाँ जाने के लिए मार्ग की अपेक्षा है तत्त्वज्ञानियों की तरह अनपेक्षा नहीं अतः उपासकों को ब्रह्मलोक प्राप्ति के लिए देवयान मार्ग का उपदेश है पितृयान मार्ग का उपन्यास देवयान मार्ग का स्तुति को लिए है। प्राण निकलने के बाद जिस काल में अर्थात् तत्कालाभिमानी देवता से उपलक्षित मार्ग जानेवाले योगी और कर्मी अनावृत्ति और आवृत्ति को जाते हैं, देवयानमार्ग में ध्यानशील मार्ग में ध्यानशील योगी जाने वाले अनावृति अर्थात् पुनरागति रहित जाते हैं फिर लौटते नहीं पितृयान मार्ग में जाने वाले कर्मी फिर लौटते हैं।

यद्यपि देवयानेऽपि पथि प्रयाताः पुनरावर्तन्ते इत्युक्तम्—'आब्रह्म भुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनः' इत्यत्र, तथापि पितृयाने पथि गता आवर्तन्त एव न केऽपि तत्र क्रममुक्तिभाजः देवयाने पथि गतास्तु यद्यपि केचिदावर्तन्ते प्रतीकोपासकास्तडिल्लोकपर्यन्तं गता हिरण्यगर्भपर्यन्तममानवपुरुषनीता अपि पञ्चाग्निविद्याद्युपासकाः अतत्क्रतवो भोगान्ते निवर्तन्त एव तथाऽपि दहराद्युपासकाः क्रमेण मुच्यन्ते भोगान्त इति न सर्व एवावर्तते। अतएव पितृयानः पन्था नियमेनावृत्तिफलत्वान्निकृष्टः, अयं तु देवयानः पन्था अनावृत्तिफलत्वादतिप्रशस्त इति स्तुतिरुपपद्यते केषांचिदावृत्तावप्यनावृत्तिफलत्वस्यानपायात् तं देवयानं पितृयानं च कालं कालाभिमानीदेवतोपलक्षितंमार्गं वक्ष्यामि हे भरतर्षभ!। अत्र कालशब्दस्य मुख्यार्थत्वे अग्निज्योतिर्धूमशब्दानामनुपपत्तिः गतिसृतिशब्दयोश्चेति तदनुरोधे नैकस्मिन् कालपद एव लक्षणाश्रिता कालाभिमानिदेवतानां मार्गद्वयेऽपि बाहुल्यात् अग्निधूमयोस्तदितरयोः सतोरपि

प्रश्न—यद्यपि देवयान मार्ग में जाने वाले फिर लौटते हैं यह 'आब्रह्म भुवनाल्लोका पुनरावर्तिनः' यहाँ पर कहा है, तथापि पितृयानमार्ग से जानेवाले लौटते ही हैं उनमें कोई भी क्रम से मुक्त नहीं होता। देवयान मार्ग में जाने वाले कोई यद्यपि लौटते हैं. प्रतीकोपासक विद्युल्लोकपर्यन्त जाकर हिरण्यगर्भ पर्यन्त अमानव पुरुष पहुँचाता है पञ्चाग्निविद्याद्युपासक अतत् क्रतु भी भोगान्त में भी निवृत्त ही होते हैं तथापि दहराद्युपासक क्रम से मुक्त होते हैं भोगान्त में वे सब नहीं लौटते। अतएव पितृयानमार्ग नियमेन आवृत्तिफलक होने से निकृष्ट है और यह तो देवयान मार्ग अनावृत्तिफलक होने से अत्यन्त प्रशस्त है इस प्रकार यह देवयानमार्ग की स्तुति है। किसी के निवृत्ति होने पर भी अनावृत्तिफलकत्व देवयानमार्ग में है ही। उस देवयान पितृयान कालाभिमान देवतोपलक्षित मार्ग कहेंगे। यहाँ पर यदि काल शब्द मुख्यार्थ मानें अर्थात् कालाभिमान देवतोपलक्षित मार्ग में लक्षणा न मानें तो 'अग्निर्ज्योतिः' यहां धूमशब्दादिकों की सर्वथा अनुपपत्ति होगी तथा गति श्रुति की भी अनुपपत्ति है। अतः इन दोनों के अनुरोध से एक कालपद में ही लक्षणा मानी है। कालाभिमानी देवतों का दोनों मार्गों में आधिक्य है तदितर अग्निधूम रहने पर भी अग्निहोत्र शब्द

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥ २४ ॥

उन दो प्रकारके मार्गोंमेंसे जिस मार्गमें ज्योतिर्मय अग्न्यभिमानी देवता है और दिनका अभिमानी देवता है तथा शुक्लपक्षका अभिमानी देवता है और उत्तरायणके छै महीनोंका अभिमानी देवता है, उस मार्गमें मरकर गये हुए ब्रह्मवेत्ता अर्थात् परमेश्वरकी उपासनासे परमेश्वरको परोक्षभावसे जाननेवाले योगीजन, उपरोक्त देवताओंद्वारा क्रम से ले गये हुए ब्रह्मलोक प्राप्त होते हैं ॥ २४ ॥

अग्निहोत्रशब्दवदेकदेशेनाऽप्युलक्षणं कालशब्देन, अन्यथा प्रातरग्निदेवताया अभावात् 'तत्प्रख्यं चान्यशास्त्रम्' इत्यनेन तस्य नामधेयता न स्यात् आम्रवनमिति च लौकिको दृष्टान्तः ॥ २४ ॥

म० टी०—तत्रोपासकानां देवयानं पन्थानमाह—**अग्निरिति**। अग्निर्ज्योतिरित्यर्चिरभिमानिनी देवता लक्ष्यते, अहरित्यहरभिमानिनी शुक्ल इति शुक्लपक्षाभिमानिनी, षण्मासा उत्तरायणमिति उत्तरायणरूपषण्मासाभिमानिनी देवतैव लक्ष्यते 'अतिवाहिकास्तल्लिङ्गात्' इतिन्यायात्। एतच्चान्यासामपि श्रुत्युक्तानां देवतानामुपलक्षणार्थम्। तथा च श्रुतिः—'तेऽर्चिरभिसंभवन्त्यर्चिषोऽहरह्न आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाणपक्षाद्यान् षडुदङ्ङेतिमासांस्तान्मासेभ्यः संवत्सरं संवत्सरादादित्यमादित्याच्चन्द्रमसं चन्द्रमसो विद्युतं तत्पुरुषोऽमानवः स

के समान एकदेशकालशब्द कालशब्द से उपलक्षणता है अन्यथा प्रातःकाल होम में अग्निदेवता के अभाव से 'तत्प्रख्यं चाऽन्यशास्त्रम्' इससे नाम वाचकता न होगी। आम्रवनात् यह लौकिक दृष्टान्त है केवल आम ही का वन नहीं होता किन्तु वृक्षान्तर भी है आम्र प्रचुर होने से वह आम्रवन कहाता है तथा प्रकृतिमें भी समझना ॥२३॥

उपासकों का देवयानमार्ग कहते हैं—अग्निर्ज्योतिरित्यादि। अर्चिरभिमानिनी देवता ज्योतिः शब्द से लक्षित है, अहः शब्द से दिनाभिमानिनी देवता लक्षित है। शुक्लपक्ष से तदभिमानिनी देवता 'षण्मासा उत्तरायणम्' से उत्तरायण षण्मासाभिमानिनी देवता ही लक्षित है। 'अतिवाहिकाः तल्लिङ्गात्' यह सूत्र है, यह अन्य श्रुत्युक्त देवताओं में उपलक्षणार्थ है। तथा च श्रुतिः—'तेऽर्चिरभि-

एनान् ब्रह्मगमयत्येपदेवपथो ब्रह्मपथ एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्तं नावर्तन्त इति। अत्र श्रुत्यन्तरानुसारात्संवत्सराऽनन्तरं देवलोकदेवता ततो वायुदेवता तत आदित्य इत्याकरे निर्णीतम्। एवं विद्युतोऽनन्तरं वरुणेन्द्र-प्रजापतयस्तावता मार्गपरिपूर्तिः। तत्रार्चिरहःशुक्लपक्षोत्तरायणदेवता इहोक्ताः संवत्सरो देवलोको वायुरादित्यश्चन्द्रमा विद्युद्वरुण इन्द्रः प्रजापतिश्चेत्यनुक्ता अपि द्रष्टव्याः। तत्र देवयानमार्गे प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्मकार्योपाधिकं 'कार्यं बादरिरस्य गत्युपपत्तेः' इति न्यायात्। निरुपाधिकं तु ब्रह्म तद्द्वारैव क्रममुक्ति-फलत्वात् ब्रह्मविदः सगुणब्रह्मोपासका जनाः। अत्र तेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्तं नावर्तन्त इति श्रुताविममिति विशेषणात् कल्पान्तरे केचिदा-वर्तन्त इति प्रतीयते। अत एवात्र भगवतोदासितं श्रौतमार्गकथनेनैव व्याख्यानात् ॥ २४ ॥

संभवन्ति' इत्यादि मूल में देखिये। यहाँ पर श्रुत्यन्तर के अनुसार संवत्सर के बाद देवलोक देवता तदनन्तर वायु देवता तदनन्तर आदित्य यह भाष्य में निर्णीत है। इसी प्रकार विद्युत् के अनन्तर वरुण, इन्द्र, प्रजापति हैं इतने से मार्ग पूर्ति होती है। उनमें अर्चिः, अहः, शुक्लपक्ष, उत्तरायण देवता यहाँ कहे गये हैं संवत्सर देवलोक वायु आदित्य चन्द्रमा विद्युत् वरुण इन्द्र प्रजापति ये यहाँ उक्त नहीं हैं तो भी श्रुत्यन्तर में उक्त होने से यहाँ भी मान्य हैं इनमें। देवयान मार्ग से जाने वाले कार्य ब्रह्म को प्राप्त होते हैं—'कार्यं बादरिरस्य गत्युत्पत्तेः' इस सूत्र से। निरुपाधिक ब्रह्मप्राप्ति तद्द्वार से ही होती है, क्रममुक्ति का फल सम्पन्न होता है। ब्रह्मज्ञानी सगुण ब्रह्मोपासक इस मार्ग से जाकर इस मानव आवर्त में नहीं आते। इस श्रुति में 'इमम्' इस विशेषण से कल्पान्तर में कोई आते भी हैं यह प्रतीत होता है। अतएव भगवान् यहाँ पर उदासीन हुए हैं श्रौतमार्ग कथन से ही व्याख्यान हुआ है ॥२४॥

धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम् ।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते ॥ २५ ॥

तथा जिस मार्गमें, धूमाभिमानी देवता है और रात्रिअभिमानी देवता है तथा कृष्णपक्षका अभिमानी देवता है और दक्षिणायनके छै महीनोंका अभिमानी देवता है, उस मार्गमें मरकर गया हुआ सकाम कर्मयोगी, उपरोक्त देवताओंद्वारा क्रमसे ले गया हुआ चन्द्रमाकी ज्योतिको प्राप्त होकर, स्वर्गमें अपने शुभ कर्मोंका फल भोगकर पीछा आता है ॥ २५ ॥

म० टी०—देवयानमार्गस्तुत्यर्थं पितृयानमार्गमाह—धूमोनरिति। अत्रापि 'धूम' इति धूमाभिमानिनी रात्रिरिति रात्र्यभिमानिनी 'कृष्ण' इति कृष्णपक्षाभिमानिनी 'षण्मासा दक्षिणायनम्' इति दक्षिणायनाभिमानिनी लक्ष्यते। एतदप्यन्यासां श्रुत्युक्तानामुपलक्षणम्। तथाहि श्रुतिः—'ते धूममभिसंभवन्ति धूमाद्रात्रिं रात्रेरपरपक्षमपरपक्षाद्यान् षड्दक्षिणैति मासांस्तान्नैते संवत्सरमभिप्राप्नुवन्ति मासेभ्यः पितृलोकं पितृलोकादाकाशमाकाशमाकाशच्चन्द्रमसमेष सोमो राजा तद्देवानामन्नं तद्देवा भक्षयन्ति तस्मिन् यावत् संपातमुषित्वाथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्तन्त इति। तत्र धूमरात्रिकृष्णपक्षदक्षिणायनदेवता इहोक्ताः, पितृलोक आकाशश्चन्द्रमा इत्यनुक्ता, अपि द्रष्टव्या। तत्र तस्मिन् पथि प्रयाताश्चान्द्रमसं ज्योतिः फलं योगी कर्मयोगीष्टापूर्तदत्तकारी प्राप्य यावत्संपातमुषित्वा निवर्तते संपतत्य-

देवयान मार्ग की स्तुति के लिए पितृयान मार्ग का कथन है। यहाँ भी 'धूम' इससे धूमाभिमानिनी देवता, 'रात्रि' से रात्र्यभिमानिनी देवता, 'कृष्ण' से कृष्णाभिमानिनी, 'षाण्मासा दक्षिणायनम्' से दक्षिणायनाभिमानिनी देवता लब्ध है। यह भी अन्य श्रुत्युक्तों का उपलक्षण है। तथाहि श्रुति—'धूममभिसंभवन्ति' इत्यादि 'पुनर्निवर्तन्ते' इत्यन्त श्रुति है। उसमें धूम, रात्रि, कृष्णपक्ष, दक्षिणायन देवता यहाँ उक्त हैं; पितृलोक, आकाश, चन्द्रमा ये तीन अनुक्त हैं फिर भी श्रुत्यन्तर के अनुसार समझना। उस मार्ग में जाने वाले चान्द्रमस ज्योति, फल कर्मयोगी इष्टापूर्त्तकारि प्राप्त कर यावत् सम्पात पुण्यशेष वहाँ रहकर लौटता

शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते ।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्तते पुनः ॥ २६ ॥
नैते सृती पार्थ! जानन् योगी मुह्यति कश्चन ।
तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन ! ॥ २७ ॥

क्योंकि जगत्के यह दो प्रकारके शुक्ल और कृष्ण अर्थात् देवयान और पितृयान मार्ग सनातन माने गये हैं, इनमें एकके द्वारा गया हुआ पीछे न आनेवाली परम गतिको प्राप्त होता है और दूसरेद्वारा गया हुआ पीछे आता है, अर्थात् जन्म मृत्युको प्राप्त होता है ॥ २६ ॥

और हे पार्थ ! इस प्रकार इन दोनों मार्गोंको तत्त्वसे जानता हुआ कोई भी योगी मोहित नहीं होता है, अर्थात् फिर वह निष्काम-भावसे ही साधन करता है कामनाओंमें नहीं फँसता, इस कारण हे अर्जुन ! तूँ सब कालमें समत्वबुद्धिरूप योगसे युक्त हो, अर्थात् निरन्तर मेरी प्राप्तिके लिये साधन करनेवाला हो ॥ २७ ॥

नेनेति संपातः कर्म तस्मादेतस्मादावृत्तिमार्गादनावृत्तिमार्गः श्रेयानित्यर्थः ॥ २५ ॥

उक्तौ मार्गावुपसंहरति—शुक्लेति । शुक्ला अर्चिरादिगतिः ज्ञानप्रकाशमयत्वात् कृष्णा धूमादिगतिः ज्ञानहीनत्वेन तमोमयत्वात् ते एते शुक्लकृष्णे गती मार्गौ हि प्रसिद्धे सगुणविद्याकर्माधिकारिणोः जगतः सर्वस्याऽपि शास्त्रज्ञस्य शाश्वते अनादी मते संसारस्यानादित्वात् तयोरेकया शुक्लया यात्यानावृत्तिं कश्चित् अन्यया कृष्णया पुनरावर्तते सर्वोऽपि ॥ २६ ॥

है । 'सम्यक् पतति अनेन इति संपातः कर्म पुण्याख्यं तस्मात्' इस आवृत्तिमार्ग से अनावृत्तिमार्ग अतिश्रेष्ठ है ॥२५॥

उक्त मार्गों का उपसंहार करते हैं—शुक्लेत्यादि से । ज्ञान प्रकाशमय होने से अर्चिरादि गति है । धूमादिगति ज्ञानहीन होने से तमोमय है अतएव कृष्णागति है वे ये शुक्ल कृष्णगतिमार्ग प्रसिद्ध हैं । सगुणविद्या और कर्माधिकारियों के लिए सब शास्त्रज्ञों के अनादि संमत है क्योंकि संसार ही अनादि है । इन दोनों मार्गों में शुक्लमार्ग से कोई अनावृत्त गमन करता है और इस कृष्ण से आवर्तन सहित सब गमन करते हैं ॥२६॥

वेदेषु यज्ञेषु तपस्सु चैव दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम् ।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम् २८

क्योंकि योगी पुरुष इस रहस्यको तत्त्वसे जानकर, वेदोंके पढ़नेमें तथा यज्ञ, तप और दानादिकों के करनेमें जो पुण्यफल कहा है उन सबको समझ कर अतिक्रमण करता है और सनातन परमपदको प्राप्त होता है ॥ २८ ॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे अक्षरब्रह्मयोगो नामाष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

म० टी०—गतेरुपास्यत्वाय तद्विज्ञानं स्तौति—नैते सृती पार्थ इति। एते सृती मार्गौ हे पार्थ! जानन् क्रममोक्षायैका पुनः संसारायापरेति निश्चिन्वन् योगी ध्याननिष्ठो न मुह्यति केवलं कर्म धूमादिमार्गप्रापकं कर्तव्यत्वेन न प्रत्येति कश्चन कश्चिदपि तस्माद्योगस्यापुनरावृत्तिफलत्वात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तः समाहितचित्तो भवापुनरावृत्तये हे अर्जुन ! ॥ २७ ॥

म० टी०—पुनः श्रद्धावृद्ध्यर्थं योगं स्तौति—वेदेष्विति । वेदेषु दर्भपवित्रपाणित्वप्राङ्मुखत्वगुर्वधीनत्वादिभिः सम्यगधीतेषु यज्ञेष्वङ्गोपाङ्गसाहित्येन श्रद्धया सम्यगनुष्ठितेषु तपस्सु शास्त्रोक्तेषु मनोबुद्ध्याद्यैकाग्र्येण श्रद्धया सुतप्तेषु दानेषु तुलापुरुषादिषु देशे काले पात्रे च श्रद्धया सम्यग्दत्तेषु पुण्यस्य धर्मस्य

गति उपास्यत्व होने के लिए उसके ज्ञान की स्तुति करते हैं—नैते से। हे अर्जुन ! इन दोनों मार्गों को जानकर क्रममोक्ष के लिए एक है, पुनः संसार के लिए दूसरा मार्ग है यह निश्चय करता हुआ योगी मुक्त नहीं होता। धूमादिमार्ग प्रापक कर्म को कर्तव्य नहीं मानता कोई भी, तस्मात् योग अपुनरावृत्तिफलक है सब काल में योगयुक्त समाहित चित्त अपरावृत्ति के लिए हो हे अर्जुन ! ॥२७॥

फिर श्रद्धावृद्धि के लिए योग की स्तुति करते हैं-वेदेषु से। वेद में दर्भपवित्र पाणित्व प्राङ्मुखत्व गुर्वधीनत्वादिः अर्थात् कुशा से पवित्र हाथ हो कर पूर्व दिशा में मुख कर जो समीचीन रीति से अधीत वेदों में अङ्ग सहित श्रद्धा पूर्वक अनुष्ठित यज्ञों में शास्त्रोक्त मनोबुद्ध्यादि की एकाग्रता तथा श्रद्धा से स्वनुष्ठित तपों में तुलापुरुषादि दोनों में देश काल पात्र में श्रद्धापुरस्सर दत्त

फलं स्वर्गस्वाराज्यादि प्रदिष्टं शास्त्रेण अत्येत्यतिक्रामति तत्सर्वं इदं पूर्वोक्त-सप्तप्रश्ननिरूपणद्वारेणोक्तं विदित्वा सम्यगनुष्ठानपर्यन्तमवधार्यानुष्ठाय च योगी ध्याननिष्ठः न केवलं तदतिक्रामति परं सर्वोत्कृष्टमैश्वरं स्थानमाद्यं सर्वकारणम् उपैति च सर्वकारणं ब्रह्मैव प्राप्नोतीत्यर्थः, तदनेनाध्यायेन ध्येयत्वेन तत्पदार्थो व्याख्यातः ॥ २८ ॥

इति श्रीभगवद्गीतागूढार्थदीपिकायां मधुसूदनसरस्वती-
विरचितायामधिकारिभेदेन ज्ञेयध्येय
प्रतिपाद्यतत्त्वब्रह्मनिरूपणं नाम
अष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

में जो पुण्य का फल है सर्वस्वाराज्यादि शास्त्रप्रतिष्ठित उसका अतिक्रमण करता है। इस पूर्वोक्त सातों प्रश्नों का निर्णय द्वारा उत्तम उक्त सब सम्यक् अनुष्ठान पर्यन्त समझ कर और अनुष्ठान कर ध्याननिष्ठ योगी केवल उसका अतिक्रम ही नहीं करता किन्तु सर्वोत्कृष्ट सर्वकारण आद्य ऐश्वर स्थान प्राप्त करता है सर्वकारण ब्रह्म को प्राप्त करता है यह अर्थ है। इस अध्याय से ध्येयत्वेन विवक्षित तत्पदार्थ व्याख्यात हुआ ॥ २८ ॥

इस प्रकार महामहोपाध्याय प० हरिहरकृपालु
द्विवेदिकृत गीतामधुसूदनी के आठवाँ
अध्याय का अनुवाद
समाप्त हुआ



अथ नवमोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे ।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥१॥

उसके उपरान्त श्रीकृष्ण भगवान् बोले, हे अर्जुन! तुझ दोषदृष्टि-रहित भक्तके लिये इस परमगोपनीयज्ञानको रहस्यके सहित कहूँगा, कि जिसको जानकर तूँ दुःखरूप संसारसे मुक्त हो जायगा॥ १॥

श्रीकृष्णाय गीतामृतदुहे नमः

माक्षरं यः परमक्षरं हि परोपदेशेन चिदक्षरेण ।
चकार विभ्रान्त्यपनोदविग्रः तं काशिराजं गुरुराजमीडे॥

म० टी०—पूर्वाध्याये मूर्धन्यनाडीद्वारकेण हृदयकण्ठभ्रूमध्यादिधारणासहितेन सर्वेन्द्रियद्वारसंयमगुणकेन योगेन स्वेच्छयोत्क्रान्तप्राणस्यार्चिरादिमार्गेण ब्रह्मलोकं प्रयातस्य तत्र सम्यग्ज्ञानोदयेन कल्पान्ते परब्रह्मप्राप्तिलक्षणा क्रममुक्तिर्व्याख्याता । तत्र चानेनैव प्रकारेण मुक्तिर्लभ्यते नान्यथेत्याशङ्क्य 'अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः । तस्याऽहं सुलभः' इत्यादिना भगवत्-

नववाँ अध्याय

जिस गुरुदेव ने वेदोपदेश द्वारा अक्षर जीव मुझको परोपदेश ब्रह्मोपदेश से पर अक्षर कूटस्थ चैतन्यस्वरूप ब्रह्म किया उस भ्रान्ति निवर्तनक्षम विद्यावान काशिराज गुरुराज की स्तुति करता हूँ ।

पूर्वाध्याय में मूर्धन्यस्थित नाड़ी द्वारा हृदय कण्ठ भ्रूमध्यादि में धारण सहित सर्वेन्द्रियद्वार संयमगुणक योगसे अपनी इच्छा से त्यक्त प्राणपुरुष अर्चिरादि मार्ग से ब्रह्मलोक प्राप्त की है । वहाँ तत्त्वज्ञानोत्पत्ति से कल्पान्त में परब्रह्म प्राप्तिलक्षण क्रममुक्ति व्याख्यात हुई । उसमें इसी प्रकार से मुक्ति मिलती है अन्य प्रकार से नहीं यह आशंका कर 'अनन्य चेताः' इत्यादि श्लोक से जो भगवान् का नित्य स्मरणादि करता है उसको भगवत् तत्त्वज्ञान से मोक्ष

त्वविज्ञानात्साक्षान्मोक्षप्राप्तिरभिहिता। तत्र चानन्या भक्तिरसाधारणो हेतुरित्युक्तम् 'पुरुषः स परः पार्थ! भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया' इत्यनेन। तत्र पूर्वोक्तयोगधारणापूर्वक प्राणोत्क्रमणार्चिरादिमार्गगमनकालविलम्बादिक्लेशमन्तरेणैव साक्षान्मोक्षप्राप्तये भगवत्तत्त्वस्य तद्भक्तेश्च विस्तरेण ज्ञापनाय नवमोऽध्याय आरभ्यते। अष्टमे ध्येयब्रह्मनिरूपणेन तद्ध्याननिष्ठस्य गतिरुक्ता, नवमे तु ज्ञेयब्रह्मनिरूपणेन तद्ध्याननिष्ठस्य गतिरुच्यत इति सङ्क्षेपः। तत्र वक्ष्यमाणज्ञानस्तुत्यर्थास्त्रीन् श्लोकान् श्री भगवानुवाच—इदन्त्वित्यादिना। इदं प्राग्बहुधोक्तमग्रेच वक्ष्यमाणमधुनोच्यमानं ज्ञानं शब्दप्रमाणकं ब्रह्मतत्त्वविषयकं ते तुभ्यं प्रवक्ष्यामि। 'तु' शब्दः पूर्वाध्यायोक्ताद्ध्यानाज्ज्ञानस्य वैलक्षण्यमाह। इदमेव सम्यग्ज्ञानं साक्षान्मोक्षप्राप्तिसाधनं न तु ध्यानं तस्याज्ञानानिवर्तकत्वात्, तत्त्वन्तःकरणशुद्धिद्वारेणेदमेव ज्ञानं संपाद्य क्रमेण मोक्षं जनयतीत्युक्तम्। कीदृशं ज्ञानम्? गुह्यतमं गोपनीयतमम् अतिरहस्यत्वात्

प्राप्ति कही गई है। उसमें अनन्या भक्ति असाधारण हेतु है यह कहा—
'पुरुषः स परः पार्थ ! भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया' इससे।

हे अर्जुन! अनन्य भक्ति से वह पर पुरुष परमात्मा लभ्य है इसमें पूर्वोक्त योगधारणापूर्वकप्राणोत्क्रमण अर्चिरादिमार्ग गमनकालविलम्बादि दुःख के बिना ही साक्षात् मोक्षप्राप्ति के लिए तत्त्वज्ञान तद्भक्ति का विस्तार से ज्ञापन के लिए नवम अध्याय का आरम्भ करते हैं। आठवें अध्याय में ध्येय ब्रह्मनिरूपणद्वारा ब्रह्मध्याननिष्ठकी गति कही गई, नवम अध्यायमें तो ज्ञेय ब्रह्मनिरूपण द्वारा ज्ञाननिष्ठ की गति कहते हैं यह संक्षेप से अर्थ है। इसमें ज्ञानस्तुति के लिए वक्ष्यमाण ३ श्लोकोंको श्रीभगवान् ने कहा—इदन्त्वित्यादि से।

यह पूर्व से बहुधा कहा गया है आगे भी कहेंगे, इस समय कथ्यमान ज्ञान शब्दप्रमाण ब्रह्मतत्त्वविषयक तुमसे कहेंगे। 'तु' शब्द से पूर्वाध्यायोक्त ध्यान से ज्ञान का वैलक्षण्य कहते हैं। यही समीचीन ज्ञान साक्षात् मोक्षप्राप्ति का कारण है ध्यान नहीं, वह तो अज्ञान का निवर्तक नहीं होता क्योंकि ध्यान पुरुष तन्त्र है विषयबाध होने पर भी पुरुष इच्छावश होता है और ज्ञान वस्तुतन्त्र है जो विषय होने पर ही होता है अन्यथा नहीं अतः ज्ञान ध्यान में विरोध न होने से निवर्त्य निवर्तनभाव नहीं होता, ध्यान तो अन्तःकरण शुद्धि कर ज्ञान का उत्पादन कर क्रम से मोक्ष जनक है यह कहा है। कीदृश ज्ञान कहेंगे? इसपर

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम् ।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम् ॥ २ ॥

यह ज्ञान सब विद्याओंका राज तथा सब गोपनीयोंका भी राजा एवं अति पवित्र, उत्तम, प्रत्यक्ष फलवाला और धर्मयुक्त है, साधन करनेको बड़ा सुगम और अविनाशी है ॥ २ ॥

यतो विज्ञानसहितं ब्रह्मानुभवपर्यन्तम् ईदृशमतिरहस्यमप्यहं शिष्यगुणाधिक्याद्वक्ष्यामि ते तुभ्यम् अनसूयवे । असूया गुणेषु दोषदृष्टिस्तदाविष्करणादिफला। सर्वदायमात्मैश्वर्यख्यापनेनात्मानं प्रशंसति मत्पुरस्तादित्येवंरूपा तद्रहिताय अनेनार्जवसंयमावपि शिष्यगुणौ व्याख्यातौ । पुनः कीदृशं ज्ञानं यज्ज्ञात्वा प्राप्य मोक्ष्से सद्य एव संसारबन्धनादशुभात्सर्वदुःखहेतोः ॥ १ ॥

म० टी०--पुनस्तदाभिमुख्याय तज्ज्ञानं स्तौति--राजविद्येति । राजविद्या सर्वासां विद्यानां राजा सर्वाविद्यानाशकत्वात् विद्यान्तरस्याविद्यैकदेश-

कहा—'गुह्यतममिति' । अत्यन्तगोपनीय क्योंकि अत्यन्त रहस्यमय है और जिस कारण विज्ञानसहित है अर्थात् ब्रह्मानुभव पर्यवसायी है ऐसा अतिगोप्य भी हम शिष्य गुणाधिक्य से असूयारहित तुमसे कहेंगे । गुण में दोषदृष्टि जिससे दोष का आविष्कार किया जाता है वह यदि श्रोता में हो तो उससे गोप्य बात नहीं कहना चाहिये क्योंकि वह असूयावान् पुरुष सदा अपने ऐश्वर्य का स्थापन करता हुआ मेरे सामने अपनी प्रशंसा करता है । उस असूया से तुम सर्वथा रहित हो आर्जव और संयम ये दोनों शिष्य के गुण व्याख्यात हुए फिर कैसा ज्ञान है जिसको प्राप्त कर तुरन्त अशुभ सर्व दुःख हेतु संसारबन्धनसे मुक्त हो जाओगे ऐसा ज्ञान तुमसे कहेंगे ॥ १ ॥

फिर अर्जुन के श्रवणोन्मुख होने के लिए उस ज्ञान की स्तुति करते हैं—राजविद्येति । सब विद्याओं का राजा है क्योंकि सर्व अविद्या का नाशक होने से अन्य विद्यायें अविद्या के एकदेश अर्थात् एकैक अविद्या की निवर्तक होती हैं

विरोधित्वात् तथा राजगुह्यं सर्वेषां गुप्तानां राजा, अनेकजन्मकृतसुकृतसाध्यत्वेन बहुभिरज्ञातत्वात् । राजदन्तादित्वादुपसर्जनस्य परनिपातः । पवित्रमिदमुत्तमं प्रायश्चित्तैर्हि किंचिदेकमेव पापं निवर्त्यते निवृत्तं च तत्स्वकारणे सूक्ष्मरूपेण तिष्ठत्येव, यतः पुनस्तत्पापमुपचिनोति पुरुषः । इदं तु अनेकजन्मसहस्रसंचितानां सर्वेषामपि पापानां स्थूलसूक्ष्मावस्थानां तत्कारणस्य चाज्ञानस्य सद्य एवोच्छेदकम्, अतः सर्वोत्तमं पावनमिदमेव । नचातीन्द्रिये धर्म इवात्र कस्यचित्संदेह ? स्वरूपतः फलतश्च प्रत्यक्षत्वादित्याह—**प्रत्यक्षावगमम्** इति । अवगम्यतेऽनेनेत्यवगमो मानम् अवगम्यते प्राप्यत इत्यवगमः फलं प्रत्यक्षमवगमो मानमस्मिन्निति स्वरूपतः साक्षिप्रत्यक्षत्वं प्रत्यक्षोऽवगमोऽस्येति,

---

और यह विद्या सम्पूर्ण अविद्याओं का निवर्तक होने से विद्याओं के राजा होने से राजविद्या कहलाती हैं । राजदन्तादि मानकर राजशब्द का पूर्वनिपात हुआ 'एकविभक्तिपूर्वनिपाते' इस पाणिनि सूत्र से 'गुप्तानाम् राजा' इस षष्ठी समास में गुप्तषष्ठ्यन्त को 'उपसर्जनं पूर्वम्' इस सूत्र से उपसर्जनीभूत होने पर गुप्त शब्द का पूर्वनिपात होने से 'गुप्तराजः' यह प्रयोग होना चाहिए, इस शंका निवृत्ति के लिए लिखते हैं कि राजदन्तादि मानकर उपसर्जनीभूत गुप्त का पर निपात हुआ अन्यथा विद्याराज होना उचित था । तथा 'राजगुह्यम्' सब गोप्यों का राजा इससे अधिक गोप्यान्तर नहीं है । अनेक जन्मों में किये हुए पुण्यों से यह ज्ञान मिलता है अतएव अतादृश बहुत लोगों से अज्ञात है

पवित्र यह अति उत्तम है । प्रायश्चित्तों से कोई एक ही पाप निवृत्त होता है निवृत्ति होने पर भी स्वकारण में सूक्ष्मरूप से रहता ही है यतः फिर पाप को पुरुष करता है, यह तो ज्ञान अनेक जन्मसहस्र से संचित सब स्थूल सूक्ष्म और तत्कारण अज्ञान का पाप के साथ तुरन्त नाशक है अतः सर्वोत्तम पवित्र यही है न तो इसमें अतीन्द्रिय इन्द्रियों के अविषय धर्म के समान किसी को संदेह होता है क्योंकि इसमें स्वरूप से और फल से प्रत्यक्ष है अतः सन्देह नहीं है यह कहते हैं— प्रत्यक्षावगमं से । 'अवगम्यते ज्ञायते अनेन इत्यवगमो मानम्' अर्थात् ज्ञानसाधन प्रमाण, यहाँ अवगम पदार्थ है अथवा 'अवगम्यते प्राप्यते' इस व्युत्पत्ति से अवगम शब्द फलपरक है 'प्रत्यक्षम् अवगमो मानम् अस्मिन्' इसि विग्रहसे स्वरूप से साक्षिप्रत्यक्ष है । 'प्रत्यक्षः अवगमः अस्य' इस व्युत्पत्ति से फलतः साक्षिप्रत्यक्ष है । मैं

फलतः साक्षिग्रस्यक्षत्वं मयेदं विदितमतो नेष्टमिदानीमत्र ममाज्ञानमिति हि सार्वलौकिकः साक्ष्यनुभवः। एवं लोकानुभवसिद्धत्वेऽपि तज्ज्ञानं धर्म्यं धर्मादनपेतम् अनेकजन्मसंचितनिष्कामधर्मफलं तर्हि दुःसम्पादं स्यान्नेत्याह-- **सुसुखमिति**। सुसुखं कर्तुं गुरूपदर्शितविचारसहकृतेत वेदान्तवाक्येन सुखेन कर्तुं शक्यं न देशकालादिव्यवधानमपेक्षते प्रमाणवस्तुपरतन्त्रत्वाज्ज्ञानस्य। एवमनायाससाध्यत्वे स्वल्पफलत्वं स्यादत्यायाससाध्यानामेव कर्मणां महाफलत्वदर्शनादिति नेत्याह—**अव्ययमिति**। एवमनायाससाध्यस्याऽप्यस्य फलतो व्ययो नास्तीत्यव्ययमक्षयफलमित्यर्थः। कर्मणां त्वतिमहतामपि क्षयिफलत्वमेव 'यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वास्मिँल्लोके जुहोति यजते तपस्तप्यते बहूनि वर्षसहस्राण्यन्तवदेवास्य तद्भवति' इति श्रुतेः, तस्मात्सर्वोत्कृष्टत्वाच्छ्रद्धेयमेवात्मज्ञानम् ॥ २ ॥

इसको जाना अतः इस समय इस विषय में मेरा अज्ञान नष्ट हुआ यह सब लोगों का साक्ष्यनुभव है, इस प्रकार लोकानुभव सिद्ध होने पर भी वह ज्ञान धर्म से अनपेक्ष अर्थात् अनेक जन्म संचित निष्काम धर्म फल है।

प्रश्न—तब तो क्लिष्टसाध्य होगा ?

उत्तर—नहीं, सुसुख है करने में क्लेश नहीं, गुरूपदिष्ट विचारयुक्त वेदान्त वाक्य से अनायास से करने के योग्य है देशकालादि व्यवधान की अपेक्षा नहीं क्योंकि ज्ञान प्रमाण वस्तुपरतन्त्र होता हैं।

प्रश्न—इस प्रकार अनायाससाध्य होने पर स्वल्पफलक होगा क्योंकि अधिक परिश्रमसाध्य कर्म ही महाफलक देखे जाते हैं ?

उत्तर—नहीं, इस प्रकार अनायाससाध्य भी इस कर्म का फलतः नाश नहीं है क्योंकि यह अक्षय फलक है। कर्म तो बड़े बड़े भी क्षयि भी फलक होते हैं अर्थात् बड़े २ कर्मों का फल विनाशी होता है इसमें प्रमाण श्रुति है 'यो वा एतदक्षरम्' इत्यादि श्रुति ऊपर देखिये। अर्थ—हे गार्गि! जो पुरुष इस अक्षर ब्रह्म को न जान कर इस लोक में हवन करता है यज्ञ करता है हजारों वर्ष तप करता है उसका वह फल और कर्म विनाशी होता है केवल ज्ञान फल ही अविनाशी है तस्मात् सबसे उत्कृष्ट अत्युत्तम आत्मज्ञान श्रद्धेय ही है॥ २॥

अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परन्तप!।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि ॥ ३ ॥
मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाऽहं तेष्ववस्थितः॥ ४ ॥

और हे परंतप ! इस तत्त्वज्ञानरूप धर्ममें श्रद्धारहित पुरुष मेरेको न प्राप्त होकर, मृत्युरूप संसारचक्रमें भ्रमण करते हैं॥ ३ ॥

और हे अर्जुन ! मुझ सच्चिदानन्दघन परमात्मासे यह सब जगत्, जलसे बर्फके सदृश परिपूर्ण है और सब भूत मेरे अन्तर्गत संकल्पके आधार स्थित हैं इसलिये वास्तवमें मैं उनमें स्थित नहीं हूँ ॥ ४ ॥

म० टी०—एवमप्यस्य सुकरत्वे सर्वोत्कृष्टत्वे च सर्वेऽपि कुतोऽत्र न प्रवर्तन्ते यथा च न कोऽपि संसारी स्यादित्यत आह—अस्येति । अस्यात्मज्ञानाख्यस्य धर्मस्य स्वरूपे साधने फले च शास्त्रप्रतिपादितेऽपि अश्रद्दधानाः वेदविरोधिकुहेतुदर्शनदूषितान्तःकरणतया प्रमाण्यममन्यमानाः पापकारिणोऽसुरसम्पदमारूढाः स्वमितिकल्पितेनोपाये कथञ्चिद्यतमाना अपि शास्त्रविहितोपायाभावादप्राप्य मां मत्प्राप्तिसाधनमप्यलब्ध्वा निवर्तन्ते निश्चयेन वर्तन्ते क्व मृत्युयुक्ते संसारवर्त्मनि सर्वदा जननमरणप्रबन्धने नारकितिर्यगादियोनिष्वेव भ्रमन्तीत्यर्थः ॥ ३ ॥

प्रश्न—इस प्रकार यह सुनकर और सर्वोत्कृष्टही है तो क्यों नहीं सब लोग इसमें ही प्रवृत्त होते हैं ऐसा होने से कोई संसारी न होगा ?

उत्तर—इस आत्मज्ञान धर्म का स्वरूप साधन और फल शास्त्रप्रतिपादित होने पर भी श्रद्धाशून्य वेदविरोधि कुतर्कहेतु दर्शनादि से जिनका अन्तःकरण दूषित है अतएव शास्त्र को प्रमाण न मानते हुए पापकारी असुर सम्पत् शील स्वबुद्धिकल्पित उपाय से किसी प्रकार यत्न करते हुए भी शास्त्रविहितोपाय के अभाव से मुझको अर्थात् मत्प्राप्ति साधन का लाभ न कर निश्चय से रहते हैं।

प्रश्न—कहाँ रहते हैं ?

उत्तर—मृत्युमुख संसार मार्ग में, तब जनन मरण के प्रबन्ध से नारकि तिर्यगादि योनियों में ही भ्रमण करते हैं ॥ ३ ॥

म० टी०—तदेवं वक्तव्यतया प्रतिज्ञातस्य ज्ञानस्य विधिमुखेनेतरनिषेधमुखेन च स्तुत्याभिमुखीकृतमर्जुनं प्रति तदेवाह द्वाभ्यां—**मया ततमिति**। इदं जगत्सर्वं भूतभौतिकतत्कारणरूपं दृश्यजातं मदज्ञानकल्पितं मयाऽधिष्ठानेन परमार्थसत्तासद्रूपेण स्फुरणरूपेण च ततं व्याप्तम् रज्जुखण्डेनेव तदज्ञानकल्पितं सर्पधारादि। त्वया वासुदेवेन परिच्छिन्नेन सर्वं व्याप्तम्, प्रत्यक्षविरोधादिति नेत्याह—**मयेति**। अव्यक्ताः सर्वकरणागोचरीभूताः स्वप्रकाशाद्वयचैतन्यसदानन्दरूपा मूर्तिर्यस्य तेन मया व्याप्तमिदं सर्वं न त्वनेन देहेनेत्यर्थः, अतएव सन्तीव स्फुरन्तीव मद्रूपेण स्थितानि मत्स्थानि सर्वभूतानि स्थावराणि जङ्गमानि च परमार्थतस्तु न च नैवाहं तेषु कल्पितेषु भूतेष्ववस्थितः कल्पिताकल्पितयोः संबन्धायोगात्, अत एवोक्तम्—'यत्र यदध्यस्तं तत्कृतेन गुणेन दोषेण वाऽणुमात्रेणाऽपि न संबध्यत' इति ॥ ४ ॥

इस प्रकार वक्तव्य, प्रतिज्ञातज्ञान का विधिमुख से विधानद्वारा इतर निषेधद्वारा श्रुति से अभिमुख कर अर्जुन के प्रति दो श्लोकों से वही ज्ञान कहते हैं—यह सम्पूर्ण जगत् भूत भौतिक तत्कारणरूप दृश्य समुदाय मेरे अज्ञान से कल्पित हैं। मुझमें संसार है, परमार्थसत्ता अधिष्ठानरूप मेरी है किन्तु आरोपित सद्रूप और स्फुरणरूप से व्याप्त है रज्जुखण्ड से तदज्ञानकल्पित सर्पधारादि जैसे अधिष्ठानभूत रज्जुखण्ड सत्ता से तदीय स्फुरण से प्रतीत होते हैं पृथक् सत्ता कल्पित की नहीं होती रज्जु में सर्प न था न है और न होगा किन्तु भ्रमकाल में प्रतीत होता है इसी प्रकार यह सब जगत् मुझमें कल्पित है परमार्थ सत् नहीं है।

प्रश्न—परिच्छिन्न परिमित वासुदेव आपसे अपरिमित यह जगत् ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्त कैसे व्याप्त है यह तो प्रत्यक्ष विरुद्ध कहते हैं ?

उत्तर—नहीं यह कहा, अव्यक्त सर्वकारण अविषयीभूत स्वप्रकाशाद्वय चैतन्य सदानन्दरूपा मूर्ति है जिसकी तन्मय उस मूर्तिवाले मुझसे यह जगत् व्याप्त है। इस देह वाले मुझसे व्याप्त नहीं अतएव 'सन्ति इव, 'स्फुरन्ति इव, मद्रूप से स्थित मेरे में स्थित स्थावर जङ्गम सब भूत हैं परमार्थतस्तु वे नहीं हैं। मैं उन कल्पित भूतों में स्थित हूँ क्योंकि कल्पिताकल्पित का सम्बन्ध नहीं होता अतएव शारीरिकभाष्य में भाष्यकार ने कहा है—कि जिस में जो वस्तु अध्यस्त है उस अध्यस्त के थोड़े भी गुण दोष से अधिष्ठान का कुछ सम्बन्ध नहीं है अर्थात् अध्यस्त दोष वा गुण से अधिष्ठान दूषित वा गुणवान् नहीं होता इति ॥ ४ ॥

न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम् ।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः ॥ ५ ॥

और वे सब भूत मेरेमें स्थित नहीं हैं, किन्तु मेरी योगमाया और प्रभावको देख, कि भूतोंका धारण पोषण करनेवाला और भूतोंको उत्पन्न करनेवाला भी मेरी आत्मा वास्तवमें भूतोंमें स्थित नहीं है ॥ ५ ॥

म० टी०—अतएव दिविष्ठ इवादित्ये कल्पितानि जलचलनादीनि भूतानि परमार्थतो मयि न सन्ति, त्वमर्जुनः प्राकृतिं मनुष्यबुद्धिं हित्वा पश्य पर्यालोचय मे योगं प्रभावमैश्वरम् अघटनघटनाचातुर्यं मायाविन इव ममावलोकयेत्यर्थः । नाऽहं कस्यचिदाधेयो नाऽपि कस्यचिदाधारस्तथाऽप्यहं सर्वेषु भूतेषु मयि च सर्वाणि भूतानीति महतीयं माया यतो भूतानि सर्वाणि कार्याण्युपादानतया बिभर्ति धारयति पोषयतीति च भूतभृत् भूतानि सर्वाणि कर्तृतयोत्पादयतीति भूतभावनः । एवमभिन्ननिमित्तोपादानभूतोऽपि ममात्मा मम परमार्थस्वरूपभूतः सच्चिदानन्दघनोऽसङ्गाद्वितीयस्वरूपत्वान्न भूतस्थः परमार्थतो न भूतसंबन्धी

अतएव आकाशस्थ सूर्य्य में जलचलनादि यथा कल्पित है तथा सम्पूर्ण भूत मेरे में कल्पित हैं, पर वास्तव में वे मुझ में नहीं हैं, तूँ अर्जुन ! प्राकृत मनुष्य बुद्धि का त्याग कर मेरे ईश्वरीय प्रभाव को देखो जो अघटन घटन चातुर्य्य मायावी के समान है मुझको देखो यह अर्थ है। मैं किसी का आधेय और न किसी का आधार हूँ तथापि मैं सब भूतों में हूँ मुझमें सब भूत हैं। एवं यह बड़ी भारी माया है यतः सम्पूर्णभूत कार्य्य है उपादान होने से मैं ईश्वर सब भूतों को धारण करता हूँ और पोषण करता हूँ मेरी आत्मा भूतभृत है अर्थात् कर्त्ता होने से सब भूतों का उत्पादक है उत्पादक भूतभावन है। इस प्रकार निमित्त और उपादान भूत अभिन्न मेरी आत्मा परमार्थस्वरूपभूत सच्चिदानन्दघन असङ्ग-अद्वितीयस्वरूप होने से सर्वभूतस्थ नहीं वास्तविक भूत सम्बन्धी नहीं है, स्वप्नद्रष्टा के तरह वास्तविक स्वकल्पित सम्बन्धी नहीं है । जैसे स्वप्न देखने वाला अपने में जो देखता है उससे उसका कोई सम्बन्ध नहीं क्योंकि स्वाप्निक व्याघ्रादि पदार्थ

यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान् ।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय ॥ ६ ॥
सर्वभूतानि कौन्तेय ! प्रकृतिं यान्ति मामिकाम् ।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम् ॥ ७ ॥

क्योंकि जैसे आकाशसे उत्पन्न हुआ, सर्वत्र विचरनेवाला महान् वायु सदा ही आकाशमें स्थित है वैसे ही मेरे संकल्पद्वारा उत्पत्तिवाले होनेसे संपूर्ण भूत मेरेमें स्थित हैं, ऐसे समझो ॥ ६ ॥

और हे अर्जुन ! कल्पके अन्तमें सब भूत मेरी प्रकृतिको प्राप्त हैं, अर्थात् प्रकृतिमें लय होते हैं और कल्पके आदिमें उनको मैं फिर निर्माण करता हूँ ॥ ७ ॥

स्वप्नदृगिव न परमार्थतः स्वकल्पितसंबधीत्यर्थः । ममात्मेति 'राहोः शिर' इतिवत्कल्पनया षष्ठी ॥ ५ ॥

म० टी०—असंश्लिष्टयोरप्यधाराधेयभावं दृष्टान्तेनाह—यथाकाशेति। यथैवाऽसङ्गस्वभावे आकाशे स्थितो नित्यं सर्वदा उत्पत्तिस्थितिसंहारकालेषु वातीति वायुः सर्वदा चलनस्वभावः अतएव सर्वत्र गच्छतीति सर्वत्रगः महान् परिमाणतः एतादृशोऽपि न कदाऽप्याकाशेन सह संसृज्यते तथैवाऽसङ्गस्वभावे मयि संश्लेषमन्तरेणैव सर्वाणि भूतान्याकाशादीनि महान्ति सर्वत्रगानि च स्थितानीत्युपधारय विमृश्यावधारय ॥ ६ ॥

है ही नहीं तब उनका सम्बन्ध वस्तुतः कैसे होगा ? 'मम आत्मा' यहाँ अभेद में भेद की कल्पना कर 'राहोः शिरः' के समान कहा गया है राहु औ शिर दोनों एक ही हैं किन्तु भेद में अभेद की कल्पना कर षष्ठी का प्रयोग है एवं आत्मा में भी समझना ॥ ५ ॥

संसर्गियों में आधाराधेय भाव दृष्टान्त से कहते हैं—यथेति से । यथा असङ्ग स्वभाव आकाश में स्थित नित्य सदा उत्पत्ति स्थिति संहारकाल में बहने वाला वायु सदा चलन स्वभाव है अतएव सब जगह जाता है इसी से सर्वग है । महान् परिमाणवान् एतादृश भी वायु कभी भी आकाश के साथ संसृष्ट नहीं होता उसी प्रकार असङ्ग स्वभाव मुझमें सम्बन्ध के विना ही सर्वग महान् आकाशादि स्थित है ऐसा समझो विचार कर निश्चय करो ॥ ६ ॥

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः ।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ॥ ८ ॥

कैसे कि, अपनी त्रिगुणमयी मायाको अङ्गीकारकरके, स्वभावके वशसे परतन्त्र हुए इस संपूर्ण भूतसमुदायको बारम्वार उनके कर्मोंके अनुसार बनाता हूँ ॥ ८ ॥

म० टी०—एवमुत्पत्तिकाले च कल्पितेन प्रपञ्चेनाऽसङ्गस्यात्मनोऽसंश्लेषमुक्त्वा प्रलयेऽपि तमाह–**सर्वभूतानीति** । सर्वाणि भूतानि कल्पक्षये प्रलयकाले मामिकां मच्छक्तित्वेन कल्पितां प्रकृतिं त्रिगुणात्मिकां मायां स्वकारणभूतां यान्ति तत्रैव सूक्ष्मरूपेण लीयन्त इत्यर्थः । हे कौन्तेयेत्युक्तार्थम् । पुनस्तानि कल्पादौ सर्गकाले विसृजामि प्रकृतावविभागापन्नानि विभागेन व्यनज्मि अहं सर्वशक्तिरीश्वरः ॥ ७ ॥

म० टी०—किंनिमित्ता परमेश्वरस्येयं सृष्टिर्न तावत्संभोगार्था तस्य सर्वसाक्षिभूतचैतन्यमात्रस्य भोक्तृत्वाभावात्तथात्वे वा संसारित्वेनेश्वरत्वव्याघातात् । नाऽप्यन्यो भोक्ता यदर्थेयं सृष्टिः चेतनान्तराभावात् ईश्वरस्यैव

इस प्रकार उत्पत्ति का और स्थित काल में कल्पित प्रपञ्च से असङ्ग आत्मा का सम्बन्धाभाव कहकर प्रलय में भी सम्बन्धाभाव कहते हैं—सर्व से। सम्पूर्ण भूत कल्पक्षय प्रलयकाल में मेरी शक्ति त्रिगुणात्मक कल्पित प्रकृतिरूप त्रिगुणात्मक सात्त्वरजस्तम एतद् गुणात्मक माया जो भूतों का कारणस्वरूप है उसमें जाते हैं उसी में सूक्ष्मरूप से लीन होते हैं। हे कौन्तेय अर्जुन! यह उक्तार्थ है। फिर उसी कल्पादि सर्ग काल में उत्पन्न करते हैं अर्थात् प्रकृति में जो अविभागरूप से स्थित हैं उनको विभक्त कर व्यक्त करता हूँ मैं सर्वज्ञ हूँ सर्वज्ञ सर्वशक्ति ईश्वर हूँ ॥ ७ ॥

परमेश्वर की यह सृष्टि किन्निमित्तिक है ?, स्वभोगार्थ अर्थात् अपने सुख के लिये है यह सम्भव नहीं, क्योंकि उसमें सर्वसाक्षिभूत चैतन्यमात्र होने से भोक्तृत्व ही नहीं, यदि भोक्तृत्व मानें तो संसारित्व की शक्ति से ईश्वरत्व का ही व्याघात होगा जो भोगता है वह ईश्वर नहीं, जैसे जीव न दूसरा कोई भोक्ता है जिस के लिए यह सृष्टि है दूसरा चेतन है ही नहीं ईश्वर ही सब जगह जीव-

न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय ।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु ॥ ९ ॥

हे अर्जुन ! उन कर्मोंमें आसक्तिरहित और उदासीनके सदृश स्थित हुए, मुझ परमात्माको वे कर्म नहीं बाँधते हैं ॥ ९ ॥

सर्वत्र जीवरूपेण स्थितत्वात्, अचेतनस्य चाभोक्तृत्वात् । अतएव नापवर्गार्थोऽपि सृष्टिः बन्धाभावादपवर्गाविरोधित्वाच्चेत्याद्यनुपपत्तिः सृष्टेर्मायामयत्वं साधयन्ती नास्माकं प्रतिकूलेति न परिहर्तव्येत्यभिप्रेत्य मायामयत्वान्मिथ्यात्वं प्रपञ्चस्य वक्तुमारभते त्रिभिः—प्रकृतिमिति । प्रकृतिं मायाख्यामनिर्वचनीयां स्वां स्वस्मिन् कल्पितामवष्टभ्य स्वसत्तास्फूर्तिभ्यां दृढीकृत्य तस्याः प्रकृतेर्मायाया वशादविद्याऽस्मितारागद्वेषाभिनिवेशकारणावरणविक्षेपात्मकशक्तिप्रभावा वशंपरवशीभूतं जायमानीममं सर्वप्रमाणसन्निधापितं भूतग्राममाकाशादिभूतसमुदायमहं मायावीव पुनः पुनर्विसृजामि विविधं सृजामि कल्पनामात्रेण स्वप्नदृगिव च स्वप्नप्रपञ्चम् ॥ ८ ॥

म० टी०—अतः नचेति नच नैव सृष्टिस्थितिप्रलयाख्यानि तानि मायाविनेव स्वप्नदृशेव च मया क्रियमाणानि मां निबध्नन्ति अनुग्रहनिग्रहाभ्यां

रूप से स्थित हैं अचेतन भोक्ता है नहीं अतएव मोक्षार्थ भी सृष्टि नहीं कह सकते । बन्ध न होने से और अपवर्ग का विरोधी नहीं है इत्यादि अनुपपत्तियाँ सर्ग में हैं । सृष्टि में मायामयत्व सिद्ध करती हुई अनुपपत्तिमेरे प्रतिकूल नहीं अतएव परिहार के योग्य नहीं इस अभिप्राय से प्रपञ्च में मायामयत्व से मिथ्यात्व का तीन श्लोकों से कहने का आरम्भ करते हैं—'प्रकृतिम्' से । मायाख्य प्रकृति अनिर्वचनीय स्वमें कल्पित कर आश्रय कर स्वसत्तास्फूर्ति से आश्रय कर अर्थात् दृढ़ कर उस प्रकृतिरूप मायावश से अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेश कारणावरण विक्षेपात्मकशक्तिप्रभाव से जायमान यह सब प्रमाणोपस्थिति भूतसमुदाय मायावी के समान फिर फिर उत्पन्न करता हूँ नाना प्रकार का कई पदार्थों की सृष्टि करता हूँ स्वप्नद्रष्टा जैसे स्वाप्निक पदार्थों की सुप्तपुरुष कल्पना से सृष्टि करता है वास्तविक नहीं तद्वद् मैं भी ॥ ८ ॥

अतः सृष्टि स्थिति प्रलय मायावी के समान तथा स्वप्नद्रष्टा के समान मुझसे क्रियमाण भी मेरे बन्धक नहीं होते । अनुग्रह निग्रह से पुण्यवान् नहीं

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ।
हेतुनाऽनेन कौन्तेय! जगद्विपरिवर्तते ॥ १० ॥

और हे अर्जुन ! मुझ अधिष्ठाताके सकाशसे यह मेरी माया चराचरसहित सर्व जगत्को रचती है और इस ऊपर कहे हुए हेतुसे ही यह संसार आवागमनरूप चक्रमें घूमता है ॥ १० ॥

न सुकृतदुष्कृतभागिनं कुर्वन्ति मिथ्याभूतत्वात् । हे धनञ्जयेति युधिष्ठिरराजसूयार्थं सर्वान् राज्ञो जित्वा धनमाहृतवानिति महान् प्रभावः सूचितः । प्रोत्साहनार्थं तानि कर्माणि कुतो न बध्नन्ति तत्राह—उदासीनवदासीनमिति । यथा कश्चिदुपेक्षको द्वयोर्विवदमानयोर्जयपराजयासंसर्गी तत्कृतहर्षविषादाभ्यामसंसृष्टो निर्विकार आस्ते तद्वन्निर्विकारतयाऽऽसीनं द्वयोर्विवदमानयोरीहाभावादुपेक्षकत्वमात्रसाधर्म्येण वतिप्रत्ययः, अतएव निर्विकारत्वात्तेषु सृष्ट्यादिकर्मस्वसक्तम् 'अहं करोमि' इत्यभिमानलक्षणेन सङ्गेन रहितं मां निबध्नन्ति कर्माणीति युक्तमेव, अन्यस्यापि हि कर्तृत्वाभावे फलसङ्गाभावे च कर्माणि न बन्धकारणानीत्युक्तमनेन तदुभयसत्त्वे तु कोशकार इव कर्मभिर्बध्यते मूढ इत्यभिप्रायः ॥ ९ ॥

बना सकती क्योंकि वे स्वयं मिथ्याभूत हैं हे धनंजय ! युधिष्ठिर के राजसूयार्थ सब राजों को जीतकर धन संचय किया था इससे बड़े प्रभावशाली अर्जुन को एतत्प्रोत्साहनार्थ धनञ्जय सम्बोधन है। प्रोत्साहनार्थ वे कर्म मुझको क्यों नहीं बाँधते इसका उत्तर कहते हैं—उदासीनवदासीन से । तटस्थ के तरह जैसे कोई उपेक्षक दो लड़ने वालों के जय पराजय से असम्बन्धी होकर जय पराजयकृत हर्षविषाद से असम्बन्ध और निर्विकार रहता है उसी प्रकार मैं भी निर्विकार स्थित हूँ। यद्यपि लड़ने वालों के समान दूसरा कोई यहाँ नहीं है तथापि उपेक्षकत्वमात्र साधर्म्य से वति प्रत्यय है अतएव निर्विकार होने से सृष्ट्यादि कर्मों में असक्त 'अहं करोमि' (मैं करता हूँ) इस अभिमानलक्षण सङ्ग से रहित मुझको कर्मबद्ध नहीं करते यह युक्ति ही है, क्योंकि जो कर्माभिमानी है उसीको कर्मजन्य फल होते हैं। दूसरे भी कर्तृत्वाभाव फलसङ्गाभाव से कर्मबन्धन के कारण नहीं होते यह इससे कहा जिसमें कर्तृत्व और फलसङ्ग है वही कोषकार के तरह मूढ़ कर्मों से बद्ध होता है यह अभिप्राय है ॥ ९ ॥

म० टी०—भूतग्राममिमं विसृजाम्युदासीनवदासीनमिति च परस्पर-विरुद्धमिति शङ्कापरिहार्थं पुनर्मायामयत्वमेव प्रकटयति—मयाऽध्यक्षेणेति। मया सर्वतो दृशिमात्रस्वरूपेणाविक्रियेणाध्यक्षेण नियन्त्रा भासकेनावभासिता प्रकृतिस्त्रिगुणात्मिका सत्त्वासत्त्वादिभिरनिर्वाच्या माया सूयते उत्पादयति सचराचरं जगत् मायाविनाधिष्ठितेव मायाकल्पितगजतुरगादिकं न त्वहं सकार्यमायाभासनमन्तरेण करोमि व्यापारान्तरं हेतुना निमित्तेनानेनाध्यक्षत्वेन हे कौन्तेय!, जगत् सचराचरं विपरिवर्तते त्रिविधं परिवर्तते। जन्मादिविनाशान्तं विकारजातमनवरतमासादयतीत्यर्थः, अतो भासकत्वमात्रेण व्यापारेण 'विसृजामि' इत्युक्तं तावता चादित्यादेरिव कर्तृत्वाभावात्' उदासीनवदासीनम्' इत्युक्तमिति न विरोधः। तदुक्तम्—

मैं इन भूत समुदायों को उत्पन्न करता हूँ और उदासीन के समान स्थित रहता हूँ यह परस्पर विरुद्ध है यदि उत्पादक है तो उदासीन नहीं यदि उदासीन हैं तो उत्पादक नहीं इस शंका के परिहार के लिये फिर प्रपञ्च में मायामयत्व प्रकट करते हैं—माया से। दृशिमात्र स्वरूप से अतएव विकाररहित सर्वाध्यक्ष नियन्ता मुझसे भासित त्रिगुणात्मक प्रकृति जो सत्त्वासत्त्व से अनिर्वचनीय माया है वही चराचर जगत् को उत्पादन करती है। मायावी से अधिष्ठित माया जैसे कल्पित गज (हाथी) घोड़ा पैदा करती हैं तद्वत् मैं स्वकार्य मायाभासन से अतिरिक्त कोई व्यापार नहीं करता हूँ इस हेतु से उस अध्यक्षत्व से हे कौन्तेय!, स्थावर जङ्गम जगत् द्विविध रूप से होता है। जन्मादि और विनाशान्त विकारसमुदाय वरावर होते हैं इस कारण भासकत्वमात्र व्यापार से मैं सृष्टि करता हूँ यह कहा। उससे तावन्मात्र से आदित्यादिके समान उदासीनवदासीन कहा इससे कर्तृत्व और उदासीनवदासीन में विरोध नहीं है आदित्य के प्रकाश में जैसे लोग शुभाशुभ कर्म करते हैं उन कर्मों का फल उन पुरुषों को होता है। आदित्य भासकत्वेन कर्ता है किन्तु उदासीन और फलरहित होने से उनको कर्मबन्धन नहीं होता। यह कहा भी है—

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम् ।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥ ११ ॥

ऐसा होनेपर भी संपूर्ण भूतोंके महान् ईश्वररूप मेरे परमभावको न जाननेवाले मूढ़लोग, मनुष्यका शरीर धारण करनेवाले मुझ परमात्मा-को तुच्छ समझते हैं, अर्थात् अपनी योगमायासे संसारके उद्धारके लिये मनुष्यरूपमें विचरते हुएको सधारण मनुष्य मानते हैं ॥ ११ ॥

'अस्य द्वैतेन्द्रजालस्य यदुपादानकारणम् ।
अज्ञानं तदुपाश्रित्य ब्रह्मकारणमुच्यते ॥'

इति श्रुतिस्मृतिवादाश्चात्रार्थे सहस्रश उदाहार्याः ॥ १० ॥

म० टी०—एवं नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावं सर्वजन्तूनामात्मानन्दघन-मनन्तमपि सन्तम् अवजानन्ति मां साक्षादीश्वरोऽयमिति नाद्रियन्ते निन्दन्ति वा मूढा अविवेकिनो जनास्तेषामवज्ञाहेतुं भ्रमं सूचयति—**मानुषीं तनुमाश्रित**मिति । मनुष्यतया प्रतीयमानां मूर्तिमात्मेच्छया भक्तानुग्रहार्थं गृहीतवन्तं मनुष्यतया प्रतीतमानेन देहेन व्यवहरन्तमिति यावत् । ततश्च मनुष्योऽयमिति भ्रान्त्या छादितान्तःकरणाः मम परं भावं

'अस्य द्वैतेन्द्रजालस्य यदुपादानकारणम् ।
अज्ञानं तदुपासृत्य ब्रह्म कारणमुच्यत ॥' । इति ।

अर्थ—इन्द्रजाल के समान इस द्वैत का जो उपादानकारण अज्ञान है वह ब्रह्माश्रित है इस लिये ब्रह्म कारण कहा जाता है इस अर्थ में सहस्रों श्रुति स्मृतियाँ उदाहरण के योग्य हैं ॥१०॥

इस प्रकार नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव सब प्राणियों के आत्मा आनन्द-घन अनन्तयुक्त ईश्वर को मूर्ख लोग साक्षात् ईश्वर हैं इस प्रकार आदर नहीं करते प्रत्युत निन्दा करते हैं क्योंकि वे अविवेकी हैं उनके अनादर हेतु भ्रम को सूचित करते हैं। मनुष्य शरीर में आश्रित मनुष्यतया प्रतीयमान जो कि भक्ता-नुग्रहार्थ अपनी इच्छा से मूर्तिग्रहण करता है मनुष्यतया प्रतीयमान देह से व्यवहार करते हुए मुझको यह मनुष्य हैं इस भ्रान्ति से रहितान्तःकरण होकर मेरा उत्तमभाव पारमार्थिक तत्त्व सब भूतों का महान् ईश्वर न जानते हुए जो मेरा आदर नहीं करते प्रत्युत निन्दा करते हैं वे मूर्खता के अनुकूल ही हैं ॥११॥

मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः ।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः ॥ १२ ॥

जो कि वृथा आशा, वृथा कर्म और वृथा ज्ञानवाले, अज्ञानीजन, राक्षसोंके और असुरों के जैसे मोहित करनेवाले तामसी स्वभाव को ही धारण किये हुए हैं ॥ १२ ॥

प्रकृष्टं पारमार्थिकं तत्त्वं सर्वभूतानां महान्तमीश्वरमजानन्तो यन्नाद्रियन्ते निन्दन्ति वा तदनुरूपमेव मूढत्वस्य ॥ ११ ॥

ते च भगवदवज्ञाननिन्दनजनितमहादुरितप्रतिबद्धबुद्धयो निरन्तरं निरयनिवासार्हा एव। **मोघाशा** इति। ईश्वरमन्तरेण कर्माण्येव नः फलं दास्यन्तीत्येवंरूपा मोघा निष्फलैवाशा फलप्रार्थना येषां ते अत एवेश्वरविमुखत्वान्मोघानि श्रममात्ररूपाण्यग्निहोत्रादीनि कर्माणि येषां ते तथा मोघमीश्वराप्रतिपादककुतर्कशास्त्रजनितं ज्ञानं येषां ते । कुत एवं यतो विचेतसो भगवदवज्ञानजनितदुरितप्रतिबद्धविवेकविज्ञानाः । किंच ते भगवदवज्ञानवशात् राक्षसीं तामसीम् अविहितहिंसाहेतुद्वेशप्रधानाम् आसुरीं च राजसीं शास्त्रानभ्यनुज्ञातविषयभोगहेतुरागप्रधानां च मोहिनीं शास्त्रीयज्ञानभ्रंशहेतुं प्रकृतिं स्वभावमाश्रिता एव भवन्ति । ततश्च 'त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः । कामः क्रोध-

वे मनुष्य भगवान् के अवज्ञा और निन्दाजनित महापातक से प्रतिबद्ध बुद्धि होकर सदा नरक निवास के योग्य ही हैं। ईश्वर के विना कर्म ही हम लोगों को फल देगा एवं रूप निष्फल आशा फल प्रार्थना है जिनकी वे मोघाशा हैं। अतएव ईश्वरविमुख होने से 'मोघानि श्रममात्ररूपाणि अग्निहोत्रादीनि कर्माणि येषां ते मोघाशा' इस व्युत्पत्तिसे वे ईश्वर वैमुख्य से अग्निहोत्रादि कर्मानुष्ठान के श्रममात्र के भागी होते हैं तब फल कुछ भी नहीं होता तथा मोघ ईश्वराप्रतिपादक कुतर्क शास्त्र जनित ज्ञान है जिनका वे मोघज्ञान हैं, क्यों यतः विचेतसः, भगवत् अवज्ञान जन्यपाप प्रतिबद्ध विवेकज्ञान होने से विकल चित्त हैं और भी भगवन्निन्दा वश राक्षसी तामसी अर्थात् अशास्त्रित हिंसा हेतु देश प्रधान आसुरी राजसी शास्त्र से असम्मत विषयभोगहेतु रागप्रधान मोहिनी शास्त्रीय ज्ञानच्युति हेतु प्रकृति स्वभाव आश्रित ही होते हैं। उससे 'त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।

महात्मानस्तु मां पार्थ ! दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः ।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥ १३ ॥

परन्तु हे कुन्तीपुत्र ! दैवी प्रकृतिके आश्रित हुए जो महात्माजन हैं, वे तो मेरेको सब भूतोंका सनातन कारण और नाशरहित अक्षरस्वरूप जानकर अनन्य मनसे युक्त हुए निरन्तर भजते हैं ॥ १३ ॥

स्तथा लोभः' इत्युक्तम्, नरकद्वारभागितया नरकयातनामेव ते सततमनुभवन्तीत्यर्थः ॥ १२ ॥

म० टी०—भगवद्विमुखानां फलकामनायास्तत्प्रयुक्तस्य नित्यनैमित्तिककाम्यकर्मानुष्ठानस्य तत्प्रयुक्तस्य शास्त्रीयज्ञानस्य च वैयर्थ्यात् पारलौकिकफलतत्साधनशून्यास्तेनाऽप्यैहिकलौकिकं किञ्चित्फलमस्ति तेषां विवेकविज्ञानशून्यतया विचेतसो हि ते, अतः सर्वपुरुषार्थबाह्याः शोच्या एव सर्वेषां ते वराका इत्युक्तम्। अधुना के सर्वपुरुषार्थभाजोऽशोच्याः ये भगवदेकशरणा इत्युच्यते—महात्मानस्त्विति। महाननेकजन्मकृतसुकृतैः संस्कृतः क्षुद्रकामाद्यनभिभूत आत्माअन्तःकरणं येषां त एव 'अभयं सत्त्वसंशुद्धिः' इत्यादिवक्ष्यमाणं दैवीं सात्त्विकीं प्रकृतिमाश्रिताः अत एवान्यस्मिन् मद्व्यतिरिक्ते नास्ति

कामः क्रोधस्तथा लोभः' इत्यादि श्लोकोक्त नरकद्वार भागी होने से वे सदा नरकयातना (तीव्रवेदना) का ही अनुभव करते हैं ॥ १२ ॥

भगवान् से जो विमुख हैं उनकी फलकामना तत्प्रयुक्त नित्य नैमित्तिक काम्य कर्मानुष्ठान और तत्प्रयुक्त शास्त्रीयज्ञान के वैयर्थ्य से पारलौकिक फल और तत्साधन से वे शून्य होते हैं और न ऐहलौकिक कुछ फल उनको होता है क्योंकि वे विवेक ज्ञानशून्य होने से विचेतस हैं अर्थात् सर्व पुरुषार्थ बाह्य रहित अतएव शोच्य हैं वे सब वराक हैं यह कहे हैं। इस समय कौन पुरुष पुरुषार्थ भागी और अशोच्य जो भगवान् के एकशरण प्राप्त हैं यह कहते हैं—महान् अनेकजन्मकृत पुण्यों से संस्कृत क्षुद्र कामादि से अनभिभूत अतिरस्कृत आत्मा अन्तःकरण है जिनका वे, अतएव 'अभयं सत्त्वसंशुद्धिः' इत्यादि वक्ष्यमाण दैवी सात्त्विकी प्रकृति के

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः ।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥ १४ ॥

और वे दृढ़ निश्चयवाले भक्तजन निरन्तर मेरे नाम और गुणोंका कीर्तन करते हुए तथा मेरी प्राप्तिके लिये यत्न करते हुए और मेरेको बारम्बार प्रणाम करते हुए सदा मेरे ध्यानमें युक्त हुए, अनन्यभक्तिसे मुझे उपासना करते हैं ॥ १४ ॥

मनो येषां ते भूतादिं सर्वजगत्कारणमव्ययमविनाशिनं च ज्ञात्वा भजन्ति सेवन्ते ॥ १३ ॥

म० टी०—ते केन प्रकारेण भजन्तीत्युच्यते द्वाभ्याम्—सततमिति। सर्वदा ब्रह्मनिष्ठं गुरूपसदनेतरकाले च प्रणवजपोपनिषदावर्तनादिभिर्मां सर्वोपनिषत्प्रतिपाद्यब्रह्मस्वरूपं कीर्तयन्तः वेदान्तशास्त्राध्ययनरूपश्रवणव्यापारविषयीकुर्वन्त इति यावत् । तथा यतन्तश्च गुरुसन्निधावन्यत्र वा वेदान्ताविरोधितर्कानुसन्धानेनाप्रामाण्यशङ्कानास्कन्दितगुरूपदिष्टमत्स्वरूपाऽवधारणाय यतमानाः श्रवणनिर्धारितार्थबाधनशङ्कापनोदकुतर्कानुसन्धानरूपमननपरायणा इति यावत् । तथा दृढव्रताः दृढानि प्रतिपक्षैश्चालयितुमशक्यानि अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहादीनि व्रतानि येषां ते शमदमादिसाधनसम्पन्न इति यावत्।

आश्रित हैं अतएव मदतिरिक्त दूसरे में मन नहीं है जिनका एवंभूत वे भूतादि सकल प्रपञ्चकारण अविनश्वर मुझ ईश्वर को जानकर भजन करते हैं ॥१३॥

वे किस प्रकार से भजन करते हैं यह दो श्लोकों से कहते हैं—सदा ब्रह्मनिष्ठ गुरुसमीप उपस्थित होकर वेदान्तवाक्यविचार से और गुरूपसदन इतर काल में प्रणव जप ॐकार जप उपनिषद् पाठादि से सर्वोपनिषद् प्रतिपाद्य ब्रह्मस्वरूप मुझको कीर्तन करते हुए वेदान्तशास्त्राध्ययनरूप श्रवण व्यापार विषय मुझको करते हैं अर्थात् वेदान्तवाक्यों से उत्पन्न ज्ञान का विषय मुझको करते हैं । तथा गुरु के सन्निकट अथवा अन्यत्र वेदान्ताविरोधि तर्कानुसन्धान से अप्रमाण शंका निराकृत गुरूपदिष्ट मत्स्वरूप निर्णय के लिये प्रयत्न करते हुए श्रवण से निश्चित अर्थ का बाधक जो शंका उसका निवर्तक कुतर्कानुसन्धानरूप मनन परायण हैं तथा दृढ़व्रता 'दृढ़ानि प्रतिपक्षैः चालयितुम् अशक्यानि अहिंसासत्यास्तेय ब्रह्मचर्यादीनि व्रतानि यासां ते दृढ़व्रताः' पूर्व पक्ष से निराकरण करने के अशक्य

तथा चोक्तं पतञ्जलिना—'अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः' ते तु जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम्' इति। जात्या ब्राह्मणत्वादिकया देशेन तीर्थादीनां कालेन चतुर्दश्यादिना समयेन यज्ञाद्यन्यत्वेनानवच्छिन्ना अहिंसादयः सार्वभौमाः क्षिप्तभूमिष्वपि भाव्यमानाः कस्यामपि जातौ कस्मिन्नपि देशे कस्मिन्नपि काले यज्ञादिप्रयोजनेऽपि 'हिंसां न करिष्यामि' इत्येवंरूपेण किंचिदप्यपर्युदस्य सामान्ये प्रवृत्ता एते महाव्रतमित्युच्यन्त इत्यर्थः। तथा नमस्यन्तश्च मां कायवाङ्मनोभिर्नमस्कुर्वन्तश्च मां भगवन्तं वासुदेवं सकलकल्याणगुणनिधानमिष्टदेवतारूपेण गुरुरूपेण च स्थितं चकरात्—

'श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्'।

अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥' इति वन्दनसहचरितं श्रवणाद्यपि बोद्धव्यम्, अर्चनं पादसेवनमित्यपि गुरुरूपे तस्मिन् सुकरमेव। अत्र मामिति पुनर्वचनं सगुणरूपपरामर्शार्थम् अन्यथा वैयर्थ्यप्रसङ्गात्। तथा भक्त्या

अहिंसादिव्रत जिनका है वे दृढ़व्रत हैं। पतञ्जलि ने कहा है—'अहिंसा सत्यास्तेयब्रह्मचर्य्यापरिग्रहा यमाः, ते तु जातिदेशकालसमायानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महादृढ़व्रताः' इति। जात्येति ब्राह्मणत्वादिक देश काशी प्रयागादि तीर्थ काल चतुर्दशी पूर्णिमादि पर्व यज्ञादि भिन्न से अनवच्छिन्न अहिंसादि सार्वभौमव्रत हैं अर्थात् ब्राह्मणत्वादि जातिविशिष्ट को हिंसा न करेंगे तथा तीर्थ में न करेंगे तथा चतुर्दश्यादि पर्वकाल में न करेंगे यह जात्याद्यवच्छिन्न व्रत हैं। और किसी भी जाति में किसी भी देश में किसी भी काल में यज्ञादि प्रयोजन में भी हिंसा न करेंगे यह संकल्प सामान्य से प्रवृत्त अनवच्छिन्न अहिंसा महाव्रत कहलाती है। क्षिप्तमूल विक्षिप्त भूमिक चित्त में भी इसका सम्भव है, तथा 'नमस्यन्तश्च माम्' इति। काय वाग् मन से मेरा नमस्कार करते हुए भगवान् वासुदेव मुझको जो कि सकल कल्याण गुणनिधान इष्टदेवतारूप से और गुरुरूप से स्थित हैं। 'चकार से श्रवणं कीर्तनं विष्णोः' इत्यादि मूलस्थ श्लोकोक्त वन्दन सहचरित श्रवणादि भी समझना। अर्चन और पादसेवन गुरुरूप भगवान् में सुकर है अन्यत्र नहीं। यहाँ 'माम्' यह पुनः कथन सगुणरूप के परामर्शार्थ है अन्यथा व्यर्थ हो जायगा तथा मद्विषय पर भक्ति से (प्रेम से) सर्वदा युक्त वे हैं इससे सर्व-

मद्विषयेण परेण प्रेम्णा नित्ययुक्ताः सर्वदा संयुक्ताः, एतेन सर्वसाधनपौष्कल्यं प्रतिबन्धाकाभावश्च दर्शितः—

'यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।

तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥' इति श्रुतेः। पतञ्जलिना चोक्तम्—'ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च' इति। तत ईश्वरप्रणिधानात्प्रत्यक्चेतनस्य त्वंपदलक्ष्यस्याधिगमः साक्षात्कारो भवति, अन्तरायाणां विघ्नानां चाभावो भवतीति सूत्रस्यार्थः। तदेवं शमदमादिसाधनसम्पन्ना वेदान्तश्रवणमननपरायणाः परमेश्वरे परमगुरौ प्रेम्णा नमस्कारादिना च विगतविघ्नाः परिपूर्णसर्वसाधनाः सन्तो मामुपासते विजातीयप्रत्ययप्रवाहेण श्रवणमननोत्तरभाविना सततं चिन्तयन्ति महात्मानः। अनेन निदिध्यासनं चरमसाधनं दर्शितम्, एतादृशसाधनपौष्कल्ये सति यद्वेदान्तवाक्यजमखण्डगोचरं साक्षात्काररूप 'अहं ब्रह्माऽस्मि' इति ज्ञानं तत्सर्वशङ्काकलङ्कास्पृष्टं सर्वसाधनफलभूतं

साधन पूर्णता और प्रतिबन्धकाभाव दिखलाया है 'यस्य देवे परा भक्तिः' इत्यादि श्रुति ऊपर देखिये। (अर्थ) जिसकी देवता में परा उत्कृष्ट भक्ति है और जैसे देवता में भक्ति है वैसे ही गुरु में है उसी महात्मा को ये अध्यात्मशास्त्रोक्त अर्थ भासित होते हैं। पतञ्जलि ने भी कहा है—'ततः प्रत्यक् चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च' इति। ईश्वर प्रणिधान से 'त्वम्' पदलक्ष्य त्वम्पदार्थ प्रत्यक् चेतन जीव का पूर्ण साक्षात्कार होता है तथा अन्तराय (विघ्नों) का अभाव भी होता है यह सूत्र का अर्थ है। इस प्रकार शमदमादि साधनसम्पन्न और वेदान्त श्रवण मननपरायण परमगुरु परमेश्वर में प्रेम और नमस्कारादि से विघ्नशून्य और परिपूर्ण सर्वसाधन होते हुए मेरी उपासना करते हैं। विजातीयप्रत्ययानन्तरित विजातीयज्ञानाव्यवहित और सजातीयज्ञानधारारूप श्रवण मनन के अनन्तर भक्ति से महात्मा लोग सदा मेरी चिन्तना करते हैं इससे निदिध्यासन अन्तिम साधन है यह दिखलाया। ऐसे साधन साकल्य से जो वेदान्तवाक्य से उत्पन्न अखण्डविषय साक्षात्काररूप 'मैं ब्रह्म हूँ' यह ज्ञान होता है वह सर्व शंका कलङ्क से अछूत है सर्वसाधनफलभूत स्वकीयोत्पत्तिमात्र से सकल

ज्ञानयज्ञेन चाऽप्यन्ये यजन्तो मामुपासते।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम्॥ १५॥

उनमें कोई तो मुझ विराट्स्वरूप परमात्माको ज्ञानयज्ञके द्वारा पूजन करते हुए, एकत्वभावसे अर्थात् जो कुछ है सब वासुदेव ही हैं, इस भावसे उपासना करते हैं और दूसरे पृथक्त्वभावसे अर्थात् स्वामी सेवक-भावसे और कोई कोई बहुत प्रकारसे भी उपासना करते हैं॥ १५॥

स्वोत्पत्तिमात्रेण दीप इव तमः सकलमज्ञानं तत्कार्यं च नाशयतीति निरपेक्ष-मेव साक्षान्मोक्षहेतुर्न तु भूमिजयक्रमेण भ्रूमध्ये प्राणप्रवेशनं मूर्धन्यया नाड्या प्राणोत्क्रमणमर्चिरादिमार्गेण ब्रह्मलोकगमनं तद्भोगान्तकालविलम्बं वा प्रतीक्ष्यते। अतो यत्प्राक्प्रतिज्ञातम्—'इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे। ज्ञानम्' इति तदेतदुक्तम्, फलञ्चास्याशुभान्मोक्षणं प्रागुक्तमेवेतीह पुनर्नोक्तम्। एवमत्रायं गम्भीरो भगवतोऽभिप्रायः उत्तानार्थस्तु प्रकट एव॥ १४॥

म० टी०—इदानीं य एवमुक्तश्रवणमननिदिध्यासनासमर्थास्तेऽपि त्रिविधा उत्तमा मध्यमा मन्दाश्चेति सर्वेऽपि स्वानुरूप्येण मामुपासत इत्याह—**ज्ञानयज्ञेनेति**। अन्ये पूर्वोक्तसाधनानुष्ठानासमर्थाः ज्ञानयज्ञेन 'त्वं वा

अज्ञान और तत्कार्य को निवृत्त करता है, जैसे प्रदीप स्वोत्पत्तिमात्र से अन्धकार की निवृत्ति करता है तद्वत् अतएव निरपेक्ष साक्षान्मोक्ष कारण है। भूमिजय क्रम की अपेक्षा नहीं। भ्रूमध्य में प्राणप्रवेश मूर्धन्य नाड़ी प्राणोत्क्रमण अर्चि-रादि मार्ग द्वारा ब्रह्मलोक गमन तद्भोगान्तकाल बिलम्ब प्रतीत होता है अतः जो पहिले प्रतीत हुआ 'इदं तु गुह्यतमम्' इत्यादि वही यह ज्ञान कहा है, इसका फल पूर्वोक्त अशुभमोक्षण है इसलिये यहाँ पुनः फलकथन नहीं है। इस प्रकार यहाँ भगवान् का यह गम्भीर अभिप्राय है और उत्तानार्थ अर्थात् स्पष्टार्थ तो स्फुट ही है। 'निम्नं गभीरं गम्भीरमुत्तानं तद्विपर्यये' इस अमरकोष से गम्भीर का वि-पर्ययको उत्तान भी कहते हैं॥ १४॥

इस समय जो लोग पूर्वोक्त श्रवण मनन निदिध्यासन में असमर्थ हैं वे तीन प्रकार के हैं—१ उत्तम २ मध्यम और मन्द। वे सब अपने अनुसार मेरे उपासना करते हैं यह कहतेहैं—अन्य पूर्वोक्त साधनानुष्ठान में असमर्थ हैं वे ज्ञान

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम्।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम् ॥ १६ ॥

क्योंकि क्रतु अर्थात् श्रौतकर्म मैं हूँ, यज्ञ अर्थात् पञ्चमहायज्ञादि स्मार्तकर्म मैं हूँ, स्वधा अर्थात पितरोंके निमित्त दियाजानेवाला अन्न मैं हूँ, औषधि अर्थात् सब वनस्पतियां मैं हूँ, एवं मन्त्र मैं हूँ, घृत मैं हूँ, अग्नि मैं हूँ और हवनरूप क्रिया भी मैं ही हूँ ॥ १६ ॥

अहमस्मि भगवो देवते अहं वै त्वमसि इत्यादिश्रुत्युक्तमहंग्रहोपासनं ज्ञानं स एव परमेश्वरयजनरूपत्वाद्यज्ञस्तेन चकार एवार्थे अपिशब्दः साधनान्तरत्यागार्थः। केचित्साधनान्तरनिस्पृहाः सन्त उपास्योपासकाभेदचिन्तारूपेण ज्ञानयज्ञेनैकत्वेन भेदव्यावृत्त्या मामेवोपासते चिन्तयन्त्युत्तमाः। अन्ये तु केचिन्मध्यमाः पृथक्त्वेनोपास्योपासकयोर्भेदेन 'आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशः' इत्यादि श्रुत्युक्तेन प्रतीकोपासनरूपेण ज्ञानयज्ञेन मामेवोपासते। अन्ये त्वहंग्रहोपासने प्रतीकोपासने चासमर्थाः केचिन्मन्दाः कांचिदन्यां देवतां चोपासीनाः कानिचित् कर्माणि चाकुर्वाणा बहुधा तैस्तैर्बहुभिः प्रकारैर्विश्वरूपं सर्वात्मानं मामेवोपासते तेन तेन ज्ञानयज्ञेनेति उत्तरोत्तराणां क्रमेण पूर्वपूर्वभूमिलाभः ॥ १५ ॥

यज्ञ से 'त्वं वा अहमस्मि भगवो देवते अहं वै त्वमसि' हे भवो देवते! आप मैं हूँ और मैं आप हो इस प्रकार श्रुत्युक्त अहं ग्रहोपासन ज्ञान वही यज्ञेश्वर यजनरूप होने से यज्ञ है उससे मेरी उपासना करते हैं। चकार एवकार के अर्थ में है। अपि शब्द हेत्वन्तर त्यागार्थ है। किसी साधनान्तर की स्पृहा से शून्य होते हुए उपास्योपासक का अभेद चिन्तारूप ज्ञानयज्ञ से भेद हटाकर स्वाभिन्न मेरी उपासना करते हैं वे उत्तम हैं। दूसरे मध्यम श्रेणी के लोग उपास्योपासक का भेद मानकर 'आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशः' इत्यादि श्रुत्युक्त प्रतीकोपासनारूप ज्ञानयज्ञ से मेरी ही उपासना करते हैं। और जो लोग उनसे भी मन्द हैं अहं ग्रहोपासन और अनन्तरोक्त प्रतीकोपासन में समर्थ नहीं हैं वे अतिमन्द किसी दूसरे देवता की उपासना करते हैं अथवा कोई कर्म करते हैं प्रायः उन अनेक प्रकारों से सर्वात्मा स्वरूप मेरी ही उपासना करते हैं, उन ज्ञानयज्ञों से उत्तरोत्तर उपासकों को पूर्व पूर्व भूमि का क्रम से लाभ होता है ॥१५॥

म० टी०—यदि बहुधोपासते तर्हि कथं त्वामेवेत्याशङ्क्यात्मनो विश्वरूपत्वं प्रपञ्चयति चतुर्भिः—अहं क्रतुरहमिति। 'सर्वस्वरूपोऽहम्' इति वक्तव्ये तत्तदेकदेशकथनमवयुत्यानुवादेन वैश्वानरे द्वादशकपालेऽष्टाकपालत्वादिकथनवत्। क्रतुः श्रौतोऽग्निष्टोमादिः यज्ञः स्मार्तो वैश्वदेवादिः महायज्ञत्वेन श्रुतिस्मृतिप्रसिद्धः स्वधान्नं पितृभ्यो दीयमानं औषधम् औषधिप्रभवमन्नं सर्वैः प्राणिभिर्भुज्यमानं भेषजं वा मन्त्रो याज्यापुरोऽनुवाक्यादिर्येनोद्दिश्य हविर्दीयते देवेभ्यः आज्यं घृतं सर्वहविरुपलक्षणमिदम्। अग्निराहवनीयादिः, हविः प्रक्षेपाधिकरणं हुतं हवनं हविः प्रक्षेपः एतत्सर्वमहं परमेश्वर एव एतदेकैकज्ञानमपि भगवदुपासनमिति कथयितुं प्रत्येकमहंशब्दः क्रियाकारकफलजातं किमपि भगवदतिरिक्तं नास्तीति समुदायार्थः ॥ १६ ॥

जो अनेक देवताओं की उपासना करते हैं तो आप की ही उपासना उनको कैसे हुई इस शंका के निवृत्ति के लिये अपने को विश्वस्वरूप चार श्लोकों से स्फुट करते हैं, 'निखिल स्वरूप हम हैं' यह कहना उचित था किन्तु ऐसा न कहकर तत्तद् एकदेश का स्वरूप कथन अवयुत्यानुवाद है, द्वादशकपाल वैश्वानर में अष्टाकपालत्वादि कथनवत्। एकदेश से समुदायानुवाद अवयुत्यनुवाद है। 'क्रतुः वैदिकः अग्निष्टोमादिः यज्ञः स्मार्तः (स्मृतिप्रोक्तः) वैश्वदेवादिः महायज्ञत्वेन' श्रुतिस्मृति प्रसिद्ध पितरों के उद्देश्य से दीयमान जो अन्न वह स्वधा है वह भी मैं हूँ। औषधम् औषधि से सम्पन्न अन्न जिसको सब प्राणी खाते हैं वह मैं हूँ अथवा औषधार्थ करके भेषज (दवा) जो व्याधि निवर्तक है वह मैं हूँ। मन्त्र याज्या पुरोऽनुवाक्यादि, जिससे देवताओं के उद्देश्य से हवि दी जाती है। आज्य (घृत) सब हवियों का उपलक्षण है। अग्निः आहवनीयादि जो हवि त्याग का आधार है और हुत हवन हवि का त्याग यह सब मैं परमेश्वर ही हूँ। इनमें एकैक ज्ञान भी भगवान् की उपासना है इसे कहने के लिये प्रत्येक के साथ 'अहम्' शब्द का उच्चारण है। क्रिया कारक फलसमुदाय कुछ भी भगवान् से अतिरिक्त नहीं है यह समुदाय का अर्थ है ॥१६॥

पिताऽहमस्य जगतो माता धाता पितामहः।
वेद्यं पवित्रमोंकार ऋक्साम यजुरेव च ॥ १७ ॥
गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम् ॥ १८ ॥

और हे अर्जुन! मैं ही, इस संपूर्ण जगत् का धाता अर्थात् धारण पोषण करनेवाला एवं कर्मोके फलको देखनेवाला तथा पिता माता, और पितामह हूँ और जानने योग्य पवित्र ओंकार तथा ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद भी मैं ही हूँ ॥ १७ ॥

और हे अर्जुन! प्राप्त होने योग्य तथा भरण पोषण करनेवाला, सबका स्वामी, शुभाशुभका देखनेवाला, सबका वासस्थान और शरणलेने योग्य तथा प्रत्युपकार न चाहकर हित करनेवाला और उत्पत्ति, प्रलयरूप तथा सबका आधार, निधान और अविनाशी कारण भी मैं ही हूँ ॥ १८ ॥

म० टी०—किं च—अस्य जगतः सर्वस्य प्राणिजातस्य पिता जनयिता माता जनयित्री धाता पोषयिता तत्तत्कर्मफलविधाता वा पितामहः पितुः पिता वेद्यं वेदितव्यं वस्तु पूयतेऽनेनेति पवित्रं पावनं शुद्धिहेतुर्गङ्गास्नानगायत्रीजपादि वेदितव्ये ब्रह्मणि वेदनसाधनमोङ्कारो नियताक्षरपादा ऋक् गीतिविशिष्टा सैव साम, सामपदं तु गीतिमात्रस्यैवाभिधायकमित्यन्यत्। गीतिरहितमनियताक्षरं जगुः, एतत् त्रितविधं मन्त्रजातं कर्मोपयोगि। चकारादथर्वाङ्गिरसोऽपि गृह्यन्ते। एवकारोऽहमेवेत्यवधारणार्थः ॥ १७ ॥

और भी—इस सब जगत् के सर्व प्राणिसमुदाय का उत्पन्न करने वाला पिता, पोषण करने वाली माता तत्तद् कर्म के फल का विधान करने वाला मैं हूँ। पिता के पिता को पितामह कहते हैं वह भी मैं हूँ, वेद्य और वेदित वस्तु पवित्र हो जिससे वह पवित्र शुद्धि हेतु गङ्गास्नान गायत्री जपादि मैं हूँ वेदितव्य ब्रह्म में वेदन ज्ञानसाधन ॐकार मैं हूँ। जिसके पाप में अक्षर नियत होते हैं वह ऋक् है, गीतिविशिष्ट वही ऋक् साम है, सामपद केवल गीतिमात्र का बोधक है, गीतिरहित अनियताक्षर यजु है, यह तीन प्रकार का मन्त्रसमुदाय कर्मोपयोगी है चकार से अथर्ववेद का भी ग्रहण है। एवकार (अहमेव) मैं ही हूँ इस अवधारण के लिये है ॥१७॥

म० टी०—किं च गम्यत इति गतिः कर्मफलम्,—

'ब्रह्मा विश्वसृजो धर्मो महानव्यक्तमेव च।
उत्तमां सात्त्विकीमेतां गतिमाहुर्मनीषिणः ॥

इत्येव' मन्वाद्युक्तं भर्ता पोष्टा सुखसाधनस्यैव दाता, प्रभुः स्वामी, मदीयोऽयमिति स्वीकर्ता, साक्षी सर्वप्राणिनां शुभाशुभद्रष्टा, निवसन्त्यस्मिन्निति निवासो भोगस्थानम् शीर्यते दुःखमस्मिन्निति शरणं प्रपन्नानामार्तिहृत् सुहृत् प्रत्युपकारानपेक्षः सन्नुपकारी प्रभव उत्पत्तिः प्रलयो विनाशः स्थानं स्थितः यद्वा।प्रकर्षेण भवन्त्यनेनेति प्रभवः स्रष्टा, प्रकर्षेण लीयन्तेऽनेनेति प्रलयः संहर्ता, तिष्ठन्त्यस्मिन्निति स्थानमाधारः, निधीयते निक्षिप्यते तत्कालभोगायोग्यतया कालान्तरोपभोग्यं वस्त्वस्मिन्नति निधानं सूक्ष्मरूपसर्ववस्त्वधिकरणं प्रलयस्थानमिति यावत्; शङ्खपद्मानिनिधिर्वा। बीजमुत्पत्तिकारणम्, अव्ययमविनाशि न तु व्रीह्यादिवद्विनश्वरं तेनानाद्यनन्तं यत्कारणं तदप्यहमेवेति पूर्वेणैव सम्बन्धः॥ १८ ॥

किञ्च—'गम्यते इति गतिः कर्मफलम्' विश्व की सृष्टि करने वाले ब्रह्मा धर्म महानव्यक्त विद्वान् लोग इस सात्त्विक गति को उत्तम कहे हैं यह मन्वादि स्मृतियों में है। भर्त्ता पोषण करने वाला सुखसाधन का ही देने वाला, प्रभु (स्वामी) जो यह मेरा है ऐसा मानता है वह स्वामी है, सब प्राणियों के पुण्य पाप देखने वाला साक्षी है, निवास भोगस्थान, शरण प्राप्त के दुःख को हरने वाला सुहृद् प्रत्युपकार का अपेक्षा न कर उपकार करने वाला, प्रभव उत्पत्ति प्रलय विनाश अथवा प्रकृष्ट से हो जिससे वह प्रभव उत्पादक, प्रकर्षेण लय हो जिससे वह प्रलय संहारकर्ता, स्थित रहें जिसमें वह स्थान, आगार निधान किया जाय उस समय फलभोग के अयोग्य होने से कालान्तर में उपभोगयोग्य वस्तु जिसमें रक्खा जाय वह निधान है। सूक्ष्मरूप सब वस्तुओं का अधिकरण प्रलयस्थान शंखपद्मादि निधि मैं हूँ बीज उत्पत्तिकारण अव्यय अविनाशी व्रीह्यादि के समान विनाशी नहीं इससे अनादि अनन्त जो कारण वह मैं ही हूँ यह पूर्व के साथ सम्बन्ध है ॥१८॥

तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाऽहमर्जुन! ॥ १९ ॥
त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकमश्नन्ति दिव्यान् दिवि देवभोगान्॥२०॥

और मैं ही सूर्यरूप होकर तपता हूँ तथा वर्षाको आकर्षण करता हूँ और वरसाता हूँ और हे अर्जुन! मैं ही अमृत और मृत्यु एवं सत् और असत् भी सब कुछ मैं ही हूँ॥ १९ ॥

परन्तु जो तीनों वेदों में विधान किये हुए सकामकर्मोंको करनेवाले और सोमरस को पीनेवाले एवं पापों से पवित्र हुए पुरुष मेरे को यज्ञों के द्वारा पूजकर स्वर्गकी प्राप्ति चाहते हैं, वे पुरुष अपने पुण्यों के फलरूप इन्द्रलोक को प्राप्त होकर स्वर्ग में दिव्य देवताओंके भोगोंको भोगते हैं ॥ २० ॥

म० टी०—किंच तपाम्यहमादित्यः सन् ततश्च तापवशादहं वर्षं पूर्ववृष्टिरूपं रसं पृथिव्या निगृण्हाम्याकर्षामि कैश्चिद्रश्मिभिरष्टसु मासेषु कैश्चिद्रश्मिभिरुत्सृजामि च वृष्टिरूपेण प्रक्षिपामि च देवानां सर्वप्राणिनां जीवनं वा पश्वकारस्याऽहमित्यनेन संबन्धः। मृत्युश्च मर्त्यानां सर्वप्राणिनां विनाशो वा सत् यत्संबन्धितया यद्विद्यते तत्तत्र सत् असच्च यत्संबन्धितया यन्न विद्यते तत्तत्रासत् एतत्सर्वमहमेव हे अर्जुन!। तस्मात्सर्वात्मानं मां विदित्वा स्वस्वाधिकारानुसारेण वहुभिः प्रकारैर्मामेवोपासत इत्युपपन्नम् ॥१९॥

और भी—मैं ही आदित्य होकर धूप करता हूँ अर्थात् संसार को तपाता हूँ उसके वाद (अहं) मैं वृष्टिस्वरूप वर्षा हूँ, पृथिवी के रस को कुछ रस्मियोंसे आठ महीने में आकर्षण करता हूँ (खीचता हूँ) फिर वही खींचा हुआ पृथिवी का रस चातुर्मासा वर्षाकाल में कुछ किरणों से वृष्टिरूप से भूमि में त्याग करता हूँ देवताओं का अमृत और सब प्राणियों का जीवन मैं ही हूँ। एवकार का अहं के साथ सम्बन्ध है। मरणशीलों की मृत्यु सर्व प्राणियों का विनाश जिससे जो सम्बन्धितया रहता है वहाँ यह सत् कहलाता है और जो यत् सम्बधितया जहाँ नहीं है वह वहाँ असत् कहलाता है यह सब हे अर्जुन! मैं ही हूँ। इस कारण से मुझको सर्वात्मा समझ कर अपने अपने अधिकार के अनुसार अनेक प्रकारों से मेरी ही उपासना करते हैं यह वात ठीक है ॥१९॥

म० टी०—एवमेकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा चेति त्रिविधा अपि निष्कामाः सन्तो भगवन्तमुपासीनाः सत्त्वशुद्धिज्ञानोत्पत्तिद्वारेण क्रमेण मुच्यन्ते। ये तु सकामाः सन्तो न केनाऽपि प्रकारेण भगवन्तमुपासते किंतु स्वस्वकामसाधनानि काम्यान्येव कर्माण्यनुतिष्ठन्ति ते सत्त्वशोधकाभावेन ज्ञानसाधनमनधिरूढाः पुनः पुनर्जन्ममरणप्रबन्धेन सर्वदा संसारदुःखमेवानुभवन्तीत्याह द्वाभ्याम्—**त्रैविद्या मामिति।** ऋग्वेदयजुर्वेदसामवेदलक्षणा हौत्राध्वर्यवौद्गात्रप्रतिपत्तिहेतवस्तिस्रो विद्या येषां ते त्रिविद्या एव स्वार्थिकतद्धितेन त्रैविद्यास्तिस्रो वदन्तीति वा वेदत्रयविदो याज्ञिका यज्ञैरग्निष्टोमादिभिः क्रमेण सवनत्रये वसुरुद्रादित्यरूपिणं मामीश्वरमिष्ट्वा तद्रूपेण मामजानन्तोऽपि वस्तुवृत्तेन पूजयित्वा अभिष्टुत्य हुत्वा च सोमं पिबन्तीति सोमपाः सन्तस्तेनैव सोमपानेन पूतपापा निरस्तस्वभोगप्रतिबन्धकपापाः सकामतया स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते न तु सत्त्वशुद्धिज्ञानोत्पत्त्यादि, ते दिवि स्वर्गे लोके पुण्यं पुण्यफलं

इस प्रकार अभेद से और भेद से अनेक प्रकार से त्रिविध निष्काम होकर जो भगवान् की उपासना करते हैं अन्तःकरण शुद्धि और ज्ञानोत्पत्तिद्वारा क्रम से मुक्त होते हैं। जो तो सकाम होकर किसी भी प्रकार से भगवान् की उपासना नहीं करते किन्तु स्वेष्टसाधन काम्यकर्म ही करते हैं वे अन्तःकरण के शोधकाभाव से ज्ञानसाधन को न पाकर फिर फिर जन्म मरण प्रबन्ध से सदा संसार दुःख का ही अनुभव करते हैं यह दो श्लोकों से कहते हैं—ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद एवं ऋग्वेद में हौत्रकर्म यजुर्वेद में आध्वर्यव और सामवेद में औद्गात्र, ज्ञान हेतु तीन विद्यायें जिनको हैं वे त्रिविद्या कहलाते हैं। त्रिविद्या शब्द से स्वार्थिक तद्धित से त्रैविद्य बना, अथवा उक्त तीनों विद्याओं को जो जानते हैं अर्थात् वेदत्रय को जान कर याज्ञिक यज्ञ अग्निष्टोमादि से क्रम से सवनत्रय से वसु, रुद्र और आदित्यरूपी मुझ ईश्वर का यज्ञ कर उस रूप से मुझे न जानते हुए भी वस्तुस्वभाव से पूजा कर सोम को कूट कर रस गार कर हवन कर अवशिष्ट सोमरस जो पीते हैं वे 'सोमपा' कहाते हैं वैसे होते हुए इसी सोम पान से स्वर्गभोग प्रतिबन्धक पापों को निवृत्त कर शुद्ध सकाम होने से स्वर्ग की प्रार्थना करते हैं। अन्तःकरण शुद्धि और ज्ञानोत्पत्ति की नहीं वे स्वर्गलोक में

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना
गतागतं कामकामा लभन्ते ॥ २१ ॥

और वे उस विशाल स्वर्गलोकको भोगकर, पुण्य क्षीण होनेपर, मृत्युलोकको प्राप्त होते हैं, इस प्रकार स्वर्गके साधनरूप तीनों वेदोंमें कहे हुए साधनरूप तीनों वेदोंमें कहे हुए सकाम कर्मके शरण हुए और भोगोंकी कामनावाले पुरुष बारम्बार जाने आनेको प्राप्त होते हैं, अर्थात् पुण्यके प्रभावसे स्वर्गमें जाते हैं और पुण्य क्षीण होनेसे मृत्युलोकमें आते हैं ॥ २१ ॥

सर्वोत्कृष्टं सुरेन्द्रलोकं शतक्रतोः स्थानमासाद्य दिव्यान् मनुष्यैरलभ्यान् देवभोगान् देवदेहोपभोग्यान् कामानश्नन्ति भुञ्जते ॥ २० ॥

म० टी०—ततः किमनिष्टमिति तदाह—ते तमिति। ते सकामास्तं काम्येन पुण्येन प्राप्तं विशालं विस्तीर्णं स्वर्गलोकं भुक्त्वा तद्भोगजनके पुण्ये क्षीणे सति तद्देहनाशात्पुनर्देहग्रहणाय मर्त्यलोकं विशन्ति पुनर्गर्भवासादियातना अनुभवन्तीत्यर्थः। पुनः पुनरेवम् उक्तप्रकारेण। हि प्रसिद्ध्यर्थः। त्रैधर्म्यं हौत्राध्वर्यवौद्गात्रधर्मत्रयार्हं ज्योतिष्टोमादिकं काम्यं कर्म। 'त्रयीधर्मम्' इति पाठेऽपि त्रय्या वेदत्रयेण प्रतिपादितं धर्ममिति स

सर्वोत्कृष्ट पुण्यफल सुरेन्द्रलोक स्थान में पहुँच कर मनुष्यों से अलभ्य देवदेह भोग योग्य दिव्य भोगों का अनुभव करते हैं ॥२०॥

इससे क्या अनिष्ट होता है यह कहते हैं—वे सकाम हैं अतएव काम्य पुण्य से उस विशाल स्वर्गफल को प्राप्त कर अर्थात् विस्तृत स्वर्गलोक का भोग करने पर स्वर्गभोगजनक पुण्य के क्षीण होने पर उस स्वर्गीय शरीर का नाश होने से फिर देहग्रहण करने के लिये मर्त्यलोक में आते हैं और फिर गर्भवासादि जन्य दुःखों का अनुभव करते हैं। पुनः पुनः उक्त प्रकार से आते हैं और जाते हैं। 'हि' शब्द प्रसिद्धार्थक है। त्रैधर्म्य हौत्र आध्वर्यव और औद्गात्र धर्मत्रययोग्य ज्योतिष्टोमादि काम्यकर्म। 'त्रयी धर्मम्' इस पाठ में भी त्रयी वेदत्रयी तत्प्रतिपादित

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जना पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥ २२ ॥

और जो अनन्यभावसे मेरेमें स्थित हुए भक्तजन मुझ परमेश्वरको निरन्तर चिन्तन करते हुए, निष्काम भावसे भजते हैं, उन नित्य एकी भावसे मेरेमें स्थितवाले पुरुषोंका योगक्षेम मैं स्वयम् प्राप्त कर देता हूँ ॥ २२ ॥

एवार्थः। अनुप्रपन्नाः अनादौ संसारे पूर्वप्रतिपत्त्यनन्तरं मनुष्यलोकमागत्य पुनः प्रतिपन्नाः कामकामा दिव्यान् भोगान् कामयमाना एवं गतागतं लभन्ते कर्म कृत्वा स्वर्गं यान्ति तत आगत्य पुनः कर्म कुर्वन्तीत्येवं गर्भवासादियातना-प्रवाहस्तेषामनिशमनुवर्तत इत्यभिप्रायः ॥ २१ ॥

निष्कामाः सम्यग्दर्शिनस्तु--अनन्या इति । अन्यो भेददृष्टिविषयो न विद्यते येषां तेऽनन्याः सर्वाद्वैतदर्शिनः सर्वभोगा निःस्पृहाः अहमेव भगवान्-वासुदेवः सर्वात्मना न मद्व्यतिरिक्तं किंचिदस्तीति ज्ञात्वा तमेव प्रत्यञ्चं सदा चिन्तयन्तो मां नारायणमात्मत्वेन ये जनाः साधनचतुष्टयसम्पन्नाः सन्यासिनः परि सर्वतोऽनवच्छिन्नतया पश्यन्ति ते मदनन्यतया कृतकृत्या एवेति शेषः ।

धर्म उक्त ही अर्थ है । (अनुप्रपन्न) अनादि संसार में पूर्व ज्ञान की अपेक्षा से अनु शब्द है पूर्व प्रतिपत्ति के अनन्तर मनुष्यलोक में आकर फिर मनुष्य होते हैं। कामकामा दिव्य भोगों की कामना करते हुए गतागत का लाभ करते हैं संसार में आते जाते हैं कर्म कर स्वर्ग जाते हैं वहाँ से आकर फिर कर्म करते हैं इस प्रकार गर्भवासादि दुःखप्रवाह उनको सदा होता है यह अभिप्राय है ॥२१॥

इस प्रकार कर्मियों की आवृत्ति फल कह कर भक्तों की भी मेरे भजन से ही सर्वेष्टसिद्धि होती है यह कहते हैं-अनन्येनि से। निष्काम ज्ञानी भेद दृष्टि विषय अन्यार्जन को नहीं है अर्थात् अभेद दर्शी जो हैं वे अनन्य है अर्थात् सर्वाद्वैतात्म दर्शी हैं अतएव सर्व भोगों से निस्पृह हैं। मैं ही भगवान वासुदेव सर्वात्मा मद-तिरिक्त कुछ भी नहीं है यह जानकर उसी प्रत्यगात्मा का सदा चिन्तन करते हुए मुझ नारायण को अपना आत्मा जानते हुए साधनचतुष्टयसम्पन्न सन्यासी परित्यागी विरक्त सर्वानवच्छिन्न आत्मा मुझको देखते हैं वे मेरे से अभिन्न

येऽप्यन्यदेवताः भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेऽपि मामेव कौन्तेय ! यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥ २३ ॥

और हे अर्जुन ! यद्यपि श्रद्धासे युक्त हुए जो सकामी भक्त, दूसरे देवताओंको पूजते हैं, वे भी मेरेको हीं पूजते है, किन्तु उनका वह पूजना अविधिपूर्वक है, अर्थात् अज्ञानपूर्वक है ॥ २३ ॥

अद्वैतदर्शननिष्ठानामत्यन्तनिष्कामानां तेषां स्वयमप्रयतमानानां कथं योगक्षेमौ स्यातामित्यत आह--तेषामिति । तेषां नित्याभियुक्तानां नित्यमनवरतमादरेण ध्याने व्यापृतानां देहयात्रामात्रार्थमप्यप्रयतमानानां योगं च क्षेमं च अलब्धस्य लाभं लब्धस्य परिक्षणं च शरीरस्थित्यर्थं योगक्षेममकामयमानानामपि वहामि प्रापयाम्यहं सर्वेश्वरः प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः,--

'उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतः'

इति ह्युक्तं यद्यपि सर्वेषामपि योगक्षेमं वहति भगवान् तथाप्यन्येषां प्रयत्नमुत्पाद्य तद्द्वारा वहति, ज्ञानिनां तु तदर्थं प्रयत्नमनुत्पाद्य वहतीति विशेषः ॥ २२ ॥

होने से कृतकृत्य ही हैं अर्थात् अपना कर्तव्य पूर्ण कर चुके हैं अद्वैतज्ञान निष्ठ अतएव अत्यन्त निष्काम उन लोगों का जो स्वयं अपने लिये प्रयत्न नहीं करते। उनका योगक्षेम कैसे होता है ? अलब्ध की प्राप्ति योग है और लब्ध का परिपालन क्षेम कहलाता है इस शंका से कहते हैं—उन नित्याभियुक्तों को जो सतत ध्यान में आदरपूर्वक लगे हैं उनकी शरीरयात्रामात्र निर्वाहार्थ भी नहीं करते उनका योगक्षेम पूर्वोक्त शरीरस्थित के लिए मैं सर्वेश्वर करता हूँ। जिससे ज्ञानी अत्यन्त हम को प्रिय हैं और ज्ञानियों को हम प्रिय हैं। ये सब उत्कृष्ट हैं ज्ञानी तो मेरा आत्मा ही है यह मेरा मत है जो कि पहले कह चुके हैं। यद्यपि सबका योग क्षेम भगवान् करते हैं तथापि अन्य लोगों का तत्तत् पुरुष व्यापार कराकर तद्द्वारा योगक्षेम करते हैं और ज्ञानियों से योग क्षेमार्थ व्यापार न करा कर स्वयं करते हैं यह विशेष है ॥ २२ ॥

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते ॥ २४ ॥

क्योंकि संपूर्ण यज्ञोंका भोक्ता और स्वामी भी मैं ही हूँ, परन्तु वे मुझ अधियज्ञस्वरूप परमेश्वरको तत्त्वसे नहीं जानते हैं, इसीसे गिरते हैं अर्थात् पुनर्जन्मको प्राप्त होते हैं ॥ २४ ॥

म० टी०—नन्वन्या अपि देवतास्त्वमेव त्वद्व्यतिरिक्तस्य वस्त्वन्तरस्याभावात् तथा च देवतान्तरभक्ता अपि त्वामेव भजन्त इति न कोऽपि विशेषः स्यात् तेन गतागतं कामकामा वसुरुद्रादित्यादिभक्ता लभन्ते अनन्याश्चिन्तयन्तो मां तु कृतकृत्या इति कथमुक्तं तत्राह—**येऽप्यन्यदेवताइति**। यथा मद्भक्ता मामेव यजन्ति तथा येऽन्यदेवतानां वस्वादीनां भक्ता यजन्ते ज्योतिष्टोमादिभिः श्रद्धया आस्तिक्यबुद्ध्या अन्विताः तेऽपि मद्भक्ता इव हे कौन्तेय !, तत्तद्देवतारूपेण स्थितं पूजयन्ति अविधिपूर्वकम् अविधिरज्ञानं तत्पूर्वकं सर्वात्मत्वेन मामज्ञात्वा मद्भिन्नत्वेन वस्वादीन् कल्पयित्वा यजन्तीत्यर्थः ॥ २३ ॥

म० टी०—अविधिपूर्वकत्वं विवृण्वन् फलप्रच्युतिममीषामाह—**अहं हीति**। अहं भगवान् वासुदेव एव सर्वेषां यज्ञानां श्रौतानां स्मार्तानां

प्रश्न—अन्य भी देवतायें आप ही हैं आप से अतिरिक्त देवतान्तर है नहीं तो फिर देवतान्तर भक्त भी आप ही का भजन करते हैं फिर फलभेद क्यों ? एवं दोनों में विशेष क्या है ? जिस कारण कामकामा वसु रुद्र और आदित्य के भक्त आते जाते हैं, अनन्य मेरी चिन्ता करने वाले कृतकृत्य होते हैं यह फल भेद कैसे ?

उत्तर—जैसे मेरे भक्त मेरा ही भजन करते हैं वैसे अन्य देवता वसु रुद्र आदित्य के भक्त श्रद्धा से आस्तिक्य बुद्धि से युक्त हो ज्योतिष्टोमादि से मेरा भजन करते हैं हे अर्जुन !, अतः वे भी मेरे भक्त ही हैं क्योंकि तत्तद् देवता रूप से स्थित मेरी ही पूजा करते हैं किन्तु वे अविधिपूर्वक अर्थात् अज्ञान पूर्वक अर्थात् सर्वात्मा मुझको न समझकर वस्वादि को मुझ से अतिरिक्त कल्पना कर पूजा करते हैं ॥ २३ ॥

अविधिपूर्वक का विवरण करते हुए इनकी फल की च्युति कहते हैं—अहं से। मैं भगवान् वासुदेव ही सब यज्ञों का चाहे श्रौत हो अथवा स्मार्त हो तत्तद्

च तत्तद्देवतारूपेण भोक्ता च स्वेनान्तर्यामिरूपेण अधियज्ञत्वात् फलदाता चेति हि प्रसिद्धमेतत्। देवतान्तरयाजिनस्तु मामीदृशं तत्त्वेन भोक्तृत्वेन प्रभुत्वेन च भगवान् वासुदेव एव यज्ञानां भोक्ता स्वेन रूपेण च फलदाता न तदन्योऽस्ति कश्चिदाराध्य इत्येवंरूपेण न जानन्ति। अतो मत्स्वरूपापरिज्ञानान्महतायसेनेष्ट्वाऽपि मय्यनर्पितकर्माणस्तत्तद्देवलोकं धूमादिमार्गेण गत्वा तद्भोगाऽन्ते च्यवन्ति प्रच्यवन्ते, तद्भोगजनककर्मक्षयात्तद्देहादिवियुक्ताः पुनर्देहग्रहणाय मनुष्यलोकं प्रत्यावर्तन्ते। ये तु तत्तद्देवतासु भगवन्तमेव सर्वान्तर्यामिणं पश्यन्तो यजन्ते ते भगवदर्पितकर्माणस्तद्विद्यासहितकर्मवशादर्चिरादिमार्गेण ब्रह्मलोकं गत्वा तत्रोत्पन्नसम्यग्दर्शनास्तद्भोगान्ते मुच्यन्त इति विवेकः॥ २४॥

देवतारूप से भोक्ता तथा अन्तर्यामीस्वरूप से अधियज्ञ होने से प्रभु (स्वामी) तथा फलदाता मैं ही प्रसिद्ध हूँ। देवतान्तर के यज्ञ करने वाले इस तरह मुझको तत्त्वतः भोक्तृत्व और प्रभुत्व से भगवान् वासुदेव ही वस्वादिरूप से यज्ञों का भोक्ता और स्वस्वरूप से फलदाता है तदतिरिक्त कोई आराध्य देव नहीं है इस रूप से नहीं जानते। इस कारण मेरे स्वरूप के अज्ञान से बड़े प्रयत्न से यज्ञ करके भी मुझमें कर्मों का अर्पण न कर तत्तद् देवलोक में धूमादिमार्ग द्वारा जाकर तल्लोक भोगान्त में उस लोक से प्रच्युत होते हैं, तल्लोक भोगजनक कर्मों के क्षय होने से तल्लोकीय स्वर्गादि शरीर से रहित होकर फिर देह ग्रहण के लिए पुनर्मनुष्य लोक में आते हैं और जो तत्तद् देवताओं में अन्तर्यामी भगवान् को ही देखते हुए यज्ञ करते हैं वे भगवान् में सब कर्मों का अर्पण कर आत्मज्ञानसहित अर्चिरादिमार्ग द्वारा ब्रह्मलोक जाकर उस लोक में तत्त्वज्ञानोत्पत्ति होने से तल्लोकभोगान्त में, मुक्त हो जाते हैं यह विवेक है॥ २४॥

यान्ति देवव्रता देवान् पितॄन् यान्ति पितृव्रताः।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्।२५।

कारण, यह नियम है, कि देवताओंको पूजनेवाले देवताओंको प्राप्त होते हैं, पितरोंको पूजनेवाले पितरोंको प्राप्त होते हैं, भूतों को पूजनेवाले भूतोंको प्राप्त होते हैं और मेरे को भजनेवाले। मेरेको ही प्राप्त होते हैं, इसीलिये मेरे भक्तोंका पुनर्जन्म नहीं होता॥ २५॥

म० टी०—देवतान्तरयाजिनामनावृत्तिफलाभावेऽपि तत्तद्देवतायागानुरूपक्षुद्रफलावाप्तिर्ध्रुवेति वदन् भगवद्याजिनां तेभ्यो वैलक्षण्यमाह—यान्ति-देवेति। अविधिपूर्वकयाजिनो हि त्रिविधाः अन्तःकरणोपाधिगुणत्रयभेदात्। तत्र सात्त्विका देवव्रताः, देवा वसुरुद्रादित्यादयस्तत्संबन्धिव्रतं बल्युपहारप्रदक्षिणप्रह्वीभावादिरूपं पूजनं येषां ते तानेव देवान् यान्ति तं 'यथायथोपासते तदेव भवइति श्रुतेः। राजसास्तु पितृव्रताः श्राद्धादिक्रियाभिरग्निष्वात्तादीनां पितॄन् यान्ति, तथा तामसा भूतेज्या यक्षरक्षोविनायकमातृगणदीनां भूतानां पूजकास्तान्येव भूतानि यान्ति। अत्र देवपितृभूतशब्दानां तत्संबन्धिलक्षणयो-

देवतान्तर याजियों को अनावृत फल न होने पर भी तत्तद् देवता यागानुकूल (क्षुद्र) छोटा फल प्राप्ति निश्चित है यह कहते हुए भगवत् यज्ञ करने वालों में उन देवतान्तर जातियों से वैलक्षण्य कहते हैं--यान्ति से। अविधिपूर्वक यज्ञ करने वाले तीन प्रकार के हैं—सगुण अन्तःकरण के उपाधि भेद से, उनमें सात्त्विक जो वे देवव्रत हैं, देवा वसु रुद्र आदित्यादि तत्सम्बन्धी व्रत वाली उपहार प्रदक्षिणा नमस्कारादिरूप पूजन है जिनमें वे देवव्रत हैं। देवव्रत वसु रुद्रादि देवलोक में जाते हैं 'तं यथा यथोपासते तदेव भवति' यह श्रुति है। उपासक जैसे जैसे उपास्य की उपासना करता है उपासक वही उपास्य होता है। राजस (रजोगुणविशिष्ट) पितृव्रत कहलाते हैं श्राद्धादिक क्रियाओं से अग्निष्वात्तादि पितरों की पूजा करने से उन्हीं आराध्य अग्निष्वात्तादि में जाते हैं तथा तमोगुणविशिष्ट जिनका अन्तःकरण है वे भूतेज्या कहलाते हैं, यक्ष रक्ष विनायक मातृगणादि भूतों के पूजक हैं वे उन्हीं पूज्य भूतों में जाते हैं। यहाँ पर देवपितृभूत शब्दों का तत्सम्बन्धि

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥ २६ ॥

तथा हे अर्जुन ! मेरे पूजनमें यह सुगमता भी है, कि पत्र, पुष्प फल, जल इत्यादि जो कोई भक्त मेरे लिए प्रेमसे अर्पण करता है, उस शुद्धबुद्धि, निष्काम प्रेमी भक्तका प्रेमपूर्वक अर्पण किया हुआ वह पत्र, पुष्पादिक मैं सगुणरूपसे प्रकट होकर, प्रीतिसहित खाता हूं ॥ २६ ॥

ष्ट्रमुखन्यायेन समासः मध्यमपदलोपीसमासानङ्गीकारात् प्रकृतिविकृतिभावाभावेन च तादर्थ्यचतुर्थीसमासायोगात् । अन्ते च पूजवाचीज्याशब्दप्रयोगात् पूर्वपर्याय द्वयेऽपि व्रतशब्दः पूजापर एव । एवं देवतन्तराराधनस्य तत्तद्देवतारूपत्वमन्तवत्फलमुक्त्वा भगवदाराधनस्य भगवद्रूपत्वमनन्तं फलमाह—**मद्याजिन** इति । मां भगवन्तं यष्टुं पूजयितुं शीलं येषां ते मद्याजिनः सर्वासु देवतासु भगवद्भावदर्शिनो भगवदाराधनपरायणा मां भगवन्तमेव यान्ति, समानेऽप्यज्ञाने भगवन्तमन्तर्यामिणमनन्तफलदमनाराध्य देवतान्तरमाराध्यान्तवत्फलं यान्तीत्यहो दुर्दैववैभमवज्ञानामित्यभिप्रायः ॥ २५ ॥

में लक्षणा होने से उष्ट्रमुख न्याय से समास है । ऊँट के मुख के समान मुख है जिसका वह उष्ट्रमुख कहाता है उसी प्रकार देवव्रतादि शब्द में 'देवस्य व्रतमिव व्रतं येषां ते देवव्रताः', अर्थात् देवव्रत के समान व्रत है जिनका वे देवव्रत कहलाते हैं । मध्यमपदलोपी समास स्वीकार नहीं है और प्रकृति विकृति भाव न होने से तादर्थ्य चतुर्थी समास भी नहीं है । अन्त में पूजावाची इज्या शब्द के प्रयोग से पूर्व पर्य्यायद्वय में व्रतशब्द पूजा परक ही है । इस प्रकार देवतान्तर के आराधन का तत्तद् देवतारूप विनाशफल कहकर भगवदाराध्य का भगवद्रूप प्राप्ति अनन्तफल कहते हैं—**मद्‌याजि** से । मुझ भगवान् की पूजा करने की शक्ति है जिनकी वे मद्‌याजी सब देवताओं में भगवद् भाव देखने वाले अतएव भगवद् आराधन परायण मुझ भगवान् में ही जाते हैं, परिश्रम समान होने पर भी अज्ञान से अन्तर्यामी अनन्त फलप्रद भगवान् की आराधना न कर देवतान्तर की आराधना [illegible] विनाशी फल को पाते हैं 'इत्यहो दौर्भाग्यम्' अज्ञों का यह अभिप्राय है ॥२५॥

म० टी०—तदेवं देवतान्तराणि परित्यज्यानन्तफलत्वाद्भगवत एवाराधनं कर्तव्यमतिसुकरत्वाच्चेत्याह—**पत्रं पुष्पमिति।** पत्रं पुष्पं फलं तोयमन्यद्वाऽनायासलभ्यं यत्किञ्चिद्वस्तु यः कश्चिदपि नरो मे मह्यमनन्तमहाविभूतिपतये परमेश्वराय भक्त्या न वासुदेवात्परमस्ति किंचिदिति बुद्धिपूर्विकया प्रीत्या प्रयच्छति ईश्वराय भृत्यवदुपकल्पयति मत्स्वत्वानास्पदद्रव्याभावात् सर्वस्यापि जगतो मयैवार्जितत्वात्, अतो मदीयमेव सर्वं मह्यमर्पयति जनः तस्य प्रीत्या प्रयच्छतः प्रयतात्मनः शुद्धबुद्धेस्तत्पत्रपुष्पादि तुच्छमपि वस्तु अहं सर्वेश्वरोऽश्नामि अशनवत्प्रीत्या स्वीकृत्य तृप्यामि। अत्र वाच्यस्यात्यन्ततिरस्कारादर्शनलक्षिते स्वीकारविशेषेण प्रीत्यतिशयहेतुत्वं व्यज्यते 'न ह वै देवा अश्नन्ति न पिबन्त्येतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति इति श्रुतेः। कस्मात्तुच्छ-

इस प्रकार देवतान्तर का परित्याग कर अनन्त फल के लिये भगवान् ही की आराधना करनी चाहिये और भगवद् आराधन अतिसुलभ भी है यह कहते हैं—पत्रं से। पत्ता, फूल, फल जल और जो अनायास लभ्य कोई वस्तु है जो कोई पुरुष मुझ अनन्त महाविभूतिपति परमेश्वर की भक्ति से अर्थात् वासुदेव से पर श्रेष्ठ दूसरा कोई नहीं है इस बुद्धिपूर्वक प्रीति से ईश्वर के लिये अर्पण करता है, जैसे नौकर ईश्वर स्वामी को बड़ा मानकर पुष्पादि अर्पण करता है मदीय स्वत्व जिसमें नहीं है ऐसा कोई पदार्थ ही संसार में नहीं है क्योंकि सम्पूर्ण प्रपञ्च मेरा ही उपार्जित है अतः मेरा ही सब जो मनुष्य मुझे अर्पण करता है उस प्रीति से अर्पण करनेवाले शुद्धबुद्धि पुरुष के अर्पित पत्र पुष्पादि अतितुच्छ भी वस्तु सर्वेश्वर मैं खाता हूँ, अर्थात् भोजनवत् प्रीति से स्वीकार कर तृप्त होता हूँ। यहाँ पर वाच्य भोजन अत्यन्ततिरस्कृत होने से उसमें लक्षित स्वीकार विशेष से प्रीत्यतिशय हेतुत्व व्यञ्जित होता है। ('न ह वै देवा अश्नन्ति न पिबन्ति एतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति) अर्थ—देवता खाते पीते नहीं यही अमृत को देखकर तृप्त होते हैं।

प्रश्न—क्यों फिर तुच्छ भी पत्रादि खाते हैं?

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय ! तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥ २७ ॥

इसलिये, हे अर्जुन ! तूँ जो कुछ कर्म करते हो, जो कुछ खाते हो जो कुछ हवन करते हो जो कुछ दान देते हो, जो कुछ स्वधर्माचरणरूप तप करते हो वह सब मेरे में अर्पण करे ॥ २७ ॥

मपि तदश्नासि यस्मात् भक्त्युपहृतं भक्त्या प्रीत्या समर्पितं तेन प्रीत्या समर्पणं मत्स्वीकारनिमित्तमित्यर्थः । अत्र भक्त्या प्रयच्छतीत्युक्त्वा पुनर्भक्त्युपहृतमिति वदन्नभक्तस्य ब्राह्मणत्वतपस्वित्वादिनिमित्तं न भवतीति परिसङ्ख्यां सूचयति, श्रीदामब्राह्मणानीततण्डुलकणभक्षणवत् प्रीतिविशेषप्रतिबद्धभक्ष्यभक्ष्याविज्ञानो बाल इव मात्राद्यर्पितं पत्रपुष्पादि भक्तार्पितं साक्षादेव भक्षयामीति वा तेन भक्तिरेव मत्परितोषनिमित्तं न तु देवतान्तरवद् बल्युपहारादिबहुवित्तव्ययायाससाध्यं किंचिदिति । देवतान्तरमपहाय मामेव भजतेत्यभिप्रायः ॥ २६ ॥

म० टी०—कीदृशं ते भजनं तदाह—यत्करोषीति । यत्करोषि शास्त्रादृतेऽपि रागात्प्राप्तं गमनादि यदश्नासि स्वयं तृप्त्यर्थं कर्मसिद्ध्यर्थं वा

उत्तर—जिस कारण से प्रीति से समर्पित है इससे प्रीति से समर्पण मेरे स्वीकार का निमित्त है। 'भक्त्या प्रयच्छति' अर्थात् भक्ति से अर्पण करता है यह कहकर फिर भक्ति से अर्पित अभक्त ब्राह्मण तपीस्वत्वादि मेरे स्वीकार का निमित्त नहीं है यह परिसंख्या की सूचना करते हैं। सुदामा ब्राह्मण से आनीत तण्डुल कण भक्षणके समान प्रीतिविशेष प्रतिबद्ध भक्ष्याभक्ष्य विज्ञान अर्थात् यह भक्ष्य है और यह अभक्ष्य है इसके विज्ञान की उत्पत्ति प्रत्यर्पितवस्तु से प्रतिबद्ध हो जाती है। अतएव प्रीति से मात्रादि अर्पित पत्र पुष्पादि को बालक जैसे खाता है वैसे ही भक्ति से अर्पित पत्र पुष्पादि साक्षात् मैं खाता हूँ यह भी अर्थ है इससे भक्ति ही मेरे सन्तोष का निमित्त हैं, वह धनव्यय अतिपरिश्रम साध्य बलि उपहारादि जैसे देवतान्तर के प्रीतिहेतु हैं वैसा मुझको नहीं इस कारण देवतान्तर को छोड़कर मेरा ही भजन करो यह अभिप्राय है ॥ २६ ॥

कैसा आपका भजन है वह कहते हैं—जो करते हो शास्त्रविधान के बिना भी रागप्राप्त गमनादि और जो खाते हो अपनी तृप्ति के लिये अथवा कर्म

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः ।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ॥ २८ ॥

इस प्रकार कर्मोंको मेरे में अर्पण करनेपर संन्यासयोगसे युक्त हुए मनवाला तूँ शुभाशुभ फलरूप कर्मबन्धन से मुक्त हो जायगा और उनसे मुक्त हुआ मेरेको ही प्राप्त होवेगा ॥ २८ ॥

तथा यज्जुहोषि शास्त्रबलान्नित्यमग्निहोत्रादिहोमं निर्वर्तयसि श्रौतस्मार्तसर्वहोमोपलक्षणमेतत्, तथा यद्ददासि अतिथिब्राह्मणादिभ्योऽन्नहिरण्यादि तथा यत्तपस्यसि प्रतिसंवत्सरमज्ञातप्रमादिकपापनिवृत्तये चान्द्रायणादि चरसि उच्छृङ्खलप्रवृत्तिनिरासाय शरीरेन्द्रियसंघातं संयमसीति वा। एतच्च सर्वेषां नित्यनैमित्तिककर्मणामुपलक्षणम्, तेन यत्तव प्राणिस्वभाववशाद्विनापि शास्त्रमवश्यंभावि गमनाशनादि यच्च शास्त्रवशादवश्यंभावि होमदानादि हे कौन्तेय ! तत्सर्वं लौकिकं वैदिकं च कर्मान्येनैव निमित्तेन क्रियमाणं मदर्पणं मय्यर्पितं यथा स्यात्तथा कुरुष्व । आत्मनेपदेन समर्पकनिष्ठमेव समर्पणफलं न तु किंचिदिति दर्शयति—आवश्यंभाविनां कर्मणां मयि परमगुरौ समर्पणमेव मद्भजनं न तु तदर्थं पृथग्व्यापारः कश्चित् कर्तव्य इत्यभिप्रायः ॥ २७ ॥

सिद्धयर्थ तथा जो हवन करते हो शास्त्रविधान के बल से नित्य अग्निहोत्र होम करते हो यह होम सब श्रौत स्मार्त होमों का उपलक्षण है। तथा अतिथि ब्राह्मणादि को अन्न सुवर्णादि जो देते हो तथा हर एक वर्ष में अज्ञान पापनिवृत्ति के लिए चान्द्रायणादि तप करते हो अथवा अविहित प्रवृत्ति के रोकने के लिए शरीरेन्द्रिय समुदाय का संयम करते हो यह भी अर्थ है। यह तप सब नित्य नैमित्तिक कर्मों का उपलक्षण है, इससे जो प्राणी स्वभाववश शास्त्र विधान के बिना तुम्हारा अवश्य होने वाला गमनाशयनादि और जो शास्त्रवश अवश्य होनेवाले होमदानादि हे अर्जुन ! ये सब लौकिक वैदिक कर्म अन्यकारण से क्रियमाणों को मदर्पण जैसे हो वैसा करो। 'कुरुष्व' इस आत्मनेपद से समर्पण का फल समर्पक निष्ठ ही है मेरे लिये नहीं यह दिखलाते हैं—अवश्य होनेवाले कर्मों को परमगुरु मेरे में समर्पण ही मद्भजन है दूसरा व्यापार कोई नहीं करना यह अभिप्राय है ॥ २७ ॥

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः ।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥२९॥

यद्यपि, मैं सब भूतोंमें समभावसे व्यापक हूँ न कोई मेरा अप्रिय है और न प्रिय है, परन्तु जो भक्त मेरेको प्रेमसे भजते हैं, वे मेरेमें प्रकट हैं और मैं भी उनमें प्रत्यक्ष प्रकट हूँ ॥ २९ ॥

म० टी०—एतादृशस्य भजनस्य फलमाह—शुभाशुभेति । एवमनायाससिद्धेऽपि सर्वकर्मसमर्पणरूपे मद्भजने सति इष्टानिष्टे फले येषां ते कर्मबन्धनरूपैः कर्मभिर्मोक्ष्यसे मयि समर्पितत्वात्तत्र तत्संबन्धानुपपत्तेः कर्मभिस्तत्फलैश्च न संस्रक्ष्यते, ततश्च संन्यासयोगयुक्तात्मा संन्यासः सर्वकर्मणां भगवति समर्पणं स एव योग इव चित्तशोधनत्वाद्योगस्तेन युक्तः शोधित आत्मा अन्तःकरणं यस्य स त्वं त्यक्तसर्वकर्मा वा कर्मबन्धनैर्जीवन्नेव विमुक्तः सन् सम्यग्दर्शनेनाज्ञानावरणनिवृत्त्या मामुपैष्यसि साक्षात्करिष्यसि 'अहं ब्रह्माऽस्मि' इति । प्रारब्धकर्मक्षयात् पतितोऽस्मिन् शरीरे विदेहकैवल्यरूपं मामुपैष्यसि इदानीमपि सद्रूपः सन् सर्वोपाधिनिवृत्त्या मायिकभेदव्यवहारविषयो न भविष्यसीत्यर्थः ॥ २८ ॥

ऐसे भजन का फल कहते हैं—शुभेति से । इस प्रकार स्वल्पपरिश्रमसाध्य सर्व कर्म समर्पणरूप मद् भजन रहने पर शुभ और अशुभ अर्थात् सुख दुःख फल है जिनका उन कर्म बन्धनों से अर्थात् बन्धनरूपी कर्मों से मुक्त हो जाओगे क्योंकि उन कर्मों का मेरे में समर्पण होने से उनका उन कर्मों का तुम्हारे साथ सम्बन्ध नहीं रहा कर्म और तत्फलों से तुम्हारा संसर्ग न होगा, उससे 'सन्यास योग युक्तात्मा' सन्यास सब कर्मों का भगवान् में समर्पण वही योग के समान चित्त शोधक होने से योग कहलाया उससे युक्त शोधित आत्मा अन्तः करण है जिसका एवंभूत तूँ त्यक्त सर्वकर्मा जीता हुआ ही कर्मबन्धनों से रहित होकर तत्तद् ज्ञान से अज्ञानकारण निवृत्तिद्वारा मैं ब्रह्म हूँ ऐसा साक्षात्कार करोगे। उससे प्रारब्ध कर्मक्षय के बाद इस शरीर के टूटने पर विदेह कैवल्यरूप मोक्षप्राप्ति करोगे इस समय भी मत्स्वरूप होकर सर्वोपाधि निवृत्ति मायिक भेद व्यवहार विषय न होओगे यह अर्थ है ॥ २८ ॥

म० टी०--यदि भक्तानेवानुगृण्हासि नाभक्तान् ततो रागद्वेषवत्त्वेन कथं परमेश्वरः स्यादिति नेत्याह--समोऽहमिति। सर्वेषु प्राणिषु समस्तुल्योऽहं सद्रूपेण स्फुरणरूपेणानन्दरूपेण च स्वाभाविकेन चान्तर्यामित्वेन अतो न मम द्वेषविषयः प्रीतिविषयो वा कश्चिदस्ति सावित्रस्येव गगनमण्डलव्यापिनः प्रकाशस्य। तर्हि कथं भक्ताभक्तयोः फलवैषम्यं तत्राह--ये भजन्ति त्विति। ये तु भजन्ति सेवन्ते मां सर्वकर्मसमर्पणरूपया भक्त्या, अभक्तापेक्षया भक्तानां विशेषद्योतनार्थः 'तु' शब्दः, कोऽसौ मयि ते ये मदर्पितैर्निष्कामैः कर्मभिः शोधितान्तःकरणास्ते निरस्तसमस्तरजस्तमोमलस्य सत्त्वोद्रेकेणातिस्वच्छस्यान्तःकरणस्य सदा मदाकारां वृत्तिमुपनिषन्मानेनोत्पादयन्तो मयि वर्तन्ते अहमप्यतिस्वच्छायां तदीयचित्तवृत्तौ प्रतिबिम्बितस्तेषु वर्ते। चकारोऽवधारणार्थः। त एव मयि तेष्वेवाहमिति स्वच्छस्य हि द्रव्यस्यायमेव स्वभावो-

प्रश्न—यदि भक्तों का ही अनुग्रह करते अभक्तों का नहीं तब तो भक्तों में राग और अभक्तों में द्वेष होने से कैसे परमेश्वर होंगे ?

उत्तर—समोऽहं, से कहते हैं—सब प्राणियों में यद्यपि मैं तुल्यरूप हूँ सद्रूप से, स्फुरणरूप से और आनन्दरूप से स्वाभाविक और औपाधिक अन्तर्यामित्व से तुल्य हूँ अतः मेरे द्वेष का विषय कोई नहीं है और न कोई प्रीतिविषय है यथा आकाशमण्डल व्यापी सूर्य्य प्रकाश का कोई रागद्वेष विषय नहीं है सर्व पदार्थ समान प्रकाश है तथा मैं भी समान हूँ।

प्रश्न—तब भक्ताभक्त में फल वैषम्य क्यों ?

उत्तर—जो भजन करते हैं अर्थात् सर्वकर्म समर्पणरूप भक्ति से मेरी ही सेवा करते हैं, अभक्तों की अपेक्षा से भक्तों में विशेष सूचनार्थ 'तु' शब्द है। वह कौन है मेरे में अर्पित निष्काम कर्म से जिनका अन्तःकरण शुद्ध है अतएव समस्त रज और तमोरूप मल निवृत्त हो चुका है सत्त्वोपचय से अतिस्वच्छ अन्तःकरण का सदा मदाकारवृत्ति उपनिषद् प्रमाण से उत्पन्न करते हुए मुझ में रहते हैं मैं भी अतिस्वच्छ उनकी चित्तवृत्ति में प्रतिबिम्बित होकर रहता हूँ। चकार अवधारणार्थ है वे ही मुझ में है उनमें मैं हूँ स्वच्छ द्रव्य का यही

येन संबध्यते तदाकारं गृह्णातीति स्वच्छद्रव्यसंबद्धस्य च वस्तुन एष एव स्वभावो यत्तत्र प्रतिफलतीति तथा अस्वच्छद्रव्यस्याऽप्येष एव स्वभावो यत्स्व-संबद्धस्याप्याकारं न गृण्हातीति अस्वच्छद्रव्यसंबद्धस्य च वस्तुन एष एव स्वभावो यत्तत्र न प्रतिफलतीति। यथा हि सर्वत्र विद्यमानोऽपि सावित्रः प्रकाशः स्वच्छे दर्पणादावेवाभिव्यज्यते न त्वस्वच्छे, घटादौ तावता न दर्पणे रज्यति न वा द्वेष्टि घटम्। एवं सर्वत्र समोऽपि स्वच्छे चाभक्तचित्ते नाभिव्य-ज्यमानोऽहं न रज्यामि कुत्रचित् न वा द्वेष्मि कंचित् सामग्रीमर्यादया जायमानास्य कार्यस्यापर्यनुयोज्यत्वात् वह्निवत्कल्पतरुवच्चावैषम्यं व्याख्येयम् ॥ २९ ॥

स्वभाव है जिसके साथ सम्बन्ध होता है तदाकार का ग्रहण करता है। स्वच्छ द्रव्य सम्बद्ध वस्तु का यही स्वभाव है जो उसमें प्रतिबिम्बित होता है। तथा मलिन द्रव्य का यह स्वभाव है जो जिसके साथ सम्बद्ध होता है तदाकार का ग्रहण नहीं करता। अस्वच्छ द्रव्य सम्बद्ध वस्तु का यह स्वभाव है जो उसमें प्रतिविम्बित नहीं होता जैसे सर्वत्र विद्यमान सूर्य्यप्रकाश स्वच्छदर्पणादिक में अभिव्यक्त होता है अस्वच्छ घट में नहीं इससे घट का दर्पण में राग द्वेष नहीं है इस प्रकार सर्वत्र तुल्य भी मैं स्वच्छ भक्तचित्त में अभिव्यक्त होता हूँ अस्वच्छ अभक्त चित्त में नहीं इससे न किसी में अनुरक्त हूँ न किसी का द्वेष करूँ, सामग्रीसमुदाय से जायमान कार्य में प्रश्न नहीं हो सकता। अग्नि और कल्पतरु के समान भगवान् में वैषम्य नहीं है। अग्नि से प्रकाश और दाह दोनों होता है क्योंकि उभय स्वभाव अग्नि है किसी से राग द्वेष नहीं है। उचित प्रयोग करने से अग्निद्वारा सुख होता है और अनुचित प्रयोग करने से दुःख होता है। एवं कल्पतरु की छाया में जो मनोरथ करता है वही कल्पतरु द्वारा मिलता है चाहे अच्छा मनोरथ हो या बुरा॥२६॥

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥ ३० ॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति ।
कौन्तेय! प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥ ३१ ॥

और मेरे भक्तिका प्रभाव सुन, यदि कोई अतिशय दुराचारी भी अनन्यभावसे मेरा भक्त हुआ, मेरेको निरन्तर भजता है, वह साधु ही मानने योग्य है, क्योंकि वह यथार्थ निश्चयवाला है, अर्थात् निश्चय कर लिया है, कि परमेश्वरके भजनके समान अन्य कुछ भी नहीं है ॥ ३० ॥

इसलिये वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और सदा रहनेवाली परमशान्तिको प्राप्त होता है, हे अर्जुन! निश्चयपूर्वक सत्य जान, कि मेरा भक्त नष्ट नहीं होता ॥ ३१ ॥

म० टी०---किं च मद्भक्तेरेवायं महिमा यत्समेऽपि वैषम्यमापादयति, शृणु तन्महिमानम्--अपि चेदिति। यः कश्चित्सुदुराचारोऽपि चेदजामिलादिरिव अनन्यभाक् सन् मां भजते कुतश्चिद्भाग्योदयात् सेवते स प्रागसाधुरपि साधुरेव मन्तव्यः, हि यस्मात् सम्यग्व्यवसितः साधु निश्चयवान् सः ॥ ३० ॥

म० टी०---अस्मादेव सम्यग्व्यवसायात् स हित्वा दुराचारतां क्षिप्रमिति चिरकालमधर्मात्माऽपि मद्भजनमहिम्ना क्षिप्रं शीघ्रमेव भवति धर्मात्मा धर्मानुगतचित्तः दुराचारत्वं झटित्येव त्यक्त्वा सदाचारो भवतीत्यर्थः। किंच शश्वन्नित्यं

और भी--मेरी भक्ति की ही यह महिमा है जो सम में भी वैषम्य करता है उस महिमा को सुनो--जो कोई दुराचारी भी अजामिलादि के समान अनन्य शरणागत होकर मेरा भजन करता है अर्थात किसी भाग्योदय से मेरी सेवा करता है पूर्व में दुराचारी भी बाद में सदाचारी ही माना जाता है। क्यों कि वह शुभ निश्चयवान् है ॥३०॥

इसी समीचीन निश्चय से वह दुराचर को त्याग कर चिरकाल तक पापी होने पर भी मेरे भजन की महिमा से शीघ्र ही धर्मात्मा होता है। दुराचारत्व को भी शीघ्र त्याग कर सदाचारवान होता है और नित्य शान्ति विषय भोगेच्छा

मां हि पार्थ ! व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥३२॥

क्योंकि, हे अर्जुन ! स्त्री, वैश्य और शूद्रादिक तथा पापयोनिवाले भी जो कोई होवें, वे भी मेरे शरण होकर तो परमगतिको ही प्राप्त होते हैं ॥ ३२।

शान्तिं विषयभोगस्पृहानिवृत्तिं निगच्छति नितरां प्राप्नोति अतिनिर्वेदात् कश्चित्त्वद्भक्तः प्रागभ्यस्तं दुराचारत्वमत्यजन्न भवेदपि धर्मात्मा, तथा च स नश्येदेवेति नेत्याह—भक्त इति। भक्तानुकम्पापरवशतया कुपित इव भगवान्, नैतदाश्चर्यं मन्वीथाः हे कौन्तेय ! निश्चितमेवेदृशं मद्भक्तेर्माहात्म्यम् अतोविप्रतिपन्नानां पुरस्तादपि त्वं प्रतिजानीहि सावज्ञं सगर्वं च प्रतिज्ञां कुरु न मे वासुदेवस्य भक्तोऽतिदुराचारोऽपि प्राणसङ्कटमापन्नोऽपि सुदुर्लभम-योग्यः सन् प्रार्थयमानोऽपि अतिमूढोऽशरणोऽपि न प्रणश्यति किंतु कृतार्थ एव भवति। दृष्टान्ताश्चाजामिलप्रह्लादध्रुवगजेन्द्रादयः प्रसिद्धा एव। शास्त्रं च—

'न वासुदेवभक्तानामशुभं विद्यते क्वचित्' इति ॥ ३१ ॥

निवृत्त सुतराम् प्राप्त करता है। कोई मेरा भक्त प्राचीन अभ्यस्त दुराचार का न त्याग करता हुआ धर्मात्मा नहीं होता वह नष्ट ही होगा इस शंका से कहते हैं—कि भक्त के दया परवश कुपित के सदृश भगवान् होते हैं यह आश्चर्य न मानो। हे अर्जुन ! मेरे भक्ति का माहात्म्य इस प्रकार निश्चित है अतः विवादशील पुरुषों के सामने तूँ अवज्ञा और गर्व के साथ प्रतिज्ञा करो मुझ वासुदेव का भक्त अतिदुराचार भी प्राणसङ्कट प्राप्त भी अत्यन्त अयोग्य भी सुदुर्लभ की प्रार्थना करता हुआ भी अतिमूढ़ और अशरण भी नष्ट नहीं होता किन्तु कृतार्थ ही होता है। इसमें दृष्टान्त अजामिल प्रह्लाद, ध्रुव, गजेन्द्र प्रसिद्ध हैं। शास्त्र भी है—

'न वासुदेवभक्तानां अशुभं विद्यते क्वचित्' ॥ इति ॥३१॥

किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा ।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ॥ ३३ ॥

फिर क्या कहना है, कि पुण्यशील ब्राह्मणजन तथा राजर्षि भक्तजन परमगतिको प्राप्त होते हैं, इसलिये तूँ सुखरहित और क्षणभंगुर इस मनुष्यशरीरको प्राप्त होकर निरन्तर मेरा ही भजन करे अर्थात् मनुष्यशरीर बड़ा दुर्लभ है, परन्तु है नाशवान् और सुखरहित इसलिये कालका भरोसा न करके तथा अज्ञानसे सुखरूप भासनेवाले विषयभोगोंमें न फँस कर निरन्तर मेरा ही भजन करे ॥ ३३ ॥

म० टी०—एवमागन्तुकदोषेण दुष्टानां भगवद्भक्तिप्रभावान्निस्तारमुक्त्वा स्वाभाविकदोषेण दुष्टानामपि तमाह—मामिति । हि निश्चितं हे पार्थ ! मां व्यपाश्रित्य शरणमागत्य येऽपि स्युः पापयोनयोऽन्त्यजास्तिर्यञ्चो वा जातिदोषेण दुष्टाः, तथा वेदाध्ययनादिशून्यतया निकृष्टाः स्त्रियो वैश्याः कृष्यादिमात्ररताः तथा शूद्रा जातितोऽध्ययनाद्यभावेन च परमगत्ययोग्यास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्, अपिशब्दात् प्रागुक्तदुराचारा अपि ॥ ३२ ॥

म० टी०—एवं चेत् पुण्याः सदाचारा उत्तमयोनयश्च राजर्षयः सूक्ष्मवस्तुविवेकिनः क्षत्रिया मम भक्ताः परां गतिं यान्तीति किं पुनर्वाच्यम् अत्र कस्यचिदपि सन्देहाभावादित्यर्थः । यतो मद्भक्तेरीदृशो महिमा अतो महताप्र-

इस प्रकार आगन्तुक दोष दुष्टों का भगवद् भक्ति महिमा से निस्तार कह कर स्वाभाविक दोष दुष्टों का भी निस्तार कहते हैं—निश्चय से हे अर्जुन ! मेरे शरण में आकर जो अत्यन्त जातिहीन पापयोनि हैं जाति दोष से दुष्ट पक्षियाँ हैं वेदाध्ययन रहित होने से निकृष्ट स्त्रियाँ कृष्यादिमात्र निरत वैश्य तथा शूद्र जिनको जाति ही से अध्ययनाभाव है अतएव परमगति योग्य नहीं हैं वे भी परमगति को पाते हैं। अपि शब्द से पूर्वोक्त दुराचारियों का भी संग्रह है ॥ ३२ ॥

ऐसा है तो सदाचारी उत्तम योनि ब्राह्मण तथा सूक्ष्म वस्तु विवेकी राजर्षि क्षत्रिय जो मेरे भक्त हैं उत्तम गति पाते हैं इसमें कहना ही क्या है और न सन्देह ही है जो कि मेरी भक्ति की ही महिमा है इस कारण सब पुरुषार्थ साधन योग्य

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥ ३४ ॥

केवल मुझ सच्चिदानन्दघन वासुदेव परमात्मामें ही अनन्य प्रेमसे नित्य, निरन्तर, अचल मनवाला होओ और मुझ परमेश्वरको ही श्रद्धाप्रेमसहित निष्कामभावसे नाम, गुण और प्रभावके श्रवण, कीर्तन, मनन और पठनपाठनद्वारा निरन्तर भजनेवाला होओ तथा मेरा (शङ्ख, चक्र, गदा, पद्म और किरीट, कुण्डलादि भूषणोंसे युक्त पीताम्बर, वनमाला और कौस्तुभमणिधारी विष्णुका) मन, वाणी और शरीरके द्वारा सर्वस्व अर्पणकरके, अतिशय श्रद्धा, भक्ति और प्रेमसे विह्वलतापूर्वक पूजन करनेवाला हो और मुझ सर्वशक्तिमान्, विभूति, बल, ऐश्वर्य, माधुर्य, गम्भीरता, उदारता, वात्सल्य और सुहृदता आदि गुणोंसे संपन्न सबके आश्रयरूप वासुदेवको विनयभावपूर्वक, भक्तिसहित साष्टाङ्गदण्डवत् प्रणाम करो इस प्रकार मेरे शरण हुआ तूँ आत्माको मेरेमें एकीभावकरके, मेरेको ही प्राप्त होओगे ॥ ३४ ॥

ॐतत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे राजविद्याराजगुह्ययोगो नाम नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

यत्नेन इमं लोकं सर्वपुरुषार्थसाधनयोग्यमतिदुर्लभञ्च मनुष्यदेहमनित्यमाशुविनाशिनमसुखं गर्भवासाद्यनेकदुःखबहुलं लब्ध्वा यावदयं न नश्यति तावदतिशीघ्रमेव भजस्व मां शरणमाश्रयस्व अनित्यत्वादसुखत्वाचास्य विलम्बं सुखार्थमुद्यमं च मा कार्षीस्त्वं च राजर्षिरतो मद्भजनेनात्मानं सफलं कुरु अन्यथा ह्येतादृशं जन्म निष्फलमेव ते स्यादित्यर्थः ॥ ३३ ॥

इस लोक को और अनित्य घटित विनाशी असुख मनुष्य देह जिसमें कि गर्भवासादि अनेक दुःख मिलता है उसको पाकर जब तक यह शरीर नष्ट नहीं होता है तब तक बहुत शीघ्र मेरा भजन करो मेरे शरण में आओ। अनित्य और असुख के लिये उद्योग मत करो तूँ राजर्षि हो, अतः मेरे भजन से अपने को सफल करो, अन्यथा तुम्हारा इस प्रकार जन्म विफल ही होगा। ॥ ३३ ॥

म० टी०—भजनप्रकारं दर्शयन्नुपसंहरति—मन्मना इति। राजभक्तस्यापि राजभृत्यस्य पुत्रादौ मनस्तथा स तन्मना अपि न तद्भक्त इत्यत उक्तम् 'मन्मना भव मद्भक्त' इति। तथा मद्याजी मत्पूजनशीलः मां नमस्कुरु मनोवाक्कायैः एवमेभिः प्रकारैर्मत्परायणो मदेकशरणः सन्नात्मानमन्तःकरणं युक्त्वा मयि समाधाय मामेव परमानन्दघनं स्वप्रकाशं सर्वोपद्रवशून्यमभयमेष्यसि प्राप्स्यसि ॥ ३४ ॥

श्रीगोविन्दपदारविन्दमकरन्दास्वादशुद्धाशयाः
संसाराम्बुधिमुत्तरन्ति सहसा पश्यन्ति पूर्णं महः।
वेदान्तैरवधारयन्ति परमं श्रेयस्त्यजन्ति भ्रमं
द्वैतं स्वप्नसमं विदन्ति विमलां विन्दन्ति चानन्दताम् ॥

भजन प्रकार दिखलाते हुए उपसंहार करते हैं—राजा के भक्त नौकर का मन पुत्रादि में लगा रहता है, अतः राजा का नौकर राजमना न होकर राज भक्ति नहीं कहाता इस कारण भगवान् कहा—'मन्मना भव' इति। अर्थात् मेरे में मन लगाकर मेरा भक्त बनो तथा मेरे ही पूजा में परायण हो मनो वाक् काय से मेरा नमस्कार करो। इस प्रकार मदेक शरण होते हुए अन्तः करण को मेरे में समाहित कर परमानन्द घनस्वप्रकाश सर्वोपद्रवशून्य अभय मुझको ही प्राप्त करोगे ॥ ३४ ॥

श्री गोविन्द पदारविन्द (पदकमल) मकरन्द रस के आस्वाद से शुद्धान्तःकरण जो हैं वे संसाररूपी समुद्र के पार उतरते हैं पूर्णज्योति ब्रह्मस्वरूप जल्दी देखते हैं। वेदान्त के द्वारा परम कल्याण का निश्चय करते हैं द्वैत भ्रम का स्वप्न त्याग करते हैं और विमल आनन्द को पाते हैं।

इति श्रीभगवद्गीतागूढार्थदीपिकायां मधुसूदनसरस्वती-
विरचितायामधिकारिभेदेन राज-
विद्या राजगुह्ययोगो नाम
नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

—:※:—

इस प्रकार महामहोपाध्याय प० हरिहरकृपालु
द्विवेदिकृत गीतामधुसूदनी के नववाँ
अध्याय का अनुवाद
समाप्त हुआ



ॐ

❀ श्रीगणेशाय नमः ❀

श्रीमद्भगवद्गीता

द्वितीयभागः

[सानुवादमधुसूदनीव्याख्यासहिता]

—+‡❀‡+—

दसवाँ अध्याय

श्रीभगवानुवाच—

भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः ॥

यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया ॥ १ ॥

भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी बोले, हे महाबाहो ! फिर भी मेरे परम रहस्य और प्रभावयुक्त वचन श्रवण कर, जो कि मैं तुझ अतिशय प्रेम रखनेवालेके लिये हितकी इच्छासे कहूँगा ॥ १ ॥

यद्राजविद्या किल राजगुह्यं पवित्रमेकं निजरूपरूपम् ।

येनोपदिष्टं श्रुतिवाक्यमाद्यं तं काशिराजं गुरुराजमीडे ॥

एवं सप्तमाष्टमनवमैस्तत्पदार्थस्य भगवतस्तत्त्वं सोपाधिकं निरुपाधिकं च दर्शितम् । तस्य च विभूतयः सोपाधिकस्य ध्याने च निरुपाधिकस्य ज्ञाने

सप्तमाध्यायमें त्वं पद वाच्य अर्थका निरूपण हुआ जो राजविद्या राज गुह्य पवित्र एक स्वरूप है, आदि श्रुति वाक्यका जिसने उपदेश दिया उन काशिराज गुरुराजकी स्तुति करता हूँ ।

इस प्रकार सप्तम अष्टम और नवम अध्यायोंसे तत्पदार्थ भगवानका तत्व सोपाधिक और निरुपाधिक दिखलाया । भगवान्‌की विभूतियाँ सोपाधिकके ध्यान

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः ॥
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः ॥ २ ॥

हे अर्जुन ! मेरी उत्पत्तिको अर्थात् विभूतिसहित लीलासे प्रकट होनेको न देवतालोग जानते हैं और न महर्षिजन ही जानते हैं, क्योंकि मैं सब प्रकारसे देवताओंका और महर्षियोंका भी आदि कारण हूँ ॥ २ ॥

चोपायभूता 'रसोऽहमप्सु कौन्तेय' इत्यादिना सप्तमे, 'अहं क्रतुरहं यज्ञ' इत्यादिना नवमे च संक्षेपेणोक्ताः। अथेदानीं तासां विस्तरो वक्तव्यो भगवतो ध्यानाय तत्त्वमपि दुर्विज्ञेयत्वात्पुनस्तस्य वक्तव्यं ज्ञानायेति दशमोऽध्याय आरभ्यते। तत्र प्रथममर्जुनं प्रोत्साहयितुं। श्री भगवानुवाच—

भूय एव पुनरपि हे महाबाहो शृणु मे मम परमं प्रकृष्टं वचः। यत्ते तुभ्यं प्रीयमाणाय मद्वचनादमृतपानादिव प्रीतिमनुभवते वक्ष्याम्यहं परमाप्तस्तव हितकाम्ययेष्टप्राप्तीच्छया ॥ १ ॥

प्राग्बहुधोक्तमेव किमर्थं पुनर्वक्ष्यसीत्यत आह—

प्रभवं प्रभावं प्रभुशक्त्यतिशयं प्रभवनमुत्पत्तिमनेकविभूतिभिराविर्भावं

में और निरुपाधिकके ज्ञानमें उपाय है। जलमें 'रसोऽहमप्सु कौन्तेय' इत्यादि से सातवें अध्यायमें, और 'अहं क्रतुरहं यज्ञ' इत्यादि से नवमाध्यायमें संक्षेपसे विभूति कही गई हैं। भगवान्के ध्यानके लिये इस समय उन विभूतिओं का विस्तार अवश्य कहना है। तत्वभी दुर्विज्ञेय होनेसे फिर उसके ज्ञानके लिये अवश्य वक्तव्य है इस कारण दशवां अध्यायका आरम्भ करते हैं।

उसमें प्रथम अर्जुनके प्रोत्साहनके लिये भगवान् बोलते हैं, हे महाबाहो अर्जुन ! मेरे उत्तमवचनको फिरभी सुनो जो मेरे वचनोंको सुनकर अमृतपानके समान प्रीतिका अनुभव करनेवाले तुमसे कहेंगे, परम प्रामाणिक मैं तुमसे हितप्राप्तिकी इच्छा से कहूँगा ॥ १ ॥

पूर्वमें अनेकबार कहेहुये पदार्थोंको क्यों फिर कहेंगे इस शंकासे कहते हैं— मेरा प्रभाव प्रभुशक्तिका आधिक्य अथवा शक्त्यतिशय प्रभव उत्पत्ति अनेक

यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम् ॥
असंमूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ३ ॥

और जो मेरेको अजन्मा अर्थात् वास्तवमें जन्मरहित और अनादि तथा लोकोंका महान् ईश्वर तत्त्वसे जानता है, वह मनुष्योंमें ज्ञानवान् पुरुष संपूर्ण पापोंसे मुक्त हो जाता है ॥ ३ ॥

वा सुरगणा इन्द्रादयो महर्षयश्च भृग्वादयः सर्वज्ञा अपि न मे विदुः। तेषां तदज्ञाने हेतुमाह—अहं हि यस्मात्सर्वेषां देवानां महर्षीणां च सर्वशः सर्वैः प्रकारैरुत्पादकत्वेन बुद्ध्यादिप्रवर्तकत्वेन च निमित्तत्वेनोपादानत्वेन चेति वा कारणम्। अतो मद्विकारास्ते मत्प्रभावं न जानन्तीत्यर्थः ॥ २ ॥

महाफलत्वाच्च कश्चिदेव भगवतः प्रभावं वेत्तीत्याह—

सर्वकारणत्वान्न विद्यत आदिः कारणं यस्य तमनादिमनादित्वादजं जन्मशून्यं लोकानां महान्तमीश्वरं च मां यो वेत्ति स मर्त्येषु मनुष्येषु मध्येऽसंमूढः संमोहवर्जितः सर्वैः पापैर्मतिपूर्वकृतैरपि प्रमुच्यते प्रकर्षेण कारणोच्छेदात्तत्संस्काराभावरूपेण मुच्यते मुक्तो भवति ॥ ३ ॥

विभूतिओंसे आविर्भावको इन्द्रादिदेवगण भृग्वादिमहर्षिगण सर्वज्ञ होनेपर भी नहीं जानते उनलोगोंके विभूत्यज्ञानमें कारण कहते हैं—मैं निश्चयसे सब देवताओं और सब महर्षियोंके सब प्रकारोंसे उत्पादक और बुद्ध्यादिप्रवर्त्तक हूँ अर्थात् निमित्त और उपादान दोनों कारण हूँ, अतः मद्विकार मत्कार्य्य देवगण और ऋषिगण मेरे प्रभावको नहीं जानते यह अर्थ है ॥ २ ॥

महाफल होनेसे कोई पुरुष ही भगवान्के प्रभावको जानता है यह कहते हैं—सर्वकारण होनेसे, अविद्यमान है आदिकारण जिसका उस अनादि, आदि न होनेसे अज जन्म शून्य लोगों का महान् ईश्वर मुझको जो जानता है वह सब मनुष्योंमें असंमूढ मोहशून्य बुद्धिपूर्वक किये हुये सब पापोंसे भी मुक्त होता है कारणके नाशसे तत्संस्काराभावरूप से मुक्त होता है ॥ ३ ॥

बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः क्षमा सत्यं दमः शमः ॥
सुखं दुःखं भवो भावो भयं चाभयमेव च ॥ ४ ॥

और हे अर्जुन ! निश्चय करनेकी शक्ति एवं तत्त्वज्ञान और असंमूढ़ता, क्षमा, सत्य तथा इन्द्रियोंका वशमें करना और मनका निग्रह तथा सुख, दुःख, उत्पत्ति और प्रलय एवं भय और अभय भी ॥ ४ ॥

आत्मनो लोकमहेश्वरत्वं प्रपञ्चयति--

बुद्धिरन्तःकरणस्य सूक्ष्मार्थविवेकसामर्थ्यं, ज्ञानमात्मानात्मसर्वपदार्थावबोधः, असंमोहः प्रत्युत्पन्नेषु बोद्धव्येषु कर्तव्येषु वाऽव्याकुलतया विवेकेन प्रवृत्तिः, क्षमाऽऽक्रुष्टस्य ताडितस्य वा निर्विकारचित्तता, सत्यं प्रमाणेनावबुद्धस्यार्थस्य तथैव भाषणं, दमो बाह्येन्द्रियाणां स्वविषयेभ्यो निवृत्तिः, शमोऽन्तःकरणस्य सा, सुखं धर्मासाधारणकारणकमनुकूलवेदनीयं, दुःखमधर्मासाधारणकारणकं प्रतिकूलवेदनीयं, भव उत्पत्तिः, भावः सत्ताऽभावोऽसत्तेति वा। भयं च त्रासस्तद्विपरीतमभयम् । एवं च, एकश्चकार उक्तसमुच्चयार्थः। अपरोऽनुक्ताबुद्ध्यज्ञानादिसमुच्चयार्थः । एवेत्येते सर्वलोकप्रसिद्धा एवेत्यर्थः। मत्त एव भवन्तीत्युत्तरेणान्वयः ॥ ४ ॥

अपनेमें लोक महेश्वरत्वका प्रपञ्च करते हैं—अन्तःकरण का सूक्ष्म वस्तु विवेचन सामर्थ्य बुद्धि है, आत्मानात्मा सब पदार्थोंका बोध ज्ञान है, असम्मोह-उपस्थित बोधव्य और कर्तव्य में अनाकुल विवेक प्रवृत्ति है, क्षमा-आकुष्ट भर्त्सित अथवा ताड़ितको निर्विकार चित्तता है, सत्य प्रमाण द्वारा ज्ञात अर्थका उसी प्रकार भाषण है, वाक्येन्द्रियोंका विषयोंसे निवृत्ति दम है, अन्तःकरणकी स्वविषयों से निवृत्ति शम है, धर्म है असाधारण कारण जिसका एवंभूत अनुकूल वेदनीय सुख है, अधर्म असाधारण कारण है जिसका एवंभूत प्रतिकूल वेदनीय दुःख है भव उत्पत्ति, भाव सत्ता, अभाव असत्ता, भय डर तद्विपरीत अभय एक चकार उक्त समुच्चयार्थक है और दूसरा अनुक्त अबुद्ध्यज्ञानादि समुच्चयार्थक है एवकार उक्तार्थक प्रसिद्ध ही है, ये सब मेरेसे होते है यह उत्तर श्लोक से सम्बन्ध है ॥ ४ ॥

अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः ॥
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः ॥ ५ ॥
महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा ॥
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः ॥६॥

तथा अहिंसा, समता, संतोष, तप, दान, कीर्ति और अपकीर्ति ऐसे यह प्राणियोंके नाना प्रकारके भाव मेरेसे ही होते हैं ॥ ५ ॥

और हे अर्जुन ! सात तो महर्षिजन और चार उनसे भी पूर्वमें होनेवाले सनकादि तथा स्वायंभुव आदि चौदह मनु, यह मेरेमें भाववाले सबके सब, मेरे संकल्पसे उत्पन्न हुए हैं, जिनकी संसारमें यह संपूर्ण प्रजा है ॥ ६ ॥

अहिंसा प्राणिनां पीडाया निवृत्तिः। समता चित्तस्य रागद्वेषादिरहितावस्था। तुष्टिर्भोग्येष्वेतावताऽलमिति बुद्धिः। तपः शास्त्रीयमार्गेण कायेन्द्रियशोषणम्। दानं देशे काले श्रद्धया यथाशक्त्यर्थानां सत्पात्रे समर्पणम्। यशो धर्मनिमित्ता लोकश्लाघारूपा प्रसिद्धिः। अयशस्त्वधर्मनिमित्ता लोकनिन्दारूपा प्रसिद्धिः। एते बुद्ध्यादयो भावाः कार्यविशेषाः सकारणकाः पृथग्विधा धर्माधर्मादिसाधनवैचित्र्येण नानाविधा भूतानां सर्वेषां प्राणिनां मत्तः परमेश्वरादेव भवन्ति नान्यस्मात्तस्मात्किं वाच्यं मम लोकमहेश्वरत्वमित्यर्थः ॥ ५ ॥

इतश्चैतदेवमाह—

महर्षयो वेदतदर्थद्रष्टारः सर्वज्ञा विद्यासंप्रदायप्रवर्तका भृग्वाद्याः सप्त

अहिंसा—प्राणियोंकी पीड़ाकी निवृत्ति, चित्तकी समता—रागद्वेषादि रहितवस्था, तुष्टि-पुष्टि भोग्योंमें इतना पर्याप्त बहुत है यह बुद्धि, तप—शास्त्रोक्त मार्गसे शरीरेन्द्रिय शोषण, दान—देश कालमें श्रद्धासे यथाशक्ति सत्पात्रमें द्रव्य समर्पण, यश—धर्म निमित्त लोक श्लाघारूपा प्रसिद्धि, अयश—अधर्म निमित्ता लोकनिन्दारूपा प्रसिद्धि ये बुद्धियादि भाव कार्य्यविशेष सकारणक हैं अनेक प्रकार धर्माधर्मादि हेतु वैलक्षयसे नाना प्रकारके हैं सर्व प्राणियोंका पूर्वोक्त ये मुझसे ही हैं दूसरेसे नहीं अतः मेरे महेश्वरत्वमें क्या कहना है ॥ ५ ॥

इस कारण से भी इसको ऐसा कहते हैं—वेद और वेदार्थके द्रष्टा

पूर्वे सर्गाद्यकालाविर्भूताः । तथा च पुराणं—

"भृगुं मरीचिमत्रिं च पुलस्त्यं पुलहं क्रतुम् ।
वसिष्ठं च महातेजाः सोऽसृजन्मनसा सुतान् ।
सप्त ब्रह्माण इत्येते पुराणे निश्चयं गताः" इति ॥

तथा चत्वारो मनवः सावर्णा इति प्रसिद्धाः । अथवा महर्षयः सप्त भृग्वाद्याः, तेभ्योऽपि पूर्वे प्रथमाश्चत्वारः सनकाद्या महर्षयः । मनवस्तथा स्वायंभुवाद्याश्चतुर्दश मयि परमेश्वरे भावो भावना येषां ते मद्भावा मच्चिन्तनपरा मद्भावनावशादाविर्भूतमदीयज्ञानैश्वर्यशक्तय इत्यर्थः । मानसा मनसः संकल्पादेवोत्पन्ना न तु योनिजाः । अतो विशुद्धजन्मत्वेन सर्वप्राणिश्रेष्ठा मत्त एव हिरण्यगर्भात्मनो जाताः सर्गाद्यकाले प्रादुर्भूताः । येषां महर्षीणां सप्तानां भृग्वादीनां चतुर्णां च सनकादीनां मनूनां च चतुर्दशानामस्मिँल्लोके जन्मना च विद्यया च संततिभूता इमा ब्राह्मणाद्याः सर्वाः प्रजाः ॥ ६ ॥

(देखनेवाले) सद्विषयक ज्ञानवान् सर्वज्ञ विद्या-सम्प्रदायके प्रवर्त्तक भृग्वादिक सप्त महर्षि जो सर्गके आदि कालमें प्रादुर्भूत हुये है इसमें पुराण—

'भृगुम्मरीचिमत्रिं पुलस्त्यं पुलहं क्रतुम् ।
वशिष्ठं च महातेजाः सोऽसृजन्मनसा सुतान् ॥

सप्त ब्रह्माण इत्येते पुराणे निश्चयं गता इति' [महातेजा हिरण्यगर्भ भगवान् भृग्वादिक सात महर्षिपुत्रोंकी मनसे सृष्टि की ये सात ब्रह्माके मानस पुत्र हैं, तथा चार मनु सावर्णादि जो प्रसिद्ध हैं, अथवा भृग्वादिक सात महर्षिगण उनसे भी पूर्व जो सनकादिक महर्षि हैं, और स्वायंभुवादिक चतुर्दश मनु हैं, ये मद्भाव मच्चिन्तनपरा मदीय चिन्ता प्रभावसे आविर्भूत मदीय ज्ञान ऐश्वर्य शक्ति ये हिरण्यगर्भके मानस पुत्र है इनकी उत्पत्ति मत्संकल्पसे है, योनिसे नहीं इस कारण विशुद्ध जन्म होनेसे सबप्राणियोंमें श्रेष्ठ हैं। हिरण्यगर्भात्मा, मुझसे ही सर्गादि कालमें सृष्ट हैं ऊत्पन्न हुये हैं जिसको सात भृग्वादि महर्षियोंकी और चार सनकादिकोंकी तथा चौदह मनुओंकी जन्म और विद्यासे सन्तानरूप इस लोकमें ये ब्राह्मणादि सब प्रजा हैं ॥ ६ ॥

एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः ॥
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः ॥ ७ ॥
अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते ॥
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ॥ ८ ॥

और जो पुरुष इस मेरी परमैश्वर्यरूप विभूतिको और योगशक्तिको, तत्त्वसे जानता है, वह पुरुष निश्चल ध्यानयोगद्वारा मेरेमें ही एकीभावसे स्थित होता है, इसमें कुछ भी संशय नहीं है ॥ ७ ॥

मैं वासुदेव ही संपूर्ण जगत्‌की उत्पत्तिका कारण हूँ और मेरेसे ही सब जगत् चेष्टा करता है, इस प्रकार तत्त्वसे समझकर श्रद्धा और भक्तिसे युक्त हुए, बुद्धिमान् भक्तजन मुझ परमेश्वरको ही निरन्तर भजते हैं ॥ ८ ॥

एवं सोपाधिकस्य भगवतः प्रभावमुक्त्वा तज्ज्ञानफलमाह—

एतां प्रागुक्तां बुध्यादिमहर्ष्यादिरूपां विभूतिं विविधभावं तत्तद्रूपेणावस्थितिं योगं च तत्तदर्थनिर्माणसामर्थ्यं परमैश्वर्यमिति यावत्। मम यो वेत्ति तत्त्वतो यथावत्सोऽविकम्पेनाप्रचलितेन योगेन सम्यग्ज्ञानस्थैर्यलक्षणेन समाधिना युज्यते नात्र संशयः प्रतिबन्धः कश्चित् ॥ ७ ॥

यादृशेन विभूतियोगयोर्ज्ञानेनाविकम्पयोगप्राप्तिस्तद्दर्शयति चतुर्भिः—

अहं परं ब्रह्म वासुदेवाख्यं सर्वस्य जगतः प्रभव उत्पत्तिकारणमुपादानं निमित्तं च स्थितिनाशादि च सर्वं मत्त एव प्रवर्तते भवति। मयैवान्तर्या-

इस प्रकार सोपाधि भगवानकी महिमा कह कर भगवद्विभूति ज्ञानका फल कहते हैं—इस प्रागुक्त बुद्ध्यादि महर्ष्यादिरूप विभूतिको जो तत्तद् रूपेण अवस्थित है तथा योगको तत्तदर्थ निर्माण सामर्थ्य रूप मेरे परमैश्वर्य्यको जो यथार्थतः जानता है वह अचल योग सम्यग्ज्ञान स्थैर्य्यलक्षणसमाधिसे युक्त होता है यहाँ कोई संशय प्रतिबन्ध नहीं है ॥ ७ ॥

यादृश विभूति और योगको ज्ञानसे अचलयोग प्रतीत होता है चार श्लोकोंसे उसको दिखलाते हैं—मैं वासुदेवाख्य परब्रह्म हूँ सब जगत्‌के उत्पत्तिका कारण उपादान और निमित्त दोनों हूँ सम्पूर्ण जगत्‌की स्थिति और नाश मुझसे ही होती है सर्वज्ञ और सर्वशक्ति तथा अन्तर्य्यामी रूप सर्वज्ञ सर्व शक्ति विशिष्ट मुझसे प्रेरित स्वस्व

मच्चिता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम् ॥
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥ ९ ॥

और वे निरन्तर मेरेमें मन लगानेवाले और मेरेमें ही प्राणोंको अर्पण करनेवाले भक्तजन, सदा ही मेरी भक्तिकी चर्चाके द्वारा आपसमें मेरे प्रभावको जनाते हुए तथा गुण और प्रभाव सहित मेरा कथन करते हुए ही संतुष्ट होते हैं और मुझ वासुदेवमें ही निरन्तर रमण करते हैं ॥ ९ ॥

मिणा सर्वज्ञेन सर्वशक्तिना प्रेर्यमाणं स्वस्वमर्यादामनतिक्रम्य सर्वं जगत्प्रवर्तते चेष्टत इति वा । इत्येवं मत्वा बुधा विवेकेनावगततत्त्वाभावेन परमार्थतत्त्वग्रहणरूपेण प्रेम्णा समन्विताः सन्तो मां भजन्ते ॥ ८ ॥

प्रेमपूर्वकं भजनमेव विवृणोति—

मयि भगवति चित्तं येषां ते मच्चित्ताः । तथा मद्गता मां प्राप्ताः प्राणाश्चक्षुरादयो येषां ते मद्गतप्राणा मद्भजननिमित्तचक्षुरादिव्यापारा मय्युपसंहृतसर्वकरणा वा । अथवा मद्गतप्राणा मद्भजनार्थजीवना मद्भजनातिरिक्तप्रयोजनशून्यजीवना इति यावत् । विद्वद्गोष्ठीषु परस्परमन्योन्यं श्रुतिभिर्युक्तिभिश्च मामेव बोधयन्तस्तत्त्वबुभुत्सुकथया ज्ञापयन्तः । तथा स्वशिष्येभ्यश्च मामेव

मर्य्यादाका उल्लंघन न कर सारा जगत् चेष्टा करता है. इस प्रकारसे मान और समझकर विवेकसे अवगत तत्वाभावसे परमार्थ तत्वग्रहणरूप प्रेमसे समन्वित होते हुये मेरा भजन करते हैं ॥ ८ ॥

प्रेम पूर्वक भजनका ही विवरण करते हैं—मुझ भगवान्में चित्त है जिनका वे मच्चित्त हैं, तथा मद्गत प्राण चक्षुरादि हैं जिनके वे मद्गत प्राण हैं, मद्गत भजन निमित्तक ही है चक्षुरादि व्यापार जिनका, मेरेमें ही उपसंहृत स्वस्व विषयों से हटा कर मेरेमें स्थापित किया है सब कारण इन्द्रियाँ जिनने अथवा मद्गत प्राण मद् भजनार्थ है जीवन जिनका और मद्भजनातिरिक्त प्रयोजन शून्य है जीवन जिनका वे विद्वानोंकी सभामें श्रुति और युक्तिसे मेरा ही परस्पर बोधन कराते हैं अर्थात् तत्त्व बुभुत्सु की कथासे मेरा ही परिचय कराते हैं तथा अपने शिष्योंसे मेरा ही

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥ १० ॥

उन निरन्तर मेरे ध्यानमें लगे हुए और प्रेमपूर्वक भजनेवाले भक्तोंको, मैं वह तत्त्वज्ञानरूप योग देता हूँ कि जिससे वे मेरेको ही प्राप्त होते हैं ॥१०॥

कथयन्त उपदिशन्तश्च। मयि चित्तार्पणं तथा बाह्यकरणार्पणं तथा जीवनार्पणमेवं समानामन्योन्यं मद्बोधनं स्वन्यूनेभ्यश्च मदुपदेशनमित्येवंरूपं यन्मद्भजनं तेनैव तुष्यन्ति च, एतावतैव लब्धसर्वार्था वयमलमन्येन लब्धव्येनेत्येवंप्रत्ययरूपं संतोषं प्राप्नुवन्ति च । तेन संतोषेण रमन्ति च रमन्ते च प्रियसंगमेनेवोत्तमं सुखमनुभवन्ति च । तदुक्तं पतञ्जलिना—"संतोषादनुत्तमः सुखलाभः" इति । उक्तं च पुराणे—

"यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम् ।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम्" इति ॥

तृष्णाक्षयः संतोषः ॥ ९ ॥

ये यथोक्तेन प्रकारेण भजन्ते माम्—

तेषां सततं सर्वदा युक्तानां भगवत्येकाग्रबुद्धीनाम् । अत एव लोभपूजा-

उपदेश देते हुये मेरेमें चित्तका अर्पण तथा बाह्य करणोंका अर्पण तथा जीवनार्पण ही सभोंमें परस्पर मेरा बोधन, स्वन्यूनमें मेरा उपदेश एवंरूप जो मद्भजन हैं उसीसे सन्तुष्ट होते हैं, इतनेसे ही सब अर्थोंका लाभ मानकर अन्य लाभ व्यर्थ है इस ज्ञानरूप सन्तोषको प्राप्त करते हैं उसी सन्तोषसे रमण करते हैं । प्रिय संगमके समान सुखका अनुभव करते हैं सो पतञ्जलिने कहा है—'सन्तोषात् अनुत्तमसुख· लाभ' इति०—अर्थ—[न उत्तमं यस्मात् स अनुत्तमः श्रेष्ठतमः [सुख लाभ सन्तोषसे होता है] पुराणमें भी कहा है—'यच्च कामसुखं लोके' श्लोक' मूलमें देखो—जो कामना जन्यसुख और जो स्वर्ग महासुख है ·वे सन्तोषके सुखकी षोडऽशांशके भी योग्य नहीं हैं तृष्णा क्षय सन्तोष कहाता है ॥ ९ ॥

जो लोग उक्त प्रकारसे मेरा भजन करते हैं उनका सदा युक्त उन भगवान्में विहित बुद्धियोंका अतएव लाभ पूजा ख्यातिरूप प्रयोजनका त्यागकर प्रेम पूर्वक

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः ॥
नाशयात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥ ११ ॥

और हे अर्जुन ! उनके ऊपर अनुग्रह करनेके लिये ही, मैं स्वयं उनके अन्तःकरणमें एकीभावसे स्थित हुआ, अज्ञानसे अन्धकारको प्रकाशमय तत्त्वज्ञानरूप दीपकद्वारा नष्ट करता हूँ ॥ ११ ॥

ख्यात्याद्यनभिसंधाय प्रीतिपूर्वकमेव भजतां सेवमानानां तेषामविकम्पेन योगेनेति यः प्रागुक्तस्तं बुद्धियोगं मत्तत्त्वविषयं सम्यग्दर्शनं ददामि उत्पादयामि । येन बुद्धियोगेन मामीश्वरमात्मत्वेनोपयान्ति ये मच्चित्तत्वादिप्रकारैर्मां भजन्ते ते— ॥ १० ॥

दीयमानस्य बुद्धियोगस्याऽऽत्मप्राप्तौ फले मध्यवर्तिनं व्यापारमाह—

तेषामेव कथं श्रेयः स्यादित्यनुग्रहार्थमात्मभावस्थ आत्माकारान्तःकरणवृत्तौ विषयत्वेन स्थितोऽहं स्वप्रकाशचैतन्यानन्दाद्वयलक्षण आत्मा तेनैव मद्विषयान्तःकरणपरिणामरूपेण ज्ञानदीपेन दीपसदृशेन ज्ञानेन भास्वता चिदाभासयुक्तेनाप्रतिबद्धेनाज्ञानजमज्ञानोपादानकं तमो मिथ्याप्रत्ययलक्षणं स्वविषयावरणमन्धकारं तदुपादानाज्ञाननाशेन नाशयामि सर्वभ्रमोपादानस्याज्ञानस्य ज्ञाननिवर्त्यत्वादुपादाननाशनिवर्त्यत्वाच्चोपादेयस्य । यथा

ही मेरा भजन करनेवाले हैं, उनके अचल योगसे जो प्रागुक्त बुद्धियोग है उसको बुद्धियोग मत्तत्वविषय सम्यग् ज्ञानको देता हूँ जिस बुद्धियोगसे मुझ ईश्वरको अपना आत्मा मानते हैं मच्चित्तादि प्रकारसे जो मेरा भजन करते हैं वे—॥ १० ॥

दीयमान बुद्धि योगका मत्प्राप्तिरूप फलमें मध्यवर्त्तिव्यापार अवान्तरव्यापार कहते हैं, उन्हींका कैसे कल्याण होगा अनुग्रहार्थ आत्मभावस्थ अर्थात् आत्माका अन्तः करण वृत्तिमें विषय भावसे स्थित मैं स्वप्रकाश चैतन्यानन्दाद्वयलक्षण आत्मा हूँ उसीसे मद्विषयान्तःकरण परिणाम रूप दीपसदृश प्रकाशमान ज्ञानदीपसे चिदाभास युक्त अप्रतिबद्ध अज्ञानज अर्थात् अज्ञानोपादानक मिथ्या ज्ञान लक्षण स्वविषयावरण तम अन्धकारको तदुपादान अज्ञान नाशसे नाश करता हूँ, सब भ्रमोंका उपादान कारण अज्ञान ज्ञान निवर्त्य होनेसे उपादानके नाशसे उपादेय

अर्जुन उवाच—

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान् ॥
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम् ॥ १२ ॥

इस प्रकार भगवान्‌के वचनोंको सुनकर, अर्जुन बोला, हे भगवन् ! आप परब्रह्म और परमधाम एवं परमपवित्र हैं, क्योंकि आपको सब ऋषिजन, सनातन दिव्य पुरुष एवं देवोंका भी आदिदेव, अजन्मा और सर्वव्यापी कहते हैं ॥१२॥

दीपेनान्धकारे निवर्तनीये दीपोत्पत्तिमन्तरेण न कर्मणोऽभ्यासस्य वाऽपेक्षा विद्यमानस्यैव च वस्तुनोऽभिव्यक्तिस्ततो नानुत्पन्नस्य कस्यचिदुत्पत्तिस्तथा ज्ञानेनाज्ञाने निवर्तनीये न ज्ञानोत्पत्तिमन्तरेणान्यस्य कर्मणोऽभ्यासस्य वाऽपेक्षा विद्यमानस्यैव च ब्रह्मभावस्य मोक्षस्याभिव्यक्तिस्ततो नानुत्पन्नस्योत्पत्तिर्येन क्षयित्वं कर्मादिसापेक्षत्वं वा भवेदिति रूपकालंकारेण सूचितोऽर्थः। भास्वतेत्यनेन तीव्रपवनादेरिवासंभावनादेः प्रतिबन्धकस्याभावः सूचितः। *ज्ञानस्य च दीपसाधर्म्यं स्वविषयावरणनिवर्तकत्वं स्वव्यवहारे सजातीयपरानपेक्षत्वं स्वोत्पत्त्यतिरिक्तसहकार्यनपेक्षत्वमित्यादि रूपकबीजं द्रष्टव्यम् ॥११॥

एवं भगवतो विभूतिं योगं च श्रुत्वा परमोत्कण्ठित अर्जुन उवाच—

भ्रमकी निवृत्ति होती है—यथा दीपसे अन्धकार निवृत्तिहोने से दीपोत्पत्तिके बिना न कर्मकी और न अभ्यासकी अपेक्षा है, विद्यमान वस्तुको अभिव्यक्ति उससे होती है अनुत्पन्नकी नहीं, न किसीकी उत्पत्ति ही होती है वैसे ही ज्ञानसे अज्ञान निवृत्त होनेपर ज्ञानोत्पत्तिसे अन्य कर्म वा अभ्यासकी अपेक्षा नहीं विद्यमान ब्रह्मभाव मोक्ष उससे अभिव्यक्त होता है अनुत्पन्नकी उत्पत्ति नहीं होती जिससे क्षयित्व की शंका हो कर्मादि सापेक्ष भी नहीं रूपकालंकारसे यहाँ अर्थ सूचित किया। भास्वता इस विशेषणसे अधिक वायुके समान असम्भावनादिक प्रतिबन्धकका अभाव सूचित किया, ज्ञानमें दीपका साधर्म्य है सो विषयावरण निवर्तकत्व सब व्यवहारसे सजातीय परानपेक्षत्व सोत्पत्त्यतिरिक्त सहकार्यनपेक्षत्व इत्यादिरूपक बीज समझना ॥ ११ ॥

इस प्रकार भगवान्‌की विभूति और योग सुन कर अति उत्कंठित अर्जुन

* दीप और ज्ञान का रूपकार्थ सादृश्य कहते है—स्वेति। स्वं-दीप तद्विषयप्रकाश्य घटादि

परं ब्रह्म परं धाम, आश्रयः प्रकाशो वा, परमं पवित्रं पावनं च भवानेव। यतः पुरुषं परमात्मानं शाश्वतं सर्वदैकरूपं दिवि परमे व्योम्नि स्वस्वरूपे भवं दिव्यं सर्वप्रपञ्चातीतमादिं च सर्वकारणं देवं च द्योतनात्मकं स्वप्रकाशमादिदेवमत एवाजं विभुं सर्वगतं त्वामाहुरिति संबन्धः॥ १२॥

बोले—परब्रह्म पर धाम आश्रय अथवा प्रकाश परम पवित्र आप ही हैं यतः शाश्वत परमात्मा पुरुष सदा एकरूप दिव्य परमाकाश स्वस्वरूपमें स्थित दिव्य प्रकाश स्वभाव सब प्रपञ्चोंसे अतीत सर्व कारण स्वप्रकाश आदि देव अत एव अज विभु सर्व गत आपको ही कहते हैं अग्रिमके साथ सन्बन्ध है॥ १२॥

उसका आच्छादक तम अन्धकार तन्निवर्तक प्रदीप प्रकाशतत्व प्रदीपमें है यह धर्म ज्ञानमें भी है एवं ज्ञान तत्तद्विषय घटादि तदावरक घटोपहित चैतन्याज्ञान तन्निवर्त्तकत्व ज्ञानमें भी है घटोपहितचैतन्यमें घटका अध्यास होनेपर घटका भान नहीं होता क्योंकि चैतन्यात्मप्रकाश अज्ञानसे आवृत है घटाकारान्तःकरणवृत्ति होने पर उसमें चैतन्यका प्रतिबिम्ब पड़ता है तो प्रतिबिम्ब विशिष्टवृत्तिसे अज्ञानकी निवृत्ति होती है ततः अनावृत चैतन्यसे घटका स्फुरण होता है—वृत्ति आवरणाभिभवार्थ है इस मतकी यह व्यवस्था है दूसरा मत है कि "असंगो ह्ययं पुरुषः" इस श्रुतिके अनुसार असंग पुरुषमें विषय संगार्थ वृत्ति है पर ज्ञानमें अज्ञान निवर्त्तकत्व सर्वमत सिद्ध है विस्तार अन्यत्र है।

द्वि० सा० एवं प्रदीपादि तद्व्यवहारमें सजातीय प्रदीपादि की अपेक्षाके बिना प्रदीपादि व्यवहार होता है यथा अन्धकार स्थित घटादि व्यवहारमें प्रदीपकी अपेक्षा है वैसे प्रदीपादि व्यवहारमें प्रदीपकी अपेक्षा नहीं यद्यपि प्रदीपादि व्यवहारमें इन्द्रियादिकी अपेक्षा है तथापि वे सजातीय नहीं यह प्रदीपादि साधारण प्रकाश लक्षण है।

तृ० सा० एवं दीपादि तदुत्पत्तिसे अतिरिक्त जो सहकारी पर तदनपेक्षत्वं तदपेक्षा-राहित्य प्रदीपादि व्यवहारमें तदुत्पत्त्युतिरिक्त किसी सहकारीकी अपेक्षा नहीं एवं ज्ञान व्यवहारमें ज्ञान से अतिरिक्त किसी सहकारीकी अपेक्षा नहीं अतः ज्ञान प्रदीपमें उक्त साधर्म्य स्फुट हैं घटादि व्यवहारको घटोत्पत्ति व्यक्तिरिक्त घट सहकारि प्रदीपादिकी अपेक्षा नियत है अतः उनमें उक्त धर्म नहीं है। इसका विस्तार आकर ग्रन्थोंमें देखिये।

आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा ।
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे ॥ १३ ॥
सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव ।
न हि ते भगवन्व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः ॥ १४ ॥

वैसे ही देवऋषि नारद तथा असित और देवलऋषि तथा महर्षि व्यास और स्वयं आप भी मेरे प्रति कहते हैं ॥ १३ ॥

और हे केशव ! जो कुछ भी मेरे प्रति आप कहते हैं, उस समस्तको मैं सत्य मानता हूँ, हे भगवन् ! आपके लीलामय स्वरूपको न दानव जानते हैं और न देवता ही जानते हैं ॥ १४ ॥

आहुः कथयन्ति त्वामनन्तमहिमानमृषयस्तत्त्वज्ञाननिष्ठाः सर्वे भृगुवसिष्ठादयः । तथा देवर्षिर्नारदोऽसितो देवलश्च धौम्यस्य ज्येष्ठो भ्राता, व्यासश्च भगवान्कृष्णद्वैपायनः । एतेऽपि त्वां पूर्वोक्तविशेषणं मे मह्यमाहुः साक्षात्किमन्यैर्वक्तृभिः स्वयमेव त्वं च मह्यं ब्रवीषि । अत्र ऋषित्वेऽपि साक्षाद्वक्तॄणां नारदादीनामतिविशिष्टत्वात्पृथग्ग्रहणम् ॥ १३ ॥

सर्वमेतदुक्तमृषिभिश्च त्वया च तदृतं सत्यमेवाहं मन्ये यन्मां प्रति वदसि केशव ! नहि त्वद्वचसि मम कुत्राप्यप्रामाण्यशङ्का, तच्च सर्वज्ञत्वात्त्वं जानासीति केशौ ब्रह्मरुद्रौ स्ववशावप्यनुकम्प्यतया वात्यवगच्छतीति व्युत्प-

आहुः—कहते है ऋषि तत्व ज्ञाननिष्ठ भृगु वशिष्ठादि सब अनन्त महिमा शाली आप ही को कहते है तथा देवर्षि नारद असितदेवल धौम्य व्यास भगवान् द्वैपायन भी सब पूर्वोक्त विशेषणयुक्त आपको मुझसे कहे हैं, और वक्ताओंसे सुननेकी क्या कथा है स्वयं आप मुझसे कहते हैं ऋषि होने पर साक्षात् कहने वाले नारदादि अति विशिष्ट है इस वास्ते अलग निर्देश है ॥ १३ ॥

यह सब जैसा ऋषियोंने कहा और आपने भी कहा उन सबको सत्यही मानता हूँ, हे केशव ! जो मेरे प्रति आप कहते हैं आपके बचनमें कहीं भी अप्रामाण्य शंका मुझको नहीं है सो सर्वज्ञ आप जानते हैं कश्च ईशश्च केशौ—क+ईश क ब्रह्मा ईश रुद्र येदोनों आपके अनुकम्प्य अपने को समझते हैं इस अर्थमें केशौ वाति

स्वयमेवाऽऽत्मनाऽऽत्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम ।
भूतभावन ! भूतेश ! देवदेव ! जगत्पते ! ॥ १५ ॥

हे भूतोंको उत्पन्न करनेवाले ! हे भूतोंके ईश्वर ! हे देवोंके देव ! हे जगत्के स्वामी ! अतएव हे पुरुषोत्तम ! आप स्वयं ही अपनेसे आपको जानते हैं ॥ १५ ॥

त्तिमाश्रित्य निरतिशयैश्वर्यप्रतिपादकेन केशवपदेन सूचितम् । अतो यदुक्तं "न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः" इत्यादि तत्तथैव । हि यस्मात्, हे भगवन्समग्रैश्वर्यादिसंपन्न ! ते तव व्यक्तिं प्रभावं ज्ञानातिशयशालिनोऽपि देवा न विदुर्नापि दानवा न महर्षय इत्यपि द्रष्टव्यम् ॥ १४ ॥

यतस्त्वं तेषां सर्वेषामादिरशक्यज्ञानश्चातः—

स्वयमेवान्योपदेशादिकमन्तरेणैव त्वमेवाऽऽत्मना स्वरूपेणाऽऽत्मानं निरुपाधिकं सोपाधिकं च, निरुपाधिकं प्रत्यक्त्वेनाविषयतया सोपाधिकं च निरतिशयज्ञानैश्वर्यादिशक्तिमत्त्वेन वेत्थ जानासि नान्यः कश्चित् । अन्यैर्ज्ञातुमशक्यमहं कथं जानीयामित्याशङ्कामपनुदन्प्रेमौत्कण्ठ्येन बहुधा संबोधयति हे पुरुषोत्तम ! त्वदपेक्षया सर्वेऽपि पुरुषा अपकृष्टा एव । अतस्तेषामशक्यं

अवगच्छति इस व्युत्पत्ति का आश्रयण कर निरतिशयैश्वर्यप्रतिपादक केशव शब्दसे सूचित किया इससे जो कहा कि मेरा प्रभाव सुरगण और महर्षि नहीं जानते सो ठीक ही है हि—यस्मात् हे भगवन् ! समग्र ऐश्वर्यआदि सम्पन्न आपका प्रभाव ज्ञानातिशयशील देवता नहीं जानते और न दानव न मनुष्यही यह भी समझना ॥ १४ ॥

यतः आप सबके आदि हैं अतएव अशक्य ज्ञान है इस कारण अन्योपदेशादिके विना आप अपने स्वरूपसे अपनेको जानते हैं निरुपाधिक प्रत्यक्चैतन्य ज्ञानको विषय नहीं सोपाधिक निरतिशय ज्ञान ऐश्वर्यादि शक्तिमान् हैं यह जानते हैं दूसरा कोई नहीं जानता ।

शङ्का—दूसरेके ज्ञानके अविषयको कैसे मैं जानूं इस आशङ्काके दूर करनेके लिये प्रेम और उत्कंठासे अनेक सम्बोधन देते हैं हे पुरुषोत्तम ! अर्थात् आपकी अपेक्षासे सब पुरुष अपकृष्ट ही हैं अतः उनके ज्ञानके अशक्य और सर्वोत्तम

वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः ।
याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि ॥१६॥

इसलिये हे भगवन्! आप ही उन अपनी दिव्य विभूतियोंको संपूर्णतासे कहनेके लिये योग्य हैं, कि जिन विभूतियोंके द्वारा इन सब लोकोंको व्याप्त करके स्थित हैं ॥ १६ ॥

सर्वोत्तमस्य तव शक्यमेवेत्यभिप्रायः । पुरुषोत्तमत्वमेव विवृणोति पुनश्चतुर्भिः संबोधनैः—भूतानि सर्वाणि भावयत्युत्पादयतीति हे भूतभावन सर्वभूतपितः! पिताऽपि कश्चिन्नेष्टस्तत्राऽऽह—हे भूतेश सर्वभूतनियन्तः! नियन्ताऽपि कश्चिन्नाऽऽराध्यस्तत्राऽऽह—हे देवदेव देवानां सर्वाराध्यानामप्याराध्य! आराध्योऽपि कश्चिन्न पालयितृत्वेन पतिस्तत्राऽऽह—हे जगत्पते हिताहितोपदेशकवेदप्रणेतृत्वेन सर्वस्य जगतः पालयितः! एतादृशसर्वविशेषणविशिष्टस्त्वं सर्वेषां पिता सर्वेषां गुरुः सर्वेषां राजाऽतः सर्वैः प्रकारैः सर्वेषामाराध्य इति किं वाच्यं पुरुषोत्तमत्वं तवेति भावः ॥ १५ ॥

यस्मादन्येषां सर्वेषां ज्ञातुमशक्या अवश्यं ज्ञातव्याश्च तव विभूतयस्तस्मात्—

आपके ज्ञानका शक्य है यह अभिप्राय है पुरुषोत्तमका ही चार सम्बोधनोंसे विवरण करते हैं—सबभूतों को आप उत्पन्न करते हैं अतः भूतभावन अर्थात् भूतोंके पिता आप हैं, पिताभी कोई (ईश्वर) इष्ट नही होता इसमें कहते है-हे भूतेश ! सब भूतोंके नियन्ता भी कोई सेव्य नहीं होता अतः हे देवदेव! सर्वाराध्य देवताओंके भी आराध्य भी कोई पालयिता भावसे पति नही है इस लिये हे जगत्पते यह सम्बोधन है—पिता हितोपदेशक वेदप्रणेता आप ही जगत्के पालयिता हैं एतादृश निखिल विशेषण युक्त आपही सबके पिता हैं और गुरु हैं, सबके राजा है, अतः सब प्रकारोंसे आप सबके आराध्य हैं इस प्रकार आपमें पुरुषोत्तमत्व क्या कहें वह तो स्वतः सिद्ध है ॥ १५ ॥

जिस कारण से अन्य सभों के ज्ञातुमशक्य और अवश्य ज्ञातव्य आपकी विभूतियां हैं अतः जिन जिन विभूतियों से इस सब लोकोंको व्याप्तकर आप हैं वे

कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन् ।
केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया ॥ १७ ॥

हे योगेश्वर ! मैं किस प्रकार निरन्तर चिन्तन करता हुआ आपको जानूं और हे भगवन् ! आप किन किन भावोंमें मेरे द्वारा चिन्तन करने योग्य हैं ॥१७॥

याभिर्विभूतिभिरिमान्सर्वाँल्लोकान्व्याप्य त्वं तिष्ठसि तास्तवासाधारणा विभूतयो दिव्या असर्वज्ञैर्ज्ञातुमशक्या हि यस्मात्तस्मात्सर्वज्ञस्त्वमेव ता अशेषेण वक्तुमर्हसि ॥ १६ ॥

किं प्रयोजनं तत्कथनस्य तदाह द्वाभ्याम्—

योगो निरतिशयैश्वर्यादिशक्तिः साऽस्यास्तीति हे योगिन्निरतिशयैश्वर्यादिशक्तिशालिन्नहमतिस्थूलमतिस्त्वां देवादिभिरपि ज्ञातुमशक्यं कथं विद्यां जानीयां सदा परिचिन्तयन्सर्वदा ध्यायन् । ननु मद्विभूतिषु मां ध्यायञ्ज्ञास्यसि तत्राऽऽह—केषु केषु च भावेषु चेतनाचेतनात्मकेषु वस्तुषु त्वद्विभूतिभूतेषु मया चिन्त्योऽसि हे भगवन् ! ॥ १७ ॥

आपकी दिव्य असाधारण विभूतियाँ असर्वज्ञसे ज्ञातुमशक्य हैं अतः आप ही सर्वज्ञ उन सब विभूतियों को पूर्ण रूपसे कह सकते हैं ॥ १६ ॥

क्या प्रयोजन है उनके कहने का वह दो श्लोकोंसे कहते हैं—निरतिशय ऐश्वर्यादिशक्ति यहाँ योगसे विवक्षित है वह है जिसमें वे योगी आप हैं हे योगिन् ! अतिशय ऐश्वर्यशक्तिशालिन् ! मैं अतिस्थूल बुद्धि हूँ देवादिकोंसे भी ज्ञातुमशक्य आपको कैसे जानूं सर्वदा ध्यान करते हुये मुझको जानोगे इसमें कहते हैं—किन २ चेतन अथवा अचेतना वस्तु में जो आपकी विभूतियाँ हैं उनमें आप मेरे चिन्त्य हैं अर्थात् ध्येय हैं हे भगवन् ! उन विभूतियोंको कहिये ॥ १७ ॥

विस्तरेणाऽऽत्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन ।
भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम् ॥१८॥

हे जनार्दन! अपनी योगशक्तिको और परमैश्वर्यरूप विभूतिको फिर भी विस्तारपूर्वक कहिये, क्योंकि आपके अमृतमय वचनोंको सुनते हुए मेरी तृप्ति नहीं होती है, अर्थात् सुननेकी उत्कण्ठा बनी ही रहती है ॥ १८ ॥

अतः आत्मनस्तव योगं सर्वज्ञत्वसर्वशक्तित्वादिलक्षणमैश्वर्यातिशयं विभूतिं च ध्यानालम्बनं विस्तरेण संक्षेपेण सप्तमे नवमे चोक्तमपि भूयः कथय, सर्वैर्जनैरभ्युदयनिःश्रेयसप्रयोजनं याच्यस इति हे जनार्दन! अतो ममापि याञ्चा त्वय्युचितैव। उक्तस्य पुनः कथनं कुतो याचसे तत्राऽऽह—तृप्तिरलंप्रत्ययेनेच्छाविच्छित्तिर्नास्ति हि यस्माच्छृण्वतः श्रवणेन पिबतस्त्वद्वाक्यामृतममृतवत्पदे पदे स्वादु स्वादु। अत्र त्वद्वाक्यमित्यनुक्तेरपह्नुत्यतिशयोक्तिरूपकसंकरोऽयं माधुर्यातिशयानुभवेनोत्कण्ठातिशयं व्यनक्ति ॥ १८ ॥

अतः अपने योग सर्वज्ञत्व सर्वशक्तित्वादिरूप ऐश्वर्यातिशय और विभूति जो ध्येय हैं संक्षेपसे सप्तम और नवम अध्यायमें कहा भी है किन्तु फिर विस्तारसे कहिये। सब मनुष्य स्वर्ग मोक्षादि प्रयोजनको आपसे माँगते हैं इस अभिप्रायसे जनार्दन सम्बोधन हुआ है, 'अर्द गतौ याचने च' इस धातुसूत्रके अनुसार अर्द धातुका यहाँ याञ्चा अर्थ है 'जनैः अर्द्यसे याच्यसे इति जनार्दनः' सब लोग आपसे याञ्चा करते हैं तो मेरी भी याञ्चा आपमें उचित ही है, उक्त का पुनः कथन याञ्चा कैसे है इसका उत्तर कहते हैं—तत्राह इति। तृप्ति-पर्य्याप्त हो गया इससे इच्छाकी निवृत्ति नहीं हुई और निवृत्ति ही तृप्ति है सो हुई नहीं क्योंकि पद पदमें अमृतके समान स्वादयुक्त आपके वाक्यामृतको कानसे पीते हुये तृप्ति नहीं होती है, यहाँ पर आपका वाक्य इसके न कहनेसे अपह्नुति और अतिशयोक्ति रूपकका संकर है माधुर्य्याधिक्यानुभवसे उत्कण्ठातिशय व्यक्त होता है ॥ १८ ॥

श्रीभगवानुवाच—

हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः ॥
प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ ! नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे ॥ १९ ॥
अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः ।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च ॥ २० ॥

इस प्रकार अर्जुनके पूछनेपर श्रीकृष्ण भगवान् बोले—हे कुरुश्रेष्ठ ! अब मैं तेरे लिये अपनी दिव्य विभूतियोंको प्रधानतासे कहूँगा, क्योंकि मेरे विस्तारका अन्त नहीं है ॥ १९ ॥

हे अर्जुन ! मैं सब भूतोंके हृदयमें स्थित सबका आत्मा हूँ तथा संपूर्ण भूतोंका आदि, मध्य और अन्त भी मैं ही हूँ ॥ २० ॥

अत्रोत्तरं श्रीभगवानुवाच—'हन्त' इति ।

हन्तेत्यनुमतौ । यत्त्वया प्रार्थितं तत्करिष्यामि मा व्याकुलो भूरित्यर्जुनं समाश्वास्य तदेव कर्तुमारभते । कथयिष्यामि प्राधान्यतस्ता विभूतीर्या दिव्या हि प्रसिद्धा आत्मनो ममासाधारणा विभूतयो हे कुरुश्रेष्ठ ! विस्तरेण तु कथनमशक्यं, यतो नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे विभूतीनाम् । अतः प्रधानभूताः काश्चिदेव विभूतीर्वक्ष्यामीत्यर्थः ॥ १९ ॥

तत्र प्रथमं तावन्मुख्यं चिन्तनीयं शृणु—

सर्वभूतानामाशये हृद्देशेऽन्तर्यामिरूपेण प्रत्यगात्मरूपेण च स्थित

इसका उत्तर भगवान् कहते हैं—'हन्त', इतिसे । यह अनुमतिसूचक अव्यय है । जो तुम्हारा प्रार्थित है उसको करेंगे, व्याकुल मत हो इस प्रकार अर्जुनका आश्वासन कर वही करना आरम्भ करते हैं—प्रधानरूपसे उन विभूतिओंको कहेंगे जो दिव्य प्रसिद्ध मेरी असाधारण विभूतियों हैं । हे कुरुश्रेष्ठ अर्जुन ! विस्तारसे कहना तो असम्भव है क्योंकि मेरी विभूतियोंके विस्तारका अन्त नहीं हैं अतः प्रधानभूत कुछ विभूतियाँ कहते हैं ॥ १९ ॥

उसमें पहले मुख्य ध्येय सुनो इस पर कहते हैं 'अहम्' इति । सब भूतोंके हृदय देशमें अन्तर्यामिरूपसे और जीवरूप स्थित आत्मा

आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान्।
मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी॥ २१॥

हे अर्जुन! मैं अदितिके बारह पुत्रोंमें विष्णुनामक आदित्य मैं हूँ। अथवा वामन अवतार मैं हूँ और ज्योतियोंमें किरणोंवाला सूर्य हूँ तथा मैं उञ्चास वायुदेवताओंमें मरीचिनामक वायुदेवता और नक्षत्रोंका अधिपति चन्द्रमा हूँ॥ २१॥

आत्मा चैतन्यानन्दघनस्त्वयाऽहं वासुदेव एवेति ध्येयः, हे गुडाकेश! जितनिद्रेति ध्यानसामर्थ्यं सूचयति। एवं ध्यानासामर्थ्ये तु वक्ष्यमाणानि ध्यानानि कार्याणि। तत्राप्यादौ ध्येयमाह—अहमेवादिश्चोत्पत्तिर्भूतानां प्राणिनां चेतनत्वेन लोके व्यवह्रियमाणानां मध्यमं च स्थितिरन्तश्च नाशः सर्वचेतनवर्गाणामुत्पत्तिस्थितिनाशरूपेण तत्कारणरूपेण चाहमेव ध्येय इत्यर्थः॥ २०॥

एतदशक्तेन बाह्यानि ध्यानानि कार्याणीत्याह यावदध्यायसमाप्ति—'आदित्यानाम्' इत्यादि।

आदित्यानां द्वादशानां मध्ये विष्णुर्विष्णुनामाऽऽदित्योऽहं वामनावतारो वा। ज्योतिषां प्रकाशकानां मध्येऽहं रविरंशुमान्विश्वव्यापी प्रकाशकः।

चैतन्यानन्दघन वासुदेव मैं ही हूँ यह ध्यान करना, हे गुडाकेश! निद्राके जीतनेवाले इस सम्बोधनसे ध्यानसामर्थ्य सूचित करते हैं इस प्रकार ध्यानमें असामर्थ्य होनेसे वक्ष्यमाण जो ध्यान हैं सो करना। उनमें भी पहिला ध्येय कहते हैं—मैं ही आदि हूँ और भूतों की उत्पत्ति, प्राणियोंमें चेतनत्वेन जिनका व्यवहार होता है उनकी उत्पत्ति तथा मध्य-स्थिति, अन्त, नाश, मैं ही हूँ। सम्पूर्ण चेतन वर्गोंकी उत्पत्ति स्थिति, नाश रूपसे और तत्काररणरूपसे मैं ही ध्येय हूँ॥ २०॥

इसमें भी अशक्त होने पर बाहरके ध्यानोंको करना यह है जब तक अध्याय की समाप्ति नहीं होगी तथा तत्कारण रूपसे तावत् पर्य्यन्त कहते हैं 'आदित्यानाम्'—इति। बारह सूर्योंके मध्यमें विष्णु नामक सूर्य्य अथवा वामनका अवतार मैं हूँ, प्रकाशक ज्योतियोंके मध्यमें विश्वव्यापक 'प्रकाशक अंशुमान् रवि मैं हूँ,

वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः।
इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना ॥२२॥

मैं वेदोंमें सामवेद हूँ, देवोंमें इन्द्र हूँ और इन्द्रियोंमें मन हूँ, भूत-प्राणियोंमें चेतना अर्थात् ज्ञानशक्ति हूँ ॥ २२ ॥

मरुतां सप्तसप्तकानां मध्ये मरीचिनामाऽहं । नक्षत्राणामधिपतिरहं शशी चन्द्रमाः। निर्धारणे षष्ठी। अत्र प्रायेण निर्धारणे षष्ठी। क्वचित्संबन्धेऽपि। यथा भूतानामस्मि चेतनेत्यादौ। वामनरामादयश्चावताराः सर्वैश्वर्यशालिनोऽप्यनेन रूपेण ध्यानविवक्षया विभूतिषु पठ्यन्ते। वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मीति तेन रूपेण ध्यानविवक्षया स्वस्यापि स्वविभूतिमध्ये पाठवत्। अतः परं च प्रायेणायमध्यायः स्पष्टार्थ इति क्वचित्किंचिद्व्याख्यास्यामः ॥ २१ ॥

'वेदानाम्' इति। चतुर्णां वेदानां मध्ये गानमाधुर्येणातिरमणीयः सामवेदोऽहमस्मि। वासव इन्द्रः सर्वदेवाधिपतिः। इन्द्रियाणामेकादशानां प्रवर्तकं मनः, भूतानां सर्वप्राणिसंबन्धिनां परिणामानां मध्ये चिदभिव्यञ्जिका बुद्धेर्वृत्तिश्चेतनाऽहमस्मि ॥ २२ ॥

उच्छ्वास वायुओंके मध्यमें मरीचिनामक वायु मैं हूँ, नक्षत्रोंमें उनके अधिपति चन्द्रमा मैं हूँ, यहां पर प्रायः समुदायसे एकदेशके रूपनिर्धारणमें षष्ठी है। कहीं सन्बन्धमें षष्ठी है, जैसे 'भूतानामस्मि चेतना' यहां पर भूतसम्बन्धी चेतना मैं हूं, वामन रामादि ऐश्वर्यशाली अवतार होनेपर भी इसरूपसे ध्यान विवक्षित है, इसलिये विभूतियोंमें पढ़े गये हैं। 'वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि' वासुदेवरूपसे ध्यानविवक्षासे अपना भी विभूतियोंमें पाठके समान वामनादिका विभूतियोंमें पाठ है। इससे आगे प्रायः यह अध्याय अति स्पष्टार्थ है अतः कहीं कुछ व्याख्यान करेंगे ॥ २१ ॥

'वेदानाम्' इति। चारों वेदोंके मध्यमें गान माधुर्यसे अतिसुन्दर सामवेद मैं हूँ, देवो अधिपति इन्द्र मैं हूँ, ग्यारह इन्द्रियोंमें प्रवर्त्तक मन मैं हूँ, सब प्राणिसम्बन्धिपरिणामोंके मध्यमें चैतन्याभिव्यञ्जक बुद्धिवृत्तिरूप चेतन मैं हूँ ॥२२॥

रुद्राणां शंकरश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम् ।
वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणामहम् ॥ २३ ॥
पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ ! बृहस्पतिम् ।
सेनानीनामहं स्कन्दः सरसामस्मि सागरः ॥ २४ ॥

मैं एकादश रुद्रोंमें शंकर हूं और यक्ष तथा राक्षसोंमें धनका स्वामी कुबेर हूं और मैं आठ वसुओंमें अग्नि हूँ तथा शिखरवाले पर्वतोंमें सुमेरु पर्वत हूँ ॥ २३ ॥

पुरोहितोंमें मुख्य अर्थात् देवताओंका पुरोहित बृहस्पति मेरेको जान, तथा हे पार्थ ! मैं सेनापतियोंमें स्वामिकार्तिक और जलाशयोंमें समुद्र हूँ ॥ २४ ॥

'रुद्राणाम्' इति—रुद्राणामेकादशानां मध्ये शंकरः । वित्तेशो धनाध्यक्षः कुबेरो यक्षरक्षसां यक्षाणां राक्षसानां च । वसूनामष्टानां पावकोऽग्निः । मेरुः सुमेरुः शिखरवतामत्युच्छ्रितानां पर्वतानाम् ॥ २३ ॥

'पुरोधसाम्' इति—इन्द्रस्य सर्वराजश्रेष्ठत्वात्तत्पुरोधसं बृहस्पतिं सर्वेषां पुरोधसां राजपुरोहितानां मध्ये मुख्यं श्रेष्ठं मामेव हे पार्थ ! विद्धि जानीहि । सेनानीनां सेनापतीनां मध्ये देवसेनापतिः स्कन्दो गुहोऽहमस्मि। सरसां देवखातजलाशयानां मध्ये सागरः सगरपुत्रैः खातो जलाशयोऽहमस्मि ॥ २४ ॥

'रुद्राणाम्' इति । ग्यारह रुद्रोंके मध्यमें शंकर मैं हूँ यक्ष और राक्षसोंके मध्यमें धनाध्यक्ष कुबेर मैं हूँ, आठ वसुओंमें पावक अग्नि मैं हूँ, पर्वतोंमें सुमेरु मैं हूँ ॥ २३ ॥

'पुरोधसाम्' इति । सब राजोंमें श्रेष्ठ इन्द्रके पुरोहित बृहस्पति मैं हूँ, जो सब पुरोहित तथा राजपुरोहितोंके मध्यमें मुख्य हैं, हे पार्थ ! वह मैं हूँ यह जानो, सेनापतियोंके मध्यमें देवताके सेनापति स्वामिकार्तिकेय मैं हूँ, देवखातजलाशयों के मध्यमें सगरपुत्रसे खना हुआ सागर—समुद्र मैं हूँ ॥ २४ ॥

महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम् ।
यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः ॥ २५ ॥
अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः ।
गन्धर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः ॥२६॥

हे अर्जुन ! मैं महर्षियोंमें भृगु और वचनोंमें एक अक्षर अर्थात् ओंकार हूँ तथा सब प्रकारके यज्ञोंमें जपयज्ञ और स्थिर रहनेवालोंमें हिमालय पहाड़ हूँ ॥ २५ ॥

सब वृक्षोंमें पीपलका वृक्ष और देवऋषियोंमें नारदमुनि तथा चित्ररथ और सिद्धोंमें कपिलमुनि हूँ ॥ २६ ॥

'महर्षीणाम्' इति–महर्षीणां सप्तब्रह्मणां मध्ये भृगुरतितेजस्वित्वादहम् । गिरां वाचां पदलक्षणानां मध्य एकमक्षरं पदमोंकारोऽहमस्मि । यज्ञानां मध्ये जपयज्ञो हिंसादिदोषशून्यत्वेनात्यन्तशोधकोऽहमस्मि । स्थावराणां स्थितिमतां मध्ये हिमालयोऽहम् । शिखरवतां मध्ये हि मेरुरहमित्युक्तमतः स्थावरत्वेन शिखरवत्त्वेन चार्थभेदाददोषः ॥ २५ ॥

'अश्वत्थः' इति–सर्वेषां वृक्षाणां वनस्पतीनामन्येषां च । देवा एव सन्तो ये मन्त्रदर्शित्वेन ऋषित्वं प्राप्तास्ते देवर्षयस्तेषां मध्ये नारदोऽहमस्मि ।

सात महर्षियोंके मध्यमें अतितेजस्वी भृगु मैं हूँ, पदलक्षण वाणियोंके मध्यमें एकाक्षर पद ॐकार मैं हूँ, यज्ञोंके मध्यमें जपयज्ञ जो हिंसादिदोषशून्य होनेसे अतिशोधक है सो मैं हूँ, अचलस्थावरोंके मध्यमें हिमालय मैं हूँ ।

शङ्का—पर्वतोंके मध्यमें सुमेरु मैं हूँ यह पूर्वमें कहा, अब फिर स्थावरोंमें हिमालय हूँ यह कथन किस अभिप्रायसे है ?

उत्तर—स्थावरत्वेन और शिखरवत्त्वेन अर्थभेदसे पुनरुक्त भी दोष नहीं ॥ २५ ॥

सब वृक्षों और अन्य वनस्पतियोंमें भी अश्वत्थ मैं हूँ, देवता होते हुये जो मन्त्रदर्शी होनेसे देवता हुये वे देवर्षि कहाते हैं, उनके मध्यमें नारद

उच्चैःश्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्भवम् ।
ऐरावतं गजेन्द्राणां नराणां च नराधिपम् ॥ २७ ॥
आयुधानामहं वज्रं धेनूनामस्मि कामधुक् ।
प्रजनश्चास्मि कंदर्पः सर्पाणामस्मि वासुकिः ॥ २८ ॥

हे अर्जुन ! तू घोड़ोंमें अमृतसे उत्पन्न होनेवाला उच्चैःश्रवा नामक घोड़ा और हाथियोंमें ऐरावत नामक हाथी तथा मनुष्योंमें राजा मेरेको ही जान ॥ २७ ॥

हे अर्जुन ! मैं शस्त्रोंमें वज्र और गौओंमें कामधेनु हूँ और शास्त्रोक्त रीतिसे सन्तानकी उत्पत्तिका हेतु कामदेव हूँ, सर्पों में सर्पराज वासुकि हूँ ॥ २८ ॥

गन्धर्वाणां गानधर्मिणां देवगायकानां मध्ये चित्ररथोऽहमस्मि । सिद्धानां जन्मनैव विना प्रयत्नं धर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्यातिशयं प्राप्तानामधिगतपरमार्थानां मध्ये कपिलो मुनिरहम् ॥ २६ ॥

'उच्चैः श्रवसम्' इति-अश्वानां मध्य उच्चैःश्रवसममृतमथनोद्भवमश्वं मां विद्धि। ऐरावतं गजममृतमथनोद्भवं गजेन्द्राणां मध्ये मां विद्धि । नराणां च मध्ये नराधिपं राजानं मां विद्धीत्यनुषज्यते ॥ २७ ॥

'आयुधानाम्' इति-आयुधानामस्त्राणां मध्ये वज्रं दधीचेरस्थिसंभवमस्त्रमहमस्मि । धेनूनां दोग्ध्रीणां मध्ये कामं दोग्धीति कामधुक्, समुद्र-

---

मैं हूँ। देवगायक गन्धर्वोंके मध्यमें चित्ररथ मैं हूँ। तथा सिद्धोंके मध्यमें जन्मसे ही जो प्रयत्नके विना धर्मज्ञान, वैराग्यैश्वर्यातिशयप्राप्त तत्त्वज्ञानियोंके मध्यमें कपिल मुनि मैं हूँ ॥ २६ ॥

घोड़ोंके मध्यमें अमृतमथनके समय उत्पन्न उच्चैश्रवा- नामक घोड़ा मैं हूँ, इसी प्रकार अमृतमथनके समय उत्पन्न ऐरावत हाथी श्रेष्ठ हाथियोंके मध्यमें मैं हूँ मनुष्योंके मध्यमें राजा मैं हूँ ॥ २७ ॥

आयुधोंके मध्यमें दधीचिके हड्डीसे उत्पन्न वज्र मैं हूँ, दूध देनेवाली गायोंके मध्यमें कामधेनु जो समुद्रमथनके समय उत्पन्न वशिष्ठजीकी कामधेनु सो मैं हूँ,

अनन्तश्चास्मि नागानां वरुणो यादसामहम् ।
पितॄणामर्यमा चास्मि यमः संयमतामहम् ॥ २९ ॥
प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम् ॥
मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम् ॥ ३० ॥

तथा मैं नागोंमें शेषनाग और जलचरोंमें उनका अधिपति वरुण देवता हूँ और पितरों में अर्यमा नामक पित्रेश्वर तथा शासन करनेवालोंमें यमराज मैं हूँ ॥२९॥

(हे अर्जुन!) मैं दैत्योंमें प्रह्लाद और गिनती करनेवालोंमें समय हूँ तथा पशुओंमें मृगराज (सिंह) और पक्षियोंमें गरुड़ मैं हूँ ॥ ३० ॥

मथनोद्भवा वसिष्ठस्य कामधेनुरहमस्मि । कामानां मध्ये प्रजनः प्रजनयिता· पुत्रोत्पत्त्यर्थो यः कंदर्पः कामः सोऽहमस्मि । चकारस्त्वर्थो रतिमात्रहेतुकाम· व्यावृत्त्यर्थः । सर्पाश्च नागाश्च जातिभेदाद्भिद्यन्ते । तत्र सर्पाणां मध्ये तेषां राजा वासुकिरहमस्मि ॥ २८ ॥

नागानां जातिभेदानां मध्ये तेषां राजाऽनन्तश्च शेषाख्योऽहमस्मि । यादसां जलचराणां मध्ये तेषां राजा वरुणोऽहमस्मि । पितॄणां मध्येऽर्यमा नाम पितृराजश्चहमस्मि । संयमतां संयमं धर्माधर्मफलदानेनानुग्रहं निग्रहं च कुर्वतां मध्ये यमोऽहमस्मि ॥ २९ ॥

दैत्यानां दितिवंश्यानां मध्ये प्रकर्षेण ह्लादयत्यानन्दयति परमसात्त्वि·

कामोंके मध्यमें प्रजन पुत्रोत्पत्तिके लिये जो कन्दर्प (काम) है सो मैं हूँ, चकार तुशब्दके अर्थमें है जो रतिमात्रहेतु काम उसकी व्यावृत्ति करता है । सर्प और नाग जातिभेदसे भिन्न २ हैं, अतः सर्पोंके मध्यमें उनके राजा वासुकी मैं हूँ ॥ २८ ॥

जातिभेदसे भिन्न नागोंके मध्यमें उनके राजा शेषाख्य अनन्त मैं हूँ जलचरोंके मध्यमें उनके राजा वरुण मैं हूँ, पितरोंके मध्यमें अर्यमानामक पित्रेश्वर भी मैं हूँ । तथा संयामियोंके मध्यमें संयम, धर्म अधर्म फलभेदसे अनुग्रह निग्रह करनेवालेंके मध्यमें यमराज मैं हूँ ॥ २९ ॥

दितिके वंशियों दैत्योंमें प्रह्लाद (प्रकर्षसे आनन्द करे) परम सात्विक

पवनः पवतामस्मि रामः शस्त्रभृतामहम्।
झषाणां मकरश्चास्मि स्रोतसामस्मि जाह्नवी ॥ ३१ ॥
सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन।
अध्यात्मविद्या विद्यानां वादःप्रवदतामहम् ॥ ३२ ॥

मैं पवित्र करनेवालोंमें वायु और शस्त्रधारियोंमें राम हूँ तथा मछलियोंमें मगरमच्छ हूँ नदियोंमें श्रीभागीरथी गङ्गा हूँ ॥ ३१ ॥

हे अर्जुन! सृष्टियोंका आदि, अन्त और मध्य मैं ही हूँ तथा मैं विद्याओंमें अध्यात्मविद्या अर्थात् ब्रह्मविद्या एवं परस्परमें विवाद करनेवालोंमें तत्वनिर्णयके लिये किया जानेवाला वाद (मैं हूँ) ॥ ३२ ॥

कत्वेन सर्वानिति प्रह्लादश्चास्मि। कलयतां संख्यानं गणनं कुर्वतां मध्ये कालोऽहम्। मृगेन्द्रः सिंहो मृगाणां पशूनां मध्येऽहम्। वैनतेयश्च पक्षिणां विनतापुत्रो गरुडः ॥ ३० ॥

पवतां पावयितॄणां वेगवतां वा मध्ये पवनो वायुरहमस्मि। शस्त्रभृतां शस्त्रधारिणां युद्धकुशलानां मध्ये रामो दाशरथिरखिलराक्षसकुलक्षयकरः परमवीरोऽहमस्मि। साक्षात्स्वरूपस्याप्यनेन रूपेण चिन्तनार्थं वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मीतिवदत्र पाठ इति प्रागुक्तम्। झषाणां मत्स्यानां मध्ये मकरो नाम तज्जातिविशेषः। स्रोतसां वेगेन चलज्जलानां नदीनां मध्ये सर्वनदीश्रेष्ठा जाह्नवी गङ्गाऽहमस्मि ॥ ३१ ॥

सर्गाणामचेतनसृष्टीनामादिरन्तश्च मध्यं चोत्पत्तिस्थितिलया अहमेव

होनेसे प्रह्लाद मैं हूँ, गणना करनेवालोंमें काल मैं हूँ, पशुओंके मध्यमें मृगेन्द्र-सिंह मैं हूँ, पक्षियोंके मध्यमें विनतापुत्र-गरुड मैं हूँ ॥ ३० ॥

पवित्र करनेवाले और वेगवालोंके मध्यमें पवन-वायु मैं हूँ शस्त्रधारी युद्ध-कुशलोंके मध्यमें अखिल राक्षसकुलक्षय करनेवाले दाशरथि राम मैं हूँ। साक्षात् स्वरूपका इसरूपसे चिन्तन करनेके लिये 'वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि' के समान यहाँ पाठ है यह पहले कहा है। मछलियोंके मध्यमें मगर मैं हूँ, वेगसे बहनेवाली नदियोंके मध्यमें सब नदियोंमें श्रेष्ठ गंगा मैं हूँ ॥ ३१ ॥

अचेतनरूपसृष्टिका आदि, अन्त मध्य और उत्पत्ति, स्थिति, लय हे अर्जुन!

हेऽर्जुन । भूतानां जीवाविष्टानां चेतनत्वेन प्रसिद्धानामेवाऽऽदिरन्तश्च मध्यं चेत्युक्तमुपक्रमे, इह त्वचेतनसर्गाणामिति न पौनरुक्त्यम् । विद्यानां मध्येऽध्यात्मविद्या मोक्षहेतुरात्मतत्त्वविद्याऽहम् । प्रवदतां प्रवदत्संबन्धिनां कथाभेदानां वादजल्पवितण्डात्मकानां मध्ये वादोऽहम् । भूतानामस्मि चेतनेत्यत्र यथा भूतशब्देन तत्संबन्धिनः परिणामा लक्षितास्तथेह प्रवदच्छब्देन तत्संबन्धिनः कथाभेदा लक्ष्यन्ते । अतो निर्धारणोपपत्तिः । यथाश्रुते तूभयत्रापि संबन्धे षष्ठी । तत्र तत्त्वबुभुत्स्वोर्वीतरागयोः सब्रह्मचारिणोर्गुरुशिष्ययोर्वा प्रमाणेन तर्केण च साधनदूषणात्मा सपक्षप्रतिपक्षपरिग्रहस्तत्त्वनिर्णयपर्यन्तो वादः । तदुक्तं "प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भः सिद्धान्ताविरुद्धः पञ्चावयवोपपन्नः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहो वादः" इति । वादफलस्य तत्त्वनिर्णयस्य दुर्दुरूढवादिनिराकरणेन संरक्षणार्थं विजिगीषुकथे जल्पवितण्डे जयपराजयमात्रपर्यन्ते । तदुक्तं "तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणार्थं जल्पवितण्डे बीजप्ररोहसंरक्षणार्थं कण्टकशाखाप्रावरणवत्" इति छलजातिनिग्रहस्थानैः परपक्षो दूष्यत इति जल्पे

मैं हूँ। चेतनत्वेन प्रसिद्ध जीवयुक्त भूतोंका आदि, अन्त, मध्य मैं हूँ यह उपक्रममें कहा है। यहाँ अचेतन सर्गोंका आदि, मध्य, अन्त कहा है अतः पौनरुक्त्य नहीं है, विद्याओंके मध्यमें मोक्षकारिणीभूत आत्मतत्त्वविद्यारूप अध्यात्मविद्या मैं हूँ, वादजल्पवितण्डारूप कथाओंके मध्यमें वाद मैं हूँ 'भूतानामस्मि चेतना' यहाँ पर जैसे भूतशब्दसे तत्सम्बन्धी परिणाम लक्षित हुआ है वैसे यहाँ 'प्रवदतां' शब्दसे तत्सम्बन्धी कथाविशेष वाद जल्प, वितण्डा लक्षित होते हैं, अतः निर्धारण ठीक है। यथा-श्रुतिमें दोनों जगह सम्बन्धमें षष्ठी है। तत्त्वबुभुत्सु तत्त्वबोधेच्छावान् सब्रह्मचारी गुरु शिष्य तत् सम्बन्धि प्रमाणसे साधन तर्कसे दूषणस्वरूप पक्षप्रतिपक्ष परिग्रह तत्त्व निर्णयान्त वाद है। सो कहा है—'प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भः' इत्यादि न्यायसूत्र ऊपर देखिये। वाद फल तत्त्वनिर्णयके रक्षणार्थ उच्छृङ्खल वाद निराकरणसे विजिगीषु कथा, जय पराजयमात्रफलक, जल्प और वितण्डा कथायें हैं यह न्यायसूत्रमें कहा है तत्त्वाध्यवसाय समरक्षणार्थम्' इत्यादि ऊपर देखिये। छल जो जाति निग्रहस्थानोंसे परपक्ष दूषित होता है, जल्प और वितण्डामें समान है, उसमें

अक्षराणामकारोऽस्मि द्वन्द्वः सामासिकस्य च ।
अहमेवाक्षयः कालो धाताहं विश्वतोमुखः ॥ ३३ ॥

तथा मैं अक्षरोंमें अकार और समासोंमें द्वन्द्व नामक समास हूँ तथा अक्षय काल अर्थात् कालका भी महाकाल और विराट्स्वरूप सबका धारणपोषण करनेवाला भी मैं ही हूं ॥ ३३ ॥

वितण्डायां च समानम् । तत्र वितण्डायामेकेन स्वपक्षः स्थाप्यत एव, अन्येन च स दूष्यत एव । जल्पे तूभाभ्यामपि स्वपक्षः स्थाप्यत उभाभ्यामपि परपक्षो दूष्यत इति विशेषः । तदुक्तं यथोक्तोपपन्नच्छलजातिनिग्रहस्थान-साधनोपालम्भो जल्पः, स प्रतिपक्षस्थापनाहीनो वितण्डा" इति । अतो वितण्डाद्वयशरीरत्वाज्जल्पो नाम नैका कथा, किं तु शक्त्यतिशयज्ञानार्थं समयबन्धमात्रेण प्रवर्तत इति खण्डनकाराः । तत्त्वाध्यवसायपर्यवसायित्वेन तु वादस्य श्रेष्ठत्वमुक्तमेव ॥ ३२ ॥

अक्षराणां सर्वेषां वर्णानां मध्येऽकारोऽहमस्मि । "अकारो वै सर्वा वाक्" इति श्रुतेस्तस्य श्रेष्ठत्वं प्रसिद्धम् । द्वन्द्वः समास उभयपदार्थप्रधानः सामासिकस्य समाससमूहस्य मध्येऽहमस्मि । पूर्वपदार्थप्रधानोऽव्ययीभाव उत्तर-

---

वितण्डामें एक अपने पक्षका स्थापन ही करता है और दूसरा दूषता ही है, जल्पमें तो दोनों अपने अपने पक्षका स्थापन करते हैं और परपक्षको दूषित करते हैं, जल्पमें वितण्डासे यही विशेष है । तदुक्तम् सो कहा है—'यथोक्तोपपन्नच्छल जातिनिग्रहस्थानसाधनोपालम्भो जल्पः' 'प्रतिपक्षस्थापनाहीनो वितण्डा इति' तथा च—अर्थनिर्णयकारण वाद कथाओंमें श्रेष्ठ है अतः वाद मैं हूँ, वितण्डाद्वय शरीर जल्प एक कथा नहीं हैं किन्तु अतिशय ज्ञापनार्थ समयबन्धमात्रसे प्रवृत्त होती है यह खण्डनकारका मत है तत्त्वाध्यवसाय पर्य्यवसायीवाद श्रेष्ठ है यह कहा ही है ॥ ३२ ॥

सब वर्णों-अक्षरोंके मध्यमें अकार मैं हूँ 'अकारो वै सर्वा वाक्' इस श्रुतिसे अकारमें श्रेष्ठत्व प्रसिद्ध है । समासोंके मध्यमें उभयपदार्थप्रधान द्वन्द्वसमास मैं हूँ, पूर्वपदार्थप्रधान अव्ययीभाव होता है उत्तरपदार्थप्रधान तत्पुरुष होता है

मृत्युः सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम् ।
कीर्तिः श्रीर्वाक्च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा ॥३४॥

हे अर्जुन ! मैं सबका नाश करनेवाला मृत्यु और आगे होनेवालोंकी उत्पत्तिका कारण हूँ तथा स्त्रियोंमें कीर्ति, श्री वाक्, स्मृति, मेधा, धृति और क्षमा हूँ ॥३४॥

पदार्थप्रधानस्तत्पुरुषोऽन्यपदार्थप्रधानो बहुव्रीहिरिति तेषामुभयपदार्थसाम्याभावेनापकृष्टत्वात् । क्षयिकालाभिमान्यक्षयः परमेश्वराख्यः कालः "ज्ञः कालकालो गुणी सर्वविद्यः" इत्यादिश्रुतिप्रसिद्धोऽहमेव । । कालः कलयतामहमित्यत्र तु क्षयी काल उक्त इति भेदः । कर्मफलविधातृणां मध्ये विश्वतोमुखः सर्वतोमुखो धाता सर्वकर्मफलदातेश्वरोऽहमित्यर्थः ॥ ३३ ॥

संहारकारिणां मध्ये सर्वहरः सर्वसंहारकारी मृत्युरहम् । भविष्यतां भाविकल्याणानां य उद्भव उत्कर्षः स चाहमेव । नारीणां मध्ये कीर्तिः श्रीर्वाक्स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमेति च सप्त धर्मपत्न्योऽहमेव । तत्र कीर्तिर्धार्मिकत्वनिमित्ता प्रशस्तत्वेन नानादिग्देशीयलोकज्ञानविषयतारूपा ख्यातिः । श्रीर्धर्मार्थकामसंपत्, शरीरशोभा वा कान्तिर्वा । वाक्सरस्वती सर्वस्यार्थस्य प्रकाशिका संस्कृता वाणी चकारान्मूर्त्यादयोऽपि धर्मपत्न्यो गृह्यन्ते । स्मृतिश्चिरानुभू-

---

अन्यपदार्थप्रधान बहुव्रीहि, इस कारण उनमें उभय पदार्थसाम्य न होनेसे वे अपकृष्ट है । 'क्षयिकालाभिमानी अक्षयः परमेश्वराख्यः कालः' 'ज्ञः कालकालो गुणी सर्वविद्यः' इत्यादि सर्वश्रुतिप्रसिद्ध मैं हूँ 'कालः कलयतामहम्' यहाँ पर क्षयिकाल कहा गया है यह दोनोंमें भेद है कर्मफल देनेवालोंके मध्यमें सर्वतोमुख धाता—ब्रह्मा सर्वकर्मफलदाता ईश्वर मैं हूँ ॥ ३३ ॥

संहार करनेवालोंके मध्यमें सर्वसंहारकारी मृत्यु मैं हूँ होनेवालोंमें उत्पत्तिका जो कारण है सो मैं ही हूँ, स्त्रियोंके मध्यमें कीर्त्ति, श्री वाक्यस्मृति, मेधा धृति, क्षमा ये सात धर्मपत्नियाँ मैं ही हूँ, उनमें कीर्त्ति, धार्मिकत्वनिमित्त श्रेष्ठत्वेन नानादिग्देशीय लोकज्ञानविषयतारूपा ख्याति है धर्मार्थ काम, सम्पत् शरीर शोभा वा कान्ति है, वाक् सर्वअर्थका प्रकाशिका सरस्वती संस्कृता वाणी है, स्मृति चिरानुभूतार्थ स्मरणशक्ति अनेकग्रन्थार्थधारणशक्ति मेधा,

बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसामहम् ।
मसानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः ॥ ३५ ॥

तथा मैं गायन करने श्रुतियोंमें बृहत्साम और छंदोंमें मार्गशीर्षका महीना और ऋतुओंमें वसन्त ऋतु मैं हूँ ॥ ३५ ॥

तार्थस्मरणशक्तिः । अनेकग्रन्थार्थधारणाशक्तिर्मेधा । धृतिरवसादेऽपि शरीरेन्द्रियसंघातोत्तम्भनशक्तिः, उच्छृङ्खलप्रवृत्तिकारणेन चापलप्राप्तौ तन्निवर्तनशक्तिर्वा । क्षमा हर्षविषादयोरविकृतचित्तता । यासामाभासमात्रसंबन्धेनापि जनः सर्वलोकादरणीयो भवति तासां सर्वस्त्रीषूत्तमत्वमतिप्रसिद्धमेव ॥ ३४ ॥

वेदानां सामवेदोऽस्मीत्युक्तं तत्रायमन्यो विशेषः साम्नामृगक्षराारूढानां गीतिविशेषाणां मध्ये 'त्वामिद्धि हवामहे' इत्यस्यामृचि गीतिविशेषो बृहत्साम । तच्चातिरात्रे पृष्ठस्तोत्रं सर्वेश्वरत्वेनेन्द्रस्तुतिरूपमन्यतः श्रेष्ठत्वादहम् । छन्दसां नियताक्षरपादत्वरूपच्छन्दोविशिष्टानामृचां मध्ये द्विजातेर्द्वितीयजन्महेतुत्वेन प्रातःसवनादिसवनत्रयव्यापित्वेन त्रिष्टुब्जगतीभ्यां सोमाहरणार्थं गताभ्यां सोमो न लब्धोऽक्षराणि च हारितानि जगत्या त्रीणि त्रिष्टुभैकमिति चत्वारि तैरक्षरैः सह सोमस्याऽऽहरणेन च सर्वश्रेष्ठा गायत्र्यृगहम् । " चतुरक्षराणि

अवसादमें भी शरीरेन्द्रिय संघातको उत्तम्भनशक्ति धृति है, उच्छृङ्खल प्रवृत्ति कारणसे चापल्य प्राप्त होनेपर तन्निवर्तनशक्ति वा धृति है । हर्षविषादमें चित्तविकृति न होना क्षमा है, जिनके आभासमात्रसम्बन्धसे मनुष्य सर्वादरणीय होता है उनमें सर्वस्त्रियोंमें उत्तमत्व प्रसिद्ध ही है ॥ ३४ ॥

वेदोंमें सामवेद हूँ यह पूर्वमें कहा है उसमें यह दूसरा विशेष है, ऋगक्षरारूढ गीतिविशेष सामके मध्यमें 'त्वामिद्धि हवामहे' इस ऋचामें गीतिविशेष बृहत्साम है सो अतिरात्र सोमविशेषमें पृष्ठस्तोत्र है, वह सर्वेश्वर, सर्वश्रेष्ठ इन्द्रकी स्तुतिरूप होनेसे अन्यसे श्रेष्ठ है सो मैं हूँ । नियताक्षरपाद छन्दोविशिष्ट ऋक्के मध्यमें द्विजातियोंके द्वितीयजन्मका हेतु होनेसे प्रातःसवनादि सवनत्रयव्यापी होनेसे सोमाहरणके लिये त्रिष्टुप् जगती इन दोनोंको सोम न मिला और अक्षरोंको हार गई जगतीके तीन, त्रिष्टुप्का एक इस प्रकार वे चार अक्षरोंके साथ सोमाहरणसे

द्यूतं छलयतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ।
जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्त्वं सत्त्ववतामहम् ॥३६॥

हे अर्जुन ! मैं छल करनेवालोंमें जुवा और प्रभाव शाली पुरुषोंका प्रभाव हूँ तथा जीतनेवालोंका विजय हूँ और निश्चय करनेवालोंका निश्चय एवं सात्त्विक पुरुषोंका सात्त्विक भाव हूँ ॥ ३६ ॥

ह वा अग्रे छन्दास्यासुस्ततो जगती सोममच्छापतत्सा त्रीण्यक्षराणि हित्वा जगाम ततस्त्रिष्टुप्सोममच्छापतत्सैकमक्षरं हित्वाऽपतत्ततो गायत्री सोमम-च्छापतत्सा तानि चाक्षराणि हरन्त्यागच्छत्सोमं च तस्मादष्टाक्षरा गायत्री" इत्युपक्रम्य " तदाहुर्गायत्राणि वै सर्वाणि सवनानि गायत्री ह्येवैतदुपसृजा-मो नैतत् " इति शतपथश्रुतेः " गायत्री वा इदं सर्वं भूतम् " इत्यादिच्छा-न्दोग्यश्रुतेश्च । मासानां द्वादशानां मध्येऽभिनवशालिवास्तूकशाकादिशाली शीतातपशून्यत्वेन च सुखहेतुर्मार्गशीर्षोऽहम् । ऋतूनां षण्णां मध्ये कुसुमाकरः सर्वसुगन्धिकुसुमानामाकरोऽतिरमणीयो वसन्तः, " वसन्ते ब्राह्मणमुपनीयत " " वसन्ते ब्राह्मणोऽग्नीनादधीत " " वसन्ते वसन्ते ज्योतिषा यजेत " " तद्वै वसन्त एवाभ्यारभेत " " वसन्तो वै ब्राह्मणस्यर्तुः " इत्यादिशास्त्रप्रसिद्धोऽहमस्मि ॥ ३५ ॥

छलयतां छलस्य परवञ्चनस्य कर्तॄणां संबन्धि द्यूतमक्षादेवनादिलक्षणं सर्वस्वापहारकारणमहमस्मि । तेजस्विनामत्युग्रप्रभावानां संबन्धि तेजोऽप्रति-

सर्वश्रेष्ठ गायत्री ऋक् मैं हूँ । चार अक्षर 'हवा अग्रे छन्दांसि आसुः ततो जगती सोम अच्छापतत्सा त्रीणि अक्षराणि हित्वा जगाम' इत्यादि श्रुति ऊपर देखिये । द्वादश मासोंके मध्यमें अभिनव नये धान, वास्तूक, शाकादि शाली होनेसे सीतातपशून्य होनेसे मार्गशीर्ष मैं हूँ । छवों ऋतुओंके मध्यमें सब सुगन्धिपुष्पोंका आश्रय अतिरमणीय वसन्त मैं हूँ 'वसन्ते ब्राह्मणमुपनयीत' । 'वसन्ते ब्राह्मणोऽग्नीनाद-धीत, इत्यादि शास्त्रप्रसिद्ध वसन्त मैं हूँ ॥ ३५ ॥

परको धोखा देना, छल करनेवालोंका छल, और जुआँ खेलना, जो सर्वस्वका अपहरण करनेवाला है छलसो मैं हूँ, अत्यन्त तेजस्वियोंका तेज मैं हूँ, जीतनेवालोंके

वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पाण्डवानां धनंजयः ।
मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशना कविः ॥ ३७ ॥
दण्डो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम् ।
मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम् ॥ ३८ ॥

वृष्णिवंशियोंमें वासुदेव अर्थात् मैं स्वयम् तुम्हारा सखा और पाण्डवोंमें धनंजय अर्थात तूं एवं मुनियोंमें वेदव्यास और कवियोंमें शुक्राचार्य कवि भी मैं ही हूँ ॥ ३७ ॥

दमन करनेवालोंका दण्ड अर्थात् दमन करनेकी शक्ति हूँ, जीतनेकी नीति हूं और गोपनीयोंमें अर्थात् गुप्त रखने योग्य भावोंमें मौन हूँ तथा ज्ञानवानोंका तत्त्वज्ञान मैं ही हूँ ॥ ३८ ॥

हृताज्ञत्वमहस्मि । जेतॄणां पराजितापेक्षयोत्कर्षलक्षणो जयोऽस्मि । व्यवसायिनां व्यवसायः फलाव्यभिचार्युद्यमोऽहमस्मि । सत्त्ववतां सात्त्विकानां धर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्यलक्षणं सत्त्वकार्यमेवात्र सत्त्वमहम् ॥ ३६ ॥

साक्षादीश्वरस्यापि विभूतिमध्ये पाठस्तेन रूपेण चिन्तनार्थ इति प्रागेवोक्तम् । वृष्णीनां मध्ये वासुदेवो वसुदेवपुत्रत्वेन प्रसिद्धस्त्वदुपदेष्टाऽयमहम् । तथा पाण्डवानां मध्ये धनंजयस्त्वमेवाहम् । मुनीनां मननशीलानामपि मध्ये वेदव्यासोऽहम् । कवीनां क्रान्तदर्शिनां सूक्ष्मार्थविवेकिनां मध्य उशना कविरिति ख्यातः शुक्रोऽहम् ॥ ३७ ॥

दमयतामदान्तानुत्पथान्पथि प्रवर्तयतामुत्पथप्रवृत्तौ निग्रहहेतुर्दण्डोऽह-

---

पराजितके अपेक्षासे उत्कर्ष स्वरूप जय मैं हूँ, व्यवसायिओंका व्यवसाय अवश्यफलदायी उद्योग मैं हूँ, सात्त्विकोंका धर्मज्ञान वैराग्यैश्वर्यरूप जो सत्त्वकार्य वही यहाँ सत्त्व है सो मैं हूँ ॥ ३६ ॥

साक्षात् ईश्वरका भी विभूतिमध्यमें पाठ विभूतिरूपसे ध्यानार्थ है यह पहले ही कह चुका हूँ, वृष्णियोंके मध्यमें वसुदेव पुत्रत्वेन प्रसिद्ध जो तुम्हारे उपदेश्य यह मैं हूँ, तथा पाण्डवोंके मध्यमें धनंजय तूं मैं हूँ, मनन शील मुनियोंके मध्यमें वेदव्यास मैं हूँ, सूक्ष्मार्थ विवेकी लोगोंके मध्यमें उशना कवि-शुक्र मैं हूँ ॥ ३७ ॥

कुमार्गमें प्रवृत्त होनेवालों और अदान्तोंको दमन करने वालोंका अर्थात् उत्पथ

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन ।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम् ॥३९॥

हे अर्जुन ! जो सब भूतोंकी उत्पत्तिका कारण है वह भी मैं हूँ, क्योंकि ऐसा वह चर और अचर कोई भी भूत नहीं है कि जो मेरेसे रहित होवे, इसलिये सब कुछ मेरा ही स्वरूप है ॥ ३९ ॥

मस्मि । जिगीषतां जेतुमिच्छतां नीतिर्न्यायो जयोपायस्य प्रकाशकोऽहमस्मि । गुह्यानां गोप्यानां गोपनहेतुर्मौनं वाचंयमत्वमहमस्मि । नहि तूष्णीं स्थितस्याभिप्रायो ज्ञायते । गुह्यानां गोप्यानां मध्ये ससंन्यासश्रवणमननपूर्वकमात्मनो निदिध्यासनलक्षणं मौनं वाऽहमस्मि । ज्ञानवतां ज्ञानिनां यच्छ्रवणमनननिदिध्यासनपरिपाकप्रभवमद्वितीयात्मसाक्षात्काररूपं सर्वाज्ञानविरोधि ज्ञानं तदहमस्मि ॥ ३८ ॥

यदपि च सर्वभूतानां प्ररोहकारणं बीजं तन्मायोपाधिकं चैतन्यमहमेव हेऽर्जुन ! मया बिना यत्स्याद्भवेच्चरमचरं वा भूतं वस्तु तन्नास्त्येव यतः सर्वं मत्कार्यमेवेत्यर्थः ॥ ३९ ॥

प्रवृत्तिमें निग्रहहेतु दण्ड मैं हूँ, जिगीषुओंका न्याय जयोपायका प्रकाशक मैं हूँ, गोप्योंका गोपनहेतु मौन मैं हूँ, क्योंकि चुपचाप स्थितका अभिप्राय नहीं जाना जाता, गोप्योंके मध्यमें सन्यासश्रवण मननपूर्वक आत्माका ध्यानरूप मौन मैं हूँ, ज्ञानियोंका श्रवण, मनन, निदिध्यासन परिपाकसे उत्पन्न अद्वितीयात्मसाक्षात्कार रूप सम्पूर्ण अज्ञानका विरोधी जो ज्ञान है सो मैं हूँ ॥ ३८ ॥

और जो सब भूतोंकी उत्पत्तिका कारण बीज है वह मायोपाधिक चैतन्य मैं ही हूँ, हे अर्जुन ! मेरे बिना चर या अचर भूत हो सो नहीं है क्योंकि सब मेरा कार्य ही है ॥ ३९ ॥

नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परंतप ।
एषतूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया ॥ ४० ॥
यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोऽशसंभवम् ॥ ४१ ॥

हे परंतप ! मेरी दिव्य विभूतियोंका अन्त नहीं है, यह तो मैंने अपनी विभूतियोंका विस्तार तेरे लिये एकदेशसे अर्थात् संक्षेपसे कहा है ॥ ४० ॥

इसलिये हे अर्जुन ! जो जो भी विभूतियुक्त अर्थात् ऐश्वर्ययुक्त एवं कान्तियुक्त वस्तु है, उसको तू मेरे तेजके अंशसे ही उत्पन्न हुई जान ॥ ४१ ॥

प्रकरणार्थमुपसंहरन्विभूतिं संक्षिपति—

हे परंतप ! परेषां शत्रूणां कामक्रोधलोभादीनां तापजनक ! मम दिव्यानां विभूतीनामन्त इयत्ता नास्ति । अतः सर्वज्ञेनापि सा न शक्यते ज्ञातुं वक्तुं वा सन्मात्रविषयत्वात्सर्वज्ञतायाः । एष तु त्वां प्रत्युद्देशत एकदेशेन प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो विस्तारो मया ॥ ४० ॥

अनुक्ता अपि भगवतो विभूतीः संग्रहीतुमुपलक्षणमिदमुच्यते—

यद्यत्सत्त्वं प्राणिविभूतिमदैश्वर्ययुक्तं, तथा श्रीमत्, श्रीर्लक्ष्मीः संपत्, शोभा, कान्तिर्वा तया युक्तं, तथोर्जितं बलाद्यतिशयेन युक्तं तत्तदेव मम तेजसः शक्तेरंशेन संभूतं त्वमवगच्छ जानीहि ॥ ४१ ॥

प्रकरणार्थका उपसंहार करते हुये विभूतियोंका संक्षेप करते हैं, हे परन्तप ! काम, क्रोध, लोभादि शत्रुओंके तापक मेरी दिव्यविभूतियोंका अन्त इतना ही है यह निश्चय नहीं ।

शङ्का—आप तो सर्वज्ञ है अतः आपको तो उनका अन्त ज्ञात ही होगा ?

समाधान—जो विषय है उन्हींको सर्वज्ञ जान सकता है और कह भी सकता है जो है ही नहीं उनका ज्ञान सर्वज्ञको भी असंभव ही है, तुम्हारे उद्देश्यसे मैंने एक देशसे विभूतियोंका यह निःसार कहा है उक्त विभूतियों के चिन्तनसे रागादि पर शत्रुओंको तप्त करो यह सम्बोधनका आशय है ॥ ४० ॥

भगवान्की अनुक्त भी विभूतियोंके संग्रहार्थ यह उपलक्षण कहते हैं—जो जो प्राणी ऐश्वर्ययुक्त, श्रीमत् , लक्ष्मीयुक्त अथवा कान्तियुक्त ऊर्जित, बलातिशययुक्त है वे सभी मेरे तेजःशक्तिके अंशसे समुत्पन्न है यह जानो ॥ ४१ ॥

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन ।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥ ४२ ॥

अथवा हे अर्जुन! इस बहुत जाननेसे तेरा क्या प्रयोजन है, मैं संपूर्ण जगत्को अपनी योगमायाके एक अंशमात्रसे धारण करके स्थित हूँ इसलिये मेरेको ही तत्त्वसे जानना चाहिये ॥ ४२ ॥

एवमवयवशो विभूतिमुक्त्वा साकल्येन तामाह—

अथवेति पक्षान्तरे। बहुनैतेन सार्वशेषेण ज्ञातेन किं तव स्याद्धेऽर्जुन! इदं कृत्स्नं सर्वं जगदेकांशेनैकदेशमात्रेण विष्टभ्य विधृत्य व्याप्य वाऽहमेवस्थितो न मद्यतिरिक्तं किंचिदस्ति 'पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि' इति श्रुतेः। तस्मात्किमनेन परिच्छिन्नदर्शनेन सर्वत्र मद्दृष्टिमेव कुर्वित्यभिप्रायः॥४२॥

कुर्वन्ति केऽपि कृतिनः क्वचिदप्यनन्ते
स्वान्तं विधाय विषयान्तरशान्तिमेव ।
त्वत्पादपद्मविगलन्मकरन्दबिन्दु-
मास्वाद्य माद्यति मुहुर्मधुभिन्मनो मे ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे विभूतियोगो नाम दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

इस प्रकारसे अवयवशः विभूतियोंको कह समस्तरूपसे विभूतियोंको कहते हैं—अथवा संपूर्णरूपसे इन विभूतियोंके ज्ञानसे तुमको क्या लाभ? हे अर्जुन! इस संपूर्ण जगत्को एकदेशसे एकअंशसे धारणकर और सर्वत्र व्यापकर मैं ही स्थित हूँ, मुझसे भिन्न कुछ नहीं है, 'पादोऽस्य विश्वा भूतानि' इत्यादि श्रुति सत्कार्यमें प्रमाण है, अतः इस परिच्छिन्न दर्शनसे कुछ प्रयोजन नहीं सब जगह मेरी ही दृष्टि करो यह अभिप्राय है ॥ ४२ ॥

कोई कुशल विद्वान् किसी अनन्तमें चित्तको स्थापित कर विषयान्तरसे चित्तको शान्त करते हैं। हे श्रीकृष्ण! मेरा मन आपके पादपद्म चरणकमलसे निकलता हुआ 'मकरन्दः पुष्परसः' यहकोष है, उसके बिन्दुका 'मुहुः' बार बार 'मुहुः' पुनः पुनः शाश्वत् यह कोष है। आस्वादन कर प्रसन्न होता है 'मदी हर्षे' दिवादि माद्यति'।

इसतरह—म० म० पण्डितश्रीहरिहरकृपालुद्विवेदिविरचितगीतामधुसूनी-भाषानुवादमें दसवाँ अध्याय समाप्त हुआ

ग्यारहवाँ अध्याय

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम् ।
यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम ॥ १ ॥

इस प्रकार भगवान्‌के वचन सुनकर अर्जुन बोला, हे भगवन् ! मेरे पर अनुग्रह करनेके लिये, परमगोपनीय, अध्यात्मविषयक वचन अर्थात् उपदेश आपके द्वारा जो कहा गया, उससे मेरा यह अज्ञान नष्ट हो गया है ॥ १ ॥

न नेत्राकृतिर्यत्र यस्या न चान्तो न चादिश्च तैरन्यतो नो विभूते ।
ममाभेदना येन दत्ताऽव्ययाया गुरुं काशिराजं भजेऽजं स्वराजम् ॥

पूर्वाध्याये नानाविभूतीरुक्त्वा "विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्" इति विश्वात्मकं पारमेश्वरं रूपं भगवताऽन्तेऽभिहितं श्रुत्वा परमोत्कण्ठितस्तत्साक्षात्कर्तुमिच्छन्पूर्वोक्तमभिनन्दन् अर्जुन उवाच—

मदनुग्रहाय शोकनिवृत्त्युपकाराय परमं निरतिशयपुरुषार्थपर्यवसायि गुह्यं गोप्यं यस्मै कस्मैचिद्वक्तुमनर्हमपि अध्यात्मसंज्ञितमध्यात्ममितिशब्दितमा-

जिसमें नेत्राकृति नेत्रका संस्थान नहीं अर्थात् नेत्र नहीं पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः यह श्रुतिमें स्फुट है जिसका अन्त अवसान नहीं है कालतः देशतः अपरिच्छिन्न है अतएव आदि भी नहीं "नादिर्न चान्तो न च संप्रतिष्ठा" यह ब्रह्म सर्वसंमत है और जिससे तद्विभूतियो भिन्न नहीं यह "तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः" इत्यादि सूत्रोंसे सुनिरूपित है। एवंभूत परमात्माके साथ मेरा तादात्म्य ऐक्य अर्थात् मोक्ष जो अव्यय अविनाशी है "न स पुनरावर्तते न स पुनरावर्तते" इस श्रुतिकी द्विवारोक्तिसे मुक्तिमें नित्यत्व सिद्ध है उन स्वराज मोक्षप्राप्त काशिराज गुरुका मैं भजन करता हूँ "यस्य देवे परा भक्ति" यथा देवे तथा गुरौ "गुरुरेव परब्रह्म" इत्यादि शास्त्रानुसार उक्त निष्ठा मुनिविद्वानोंमें स्वाभाविक है।

पूर्वाध्यायमें अनेक विभूतियों को कह कर "विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्" इस श्लोकसे सर्वात्मक परमेश्वर स्वरूप भगवान् अन्तमें कहा। उसका सुनकर परमोत्कण्ठित उसके देखनेके लिये इच्छुक पूर्वोक्तका अभिनन्दन करते हुये—अर्जुन बोले मेरे अनुग्रहके लिये अर्थात् शोक निवृत्तिरूप उपकारके लिये परम निरतिशय पुरुषार्थप्रद गोप्य जिसकिसीसे कहनेके अयोग्य भी अध्यात्म शब्दित

भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया ।
त्वत्तः कमलपत्राक्ष ! माहात्म्यमपि चाव्ययम् ॥ २ ॥

क्योंकि हे कमलनेत्र ! मैंने भूतोंको उत्पत्ति और प्रलय आपसे विस्तारपूर्वक सुने हैं तथा आपका अविनाशी प्रभाव भी सुना है ॥ २ ॥

त्मानात्मविवेकविषयमशोच्यानन्वशोचस्त्वमित्यादिषष्ठाध्यायपर्यन्तं त्वंपदार्थप्रधानं यत्त्वया परमकारुणिकेन सर्वज्ञेनोक्तं वचो वाक्यं तेन वाक्येनाहमेषां हन्ता मयैते हन्यन्त इत्यादिविविधविपर्यासलक्षणो मोहोऽयमनुभवसाक्षिको विगतो विनष्टो मम, तत्रासकृदात्मनः सर्वविक्रियाशून्यत्वोक्ते ॥१॥

तथा सप्तमादारभ्य दशमपर्यन्तं तत्पदार्थनिर्णयप्रधानमपि भगवतो वचनं मया श्रुतमित्याह—

भूतानां भवाप्ययावुत्पत्तिप्रलयौ त्वत्त एव भवन्तौ त्वत्त एव विस्तरशो मया श्रुतौ न तु संक्षेपेणासकृदित्यर्थः । कमलस्य पत्रे इव दीर्घे रक्तान्ते परमनोरमे अक्षिणी यस्य तव स त्वं हे कमलपत्राक्ष ! अतिसौन्दर्यातिशयोल्लेखोऽयं प्रेमातिशयात् । न केवलं भवाप्ययौ त्वत्तः श्रुतौ महात्मनस्तव भावो माहात्म्यमनतिशयश्वर्यं विश्वसृष्ट्यादिकर्तृत्वेऽप्यविकारित्वं शुभाशुभकर्मकार-

आत्मानात्म विवेक विषय 'अशोच्यानन्वशोचस्त्वम्' इत्यादि षष्ठाध्याय पर्यन्त त्वं पदार्थ प्रधान परम कारुणिक सर्वज्ञ जो वाक्य आपने कहा उस वाक्यसे मैं इनका हनन करनेवाला हूँ मेरेसे यह हत होंगे इत्यादि विविध भ्रम लक्षण मोह जो अनुभव साक्षिक है सो मेरा विनष्ट हुआ क्योंकि उसमें आत्मा सब विकारोंसे शून्य है यह अनेक वार आपने कहा है ॥ १ ॥

तथा सातवें अध्यायसे लेकर दशवाँ अध्याय पर्यन्त तत्पदार्थ निर्णयप्रधान भी भगवान्का वचन मैं सुना यह कहते हैं—भूतोंकी उत्पत्ति प्रलय आपसे ही होती है इसको विस्तारसे सुना संक्षेपसे नहीं । कमलके दलके समान, दीर्घ तथा अन्तमें लाल अतिसुन्दर नेत्र आँखें हैं—जिसकी सो आप हे कमलपत्राक्ष: प्रेमातिशयसे ही सौन्दर्य्यातिशयका यह उल्लेख है केवल उत्पत्ति प्रलय ही आपसे नहीं सुना, किन्तु महात्मा आपका अतिशयैश्वर्यमाहात्म्य विश्वसृष्ट्यादि

एवमेतद्यथाऽऽत्थ त्वमात्मानं परमेश्वर ।
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम ॥ ३ ॥

हे परमेश्वर ! आप अपनेको जैसा कहते हो यह ठीक ऐसा ही है, परन्तु हे पुरुषोत्तम ! आपके ज्ञान, ऐश्वर्य, शक्ति, बल, वीर्य और तेजयुक्त रूपको प्रत्यक्ष देखना चाहता हूँ ॥ ३ ॥

यितृत्वेऽप्यवैषम्यं बन्धमोक्षादिविचित्रफलदातृत्वेऽप्यसङ्गोदासीन्यमन्यदपि सर्वात्मत्वादि सोपाधिकं निरुपाधिकमपि चाव्ययमक्षयं मया श्रुतमिति परिणतमनुवर्तते चकारात् ॥ २ ॥

हे परमेश्वर ! यथा येन प्रकारेण सोपाधिकेन निरुपाधिकेन च निरतिशयैश्वर्येणाऽऽत्मानं त्वमात्थ कथयसि त्वमेवमेतन्नान्यथा । त्वद्वचसि कुत्रापि ममाविश्वासशङ्का नास्त्येवेत्यर्थः । यद्यप्येवं तथाऽपि कृतार्थीबुभूषया द्रष्टुमिच्छामि ते तव रूपमैश्वरं ज्ञानैश्वर्यशक्तिबलवीर्यतेजोभिः संपन्नमद्भुतं हे पुरुषोत्तम ! संबोधनेन त्वद्वचस्यविश्वासो मम नास्ति दिदृक्षा च महती वर्तत इति सर्वज्ञत्वात्त्वं जानासि सर्वान्तर्यामित्वाच्चेति सूचयति ॥ ३ ॥

करनेवाले भी आप अविकारी हैं शुभाशुभ कारयिता होने पर भी वैषम्य नहीं। बन्धमोक्षादि विचित्र फल दाता भी आप असङ्ग और उदासीन हैं और अन्य भी सर्वात्मत्वादि सोपाधिक और निरुपाधिक अक्षयादि मैं सुना। चकारसे श्रुतौका परिणत श्रुतम् इसका अनुवृत्ति है एकवचनान्त नपुंसक श्रुतम् अर्थात् द्विवचनान्त और पुल्लिङ्ग श्रुतौका परिणत अर्थात् लिङ्ग वचनसे परिणत श्रुतम्की अनुवृत्ति है ॥ २ ॥

हे परमेश्वर ! जिस प्रकारसे सोपाधिक या निरुपाधिक निरतिशयैश्वर्यसे आप अपनेको कहते हैं और आप ही यह वस हैं आपके सिवा कुछ नहीं । आपके वचनमें कहीं भी अविश्वासकी शंका नहीं है यद्यपि यह बात है तथापि कृतार्थ होनेकी इच्छासे आपके ऐश्वर्य रूपको मैं देखना चाहता हूँ जो ज्ञानैश्वर्य शक्ति बलवीर्य तेजोंसे सुसम्पन्न अतएव अद्भुत है। हे पुरुषोत्तम ! इस सम्बोधनसे आपके वचनोंमें मेरा अविश्वास नहीं किन्तु बड़ी देखने की इच्छा है सो सर्वज्ञ आप सर्वान्तर्यामी होनेसे जानते ही हैं यह सूचित करते हैं ॥ ३ ॥

मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो !।
योगेश्वर ! ततो मे त्वं दर्शयाऽऽत्मानमव्ययम् ॥ ४ ॥
पश्य मे पार्थ ! रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः।
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च ॥ ५ ॥

इसलिये, हे प्रभो ! मेरे द्वारा वह आपका रूप देखा जाना शक्य है, ऐसा यदि मानते हैं, तो हे योगेश्वर ! आप अपने अविनाशी स्वरूपका मुझे दर्शन कराइये ॥ ४ ॥

इस प्रकार अर्जुनके प्राथना करनेपर श्रीकृष्ण भगवान् बोले, हे पार्थ ! मेरे सैकड़ों तथा हजारों नाना प्रकारके और नाना वर्ण तथा आकृतिवाले अलौकिक रूपोंको देख ॥ ५ ॥

द्रष्टुमयोग्ये कुतस्ते दिदृक्षेत्याशङ्क्याऽऽह—

प्रभवति सृष्टिस्थितिसंहारप्रवेशप्रशासनेष्विति प्रभुः, हे प्रभो ! सर्वस्वामिन् ! तत्तवैश्वरं रूपं मयाऽर्जुनेन द्रष्टुं शक्यमिति यदि मन्यसे जानासीच्छसि वा हे योगेश्वर ! सर्वेषामणिमादिसिद्धिशालिनां योगानां योगिनामीश्वर ! ततस्त्वदिच्छावशादेव मे मह्यमत्यर्थमर्थिने त्वं परमकारुणिको दर्शय चाक्षुषज्ञानविषयी कारयाऽऽत्मानमैश्वररूपविशिष्टमव्ययमक्षयम् ॥ ४ ॥

एवमत्यन्तभक्तेनार्जुनेन प्रार्थितः सन् श्रीभगवानुवाच—

अत्र क्रमेण श्लोकचतुष्टयेऽपि पश्येत्यावृत्त्याऽत्यद्भुतरूपाणि दर्शयि-

---

जो देखनेके योग्य नहीं उसकी क्यों आपकी देखनेकी इच्छा है इस आशंका से कहते हैं—सृष्टि स्थिति संहार प्रवेश प्रशासनमें जो प्रभु है हे प्रभो ! सबके स्वामी तुम्हारा ईश्वर सम्बन्धी रूप अर्जुन ! मुझसे देखनेके योग्य है यह यदि आप मानते हो या इच्छा करते हो तो हे योगेश्वर ! अणिमादि अष्टसिद्धि युक्त योग योगियोंके ईश्वर आपकी इच्छा वशसे मुझ प्रार्थीको परम कारुणिक आप वह रूप दिखाइये चाक्षुषज्ञान विषयार्थ ईश्वरसम्बन्धी रूपविशिष्ट अक्षय अपनेको दिखलाइये ॥४॥

इस प्रकार अत्यन्त भक्त अर्जुनसे प्रार्थित होकर श्रीभगवान् बोले-यहाँ क्रमसे चार श्लोकोंमें पश्यकी आवृत्ति करके अद्भुत रूपको दिखलावेंगे तूँ सावधान हो

पश्याऽऽदित्यान्वसून्रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा ।
बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याऽऽश्चर्याणि भारत ! ॥६॥

और हे भरतवंशी अर्जुन ! मेरेमें आदित्योंको अर्थात् अदितिके द्वादश पुत्रोंको और आठ वसुओंको, एकादश रुद्रोंको तथा दोनों अश्विनीकुमारोंको और उनचास मरुद्गणोंको देख तथा और भी बहुतसे पहिले न देखे हुए आश्चर्यमय रूपोंको देख ॥ ६ ॥

ब्यामि त्वं सावधानो भवेत्यर्जुनमभिमुखी करोति भगवान् । शतशोऽथ सहस्रश इत्यपरिमितानि तानि च नानाविधान्यनेकप्रकाराणि दिव्यान्यत्यद्भुतानि नाना विलक्षणा वर्णा नीलपीतादिप्रकारास्तथाऽऽकृतयश्चावयवसंस्थानविशेषा येषां तानि नानावर्णाकृतीनि च मे मम रूपाणि पश्य । अर्हे लोट् । द्रष्टुमर्हो भव हे पार्थ ! ॥ ५ ॥

दिव्यानि रूपाणि पश्येत्युक्त्वा तान्येव लेशतोऽनुक्रामति द्वाभ्याम्—

पश्याऽऽदित्यान्द्वादश, वसूनष्टौ, रुद्रानेकादश, अश्विनौ द्वौ, मरुतः सप्तसप्तकानेकोनपञ्चाशत् । तथाऽन्यानपि देवानित्यर्थः । बहून्यन्यान्यदृष्टपूर्वाणि पूर्वमदृष्टानि मनुष्यलोके त्वया त्वत्तोऽन्येन वा केनचित्पश्याऽऽश्चर्याण्यद्भुतानि हे भारत ! अत्र शतशोऽथ सहस्रशः नानाविधानीत्यस्य विवरणं बहूनीति आदित्यानित्यादि च । अदृष्टपूर्वाणीति दिव्यानीत्यस्य,-

---

जा, अर्जुनको इस लिये भगवान् अभिमुख करते हैं । सैकड़ों हजारों ये अपरिमितमें उपलक्षण हैं अनेकप्रकार उन दिव्य अति अद्भुत विलक्षण रंगके नीलपीतादि प्रकार तथा अवयवसंस्थानविशेष आकृतियाँ है जिनकी एवं भूत नाना वर्णाकृति मेरे रूपको देखो । अर्ह अर्थमें लोट् लकार है । हे अर्जुन ! देखनेके योग्य हो ॥ ५ ॥

दिव्य रूपोंको देखो यह कह कर उन्हीं रूपोंको दो श्लोकोंसे अनुक्रमण करते हैं—देखो, बारह सूर्य्योंको आठ वसुओंको ग्यारह रुद्रोंको दो अश्विनोंको उनचास वायुओंको तथा अन्य देवताओंको बहुत अदृष्ट पूर्व जो पहिले कभी नहीं देखा है मनुष्य लोकमें तुमने या तुमसे अन्य किसी ने नहीं देखा है उन अद्भुत रूपोंको देखो हे भारत ! यहाँ सैकड़ों हजारों इसीका विवरण है बहूनि यह और आदित्यान्

इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम्।
मम देहे गुडाकेश! यच्चान्यद्द्रष्टुमिच्छसि ॥ ७ ॥
न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् ॥ ८ ॥

और हे अर्जुन! अब इस मेरे शरीरमें एक जगह स्थित हुए चराचरसहित संपूर्ण जगत्को देख तथा और भी जो कुछ देखना चाहता है, सो देख ॥ ७ ॥

परन्तु मेरेको इन अपने प्राकृत नेत्रोंद्वारा देखनेको निःसन्देह समर्थ नहीं है, इसीसे मैं तेरे लिये दिव्य अर्थात् अलौकिक चक्षु देता हूँ, उससे तू मेरे प्रभावको और योगशक्तिको देख ॥ ८ ॥

आश्चर्याणीति नानावर्णाकृतीनीत्यस्येति द्रष्टव्यम् ॥ ६ ॥

न केवलमेतावदेव, समस्तं जगदपि मद्देहस्थं द्रष्टुमर्हसीत्याह—

इहास्मिन्मम देह एकस्थमेकस्मिन्नेवावयवरूपेण स्थितं जगत्कृत्स्नं समस्तं सचराचरं जङ्गमस्थावरसहितं तत्र तत्र परिभ्रमता वर्षकोटिसहस्रेणापि द्रष्टुमशक्यमद्याधुनैव पश्य हे गुडाकेश! यच्चान्यज्जयपराजयादिकं द्रष्टुमिच्छसि तदपी संदेहोच्छेदाय पश्य ॥ ७ ॥

यत्तूक्तं "मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुम्" इति तत्र विशेषमाह—

इत्यादि अदृष्ट पूर्वाणि यह दिव्यानि का विवरण है आश्चर्यादि यह नाना वर्णा कृतिका विवरण है यह देखना ॥ ६ ॥

केवल यही समस्त जगत् नहीं है किन्तु मेरी शरीरस्थ जगतको देख सकते हो यह कहते हैं इस मेरे शरीरमें एक ही में अवयव रूपसे स्थित स्थावर जंगम सहित समस्त संसार देखो जो जहाँ तहाँ करोड़ो वर्ष घूमते हुये नहीं देख सकते हो इस समय देखो। हे गुड़ाकेश! जो और अन्य जय पराजय आदिक देखना चाहते हो अर्थात् किसका जय होगा और किसका पराजय होगा यह भी संशय निवृत्तिके लिये देखो ॥ ७ ॥

जो यह कहा कि मैं देख सकता हूँ तो आप दिखलाइये उसमें विशेष कहते

सञ्जय उवाच—

एवमुक्त्वा ततो राजन्महायोगेश्वरो हरिः।
दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम् ॥ ९ ॥

संजय बोला ! हे राजन् ! महायोगेश्वर, और सब पापोंके नाश करनेवाले भगवान्ने इस प्रकार कहकर उसके उपरान्त अर्जुनके लिये परम ऐश्वर्ययुक्त दिव्य स्वरूप दिखाया ॥ ९ ॥

अनेनैव प्राकृतेन स्वचक्षुषा स्वभावसिद्धेन चक्षुषा मां दिव्यरूपं द्रष्टुं न तु शक्यसे न शक्नोषि तु एव। शक्यस इति पाठे शक्तो न भविष्यसीत्यर्थः। सौवादिकस्यापि शक्नोतेर्दैवादिकः श्यंश्छान्दस इति वा दिवादौ पाठो वेत्येव सांप्रदायिकम्। तर्हि त्वां द्रष्टुं कथं शक्नुयामत आह—दिव्यमप्राकृतं मम दिव्यरूपदर्शनक्षमं ददामि ते तुभ्यं चक्षुस्तेन दिव्येन चक्षुषा पश्य मे योगमघटनघटनासामर्थ्यातिशयमैश्वरमीश्वरस्य ममासाधारणम् ॥८॥

भगवानर्जुनाय दिव्यं रूपं दर्शितवान्। स च तद्दृष्ट्वा विस्मयाविष्टो भगवन्तं विज्ञापितवानितीमं वृत्तान्तमेवमुक्त्वेत्यादिभिः षड्भिः श्लोकैर्धृतराष्ट्रं प्रति संजय उवाच—

एवं न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेन चक्षुषाऽतो दिव्यं ददामि ते चक्षुरित्युक्त्वा ततो दिव्यचक्षुःप्रदानादनन्तरं हे राजन्धृतराष्ट्र ! स्थिरो भव श्रवणाय।

है इस प्रकृति निर्मित स्वभावसिद्ध नेत्रसे दिव्य मुझको नहीं देख सकते हो यह ठीक है। शक्यसे यदि यह पाठ है तो देखनेमें समर्थ न होओगे यह अर्थ होता है स्वादिगण पठित शक धातुसे दैवादिक श्यन है अथवा छान्दस पाठ है। दिवादिमें पाठ है यह साम्प्रदायिक मत है। तब आपको कैसे देख सकूँगा इस शंकामें कहते हैं—अप्राकृत स्वभावसिद्धसे अतिरिक्त दिव्यरूप दर्शन योग्य चक्षु तुमको देते हैं उस दिव्य चक्षुसे अघटनघटना सामर्थ्यातिशय ईश्वरसम्बन्धी असाधारणरूप मेरा देखो ॥८॥

भगवान् अर्जुनको दिव्यरूप दिखलाया अर्जुन उस रूपको देख करके आश्चर्य युक्त होकर भगवान्से प्रार्थनाकी की यही वृत्तान्त 'एवमुक्त्वा' छः श्लोकोंसे स्फुट करते है। धृतराष्ट्रके प्रति संजय कहा इस प्रकार इस चक्षुसे मुझको नहीं देख सकते हो अतः तुमको दिव्य चक्षु देता हूँ यह कह कर फिर दिव्य चक्षु देनेके अनन्तर हे

अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम् ।
अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम् ॥ १० ॥
दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम् ।
सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम् ॥ ११ ॥

और उस अनेक मुख और नेत्रोंसे युक्त तथा अनेक अद्भुत दर्शनोंवाले एवं बहुतसे दिव्य भूषणोंसे युक्त और बहुतसे दिव्य शस्त्रोंको हाथोंमें उठाये हुए ॥ १० ॥

तथा दिव्य माला और वस्त्रोंको धारण किये हुए और दिव्य गन्धका अनुलेपन किए हुए एवं सब प्रकारके आश्चर्योंसे, युक्त, सीमारहित, विराट्स्वरूप परमदेव परमेश्वरको अर्जुनने देखा ॥ ११ ॥

महान्सर्वोत्कृष्टश्चासौ योगेश्वरश्चेति महायोगेश्वरो हरिर्भक्तानां सर्वक्लेशापहारी भगवान्दर्शनायोग्यमपि दर्शयामास पार्थायैकान्तभक्ताय परमं दिव्यं रूपमैश्वरम् ॥ ९ ॥

तदेव रूपं विशिनष्टि—

अनेकानि वक्त्राणि नयनानि च यस्मिन्रूपे, अनेकानामद्भुतानां विस्मयहेतूनां दर्शनं यस्मिन्, अनेकानि दिव्यान्याभरणानि भूषणानि यस्मिन्, दिव्यान्यनेकान्युद्यतान्यायुधानि अस्त्राणि यस्मिंस्तत्तथारूपम् ॥ १० ॥

दिव्यानि माल्यानि पुष्पमयानि रत्नमयानि च तथा दिव्याम्बराणि वस्त्राणि च ध्रियन्ते येन तद्दिव्यमाल्याम्बरधरं, दिव्यो गन्धोऽस्येति दिव्य-

---

राजन् ! धृतराष्ट्र सुनने के लिये स्थिर हो जाओ महायोगेश्वर भगवान् सब प्रकारके क्लेशोंके हरने वाले दर्शनके अयोग्य भी परम भक्त अर्जुनको परम ईश्वर सम्बन्धी रूप दिखलाया ॥ ९ ॥

उस रूपमें विशेषण देते हैं अनेक मुख हैं और नेत्र है जिसमें अनेक विस्मय हेतु दर्शन है जिस रूपमें अनेक दिव्य आभूषण हैं जिसमें अनेक दिव्य उद्यत आयुध अस्त्र है जिसमें वह ऐसा रूप है ॥ १० ॥

दिव्य हैं पुष्पमय रत्नमय माला जिसमें तथा दिव्य वस्त्र धारण किये हैं जिसने वह दिव्याम्बरधर दिव्य गन्ध हैं दिव्य अनुलेपन है जिसमें वह सर्वाश्चर्य-

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता ।
यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः ॥१२॥

और हे राजन् ! आकाशमें हजार सूर्योंके एक साथ उदय होनेस उत्पन्न हुआ जो प्रकाश होवे, वह भी उस विश्वरूप परमात्माके प्रकाशके सदृश कदाचित् ही होवे ॥ १२ ॥

गन्धस्तदनुलेपनं यस्य तत्, सर्वाश्चर्यमयमनेकाद्भुतप्रचुरं देवं द्योतनात्मकम्, अनन्तमपरिच्छिन्नं, विश्वतः सर्वतो मुखानि यस्मिंस्तद्रूपं दर्शयामासेति पूर्वेण संबन्धः । अर्जुनो ददर्शेत्यध्याहारो वा ॥ ११ ॥

देवमित्युक्तं विवृणोति—

दिवि अन्तरिक्षे सूर्याणां सहस्रस्यापरिमितसूर्यसमूहस्य युगपदुदितस्य युगपदुत्थिता भाः प्रभा यदि भवेत्तदा सा तस्य महात्मनो विश्वरूपस्य भासो दीप्तेः सदृशी तुल्या यदि स्याद्यदि वा न स्यात्ततोऽपि नूनं विश्वरूपस्यैव भा अतिरिच्येतेत्यहं मन्ये, अन्या तूपमा नास्त्येवेत्यर्थः । अत्राविद्यमानाध्यवसायात्तदभावेनोपमाभाववशादभूतोपमारूपेयमतिशयोक्तिरुत्प्रेक्षां व्यञ्जयन्ती सर्वथा निरुपमत्वमेव व्यनक्ति उभौ यदि व्योम्नि पृथक्प्रवाहावित्यादिवत् ॥ १२ ॥

अनेकाद्भुत प्रचुर जो प्रकाशात्मक अपरिछिन्न सर्वतो चारो दिग् उन्मुख है जिसमें उस रूपको दिखलाया यह पूर्वके साथ सम्बन्ध है अथवा उस रूपको अर्जुनने देखा इसका अध्याहार है ॥ ११ ॥

देव यह कहा इसका विवरण करते हैं अन्तरिक्ष में हजारों अर्थात् अपरिमित सूर्य्यसमूहके एक समयमें उदित प्रभा यदि हो वह उस महात्मा विश्वरूपके दीप्तिके सदृश हो सकती है अथवा नहीं हो सकती उस रूपसे विश्वरूपकी कान्ति अतिशय है यह मैं मानता हूँ दूसरी उपमा तो है नहीं यह अर्थ है। यहाँ पर अविद्यमानके अध्यवसायसे तद्भावसे उपमाभाव होनेसे अभूतोपमारूप अतिशयोक्ति उत्प्रेक्षाको व्यक्त करती हुई सर्वथा निरूपमत्वका व्यञ्जक है। "उभौ यदि व्योम्नि पृथक्प्रवाहो" इत्यादि माघकाव्योक्त अभूतोपमावत् यहाँ भी है॥ १२॥

तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा ।
अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा ॥ १३ ॥
ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनञ्जयः ।
प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत ॥ १४ ॥

ऐसे आश्चर्यमय रूपको देखते हुए, पाण्डुपुत्र अर्जुनने उस कालमें अनेक प्रकारसे विभक्त हुए अर्थात् पृथक् पृथक् हुए संपूर्ण जगत्को, उस देवोंके देव श्रीकृष्ण भगवान्के शरीरमें एक जगह स्थित देखा ॥ १३ ॥

और उसके अनन्तर वह आश्चर्यसे युक्त हुआ, हर्षित रोमोंवाला अर्जुन विश्वरूप परमात्माको श्रद्धाभक्तिसहित शिरसे प्रणाम करके, हाथ जोड़े हुए बोला ॥१४॥

"इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम्" इति भगवदाज्ञप्तमन्वनुभूतवानर्जुन इत्याह—

एकस्थमेकत्र स्थितं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा देवपितृमनुष्यादिनानाप्रकारैरपश्यद्देवदेवस्य भगवतः । तत्र विश्वरूपे शरीरे पाण्डवोऽर्जुनस्तदा विश्वरूपाश्चर्यदर्शनदशायाम् ॥ १३ ॥

एवमद्भुतदर्शनेऽप्यर्जुनो न विभयाञ्चकार, नापि नेत्रे सञ्चचार, नापि संभ्रमात्कर्तव्यं विसस्मार, नापि तस्माद्देशादपससार, किं त्वतिधीरत्वात्तत्का-

---

'इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्यसचराचरम्' इसप्रकार भगवानसे अज्ञातका अनुभवी अर्जुन यह कहते हैं—एकत्र स्थित सम्पूर्ण जगत् अनेकधा विभक्त देवपितृ मनुष्यादि अनेक प्रकारोंसे देव देव भगवान् के उस विश्वरूप शरीरमें अर्जुन विश्वरूपाश्चर्य दर्शन दशामें देखा ॥ १३ ॥

इस प्रकार अद्भुत दर्शनमें भी अर्जुन नहीं डरे और न नेत्रका सञ्चार किया और न संभ्रमसे कर्तव्यको भूले और न उस देशसे हटे किन्तु अतिधीर होने से

लोचितमेव व्याजहार महति चित्तक्षोभेऽपीत्याह—

ततस्तद्दर्शनादनन्तरं विस्मयेनाद्भुतदर्शनप्रभावेनालौकिकचित्तचमत्कारविशेषेणाऽऽविष्टो व्याप्त अत एव हृष्टरोमा पुलकितः सन् स प्रख्यातमहादेवसङ्ग्रामादिप्रभावो धनंजयो युधिष्ठिरराजसूय उत्तरगोग्रहे च सर्वान्राज्ञो जित्वा धनमाहृतवानिति प्रथितमहापराक्रमोऽतिधीरः साक्षादग्निरिति वा महातेजस्वित्वात्, देवं तमेव विश्वरूपधरं नारायणं शिरसा भूमिलग्नेन प्रणम्य प्रकर्षेण भक्तिश्रद्धातिशयेन नत्वा नमस्कृत्य कृताञ्जलिः संपुटो कृतहस्तयुगः सन्नभाषतोक्तवान्। अत्र विस्मयाख्यस्थायिभावस्यार्जुनगतस्याऽऽलम्बनविभावेन भगवता विश्वरूपेणोद्दीपनविभावेनासकृत्तद्दर्शनेनानुभावेन सात्त्विकरोमहर्षण नमस्कारेणाञ्जलिकरणेन च व्यभिचारिणा चानुभावाक्षिप्तेन धृतिमतिहर्षवितर्कादिना परिपोषात्सवासनानां श्रोतृणां तादृशश्चित्तचमत्कारोऽपि तद्भेदानध्यवसायात्परिपोषं गतः परमानन्दास्वादरूपेणाद्भुतरसो भवतीति सूचितम्॥ १४॥

तत्कालोचित ही व्यवहार किया अधिक चित्त क्षोभ होने परभी-इसके दर्शन के बाद आश्चर्यसे अर्थात् अद्भुत दर्शनोत्पन्न अलौकिक चित्त चमत्कार विशेषसे युक्त हुये अतएव रोमाञ्चित होकर प्रसिद्ध महादेव संग्राम प्रभाव अर्जुन युधिष्ठर राजसूयमें और उत्तर गोग्रहणमें सब राजोंको जीतकर धन एकत्रित किया इस प्रकार विख्यात महापराक्रम अतएव अतिधीर साक्षात् अग्नि महातेजस्वी उस विश्वरूप धर नारायण देवको भूमिस्पृष्ट शिरसे भक्ति श्रद्धातिशयसे नमस्कार कर दोनों हाथको असम्पुटित कर अर्थात् हाथ जोड़ कर बोले। यहाँ पर विस्मयाख्य स्थायीभावका जो अर्जुन गत वह आलम्बन विभाव भगवान् विश्वरूपसे और उद्दीपन विभावरूप असकृत् दर्शनसे और अनुभावरूप सात्त्विक रोमाञ्च हर्षसे नमस्कार अञ्जलिकरणरूप व्यभिचारी अनुभावाक्षिप्तसे धृतिमति हर्ष वितर्कादिसे सवासन श्रोताओं का तादृश चित्त चमत्कार भी तद्भेदानवधारणसे परिपुष्ट परमानन्द आस्वादरूपसे अद्भुत रस होता है यह सूचित किया॥ १४॥

अर्जुन उवाच—

पश्यामि देवांस्तव देव देहे
सर्वांस्तथा भूतविशेषसंघान् ।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थ-
मृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान् ॥ १५ ॥

हे देव ! आपके शरीरमें संपूर्ण देवोंको तथा अनेक भूतोंके समुदायोंको और कमलके आसनपर बैठे हुए ब्रह्माको तथा महादेवको और संपूर्ण ऋषियोंको तथा दिव्य सर्पोंको देखता हूँ ॥ १५ ॥

यद्भगवता दर्शितं विश्वरूपं तद्भगवद्दत्तेन दिव्येन चक्षुषा सर्वलोकादृश्यमपि पश्याम्यहो मम भाग्यप्रकर्ष इति स्वानुभवमाविष्कुर्वन्—

पश्यामि चाक्षुषज्ञानविषयो करोमि हे देव तव देहे विश्वरूपे देवान्वस्वादीन्सर्वान्, तथा भूतविशेषाणां स्थावराणां जङ्गमानां च नानासंस्थानानां संघान्समूहान्, तथा ब्रह्माणं चतुर्मुखमीशमीशितारं सर्वेषां कमलासनस्थं पृथ्वीपद्ममध्ये मेरुकर्णिकासनस्थं भगवन्नाभिकमलासनस्थमिति वा । तथा—ऋषींश्च सर्वान्वशिष्ठादीन्ब्रह्मपुत्रान्, उरगांश्च दिव्यानप्राकृतान्वासुकिप्रभृतीन्पश्यामीति सर्वत्रान्वयः ॥ १५ ॥

जो भगवान् विश्वरूप दिखलाया तद् भगवद् दत्त दिव्यचक्षुसे सर्वलोकादृश्य भी देखता हूँ इत्यहो मम भाग्योदय इस स्वानुभवका आविष्कार करते हुये अर्जुन बोले हे देव ! विश्वरूप आपके देहमें वस्वादि सबको देखता हूँ तथा स्थावर जंगम भूत विशेष नाना संस्थानोंको समूह देखता हूँ तथा चतुर्मुख ब्रह्मा सबके ईश कमलासनस्थ पृथ्वी कमलमध्यमें मेरु कर्णिकासनस्थ भगवन्नाभिकमलासनस्थ वा देखता हूँ तथा ब्रह्माके पुत्र वशिष्ठादि सब ऋषिओं को देखता हूँ अप्राकृत अतएव दिव्य वासुकि प्रभृति सर्पोंको देखता हूँ यह सर्वत्र अन्वय है ॥ १५ ॥

अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम् ।
नान्तं न मध्यं न पुनस्तवाऽऽदिं पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप ॥
किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च तेजोराशिं सर्वतोदीप्तिमन्तम् ।
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ता-द्दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम् ॥ १७ ॥

और हे संपूर्ण विश्वके स्वामिन् ! आपको अनेक हाथ, पेट, मुख और नेत्रोंसे युक्त तथा सब ओरसे अनन्त रूपोंवाला देखता हूँ। हे विश्वरूप ! आपके न अन्तको देखता हूं तथा न मध्यको और न आदिको ही देखता हूं ॥ १६ ॥

और हे विष्णो ! आपको मैं मुकुटयुक्त, गदायुक्त और चक्रयुक्त तथा सब ओरसे प्रकाशमान तेजका पुञ्ज, प्रज्वलित अग्नि और सूर्यके सदृश ज्योतियुक्त, देखनेमें अति गहन और अप्रमेयस्वरूप सब ओरसे देखता हूँ ॥ १७ ॥

यत्र भगवद्देहे सर्वमिदं दृष्टवान्, तमेव विशिनष्टि—

बाहव उदराणि वक्त्राणि नेत्राणि चानेकानि यस्य तमनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं पश्यामि त्व त्वां सर्वतः सर्वत्रानन्तादि रूपाणि यस्येति तम् । तव तु पुनर्नान्तमवसानं न मध्यं नाप्यादिं पश्यामि सर्वगतत्वात् हे विश्वेश्वर हे विश्वरूप संबोधनद्वयमतिसंभ्रमात् ॥ १६ ॥

तमेव विश्वरूपं भगवन्तं प्रकारान्तरेण विशिनष्टि—

किरीटगदाचक्रधारिणं च सर्वतोदीप्तिमन्तं तेजोराशिं च । अत एव दुर्निरीक्ष्यं दिव्येन चक्षुषा विना निरीक्षितुमशक्यम् । एवंप्रकारपाठे

जिस भगवद्देहमें यह सब अर्जुनने देखा उस शरीरका विशेषण देते है बाहू उदर मुख नेत्र अनेक हैं जिसमें उस अनेक बाहूदर नेत्र आपको सर्वत्र देखता हूँ अनन्त रूप है जिसका उसको आपका न अन्त है और न मध्य है न आदि है क्यों कि आप सर्व गत हैं उसे देखता हूँ। हे विश्वेश्वर ! हे विश्वरूप यह सम्भ्रमसे सम्बोधन द्वय हैं ॥ १६ ॥

उसी विश्वरूप भगवान्का प्रकारान्तरसे विशेषण करते है, किरीट गदाचक्र धारी सर्वतः प्रकाशमान तेजो राशि अतएव दुःखसे देखनेके योग्य दिव्य चक्षुके विना दर्शन करनेके अयोग्य दुर्निरीक्ष्य इस प्रकार पाठ में दुःस् शब्द अपहव

त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे॥१८॥

इसलिये, हे भगवन्! आपही जानने योग्य परम अक्षर हैं अर्थात् परब्रह्म परमात्मा हैं और आप ही इस जगत्‌के परम आश्रय हैं तथा आप ही अनादि धर्मके रक्षक हैं और आप ही अविनाशी सनातन पुरुष हैं, ऐसा मेरा मत है॥ १८॥

दुःशब्दोऽपह्नववचनः। अनिरीक्ष्यमिति यावत्। दीप्तयोरनलार्कयोर्द्युतिरिव द्युतिर्यस्य तमप्रमेयमित्थमयमिति परिच्छेत्तुमशक्यं त्वां समन्तात्सर्वतः पश्यामि दिव्येन चक्षुषा। अतोऽधिकारिभेदाद् दुर्निरीक्ष्यं पश्यामीति न विरोधः॥ १७॥

एवं तवातर्क्यनिरतिशयैश्वर्यदर्शनादनुमिनोमि—

त्वमेवाक्षरं परमं ब्रह्म वेदितव्यं मुमुक्षुभिर्वेदान्तश्रवणादिना। त्वमेवास्य विश्वस्य परं प्रकृष्टं निधीयतेऽस्मिन्निति निधानमाश्रयः। अत एव त्वमव्ययो नित्यः। शाश्वतस्य नित्यवेदप्रतिपाद्यतयाऽस्य धर्मस्य गोप्ता पालयिता। शाश्वतेति संबोधनं वा। तस्मिन्पक्षेऽव्ययो विनाशरहितः। अत एव सनातनश्चिरंतनः पुरुषो यः परमात्मा स एव त्वं मे मतो विदितोऽसि॥१८॥

वाची है अनिरीक्ष्य यह फलितार्थ है प्रदीप्त अग्नि और सूर्यकी दीप्तिके समान दीप्ति है जिसकी उस अप्रमेय इस प्रकारके ये हैं इस निश्चय करनेमें अशक्य आप-को सब जगह दिव्य चक्षुसे देखता हूँ 'अधिकारी भेदके दुर्निरीक्ष रूप भी देखता हूँ' इस प्रकार विरोध नहीं॥ १७॥

इस प्रकार आपका अगम्य निरतिशयैश्वर्य देखनेसे अनुमान करता हूँ कि आपही मुमुक्षुओंमे वेदान्त श्रवणादि द्वारा वेदितव्य ज्ञातव्य पर ब्रह्म आप ही है और आप ही इस संसारके परमोत्कृष्ट आश्रय हैं अतएव अव्यय नित्य वेद प्रतिपाद्य शाश्वतका जो धर्म है उसके रक्षक हैं अर्थात् पालन करने वाले हैं अथवा शाश्वत यह सम्बोधन है, इस पक्षमें अव्यय विनाश रहित अतएव चिरन्तन पुरुष जो परमात्मा हैं वही आप हैं यह मेरा मत है॥ १८॥

अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्यमनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम् ।
पश्यामि त्वा दीप्तहुताशवक्त्रं स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम् ॥
द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः ।
दृष्ट्वाऽद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन् ॥२०॥

हे परमेश्वर ! मैं, आपको आदि, अन्त और मध्यसे रहित तथा अनन्त सामर्थ्यसे युक्त और अनन्त हाथोंवाला तथा चन्द्र, सूर्यरूप नेत्रोंवाला और प्रज्वलित अग्निरूप मुखवाला तथा अपने तेजसे इस जगत्को तपायमान करता हुआ देखता हूँ ॥ १९ ॥

और हे महात्मन् ! यह स्वर्ग और पृथिवीके बीचका संपूर्ण आकाश तथा सब दिशाएं एक आपसे ही परिपूर्ण हैं तथा आपके इस अलौकिक और भङ्कर रूपको देखकर तीनों लोक अतिव्यथाको प्राप्त हो रहे हैं ॥ २० ॥

किञ्च—

आदिरुत्पत्तिर्मध्यं स्थितिरन्तो विनाशस्तद्रहितमनादिमध्यान्तम् । अनन्तं वीर्यं प्रभावो यस्य तम् । अनन्ता बाहवो यस्य तम् । उपलक्षणमेतन्मुखादीनामपि । शशिसूर्यौ नेत्रे यस्य तम् । दीप्तो हुताशो वक्त्रं यस्य वक्त्रेषु यस्येति वा तम् । स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तं संतापयन्तं त्वा त्वां पश्यामि ॥ १९ ॥

प्राकृतस्य भगवद्रूपस्य व्याप्तिमाह—

द्यावापृथिव्योरिदमन्तरमन्तरिक्षं हि एव त्वयैवैकेन व्याप्तं दिशश्च

किञ्च आदि उत्पत्ति स्थिति विनाश तत्शून्य अनादि मध्यान्त अनन्त प्रभाव है जिसका उसको अनन्त बाहू हैं जिसको उसको अनन्तबाहू यह उपलक्षण है अनन्त मुखादिका शशि सूर्य चन्द्र सूर्य्य नेत्र है जिसके प्रदीप्त अग्नि मुख है जिसका अथवा प्रदीप्त अग्नि जिसके मुखमें है उसको अतएव अपने तेजसे इस समस्त संसारका संतापक आपको देखते हैं ॥ १९ ॥

प्राकृत भगवान्के रूपकी व्याप्ति कहते हैं आकाश और पृथ्वी अन्तरिक्ष विश्वरूप धर एक आपसे व्याप्त है और सब दिशायें आपसे व्याप्त हैं यतः ततः

अमी हि त्वा सुरसंघा विशन्ति केचिद्भीताः प्राञ्जलयो गृणन्ति।
स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसङ्घाः स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः

और हे गोविन्द ! वे सब देवताओंके समूह आपमें ही प्रवेश करते हैं और कई एक भयभीत होकर हाथ जोड़े हुए आपके नाम और गुणोंका उच्चारण करते हैं तथा महर्षि और सिद्धोंके समुदाय 'कल्याण होवे' ऐसा कहकर, उत्तम उत्तम स्तोत्रों द्वारा आपकी स्तुति करते हैं ॥ २१ ॥

सर्वा व्याप्ताः । दृष्ट्वाऽद्भुतमत्यन्तविस्मयकरमिदमुग्रं दुरधिगमं महातेजस्वित्वात्तव रूपमुपलभ्य लोकत्रयं प्रव्यथितमत्यन्तभीतं जातं हे महात्मन्साधूनामभयदायक ! इतः परमिदमुपसंहरेत्यभिप्रायः ॥ २० ॥

अधुना भूभारसंहारकारित्वमात्मनः प्रकटयन्तं भगवतं पश्यन्नाह—

अमी हि सुरसंघा वस्वादिदेवगणा भूभारावतारार्थं मनुष्यरूपेणावतीर्णा युध्यमानाः सन्तस्त्वा त्वां विशन्ति प्रविशन्तो दृश्यन्ते । एवमसुरसंघा इति पदच्छेदेन भूभारभूता दुर्योधनादयस्त्वां विशन्तीत्यपि वक्तव्यम् । एवमुभयोरपि सेनयोः केचिद्भीताः पलायनेऽप्यशक्ताः सन्तः प्राञ्जलयो गृणन्ति स्तुवन्ति त्वाम् । एवं प्रत्युपस्थिते युद्ध उत्पातादिनिमित्तान्युपलक्ष्य स्वस्त्यस्तु सर्वस्य जगत इत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसङ्घा नारदप्रभृतयो

आपका यह उग्ररूप देखकर तीनों लोक पीडित हैं अतः इस रूपका उपसंहार कीजिये अक्षुद्र स्वभाव अतएव महात्मा आपका निर्दोष लोकपीड़न उचित नहीं है इस आशयसे हे महात्मन् ! यह सम्बोधन है अथवा हे महात्मन् ! साधुओंके अभय देनेवाले इससे आगे इस रूपका उपसंहार कीजिये ॥ २० ॥

इस समय पृथ्वीके भारका नाशकारित्वको प्रगट करते हुये भगवानको देखते हुये कहते हैं हे देव ! वे स्वादिसमूह देवगण पृथ्वीके भार उतारनेके लिये मनुष्यरूपसे अवतीर्ण होकर युद्ध करते हुये आपमें प्रविष्ट होते हुये दिखलाई देते हैं इसी प्रकार असुर सङ्घ इस पदच्छेदसे ये दुर्योधनादिक पृथ्वी भार भूत आपमें प्रविष्ट होते हैं यह भी कहना है इस प्रकार दोनों सेनाओंमें भय भीत होकर कोई भागनेमें भी अशक्त होते हुये हाथ जोड़ कर आपकी स्तुति करते हैं एवं उपस्थित युद्धमें उत्पात निमित्तोंको देख सब जगत्का कल्याण हो यह कह कर महर्षि सिद्ध

रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च ।
गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसङ्घा वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे ॥२२॥
रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं महाबाहो ! बहुबाहूरुपादम् ।
बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाऽहम् ॥२३॥

और हे परमेश्वर ! जो एकादश रुद्र और द्वादश आदित्य तथा आठ वसु और साध्यगण, विश्वेदेव तथा अश्विनीकुमार और मरुद्गण और पितरोंका समुदाय तथा गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और सिद्धगणोंके समुदाय हैं, वे सब ही विस्मित हुए आपको देखते हैं ॥ २२ ॥

और हे महाबाहो ! आपके बहुत मुख और नेत्रोंवाले तथा बहुत हाथ, जंघा और पैरोंवाले और बहुत उदरोंवाले तथा बहुतसी विकराल जाड़ोंवाले महान् रूपको देखकर, सबलोक व्याकुल हो रहे हैं तथा मैं भी व्याकुल होरहा हूँ ॥२३॥

युद्धदर्शनार्थमागता विश्वविनाशपरिहाराय स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिर्गुणोत्कर्षप्रतिपादिकाभिर्वाग्भिः पुष्कलाभिः परिपूर्णार्थाभिः ॥ २१ ॥

किं चान्यत्—

रुद्राश्चाऽऽदित्याश्च वसवो ये च साध्या नाम देवगणा विश्वे तुल्यविभक्तिकविश्वदेवशब्दाभ्यामुच्यमाना देवगणा अश्विनौ मरुत एकोनपञ्चाशद्देवगणा ऊष्मपाश्च पितरो गन्धर्वाणां यक्षाणामसुराणां सिद्धानां च जातिभेदानां संघाः समूहा वीक्षन्ते पश्यन्ति त्वा त्वां तादृशाद्भुतदर्शनात्ते सर्व एव विस्मिताश्च विस्मयमलौकिकचमत्कारविशेषमावेदयन्ते च ॥ २२ ॥

लोकत्रयं प्रव्यथितमित्युक्तमुपसंहरति—

समुदाय नारद प्रभृतिक जो युद्ध दर्शनके लिये आए हैं विश्वविनाश निवृत्तिके लिये गुणातिशय प्रतिपादक परिपूर्ण वाक्योंसे आपकी स्तुति करते है ॥ २१ ॥

किञ्च अन्यत् रुद्र आदित्य वसु और साध्य नामक देवगण विश्वेदेवा देवगण नासत्य दस उनचास ४९ वायुगण उष्मपा नामक पितर गन्धर्व यक्ष असुर सिद्ध इन जातियोंका समूह आपको देखते हैं इस अद्भुत दर्शनसे सब विस्मित हैं विस्मय लौकिक चमत्कार विशेष दिखलाते हैं ॥ २२ ॥

'लोकत्रयं प्रव्यथितम्' इसका उपसंहार करते हैं हे महाबाहो ! आपके रूपको

नभःस्पृशं दीप्तमनेकवर्णं व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम् ।
दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा धृतिं न विन्दामि शमं च विष्णो !

क्योंकि हे विष्णो ! आकाशके साथ स्पर्श किये हुए देदीप्यमान अनेक रूपोंसे युक्त तथा फैलाये हुए मुख और प्रकाशमान विशाल नेत्रोंसे युक्त आपको देखकर, भयभीत अन्तःकरणवाला मैं धीरज और शान्तिको नहीं प्राप्त होता हूँ ॥ २४ ॥

हे महाबाहो ! ते तव रूपं दृष्ट्वा लोकाः सर्वेऽपि प्राणिनः प्रव्यथितास्तथाऽहं प्रव्यथितो भयेन । कीदृशं ते रूपं महदतिप्रमाणं, बहूनि वक्त्राणि नेत्राणि च यस्मिंस्तत्, बहवो बाहव ऊरवः पादाश्च यस्मिंस्तत्, बहून्युदराणि यस्मिंस्तत्, बहुभिर्दंष्ट्राभिः करालमतिभयानकं दृष्ट्वैव मत्सहिताः सर्वे लोका भयेन पीडिता इत्यर्थः ॥ २३ ॥

भयानकत्वमेव प्रपञ्चयति—

न केवलं प्रव्यथित एवाहं त्वां दृष्ट्वा किं तु प्रव्यथितोऽन्तरात्मा यनो यस्य सोऽहं धृतिं धैर्यं देहेन्द्रियादिधारणसामर्थ्यं शमं च मनप्रसादं न विन्दामि न लभे हे विष्णो ! त्वां कीदृशं नभःस्पृशमन्तरिक्षव्यापिनं दीप्तं प्रज्वलितमनेकवर्णं भयंकरनानासंस्थानयुक्तं व्यात्ताननं विवृतमुखं दीप्तविशालनेत्रं प्रज्वलितविस्तीर्णचक्षुषं त्वां दृष्ट्वा हि एव प्रव्यथितान्तरात्माऽहं धृतिं शमं च न विन्दामीत्यन्वयः ॥ २४ ॥

देखकर सब प्राणि गण पीडित हैं तथा भयसे मैं पीडित हूँ कैसा आपका रूप है अत्यन्त प्रमाण बहुत बहुत मुख और नेत्र हैं जिसमें बहुत बाहू उरू और पैर हैं जिसमें तथा बहुत उदर है जिसमें अनेक दाँतों से अति भयानक देखकर मेरे सहित सब प्राणी भयसे पीड़ित है ॥ २३ ॥

भयानकत्वका ही विस्तार करते हैं केवल आपको देखकर पीड़ित हो नहीं है किन्तु पीड़ितमना होकर देहेन्द्रियादि धारण सामर्थ्य धैर्य्य मनः प्रसाद रूप शम् नहीं पाता हूँ हे विष्णो ! आप कैसे है आकाश व्यापी है तथा प्रज्वलित अनेक वर्ण भयंकर नाना संस्थान युक्त विवृत मुख दीप्त विशालनेत्र प्रज्वलित विस्तीर्ण नयन आपको देखकर पीडितात्मा मैं धृति और शम् नहीं पाता हूँ ॥ २४ ॥

दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि दृष्ट्वैव कालानलसंनिभानि।
दिशो न जाने न लभे च शर्म प्रसीद देवेश! जगन्निवास! ॥
अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः सर्वे सहैवावनिपालसङ्घैः ॥
भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथाऽसौ सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः ॥

और हे भगवन्! आपके विकराल जाड़ोंवाले और प्रलयकालकी अग्निके समान प्रज्वलित मुखोंको देखकर, दिशाओंको नहीं जानता हूं और सुखको भी नहीं प्राप्त होता हूँ, इसलिये हे देवेश! हे जगन्निवास! आप प्रसन्न होवें ॥ २५ ॥

और मैं देखता हूँ कि वे सब ही धृतराष्ट्रके पुत्र, राजाओंके समुदायसहित आपमें प्रवेश करते हैं और भीष्मपितामह, द्रोणाचार्य तथा वह कर्ण और हमारे पक्षके भी प्रधान योधाओंके सहित सबके सब ॥ २६ ॥

दंष्ट्राभिः करालानि विकृतत्वेन भयंकराणि प्रलयकालानलसदृशानि च ते मुखानि दृष्ट्वैव न तु तानि प्राप्य भयवशेन दिशः पूर्वापरादिविवेकेन न जाने अतो न लभे च शर्म सुखं त्वद्रूपदर्शनेऽपि अतो हे देवेश! हे जगन्निवास! प्रसीद प्रसन्नो भव मां प्रति। यथा भयाभावेन त्वद्दर्शनजं सुखं प्राप्नुयामिति शेषः ॥ २५ ॥

अस्माकं जयं परेषां पराजयं च सर्वदा द्रष्टुमिष्टं पश्य मम देहे गुडाकेश! यच्चान्यद्द्रष्टुमिच्छसीति भगवदादिष्टमधुना पश्यामीत्याह पञ्चभिः—

दाँतोंसे भयंकर प्रलयकाल अग्निके सदृश आपके मुखोंको देखकर ही प्राप्त कर न ही भयवश पूर्व-पश्चिम दिशाका विवेक नहीं रहा दिग्भेद ज्ञान भी न रहा इस कारण आपके स्वरूप दर्शनमें भी सुख नहीं पाता हूं, अतः हे देवेश! हे जगन्निवास! मेरे प्रति आप प्रसन्न हो जिससे भयाभावसे आपके दर्शनसे जायमान सुखको पाऊँ ॥ २५ ॥

अपना जय और शत्रुओंके पराजय जो आपको सदा देखनेमें इष्ट है हे गुडाकेश मेरे शरीरमें देखो और जो कुछ देखना चाहते हो यह भगवान्से आदिष्ट

वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति दंष्ट्राकरालानि भयानकानि ।
केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु संदृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमाङ्गैः ॥२७॥

वेगयुक्त हुए आपके विकराल जाड़ोंवाले भयानक मुखोंमें प्रवेश करते हैं और कई एक चूर्ण हुए शिरोंसहित आपके दांतोंके बीचमें लगे हुए दीखते हैं ॥ २७ ॥

अमी च धृतराष्ट्रस्य पुत्रा दुर्योधनप्रभृतयः शतं सोदरा युयुत्सुं विना सर्वे वां त्वरमाणा विशन्तीत्यग्रेतनेनान्वयः अतिभयसूचकत्वेन क्रियापदन्यूनत्वामत्र गण एव । सहैवावनिपालानां शल्यादीनां राज्ञां संघैस्त्वा विशन्ति । न केवलं दुर्योधनादय एव विशन्ति किं तु अजेयत्वेन सर्वैः संभावितोऽपि भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रः कर्णस्तथाऽसौ सर्वदा मम विद्वेष्टा सहास्मदीयैरपि परकीयैरिव धृष्टद्युम्नप्रभृतिमियोधमुख्यैस्त्वां विशन्तीति संबन्धः ॥ २६ ॥

अमी च धृतराष्ट्रपुत्रप्रभृतयः सर्वेऽपि ते तव दंष्ट्राकरालानि भयकानि वक्त्राणि त्वरमाणा विशन्ति । तत्र च केचिच्चूर्णितैरुत्तमाङ्गैः शिरोभिर्विशिष्टा दशनान्तरेषु विलग्ना विशेषेण संलग्ना दृश्यन्ते मया सम्यगसंदेहेन ॥ २७ ॥

इस समय देख रहा हूँ यह पाँच श्लोकोंसे कहते हैं— ये धृतराष्ट्रके पुत्र दुर्योधन प्रभृति सौ सोदर भाई युयुत्सुको त्याग कर जल्दी जल्दी आपमें प्रवृत्ति हो रहे हैं यह आगे के श्लोकसे अन्वित है अतिभय सूचक होनेसे क्रिया पदकी न्यूनता गुण ही है शल्यादि राजोंके संघके साथ आपमें प्रविष्ट हो रहे है केवल दुर्योधनादि ही प्रविष्ट होते हैं यही बात नहीं है किन्तु सबोंके अजेय माने हुय भीष्म द्रोण और कर्ण और जो मेरे विद्वेषी हैं सो भी प्रविष्ट हैं परकीयके समान मेरे सैनिक भी जो धृष्टद्युम्न प्रभृति मुख्य योद्धा हैं वे भी आपमें प्रविष्ट हो रहे हैं ॥ २६ ॥

धृतराष्ट्र पुत्र प्रभृति सब दातोंसे भयानक आपके मुखमें अतिशीघ्र प्रविष्ट होते हैं उनमें चूर्णित शिर युक्त आपके दातोंके मध्यमें लगे हुये असन्दिग्ध मैं देखता हूँ ॥ २७ ॥

यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति ।
तथा तवामी नरलोकवीरा विशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति ॥
यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गा विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः ।
तथैव नाशाय विशन्ति लोकास्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः ॥

और हे विश्वमूर्ते ! जैसे नदियोंके बहुतसे जलके प्रवाह, समुद्रके ही सन्मुख दौड़ते हैं, अर्थात् समुद्रमें प्रवेश करते हैं, वैसे ही वे शूरवीर मनुष्योंके समुदाय भी आपके प्रज्वलित हुए मुखोंमें प्रवेश करते हैं ॥ २८ ॥

अथवा जैसे पतंग मोहके वश होकर, नष्ट होनेके लिये, प्रज्वलित अग्निमें अति वेगसे युक्त हुए प्रवेश करते हैं, वैसे ही यह सब लोग भी अपने नाशके लिये आपके मुखोंमें अति वेगसे युक्त हुए प्रवेश करते हैं ॥ २९ ॥

राज्ञां भगवन्मुखप्रवेशने निदर्शनमाह—

यथा नदीनामनेकमार्गप्रवृत्तानां बहवोऽम्बूनां जलानां वेगा वेगवन्तः प्रवाहाः समुद्राभिमुखाः सन्तः समुद्रमेव द्रवन्ति तथा तवामी नरलोकवीरा विशन्ति वक्त्राण्यभितः सर्वतो ज्वलन्ति अभिविज्वलन्तीति वा पाठः ॥२८॥

अबुद्धिपूर्वकप्रवेशे नदीवेगं दृष्टान्तमुक्त्वा बुद्धिपूर्वकप्रवेशे दृष्टान्तमाह—

यथा पतङ्गाः शलभाः समृद्धवेगाः सन्तो बुद्धिपूर्वं प्रदीप्तं ज्वलनं विशन्ति नाशाय मरणायैव तथैव नाशाय विशन्ति लोका एते दुर्योधनप्रभृतयः सर्वेऽपि तव वक्त्राणि समृद्धवेगा बुद्धिपूर्वमनायत्या ॥ २९ ॥

राजाओंके भगवन्मुख प्रवेशमें दृष्टान्त कहते हैं—यथा अनेक मार्ग प्रवृत्त अनेक जलोंका वेगवान् प्रवाह समुद्राभिमुख होकर बहते हुये समुद्रमें ही प्रविष्ट होवे हैं तथा ये नरलोक वीर आपके मुखमें सब तरहसे प्रविष्ट होते हैं आपका मुख कैसा है जो सब तरफसे धधक रहा है ॥ २८ ॥

अबुद्धि पूर्वक प्रवेश में नदीवेग दृष्टान्त कहकर बुद्धिपूर्वक प्रवेशमें दृष्टान्त कहते हैं—जैसे पतंग वेगवान होकर बुद्धिपूर्वक स्वनाश के लिये दीपाग्निमें प्रविष्ट होते हैं उसी तरह दुर्योधन प्रभृति ये लोक मरणके लिये ही आपमें प्रविष्ट होवे हैं ये सब वेगसे बुद्धिपूर्वकमें आपके मुखमें प्रविष्ट होते हैं ॥ २९ ॥

लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्ताल्लोकान्समग्रान्वदनैर्ज्वलद्भिः ।
तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रं भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो ॥ ॥
आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो नमोऽस्तु ते देववर! प्रसीद ।
विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम् ॥

और आप उन संपूर्ण लोकोंको प्रज्वलित मुखोंद्वारा ग्रसन करते हुए, सब ओरसे चाट रहे हैं, हे विष्णो! आपका उग्र प्रकाश संपूर्ण जगत्‌को तेजके द्वारा परिपूर्ण करके तपायमान करता है ॥ ३० ॥

हे भगवन्! कृपा करके, मेरे प्रति कहिये, कि आप उग्ररूपवाले कौन हैं? हे देवोंसे श्रेष्ठ! आपको नमस्कार होवे, आप प्रसन्न होइये, आदिस्वरूप आपको मैं तत्त्वसे जानना चाहता हूँ, क्योंकि आपकी प्रवृत्तिको मैं नहीं जानता ॥ ३१ ॥

योद्धुकामानां राज्ञां भगन्मुखप्रवेशप्रकारमुक्त्वा तदा भगवतस्तद्भासां च प्रवृत्तिप्रकारमाह—

एवं वेगेन प्रविशतो लोकान्दुर्योधनादीन्समग्रान्सर्वान्ग्रसमानोऽन्तः प्रवेशयञ्ज्वलद्भिर्वदनैः समन्तात्सर्वतस्त्वं लेलिह्यस आस्वादयसि तेजोभिर्भाभिरापूर्य जगत्समग्रं यस्मात्त्वं भाभिर्जगदापूरयसि तस्मात्तवोग्रास्तीव्रा भासो दीप्तयः प्रज्वलतो ज्वलनस्येव प्रतपन्ति संतापं जनयन्ति हे विष्णो व्यापनशील! ॥ ३० ॥

यस्मादेवं तस्मात्—

एवमुग्ररूपः क्रूराकारः को भवानित्याख्याहि कथय मे मह्यमत्यन्तानु-

---

युद्धको इच्छा करनेवाले राजोंका भगवन्मुख प्रवेश प्रकार कह कर उस समय भगवान् और उनकी दीप्तिका प्रवृत्ति प्रकार कहते हैं—इस प्रकार वेगसे प्रवेश करते हुये दुर्योधनादि लोक समग्रको ग्रास कहते हुये अर्थात् भीतर प्रवेश कराते हुये प्रज्वलित मुखोंसे चारो तरफसे आप चबा रहे हैं तेजसे समस्त जगत्‌को पूर्ण करते हैं, इस कारण आपकी अतितीव्र दीप्तियाँ धधकते हुवे अग्निके समान संतप्त करते हैं हे विष्णो! व्यापक शील ॥ ३० ॥

यस्मादेवं क्रूराकार आप कौन हैं सो कहिये। अत्यन्त अनुग्रहके लिये अब अपने स्वरूपको बतलाइये अतएव सबके गुरु आपको नमस्कार है। हे देववर!

श्रीभगवानुवाच—

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः।
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः॥

इस प्रकार अर्जुनके पूछनेपर श्रीकृष्ण भगवान् बोले हे अर्जुन! मैं लोकोंका नाश करनेवाला बढ़ा हुआ महाकाल हूँ, इस समय इन लोकोंको नष्ट करनेके लिये प्रवृत्त हुआ हूँ, इसलिये जो प्रतिपक्षियोंकी सेनामें स्थित हुए योधालोग हैं, वे सब तेरे बिना भी नहीं रहेंगे, अर्थात् तेरे युद्ध न करनेसे भी इन सबका नाश हो जायगा॥ ३२॥

ग्राह्याय। अत एव नमोऽस्तु ते तुभ्यं सर्वगुरवे हे देववर! प्रसीद प्रसादं कौर्यत्यागं कुरु। विज्ञातुं विशेषेण ज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं सर्वकारणं, न हि यस्मात्तव सखाऽपि सन्प्रजानामि तव प्रवृत्तिं चेष्टाम्॥ ३१॥

एवमर्जुनेन प्रार्थितो यः स्वयं यदर्थां च स्वप्रवृत्तिस्तत्सर्वं त्रिभिः श्लोकैः श्रीभगवानुवाच—कालः क्रियाशक्त्युपहितः सर्वस्य संहर्ता परमेश्वरोऽस्मि भवामीदानीं वृद्धिं गतः। यदर्थं प्रवृत्तस्तच्छृणु—लोकान्दुर्योधनादीन्समाहर्तुं भक्षयितुं प्रवृत्तोऽहमिहास्मिन्काले। मत्प्रवृत्तिं विना कथमेवं स्यादिति चेन्नेत्याह—ऋतेऽपि त्वा त्वामर्जुनं योद्धारं विनाऽपि त्वद्व्यापारं विनाऽपि मद्व्यापारेणैव न भविष्यन्ति विनङ्क्ष्यन्ति सर्वे भीष्मद्रोणकर्ण-

---

प्रसन्न होकर इस क्रूर स्वरूपका त्याग करो। विशेष रूपसे सबका आद्य कारण आप भगवान्के विशेष रूपसे जाननेकी इच्छा है जिस कारण आपका मित्र होकर भी आपकी चेष्टाको नहीं जानता हूँ॥ ३१॥

इस प्रकार अर्जुनसे प्रार्थित जो स्वयं जिसके लिये प्रवृत्ति है वह सब तीन श्लोकोंसे भगवान् कहते हैं—क्रिया शक्ति युक्त मैं काल हूँ, सबका नाश करनेवाला परमेश्वर हूँ, इस समय अपने स्वरूपको बढ़ाया हूँ, जिसके लिये प्रवृत्त हूँ, उसको सुनो—दुर्योधनादि को भक्षणके लिये इस कालमें मैं प्रवृत्त हूँ, मेरी प्रवृत्तिके विना इनका नाश कैसे होगा, हे अर्जुन तुमको त्याग कर तुम्हारे युद्ध व्यापारके विना भी मेरे व्यापारसे ये सब नष्ट होंगे। भीष्म द्रोण कर्ण प्रभृतिक जो किसीसे युद्ध करनेमें

तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व जित्वा शत्रून्भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम्॥
मयैवैते निहताः पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् ॥३३॥

इससे तूं खड़ा हो और यशको प्राप्त कर तथा शत्रुओंको जीतकर धनधान्यसे संपन्न राज्यको भोग और यह सब शूरवीर पहिलेसे ही मेरेद्वारा मारे हुए हैं इसलिये हे सव्यसाचिन्! तूं तो केवल निमित्तमात्र ही हो जाओ ॥ ३३ ॥

प्रभृतयो योद्धुमनर्हत्वेन संभाविता अन्येऽपि येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु प्रतिपक्षसैन्येषु योधा योद्धारः सर्वेऽपि मया हतत्वादेव न भविष्यन्ति। तत्र तव व्यापारोऽकिंचित्कर इत्यर्थः ॥ ३२ ॥

यस्मादेवम्—तस्मात्त्वद्व्यापारमन्तरेणापि यस्मादेते विनङ्क्ष्यन्त्येव तस्मात्त्वमुत्तिष्ठोद्युक्तो भव युद्धाय देवैरपि दुर्जया भीष्मद्रोणादयोऽतिरथा झटित्येवार्जुनेन निर्जिता इत्येवंभूतं यशो लभस्व। महद्भिः पुण्यैरेव हि यशो लभ्यते। अयत्नतश्च जित्वा शत्रून्दुर्योधनादीन्भुङ्क्ष्व स्वोपसर्जनत्वेन भोग्यतां प्रापय समृद्धं राज्यमकण्टकम्। एते च तव शत्रवो मयैव कालात्मना निहताः संहतायुषस्त्वदीययुद्धात्पूर्वमेव केवलं तव यशोलाभाय रथान्न पातिताः। अतस्त्वं निमित्तमात्रमर्जुनेनैते निर्जिता इति सार्वलौकिकव्यपदेशास्पदं भव हे सव्यसाचिन्सव्येन वामेन हस्तेनापि शरान्संचितुं

हारनेवाले नहीं है अन्य जो योद्धागण शत्रु सैन्यमें खड़े हैं इन सबको मैं मार चुका हूं, इस वास्ते ये न बचेगें इसमें तुम्हारा व्यापार अकिञ्चित्कर है अर्थात् यह न समझो कि हम न मारेगें तो यह न मरेगें, इनको तो मैं मार ही चुका हूं ॥ ३२ ॥

इस प्रकार यह दशा है. इस कारण तुम्हारे व्यापारके विना भी ये नष्ट होगें बचेगें नहीं अतः तुम युद्धके लिये खड़े हो जाओ देवताओंसे भी दुर्जय अर्थात् देवता जिनको नहीं जीत सकते हैं वे अतिरथ भीष्म द्रोणादि को अर्जुनने बड़ी जल्दी जीत लिया इस प्रकारके यशको पाओ, बड़े पुण्यसे यश मिलता है अतः परिश्रम के विना दुर्योधनादि शत्रुको जीतकर राज्यका उपभोग करो। जो राज्य अकंटक तथा संमृद्ध है इन आपके शत्रुओंको कालात्मा मैं मार चुका हूँ, इनकी आयु समाप्त हो चुकी है, तुम्हारे युद्धके पूर्वमें ही ये मर चुके हैं. केवल तुम्हारे यश लाभके लिये रथसे गिराया नहीं है अतः तुम निमित्तमात्र हो। अर्जुनसे ये जीते गये हैं अतः सब लौकिक व्यवहारके आश्रय बनो। हे सव्यसाचिन्! सव्य वाम हस्तसे

द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च कर्णं तथाऽन्यानपि योधवीरान् ।
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान् ॥

तथा इन द्रोणाचार्य और भीष्मपितामह तथा जयद्रथ और कर्ण तथा और भी बहुतसे मेरेद्वारा मारे हुए शूरवीर योधाओंका तूं मार और भय मत कर, निःसन्देह तूं युद्धमें वैरियोंका जीतेगा, इसलिये युद्ध कर ॥ ३४ ॥

संधातु शीलं यस्य तादृशस्य तव भीष्मद्रोणादिजयो नासंभावितस्तस्मात्त्वद्व्यापारानन्तरं मया रथात्पात्यमानेष्वेतेषु तवैव कर्तृत्वं लोकाः कल्पयिष्यन्तीत्यभिप्रायः ॥ ३३ ॥

ननु द्रोणो ब्राह्मणोत्तमो धनुर्वेदाचार्यो मम गुरुर्विशेषेण च दिव्यास्त्रसंपन्नस्तथा भीष्मः स्वच्छन्दमृत्युर्दिव्यास्त्रसंपन्नश्च परशुरामेण द्वंद्वयुद्धमुपगम्यापि न पराजितस्तथा यस्य पिता वृद्धक्षत्रस्तपश्चरति मम पुत्रस्य शिरो यो भूमौ पातयिष्यति तस्यापि शिरस्तत्कालं भूमौ पतिष्यतीति स जयद्रथोऽपि जेतुमशक्यः स्वयमपि महादेवाराधनपरो दिव्यास्त्रसंपन्नश्च तथा कर्णोऽपि स्वयं सूर्यसमस्तदाराधनेन दिव्यास्त्रसंपन्नश्च वासवदत्तया चैकपुरुषघातिन्या मोघीकर्तुमशक्यया शक्त्या विशिष्टस्तथा कृपाश्वत्थामभूरिश्रवःप्रभृतयो महानुभावाः सर्वथा दुर्जया एवैतेषु सत्सु

शरोंका संधान करनेका स्वभाव है जिसका इस तरह (एवं भूत) सव्यसाची तुम्हारा भीष्म द्रोणादि जय असम्भावित नहीं तस्मात् तुम्हारे व्यापारके बाद रथसे इनको गिरावैंगे तब तुम ही को इनके मारने वाला लोक समझेंगे यह अभिप्राय हैं ॥३३॥

शङ्का—ब्राह्मणश्रेष्ठ धनुर्वेदाचार्य मेरे गुरु दिव्य अस्त्रोंसे युक्त द्रोणाचार्य तथा स्वच्छन्द इच्छा वश मृत्यु दिव्यास्त्रोंसे सम्पन्न परशुरामके साथ द्वन्द्व युद्ध करके भी जो पराजित न हुये सो भीष्म तथा वृद्ध क्षत्रिय जिसके पिता तप करते हैं जो मेरे पुत्रका शिर भूमिमें गिरावेगा उसका भी शिर उसी समय भूमिमें गिरेगा इस कामनासे तप करते हैं सो जयद्रथ ये जीतनेके योग्य नहीं है और स्वयमपि महादेवजीके आराधनमें तत्पर और दिव्यास्त्र संयुक्त है तथा सूर्य्य सम स्वयं कर्ण भी सूर्यके आराधनमें दिव्यास्त्र सम्पन्न और इन्द्रसे मिली हुई एक पुरुषका निपात करने वाली निष्फल करनेमें अशक्य शक्तिसे विशिष्ट है तथा कृपाचार्य अश्वत्थामा, भूरिश्रवा प्रभृतिक महाप्रभावशाली सर्वथा दुर्जय ही हैं इनके रहते

संजय उवाच—

एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य कृताञ्जलिर्वेपमानः किरीटी ।
नमस्कृत्वा भूय एवाऽऽह कृष्णं सगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य ॥३५॥

इसके उपरान्त संजय बोला कि, हे राजन् ! केशव भगवान्के इस वचनको सुनकर, मुकुटधारी अर्जुन हाथ जोड़े हुए कांपता हुआ नमस्कार करके फिर भी भयभीत हुआ प्रणाम करके, भगवान् श्रीकृष्णके प्रति गद्गद वाणीसे बोले ॥ ३५ ॥

कथं जित्वा शत्रूनाज्यं भोक्ष्ये कथं वा यशो लप्स्य इत्याशङ्कामर्जुनस्यापनेतुमाह तदाशङ्काविषयान्नामभिः कथयन्—

द्रोणादींस्त्वदाशङ्काविषयीभूतान्सर्वानेव योधवीरान्कालात्मना मया एतानेव त्वं जहि । हतानां हनने को वा परिश्रमः । अतो मा व्यथिष्ठाः कथमेवं शक्ष्यामीति व्यथां भयनिमित्तां पीडां मा गा भयं त्यक्त्वा युध्यस्व, जेतासि जेष्यस्यचिरेणैव रणे सङ्ग्रामे सपत्नान्सर्वानपि शत्रून् । अत्र द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं चेति चकारत्रयेण पूर्वोक्ताजेयत्वशङ्काऽनूद्यते । तथाशब्देन कर्णोऽपि । अन्यानपि योधवीरानित्यत्रापिशब्देन । तस्मात्कुतोऽपि स्वस्य पराजयं वधनिमित्तं पापं च मा शङ्किष्ठा इत्यभिप्रायः । "कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन । इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजार्हौ" इत्यत्रेवात्रापि समुदायान्वयानन्तरं प्रत्येकान्वयो द्रष्टव्यः ॥ ३४ ॥

द्रोणभीष्मजयद्रथकर्णेषु जयाशाविषयेषु हतेषु निराश्रयो दुर्योधनो

रहते शत्रुको जीतकर राज्य कैसे भोगेगें कैसे वा यश पावैगें । इस अर्जुनकी आशंकाको निवृत्त करनेके लिये कहते हैं जिन जिनमें आशंका है उनका नाम लेकर तुम्हारे आशंकाके विषय द्रोणादि सब वीर योद्धाका कालात्मस्वरूप मुझसे वे हत हैं यह मान कर उनको तुम मारो । हतके हननमें मृतके मारनेमें क्या परिश्रम है अतः इनको कैसे मारेगें इस भय निमित्तक पीड़ाको मत प्राप्त करो, भयका त्यागकर युद्ध करो । थोड़े कालमें संग्राममें सब शत्रुओंको जीतोगे यहाँ पर 'द्रोणञ्च भीष्मञ्च जयद्रथञ्चेति' तीनों चकारोंसे पूर्वोक्त अजेयत्व शंकाका अनुवाद है एवं अन्यानपि योधवीरान् यहां पर अपि शब्दसे उक्त शंकानुवाद है इस कारण किसीसे भी अपने पराजय तथा वधनिमित्तक पापकी शंका मत करो यह अभिप्राय है कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधूसूदनः' इसके समान यहाँ भी समुदायन्वयके अनन्तर प्रत्येकान्वय समझना ॥३४॥

द्रोण, भीष्म, जयद्रथ, कर्ण, में दुर्योधनकी विशेष जयाशा है इनके हत होने

अर्जुन उवाच—

स्थाने हृषीकेश ! तव प्रकीर्त्या जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च ॥
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसंघाः ३६

हे अन्तर्यामिन् ! यह योग्य ही है, कि जो आपके नाम और प्रभावके कीर्तनसे जगत् अति हर्षित होता है और अनुरागको भी प्राप्त होता है तथा भयभीत हुए राक्षसलोग दिशाओंमें भागते हैं और सब सिद्धगणोंके समुदाय नमस्कार करते हैं।

हत एवेत्यनुसंधाय जयाशां परित्यज्य यदि धृतराष्ट्रः संधिं कुर्यात्तदा शान्तिरुभयेषां भवेदित्यभिप्रायवांस्ततः किं वृत्तमित्यपेक्षायाम्—

एतत्पूर्वोक्तं केशवस्य वचनं श्रुत्वा कृताञ्जलिः किरीटीन्द्रदत्तकिरीटः परमवीरत्वेन प्रसिद्धो वेपमानः परमाश्चर्यदर्शनजनितेन संभ्रमेण कम्पमानोऽर्जुनः कृष्णं भक्ताघकर्षणं भगवन्तं नमस्कृत्वा नमस्कृत्य भूयः पुनरप्याहोक्तवान्सगद्गदं भयेन हर्षेण चाश्रुपूर्णनेत्रत्वे सति कफरुद्धकण्ठतया वाचो मन्दत्वसकम्पत्वादिर्विकारः सगद्गदस्तद्युक्तं यथा स्यात्, भीतभीतोऽतिशयेन भीतः सन्पूर्वं नमस्कृत्य पुनरपि प्रणम्यात्यन्तनम्रो भूत्वाऽऽहेति संबन्धः ॥ ३५ ॥

एकादशभिः—अर्जुन उवाच स्थान इत्यव्ययं युक्तमित्यर्थे। हे हृषीकेश सर्वेन्द्रियप्रवर्तक यतस्त्वमेवमत्यन्ताद्भुतप्रभावो भक्तवत्सलश्च ततस्तव प्रकीर्त्या

पर निराश्रय दुर्योधन हतके समान अपनेको समझकर जयाशाका परित्यागकर यदि सन्धि करे तो दोनों कौरव पाण्डवोंमें शान्ति हो इस अभिप्रायवाला धृतराष्ट्र पूँछा—तब क्या हुआ, संजय बोले—पूर्वोक्त (केशव) भगवान्के वचनको सुनकर हाँथ जोड़कर इन्द्र दत्त किरीटधारी परमप्रसिद्ध वीर अर्जुन परमाश्चर्य दर्शन जन्य सम्भ्रमसे कम्पमान भक्तोंके पापको खींचनेवाले कृष्णभगवान्को नमस्कार कर फिर बोले—भयसे हर्षसे अश्रुपूर्ण नेत्र है जिसका एवंभूत तथा कफसे कण्ठके प्रतिबद्ध होनेसे मन्दत्व सकम्पत्वादि वाग्विकार गद्गद है तद्युक्त होकर अतिशय भयभीत होकर पहिले नमस्कार कर फिर भी प्रणाम कर अत्यन्त नम्र होकर बोले ॥ ३५ ॥

ग्यारह श्लोकोंसे अर्जुन कहते हैं स्थाने—सप्तम्यन्त प्रतिरूपक अव्यय है इसका युक्त अर्थ है। हे हृषीकेश ! सर्वेन्द्रिय प्रवर्त्तक ! यतः आप अद्भुत प्रभाव इस प्रकारके भक्त वत्सल हैं इसीसे आपकी प्रकृष्ट कीर्ति अर्थात् निरतिशय प्राशस्त्य-

कस्माच्च ते न नमेरन्महात्मन्गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे।
अनन्तदेवेश! जगन्निवास! त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत् ॥३७॥

हे महात्मन्! ब्रह्माके भी आदिकर्ता और सबसे बड़े आपके लिये वे कैसे नमस्कार नहीं करें? क्योंकि हे अनन्त! हे देवेश! हे जगन्निवास! जो सत्, असत् और उनसे परे अक्षर अर्थात् सच्चिदानन्दघन ब्रह्म है, वह आप ही हैं ॥३७॥

प्रकृष्टया कीर्त्या निरतिशयप्राशस्त्यस्य कीर्तनेन श्रवणेन च न केवलमहमेव प्रहृष्यामि किं तु सर्वमेव जगच्चेतनमात्रं रक्षोविरोधि प्रहृष्यति प्रकृष्टं हर्षमाप्नोतीति यत्तत्स्थाने युक्तमेवेत्यर्थः। तथा सर्वं जगदनुरज्यते च तद्विषयमनुरागमुपैतीति च युक्तमेव। तथा रक्षांसि भीतानि भयाविष्टानि सन्ति दिशो द्रवन्ति गच्छन्ति सर्वासु दिक्षु पलायन्त इति यत्तदपि युक्तमेव। तथा सर्वे सिद्धानां कपिलादीनां संघा नमस्यन्ति चेति यत्तदपि युक्तमेव। सर्वत्र तव प्रकीर्त्येत्यस्यान्वयः स्थान इत्यस्य च। अयं श्लोको रक्षोघ्नमन्त्रत्वेन मन्त्रशास्त्रे प्रसिद्धः। स च नारायणाष्टाक्षरसुदर्शनास्त्रमन्त्राभ्यां संपुटितो ज्ञेय इति रहस्यम् ॥३६॥

भगवतो हर्षादिविषयत्वे हेतुमाह— कस्माच्च हेतोस्ते तुभ्यं न नमेरन्न नमस्कुर्युः सिद्धसंघाः सर्वेऽपि हे महात्मन्परमोदारचित्त! हेऽनन्त! सर्वपरिच्छेदशून्य! हे देवेश! हिरण्यगर्भादीनामपि देवानां नियन्तः! हे जगन्निवास! सर्वाश्रय! तुभ्यं कीदृशाय ब्रह्मणोऽपि गरीयसे

के कीर्त्तन श्रवणसे केवल मैं ही प्रकृष्ट आनन्द प्राप्त नहीं करूँगा किन्तु चेतनमात्र सब जगत् जो राक्षसोंके विरोधी है वे सभी प्रकृष्ट हर्षको पाते हैं यह युक्त ही है तथा सम्पूर्ण जगत् आपमें अनुरागी है यहभी ठीक ही है, तथा राक्षस भयसे छोड़कर दिशाओंमें भाग जाते हैं अर्थात् सब दिशाओंमें भागते हैं यह भी ठीक ही है, तथा सब कपिलादि सिद्धोंका समुदाय आपका नमस्कार करता है यह भी ठीक ही है तव प्रकीर्त्या और स्थाने इसका सब जगह अन्वय है यह श्लोक तन्त्रशास्त्रमें रक्षोघ्न मन्त्ररूपसे प्रसिद्ध है वह मन्त्र नारायणाष्टाक्षर और सुदर्शनास्त्र मन्त्रसे संपुटित समझना यह रहस्य है ॥ ३६ ॥

सिद्धसङ्घ मेरा क्यों नमस्कार करते हैं इसमें हेतु कहते हैं हे महात्मन्! परमोदारचित्त! हे अनन्त त्रिविधपरिच्छेदशून्य! हे देवेश! हिरण्यगर्भादि देवताओं के भी नियन्ताः! हे जगन्निवास! सर्वाश्रय ब्रह्मासे भी गुरुतर ब्रह्माके भी

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराणस्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
वेत्ताऽसि वेद्यं च परं च धाम त्वया ततं विश्वमनन्तरूप ॥३८॥

और हे प्रभो ! आप आदिदेव और सनातन पुरुष हैं, आप इस जगत्के परम आश्रय और जाननेवाले तथा जानने योग्य और परमधाम हैं, हे अनन्तरूप ! आपसे यह सब जगत् व्याप्त अर्थात् परिपूर्ण है ॥ ३८ ॥

गुरुतरायाऽऽदिकर्त्रे ब्रह्मणोऽऽपि जनकाय । नियन्तृत्वमुपदेष्टृत्वं जनकत्वमित्यादिरेकैकोऽपि हेतुर्नमस्कार्यताप्रयोजकः किं पुनर्महात्मत्वानन्तत्वजगन्निवासत्वादिनानाकल्याणगुणसमुच्चित इत्यनाश्चर्यतासूचनार्थं नमस्कारस्य कस्माच्चेति वा शब्दार्थश्चकारः । किं च सत्, विधिमुखेन प्रतीयमानमस्तीति, असन्निषेधमुखेन प्रतीयमानं नास्तीति, अथवा सद्व्यक्तमसदव्यक्तं त्वमेव । तथा तत्परं ताभ्यां सदसद्भ्यां परं मूलकारणं यदक्षरं ब्रह्म तदपि त्वमेव त्वद्भिन्नं किमपि नास्तीत्यर्थः । तत्परं यदित्यत्र यच्छब्दात्प्राक्चकारमपि केचित्पठन्ति । एतैर्हेतुभिस्त्वां सर्वे नमस्यन्तीति न किमपि चित्रमित्यर्थः ॥ ३७ ॥

भक्त्युद्रेकात्पुनरपि स्तौति–त्वमादिदेवो जगतः सर्वहेतुत्वात्, पुरुषः पूर-

कर्ता आपके लिये क्यों न नमस्कार करें नियन्तृत्व उपदेष्टृत्व जनकत्व इत्यादि एकैक नमस्कार्यता प्रयोजक हेतु है महात्मत्व, जगन्निवासत्वादि नाना कल्याण गुण युक्त आप हैं फिर नमस्कार क्यों न करें । नमस्कार करनेमें आश्चर्य नहीं वा शब्दार्थक यहाँ चकार है किञ्च विधिमुखेन अस्ति इति प्रतीयमान सत है निषेध मुखेन नास्ति इति प्रतीयमान असत् है अथवा व्यक्त प्रत्यक्ष सत् है अव्यक्त अस्फुट असत् है सो आप ही है तथा सदसद् दोनोंसे पर मूल कारण जो अक्षर ब्रह्म है सो भी आप ही है आपसे भिन्न कुछ भी नहीं है "तत्परं यदि" यहाँ पर यच्छब्दसे पूर्व चकार भी कोई पढ़ते हैं इन हेतुओंसे सब आपका नमस्कार करते हैं इसमें आश्चर्य क्या ? ॥ ३७ ॥

भक्ति वृद्धिसे फिर भी स्तुति करते हैं संसारका आदि देव आप हैं क्योंकि आप ही सबके हेतु हैं आप ही पूर करनेवाला पुरुष है और अनादि है

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च ।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते ॥३९॥

और हे हरे ! आप वायु, यमराज, अग्नि, वरुण, चन्द्रमा तथा प्रजाके स्वामी ब्रह्मा और ब्रह्माके भी पिता हैं, आपके लिये हजारों बार नमस्कार, नमस्कार होवे, आपके लिये फिर भी बारम्बार नमस्का, नमस्कार होवे ॥ ३९ ॥

यिता, पुराणोऽनादिः, त्वमस्य विश्वस्य परं निधानं लयस्थानत्वान्निहितः । एवं सृष्टिप्रलयस्थानत्वेनोपादानत्वमुक्त्वा सर्वज्ञत्वेन प्रधानं व्यावर्तयन्निमित्तता-माह—वेत्ता वेदिता सर्वस्यासि । द्वैतापत्तिं वारयति—यच्च वेद्यं तदपि त्वमे-वासि वेदनरूपे वेदितरि परमार्थसंबन्धाभावेन सर्वस्य वेद्यस्य कल्पितत्वात् । अत एव परं च धाम यत्सच्चिदानन्दघनमविद्यातत्कार्यनिर्मुक्तं विष्णोः परमं पदं तदपि त्वमेवासि । त्वया सद्रूपेण स्फुरणरूपेण च कारणेन ततं व्याप्तमिदं स्वतःसत्तास्फूर्तिशून्यं विश्वं कार्यं मायिकसंबन्धेनैव स्थितिकाले हेऽनन्त-रूपापरिच्छिन्नस्वरूप ॥ ३८ ॥

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः सूर्यादीनामप्युपलक्षणमेतत् । प्रजापति विराड्हिरण्यगर्भश्च, प्रपितामहश्च पितामहस्य हिरण्यगर्भस्यापि पिता च त्वम् । यस्मादेवं सर्वदेवात्मकत्वात्त्वमेव सर्वैर्नमस्कार्योऽसि तस्मान्ममापि

और लय स्थान होनेसे निहित (स्थित) होता है सब जिसमें वह निधान विश्वका आप है इस प्रकार सृष्टि प्रलयका स्थान कहनेसे उपादानत्व कह कर सर्वज्ञत्वसे प्रधानकी व्यावृत्ति कराते हुये निमित्तत्व कहते हैं सबका वेत्ता जाननेवाला आप हैं द्वैतापत्तिके बारणके लिये आप ही वेद्य है और वेत्ता हैं यह कहते हैं वेदन रूप वेदितामें वास्तविक धर्म नहीं है क्योंकि सब वेद्य वेत्तामें कल्पित है अतएव सच्चिदानन्द घन अविद्यातत्कार्यशून्य विष्णुका परम पद धाम आप ही हैं सद्रूपसे और स्फुरणसे कारण रूपसे यह सब संसार व्याप्त है स्वतः सत्तास्फूर्तिसे शून्य सम्पूर्ण कार्य्य स्थिति कालमें मायिक सम्बन्धसे है हे अपरिच्छिन्न ! अनन्त रूप ॥ ३८ ॥

किञ्च वायु आदि यम अग्नि वरुण चन्द्रमा यह सूर्यादिके भी उपलक्षण है प्रजापति कश्यपादि हिरण्य- गर्भान्त, पितामह, हिरण्यगर्भके भी पिता आप हैं अतः आप सर्वात्मक है बस इससे आप हीसे नमस्कार्य है मेरा भी गरीबका हजार

नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः॥४०॥

और हे अनन्त सामर्थ्यवाले! आपके लिये आगेसे और पीछेसे भी नमस्कार होवे, हे सर्वात्मन्! आपके लिये सब ओरसे ही नमस्कार होवे, क्योंकि अनन्त पराक्रमशाली आप सब संसारको व्याप्त किये हुये हैं, इससे आप ही सर्वरूप हैं॥४०॥

वराकस्य नमो नमस्ते तुभ्यमस्तु सहस्रकृत्वः, पुनश्च भूयोऽपि पुनरपि नमो नमस्ते! भक्तिश्रद्धातिशयेन नमस्कारेष्वलंप्रत्ययाभावोऽनया नमस्कारावृत्त्या सूच्यते॥३९॥

तुभ्यं पुरस्तादग्रभागे नमोऽस्तु तुभ्यं पुरो नमः स्तादिति वा। अथ-शब्दः समुच्चये। पृष्ठतोऽपि तुभ्यं नमः स्यात्। नमोऽस्तु ते तुभ्यं सर्वत-एव सर्वासु दिक्षु स्थिताय हे सर्व! वीर्यं शारीरबलं विक्रमः शिक्षा शस्त्र-प्रयोगकौशलम्। "एकं वीर्याधिकं मन्य उतैकं शिक्षयाऽधिकम्" इत्युक्ते-र्भीमदुर्योधनयोरन्येषु चैकैकं व्यवस्थितम्। त्वं तु अनन्तवीर्यश्चामितविक्रम-श्चेति समस्तमेकं पदम्। अनन्तवीर्येति संबोधनं वा। सर्वं समस्तं जगत्समा-

फिर भी अत्यधिक नमस्कार है। भक्ति और श्रद्धाकी अधिकतासे नमस्कार पूरा होगया यह निश्चयाभाव नमस्कारावृत्तिसे सूचित होता है॥३९॥

आपके लिये पुरस्तात् अग्रभागमें नमस्कार है अर्थात् पूर्व दिशामें तद्रूपसे स्थित आपको नमस्कार है आपके पृष्ठ भागमें नमस्कार है हे सर्वात्मक! सर्वतः चारों दिगमें नमस्कार है अथवा पुरस्तात् कर्मानुष्ठानके आदिमें पृष्ठतः कर्म समाप्तिमें सर्वतः कर्म मध्यमें भी आपको नमस्कार है इस अर्थमें कर्मणाका अध्याहार करना पड़ता है अध्याहार दोष है और सर्वतः को संकोचमें प्रमाण भी नहीं इसके सूचनार्थ अना-स्थामें वा हैं आप शब्द समुच्चयार्थक है। वीर्य्य शरीर बल विक्रम शिक्षा शास्त्र प्रयोग नैपुण्य "एक वीर्याधिकम् अन्ये उतैकं शिक्षयाधिकम्" इस उक्तिसे भीम दुर्योधनों-में उत एकैक व्यवस्थित था अर्थात् किसीमें शरीर बल अधिक होता है जैसे भीममें था, किसीमें शिक्षा बल अधिक होता है जैसे भीमकी अपेक्षा दुर्योधनमें अधिक था, आप तो अनन्तवीर्य और अपरिमित विक्रम हैं अनन्त वीर्यामित यह समस्त एक

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं हे कृष्ण ! हे यादव ! हे सखेति ।
अजानता महिमानं तवेदं मया प्रमादात्प्रणयेन वाऽपि ॥४१॥
यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि विहारशय्यासनभोजनेषु ।
एकोऽथवाऽप्यच्युत ! तत्समक्षं तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम् ॥४२॥

हे परमेश्वर ! सखा ऐसे मानकर, आपके इस प्रभावको न जानते हुए मेरेद्वारा प्रेमसे अथवा प्रमादसे भी, हे कृष्ण ! हे यादव ! हे सखे ! इस प्रकार जो कुछ हठपूर्वक कहा गया है ॥ ४१ ॥

और हे अच्युत ! जो आप हँसीके लिये विहार, शय्या, आसन और भोजनादिकोंमें, अकले अथवा उन सखाओंके सामने भी अपमानित किये गये हैं, वह सब अपराध अप्रमेयस्वरूप अर्थात् अचिन्त्य प्रभाववाले आपसे मैं क्षमा कराता हूँ ॥ ४२ ॥

प्नोषि सम्यगेकेन सद्रूपेणाऽऽप्नोषि सर्वात्मना व्याप्नोषि ततस्तस्मात्सर्वोऽसि त्वदतिरिक्तं किमपि नास्तीत्यर्थः ॥ ४० ॥

यतोऽहं त्वन्माहात्म्यापरिज्ञानादपराधानजस्रमकार्षं ततः परमकारुणिकं त्वां प्रणम्यापराधक्षमां कारयामीत्याह द्वाभ्याम्—त्वं मम सखा समानवया इति मत्वा प्रसभं स्वोत्कर्षख्यापनरूपेणाभिभवेन यदुक्तं मया तवेदं विश्वरूपं तथा महिमानमैश्वर्यातिशयमजानता, पुंलिङ्गपाठ इमं विश्वरूपात्मकं महिमानमजानता प्रमादाच्चित्तविक्षेपात्प्रणयेन स्नेहेन वाऽपि किमुक्तमित्याह—हे कृष्ण ! हे यादव ! हे सखेति ॥ ४१ ॥

यच्चावहासार्थं परिहासार्थं विहारशय्यासनभोजनेषु विहारः क्रीडा

पद है । अथवा अनन्तवीर्य यह सम्बोधन है सम्पूर्ण जगत् सर्वात्मा एक आप सद्रूपसे व्याप्त हैं इस कारण आप सब हैं आपसे अतिरिक्त कुछ नहीं यह अर्थ है ॥ ४० ॥

आपके माहात्म्य ज्ञानाभावसे मैंने बार बार अपराध किया है उससे परम कारुणिक आपको प्रणाम कर अपराध क्षमा कराते हैं यह २ श्लोकोंसे कहते हैं—आप हमारे समान अवस्थाके मित्र हैं यह मानकर बलात् स्वोत्कर्ष ज्ञापन रूप अभिभवसे जो कहा है आपका यह विश्वरूप तथा ऐश्वर्यातिशय महिमा न जानकर (कहा) 'इमम्' यह पुल्लिङ्ग पाठमें विश्वात्मक महिमाको न जानता हुआ चित्त विक्षेपरूप प्रमादसे अथवा स्नेहसे जो कहा सो क्या कहा यह कहते है—हे कृष्ण ! हे यादव ! हे सखे ! इति ॥ ४१ ॥

परिहास के लिये विहार शय्यासन और भोजनमें विहार क्रीड़ा खेला अथवा

पिताऽसि लोकस्य चराचरस्य त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान्।
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव॥

हे विश्वेश्वर! आप इस चराचर जगत्के पिता और गुरुसे भी बड़े गुरु एवं अति पूजनीय हैं, हे अतिशय प्रभाववाले! तीनों लोकोंमें आपके समान भी दूसरा कोई नहीं है, फिर अधिक कैसे होवे? ॥ ४३ ॥

व्यायामो वा। शय्या तूलिकाद्यास्तरणविशेषः। आसनं सिंहासनादि भोजनं बहूनां पङ्क्तावशनं तेषु विषयभूतेषु असत्कृतोऽसि मया परिभूतोऽसि एकः सखीन्विहाय रहसि स्थितो वा त्वम्। अथवा तत्समक्षं तेषां सखीनां परिहसतां समक्षं वा, हेऽच्युत! सर्वदा निर्विकार! तत्सर्वं वचनरूपमसत्करणरूपं चापराधजातं क्षामये क्षामयामि त्वामप्रमेयमचिन्त्यप्रभावेन निर्विकारेण च परमकारुणिकेन भगवता त्वन्माहात्म्यानभिज्ञस्य ममापराधाः क्षन्तव्या इत्यर्थः ॥ ४२ ॥

अचिन्त्यप्रभावतामेव प्रपञ्चयति—अस्य चराचरस्य लोकस्य पिता जनकस्त्वमसि पूज्यश्चासि सर्वेश्वरत्वात्। गुरुश्चासि शास्त्रोपदेष्टा, अतः सर्वैः प्रकारैर्गरीयान्गुरुतरोऽसि! अत एव न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो लोकत्रयेऽपि हेऽप्रतिमप्रभाव। यस्य समोऽपि नास्ति द्वितीयस्य

व्यायाम कसरत। शय्या पलंग विशेष रूईके। आसन सिंहासन आदि, भोजन बहुतोंकी पाँति में खाना इनको छोड़ गन्देसे युक्त विषयोंमें जो मैं आपका असत्कार किया मित्रोंको छोड़ आप अकेले एकान्तमें बैठे हैं अथवा परिहासवाले मित्रोंके सामने तथा परोक्षमें जो असत्कार किये हैं उन सबको हे अच्युत, सदा निर्विकार असत्कार रूपवचन और अपराधसमूहको, अचिन्त्य प्रभाव आपसे क्षमा कराते हैं अचिन्त्य प्रभाव निर्विकार परम दयावान् भगवान् आपके माहात्म्यको नहीं समझते हुवे मेरे अपराध क्षमा करें यह अर्थ है ॥ ४२ ॥

अचिन्त्य प्रभावताको ही विस्तृत करते हैं इस स्थावर जंगम लोकका आप पिता है और अति पूज्य है क्योंकि आप सर्वेश्वर हैं। गुरु हैं शास्त्रके उपदेश करनेवाले हैं अतः सब प्रकारसे बड़े हैं अतएव आपके बराबर कोई नहीं अधिक दूसरा लोकत्रयमें कौन हो सकता है। हे अप्रतिम प्रभाव! जिसके समान दूसरा नहीं है

तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम् ।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः प्रियः प्रियायाऽर्हसि देव ! सोढुम् ॥४४॥
अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा भयेन च प्रव्यथितं मनो मे ।
तदेव मे दर्शय देव ! रूपं प्रसीद देवेश ! जगन्निवास ! ॥४५॥

इससे हे प्रभो ! मैं शरीरको अच्छी प्रकार चरणोंमें रखके और प्रणाम करके, स्तुति करने योग्य आप ईश्वरको प्रसन्न होनेके लिये प्रार्थना करता हूँ, हे देव ! पिता जैसे पुत्रके और सखा जैसे सखाके और पति जैसे प्रिय स्त्रीके, वैसे ही आप भी मेरे अपराधको सहन करनेके लिये योग्य हैं ॥ ४४ ॥

हे विश्वमूर्ते ! मैं पहिले न देखे हुए आश्चर्यमय आपके इस रूपको देखकर हर्षित हो रहा हूँ और मेरा मन भयसे अति व्याकुल भी हो रहा है, इसलिये हे देव ! आप उस अपने चतुर्भुजरूपको ही मेरे लिये दिखाइये । हे देवेश ! हे जगन्निवास ! प्रसन्न होइये ॥ ४५ ॥

परमेश्वरस्याभावात्तस्याधिकोऽन्यः कुतः स्यात्सर्वथा न संभाव्यत एवेत्यर्थः ॥ ४३ ॥

यस्मादेवम्—तस्मात्प्रणम्य नमस्कृत्य त्वां प्रणिधाय प्रकर्षेण नीचैर्धृत्वा कायं दण्डवद्भूमौ पतित्वेति यावत् । प्रसादये त्वामीशमीड्यं सर्वस्तुत्यमहमपराधी । अतो हे देव ! पितेव पुत्रस्यापराधं सखेव सख्युरपराधं प्रिय ! पतिरिव पतिव्रताया अपराधं ममापराधं त्वं सोढुं क्षन्तुमर्हसि अनन्यशरणत्वान्मम । प्रियायाऽर्हसीत्यत्रेवशब्दलोपः संधिश्च च्छान्दसः ॥ ४४ ॥

एवमपराधक्षमां प्रार्थ्य पुनः प्राग्रूपदर्शनं विश्वरूपोपसंहारेण प्रार्थयते

क्योंकि दा परमेश्वर नहीं है उससे अधिक अन्य कैसे हो सकता है सर्वथा असम्भाव्य ही है यह अर्थ है ॥ ४३ ॥

जिस कारण आप इस प्रकारके है इसलिये आपको प्रणाम कर अर्थात् शरीर दण्डके समान भूमिमें गिराकर (दण्डवत कर) स्तुत्य सर्वेश्वर सर्व स्तुत्य मैं अपराधी आपको प्रसन्न करता हूँ। अतः हे देव हे देवेश ! पुत्रका अपराध जैसे पिता क्षमा करता है प्रिय मित्रका अपराध प्रिय मित्रके समान पतिव्रता स्त्रीका अपराध पतिके समान आप मेरे अपराधोंको क्षमा करनेके योग्य हैं क्योंकि मेरा दूसरा शरण नहीं है 'प्रियाया अर्हसि' यहाँ पर इव शब्दका लोप है और छान्दस् सन्धि है ॥ ४४ ॥

इस प्रकार अपराध क्षमा की प्रार्थना कर पुनः पूर्वरूपके उपसंहारके द्वारा

किरीटिनं गदिनं चक्रहस्तमिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव ।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन सहस्रबाहो ! भव विश्वमूर्ते ! ॥ ४६ ॥

और हे विष्णो ! मैं वैसे ही आपको मुकुट धारण किये हुए तथा गदा और चक्र हाथमें लिये हुए देखना चाहता हूँ, इसलिये हे विश्वस्वरूप ! हे सहस्रबाहो ! आप उस ही चतुर्भुजरूपसे युक्त होइये ॥ ४६ ॥

द्वाभ्याम्—कदाऽप्यदृष्टपूर्वं पूर्वमदृष्टं विश्वरूपं दृष्ट्वा हृषितो हृष्टोऽस्मि । तद्विकृतरूपदर्शनजेन भयेन च प्रव्यथितं व्याकुलीकृतं मनो मे अतस्तदेव प्राचीनमेव मम प्राणापेक्षयाऽपि प्रियं रूपं मे दर्शय हे देवेश ! हे जगन्निवास ! प्रसीद प्राग्रूपदर्शनरूपं प्रसादं मे कुरु ॥ ४५ ॥

तदेव रूपं विवृणोति—किरीटवन्तं गदावन्तं चक्रहस्तं च त्वां द्रष्टुमिच्छाम्यहं तथैव पूर्ववदेव । अतस्तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन वसुदेवात्मजत्वेन भव हे इदानीं सहस्रबाहो ! हे विश्वमूर्ते । उपसंहृत्य विश्वरूपं पूर्वरूपेणैव प्रकटो भवेत्यर्थः । एतेन सर्वदा चतुर्भुजादिरूपमर्जुनेन भगवतो दृश्यत इत्युक्तम् ॥ ४६ ॥

२ श्लोकोंसे प्रार्थना करते हैं जो कदापि दृष्ट नहीं वह अदृष्ट विश्वरूप देख कर हर्षित हुआ हूँ और विकृतरूपदर्शनोत्पन्न भयसे मेरा मन व्याकुल है अतः वही प्राचीन मेरे प्राणकी अपेक्षासे भी प्रिय रूप मुझे दिखालइये । हे देव, हे देवेश ! हे जगन्निवास प्रसन्न होओ प्राचीन रूपका दर्शनरूप प्रसाद मुझ पर करो ॥ ४५ ॥

पूर्वरूपका विवरण करते हैं कीरीटवान्, गदावान् चक्र हस्त आपको मैं ? पूर्ववत् देखना चाहता हूँ अतः वसुदेवात्मक चतुर्भुजरूपसे आप हों इस समय आप हजार बाहु हैं । हे विश्वमूर्ति ! विश्वरूपका उपसंहारकर पूर्व रूपसे ही प्रकट होओ यह अर्थ है । इससे अर्जुन भगवान्का चतुर्भुजादि रूप ही सदा देखते हैं यह कहा ॥ ४६ ॥

श्रीभगवानुवाच—

मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं रूपं परं दर्शितमात्मयोगात्।
तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम् ॥४७॥
न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानैर्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः।
एवंरूपः शक्य अहं नृलोके द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर ॥४८॥

इस प्रकार अर्जुनकी प्रार्थनाको सुनकर, श्रीकृष्ण भगवान् बोले, हे अर्जुन! अनुग्रहपूर्वक मैंने अपनी योगशक्तिके प्रभावसे यह मेरा परमतेजोमय, सबका आदि और सीमारहित विराट्रूप तेरेको दिखाया है, जो कि तेरे सिवाय दूसरेसे पहिले नहीं देखा गया ॥ ४७ ॥

हे अर्जुन! मनुष्यलोकमें इस प्रकार विश्वरूपवाला मैं, न वेद और यज्ञोंके अध्ययनसे तथा न दानसे और न क्रियाओंसे और न उग्र तपोंसे ही तेरे सिवाय दूसरेसे देखा जानेको शक्य हूँ ॥ ४८ ॥

एवमर्जुनेन प्रसादितो भयबाधितमर्जुनमुपलभ्योपसंहृत्य विश्वरूपमुचितेन वचनेन तमाश्वासयंस्त्रिभिः—हेऽर्जुन! मा भैषीः। यतो मया प्रसन्नेन त्वद्विषयकृपातिशयवतेदं विश्वरूपात्मकं परं श्रेष्ठं रूपं तव दर्शितमात्मयोगादसाधारणान्निजसामर्थ्यात्। परत्वं विवृणोति—तेजोमयं तेजःप्रचुरं विश्वं समस्तमनन्तमाद्यं च यन्मम रूपं त्वदन्येन केनापि न दृष्टपूर्वं पूर्वं न दृष्टम् ॥ ४७ ॥

एतद्रूपदर्शनात्मकमतिदुर्लभं मत्प्रसादं लब्ध्वा कृतार्थ एवासि त्वमि-

---

इस प्रकार अर्जुनसे प्रसन्न किये हुये भयसे पीड़ित अर्जुनको समझाकर विश्वरूपका उपसंहारकर उचित वचनसे अर्जुनका आश्वासन करते हुये तीन श्लोकोंसे भगवान् बोले—हे अर्जुन! मत डरो प्रसन्न होकर तुम्हारे ऊपर अति दया कर अतिश्रेष्ठ विश्वरूपात्मक रूप असाधारण अपने सामर्थ्यसे तुमको दिखलाया विश्वात्मक रूपमें परत्व का विवरण करते हैं—तेजः प्रचुर समस्त अनन्त और आद्य मेरा रूप जो कि दूसरे ने पूर्वमें नहीं देखा है ॥ ४७ ॥

फलस्वरूप दर्शनात्मक अति दुर्लभ मेरा प्रसाद पाकर कृतार्थ ही तुम हो

मा ते व्यथा मा च विमूढभावो दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ्ममेदम् ।
व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य ॥ ४९ ॥

इस प्रकारके मेरे इस विकराल रूपको देखकर तेरेको व्याकुलता न होवे और मूढ़भाव भी न होवे और भयरहित, प्रीतियुक्त मनवाला तूँ उस ही मेरे इस शङ्ख, चक्र, गदा, पद्मसहित चतुर्भुजरूपको फिर देख ॥ ४९ ॥

त्वाह—वेदानां चतुर्णामपि अध्ययनैरक्षरग्रहणरूपैः; तथा मीमांसाकल्पसूत्रादिद्वारा यज्ञानां वेदबोधितकर्मणामध्ययनैरर्थविचाररूपैर्वेदयज्ञाध्ययनैः, दानैस्तुलापुरुषादिभिः, क्रियाभिरग्निहोत्रादिश्रौतकर्मभिः, तपोभिः कृच्छ्रचान्द्रायणादिभिरुग्रैः कायेन्द्रियशोषकत्वेन दुष्करैरेवंरूपोऽहं न शक्यो नृलोके द्रष्टुं त्वदन्येन मदनुग्रहहीनेन हे कुरुप्रवीर ! शक्योऽहमिति वक्तव्ये विसर्गलोपश्छान्दसः । प्रत्येकं नकारस्याभ्यासो निषेधदार्ढ्याय । न च क्रियाभिरित्यत्र चकारादनुक्तसाधनान्तरसमुच्चयः ॥ ४८ ॥

एवं त्वदनुग्रहार्थमाविर्भूतेन रूपेणानेन चेत्तवोद्वेगस्तर्हि—इदं घोरमीदृगनेकबाह्वादियुक्तत्वेन भयंकरं मम रूपं दृष्ट्वा स्थितस्य ते तव या व्यथा भयनिमित्ता पीडा सा मा भूत् । तथा मद्रूपदर्शनेऽपि यो

यह कहा चारों वेदोंके अक्षर ग्रहण रूप अध्ययनसे, तथा मीमांसा कल्प सूत्रादिद्वारा यज्ञोंको, वेद बोधित कर्मोंका अर्थ विचार रूप अध्ययनसे वेद यज्ञाध्ययनसे तुला पुरुषादि दानसे अग्नि होमादि श्रौत क्रियाओंसे कठिन कृच्छ्र चान्द्रायणादि तपोंसे जो शरीरेन्द्रिय शोषक होनेसे दुष्कर हैं इन साधनाओं से एवं रूप मैं मनुष्य लोकमें अनुग्रह हीन मेरी कृपादृष्टिके विना तुमसे अन्य कोई देख नहीं सकता । हे कुरु प्रवीर ! शक्योऽहम्' ऐसा कहना उचित है किन्तु यहां विसर्ग लोप छान्दस् है । प्रत्येकमें नकारका पुनः कथन निषेधदृढ़ताके लिये है 'नचक्रियाभिः' यहाँ चकारसे अनुक्त कारणान्तरका समुच्चय है ॥ ४८ ॥

इस प्रकार तुम्हारे अनुग्रहके लिये आविष्कृत इस रूपसे यदि तुमको उद्वेग है तो ईदृक् अनेक बाह्वादि युक्त होनेसे भयंकर मेरे रूपको देख कर स्थित तुमको भय निमित्तापीड़ा न हो तथा मेरे रूपके देखने पर भी जो व्याकुल चित्तत्व है

संजय उवाच —

इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः ।
आश्वासयामास च भीतमेनं भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा ॥५०॥

उसके उपरान्त संजय बोला, हे राजन्! वासुदेव भगवान्ने अर्जुनके प्रति इस प्रकार कहकर, फिर वैसे ही अपने चतुर्भुजरूपको दिखाया और फिर महात्मा कृष्णने सौम्यमूर्ति होकर, इस भयभीत हुए अर्जुनको धीरज दिया ॥ ५० ॥

विमूढभावो व्याकुलचित्तत्वमपरितोषः सोऽपि मा भूत्किं तु व्यपेतभीरपगतभयः प्रीतमनाश्च सन्पुनस्त्वं तदेव चतुर्भुजं वासुदेवत्वादिविशिष्टं त्वया सदा पूर्वदृष्टं रूपमिदं विश्वरूपोपसंहारेण प्रकटीक्रियमाणं प्रपश्य प्रकर्षेण भयराहित्येन संतोषेण च पश्य ॥ ४९ ॥

वासुदेवोऽर्जुनमिति प्रागुक्तमुक्त्वा यथा पूर्वमासीत्तथा स्वकं रूपं किरीटमकरकुण्डलगदाचक्रादियुक्तं चतुर्भुजं श्रीवत्सकौस्तुभवनमालापीताम्बरादिशोभितं दर्शयामास भूयः पुनराश्वासयामास च भीतमेनमर्जुनं भूत्वा पुनः पूर्ववत्सौम्यवपुरनुग्रशरीरो महात्मा परमकारुणिकः सर्वेश्वरः सर्वज्ञ इत्यादिकल्याणगुणाकरः ॥ ५० ॥

अर्थात् अपरितोष है सो भी मत हो किन्तु विगत भय प्रसन्न चित्त होकर फिर वही तुम चतुर्भुज वासुदेवत्वादि विशिष्ट सदा तुम्हारा देखा हुआ रूप इस विश्वरूपका उपसंहार कर प्रगट कर रहा हूं। भयरहित और सन्तोषसे उसीको देखो ॥ ४९ ॥

भगवान् वासुदेव अर्जुनके प्रति प्रागुक्त कहकर जैसे पहिले थे वैसा अपना रूप किरीट मकर कुण्डल गदा चक्रादि युक्तचतुर्भुज श्रीवत्स कौस्तुभमाला पीताम्बरादिसे शोभितरूप दिखलाया और भयभीत अर्जुनको आश्वासन दिया पूर्ववत् सौम्य शरीर महात्मा परमकारुणिक सर्वेश्वर सर्वज्ञ इत्यादि कल्याण गुणाकर हुए ॥ ५० ॥

दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन ।
इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः ॥ ५१ ॥

श्रीभगवानुवाच—
सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम ।
देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकाङ्क्षिणः ॥ ५२ ॥

उसके उपरान्त अर्जुन बोला—हे जनार्दन ! आपके इस अति शान्त मनुष्यरूपकी देखकर अब मैं शान्तचित्त हुआ और अपने स्वभावको प्राप्त हो गया हूँ॥५१॥

इस प्रकार अर्जुनके वचनको सुनकर, श्रीष्ण भगवान् बोले—हे अर्जुन ! मेरा यह चतुर्भुजरूप देखनेको अति दुर्लभ है, कि जिसको तुमने देखा है, क्योंकि देवता भी सदा इस रूपके दर्शन करनेकी इच्छावाले हैं ॥ ५२ ॥

ततो निर्भयः सन् अर्जुन उवाच—इदानीं सचेता भयकृतव्यामोहाभावेनाव्याकुलचित्तः संवृत्तोऽस्मि तथा प्रकृतिं भयकृतव्यथाराहित्येन स्वास्थ्यं गतोऽस्मि । स्पष्टमन्यत् ॥ ५१ ॥

स्वकृतस्यानुग्रहस्यातिदुर्लभत्वं दर्शयंश्चतुर्भिः श्लोकैः श्रीभगवानुवाच—मम यद्रूपमिदानीं त्वं दृष्टवानसि, इदं विश्वरूपं सुदुर्दर्शमत्यन्तं द्रष्टुमशक्यम् । यतो देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं सर्वदा दर्शनकाङ्क्षिणो न तु त्वमिव पूर्वं दृष्टवन्तो न वाऽग्रे द्रक्ष्यन्तीत्यभिप्रायः, दर्शनाकाङ्क्षाया नित्यत्वोक्तेः ॥ ५२ ॥

उसके वाद भयरहित अर्जुन बोले—इस समय भयकृत मोह निवृत्त होनेसे अव्याकुल चित्त अतएव सचेता मैं हुआ हूँ तथा भयकृत पीड़ा रहित होनेसे प्रकृति स्वास्थ्य प्राप्त हूँ और स्पष्ट है ॥ ५१ ॥

स्वकृत अनुग्रहमें अति दुर्लभत्व दिखलाते हुए चार श्लोकोंसे भगवान् बोले—जिस मेरे स्वरूपको इस समय तुमने देखा है यह विश्वरूप देखनेको अत्यन्त अशक्य है जिस कारण देवता गण भी सदा दर्शन चाहते हैं परन्तु तुम्हारे तरह पूर्वमें नहीं देखा और न आगे देखेगें यह अभिप्राय है क्योंकि दर्शनाकांक्षामें नित्यत्व कहा है विषयसिद्धि इच्छाकी निवर्तिका है क्योंकि देखा हो तो फिर देखनेकी आकांक्षा नहीं होती ॥ ५२ ॥

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया ।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ॥ ५३ ॥
भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन ।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ॥ ५४ ॥

और हे अर्जुन ! न वेदोंसे, न तपसे, न दानसे और न यज्ञसे इस प्रकार चतुर्भुजरूपवाला मैं देखा जानेको शक्य हूँ, कि जैसे मेरेको तुमने देखा है ॥ ५३ ॥

परन्तु हे श्रेष्ठ तपवाले अर्जुन ! अनन्यभक्ति करने से, इस प्रकार चतुर्भुजरूपवाला मैं प्रत्यक्ष देखनेके लिये और तत्त्वसे जाननेके लिये तथा प्रवेश करनेके लिये अर्थात् एकीभावसे प्राप्त होनेके लिये भी शक्य हूँ ॥ ५४ ॥

कस्माद्देवा एतद्रूपं न दृष्टवन्तो न वा द्रक्ष्यन्ति मद्भक्तिशून्यत्वादित्याह—न वेदयज्ञाध्ययनैरित्यादिना । गतार्थः श्लोकः परमदुर्लभत्वख्यापनायाभ्यस्तः ॥ ५३ ॥

यदि वेदतपोदानेज्याभिर्द्रष्टुमशक्यस्त्वं तर्हि केनोपायेन द्रष्टुं शक्योऽसीत्यत आह—भक्त्येति । साधनान्तरव्यावृत्त्यर्थस्तुशब्दः । भक्त्यैवानन्यया मदेकनिष्ठया निरतिशयप्रीत्यैवंविधो दिव्यरूपधरोऽहं ज्ञातुं शक्यः शास्त्रतो हेऽर्जुन ! । शक्य अहमिति च्छान्दसो विसर्गलोपः पूर्ववत् । न केवलं शास्त्रतो ज्ञातुं शक्योऽनन्यया भक्त्या किं तु तत्त्वेन द्रष्टुं च स्वरूपेण साक्षात्कर्तुं च शक्यो

प्रश्न—क्यों ? इस रूपको देवगण नहीं देखा और न देखेंगे ?

उत्तर—वे मेरी भक्तिसे शून्य है यह कहते हैं—'न वेद यज्ञाध्यायनैर्न' इत्यादि पूर्वोक्त श्लोकसे । यह श्लोक गतार्थ है किन्तु अति दुर्लभत्व ख्यापनके लिये फिर पढ़ा है ॥ ५३ ॥

यदि वेद तप दान यज्ञोंसे आप देखनेके योग्य नहीं है तो किस उपायसे आप देखनेके योग्य हैं इस पर कहते हैं—भक्त्येत्यादिसे । साधनान्तर व्यावृत्तिके लिये तु शब्द है । हे अर्जुन ! निरतिशय प्रीति मदेकनिष्ठ अनन्य भक्ति ही से दिव्य रूपधर पूर्वोक्त स्वरूप मैं जाननेके योग्य हूँ, वह भी शास्त्रसे मैं जाननेके योग्य हूँ । 'शक्य अहम्' यहाँ छान्दस विसर्गलोप पूर्ववत् है केवल शास्त्र ही

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः ।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ॥ ५५ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे विभूतियोगो नाम एकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

हे अर्जुन ! जो पुरुष केवल मेरे ही लिये, सब कुछ मेरा समझता हुआ, यज्ञ, दान और तप आदि सम्पूर्ण कर्तव्यकर्मोंको करनेवाला है और मेरे परायण है, अर्थात् मेरेको परम आश्रय और परमगति मानकर, मेरी प्राप्तिके लिये तत्पर है तथा मेरा भक्त है, अर्थात् मेरे नाम, गुण, प्रभाव और रहस्यके श्रवण, कीर्तन, मनन, ध्यान और पठनपाठनका प्रेमसहित निष्कामभावसे, निरन्तर अभ्यास करनेवाला है और आसक्तिरहित है अर्थात् स्त्री, पुत्र और धनादि सम्पूर्ण सांसारिक पदार्थोंमें स्नेहरहित है और सम्पूर्ण भूतप्राणियोंमें वैरभावसे रहित है ऐसा वह अनन्यभक्तिवाला पुरुष मेरेको ही प्राप्त होता है ॥ ५५ ॥

वेदान्तवाक्यश्रवणमनननिदिध्यासनपरिपाकेण । ततश्च स्वरूपसाक्षात्कारादविद्यातत्कार्यनिवृत्तौ तत्त्वेन प्रवेष्टुं च मद्रूपतयवाऽऽप्तुं चाहं शक्यः । हे परंतप ! अज्ञानशत्रुदमनेति प्रवेशयोग्यतां सूचयति ॥ ५४ ॥

अधुना सर्वस्य गीताशास्त्रस्य सारभूतोऽर्थो निःश्रेयसार्थिनामनुष्ठानाय पुञ्जीकृत्योच्यते—मदर्थं कर्म वेदविहितं करोतीति मत्कर्मकृत् । स्वर्गादिका-

---

से जाननेके योग्य नहीं हूँ किन्तु अनन्य भक्तिसे भी यथार्थ रूपसे देखने योग्य हूँ और वेदान्तवाक्यके श्रवण मनन निदिध्यासन परिपाकसे साक्षात्कार करनेके योग्य हूँ उससे स्वरूप साक्षात्कार होनेके बाद अविद्यासे तत्कार्य्य निवृत्ति होने पर यथार्थतः मेरे स्वरूपसे ही प्रवेश करने और प्राप्त करनेमें मैं समर्थ हूँ । हे परंतप अज्ञानशत्रुदमन ! यह प्रवेश योग्यताका सूचन करता है ॥ ५४ ॥

इस समय सम्पूर्ण गीता शास्त्रका निचोड़ अर्थ मोक्षार्थियोंके अनुष्ठानके लिए एकत्र करते हैं वेद विहित कर्म मेरे लिये जो करता है वह मत्कर्मकृत है ।

शंका—स्वर्गादि कामना होनेसे ऐसा कैसे हो सकता है ?

मनायां सत्यां कथमेवमिति नेत्याह मत्परमः, अहमेव परमः प्राप्तव्यत्वेन नि-श्चितो न तु स्वर्गादिर्यस्य सः। अत एव मत्प्राप्त्याशया मद्भक्तः सर्वैः प्रकारै-र्मम भजनपरः। पुत्रादिषु स्नेहे सति कथमेवं स्यादिति नेत्याह—सङ्गवर्जितः बाह्यवस्तुस्पृहाशून्यः। शत्रुषु द्वेषे सति कथमेवं स्यादिति नेत्याह—निर्वैरः सर्वभूतेषु अपकारिष्वपि द्वेषशून्यो यः स। मामित्यभेदेन हे पाण्डव! अयमर्थ-स्त्वया ज्ञातुमिष्टो मयोपदिष्टो नातः परं किंचित्कर्तव्यमस्तीत्यर्थः॥ ५५॥

दृशः कर्मभूतं हि यत्तच्च विश्वं स्वयं रूप्यते नान्यतः तच्च रूपम्।
जगद्यः स्वभासा निरस्यात्मरूपं ददावादरात्काशिराजं भजे तम्॥

इति श्रीमधुसूदनसरस्वतीविरचितायां गूढार्थदीपिकायां
विश्वरूपदर्शननिरूपणं नामैकादशोऽध्यायः॥

समाधान—'न इत्याह'—ऐसा नहीं है इस पर कहते हैं—मत्परम, मैं ही परम प्राप्तव्य हूँ स्वर्गादि नहीं जिसको सो मत्परम है अतएव मत्प्राप्तिके आशासे मेरे प्रेमी सर्व प्रकारसे मेरे भजनमें लीन।

शंका—पुत्रादिमें स्नेह होनेसे यह कैसे होगा?

समाधान—'नेत्याह' ऐसा नहीं है इसपर कहते हैं संग वर्जित बाह्य वस्तुके चाहसे शून्य।

शका—शत्रुओंमें द्वेष होने पर यह कैसे होगा?

समाधान—'नेत्याह' ऐसा नहीं है इसपर कहते हैं—निर्वैर अपकारियों में भी जो द्वेषसे शून्य है। 'माम्' इस पदसे हे पाण्डव! वह स्वाभिन्न मुझको पाता है यह अर्थ तुमको जानना इष्ट है और मैं उपदेश दिया इससे परे कुछ कर्तव्य नहीं है यह अर्थ है॥ ५५॥

नेत्रका कर्मभूत जो है वह विश्व स्वयं जाना जाता है वह रूप दूसरेसे नहीं जाया जाता जो अपने तेजसे जगत्का निरास कर आत्मरूप आदरसे दिया उन काशिराजका मैं भजन करता हूँ॥ इति॥

इसतरह—म० म० पण्डितश्रीहरिहरकृपालुद्विवेदिविरचितगीतामधुसूदनी-भाषानुवादमें ग्यारहवाँ अध्याय समाप्त हुआ।

अथ द्वादशोऽध्यायः ।

अर्जुन उवाच—

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते ।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः ॥ १ ॥

इस प्रकार भगवान्‌के वचनोंको सुनकर, अर्जुन बोला—हे मनमोहन ! जो अनन्यप्रेमी भक्तजन, इस पूर्वोक्त प्रकारसे, निरन्तर आपके भजन ध्यानमें लगे हुए, आप सगुणरूप परमेश्वरको, अति श्रेष्ठभावसे उपासना करते हैं और जो अविनाशी, सच्चिदानन्दघन, निराकारको ही उपासना करते हैं, उन दोनों प्रकारके भक्तोंमें अति उत्तम योगवेत्ता कौन हैं ? ॥ १ ॥

पूर्वाध्यायान्ते—"मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः । निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव" ॥

इत्युक्तम् । तत्र मच्छब्दार्थे संदेहः किं निराकारमेव सर्वस्वरूपं वस्तु मच्छब्देनोक्तं भगवता किं वा साकारमिति उभयत्रापि प्रयोगदर्शनात् ।

"बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते । वासुदेवःसर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः" ॥ इत्यादौ निराकारं वस्तु व्यपदिष्टं, विश्वरूपदर्शनानन्तरं च—

"नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया । शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा" इति साकारं वस्तु, उभयोश्च भगवदुपदेशयोरधिकारिभेदेनैव व्यवस्थया भवितव्यमन्यथा विरोधात् । तत्रैवं सति मया मुमुक्षुणा

पूर्वाध्यायके अन्तमें मत्कर्मकृत मत्परम इत्यादि कहा है उसमें मच्छब्दार्थमें सन्देह है कि क्या ? निराकार ही सर्व स्वरूप वस्तु मच्छब्दसे भगवान् कहा है कि साकार और निराकार दोनोंमें मच्छब्दका प्रयोग पाया जाता है ।

जैसे—'बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते ।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ।

यहाँ पर निराकार वस्तुका मच्छब्दसे व्यवहार है और विश्वरूप दर्शनके बाद 'नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया' । शक्य एवंविधो द्रष्टुं' यहाँ साकार वस्तु मच्छब्दसे व्यवहृत है दोनों भगवद् उपदेशोंमें अधिकार भेदसे व्यवस्था होनी चाहिये अन्यथा परस्पर विरोध होगा ऐसी

श्रीभगवानुवाच—

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते ।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥ २ ॥

इस प्रकार अर्जुनके पूछनेपर, श्रीकृष्ण भगवान् बोले, हे अर्जुन ! मेरेमें मनको एकाग्र करके निरन्तर मेरे भजन, ध्यानमें लगे हुए जो भक्तजन, अतिशय श्रेष्ठ श्रद्धासे युक्त हुए मुझ सगुणरूप परमेश्वरको भजते हैं, वे मेरेको योगियोंमें भी अति उत्तम योगी मान्य हैं अर्थात् उनको मैं अति श्रेष्ठ मानता हूँ ॥ २ ॥

किं निराकारमेव वस्तु चिन्तनीयं किं वा साकारमिति स्वाधिकारनिश्चयाय सगुणनिर्गुणविद्ययोर्विशेषबुभुत्सया अर्जुन उवाच—'मत्कर्मकृत' इत्यादि ।

एवं मत्कर्मकृदित्याद्यनन्तरोक्तप्रकारेण सततयुक्ता नैरन्तर्येण भगवत्कर्मादौ सावधानतया प्रवृत्ता भक्ताः साकारवस्त्वेकशरणाः सन्तस्त्वामेवंविधं साकारं ये पर्युपासते सततं चिन्तयन्ति । ये चापि सर्वतो विरक्तास्त्यक्तसर्वकर्माणोऽक्षरं न क्षरत्यश्नुते वेत्यक्षरम् "एतद्वै तदक्षरं गार्गि ! ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घम्" इत्यादिश्रुतिप्रतिषिद्धसर्वोपाधि निर्गुणं ब्रह्म । अतएवाव्यक्तं सर्वकरणागोचरं निराकारं त्वां पर्युपासते तेषामुभयेषां मध्ये के योगवित्तमा अतिशयेन योगविदः, योगं समाधिं विन्दन्ति विदन्तीति वा योगविद उभयेऽपि । तेषां मध्ये के श्रेष्ठा योगिनः केषां ज्ञानं मयाऽनुसरणीयमित्यर्थः ॥१॥

तत्र सर्वज्ञो भगवानर्जुनस्य सगुणविद्यायामेवाधिकारं पश्यंस्तं प्रति

परिस्थितिमें मुमुक्षु मैं निराकार वस्तुका चिन्तन करूँ कि वा साकारकी इस प्रकार स्वाधिकारके निर्णयार्थ सगुण निर्गुण विद्यामें विशेष जाननेकी इच्छासे अर्जुन बोले—मत्कर्म कृत इत्यादि । पूर्वोक्त प्रकारसे निरन्तर भगवत्कर्ममें सावधान होकर व्यापृत मद्भक्त साकार वस्तुके एक शरण प्राप्त होकर एवंविध साकार आपकी जो निरन्तर उपासना करते हैं और जो सबसे विरक्त अतएव असक्त सर्व कर्म अर्थात् सर्व कर्मोंको त्यागकर 'एतद् वै तदक्षरम्' इत्यादि श्रुत्युक्त सर्वोपाधि रहित निर्गुण अक्षर ब्रह्मका चिन्तन करते हैं अतएव अव्यक्त सकलेन्द्रियोंके अविषय निराकार आपकी उपासना करते हैं इन दोनोंके मध्यमें कौन अतिशय से योगवेत्ता समाधि पानेवाले हैं यद्यपि दोनो योग विद हैं परन्तु इनमें श्रेष्ठ कौन है किनके ज्ञानका मैं अनुसरण करूँ यह अर्थ है ॥ १ ॥

वहाँ सर्वज्ञ भगवान् सगुण ब्रह्मविद्यामें ही अर्जुनका अधिकार देखते

तां विधास्यति यथाधिकारं तारतम्योपेतानि च साधनानि। अतः प्रथमं साकारब्रह्मविद्यां प्ररोचयितुं स्तुवन्प्रथमाः श्रेष्ठा इत्युत्तरम्—श्रीभगवानुवाच मयि भगवति वासुदेवे परमेश्वरे सगुणे ब्रह्मणि मन आवेश्यानन्यनिरतिशयप्रियतया च प्रवेश्य हिङ्गुलरङ्ग इव जतु तन्मयं कृत्वा ये मां सर्वयोगेश्वराणामीश्वरं सर्वज्ञं समस्तकल्याणगुणनिलयं साकारं नित्ययुक्ताः सततोद्युक्ताः श्रद्धया परया प्रकृष्टया सात्त्विक्योपेताः सन्त उपासते सदा चिन्तयन्ति ते युक्ततमा मे मम मता अभिप्रेताः। ते हि सदा मदासक्तचित्ततया मामेव विषयान्तरविमुखश्चिन्तयन्तोऽहोरात्राण्यतिवाहयन्ति। अतस्त एव युक्ततमा मता अभिमताः ॥ २ ॥

हुए अर्जुनके प्रति सगुण ब्रह्म विद्याका ही विधान करेंगे क्योंकि साधन अधिकारानुसार उत्तम मध्यम होते हैं अतः पहिले साकार ब्रह्म विद्याकी प्रशंसा करते हुए पहिले श्रेष्ठ हैं यह उत्तर भगवान कहा—वासुदेव सगुण परमेश्वर ब्रह्म रूप मुझमें मन लगाकर अनन्य शरणसे निरतिशय प्रीतिसे मनका प्रवेशकर[1] हिंगुल रंगके समान जो जन्तु क्षुद्र कीट दूसरे कोड़ेको अपने खोतेमें रखकर अपने स्वरूपका बना लेता है तथा जो अपना मन मेरे अनुरूप बना लेता है सब योगेश्वरोंके ईश्वर सर्वज्ञ समस्त कल्याणगुणाकर साकार सतत युक्त होकर प्रकृष्ट श्रद्धासे युक्त हो सात्त्विकभावसे प्राप्त हो उपासना करते हैं व सदा चिन्तन करते हैं वही युक्ततम मुझको अभिप्रेत हैं वे सदा मदासक्त चित्त होकर विषयान्तरसे विमुख होकर मेरी चिन्तना ही करते हुए दिन रात्रि बिताते हैं अतः वेही युक्ततम अभिप्रेत हैं ॥ २ ॥

---

१ हिंगुल हींगके रंगके समान रंगकी कीट इस रंगके कीटको अपने खोतेमें लाकर उसको इतना दबाता है कि वह कीट दबानेवाले कीटको तन्मय होकर देखता है औ ध्यान करता है निरन्तर कुछ कालमें तद्रूप हो जाता है एवं जीव निरन्तर ब्रह्म ध्यानसे ब्रह्म हो जाता है।

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते ।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ॥ ३ ॥
संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः ।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥ ४ ॥

और जो पुरुष इन्द्रियोंके समुदायको अच्छी प्रकार वशमें करके, मन, बुद्धिसे परे, सर्वव्यापी अकथनीयस्वरूप और सदा एकरस रहनेवाले, नित्य, अचल, निराकार, अविनाशी, सच्चिदानन्दघन ब्रह्मको निरन्तर एकीभावसे ध्यान करते हुए उपासना करते हैं, वे सम्पूर्ण भूतोंके हितमें रत हुए और सबमें समानभाववाले योगी मेरेको ही प्राप्त होते हैं ॥ ३ ॥ ४ ॥

निर्गुणब्रह्मविदपेक्षया सगुणब्रह्मविदां कोऽतिशयो येन त एव युक्ततमास्तवाभिमता इत्यपेक्षायां तमतिशयं वक्तुं तन्निरूपकान्निर्गुणब्रह्मविदः प्रस्तौति द्वाभ्याम्—येऽक्षरं मामुपासते तेऽपि मामेव प्राप्नुवन्तीति द्वितीयगतेनान्वयः। पूर्वेभ्यो वैलक्षण्यद्योतनाय तुशब्दः । अक्षरं निर्विशेषं ब्रह्म वाचक्नवीब्राह्मणे प्रसिद्धं तस्य समर्पणाय सप्त विशेषणानि । अनिर्देश्यं शब्देन व्यपदेष्टुमशक्यं यतोऽव्यक्तं शब्दप्रवृत्तिनिमित्तैर्जातिगुणक्रियासंबन्धै रहितम् । जातिं गुणं क्रियां संबन्धं वा द्वारीकृत्य शब्दप्रवृत्तेर्निर्विशेषे प्रवृत्त्ययोगात् । कुतो

निर्गुण ब्रह्मवेत्ताकी अपेक्षासे सगुण ब्रह्मवेत्तामें क्या विशेष है जिससे वेही युक्ततम आपको अभिप्रेत हैं इस अपेक्षामें उस अतिशय विशेषको कहनेके लिए निर्गुण ब्रह्म वेत्ताका २ श्लोकोंसे प्रस्ताव करते हैं—जो. अक्षरात्मक मेरे उपासना करते हैं वे भी मुझको ही प्राप्त करते हैं द्वितीय श्लोकके साथ अन्वय है। पूर्वोक्तसे वैलक्षण्य द्योतनके लिये तु शब्द है निर्विशेष अक्षरात्मक ब्रह्म वाचक्नवी ब्राह्मणमें प्रसिद्ध है उसे समर्पणके लिये ७ विशेषण हैं। अनिर्देश्य, शब्दसे व्यवहार करनेके अयोग्य, उसमें हेतु कहते हैं 'अव्यक्तम्' शब्द प्रवृत्ति निमित्त जाति गुण क्रिया सम्बन्धसे रहित, जाति गुण क्रिया सम्बन्धके द्वारा शब्दकी प्रवृत्ति होती है सो निर्विशेष ब्रह्ममें उक्त निमित्तोंके न रहनेसे प्रवृत्ति नहीं ।

जात्यादिराहित्यमत आह—सर्वत्रगमिति। सर्वव्यापि सर्वकारणम्, अतो जात्यादिशून्यं परिच्छिन्नस्य कार्यस्यैव जात्यादियोगदर्शनात्, आकाशादीनामपि कार्यत्वाभ्युपगमाच्च। अत एवाचिन्त्यं शब्दवृत्तेरिव मनोवृत्तेरपि न विषयः, तस्या अपि परिच्छिन्नविषयत्वात्। "यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह" इति श्रुतेः। तर्हि कथं "तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि" इति "दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या" इति च श्रुतिः। "शास्त्रयोनित्वात्" इति सूत्रं च। उच्यते—अविद्याकल्पितसंबन्धेन शब्दजन्यायां बुद्धिवृत्तौ चरमायां परमानन्दबोधरूपे शुद्धे वस्तुनि प्रतिबिम्बितेऽविद्यातत्कार्ययोः कल्पितयोर्निवृत्त्युपपत्तेरुपचारेण विषयत्वाभिधानात्। अतस्तत्र कल्पितमविद्यासंबन्धं प्रतिपादयितुमाह—कूटस्थमिति, यन्मिथ्याभूतं सत्यतया प्रतीयते तत्कूटमिति लौकैरुच्यते, यथा कूटकार्षापणः कूटसाक्षित्वमित्यादौ। अज्ञानमपि मायाख्यं सह कार्यप्रपञ्चेन मिथ्याभूतमपि लौकिकैः सत्यतया प्रतीयमानं कूटं तस्मिन्नाध्यासिकेन

प्रश्न—क्यों ? जात्यादि रहित है ?

उत्तर—सर्व व्यापी सर्व कारण, अतः जात्यादि शून्य माना जाता है परिच्छिन्न कार्यमें ही जात्यादिका योग देखा गया है आकाशादिभी कार्य ही माने गये हैं। अतएव अचिंत्य हैं शब्दप्रवृत्तिके समान मनोवृत्तिका भी विषय नहीं क्योंकि वह भी परिच्छिन्न विषयक ही होती है। 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' यह श्रुति भी है।

शङ्का—यदि आत्मा निर्गुण ब्रह्म उक्त वृत्तिका विषय नहीं है तो उस औपनिषद् पुरुषको पूँछता हूँ—जो श्रेष्ठ बुद्धिसे देखा जाता है यह श्रुति, तथा 'शास्त्रयोनित्वात्' यह वेदान्त सूत्रभी कैसे संगत होगा ?

समाधान—अविद्या कल्पित सम्बन्धसे शब्दजन्य अन्तिम बुद्धि वृत्तिमें परमानन्द बोधरूप शुद्ध वस्तुमें प्रतिबिम्बित होने पर कल्पित अविद्या तत्कार्योंकी निवृत्ति होती है औपचारिक विषयत्वका कथन है, अतः उसमें कल्पित अविद्या सम्बन्ध कहते हैं—'कूटस्थम्' इससे। जो मिथ्याभूत पदार्थ सत्यतया प्रतीत होता है वह लोकमें कूट कहा जाता है जैसे कूट कार्षापण 'कूटसाक्षी' इत्यादि प्रसिद्ध है मायाख्य अज्ञान भी मिथ्याभूत कार्य्यप्रपञ्चके साथ लोकमें सत्यतया प्रतीयमान है अतएव कूट है उसमें आध्यासिक सम्बन्धसे आश्रय रूपसे स्थित कूटस्थ अज्ञान

संबन्धेनाधिष्ठानतया तिष्ठतीति कूटस्थमज्ञानतत्कार्याधिष्ठानमित्यर्थः। एतेन सर्वानुपपत्तिपरिहारः कृतः, अत एव सर्वविकाराणामविद्याकल्पितत्वात्तदधिष्ठानं साक्षिचैतन्यं निर्विकारमित्याह—अचलमिति। चलनं विकारः। अचलत्वादेव ध्रुवमपरिणामि नित्यम्। एतादृशं शुद्धं ब्रह्म मां पर्युपासते श्रवणेन प्रमाणगतामसंभावनामपोह्य मननेन च प्रमेयगतामनन्तरं विपरीतभावनानिवृत्तये ध्यायन्ति विजातीयप्रत्ययतिरस्कारेण तैलधारावदविच्छिन्नसमानप्रत्ययप्रवाहेण निदिध्यासनसंज्ञकेन ध्यानेन विषयीकुर्वन्तीत्यर्थः ॥ ३ ॥

कथं पुनर्विषयेन्द्रियसंयोगे सति विजातीयप्रत्ययतिरस्कारोऽत आह—संनियम्येति। संनियम्य स्वविषयेभ्य उपसंहृत्येन्द्रियग्रामं करणसमुदायम्। एतेन शमदमादिसंपत्तिरुक्ता। विषयभोगवासनायां सत्यां कुत इन्द्रियाणां ततो निवृत्तिस्तत्राऽऽह—सर्वत्रेति। सर्वत्र विषये समा तुल्या हर्षविषादाभ्यां रागद्वेषाभ्यां च रहिता मतिर्येषां सम्यग्ज्ञानेन तत्कारणस्याज्ञानस्यापनीतत्वाद्विषयेषु दोषदर्शनाभ्यासेन स्पृहाया निरसनाच्च ते सर्वत्र समबुद्धयः। एतेन

तत्कार्यका अधिष्ठान है यह अर्थ है। इससे सब अनुपपत्तिओंका परिहार किया गया अतएव सब विकारोंको अविद्या कल्पित होनेसे उनका अधिष्ठान है साक्षिचैतन्य निर्विकार, यह कहते हैं-अचलं इससे। अचल-चलन विकार, तद्रहित अचल होनेसे ध्रुव अपरिणमी नित्य एतादृश शुद्ध ब्रह्म स्वरूप मुझको जो उपासना करते हैं श्रवणसे प्रमाणगत असम्भावनाकी निवृत्ति कर और मननसे प्रमेयगत असम्भावनाकी निवृत्तिकर विपरीवि भावना निवृत्तिके लिये ध्यान का स्वरूप कहते हैं विजातीय प्रत्ययका निवारण कर तैलधाराके समान अविच्छिन्न समान ज्ञान प्रवाह रूप निदिध्यासन संज्ञक ध्यानका विषय करते हैं यह अर्थ है ॥ ३ ॥

कैसे फिर विषयेन्द्रिय संयोग रहनेपर विजातीय ज्ञानका तिरस्कार होता है इस शङ्कासे कहते हैं—सन्नियम्य इति। इन्द्रिय समूहको अपने विषयोंसे उपसंहार कर अर्थात् हटाकर करण समुदाय, इससे शम दमादि सम्पत्ति कहा। विषय भोग वासना रहने पर इन्द्रियोंकी उन विषयोंसे निवृत्ति कैसे होगी ? उसमें कहते हैं-सर्वत्रेति। सब विषयोंमें समान हर्ष विषाद और राग द्वेषसे रहित मन है जिनको सम्यग्ज्ञानसे तत्कारण अज्ञानका अपनयन होनेसे तद्विषयोंमें दोष दर्शनके अभ्याससे इच्छाकी निवृत्ति होनेसे सर्वत्र सम बुद्धि होती है इससे

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥ ५ ॥

किन्तु, उन सच्चिदानन्दघन, निराकार ब्रह्ममें आसक्त हुए चित्तवाले पुरुषोंके साधनमें क्लेश अर्थात् परिश्रम विशेष है, क्योंकि देहाभिमानियोंसे अव्यक्तविषयक गति, दुःखपूर्वक प्राप्त की जाती है, अर्थात् जबतक शरीरमें अभिमान रहता है, तबतक शुद्ध, सच्चिदानन्दघन, निराकार ब्रह्ममें स्थिति होनी कठिन है ॥ ५ ॥

वशीकारसंज्ञा वैराग्यमुक्तम् । अत एव सर्वत्राऽऽत्मदृष्ट्या हिंसाकारणद्वेषरहितत्वात्सर्वभूतहिते रताः "अभयं सर्वभूतेभ्यो मत्तः स्वाहा" इति मन्त्रेण दत्तसर्वभूताभयदक्षिणाः कृतसंन्यासा इति यावत् । "अभयं सर्वभूतेभ्यो दत्त्वा संन्यासमाचरेत्" इति स्मृतेः । एवंविधाः सर्वसाधनसम्पन्नाः सन्तः स्वयं ब्रह्मभूता निर्विचिकित्सेन साक्षात्कारेण सर्वसाधनफलभूतेन मामक्षरं ब्रह्मैव ते प्राप्नुवन्ति, पूर्वमपि मद्रूपा एव सन्तोऽविद्यानिवृत्त्या मद्रूपा एव तिष्ठन्तीत्यर्थः । "ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येति" "ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति" इत्यादिश्रुतिभ्यः । इहापि च ज्ञानी त्वात्मैव मे मतमित्युक्तम् ॥ ४ ॥

इदानीमेतेभ्यः पूर्वेषामतिशयं दर्शयन्नाह—क्लेश इति । पूर्वेषामपि विषयेभ्य आहृत्य सगुणे ब्रह्मणि मन आवेशे सतत तत्कर्मपरायणत्वे

वशीकार संज्ञा वैराग्य कहा । अतएव सर्वत्र आत्मदृष्टिसे हिंसा कारण द्वेष रहित होनेसे सर्व भूतोंके हितमें निरत 'अभयं सर्वभूतेभ्यो मत्तः स्वाहा' इस मन्त्रसे सब भूतोंको अभय दक्षिणा देकर कृतसंन्यास अर्थात् संन्यास लेकर 'अभयं सर्वभूतेभ्यो दत्त्वा संन्यासमाचरेत् यह स्मृति है ।

इस प्रकारके सब साधनोंसे सम्पन्न होते हुए स्वयं ब्रह्म स्वरूप असन्दिग्ध साक्षात्कारसे सर्वसाधन फलभूतसे अक्षर मुझ ब्रह्मको वे पाते हैं पूर्वमें भी मेरे रूप ही हैं किन्तु अविद्यावृत होनेसे उसी तरह प्रतीत नहीं होते अविद्या निवृत्तिके उत्तर मद्रूप ही रहते हैं यह अर्थ है । 'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति, ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति' इत्यादि श्रुतियोंसे और यहाँ भी 'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्' यह स्पष्ट कहा है इससे भी ज्ञानी ब्रह्मरूप ही रहते हैं ॥ ४ ॥

इस समय इनसे पूर्वोंमें विशेष दिखलाते हुए कहते हैं—'क्लेश' इससे । पूर्व लोगोंका भी मन विषयोंसे हटा कर सगुण ब्रह्ममें प्रवेश करने पर सतत तत्कर्म

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥ ६ ॥
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि न चिरात्पार्थ! मय्यावेशितचेतसाम् ॥ ७ ॥

और जो मेरे परायण हुए भक्तजन संपूर्ण कर्मोंको मेरेमें अर्पण करके, मुझ सगुणरूप परमेश्वरको ही तैलधाराके सदृश, अनन्य ध्यानयोगसे निरन्तर चिन्तन करते हुए भजते हैं, हे अर्जुन! उन मेरेमें चित्तको लगानेवाले प्रेमी भक्तोंका मैं शीघ्र ही मृत्युरूप संसारसमुद्रसे उद्धार करनेवाला होता हूँ ॥ ६-७ ॥

च परश्रद्धोपेतत्वे च क्लेशोऽधिको भवत्येव, किं तु अव्यक्तासक्तचेतसां निर्गुणब्रह्मचिन्तनपराणां तेषां पूर्वोक्तसाधनवतां क्लेश आयसोऽधिकतरोऽतिशयेनाधिकः, अत्र स्वयमेव हेतुमाह भगवान्—अव्यक्ता हि गतिरिति। हि यस्मादक्षरात्मकं गन्तव्यं फलभूतं ब्रह्म दुःखं यथा स्यात्तथा कृच्छ्रेण देहवद्भिर्देहमानिभिरवाप्यते। सर्वकर्मसंन्यासं कृत्वा गुरुमुपसृत्य वेदान्तवाक्यानां तेन तेन विचारेण तत्तद्भ्रमनिराकरणे महान्प्रयासः प्रत्यक्षसिद्धस्ततः क्लेशोऽधिकतरस्तेषामित्युक्तम्। यद्यप्येकमेव फलं तथाऽपि ये दुष्करेणोपायेन प्राप्नुवन्ति तदपेक्षया सुकरेणोपायेन प्राप्नुवन्तो भवन्ति श्रेष्ठा इत्यभिप्रायः ॥ ५ ॥

ननु फलैक्ये क्लेशाल्पत्वाधिक्याभ्यामुत्कर्षनिकर्षौ स्यातां, तदेव तु

परायण होने पर उत्कृष्ट श्रद्धा युक्त होनेसे अधिक क्लेश होता ही है, किन्तु अव्यक्तासक्तचित्त अर्थात् निर्गुण ब्रह्म चिन्तन पर उन पूर्वोक्त साधन युक्तोंको क्लेश आयास परिश्रम अधिकतर = अत्यधिक होता है, इसमें भगवान् अपनेसे ही कारण कहते हैं 'अव्यक्ता हि गतिः' इससे, हि यस्मात् = जिस लिए कि अव्यक्त गति अक्षरात्मक गन्तव्य फलभूत ब्रह्मरूप गति क्लेशसे देहाभिमानी शरीरियोंको दुःखसे मिलती है सर्व कर्मका संन्यास कर गुरुके समीप जाकर वेदान्त वाक्योंका उन उन विचारोंसे तत्तद् भ्रम निराकरण करनेसे बड़ा परिश्रम प्रत्यक्ष सिद्ध है इसीसे उनका क्लेश अधिकतर कहा गया है। यद्यपि दोनोंका प्राप्य फल एक ही है तथापि दुष्कर उपायसे जो फल पाते हैं वही सुकर उपायसे प्राप्त करनेवाले उनसे श्रेष्ठ माने जाते हैं यह अभिप्राय है ॥ ५ ॥

शङ्का—फल एक होनेपर क्लेशसे अल्पत्व और आधिक्यसे उत्कर्षापकर्ष

नास्ति निर्गुणब्रह्मविदां हि फलमविद्यातत्कार्यनिवृत्त्या निर्विशेषपरमानन्दबोधब्रह्मरूपता, सगुणब्रह्मविदां त्वधिष्ठानप्रमाया अभावेनाविद्यानिवृत्त्यभावादैश्वर्यविशेषः कार्यब्रह्मलोकगतानां फलम्, अतः फलाधिक्यार्थमायासाधिक्यं न न्यूनतामापादयतीति चेत्? न, सगुणोपासनया निरस्तसर्वप्रतिबन्धानां विना गुरूपदेशं विना च श्रवणमननिदिध्यासनाद्यावृत्तिक्लेशं स्वयमाविर्भूतेन वेदान्तवाक्येनेश्वरप्रसादसहकृतेन तत्त्वज्ञानोदयादविद्यातत्कार्यनिवृत्त्या ब्रह्मलोक एवैश्वर्यभोगान्ते निर्गुणब्रह्मविद्याफलपरमकैवल्योपपत्तेः "स एतस्माज्जीवघनात्परात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते" इति श्रुतेः। स प्राप्तहिरण्यगर्भैश्वर्यो भोगान्त एतस्माज्जीवघनात्सर्वजीवसमष्टिरूपात्पराच्छ्रेष्ठाद्धिरण्यगर्भात्परं विलक्षणं श्रेष्ठं च पुरिशयं स्वहृदयगुहानिविष्टं पुरुषं पूर्णं प्रत्यगभिन्नमद्वितीयं परमात्मानमीक्षते स्वयमाविर्भूतेन वेदान्तप्रमाणेन साक्षात्करोति, तावता च मुक्तो भवतीत्यर्थः। तथा च विनाऽपि प्रागुक्तक्लेशेन सगुणब्रह्मविदामीश्वरप्रसादेन निर्गुणब्रह्मविद्याफलप्राप्तिरितीममर्थमाह द्वाभ्याम्—'ये तु' इत्यादिना।

हो वहां तो निर्गुण ब्रह्मवेत्ताको नहीं है अविद्या तत्कार्य निवृत्तिसे निर्विशेष परमानन्द बोध ब्रह्मरूपता फल है सगुण ब्रह्मवेत्ताओंका अधिष्ठान प्रमाके अभावसे अविद्या निवृत्ति न होनेसे ऐश्वर्यविशेष कार्य ब्रह्मलोककी प्राप्ति फल है इससे फलाधिक्यार्थ आयासाधिक्य न्यूनताका आपादक नहीं है ?

इसका निराकरण करते हैं—नहीं, सगुण ब्रह्मोपासनासे निवृत्त सर्व प्रतिबन्ध गुरु उपदेशके बिना श्रवण मनन निदिध्यासनादिकी आवृत्ति क्लेशके बिना ईश्वर प्रसाद सहकृत वेदान्तवाक्यसे स्वयं तत्त्व ज्ञानोदय होता है उससे अविद्या तत्कार्य्य निवृत्ति होनेसे ब्रह्म लोकमें ऐश्वर्य भोगनेके बाद निर्गुण ब्रह्म विद्या फल कैवल्य होता है 'स एतस्माज्जीवघनात् परात् परं पुरिशयं पुरुषम् ईक्षते' इस श्रुति से, सगुण ब्रह्मोपासक हिरण्य गर्भके ऐश्वर्यको प्राप्तकर भोगान्तमें इस जीव घन अर्थात् सर्व जीव समष्टिरूपसे पर विलक्षण श्रेष्ठ अर्थात् हिरण्यगर्भसे पर श्रेष्ठ पुरिशय स्वहृदय-गुहा-निविष्ट-स्थित-पुरुष-प्रत्यगभिन्न परमात्माको देखता है स्वयं प्रादुर्भूत वेदान्त प्रमाण से साक्षात्कार करता है उसीसेही मुक्त होता है। इस तरह पहले कहे हुए क्लेशके बिना भी सगुण ब्रह्म वेत्ताको ईश्वर प्रसादसे निर्गुण ब्रह्म विद्याफल प्राप्ति होती है यही अर्थ दो श्लोकोंसे कहते हैं—'ये तु सर्वाणि' इत्यादिसे।

तुशब्द उक्ताशङ्कानिवृत्त्यर्थः। ये सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य सगुणे वासुदेवे समर्प्य मत्परा अहं भगवान्वासुदेव एव परः प्रकृष्टः प्रीतिविषयो येषां ते तथा सन्तोऽनन्येनैव योगेन न विद्यते मां भगवन्तं मुक्त्वाऽन्यदालम्बनं यस्य तादृशेनैव योगेन समाधिनैकान्तभक्तियोगापरनाम्ना मां भगवन्तं वासुदेवं सकलसौन्दर्यसारनिधानमानन्दघनविग्रहं द्विभुजं चतुर्भुजं वा समस्तजनमनोमोहिनीं मुरलीमतिमनोहरैः सप्तभिः स्वरैरापूरयन्तं वा दरकमलकौमोदकीरथाङ्गसङ्गिपाणिपल्लवं वा नरसिंहराघवादिरूपं वा यथादर्शितविश्वरूपं वा ध्यायन्तश्चिन्तयन्त उपासते समानाकारमविच्छिन्नं चित्तवृत्तिप्रवाहं संतन्वते समीपवर्तितयाऽऽसते तिष्ठन्ति वा तेषां मय्यावेशितचेतसां मयि यथोक्त आवेशितमेकाग्रतया प्रवेशितं चेतो यैस्तेषामहं सततोपासितो भगवान्मृत्युसंसारसागरान्मृत्युयुक्तो यः संसारो मिथ्याज्ञानतत्कार्यप्रपञ्चः स एव सागर इव दुरुत्तरस्तस्मात्समुद्धर्ता सम्यगनायासेनोद्धर्वं सर्वबाधावधिभूते शुद्धे ब्रह्मणि धर्ता धारयिता ज्ञानावष्टम्भदानेन भवामि नचिरात्क्षिप्रमेव तस्मिन्नेव जन्मनि, हे पार्थेति संबोधनमाश्वासार्थम् ॥ ६–७ ॥

तुशब्द उक्त शङ्का निवृत्तिके लिये है। जो लोग सब कर्मोंको संन्यास कर सगुण वासुदेव मुझमें समर्पण कर मत्पर = मैं भगवान् वासुदेव ही पर प्रकृष्ट प्रीति विषय हूँ जिन लोगोंका वे मत्पर हैं। वैसा होते हुए अनन्य योगसे ही अर्थात्–नहीं है मुझ भगवान् को छोड़ कर दूसरा आधार जिसका वैसेही समाधिसे दूसरा एकान्त भक्तियोग नामसे भगवान् वासुदेव मुझको सकल सुन्दरता सार आश्रय आनन्द घन विग्रह द्विभुज, अथवा चतुर्भुज समस्त जन मनोंकी मोहिनी मुरली अति मनोहर सात स्वरोंसे पूर करते हुए कमल कौमोदकी गदा चक्रसे संयुक्त है पाणि पल्लव जिसका, अथवा नृसिंह स्वरूप वा परम दयालु सुन्दरसे सुन्दर रघुनन्दनरूप वराहादि रूप वा, यथादर्शित विश्वरूपका चिन्तन करते हुए उपासना करते हैं अर्थात् अविच्छिन्न लगातार समानाकार चित्तवृत्ति करते हैं उन मेरे में प्रविष्ट चित्तोंसे युक्त यथोक्तमें आवेशित एकाग्रतासे प्रविष्ट किया है चित्तको जिनने उनसे निरन्तर उपासित मैं भगवान् मृत्यु संसार समुद्रसे अर्थात् मृत्युयुक्त जो संसार मिथ्या ज्ञान तत्कार्य प्रपञ्च वही समुद्रके तरह दुस्तर है उससे अनायास ही उद्धार करता हूँ अर्थात् उत् ऊर्ध्व सर्व बाधाके अवधिभूत शुद्ध ब्रह्ममें धारण करानेवाला होता हूँ अतिशीघ्र उसी जन्ममें, हे पार्थ ! यह सम्बोधन आश्वासनार्थ है ॥ ६ ॥ ७ ॥

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय ।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥ ८ ॥
अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम् ।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाऽऽप्तुं धनञ्जय ॥ ९ ॥

इसलिये हे अर्जुन ! तूँ मेरेमें मनको लगा और मेरेमें ही बुद्धिको लगा, इसके उपरान्त तूँ मेरेमें ही निवास करेगा, अर्थात् मेरेको ही प्राप्त होगा, इसमें कुछ भी संशय नहीं है ॥ ८ ॥

और यदि तूँ, मनको मेरेमें अचल स्थापन करनेके लिये समर्थ नहीं है, तो हे अर्जुन ! अभ्यासरूप योगके द्वारा मेरेको प्राप्त होनेके लिये इच्छा कर ॥ ९ ॥

तदेवमियता प्रबन्धेन सगुणोपासनां स्तुत्वेदानीमतिरिक्तसाधनं विधत्ते—मय्येवेति । मय्येव सगुणे ब्रह्मणि मनः संकल्पविकल्पात्मकमाधत्स्व स्थापय सर्वमनोवृत्तीर्मद्विषया एव कुरु । एवकारानुषङ्गेण मय्येव बुद्धिमध्यवसायलक्षणां निवेशय, सर्वा बुद्धिवृत्तीर्मद्विषयान्तरपरित्यागेन सर्वदा मां चिन्तयेत्यर्थः । ततः किं स्यादित्यत आह—निवसिष्यसि निवत्स्यसि लब्धज्ञानः सन्मदात्मना मय्येव शुद्धे ब्रह्मण्येवात ऊर्ध्वमेतद्देहान्ते न संशयो नात्र प्रतिबन्धशङ्का कर्तव्येत्यर्थः । एव अत ऊर्ध्वमित्यत्र सन्ध्यभावः श्लोकपूरणार्थः ॥ ८ ॥

इदानीं सगुणब्रह्मध्यानाशक्तानामशक्तितारतम्येन प्रथमं प्रतिमादौ

इस प्रकार इतने प्रबन्धसे सगुणोपासनाओंकी स्तुति कर इस समय अतिरिक्त साधनका विधान करते हैं - मय्येवसे । सगुण युक्त मुझ ब्रह्ममें ही संकल्प विकल्पात्मक मनको लगाओ अर्थात् स्थित करो मद्विषयकही सब मनोवृत्तियोंको करो, एवकारका आगे भी सम्बन्ध कर मेरे ये ही अध्यवसाय लक्षण बुद्धिका निवेश करो अर्थात् सब बुद्धिवृत्तियोंको विषयान्तरसे परित्यागकर मद्विषयकही चिन्तन करो— यह अर्थ है ।

शङ्का - इससे क्या होगा ?

समाधान—समीचीन ज्ञानका लाभ कर मत्स्वरूपसे शुद्ध ब्रह्मयुक्त मुझमेंही निवास करोगे इसके ऊपर एतद्देहावसानमें संशय नहीं, इसमें प्रतिवन्ध विघ्नकी शंका नहीं करना चाहिए । इसतरह 'अत ऊद्र्ध्वं' यहां सवर्णदीर्घरूप सन्धिका अभाव श्लोक पूर्तिके लिये किया गया है अन्यथा एक अक्षर कम होनेसे छन्दोभङ्ग होगा ॥ ८ ॥

इस समय सगुण ब्रह्मध्यानमें असमर्थोंको शक्तिके अनुसार पहले बाह्य

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव ।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि ॥ १० ॥

और यदि तूं, ऊपर कहे हुए अभ्यासमें भी असमर्थ है, तो केवल मेरे लिये कर्म करनेके ही परायण हो इस प्रकार मेरे अर्थ कर्मोंको करता हुआ मेरी प्राप्तिरूप सिद्धिको ही प्राप्त होगा ॥ १० ॥

वाह्ये भगवद्ध्यानाभ्यासस्तदशक्तौ भागवतधर्मानुष्ठानं तदशक्तौ सर्वकर्मफलत्याग इति त्रीणि साधनानि त्रिभिः श्लोकैर्विधत्ते—अथेत्यादिना। अथ पक्षान्तरे स्थिरं यथा स्यात्तथा चित्तं समाधातुं स्थापयितुं यदि न शक्नोषि चेत्तत एकस्मिन्प्रतिमादावालम्बने सर्वतः समाहृत्य चेतसः पुनः पुनः स्थापनमभ्यासस्तत्पूर्वको योगः समाधिस्तेनाभ्यासयोगेन मामाप्तुमिच्छ यतस्व। हे धनञ्जयेति बहूञ्शत्रूञ्जित्वा धनमाहृतवानसि राजसूयाद्यर्थमेकं मनःशत्रुं जित्वा तत्त्वज्ञानधनमाहरिष्यसीति न तवाऽऽश्चर्यमिति संबोधनार्थः ॥ ९ ॥

मत्प्रीणनार्थं कर्म मत्कर्म श्रवणकीर्तनादिभागवतधर्मस्तत्परमस्तदेकनिष्ठो भव। अभ्यासासामर्थ्ये मदर्थं भागवतधर्मसंज्ञकानि कर्माण्यपि कुर्वन्सिद्धिं ब्रह्मभावलक्षणां सत्त्वशुद्धिज्ञानोत्पत्तिद्वारेणावाप्स्यसि ॥ १० ॥

प्रतिमादिमें भगवान्के ध्यानका अभ्यास करना चाहिए उसमें यदि समर्थ नहीं तो भागवद् धर्मानुष्ठान करें उसमें भी समर्थ न हों तो सब कर्मफलोंका त्याग करे इन तीन साधनोंका तीन श्लोकोंसे विधान करते हैं—अथ इत्यादिसे। अथ पक्षान्तरमें है मेरेमें स्थिर चित्त करनेमें यदि समर्थ नहीं होते हो तो एक प्रतिमादिक आलम्बनमें सब जगहसे चित्तको हटाकर पुनः उस प्रतिमामें स्थापनका अभ्यास तत्पूर्वक योग रूप समाधि है उससे अभ्यासयोगसे मेरी प्राप्तिकी इच्छा करो और यत्न करो। हे धनंजय ! अनेक शत्रुओंको जीतकर धन एकत्रित किया है राजसूयादिके लिये जिसने ऐसा तुम एक मन शत्रुको जीतकर तत्त्वज्ञान रूप धन इकट्ठा करोगे, तुमको यह आश्चर्य नहीं हो यह सम्बोधनका भाव है ॥९॥

मेरी प्रसन्नताके लिये जो कर्म वह मत्कर्म है श्रवण कीर्तनादि भागवतधर्म तत्परम अर्थात् तदेकनिष्ठ हो अभ्यास करनेका सामर्थ्य न हो तो मदर्थं भागवतधर्मसंज्ञक कर्मोंको करते हुए ब्रह्मभाव लक्षण सिद्धिको अन्तःकरण शुद्धि ज्ञानोत्पत्ति द्वारा पाओगे ॥ १० ॥

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः ।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान् ॥ ११ ॥
श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते ।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ॥ १२ ॥

और यदि इसको भी करनेके लिये असमर्थ है, तो जीते हुए मनवाला और मेरी प्राप्तिरूप योगके शरण हुआ सब कर्मोंके फलका मेरे लिये त्याग कर ॥ ११ ॥

क्योंकि कर्मको न जानकर किये हुए अभ्याससे, परोक्षज्ञान श्रेष्ठ है और परोक्षज्ञानसे, मुझ परमेश्वरके स्वरूपका ध्यान श्रेष्ठ है तथा ध्यानसे भी, सब कर्मोंके फलका मेरे लिये त्याग करना श्रेष्ठ है और त्यागसे तत्काल ही परमशान्ति होती है ॥ १२ ॥

अथ बहिर्विषयाकृष्टचेतस्त्वादेतन्मत्कर्मपरत्वमपि कर्तुं न शक्नोषि ततो मद्योगं मदेकशरणत्वमाश्रितो मयि सर्वकर्मसमर्पणं मद्योगस्तं वाऽऽश्रितः सन् यतात्मवान्यतः संयतसर्वेन्द्रिय आत्मवान्विवेकी च सन् सर्वकर्मफलत्यागं कुरु फलाभिसंधिं त्यजेत्यर्थः ॥ ११ ॥

इदानीमत्रव साधनविधानपर्यवसानादिमं सर्वकर्मफलत्यागं स्तौति—'श्रेय' इत्यादिना । श्रेयः प्रशस्यतरं हि एव ज्ञानं शब्दयुक्तिभ्यामात्मनिश्चयोऽभ्यासाज्ज्ञानार्थश्रवणाभ्यासात्, ज्ञानाच्छ्रवणमननपरिनिष्पन्नादपि ध्यानं निदिध्यासनसंज्ञं विशिष्यतेऽतिशयितं भवति साक्षात्काराव्यवहितहेतुत्वात् । तदेवं सर्वसाधनश्रेष्ठं ध्यानं ततोऽप्यतिशयितत्वेनाङ्गकृतः कर्मफलत्यागः

इसके बाद बाह्य वस्तुसे आकृष्ट चित्त होनेपर यह मत्कर्म परत्व भी यदि नहीं कर सकते हो तो मद्योग मदेकशरणत्वमें आकर मेरेमें सब कर्मको समर्पण मद्योग, अथवा तदाश्रित होकर मदर्थ भगवद्धर्म संज्ञक कर्मोंको करो । सर्वेन्द्रियोंको आत्मवशमें करते हुए आत्मवान् अर्थात विवेकी होकर सर्व कर्म कामनाओंका त्याग करो ॥ ११ ॥

इस समय यहीं पर साधन विधानोंके पर्यवसानसे इस सर्व कर्मफल त्यागकी स्तुति करते हैं—'श्रेयः' इत्यादिसे । श्रेय प्रशस्यतर ही ज्ञान शब्द युक्तियोंसे आत्म निश्चय अभ्याससे, ज्ञानार्थ श्रवणाभ्याससे, ज्ञानसे श्रवण मनन निष्पन्नसे भी ध्यान निदिध्यासन संज्ञक विशिष्ट है तथा उत्कृष्ट है क्योंकि आत्म साक्षात्कारका अव्यवहित हेतु है । इस प्रकार सब साधनोंमें श्रेष्ठ ध्यान है उससे भी अतिशय श्रेष्ठ अङ्गकृत

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च ।
निर्ममो निरहङ्कारः समदुःखसुखः क्षमी ॥ १३ ॥

इस प्रकार शान्तिको प्राप्त हुआ जो पुरुष, सब भूतोंमें द्वेषभावसे रहित एवं स्वार्थरहित सबका प्रेमी और हेतुरहित दयालु है तथा ममतासे रहित एवं अहङ्कारसे रहित, सुख-दुःखोंकी प्राप्तिमें सम और क्षमावान् है अर्थात् अपराध करनेवालेको भी अभय देनेवाला है ॥ १३ ॥

स्तूयते। ध्यानात्कर्मफलत्यागो विशिष्यत इत्यनुषज्यते। त्यागान्नियतचित्तेन पुंसा कृतात्सर्वकर्मफलत्यागाच्छान्तिरुपशमः सहेतुकस्य संसारस्यानन्तरमव्यवधानेन न तु कालान्तरमपेक्षते। अत्र—

'यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि स्थिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते' ॥

इत्यादिश्रुतिषु 'प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्' इत्यादिस्थितप्रज्ञलक्षणेषु च सर्वकामत्यागस्यामृतत्वसाधनत्वमवगतं, कर्मफलानि च कामास्तत्त्यागोऽपि कामत्यागत्वसामान्यात्सर्वकामत्यागफलेन स्तूयते, यथाऽगस्त्येन ब्राह्मणेन समुद्रः पीत इति, यथा वा जामदग्न्येन ब्राह्मणेन निःक्षत्रा पृथिवी कृतेति ब्राह्मणत्वसामान्यादिदानींतना अपि ब्राह्मणा अपरिमेयपराक्रमत्वेन स्तूयन्ते तद्वत् ॥ १२ ॥

तदेवं मन्दमधिकारिणं प्रत्यतिदुष्करत्वेनाक्षरोपासननिन्दया सुकरं

कर्म फल त्याग स्तुत है। ध्यानसे कर्म फल त्याग विशिष्ट है इसका सम्बन्ध है। त्यागसे चित्त नियत पुरुषकृत सर्वकर्मफल त्यागसे शांति मिलती है। सहेतुक संसारके अनन्तर अव्यवधानसे कालान्तरकी अपेक्षा रूप व्यवधान नहीं। यहां पर (यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामायेऽस्य हृदि स्थिताः। अत्र मर्त्योऽमृतो भवति अत्र ब्रह्म समश्नुते) 'प्रजहाति यदा कामान सर्वान्' इत्यादि स्थितप्रज्ञ लक्षणमें सर्व काम त्यागकर्म अमृतत्व साधनत्व अवगत हैं अर्थात् मोक्षसाधनत्व निश्चित है, कर्मफल काम हैं उनका त्याग भी कामत्यागत्व सामान्यसे सर्व कर्म त्याग फल रूपसे स्तुत किया जाता है, जैसे अगस्त्य ब्राह्मणने समुद्रको पिया अथवा जैसे जामदग्न्य ब्राह्मण परशुरामने क्षत्रिय शून्य पृथ्वीकी, ब्राह्मणत्व सामान्यसे आधुनिक भी ब्राह्मण अमित पराक्रम शालित्वेन उसी तरह स्तुत होते हैं ॥ १२ ॥

इस प्रकार मन्दाधिकारीके प्रति अतिकठिन अक्षरोपासन निन्दासे सुलभ

सगुणोपासनं विधायाशक्तितारतम्यानुवादेनान्यान्यपि साधनानि विदधौ भगवान्वासुदेवः कथं नु नाम सर्वप्रतिबन्धरहितः सन्नुत्तमाधिकारितया फलभूतायामक्षरविद्यायामवतरेदित्यभिप्रायेण साधनविधानस्य फलार्थत्वात्।

तदुक्तम्— 'निर्विशेषं परं ब्रह्म साक्षात्कर्तुमनीश्वराः।
ये मन्दास्तेऽनुकम्प्यन्ते सविशेषनिरूपणैः॥
वशीकृते मनस्येषां सगुणब्रह्मशीलनात्।
तदेवाऽऽविर्भवेत्साक्षादपेतोपाधिकल्पनम्' इति॥

भगवता पतञ्जलिना चोक्तं—'समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्' इति। 'ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च' इति च। तत इतीश्वरप्रणिधानादित्यर्थः। तदेवमक्षरोपासननिन्दा सगुणोपासनस्तुतये न तु हेयतया उदितहोमविधावनुदितहोमनिन्दावत्, 'न हि निन्दा निन्द्यं निन्दितुं प्रवर्ततेऽपि तु विधेयं स्तोतुम्' इति न्यायात्। तस्मादक्षरोपासका एव परमार्थतो योगवित्तमाः।

"प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः।
उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्"॥

सगुणोपासनका विधान कर अशक्ति तारतम्यके अनुवादसे अन्यान्य भी साधनोंका विधान वासुदेव भगवान्ने किया। कैसे सर्व प्रतिबन्ध रहित उत्तमाधिकारितया फल भूत अक्षरविद्यामें उतरे? इस अभिप्रायसे साधन विधान फलार्थ है। वह कहा है— 'निर्विशेष परं ब्रह्म साक्षात् कर्तुमनीश्वराः। ये मन्दास्तेऽनुकम्प्यन्ते सविशेषनिरूपणैः॥ वशीकृते मनस्येषां सगुणब्रह्मशीलनात्। तदेवाविर्भवेत् साक्षात् अपेतोपाधिकल्पनम्'॥

अर्थ—जो मन्दाधिकारी निर्विशेष परब्रह्मको साक्षात्कार करनेमें असमर्थ हैं वे मन्द सगुण ब्रह्म निरूपणसे अनुगृहीत होते हैं इनके मन सगुण ब्रह्मोपासनसे वश होनेपर निरुपाधिक वही ब्रह्म साक्षात् आविर्भूत होता है। भगवान् पतञ्जलिने भी कहा है—'समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्' इति। ततः 'प्रत्यक चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च' इति च। ततः—ईश्वर प्रणिधानसे यह अर्थ है। इस प्रकार अक्षरोपासननिन्दा सगुणोपासन स्तुतिके लिए है त्याज्यतया निन्दा नहीं हैं उदित होमविधिमें अनुदित होमनिन्दाकी तरह, निन्दा निन्द्यको निन्दाके लिए प्रवृत्त नहीं होती किन्तु विधेयकी स्तुतिके लिये। इसलिए अक्षरोपासकही यथार्थतः योगवित्तम हैं।

'प्रियो हि ज्ञानिनोत्यर्थमहं स च मम प्रियः। उदाराः सर्व एवैते ज्ञानीत्वात्मैव मे मतम्'॥

सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥ १४ ॥

तथा जो ध्यानयोगमें युक्त हुआ, निरन्तर लाभ हानिमें सन्तुष्ट है तथा मन और इन्द्रियोंसहित शरीरको वशमें किये हुए, मेरेमें दृढ़ निश्चयवाला है, वह मेरेमें अर्पण किये हुए मन बुद्धिवाला मेरा भक्त मेरेको प्रिय है ॥ १४ ॥

इत्यादिना पुनः पुनः प्रशस्ततमतयोक्तास्तेषामेव ज्ञान धर्मजातं चानुसरणीयमधिकारमासाद्य त्वयेत्यर्जुनं बुबोधयिषुः परमहितैषी भगवान-भेददर्शिनः कृतकृत्यानक्षरोपासकान्प्रस्तौति सप्तभिः- सर्वाणि भूतान्या-त्मत्वेन पश्यन्नात्मनो दुःखहेतावपि प्रातिकूलबुद्ध्यभावान्न द्वेष्टा सर्वभूतानां किन्तु मैत्रो मैत्री स्निग्धता तद्वान् । यतः करुणः करुणा दुःखितेषु दया तद्वान्सर्वभूताभयदाता परमहंसपरिव्राजक इत्यर्थः । निर्ममो देहेऽपि ममेति-प्रत्ययरहितः । निरहङ्कारो वृत्तस्वाध्यायादिकृताहङ्कारान्निष्क्रान्तः । द्वेषराग-योरप्रवर्तकत्वेन समे दुःखसुखे यस्य सः । अत एव क्षमी, आक्रोशनताडना-दिनाऽपि न विक्रियामापद्यते ॥ १३ ॥

तस्यैव विशेषणान्तराणि—सन्तुष्ट इत्यादीनि । सततं शरीरस्थितिकारणस्य लाभेऽलाभे च संतुष्ट उत्पन्नालंप्रत्ययः । तथा गुणवल्लाभे विपर्यये च । सतत-

---

इत्यादिसे पुनः पुनः श्रेष्ठतमत्वेन कहे गये हैं । उन्हींका ज्ञान और धर्म समूह अधिकार प्राप्तकर तुमको अनुसरण करना चाहिए यह अर्जुनको समझानेका इच्छासे परम हितैषी भगवान् ब्रह्माभेददर्शी कृतकृत्य अक्षरोपासकोंका सात श्लोकोंसे स्तुति करते हैं—अद्वेष्टा इत्यादिसे । जो सब भूतोंको स्वात्मत्वेन अर्थात् अपने आत्मासे अभिन्न देखते हैं आत्म दुःख हेतुमें भी प्रतिकूल बुद्धि न होनेसे सर्व भूतोंसे द्वेष नहीं करते किन्तु मैत्री स्निग्धता तद्युक्त होते हैं और दुःखियोंमें करुणा दया तद्युक्त होते हैं सबभूतोंको भयदाता परमहंस परिव्राजक निर्मम देहमें भी यह मेरी है इस ज्ञानसे रहित। अहङ्कार शून्य आचरण स्वा-ध्यायादिजन्य अहङ्कार शून्य । रागद्वेष दोनोंके अप्रवर्त्तक होनेसे सुख दुःख बराबर है जिसको एवंभूत अक्षरोपासक अतएव सभी डाटने मारनेसे भी विकारको नहीं प्राप्त होता है ॥ १३ ॥

उसीका विशेषणान्तर ही है 'सन्तुष्ट' इत्यादि । हर समय शरीर स्थिति कारण-के लाभ और अलाभमें सन्तुष्ट उत्पन्न अलंप्रत्यय है यह बहुत है इस ज्ञानसे युक्त,

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ॥ १५ ॥

तथा जिससे कोई भी जीव उद्वेगको प्राप्त नहीं होता है और जो स्वयं भी किसी जीवसे उद्वेगको प्राप्त नहीं होता है, तथा जो हर्ष, आमर्ष, भय और उद्वेगादिकोंसे रहित है, वह भक्त मेरेको प्रिय है ॥ १५ ॥

मिति सर्वत्र सम्बध्यते। योगी समाहितचित्तः। यतात्मा संयतशरीरेन्द्रियादिसङ्घातः। दृढः कुतार्किकैरभिभवितुमशक्यतया स्थिरो निश्चयोऽहमस्म्यकर्त्रभोक्तृसच्चिदानन्दाद्वितीयं ब्रह्मेत्यध्यवसायो यस्य स दृढनिश्चयः स्थितप्रज्ञ इत्यर्थः। मयि भगवति वासुदेवे शुद्धे ब्रह्मणि अर्पितमनोबुद्धिः समर्पितान्तःकरणः। ईदृशो यो मद्भक्तः शुद्धाक्षरब्रह्मवित् स मे प्रियः मदात्मत्वात् ॥ १४ ॥

पुनस्तस्य विशेषणानि यस्मादित्यादिनाह—यस्मात्सर्वभूताभयदायिनः संन्यासिनोहेतोर्नोद्विजते न सन्तप्यते लोको यः कश्चिदपि जनः, तथा लोकान्निरपराधोद्वेजनैकव्रतात्खलजनान्नोद्विजते च यः, अद्वैतदर्शित्वात्परमकारुणिकत्वेन क्षमाशीलत्वाच्च। किञ्च हर्षः स्वस्य प्रियलाभे रोमाञ्चाश्रुपातादिहेतुरानन्दाभिव्यञ्जकश्चित्तवृत्तिविशेषः, आमर्षः परोत्कर्षासहनरूपश्चित्तवृत्ति-

तथा गुणवद् भिक्षादि विषय लाभमें और निर्गुणविषय लाभमें सन्तुष्ट, 'सततम्' यह सब जगह सम्बन्ध होता है। योगी समाहित चित्त। नियन्त्रित शरीरेन्द्रियादि समुदाय। दृढ़ कुतार्किकोंसे चलवानेके लिये असमर्थ होनेसे स्थिर निश्चय मैं हूँ अकर्त्ता अभोक्ता सच्चिदानन्द अद्वितीय ब्रह्म यह निश्चय है जिसका वह दृढ़ निश्चय स्थिरप्रज्ञ है यह अर्थ है। मुझ भगवान् वासुदेव शुद्ध ब्रह्ममें मनोबुद्धि समर्पितकर ऐसा जो मेरा शुद्धाक्षर ब्रह्म वेत्ता है वह मेरा आत्मा होनेसे मेरा प्रिय है ॥ १४ ॥

फिर उसीके विशेषणान्तर 'यस्मात्' इत्यादिसे कहते हैं—जिस कारणसे सर्व भूताभयदायी संन्यासीसे कोई लोग उद्वेग नहीं करता अर्थात् कोई भी मनुष्य संतप्त नहीं होता तथा निरपराधियोंके उद्वेग देनेका स्वभाव है जिसका उस खल लोकसे जो अद्वैतदर्शी होनेसे स्वयं उद्वेग नहीं करता क्योंकि परम दयावान् और क्षमाशील होनेसे। और अपने प्रियलाभ होनेपर रोमाञ्चादि अश्रुपात होनेके हेतु आनन्दाभिव्यञ्जक चित्तवृत्ति विशेष हर्ष, दूसरे का उत्कर्षका असहनरूप चित्तवृत्तिविशेष

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः ।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥ १६ ॥

और जो पुरुष आकांक्षासे रहित तथा बाहर भीतरसे शुद्ध और चतुर है अर्थात् जिस कामके लिये आया था उसको पूरा कर चुका है एवं पक्षपातसे रहित और दुःखोंसे छूटा हुआ है, वह सर्व आरम्भोंका त्यागी अर्थात् मन, वाणी और शरीरद्वारा प्रारब्धसे होनेवाले सम्पूर्ण स्वाभाविक कर्मोंमें कर्तापनके अभिमानका त्यागी, मेरा भक्त मेरेको प्रिय है ॥ १६ ॥

विशेषः, भयं व्याघ्रादिदर्शनाधीनश्चित्तवृत्तिविशेषस्त्रासः, उद्वेग एकाकी कथं विजने सर्वपरिग्रहशून्यो जीविष्यामीत्येवंविधो व्याकुलतारूपश्चित्तवृत्ति-विशेषस्तैर्हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः, अद्वैतदर्शितया तद्योग्यत्वेन तैरेव स्वयं परित्यक्तो न तु तेषां त्यागाय स्वयं व्यापृत इति यावत्। उक्त चेन मद्भक्त इत्यनुकृष्यते। ईदृशो मद्भक्तो यः स मे प्रिय इति पूर्ववत् ॥ १५ ॥

किञ्च—निरपेक्षः सर्वेषु भोगोपकरणेषु यदृच्छोपनीतेष्वपि निःस्पृहः। शुचिर्बाह्याभ्यन्तरशौचसंपन्नः। दक्ष उपस्थितेषु ज्ञातव्येषु कर्तव्येषु च सद्य एव ज्ञातुं कर्तुं च समर्थः। उदासीनो न कस्यचिन्मित्रादेः पक्षं भजते यः। गतव्यथः परैस्ताड्यमानस्यापि गता नोत्पन्ना व्यथा पीडा यस्य सः। उत्पन्नायामपि व्यथायामपकर्तृष्वनपकर्तृत्वं क्षमित्वं, व्यथाकारणेषु

आमर्ष = क्रोध, व्याघ्रादि दर्शनाधीन चित्तवृत्ति विशेष त्रास = भय, उद्वेग अकेले वनमें सब साधनोंसे शून्य जीवेगें कैसे एवंविध व्याकुलतारूप चित्तवृत्ति विशेष, इन हर्षामर्षभय उद्वेगोंसे मुक्त होकर अद्वैतदर्शी होनेके कारण तदयोग्य होनेसे उनसे स्वयं परित्यक्त न तु उनके त्यागके लिये स्वयं व्यापारी ऐसा तात्पर्य है। उक्त चकारसे मद्भक्तका सम्बन्ध है। ऐसा मेरा भक्त जो है वह मेरा प्रिय है यह पहलेके तरह है ॥ १५ ॥

और भी—अपनेसे आये हुए भी सभी भोग साधनोंमें जो निस्पृह है, तथा बाहर भीतरसे शौच सम्पन्न पवित्र है। प्राप्त कर्तव्य ज्ञातव्यमें उसी समय करने और जाननेमें जो समर्थ है वह दक्ष = कुशल है। उदासीन वह जो किसी मित्रादिका पक्षपात नहीं करता। दूसरेसे ताड़ितभी नहीं उत्पन्न हुई है व्यथा = पीड़ा जिसको वह गतव्यथ है। उत्पन्न पीड़ामें भी जो अपकारियोंमें अपकार नहीं करता वह क्षमित्व है, व्यथा कारण रहनेपर भी उसको पीड़ा नहीं उत्पन्न होती

योन हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति ।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः ॥ १७ ॥
समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः ॥ १८ ॥

और जो न कभी हर्षित होता है, न द्वेष करता है, न शोच करता है, न कामना करता है तथा जो शुभ और अशुभ सम्पूर्ण कर्मोंके फलका त्यागी है, वह भक्तियुक्त पुरुष मेरेको प्रिय है ॥ १७ ॥

और जो पुरुष शत्रु मित्रमें और मान अपमानमें सम है तथा सर्दी गर्मी और सुखदुःखादिक द्वन्द्वोंमें सम है और सब संसारमें आसक्तिसे रहित है ॥ १८ ॥

सत्स्वप्यनुत्पन्नव्यथत्वं गतव्यथत्वमिति भेदः । ऐहिकामुष्मिकफलानि सर्वाणि कर्माणि सर्वारम्भास्तान्परित्यक्तुं शीलं यस्य स सर्वारम्भपरित्यागी संन्यासी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥ १६ ॥

किञ्च 'समदुःखसुख' इत्येतद्विवृणोति—यो नेत्यादिना । यो न हृष्यतीष्टप्राप्तौ, न द्वेष्टि अनिष्टप्राप्तौ, न शोचति प्राप्तेष्टवियोगे, न काङ्क्षति अप्राप्तेष्टसंयोगे । सर्वारम्भपरित्यागीत्येतद्विवृणोति—शुभाशुभेति शुभाशुभे । सुखसाधनदुःखसाधने कर्मणी परित्यक्तुं शीलमस्येति शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः ॥१७॥

किञ्च—पूर्वस्यैव प्रपञ्चः । सङ्गविवर्जितश्चेतनाचेतनसर्वविषयशोभना-

वह गतव्यथत्व है यह दोनोंमें भेद है । ऐहिक पारलौकिक फलक सर्वकर्मारम्भोंका परित्याग करनेका स्वभाव है जिसका वह सर्वारम्भपरित्यागी संन्यासी जो मेरा भक्त है वह मुझको प्रिय है ॥ १६ ॥

और भी—'सम दुःख सुख' इसका विवरण करते हैं—'यो न' इत्यादिसे जो इष्ट प्राप्तिमें प्रसन्न न हो और अनिष्ट प्राप्तिका द्वेष करे, प्राप्त इष्टवियोगकी प्राप्तिमें शोक न करे, अप्राप्तेष्ट संयोगको इच्छा न करे। सर्वारम्भपरित्यागी इसका विवरण करते हैं—शुभाशुभसे । शुभाशुभ सुखसाधन और दुःखसाधन कर्मोंको परित्याग करनेका स्वभाव है जिसका वह शुभाशुभ परित्यागी मेरा भक्त मुझको प्रिय है ॥'१७ ॥

पुनः पूर्वही का प्रपञ्च करते हैं। संग रहित अर्थात् चेतनाचेतन सर्व विषयक

तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येन केनचित् ।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः ॥१९॥

तथा जो निन्दा स्तुतिको समान समझनेवाला और मननशील है, अर्थात् ईश्वरके स्वरूपका निरन्तर मनन करनेवाला है एवं जिस किस प्रकारसे भी शरीरका निर्वाह होनेमें सदा ही सन्तुष्ट है और रहनेके स्थानमें ममतासे रहित है, वह स्थिरबुद्धिवाला भक्तिमान् पुरुष मेरेको प्रिय है ॥ १९ ॥

भ्यासरहितः । सर्वदा हर्षविषादशून्य इत्यर्थः । अन्यत् स्पष्टम् ॥ १८ ॥

किञ्च—निन्दा दोषकथनम्, स्तुतिः गुणकथनम्, ते दुःखसुखजनकतया तुल्ये यस्य स । तथा मौनी संयतवाक् । ननु शरीरयात्रानिर्वाहाय वाग्व्यापारोऽपेक्षित एव नेत्याह—संतुष्टो येन केनचित् । स्वप्रयत्नमन्तरेणैव बलवत्प्रारब्धकर्मोपनीतेन शरीरस्थितिहेतुमात्रेणाशनादिना संतुष्टो निवृत्तस्पृहः । किञ्च—अनिकेतो नियतनिवासरहितः । स्थिरा परमार्थवस्तुविषया मतिर्यस्य स स्थिरमतिः । ईदृशो यो भक्तिमान्स मे प्रियो नरः । अत्र पुनः पुनर्भक्तेरुपादानं भक्तिरेवापवर्गस्य पुष्कलं कारणमिति द्रढयितुम् ॥ १९ ॥

शोभन अभ्यास रहित । हरसमय हर्ष विषादसे शून्य यह अर्थ है । बाकी स्पष्ट है ॥ १८ ॥

और भी—निन्दा दोषकथन, स्तुति गुणकथन, ये दोनों दुःख सुख उत्पादक होनेके कारण तुल्य है जिसको वह । तथा मौनी नियन्त्रितवाक् ।

शङ्का—नियन्त्रितवाग् कैसे होगा ? शरीरयात्रा निर्वाहके लिये वाग्व्यापार तो अपेक्षित है ही ।

समाधान—करते हैं नहीं 'सन्तुष्टो येन केनचित्' जिस किसीसे सन्तुष्ट अर्थात् जो अपने प्रयत्नके बिना बलवान् प्राचीन प्रारब्ध कर्मसे प्राप्त शरीर स्थित हेतु मात्र भोजनादिसे विगतेच्छ और अनिकेत = निश्चित निवास स्थान रहित । स्थिर परमार्थ वस्तु विषयक बुद्धि है जिसकी वह स्थिरमति है । ऐसा जो भक्तिमान् है वह मुझको प्रिय है । यहां पर बारम्बार भक्तिका ग्रहण है इसलिये भक्तिही मोक्षका पूर्ण कारण है यह दृढ़ होता है ॥१९॥

ये तु धर्मामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते ।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः ॥ २० ॥

और जो मेरे परायण हुए अर्थात् मेरेको परम आश्रय और परमगति एवं सबका आत्मरूप और सबसे परे, परमपूज्य समझकर, विशुद्ध प्रेमसे मेरी प्राप्तिके लिए तत्पर हुए श्रद्धायुक्त पुरुष, इस ऊपर कहे हुए धर्ममय अमृतको निष्कामभावसे सेवन करते हैं वे भक्त मेरेको अतिशय प्रिय हैं ॥ २० ॥

अद्वेष्टेत्यादिनाऽक्षरोपासकादीनां जीवन्मुक्तानां संन्यासिनां लक्षणभूतं स्वभावसिद्धं धर्मजातमुक्तम् , यथोक्तं वार्तिके—

" उत्पन्नात्मावबोधस्य ह्यद्वेष्टृत्वादयो गुणाः ।
अयत्नतो भवन्त्येव न तु साधनरूपिणः " इति ॥

एतदेव च पुरा स्थितप्रज्ञलक्षणरूपेणाभिहितम् । तदिदं धर्मजातं प्रयत्नेन संपाद्यमानं मुमुक्षोर्मोक्षसाधनं भवतीति प्रतिपादयन्नुपसंहरति — 'ये तु' इत्यादिना । ये तु संन्यासिनो मुमुक्षवो धर्मामृतं धर्मरूपममृतमृतत्वसाधनत्वादमृतवदास्वाद्यत्वाद्वेदं यथोक्तम् अद्वेष्टा सर्वभूतानामित्यादिना, प्रतिपादितं पर्युपासतेऽनुतिष्ठन्ति प्रयत्नेन श्रद्दधानाः सन्तो मत्परमा अहं भगवानक्षरात्मा वासुदेव एव परमः प्राप्तव्यो निरतिशया गतिर्येषां ते मत्परमा

'अद्वेष्टा' इत्यादिसे अक्षरोपासकादि जीवन्मुक्त संन्यासियोंका लक्षणभूत स्वभावसिद्ध धर्म समुदाय फल कहा गया है, जो वार्तिकमें कहा है—

'उत्पन्नात्मावबोधस्य ह्यद्वेष्टित्वादयो गुणाः ।
अयत्नतो भवन्त्येव न तु साधनरूपिणः ॥'

अर्थ—आत्मज्ञान होनेपर बिना प्रयत्नके अद्वेष्टित्वादि गुण स्वयं होतेही हैं साधनरूपी नहीं हैं अर्थात् अन्यथा सिद्ध हैं । ये ही पूर्वमें स्थितप्रज्ञ लक्षणरूपसे कहा है यह धर्मसमुदाय प्रयत्नसे सम्पाद्यमान मुमुक्षुके मोक्षका साधन होता है इसका प्रतिपादन करते हुए उपसंहार करते हैं—'ये तु' इत्यादिसे । जो मुमुक्षु संन्यासी धर्मरूप जो अमृत अर्थात् अमृतत्व साधन अथवा अमृतके तरह आस्वादयुक्त जो उक्त धर्म पूर्वमें 'अद्वेष्टा सर्व भूतानाम्' इत्यादिसे कहा है श्रद्धा पूर्वक उसका जो अनुष्ठान करता है परिश्रम तप श्रद्धासे अक्षरात्मा भगवान् वासुदेव ही परम प्राप्तव्य अथवा निरतिशय गति है जिनके वे मत्परम

भक्ता मां निरुपाधिकं ब्रह्म भजमानास्तेऽतीव मे प्रियाः।'प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः' इति पूर्वसूचितस्यायमुपसंहारः। यस्माद्धर्मामृतमिदं श्रद्धयाऽनुतिष्ठन्भगवतो विष्णोः परमेश्वरस्यातीव प्रियो भवति तस्मादिदं ज्ञानवतः स्वभावसिद्धतया लक्षणमपि मुमुक्षुणाऽऽत्मतत्त्वजिज्ञासुनाऽऽत्मज्ञानोपायत्वेन यत्नादनुष्ठाय विष्णोः परमं पदं जिगमिषुणेति वाक्यार्थः। तदेवं सोपाधिकब्रह्माभिध्यानपरिपाकान्निरुपाधिकं ब्रह्मानुसंदधानस्याद्वेष्टृत्वादिधर्मविशिष्टस्य मुख्यस्याधिकारिणः श्रवणमननिदिध्यासनान्यावर्तयतो वेदान्तवाक्यार्थतत्त्वसाक्षात्कारसंभवात्ततो मुक्त्युपपत्तेर्मुक्तिहेतुवेदान्तमहावाक्यार्थान्वययोग्यस्तत्पदार्थोऽनुसंधेय इति मध्यमेन षट्केन सिद्धम् ॥ २० ॥

जीवन्मुक्तेर्निर्विकल्पाद्विशिष्टा निष्ठोक्तातोऽजेन भक्तेर्वरिष्ठा ।
तत्रानन्दाब्धौ कृता मे प्रतिष्ठा येनातस्तं काशिराजं भजेऽहम् ॥

इति श्रीमधुसूदनसरस्वतीविरचितायां गूढार्थदीपिकायां
विश्वरूपदर्शननिरूपणं नाम द्वादशोऽध्यायः ॥

भक्त मुझ निरुपाधिक ब्रह्मका भजन करते हैं वे मुझको अधिक प्रिय है। 'प्रियो हि ज्ञानिनोत्यर्थमहं स च मम प्रियः' इस पूर्व सूचितका यह उपसंहार है। यस्मात् यह धर्मयुक्त अमृत श्रद्धासे अनुष्ठान करता हुआ परमेश्वर भगवान् विष्णुका अत्यन्त प्रिय होता है इसलिए ज्ञानवान्में स्वतः सिद्ध उस लक्षणको आत्मतत्त्व जिज्ञासु मुमुक्षुको आत्म ज्ञानोपाय रूपसे परम प्रयत्नसे अनुष्ठानके योग्य है विष्णुके परम पदमें जो जिगमिषु है यह वाक्यार्थ है। इस प्रकार सोपाधिक ब्रह्मध्यान परिपाकसे निरुपाधिक ब्रह्मका अनुचिन्तन करनेवाला अद्वेष्टित्वादि धर्म विशिष्ट मुख्याधिकारि श्रवण मनन निदिध्यासनका आवर्तन करता हुआ वेदान्त वाक्यार्थतत्त्व साक्षात्कार मुक्तिको प्राप्त करता है मुक्ति हेतु वेदान्त महावाक्यार्थन्वययोग्य तत्पदार्थ चिन्तनीय है यह मध्यम षष्ठ अध्यायसे सिद्ध है ॥ २० ॥

भगवान्ने निर्विकल्प जीवन मुक्तिसे भक्ति निष्ठा श्रेष्ठ कहा है उसमें जिसने आनन्द समुद्रमें मेरी स्थिति किया उस काशिराज गुरुका भजन करता हूँ।

इसतरह—म० म० पण्डितश्रीहरिहरकृपालुद्विवेदविरचितगीतामधुसूदनी-भाषानुवादमें बारहवाँ अध्याय समाप्त हुआ।

त्रयोदशोऽध्यायः ।

श्रीभगवानुवाच—

इदं शरीरं कौन्तेय ! क्षेत्रमित्यभिधीयते ।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ॥ १ ॥

अर्जुन ! यह शरीर क्षेत्र है, ऐसे कहा जाता है और इसको जो जानता है, उसको क्षेत्रज्ञ ऐसा उनके तत्त्वको जाननेवाले ज्ञानीजन कहते हैं ॥ १ ॥

ध्यानाभ्यासवशीकृतेन मनसा तन्निर्गुणं निष्क्रियं
ज्योतिः किंचन योगिनो यदि परं पश्यन्ति पश्यन्तु ते ।
अस्माकं तु तदेव लोचनचमत्काराय भूयाच्चिरं
कालिन्दीपुलिनेषु यत्किमपि तन्नीलं महो धावति ॥

प्रथममध्यमषट्कयोस्तत्त्वंपदार्थावुक्तावुत्तरस्तु षट्को वाक्यार्थनिष्ठः सम्यग्धीप्रधानोऽधुनाऽऽरभ्यते । तत्र—"तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् । भवामि" इति प्रागुक्तम् । अनात्माज्ञानलक्षणान्मृत्योरात्मज्ञानं विनोद्धरणं संभवति । अतो यादृशेनाऽऽत्मज्ञानेन मृत्युसंसारनिवृत्तिर्येन च तत्त्वज्ञानेन

'प्रत्ययैकतानलता ध्यानं तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यास' इन योगसूत्रोंसे निर्दिष्ट पूर्वव्याख्यात ध्यानाभ्याससे स्ववशीकृत मनसे वह निर्गुण गुणातीत क्रियारहित स्वयंप्रकाश चैतन्यात्म कोई ज्योति यदि योगिजन सर्वोत्कृष्ट देखते हैं तो वे देखें उनसे हमको कुछ कहना नहीं है, किन्तु मेरे नेत्र चमत्कारके लिये 'आनन्दसन्दोहोद्रेकार्थ' वही यमुनाजीके किनारे जो अवाङ्मनोगोचर कोई श्यामतेज दौड़ता है वह हो अर्थात् मेरा नेत्र श्रीकृष्णचन्द्रके दर्शनार्थ ही लोलुप है। इससे भगवान् श्रीवासुदेवमें भक्ति प्रेमातिशय दिखलाया दोनोंका ऐक्य ध्वनित होता है। प्रथम और मध्यम छ अध्यायोंसे तत्त्व पदार्थ ब्रह्मजीव कहा। उत्तर छ अध्याय समुदाय तत्त्वमसि एतद्वाक्यार्थनिष्ठ समीचीन ज्ञान प्रधान जो है सो उसका अब प्रारम्भ करते हैं। उसमें तेषामहमित्यादि पूर्वमें कहा गया है। अनात्म ज्ञानस्वरूप मृत्युसे उद्धार आत्मज्ञानके बिना नहीं हो सकता अतएव 'तरति शोकमात्मवित्' यह श्रुतिका उद्घोष है इस कारणसे जिस आत्मज्ञानसे मृत्युशील संसारकी निवृत्ति और जिस तत्त्वज्ञानसे युक्त अद्वेष्टृत्वादि

युक्ता अद्वेष्टृत्वादिगुणशालिनः संन्यासिनः प्राग्व्याख्यातास्तदात्मतत्त्वज्ञानं वक्तव्यम्। तच्चाद्वितीयेन परमात्मना सह जीवस्याभेदमेव विषयीकरोति, तद्भेदभ्रमहेतुकत्वात्सर्वानर्थस्य। तत्र जीवानां संसारिणां प्रतिक्षेत्रं भिन्नानामसंसारिणैकेन परमात्मना कथमभेदः स्यादित्याशङ्कायां संसारस्य भिन्नत्वस्य चाविद्याकल्पितानात्मधर्मत्वान्न जीवस्य संसारित्वं भिन्नत्वं चेति वचनीयम्। तदर्थं देहेन्द्रियान्तःकरणेभ्यः क्षेत्रेभ्यो विवेकेन क्षेत्रज्ञः पुरुषो जीवः प्रतिक्षेत्रमेक एव निर्विकार इति प्रतिपादनाय क्षेत्रक्षेत्रज्ञविवेकः क्रियतेऽस्मिन्नध्याये। तत्र ये द्वे प्रकृती भूम्यादिक्षेत्ररूपतया जीवरूपक्षेत्रज्ञतया चापरपरशब्दवाच्ये सप्तमाध्याये सूचिते तद्विवेकेन तत्त्वं निरूपयिष्यन् श्रीभगवानुवाच—**इदमिति।**

इदमिन्द्रियान्तःकरणसहितं भोगायतनं शरीरं हे कौन्तेय! क्षेत्रमित्यभिधीयते सस्यस्येवास्मिन्नसकृत्कर्मणः फलस्य निर्वृत्तेः। एतद्यो वेत्ति अहं ममेत्यभिमन्यते तं क्षेत्रज्ञ इति प्राहुः कृषीवलवत्तत्फलभोक्तृत्वात्। तद्विदः क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्विवेकविदः। अत्र चाभिधीयत इति कर्मणि प्रयोगेण क्षेत्रस्य

गुणवान् संन्यासी जो पूर्वमें कहे गये हैं उस आत्मतत्त्वज्ञानको कहना है। वह ज्ञान अद्वितीय परमात्माके साथ जीवके अभेद 'ऐक्य' को ही विषय करता है क्योंकि जीवब्रह्मभेद भ्रममूलक ही सब अनर्थ है संसार मूल उक्त भेदभ्रमका निवर्तक उक्ताभेद निश्चय ही है। प्रति शरीर जीव भिन्न है और परमात्मा एक है फिर इन दोनोंका अभेद ऐक्य कैसे हो सकता है? ऐसी शंका होनेपर संसार और भेद अविद्याकल्पित होनेसे आत्माके धर्म नहीं है अतएव जीवमें संसारित्व और भिन्नत्व निराकरणीय है एतदर्थ देहेन्द्रियादि क्षेत्रसे विवेक कर क्षेत्रज्ञ पुरुष जीव एकही विकार शून्य हर एक शरीरोंके है इसके समुद्बोधार्थ इस अध्यायमें क्षेत्र क्षेत्रज्ञका विवेचन करते हैं इसमें जो दो प्रकृती पृथिव्यादि क्षेत्ररूपसे जीव क्षेत्रज्ञ रूपसे जो परापर शब्दसे सप्तम अध्यायमें कहे गये हैं उसके विवेचनमें तत्त्वनिरूपण करनेवाले भगवान् बोले—इदमिति। हे अर्जुन! यह इन्द्रिय और अन्तःकरण सहित भोगायतन शरीर को सस्यके तरह इसमें बार २ कर्मफलके होनेसे क्षेत्र यह कहा जाता है। यह मैं और यह मेरा जो समझता है उसे क्षेत्रज्ञ कहते हैं—कृषीवल किसान खेती करनेवाले के समान तत्फलको भोगनेसे। तद्विदः—क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका विशेष दर्शी, यहाँ पर अभिधीयते में कर्ममें लकार होनेसे कर्मप्रत्ययान्त उक्त प्रयोगसे क्षेत्र

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम ॥ २ ॥

और हे अर्जुन ! तू सब क्षेत्रोंमें क्षेत्रज्ञ अर्थात् जीवात्मा भी मेरेको ही जान और क्षेत्र क्षेत्रज्ञका अर्थात् विकारसहित प्रकृतिका और पुरुषका जो तत्त्वसे जानना है वह ज्ञान है, ऐसा मेरा मत है ॥ २ ॥

जडत्वात्कर्मत्वं क्षेत्रज्ञशब्दे च द्वितीयां विनैवेतिशब्दमाहरन्स्वप्रकाशत्वात्कर्मत्वाभावमभिप्रैति । तत्रापि क्षेत्रं यैः कैश्चिदप्यभिधीयते न तत्र कर्तृगतविशेषापेक्षा । क्षेत्रज्ञं तु कर्मत्वमन्तरेणैव विवेकिन एवाऽऽहुः स्थूलदृशामगोचरत्वादिति कथयितुं विलक्षणवचनव्यक्त्यैकत्र कर्तृपदोपादानेन च निर्दिशति भगवान् ॥ १ ॥

एवं देहेन्द्रियादिविलक्षणं स्वप्रकाशं क्षेत्रज्ञमभिधाय तस्य पारमार्थिकं तत्त्वमसंसारिपरमात्मनैक्यमाह—**क्षेत्रज्ञमिति** ।

सर्वक्षेत्रेषु य एकः क्षेत्रज्ञःस्वप्रकाशचैतन्यरूपो नित्यो विभुश्च तमविद्याध्यारोपितकर्तृत्वभोक्तृत्वादिसंसारधर्मं क्षेत्रज्ञमाविद्यकरूपपरित्यागेन मामी-

---

शरीर जड़ है अतएव कर्म है, क्षेत्रज्ञ शब्दमें द्वितीया विभक्तिके बिना इति शब्दके समभिव्याहारसे स्वप्रकाश होनेसे कर्मत्वाभाव अभिप्रेत है तात्पर्य यह कि आत्मा विषयी और असङ्ग होनेसे ज्ञानविषयत्वेन कर्म नहीं हो सकता । क्षेत्रको कोई भी कह सकते हैं क्योंकि वह स्थूल बुद्धियोंका विषय है इसमें विशिष्ट कर्त्ताकी अपेक्षा नहीं क्षेत्रज्ञको कर्मत्वके बिना विवेकी कह सकते हैं । क्षेत्रकथन में कर्ताका निर्देश नहीं है । 'अभिधीयते'से तृतीयान्त जिस किसी साधारण मनुष्य कर्ताका अध्याहार होता है, द्वितीय क्षेत्रज्ञ कथनमें तद्विदःसे विशिष्ट तद्वेत्ता पुरुष कर्ताका प्रथमा बहुवचनान्तसे निर्देश है, इसलिये भगवान्का तात्पर्य आत्माके स्वप्रकाशमें है यह स्पष्ट अभिव्यक्त होता है ॥ १ ॥

इस प्रकार देहेन्द्रियादिसे विलक्षण स्वप्रकाश क्षेत्रज्ञको कहकर उसका यथार्थस्वरूप असंसारी वास्तविक बंधशून्य परमात्माके साथ ऐक्य कहते हैं 'क्षेत्रज्ञ' इत्यादिसे । हे भारत ! सब क्षेत्रोंमें जो एक क्षेत्रज्ञ है स्वप्रकाशचैतन्यरूप नित्य और विभु उस अविद्यासे आरोपित कर्तृत्व भोक्तृत्वादि संसार धर्म विशिष्ट

तत्क्षेत्रं यच्च यादृक्च यद्विकारि यतश्च यत् ।
स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु ॥ ३ ॥

इसलिये, वह क्षेत्र जो है और जैसा है तथा विकारोंवाला है और जिस कारणसे जो हुआ है तथा वह क्षेत्रज्ञ भी जो है और जिस प्रभाववाला है वह सब संक्षेपसे मेरेसे सुन ॥ ३ ॥

श्वरमसंसारिणमद्वितीयब्रह्मानन्दरूपं विद्धि हे भारत ! । एवं च क्षेत्रं मायाकल्पितं मिथ्या, क्षेत्रज्ञश्च परमार्थसत्यस्तद्भ्रमाधिष्ठानमिति क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्यज्ज्ञानं तदेव मोक्षसाधनत्वाज्ज्ञानमविद्याविरोधिप्रकाशरूपं मम मतमन्यत्वज्ञानमेव तदविरोधित्वादित्यभिप्रायः । अत्र जीवेश्वरयोराविद्यको भेदः पारमार्थिकस्त्वभेद इत्यत्र युक्तयो भाष्यकृद्भिर्वर्णिताः । अस्माभिस्तु ग्रन्थविस्तरभयात्प्रागेव बहुधोक्तत्वाच्च नोपन्यस्ताः ॥ २ ॥

संक्षेपेणोक्तमर्थं विवरीतुमारभते—तत्क्षेत्रमिति ।

तदिदं शरीरमिति प्रागुक्तं जडवर्गरूपं क्षेत्रं यच्च स्वरूपेण जडदृश्यपरिच्छिन्नादिस्वभावं यादृक्चेच्छादिधर्मकं यद्विकारि यैरिन्द्रियादिविकारैर्युक्तम् । यतश्च कारणाद्यत्कार्यमुत्पद्यत इति शेषः । अथवा यतः प्रकृतिपुरुषसंयोगा-

---

क्षेत्रको आरोपिताविद्या रूपके परित्यागसे मुझ असंसारी ईश्वर अद्वितीय ब्रह्मानन्दरूपको जानो । इस प्रकार क्षेत्रको मायो कल्पित मिथ्या मानो क्षेत्रज्ञको परमार्थ सत्य समझो क्षेत्रभ्रमका अधिष्ठान क्षेत्रज्ञ हैं यह क्षेत्रक्षेत्रज्ञका जो ज्ञान वही मोक्ष हेतु होनेसे ज्ञान अविद्या विरोधिप्रकाशरूप मुझको अभिमत है इससे अतिरिक्त ज्ञान तो अज्ञान ही है क्योंकि वह अविद्या विरोधी नहीं है यह अभिप्राय है। यहाँ जीव और ईश्वरका भेद आविद्यिक है वास्तविक तो अभेद ही है इसमें युक्तियां भाष्यकारने कही है, हमने ग्रन्थके विस्तार भयसे और पूर्वमें बहुत प्रकारसे कहा भी है अतः उनका पुनः उल्लेख नहीं किया ग्रन्थकारके कथनानुसार हम भी भाष्योक्त युक्तियोंका अनुवाद छोड़ते हैं ॥ २ ॥

संक्षेपसे उक्तार्थके विवरणका आरम्भ करते हैं 'तत्क्षेत्रम्' इत्यादिसे। वह यह शरीर जो पहले कहा है वह जडवर्गरूप क्षेत्र जो स्वरूपसे जड़ दृश्य परिच्छिन्नादि स्वभाव यादृक् जैसा इच्छादिधर्मक यद्विकारि-जिन इन्द्रियादि विकारोंसे युक्त जिस कारणसे जो कार्य उत्पन्न होता है, 'उत्पद्यते' श्लोकमें नहीं है इसलिये शेषः कहा।

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक् ।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः ॥ ४ ॥

यह क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका तत्त्व, ऋषियोंद्वारा बहुत प्रकारसे कहा गया है अर्थात् समझाया गया है और नाना प्रकारके वेदमन्त्रोंसे, विभागपूर्वक कहा गया है तथा अच्छी प्रकार निश्चय किये हुये युक्तियुक्त ब्रह्मसूत्रके पदोंद्वारा भी वैसे ही कहा हुया है ॥ ४ ॥

भवति, यदिति यैः स्थावरजङ्गमादिभेदैर्भिन्नमित्यर्थः। अत्रानियमेन चकारप्रयोगात्सर्वसमुच्चयो द्रष्टव्यः। स च क्षेत्रज्ञो यः स्वरूपतः स्वप्रकाशचैतन्यानन्दस्वभावः, यत्प्रभावश्च ये प्रभावा उपाधिकृताः शक्तयो यस्य तत्क्षेत्रक्षेत्रज्ञयाथात्म्यं सर्वविशेषणविशिष्टं समासेन संक्षेपेण मे मम वचनाच्छृणु श्रुत्वाऽवधारयेत्यर्थः ॥ ३ ॥

कैर्विस्तरेणोक्तस्यायं संक्षेप इत्यपेक्षायां श्रोतृबुद्धिप्ररोचनार्थं स्तुवन्नाह—
ऋषिभिरिति ।

ऋषिभिर्वसिष्ठादिभिर्योगशास्त्रेषु, धारणाध्यानविषयत्वेन बहुधा गीतं निरूपितम् । एतेन योगशास्त्रप्रतिपाद्यत्वमुक्तम् । विविधैर्नित्यनैमित्तिककाम्यकर्मादिविषयैश्छन्दोभिर्ऋगादिमन्त्रैर्ब्राह्मणैश्च पृथग्विवेकतो गीतम् । एतेन

अथवा जिस प्रकृति पुरुष संयोगसे होता है; जिन स्थावर वृक्षादि जंगम मनुष्यादि भेदोंसे भिन्न । यहां 'यच्चयादृक्च' इत्यादि कतिपयपदोत्तर चकार है 'क्षेत्र-क्षेत्रज्ञयो' इत्यादिमें चकार नहीं है अतः अनियमसे कहा, अनियत चकारसे सबका समुच्चय जानना। वह क्षेत्रज्ञ जो स्वरूपतः स्वप्रकाश चैतन्यानन्द स्वभाव है जो प्रभाव उपाधिकृतशक्ति है जिसका वह क्षेत्र क्षेत्रज्ञ याथात्म्य सब विशेषणोंसे युक्त संक्षेपसे मुझसे सुनो और सुन कर निश्चय करो यह अर्थ है ॥ ३ ॥

प्रश्न—किसने विस्तारसे कहा है जिसका यह संक्षेप है इस अपेक्षामें श्रोताके बुद्धिमें उत्साहार्थ स्तुति करते हुए कहते हैं—'ऋषिभि' इत्यादिसे। ऋषि वशिष्ठादिकोंने योगशास्त्रों में धारणा ध्यान विषय द्वारा अनेक प्रकारसे निरूपण किया है, इससे इसमें योगशास्त्र प्रतिपाद्यत्व कहा विविध नित्य नैमित्तिक काम्य कर्मादि विषयमें छन्दऋगादि मन्त्र एवं ब्राह्मणोंसे अलग २ विचारपूर्वक निरूपण

कर्मकाण्डप्रतिपाद्यत्वमुक्तम्। ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव ब्रह्म सूत्र्यते सूच्यते किंचिद्व्यवधानेन प्रतिपाद्यत एभिरिति ब्रह्मसूत्राणि "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति" इत्यादीनि तटस्थलक्षणपराण्युपनिषद्वाक्यानि। तथा पद्यते ब्रह्म साक्षात्प्रतिपाद्यत पदानि स्वरूपलक्षणपराणि "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" इत्यादीनि तैर्ब्रह्मसूत्रैः पदैश्च हेतुमद्भिः "सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्" इत्युपक्रम्य "तद्धैक आहुरसदेवेदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयं तस्मादसतः सज्जायेत" इति नास्तिकमतमुपन्यस्य "कुतस्तु खलु सोम्यैवं स्यादिति होवाच कथमसतः सज्जायेत" इत्यादियुक्तीः प्रतिपादयद्भिर्विनिश्चितैरुपक्रमोपसंहारैकवाक्यतया संदेहशून्यार्थप्रतिपादकैर्बहुधा गीतं च। एतेन ज्ञानकाण्डप्रतिपाद्यत्वमुक्तम्। एवमेतैरतिविस्तरेणोक्तं क्षेत्रक्षेत्रज्ञयाथात्म्यं संक्षेपेण तुभ्यं कथयिष्यामि

किया है। इससे कर्मकाण्ड प्रतिपाद्यत्व कहा। 'ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव' यहाँ ब्रह्म सूत्र्यते सूच्यत किञ्चित् व्यवधानेन प्रतिपाद्यते एभिः इति ब्रह्मसूत्राणि 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जतानि जीवन्ति यत् प्रयन्त्यभि सम्विशन्ति' इत्यादि तटस्थलक्षणपरक उपनिषद् वाक्य ब्रह्मसूत्र है।

अर्थात्—जिससे वे भूत उत्पन्न होते हैं जिससे उत्पन्न जीते हैं नष्ट होते हुए जिसमें तिरोहित होते हैं इत्यादि ब्रह्म के तटस्थ लक्षणपरक उपनिषद् वाक्य ब्रह्मसूत्र विवक्षित हैं।

जन्म, स्थिति भंगका हेतु और उपादान दोनों ब्रह्म ही है यह तटस्थ लक्षण है। 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' यह स्वरूप लक्षण है जो आगे कहते हैं। तथा पद्यते ब्रह्म साक्षात् 'प्रतिपाद्यते एभिः' इति पदानि स्वरूपलक्षणपराणि 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादीनि। इसका अर्थ—साक्षात् प्रदिपादन किया जाय ब्रह्म जिनसे वे पद हैं जैसे सत्यादि ये शब्द साक्षात् ब्रह्मके बोधक हैं। हेतुमद्भिः 'सदेव सोम्येदमग्र आसीद एकमेवाद्वितीयं इस उपक्रमका 'तद्धैके आहु असदेवेदमग्र आसीद् एकमेवाद्वितीयं तस्मात् असतः सज्जायेत' इस नास्तिक मतका उपन्यासकर हे सौम्य! कैसे ऐसा हो सकता है यह कहा। 'कथमसतः सज्जायेत' इत्यादि युक्तियोंका प्रतिपादन करते हुए विनिश्चित उपक्रमोपसंहारैकवाक्यसे संदेह रहित अर्थ प्रतिपादक पदोंसे अनेक प्रकार निरूपण किया गया है। इससे ज्ञानकाण्ड प्रतिपाद्यत्व कहा। इस प्रकार इन पूर्वोक्तोंसे विस्तारसे युक्त क्षेत्र क्षेत्रज्ञ का तत्त्व संक्षेपसे तुमसे कहूँगा उसको सुनो

महाभूतान्यहङ्कारो बुद्धिरव्यक्तमेव च ।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः ॥ ५ ॥
इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः ।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ॥ ६ ॥

और हे अर्जुन ! वही मैं तेरे लिए कहता हूं कि, पांच महाभूत अर्थात् आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवीका सूक्ष्मभाव, अहंकार, बुद्धि और मूलप्रकृति अर्थात् त्रिगुणमयी माया भी तथा दश इन्द्रियां अर्थात् श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, रसना और घ्राण एवं वाक्, हस्त, पाद, उपस्थ और गुदा, एक मन और पांच इन्द्रियोंके विषय अर्थात् शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ॥ ५ ॥

तथा इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख और स्थूल देहका पिण्ड एवं चेतनता और धृति इस प्रकार यह क्षेत्र विकारों के सहित संक्षेपसे कहा गया ॥ ६ ॥

तच्छ्रुणित्यर्थः । अथवा ब्रह्मसूत्राणि तानि पदानि चेति कर्मधारयः । तत्र विद्यासूत्राणि "आत्मेत्येवोपासीत" इत्यादीनि अविद्यासूत्राणि "न स वेद यथा पशुः" इत्यादीनि तैर्गीतमिति ॥ ४ ॥

एवं प्रोत्साहितायार्जुनाय क्षेत्रस्वरूपं तावदाह द्वाभ्याम्—महेत्यादिना

महान्ति भूतानि भूम्यादीनि पञ्च, अहङ्कारस्तत्कारणभूतोऽभिमानलक्षणः, बुद्धिरहङ्कारकारणं महत्तत्त्वमध्यवसायलक्षणम् । अव्यक्तं तत्कारणं सत्त्वरजस्तमोगुणात्मकं प्रधानं सर्वकारणं न कस्यापि कार्यम्, एवकारः प्रकृत्यवधारणार्थः । एतावत्येवाष्टधा प्रकृतिः । चशब्दो भेदसमुच्चयार्थः तदेवं

यह अर्थ है । अथवा ब्रह्मसूत्राणि च तानि पदानि यह कर्मधारय है । उसमें विद्यासूत्र 'आत्मेत्येव उपासीत' इत्यादि, अविद्यासूत्र 'न स वेद यथा पशुः' इत्यादिकोंसे अनेकप्रकार निरूपण किया गया है ॥ ४ ॥

इस प्रकार प्रोत्साहित अर्जुनको २ श्लोकोंसे क्षेत्रका स्वरूप कहते हैं—महेत्यादिसे । महाभूत भूम्यादि पांच अहङ्कार तत्कारणभूत अभिमान लक्षण, बुद्धि-अध्यवसाय लक्षण महत्तत्व अहङ्कारकारण इसका कारण सत्त्वरजोगुणात्मक अव्यक्त प्रधान यह सबका कारण ही है किसीका कार्य्य नहीं, एवकार प्रकृतिके निश्चयार्थक है। इतनी ही आठ प्रकारकी प्रकृति है, च भेद समुच्चयार्थ है । इस प्रकार सांख्यमतसे

सांख्यमतेन व्याख्यातम्। औपनिषदानां तु अव्यक्तमव्याकृतमनिर्वचनीयं मायाख्या पारमेश्वरी शक्तिः 'मम माया दुरत्यये' त्युक्तम्। बुद्धिः सर्गादौ तद्विषयमीक्षणम्। अहङ्कार ईक्षणानन्तरमहं बहु स्यामिति संकल्पः। तत आकाशादिक्रमेण पञ्चभूतोत्पत्तिरिति न ह्यव्यक्तमहदहङ्काराः सांख्यसिद्धा औपनिषदैरुपगम्यन्तेऽशब्दत्वादिहेतुभिरिति स्थितम्। "मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्" "ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन्देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्" इतिश्रुतिप्रतिपादितमव्यक्तम्। "तदैक्षत" इतीक्षणरूपा बुद्धिः। "बहु स्यां प्रजायेय" इतिबहुभवनसंकल्परूपोऽहङ्कारः। "तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः, आकाशाद्वायुः, वायोरग्निः, अद्भ्यः पृथिवी" इति पञ्चभूतानि श्रौतानि, अयमेव पक्षः साधीयान्। इन्द्रियाणि दशैकं च श्रोत्रत्वक्चक्षुरसनघ्राणाख्यानि पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि, वाक्पाणिपादपायूपस्थाख्यानि पञ्च कर्मेन्द्रियाणीति तानि एकं च मनः संकल्पविकल्पात्मकं, पञ्च चेन्द्रियगोचराः शब्दस्पर्शरूपरसगन्धास्ते बुद्धीन्द्रियाणां

व्याख्यान किया। वेदान्ती लोगोंका व्याख्यान करते हैं—अव्यक्त अव्याकृत अनिर्वचनीय माया नामकी परमेश्वर की शक्ति 'मम माया दुरत्यया' से जो कही है। सर्गादिमें तद्विषयक ईक्षण बुद्धि है। देखनेके बाद 'अहं बहु स्याम्' मैं बहुत होऊँगा यह संकल्प अहंकार है। इन्हींसे आकाशादि क्रमसे पांच महाभूतों की उत्पत्ति है। अव्यक्त महदहंकार जो सांख्यप्रसिद्ध है उनको वेदान्ती नहीं मानते अशब्दत्वादि हेतुसे निराकरण पूर्वमें स्थित है।

मायां तु प्रकृतिं विद्यान् मायिनं तु महेश्वरम्।
'ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम् ॥

इस श्रुति प्रतिपादित अव्यक्त है, 'तदैक्षत' यह ईक्षणरूपा बुद्धि. 'बहुस्यां प्रजायेय' यह बहु भवन संकल्परूप अहंकार, 'तस्माद् वा एतस्माद् आत्मन आकाशः संभूतः आकाशाद् वायुः वायोरग्निः अग्नेरापः अद्भ्यः पृथ्वी, ये पंच महाभूत वैदिक हैं यही पक्ष श्रेष्ठ है। इन्द्रियाँ दश और एक ग्यारह श्रोत्र त्वक् चक्षु रसन घ्राण ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं, वाक् पाणि पाद पायु उपस्थ ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं, ये दश हुए, संकल्प विकल्पात्मक एक मन ग्यारह इन्द्रियां हैं, ज्ञानेइन्द्रियोंके विषय पाँच हैं शब्द स्पर्श रूप रस गंध ये ज्ञानेइन्द्रियोंके ज्ञाप्य

ज्ञाप्यत्वेन विषयाः कर्मेन्द्रियाणां तु कार्यत्वेन, तान्येतानि सांख्याश्चतुर्विंशतितत्त्वान्याचक्षते ॥ ५ ॥

इच्छा सुखे तत्साधने चेदं मे भूयादिति स्पृहात्मा चित्तवृत्तिः काम इति राग इति चोच्यते। द्वेषो दुःखे तत्साधने चेदं मे मा भूदिति स्पृहाविरोधिनी चित्तवृत्तिः क्रोध इतीर्ष्येति चोच्यते। सुखं निरुपाधीच्छाविषयीभूता धर्मासाधारणकारणिका चित्तवृत्तिः परमात्मसुखव्यञ्जिका।

विषय हैं और कर्मेन्द्रियोंके कार्य्यरूप वचन आदान विहार उत्सर्ग और आनन्द ये पाँच विषय हैं इन्हींको सांख्यशास्त्रकार चौबीस तत्त्व कहते हैं ॥५॥

अब जिनको वैशेषिक आत्माके गुण कहते हैं वे भी इच्छादि क्षेत्रके धर्म हैं क्षेत्रज्ञके नहीं यह ऐसा भगवान् कहते हैं—इच्छेत्यादिसे। इच्छा सुख तत्साधन यह मुझको हो ऐसी स्पृहात्मा चित्तवृत्ति विशेष है, इसीको काम और रागभी कहते हैं। द्वेष दुःख और तत्साधन ये हमको कभी न हो यह स्पृहा विरोधिनी चित्तवृत्ति है इसीको क्रोध और इर्ष्याभी कहते हैं। सुख निरुपाधीच्छाविषयीभूत असाधारण कारण धर्म है, जिसका ईदृश चित्तवृत्ति परमात्मसुख प्रकाशकरनेवाली वास्तविक सुख है।

भाव यह है कि इच्छा दो प्रकारकी होती है एक सोपाधिक दूसरी निरुपाधिक पहिली अन्येच्छाधीनेच्छा है, जो सुख चाहता है वह सुखके साधन द्रव्यादिको चाहता है क्योंकि इनके विना वैषयिक सुख नहीं होसकता अतः सुखेच्छाधीन द्रव्यादि की इच्छा है, जो विषयसुख नहीं चाहता वह द्रव्यादिभी नहीं चाहता जैसे- वीतराग मुमुक्षु, अतः द्रव्यादिकी इच्छा सुखेच्छाधीन होनेसे सोपाधीच्छा कही जाती है, द्वितीय सुखेच्छा निरुपाधि इच्छा है क्योंकि यह अन्येच्छानधीन इच्छा है, सुख स्वयं पुरुषार्थ पुरुषोंसे अर्थ्यमान है अतः अन्येच्छाधीनेच्छा विषय नहीं है 'धर्म है असाधारणकारण' जिसका इससे धर्मसे ही सुख होता है अन्यथा नहीं, सुख ब्रह्मस्वरूप है "सत्यं ज्ञानमानन्दं ब्रह्म" यह श्रुति है तथा 'एतस्यैवानन्दस्य अन्ये मात्रामुपजीवन्ति' इत्यादिवचनानुसार ब्रह्म सुखजन्यही नहीं फिर धर्म असाधारण कारण कैसे होसकता है ? इस शंकाकी निवृत्तिके लिये अभिव्यञ्जिका कहा अर्थात् धर्मासाधारणकारणक जो तत्तद्विषयक मनोवृत्ति उससे विषय सेवन दशामें परमानन्दमात्रा लेशकी अभिव्यक्ति होती है साधारण जनता उसको विषयगत मान कर विषयजन्य सुख समझती है इत्यादि अन्यत्र विस्तृत है।

दुःखं निरुपाधिद्वेषविषयीभूता चित्तवृत्तिरधर्मासाधारणकारणिका । संघातः पञ्चमहाभूतपरिणामः सेन्द्रियं शरीरम् । चेतना स्वरूपज्ञानव्यञ्जिका प्रमाणासाधारणकारणिका चित्तवृत्तिर्ज्ञानाख्या । धृतिरवसन्नानां देहेन्द्रियाणामवष्टम्भहेतुः प्रयत्नः । उपलक्षणमेतदिच्छादिग्रहणं सर्वान्तःकरणधर्माणाम् । तथाच श्रुतिः—"कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एव" इति मृद्घट इतिवदुपादानाभेदेन कार्याणां

निरुपाधि द्वेषविषयीभूत अधर्म है असाधारणकारण जिसका एवंभूत चित्तवृत्ति दुःख है।

अधर्मसे दुःख होता है एकही विषयसे किसीको सुख होता है किसीको दुःख इसमें असाधारण कारण धर्म और अधर्म ही है जैसे मणि जिसको मिली उसको सुख होता है जिसको नहीं मिली उसको उससे दुःख होता है पुण्यवान्को ही मणि मिलती है पापीको नहीं अतः यहां व्यञ्जिका नहीं कहा, दुःख वृत्तिरूप होनेसे जन्यही है।

संघात पंच महाभूतोंका परिणाम जैसे इन्द्रियोंके सहित शरीर, यद्यपि तार्किक चातुर्भौतिकही शरीर मानते हैं तथापि अन्य लोग पांचभौतिक मानते हैं अतएव भक्त शिरोमणि श्रीतुलसीदासजीने कहा है—

क्षिति जल पावक गगन समीरा । पंचरचित यह अधम शरीरा ॥

चेतना स्वरूपज्ञानको प्रकाशकरनेवाली प्रमाणासाधारणका चित्तवृत्ति ज्ञानरूप चेतना चैतन्य ब्रह्मस्वरूप है वही मुख्य ज्ञानशब्दार्थ है "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" यह श्रुतिभी इसी अर्थको अपनाती है किन्तु वह क्षेत्र जडात्मक नहीं होसकता इसलिये ज्ञान यहां वृत्यात्मक गौणही का ग्रहण इष्ट है अतः ज्ञानावच्छेदक वृत्तिरूप प्रमाणोंसे उत्पन्न अतएव यथार्थ वस्तु स्वरूपका निर्णायक जो है वह यहां विवक्षित है। प्रमाणोत्पादि विशेषणसे ज्ञानाभास संशय विपर्ययकी व्यावृत्ति होती है क्योंकि वे वस्तुतत्त्वके ज्ञापक नहीं है।

धृति गिरे शरीरेन्द्रियोंके पुनः उठानेमें अथवा गिरते हुए उनको रोकनेका हेतु आन्तर प्रयत्न है। यह उपलक्षण है सब अन्तःकरणके धर्मोंका ऐसीही श्रुतिसे प्रतीति होती है "कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा धृतिरधृति र्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एव" । इस श्रुतिमें तो ये सब मन है ऐसा कहा है आप तद्विरुद्ध मनोधर्म कैसे कहते हैं? इस शंकासे कहते हैं—मृद्घट इत्यादि।

कामादीनां मनोधर्मत्वमाह । एतत्परिदृश्यमानं सर्वं महाभूतादिधृत्यन्तं जडं क्षेत्रज्ञेन साक्षिणाऽवभास्यमानत्वात्तदनात्मकं क्षेत्रं भास्यमचेतनं समासेनोदाहृतमुक्तम् । ननु शरीरेन्द्रियसंघात एव चेतनः क्षेत्रज्ञ इति लोकायतिकाः, चेतना क्षणिक ज्ञानमेवाऽऽत्मेति सुगताः, इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यात्मनो लिङ्गमिति नैयायिकाः, तत्कथं क्षेत्रमेवैतत्सर्वमिति तत्राऽऽह—सविकारमिति । विकारो जन्मादिर्नाशान्तः परिणामो नैरुक्तैः पठितः, तत्सहितं सविकारमिदं महाभूतादिधृत्यन्तमतो न विकार-

मट्टीसे घड़ा बनता है मट्टी कारण है घड़ा कार्य है दोनोंके कार्य कारणका अभेद मानकर अभेदका श्रुतिमें व्यवहार है परन्तु लोकमें मृद्धर्म घट है यह जैसे भेदविवक्षासे व्यवहार होता है वैसेही इच्छादि मनोधर्म है यह व्यवहार गीतामें किया गया है । यह अनुभूयमान सब महाभूतादि धृत्यन्त जड है क्षेत्रज्ञ साक्षीसे प्रकाशमान होनेसे तदनात्मक क्षेत्रज्ञके स्वरूपसे अतिरिक्त जो स्वरूप तदात्मक क्षेत्र भास्य प्रकाश्य जो अचेतन वह संक्षेपसे कहा ।

यहां चार्वाक शंका करता है--ननुसे । शरीर इन्द्रियका समुदाय चेतन है वही क्षेत्रज्ञ है तदतिरिक्त नहीं, क्योंकि तदतिरिक्तका प्रत्यक्ष नहीं अवयवशः शरीरेन्द्रियोंका विभाग करने पर भी इनसे अतिरिक्त कोई नहीं देख पड़ता जिसको साक्षी कह सकें। चेतना क्षणिक ज्ञानही आत्मा है यह बौद्धमत है। 'इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यात्मनो लिङ्गम्' यह श्रीगौतममुनिका सूत्र है, इच्छादि आत्माके ज्ञापक लिङ्ग है। वात्स्यायन भाष्यादिमें इसका अर्थ अच्छे ढंगसे बताया गया है। यहां इसके अर्थ लिखनेसे ग्रन्थ बढ़ जायगा अतएव मूलकारने भी इसका अर्थ नहीं किया अतः मैं भी छोड़ता हूँ। तब कैसे कहते हैं कि यह सब क्षेत्रही है इस शंकासे कहते हैं–सविकारम् इससे। विकार जन्मसे लेकर नाशपर्यन्त जो निरुक्तकारने कहा है उसके सहित यह सविकार महाभूतादिधृत्यन्त इस कारणसे अपने विकारका साक्षी नहीं होता कि वह अपनी उत्पत्ति तथा विनाशको अपनेसे देख नहीं सकता, यह तो स्पष्ट है कि जो उत्पत्तिसे पहले तथा विनाशके अनन्तर रहेगा वही उसका द्रष्टा साक्षी होगा अन्य नहीं, अपनी उत्पत्तिके पूर्व तथा अपने विनाशके उत्तर जब अपनीही स्थिति नहीं तब साक्षी होनेकी क्या संभावना ? और जो इच्छादि स्वधर्म हैं इनकाभी साक्षी नहीं होसकता,--कारण ये मेरे धर्म

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम् ।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ॥ ७ ॥

और हे अर्जुन ! श्रेष्ठताके अभिमानका अभाव, दम्भाचरणका अभाव, प्राणीमात्रको किसी प्रकार भी न सताना और क्षमाभाव तथा मन, वाणीकी सरलता, श्रद्धा भक्तिसहित गुरुकी सेवा, बाहर अन्तःकरणकी स्थिरता, मन और इन्द्रियोंसहित शरीरका निग्रह ॥ ७ ॥

साक्षि, स्वोत्पत्तिविनाशयोः स्वेन द्रष्टुमशक्यत्वात् । अन्येषामपि स्वधर्माणां स्वदर्शनमन्तरेण दर्शनानुपपत्तेः स्वेनैव स्वदर्शने च कर्तृकर्मविरोधादविकार एव सर्वविकारसाक्षी । तदुक्तम्—

"नर्ते स्याद्विक्रियां दुःखी साक्षिता का विकारिणः ।
धीविक्रियासहस्राणां साक्ष्यतोऽहमविक्रयः" इति ॥

तेन विकारित्वमेव क्षेत्रचिह्नं न तु परिगणनमित्यर्थः ॥ ६ ॥

एवं क्षेत्रं प्रतिपाद्य तत्साक्षिणं क्षेत्रज्ञं क्षेत्राद्विवेकेन विस्तरात्प्रतिपादयितुं

हैं यह ज्ञान तब होगा जब अपनेको भी देखेगा धर्मीके ज्ञानके बिना धर्म विशिष्ट धर्मीका ज्ञान होना असंभवही है, घटके बिना देखे घटका नील यह धर्म है यह ज्ञान किसको होता है ? यदि कहोकि अपनेसे अपनेको देखकर कहेगा कि ये मेरे धर्म हैं तो कर्तृ कर्म विरोध होगा एकही एक क्रियाका कर्ता तथा कर्म नहीं होसकता; कैसाभी खेलाड़ी हो तो भी अपने कन्धे पर आप सवार नहीं होसकता क्योंकि चढ़ना रूपी क्रियाका यदि आपही कर्त्ता हैं तो कर्म नहीं होता, यह लिखाभी है "नहि स्वस्कन्धमारोहति कश्चित्" इति अतः विकार रहितही सब विकारोंका साक्षी होता है वह कहा है।

नर्ते स्याद्विक्रियां दुःखी साक्षिता का विकारिणः ।
धीविक्रियासहस्राणांसाक्ष्यतोऽहमविक्रियः ॥ इति ।

विकारोंके बिना कोई दुःखी नहीं होता और उक्त न्यायसे विकारीमें साक्षिता कहा सैकड़ों हजारों ज्ञान विकारोंका साक्षी मैं हूँ इस कारण मैं निर्विकार हूँ, इससे विकारित्वही क्षेत्रका लक्षण है इच्छादिधृत्यन्तही क्षेत्र है यह परिगणन नहीं है किन्तु पूर्वोक्त उपलक्षण ही है ॥ ६ ॥

इसप्रकार क्षेत्रका प्रतिपादनकर क्षेत्रज्ञ क्षेत्रसे भिन्न है इस विवेचनके लिये क्षेत्रसे क्षेत्रज्ञका विशेषरूपसे प्रतिपादन आवश्यक है, प्रतिपादन तभी

तज्ज्ञानयोग्यत्वायामानित्वादिसाधनान्याह—ज्ञेयं यत्तदित्यतः प्राक्तनैः पञ्चभिः—विद्यमानैरविद्यमानैर्वा गुणैरात्मनः श्लाघनं मानित्वं, लाभपूजाख्यात्यर्थं स्वधर्मप्रकटीकरणं दम्भित्वं, कायवाङ्मनोभिः प्राणिनां पीडनं हिंसा, तेषां वर्जनममानित्वमदम्भित्वमहिंसेत्युक्तम्। परापराधे चित्तविकारहेतौ प्राप्तेऽपि निर्विकारचित्ततया तदपराधसहनं क्षान्तिः, आर्जवमकौटिल्यं यथाहृदयं व्यवहरणं परप्रतारणाराहित्यमिति यावत्। आचार्यो मोक्षसाधनस्योपदेष्टाऽत्र विवक्षितो न तु मनूक्त उपनीयाध्यापकः, तस्य शुश्रूषानमस्कारादिप्रयोगेण सेवनमाचार्योपासनम्। शौचं बाह्यं कायमलानां मृज्जलाभ्यां क्षालनमाभ्यन्तरं च मनोमलानां रागादीनां विषयदोषदर्शनरूपप्रतिपक्षभावनयाऽपनयनम्। स्थैर्यं मोक्षसाधने प्रवृत्तस्यानेकविधविघ्नप्राप्तावपि

सफल होगा जब तज्जन्यज्ञानोत्पत्ति योग्यता श्रोतामें हो, तद्योग्यता सहेतुक है अतस्तदुपायभूत अमानित्वादि कहते हैं—ज्ञेयं यत्तदित्यादि पूर्व पठित पांच श्लोकोंसे। वर्तमान गुणोंसे अपनी प्रशंसा श्लाघन विकत्थनात्मक मानित्व है, लाभ प्रतिष्ठा आत्मप्रसिद्धिके लिये अपने धर्मोंका प्रकाशन दम्भित्व है, शरीर वाणी और मनसे प्राणियोंका पीडन हिंसा है उनका छोड़ना अमानित्व अदम्भित्व अहिंसा यह कहा है, दूसरेके अपराध करने पर चित्तके विकारका हेतु प्राप्त होता है फिर भी निर्विकार चित्तसे उसके अपराधको सहना क्षमा है, आर्जव ऋजुभाव अकौटिल्य जैसे हृदयमें हो वैसाही व्यवहार करना दूसरेको धोखा न देना नदी तीरमें कोई फल नहीं है यह जानकर भी किसी फलार्थीके प्रति यह न कहना नदी तीरपर पांच फल हैं। आचार्य मोक्षकारणका उपदेशक यहाँ विवक्षित है।

उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद्द्विजः।
सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते॥

एतन्मनुवचनानुसारी जो उपनयनपूर्वक कल्परहस्यके साथ वेद पढ़ाता है वह आचार्य कहाता है यह उक्त श्लोकका अर्थ है किंतु यहां यह विवक्षित नहीं। विवक्षित आचार्यकी शुश्रूषा नमस्काराद्यनुष्ठानद्वारा सेवाही उपासना है, शौच शरीरके बाहरके मलोंको मट्टी जलसे छोड़ाना, भीतरके जो मनोमल हैं रागादि उनका शब्दादि विषयोंके दोष दर्शनसे वैराग्यभावनासे दूर करना, स्थैर्य मोक्षोपायज्ञानमें प्रवृत्त पुरुषका बहुविध बाधाओंके आनेपर भी उसको न त्याग कर फिर २ उसीमें

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहङ्कार एव च ।

जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥ ८ ॥

तथा इस लोक और परलोकके संपूर्ण भोगोंमें आसक्तिका अभाव और अहङ्कारका भी अभाव एवं जन्म, मृत्यु, जरा और रोग आदिमें दुःख दोषोंका वारम्बार विचार करना ॥ ८ ॥

तदपरित्यागेन पुनः पुनर्यत्नाधिक्यम् । आत्मविनिग्रह आत्मनो देहेन्द्रियसंघातस्य स्वभावप्राप्तां मोक्षप्रतिकूले प्रवृत्तिं निरुध्य मोक्षसाधन एव व्यवस्थापनम् ॥ ७ ॥

किं च—इन्द्रियार्थे शब्दादिषु दृष्टेष्वानुश्रविकेषु वा भोगेषु रागविरोधिन्यस्पृहात्मिका चित्तवृत्तिर्वैराग्यम् । आत्मश्लाघनाभावेऽपि मनसि प्रादुर्भूतोऽहं सर्वोत्कृष्ट इति गर्वोऽहङ्कारस्तदभावोऽनहङ्कारः । अयोगव्यवच्छेदार्थ एवकारः, । समुच्चयार्थश्चकारः । तेनामानित्वादीनां विंशतिसंख्याकानां समुच्चितो योग एव ज्ञानमिति प्रोक्तं न त्वेकस्याप्यभाव इत्यर्थः । जन्मनो गर्भवासयोनिद्वारनिस्सरणरूपस्य मृत्योः सवमर्मच्छेदनरूपस्य जरायाः प्रज्ञाशक्तितेजोनिरोधपरपरिभवादिरूपाया व्याधीनां ज्वरातिसारादिरू

प्रयासाधिक्य। आत्मविनिग्रह आत्मासे प्रकृतमें देहेन्द्रियादि संघात विवक्षित हैं चैतन्यात्मा नहीं, तथाच उक्त संघातकी स्वतः प्राप्त मोक्षविरोधीमेंप्रवृत्तिको रोककर मोक्षोपायमें ही व्यवस्थित करना ॥ ७ ॥

और भी—इन्द्रिय गोचर शब्दादि जो दिव्यादिव्यभेदसे दो प्रकारके हैं उनके भोगोंमें अर्थात् ऐहलौकिक पारलौकिक भोगोंमें जो रागविरोधिनी अलिप्सात्मिका वृत्ति है वह वैराग्य है। आत्मश्लाघा न होनेपर भी मनमें उत्पन्न मैं सबसे बड़ा हूँ यह गर्व अहंकार है। एवकार अयोगव्यवच्छेदार्थ है, चकार समुच्चयार्थ है, इससे जो अमानित्वादि बीस पूर्वमें कहे हैं उनसे समुचित तत् समुदाय योग है यदि उनमें एकका भी अभाव होगा तो योग न होगा यह भाव है। जन्मादिमें दोषदर्शन कहते हैं—जन्म गर्भस्थित शिशुका योनिद्वारा बाहर निकलना है, सब मर्मस्थानोंका छेदन मृत्यु है, बुद्धिशक्ति तेजका निरोध परानादर रूप है, ज्वर अतिसार आदि व्याधि है, इष्टके वियोग

असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु ।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥ ९ ॥

तथा पुत्र, स्त्री, घर और धनादिमें आसक्तिका अभाव और समताका न होना तथा प्रिय अप्रियकी प्राप्तिमें सदा ही चित्तका सम रहना अर्थात् मनके अनुकूल तथा प्रतिकूलके प्राप्त होनेपर, हर्ष शोकादि विकारों का न होना ॥ ९ ॥

पाणां दुःखानामिष्टवियोगानिष्टसंयोगजानामध्यात्माधिभूताधिदैवनिमित्तानां दोषस्य वातपित्तश्लेष्ममलमूत्रादिपरिपूर्णत्वेन कायजुगुप्सितत्वस्य चानुदर्शनं पुनः पुनरालोचनं जन्मादिदुःखान्तेषु दोषस्यानुदर्शनं जन्मादिव्याध्यन्तेषु दुःखरूपदोषस्यानुदर्शनमिति वा । इदं च विषयवैराग्यहेतुत्वेनाऽऽत्मदर्शनस्योपकरोति ॥ ८ ॥

किं च—सक्तिर्ममेदमित्येतावन्मात्रेण प्रीतिः, अभिष्वङ्गस्त्वहमेवायमित्यनन्यत्वभावनया प्रीत्यतिशयोऽन्यस्मिन्सुखिनि वाऽहमेव सुखी दुःखी चेति तद्राहित्यमसक्तिरनभिष्वङ्ग इति चोक्तम् । क्व सक्त्यभिष्वङ्गौ वर्जनीयावत आह—पुत्रदारगृहादिष्विति । पुत्रेषु दारेषु गृहेषु, आदिग्रहणादन्येष्वपि भृत्यादिषु सर्वेषु स्नेहविषयेष्वित्यर्थः । नित्यं च सर्वदा च समचित्तत्वं

अनिष्टके संयोगसे उत्पन्न दुःख है, जो आध्यात्मिक आधिभौतिक आधिदैविक भेदसे तीन प्रकारका है, दोष वात पित्त कफ मल मूत्रादिसे भरा रहनेसे शरीरमें घृणाका दर्शन वार बार तद्भावना, जन्मसे लेकर दुःख पर्यन्त पदार्थोंमें दुःखरूप दोषका दर्शन अथवा जन्मादि व्याधि पर्यन्त पदर्थोंमें दुःखरूप दोषका अनुसन्धान यह भी अर्थ है । यह विषय वैराग्यका हेतु है इसलिये आत्मदर्शनके उपकारी है विषय लोलुप मन आत्मदर्शनके योग्य नहीं अतः तदर्थ विषय वैराग्य आवश्यक है ॥ ८ ॥

और भी—सक्ति यह मेरा है इतनेसे ही प्रीति गुणादिकी अपेक्षा नहीं, सक्तिसे अभिष्वंग विलक्षण है यह स्फुट करते हैं—मैंही यह हूं यह अपनेसे अभिन्न की भावना कर जो प्रीत्यतिशय है वह अभिष्वंग है दूसरेको सुखी या दुःखी देख कर मैं ही सुखी दुःखी हूँ तदभाव असक्ति अनभिष्वंग है असक्ति अनभिष्वंगका स्वरूप भेद कह चुके हैं । कहां सक्ति और अभिष्वंग त्याज्य है यह कहते हैं—पुत्रदारगृहादिमें, पुत्रोंमें स्त्रियोंमें गृहोंमें आदि मूलश्लोकमें है तदर्थ भृत्यादिकोंमें नित्य बरावर मनोयोग आनन्द विवाद शून्यचित्तता

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥ १० ॥

और मुझ परमेश्वरमें एकीभावसे स्थितिरूप ध्यानयोगके द्वारा अव्यभिचारिणी भक्ति तथा एकान्त और शुद्ध देशमें रहनेका स्वभाव और विषयासक्त मनुष्योंके समुदायमें प्रेमका न होना ॥ १० ॥

हर्षविषादशून्यमनस्त्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु । उपपत्तिः प्राप्तिः । इष्टोपपत्तिषु हर्षाभावोऽनिष्टोपपत्तिषु विषादाभाव इत्यर्थः । चः समुच्चये ॥ ९ ॥

किं च—मयि च भगवति वासुदेवे परमेश्वरे भक्तिः सर्वोत्कृष्टत्वज्ञानपूर्विका प्रीतिः अनन्ययोगेन नान्यो भगवतो वासुदेवात्परोऽस्त्यतः स एव नो गतिरित्येव निश्चयेनाव्यभिचारिणी केनापि प्रतिकूलेन हेतुना निवारयितुमशक्या साऽपि ज्ञानहेतुः "प्रीतिर्न यावन्मयि वासुदेवे न मुच्यते देहयोगेन तावत्" इत्युक्तेः । विविक्तः स्वभावतः संस्कारतो वा शुद्धोऽशुचिभिः सर्पव्याघ्रादिभिश्च रहितः सुरधुनीपुलिनादिश्चित्तप्रसादकरो देशस्तत्सेवन-

---

इष्ट अनिष्टकी उत्पत्ति प्राप्ति इष्ट प्राप्तिमें हर्षका अभाव अनिष्ट प्राप्तिमें विषादका अभाव यह अर्थ है। चकार समुच्चय अर्थमें है ॥ ९ ॥

और भी—मुझ भगवान् वासुदेव परमेश्वरमें भक्ति—सबसे बड़े प्रभावशाली हैं, ऐसी ज्ञानपूर्वकप्रीति भक्ति है, अपकृष्ट आलम्बनमें प्रीत्यतिशय अनुराग है स्त्रीमें पुत्रमें अनुरक्त है यही लोकमें कहा जाता है स्त्री पुत्रमें भक्ति है यह व्यवहार नहीं, मातृभक्त पितृभक्त ईश्वरभक्त इत्यादि व्यवहार होता है इसलिये उत्कृष्टपदका प्रयोग है उत्कृष्टसापेक्ष है। किसी लोकमें कोई उत्कृष्ट है किन्तु ईश्वरमें यह निरपेक्ष है सबसे उत्कृष्ट परमात्मा है भगवान् वासुदेवसे पर दूसरा कोई नहीं है अतः वही मेरी गति है इस प्रकारके निश्चयसे अव्यभिचरित अर्थात् किसी विरोधी हेतुसे दूर करनेमें अयोग्य है, वह भी ज्ञान कारण प्रीति मुझ भगवान् वासुदेवमें नहीं होती जबतक देहसे वियुक्त नहीं होता देहका संयोग मिथ्याज्ञानहेतुक है वियोग तत्त्वज्ञाननिमित्तक है, शरीर रहने परभी तत्त्वज्ञानी निवृत्तशरीराध्यास अशरीरी कहाता है 'विविक्तौ पूतविजनौ' इसकोशसे प्रकृतमें उक्त शब्द पवित्र परक है पवित्र दो प्रकारका है स्वभावसे अथ च संस्कारसे, दोनों प्रकारका पवित्र यहां ग्राह्य है अत उभयतः शुद्ध अपूत सांप व्याघ्र आदिसे रहित गङ्गाजीका तीर जो चित्तको प्रसन्न करने वाला है वह देश एतद् देशसेवनशीलत्व

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् ।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥ ११ ॥

तथा अध्यात्मज्ञानमें नित्य स्थिति और तत्त्वज्ञानके अर्थरूप परमात्माको सर्वत्र देखना, यह सब तो ज्ञान है और जो इससे विपरीत है, वह अज्ञान है ऐसे कहा है ॥ ११ ॥

शीलत्वं विविक्तदेशसेवित्वम् । तथा च श्रुतिः—

"समे शुचौ शर्करावह्निवालुकाविवर्जिते शब्दजलाश्रयादिभिः ।
मनोनुकूले न तु चक्षुपीडने गुहानिवाताश्रयणे न (प्र)योजयेत्" इति ॥

जनानामात्मज्ञानविमुखानां विषयभोगलम्पटतोपदेशकानां संसदि समवाये तत्त्वज्ञानप्रतिकूलायामरतिररमणं साधूनां तु संसदि तत्त्वज्ञानानुकूलायां रतिरुचितैव । तथा चोक्तम्—

"सङ्गः सर्वात्मना हेयः स चेत्त्यक्तुं न शक्यते ।
स सद्भिः सह कर्तव्यः सन्तः सङ्गस्य भेषजम्" इति ॥ १० ॥

किञ्च—अध्यात्मज्ञानमात्मानमधिकृत्य प्रवृत्तमात्मनात्मविवेकज्ञानमध्यात्मज्ञानं तस्मिन्नित्यत्वं तत्रैव निष्ठावत्त्वम् । विवेकनिष्ठो हि वाक्यार्थज्ञानसमर्थो भवति । तत्त्वज्ञानस्याहं ब्रह्मास्मीति साक्षात्कारस्य वेदान्तवाक्यकरणक-

विविक्त देशसेवित्व है तथा च श्रुतिः—इस अर्थका सम्वादिका श्रुति यह है—

समे शुचौ शर्करावह्निवालुकाविवर्जिते शब्दजलाश्रयादिभिः ।
मनोऽनुकूले न तु चक्षुपीडने गुहानिवाताश्रयणे प्रयोजयेत् ॥ इति ।

आत्मज्ञानशून्य जो विषयभोगकी लंपटता तत्परताके उपदेशक हैं उनकी सभामें जो तत्त्वज्ञानके विरोधिनी है उसमें अनुरागाभाव अरति है, साधुओंकी सभामें जो तत्त्वज्ञानके अनुकूल उपकारक है उसमें रमण तो उचित ही है सो कहा भी है--

संगः सर्वात्मना हेयः स चेत् त्यक्तुं न शक्यते ।
स सद्भिः सह कर्तव्यः सतां संगो हि भेषजम् ॥ १० ॥ इति ।

और भी—आत्माका अधिकार प्रस्ताव कर प्रवृत्त जो आत्मा और अनात्माका समीचीनज्ञान वह अध्यात्मज्ञान है, उसमें नित्यत्व उसीमें निष्ठावत्व भी है। विवेकनिष्ठ ही वाक्यार्थज्ञान समर्थ होता है। तत्त्वज्ञान मैं ब्रह्म हूँ यह प्रत्यक्ष जो वेदान्त वाक्यसे 'अहं ब्रह्मास्मि' इसमें उत्पन्न होता है और पूर्वोक्त अमानि-

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वाऽमृतमश्नुते ।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ॥ १२ ॥

और हे अर्जुन ! जो जाननेके योग्य है तथा जिसको जानकर मनुष्य परमानन्दको प्राप्त होता है, उसको अच्छी प्रकार कहूँगा, वह आदिरहित, परमब्रह्म अकथनीय होनेसे न सत् कहा जाता है और न असत् ही कहा जाता है ॥ १२ ॥

स्यामानित्वादिसर्वसाधनपरिपाकफलस्यार्थः प्रयोजनमविद्यातत्कार्यात्मकनिखिलदुःखनिवृत्तिरूपः परमानन्दात्मावाप्तिरूपश्च मोक्षस्तस्य दर्शनमालोचनम् । तत्त्वज्ञानफलालोचने हि उत्साधने प्रवृत्तिः स्यात् । एतदमानित्वादितत्त्वज्ञानार्थदर्शनान्तं विंशतिसंख्याकं ज्ञानमिति प्रोक्तं ज्ञानार्थत्वात् । अतोऽन्यथाऽस्माद्विपरीतं मानित्वादि यत्तदज्ञानमिति प्रोक्तं ज्ञानविरोधित्वात् । तस्मादज्ञानपरित्यागेन ज्ञानमेवोपादेयमिति भावः ॥ ११ ॥

एभिः साधनैर्ज्ञानशब्दितैः किं ज्ञेयमित्यपेक्षायामाह—ज्ञेयं यत्तदित्यादिषड्भिः ।

यज्ज्ञेयं मुमुक्षुणा तत्प्रवक्ष्यामि प्रकर्षेण स्पष्टतया वक्ष्यामि । श्रोतुरभिमुखीकरणाय फलेन स्तुवन्नाह—यद्वक्ष्यमाणं ज्ञेयं ज्ञात्वाऽमृतममृतत्वमश्नुते

त्वादि सब साधनोंके परिपाकका फल है उसका अर्थ प्रयोजन अविद्या तत्कार्यात्मक सम्पूर्ण दुःखनिवृत्तिरूप परमानन्द ब्रह्मप्राप्तिरूप मोक्ष है उसका दर्शन अनुभव तत्त्वज्ञानफलके आलोचन ज्ञानसे मोक्षसाधनमें प्रवृत्ति होगी, ये अमानित्वादि तत्त्वज्ञानार्थ दर्शनान्त ये बीस संख्यायुक्त ज्ञान कहा जाता है क्योंकि ये ज्ञानार्थ है। इससे विपरीत जो मानित्वादि है वह सब अज्ञान है कारण वे ज्ञान विरोधी है जैसे सुरविरोधी असुर कहाते हैं वैसे ही ज्ञान विरोधी अज्ञान है, यह विरोधार्थक नञ्समास है अतः अज्ञानका परित्यागकर ज्ञान ही का ग्रहण करना चाहिये यह अभिप्राय है ॥ ११ ॥

ज्ञानशब्दप्रतिपाद्य इन साधनोंसे क्या ज्ञेय है इस अपेक्षासे कहते हैं-ज्ञेय इत्यादिसे। छै श्लोकोंसे जो मुमुक्षुजनोंसे ज्ञेय है उसको कहेंगे 'वक्ष्यामि' न कहकर 'प्रवक्ष्यामि' कहा यहाँ प्रशब्दार्थको स्फुट करते हैं, प्रकर्ष प्रकृतमें स्पष्टता है स्वाभाविक प्रकर्ष तो भगद्वाक्यमें सब जगह है ही, श्रोताको सम्मुख करनेके लिये फलसे स्तुति करते हुए भगवान् बोले—जिस वक्ष्यमाण ज्ञेयको जानकर अधिकारी

संसारान्मुच्यत इत्यर्थः। किं तत्? अनादिमत्, आदिमन्न भवतीत्यनादिमत्। परं निरतिशयं ब्रह्म सर्वतोऽनवच्छिन्नं परमात्मवस्तु। अत्रानादीत्येतावतैव बहुव्रीहिणाऽर्थलाभेऽप्यतिशायने नित्ययोगे वा मतुपः प्रयोगः। अनादीति च मत्परमिति च पदं केचिदिच्छन्ति। मत्सगुणाद्ब्रह्मणः परं निर्विशेषरूपं ब्रह्मेत्यर्थः। अहं वासुदेवाख्या परा शक्तिर्यस्येति त्वपव्याख्यानं,

मोक्षफल पाता है संसारसे मुक्त होता है यह अर्थ है। वह क्या है? आदिमान् जो न हो वह अनादिमान् है 'न आदिर्यस्य स' यह बहुव्रीहि समास नहीं है किन्तु आदिरस्ति अस्य इति आदिमान् न आदिमान् अनादिमान् तत्पुरुष है यद्यपि दोनोंमें अर्थ भेद नहीं है तथापि मतुप्ग्रहण दोनों वृत्तियोंका मानना व्यर्थ है क्योंकि बहुव्रीहिसे मतुबर्थका लाभ हो जाता है लाघवानुसार फिर बहुव्रीहि समास ही मानना ठीक है कर्मधारय माननेसे मतुप्ग्रहण कर्मधारयसमास और तद्धितवृत्तिद्वय मानना पड़ता है जिससे गौरव है इस शङ्काका उत्तर मूलकार आगे देते हैं। पर निरतिशय ब्रह्म सबसे अनवच्छिन्न अपरिच्छिन्न जो परमात्म वस्तु है उक्त शङ्काका उत्तर देते हैं—बहुव्रीहिणेति। यद्यपि बहुव्रीहिसमाससे उक्तार्थ लाभ होता है और उक्तरीतिसे लाघवभी है अतएव "न कर्मधारयान्मत्वर्थीयो बहुव्रीहिश्चेत्तदर्थप्रतिपत्तिकरः" यह प्रामाणिकोक्ति है, कर्मधारयसे मत्वर्थीय प्रत्यय न करना यदि तदर्थ बहुव्रीहि हो सके, यद्यपि यह निषेध उक्त प्रयोगमें असाधुत्व बोधनार्थ नहीं है अतएव 'असुव्वतः' यह महाभाष्य प्रयोग उपपन्न होता है तथापि लाघवार्थ है यहाँ पर मत्वर्थीयान्तसे अधिक अर्थ विशेषकी प्रतीति होती है जो बहुव्रीहिसे नहीं हो सकती इसीको स्फुट करते हैं—**अतिशायने नित्ययोगे वा मतुपः प्रयोगः** इससे।

"भूमनिन्दाप्रशंसासु नित्ययोगेऽतिशायने।
सम्बन्धेऽस्ति विवक्षायां भवन्ति मतुबादयः॥ इति।

'अनादि च मत्परं च' यह पृथक् पृथक् पद है ऐसा कोई मानते हैं तो उक्त शंकाका अवसर ही नहीं। मत्परंका अर्थ कहते हैं—मत्सगुण इत्यादिसे। 'मुझ सगुण ब्रह्मसे पर निर्विशेषरूप ब्रह्म' यह अर्थ है, किन्तु यह अर्थ विवक्षित नहीं क्योंकि श्रीकृष्णही परब्रह्म हैं तदतिरिक्त पर कोई हैही नहीं। दूसरेके व्याख्यानमें दूषण देते हैं—**अहम्** इससे। भाव यह है कि 'मत्परं' से निर्विशेष ब्रह्म प्रतिपिपादयिषित है मैं वासुदेवाख्य पराशक्ति हूँ जिसकी यह अर्थ

निर्विशेषस्य ब्रह्मणः प्रतिपाद्यत्वेन तत्र शक्तिमत्त्वस्यावक्तव्यत्वात्। निर्विशेषत्वमेवाऽऽह–**न सत्तन्नासदुच्यते** इति। विधिमुखेन प्रमाणस्य विषयः सच्छब्देनोच्यते। निषेधमुखेन प्रमाणस्य विषयस्त्वसच्छब्देन। इदं तु तदुभयविलक्षणं निर्विशेषत्वात्स्वप्रकाशचैतन्यरूपत्वाच्च "यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह" इत्यादिश्रुतेः। यस्मात्तद्ब्रह्म न सद्भावत्वाश्रयः, नासद्भावत्वाश्रयः, अतो नोच्यते केनापि शब्देन मुख्यया वृत्त्या शब्दप्रवृत्तिहेतूनां तत्रासंभवात्। तद्यथा गौरश्व इति वा जातितः, पचति पठतीति वा क्रियातः, शुक्लः कृष्ण इति वा गुणतः, धनी गोमानिति वा संबन्धतोऽर्थं प्रत्याययति शब्दः। अत्र क्रियागुणसंबन्धेभ्यो विलक्षणः सर्वोऽपि धर्मो जातिरूप उपाधिरूपो वा जातिपदेन संगृहीतः। यदृच्छाशब्दोऽपि डित्थडवित्थादिर्यं कंचिद्धर्मं स्वात्मानं वा प्रवृत्ति निमित्तीकृत्य

मूलोक्तबहुव्रीहिसे प्रतीत होता है ऐसा मानने पर मत्पर शक्तिविशिष्ट होगा तो निर्विशेष नहीं होगा और निर्विशेषहीका प्रतिपादन इष्ट है इसलिये यह अपकृष्ट व्याख्यान है। निर्विशेषत्वही मत्परसे कहते हैं–**न सत्तन्नासदुच्यते** इससे। विधिमुखसे प्रमाणका विषय सत् शब्दसे कहलाता है जैसे घटको प्रत्यक्षसे देखकर है घट यह लोग कहते हैं। निषेधमुखसे प्रमाणके विषयको असत् शब्दसे लोग व्यवहार करते हैं जैसे प्रत्यक्ष या अनुपलब्धिसे घटाभावको देखकर 'घटोऽत्र नास्ति' घट यहां नहीं है इत्यादि व्यवहार लोगोंका होता है। यह तो इन दोनोंसे विलक्षण है क्योंकि निर्विशेष स्वप्रकाश और चैतन्यस्वरूप है "यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह" इत्यादि श्रुति उक्त अर्थमें प्रमाण है। जिस कारणसे वह ब्रह्म सत् नहीं है भावभूतधर्मका आश्रय नहीं है और न असत् अभावत्वाश्रय ही है अतः शक्तिसे किसी शब्द से वह नही कहा जाता है क्योंकि शब्द प्रवृति हेतु जात्यादि उसमें नहीं है जैसे गौ अश्वमें गोत्व अश्वत्वजातिद्वारा गौ अश्व शब्दसे कहे जाते हैं उक्त अर्थमें गवादिशब्दकी प्रवृत्तिका हेतु गोत्वादि जाति है, पचति पठतिका प्रवृत्तिनिमित्त पाकपाठादि क्रिया है। शुक्लः कृष्णः यहां शुक्लादि गुण है, धनी गोमान् यहां धनादि संबन्ध निमित्त है यहां क्रियागुणसंबन्ध से विलक्षण सब धर्म जातिरूप किंवा उपाधिरूप जो है सबका जाति शब्दसे संग्रह है यदृच्छाशब्द भी डित्थरवादि जिस किसी धर्मका अथवा स्वस्वरूपका

प्रवर्तत इति सोऽपि जातिशब्दः। एवमाकाशशब्दोऽपि तार्किकाणां शब्दाश्रयत्वादिरूपं यं कंचिद्धर्मं पुरस्कृत्य प्रवर्तते। स्वमते तु पृथिव्यादिवदाकाशव्यक्तीनां जन्यानामनेकत्वादाकाशत्वमपि जातिरेवेति सोऽपि जातिशब्दः। आकाशातिरिक्ता च दिङ्नास्त्येव, कालश्च नेश्वरादतिरिच्यते, अतिरेके वा दिक्कालशब्दावप्युपाधिविशेषप्रवृत्तिनिमित्तकाविति जातिशब्दावेव, तस्मात्प्रवृत्तिनिमित्तचातुर्विध्याच्चतुर्विध एव शब्दः। तत्र "न सत्तन्नासत्" इति जातिनिषेधः क्रियागुणसंबन्धानामपि निषेधोपलक्षणार्थः। "एकमेवाद्वितीयम्" इति जातिनिषेधस्तस्या अनेकव्यक्तिवृत्तेरेकस्मिन्नसंभवात्। "निर्गुणं निष्क्रियं शान्तम्" इति गुणक्रियासंबन्धानां क्रमेण निषेधः। "असङ्गो ह्ययं पुरुषः" इति च। "अथात आदेशो नेति नेति" इति च सर्वनिषेधः, तस्माद् ब्रह्म न केनचिच्छब्देनोच्यत इति युक्तम्। तर्हि कथं प्रवक्ष्यामीत्युक्तं कथं वा "शास्त्रयोनित्वात्" इति सूत्रम्। यथा-

---

आश्रयण कर तदर्थाभिधानमें प्रवृत्त होता है इसलिये वह भी जाति शब्द है अर्थात् गवादि समशील है। इसीप्रकार आकाशशब्द भी नैयायिकादि मतमें शब्दाश्रयत्वादिरूप धर्मको प्रवृत्तिनिमित्त मानकर आकाशाभिधानमें प्रवृत्त होता है। अपने वेदान्तिमतमें पृथिव्यादिके समान आकाशभी जन्य होनेसे अनेक है अतः आकाशत्वभी जाति है क्योंकि 'व्यक्तेरभेदः तुल्यत्वं संकरोऽथानवस्थितिः' इत्यादिजातिबाधक व्यक्त्यभेद नहीं किन्तु तद्भेदही है इस हेतुसे वहभी जाति शब्द ही है। आकाशसे अतिरिक्त दिक् हैही नहीं, काल ईश्वरसे अतिरिक्त नहीं है, अतिरिक्त है तो दिक् काल शब्द उपाधिविशेषप्रवृत्ति निमित्तक है अतः वे दोनों जातिशब्द ही हैं। प्रवृत्तिनिमित्त चार प्रकारके हैं अतः तद्भेदसे चार प्रकारके शब्द हैं 'न सत्तन्नासदित्यादिसे जातिनिषेध क्रियागुणसबन्धके निषेधमें उपलक्षण है 'एकमेवाद्वितीयम्' इससे जातिका निषेध है अद्वितीयमें उक्तवचन के अनुसार और प्रयोजनाभावसे जाति नहीं मानी जाती क्योंकि जाति अनुगमार्थ अनेकमें ही मानी जाती है, उस हेतुसे एकमें तदसंभव स्पष्ट है 'निर्गुणं निष्क्रियं शान्तम्' इससे गुणक्रियासबन्धोंका क्रमसे निषेध है। उपसंहार करते हैं—तस्मात्से। ब्रह्म किसी शब्दसे नहीं कहा जाता यह कहना युक्तियुक्त है तब फिर प्रवक्ष्यामि स्पष्ट कहेंगे यह भगवान् कैसे कहा और 'शास्त्रयोनित्वात्' यह वेदान्त सूत्रही कैसे संगत होगा? "एवं तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि" यह

सर्वतःपाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।
सर्वतःश्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥ १३ ॥

परन्तु वह सब ओरसे हाथ पैरवाला एवं सब ओरसे नेत्र, शिर और मुखवाला तथा सब ओरसे श्रोत्रवाला है, क्योंकि वह संसारमें सबको व्याप्त करके स्थित है ॥ १३ ॥

कथंचिल्लक्षणया शब्देन प्रतिपादनादिति गृहाण । प्रतिपादनप्रकारश्च "आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनम्" इत्यत्र व्याख्यातः । विस्तरस्तु भाष्ये द्रष्टव्यः ॥ १२ ॥

एवं निरुपाधिकस्य ब्रह्मणः सच्छब्दप्रत्ययाविषयत्वादसत्त्वाशङ्कायां नासदित्यनेनापास्तायामपि विस्तरेण तदाशङ्कानिवृत्त्यर्थं सर्वप्राणिकरणोपाधिद्वारेण चेतनक्षेत्रज्ञरूपतया तदस्तित्वं प्रतिपादयन्नाह—सर्वत इत्यादिना।

सर्वतः सर्वेषु देहेषु पाणयः पादाश्चाचेतनाः स्वस्वव्यापारेषु प्रवर्तनीया यस्य चेतनस्य क्षेत्रज्ञस्य तत्सर्वतःपाणिपादं ज्ञेयं ब्रह्म । सर्वाचेतनप्रवृत्तीनां चेतनाधिष्ठानपूर्वकत्वात्तस्मिन्क्षेत्रज्ञे चेतने ब्रह्मणि ज्ञेये सर्वाचेतनवर्गप्रवृत्तिहेतौ नास्ति नास्तिताशङ्केत्यर्थः । एवं सर्वतोऽक्षीणि शिरांसि मुखानि च यस्य

भी कैसे ? मुख्यवृत्तिसे शब्दप्रतिपाद्य ब्रह्म नहीं है यह पूर्वमें कहा है किसी तरह लक्षणावृत्तिसे शब्दबोध्य ब्रह्म है यही उत्तर लो, प्रतिपादन प्रकार 'आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनम्' यहां पर कहा है, विस्तार भाष्यमें देखना ॥ १२ ॥

इसप्रकार निरुपाधिक शब्दब्रह्म सच्छब्दप्रतीति विषय नहीं इस कथनसे शुद्धकी असत्व शंका नासतसे निवारित की गई फिरभी विस्तारसे तदसत्व शंका निवृत्तिके लिये सब प्राणियोंमें करणरूपके द्वारा चेतन क्षेत्रज्ञरूपसे तद अस्तित्वके प्रतिपादनार्थ कहते हैं—सर्वतः इससे । सब शरीरोंमें हाथ पांव अचेतन अपने २ व्यापारमें लगाते हैं क्योंकि चेतन व्यापारके बिना अचेतनमें कार्यानुकूल व्यापार नहीं होता बिना घोड़के रथ नहीं चलता जिस चेतन क्षेत्रज्ञका सब हाथ पांव रहे वह ज्ञेय ब्रह्म हैं । सब अचेतन प्रवृत्तियाँ चेतनाधिष्ठान पूर्वक होती है उस क्षेत्रज्ञ चेतन ब्रह्म ज्ञेय सब अचेतन प्रवृत्तिमें हेतु नहीं है की शङ्का नहीं है यह अर्थ है। इसी प्रकार सब नेत्र सब शिर सब मुख जिसके प्रेरणीय हैं वह 'सर्वतोऽक्षिशिरोमुख' है। एवं सर्वतः सब

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ॥ १४ ॥

और संपूर्ण इन्द्रियोंके विषयोंको जाननेवाला है, परन्तु वास्तवमें सब इन्द्रियोंसे रहित है तथा आसक्तिरहित और गुणोंसे अतीत हुआ भी अपनी योगमायासे सबको धारण पोषण करनेवाला और गुणोंको भोगनेवाला है ॥१४॥

प्रवर्तनीयानि सन्ति तत्सर्वतोक्षिशिरोमुखम् । एवं सर्वतः श्रुतयः श्रवणेन्द्रियाणि यस्य प्रवर्तनीयत्वेन सन्ति तत्सर्वतःश्रुतिमत् । लोके सर्वप्राणिनिकाये एकमेव नित्यं विभु च सर्वमचेतनवर्गमावृत्य स्वसत्तया स्फूर्त्या वाऽऽध्यासिकेन संबन्धेन व्याप्य तिष्ठति निर्विकारमेव स्थितिं लभते, न तु स्वाध्यस्तस्य जडप्रपञ्चस्य दोषेण गुणेन वाऽणुमात्रेणापि संबध्यत इत्यर्थः । यथा च सर्वेषु देहेष्वेकमेव चेतनं नित्यं विभु च न प्रतिदेहं भिन्नं तथा प्रपञ्चितं प्राक् ॥ १३ ॥

"अध्यारोपापवादाभ्यां निष्प्रपञ्चं प्रपञ्च्यते" इति न्यायमनुसृत्य सर्वप्रपञ्चाध्यारोपेणानादिमत्परं ब्रह्मेति व्याख्यातम् अधुना तदपवादेन 'न सत्तन्नासदुच्यत' इति व्याख्यातुमारभते निरुपाधिस्वरूपज्ञानाय— सर्वेन्द्रियेत्यादिना ।

श्रोत्रेन्द्रियाँ जिसके प्रवर्तनीय है वह सर्वतः श्रुतिमत् है । सर्वप्राणिसमुदायमें एक ही नित्य विभु सब अचेतनवर्गको आवृतकर अपनी सत्ता स्फुरणसे आध्यासिक आविद्यिक सम्बन्धसे व्याप्तकर स्थित है निर्विकार ही स्थितिका लाभ करता है अपनेमें अध्यस्त जो जड़प्रपंच है वह स्वस्थितिका लाभ नहीं करता जड़ अशुद्ध प्रपंचके अध्याससे ब्रह्म भी अशुद्ध हो जायगा इस शङ्काका परिहार करते हैं—दोषेणेत्यादिसे । अध्यस्तके गुण वा दोष थोड़ा भी अधिष्ठानमें नहीं आता मरुभूमिमें जलका अध्यास होने पर भी उक्तभूमि थोड़ो भी गीली नहीं होती। जिस प्रकार सब शरीरोंमें एक ही चेतन नित्य और विभु है प्रतिशरीर भिन्न नहीं, इस प्रकारको पूर्वमें विस्तारसे कहा है ॥ १३ ॥

अध्यारोप और अपवादसे निष्प्रपञ्च सर्गातीतका प्रपञ्च है इस न्यायका अनुसरण कर सकलसंसार के अध्यारोपसे 'अनादिमत्परं ब्रह्म' इसका व्याख्यान किया इससमय उसके अपवाद निरासद्वारा "न सत्तन्नासदुच्यते" इसकी व्याख्याका आरम्भ करते हैं—सकलोपाधिशून्यस्वरूपज्ञानार्थ, 'सर्वेन्द्रिय'

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च ।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ॥ १५ ॥

तथा वह परमात्मा, चराचर सबभूतोंके बाहर भीतर परिपूर्ण है और चर अचररूप भी वही है और वह सूक्ष्म होनेसे अविज्ञेय है तथा अति समीपमें और दूरमें भी स्थित वही है ॥ १५ ॥

परमार्थतः सर्वेन्द्रियविवर्जितं तन्मायया सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेषां बहिष्करणानां श्रोत्रादीनामन्तःकरणयोश्च बुद्धिमनसोर्गुणैरध्यवसायसंकल्पश्रवणवचनादिभिस्तत्तद्विषयरूपतयाऽवभासत इव सर्वेन्द्रियव्यापारैर्व्यापृतमिव तज्ज्ञेयं ब्रह्म "ध्यायतीव लेलायतीव" इतिश्रुतेः । अत्र ध्यानं बुद्धीन्द्रियव्यापारोपलक्षणम् । लेलायनं चलनं कर्मेन्द्रियव्यापारोपलक्षणार्थम् । तथा परमार्थतोऽसक्तं सर्वसंबन्धशून्यमेव, मायया सर्वभृच्च सदात्मना सर्वं कल्पितं धारयति पोषयतीति च सर्वभृत्, निरधिष्ठानभ्रमायोगात् । तथा परमार्थतो निर्गुणं सत्त्वरजस्तमोगुणरहितमेव, गुणभोक्तृ च गुणानां सत्त्वरजस्तमसां शब्दादिद्वारा सुखदुःखमोहाकारेण परिणतानां भोक्तृ उपलब्धृ च तज्ज्ञेयं ब्रह्मेत्यर्थः ॥ १४ ॥

भूतानां भवनधर्माणां सर्वेषां कार्याणां कल्पितानामकल्पितमधिष्ठान-

इत्यादिसे । वस्तुतः सब इन्द्रियोंसे रहित उसकी मायासे सर्वेन्द्रियगुणाभास—[1] बाह्येन्द्रिय श्रोत्रादि अन्तःकरण बुद्धि मनोंके गुणोंसे निश्चयात्मकबुद्धिसंकल्प वचनश्रवणादिसे तत्तद्विषयरूपसे भासमानके समान सब इन्द्रियव्यापारोंसे व्यापारवान्‌के समान वह ज्ञेय ब्रह्म है 'ध्यायतीव लेलायतीव' यह श्रुति है । यहां ध्यान ज्ञानेन्द्रिय व्यापारका उपलक्षण है लेलायन चलन कर्मेन्द्रिय व्यापारका उपलक्षण है, तथा वस्तुतः असक्त सर्वसम्बन्धशून्य ही मायासे सबका आश्रय सब कल्पितोंको सदात्मना धारण करता है घटादि ब्रह्ममें कल्पित है ब्रह्मकी सत्तासे ही 'घटोऽस्ति' यह व्यवहार होता है अधिष्ठान सत्तासे अतिरिक्त अध्यस्तकी सत्ता नहीं है इस तात्पर्यसे कहते है 'सदात्मना सर्वं धारयति' धारण व पोषण करता है सर्वभृत् सब कल्पितोंका आश्रय है अधिष्ठानके विना अध्यास नहीं होता ब्रह्मसे अतिरिक्त अधिष्ठान नहीं है परमार्थ सत् हो अधिष्ठान माना जाता है तथा वस्तुतः निर्गुण सत्त्वरजस्तमोगुणसे रहित ही गुणोंकाभोक्ता है सत्त्वरजतमोगुणोंका शब्दादि द्वारा जो सुखदुःखमोहरूपसे पठित है उनका द्रष्टा ज्ञेय ब्रह्म है यह अर्थ है॥१४॥

भूत उत्पत्तिधर्मक अन्य सब जन्योंका जो कल्पित है, उनका अकल्पित

[1] बुद्धिमनकी अपेक्षासे श्रोत्रादि भी बाह्यकरण है इस तात्पर्यसे बाह्येन्द्रिय कहा है।

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम् ।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ॥ १६ ॥

और विभागरहित, एकरूपसे आकाशके सदृश परिपूर्ण हुआ भी चराचर संपूर्ण भूतोंमें पृथक् पृथक्के सदृश स्थित प्रतीत होता है तथा वह जानने योग्य परमात्मा, विष्णुरूपसे भूतोंको धारण पोषण करनेवाला और रुद्ररूपसे संहार करनेवाला तथा ब्रह्मारूपसे सबका उत्पन्न करनेवाला है ॥ १६ ॥

मेकमेव बहिरन्तश्च रज्जुरिव स्वकल्पितानां सर्पधारादीनां सर्वात्मना व्यापकमित्यर्थः । अत एवाचरं स्थावरं चरं च जङ्गमं भूतजातं तदेवा-धिष्ठानात्मकत्वात् । कल्पितानां न ततः किंचिदतिरिच्यत इत्यर्थः । एवं सर्वात्मकत्वेऽपि सूक्ष्मत्वाद्रूपादिहीनत्वात्तदविज्ञेयमिदमेवमिति स्पष्टज्ञानार्हं न भवति । अत एवाऽऽत्मज्ञानसाधनशून्यानां वर्षसहस्रकोट्याऽप्यप्राप्यत्वाद्-दूरस्थं च योजनलक्षकोट्यन्तरितमिव तत् । ज्ञानसाधनसंपन्नानां तु अन्तिके च तदत्यन्ताव्यवहितमेवाऽऽत्मत्वात् । "दूरात्सुदूरे तदिहान्तिके च पश्य-त्स्विहैव निहितं गुहायाम्" इत्यादिश्रुतिभ्यः ॥ १५ ॥

"तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वदन्तिके ।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः" इति ॥

एजति चलति नैजति न चलति । तत्, उ, अन्तिक इति च्छेदः ॥ १५ ॥
यदुक्तमेकमेव सर्वमावृत्य तिष्ठतीति तद्विवृणोति प्रतिदेहमात्मभेदवादितां

परमार्थसत् अधिष्ठान एक ही है बाहर भीतर जैसे रज्जु (रस्सी) स्वकल्पित सर्प-धारा भूछिद्रादिका सर्वात्मना सब तरहसे व्यापक है अतएव अचर स्थावर स्थिर चर जंगम गतिशील भूत जात वही है; क्योंकि अध्यस्त अधिष्ठानात्मक होता है कल्पितोंका अधिष्ठानसे अतिरिक्त अपना कुछ नहीं है इस तरह सर्वात्मक होने पर भी अतिसूक्ष्मतासे रूपादिके अभावसे वह अविज्ञेय है यह ऐसा ही है इस प्रकार स्पष्टज्ञान योग्य नहीं है अतएव आत्मज्ञानके हेतुओंसे रहित हजार करोड वर्षों से भी अप्राप्य दूरस्थ लाख करोडयोजनसे व्यवहित के समान वह है । योजन ४ कोश का होता है । ज्ञानसाधनसामग्री से युक्तों को समीप में है अत्यन्त अव्यव-हित वह है क्योंकि स्वात्मस्वरूप है आत्मा से अभिन्न है 'दूरात् सुदूरे तदिहान्तिके च पश्यत्स्विहैव निहितं गुहायाम्' इत्यादि श्रुतियाँ आत्मार्थ में प्रमाण हैं ॥ १५ ॥

जो कहा कि एक ही सबका आवरण कर स्थित है उसका विवरण करते हैं

निरासाय अविभक्तमित्यादिना—

भूतेषु सर्वप्राणिषु अविभक्तमभिन्नमेकमेव यत्, न तु प्रतिदेहं भिन्नं व्योमवत्सर्वव्यापकत्वात्। तथाऽपि देहतादात्म्येन प्रतीयमानत्वात्प्रतिदेहं विभक्तमिव च स्थितम्। औपाधिकत्वेनापारमार्थिको व्योम्नीव तत्र भेदावभास इत्यर्थः। ननु भवतु क्षेत्रज्ञः सर्वव्यापक एकः, ब्रह्म तु जगत्कारणं ततो भिन्नमेवेति नेत्याह—भूतभर्तृ चेति। भूतानि सर्वाणि स्थितिकाले बिभर्तीति तथा प्रलयकाले ग्रसिष्णु ग्रसनशीलमुत्पत्तिकाले प्रभविष्णु च प्रभवनशीलं सर्वस्य, यथा रज्ज्वादिः सर्पादेर्मायाकल्पितस्य। तस्माद्यज्जगतः स्थितिलयोत्पत्तिकारणं ब्रह्म तदेव क्षेत्रज्ञं प्रतिदेहमेकं ज्ञेयं न ततोऽन्यदित्यर्थः॥ १६ ॥

हर एक शरीरों में आत्मा भिन्न है सब शरीरों में एक ही आत्मा नही इस मतके खण्डनार्थ विवरण है—अविभक्तमित्यादिसे, भूतोंमें सब प्राणियोंमें अविभक्त अभिन्न एकही वह है प्रतिशरीर भिन्न नहीं क्योंकि आकाशके समान सबका व्यापक है जैसे घटमठादिमें एकही आकाश है वैसे सब शरीरोंसे एकही आत्मा है तौ भी देहभेदसे प्रतीयमान आत्मा प्रतिशरीर भिन्न है ऐसा प्रतीत होता है "अहं गौरः कृशः स्थूल" इत्यादि प्रतीतियाँ लोकमें प्रसिद्ध है गौरत्वादि शरीर धम है आत्माके धर्म नहीं शरीरद्वारा आत्मामें व्यपदिष्ट होते हैं धर्मीके तादात्म्याध्यासके विना धर्म विनिमय नहीं होता अतः शरीराभेदाध्यासनिबन्धनगौरत्वादिके समान भेदका भान है वस्तुतः वह एकही है प्रतिशरीर भिन्न नहीं भेदभान सोपाधिक स्फटिकमें आरुण्यभानके समान मिथ्या है घटाकाश मठाकाशसे भिन्न है इस प्रतीतिका विषय घटमठभेद है आकाशभेद इन भिन्न उपाधियोंसे प्रतीत होता है, अच्छा तो क्षेत्र सर्वव्यापक एक हो संसारका कारण तो ब्रह्म जीवसे भिन्नही है ऐसा नहीं इसपर कहते हैं 'भूते'त्यादिसे। सब भूतोंका धारण और पोषणका कर्ता है एवं प्रलयकालमें सबका निगलने वाला है उत्पत्ति कालसे उत्पादक है तदात्मना उत्पत्तिशील है सबका जैसे रज्जुमें मायासे सर्पादिकी कल्पना होती है एवं मायासे ब्रह्ममें सब भूतोंकी कल्पना होती है अतः जो संसारकी स्थिति लय और उत्पत्तिका कारण है ब्रह्म वही क्षेत्रज्ञ है उससे भिन्न नहीं यह अर्थ है॥ १६॥

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते ।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम् ॥ १७ ॥

और वह ब्रह्म ज्योतियोंका भी ज्योति एवं मायासे अति परे कहा जाता है तथा वह परमात्मा बोधस्वरूप और जाननेके योग्य है एवं तत्त्वज्ञानसे प्राप्त होनेवाला और सबके हृदयमें स्थित है ॥१७॥

ननु सर्वत्र विद्यमानमपि तन्नोपलभ्यते चेत्तर्हि जडमेव स्यात्, न स्यात्स्वयंज्योतिषोऽपि तस्य रूपादिहीनत्वेनेन्द्रियाद्यग्राह्यत्वोपपत्तेरित्याह—ज्योतिषामित्यादिना ।

तज्ज्ञेयं ब्रह्म ज्योतिषामवभासकानामादित्यादीनां बुद्ध्यादीनां च बाह्यानामान्तराणामपि ज्योतिरवभासकं चैतज्ज्योतिषो जडज्योतिरवभासकत्वोपपत्तेः । "येन सूर्यस्तपति तेजसेद्धः ।" "तस्य भासा सर्वमिदं विभाति" इत्यादिश्रुतिभ्यश्च । वक्ष्यति च—"यदादित्यगतं तेजः" इत्यादि । स्वयंजडत्वाभावेऽपि जडसंस्पृष्टं स्यादिति नेत्याह—तमसो जडवर्गात्परमविद्यातत्कार्याभ्यामपारमार्थिकाभ्यामसंस्पृष्टं पारमार्थिकं तद्ब्रह्म सदसतोः

यदि सब जगह रहने पर भी देख नहीं पड़ता तो वह जड ही होगा, आत्मा उक्त ब्रह्म स्वयं प्रकाश है ऐसा आप मानते हैं फिर ज्ञान क्यों नहीं होता ? इसका उत्तर है जड़ तो नहीं, है तो स्वयं प्रकाश किन्तु रूपादि रहित होनेसे चक्षुर्गोचर नहीं यह कहते हैं। वह ज्ञेय ब्रह्म प्रकाशमान आदित्यादि ज्योतियों तथा बुद्ध्यादि बाह्य औ भीतरके ज्योतियोंकी ज्योति भासक है सूर्यचन्द्रादि ज्योतियोंका भासक ब्रह्म ज्योति है "येन सूर्यः तपति तेजसेद्धः" जिस तेजसे दीप्त सूर्य तपता है यह उक्त श्रुतिका अर्थ है 'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' यह सब उसीके तेजसे प्रकाशित है इन श्रुतियोंसे उक्तार्थ सिद्ध होता है आगे कहेंगे 'यदादित्यगतं तेज' इत्यादि स्वयं जड न होने पर भी जडसे संयुक्त होगा नहीं यह कहते हैं 'तमसः परम्' इत्यादिसे तमसे जड जात विवक्षित है उससे यह अविद्या और अविद्याके कार्योंसे जो अपारमार्थिक है इनसे असंबद्ध क्योंकि वह पारमार्थिक है ब्रह्म है इसमें हेतु

संबन्धायोगात्। उच्यते "अक्षरात्परतः परः" इत्यादिश्रुतिभिर्ब्रह्मवादिभिश्च। तदुक्तम्—

"निःसङ्गस्य ससङ्गेन कूटस्थस्य विकारिणा।
आत्मनोऽनात्मना योगो वास्तवो नोपपद्यते" ॥

"आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्" इति श्रुतेश्च। आदित्यवर्णमिति स्वभाने प्रकाशान्तरानपेक्षं सर्वस्य प्रकाशकमित्यर्थः। यस्मात्तत्स्वयंज्योतिर्जडासंस्पृष्टमत एव तज्ज्ञानं प्रमाणजन्यचेतोवृत्त्यभिव्यक्तसंविद्रूपम्। अत एव तदेव ज्ञेय ज्ञातुमर्हमज्ञातत्वाज्जडस्याज्ञातत्वाभावेन ज्ञातुमनर्हत्वात्। कथं तर्हि सर्वेन ज्ञायते तत्राऽऽह–ज्ञानगम्यं पूर्वोक्तेनामानित्वादिना तत्त्वज्ञानार्थदर्शनान्तेन साधनकलापेन ज्ञानहेतुतया ज्ञानशब्दितेन गम्यं प्राप्यं न तु तद्विनेत्यर्थः। ननु साधनेन गम्यं चेत्तत्किं देशान्तरव्यवहितं नेत्याह—हृदि सर्वस्य धिष्ठितं सर्वस्य प्राणिजातस्य हृदि बुद्धौ धिष्ठितं सर्वत्र सामान्येन स्थितमपि विशेषरूपेण तत्र स्थितमभिव्यक्तं जीवरूपेणान्तर्यामिरूपेण च,

यह है कि सत् वर्तमान असत् अवर्तमान इनका सबन्ध नहीं हो सकता वर्तमानोंका ही सबन्ध सब जगह देखा गया है कहते हैं 'अक्षरात्परतः परः' इत्यादियोंसे। ब्रह्मवादी और कहा है—

'निःसंगस्य ससंगेन कूटस्थस्य विकारिणा।
आत्मनोऽनात्मना योगो वास्तवो नोपपद्यते ॥

'आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्' इत्यादि श्रुति हैं। आदित्यवर्णोंसे अपने प्रकाशमें प्रकाशान्तरकी अपेक्षा न कर सबका भासक है जिससे वह स्वयं ज्योति जडसे असंबद्ध हैं अतएव ज्ञान है प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे उत्पन्न परोक्षापरोक्षात्मक चित्तवृत्तिसे अभिव्यक्त चैतन्यात्मक संवित्स्वरूप अतएव बुद्धि ही ज्ञेय ज्ञात करनेके योग्य हैं क्योंकि वह अज्ञात है और ज्ञात करनेके योग्य है, जड़ ज्ञात करनेके योग्य नहीं तब क्यों नहीं सबको ज्ञात होता है इसमें कारण कहते हैं—'ज्ञानगम्यम्' पूर्वोक्त अमानित्वादिसे लेकर दर्शनान्त जो तत्त्वज्ञानके हेतुसे कहे हैं उनसे गम्य है उनके बिना नहीं यद्यपि अमानित्वादि ज्ञान स्वरूप नहीं फिर भी ज्ञानार्थ होनेसे ज्ञान शब्दसे कहे गये हैं यदि हेतु प्राप्य है तो देशान्तर व्यवहित है क्या ? नहीं यह कहते हैं—'सर्वस्य धिष्ठितं' से सब प्राणी समूहोंके हृदयोंमें धिष्ठित सबकी बुद्धिमें सामान्यरूपसे स्थिति भी विशेषरूपसे बुद्धिमें स्थित है जीवरूपसे अन्तर्यामिरूपसे बुद्धिमें अभिव्यक्त

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः ।
मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते ॥ १८ ॥

हे अर्जुन! इस प्रकार क्षेत्र तथा ज्ञान और जानने योग्य परमात्माका स्वरूप संक्षेपसे कहा गया, इसको तत्त्वसे जानकर मेरा भक्त मेरे स्वरूपको प्राप्त होता है ॥ १८ ॥

सौरं तेज इवाऽऽदर्शसूर्यकान्तादौ । अव्यवहितमेव वस्तुतो भ्रान्त्या व्यवहितमिव सर्वभ्रमकारणाज्ञाननिवृत्त्या प्राप्यत इवेत्यर्थः ॥ १७ ॥

उक्तं क्षेत्रादिकमधिकारिणं फलं च वदन्नुपसंहरति—इतीत्यादिना ।

इति अनेन पूर्वोक्तेन प्रकारेण क्षेत्रं महाभूतादिधृत्यन्तं तथा ज्ञानममानित्वादितत्त्वज्ञानार्थदर्शनान्तं ज्ञेयं चानादिमत्परं ब्रह्म धिष्ठितमित्यन्तं श्रुतिभ्यः स्मृतिभ्यश्चाऽऽकृष्य त्रयमपि मन्दबुद्ध्यनुग्रहाय मया संक्षेपेणोक्तम् । एतावानेव हि सर्वो वेदार्थो गीतार्थश्च । अस्मिंश्च पूर्वाध्यायोक्तलक्षणो मद्भक्त एवाधिकारीत्याह – मद्भक्त इति । मयि भगवति वासुदेवे परमगुरौ समर्पितसर्वात्मभावो मदेकशरणः स एतद्यथोक्तं क्षेत्रं ज्ञानं ज्ञेयं च विज्ञाय विवेकेन विदित्वा मद्भावाय सर्वानर्थशून्यपरमानन्दभावाय मोक्षायो-

होता है जैसे सूर्यका तेज सर्वत्र रहता है परन्तु दर्पण सूर्य कान्तमणिमें अभिव्यक्त होता है ढेले आदिमें नहीं तत्त्वतः व्यवहित नहीं वह भ्रमसे व्यवहितके समान प्रतीत होता है सब भ्रमोंका कारण जो अज्ञान है उसकी निवृत्तिसे प्राप्त होता है अप्राप्तकी प्राप्ति नहीं किन्तु प्राप्त ही की प्राप्ति है इस तात्पर्यसे प्राप्त इव कहा यह अर्थ है ॥ १७ ॥

उक्त क्षेत्रादि अधिकारी और फल कहते हुए उपसंहार करते हैं—इत्यादिसे। इस पूर्वोक्त प्रकारसे क्षेत्र महाभूतादिधृत्यन्त तथा ज्ञान अमानित्वादि तत्त्वज्ञानार्थ दर्शनान्त ज्ञेय 'अनादि मत्परं ब्रह्म धिष्ठित' एतत्पर्यन्त श्रुतियोंसे लेकर तीनों अल्प बुद्धियों पर दयाकर संक्षेपसे मैंने कहा इतना ही संपूर्ण वेदार्थ और गीतार्थ है इसमें पूर्वाध्यायोक्त मेरा भक्त ही अधिकारी है यह कहते हैं मेरा भक्त मुझ भगवान् वासुदेव परम गुरुमें अर्पण किया है सर्वात्मभाव मेरा सर्वस्व वही है जिसने मैं ही एक शरण हूँ जिसका वह भक्त जैसा कहा है क्षेत्रज्ञान और ज्ञेय विवेक सो समझ कर मद्भाव मेरा भाव सब दुःखोंसे रहित

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि ।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसंभवान् ॥ १९ ॥

और हे ।अर्जुन ! प्रकृति अर्थात् त्रिगुणमयी मेरी माया और जीवात्मा अर्थात् क्षेत्रज्ञ, इन दोनोंको ही तूं अनादि जान और रागद्वेषादि विकारोंको तथा त्रिगुणात्मक संपूर्ण पदार्थोंको भी प्रकृतिसे ही उत्पन्न हुए जान ॥१९॥

पपद्यते मोक्षं प्राप्तुं योग्यो भवति ।

"यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः" इति श्रुतेः ॥

तस्मात्सर्वदा मदेकशरणः सन्नात्मज्ञानसाधनान्येव परमपुरुषार्थलिप्सुरनुवर्तेत तुच्छविषयभोगस्पृहां हित्वेत्यभिप्रायः ॥ १८ ॥

तदनेन ग्रन्थेन तत्क्षेत्रं यच्च यादृक्चेत्येतद्व्याख्यातमिदानीं "यद्विकारि यतश्च यत् । स च यो यत्प्रभावश्च" इत्येतावद्व्याख्यातव्यम् । तत्र प्रकृतिपुरुषयोः संसारहेतुत्वकथनेन यद्विकारो यतश्च यदिति प्रकृतिमित्यादि द्वाभ्यां प्रपञ्च्यते । स च यो यत्प्रभावश्चेति तु पुरुष इत्यादिद्वाभ्यामिति विवेकः । तत्र सप्तम ईश्वरस्य द्वे प्रकृती परापरे क्षेत्रक्षेत्रज्ञलक्षणे उपन्यस्यैतद्योनीनि

परम आनन्द भाव जो मोक्ष उसको पाता है मोक्ष प्राप्तिके योग्य होता है।

"यस्य देवे परा भक्तिः यथा देवे तथा गुरौ ।
तस्य ते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः" ॥

यह श्रुति है। जिसकी देवतामें उत्कृष्ट भक्ति है और जैसी भक्ति देवतामें हो वैसीही भक्ति श्रीगुरुदेवमें हो उस महात्मा पुण्यात्माको ही कथित अर्थका भान होता है। तस्मात्से उपसंहार करते हैं—सदा मदेकशरण होकर परम पुरुषार्थ मोक्ष लाभकी इच्छावान् आत्मज्ञानके साधनोंकी ही अनुवृत्ति सदा तत्पर ही रहना चाहिये क्षुद्रभोगकी वाञ्छाको छोड़कर यह अभिप्राय है ॥१८॥

इस ग्रन्थसे वह क्षेत्र जो है जैसा है इसका व्याख्यान किया इस समय 'यद्विकारि यतश्च यत् स च यो यत्प्रभावश्च' इसका व्याख्यान करना है प्रकृति पुरुष ये दोनों संसारके हेतु है स कथनसे 'यद्विकारि यतश्च यत्' यह प्रकृतिमित्यादि दो श्लोकोंसे विस्तारपूर्वक कहते हैं—'स च यो यत्प्रभावश्च' इसका तो पुरुष इत्यादि दो श्लोकोंसे है यह विवेक है। सप्तममें ईश्वरकी परापर भेदसे दो प्रकृतियां जो क्षेत्र क्षेत्रज्ञ स्वरूप है उनका उपन्यास कर

भूतानीत्युक्तम्, तत्रापरा प्रकृतिः क्षेत्रलक्षणा परा तु जीवलक्षणेति तयोरनादित्वमुक्त्वा तदुभययोनित्वं भूतानामुच्यते—प्रकृतिमित्यादिना।

प्रकृतिर्मायाख्या त्रिगुणात्मिका पारमेश्वरी शक्तिः क्षेत्रलक्षणा या प्रागपरा प्रकृतिरित्युक्ता। या तु परा प्रकृतिर्जीवाख्या प्रागुक्ता स इह पुरुष इत्युक्त इति न पूर्वापरविरोधः। प्रकृतिं पुरुषं चोभावपि अनादी एव

'एतद्योनीनि भूतानि' यह कहा उनमें अपरा प्रकृति क्षेत्रस्वरूपा परा तो जीव स्वरूपा इन दोनोंमें अनादित्व कह कर भूतोंकी ये दोनों योनियां कहते हैं— 'प्रकृतिम्' इससे। प्रकृति माया सत्त्वरजस्तम एतद्गुणत्रयात्मक परमेश्वरकी शक्ति क्षेत्रस्वरूप जो अपर प्रकृति यह कहा है, जो परा प्रकृति जीव स्वरूपा है जो पूर्वमें कहा है वह यहां पुरुष है यह कहा है, अतः पूर्वोत्तर ग्रन्थका विरोध नहीं प्रकृति और पुरुष इन दोनोंको अनादि ही जानो; नहीं है आदिकारण। जिन दोनोंका वे संपूर्ण संसारका कारण होनेसे प्रकृति अनादि है यदि वह भी कारण सापेक्ष होगा तो अनवस्था होगी अर्थात् प्रकृतिका जो कारण होगा सो भी स्वकारण सापेक्ष होगा फिर वह भी कारण कारणान्तरसापेक्ष होगा यदि अनवस्था परिहारके लिये किसी कारणको निरपेक्ष मानना अन्ततः आवश्यक है तो दो चार सीढ़ी चढ़ना व्यर्थ है, प्रकृति कोई अन्तिम कारण निरपेक्ष मानिये धर्माधर्म से पुरुष भी अनादि माना जाता है धर्माधर्मके विना पुरुषका जन्म शरीर सबन्ध नहीं हो सकता शरीरसम्बन्धके बिना धर्म अधर्म नहीं हो सकते क्योंकि ये शरीर वाक्मन इन तीनोंसे होते हैं न्यायाचार्यश्रीगौतमुनिने स्पष्ट ही कहा है—'प्रवृत्तिर्वाग्बुद्धिशरीरारम्भ' इति। बुद्धिशब्दसे मनका ग्रहण है बुद्धिकी तीन वृत्तियां हैं संकल्प अध्यवसाय और अहङ्कार। प्रवृत्तिसे धर्माधर्मफलकप्रवृत्ति यहां विवक्षित है, अतः इनके विना धर्माधर्मादि नहीं हो सकते अनवस्था अन्योन्याश्रयादिका उपलक्षण है। यदि वर्तमान शरीरसे वर्तमान धर्माधर्म मानें और वर्तमान धर्माधर्मसे वर्तमान शरीर मानें तो अन्योन्याश्रय स्पष्ट है दोनोंमें किसीकी उत्पत्ति न होगी, जैसे बीजके बिना वृक्ष नहीं होता और वृक्षके बिना बीज नहीं होता और दोनों है, इसलिये अनादि मानकर जिस बीजसे जो वृक्ष हुआ वह बीज दूसरे वृक्षसे हुआ दूसरा वृक्ष पूर्व बीज से हुआ बीज भी अपनेसे पूर्व वृक्षसे हुआ इस प्रकार बीज वृक्षका प्रवाह अनादि है, प्रथम कौन हुआ? यह प्रश्न ही नहीं उठता

विद्धि, न विद्यत आदिः कारणं ययोस्तौ। तथा प्रकृतेरनादित्वं सर्व-जगत्कारणत्वात्। तस्या अपि कारणसापेक्षत्वेऽनवस्थाप्रसङ्गात्। पुरुषस्या-नादित्वं तद्धर्माधर्मप्रयुक्तत्वात्कृत्स्नस्य जगतः, जातस्य हर्षशोकभयसंप्रति-

अनादि कहनेसे आदिका अभाव ही सिद्ध होता है आदि और प्रथम एकही है एवं धर्माधर्म और शरीर इनका प्रवाह भी बीज वृक्षवत् अनादि है पूर्व पूर्व धर्माधर्मसे उत्तरोत्तर शरीर तथा पूर्व पूर्व शरीरसे उत्तरोत्तर धर्माधर्म होते हैं शरीर और धर्माधर्मका प्रवाह अनादि है उक्त अनादित्व आत्मानादित्व के बिना नहीं हो सकता क्योंकि धर्म और अधर्म आत्माश्रित हैं आश्रयानादित्वके बिना आश्रित अनादि नहीं हो सकता और जातमात्र अदृष्ट सांसारिक भय हेतु अननुभूतभयादि बालकको जो हर्ष विषादादि होता है जिससे कभी हँसता है कभी रोता है सो अकारणक या दृष्ट कारण नहीं है किन्तु जन्मान्तरानुभूत-भयादि स्मरण हेतुक है जन्मान्तरमें भी ये बाल स्वभाव होते हैं, वे भी उक्त पूर्व हेतुओंसे ही होते हैं अतः इनसे भी अनादित्वस्पष्ट है अन्यथा अनादि न मानने पर कृत हानि और अकृताभ्यागम होगा भाव यह है कि 'नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि' इसके अनुसार फल देकर ही कर्म नष्ट होता है, बिना फल भोगादि ये सैकड़ों कल्पतक कर्म बना ही रहता अपने फलदान के अवसर तक प्रतीक्षा करता रहता है। यदि आत्मा अनादि न माना जाय किन्तु प्रतिजन्म शरीरवत् नवीन माना जाय तो इस जन्ममें जो कर्म किये हैं उन सबका इस जन्ममें तो भोग नहीं सकता, कारण तात्कालिक फलप्रदानोन्मुख कर्मान्तर में इससे प्रतिबद्ध है उसके भुक्त होने पर यदि बलवत्कर्मान्तर रहेगें तो वे ही प्रतिबन्धक होगें इसप्रकार वर्तमान कर्मोंके फलके भोगकी अवधि जन्मान्तरमें भी जाती हुई अनेक जन्मतक जाती है 'संभवानेकविंशति' इत्यादि वचन इसमें प्रमाण है अतः आत्माको भी अनादि मानना आवश्यक है अन्यकृत कर्मका अन्यो-पयोगसे नाश नहीं होता यही कृतकर्मकी फलभोगके बिना हानि है। अकृता-भ्यागम है गर्भस्थ एव गर्भसे निकलनेके बाद जो सुखदुःखादि प्राणीको होते हैं वे पूर्व जन्मके किये कर्मोंके ही फल हैं क्योंकि वर्तमान जन्ममें असक्त होनेसे कोई कर्म ही नहीं कर सकता जातमात्र किसीको सुख किसीको दुःख होता है यह तो अनुभवसिद्ध है फिर यह अकारणक नहीं हो सकता अन्यथा मुक्तमें भी दुःखादि प्रसक्ति हो जायगी लोगोंकी जन्मान्तर फलप्रद शुभाशुभ कर्मोंमें प्रवृत्ति न होगी

कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते ।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ॥ २० ॥

क्योंकि, कार्य और करणके उत्पन्न करने में हेतु प्रकृति कही जाती है और जीवात्मा सुखदुःखोंके भोक्तापनमें अर्थात् भोगनेमें हेतु कहा जाता है ॥ २० ॥

पत्तेः, अन्यथा कृतहान्यकृताभ्यागमप्रसङ्गात् । यतः प्रकृतिरनादिरतस्तस्या भूतयोनित्वमुक्तं प्रागुपपद्यत इत्याह—विकारांश्च षोडश पञ्च महाभूतान्येकादशेन्द्रियाणि च गुणांश्च सत्त्वरजस्तमोरूपान्सुखदुःखमोहान्प्रकृतिसंभवानेव प्रकृतिकारणकानेव विद्धि जानीहि ॥ १९ ॥

विकाराणां प्रकृतिसंभवत्वं विवेचयन्पुरुषस्य संसारहेतुत्वं दर्शयति—

कार्येति ।

कार्यं शरीरं करणानीन्द्रियाणि तत्स्थानि त्रयोदश देहारम्भकाणि भूतानि विषयाश्चेह कार्यग्रहणेन गृह्यन्ते गुणाश्च सुखदुःखमोहात्मकाः करणाश्रयत्वात्करणग्रहणेन गृह्यन्ते । तेषां कार्यकरणानां कर्तृत्वे तदाकारपरिणामे हेतुः कारणं प्रकृतिरुच्यते महर्षिभिः । कार्यकारणेति दीर्घपाठेऽपि

जन्मोन्तरीय सुखप्राप्ति ओ दुःखपरिहारके लिये प्रवृत्ति होती है अतः आत्मा अनादि है यह मानना आवश्यक है जिससे प्रकृति अनादि है अतः उसमें भूतयोनित्व जो पूर्वमें कहा है सो ठीक होता है यह कहते हैं। सोलह विकार-पञ्चमहाभूत पृथिव्यादि आकाशान्त, इग्यारह इन्द्रियाँ चक्षुरादि पांच ज्ञानेन्द्रियाँ वागादि पांच कर्मेन्द्रियाँ और एक मन ये सोलह हुए, गुण सत्त्वरजस्तमःस्वरूप सुखदुःख मोहमें प्रकृतिसे होते हैं ऐसा समझो प्रकृतिही विकारोंका कारण है यह जानो—॥ १९ ॥

विकार प्रकृतिसे होते हैं इसकी विवेचना करते हुए पुरुषमें संसार कारणत्व दिखलाते हैं—कार्येति । कार्य शरीर करण इन्द्रिय देहस्थ तेरह देहारम्भक भूत और गन्धादि विषय ये कार्य ग्रहणगृहीत होते हैं। गुण सुख दुःख मोह ये करण में रहते हैं इसलिये करणग्रहणसे इनका भी ग्रहण होता है इन कार्यकारणोंके कर्तृत्वमें अर्थात् तदाकार परिणाममें हेतु कारण महर्षियोंने प्रकृतिको कहा है कार्यकरण इस करणके स्थानमें 'कारण' यह पाठ यदि है तौभी अर्थ वही है जो करण पाठमें कहा हैं इसप्रकार प्रकृति संसारका कारण है

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान् ।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥ २१ ॥

परन्तु प्रकृतिमें स्थित हुआ ही पुरुष प्रकृतिसे उत्पन्न हुए त्रिगुणात्मक सब पदार्थोंका भोगता है और इन गुणोंका सङ्ग ही इस जीवात्माके अच्छी बुरी योनियोंमें जन्म लेनेमें कारण है ॥ २१ ॥

स एवार्थः । एवं प्रकृतेः संसारकारणत्वं व्याख्याय पुरुषस्यापि यादृशं तत्तदाह—पुरुषः क्षेत्रज्ञः परा प्रकृतिरिति प्राग्व्याख्यातः । सुखदुःखानां सुखदुःखमोहानां भोग्यानां सर्वेषामपि भोक्तृत्वे वृत्त्युपरक्तोपलम्भे हेतुरुच्यते ॥ २० ॥

यत्पुरुषस्य सुखदुःखभोक्तृत्वं संसारित्वमित्युक्तं तस्य किं निमित्तमित्युच्यते—पुरुष इत्यादिना ।

प्रकृतिर्माया तां मिथ्यैव तादात्म्येनोपगतः प्रकृतिस्थो हि एव पुरुषो भुङ्क्ते उपलभते प्रकृतिजान्गुणान्, अतः प्रकृतिजगुणोपलम्भहेतुषु सदसद्योनिजन्मसु सद्योनयो देवाद्यास्तेषु हि सात्त्विकमिष्टं फलं भुज्यते । असद्योनयः पश्वाद्यास्तेषु हि तामसमनिष्टं फलं भुज्यते । सदसद्योनयो धर्माधर्ममिश्रत्वाद्ब्राह्मणाद्या मनुष्यास्तेषु हि राजसं मिश्रं फलं भुज्यते ।

यह व्याख्यानकर पुरुषमें जैसा है उसको कहते हैं—'पुरुषः क्षेत्रज्ञः परा प्रकृतिरिति' यह पूर्वमें कह चुके हैं । वह सुखदुःखों अर्थात् भोग्य सुखदुःख मोहोंका सबका भोक्तृत्वमें हेतु कहा जाता है आत्मा यद्यपि भोक्ता नहीं है तथापि 'अहं भोक्ता' इत्याकारक जो मनोवृत्ति होती है तदुपरक्त तद्रूषित उपलम्भ प्रत्यक्षका कारण कहा गया है ॥ २० ॥

जो पुरुषमें सुख दुःख भोक्तृत्वरूप संसारित्व कहा है उसमें क्या हेतु है यह कहते हैं-प्रकृति माया मिथ्याभूत उस प्रकृतिका तादात्म्यसे अध्यास कर प्रकृतिस्थ ही पुरुषप्रकृतिसे उत्पन्न गुणोंका भोक्ता उपलम्भक है अतः प्रकृतिसे उत्पन्न जो गुण उनके उपलंभके हेतु सदसत् योनियाँ है, देवादि सद्योनि है उनमें सत्वगुणोत्पन्न सुखफल भोगते है असद्योनि पशु पक्ष्यादि है उनमें तामस दुःख फल भोगते है, सदसद्योनि ब्राह्मणक्षत्रियादि मनुष्य है क्योंकि ये धर्माधर्म दोनोंसे युक्त है इनमें राजस दुःखसे युक्त सुख उभयात्मक फल भोगते हैं इस

उपद्रष्टाऽनुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः ।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः ॥ २२ ॥

वास्तवमें तो यह पुरुष इस देहमें स्थित हुआ भी पर अर्थात् त्रिगुणमयी मायासे सर्वथा अतीत ही है. केवल साक्षी होनेसे उपद्रष्टा और यथार्थ सम्मति देनेवाला होनेसे अनुमन्ता एवं सबको धारण करनेवाला होनेसे भर्ता, जीवरूपसे भोक्ता तथा ब्रह्मादिकोंका भी स्वामी होनेसे महेश्वर और शुद्ध सच्चिदानन्दघन होनेसे परमात्मा ऐसा कहा गया है ॥ २२ ॥

अतस्तत्रास्य पुरुषस्य गुणसङ्गः सत्त्वरजस्तमोगुणात्मकप्रकृतितादात्म्याभिमान एव कारणम्, न त्वसङ्गस्य तस्य स्वतः संसार इत्यर्थः। अथवा गुणसङ्गो गुणेषु शब्दादिषु सुखदुःखमोहात्मकेषु सङ्गोऽभिलाषः काम इति यावत्। स एवास्यसदसद्योनिजन्मसु कारणं "स यथाकामो भवति तत्क्रतुर्भवति यत्क्रतुर्भवति तत्कर्म कुरुते यत्कर्म कुरुते तदभिसंपद्यते" इति श्रुतेः। अस्मिन्नपि पक्षे मूलकारणत्वेन प्रकृतितादात्म्याभिमानो द्रष्टव्यः ॥ २१ ॥

तदेवं प्रकृतिमिथ्यातादात्म्यात्पुरुषस्य संसारो न स्वरूपेणेत्युक्तं, कीदृशं पुनस्तस्य स्वरूपं यत्र न संभवति संसार इत्याकाङ्क्षायां तस्य स्वरूपं साक्षान्निर्दिशन्नाह— उपेत्यादिना।

अस्मिन्प्रकृतिपरिणामे देहे जीवरूपेण वर्तमानोऽपि पुरुषः परः प्रकृतिगुणासंसृष्टः परमार्थतोऽसंसारी स्वेन रूपेणेत्यर्थः। यत उपद्रष्टा यथर्त्विग्य-

कारण उसमें गुण संग इस पुरुषका है सत्त्वरजस्तम एतद्गुणत्रयात्मक प्रकृतितादात्म्याभिमान ही कारण है असंग आत्मा स्वतः संसारी नहीं है अथवा 'गुण संगः' गुण शब्द स्पर्शादि विषय जो सुख दुःख मोहात्मक है उनमें संग अभिलाष स्पृहा वही इस पुरुषके सदसद्योनिका कारण है 'स यथाकामो भवति तत्क्रतु र्भवति यत्क्रतु भवति तत्कर्म कुरुते तदभिसंपद्यते' यह श्रुति है इस पक्षमें भी मूल कारण प्रकृतितादात्म्याभिमान ही समझना ॥ २१ ॥

इसप्रकार मिथ्याप्रकृतितादात्म्याध्याससे पुरुषको संसार है स्वरूपसे नहीं यह कहा। पुरुषका स्वरूप फिर कैसा है जिसमें संसारका संभव नहीं इस जिज्ञासासे उसके स्वरूपका साक्षान्निर्देश करते हुए कहते हैं—उपद्रष्टेति। इस प्रकृतिके परिणामस्वरूप देहमें जीवस्वरूपसे वर्तमानभी पुरुष पर अर्थात् प्रकृतिके गुणोंसे

जमानेषु यज्ञकर्मव्यापृतेषु तत्समीपस्थोऽन्यः स्वयमव्यापृतो यज्ञविद्याकुशलत्वादृत्विग्यजमानव्यापारगुणदोषाणामीक्षिता तद्वत्कार्यकरणव्यापारेषु स्वयमव्यापृतो विलक्षणस्तेषां कार्यकरणानां सव्यापाराणां समीपस्थो द्रष्टा न तु कर्ता पुरुषः "स यत्तत्र किंचित्पश्यत्यनन्वागतस्तेन भवत्यसङ्गो ह्ययं पुरुषः" इति श्रुतेः। अथवा देहचक्षुर्मनोबुद्ध्यात्मसु द्रष्टृषु मध्ये बाह्यान्देहादीनपेक्ष्यात्यव्यवहितो द्रष्टाऽऽत्मा पुरुष उपद्रष्टा। उपशब्दस्य सामीप्यार्थत्वात्तस्य प्रत्यगात्मन्येव पर्यवसानात्। अनुमन्ता च कार्यकरणप्रवृत्तिषु स्वयमप्रवृत्तोऽपि प्रवृत्त इव संनिधिमात्रेण तदनुकूलत्वादनुमन्ता। अथवा स्वव्यापारेषु प्रवृत्तान्देहेन्द्रियादीन्न निवारयति कदाचिदपि तत्साक्षिभूतः पुरुष इत्यनुमन्ता, "साक्षी चेता" इति श्रुतेः। भर्ता देहेन्द्रियमनोबुद्धीनां संहतानां चैतन्याभासविशिष्टानां स्वसत्तया स्फुरणेन च धारयिता पोषयिता च।

अस्पृष्ट अछूत वस्तुतः अपने स्वरूपसे असंसारी है यतः उपद्रष्टा है इसमें—यथेति। जैसे ऋत्विग् ऋतुकालयाजी यजमान ये लोग यज्ञमें अपने कार्यको करते हैं इनके सन्निधिमें खड़ा स्वयं यागव्यापारशून्य यागविधाभिज्ञ होनेसे ऋत्विग् यजमान व्यापारके गुण दोषोंका समीक्षण करता है जहाँ त्रुटि होती है वहाँ 'ऐसा करना चाहिये' इत्याद्युपदेशसे उसका परिहार करता है उसीप्रकार शरीरेन्द्रिय व्यापारमें स्वयं व्यापार रहित भी सव्यापार व्यापारवद् देहेन्द्रियोंके समीपमें स्थित उनसे बिलक्षण केवल द्रष्टा है पुरुष कर्त्ता नहीं, 'स यत् किंचित्पश्यति अनन्वागतस्तेन भवति' 'असंगो ह्ययं पुरुष' ऐसी श्रुति है अथवा देह चक्षु मन बुद्धि आत्मा इन दृश्योंके मध्यमें बाह्यदेहादिकी अपेक्षा अत्यन्त व्यवधानशून्य द्रष्टात्मा पुरुष उपद्रष्टा है उपशब्दका सामीप्य अर्थ है अव्यवहित सामीप्य प्रत्यगात्मामें ही निश्चित है। अनुमन्ता भी आत्मा है देहेन्द्रियादि प्रवृत्तियोंमें स्वयं प्रवृत्त न होने पर भी समीपस्थ होनेसे प्रवृत्तके समान अनुकूल होनेसे अनुमन्ता अथवा अपने व्यापारमें लगे देहेन्द्रियादिको किसी समय रोकता नहीं क्योंकि उनका साक्षी है पुरुष, इसमें प्रमाण 'अनुमन्ता साक्षी च' यह श्रुति है। देह इन्द्रिय मन और बुद्धि जो चैतन्याभास चैतन्यप्रतिविशिष्ट चित्तप्रतिफलित चैतन्यविशिष्ट सहित हैं स्वसत्ता और स्फुरणसे धारण पोषण करनेवाला है अतः भर्ता है 'डुभृञ् धारण पोषणयोः' इस धातुपाठके अनुसार यहाँ दोनों अर्थ विवक्षित है भोक्ता बुद्धि

य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते ॥ २३ ॥

इस प्रकार पुरुषको और गुणोंके सहित प्रकृतिको जो मनुष्य तत्त्वसे जानता है वह सब प्रकारसे बर्तता हुआ भी फिर नहीं जन्मता है अर्थात् पुनर्जन्मको नहीं प्राप्त होता है ॥ २३ ॥

भोक्तुः बुद्धेः सुखदुःखमोहात्मकान्प्रत्ययान्स्वरूपचैतन्येन प्रकाशयतीति निर्विकार एवोपलब्धा । महेश्वरः सर्वात्मत्वात्स्वतन्त्रत्वाच्च महानीश्वरश्चेति महेश्वरः परमात्मा देहादिबुद्ध्यन्तानामविद्ययाऽऽत्मत्वेन कल्पितानां परमः प्रकृष्ट उपद्रष्टृत्वादिपूर्वोक्तविशेषणविशिष्ट आत्मा परमात्मा, इति अनेन शब्देनापि उक्तः कथितः श्रुतौ । चकारादुपद्रष्टेत्यादिशब्दैरपि स एव पुरुषः परः । "उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः" इत्यग्रेऽपि वक्ष्यते ॥२२॥

तदेवं स च यो यत्प्रभावश्चेति व्याख्यातमिदानीं यज्ज्ञात्वाऽमृतमश्नुत इत्युक्तमुपसंहरति—य एवमित्यादिना ।

य एवमुक्तेन प्रकारेण वेत्ति पुरुषमयमहमस्मीति साक्षात्करोति प्रकृतिं चाविद्यां गुणैः स्वविकारैः सह मिथ्याभूतामात्मविद्यया बाधितां वेत्ति

अन्तःकरणकी विषय संपर्कसे जो सुख दुःख मोहात्मक वृत्तियाँ होती है स्वरूपभूत चैतन्यसे उनका प्रकाशक अविकारी ज्ञाता यदि उक्त वृत्तियाँ आत्मामें हो तो वह भोक्ता हो सकता है पर ऐसा माननेसे वह विकारी हो जायगा जो अद्वैत वेदान्तियोंको इष्ट नहीं महेश्वर स्वतन्त्र और सबका आत्मा होनेसे महान् ईश्वर परमात्मा है शरीरादि अन्तःकरणान्त जो अविद्याकल्पित अचेतन है उनसे परम उत्कृष्ट उपद्रष्टा इत्यादि पूर्वोक्त विशेषणविशिष्ट आत्मा जो परमात्मा इस शब्दसे भी कहा गया है श्रुतिमें, चकारसे उपद्रष्टा इत्यादि शब्दसे भी कहा गया है वही पुरुष पर है 'उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः' यह आगे भी कहेंगे ॥ २२ ॥

इस प्रकार 'स च यो यत्प्रभावश्च' इसका व्याख्यान हो गया इससमय 'यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते' इस उक्तका उपसंहार करते हैं—य एवमिति । उक्त प्रकारसे जो यह पुरुष मैं ही हूँ यह प्रत्यक्ष करता है उससे भिन्न अपनेको नहीं देखता स्वविकारोंके साथ मिथ्याभूत प्रकृतिको आत्मज्ञानसे बाधित देखता है अर्थात्

ध्यानेनाऽऽत्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन (ण) चापरे ॥ २४॥

हे अर्जुन ! उस परमपुरुष, परमात्माको, कितने ही मनुष्य तो शुद्ध हुई सूक्ष्मबुद्धिसे, ध्यानके द्वारा हृदयमें देखते हैं और अपर कितने ही निष्काम कर्मयोगके द्वारा देखते हैं ॥ २४ ॥

निवृत्ते ममाज्ञानतत्कार्ये इति, स सर्वथा प्रारब्धकर्मवशादिन्द्रवद्विधिमतिक्रम्य वर्तमानोऽपि भूयो न जायते पतितोऽस्मिन्विद्वच्छरीरे पुनर्देहग्रहणं न करोति। अविद्यायां विद्यया नाशितायां तत्कार्यसंभवस्य बहुधोक्तत्वात् "तदधिगम उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशात्' इति न्यायात्। अपिशब्दाद्विधिमनतिक्रम्य वर्तमानः स्ववृत्तस्थो भूयो न जायत इति किमु वक्तव्यमित्यभिप्रायः॥ २३ ॥

अत्राऽऽत्मदर्शने साधनविकल्पा इमे कथ्यन्ते—ध्यानेनेत्यादिना।

इह हि चतुर्विधा जना केचिदुत्तमाः केचिन्मध्यमाः केचिन्मन्दाः केचिन्मन्दतरा इति। तत्रोत्तमानामात्मज्ञानसाधनमाह—ध्यानेनेति। विजातीयप्रत्ययानन्तरितेन सजातीयप्रत्ययप्रवाहेण श्रवणमननफलभूतेनाऽऽत्मचिन्तनेन निदिध्यासनशब्दोदितेनाऽऽत्मनि बुद्धौ पश्यन्ति साक्षात्कुर्वन्ति आत्मानं

मेरे अज्ञान तत्कार्य निवृत्त हो गये वह सब प्रकारसे वर्णाश्रमविधिका उल्लंघनकर तद्विपरीताचरण करके भी फिर शरीरान्तरमें नहीं उत्पन्न होता, ज्ञानीको इस शरीरके पतन होने पर फिर शरीर ग्रहण नहीं होता विद्यासे अविद्याके ध्वंस होनेपर फिर अविद्याकार्यका सम्भव न है यह अनेकवार कहचुके हैं इसमें 'तदधिगमें' इत्यादि वेदान्तसूत्र न्याय भी है। अपिशब्दसे विधिका उल्लंघन कर वर्तमान स्ववर्णाश्रम धर्मनिष्ठ शरीरान्तर ग्रहण नहीं करता इसमें कहना ही क्या है यह भाव है ॥ २३ ॥

आत्मप्रत्यक्षमें ये कारण विकल्प कहते हैं—इस लोकमें चार प्रकारका मनुष्य है कोई उत्तम है, कोई मध्यम है, कोई मन्द है, कोई मन्दतर, अतिमन्द उनमें उत्तमोंके ज्ञानोपायको कहते हैं ध्यान प्रत्येकतानरूप अर्थात् भिन्नविषयक ज्ञानसे अव्यवहित जो सजातीय ज्ञानधारावदविच्छिन्न गृहीतविषयक ज्ञानधारा जो श्रवण मननका फलभूत आत्मचिन्तन निदिध्यासन है उससे बुद्धिमें

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वाऽन्येभ्य उपासते ।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः ॥ २५ ॥

परन्तु इनसे दूसरे अर्थात् जो मन्द बुद्धिवाले पुरुष हैं वे स्वयम् इस प्रकार न जानते हुए, दूसरोंसे अर्थात् तत्त्वके जाननेवाले पुरुषोंसे सुनकर ही उपासना करते हैं, अर्थात् उन पुरुषोंके कहनेके अनुसार ही श्रद्धासहित तत्पर हुए साधन करते हैं और वे सुननेके परायण हुए पुरुष भी मृत्युरूप संसारसागरको निःसन्देह तर जाते हैं।

प्रत्यक्चेतनमात्मना ध्यानसंस्कृतेनान्तःकरणेन केचिदुत्तमा योगिनः । मध्यमानामात्मज्ञानसाधनमाह—अन्ये मध्यमाः सांख्येन योगेन निदिध्यासनपूर्वभाविना श्रवणमननरूपेण नित्यानित्यविवेकादिपूर्वकेणेमे गुणत्रयपरिणामा अनात्मानः सर्वे मिथ्याभूतास्तत्साक्षिभूतो नित्यो विभुर्निर्विकारः सत्यः समस्तजडसंबन्धशून्यः आत्माऽहमित्येवं वेदान्तवाक्यविचारजन्येन चिन्तनेन, पश्यन्त्यात्मानमात्मनीति वर्तते ध्यानोत्पत्तिद्वारेणेत्यर्थः । मन्दानां ज्ञानसाधनमाह—कर्मयोगेनेश्वरार्पणबुद्ध्या क्रियमाणेन फलाभिसंधिरहितेन तत्तद्वर्णाश्रमोचितेन वेदविहितेन कर्मकलापेन चापरे मन्दाः, पश्यन्त्यात्मानमात्मनीति वर्तते सत्त्वशुद्ध्या श्रवणमननध्यानोत्पत्तिद्वारेणेत्यर्थः ॥२४॥

मन्दतराणां ज्ञानसाधनमाह—**अन्य** इत्यादिना ।

आत्माको देखते हैं। आत्मा प्रत्यक्चेतन ध्यानसंस्कृत अन्तःकरणसे कोई उत्तम योगी उक्त चेतनको देखते हैं। मध्यमोंके ज्ञानोपाय कहते हैं—अन्य मध्यम सांख्यसे योगसे जो निदिध्यासनसे पहले होते हैं अर्थात् निदिध्यासन कारण श्रवण मनन जो नित्यानित्यवस्तु विवेकपूर्वक है ये तीनों गुणोंसे परिणाम आत्मासे भिन्न सब मिथ्या है इनका साक्षी नित्य विभु और विकाररहित सत्य सम्पूर्ण जड़ जातीयोंके सम्बन्धसे शून्य आत्मा 'मैं हूँ' इसप्रकार वेदान्तवाक्यविचारसे उत्पन्न ज्ञानसे आत्मामें आत्माको देखते हैं। यहाँ भी आत्माकी अनुवृत्ति है ध्यानोत्पत्तिद्वारा साक्षात् नहीं 'ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन्' इत्यादिश्रुतिका उक्तार्थमें ही स्वरस है। मन्दोंके ज्ञानसाधन कहते हैं—कर्मको ईश्वरार्पणबुद्धि प्रकृतमें विवक्षित है, फलकामनाशून्य वेदविहित तत्तद्वर्णाश्रमानुकूल उक्तबुध्यात्मक कर्मयोग कर्मसमुदायसे अपरमन्द आत्मामें आत्माको देखते हैं। 'आत्मानमात्मनि'को यहाँ भी अनुवृत्ति है, अन्तःकरणशुद्धिसे श्रवण मनन निदिध्यासनोत्पत्तिद्वारा यह अर्थ है, श्रवण मनन निदिध्यासन सर्वत्र अपेक्षित हैं ॥ २४ ॥

अतिमन्दोंके ज्ञानोपाय कहते हैं—अन्य अतिमन्द 'तु' शब्दसे पूर्वश्लोकमें

यावत्संजायते किंचित्सत्त्वं स्थावरजङ्गमम् ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ ! ॥ २६ ॥

हे अर्जुन ! यावन्मात्र जो कुछ भी स्थावर जङ्गम वस्तु उत्पन्न होती है, उस सम्पूर्णको तूं क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके संयोगसे ही उत्पन्न हुई जान, अर्थात् प्रकृति और पुरुषके परस्पर सम्बन्धसे ही सम्पूर्ण जगत्‌की स्थिति है, वास्तवमें तो सम्पूर्ण जगत् नाशवान् और क्षणभंगुर होनेसे अनित्य है ॥ २६ ॥

अन्ये तु मन्दतराः, तुशब्दः पूर्वश्लोकोक्तत्रिविधाधिकारिवैलक्षण्यद्योतनार्थः । एषूपायेष्वन्यतरेणाप्येवं यथोक्तमात्मानमजानन्तोऽन्येभ्यः कारुणिकेभ्य आचार्येभ्यः श्रुत्वेदमेव चिन्तयतेत्युक्ता उपायास्ते श्रद्दधानाः सन्तश्चिन्तयन्ति तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं संसारं श्रुतिपरायणाः स्वयं विचारासमर्था अपि श्रद्दधानतया गुरूपदेशश्रवणमात्रपरायणाः । तेऽपीत्यपिशब्दाद्ये स्वयं विचारसमर्थास्ते मृत्युमतितरन्तीति किमु वक्तव्यमित्यभिप्रायः ॥ २५ ॥

संसारस्याऽऽविद्यकत्वाद्विद्यया मोक्ष उपपद्यत इत्येतस्यार्थस्यावधारणाय संसारतन्निवर्तकज्ञानयोः प्रपञ्चः क्रियते यावदध्यायसमाप्ति । तत्र 'कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु' इत्येतत्प्रागुक्तं विवृणोति--यावदित्यादिना ।

यावत्किमपि सत्त्वं वस्तु संजायते स्थावरं जङ्गमं वा तत्सर्वं क्षेत्रक्षेत्रज्ञ-

कथित तीन प्रकारके अधिकारियोंसे वैलक्षण्यसूचनके लिये है । इन उपायोंमेंसे किसी उपायसे भी जो आत्माको जान नहीं सकते थे । अन्य दयालु आचार्योंसे सुनकर इसप्रकार चिन्तन करो इससे कथित प्रेरित हो उपासना करते हैं, जो श्रद्धापूर्वक निरन्तर चिन्तन करते हैं वे भी तरते ही है मृत्युरूपसंसारको श्रुतिपरायण, स्वयं विचारनेमें असक्त भी श्रद्धायुक्त गुरुके उपदेशके श्रवणपरायण । 'तेऽपि' यहाँ अपिशब्दसे जो स्वयं विचारनेमें निपुण हैं वे मृत्युको तरते हैं इसमें कहना ही क्या है ? ॥ २५ ॥

संसार अविद्या कल्पित है आत्मज्ञानरूपविद्यासे इसकी निवृत्ति होती है इस अर्थको हृदयंगम करनेके लिये संसार और संसारनिवर्तक ज्ञानका विस्तार अध्यायसमाप्तिपर्यन्त करते हैं । इसमें 'कारणं गुणसंगोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु' इस प्रागुक्तको विशेषरूपसे विवरण करते हैं--जितने कोई भी स्थावर स्थिर वृक्षादि

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ॥ २७ ॥

इस प्रकार जानकर, जो पुरुष नष्ट होते हुए सब चराचर भूतोंमें नाशरहित परमेश्वरको, समभावसे स्थित देखता है, वही देखता है ॥ २७ ॥

संयोगात्, अविद्यातत्कार्यात्मकं जडमनिर्वचनीयं सदसत्त्वं दृश्यजातं क्षेत्रं तद्विलक्षणं तद्भासकं स्वप्रकाशपरमार्थसच्चैतन्यमसङ्गोदासीनं निर्धर्मकमद्वितीयं क्षेत्रज्ञं तयोः संयोगो मायावशादितरेतराविवेकनिमित्तो मिथ्यातादात्म्याध्यासः सत्यानृतमिथुनीकरणात्मकः, तस्मादेव संजायते तत्सर्वं कार्यजातमिति विद्धि हे भरतर्षभ !, अतः स्वरूपाज्ञाननिबन्धनः संसारः स्वरूपज्ञानाद्विनंष्टुमर्हति स्वप्नादिवदित्यभिप्रायः ॥ २६ ॥

एवं संसारमविद्यात्मकमुक्त्वा तन्निवर्तकविद्याकथनाय 'य एवं वेत्ति पुरुषम्' इति प्रागुक्तं विवृणोति—सममित्यादिना ।

सर्वेषु भूतेषु भवनधर्मकेषु स्थावरजङ्गमात्मकेषु प्राणिषु अनेकविधजन्मा-

जंगम गतिशील प्राणी उत्पन्न होते हैं वे सब क्षेत्र क्षेत्रज्ञके संयोगसे अविद्यातत्कार्यस्वरूप जड़ अनिर्वचनीय सदसत्त्व जिसके सत्त्व या असत्त्वका निर्वचन नहीं हो सकता 'यदि सत् स्यात् न बाध्येत यदि असत्स्यात् प्रत्यक्षतया न भासेत बाध्यते प्रत्यक्षतया भासते च तस्मान्न सत् नासत् किन्तु उभयविलक्षणमनिर्वचनीयम्' दृश्यमात्र क्षेत्र एतद्विलक्षण तत् अनिर्वचनीय दृश्यमात्रका भासक स्वप्रकाशपरप्रकाशानपेक्ष प्रकाशपरमार्थ सच्चैतन्य निस्संग उदासीन सकलधर्मातीत अद्वितीय सजातीय-विजातीय-स्वगतद्वितीयशून्य क्षेत्रज्ञ है। उन क्षेत्रक्षेत्रज्ञोंका संयोग मायिक परस्पर विवेकाभावनिबन्धन 'सत्य अनृत' सच्चा झूठा एतदुभयात्मक उसीसे होता है इन कार्य स्वभावोंको जानो हे भरतर्षभ ! भरतश्रेष्ठ !। अतः स्वस्वरूपाज्ञान मूलक संसारस्वरूपज्ञानसे असन्दिग्धाविपर्यस्त स्वरूपसाक्षात्कारसे विनाशके योग्य है, जैसे स्वाप्निक पदार्थजात जागरावस्थामें विनाशी है क्योंकि वे अज्ञान निमित्तक है जागर ज्ञानसे तन्निमित्तनाश होने पर नैमित्तिक स्वाप्निक पदार्थोंका नाश होता है तद्वत् प्रकृतमें भी समझना यह भाव है ॥ २६ ॥

इस प्रकार अज्ञानात्मक संसारको कहकर तन्निवर्तकज्ञान कहनेके लिये 'य एवं वेत्ति, यह पूर्वमें जो कहा है उसका विवरण करते हैं-सब उत्पत्तिशीलभूत स्थावर जंगमात्मक जो प्राणिनिकर हैं उनके अनेक प्रकारके जो जन्मादि परिणाम आदिसे

दिपरिणामशीलतया गुणप्रधानभावापत्त्या च विषमेषु अतएव चञ्चलेषु प्रति-
क्षणपरिणामिनो हि भावा नापरिणम्य क्षणमपि स्थातुमीशते । अतएव
परस्परबाध्यबाधकभावापन्नेषु, एवमपि विनश्यत्सु दृष्टनष्टस्वभावेषु मायाग-
न्धर्वनगरादिप्रायेषु समं सर्वत्रैकरूपं प्रतिदेहमेकं जन्मादिपरिणामशून्यतया च
तिष्ठन्तमपरिणममानं परमेश्वरं सर्वजडवर्गसत्तास्फूर्तिप्रदत्वेन बाध्यबाधकभा-
वशून्यं सर्वदोषानास्कन्दितमविनश्यन्तं दृष्टनष्टप्रायसर्वद्वैतबाधेऽप्यबाधितम् ।
एवं सर्वप्रकारेण जडप्रपञ्चविलक्षणमात्मानं विवेकेन यः शास्त्रचक्षुषा पश्यति
स एव पश्यत्यात्मानं जाग्रद्बोधेन स्वप्नभ्रमं बाधमान इव। अज्ञस्तु स्वप्नदर्शीव
न हि रज्जुं
भ्रान्त्या विपरीतं पश्यन्न पश्यत्येव, अदर्शनात्मकत्वाद्भ्रमस्य ।

'जायते तिष्ठति वर्द्धते विपरिणमते अपक्षीयते विनश्यति' ये यास्कोक्त छै भाव-
विवक्षित हैं तत्परिणामादिके अनुकूल सात्त्विकराजसतामस वे परिणाम सत्त्वादिके
गुणप्रधान भावसे हैं। सात्त्विक परिणाममें सत्त्वगुण प्रधान होता है रजस्तम गुणभूत
रहते है। एवं राजसमें रजोगुण प्राधान्य तामसमें तमोगुण प्रधान्य इतरगुणद्वयमें
गुणभाव समझना। सत्त्वादिगुण चंचल हैं इसमें हर एकक्षणोंमें गुणोंका परिणाम
होता रहता है, विना परिणामके क्षण भी नहीं रह सकते इसीसे मिथः बाध्य बाधक-
भाव इनमें है। सत्त्वगुण जब प्रधानरूपसे परिणत होता है तब रजोगुण तमोगुणको
बांधता है(दबाता है)गुणद्वयका अपचयकर स्वयं उपचित होता है। इसीप्रकार रजो-
गुण तमोगुणमें भी समझना। फिरभी ये विनश्वर है दृष्ट नष्टस्वभाव दृष्टकालिक
स्वभाव कालान्तरमें दृष्टस्वरूपका नाश होजाता है क्षणान्तरमें वही यह है यथ, ऐन्द्र-
प्रत्यभिज्ञा सादृश्यनिबन्धन है अतएव मायागन्धर्वनगरादिके समशील है। सम (बराबर)
जालिक मायागन्धर्वनगर आकाशमें दृष्टिगोचर होकर नष्ट हो जाता है, सम स्थिर परि-
सबोंमें एकरूप प्रतिशरीरमें एकही जन्मादि छै विकारोंसे रहित अतएव प्रकाशदाता होनेसे
णामातीत परमेश्वर जब जड़ पदार्थोंकी सत्ता स्फुरण नहीं सब दोषोंसे
बाध्यबाधकभावशून्य गुणोंके समान बाध्यबाधकभावोपेत बाध होने पर भी अबाधित
अनाघ्रात अविनश्वर प्रतिक्षण विनश्वर जगज्जालके नेत्रविवेकसे जो देखता
एवं सब प्रकारसे जड़से विलक्षण आत्माको शास्त्ररूपी स्वाप्निक भ्रमको बाधित
है वही आत्माको देखता है। जागरणावस्थाके बोधसे भ्रमसे विरुद्ध स्वरूप-
नष्ट करनेवाले पुरुषके समान मूर्खजन स्वप्नदर्शीके समान ज्ञान नहीं है। रज्जुको सर्प-
दर्शी नहीं ही देखता है क्योंकि भ्रम अज्ञानात्मक है लोकमें होता है क्योंकि
रूपसे देखता हुआ पुरुष नहीं देखता है यही व्यवहार

समं पश्यन् हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम् ।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम् ॥२८॥

क्योंकि वह पुरुष सबमें समभावसे स्थित हुए परमेश्वरको समान देखता हुआ अपने द्वारा आपको नष्ट नहीं करता है, अर्थात् शरीरका नाश होनेसे अपने आत्माका नाश नहीं मानता है, इससे वह परमगतिको प्राप्त होता है ॥ २८ ॥

सर्पतया पश्यन् पश्यतीति व्यपदिश्यते, रज्ज्वदर्शनात्मकत्वात् सर्पदर्शनस्य । एवंभूतान्यानुपरक्तशुद्धात्मदर्शनात्तदर्शनात्मिकाया अविद्याया निवृत्तिस्तत-स्तत्कार्यसंसारनिवृत्तिरित्यभिप्रायः । अत्राऽऽत्मानमितिविशेष्यलाभो विशेष-णमर्यादया, परमेश्वरमित्येव वा विशेष्यपदम् । विषमत्वचञ्चलत्वबाध्यत्वबाधक-रूपत्वलक्षणं जडगतं वैधर्म्यं समत्वतिष्ठत्परमेश्वरत्वरूपात्मविशेषणवशादर्थात् प्राप्तमन्यत्कण्ठोक्तमिति विवेकः ॥ २७ ॥

तदेतदात्मदर्शनं फलेन स्तौति रुच्युत्पत्तये—सममित्यादिना ।

समवस्थितं जन्मादिविनाशान्तभावविकारशून्यतया सम्यक्तयाऽवस्थित-मित्यविनाशित्वलाभः, अन्यत्प्राग्व्याख्यातम् । एवं पूर्वोक्तविशेषणमात्मानं पश्यन्नयमहमस्मीति शास्त्रदृष्ट्या साक्षात्कुर्वन्न हिनस्त्यात्मनाऽऽत्मानम् ।

सर्पका देखना रज्जुका अज्ञान स्वरूप है । यदि रज्जुका ज्ञान होता तो सर्पका ज्ञान नहीं होता' इसप्रकार अन्याविशेषित शुद्धात्मदर्शनसे आत्मज्ञानाभावरूप अविद्या अज्ञानकी निवृत्ति उससे अविद्याकार्य संसारकी निवृत्ति होती है यह भाव है । यहाँ पर आत्माका बोधकपद श्लोकमें नहीं है फिरभी समः सर्वभूतस्थित्यादि विशेषणकी मर्यादासे विशेष्यभूत आत्माका लाभ होता है अथवा 'परमेश्वर' यही विशेष्यभूत आत्माका समर्थकपद है । विषमत्व चलत्व बाधकत्वस्वरूप जगत् वैलक्षण्य है समत्व तिष्ठत्व परमेश्वरत्वस्वरूप उक्तविलक्षणता समत्वादि विशेषण बलसे आत्मामें अर्थात्प्राप्त हुई समत्वादि कण्ठोक्त है यह विवेक है ॥२७॥

इस आत्मदर्शनकी फल प्रदर्शनसे स्तुति करते हैं–उक्त अर्थमें रुचि उत्पन्न होने के लिये समवस्थित जन्मसे विनाशान्त जो छै भावविकार कह चुके हैं उनसे रहित समीचीन स्थित, इससे अविनाशित्वका लाभ होता है शेषका पूर्वव्याख्यान हो चुका है । इसप्रकार उक्तविशेषणविशिष्ट आत्माको देखता हुआ 'यह मैं हूँ' शास्त्रानुसार प्रत्यक्ष करता हुआ पुरुष अपनेसे अपनेको नष्ट नहीं करता, अपनेसे

सर्वो ह्यज्ञः परमार्थसन्तमेकमकर्त्रभोक्तृपरमानन्दरूपमात्मानमविद्यया सति भात्यपि वस्तुनि नास्ति न भातीतिजननसमर्थया स्वयमेव तिरस्कुर्वन्नसन्तमिव करोतीति हिनस्त्येव तम्। तथाऽविद्ययाऽऽत्मत्वेन परिगृहीतं देहेन्द्रियसंघातमात्मानं पुरातनं हत्वा नवमादत्ते कर्मवशादिति हिनस्त्येव तम्। अत उभयथाऽप्यात्महैव सर्वोऽप्यज्ञः, यमभिप्रेत्येयं शकुन्तलावचनरूपा स्मृतिः—

" किं तेन न कृतं पापं चौरेणाऽऽत्मापहारिणा।
योऽन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा प्रतिपद्यते "॥ इति।

श्रुतिश्च—

"असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चाऽऽत्महनो जनाः"॥ इति।

असुर्या असुरस्य स्वभूता आसुर्या संपदा भोग्या इत्यर्थः। आत्महन इत्यनात्मन्यात्माभिमानिन इत्यर्थः। अतो य आत्मज्ञः सोऽनात्मन्यात्माभि-

---

अपनेको तो मूर्ख भी नष्ट नहीं करता उक्त दर्शीमें विशेषका इसका उत्तर कहते हैं—सर्वोहीत्यादिस। सब आत्मानभिज्ञ पुरुष परमार्थ सत् पारमार्थिक सत्ताक एक अकर्ता अभोक्ता परमानन्दस्वरूप आत्माको अज्ञानसे प्रकाशमान वर्त्तमान सद्वस्तु आत्म में नहीं है नहीं भासता है इसप्रतीतिके उत्पादमें शक्त अपनेसे निराकरण करता हुआ अवर्त्तमानके समान करता है अतः आत्महिंसा करता ही है। इसी प्रकार अज्ञानसे शरीरेन्द्रिय समुदायको आत्मा मानकर पुराने आत्माको मारकर कर्मवश नये आत्माका ग्रहण करता है इस हेतुसे आत्मघाती हुई है अतः मूर्खजन पूर्वत्याग नवीन ग्रहण इन दोनों प्रकारोंसे आत्माका हन्ता है जिसका अधिकार कर शकुन्तला वचनरूपा स्मृति है—

'किन्तेन न कृतं पापं चौरेणात्मापहारिणा
योऽन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा प्रतिपद्यते'॥ यह श्रुति भी है—
'असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः।' इति।

असुर्या असुरोंकी निज संपत्तिसे भोगके योग्य लोक असुर्यालोक प्रसिद्ध है वे उनको होते हैं जो आत्मघाती मनुष्य है। इस श्रुतिसे मूर्खको वे लोक होते हैं यह अर्थ नहीं सिद्ध होता किन्तु आत्मघातीको वे लोक होते हैं। चाहे वे मूर्ख हों अथवा पण्डित हों इस शंकासे आत्महत्याका अर्थ इस प्रकरणके

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः ।
यः पश्यति तथाऽऽत्मानमकर्तारं स पश्यति ॥२९॥

जो पुरुष सम्पूर्ण कर्मोंको सब प्रकारसे प्रकृतिसे ही किये हुए देखता है अर्थात् इस बातको तत्त्वसे समझ लेता है कि, प्रकृतिसे उत्पन्न हुए सम्पूर्ण गुण ही गुणोंमें बर्तते हैं तथा आत्माको अकर्ता देखता है, वही देखता है ॥ २९ ॥

मानं शुद्धात्मदर्शनेन बाधते, अतः स्वरूपलाभान्न हिनस्त्यात्मानं ततो याति परां गतिम् । तत आत्महननाभावादविद्यातत्कार्यनिवृत्तिलक्षणां मुक्तिमधिगच्छतीत्यर्थः ॥ २८ ॥

ननु शुभाशुभकर्मकर्तारः प्रतिदेहं भिन्ना आत्मानो विषमाश्च तत्तद्विचित्रफलभोक्तृत्वेनेति कथं सर्वभूतस्थमेकमात्मानं समं पश्यन्न हिनस्त्यात्माऽऽत्मानमत्युक्तमत आह—प्रकृत्यैवेति ।

कर्माणि वाङ्मनःकायारभ्याणि सर्वशः सर्वैः प्रकारैः प्रकृत्यैव देहेन्द्रियसंघाताकारपरिणतया सर्वविकारकारणभूतया त्रिगुणात्मिकया भगवन्माययैव क्रियमाणानि न तु पुरुषेण सर्वविकारशून्येन यो विवेकी पश्यति, एवं क्षेत्रेण क्रियमाणेष्वपि कर्मसु आत्मानं क्षेत्रज्ञमकर्तारं सर्वोपाधिविवर्जितमसङ्गमेकं

अनुसार उक्त शब्दका अर्थ अनात्मामें आत्माभिमानी ही अर्थ है अतः जो आत्मज्ञानी है वह अनात्मामें आत्माभिमानको शुद्ध आत्माके दर्शनसे निवृत्त करता है अतः आत्मस्वरूप लाभसे आत्मासे आत्माका हननाभावसे अविद्या तत्कार्य निवृत्तिरूप मुक्तिको पाता है यह भाव है ॥ २८ ॥

पुण्यपापकारी पुरुष प्रतिशरीरमें भिन्न तथा विलक्षण है क्योंकि कोई सुखी है कोई दुःखी वो कोई धनी है कोई दरिद्र है कोई सफलाङ्ग है कोई विफलाङ्ग इत्यादि विविधफल भागी देखनेसे एकही आत्मा सर्वशरीरोंमें है । एवं समदर्शी अपनेसे अपनी हिंसा नहीं करता यह कैसे जानाजाय इसका उत्तर यह है कि जो वाणीमन शरीरसे कर्म होते हैं वे सब देहेन्द्रियसंघाताकार परिणत प्रकृतिसे ही होते हैं क्योंकि सब विकारोंका कारण सत्त्वरजस्तमोगुणात्मक भगवानकी माया ही है वही सब करती है अविकारी पुरुष कुछ नहीं करता यह जो विवेकी पुरुष देखता है, क्षेत्र शरीरादि उससे क्रियमाण कर्मोंका कर्त्ता जीव नहीं है क्योंकि वह सब शरीरादि उपाधियोंसे रहित असंग एक सब भूतोंमें एक रस है

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति ।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म संपद्यते तदा ॥ ३० ॥

यह पुरुष जिस कालमें भूतोंके न्यारे न्यारे भावको एक परमात्माके संकल्पके आधार स्थित देखता है तथा उस परमात्माके संकल्पसे हो सम्पूर्ण भूतोंका विस्तार देखता है उस कालमें सच्चिदानन्दघन ब्रह्मको प्राप्त होता है ॥ ३० ॥

सर्वत्र समं यः पश्यति । तथाशब्दः पश्यतीतिक्रियाकर्षणार्थः, स पश्यति स परमार्थदर्शीति पूर्ववत् । सविकारस्य क्षेत्रस्य तत्तद्विचित्रकर्मकर्तृत्वेन प्रतिदेहं भेदेऽपि वैषम्येऽपि न च निर्विशेषस्याकर्तुराकाशस्येव न भेदे प्रमाणं किंचिदात्मन इत्युपपादितं प्राक् ॥ २९ ॥

तदेवमापततः क्षेत्रभेददर्शनमभ्यनुज्ञाय क्षेत्रज्ञभेददर्शनमपाकृतमिदानीं तु क्षेत्रभेददर्शनमपि मायिकत्वेनापाकरोति—यदेत्यादिना ।

यदा यस्मिन्काले भूतानां स्थावरजङ्गमानां सर्वेषामपि जडवर्गाणां पृथग्भावं पृथक्त्वं परस्परभिन्नत्वमेकस्थमेकस्मिन्नेवाऽऽत्मनि सद्रूपे स्थितं कल्पितं कल्पितस्याधिष्ठानादनतिरेकात् सद्रूपात्मस्वरूपादनतिरिक्तमनुपश्यति शास्त्राचार्योपदेशमनु स्वयमालोचयति 'आत्मैवेदं सर्वम्' इति । एवमपि माया-

---

ऐसा जो देखता है । तथा शब्द 'पश्यति' क्रियाका यहाँ भी संबन्ध है एतद्बोधनार्थ है 'स पश्यति' वही देखता है अनिर्वचनीयादि तो और लोग भी देखते हैं पर परमार्थदर्शी वही है यह पूर्ववत् समझना । सविकार क्षेत्र नानाप्रकारके कर्मोंके करनेसे प्रतिशरीर भिन्न और विलक्षण है निर्विशेष, अत एव अकर्ता आत्माका आकाशके समान भेद नहीं है यह पूर्वमें कह चुके हैं । घटाकाश मठाकाशसे भिन्न है यह भेदप्रतीति घटपटभेदावगाहिनी है आकाश भेदावगाहिनी नहीं यह पूर्वमें कह चुके हैं ॥२९॥

इसप्रकार साधारण ज्ञानसे क्षेत्रभेदको मानकर क्षेत्रज्ञ आत्माके भेदका निराकरण किया अब क्षेत्रभेद भी मायिक है वास्तविक नहीं इस अर्थको सिद्धान्त मानकर क्षेत्रभेदज्ञानका निराकरण करते हैं—जिस समयमें सब स्थावर स्थिर गतिशील भूतों जड़वर्गोंका पृथक्भाव मिथोभेद एकस्थ एकही परमार्थ सत् आत्मामें कल्पित स्थित क्योंकि कल्पितवस्तुका अधिष्ठानसे भेद नहीं है रज्जु रूपं भेद वास्तविक नहीं अतः सद्रूप आत्मासे अभिन्न भेदरहित अनुपश्चात् शास्त्राचार्योपदेशके बाद स्वयं विचार करता है आत्माही यह सब

अनादित्वान्निर्गुणत्वात् परमात्माऽयमव्ययः ।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय ! न करोति न लिप्यते ॥३१॥

हे अर्जुन ! अनादि होनेसे और गुणातीत होनेसे यह अविनाशी परमात्मा, शरीरमें स्थित हुआ भी वास्तवमें न करता है और न लिप्यमान होता है ॥ ३१ ॥

वशात्तत एकस्मादात्मन एव विस्तारं भूतानां पृथग्भावं च स्वप्नमायावदनुपश्यति ब्रह्म संपद्यते, तदा सजातीयविजातीयाद्यभेददर्शनाभावाद् ब्रह्मैव सर्वानर्थशून्यं भवति तस्मिन्काले—

"यस्मिन् सर्वाणि भूतानि आत्मैवाऽभूद्विजानतः ।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥" इति श्रुतेः ।

'प्रकृत्यैव च' इत्यत्राऽऽत्मभेदो निराकृतः । 'यदा भूतपृथग्भावम्' इत्यत्र त्वनात्मभेदोऽपीति विशेषः ॥ ३० ॥

आत्मनः स्वतोऽकर्तृत्वेऽपि शरीरसंबन्धोपाधिकं कर्तृत्वं स्यादित्याशङ्कामपनुदन् 'यः पश्यति तथाऽऽत्मानमकर्तारं स पश्यति' इत्येतद्विवृणोति—**अनादित्वादित्यादिना** । अयमपरोक्षः परमात्मा पमेश्वराभिन्नः प्रत्यगात्माऽव्ययो

है 'आत्मैवेदं सर्वम्' इति ऐसा होनेपर भी मायाके प्रभाव से उस एक ही आत्मा से भूतोंका भेद स्वाप्निक मायिक पदार्थों के भेदके समान पश्चात् देखता है ब्रह्म भावको प्राप्त होता है । तब सजातीय विजातीय स्वगतभेदज्ञानाभाव से सब दुःखों से रहित ब्रह्म ही होता है उस समय में—

'यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः ।
तत्र कः शोकः को मोह एकत्वमनुपश्यतः ॥'

यह श्रुति उक्तार्थ है । 'प्रकृत्यैव च' यहाँ पर आत्मभेदका निराकरण किया है । 'यदा भूतपृथग्भावम्' यहाँ पर अनात्मजड़वर्ग के भेद का निराकरण किया है पद दोनों में विषम है भेद निराकरण दोनों में समान है ॥३०॥

यद्यपि आत्मा में स्वतः कर्तृत्व नहीं है यथापि शरीरादि उपाधि से उसमें कर्तृत्व है इस शंका को निवृत्त करते हुए 'यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति' इसका विवरण करते हैं—**अमानित्वादि से** । यह प्रत्यक्ष प्रत्यगात्मा अव्यय है

न व्येतीत्यव्ययः सर्वविकारशून्य इत्यर्थः। तत्र व्ययो द्वेधा धर्मिस्वरूपस्यैवोत्पत्तिमत्तया वा धर्मिस्वरूपस्यानुत्पाद्यत्वेऽपि धर्माणामेवोत्पत्त्यादिमत्तया वा। तत्राऽऽद्यमपाकरोति—**अनादित्वादिति**। आदिः प्रागसत्त्वावस्था। सा च नास्ति सर्वदा सत आत्मनः, अतस्तस्य कारणाभावाज्जन्माभावः, न ह्यनादेर्जन्म संभवति तदभावे च तदुत्तरभाविनो भावविकारा न संभवन्त्येव, अतो न स्वरूपेण व्येतीत्यर्थः। द्वितीयं निराकरोति—**निर्गुणत्वादिति**। निर्धर्मकत्वादित्यर्थः। न हि धर्मिणमविकृत्य कश्चिद्धर्म उपैत्यपैति वा धर्मधर्मिणोस्तादात्म्यादयं तु निर्धर्मकोऽतो न धर्मद्वाराऽपि व्येतीत्यर्थः, "अविनाशी वा अरेऽयमात्माऽनुच्छित्तधर्मा" इति श्रुतेः। यस्मादेष जायतेऽस्ति वर्धते विपरिणमतेऽपक्षीयते विनश्यतीत्येवं षड्भावविकारशून्य आध्यासिकेन संबन्धेन शरीरस्थोऽपि तस्मिन् कुर्वत्ययमात्मा न करोति, यथाऽऽध्या-

जिसका व्यय (अपचय) नहीं है अर्थात् सब विकारों से शून्य है। व्यय दो प्रकार का होता है, धर्मी की स्वरूपोपत्ति से जैसे—घटादि का धर्मिस्वरूप की उत्पत्ति न होने पर भी धर्मी की ही उत्पत्ति वृक्षादि से। एवं धर्मिस्वरूपके अनुत्पत्ति होने पर भी धर्मकी उत्पत्त्यादिमत्तासे, जैसे न्यायमतमें आत्मा नित्य है पर उसके धर्मज्ञानेच्छादिकों की उत्पत्त्यादि होती है। उसमें प्रथम का निराकरण करते हैं—आदि प्रागभाव वह नहीं है, नित्य का प्रागभाव नहीं माना जाता क्योंकि वह सदा रहता ही है कभी भी उसका अभाव नहीं, अतः कारणाभाव से उसका जन्म नहीं अनादिका जन्म नहीं होता जन्माभावसे आगे होनेवाले भावविकार नहीं होते अतः स्वरूपसे व्ययी विकारी नहीं। द्वितीयका निरास करते हैं-निर्गुणत्वादि से। निर्धर्मक आत्मा है, गुणपद धर्ममात्रका उपलक्षण है। कोई धर्म धर्मी को बिना विकृत किये न आता है न जाता है क्योंकि धर्म धर्मीका तादात्म्य सबन्ध है, यह तो धर्मरहित है इसकारण धर्मद्वाराभी क्षीण नहीं होता यह अर्थ है, 'अविनाशी वा अरे अयमात्मा अनुच्छित्तिधर्मा' यह श्रुति है। ('अरे' यह निकृष्ट सम्बोधनार्थ है, 'अरे' यह आत्मा अविनाशी (उच्छेद) विनाश तद्धर्मवान् नहीं है) यतः यह 'जायतेऽस्ति' इत्यादि छै भाव विकारों से शून्य है आध्यासिक सम्बन्ध से वास्तविक सम्बन्ध से शरीरस्थ होकर भी शरीर करता है तो भी आत्मा नहीं करता, जैसे आध्यासिक सम्बन्ध से सूर्य जलस्थ होने पर

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते ।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथाऽऽत्मा नोपलिप्यते ॥ ३२ ॥

जिस प्रकार सर्वत्र व्याप्त हुआ भी आकाश सूक्ष्म होनेके कारण लिप्यमान नहीं होता है, वैसे ही सर्वत्र देह में स्थित हुआ भी आत्मा, गुणातीत होने के कारण देह के गुणों से लिप्यमान नहीं होता है ॥ ३२ ॥

सिकेन संबन्धेन जलस्थः सविता तस्मिंश्चलत्यपि न चलत्येव तद्वत् । यतो । न करोति किंचदपि कर्म, अतः केनाऽपि कर्मफलेन न लिप्यते । यो हि यत्कर्म करोति स तत्फलेन लिप्यते न त्वयमकर्तृत्वादित्यर्थः । 'इच्छा द्वेषः सुखं दुःखम्' त्यादीनां क्षेत्रधर्मत्वकथनात्, 'प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि' इति मायाकार्यत्वव्यपदेशाच्च । अत एव परमार्थदर्शिनां सर्वकर्माधिकारनिवृत्तिरिति प्राग्व्याख्यातम् । एतेनाऽऽत्मनो निर्धर्मकत्वकथनात् स्वगतभेदोऽपि निरस्तः । 'प्रकृत्यैव च कर्माणि' इत्यत्र सजातीयभेदो निवारितः । 'यदा भूतपृथग्भावम्' इत्यत्र विजातीयभेदः, 'अनादित्वान्निर्गुणत्वात्' इत्यत्र स्वगतो भेद इत्यद्वितीयं ब्रह्मैवाऽऽत्मेति सिद्धम् ॥ ३१ ॥

जल के चलनेपर भी नहीं चलते हैं उसी तरह। जिस हेतु से कुछ नहीं करता अतः किसी कर्म का लेश सम्बन्ध उसमें नहीं होता। जो जिस कर्म को करता वह तत्फल से लिप्त होता है, यह नहीं क्योंकि अकर्ता है। इच्छा-द्वेषादि क्षेत्र अन्तःकरण के धर्म है, 'प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि' इससे मायाकार्य का व्यवहार है। अतएव परमार्थदर्शी तत्वज्ञान का सब कर्मों के अधिकार से निवृत्ति है यह पूर्व में व्याख्यात है। इससे आत्मा निर्धर्मक है इस कथन से स्वगत भेदका भी निरास हुआ। 'प्रकृत्यैव च कर्माणि' यहाँ सजातीय भेद का निराकरण किया। 'यदा भूतपृथग्भावम्' यहाँ पर विजातीय भेद का निरास और 'अनादित्वान्निर्गुणत्वात्' यहाँ पर स्वगत भेद का निरास किया, इससे अद्वितीय ब्रह्म ही आत्मा है यह सिद्ध हुआ ॥३१॥

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ! ॥ ३३ ॥

हे अर्जुन ! जिस प्रकार एक ही सूर्य इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को प्रकाशित करता है, उसी प्रकार एक ही आत्मा सम्पूर्ण क्षेत्र को प्रकाशित करता है, अर्थात् नित्य बोधस्वरूप एक आत्माकी ही सत्तासे सम्पूर्ण जड़वर्ग प्रकाशित होता है ॥३३॥

ॐतत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोगो नाम त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

शरीरस्थोऽपि तत्कर्मणा न लिप्यते स्वयमसङ्गत्वादित्यत्र दृष्टान्तमाह—यथेत्यादिना। सौक्ष्म्यादसङ्गस्वभावत्वादाकाशं सर्वगतमपि नोपलिप्यते पङ्कादिभिर्यथेति दृष्टान्तार्थः स्पष्टमितरत् ॥ ३२ ॥

न केवलमसङ्गस्वभावत्वादात्मा नोपलिप्यते प्रकाशकत्वादपि प्रकाश्यधर्मैर्न लिप्यते इति सदृष्टान्तमाह—यथेत्यादिना। यथा रविरेक एव कृत्स्नं सर्वमिमं लोकं देहेन्द्रियसंघातं रूपवद्वस्तुमात्र मिति यावत्। प्रकाशयति, न च प्रकाश्यधर्मैर्लिप्यते न वा प्रकाश्यभेदाद्भिद्यते तथा क्षेत्री क्षेत्रज्ञ एक एव कृत्स्नं क्षेत्रं प्रकाशयति हे भारत! अत एव न प्रकाश्यभेदाद्भिद्यत इत्यर्थः।

शरीरस्थ भी तत्तत्कर्मफलों से लिप्त नहीं होता कारण स्वयं सङ्ग से रहित इसमें दृष्टान्त कहते हैं—'यथेति' से। सूक्ष्मता असङ्गस्वभाव से जैसे सर्वत्र विद्यमान आकाश किसीसे लिप्त नहीं होता कीचड़ आदि का संसर्ग नहीं पाया जाता वह दृष्टान्त का अर्थ है अन्यत् दार्ष्टान्तिक आत्मा स्पष्ट है पूर्व व्याख्यान से ही अतः फिर व्याख्यान की आवश्यकता नहीं ॥३२॥

आत्मा स्वप्रकाश है अतः प्रकाश्य धर्मों से लिप्त नहीं होता यह दृष्टान्त के साथ कहते हैं—'यथेति' से। जैसे सूर्य एक ही सकल इस लोक देहेन्द्रिय संघात रूपवान् वस्तुमात्र को प्रकाशित करते हैं हे भारत! अतएव प्रकाश्यधर्मों से लिप्त नहीं होते और न प्रकाश्य जड़वर्ग के भेद से भिन्न ही होते हैं यह अर्थ है।

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा ।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम् ॥ ३४ ॥

इस प्रकार क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के भेद को तथा विकारसहित प्रकृतिके छूटनेके उपायको, जो पुरुष ज्ञाननेत्रोंद्वारा तत्त्व से जानते हैं वे महात्माजन परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त होते हैं ॥ ३४ ॥

"सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः ।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः" इति श्रुतेः ।

इदानीमध्यायार्थं सफलमुपसंहरति—क्षेत्रेत्यादिना । क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोः प्राग्व्याख्यातयोरेवमुक्तेन प्रकारेणान्तरं परस्परवैलक्षण्यं जाड्यचैतन्य-विकारित्वनिर्विकारित्वादिरूपं ज्ञानचक्षुषा शास्त्राचार्योपदेशजनितात्मज्ञानरूपेण चक्षुषा ये विदुर्भूतप्रकृतिमोक्षं च भूतानां सर्वेषां प्रकृतिरविद्या मायाख्या तस्याः परमार्थात्म विद्यया मोक्षमभावगमनं च ये विदुर्जानन्ति यान्ति ते परं परमार्थात्मवस्तुस्वरूपं कैवल्यं न पुनर्देहमाददत इत्यर्थः । तदेवममानित्वा-दिसाधननिष्ठस्य क्षेत्रक्षेत्रज्ञविवेकविज्ञानवतः सर्वानर्थनिवृत्त्या परमपुरुषार्थ-सिद्धिरिति सिद्धम् ॥ ३४ ॥

इति श्रीमधुसूदनसरस्वती विरचितायांमधिकारिभेदेन प्रकृति पुरुष योग विवरणं नाम त्रयोदशोऽध्यायः ॥१३॥

'सूर्यो यथा' इत्यादि श्रुति उपर देखिये श्रुतिका अर्थ अति स्पष्ट है ॥३३॥

अब अध्याय के अर्थ का उपसंहार करते हैं—'क्षेत्र' से । फल के साथ क्षेत्र क्षेत्रज्ञ जो पूर्व में व्याख्यात हो चुके हैं इस उक्त प्रकार से अन्तर मिथोविशेष जाड्य चैतन्य विकारित्व अधिकारित्वरूप ज्ञानचक्षु उससे जो जानते हैं अर्थात् शास्त्रा-चार्य के उपदेश से उत्पन्न जो ज्ञान तद्रूपी नेत्र से जो जानते हैं भूत प्रकृति मोक्ष सब भूतों की प्रकृति उपादान कारण अविद्या मायाऽपरपर्याया उसकी परमार्था-त्मज्ञान से मोक्ष निवृत्ति अभावगमन को भी जो जानते हैं वे परमार्थ पार-मार्थिकसत्ता के जो आत्मा तत्त्वरूप मोक्ष को प्राप्त करते हैं फिर शरीर ग्रहण नहीं करते यह अर्थ है । इस प्रकार अमानित्वादि जो तत्त्वज्ञानसाधन है उसमें निरत क्षेत्र क्षेत्रज्ञ विवेकी को सब दुःखों की निवृत्ति परमपुरुषार्थ मोक्ष की प्राप्ति होती है यह सिद्ध हुआ ॥३४॥

इस प्रकार म० म० प० हरिहरकृपालु द्विवेदिकृत दशवाँ अध्याय का अनुवाद समाप्त हुआ

—:*:—

अथ चतुर्दशोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम्।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः ॥ १ ॥

उसके उपरान्त, श्रीकृष्ण भगवान् बोले, हे अर्जुन! ज्ञानोंमें भी अति उत्तम परमज्ञानको, मैं फिर भी तेरेलिये कहूँगा, कि जिसको जानकर सब मुनि जन, इस संसारसे मुक्त होकर, परमसिद्धिको प्राप्त हो गये हैं। ॥ १ ॥

श्रीकृष्णाय गीतामृतदुहे नमः।

म० टी०—पूर्वाध्याये 'यावत्संजायते किंचित्सत्त्वं स्थावरजङ्गमम्। क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि' इत्युक्तम्, तत्र निरीश्वरसाङ्ख्यनिराकरणेन क्षेत्रक्षेत्रज्ञ-संयोगस्येश्वराधीनत्वं वक्तव्यम्। 'एवं कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु' इत्युक्तम्, तत्र कस्मिन् गुणे कथं सङ्गः के वा ते बध्नन्तीति वक्तव्यम्। तथा भूतप्रकृति मोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम्' इत्युक्तम्, तत्र 'भूतप्रकृतिशब्दितेभ्यो गुणेभ्यः कथं मोक्षणं स्यान्मुक्तस्य च किं लक्षणमिति वक्तव्यं तदेतत्सर्वं विस्तरेण वक्तुं चतुर्दशोऽध्याय आरभ्यते। तत्र वक्ष्यमाणमर्थं द्वाभ्यां स्तुवन्

चौदहवाँ अध्याय

पूर्वाध्याय में 'यावत्संजायते किंचित्' इत्यादि से जो कोई प्राणी होते हैं वे सब क्षेत्र क्षेत्रज्ञ के संयोग से होते हैं यह समझो। इस से निरीश्वर आदि साख्यमत के निराकरण से क्षेत्र क्षेत्रज्ञ का संयोग ईश्वर के अधीन है यह प्रति-पिपादयिषित है. इसी प्रकार 'कारणं गुणसंगोऽस्य' इत्यादि भी कहा है इससे किस गुण में कैसे संग होता हैं, गुण कौन हैं कैसे वे बाँधते हैं, यह भी कहना है। तथा 'भूतप्रकृतिमोक्षं च' इत्यादि भी कहा, उसमें भूत प्रकृति शब्दार्थ गुणों से कैसे मुक्ति (छुटकारा) होगी मुक्त का क्या लक्षण है यह सब विस्तार से कहने के लिए चौदहवाँ अध्याय का आरम्भ करते हैं। उसमें श्रोताओं को उत्सुक करने के लिये

श्रोतॄणां रुच्युत्पत्तये श्री भगवानुवाच—परमिति। ज्ञायतेऽनेनेति ज्ञानं परमात्मज्ञानसाधनं परं श्रेष्ठं परवस्तुविषयत्वात्। कीदृशं तत्? ज्ञानानां ज्ञानसाधनानां बहिरङ्गानां यज्ञादीनां मध्ये उत्तमम् उत्तमफलत्वात् न त्वमानित्वादीनां तेषामन्तरङ्गत्वेनोत्तमफलत्वात्। परमित्यनेनोत्कृष्टविषयत्वमुक्तम्, उत्तममित्यनेन तूत्कृष्टफलत्वमिति भेदः। ईदृशं ज्ञानमहं प्रवक्ष्यामि भूयः पुनः। पूर्वेष्वध्यायेष्वसकृदुक्तमपि यत् ज्ञानं ज्ञात्वाऽनुष्ठाय मुनयः मननशीलाः संन्यासिनः सर्वे परां सिद्धिं मोक्षाख्याम् इतो देहबन्धनाद्गताः प्राप्ताः ॥ १ ॥

जो अर्थ आगे कहेंगे उसकी स्तुति दो श्लोकों से करते हुए भगवान् बोले—परं से। ज्ञान यहां ज्ञान हेतु परक है यह स्फुट करने के लिये 'ज्ञायते' इत्यादि व्युत्पत्ति करते हैं। 'ज्ञप्तिर्ज्ञानम्' यह भाव साधन व्युत्पत्ति यहाँ इष्ट नहीं किन्तु करणसाधन व्युत्पत्ति इष्ट है इससे ज्ञान साधन का सुख से लाभ होता है, ज्ञानहेतु पर उत्कृष्ट है क्योंकि परब्रह्मविषयक होने से फल के उत्कर्ष से साधन में भी तत्तद् व्यवहार होता है। कैसा वह है यज्ञादि बहिरङ्ग ज्ञानसाधनों से सबसे उत्तम है क्योंकि इसका फल उत्तम है। ज्ञान साधन दो प्रकार के हैं एक साक्षात् साधन है दूसरा परंपरा से, इन्हीं को पूर्वमीमांसक सन्निपत्योपकारक, आराादुपकारक कहते हैं। प्रकृत में यागादि अन्तःकरणशुद्धि द्वारा उक्तज्ञान का हेतु है साक्षात् नहीं। अमानित्वादि साक्षात ज्ञानसाधन है इनकी व्यावृत्ति के लिये बहिरङ्ग यागादि कहा है इससे स्पष्ट होता है कि अन्तरङ्ग ज्ञान हेतु है जो अमानित्वादि है इनसे उत्तम यही कारण ये भी तो उत्तम फलकारी हैं। परं इससे उत्कृष्ट विषयत्व कहा, 'उत्तमम्' से उत्कृष्टलत्व कहा विषयफल भेद से पुनरुक्त की शंका का अवकाश नहीं ऐसा ज्ञान मैं तुमसे कहूँगा फिर। पूर्व के अध्यायों में बारबार उक्त जो ज्ञान जानकर अर्थात् अनुष्ठान कर यहाँ ज्ञानतत्साधन परक है। इसका विस्मरण न हो वास्तविक ज्ञान कृतिसाध्य नहीं किन्तु तत्साधन का साधन है 'ज्ञानजन्या भवेदिच्छा इच्छाजन्या कृतिर्भवेत्' इति। मुनयः मननपरा सब परिव्राजक मुक्ति रूप उत्कृष्ट सिद्धि को प्राप्त किये शरीर बन्धन से सदा के लिये छूट गये ॥ १ ॥

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः ।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ॥ २ ॥
मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम् ।
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ! ॥ ३ ॥

हे अर्जुन ! इस ज्ञानको आश्रय करके अर्थात् धारण करके, मेरे स्वरूपको प्राप्त हुए पुरुष सृष्टि के आदिमें पुनः उत्पन्न नहीं होते हैं और प्रलयकालमें भी व्याकुल नहीं होते हैं क्योंकि उनकी दृष्टिमें मुझ वासुदेवसे भिन्न कोई वस्तु ही नहीं ॥ २ ॥

हे अर्जुन ! मेरी महत् ब्रह्मरूप प्रकृति अर्थात् त्रिगुणमयी माया, संपूर्ण भूतोंकी योनि है, अर्थात् गर्भाधानका स्थान है और मैं उस योनिमें चेतनरूप बीजको स्थापन करता हूँ, उस जड़चेतनके संयोगसे सब भूतोंकी उत्पत्ति होती है ॥ ३ ॥

म० टी०--तस्याः सिद्धेरैकान्तिकत्वं दर्शयति--इदमिति । इदं यथोक्तं ज्ञानं ज्ञानसाधनमपाश्रित्यानुष्ठाय मम परमेश्वरस्य साधर्म्यं मद्रूपतामत्यन्ताभेदेनागताः प्राप्ताः सन्तः सर्गेऽपि हिरण्यगर्भादिषूत्पद्यमानेष्वपि नोपजायन्ते, प्रलये ब्रह्मणोऽपि विनाशकाले न व्यथन्ति च न व्यथन्ते न च लीयन्त इत्यर्थः ॥ २ ॥

उस सिद्धि में फलाव्यभिचारित्व दिखलाते हैं—इदं से । इस यथोक्त जैसा कथित ज्ञान ज्ञानहेतु का अनुष्ठान कर मुझ परमेश्वर का साधर्म्य समानधर्म, सादृश्य भेद घटित होता है प्रकृत में भेद अद्वैतवादी को इष्ट नहीं इसलिये अत्यन्ता भेद से मद्रूपता प्रकृत में साधर्म्य है उसको प्राप्त होते हुए सर्ग में जिसमें हिरण्यगर्भादि की उत्पत्ति होती है उसमें भी नहीं उत्पन्न होते हैं, प्रलय में विधि के भी निधनसमय में वे पीड़ित नहीं हैं मरणत्रास का अनुभव नहीं करते लीन नहीं होते, वस्तुतः लय शरीर का ही होता हैं शरीर उसको रहता नहीं तो लय किसका हो । २ ॥

म० टी०—तदेवं प्रशंसया श्रोतारमभिमुखीकृत्य परमेश्वराधीनयोः प्रकृतिपुरुषयोः सर्वभूतोत्पत्तिं प्रति हेतुत्वं न तु साङ्ख्यसिद्धान्तवत् स्वतन्त्रयोरितीमं विवक्षितमर्थमाह द्वाभ्याम्—सर्वकार्यापेक्षयाऽधिकत्वात् कारणं महत् सर्वकार्याणां वृद्धिहेतुत्वात् ब्रह्म अव्याकृतं प्रकृतिस्त्रिगुणात्मिका माया महत् ब्रह्म तच्च ममेश्वरस्य योनिर्गर्भाधानस्थानम्, तस्मिन् महति ब्रह्मणि योनौ गर्भं सर्वभूतजन्मकारणम् 'अहं बहुस्यां प्रजायेय' इतीक्षणरूपं सङ्कल्पं दधामि धारयामि तत्सङ्कल्पविषयीकरोमीत्यर्थः। यथा हि कश्चित् पिता पुत्रमनुशयिनं व्रीह्याद्याहाररूपेण स्वस्मिन् लीनं शरीरेण योजयितुं योनौ रेतःसेकपूर्वकं गर्भमाधत्ते। तस्मात्तथाचेत्यपि पाठः, गर्भाधानात् स पुत्रः शरीरेण युज्यते तदर्थं च मध्ये

इस प्रकार की प्रशंसा से श्रोता को श्रवणोन्मुख कर परमेश्वर के अधीन प्रकृति पुरुष ही संसार का हेतु है, सांख्यसिद्धान्त की रीति से स्वतन्त्र वे हेतु नहीं है इस ईप्सित अर्थ को दो श्लोकों से कहते हैं—सब कार्यों की अपेक्षा से अधिक होने से कारण महत् है सब कार्यों की वृद्धि का कारण ब्रह्म है 'बृह बृहि वृद्धौ' इस धातु पाठ के अनुसार बृंहयति लोकान्' इति ब्रह्म ब्रह्मशब्द की व्युत्पत्ति, से उक्त अर्थ का लाभ होता है। ब्रह्म अव्याकृत सत्त्वरजस्तम एतद्गुणत्रयात्मिका माया महद् ब्रह्म, वही मुझ ईश्वर की योनि (गर्भाशय) का द्वार वा स्थान उस महान् ब्रह्म योनि में गर्भ सब भूतजन्म का कारण मैं 'बहु स्यां प्रजायेय' बहुत हो उत्पन्न हो जाऊँ अन्यथा एक का अनेक होना असम्भव है। ईक्षणरूप सङ्कल्प धरता हूँ संकल्प का विषय करता हूँ—जैसे कोई पिता अनुशयी वह कहाता है जो शुभकर्मों के द्वारा चन्द्रलोक में जाकर स्वर्गीयशरीर द्वारा स्वर्गसुख का उपभोग कर 'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति' के अनुसार मृत्युलोक में आते हैं। आने का प्रकार—मेघ, पृथिवी, ओषधि, पुरुष, योषित् इत्यादि उपनिषद् वर्णित हैं। स्वल्पपुण्य जो स्वर्ग में भोगने के योग्य नहीं है उसका नाम अनुशय है केवल वही अनुशय नहीं कि अनुक्त पूर्वजन्मकृतकर्मराशि तद्वान् अनुशयी है। वह अनुशयी अन्न में रहता है अन्न पुरुष खाता है अतः पुरुष में लीन होता है उस अपने में लीन अनुशयी को सशरीर करने के लिये वीर्यपातपुरस्सर गर्भ का आधान करता है। उस गर्भाधान से वह पुत्र शरीर से युक्त होता है शरीरार्थं ही मध्य में कललादि

सर्वयोनिषु कौन्तेय ! मूर्तयः सम्भवन्ति याः ।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥ ४ ॥

तथा हे अर्जुन ! नाना प्रकारकी सब योनियोंमें जितनी मूर्तियां अर्थात् शरीर उत्पन्न होते हैं, उन सबकी त्रिगुणमयी माया तो गर्भको धारण करनेवाली माता है और मैं बीजको स्थापन करनेवाला पिता हूँ ॥ ४ ॥

कललाद्यवस्था भवति तथा प्रलये मयि लीनमविद्याकर्मानुशयवन्तं क्षेत्रज्ञं सृष्टिसमये भोग्येन क्षेत्रेण कार्यकरणसंघातेन योजयितुं चिदाभासाख्यरेतः-सेकपूर्वकं मायावृत्तिरूपं गर्भमहमादधामि तदर्थं च मध्ये आकाशवायुतेजो-जलपृथिव्याद्युत्पत्त्यवस्थाः, ततो गर्भाधानात्संभव उत्पत्तिः हिरण्यगर्भादीनां भवति हे भारत ! न त्वीश्वरकृतगर्भाधानं विनेत्यर्थः ॥ ३ ॥

म० टी०--ननु कथं सर्वभूतानां ततः संभवो देवादिदेहविशेषाणां कारणान्तरसंभवादित्याशङ्क्याह--सर्वेति । देवपितृमनुष्यपशुमृगादिसर्वयो-निषु या मूर्तयः जरायुजाण्डजस्वेदजोद्भिज्जाभेदेन विलक्षणविविधसंस्थानास्त-नवः संभवन्ति हे कौन्तेय ! तासां मूर्तीनां तत्तत्कारणभावापन्नं महत् ब्रह्मैव योनिर्मातृस्थानीया अहं परमेश्वरो बीजप्रदः गर्भाधानस्य कर्ता पिता तेन

अवस्थायें होती हैं तथा वैसे प्रलयकाल में मुझमें लीन अविद्याकामकर्मानुशयवान् क्षेत्रज्ञ को सर्गकाल में भोग्यक्षेत्र शरीरेन्द्रिय संघात से संयुक्त करने के लिये चिदाभासाख्य जीव रेतःसेकपूर्वक मायावृत्तिरूप गर्भ का आधान मैं करता हूँ। इस के लिये मध्य में आकाश, वायु, तेज, जल, पृथिवी आदि की उत्पत्त्यवस्था उस गर्भाधान से हिरण्यगर्भादि सब भूतों की उत्पत्ति होती है हे भारत ! ईश्वरकृत गर्भाधान के विना उक्त उत्पत्ति नहीं होती ॥ ३ ॥

सब भूतों का जन्म उससे कैसे होता है, देवादि देहविशेष दूसरे साधनों से सर्वयोनियोंमें होते हैं इस शंकासे कहते हैं-सर्वयोनिस्थित देव, पितर, मनुष्य, पशु-मृगादि सब योनियों में जो शरीर है, जरायुज अण्डज स्वेदज उद्भिज्जादि भेद से नानाप्रकार का शरीर होता है हे कौन्तेय ! उन शरीरों का तत्तत्कारणत्व विशिष्ट ब्रह्म ही योनि मातृस्थानीय माता के समान है। मैं परमेश्वर बीजप्रद

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः ।
निबध्नन्ति महाबाहो ! देहे देहिनमव्ययम् ॥ ५ ॥

तथा हे अर्जुन ! सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण ऐसे यह प्रकृतिसे उत्पन्न हुए तीनों गुण, इस अविनाशी जीवात्माको शरीरमें बाँधते हैं ॥ ५ ॥

महतो ब्रह्मण एवावस्थाविशेषाः कारणान्तराणीति युक्तमुक्तम्—'संभवः सर्वभूतानां ततो भवति' इति ॥ ४ ॥

म० टी०—तदेवं निरीश्वरसाङ्ख्यनिराकरणेन क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगस्येश्वराधीनत्वमुक्तम्, इदानीं कस्मिन् गुणे कथं सङ्गः के वा गुणाः कथं वा ते बध्नन्तीत्युच्यते—सत्त्वमित्यादिना । नान्यमित्यतः प्राक्चतुर्दशभिः सत्त्वरजस्तम इत्येवनामानो गुणानित्यपरतन्त्राः पुरुषंप्रति सर्वेषामचेतनानां चेतनार्थत्वात् न तु वैशेषिकानां रूपादिवद्द्रव्याश्रिताः । न च गुणगुणिनोरन्यत्वमत्र विवक्षितम् गुणत्रयात्मकत्वात्प्रकृतेः । तर्हि कथं प्रकृतिसंभावा इति ? उच्यते—त्रयाणां गुणानां साम्यावस्था प्रकृतिर्माया भगवतः तस्याः सकाशात् परस्परा-

गर्भाधान करने वाला पिता । इससे महद्ब्रह्म की अवस्थाविशेष ही कारणान्तर है अतः ठीक ही कहा है कि—उसीसे सब भूतों का जन्म होता है ॥ ४ ॥

इस प्रकार निरीश्वर सांख्यनिरास से क्षेत्र-क्षेत्रज्ञसंयोग ईश्वर अधीन कहा है, इस समय किस गुण में कैसे सङ्ग हैं, गुण कौन है कैसे वे बाँधते हैं यह कहते हैं—'सत्त्व' मित्यादि से। लेकर 'नान्यं' इस से पूर्व चौदह श्लोकों से। सत्त्वरज तम इस नाम के गुण सदा पराधीन है पुरुष के प्रति, क्योंकि अचेतन चेतनार्थ-साक्षात् परम्परया चेतनोपकारार्थ है, प्रधानीभूत पुरुष के प्रति गुणभूत होने से गुण कहाते हैं वैशेषिकादि के समान द्रव्याश्रितरूपादि के समान गुण नहीं है। गुणगुणी का भेद भी विवक्षित नहीं, क्योंकि प्रकृति गुणत्रयात्मक है गुणत्रयवती नहीं। तो 'प्रकृतिसम्भवाः' कैसे कहते हैं ? क्योंकि कार्यकारणभाव भेद रहने पर ही होता है अभेद रहने पर कार्यकारणभाव का संभव नहीं समाधान कहते हैं—त्रयाणामिति । तीनों गुणों की साम्यावस्था प्रकृति है, वही माया है भगवान्

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम्।
सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ ॥ ६ ॥

हे निष्पाप ! उन तीनों गुणोंमें प्रकाश करनेवाला, निर्विकार सत्त्व गुण तो निर्मल होनेके कारण सुखकी आसक्तिसे और ज्ञानकी आसक्तिसे अर्थात् ज्ञानके अभिप्रायसे वांधता है ॥ ६ ॥

ङ्गाङ्गिभावेन वैषम्येन परिणताः 'प्रकृतिसंभावा' इत्युच्यन्ते। ये च देहे प्रकृतिकार्ये शरीरेन्द्रियसङ्घाते देहिनं देहतादात्म्याध्यासमापन्नं जीवं परमार्थतः सर्वविकारशून्यत्वेनाव्ययं निबध्नन्ति निर्विकारमेव सन्तं स्वविकारमेव सन्तं स्वीकारवत्तयोपदर्शयतीव भ्रान्त्या जलपात्राणीव दिवि स्थितमादित्यं प्रति विम्बाध्यासेन स्वकम्पादिमत्तया, यथा च पारमार्थिको वन्धो नास्ति तथा व्याख्यातं प्राक्--'शरीरस्थोऽपि कौन्तेय ! न करोति न लिप्यत ॥ ५ ॥' इति।

म० टी०-तत्र को गुणसङ्गेन बध्नातीत्युच्यते--तत्रेति। तत्र तेषु गुणेषु मध्ये सत्त्वं प्रकाशकं चैतन्यस्य तमोगुणकृतावरणतिरोधायकं निर्मलत्वात् चिद्विम्बग्रहणयोग्यत्वादिति यावत्, न केवलं चैतन्याभिव्यञ्जकं किंतु

की उसके प्रभाव से मिथः गुणप्रधानभाव से विपयरूप से परिणत होने से वे 'प्रकृतिसंभवा' ऐसा कहे गये हैं। वे प्रकृतिकार्य देह में शरीरेन्द्रिय समुदाय में देही देहतादात्म्याध्यासवान् जीव जो वस्तुतः सब विकारों से रहित को बाधता हैं विकाररहित ही को स्वीयविकारवान् के समान दिखलाता है, गुण विकारी है पुरुष आदर्श के समान अतिस्वच्छ है सान्निध्य से गुण की छाया पुरुष में पड़ती है इससे पुरुष भी विकारी प्रतीत होता है इसमें दृष्टान्त कहते हैं—जैसे जलाधार आकाश में स्थित सूर्य को प्रतिबिम्ब के अध्यास से कम्पवान् के समान दिखने में आता है जैसे कि वास्तविक बन्ध नहीं है वैसा व्याख्यान पूर्व में हो चुका है—

'शरीरस्थोऽपि कौन्तेय ! न करोति न लिप्यते ॥ ५ ॥ इति'।

कौन गुण है किस सङ्ग से बाँधता है यह कहते हैं—तत्रेत्यादि से। इन गुणों के मध्य में सत्त्व प्रकाशक है चैतन्य आत्मा में तमोगुणप्रयुक्त जो तिरोधान तन्निवारक सत्त्व मलशून्य अतएव चित् के प्रतिबिम्ब ग्रहण में समर्थ है केवल

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम् ।
तन्निबध्नाति कौन्तेय ! कर्मसङ्गेन देहिनम् ॥ ७ ॥

तथा हे अर्जुन ! रागरूप रजोगुणको, कामना और आसक्तिसे उत्पन्न हुआ जान, वह इस जीवात्माको कर्मोंकी और उनके फलकी आसक्तिसे बाँधता है ॥ ७ ॥

अनामयम् आमयो दुःखं तद्विरोधिसुखस्यापि व्यञ्जकमित्यर्थः । तद् बध्नाति सुखसङ्गेन च देहिनम्, हे अनघ अव्यसन ! । सर्वत्र संबोधनानामभिप्रायः प्रागुक्तः स्मर्तव्यः । अत्र सुखज्ञानशब्दाभ्यामन्तःकरणपरिमाणामौ सद्व्यञ्जकावुच्यते, 'इच्छा द्वेषः सुखं दुखं संघातश्चेतना धृतिः' इति सुखचेतनयोरपीच्छादिवत् क्षेत्रधर्मत्वेन पाठात् । तत्रान्तःकरणधर्मस्य सुखस्य ज्ञानस्य चात्मन्यध्यासः सङ्गः 'अहं सुखी' 'अहं जात इति च । न हि विषयधर्मो विषयिणो भवति तस्मादविद्यामात्रमेतदिति शतश उक्तं प्राक् ॥ ६ ॥

चैतन्य का अभिव्यञ्जक ही नहीं किन्तु अनामय आमय दुःख है तद्विरोधि सुख का भी अभिव्यंजक है—'सत्त्वं लघु प्रकाशकमिष्टम्' इत्यादि सांख्यकारिका भी है । वह सत्त्व सुख संग और ज्ञानसंग से देही को बाँधता है हे अनघ पापरहित ! । सब जगहों में सम्बोधनों का पूर्वोक्त अभिप्राय न भूलना अथवा अनघ अव्यसन सुखादि व्यसनाभाव से सत्त्वनिबन्धन बन्धन का सम्भव नहीं । यहाँ पर सुख और ज्ञान शब्दों से अन्तःकरण के परिणाम जो ज्ञान सुख के अभिव्यञ्जक वृत्तिरूप है उनका ग्रहण इष्ट है । ब्रह्मस्वरूप ज्ञान सुख का नहीं 'इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः' इसमें सुख ज्ञान का पाठ है इच्छादि के समान वे भी क्षेत्र के ही धर्म हैं अन्तःकरण धर्म जो सुख और ज्ञान है इनका आत्मा में अध्यास है । संग 'मैं सुखी हूँ' 'मैं जानता हूँ' इत्यादि तार्किक के समान आत्मा के ही धर्म ज्ञान सुख है यही क्यों नहीं मानते इसका उत्तर देते हैं विषय के धर्म विषयी के धर्म नहीं होते, जड़वर्ग बिषय है आत्मा विषयी है अतः जड़धर्म आत्मा के धर्म नहीं हो सकते अन्यथा दोनों में पूर्वोक्त वैलक्षण्य भङ्ग हो जायगा अतः यह अज्ञानमात्र है यह पूर्व में सैकड़ो बार कह चुके हैं ॥ ६ ॥

तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम् ।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत ! ॥ ८ ॥

और अर्जुन ! सर्व देहाभिमानियोंके मोहने वाले तमोगुणको, अज्ञान से उत्पन्न हुआ जान, वह इस जीवात्माको प्रमाद, आलस्य और निद्राके द्वारा बाँधता है ॥ ८ ॥

म० टी०—रज्यते विषयेषु पुरुषोऽनेनेति रागः, कामो गर्द्धः स एवात्मा स्वरूपं यस्य धर्मधर्मिणोस्तादात्म्यात् तद्रागात्मकं रजो विद्धि, अत एव अप्राप्ताभिलाषस्तृष्णा प्राप्तस्योपस्थितेऽपि विनाशे संरक्षणाभिलाष आसङ्गस्तयोस्तृष्णासङ्गयोः संभवो यस्मात् तद्रजो निबध्नाति हे कौन्तेय ! कर्मसङ्गेन कर्मसु दृष्टार्थेषु अदृष्टार्थेषु 'अहमिदं करोम्येतत् फलं भोक्ष्ये' इत्याद्यभिनिवेशविशेषेण देहिनं वस्तुतोऽकर्तारमेव कर्तृत्वाभिमानिनं रजसः प्रवृत्तिहेतुत्वात् ॥ ७ ॥

'रज्यते' इत्यादि व्युत्पत्ति से राग शब्द यहाँ काम परक है इस अर्थ को स्फुट करने के लिये है। काम कन्दर्प बोधक भी है तद्व्यावृत्ति के लिये गर्धः कहा 'गृधु अभिकांक्षायाम्' धातु से गर्ध शब्द की सिद्धि है, यह स्पृहार्थक है, यही है आत्मास्वरूप जिसका वह रागात्मक रजोगुण समझो। राग धर्म है रजोगुण धर्मी है रजोगुण रागवान् है ऐसा कहना चाहिये इसको परिहार करते हैं—धर्म धर्मी का तादात्म्य है अतः मेरे मत में रागात्मक कहना ही ठीक है रागात्मक होने से ही तृष्णा समुद्भव कहा। अप्राप्तपदार्थ की कामना तृष्णा है प्राप्त का क्षय उपस्थित होने पर रक्षा करने की इच्छा आसङ्ग है इन दोनों तृष्णासङ्गों की उत्पत्ति होती है जिससे उसको रजोगुण समझो हे कौन्तेय ! कर्मसङ्ग से। कर्म दो प्रकार के हैं दृष्ट अर्थ है जिसका वह दृष्टार्थक है जैसे पशुपुत्रवृष्टिफलार्थक वैदिक पाकभोजनादि लौकिक अदृष्टार्थ स्वर्गाद्यर्थ दर्शपौर्णमासादि इनमें 'मैं यह कर्म करूँगा' 'इस फल को भोगूँगा' यह अभिनिवेश आग्रहविशेष से देही को जो वस्तुतः अकर्ता अभोक्ता से उसी कर्तृत्वाभिमानी को रजोगुण बाँधता है क्योंकि रजोगुण प्रवृत्ति का कारण है ॥ ७ ॥

सत्त्वं सुखे सञ्जयति रजः कर्मणि भारत।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे सञ्जयत्युत॥ ९॥

क्योंकि हे अर्जुन! सत्त्वगुण सुखमें लगाता है और रजोगुण कर्ममें लगाता है तथा तमोगुण तो ज्ञानको अच्छादन करके अर्थात् ढकके, प्रमाद में भी लगाता है॥ ९॥

म० टी०—'तु' शब्दः सत्त्वरजोऽपेक्षया विशेषद्योतनार्थः। अज्ञानादावरणशक्तिरूपात्तदुद्भूतमज्ञानजं तमो विद्धि अतः सर्वेषां देहिनां मोहनम् अविवेकरूपत्वेन भ्रान्तिजनकं प्रमादेनालस्येन निद्रया च तत्तमो निबध्नाति 'देहिनम्' इत्यनुषज्यते हे भारत!, प्रमादो वस्तुविवेकासमर्थ्यं सत्त्वकार्यप्रकाशविरोधी आलस्यं प्रवृत्त्यसामर्थ्यं रजःकार्यप्रवृत्तिविरोधि उभयविरोधिनी तमोगुणालम्बना वृत्तिर्निद्रेति विवेकः॥ ८॥

म० टी०—उक्तानां मध्ये कस्मिन् कार्ये कस्य गुणस्योत्कर्ष इति तत्राह—सत्त्वमिति। सत्त्वमुत्कृष्टं सत् सुखे सञ्जयति दुःखकारणमभिभूय सुखे संश्लेषयति सर्वत्र 'देहिनम्' इत्यनुषज्यते। एवं रज उत्कृष्टं सत् सुखकारणमभिभूय कर्मणि 'सञ्जयति' इत्यनुषज्यते। तमस्तु प्रमाणबलेनोत्पद्यमानमपि

'तु' शब्द सत्त्वरज की अपेक्षा से विशेष द्योतनार्थ है। आवरणशक्तिरूप अज्ञान से उत्पन्न तमोगुण को समझो, इस हेतु से सब प्राणियों का मोहक स्वयं अविवेकात्मक होने से भ्रमजनक अनवधानता से आलस्य से और निद्रा से वह तम बाँधता है देही का यहाँ भी सम्बन्ध है हे भारत!, प्रमाद वस्तुनिर्णय करने के सामर्थ्य का अभाव जो सत्त्वगुण के कार्य प्रकाश का विरोधी है आलस्य प्रवृत्ति में असामर्थ्य प्रसिद्ध है, रजोगुण का कार्य जो प्रवृत्ति उसका विरोधी है दोनों गुणों की विरोधिनी तमःप्रधानवृत्ति निद्रा है यह विवेक है॥ ८॥

उक्त गुणों के मध्य में किस कार्य में किस गुण का उत्कर्ष उपचय है इसका उत्तर कहते हैं—सत्त्व से। उपचित होकर सुख में संग कराता है, दुःख के कारणों को दबाकर सुख से सम्बन्ध कराता है सब जगह, 'देहिनम्' का यहाँ भी सम्बन्ध है। इसी कारण रजो गुण प्रवृद्ध होकर सुख कारणों को दबा कर कर्म में संग कराता है यहाँ 'सञ्जयति' का अनुसङ्ग है। तमोगुण तो उत्पद्यमान सत्त्वगुण

रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत ।
रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा ॥ १० ॥

और हे अर्जुन ! रजोगुण और तमोगुणको दबाकर, सत्त्वगुण होता है अर्थात् बढ़ता है तथा रजोगुण और सत्त्वगुणको दबाकर तमोगुण बढ़ता है, वैसे ही तमोगुण और सत्त्वगुणको दबाकर, रजोगुण बढ़ता है ॥ १० ॥

सत्त्वकार्यं ज्ञानमावृत्य आच्छाद्य प्रमादे प्राप्तज्ञायमानता कस्याऽप्यज्ञाने सञ्जयति उत अपि प्राप्तकर्तव्यता कस्याऽप्यकरणे आलस्ये तामस्यां च निद्रायां सञ्जयतीत्यर्थः ॥ ९ ॥

म० टी०—उक्तं कार्यं कदा कुर्वन्ति गुणा इत्युच्यते—रज इति । रजस्तमश्च युगपदुभावपि सत्त्वं भवत्युद्भवति वर्धते यदा स्वकार्यं प्रागुक्तमसाधारण्येन करोतीति शेषः एवं रजोऽपि सत्त्वं तमश्चेति गुणद्वयमभिभूयोद्भवति यदा तदा प्रागुक्तं स्वकार्यं करोति तथा तद्वदेव तमोऽपि सत्त्वं रजश्चेत्युभावपि गुणावभिभूय उद्भवति यदा तदा स्वकार्यं प्रागुक्तं करोतीत्यर्थः ॥ १० ॥

कार्य ज्ञान को प्रमाद बल से रोक कर दबाकर प्रमाद में जिसका ज्ञान अवश्य प्राप्त उसका अज्ञान से सङ्ग कराता है । ज्ञानसामग्री रहने पर भी ज्ञान नहीं होने पाता । प्रमाद से अज्ञान ही में संग कराता है । उत (अपि) जिसका करना अवश्य प्राप्त है किसी को भी अकरण में आलस्य में और तमोगुणप्रधाननिद्रा में सङ्ग कराता है यह अर्थ है ॥ ९ ॥

उक्त कार्यको गुण कब करते हैं यह कहते हैं—रजः से । रज और तम इन दोनों को एक काल में दबाकर सत्व गुण जब बढ़ता है प्रधानरूप से परिणत होता है तब रज तम के अभिभवकाल में प्राप्तस्वसत्ताक उत्पन्न सत्त्व स्वकार्य ज्ञान सुखादि को करता है । आदि पद से शरीरेन्द्रिय लाघवादि । इसी प्रकार रजोगुण भी सत्त्व तम इन दोनों गुणों का अपचय तिरोधान कर प्रधानरूप से परिणत होता है तब पूर्वोक्त अपना कार्य करता है । एवं तम भी सत्त्व रज इन दोनों गुणों को दबा कर जब बढ़ता है तब पूर्वोक्त अपना कार्य करता है यह अर्थ है ॥ १० ॥

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन् प्रकाश उपजायते ।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत ॥ ११ ॥
लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा ।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ! ॥ १२ ॥

इसलिये जिस कालमें इस देहमें तथा अन्तःकरण और इन्द्रियोंमें, चेतनता और बोधशक्ति उत्पन्न होती है, उस कालमें ऐसा जानना चाहिये कि सत्त्वगुण है ॥ ११ ॥

और हे अर्जुन! रजोगुणके बढ़नेपर लोभ और प्रवृत्ति अर्थात् सांसारिक चेष्टा, तथा सब प्रकारके कर्मोंका स्वार्थबुद्धिसे आरम्भ एवं अशान्ति अर्थात् मनकी चञ्चलता और विषयभोगोंकी लालसा, यह सब उत्पन्न होते हैं ॥ १२ ॥

म० टी०—इदानीमुद्भूतानां तेषां लिङ्गान्याह त्रिभिः—सर्वेत्यादिना। अस्मिन्नात्मनो भोगायतने देहे सर्वेष्वपि द्वारेषु उपलब्धिसाधनेषु श्रोत्रादिकरणेषु यदा प्रकाशः बुद्धिपरिणामविशेषो विषयाकारः स्वविषयावरणविरोधी दीपवत् तदेव ज्ञानं शब्दादिविषय उपजायते तदाऽनेन शब्दादिविषयज्ञानाख्यप्रकाशेन लिङ्गेन प्रकाशात्मकं सत्त्वं विवृद्धमुद्भूतमिति विद्यात् जानीयात् उत अपि सुखादिलिङ्गेनाऽपि जानीयादित्यर्थः ॥ ११ ॥

इस समय प्रवृद्ध गुणों का चिह्न—सर्वेत्यादि तीन श्लोकों से कहते हैं। इस अपने भोग सुख दुःखान्यतर उस क्षात्कार तदाश्रय देह में ज्ञान हेतु सब द्वारों में श्रोत्रादि करणों जिस काल में विषयाकार बुद्धि परिणामविशेष प्रकाश। भाव यह है कि घट चक्षुःसंयोग होने पर नेत्रद्वारा बुद्धि घट देश में जाकर घटाकार परिणत होती है वही परिणाम ज्ञान है, वही विषय प्रकाश है उसी में विषय प्रकाशित होता है एवं इन्द्रियान्तर और विषयान्तर में भी समझना। वह प्रकाश दीप के समान स्वविषय के आवरण अज्ञान का विरोधी है अन्धकार का विरोधी जैसे प्रदीप है वैसे वही ज्ञान शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्धादि विषय में होता है तब शब्दादिविषय रूप ज्ञान प्रकाश रूप चिह्न से सत्त्व गुण बढ़ता है सत्त्वप्रधान मनः परिणाम हुआ है यह जानो। उत अप्यर्थक है सत्त्वादि चिह्न से भी जानो यह अर्थ है ॥ ११ ॥

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च ।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन ! ॥ १३ ॥

तथा हे अर्जुन ! तमोगुणके बढ़नेपर, अन्तःकरण और इन्द्रियोंमें अप्रकाश एवं कर्तव्यकर्मोंमें अप्रवृत्ति और प्रमाद अर्थात् व्यर्थ चेष्टा और निद्रादि अन्तःकरणकी मोहिनी वृत्तियां यह सब ही उत्पन्न होते हैं ॥ १३ ॥

भ० टी०—महति धनागमे जायमानेऽप्यनुक्षणं वर्धमानस्तदभिलाषो लोभः स्वविषयप्राप्त्यनिवर्त्य इच्छाविशेष इति यावत् । प्रवृत्तिर्निरन्तरं प्रयतमानता आरम्भः कर्मणां बहुवित्तव्ययायासकराणां काम्यनिषिद्धलौकिकमहीगृहादिविषयाणां व्यापाराणामुद्यमः अशमः 'इदं कृत्वेदं करिष्यामि' इति सङ्कल्पप्रवाहानुपरमः स्पृहा उच्चावचेषु परधनेषु दृष्टमात्रेषु येन केनाऽप्युपायेनोपादित्सा रजसि रागात्मके विवृद्धे एतानि रागात्मकानि लिङ्गानि जायन्ते हे भरतर्षभ ! एतैर्लिङ्गैर्विवृद्धं रजो जानीयादित्यर्थः ॥ १२ ॥

म० टी०—अप्रकाशः सत्यप्युपदेशादौ बोधाकारणे सर्वथा बोधायोग्यत्वम् अप्रवृत्तिश्च सत्यपि 'अग्निहोत्रं जुहुयात्' इत्यादौ प्रवृत्तकारणे जनितबोधेऽपि

बहुत धन आने पर भी प्रतिक्षण बढ़ती हुई धन कामना लोभ है । यद्यपि इच्छा स्वविषय इष्यमाण की प्राप्ति से निवृत्त होती है यह नियम है परन्तु लोभात्मक इच्छा स्वविषयप्राप्ति से भी निवृत्त नहीं होती यह विशेष है । प्रवृत्ति अनवरत प्रयास आरम्भ अधिक धनव्यय परिश्रमसाध्य काम्य कामनाविषय निषिद्ध लौकिक महागृहादिविषय व्यापार का उद्यम उद्योग बड़े बड़े किलों के बनाने का 'निरन्तरम् उद्योगः अशमः' यह करके यह करेंगे इस संकल्पधारा का अविच्छेद स्पृहा ऊच नीच परधन में देखने मात्र से जिस किसी उपाय से लेने की इच्छा रागात्मक रजोगुण के बढ़ने पर ये रागात्मक चिह्न होते हैं। हे भरतर्षभ ! इन लिङ्गों से प्रवृद्ध रजोगुण जानो यह अर्थ है ॥ १२ ॥

अप्रकाश ज्ञानकारण उपदेशादि रहने पर भी सर्वथा ज्ञान की अयोग्यता अप्रवृत्ति प्रवृत्तिप्रयोजक प्रेरक 'अग्निहोत्रं जुहुयात्' इत्यादि वाक्य से शब्द

यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत् ।
तदोत्तमविदां लोकानमलान् प्रतिपद्यते ॥ १४ ॥

और हे अर्जुन ! जब यह जीवात्मा सत्त्वगुणकी वृद्धिमें मृत्युको प्राप्त होता है, तब तो उत्तम कर्म करनेवालोंको मलरहित अर्थात दिव्य स्वर्गादि प्राप्त होता है ॥ १४ ॥

शास्त्रे सर्वथा तत्प्रवृत्त्ययोग्यत्वम्, प्रमादस्तत्कालकर्तव्यत्वेन प्राप्तस्यार्थस्यानुसन्धानाभावः । मोह एव च मोहो निद्राविपर्ययो वा, चौ समुच्चये । एवकारोऽव्यभिचारवारणार्थः । तमस्येव विवृद्धे एतानि लिङ्गानि हे कुरुनन्दन ! अत एतैर्लिङ्गैरव्यभिचारिभिर्विवृद्धं तमो जानीयादित्यर्थः ॥ १३ ॥

म० टी०—इदानीं मरणसमये विवृद्धानां सत्त्वादीनां फलविशेषमाह—यदेति । सत्त्वे प्रवृद्धे सति यदा प्रलयं मृत्युं याति प्राप्नोति देहाभिमानी जीवः तदोत्तमा ये हिरण्यगर्भादयस्तद्विदां तदुपासकानां लोकानां देवसुखोपभोगस्थानविशेषानमलान् रजस्तमोमलरहितान् प्रतिपद्यते प्राप्नोति ॥ १४ ॥

बोध होने पर भी उसमें सर्वथा प्रवृत्त्ययोग्यता प्रमाद जिससमय में जिस काम का करना आवश्यक है उस समय में उसका स्मरणाभाव मोह मूढता ज्ञातव्य का अविवेक निद्रा अथवा विपरीत ज्ञान मोह है। दोनों चकार समुच्चयार्थक है। एवकार व्यभिचार वारणार्थक है। अर्थात् सत्त्वादि गुणोपचय होने पर ये चिह्न नहीं होते किन्तु 'तमस्येव प्रवृद्धे' तमोगुण के बढ़ने पर उक्त कार्य होते हैं । हे कुरुनन्दन ! अतः इन अव्यभिचारि लिङ्गों से बढ़े तम को जानते हैं ॥ १३ ॥

इस समय मरणकाल में प्रवृद्ध (बढ़े) सत्त्वादि का फल विशेष कहते हैं दो श्लोकों से - उनमें सत्त्वगुण के बढ़ने से जो फल होता है उसको कहते हैं। जिस समय सत्त्वगुण का उद्रेक (वृद्धि) हो उस समय जीव यदि मरता है तो उत्तम विद्वान् महत्तत्व हिरण्यगर्भादि तत्त्वविद् (तदुपासकों) के जो देवताओं के सुखभोगयोग्य स्थानविशेष रजोगुण तमोगुणरूप तत्त्व से शून्य लोक उसको पाता है ॥ १४ ॥

रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते ।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते ॥ १५ ॥
कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम् ।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम् ॥ १६ ॥

और रजोगुणके बढ़नेपर, अर्थात् जिस कालमें रजोगुण बढ़ता है उसकालमें मृत्युको प्राप्त होकर, कर्मोंकी आसक्तिवाले मनुष्योंमें उत्पन्न होता होता है, तथा तमोगुणके बढ़ने पर मरा हुआ पुरुष कीट, पशु आदि मूढ़ योनियोंमें उत्पन्न होता है ॥ १५ ॥

क्योंकि सात्त्विक कर्मका तो सात्त्विक अर्थात् सुख, ज्ञान और वैराग्यादि निर्मल फल कहा है और राजस कर्मका फल दुखः एवं तामस कर्मका फल अज्ञान कहा है ॥ १६ ॥

म० टी०—रजसि प्रवृद्धे सति प्रलयं गत्वा प्राप्य कर्मसङ्गिषु श्रुति स्मृतिविहितप्रतिषिद्धकर्मफलाधिकारिषु मनुष्येषु जायते तथा तद्वदेव तमसि प्रवृद्धे प्रलीनो मूढयोनिषु जायते ॥ १५ ॥

म० टी०—इदानीं स्वानुरूप कर्मद्वारा सत्त्वादीनां विचित्रफलतां सक्षिप्याह—कर्मण इति । सुकृतस्य सात्त्विकस्य कर्मणो धर्मस्य सात्त्विकं सत्त्वेन निर्वृत्तं रजस्तमोमलामिश्रितं सुखं फलमाहुः परमर्षयः, रजसो राजस्य तु कर्मणः पापमिश्रस्य फलं राजसं दुःखं दुःखबहुलमल्पसुखं कारणानुरूप्यात्कार्य-

---

रजो वृद्धि का फल कहते हैं—रजोगुण की वृद्धि काल में देही मर कर कर्म में आसक्त सदा कर्मपरायण श्रुति स्मृति से विहित एवं प्रतिषिद्ध जो कर्मफल तदधिकारी मनुष्यों में होता है। उसी प्रकार तमोगुण की बाढ़ में मृत पुरुष मूढ़योनि पशुपक्ष्यादि योनि में उत्पन्न होता है ॥ १५ ॥

इस काल में अपने अनुकूल कर्मद्वारा सत्त्वादि गुणों का संक्षेप से विचित्र फल कहते हैं—सात्त्विककर्म धर्म का सत्त्व से निष्पन्न निर्मल रजस्तमोरूप जो तत्त्व उसमे अमिलित सुख फल महर्षियों ने कहा है—राजस कर्म जो पाप से मिला हुआ पुण्य है उसका फल राजस दुःख दुःखप्रचुर

सत्त्वात्संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च ।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च ॥ १७ ॥

तथा सत्त्वगुणसे ज्ञान उत्पन्न होता है और रजोगुणसे निःसन्देह लोभ उत्पन्न होता है तथा तमोगुणसे प्रमाद और मोह उत्पन्न होते हैं और अज्ञान भी होता है ॥ १७ ॥

स्य अज्ञानमविवेकप्रायं दुःखं तामसं तमसस्तामसस्य कर्मणोऽधर्मस्य फलम् 'आहुः' इत्यनुपज्यते । सात्त्विकादिकर्मलक्षणं च 'नियतं सङ्गरहितम्' इत्यादिनाऽष्टादशे वक्ष्यति । अत्र रजस्तमःशब्दौ तत्कार्ये कर्मणि प्रयुक्तौ कार्यकरणयोरभेदोपचारात् । 'गोभिः श्रृणोतम त्सरम्' इत्यत्र यथा गोशब्दस्तत्प्रभवे पयसि यथा वा 'धान्यमसि धिनुहि देवान्' इत्यत्र धान्यशब्दस्तत्प्रभवे तण्डुले, तत्र पयस्तण्डुलयोरिवात्रापि कर्मणः प्रकृतत्वात् ॥ १६ ॥

म० टी०—एतादृशफलवैचित्र्ये पूर्वोक्तमेव हेतुमाह—सर्वकारणद्वारकं प्रकाशरूपं ज्ञानं सत्त्वात्संजायते अतस्तदनुरूपं सात्त्विकस्य कर्मणः प्रकाश-

अल्पसुख क्योंकि कारण के समान ही कार्य होता है अज्ञान अविवेक ने दुःख तामस तामस कर्म अधर्म का फल कहा है, इसका यहाँ भी संबन्ध है । सात्त्वादि कर्म का लक्षण नियतं संग रहितम्' इत्यादि से वारहवें अध्याय में कहेंगे । यहाँ पर रजस्तमः शब्द रजस्तमः कार्य में प्रयुक्त हुआ है, क्योंकि कार्य कारण में अभेदोपचार मृद्घट इत्यादि व्यवहार से पाया जाता है। इसमें वैदिक उदाहरण देते हैं—'गोभिः श्रृणीत मत्सरम्' इति । यहाँ गो शब्द का तत्कार्य दुग्ध बोधतात्पर्य से प्रयोग हुआ है गो दुग्ध से मत्सर पकाओ, एवं 'धान्यमसि धिनुहि देवान्' यहाँ पर भी धान्यशब्द तदुत्पन्न तण्डुल परक है। पय से मत्सर का पाक होता है गौ से नहीं जैसे वहाँ दुग्ध तण्डुल प्रकरण प्राप्त है वैसे यहाँ कर्म भी प्रकृत है ॥ १६ ॥

एतादृश फलवैचित्र्य में पूर्वोक्त ही हेतु कहते हैं—सब करणों (इन्द्रियों) से उत्पन्न प्रकाशरूप जो ज्ञान सत्त्वगुण से होता है, इस कारण तदनुसारी

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः ।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः ॥ १८ ॥

इसलिए सत्त्वगुणमें स्थित हुए पुरुष, स्वर्गादि उच्च लोकोंको जाते हैं और रजोगुणमें स्थित राजस पुरुष, मध्यमें अर्थात् मनुष्यलोकमें ही रहते हैं। एवं तमोगुणके कार्यरूप निद्रा, प्रमाद और आलस्यादिसे स्थित हुए तामस पुरुष, अधोगतिको अर्थात् कीट, पशु आदि नीच योनियोंको प्राप्त होते हैं॥ १८॥

बहुलं सुखं फलं भवति रजसो लोभो विषयकोटिप्राप्त्याऽपि निवर्तयितुमशक्योऽभिलाषविशेषो जायते तस्य च निरन्तरमुपचीयमानस्य पूरयितुमशक्यस्य सर्वदा दुःखहेतुत्वात्तत्पूर्वकस्य राजसस्य कर्मणो दुःखं फलं भवति। एवं प्रमादमोहौ तमसः सकाशाद्भवतो जायेते अज्ञानमेव च भवति। एवकारः प्रकाशप्रवृत्तिव्यावृत्त्यर्थः, अतस्तामसस्य कर्मणस्तामसमज्ञानादिप्रायमेव फलं भवतीति युक्तमेवेत्यर्थः। अत्र चाज्ञानमप्रकाशः प्रमादो मोहश्च 'अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च' इत्यत्र व्याख्यातौ ॥ १७ ॥

म० टी०—इदानीं सत्त्वादिवृत्तस्थानां प्रागुक्तमेव फलमूर्ध्वमध्याधोभावेनाह—ऊर्ध्वमिति। अत्र तृतीये गुणे वृत्तमेव विविक्षितम्, तेन सत्त्वस्थाः

सात्त्विक कर्म का फल प्रचुर प्रकाश सुख होता हैं। रजोगुण का लोभ करोड़ विषय प्राप्ति से भी निवृत्ति करने के अयोग्य अभिलाष विशेष होता है वह सतत बढ़ता है पूर करने के योग्य नहीं अतएव सदा दुःख हेतु होने से तत्पूर्वक राजस कर्म का दुःख फल होता है। इसी प्रकार प्रमाद मोह से तम से ही उत्पन्न होते हैं अज्ञान ही होता है। एवकार सात्त्विक प्रकाश राजसप्रवृत्ति की व्यावृत्ति के लिए है. अतः तामस कर्म का तामस ज्ञानादि ही पुण्य फल है यह उचित ही है। यहाँ अज्ञान प्रकाशाभाव प्रमाद और मोह 'अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च' यहाँ पर व्याख्यान हो चुके हैं॥ १७॥

इस समय सत्त्वादि स्वभावशीलों का पूर्वोक्त ही फल ऊपर मध्य अधोभाव से कहते हैं—यहाँ पर तीसरे गुण में वृत्त शब्द का प्रयोग देखने से प्रथम सत्त्व, द्वितीय रज से भी वृत्त विवक्षित है इससे सत्त्वाऽवस्था का सत्त्व-

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टाऽनुपश्यति ।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ॥ १९ ॥

और हे अर्जुन! जिस कालमें द्रष्टा, अर्थात समष्टि चेतनमें एकीभावसे स्थित हुआ साक्षी पुरुष तीनों गुणोंके सिवाय अन्य किसीको कर्ता नहीं देखता है अर्थात् गुणोंमें वर्तते हैं ऐसा देखता है और तीनों गुणोंसे अति परे सच्चिदानन्दघनस्वरूप मुझ परमात्माको तत्त्वसे जानता है, उस कालमें वह पुरुष, मेरे स्वरूपको प्राप्त होता है ॥ १९ ॥

सत्त्ववृत्ते शास्त्रीये ज्ञाने कर्मणि च निरता ऊर्ध्वं सत्यलोकपर्यन्तं गच्छन्ति ते देवेषूत्पद्यन्ते ज्ञानकर्मतारतम्येन तेषां मध्ये मनुष्यलोके पुण्यपापमिश्रे तिष्ठन्ति न तूर्ध्वं गच्छन्त्यधो वा मनुष्येषूत्पद्यन्ते । राजसा रजोगुणवृत्ते लोभादिपूर्वके राजसे कर्मणि निरताः जघन्यगुणवृत्तस्थाः जघनस्य गुणद्वयापेक्षया पश्चाद्भाविनो निकृष्टस्य तमसो गुणस्य वृत्ते निद्रालस्यादौ स्थिताः अधो गच्छन्ति पश्वादिषूत्पद्यन्ते । ननु कदाचिज्जघन्यगुणवृत्तस्था सात्त्विकराजसाश्च भवन्त्यत आह—तामसाः सर्वदा तमःप्रधाना इतः तेषां कदाचित्तद्वृत्तस्थत्वेऽपि न तत्प्रधानतेति ॥ १८ ॥

वृत्तस्था अर्थ ठीक है सत्त्व वृत्तशास्त्रीय ज्ञान और कर्म है। तथा च उक्त वृत्त में जो सदा रत है उद्धर्व सत्यलोक तक देवलोक में जाते हैं ज्ञान कर्म के तारतम्य उत्कर्ष निकर्ष से वे दोनों में उत्पन्न होते हैं। उसी प्रकार राजस रजोगुण वृत्तस्थ पुण्य पाप मिश्रित मध्यलोक मनुष्य लोक में जाते, न उर्द्ध देवलोकादि में जाते हैं और न अधः पश्चादि योनि में जाते हैं। किन्तु मनुष्यों में उत्पन्न होते हैं। राजस रजोगुण वृत्त लोभादि युक्त राजस कर्म में निरत है जघन्य सत्त्वरज की अपेक्षा अनन्तरोक्त निकृष्ट तमोगुण के वृत्त निद्रा आलस्य आदि में स्थित जो है वे अधः नीचे पश्वादि योनि में उत्पन्न होते हैं। किसी समय सात्त्वि के राजस भी जघन्य गुण वृत्तस्थ होते हैं पर वे पश्वादि योनि में नहीं होते अतः उनकी व्यावृत्ति के लिए 'तामसा' यह विशेषण है। अर्थात् सदा तमःप्रधान जो है वे पश्वादि योनि में उत्पन्न होते हैं किसी समय जो तमःप्रधान है सदा नहीं वो निकृष्ट योनि में नहीं उत्पन्न होते क्योंकि वे सदा तमः प्रधान नहीं है यह अभिप्राय है ॥ १८ ॥

म०टी०–अस्मिन्नध्याये वक्तव्यत्वेन प्रस्तुतमर्थत्रयम्, तत्र क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगस्येश्वराधीनत्वं के वा गुणाः कथं वा ते बध्नन्तीत्यर्थद्वयमुक्तम्, अधुना तु गुणेभ्यः कथं मोक्षणं मुक्तस्य च किं लक्षणमिति वक्तव्यमवशिष्यते। तत्र मिथ्याज्ञानात्मकत्वाद् गुणानां सम्यक् ज्ञानात्तेभ्यो मोक्षणमित्याह–गुणेभ्यः। कार्यकारणविषयाकारणपरिणतेभ्योऽन्यं कर्तारं यदा द्रष्टा विचारकुशलः सन्ननुपश्यसि विचारमनुपश्यति गुणा एवान्तःकरणबहिःकरणशरीरविषयभावपन्नाः सर्वकर्मणां कर्तार इति पश्यति गुणेभ्यश्च तत्तदवस्थाविशेषेण परिणतेभ्यः परं गुणतत्कार्यसंस्पृष्टं तद्भासकमादित्यमिव जलतत्कम्पाद्यसंस्पृष्टं निर्विकारं सर्वत्र समं क्षेत्रज्ञमेकं वेत्ति मद्भावं मद्रूपतां स द्रष्टाऽधिगच्छति ॥ १९ ॥

इस अध्याय में कहने के लिए तीन अर्थ प्रस्तुत हुए हैं उनमें क्षेत्रक्षेत्रज्ञ इन दोनों में ईश्वराधीनत्व कौन गुण है कैसे ये बाँधते हैं उक्त में ईश्वरधीनत्व और गुण कौन है कैसे बाँधते हैं ये दोनों कह चुके हैं। अब गुणों से कैसे छुटकारा मिलता है ? मुक्त का क्या लक्षण है। यह कहना बाकी है उन मे मिथ्याज्ञान स्वरूपगुण है समीचीन ज्ञान से मुक्ति होती है यह कहते है–गुणेभ्यः इत्यादि से। कार्य शरीरादि इन्द्रिय विषय भाग्यवस्तुजात इन तीनों आकारों से परिणत ये तीन हैं, इनसे भिन्न द्रष्टा विचार निपुण होकर जब देखता हैं विचार के अनन्तर नहीं देखता किन्तु गुण ही अन्तः करण के समान बाह्यकरण शरीर विषय स्वरूप प्राप्त कर गुण ही करता है यह देखता है। तत्तदवस्था शरीराद्यवस्था परिणतों से पर गुण तत्कार्य जड़वर्ग से असम्बद्ध (अछूत) किन्तु आदित्य के समान उनका प्रकाशन जलस्तदीय कंपादि से असंवद्ध सब विकारों से सहित सबका साक्षी सब में सम एक रस क्षेत्रज्ञ को जानता है वह द्रष्टा मद्भाव मेरी स्वरूपता को प्राप्त करता है मुक्त होता है ॥ १६ ॥

गुणानेतानतीत्य त्रीन् देही देहसमुद्भवान् ।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ॥ २० ॥

अर्जुन उवाच

कैर्लिङ्गैस्त्रीन् गुणानेतानतीतो भवति प्रभो ।
किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन् गुणानतिवर्तते ॥ २१ ॥

तथा यह पुरुष, यह इन स्थूल शरीरकी उत्पत्तिके कारणरूप, तीनों गुणोंको उलङ्घन करके जन्म, मृत्यु, वृद्धावस्था और सब प्रकारके दुःखोंसे युक्त मृत्यु, वृद्धावस्था और सब प्रकारके दुःखोंसे मुक्त हुआ, परमानन्दको प्राप्त होता है ॥ २० ॥

इस प्रकार भगवान्‌के रहस्ययुक्त वचनोंको सुनकर अर्जुनने पूछा कि, हे पुरुषोत्तम ! इन तीनों गुणोंसे अतीत हुआ पुरुष किन किन लक्षणों से युक्त होता है ? और किस आचरोंवाला होता है ? तथा हे प्रभो ! मनुष्य किस उपायसे इन तीनों गुणोंसे अतीत होता है ? ॥ २१ ॥

म० टी०—कथमधिगच्छतीत्युच्यते—गुणानेतान् मायात्मकांस्त्रीन् सत्त्वरजस्तमोनाम्नः देहसमुद्भवान् देहोत्पत्तिबीजभूतान् अतीत्य जीवन्नेव तत्त्वज्ञानेन बाधित्वा जन्ममृत्युजरादुःखैर्जन्मना मृत्युना जरया दुःखैश्चाध्यात्मिकादिभिर्मायामयैर्विमुक्तो जीवन्नेव तत्संबन्धशून्यः सन् विद्वान् अमृतं मोक्षं मद्भावमश्नुते प्राप्नोति ॥ २० ॥

कैसे प्राप्त करता है यह कहते हैं—ये मायिक सत्त्वरज तम एतन्नामक जो तीनों गुण हैं ये शरीरोत्पत्ति के बीज निदान हैं, जीता हुआ विद्वान् देही उक्त इन तीनों गुणों का अतिक्रमण कर जन्म मृत्यु जरा दुःखों से युक्त होता है। जन्म मृत्यु जरा के दुःखों से मुक्त होता है यह किसी को अर्थ प्रतीत न हो इसलिए 'जन्म च मृत्युश्च' इत्यादि इतरेतरद्वन्द्व समास का निर्देश है। जरान्त का दुःख के साथ षष्ठीतत्पुरुष नहीं है, क्योंकि षष्ठीतत्पुरुष मानने से जन्मादि के दुःखों से युक्त होता है इतने ही अर्थ का लाभ होगा, आध्यात्मिक आधिभौतिक आधिदैविक दुःखों का संग्रह न होगा इसलिए द्वन्द्वसमास का निर्देश किया है। उक्त सब मायामय है वास्तविक नहीं इनका आत्मतत्त्व ज्ञान से बाँधकर अन्त में देहपातोत्तर मद्भाव मोक्ष पाता है ॥ २० ॥

श्रीभगवानुवाच

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव !।
नद्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति।

इस प्रकार अर्जुनके पूछनेपर श्रीकृष्ण भगवान् बोले, हे अर्जुन! जो पुरुष सत्त्वगुणके कार्यरूप प्रकाशको और रजोगुणके कार्यरूप प्रवृत्तिको तथा तमोगुणके कार्यरूप मोहको भी न तो प्रवृत्त होनेपर बुरा समझता है और न निवृत्त होनेपर उनकी आकांक्षा करता है॥ २२॥

म० टी०--गुणानेतानतीत्य जीवन्नेवामृतमश्नुत इत्येतच्छ्रुत्वा गुणातीतस्य लक्षणं चाचारं च गुणातीतत्वोपायं च सम्यग्बुभुत्समानः एतान् गुणानतीतो यः स कैर्लिङ्गैर्विशिष्टो भवति यैर्लिङ्गैः स ज्ञातुं शक्यस्तानि मे ब्रूहीत्येकः प्रश्नः, प्रभुत्वाद्भवन्त्यदुःखं भगवतैव निवारणीयमिति सूचयन् संबोधयति 'प्रभो' इति। क आचारोऽस्येति किमाचारः किं वा नियन्त्रित इति द्वितीयः प्रश्नः, कथं च केन च प्रकारेण एतांस्त्रीन् गुणानतिवर्ततेऽतिक्रमतीति गुणातीतत्वोपायः क इति तृतीयः प्रश्नः॥ २१॥

'गुणानेतानतीत्य जीवन्नेवअमृतत्व मश्नुते' यह सुनकर गुणातीत का लक्षण आचरण गुणातीतत्व का उपाय इनके पर्यायज्ञानेच्छावान् अर्जुन बोले--इन गुणों से परे जो है वह किन चिह्नों से युक्त होता है अर्थात् किन चिह्नों से जाना जा सकता है यह मुझसे कहिये यह एक प्रश्न है। प्रभु मृत्यु के दुःख को भगवान् ही दूर करते हैं यह सूचित करते हुए 'प्रभो' यह सम्बोधन देते हैं। किमाचार में बहुव्रीहि समास को स्फुट करते हैं—'क आचारोऽस्य' इत्यादि मनमानी चेष्टा करता है ? अथवा नियत चेष्टावान् होता है यह दूसरा प्रश्न है, किस प्रकार से इन तीनों गुणों का का अतिक्रमण करता है गुणातीतत्त्व का उपाय कौन है यह तीसरा प्रश्न है॥ २१॥

म० टी०--'स्थितप्रज्ञस्य का भाषा' इत्यादिना पृष्टमपि 'प्रजहाति यदा कामान्' इत्यदिना दत्तोत्तरमपि पुनः प्रकारान्तरेण बुभुत्समानः पृच्छतीत्यवधाय प्रकारान्तरेण तस्य लक्षणादिकं पञ्चभिः श्लोकैः यस्तावत् कैर्लिङ्गैःयुक्तो गुणातीतो भवतीति प्रश्नस्योत्तरं शृणु--प्रकाशं च सत्त्वकार्यं प्रवृत्तिं च रजः कार्यं मोहं च तमः कार्यम्, उपलक्षणमेतत् सर्वाण्यपि गुणकार्याणि यथायथं संप्रवृत्तानि स्वसामग्रीवशादुद्भूतानि सन्ति दुःखरूपाण्यपि दुःखबुद्ध्या यो न द्वेष्टि तथा विनाशसामग्रीवशान्निवृत्तानि तानि सुखरूपाण्यपि सन्ति सुखबुद्ध्या न काङ्क्षति न कामयते स्वप्नवन्मिथ्यात्वनिश्चयात्, एतादृशद्वेषरागशून्यो यः स गुणातीत उच्यत इति चतुर्थश्लोकगतेनान्वयः। इदं च स्वात्मप्रत्यक्षं लक्षणं स्वार्थमेव न परार्थं न हि स्वाश्रितौ द्वेषतदभावौ च परः प्रत्येतुमर्हति ॥ २२ ॥

'स्थितप्रज्ञस्य का भाषा' इत्यादि से पृष्ट और 'प्रजहाति यदा कामान्' इत्यादि से कृतसमाधान भी फिर प्रकारान्तर से जिज्ञासु अर्जुन है यह जानकर प्रकारान्तर से उसके लक्षणादि को पाँच श्लोकों से भी भगवान् कहते हैं--प्रथम गुणातीत किन चिह्नों से युक्त होता है ? इस प्रथम प्रश्न का उत्तर सुनो—प्रकाश सत्त्वगुण का कार्य प्रवृत्ति, रजोगुण कार्य मोह, तमोगुण कार्य प्रकाशादि, उपलक्षण है—सब गुण कार्य जैसे जैसे से प्रवृत्त हैं हो रहे हैं और अपनी अपनी कारण सामग्री से उत्पन्न है दुःखरूप भी है तो भी दुःखदृष्टि से जो द्वेष नहीं करता तथा विनाशसामग्री से निवृत्त सुखरूप भी सुखदृष्टि से जो न चाहे, क्योंकि स्वाप्निक के समान उनमें मिथ्यात्व का निश्चय है ऐसा राग द्वेष रहित जो है वह गुणातीत कहा जाता है यह चौथे श्लोक में 'गुणातीतः स उच्यते' से कहे हैं उसके साथ अन्वय है। यह स्वात्मप्रत्यक्ष लक्षण स्वार्थ है दूसरों के लिए नहीं। लक्षण दो प्रकार के होते हैं—एक स्वार्थ, दूसरा परार्थ। स्वानुभवैकगम्य स्वार्थ है, भूख पियास लगने पर खाना पीना हितकर है ये अपने में अपने ही से ज्ञात होते हैं दूसरे से साक्षात् नहीं। पदार्थ गन्धवती पृथिवी यहाँ गन्ध पदार्थ भी है क्योंकि उसका प्रत्यक्ष सबको होता है यहाँ राग द्वेष आत्मगत है अतः आत्ममानस प्रत्यक्ष से जाने जाते हैं। तदभाव भी 'ये न इन्द्रि-

उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते ।
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते ॥ २३ ॥

तथा जो साक्षीके सदृश स्थित हुआ गुणों द्वारा विचलित नहीं किया जा सकता है और गुण ही गुणोंमें वर्तते हैं ऐसा समझता हुआ जो सच्चिदानन्दघन परमात्मामें एकीभावसे स्थित रहता है एवं उस स्थितसे चलायमान नहीं होता है ॥ २३ ॥

म० टी०——एवं लक्षणमुक्त्वा गुणातीतः किमाचार इति द्वितीयप्रश्नस्य प्रतिवचनमाह त्रिभिः——उदासीनमिति । यथोदासीनो द्वयोर्विवदमानयोः कस्यचित् पक्षमभजमानो न रज्यति न वा द्वेष्टि तथायमात्मविद्रागद्वेष-शून्यतया स्वस्वरूप एवासीनो गुणैः सुखदुःखाद्याकारपरिणतैर्यो न विचाल्यते न प्रच्याव्यते स्वरूपावस्थानात् किंतु गुणा एवैते देहेन्द्रियविषयाकार-परिणताः परस्परस्मिन् वर्तते । ममत्वादित्यस्यैवेतत् सर्वभासकस्य न केनाऽपि भाष्यधर्मेण संबन्धः स्वप्नवन्मायामात्रश्चायं भास्यप्रश्चो जडः स्वयं ज्योतिः-

येण यस्य प्रत्यक्षं तेन तदभावप्रत्यक्षम्' इस न्याय से स्वगतरागाद्यभाव स्वमानसगम्य है दूसरा अन्यदीयरागाद्यभाव का प्रत्यक्ष नहीं कर सकता ॥ २२ ॥

इस प्रकार लक्षण कह कर गुणातीत कीदृश व्यवहारवान् है इस द्वितीय प्रश्न का प्रत्युत्तर उदासीनेत्यादि तीन श्लोकों से देते हैं—जैसे किसी दो को आपस में विवाद करने पर उदासीन (पुरुष) किसी के पक्ष को आश्रयण नहीं करता हुआ न राग करता है अथवा न द्वेष करता है, उसी प्रकार आत्मवित् रागद्वेषशून्य होने के कारण स्वस्वरूप में ही रह कर सुखदुःखाद्याकार-परिणत गुण से जो विचलित (प्रच्युत) नहीं होता है स्वरूपावस्थान होने से किन्तु ये गुण ही देहेन्द्रिय विषयाकार परिणत हो कर परस्पर उसमें रहते हैं। 'ममत्वात' इसके समान इस सर्वभासक का किसी भी भास्यधर्म के साथ सम्बन्ध नहीं है, स्वप्न के समान मायामात्र यह विश्वप्रपंच जड़ है, स्वयं ज्योतिः स्वभाव मैं तो परमार्थ सत्य निर्विकार द्वैतशून्य हूँ ऐसा निश्चय कर जो स्वरूप में अवस्थित रहता है कहीं पर भी विचलित नहीं होता है वह गुणातीत कहलाता है ।

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः ।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥ २४ ॥

और जो निरन्तर आत्मभावमें स्थित हुआ, दुःखसुखको समान समझनेवाला है तथा मिट्टी, पत्थर और सुवर्णमें समान भाववाला और धैर्यवान् है तथा जो प्रिय और अप्रियको बराबर समझता है और अपनी निन्दा-स्तुतिमें भी समान भाववाला है ॥ २४ ॥

स्वभावतस्त्वहं परमार्थसत्यो निर्विकारो द्वैतशून्यश्चेत्येवं निश्चित्य यः स्वरूपेऽवतिष्ठत्यवतिष्ठते। 'यो नु तिष्ठति' इति वा पाठस्तत्र नुः पृथक्कार्यः, नेङ्गते न तु व्याप्रियते कुत्रचित् 'गुणातीतः स उच्यत' इति तृतीयगतेनान्वयः ॥२३॥

म० टी०—समे दुःखसुखे द्वेषरागशून्यतयानात्मधर्मतयाऽनृततया च यस्य स समदुःखसुखः। कस्मात् स्वस्थः? स्वस्मिन्नात्मन्येव स्थितो द्वैतदर्शन-

'यो नु तिष्ठति' ऐसा यदि पाठ है तो नु को अलग कर देना, तिष्ठति के साथ स्वयं का ही संबन्ध ईप्सित है नु का वही नु के संबन्ध काटने पर अनुष्ठान की प्रतीत होती है वह शरीरादि साध्य है। 'नेङ्गते' से यहाँ उसका प्रतिषेध अतः नु को पृथक् करना ही ठीक है। पाठान्तर मानने का भाव यह है कि 'समवप्रविभ्यस्थः' इस भगवान् श्री पाणिनि आचार्य के सूत्र से अवपूर्वक 'स्था' धातु से आत्मनेपद का विधान है अतः 'अवतिष्ठते' यह पाठ शुद्ध है परन्तु ऐसा करने पर छन्दो भंग दोष होगा। अनुष्टुम् छन्द में पाँचवाँ अक्षर लघु रहता है यह नियम है छन्दोभंग दोष सर्वसाधारण को प्रतीत होता है आत्मनेपद होना चाहिये यह भान अभ्यासशील वैयाकरण को ही होगा इस हेतु छन्दोभंग भय से परस्मैपद का ही प्रयोग किया है 'नेङ्गते' जो किसी में व्यापार नहीं करता वह गुणातीत कहा जाता है 'गुणातीतः स उच्यते' इस द्वितीय श्लोक गत चतुर्थ चरण के साथ संबन्ध है॥ २३ ॥

'समदुःखसुख' में विग्रह दिखलाते हैं—'सम' से। द्वेष राग शून्य होने से आत्म धर्म न होने से एवं असत्य होने से तुल्य है दुःख सुख जिसका वह 'समदुःखसुख' कहलाता है।

प्रश्न—स्वस्थ कैसे ?

मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥ २५ ॥

तथा जो मान और अपमानमें सम है, एवं मित्र और वैरीके पक्षमें भी सम है, वह सम्पूर्ण आरम्भोंमें कर्तापनके अभिमानसे रहित हुआ पुरुष, गुणातीत कहा जाता है ॥ २५ ॥

शून्यत्वात् अतएव समानि हेयोपादेयभावरहितानि लोष्ठाश्मकाञ्चनानि यस्य स तथा, लोष्ठः पांसुपिण्डः, अतएव तुल्ये प्रियाप्रिये सुखदुःखसाधने यस्य हितसाधनत्वाहितसाधनत्वबुद्धिविषयत्वात् धीरः धीमान् धृतिमान् वा अतएव तुल्ये निन्दात्मसंस्तुती दोषकीर्तने यस्य स गुणातीत उच्यत इति द्वितीयगतेनान्वयः ॥ २४ ॥

म० टी०—मानः सत्कारः आदरापरपर्यायः अपमानस्तिरस्कारोऽनादरापरपर्यायः तयोस्तुल्यः हर्षविषादशून्यः निन्दास्तुती शब्दरूपे मानापमानौ तु तु शब्दमन्तरेणापि कायमनोव्यापारविशेषाविति भेदः। अत्र पकारवकारयोः

उत्तर—यतः द्वैत दर्शन न होने से अपने में ही स्थित है। अतएव हेयोपादेयरहित है। लोष्ठ-लोहा, अश्म पत्थर, काञ्चन सोना, जिसका वह 'समलोष्ठाश्मकाञ्चन' कहलाता है। लोष्ठ पांसुपिण्ड, अतएव बराबर है प्रियाप्रिय-सुख दुःख साधन जिसका वह; हितसाधनत्व अहितसाधनत्व बुद्धिविषय होने से धीर बुद्धिमान् अथवा धैर्यवान् है अतएव तुल्य हैं निदात्म संस्तुती दोषकीर्त्तन जिसका वह गुणातीत कहलाता है यह 'गुणातीतः स उच्यते, इस द्वितीय श्लोक के साथ सम्बन्ध है॥ २४॥

मान सम्मान इसका दूसरा पर्याय सत्कार है अपमान तिरस्कार मानापमान लोक में प्रसिद्ध इन दोनों में तुल्य, मान में हर्ष नहीं अपमान में विषाद न हो निन्दा स्तुति ये दोनों शब्दात्मक हैं। प्रशंसा वाक्य स्तुति है कुत्सा वाक्य निन्दा है, मान अपमान शब्द के बिना भी काय मन के व्यापार से भी होते हैं वाग् व्यापार से मानापमान स्तुति निन्दा ही में अन्तर्भूत हो जाते हैं। इसलिए वाग् व्यापार न कहकर शरीर मन व्यापार कहा, शब्दात्मक क्रियात्मक भेद से दोनों भिन्न हैं। अपमान अवमान जो पाठ भेद हो पर अर्थ एक ही है।

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।
स गुणान्समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ २६ ॥

और जो पुरुष अव्यभिचारी भक्तिरूप योगके द्वारा, मेरेको निरन्तर भजता है, भजता है, वह इन तीनों गुणोंको अच्छी प्रकार उल्लङ्घन करके, सच्चिदानन्दघन ब्रह्ममें एकीभाव होनेके लिये, योग्य होता है ॥ २६ ॥

पाठविकल्पेऽप्यर्थः । स एव तुल्यो मित्रारिपक्षयोः मित्रपक्षस्येवारिपक्षस्यापि द्वेषाविषयः स्वयं तयोरनुग्रहनिग्रहशून्य इति वा सर्वारम्भपरित्यागी, आरभ्यन्त इत्यारम्भाः कर्माणि तान् सर्वान् परित्यक्तुं शीलं यस्य स तथा देहयात्रामात्रव्यतिरेकेण सर्वकर्मपरित्यागीत्यर्थः, उदासीनवदासीन इत्याद्युक्तप्रकाराचारो गुणातीतः स उच्यते । यदुक्तमुपेक्षकत्वादि तद्विद्योदयात्पूर्वं यत्नसाध्यविद्याधिकारिणा साधनत्वेनानुष्ठेयमुत्पन्नायां तु विद्यायां जीवन्मुक्तस्य गुणातीतस्योक्तं धर्मजातमयत्नसिद्धं लक्षणत्वेन तिष्ठतीत्यर्थः ॥ २५ ॥

पकार वकार भेद से अर्थ भेद नहीं मित्र वर्ग के द्वेष का जैसे अविषय अभूमि है वैसे शत्रु पक्ष के इनका विषय न हो दोनों के उपकार दण्ड से शून्य, आरंभ शब्द कर्मपरक है, इसको व्युत्पत्ति से दिखलाते हैं—'आरभ्यन्त' इत्यादि से। सब कर्म नित्यनैमित्तिक काम्य विहितप्रतिषिद्धों का परित्यागी शरीरमात्रा जीवन निर्वाह मात्र के अतिरिक्त जो कर्म है उन सब का त्यागी हो जीवनोपयोगी कर्मों को करना अदृष्ट बल से प्राप्त है उसका त्याग नहीं हो सकता। उदासीन के समान स्थिर रहे इत्यादि प्रकार का जिसका आचरण है वह गुणातीत कहा जाता है। जो उपेक्षकत्वादि कहा है वह ज्ञानोत्पत्ति से पूर्व प्रयत्न साध्य है। अतः विद्याधिकारों को विद्योत्पत्ति हेतु जान कर परिश्रम से इनका अनुष्ठान करना चाहिये अन्यथा विद्योत्पत्ति ही न होगी विद्या उत्पन्न होने पर जीवन्मुक्त गुणातीत का उक्त धर्म समुदाय श्रम के विना स्वतः सिद्ध लक्षण रूप से रहते हैं यह अर्थ है ॥ २५ ॥

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाऽहममृतस्याव्ययस्य च ।
शाश्वतस्य धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥ २७ ॥

तथा हे अर्जुन ! उस अविनाशी परब्रह्मका और अमृतका तथा नित्यधर्मका और अखण्ड एकरस आनन्दका, मैं ही आश्रय हूँ अर्थात् उपरोक्त ब्रह्म, अमृत, अव्यय और शाश्वतधर्म तथा ऐकान्तिक सुख यह सब मेरे ही नाम हैं, इसलिये इनका मैं पर आश्रय हूँ ॥ २७ ॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसम्वादे गुणत्रय-
विभागयोगो नाम चतुर्दशो-
ऽध्यायः ॥ १४ ॥

अधुना कथमेतान् गुणानतिवर्तते इति तृतीयप्रश्नस्य प्रतिवचनमाह—मामिति। च स्त्वर्थः, मामेवेश्वरं नारायणं सर्वभूतान्तर्यामिणं मायया क्षेत्रज्ञता-मागतं परमानन्दघनं भगवन्तं वासुदेवमव्यभिचारेण परमप्रेमलक्षणेन भक्ति-योगेन द्वादशाध्यायोक्तेनं यः सेवते सदा चिन्तयति स मद्भक्तः एतान् प्रागुक्तान् गुणान् समतीत्य सम्यगतिक्रम्याद्वैतदर्शनेन बाधित्वा ब्रह्मभूयाय ब्रह्मभवनाय मोक्षाय कल्पते समर्थो भवति सर्वदा भगवच्चिन्तनमेव गुणाती-तत्वोपाय इत्यर्थः ॥ २६ ॥

इस समय कैसे इन गुणों का लंघन करता है इस तृतीय प्रश्न का उत्तर कहते हैं—मां चेति से. जो साधक मुमुक्षु जन मुझ प्रत्यगात्मा परमानन्द घन भगवान् वासुदेव अव्यभिचरित अतिप्रेम लक्षण भक्तियोग से बारहवें अध्याय से जो प्रकार कहा गया है उस प्रकार से मेरी उपासना करता है सदा मेरा चिन्तन करता है वह मेरा भक्त इन गुणों का भली भाँति अति-क्रम कर द्वैतदर्शन को अद्वैतदर्शन से बाँधकर ब्रह्म भाव मोक्ष के पाने में समर्थ होता है, सदा भगवान् का चिन्तन ही गुणातीतत्व का उपाय है ॥ २६ ॥

म० टी०—अत्र हेतुमाह—ओमिति। ब्रह्मणस्तत्पदवाच्यस्य सोपाधिकस्य जगदुत्पत्तिस्थितिलयहेतोः प्रतिष्ठा पारमार्थिकं निर्विकल्पकं सच्चिदानन्दात्मकं निरुपाधिकं तत्पदलक्ष्यमहं निर्विकल्पको वासुदेवः। 'प्रतितिष्ठति' इति प्रतिष्ठाकल्पितरूपरहितमकल्पितम्, अतो यो मामनुपाधिकं ब्रह्म सेवते स ब्रह्मभूयाय कल्पत इति युक्तमेव। कीदृशस्य ब्रह्मणः प्रतिष्ठाऽहम् इत्याकाङ्क्षायां विशेषणानि—अमृतस्य विनाशरहितस्य अव्ययस्य विपरिणामरहितस्य च शाश्वतस्यापक्षयरहितस्य च धर्मस्य ज्ञाननिष्ठालक्षणधर्मप्राप्यस्य, सुखस्य विषयेन्द्रियसंयोगजत्वं वारयति—ऐकान्तिकस्याव्यभिचारिणः सर्वस्मिन् देशे काले च विद्यमानस्य ऐकान्तिकसुखरूपस्येत्यर्थः। एतादृशस्य ब्रह्मणो यस्मा

इसमें हेतु कहते हैं—ॐतत्सत् से। ये ब्रह्म के अतिप्रिय वाचक शब्द है। 'तत्त्वमसि' इत्यादि श्रुति में ब्रह्मबोध तात्पर्य से तच्छब्द का प्रयोग है तदनुसार तत्पदवाच्य सोपाधिक जो जगत् के जन्म स्थिति भंग का हेतु है उसकी प्रतिष्ठा पारमार्थिक निर्विकल्प सच्चिदानन्दात्मक मायाद्युपाधिशून्य अतएव तत्पद का लक्ष्यार्थ निर्विकल्पक वासुदेव मैं प्रतिष्ठा हूँ। प्रतिष्ठा का अर्थ स्फुट कहते हैं—कल्पित रूप से रहित अकल्पित स्वरूप अतः जो अनुपाधिक मुझ ब्रह्म की सेवा करता है वह मोक्ष पाने के लिए समर्थ होता है वह ठीक ही है। कीदृश ब्रह्म की मैं प्रतिष्ठा हूँ इस जिज्ञासा से कहते हैं—अमृत का विनाशशून्य का परिणाम रहित धर्म लक्षण व स्वरूप त्रिविध परिणामरहित का शाश्वत अपचयरहित का धर्म शब्द-ज्ञान-निष्ठालक्षण धर्म प्राप्य परक है कर्म काण्डोक्त धर्म परक यहाँ धर्म शब्द नहीं है अन्यथा स्वर्गादिवत् मोक्ष भी कर्म फल होने से अनित्य हो जायगा। परमानन्दस्वरूप का सुख विषयेन्द्रिय संयोग से जो वैषयिक सुख होता है उसकी व्यावृत्ति के लिए ऐकान्तिक कहा अव्यचारी। वैषयिक सुख व्यभिचारी होता है, गीष्म काल में चन्दन सुखद होता है शीत-काल में नहीं, शीत काल में सूर्यातप-धूप सुखद होता है ग्रीष्मकाल में नहीं, ब्रह्मसुख ऐसा नहीं जो कभी दुःखस्वरूप न हो व्यापक होने से सब देश काल

दहं वास्तवस्वरूपं तस्मात्मद्भक्तः संसारान्मुच्यत इति भावः। तथा चोक्तं ब्रह्मणा भगवन्तं श्रीकृष्णं प्रति—

'एकस्त्वमात्मा पुरुषः पुराणः सत्यः स्वयं ज्योतिरनन्त आद्यः।
नित्योऽक्षरोऽजस्रसुखो निरञ्जनः पूर्णोऽद्वयो मुक्त उपाधितोऽ मृतः ॥' इति।

सर्वोपाधिशून्य आत्मा ब्रह्म त्वमित्यर्थः। शुकेनाऽपि स्तुतिमतरेणैवोक्तम्—

'सर्वेषामेव वस्तूनां भावार्थो भवति स्थितः।
तस्याऽपि भगवान् कृष्णः किमतद्वस्तु रूप्यताम् ॥' इति।

सर्वेषामेव कार्यवस्तूनां भावार्थः सत्तारूपः परमार्थो भवति कार्याकारेण जायमाने

में रहता है ऐसे ब्रह्म का जिस कारण मैं वास्तविकस्वरूप हूँ उस कारण से मेरा भक्त मुक्त होता है यही बात ब्रह्मा ने भगवान् श्रीकृष्ण के प्रति कहा है—

'एकस्त्वमात्मा पुरुषः पुराणः सत्यः स्वयं ज्वयं ज्योतिरनन्त आद्यः।
नित्योऽक्षरोऽजस्रसुखो निरञ्जनः पूर्णोऽव्ययो मुक्त उपाधितोऽमृतः।' इति—

अखिलोपाधिरहित आत्मा ब्रह्म आप ही हैं यह उक्त श्लोक का तात्पर्यार्थ है। स्तुति के विना शुकदेव जी भी कहा है—स्तावक वाक्य का स्वार्थ प्रमाण नहीं होता अतः 'स्तुतिमन्तरेण' वास्तविकार्थ निरूपण परक है—

सर्वेषामेव वस्तूनां भावार्थो भवति स्थितः।
तस्याऽपि भगवान् कृष्णः किमतद्वस्तु रूप्यताम्। इति

अर्थ—सब वस्तुओं की सत्तारूप भावार्थ वस्तुतः कार्याकार से उत्पद्यमान सोपाधिक ब्रह्म में स्थित है क्योंकि कारण सत्ता से अतिरिक्त कार्य की सत्ता नहीं मानी जाती। तदनन्यत्वेत्यादि वेदान्तसूत्र से कारणातिरिक्त कार्य का अभाव कहा है यदि कार्य होता तो सत्ता भी मानी जाती, तत्तत्कार्याकार प्रतीयमान कारण की अवस्था ही कार्य है। आतान वितान विशेषणविशिष्ट तन्तु समुदाय ही यह है तदतिरिक्त नहीं इत्यादि विस्तार अन्यत्र देखिये

सोपाधिके ब्रह्मणि स्थितः कारणसत्तातिरिक्तायाः कार्यसत्ताया अनभ्युपगमात् तस्यापि भगवतः कारणस्य सोपाधिकस्य ब्रह्मणो भावार्थः सत्तारूपोऽर्थो भगवान् कृष्णः, सोपाधिकस्य निरुपाधिके कल्पितत्वात् कल्पितस्य चाधिष्ठानानतिरेकात् भगवतः कृष्णस्य च सर्वकल्पनाधिष्ठानत्वेन परमार्थसत्यनिरुपाधिब्रह्मरूपत्वात् अतः 'किमतद्वस्तु' तस्माच्छ्रीकृष्णादन्यद्वस्तु पारमार्थिकं किं निरूप्यतां तदेवैकं पारमार्थिकं नान्यत्किमपीत्यर्थः। तदेतदिहाऽप्युक्तम्—'ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाऽहम्' इति। अथवा त्वद्भक्तस्त्वद्भावमाप्तो न नाम कथं नु 'ब्रह्मभावाय कल्पते' ब्रह्मणः सकाशात्तवान्यत्वादित्याशङ्क्याह—ब्रह्मणो हीति। ब्रह्मणः परमात्मनः प्रतिष्ठा पर्याप्तिरहमेव न तु मद्भिन्नं ब्रह्मेत्यर्थः। तथाऽमृतस्यामृतत्वस्य मोक्षस्य चाव्ययस्य सर्वथानुच्छेद्यस्य च प्रतिष्ठाऽहमेव मय्येव मोक्षः पर्यवसितो मत्प्राप्तिरेव मोक्ष इत्यर्थः। शाश्वतस्य नित्यमोक्षफलस्य धर्मस्य ज्ञाननिष्ठालक्षणस्य च पर्याप्तिरहमेव ज्ञाननिष्ठालक्षणो धर्मो

कार्यकारणरूप से स्थित सोपाधिक ब्रह्म का सत्तारूप अर्थ भगवान् श्रीकृष्ण हैं क्योंकि सोपाधि निरुपाधि में कल्पित है। भाव यह है कि सब कार्य वस्तु सोपाधिक ब्रह्मस्वरूप आप से होते हैं अतः उनकी सत्ता सोपाधिक ब्रह्म में ही है वे सोपाधि ब्रह्म से अतिरिक्त नहीं। अखिल वस्तु कारणीभूत सोपाधिक ब्रह्म का कारण निरुपाधि ब्रह्म भगवान् श्रीकृष्ण आप ही हैं आप से परे कोई नहीं हैं क्योंकि कल्पित अधिष्ठान होने से परमार्थ सत्य निरुपाधि ब्रह्मस्वरूप हैं, अतः श्रीकृष्ण से भिन्न पारमार्थिक वस्तु का निरूपण क्या करें वही एक पारमार्थिक है अन्य कुछ भी नहीं पारमार्थिक है किन्तु कल्पित ही है। यह यहाँ भी कहा गया है—'ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाऽहम्' इत्यादि। अथवा आपका भक्त आप के भाव को प्राप्त करे, मोक्ष के लिये कैसे समर्थ होगा क्योंकि आप ब्रह्म भिन्न हैं यह शंका कर कहते हैं—'ब्रह्मणः' इति। ब्रह्म परमात्मा की प्रतिष्ठा पर्याप्ति चरम-सीमा मैं हूँ मेरे में ही मोक्ष की समाप्ति है मेरी प्राप्ति ही मोक्ष है तथा शाश्वत नित्य मोक्ष फल की एवं ज्ञान निष्ठा लक्षण धर्म की पर्याप्ति मैं हूँ। ज्ञाननिष्ठा लक्षण की पर्याप्ति मोक्ष है, ज्ञाननिष्ठालक्षण धर्म मेरी में ही पर्यवसित परि

मय्येव पर्यवसितो न तेन मद्भिन्नं किञ्चित्प्राप्यमित्यर्थः। तथा ऐकान्तिकस्य सुखस्य च पर्याप्तिरहमेव परमानन्दरूपत्वान्न मद्भिन्नं किञ्चित्सुखं प्राप्यमस्तीत्यर्थः, तस्माद्युक्तमेवोक्तं मद्भक्तो ब्रह्मभूयाय कल्पत इति ॥ २७ ॥

पराकृतनमद्बन्धं परं ब्रह्म नराकृति।
सौन्दर्यसारसर्वस्वं वन्दे नन्दात्मजं महः ॥

इति श्रीमन्मधुसूदनसरस्वतीविरिचितायां श्रीभगवद्गीतागूढार्थ-
दीपिकायां प्रकृतिगुणत्रयविभाग-
योगोनाम चतुर्दशो-
ऽध्यायः॥१४॥

समाप्त है उससे मदन्य कुछ प्राप्य नहीं तथा ऐकान्तिक अव्यभिचरित सुख की पर्याप्ति मैं हूँ क्योंकि मैं परमानन्द स्वरूप हूँ मदतिरिक्त कोई सुख प्राप्य नहीं है यह अर्थ है। पराकृत्येत्यादि ॥ २७ ॥

पराकृतः निवारितः नमन् शिथिलीभवन् कल्पितः सत्ताकत्वादतिभङ्गुरः बन्धो येन तत्, एतेन बन्धायाकरणे भगवतः श्रमाभावः सूचितः। नरस्य आकृतिरिव आकृतिः अवयवसंस्थानं यस्य तत्, एतेन सोपाधि ब्रह्मरूपत्वं तस्य सूचितम्। सौन्दर्यसारसर्वस्वं सारशब्देन मायिकसौदर्यव्यावृत्तिः क्रियते पारमार्थिकसौंदर्यं ब्रह्मण्येव कदाचिदपि तद्विकृतेरभावात्। 'मह' इत्यनेन तस्यैव निरुपाधि ब्रह्मरूपत्वं सूचितम् ईदृशं नन्दात्मजं नन्दनन्दनं श्रीकृष्णं वन्दे अहमिति भावः। 'वन्दे' इत्यनेन स्वकीया निरतिशया भक्तिः परस्मिन् पुंसि सूचिता।

नमन् लचकते हुए बन्ध (संसार बन्ध) को जिसने निवृत्त किया मनुष्याकार सुन्दरता की चरम सीमा, अति सुन्दर नन्दात्मज श्रीकृष्ण निरूपाधिसोपाधि ब्रह्म की मैं वन्दना करता हूँ।

इस प्रकार महामहोपाध्याय प० हरिहरकृपालु
द्विवेदिकृत गीतामधुसूदनी के चौदहवाँ
अध्याय का अनुवाद
समाप्त हुआ ॥१४॥

—:※:—

अथ पञ्चदशोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच

ऊर्ध्वमूलमधः शाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥ १ ॥

उसके उपरान्त, श्रीकृष्ण भगवान् फिर बोले कि, हे अर्जुन ! आदिपुरुष, परमेश्वररूप मूलवाले और ब्रह्मरूप मुख्यशाखावाले जिस संसाररूप पीपलके वृक्ष को अविनाशी कहते हैं तथा जिसके वेद पत्ते कहे गये हैं, उस संसाररूप वृक्षको, जो पुरुष मूलसहित तत्त्वसे जानता है, वह वेदके तात्पर्यको जानने वाला है ॥ १ ॥

॥ श्रीकृष्णाय गीतामृतदुहेनमः ॥

म० टी०—पूर्वाध्याये भगवता संसारबन्धहेतून् गुणान् व्याख्याय तेषामत्ययेन ब्रह्मभावो मोक्षो मद्भजनेन लभ्यत इत्युक्तम्—

'मां च यो व्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।
स गुणान्समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पत ॥' इति ।

तत्र मनुष्यस्य तव भक्तियोगेन कथं ब्रह्मभाव इत्याकाङ्क्षायां स्वस्य ब्रह्मरूपताज्ञापनाय सूत्रभूतोऽयं श्लोको भगवतोक्तः—

पन्द्रहवाँ अध्याय

पूर्वाध्याय में संसार के बन्धन हेतु गुणों की व्याख्या कर उनके विनाश करने से मोक्ष मिलता है यह भगवान् ने कहा—'मांच योऽव्यभिचारेण इत्यादि मूल में देखिये। मनुष्य को आप की भक्ति योग से कैसे मोक्ष होगा ? इस जिज्ञासा से अपने में ब्रह्मस्वरूपता जनाने के लिए सूत्र रूप यह श्लोक भगवान्

'ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाऽहममृतस्याव्ययस्य च ।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥' इति ।

अस्य सूत्रस्य वृत्तिस्थानीयोऽयं पञ्चदशोऽध्याय आरभ्यते—भगवतः श्रीकृष्णस्य हि तत्त्वं ज्ञात्वा तत्प्रेमभजनेन गुणातीतः सन् ब्रह्मभावं कथमाप्नुयाल्लोक इति । तत्र 'ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाऽहम्' इत्यादिभगवद्वचनमाकर्ण्य मम तुल्यो मनुष्योऽयं कथमेवं वदतीति विस्मयाविष्टमप्रतिमया लज्जया च किञ्चिदपि प्रष्टुमशक्नुवन्तमर्जुनमालक्ष्य कृपया स्वस्वरूपं विवक्षुः तत्र विरक्तस्यैव संसाराद्भगवत्तत्त्वज्ञानेऽधिकारो नान्यथेति पूर्वाध्यायोक्तं परमेश्वराधीनप्रकृतिपुरुषसंयोगकार्यं संसारं-वृक्षरूपकल्पनया वर्णयति वैराग्याय प्रस्तुतगुणातीतत्वोपायत्वात्तस्य ऊर्ध्वमुत्कृष्टं कारणं स्वप्रकाशपरमानन्दरूपत्वेन च नित्यत्वेन च ब्रह्म अथवा ऊर्ध्वं सर्वं संसारबोधेऽप्यबाधितं सर्वसंसारभ्रमाधिष्ठानं ब्रह्म तदेव मायया मूलमस्येत्यूर्ध्वं मूलम् । 'अध' इत्यर्वाचीनाः कार्यो-

---

ने कहा—'ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्' इत्यादि । इस सूत्र का वृत्तिस्थानापन्न यह पन्द्रवाँ अध्याय कहा जाता है । भगवान् श्रीकृष्ण के तत्त्व को जान कर उनके प्रेम और भजन से गुणातीत होकर मोक्ष कैसे पावेंगे इति, उसमें 'ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाऽहम्' इत्यादि भगवान् के वाक्य को सुनकर मेरे समान यह मनुष्य ऐसा कैसे कहता है इस कौतूहल से आकुल भय और लज्जा से कुछ भी पूछने में अशक्त अर्जुन को समझकर दया से स्वयं अपने स्वरूप को कहने की इच्छा से भगवान् बोले—इससे संसार सागर से विरक्त का ही भगवान् के तत्त्व के ज्ञान में अधिकार है प्रकारान्तर से नहीं । उस पूर्वाध्याय का चित प्रकृत पुरुष संयोग कार्य का संसाररूप वृक्ष की कल्पना कर वैराग्य होने के लिये वर्णन करते हैं, क्योंकि वह प्रस्तुत गुणातीतत्व का उपाय है 'ऊर्द्धमूल' मूलकारण यहाँ विवक्षित है सो स्वप्रकाशानन्दस्वरूप होने से तथा नित्य होने से ब्रह्म है प्रधानादि नहीं अथवा ऊर्द्ध्व उत्तर सब संसार के बाध होने पर भी अबाधित संसार का अधिष्ठान आश्रय ब्रह्म है वही माया द्वारा इस जगत् का मूल है इति । ऊर्द्धमूल अधः अर्वाचीन निचले कार्योपाधि हिरण्यगर्भादि जो हैं उनका

पाधयो हिरण्यगर्भाद्या गृह्यन्ते तेनानादिक्प्रसृतत्वाच्छाखा इव शाखा अस्येत्यधःशाखम्, आशु विनाशित्वेन न श्वोऽपि स्थातेति विश्वासानर्हमश्वत्थं मायामयं संसारवृक्षमव्ययमनाद्यनन्तदेहादिसन्तानाश्रयमात्मज्ञानमन्तरेणानुच्छेद्यमनन्तमव्ययमाहुः। श्रुतयस्तावद्—

'ऊर्ध्वमूलोऽर्वाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः॥'

इत्याद्याः कठवल्लीषु पठिताः। अर्वाञ्चो निकृष्टाः कार्योपाधयो महदहङ्कारतन्मात्रादयो वा शाखा अस्येत्यवाक्शाख अधःशाखपदसमानार्थं सनातन इत्यव्ययपदसमानार्थम्। स्मृतयश्च—

'अव्यक्तमूलप्रभवस्तस्यैवानुग्रहोत्थितः।
बुद्धिस्कन्धमयश्चैव इन्द्रिययान्तरकोटरः।
महाभूतविशाखश्च विषयैः पत्रवांस्तथा।
धर्माधर्मसुपुष्पश्च सुखदुःखफलोदयः।
आजीव्यः सर्वभूतानां ब्रह्मवृक्षः सनातनः।
एतत् ब्रह्मवनं चैव ब्रह्माचरति साक्षिवत्।

ग्रहण हैं वे नाना दिशाओं में फैले हैं अतः शाखा सदृश होने से शाखा है। वृक्ष की अनेक शाखायें जैसे अनेक दिशाओं में फैली रहती है तद्वत् हिरण्यगर्भादि को भी शीघ्र विनाशी होने से श्वः (सवेरे) तक न रहेगा। मिथ्या होने से तद्योग्य नहीं अतः न श्वस्तिष्ठति इति अश्वत्थम्। मायिक संसारवृक्ष को अव्यय अनादि अनन्त शरीरादि सन्तानाश्रय आत्मज्ञान के विना अविनाश्य अनन्त अव्यय कहा है। किसने कहा इस आकांक्षा पूर्ति के लिये कहते हैं—श्रुतियाँ और स्मृतियाँ। प्रथम श्रुतियों को देखिये 'ऊर्द्धमूलोऽर्वाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः।' इत्यादि कठवल्ली में पढ़ी है 'अर्वाचः निकृष्टाः कार्योपाहि मधदहंकार तन्मात्रा प्रभृति वा' शाखा है इसकी इति। 'अवाक्शाखम्, 'अधःशाखपद' जो गीता में हैं उसका समनार्थक अवाक्शाख शब्द है अर्थात् दोनों का एक ही अर्थ है। 'सनातन' यह अव्ययपद का समानार्थक है इन दोनों का एक ही अर्थ है अतः उक्त गीतार्थ को श्रुतियाँ कहते हैं यह जो कहा सो ठीक है। श्रुतियाँ अपौरुषेय होने से असंदिग्ध प्रमाण हैं इसलिये भगवदुक्त अर्थ में उनका संवाद अनुचित नहीं अब उक्तार्थक स्मृतियाँ कहते हैं—

एतच्छित्त्वा च भित्त्वा च ज्ञानेन परमाऽसिना।
ततश्चात्मगतिं प्राप्य तस्मान्नावर्तते पुनः ॥' इत्यादयः।

अव्यक्तमव्याकृतं मायोपाधिकं ब्रह्म तदेव मूलं कारणं तस्मात्प्रभवो यस्य तथा तस्यैव मूलस्याव्यक्तस्यानुग्रहादतिदृढत्वादुत्थितः संवर्धितः। वृक्षस्य हि शाखाः स्कन्धादुद्भवन्ति संसारस्य च बुद्धेः सकाशान्नानाविधाः परिणामा भवन्ति तेन साधर्म्येण बुद्धिरेव स्कन्धस्तन्मयस्तत्प्रचुरोऽयम्, इन्द्रियाणामन्तराणि छिद्राण्येव कोटराणि यस्य स तथा महान्ति भूतान्याकाशादीनि पृथिव्यन्तानि विविधाः शाखा यस्य विशाखस्तम्भो यस्येति वा। आजीव्य उपजीव्यः, ब्रह्मणा परमात्मनाऽधिष्ठितो वृक्षो ब्रह्मवृक्षः आत्मज्ञानं विना छेत्तुमशक्यतया सनातनः, एतत् ब्रह्मवनम्। अस्य ब्रह्मणो जीव

अव्यक्तमूलप्रभवः तस्यैवानुग्रहोत्थितः।
बुद्धिस्कन्धमयश्चैव इन्द्रियान्तरकोटरः।

इत्यादि अव्यक्त रूप से अविस्पष्ट व्यक्त प्रागवस्था मायाविशिष्ट ब्रह्म वही मूल कारण है उससे उत्पाद है जिसका वह अव्यक्तप्रभव है उसी अव्यक्तमूल के अतिदृढ अनुग्रह से उत्थित उर्द्धस्थित और अच्छीतरह से बढ़ी वृक्ष की शाखायें स्कन्ध होती है। 'अस्त्री प्रकाण्डं स्कन्धः स्यात् मूलाच्छाखावधिस्तरोः' इस प्रकार कोष से जाना जाता है कि जहाँ से शाखायें निकलती हैं उसको स्कन्ध कहते हैं और संसार की बुद्धि से नाना प्रकार के परिणाम होते हैं, इस साम्य से बुद्धि ही स्कन्ध है उक्तलोक में बुद्धिमय पात है। मय का अर्थ स्फुट करते हैं—'तत्प्रकृतिवचने मयट्' इस सूत्र से प्राचुर्य अर्थमें मयट् प्रत्यय है जैसे 'अन्नमयो यज्ञः' 'अन्नः प्रचुरः' यह अर्थ होता है वैसे यहाँ भी बुद्धिमय का बुद्धिप्रचुर अर्थ है। इन्द्रियों के मध्य में जो छिद्र है वही कोटर 'निष्कुहः कोटरं वाता' इस कोष से वृक्षों में जो छिद्र होते हैं वे कोटर कहलाते हैं, लोक में खोंढर कहते हैं। जिसका ऐसा महाभूत आकाशादि पृथिवीपर्यन्त विविध प्रकार के शाखा हैं जिसका, अथवा विशालसाम्य यह भी अर्थ है। आजीव्य उपजीव्य आश्रय ब्रह्म परमात्मा से अधिष्ठित आश्रित है अतः ब्रह्म वृक्ष है। आत्मप्रत्यक्ष के विना छेदन के योग्य नहीं इसलिये सनातन कहा। यह ब्रह्म वन इस जीव ब्रह्म का भोगयोग्य भोग है 'बन संभक्तौ' से वनःप्रना है।

रूपस्य भोग्यं वनस्थानीयं संभजनीयमिति वनं ब्रह्म साक्षिवदाचरति न त्वेतत् कृतेन लिप्यत इत्यर्थः। एतत् ब्रह्मवनं संसारवृक्षात्मकं छित्वा च भित्वा च 'अहं ब्रह्माऽस्मि' इत्यतिदृढज्ञानखड्गेन समूलं निकृत्येत्यर्थः। आत्मरूपां गतिं प्राप्य तस्मादात्मरूपान्मोक्षान्नावर्तत इत्यर्थः, स्पष्टमितरत्। अत्र च गङ्गातरङ्गतुद्यमानोत्तुङ्गतीरतिर्यङ्निपतितमर्धोन्मूलितं मारुतेन महान्तमश्वत्थमुपमानीकृत्य जीवन्तमियं रूपककल्पनेति द्रष्टव्यम्, तेन नोर्ध्वमूलत्वाधः

अतः वन शब्द का अयवार्थ कहते हैं—'संभजनीयम्', वन में ब्रह्म साक्षी के समान विचरता है। इस वन के गुण दोष से लिप्त नहीं होता यह अर्थ है। यह संसार वृक्षात्मक ब्रह्म वन को छेदन भेदन कर 'मैं ब्रह्म हूँ' इस अतिदृढ़ ज्ञानरूपी तलवार से मूल के सहित काटकर आत्मस्वरूप गति को पाता है। उस आत्मस्वरूप मोक्ष से फिर नहीं लौटता यह अर्थ है, 'न स पुनरावर्तते न स पुनरावर्त्तते' इस निरुक्त श्रुति का भी उक्तार्थ ही तात्पर्य है, बाकी स्पष्ट है, उसके व्याख्यान की आवश्यकता नहीं। ऊर्द्धमूल आशुविनाशी पीपर वृक्ष कहाँ प्रसिद्ध है जिसका उपमान कर संसार वृक्ष की कल्पना की गई है इस आशंका से कहते हैं—गङ्गातरङ्गेति। गंगा जी की ऊँची लहरों से भिद्यमान (कटता हुआ) ऊँचा तीर नीचे के तीर में जो प्रतिवर्ष डूबता है उसमें वृक्ष ही नहीं होते किन्तु झाऊ आदि होते हैं वे वृक्ष नहीं कहाते और न आदि अन्तरहित ही हैं वे प्रतिवर्ष विनश्वर हैं, तुद्यमान कहने का तात्पर्य है तीर विना कटे छटे उसमें स्थित वृक्ष ऊर्द्धमूल अधःशाख नहीं हो सकता अतः उक्त पद है। तिर्यक् का तात्पर्य है यदि वह वृक्ष सीधा नीचे गिर जायगा कुछ भी जड़ भूमि में न रहेगी तो वह गंगा जी के धार में बह जायगा वृक्ष भी नष्ट हो जायगा अतः तिर्यक् निपतित कहा। जो तीर भूमि जलप्रवाह से आधी कट छट गई है आधी बची है उस पर स्थित वृक्ष तिरछा हो गिरता है कारण जो जमीन बची है उसकी जड़ ऊपर नहीं होती वृक्ष हरा और कुछ वर्ष स्थाई रहता है। प्रबल वायु वेग के विना उक्त क्षतिग्रस्त भूमि पर वृक्ष स्थिर रहेगा गिरेगा नहीं इस लिये 'मारुतेन उन्मूलितम्' कहा। सूखे वृक्ष के पत्ते झर जाते हैं और शाखा लोग काट लेते हैं अतः 'अधःशाखं छन्दांसि यस्य पर्णानि' इत्यादि विशेषण असंगत हो जायँगे इस लिये 'जीवन्तम्' कहा। वृक्षों में भी जीव रहता है यह तो भग्नक्षत संरोहण और यमलार्जुन के दृष्टान्त से अतिस्पष्ट है यह जानिये।

शाखत्वाद्यनुपपत्तिः। यस्मान्मायामयस्याश्वत्थस्य छन्दांसि छादनात्तत्त्वतस्तु-प्रावरणात् संसारवृक्षरक्षणद्वारा कर्मकाण्डानि धर्माधर्मतद्धेतुफलप्रकाशनार्थत्वात्तेषां यस्तं यथा व्याख्यातं समूलं संसारवृक्षं मायामयमश्वत्थं वेद जानाति स वेदवित् कर्मब्रह्माख्यवेदार्थवित् स एवेत्यर्थः। संसारवृक्षस्य हि मूलं ब्रह्म हिरण्यगर्भादयश्च जीवाः शाखास्थानीयाः, स च संसारवृक्षः स्वरूपेण विनश्वरः प्रवाहरूपेण चानन्तः। स च वेदोक्तैः कर्मभिः सिच्यते ब्रह्मज्ञानेन

इससे ऊर्ध्वमूलत्व अधःशाखत्व की उत्पत्ति से अभाव नहीं उक्त प्रकार से उपपत्ति हो गई। जिस मायिक पीपर का छद, यद्यपि 'पत्रं पलाशं छदनं दलं पर्णं छदः पुमान्' इस अमरकोश से पत्ते का वाचक छद शब्द अकारान्त और पुलिङ्ग है। 'गायत्री प्रमुखं छन्दः' इस उक्त कोष से सान्त और नपुंसक छन्दस्शब्द गायत्री उष्णिगनुष्टुव् वृहती इत्यादि वैदिक छन्दों का वाचक छन्दस् शब्द छछशब्द से भिन्न है। प्रकृत में छन्दस् शब्द है छद नहीं फिर पर्ण का लाभ कैसे होता है ? इस जिज्ञासा से कहते हैं—छादनादित्यादि। छादने से तत्ववस्तु के आवरण से वा संसारवृक्ष के संरक्षण से छन्दः शब्द यहाँ ऋग्यजुःसामादि परक है। जैसे पत्तों से वृक्ष की रक्षा होती है वैसे उक्त शब्दों से संसार वृक्ष की रक्षा होती है इस हेतु 'पर्णानीव पर्णानि' पर्ण के सदृश होने से धर्माधर्मतद्धेतुफलप्रकाशनार्थं कर्मकाण्ड छन्द है। छन्दः शब्द यौगिकार्थ परक है रूढ्यर्थ परक नहीं जो यथा व्याख्यान यथाकथित समूल उस मायिक अश्वत्थ को जानता है वह वेदवित् है। यहाँ पर कोई कहते हैं कि 'ऊर्ध्वमूलम् अधः शाखं'। मिथ्या भूत जल प्रतिबिम्बित वृक्ष फिर फिर देख पड़ता है इसलिए अव्यय कहा है। अथवा ऐन्द्रजालिक (जादूगर) ऐसा वृक्ष दिखलाता है जो ऊर्द्ध्वमूल अधःशाख देख पड़ता है संसार वृक्ष को मिथ्या बोधनार्थ मिथ्या सिद्ध पदार्थ को ही उपमान करना ठीक है। यह तो अद्वैत तत्त्व नहीं है फिर इसका ज्ञाता वेदवित् कैसे ? ठीक है कर्मकाण्ड वेद का वेत्ता वही है उपनिषद्रूप वेद का वेत्ता नहीं, संसार वृक्ष का मूल ब्रह्म है हिरण्यगर्भादि जीव शाखास्थानापन्न है वह संसारवृक्ष स्वरूप से विनाशी है प्रवाहरूप से अनन्त रहित है वह वैदिक कर्मों से सींचा जाता है ब्रह्म साक्षाकार से उसका

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा
गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः ।
अधश्च मूलान्यनुसंततानि
कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके ॥ २ ॥

और हे अर्जुन ! उस संसारवृक्षकी तीनों गुणरूप जलके द्वारा बढ़ी हुई एवं विषयभोगरूप प्रवालवाली, देव, मनुष्य और तिर्यक् आदि योनिरूप शाखायें नीचे और ऊपर सर्वत्र फैली हुई हैं तथा मनुष्ययोनिमें कर्मोंके अनुसार बांधनेवाली अहंता, ममता और वासनारूप जड़ें भी, नीचे और ऊपर सभी लोकोंमें व्याप्त हो रही हैं ॥ २ ॥

च छिद्यत इत्येतावानेव हि वेदार्थवित् स एव सर्वविदिति समूलवृक्षज्ञानं स्तौति—स वेदविदिति ॥ १ ॥

म० टी०—तस्यैव संसारवृक्षस्यावयवसंबन्धिन्यपरा कल्पनोच्यते—पूर्वं हिरण्यगर्भादयः कार्योपाधयो जीवाः शाखास्थानीयत्वेनोक्ताः, इदानीं तु तद्गतो विशेष उच्यते । तेषु ये कपूयाचरणा दुष्कृतिनस्तेऽधः पश्वादियोनिषु प्रसृताः विस्तारं गताः ये तु रमणीयचरणाः सुकृतिनस्ते ऊर्ध्वं देवादियोनिषु प्रसृताः अतोऽधश्च मनुष्यत्वादारभ्याविरिञ्चिपर्यन्तम् ऊर्ध्वं च तस्मादेवारभ्य

छेदन विनाश किया जाता है इतना ही वेद का अर्थ है जो वेदार्थवित् हैं सर्ववेत्ता सर्वज्ञ है इस प्रकार मूल के सहित वृक्ष के ज्ञान की प्रशंसा करते हैं—स वेदवित् से ॥ १ ॥

उस संसार वृक्ष की दूसरी कल्पना करते हैं—जिसमें और वृक्ष के अवयवों की कल्पना है । अधःशाखेत्यादि से पूर्व की कल्पना में हिरण्यगर्भादि जो कार्योपाधि जीव है शाखास्थानापन्न कहे गये हैं इस समय उनमें विशेष कहते हैं—उनमें जो अशुभाचरण हैं निकृष्ट कर्मचारी हैं वे पश्वादियोनि में पड़कर बढ़ते हैं और जो शुभाचरण हैं पुण्यवान् हैं वे उद्ध्र्व देवादि योनियों में विस्तृत होते हैं इस कारण मनुष्यलोक से लेकर विरञ्चिलोक (कार्यब्रह्म) लोक पर्यन्त उद्ध्र्व देश वहाँ से लेकर सत्यलोक पर्यन्त फैली है ।

सत्यलोकपर्यन्तं प्रसृतास्तस्य संसारवृक्षस्य शाखाः कीदृश्यस्ता गुणैः सत्त्वरजस्तमोभिर्देहेन्द्रियविषयाकारपरिणतैर्जलसेचनैरिव प्रवृद्धाः स्थलीभूताः। किंच विषयाः शब्दादयः प्रवालाः पल्लवा इव संसारवृक्षशाखानां तास्तथा शाखाग्रस्थानीयाभिरिन्द्रियवृत्तिभिः संबन्धाद्रागाधिष्ठानत्वाच्च। किञ्च अधश्च च शब्दादूर्ध्वं च मूलान्यवान्तराणि तत्तद्भोगजनितरागद्वेषादिवासनालक्षणानि मूलानीव धर्माधर्मप्रवृत्तिकारकाणि तस्य संसारवृक्षस्यानुसन्ततानि अनुस्यूतानि, मुख्यं तु मूलं ब्रह्मएवेति न दोषः। कीदृशान्यवान्तरमूलानि ? कर्म धमाधर्मलक्षणमनुपश्चाज्जनयितुं शीलं येषां तानि कर्मानुबन्धीनि, कर्मानुबन्धीनि कुत्र ?

संसार वृक्ष की शाखा (डार) कैसी है ? सत्त्व रज तमोरूप गुणों से जो कि शरीरेन्द्रियविषयाकार परिणत है, जल से सिक्त के समान बढ़े हैं।

जलसे वृक्ष को सींचने से उसकी डारें बढ़ती हैं यह लोकमें प्रसिद्ध है, बढ़ी है का अर्थ मोटी है यह स्वाभाविक अर्थ है इसके संग्रहके लिए 'स्थलीभूता' कहा है।

किंच—विषय शब्दस्पर्शादि प्रवाल (पत्ते के समान है। जिन संसाररूपी वृक्ष की शाखाओं में वे विषयप्रवाला है शाखा के अग्र अग्रावयवस्थानापन्न इन्द्रियवृत्तियों के सम्बन्ध में रागाश्रय होने से भी लाल है। शाखा का अग्रिम भाग लाल होता है। संसार वृक्ष की शाखा में लालिमा कहते हैं—रागात्मक इन्द्रियवृत्तियाँ रजोगुण प्राधान्य से लाल हैं वे ही उक्त वृक्ष की शाखा के अग्रावयव हैं उनके सम्बन्ध से और राग के आश्रय प्रसिद्ध है। और भी—अधः (नीचे) और शब्दादि से ऊपर मूल जरियाँ अवान्तर अवयव जरियों में भी जरि होती है जो बड़ी जरि से उत्पन्न होती है, प्रकृत में शब्दादि विषयभोग से उत्पन्न संस्कारस्वरूप मूल के समान हैं वे ही धर्माधर्म में प्रवृत्ति के कारण हैं उस संसार वृक्ष के सर्वत्र अनुस्यूत सब में गुथे हैं, मुख्य मूल ब्रह्म ही है अतः ब्रह्म से संसार होता है इसमें दोष नहीं। उपमूल अन्य भी है किन्तु मुख्य मूल ब्रह्म ही है ? कैसे हैं अवान्तरमूल कर्मानुबन्धीनि कर्म—धर्माधर्मस्वरूप को पीछे उत्पन्न करने का स्वभाव है जिनका कर्मों से वासना वासनाओं से कर्म इस रीति से अविच्छिन्नधार यह संसार वृक्ष है। कहाँ कर्मानुबन्धि है ? मनुष्य लोक में। षष्ठीतत्पुरुष की

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते
नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूल-
मसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा ॥ ३ ॥

परन्तु, इस संसारवृक्षका स्वरूप जैसा कहा है, वैसा यहाँ विचारकालमें नहीं पाया जाता है क्योंकि न तो इसका आदि है और न अन्त है तथा न अच्छी प्रकारसे स्थिति ही है, इसलिये इस अहंता, ममता और वासनारूप अतिदृढ़ मूलवाले संसाररूप पीपलके वृक्षको दृढ़वैराग्यरूप शस्त्रद्वारा काटकर, स्थावर जङ्गमरूप यावन्मात्रसंसारके चिन्तनका तथा अनादिकालसे, अज्ञानके द्वारा दृढ़ हुई अहंता, ममता और वासनारूप मूलोंका त्याग करना ही संसारवृक्षका अवान्तर "मूलोंके सहित काटना" है ॥ ३ ॥

मनुष्यलोके, मनुष्यश्चासौ लोकश्चेत्यधिकृतो ब्राह्मण्यादिविशिष्टो देहो मनुष्यलोकस्तस्मिन् बाहुल्येन कर्मानुबन्धीनि, मनुष्याणां हि कर्माधिकारः प्रसिद्धः ॥ २ ॥

म० टी०—यस्त्वयं संसारवृक्षो वर्णितः इह संसारे स्थितैः प्राणिभिरस्य संसारवृक्षस्य यथावर्णितमूर्ध्वमूलत्वादि तथा तेन प्रकारेण रूपं नोपलभ्यते

व्यावृत्ति के लिये कर्मधारय समास कहते हैं—'मनुष्यश्चासौ लोकश्च' इति 'लोकस्तु भुवने जने' इस कोष के अनुसार लोक भुवन और जन दोनों का वाची है भुवनार्थक मानें तो मनुष्य लोक में पश्वादि भी हैं वे कर्मानुबन्धि नहीं हैं, इसलिये जनार्थक लोक का ग्रहण है तो भी अन्त्यशूद्रादि अनधिकृत मनुष्य की व्यावृत्ति नहीं हुई उनमें भी कर्मानुबन्धित्व नहीं है अतः 'अधिकृत' इत्यादि कहा। ब्राह्मणत्वादिविशिष्ट देह मनुष्यलोक है उसमें प्रायः उनमें कर्मानुबन्धित्व है क्योंकि मनुष्यों को कर्माधिकार प्रसिद्ध है ॥ २ ॥

इस संसार वृक्षका जैसा 'ऊर्द्धमूलम् अधःशाखम्' इत्यादिरूपसे वर्णन किया है। इस संसार में स्थित लोगों को इस संसार वृक्ष का कथितरूप उस

स्वप्नमरीच्युदकमायागन्धर्वनगरवन्मृषात्वेन दृष्टनष्टस्वरूपत्वात् तस्य अतएव तस्यान्तोऽवसानं नोपलभ्यते, एतावता कालेन समाप्तिं गमिष्यतीति अपर्यन्तत्वात्। न चास्यादिरुपलभ्यते, इत आरभ्य प्रवृत्त इति अनादित्वात्। न च संप्रतिष्ठा स्थितिर्मध्यमस्योपलभ्यते, आद्यन्तप्रतियोगिकत्वात्तस्य यस्मादेवंभूतोऽयं संसारवृक्षो दुरुच्छेदः सर्वानर्थकरश्च तस्मात् अनाद्यज्ञानेन सुविरूढमूलमत्यन्तबद्धमूलं प्रागुक्तमश्वत्थमेनम् असङ्गशस्त्रेण, सङ्गः असङ्गः सङ्गविरोधि वैराग्यं पुत्रवित्तलोकैषणात्यागरूपं तदेव शस्त्रं रागद्वेषमयसंसारविरोधित्वात् तेनासङ्गंशस्त्रेण दृढेन परमात्मज्ञानौत्सुक्यदृढीकृतेन पुनः पुनः पुनर्विवे-

रूपसे प्रतीत नहीं होता, क्योंकि स्वप्न मरीच्युदक—मरुभूमि में सूर्य को प्रतीयमान जल मृगतृष्ण गन्धर्वनगर रस्सी में सर्प शुक्तिरूप के समान मिथ्या होने से देखने के वादही उसका स्वरूप नष्ट हो जाता है। तदभाव होने से तदुपलब्धि कैसे हो? अत एव प्रातिभासिक पदार्थ प्रतिभामात्र शरीर कहाते हैं। जबतक भान है तब तक उनकी स्थिति है अनन्तर नहीं, अत एव उसका अन्त (समाप्ति) भी नहीं ज्ञात होती। इतने कालसे यह समाप्त हो जायगा यह भी नहीं जाना जाता क्योंकि अनन्त होने से समाप्ति हुई नहीं तो वह कैसे जानी जाय और न इसके आदिका ही ज्ञान है, यहाँ से यह चला है क्योंकि अनादि हैं आदि हैही नहीं तो उस के अज्ञान में आश्चर्य ही क्या?। एवं संप्रतिष्ठा मध्य की स्थित का भी ज्ञान नहीं क्योंकि मध्य सप्रतियोगिक सापेक्ष है आदि अन्तरूप प्रतियोगी प्रतिसंबन्धी के ज्ञान होने पर तदवधिक मध्यका ज्ञान होता है अन्यथा नहीं, जिस कारण ऐसा यह संसार वृक्ष दुरुच्छेद दुःख से भी नाश करने के अयोग्य है और सब प्रकार के दुःखों का देने वाला है। अनादि अज्ञान का देनेवाला है। अनादि अज्ञान आत्मयथार्थानुभव से वद्धमूल अतिपुष्टमूल पूर्वोक्त अश्वत्थ वृक्ष को असंग वैराग्य संग वाच्छाँ तद्विरोधी असंग वैराग्य ही है। पुत्र-वित्त-लौकैषणा का त्याग वैराग्य है वह शास्त्र है, क्योंकि रागद्वेषमय संसार है तद्विरोधी वैराग्य है उस दृढ़ अतिपुष्ट परमात्माभिमुख्यनिश्चय दृढ किये फिर विवेक के अभ्यास से कृत तीक्ष्णाधारं उक्त शस्त्र से

ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी॥ ४ ॥

उसके उपरान्त उस परमपदरूप परमेश्वरको अच्छी प्रकार खोजना चाहिये कि जिसमें गये हुए पुरुष फिर पीछे संसारमें नहीं आते हैं, और जिस परमेश्वरसे यह पुरातन संसारवृक्षकी प्रवृत्ति विस्तार को प्राप्त हुई है, उस ही आदिपुरुष नारायणके मैं शरण हूँ, इस प्रकार दृढ़ निश्चयकरके ॥ ४ ॥

काभ्यासनिशितेन छित्त्वा समूलमुद्धृत्य वैराग्यशमदमादिसंपत्त्या सर्वकर्मसंन्यासं कृत्वेत्येतत् ॥ ३ ॥

म० टी०—ततो गुरुमुपसृत्य ततोऽश्वत्थादूर्ध्वं व्यवस्थितं तद्वैष्णवं पदं वेदान्तवाक्यविचारेण परिमार्गितव्यं मार्गयितव्यमन्वेष्टव्यं 'सोऽन्वेष्टव्यः, 'स विजिज्ञासितव्य' इति श्रुतेः, तत्पदं श्रवणादिना ज्ञातव्यमित्यर्थः। किं तत्पदं यस्मिन् पदे गताः प्रविष्टा ज्ञानेन न निवर्तन्ति नावर्तन्ते भूयः पुनः संसाराय कथं तत् परिमार्गितव्यमित्याह—यः पदशब्देनोक्तस्तमेव चाद्यमादौ भवं पुरुषं येनेदं सर्वं पूर्णं तं पुरिषु पूर्षु वा शयानं प्रपद्ये शरणं गतोऽस्मीत्येवं

मूलके सहित उक्त वृक्षको काटकर वैराग्य शमदमादि तत्त्वज्ञान साधन संपत्ति से सब कर्मों का संन्यास कर ॥ ३ ॥

तदनन्तर गुरुदेव के समीप जाकर उस पीपर से ऊपर स्थित वह वैष्णव पद परमात्मस्थान 'पदं व्यवसितत्राणस्थानलक्ष्माङ्घ्रि वस्तुषु' इस कोशके अनुसार यहाँ पद स्थानपरक है। वेदान्त उपनिषद् वाक्य के विचार से उस पद का खोज करना, क्योंकि श्रुति ऐसा ही कहती है 'सोऽन्वेष्टव्यः, स विजिज्ञासितव्यः,' इति। उस पदको श्रवणमननादि से जानना। कौन वह पद है जिस स्थान में ज्ञानसे गये पुरुष फिर संसार के लिए नहीं लौटते हैं? कैसे उसका खोज करें? यह कहते हैं—जो यह शब्द से कहा है उसी आद्य की व्युत्पत्ति है—आदि में भव स्थित आद्य है। आद्य पुरुष को जिससे यह सम्पूर्ण है उस पुरुष के शरण में प्राप्त होता हूँ। पुरुष की व्युत्पत्ति दिखलाते हैं—'पुरिषु पूर्षु वा शयानम्'

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा
अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः ।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञै-
र्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥ ५ ॥

नष्ट हो गया है मान और मोह जिनका तथा जीत लिया है आसक्तिरूप दोष जिसने और परमात्माके स्वरूपमें हैं निरन्तर स्थिति जिनकी तथा अच्छी प्रकारसे नष्ट हो गई हैं कामना जिनकी, ऐसे वे सुख दुःख नामकद्वन्दोंसे विमुक्त हुए ज्ञानीजन उस अविनाशी परम पदको प्राप्त होते हैं ॥ ५ ॥

तदेकशरणतया तदन्वेष्टव्यमित्यर्थः । तं कं पुरुषं यतो यस्मात् पुरुषात् प्रवृत्तिं मायामयसंसारवृक्षप्रवृत्तिः पुराणि चिरंतनान्यनादिरेषा प्रसृता निःसृतैन्द्रजालिका-दिव मायाहस्त्यादि तं पुरुषं प्रपद्य इत्यन्वयः ॥ ४ ॥

म० टी०—परिमार्गणपूर्वकं वैष्णवं पदं गच्छतामङ्गान्तराण्याह—मानोऽहङ्कारो गर्वः मोहस्त्वविवेको विपर्ययो वा ताभ्यां निष्कान्ता निर्मान-मोहाः तौ निर्गतौ येभ्यस्ते वा तथा अहङ्काराविवेकाभ्यां रहिता इति यावत् ।

आराम से स्थित इस प्रकार तदेकशरण होकर उसका अन्वेषण करना कौन उस पुरुष का अन्वेषण करे ?—यतः जिस पुरुष से इस मायिक संसार वृक्ष की प्रवृत्ति पुरानी अनादिमय यह फैली है उसी से निकली है, जैसे ऐन्द्रजालिक से मायामय हस्त्यादि निकलते हैं उस पुरुष के शरण में प्राप्त होता हूँ ॥ ४ ॥

अन्वेषण पूर्वक वैष्णव पद जाने वालों के अन्य अंग भी कहते हैं—मान अहङ्कार गर्व मोह अविवेक अथवा भ्रम अविवेक में नञर्थ विरोध अभाव दोनों होते हैं। अन्तिम पक्ष तात्पर्य से विवेकाभाव, प्रथम पक्ष के तात्पर्य से विपर्यय कहा । विपर्यय मिथ्या ज्ञान है. इन दोनों से निकाले निर्मान मोह कहे जाते हैं, अथवा मान मोह दोनों निकल गये है जिस पुरुषसे वे पुरुष निर्मानमोह हैं प्रथम पक्ष से द्वितीय स्फुट है। अहङ्कार अविवेक से शून्य, 'जितसंगदोषाः' इष्टानिष्ट सामीप्य में भी

न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः ।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥ ६ ॥

और उस स्वयं प्रकाशमय परमपदको न सूर्य प्रकाशित कर सकता है, न चन्द्रमा और न अग्नि ही प्रकाशित कर सकता है तथा जिस परमपदको प्राप्त होकर मनुष्य पीछे संसारमें नहीं आते हैं वही मेरा परमधाम है ॥ ६ ॥

जितसङ्गदोषाः प्रियाप्रियसन्निधावुपरि रागद्वेषवर्जिता इति यावत् । अध्यात्मनित्याः परमात्मस्वरूपालोचनतत्पराः विनिवृत्तकामाः विशेषतो निरवशेषेण निवृत्ताः कामविषयभोगा येषां ते विवेकवैराग्यद्वारा त्यक्तसर्वकर्माण इत्यर्थः । द्वन्द्वैः शीतोष्णक्षुत्पिपासादिभिः सुखदुःखसंज्ञैः सुखदुःखहेतुत्वात् सुखदुःखनामकैः । 'सुखदुःखसङ्गैः' इति पाठान्तरे सुखदुःखाभ्यां सङ्गः संबन्धो येषां तैः सुखदुःखसङ्गैः द्वन्द्वैर्विमुक्ताः अमूढाः वेदान्तप्रमाणसंजातसम्यग्ज्ञाननिवारितात्मज्ञानाः अव्ययं यथोक्तं पदं गच्छन्ति ॥ ५ ॥

रागद्वेष शून्य परमात्मस्वरूप विचारणतत्परान्तःकरण 'वि नि' दोनो उपसर्गों के अर्थ यहाँ विवक्षित है इसके स्पष्टार्थ विशेषतः निरवशेषेण कहा है, उभयथा निवृत्त है विषयों का भोग जिसके वे विवेक वैराग्य द्वारा परित्यक्त संपूर्ण कर्म—भूख पियास सरदी गरमी आदि द्वन्दों से जो सुखदुःख संज्ञक है द्वन्द्वों की सुखदुःख संज्ञा नहीं है, किन्तु वे सुख के कारण हैं ठीक है। यहाँ सुखदुःख के हेतु है इसलिये उनकी सुखदुःख संज्ञा कही गई है यदि 'सुखदुःखसङ्गैः' यह पाठ है तो सुखदुखों संबन्ध है जिनका वे उन सुखदुःख संबन्धी द्वन्द्वों से रहित अमूढ़ वेदान्तप्रमाण समुत्पन्न यथाथात्म ज्ञान से दूर किया है आत्माज्ञान को जिन लोगों ने वे अमूढ़ अव्यय उस यथोक्त पद को जाते हैं ॥ ५ ॥

म० टी०—तदेव गन्तव्यं पदं विशिनष्टि—यद्वैष्णवं पदं गत्वा योगिनो न निवर्तन्ते तत्पदं सर्वाऽवभासनशक्तिमानपि सूर्यो न भासयते, सूर्यास्तमयेऽपि चन्द्रो भासको दृष्ट इत्याशङ्क्याह—न शशाङ्कः। सूर्यचन्द्रमसोरुभयोरप्यस्तमयेऽग्निः प्रकाशको दृष्ट इत्याशङ्क्याह—न पावकः। 'भासयत इत्युभयत्राऽप्यनुषज्यते। कुतः सूर्यादीनां तत्र प्रकाशनासामर्थ्यम्? इत्यत आह—तद्धाम ज्योतिः स्वयंप्रकाशन्नादादित्यादिसकलज्ज्योतिरवभासकं परमं प्रकृष्टं मम विष्णो स्वरूपात्मकं पदम्, न यो यद्भास्यः स स्वभावकं तं भासयितुमीष्टे, तथा च श्रुतिः—'न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः। तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' इति।

उस गन्तव्य को विशेषणों से विशिष्ट पदान्तर की अपेक्षा से अति उत्तम दिखलाते हैं—जिस वैष्णव पद में योगिजन जाकर नहीं लौटते उस पद को सर्वपदार्थ प्रकाशनशक्ति विशिष्ट भी सूर्य भगवान् प्रकाशित नहीं कर पाते, सूर्य के अस्त होने पर चन्द्रमा भी प्रकाशक देखे गये हैं संभव है वह प्रकाशक हो इस आशंका से कहते हैं—न शशाङ्क इति। चन्द्रमा भी उसको प्रकाशित नहीं कर सकते। अच्छा तो सूर्य चन्द्रमा दोनों के अस्त होने पर अग्नि प्रकाशित करेगी इस आशङ्का से कहते हैं यह अग्नि प्रकाशित कि कर सकती है। 'भासयते' का सम्बन्ध शशाङ्क और पावक दोनों के साथ है क्योंकि सूर्योदिक में उसके प्रकाशन की शक्ति नहीं है। उसका उत्तर देते हैं—वह धाम ज्योति है स्वयं प्रकाश है प्रकाशान्तर प्रकाश्य नहीं। आदित्यादिसम्पूर्ण जड़ ज्योतियों का प्रकाशक अतएव सबसे उत्तम मुझ बिष्णु का स्वरूप भूत पद है, मेरे स्वरूप से भिन्न नहीं अन्यथा स्वप्रकाशकत्व नित्यत्व की उपपत्ति न हो सकेगी जो जिसका भास्य प्रकाश्य है वह उसका प्रकाशक नहीं हो सकता,—यथा प्रदीप प्रकाश्य घटादि प्रदीप के प्रकाशन नहीं होते तद्वत् जड़ सूर्यादि ज्योति का भासक उक्त पद उस ज्योति का भास्य नहीं हो सकता श्रुति भी ऐसा ही कहती हैं—'न नत्र' इत्यादि ऊपर देखिये।

एतेन तत्पदं वेद्यं न वा ? आद्ये वेद्यविदवेदितृसापेक्षत्वेन द्वैतापत्ति-द्वितीये त्वपुरुषार्थत्वापत्तिरित्यपास्तम् अवेद्यत्वे सत्यपि स्वयमपरोक्षत्वात् । तत्रावेद्यत्वं सूर्याद्यभास्यत्वेन तत्रोक्तं सर्वभासकत्वेन तु स्वयमपरोक्षत्वं 'यदादित्य-गतं तेजः, इत्यत्र वक्ष्यति । एवमुभाभ्यां श्लोकाभ्यां श्रुतेर्दलद्वयं व्याख्यातमिति द्रष्टव्यम् ॥ ६ ॥

इससे यह किसी की शंका परास्त हुई, शंका यह है कि स्वयंप्रकाश उक्त पद वेद्य है या नहीं प्रथम पक्ष में वेद्य स्वभिन्न वेदिता की अपेक्षा करता है यथा—वेद्य घटादि स्वभिन्न पुरुष की अपेक्षा करता है। वेदिता के विना किससे वेद्य होगा वेदिता के ज्ञान का विषय वेद्य कहाता है। तद्वत् उक्त पद स्वभिन्न वेदिता की अपेक्षा करेगा ऐसी परिस्थिति में यदि दूसरा वेदित्ता माना जाय तो द्वैतापत्ति होगी अद्वैत ब्रह्मसिद्धि ही नष्ट हो जायगी तो अद्वैतियों को अपसिद्धान्त दोष होगा। द्वितीय पक्ष में मोक्ष अपुरुषार्थ हो जायगा ज्ञात ही सुख और दुःखाभाव पुरुषार्थ है इसी का पुरुष प्रार्थना करता है 'पुरुषैः अर्थ्यमान' ही पुरुषार्थ है। उक्त शंका के परास्त होने का कारण यह है कि उक्त सुख और दुःखाभाव जड़ है अतः वे स्वभिन्न वेदिता की अपेक्षा ही से वेद्य हो सकते हैं अन्यथा नहीं यह पद अवेद्य होने पर भी स्वयं प्रत्यक्ष है, सूर्यादि ज्योति से भासित नहीं होता इसलिये अवेद्य कहा है। सर्वभासक होने से स्वयं तो प्रत्यक्ष ही है 'यदादित्यगतं तेजः' इत्यादि भगवान् स्वयं आगे कहेंगे। भाव यह है कि अप्रकाशमान सुख ओर दुःखों भाव पुरुषार्थ नहीं है उक्त सुखादि जड़ात्मक हैं, अतः वे प्रकाशान्तर सापेक्ष हैं। उक्त पद स्वयं प्रकाश है अतः इसको प्रकाशकान्तर की अपेक्षा नहीं जो स्वतः प्रकाश नहीं उसकी ही परापेक्षा है अतः उक्त शंका निर्मूल है। इस प्रकार दोनों श्लोकों से श्रुति का दोनों भाग व्याख्यात हुआ। 'न तद्भासयते' यदादित्यगतं। तेज' इस श्लोकद्वय से श्रुति का प्रथम भाग 'न तद्भासयते सूर्य' इत्यादि द्विभाग भाग 'तमेव भान्तमनुभाति' इत्यादि व्याख्यात हुआ यह जानना ॥ ६ ॥

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥ ७ ॥

और हे अर्जुन ! इस देहमें यह जीवात्मा मेरा ही सनातन अंश है और वही इन त्रिगुणमयी मायामें स्थित हुई मनसहित पाँचों इन्द्रियोंको आकर्षण करता है ॥ ७ ॥

म० टी०—ननु 'यद्गत्वा न निर्वतन्त' इत्युक्तम्, यदि गच्छन्ति तर्ह्यावर्तन्त एव स्वर्गवत् । अथ नावर्तन्ते ? तर्हि न गच्छन्ति, तेन 'गत्वा इति 'न निवर्तन्त' इति परस्परविरुद्धम् ,

'सर्वे क्षयान्ता निचयाः पतनान्ताः समुच्छ्रयाः ।
संयोगा विप्रयोगान्ता मरणान्तं हि जीवितम् ।'

इति हि शास्त्रे लोके च प्रसिद्धम् । अनात्मप्राप्तिः पुनरावृत्तिपर्यवसाना न त्वात्मप्राप्तिरिति चेत् ? न सुषुप्तौ 'सता सौम्य ! तदा संपन्नो भवति' इति' श्रुतिप्रतिपादिताया अप्यात्मप्राप्तेः पुनरावृत्तिपर्यन्तत्वदर्शनात्, अन्यथा सुषुप्तस्य

'यद् गत्वा न निवर्तन्ते' इत्यादि कहा है, उसमें शंका यह हैं कि यदि जाते हैं तो अवश्य लौटते भी हैं स्वर्गवत, यदि स्वर्ग में जाते हैं तो यावत्पुण्योपभोग हो तावत्काल वहाँ रह कर 'यावत्संपात मुषित्वा, अभ्यासोह,—रमणीयचरणा रमणीयां योनिमःपद्यन्ते' इस श्रुति के अनुसार मनुष्य लोक में पुनः आवृत्ति होती है, 'तद्वत्संयोगा विप्रयोगान्ता' इस नियम के अनुकूल भक्तों की भी आवृत्ति आवश्यक है यदि नहीं लौटते यही सिद्धान्त है तो नहीं जाते हैं यही सिद्ध होता है, जाते हैं लौटते नहीं यह विरुद्ध है अतएव 'सर्वे क्षयान्ता निचया' इत्यादि श्लोक ऊपर देखिये उक्त श्लोकार्थ शास्त्र लोक में प्रसिद्ध है । यदि यह कहिये कि अनात्म आत्मभिन्न की प्रति पुनरावृत्ति नियत है आत्मप्राप्ति नहीं भी ठीक नहीं, सुषुप्ति में 'सता सोम्य यह ! तदा सम्पन्नो भवति' इति श्रुति बोधितात्मप्राप्ति पुनरावृत्ति सहित पाई जाती है। यदि स्वापकालिक आत्मप्राप्ति से पुरुष न लौटे प्रबुद्धावस्था में न आवे तो उसको मुक्त मानना चाहिये फिर उसका उत्थान न होगा। इस प्रकार पशु पक्षियों की भी अनायास मुक्ति हो जायगी पर ऐसा होता कहाँ है, सोया

मुक्तत्वेन पुनरुत्थानं स्यात्, तस्मादात्मप्राप्तौ 'गत्वा' इति नोपपद्यते तस्यौपचारिकत्वेऽप्यनिवृत्तिर्नोपपद्यत इत्येवं प्राप्ते ब्रूमः—गन्तुर्जीवस्य गन्तव्यब्रह्माभिन्नत्वाद् 'गत्वा' इत्यौपचारिकम्, अज्ञानमात्रव्यवहितस्य तस्य ज्ञानमात्रेणैव प्राप्तिव्यपदेशात्। यदि ब्रह्मणः प्रतिबिम्बो जीवस्तदा यथा जलप्रतिबिम्बितसूर्यस्य जलपाये बिम्बभूतसूर्यगमनं ततो नावृत्तिश्च, यदि च बुद्ध्यवच्छिन्नो ब्रह्मभागो

हुआ प्राणी नियम से उठता ही है अतः आत्मप्राप्ति में 'गत्वा' यह सर्वथा उपपत्ति शून्य है। यदि 'गत्वा' यह औपचरिक (लाक्षणिक) है तो भी अनिवृत्ति उपपत्ति नहीं होती प्रत्युत उक्त न्याय से निवृत्ति ही सोपपत्तिक है इस स्थिति में क्रम से समाधान कहते हैं—गन्ता जीव गन्तव्य ब्रह्म से अभिन्न है तो 'गत्वा' कैसे कहा—अप्राप्त की प्राप्ति गमन है, यह गन्ता गन्तव्य के भेद ही में होता है अभेद में नहीं, अन्यथा 'स्वं गच्छति' यह भी प्रयोग हो जायगा अज्ञान मात्र से व्यवहित ज्ञान से अज्ञान निवृत्त होने पर औपचरिक प्राप्ति का व्यवहार होता है, यथा ग्रीवास्थ भूषण अज्ञातदशा में अप्राप्त प्रतीत होता है, ज्ञात दशा में प्राप्त के समान मानकर उक्त भूषण पाया यह औपचारिक प्राप्ति व्यवहार होता है अज्ञान दशा में भी तो प्राप्त ही था अप्राप्त नहीं। इसी प्रकार अज्ञानावृत ब्रह्म अप्राप्त सा प्रतीत होता है ज्ञान से अज्ञान की निवृत्त होने पर प्राप्त के समान प्रतीत होता है अतः प्राप्ति औपचारिक है। वास्तविक प्राप्ति पुनरावृत्ति नियत है औपचारिक नहीं यह निष्कर्ष है। जीव ब्रह्म में दो वाद प्रसिद्ध है बिम्बप्रतिबिम्ब वाद और अवच्छेदवाद। प्रथम वाद लेकर समाधान करते हैं—अविद्या में ब्रह्म का प्रतिबिम्ब जीव है, बिम्ब ब्रह्म है इस आदि पक्ष में जल में प्रतिबिम्बित सूर्य, जल में सूर्य का प्रतिबिम्ब सूर्य ही है भिन्न नहीं बिम्बप्रतिबिम्बाभेद ही का सिद्धान्त है इस भाव से प्रतिबिम्बित सूर्य कहा—सूर्य का प्रतिबिम्ब ऐसा नहीं कहा। हाँ तो जल के न रहने पर बिम्बभूत सूर्य में प्रतिबिम्ब का गमन होता है किन्तु उससे उसकी पुनः आवृत्ति नहीं होती। द्वितीय अवच्छेद पक्ष में समाधान करते हैं—यदि बुद्ध्यवच्छिन्न ब्रह्म का अंश जीव है तो यथा घटाकाश का

जीवस्तदा यथा घटाकाशस्य घटापाये महाकाशं प्रति गमनं ततो नावृत्तिश्च तथा जीवस्याऽप्युपाध्यपाये निरुपाधिस्वरूपगमनं ततो नावृत्तिश्चेत्युपचारादुच्यते--तयोः एकस्वरूपत्वाद्भेदभ्रमस्य चोपाधिनिवृत्त्या निवृत्तेः, सुषुप्तौ तु अज्ञाने स्वकारणे भावना कर्मपूर्वप्रज्ञासहितस्यान्तःकरणस्य जीवोपाधेः सूक्ष्मरूपेणावस्थानात्तत एवाज्ञानात्पुनरुद्भवः संभवति. ज्ञानादज्ञाननिवृत्तौ तु कारणाभावात् कुतः कार्योदयः स्यात् ? अज्ञानप्रभवत्वादन्तःकरणाद्युपाधीनां तस्माज्जीवस्य 'अहं ब्रह्मास्मि' इति वेदान्तवाक्यजन्यसाक्षात्कारात् 'अहं न ब्रह्म' इत्यज्ञाननिवृत्तिर्गत्वेत्युच्यते । निवृत्तस्य चानाद्यज्ञानस्य पुनरुत्थानाभावेन

घटनाश काल में घटाकाश का महा काश में गमन होता है किन्तु उससे उसकी पुनः आवृत्ति नहीं होता. तथा जीव का उपाधिनाश होने पर निरुपाधि स्वरूप में गमन होता हैं इससे आवृत्ति नहीं होती अतः औपचारिक गति कहते हैं। दोनों एक है, उपाधिहेतुक भेद नाम था उपाधि की निवृत्ति से भेदभ्रम निवृत्ति होती हैं, सुषुप्ति में भावना कर्मपूर्वप्रज्ञा सहित अन्तः करण जो जीव का उपाधि है अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य जीव है, अनेक जीववाद इसी से माना जाता है। अन्तकरण के भेद से प्रतिशरीर जीव भिन्न है अवच्छेक भेद से अवच्छेद्य का भी भेद होता है उसका स्वकरण भूत अज्ञान में सूक्ष्मरूप से अवस्थानात्मक लय होने से उसी अन्तःकरण के कारण अज्ञान से जीवोपाधि की उत्पत्ति होती है इसीसे पुनरुत्थान प्रबोधावस्था में जीव का होता है आत्मनुभवसे मूला ज्ञान की निवृत्ति होने पर जीवोपाधि अज्ञान का अभाव होने से कारण के अभावसे कार्यका भी अभाव होता है इस न्याय से फिर अन्तःकरण का उत्पादन नहीं होता इससे मुक्त जीव की पुनः आवृत्ति नहीं होती । अन्तःकरणादि उपाधियाँ अज्ञान ही से उत्पन्न होती है अतः 'तत्त्वमसि' 'अहं ब्रह्म अस्मि' इत्यादि वेदान्त वाक्य जन्य जीवब्रह्माभेद साक्षात्कार से 'अहं न ब्रह्म' इत्याकारक जिवके अज्ञान की निवृत्ति ही 'गत्वा' से कही जाती है। तत्त्वज्ञान से निवृत्त अनादि अज्ञान का पुनः उत्थान न होने से तत्कार्य संसाराभाव की निवृत्ति नहीं होती किन्तु सदा संसाराभाव ही रहता है। इस प्रकार

तत्कार्यसंसाराभावान निवर्तन्त इत्युच्यत इति न कोऽपि विरोधः, जीवस्य तु परिमार्थिकं स्वरूपं ब्रह्मैवेत्यसकृदावेदितं तदेतत् सर्वं प्रतिपाद्यत उत्तरेण ग्रन्थेन। तत्र जीवस्य ब्रह्मरूपत्वादज्ञाननिवृत्त्या तत्स्वरूपं प्राप्तस्य ततो न प्रच्युतिरिति प्रतिपाद्यते--**ममैवांश** इति श्लोकार्धेन। सुषुप्तौ तु सर्वकार्यसंस्कारसहिताज्ञानसत्त्वात्ततः पुनः संसारो जीवस्येति 'मनः षष्ठानि' इति श्लोकार्धेन प्रतिपाद्यते। ततस्तस्य वस्तुतोऽसंसारिणोऽपि मायया संसारं प्राप्तस्य मन्दमतिभिर्देहतादात्म्यं प्रापितस्य देहाद्व्यतिरेकः प्रतिपाद्यते--**शरीर**मित्यादिना श्लोकार्धेन। **'श्रोत्रं चक्षुः'** इत्यादिना तु यथायथं स्वविषयेष्विन्द्रियाणां प्रवर्तकस्य तस्य तेभ्यो व्यतिरेकः प्रतिपाद्यते। एवं देहेन्द्रियादिविलक्षणमुत्क्रान्त्यादिसमये स्वात्मरूपत्वात् किमिति सर्वे न पश्यन्तीत्याशङ्कायां विषयविक्षिप्तचित्तादर्शनयोग्यमपि तं न पश्यन्तीत्युत्तरमुच्यते--**उत्क्रामन्त**मित्यादिना श्लोकेन। तं ज्ञानचक्षुषः पश्यन्तीति विवृतं

कोई दोष नहीं है जीवका वास्तविक स्वरूप ब्रह्म ही है यह अनेक वार कह चुके हैं यह सब अगले ग्रन्थ से कहते हैं। उसमें जीव ब्रह्मस्वरूप है अज्ञान की निवृत्ति से ब्रह्मस्वरूपप्राप्त जीव का फिर उससे पतन नहीं होता यह कहते हैं—**ममैवांश** इस श्लोकार्द्धसे। सुषुप्ति में अखिल कार्यसंस्कारसहित अज्ञान के रहने से फिर जीवको संसार होता है यह 'मनः षष्ठानि' इस श्लोकार्द्धसे कहते हैं वस्तुत असंसारी जीवका माया से संसारप्राप्ति होती है। मन्दबुद्धि जनता 'अहं गौरः कृशः इत्यादि बुद्धि से देह के तादात्म्यका उसमें अभ्यास करती है अतः देहादिसे भिन्न जीव है इस व्यतिरेक भेद का प्रतिपादन 'शरीरम्' इत्यादि श्लोकार्द्ध से करते हैं। श्रोत्रं चक्षुरित्यादि से तो यथायोग्य स्वस्व विषयों में इन्द्रियों का प्रेरक का शरीरेन्द्रियादि से भेद है इसका प्रतिपादन करते हैं। इसी प्रकार देहेन्द्रियादिविलक्षण उत्क्रान्त्यादिकाल में स्वात्म स्वरूप होने से क्यों नहीं सब देखते हैं, इस आकांक्षा से विषयों के चिन्तन से व्याकुल चित्त से दर्शन के योग्य भी उसको नहीं लोग देखते यह उत्तर कहा जाता है 'उत्क्रामन्तम्' इत्यादि श्लोकसे। ज्ञान

'यतन्तो योगिन' इति श्लोकार्धेन। 'विमूढा नानुपश्यन्ति' त्येतद्विवृतं— 'यतन्तोऽपीति श्लोकार्धेनेति पञ्चानां श्लोकानां सङ्गतिः, इदानीमक्षराणि व्याख्यास्यामः—ममैव परमात्मनोंऽशः निरंस्याऽपि मायया कल्पितः सूर्यस्येव जले नभस इव घटे मृषाभेदवानंशो जीवलोके संसारे। स च प्राणधारणो-पाधिना जोवभूतः कर्ता भोक्ता संसारीति मृषैव प्रसिद्धिमुपगतः सनातनो नित्यः उपाधिपरिच्छेदेऽपि वस्तुतः परमात्मस्वरूपत्वात्, अतो ज्ञानादज्ञाननिवृत्त्या स्वस्वरूपं ब्रह्म प्राप्य ततो न निवर्तत इति युक्तम्। एवंभूतोऽपि सुषुप्तात् कथमावर्तत इत्याह—मनः षष्ठं येषां तानि श्रोत्रत्वक्चक्षूरसनघ्राणाख्यानि पञ्च इन्द्रियाणि इन्द्रस्यात्मनो विषयोपलब्धिकरणतया लिङ्गानि जाग्रत्स्वप्न-

---

दृष्टि वाले उसको देखते हैं इसका विवरण किया है 'यतन्तो यतन्तो योगिनः' इत्यादि श्लोकार्द्ध से। 'विमूढा नाऽनुपश्यन्ति' इसका विवरण किया है 'यतन्तोऽपि' इस श्लोकार्द्ध से, इस प्रकार पाचों श्लोकों की संगति। है अब अक्षरोंका व्याख्यान करेंगे—मेरा ही परमात्मा का अंश, यद्यपि परमात्मा निरंश है अन्यथा सावयत्व से अनित्य हो जायगा, और अद्वैतश्रुति, विरोध भी होगा, तथापि माया से कल्पित जैसे सूर्य का जलमें, आकाश का घटादि में, अंश की कल्पना होती है वैसे यहाँ भी समझना। प्रतिविम्बवाद में प्रथम उदाहरण है। अवच्छेद बाद से द्वितीय उदाहरण है। प्रथम में सूर्य सावयव है उनमें वास्तविक अंशांशिभाव हैं, द्वितीय पक्ष में ब्रह्मवर आकाश भी निरवयव है अतः घटाकाश महाकाश कल्पित अंश है मिथो भेदवान् अंश इव अंश है संसार में वह अंश प्राण-धारणोपाधि से जीव कहाता है। 'जीव प्राणधारणे' इस धातु से भी प्राण-धारण जीव की उपाधि प्रतीत होती है कर्ता भोक्ता संसारी यह मिथ्या प्रतीति है। सनातन नित्य उपाधिपरिच्छिन्न भी वस्तुतः परमात्मस्वरूप है अतः ज्ञान से अज्ञान की निवृत्ति होने पर स्वरूप ब्रह्म को प्राप्त कर उससे निवृत्त नहीं होता यह युक्तियुक्त है। ईदृश भी सुषुप्त से कैसे लौटता है यह कहते हैं— मन है छठवाँ जिनमें वे श्रोत्रत्वक् चक्षुरसन घ्राणनामक पाँचो इन्द्रियाँ, इन्द्र आत्मा के विषय की प्राप्ति में साधन होने से चिह्न है जागर स्वप्न कालिकं

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाऽप्युत्क्रामतीश्वरः ।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात् ॥ ८ ॥

कैसे कि, वायु गन्धके स्थानसे गन्धको जैसे ग्रहणकरके ले जाता है, वैसे ही देहादिकोंका स्वामी, जीवात्मा भी जिस पहिले शरीरको त्यागता है, उससे इन मनसहित इन्द्रियोंको ग्रहणकरके, फिर जिस शरीरको प्राप्त होता है, उसमें जाता है ॥ ८ ॥

भोगजनकमपेक्षते प्रकृतिस्थानि प्रकृतावज्ञाने सूक्ष्मरूपेण स्थितानि पुनर्जाग्रद्भोगजनककर्मोदये भोगार्थं कर्षति कूर्मोऽङ्गानीव प्रकृतेरज्ञानादाकर्षति विषयग्रहणयोग्यतयाविर्भावयतीत्यर्थः । अतो ज्ञानादनावृत्तावप्यज्ञानादावृत्तिर्नानुपपन्नेति भावः ॥ ७ ॥

म० टी०—कस्मिन् काले कर्षतीत्युच्यते—यत् यदा उत्क्रामति बहिर्निर्गच्छति ईश्वरो देहेन्द्रियसङ्घातस्य स्वामी जीवः तदा यतो देहादुत्क्रामति ततो मनःषष्ठानीन्द्रियाणि कर्षतीति द्वितीयपादस्य प्रथममन्वयः । उत्क्रमणोत्तरभावित्वाद्गमनस्य न केवलं कर्षत्येव किंतु यत् यदा च पूर्वस्माच्छरीरान्तर-

भोग जनक अदृष्ट के नाश होने से सूक्ष्म रूप से स्थित जाग्रत् कालिक भोग संपादक अदृष्ट के उदय होने पर भोगार्थ खींचता है, जैसे कछुआ अपने में संकोचित अंगों को अपने शरीर से बाहर निकालता है वैसे अज्ञानरूप प्रकृति उपादान कारण से उक्त इन्द्रियों को जीव खींचता है, विषयग्रहण योग्य प्रादुर्भूत करता है। कारणावस्थापन्न इन्द्रियाँ विषयग्रहण योग्य नहीं अतः कार्यकारण से सम्पन्न करता है, अतः ज्ञान से अनावृत्ति होने पर भी अज्ञान से आवृत्ति होने में कोई अनुपपत्ति नहीं यह तात्पर्य है ॥ ७ ॥

किस काल में खींचता है यह कहते हैं—जब ऊपर निकलता है अर्थात् शरीर से बाहर निकलता है।

'इभ्य आढ्यो धनीस्वामी त्वीश्वरः पतिरीशिता।'

इस अमरकोष से ईश्वर शब्द यहाँ स्वामिपरक है। देहेन्द्रियसमुदाय का स्वामी जीव जिस देह से निकलता उस देह से मन है छठवाँ जिनमें उन मन सहित उक्त पाँचो इन्द्रियों को खींचता है, इस प्रकार द्वितीयपाद का प्रथम अन्वय है : उत्क्रमण के बाद गमन होगा केवल खींचता ही नहीं किन्तु जब

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च ।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते ॥ ९ ॥

और उस शरीरमें स्थित हुआ, यह जीवात्मा श्रोत्र, चक्षु और त्वचाको तथा रसना, घ्राण और मनको आश्रय करके अर्थात् इन सबके सहारेसे ही विषयोंको सेवन करता है ॥ ९ ॥

मवाप्नोति तदैतानि मनःषष्ठानीन्द्रियाणि गृहीत्वा संयात्यपि सम्यक् पुनरागमनराहित्येन गच्छत्यपि शरीरे सत्येवेन्द्रियग्रहणे दृष्टान्तः, आशयात् कुसुमादेः स्थानात् गन्धात्मकान् सूक्ष्मानंशान् गृहीत्वा यथा वायुर्याति तद्वत् ॥ ८ ॥

म० टी०—तान्येवेन्द्रियाणि दर्शयन् यदर्थं गृहीत्वा गच्छति तदाह—'श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनंच रसनं घ्राणमेव च,'चकारात् कर्मेन्द्रियाणि प्राणं च मनश्च षष्ठम-

---

पूर्व शरीर से शरीरान्तर पाता है तब षष्ठ मनःसहित उक्त पाँचो इंद्रियों को लेकर जाता है। 'सं' उपसर्ग के द्योत्य अर्थ को स्फुट करते हैं—पुनरेति से। पुनरागमन से रहित फिर उस शरीर में कभी नहीं आवेगा शरीर रहते इन्द्रिय ग्रहण में दृष्टान्त,हैं आशय स्थान कुसुमादि से गन्ध लेकर वायु जैसे जाता, न्याय मतमें गुण गुणी का समवाय संबन्ध है, स्वमत में तादात्म्य संबन्ध है दोनों मतों में गुणी द्रव्यसे गुण गन्ध अलग नहीं हो सकता फिर वायु गन्धमात्र को लेकर कैसे जायगा ? इस आशंका से कहते हैं—गन्धात्मकान् इति। गन्धाश्रय सूक्ष्मकुसुमाद्यवय को लेकर यह भाव है अत एव कस्तूरी कर्पूरादि को यत्न से लोग रखते हैं अन्यथा गन्ध के साथ द्रव्य भी निकल जाता है। कुछ दिन में सब निकल जाता है खाली पात्र रह जाता है, ऐसा संभव नहीं कि केवल गन्ध निकल जाय जाय और तदाश्रय द्रव्य कर्पूरादि रह जाय निर्गन्ध कर्पूरादि कही नहीं पाये गये हैं तद्वत् प्रकृतमें समझना चाहिये ॥ ८ ॥

वे फिर कौन हैं किस लिये उनको लेकर जाता है इस आकांक्षा से कहते है—श्रोत्रेत्यादि। उन इन्द्रियों को दिखलाते हुए जिसके लिये लेकर जाता है उस अर्थ को कहते हैं—श्रोत्रादि में देखिये उक्त पाँच ज्ञानेन्द्रिय, चकार से पाँच कर्मेन्द्रिय प्राण और मन इनका आश्रयण कर

उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम् ।
विमूढा नाऽनुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः ॥ १० ॥

परन्तु, शरीर छोड़कर जाते हुए अथवा शरीरमें स्थित हुए को और विषयोंको भोगते हुएको अथवा तीनों गुणोंसे युक्त हुएको भी, अज्ञानीजन नहीं जानते हैं, केवल ज्ञानरूप नेत्रोंवाले ज्ञानीजन ही तत्त्वसे जानते हैं ॥ १० ॥

धिष्ठायैव आश्रित्यैव विषयात् शब्दादीनयं जीव उपसेवते भुङ्क्ते ॥ ९ ॥

म० टी०--एवं देहगतं दर्शनयोग्यमपि देहात् उत्क्रान्तं देहान्तरं गच्छन्तं पूर्वस्मात् स्थितं पूर्वस्मात् वाऽपि देहे भुञ्जानं वा शब्दादीन् विषयान् गुणान्वितं सुखदुःखमोहात्मकैर्गुणैरन्वितम् ।

एवं सर्वास्ववस्थासु दर्शनयोग्यमप्येनं विमूढा दृष्टादृष्टविषयभोगवासनाकृष्टचेतस्तयात्मानात्मविवेकायोग्या नाऽनुपश्यन्ति, अहो ! कष्टं वर्तत इत्यज्ञानुक्रोशति भगवान् । ये तु प्रमाणजनितज्ञानचक्षुषो विवेकिनस्त एव पश्यन्ति ॥ १० ॥

के ही शरीरस्थ जीव शब्दादि विषयों का उपभोग करता है ॥ ९ ॥

इस प्रकार देहस्थित दर्शनयोग्य भी पूर्वोपात्त देह से देहान्तर जाते हुए वा पूर्व शरीरमें ही रह कर भोजन करते हुए सुखदुःख मोह गुणों से युक्त सब अवस्थाओं में दर्शनयोग्य भी इस को विमूढ नहीं देख पाते इसमे कारण कहते हैं—दृष्ट लौकिक अदृष्ट पारलौकिक, विषय दिव्यादिव्य शब्दादि तथा भोगवासना से समाकृष्ट विकल है चित्त जिनका वे विमूढ हैं अत एव आत्मा और अनात्माके विवेकमें वास्तविक तत्त्वस्वरूप निश्चय करने में सर्वथा अयोग्य नहीं देखते हैं। 'अहो' से आश्चर्य प्रगट करते हैं, कष्ट से खेद सूचित करते हैं वा कष्ट से दुःखद आश्चर्य होता है। प्रकृतमें दुःखद आश्चर्य है, इस प्रकार भगवान् अज्ञों पर अनुकम्पा करते हैं अर्थात् उनके प्रति करुणा प्रकाश करते हैं, यों तो वेदान्त प्रमाणजन्य ज्ञाननेत्र वाले विवेकी ही देखते है ॥ १० ॥

यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम् ।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः ॥ ११ ॥
यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम् ।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् ॥ १२ ॥

क्योंकि, योगीजन भी अपने हृदयमें स्थित हुए इस आत्मको यत्न करते हुए ही तत्त्वसे जानते हैं और जिन्होंने अपने अन्तःकरणको शुद्ध नहीं किया है ऐसे अज्ञानीजन तो यत्न करते हुए भी इस आत्मको नहीं जानते हैं ॥ ११ ॥

और हे अर्जुन ! जो तेज सूर्यमें स्थित हुआ संपूर्ण जगत्को प्रकाशित करता है तथा जो तेज चन्द्रमामें स्थित है, उसको तूँ मेरा ही तेज जान ॥ १२ ॥

म० टी०—'पश्यन्ति ज्ञानं चक्षुषः' इत्येतद्विवृणोति—आत्मनि स्वबुद्धौ अवस्थितं प्रतिफलितमेनमात्मानं यतन्तो ध्यानादिभिः प्रयतमाना योगिन एव पश्यन्ति । चोऽवधारणे यतमानो यज्ञादिभिरशोधितान्तःकरणाः, अत एवाचेतसो विवेकशून्या नैनं पश्यन्तीति मूढा नानुपश्यन्तीत्येतद्विवरणम् ॥ ११ ॥

म० टी०—इदानीं यत् पदं सर्वावभासनक्षमा अप्यादित्यादयो भासयितुं न क्षमन्ते यत्प्राप्ताश्च मुमुक्षवः न पुनः संसाराय प्रवर्तन्ते यस्य च

'ज्ञानं चक्षुषः' इसका विवरण करते हैं—आत्मशब्द यहाँ बुद्धि परक है, स्वबुद्धि में प्रति बिंबित इस आत्मा को ध्यानादि से प्रयत्न परायण योगिजन ही देखे हैं। 'च' अवधारण में है। प्रयत्नशील भी जो अकृतात्मा यज्ञादि से' प्रसंस्कृतान्तःकरण है अत एव अविद्यमान चित्त अर्थात् असंस्कृत चित्त है अतएव विवेक रहित है वे नहीं इस को को देखते यह 'मूढा नानु पश्यन्ति' का विवरण है ॥ ११ ॥

इस समय सर्वप्रकाशन शक्तिसंपन्न आदित्यादि ज्योति भी तत्पद के प्रकाशन में समर्थ नहीं है और तत्पदप्राप्त मुमुक्षु पुनः संसार

पदस्योपाधिभेदमनुविधीयमाना जीवा घटाकाशादय इवाकाशस्य कल्पितांशा मृषैव संसारमनुभवन्ति तस्य पदस्य सर्वात्मत्वसर्वव्यवहारास्पदत्वप्रदर्शनेन 'ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाऽहम्' इति प्रागुक्तं विवरीतुं चतुर्भिः श्लोकैरात्मनो विभूतिसंक्षेपमाह भगवान्--

'न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।'
इति श्रुत्यर्थं प्राग्व्याख्यातम्, 'न तद्भासयते सूर्यः' इत्यादिना।
'तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति'

इति श्रुत्यर्थमनेन व्याख्यायते--यदादित्यगतं तेजश्चैतन्यात्मकं ज्योतिर्यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ स्थितं तेजो जगदखिलमवभासयते तत्तेजो मामकं मदीयं विद्धि। यद्यपि स्थावरजङ्गमेषु समानं चैतन्यात्मकं ज्योतिस्थायि सत्त्वोत्कर्षेणादित्यादीनामुत्कर्षात्तत्रैवाविस्तरां चैतन्यज्योतिरिति तैर्विशेष्यते— **यदादित्यगत**मित्यादि। यथा तुल्योऽपि मुखसंनिधाने काष्ठकुड्यादौ न मुखमाविर्भवति, आदर्शादौ च स्वच्छतरे च तारतम्येनाविर्भवति सितभास्वरं

के लिये नहीं आते जिसपद के उपाधि भेद का अनुसरण करने वाले जीव घटाकार के समान आकाश का जैसा अंश है वैसा जीव ब्रह्म का अंश है अतएव मिथ्या ही संसार का अनुभव करता है। वह पद सबका आत्मा है और सब व्यवहारों का आश्रय है, इस कथन से 'ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाऽहम्' इस पूर्वोक्त के विवरणार्थ चार श्लोकों से ऐश्वर्य का संक्षेप कहते हैं भगवान्—'न तत्र सूर्यो भाति' इत्यादि श्रुति का पूर्व में व्याख्यान किया है 'न तत्रासयते सूर्य' इत्यादि से। 'तमेव भातम्' इत्यादि श्रुति के अर्थ के इससे व्याख्यान करते है—जो सूर्यगत चैतन्यस्वरूप ज्योति जो अग्नि में स्थित तेज संपूर्ण जगत् को प्रकाशित करता है उस तेज को मेरा जानो। यद्यपि चराचर में चैतन्य स्वरूप ज्योति तुल्य है तथापि सत्त्वगुण के आधिक्य से आदित्यादि उत्कृष्ट है अतः तदुत्कर्ष से उन्हीमें आविर्भूत ज्योति है इस हेतु से उन्ही से विशेषित करते हैं—**यदादित्यगतमित्यादि** से। जैसे समान सन्निधान में भी भीत्ति काठमें मुख का आविर्भाव प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता साफ आदर्श में एवं अतिस्वच्छ आदर्श में आदर्श के उत्कर्षापकर्ष से प्रतिबिम्ब में उत्कर्षापकर्ष अनुभव सिद्ध है,

गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा ।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः ॥१३॥

और मैं ही पृथिवीमें प्रवेशकरके, अपनी शक्तिसे सब भूतोंको धारण करता हूँ और रसस्वरूप अर्थात् अमृतमय चन्द्रमा होकर, संपूर्ण ओषधियोंको अर्थात् वनस्पतियोंको पुष्ट करता हूँ ॥ १३ ॥

रूपं जगदखिलरूपवद्वस्तु अवभासयते । एवं यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ जगदवभासकं तेजस्तन्मामकं विद्धीति विभूतिकथनाय द्वितीयोऽप्यर्थो द्रष्टव्यः, अन्यथा तन्मामकं विद्धीत्येतावत् ब्रूयात् तेजोग्रहणमन्तरेणैवेति भावः ॥ १२ ॥

म० टी०—किं च गां पृथिवीं पृथिवीदेवतारूपेणाविश्य ओजसा निजेन बलेन पृथिवीं धूलिमुष्टितुल्यां दृढीकृत्य भूतानि पृथिव्याधेयानि वस्तून्यहमेव धारयामि अन्यथा पृथिवी सिकतामुष्टिवद्विशीर्येताधो निमज्जेद्वा 'येन द्यौरुग्रा

वैसे 'यदादित्यगतम्' इत्यादि कहकर फिर 'तत्तेजो विद्धि मामकम्' इस में तेज के कथन से जो सूर्यप्रकाश के प्रकाशसमर्थ शुक्लभास्वररूप संपूर्णरूप विशिष्ट वस्तु को प्रकाशित करता है, गन्धादि भी जगत् में ही उनका भासक सूर्यका प्रकाश नहीं केवल चाक्षुषप्रत्यक्ष में प्रकाश सहकारि कारण है। इन्द्रियान्तर से विषयान्तर के प्रकाश में नहीं फिर जगत्प्रकाशक सूर्यप्रकाश कहा इस शंका से रूपवद्वस्तु उद्भूतरूपवद्वस्तु का प्रकाशक सौरालोक है। अनुद्भूत रूपवान् के प्रकाशक न होने पर क्षति नहीं, जो चन्द्रमा में जो अग्नि में उद्भूत रूपवद्वस्तु प्रकाशक तेज है वह तेज मेरा समझो। इस प्रकार विभूति कथनार्थ द्वितीय भी अर्थ जानना, अन्यथा तेज न कह कर वह मेरा जानो इतना ही कहते द्वितीय तेज का ग्रहण द्वितीयार्थ के लिये है यह तात्पर्य है ॥ १२ ॥

और भी पृथिवी देवता रूप से पृथिवी में प्रविष्ट होकर अपने बल से स्वापेक्षा से मुट्ठी भर धूलि के समान पृथिवी को दृढ़कर पृथिवी के आश्रित वस्तुओं को मैं ही धारण करता हूँ अन्यथा पृथिवी बालू के समान छितरा जाती वा नीचे डूब जाती 'येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढ़ा' यह मन्त्रवर्ण उक्तार्थक है।

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः ।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥ १४ ॥

तथा मैं ही सब प्राणियोंके शरीरमें स्थित हुआ, वैश्वानर अग्निरूप होकर, प्राण और अपानसे युक्त हुआ, चार प्रकारके अन्नको पचाता हूँ ॥ १४ ॥

पृथिवीम्' इति' च हिरण्यगर्भभावापन्नं भगवन्तमेवाह--किं च रसात्मकः सर्वरसस्वभावः सोमो भूत्वा ओषधीः सर्वा व्रीहियवाद्याः पृथिव्यां जाताः अहमेव पुष्णामि पुष्टिमतीरसस्वादुमतीश्च करोमि ॥ १३ ॥

म० टी०--किंच अहमीश्वर एव वैश्वानरो जाठरोऽग्निर्भूत्वा 'अयमग्निर्वैश्वानरोयोऽयमन्तः पुरुषे येनेदमन्नं पच्यते' इत्यादिश्रुतिप्रतिपादितः सन् प्राणिनां सर्वेषां देहमाश्रितः अन्तःप्रविष्ट प्राणापानाभ्यां तदुद्दीपकाभ्यां संयुक्तः संधुक्षितः सन् पचामि पक्तिं नयामि प्राणिभिर्भुक्तम् अन्नं चतुर्विधं भक्ष्यं भोज्यं लेह्यं चोष्यं चेति। तत्र यद्दन्तैरवखण्ड्यावखण्ड्य भक्ष्यतेऽपूपादि तद्भक्ष्यं चर्व्यमिति चोच्यते। यत्तु केवलं जिह्वया

'स दाधार पृथिवीम् यह भी हिरण्यगर्भस्वरूपापन्न भगवान को ही कहता है। और भी रसात्मक जलात्मक 'रसो जलं रसो हर्षः' यह अनेकार्थ मञ्जरी कोष है। सोम चन्द्र होकर व्रीहि (धान) जवा आदि ओषधी 'ओषध्यः फलपाकान्ता' इस अमरकोष से जो फल पकने पर सूख जाती है वे ओषधी है जो पृथिवी में उत्पन्न होती है उनको मैं ही पुष्ट करता हूँ पुष्टियुक्त स्वादयुक्त करता हूँ ॥ १३ ॥

और भी—मैं ईश्वर ही जाठराग्नि पेट की पित्तात्मक अग्नि होकर 'अयमग्निर्वैश्वानर' इत्यादि श्रुतिकथित सब प्राणियों के शरीर में अन्तः प्रविष्ट (भीतर घुसकर) उक्त अग्नि का उत्तेजक प्राणापानों से संधुक्षित (संदीपित) 'धुक्ष् संदीपनों क्लेशन जीवनार्थक धातु से संपूर्वक से 'संधुक्षितः' बना है। जैसे व्यजनादि वायु से भौमाग्नि प्रज्वलित होता है वैसे औदर्य अग्नि प्राणापानों से प्रज्वलित होता है उनसे प्रज्वलित होकर अन्न को पचाता हूँ। प्राणियों से मुक्त अन्न चार प्रकार का होता है—भक्ष्य भोज्य लेह्य चोष्य इति। जो दातों से चबाकर खाया जाता वह भक्ष्य है जैसे मालपुआ आदि, वही चर्व्य भी कहा जाता है।

सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो
मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च ।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो
वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम् ॥ १५ ॥

और मैं ही सब प्राणियोंके हृदयमें अन्तर्यामीरूपसे स्थित हूँ तथा मेरेसे ही स्मृति, ज्ञान और अपोहन होता है और सब वेदोंद्वारा मैं ही जाननेके योग्य हूँ तथा वेदान्तका कर्ता और वेदोंका जाननेवाला भी मैं ही हूँ ॥ १५ ॥

विलोड्य निगीर्यते सूपौदनादि तद्भोज्यम्, यत्तु जिह्वायां निक्षिप्य रसास्वादेन निगीर्यते । किं च द्रवीभूतगुडरसालशिखिरिण्यादि तल्लेह्यम्, यत्तु दन्तैर्निष्पीड्य रसांशंनिगीर्यावशिष्टं त्यज्यते यथेक्षुदण्डादि तच्चोष्यमिति भेदः । भोक्ता यः सोऽग्निर्वैश्वा नरो यद्भोज्यमन्नं स सोमस्तदेतदुभयमग्नीषोमौ सर्वमिति ध्यायतोऽन्नदोषले न भवतीत्यपि द्रष्टव्यम् ॥ १४ ॥

म० टी०—किं च सर्वस्य ब्रह्मादिस्थावरान्तस्य प्राणिजातस्याहमात्मा सन् हृदि बुद्धौ संनिविष्टः 'स एष इह प्रविष्टः' इति श्रुतेः, 'अनेन जीवेनात्मना-

---

जो केवल जीभ से डोलाकर घूँटा जाता है । वह दाल भात आदि । सो भोज्य हैं जो केवल जीभ पर रखकर रसास्वाद पूर्वक घूँटा जाता है द्रवीभूत गुड आम का रस, शिखरिणी शर्बतविशेष आदि वह लेह्य है । जो दांतों से दबाकर रसभाग को पीकर बाकी बचे का त्याग करते हैं वह चोष्य है, यथा यह इनमें विशेष निगरण सामान्य है । भोक्ता जो है वह अग्नि वैश्वानर है जो भोज्य अन्न है वह सोम है ये दोनों अग्निसोम ही सब है इस प्रकार ध्यान करने वालों को अन्न दोष का संपर्क नहीं होता यह समझना ॥ १४ ॥

और भी—सब प्राणि समुदाय जो ब्रह्मा से लेकर वृक्षादि पर्यन्त हैं मैं आत्मा होकर बुद्धि में प्रतिबिम्बरूप से स्थित हूँ 'स एस इह प्रविष्ट' यह

नुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' इति च। अतो मत्त आत्मन एव हेतोः प्राणिजातस्य यथाऽनुरूपं स्मृतिः, एतज्जन्मनि पूर्वानुभूतार्थविषयावृत्तिर्योगिनां च जन्मान्तरानुभूतार्थविषयाऽपि तथा मत्त एव ज्ञानं विषयेन्द्रियसंयोगजं भवति योगिनां च देशकालविप्रकृष्टविषयमपि। एवं कामक्रोधशोकादिव्याकुलचेतसाम् अपोहनं च स्मृतिज्ञानयोरपायश्च मत्त एव भवति। एवं स्वस्य जीवरूपतामुक्त्वा ब्रह्मरूपतामाह—वेदैश्च सर्वैरिन्द्रादिदेवताप्रकाशकैरपि अहमेव वेद्यः सर्वात्मत्वात् 'इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान् एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः' इति मन्त्रवर्णात्, 'एष उह्येव सर्वे देवा इति' च श्रुतेः, वेदान्तकृत् वेदान्तार्थसंप्रदायप्रवर्तको वेदव्यासादिरूपेण न केवलमेतावदेव वेदविदेव चाहं कर्मकाण्डोपासनाकाण्डज्ञानकाण्डात्मकमन्त्रब्राह्मणरूपसर्ववेदार्थविचाहमेव अतः साधूक्तम्—'ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाऽहम्' इत्यादि ॥ १५ ॥

श्रुति तथा 'अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' यह श्रुति उक्तार्थबोधिका है, अतः मुझ आत्मस्वरूप हेतु से प्राणिनिकाय का तथा योग्य स्मरण इस जन्म में पूर्वजन्मानुभूतविषयआवृत्त्यात्मक होता है योगियों को अनेक जन्मान्तरानुभूतार्थविषयक स्मरण होता है। तथा मुझसे विषयेन्द्रिय संयोगोत्पन्न ज्ञान होता है योगियों को देश काल व्यवहित पदार्थों का ज्ञान होता है उनके ज्ञान में विषयेन्द्रिय सन्निकर्ष का नियम नहीं अतीतानागत व्यवहित विप्रकृष्ट का भी उनको ज्ञान होता है। इसी प्रकार काम क्रोध शोक आदि से व्यग्रचित्तों की सम्पत्ति और ज्ञान का अभाव होता है यह मुझ से ही इस रीति से अपने में जीवरूपता कह कर ब्रह्मरूपता कहते हैं—इन्द्रादि बोधक मन्त्रों से में ही वेद्य हूँ क्योंकि मैं सबका आत्मा हूँ 'इन्द्रं मित्रामित्यादि श्रुति मूल में देखिये। वेदान्तकृत् वेदान्तार्थ के सम्प्रदाय गुरु शिष्यपरंपरा यहाँ का व्यासादिरूप में प्रवर्त्तक मैं हूँ, केवल इतना ही नहीं वेद का वेत्ता भी मैं ही हूँ। कर्मकाण्ड उपासनाकाण्ड ज्ञानकाण्ड तथा मन्त्र ब्राह्मण रूप सब वेदों का वेत्ता मैं ही हूँ अन्य सर्व वेदार्थवित् नहीं है किन्तु कुछ अंशों को जानते हैं अतः ठीक ही कहा है—ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाऽहम्' इत्यादि ॥ १५ ॥

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते॥ १६॥

तथा हे अर्जुन! इस संसारमें नाशवान् और अविनाशी भी दो प्रकारके पुरुष हैं, उनमें संपूर्ण प्राणियोंके शरीर तो नाशवान् और जीवात्मा अविनाशी कहा जाता है॥ १६॥

म० टी०—एवं सोपाधिकमात्मानमुक्त्वा क्षराक्षरशब्दवाच्यकार्यकारणोपाधिद्वयविशोधेन निरुपाधिकं शुद्धात्मानं प्रतिपादयति कृपया भगवानर्जुनाय त्रिभिः श्लोकैः—द्वाविमौ पृथग्राशीकृतौ पुरुषौ पुरुषोपाधित्वेन पुरुषशब्दव्यपदेश्यौ, लोके संसारे कौ तावित्याह—'क्षरश्चाक्षर एव च,। क्षरतीति क्षरो विनाशी कार्यराशिरेकः पुरुषः, न क्षरतीत्यक्षरो विनाशरहितः क्षराख्यस्य पुरुषस्योत्पत्तिबीजं भगवतो मायाशक्तिर्द्वितीयः पुरुषः तौ पुरुषौ व्याचष्टे स्वयमेव भगवान्—क्षरः सर्वाणि भूतानि समस्तं कार्यजातमित्यर्थः, कूटस्थः कूटो यथार्थवस्त्वाच्छादनेनायथार्थवस्तुप्रकाशन वञ्चनं मायेत्यनर्थान्तरम्। तेनावरणविक्षेपशक्तिद्वयरूपेण स्थितः कूटस्थः भगवान् मायाशक्तिरूपः कारणो-

इस प्रकार सोपाधिक आत्मा को स्वरूप कहकर क्षर अक्षर शब्दों से वाच्य जो कार्य कारण उपाधि इन दोनों से रहित निरुपाधि शुद्ध आत्मा का प्रतिपादन करते हैं दया से भगवान् अर्जुन के प्रति तीन श्लोकों से—क्षर अक्षर उपाधि से दो श्रेणीमें पुरुष कहते हैं उक्त दोनों पुरुषकी उपाधि होनेसे पुरुषपदसे क्षर अक्षरका व्यवहार है। संसारमें वे कौन हैं यह कहते हैं—क्षर और अक्षर क्षर विनश्वर कार्यराशि प्रथम। अक्षर अविनाशी क्षर नामक पुरुषकी उत्पत्तिका कारण भगवान्की मायाशक्ति दूसरा पुरुष है दोनों पुरुषोंकी व्याख्या भगवान् स्वयं करते हैं। कार्यसमुदाय सब क्षर है। यथार्थ वस्तुको छिपाकर अयथार्थ वस्तुका प्रकाशन कूट है वंचना माया ये सब पर्याय हैं भिन्नार्थक नहीं आवरणशक्ति और विक्षेपशक्तिरूपसे रूपान्तरसे दिखलाया जाता है। लौकिकमायामें भी ये दोनों शक्तियाँ पायी जाती हैं, कूटस्थ भगवान्

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥ १७ ॥

तथा उन दोनोंसे, उत्तम पुरुष तो अन्य ही है किं जो तीनों लोकमें प्रवेशकरके, सबका धारण, पोषण करता है एवं अविनाशी परमेश्वर और परमात्मा, ऐसे कहा गया है ॥ १७ ॥

पाधिः संसारबीजत्वेनानन्त्यादक्षर उच्यते । केचित्तु क्षरशब्देनाचेतनवर्गमुक्त्वा 'कूटस्थोऽक्षर उच्यत' इत्यनेन जीवमाहुः, तन्न समयक् क्षेत्रज्ञस्यैवेह पुरुषोत्तमत्वेन प्रतिपाद्यत्वात् तस्मात् क्षराक्षरशब्दाभ्यां कार्यकारणोपाधी उभावपि जडावेवोच्येते इत्येवमुक्तम् ॥ १६ ॥

म० टी०—आभ्यां क्षराक्षराभ्यां विलक्षणः क्षराक्षरोपाधिद्वयदोषेणास्पृष्टो नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावः उत्तम उत्कृष्टतमः पुरुषस्त्वन्यः अन्य एव अत्यन्तविलक्षण आभ्यां क्षराक्षराभ्यां जडराशिभ्यामुभयभासकस्तृतीयश्चेतनराशिरित्यर्थः । परमात्मेत्युदाहृतः—अन्नमयप्राणमयमनोमयविज्ञानयानन्दमयेभ्यः पञ्चभ्योऽविद्याकल्पितात्मभ्यः परमप्रकृष्टोऽकल्पितो ब्रह्मपुच्छं प्रतिष्ठेत्युक्त आत्मा च सर्वभूतानां प्रत्यक्चेतन इत्यतः परमात्मेत्युक्तो वेदान्तेषु यः परमा-

मायाशक्तिरूप कारणोपाधि जगद्धेतु होनेसे अनन्त हैं अतः अक्षर कहा जाता है। कोई कहते हैं कि क्षरशब्दसे अचेतनराशिको कहकर 'कूटस्थोऽक्षर उच्यते' से जीवको कहते हैं वह ठीक नहीं क्योंकि क्षेत्रज्ञको पुरुषोत्तम कहा है अन्यथा 'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि' इससे 'उत्तमः पुरुषस्त्वन्य' इसका विरोध हो जायगा 'तस्मात्' से उपसंहार करते हैं क्षराक्षरशब्दसे कार्यकारणोपाधि दोनों जड़ ही कहे गये हैं यही ठीक है ॥१६॥

इन दोनों क्षराक्षरोंसे विलक्षण उक्त दोनों उपाधियों से असंबद्ध नित्य शुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव उत्तम अति उत्तम पुरुष तो दूसरा ही है इनसे अत्यन्त विलक्षण क्षराक्षरोभयप्रकाशक तीसरा चेतनराशि 'परमात्मेत्युदाहृतः' अन्नमय प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, आनन्दमय, इन पाँचों कोशों से अति उत्तम अकल्पित उक्त पाँचो कल्पित है 'ब्रह्मपुच्छं प्रतिष्ठा' इससे उक्त सब भूतोंका आत्मा प्रत्यक् चेतन है इससे परमात्मा कहा जाता है वेदान्तोंमें उक्त शब्दसे

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥ १८ ॥

क्योंकि मैं नाशवान्, जड़वर्ग क्षेत्रसे तो सर्वथा अतीत हूँ और मायामें स्थित अविनाशी जीवात्मासे भी उत्तम हूँ, इसलिये लोकमें, और वेदमें भी पुरुषोत्तम नामसे प्रसिद्ध हूँ ॥ १८ ॥

त्मा लोकत्रयं भूर्भुवःस्वराख्यं सर्वं जगदिति यावत्, आविश्य स्वकीयया मायाशक्त्याऽधिष्ठाय बिभर्ति सत्तास्फूर्तिप्रदानेन धारयति पोषयति च । कीदृशः अव्ययः सर्वविकारशून्यः ईश्वरः सर्वस्य नियन्ता नारायणः स उत्तमः पुरुषः परमात्मेत्युदाहृत इत्यन्वयः 'स उत्तमः पुरुष' इति श्रुतेः ॥ १७ ॥

म० टी०—इदानीं यथाव्याख्यातेश्वरस्य क्षराक्षरविलक्षणस्य पुरुषोत्तम इत्येतत्प्रसिद्धनामनिर्वचनेन ईदृशः परमेश्वरोऽहमेवेत्यात्मानं दर्शयति भगवान्—'ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाऽहम्, 'तद्धाम परमं मम' इत्यादिप्रागुक्तनिजमहिमनिर्धारणाय यस्मात् क्षरं कार्यत्वेन विनाशिनं मायामयं संसारवृक्षमश्वत्थाख्यमतीतोऽतिक्रान्तोऽहं परमेश्वरः अक्षरादपि मायाख्यादव्याकृताक्षरात् परतः पर इति वक्ष्यम्यन्ताक्षरपदेन श्रुत्या प्रतिपादितात् संसारवृक्षबीजभूतात् सर्वकारणादपि-चोत्तम उत्कृष्टतमः अतः क्षराक्षराभ्यां पुरुषोपाधिभ्यामध्यासेन पुरुषपदव्यपदे-

---

व्यवहृत है भूर्भुवः स्वः सम्पूर्ण विश्व अपनी माया से अधिष्ठित कर सत्त्वस्फूर्ति प्रदानसे धारण और पोषण करता है। कैसा है अव्यय सब विकारोंसे रहित ईश्वरः सबका नियामक नारायण वह उत्तम पुरुष परमात्मा कहा गया है, यह अन्वय है 'स उत्तमः पुरुषः' यह श्रुति है ॥१७॥

इस समय उक्त व्याख्यान के अनुसार क्षर और अक्षर से विलक्षण पुरुषोत्तम मैं ही हूँ इस प्रकार अपने को भगवान् दिखलाते हैं—'ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाऽहम्' 'तद्धाम परमं मम' इत्यादिसे पूर्व कथित अपनी महिमाके निश्चयार्थ यतः क्षर कार्यत्वसे विनश्वरमायिकसंसारवृक्षका अतिक्रमकारी मैं परमेश्वर हूँ अव्याकृत मायारूप अक्षर जो क्षर का बीज है उससे ऊपर हूँ पक्ष्यम्यन्त अक्षर शब्दसे उक्त बीज कहा गया है अतः पुरुषोपाधिभूतक्षराक्षर जो अध्यास

योमामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम् ।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत! ॥ १९ ॥

हे भारत! इस प्रकार तत्त्वसे जो ज्ञानी पुरुष मेरेको पुरुषोत्तम जानता है, वह सर्वज्ञ पुरुष सब प्रकारसे निरन्तर मुझ वासुदेव परमेश्वरको ही भजता है ॥ १९ ॥

श्याभ्यामुत्तमत्वादस्मि भवामि, लोके च 'प्रथितः पुरुषोत्तमः' इति 'स उत्तमः पुरुषः' इति, वेद उदाहृत एव लोके च कविकाव्यादौ 'हरिर्यथैकः पुरुषोत्तमः स्मृत' इत्यादिप्रसिद्धम् ।

कारुण्यतो नरवदाचरतः परार्थान्
पार्थाय बोधितवतो निजमीश्वरत्वम् ।
सच्चित्सुखैकवपुषः पुरुषोत्तमस्य
नारायणस्य महिमा न हि मानमेति ॥
'केचिन्निगृह्य करणानि विसृज्य भोग-
मास्थाय योगममलात्मधियो यतन्ते ।
नारायणस्य महिमानमनन्तपार-
मास्वादयन्नमृतसारमहं तु मुक्तः ॥१८॥

से पुरुष व्यवहार्य है उससे उत्तम लोक और वेदमें प्रसिद्ध परमेश्वर मैं हूँ, वेदमें 'स उत्तमः पुरुषः' यह श्रुति कहा है। लोकमें जैसे रघुवंशमें 'हरिर्यथैकः पुरुषोत्तमः स्मृतः' इत्यादि प्रसिद्ध है।

कारुण्यतो नरवदाचरतः परार्थान्
पार्थाय बोधितवतो निजमीश्वरत्वम् ।
सच्चित्सुखैकवपुषः पुरुषोत्तमस्य
नारायणस्य महिमा नहि मानमेति ॥
केचिन्निगृह्य करणानि विसृज्य भोग-
मास्थाय योगममलात्मधियो यतन्ते ।
नारायणस्य महिमानमनन्तपार-
मास्वादयन्नमृतसारमहन्तु मुक्तः ॥

म० टी०—एवं नामनिर्वचनज्ञाने फलमाह—

यो मामीश्वम्, एवं यथोक्तनामनिर्वचनेन असंमूढः मनुष्य एवायं कश्चित् कृष्ण इति संमोहवर्जितः जानात्ययमीश्वर एवेति पुरुषोत्तमं प्राग्व्याख्यातं स मां भजति सेवते सर्ववित् मां सर्वात्मानं वेत्तीति स एव सर्वज्ञ सर्वभावेन प्रेमलक्षणेन भक्तियोगेन हे भारत ! अतो यदुक्तम्—

'मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।
सगुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥' इति तदुपपन्नम्, यच्चोक्तं 'ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाऽहम्' इति तदप्युपपन्नतरम्—

'चिदानन्दकारं जलदरुचिसारं श्रुतिगिरां
ब्रजस्त्रीणां हारं भवजलधिपारं कृतधियां
विहन्तुं भूभारं विदधदवतारं मुहुरहो
महो वारं वारं भजत कुशलारम्भकृतिनः' ॥ १९ ॥

प्रथम श्लोकका संक्षिप्तार्थ यह है—

दयासे मनुष्यके समान परार्थ आचरणशील अर्जुनके लिये अपनेमें ईश्वरत्वबोधनका ही सत् चित् सुखैकशरीर पुरुषोत्तम नारायण आपकीमहिमा प्रमाणका विषय नहीं अप्रमेय आपकी महिमा है। द्वितीयका संक्षेपार्थ—कोई कोई योगपरायण इन्द्रियोंका निग्रह कर भोगका त्याग कर शुद्धात्मज्ञानवान् योगका आश्रयण कर मुक्तिके लिये प्रयास करते हैं। मैं तो जिसका अन्त और पार नहीं अमृतका सार नारायणको महिमा का स्वाद लेता हुआ मुक्त हूँ। ये दोनों श्लोक इनके ही विरचित प्रतीत होते हैं।

इस प्रकार नाम निर्वचनमें फल कहते हैं—यो मामिति। उक्त नाम निर्वचनसे अमूढ़ मूढ़भिन्न अर्थात् मनुष्य ही कोई यह कृष्ण है इत्याकारक मोहरहित यह ईश्वर ही है यह जानता है वह प्रागुक्त पुरुषोत्तम यह है इस भक्तिसे मेरी सेवा करता है वह सर्ववित् भी है मुझ सर्वात्माको जानता है वही सर्वज्ञ है सर्वभाव सबमें मेरा भाव जान कर सबमें प्रेम करता है अतः सर्वभाव प्रेमलक्षणसे हे भारत ! अतः जो कहा 'मां च योऽव्यभिचारेण' इत्यादि वह ठीक हुआ जो 'ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाऽहम्' कहा वह भी ठीक हुआ।

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ !।
एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान् स्यात्कृतकृत्यश्च भारत! ॥ २० ॥

हे निष्पाप अर्जुन! ऐसे यह अतिरहस्ययुक्त गोपनीय शास्त्र मेरेद्वारा कहा गया, इसको तत्त्वसे जानकर मनुष्य ज्ञानवान् और कृतार्थ हो जाता है अर्थात् उसको और कुछ भी करना शेष नहीं रहता ॥ २० ॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसम्वादे पुरुषोत्तम-
योगो नाम पञ्चदशो-
ऽध्यायः ॥ १५ ॥

म० टी० —इदानीमध्यायर्थं स्तुवन्नुपसंहरति—इति अनेन प्रकारेण गुह्यतमं रहस्यतमं सपूर्णं शास्त्रमेव सक्षेपेणेदमस्मिन्नध्याये मयोक्तं हे अनघ

अर्थ—हे शुभकारि सज्जनो! महत्तेजका बारं बार भजन करो। कैसा तेज है चित् चैतन्य आनन्द एतदात्मक केवल चित् प्रकाशस्वरूप है पर सुखादि स्वरूप न होनेसे अपुरुषार्थ हो जायगा इस लिये आनन्द कहा। केवल आनन्द अप्रकाश माननेसे पुरुषार्थ नहीं अतः चित् कहा। दोनों पृथक् माननेमें द्वैतापत्ति होगी अतः आकारकार कहा सच्चिदानन्दात्मक अखण्डतेज जलदरुचि जल भरा मेघ श्याम होता है श्यामकान्ति अतः मेघ न कहकर जलद कहा। यद्यपि उक्ता-खण्ड तेज निरुपाधि ब्रह्मस्वरूप है उसमें नीलरुचि यह विशेषण उचित नहीं तथापि वही सोपाधि माया से होता है यह विदधदवतारं से स्पष्ट होगा। 'श्रुति-गिरां सारं वेदसर्वस्वं' यह दोनोंमें विशेषण है एक वाच्यत्वेन, दूसरा लक्षणादिसे 'व्रजस्त्रीणां हारं' व्रजस्त्रियोंके हृदयहारि भक्तोंके संसारसागरका पार अवतार लेनेका प्रयोजन कहते हैं—भूमिभार को नष्ट करनेके लिये विदधदवतारं कृतावतारं करुणातिशय सूचनार्थं मुहुः पुनः पुनः। 'यदा यदा हि धर्मस्य' इत्यादि स्वोक्ति से भी असकृत् अवतार लेना स्पष्ट ही है धर्मरक्षणादि भगवान्को अतिप्रिय हैं इसपर आश्चर्य सूचनार्थं अहो यह अव्यय है इति ॥१६॥

इस समय स्तुतिपूर्वक अध्यायके अर्थ का उपसंहार करते हैं—इति इत्यादि से इस रीतिसे अतिगोप्य सम्पूर्ण शास्त्र ही संक्षेप से इस अध्यायमें मैंने कहा

अव्यसन ! एतद्बुद्ध्वोऽन्योपि यः कश्चिद् बुद्धिमानात्मज्ञानवान् स्यात् कृतं सर्वं कृत्यं येन न पुनः कृत्यान्तरं यस्यास्ति स कृतकृत्यश्च स्यात् विशिष्टजन्म प्रसूतेन ब्राह्मणेन यत्कर्तव्यं तत्सर्वं भगवत्तत्वे विदिते कृतं भवेत् न त्वन्यथा कर्तव्यं परिसमाप्यते कस्यचिदित्यभिप्रायः, हे भारत ! त्वं तु महाकुलप्रसूतः स्वयं च व्यसनरहित इति कुलगुणेन स्वगुणेन चैतत् बुध्वा कृतकृत्यो-भविष्यसीति किमु वक्तव्यमित्यभिप्रायः ॥ २० ॥

'वंशीविभूषितकरान्नवनीरदाभात् ।
पीताम्बरादरुणबिम्बफलाधरोष्ठात् ॥
पूर्णेन्दुसुन्दरमुखादरविन्दनेत्रात् ।
कृष्णात्परं किमपि तत्त्वमहं न जाने ॥ १ ॥

हे अनघ अव्यसन ! 'अघं दुःख व्यसनैनसोः' इस हैमकोष के अनुसार अनघका अर्थ अव्यसन कहा है यह जानकर दूसरा भी जो कोई आत्मज्ञानी होगा तथा कृतकृत्य होगा सब कर्तव्यों को जिसने कर लिया है फिर कोई कर्तव्य बाकी नहीं रहा वह कृतकृत्य कहाता है। अच्छे कुलमें उत्पन्न ब्राह्मणका जो कर्तव्य है वह सब भगवानके तत्त्व जाननेपर सम्पादित हो जाता है अन्यथा विना भगवत्तत्त्व जाने किसीका कर्तव्य समाप्त नहीं होता यह भाव है। हे भारत ! तुम तो बड़े कुलमें जन्मे हो स्वयं व्यसनसे रहित हो इस प्रकार कुलके गुणसे और निजके गुणसे इसको जानकर कृतकृत्य होओगे इसमें क्या कहना है यह भाव है ॥२०॥

श्लोकार्थ—वंशीसे विभूषित हाथ वाले नवीनमेघके समान कान्ति-वाले पीताम्बर पहने हुए, लाल बिम्बफलके समान अधरोष्ठ वाले, पूर्ण चन्द्र के समान सुन्दर मुखवाले कमलके समान नेत्र वाले श्रीकृष्ण से पर कोई भी तत्त्व मैं नहीं जानता हूँ ॥

सदा सदानन्दपदे निमग्नं मनो मनोभावमपाकरोति ।
गतागतायाः समपास्य सद्यः परापरातीतमुपैति तत्त्वम् ॥ २ ॥
शैवाः सौराश्च गाणेशा वैष्णवा शक्तिपूजकाः ।
भवन्ति यन्मयाः सर्वे सोऽहमस्मि परः शिवः ॥ ३ ॥
प्रमाणतोऽपि निर्णीतं कृष्णमाहात्म्यमद्भुतम् ।
न शक्नुवन्ति ये सोढुं ते मूढा निरयं गताः ॥ ४ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य श्रीविश्वेश्वरसरस्वतीश्रीपाद-
शिष्यमधुसूदनसरस्वतीविरचितायां श्रीभगवद्गी-
तागूढार्थदीपिकायां पुरुषोत्तम-
योगो नाम पञ्चदशो-
ऽध्यायः ॥१५॥



सर्वदा सदानन्द (परमेश्वर) के पदमें निमग्न मन मनोभावको दूर करता है, गये हुए और आये हुएको अच्छी प्रकारसे दूर कर तत्क्षण पर और अपरसे अतीत तत्त्वको प्राप्त करता है ॥२॥

शैव—शङ्करोपासक, सौर—सूर्योपासक, गाणेश—गणेशोपासक, वैष्णव—विष्णूपासक, शक्ति (दुर्गा आदि) के पूजक, सब लोग यन्मय होते हैं, वही पर शिव मैं हूँ ॥३॥

प्रमाणद्वारासे भी निर्णीत अद्भुत श्रीकृष्ण का माहात्म्य सहन करनेमें जो समर्थ नहीं होते हैं वे मूढ़ नरकगामी होते हैं ॥४॥

इस प्रकार महामहोपाध्याय प० हरिहरकृपालु
द्विवेदिकृत गीतामधुसूदनी के पन्द्रहवाँ
अध्याय का अनुवाद
समाप्त हुआ ॥१५॥

—:*:—

अथ षोडशोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः ।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥ १ ॥

उसके उपरान्त श्रीकृष्ण भगवान् फिर बोले, हे अर्जुन! दैवी संपदा जिन पुरुषोंको प्राप्त है तथा जिनको आसुरी संपदा प्राप्त है, उनके लक्षण पृथक् पृथक् कहता हूँ, उनमेंसे, सर्वथा भयका अभाव, अन्तःकरणकी अच्छी प्रकारसे स्वच्छता, तत्त्वज्ञानके लिये ध्यानयोगमें निरन्तर दृढ़ स्थित और सात्त्विक दान तथा इन्द्रियोंका दमन, भगवत् पूजा अग्निहोत्रादि उत्तम कर्मोंका आचरण एवं वेद शास्त्रोंके पठनपाठन-पूर्वक, भगवान् के नाम और गुणोंका कीर्तन तथा स्वधर्मपालनके लिये कष्ट सहन करना एवं शरीर और इन्द्रियोंके सहित अन्तःकरणकी सरलता ॥ १ ॥

॥ श्रीकृष्णाय गीतामृतदुहे नमः ॥

म० टी०—अनन्तराध्याये—

'अधश्च मूलान्यनुसन्तानि कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके ।'

इत्यत्र मनुष्यदेहे प्राग्भवीयकर्मानुसारेण व्यज्यमाना वासनाः संसारस्यावान्तरमूलत्वेनोक्तास्ताश्च दैवासुरी राक्षसी चेति प्राणिनां प्रकृतयो नवमे-

सोलहवाँ अध्याय

पूर्वाध्याय में—

'अधश्च मूलान्यनुसन्ततानि कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके ।'

यहाँ पर मनुष्य शरीर में पूर्वजन्म कर्म के अनुसार अभिव्यक्त होती हुई वासना संस्कारविशेष संसार के अवान्तर मूलरूप से कहा है, वे दैवी आसुरी राक्षसी ये प्राणियों की प्रकृतियाँ हैं नवम अध्याय में ये कही गई है, उनमें

ऽध्याये सूचिताः। तत्र वेदबोधितकर्मात्मज्ञानोपायानुष्ठानप्रवृत्तिहेतुः सात्त्विका शुभावासना दैवी प्रकृतिरित्युच्यते। एवं वैदिकनिषेधातिक्रमेण स्वभावसिद्धराग-द्वेषानुसारिसर्वानर्थप्रवृत्तिहेतुभूता राजसी तामसी चाशुभवासनाऽऽसुरी राक्षसी च प्रकृतिरुच्यते। तत्र च विषयोभोगप्राधान्येन रागप्राबल्याद्राक्षसीत्वमिति विवेकः। संप्रति तु शास्त्रानुसारेण तद्विहितप्रवृत्तिहेतुभूता सात्त्विकी शुभवासना दैवी संपत्, शास्त्रातिक्रमेण तन्निषिद्धविषयप्रवृत्तिहेतुभूता राजसी तामसी चाशुभवासना। राक्षस्यासुर्योरेकीकरणेनासुरी संपदिति द्वैराश्येन शुभाशुभवासना-भेदं 'द्वया ह प्राजापत्या देवाश्चासुराश्च' इत्यादिश्रुतिप्रसिद्धं शुभानामादानायाशुभानां हानाय च प्रतिपादयितुं षोडशोऽध्याय आरभ्यते। तत्रादौ श्लोकत्रयेणादेयां दैवीं सपदं शास्त्रोपदिष्टेऽर्थे सन्देहं विनाऽनुष्ठाननिष्ठत्वम्, एकाकी

कर्मकाण्ड ज्ञानकाण्ड उभय, वेद से जो कर्मानुष्ठान और आत्मज्ञानोपायानुष्ठान क्रमशः कर्म कारण से वोधित कर्मानुष्ठान, ज्ञानकाण्ड से बोधित ज्ञानोपायानुष्ठान इनकी प्रवृत्ति का कारण जो सात्त्विक शुभ वासना है यह दैवी प्रकृति कही जाती है। इसी प्रकार वैदिक निषेध के अतिक्रम से स्वाभाविक रागद्वेषादि के अनुरूप सब अनर्थों की प्रवृत्ति का कारण राजसी और तामसी अशुभवासना आसुरी तथा राक्षसी प्रकृति कही जाती है। उसमें विषयभोग की प्रधानता से राग की प्रबलता से आसुरीत्व और हिंसा की प्रधानता से द्वेष की प्रबलता से राक्षसीत्व है यह विवेक है। इस समय तो शास्त्र के अनुसार शास्त्रीय कर्मप्रवृत्तिहेतु सात्विकी शुभवासना दैवी संपत, शास्त्र का उल्लंघन कर शास्त्रनिषिद्ध विषयों में प्रवृत्ति की कारणीभूत राजसी तामसी अशुभवासना राक्षसी आसुरी को एक श्रेणी में मानकर आसुरी संपत् है, इस हेतु दो राशियों में जो वासना का भेद 'द्वया ह प्राजापत्या दैवाश्च अशुराश्च' इत्यादि श्रुति प्रसिद्ध है, उनमें शुभवासनाओं के ग्रहण के लिये असुभवासनाओं के त्याग के लिये उन दोनों के प्रतिपादनार्थ सोलहवाँ अध्याय का आरंभ करते हैं। उनमें प्रथम ग्राह्य दैवी संपत् तीन श्लोकों से भगवान् कहते हैं—शास्त्रविहित अर्थ में संशयरहित अनुष्ठान श्रद्धा अथबा अकेला सब

सर्वपरिग्रहशून्यः कथं जीविष्यामीति भयराहित्यं वाऽभयं सत्त्वस्यान्तःकरणस्य शुद्धिर्निर्मलता तस्याः सम्यक्ता भगवत्तत्त्वस्फूर्तियोग्यता सत्त्वसंशुद्धिः परवञ्चनमायानृतादिपरिवर्जनं वा, परस्य व्याजेन वशीकरणं परवञ्चनं हृदयेऽन्यथाकृत्वा बहिरन्यथा व्यवहरणं माया, अयथादृष्टकथनमनृतमित्यादि ; ज्ञानं शास्त्रादात्मतत्त्वस्यावगमः, चित्तैकाग्रतया तस्य स्वानुभवारूढत्वं योगः, तयोर्व्यवस्थितिः सर्वदा तन्निष्ठता ज्ञानयोगव्यवस्थितिः । यदा तु अभयं सर्वभूताभयदानसङ्कल्पपालनम्, एतच्चान्येषामपि परमहंसधर्माणामुपलक्षणम्—सत्त्वसंशुद्धि-

उपकरणों को छोड़ कर असहाय कैसे जियेंगे इस भय का अभाव अभय है। अधिकारि भेद से अभय का भेद है। कर्मी के लिये प्रथम और संन्यासी के लिये द्वितीय अभय है। सत्त्व संशुद्धि सत्त्व अन्तःकरण उसकी समीचीन शुद्धि मलराहित्य। समुपसर्ग के अर्थ को स्फुट करते हैं—भगवत्तत्त्व स्फूर्ति योग्यता शुद्धि में समीचीनता है, शुद्ध सत्त्व गुणोपचित मन में भगवान् के अद्वैतानन्दघनस्वरूप का स्फुरण (प्रकाश) होता है, अन्यथा नहीं। वह वञ्चनादि शून्यत्व से भी अन्तःकरण शुद्ध होता है, अतः वह भी साधनावस्था में अपेक्षित है। संन्यासी के लिये प्रथम शुद्धि है क्योंकि वह परवञ्चनादि से स्वयं निवृत्त है, कर्मी को द्वितीय अनुष्ठेय है। परवञ्चन परकीय वस्तु को कपट से अपने अधीन करना है, मन में दूसरा रखकर उसके विरुद्ध व्यवहार करना माया है। जैसा नहीं देखा वैसा कहना मिथ्या भूठ बोलना अनृत है, ज्ञान शास्त्र और आचार्य से आत्मतत्त्व का वोध, चित्त की एकाग्रता से श्रुत आत्मतत्त्व को स्वानुभव में स्थिर करना योग है, इन दोनों ज्ञान योगों की व्यवस्था सदा तत्परायणता तदेकतानता ज्ञानयोग व्यवस्थिति है। 'यदा तु' से अर्थान्तर कहते हैं 'अभयम्' इत्यादि से—

'अभयं सर्वभूतेभ्यो दत्वा सन्यासमाचरेत्।'

इस वचन के अनुसार सब भूतों प्राणियों को अभयदान का संकल्प कर संन्यास लेने पर उस का पालन अभय है। यह अन्य परमहंस धर्मों का उपलक्षण है। सत्त्वसंशुद्धि श्रवण मननादि के परिपाक (सुपरिणाम) से

श्रवणादिपरिपाकेणान्तःकरणस्यासंभावनाविपरीतभावनादिमलराहित्यं ज्ञानमात्मसाक्षात्कारः, योगो मनोनाशवासनाक्षयानुकूलः पुरुषप्रयत्नस्ताभ्यां विशिष्टा संसारिविलक्षणाऽवस्थितिर्जीवन्मुक्तिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिरित्येवं व्याख्यायते, तदा फलभूतैव दैवी संपदियं द्रष्टव्या। भगवद्भक्तिं विनान्तःकरणसंशुद्धेरयोगात्तया साऽपि कथिता।

'महात्मानस्तु मां पार्थ! दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्॥'

इति नवमे दैव्यां संपदि भगवद्भक्तेरुक्तत्वाच्च भगवद्भक्तेरतिश्रेष्ठत्वादभयादिभिः सह पाठो न कृत इति द्रष्टव्यम्। महाभाग्यानां परमहंसानां फलभूतां दैवीं संपदमुक्त्वा ततो न्यूनानां गृहस्थादीनां साधनभूतामाह—दानं स्वस्वत्व-

---

अन्तःकरण की असंभावना विपरीतभावना मलिनता है। ब्रह्म तुम हो यह सुनते ही कहा—यह असंभव है कभी यह नहीं हो सकता, अद्वितीय ब्रह्म है इसका भाव सजातीय द्वितीयरहित में समझकर ब्रह्म के बराबर का दूसरा नहीं है यह विपरीतभावना है, उक्त भावनायें जब तक मन में रहती हैं तब तक मन शुद्ध नहीं, क्योंकि अद्वितीय अखण्ड जीव ब्रह्माभेद साक्षात्कार नहीं होता अतस्तद्राहित्य संशुद्धि है। ज्ञान आत्मा का प्रत्यक्ष योग मन का नाश, वासनाक्षय के अनुरूप पुरुष का व्यापार इन दोनों ज्ञान योगों की विशेष रूप से स्थिति संसारिविलक्षण अवस्थिति जीवन्मुक्ति ऐसा व्याख्यान किया जाय तो फलस्वरूप यह दैवी संपत समझना। भगवान् की भक्ति के विना अन्तःकरण की शुद्धि नहीं होती अतः तच्छुद्धि से तत्कारणीभूत भक्ति अर्थात् कही गई है। कार्य से कारण का अनुमान अनुभव सिद्ध है केवल अर्थापत्तिलभ्यही भक्ति नहीं, किन्तु—

'महात्मानस्तु मां पार्थ! दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्॥

इस वचन से नवम अध्याय में दैवी सपद् में भगवद्भक्ति कही गई है। भक्ति का यहाँ निर्देश न करने में हेतु कहते हैं—भगवन् की भक्ति सब

परित्यागपूर्वकं परस्वत्वस्यापादनमन्नादीनां यथाशक्तिशास्त्रोक्तः संविभागः, दमो बाह्येन्द्रियसंयमः ऋतुकालाद्यतिरिक्तकाले मैथुनाद्यभावः, चकारोऽनुक्तानां निवृत्तिलक्षणधर्माणां समुच्चयार्थः। यज्ञश्च श्रौतोऽग्निहोत्रदर्शपूर्णमासादिः, स्मार्तो-देवयज्ञः पितृयज्ञो भूतयज्ञो मनुष्यज्ञ इति चतुर्विधः, ब्रह्मयज्ञस्य स्वध्यायपदेन पृथगुक्तेः। चकारोऽनुक्तानां प्रवृत्तिलक्षणधर्माणां समुच्चयार्थः।

से उत्तम है इसलिये अभयादि के साथ उसका पाठ नहीं किया अन्यथा भक्ति भी अभयादि के समान ही समझी जाती यह रहस्य समझना। महाभागयशाली परमहंसों की दैवी संपद् को कह कर उनसे कम गृहस्थों का साधनभूत संपत् कहते हैं—दानम्, अपने पुरुषार्थ से अर्जित धन में अपना स्वत्व होता है अतः अपने अन्नादि का सामर्थ्यानुसार यथा शास्त्रविधि दूसरे को देना सुपात्र के दान में फल है अपात्र के दान में नहीं, पात्रापात्र का निर्णय शास्त्र ही से होता है। बाह्येन्द्रियों का संयम दम है, ऋतु काल से अतिरिक्त काल में स्त्रीसंभोगाभाव, उपस्थ का बाह्येन्द्रियों में गणना है। यह उपलक्षण है. इतर बाह्येन्द्रियों का, 'ऋतौ भार्यामुपेयात्' इस वचन से ऋतुकाल में उसका विधान है, न करने से प्रत्यवाय होगा, अतः अतिरिक्त का निर्देश है। चकार अनुक्त जो निवृत्ति लक्षण धर्म हैं उसके उपलक्षणार्थ है।

यज्ञ, वैदिक अग्निहोत्र दर्शपौर्णमासादि, स्मार्त्त-देवयज्ञ, ऋषियज्ञ, पितृयज्ञ, भूतयज्ञ, ये चार हैं

'पाठो होमश्चातिथीनां सपर्या तर्पणं वलिः।
एते पञ्च महायज्ञाः...........

प्रश्न—इस वचन के अनुसार स्मार्त यज्ञ पाँच हैं इनमें पाठको छोड़ चार ही स्मार्तयज्ञ कहने का अभिप्राय क्या ?

उत्तर—स्वाध्याय नामक पाठका ब्रह्मयज्ञ शब्दसे पृथक् कहा है—'स्वाध्यायस्तप आर्जवम्' से। अतः पुनरुक्ति दोष परिहारार्थं स्मार्तयज्ञ चार ही कहा है तात्पर्य पाँचोमें है। द्वितीय चकार प्रवृत्तिलक्षण धर्म जो यहाँ नहीं कहे गये उनके उपलक्षणार्थं हैं अर्थात् चकारसे उनका भी संग्रह है। ये तीनों गृहस्थके

अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम् ।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥ २ ॥

तथा मन, वाणी और शरीरसे किसी प्रकार भी किसीको कष्ट न देना तथा यथार्थ और प्रिय भाषण, अपना करनेवाले पर भी क्रोधका न होना, कर्मोंमें कर्तापनके अभिमानका त्याग एवं अन्तःकरणकी उपरामता अर्थात् चित्तकी चञ्चलताका अभाव और किसीकी भी निन्दादि न करना तथा सब भूतप्राणियोंमें हेतुरहित दया, इन्द्रियोंका विषयोंके साथ संयोग होनेपर भी आसक्तिका न होना और कोमलता तथा लोक और शास्त्रसे विरुद्ध आचरणमें लज्जा और व्यर्थ चेष्टाओंका अभाव ॥ २ ॥

एतत्त्रयं गृहस्थस्य स्वाध्यायो ब्रह्मयज्ञः अदृष्टार्थमृग्वेदाद्यध्ययनरूपः । यज्ञशब्देन पञ्चविधमहायज्ञोक्तिसंभवेऽप्यसाधारण्येन ब्रह्मचारिधर्मकत्वकथनार्थं पृथगुक्तम् । तपस्त्रिविधं शारीरादि सप्तदशे वक्ष्यमाणं वानप्रस्थस्यासाधारणो धर्मः । एवं चतुर्णामाश्रमाणामसाधारणान् धर्मानुक्त्वा चतुर्णां वर्णानामसाधारणधर्मानाह— आर्जवम् अवक्रत्वं श्रद्धानेषु श्रोतृषु स्वज्ञातार्थासंगोपनम् ॥ १ ॥

म० टी०—प्राणिवृत्तिच्छेदो हिंसा सत्यमनर्थाननुबन्धि यथाभूतार्थवचनं परैराक्रोशे ताडने वा कृते सति प्राप्त यः क्रोधस्तस्य तत्कालमुपशमन-

धर्म हैं। स्वध्यायको ब्रह्मयज्ञ कहते हैं, यह केवल अदृष्टार्थ है, ऋग्वेदाद्यध्ययनरूप यज्ञ पंचविध यज्ञ कहनेसे इसके लाभका संभव था फिर भी स्वाध्यायरूप असाधारणधर्म तन्मात्रवृत्तिसे निर्देश यह ब्रह्मचारीका भी धर्म है केवल गृहस्थ ही का नहीं एतदर्थ अलग उक्ति है। तप तीन प्रकारका है, सत्रहवें अध्यायमें 'शरीरं तपः' कहेंगे, ये वानप्रस्थके असाधारण धर्म हैं। इस प्रकार चारों आश्रमों के असाधारणधर्मोंको कहकर चारों वर्णोंके असाधारण धर्मोंको कहते हैं—आर्जव मृदुता, अकुटिलता इसको स्पष्ट कहते हैं—श्रद्धानेषु से। श्रद्धायुक्त श्रोताओंके प्रति स्वज्ञात अर्थको छिपाना नहीं, श्रद्धारहितोंके प्रति छिपाना कुटिलता नहीं यह भाव है ॥१॥

प्राणियोंकी जीविका को नाश करना हिंसा है, उपाय नाश उपेय नाशार्थं ही है, भाष्यमें—'अहिंसा प्राणिनां पीड़ा वर्जनम्' लिखा है। साक्षात् हिंसाभाव

मक्रोधः, दानस्य प्रागुक्तेः त्यागः संन्यासः, शमस्य प्रागुक्तेः शान्तिरन्तःकरणस्योपशमः, परस्मै परोक्षे परदोषप्रकाशनं पैशुनं तदभावोऽपैशुनम् दया भूतेषु दुःखितेष्वनुकम्पा, अलोलुप्त्वम् इन्द्रियाणां विषयसन्निधानेऽप्यविक्रियत्वं मार्दवमक्रूरत्वं वृथापूर्वपक्षादिष्वपि शिष्यादिष्वप्रियभाषणादिव्यतिरेकेण बोधयितृत्वम् ह्रीरकार्यप्रवृत्त्यारम्भे तत्प्रतिबन्धिका लोकलज्जा, अचापलं प्रयोजनं विनाऽपि वाक्पाण्यादिव्यापारयितृत्वं चापलं तदभावः आर्जवादयोऽचापलान्ता ब्राह्मणस्यासाधारणाधर्माः ॥ २ ॥

का लाभ दयासे ही हो जाता है तदहेतुस्व जीविकानाश हेतुत्वाभाव प्रकृतमें अहिंसा है। सत्य अनर्थाजनक जैसा हुआ हो वैसा कहना यदि सच्चा कहनेमें वर्णियोंके वध होनेकी सम्भावना हो तो झूठ ही कहना।

'वर्णिनां हि वधो यत्र तत्र साक्ष्यनृतं वदेत्।'

यह धर्मशास्त्रका आदेश है अतः अनर्थानुबन्धि कहा।

'तत्र त्वाक्षारणा यः स्यादाक्रोशो मैथुनं प्रति।'

इस अमरकोषके अनुसार परस्त्री निमित्तक परपुरुषके प्रति परपुरुषनिमित्तक स्त्रीके प्रति जो अनुचित कथन है वह आक्रोश है। ऐसे वाक्योंसे क्रोध होना स्वाभाविक ही है, अथवा पीटनेपर जो क्रोध होता है उसका उस कालमें शमन अक्रोध है। त्याग यहाँ सन्यासपरक है, क्योंकि दानरूप त्याग पूर्वमें कह चुके हैं। शान्ति अन्तःकरणका शमन परोक्षमें दूसरेके प्रति दूसरेके दोषोंको प्रकाशित करना पैशुन्य है उसका अभाव न प्रकाशित करना अपैशुन्य है। दुःखित प्राणियोंमें आदर दृष्टि दया प्रसिद्ध है। विषय प्राप्ति होनेपर भी इन्द्रियोंमें विकार न होना अलोलुपता है। मार्दव क्रुद्धत्वाभाव यद्यपि 'नृशंसो घातुकः क्रूरः' इस कोषसे क्रूर शब्द परद्रोहकारीका वाचक है, तथापि यहाँ जिस अर्थके तात्पर्यमें उक्त शब्दका प्रयोग हुआ है उसको स्पष्ट करते हैं—शिष्योंके व्यर्थ पूर्वपक्ष करनेपर भी कटुशब्दोक्तिके विबोधन करना अक्रूरत्व है। ह्री निन्दितकार्य प्रवृत्तिके आरंभमें तत्प्रतिबन्धक लोकलज्जा, अचापल बिना मतलब वाक्पाणिपादादि व्यापारवत्व चापल है उसका अभाव अचापल है 'न कुर्याच्च वृथा चेष्टाम्' इत्यादि मानववाक्यसे उक्त चेष्टाका निषेध है, आर्जवसे लेकर अचापलान्त ब्राह्मणके असाधरण धर्म हैं ॥२॥

तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता ।
भवन्ति संपदं दैवीमभिजातस्य भारत ! ॥ ३ ॥

तथा तेज, क्षमा, धैर्य और बाहर भीतरकी शुद्धि एवं किसीमें भी शत्रुभावका न होना और अपनेमें पूज्यताके अभिमानका अभाव, यह सब तो हे अर्जुन ! दैवी संपदाको प्राप्त हुए पुरुषके लक्षण हैं ॥ ३ ॥

म० टी०—तेजः प्रागल्भ्यं स्त्रीबालकादिभिर्मूढैरनभिभाव्यत्वम्, क्षमा-सत्यपि सामर्थ्ये परिभवहेतुं प्रति क्रोधस्यानुत्पत्तिः, धृतिर्देहेन्द्रियेष्ववसादं प्राप्तेष्वपि तदुत्तंभकः येनोत्तम्भितानि करणानि शरीरं च नावसीदन्ति, एतत्त्रयं क्षत्रियस्यासाधारणम् । शौचमाभ्यन्तरम् अर्थप्रयोगादौ मायानृतादिराहित्यं न तु मृज्जलादिजनितं बाह्यत्वेनान्तःकरणवासनाशोधकत्वाभावात् (वासनात्वा-भावात्) तद्वासनानामेव सात्त्विकादिभेदभिन्नानां दैवासुर्यादिसम्पद्रूपत्वेनात्र प्रतिपादयिषितत्वात् स्वाध्यायादिवत्केनचिद्रूपेण वासनारूपत्वे तदप्यादेयमेव, द्रोहः परजिघांसया शस्त्रग्रहणादि, तदभावोऽद्रोहः एतद्द्वयं वैश्यस्याधारणम्

तेज प्रागल्भ्य मूर्खजनों से परिभव करने की योग्यता का अभाव सामर्थ्य रहने पर भी तिरस्कार कारण के प्रति क्रोध की अनुत्पत्ति, धृति शरीरेन्द्रियादि के गिरने पर भी उनके उठाने का प्रयत्न विशेष जिससे आकृष्ट शरीरादि गिरते नहीं ये तीनों क्षत्रिय के असाधारण धर्म हैं। शौच भीतरी द्रव्यादिक के लेन देन में माया कपट छलादि शून्यत्व मिट्टी जलादि से उत्पन्न जो बाह्य मलक्षालन है वह यहाँ विक्षित नहीं क्योंकि वह शरीर शुद्धि स्वरूप होने से बाहर का है, अतः अन्तकरण की वासनाओं का शोधक वह नहीं हो सकता। सात्विक राजसादि से भिन्न तद्वासनाओं का ही दैवी आसुरी आदि से पदरूप से यहाँ प्रतिपादन इष्ट है भाव्य स्वर से दोनों यहाँ विवक्षित है। बाह्य शौच का प्रतिषेध भाष्य विरुद्ध है इस शंका से कहते हैं—स्वाध्यायेति। जैसे स्वाध्याय वाक साध्य होने से बाह्य है फिर भी वासना रूप से उसका ग्रहण है, वैसे शौच भी किसी रूप से वासनारूप होने से बाह्य शौच भी ग्राह्य ही है। द्रोह दूसरे के मारने के लिये लाठी, तलवार आदि का हाथ में लेना तदभाव अद्रोह है। ये दोनों वैश्यों के असारण धर्म हैं।

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ! संपदमासुरीम् ॥ ४ ॥

और हे पार्थ! पाखण्ड, घमण्ड और अभिमान तथा क्रोध और कठोर वाणी एवं अज्ञान भी यह सब आसुरी संपादाको प्राप्त हुए पुरुष के लक्षण हैं ॥४॥

अत्यर्थमानितात्मनि पूज्यत्वातिशयभवनाऽतिमानिता तदभावो नातिमानिता पूज्येषु नम्रता अयं शूद्रस्यासाधारणो धर्मः 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन' इत्यादिश्रुत्या' विविदिषौपयिकतया विनियुक्ताः असाधारणाश्च वर्णाश्रमधर्मा इहोपलक्ष्यन्ते एते धर्मा भवन्ति निष्पद्यन्ते, दैवीं शुद्धसत्त्वमयीं संपदं वासनासन्ततिं शरीरारम्भकाले पुण्यकर्मभिरभिव्यक्तामभिलक्ष्य जातस्य पुरुषस्य 'तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते पूर्वप्रज्ञा च पुण्यः पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन' इत्यादि श्रुतिभ्यः हे भारत! इति संबोधयन् शुद्धवंशोद्भवत्वेन पूतत्वात्त्वमेतादृशधर्मयोग्योऽसीति सूचयति ॥ ३ ॥

अतिमानिता अपने में पूज्यत्वातिशय भावना हम सबसे अधिक पूज्य हैं वह धारणा अतिमानिता है, तद्भाव नातिमानिता पूज्यों में नम्रता यह फलित अर्थ है यह शूद्र का असाधारण धर्म है 'तमेतं वेदानुवचनेन' इत्यादि श्रुति से ज्ञानेच्छा में उपकारितया विनियुक्त असाधारण और साधारण धर्म यहाँ उपलक्षणतया विवक्षित है। शरीरारंभके समय प्राचीन पुण्यकर्मोंसे अभिव्यक्त शुद्धसत्त्वमयी वासना सन्तानरूप दैवी सम्पद्को अभिमुख कर उत्पन्न पुरुषको ये धर्म स्वभावतः होते हैं 'तं विद्या कर्मणी समन्वारभेते पूर्वप्रज्ञा च पुण्यः पुण्येन कर्मणा' इत्यादि श्रुतियोंसे यह अर्थ प्रतीत होता है। हे भारत! यह सम्बोधन करते हुए शुद्धवंशमें उत्पन्न होनेसे तुम इन धर्मोंके योग्य हो यह सूचित करते हैं ॥३॥

म० टी०—आदेयत्वेन दैवीं संपदमुक्त्वेदानीं हेयत्वेनासुरीं संपदमेकेन श्लोकेन सङ्क्षिप्याह—दम्भो धार्मिकतयात्मानः ख्यापनं तदेव धर्मध्वजित्वम्, दर्पो धनस्वजनादिनिमित्तो महदवधारणाहेतुर्गर्वविशेषः, अभिमान आत्मन्यत्यन्तपूज्यत्वातिशयाध्यारोपः 'देवाश्च वा असुराश्चोभये प्राजापत्या स्पृधिरे ततो सुरा अतिमानेनैव कस्मिन्नु वयं जुहवामेति स्वेष्वेवास्येषु जह्वतश्चेरुस्तेऽतिमानेनैव पराबभूवुस्तस्मान्नातिमन्येत पराभवस्य ह्येतन्मुखं यदतिमान इति शतपथश्रुत्युक्तः, क्रोधः स्वपरापकारप्रवृत्तिहेतुरभिज्वलनात्मकोऽन्तःकरणप्रवृत्तिविशेषः पारुष्यं प्रत्यक्षरूक्षवदनशीलत्वम्, चकारोऽनुक्तानां भावभूतानां चापलादिदोषाणां समुच्चयार्थः। अज्ञानं कर्तव्याकर्तव्यादिविषयविवेकाभावः, च शब्दोऽनुक्तानामभावभूतानामधृत्यादिदोषाणां समुच्चयार्थः। आसुरीमसुररमणहेतुभूतां रजस्तमोमयीं संपदमशुभवासनासन्ततिं शरीरारम्भकाले पापकर्मभिरभिव्यक्तामभिलक्ष्य जातस्य दम्भाद्या अज्ञानान्ता दोषा एव भवन्ति न त्वभयाद्या गुणा इत्यर्थः। हे पार्थ! इति संबोधयन् विशुद्धमातृकत्वेन तदयोग्यत्वं सूचयति ॥ ४ ॥

ग्राह्य दैवीसंपत्को कहकर इस समय त्याज्य आसुरीसंपत्को एक श्लोकसे संक्षेपकर कहते हैं—दंभ अपनेको धार्मिक प्रकाश करना यही धर्मध्वजित्व है, दर्प धन परिवार निमित्तक दूसरेका अवहेलनाका कारण अभिमानविशेष, अभिमान अपनेमें अतिपूज्यत्वभाव 'देवाश्च वा असुराश्चोभये प्राजापत्य' इत्यादि मूलस्थ श्रुतिमें प्रसिद्ध है। क्रोध अपने परायेके अपकार करनेकी प्रवृत्तिका कारण मनका अभिज्वलनात्मक वृत्तिविशेष, क्रुद्धपुरुष अपना शिर फोड़ता है दूसरेका भी यह लोकमें प्रसिद्ध है। पारुष्य सामने परुष शब्द कथनस्वभाव, चकार अनुक्त भावभूत चापलादि दोषोंका समुच्चायक है। अज्ञान कृत्याकृत्य विवेकाभाव, च शब्द अनुक्त अभावस्वरूप अधृत्यादि दोषोंके समुच्चयार्थ है। देहारंभ समयमें पापकर्मोंसे अभिव्यक्त रजस्तमोमयी अतएव असुररमणकारणीभूत आसुरी वासनासन्ततिरूप सम्पत्को अभिमुखकर उत्पन्न असत्पुरुषके दंभादि अज्ञानान्त दोष ही होते हैं, अभयादि गुण नहीं यह अर्थ है। हे पार्थ ! इस सम्बोधनसे तुम पवित्र पृथामातासे उत्पन्न हो अतः उन दोषोंके योग्य तुम नहीं हो यह सूचित करते हैं ॥४॥

दैवी संपद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता ।
मा शुचः संपदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव ! ॥ ५ ॥

उन दोनों प्रकारकी संपदाओंमें, दैवी संपदा तो मुक्ति के लिए और आसुरी संपदा बाँधनेके लिये मानी गई है, इसलिये हे अर्जुन ! तूँ शोक मत कर, क्योंकि तूँ दैवी सँपदाको प्राप्त हुआ है ॥ ५ ॥

म० टी—अनयोः संपदोः फलविभागोऽभिधीयते—यस्याश्रमस्य च या विहिता सात्त्विकी फलाभिसन्धिरहिता क्रिया सा तस्य दैवी सम्पत्, सा सत्त्वशुद्धिभगवद्भक्तिज्ञानयोगस्थितपर्यन्ता सती संसारबन्धनाद्विमोक्षाय कैवल्याय भवति अतः सैवोपादेया श्रेयोऽर्थिभिः, या तु यस्य शास्त्रनिषिद्धा फलाभिसन्धिपूर्वा साऽहङ्कारा च राजसी तामसी क्रिया तस्य सा सर्वाऽप्यासुरी सम्पत् अतो राक्षस्यपि तदन्तर्भूतैव सा निबन्धाय नियता संसारबन्धाय मता संमता शास्त्राणां तदनुसारिणां च अतः सा हेयैव श्रेयोऽर्थिभिरित्यर्थः । तत्रैवं सत्यहं कया संपदा युक्त इति संदिहानमर्जुनमाश्वासयति भगवान्—**मा शुचः** इति । अहमासुर्या सम्पदा युक्त इति शङ्कया शोकमनुतापं मा कार्षीः दैवी संपदमभिलक्ष्य जातोऽसि प्रागर्जितकल्याणो भाविकल्याणश्च त्वमसि

इन दोनों संपदोंके फलविभागको कहते हैं—जिस वर्णकी जिस आश्रमकी विहित फलकामनारहित जो क्रिया वह उसकी दैवीसंपत् है, वह सत्त्वशुद्धि भगवद्भक्ति ज्ञानयोगस्थितिपर्यन्त रहती हुई संसारबन्धसे मुक्त होनेके लिये होती है यही संपद मोक्षका उपाय है, अतः कल्याणार्थियोंको इसीका ग्रहण करना चाहिए। जो जिसके लिये शास्त्रसे निषिद्ध है फलकामना सहित साहङ्कार राक्षसी तामसी क्रिया वह उसकी सब आसुरी संपत् है। राक्षसी भी आसुरीके अन्तर्गत ही है। वह संसारबन्धके लिये नियत है इससे संसाररूपी बन्ध सुनिश्चित है इसमें शास्त्र और तदनुयायिओंकी सम्मति है अतः कल्याण कामुकोंसे यह हेय ही है। ऐसी परिस्थितिमें मैं किस संपत् से युक्त हूँ इस प्रकार संदिग्ध अर्जुनको भगवान् आश्वासन (ढाढ़स) देते हैं—'मा' से। मैं आसुरी संपतसे युक्त हूँ इस शंकासे शोक मत करो दैवीसंपत्को अभिमुख कर तुम उत्पन्न हुए हो पूर्वजन्ममें तुमने धर्म किया है, अगले जन्ममें भी तुम्हारा कल्याण होगा हे पाण्डव ! इस सम्बो-

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन् दैव आसुर एव च।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ! मे शृणु ॥ ६ ॥

और हे अर्जुन! इस लोकमें भूतोंके स्वभाव दो प्रकारके माने गये हैं, एक तो देवोंके जैसा और दूसरा असुरोंके जैसा, उनमें देवोंका स्वभाव ही विस्तारपूर्वक कहा गया है, इसलिये अब असुरोंके स्वभावको भी विस्तारपूर्वक मेरेसे सुनो ॥ ६ ॥

हे पाण्डव! पाण्डुपुत्रेष्वन्येष्वपि दैवी संपत्प्रसिद्धा किं पुनस्त्वयीति भावः ॥ ५ ॥

म० टी०—ननु भवतु राक्षसी प्रकृतिरासुर्यामन्तर्भूता शास्त्रनिषिद्धक्रियोन्मुखत्वेन सामान्यात् कामोपभोगप्राधान्यप्राणिहिंसाप्राधान्याभ्यां क्वचिद्भेदेन व्यपदेशोपपत्तेः, मानुषी तु प्रकृतिस्तृतीया पृथगस्ति' त्रयाः प्राजापत्याः प्रजापतौ पितरिब्रह्मचर्यमूचुर्देवा मनुष्या असुराः' इति श्रुतेः, अतः साऽपि हेयकोटावुपादेय कोटौ वा वक्तव्येत्यत आह—अस्मिंल्लोके सर्वस्मिन्नपि संसारमार्गे द्वौ द्विप्रकारावेव भूतसर्गौ मनुष्यसर्गौ भवतः कौ तौ दैव आसुरश्च न तु राक्षसो मानुषो वा-

धनसे दूसरे पाण्डुपुत्रोंमें दैवीसंपत् प्रसिद्ध है तुममें क्या कहना है यह अभिप्राय सूचित होता है ॥५॥

अच्छा आसुरीप्रकृतिमें राक्षसीप्रकृतिका अन्तर्भाव हो क्योंकि शास्त्रप्रतिषिद्धक्रियोन्मुखत्व सामान्यधर्म राक्षसी आसुरी दोनोंमें समान है शास्त्रनिषिद्धकर्म करनेमें दोनों प्रकृतियोंकी स्वभावतः प्रवृत्ति होती है कामोपभोग प्राधान्य और हिंसा प्राधान्यसे दोनोंमें कही भेदव्यवहार है। विषयोपभोग प्रधान आसुरी प्रकृति है। हिंसाप्रधान राक्षसीप्रकृति है, मानुषीप्रकृति तीसरी अलग है। 'त्रया ह प्राजापत्याः प्रजापतौ पितरि ब्रह्मचर्यमूचुः देवा मनुष्या असुराः' यह श्रुति तीसरी प्रकृतिमें प्रमाण है, अतः वह भी त्याज्यकोटिमें अथवा ग्राह्यकोटिमें है इसका विवेक भी करना चाहिये इस हेतुसे कहते हैं—इस संसारमें दोप्रकार के ही भूतसर्ग मनुष्यसर्ग है, अधिक नहीं एक दैव दूसरा आसुर। राक्षस या मानुष अधिक सर्ग नहीं है। दैव आसुरमें ही उक्त दोनोंका अन्तर्भाव है, जो मनुष्य

ऽधिकः सर्गोऽस्तीत्यर्थः, यो यदा मनुष्यः शास्त्रसंस्कारात्प्राबल्येन स्वभावसिद्धौ रागद्वेषावभिभूय धर्मपरायणो भवति स तदा देवः, यदा तु स्वभावसिद्धराग-द्वेषप्राबल्येन शास्त्रसंस्कारमभिभूयाधर्मपरायणो भवति स तदाऽसुर इति द्वैविध्योपपत्तेः, न हि तृतीया कोटिरस्ति तथा च श्रूयते--'द्वया ह प्राजा-पत्या देवाश्चासुराश्च ततः कानीयसा एव देवाज्यायसा असुरा इति। दमदानयाविधिपरे तु वाक्ये 'त्रयाः प्रजापत्या' इत्यादौ दमदानदयारहिता मनुष्या असुरा एव सन्तः केनचित्साधर्म्येण देवा मनुष्या असुरा इत्युपचर्यन्त इति नाधिक्यावकाशः, एकेनैव 'न' इत्यक्षरेण प्रजापतिना दमरहितान्मनुष्या-न्प्रति दमोपदेशः कृतः, दानरहितान् प्रति दानोपदेशः, दयारहितान् प्रति दयोपदेशः, न तु विजातीया एव देवासुरमनुष्या इह विवक्षिताः मनुष्याधिकारत्वाच्छास्त्रस्य तथा चान्ते उपसंहरति--'तदेतदेवैषा दैवी वागनुवदति स्तनयित्नुर्ददद' इति दाम्यत ददत दयध्वमिति तदेतत्त्रयं शिक्षेद्दमं दयामिति तस्माद्राक्षसी मानुषी

जिस समय शास्त्रवासनाकी प्रबलतासे स्वाभाविक राग द्वेषको दबाकर धर्मतत्पर होता है वह उस समयमें दैव है, और जिस समय स्वाभाविक रागद्वेषकी प्रबलतासे शास्त्रसंस्कारको दाबकर अधर्मपरायण होता है वह उस समय आसुर है, इस रीतिसे दो प्रकारकी उत्पत्ति है धर्माधर्मसे तीसरीकोटि नहीं है। धार्मिक अधार्मिक दो प्रकारके मनुष्य हैं समय भेदसे धार्मिक किस कालमें अधार्मिक और अधार्मिक कालान्तरमें धार्मिक हो जाते हैं फिर भी कोटि दो ही रहती है तीसरी कोटि नहीं श्रुतिसे भी ऐसा ही सुना जाता है 'द्वया ह प्राजापत्याः देवाश्च असुराश्च' इत्यादि। दम-दान-दयाविधि इति। दूसरे वाक्यमें 'त्रयाह प्राजा-पत्या' इत्यादिमें दम दान दया रहित मनुष्य असुर ही होते हुए किसी साधर्म्यसे देवा मनुष्या असुरा' इस प्रकार गौणीवृत्तिसे कहे जाते हैं आधिक्यका अवसर नहीं। एक ही इस अक्षरसे ब्रह्माने दमरहित मनुष्योंके प्रति दमका उपदेश दिया, दानरहित सूत्रोंके प्रति दानका उपदेश दिया, दयारहितोंके प्रति दयाका उपदेश दिया। विजातीय विलक्षण देव असुर और मनुष्य यहाँ विवक्षित नहीं, क्योंकि शास्त्रमें मनुष्यका ही अधिकार है ऐसा ही अन्तमें उपसंहार करते हैं—'तदेतदेवैषा दैवी वागनुवदति स्तनयित्नुर्ददद' इति दाम्यत ददत दयध्वम् इति। अतः राक्षसी

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः ।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते ॥ ७ ॥

हे अर्जुन! आसुरी स्वभाववाले मनुष्य कर्तव्यकार्यमें प्रवृत्त होनेको और अकर्तव्यकार्यसे निवृत्त होनेको भी नहीं जानते हैं, इसलिये उनमें न तो बाहर, भीतरकी शुद्धि है, न श्रेष्ठ आचरण है और न सत्यभाषण ही है ॥ ७ ॥

च प्रकृतिरासुर्यामेवान्तर्भवतीति युक्तमुक्तं द्वौ भूतसर्गाविति । तत्र दैवो भूतसर्गो मया त्वां प्रति विस्तरशो विस्तरप्रकारैः प्रोक्तः स्थितप्रज्ञलक्षणे द्वितीये, भक्तिलक्षणे द्वादशे, ज्ञानलक्षणे, त्रयोदशे, गुणातीतलक्षणे चतुर्दशे, इह च 'अभयम्' इत्यादिना, इदानीमासुरं भूतसर्गं मे मद्वचनैर्विस्तरशः प्रतिपाद्यमानं त्वं शृणु हानार्थमवधाराय सम्यक्तया ज्ञातस्य हि परिवर्जनं शक्यते कर्तुमिति हे पार्थेति संबंधसूचनेनानुपेक्षणीयतां दर्शयति ॥ ६ ॥

म० टी०—वर्जनीयामासुरीं संपदं प्राणिविशेषणतया तानहमित्यतः प्राक्तनैर्द्वादशभिः श्लोकैर्विवृणोति—प्रवृत्तिं प्रवृत्तिविषयं धर्मम्, चकरात्तत्प्रति-

मानुषी प्रकृति आसुरीमें ही अन्तर्गत होती है इस प्रकार ठीक ही कहा—दो भूतसर्ग हैं इति । उनमें दैव भूतसर्ग तुमसे मैंने विस्तारसे कहा—स्थितप्रज्ञलक्षण द्वितीय अध्यायमें, भक्तिलक्षण बारहवें अध्यायमें, ज्ञानलक्षण तेरहवें अध्यायमें, गुणातीतलक्षण चौदहवें अध्यायमें, यहाँ भी 'अभयम्' इत्यादिसे कहा है । अब आसुरभूतसर्ग जिसको विस्तारसे प्रतिपादन मैं करता हूँ उसको तुम सुनो और सुनकर उसके त्यागका निश्चय करो । अच्छे प्रकारसे पूर्ण ज्ञातवस्तुका ही ठीक त्याग हो सकता है । पार्थ ! इस सम्बोधनसे स्वसम्बन्धसूचनशब्दद्वारा तुम उपेक्षणीय नहीं हो किन्तु अपेक्षणीय हो यह दिखलाते हैं ॥६॥

मनुष्यमें विशेषण द्वारा वर्जनीय संपत्का 'तानहं द्विषतः क्रूरान्' इससे पूर्वपठित बारह श्लोकोंसे विवरण करते हैं—आसुरीसंपत्के ये कर्म हैं ऐसा कहनेसे विशेष्यविधया उक्त संपत्का विवरण होता, पर ऐसा न कहकर तद्युक्त पुरुषके ये कर्म हैं ऐसा कहा इससे पुरुषमें विशेषणीभूत उक्त संपत्का विवरण स्पष्ट है ऐसा

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम् ।
अपरस्परसंभूतं किमन्यत्कामहैतुकम् ॥ ८ ॥

तथा वे आसुरी प्रकृतिवाले मनुष्य कहते हैं कि जगत् आश्रयरहित और सर्वथा झूठा एवं बिना ईश्वरके अपने आप स्त्री पुरुषके संयोगसे उत्पन्न हुआ है इसलिये केवल भोगोंको भोगनेके लिये ही है इसके सिवाय और क्या है ? ॥ ८ ॥

पादकं विधिवाक्यं च । एवं निवृत्तिं निवृत्तिविषयधर्मम्, चकारात्तत्प्रतिपादकं निषेधवाक्यं च असुरस्वभावा जना न जानन्ति अतस्तेषु न द्विविधं शौचं नाप्याचारो मन्वादिभिरुक्तः न सत्यं च प्रियहितयथार्थभाषणं विद्यते सत्यशौचयोराचारान्तर्भावेऽपि ब्राह्मणपरिव्राजकन्यायेन पृथगुपादानम् अशौचाः अनाचाराः अनृतवादिनो ह्यसुरा मायाविनः प्रसिद्धाः ॥ ७ ॥

ही कहना ठीक है क्योंकि कर्म साक्षात् पुरुषोंमें ही हैं किन्तु उक्त संपत्प्रयुक्त है, अन्यथा सर्वपुरुषोंमें वे पाये जाते, वक्ष्यमाण चिह्नोंसे उक्त संपत्का ज्ञान होता है। प्रवृत्तिका धर्म विषय हैं विषयका विषयीमें लक्षणा है अतः धर्म कहा। धर्म और तत्प्रतिपादक विधिवाक्य 'यजेत स्वर्गकामः' इत्यादि। इसी प्रकार निवृत्ति विषय अधर्म चकारसे तत्प्रतिपादक निषेध वाक्य 'सुरां न पिबेत्' इत्यादि आसुर स्वभावके लोग नहीं जानते, अतः उनमें उक्त द्विविध शौच नहीं होता और न मनु आदि महर्षि प्रोक्त आचार ही रहता है न सत्य ही रहता है। सत्य यहाँ प्रिय हित यथार्थ भाषणपरक है। मुनि मनुका वचन है—

सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात् न ब्रूयात्सत्यमप्रियम् ।
प्रियं च नानृतं ब्रूयात् एष धर्मः सनातनः ॥

शौच सत्य का आचारमें ही अन्तर्भाव है. अतः आचार निषेध ही उक्त दोनोंका निषेध सिद्ध है फिर विशेषरूपसे निषेध ब्राह्मणपरिव्राजकन्यायसे है। यह ब्राह्मण परिव्राजक है ऐसा कहनेपर ब्राह्मण ही संन्यासी होते हैं अतः संन्यासी कहनेसे ही ब्राह्मणका लाभ सिद्ध है पुनः तत् कथन आदरार्थ है प्रकृतमें भी वैसा ही समझना। अशौच शौच रहित आचारशून्य मिथ्यावादी कपटी असुर होते हैं यह प्रसिद्ध है ॥७॥

म० टी०—ननु धर्माधर्मयोः प्रवृत्तिनिवृत्तिविषययोः प्रतिपादकं वेदाख्यं प्रमाणमस्ति निर्दोषं भगवदाज्ञारूपं सर्वलोकप्रसिद्धं तदुपजीवीनि च स्मृतिपुराणेतिहासादीनि सन्ति तत्कथं प्रवृत्तिनिवृत्तितत्प्रमाणाद्यज्ञानम्, ज्ञाने वा आज्ञोल्लङ्घिनां शासितरि भगवति सति कथं तदननुष्ठानेन शौचाचारादिरहितत्वम्, दुष्टानां शासितुर्भगवतोऽपि लोकवेदप्रसिद्धत्वादत आह—असत्यमिति। सत्यमबाधिततात्पर्यविषयं तत्त्वावेदकं वेदाख्यं प्रमाणं तदुपजीवि पुराणादि च नास्ति यत्र

प्रवृत्तिविषय धर्म, निवृत्तिविषय अधर्म, इन दोनों का प्रतिपादक भगवदाज्ञारूप निर्दोष वेद प्रमाण सर्वजन प्रसिद्ध है, और वेदमूलक स्मृति पुराण इतिहासादि है फिर कैसे प्रवृत्ति निवृत्ति और उनके प्रमाणों का ज्ञान असुरों का नहीं है? वेदादि प्रमाणों से जैसे जैसे देवों को प्रवृत्त्यादि ज्ञान होता है वैसे असुरों को क्यों नहीं होता 'श्रुतिस्मृती ममैवाज्ञे' इत्यादि से वेद भगवदाज्ञारूप है इसमें विवाद नहीं। वेद अपौरुषेय है यह मीमांसक मत है, इसके अनुसार भ्रमप्रमादादि पौरुषेय दोषों का वेद में संभव ही नहीं, उक्त दोष पौरुषेय वाक्य ही में होते हैं शब्द में साक्षात् कोई दोष नहीं। ईश्वर प्रणीत वेद है यह तार्किकादि मत है इस मत में भी ईश्वर सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् भ्रमप्रमादिशून्य नित्य यथार्थ ज्ञानवान् परम प्राप्त है, अतः तद्वाक्य में उक्त दोषों की संभावना नहीं, अशक्त असर्वज्ञ पुरुषवाक्य में ही उक्त दोष पाये जाते हैं। यदि ज्ञान है तो अज्ञानकारियों के शासक आप के रहने पर प्रवृत्त्यादि का अनुष्ठानादि न कर शौचाचारादि आसुर कैसे हुए? आप दुष्ट जनों के शासक हैं यह लोक वेद में प्रसिद्ध है इस शंका से कहते हैं—असत्यमित्यादि। 'न बाधितः तात्पर्यविषयो यस्य' जिस वाक्य के तात्पर्य विषयीभूत अर्थ बाधित न हो वह वाक्य प्रमाण है। वेद एवं भूत होने से प्रमाण है यही तत्त्वावेदक है। अखण्डवाक्यार्थ के संग्रह के लिये तत्त्वावेदकत्वरूप प्रामाण्य माना जाता है। अथवा तार्किकादि मत से अबाधितेत्यादि है। मीमांसक मत से तत्त्वावेदकत्व है, वेदमूलक स्मृति पुराणादि नहीं है जिसमें वह असत्य है, शब्दात्मक वेद

तदसत्यं वेदस्वरूपस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वेऽपि तत्प्रामाण्यानभ्युपगमाद्विशिष्टाभावः, अतएव नास्ति धर्माधर्मरूपा प्रतिष्ठा व्यवस्था हेतुर्यस्य तदप्रतिष्ठं तथा नास्ति शुभाशुभयोः कर्मणोः फलदातेश्वरो नियन्ता यस्य तदनीश्वरं ते आसुरा जगदाहुः बलवत्पापप्रतिबन्धाद्वेदस्य प्रामाण्यं न मन्यन्ते ततश्च तद्बोधितयोर्धर्माधर्मयोरीश्वरस्य चानङ्गीकाराद्यथेष्टाचरणेन ते पुरुषार्थभ्रष्टा इत्यर्थः। शास्त्रैकसमधिगम्यधर्माधर्मसहायेन प्रकृत्यधिष्ठात्रा परमेश्वरेण रहितं जगदिष्यते चेत् ? कारणाभावात्कथं तदुत्पत्तिरित्याशङ्क्याह--**अपरस्परसंभूत**मिति। कामप्रयुक्तयोस्त्रीपुंसयोरन्योन्यसंयोगात् संभूतं जगत् कामहैतुकं कामहेतुकं कामातिरिक्तकारणशून्यम्।

सर्वलोक प्रसिद्ध हैं, उसका अलाभ अशक्य है इससे वेद में प्रमाण्य नहीं है लौकिक वाक्यवत् यह भी अप्रमाण है। प्रामाण्यविशिष्ट वेद नहीं है विशेषणीभूत प्रामाण्य के अभाव से प्रामाण्यविशिष्ट भेद का अभाव वे मानते हैं, जैसे जहाँ पुरुष हैं किन्तु दण्ड नहीं लिये हैं वहाँ दण्डीपुरुष नहीं है यह कहा जाता है, तद्वत्प्रकृति में भी समझना। अतएव नहीं है धर्माधर्म में प्रतिष्ठा व्यवस्था हेतु जिसका वह अप्रतिष्ठ है, इसी प्रकार नहीं है पुण्यपाप कर्मों के फलदायक नियामक ईश्वर जिसमें वह अनीश्वर एवंभूत संसार है ऐसा आसुर लोग कहते हैं। बलवान् पाप के प्रतिबन्ध से वेद में प्रामाण्य वे नहीं मानते इस कारण से वेदप्रतिपादित पुण्य पाप तथा ईश्वर नहीं मानते। स्वेच्छाचार से वे धर्मादि पुरुषार्थ से गिर जाते हैं। शास्त्र से ही जानने के योग्य पुण्य पाप तथा एतत्सहकृत ईश्वर जो प्रकृति के अधिष्ठाता है इनसे रहित जगत् यदि मानते हैं तो ये ही कारण है इनके विना जगद्रूप कार्य ही कैसे होगा ? क्योंकि कारण के विना कार्य नहीं होता यह सर्व सम्मत मार्ग है इस शंका से कहते हैं—अपरस्परसंभूतम्। पर अपर ये दोनों शब्द अन्यार्थक है कामवश स्त्री पुरुष के परस्पर संबन्ध से उत्पन्न जो काम वही हेतु है जिसका। यह काम हेतुक जगत् है, काम ही संसार का कारण है ईश्वर नहीं काम से अतिरिक्त कोई कारण नहीं है,

एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः ।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः ॥ ९ ॥

इस प्रकार इस मिथ्याज्ञान को अवलम्बन करके नष्ट हो गया है स्वभाव जिनका तथा मन्द है बुद्धि जिनकी, ऐसे वे सबका अपकार करनेवाले क्रूरकर्मी मनुष्य केवल जगत्का नाश करनेके लिये ही उत्पन्न होते हैं ॥ ९ ॥

ननु धर्माद्यप्यस्ति कारणं नेत्याह—किमन्यत् अन्यददृष्टं कारणं किमस्ति नास्त्येवेत्यर्थः, अदृष्टाङ्गीकारेऽपि क्वचिद्गत्वा स्वभावे पर्यवसानात् स्वाभाविकमेव जगद्वैचित्र्यमस्तु दृष्टे संभवत्यदृष्टकल्पनानवकाशात्, अतः काम एव प्राणिनां कारण नान्यददृष्टेश्वरादीत्याहु रिति लोकायतिकदृष्टिरियम् ॥ ८ ॥

म० टी०—इयं दृष्टिः शास्त्रीयदृष्टिवदिष्टैवेत्याशङ्क्याह-एतां प्रागुक्तां लोकायतिकदृष्टिमवष्टभ्यालंब्य नष्टात्मानो भ्रष्टपरलोकसाधनाः अल्पबुद्धयो दृष्टमात्रोद्देशप्रवृत्तमतयः उग्रकर्माणो हिंस्राः अहिताः शत्रवो जगतः प्राणिजातस्य

धर्मादि कारण है नहीं अन्यथा जगद्वैलक्षण्य का भंग हो जायगा इससे कहते हैं—किमन्यत् ।

प्रश्न—क्या अदृष्ट कारण है ?

उत्तर—नहीं कुछ नहीं, अदृष्ट मानने पर भी आगे चल कर स्वभाव में ही पर्यवसान होगा, अतः स्वाभाविक ही जगत् का वैलक्षण्य रहे दृष्ट कारण से कार्य का संभव होने पर अदृष्ट कारण की कल्पना का अवकाश ही नहीं, अतः काम ही प्राणियों का कारण है ईश्वरादि नहीं यह आसुर लोग कहते हैं—यह चार्वाकदर्शन है ॥ ८ ॥

यह दर्शन भी शास्त्रीय दर्शन के समान इष्ट ही है इस आशंका से कहते हैं—एतामिति । पूर्वोक्त चार्वाकदर्शन का आश्रयण कर परलोक के साधनों को छोड़ कर कम समझ के दृष्ट फल मात्र के लिये जो प्रवृत्ति तद्बुद्धि वाले हिंसक होते हैं, अतएव संसार के वैरी प्राणिसमुदाय के क्षयार्थं व्याघ्रसर्परूप से उत्पन्न होते हैं। अतः यह दर्शन अत्यन्त अधोगति का कारण होने से कल्याण कामुकों से हेय ही है यह अर्थ है ॥ ९ ॥

कामामाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः ।
मोहाद् गृहीत्वासद्ग्राहान् प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः ॥ १० ॥

और वे मनुष्य, दम्भ, मान और मदसे युक्त हुए किसी प्रकार भी न पूर्ण होनेवाली कामनाओं का आसरा लेकर तथा अज्ञान मिथ्या सिद्धान्तोंको ग्रहण करके भ्रष्ट आचरणोंसे युक्त हुए संसार वर्तते हैं॥ १० ॥

क्षयाय व्याघ्रसर्पादिरूपेण प्रभवन्ति उत्पद्यन्ते तस्मादियं दृष्टिरत्यन्ताधोगतिहेतुतया सर्वात्मना श्रेयोऽर्थिभिरवहेयैवेत्यर्थः ॥ ९ ॥

म० टी०—ते च यदा केनचित्कर्मणा मनुष्ययोनिमापद्यन्ते तदाह—कामं तत्तदृष्टविषयाभिलापं दुष्पूरं पूरयितुमशक्यं दम्भेनाधार्मिकत्वेऽपि धार्मिकत्वख्यापनेन मानेन अपूज्यत्वेऽपि पूज्यत्वख्यापनेन मदेन उत्कर्षराहित्येऽप्युत्कर्षविशेषाध्यारोपेण महदवधारणाहेतुनाऽन्विताः असद्ग्राहान्, अनेन मन्त्रेणेमां देवतामाराध्य कामिनीनामाकर्षणं करिष्यामः, अनेन मन्त्रेणेमां देवतामाराध्य महानिधीन् साधयिष्याम इत्यादिदुराग्रहरूपान् मोहादविवेकान् गृहीत्वा न तु शास्त्रात् अशुचिव्रताः अशुचीनि श्मशानादिदेशोच्छिष्टत्वाद्यवस्थाद्यशौचसापेक्षाणि वामागमाद्युपदिष्टानि व्रतानि येषां तेऽशुचिव्रताः प्रवर्तन्ते

वे यदि किसी समय मनुष्ययोनि पाते हैं तब उनका दुराचार कहते हैं—यथेष्ट स्वेच्छानुसार पूर्वानुभूतशब्दादि विषय काम जो पूरा करने में अशक्य है, वस्तुतः अधार्मिक होने पर भी दंभ से धार्मिकत्व ज्ञापन से मान से वस्तुतः सत्कार के अयोग्य है फिर भी पूज्यत्व प्रख्यापन से, मद से

'मदो रेतसि कस्तूर्यां गर्वे हर्षेभदानयोः'

इस मेदिनी कोष से मद शब्द यहाँ गर्व परक है। उत्कर्ष रहित होने पर भी गर्व से अपने में उत्कर्ष के आरोप से बड़ी अवज्ञा के हेतु से युक्त 'योन्याशय' इस मन्त्र से इस देवता की उपासना करके स्त्रियों का आकर्षण अपने समीप में लावेंगे, फिर इस मन्त्र से इस देवता को सन्तुष्ट कर महानिधि बड़े द्रव्य के खजानों को प्राप्त करेंगे, मूर्खता से इन दुराग्रहों का ग्रहण कर शास्त्र से नहीं श्मशानादि देश अपवित्र सापेक्ष उच्छिष्ट रहना जो वाम मार्ग में मद्यमांसादि सेवन विहित है वे ही व्रत है जिनके वे अशुचिव्रत

चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः ।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः ॥ ११ ॥

तथा वे, मरणपर्यन्तरहनेवाली अनन्तचिन्ताओंको आश्रय किये हुए और विषयभोगों के भोगने में तत्पर हुए एवं इतनामात्र ही आनन्द है, ऐसे माननेवाले हैं ॥ ११ ॥

यत्र कुत्राऽप्यवैदिके दृष्टफले क्षुद्रदेवताराधनादाविति शेषः । एतादृशाः 'पतन्ति नरकेऽशुचौ, इत्यग्रिमेणान्वयः ॥ १० ॥

म० टी०—तानेव पुनर्विशिनष्टि—चिन्तामात्मीययोगक्षेमोपायालोचनात्मिकाम् । अपरिमेयाम् अपरिमेयविषयत्वात् परिमातुमशक्यां प्रलयो मरणमेवान्तो यस्यास्तां प्रलयान्तां यावज्जीवमनुवर्तमानामिति यावत्, न केवल-

---

जिस किसी अवैदिक कर्म में प्रवृत्त होते हैं जो दृष्टफलक कर्म है अर्थात् जिनका फल वर्त्तमान जन्म में होता है उन्हीं में प्रवृत्त होते हैं शरीरान्तर भोगयोग्य फल हेतु कर्म में नहीं ।

'क्षुद्रो दरिद्रे कृपणे निकृष्टेऽल्पनृशंसयोः'

इस हेमचन्द्र कोष के अनुसार क्षुद्र शब्द निकृष्ट परक है । निकृष्ट देवता के उपासनादि कर्म में वे प्रवृत्त होते हैं यह शेष अर्थ है । ऐसे लोग अपवित्र मूत्र पुरीषादि युक्त नरक में पड़ते हैं यह आगे के श्लोक से अन्वित है ॥ १० ॥

उन्हीं को फिर विशेषरूप से कहते हैं—'चिन्ताम्' से । अलब्ध का लाभ योग है, लब्ध का परिपालन क्षेम है, अपने योगक्षेमोपाय के पर्यालोचनात्मक इस सुखसाधन का कैसे लाभ होगा ? उसकी रक्षा कैसे होगी ? इत्यादि अपरिमेय इयत्तावधारण के अयोग्य क्योंकि चिन्ता के विषय असंख्य है अतः तद्द्वारा चिन्ता भी असंख्य होने से स्पष्ट ही अपरिमेय है । प्रलय मरण है अवसान जिसका, एवं मरणान्त जब तक जीवन रहेगा तब तक चिन्ता रहेगी शरीर अन्त के साथ चिन्ता का अन्त होगा केवल अशुचिव्रत ही

मशुचिव्रताः प्रवर्तन्ते किं त्वेतादृशीं चिन्तां चोपाश्रिता इति समुच्चयार्थश्चकारः। सदानन्तचिन्तापरा अपि न कदाचित्पारलौकिकचिन्तायुताः, किं तु कामोपभोगपरमाः—काम्यन्त इति कामाः दृष्टाः शब्दादयो विषयास्तदुपभोग एव परमः पुरुषार्थो न धर्मादिर्येषां ते, तथा पारलौकिकमुत्तमं सुखं कुतो न कामयन्ते तत्राह—एतावद्दृष्टमेव सुखं नान्यदेतच्छरीरवियोगे भोग्यं सुखमस्ति एतत्कायातिरिक्तस्य भोक्तुरभावादिति निश्चिताः, एवं निश्चयवन्तः तथा बार्हस्पत्यं सूत्रम्—'चैतन्यविशिष्टः कायः पुरुषः, काम एवैकः पुरुषार्थ' इति च ॥ ११ ॥

प्रवृत्त होते हैं इतना ही नहीं किन्तु ईदृश चिन्ता से युक्त रहते हैं। चिन्ता समुच्चयार्थ चकार है। सतत अनन्त चिन्तानिमग्न होकर कभी परलोक की चिन्ता नहीं करते किन्तु काम शब्द अभिलाष से रूढ़ है उसके उपभोग के साथ अन्वय करना ठीक नहीं इस अभिप्राय से 'काम्यन्ते' इस व्युत्पत्ति से उक्त शब्द का यौगिक अर्थ शब्दादि उपभोग योग्य विषय है। ये भी दिव्यादिव्य भेद से दो प्रकार के हैं दिव्य की व्यावृत्ति के लिये 'दृष्टा' यह विशेषण है। तथा च दृष्ट शब्दादिविषय का सेवन ही परम सर्वोत्तम पुरुषार्थ है जिनका धर्मादि उनका पुरुषार्थ नहीं है, उत्तम पारलौकिक सुख स्वर्ग की कामना क्यों नहीं करते इस जिज्ञासा से कहते हैं—इतना ही जितना प्रत्यक्ष है वह सुख है दूसरा स्वर्गादि है ही नहीं इस शरीर के न रहने पर दूसरा भोग्य सुख है ही नहीं क्योंकि इस शरीर से भिन्न भोक्ता है। नहीं तो भोग्य सुख कहाँ ? ईदृश निश्चवान् वे हैं। ऐसा ही बृहस्पतिप्रोक्त सूत्र है—'चैतन्यविशिष्टकायः पुरुषः' है 'काम एवैकः पुरुषार्थः' इति। चैतन्यविशिष्ट शरीर ही पुरुष है, चैतन्य ज्ञानगुण है, जो शरीरेन्द्रियादि समुदाय से उत्पन्न होता है जैसे अनेक द्रव्यसम्बन्ध से मादक गुण उत्पन्न होता है और द्रव्य नाश के साथ नष्ट होता है, वैसे ही प्रकृति में चैतन्य है। वेदान्तियों के सम्मत चैतन्य ब्रह्म पुरुष नहीं उक्त ब्रह्म प्रमाण सिद्ध नहीं प्रत्यक्ष से अतिरिक्त प्रमाण नहीं किन्तु आभास है। काम ही एक पुरुषार्थ है मोक्षादि नहीं अत एव—

आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः ।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसञ्चयान् ॥ १२ ॥

इसलिये, आशारूप सैकड़ों फाँसियोंसे बंधे हुए और क्रोधके परायण हुए विषयभोगोंकी पूर्तिके लिये अन्यायपूर्वक धनादिक बहुतसे पदार्थोंको संग्रह करनेकी चेष्टा करते हैं॥ १२ ॥

म० टी०—त ईदृशा असुराः अशक्योपायार्थविषया अनवगतोपायार्थाविषया वा प्रार्थना आशास्ता एव पाशा इव बन्धनहेतुत्वात् पाशास्तेषां शतैः समूहैर्बद्धा इव श्रेयसः प्रच्याव्येतस्ततं आकृष्य नीयमानाः कामक्रोधौ परमायनमाश्रयो येषां ते कामक्रोधपरायणाः स्त्रीव्यतिकराभिलाषाभ्यां सदा परिगृहीता इति यावत्। ईहन्ते कर्तुं चेष्टन्ते कामभोगार्थम् अन्यायेन परस्वहरणादिना अर्थसञ्चयान् धनराशीन् । सञ्चयानिति बहुवचनेन धनप्राप्तावपि तत्तृष्णा-

'यावज्जीवेत्सुखं जीवेदृणं कृत्वा घृतं पिवेत् ।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः ? ॥'

यह उनका सिद्धान्त है अर्थ स्पष्ट है॥ ११ ॥

ऐसे असुर अशक्य हैं करने योग्य उपाय साधन नहीं है जिस अर्थ का तादृश अर्थ जैसे सुधालय चन्द्रमण्डल को हाथ में लेना इसका कोई उपाय लौकिक साध्य नहीं, तथा ज्ञात उपाय नहीं है जिस अर्थ का तादृश अर्थ जैसे लोहे को सोना बनाने की जड़ी ज्ञात नहीं फिर इतने लोहे को सोना बनावे इसकी आशा अनवगतोपायार्थविषयक आशा है यही पाशबन्धन रज्जु के समान है क्योंकि आशा भी बन्धन का हेतु है अत एव पाश है। इन्द्र के समूह से बँधे के तुल्य कल्याण मार्ग से गिराकर इधर उधर नीयमान काम क्रोध परम अयन आश्रय है जिनका वे काम क्रोध तत्पर स्त्री संभोगेच्छा परानर्थेच्छाओं से सदा युक्त कामभोगार्थ धमार्थ नहीं। अभ्यास से परकीय द्रव्यादि का छलबलादि से हरण अन्याय है, इससे धनराशि के संचय करने की चेष्टा करते हैं। 'संचयान्' इस द्वितीया बहुवचनान्त से धन प्राप्ति

इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम् ।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ॥ १३ ॥
असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि ।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान् सुखी ॥ १४ ॥

और उन पुरुषोंके विचार इस प्रकारके होते हैं कि, मैंने आज यह तो पाया है और इस मनोरथको प्राप्त होऊँगा तथा मेरे पास यह इतना धन है और फिर भी यह होवेगा ॥ १३ ॥

तथा वह शत्रु मेरेद्वारा मारा गया और दूसरे शत्रुओंको भी मैं मारूँगा तथा मैं ईश्वर और ऐश्वर्यको भोगनेवाला हूँ और मैं सब सिद्धियोंसे युक्त एवं बलवान् और सुखी हूँ ॥ १४ ॥

नुवृत्तेर्विषयप्राप्तिर्वर्धमानतृष्णात्वरूपो लोभो दर्शितः ॥ १२ ॥

म० टी०—तेषामीदृशी धनतृष्णानुवृत्तिः मनोराज्यकथनेन विवृणोति—इदं धनम् अत इदानीमनेनोपायेन मया लब्धम् इदं तदन्यत् मनोरथं मनस्तुष्टिकरं शीघ्रमेव प्राप्स्ये इदं पुरेव सञ्चितं मम गृहेऽस्ति इदमपि बहुतरं भविष्यत्यागामिनि संवत्सरे पुनर्धनम्, एवं धनतृष्णाकुलाः यतन्ति नरकेऽशुचावित्यग्रिमेणान्वयः ॥ १३ ॥

होने पर भी धनतृष्णा की अनुवृत्ति से विषय की प्राप्ति होने पर भी बढ़ती हुई तृष्णारूप लोभ दिखलाया । विषयप्राप्ति से अनिवर्त्य तृष्णा ही लोभ है ॥ १२ ॥

उन असुरोंकी धनलोभकी अनुवृत्तिका मनोराज्यप्रदर्शनद्वारा विवरण करते हैं—इस समय यह धन इस उपायसे मैं पा लिया उससे भिन्न मनके सन्तोषप्रद काम शीघ्र पायेंगे यह तो पहले ही से संचित मेरे घरमें है यह धन भी अगले वर्ष बहुत बढ़ जायगा इस प्रकार धनलोभसे आकुल अशुचि नरकमें पड़ते हैं इस अगलेके साथ अन्वय है ॥१३॥

आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया ।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः ॥ १५ ॥

तथा मैं बड़ा धनवान् और बड़े कुटुम्बवाला हूँ, मेरे समान दूसरा कौन है, मैं यज्ञ करूँगा, दान देऊंगा, हर्षको प्राप्त होऊँगा, इस प्रकारके अज्ञानसे मोहित हैं॥ १५॥

म० टी०—एवंलोभं प्रपञ्च्य तदभिप्रायकथनेनैव तेषां क्रोधं प्रपञ्चयति—असौ देवदत्तनामा मया हतः शत्रुरतिदुर्जयः अत इदानीमनायासेन हनिष्यामि-अपरान् सर्वानपि शत्रून् न कोऽपि मत्सकाशाज्जीविष्यतीत्यपेरर्थः । चकारान्न केवलं हनिष्यामि तान् किं तु तेषां दारधनादिकमपि ग्रहीष्यामीत्यभिप्रायः। कुतस्तवैतादृशं समर्थ्यं त्वत्तुल्यानां त्वदधिकानां शत्रूणां संभवादित्यत आह—ईश्वरोऽहं न केवलं मानुषो येन मत्तुल्योऽधिको वा कश्चित् स्यात् किमेते करिष्यन्ति वराकाः सर्वथा नास्ति मत्तुल्यः कश्चिदित्यनेनाभिप्रायेण ईश्वरत्वं विवृणोति—यस्मादहं भोगी सर्वैर्भोगोपकरणैरुपेतः सिद्धोऽहं पुत्र-भृत्यादिभिः सहायैः सम्पन्नः स्वतोऽपि बलवानत्योजस्वी सुखी सर्वथा निरोगः ॥ १४ ॥

इस प्रकार लोभका विस्तार कर उनके अभिप्रायके कथनसे उनके क्रोधका विस्तार करते हैं—अतिश्रमसे भी जीतनेके अयोग्य इस देवदत्त नामक शत्रुको मैंने जीत लिया इस हेतु वे परिश्रम मारेंगे और सब शत्रुओंको मारेंगे मेरे समक्ष कोई जीने न पावेगा यह 'अपि' का अर्थ है। चकारसे केवल मारेंगे यही नहीं किन्तु उनके धन और स्त्रियोंको ले लेंगे यह अभिप्राय है। कहाँसे ऐसी शक्ति तुममें आई तुम्हारे समान किं वा तुमसे अधिक भी शत्रुओंका सम्भव है इस शंकासे कहते हैं—मैं ईश्वर हूँ न कि केवल मनुष्य ही जिससे मेरे समान वा अधिक कोई हो ये विचारे गरीब क्या करेंगे? सब प्रकारसे मेरे सदृश कोई नहीं है, अधिककी क्या सम्भावना इससे ईश्वरत्वका विवरण करते हैं—जिससे मैं भोगवान् हूँ, सब भोगसाधन सामग्रीसे युक्त हूँ, सिद्ध हूँ, लड़के नौकर सहायकोंसे सम्पन्न हूँ, अपनेसे भी बलवान् हूँ, तेजस्वी सुखी निरामय रोग रहित हूँ ।१४।

अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः ।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ॥ १६ ॥

इसलिये वे, अनेक प्रकारसे भ्रमित हुए चित्तवाले अज्ञानीजन मोहरूप जालमें फँसे हुए एवं विषयभोगोंमें अत्यन्त आसक्त हुए महान् अपवित्र नरकमें गिरते हैं ॥ १६ ॥

म० टी०—ननु धनेन कुलेन वा कश्चित्त्वत्तुल्यः स्यादित्यत आह—आढ्य इति । आढ्यो धनी, अभिजनवान् कुलीनोऽप्यहमेवास्मि, अत कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया न कोऽपीत्यर्थः । यागेन दानेन वा कश्चित्तुल्यः स्यादित्यत आह—यक्ष्ये यागेनाप्यन्यानभिभविष्यामि, दास्यामि धनं स्तावकेभ्यो नटादिभ्यश्च । ततश्च मोदिष्ये मोदं हर्षं लप्स्ये नर्तक्यादिभिः सहेत्येवमज्ञानेनाविवेकेन विमोहिता विविधं मोहं भ्रमपरम्परां प्रापिताः ॥ १५ ॥

म० टी०—उक्तप्रकारैरनेकैश्चित्तैस्तत्तद्दुष्टसंकल्पैर्विविधं भ्रान्ताः, यतो मोहजालसमावृता मोहो हिताहितवस्तुविवेकासामर्थ्यं तदेव जालमावरणात्मकत्वेन बन्धहेतुत्वात्, तेन सम्यगावृताः सर्वतो वेष्टिता मत्स्या इव सूत्रमयेन जालेन परवशीकृता इत्यर्थः । अत एव स्वानिष्टसाधनेष्वपि कामभोगेषु

धनसे अथवा कुलसे कोई समान होगा इससे कहते हैं—धनी कुलीन मैं ही हूँ, कौन दूसरा मेरे सदृश है कोई नहीं । यागसे अथवा दानसे कोई समान होगा ? इससे कहते हैं यक्ष्ये । यागसे दूसरोंको दबा देंगे स्तुति करने वाले नटविट आदिकोंको धन देंगे इसीसे आनन्द पावेंगे नाचनेवालोंके साथ, इस विवेकाभावसे नाना प्रकारकी भ्रान्ति परम्पराको प्राप्त होते हैं ॥१५॥

इस प्रकार अनेक दूषित संकल्पशील बहु चित्तोंसे अनेक भ्रान्त यतः मोहरूपीजालसे परतन्त्र, मोह इष्टानिष्टवस्तुविवेचनशक्तिशून्यत्व वही जाल है गितरोधक होनेसे बन्धनका कारण है उससे चारों तरफसे बँधे हैं, जैसे सूतकी जालसे प्रतिरुद्ध पराधीन मत्स्य के समान परवश आसुर हैं अतएव अपने दुःखके हेतु कामभोगों में ही प्रवृत्त रहते हैं। पराधीन पुरुष शूलीपर भी चढ़ता ही है,

आत्मसम्भाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः ।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम् ॥ १७ ॥

तथा वे अपने आपको ही श्रेष्ठ माननेवाले घमण्डी पुरुष धन और मानके मदसे युक्त हुए, शास्त्रविधि से रहित केवल नाममात्रके यज्ञों द्वारा पाषण्डसे यजन करते हैं ॥ १७ ॥

प्रसक्ताः सर्वथा तदेकपराः प्रतिक्षणमुपचीयमानकल्मषाः पतन्ति नरके वैतरण्यादावशुचौ विण्मूत्रश्लेष्मादिपूर्णे ॥ १६ ॥

म० टी०—ननु तेषामपि केषाञ्चिद्वैदिके कर्मणि यागदानादौ प्रवृत्तिदर्शनादयुक्तं नरके पतनमिति नेत्याह—**आत्मसम्भाविता** इति। सर्वगुणविशिष्टा वयमित्यात्मनैव सम्भाविताः पूज्यतां प्रापिता न तु साधुभिः कैश्चित्। स्तब्धा अनम्राः। यतो धनमानमदान्विता धननिमित्तो यो मान आत्मनि पूज्यत्वातिशयाध्यासस्तन्निमित्तश्च यो मदः परस्मिन् गुर्वादावप्यपूज्यत्वाभिमानस्ताभ्यामन्वितास्ते नामयज्ञैर्नाममात्रैर्यज्ञैर्न तात्त्विकैर्दीक्षिताः सोमयाजीत्यादिनाममात्रसंपादकैर्वा यज्ञै रविधिपूर्वकं विहिताङ्गेतिकर्तव्यतारहितैर्दम्भेन

सदा कामभोगमें तत्पर रहनेसे हर एक क्षणोंमें बढ़ते हुए पापोंसे युक्त मूत्र पुरीषकफादिसे भरे अपवित्र नरक में पड़ते हैं ॥१६॥

उनमें भी किसीकी वैदिक यागदानमें प्रवृत्ति पायी जाती है तो यह कहना ठीक नहीं कि उनका नरकमें पतन होता है, यदि यह कहें तो उसका उत्तर कहते हैं—नेत्यादि से। हमलोग सर्वगुणोंसे युक्त हैं इस प्रकार अपनेसे ही अन्य सज्जनोंसे नहीं अपनेको पूज्य माने हैं अतएव अविनीत यतः धनमान मदमत्त धनहेतुक जो मान अपने पूज्यत्वातिशयका आरोप तन्निबन्धन जो मद अन्य गुरुजनादिमें अपूज्यत्वाभिमान इन दोनोंसे विशिष्ट वे नामयज्ञ नाममात्र है, दर्शपौर्णमास यज्ञ है, सोमयज्ञ है, यह नाममात्र ही है वास्तविक उक्त याग नहीं, उसमें दीक्षित अथवा सोमयाजी है यह कहलानेके लिये तत्फलप्राप्तिके लिये नहीं क्योंकि उनका इनमें विश्वास ही नहीं है अतएव अविधिपुरस्सर जैसे शास्त्रसे तत्तद् यागोंमें अङ्ग इति कर्त्तव्यता आदिका विधान है वैसे अङ्गा-

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः ।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः ॥ १८ ॥

तथा वे अहङ्कार, बल, घमण्ड, कामना और क्रोधादि के परायण हुए एवं दूसरों की निन्दा करनेवाले पुरुष अपने और दूसरोंके शरीरमें स्थित मुझ अन्तर्यामी से द्वेष करनेवाले हैं ॥ १८ ॥

धर्मध्वजितया न तु श्रद्धया यजन्ते । अतस्तत्फलभाजो न भवन्तीत्यर्थः ॥ १७ ॥

म० टी०—यक्ष्ये दास्यामीत्यादिसंकल्पेन दम्भाहङ्कारादिप्रधानेन प्रवृत्तानामासुराणां बहिरङ्गसाधनमपि यागदानादिकं कर्म न सिध्यति, अन्तरङ्गसाधनमपि यागदानादिकं कर्म न सिध्यति, अन्तरङ्गसाधनं तु ज्ञानवैराग्यभगवद्भजनादि तेषां दूरापास्तमेवेत्याह—**अहङ्कारमिति**। अहमभिमानरूपो योऽहङ्कारः स सर्वसधारणः । एतैस्त्वारोपितैर्गुणैरात्मनो महत्त्वाभिमानमहङ्कारं तथा बलं परपरिभवनिमित्तं शरीरगतसामर्थ्यविशेषं दर्पं परावधीरणारूपं

दिकोंसे शून्य केवल दम्भसे धर्मध्वजिभावसे श्रद्धासे यज्ञ नहीं करते इसीसे तत्फलभागी नहीं होते यह अर्थ है। 'अश्रद्धया हुतं दत्तम्' इत्यादि वचनसे श्रद्धारहित पुरुष सविधि कर्मानुष्ठान करने पर भी तत्फलभागी नहीं होता क्योंकि उस कृतको अकृत ही शास्त्र कहता है। जब स्वरूपसे ही अकृत हुआ तब फलाशा दूर ही रहती है केवल श्रद्धा वैगुण्यसे फलाभाव जाना जाता है तो अङ्गादि वैकल्य और श्रद्धा वैकल्य दोनों रहने पर फलाभाव कैमुतिकन्याय सिद्ध है॥१७॥

'यक्ष्ये दास्यामि' यज्ञ करेंगे, दान करेंगे इत्यादि संकल्पसे दम्भ अहङ्कार की प्रधानता से प्रवृत्त असुरोंका बहिरङ्ग ज्ञानसाधन याग दानादि कर्म नहीं सिद्ध होता तो अन्तरङ्गसाधन ज्ञान वैराग्य भगवद्भजन आदि दूर ही से निवृत्त है यह कहते हैं—मैं हूँ यह अभिमानरूप अहङ्कार सबको है अतः सर्वसाधारण है इनसे आरोपित गुणोंसे अपनेमें महत्व (बड़प्पन) का अभिमान अहङ्कार है। तथा बल दूसरेके तिरस्कार करनेका हेतु शरीरवृत्ति शक्तिविशेष, दर्प दूसरेका अवज्ञानरूप गुरुदेव राजा आदिका अतिक्रम करनेका कारण

गुरुनृपाद्यतिक्रमकारणं चित्तदोषविशेषं काममिष्टविषयाभिलाषं क्रोधमनिष्टविषयद्वेषं, चकारात्परगुणासहिष्णुत्वरूपं मात्सर्यम्। एवमन्यांश्च महतो दोषान् संश्रिताः। एतादृशा अपि पतितास्तव भक्त्या पूताः सन्तो नरके न पतिष्यन्तीति चेन्नेत्याह—मामीश्वरं भगवन्तमात्मपरदेहेषु आत्मनां तेषामासुराणां परेषां च तत्पुत्रभार्यादीनां प्रेमास्पदेषु तत्तद्बुद्धिकर्मसाक्षितया सन्तमतिप्रेमास्पदमपि दुर्दैवपरिपाकात्प्रद्विषन्त ईश्वरस्य मम शासनं श्रुतिस्मृतिरूपं तदुक्तार्थानुष्ठानपराङ्मुखतया तदतिवर्तनं मे प्रद्वेषस्तं कुर्वन्तः। नृपाद्याज्ञालङ्घनमेव हि तत्प्रद्वेष इति प्रसिद्धं लोके। ननु गुर्वादयः कथं तान्नानुशासति तत्राऽऽह—अभ्यसूयका गुर्वादीनां वैदिकमार्गस्थानां कारुण्यादिगुणेषु प्रतारणादिदोषारोपकाः, अतस्ते सर्वसाधनशून्या नरक एव पतन्तीत्यर्थः। मामात्मपरदेहेष्वित्यस्यापरा व्याख्या—स्वदेहेषु परदेहेषु च चिदंशेन स्थितं मां प्रद्विषन्तो यजन्ते दम्भयज्ञेषु श्रद्धाया अभावादीक्षादिनाऽऽत्मनो वृथैव पीडा

चित्तदोषविशेष, काम ईप्सित विषयका अभिलाष, क्रोध अनिष्ट विषय द्वेष प्रसिद्ध ही है, च से दूसरेके गुणोंकी असहिष्णुतारूप मात्सर्य, इसीप्रकार अन्य बड़े दोषोंका आश्रय ऐसे भी पतित आपकी भक्तिसे पवित्र होकर नरकमें न पड़ेंगे किन्तु अवश्य पड़ेंगे इसमें कारण कहते हैं—मुझ भगवानको अपने असुरोंके देहमें पराये उनके प्रेमाश्रय पुत्रदारादि देहोंमें तत्तज्ञानकर्म साक्षिरूपसे वर्तमान अति प्रेमाश्रयका दुर्भाग्यवश द्वेष करते हुए मुझ ईश्वरका श्रुतिस्मृतिरूप शासन तदुक्तार्थके अनुष्ठान बहिर्मुख होनेसे श्रुत्याद्युक्त अर्थका उल्लङ्घय ही मेरा प्रद्वेष है उसको कहते हैं—राजाज्ञा का उल्लङ्घन राजाके साथ द्वेष है यह असहयोग सत्याग्रहादि शब्दसे लोकमें प्रसिद्ध है।

प्रश्न—गुरुदेवादि उनको क्यों नहीं उपदेश देते ?

उत्तर कहते हैं—अभ्येति से। वैदिक सरिणीपरिशील शील गुरुजनोंके अभ्यसूयक होते हैं। उनके दयादि गुणोंमें परवञ्चनादि दोषोंका आरोप करते हैं, अतः वे सब साधनोंसे रिक्त (असहाय) नरकमें ही पड़ते हैं यह अर्थ है। मामात्मेत्यादिकी दूसरी व्याख्या करते हैं—अपना शरीर तथा अन्यके शरीरमें चिदंश से स्थित मेरा द्वेष करते हुए याग करते हैं, क्योंकि दम्भ यज्ञमें श्रद्धा तो रहती

भवति । तथा पश्वादीनामप्यविधिना हिंसया चैतन्यद्रोहमात्रमवशिष्यत इति । अपरा व्याख्या—आत्मदेहे जीवानाविष्टे भगवल्लीलाविग्रहे वासुदेवादिसमाख्ये मनुष्यत्वादिभ्रमान्मां प्रद्विषन्तः । तथा परदेहेषु भक्तदेहेषु प्रह्लादादिसमाख्येषु सर्वदाऽऽविर्भूतं मां प्रद्विषन्त इति योजना । उक्तं हि नवमे--

"अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम् ।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥
मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः ।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः ॥" इति

"अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः" इति चान्यत्र । तथा च भजनीये द्वेषान्न भक्त्या पूतता केषां संभवतीत्यर्थः ॥ १८ ॥

ही नहीं आत्मामें व्यर्थ दुःख होता है, तथा पशुत्यागमें अविधि पशुहिंसासे चैतन्यके साथ द्रोह करना ही हाथमें रहेगा ।

'यज्ञार्थे पशवः सृष्टाः स्वयमेव स्वयम्भुवा ।'

से पशु सृष्टिका मनु भगवान्ने प्रयोजन कह कर हिंसासे प्रत्यवाय होगा इस तटस्थ शंकाका उत्तर दिया 'तस्माद् यज्ञे वधोऽवधः' से । इस वचनसे स्पष्ट है कि यागको सविधि हिंसामें दोष नहीं किन्तु अविधि हिंसामें 'न हिंस्यात्' इत्यादि श्रुत्यतिक्रम प्रयुक्त दोष अवश्य है । अन्य व्याख्या आत्मदेह जीवानाश्रित किन्तु ईश्वराश्रित वासुदेव नामक भगवान्के लीलादेहमें मनुष्यत्वादि भ्रान्तिसे मेरा प्रद्वेष करते हैं, तथा यह देह मद्भक्त प्रह्लादादिकोंमें सर्वदा आविर्भूत अभिव्यक्त मेरा द्वेष करते हैं यह योजना समझना । नवम अध्यायमें कहा है—'अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्' । इत्यादि ऊपर देखिये । अव्यक्तमित्यादि भी अन्यत्र है । तथा च उक्त शंकाका उत्तर यह है भजनीय आराध्य भगवान्के द्वेषसे उनमें भक्तिसे पवित्रता ही नहीं वास्तविक भक्ति ही नहीं तो तज्जन्य पूतताकी उनमें क्या सम्भावना ? ॥१८॥

तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान् ।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥ १९ ॥

ऐसे, उन द्वेष करनेवाले, पापाचारी और क्रूरकर्मी, नराधमोंको मैं संसारमें वारम्बार आसुरी योनियोंमें गिराता हूँ अर्थात् शूकर कूकर आदि नीच योनियोंमें ही उत्पन्न करता हूँ ॥ १९ ॥

म० टी०—तेषां त्वत्कृतया कदाचिन्निस्तारः स्यादिति नेत्याह—तानिति। तान् सन्मार्गप्रतिपक्षभूतान्द्विषतः साधून् मा च क्रूरहिंसापरानतो नराधमानतिनिन्दितानजस्रं संततमशुभानशुभकर्मकारिणोऽहं सर्वकर्मफलदातेश्वरः संसारेष्वेव नरकसंसरणमार्गेषु क्षिपामि पातयामि। नरकगताश्चाऽऽसुरीष्वेवातिक्रूरासु व्याघ्रसर्पादियोनिषु तत्तत्कर्मवासनानुसारेण क्षिपामीत्यनुपज्यते। एतादृशेषु द्रोहिषु नास्ति ममेश्वरस्य कृपेत्यर्थः। तथा च श्रुतिः—"अथ [य इह] कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरन् श्वयोनिं वा शूकरयोनिं वा चण्डालयोनिं वा" इति। कपूयचरणाः कुत्सितकर्माणोऽभ्याशो

आप की कृपा से कभी उनका उद्धार होगा नहीं यह कहते हैं—उन सन्मार्ग विरोधी साधुओं के और मेरे द्वेषि क्रूरों को जो हिंसा पर अत एव मनुष्यों में अधम (नीच) हैं तथा अतिनिन्दित कर्मकारियों को सब कर्मों का फलदाता मैं ईश्वर संसार में ही जो नरक में जाने की राह है उसमें डालता हूँ पाप कर्म संसार में ही होता है अतः संसार नरक जाने की राह है। यहाँ उत्पन्न होकर पाप करने से नरक में पड़ते हैं नरक भोगा कर अतिक्रूर हिंसक आसुरी सर्प व्याघ्र आदि योनि में तत्तद्वासनानुसार डालता हूँ। 'निक्षिपामि' का यहाँ संबन्ध है। ऐसे द्रोहियों में मुझ ईश्वर की कृपा नहीं है। वासनानुसार योनि मिलती है इसमें श्रुति प्रमाण है, तथापि—'अथ य इह कपूयचरणा अभ्यासो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरन् श्वयोनिं वा शूकरयोनिं वा चण्डाल योनिं वा' इति।

'कपूयकुत्सितावद्यखेटगर्ह्याणकाः समा'

ह शीघ्रमेव कपूयां कुत्सितां योनिमापाद्यन्त इति श्रुतेरर्थः। अत एव पूर्वपूर्वकर्मानुसारित्वान्नेश्वरस्य वैषम्यं नैर्घृण्यं वा। तथा च पारमर्षं सूत्रं "वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्तथा हि दर्शयति" इति। एवं च पापकर्माण्येव तेषां कारयति भगवांस्तेषु तद्बीजसत्त्वात्। कारुणिकत्वेऽपि तानि न नाशयति तन्नाशकपुण्योपचयाभावात् पुण्योपचयं न कारयति तेषामयोग्यत्वात्। न हीश्वरः पाषाणेषु यवाङ्कुरान् करोति। ईश्वरत्वादयोग्यस्यापि योग्यतां संपादयितुं शक्नोतीति चेत्? शक्नोत्येव सत्यसंकल्पत्वात् यदि संकल्पयेत, न तु संकल्पयति आज्ञालङ्घिषु स्वभक्तद्रोहिषु दुरात्मस्वप्रसन्नत्वात्। अत एव श्रूयते—"एष उ

इस अमरकोष से कपूय कुत्सित वाची है, चरण शब्द आचरण परक है। कुत्सित अर्थ है, 'अभ्याशो ह' का शीघ्र ही अर्थ है, तथा च कुत्सिताचारवान् शीघ्र ही कुत्सित योनि 'कुत्ता' की योनि शूकर की योनि किम्वा चाण्डाल की योनि पाते हैं यह श्रुति का अर्थ है। पूर्व पूर्व कर्म के अनुसार उत्तम मध्यम निकृष्ट योनि मिलती है, अतः ईश्वर में वैषम्य नैर्घृण्य दोष नहीं आता ऐसा ही वेदान्त सूत्र है—'वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्तथा हि दर्शयति' इति। तथा च पूर्व कर्म की वासना ही उनसे पाप कर्म कराती है क्योंकि उनमें बीजरूप से वह है भगवान् कारुणिक दयावान् हैं, फिर भी बीज रूप से उनमें उत्थित वासनाओं को नष्ट नहीं करते।

प्रश्न—क्यों ?

उत्तर—उनका नाशक पुण्य कर्म ही है यह उनमें है नहीं पुण्य संचय उनसे नहीं कराते कारण वे अयोग्य हैं। ईश्वर पाषाण (पत्थर) से यव का अङ्कुर नहीं कराते क्योंकि वह उसमें अयोग्य है। ईश्वर अयोग्य में भी योग्यता की उत्पत्ति कर सकते हैं अत एव—

'मूकं करोति वाचालं पङ्गुं लङ्घयते गिरिम्।'

इत्यादि वचन संगत होते हैं, ईश्वर सत्य संकल्प हैं, अतः कर सकते हैं इसमें सन्देह नहीं परन्तु ईश्वर ऐसा संकल्प ही नहीं करते हैं इसमें हेतु है आज्ञातिक्रम कारित्व निजभक्तद्रोहित्व दुरात्मत्वविशिष्टमें प्रसन्नत्वाभाव, अत एव श्रुति है—

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि ।
मामप्राप्यैव कौन्तेय! ततो यान्त्यधमां गतिम् ॥ २० ॥

इसलिये, हे अर्जुन! वे मूढ़ पुरुष जन्म जन्ममें आसुरी योनिको प्राप्त हुए मेरेको न प्राप्त हुए अर्थात् मेरेको न प्राप्त होकर, उससे भी अति नीच गतिको ही प्राप्त होते हैं, अर्थात् घोर नरकोंमें पड़ते हैं ॥ २० ॥

ह्येव साधु कर्म कारयति तं यमुन्निनीषते, एष उ एवासाधु कर्म कारयति तं यमधो निनीषते" इति । येषु प्रसादकारणमस्त्याज्ञापलनादि तेषु प्रसीदति । येषु तु तद्वैपरीत्यं तेषु न प्रसीदति सति कारणे कार्यं काणाभावे कार्याभाव इति किमत्र वैषम्यम् । "परात्तु तच्छ्रुतेः" इति न्यायाच्च । अन्ततो गत्वा किंचिद्वैषम्यापादने महामायत्वाददोषः ॥ १९ ॥

म० टी०—ननु तेषामपि क्रमेण बहूनां जन्मनामन्ते श्रेयो भविष्यति नेत्याह—**आसुरी**मिति । ये कदाचिदासुरीं योनिमापन्नास्ते जन्मनि जन्मनि प्रतिजन्म मूढास्तमोबहुलत्वेनाविवेकिनस्ततस्तस्मादपि यान्त्यधमां गतिं निकृष्टतमां गतिम् । मामप्राप्येति न मत्प्राप्तौ काचिदाशङ्काऽप्यस्ति, अतो मदुपदिष्टं

'एष उ ह्येव साधु कर्म कारयति यमुन्निनीषते, एष उ एवासाधु कर्म कारयति यमधो निनीषत' इति। जिनमें प्रसन्नता का कारण आज्ञा का पालनादि है उनमें प्रसन्न होते हैं, जिनमें अप्रसन्नता का उक्त कारण है उनमें नहीं प्रसन्न होते, कारण रहने पर कार्य होता है कारण के अभाव से कार्य का अभाव रहता है इसमें क्या वैषम्य है ?। 'परात्तु तच्छ्रुतेः' इस न्याय से भी आखिर कुछ वैषम्य की आपत्ति करने पर भी महामायी ईश्वर में कुछ दोष नहीं दोषादि सब मिथ्या है मायावश कोई वैषम्यादि का आपादन करता है ॥१९॥

उनका भी बहुत जन्मके अनन्तर क्रमसे कल्याण होगा, नहीं होगा जो कभी आसुरी योनि पा गये हैं वे जन्म जन्ममें तमोगुणी होनेसे अविवेकी उससे भी अधिक अधोगति पाते हैं। मुझको न पाकर मेरी प्राप्तिमें तो शंका ही नहीं क्योंकि मत्प्राप्तिके अन्तरङ्ग बहिरङ्ग कोई साधन उनमें नहीं है प्रत्युत प्रतिकूल साधन सम्पन्न है अतः 'मामप्राप्य' का 'मुझसे उपदिष्ट वेदमार्ग न पाकर' यह

वेदमार्गमप्राप्येत्यर्थः। एवकारस्तिर्यक्स्थावरादिषु वेदमार्गप्राप्तिस्वरूपायोग्यतां दर्शयति। तेनात्यन्ततमोबहुलत्वेन वेदमार्गप्राप्तिस्वरूपायोग्या भूत्वा पूर्वपूर्वनिकृष्टयोनितो निकृष्टतमामधमां योनिमुत्तरोत्तरं गच्छन्तीत्यर्थः। हे कौन्तेय! इति निजसंबन्धकथनेन त्वमितो निस्तीर्ण इति सूचयति। यस्मादेकदाऽऽसुरीं योनिमापन्नानामुत्तरोत्तरं निकृष्टतरनिकृष्टतमयोनिलाभो न तु तत्प्रतीकारसामर्थ्यमत्यन्ततमोबहुलत्वात्, तस्माद्यावन्मनुष्यदेहलाभोऽस्ति तावन्महताऽपि प्रयत्नेनाऽऽसुर्याः संपदः परमकृष्टतमायाः परिहाराय त्वरयैव यथाशक्ति दैवी संपदनुष्ठेया श्रेयोऽर्थिभिरन्यथा तिर्यगादिदेहप्राप्तौ साधनानुष्ठानायोग्यत्वान्न कदाऽपि निस्तारोऽस्तीति महत्संकटमापद्येतेति समुदायार्थः। तदुक्तम्—

"इहैव नरकव्याधेश्चिकित्सां न करोति यः।
गत्वा निरौषधं स्थानं सरुजः किं करिष्यति ॥ २० ॥" इति।

अर्थ है। एवकारसे निरर्थक स्थावरादिमें वेदमार्गस्वरूप योग्यत्वाभाव दिखलाते हैं, इससे अत्यधिक तमोगुणी होनेसे वेदमार्ग प्राप्तिके स्वरूपयोग्य न होकर पूर्व पूर्व अधमयोनिसे भी अत्यधिक अधमयोनि आगे आगे पाते हैं। हे कौन्तेय! इस सम्बोधनसे स्वसम्बन्ध सूचनद्वारा तुम इससे पार हो यह सूचन करते हैं। एक समय आसुरीयोनि प्राप्तोंको आगे आगे निकृष्ट (खराबसे खराब) योनिका लाभ होता है, आगेकी अतिनिकृष्टयोनिके परिहार करनेकी शक्ति पूर्व निकृष्टयोनि प्राप्तमें नहीं क्योंकि अत्यन्ततमोगुणविशिष्ट निकृष्टयोनि प्राप्त है। वेदादि प्रामाण्य उनको इष्ट नहीं यह पूर्वमें कह चुके हैं, अतः जबतक मनुष्यशरीर है तबतक बड़े श्रमसे कष्टकर आसुरी संम्पत् के परिहार करनेके लिये अतिशीघ्र दैवीसंपत् का अनुष्ठान कल्याण कामुकोंको करना चाहिये। अन्यथा पशुपक्ष्यादि शरीर मिलनेपर वह किसी भी शुभ करने योग्य न होनेसे कभी उद्धार न होगा इस प्रकार बड़ा संकट उपस्थित होगा यह समुदायका अर्थ है। यही कहा है—

'इहैव नरकव्याधेश्चिकित्सां न करोति यः।
गत्वा निरौषधस्थानं सरुजः किं करिष्यति ?॥'॥२०॥ इति।

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥ २२ ॥

और हे अर्जुन ! काम क्रोध तथा लोभ यह तीन प्रकारके नरकके द्वार आत्माका नाश करने वाले हैं अर्थात् अधोगतिमें ले जानेवाले हैं इससे इन तीनोंको त्याग देना चाहिये ॥ २१ ॥

म० टी०—नन्वासुरी सम्पदनन्तभेदवती कथं पुरुषायुषेणापि परिहर्तुं शक्येतेत्याशङ्क्य तां संक्षिप्याऽऽह—त्रिविधमिति । इदं त्रिविधं त्रिप्रकारं नरकस्य प्राप्तौ द्वारं साधनं सर्वस्या आसुर्याः संपदो मूलभूतमात्मनो नाशनं सर्वपुरुषार्थायोग्यतासंपादनेनात्यन्ताधमयोनिप्रापकम् । किं तदित्यत आह—कामः क्रोधस्तथा लोभ इति । प्राग्व्याख्यातम् । यस्मादेतत्त्रयमेव सर्वानर्थमूलं तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् । एतत्त्रयत्यागेनैव सर्वाऽप्यासुरी संपत्त्यक्ता

आसुरीसंपत् का भेद असंख्य है अपनी आयु भरमें भी पुरुष कैसे परिहार कर सकता है ? इयत्ताका निश्चय हो तो सम्भव था कि कोई सुकृती पुरुष यदि उक्त संपत् स्वल्पभेदवती होती तो यत्न करने पर परिहार कर सकता किन्तु यदि अनन्त रहे तो अनेक जन्ममें भी परिहार न होगा पुरुषायुष तो अतिस्वल्प है इस आशंकासे उसका संक्षेपकर कहते हैं—ये तीन नरक प्राप्तिमें द्वार हैं—प्रथम द्वारमें प्रवेश होता तदनन्तर गृहमें, गृहप्रवेशमें द्वार कारण है सब आसुरीसंपतके येही मूल जड़ हैं आत्माके नाशक,

प्रश्न—आत्मा नित्य है उसका नाश कैसे होगा ?

उत्तर—ठीक है सब पुरुषार्थकी अयोग्यता सम्पादनद्वारा अत्यन्त अधम-योनिका प्रापक है यह भावार्थ है। वे तीन कौन है ? काम, क्रोध और लोभ, इनका व्याख्यान पूर्वमें हो चुका है। जिस हेतुसे ये तीन ही सब दुःखके निदान हैं अतः इन तीनोंका त्याग करना, इन तीनोंके त्यागसे आसुरीसंपत् का त्याग

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय! तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम् ॥ २२ ॥

क्योंकि, हे अर्जुन! इन तीनों नरकके द्वारोंसे मुक्त हुआ अर्थात् काम, क्रोध और लोभ आदि विकारोंसे छूटा हुआ पुरुष अपने कल्याणका आचरण करता है इससे वह परमगति को जाता है अर्थात् मेरेको प्राप्त होता है ॥ २२ ॥

भवति। एतत्त्रयत्यागश्चोत्पन्नस्य विवेकेन कार्यप्रतिबन्धः, ततः परं चानुत्पत्तिरिति द्रष्टव्यम् ॥ २१ ॥

म० टी०--एतत्त्रय त्यजतः किं स्यादिति तत्राऽऽह--एतैरिति। एतैः कामक्रोधलोभैस्त्रिभिस्तमोद्वारैर्नरकसाधनैर्विमुक्तो विरहितः पुरुष आचरत्यात्मनः श्रेयो यद्धितं वेदबोधितं हे कौन्तेय! पूर्वं हि कामादिप्रतिबद्धः श्रेयो नाऽऽचरति येन पुरुषार्थः सिध्येत्। अश्रेयश्चाऽऽचरति येन निरपातः स्यात्, अधुना तत्प्रतिबन्धरहितः सन्नश्रेयो नाऽऽचरति श्रेयश्चाऽऽचरति तत ऐहिकं सुखमनुभूय सम्यग्धीद्वारा याति परां गतिं मोक्षम् ॥ २२ ॥

सिद्ध होता है। इन तीनोंका त्याग इस प्रकार करना—उत्पन्न कामादिका विवेकसे, यद्यपि कामादि उत्पन्न हुए तथापि यावत् तत्कार्य नहीं होता तावदुत्पन्न भी अनुत्पन्न सा ही रहता है और कामादिकार्यद्वारा अनर्थ हेतु है स्वरूपसे नहीं, इस तात्पर्यसे कहते हैं--उत्पन्न कामादिके कार्योंको विवेकसे रोकना ही कामादिका रोकना त्याग है, अनुत्पन्नकी उत्पत्तिका अभाव अनुत्पत्ति है यही त्याग समझना ॥२१॥

इन तीनों के त्यागी को क्या होगा? यह कहते हैं—काम क्रोध लोभ इन तीनों नरकसाधन तमोद्वारों से रहित अपने कल्याण का आचरण करता है, जो हित वेदविहित है हे कौन्तेय! पहले कामादि प्रतिबद्ध कल्याण कर्म नहीं करता जिससे पुरुषार्थ सिद्ध हो, पाप करता है जिससे नरक निपात होता है। इस समय उक्त प्रतिबन्ध से रहित कल्याण कर्म करता है पाप कर्म नहीं अतः इस लोक के सुख का अनुभव कर समीचीन ज्ञान द्वारा उत्तम गति (मोक्ष) पाता है ॥ २२ ॥

य: शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः ।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥ २३ ॥

और जो पुरुष शास्त्रकी विधिको त्यागकर अपनी इच्छासे वर्तता है, वह न तो सिद्धको प्राप्त होता है और न परमगतिको तथा न सुखको ही प्राप्त होता है ॥ २३ ॥

म० टी०—यस्मादश्रेयो नाचरणस्य श्रेय आचरणस्य च शास्त्रमेव निमित्तं तयोः शास्त्रैकगम्यत्वात्तस्मात्—यः शास्त्रविधिमिति । शिष्यतेऽनुशिष्यतेऽपूर्वोऽर्थो बोध्यतेऽनेनेति शास्त्रं वेदस्तदुपजीविस्मृतिपुराणादि च तत्संबन्धी विधिर्लिङादिशब्दः कुर्यान्न कुर्यादित्येवप्रवर्तनात्मकः कर्तव्याकर्तव्यज्ञानहेतुर्विधिनिषेधाख्यस्तं शास्त्रविधिं, विधिनिषेधातिरिक्तमपि ब्रह्मप्रतिपादकं शास्त्रमस्तीति सूचयितुं विधिशब्दः । उत्सृज्याश्रद्धया परित्यज्य कामकारतः स्वेच्छामात्रेण वर्तते विहितमपि नाऽऽचरति निषिद्धमप्याचरति यः स सिद्धिं

यतः पाप के अनाचरण और पुण्य के आचरण का शास्त्र ही निमित्त है क्योंकि पुण्य पाप शास्त्रैकवेद्य है प्रमाणान्तर के ये विषय नहीं है, अत एव इनका नाम अदृष्ट है, 'शास्त्र' शब्द यहाँ वेदपरक है, इस अर्थ को स्पष्ट करने के लिये 'शिष्यते' इत्यादि व्युत्पत्ति प्रदर्शन है। अपूर्व यह कथन अज्ञातज्ञापकत्वरूप प्रामाण्य रक्षार्थ, और स्मृत्यादि व्यावृत्यर्थ है। स्मृत्यादि वेद अज्ञातार्थज्ञापक होने से प्रकृत शास्त्र शब्दार्थ नहीं है तब स्मार्तार्थानुष्ठान कैसे प्रामाणिक समझी जायगी ? अतस्तदुपजीवि कहा। वेद भी विधि-मन्त्र नामधेय निषेध: अर्थवाद भेद से सब साक्षाद्धर्मादि में प्रमाण नहीं इसलिये विधिनिषेधवाक्य 'कुर्य्यान्न कुर्यात्' इत्यादि प्रवर्तक निवर्तनात्मक वेद साक्षाद्धर्मादि प्रमा मन्त्रादि तद्द्वारा स्मृत्यादि तन्मूलकत्वेन उक्त में प्रमाण है यह विवेक है। तथा च कर्तव्या कर्तव्य बोधक विधिनिषेधात्मक शास्त्र है। विधिनिषिद्धात्मक शास्त्रसे अतिरिक्त भी ब्रह्मप्रतिपादकशास्त्र है, इसके सूचनार्थ विधिशब्द है। अश्रद्धासे शास्त्रविधिका त्याग कर अपनी इच्छासे विहित नहीं करता अविहित भी करता है, वह कर्म करता हुआ भी मोक्षप्राप्ति

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ॥ २४ ॥

इससे तेरेलिये इस कर्तव्य और अकर्तव्यकी व्यवस्थामें शास्त्र ही प्रमाण है, ऐसा जानकर तूँ शास्त्रविधिसे नियत किये हुए कर्मको करनेके लिये योग्य है ।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे दैवासुरसंपद्-
विभागयोगो नाम षोडशो-
ऽध्यायः ॥ १६ ॥

पुरुषार्थप्राप्तियोग्यतामन्तःकरणशुद्धिं कर्माणि कुर्वन्नपि नाऽऽप्नोति, न सुखमैहिकं, नापि परां प्रकृष्टां गतिं स्वर्गं मोक्षं वा ॥ २३ ॥

म० टी०—यस्मादिति । यस्माच्छास्त्रविमुखतया कामधीनप्रवृत्तिरैहिकपारत्रिकसर्वपुरुषार्थायोग्यस्तस्मात्ते तव श्रेयोर्थिनः कार्याकार्यव्यवस्थितौ किं कार्यं किमकार्यमिति विषये शास्त्रं वेद तदुपजीविस्मृतिपुराणादिकमेव प्रमाणं बोधकं नान्यतस्वोत्प्रेक्षाबुद्धवाक्यादीत्यभिप्रायः । एवं चेह कर्माधिकारभूमौ शास्त्रविधानेन कुर्यान्न कुर्यादित्येवंप्रवर्तनानिवर्तनारूपेण वैदिकलिङादिपदेनोक्तं कर्म विहितं प्रतिषिद्धं च ज्ञात्वा निषिद्धं वर्जयन् विहितं क्षत्रियस्य

योग्य अन्तःकरण शुद्धिको नहीं पाता । है, ऐहिक सुख न परगति स्वर्ग या (मोक्ष) पाता है ॥२३॥

यतः एवं शास्त्रविधिरहित स्वेच्छाधीन प्रवृत्ति ऐहलौकिक पारलौकिक सब पुरुषार्थोंके अयोग्य है अतः कल्याणार्थी कर्तव्याकर्तव्य अवस्थामें क्या करना चाहिये क्या न करना चाहिये इस विषयमें शास्त्र वेद तदाश्रित स्मृति-पुराणादि ही तद्बोधक प्रमाण है दूसरा नहीं स्वबुद्धिबुद्धवाक्यादि धर्माधर्ममें प्रमाण नहीं यह अभिप्राय है । एवं इस कर्माधिकारभूमिमें शास्त्रीयविधानसे 'यह करो यह न करो' इस प्रवर्तक निवर्तकरूप वैदिक लिङादिपदसे उक्त विहित निषिद्धकर्म जानकर निषिद्धका त्याग कर विहित क्षत्रियका अपना धर्म युद्धादि कर्म तुम

युद्धादिकर्म त्वं कर्तुमर्हसि सत्त्वशुद्धिपर्यन्तमित्यर्थः। तदेवमस्मिन्नध्याये सर्वस्या आसुर्याः संपदो मूलभूतान् सर्वश्रेयःप्रापकान् सर्वश्रेयःप्रतिबन्धकान्महादोषान् कामक्रोधलोभानपहाय श्रेयोऽर्थिना श्रद्दधानतया शास्त्रप्रवणेन तदुपदिष्टार्थानुष्ठानपरेण भवितव्यमिति संपद्द्वयविभागप्रदर्शनमुखेन निर्धारितम् ॥ २४ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य श्रीविश्वेश्वरसरस्वतीश्रीपाद-
शिष्यमधुसूदनसरस्वतीविरचितायां श्रीभगवद्गी-
तागूढार्थदीपिकायां दैवासुरसंपद्विभाग
योगो नाम षोडशो-
ऽध्यायः ॥१६॥



करनेके योग्य हो अन्तःकरणशुद्धि पर्यन्त यह अर्थ है। इस प्रकार इस अध्यायमें सब आसुरीसंपत् का कारण सब अनर्थदायक और कल्याणप्रतिबन्धक महादोष काम क्रोध लोभोंका त्याग कर कल्याणार्थियोंको श्रद्धायुक्त शास्त्रप्रतिपाद्यार्थानुष्ठान- होना चाहिए यह दोनों संपदोंके विभाग प्रदर्शनद्वारा निश्चित किया ॥२४॥

इस प्रकार महामहोपाध्याय प० हरिहरकृपालु
द्विवेदिकृत गीतामधुसूदनी के सोलहवाँ
अध्याय का अनुवाद
समाप्त हुआ ॥१६॥

—:※:—

अथ सप्तदशोऽध्यायः

अर्जुनउवाच

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण! सत्त्वमाहो रजस्तमः ॥ १ ॥

इस प्रकार भगवान्‌के वचनोंको सुनकर, अर्जुन बोला, हे कृष्ण! जो मनुष्य शास्त्रविधिको त्यागकर, केवल श्रद्धासे युक्त हुए देवादिकोंका पूजन करते हैं, उनकी स्थिति फिर कौनसी है? क्या सात्त्विकी है? अथवा राजसी किंवा तामसी है? ॥ १ ॥

॥ श्रीकृष्णाय गीतामृतदुहे नमः ॥

म० टी०—त्रिविधाः कर्मानुष्ठातारो भवन्ति—केचिच्छास्त्रविधिं ज्ञात्वाऽप्यश्रद्धया तमुत्सृज्य कामकारमात्रेण यत्किंचिदनुतिष्ठन्ति ते सर्वपुरुषार्थायोग्यत्वादसुराः । केचित्तु शास्त्रविधिं ज्ञात्वा श्रद्दधानतया तदनुसारेणैव निषिद्धं वर्जयन्तो विहितमनुतिष्ठन्ति ते सर्वपुरुषार्थयोग्यत्वाद्देवा इति पूर्वाध्यायान्ते सिद्धम् । ये तु शास्त्रीयं विधिमालस्यादिवशादुपेक्ष्य श्रद्दधानतयैव वृद्धव्यवहारमात्रेण निषिद्धं वर्जयन्तो विहितमनुतिष्ठन्ति ते शास्त्रीयविध्युपेक्षा-

---

सत्रहवाँ अध्याय

कर्मानुष्ठान करनेवाले तीन प्रकारके होते हैं—कोई शास्त्रके विधानको जानकर भी अश्रद्धासे उसका त्याग कर स्वेच्छानुसार जो कुछ करते हैं वे सब पुरुषार्थोंके अयोग्य होनेसे आसुर हैं. और कोई शास्त्रकी विधिको जानकर श्रद्धायुक्त होकर शास्त्रानुसार निषिद्ध कर्मका त्याग कर विहितका अनुष्ठान करते हैं वे सब पुरुषार्थोंके योग्य होनेसे देव हैं यह निष्कर्ष (निचोड़) पूर्वाध्यायके अन्तमें किया गया है। और जो जो आलस्यादिवश शास्त्रविधिकी उपेक्षाकर

लक्षणेनासुरसाधर्म्येण श्रद्धापूर्वकानुष्ठानलक्षणेन च देवसाधर्म्येणान्विताः किमसुरेष्वन्तर्भवन्ति किं वा देवेष्वित्युभयधर्मदर्शनादेककोटिनिश्चायकादर्शनाच्च सन्दिहानः––अर्जुन उवाच ये इति । ये पूर्वाध्याये न निर्णीता न देववच्छास्त्रानुसारिणः किंतु शास्त्रविधिं श्रुतिस्मृतिचोदनामुत्सृज्याऽऽलस्यादिवशादनादृत्य नासुरवदश्रद्दधानाः किं तु वृद्धव्यवहारानुसारेण श्रद्धयाऽन्विता यजन्ते देवपूजादिकं कुर्वन्ति तेषां तु शास्त्रविध्युपेक्षाश्रद्धाभ्यां पूर्वनिश्चितदेवासुरविलक्षणानां निष्ठा का कीदृशी तेषां शास्त्रविध्यनपेक्षा श्रद्धापूर्विका च सा यजनादिक्रियाव्यवस्थितिः हे कृष्ण भक्ताघर्षण ! किं सत्त्वं सात्त्विकी । तथा सति सात्त्विकत्वात्ते देवाः । 'आहो' इति पक्षान्तरे । किं रजस्तमो राजसी तामसी च । तथा सति राजसतामसत्वादसुरास्ते सत्त्वमित्येका कोटिः, रजस्तम इत्यपरा कोटिरितिविभागज्ञापनायाऽऽहो शब्दः ॥ १ ॥

श्रद्धावान् हो वृद्धोंके व्यवहारमात्रसे निषिद्धका त्यागकर विहितका अनुष्ठान करते हैं, वे शास्त्रविधिकी उपेक्षारूप आसुरधर्मसे श्रद्धापूर्वक अनुष्ठानलक्षण देव साधर्म्यसे युक्त हो असुरोंमें आ जाते हैं या देवोंमें, क्योंकि दोनोंका धर्म पाया जाता है। एक कोटि असुरोंमें है कि वा देवोंमें ही है इसका निश्चायक कोई दीखता नहीं इस प्रकार सन्दिग्ध अर्जुन बोले—कोटिद्वय देव असुरसे विलक्षण हैं अतएव पूर्वाध्यायमें उनका निर्णय नहीं हुआ है, वे देवके समान शास्त्रानुसारी नहीं हैं क्योंकि शास्त्रविधि श्रुतिस्मृतिप्रवर्त्तनादिका त्याग कर आलस्यादिवश अनादर कर आसुरके सदृश श्रद्धारहित होकर वृद्धव्यवहारसे श्रद्धायुक्त होकर यागादि करते हैं अर्थात् देवपूजादि करते हैं। उन शास्त्रविधिकी उपेक्षा और श्रद्धासे पूर्वमें निश्चित देवासुरोंकी विलक्षणोंकी निष्ठा कैसी है ? क्योंकि शास्त्रविधिका अनादर है अतः आसुरी कही जा सकती है, और श्रद्धापूर्वक होनेसे दैवी कही जा सकती है तीसरी उभयात्मक निष्ठा है नहीं, उभयधर्म रहनेसे एक कोटिके निर्णयमें कोई विनिगमक नहीं अतः उनकी यह यागादि क्रियाव्यवस्था कैसी है यह प्रश्न अर्जुनका है—हे कृष्ण ! भक्तोंके पपोंको दूर करनेवाले, क्या वह सात्त्विकी है ? यदि ऐसी है तो वे सात्त्विक होनेसे देव हैं। 'आहो' यह अव्यय पक्षान्तर में है, अथवा राजसी तामसी है। सत्त्व एक कोटि है रज तम यह दूसरी कोटि है। 'आहो' अव्यय पक्षान्तरका द्योतक है अर्थात् उक्त कोटिद्वय विभागार्थ है ॥१॥

श्रीभगवानुवाच

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु ॥ २ ॥

इस प्रकार अर्जुनके पूछनेपर, श्रीकृष्ण भगवान् बोले, हे अर्जुन! मनुष्योंकी वह विना शास्त्रीय संस्कारोंके, केवल स्वभावसे उत्पन्न हुई श्रद्धा, सात्त्विकी और राजसी तथा तामसी ऐसे तीनों प्रकारकी ही होती है, उसको तूँ मेरेसे सुनो ॥ २ ॥

म० टी०--ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य श्रद्धया यजन्ते ते श्रद्धाभेदाद्भिद्यन्ते। तत्र ये सात्त्विक्या श्रद्धयाऽन्विताःते देवा शास्त्रोक्तसाधनेऽधिक्रियन्ते तत्फलेन च युज्यन्ते। ये तु राजस्या तामस्या च श्रद्धयाऽन्वितास्तेऽसुरा न शास्त्रीयसाधनेऽधिक्रियन्ते न वा तत्फलेन युज्यन्त इति विवेकेनार्जुनस्य सन्देहमपनिनीषुः श्रद्धाभेदं श्रीभगवानुवाच—**त्रिविधे**ति। यया श्रद्धयाऽन्विताः शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते सा देहिनां स्वभावजा, जन्मान्तरकृतो धर्माधर्मादिशुभाशुभसंस्कार इदानींतनजन्मारम्भकः स्वभावः। स त्रिविधः सात्त्विको राजसस्तामसश्चेति। तेन जनिता श्रद्धा त्रिविधा भवति—सात्त्विकी राजसी तामसी च, कारणानुरूपत्वात्कार्यस्य। या त्वारब्धे जन्मनि शास्त्रसंस्कारमात्रजा विदुषां

जो शास्त्रविधिका त्याग कर श्रद्धासे यज्ञ करते हैं श्रद्धाभेदसे भिन्न २ प्रकारके हैं उनमें जो सात्त्विक श्रद्धासे युक्त हैं वे देव हैं शास्त्रोक्त कर्मके अधिकारी हैं, अतः शास्त्रोक्त फल पाते हैं। जो राजसी तामसी श्रद्धासे युक्त हैं वे असुर हैं वे शास्त्रीय कर्मानुष्ठानके अधिकारी नहीं हैं अतएव तत्फलभागी नहीं होते इस विवेकके द्वारा अर्जुनके सन्देहको दूर करनेकी इच्छासे भगवान् कहा कि श्रद्धा भेदको 'सुनो', इस बहुव्यवहितके साथ सम्बन्ध है। शास्त्रविधिका त्याग कर जिस श्रद्धासे युक्त होकर देवपूजादि करते हैं वह देहधारियोंके स्वभावसे हुई है पूर्वजन्मोपार्जित पुण्यपाप संस्कार वर्तमान जन्मका आरम्भक स्वभाव है। वह तीन प्रकारका है—सात्त्विक राजस और तामस। उससे उत्पन्न श्रद्धा तीन प्रकारका है—सात्त्विकी, राजसी, तामसी, कारणानुरूप कार्य होता है यह निर्विवाद है। यों तो वर्तमान जन्ममें शास्त्रीय संस्कारमात्रसे हुई है विद्वानोंकी वह

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत!।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥ ३ ॥

हे भारत! सभी मनुष्योंकी श्रद्धा, उनके अन्तःकरणके अनुरूप होती है तथा यह पुरुष श्रद्धामय है, इसलिये जो पुरुष जैसी श्रद्धा वाला है, वह स्वयम् भी वही है अर्थात् जैसी जिसकी श्रद्धा है वैसा ही उसका स्वरूप है ॥ ३ ॥

सा कारणैकरूपत्वादेकरूपा सात्त्विक्येव, न राजसी तामसी चेति प्रथमचकारार्थः। शास्त्रनिरपेक्षा तु प्राणिमात्रसाधारणी स्वभावजा। सैव स्वभावत्रैविध्यात्त्रिविधेत्येवकारार्थः। उक्तविधात्रयसमुच्चयार्थश्चरमश्चकारः। यतः प्राग्भवीयवासनाख्यस्वभावस्याभिभावकं शास्त्रीयं विवेकविज्ञानमनादृतशास्त्राणां देहिनां नास्ति अतस्तेषां स्वभाववशात्त्रिधा भवन्तीं तां श्रद्धां शृणु। श्रुत्वा च देवासुरभावं स्वयमेवावधारयेत्यर्थः ॥ २ ॥

म० टी० — प्राग्भवीयान्तःकरणगतवासनारूपनिमित्तकारणवैचित्र्येण श्रद्धावैचित्र्यमुक्त्वा तदुपादानकारणान्तःकरणवैचित्र्येणापि तद्वैचित्र्यमाह — सत्त्वेति।

शास्त्रसंस्काररूप कारणके एक होनेसे एकरूपा सात्त्विक ही होती है न राजसी न तामसी यह पहले चकारका अर्थ है। शास्त्रापेक्षारहित प्राणीमात्रकी साधारणी स्वभावजा है यही तीन प्रकारकी स्वभावोंसे तीन प्रकारकी श्रद्धा है यह एवकारार्थ है। उक्त तीनों प्रकारोंके समुच्चयार्थ अन्तिम चकार है। यतः पूर्वजन्म वासनारूपस्वभावका दवानेवाला विवेक विज्ञानशास्त्रश्रद्धाशून्य द्रोहियोंको नहीं है इस कारण उनके स्वभावसे तीन प्रकारकी होती हुई श्रद्धाको सुनो, सुनकर देवासुर स्वभावका स्वयं निर्णय करो यह अर्थ है ॥२॥

पूर्वजन्मकी अन्तःकरणवासनारूप निमित्तकारणके भेदसे श्रद्धाभेद कहकर वासनासमवायिकारण अन्तःकरणके वैलक्षण्यसे भी श्रद्धावैलक्षण्य कहते हैं—सत्त्वमित्यादिसे। सत्त्व यद्यपि सत्त्वगुणका वाची है, अन्तःकरण त्रिगुणात्मक है केवल सत्त्वात्मक ही नहीं फिर सत्त्वसे अन्तःकरणका बोधन कैसे?

सत्त्वं प्रकाशशीलत्वात्सत्त्वप्रधानत्रिगुणापञ्चीकृतपञ्चमहाभूतारब्धमन्तःकरणम् । तच्च क्वचिदुद्रिक्तसत्त्वमेव यथा देवानाम् । क्वचिद्रजसाऽभिभूतसत्त्वं यथा यक्षादीनाम् । क्वचित्तमसाऽभिभूतसत्त्वं यथा भूतप्रेतादीनाम्, मनुष्याणां तु प्रायेण व्यामिश्रमेव । तच्च शास्त्रीयविवेकज्ञानेनोद्भूतसत्त्वं रजस्तमसि अभिभूय क्रियते। शास्त्रीयविवेकविज्ञानशून्यस्य तु सर्वस्य प्राणिजातस्य सत्त्वानुरूपा श्रद्धा सत्त्ववैचित्र्याद्विचित्रा भवति, सत्त्वप्रधानेऽन्तःकरणे सात्त्विकी, रजःप्रधाने तस्मिन् राजसी, तमःप्रधाने तु तस्मिंस्तामसीति । हे भारत महाकुलप्रसूत ज्ञाननिरत! इति वा शुद्धसात्त्विकत्वं द्योतयति । यत्त्वया

इस जिज्ञासा से कहते हैं—प्रकाशेति। यद्यपि अन्तःकरण त्रिगुणात्मक है तथापि सत्त्वगुणप्रधान परिणाम अन्तःकरण है, रजस्तम स्वल्पमात्रामें रहते हैं। इसमें हेतु है—प्रकाशशीलत्वात्।

'सत्त्वं लघुप्रकाशकमिष्टमुपष्टम्भकं चलं च रजः'

इत्यादि कारिकोक्त गुण सत्त्वादिके हैं। प्रकाश सत्त्व अन्तःकरण दोनोंके धर्म हैं, तमःप्रधान या रजःप्रधान मन हो तो प्रकाशक नहीं हो सकता प्रकाशक है अतः सत्त्वप्रधान होनेसे सत्त्वशब्दसे अन्तःकरणका व्यवहार युक्त ही है, प्रधाननिमित्तक व्यवहार सर्वत्र देखा जाता है। मन तार्किक मतानुसारि परमाणुस्वरूप नहीं अन्यथा तद्धर्म ज्ञानेच्छादिका प्रत्यक्ष नहीं होगा किन्तु मन सत्त्वप्रधान त्रिगुणात्मक तथा पञ्चीकृत पञ्चमहाभूतोंसे आरब्ध उत्पन्न है अपञ्चीकृत पञ्चमहाभूत उपभोगयोग्य नहीं अतः पञ्चीकृत पञ्चमहाभूत कहा। वह कहीं उपचित सत्त्वगुणक ही होता है अर्थात् रजस्तमको दवाकर सत्त्वप्रधान मनःपरिणाम होता है, जैसे देवताओंका कहीं रजोगुणसे दवा सत्त्व मन है, जैसे पश्वादिका कहीं तमसे अभिभूत सत्त्व मन है, जैसे पक्ष्यादिकोंका कहीं तमसे तिरोहित सत्त्व मन है, जैसे प्रेतभूतादिका मनुष्योंका मन तो प्रायः मिश्रित ही रहता है। उनमें शास्त्रीयविवेकज्ञानसे रजस्तमको दवाकर उपचित सत्त्व मन होता है। शास्त्रीयविवेकज्ञानरहित सकल प्राणिमात्रकी सत्त्वानुगुण श्रद्धा होती है, सत्त्वके वैलक्षण्यसे श्रद्धाविलक्षण होती है। सत्त्वप्रधान अन्तःकरणमें सात्त्विकी रजःप्रधानमें राजसी तमःप्रधान उसमें तामसी। हे भारत महाकुलोत्पन्न! अथवा 'भा' ज्ञान उसमें निरत यह अर्थ है। इससे शुद्ध सात्त्विकत्व को अभिव्यक्त

यजन्ते सात्त्विका देवान् यक्षरक्षांसि राजसाः ।
प्रेतान्भूत गणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः ॥ ४ ॥

उनमें सात्त्विक पुरुष तो देवोंको पूजते हैं और राजस पुरुष, यक्ष और राक्षसोंको पूजते हैं, तथा अन्य जो तामस मनुष्य हैं, वे प्रेत और भूतगणों को पूजते हैं ॥ ४ ॥

पृष्टं तेषां निष्ठा केति तत्रोत्तरं शृणु—अयं शास्त्रीयज्ञानशून्यः कर्माधिकृतः पुरुषस्त्रिगुणान्तःकरणसंपिण्डितः श्रद्धामयः प्राचुर्येणास्मिन् श्रद्धा प्रकृतेति तत्प्रस्तु (कृ) तवचने मयट्, अन्नमयो यज्ञ इतिवत् । अतो यो यच्छ्रद्धो या सात्त्विकी राजसी तामसी वा श्रद्धा यस्य स एव श्रद्धानुरूप एव स सात्त्विको राजसस्तामसो वा । श्रद्धयैव निष्ठा व्याख्यातेत्यभिप्रायः ॥ ३ ॥

म० टी०—श्रद्धा ज्ञाता सती निष्ठां ज्ञापयिष्यति, केनोपायेन सा ज्ञायतामित्यपेक्षिते देवपूजादिकार्यलिङ्गेनानुमेत्याह—यजन्त इति । जनाः शास्त्रीयविवेकहीना ये स्वाभाविक्या श्रद्धया देवान् वसुरुद्रादीन् सात्त्विकान्

करते हैं, जो तुमने पूछा कि उनकी निष्ठा कौन है ? उसका उत्तर सुनो—यह शास्त्रीयज्ञान पराङ्मुख कर्माधिकारी पुरुष त्रिगुणात्मक अन्तःकरणसे संयुक्त श्रद्धामय, क्योंकि इसमें अधिकतासे श्रद्धा ही प्रस्तुत है । यद्यपि 'तत्प्रकृतवचने मयट्' इस सूत्रसे विकार अर्थमें मयट् होता है, प्रकृतमें पुरुष श्रद्धाका विकार नहीं फिर श्रद्धामय कैसे ? इसका उत्तर देते हैं—प्राचुर्य अर्थमें भी मयट् होता है, जैसे 'अन्नमयो यज्ञः' यहाँ अन्नप्रचुर यज्ञ होता है यह अर्थ है, तद्वत्प्रकृतमें भी समझना । अतः जो जैसी श्रद्धावाला है सात्त्विकी राजसी तामसी वा श्रद्धा जिसकी है वही (श्रद्धानुगुण ही) सात्त्विक राजस तामस होता है श्रद्धा ही से निष्ठाकी व्याख्या हुई यह आशय है ॥३॥

जानी हुई श्रद्धा निष्ठाकी ज्ञापिका होगी, क्योंकि ज्ञान ही लिङ्ग साध्यका ज्ञापक होता है । श्रद्धा किस हेतुसे जानी जाय इसकी अपेक्षामें देवपूजादिरूप कार्य हेतुसे वह अनुमेय है । धूमसे जैसे अग्निका अनुमान होता है वैसे उक्त श्रद्धासे निष्ठाका अनुमान होता है यह कहते हैं—शास्त्रीय विवेकसे शून्य मनुष्य जो स्वतः उत्पन्न श्रद्धासे सत्त्वगुणप्रधान वसुरुद्रादि देवताओंकी पूजा करते हैं

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः ।
दम्भाहंकारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः ॥ ५ ॥
कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः ।
मां चैवान्तःशरीरस्थं तान् विद्ध्यासुरनिश्चयान् ॥ ६ ॥

और हे अर्जुन ! जो मनुष्य शास्त्रविधिसे रहित केवल मनःकल्पित घोर तपको तपते हैं तथा दम्भ और अहङ्कारसे युक्त एवं कामना, आसक्ति और बलके अभिमानसे भी युक्त हैं ॥ ५ ॥

तथा जो, शरीररूपसे स्थित भूतसमुदायको अर्थात् शरीर, मन और इन्द्रियादिकोंके रूपमें परिणत हुए आकाशादि पांच भूतोंको और अन्तःकरणमें स्थित मुझ अन्तर्यामीको भी कृश करनेवाले हैं उन अज्ञानिओंको तूँ आसुरी स्वभाववाले जान ॥ ६ ॥

यजन्ते तेऽन्ये सात्त्विका ज्ञेयाः ये च यक्षान् कुबेरादीन् रक्षांसि च राक्षसान्नैर्ऋति-प्रभृतीन् राजसान् यजन्ते तेऽन्ये राजसा ज्ञेयाः। ये च प्रेतान् विप्रादयः स्वधर्मात्प्रच्युता देहपातादूर्ध्वं वायवीयं देहमापन्ना उल्कामुखकटपूतनादिसंज्ञाः प्रेता भवन्तीति मनूक्तान् पिशाचविशेषान् वा, भूतगणांश्च सप्तमातृकादींश्च तामसान् यजन्ते तेऽन्ये तामसा ज्ञेयाः। अन्य इति पदं त्रिष्वपि वैलक्षण्यद्योतनाय संबध्यते ॥ ४ ॥

वे सात्त्विक हैं ऐसा समझना। और जो कुबेरादि तथा नैर्ऋति आदि राक्षसोंकी पूजा करते हैं वे राजस हैं, जो प्रेतकी पूजा करते हैं वे तामस हैं, प्रेतार्थको स्पष्ट करते हैं—विप्रादिसे। ब्राह्मणक्षत्रियादि अपने धर्मसे च्युत (पतित) होकर मरनेके अनन्तर वायुकी शरीर प्राप्त कर उल्कामुख कटपूतनादि नामक प्रेत होते हैं। इस प्रकारसे मानवधर्मशास्त्रप्रोक्त प्रेतविशेषोंकी और भूतगणों सप्तमातृकाओं तामसोंकी पूजा करते हैं, वे अन्य विलक्षण तामस हैं 'अन्य' इस पदका तीनोंमें सम्बन्ध है प्रयोजन तीनोंमें वैलक्षण्य सूचन करना है ॥४॥

म० टी०—एवमनादृतशास्त्राणां सत्त्वादिनिष्ठा कार्यतो निर्णीता। तत्र केचिद्राजसतामसा अपि प्राग्भवीयपुण्यपरिपाकात्सात्त्विका भूत्वा शास्त्रीयसाधनेऽधिक्रियन्ते। ये तु दुराग्रहेण दुर्दैवपरिपाकप्राप्तदुर्जनसङ्गादिदोषेण च राजसतामसतां न मुञ्चन्ति ते शास्त्रीयमार्गाद्भ्रष्टा असन्मार्गानुसरणेनेह लोके परत्र च दुःखभागिन एवेत्याह द्वाभ्याम्—**अशास्त्रे**त्यादिना। अशास्त्रविहितं शास्त्रेण वेदेन प्रत्यक्षेणानुमितेन वा न विहितम् अशास्त्रेण बुद्धाद्यागमेन बोधितं वा घोरं परस्याऽऽत्मनः पीडाकारं तपस्तप्तशिलारोहणादि तप्यन्ते कुर्वन्ति ये जनाः, दम्भो धार्मिकत्वख्यापनमहङ्कारोऽहमेव श्रेष्ठ इति दुरभिमानस्ताभ्यां सम्यग्युक्ताः, योगस्य सम्यक्त्वमनायासेन वियोगजननासामर्थ्यं कामे काम्यमानविषये यो रागस्तन्निमित्तं बलमत्युग्रदुःखसहनसामर्थ्यं तेनान्विताः, कामो विषयेऽभिलाषः, रागः सदातदभिनिविष्टत्वरूपोऽभिष्वङ्गः, बलमवश्यमिदं साधयि-

इस प्रकार शास्त्रविधिविमुखोंकी सत्त्वादिनिष्ठा कार्योंसे निश्चित हुई। उनमें कोई राजस तामस भी पूर्वजन्मके पुण्यसुपाक प्रभावसे सात्त्विक होकर शास्त्रीय कर्ममें अधिकारी होते हैं, जो लोग दुराग्रहिलमानस दुरदृष्टि दुर्विपाक से और असज्जनसंसर्गादि दोषसे राजसत्व तामसत्वको नहीं छोड़ते हैं वे लोग शास्त्रसंमतमार्गसे च्युत होकर गर्हितपद्धतिका आश्रय कर इस लोकमें तथा परलोकमें दुःखभोगभागी ही होते हैं, यह दो श्लोकोंसे कहते हैं—शास्त्र वेद और तन्मूलक महर्षि मन्वादिप्रणीत प्रमाणिक स्मृत्यादिसे विहित नहीं है। यह अर्थ नञ् प्रसज्यप्रतिषार्थ है यह मान कर कहा है। पर्युदासार्थक नञ् है इस पक्षमें 'न शास्त्रम् अशास्त्रम् बुद्धादिवाक्यं तेन विहितम् अशास्त्रविहितम्' घोर भयानक आत्मपीड़ाप्रद तप तप्त पत्थर पर चढ़ना आदि करते हैं। दम्भ अपनेको धार्मिक होनेकी घोषणा, अहङ्कार 'मैं ही उत्तम हूँ' यह दूषिताभिमान इन दोनोंसे संयुक्त काम्यकर्मके फलमें जो अनुराग तत्कारणवत्व अतिकठिन दुःखसहनशक्ति उससे विशिष्ट काम्यविषयोंमें मनोरथ, राग सतत तदाग्रह अभिष्वङ्ग बल अवश्य इसको सिद्ध करेंगे यह दुरभिनिवेश उनसे अन्वित (युक्त) यह भी अर्थ होता है बौद्धोक्त तप्तशिलारोहणादि तात्पर्यसे प्रथम अर्थ है। प्रसज्यप्रतिषेधार्थक नञ्

ष्यामीत्याग्रहः, तैरन्विता इति वा। अत एव बलवद्दुःखदर्शनेऽप्यनिवर्तमानाः, कर्शयन्तः कृशीकुर्वन्तो वृथोपवासादिना शरीरस्थं भूतग्रामं देहेन्द्रियसंघाताकारेण परिणतं पृथिव्यादिभूतसमुदायमचेतसो विवेकशून्याः, मां चान्तःशरीरस्थं भोक्तृरूपेण स्थितं भोग्यस्य शरीरस्य कृशीकरणेन कृशीकुर्वन्त एव, मामन्तर्यामित्वेन शरीरान्तःस्थितं बुद्धितद्वृत्तिसाक्षिभूतमीश्वरमाज्ञालङ्घनेन कर्शयन्त इति वा। तानैहिकसर्वभोगविमुखान् परत्र चाधमगतिभागिनः सर्वपुरुषार्थभ्रष्टानासुरनिश्चयानासुरो विपर्यासरूपो वेदार्थविरोधी निश्चयो येषां तान् मनुष्यत्वेन प्रतीयमानानप्यसुरकार्यकारित्वादसुरान् विद्धि जानीहि परिहरणाय। निश्चयस्याऽऽसुरत्वात्तत्पूर्विकाणां सर्वासामन्तःकरणवृत्तीनामासुरत्वम्। असुरत्वजातिरहितानां च मनुष्याणां कर्मणैवासुरत्वात्तानसुरान् विद्धीति साक्षान्नोक्तमिति च द्रष्टव्यम् ॥ ५ ॥ ६ ॥

पक्षमें द्वितीय अर्थ है यह अभिप्राय है, अतएव प्रबल दुःख देखनेपर भी न मुड़नेवाले निष्फल उपवासादिद्वारा देह एवं भूतसमुदाय अर्थात् शरीरेन्द्रिय समवायाकारपरिणत पृथिव्यादि समुदायको दुर्बल करते हुए शरीरके भीतर भोक्तृरूपसे अन्तःस्थिति कैसे करते हैं इस अभिप्रायसे 'या आत्मनि तिष्ठन्' इत्यादि श्रुतिसे यह जाना गया है कि सब जीवात्माओंका नियन्ता तदन्तःस्थित परमात्मा है इस आशय से कहते हैं—अबुद्धि और तद्वृत्तियोंका साक्षीभूत ईश्वर फिर भी अवयवापचयत्वादिरूप कृशताका ईश्वरमें संभव नहीं इस आशयसे कहते हैं—आज्ञालङ्घनेत्यादि। आज्ञा श्रुतिस्मृत्यादि उसके उल्लंघनसे आज्ञोल्लंघन ही प्रकृतिमें कृशता है। उन उस लोकके सकल भोगोंसे पराङ्मुख परलोकमें अधोगतिभागी सर्वपुरुषार्थ धर्म अर्थ काम मोक्षसे भ्रष्ट आसुरो निश्चय 'आसुर' वेदार्थ विपरीत निश्चय है जिनका वे केवल आकार अवयवसंस्थानसे मनुष्यत्वेन प्रतीत होते हैं, 'चञ्चापुरुषवत्' मनुष्य गुणशून्य आसुरकर्मकारी होनेसे असुर ही जानो, परिहारार्थ यह ज्ञानोपदेश है ग्रहणार्थक नहीं। निश्चयके आसुरत्व होनेसे तत्पूर्वक सम्पूर्ण अन्तःकरणकी वृत्तियोंमें आसुरत्व है असुरत्व जातिरहित मनुष्योंमें आचरणसे असुरत्व है साक्षात् नहीं अतः उनको असुर समझो यह साक्षात् नहीं कहा ॥५॥६॥

आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः ।
यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं शृणु ॥ ७ ॥

और हे अर्जुन ! जैसे श्रद्धा तीन प्रकार की होती है, वैसे ही भोजन भी सबको अपनी अपनी प्रकृतिके अनुसार तीन प्रकारका प्रिय होता है और वैसे ही यज्ञ, तप और दान भी तीन तीन प्रकारके होते हैं, उनके इस न्यारे न्यारे भेदको तूँ मेरेसे सुनो ॥ ७ ॥

म० टी०—ये सात्त्विकास्ते देवा ये तु राजसास्तामसाश्च ते विपर्यस्तत्वादसुरा इति स्थिते सात्त्विकानामादानाय राजसतामसानां हानाय चाऽऽहारयज्ञतपोदानानां त्रैविध्यमाह—आहार इति । न केवलं श्रद्धैव त्रिविधा, अहारोऽपि सर्वस्य प्रियस्त्रिविध एव भवति सर्वस्य त्रिगुणात्मकत्वेन चतुर्थ्या विधाया असम्भवात् । यथा दृष्टार्थ आहारस्त्रिविधस्तथा यज्ञतपोदानान्यदृष्टार्थान्यपि त्रिविधानि । तत्र "यज्ञं व्याख्यास्यामो द्रव्यदेवतात्यागः" इति कल्पकारैर्देवतोद्देशेन द्रव्यत्यागो यज्ञ इति निरुक्तः । 'स च यजतिना जुहोतिना च चोदितत्वेन यागो होमश्चेति द्विविध

जो सात्त्विक हैं वे देव हैं जो राजस या तामस हैं वे विपरीत होनेसे असुर हैं 'न सुरः असुरः' सुर विरोधी असुर हैं, विरोध आचरणद्वारा समझना। इस स्थितिमें सात्त्विकोंके ग्रहणार्थ राजस तामसके त्यागके लिये आहार यज्ञ तप और दानोंमें तीन भेद कहते हैं—आहार से । केवल श्रद्धा ही का भेद नहीं, सबका प्रिय आहार भी तीन ही प्रकारका होता है । अप्रिय आहार चौथा हो सकता है इस तटस्थाशङ्कासे कहते हैं—सर्वेति । सब पदार्थ त्रिगुणात्म है, अतः चौथे प्रकारका सम्भव नहीं, जैसे दृष्टार्थ आहार है, आहार (भोजन) का अर्थ प्रयोजन प्रत्यक्ष क्षुन्निवृत्ति है अतः दृष्टार्थ तीन प्रकारका है, वैसे अदृष्टप्रयोजन यज्ञ, दान, तप इनका प्रयोजन शरीरान्तरसे भोगयोग्य स्वर्गादि सुखविशेष हैं इस हेतुसे अदृष्टार्थ है, कर्त्ताको इन प्रयोजनोंका कर्तृशरीरस्थ इन्द्रियोंसे प्रत्यक्ष नहीं। अदृष्टार्थक ये भी तीन प्रकारके हैं—'तत्र यज्ञं व्यख्यास्यामः, द्रव्यदेवतात्यागः' इति । कल्पकारोंने विधिविहित आधारमें देवताको उद्देश कर विहित द्रव्यत्याग याग है ऐसा कहा है । उनमें 'यजति' से और 'जुहोति' से विहित याग होमके

उत्तिष्ठद्धोमा वषट्कारप्रयोगान्ता याज्यापुरोऽनुवाक्यान्तो यजतय उपविष्टहोमाः, स्वाहाकारप्रयोगान्ता याज्यापुरोऽनुवाक्यारहिता जुहोतय' इति कल्पकारैर्व्याख्यातो यज्ञशब्देनोक्तः। तपः कायेन्द्रियशोषणं कृच्छ्रचान्द्रायणादि। दानं परस्वत्वापत्तिफलकः स्वस्वत्वत्यागः। तेषामाहारयज्ञतपोदानानां सात्त्विकराजसतामसभेदं मया व्याख्यायमानमिमं शृणु ॥ ७ ॥

भेदसे दो प्रकारका याग है। दोनोंमें भेद कहते हैं—खड़ा होकर वषट्कारान्त

'स्वाहा देवहविर्दाने श्रौषट् वौषक् वषट् स्वधा'

इस अमर कोषसे ज्ञात होता है कि उक्त शब्दप्रयोग देवतोद्देश्यक द्रव्यदानके बोधक है, जैसे 'इदमिन्द्राय वषट्'। इस प्रकार वषट्कारान्त याज्यापुरोऽनुवाक्या ये मन्त्रविशेष हैं, एतद्युक्त जो होम किया जाता हैं वह याग है। वैठकर 'अग्नये स्वाहा' इस प्रकार स्वाहान्त याज्यापुरोऽनुवाक्यारहित जो होम किया जाता, 'अग्निहोत्रं जुहोति' इत्यादि वाक्यसे विहित वह होम है। 'सोमेन यजेत' इत्यादि वाक्यसे विहित याग है, देवतोद्देश्यक द्रव्यत्याग दोनोंमें समान हैं उक्त प्रकार दोनोंमें विशेष है इससे दोनोंका पृथक् २ विधान हैं, कल्पकारोंसे कथित जिसका विवेचन कर चुके हैं। तप देहेन्द्रियोंको सुखानेवाला कृच्छ्रचान्द्रायणादि ये स्मृतियोंमें प्रसिद्ध है। दान परकीय स्वत्वोत्पत्तिजनक स्वस्वत्वत्याग, जिस दानसे अपना स्वत्त्व निवृत्ति हो जाय और दूसरेका स्वत्व उत्पन्न हो जाय वह त्याग दान है जैसे ब्राह्मणको गौ देना, इससे गो में दाताका स्वत्वनिवृत्ति होता है और ब्राह्मणका स्वत्व उत्पन्न होता है। जिस त्याग में अपना स्वत्वनिवृत्त नहीं होता और दूसरेका स्वत्व उत्पन्न होता है वह उत्सर्ग कहाता है, जैसे तड़ागोत्सर्गादि। जिस त्यागमें अपना स्वत्वनिवृत्त होता है किसीका स्वत्व उत्पन्न नहीं होता वह प्रक्षेप है,—'अरण्ये त्यजति' इत्यादि अन्यत्र विस्तार है। उन आहारयज्ञतपदानोंका सात्त्विक, राजस, तामस भेदोंकी जिसकी मैं व्यवस्था कर रहा हूँ उसको सुनो ॥७॥

आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः ।
रस्याःस्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराःसात्त्विकप्रियाः॥८॥

आयु, बुद्धि, बल, आरोग्य, सुख और प्रीतिको बढ़ानेवाले एवं रसयुक्त, चिकने और स्थिर रहनेवाले तथा स्वभावसे ही मनको प्रिय, ऐसे आहार अर्थात् भोजन करनेके पदार्थ तो, सात्त्विक पुरुषको प्रिय होते हैं॥ ८॥

म० टी०—आहारयज्ञतपोदानानां भेदः पञ्चदशभिर्व्याख्यायते। तत्राऽऽहारभेदस्त्रिभिः—आयुरित्यादिनाह। आयुश्चिरञ्जीवनम्, सत्त्वं चित्तधैर्यं बलवति दुःखेऽपि निर्विकारत्वापादकम्, बलं शरीरसामर्थ्यं स्वोचिते कार्ये श्रमाभावप्रयोजकम्, आरोग्यं व्याध्यभावः, सुखं भोजनानन्तराह्लादस्तृप्तिः, प्रीतिर्भोजनकालेऽनभिरुचिराहित्यमिच्छौत्कट्यं तेषां विवर्धनाः विशेषेण वृद्धिहेतवः, रस्या आस्वाद्या मधुररसप्रधानाः, स्निग्धाः सहजेनाऽऽगन्तुकेन वा स्नेहेन युक्ताः, स्थिरा रसाद्यंशेन शरीरे चिरकालस्थायिनः, हृद्या हृदयङ्गमा दुर्गन्धाशुचित्वादिदृष्टादृष्टदोषशून्याः, आहाराश्चर्व्यचोष्यलेह्यपेयाः, सात्त्विकानां प्रियाः,

आहारयज्ञतपदानोंका भेद पन्द्रह श्लोकोंसे कहते हैं। उनमें आहारका भेद तीन श्लोकोंसे कहते हैं—आयुः दीर्घकालजीवन, सत्त्व चित्तधैर्य प्रबलदुःख आनेपर भी चित्तमें विकार न होना, बल शरीर सामर्थ्य अपने करने योग्य कार्यमें परिश्रमाभावहेतु आरोग्य रोगाभाव। सुख भोजनके बाद आनन्द तृप्ति प्रीति, भोजनके समय रुचि उत्कट भोजनविषयकेच्छा, उनकी विवर्द्धना विशेषरूपसे वृद्धिका कारण, रस्य आस्वादयोग्य मधुर रसप्रधान स्निग्ध स्वाभाविक अथवा आगन्तुक स्नेहयुक्त 'चूर्णानां पिण्डीभावो हेतुर्गुणः स्नेहः' जिससे चूर्णोंका पिण्ड बन जाता है वो गुण स्नेह है, घृत जलादिमें यह स्वाभाविक है अन्यमें आगन्तुक है। स्थिर रसरुधिरमेदोमज्जादिरूपसे शरीरमें अधिक दिन स्थायी हृद्य (हृदय प्रिय) दुर्गन्ध यह दृष्टदोष है। अशुचित्व, अपवित्रत्व, यह अदृष्टदोष है पवित्रत्वादि शास्त्रैकवेद्य है 'अशुद्धमिति चेन्न शब्दात्' इस वेदान्त सूत्रमें स्पष्ट है। हृदयप्रिय इस प्रकारके आहार चबानेके योग्य लेह्य चोष्य पेय इनका परिचय

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः ।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः ॥ ९ ॥

और कड़वे, खट्टे, लवणयुक्त, और अतिगरम तथा तीक्ष्ण, रूखे और दाहकारक एवं दुःख, चिन्ता और रोगोंको उत्पन्न करनेवाले आहार अर्थात् भोजन करनेके पदार्थ, राजस पुरुषको प्रिय होते हैं ॥ ९ ॥

एतैर्लिङ्गैः सात्त्विकया ज्ञेयाः सात्त्विकत्वमभिलपद्भिश्चैत आदेया इत्यर्थः ॥ ८ ॥

म० टी०—अतिशब्दः कट्वादिषु सप्तस्वपि योजनीयः, कटुस्तिक्तः कटुरसस्य तीक्ष्णशब्देनोक्तत्वात् । तत्रातिकटुर्निम्बादिः । अत्यम्लातिलवणात्युष्णाः प्रसिद्धाः । अतितीक्ष्णो मरीचादिः, अतिरूक्षः स्नेहशून्यः कङ्गुकोद्रादिः, अतिविदाही सन्तापको राजिकादिः । दुःखं तात्कालिकीं पीडां शोकं पश्चाद्भावि दौर्मनस्यम्, आमयं रोगं च धातुवैषम्यद्वारा प्रददतीति तथाविधा आहारा राजसस्येष्टाः । एतैर्लिङ्गै राजसा ज्ञेयाः सात्त्विकैश्चैत उपेक्षणीया इत्यर्थः ॥ ९ ॥

पूर्वमें दे चुके हैं सात्त्विकोंको प्रिय है, इन चिह्नोंसे सात्त्विक समझना । सात्त्विकत्व जो सात्त्विक होना चाहता है उसको ये उक्त सात्त्विक ही ग्राह्य है ॥८॥

अति शब्दका कटु आदि सातोंमें सम्बन्ध करना, तीता (कटु) है क्योंकि कटुरसको तीक्ष्ण शब्दसे कह चुके हैं । उनमें अति कड़आ नीम आदि है, अति अम्ल जम्बीरी निम्बु इमली आदि, अतिलवण समुद्रजल, अति उष्ण मुखादि दाहक, अतितीक्ष्ण मरीच्यादि, अतिरूक्ष जिसमें स्वल्प भी स्नेह नहीं कोदो, काँउनि इत्यादि । भोजनके वाद दौर्मनस्य चित्तकी अप्रसन्नतासे शोक होता है क्यों खाया अति संताप देने वाली राई आदि दुःख भोजनसमयमें ही पीड़ाप्रद रोग धातुवैषम्योत्पादन द्वारा रोगप्रद धातु कफवातपित्त इनकी सममात्रा रहनेसे शरीर निरोग रहता है यह आयुर्वेदमें प्रसिद्ध है ऐसे आहार राजसोंके प्रिय होते हैं इन चिह्नोंसे राजस जानना सात्त्विक जनोंके ये आहार त्याज्य हैं यह अर्थ है ॥९॥

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत्।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ॥ १० ॥

तथा जो भोजन अधपका रसरहित और दुर्गन्धयुक्त एवं बासी और उच्छिष्ट है तथा जो अपवित्र भी है, वह भोजन तामस पुरुषको प्रिय होता है ॥ १० ॥

म० टी०——यातयाममर्धपक्वं निर्वीर्यस्य गतरसपदेनोक्तत्वादिति भाष्यम्, गतरसं विरसतां प्राप्तं शुष्कम्। यातयामं पक्वं सत्प्रहरादिव्यवहितमोदनादि शैत्यं प्राप्तम्, गतरसमुद्धृतसारं मथितदुग्धादीत्यन्ये। पूति दुर्गन्धम्। पर्युषितं पक्वं सद्रात्र्यन्तरितम्। चेतसस्तत्कालोन्मादकरं धत्तूरादि समुचीयते। यदतिप्रसिद्धं दुष्टत्वेनोच्छिष्टं भुक्तावशिष्टम् अमेध्यमयज्ञार्हमशुचि मांसादि। अपि चेति वैद्यकशास्त्रोक्तमपथ्यं समुचीयते। एतादृशं यद्भोजनं भोज्यं तत्तामसस्य प्रियं सात्त्विकैरतिदूरादुपेक्षणीयमित्यर्थः। एतादृशभोजनस्य दुःखशोकामय-

यातयाम आधा पका 'यातः यामो यस्य स यातयामः' जिस ओदनके अनन्तर एक प्रहर बीत गया वह निर्वीर्य नीरस ओदन यातयामसे व्यावर्त्य नहीं उसकी व्यावृत्ति गत दशासे ही सिद्ध है। ठण्ढे भातमें स्वाद नहीं यह अनुभव सिद्ध है

'अमीलसद्वास्पमखण्डिताखिलं वियुक्तमन्योन्यमसुक्तमार्दवम्'

इस नैषधश्लोकमें 'लसद्वास्प' यह विशेषण दिया है। गतरस सूखा यातयाम पकनेके बाद एक पहर बीतने पर शीतल भात, गतरस माखन निकाला दुग्धादि पूतिगन्ध दुर्गन्ध।

'पूतिगन्धस्तु दुर्गन्धो विस्रं स्यादामगन्धियत्'

इस अमरकोषसे पूतिशब्द पवित्रवाची नहीं किन्तु दुर्गन्धवाची है। पर्युषित (बासी) जिसके पकने पर एक रात बीत गई हो वह चित्तके उन्मादक, धत्तूरका बीज आदि जो अति दूषित लोकमें प्रसिद्ध है, उच्छिष्ट भोजनसे थालीमें बचा जूठा अमेध्य यज्ञके अयोग्य मांसादि। अपि च से वैद्यक शास्त्रप्रसिद्ध अपथ्यका समुच्चय है ऐसा भोजन भोज्य तामसियोंके प्रिय है, सात्त्विकजनोंसे ये दूर ही से उपेक्षणीय हैं यह अर्थ है। ऐसे भोजनमें दुःखशोकामयप्रदत्व प्रसिद्ध है अतः कण्ठसे नहीं कहा। अज्ञात

प्रदत्वमति प्रसिद्धमिति कण्ठतो नोक्तम्। अत्र च क्रमेण रस्यादिवर्गः सात्त्विकः, कट्वादिवर्गो राजसः, यातयामादिवर्गस्तामस इत्युक्तमाहारवर्गत्रयम्। तत्र सात्त्विकवर्गविरोधित्वमितरवर्गद्वये द्रष्टव्यम्। तथा ह्यतिकटुत्वादिकं रस्यत्व विरोधि तादृशस्यानास्वाद्यत्वात्। रूक्षत्वं स्निग्धत्वविरोधि, तीक्ष्णत्वविदाहित्वे धातुपोषणविरोधित्वात्स्थिरत्वविरोधिनी। अत्युष्णत्वादिकं हृद्यत्वविरोधि, आमयप्रदत्वमायुः सत्त्वबलारोग्यविरोधि। दुःखशोकप्रदत्वं सुखप्रीतिविरोधि, एवं सात्त्विकवर्गविरोधित्वं राजसवर्गे स्पष्टम्। तथा तामसवर्गेऽपि गतरसत्वयातयामत्वपर्युषितत्वानि यथासम्भवं रस्यत्वस्निग्धत्वस्थिरत्वविरोधीनि, पूतित्वोच्छिष्टत्वामेध्यत्वानि हृद्यत्वविरोधीनि, आयुः सत्त्वादिविरोधित्वं तु स्पष्टमेव राजसवर्गे दृष्टविरोधमात्रं तामसवर्गे तु दृष्टादृष्टविरोध इत्यतिशयः॥ १०॥

ज्ञापन ही शब्दका मुख्य प्रयोजन है यहाँपर क्रमसे रस्यादिवर्ग सात्त्विक है, कटु आदिवर्ग राजस हैं, यातयाम रस्यादिवर्ग तामस है इस प्रकार आहारके तीनों वर्गोंको कहा। इसमें सात्त्विकवर्ग विरोधित्व राजस तामस वर्गोंमें है। तथा अतिकट्वादिक रसविरोधि ऐसा आस्वादके योग्य नहीं, रूक्षत्व स्निग्धत्वका विरोधी है तीक्ष्णत्व और विदाहित्व धातुपोषणविरोधी होनेसे स्थिरत्वके विरोधी उक्त दोनों हैं। अति उष्णत्वादि हृद्यत्वका विरोधी है, आमयप्रदत्व आयुः सत्त्वबल और आरोग्यका विरोधी है दुःखशोकप्रदत्व सुखप्रीति विरोधी, इस प्रकार सात्त्विकवर्गविरोधित्व राजसवर्गमें स्फुट है तथा तामसवर्गमें भी गतरसत्व यातयामत्व पर्युषितत्व यथासम्भव रसत्व स्निग्धत्व स्थिरत्व विरोधी है। पूतित्व उच्छिष्टत्व और अमेध्यत्व हृद्यत्व विरोधी है। आयुः सत्त्वादिविरोधित्व तो स्पष्ट ही है। राजसवर्गमें दृष्टविरोधित्वमात्र है तामसवर्गोंमें दृष्टादृष्ट विरोध यह विशेष है अर्थात् राजसवर्गमें दृष्ट आयुरादि विरोधित्वमात्र है, तामसवर्गमें दृष्टविरोधित्वके अदृष्टधर्म विरोधित्व भी है। अमेध्यमांसादि भक्षणसे पाप होता है तद्द्वारा पुण्यका विरोधी है अतः साधुजनोंमें सर्वथा त्याज्य है यह भाव है॥१०॥

अफलाकांक्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते ।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः ॥ ११ ॥

और हे अर्जुन! जो यज्ञ, शास्त्रविधिसे नियत किया हुआ है तथा करना ही कर्तव्य है ऐसे मनको सामाधानकरके फलको न चाहनेवाले पुरुषोंद्वारा किया जाता है, वह यज्ञ तो सात्त्विक है॥ ११॥

म० टी०—इदानीं क्रमप्राप्तं त्रिविधं यज्ञमाह त्रिभिः—अफलेत्यादिना । अग्निहोत्रदर्शपूर्णमासचातुर्मास्यपशुबन्धज्योतिष्टोमादिर्यज्ञो द्विविधः काम्यो नित्यश्च । फलसंयोगेन चोदितः काम्यः, सर्वाङ्गोपसंहारेणैव मुख्यकल्पेनानुष्ठेयः फलसंयोगं विना जीवनादिनिमित्तसंयोगेन चोदितः सर्वाङ्गोपसंहारासंभवे प्रतिनिध्याद्युपादानेनामुख्यकल्पेनाऽप्यनुष्ठेयो नित्यः । तत्र सर्वाङ्गोपसंहारासंभवेऽपि प्रतिनिधिमुपादायावश्यं यष्टव्यमेव प्रत्यवायपरिहारायाऽऽवश्यकजीवनादिनिमित्तेन चोदितत्वादिति मनः समाधाय

अब क्रम से प्रायः तीन प्रकार के यज्ञों को कहते हैं—अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, चातुर्मास्य, पशुबन्ध, ज्योतिष्टोम आदि यज्ञ हैं। ये दो प्रकार के हैं–काम्य और नित्य, फलवद्वाक्यविहित काम्य है जैसे 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' 'उद्भिदा यजेत पशुकामः' इत्यादि। यह तो सब पूर्वोत्तर अङ्गों के साथ मुख्य कल्प से अनुष्ठान के योग्य है किसी अङ्ग के वैगुण्य होने से यज्ञ ही विगुण हो जायगा उसके करने से कुछ फल न होगा अतः उसका अनुष्ठान यथाविधि होना चाहिये और जिस विधिवाक्य में फल का निर्देश नहीं है किन्तु जीवनादि निमित्तोपादानमात्र है जैसे 'यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहुयात्' 'यावज्जीवमधीयीत' इत्यादि। इन वाक्यों में फल का निर्देश नहीं है, जीवन ही निमित्त है जीवनपर्यन्त अनुष्ठान करना चाहिये। इसका अनुष्ठान सब अङ्गों के साथ न हो सके तो प्रतिनिधिद्वारा अमुख्यकल्प से भी अनुष्ठान करना इसमें सर्वाङ्गोपसंहारासंभव होने पर भी प्रतिनिधि लेकर याग करना ही चाहिये प्रत्यवाय परिहार के लिये आवश्यक जीवनादिनिमित्त से विहित है अतः

अभिसन्धाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत् ।
इज्यते भरतश्रेष्ठ! तं यज्ञं विद्धि राजसम् ॥ १२ ॥

और हे अर्जुन ! जो यज्ञ, केवल दम्भाचरणके ही लिये अथवा फलको भी उद्देश्य रखकर किया जाता है, उस यज्ञको तूँ राजस जानो ॥ १२ ॥

निश्चित्याफलाकाङ्क्षिभिरन्तःकरणशुद्ध्यर्थितया काम्यप्रयोगविमुखैर्विधिदृष्टो यथाशास्त्रं निश्चितो यो यज्ञ इज्यतेऽनुष्ठीयते स यथाशास्त्रमन्तःकरणशुद्ध्यर्थमनुष्ठीयमानो नित्यप्रयोगः सात्त्विको ज्ञेयः ॥ ११ ॥

म० टी०—फलं काम्यं स्वर्गादि अभिसन्धायोद्दिश्य न त्वन्तःकरणशुद्धिम्, तुर्नित्यप्रयोगवैलक्षण्यसूचनार्थः । दम्भो लोके धार्मिकत्वख्यापनम्, तदर्थम् अपि चैवेति विकल्पसमुच्चयाभ्यां त्रैविध्यसूचनार्थम् । पारलौकिकं फलमभिसन्धायैवादम्भार्थत्वेऽपि पारलौकिकफलाननुसन्धानेऽपि दम्भार्थमेवेति विकल्पेन द्वौ पक्षौ । पारलौकिकफलार्थमप्यैहिकलौकिकदम्भार्थमपीति समुच्चयेनैकः पक्षः । एवं दृष्टादृष्टफलाभिसंधिनाऽन्तःकरणशुद्धिमनुद्दिश्य यदिज्यते यथा

मन को एकाग्र कर निश्चय करके फलकामनाशून्य होकर अन्तःकरण शुद्धि की कामना से काम्यप्रयोग से पराङ्मुख होकर जैसी शास्त्र में विधि पायी गई है वैसे निश्चित जो यज्ञ करता हैं वह शास्त्रानुसार अन्तःकरण शुद्धि के लिये क्रियमाण नित्य प्रयोग सात्त्विक है यह समझना ॥ ११ ॥

फल काम्य है स्वर्गादि को लक्ष्यकर अन्तःकरणशुद्धि को नहीं, 'तु' शब्द नित्य प्रयोग से वैलक्षण्यसूचनार्थ है । दम्भ लोक में धार्मिक ज्ञापन यह असकृद् व्याख्यात है । 'तदर्थमपि चैव इति' इस विकलपसमुच्चय त्रैविध्यज्ञापनार्थ है परलोक भोगयोग्य स्वर्गादि फलको लक्ष्य कर के ही दम्भार्थ भी परलोक फल के उद्देश्य से नहीं, दम्भार्थ भी इस विकल्प से दो पक्ष है । परलोकस्थ स्वर्गादिफलार्थ भी लोकगत दम्भार्थ भी इस समुच्चय से एक पक्ष है । एवं दृष्टादृष्टफलकामना से अन्तःकरण को अनुद्देश्यकर जो याग

विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम् ।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते ॥ १३ ॥

तथा शास्त्रविधिसे हीन और अन्नादानसे रहित एवं बिना मन्त्रोंके, बिना दक्षिणाके और बिना श्रद्धाके किए हुए यज्ञको तामस यज्ञ कहते हैं ॥ १३ ॥

शास्त्रं यो यज्ञोऽनुष्ठीयते तं यज्ञं राजसं विद्धि हानाय, हे भरतश्रेष्ठेति योग्यत्वसूचनम् ॥ १२ ॥

म० टी०—यथाशास्त्रबोधितविपरीतमन्नदानहीनं स्वरतो वर्णतश्च मन्त्रहीनं यथोक्तदीक्षाहीनमृत्विग्द्वेषादिना श्रद्धारहितं तामसं यज्ञं परिचक्षते शिष्टाः । विधिहीनत्वाद्येकैकविशेषणः पञ्चविधः सर्वविशेषणसमुच्चयेन चैकविधः इति षट् द्वित्रिचतुर्विशेषणसमुच्चयेन च बहवो भेदास्तामसयज्ञस्य ज्ञेयाः । राजसे यज्ञेऽन्तःकरणशुद्धयभावेऽपि फलोत्पादकमपूर्वमस्ति यथाशास्त्रमनुष्ठानात्, तामसे

करते हैं यथाविधि यज्ञ करते हैं। शुद्ध उस यज्ञ को राजस समझो, त्याग के लिये लिये इसके ज्ञान की अपेक्षा है। हे भरतश्रेष्ठ ! इस सम्बन्ध से ज्ञानयोग्यता अर्जुन में सूचित की है ॥ १२ ॥

विधिहीनमिति। शास्त्र से जैसे विहित है उसके प्रतिकूल अन्नदान रहित स्वर से हीन, वर्ण से हीन शास्त्र से जैसी दक्षिणा विहित है यज्ञ व्यापृत ऋत्विजादि वैर से श्रद्धारहित यज्ञ को बड़े लोग तामस कहते हैं। विधिहीनत्वादिकों में एक एक विशेष से विशिष्ट याग पाँच प्रकार का है। कोई विधिहीन ही है कोई अन्नहीन ही है इस प्रकार एकैक के भाव से याग में पाँच भेद स्पष्ट ही है। जिसमें सब विशेषण है वह एक छठवाँ यज्ञ है, एकैक विशेषण से और समुदित विशेषण से छै प्रकार का याग कहा, किसी में एक विशेषण है किसी में दो, किसी में तीन, किसी में चार इस भेद से तामस का अनेक भेद समझना। राजस यज्ञ में अन्तःकरण की शुद्धि न होने पर भी फलजनक अदृष्ट होता है क्योंकि शास्त्रविधि के अनुसार अनुष्ठान हुआ है

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम् ।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥ १४ ॥

तथा हे अर्जुन ! देवता, ब्राह्मण, गुरु और ज्ञानीजनोंका पूजन एवं पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा, यह शरीरसम्बन्धी तप कहा जाता है ॥ १४ ॥

त्वयथाशास्त्रानुष्ठानान्न किमप्यपूर्वमस्तीत्यतिशयः ॥ १३ ॥

म० टी०—क्रमप्राप्तस्य तपसः सात्त्विकादिभेदं कथयितुं शारीरवाचिकमानसभेदेन तस्य त्रैविध्यमाह त्रिभिः—देवद्विजेत्यादिना । देवा ब्रह्मविष्णुशिवसूर्याग्निदुर्गादयः, द्विजा द्विजोत्तमा ब्राह्मणाः, गुरवः पितृमात्राचार्यादयः, प्राज्ञाः पण्डिता विदितवेदतदुपकरणार्थाः, तेषां पूजनं प्रणामशुश्रूषादि यथाशास्त्रं, शौचं मृज्जलाभ्यां शरीरशोधनम्, आर्जवमकौटिल्यं भावसंशुद्धिशब्देन मानसे तपसि वक्ष्यति । शारीरं त्वार्जवं विहितप्रतिषिद्धयोरेकरूपप्रवृत्तिनिवृत्तिशालित्वम्, ब्रह्मचर्यं निषिद्धमैथुननिवृत्तिः, अहिंसाऽशास्त्रीयप्राणिपीडनाभावः । चकारादस्तेयापरिग्रहावपि । शारीरं शरीरप्रधानैः कर्त्रादिभिः साध्यं

तामस में तो शास्त्र विधि के विपरीत अनुष्ठान होने से कुछ भी अदृष्ट धर्म नहीं यह विशेष है ॥ १३ ॥

क्रमप्राप्त तप का सात्त्विक राजस तामस कहने के लिये शारीर वाचिक मानस भेद से वह तीन प्रकार का है यह कहते हैं तीन श्लोकों से—देव ब्रह्मा, विष्णु शिवसूर्याग्निदुर्गादि, ब्राह्मण, गुरु—पिता माता आचार्यादि, प्राज्ञ पण्डित जो कि वेद वेदाङ्ग के अर्थों को जानते हैं उनका पूजन शास्त्राज्ञानुसार प्रणाम शुश्रूषादि, शौच मट्टी जल से शरीर निर्मल करना, आर्जव कौटिल्याभाव यह भावसंशुद्धिशब्द से मानस तप में कहेंगे। शारीर आर्जव विधि और निषेध में समानरूप से प्रवृत्ति और निवृत्ति ब्रह्मचर्य प्रतिषिद्ध स्त्रीसङ्ग न करना, अहिंसा शास्त्रविहितहिंसा से अतिरिक्त प्राणिहिंसाभाव, च से चोरी न करना अधिकसञ्चय न करना इन दोनों का भी ग्रहण है। शारीर केवल शरीरसाध्य विवक्षित नहीं किन्तु शरीरप्रधान कर्त्तादि से साध्य जो हैं वह शरीर से यहाँ विवक्षित हैं क्योंकि—

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥ १५ ॥

तथा जो उद्वेगको न करनेवाला, प्रिय और हितकारक एवं यथार्थ भाषण है और जो वेद शास्त्रोंके पढ़नेका एवं परमेश्वरके नाम जपनेका अभ्यास है, वह निःसन्देह वाणीसम्बन्धी तप कहा जाता है ॥ १५ ॥

न तु केवलेन शरीरेण। पञ्चैते तस्य हेतव इति हि वक्ष्यति। इत्थं शारीरं तप उच्यते ॥ १४ ॥

म० टी०—अनुद्वेगकरं न कस्यचिद्दुःखकरं सत्यं प्रमाणमूलबाधितार्थम्, प्रियं श्रोतुस्तत्कालश्रुतिसुखं हितं परिणामे सुखकरम्। चकारो विशेषणानां समुच्चयार्थः। अनुद्वेगकरत्वादिविशेषणचतुष्टयेन विशिष्टं न त्वेकेनापि विशेषणेन न्यूनम्, यद्वाक्यं यथा शान्तो भव वत्स स्वाध्यायं योगं चानुतिष्ठ तथा ते श्रेयो भविष्यतीत्यादि तद्वाङ्मयं वाचिकं तपः शारीरवत्,

अधिष्ठानं तथा कर्त्ता करणं च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक् चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम् ॥
शरीरवाङ्मनोभिर्यत् कर्म प्रारभते नरः।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः ॥

यह आगे कहेंगे इस प्रकार शारीर तप कहाता है ॥ १४ ॥

शारीर तप कह कर वाक्प्रधान कर्त्तादि से सा॰य तप कहते हैं—अनुद्वेगेति। किसी को दुःखदायी न हो ऐसा वाक्य सत्य प्रामाणिक जिसका अर्थ प्रमाणों से बाधित न हो, प्रिय श्रोता को श्रावण काल में श्रुति में सुख जिसके परिणाम में सुख हो। चकारविषयों के समुच्चयार्थ है अनुद्वेगकरत्वादि चारों विशेषणों से विशिष्ट एकविशेषण से भी कम न हो जो वाक्य जैसे 'बच्चे! शान्त रहो, पढ़ो और योग करो इसी से तुम्हारा कल्याण होगा, इत्यादि वाग्विन्यास वाचिक तप है। शरीर के समान वेदों का अभ्यास

मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः ।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ॥ १६ ॥

तथा मनकी प्रसन्नता और शान्तभाव एवं भगवत्-चिन्तन करनेका स्वभाव, मनका निग्रह और अन्तःकरणकी पवित्रता, ऐसे यह मनःसम्बन्धी तप कहा जाता है ॥ १६ ॥

स्वाध्यायाभ्यसनं यथाविधि वेदाभ्यासश्च वाङ्मयं तप उच्यते । एवकारः प्राग्विशेषणसमुच्चयावधारणे व्याख्यातव्यः ॥ १५ ॥

म० टी०—मनसः प्रसादः स्वच्छता विषयचिन्ताव्याकुलत्वराहित्यम्, सौम्यत्वं सौमनस्यं सर्वलोकहितैषित्वं प्रतिषिद्धाचिन्तनं च । मौनं मुनिभाव एकाग्रतयाऽऽत्मचिन्तनं निदिध्यासनाख्यम्, वाक्संयमहेतुर्मनःसंयमो मौनमिति भाष्यम् । आत्मविनिग्रह आत्मनो मनसो विशेषेण सर्ववृत्तिनिग्रहो निरोधसमाधिरसंप्रज्ञातः । भावस्य हृदयस्य शुद्धिः कामक्रोधलोभादिमलनिवृत्तिः, पुनरशुद्ध्युत्पादराहित्येन सम्यक्त्वेन विशिष्टा सा भावशुद्धिः । परैः

यथाविधि अनुष्ठीयमान वाङ्मय तप है। एवकार का पूर्व में विशेषणसमुच्चयावधारण के समय व्याख्यान हो चुका है ॥ १५ ॥

मनका प्रसाद प्रसन्नता विषयचिन्ताव्यग्रत्वाभाव है सौम्यत्व सौमनस्य जो मुखादि प्रसादरूपकार्यसे प्रतीत होता है और सब लोगोंके हितका चिन्तन प्रतिषिद्धका अचिन्तन भी सौमनस्य है। मौनकी व्युत्पत्ति दिखलाते हैं—मुनिभाव इति। निदिध्यासनस्वरूप एकाग्रचित्तसे आत्माका चिन्तन वाक्संयमहेतु मनःसंयम मौन है यह भाष्य है, वाग्नियमन मौन है यह तो लोकमें प्रसिद्ध है, परन्तु यह वाक् तपमें आने लायक है मानस तपमें नहीं अतः भाष्यकारने कहा वाक्संयम मनःसंयम पूर्वक ही होता है अतः कार्य वाक्संयमसे कारण मनःसंयम कहा, यह तो मानस है ही। आत्मविनिग्रह मनकी सब वृत्तियोंका निरोध असंप्रज्ञात समाधिभाव हृदयकी शुद्धि, काम क्रोध लोभ मदमोहादिरूपमलकी निवृत्ति पुनः अशुद्धि उत्पन्न न हो ऐसी शुद्धि ऐकान्तिक शुद्धि इसी तात्पर्यसे भाष्यकारने

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः ।
अफलाकांक्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते ॥ १७ ॥
सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत् ।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम् ॥ १८ ॥

परन्तु हे अर्जुन ! फलको न चाहनेवाले निष्कामी योगी पुरुषों द्वारा परमश्रद्धासे किये हुए, उस पूर्वोक्त तीन प्रकारके तपको तो सात्त्विक कहते हैं ।

और जो तप सत्कार, मान और पूजाके लिये अथवा केवल पाखण्डसे ही किया जाता है, वह अनिश्चित और क्षणिक फलवाला तप, यहाँ राजस कहा गया है ॥ १८ ॥

सह व्यवहारकाले मायाराहित्यं सेति भाष्यम्, इत्येतदेवंप्रकारं तपो मानसमुच्यते ॥ १६ ॥

म० टी०—शारीरवाचिकमानसभेदेन त्रिविधस्योक्तस्य तपसः सात्त्विकादिभेदेन त्रैविध्यमिदानीं दर्शयति त्रिभिः—श्रद्धयेत्यादिना । तत्पूर्वोक्तं त्रिविधं शारीरं वाचिकं मानसं च तपः श्रद्धयाऽऽस्तिक्यबुद्ध्या परया प्रकृष्टयाऽप्रामाण्यशङ्काकलङ्कशून्यया फलाभिसन्धिशून्यैर्युक्तैः समाहितैः सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारैरधिकारिभिस्तप्तमनुष्ठितं सात्त्विकं परिचक्षते शिष्टाः ॥१७॥

कहा कि—परैर्व्यवहारकालेऽमायित्वेति दूसरोंके साथ व्यवहार समयमें कपट न वह है, इस प्रकारका तप मानस कहाता है ॥१६॥

शारीर वाचिक मानस भेदसे तीन प्रकारके उक्त तपका निरूपण हुआ फिर सात्त्विकादि भेदसे तीन प्रकार कहते हैं इस समय तीनश्लोकोंसे—वह पूर्वोक्त शारीर वाचिक मानस तप श्रद्धा आस्तिक्य 'अस्ति परलोक इति बुद्धिर्यस्य स आस्तिक' 'अस्ति नास्ति दिष्टं मतिः' इस सूत्रसे ठक् होता है, ठस्येकः इस से इक् 'यस्येति च' से इकार लोप आस्तिकः, तस्य भाव आस्तिक्य' उत्तम आस्तिक्य बुद्धिसे उत्तमत्व अप्रामाण्यशङ्कारूपी कलङ्कशून्यत्व है फलाकांक्षाशून्य समाहित एकाग्रसिद्धि और असिद्धिमें विकाररहित पुरुषोंसे प्रकृतको सात्त्विक बड़े लोग कहते हैं ॥१७॥

मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः ।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम् ॥ १९ ॥
दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे ।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम् ॥ २० ॥

और जो तप मूढतापूर्वक हठसे, मन, वाणी और शरीरकी पीड़ा के सहित अथवा दूसरेका अनिष्ट करनेके लिये किया जाता है, वह तप तामस कहा गया है ॥ १९ ॥

और हे अर्जुन! दान देना ही कर्तव्य है, ऐसे भावसे जो दान देश काल और पात्रके प्राप्त होने पर, प्रत्युपकारा न करनेवालोंके लिये दिया जाता है, वह दान तो सात्त्विक कहा गया है ॥ २० ॥

म० टी०—सत्कारः साधुरयं तपस्वी ब्राह्मण इत्येवमविवेकिभिः क्रियमाणा स्तुतिः, मानः प्रत्युत्थानाभिवादनादिः, पूजा पादप्रक्षालनार्चनधनदानादिः, तदर्थं दम्भेनैव च केवलं धर्मध्वजित्वेनैव च न त्वास्तिक्यबुद्ध्या यत्तपः क्रियते तद्राजसं प्रोक्तं शिष्टैः, इहास्मिन्नेव लोके फलदं न पारलौकिकं चलमत्यल्पकालस्थायिफलम्, अध्रुवं फलजनकतानियमशून्यम् ॥ १८ ॥

म० टी०—मूढग्राहेणाविवेकातिशयकृतेन दुराग्रहेणात्मनो देहेन्द्रियसङ्घातस्य पीडया यत्तपः क्रियते परस्योत्सादनार्थं वाऽन्यस्य विनाशार्थमभिचाररूपं तत्तामसमुदाहृतं शिष्टैः ॥ १९ ॥

बहुत अच्छा यह तपस्वी ब्राह्मण है इस प्रकार विवेकरहित पुरुषोंको क्रियमाण प्रशंसा सत्कार है, देखकर खड़ा होना प्रणाम करना आदि मान है, पूजा पैर धोना आदि एतदर्थ इस धर्मध्वजित्वसे ही आस्तिक्यबुद्धि से नहीं जो तप किया जाता है उसको राजस शिष्टलोग कहते हैं। इसी लोकमें वह फलप्रद है परलोकफल उसका कुछ नहीं, चल थोड़े कालतक उसका फल रहता है अध्रुव अवश्य ही यह फल देगा इस नियमसे रहित है ॥१८॥

मूढग्राह अविवेक प्रयुक्त दुराग्रह है इससे शरीरेन्द्रिय सङ्घातात्मक आत्माको पीड़ा देकर जो तप किया जाता है दूसरेको भगाने या मारनेके लिये मारणरूप वह तामस है ऐसा शिष्टोंने कहा है ॥१९॥

यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः ।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम् ॥ २१ ॥

और जो दान क्लेशपूर्वक तथा प्रत्युपकारके प्रयोजनसे अर्थात् बदलेमें अपना सांसारिक कार्यसिद्ध करनेकी आशासे अथवा फलको उद्देश्य रखकर फिर दिया जाता है, वह राजस कहा गया है ॥ २१ ॥

म० टी०—इदानीं क्रमप्राप्तस्य दानस्य त्रैविध्यं दर्शयति त्रिभिः—दातव्यमित्यादिना । दातव्यमेव शास्त्रचोदनावशादित्येवं निश्चयेन न तु फलाभिसन्धिना यद्दानं तुलापुरुषादि दीयतेऽनुपकारिणे प्रत्युपकाराजनकाय देशे पुण्ये कुरुक्षेत्रादौ काले च पुण्ये सूर्योपरागादौ । पात्रे चेति चतुर्थ्यर्थे सप्तमी । कीदृशायानुपकारिणे दीयते पात्राय च विद्यातपोयुक्ताय । पात्रे रक्षकायेति वा । विद्यातपोभ्यामात्मनो दातुश्च पालनक्षम एव प्रतिगृह्णीयादिति शास्त्रात् । तदेवंभूतं दानं सात्त्विकं स्मृतम् ॥ २० ॥

म० टी०—प्रत्युपकारार्थं कालान्तरे मामयमुपकरिष्यतीत्येवं दृष्टार्थं फलं वा स्वर्गादिकमुद्दिश्य यत्पुनर्दानं सात्त्विकविलक्षणं दीयते परिक्लिष्टं च

अब क्रमप्राप्त दानका तीन भेद कहते हैं ३ श्लोकोंसे—देना ही चाहिये क्योंकि शास्त्रमें ऐसी विधि है इस निश्चयसे फलकी इच्छासे नहीं जो तुलापुरुषादि दान दिया जाता है अनुपकारीको जिससे कुछ भी उपकार होनेको भविष्यमें आशा नहीं, देश पुण्यक्षेत्र कुरुक्षेत्रादि पुण्यकाल सूर्यचन्द्रग्रहणादि पात्रमें सप्तमी चतुर्थीके अर्थमें है । कैसे अनुपकारीको दिया जाय तो—पात्राय, विद्वान् तपस्वीको अथवा 'पाति रक्षति इति पाता तस्मै पात्रे' 'पा रक्षणे' से तृच् प्रत्यय है इस अर्थमें चतुर्थी ही है सप्तमी नहीं । विद्या और तपसे अपनी तथा दाताकी रक्षामें समर्थ ही प्रतिग्रह दान ले ऐसी शास्त्रकी विधि है इस प्रकारका दान सात्त्विक है ॥२०॥

सात्त्विक दान कहकर राजस दान कहते हैं—यत्त्विति । इस समय न हो किन्तु कालान्तरमें यह उपकार करेगा इस बुद्धिसे दृष्टार्थ अथवा अदृष्ट स्वर्गादि फल हमको होगा इस बुद्धिसे वा जो सात्त्विकसे विलक्षण दान दिया जाता है

अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते ।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम् ॥ २२ ॥
ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः ।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा ॥ २३ ॥

और जो दान बिना सत्कार किये, अथवा तिरस्कारपूर्वक, अयोग्य देशकालमें, कुपात्रोंके लिये अर्थात् मद्य मांसादि अभक्ष्य वस्तुओंके खानेवालों एवं चोरी जारी नीच कर्म करनेवालोंके लिये दिया जाता है वह दान तामस कहा गया है ॥ २२ ॥

और हे अर्जुन ! ॐ, तत्, सत्, ऐसे यह तीन प्रकारका सच्चिदानन्दघन ब्रह्मका नाम कहा है, उसीसे सृष्टिके आदिकालमें, ब्राह्मण और वेद तथा यज्ञादिक रचे गये हैं ॥ २३ ॥

कथमेतावद्व्ययितमितिपश्चात्तापयुक्तं यथा भवत्येवं च यद्दीयते तद्दानं राजसं स्मृतम् ॥ २१ ॥

म० टी०--अदेशे स्वतो दुर्जनसंसर्गाद्वा पापहेतावशुचिस्थाने, अकाले पुण्यहेतुत्वेनाप्रसिद्धे यस्मिन् कस्मिंश्चित्, अशौचकाले वा, अपात्रेभ्यश्च विद्यातपोरहितेभ्यो नटविटादिभ्यो यद्दानं दीयते देशकालपात्रसंपत्तावपि असत्कृतं प्रियभाषणपादप्रक्षालनपूजादिसत्कारशून्यमवज्ञातं पात्रपरिभवयुक्तं च तद्दानं तामसमुदाहृतम् ॥ २२ ॥

दान देनेके अनन्तर क्यों इतना खर्च किया थोड़ा देनेसे भी काम चल जाता इत्यादि पश्चात्तापयुक्त जो दान वह दान राजस माना गया है ॥२१॥

राजस दान कहकर तामस दान कहते हैं—अदेशेत्यादि । स्वभावतः अथवा दुष्टजनोंके सम्बन्धसे पापजनक अपवित्र स्थलमें अकाले पुण्यजनकत्वेन अप्रसिद्ध वा जिस किसी अपवित्रकालमें विद्या तपसे रहित अपात्र नटविटादिको जो दान दिया जाता है देश काल पात्रकी प्राप्ति होनेपर भी असत्कारयुक्त प्रिय बोलना पैर धोना पूजादिसत्कार रहित अनादर पात्रतिरस्कारसहित जो दान वह तामस कहा गया है ॥२२॥

म० टी०——तदेवमाहारयज्ञतपोदानानां त्रैविध्यकथनेन सात्त्विकानि तान्यादेयानि राजसतामसानि तु परिहर्तव्यानीत्युक्तम्। तत्राऽऽहारस्य दृष्टार्थत्वेन नास्त्यङ्गवैगुण्येन फलभावशङ्का। यज्ञतपोदानानां त्वदृष्टार्थानामङ्गवैगुण्यादपूर्वानुत्पत्तौ फलाभावः स्यादिति सात्त्विकानामपि तेषामानर्थक्यं प्राप्तं प्रमादबहुलत्वादनुष्ठातॄणामतस्तद्वैगुण्यपरिहारायोंतत्सदितिभगवान्नामोच्चारणरूपं सामान्यप्रायश्चित्तं परमकारुणिकतयोपदिशति भगवान्——ॐ तत्सदित्यादिना। ओंतत्सदित्येवंरूपो ब्रह्मणः परमात्मनो निर्देशो निर्दिश्यतेऽनेनेति निर्देशः प्रतिपादकशब्दो नामेति यावत्। त्रिविधस्तिस्रो विधा अवयवा यस्य स त्रिविधः स्मृतो वेदान्तविद्भिः। एकवचनात्त्र्यवयवमेकं नाम प्रणववत्। यस्मात्पूर्वैर्महर्षिभिरयं ब्रह्मणो निर्देशः स्मृतस्तस्मादिदानीन्तनैरपि

इस प्रकार आहार यज्ञ तप दोनों के तीन भेद कहने से सात्त्विक पूर्वोक्त ग्राह्य है, राजस और तामस हेय है यह कहा, इनमें आहार दृष्टार्थक है अतः इसमें अङ्गों के वैगुण्य से फल होगा यह शङ्का नहीं है। आहार से दृष्ट फल तृप्तिहोती ही है, यज्ञ तप दान में तो अदृष्टार्थ है। इनमें अङ्ग वैगुण्य होने पर अदृष्ट धर्म न होगा इससे उक्त कर्मों से फल न होगा इस प्रकार उक्त हेतु से सात्त्विकों का भी फल न होगा अतः उनमें अनर्थकत्व प्राप्त होता है, क्योंकि अनुष्ठान करने वालों में भ्रम-प्रमाद-विप्रलिप्सा-करणापाटवादि पौरुषेय दोष अनिवार्य है इस कारण उस वैगुण्य के परिहारार्थ ॐ तत्सत् इतना भगवान् के नामों का उच्चारणरूप जो साधारण प्रायश्चित्त है परम दया से भगवान् उसका उपदेश करते हैं—ॐतत्सदित्याकार ब्रह्म परमात्मा परब्रह्म का निर्देश है, निर्देश यहाँ नाम परक है। यह व्युत्पत्ति से यौगिक अर्थ दिखलाते हैं—निर्दिश्यते इत्यादि। जैसे प्रणव ॐ यह ब्रह्म का नाम है, तद्वत् 'तत्सत्' ये भी ब्रह्म के नाम हैं तीन विधा प्रकार अवयव है जिसका वह त्रिविध है, तीन प्रकार का है ऐसा वेदान्तियों का स्मरण है। निर्देश के एकवचन से जैसे अ उ म इन अक्षरों का समुदाय ॐ यह प्रणव ,एक ही नाम है अकारादि तीनों वर्ण पृथक् २ नाम नहीं है वैसे ॐ तत्सत् यह भी समुदाय एक ही पद है तीनों अलग-अलग नहीं। जिस कारण पूर्व महर्षियों ने यह ब्रह्म का निर्देश नाम है

स्मर्तव्य इति विधिरत्र कल्प्यते। 'वषट्कर्तुः प्रथमभक्ष' इत्यादिष्विव वचनानि त्वपूर्वत्वादिति न्यायात्। यज्ञदानतपःक्रियासंयोगाच्चास्य तदवैगुण्यमेव फलं

ऐसा स्मरण किया है, अतः आधुनिकों को भी इसका स्मरण करना चाहिये - इस प्रकार यहाँ विधि श्रुत नहीं है तो उसकी कल्पना करना आवश्यक है। 'वषट्कर्तुः प्रथमभक्षः' यहाँ विधि की श्रुति नहीं फिर भी विधि का अध्याहार कर प्राथम्यविशिष्ट भक्षण का विधान यहाँ माना गया है 'ऋत्विजो हविः-शेषान् भक्षयन्ति' इस वाक्य से भक्षण का विधान सिद्ध है, उक्तवाक्य विधायक नहीं हो सकता अप्राप्त की विधि होती है भक्षण उक्तवाक्य से प्राप्त ही है। अच्छा तो 'दध्ना जुहोति' के समान गुणविधायक मानिये। भक्षण को उद्देश्य कर प्राथम्यमात्र का विधान मानिये, 'वषट् कर्तुर्यो भक्षः स प्रथमः' इति, ऐसा मानने से एकप्रसरता एकविशिष्टार्थोपस्थितिनियामकता एकार्थीभावादि वैयाकरण के मत से समस्त में अवयवार्थ शक्ति से अतिरिक्त विशिष्टार्थनिरूपित शक्ति है उससे प्राथम्यप्रकारक भक्षविशेष्यक उपस्थिति होती है उद्देश्य विधेयभाव से शाब्दबोध के प्रति पृथक्पदजन्य पृथगर्थोपस्थिति कारण है प्रकृत में प्रथमश्चासौ भक्षश्च यह कर्मधारय समास है।

'समासे खलु भिन्नैव शक्तिः पङ्कजशब्दवत्'

समास एकार्थीभाव का उपलक्षक है इस सिद्धान्त के अनुसार प्राथम्य-विशिष्ट भक्ष की उपस्थिति है प्राथम्य और भक्ष की अलग-अलग उपस्थिति नहीं, अतः भक्षोद्देश्यक प्राथम्यविधेयक बोध नहीं हो सकता किन्तु प्राथम्य-विशिष्ट भक्ष का ही विधान है। यद्यपि केवल भक्ष उक्तवाक्य से विहित है उसका केवल विधान नहीं हो सकता तथापि प्राथम्यविशिष्ट भक्ष का विधान वचनान्तर से नहीं प्राप्त है अतः विशिष्टार्थ का विधायक है इसमें प्रमाण मीमांसा सूत्र कहते हैं—'वचनानि त्वपूर्वत्वात्, तस्मात् यथोपदेशं स्युः' इति। वचनानि 'वषट्कर्तुः प्रथमभक्ष' इत्यादीनि वचनान्तराप्राप्तप्राथम्यविशिष्ट भक्षण विधायक है—उसमें हेतु कहते हैं अपूर्वत्वात्, अपूर्वार्थबोधकत्वात् तस्मात्, वचनान्तराप्राप्तत्वात्, जैसा उपदेश है अतः प्राथम्यविशिष्ट का विधायक है, प्रकृति में विधि अश्रुत है तो भी अध्याहार से विधायक ॐतत्सत् यह है, जैसे 'वषट्कर्तुः प्रथमभक्षः' में विधि का अध्याहार है तद्वत्प्रकृति में भी समझना। इतने का ही प्रकृति में उपयोग है, यज्ञ दान तप क्रियादि में वैगुण्य परिहार

नष्टाश्वदग्धवत्परस्पराकाङ्क्षया कल्प्यते।

" प्रमादात्कुर्वतां कर्म प्रच्यवेताध्वरेषु यत्।
स्मरणादेव तद्विष्णोः सम्पूर्णं स्यादिति श्रुतिः ॥"

इति स्मृतेस्तथैव शिष्टाचाराच्च। ब्रह्मणो निर्देशः स्तूयते कर्मवैगुण्यपरिहारसामर्थ्यकथनाय। **ब्राह्मणा** इति त्रैवर्णिकोपलक्षणम्। ब्राह्मणाद्याः कर्तारो वेदाः करणानि यज्ञाः कर्माणि तेन ब्रह्मणो निर्देशेन करणभूतेन पुरा विहिताः प्रजापतिना। तस्माद्यज्ञादिसृष्टिहेतुत्वेन तद्वैगुण्यपरिहारसमर्थो महाप्रभावोऽयं निर्देश इत्यर्थः ॥ २३॥

के लिये इसका उच्चारण आवश्यक है, नष्टाश्वदग्धरथन्याय से मिथः आकाङ्क्षा से इनका सम्बन्ध होता है। जैसे एक का घोड़ा मर गया किन्तु रथ है दूसरे का रथ जल गया पर घोड़े बचे हैं ऐसी परिस्थिति में घोड़े वाले को रथ की अपेक्षा है रथवाले को घोड़ों की अपेक्षा है इस अपेक्षा से दोनों मिलकर रथ से अपने इष्ट स्थान को चले जाते हैं उसी प्रकार नाम निर्देश को फल की अपेक्षा है। यज्ञादि को वैगुण्य निराश की अपेक्षा है इससे दोनों मिलकर सार्थक होते हैं अन्यथा दोनों व्यर्थ हो जायँगे।

'प्रमादात्कुर्वतां कर्म प्रच्यवेताध्वरेषु यत्।
स्मरणादेव तद्विष्णोः संपूर्णं स्यादिति श्रुतिः ॥'

यह स्मृति है, और ऐसा ही शिष्टाचार भी है। ब्रह्म के नाम की स्तुति करते हैं—कर्मवैगुण्यपरिहार शक्ति कहने के लिये। **'ब्राह्मणाः'** यह ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य इन तीनों वर्णों का उपलक्षण है क्योंकि तीनों वर्णों का वैदिक कर्मों में अधिकार है। ब्राह्मणादि कर्त्ता है, वेद करण है, यज्ञ कर्म है, उस कारणभूत ब्रह्मनिर्देश से पूर्वकाल में ब्रह्मा से विहित है, अतः यज्ञादि का कारण होने से यज्ञादिकों के वैगुण्य दूर करने में समर्थ महाप्रभावशाली यह नाम है ॥ २३ ॥

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः ।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम् ॥
तदित्यनभिसन्धाय फलं यज्ञतपःक्रियाः ।
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकाङ्क्षिभिः ॥२५॥

इसलिये वेदको कथन करनेवाले श्रेष्ठपुरुषों की शास्त्रविधिसे नियत की हुई, यज्ञ, दान और तपरूप क्रियायें, सदा ॐ, ऐसे इस परमात्माके नामको उच्चारणकरके ही आरम्भ होती हैं ॥ २४ ॥

और तत् अर्थात् तत् नामसे कहे जानेवाले परमात्माका ही यही सब है, ऐसे इस भावसे फलको न चाहकर नानाप्रकारकी यज्ञ, तपरूप क्रियायें तथा दानरूप क्रियायें कल्याणकी इच्छावाले पुरुषोंद्वारा की जाती हैं ॥ २५ ॥

म० टी०—इदानीमकारोकारमकाराख्याख्यानेन तत्समुदायोंकारव्याख्यानवदोंकारतच्छब्दसच्छब्दव्याख्यानेन तत्समुदायरूपं ब्रह्मणो निर्देशं स्तुत्यतिशयाय व्याख्यातुमारभते चतुर्भिः । तत्र प्रथममोंकारं व्याचष्टे—**तस्मादि**त्यादिना । यस्मात् " ओमिति ब्रह्म " इत्यादिषु श्रुतिष्वोमिति ब्रह्मणो नाम प्रसिद्धं तस्मादोमित्युदाहृत्योंकारोच्चारणानन्तरं विधानोक्ता विधिशास्त्रबोधिता ब्रह्मवादिनां वेदवादिनां यज्ञदानतपःक्रियाः सततं प्रवर्तन्ते प्रकृष्टतया वैगुण्यराहित्येन वर्तन्ते । यस्यैकावयवोच्चारणादप्यवैगुण्यं किं पुनस्तस्य सर्वस्योच्चारणादिति स्तुत्यतिशयः ॥ २४ ॥

इस समय अकार उकार मकार के व्याख्यान से जैसे ॐकार का व्याख्यान है वैसे ही ॐकारतच्छब्द के व्याख्यान से तत्समुदायरूप ब्रह्म निर्देश को अतिस्तुति के लिये व्याख्यान का आरम्भ करते हैं चार श्लोकों से—उनमें प्रथम ओंकार की व्याख्या करते हैं अतः 'ॐमिति ब्रह्म' इत्यादि श्रुतियों में ॐ है । ब्रह्म नाम प्रसिद्ध ही है, तस्मात् 'ओंम्' इसका उच्चारण कर अनन्तर विधिशास्त्रविहित ब्रह्मवादियों तथा वेदवादियों की यज्ञ दान तपः क्रिया शास्त्र विधि के अनुसार सदा होती हैं और वैगुण्य से रहित होती है जिसके एक अवयव के उच्चारण से वैगुण्याभाव होता है फिर उस समुदाय के उच्चारण में कहना ही क्या है इस प्रकार अतिस्तुति है ॥ २४ ॥

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते ।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ ! युज्यते ॥ २६ ॥

और सत् ऐसे यह परमात्माका नाम, सत्यभावमें और श्रेष्ठभावमें प्रयोग किया जाता है तथा हे पार्थ ! उत्तम कर्ममें भी सत् शब्द प्रयोग किया जाता है ॥ २६ ॥

म० टी०—द्वितीयं तच्छब्दं व्याचष्टे—तदित्यादिना । "तत्त्वमसि" इत्यादिश्रुतिप्रसिद्धं तदिति ब्रह्मणो नामोदाहृत्य फलमनभिसंधायान्तःकरणशुद्ध्यर्थं यज्ञतपःक्रिया दानक्रियाश्च विविधा मोक्षकाङ्क्षिभिः क्रियन्ते तस्मादतिप्रशस्तमेतत् ॥ २५ ॥

म० टी०—तृतीयं सच्छब्दं व्याचष्टे द्वाभ्याम्—सद्भाव इत्यादिना । "सदेव सोम्येदमग्र आसीत्" इत्यादिश्रुतिप्रसिद्धं सदित्येतद् ब्रह्मणो नाम सद्भावेऽविद्यमानत्वशङ्कायां विद्यामानत्वे साधुभावे चासाधुत्वशङ्कायां साधुत्वे च प्रयुज्यते शिष्टैः । तस्माद्वैगुण्यपरिहारेण यज्ञादेः साधुत्वं तत्फलस्य च विद्यामानत्वं कर्तुं क्षममेतदित्यर्थः । तथा सद्भावसाधुभावयोरिव प्रशस्तेऽप्रतिबन्धेनाऽऽसुखजनके माङ्गलिके कर्मणि विवाहादौ सच्छब्दो हे पार्थ! युज्यते।

द्वितीय तच्छब्दका व्याख्यान करते हैं—'तत्त्वमसि' इत्यादि श्रुतिप्रसिद्ध तत् यह ब्रह्मका नाम है, इसका उच्चारण कर फलकी इच्छा न कर अन्तःकरणकी शुद्धिके लिए यज्ञतपःक्रिया दान क्रिया नाना प्रकारकी मोक्षकामनावान् करते हैं अतः यह बहुत अच्छा है ॥ २५ ॥

तीसरे सच्छब्दका व्याख्यान करते हैं दो श्लोकोंसे—'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' इत्यादि श्रुतिप्रसिद्ध 'सत' यह ब्रह्मका नाम है । अविद्यमानत्व शंकामें विद्यमानत्वबोधनार्थ और असाधुत्व शंकामें साधुत्वबोधनार्थ शिष्टजन सच्छब्दका प्रयोग करते हैं, अतः वैराग्यपरिहारद्वारा यज्ञादिमें साधुत्व और उसके फलमें अस्तित्व कहनेमें यह समर्थ है । तथा सद्भाव साधुभावके प्रशस्तप्रतिबन्धाभाव माङ्गलिक विवाहादिकर्ममें हे पार्थ ! सच्छब्दका प्रयोग होता है अतः प्रतिबन्ध

यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते ।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते ॥ २७ ॥

तथा यज्ञ, तप और दानमें जो स्थिति है, वह भी सत् ही कही जाती है और उस परमात्माके अर्थ किया हुआ कर्म निश्चयपूर्वक सत् है, ऐसे कहा जाता है ॥ २७ ॥

प्रयुज्यते । तस्मादप्रतिबन्धेनाऽऽशुफलजनकत्वं वैगुण्यपरिहारेण यज्ञादेः समर्थमेतन्नामेति प्रशस्ततरमेतदित्यर्थः ॥ २६ ॥

म० टी०—यज्ञे तपसि दाने च या स्थितिस्तत्परतयाऽवस्थितिर्निष्ठा साऽपि सदित्युच्यते विद्वद्भिः । कर्म चैव तदर्थीयं तेषु यज्ञदानतपोरूपेष्वर्थेषु भवं तदनुकूलमेव च कर्म । अथवा यस्य ब्रह्मणो नामेदं प्रस्तुतं तदेवार्थो विषयो यस्य तत्तदर्थं शुद्धब्रह्मज्ञानं तदनुकूलं कर्म तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते । तस्मात्सदिति नाम कर्मवैगुण्यापनोदनसमर्थं प्रशस्ततरम् । यस्यैकैकोऽवयवोऽप्येतादृशः किं वक्तव्यं तत्समुदायस्योंतत्सदिति निर्देशस्य माहात्म्यमिति संपिण्डितार्थः ॥ २७ ॥

रहित शीघ्रफलजनकत्व वैराग्यपरिहारसे यह नाम समर्थ है इस हेतुसे यह बहुत अच्छा है यह अभिप्राय है ॥२६॥

यज्ञ दान और तप में जो स्थिति निष्ठा श्रद्धापूर्वक अनुष्ठानपरता विद्वज्जन उसको भी सत् कहते हैं । कर्म जो तदर्थौपयिक है स्थिति तथा तपमें जो स्थिति दानमें जो स्थिति उसको भी विद्वान् सत् कहते हैं । तदर्थीय (यज्ञतपदानार्थीय) अथवा जिसको तीनों नाम प्रकृत हैं तदर्थीय (ईश्वरार्थीय) भगवदर्पण बुद्धिसे अनुष्ठीयमान कर्म वा तदर्थीय सत् ही कहा जाता है अतः 'सत्' यह नाम कर्मवैगुण्यनिराकरणसमर्थ अतिप्रशस्त है । जिसका एक एक अवयव कर्मवैगुण्य निराकरणमें समर्थ है फिर क्या कहना है तत्समुदाय ॐ तत्सत् इस ब्रह्मनिर्देशके महात्म्यके विषयमें यह समुदायार्थ है ॥२७॥

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्।
असदित्युच्यते पार्थ ! न च तत्प्रेत्य नो इह ॥ २८ ॥

और हे अर्जुन ! विना श्रद्धाके होम हुआ हवन तथा दिया हुआ दान एवं तपा हुआ तप और जो कुछ भी किया हुआ कर्म है, वह समस्त असत् ऐसे कहा जाता है, इसलिये वह न तो इस लोकमें लाभदायक है और न मरनेके पीछे ही लाभदायक है, इसलिये मनुष्यको चाहिये कि सच्चिदानन्दघन परमात्माके नामका निरन्तर चिन्तन करता हुआ निष्कामभावसे, केवल परमेश्वरके लिये शास्त्रविधिसे नियत किये हुए कर्मोंका परमश्रद्धा और उत्साहके सहित आचरण करे ॥ २८ ॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे श्रद्धात्रय-
विभागयोगो नाम सप्तदशो-
ऽध्यायः ॥ १७ ॥

म० टी०—यद्यालस्यादिना शास्त्रीयं विधिमुत्सृज्य श्रद्दधानतयैव वृद्धव्यवहारमात्रेण यज्ञतपोदानादि कुर्वतां प्रमादाद्वैगुण्ये प्राप्त ओंतत्सदिति ब्रह्मनिर्देशेन तत्परिहारस्तर्ह्यश्रद्दधानतया शास्त्रीयं विधिमुत्सृज्य कामकारेण यत्किंचिद्यज्ञादि कुर्वतामसुराणामपि तेनैव वैगुण्यपरिहारः स्यादिति कृतं श्रद्धया सात्त्विकत्वहेतुभूतयेत्यत आह—अश्रद्धयेति। अश्रद्धया तद्धुतं हवनं कृतमग्नौ दत्तं यद्ब्राह्मणेभ्यो यत्तपस्तप्तं यच्चान्यत्कर्म कृतं स्तुतिनमस्का-

जो आलस्यादिवश शास्त्रीयविधिका त्यागकर श्रद्धायुक्त होकर वृद्ध व्यवहारके अनुसार यज्ञ तप दानादि करते हैं उनके यज्ञादिमें वैराग्यकी प्राप्ति होनेपर 'ॐ तत्सत्' इस ब्रह्मनिर्देशसे उसका परिहार होता है तो अश्रद्धासे जो शास्त्रकी विधिका त्याग कर स्वेच्छासे जो यज्ञादिकर्म करते हैं उन असुरोंके यागादिकर्म भी उसी ब्रह्मनिर्देशसे वैगुण्यका परिहार हो जायगा फिर सात्त्विकत्वकारणीभूत श्रद्धा व्यर्थ ही है इस जिज्ञासासे कहते हैं—अश्रद्धयेत्यादि। अश्रद्धासे जो अग्निमें हवन किया जाता है, ब्राह्मणोंको जो दिया जाता है, जो

रादि तत्सर्वमश्रद्धया कृतमसदसाध्वित्युच्यते। अत ओंतत्सदितिनिर्देशेन न तस्य साधुभावः शक्यते कर्तुं सर्वथा तदयोग्यत्वाच्छिलाया इवाङ्कुरः, तत्कस्मादसदित्युच्यते शृणु हे पार्थ!, चो हेतौ। यस्मात्तदश्रद्धाकृतं न प्रेत्य परलोके फलति विगुणत्वेनापूर्वाजनकत्वात्, नो इह नापीह लोके यशः साधुभिर्निन्दितत्वात्, अत ऐहिकामुष्मिकफलविकलत्वादश्रद्धाकृतस्य सात्त्विक्या श्रद्धयैव सात्त्विकं यज्ञादि कुर्यादन्तःकरणशुद्धये। तादृशस्यैव श्रद्धापूर्वकस्य सात्त्विकस्य यज्ञादेर्दैवाद्वैगुण्यशङ्कायां ब्रह्मणो नामनिर्देशेन साद्गुण्यं संपादनीयमिति परमार्थः। श्रद्धापूर्वकमसात्त्विकमपि यज्ञादि विगुणं ब्रह्मणोनामनिर्देशेन सात्त्विकं सगुणं च संपादितं भवतीति भाष्यम्। तदेवमस्मिन्नध्याय आलस्यादिनाऽनादृतशास्त्राणां श्रद्धापूर्वकं वृद्धव्यवहारमात्रेण प्रवर्तमानानां शास्त्रानादरेणासुरसाधर्म्येण श्रद्धापूर्वकानुष्ठानेन च देवसाधर्म्येण

तप किया जाता है, अन्य भी प्रणाम स्तुत्यादिकर्म यह सब अश्रद्धाकृत असत् (असाधु) कहा जाता है। ॐ तत्सत् इस निर्देशसे उसमें साधुत्व नहीं कह सकते हैं, सर्वथा अपूर्वोत्पत्तिके अयोग्य है। पत्थरमें जैसे अङ्कुर नहीं होता क्योंकि अङ्कुरोत्पादनमें पत्थर अयोग्य तद्वत्। वह क्यों असत् कहा जाता है सुनो हे पार्थ!, च हेतुमें है। यतः वह अश्रद्धाकृत है अतः न परलोकमें फल देता है क्योंकि विगुण होनेसे अपूर्वका जनक नहीं है, न इस लोकमें यश ही उससे होता है कारण अच्छे लोग उसकी निन्दा ही करते हैं अतः इस लोक और परलोकके फलोंसे (बन्ध्य) बाँझ होनेसे अश्रद्धाकृतको अकृत ही समझना चाहिये। अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये सात्त्विक श्रद्धासे सात्त्विक ही यागादि करना चाहिये वही श्रद्धापूर्वक सात्त्विकयज्ञादिमें दैवयोगसे वैगुण्यका सन्देह रहनेपर ब्रह्मके नाम निर्देशसे साद्गुण्य सर्वाङ्गपूरणत्वका सम्पादन करना चाहिये यह वस्तुस्थिति है। श्रद्धापूर्वक असात्त्विक भी यागादि विगुण ब्रह्मके नाम निर्देशसे सात्त्विक और सगुण होता है ऐसा भाष्यमें अर्थ है। उपसंहार करते हैं—तदेव से। इस अध्यायमें आलस्यादिसे उपेक्षितशास्त्रवालोंमें श्रद्धापूर्वक वृद्धव्यवहारमात्रसे यागादि कर्मादिकोंमें शास्त्रके अनादरसे असुर साधर्म्य है। और श्रद्धापूर्वककर्मानुष्ठानसे देव साधर्म्य है दोनों

किमसुरा अमी देवा वेत्यर्जुनसंशयविषयाणां राजसतामसश्रद्धापूर्वकं राजसतामसयज्ञादिकारिणोऽसुराः शास्त्रीयज्ञानसाधनानधिकारिणः सात्त्विकश्रद्धापूर्वकं सात्त्विकयज्ञादिकारिणस्तु देवाः शास्त्रीयज्ञानसाधनाधिकारिण इति श्रद्धात्रैविध्यप्रदर्शनमुखेनाऽऽहारादित्रैविध्यप्रदर्शनेन भगवता निर्णयः कृत इति सिद्धम् ॥ २८ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य श्रीविश्वेश्वरसरस्वतीश्रीपाद-
शिष्यमधुसूदनसरस्वतीविरचितायां श्रीभगवद्गी-
तागूढार्थदीपिकायां श्रद्धात्रयविभागयोग-
विवरणं नाम सप्तदशो-
ऽध्यायः॥१७॥



धर्मके देखनेसे ये असुर हैं या देव हैं यह संशय अर्जुनको होना स्वाभाविक ही है। एतत्संशयविषय राजस तामस श्रद्धापूर्वक राजस तामस यागादिकर्मकारी असुर हैं, अतः शास्त्रीयज्ञानके साधनोंके अधिकारी वे नहीं हैं। सात्त्विक श्रद्धापूर्वक सात्त्विकयागादिकारी तो देव हैं वे शास्त्रीयज्ञानके अधिकारी हैं इस प्रकार श्रद्धाके तीनों भेदोंके दिखलानेसे और आहारादिके तीनों भेदोंके दिखलानेसे भगवान्ने सिद्धान्त किया यह सिद्ध हुआ ॥ २८ ॥

इस प्रकार महामहोपाध्याय प० हरिहरकृपालु
द्विवेदिकृत गीतामधुसूदनी के सत्रहवाँ
अध्याय का अनुवाद
समाप्त हुआ ॥१७॥

—:❀:—

अथाष्टदशोऽध्यायः

अर्जुन उवाच

संन्यासस्य महाबाहो! तत्त्वमिच्छामि वेदितुम् ।

त्यागस्य च हृषीकेश ! पृथक्केशिनिषूदन ! ॥ १ ॥

उसके उपरान्त अर्जुन बोला, हे महाबाहो ! हे अन्तर्यामिन् ! हे वासुदेव ! मैं संन्यास और त्यागके तत्त्वको पृथक् पृथक् जानना चाहता हूँ ॥ १ ॥

म० टी०—पूर्वाध्याये श्रद्धात्रैविध्येनाऽऽहारयज्ञतपोदानत्रैविध्येन च कर्मिणां त्रैविध्यमुक्तं सात्त्विकानामादानाय राजसतामसानां च हानाय। इदानीं तु संन्यासत्रैविध्यकथनेन संन्यासिनामपि त्रैविध्यं वक्तव्यम् । तत्र तत्त्वबोधानन्तरं यः फलभूतः सर्वकर्मसंन्यासः स चतुर्दशेऽध्याये गुणातीतत्वेन व्याख्यातत्वान्न सात्त्विकराजसतामसभेदमर्हति । योऽपि तत्त्वबोधात्प्राक्तदर्थं सर्वकर्मसंन्यासस्तत्त्वबुभुत्सया वेदान्तवाक्यविचाराय भवति सोऽपि "त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन" इत्यादिना निर्गुणत्वेन

अठारहवाँ अध्याय

सत्रहवाँ अध्यायमें श्रद्धाके तीनों भेदोंसे कर्मकारियोंमें तीन भेद कहा। सात्त्विकश्रद्धाके ग्रहणार्थ राजस और तामस श्रद्धाओंके त्यागार्थ अब संन्यासके त्रैविध्य कथनसे संन्यासियोंके तीन भेद कहते हैं—उसमें यथार्थज्ञानके अनन्तर जो फलभूत सब कर्मोंका त्याग है वह चौदहवें अध्यायमें गुणातीतत्वसे व्याख्यात है, अतः वह सात्त्विक राजस तामसके भेदके योग्य नहीं। जो भी तत्त्वज्ञानसे पूर्व तत्त्वज्ञानार्थ सर्वकर्मत्याग तत्त्वज्ञानकी इच्छासे वेदान्तवाक्यके विचारार्थ होती है वह भी त्रिगुणविषयक है।

'त्रैगुण्यविषया वेदा निःस्त्रैगुण्यो भवार्जुन !'

व्याख्यातः। यस्त्वनुत्पन्नतत्त्वबोधानामनुत्पन्नतत्त्वबुभुत्सानां च कर्मसंन्यासः "स संन्यासी च योगी च" इत्यादिना गौणो व्याख्यातस्तस्य त्रैविध्यसंभवात्तद्विशेषं बुभुत्सुः अर्जुन उवाच--सन्न्यासस्येति। अविदुषामनुपजातविविदिषाणां च कर्माधिकृतानामेव किंचित्कर्मपरिग्रहेण किंचित्कर्मपरित्यागो यः स त्यागांशगुणयोगात्संन्यासशब्देनोच्यते। एतादृशस्यान्तःकरणशुद्ध्यर्थमविद्वत्कर्माधिकारिकर्तृकस्य संन्यासस्य केनचिद्रूपेण कर्मत्यागस्य तत्त्वं स्वरूपं पृथक्सात्त्विकराजसतामसभेदेन वेदितुमिच्छामि। त्यागस्य च तत्त्वं वेदितुमिच्छामि। किं संन्यासत्यागशब्दौ घटपटशब्दाविव भिन्नजातीयार्थौ? किंवा ब्राह्मणपरिव्राजकशब्दाविवैकजातीयार्थौ? यद्याद्यस्तर्हि त्यागस्य तत्त्वं सन्यासात्पृथग्वेदितुमिच्छामि। यदि द्वितीयस्तर्ह्यवान्तरोपाधिभेदमात्रं वक्तव्यम्। एकव्याख्यानेनैवोभयं व्याख्यातं भविष्यति। महाबाहो! केशिनिषूदन! इति संबोधनाभ्यां बाह्योपद्रवनिवारणस्वरूपयोग्यताफलो-

---

इत्यादि वाक्योंसे निर्गुणत्वेन सुव्याख्यात है। यों हो जिनको तत्त्वज्ञान नहीं हुआ है और न तत्त्वज्ञानेच्छा ही उत्पन्न हुई है उन पुरुषोंका कर्मसंन्यास 'स संन्यासी च योगी च' इत्यादिसे गौण कहा गया है, उसमें तीन प्रकार संभव है। तद्विशेष जानने की इच्छावान् अर्जुन बोले—सन्न्यास से। अतत्त्वज्ञानियों और अनुत्पन्न वेदनेच्छाओं कर्माधिकारियोंका ही कुछ कर्मोंका ग्रहणसे कुछ कर्मोंका त्याग जो है वह त्यागांशभूतगुण योगसे संन्यासशब्दसे कहते हैं। अन्तःकरणशुद्ध्यर्थ अविद्वान् कर्मियोंका एतादृश संन्यास किसीरूपसे कर्मत्यागका स्वरूप अलग सात्त्विक राजस तामस भेदसे जानना चाहता हूँ। क्या संन्यास त्याग शब्द घट पट शब्दके समान भिन्नजातीय अर्थके बोधक है अथवा ब्राह्मणपरिव्राजक शब्दके तुल्य एकजातीय अर्थके बोधक है। यदि प्रथमपक्ष है तो त्यागका तत्त्व संन्याससे अलग जानना जाहता हूँ। यदि द्वितीयपक्ष है तो अवान्तर उपाधिभेदमात्र जानना चाहता हूँ जैसे ब्राह्मण और संन्यासीमें औपाधिक भेद है वैसे यहाँ भी जानना चाहता हूँ एकके व्याख्यानसे दोनोंका व्याख्यान हो जायगा। महाबाहो! केशिनिषूदन! इन दोनों सम्बोधनोंसे बाहरके उपद्रवोंके निराकरणका और स्वरूपयोग्यताफलकी प्राप्तिका प्रदर्शन किया। बाहरके उपद्रवोंका शमन करनेका सामर्थ्य महाबाहोमें है, भीतरके

श्रीभगवानुवाच

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ॥ २ ॥

इस प्रकार अर्जुनके पूछने पर, श्रीकृष्ण भगवान् बोले हे अर्जुन! कितने ही पण्डित जन तो काम्यकर्मोंके त्यागको, संन्यास जानते हैं और कितने ही विचारकुशल पुरुष सब कर्मोंके फलके त्यागको त्याग कहते हैं ॥ २ ॥

पधाने प्रदर्शिते। हृषीकेशेत्यन्तरुपद्रवनिवारणसामर्थ्यमिति भेदः। अत्यनुरागात्संबोधनत्रयम्। अत्रार्जुनस्य द्वौ प्रश्नौ। कर्माधिकारिकर्तृत्वेन पूर्वोक्तयज्ञादिसाधर्म्येण संन्यासशब्दप्रतिपाद्यत्वेन च गुणातीतसंन्यासद्वयसाधर्म्येण त्रैगुण्यसंभवाभ्यां संशयः प्रथमस्य प्रश्नस्य बीजम्, द्वितीयस्य तु संन्यासत्यागशब्दयोः पर्यायत्वात्कर्मफलत्यागरूपेण च वैलक्षण्योक्तेः संशयो बीजम् ॥ १ ॥

म० टी०—तत्रान्तिमस्य सूचिकटाहन्यायेन निराकरणोत्तरं—श्रीभगवानुवाच—काम्यानामिति। काम्यानां फलकामनया चोदितानामन्तः-

---

उपद्रवोंकी शान्ति करनेकी शक्ति केशिनिषूदनमें है। आत्मीयजनोंकी रक्षाके लिये जैसे केशीका नाश किया, स्वभक्त तुम्हारी रक्षाके लिये तुम्हारे आन्तरिक अज्ञानका निराकरण मेरा ही कर्तव्य है यह भी अभिप्राय दोनों सम्बोधनोंका हो सकता है। अथवा तीनों सम्बोधनोंसे जिज्ञासित अर्थमें अत्यन्त आदर सूचित करते हैं। इसमें अर्जुनका दो प्रश्न है—कर्माधिकारिकर्तृत्वसे कर्मी इसके कर्ता हैं इससे तथा पूर्वोक्त यज्ञतपदानादि साधर्म्यसे और संन्यासपदवाच्यत्वसे गुणातीतसंन्यास इन दोनोंके साधर्म्यसे त्रैगुण्यसम्भासम्भवसे जो संशय वह प्रथम प्रश्नका कारण है, द्वितीय प्रश्नका तो संन्यास और त्याग ये दोनों शब्द पर्यायवाची होनेसे कर्मफलत्यागरूप भेदोक्तिसे जातसंशय का कारण है ॥१॥

उनमें द्वितीय का निराकरण करने के लिये 'सूचीकटाहन्याय' से भगवान बोले। प्रथमोपस्थित प्रथमप्रश्न का समाधान न देकर व्यवहितोपस्थित द्वितीय प्रश्न के उत्तर देने में जो व्युत्क्रम किया गया है उसमें कारण कहते हैं—'सूची कटाहन्यायेनेति। किसी कारीगर के यहाँ कटाह (कराहा) बनवाने के लिये

करणशुद्धावनुपयुक्तानां कर्मणामिष्टिपशुसोमादीनां न्यासं त्यागं संन्यासं विदुर्जानन्ति कवयः सूक्ष्मदर्शिनः केचित्। "तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन" इति वाक्येन वेदानुवचनयज्ञशब्दोपलक्षितस्य गृहस्थधर्मस्य तपोऽनाशकशब्दाभ्यामुपलक्षितस्य वानप्रस्थधर्मस्य नित्यस्य नित्यविहितेन पापक्षयेण द्वारेणाऽऽत्मज्ञानार्थत्वं बोध्यते। न च विनियोगवैयर्थ्यं "ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात्पापस्य कर्मणः" इत्यनेनैव लब्धत्वादिति वाच्यं, विनियोगाभावे हि सत्यपि नित्यकर्मानुष्ठाने ज्ञानं स्याद्वा न

एक पुरुष पहले गया और कहा कि कराहा बनादो जो मूल्य होगा वह देंगे उसने स्वीकार कर लिया कि अच्छा बना देंगे, दूसरा पुरुष उसी कारीगर के पास जाकर बोला कि एक सूई की जरूरत है बना दो, उसने कहा ठहरो बना देते हैं वह सूची बनाने लगा। यहाँ प्रथमोक्त कराहा बनाना छोड़कर पश्चादुक्त सूई बनाने का कारण यह है कि कराहा बनाने में कई दिन लगेगें और कई मनुष्यों का अधिक परिश्रम लगेगा, सूई अकेला ही मैं क्षणों में स्वल्पश्रम से बना सकता हूँ, अतः कराहा बनाने तक सूच्यर्थी को रोकना ठीक नहीं और तब तक रुक भी नहीं सकता। अतः अल्पश्रम समयसाध्य और अधिकश्रम समय साध्यों में व्युत्क्रम ही उचित है क्रम नहीं तद्वत् द्वितीय प्रश्न का ही पूर्व में निराकरण करते हैं। काम्य फलकामना से वेदविहित यागहोमादि जो मनः शुद्धि के उपयोगी नहीं है। उन पशु इष्टि सोमादि कर्मों का त्याग विद्वज्जन संन्यास जानते हैं। कविशब्द सूक्ष्मदर्शी परक इस तात्पर्य से 'कवयः' का अर्थ सूक्ष्मदर्शिनः किसी ने किया है। 'तमेतं वेदानुवचनेन' इत्यादिवाक्य से वेदानुवचनशब्द से अभिप्रेत ब्रह्मचारि धर्ममें यज्ञ दान शब्दों से अभिप्रेत गृहस्थधर्म में तप अनाशकशब्दों से अभिप्रेत वानप्रस्थधर्म में 'नित्यस्य' यह भाष्यस्थित पद है, इसका व्याख्यान करते हैं नित्यकर्म करने से पापक्षयद्वारा आत्मज्ञानार्थत्व का बोधन करते हैं। विनियोग व्यर्थ है अर्थात् इनमें ज्ञानार्थत्व वचनान्तर से सिद्ध ही है फिर तदर्थं विधान की क्या आवश्यकता ? वचनान्तर कहते हैं—

ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात् पापस्य कर्मणः' इति।

उत्तर कहते हैं—विनियोगाभावेत्यादि से। विनियोग न होने पर

वा स्यात्, सति तु विनियोगे ज्ञानमवश्यं भवेदेवेति नियमार्थत्वात्। तस्मान्नित्यकर्मणामेव वेदने विविदिषायां वा विनियोगात्सत्त्वशुद्धिविविदिषोत्पत्तिपूर्वकवेदनार्थिना नित्यान्येव कर्माणि भगवदर्पणबुद्ध्याऽनुष्ठेयानि तु सर्वाणि सफलानि परित्याज्यानीत्येकं मतम्। अपरं मतं सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं सत्त्वशुद्ध्यर्थितया विविदिषासंयोगेनानुष्ठानं विचक्षणा विचारकुशलास्त्यागं

नित्यकर्मानुष्ठान करने पर भी ज्ञान होगा या नहीं यह संशय होता, विनियोग रहने पर ज्ञान अवश्य होगा ही इस नियम के लिये उक्त विनियोग है अतः नित्यकर्मों का ही वेदन में वा विविदिषा में विनियोग है। भाव यह है कि 'वेदानुवचनेन विविदिषन्ति' यहाँ वेदानुवचन का करणतया अन्वय वेदन में है या वेदनेच्छा में? 'पदार्थः पदार्थेनान्वेति न तु पदार्थैकदेशेन' इस न्याय से प्रधानपदार्थं वेदनेच्छा में ही अन्वय होना चाहिए, क्योंकि 'प्रकृतिप्रत्ययौ सहार्थं ब्रूतः तयोः प्रत्ययार्थः प्रधानम्' इस न्याय से इच्छा ही प्रधान है, यथा शाब्द प्राधान्य इच्छा में है तथा आर्थप्राधान्य ज्ञान में है, मोक्षहेतु होने से कर्ता को इष्टतम ज्ञान ही है अतः विनिगमनाविरह से दोनों में अन्वय हो सकता है इसलिए 'वा' कहा यह कहना ठीक नहीं, कारण शाब्दान्वय में शाब्दप्राधान्य ही का ग्रहण होता है आर्थप्राधान्य का नहीं अत एव 'यो राज्ञः पुरुषः तमानय' यहाँ तच्छब्द से पुरुष का ही परामर्श होता है अर्थतः प्रधानभूत राजा का नहीं। तच्छब्द सर्वनाम है सर्वनाम प्रधानपरामर्शी होते हैं यह उत्सर्ग है, अतः इच्छामें ही अन्वय समुचित है पर यह भी ठीक नहीं, क्योंकि 'अश्वेन ग्रामं जिगमिषति' यहाँ पर अश्व का करणतया गमन में ही अन्वय होता है इच्छा में नहीं क्योंकि आवश्यक गमन ही होता है इच्छा नहीं अतः 'वा' यह कहना ठीक है, वेदन में वा वेदनेच्छामें करणतया अन्वय है इसमें विवाद नहीं। नित्यकर्मानुष्ठान से सत्त्वशुद्धि इससे विविदिषा की उत्पत्ति होती है तस्मात् वेदनार्थी को भगवदर्पणबुद्धि से नित्यकर्मों का अनुष्ठान करना चाहिये। काम्य कर्म तो सब फलवान् ही है अतः वे त्याज्य है यह एक मत है। दूसरा मत है—

'सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः।'

सब काम्य और नित्य कर्मों का तत्तद्विधायकघटकपदप्रतिपाद्य फलोंका मनः शुद्धि के लिये विविदिषा संयोग से अनुष्ठान विचारनिपुण त्याग कहा है।

प्राहुः। "खादिरो यूपो भवति" "खादिरं वीर्यकायस्य यूपं करोति" इत्यत्र यथैकस्य खादिरत्वस्य क्रतुप्रकरणपाठात्फलसंयोगाच्च क्रत्वर्थत्वं च प्रमाणभेदस्तथाऽग्निहोत्रेष्टिपशुसोमानां सर्वेषामपि शतपथपठितानां स्वोत्पत्तिविधिसिद्धानां तत्तफलसंयोगः प्रत्येकवाक्येन विविदिषासंयोगश्च यज्ञादिवाक्येन क्रियत इत्युपपन्नम्, 'एकस्य तूभयत्वे संयोगपृथक्त्वम्' इति न्यायात्। तदुक्त संक्षेपशारीरके--

" यज्ञेनेत्यादिवाक्यं शतपथविहितं कर्मवृन्दं गृहीत्वा

स्वोत्पत्त्याम्नानसिद्धं पुरुषविविदिषामात्रसाध्ये युनक्ति ॥" इति।

तस्मात्काम्यान्यपि फलाभिसंधिमकृत्वाऽन्तःकरणशुद्धये कर्तव्यानि। न ह्यग्निहोत्रादिकर्मणां स्वतः काम्यत्वनित्यत्वरूपो विशेषोऽस्ति। पुरुषाभिप्रायभेदकृतस्तु विशेषः फलाभिसंधित्यागे कुतस्त्यः। नित्यकर्मणां च प्राति-

'खादिरो यूपो भवति, खादिरं वीर्यकामस्य यूपं कुर्वीत' यहाँपर जैसे एक ही खादिरत्वका यज्ञप्रकरणमें पाठ होनेसे और फलसंयोगसे क्रत्वर्थत्व माना जाता है और प्रथमवाक्यसे पुरुषार्थत्व माना जाता है क्योंकि प्रमाणोंका भेद है अर्थात् एकवाक्यसे नित्यानित्य दो फलोंका एकवाक्यसे एककर्ममें वोधन नहीं करासकते किन्तु वाक्यद्वयसे वोधन करानेमें कोई आपत्ति नहीं। इसी प्रकार अग्निहोत्र, इष्टि पशुसोमादिमें जो शतपथमें पठित है स्वोत्पत्तिबोधकवाक्य विहित है उनमें तत्तद्वाक्यसे प्रत्येक में फलसंयोग विविदिषासंयोग यज्ञादिवाक्य से किया जाता है इसप्रकार दोनों की एक में उपपत्ति होती है 'एकस्य तू भयत्वेन संयोगपृथकत्वम्' इस न्याय से। यही संक्षेपशारीरक में कहा है—यज्ञेनेत्यादिवाक्यित्यादि। शतपथ पठित यज्ञेनेत्यादिवाक्य स्वोत्पत्तिसिद्ध अग्निहोत्रादि कर्मसमुदाय ग्रहण कर पुरुष विविदिषामात्र साध्य वेदनेच्छाके साथ संयुक्त करता है यह उक्त वाक्यका अर्थ है अतः फलेच्छाका त्यागकर अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये काम्य कर्मोंको करना चाहिये। नित्य काम्य अग्निहोत्रमें स्वाभाविक भेद नहीं किन्तु पुरुषाभिप्राय प्रयुक्त ही भेद है फलाभिप्रायके त्यागनेपर दोनोंमें भेद कहाँसे आवेगा? यदि कहिये कि नित्यकर्मोंका तो कुछ फल नहीं फिर त्याग कैसा? उसका उत्तर देते हैं—

स्विकफलसद्भावम् "अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम्" इत्यत्र वक्ष्यति। नित्यानामेव विविदिषासंयोगेन काम्यानां कर्मणां फलेन सह स्वरूपतोऽपि परित्यागः पूर्वार्धस्यार्थः। काम्यानां नित्यानां च संयोगपृथक्त्वेन विविषासंयोगात्तदर्थं स्वरूपतोऽनुष्ठानेऽपि प्रातिस्विकफलाभिसंधिमात्रपरित्याग इत्युत्तरार्थः। तदेतदाहुर्वार्तिककृतः—

" वेदानुवचनादीनामैकात्म्यज्ञानजन्मने।
तमेतमिति वाक्येन नित्यानां वक्ष्यते विधिः॥
यद्वा विविदिषार्थत्वं सर्वेषामपि कर्मणाम्।
तमेतमिति वाक्येन संयोगस्य पृथक्त्वतः" इति॥

तदेवं सफलकाम्यकर्मत्यागः सन्यासशब्दार्थः। सर्वेषामपि कर्मणां फलाभिसंधित्यागस्त्यागशब्दार्थ इति न घटपटशब्दयोरिव संन्यासत्यागशब्दयोर्भिन्नजातीयार्थत्वं किं त्वन्तःकरणशुद्ध्यर्थकर्मानुष्ठाने फलाभिसंधित्याग इत्येक एवार्थ उभयोरिति निर्णीत एकः प्रश्नोऽर्जुनस्य॥ २॥

'अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम्'

यह आगे कहेंगे। नित्यकर्मका भी फल होता है नित्य ही कर्म का विविदिषा के साथ संयोग है, काम्यकर्मों का फल के साथ स्वरूप से भी त्याग विवक्षित है। यह पूर्वोर्द्ध का अर्थ है। काम्य तथा नित्यकर्मों का संयोगपृथक्त्वन्याय से विविदिषा के साथ संयोग होने से तदर्थस्वरूप से अनुष्ठान करना चाहिये किन्तु तत्तद्विधिवाक्योक्त फलेच्छामात्रका त्याग करना चाहिये यह उत्तरार्द्धका अर्थ है। यह वार्तिककारने कहा है—

'वेदानुवचनादीनामैकात्म्यज्ञानजन्मने।
तमेतमिति वाक्येन संयोगस्य पृथक्त्वतः॥' इति।

इस प्रकार फलसहित काम्यकर्मत्याग संन्यासशब्दार्थ है सब कर्मों के फल कामनाओं का त्याग त्यागशब्द का अर्थ है घट घट के समान संन्यास और त्याग भिन्न जातीयार्थक नहीं किन्तु अन्तःकरणशुद्धिफल कर्मानुष्ठान में फलकामना त्याग, इस प्रकार दोनों का एक ही अर्थ है यह निश्चित किया गया है, एवं अर्जुन के एक प्रश्न का निर्णय हो चुका॥ २॥

त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः ।
यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यमिति चापरे ॥ ३ ॥
निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम !
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र ! त्रिविधः संप्रकीर्तितः ॥ ४ ॥

तथा कई एक विद्वान् ऐसे कहते हैं कि कर्म सभी दोषयुक्त हैं, इस लिये त्यागनेके योग्य हैं, और दूसरे विद्वान् ऐसा कहते हैं कि यज्ञ दान और तपरूप कर्म त्यागने योग्य नहीं हैं ॥ ३ ॥

परन्तु, हे अर्जुन ! उस त्याग के विषय में तू मेरे निश्चय को सुनो, हे पुरुष-श्रेष्ठ ! वह त्याग सात्त्विक, राजस और तामस ऐसे तीनों प्रकार का ही कहा गया है ॥ ४ ॥

म० टी०—अधुना द्वितीयप्रश्नप्रतिवचनाय संन्यासत्यागशब्दार्थस्य त्रैविध्यं निरूपयितुं तत्र विप्रतिपत्तिमाह—त्याज्यमित्यादिना । सर्वं कर्म-बन्धहेतुत्वाद्दोषवद्दुष्टमतः कर्माधिकृतैरपि कर्म त्याज्यमेवेत्येके मनीषिणः प्राहुः । यद्वा दोषवद्दोष इव, यथा दोषो रागादिस्त्यज्यते तद्वत्कर्म त्याज्यमनुत्पन्न-बोधैरनुत्पन्नविविदिषैः कर्माधिकारिभिरपीत्येकः पक्षः । कर्माधिकारिभिरन्तः-करणशुद्धिद्वारा विविदिषोत्पत्त्यर्थं यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यमिति चापरे मनीषिणः प्राहुः ॥ ३ ॥

अब द्वितीय प्रश्नका उत्तर देने के लिये संन्यास त्याग के शब्दार्थ में तीन प्रकारों के निरूपणार्थ विप्रतिपत्ति कहते हैं—त्याज्यमिति । बन्धक सर्वकर्म है अतः दोषयुक्त है इस कारण कर्माधिकारी पुरुषों को कर्म त्याज्य ही है यह अन्य विद्वानों का मत है । अथवा दोष कर्म में विशेषण नहीं किन्तु सादृश्य का प्रतियोगी जैसे दोष रागादि त्याज्य है वैसे कर्म भी त्याज्य है । जिनको तत्त्व-ज्ञान नहीं हुआ है और न विविदिषा ही उत्पन्न हुई है उन कर्मियोंको सब कर्म त्याज्य ही है यह एक पक्ष है, यहाँ दूसरा पक्ष है कि कर्मियोंको अन्तःकरण शुद्ध्यर्थ तद्द्वारा विविदिषाकी उत्पत्तिके लिये यज्ञदानतपोंका त्याग नहीं करना चाहिये ऐसा दूसरे विद्वानोंने कहा है ॥ ३ ॥

म० टी०—एवं विप्रतिपत्तावाह—निश्चयमिति। तत्र त्वया पृष्टे कर्माधिकारिकर्तृके संन्यासत्यागशब्दाभ्यां प्रतिपादिते त्यागे फलाभिसंधिपूर्वककर्मत्यागे मे मम वचनान्निश्चयं पूर्वाचार्यैः कृतं शृणु हे भरतसत्तम!। किं तत्र दुर्ज्ञेयमस्तीत्यत आह—हे पुरुषव्याघ्र पुरुषश्रेष्ठ! हि यस्मात्त्यागः कर्माधिकारिकर्तृकः फलाभिसंधिपूर्वककर्मत्यागस्त्रिविधस्त्रिप्रकारस्तामसादिभेदेन संप्रकीर्तितः। अथवा विशिष्टाभावरूपसंत्यागो विशेषणाभावाद्विशेष्याभावादुभयाभावाच्च त्रिविधः संप्रकीर्तितः। तथाहि—फलाभिसंधिपूर्वककर्मत्यागः सत्यपि कर्मणि फलाभिसंधित्यागादेकः, सत्यपि फलाभिसंधौ कर्मत्यागाद्द्वितीयः, फलाभिसंधेः कर्मणश्च त्यागात्तृतीयः। तत्र प्रथमः सात्त्विक आदेयः। द्वितीयस्तु हेयो द्विविधः, दुःखबुद्ध्या कृतो राजसः, विपर्यासेन कृत-

ऐसी विप्रतिपत्तिमें संन्यास त्याग शब्दोंसे प्रतिपाद्य कर्मियोंके त्यागको जो तुमने पूछा है फलेच्छाशून्यत्यागमें मेरे वचनसे उस निश्चयको सुनो जो पूर्वाचार्योंने किया है। हे भरतसत्तम !, क्या उसमें गूढ़बोध है ? इस जिज्ञासासे कहते हैं—हे पुरुषव्याघ्र ! पुरुषोंमेंश्रेष्ठ

'व्याघ्रः स्यात् पुंसि शार्दूले रक्तैरण्डकरण्डयोः।
श्रेष्ठे नरादुत्तरस्थः कण्टकाचार्ययोषिति॥'

इस मेदिनी कोषसे व्याघ्रशब्द श्रेष्ठका भी वाचक है यह निश्चित है, तदनुसार पुरुषश्रेष्ठ यह सम्बोधन है। जिस कारण कर्माधिकारिकृत त्याग फलेच्छापूर्वक कर्मत्याग तीन प्रकारका है तामसादि भेदसे कहा गया है, अथवा विशिष्टाभावरूप त्यागविशेषणाभावप्रयुक्त विशेष्याभावप्रयुक्त उभयाभावप्रयुक्त होनेसे तीन प्रकारका है इसीको तथाहिसे स्फुट करते हैं—फलेच्छापूर्वक कर्मत्याग करनेपर भी फलकामनात्यागसे विशेषणफलकामनाके अभावसे तद्विशिष्ट कर्मका अभाव विशेषणाभावप्रयुक्त विशिष्टाभाव एक है, फलकामना रहनेपर भी विशेष्यकर्मके त्यागसे विशेष्याभावप्रयुक्त विशिष्टाभाव दूसरा है। फलकामना और कर्म दोनोंके त्यागसे उभयाभावप्रयुक्त विशिष्टाभाव तीसरा है। इनमें पहिला सात्त्विक उपादेय है, दूसरा त्याज्य दो प्रकारका है, कर्म करनेमें क्लेश होता हैं इस बुद्धिसे कीया हुआ कर्मत्याग राजस है, भ्रमसे किया त्याग तामस है इतना कर्माधि-

स्तामसः। एतावान् कर्माधिकारिकर्तृकस्त्यागोऽर्जुनस्य प्रश्नविषयः। तृतीयस्तु कार्यानधिकारिकर्तृको नैर्गुण्यरूपो नार्जुनप्रश्नविषयः। सोऽपि साधनफलभेदेन द्विविधः। तत्र सात्त्विकेन फलाभिसंधित्यागपूर्वककर्मानुष्ठानरूपेण त्यागेन शुद्धान्तःकरणस्योत्पन्नविविदिषस्याऽऽत्मज्ञानसाधनश्रवणाख्यवेदान्तविचाराय फलाभिसंधिरहितस्यान्तःकरणशुद्धौ सत्यां तत्साधनस्य कर्मणो वैतुष्ये जात इवावहननस्य परित्यागः। स एकः साधनभूतो विविदिषासंन्यास उच्यते। तमग्रे नैष्कर्म्यसिद्धिं परमामिति वक्ष्यति। द्वितीयस्तु जन्मान्तरकृतसाधनाभ्यासपरिपाकादस्मिञ्जन्मन्यादावेवोत्पन्नात्मबोधस्य कृतकृत्यस्य स्वत एव फलाभिसंधेः कर्मणश्च परित्यागः फलभूतः, स विद्वत्संन्यास इत्युच्यते। स तु 'यस्त्वात्मरतिरेव स्यात्' इत्यादिश्लोकाभ्यां प्राग्व्याख्यातः, स्थितप्रज्ञलक्षणादिभिश्च बहुधा प्रपञ्चितः। यस्मादेवं त्यागस्य तत्त्वं दुर्ज्ञेयं त्वया चोक्तं

कारियोंका किया त्याग वैगुण्यरूप विधिरहितरूप अर्जुनके प्रश्नका विषय नहीं, वह भी हेतु फलभेदसे दो प्रकारका है उनमें सात्त्विक फलेच्छात्यागपूर्वक कर्मानुष्ठानरूपत्यागसे पवित्रान्तःकरण संजातविविदिषा का उक्त त्यागसे जिसका अन्तःकरण शुद्ध हो गया है तथा आमज्ञानकी इच्छा उत्पन्न हो गई है उसका आत्मज्ञानहेतु श्रवणाख्यवेदान्तविचार फलेच्छारहितका अन्तःकरणशुद्धि होने पर तद्धेतुकर्मका, भूसी निकलनेपर जैसे अवहनन कूटनेकी निवृत्ति होती है, 'व्रीहीन् अवहन्ति' का तवतक व्यापार है जबतक भूसीसे चावल अलग न हो जाय चावल निकलनेपर फिर अवघातकी आवश्यकता नहीं, फलोत्पत्तिपर्यन्त साधनकी अपेक्षा रहती है अनन्तर नहीं, वैसे अन्तःकरणशुद्धि विविदिषोत्पत्तिपर्यन्त एतद्धेतुकर्मानुष्ठान की आवश्यकता है उक्त दोनोंके उत्पन्न होनेपर कर्मत्याग एकहेतुभूत विविदिषा संन्यास कहा जाता है। इसके आगे 'नैष्कर्म्यसिद्धिम्' इत्यादि कहेंगे। दूसरा पूर्वजन्मकृत साधनाभ्यास के परिपाकसे इस जन्ममें पहिले ही बोध उत्पन्न हो जाता है अतएव कृतकृत्यका स्वतः फलकामना और कर्मका त्याग हो जाता है वही फलभूत विद्वत्संन्यास कहा जाता है, वह तो 'यस्त्वात्मतिरेव स्यात्' इत्यादि दो श्लोकोंसे पूर्वमें व्याख्यात हो चुका है। स्थितप्रज्ञलक्षणादिकों से बहुत कहा गया है जिस कारण इस प्रकार त्यागका तत्त्व दुर्बोध है आपसे

यज्ञो दानं तपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् ।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥ ५ ॥

तथा यज्ञ, दान और तपरूप कर्म त्यागने के योग्य नहीं है, किन्तु निःसन्देह करना कर्तव्य है, क्योंकि यज्ञ, दान और तप यह तीनों ही बुद्धिमान् पुरुषों को पवित्र करनेवाले हैं ॥ ५ ॥

तत्त्वं वेदितुमिच्छामीति, अतो मम सर्वज्ञस्य वचनाद्विद्धीत्यभिप्रायः । संबोधनद्वयेन कुलनिमित्तोत्कर्षः पौरुषनिमित्तोत्कर्षश्च योग्यतातिशयसूचनायोक्तः ॥४॥

म० टी०—कोऽसौ निश्चयो विप्रतिपत्तिकोटिभूतयोः पक्षयोर्द्वितीयः पक्ष इत्याह द्वाभ्याम्—यज्ञ इत्यादिना । चो हेतौ । यस्माद्यज्ञदानतपांसि मनीषिणामकृतफलाभिसंधीनां पावनानि ज्ञानप्रतिबन्धकपापमलप्रक्षालनेन ज्ञानोत्पत्तियोग्यतारूपपुण्यगुणाधानेन च शोधकानि, अकृतफलाभिसंधीनामेव यज्ञदानतपांस्येव शोधकानि भवन्त्येव । उपाधिशुद्ध्यैवोपहितशुद्धिरत्राभिप्रेतः

कथिततत्त्व की जाननेकी इच्छा करता हूँ अतः सर्वज्ञ मेरे वचनसे समझो यह अभिप्राय है उक्त दोनों सम्बोधनोंसे कुलकृत उत्कर्ष और स्वपराक्रमप्रभव उत्कर्ष योग्यतोत्कर्ष सूचनार्थ कहा गया है ॥४॥

विप्रतिपत्तिविषयीभूत दोनों कोटियों में क्या निश्चय है द्वितीयपक्ष यह कहते हैं—दो श्लोकों से । च हेतु में है । जिससे यज्ञ दान तप आदि फलाभिलाषशून्य विद्वानों के शोधक है अर्थात् तत्त्वज्ञानोत्पत्ति के प्रतिबन्धक जो पाप है तत्स्वरूप मलक्षालन (धोने) से ज्ञानोत्पत्तियोग्यतारूप, पुण्यरूप गुणों के आधान से पवित्र करनेवाले दो प्रकार के होते हैं—मलकर्दमादि उनके क्षालन से बाह्यशुद्धि होती है जैसे स्नानादि, दूसरा स्नानोत्तर—

'अपवित्रः पवित्रो वा सर्वावस्थां गतोऽपिवा'

इत्यादि मन्त्र से शरीर पर जल छिड़कना इससे तत्तत्कर्मवृत्ति के आदि में उक्तमन्त्रद्वारा मार्जन का विधान ही व्यर्थ हो जायगा, फल कामनारहितों के ही शोधक हैं तत्सहित के नहीं, यज्ञ दान तप ही शोधक, कर्यान्तर नहीं शोधक होते हैं। उपाधि की शुद्धि से उपहितशुद्धि यहाँ अभीष्ट है

एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च ।
कर्तव्यानीति मे पार्थ! निश्चितं मतमुत्तमम् ॥ ६ ॥

इसलिये हे पार्थ ! यह यज्ञ, दान और तपरूप कर्म तथा और भी संपूर्ण श्रेष्ठ कर्म, आसक्ति को और फलों को त्याग कर, अवश्य करने चाहिये, ऐसा मेरा निश्चय किया हुआ उत्तम मत है ॥ ६ ॥

तस्मादन्तःकरणशुद्ध्यर्थिभिः कर्माधिकृतैर्यज्ञो दानं तप इति यत्फलाभिसंधिरहितं कर्म तन्न त्याज्यं किं तु कार्यमेव तत् । अत्याज्यत्वेन कार्यत्वे लब्धेऽप्यत्यादरार्थं पुनः कार्यमेवेत्युक्तम् । यस्मात्कार्यो कृतव्यतया विहितं तस्मान्न त्याज्यमेवेति वा ॥ ५ ॥

म० टी०—यदि यज्ञदानतपसामन्तःकरणशोधने सामर्थ्यमस्ति तर्हि फलाभिसंधिना कृतान्यपि तानि तच्छोधकानि भविष्यन्ति कृतं फलाभिसन्धित्यागेनेत्यत आह—**एतान्यपीति**। तु शब्दः शङ्कानिराकरणार्थः। यद्यपि काम्यान्यपि धर्मस्वाभाव्यात्तथाऽपि सा तत्फलभोगोपयोगिन्येव न ज्ञानोपयोगिनी । तदुक्तं वार्तिककृद्भिः—

विद्वान् की शुद्धि से तदुपहित अन्तःकरण की शुद्धि में तात्पर्य है, अतः अन्तःकरणशुद्धिकामुक कर्मियों से कृत यज्ञ दान तप जो फलेच्छाशून्य कर्म है वह त्याज्य नहीं है, किन्तु वह कार्य ही है । त्याज्य नहीं कहने से ही कार्य है इसका लाभ हो ही जाता है फिर 'कार्यमेव' कहनेसे क्या लाभ है ? आदरार्थ पुनः तत्कथन है इसीसे सन्तोषसे कीजिये, वा यज्ञ कार्य कर्तव्यत्वसे विहित है अतः त्याज्य नहीं यह भी अर्थ है ॥५॥

यदि यज्ञ दान तपोंकी शक्ति अन्तःकरणके शोधनमें है तो फलकामीके किये यज्ञादि अन्तःकरणके शोधक होंगे, फिर फलाभिसन्धित्याग व्यर्थ ही है इस शंकासे 'तु' कहते हैं । 'तु' शब्द शंका निरासक है । यद्यपि काम्यकर्मभी धर्मका उत्पादक है तद्द्वारा अन्तःकरणका शोधक है धर्मसे अधर्मका नाश होता है यह प्रसिद्ध ही है तथापि वह शुद्ध फलकामना रहनेपर तद्भोगोपयोगी ही होती है ज्ञानोपयोगिनी

नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते ।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः ॥ ७ ॥

और हे अर्जुन ! नियत कर्मका त्यागकरना योग्य नहीं है, इसलिये मोहसे उसका त्याग करना तामस त्याग कहा गया है ॥ ७ ॥

"काम्येऽपि शुद्धिरस्त्येव भोगसिद्ध्यर्थमेव सा ।
विड्वराहादिदेहेन न ह्यैन्द्रं भुज्यते फलम् ॥" इति

ज्ञानोपयोगिनी तु शुद्धिमादधति यानि यज्ञादीनि कर्माणि एतानि फलाभिसंधिपूर्वकत्वेन बन्धतद्धेतुभूतान्यपि मुमुक्षुभिः सङ्गमहमेवं करोमीति कर्तृत्वाभिनिवेशं फलानि चाभिसंधीयमानानि त्यक्त्वाऽन्तःकरणशुद्धये कर्तव्यानाति मे मम निश्चितम् । अत एव हे पार्थ ! कर्माधिकृतैः कर्माणि त्याज्यानि न त्याज्यानि वेति द्वयोर्मतयोर्न त्याज्यानीति मम निश्चितं मतमुत्तमं श्रेष्ठम् । यदुक्तं 'निश्चयं शृणु मे तत्र' इति सोऽयं निश्चय उपसंहृतः ।

भगवत्पूज्यपादानामभिप्रायोऽयमीरितः ।
अनिष्णाततया भाष्ये दुरापो मन्दबुद्धिभिः ॥ ६ ॥

नहीं, वार्तिककारने ऐसा ही कहा है—काम्यमें भी शुद्धि है ही किन्तु वह भोगसिद्ध्यर्थ ही हैं विड्वराहादिदेहसे ऐन्द्रफलका उपभोग नहीं हो सकता इति । ज्ञानोपयोगिनी शुद्धिके आधायक जो यज्ञादिकर्म ये भी फलेच्छापूर्वककृत बन्धनकारण होनेपर भी मुमुक्षुजन 'मैं ऐसा करता हूँ' इस कर्तृत्वाभिनिवेश तथा कामनाविषय फलोंका त्याग कर अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये करना चाहिये यह मेरा मत है । अतएव हे पार्थ ! कर्मियोंसे कर्म त्याज्य है अथवा इन दोनों मतोंमें त्याज्य ही नहीं है यह मेरा निश्चित उत्तम मत है । कहा भी है—'निश्चयं शृणु में तत्र' इति इसे निश्चय उपसंहार किया गया भगवत्पूज्यपाद श्रीशङ्कराचार्यका यह अभिप्राय कहा। यह अर्थ तो भाष्यसे ही ज्ञात हो जाता है आपके श्रम करनेकी क्या आवश्यकता ? इसका उत्तर देते हैं जो कुशाग्रबुद्धि है उनको भाष्यसे उक्तार्थका ज्ञान हो जायगा किन्तु जो मन्दबुद्धि जिज्ञासु हैं उनको भाष्यसे उक्तार्थका ज्ञान नहीं हो सकता अतः उनपर अनुकम्पाकर मैंने उक्तार्थको अतिस्फुट किया जिससे उनको सहजसे ज्ञात हो जाय ॥६॥

म० टी०—तदेवं "यज्ञो दानं तपः कर्म न त्याज्यमिति चापरे" इति स्वपक्षः स्थापितः, इदानीं "त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः" इति परपक्षस्य पूर्वोक्तत्यागत्रैविध्यव्याख्यानेन निराकरणमारभते—**नियतस्य** इत्यादिना। काम्यस्य कर्मणोऽन्तःकरणशुद्धिहेतुत्वाभावेन बन्धहेतुत्वेन च दोषवत्त्वाद्बन्धनिवृत्तिहेतुबोधार्थिना क्रियमाणस्त्याग उपपद्यत एव। नियत- तस्य तु कर्मणः शुद्धिहेतुत्वेनादोषस्य संन्यासस्त्यागो मुमुक्षूणामन्तः करणशुद्धयर्थिनां नोपपद्यते शास्त्रयुक्तिभ्यां तस्या न्तःकरणशुद्धयर्थमवश्यानुष्ठेयत्वात्। तथाचोक्तं प्राक्—"आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते" इति। ननु दोषवत्वं काम्यस्येव नित्यस्यापि दर्शपूर्णमासज्योतिष्टोमादेर्व्रीहिपश्वादिहिंसामिश्रितत्वेन सांख्यैरभिहितम्। न च "व्रीहीनवहन्ति" "अग्निषोमीयं पशुमालभते" इत्यादिविशेषविधिगोचरत्वा-क्रत्वङ्गहिंसाया "न हिंस्यात्सर्वा भूतानि" इति सामान्यनिषेधस्य तदितर परत्वमिति सांप्रतं भिन्नविषयत्वेन विधिनिषेधयोरबाधेनैव समावेशसंभवात्।

'यज्ञदानतपः कर्म तत्त्याज्यमिति चापरे' इस वाक्यसे अपने पक्षका स्थापन किया अब 'त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः' इत्यपर पक्षका प्राक्कथित त्यागका त्रैविध्य व्याख्यानसे निरास करनेका आरम्भ करते हैं—काम्यकर्म अन्तः-करणकी शुद्धिका कारण ही है प्रत्युत बन्धका कारण है इस हेतु दोषवान् है बन्धनिवृत्तिहेतुज्ञानार्थीको उसका त्याग करना ही युक्तियुक्त है नियत नित्तकर्म तो शुद्धिका हेतु अतः अदोष है अन्तःकरणशुद्ध्यर्थीमुमुक्षुको इसका त्याग नहीं करना चाहिये- शास्त्र और युक्तिसे अन्तःकरणशुद्धिके लिये इसको अवश्य करना चाहिये पूर्वमें ऐसा कहा है—

'आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्मकारणमुच्यते' इति

शंका करते हैं—ननु से। काम्यकर्मके समान नित्यकर्ममें भी दोषवत्व है दर्शपूर्णमासज्योतिष्टोमादि भी व्रीहिधानपशु आदिकी हिंसासे मिला है, सांख्य-विद्वानोंने कहा है—'व्रीहीनवहन्ति' 'अग्नीषोमीयं पशुमालभेत' इत्यादि विशेष-विधि विषीभूत यागाङ्ग हिंसा 'मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि' इस सामान्य निषेधका विषय नहीं, कारण सामान्यशास्त्रमें विशेषशास्त्रविषयभिन्नविषयकत्वसे संकोच होता है अर्थात् यागाङ्गहिंसातिरिक्तहिंसा न करना यह ठीक नहीं विधि निषेध

निषेधेन हि पुरुषस्यानर्थहेतुर्हिंसेत्यभिहितं न त्वक्रत्वर्था सेति, विधिना च क्रत्वर्था सेत्यभिहितं नत्वनर्थहेतुर्नेति। तथा च क्रतूपकारकत्वपुरुषानर्थहेतुत्वयोरेकत्र संभवात्क्रत्वर्थाऽपि हिंसा निषिद्धैवेति हिंसायुक्तं दर्शपूर्णमासज्योतिष्टोमादि सर्वं दुष्टमेव। विहितस्यापि निषिद्धत्वं निषिद्धस्यापि च विहितत्वं श्येनादिवदुपपन्नमेव। यथा हि "श्येनेनाभिचरन् यजेत" इत्याद्यभिचारविधिना विहितोऽपि श्येनादिर्न हिंस्यात्सर्वा भूतानीति निषेधविषयत्वादनर्थहेतुरेव तद्दोषसहिष्णोरेव च रागद्वेषादिवशीकृतस्य तत्राधिकार एवं ज्योतिष्टोमादावपि। तथा चोक्तं महाभारते—

"जपस्तु सर्वधर्मेभ्यः परमो धर्म उच्यते।
अहिंसया हि भूतानां जपयज्ञः प्रवर्तते॥" इति

मनुनाऽपि—

भिन्न विषयक है। समान विषयक होते तो विरोध होनेसे संकोच हो सकता भिन्न विषयोंका एकमें समावेश होता है, निषेधशास्त्रका कहना है कि भूतहिंसा अनर्थका कारण है यागाङ्ग हिंसा नहीं है यह नहीं बोधन करता विधिशास्त्र भी हिंसायागाङ्ग है यही कहता है वह पापजनक नहीं यह नहीं कहता तथा च यागोपकारकत्व पुरुषानर्थहेतुत्व इन दोनोंका एकमें समावेश हो जाता है यागका हिंसासे उपकार हो और पुरुषको पाप हो इसमें क्या विरोध है। क्रत्वर्थ हिंसा भी तो निषिद्ध ही है अतः हिंसायुक्त दर्शपूर्णमास ज्योतिष्टोमादि सब दुष्ट ही है विहितमें भी निषेध है और निषिद्धमें भी विधि है श्येनादिके समान दोनोंकी उपपत्ति है। तथाहि 'श्येनेनाभिचरन् यजेत' इत्यादि अभिचार मारणविधिसे विहित भी श्येनादि 'न हिंस्यात्सर्वाभूतानि' इस निषेधका विषय होनेसे अनर्थका हेतु ही है रागद्वेषके वशीभूत अनर्थके सहनेवालेका ही उसमें अधिकार है इसी प्रकार ज्योतिष्टोमादिमें भी जानना। महाभारतमें भी ऐसा ही कहा है—

'जपस्तु सर्वधर्मेभ्यः परमो धर्म उच्यते।' इत्यादि

मनुजीने भी कहा है—

'जप्येनैव तु संसिद्ध्येद् ब्राह्मणो नात्र संशयः।' इत्यादि

"जप्येनैव तु संसिद्ध्येद्ब्राह्मणो नात्र संशयः ।
कुर्यादन्यन्न वा कुर्यान्मैत्रो ब्राह्मण उच्यते ॥"

इति वदता मैत्रीहिंसां प्रशंसता हिंसाया दुष्टत्वमेव प्रतिपादितम् । अन्तःकरणशुद्धिश्चेद्दृशेन गायत्रीजपादिना सुतरामुपपत्स्यत इति हिंसादिदोषदुष्टं ज्योतिष्टोमादि नित्यं कर्म दोषासहिष्णुना श्येनादिकमिव कर्माधिकारिणाऽपि त्याज्यमिति प्राप्ते ब्रूमः—न क्रत्वर्था हिंसाऽनर्थहेतुः, विधिस्पृष्टे निषेधानवकाशात् । तथाहि—विधिना बलवदिच्छाविषयसाधनताबोधरूपां प्रवर्तनां कुर्वताऽनर्थसाधने तदनुपपत्तेः स्वविषयस्य प्रवर्तनागोचरस्यानर्थसाधनत्वाभावोऽप्यर्थादाक्षिप्यते । तेन विधिविषयस्य नानर्थहेतुत्वं युज्यते । न हि क्रत्वर्थत्वं साक्षाद्विध्यर्थः, येन विरोधो न स्यात् किन्तु प्रवर्तनैव । प्रवर्तनाकर्मभूता तु पुरुषप्रवृत्तिः पुरुषार्थमेव विषयीकुर्वती क्वचित्क्रतुमपि पुरुषार्थसाधनत्वेन पुरुषार्थभावमापन्नं विषयीकरोतीत्यन्यत् । पुरुषप्रवृत्तिश्च बलवदिच्छोपधानदशायां जायमाना न भाव्यस्यार्थहेतुतामाक्षिपति, किन्तु यथा प्राप्तमेवावलम्बते

अहिंसारूप मैत्रीकी प्रशंसा करते हुए उक्त ऋषिने हिंसाको दुष्ट कहा है । अन्तःकरणकी शुद्धि गायत्री जपादि पवित्रकर्मोंसे होती है तो हिंसादि दोष दुष्ट ज्यतिष्टोमादि नित्यकर्म दोषके न सहन करनेवाले कर्मियोंसे भी श्येनादिके समान त्याज्य ही हैं ऐसी परिस्थितिमें सिद्धान्त कहते हैं—यागाङ्ग हिंसा अनर्थ हेतु नहीं है । विधिविषयमें निषेधकी प्रवृत्ति नहीं होती तथाहि विधिसे बलवदिच्छाविषय हेतुताबोधनरूप प्रेरणा कराती, यदि कर्म अनर्थसाधन होगा तो विधि प्रेरणा ही न करायगी विधिविषयमें अनर्थकारणत्वाभाव अर्थात् आक्षिप्त होता हैं अतः विधिविषयमें अनर्थत्वका सम्भव नहीं, क्रत्वर्थत्व साक्षात् विधिविषय नहीं जिससे विरोध न हो किन्तु प्रवर्तना ही साक्षाद् विधिविषय है । प्रवर्तनाभूत पुरुषप्रवृत्ति पुरुषार्थको ही विषय करती हुई कहीं यज्ञको पुरुषार्थ साधनभावसे पुरुषार्थभावापन्नको विषय कहती ही है यह दूसरी बात है । फलवत्फलसाधनभी इच्छाविषय होता है स्वर्गसाधनत्वज्ञानसे ही यागमें पुरुष प्रवृत्ति होती है । पुरुषप्रवृत्ति बलवदिच्छासद्भावदशामें जायमान स्वभाव्यकर्ममें अनर्थहेतुताका आक्षेप नहीं करती और न अनर्थहेतुत्वका निराकरण ही करती है किन्तु यथा

बलवदिच्छाविषये स्वतः एव एव प्रवृत्तेः स्वर्गादौ विध्यनपेक्षणात्। अत एव विहितश्येनफलस्यापि शत्रुवधरूपस्याभिचारस्यानर्थहेतुत्वमुपपद्यत एव फलस्य विधिजन्यप्रवृत्तिविषयत्वाभावात्। विधिजन्यप्रवृत्तिविषयं तु धात्वर्थरूपं करणं प्रवर्तनाऽवलम्बते। सा चानार्थहेतुं न विषयीकरोतीति विशेषविधिबाधितं सामान्यनिषेधवाक्यं रागद्वेषादिमूलाक्रत्वर्थलौकिकहिंसाविषयम्। तेन श्येनाग्नीषोमीययोर्वैषम्यादुपपन्नमदुष्टत्वं ज्योतिष्टोमादेः। विधिस्पृष्टस्यापि निषेधविषयत्वे षोडशिग्रहणस्याप्यनर्थहेतुत्वापत्तिः 'नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति' इति निषेधात् तस्मान्न किंचिदेतदिति भाट्टदर्शनम्। प्रभाकरं तु दर्शनं फलसाधने रागत एव प्रवृत्तिसिद्धेर्न नियोगस्य प्रवर्तकत्वम्, तेन श्येनस्य रागजन्यप्रवृत्तिविषयत्वेन विधेरौदासीन्यान्न तस्यानर्थहेतुत्वं विधिना प्रतिक्षिप्यते। अग्नीषोमीयहिंसायां तु क्रत्वङ्गभूतायां फलसाधनत्वाभावेन रागाभावाद्विधिरेव प्रवर्तकः। स च स्वविषयस्यानर्थहेतुतां प्रतिक्षिपतीति प्रधानभूतां हिंसाऽनर्थं जनयति

प्राप्त ही का आश्रयण करती है। बलवदिच्छाविषयमें स्वतः पुरुषकी प्रवृत्ति होती है क्योंकि स्वर्गादिमें विधिकी अपेक्षा नहीं अतएव विहित श्येनफल पात्रमारणरूप अभिचारमें अनर्थहेतुत्व उपपन्न होता है। फलविधिप्रयुक्त प्रवृत्तिविषय तो धात्वर्थरूपकारणको प्रवर्तना आलम्बन करती है वह अनर्थहेतुको विषय नहीं करती अतः विशेषविधिबाधेन सामान्य निषेध वाक्य रागद्वेषादिमूलाक्रत्वर्थ लौकिक हिंसा विषयक है इससे श्येन और अग्नीषोमीयमें वैषम्य स्पष्ट है अतः ज्योतिष्टोमादिमें दोष नहीं है यह ठीक हुआ। यदि विधिविषयमें निषेधकी प्रवृत्ति हो तो षोडशिग्रहणमें भी अनर्थकारणत्वकी आपत्ति होगी क्योंकि 'नातिरात्रे षोड़शिनं गृह्णाति' यह निषेध है तस्मात् यह कुछ नहीं है यह भट्टका मत है। प्रभाकरमिश्रके मतसे फलके साधनमें रागसे ही प्रवृत्ति सिद्ध है अतः नियोग प्रवर्तक नहीं होता इस कारण श्येन रागतःप्रवृत्तिका विषय है इसमें विधि उदासीन प्रेरक नहीं, इससे उसमें अनर्थकारणत्व विधिसे निराकरणीय नहीं अग्नीषोम य हिंसामें तो जो यागाङ्ग है उससें फलसाधनत्वके अभावसे राग है नहीं केवल विधिबलसे ही उसमें प्रवृत्ति होती है वह अपने विषयमें अनथहेतुताका निराकरण करती है प्रधानभूता हिंसा अनर्थको उत्पन्न करती है यागाङ्ग हिंसा नहीं अतः

न क्रत्वर्थेति न हिंसामिश्रत्वेन ज्योतिष्टोमादेर्दुष्टत्वमिति सममेव। एतावन्मात्रे तु विशेषः—"चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः" इत्यत्रार्थपदव्यावर्त्यत्वेनाधर्मत्वं श्येनादेः प्रभाकरमते। भाट्टमते तु श्येनफलस्यैवाभिचारस्यानर्थहेतुत्वादधर्मत्वम्, श्येनस्य तु विहितस्य समीहितसाधनस्य धर्मत्वमेव। अर्थपदव्यावर्त्यत्वं तु कलञ्जभक्षणादेर्निषिद्धस्यैवेति फलतोऽनर्थहेतुत्वेन तु शिष्टानां श्येनादौ न धर्मत्वेन व्यवहारः। तदुक्तम्—

"फलतोऽपि च यत्कर्म नानर्थेनानुबध्यते।
केवलप्रीतिहेतुत्वात्तद्धर्म इति कथ्यते॥" इति

तार्किकाणां तु दर्शनं कृतिसाध्यत्वमर्थहेतुत्वमनर्थाहेतुत्वं चेति त्रयं विध्यर्थः। तत्र क्रत्वर्थहिंसाया साक्षान्निषेधाभावात्प्रायश्चित्तानुपदेशाच्च कृतिसाध्यत्वार्थहेतुवदनर्थाहेतुत्वमपि विधिना बोध्यत इति न तस्या अनर्थहेतुत्वम्। श्येनादेस्त्वभिचारस्य साक्षादेव निषेधात्प्रायश्चित्तोपदेशाच्चानर्थहेतुत्वावगमात्तावन्मात्रं तत्र विधिना न बोध्यत इत्युपपन्नं श्येनाग्नीषोमीययोर्वैलक्षण्यम्। औपनिषदैस्तु भाट्टमेव दर्शनं व्यवहारे प्रायेणावलम्बितम्। तथा च भगवद्वा-

मिश्रित होनेसे भी ज्योतिष्टोमादि दुष्ट नहीं है यह दोनोंमें बराबर है। एतावन्मात्रमें विशेष है कि 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' यहाँ पर अर्थपदका व्यावर्त्य प्रभाकरके मतमें श्येन है, क्योंकि वह अधर्म है। भट्टमतमें श्येनफल शत्रुवध जो अभिचार वही अनर्थहेतु होनेसे अधर्म है। इष्टसाधन विहितश्येन तो धर्म ही है, अर्थपदका व्यावर्त्य तो निषिद्ध कलञ्जादि भक्षण ही है। फलद्वारा अनर्थहेतु होनेसे श्येनादि में शिष्टोंका अधर्म व्यवहार है यही कहा है—'फलतोऽपि च यत्कर्म' इत्यादि मूलमें देखिये। तार्किकोंका दर्शन है इष्टसाधनत्व कृतिसाध्यत्व अनिष्टाननुबन्धित्व ये तीनों विधिके यागाङ्ग हिंसामें साक्षात् निषेध न होने से और प्रायश्चित्तोपदेशके न होनेसे कृतिसाध्यत्व इष्टसाधनत्व अनर्थाननुबन्धित्व भी विधिसे बोधित होता है अतः ज्योतिष्टोमादिमें अनर्थहेतुत्व नहीं। अभिचारात्मक श्येनका साक्षान्निषेध है और प्रायश्चित्तोपदेश भी है अतः उसमें अनर्थहेतुत्वका ज्ञान है इसलिये तावन्मात्र (अनर्थाहेतुत्वमात्र)का वहाँ विधिबोधन नहीं कराती इससे श्येन और अग्नीषोमीय में वैलक्षण्य (भेद) स्पष्ट है। वेदान्ती भट्टसिद्धान्तका ही व्यवहार दशामें अवलम्बन

दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत् ।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत् ॥ ८ ॥

और यदि कोई मनुष्य, जो कुछ कर्म है, वह सब ही दुःखरूप है, ऐसे समझकर, शारीरिक क्लेशके भयसे त्याग कर दे, तो वह पुरुष उस राजस त्यागको करके भी त्यागके फलको प्राप्त नहीं होता है, अर्थात् उसका वह त्याग करना व्यर्थ ही होता है ।

दरायणप्रणीतं सूत्रम्--"अशुद्धमिति चेन्न शब्दात्" इति । ज्योतिष्टोमादिकर्माग्नीषोमीयहिंसादिमिश्रितत्वेन दुष्टमिति चेत् ? न, "अग्नषोमीयं पशुमालभेत" इत्यादिविधिशब्दादित्यक्षरार्थः । जयप्रशंसापरं तु वाक्यं न क्रत्वर्थहिंसाया अधर्मत्वबोधकं तस्य तत्रातात्पर्यात् । तथाच सांख्यानां विहिते निषिद्धत्वज्ञानमर्थहेतावनर्थहेतुत्वज्ञानं धर्मे चाधर्मत्वज्ञानमनुष्ठेये चाननुष्ठेयत्वज्ञानं विपर्यासरूपो मोहस्तस्मान्मोहान्नित्यस्य कर्मणो यः परित्यागः स तामसः परिकीर्तितः । मोहो हि तमः ॥ ७ ॥

म० टी०--पूर्वोक्तमोहाभावेऽपि अनुपजातान्तःकरणशुद्धितया कर्माधिकृतोऽपि दुःखमेवेदमिति मत्वा कायक्लेशभयान्नित्यं कर्म त्यजेदिति यत्स

करते हैं, भगवान् व्यासका सूत्र है—'अशुद्धमिति चेन्न शब्दात्' ज्योतिष्टोमादिकर्म अग्नीषोमीय हिंसायुक्त होनेसे दुष्ट है यह आक्षेप ठीक नहीं ।

प्रश्न—क्यों ?

उत्तर—शब्दात्से है—'अग्नीषोमीयं पशुमालभेत' इत्यादि विधिशब्दसे यह अतिसंक्षिप्त अक्षरमात्रका अर्थ है । जपप्रशंसापर वाक्य यागाङ्गहिंसामें अधर्मत्वका बोधक नहीं क्योंकि उसका उसमें तात्पर्य नहीं, किन्तु जपप्रशंसामें ही तात्पर्य है । ऐसी स्थितिमें सांख्यमतमें विहितमें विशेषज्ञान अनर्थके अकारणमें अनर्थकारणत्वज्ञान धर्ममें अधर्मत्वज्ञान अनुष्ठेयमें अनुष्ठेयत्वभ्रमात्मक मोह है अतः मोहसे नित्यकर्मका जो परित्याग वह तामस कहा जाता है । मोह ही तम है ॥७॥

पूर्वोक्त मोहके न होनेपर भी अन्तःकरणको शुद्धि न होनेसे कर्मी भी यह दुःखद है मानकर शरीरकष्टके भयसे जो नित्यकर्मका त्याग है यह त्याग

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन ।
सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः ॥ ९ ॥

और हे अर्जुन ! करना कर्तव्य है ऐसे समझकर ही, जो शास्त्रविधिसे नियत किया हुआ कर्तव्य कर्म आसक्तिको और फलको त्यागकर किया जाता है वह ही सात्त्विक त्याग माना गया है, अर्थात् कर्तव्य कर्मोंको स्वरूपसे न त्यागकर उनमें जो आसक्ति और फलका त्यागना है, वही सात्त्विक त्याग माना गया है ॥ ९ ॥

त्यागो राजसः । दुःखं हि रजः । अतः स मोहरहितोऽपि राजसः पुरुषस्तादृशं राजसं त्यागं कृत्वा नैव त्यागफलं सात्त्विकत्यागस्य फलं ज्ञाननिष्ठालक्षणं नैव लभेन्नभेत ॥ ८ ॥

म० टी०—कर्मत्यागस्तामसो राजसश्च हेयो दर्शितः, कीदृशः पुनरुपादेयः सात्त्विकस्त्याग इत्युच्यते—**कार्य**मित्यादिना । विध्युद्देशे फलाश्रवणेऽपि कार्यं कर्तव्यमेवेति बुद्ध्वा नियतं नित्यं कर्म सङ्गं कर्तृत्वाभिनिवेशं फलं च त्यक्त्वैव यत्क्रियतेऽन्तःकरणशुद्धिपर्यन्तं स त्यागः सात्त्विकः सत्त्वनिर्वृत्तो मत आदेयत्वेन संमतः शिष्टानाम् । ननु नित्यानां फलमेव नास्ति कथं फलं त्यक्त्वेत्युक्तम् ? उच्यते—अस्मादेव भगवद्वचनान्नित्यानां

राजस है । दुःख रजोगुण है अतः यह तमोरहित भी राजस पुरुष तादृश राजसका त्यागकर त्यागफल सात्त्विक त्यागका फल ज्ञाननिष्ठालक्षणका लाभ नहीं करता ॥८॥

कर्मत्याग राजस और तामस त्याज्य है यह दिखलाया ।

प्रश्न—कैसा त्याग फिर ग्राह्य है ?

उत्तर—सात्त्विकत्याग, यह कहते हैं—विधिवाक्यमें फलका श्रवण न होनेपर कर्म करना ही चाहिये यह मानकर नित्यकर्तृत्वाभिमान और फल इन दोनोंका त्याग कर ही अन्तःकरणशुद्धि पर्यन्त जो किया जाता है वह त्याग सात्त्विक है, सत्त्वगुणसे समुत्पन्न सात्त्विक है इसमें शिष्टोंकी सम्मति है ।

प्रश्न—नित्यकर्मका तो कुछ फल ही नहीं है फिर 'फलं त्यक्त्वा' कैसे कहा ?

उच्यते से उत्तर कहते हैं—इसी भगवान्के वाक्यसे नित्यकर्मोंका फल है

फलमस्तीति गम्यते निष्फलस्यानुष्ठानासम्भवात् । तथा चाऽऽपस्तम्बः—"तद्यथाऽऽम्रे फलार्थे निमिते छायागन्धावनूत्पद्येते एवं धर्मं चर्यमाणमर्था अनूत्पद्यन्ते" इत्यानुषङ्गिकं फलं नित्यानां दर्शयति। अकरणे प्रत्यवायस्मृतिश्च। नित्यानां प्रत्यवायपरिहारं फलं दर्शयति—"धर्मेण पापमपनुदति, तस्माद्धर्मं परमं वदन्ति येन केन च यजेताऽपि वा दर्विहोमे नानुपहतमना एव भवति, तदाहुर्देवयाजी श्रेयानात्मयाजीत्यात्मयाजीति ह ब्रूयात्स हवा आत्मयाजी यो वेदेदं मेऽनेनाङ्गं संस्क्रियतानेनाङ्गमुपधीयते" इत्यादिश्रुतयश्च ज्ञानप्रतिबन्धकपापक्षयलक्षणं चाऽऽत्मसंस्कारं नित्यानां कर्मणां फलं दर्शयन्ति तमभिसन्धिं त्यक्त्वा तान्यनुष्ठेयानीत्यर्थः। यदुक्तं त्यागसंन्यासशब्दो घटपटशब्दाविव न भिन्नजातीयार्थौ किन्तु फलाभिसन्धिपूर्वककर्मत्याग एव तयोरर्थ इति तन्न विस्मर्तव्यम्। तत्र सत्यपि फलाभिसन्धमोहाद्वा कायक्लेशभयाद्वा यः कर्मत्यागः स विशेष्याभावकृतो विशिष्टाभावस्तामसत्वेन राजसत्वेन च निन्दितः। यस्तु सत्यपि कर्मणि

यह जाना जाता है, क्योंकि निष्फलका अनुष्ठान ही नहीं हो सकता, महर्षि आपस्तम्बने कहा है—फलके लिये आमके रोपनेपर छाया पुष्प समयमें गन्ध उत्पन्न होते ही हैं, एवं धर्म करनेवालेको अनन्तर अर्थ उत्पन्न होते हैं, धर्म करनेवालेको जनता द्रव्य देती है अब भी प्रसिद्ध ही है। नित्यकर्मोंका फल आनुषङ्गिक दिखलाया है और न करनेमें प्रत्यवाय स्मृति है। नित्यकर्मोंका प्रत्यवायपरिहारफल दिखलाते हैं—'धर्मेण पापमपनुदति तस्माद्धर्मं परमं वदन्ति' इत्यादि ऊपर देखिए। ज्ञानोत्पत्तिप्रतिबन्धक पापनिवृत्तिरूप ज्ञान योग्यतारूप पुण्योत्पत्ति लक्षण आत्मसंस्कार नित्यकर्मोंका फल दिखलाते हैं—फलेच्छात्यागकर नित्यकर्म अनुष्ठेय है यह अर्थ है। जो कहा कि त्याग संन्यास शब्द घटपटके समान भिन्नजातीयार्थक नहीं है, किन्तु फलेच्छापूर्वक कर्मत्याग ही दोनोंका अर्थ है उसको नहीं भूलना। उसमें फलेच्छा रहनेपर भी शरीरकष्टके भयसे वा मोहसे जो कर्मत्याग है वह विशेष्यकर्मके अभावसे फलेच्छाविशिष्ट कर्मका अभाव विशेष्याभावप्रयुक्त विशिष्टाभाव है, वह राजसत्वसे तामसत्वसे निन्दित है।

फलाभिसंन्धित्यागः स विशेषणाभावकृतो विशिष्टाभावः सात्त्विकत्वेन स्तूयत इति विशेष्याभावकृते च विशिष्टाभावत्वस्य समानत्वान्न पूर्वापरविरोधः। उभयाभावकृतस्तु निर्गुणत्वान्न त्रिविधमध्ये गणनीय इति चावोचाम। एतेन

"त्यागो हि पुरुषव्याघ्र ! त्रिविधः संप्रकीर्तितः"

इति प्रतिज्ञाय कर्मत्यागलक्षणे द्वे विधे दर्शयित्वा प्रतिज्ञाननुरूपां कर्मानुष्ठानलक्षणां तृतीयां विधां दर्शयतो भगवतःप्रकटमकौशलमापतितम्। न हि भवति त्रयो ब्राह्मणा भोजयितव्या द्वौ कठकौण्डिन्यौ तृतीयः क्षत्रिय इति तद्वदिति परास्तम्। तिसृणामपि विधानां विशिष्टाभावरूपेण त्यागसामान्यनैकजातीयतया प्राग्व्याख्यातत्वात्। तस्माद्भगवदकौशलोद्भवनमेव महदकौशलमिति द्रष्टव्यम् ॥ ९ ॥

यों तो कर्म करनेपर फलकी कामनाका त्याग है, वह फलकामनारूप विशेषणके अभावसे तद्विशिष्ट कर्मरूपविशिष्टका अभाव विशेषणाभावप्रयुक्त विशिष्टाभाव है यह सात्त्विक है अतः इसकी प्रशंसा की जाती है। विशेष्याभावकृत और विशेषणाभावकृतमें विशिष्टाभावत्व समान है इससे पूर्वापर विरोध नहीं, न फलकामना है न कर्म ही है यह उभय विशेषण विशेष्य दोनोंके अभावसे प्रयुक्त विशिष्टाभाव तीसरा है यह निर्गुण है अतः विधिके बीचमें इसकी गिनती नहीं है यह कह चुका हूँ। इससे—

'त्यागो हि पुरुषव्याघ्र ! त्रिविधः सम्प्रकीर्तितः'

इसकी प्रतिज्ञा कर दो प्रकारके कर्मलक्षणोंको दिखलाकर प्रतिज्ञाके अनुकूल कर्मानुष्ठान लक्षण तीन प्रकारको दिखलाते हुए भगवान्में अनैपुण्यकी आपत्ति हुई, क्योंकि प्रथम द्वितीयमें विधेयत्व है तृतीयमें विधेयत्व नहीं है। समानमें ही द्वैविध्य त्रैविध्यादि होते हैं। पृथिवी नौ प्रकारकी है यह कहकर पृथिवीजलादि आठको कहकर मनको छोड़कर उसके स्थानमें गुण कहनेवाले पुरुषमें कौशल्याभाव जैसे प्रसक्त होता है तद्वत् प्रकृतमें भी समझना। इसीको स्पष्ट करते हैं—नहि इत्यादिसे। तीन ब्राह्मणोंको भोजन कराना दो माठर कौण्डिन्य तीसरा क्षत्रिय इति, ऐसा भगयद्वाक्य है यह परास्त हुआ, तीनों प्रकारोंमें विशिष्टाभावरूपसे त्याग सामान्यसे एक जातीयत्व है यह पूर्वमें भी व्याख्यात है और यहाँ भी विशिष्टाभावत्वेन तीनों समान हैं अतः भगवान्के अकौशल्योद्भावन करनेवालेमें ही बड़ा अकौशल है यह देखना चाहिये ॥ ९ ॥

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः ॥ १० ॥

और हे अर्जुन ! जो पुरुष अकल्याणकारक कर्मसे तो द्वेष नहीं करता है और कल्याणकारक कर्ममें आसक्त नहीं होता है, वह शुद्ध सत्त्वगुणसे युक्त हुआ पुरुष, संशयरहित, ज्ञानवान् और त्यागी है ॥ १० ॥

म० टी०—सात्त्विकस्य त्यागस्याऽदानाय सत्त्वशुद्धिद्वारेण ज्ञाननिष्ठा फलमाह—नेत्यादिना। यस्त्यागी सात्त्विकेन त्यागेन युक्तः पूर्वोक्तेन प्रकारेण कर्तृत्वाभिनिवेशं फलाभिसन्धिं च त्यक्त्वाऽन्तःकरणशुद्ध्यर्थं विहितकर्मानुष्ठायी स यदा सत्त्वसमाविष्टः सत्त्वेनात्मानात्मविवेकज्ञानहेतुना चित्तगतेनातिशयेन सम्यग्ज्ञानप्रतिबन्धकरजस्तमोमलराहित्येनाऽऽसमन्तात् फलाव्यभिचारेणाऽऽविष्टो व्याप्तो भवति भगवदर्पितनित्यकर्मानुष्ठानात् पापमलापकर्षलक्षणेन ज्ञानोत्पत्तियोग्यतारूपपुण्यगुणाधानलक्षणेन च संस्कारेण संस्कृतमन्तःकरणं यदा भवतीत्यर्थः, तदा मेधावी शमदमसर्वकर्मोपरमगुरूपसदनादिसामवायिकाङ्गयुक्तेन मननिदिध्यासनाख्यफलोपकार्यङ्गयुक्तेन च श्रवणाख्यवेदान्तवाक्य-

सात्त्विक त्याग का पहिले सत्त्वशुद्धिद्वारा ज्ञाननिष्ठा लक्षण फल कहते हैं—जो त्यागी सात्त्विक त्याग से युक्त प्राक् कथित के अनुसार कर्तृत्वाभिमान और फल का त्याग कर अन्तःकरणशुद्धि के लिए विहित कर्म का अनुष्ठान करता है वह सत्त्वसमाविष्ट होता है। सत्त्वसमाविष्ट के अर्थ को स्फुट करते हैं—प्रकृत में आत्मानात्मविवेक ज्ञान का हेतु सत्त्वशब्दार्थ है वह सत्त्व चित्त में है, क्योंकि चित्त त्रिगुणात्मक है सम्यग्ज्ञानप्रतिबन्धक रजस्तमोमलराहित्य है जो 'स' शब्द से विवक्षित है। 'आ' का अर्थ है—फलाव्यभिचार (अवश्य फल होना) अप्रतिबद्ध आत्मतत्त्वज्ञान हेतु से विशिष्ट होता है यह निष्कृष्टार्थ है। भगवदर्पितनिष्काम कर्मानुष्ठान से पापरूपी मल का अपकर्ष (अपचय) इससे तथा ज्ञानोत्पत्तियोग्यतारूप पूर्णगुणाधानरूप संस्कार से संस्कृत अन्तःकरण जब होता है यह अर्थ हैं तब धारणावती बुद्धि होती है। 'धीर्धारणावती मेधा' यह अमरकोष है। शम दम सर्वकर्मोपरम गुरुगृहगमनादि सामवायिकाङ्गयुक्त मनन निदिध्यासनरूप फलोपकारी अङ्गयुक्त श्रवणाख्य

विचारेण परिनिष्पन्नं वेदान्तमहावाक्यकरणकं निरस्तसमस्तप्रामाण्याशङ्कं चिदन्याविषयकम् अहं ब्रह्माऽस्मि' इति ब्रह्मात्मैक्यज्ञानमेव मेधा तथा नित्यं युक्तो मेधावी स्थितप्रज्ञो भवति तदा छिन्नसंशयोऽहं ब्रह्मास्मीतिविद्यारूपया मेधया तद्विद्योच्छेदे तत्कार्यसंशयविपर्ययशून्यो भवति । तदा च क्षीण-कर्मत्वान्न द्वेष्टयकुशलं कर्माशोभनं काम्यं निषिद्धं वा कर्म न प्रतिकूलतया मन्यते, कुशले शोभने नित्ये कर्मणि नानुषज्जते न प्रीतिं करोति कर्तृत्वाद्य-भिमानरहितत्वेन कृतकृत्यत्वात् । तथा च श्रुतिः--

वेदान्त विचार से समुत्पन्न वेदान्तमहावाक्यकरणक निवृत्तसर्वाप्रामाण्यशंक चिदन्याविषयक 'मैं ब्रह्म हूँ' इत्याकारक ब्रह्मात्म्यैक्यज्ञान ही मेधा है, सारांश यह है कि कर्तृत्वाभिमान फलेच्छा का त्याग कर भगवदर्पणबुद्धि से कर्मी कर्म करे तद्द्वारा अन्तःकरण परिशुद्ध होता है। अन्तःकरण त्रिगुणात्मक है रजस्तमतत्त्वज्ञानोत्पत्ति में प्रतिबन्धक है, इनकी निवृत्ति से सत्त्वशुद्ध होता है उसका समुद्रेक मेधा है। उसकी उत्पत्ति के साधन तथा प्रतिबन्धक के निवा-रणका निर्देश करते हैं—शमादि पूर्वोक्त सामवायिक साधन है, मननादि सहकारि कारण हैं, श्रवण केवल श्रुतिवाक्य का सुनना ही नहीं किन्तु यहाँ विचार अर्थ है इससे निष्पन्न 'तत्त्वमसि' यह वेदान्त महावाक्य है, यह है करण जिसका। उक्तवाक्य से वक्ष्यमाण ज्ञान होता है, वेद अपौरुषेय होने से तद्वाक्यज्ञान में अप्राण्य की शङ्का नहीं होती। भ्रमप्रमादादि दोष पौरुषेय वाक्य में होते हैं अतः उसमें अप्रामाण्य की शंका होती है, वैदिक वाक्य में नहीं चित् तदन्य जड़वर्ग वह न हो विषय अर्थात् केवल ब्रह्ममात्रविषयक ज्ञान मेधा है इससे नित्ययुक्त नित्ययोग में मत्वर्थ 'अस्मायामेधास्रजो विनिः' इस सूत्र से 'मेधा अस्ति अस्य इति' मेधावी यह सिद्ध होता है। मेधावी स्थितप्रज्ञ होता है तब निवृत्तसंशय होता है 'अहं ब्रह्मास्मि' (मैं ब्रह्म हूँ) इस विद्यारूपी मेधा से उसकी अविद्या का नाश होने पर अविद्या के कार्य जो संशय विपर्यय यह उससे रहित होता है, तब क्षीण कर्म होने से अकुशलकर्मों से द्वेष नहीं करता अर्थात् काम्य निषिद्ध कर्मों को प्रतिकूल नहीं मानता। कुशल नित्यकर्म में अनुरागी नहीं होता (प्रीति नहीं करता) क्योंकि कर्तृत्वाभिमान की निवृत्त से कृतकृत्य है, तथा

न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ॥११॥

क्योंकि देहधारी पुरुषके द्वारा संपूर्णतासे सब कर्म त्यागे जानेको शक्य नहीं हैं, इससे जो पुरुष कर्मोंके फलका त्यागी है, वह ही त्यागी है, ऐसे कहा जाता है ॥११॥

"भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥" इति

यस्मादेवं सात्त्विकस्य त्यागस्य फलं तस्मान्महताऽपि प्रयत्नेन स एवोपादेय इत्यर्थः ॥१०॥

म० टी०—तदेवमात्मज्ञानवतः सर्वकर्मत्यागः संभाव्यते कर्मप्रवृत्तिहेत्वो रागद्वेषयोरभावादित्युक्तम्। संप्रत्यज्ञस्य कर्मत्यागासंभवे हेतुरुच्यते—न हीत्यादिना। मनुष्योऽहं ब्राह्मणोऽहं गृहस्थोऽहमित्याद्यभिमानेनाबाधितेन देहं कर्माधिकारहेतुवर्णाश्रमादिरूपं कर्तृभोक्तृत्वाद्याश्रयं स्थूलसूक्ष्मशरीरेन्द्रियसंघातं बिभर्ति अनाद्यविद्यावासनावशाद्व्यवहारयोग्यत्वेन कल्पितमसत्यमपि सत्यतया स्वभिन्नमपि स्वभिन्नतया पश्यन् धारयति पोषयति चेति

च श्रुतिः—'भिद्यते हृदयग्रन्थिः' इत्यादि ऊपर देखिये। जिसका कारण सात्त्विक त्याग का ऐसा फल है तस्मात् बड़े परिश्रम से वही कर्तव्य है यह अर्थ है ॥ १० ॥

इस प्रकार आत्मज्ञानी में ही सब कर्मों के त्याग की संभावना है क्योंकि कर्म प्रवृत्ति के कारण जो रागद्वेष है इनका अभाव है यह कहा है अब अज्ञानी में सब कर्मों के त्याग का संभव नहीं इसमें हेतु कहते हैं—मैं मनुष्य हूँ, मैं ब्राह्मण हूँ, मैं दरिद्र हूँ, मैं गृहस्थ हूँ इस निर्बाध अभिमान से देह को ही आत्मा समझनेवाला देहाभिमानी सब कर्मों का त्याग नहीं कर सकता। देहात्माभिमान को स्पष्ट करते हैं—वर्णाश्रमादि से। 'अहं ब्राह्मणः' से वर्णाध्यास, 'अहं गृहस्थः' से आश्रमाध्यास, 'अहं मनुष्यः कर्ता भोक्ता' इत्यादि से कर्माधिकार हेतुभूत स्थूल सूक्ष्म शरीरेन्द्रियसमुदाय के धारण करनेवाला स्वात्मतया मानने अबाधित कर्माधिकारहेतु देहाभिमान है इससे विवेकरहित देहधारी

अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम् ।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित् ॥१२॥

तथा सकामी पुरुषोंके कर्मका ही अच्छा, बुरा और मिला हुआ ऐसे तीन प्रकारका फल, मरनेके पश्चात् भी होता है और त्यागी पुरुषोंके कर्मोंके फल, किसी कालमें भी नहीं होता, क्योंकि उनके द्वारा होनेवाले कर्म नहीं हैं ॥ १२ ॥

देहभृद्बाधितकर्माधिकारहेतुदेहाभिमानस्तेन विवेकज्ञानशून्येन देहभृता कर्मप्रवृत्तिहेतुरागद्वेषपौष्कल्येन सततं कर्मसु प्रवर्तमानेन कर्माण्यशेषतो निःशेषेण त्यक्तुं हि यस्मान्न शक्यं न शक्यानि सत्यां कारणसामग्र्यां कार्यत्यागस्याशक्यत्वात्। तस्माद्यस्त्वज्ञोऽधिकारी सत्त्वशुद्ध्यर्थं कर्माणि कुर्वन्नपि भगवदनुकम्पया तत्फलत्यागी । 'तु' शब्दस्तस्य दुर्लभत्वद्योतनार्थः । स त्यागीत्यभिधीयते, गौण्या वृत्त्या स्तुत्यर्थमत्याग्यपि सन् । अशेषकर्मसंन्यासस्तु परमार्थदर्शिनैव देहभृता शक्यते कर्तुमिति स मुख्यया वृत्त्या त्यागीत्यभिप्रायः ॥ ११ ॥

म० टी०—ननु देहभृतः परमात्मज्ञानशून्यस्य कर्मिणोऽपि कर्मफलाभिसंधित्यागित्वेन गौणसंन्यासिनः परमात्मज्ञानवतो देहाभिमानरहितस्य

कर्मप्रवृत्ति हेतु रागद्वेष पूर्ण सामग्री रहने से सदा कर्म में प्रवर्तमान सब कर्मों का त्याग नहीं कर सकता, कारण सामग्री रहने पर कार्यत्याग का सम्भव नहीं अतः जो अज्ञ अधिकारी सत्त्वशुद्धि के लिये कर्मों को करता हुआ भी भगवान् की दया से कर्मफलत्यागी है। 'तु' शब्द से ऐसा पुरुष दुर्लभ है एतत्सूचनार्थ है। गौणीवृत्ति लक्षण से वह त्यागी कहा जाता है स्तुति के लिये अत्यागी भी त्यागी कहा गया है। संपूर्ण कर्मों का त्याग तो तत्त्वज्ञानी देही ही कर सकता है अतः वही मुख्यवृत्ति शक्ति से त्यागी कहा जाता है यह अभिप्राय है ॥ ११ ॥

प्रश्न—आत्मज्ञानरहित देही भी कर्मी कर्मफलेच्छात्यागित्व से गौण संन्यासी से तत्त्वज्ञानी देहाभिमानरहित अतएव सब कर्मों का त्यागी मुख्य

सर्वकर्मत्यागिनो मुख्यसंन्यासिनश्च कः फले विशेषो यदलाभेन गौणत्वमेकस्य, यल्लाभेन च मुख्यत्वमन्यस्य, कर्मफलत्यागित्वं तु द्वयोरपि तुल्यमित्यन्यो विशेषो वाच्यः। उच्यते—**अनिष्ट**मिति। अत्यागिनां कर्मफलत्यागित्वेऽपि कर्मानुष्ठायिनामज्ञानां गौणसंन्यासिनां प्रेत्य विविदिषापर्यन्तसत्त्वशुद्धेः प्रागेव मृतानां पूर्वकृतस्य कर्मणः फलं शरीरग्रहणं भवति मायामयं फल्गुतया लयमदर्शनं गच्छतीति निरुक्तेः। कर्मण इति जात्यभिप्रायमेकवचनमेकस्य त्रिविधफलत्वानुपपत्तेः। तच्च फलं कर्मणस्त्रिविधत्वात्त्रिविधं पापस्यानिष्टं प्रतिकूलवेदनीयं नारकतिर्यगादिलक्षणम्, पुण्यस्येष्टमनुकूलवेदनीयं देवादिलक्षणम्, मिश्रस्य तु पापपुण्ययुगलस्य मिश्रमिष्टानिष्टसंयुक्तं मानुष्यलक्षणमित्येवं त्रिविधमित्यनुवादो हेयत्वार्थः। एवं गौणसंन्यासिनां

संन्यासी के फल में क्या विशेष है जिसके अलाभ से एक में गौणत्व तथा जिसके लाभ से दूसरे में मुख्यत्व है, कर्मफल त्यागित्व तो दोनों में समान ही अतः दूसराही कोई विशेष कहना चाहिये ?

उत्तर—उच्यते से कहते हैं—अत्यागियों में कर्म फलत्यागी होने पर भी कर्मानुष्ठानी असत्वज्ञानरहित विविदिषापर्यन्त अन्तःकरण शुद्धि से पूर्व मरनेबालों का प्रथम किये कर्म का फल देहग्रहण होता है। माया मय फल्गु असार 'असारं फल्गु' यह अमर है।

'फल्गुः काकोदुंवरिके वृक्षे निरर्थकेऽपि च।'

यह हैम कोष है 'फल्वसारेऽभिधेयवत्' यह विश्व कोष है। माया मय से देह में असारत्व स्फुट ही है, 'लयं दर्शनाभावं गच्छति' यह निर्वचन है। 'कर्मणः' यहाँ एकवचन जात्यभिप्रायक है व्यक्त्यभिप्रायक नहीं। 'जात्याख्यायामेकस्मिन् वहुबचनमन्यतरस्याम्' इस सूत्रसे बहुव्यक्तिका बोधन एकवचनान्तसे भी जातितात्पर्यसे होता है, क्योंकि एक कर्ममें त्रिविधफल नहीं हो सकता वह फल कर्मके त्रिविध होनेसे फल भी त्रिविध होता है। पापका अनीप्सित प्रतिकूल वेदनीय नारकतिर्यगादिलक्षण पुण्यका ईप्सित अनुकूलवेदनीय हितकर प्रतीयमान देवादिलक्षण मिलितका पुण्यपाप दोनोंका ईप्सितानीप्सित मिलित मनुष्यलक्षण, इस प्रकार त्रिविध फल है यह त्यागार्थ अनुवाद है। इस प्रकार गौण संन्यासियोंका

शरीरपातादूर्ध्वं शरीरान्तरग्रहणमावश्यकमित्युक्त्वा मुख्यसंन्यासिनां परमात्मसाक्षात्कारेणाविद्यातत्कार्यनिवृत्तौ विदेहकैवल्यमेवेत्याह–'**न तु संन्यासिनां क्वचिदिति**'। परमात्मज्ञानवतां मुख्यसंन्यासिनां परमहंसपरिव्राजकानां प्रेत्य कर्मणः फलं शरीरग्रहणमनिष्टमिष्टं मिश्रं च कचिद्देशे काले वा न भवत्येवेत्यवधारणार्थस्तुशब्दः, ज्ञानेनाज्ञानस्योच्छेदे तत्कार्याणां कर्मणामुच्छिन्नत्वात्। तथा च श्रुतिः—

"भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥" इति।

पारमर्षं च सूत्रम्—"तदधिगम उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशात्" इति परमात्मज्ञानादशेषकर्मक्षयं दर्शयति। तेन गौणसंन्यासिनां पुनः संसारो मुख्यसंन्यासिनां तु मोक्ष इति फले विशेष उक्तः। अत्र कश्चिदाह—

"अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च"..............

देहत्यागके अनन्तर दूसरी देहका ग्रहण आवश्यक यह कहकर मुख्य संन्यासियोंको ब्रह्मसाक्षात्कारसे अविद्याकी निवृत्ति होनेपर विदेह (कैवल्य) मोक्ष ही होता है यह कहते हैं—'न तु संन्यासिनां क्वचित्' इस गीता वाक्यसे। ब्रह्मसाक्षात्कारवान् मुख्य संन्यासी परमहंस परिव्राजकोंको मृत्युके बाद कर्मका फल शरीर ग्रहण अनिष्ट इष्ट तदुभयात्मक किसी देशकालमें नहीं होता। अवधारणार्थ 'तु' शब्द है। ज्ञानसे अज्ञानका नाश होने पर तत्कार्य कर्मादिका विनाश हो जाता है ऐसी ही श्रुति है–'भिद्यते' इत्यादि मूल देखिये। श्री वेदव्यासजीका सूत्र है–'तदधिगम उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशात्' इति। ब्रह्मसाक्षात्कारसे सम्पूर्ण कर्मोंका क्षय दिखलाते हैं, इससे स्पष्ट है कि गौणसंन्यासियोंको फिर संसार होता है मुख्य संन्यासियोंको तो मोक्ष होता है यह दोनोंके फलमें विशेष कहा है। यहाँ पर कोई कहते हैं कि—

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स सन्यासी च......................

इत्यादौ कर्मफलत्यागिषु संन्यासिशब्दप्रयोगात् कर्मिण एवात्र फलत्यागसाम्यात् सन्यासिशब्देन गृह्यन्ते। तेषां च सात्त्विकानां नित्यकर्मानुष्ठानेन निषिद्धकर्मानुष्ठानेन च पापासंभवान्नानिष्टं फलं संभवति नापीष्टं काम्याननुष्ठानात् ईश्वरार्पणेन फलस्य त्यक्तत्वाच्च। अत एव मिश्रमपि नेति त्रिविधकर्मफलासंभवः। अत एवोक्तम्—

"मोक्षार्थी न प्रवर्तेत तत्र काम्यनिषिद्धयोः।
नित्यनैमित्तिके कुर्यात् प्रत्यवायजिहासया॥" इति।

स वक्तव्यः शब्दस्यार्थस्य च मर्यादा न निरधारि भवतेति। तथाहि—"गौणमुख्ययोर्मुख्ये कार्यसंप्रत्ययः" इति शब्दमर्यादा। यथा "अमावास्यायामपराह्णे पिण्डपितृयज्ञेन चरन्ति" इत्यत्रामावास्याशब्दः काले मुख्यः, तत्कालोत्पन्ने कर्मणि च गौणः "य एवं विद्वानमावास्यायाम्" इत्यादौ। तत्रामावास्यायामिति कर्मग्रहणे पितृयज्ञस्य तदङ्गत्वान्न फलं कल्पनीयमिति

इत्यादिमें कर्मफलत्यागीमें संन्यासपद प्रयोगसे कर्मोंका ही फलत्यागसादृश्यसे संन्यासिशब्दसे ग्रहण होता है। उन सात्त्विकोंका नित्यकर्मके करनेसे निषिद्धकर्मके न करनेसे पाप होता नहीं अतः उनको अनिष्ट फलका सम्भव नहीं। काम्यकर्म न करनेसे इष्टफल भी नहीं होता, ईश्वरमें अर्पण करनेसे फलका त्याग ही कर चुके हैं अतएव मिश्र भी नहीं होता, इस प्रकार तीनों प्रकारके फलोंका सम्भव नहीं। अतएव कहा है—

'मोक्षार्थी न प्रवर्तेत तत्र काम्यनिषिद्धयोः।
नित्यनैमित्तिके कुर्यात प्रत्यवायजिहासया॥' इति।

उनसे यही कहना है कि शब्द तथा अर्थकी मर्यादाका अपने निश्चय नहीं किया। तथाहिसे निर्धारणाभावको स्पष्ट करते हैं—'गौण मुख्ययोर्मुख्ये कार्यसम्प्रत्ययः' वह शब्दकी मर्यादा है, जैसे 'अमावास्यायामपराह्णे पिण्डपितृयज्ञेन चरन्ति' यहाँपर अभावशब्दकालमें मुख्य है, तत्कालोत्पन्न कर्ममें गौण है। 'य एवं विद्वान् अमावास्यायां यजते' इत्यादि प्रथमवाक्यमें अमावास्यासे यदि कर्मका ग्रहण होगा तो पितृयज्ञ तदङ्ग होनेसे फलकी कल्पना न होगी।

विधेर्लाघवमिति पूर्वपक्षितं कात्यायनेन--"अङ्गं वा समभिव्याहारात्" इति। गौणार्थस्य मुख्यार्थोपस्थितिपूर्वकत्वान्मुख्यार्थस्य चेहाबाधादमावास्याशब्देन काल एव गृह्यते। फलकल्पनागौरवं तूत्तरकालीनं प्रमाणवत्त्वादङ्गीकार्यमिति सिद्धान्तितं जैमिनिना--"पितृयज्ञः स्वकालत्वादनङ्गं स्यात्" इति। एवं स्थिते संन्यासिशब्दस्य सर्वकर्मत्यागिनि मुख्यत्वात् कर्मिणि च फलत्यागसाम्येन गौणत्वान्मुख्यार्थस्य चेहाबाधात्तस्यैव संन्यासिशब्देन ग्रहणमिति शब्दमर्यादया सिद्धम्। सत्यां कारणसामग्र्यां कार्योत्पाद इति चार्थमर्यादा। तथाहि--ईश्वरार्पणेन त्यक्तकर्मफलस्यापि सत्त्वशुद्ध्यर्थं नित्यानि कर्माण्यनुतिष्ठतोऽन्तराले मृतस्य प्रागर्जितैः कर्मभिस्त्रिविधं शरीरग्रहणं केन वार्यते "यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वाऽस्माल्लोकात्प्रैति स कृपणः" इति श्रुतेः। अन्ततः सत्त्वशुद्धिफलज्ञानोत्पत्त्यर्थं तदधिकारिशरीरमपि

इस प्रकार विधिमें लाघव है यह कात्यायनने पूर्वपक्ष किया--'अङ्गं वा समभिव्याहारात्'। गौण अर्थका बोध मुख्यार्थबोधपूर्वक होता है, कारण मुख्यार्थबोधमें अर्थानुपपत्ति अथवा तात्पर्यकी अनुपपत्ति होनेपर मुख्यार्थका त्याग कर गौणार्थका ग्रहण किया जाता है। यहाँपर मुख्य अर्थका बाध नहीं अतः अमावास्या शब्दसे काल ही का ग्रहण होता है फलकल्पनारूप गौरव उत्तरकालिक है, प्रमाणसिद्ध होनेसे अङ्गीकाराई है यह जैमिनिमुनिने सिद्धान्त किया--'पितृयज्ञः स्वभावत्वादनङ्गं स्यात्' इति। ऐसी स्थितिमें संन्यासिशब्दक सर्वकर्मत्यागीमें मुख्य है कर्मीमें फलत्याग सामान्यसे गौण है मुख्यार्थका यहाँ बाध नहीं इस हेतुसे उसीका संन्यासिशब्दसे ग्रहण होता है यह शब्दमर्यादासे सिद्ध हुआ। कारण सामग्री रहनेपर कार्यकी उत्पत्ति अवश्य होती है यह अर्थमर्यादा है। तथाहिसे अर्थमर्यादाको स्फुट करते हैं--जो ईश्वरार्पणबुद्धिसे सब कर्मोंके फलोंका त्याग कर सत्त्वशुद्धि के लिये नित्यकर्म करता है वह यदि बीचहीमें अन्तःकरणशुद्धि होनेसे पूर्व मर जाय तो पूर्वकृत कर्मोंसे तीन प्रकारके शरीरको धारण करनेसे कौन रोक सकता है? 'यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वा अस्माल्लोकात्प्रैति स कृपणः' यह श्रुति है। आखिर सत्त्वशुद्धिफलज्ञानोत्पत्तिके लिये तदधिकारी शरीर भी उसको

तस्याऽऽवश्यकमेव । अत एव विविदिषासंन्यासिनः श्रवणादिकं कुर्वतोऽन्तराले मृतस्य योगभ्रष्टशब्दवाच्यस्य,

"शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते"

इत्यादिना ज्ञानाधिकारिशरीरप्राप्तिरवश्यंभाविनीति निर्णीतम् षष्ठे—'यत्र सर्वकर्मत्यागिनोऽप्यज्ञस्य शरीरग्रहणमावश्यकं तत्र किं वक्तव्यमज्ञस्य कर्मिणः' इति । तस्मादज्ञस्यावश्यं शरीरग्रहणमित्यर्थमर्यादया सिद्धं पराक्रान्तं चैकभविकपक्षनिराकरणे सूरिभिः । तस्माद्यथोक्तं भगवत्पूज्यपादभाष्यकृतं व्याख्यानमेव ज्यायः । तदयमत्र निष्कर्षः—अकर्त्रभोक्तृपरमानन्दाद्वितीयसत्यस्वप्रकाशब्रह्मात्मसाक्षात्कारेण निर्विकल्पेन वेदान्तवाक्यजन्येन विचारनिश्चितप्रामाण्येन सर्वप्रकाराप्रामाण्यशङ्काशून्येन ब्रह्मात्मज्ञानेनाऽऽत्मज्ञाननिवृत्तौ तत्कार्यकर्तृत्वाद्यभिमानरहितः परमार्थसंन्यासी सर्वकर्मोच्छेदाच्छुद्धः केवलः सन्नविद्याकर्मादिनिमित्तं पुनःशरीरग्रहणमनुभवति सर्वभ्रमाणां कारणो-

---

आवश्यक है अतएव विविदिषा सन्यासी श्रवणादि करता हुआ बीच ही मरता है तो वह योगभ्रष्ट कहा जाता है उसको ज्ञानाधिकारी शरीरप्राप्ति अवश्य होती है यह—

'शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ।'

इत्यादि वाक्यसे निश्चित कया गया है। छठे अध्यायमें यह स्पष्ट है—जहाँ सब कर्मत्यागी अज्ञका शरीरसंसर्ग आवश्यक है वहाँ क्या कहना है अज्ञकर्मीका उसको तो शरीरी होना होगा। तस्मादज्ञशरीरीको देहग्रहण करना आवश्यक है यह अर्थमर्यादासे सिद्ध है। ऐकभविक एक ही जन्मका कर्म एक जन्ममें भोगा जाता है जन्मान्तरके कर्मोंका जन्मान्तरमें भोग नहीं होता इसके खण्डनमें विद्वानोंने कड़ा परिश्रम किया है। तस्मात्से उपसंहार करते हैं—जैसा श्रीमद्भगवत्पूज्यपाद भाष्यकार श्री शङ्कराचार्यने व्याख्यान किया है वही उत्तम है। यहाँ यह निचोड़ अर्थ है कि निर्विकल्प अखण्ड वेदान्तवाक्यविचार सिद्धप्रामाण्यक सर्वप्रकारके अप्रामाण्य शंकाओंसे रहित ब्रह्मात्मज्ञानसे अज्ञानकी निवृत्ति होनेपर तत्कार्यकर्तृत्वाद्यभिमानरहित परमार्थ संन्यासी सब कर्मोंके विनाशसे शुद्ध केवल आविद्याकार्यादि निमित्तक पुनः शरीरी नहीं होता। सब भ्रमोंकी कारण निवृत्तिसे निवृत्ति

च्छेदेनोच्छेदात्। यस्त्वविद्यावान् कर्तृत्वाद्यभिमानी देहभृत् स त्रिविधो रागादिदोषप्राबल्यात्काम्यनिषिद्धादियथेष्टकर्मानुष्ठायी मोक्षशास्त्रानधिकार्येकः। अपरस्तु यः प्राक्कृतसुकृतवशात्किञ्चित्प्रक्षीणरागादिदोषः सर्वाणि कर्माणि त्यक्तुमशक्नुवन्निषिद्धानि काम्यानि च परित्यज्य नित्यानि नैमित्तिकानि च कर्माणि फलाभिसंधित्यागेन सत्त्वशुद्ध्यर्थमनुतिष्ठन् गौणसंन्यासी मोक्षशास्त्राधिकारी द्वितीयः सः। ततो नित्यनैमित्तककर्मानुष्ठानेनान्तःकरणशुद्ध्या समुपजातविविदिषः श्रवणादिना वेदनं मोक्षसाधनं संपिपादयिषुः सर्वाणि कर्माणि विधितः परित्यज्य ब्रह्मनिष्ठं गुरुमुपसर्पति। विविदिषासंन्यासिसमाख्यस्तृतीयः। तत्राऽऽद्यस्य संसारित्वं सर्वप्रसिद्धम्, द्वितीयस्य त्वनिष्टमित्यादिना व्याख्यातम्, तृतीयस्य तु 'अयतिः श्रद्धयोपेत' इति प्रश्नमुत्थाप्य निर्णीतं षष्ठे। अज्ञस्य संसारित्वं ध्रुवं कारणसामग्र्याः सत्त्वात्, तत्तु कस्यचिज्ज्ञानाननुगुणं कस्यचिज्ज्ञानानुगुणमिति विशेषः। विज्ञस्य तु संसारकारणाभावात् स्वत एव कैवल्यमिति द्वौ पदार्थौ सूत्रितावस्मिन् श्लोके ॥ १२ ॥

हो जाती है। जो अविद्वान् कर्माभिमानी देहधारी है वह तीन प्रकारका है—रागद्वेष मोहात्मक दोषकी प्रधानता से काम्यनिषिद्धादि मनीषित कर्मोंका अनुष्ठाता मोक्ष शास्त्रज्ञानका अधिकारी एक है, दूसरा पूर्वपुण्यसुपरिपाकसे रागादि दोष कुछ नष्ट हो गये हैं जिसके वह सब कर्मोंके त्यागमें असमर्थ, निषिद्ध और काम्यकर्मोंका परित्याग कर अन्तःकरणशुद्धिके लिये फलेच्छारहित नित्यनैमित्तिक कर्मोंको करता हुआ गौणसन्यासी मोक्षशास्त्रका अधिकारी दूसरा है। नित्यनैमित्तिककर्मानुष्ठानसे अन्तःकरणशुद्धि इससे विविदिषाकी उत्पत्ति ततः श्रवणादिसे वेदन मोक्षहेतुका सम्पादन करनेकी इच्छासे युक्त सब कर्मोंका विधिसे परित्याग कर ब्रह्मनिष्ठगुरुके समीप जाता है यह विविदिषा सन्यासी नामका तीसरा है। इनमें प्रथममें सांसारित्व सर्वजन प्रसिद्ध है। द्वितीयमें 'अनिष्टमिष्टम्' इत्यादिके संसारित्वका व्याख्यान हो चुका है। 'तृतीय अयतिः श्रद्धयोपेतः' इत्यादिसे प्रश्न उठाकर छठे अध्याय में निर्णय किया है। अज्ञ में संसारित्व निश्चित है क्योंकि कारण सामग्री है वह संसारित्व किसी में ज्ञान के अनुकूल है किसी में ज्ञान प्रतिकूल है यह विशेष है। विद्वान् में संसारकारणों के अभाव से स्वतः कैवल्य है इस प्रकार दो पदार्थ यहाँ संक्षेप से कहे गये हैं इस श्लोक में ॥१२॥

पञ्चैतानि महाबाहो ! कारणानि निबोध मे ।
सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम् ॥१३॥

और हे महाबाहो ! संपूर्ण कर्मोंकी सिद्धिके लिये अर्थात् संपूर्ण कर्मोंके सिद्धि होनेमें यह पाँच हेतु सांख्य सिद्धान्तमें कहे गये हैं उनको तूँ मेरेसे भली प्रकार जानो ॥ १३ ॥

म० टी०—तत्राऽऽत्मज्ञानरहितस्य संसारित्वे हेतुः कर्मत्यागासंभव उक्तः—

"नहि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः ।" इति

तत्राज्ञस्य कर्मत्यागसंभवे को हेतुः कर्महेतावधिष्ठानादिपञ्चके तादात्म्याभिमान इतीममर्थं चतुर्भिः श्लोकैः प्रपञ्चयति । तत्र प्रथमेनाधिष्ठानादीनि पञ्च वेदान्तप्रमाणमूलानिहेयत्वार्थमवश्यं ज्ञातव्यानीत्याह—पञ्चैतानीति । इमानि वक्ष्यमाणानि पञ्च सर्वकर्मणां सिद्धये निष्पत्तये कारणानि निर्वर्तकानि, हे महाबाहो! मे मम परमाप्तस्य सर्वज्ञस्य च वचनान्निबोध बोद्धुं सावधानो भव । न ह्यत्यन्तदुर्ज्ञानान्येतान्यनवहितचेतसा शक्यन्ते ज्ञातुमिति चेतःसमाधानविधानेन तानि स्तौति । महाबाहुत्वेन च सत्पुरुष एव शक्तो ज्ञातुमिति सूचयति स्तुत्यर्थमेव । किमेतान्यप्रमाणकान्येव तव वचनाज्ज्ञेयानि नेत्याह—सांख्ये

आत्मज्ञान रहित के संसारित्व में हेतु कर्मत्याग का असम्भव हेतु कहा है—'नहि देहभृता' इत्यादि से । अज्ञ के कर्म त्यागासंभव में क्या हेतु है ? कार्य कारण अधिष्ठानादिपञ्चक में तादात्म्याभिमान, यह अर्थ चार श्लोकों से विस्तार पूर्वक कहते हैं । उनमें प्रथम श्लोक से अधिष्ठानादि पाँच वेदान्त वाक्य प्रमाणैकगम्य आत्मा में अहेयत्वार्थ अवश्य ज्ञातव्य है यह कहते हैं—वक्ष्यमाण में सब कर्मों की उत्पत्ति में कारण, हे महावाहो ! सर्वज्ञ सच्चे मेरे वचन से जानने के लिये सावधान हो, क्योंकि अत्यन्त दुर्बोधमें ये पाँचो एकाग्र चित्त के बिना जानने के शक्य नहीं । चित्तसमाधि के विधान से उन पाँचो की स्तुति करते हैं । महाबाहो ! संबोधन से सत्पुरुष ही उनको जान सकता है दूसरा नहीं । स्तुत्यर्थ ही इसको भी सूचन करते हैं, क्या ये अन्य प्रमाणों से सिद्ध नहीं है ? केवल आप के वचन से ही जाने जा सकते हैं, अन्यथा नहीं ऐसा नहीं यह कहते हैं—सांख्यशास्त्र में कहे गये हैं मोक्षप्राप्ति के लिए और सब अनर्थों की

कृतान्ते प्रोक्तानि, निरतिशयपुरुषार्थप्राप्त्यर्थं सर्वानर्थनिवृत्त्यर्थं च ज्ञातव्यानि जीवो ब्रह्म तयोरैक्यं तद्बोधोपयोगिनश्च श्रवणादयः पदार्थाः संख्यायन्ते व्युत्पाद्यन्तेऽस्मिन्निति सांख्यं वेदान्तशास्त्रं तस्मिन्नात्मवस्तुमात्रप्रतिपादके किमर्थमनात्मभूतान्यवस्तूनि लोकसिद्धानि च कर्मकारणानि पञ्च प्रतिपाद्यन्त इत्यतः शास्त्रविशेषणं **कृतान्त** इति। कृतमिति कर्मोच्यते तस्यान्तः परिसमाप्तिस्तत्त्वज्ञानोत्पत्त्या यत्र तस्मिन् कृतान्ते शास्त्रे प्रोक्तानि प्रसिद्धान्येवं लोकेऽनात्मभूतान्येवाऽऽत्मतया मिथ्याज्ञानारोपेण गृहीतान्यात्मतत्त्वज्ञानेन बाधसिद्धये हेयत्वेनोक्तानि। यदा ह्यन्यधर्म एव कर्माऽऽत्मन्यविद्ययाऽध्यारोपितमित्युच्यते तदा शुद्धात्मज्ञानेन तद्बाधात् कर्मणोऽन्तः कृतो भवति। अत आत्मनः कर्मसंबन्धप्रतिपादनायानात्मभूतान्येव पञ्च कर्मकारणानि वेदान्तशास्त्रे मायाकल्पितान्यनूदितानीति नाद्वैतात्ममात्रतात्पर्यहानिस्तेषां तदङ्गत्वेनैवेतरत्र प्रतिपादनात्। इहापि च सर्वकर्मान्तत्वं ज्ञानस्य प्रतिपादितम्—

"सर्वं कर्माखिलं पार्थ! ज्ञाने परिसमाप्यते" इति।

तस्माज्ज्ञानशास्त्रस्य कर्मान्तत्वमुपपन्नम् ॥ १३ ॥

निवृत्ति के लिये अवश्य ज्ञातव्य है जीव ब्रह्म ये दोनों एक हैं इस बोधके उपयोगी श्रवण मननादि पदार्थ कहे जाते हैं जिसमें, इस व्युत्पत्ति से सांख्यशास्त्र यहाँ वेदान्तपरक है आत्मवस्तुमात्र प्रतिपादनपरक इस अध्यात्मशास्त्र में लोकसिद्ध अनात्मवस्तु इन पाचों कर्म कारण का प्रतिपादन करते हैं। इस से शास्त्र में विशेषण हैं—कृतान्ते इति। कृतसे कर्म कहा गया है उसका अन्त समाप्ति तत्त्वज्ञानोत्पत्ति से, जिस कृतान्तशास्त्रमें कहे गये हैं, लोकमें प्रसिद्ध ही अनात्मभूत ये मिथ्याज्ञानारोपसे आत्मत्वेन गृहीत है इनके बाधके लिये हेयत्वेन कहे गये हैं। जब अन्य धर्म ही कर्म आत्मामें अविद्यासे आरोपित कहा जाता है तब शुद्धात्मज्ञानसे उसके बाध होनेसे कर्मका अन्त किया जाता है, अतः आत्मामें कर्मसम्बन्ध बोधनके लिये अनात्मभूत ही पाँच कर्म कारण वेदान्तशास्त्रमें माया कल्पितका अनुवाद है, अतः अद्वैतात्ममात्रकी हानि उनमें नहीं है तदङ्गतया इतरका प्रतिपादन है प्रधान भावसे नहीं। यहाँ भी ज्ञानमें कर्मान्तत्वका प्रतिपादन किया है—सर्वं कर्मेत्यादि से। अतः ज्ञानशास्त्रमें कर्मान्तत्व युक्ति युक्त है ॥१३॥

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम् ।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं[1] चैवात्र पञ्चमम् ॥ १४ ॥

हे अर्जुन ! इस विषयमें आधार और कर्ता तथा पृथक् २ करण और नाना प्रकारकी पृथक् २ चेष्टा एवं वैसे ही पाचवाँ हेतु दैव कहा गया है ॥१४॥

म० टी०—प्रमाणमूलानि कर्मकारणानि पञ्चाऽऽत्मनोऽकर्तृत्वसिद्ध्यर्थं हेयत्वेन ज्ञातव्यानीत्युक्ते कानि तानीत्यपेक्षायां तत्स्वरूपमाह द्वितीयेन—**अधिष्ठानमि**त्यादिना । इच्छाद्वेषसुखदुःखचेतनाद्यभिव्यक्तेराश्रयोऽधिष्ठानमनात्मा भौतिकं मायाकल्पितं स्वाप्नगृहरथादिवत्तथा कर्ताऽहं करोमीत्याद्यभिमानवान् ज्ञानशक्तिप्रधानापञ्चीकृतपञ्चमहाभूतकार्योऽहङ्कारोऽन्तःकरणं बुद्धिर्विज्ञानमित्यादिपर्यायशब्दवाच्यस्तादात्म्याध्यासेनाऽऽत्मनि कर्तृत्वादिधर्माध्यारोपहेतुरनात्मभौतिको मायाकल्पितश्चेति तथाशब्दार्थः । स्थूलशरीरस्य लोकायतिकैरात्मत्वेन परिगृहीतस्याप्यन्यैः परीक्षकैरनात्मत्वेन निश्चयात्तद्दृष्टान्तेन तार्किकादिभिरात्मत्वेन परिगृहीतस्य कर्तुरप्यानात्मत्वनिश्चयः सुकर

प्रमाणमूलक कर्मकारण उक्त पाँचो आत्मामें कर्तृत्वाभाव सिद्धके लिये हेयत्वेन जानना चाहिये, ऐसा कहनेपर वे कौन हैं इस जिज्ञासासे उनका स्वरूप कहते हैं द्वितीय श्लोकसे—इच्छा द्वेष सुख दुःख चैतन्याभिव्यक्तिका आश्रय अधिकरण शरीर इसीमें इनकी अभिव्यक्ति होती है तथा कर्ता तथाधिष्ठान अनात्मा चिज्जड़ोभयात्मा अहङ्कारबुद्ध्यादि उपाधिका अनुविधायी अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्यात्मा जीव भौतिक मायाकल्पित स्वाप्नगृहरथादिके समान तथा कर्ता 'अहङ्करोमि' ऐसा अभिमानी ज्ञानशक्ति प्रधान अपञ्चीकृत पञ्चमहाभूत कार्य अहङ्कार अन्तःकरण बुद्धि विज्ञान इत्यादि पर्यायशब्द वाच्य तादात्म्याध्याससे आत्मा में कर्तृत्वादिधर्मारोपका हेतु आत्मभिन्न भौतिक मायाकल्पित यह तथा शब्दका अर्थ है। चार्वाक स्थूल शरीरको आत्मा मानते हैं परन्तु अन्य परीक्षक विद्वान् वह आत्मा नहीं है किन्तु तद्भिन्न है ऐसा ही निश्चय किये हैं इस दृष्टान्तसे नैयायिक जिस कर्ता भोक्ता ज्ञानादि गुणवान्को आत्मा मानते हैं वह अनात्मा है। आत्मा ऐसा निश्चय सुकर है, ऐसा कहनेमें कठिनाई नहीं कारण शब्दादि प्रत्यक्षहेतु

(१) श्री शङ्करभाष्य में दैवशब्द से चक्षुरादि इन्द्रियों के जो अधिष्ठात देव हैं उनका ग्रहण किया है और श्रीभाष्य में अन्तर्यामी परमात्मा का ग्रहण किया है इसमें प्रमाण गीतादि दिये

हैं। एवं इन कर्म समूहों में दैव अन्तर्यामी परमात्मा कर्म सिद्धि में प्रधान हेतु कहा है—

सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च' १५।१५ ।

आगे भी कहेंगे—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥' इति ।

परमात्माके अधीन जीव में कर्तृत्व है स्वतन्त्र नहीं यह **परात्तु तच्छ्रुतेः**२।३।४१। ब्रह्म-सूत्रके भाष्य में उपपादन किया है।

प्रश्न—यदि जीव परमात्मा से प्रेरित होकर ही कुछ भी कर सकता है स्वप्रवृत्ति में स्वतन्त्र नहीं तो विधिप्रतिषेधशास्त्र ही अनर्थक है, क्योंकि 'यह करो' 'यह मत करो' एतद्बोधकशास्त्र तब ही सार्थक हो सकते हैं जब जीव स्वप्रवृत्ति में स्वतन्त्र हो जीव का कर्तृत्व तो परमात्मा के अधीन है वह जो चाहेगा वही करावेगा फिर उक्त शास्त्र का क्या प्रयोजन ?

इसका उत्तर—**कृत प्रयत्नापेक्षस्तु विहितप्रतिषिद्धा वैयर्थ्यादिभ्यः**२।२।४१। इस ब्रह्मसूत्र में स्पष्ट है। भाव यह है कि परमात्मा से प्राप्त जो जीवाधार शरीर इन्द्रियादि और कार्योपयिक शक्ति उन से युक्त जीवात्मा शरीरादि और तदाहित शक्तिसंपन्न होकर कर्मसिद्धि के लिये स्वेच्छा से इन्द्रियादि अधिष्ठानाकार प्रयत्न करता है। शरीर के भीतर स्थित परमात्मा अपनी अनुमति देकर जीव को प्रवृत्त कराता है, जीव में स्वबुद्धि से ही प्रवृत्त हेतुता है। उभय हेतुत्व सिद्धि के लिये दृष्टान्त है कि जैसे अनेक पुरुषसाध्य बड़ा पत्थर की लट्ठा को उठाता है उसमें अनेकपुरुष साध्यत्व होने से तद्धेतुत्व अनेक पुरुषों में है और विधिप्रतिषेध शास्त्र भी सार्थक है, मन्दिर शिलानयनापहरणादि अनेकपुरुष साध्य होने पर भी विधि प्रतिषेध विषय है इसमें किसी की विप्रतिपत्ति नहीं वे० ता० चं०। दैव प्रधान निर्णय के लिये 'अत्र' यह अनुवाद हैं। 'अत्र' उक्त कर्म के हेतुओं में दैव अन्तर्यामी पाँचवाँ कारण है। यद्यपि इस क्रमनिर्देश में श्रुत्यादि प्रमाण नहीं है तथापि वाक्प्रवृत्ति क्रम से होती है यह स्वाभाविक है, पूरण निर्देश में कोई प्रयोजन नहीं है तो में **कठवल्ली**'इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्थाः' इसका उपक्रम कर, यथा—

पुरुषान्न परं किंचित् सा काष्ठा सा परा गतिः ।

इससे इन्द्रियादि समस्तप्रवृत्ति में प्रधान हेतु परमपुरुष का वशीकरण काष्ठात्वेन निर्देश है, तथा प्रकृति में भी सब कारणों में प्रधान कारण परमात्माको समझना।

प्रश्न—'दैवं दिष्टं भागधेयम्' इत्यादि अमर कोष से दैव शब्द पूर्वजन्मकृतभोगोपयिक कर्म का वाचक है और उसमें हेतुत्व भी युक्ति युक्त ही है फिर आप परमात्मा परक उक्त शब्द को कैसे कहते हैं ?

उत्तर—ठीक है पर यह विचारिये कि पूर्वजन्मकृत कर्म क्षणिक होने से स्वरूप से कारण नहीं हो सकता, क्योंकि कार्योत्पत्ति के पूर्व क्षण से वह रहता ही नहीं पूर्वक्षणवृत्तित्वात्मक ही कारणत्व है किन्तु कर्मजन्य अदृष्ट पुण्यपापपरमात्मा को कारण मानना पड़ेगा, पुण्य पाप परमात्मा का प्रियाप्रिय संकल्प हो है अतिरिक्त नहीं । अतएव—

'यत् त्वत्प्रियं तदिह पुण्यमपुण्यमन्यत् ।'

यह अभियुक्तोक्ति सङ्गत होती है, अतः वही दैवशब्द का अर्थ है यही मानना ठीक है । जैसे—

'सत्यं सत्यं पुनः सत्यमुद्धृत्य भुजमुच्यते ।
वेदशास्त्रात्परं नास्ति न दैवं केशवात्परम् ॥' इति । नृ० पु० १८।३३ ।

यहाँ दूसरा अर्थ हो ही नहीं सकता, **श्रीमद्रामायण** भी यही है —

'स्वाधीनं समतिक्रम्य मातरं पितरं गुरुम् ।
अस्वाधीनं कथं दैवं प्रकारैरभिराध्यते ॥' वा० रा० २ ।

महाभारतमें भी देखिये—

'श्रूयतां परमं दैवं दुर्विज्ञेयं मयाऽपि च ।
नारायणस्तु पुरुषो विश्वरूपो महाद्युतिः ॥' इति ।

तथा याज्ञवल्क्यप्रणीत **योग्यशास्त्र** में—

'आर्षं छन्दश्च मन्त्राणां दैव तं ब्राह्मणं तथा ॥' इति ।

यही उक्त शब्दार्थ है यही दैत्यसंमोहनार्थ प्रजापतिवाक्य के अनुवाद में—

'आत्मानं पूजयेन्नित्यं भूषणाच्छादनादिभिः ।
स्वदेह एव दैवं स्यात् अन्यद्दैवं न विद्यते ॥' इति ।

तथा—

'दैवाधीनं जगत्सर्वं मन्त्राधीनं च दैवतम् ।
तन्मन्त्रं ब्राह्मणाधीनं ते मद्विप्रा हि दैवतम् ॥' त्रि० सं०इति ।

गीता में भी—'साधिभूताधिदैवं मां' यह प्रस्तुत कर 'अधिदैवं किमुच्यते' इस प्रश्न के उत्तर में पुरुषश्चाधि दैवतम्' यह भगवान् स्वयं कहा है । छान्दोग्य में भी लिखा है—आदित्याख्यदैवतवर्तिन पुरुषस्याधिदैवतमिति नामोच्यते तस्योपनिषदमाहुः इत्यधिदैवतम् वृ० उ० ५।५।३ । तस्योपनिषद् ह वृ० उ० ५।५।४ । इत्यध्यात्मम् इति । इसी प्रकार अन्यत्र भी है । श्री शंकराचार्य ने भी यहाँ दैवशब्द से नेत्रादि का अनुग्राहक आदित्यादि देवता का ही व्याख्यान किया है । हम तो आदित्यादि का भी अनुग्राहक परमात्मा को ही दैव कहते हैं यही विशेष है अतः दैव शब्द यहाँ देवता पर्याय है वह सर्व प्रवृत्तकहेतुपरत्व से विशेष का भाव से प

देवता विषय उचित ही है अतः परमात्मा अन्तर्यामी कर्मसिद्धि में प्रधान हेतु यह कहा है। जैसे यह सबका आत्मा है वैसे इसका आत्मा कोई नही है, इसी से यह परमात्मा कहा जाता है। जैसे शरीरादि प्रवृत्ति में जीव प्रधानहेतु है वैसे परमात्मा भी प्रधान हेतु है इस अभिप्राय से अन्तर्यामी कहा है।

प्रश्न—'**स्वतन्त्रः कर्ता**' इस भगवत्पाणिनि आचार्य के सूत्र से प्रवृत्ति में स्व ंत्र को ही कर्ता कहते हैं और यहाँ कर्ता से क्षेत्रज्ञ ही निर्दिष्ट है, इसलिये उसको कारकान्तर प्रयोजक तथा स्वयं कारकान्तर से अप्रयोज्य है यह मानना आवश्यक है, इस कारण दैवको भी अधिष्ठानादि हेतु के समान ही जीव की अपेक्षा से गुणभूत हेतु ही मानना चाहिये प्रधान नहीं ?

उत्तर—जीव में ज्ञानेच्छा प्रयत्नादि उत्पन्न होने पर प्रधान कर्ता होता है, अन्यथा नहीं। ज्ञानाद्युत्पत्ति ही तो परमात्मा के अधीन है और जीव में स्वातन्त्र्य और परमात्माधीन कर्तृत्व दोनों है, इन में मिथो विरोध नहीं यह शारीरिक भाष्य में स्थिर कर चुके हैं, जैसे—कोई पुरुष इञ्जन बनाता है तो उसमें अपने सङ्कल्प से इस यन्त्र के दबाने से रुकेगा। इस स्वकीय संकल्प से उन २ स्थानों उन २ यन्त्रों को वैठाता है। यह माल लेजाने का इञ्जन होगा, यह आटा पीसने का यन्त्र होगा, यह तैलादि पेरने का यंत्र होगा इत्यादि अभिप्रायों से तत्तत्कार्यानुकूल कला वाले साधनों को संयुक्त करता है तथा इंजन में तत्तत्कार्य चलाने की शक्ति से भाप्य विद्युदादि प्रदानद्वारा पूर्ण करता है, अतः वह चालक भी तत्तत्कार्य करता है। वैसे ईश्वर भी स्वसंकल्प-कल्पित प्रवृत्तिशक्ति-युक्त शरीरेन्द्रियादि प्रदान और जो भूतलादि के समान संपूर्ण प्रवृत्ति निवृत्ति के अनुकूल स्वरूप से एवं संकल्प से सबका आधाररूप से अवस्थान और शरीरेन्द्रियाद्यधिष्टानशक्तिप्रदान और जो प्रवृत्त्यादि विषय-बाह्य विषयार्पण ये सब कर्तृत्व के अनुरूप ही है और सर्व प्रवृत्ति निवृत्ति साधारण है इस प्रकार उसमें कोई शङ्का का अवकाश नहीं इसी से सब प्रवृत्ति निवृत्ति के साधारण और उदासीन भगवान् कहे जाते हैं। एवं परमात्माद्वारा प्राप्त शक्ति जीव में प्रवृत्तिकाल में कार्यसिद्धि के लिये ईश्वर में जो अनुमति प्रदातृत्व है वह भी जीव में कर्तृत्व का निवारक नहीं, किन्तु तत्साधक है इससे भी विधिनिषेध व्यर्थ नहीं। यह तो नहीं कह सकते कि एक ही काम को यदि दूसरा भी करता है उसी से काम हो जायगा दूसरे कर्ता की क्या आवश्यकता ? कारण कि जिस काम को एक आदमी नहीं किन्तु अनेक मिलकर कर सकते है जैसे उक्त शिलोद्धरणादि उसमें भी लोक में विधिनेषेधादिक फल देखने से प्रवृत्ति में समान होने पर इच्छा होने से दूसरे के वारण न करने पर उसमें स्वातन्त्र्य भी रहता है। इसी प्रकार—

'कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः।'

इत्यादि में भी ज्ञान इच्छा द्वारा प्रवृत्ति होनेसे स्ववासनाविशेषमूलक इच्छाविशेष से जीव कर्तृत्व सुस्थिर है। अत एव इस हेतु पश्चक में कर्ता इस समाख्या समाधि से कर्तृत्व से ही जीव का निरूपण है।

प्रश्न—जो यह है कि ईश्वर शरीर इन्द्रिय ज्ञान इच्छा शक्ति सबको समान नहीं देते क्योंकि कोई सकलाङ्ग, कोई विकलाङ्ग, कोई नेत्रवान्, कोई अन्धा, कोई पण्डित, कोई मूर्ख इत्यादि विविधप्रकार के जीवों के सर्ग से ईश्वर में वैषम्यादि स्फुट है, तथा जीव अज्ञ है जब अनिष्टसाधन में प्रवृत्त होता है तो परमदयालु ईश्वर को वारण करना चाहिये क्योंकि वह तो जानते हैं कि इसका परिणाम अनिष्ट है। इतना ही उपेक्षा नहीं किन्तु उसमें भी अनुमति प्रदान करते हैं और सहायता भी उनको उतनाही देते हैं जितनी इष्टसाधन प्रवृत्ति में देते हैं। प्रवृत्त कर पश्चाद् दण्ड भी देते हैं, चोरी कराकर दण्ड देना यह परमदयालु का कार्य नहीं, यह तो हो ही नहीं सकता कि ईश्वर नहीं चाहते और न अशुभ कर्म में सहायता ही देते तो भी जीव अशुभ कर्म कर लेता है अन्यथा तद्वत् शुभ कर्म भी जीव स्वयं कर लेता है यह भी कहकर ईश्वर में कर्तृत्व ही नहीं सिद्ध फिर होगा।

उत्तर—पूर्वजन्म कृत कर्म के अनुसार जीव शुभाशुभ कर्म में प्रवृत्त होता है। प्रवृत्त जीव की सहायता ईश्वर करते हैं जो चाहो सो करो मैं तुम्हारी सहायता करूँगा यही ईश्वर का संकल्प है जैसे श्रीसूर्यभगवान्

'रात्रिः स्वप्राय भूतानां चेष्टायै कर्मणामहः॥'

इस मानववचनानुसार आलोकद्वारा मनुष्य प्रवृत्तिमें कारण है। प्रकाशमें ही कोई पूजापाठ करता है, कोई यागादि कर्म करता है, कोई हिंसादि कर्म करता है, कर्मानुसार फल सुखदुःखादि पाता है किन्तु सूर्य भगवान् में वैषम्यादि दोष प्रसक्ति नहीं होती तद्वत् प्रकृत में भी शक्ति शरीरेन्द्रिय विषयाधिष्ठानप्रदानद्वारा सर्वप्रवृत्तिहेतु होने पर भी ईश्वर में उक्त दोष प्रसक्ति नहीं। पूर्व अदृष्टानुसार ही यदि मनुष्य प्रवृत्ति मानी जाय तो फिर प्रवृत्तिज्ञापक शास्त्र वैयर्थ्य प्रसक्ति दुर्वार है, क्योंकि शास्त्रद्वारा शुभाशुभ का ज्ञान होने पर भी दुरदृष्टवश अशुभ कर्म प्रवृत्ति अवश्य होगी, एवं विधिशास्त्र से शुभ का ज्ञान होने पर भी शुभ वैकल्य से उसमें न होगी अतः वैयर्थ्य भी स्फुट ही है।

पूर्व अदृष्ट वर्तमान प्रवृत्ति हेतु है परन्तु यावत् विधिशास्त्रद्वारा शुभ कर्म का ज्ञान न होगा तावत् उसमें प्रवृत्ति नहीं हो सकती इस लिये शास्त्र भी श्रद्धाबोधादि द्वारा हेतु है केवल ही नहीं, मान लीजिये किसी ने पूर्व जन्म में यज्ञादि कर्म किया है किन्तु शास्त्र का ज्ञान नहीं है तो क्या पूर्व कृत यज्ञादिमात्र से वर्तमान जन्म में यज्ञादि कर्म उसकी प्रवृत्ति हो जायगी? विना साधनादि समीचीन ज्ञान के चेतन की संवादि प्रवृत्ति हो ही नहीं सकती क्योंकि शास्त्रजन्यबुद्धि श्रद्धा सापेक्ष यज्ञादि कर्म है विस्तर आकरमें है।

इत्यर्थः। करणं च श्रोत्रादि शब्दाद्युपलब्धिसाधनम्। चशब्दस्तथेत्यनुकर्षार्थः। पृथग्विधं नानाप्रकारं पञ्च ज्ञानेन्द्रियाणि मनो बुद्धिश्चेति द्वादशसंख्यम्, करणवर्गे मनो बुद्धिश्चेति वृत्तिविशेषौ, वृत्तिमांस्त्वहङ्कारः कर्तैव। चिदाभासस्तु सर्वत्रैवाविशिष्टः। त्रिविधा नानाप्रकाराः पञ्चधा दशधा वा प्रसिद्धाः। चशब्दस्तथेत्यनुकर्षार्थः। पृथगसंकीर्णाः, चेष्टाः क्रियारूपाः क्रियाशक्तिप्रधानाः पञ्चीकृतपञ्चमहाभूतकार्याः क्रियाप्राधान्येन वायवीयत्वेन व्यपदिश्यमानाः प्राणापानव्यानोदानसमाना नागकूर्मकृकलदेवदत्तधनञ्जयाख्याश्च तदन्तर्भूता एव। अत्र च सुषुप्तावन्तःकरणस्य कर्तुर्लयेऽपि प्राणव्यापारदर्शनाद्भेदव्यपदेशाच्चान्तःकरणादत्यन्तभिन्न एव प्राण इति केचित्। क्रियाशक्तिज्ञानशक्तिमदेकमेव जीवत्वोपाधिभूतमपञ्चीकृतपञ्चमहाभूतकार्यं क्रियाशक्तिप्राधान्येन प्राण इति ज्ञानशक्तिप्राधान्येन चान्तःकरणमिति व्यपदिश्यत इत्यभियुक्ताः। "स ईक्षां चक्रे कस्मिन्न्वहमुत्क्रान्त उत्क्रान्तो भविष्यामि कस्मिन् वा प्रतिष्ठिते प्रतिष्ठास्यामीति स प्राणमसृजत" इति श्रुतावुत्क्रान्त्याद्युपाधित्वं प्राणस्योक्तम्।

श्रोत्रादि 'च' शब्द 'तथा' शब्दका यहाँ भी सम्बन्ध है एतत्सूचनार्थ है। पृथग्विधम् नानाप्रकार पाँचकर्मेन्द्रिय पाँचज्ञानेन्द्रिय मन बुद्धि बारह कारण है, करणवर्गमें मन बुद्धि सङ्कल्पात्मकवृत्ति मन अध्यवसायात्मकवृत्ति बुद्धि इन दोनोंका आश्रय वृत्तिमान् अहङ्कार कर्ता ही है चिदाभास सबमें सम है विविध (नाना) पाँच प्रकार दशप्रकार प्रसिद्ध ही है। सांख्यादि मतमें दशप्रकार न्याय मतसे पाँच प्रकार नैयायिक कर्मेन्द्रियको नहीं मानते। 'च' शब्द तथाके सम्बन्धार्थ है पृथक् अमिश्रित अलग क्रिया क्रियाशक्तिप्रधान पञ्चीकृत पञ्चमहाभूत कार्य क्रियाप्राधान्यसे वायवीय कहे जाते हैं। नाग कूर्म सकल देवदत्त धनञ्जय नामक इनके अन्तर्गत हैं। यहाँ पर सुषुप्तिमें अन्तःकरण कर्ताका लय होनेपर भी प्राण व्यापारके देखनेसे और भेदव्यवहारसे भी अन्तःकरणसे अत्यन्त भिन्न ही प्राण है यह किसीका मत है। क्रियाशक्ति ज्ञानशक्तिविशिष्ट एक ही जीवका उपाधिभूत अपञ्चीकृत पञ्चमहाभूत कार्य क्रियाशक्तिप्रधानसे प्राण ज्ञानशक्तिप्रधानसे अन्तःकरण ऐसा व्यवहार होता है यह विशिष्टजनोंका मत है 'स ईक्षाञ्चक्रे कस्मिन्वहम्' इत्यादि श्रुतिमें प्राणमें उत्क्रान्त्यादि उपाधि कहा है। तथा 'सुधी स्वप्नो भूत्वाः'

तथा 'सुधीः स्वप्नो भूत्वेमं लोकमतिक्रामति मृत्यो रूपाणि ध्यायतीव लेलायतीव " इत्यादिश्रुतावुत्क्रान्त्याद्युपाधित्वं बुद्धेरुक्तम्। स्वतन्त्रोपाधिभेदे च जीवभेदप्रसङ्गः। तस्माद्बुद्धिप्राणयोरेकत्वेनैवोत्क्रान्त्याद्युपाधित्वं युक्तं भेदव्यपदेशश्च शक्तिभेदात्। सुषुप्तौ च ज्ञानशक्तिभागलयेऽपि क्रियाशक्तिभागदर्शनमेकत्वेऽपि न विरुद्धमनुभवसिद्धत्वात्, दृष्टिसृष्टिनये सर्वलयेऽपि प्राणव्यापारवच्छरीरस्य सुषुप्तोऽयमित्येवंरूपेण परैः कल्पितत्वाच्च। तस्मादुभयथाऽपि व्यपदेशभेद उपपन्नः। दैवं चानुग्राहकदेवताजातम्। चशब्दस्तथेत्यनुकर्षणार्थः। अत्र कारणवर्गे पञ्चमं पञ्चसंख्यापूरणम्। एवशब्दस्तथाशब्देन सम्बध्यमानोऽनात्मत्वभौतिककल्पितत्वाद्यवधारणार्थः पञ्चानामपि। तत्र शरीरस्य कर्तृकरणक्रियाधिष्ठानस्य देवता पृथिवी। "यत्रास्य पुरुषस्य मृतस्याग्निं वागप्येति वातं प्राणश्चक्षुरादित्यं दिशः श्रोत्रं मनश्चन्द्रं पृथिवीं शरीरम्" इति श्रुतौ वागाद्यधिष्ठात्र्यग्न्यादिभिः सह शरीराधिष्ठातृत्वेन पृथिवीपाठात्।

इत्यादि श्रुतिमें बुद्धिमें उत्क्रान्त्यादि उपाधि कहा है स्वतन्त्र उपाधिभेदमाननेसे जीवभेदकी प्रसक्ति होगी अतः बुद्धि प्राणके एक होनेपर ही उत्कान्त्यादि उपाधि ठीक है, शक्तिभेदसे भेदव्यवहार होता है। सुषुप्तिमें ज्ञानशक्त्यंशका लय होनेपर भी क्रियाशक्त्यंशका दर्शन एक होनेपर भी विरुद्ध नहीं, क्योंकि अनुभव सिद्ध है। शबरस्वामीने कहा है कि—'नहि दृष्टे अनुपपन्नं नाम' इति। जो प्रत्यक्ष देखते हैं उसमें अनुपपत्ति नहीं हो सकती, यदि अनुपपत्ति होती तो एकत्र दर्शन नहीं होता। घटत्व पटत्वके समान दृष्टि सृष्टि मतमें सबके विलय होनेपर भी प्राणव्यापारविशिष्ट शरीरको यह सोया है इस प्रकार अन्य पुरुषोंसे कल्पना है अतः दोनों प्रकारसे भेद व्यवहार होता है। दैव अनुग्राहक देवतामात्र। 'च' शब्द तथाके अनुकर्षणार्थ है इस कारण कोटिमें पञ्च वा पञ्च संख्यापूरक। एव शब्द तथा शब्दके साथ सम्बद्ध होकर अनात्मत्व भौतिकत्व कल्पितत्वादिके अवधारणार्थ है, पाचों अनात्म ही है एतन्निश्चयार्थक है। इन में कर्ता करण और क्रिया का आश्रय शरीर की देवता पृथिवी है 'यत्रास्य पुरुषस्य मृतस्याग्निं वागप्येति वातं प्राणः चक्षुरादित्यं दिशः श्रोत्रं मनश्चन्द्रं पृथिवीं शरीरम्' इस श्रुति में वागादि की अधिष्ठातृ अग्न्यादि के साथ पृथिवी का पाठ है

शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः ।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः ॥१५॥

क्योंकि मनुष्य मन, वाणी और शरीरसे शास्त्रके अनुसार अथवा विपरीत भी जो कुछ कर्म आरम्भ करता है, उसके यह पाँचों कारण हैं। ॥१५॥

कर्तुरहंकारस्याधिष्ठात्री देवता रुद्रः पुराणादिप्रसिद्धः। करणानां चाधिष्ठात्र्यो देवताः सुप्रसिद्धाः। श्रोत्रत्वक्चक्षूरसनघ्राणानां दिग्वातार्कप्रचेतोऽश्विनः वाक्पाणिपादपायूपस्थानां वह्नीन्द्रोपेन्द्रमित्रप्रजापतयः, मनोबुद्ध्योश्चन्द्रबृहस्पती इति। पञ्चप्राणानां क्रियारूपाणां सद्योजातवामदेवाघोरतत्पुरुषेशानाः पुराणप्रसिद्धाः। भाष्ये दैवमादित्यादिचक्षुराद्यनुग्राहकमित्यधिष्ठानादिदेवतानामप्युपलक्षणम्। १४॥

म० टी०——स्वरूपमुक्त्वा तेषां पञ्चानां कर्महेतुत्वमाह तृतीयेन—शारीरं वाचिकं मानसिकं च विधिप्रतिषेधलक्षणं त्रिविधं कर्म धर्मशास्त्रेषु प्रसिद्धम्। अक्षपादेन चोक्तं——"प्रवृत्तिर्वाग्बुद्धिशरीरारम्भः"

इससे स्पष्ट है कि शरीरकी अधिष्ठातृ देवता पृथिवी है कर्ता अहङ्कार का पुराणादि प्रसिद्ध अधिष्ठातृ देवता रुद्र है। करणों की अधिष्ठातृ देवता अतीप्रसिद्ध है। श्रोत्रत्वक्चक्षुरसनघ्राण का दिग् वात अर्क प्रचेता वरुण और अश्विनीकुमार वाक्पाणिपादप यूपस्थकी बह्नि इन्द्र उपेन्द्र मित्र और प्रजापति देवता हैं मन बुद्धिका चन्द्रमा बृहस्पति क्रमशः देवता हैं। क्रियारूप पाँचों प्राणोंका सद्योजात वामदेव अघोर तत्पुरुष और ईशान ये पुराणप्रसिद्ध देवता हैं। भाष्यमें दैवमादित्यादि का चक्षुराद्यनुग्राहक इष्ट है उक्तानुग्राहक यह अधिष्ठानादि देवतों का भी उपलक्षण है ॥ १४॥

पाँचो का स्वरूप कह कर उन पाँचो में कर्महेतुत्व कहते हैं—तृतीय से। शारीर वाचिक और मानसिक विधिरूप वा प्रतिषेधरूप तीन प्रकार के कर्म-धर्मशास्त्रमें प्रसिद्ध हैं और श्रीगौतम मुनिने कहा है—'प्रवृत्तिर्वाग्बुद्धिशरीरारम्भ' इति। बुध्यतेऽनेन इस व्युत्पत्ति बुद्धि से यहाँ मन विवक्षित है।

प्रश्न—'अधिष्ठानं तथा कर्ता' इत्यादि से पूर्व में सब कर्मोंका कारण

तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः ।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः ॥ १६ ॥

परन्तु ऐसा होनेपर भी जो पुरुष अशुद्ध बुद्धि होनेके कारण, उस विषयमें केवल शुद्धस्वरूप आत्माको कर्ता देखता है, वह मलिन बुद्धिवाला अज्ञानी यथार्थ नहीं देखता है ॥ १६ ॥

इति । बुद्धिर्मनः । अतः प्राधान्याभिप्रायेणोच्यते शरीरेण वाचा मनसा वा यत्कर्म प्रारभते निर्वर्तयति नरो मनुष्याधिकारित्वाच्छास्त्रस्य । कीदृशं कर्म न्याय्यं वा शास्त्रीयं धर्मं विपरीतं वाऽशास्त्रीयधर्मं यच्च निमिषितचेष्टितादि जीवनहेतुरन्यद्वा विहितप्रतिषिद्धं समं तत्सर्वं पूर्वकृतधर्माधर्मयोरेव कार्यमिति न्याय्यविपरीतयोरेवान्तर्भूतम् । पञ्चैते यथोक्ता अधिष्ठानादयस्तस्य सर्वस्यैव कर्मणो हेतवः करणानि ॥ १५ ॥

म० टी०—इदानीमेतेषामेव कर्मकर्तृत्वादात्मनो न कर्तृत्वमित्यधिष्ठानादिनिरूपणफलमाह—तत्रैवमिति । तत्र कर्मणि प्रागुक्ते सर्वस्मिन्, एवं

पाँच कहा यहाँ शरीरादि तीन ही कारण कहते हैं इससे पूर्वापर में विरोध होता है ?

उत्तर—प्राधान्याभिप्रायेणेति । यद्यपि उक्त गौतम सूत्रानुसार सब कर्मोंका तीन ही राशि में अन्तर्भाव किया है तथापि उसका तात्पर्य प्राधान्य में है जिस कर्म में शरीर प्रधानकारण है, वह शारीरिक है परन्तु अधिष्ठानादि पाँच कारण उनके अवश्य हैं। एवं वाचिक मानस में भी समझना । शरीर से मन से और वाणी द्वारा मनुष्य से कर्म किया जाता है, क्योंकि शास्त्र में मनुष्य का ही अधिकार है । कैसा न्याय्य वा कर्म, शास्त्रीय धर्मशास्त्रप्रतिषिद्ध अधर्म बाकी जो अवशिष्ट जीवनोपयोगी पलक गिराना आदि तथा अन्य जो विहितप्रतिषिद्ध के तुल्य कर्म हैं वे सब पूर्वकृत धर्माधर्म में ही अन्तर्भूत हैं पूर्वोक्त वे अधिष्ठानादि पाँचो उन सब कर्मों के हेतु हैं ॥ १५ ॥

इस समय ये ही सब कर्मों के कर्ता हैं आत्मा कर्ता नहीं है अधिष्ठानादि प्रतिपादन का यही फल कहते हैं—जिससे पूर्वोक्त सब कर्म में इस परिस्थिति

सति अधिष्ठानादिपञ्चहेतुके सति तैर्निर्वर्त्यमान आत्मानं सर्वजडप्रपञ्चस्य भासकं सत्तास्फूर्तिरूपं स्वप्रकाशपरमानन्दमबाध्यं केवलमसङ्गोदासीनमकर्तारमविक्रियमद्वितीयं तु एव परमार्थतः। अविद्यया त्वधिष्ठानादौ प्रतिबिम्बितमादित्यमिव तोये तद्भासकमनन्यत्वेन परिकल्प्य तोयलचनेनाऽऽदित्यश्चलतीतिवदधिष्ठानादिकर्मणोऽहमेव कर्तेति साक्षिणमपि सन्तं कर्तारं क्रियाश्रयं यः पश्यत्यविद्यया कल्पयति रज्जुमिव भुजङ्गं स एवं पश्यन्नपि न पश्यत्यात्मानं तत्त्वेन स्वरूपाज्ञानकृतत्वादध्यासस्य। स भ्रान्त्या विपरीतमेव पश्यति न यथातत्त्वमित्यत्र को हेतुरत आह—**अकृतबुद्धित्वात्**। शास्त्राचार्योपदेशन्यायैरनुपजनितविवेकबुद्धित्वात्। नहि रज्जुतत्त्वसाक्षात्काराभावे भुजङ्गभ्रमं कश्चन बाधते। एवं शास्त्राचार्योपदेशन्यायैः परिनिष्ठितेऽहमस्मि सत्यं ज्ञानमनन्तमकर्त्रभोक्तृ परमानन्दमनवस्थमद्वयं ब्रह्मेति साक्षात्कारेऽनुपजनिते कुतो

में अधिष्ठानादि पञ्च कारणक और उन्हीं से क्रियमाण में आत्मा सब जड़ पदार्थों का भासक सत्तास्फुरणरूप कल्पित की अतः सत्ता नहीं, कि अधिष्ठान की सत्ता ही से वे सत्तावान् होते हैं जड़ का प्रकाश भी आत्म तादात्म्याध्यास से होता है। कल्पित से विलक्षण आत्मा को कहते हैं, स्वयं प्रकाश परमानन्द अबाध्य केवल असङ्ग उदासीन अकर्ता अविक्रिय अद्वितीय वस्तुतः है। अविद्यादि से अधिष्ठानादि में प्रतिबिम्बित जल में प्रतिविम्बित सूर्य के समान उसको भासकत्व की अभेद से कल्पना कर जल की चलनादि को क्रिया से सूर्य चलता है इसके समान अधिष्ठानादि कर्म का 'मैं ही कर्ता हूँ' इस प्रकार साक्षी को क्रियाश्रय जो देखता है अविद्या से कर्तृत्व कल्पना करता है रज्जु खण्ड को सर्प के समान वह देखता हुआ भी आत्मा को नहीं देखता। परमार्थ से स्वरूपाज्ञानकृत अध्यास होने से वह भ्रम से विपरीत हो अन्यथा ही देखता है यथार्थ नहीं। इसमें क्या कारण है इस आकांक्षा से कहते हैं—अकृतेत्यादि। शास्त्र आचार्योपदेश और न्याय से आत्मानात्मविवेक बुद्धि का अभाव कारण है रज्जुतत्त्व साक्षात्कार के बिना कोई सर्पभ्रम को बाधता है इस प्रकार शास्त्राचार्योपदेशन्याय से परिनिष्ठित (सुनिश्चित) 'अहमस्मि' मैं हूँ 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' अकर्ता अभोक्ता परमानन्द अद्वितीय ब्रह्म। इस प्रकार

मिथ्याज्ञानतत्कार्यबाधः । एतादृशं साक्षात्कारमेव गुरुमुपसृत्य वेदान्तवाक्यविचारेण कुतो न जनयन्तीत्यत आह—दुर्मतिः, । दुष्टा विवेकप्रतिबन्धपापेन मलिना मतिर्यस्य सः । अतोऽशुद्धबुद्धित्वान्नित्यानित्यवस्तुविवेकादिशून्यत्वेन तत्त्वज्ञानायोग्यत्वादकर्तारमपि कर्तारं केवलमप्यकेवलमात्मानमविद्यया कल्पयन् संसारी कर्माधिकारी देहभृदकृतबुद्धिः कर्मकर्तृषु तादात्म्याभिमानात्कर्मत्यागासमर्थः सर्वदा जननमरणप्रबन्धनेनानिष्टमिष्टं मिश्रं च कर्मफलमनुभवति । एतेन यस्तार्किको देहादिव्यतिरिक्तमात्मानमेव कर्तारं केवलं पश्यति सोऽप्यकृतबुद्धित्वेन व्याख्यातः । अन्यस्त्वाह—आत्मा केवलो न कर्ता किं त्वधिष्ठानादिभिः संहतः सन् परमार्थतः कर्तैव, कर्तारमात्मानं केवलं पश्यन् दुर्मतिरिति केवलशब्दप्रयोगादिति । तन्न, परमार्थतः सर्वक्रियाशून्यस्यासङ्गस्याऽऽत्मनोऽधिष्ठानादिभिः संहतत्वानुपपत्तेः । जलसूर्यकादिवत्त्वाविद्यकेन संहतत्वेन कर्तृत्वमपि तादृशमेव, अधिष्ठानादीनामप्याविद्यकत्वाच्च ।

के साक्षात्कार न होने से मिथ्याज्ञान तत्कार्य का बाध कैसे हो ? एवं भूत साक्षात्कारवान् गुरु के समीप जाकर वेदान्त वाक्य विचार से क्यों नहीं उत्पन्न करते ? इसके लिए कहते हैं—दुर्मतिः । दुष्ट आत्मानात्म विवेकोत्पादप्रतिबन्धक पाप से युक्त है बुद्धि जिसकी, इस कारण अशुद्धबुद्धि होने से नित्यानित्य वस्तु विवेकशून्य होने से तत्त्वज्ञानोत्पत्ति के अयोग्य होने से अकर्ता को भी कर्त्ता केवल को अकेवल आत्मा को अविद्या से कल्पना करते हुए संसारी कर्माधिकारी देही अकृतबुद्धि कर्म कर्ता में तादात्म्याभिमान से कर्मत्याग में समर्थ सदा जनन मरण चक्र से युक्त सुख दुःख एतदुभय मिश्रित कर्मफल का अनुभव करता है । इससे जो तार्किक देहादि से भिन्न आत्मा को ही केवल कर्ता देखते हैं वे भी अकृत बुद्धि ही हैं । अन्य का मत है—आत्मा केवल कर्ता नहीं है किन्तु उक्त अधिष्ठानादि पञ्चक के सहित वस्तुतः कर्ता ही है कर्तार. आत्मा केवल को देखता हुआ दुर्मति है अत एव केवलशब्द का उक्त वाक्य में प्रयोग है । यह ठीक नहीं, वस्तुतः निखिलक्रियाशून्य असङ्ग आत्मा अधिष्ठानादि संहत ही नहीं हो सकता । जल प्रतिबिम्बित सूर्यादि के समान अविद्य से संहत मानें तो कर्तृत्व भी वैसा ही आविद्यिक ही होगा पारमार्थिक नहीं, क्योंकि अधि-

यस्य नाहङ्कृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ॥ १७ ॥

और हे अर्जुन ! जिस पुरुषके अन्तःकरणमें 'मैं कर्ता हूँ,' ऐसा भाव नहीं है तथा जिसकी बुद्धि सांसारिक पदार्थोंमें और संपूर्ण कर्मोंमें लिप्यमान नहीं होती, वह पुरुष इन सब लोकोंको मारकर भी वास्तवमें न तो मारता है और न पापसे बंधता है ॥ १७ ॥

केवलशब्दस्तु स्वभावसिद्धमात्मनोऽसङ्गाद्वितीयरूपत्वमनुवदति कर्तृत्वदर्शिनो दुर्मतित्वनेत्यदोषः ॥ १६ ॥

म० टी०—तदेवं चतुर्भिः श्लोकैः—

" अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम् ।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य " ... ...

इति चरणत्रयं व्याख्यातम् । इदानीं "न तु संन्यासिनां क्वचित्" इति तुरीयं चरणमेकेन व्याचष्टे—यस्येत्यादिना । यस्य पूर्वोक्तविपरीतस्य पुण्यैः कर्मभिः क्षपितेषु विवेकविरोधिपापेषु नित्यानित्यवस्तुविवेकादिसाधन-चतुष्टयं प्राप्तवतः शास्त्राचार्योपदेशन्यायजनिताकर्त्रभोक्तृस्वप्रकाशपरमानन्दा-

---

ष्ठानादि भी आविद्यिक ही है। केवल शब्द आत्मा में स्वतः सिद्ध असङ्गत्व अद्वितीयत्व का अनुवाद करता है कर्तृत्वदर्शी में दुर्गतिकारणत्व से, अतः दोष नहीं। वस्तुतः उक्त आत्मा में कर्तृत्वादि धर्म है नहीं फिर भी भ्रान्त तार्किकादि अतएव 'दुष्टा मतिर्यस्य स दुर्मतिः' ही आत्मा में कर्तृत्व दर्शन का हेतु है इस कारण उनका दोष नहीं है। भ्रान्त पुरुष शुक्तिको जैसे रजत देखता है वैसे वे आत्मा को कर्ता देखते हैं ॥ १६ ॥

इस प्रकार चार श्लोकों से 'अनिष्टमिष्टं मिश्रं च' इत्यादि का व्याख्यान हुआ। इस समय 'न तु संन्यासिनां क्वचित्' इस चौथे पाद का एक चरण से व्याख्यान करते हैं—प्रागुक्त दुर्मति से विपरीत तेजसे सुमति पुरुष के पुण्य कर्मों से आत्मानात्मविवेक प्रतिकूल दुरित नष्ट हो गये हैं तथा नित्यानित्य विवेकादि तत्त्वज्ञान हेतु चारों सामग्री को प्राप्त एवं शास्त्राचार्यो पदेश से

द्वितीयब्रह्मात्मसाक्षात्कारस्याज्ञाने सकार्ये बाधिते न भवत्यहं कर्तेत्येवंरूपो भावः प्रत्ययः। यस्य भावः सद्भावोऽहंकृतोऽहमितिव्यपदेशार्हो न, अहङ्कार-बाधेन शुद्धस्वरूपमात्रपरिशेषादिति वा। अहङ्कृतोऽहङ्कारस्य भावस्तत्ता-दात्म्यं यस्य न विवेकेन बाधितत्वादिति वा। बाधितानुवृत्तावपि एत एव पञ्चाधिष्ठानादयो मायया मयि सर्वात्मनि कल्पिताः सर्वकर्मणां कर्तारो मया स्वप्रकाशचैतन्येनासङ्गेन कल्पितसंबन्धेन प्रकाश्यमाना अहं तु न कर्ता किंतु कर्तृतद्व्यापाराणां साक्षिभूतः क्रियाज्ञानशक्तिमदुपाधिद्वयनिर्मुक्तः शुद्धः सर्व-कार्यकारणासंबद्धः कूटस्थानित्यो निर्द्वयः सर्वविकारशून्यः "असङ्गो ह्ययं पुरुषः," "साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च," "अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात्परतः परः," "अज आत्मा महान्ध्रुवः" "सलिल एको द्रष्टाऽद्वैतः,"

न्याय समुत्पन्न अकर्ता अभोक्ता स्वप्रकाश परमानन्दाद्वितीय ब्रह्मात्मसाक्षा-त्कार को सकार्य अज्ञान के बाधित होने पर नहीं होता है 'अहं कर्ता,' यह भाव ज्ञान भाव है जो सुमति पुण्यात्मा हैं जिनके विवेक ज्ञानोत्पत्ति प्रति-बन्धक पाप पुण्यकर्मों से नष्ट हो चुके हैं। प्रतिवन्धाभाव कह कर साधन सामग्री कहते हैं नित्यानित्येति से उक्त रीति से प्रतिवन्ध का भाव विशिष्ट उक्त सामग्री का साधन कार्य कहते हैं—शास्त्रेत्यादि से। उक्तसाक्षात्कार कार्य है अज्ञान तत्कार्य द्वैत की निवृत्ति होने पर उस सुमति को 'मैं कर्ता हूँ' यह ज्ञान नहीं होता यह निष्कर्ष है। जिसका भाव सद्भाव सत्ता 'अहं' इत्याकारक व्यवहार के योग्य नहीं क्योंकि अहङ्कार के बाध होने पर तद्विशिष्ट व्यवहार नहीं हो सकता। अहङ्कार तात्म्यानध्यस्त शुद्ध आत्मस्वरूप ही उस समय में परि-शिष्ट रहता है अत एव अहङ्कार के बाध से तत्तादात्म्य का भी विवेक से बाध होता है यह भी अर्थ है। बाधित की पाप देह अनुवृत्ति होंने पर भी ये अधिष्ठा-नादि पाचों माया से मेरे (सर्वात्मा) में कल्पित ही सब कर्मों के कर्ता हैं केवल असङ्ग स्वप्रकाश चैतन्य मुझसे आविद्यिक संवन्धद्वारा प्रकाशित होते हैं मैं तो कर्ता नहीं हूँ कर्ता के व्यापारों का साक्षी हूँ अत एव क्रिया ज्ञान शक्ति मदुपाधिद्वय से मुक्त शुद्ध सब कार्यों कारणों से असंस्पृष्ट कूटस्थ नित्य अद्वय सब विकारों से रहित 'असंगो ह्ययं पुरुषः' 'साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च' 'अप्राणोह्यमना शुभ्रो ह्यक्षरात्परतः पर' 'अज आत्मा महान् ध्रुवः' 'सलिल एको द्रष्टा-

"अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणः," "निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्" इत्यादिश्रुतिभ्यः, "अविकार्योऽयमुच्यते"

" प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताऽहमिति मन्यते ॥"
" तत्त्ववित्तु महाबाहो ! गुणकर्मविभागयोः।
गुणा गुणेषु वर्त्तन्ते इति मत्वा न सज्जते॥"
" शरीरस्थोऽपि कौन्तेय ! न करोति न लिप्यते"

इत्यादिस्मृतिभ्यश्च। तस्मान्नाहं कर्तेत्येवंपरमार्थदृष्टेर्बुद्धिरन्तःकरणं यस्य न लिप्यते नानुशयिनी भवति। इदमहमकार्षमेतत्फलं भोक्ष्य इत्यनुसन्धानं कर्तृत्ववासनानिमित्तं लेपोऽनुशयः। स च पुण्ये कर्मणि हर्षरूपः ईदृशेन द्विविधेनापि लेपेन बुद्धिर्न युज्यते कर्तृत्वाभिमानबाधात्। तथा च ज्ञानिनं प्रकृत्य श्रुतिः—"एतमुहैवैते न तरत इत्यतः पापमकरवमित्यतः कल्याणमकरवमित्युभे उ हैवैष एते तरति नैनं कृताकृते तपतः। तदेतदृचाऽभ्युक्तम्—

"एष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्य न वर्धते कर्मणा नो कनीयान्।
तस्यैव स्यात्पदवित्तं विदित्वा न लिप्यते कर्मणा पापकेन ॥" इति

पापकेनेति पुण्यस्याप्युपलक्षणम्। वर्धते कनीयानिति च पुण्यपापयोः परितोषपरितापाभिप्रायम्। एवं—

ऽद्वैतः' इत्यादि श्रुतियों से उक्तार्थ की सिद्धि है, एवम् 'अविकार्योऽयमुच्यते' इत्यादि 'न करोति न लिप्यते' इत्यन्त स्मृति अन्य उक्तार्थ के साधक है। अतः 'मैं कर्ता नहीं हूँ' ऐसा अन्तःकरण जिसका है वह परमार्थदर्शी लिप्त यह मैं किया इसका फल भोगूँगा, कर्तृत्व वासनाफलभूत उक्तानुसंधानरूप अनुशयवान् नहीं होता। वह अनुशय पुण्य कर्म में हर्षरूप, पाप कर्म में पश्चात्तापरूप है। ऐसे द्विविध लेपों से बुद्धियुक्त नहीं होती, क्योंकि कर्तृत्व के अभिमान का बाध हो गया है। ज्ञानी के प्रकरण में ऐसी ही श्रुति है—'एतमुहैवै ते न तरत इत्यतः पापमकरवम्' इत्यादि मूल में देखिये। पुण्य से बढ़ता नहीं पाप से छोटा नहीं होता। यहाँ 'वर्द्धते' का तात्पर्य हर्ष में है, 'कनीयान्' का भाव है पाप से

'यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते' स पूर्वोक्तदुर्मतिविलक्षणः सुमतिः परमार्थदर्शी पश्यत्यकर्तारमात्मानं केवलम्, स कर्तृत्वाभिमानाभावादनिष्टादित्रिविधकर्मफलभागी न भवतीत्येतावति शास्त्रेऽर्थेऽहङ्काराभावबुद्धिलेपाभावौ स्तोतुमाह—हत्वा हिंसित्वाऽपि स इमाँल्लोकान् सर्वान् प्राणिनो न हन्ति हननक्रियायाः कर्ता न भवति अकर्तृस्वरूपसाक्षात्कारात्। न निबध्यते नापि तत्कार्येणाधर्मफलेन संबध्यते। अत्र नाहङ्कृतो भाव इत्यस्य फलं न हन्तीति। 'बुद्धिर्न लिप्यत' इत्यस्य फलं न निबध्यत इति। अनेन च कर्मालेपप्रदर्शनेऽतिशयामात्रमुक्तं न तु सर्वप्राणिहननं सम्भवति। हत्वाऽपीति कर्तृत्वाभ्यनुज्ञा बाधितकर्तृत्वदृष्टया लौकिक्या, न हन्तीति कर्तृत्वनिषेधः शास्त्रीयया परमार्थदृष्टयेति न विरोधः। शास्त्रादौ 'नायं हन्ति न हन्यत' इति सर्वकर्मासंस्पर्शित्वमात्मनः प्रतिज्ञाय 'न जायत' इत्यादिहेतुवचनेन साधयित्वा 'वेदाविनाशिनम्' इत्यादिना विदुषः सर्वकर्माधिकारनिवृत्तिः संक्षेप-

---

परिताप नहीं करता। इसी प्रकार यस्येत्यादि कथित सुमति दुर्मति विलक्षण तत्त्वदर्शी आत्मा को केवल अकर्ता देखता है, क्योंकि कर्तृत्वाभिमान है नहीं। अदृष्टादि तीनों फलों का भोक्ता नहीं होता एतावन्मात्र शास्त्र का अर्थ होने पर अहङ्काराभाव और बुद्धिलेपाभाव की स्तुति के लिये कहते हैं—हत्वेति। वा सुमति इन सब प्राणियों को मार कर भी किसी को नहीं मारता मारण क्रिया का कर्ता नहीं होता, क्योंकि आत्मा अकर्ता है यह उसको प्रत्यक्ष है। और न हनन के कार्य पाप से संस्पृष्ट ही होता है। यहाँ यस्य नाहङ्कृतो भावः' इसका फल नहीं मारता है, और 'बुद्धिर्यस्य न लिप्यते' इसका फल संस्पृष्ट होता है इति। इससे कर्मलेपाभाव दिखलाने में अतिशयमात्र (अत्युक्तिमात्र) कहा है। वस्तुतः सब प्राणियों का मनुष्य से हनन असंभव है असंख्य प्राणि भेद है। बाधित सर्वप्राणि हनन कर्तृत्व को लौकिक अभ्यनुज्ञा दृष्टि से हन्तीत्यादि है। और शास्त्रीय परमार्थ दृष्टि से 'न हन्ति' है, अतः मार कर नहीं मारता इनमें परस्पर विरोध नहीं। शास्त्र के आदि में 'नायं हन्ति न हन्यते' इस से सब कर्मों से असंबद्ध आत्मा है यह प्रतिज्ञा कर 'न जायते' इत्यादि कारण वाक्य से उक्तार्थ को सिद्ध कर 'वेदाविनाशिनम' इत्यादि से तत्त्वज्ञानी की सब कर्मों में

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना।
करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः ॥ १८ ॥

तथा हे भारत ! ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय यह तीनों तो कर्मके प्रेरक हैं अर्थात् इन तीनोंके संयोगसे तो कर्ममें प्रवृत्त होनेकी इच्छा उत्पन्न होती है और कर्ता करण और क्रिया यह तीनों कर्मके संग्रह हैं अर्थात् इन तीनोंके संयोगसे कर्म बनता है ॥ १८ ॥

णोक्ता। मध्ये च तेन तेन प्रसङ्गेन प्रसारितेह शास्त्रार्थतावत्त्वप्रदर्शनायोपसंहृता 'न हन्ति न निबध्यत' इति। एवं चाविद्याकल्पितानामधिष्ठानाद्यनात्मकृतानां सर्वेषामपि कर्मणामात्मविद्यया समुच्छेदोपपत्तेः परमार्थसंन्यासिनामनिष्टादि त्रिविधं कर्मफलं न भवतीत्युपपन्नम्। परमार्थसंन्यासश्चाकर्त्रात्मसाक्षात्कार एव। जनकादीनामेतादृशसंन्यासित्वेऽपि बलवत्प्रारब्धकर्मवशाद्बाधितानुवृत्त्या परपरिकल्पना वा कर्मदर्शनं न विरुद्धं परमहंसनां भिक्षाटनादिवत्। अत एव ज्ञानफलभूतो विद्वत्संन्यास उच्यते। साधनभूतस्तु विविदिषासंन्यासोऽनेवंविधोऽपि प्रथममुत्तरकाले ज्ञानोत्पत्तावेवंविधो भवतीति वक्ष्यते ॥ १७ ॥

अधिकार की निवृत्ति संक्षेप से कही। मध्य में प्रसङ्गवश उक्त निवृत्ति को विस्तृत किया (फैलाया)। 'न हन्ति न निबध्यते' से उसका उपसंहार किया। इस प्रकार अविद्या कल्पित अनात्मस्वरूप उक्त अधिष्ठानादि पाँचो से किये हुए कर्मों के आत्मज्ञान से विनाश होने से वस्तुतः संन्यासियों को उक्त त्रिविध कर्म फल नहीं यह कहना उपपत्ति युक्त है। वास्तविक संन्यास अकर्ता आत्मा है यह प्रत्यक्ष ही है। जनकादिमें एतादृश सन्यासित्व रहने पर भी बलवान् प्रारब्धकर्मके प्रभावसे बाधित भी कर्तृत्वादिकी अनुवृत्तिसे अथवा दूसरेकी कल्पनासे कर्म देखना विरुद्ध नहीं। वस्तुतः आत्मामें कर्म नहीं है फिर भी कल्पनासे कोई उसमें कर्म देखता है तो उस कर्तृत्व दर्शनका वास्तविक अकर्तृत्वके साथ विरोध नहीं, जैसे ईदृश परमहंसोंका भिक्षाटनादि है वैसे प्रकृतमें भी समझना। अतएव तत्त्वज्ञानका फलस्वरूप विद्वत्संन्यास कहा गया है। साधनस्वरूप तो विविदिषा संन्यास, पहले ऐसा न होनेपर भी ज्ञानोत्पत्तिकालमें ऐसा ही होता है यह कहेंगे ॥१७॥

म० टी०—पूर्वमधिष्ठानादिपञ्चकस्य क्रियाहेतुत्वेनाऽऽत्मनः सर्वकर्मासंस्पर्शित्वमुक्तम्, संप्रति तमेवार्थं ज्ञानज्ञेयादिप्रक्रियारचनया त्रैगुण्यभेदव्याख्यया च विपरीतुमुपक्रमते—ज्ञानमित्यादिना। ज्ञानं विषयप्रकाशक्रिया। ज्ञेयं तस्य कर्म, परिज्ञाता तस्याऽऽश्रयो भोक्ताऽन्तःकरणोपाधिपरिकल्पितः, एतेषां त्रयाणां संनिपाते हि हानोपादानादिसर्वकर्मारम्भः स्यादत एतत्त्रयं सर्वेषां कर्मणां प्रवर्तकं तदेतदाह—त्रिविधा कर्मचोदनेति। चोदनेति प्रवर्तकमुच्यते। चोदनेति क्रियायाः प्रवर्तकं वचनमाहुरिति शाबरे। "चोदना चोपदेशश्च विधिश्चैकार्थवाचिनः," इति भाट्टे च वचने क्रियाप्रवर्तकवचनत्वं यद्यपि चोदनापदशक्यतया प्रतीयते तथाऽपि वचनत्वं विहाय प्रवर्तकमात्रमिह लक्ष्यते ज्ञानादिषु वचनत्वाभावात्। एवं च प्रेरणीयत्वं प्रेरकत्वं चानात्मन एव नाऽऽत्मन इत्यभिप्रायः। तथा करणं साधकतमं बाह्यं श्रोत्राद्यन्तस्थं

प्रथम अधिष्ठानादि पाँच क्रिया हेतु होनेसे आत्मा सब कर्मोंसे असम्बद्ध है यह कहा। अब उसी अर्थको ज्ञानज्ञेयादि प्रक्रियाकी रचना तथा त्रैगुण्यभेद व्याख्यासे भी विवरण करनेका आरम्भ करते हैं—ज्ञानमित्यादिसे। ज्ञानविषय प्रकाशक क्रिया ज्ञेय उक्त क्रिया कर्म परिज्ञाता तादृश क्रियाका आश्रय भोक्ता 'अन्तःकरणोपाधिकल्पितः चिदचिद्ग्रन्थिजीवः' इन तीनोंके समुदायमें त्याग ग्रहण सब कर्मोंका आरम्भ होता है इस कारण ये तीन सब कर्मोंके प्रवर्त्तक हैं। यही कहते हैं—त्रिविधेत्यादिसे। चोदना प्रवर्त्तकको कहते हैं, इसमें शबरस्वामी का वचन कहते हैं—चोदना इत्यादि आहुरित्यन्त।

'चोदना चोपदेशश्च विधिश्चैकार्थवाचिनः।'

इस श्रीभट्टपादके वाक्यमें यद्यपि 'क्रियाप्रवर्त्तकत्वे सति वचनत्व' चोदनापदशक्यत्वसे प्रतीत होता है, तथापि वचनत्वको छोड़कर प्रवर्त्तकत्वमात्रमें उक्त वाक्यकी लक्षणा, है क्योंकि प्रवर्त्तक ज्ञानादिमें वचनत्व न होनेसे उक्त लक्षणकी अव्याप्ति हो जायगी ऐसी स्थितिमें प्रेर्यत्व प्रेरकत्व आत्मभिन्न पदार्थका ही धर्म है आत्माका नहीं यह अभिप्राय है। तथा करण अव्यवधानसे क्रियाफल साधक बाह्य श्रोत्रादि आन्तर बुद्ध्यादि कर्म कर्ताको अतिशयसे ईप्सिततम 'प्रकृतिवाक्य-

बुद्धयादि। कर्मकर्तुरीप्सिततमं क्रियया व्याप्यमानमुत्पाद्यमानं विकार्यं संस्कार्यं च। कर्ता च, इतरकारकाप्रयोज्यत्वे सति सकलकारकाणां प्रयोक्ता क्रियाया निर्वर्तकश्चिदचिद्ग्रन्थिरूप इति त्रिविधस्त्रिप्रकारः, कर्म संगृह्यते समवैत्यत्रेति कर्मसंग्रहः कर्माश्रयः। चकारार्थादितिशब्दात्संप्रदानमपादानमधिकरणं च राशित्रयान्तर्भूतम्। एवं कारकषट्कमेव त्रिविधं क्रियाया आश्रयो न तु कूटस्थ आत्मेत्यर्थः। कर्मप्रेरकस्य कर्माश्रयस्य च कारकरूपत्वात्त्रैगुण्यात्मकत्वाच्चाकारकस्वभावो गुणातीतश्चाऽऽत्मा सर्वकर्मासंस्पर्शीत्यभिप्रायः। अथवा ज्ञानं प्रेरणारूपं लिङादिशब्दजन्यं, ज्ञेयं तस्य ज्ञानस्य विषय-

---

घटकप्रधानीभूत व्यापारप्रयोज्य प्रकृतधातुवाच्य फलाश्रयत्व सकर्तृसमवेत इच्छोद्देश्य। यह क्रियाव्याप्यकर्म चार प्रकारका है—उत्पाद्य, विकार्य, प्राप्य, और संस्कार्य कर्ता स्वभिन्न कर्मादि कारकोंसे अप्रयोज्य और सब कारकोंका प्रयोजक होता है। कर्त्ताके विना क्रिया नहीं होती और क्रियाके विना कोई कारक नहीं होते 'क्रियाजनकत्वं वा क्रियान्वयित्वं कारकत्वम्' इत्यादि क्रियाघटित लक्षणोंका क्रिया रहने पर ही संभव है अन्यथा नहीं। क्रियाका आश्रय कर्त्ताके विना अनुपपन्न है अतः क्रियाद्वारा कर्ता सब कारकोंका प्रयोजक और स्वयं कारकान्तरसे अप्रयोज्य होता है। क्रियाका उत्पादक चिदचिद्ग्रन्थिरूप अन्तःकरणविशिष्ट चैतन्य, अन्तःकरण अचित् है, चैतन्य चित् है अनादि मायासे दोनोंकी वैशिष्ट्यरूप-ग्रन्थि हुई है यही प्राण धारणा क्रियामे जीव कहाता है। मूलस्थ त्रिविधका अर्थ कहते हैं—त्रिप्रकार इति। व्युत्पत्तिप्रदर्शनद्वारा कर्मसंग्रहके यौगिक अर्थको स्फुट करते हैं—कर्मेत्यादिसे। कर्माश्रयः यह शब्द यहाँ चकारके अर्थमें प्रयुक्त है चकारसे अर्थात् इति शब्दसे सम्प्रदान, अपादान, अधिकरण ये भी उक्त राशित्रयके अन्तःसंगृहीत है। इस प्रकार त्रिविध कारक ही क्रियाके आश्रय हैं कूटस्थ आत्मा क्रियाका आश्रय नहीं है यह अर्थ है। कर्म प्रेरक और कर्माश्रय कारकरूप है और त्रैगुण्यात्मक है। अकारक स्वभाव और त्रिगुणोंसे अतीत आत्मा है अतएव सब कर्मोंका असंसर्गी आत्मा है यह अभिप्राय है। अथवा ज्ञान प्रेरणारूप लिङ्गादिशब्दजन्य ज्ञेय उस ज्ञानका विषय होनेसे लिङ्गादिशब्द-स्वरूप प्रेरक है परिज्ञाता उस ज्ञानका आश्रय वही प्रेरणीय है। इस प्रकार

त्वेन लिङादिशब्दस्वरूपं प्रेरकं, परिज्ञाता तस्य ज्ञानस्याऽऽश्रयः प्रेरणीयः, इत्येवं त्रिविधा कर्मचोदना। कर्म क्रिया पुरुषव्यापाररूपाऽऽर्थी भावना, तद्विषया चोदना प्रेरणा विधिरूपा शाब्दी भावनेत्यर्थः। तथा करणं सेतिकर्तव्यताकं साधनं धात्वर्थः, कर्म भाव्यं स्वर्गादिफलं, कर्ता फलकामनावान् पुरुषः क्रियाया निर्वर्तकम् इत्येवं त्रिविधः कर्मसंग्रहः कर्मणः पुंव्यापाररूपस्यार्थभावनायाः संग्रहः संक्षेपः। तदेवमर्थभावनारूपपुंप्र (स्प्र) यत्नस्य यत्नस्य विधेयस्याभावनारूपो विधिंन शुद्धमात्मानं गोचरयति कारकाश्रयत्वाद्विधेययोः, तदुक्तं—"त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन" इति। कारकाणां च त्रैगुण्यरूपत्वमन्तरमेव व्याख्यास्यत इत्यभिप्रायः। अत्र प्रसङ्गाद्वि-

---

त्रिविध कर्म चोदना है कर्म क्रिया पुरुष व्यापाररूप आर्थीभावना तद्विषय प्रेरणा विधिरूप शाब्दीभावना यह अर्थ है। तथा कारण इतिकर्तव्यता सहित साधन धात्वर्थ है, कर्म भावी स्वर्गादिफल, कर्ताफल कामी पुरुष, क्रियाका उत्पादक इस प्रकार त्रिविध कर्म संग्रह है। कर्म पुरुषव्यापाररूप अर्थ भावनाका संग्रह संक्षेप, इस प्रकार अर्थभावनानुरूप पुरुष प्रयत्नरूप विधेयके अभावसे शब्दभावनारूप विधि शुद्ध आत्माको विषय नहीं करती, क्योंकि विधिविधेययोग कारकाश्रय होता है आत्मा अकारकस्वभाव है यह पूर्वमें व्यवस्था कर चुके हैं। यही भगवान् स्वयं श्रीमुखसे कहा है—

'त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन !' इति।

कारकोंमें त्रैगुण्यात्मकत्व है यह आगे कहेंगे यह अभिप्राय है।

प्रसङ्गादिति। पूर्वमें विधिविषयक लेखको पूर्ण हृदयङ्गम करनेसे मधुसूदन सरस्वतीका विधिविषयक विचार पूरा समझमें आवेगा इस धारणासे विधिविषयमें प्राञ्जल सुगम प्रौढ़ लेख श्री ६ गुरुचरणप्रणीत सनातनधर्मोद्धारसे उद्धृत किया है। आशा है कि इससे जिज्ञासु अधिकारीजनोंको पूर्ण लाभ तथा सन्तोष होगा। विध्यर्थ अतिकठिन और अनेकविध है, प्रायः प्रकृतोपयोगिमतभेदोंका विवेचन विस्ताररूपसे किया गया है वह पाठकोंको देखनेसे ही प्रतीत हो जायगा।

प्रवृत्तिका कारण प्रवर्त्तना सब लोगोंके अनुभवसे सिद्ध है, अतः उसके विषयमें किसीको विशेष निरूपण मनीषित नहीं। अनुभवसिद्ध ही को स्पष्ट करते हैं—राज्ञेत्यादिसे। राजासे प्रेरित बालकसे प्रेरित ब्राह्मणसे

धिश्चिन्त्यते—प्रेरणा तावत्सर्वलोकानुभवसिद्धा। राज्ञा प्रेरितो बालेन प्रेरितोऽहमिति हि प्रवर्तमाना वक्तारो भवन्ति। सा च प्रवर्तना प्रवर्तकराजादिनिष्ठा। तत्रोत्कृष्टस्य निकृष्टं प्रति प्रवर्तनाऽऽज्ञा प्रेषणेति चोच्यते। निकृष्टस्योत्कृष्टं प्रति प्रवर्तना याच्ञाऽध्येषणेति चोच्यते। समस्य समं प्रत्युत्कर्षनिकर्षौदासीन्येन प्रवर्तनाऽनुज्ञाऽनुमतिरिति चोच्यते। ते चाऽऽज्ञादयो ज्ञानविशेषा इच्छाविशेषा वा चेतनधर्मा एव लोके प्रसिद्धाः। वेदे तु विधिनाऽहं प्रेरितः करोमीति व्यवहर्तारो भवन्ति। तत्र स्वयमचेतनत्वादपौरुषेयात्वाच्च वैदिकस्य विधेर्न चेतनधर्मेणाऽऽज्ञादिना प्रेरकता संभवति। अतः स्वधर्मेणैव साऽभ्युपगन्तव्या गत्यन्तरासंभवात्। स एव च धर्मश्चोदना प्रवर्तना प्रेरणा विधिरुप-

---

प्रेरित 'मैं हूँ' इत्यादि प्रवर्त्त पुरुष कहते हैं। वह प्रवर्त्तना लोकमें प्रवर्त्तक राजा आदिमें पायी जाती है। उसका ३ तीन भेद है निकृष्टके प्रति उत्कृष्टकी प्रवर्त्तना आज्ञा प्रेषणा कही जाती है। उत्कृष्ट के निकृष्ट की प्रवर्त्तना याच्ञा अध्येषणा कही जाती है, तुल्य के प्रति तुल्य की ऊँचे नींचे के भेद भाव से रहित प्रवर्त्तना अनुज्ञा और अनुमति भी कही जाती है। वे आज्ञादि ज्ञानविशेष वा इच्छाविशेष चेतन के ही धर्म लोक में प्रसिद्ध हैं। वेद में तो विधि से प्रेरित 'मैं करता हूँ' ऐसा कहनेवाले देखे जाते हैं। प्रकृत में अपौरुषेय वेद स्वयम् अचेतन है, अतः तदात्मक विधि में चेतन धर्म अज्ञादि से प्रेरकत्व का संभव ही नहीं अतः स्वधर्म शब्दात्मक विधि धर्म से ही वह माननी चाहिये दूसरी गति नहीं है। वही धर्म चोदना प्रवर्त्तना प्रेरणा विधि उपदेश शब्दभावना कही जाती है, इस विषयमें कोई अलौकिक ही शब्दव्यापारकी कल्पना करते हैं। यह २ द्वितीय कल्पके भाषानुवादमें संक्षेपसे ३ तीन दोष इसमें पड़ते हैं, इस अरुचिसे केचित् कहा। उनमें एक दोष यह है कि अलौकिक अर्थमें व्यवहारादिसे शब्दशक्तिग्रह नहीं हो सकता अगृहीतशक्तिक पदका अबोधक होनेसे प्रयोग ही व्यर्थ है जब लोग उसको समझेंगे नहीं तो उससे प्रवृत्त कैसे होंगे ? २ दूसरा दोष यह है कि लोग राजादि की प्रेरणासे इस लिये प्रवृत्त होते हैं कि वह स्वतन्त्र फल देता है और अचेतन लिङ्गादिमें यह सामर्थ्य नहीं फिर इसकी प्रेरणासे लोग क्यों प्रवृत्त होंगे ?। तीसरा दोष यह है कि प्रवृत्तिमें प्रधान कारण लिङ्गादि है वा प्रेरणा ? प्रथम पक्षमें

देशः शाब्दीभावनेति चोच्यते। ततः केचिदलौकिकमेव शब्दव्यापारं कल्पयन्ति। अन्ये तु क्लृप्तेनैवोपपत्तौ नालौकिककल्पनां सहन्ते। प्रवर्तना हि प्रवृत्तिहेतुव्यापारः। विधिशब्दस्य चाऽऽख्यातत्वेन दशलकारसाधारणेनोपाधिना पुरुषप्रवृत्तिरूपार्थभावनां प्रति वाचकत्वं तज्ज्ञानहेतुत्वमिति यावत्। सा च ज्ञातैवानुष्ठातुं शक्यत इति तद्धीहेतोरपि शब्दस्य तद्धेतुत्वं परम्परया भवत्येव। तत्र विधिशब्दस्य पुरुषप्रवृत्तिरूपभावनाज्ञानहेतुव्यापारस्तद्वाचकशक्तिमत्तया विधिशब्दज्ञानम्। स एव च तस्य प्रवृत्तिहेतुव्यापार इति प्रवर्तनाभिधानीयकं लभते ज्ञानद्वारेणैव शब्दस्य प्रवृत्तिजनकत्वात्, ज्ञानजनकव्यापारातिरिक्तव्यापारकल्पने मानाभावात्। ज्ञानजनकश्च व्यापारस्तस्य स्वज्ञानं शक्तिज्ञानं

किसी फलकी सम्भावना नहीं, क्योंकि वे स्वयं पुरुषार्थ नहीं हैं। द्वितीय पक्षमें प्रेरणामात्रके ज्ञानसे विद्वान्‌की प्रवृत्ति नहीं हो सकती उचित अनुचित दोनों प्रकारकी हो सकती है इत्यादि वहाँ ही देखिये। अन्ये तु से मतान्तर कहते हैं—क्लृप्त निश्चित कारणसे ही लौकिककर्मके समान वैदिक कर्ममें प्रवृत्ति हो सकती है तो अलौकिक व्यापार मानने की क्या आवश्यकता? और कल्पना गौरव दोष इस मतमें स्फुट है। प्रवर्त्तना प्रवृत्ति हेतु व्यापार है, विधिशब्द आख्यातत्वरूप उपाधि जो कि दश लकारोंका साधारण धर्म है। उससे पुरुषप्रवृत्तिरूप अर्थभावनाके प्रति, उसमें अर्थभावना ज्ञानहेतुत्वरूप तद्वाचकत्व है अर्थात् दशो लकार अर्थभावनाके वाचक हैं। वह भावना ज्ञात होकर ही अनुष्ठान करनेके योग्य है अतः उसका हेतु जो शब्द वह भी परम्परासे उसका हेतु होता ही है। उसमें विधिशब्दका पुरुषप्रवृत्तिरूप भावना ज्ञानहेतु व्यापार पुरुषप्रवृत्तिका वाचक है तद्वाचकशक्ति विशिष्ट विधि शब्दज्ञान है वही उसकी प्रवृत्तिका हेतु व्यापार है अतः वही प्रवर्त्तनाका वाचक है। ज्ञानद्वारा ही शब्द प्रवृत्तिका जनक होता है, ज्ञानजनक व्यापारसे अतिरिक्त व्यापार स्वज्ञान शक्तिज्ञान स्वविशिष्ट शक्तिज्ञान। भाव यह है कि प्रवृत्ति कारण जो व्यापार वही प्रवर्त्तना है और प्रवृत्तिरूपी आर्थी भावना सब आख्यातोंका अर्थ है इसीसे लिङ्गादिशब्दका भी वह अर्थ है क्योंकि लिङ्गादिशब्द भी आख्यात ही है। तथा प्रवृत्तिरूपी आर्थी भावनाका ज्ञान लिङ्गादि कराते हैं। 'यजेत' 'जुहुयात्' आदि शब्दोंमें लिङ्गशब्दके श्रवणसे श्रोताको यह ज्ञान होता है कि ये शब्द याग होममें मुझे प्रवृत्त कराते

शक्तिविशिष्टस्वज्ञानं च। तत्राऽऽद्ययोरन्यतरस्य शब्दभावनात्वं तृतीयस्य तु तत्र करणत्वमिति विवेकः। एवं स्थिते निष्कर्षः—विधिना स्वज्ञानं जन्यते

हैं कि 'याग करो' 'होम करो' याग होम आदिमें मेरी प्रवृत्तिका प्रयोजक व्यापार इन शब्दोंमें है, यह सब लोगोंके अनुभवसे सिद्ध है। 'यजेत' इत्यादि विधिशब्दोंमें दो अंश है—एक आख्यातत्व और दूसरा लिङ्त्व, आख्यातत्व दशो लकारोंमें रहनेसे उसका साधारण धर्म है, लिङ्त्व लिङ्मात्रमें रहनेसे यह उसका असाधारण धर्म है। पुरुषप्रवृत्तिरूपी आर्थीभावना आख्यातार्थ है जो सब आख्यातोंसे प्रतीत होता है। प्रवृत्तिके कराने वाली प्रेरणा शाब्दीभावना है, जोकि लिङादि शब्दोंमें ही रहती है। लोकमें प्रवर्त्तक राजा आदि पुरुषोंमें आज्ञादिरूप है, अपौरुषेय अचेतन लिङादिविधिशब्दोंमें आज्ञादि चेतनधर्मतो रह नहीं सकता इस कारण शब्दधर्म प्रेरणाको मानकर वही शाब्दीभावना कही जाती है। आर्थीभावनाका ज्ञान लिङादि विधिशब्दोंसे होता है इस लिये लिङादि आर्थीभावनाके वाचक है। लिङादिशब्दसे प्रवृत्तिको जबतक पुरुष नहीं जानता तबतक पुरुष यागादिकर्मोंमें प्रवृत्त नहीं होता अतः प्रवृत्तज्ञानद्वारा लिङादिशब्दप्रवृत्तिके वाचक है। यह श्रोताओंका ज्ञान ही लिङादिशब्दोंका वह व्यापार है जो कि प्रवृत्तिरूपी आर्थीभावनाके ज्ञानका जनक है। लिङादिशब्दोंका व्यापार तीन प्रकारका होता है—पहला लिङादिशब्दोंका श्रावण प्रत्यक्ष, २ दूसरा प्रवृत्ति कराने की शक्तिका ज्ञान अर्थात् कोई ऐसी शक्ति है जिससे प्रवृत्तिका ज्ञान श्रोताओंको होता है यह ज्ञान दूसरा है। तीसरा विशिष्ट लिङादिशब्दोंका ज्ञान अर्थात् प्रवृत्ति के ज्ञान करानेकी शक्ति लिङादिशब्दोंमें है यह ज्ञान मूलमें स्वशब्दसे लिङादि विधिशब्द लिया जाता है उसका ज्ञान प्रथम है। शक्तिज्ञानसे दूसरा ज्ञान और शक्तिविशिष्टस्वज्ञानसे तीसराज्ञान विवक्षित है। विधिका प्रत्यक्ष दूसरे ज्ञान का स्मारक है सामान्यज्ञानपूर्वक ही विशेषज्ञान होता है इस लिये दूसरे ज्ञानकी अपेक्षा है। सामान्य ज्ञान प्रवृत्तिका कारण नहीं क्योंकि ऐसी शक्ति है इत्यादि द्वितीय ज्ञानसे यह नहीं प्रतीत होता कि वह शक्ति कहाँ है इस लिये तीसरे ज्ञान की अपेक्षा है। तीसरे ज्ञानसे यह स्पष्ट हो जाता है कि वह शक्ति लिङादिशब्दों में है इसीसे लिङादिशब्दश्रवणसे यागादिमें पुरुषकी प्रवृत्ति होती है। इन तीनोंमें प्रथम या द्वितीयको शाब्दीभावना कहते हैं और तृतीय ज्ञानको भावना-करण कहा जाता है यह विवेक है। ऐसी परिस्थितिमें यह निचोड़ अर्थ है कि

प्रवर्तनात्वेनाभिधीयतेऽपीति विधिज्ञानमेव शब्दभावना। तस्यां च पुरुषप्रवृत्तिरूपाऽर्थभावनैव भाव्यतयाऽन्वेति। करणतया च प्रवृत्तिवाचकशक्तिमद्विधिज्ञानमेव। भावनासाध्यस्यापि फलावच्छिन्नां भावनां प्रति करणत्वं

विधिसे अपना ज्ञान होता है अर्थात् वैदिक लिङादिशब्द स्वश्रावण प्रत्यक्षको उत्पन्न करता है वही प्रवर्त्तना कही जाती है, इस हेतु विधिज्ञान ही शाब्दीभावना है, पुरुषप्रवृत्तिरूप आर्थीभावना। उसी शाब्दीभावनामें भावनात्वसे अनुष्ठेयत्व अन्वित होता है अर्थात् उसमें शाब्दीभावनाकर्म आर्थीभावना है, करण प्रवृत्तिवाचक शक्तिविशिष्ट विधिज्ञान है, जो कि तृतीय ज्ञान कह चुके हैं।

प्रश्न—करण तो वही कहा जाता है जो कार्यके पूर्वक्षणमें रहता है, जैसे 'बाणेन हतः' यहाँ पर मरणसे पूर्व बाण रहता है इसलिये वह उसमें करण होता है, प्रकृतमें उक्त तृतीय ज्ञान प्रथम ज्ञान था द्वितीय ज्ञानके पूर्वक्षणमें नहीं है, किन्तु उत्तर क्षणमें होता है फिर वह करण कैसे हो सकता है ?

इसका उत्तर देते हैं—भावना सध्येत्यादि से। भाव यह है कि जैसे 'स्वर्गकामो यजेत' इत्यादि वाक्योंमें यागप्रवृत्तिरूपी आर्थीभावनाका करण होता है वैसे ही तृतीय ज्ञान भी पूर्वज्ञानरूपी शाब्दीभावनाका करण होता है।

प्रश्न—यह सिद्धान्त भी ठीक नहीं कि याग क्रिया आर्थीभावना आन्तरिक प्रवृत्ति जोकि पुरुषसमवेत कृतिस्वरूप है वह सर्व क्रियाओंका कारण होती है और इसीसे सब क्रियाओंसे पूर्वकालमें रहती है न कि उत्तर कालमें, तो ऐसी दशामें जब यागक्रिया आर्थीभावनासे पूर्वकालमें नहीं रहती तब कैसे उसका करण हो सकती है ? और दूसराही क्यों नहीं होता अर्थात् आर्थीभावना ही यागादि क्रिया का करण हो जाय क्योंकि उस से पूर्व काल में आर्थी भावना रहती है और जब इस रीति से दृष्टान्त ही की यह दयनीय दशा है तब कैसे उसके अनुसार यह कहा जा सकता है तृतीय ज्ञान पूर्व ज्ञानरूपी शाब्दीभावना का कारण होता है और इससे उलटे यही क्यों नहीं कहा जाता कि तृतीय ज्ञान शाब्दी भावना है और द्वितीय ज्ञान उस का कारण है क्योंकि उस से पूर्वकालमें रहता है ?

उत्तर—दृष्टान्त और दार्ष्टान्त प्रकृतमें दोनों ठीक हैं और इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है कि प्रवृत्तिरूपी आर्थीभावना याग से पूर्व ही कालमें रहती है परन्तु इसमें भी कुछ सन्देह नहीं है कि स्वर्गादिरूपी पुरुषार्थ

फलकरणत्वादेव यागस्यैव स्वर्गभावनां प्रति न विरुध्यते। तथा च पुरुषः

जो कि आर्थी भावना का भाव्य है वह याग से उत्तर काल ही में रहता है न कि पूर्व काल में और याग स्वर्गादि का कारण भी है इसीसे यागादि यद्यपि केवल आर्थीभावना का करण नहीं है तथापि फल का करण होने से फलयुक्त भावना का करण है और आर्थीभावना के विषय में सब मीमांसकों ने ऐसा ही स्वीकार किया है तथा शाब्दीभावना भी भावना ही है, इस से इस में भी ऐसा ही स्वीकार करना अनुचित न होगा अर्थात् यद्यपि तृतीय ज्ञान उक्त अन्य दो ज्ञानरूपी शाब्दीभावना के पूर्व काल में नहीं रहता तथापि उस शाब्दीभावना के भाव्य आन्तरिक प्रवृत्तिरूपी आर्थीभावना के पूर्व काल में अवश्य रहता है और उस का करण भी है इसी से प्रवृत्तिरूपी फल से युक्त पूर्व ज्ञानरूपी शाब्दीभावना तृतीय ज्ञान करण होता है तथा आर्थीभावना यागक्रिया का करण नहीं हो सकती क्योंकि उस का कोई व्यापार नहीं है और याग का तो अपूर्वरूपी व्यापार है इस से वह करण होता है यह भावार्थ है। अक्षरार्थ यह है कि शाब्दीभावना साध्य आर्थीभावना जो पुरुष प्रवृत्तिरूपा फलस्वरूपा है इस काल में तृतीय ज्ञान रहता है और उस का कारण भी है अतः प्रवृत्तिरूपी फल से विशिष्ट पूर्वज्ञान रूपी शाब्दीभावना का तृतीय ज्ञान करण होता है। इस में अनुरूप दृष्टान्त कहते हैं—यागस्यैवेत्यादि। जैसे याग प्रवृत्तिरूपी आर्थी भावना के पूर्व काल में नहीं रहता किन्तु उत्तर काल में ही रहता है परन्तु स्वर्गादि पुरुषार्थ जो आर्थीभावना का भाव्य है वह याग से उत्तर काल में ही रहता है न कि पूर्व काल में, और याग स्वर्गादि का कारण भी है अतः यागादि केवल आर्थीभावना का कारण नहीं है किन्तु स्वर्गादि का कारण होने से तद्विशिष्ट आर्थीभावना करण है। सारांश यह है कि याग और तृतीय ज्ञान क्रमशः आर्थीभावना के कारण साक्षात् नहीं हो सकते क्योंकि तत्पूर्वकाल में नहीं है फिर भी भावनाद्वय साध्य पुरुषप्रवृत्ति और स्वर्गादिरूप फलके पूर्वक्षण में रहने से तद्वारा तदुभय भावना में करण होते हैं। 'तथा च' से विधिका अर्थ कहते हैं— पुरुष अपनी प्रवृत्ति यहाँ करे इससे शाब्दी भावना कही गई है। इसमें तीन

स्वप्रवृत्तिं भावयेत्। केनेत्यपेक्षायां पुरुषप्रवृत्तिवाचकशक्तिमत्तया ज्ञातेन विधिशब्देनेति करणांशपूरणम्। कथमित्याकाङ्क्षायामर्थवादैः स्तुत्वेतीति-

अंश है साध्य साधन और इति कर्तव्यता, किं भावयेत, केन भाव येत, कथं भावयेत् इति। भाव्यापेक्षा स्वप्रति से निवृत्त हुई किन्तु 'केन' 'कथं' ये दो आकांक्षाये हैं। प्रथम साधनाकांक्षा से कहते हैं—

पुरुषप्रवृत्तिवाचकसक्तिमत्तया ज्ञातेन विधिशब्देन इसका विशद व्याख्यान पूर्व में लिख चुके हैं अतः वहाँ ही देखिये। 'कथं' इस तृतीय आकांक्षा की पूर्ति करते हैं—अर्थवादैः स्तुत्वेति। भाव यह है कि अथ वादों का अन्तर्भाव किस में है? भावना जो आख्यामात्र का अर्थ है और भावना जो लिङादि विधिशब्द का अर्थ है, इन दोनोंमें अन्त-र्भाव तो नहीं है, क्योंकि इन दोनों से साक्षात् इस की प्रतीति नहीं होती, आर्थीभावना में अर्थवादों के अन्तर्भाव का संभव ही नहीं अतः शाब्दीभावना में ही उन का अन्तर्भाव होता है।

प्रश्न—शाब्दी भावना में तीन अंश हैं किस में अन्तर्भाव होता है?

उत्तर यह है कि—इतिकर्तव्यता करने की रीति में

प्रश्न—किस रीति से?

इसका उत्तर यह है कि 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इस अध्ययनविधि का भावार्थ यह है कि वेद लिङादि शब्दों की शक्ति से पुरुषों की प्रवृत्ति को कराये, वह तब हो सकती है जब उस के विषय यागादि के गुणों का ज्ञान पुरुष को कराया जाय, इस रीति से उसी अध्यन विधि के द्वारा यह भी निश्चित हुआ कि यागों की प्रशंसा (गुणों का वर्णन) करना चाहिये जिससे पुरुषों की यागादिकों में प्रवृत्ति हो। और इस निश्चय के अनन्तर किन शब्दों से प्रशंसा की जाय इस जिज्ञासा से उक्त अध्ययनविधि वेद वाक्यों से अर्थवाद वाक्यों को नियम से बतलाता है कि इन्हीं अर्थवाद वाक्यों से यज्ञादि की प्रशंसा करे न कि अन्य वाक्यों से इस रीति से अर्थवाद शाब्दी भावना में इति कर्तव्यता रूपी होकर अन्तर्गत होते हैं।

कर्तव्यतांशपूरणम्। इयं गौः क्रय्येति लौकिके विधौ बहुक्षीरा जीववत्सा

प्रश्न—विधि वाक्यों के लिङादि शब्दों का अर्थ तो शाब्दीभावना है किन्तु उक्त अध्ययन विधि इसमें कार्यता ज्ञान ही नहीं करा सकता क्योंकि इसकी उपपत्ति नहीं हो सकती और जब शाब्दीभावना ही में कार्यता ज्ञान नहीं हुआ तब उस भावना के अङ्गभूत प्रशंसा में भी कार्यता ज्ञान नहीं हो सकता, और जब प्रशंसा में कार्यता ज्ञान नहीं है तब यह जिज्ञासा ही नहीं हो सकती कि किन शब्दों से। और ऐसी दशा में अध्ययनविधि अर्थवादों को नहीं बतला सकता कि इन्हीं से प्रशंसा करो क्योंकि जो पदार्थ जिज्ञासित नहीं है उसके उपाय का उपदेश व्यर्थ होता है, और यह भी नहीं कह सकते कि अर्थवाद लक्षण वृत्ति से आप ही आप यज्ञों की प्रशंसा का बोध करा सकते हैं, क्योंकि वे अपने शब्दों के अनुसार सिद्ध ही अर्थ का बोध कराते हैं। निदान यह कि जब अध्ययन विधि से प्रशंसा का करना उक्त रीति से नहीं निकलता तब किस के द्वारा अर्थवाद सब शाब्दीभावना की इतिकर्तव्यता में आ सकते हैं ?

इस प्रश्न का मूल यही है कि शाब्दीभावना में अध्ययन विधि से कार्यता का ज्ञान नहीं हो सकता, किन्तु यह ठीक नहीं है क्योंकि अध्ययन विधि का यह अर्थ है कि गुरुमुख से अधीत वेदाक्षरों को यथाशक्ति पुरुष का उपकार करना चाहिये और इसी अर्थ के अनुसार अध्ययन विधि अपने और अपने से अन्य सब वैदिक वाक्यों को पुरुष के उपकार में अक्षरशः लगाता है और वेद के किसी एक अक्षर की व्यर्थता का भी अध्ययन विधि कदापि सहन नहीं कर सकता तथा इसी कारण से सब वैदिक विधि वाक्यों के लिङादिशब्दों को यही अध्ययन विधि पुरुषों की प्रवृत्ति कराने में नियुक्त करता है कि वे लिङादिशब्द पुरुषों की प्रवृत्ति करायें। इस रीति से वैदिक लिङादिशब्द ही यज्ञादि कर्मों में पुरुषों के प्रति प्रयोजक कर्ता हैं क्योंकि ये अपौरुषेय हैं इससे कोई पुरुष प्रयोजक कर्ता नहीं है। इस रीति से पुरुषरूपी प्रयोज्य कर्ता की जो प्रवृत्तिरूपी आर्थीभावना है उस के अनुरूप प्रेरणारूप उक्त शाब्दीभावना में वैदिक लिङादि शब्दों की कार्यता का ज्ञान हो सकता है यह संक्षेपार्थ है, विशेष श्रीमद्गुरुचरण प्रणीत सनातनधर्मोद्धार में देखिये। विधि में स्तुति की आवश्यकता लोक दृष्टान्त से स्पष्ट कहते हैं जैसे लोक में किसी ने किसी को कहा कि यह गौ खरीदो, उसने कहा इस समय नहीं दूसरे

स्त्यपतया समांसमीनेत्यादिलौकिकार्थवादवत् । नन्वाख्यातत्वेन विधिशब्दादुपस्थिता पुरुषप्रवृत्तिर्भाव्यतयाऽस्त्वेतु, करणं तु कथमनुपस्थितमन्वेति ? उच्यते—विधिशब्दस्तावच्छ्रवणेनोपस्थापितस्तस्य पुरुषप्रवृत्तिवाचकशक्तिरपि

समय में लेंगे। जब यह सुना कि यह गौ बहुत दूध देनेवाली है इसके बच्चे जीते हैं बाछी ज्यादे होती हैं वर्षायण (प्रतिवर्ष) प्रसव करती है, इत्यादि तब उसको खरीदने की तुरत इच्छा हो गई क्योंकि ऐसे अच्छे संयोग से मिलती है सदा नहीं। एवं 'वायव्यं श्वेतमालभेत भूतिकामः' इस विधि वाक्य को सुन कर न जाने इस जन्म में फल होगा या जन्मान्तर में ? इस जन्म में होगा तो न जाने कब होगा ? इस धारणा से आवृत है, उसको 'वायु वै क्षेपिष्ठा देवता' इत्यादि से वायु 'शीघ्र गामिनी देवता है अतः शीघ्र फलप्रद है इस प्रशंसा को सुन कर उक्त याग में प्रवृत्ति होती है, अतः विधि वाक्य को अर्थवाद की अपेक्षा है इस प्रकार विध्यर्थ शाब्दीभावना के इति कर्तव्यतांश पूरक अर्थवाद होते हैं।

ननु से प्रश्न—कहते हैं—कि लिङर्थ शाब्दीभावना में आख्यातार्थ आर्थीभावना का भाव्यत्वेन अन्वय हो क्योंकि दोनों पदार्थ पदों से उपस्थित है परन्तु तृतीय ज्ञान का करणत्वेन शाब्दीभावना में अन्वय कैसे होगा ? क्योंकि तृतीय ज्ञान पद से उपस्थित नहीं है। भाव यह है कि एक एक पदों से जो अर्थ उपस्थित होते उन्हींमें परस्पर सम्बन्धका बोध पदसमूहरूपी वाक्यों से होता है। प्रकारान्तर से उपस्थित अर्थों के सम्बन्ध का बोध नहीं होता अत एव 'शाब्दी आकाँक्षा शब्देनैव प्रपूर्यते' यह अभियुक्त वचन सङ्गत है। एतन्मूलक ही 'तदर्थविषयक—शाब्दबोधं प्रति तत्पदनिष्ठ वृत्तिज्ञानाधीन तदर्थविषयकोपस्थितिः कारणम्' यह कार्य कारण भाव है। और जिसके मत से तृतीय ज्ञान शाब्द भावना है उस के मत में यद्यपि वह शब्द से उपस्थित है तथापि उसमें जो करण है द्वितीय ज्ञान यह तो किसी पद से उपस्थित नहीं है अतएव तृतीय ज्ञानरूपी शाब्दीभावना उसके सम्बन्ध का बोध विधिवाक्य से कैसे हो सकता है ?

उच्यते से उत्तर कहते हैं—विधि शब्द लिङादि श्रोत्र से उपस्थित है अर्थात् उसका श्रावणप्रत्यक्ष है अतः प्रत्यक्ष से उपस्थित है। उसमें जो पुरुष प्रवृत्ति वाचकत्व शक्ति है यह भी स्मरण से उपस्थित ही है तदुभय वैशिष्ट्य

स्मरणेनोपस्थापिता। तदुभयवैशिष्ट्यं तन्निष्ठा ज्ञातता च मनसेति वाचकशक्तिमत्तया ज्ञातो विधिशब्द उपस्थित एव। अनेन यच्छक्नुयात्तद्भावयेदिति प्रतिशब्दं स्वाध्यायविधितात्पर्याच्छब्दातिरिक्तेनोपस्थितमपि शाब्दबोधे भासत एव। यथा ज्योतिष्टोमादिनामधेयं यथा वा लिङ्गविनियोज्यो मन्त्रः। तदुक्त-

शब्दशक्ति दोनों का वैशिष्ट्य और तन्निष्ठ ज्ञातता प्राकट्याख्य विषयता मन से उपस्थित है इस तरह वाचक शक्तिविशिष्ट ज्ञान विधिशब्द से उपस्थित ही हैं। भाव यह है कि लिङादि प्रत्ययरूपी शब्द तो श्रोत्र से ही उपस्थित है और आर्थीभावना के बोध कराने की शक्ति भी स्मरण से उपस्थित है इसी रीति से उन दोनों का परस्पर सम्बन्ध और उस सम्बन्ध को ज्ञानरूपी तृतीय ज्ञान भी श्रोताओं के मन से उपस्थित ही है। इस रीति से तृतीय ज्ञान का कोई अंश ऐसा नहीं है जो कि उपस्थित न हो, किन्तु तृतीय ज्ञान सब अंशों से पूर्ण होकर उपस्थित ही है इसी से पूर्व ज्ञानरूपी शाब्दीभावना में उसके सम्बन्ध का बोध वैदिक लिङादि शब्दों से सहज ही में होता है। ऐसे ही जिस मत में उक्त द्वितीय ज्ञान शाब्दीभावना का करण है उस मत में भी कोई दोष नहीं है क्योंकि द्वितीय ज्ञान भी श्रोताओं के अन्तःकरण से उपस्थित ही है तो उसके सम्बन्ध का बोध वैदिक लिङादि शब्दों से भली भाँति हो सकता है।

प्रश्न—जो अर्थ पदों से उपस्थित होता है उसी अर्थ का शाब्दबोध में भान होता है प्रमाणान्तर से उपस्थित अर्थ का नहीं, यह नियम पूर्व में कह चुके हैं फिर यहाँ प्रत्यक्ष से उपस्थित अर्थ का शब्द से बोध कैसे कहते हो?

अनेनेत्यादि से। उत्तर कहते हैं—'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इस विधि वाक्य का तात्पर्य यह है कि हर एक वैदिक शब्दों में उपस्थित होकर यह बोधन कराता है कि इन वैदिक शब्दों से मनुष्य का जो उपकारक मनुष्य कर सके सह सके, इस कारण शब्दभिन्न से भी उपस्थित होते है उसके सबन्ध का भी सबन्ध का भी बोध वैदिक शब्द कराते हैं जैसे स्वर्ग के लिये 'ज्योतिष्टोमेन यजेत स्वर्गकामः' इस वाक्य से उक्त याग का विधान है इस का अर्थ है कि—स्वर्गलाभ के लिये ज्योतिष्टोम नामक याग करे, यहाँ उक्त याग की उपस्थिति श्रोत्रेन्द्रिय से है न कि शब्द से,

माचार्यैरुद्भिदधिकरणे—"अनुपस्थितविशेषणाविशिष्टे बुद्धिर्न भवति न त्वनभिहितविशेषणा" इति। एवमर्थवादानामुपस्थितिः। श्रोत्रेण प्राशस्त्यस्य तु तैरेव लक्षणया तदुभयनिष्ठज्ञाततयास्तु मनसेत्यर्थवादैः प्रशस्तत्वेन ज्ञात्वे

क्योंकि ज्योतिष्टोम की शक्ति तदर्थ याग में है स्वानुपूर्वी में नहीं फिर भी उक्त शब्द के शब्द के संबन्ध का बोध होता है। अत एव उद्भिदधिकरण में मीमांसको ने कहा है कि यह नियम वेदमें नहीं है कि शब्द ही से उपस्थित विशेषण के सम्बन्ध का बोध वैदिक शब्दों से होता है अर्थात् अन्यप्रकार से उपस्थित विशेषण के सम्बन्ध का भी उन से बोध होता है, इस रीति और प्रमाण से पूर्वोक्त दाने मतों में श्रोता के अन्तःकरण से उपस्थित करणांश के सम्बन्ध का भी बोध वैदिक शब्दों से होता है। एवं लिङ्ग विनियोज्य 'बर्हिर्देवसदनं दामि' इत्यादि स्थल 'दामि' इस लिङ्ग से कुशच्छेदन में इस मन्त्र का विनियोग है। 'दो अव खण्डने' इस धातु से 'आदेच उपदेशेऽशिति' इस सूत्र से आत्व करने पर उत्तम पुरुषैकवचन में 'दामि' यह प्रयोग होता है। यह मीमांसकाचार्यों ने कहा है कि 'अनुपस्थितविशेषण-विशिष्टे बुद्धिर्न भवति' इत्यादि। भाव यह है कि किसी प्रकार से जो विशेषण उपस्थित नहीं है उसके सम्बन्ध का बोध न होने से तद्-विशेषणविशिष्ट में तद्विशेषणविशिष्ट बुद्धि नहीं होती यह नियम है, न कि शब्द से अनुपस्थित जो विशेषण तद्विशिष्ट बुद्धि नहीं होती; ऐसा मानने में ज्योतिष्टोमादि नामधेय का याग के साथ अन्वय ही नहीं होगा ऐसी परिस्थिति में 'यजेत' इत्यादि से याग विधान ही व्यर्थ हो जायगा क्यों कि यागसामान्य का अनुष्ठान असम्भव है विशेष की प्रतीति न होगी इस लिये वेदमें प्रकारान्तर से उपस्थित अर्थ के सम्बन्ध का बोध वैदिक शब्दों से होता है यह मानना आवश्यक है। एवमित्यादि। इसी प्रकार अर्थवादों की उपस्थिति श्रोत्र से होती है और प्राशस्त्य अर्थ लक्षणावृत्ति से उन अर्थवादों से उपस्थित होता है। तदुभयनिष्ठ ज्ञातता की उपस्थिति मनसे, इस तरह अर्थ वादों से प्रशस्त जान कर तद्विहित कर्म तत्तत्फलप्राप्ति के लिए करें यह समुदाय का अर्थ है।

तीतिकर्तव्यातांशान्वयोऽप्युपपन्न एव। ननु किं प्राशस्त्यम्, न तावत्फलसाधनत्वम्, तस्य यागेन भावयेत्स्वर्गमित्यर्थभावनान्वयवशेन विधिवाक्यादेव लब्धत्वात्। नान्यत्, प्रवृत्तावनुपयोगात् ?, उच्यते—बलवदनिष्टाननुबन्धित्वं प्राशस्त्यम्। तच्च नेष्टहेतुत्वज्ञानाल्लभ्यते, इष्टहेतावपि कलञ्जभक्षणादावनिष्टहेतुत्वस्यापि दर्शनात्। विहितश्येनफलस्य च शत्रुवधस्यानिष्टानुबन्धित्वं दृष्टम्। अतो यावत्साधनस्य फलस्य चानिष्टाहेतुत्वं नोच्यते तावदिष्टहेतुत्वेन ज्ञातेऽपि तत्र पुरुषो न प्रवर्तते। अत एवोक्तम्—

"फलतोऽपि च यत्कर्म नानर्थेनानुबध्यते।
केवलप्रीतिहेतुत्वात्तद्धर्म इति कथ्यते॥" इति।

प्रश्न—प्राशस्त्यरूप क्या है, यदि फल साधनत्व प्राशस्य कहें तो उस का लाभ याग से स्वर्ग की भावना करे इस अर्थभावना के अन्वयवश से विधिवाक्य द्वारा ही हो जाता है पुनः एतदर्थ अर्थवादों की क्या आवश्यकता, अन्य प्रकार के प्राशस्त्यों का प्रकृत में उपयोग ही नहीं है ?

उत्तर—'उच्यते' से कहते हैं—बलवदनिष्टाननुबन्धित्व रूप ही प्राशस्त्य है, वह इष्टहेतुत्वज्ञानमात्र से नहीं लब्ध होती, क्योंकि इष्टसाधन कजञ्जभक्षण में भी अनिष्टहेतुत्व पाया जाता है, 'न कलञ्ज भक्षयेत्' इस प्रतिषेध वाक्य से अनिष्टहेतुत्व का भी वोध होता है। एवं 'श्येनेनाभिचरन् यजेत' इस विधि वाक्य से विहित श्येन में भी फलद्वारा अनिष्टानुबन्धित्व ही है अतः जब तक स्वयागादि में और तत्फल में अनिष्टासम्पादकत्व नहीं कहा जाता तब तक इष्ट संपादकत्व समझने पर भी पुरुष प्रवृत्त नहीं होता। अत एव वार्तिककारने कहा है कि—

'फलतोऽपि च यत्कर्म नानर्थेनानुबध्यते।
केवलप्रीतिहेतुत्वात् तद्धर्म इति कथ्यते॥' इति।

जो कर्मफल द्वारा 'अपि' शब्द से स्वतः अनर्थ हेतु नहीं है केवल सुखहेतु होने से 'केवल' शब्द से दुःख मिश्रित सुख की

अतः स्वतः फलतो वाऽनर्थाननुबन्धित्वरूपप्राशस्त्यबोधनेनार्थवादा विधिशक्तिमुत्तम्भयन्ति। क उत्तम्भः? स्वतः फलतो वाऽनर्थाननुबन्धित्वशङ्कायाः प्रवृत्तिप्रतिबन्धिकाया विगमः। इदमेव च विधेः प्रवृत्तिजनने साहाय्यमर्थवादैः

व्यावृत्ति की गई है वह धर्म कहा जाता है इति। स्वरूप से वा फलद्वारा अनिष्टा संपादकत्व प्राश रूप बोध कराने से अर्थवाद विधि शक्ति के उत्तेजक होते हैं।

प्रश्न—उत्तेजकत्वस्वरूप उत्तम्भ क्या है?

उत्तर—स्वतः से फल से वा दुःख संपादकत्व, शंका जो कि कर्म प्रवृत्तिप्रबन्धक है, उसका निवारण यही विधि के कर्म में प्रवृत्ति कराने में अर्थवादों की सहायता सहकारिता है। केवल विधिमात्र से पुरुष कर्म में प्रवृत्ति नहीं होता क्योंकि विधि कर में सुख हेतुत्वमात्र का बोध कराता है अनिष्टासंपादकत्व का नहीं। यह नियम नहीं है कि सुख हेतु दुःखहेतु न हो विषमिश्रित अन्न श्येनादियाग में उभय हेतुत्व पाया जाता है, अतः दुःख हेतुत्वशंकासे पुरुषप्रवृत्ति रुक जाती है। जब अर्थवादों से प्रशंसा द्वारा उक्त प्रतिबन्धक शंका का निराकरण किया जाता है तब पुरुष प्रवृत्ति होती है। इस कारण से विधि अर्थवाद की अपेक्षा सदा करता है अन्यथा प्रवृत्ति न होने से कर्मविधि ही व्यर्थ हो जायगी। तात्पर्य यह है कि वैदिक लिङादि शब्द स्वगत प्रेरणामात्र को जना कर कर्मों में पुरुष को प्रवृत्त नहीं करा सकते क्योंकि उक्त शब्द की प्रेरणा जान कर यदि पुरुष की इच्छा न होगी, तो प्रवृत्त नहीं होगा इससे यह कहना ठीक है कि वैदिक शब्दों की कराये हुए प्रेरणा के ज्ञान से पुरुष की कर्म करने की इच्छा होती है उसी से प्रवृत्ति होती है। इच्छा के बिना प्रवृत्ति नहीं होती यह तो लोक में प्रसिद्ध ही है। इस रीति से वैदिक लिङादि शब्दों से पुरुष को कर्म करने की इच्छा जैसे होती है वैसे ही उक्त कर्मों में अधिक श्रम अधिकाधिक धनव्यय कायक्लेश आदि देख कर आलस्य और लोभ के कारण से यज्ञादि कर्म में पुरुष को द्वेष भी हो जाता है, जो कि निवृत्ति का कारण है। यह प्रवृत्ति का प्रबलबाधक प्रसिद्ध है और यह द्वेष पुरुष की इच्छा को दबाकर पुरुष को यागादि कर्मों से निवृत्त कराता है। वैदिक लिङादि शब्द उक्त द्वेष के हटानेवालों की अपेक्षा करते ही हैं अन्यथा वे स्वयं व्यर्थ हो जायंगे। द्वेष हटाने के लिए

क्रियत इति विधिरर्थवादसाकाङ्क्षः। एवमर्थवादा अप्यभिधया गौण्या वा

यागादि भावना की प्रशंसा से अतिरिक्त कोई दूसरा उपाय नहीं है। लोक में मूल्य अधिक होने से गौ लेने में जिस पुरुष को द्वेष होता है अत एव लेने की इच्छा रुक जाती है उस पुरुष के उस द्वेष को इसमें पन्द्रह सेर दूध है, प्रति वर्ष वियाती है, बड़ी सीधी है, कोई दूध निकाल सकता है इत्यादि प्रशंसा से ही लोग हटी इच्छा को जगा तथा प्रवृत्ति को उत्पन्न कर गौ को खरिदवा देते हैं; वैसे ही ये अर्थवाद प्रशंसा के द्वारा पुरुष के द्वेष को हटाकर इच्छोत्पादन द्वारा पुरुष को यागादि में प्रवृत्ति करा देते हैं। लौकिक प्रशंसा वाक्यों में प्रवृत्ति कराने की शक्ति जैसे अनुभव सिद्ध है वैसे ही इन अर्थवादों में भी, इसी से अर्थवादों की प्रवृत्ति कराने में सहकारि शक्ति भी प्रसिद्ध ही है। प्रशंसा से यह स्पष्ट हो जाता है कि यागादि केवल पुरुषार्थ साधक ही नहीं हैं किन्तु प्रबल दुःख दाता नहीं हैं अर्थात् बलवद्दुःख देने का दोष भी उन में नहीं है जिस से उन में न हो सके। विषमिश्रित मधुरान्न श्येनयागादि लौकिक वैदिक अनेक दृष्टान्त ऐसे हैं जो इष्टसाधक होकर अनिष्ट के भी साधक होते हैं ऐसे कर्मों में विचारशील पुरुष की प्रवृत्ति नहीं होती। शत्रु वध के लिये श्येन यागका 'श्येनेनाभिचरन् यजेत' इस वाक्य से वेदमें विधान है, और यह शत्रुनाशजन्य सुख का कारण भी है। तथा उक्त याग का स्वरूप किसी प्रबल दुःख का कारण भी नहीं है, तथापि श्येनयाग का जो फल हिंसा है वह 'न हिंस्यात्सर्वा भूतानि' (किसी प्राणी को न मारे) इस निषेध वाक्य के अनुसार प्रबलदुःख नरक निपात का कारण है, इसीसे श्येन याग धर्म नहीं है। इसी से मीमांसाचार्यों ने कहा है—जिस कर्मका फल भी दुःखदायी न हो अर्थात् अपने स्वरूप और फल से जो कर्म केवल सुखदायक ही हो वह धर्म लाभ की अपेक्षा श्येन में अधिक हानि है, इसलिये वह धर्म नहीं है, न विवेकी की उस में प्रवृत्ति ही होती है। श्येन का विधान भी इसी अभिप्राय से है कि जिस को फलकृत उक्त हानि को उठा कर शत्रुवधरूपी लाभ उठाना हो वह श्येन करे, न कि यह अभिप्राय है कि श्येन करना चाहिये विशेष विस्तार अन्यत्र स्पष्ट है। जैसे विधि वाक्य को उक्त रीति से अर्थवाद की अपेक्षा है वैसे अर्थवादों को भी विधि की अपेक्षा है, क्योंकि अर्थवाद अभिधा (शक्ति) अथवा गौणी

वृत्त्या भूतमर्थं वदन्तोऽपि स्वाध्यायविध्यापादितप्रयोजनवत्त्वलाभार्थं विधिसाकाङ्क्षाः। सोऽयं नष्टाश्वदग्धरथवत्संप्रयोगः, यथैकस्य दग्धस्य रथस्य जीवद्भिरश्वैरन्यस्य विद्यमानस्य रथस्याविद्यमानाश्वस्य संप्रयोगः, परस्परस्यार्थवत्त्वाय तथाऽर्थवादानां प्रयोजनांशो विधिना पूर्यते, विधेश्च

वृत्ति (लक्षणा) विशेष से भूतार्थ (सिद्धार्थ) ही को कहते हैं साध्यार्थ को नहीं। सिद्धार्थ बोधक वाक्य सप्तद्वीपा वसुमती के समान व्यर्थ है। जिस वाक्य को सुन कर पुरुष कर्मविशेष में प्रवृत्त होकर तदनुष्ठान द्वारा इष्टार्थ का लाभ करे किं वा कर्म विशेष के अनुष्ठान से विपरीत होकर अनिष्ट का परिहार करे वही वाक्य सप्रयोजन होने से प्रमाण है। अत एव—

'प्रवृत्तिर्वा निवृत्तिर्वा नित्येन कृतकेन वा।
पुंसां येनोपदिश्येत तच्छास्त्रमभिधीयते॥' इति

यह अभियुक्त वचन है। इसीसे 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इस विधिवाक्यका यह अर्थ माना गया है कि—गुरुमुखाधीतवेदसे इष्टसिद्धि करे, कोई भी वेदका एक अर्थ नहीं है सब साक्षात् वा परम्परासे पुरुषार्थका साधन है। ऐसी सिद्धान्त स्थितिमें भूतार्थवादी अर्थवादोंसे कोई प्रवृत्तियोग्य वा निवृत्तियोग्य अर्थका विधान नहीं है, अतः स्वाध्यायविधिबोधित प्रयोजनवत्त्वलाभके लिये अर्थवादोंको विधिकी अपेक्षा है, क्योंकि उनमें फल और तत्साधन कर्मविशेषका स्पष्ट निर्देश है। विधिविहित यागादि प्रशंसाद्वारा विधिवाक्योंके साथ एक वाक्यतापन्न होकर अर्थवाद प्रमाण माने जाते हैं। उभयाकांक्षारूप प्रकरणसे विधि और अर्थवादका मिथः सम्बन्ध है। अर्थवादोंको फलबोधकवाक्यकी अपेक्षा है और सफल कर्मबोधक विधिवाक्यको स्वविधेय कर्मस्तुतिकी अपेक्षा है। इस कारण दोनोंके परस्पर सम्बन्धसे दोनों सार्थक होते हैं। इसमें अनुरूप दृष्टान्त कहते हैं—नष्टाश्वदग्धरथवदिति। भाव यह है कि जैसे नष्टाश्वरथ जिसके घोड़े नष्ट हो गये हैं, (अर्थात् नहीं है) और दग्धरथ (जिसका रथ जल गया है और घोड़े उसके हैं) उन दोनों पुरुषोंके परस्पर मिलापसे दोनों रथमें घोड़ोंको जोतकर अपने यात्रारूपी कार्यको भली भाँति निर्वाह कर लेते हैं अर्थात् नष्टाश्वके घोड़ोंकी आवश्यकताको दग्धरथ और दग्धरथकी आवश्यकताको नष्टाश्व पूर्ण करता है, और इस रीतिसे उनके अन्योन्यकी प्रयोजनाकांक्षाको अन्योन्य सम्बन्ध ही निवृत्त करता है; वैसे ही अर्थवादोंके पुरुषार्थरूपी प्रयोजनाकांक्षाको विधि-

शब्दभावनया इतिकर्तव्यतांशोऽर्थवादैरिति। तदिदमुभयोः श्रवणे पूर्णमेव वाक्यमेकस्य श्रवणे त्वन्यस्य कल्पनया पूरणीयम्, यथा "वसन्ताय कपिञ्जला-

वाक्य और विधिवाक्योंके अपनी शाब्दीभावनाके इति कर्तव्यतारूपी प्रयोजनकी प्रशंसाकी आकांक्षाको अर्थवादवाक्य पूर्ण करते हैं इसीसे विधि और अर्थवाद वाक्योंका परस्पर सम्बन्ध अतिगुणकारी और क्षीर नीरके समान अतिघनिष्ट होता है। यहाँ तक है कि पृथग् २ दोनों वाक्य अधूरे रहते हैं और दोनों मिलकर ही एक वाक्य है यह सब अर्थ उक्त अध्ययन विधि ही के बलसे सिद्ध होता है। और यह भी उसीसे निकलता है कि वैदिक अर्थवादोंसे अन्य किसी कैसे भी वाक्यसे यदि यागादिकी प्रशंसा की जाय तो वह कदापि वैदिक शाब्दभावनाका अङ्ग नहीं हो सकता, और वैदिक अर्थवादोंका भी वैदिक आर्थीभावनासे अतिरिक्त कोई कार्य साधनीय नहीं है, अर्थात् विधि और अर्थवादके विषयमें उक्त अध्ययन विधिका यही अर्थ निकृष्ट और सारभूत है कि वैदिक अर्थवादों ही से प्रशंसामें लक्षणाके द्वारा प्ररोचित और विधिवाक्यों ही से विहित जो यागादि कर्म किया जाता है वही स्वर्गादिफलोंका साधक होता है न कि अन्य प्रकारका यह संक्षेप अर्थ है और प्रकृतोपयोगी है अक्षरार्थ स्पष्ट है। दोनों के श्रवण में यह पूर्ण ही वाक्य है, जहाँ अर्थवाद और विधिवाक्य इन दोनों में एक ही का श्रवण है यहाँ दूसरे कल्पना का वाक्य को पूर्ण किया जाता है। उदाहरण कहते हैं—यथेति। 'वसन्ताय कपिञ्जलानात्वमेत' इस विधि वाक्य के समीप अर्थवाद की श्रुति नहीं है अतः अर्थवाद की कल्पना कर यहाँ वाक्य को पूर्ण किया जाता है। भाव यह है कि उक्त विधि वाक्य से वसन्त देवता के प्रीत्यर्थ कपिञ्जलपक्षिविशेष से आलम्भन (यज्ञ) करे आलम्भन यहाँ यज्ञार्थक है। इस विधि वाक्य में विधान करने की और प्रशंसा करने की दो शक्तियाँ जैसे मानी जाती है वैसे ही 'वायव्यं श्वेतमालभेत भूतिकामः' इत्यादि विधि-वाक्यों ही में प्रसंशा करने की शक्ति भी मान ली जाय। अतः अर्थवादों का क्या प्रयोजन है ? इसका उत्तर यह है कि—इस विधिवाक्य के समीप कोई अर्थवाद वाक्य प्रत्यक्ष पठित नहीं है इसी से अन्वय गति होकर प्रसंशा करने की शक्ति भी उसी में मान ली जाती है।जिसमें पूर्वोक्त दोष हटाने से पुरुषों की प्रवृत्ति निर्विघ्न हो, और प्रकृत में तो 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा' इत्यादि अर्थवाद प्रत्यक्ष पठित ही है तो यहाँ उक्त क्लेश की आवश्यकता नहीं है।

नालभेत" इति विधावर्थवादांशोऽश्रुतोऽपि कल्प्यते—"प्रतितिष्ठन्ति ह वा

प्रश्न—यदि विधि शक्ति के न रहने से अर्थवाद आर्थीभावना का बोध नहीं कराते तो अपने अक्षरों के पढ़ने का ही बोध करावे पुनः ऐसी दशा में उनकी लक्षणा किस प्रयोजन से प्रशंसा में मानी जाती है ?

उत्तर—अर्थवाद अपने अक्षरों के अनुसार सिद्ध ही अर्थ का बोध कराते हैं और उससे पुरुषों की प्रवृत्ति नहीं होती। इसी से अर्थवाद वाक्य ऐसे अर्थ का बोध करा कर सप्रयोजन हो सकते हैं कि जिससे पुरुषों की प्रवृत्ति हो सके और ऐसा अर्थ वही हो सकता है जो कि पुरुषार्थरूपी है. और अक्षर पाठ तो परिश्रमदायी होने से पुरुषार्थ रूप नहीं है इसी से उसके बोध कराने पर भी अर्थवादों की अपने सफलता की आकांक्षा पूर्ण नहीं होती। इस रीति से अनन्य गति होकर पुरुषों की प्रवृत्ति के लिये अर्थवाद अपनी अपनी पुरुषार्थ की आकांक्षा की प्रशंसा ही के द्वारा बोध कराने से परिपूर्ण करते हैं। सारांश यह है कि विधि और अर्थवाद दोनों मिल ही कर एक वाक्य पूर्ण होता है इसीसे पूर्वोक्त 'वसन्ताय कपिञ्जलान्' इत्यादि विधि वाक्यमें जहाँ कि अर्थवाद प्रत्यक्ष पठित नहीं है, कल्पित अर्थवादोंसे विधिवाक्य पूर्ण किये जाते हैं और 'प्रति तिष्ठन्ति ह वा' इत्यादि अर्थवाद वाक्यों मे (जहाँ कि विधि वाक्य प्रत्यक्ष पठित नहीं है) कल्पित विधिवाक्योंसे अर्थवाद वाक्य पूर्ण किये जाते हैं, जैसे 'प्रतितिष्ठन्ति हवा य एतो रात्रीरुपयन्ति' जो इस रात्रिसत्र को करते हैं वे अवश्य ही प्रतिष्ठा पाते हैं, ऐसे अर्थवाद वाक्यों के विषय में सब मीमांसकों की एक वाक्यता से यह सिद्धान्त है कि—ऐसे वाक्य यज्ञ की प्रशंसा भी करते हैं और यज्ञ फल का निश्चय भी कहते हैं। यद्यपि ऐसे वाक्यों के समीप में रात्रिसत्र आदि यज्ञों के विधान करने वाले कोई विधि वाक्यनहीं श्रुत हैं तथापि ऐसे अर्थवाद वाक्यों के बल ही से प्रतिष्ठा आदि फल के निश्चय द्वारा 'प्रतिष्ठाकामा रात्रिसत्र कुर्यात्' प्रतिष्ठा की इच्छा वाले पुरुष रात्रिसत्र को करे इत्यादि विधिरूपी वाक्य की अर्थात् कल्पना की जाती है। और उन यज्ञों में पुरुषों की प्रवृत्ति के लिये अनन्तरोक्त अर्थवाद वाक्य ही उन यज्ञों की प्रशंसा भी करते हैं, अर्थात् इन अर्थवाद वाक्यों में दो शक्तियाँ मानी जाती हैं, एक प्रतिष्ठादि फलों के स्वरूप बतलाने की, और दूसरी प्रसंशाकी बोध करानेकी, और अधिक क्या कहना है। आर्थीभावना के निरूपण में इसी ग्रन्थ में 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' वेद अवश्य पढ़े इस वाक्य से अर्थात् अनेक वाक्यों की कल्पना के द्वारा

य एता रात्रीरुपयन्ति" इत्याद्यर्थवादे द्रष्टव्यः। तथा च सूत्रम्—"विधिना त्वेकवाक्यत्वात्स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः" इति। विधिना स्तुतिसाकाङ्क्षेण प्रयोजनसाकाङ्क्षाणामर्थवादानामेकवाक्यत्वाद्विधीनां विधेयानां स्तुत्यर्थेन स्तुतिप्रयोजनेन स्तुतिरूपेण प्रयोजनसाकाङ्क्षेण लाक्षणिकेनार्थेन वाऽऽनर्थ-

वेद का पुरुषार्थ साधक होना निकाला गया है यह संक्षिप्तार्थ है विशेष मीमांसा के आकर ग्रंथों में देखिये।

उक्त अर्थ में मीमांसा सूत्र प्रमाण कहते हैं—विधिनेत्यादि। 'आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्' इस सूत्रसे अर्थवादो में आमाण्य की आशंका कर विधिनेत्यादि सिद्धान्त सूत्र है। स्तुति साकांक्ष विधि के साथ प्रयोजन सांकाक्ष अर्थवादों की एकवाक्यता होने पर विधेय के स्तुति प्रयोजन से साकाङ्क्ष लाक्षणिक अर्थ से वा अर्थवादों में आनर्थक्य नहीं ही होता अतः वे धर्म में प्रमाण है यह उक्त सूत्र का अर्थ है। भावार्थ यह है कि विधिवाक्य अपने विधेय यज्ञादि क्रिया में पुरुषों की प्रवृत्ति के लिये विधेय स्तुति की तथा अर्थवाद वाक्य भी अपने प्रयोजन की आकांक्षा करते हैं, इस से स्तुतिरूप अर्थ के द्वारा अर्थवादवाक्य विधिवाक्यों से मिल कर विधिवाक्यों ही में अन्तर्गत हो दोनों एक महावाक्यरूपी हो जाते हैं और विधिवाक्य तो पुरुष की प्रवृत्ति कराने से धर्म में प्रमाण होते ही है इसी से उन के अन्तर्गत अर्थवाद भी धर्म में प्रमाण होते हैं। तात्पर्य यह है कि विधिवाक्य अर्थवादों को लेकर ही पूर्ण वाक्य कहलाते हैं, और विधिसे पृथक् वे कोई वस्तु नहीं है किन्तु उसी के अङ्ग हैं। यद्यपि विधिवाक्य यज्ञादि कर्मों में पुरुष की प्रवृत्ति कराते हैं तथापि यज्ञों में परिश्रम और धनव्यय अधिक होने के कारण जब पुरुषों का मन यज्ञोंसे हटने लगता है तब अर्थवाद वाक्य ही यज्ञों की प्रशंसा द्वारा पुरुषों को यज्ञों से हटने नहीं देते इसी सहायता देने के कारण अर्थवादवाक्य विधिवाक्यों के अङ्ग होकर धर्म में प्रमाण होते हैं। यह कोई अपूर्व कल्पना नही है, किन्तु लोकप्रसिद्ध ही विषय है, जैसे विधि इस गौ को खरीदो इसका अर्थवाद यह है कि यह बिकाऊ है बहुत दूध देनी वाली है इत्यादि पूर्व में कह चुके है। उक्त विधि वाक्य उस के खरीदने में पुरुष को प्रवृत्त कराता है परन्तु यदि मूल्य अधिक होने से पुरुष उसके खरीदनेसे रुक ने लगाता है तब उक्त अर्थवाद

क्याभावादर्थवादा धर्मे प्रमाणानि स्युरिति तस्यार्थः। ननु य एव लौकिकाः शब्दास्त एव वैदिकास्त एव चामाषामर्था इति न्याया द्विधिशब्दस्य लोके यत्र शक्तिर्गृहीता वेदेऽपि तदर्थकेनैव तेन भवितव्यम्। लोके च प्रेषणादौ पुरुषधर्मवाचित्वं कथमुपपद्यते ?, उच्यते—लोकवेदयोरैकरूप्यमेव। तथा हि—लोके प्रेषणादिकं न तेन तेन रूपेण विधिपदवाच्यम् अननुगमेन नानार्थत्वप्रसङ्गात्तद्वदेव भावनावाचित्वोपपत्तेश्च। किं तु प्रेषणाऽध्येषणानुज्ञास्वस्ति प्रवर्तनात्व-

गौ के उक्त गुणों को दिखलाकर उक्त पुरुष में गौ के गुणों के अनुसार अधिक मूल्य की न्यूनता निश्चय कराता हुआ लाभ दिखाने के द्वारा पुरुष को उस गौ के खरीदने से हटने नहीं देता।

ननु से शंका करते हैं—जो लौकिक शब्द हैं वे ही वैदिक हैं अत जो जो शब्द जिस अर्थ में लौकिकवाक्यों में प्रयुक्त होते हैं वे ही शब्द वैदिकवाक्यों में पाये जाते हैं, अतः उन का अर्थ भी वही है जो लोकप्रयुक्त शब्दों का है उस से भिन्न नहीं इस नियम के अनुसार लोक में विधिशब्द की शक्ति जिस अर्थ में ज्ञात है वेद में भी तदर्थक ही विधि शब्द हो सकता है अन्यार्थक नहीं।

शङ्का—लोक में प्रेरणादि जो पुरुष धर्म है तद्वाची विधिशब्द लोक में प्रसिद्ध है फिर वेद में वह शब्दभावनावाची कैसे हो सकता है ?

'उच्यते' से समाधान करते हैं—यह ठीक है कि जो लौकिक शब्द हैं वे ही वैदिक हैं अर्थ भी दोनों की एक ही हैं दोनों के स्वरूप तथा अर्थ में भेद नहीं है। लोक में भी प्रेरणा अध्येषणादि तत्तद्रूप प्रेरणात्वादि से विधिपद के वाच्य नहीं हैं, क्योंकि उन धर्मों के अननुगत होने से विधिशब्द नानार्थक हो जायगा। जिसके शक्यतावच्छेदक अनेक धर्म होते हैं वे नानार्थक होते हैं जैसे हरि आदिशब्द इन्द्रत्व विष्णुत्व सिंहत्वादि नानाधर्म शक्यतावच्छेदेक है इस कारण वह नानार्थक माना जाता है वैसे ही विधिशब्द भी नानार्थक हो जायगा एकार्थक हो सके तो अनेकार्थक मानना उचित नहीं, यह शास्त्र का सिद्धान्त है। प्रकृत में विधिशब्द प्रेरणा अध्येषणा अनुज्ञा

मेकम्, तच्च शब्दव्यापारेऽपि तुल्यमिति तदेव लिङादिपदवाच्यम्। तच्च लौकिकशब्दे नास्त्येव, तत्र राजादीनामेव प्रवर्तकत्वात्। प्रवर्तकव्यापार एव हि प्रेषणात्वेन इत्यादिना न विधिपदवाच्यं किन्तुप्रवर्त्तनात्वेन वाच्यम्, प्रवर्तना प्रवर्तकत्वं च राजादेरिव वेदस्याप्यनुभवसिद्धम्। ननु वेदेऽपि

आदि में प्रवर्तनात्व एक धर्म है वही विधिपद का वाच्य है, वही वैदिक शब्दभावना भी है, अतः प्रेरणावाचित्व लौकिक वैदिक विधिशब्दों में समान ही है इसलिये वही प्रेरणात्व लिङादि वाच्य है। वह शब्दभावनारूप प्रेरणा लौकिक शब्द में नहीं, क्योंकि लौकिक शब्दों के प्रयोक्ता राजा आदि में ही प्रेरणा प्रतीत होती है। अत एव राजा से वालक से प्रेरित हो कर मैं यह कार्य करता हूँ इत्यादि व्यवहार लोक में देखा जाता है यह पूर्व में कह चुके हैं। प्रवर्तना प्रवर्तकत्व जैसे राजा आदि में लोक में देखा जाता है वेद में भी वैसे ही विधि से प्रेरित होकर यह कार्य करता हूँ ऐसा कहने वाले लोग लोक में पाये जाते हैं। भाव यह है कि लोक में भी आज्ञादिरूपी अनेक प्रेरणायें पृथक् २ विधिशब्द के अर्थ नहीं हैं, क्योंकि यदि ऐसा स्वीकार किया जाय तो लिङादिशब्दों की अनेक शक्तियों के स्वीकार करने से महागौरव दोष होगा। किन्तु सामान्यरूप से प्रेरणा ही लिङादि शब्दों का अर्थ है और उसी में आज्ञादि सभी विशेष प्रकार अन्तर्गत हो जाते हैं, तथा प्रेरणा व्यापार ही का नाम है चाहे वह चेतन का हो या अचेतन का? तो ऐसी स्थिति में जैसे चेतन का व्यापार लौकिक लिङादिशब्दों का अर्थ है वैसे ही शाब्दीभावना भी वैदिक लिङादि शब्दों का अर्थ है, क्योंकि वह भी शब्द का व्यापार ही है। इस रीति से लोक और वेद में लिङादि शब्दों का प्रेरणारूपी अर्थ तुल्य ही है, जैसे लोक में राजा आदि पुरुषों के प्रवर्तक होते हैं वैसे ही वेद में लिङादिशब्द प्रवर्तक है और जैसे लोक में पुरुषों की प्रवृत्ति देखी जाती है वैसे ही यज्ञादिरूपी वैदिक कर्मों भी यह सब लोगों के अनुभव से सिद्ध है।

ननु से प्रश्न करते हैं—वेदमें भी प्रवर्त्तनावान् ईश्वरकी कल्पना करो लोकमें जैसे राजा आदि प्रवर्त्तक है वैसे ही वैदिककर्ममें ईश्वर प्रवर्त्तक है। जैसे लोकमें प्रेरणा बोधक वाक्यका प्रयोक्ता राजादि है वैसे ही वेदका प्रयोक्ता

प्रवर्तनावानीश्वरः कल्प्यतां लोके राजादिवत् । तदुक्तम्—विधिरेव तावद्गर्भ इव श्रुतिकुमार्याः पुंयोगे मानमिति न, वेदस्यापौरुषेयत्वात् । न हि वेदस्य कर्ता पुरुषो लोके वेदे वा प्रसिद्धः, तत्कल्पने च तज्ज्ञानप्रामाण्यापेक्षया वेदप्रामाण्ये निरपेक्षत्वेन स्थितं स्वतः प्रामाण्यं भग्नं स्यात् । बुद्धवाक्येऽपि बुद्धवाक्यं न प्रमाणं वेदवाक्यं तु प्रमाणमिति सुभगाभिक्षुकन्यायप्रसङ्गः । महाजनानामुभयसिद्धत्वाभावेन तत्परिग्रहापरिग्रहाभ्यामपि विशेषानुपपत्तेः । ईश्वरप्रेरणाया लोकवेदसाधारणत्वेन लोकेऽपि राजादीनां प्रेरकत्वं न स्यात् । ईश्वरप्रेरणायां स्थितायामेव राजादिरप्यसाधारणतया प्रेरक इति चेत् ?, हन्त ! सा तिष्ठतु न वा किं त्विहाप्यसाधारणः प्रेरको वेद एव राजादिस्थानीय

ईश्वर है, यह न्यायकुसुमाञ्जलिमें उदयनाचार्यने कहा है कि—'विधिरेव तावद्गर्भ इव श्रुतिकुमार्याः पुंयोगे मानम्' इति । जैसे कुमारीका गर्भ ही अदृष्ट कुमारी पुंयोगमें प्रमाण है वैसे ही श्रुतिपुरुष संयोगमें विधि ही अदृष्टपुरुष ईश्वरके संयोगमें प्रमाण है ?

उत्तर 'न' इत्यादि से देते हैं—वेद अपौरुषेय पुरुषाप्रणीत है, क्योंकि वेदका कर्ता पुरुष न वेदमें न लोकमें ही प्रसिद्ध है फिर भी उसकी कलपना करने पर उसके ईश्वरके ज्ञानके प्रामाण्यकी अपेक्षासे निरपेक्षस्वरूप स्वतः प्रामाण्यका वेदमें भङ्ग हो जायगा। और बुद्धवाक्य प्रमाण नहीं है वेदवाक्य प्रमाण है यह सुभगाभिक्षुकन्याय प्रसङ्ग हो जायगा। उभय बौद्ध वैदिक इन दोनोंमें सम्मत कोई महाजन महापुरुष हो नहीं सकता अतः तत्स्वीकार अस्वीकारसे भी दोनोंमें कुछ विशेष नहीं हो सकता, और ईश्वर प्रेरणा लोक वेदमें एक सी है। यह तो कह नहीं सकते कि वैदिक ही कर्ममें ईश्वर प्रेरक होते हैं लौकिक कर्मोंमें नहीं, क्योंकि ऐसा कहनेमें कुछ प्रमाण नहीं, फिर भी राजा आदि जैसे प्रवर्त्तक माने जाते हैं और ईश्वर प्रेरणा रहने पर भी राजा आदि असाधारण प्रेरक माने जाते हैं यदि यह कहा जाय तो इसका उत्तर देते हैं—हन्त इत्यादि से। 'हन्त ! हर्षेऽनुकम्पायां वाक्यारम्भविषादयोः' इस अमरकोषके अनुसार 'हन्त' शब्द हर्षादिका द्योतक है, अथवा प्रतिवादिपक्ष में विषादका सूचक है। ईश्वरको प्रेरणा हो या न हो फिर भी असाधारण प्रेरक जैसे लोकमें राजा आदि माने जाते हैं वैसे ही

इत्यागतं मार्गे। ईश्वरप्रेरणासहकारेणैव प्रवर्तकत्वात्। किंचेश्वरप्रेरणायां सर्वोऽपि विहितं कुर्यादेव न तु कश्चिदपि लङ्घयेत्, निषिद्धेऽपि चेश्वरप्रेरणा-

वैदिक कर्मोंमें भी असाधारण प्रेरक वेद ही है राजा आदि के स्थानापन्न ईश्वर प्रेरणा साधारण है, अतः असाधारण प्रेरणासहकृत ही प्रवर्त्तक होती है यह उदयनाचार्यका मत है इसका निरूपण पूर्व ही में कर चुके हैं। फिर भी मूलार्थ समझनेके लिये यहाँ फिर लिखते हैं—नैयायिक वेदको ईश्वरप्रणीत पौरुषेय मानते हैं इसलिये उनके मतमें ईश्वरकी ही प्रेरणाका बोधक लिङादि शब्द है इसका खण्डन भी पूर्वमें लिख चुके हैं। यहाँ फिर लिखते हैं—यह मत ठीक नहीं है क्योंकि वेद अपौरुषेयही है, यदि पौरुषेय होता तो उसका कर्ता भी कोई अवश्य प्रसिद्ध होगा. और यदि कर्ताकी कल्पना की जाय तो ज्ञान प्रमाण है इससे वेद प्रमाण होगा और इसमें वेदका स्वतन्त्र प्रमाण होना, जो कि सिद्धान्त है टूट जायगा। और दोष यह भी पड़ेगा कि बुद्धवाक्य भी धर्ममें प्रमाण हो जायगा, क्योंकि वह भी ईश्वरोक्ति ही है और बुद्ध भगवान्का ईश्वरावतार होना निर्विवाद है तब किस मुखसे यह कहा जा सकता है कि वेदवाक्य प्रमाण है बुद्धवाक्य नहीं। यदि यह कहा जाय कि महापुरुषोंने वेदवाक्यको स्वीकार किया है इस कारण वह प्रमाण है, बुद्धवाक्यको तो महापुरुषोंने स्वीकार नहीं किया है इस हेतु वह प्रमाण नहीं; तो इसपर यह प्रश्न होगा कि महापुरुष कौन है? और इसपर वैदिक और बौद्धका परस्पर कलह होने लगेगा। अर्थात् जिसको वैदिक महापुरुष कहेगा उसको बौद्ध महापुरुष न कहेगा और जिसको बौद्ध कहेगा उसको वैदिक नहीं कहेगा तो जब दोनों वादीका सम्मत कोई महापुरुष नहीं हुआ तब एक वादी अपने महापुरुष के स्वीकारसे कैसे वेद को प्रमाण सिद्ध कर सकता है?, और तीसरा दोष यह भी पड़ेगा कि यज्ञादि कर्मों में प्रेरणा करने से जैसे ईश्वर है वैसे ही लौकिक कर्मों भी ईश्वर ही प्रेरक हो जायँगे, क्योंकि उनकी प्रेरणा वेद लोक में साधारण ही है तब ऐसी दशा में लौकिक कर्मों में भी राजा आदि प्रेरक न कहलायेंगे। यदि यह कहा जाय कि लौकिक कर्मों में भी साधारण प्रेरक ईश्वर ही होते हैं किन्तु राजादिक भी असारण प्रेरक है तव तो बात घूम घाम कर सिद्धान्त ही पर आ गया, क्योंकि वैदिक कर्मों में भी राजादि के तुल्य वेद ही असाधारण प्रेरक है। और वेद के पौरुषेय मानने वालों को भी यह अवश्य मानना पड़ेगा कि जैसे राजादिक की असाधारण प्रेरणा के विना ईश्वर की प्रेरणा लौकिक

ऽस्त्येव । अन्यथा न कोऽपि तत्र प्रवर्तेति तदपि विहितं स्यात् । तथा चोक्तम्—

"अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः ।
ईश्वरप्रेरितो गच्छेत्स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा ॥" इति ।

तस्माद्राजादिरिव वेदोऽपि स्वप्रवर्तनां ज्ञापयन्निच्छोपहारमुखेन प्रवर्तयतीति सिद्धं लोकवेदयोरैकरूप्यम् । पूर्वमीमांसकानां स्वतन्त्रो वेदो ब्रह्ममीमां-

कार्यों में पुरुषों की प्रवृत्ति नहीं कराती वैसे ही वेद की असाधारण प्रेरणा के बिना यज्ञादिरूपी वैदिक कर्मों में भी वह किसी की प्रवृत्ति नहीं कराती। तथा वेद की असाधारण प्रेरणा उक्त शाब्दीभावना ही है तो ऐसी दशा में शाब्दीभावना वेद को पौरुषेय मानने वालों के गले पड़ गयी। और चौथा दोष यह भी पड़ेगा कि वेद में ईश्वर की प्रेरणा मानी जाय तो वेद विहित कर्मों को सभी अधिकारी करेंगे ही, अर्थात् कोई कदापि उसका उल्लङ्घन न करेंगे, क्योंकि जैसे सन्ध्यावन्दनादिरूपी विहित कर्मों में ईश्वर की प्रेरणा से प्रवृत्ति होती है वैसे ही ब्रह्महत्यादिरूपी निषिद्ध कर्मों में भी। और यदि ऐसा न मानी जाय तो ब्रह्महत्यादिरूपी कर्म में कदापि किसी की प्रवृत्ति ही न होगी और विहित में सदा प्रवृत्ति ही यह शङ्का किंच से करते हैं। अर्थ तो कह ही चुके हैं। पूर्वाचार्यों ने ऐसा ही कहा है—

'अज्ञोजन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुख दुःखयोः ।
ईश्वरप्रेरितो गच्छेत् स्वर्गं वा श्वभ्र मेव वा' ॥ इति ।

यह अविद्या कर्म परतन्त्र प्राणी अपने सुख दुःख में पराधीन है क्योंकि ईश्वर से प्रेरित होकर स्वर्ग वा नरक को जाता है। अब यह दोष स्वप्न हो गया कि ईश्वर को वेद का कर्ता मान कर उनकी प्रेरणा से वैदिक कर्मों में यदि पुरुषों की प्रवृत्ति मानी जाय तो जो कर्म निषिद्ध कहलाते हैं वे भी विहित कहलाने लगेंगे इससे अधिक अन्यत्र देखिये।

इससे यह सिद्ध हो गया कि राजादि के समान अपनी प्रवर्त्तनाको जनाता हुआ वेद भी पुरुषोंमें इच्छा उत्पन्न कर कर्मोंमें उनकी प्रवृत्ति कराता है और लोक वेदमें प्रवृत्ति करानेकी व्यवस्था एक ही है। मीमांसाकी अपेक्षासे वेदान्तमें वेदके विषयमें जो विशेष है वह कहते हैं—पूर्व मीमांसेति से। पूर्व मीमांसकोंके मतमें वेद अत्यन्त स्वतन्त्र है और वह मीमांसकोंके मतमें ब्रह्म

सक्तानां तु ब्रह्मविवर्तस्तत्परतन्त्रो वेद इति यद्यपि विशेषस्तथाऽपि श्वसिततुल्यत्वेन वेदस्यापौरुषेयत्वमुभयेषामपि समानम् । अत्र च प्रवृत्त्यनुकूलव्यापारत्वं प्रवर्तनात्वं सखण्डोऽखण्डो वोपाधिस्तस्मिन्विधिपदशक्येऽपि तदाश्रयविशेषोपस्थितिर्गवादितुल्यैव । अनुकूलव्यापारत्वं वा शक्यं प्रवृत्त्यंशस्त्वाख्यातत्वेन शक्त्यन्तरलभ्य एव । दण्डीत्यत्र सम्बन्धिनि मतुबर्थे प्रकृत्यर्थदण्डां-

परतन्त्र है, क्योंकि उनका-विवर्त्त अर्थात् जैसे रस्सीमें सर्प कल्पित रहता है और ब्रह्ममें जगत् जैसे कल्पित है वैसे ही वेद भी उनमें कल्पित है यह दोनों मतोंका परस्पर भेद है। तथापि 'अस्य महतो भूतस्य निश्वसितं यदयमृग्वेदः' यह जो ऋग्वेद है वह परब्रह्मके श्वासके तुल्य स्वाभाविक है, इत्यादि वेदवाक्योंके अनुसार वेदका अपौरुषेय होना दोनों दर्शनोंके मतमें समान ही है, क्योंकि जैसे जीव ईश्वर आदि अनेक ब्रह्मके विवर्त्त अनादि माने गये हैं वैसे ही वेद भी। यद्यपि अनादियोंके परिगणनमें वेद नहीं परिगणित है तथापि अनन्तरोक्त वेदवाक्यके अनुसार वह परिगणन उपलक्षणमात्र है अर्थात् उस परिगणनका यह मुख्य तात्पर्य है कि जिस २ विवर्त्तके अनादि होनेमें प्रबल प्रमाण मिलते हैं वे सब अनादि हैं। 'अत्र च' इत्यादि से प्रवर्त्तनाका लक्षण कहते हैं—प्रवृत्त्यनुकूलव्यापारवत्व प्रवर्त्तनात्व है। जिस व्यापारसे पुरुषोंकी प्रवृत्ति होती है तादृश व्यापारवती प्रवर्त्तना कहाती है वह सखण्डोपाधि स्वरूप हो या अखण्डोपाधि स्वरूप उसमें विधिपद की शक्ति है तदाश्रय (शक्त्याश्रय) विशेषकी उपस्थिति गवादि तुल्य ही है। जैसे गोपदकी शक्ति गोत्वादिमें है इस हेतु गोपदके श्रवणसे शक्त्याश्रय गोत्वादि की उपस्थिति होती है वैसे ही विधिपदकी शक्ति उक्त प्रेरणा में है इसलिये लिङादि विधिपदके श्रवणसे प्रवर्त्तनाकी उपस्थिति होती है। लाघवार्थ अन्य अर्थ कहते हैं—अनुकूल व्यापारवत्वमें ही शक्ति है प्रवृत्त्यंश आख्यात ही से लब्ध हो जाता है अतएव 'अनन्यलभ्यो हि शब्दार्थः' यह सिद्धान्त सङ्गत होता है। इसमें दृष्टान्त कहते हैं—दण्डीत्यादि। 'दण्डोऽस्ति अस्य' इति दण्डी यहाँ पर 'अत इनि ठनौ' इस सूत्रसे विहित मत्वर्थक इनि प्रत्यय दण्डसम्बन्धवान् में होता है, और जिस अर्थमें जिस प्रत्ययका विधान होता है उस प्रत्ययका वही अर्थ है यह औत्सर्गिक अर्थ है, तथापि उक्त 'अनन्य लभ्य' इत्यादि न्याय और लाघवके अनुरोधसे दण्ड सम्बन्धी यह अर्थ इनि प्रत्ययका न मानकर केवल सम्बन्धी अर्थ माना जाता है; क्योंकि दण्ड इनि प्रत्ययकी जो प्रकृति दण्ड

शवत्। फलसाधनताबोध एव प्रेरणा तामेव कुर्वन् प्रेरको विधिरतः फलसाधनतैव प्रेरणात्वेन विधिपदशक्येति मण्डनाचार्याः। फलसाधनता चार्थभावनान्वयलभ्येत्युक्तं प्राक्। इममेव च पक्षं पार्थसारथिप्रभृतयः पण्डिताः प्रतिपन्नाः। औपनिषदानामपि केषाञ्चिदिष्टसाधनतावादोऽनेनैव मतेनोपपादनीयः। इष्टसाधनत्वं स्वरूपेणैव लिङादिपदशक्यं न प्रेरणात्वेनेति तार्किकाः, तन्न, गौरवादन्यलभ्यत्वादन्वयायोग्यत्वाच्च। इच्छाविषयसाधनत्वापेक्षया प्रवर्तनात्वापेक्षया प्रवर्तनात्वमतिलघुः इच्छातद्विषययोरप्रवेशात्। इच्छाज्ञानस्यापि प्रवृत्तिज्ञानवत्प्रवृत्तिहेतुत्वापातात्, वस्तुगत्या य इच्छाविषयस्तत्साधनमिति

उसीसे लभ्य है। प्रत्ययविधिके उद्देश्यतावच्छेदक धर्म से विशिष्ट प्रकृति कहाती है तद्वत् प्रकृतमें भी समझना। फलसाधनताबोध ही प्रेरणा है उसीको करता हुआ विधि प्रेरक होता है अतः फल साधनता ही प्रेरणात्व से विधिपदका शक्य है, यह पण्डित प्रवर श्रीमण्डन मिश्रका मत है—

'पुंसां नेष्टाभ्युपायत्वात् क्रियास्वन्यः प्रवर्तकः।
प्रवृत्तिहेतुं धर्मं च प्रवदन्ति प्रवर्तनाम्॥'

यह उन का श्लोक है अर्थ स्पष्ट है। प्रवर्तना फलसाधनता अर्थ भावनान्वय लभ्य है पूर्व में कह चुके हैं। इसके अनुसार अन्यलभ्य होने से विधि शब्दार्थ मानना ठीक नहीं यह सूचित करते हैं। इसी पक्ष को पार्थसारथि प्रभृति बड़े विद्वानों माना है। किसी २ वेदान्तियों का इष्टसाधनता वाद का इसी मत से उपपादन करना। इष्टसाधनता स्वरूप से इष्टासाधनत्वेन लिङादि पद का शक्य है प्रेरणात्व से नहीं, यह तार्किकों का मत है। इस का खण्डन करते हैं—हन्त से। इस मत में तीन दोष कहते हैं—पहला गौरव, दूसरा अन्यलभ्यत्व, तीसरा अन्वयायोग्यत्व। इष्ट इच्छाविषय तत्साधनत्व की अपेक्षा प्रेरणात्व लघु शरीर शब्दार्थ हो सके तो गुरु शरीर मानना अनुचित है, क्योंकि प्रेरणा में इच्छा तद्विषय का प्रवेश नहीं है और यह भी दोष है कि प्रवृत्तिज्ञान के समान इच्छा ज्ञान भी प्रवर्तक होजायगा। वस्तुतः जो

शब्देन प्रतिपादयितुमशक्यत्वात्। साधनत्वमात्रस्यैव शक्यत्वे च तेनैव प्रत्ययेनोपस्थापितया प्रवृत्त्या सह श्रुत्या तदन्वयसम्भवे पदान्तरोपस्थापित-स्वर्गेण सह वाक्येन तदन्वयासंभवात्प्रवर्तनात्व एव पर्यवसानं श्रुत्या वाक्यस्य बाधात्। प्रत्ययश्रुतेः पदश्रुतितोऽपि बलीयस्त्वेन 'पशुना यजेत' इत्यत्र प्रकृत्यर्थं पशुं विहाय प्रत्यार्थेन करणेन सहैवैकत्वस्यान्वयादेकं करणं पशुरिति वचन-

इच्छाविषय है वह साधन है यह शब्द से प्रतिपादन नहीं हो सकता अर्थात् इच्छाविषय इष्ट है जो स्वर्गादिपद लभ्य है। साधनतामात्र विविध प्रत्ययार्थ है दोनों के अन्वय होने पर साध्यसाधनभावसवन्ध को प्रतीति हो सकती है किन्तु शीघ्रोपस्थित अत एव सन्निहित के साथ यदि अन्वय हो सके तो विलम्बोपस्थित अर्थ के साथ अन्वय न होता एतन्म लक ही वलवलाधिकरण में श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणेत्यादि सूत्र है। किन्तु साधनत्वमात्र लिङाद्यर्थ होगा उस का अन्वय उसी लिङ्प्रत्यय से से लकारांश के द्वारा उपस्थित आर्थीभावना पुरुष प्रवृत्ति के साथ अन्वय हो सकता है तो, भिन्न पदोपस्थापित स्वर्गादि के साथ अन्वय नहीं हो सकता। भाव यह है कि साधनामात्र यदि लिङर्थ मानें तो साधन को साध्य की अपेक्षा होती है और साध्यको साधन की अपेक्षा होती है, प्रकृतमें एक ही प्रत्यय से उपस्थित आर्थीभावना और साध्यत्व का प्रथम अन्वय होता है, क्योंकि दोनों की उपस्थिति विधिशब्द श्रवणोत्तर एक ही समय में होने के अनन्तर साधन साध्यांश में निराकांक्ष हो जाता है, अतः अन्वय नहीं होता। स्वर्गादि इष्ट की उपस्थिति वाक्य घटक स्वर्गादि। पद से होती है यथा 'यजेत स्वर्ग कामः' इत्यादि श्रुति वाक्य से बलवती होती है, अतः श्रौत विनियोग से वाक्य विनियोग का सर्वथा बाध ही होता है, क्योंकि श्रुतिलिङ्गेत्यादि से सूत्र श्रुतिलिङ्गादि से वाक्य में दुर्बलत्व का स्पष्ट बोधन किया है। प्रबल से दुर्बल का बाध लोक में प्रसिद्ध ही है। इस प्रकार वाक्य के बाध हो ने पर साधना का प्रवर्तना ही में पर्यवसान हो जाता है क्योंकि दोनों का भावना ही में होता है। श्रुति पदश्रुति से बलवती होती है अत एव 'पशुना यजेत' यहाँ पर तृतीया प्रत्ययार्थ एकत्व का प्रकृत्यर्थ पशुको छोड़ कर प्रत्ययार्थ करण के साथ अन्वय होने से एक करण पशु है इस

ऽव्यक्त्या क्रत्वङ्गत्वमेकत्वस्य स्थितं किमु वक्तव्यं पदान्तरसमभिव्याहाररूपाद्वाक्याद्बलीयस्त्वमिति। वाक्यार्थान्वयलभ्यत्वाच्च नेष्टसाधनत्वं पदार्थः। तथा हि प्रवर्तनाकर्मभूता पुरुषप्रवृत्तिरूपाऽर्थभावना किं केन कथमित्यंशत्रयवती विधिनाऽऽलम्ब्यत्वेन प्रतिपाद्यत इत्युक्तं प्राक्। अपुरुषार्थकर्मिकायां च तस्यां प्रवर्तनानुपपत्तेरेकपदोपस्थापितमप्यपुरुषार्थं विहाय भिन्नपदोपात्तमन्यविशेषणमपि कथमिदमसंबन्धेन साध्यतान्वययोग्यं स्वर्गमेव पुरुषार्थं सा भाव्यतयाऽऽलम्बते। इच्छाविषयस्यैव कृतिविषयत्वनियमात्।

वचन व्यक्ति से एकत्व यागाङ्ग है यह सिद्धान्त पूर्व मीमांसा में स्थित है। फिर क्या कहना है पदान्तरसमभिव्याहाररूप वाक्य से प्रत्यय की बलवत्तामें इष्टसाधनता विधिपदार्थ है। इस में दूषणान्तर भी देते हैं वाक्यार्थ के अन्वय से ही उक्तार्थ का लाभ होजाता है फिर उस की प्रत्ययार्थ मानने की क्या आवश्यकता? क्योंकि अनन्यलभ्य ही माना जाता है यह असकृत् कह चुके हैं। और पूर्व में इसका अर्थ कह चुके हैं यहाँ फिर भी ग्रन्थानुरोध से संक्षिप्तार्थ कहते हैं—शाब्दीभावना प्रवर्त्तनाकी कर्मविधया आलम्बनीभूत जो पुरुषप्रवृत्तिरूप आर्थीभावना है वह भी शाब्दीभावनाके समान किं, केन, कथम्, एतदंशत्रयवती है विधिलिङादिसे कही जाती है। यद्यपि विधि साक्षात्प्रवर्त्तनाका बोधक है परन्तु प्रवर्त्तना भी उक्तांशत्रयवती होने से 'किं भावयेत्' इस आकांक्षासे पुरुष प्रवृत्तिका लाभ करती है इसके सम्बन्धके बिना उक्त विध्यर्थ ही अपर्यवसन्न हो जायगा अतः विधिका प्रसर परम्परया वहाँ तक माना जाता है यह पूर्वमें सूचित कर चुके हैं। अब शङ्का है कि पुरुषप्रवृत्ति श्रमफलक होनेसे पुरुषार्थ सुखप्राप्ति दुःखनिवृत्ति एतदन्यतर स्वरूप नहीं है, वस्तुतः पुरुषसे ये ही दोनों अर्थ्यमान होते हैं इसलिये वास्तविक पुरुषार्थ ये ही हैं। एवं 'यजेत' इस एक पदसे उपस्थित धात्वर्थ याग भी अपुरुषार्थ स्वरूप ही है, इस हेतुसे उसका भी त्यागकर भिन्नपद स्वर्गादिपदसे प्रतिपाद्य और काममें विशेषण (उपसर्जन) अतएव अप्रधान काम सम्बन्धसे साध्यतान्वयके योग्य पुरुषार्थस्वरूप स्वर्ग ही को भाव्यत्वसे आश्रयण करता है। इच्छाविषय ही नियमसे कृतिविषय होता है—

'ज्ञानजन्या भवेदिच्छा इच्छाजन्या कृतिर्भवेत्।
कृतिर्जन्या भवेच्चेष्टा चेष्टाजन्यं फलं भवेत्॥' इति।

स्वर्गकाम इति कर्मणि द्वितीयाया अन्तर्भूतत्वात्, यजतेरकर्मकत्वेन स्वर्गमित्युक्तेऽनन्वयाच्च। अत एव यत्र कामिपदं न श्रूयते तत्रापि तत्कल्प्यते,— यथा "प्रतितिष्ठन्ति ह वा य एता रात्रीरुपयन्ति" इत्यादौ प्रतिष्ठाकामा रात्रिसत्रमुपेयुरित्यादि। एवं च लब्धभाव्यायां तस्यां समानपदोपस्थापितो धात्वर्थ

यह प्रसिद्ध ही है। पूर्वमें 'अपि' द्वय अन्वयायोग्यत्व सूचनार्थ है। एवं 'भिन्नपदोपस्थापितमपि' को भी समझना। बलाबलाधिकरणोक्तन्याय से पद वाक्यका बाधक होता है। सारांश यह है कि उक्त बाध्यबाधकभाव अन्वययोग्य पदार्थद्वयकी जहाँ उक्तरूपसे उपस्थिति होती है वहाँ लागू होता है अन्यत्र नहीं। स्वर्गकामकी व्युत्पत्ति दो प्रकारकी हो सकती है। एक—'स्वर्गं कामयते यः स स्वर्गकामः', दूसरी व्युत्पत्ति है—'काम्यते इति कामः स्वर्गः कामो यस्य स स्वर्गकामः' यहाँ प्रथम व्युत्पत्तिका आश्रयण करते हैं—स्वर्गम् इत्यादिसे। कर्मण्यण् कर्मोपपदक धातुसे 'अण्' प्रत्यय होता है यह अर्थ है। कर्मसंज्ञक समीपमें उच्चरित स्वर्गपद है तत्पूर्वक 'कमु कान्तौ' इस धातुसे 'अण्' प्रत्यय होनेसे उपधावृद्धि कर स्वर्गकाम यह कृदन्त एकपद है। स्वर्गमें जो द्वितीया विभक्ति श्रुत है उसका अन्तर्भाव कृदन्तमें हो जाता है, कारण द्वितीयान्त उपपदके रहने पर ही 'अण्' प्रत्यय होता है अन्यथा नहीं। और 'यज्' धातु के अकर्मक होने से 'स्वर्ग' इसके साथ 'यज्' धातु की अन्वय योग्यता भी नहीं है, अत एव जहाँ पर 'इकस्तिपौ धातुनिर्देशे' इस सूत्र से 'कम्' धातु से 'इक्' प्रत्यय कमिपद उक्तधातु का बोधक है। जहाँ उक्त धातु श्रुत नहीं है वहाँ भी उसकी कल्पना की जाती है, उदाहरण कहते हैं— प्रतितिष्ठन्ति ह वा य एता रात्रीरुपयन्ति' इत्यादि स्थल में विधिवाक्य ही श्रुत नहीं है तो कमि के श्रवण की क्या सम्भावना ? केवल श्रवण अर्थवाद वाक्य का ही है अर्थवाद केवल व्यर्थ हो जायगा, किन्तु वेदका एक अक्षर भी व्यर्थ नहीं है यह स्वाध्याध्ययन विधिका अर्थ यह पूर्व में विशेषरूप से कह चुके हैं। इस के अनुसार यहाँ 'प्रतिष्ठाकामा रात्रिसत्रमुपेयुः' इत्यादि विधिवाक्य का आक्षेप होता है, ऐसी स्थिति में भाव्य स्वर्ग के लाभ होने पर आर्थीभावना में 'यजेत' इस तिङन्त एक पद से याग, 'यज्' धातु से और लिङ्प्रत्यय के लकारांश से उपस्थित आर्थीभावना ये दोनों समानपद से 'यजेत' से उपस्थित है, अतः धात्वर्थ याग आर्थीभावना में

एव करणतयाऽन्वेति भाव्यांशस्य कर्मविषयेणावरुद्धत्वात्सुब्विभक्तियोग्ये धात्वर्थनामधेये ज्योतिष्टोमादौ तृतीयाश्रवणात्। यत्रापि नामधेये द्वितीया श्रूयते तत्रापि व्यत्ययानुशासनेन तृतीयाकल्पनात्। तदुक्तं महाभाष्यकारैः 'अग्निहोत्रं जुहो' इति तृतीयार्थे द्वितीयेति। अत एव तैः प्रकृतिप्रत्ययौ प्रत्ययार्थं सह ब्रूतस्तयोः प्रत्यार्थः प्राधान्येन प्रकृत्यर्थो गुणत्वेनेति प्रत्ययार्थभावनां प्रति धात्वर्थस्य गुणत्वेन करणत्वमुक्तम्। आख्यातं क्रियाप्रधानमिति वदद्भि-

---

करणत्वेन अन्वित होता है याग से स्वर्ग की भावना करे यह अर्थ होता है। कामनाविषय भाव्य स्वर्ग का याग से विरोध नहीं प्रत्युत साधन होनेसे अनुकूल ही है। सुब्विभक्ति योग्य नामधेय 'नामधेयं च नाम च' इस अमरकोष से नामधेय और नाम ये दोनों पर्यायवाची हैं। उक्त योग्य धात्वर्थनामधेय ज्योतिष्टोमादि में तृतीया का श्रवण है अतः ज्योतिष्टोम नामक याग से स्वर्गभावना करें। यह साधनत्वबोधक तृतीयाविभक्ति श्रुत ही है इसके अनुसार जहाँ सुब्विभक्ति की योग्यता नहीं है जैसे 'यजेत स्वर्गकामः' इत्यादि में वहाँ भी प्रकृत्यर्थ याग का भावना में करणत्व से ही अन्वय होता है।

प्रश्न—जहाँ नामधेय में तृतीया की श्रुति नहीं है किन्तु द्वितीया की श्रुति है वहाँ किस सम्बन्ध से अन्वय होता है, जैसे 'अग्नि होत्रं जुहोति'?

उत्तर—यहाँ भी 'व्यत्ययो बहुलम्' से तृतीया के अर्थ में ही द्वितीया का अनुशासन है, अतः यहाँ द्वितीया का अर्थ करणत्व होने से करणत्वेन अर्थात् 'अग्निहोत्रहोमेन स्वर्गं भावयेत्' अग्निहोत्र होमसे स्वर्ग को उत्पन्न करे यही अर्थ माना जाता है। इसी अर्थ में व्याकरणमहाभाष्यकार की सम्मति कहते हैं—तदुक्तमित्यादि से। अत एव महाभाष्यकारने कहा है कि 'प्रकृतिप्रत्ययौ सहार्थं ब्रूतः तयोः प्रत्ययार्थः प्रधानम्' इस न्यायसे प्रकृत्यर्थका गुणत्वेन अन्वय होता है। इसके अनुसार प्रत्ययार्थ आर्थीभावना के प्रति धात्वर्थ यागादि का गुणत्व से अन्वय होता है। भावना के प्रति यागादि प्रकृत्यर्थ का गुणत्व से ही अन्वय होता है यही सिद्धान्त है। निरुक्तकार की सम्मति का भी निर्देश करते हैं—आख्यातं क्रियाप्रधानम्' इससे। सभी मीमांसकों की इसमें सम्मति है। भावार्थी-

निरुक्तकारैरप्येतदेवोक्तम्। भावार्थाधिकरणे च तथैव स्थितम्। तेन सर्वत्र प्रत्ययार्थं प्रति धात्वर्थस्य करणत्वेनैवान्वयनियमः। अत एव गुणाविशिष्टधात्वर्थानुवादेन केवलगुणविधौ च मत्वर्थलक्षणा विधिविप्रकृष्टविषयत्वं च। यथा 'सोमेन यजेत' इति विशिष्टविधौ सोमवता यागेनेति, दध्ना जुहोतीति गुणविधौ दधिमता होमेनेति। नामधेयान्वये तु सामानाधिकरण्योपपत्तेर्धात्वर्थलक्षणा न वा विधिविप्रकर्षः। तदेवं 'ज्योतिष्टोमेन यजेत स्वर्गकाम' इत्यत्राऽऽख्याताथों भावयेदिति किमित्याकाङ्क्षायां किमिविषयं स्वर्गमिति विधिश्रुतेर्बलीयस्त्वादाकाङ्क्षाया उत्कटत्वाच्च। तथाच स्थितं षष्ठाद्ये। ततः केनेत्यपेक्षिते यागेनेति तृतीयान्तपदसमानाधिकरणत्वेनैवान्वयनियमाच्च।

धिकरण में यही सिद्धान्त स्थिर किया गया है। इस से यह सिद्ध हो गया कि सर्वत्र प्रत्ययार्थ के प्रति प्रकृत्यर्थ का करणभाव से ही अन्वय होता है। अत एव से उदाहरण कहते हैं—गुणविशिष्ट धात्वर्थविधि 'सोमेन यजेत' धात्वर्थानुवाद से केवल गुणविधि 'दध्ना-जुहोति' इत्यादि में मत्वर्थलक्षणा और विधि में विप्रकृष्टविषयत्व वाक्य-भेदभय से तथा उक्त नियम से माना गया है। और नामधेयान्वय में यागादि के साथ ज्योतिष्टोमादिका सामानाधिकरण्य अभेद से अन्वय करने से समानाधिकरण्य की उपपत्ति हो जाती है उक्त लक्षणादि की शङ्का ही नहीं क्योंकि धात्वर्थमात्र ही का विधान होने से मत्वर्थलक्षणा नहीं होती है और न विधिविप्रकर्ष ही। इसप्रकार से 'ज्योतिष्टोमेन यजेत स्वर्गकामः' यहाँ पर आख्या का अर्थ है भावयेत्, किंभावयेत् इस आकांक्षा से कामनाविषय स्वर्ग, क्योंकि विधिश्रुति बलवती होती है और आकांक्षा उत्कट होती है ऐसा मीमांसासूत्र के षष्ठाऽध्याय के प्रथम अधिकरण में स्थित है। भाव यह है कि 'सोमेन यजेत स्वर्गकामः' वहाँ पर आख्यात से भावना की उपस्थिति होने पर 'भावयेत्' यह बोध होता है। किं भावयेत्, यह आकांक्षा होने पर समानपद 'यजेत' से उपस्थित याग का अपुरुषार्थ होने से अन्वय न हो कर भिन्न और समस्तैकदेश से उपस्थित स्वर्ग का अन्वय होता है। केन भावयेत्, इस करण की आकांक्षा से समानपदोपस्थित धात्वर्थ का ही अन्वय होता है। भिन्नपदसे

उपस्थित सोमका नहीं, शीघ्रोपस्थित धात्वर्थान्वयसे भावना की करणाकांक्षा ही शान्त हो जाती है सोमको साध्यकी अपेक्षा है। यदि धात्वर्थ ही का साध्यत्वेन अन्वय मानकर 'सोमेन यागं भावयेत्' सोमसे याग करे यह अर्थ मानें तो याग का साध्यत्वसे उपस्थिति ही नहीं है। यदि यागका साध्यत्वेन भावनामें अन्वय न कर सोम ही को अन्वय करें 'यागेन सोमं भावयेत्' तो प्रकृतिप्रत्ययौ सहार्थं ब्रूतः' इत्यादि पूर्वोक्त न्यायसे विरोध होगा, क्योंकि उक्तन्यायसे प्रकृत्यर्थ का गुणत्वेन प्रधानीभूत प्रत्ययार्थ ही में अन्वय होता है अन्यत्र नहीं। और अविलम्बोपस्थितभावनामें करणत्वेन अन्वय होनेके अनन्तर उसको फिर किसी भावसे कहीं अन्वयकी आकांक्षा ही नहीं। और सोम यागार्थ है, यागका दो रूप है द्रव्य और देवता, किस द्रव्यसे याग करें इस आकांक्षाकी शान्तिके लिये 'सोमेन' यह कहा गया है। यदि उक्त रीतिसे अन्वय करेंगे तो याग ही सोमार्थ हो जायगा यागसे सोमके स्वरूपमें तो कोई लाभ देख नहीं पड़ता अगत्या व्रीहिप्रोक्षणादिके समान तत्संस्कारार्थक कहना पड़ेगा, ऐसी स्थितिमें सोममें दृष्टार्थकत्वका सम्भव होने पर भी अदृष्टार्थकत्वकी कल्पना अनुचित ही है। प्रधानप्रत्ययार्थमें सोमका साधनत्वसे अन्वय हो ही नहीं सकता, क्योंकि उसमें अचिरोपस्थितधात्वर्थ ही करणभावसे अन्वित हो चुका है। अब उसको कारण की आकांक्षा ही नहीं है तस्मात् सोमका कैसे कहाँ अन्वय हो ? इस अपेक्षासे यदि ऐसा कहें कि 'यागेन स्वर्गं भावयेत् यागं च सोमेन भावयेत्' अर्थात् यागसे स्वर्गको उत्पन्न करे और यागको सोमसे सिद्ध करें तो वाक्यभेद अर्थात् दो वाक्य होंगे एक वाक्य ही वेदमें श्रुत है दो नहीं। एकवाक्यत्वका सम्भव होने पर दो वाक्य मानना अनुचित है, अतः उपायान्तर न होनेसे सोमपदकी सोमवान्में लक्षणा मानकर 'सोमवता यागेन स्वर्गं भावयेत्' यह अर्थ मीमांसकोंने सिद्धान्त किया है। यद्यपि लक्षणा भी दोष ही है तथापि यह पददोष है वाक्यभेद वाक्यदोष है वाक्यदोषसे पददोष सहल होता है, क्योंकि वाक्यमें पद गुणभूत रहता है 'गुणे त्वन्याय्यकल्पना' यह सिद्धान्त है। जहाँ गुणप्रधानोंके अन्यतरमें दोष मानना आवश्यक हो वहाँ गुणमें ही दोष मानना उचित है प्रधानमें नहीं, यही उक्त न्यायका सार है। दूसरा दोष विधिविप्रकर्ष है, विधिके साथ सोमादिका सम्बन्ध दूरस्थ पड़ जाता है। यदि 'सोमेन स्वर्गं भावयेत्' सोम से स्वर्ग को करे ऐसा अर्थ माना जाता तो विध्यर्थ भावना में 'सोम का अविदूर साक्षात् सम्बन्ध होनेसे विधिविप्रकर्ष न होता। लक्षणा मानने पर

किंनाम्नेत्यपेक्षिते ज्योतिष्टोमेनेति तन्नाम्नेत्यर्थः। शब्दादनुपस्थितोऽपि

सोमका मत्वर्थद्वारा विधिके साथ सम्बन्ध होता है, सोम और विध्यर्थके मध्यमें मतुबर्थ विप्रकर्ष व्यवधायक है परन्तु अगत्या ये दोनों दोष सहने पड़ते हैं।

प्रश्न—अच्छा तो ज्योतिष्टोमादिके समान सोमको यागका नामधेय मानकर सामानाधिकरण्यसे ही अन्वय करें 'सोमनामकेन यागेन स्वर्गं भावयेत्' अर्थ—सोमनामक यागसे स्वर्ग करें, इस अर्थके माननेपर उक्त दोषद्वय नहीं होगा ?

उत्तर—ऐसा नहीं कह सकते, कारण सोम लताविशेषमें रूढ़ है, अतः वह द्रव्यवाची लोकमें प्रसिद्ध है। याग क्रियाकलापात्मक है दोनोंका अभेद प्रत्यक्ष बाधित है। इसी प्रकार 'दध्ना जुहोति' केवल गुणविधिमें भी समझना। 'दध्ना जुहोति' इससे केवल होमका विधान मानें, तो यह वाक्य ही व्यर्थ है क्योंकि केवल होमका 'अग्निहोत्रं जुहोति' इस वाक्य ही से विधान हो चुका है। यदि विशिष्टका विधान मानें तो भी विशेष्य उक्त वाक्यसे ही विहित है. पुनः विधान व्यर्थ है. और गौरव दोष भी है। धात्वर्थ होमका जुहोतिसे अनुवाद कर केवल दधिमात्रका विधान करें तो वाक्यभेद होगा 'होमेन इष्टं भावयेत्, होमं च दध्ना भावयेत्' अर्थात् दधियुक्त होमसे इष्टका सम्पादन करो और होम दधिसे करो इस प्रकार दो वाक्य हो जाते हैं, अतः मत्वर्थलक्षणा मानकर 'दधिमता होमेन इष्टं भावयेत्' अर्थात् दधियुक्त होमसे स्वर्गादि इष्टको प्राप्त करो। यदि अग्निहोत्रादिको नामधेय मानते हैं तो सामानाधिकरण्यसे अन्वयकर अग्निहोत्र नामक होमसे इष्टसिद्धि करो यह अर्थ निर्दोष सिद्ध होता है। इसी प्रकार ज्योतिष्टोमका यागके साथ सामानाधिकरण्यसे अन्वय होता है। किं नामक यागसे इस अपेक्षासे ज्योतिष्टोमादिका सम्बन्ध होता है, क्योंकि 'यजेत' इत्यादि से यागसामान्यकी प्रतीति होती है। सामान्यका अनुष्ठान असम्भव है, किसी विशेषका ही अनुष्ठान हो तो इस आकांक्षासे याग तो अनेक हैं, किस यागसे इष्टकी भावना करे ? इस अपेक्षासे कहा—ज्योतिष्टोम नामक यागसे। 'ज्योतिष्टोमेन' यह तृतीयान्त है, इसके अनुरोधसे यागको तृतीयान्तसे विपरिणाम कर 'ज्योतिष्टोमेन यागेन स्वर्गं भावयेत्' यह अर्थ स्पष्ट होता है। अतएव भट्टपाद का श्लोक है—

'विधाने वाऽनुवादे वा यागः करणमिष्यते।
तत्समीपे तृतीयान्तः तद्वाचित्वं नमुञ्चति॥' इति।

ज्योतिष्टोमेनेति तन्नाम्नेत्यर्थः। शब्दादनुपस्थितोऽपि ज्योतिष्टोमशब्दो भासत एव, शाब्दे बोधे श्रवणेनोपस्थापितस्तात्पर्यवशात्। नामधेयान्वये च न विभक्त्यर्थो द्वारं नञिवाद्यर्थान्वय इव। तेन मत्वर्थलक्षणामन्तरेणैव ज्योतिष्टो-

प्रश्न—पद से उपस्थित पदार्थ का शाब्दबोध में भान होता है प्रकारान्तरसे उपस्थित अर्थ का नहीं, अत एव 'घटमानय' इत्यादि वाक्य से शब्दाश्रयतया उपस्थित आकाशादि का शाब्दबोध नहीं होता यह शाब्दिक संप्रदाय है। प्रकृतमें ज्योतिष्टोमादिनामधेय की शक्ति यागादि में हैं स्वस्वरूपमें नहीं, अतः इससे उपस्थित यागादि अर्थ का शाब्दबोध में भान होता है, नामधेय स्वानुपूर्वी का भान शाब्दबोध में कैसे होगा? इस का उत्तर देते हैं—शब्दादित्यादि से। शब्दशक्ति से अनुपस्थित भी ज्योतिष्टोमादि तात्पर्यवश श्रोत्रसे उक्त शब्द भासित होता ही है। अध्ययन विधिका तात्पर्य अनेक प्रकार का पूर्व में कह चुके हैं। और नामधेय के अन्वय में विभक्त्यर्थ द्वार भी नहीं माना जाता। उदाहरण नञ् इवादि पद है, 'घटो नास्ति' 'अघट पटः' इत्यादि वाक्य से नञ् का अन्वय अस्तित्वादि के साथ है। एवं 'चन्द्र इव मुखम्' इत्यादि स्थल में इवादि सादृश का स्वरूपादि सम्बन्ध से मुख में अन्वय होता है, इवादि के आगे कोई विभक्ति नहीं है, 'विभक्त्यर्थं द्वारीकृत्यैव नामार्थस्य नामार्थे धात्वर्थे वा भेदेनान्वयः' अतएव। 'देवदत्तः पच्यते' 'तण्डुलः पचति' इत्यादि प्रयोग देवदत्तकर्तृक तण्डुलकर्मक पाक तात्पर्यसे प्रयोग नहीं होता। ठीक है, उक्त प्रयोग दर्शनसे उक्त व्युत्पत्ति निपातातिरिक्तके समान शब्दातिरिक्त विषयक है श्रोत्रोपस्थित शब्दका बोध भी काव्यादिमें पाया जाता है—

'न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते॥'

इस श्री हरिकारिकाके अनुसार शब्दकी अर्थमें और स्वानुपूर्वीमें खण्डशः शक्ति है, अतएव अग्नेर्ढक् इत्यादि सूत्रसे विहित 'ढक्' प्रत्यय अग्निशब्द ही से तत्पर्यायान्तरसे नहीं इत्यादि अन्यत्र विस्तार है। तथापि श्रोत्रसे उपस्थित शब्दका शाब्दबोधमें भान माननेसे सर्वत्र निर्वाह हो सकता है फिर अनन्त शब्दोंमें अनन्त शक्तिरूप कल्पनामें गौरव है। ऐसा माननेमें यह लाभ है कि 'ज्योतिष्टोमेन' का तद्वच्य यागमें लक्षणा कर 'ज्योतिष्टोमवता यागेन' यह अर्थ करनेकी आव-

मशब्दवतेन्वयलाभः । तथाच कविप्रयोगः--"हिमालयो नाम नगाधिराजः" इति । हिमालयानामवानित्यर्थः । एवं हि "प्रभिन्नकमलोदरे मधूनि मधुकरः पिबति" इत्यादावगृहीतसंगतिकैकपदवति वाक्ये मधुकरादिपदं स्वरूपेणैव भासते नामधेयवन्नार्थमुपस्थापयति प्रागगृहीतसंगतिकत्वात् । अत एव मधुकरशब्दवाच्य इत्यपि लक्षणया नान्वयः शक्यज्ञानपूर्वकत्वाल्लक्ष्यज्ञानस्य । स्वरूपतस्तु शब्दे भाते वाच्यवाचकसंबन्धः पश्चात्कल्प्यते

श्यकता नहीं प्रत्यक्षोपस्थित ज्योतिष्टमका अभेद सम्बन्धसे यागमें अन्वय भली भाँति हो जाता है केवल वेद ही में ऐसी अवस्था नहीं की गई है। किन्तु काव्यादिमें भी यही व्यवस्था है अतएव महाकवि कालिदासका—

'अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा हिमलयो नाम नगाधिराजः।'

यह प्रयोग साधुसङ्गत होता है। यहाँ भी लक्षणाके विना ही हिमालयनामवान् यह अर्थ स्पष्ट प्रतीत होता है। इसी प्रकार 'इह प्रभिन्नकमलोदरे मधूनि मधुकरः पिबति' इत्यादि वाक्य जिसमें एक मधुकर शब्दका शक्तिग्रह जिस पुरुषको नहीं है शेष वाक्यघटक सब शब्दोंका शक्तिग्रह है वहाँ उसके प्रति कोई व्युत्पन्नपुरुष अर्थात् जिसको मधुकर शब्दका भी शक्तिग्रह है कहता है कि— 'इह प्रभिन्नकमलोदरे मधूनि मधुकरः पिबति'। श्रोता और पदार्थोंको जानता है वे सब शब्दसे उपस्थित हो गये और प्रत्यक्षमें मधुकर को देखता है किन्तु यही मधुकर पदवाच्य है यह नहीं जानता है, किन्तु वाक्यसे यह जाना जाता है कि प्रभिन्न कमलोदरमें जो मधु (मकरन्द) पी रहा है वही मधुकर पदवाच्य है क्योंकि और शब्दोंका अर्थविशेष स्फुट ही जानता है। इस वाक्यसे मधुकर यह पद और मधु पीनेवाला ये ही दोनों अज्ञात सङ्गतिक है; तस्मात् इन दोनोंकी मिथः सङ्गति है इसीको प्रसिद्ध समभिव्याहारसे सङ्गतिग्रह कहते हैं। यहाँ पर मधुकर शब्दस्वरूपका भान ही नहीं होगा क्योंकि वह शब्दसे उपस्थित नहीं तो अर्थमें शक्तिग्रह न होनेसे नामधेयके समान अर्थका उपस्थापक न होकर केवल प्रत्यक्षोपस्थितस्वरूप से भासित होता है अतएव तदर्थाकांक्षा से अज्ञात सङ्गति का व्यक्तिविशेष में ग्रहण करता है। यदि स्वरूप का भी बोध न होगा तो सङ्गतिग्रह न होगा और होता है इस लिये प्रत्यक्षोपस्थिति का शाब्दबोध में भान होता है यह मानना आवश्यक है। यदि यह कहा जाय कि मधुकर शब्द का तद्वाच्य में लक्षणा कर शाब्दबोध

संसर्गनिर्वाहायेति। तदयं वाक्यार्थः—ज्योतिष्टोमनाम्ना यागेन स्वर्गमिष्टं भावयेदिति। कथमित्यपेक्षिते श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्याभिः सामवायिकारदुपकारकाङ्ग्रामपूर्त्येति विकृतौ प्रकृतिवदित्युपबन्धेन मुख्यालाभे प्रतिनिधायापीति यावन्न्यायलभ्यं तत्पूरणम्। एवं च यागस्य स्वर्गावच्छिन्नभावनाकरणत्वेन स्वर्गकरणत्वं करणत्वेन च साक्षात्कर्तृव्यापारविषयत्वरूपं कृतिसाध्यत्वं श्रुत्यर्थाभ्यां लभ्यत इति तदुभयमपि न लिङादिपदवाच्यमप्राप्ते शास्त्रमर्थवदिति न्यायात, अनन्वयाच्च। इष्टसाधनमिति समासे गुणभूतमिष्टपदं

में तद्भाव हो जायगा, तो ठीक नहीं, शक्यज्ञान के बिना लक्षणा नहीं हो सकती क्योंकि शक्यसम्बन्ध ही लक्षणा है। सम्बन्धिज्ञान पूर्वक ही सम्बन्ध ज्ञान होता है स्वरूप से सम्बन्ध के भान होने पर पीछे वाच्यवाचकभावरूप सम्बन्ध की कल्पना होती है अर्थात् भ्रमर (भौंरा) वाच्य है और मधुकरपद वाचक है। तस्मात प्रकृत में यह वाक्यार्थ होता है कि ज्योतिष्टोमनामक याग से स्वर्ग सुखविशेष को उत्पन्न करो।

कैसे ? इस अपेक्षासे श्रुति लिङ्ग-वाक्य-प्रकरण-स्थान-समाख्याओंसे सामवायिक आराढुपकारक अर्थात् व्रीह्यादि द्रव्य और प्रयाजादि अङ्गोंकी पूर्तिसे विकृति सौर्यादि यागमें 'प्रकृतिवद्विकृतिः कर्तव्या' इस अति देश वाक्यसे प्रकृति के अङ्गोंका अतिदेशकर को अपेक्षित और वहाँ अनुक्त आकांक्षाकी पूर्ति करना। नित्यकर्म सन्ध्याबन्दनादिमें जैसा सामर्थ्य हो वैसा ही उतना ही करे मुख्यके अभावमें प्रतिनिधिके द्वारा सोमके अभावमें पूतिका ही का 'अभावे शालिचूर्णं वा' के अनुसार उपयोग करे। मुख्यलाभसे कर्मका त्याग न करे जितना न्यायसे मिल सके उतने ही से आकांक्षाकी पूर्ति करे। इस परिस्थितिमें याग स्वर्गावच्छिन्न भावनाका करण होनेसे स्वर्गके प्रति कारण है इसका अभिप्राय पूर्वमें कह चुके हैं। करणत्वसे साक्षात् कर्तृव्यापार विषयत्वरूप कृतिसाध्यत्व श्रुति अर्थसे लब्ध हो जाता है इस कारण इष्ट साधनत्व और कृतिसाध्यत्व ये दोनों लिङादि पदवाच्य नहीं है क्योंकि अप्राप्त ही अर्थमें शास्त्र अर्थवान् होता है अतएव अज्ञातार्थज्ञापकत्वरूप प्रामाण्य शब्दमें माना जाता है। और दूसरा दोष यह भी है कि इष्टसाधनत्वका अन्वय भी असम्भव है, कारण इष्टसाधन इस समासमें गुणभूत विशेषण इष्टपद स्वर्गकाम इस समा-

स्वर्गकाम इतिसमासान्तरगुणभूतेन स्वर्गपदेन कथमन्वियादिष्टस्वर्गसाधनमिति। नहि 'राजपुरुषो वीरपुत्र' इत्यत्र वीरपदराजपदयोरन्वयोऽस्ति 'पदार्थः पदार्थेनान्वेति नतु पदार्थैकदेशेन' इति न्यायात्। करणविभक्त्यन्तज्योतिष्टोमादिनामधेयानन्वयप्रसङ्गादिदोषाश्चास्मिन् पक्षे द्रष्टव्याः, एतेनेष्टसाधनत्वं कृतिसाध्यत्वमिति त्रयमपि विध्यर्थ इत्यपास्तम्। अतिगौरवादर्थवादानां सर्वथा वैयर्थ्यापत्तेश्च। अत एव कृतिसाध्यत्वमात्रं विध्यर्थ इत्यपि न, भावनाकरणत्वेनार्थलभ्यत्वादित्युक्तः अलौकिको नियोगस्त्वलौकिकत्वादेव न विध्यर्थः। पराक्रान्तं

-सान्तर भिन्न समासमें गुणभूत स्वर्गपदके साथ कैसे अन्वित होगा? जिससे स्वर्गसाधन यह अर्थ हो। ऐसा प्रयोग नहीं पाया जाता कि 'राजपुत्रो वीरपुत्रः' यहाँ पर वीरपद और राजपदका परस्पर अन्वय नहीं है क्योंकि पदार्थका पदार्थके साथ अन्वय होता है पदार्थैकदेशके साथ नहीं यह न्यायप्रसिद्ध है। इस मतमें दोष कहते हैं—करण विभक्त्यन्त ज्योतिष्टोमादि नामधेयोंका अनन्वय प्रसङ्गादि दोष भी स्पष्ट ही देख पड़ते हैं। इससे इष्टसाधनत्व अनिष्टसाधनत्व कृतिसाध्यत्व ये तीनों लिङर्थ हैं, यह भी ठीक नहीं, क्योंकि इस मतमें पूर्वोक्त दोषों के अलावे अतिगौरव अर्थवाद वैयर्थ्य भी है, अत एव कृतिसाध्यत्वमात्र लिङादि का अर्थ है। इस में यद्यपि गौरवदोष का परिहार होता है तथापि अन्यलभ्य होने से विध्यर्थ नहीं हो सकता, भावना करणत्व से अर्थात् लब्ध हो जाता है यह पूर्व में कह चुके हैं। अलौकिक नियोग तो लोक में प्रसिद्ध ही नहीं हैं इसीसे विधि का अर्थ नहीं हो सकता। इस के निराकरण में विद्वानों ने बड़ा परिश्रम किया है। भाव यह है कि समृद्ध राजा का पुरुष है इस तात्पर्य से 'ऋद्धस्य राजपुरुषः' इस प्रयोग में साधुत्व के वारणार्थ वार्त्तिककार ने दो वार्त्तिक लिखे हैं—'सविशेषणानां वृत्तिर्न वृत्तस्य वा विशेषणयोगो न'। यदि पूर्व में ऋद्ध ही राज में विशेषण मानकर पश्चात् समास करना चाहें तो 'सविशेषणानां वृत्तिर्न' इस वार्त्तिक से समास का निषेध होता है, क्योंकि राजा सविशेषण है, अतः पुरुष के साथ समस्त नहीं हो सकता। यदि समास करने के बाद उक्त विशेषण दें तो 'वृत्तस्य वा विशेषणयोगो न' इस वार्त्तिक से उस प्रयोग में साधुत्व कहा गया है। भाष्यकारने

एकार्थीभाव सामर्थ्य में समर्थः पदविधिः इस सूत्र से परस्परविशेष्यविशेषणभावापन्न एकार्थोपस्थितिजनकत्वरूप एकार्थीभाव है, उसमें ही समास होता है। प्रथम प्रयोगमें 'सापेक्षमसमर्थवत्' इस न्यायसे, द्वितीय प्रयोग में पदार्थैकदेश होने से पदार्थान्तर का अन्वय नहीं हो सकता, क्योंकि 'पदार्थः पदार्थेनान्वेति न तु पदार्थैक देशेन' इस वचन से प्रयोगद्वय की सिद्धि मानकर उक्त वार्त्तिकद्वय को अनावश्यक कहा। अत एव—

समासे खलु भिन्नैव शक्तिः पङ्कजशब्दवत्।

इस वचन के अनुसार वैयाकरण समास में अतिरिक्त शक्ति मानते हैं। उन के मत में राजपदार्थ पदार्थैकदेश है यह स्पष्ट ही है। व्यपेक्षावादि तार्किकादि मत में भी राजपुरुष इस षष्ठी समास में राज पद राजसम्बन्धी में लाक्षणिक होने से उक्त पदसे राजसम्बन्धी में राज पदार्थ विशेषणविधया उपस्थित होता है अतः पदार्थैकदेश है, पदनिष्ठ वृत्तिज्ञानाधीनोपस्थितीयमुख्यविशेष्यता अपदार्थ कहाता है। पदस्य अर्थः। पदका अर्थ=पदार्थ प्रकृत में विवक्षित नहीं अन्यथा घटत्व के नित्यत्व के अन्वय तात्पर्य से 'घटो नित्यः' यह भी प्रयोग साधु हो जायगा। लक्षणा से एकार्थीभाव का प्रयोजन सिद्ध हो जाता समास में शक्त्यन्तर मानने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि लक्षणा से राजपद से राजसम्बन्धिविषयक उपस्थिति होती है, उसमें राजपदार्थ के प्रकार होने से पदार्थैकदेश हुआ। उसमें वीरादिपदार्थ का अन्वय उक्त व्युत्पत्ति से नहीं हो सकता, अतएव 'वषट्कर्तुः प्रथमभक्षः' यहाँ पर मीमांसकों ने विचार किया कि प्राथम्यविशिष्टभक्षण का उक्तवाक्य से विधान नहीं कर सकते। 'हविः शेषान् ऋत्विजो भक्षयन्ति' इस वाक्य से भक्षण विहित ही है, भक्षण को उद्देश्य कर प्राथम्य का विधान भी नहीं हो सकता। एकप्रसरता एकोपस्थितिनियामकता का भङ्ग हो जायगा अर्थात् समस्तपद से प्राथम्यप्रकारक भक्षविशेष्यक एकविशिष्ट की उपस्थिति है एकोपस्थितिविषयों में उद्देश्यविधेयभाव से अन्वय नहीं होता तादृशान्वय में भिन्न भिन्न पदों से स्वतन्त्रोपस्थित पदार्थों का ही अन्वय होता है यह सिद्धान्त भी उक्तार्थानुसारी है शेष का व्याख्यान कर चुके हैं।

ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिधैव गुणभेदतः ।
प्रोच्यते गुणसंख्याने यथावच्छृणु तान्यपि ॥ १९ ॥

उन सबमें, ज्ञान और कर्म तथा कर्ता भी गुणोंके भेदसे सांख्य-शास्त्रमें तीन प्रकार कहे गये हैं, उनको अच्छीतरह सुनो ॥ १९ ॥

ञ्चात्र सूरिभिः, तस्मादनन्यलभ्या लघुभूता च प्रेरणैव लिङादिपदवाच्येति स्थितम् । प्रवर्तकं तु ज्ञानं वाक्यार्थमर्यादालभ्यमन्यदेव सर्वेषामपि वादिनाम् । आख्यातार्थ एव च विशेष्यतया भासते न नामार्थः स्वर्गकामो वेति चोक्तप्रायमेव । 'तेन च यागानुकूलकृतिमान् स्वर्गकाम' इति तार्किकमतं पुरुषविशेष्यकवाक्यार्थज्ञानमपास्तम् ।

'संक्षेपेण मतं भाट्टमिदमत्रोपपादितम् ।
यद्वक्तव्यमिहान्यत्तदनुसन्धेयमाकारात् ॥' १८ ॥

तस्मात् से उपसंहार करते हैं—अन्य से अप्राप्त और लघुभूत स्वल्पशरीर प्रेरणा ही लिङादि विधिपदों की वाच्या है यही सिद्धान्त है । प्रवर्तक पुरुष प्रवृत्तिकरणज्ञान का लोभ तो वाक्यार्थमर्यादा से होता है किसी पद से नहीं, जैसे 'नीलो घटः' यहाँ अभेद का बोध संसर्गमर्यादा से होता है तद्वत् प्रकृत में भी समझना । सब वादियों के मतों में आख्यातार्थ ही का शाब्द बोध में विशेष्यतया भान होता है तात्पर्य तथा नामार्थ का विशेष्यतया शाब्द-बोध में भान नहीं माना जाता । 'स्वर्गकामो यजेत' इसका अर्थ उक्त प्राय है इसको प्रायः तद्व्याख्यान के समय में कह चुके हैं । याग से स्वर्ग की भावना करो इत्यादि अर्थ स्फुट भी है । यहाँ पर नैयायिक पुरुषविशेष्यक शाब्दबोध मानते हैं—स्वर्गकर्मकयागकरणक भावनानुकूलकृतिमान् पुरुष' इस से । यह ठीक नहीं, क्योंकि 'प्रकृतप्रत्ययौ सहार्थं ब्रूतः तयोः प्रत्ययार्थः प्रधानम्' इस न्याय से व्याकरण निरुक्तकार वचनों से विरुद्ध है इसका पूर्व में विवेचन हो चुका है, इस हेतु फिर उस अर्थ के कहने की आवश्यकता नहीं । संक्षेप से श्रीकुमारिल भट्ट पाद के मत का ही उपपादन किया है यहाँ सब अर्थ जो वक्तव्य विवेचन योग्य है उनको आकरग्रन्थों से जानो ॥ १८ ॥

म० टी०—इदानीं ज्ञानज्ञेयज्ञातृरूपस्य करणकर्मकर्तृरूपस्य च त्रिकद्वयस्य त्रिगुणात्मकत्वं वक्तव्यमिति तदुभयं संक्षिप्य त्रिगुणात्मकत्वं प्रतिजानीते—ज्ञानमित्यादिना। ज्ञानं प्राग्व्याख्यातम्। ज्ञेयमप्यत्रैवान्तर्भूतं ज्ञानोपाधिकत्वाज्ज्ञेयत्वस्य। कर्म क्रिया त्रिविधः कर्मसंग्रह इत्यत्रोक्ता। चकारात्करणकर्मकारकयोरत्रैवान्तर्भावः क्रियोपाधिकत्वात्कारकत्वस्य। कर्ता क्रियाया निर्वर्तकः। चकाराज्ज्ञाता च कर्तुः क्रियोपाधिकत्वेऽपि पृथक्त्रैगुण्यकथनं कुतार्किकभ्रमकल्पितात्मत्वनिवारणार्थम्, ते हि कर्तैवाऽऽत्मेति मन्यन्ते। गुणाः सत्त्वरजस्तमांसि सम्यकार्यभेदेन ख्यायन्ते प्रतिपाद्यन्तेऽस्मिन्निति गुणसंख्यानं कापिलं तस्मिन्, ज्ञानं क्रिया च कर्ता च गुणभेदतः सत्त्वरजस्तमोभेदेन त्रिधैव प्रोच्यते। एवकारो विधान्तरनिवारणार्थः। यद्यपि कापिलं शास्त्रं परमार्थब्रह्मैकत्वविषये न प्रमाणं तथाऽप्यपरमार्थगुणगौणभेदनिरूपणे व्यावहारिकं प्रामाण्यं भजत इति वक्ष्यमाणार्थस्तुत्यर्थं गुणसंख्याने प्रोच्यत

इस समय ज्ञान-ज्ञेय-ज्ञातृरूप करण-कर्म-कर्तृरूप त्रिकद्वय में त्रिगुणात्मकत्व कहना है। दोनों का संक्षेप कर त्रिगुणात्मकत्व की प्रतिज्ञा करते हैं—ज्ञान पूर्व व्याख्यात है। ज्ञेय भी इसी में अन्तर्भूत है। क्योंकि ज्ञेयत्व ज्ञानोपाधिक है। कर्म क्रिया 'त्रिविधः कर्मसंग्रहः' यहाँ पर जो कही गई है। चकार से करण कर्म कारक का इसी में अन्तर्भाव है, क्योंकि कारक क्रियोपाधिक होता है। कर्ता क्रिया का उत्पादक होता है चकार से ज्ञाता भी कर्ता क्रियोपाधिक होने से पृथक् त्रैगुण्यकथन कुतार्किक भ्रम कल्पित आत्मत्व के वारणार्थ है। वे कर्ता को ही आत्मा मानते हैं। गुण सत्त्वरजस्तम ये तीनों सम्यक् कार्यभेद से प्रतिपादित होते हैं जिस में वह गुणसंख्यान कापिल सांख्यशास्त्र है। इसमें ज्ञान क्रिया और कर्ता सत्त्वरजस्तम गुण भेद से तीन ही प्रकार के कहे जाते हैं। प्रकारान्तर निवारणार्थ है। एवकार प्रकारान्तर निवारणार्थ है। यद्यपि उक्त सांख्य परमार्थ ब्रह्म के एकत्व विषय में प्रमाण नहीं है, तथापि अपरमार्थ गुण गौणभेद निरूपण में व्यावहारिक प्रमाण है। अतः वक्ष्यमाण गुणार्थ स्तुति के लिए 'गुणसंख्याने प्रोच्यते' यह कहा गया है। शास्त्रान्तर

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते ।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम् ॥२०॥

हे अर्जुन! जिस ज्ञानसे मनुष्य पृथक् पृथक् सब भूतोंमें एक अविनाशी परमात्मभावको विभागरहित समभावसे स्थित देखता है, उस ज्ञानको तो तूँ सात्त्विक जानो ॥ २० ॥

इत्युक्तम् । तन्त्रान्तरेऽपि प्रसिद्धमिदं न केवलमस्मिन्नेव तन्त्र इति स्तुतिः । यथावद्यथाशास्त्रं शृणु श्रोतुं सावधानो भव तानि ज्ञानादीनि । अपिशब्दात्तद्भेदजातानि च गुणभेदकृतानि । अत्र चैवमपौनरुक्त्यं द्रष्टव्यं चतुर्दशेऽध्याये—'तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्' इत्यादिना गुणानां बन्धहेतुत्वप्रकारो निरूपितो गुणातीतस्य जीवन्मुक्तत्वनिरूपणाय । सप्तदशे पुनः—'यजन्ते सात्त्विका देवान्' इत्यादिना गुणकृतविविधस्वभावनिरूपणेनाऽऽसुरं रजस्तमःस्वभावं परित्यज्य सात्त्विकाहारादिसेवया दैवः सात्त्विकः स्वभावः संपादनीय इत्युक्तम् । इह तु स्वभावतो गुणातीतस्याऽऽत्मनः क्रियाकारकफलसंबन्धो नास्तीति दर्शयितुं तेषां सर्वेषां त्रिगुणात्मकत्वमेव न रूपान्तरमस्ति येनाऽऽत्मसंबन्धिता स्यादित्युच्यत इति विशेषः ॥ १९ ॥

में भी वह प्रसिद्ध है केवल इसी शास्त्र में नहीं यही स्तुति है। यथा शास्त्र के अनुसार इनके ज्ञानों के सुनने के लिए सावधान होओ। यद्यपि यह पूर्व में कहा है तथापि प्रकारान्तर से अपुनरुक्त समझना। चौदहवें १४ अध्याय में सत्त्व निर्मलत्वादि से गुणों का बन्ध हेतु प्रकार निरूपित किया। गुणातीत में जीवन्मुक्तत्व निरूपण के लिए १७ सत्रहवें में फिर 'यजन्ते सात्त्विका देवान्' इत्यादि से गुणकृत त्रिविध स्वभाव निरूपण से आसुर रजस्तमः स्वभाव परित्याग कर सात्त्विक आहारादि सेवन से सात्त्विक दैवस्वभाव सम्पादनीय है। यहाँ तो स्वभावतः गुणातीत आत्मा का क्रिया कारक फल सम्बन्ध नहीं है यह दिखलाने के लिए सब क्रिया कारकादि त्रिगुणात्मक होने से रूपान्तर नहीं है जिससे आत्मसम्बन्धिता हो यह कहते हैं यह विशेष है॥ १९ ॥

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान् पृथग्विधान् ।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम् ॥२१॥

और जो ज्ञान अर्थात् जिस ज्ञानके द्वारा, मनुष्य संपूर्ण भूतोंमें भिन्न भिन्न प्रकारके अनेक भावोंको न्याराकरके जानता है, उस ज्ञानको तूँ राजस जानो ॥ २१ ॥

म० टी०—एवं ज्ञानस्य कर्मणः कर्तुश्च प्रत्येकं त्रैविध्ये ज्ञातव्यत्वेन प्रतिज्ञाते प्रथमं ज्ञानत्रैविध्यं निरूपयति त्रिभिः श्लोकैः । तत्राद्वैतवादिनां सात्त्विकं ज्ञानमाह—सर्वेत्यादिना । सर्वेषु भूतेषु अव्याकृतहिरण्यगर्भविराट्संज्ञेषु बीजसूक्ष्मस्थूलरूपेषु समष्टिव्यष्ट्यात्मकेषु, सर्वेष्वित्यनेनैव निर्वाहे भूतेष्वित्यनेन भवनधर्मकत्वमुच्यते । तेनोत्पत्तिविनाशीलेषु दृश्यवर्गेषु, विभक्तेषु परस्परव्यावृत्तेषु नानारसेषु अव्ययमुत्पत्तिविनाशादिसर्वविक्रियाशून्यमदृश्यमविभक्तमव्यावृत्तं सर्वत्रानुस्यूतमधिष्ठानतया चैकमद्वितीयं भावं परमार्थसत्तारूपं स्वप्रकाशानन्दमात्मानं येनान्तःकरणपरिणामभेदेन वेदान्तवाक्यविचारपरिनिष्पन्नेनेक्षते साक्षात्करोति तन्मिथ्याप्रपञ्चबाधकमद्वैतात्मदर्शनं सात्त्विकं सर्वसंसारोच्छित्तिकारणं ज्ञानं विद्धि । द्वैतदर्शनं तामसं च संसारकारणं न सात्त्विकमित्यभिप्रायः ॥ २० ॥

इस प्रकार ज्ञान का और कर्मका कर्ताका प्रत्येकका तीन प्रकार जानना चाहिये, यह प्रतिज्ञा करनेपर तीन श्लोकोंसे ज्ञान त्रैविध्यका निरूपण करते हैं । उसमें अद्वैतवादियोंका सात्त्विक ज्ञान कहते हैं—सब भूतोंमें अव्याकृत हिरण्यगर्भ विराट संज्ञकोंमें बीज सूक्ष्म स्थूलरूपोंमें सब समष्टि विषयात्मकोंकोमें 'सर्वेषु' इसीसे निर्वाह होने पर भी भूतेषु इससे उत्पत्ति धर्मकत्व कहते हैं उससे उत्पत्ति विनाशशील विभक्त परस्पर व्यावृत्त नाना रस दृश्य वर्गोंमें उत्पत्ति विनाशादि विक्रियाशून्य अदृश्य अविभक्त अव्यावृत्त सर्वत्र अनुस्यूत आश्रयत्व से और अधिष्ठानसे एक अद्वितीय भाव परमात्मत्व सत्तारूप स्वप्रकाश वेदान्तवाक्यविचारसे उत्पन्न जिस अन्तःकरण परिणाम भेदसे साक्षात्कार करते हैं, वह मिथ्या प्रपञ्च बाधक अद्वैतात्मज्ञान सात्त्विक सर्व संसारोच्छेद हेतु ज्ञान जानो । द्वैतदर्शन तो राजस और तामस संसार कारण है, सात्त्विक नहीं यह अभिप्राय है ॥२०॥

यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन् कार्ये सक्तमहैतुकम् ।
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम् ॥ २२ ॥

और जो ज्ञान एक कार्यरूप शरीरमें ही संपूर्णताके सदृश आसक्त है, अर्थात् जिस विपरीत ज्ञानके द्वारा मनुष्य एक क्षणभङ्गुर, नाशवान् शरीरको ही आत्मा मानकर, उसमें सर्वस्वकी भाँति आसक्त रहता है तथा जो बिना युक्तिवाला, तत्त्व अर्थसे रहित और तुच्छ है, वह ज्ञान तामस कहा गया है ॥ २२ ॥

म० टी०—'तु' शब्दः प्रागुक्तसात्त्विकव्यतिरेकप्रदर्शनार्थः । पृथक्त्वेन भेदेन स्थितेषु सर्वभूतेषु देहादिषु नानाभावान् प्रतिदेहमन्यानात्मनः पृथग्विधान् सुखदुःखित्वादिरूपेण परस्परविलक्षणान्, येन ज्ञानेन वेत्तीति वक्तव्ये यज्ज्ञानं वेत्तीति करणे कर्तृत्वोपचारादेधांसि पचन्तीतिवत्कर्तुरहाङ्कारस्य तद्वृत्त्यभेदाद्वा, तज्ज्ञानं विद्धि राजसमिति पुनर्ज्ञानपदमात्मभेदज्ञानमनात्मभेदज्ञानं च परामृशति । तेनाऽऽत्मनां परस्परं भेदस्तेषामीश्वरादन्योन्यतश्चाचेतनवर्गस्य भेद इत्यनौपाधिकभेदपञ्चकज्ञानं कुतार्किकाणां राजसमेवेत्यभिप्रायः ॥ २१ ॥

म० टी०—तुशब्दो राजसाद्भिनत्ति । बहुषु भूपकार्येषु विद्यमानेष्वेकस्मिन्कार्ये भूतविकारे देहे प्रतिमादौ वाऽहेतुकं हेतुरुपपत्तिस्तद्रहितमन्येषां

'तु' शब्द प्रागुक्त सात्त्विक भेद ज्ञापनार्थ है। भेदसे देहादि स्थित सर्व भूतोंमें नानाभाव प्रतिदेह (प्रति शरीर) दुःख सुखित्वादिरूपसे परस्पर विलक्षण अतएव भिन्न भिन्न आत्मा जिस ज्ञानसे जानता है यह वक्तव्य था किन्तु 'यज् ज्ञानं वेत्ति' यह कथन करणमें कर्तृत्वोपचारसे काष्ठपाक कर्त्ता है इसके समान है अथवा अहङ्कार कर्त्ताका तद्वृत्तिके अभेदसे उक्त प्रयोग है। 'तज्ज्ञानं विद्धि राजसम्' इस वाक्यमें पुनर्ज्ञानपद आत्मभेदज्ञान और आत्मभेदज्ञानका परामर्शक है, इससे आत्माओंमें परस्पर भेद और उनमें ईश्वरसे भेद और उनमें ईश्वरमें भेद और अन्योऽन्य [अचेतन वर्गका भेद इस प्रकर औपाधिक भेद पञ्चक कुतार्किकोंका राजस ही है यह अभिप्राय है ॥२१॥

'तु' शब्द राजस का भेदक है । अनेक विद्यमान वर्तमान भूत कार्यों में एक कार्यभूत विकार देह प्रतिमादि में अहेतुक हेतु उपपत्तिशून्य तद्रहित

नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम् ।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते ॥ २३ ॥

तथा हे अर्जुन! जो कर्म शास्त्रविधिसे नियत किया हुआ और कर्तापनके अभिमानसे रहित, फलको न चाहनेवाले पुरुषद्वारा, बिना राग-द्वेषसे किया हुआ है, वह कर्म तो सात्त्विक कहा जाता है ॥ २३ ॥

भूतकार्याणामात्मत्वाभावे कथमेकस्य तादृशस्याऽऽत्मत्वमित्यनुसंधानशून्यं, कृत्स्नवत्परिपूर्णवत्सक्तमेतावानेवाऽऽत्मेश्वरो वा नातः परमस्तीत्यभिनिवेशेन लग्नं यथा दिगम्बराणां सावयवो देहपरिमाण आत्मेति यथा वा चार्वाकाणां देह एवाऽऽत्मेति एवं पाषाणदार्वादिमात्र ईश्वर इत्येकस्मिन्कार्ये सक्तमहेतुकत्वादेवातत्त्वार्थवन्न तत्त्वार्थालम्बनम्, अल्पं च नित्यत्वविभुत्वाग्रहात् । ईदृशं नित्यविभुदेहादिव्यतिरिक्तात्मतद्व्यतिरिक्तेश्वरग्राहितार्किकज्ञानविलक्षणमनित्यपरिच्छिन्नदेहाद्यात्माभिमानरूपं चार्वाकादीनां यज्ज्ञानं तत्तामसमुदाहृतं तामसानां प्राकृतजनानामीदृशज्ञानदर्शिभिः ॥ २२ ॥

म० टी०—तदेवमौपनिषदानामद्वैतात्मदर्शनं सात्त्विकमुपादेयं मुमुक्षुभिर्द्वैतदर्शिनां तु नित्यविभुपरस्परविभिन्नात्मदर्शनं राजसमनित्यपरिच्छिन्ना-

अन्यभूत कार्यों में आत्मतत्त्व का अभाव रहने पर तादृश एक में कैसे आत्मत्व है? इस अनुसन्धान से शून्य पूर्णवित सक्त इतना ही आत्मा वा ईश्वर इससे परे नहीं इस दुराग्रह से लगा। दिगम्बरों का सावयव देह परिमाण आत्मा है। यथा वा चार्वाकों का देह ही आत्मा है। एवं शिलालढ़की नाई ईश्वर इस प्रकार एक कार्य में सक्त अहेतुक होने से अतत्त्वार्थवत् है। तत्त्वार्थालम्बन नहीं नित्यत्व विभुत्व ज्ञानाभाव से स्वल्प है। ऐसा नित्य विभु देहादि व्यतिरिक्त आत्म तद्व्यतिरिक्त ईश्वर ग्राह्य तार्किकज्ञान विलक्षण अनित्यपरिच्छिन्नदेहाद्यात्मभिमान रूप चार्वाकादिकों का जो ज्ञान है वह तामस है प्राकृत जनों में ऐसा ही ज्ञान देखा जाता है ॥ २२ ॥

इस प्रकार वेदान्तियों का अद्वैततात्मदर्शन सात्त्विकों से ग्राह्य है। द्वैत दर्शियोंका नित्य विभु परस्पर विभिन्नात्मदर्शन तामस त्याज्य है। अब

यत्तु कामेप्सुना कर्म साहंकारेण वा पुनः ।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम् ॥ २४ ॥

और जो कर्म बहुत परिश्रमसे युक्त है तथा फलको चाहनेवाले और अहङ्कारयुक्त पुरुषद्वारा किया जाता है, वह कर्म राजस कहा गया है ॥ २४ ॥

त्मदर्शनं च तामसं हेयमुक्तं, संप्रति त्रिविधं कर्मोच्यते—**नियत**मित्यादिना । नियतं यावदङ्गोपसंहारासमर्थमपि फलावश्यंभावव्याप्तं नित्यमिति यावत् । सङ्गोऽहमेव महायाज्ञिक इत्याद्यभिमानरूपोऽहङ्कारापरपर्यायो राजसो गर्वविशेषस्तेन शून्यं सङ्गरहितं, यावदज्ञानं तु कर्तृत्वभोक्तृत्वप्रवर्तनोऽहङ्कारोऽनुवर्तत एव सात्त्विकस्यापि । तद्रहितस्य तु तत्त्वविदो न कर्माधिकार इत्युक्तमसकृत् । रागो राजसन्मानादिकमनेन लप्स्य इत्यभिप्रायः, द्वेषः शत्रुमनेन पराजेष्य इत्यभिप्रायस्ताभ्यां न कृतमरागद्वेषतः कृतम् । फलप्रेप्सुना फलाभिलापरहितेन कर्त्रा यत्कृतं कर्म यागदानहोमादि तत्सात्त्विकमुच्यते ॥ २३ ॥

म० टी०—'तुः' सात्त्विकाद्भिनत्ति । कामेप्सुना फलकामेन कर्त्रा साहङ्कारेण प्रागुक्तसङ्गात्मकगर्वयुक्तेन च । वाशब्दः समुच्चये । पुनरित्यनियतं

त्रिविधकर्म कहते हैं नियत यावदङ्गोपहारासमर्थोंका फलावश्यंभाव व्याप्त नित्य है । सङ्ग—मैं ही बड़ा याज्ञिक हूँ यह अभिमानरूप अहङ्कार पर्य्याय गर्वविशेष राजस है । उससे शून्य सङ्गरहित यावदज्ञानतः कर्तृत्व, भोक्तृत्व, प्रवर्त्तक अहङ्कार सात्त्विकको भी अनुवृत्त होता ही है । तद्रहित तत्त्ववेत्ताका कर्माधिकार नहीं, यह अनेकवार कह चुके हैं । राग—राजसन्मानादिक इससे लाभ करेंगे यह अभिप्राय, द्वेष इससे शत्रुका पराजय करेंगे यह अभिप्राय इन दोनोंसे न किया गया अरागद्वेषकृत है फलेच्छाशून्य कर्त्तासे जो किया कर्म याग दान होमादि वह सात्त्विक कहा जाता है ॥२३॥

'तु' शब्द सात्त्विकसे भेद करता है । फलका भी कर्त्तासे साहङ्कार पूर्वोक्त सङ्गमात्मक गर्वयुक्त से । 'वा' शब्द समुच्चयमें है । पुनः का अनियत अर्थ है ।

अनुबन्धं क्षयं हिंसामनवेक्ष्य च पौरुषम् ।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते ॥ २५ ॥
मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः ।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते ॥२६॥

तथा जो कर्म परिणाम, हानि, हिंसा और सामर्थ्यको न विचारकर केवल अज्ञानसे आरम्भ किया जाता है, वह कर्म तामस कहा जाता है ॥ २५ ॥

तथा हे अर्जुन ! जो कर्ता, आसक्तिसे रहित और अहङ्कारके वचन न बोलनेवाला, धैर्य और उत्साहसे युक्त एवं कार्यके सिद्ध होने और न होनेमें हर्ष, शोकादि विकारोंसे रहित है वह कर्ता तो सात्त्विक कहा जाता है ॥ २६ ॥

यावत्कामनं काम्यावृत्तेः । बहुलायासं सर्वाङ्गोपसंहारेण क्लेशावहं यत्काम्यं कर्म क्रियते तद्राजसमुदाहृतम् । अत्र सर्वैर्विशेषणैः सात्त्विकसर्वविशेषणव्यतिरेको दर्शितः ॥ २४ ॥

म० टी०—अनुबन्धं पश्चाद्भाव्यशुभं, क्षयं शरीरसामर्थ्यस्य धनस्य सेनायाश्च नाशं हिंसां प्राणिपीडां, पौरुषमात्मसामर्थ्यं चानपेक्ष्यापर्यालोच्य मोहात्केवलाविवेकादेवाऽऽरभ्यते यत्कर्म यथा दुर्योधनेन युद्धं तत्तामसमुच्यते ॥ २५ ॥

जबतक कामना है तबतक काम्यकी आवृत्ति होती है । अधिक प्रयास सर्वाङ्गोपसंहारसे क्लेशप्रद जो काम्य कर्म किया जाता है वह राजस कहा जाता है। यहाँ पर सब विशेषणोंसे सात्त्विक सब विशेषणोंका व्यतिरेक कहा गया है ॥२४॥

अनुबन्ध पश्चाद् भावी अशुभ शरीर सामर्थ्य धन और सेवाका नाश क्षय है। प्राणिपीड़ा हिंसा है स्वशक्तिका पर्य्यालोचन न कर मोहसे अर्थात केवल अविवेकसे जिस कर्मका आरम्भ किया जाता है, जैसे दुर्योधनने युद्धारम्भ किया वह कर्म तामस कहा जाता है ॥२५॥

रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः ।
हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः ॥ २७ ॥

और जो आसक्ति युक्त, कर्मके फलको चाहनेवाला और लोभी है तथा दूसरोंको कष्ट देने के स्वभाववाला, अशुद्धाचारी और हर्ष—शोकसे युक्त है, वह कर्ता राजस कहा गया है ॥ २७ ॥

म० टी०—इदानीं त्रिविधः कर्तोच्यते—मुक्तसङ्ग इत्यादिना। मुक्तसङ्गस्त्यक्तफलाभिसन्धिः, अनहंवादी कर्ताऽहमिति वदनशीलो न भवति स्वगुणश्लाघाविहीनो वा। धृतिर्विघ्नाद्युपस्थितावपि प्रारब्धपरित्यागहेतुरन्तःकरणवृत्तिविशेषो धैर्यमुत्साह इदमहं करिष्याम्येवेतिनिश्चयात्मिका बुद्धिर्धृतिहेतुभूता ताभ्यां संयुक्तो धृत्युत्साहसमन्वितः। कर्मणः क्रियामाणस्य फलस्य सिद्धावसिद्धौ च हर्षशोकाभ्यां हेतुभ्यां यो विकारो वदनविकासम्लानत्वादिस्तेन रहितः सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः केवलं शास्त्रप्रमाणप्रयुक्तो न फलरागेण। अत एवंभूतः कर्ता सात्त्विक उच्यते ॥ २६ ॥

म० टी०—रागी कामाद्याकुलचित्तः। अत एव कर्मफलप्रेप्सुः कर्मफलार्थी। लुब्धः परद्रव्याभिलाषी धर्मार्थं स्वद्रव्यत्यागासमर्थश्च। स्वाभिप्रायप्रकटनेन परवृत्तिच्छेदनं हिंसा तदात्मकस्तत्स्वाभिप्रायप्रकटने

इस समय त्रिविध कर्ता कहते हैं—सक्त इत्यादिसे मुक्तसङ्ग परित्यक्त फलच्छेद 'मैं करता हूँ'। इस प्रकार जो कथनशील नहीं है अथवा स्वगुणप्रशंसा अनहंवादी विघ्नोपस्थित होनेपर भी आरब्ध कर्मका अपरित्याग कारण वृत्तिविशेष धैर्य (धृति) है। इसको हम करेंगे ही ईदृश निश्चयात्मक बुद्धि धृति कारणभूत उत्साह है। उन दोनोंसे युक्त धृत्युत्साहयुक्त क्रियमाण फलके सिद्धि असिद्धिमें हर्ष शोक हेतुओंसे जो विकार मुखविकाश मुखमलिनत्वादि उससे रहित सिद्ध्यसिद्धिमें निर्विकार केवल शास्त्रप्रमाणयुक्त फलेच्छासे नहीं एवंभूत कर्त्ता सात्त्विक कहलाता है ॥२६॥

रागी कामादिकोंसे आकुलचित्त अतएव फलेच्छावान् कर्मफलप्रार्थी लुब्ध परद्रव्यके चाहनेवाला धर्मार्थ अपने द्रव्यके त्यागमें असमर्थ अपने अभिप्रायके प्रकाशनसे परवृत्तिका छेदन हिंसा है। तदात्मक तत्स्वभाव स्वाभि-

अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः ।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते ॥ २८ ॥
बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु ।
प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनञ्जय ! ॥ २९ ॥

तथा जो विक्षेपयुक्त चित्तवाला, शिक्षा से रहित, घमण्डी, धूर्त और दूसरे की आजीविका नाशक एवं शोक करनेके स्वभाववाला, आलसी और दीर्घसूत्री है, वह कर्ता तामस कहा जाता है ॥ २८ ॥

तथा हे अर्जुन ! तूँ बुद्धिका और धारणशक्ति का भी गुणोंके कारण तीन प्रकारका भेद संपूर्णता से, विभागपूर्वक मेरेसे कहा सुनो ॥ २९ ॥

नैष्कृतिक इति भेदः । अशुचिः शास्त्रोक्तशौचहीनः । सिद्ध्यसिद्ध्योः कर्मफलस्य हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः ॥ २७ ॥

म० टी०—अयुक्तः सर्वदा विषयापहृतचित्तत्वेन कर्तव्येष्वनवहितः । प्राकृतः शास्त्रसंस्कृतबुद्धिर्बालसमः । स्तब्धो गुरुदेवतादिष्वप्यनम्रः । शठः परवञ्चनार्थमन्यथा जानन्नप्यन्यथावादी । नैष्कृतिकः स्वस्मिन्नुपकारित्वभ्रममुत्पाद्य परवृत्तिच्छेदनेन स्वार्थपरः । अलसोऽवश्यकर्तव्येष्वप्यप्रवृत्तिशीलः । विषादी सततमसंतुष्टस्वभावत्वेनानुशोचनशीलः । दीर्घसूत्री निरन्तरशङ्कासहस्रकवलितान्तःकरणत्वेनातिमन्थरप्रवृत्तिर्यदद्यकर्तव्यं तन्मासेनापि करोति न वेत्येवंशीलश्च कर्ता तामस उच्यते ॥ २८ ॥

प्रायके प्रकट करनेके विना जो परिवृत्ति का छेदन करता है वह नैष्कृतिक है यह दोनोंमें भेद है। अशुचि शास्त्रोक्त शुद्धिहीन सिद्ध्यसिद्धि अर्थात् कर्मफलके होने व न होनेपर क्रमशः हर्षशोकान्वित कर्त्ता राजस कहाता है ॥२७॥

अयुक्त सदा विषयापहृत चित्त होनेसे कर्त्तव्योंमें अवधानरहित प्राकृत शास्त्रोंसे असंस्कृतबुद्धि बालकसदृश स्तब्ध गुरुदेवादिमें नम्रतारहित शठ दूसरेके ठगनेके लिये जानते हुए भी अन्यथा कथनशील, नैष्कृतिक—अपनेमें उपकारित्व भ्रमका उत्पादन कर परवृत्ति छेदसे स्वार्थपर, अलस—अवश्यकार्यमें भी अप्रवृत्तिशील विषादी सतत असन्तुष्ट स्वभाव होनेसे अनुशोचनशील दीर्घसूत्री निरन्तर हजारों शङ्काओंसे युक्त अन्तःकरणहोनेसे अतिमन्द प्रवृत्ति जो आज कर्त्तव्य है वह महीने भरमें करता है वा नहीं एवं शील यह कर्त्ता तामस कहाता है ॥२८॥

म० टी०—तदेवं 'ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिधैव गुणभेदतः' इति व्याख्यातम्, संप्रति 'धृत्युत्साहसमन्वितः' इत्यत्र सूचितयोर्बुद्धिधृत्योस्त्रैविध्यं प्रतिजानीते—बुद्धेरित्यादिना। बुद्धेरध्यवसायादिवृत्तिमत्या धृतेश्च तद्वृत्तेः सत्त्वादिगुणतस्त्रिविधमेव भेदं यथा त्वां प्रति त्यक्तालस्येन परमाप्तेन प्रोच्यमानमशेषेण निरवशेषं पृथक्त्वेन हेयोपादेयविवेकेन शृणु श्रोतुं सावधानो भव। हे धनंजयेति दिग्विजये प्रसिद्धं महिमानं सूचयन् प्रोत्साहयति। अत्रेदं चिन्त्यते—किमत्र बुद्धिशब्देन वृत्तिमदन्तःकरणं, प्रथमे ज्ञानं पृथङ्न वक्तव्यं, द्वितीये कर्ता पृथङ्न वक्तव्यः, वृत्तिमदन्तःकरणस्यैव कर्तृत्वात्। ज्ञानधृत्योः पृथक्कथनवैयर्थ्यं च। न चेच्छादिपरिसंख्यार्थं तत्, वृत्तिमदन्तःकरणत्रैविध्यकथनेन सर्वासामपि तद्वृत्तीनां त्रैविध्यस्य विवक्षितत्वात्। उच्यते—अन्तःकरणोपहितश्चिदाभासः कर्ता। इह तूपहितान्निष्कृष्योपाधिमात्रं करणत्वेन विवक्षितं सर्वत्र करणोपहितस्य कर्तृत्वात्। यद्यपि च "कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एव" इतिश्रुत्यनूदितानां

इस प्रकार—

'ज्ञानं कर्म च कर्त्ता च त्रिधैव गुणभेदतः।'

इसका व्याख्यान हुआ। सम्प्रति 'धृत्युत्साह समन्वितः'। यहाँ पर सूचित बुद्धिधृतिका त्रैविध्य प्रतिज्ञा करते हैं · बुद्धेः' से। अध्यवसायादि गुण से ३ प्रकारका भेद तुम्हारे प्रति त्यक्तालस्य मैं कहता हूँ। मदुक्त निश्शेष हेयोपादेयके लिये विवेकसे सुनो, सुननेके लिये सावधान होओ। हे धनञ्जय! इस सम्बोधनसे दिग्विजयमें प्रसिद्ध महिमाका सूचन करते हुए प्रोत्साहन करते हैं। यहाँ पर यह विचारते हैं कि क्या बुद्धि शब्दसे वृत्तिमात्र अभिप्रेत है? अथवा वृत्तिमद् अन्तःकरण, प्रथम पक्षमें ज्ञान अलग नहीं कहना चाहिए क्योंकि वृत्तिमदन्तःकरण त्रैविध्य कथनसे सम्पूर्ण अन्तःकरण वृत्तियोंमें त्रैविध्य विवक्षित है। 'उच्यते' से समाधान' करते हैं—अन्तःकरणोपहित चिदाभास कर्त्ता है यहाँ तो उपहितसे पृथक् कर उपाधिमात्र करणत्वेन विवक्षित है। सब जगह करणोपहित ही कर्त्ता होता है। यद्यपि 'कामस्सङ्कल्पो विचिकित्सा श्रद्धा अश्रद्धा धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीः एतत् सर्वं मन एव' इस श्रुतिसे अनुवादित सब वृत्तियोंमें त्रैविध्य

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये ।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा! पार्थ सात्त्विकी ॥३०॥
यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च ।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ! राजसी ॥ ३१ ॥

हे पार्थ ! प्रवृत्तिमार्ग और निवृत्तिमार्गको तथा कर्तव्य और अकर्तव्यको एवं भय और अभयको तथा बन्धन और मोक्षको जो बुद्धि तत्त्वसे जानती है, वह बुद्धि तो सात्त्विकी है ॥ ३० ॥

और हे पार्थ ! जिस बुद्धिके द्वारा मनुष्य, धर्म और अधर्मको तथा कर्त्तव्य अकर्तव्योंको भी यथार्थ नहीं जानता है, वह बुद्धि राजसी है ॥ ३१ ॥

सर्वासामपि वृत्तीनां त्रैविध्यं विवक्षितं तथाऽपि धीधृत्योस्त्रैविध्यं पृथगुक्तं ज्ञानशक्तिक्रियाशक्त्युपलक्षणार्थं न तु परिसंख्यार्थमिति रहस्यम् ॥ २९ ॥

म० टी—तत्र बुद्धेस्त्रैविध्यमाह त्रिभिः—प्रवृत्तिमित्यादिना । प्रवृत्तिं कर्ममार्गं, निवृत्तिं संन्यासमार्गं, कार्यं प्रवृत्तिमार्गे कर्मणां करणम्, अकार्यं निवृत्तिमार्गे कर्मणामकरणं, भयं प्रवृत्तिमार्गे गर्भत्रासादिदुःखम्, अभयं निवृत्तिमार्गे तदभावं, बन्धं प्रवृत्तिमार्गे, मिथ्याज्ञानकृतं कर्तृत्वाद्यभिमानं, मोक्षं निवृत्तिमार्गे तत्त्वज्ञानकृतमज्ञानतत्कार्याभावं च या वेत्ति करणे कर्तृत्वोपचाराद्यया वेत्ति कर्ता बुद्धिः सा प्रमाणजनितनिश्चयवती हे पार्थ ! सात्त्विकी । बन्धमोक्षयोरन्ते कीर्तनात्तद्विषयमेव प्रवृत्त्यादि व्याख्यातम् ॥ ३० ॥

विवक्षित है । तथापि धी और धृतिमें त्रैविध्य अलग कह चुके हैं ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्तिके उपलक्षणार्थ परिसंख्यार्थ नहीं यह रहस्य गूढार्थ है ॥ २९ ॥

इसमें तीन श्लोकोंसे बुद्धि त्रैविध्य कहते हैं—प्रवृत्ति कर्ममार्ग, निवृत्ति सन्यासमार्ग, कार्य प्रवृत्तिमार्गमें कर्मोंका करना, अकार्यनिवृत्तिमार्गमें गर्भवासादि दुःख, अभय निवृत्तिमार्गमें तदभाव, 'बन्ध' प्रवृत्तिमार्गमें मिथ्याज्ञानप्रयुक्त कर्तृत्वाद्यभिमान, मोक्ष निवृत्तिमार्गमें तत्त्वज्ञानकृत अज्ञान तत्कार्याभावको जो जानती है करणकर्तृत्वोपचार है । अर्थात् 'यया वेत्ति पुरुषः' जिससे पुरुष जानता है, वह प्रमाणजनित निश्चयवती बुद्धि हे पार्थ ! सात्त्विकी है बन्ध मोक्षके अन्तमें कथन होनेसे तद्विषयक प्रवृत्त्यादि व्याख्यात हुआ ॥३०॥

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसाऽऽवृता ।
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ ! तामसी ॥ ३२ ॥
धृत्या यया धारयते मनः प्राणेन्द्रियः क्रियाः ।
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ ! सात्त्विकी ॥ ३३ ॥

और हे अर्जुन ! जो तमोगुणसे आवृत हुई बुद्धि, अधर्मको धर्म ऐसा मानती है, वह बुद्धि तामसी है ॥ ३२ ॥

और हे पार्थ ! ध्यानयोगके द्वारा जिस अव्यभिचारिणी धारणासे मनुष्य मन, प्राण और इन्द्रियोंकी क्रियाओंको धारण करता है, वह धारणा तो सात्त्विकी है ॥३३॥

म० टी०---धर्मं शास्त्रविहितमधर्मं शास्त्रप्रतिषिद्धमदृष्टार्थमुभयं कार्यं चाकार्यं च दृष्टार्थमभयथावदेव प्रजानाति यथावन्न जानाति किंस्विदिदमिदमित्थं न वेति चानध्यवसायं संशयं वा भजते यया बुद्ध्या सा राजसी बुद्धिः । अत्र तृतीयानिर्देशादन्यत्रापि करणत्वं व्याख्येयम् ॥ ३१ ॥

म० टी०---तमसा विशेषदर्शनविरोधिना दोषेणाऽऽवृता या बुद्धिरधर्मं धर्ममिति मन्यतेऽदृष्टार्थे सर्वत्र विपर्यस्यति। तथा सर्वार्थान् सर्वान् दृष्टप्रयोजनानपि ज्ञेयपदार्थान् विपरीतानेव मन्यते सा विपर्ययवती बुद्धिस्तामसी॥ ३२ ॥

धर्मशास्त्र विहित अधर्म शास्त्रप्रतिषिद्ध ये दोनों अदृष्टार्थ हैं कार्य अकार्य दोनों दृष्टार्थ है। यह अन्यथा जो जानता है जैसा तत्त्व है वैसा नहीं जानता क्या यह ऐसा ही है ? अथवा नहीं ? यह अनिश्चय वा संशय जिस बुद्धिसे करता है वह राजसी बुद्धि है, यहाँ तृतीया निर्देशसे अन्यत्रापि करणत्व व्याख्येय है ॥३१॥

विशेषदर्शन विरोधी तम दोषसे जो बुद्धि आवृत है वह अधर्म धर्म मानती है अदृष्टार्थ सबमें भ्रम समझना तथा सब अर्थ दृष्टप्रयोजन ज्ञेयपदार्थ विपरीत ही मानता है वह विपर्य्यय युक्त बुद्धि तामसी है ॥३२॥

यया तु धर्मकामार्थान् धृत्या धारयतेऽर्जुन ! ।
प्रसङ्गेन फलाकांक्षी धृतिः सा पार्थ ! राजसी ॥३४॥
यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च ।
न विमुञ्चति दुर्मेधाः धृतिः सा पार्थ ! तामसी ॥ ३५ ॥

और हे पृथापुत्र अर्जुन ! फलकी इच्छावाला मनुष्य अति आसक्तिसे जिस धारणाके द्वारा धर्म, अर्थ और कामोंको धारण करता है, वह धारणा राजसी है ॥३४॥

तथा हे पार्थ ! दुष्ट बुद्धिवाला मनुष्य, जिस धारणाके द्वारा निद्रा, भय, चिन्ता और दुःखको एवं उन्मत्तताको भी नहीं छोड़ता है अर्थात् धारण किये रहता है, वह धारणा तामसी है ॥ ३५ ॥

म० टी०—इदानीं धृतेस्त्रैविध्यमाह त्रिभिः—'धृत्या' इत्यादिना। योगेन समाधिनाऽव्यभिचारिण्याऽविनाभूतया समाधिव्याप्तया यया धृत्या प्रयत्नेन मनसः प्राणस्येन्द्रियाणाञ्च क्रियाश्चेष्टाः धारयत उच्छास्त्रप्रवृत्तेर्निरुणद्धि, यस्यां सत्यामवश्यं समाधिर्भवति, यया च धार्यमाणा मन आदिक्रियाः शास्त्रमतिक्रम्य नार्थान्तरमवगाहन्ते धृतिः सा पार्थ ! सात्त्विकी ॥३३॥

म० टी०—तुः सात्त्विक्या भिनत्ति। प्रसङ्गेन कर्तृत्वाद्यभिनिवेशेन फलाकाङ्क्षी सन् यया धृत्या धर्मं काममर्थं च धारयते नित्यं कर्तव्यतयाऽवधारयति न तु मोक्षं कदाचिदपि धृतिः सा पार्थ ! राजसी ॥ ३४ ॥

इस समय धृतिमें त्रैविध्य कहते हैं—तीन श्लोकोंसे। योगसे समाधिसे जो अव्यभिचारिणी और अविनाभूत है समाधिव्याप्त जिस धृतिसे मन प्राण और इन्द्रियोंकी चेष्टा क्रिया शास्त्रविरुद्ध प्रवृत्तिसे रोकती है जिसके होने पर अवश्य समाधि होती है जिससे धार्यमाण मन आदिककी क्रिया शास्त्रका अतिक्रम कर अर्थान्तरमें नहीं प्रवृत्ति होती वह हे पार्थ ! सात्त्विकी है ॥३३॥

फिर 'तु' शब्द सात्त्विकीसे भेदक है। प्रसङ्गसे कर्तृत्वाद्यभिनिवेशसे फलाकाङ्क्षी होकर जिस धृतिसे धर्म काम और अर्थका धारण करता है। अर्थात् सदा उनमें कर्त्तव्यत्वका अवधारण करता है मोक्षमें कभी नहीं वह धृति हे पार्थ ! राजसी है ॥३४॥

सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ !।
अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति ॥ ३६ ॥

हे अर्जुन ! अब सुख भी तूँ तीन प्रकारका मेरेसे सुनो, हे भरतश्रेष्ठ ! जिस सुखमें साधक पुरुष भजन, ध्यान और सेवादिके अभ्याससे रमण करता है और दुःखोंके अन्तको प्राप्त होता है ॥ ३६ ॥

म० टी०——स्वप्नं निद्रां भयं त्रासं शोकमिष्टवियोगनिमित्तं संतापं विषादमिन्द्रियावसादं मदमशास्त्रीयविषयसेवोन्मुखत्वं च यया न विमुञ्चत्येव किंतु सदैव कर्तव्यतया मन्यते दुर्मेधा विवेकासमर्थो धृतिः सा पार्थ ! तामसी ॥ ३५ ॥

म० टी०——एवं क्रियाणां कारकाणां च गुणतस्त्रैविध्यमुक्त्वा तत्फलस्य सुखस्य त्रैविध्यं प्रतिजानीते श्लोकार्धेन——सुखमित्यादिना । मे मम वचनाच्छृणु हेयाहेयविवेकार्थं व्यासङ्गान्तरनिवारणेन मनः स्थिरी कुरु, हे भरतर्षभेति योग्यता दर्शिता ।

म० टी०——सात्त्विकं सुखमाह सार्धेन——अभ्यासादित्यादिना । यत्र समाधिसुखेऽभ्यासादतिपरिचयाद्रमते परितृप्तो भवति न तु विषयसुख इव सद्य एव । यस्मिन् रममाणश्च दुःखस्य सर्वस्याप्यन्तमवसानं नितरां गच्छति न तु विषयसुख इवान्ते महद्दुःखम् ॥ ३६ ॥

स्वप्न, निद्रा, भय, त्रासशोक, इष्ट वियोगनिमित्त, संताप विषाद, इन्द्रिय शैथिल्य, मद अशास्त्रीय विषयसेवनोन्मुखत्व जिससे नहीं छोड़ता है किन्तु सदा कर्त्तव्य ही मानता है वह विवेकासमर्थ दुर्बुद्धि हे पार्थ ! तामसी है ॥३५॥

इस प्रकार क्रिया कारकोंका गुणभेदसे त्रैविध्य कहकर तत्फल सुखका श्लोकार्धसे त्रैविध्यकी प्रतिज्ञा करते हैं, मेरे वचनसे सुनो—ग्राह्य त्याज्य विवेकार्थ व्यासङ्गान्तर निवारण कर मनको स्थिर करो। हे भरतर्षभ ! इस सम्बोधनसे जाननेकी योग्यता दिखलायी। श्लोकार्धसे सात्त्विक सुख कहतेहैं—जिस समाधि सुखमें अभ्याससे अतिपरिचयसे अत्यन्त परितृप्त होता है विषय सुखके समान झटिति अर्थात् तुरन्त और जिसमें अनुरक्त सम्पूर्ण दुःखका अन्त पाता है विषय सुखके समान अन्तमें अधिक दुःख नहीं ॥३६॥

यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम् ।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम् ॥ ३७ ॥

वह सुख प्रथम साधनके आरम्भकालमें यद्यपि विषके सदृश भासता है परन्तु परिणाममें अमृतके तुल्य है, जो भगवत्विषयक बुद्धि के प्रसादसे उत्पन्न हुआ सुख है, वह सात्त्विक कहा गया है ॥ ३७ ॥

म० टी०——तदेव विवृणोति——**यत्तदग्र** इत्यादिना। यदग्रे ज्ञानवैराग्यध्यानसमाध्यारम्भेऽत्यन्तायासनिर्वाह्यत्वाद्विषमिव द्वेषविशेषावहं भवति। परिणामे ज्ञानवैराग्यादिपरिपाके त्वमृतोपमं प्रीत्यातिशयास्पदं भवति। आत्मविषया बुद्धिरात्मबुद्धिस्तस्याः प्रसादो निद्रालस्यादिराहित्येन स्वच्छतयाऽवस्थानं ततो जातमात्मबुद्धिप्रसादजं न तु राजसमिव विषयेन्द्रियसंयोगजं न वा तामसमिव निद्रालस्यादिजम्। ईदृशं यदनात्मबुद्धिप्रसादजं समाधिसुखं तत्सात्त्विकं प्रोक्तं योगिभिः। अपर आह——अभ्यासादावृत्तेर्यत्र रमते प्रीयते यत्र च दुःखावसानं प्राप्नोति तत्सुखं, तच्च त्रिविधं गुणभेदेन शृण्विति तत्पदा-

इसी का विवरण करते हैं—यत्तग्रेसे। जो आगे प्रथम ज्ञान वैराग्य ध्यान समाधि के आरम्भ में अत्यन्त परिश्रम से निर्वाह होने से विष के तरह प्रतीत होता है वही परिणाम ज्ञान वैराग्यादि परिपाक होने पर अमृतोपम (अमृत के समान अतिप्रीति का विषय) होता है आत्मविषयक बुद्धि आत्मबुद्धि उसका प्रसाद निद्रालस्यादिरहितत्व से स्वच्छतया स्थिति उससे उत्पन्न आत्मबुद्धि प्रसादज राजस के तरह विषयेन्द्रिय संयोगज नहीं और न तामस के समान निद्रालस्यादि उत्पन्न है ईदृश अनात्मबुद्धि की निवृत्ति से जो आतमबुद्धि प्रसादज सुख है उसको योगियों ने सात्त्विक सुख कहा है। अपर आह (दूसरे की व्याख्या है)—

अभ्यासावृत्ति से जिसमें प्रसन्न होता है तथा रमण करता दुःखावसान को प्राप्त करता है वह सुख है। वह गुणभेद से तीन प्रकार का है यह सुनो। तत्पद का अध्याहार कर पूर्वा श्लोक का अन्वय है। 'यत्तदग्र' इत्यादि

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ॥ ३८ ॥
यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः ।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम् ॥ ३९ ॥

और जो सुख, विषय और इन्द्रियोंके संयोगसे होता है, वह यद्यपि भोगकालमें अमृतके सदृश भासता है, परन्तु परिणाममें विषके सदृश है, इसलिये वह सुख राजस कहा गया है ॥ ३८ ॥

तथा जो सुख, भोगकालमें और परिणाममें भी आत्माको मोहनेवाला है' वह निद्रा, आलस्य और प्रमादसे उत्पन्न हुआ सुख तामस कहा गया है ॥ ३९ ॥

ध्याहारेण पूर्वस्य श्लोकस्यान्वयः । 'यत्तदग्रे' इत्यादिश्लोकेन तु सात्त्विकसुखलक्षणमिति । भाष्यकाराभिप्रायोऽप्येवम् ॥ ३७ ॥

म० टी--विषयाणामिन्द्रियाणां च संयोगाज्जातं न त्वात्मबुद्धिप्रसादाद्यत्तद्यदतिप्रसिद्धं स्रक्चन्दनवनितासङ्गादिसुखमग्रे प्रथमारम्भे मनःसंयमादिक्लेशाभावादमृतोपमं परिणामे त्वैहिकपारत्रिकदुःखावहत्वाद्विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ॥ ३८ ॥

म० टी०--अग्रे प्रथमारम्भे चानुबन्धे परिणामे च यत्सुखमात्मनो मोहकरं, निद्रालस्ये प्रसिद्धे, प्रमादः कर्तव्यार्थावधानमन्तरेण मनोराज्यमात्रं,

श्लोक से तो सात्त्विक सुख का लक्षण है। भाष्यकार का अभिप्राय भी ऐसा ही है ॥ ३७ ॥

विषय और इन्द्रियों के संयोग से उत्पन्नआत्मबुद्धिप्रसाद से नहीं जो सुख अतिप्रसिद्ध माला चन्दन वनितासङ्गादि सुख प्रारम्भ काल में मनःसंयमादि क्लेशाभाव से अमृत के समान परिणाम में ऐहिक पारलौकिक दुःखप्रद होने से विष के समान है वह सुख राजस कहा गया है ॥३८॥

प्रथमारम्भ और परिणाम में जो सुख का आत्मा का मोहप्रद निद्रालस्य प्रसिद्ध है । प्रमाद कर्तव्यार्थावधान के विना मनोरथमात्र

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः ॥४०॥

और हे अर्जुन! पृथिवीमें या स्वर्गमें अथवा देवताओंमें, ऐसा वह कोई भी प्राणी नहीं है, कि जो इन प्रकृतिसे उत्पन्न हुए, तीनों गुणोंसे रहित हो, क्योंकि यावन्मात्र सर्व जगत् त्रिगुणमयी मायाका ही विकार है ॥ ४० ॥

तेभ्य एवोत्तिष्ठति न तु सात्त्विकमिव बुद्धिप्रसादजं न वा राजसमिव विषयेन्द्रियसंयोगजं, तन्निद्रालस्यप्रमादोत्थं तामसं सुखमुदाहृतम् ॥ ३९ ॥

म० टी०—इदानीमनुक्तमपि संगृह्णन् प्रकरणार्थमुपसंहरति भगवान्—'ने' त्यादिना। सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिस्ततो जातैर्वैषम्यावस्थां प्राप्तैः प्रकृतिजैर्न तु साक्षाद्गुणानां प्रकृतिजत्वमस्ति तद्रूपत्वात्, तस्माद्वैषम्यावस्थैव तदुत्पत्तिरुपचारात्। अथवा प्रकृतिर्माया तत्प्रभवैस्तत्कल्पितैः प्रकृतिजैरेभिस्त्रिभिर्गुणैर्बन्धनहेतुभिः सत्त्वादिभिर्मुक्तं हीनं सत्त्वं प्राणिजातमप्राणि वा यत्स्यात्तत्पुनः पृथिव्यां मनुष्यादिषु दिवि देवेषु वा यत्स्यात्तत्पुनः पृथिव्यां मनुष्यादिषु दिवि देवेषु वा नास्ति क्वापि गुणत्रयरहितमनात्मवस्तु नास्तीत्यर्थः ॥ ४० ॥

उन्हीं से उत्पन्न होता है। सात्त्विक के समान बुद्धि प्रसादज नहीं और न राजस के प्रादज नहीं और न राजस के समान विषयेन्द्रिय संयोगज ही है वह निद्रा आलस्य प्रमाद से उत्पन्न तामस सुख कहा गया है ॥ ३९ ॥

इस समय अनुक्त का भी संग्रह करते हुए भगवान् प्रकरणार्थ का नेति से। उपसंहार करते हैं सत्त्वरजस्तम की साम्यावस्था प्राप्त प्रकृतिजन्य है। अथवा प्रकृति माया तज्जन्य तत्कल्पित प्रकृतिजन्य गुण साक्षात् प्रकृतिजन्य नहीं है, क्योंकि प्रकृति गुणात्मक ही है। अतः गुणों में वैषम्यावस्था ही औपचारिक उत्पत्ति है तन्निमित्तक गुणों में प्रकृतिजन्यत्व कथन है। इन तीनों गुणों से जो बन्धन हेतु है सत्त्वादि उनसे मुक्त अर्थात् हीन प्राणीसमूह अप्राणी हों वह पृथ्वी में मनुष्यादि में और स्वर्ग में देवों में वा नहीं है कहीं गुणत्रयरहित अनात्मवस्तु नहीं ही है ॥ ४० ॥

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परन्तप ।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ॥ ४१ ॥

हे परन्तप ! ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों के कर्म स्वभावजनित सत्त्व आदि गुणोंके अनुसार शास्त्रोंने विभक्त किये हैं ॥ ४१ ॥

म० टी०——तदेवं सत्त्वरजस्तमोगुणात्मकः क्रियाकारकफललक्षणः सर्वः संसारो मिथ्याज्ञानकल्पितोऽनर्थश्चतुर्दशाध्यायोक्त उपसंहृतः । पञ्चदशे च वृक्षरूपककल्पनया तमुक्त्वा—

"अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलमसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्वा ।
ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं यस्मिन् गता न निवर्तन्ति भूयः ॥"

इत्यसङ्गशस्त्रेण विषयवैराग्येण तस्य च्छेदनं कृत्वा परमात्माऽन्वेष्टव्य इत्युक्तम् । तत्र सर्वस्य त्रिगुणात्मकत्वे त्रिगुणात्मकस्य संसारवृक्षस्य कथं छेदोऽसङ्गशस्त्रस्यैवानुपपत्तेरित्याशङ्कायां स्वस्वाधिकारविहितैर्वर्णाश्रमधर्मैः परितोष्यमाणात्परमेश्वरादसङ्गशस्त्रलाभ इति वदितुमेतावानेव सर्ववेदार्थः परमपुरुषार्थमिच्छद्भिरनुष्ठेय इति च गीताशास्त्रार्थ उपसंहर्तव्य इत्येवमर्थमुत्तरं प्रकरणमारभ्यते । तत्रेदं सूत्रम्——ब्राह्मणेति । त्रयाणां समासकरणं द्विजत्वेन वेदाध्ययनादितुल्यधर्मत्वकथनार्थम् । शूद्राणामिति पृथक्करणमेकजातित्वेन

इस प्रकार सत्त्वरजस्तमोगुणात्मक क्रिया कारक फललक्षण सब संसार मिथ्याज्ञान कल्पित और अनर्थ चतुर्दशाध्यायोक्त उपसंहृत हुआ। पञ्चदश में वृक्षरूपक कल्पना से उसको कहकर 'अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलकसङ्गशस्त्रेण' इत्यादि से विषय वैराग्य से वृक्ष का छेदन कर परमात्मा का अन्वेषण करना यह कहा। उसमें सब त्रिगुणात्मक संसार का छेदन कैसे हो असङ्गशास्त्र की अनुपपत्ति है इस आशंका से स्व स्व अधिकार वर्णाश्रमधर्मों से परितुष्ट होनेवाले परमात्मा से असङ्ग शास्त्र का लाभ होगा यह कहने के लिए इतना ही सब वेदार्थ है, परम पुरुषार्थ इच्छुकों से अनुष्ठेय है यह गीता शास्त्रार्थ उपसंहार विषय एतदर्थ उत्तर प्रकरणारम्भ कहते हैं। उससे यह सूत्र है—ब्राह्मण इत्यादि। तीनों का समासकरण द्विजत्वेन वेदाध्यायनादि सादृश्य धर्म कथनार्थ 'शूद्राणाम्'

वेदानधिकारित्वज्ञापनार्थम् । तथा च वसिष्ठः--"चत्वारो वर्णा ब्राह्मणक्षत्रिय वैश्यशूद्रास्तेषां त्रयो वर्णा द्विजातयो ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यास्तेषाम्--

" मातुरग्रेऽधिजननं द्वितीयं मौञ्जिबन्धने ।
अत्रास्य माता सावित्री पिता त्वाचार्य उच्यते ॥" इति ।

तथा प्रतिविशिष्टं चातुर्वर्ण्यं स्थानविशेषाच्च ।

" ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः ।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत॥" इति ।

इत्यपि नियमो भवति । गायत्र्या ब्राह्मणमसृजत त्रिष्टुभा राजन्यं जगत्या वैश्यं न केनचिच्छन्दसा शूद्रमित्यसंस्कारो विज्ञायत इति । शूद्रश्च तुर्यो वर्ण एकजातिरिति च गौतमः । हे परतंप ! शत्रुतापनं तेषां चतुर्णामपि वर्णानां कर्माणि प्रकर्षेण विभक्तानीतरेतरविभागेन व्यवस्थितानि । कैः स्वभावप्रभवैर्गुणैः, ब्राह्मण्यादिस्वभावस्य प्रभवैर्हेतुभूतैर्गुणैः सत्त्वादिभिः । तथाहि-- ब्राह्मणस्वभावस्य सत्त्वगुण एव प्रभवः प्रशान्तत्वात् । क्षत्रियस्वभावस्य सत्त्वोपसर्जनं रज ईश्वरस्वभावत्वात् । वैश्यस्वभावस्य तम उपसर्जनं रज ईहास्वभावत्वात् । शूद्रस्वभावस्य रज उपसर्जनं तमो मूढस्वभावत्वात् । अथवा मायाख्या

यह पृथक् करण एक जाति होने से वेदका अधिकारी है यह ज्ञापनार्थ है। ऐसा ही वशिष्ठ जी कहते हैं—'चत्वारो वर्णा' इत्यादि (ऊपर देखिये)। तथा प्रतिविशिष्ट चातुर्वर्ण्य स्थानविशेष से भी 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत् इत्यादि (ऊपर देखिये)। यह भी वेद है—'गायत्र्या ब्राह्मणमसृजत' इत्यादि गौतमोक्ति ऊपर देखिये। हे परन्तप शत्रुतापन ! इन चारों वर्णों का कर्म प्रकर्ष से विभक्त हैं। इतरेतर भेदसे व्यवस्थित है, किनसे ? भेदस्वभाव से उत्पन्न होनेवाले गुणों से ब्राह्मणादि स्वभावहेतुभूत गुणसत्त्वादि से, तथाहि—ब्राह्मणस्वभाव का सत्त्वगुण ही प्रभव (करण) है क्योंकि दोनों शान्त हैं। क्षत्रिय का स्वभाव सत्त्वोपसर्जन रज है। क्योंकि वह ईश्वरस्वभाव है, वैश्यस्वभाव तम उपसर्जन रज है चेष्टा स्वभाव होने से शूद्रस्वभाव रज उपसर्जन तम है। मूढ़स्वभाव से अथवा मायाख्य

प्रकृतिः स्वभावस्तत उपादानात्प्रभवो येषां तैः। प्राग्भवीयः संस्कारो वर्तमाने भवे स्वफलाभिमुखत्वेनाभिव्यक्तः स्वभावः स निमित्तत्वेन प्रभवो येषामिति वा। शास्त्रस्यापि पुरुषस्वभावसापेक्षत्वाच्छास्त्रेण प्रविभक्तान्यपि गुणैः प्रविभक्तानीत्युच्यन्ते। 'आख्यातानामर्थं बोधयतामधिकारिशक्ति' सहचारिणी इति न्यायात्। तथा हि गौतमः--" द्विजातीनामध्ययनमिज्या दानं, ब्राह्मणस्याधिकाः प्रवचनयाजनप्रतिग्रहाः। पूर्वेषु नियमस्तु। राज्ञोऽधिकं रक्षणं सर्वभूतानां न्याय्यदण्डत्वं, वैश्यस्याधिकं कृषिवणिक्पाशुपाल्यं कुसीदं च। शूद्रश्चतुर्थो वर्ण एकजातिस्तस्यापि सत्यमक्रोधः शौचमाचमनार्थे पाणिपादप्रक्षालनमेवैके श्राद्धकर्म भृत्यभरणं स्वदारवृत्तिः परिचर्योत्तरेषाम्" इति। अत्र साधारणा असाधारणाश्च धर्मा उक्ताः। पूर्वेषु अध्ययनेज्यादानेषु नियमोऽवश्यकर्तव्यत्वं न तु प्रवचनयाजनप्रतिग्रहेषु वृत्त्यर्थत्वादित्यर्थः। वणिग्वाणिज्यं, कुसीदं वृद्ध्यै धनप्रयोगः। उत्तरेषामिति श्रेष्ठानां द्विजातीनामित्यर्थः। वसिष्ठोऽपि--ब्राह्मणस्याध्ययन-

---

प्रकृति स्वभाव है, उस उपादान से प्रभव (उत्पत्ति) हैं जिनकी वे प्राचीन संस्कार वर्त्तमान जन्म में सुफलाभिव्यञ्जनार्थ अभिव्यक्तस्वभाव है सनिमित्तत्वेन प्रभव है जिनका इति वा। शास्त्र भी पुरुषस्वभाव सापेक्ष होने से शास्त्र से प्रविभक्त गुण कहे जाते हैं। 'आख्यातानामर्थं बोधयतामधिकारिशक्ति सहकारिणी' यह न्याय है। तथाहि गौतमः—द्विजातीनामित्यादि—द्विजातियों का अध्ययन इज्या दान में ब्राह्मण के अधिक हैं, प्रवचन याजन प्रतिग्रह पूर्व में नियम है। राजा का सर्वभूतों का अधिकरक्षण और न्याय दण्डत्व अधिक है। वैश्य का अधिक कृषि वाणिज्य पशुपालन, कुसीद, व्याज, शूद्र चौथा वर्ण एक जाति का सत्य अक्रोध शौच आचमन प्राणि पाणि पाद प्रक्षालन ही कायिक संज्ञा है, श्राद्ध कर्म भृत्यभरण स्वदारवृत्ति उत्तर वर्णों की सेवा, यहाँ पर साधारण और असाधारण धर्म कहे गये हैं। पूर्व में अध्ययनेज्या दान में नियम अवश्य कर्त्तव्यत्व हैं। प्रवचन याजन प्रतिग्रह में नियम नहीं, क्योंकि यह वृत्त्यर्थ है। वाणिज्य कुसीद वृद्धि के लिये धन लगाना। 'उत्तरेषाम्' इसका अर्थ श्रेष्ठ द्विजातियों की परिचर्या। वशिष्ठ ने भी कहा है—कर्म ब्राह्मण

मध्यापनं यज्ञो याजनं दानं प्रतिग्रहश्चेति । त्रीणि राजन्यस्याध्ययनं यज्ञो दानं च शस्त्रेण च प्रजापालनं स्वधर्मस्तेन जीवेत् । एतान्येव त्रीणि वैश्यस्य कृषि-वणिक्पाशुपाल्यं कुसीदं च तेषां परिचर्या शूद्रस्य" इति । आपस्तम्बोऽपि-- "चत्वारो वर्णा ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्रास्तेषां पूर्वः पूर्वो जन्मतः श्रेयान् । स्वकर्म ब्राह्मणस्याध्ययनमध्यापनं यज्ञो याजनं दानं प्रतिग्रहणं दायाद्यं शिलोञ्छाद्यन्यच्चापरिगृहीतम् । एतान्येव क्षत्त्रियस्याध्यापनयाजनप्रतिग्रहणा-नीति परिहाय युद्धदण्डाधिकानि । क्षत्त्रियवद्वैश्यस्य दण्डयुद्धवर्जं कृषिगो (गौ) रक्ष्यवाणिज्याधिकम् । परिचर्या शूद्रस्येतरेषां वर्णानाम्" इति । मनुरपि--

"अध्यापमध्यनं यजनं याजनं तथा ।
दानं प्रतिग्रहं चैव ब्राह्मणानामकल्पयत् ॥
प्रजानां रक्षणं दानमिज्याऽध्ययनमेव च ।
विषयेष्वप्रसक्तिं च क्षत्त्रियस्य समादिशत् ॥
पशूनां रक्षणं दानमिज्याऽध्ययनमेव च ।
वणिक्पथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिमेव च ॥
एकमेव तु शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत् ।
एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनसूयया ॥" इति ।

के हैं—अध्ययन, अध्यापन, यजन, याजन, दान, प्रतिग्रह इति । क्षत्रियों के तीन हैं—यज्ञ, दान, अध्ययन शस्त्रसे प्रजापालन यह स्वधर्म है । इससे जीविका निर्वाह करना । येही तीन वैश्य के हैं—कृषि वाणिज्य पशुपालन, कुसीद इनकी सेवा करना शूद्र का धर्म है । आपस्ताम्ब भी कहा है—'चत्वारो वर्णा ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य-शूद्राः' इनमें पूर्व जन्म से श्रेष्ठ हैं अपना कर्म ब्राह्मण का अध्ययन, अध्या-पन, यजन, याजन, दान प्रतिग्रह आदि हैं । क्षत्रिय के अध्यापन, याजन, प्रतिग्रह इन तीनों को छोड़ कर और युद्ध दण्डादिक धर्म क्षत्रिय के समान वैश्य का भी दण्ड युद्धको छोड़कर कृषि, गोरक्ष, वाणिज्य, अधिक है परिचर्या आम वर्णों की शूद्र का । मनु ने भी कहा है—

"अध्यापनमध्ययनं यजनं याज- नन्तथा ।
दानं प्रविग्रनञ्चेव ब्राह्मणानामकल्पयत् ।"

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्॥ ४२ ॥

शम (चित्त का निग्रह), दम (बाह्य इन्द्रियोंका दमन), तप (शास्त्रोक्त व्रतादिक), शौच (बाह्य और आभ्यन्तर शुद्धि), क्षान्ति (क्षमा), आर्जव (सरलता), ज्ञान (साङ्ग वेद तदर्थविषयक बोध), विज्ञान) (तत्त्वानुभव), और आस्तिक्य (परलोकमें निष्ठा) ये सब कर्म ब्राह्मण जातिका स्वभाविक है॥ ४२ ॥

एवं चतुर्णामपि वर्णानां गुणभेदेन कर्माणि प्रविभक्तानि ॥ ४१ ॥

म० टी०—तत्र ब्राह्मणस्य स्वाभाविकगुणकृतानि कर्माण्याह--**शम-** इत्यादिना। शमोऽन्तःकरणोपरमः। दमो बाह्यकरणोपरमः प्रागुक्तम्। तपः शारीरादि देवद्विजगुरुप्राज्ञेत्यादावुक्तम्। शौचमपि बाह्याभ्यन्तरभेदेन प्रागुक्तम्। क्षान्तिः क्षमाऽऽक्रुष्टस्य ताडितस्य वा मनसि विकारराहित्यं प्राग्व्याख्यातम्। आर्जवमकौटिल्यं प्रागुक्तम्। ज्ञानं साङ्गवेदतदर्थविषयम्। विज्ञानं कर्मकाण्डे ब्रह्मात्मैक्यानुभवः। आस्तिक्यं सात्त्विकी श्रद्धा प्रागुक्ता। एतच्छमादिनवकं स्वभावजं सत्त्वगुणस्वभावकृतं ब्रह्मकर्म ब्राह्मणजातेः कर्म। यद्यपि चतुर्णामपि वर्णानां सात्त्विकावस्थायामेते धर्माः संभवन्ति तथाऽपि बाहुल्येन ब्राह्मणे भवन्ति

इत्यादि ऊपर देखिये। इस प्रकार चारों वर्णों का कर्म गुण भेद से अलग २ है॥ ४१॥

उनमें ब्राह्मण के स्वाभाविक गुणकृत कर्मों को कहते हैं—'शम' इत्यादि से। शम अन्तः करणोपशम, दम पूर्वोक्त बाह्य करणोपरम, तप शारीरादि देव द्विजगुरुप्राज्ञ इत्यादि से उक्त है। शौच भी बाहर भीतर के भेद से पूर्व में उक्त है, क्षमा, आक्रुष्ट ताड़ित का वा मन में विकारराहित्य पूर्व में व्याख्यात है, आर्जव अकौटिल्य पूर्वोक्त ज्ञान सामवेद तदर्थविषय, विज्ञान कर्मकाण्डमें यज्ञादि कर्म नैपुण्य, ब्रह्मकाण्ड में ब्रह्मात्मैक्यानुभव, आस्तिक्य पूर्वोक्त सात्त्विकी श्रद्धा ये शमादि नव स्वाभाविक हैं। सत्त्वगुण स्वभावकृत हैं, ब्रह्मकर्म ब्राह्मणजाति का कर्म, यद्यपि चारों वर्णोंका सात्त्विकावस्थासे ये धर्म होते हैं तथापि अधिक ब्राह्मणोंमें

सत्त्वस्वभावत्वात्तस्य । सत्त्वोद्रेकवशेन त्वन्यत्रापि कदाचिद्भवन्तीति शास्त्रान्तरे साधारणधर्मतयोक्ताः । तथा च विष्णुः—

" क्षमा सत्यं दमः शौचं दानमिन्द्रियसंयमः ।
अहिंसा गुरुशुश्रूषा तीर्थानुसरणं दया ॥
आर्जवं लोभशून्यत्वं देवब्राह्मणपूजनम् ।
अनभ्यसूया च तथा धर्मः सामान्य उच्यते ॥" इति ।

सामान्यश्चतुर्णामपि वर्णानां तथा प्रायेण चतुर्णामप्याश्रमाणामित्यर्थः । तथा बृहस्पतिः—

" दया क्षमाऽनसूया च शौचानायासमङ्गलम् ।
अकार्पण्यमस्पृहत्वं सर्वसाधारणानि च ॥
परे वा बन्धुवर्गे वा मित्रे द्वेष्टरि वा सदा ।
आपन्ने रक्षितव्यं तु दयैषा परिकीर्तिता ॥
बाह्ये चाऽऽध्यात्मिके चैव दुःखे चोत्पादिते क्वचित् ।
न कुप्यति न वा हन्ति सा क्षमा परिकीर्तिता ॥
न गुणा गुणिनो हन्ति स्तौति मन्दगुणानपि ।
नान्यदोषेषु रमते साऽनसूया प्रकीर्तिता ॥
अभक्ष्यपरिहारश्च संसर्गश्चाप्यनिर्गुणैः ।
स्वधर्मे च व्यवस्थानं शौचमेतत्प्रकीर्तितम् ॥

होते हैं ,क्योंकि वह सत्त्व स्वभाव है सत्त्वोपचयवश अन्यत्र भी कदाचित होते हैं इस कारण शास्त्रान्तरमें साधारण धर्म कहे गये हैं । तथा च विष्णु ने कहा है—

'क्षमा सत्यं दमः शौचन्दानमिन्द्रियसंयमः' ।

इत्यादि ऊपर देखिये । अर्थ अतिस्पष्ट है ।

सामान्य चारों वर्णोंका तथा प्रायः चारों आश्रमोंका भी । बृहस्पतिने भी कहा है-

'दया क्षमानसूया च शौचानायासमङ्गलम् ।'

इत्यादि ऊपर देखिये । अर्थ पूर्व व्याख्यातप्राय है ।

शरीरं पीड्यते येन सुशुभेनापि कर्मणा ।
अत्यन्तं तन्न कर्तव्यमनायासः स उच्यते ॥
प्रशस्ताचरणं नित्यमप्रशस्तविसर्जनम् ।
एतद्धि मङ्गलं प्रोक्तं मुनिभिस्तत्त्वदर्शिभिः ॥
स्तोकादपि प्रदातव्यमदीनेनान्तरात्मना ।
अहन्यहनि यत्किंचिदकार्पण्यं हि तत्स्मृतम् ॥
यथोत्पन्नेन संतोषः कर्तव्यो ह्यर्थवस्तुना ।
परस्याचिन्तयित्वाऽर्थं साऽस्पृहा परिकीर्तिता ॥" इति ।

एत एवाष्टावात्मगुणत्वेन गौतमेन पठिताः "अथाष्टावात्मगुणा दया सर्वभूतेषु क्षान्तिरनसूयया शौचमनायासो मङ्गलमकार्पण्यमस्पृहा" इति । तथा महाभारते--

"सत्यं दमस्तपः शौचं संतोषो ह्रीः क्षमाऽऽर्जवम् ।
ज्ञानं शमो दया ध्यानमेष धर्मः सनातनः ॥
सत्यं भूतहितं प्रोक्तं मनसो दमनं दमः ।
तपः स्वधर्मवर्तित्वं शौचं सङ्करवर्जनम् ॥
सन्तोषो विषयत्यागो ह्रीरकार्यनिवर्तनम् ।
क्षमा द्वन्द्वसहिष्णुत्वमार्जवं समचित्तता ॥
ज्ञानं तत्त्वार्थसंबोधः शमश्चित्तप्रशान्तता ।
दया भूतहितैषित्वं ध्यानं निर्विषयं मनः ॥" इति ।

देवलः--

" शौचं दानं तपः श्रद्धा गुरुसेवा क्षमा दया ।

ये ही आठ आत्मगुण गौतम पढ़े हैं--अथेत्यादि ऊपर देखिये ।

और महाभारतमें--

"सत्यं दमस्तपः शौचं सन्तोषो हि क्षमार्जवम् ।
ज्ञानं शमो दया ध्यानमेष धर्मः सनातनः ॥"

इत्यादि ऊपर देखिये । इन सबोंका अर्थ व्याख्यातप्रायही समझिये । इसी प्रकार आगे भी जानियेगा ।

देवलः--शौचं दानं तपः श्रद्धा गुरुसेवा क्षमा दया ।
इत्यादि ऊपर देखिये ।

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम् ।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ॥ ४३ ॥

शौर्य (पराक्रम), तेज (प्रागल्भ्य, जिससे कि दूसरे लोग डरें), धृति (धैर्य), दाक्ष्य (कुशलता), युद्धमें अपलायन हैं (शत्रुओंसे पराङ्मुख न होना), दान, धर्मतः प्रजापालन ये सब क्षत्रियों के स्वाभाविक कर्म हैं ॥ ४३ ॥

विज्ञानं विनयः सत्यमिति धर्मसमुच्चयः ॥" इति ।

तथा—

" व्रतोपवासनियमैः शरीरोत्तापनं तपः ।
प्रत्ययो धर्मकार्येषु तथा श्रद्धेत्युदाहृता ॥
नास्ति ह्यश्रद्दधानस्य कर्मकृत्यप्रयोजनम् ।
यत्पुनर्वैदिकीनां च लौकिकीनां च सर्वशः ॥
धारणं सर्वविद्यानां विज्ञानमिति कीर्त्यते ।
विनयं द्विविधं प्राहुः शश्वद्दमशमाविति ॥"

शेषं व्याख्यातप्रायमिति वचनानि न लिखितानि । याज्ञवल्क्यः—

" इज्याचारदमो हिंसादानस्वाध्यायकर्मणाम् ।
अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनाऽऽत्मदर्शनम् ॥" इति ॥

इयं च सर्वा दैवी संपत्प्राग्व्याख्याता ब्राह्मणस्य स्वाभाविकीतरेषां नैमित्तिकीति न विरोधः ॥ ४२ ॥

म० टी०—क्षत्रियस्य गुणस्वभावकृतानि कर्माण्याह—**शौर्य**मित्यादिना । शौर्यं विक्रमो बलवत्तरानपि प्रहर्तुं प्रवृत्तिः । तेजः प्रागल्भ्यं परैरधर्ष-

---

शेष व्याख्यात प्रायः है अतः वचन नहीं लिखा । याज्ञवल्क्यने कहा है—

'इज्याचार' इत्यादि ऊपर देखिये ।

यह सर्वा दैवी सम्पत् पूर्वमें व्याख्यात है, ब्राह्मणकी स्वाभाविकी है तदितरकी नैमित्तिकी अतः विरोध नहीं ॥४२॥

क्षत्रियके गुण स्वभावकृत कर्म कहते हैं—शौर्य्यसे । शौर्य्य-पराक्रम अति बलवान्के भी मारनेमें प्रवृत्ति, तेज प्रागल्भ्य अतिरस्कार्य धृति दूसरे बड़ी विपत्तिमें

कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम् ।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ॥ ४४ ॥

कृषि (खेती करना), गोरक्षा करना और वाणिज्य (क्रयविक्रय रूप व्यवहार) ये वैश्यों के स्वाभाविक कर्म हैं, और तीनों वर्णों का सेवारूप कर्म शूद्रका स्वाभाविक है ॥ ४४ ॥

णीयत्वम् । धृतिर्महत्यामपि विपदि देहेन्द्रियसंघातस्यानवसादः । दाक्ष्यं दक्षभावः सहसा प्रत्युत्पन्नेषु कार्येष्वव्यामोहेन प्रवृत्तिः । युद्धे चाप्यपलायनमपराङ्मुखीभावः । दानमसंकोचेन वित्तेषु स्वस्वत्वपरित्यागेन परस्वत्वापादनम् । ईश्वरभावः प्रजापालनार्थमीशितव्येषु प्रभुशक्तिप्रकटीकरणे च । क्षात्रकर्म क्षत्रियजातेर्विहितं कर्म स्वभावजं सत्त्वोपसर्जनरजोगुणस्वभावजम् ॥ ४३ ॥

म० टी०--कृषिरन्नोत्पत्त्यर्थं भूमेर्विलेखनम् । गोरक्षस्य भावो गौरक्ष्यं पाशुपाल्यम् । वाणिज्यं वणिजः कर्म क्रयविक्रयादिलक्षणं, कुसीदमप्यत्रान्तर्गणनीयम् । वैश्यकर्म वैश्यजातेः कर्म, स्वभावजं तम उपसर्जनरजोगुणस्वभावजम् । परिचर्यात्मकं द्विजातिशुश्रूषात्मकं शूद्रस्यापि कर्म स्वभावजं रज उपसर्जनतमोगुणस्वभावजम् ॥ ४४ ॥

भी देहेन्द्रिय सङ्घात कर न गिरना, दाक्ष्य—उत्पन्न कार्यमें अव्यामोहपूर्वक सहसा प्रवृत्ति, युद्धमें अपलायन-भागना नहीं, दानाध्ययनमें सङ्कोचरहितस्वसत्त्व निवृत्ति पूर्वक परसत्त्वापादन, अर्थात् अपने सत्त्वको हटाकर ग्रहण करनेवालेके सत्त्वका उत्पादन ईश्वरभाव प्रजापालनार्थ शास्य अर्थमें प्रभुशक्ति प्रगट करना, क्षात्रकर्म क्षत्रिय जातिका विहित कर्म, स्वभावज सत्त्वोपसर्जन रजोगुण स्वभाज है ॥४३॥

कृषि अन्नोत्पादन के लिये भूमि का जोतना, पशुपालन, वाणिज्य, क्रयविक्रयादिलक्षण कुसीद को भी इसी के अन्तर्गत समझना। वैश्यकर्म वैश्यजाति का कर्म स्वभावज तम उपसर्जन रजोगुण स्वभावज द्विजातिसेवात्मक कर्म शूद्र का भी स्वभावज रज उपसर्जन तमोगुण स्वभावज है ॥ ४४ ॥

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु ॥ ४५ ॥

अपने अपने अधिकार के अनुसार कर्मों में तत्पर रहने वाला मनुष्य संसिद्धि (ज्ञानकी योग्यता) को प्राप्त करलेता है। अब अपने कर्म में निरत मनुष्य जिस प्रकार सिद्धि (तत्त्वज्ञान) को प्राप्त करता है उस उपाय को सुनो ॥ ४५ ॥

म० टी०—तदेवं वर्णानां स्वभावजा गौणाख्या धर्मा अभिहिताः। अन्येऽपि धर्माः शास्त्रेष्वेवाम्नाताः, तदुक्तं भविष्यपुराणे—

"धर्मः श्रेय समुद्दिष्टं श्रेयोऽभ्युदयलक्षणम्।
स तु पञ्चविधः प्रोक्तो वेदमूलः सनातनः ॥
वर्णधर्मः स्मृतस्त्वेक आश्रमाणामतः परम्।
वर्णाश्रमस्तृतीयस्तु गौणो नैमित्तिकस्तथा ॥
वर्णत्वमेकमाश्रित्य यो धर्मः संप्रवर्तते।
वर्णधर्मः स उक्तस्तु यथोपनयनं नृप ! ॥
यस्त्वाश्रमं समाश्रित्य अधिकारः प्रवर्तते।

इस प्रकार वर्णों का स्वभावज गौण कर्म कहा और अन्य भी भी शास्त्र में कहे गये हैं यथा भविष्यपुराण में—'धर्म श्रेयः समुद्दिष्टं श्रेयोऽभ्युदलक्षणम्' इत्यादि ऊपर देखिये।

अर्थ—धर्म श्रेय कहा गया है, श्रेय अभ्युदय लक्षण है। वह वेदमूल सनातन पाँच प्रकार का कहा गया है। वर्णधर्म १ पहला, आश्रमधर्म २ दूसरा, वर्णाश्रम ३ तीसरा, ४ चौथा गौण ५ पाचवाँ नैमित्तिक। उसमें हे राजन् ! एक वर्णत्व को लेकर जो धर्म सम्प्रवृत्त हो वह वर्णधर्म कहा गया है, जैसे—उपनयन (जनेऊ) है। और जो कि आश्रम को लेकर अधिकार प्रवर्त्तित है वह निश्चय आश्रम धर्म कहलाता है, जैसे—भिक्षा दण्डग्रहण आदि। और जो वर्णत्व आश्रमत्व को अधिकृत कर प्रवृत्त होता है

स खल्वाश्रमधर्मः स्याद्भिक्षादण्डादिको यथा ॥
वर्णत्वमाश्रमत्वं च योऽधिकृत्य प्रवर्तते ।
स वर्णाश्रमधर्मस्तु मौञ्ज्याद्या मेखला यथा ॥
यो गुणेन प्रवर्तेत गुणधर्मः स उच्यते ।
यथा मूर्धाभिषिक्तस्य प्रजानां परिपालनम् ॥
निमित्तमेकमाश्रित्य यो धर्मः संप्रवर्तते ।
नैमित्तिकः स विज्ञेयः प्रायश्चित्तविधिर्यथा ॥" इति ।

अधिकारोऽत्र धर्मः । चतुर्विधं धर्ममाह हारीतः-" अथाऽऽश्रमिणां पृथग्धर्मो विशेषधर्मः कृत्स्नधर्मश्च" इति । पृथगाश्रमानुष्ठानात्पृथग्धर्मो यथा चातुर्वर्ण्यधर्मः । स्वाश्रमविशेषानुष्ठानाद्विशेषधर्मो यथा नैष्ठिकयायावरानुज्ञायिकचातुराश्रम्यसिद्धानाम् । सर्वेषां यः समानधर्मो नैष्ठिकः कृत्स्नधर्म इति । नैष्ठिको ब्रह्मचारिविशेषः । यायावरो गृहस्थविशेषः । आनुज्ञायिको वानप्रस्थविशेषः । चातुराश्रम्यसिद्धो यतिविशेषः । सर्वेषामिति वर्णानामाश्रमाणां च, तत्राऽऽद्यो यथा महाभारते—

" आनृशंस्यमहिंसा चाप्रमादः संविभागिता ।

वह वर्णाश्रम धर्म कहलाता है जैसे—मौञ्जी (मूँज की बनाई हुई) मेखला (कटिसूत्र) है। जो गुण के द्वारा प्रवर्त्तित होता है वह गुण धर्म कहलाता है, जैसे—मूर्द्धाभिषिक्त राजा का प्रजा परिपालन। एक निमित्त को लेकर जो धर्म प्रवर्त्तित होता है उसे नैमित्तिक समझना चाहिये, जैसे प्रायश्चित विधि ।

अधिकारोऽत्र धर्मः । धर्म—चतुर्विध धर्म हारीत ने कहा है—अथाश्रमिणं धर्म पृथक् धर्मः विशेषधर्मः समानधर्मःकृत्स्नधर्मश्च । भिन्नाश्रमानुष्ठान से पृथक् धर्म जैसा चातुर्वर्ण्य धर्म, आत्माश्रमविशेषानुष्ठान से विशेष धर्म, जैसे नैष्ठिक यायावर आनुज्ञायिक चातुराश्रम सिद्धों का सब का जो समान धर्म वह समान धर्म नैष्ठिक कृत्स्न धर्म है। नैष्ठिक ब्रह्मचारि विशेष, यायावर विशेष चातुराश्रम सिद्ध, यतिविशेष सब वर्णों का आश्रमों का, उनमें पहला जैसे महाभारत में—'आनृशंस्यमहिंसा च' इत्यादि ऊपर देखिये ।

श्राद्धकर्माऽऽतिथेयं च सत्यमक्रोध एव च ॥
स्वेषु दारेषु संतोषः शौचं नित्यानसूयता ।
आत्मज्ञानं तितिक्षा च धर्मः साधारणो नृप ! ॥" इति ।

सर्वाश्रमसाधारणस्तु प्रागुदाहृतः । निष्ठा संसारसमाप्तिस्तत्प्रयोजनो नैष्ठिको मोक्षहेत्वात्मज्ञानोत्पत्तिप्रतिबन्धकप्रत्यवायपरिहाराय निष्कामकर्मानुष्ठानं कृत्स्नधर्म इत्यर्थः । आश्रमाश्च शास्त्रेषु चत्वार आम्नाताः । यथाऽऽह गौतमः—"तस्याऽऽश्रमविकल्पमेके ब्रुवते ब्रह्मचारी गृहस्थो भिक्षुर्वैखानसः" इति । आपस्तम्बः—"चत्वार आश्रमा गार्हस्थ्यमाचार्यकुलं मौनं वानप्रस्थमिति तेषु सर्वेषु यथोपदेशमव्यग्रो वर्तमानः क्षेमं गच्छति" इति । वसिष्ठः—"चत्वार आश्रमा ब्रह्मचारिगृहस्थवानप्रस्थपरिव्राजकास्तेषां वेदमधीत्य वेदौ वेदान्वाऽविशीर्णब्रह्मचर्यो यमिच्छेत्तमावसेत्" इति । एवं तेषां पृथग्धर्मा अध्या-

---

अर्थ—हे राजन् ! आनृशंस्य (अक्रूर) अहिंसा अप्रमाद, संविभागिता श्राद्ध कर्म, आतिथेय (अतिथि सत्कार) सत्य, अक्रोध, अपने स्त्री में ही सन्तोष, शौच, किसी के गुणों की निन्दा न करना, आत्मज्ञान और तितिक्षा ये सब साधारण धर्म कहे गये हैं ।

सर्वाश्रम साधारण धर्म पूर्व में उदाहृत हुआ है । 'निष्ठा संसारसमाप्तिः तत्प्रयोजनो नैष्ठिकः, मोक्षहेतु आत्मज्ञानोत्पत्ति प्रतिबन्धक दुरितनिवृत्ति के लिये निष्काम कर्मानुष्ठान कृत्स्न धर्म है । शास्त्रों में चार आश्रम कहे हैं—तथाह गौतमः—

'तस्य आश्रमविकल्पम्'

ऊपर देखिये ।

आपस्तम्ब ने कहा है—'चत्वार आश्रमा;'

इत्यादि ऊपर देखिये ।

इन सबों में उपदेशानुसार अव्याग्रनुष्ठानशील कल्याण प्राप्त करता है । वशिष्ठ ने कहा है—'चत्वार आश्रमा' इत्यादि ऊपर देखिये ।

इनमें एक वेद, दो वेद, तीन वेद का अध्ययन कर अलुप्त ब्रह्मचर्य जिसकी इच्छा करे उसके साथ परिणयन करे । इस प्रकार उनके अलग धर्म

म्नाताः। तथा फलमप्यङ्गानामाम्नातम्। यथाऽऽह मनुः—

"श्रुतिस्मृत्युदितं धर्ममनुतिष्ठन्हि मानवः।

इह कीर्तिमवाप्नोति प्रेत्य चानुत्तमं सुखम्॥" इति।

अनुत्तमं सुखमिति यथाप्राप्ततत्तत्फलोपलक्षणार्थम्। आपस्तम्बः—"सर्ववर्णानां स्वधर्मानुष्ठाने परमपरिमितं सुखं ततः परिवृत्तौ कर्मफलशेषेण जातिं रूपं बलं वृत्तं मेधां प्रज्ञां द्रव्याणि धर्मानुष्ठानमिति प्रतिपद्यन्ते" (इति)। गौतमः—"वर्णा आश्रमाश्च स्वधर्मनिष्ठाः प्रेत्य कर्मफलमनुभूय ततः शेषेण विशिष्टदेशजातिकुलरूपायुःश्रुतवृत्तवित्तसुखमेधसो जन्म प्रतिपद्यन्ते विष्वञ्चो विपरीता नश्यन्ति" [इति]। अत्र शेषशब्देन भुक्तं ज्योतिष्टोमादिकर्मातिरिक्तं चित्रादिकर्मानुशयशब्दितमुच्यते न तु पूर्वकर्मण एकदेश इति स्थितं "कृतात्ययेऽनुशयवान्दृष्टस्मृतिभ्यां यथेतमनेवं च" इत्यत्र। भट्टैरप्युक्तम्—

भी कहे हैं तथा फल भी अङ्गों का कहे हैं, जैसे मनु-'श्रुतिस्मृत्युदितम्' ऊपर देखिये।

अर्थ—वेद और मन्वादि स्मृति में कहे हुए धर्म को अनुष्ठान करता हुआ मनुष्य इस लोक में कीर्ति को पाता है बाद मरने पर जिससे बढ़कर सुख न हो ऐसे सुख को पाता है।

यहाँ 'अनुत्तमं सुखं' यह यथाप्राप्त तत्तत् फलोपलक्षणार्थ है। आपस्तम्ब ने कहा है— सब वर्णों का स्वधर्मानुष्ठान में परम अपरिमित सुख है। बाद परिपर्त्तन होने पर कर्म फलविशेष से जातिरूप वर्ण, बल, सुख, वित्त, मेधा, प्रज्ञा, द्रव्य, धर्मानुष्ठन पाते हैं। गौतम ने कहा है—'वर्णा आश्रमाश्च' इत्यादि ऊपर देखिये।

अर्थ—सर्व वर्ण और आश्रमोचित धर्म निष्ठ व्यक्ति मरने के बाद कर्म फल का अनुभव कर वा अवशिष्ट कर्म से विशिष्ट देश, जाति, कुल, रूप, आयु, श्रुत, वृत्त, वित्त, सुख, मेधा वाले जन्म पाते हैं। विपरीत चारों तरफ नष्ट होंगे। यहाँ पर शेषशब्द भुक्त ज्योतिष्टोमादि कर्म फल से अतिरिक्त चित्रादि कर्मानुशाय शब्दित कहा जाता है, पूर्व कर्म का एक देश नहीं यह सिद्धान्त है 'कृतात्यये' इत्यादि से कहा गया है। यहाँ पर

"गौतमीयेऽपि तच्छेषस्तस्माच्चित्राद्यपेक्षया ॥" इति ।

विष्वञ्चः सर्वतो गामिनो यथेष्टचेष्टा विपरीता नरकादौ जन्म प्रतिपद्य विनश्यन्ति कृमिकीटादिभावेन सर्वपुरुषार्थेभ्यो भ्रश्यन्त इत्यर्थः । हारीतः—

"काम्यैः केचिद्यज्ञदानैस्तपोभिर्लब्ध्वा लोकान् पुनरायान्ति जन्म ।
कामैर्मुक्ताः सत्ययज्ञाः सुदानास्तपोनिष्ठा अक्षयान् यान्ति लोकान् ॥" इति ।

अत्र कामनासदसद्भावनिबन्धनः फलभेदो दर्शितो भविष्यपुराणे—

"फलं विनाऽप्यनुष्ठानं नित्यानामिष्यते स्फुटम् ।
काम्यानां स्वफलार्थं तु दोषघातार्थमेव तु ॥
नैमित्तिकानां करणे त्रिविधं कर्मणां फलम् ।
क्षयं केचिदुपात्तस्य दुरितस्य प्रचक्षते ॥
अनुत्पत्तिं तथा चान्ये प्रत्यवायस्य मन्वते ।
नित्यां क्रियां तथा चान्ये अनुषङ्गफलं विदुः ॥" इति ।

भट्ट जी ने कहा है—गौतमीयेऽपीति से । गौतम में भी तच्छेष तस्मात चित्रादि अपेक्षा से । विष्वञ्च सर्वगामी यथेष्ट चेष्ट विपरीत नरकादि में जन्म पाकर विनष्ट होते हैं ; क्रिमिकीटादि भाव से सब पुरुषार्थों में भ्रष्ट होते हैं । हारीत—ने कहा है—

'काम्यैः केचिद् यज्ञदानैः'

इत्यादि ऊपर देखिये ।

अर्थ—काम्य, यज्ञ, दान, तप आदि द्वारा लोकान्तर में जाकर पुनः जन्म पाते हैं । किन्तु कामना से रहित सत्ययज्ञ सुदानी तपोनिष्ठ अक्षय (जिसका कभी भी विनाश नहीं) ऐसे लोक को पाते हैं । यहाँ पर कामना के सद् असद्भाव से फलभेद भविष्यपुराण में दिखलाया है ।

'फलं विनाप्यनुष्ठानं नित्यानामिष्यते स्फुटम्'

इत्यादि ऊपर देखिये ।

अर्थ—फल के बिना भी नित्य कर्म का अनुष्ठान स्पष्ट अभिलषित है । काम्य कर्म अपने फल के लिये एवं दोषनिवृत्ति के लिये ही है । नैमित्तिक कर्म

अन्य आपस्तम्बादयस्तद्यथाऽऽम्रे फलार्थे निमित इत्यादिवचनैरानुषङ्गिकफलतां नित्यकर्मणो विदुः। श्रुतिश्च—"त्रयो धर्मस्कन्धा यज्ञोऽध्ययनं दानमिति प्रथमस्तप एव द्वितीयो ब्रह्मचार्याचार्यकुलवासी तृतीयोऽत्यन्तमात्मानमाचार्यकुलेऽवसादयन्" इति गृहस्थवानप्रस्थब्रह्मचारिण उक्त्वा "सर्व एते पुण्यलोका भवन्ति" इति तेषामन्तःकरणशुद्ध्यभावे मोक्षाभावमुक्त्वा शुद्धान्तःकरणानामेषामेव परिव्राजकभावेन ज्ञाननिष्ठया मोक्षमाह—"ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति" इति। तदेवं स्थिते ब्रह्मचारी वानप्रस्थो वा मुमुक्षुः फलाभिसंधित्यागेन भगवदर्पणबुद्ध्या—स्वे स्वे तत्तद्वर्णाश्रमविहिते न तु स्वेच्छामात्रकृते कर्मणि श्रुतिस्मृत्युदितेऽभिरतः सम्यगनुष्ठानपरः संसिद्धिं देहेन्द्रियसंघातस्याशुद्धिक्षयेन सम्यग्ज्ञानोत्पत्तियोग्यतां लभते नरो वर्णाश्रमाभिमानी मनुष्यो मनुष्याधिकारित्वात्कर्मकाण्डस्य। देवादीनां वर्णाश्रमाभिमानित्वाभावाद्युक्त एव तद्धर्मेष्वनधिकारः। वर्णाश्रमाभिमानानपेक्षे तूपासनादावधिकारस्तेषामप्यस्तीति

करने पर कर्मों का तीन फल है, गृहीत पाप का नाश पहला कहते हैं। कोई पाप की अनुत्पत्ति ही मानते हैं। अन्य कोई नित्य क्रिया को आनुषङ्गिक फल समझते हैं। 'तद्यथा अपभ्रे फलार्थ निमित्ते' इत्यादि वचनों से नित्य कर्मों का आनुषङ्गिक फलता कही है। श्रुति भी कहती है—

'त्रयो धर्मस्कन्धाः'

इत्यादि ऊपर देखिये।

गृहस्थ वानप्रस्थ ब्रह्मचारी इन तीनोंको कहकर ये सब पुण्यलोक होते हैं, इति। उनके अन्तःकरण शुद्धि न होनेसे मोक्षाभाव कह कर इन्हीं शुद्धान्तःकरणों तीनोंका परिव्राजकभावसे ज्ञाननिष्ठासे मोक्ष कहा है—'ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति' इससे। इस प्रकार ब्रह्मचारी गृहस्थ वानप्रस्थ वा मुमुक्षु फलेच्छा यागसे भगदर्पण बुद्धिसे स्वस्ववर्णाश्रम विहित स्वेच्छामात्र कर्म करनेसे नहीं—श्रुति विहितमें सम्यगनुष्ठान तत्पर देहेन्द्रियसंघातकी अशुद्धि निवृत्तिसे तत्त्वज्ञानोत्पत्ति योग्यतारूप संसिद्धिका लाभ करता है। वर्णाश्रमाभिमानी न होनेसे उनका कर्मकाण्डमें अधिकार नहीं है यह ठीक ही तद्धर्ममें अनधिकार है। वर्णाश्रमाभिमानकी अपेक्षाशून्य उपासनादिकर्ममें देवताओंका अधिकार है यह देव अधिकरणमें सिद्ध किया है।

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥ ४६ ॥

जिस परमात्माके द्वारा सम्पूर्ण भूतों की उत्पत्ति हुई हैं और जिस परमात्मा से यह समस्त विश्व व्याप्त है, उस परमात्मा को अपने वर्णाश्रमानुसार श्रुति-स्मृति विहित कर्मों से पूजा करके मनुष्य चित्तशुद्धिरूप सिद्धि को प्राप्त करता है ॥ ४६ ॥

साधितं देवताधिकरणे । ननु बन्धहेतूनां कर्मणां कथं मोक्षहेतुत्वमुपायविशेषादित्याह—स्वकर्मनिरतः सिद्धिमुक्तलक्षणां यथा येन प्रकारेण विन्दति तच्छृणु श्रुत्वा तं प्रकारमवधारयेत्यर्थः ॥ ४५ ॥

म० टी०—यतो मायोपाधिकचैतन्यानन्दघनात्सर्वज्ञात्सर्वशक्तेरीश्वरादुपादानान्निमित्ताच्च सर्वान्तर्यामिणः प्रवृत्तिरुत्पत्तिर्मायामयी स्वाप्नरथादीनामिव भूतानां भवनधर्माणामाकाशादीनां येन चैकेन सद्रूपेण स्फुरणरूपेण च सर्वमिदं दृश्यजातं त्रिष्वपि कालेषु ततं व्याप्तं स्वात्मन्येवान्तर्भावितं कल्पितस्याधिष्ठानानतिरेकात् । तथा च श्रुतिः—"यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते । येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्मेति" [इति] । अत्र यत इति प्रकृतौ पञ्चमी । यतो येनेति चैकत्वं

प्रश्न—बन्ध हेतुकर्ममें मोक्षहेतुत्व कैसे ?

उत्तर—उपासनाविशेषसे स्वकर्मनिरत तत्त्वज्ञानोत्पत्ति योग्यता लक्षण सिद्धि जिस प्रकार पाता है उसको सुनो उसका निश्चय करो ॥४५॥

यतः—मायोपाधिक चैतन्य आनन्दघन सर्वज्ञ सर्वशक्ति ईश्वर उपादान और निमित्तसे सर्वान्तर्यामीसे सब प्रवृत्ति उत्पत्ति मायामयी स्वाधिक अर्थादिके समान उत्पत्तिधर्मक आकाशादिभूतोंका जिस एक सद्रूप स्फुरणरूपसे सर्व यह दृश्य समुदाय तीनों कालोंमें व्याप्त है; अपने आत्मामें ही अन्तर्भावित है क्योंकि कल्पित अधिष्ठानसे अतिरिक्त नहीं होता। तथा च श्रुति—'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्तियत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्मेति—यहाँ पर 'यतः' यह प्रकृतिमें पञ्चमी है, 'यतो येन' इन दोनोंसे एकत्व विवक्षित है।' आनन्द

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥ ४७ ॥

अच्छी तरह किया गया दूसरे के धर्म की अपेक्षा गुणरहित (अङ्ग विकल) भी अपना धर्म श्रेष्ठ है, अपनी अपनी जाति के अनुसार शास्त्रविहित कर्म का अनुष्ठान करते हुए ब्राह्मण आदि को चित्तशुद्धि के प्रतिबन्धक पाप नहीं लगता है। तात्पर्य यह है कि तुम्हारा हिंसात्मक भी धर्म है तो भी तुम्हारा कल्याण उसीसे है ॥ ४७ ॥

विवक्षितम्। "आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्। आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते ।" इति च तस्य निर्णयवाक्यम्। "मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्" इत्यादिश्रुत्यन्तराच्च मायोपाधिलाभः। "यः सर्वज्ञः सर्ववित्" इत्यादिश्रुत्यन्तरात्सर्वज्ञत्वादिलाभः। एवं च श्रौत एवायमर्थो भगवता प्रकाशितः—'यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्' इति। तमन्तर्यामिणं भगवन्तं स्वकर्मणा प्रतिवर्णाश्रमं विहितेनाभ्यर्च्य तोषयित्वा तत्प्रसादादैकात्म्यज्ञाननिष्ठायोग्यतालक्षणां सिद्धिमन्तःकरणशुद्धिं विन्दन्ति मानवः। देवादिस्तूपासनामात्रेणेति भावः ॥ ४६ ॥

म० टी०—यतः स्वधर्म एव मनुष्याणां भगवत्प्रसादहेतुरतः—परधर्मात्सम्यगनुष्ठितादपि श्रेयान्प्रशस्यतरः स्वधर्मो विगुणोऽसम्यगनुष्ठितोऽपि।

ब्रह्मेति व्यजानात् आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते इति च' उसका निर्णय वाक्य है—'मायान्तु प्रकृतिं विद्यात् मयिनन्तु महेश्वरम्' इत्यादि श्रुत्यन्तर से मायोपाधि का लाभ है। 'यः सर्वज्ञः स सर्ववित्' इत्यादि श्रुत्यन्तर से सर्वज्ञत्व का लाभ है। इस प्रकार श्रुत्युक्त अर्थ भगवान् प्रकाशित किया है।

'यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदन्ततम्' इति।

जिससे सर्वभूतों की उत्पत्ति है और जिससे यह सब व्याप्त है उस अन्तर्यामी भगवान् को वर्णाश्रम विहित स्वकर्म से प्रसन्न कर तत्प्रसाद से ऐकात्मिक ज्ञान निष्ठा योग्यता लक्षणसिद्धि अन्तःकरण शुद्धि मनुष्य प्राप्त करता है, देवादि तो उपासनामात्र से संसिद्धि प्राप्त करते हैं। यह मनुष्य देवताओं में विशेष है ॥ ४६ ॥

सहजं कर्म कौन्तेय! सदोषमपि न त्यजेत् ।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ॥ ४८ ॥

हे अर्जुन! वर्ण और आश्रम के अनुसार उपनयन आदि संस्कार के साथ प्राप्त हुए शास्त्रविहित कर्मका, वह दोषयुक्त ही क्यों न हो, परित्याग नहीं करना चाहिये, क्योंकि जैसे उत्पत्तिकालमें अग्नि धूम से आच्छादित रहती है, वैसे ही सभी कर्म रजोदोष से या हिंसा दोष से आच्छादित ही रहते हैं ॥ ४८ ॥

तस्मात्क्षत्रियेण सता त्वया स्वधर्मो युद्धादिरेवानुष्ठेयो न परधर्मो भिक्षाटनादिरित्यभिप्रायः । ननु स्वधर्मोऽपि युद्धादिर्बन्धुवधादिप्रत्यवायहेतुत्वान्नानुष्ठेय इति नेत्याह—स्वभावनियतं पूर्वोक्तं 'शौर्यं तेज' इत्यादि स्वभावजं युद्धादि कर्म कुर्वन् किल्बिषं पापं बन्धुवधादिनिमित्तं न प्राप्नोति। तथा च प्राग्व्याख्यातं "सुखदुःखे समे कृत्वा" इत्यत्र । विहितज्योतिष्टोमाङ्गपशुहिंसाया इव विहितयुद्धाङ्गबन्धुहिंसाया अपि प्रत्यवायहेतुत्वाभावात् । तथा चोक्तमधस्तात् ॥ ४७ ॥

यतः मनुष्यों का स्वधर्म ही भगवत्प्रसाद हेतु है अतः समीचीन अनुष्ठित परधर्म की अपेक्षा स्वधर्म प्रशस्यतर है अतिशय प्रशस्त है, विगुण भी स्वधर्म असमीचीनानुष्ठित भी अच्छा है तस्मात् क्षत्रिय होते हुए तुमको युद्धादि अपना धर्म ही अनुष्ठेय है भिक्षाचर्यादि पर धर्म नहीं यह अभिप्राय है ।

प्रश्न—स्वधर्म भी युद्धादि बन्धुक्षयादि पाप हेतु से अनुष्ठान के योग्य नहीं?

उत्तर—ऐसी नहीं स्वभावनियत पूर्वोक्ति शौर्यतेज इत्यादि प्रकाशित स्वाभाविक युद्धादि कर्म करता हुआ बन्धुहननादि निमित्तक पाप नहीं पाता ऐसा ही पूर्व में व्याख्यान कर चुके है। 'सुखदुःखे समे कृत्वा' यहाँ पर विहित ज्योतिष्टोम का अङ्ग पशुहिंसा के समान विहित युद्धाङ्ग बन्धुहिंसा में प्रत्यवाय हेतुत्व नहीं है ऐसा नीचे पूर्व में कह चुके हैं ॥ ४७ ॥

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः ।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति ॥ ४९ ॥

जिस की बुद्धि सब जगह विषयों से निर्मुक्त है, जिसके वशमें अन्तःकरण है और जिसकी जीवन साधन विषयों में स्पृहा नहीं है, ऐसा यति सन्यास (शिखा सूत्रादि सहित सर्वकर्मत्याग) से उत्तम नैष्कर्म्य (ब्रह्मभाव) सिद्धि (उसकी प्राप्ति) को अर्थात् आत्मज्ञान को प्राप्त करता है ॥ ४९ ॥

म० टी० यस्मादेवं विहितहिंसादेर्न प्रत्यवायहेतुत्वं परधर्मश्च भयावहः सामान्यदोषेण च सर्वकर्माणि दुष्टानि तस्मादज्ञो वर्णाश्रमाभिमानी—हे कौन्तेय ! सहजं स्वभावजं कर्म सदोषमपि विहितहिंसायुक्तमपि ज्योतिष्टोमयुद्धादि न त्यजेदन्तःकरणशुद्धेः प्राग्भवीयो वा । ननु ह्यनात्मज्ञः कश्चित्क्षणमपि कर्माण्यकृत्वा स्थातुं न शक्नोति । न च परधर्माननुतिष्ठन्नपि दोषान्मुच्यते । सर्वारम्भाः स्वधर्माश्च सर्वे हि यस्माद्दोषेण त्रिगुणात्मकत्वेन सामान्येनाऽऽवृता व्याप्ताः सदोषा एव । तथा च प्राग्व्याख्यातं "परिणामतापसंस्कारैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः" इति तस्मादगत्याऽनात्मज्ञः कर्माणि कुर्वन्विषजकृमिरिव विषं सहजं कर्म युद्धादि त्रिगुणात्मकत्वेन सामान्येन बन्धुवधादिनिमित्तत्वेन विशेषेण सदोषमपि न त्यजेत् सर्वकर्मत्यागासमर्थत्वात् । सर्वकर्मत्यागसमर्थस्तु शुद्धान्तःकरणस्त्यजेदित्यभिप्रायः ॥ ४८ ॥

जिस कारण ऐसा है विहित हिंसादि प्रत्यवाय हेतु नहीं है और परधर्म भयप्रद है सामान्यदोष से सब कर्म दुष्ट हैं तस्मात् अज्ञ वर्णाश्रमाभिमानी हे कौन्तेय ? स्वभावज सदोष भी स्वकर्मविहित हिंसादियुक्त भी ज्योतिष्टोमादि युद्धादि का त्याग न करे । अन्तःकरण शुद्धिसे पूर्व होने वाले अन्य कर्मों का भी अनात्मज्ञ कोई पुरुष क्षणभरभी कर्म कर नहीं सकता, परधर्म का अनुष्ठान न करके भी दोष से मुक्त नहीं हो सकता । सर्वारम्भ स्वधर्म भी परधर्म से सब त्रिगुणात्मक दोष से सामान्य से आवृत है अर्थात् सदोष है । पूर्व में ऐसा ही व्याख्यान है'—परिणामतापसंस्कारैः गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः' इति । तस्मात् अनात्मज्ञ कर्मों को करता हुआ विषोत्पन्न कृमि के तरह सहज विषकर्म युद्धादि त्रिगुणात्मक होने से सामान्य से बन्धुवधादि निमित्त दोषसे सदोष का भी त्याग न करना । क्योंकि सर्वकर्म के त्यागमें तुम असमर्थ हो सर्व कर्म त्याग समर्थ शुद्धान्तःकरण के त्याज्य हैं ॥ ४८ ॥

म० टी०—कः पुनः सर्वकर्मत्यागंसमर्थः, यो नित्यानित्यवस्तुविवेकजेनेहामुत्रार्थभोगवैराग्येण शमदमादिसंपन्नः कर्मजां सिद्धिमशुद्धिपरिक्षयद्वारा मुमुक्षुः शुद्धब्रह्मात्मैक्यजिज्ञासां प्राप्तः स स्वेष्टमोक्षहेतुब्रह्मात्मैक्यज्ञानसाधनवेदान्तवाक्यश्रवणादि कर्तुं सर्वविक्षेपनिवृत्त्या तच्छेषभूतं सर्वकर्मसंन्यासं श्रुतिस्मृतिविहितम् । "तस्मादेवंविच्छान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वाऽऽत्मानं पश्येत्" इति श्रुतिः । "सत्यानृते सुखदुःखे वेदानिमं लोकममुं च परित्यज्याऽऽत्मानमन्विच्छेत्" इति स्मृतेश्च उपरतस्त्यक्तसर्वकर्मा भूत्वाऽऽत्मानं पश्येदात्मदर्शनाय वेदान्तवाक्यानि विचारयेदिति श्रुत्यर्थः । एतादृश एव ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेतीति श्रुत्या धर्मस्कन्धत्रयविलक्षणत्वेन प्रतिपादितः परमहंसपरिव्राजकः परमहंसपरिव्राजकं गुरुमुपसृत्य वेदान्तवाक्यविचारसमर्थो यमुद्दिश्य 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इत्यादिचतुर्लक्षणमीमांसा भगवता बादरायणेन समारम्भि । कीदृशोऽसावित्याह—**असक्त** इत्यादिना ।

प्रश्न—कौन फिर सर्व कर्म त्याग समर्थ है ? जो नित्यानित्य वस्तु विवेक से उत्पन्न 'इहामुत्रार्थ फलभोग वैराग्य से और शम दमादि में संयुक्त अशुद्धिक्षय द्वारा कर्मजा सिद्धि से युक्त मुमुक्षु, शुद्ध ब्रह्मात्मैक्य जिज्ञासाप्राप्त पद इष्ट मोक्ष हेतु ब्रह्मात्मैक्यज्ञान कारण भूत वेदान्तवाक्य श्रवणादि करने के लिए सर्व विक्षेपनिवृत्ति के तच्छेषभूत सर्वकर्मसन्यास करना ही चाहिये—

'तस्मादेवं वित्'

इत्यादि श्रुति ऊपर देखिये ।

'सत्यानृते सुखदुःखे'

यह स्मृति है। सर्व कर्मों का परित्याग कर आत्मदर्शन के लिए वेदान्तवाक्यों का विचार करे यह श्रुति का अर्थ है, एतादृश ही ब्रह्मसंस्थ मोक्ष पाता है । इस श्रुति से धर्मस्कन्धत्रयविलक्षण सब के कथित परमहंस परिव्राजक हो कृतकृत्य गुरु के पास जाकर परमहंस परिव्राजक को उद्देश्य कर अर्थात् 'ब्रह्मजिज्ञासा' इत्यादि चार अध्याय की ब्रह्ममीमांसा व्यासजीने आरम्भकी । कीदृश वह हैं इसपर कहते हैं—'असक्त'

सर्वत्र पुत्रदारादिषु सक्तिनिमित्तेष्वपि असक्तबुद्धिरहमेषां ममैत इत्यभिष्वङ्गरहिता बुद्धिर्यस्य सः। यतो जितात्मा विषये रागे सति कथं प्रत्याहरणं तत्राऽऽह—विगतस्पृहः, देहजीवितभोगेष्वपि वाञ्छारहितः सर्वदृश्येषु दोषदर्शनेन नित्यबोधपरमानन्दरूपमोक्षगुणदर्शनेन च सर्वतो विरक्त इत्यर्थः। य एवं शुद्धान्तकरणः

"स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दन्ति मानवः"

इतिवचनप्रतिपादितां कर्मजामपरमां सिद्धिं ज्ञानसाधनवेदान्तवाक्यविचाराधिकारलक्षणां ज्ञाननिष्ठायोग्यतां प्राप्तः स संन्यासेन शिखायज्ञोपवीतादिसहितसर्वकर्मत्यागेन हेतुना तत्पूर्वकेण विचारेणेत्यर्थः। नैष्कर्म्यसिद्धिं निष्कर्म ब्रह्म तद्विषयं विचारपरिनिष्पन्नं ज्ञानं नैष्कर्म्यं तद्रूपां सिद्धिं परमां कर्मजाया अपरमसिद्धेः फलभूतामधिगच्छति साधनपरिपाकेण प्राप्नोति। अथवा संन्यासेनेतीत्थंभूतलक्षणे तृतीया। सर्वकर्मसंन्यासरूपां नैष्कर्म्यसिद्धिं ब्रह्मसाक्षात्कारयोग्यतां नैर्गुण्यलक्षणां सिद्धिं परमां पूर्वस्याः सिद्धेः सात्त्विक्याः फलभूतामधिगच्छतीत्यर्थः॥ ४९॥

से। पुत्र दारादि सब आसक्तिके निमित्त हैं—उनमें आसक्ति रहित बुद्धि मैं उनका हूँ मेरे ही ये हैं इस प्रकारके अभिसङ्गरहितबुद्धि जिसकी है वह, असक्तबुद्धि· विषयोंसे खींचकर स्वाधीन किया है अन्तःकरणको जिसने वह जितात्मा।

प्रश्न—राग रहनेपर अन्तःकरणका प्रत्याहरण कैसे होगा?

उत्तर—विगतस्पृह देह जीवित भोगोंमें वाञ्छारहित सब दृश्योंमें दोष देखनेसे नित्य बोध परमानन्दरूप मोक्ष सुख दर्शनसे सबसे विरक्त यह अर्थ है। जो इस प्रकार शुद्धान्तःकरण है स्वकर्मसे परमात्माका आराधन कर मनुष्य सिद्धि पाता है इति। वचनबोधित कर्मज अपरमासिद्धि ज्ञानसाधन वेदान्तवाक्य विचाराधिकार लक्षण ज्ञाननिष्ठा योग्यता प्राप्त कर वह संन्याससे शिखा यज्ञोपवीतादिसहित सर्वकर्म त्यागहेतुसे अर्थात् त्यागपूर्वक विचारसे नैष्कर्म्यसिद्धि निष्कर्म ब्रह्म तद्विषयक विचार सिद्धज्ञान नैष्कर्म्य है—तद्रूपापरमासिद्धिको कर्मजासे अपरमासिद्धि कहा है। उसका फलभूत साधनपरिपाकसे परमासिद्धि को पाता है,—अथवा 'सन्यासेन' यहाँ इत्थंभूत लक्षणमें तृतीया है। सर्वकर्म सन्याससे पाता है ब्रह्मसाक्षात्कार योग्यता नैर्गुण्यलक्षण सिद्धि परमा सात्त्विक का पूर्व पूर्व सिद्धका फलभूत परमाको पाता है यह अर्थ है॥४९॥

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे ।
समासेनैव कौन्तेय ! निष्ठा ज्ञानस्य या परा ॥५०॥

हे अर्जुन ! नैष्कर्म्यरूप सिद्धिको प्राप्त हुआ विद्वान् जिस प्रकार ब्रह्मको प्राप्त करता है, उस प्रकारको, जो ज्ञानकी परानिष्ठारूप है, तुम मुझसे सङ्क्षेपसे ही सुनो ॥ ५० ॥

म० टी०—प्रागुक्तसाधनसम्पन्नस्य सर्वकर्मसन्यासिनो ब्रह्मज्ञानोत्पत्तौ साधनक्रममाह—**सिद्धि**मित्यादिना । स्वकर्मणेश्वरमाराध्य तत्प्रसादजां सर्वकर्मत्यागपर्यन्तां ज्ञानोत्पत्तियोग्यतारूपां सिद्धिमन्तःकरणशुद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म प्राप्नोति येन प्रकारेण शुद्धमात्मानं साक्षात्करोति तथा तं प्रकारं निबोध मे मद्वचनादवधारयानुष्ठातुम् । किमतिविस्तरेण नेत्याह—समासेन संक्षेपेणैव न तु विस्तरेण हे कौन्तेय! । तदवधारणे किं स्यादित्यत आह—निष्ठा ज्ञानस्य या परा, ज्ञानस्य विचारपरिनिष्पन्नस्य निष्ठा परिसमाप्तिः । यदनन्तरं साधनान्तरं नानुष्ठेयमस्ति । परा श्रेष्ठा सर्वान्त्या वा साक्षान्मोक्षहेतुत्वात् । तां सिद्धिं प्राप्तस्य ब्रह्मप्राप्तिरूपां ज्ञाननिष्ठां परां संक्षेपेण निबोधेत्यर्थः ॥ ५० ॥

प्रागुक्त साधनसम्पन्न सर्व कर्म सन्यासी ब्रह्मज्ञानोत्पत्तिमें साधनक्रम कहते हैं—'**सिद्धि**' से । अपने कर्मसे ईश्वरकी आराधना कर तत्प्रसाद लब्धसर्व कर्मत्याग पर्यन्त ज्ञानोत्पत्ति योग्यतारूपसिद्धि अन्तःकरणशुद्धि प्राप्तकर जिस प्रकारसे ब्रह्म प्राप्त करता है अर्थात् जिस प्रकारसे शुद्ध आत्माका साक्षात्कार करता है उस प्रकारको मेरे वचन सुनो और अनुष्ठानके लिये निश्चय करो ।

प्रश्न—क्या अतिविस्तर से कहेगें ?

उत्तर—हे कौन्तेय ! नहीं संक्षेप से, विस्तार से नहीं । उसके निश्चय करने से क्या होगा ? वह कहते हैं, ज्ञान की परानिष्ठा विचार परिविख्यात ज्ञान की परिसमाप्ति जिसके बाद साधनान्तर अनुष्ठेय नहीं परा श्रेष्ठा सर्वान्त्या साक्षान्मोक्ष हेतु उस सिद्धि को प्राप्त ब्रह्मप्राप्तरूप ज्ञाननिष्ठा परा को संक्षेप से समझो ॥ ५० ॥

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च ।
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च ॥५१॥

संशय विपर्यय आदिसे निर्मुक्त सात्त्विकबुद्धिसे युक्त ब्रह्मवित् यदि सात्त्विक धारणासे बाह्यविषयोंमें प्रवृत्त चित्त निरोधकर, शब्द, स्पर्श, रूप आदि विषयोंमें त्याग कर (अनुसन्धान न कर) तथा राग और द्वेषको परित्याग कर ॥५१॥

म० टी०—सेयं ज्ञाननिष्ठा सप्रकारोच्यते—बुद्ध्येत्यादिना ।

विशुद्धया सर्वसंशयविपर्ययशून्यया बुद्ध्याऽहं ब्रह्मास्मीति वेदान्तवाक्यजन्यया बुद्धिवृत्त्या युक्तः सदा तदन्वितो धृत्या धैर्येणाऽऽत्मानं शरीरेन्द्रियसंघातं नियम्योन्मार्गप्रवृत्तेर्निवार्याऽऽत्मप्रवणं कृत्वा । चशब्देन योगशास्त्रोक्तं साधनान्तरं समुच्चीयते । शब्दादीन्शब्दस्पर्शरूपरसगन्धान्विषयान्भोगेन बन्धहेतून्, सामर्थ्याज्ज्ञाननिष्ठार्थशरीरस्थितिमात्रप्रयोजनानुपयुक्तानानिषिद्धानपि त्यक्त्वा शरीरस्थितिमात्रार्थेषु च तेषु रागद्वेषौ व्युदस्य परित्यज्य । चकारादन्यदपि ज्ञानविक्षेपकं परित्यज्य, विविक्तसेवीत्यत्र स्यादित्यध्याहृतेन ब्रह्मभूयाय कल्पत इत्यनेन वान्वयः ॥५१॥

यह ज्ञाननिष्ठा सवप्रकार कहते हैं—बुद्ध्येति से । विशुद्ध सबसंशय विपर्य्यय शून्य मैं ब्रह्म हूँ इस बुद्धि से जो वेदान्त वाक्य जन्य है बुद्धिवृत्ति उससे युक्त सदा तदन्वित धैर्यसे शरीरेन्द्रिय संघातरूप आत्मा का उन्मार्ग प्रवृत्ति से निवारण कर संयम कर आत्मप्रवण होकर, 'च' शब्द से योग शास्त्रोक्त साधनान्तर का समुच्चय शब्दादि शब्द स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, विषयों को जो कि बन्धन हेतु हैं भोग से ज्ञाननिष्ठार्थं शरीरस्थितिमात्र प्रयोजनानुपयुक्त अप्रतिषिद्धों का भी परित्याग कर शरीरस्थितिमात्रार्थ उनमें राग द्वेष का त्याग कर चकार से अन्य भी ज्ञान विक्षेपक का परित्याग कर, 'विविक्तसेवी' यहाँ पर 'स्यात्' का अध्याहार 'ब्रह्मभूयाय कल्पते,' यह अग्रिम द्वितीय चरणस्थ के साथ अन्वय है ॥ ५१ ॥

विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः ।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ॥ ५२ ॥
अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम् ।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥५३॥

जो निर्जन पवित्र स्थानोंमें रहता है, परिमित भोजन करता है, वाणी शरीर और मनको वशमें रखता है, निरन्तर ध्यान और योगमें तत्पर रहता है एवं सर्वदा वैराग्यसे पूर्ण रहता है ॥ ५२ ॥

अहङ्कार, बल, दर्प, काम, क्रोध और वस्तुओंका संग्रह इन सबोंकी त्याग कर, शरीर आदिमें ममतारहित और शान्त रहता है, वह यति ब्रह्मभावको प्राप्त होता है ॥ ५३ ॥

म० टी०—विविक्तं जनसंमर्दरहितं पवित्रं च यदरण्यगिरिगुहादि तत्सेवितुं शीलं यस्य स चित्तैकाग्र्यसंपत्त्यर्थं तद्विक्षेपकारिरहित इत्यर्थः। लघ्वाशी लघु परिमितं हितं मेध्यं चाशितुं शीलं यस्य स निद्रालस्यादिचित्तलयकारिरहित इत्यर्थः। यतानि संयतानि वाक्कायमानसानि येन स यमनियमासनादिसाधनसंपन्न इत्यर्थः। ध्यानयोगपरो नित्यं चित्तस्याऽऽत्माकारप्रत्ययावृत्तिर्ध्यानम्। आत्माकारप्रत्ययेन निर्वृत्तिकतापादनं योगः। नित्यं सदैव तत्परस्तयोरनुष्ठानपरो न तु मन्त्रजपतीर्थयात्रादिपरः कदाचिदित्यर्थः। वैराग्यं दृष्टादृष्टविषयेषु स्पृहाविरोधिचित्तपरिणामं समुपाश्रितः सम्यङ्निश्चलत्वेन नित्य माश्रितः ॥ ५२ ॥

विविक्त जन संघर्षरहित पवित्र जो अरण्यगिरि गुहादि उसके सेवन के अनुकूल शील है जिसका वह चित्तैकाग्र सिद्ध्यर्थं तद्विक्षेपकारी रहित लघ्वाशी परिमित हित मेध्य भोजन का स्वभाव है जिसका वह निद्रालस्यादि चित्त लय कारि रहित यह अर्थ है। संयत है वाक् काय मन जिसके वह यमनियमासनादि साधनसम्पन्न। ध्यानयोग पर चित्त आत्माकार प्रत्ययावृत्ति ध्यान है। आत्माकार प्रत्यय से चित्त निर्वृत्तिक करना योग्य है। नित्य सदा तत्पर दोनों के अनुष्ठान में परायण कदाचित् भी मन्त्र जप तीर्थ यात्रादि पर न हो। वैराग्य दृष्टादृष्ट विषयों में इच्छा तद्विरोधी चित्त परिणाम की सम्यक् निश्चल भाव से नित्य आश्रित हो ॥ ५२ ॥

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥ ५४ ॥

ब्रह्मभूत प्रसन्नचित्तवाला यति न शोक करता है और न किसी अप्राप्त वस्तुकी इच्छा ही करता है तथा समस्त प्राणियोंमें समदर्शी होकर मेरी पराभक्तिको (सब भूतोंमें मत्स्वरूपग्राहक अद्वैत ज्ञानको) प्राप्त करता है ॥ ५४ ॥

म० टी०—अहङ्कारं महाकुलप्रसूतोऽहं महतां शिष्योऽतिविरक्तोस्मि नास्ति द्वितीयो मत्सम इत्यभिमानं, बलमसदाग्रहं न तु शारीरं तस्य स्वाभाविकत्वेन त्यक्तुमशक्यत्वात्, दर्पं हर्षजन्यं मदं धर्मातिक्रमकारणं "हृष्टो दृप्यति दृप्तो धर्ममतिक्रामति" इति स्मृतेः, कामं विजयाभिलाषं 'वैराग्यं समुपाश्रित' इत्यनेनोक्तस्यापि कामत्यागस्य पुनर्वचनं यत्नाधिक्यार्थम्, क्रोधं, द्वेषं, परिग्रहं शरीरधारणार्थमस्पृहत्वेऽपि परोपनीतं बाह्योपकरणं विमुच्य त्यक्त्वा शिखायज्ञोपवीतादिकमपि, दण्डमेकं कमण्डलुं कौपीनाच्छादनं च शास्त्राभ्यनुज्ञातं स्वशरीरयात्रार्थमादाय परमहंसपरिव्राजको भूत्वा निर्ममो देहजीवनमात्रेऽपि ममकाररहितः। अतएवाहङ्कारममकाराभावादपगतहर्षविषादत्वाच्छान्तश्चित्तविक्षेपरहितो यतिर्ज्ञानसाधनपरिपाकक्रमेण ब्रह्मभूयाय ब्रह्मसाक्षात्कराय कल्पते समर्थो भवति ॥ ५३ ॥

अहङ्कार—महाकुलप्रसूत मैं हूँ बड़े के शिष्य हूँ, अत्यन्त विरक्त हूँ, दूसरा मेरे समान नहीं है यह अभिमान बल असदाग्रह शरीर नहीं क्योंकि वह स्वाभाविक होने से त्याग के योग्य नहीं; दर्प, हर्षजन्यमद धर्मातिक्रम कारण 'हृष्टो दृप्यति दृप्तः धर्मम् अतिक्रामति' यह स्मृति है काम विषयाभिलाष 'वैराग्यं, समुपाश्रितः' इससे ही कथित काम त्याग का पुनः कथन फलाधिक्यार्थ है। क्रोध, द्वेष, परिग्रह—शरीर धारणार्थ इच्छा न रहने पर भी अन्यानीत बाह्योपकरण का त्याग कर शिखायज्ञोपवीतादि का भी त्याग कर एक दण्ड कमण्डल कौपीनाच्छादन शास्त्राभ्यनुज्ञात अपने शरीरयात्रार्थ लेकर परमहंस परिव्राजक होकर निर्मम देह जीवनमात्र में भी ममकार रहित अतएव अहङ्कार ममकाराभाव से निवृत्त हर्ष विषाद शान्त चित्त विक्षेप रहित यही सन्यासी ज्ञानसाधन परिपाक क्रम से ब्रह्मभूयाय—ब्रह्मसाक्षात्कार के लिए समर्थ होता है ॥ ५३ ॥

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः ।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥५५॥

उपाधि भेदोंसे विविधरूप को प्राप्त हुआ मेरा जैसा स्वरूप है उसको निर्विकल्पक प्रत्यग्दृष्टि से जानता है, उस प्रकार मुझको तत्त्वतः समझकर बाद (तत्त्वज्ञानके उत्पन्न होने पर) मेरे स्वरूप हो जाता है॥ ५५ ॥

म० टी०—केन क्रमेण 'ब्रह्मभूयाय कल्पते' इति तदाह—ब्रह्मभूत इत्यादिना । ब्रह्मभूतोऽहं ब्रह्मास्मीतिदृढनिश्चयवान् श्रवणमननाभ्यासात्, प्रसन्नात्मा शुद्धचित्तः शमदमाद्यभ्यासात् । अतएव न शोचति नष्टं न काङ्क्षत्यप्राप्तम् । अतएव निग्रहानुग्रहयोरनारम्भात्समः सर्वेषु भूतेषु आत्मौपम्येन सर्वत्र सुखं दुःखं च पश्यतीत्यर्थः । एवंभूतो ज्ञाननिष्ठो यतिर्मद्भक्तिं मयि भगवति शुद्धे परमात्मनि भक्तिमुपासनां मदाकारचित्तवृत्त्यावृत्तिरूपां परिपक्वनिदिध्यासनाख्यां श्रवणमननाभ्यासफलभूतां लभते परां श्रेष्ठामव्यवधानेन साक्षात्कारफलां 'चतुर्विधा भजन्ते माम्' इत्यत्रोक्तस्य भक्तिचतुष्टयस्यान्त्यां ज्ञानलक्षणामिति वा ॥ ५४ ॥

म० टी०—ततश्च भक्त्या निदिध्यासनात्मिकया ज्ञाननिष्ठया मामद्वितीयमात्मानमभिजानाति साक्षात्करोति । यावान्विभुर्नित्यश्च यश्च

किस क्रम से 'ब्रह्मभूयाय कल्पते' होता है उसको कहते हैं—'ब्रह्म' इत्यादिसे ब्रह्मभूत 'मैं ब्रह्म हूँ' यह दृढ़ निश्चयवान श्रवण मनन अभ्यास से उक्त दृढ़ निश्चय होता है प्रसन्नात्मा शुद्ध चित्त जो कि शम दमादि अभ्यास से होता है अतएव 'न शोचति' नष्ट को नहीं सोचता अप्राप्त को नहीं चाहत अतएव निग्रहानुग्रह न करने से सब भूतों में बराबर सब जगह सुख और दुःख आत्मगत के समान देखता है, एवं भूतज्ञाननिष्ठ यति भगवान् शुद्ध परमात्मा मुझ में उपासनारूप भक्ति मदाकरचित्तवृत्ति की आवृत्तिरूप परिपक्व निदिध्यासनाख्य श्रवणमननाभ्यासफलभूत को पाता है अतिश्रेष्ठ अव्यवधानसे साक्षात्कार फल पाता है । 'चतुर्विधा भजन्ते माम्,' यहाँ पर कथित भक्तिचतुष्टय का अथवा अन्त्य ज्ञानलक्षण भक्ति फल पाता है ॥ ५४ ॥

निदिध्यासनात्मक ज्ञाननिष्ठ भक्ति से अद्वितीयात्मा मुझको जानता है साक्षात्कार करता है, जितना विभु नित्य जो परिपूर्ण सत्य ज्ञानानन्दघन सदा

परिपूर्णसत्यज्ञानानन्दघनः सदा विध्वस्तसर्वोपाधिरखण्डैकरसः एकस्तावन्तं चाभिजानाति। ततो मामेवं तत्त्वतो ज्ञात्वाऽहमस्म्यखण्डानन्दाद्वितीयं ब्रह्मेति साक्षात्कृत्य विशतेऽज्ञानतत्कार्यनिवृत्तौ सर्वोपाधिशून्यतया मद्रूप एव भवति। तदनन्तरं बलवत्प्रारब्धकर्मभोगेन (ण) देहपातानन्तरं न तु ज्ञानानन्तरमेव। क्त्वाप्रत्ययेनैव तल्लाभे तदनन्तरमित्यस्य वैयर्थ्यापातात्। तस्मात् "तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ संपत्स्ये" इतिश्रुत्यर्थ एवात्र दर्शितो भगवता। यद्यपि ज्ञानेनाज्ञानं निवर्तितमेव दीपेनेव तमस्तस्य तद्विरोधिस्वभावत्वात्तथाऽपि तदुपादेयमहङ्कारदेहादि निरुपादानमेव यावत्प्रारब्धकर्मभोगमनुवर्तते दृष्टत्वादेव। नहि दृष्टेऽनुपपन्नं नाम। तार्किकैरपि हि समवायिकारणनाशाद्द्रव्यनाशमङ्गीकुर्वद्भिर्निरुपादानं द्रव्यं क्षणमात्रं तिष्ठतीत्यङ्गीकृतम्। नित्यपरमाणुसमवेतद्व्यणुकनाशे स्वसमवायिकारणनाशादेव द्रव्यनाशः। समवायिनिरूपितकारणनाशत्वमुभयोरनुगतमिति नाननुगमः। ये

निवृत्ति सर्वोपाधि अखण्डैकरस एक है उतना जानता है। तदन्तर तत्त्वतः यों मुझको जानकर 'मैं हूँ अखण्डानन्दाद्वितीयब्रह्म' यह साक्षात्कार कर अज्ञान तत्कार्यनिवृत्ति से सर्वोपाधिशून्य तत्स्वरूप ही होता है, तदन्तर बलवत् प्रारब्ध कर्मयोग से देहपात के अनन्तर ज्ञानान्तर ही नहीं। 'क्त्वा' प्रत्यय से ही ज्ञानानन्तर्य लाभ सिद्ध था 'तदनन्तर' यह व्यर्थ हो जायगा। 'तस्मात्तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्षे अथ सम्पत्स्ये' से यह श्रुत्यर्थ भगवान् यहाँ दिखलाया है। यद्यपि ज्ञान से अज्ञानदीप से तमके तरह ज्ञान से अज्ञान निवृत्त होता है। ज्ञानप्रदीप का अज्ञान तमोविरोधी स्वभाव है तथापि तदुपादेय अहङ्कार देहादि निरुपादान ही यावत्प्रारब्ध कर्मभोग दृष्टत्व से अनुवृत्त होते हैं 'न हि दृष्टे अनुपपन्नं नाम' दृष्ट में अनुपपत्ति नहीं होती। तार्किक भी समवायिकारण नाश से कार्यनाश मानते हुए निरुपादनद्रव्य क्षणमात्र निराधार रहता है यह मानते हैं, नित्य परमाणुसमवेत द्व्यणुकनाशमें असमवायिकारण नाश से ही द्रव्यनाश मानते हैं। समवायिनिरूपितकारण नाशत्व दोनों में अनुगत है अतः अनुगम दोष नहीं। जो लोग असमवायिकारण नाश ही सब

त्वसमवायिकारणनाशमेव सर्वत्र कार्यद्रव्यनाशकमिच्छन्ति तेषामाश्रयनाशस्थले क्षणद्वयमनुपादानं कार्यं तिष्ठति। एवं च तत्रैव प्रतिबन्धकसन्निपाते बहुकालावस्थितिः केन वार्यते ? प्रारब्धकर्मणश्च प्रतिबन्धकत्वं श्रुतिसिद्धमन्तःकरणदेहाद्यवस्थित्यन्यथानुपपत्तिसिद्धं च। एवं शिष्यसेवकाद्यदृष्टमपि तत्प्रतिबन्धकं तदभावमपेक्ष्य च पूर्वसिद्ध एवाज्ञाननाशस्तत्कार्यमन्तःकरणादिकं नाशयतीति न पुनर्ज्ञानापेक्षा। तदुक्तम्—

" तीर्थे श्वचगृहे वा नष्टस्मृतिरपि परित्यजन्देहम्।
ज्ञानसमकालमुक्तः कैवल्यं याति हतशोकः" ॥इति॥

न जानामीत्यादिप्रत्ययस्तु तस्य निवृत्ताज्ञानस्याप्यज्ञाननाशजनितादनुपादानात्साक्षादात्माश्रयादेवाज्ञानसंस्काराक्तत्त्वज्ञानसंस्कारनिवर्त्यादन्तःकरणस्थित्यवधेरिति विवरणकृतः। अहं ब्रह्मास्मीतिचरमसाक्षात्कारानन्तरमहं ब्रह्म न भवामि न जानामीत्यादिप्रत्ययो नास्त्येव। यदि परं घटं न जानामिइत्यादिप्रत्ययः स्यात्तदुपपादनाय चेयं संस्कारकल्पनेति नानुपपन्नम्।

जगह कार्य द्रव्य का नाशक मानते हैं उनके मत में आश्रय नाशस्थल में क्षणद्वय अनुपादन कार्य रहता है। इस प्रकार वहाँ भी प्रतिबन्धक सन्निधान से बहुकाल स्थिति किससे रोक सकते हैं ? प्रारब्धकर्म में प्रतिबन्धकत्व श्रुति सिद्ध तथा अन्तःकरण देहादि की अवस्थिति अन्यथा अनुपपत्ति सिद्ध है। एवं शिष्य सेवकादि अदृष्ट भी शरीरनाश प्रतिबन्धक है। प्रतिबन्धकभावसहित पूर्वसिद्ध ही अज्ञाननाश तत्कार्य्य अन्तःकरणादि का नाशक होता है फिर ज्ञान की अपेक्षा नहीं। कहा है--'तीर्थे श्वपचगृहे वा' इत्यादि उपर देखिये। इत्यादि ज्ञान उसेका निवृत्ताज्ञान का भी अज्ञाननाशजनित अनुपाहान से साक्षात् आत्माश्रय से ही अज्ञानसंस्कार से वा जो कि तत्त्वज्ञान संस्कार निवर्त्य है अन्तःकरण स्थितिपर्यन्त संस्कार रहता है' यह विवरणकार का मत है। 'मैं ब्रह्म हूँ' इस अन्तिम साक्षात्कार के अनन्तर 'मैं ब्रह्म नहीं हूँ' 'मैं नहीं जानता' इत्यादि ज्ञान नहीं होता, यदि घट नहीं जानता यह ज्ञान होता तो तदग्रहण के लिए यह संस्कार कल्पना होती अतः अनुपपत्ति नहीं है।

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः ।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ॥ ५६ ॥

अपनी आराध्य देवता आदि में मेरी भावना से युक्त होकर सदा श्रद्धा-भक्ति पूर्वक समस्त श्रौत स्मार्त्त कर्मों का अनुष्ठान करता हुआ यति मद्रूप परमेश्वर के अनुग्रह से वृद्धिक्षय रहित नित्य मोक्षरूप पद को प्राप्त करता है ॥ ५६ ॥

अज्ञानलेशपदेनाप्ययमेव संस्कारो विवक्षितः। नहिं सावयवमज्ञानं, येन कियन्नश्यति कियत्तिष्ठतीति वाच्यमनिर्वचनीयत्वात्। एकदेशाभ्युपगमे तु तन्निवृत्त्यर्थं पुनश्चरमं ज्ञानमपेक्षितमेव। तच्च मृतिकाले दुर्घटमिति तत्त्वज्ञान-संस्कारनाश्यता तस्याभ्युपेया। ततश्च संस्कारपक्षान्न कोऽपि विशेष इति पूर्वोक्तैव कल्पना श्रेयसी। ईदृशजीवनमुक्त्यपेक्षया च प्राग्भगवतोक्तम्—

"उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः" इति,

स्थितप्रज्ञलक्षणानि च व्याख्यातानि। तस्मात्साधूक्तं 'विशते तदनन्तरम्' इति ॥ ५५ ॥

म० टी०—ननु योऽनात्मज्ञोऽशुद्धान्तःकरणः सोऽन्तःकरणशुद्धिपर्यन्तं सहजं कर्म न त्यजेत्। यस्तु शुद्धान्तःकरणः स नैष्कर्म्यसिद्धिं संन्यासेना-

---

अज्ञानलेश पद से यही संस्कार विवक्षित है। अज्ञान सावयव नहीं जो कुछ अंश नष्ट हो कुछ अंश रह जाय, क्योंकि वह अनिर्वचनीय है। यदि एकदेश मानोगे तो उस अज्ञानलेश की निवृत्ति के लिए फिर चरम ज्ञान की अपेक्षा होगी, वह स्मरण काल में दुर्घट है अतः तत्त्वज्ञान संस्कार नाश्यता उसमें मानना है तब संस्कार पक्ष से कोई विशेष नहीं अतः पूर्वोक्त कल्पना ही युक्तियुक्त है। ईदृश जीवन मुक्ति के अपेक्षा से पूर्व में भगवान् ने कहा है—

'उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः' इति—

स्थितप्रज्ञ के लक्षण व्याख्यात हो चुके, तस्मात् यह बहुत ठीक कहा है—'विशते तदनन्तरम्' इति ॥ ५५ ॥

शङ्का—जो अनात्मज्ञ अशुद्धान्तःकरण है वह अन्तःकरण शुद्धि पर्यन्त सहज कर्म का त्याग न करे और जो शुद्धान्तःकरण है वह नैष्कर्म्यसिद्धि

धिगच्छतीत्युक्तम्। संन्यासश्च ब्राह्मणेनैव कर्तव्यो न क्षत्रियवैश्याभ्यामिति प्रागुक्तं भगवता—"कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः" इत्यत्र। तत्र शुद्धान्तःकरणेन क्षत्रियादिना किं कर्माण्यनुष्ठेयानि किं वा सर्वकर्मसंन्यासः कर्तव्यः। नाऽऽद्यः—

"आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते॥"

इत्यादिना योगमन्तःकरणशुद्धिमारूढस्य कर्मानुष्ठाननिषेधात्। न द्वितीयः—

"स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः।"

इत्यादिना ब्राह्मणधर्मस्य सर्वकर्मसंन्यासस्य क्षत्रियादिकं प्रति निषेधात्। नच कर्मानुष्ठानकर्मत्यागयोरन्यतरमन्तरेण तृतीयः प्रकारोऽस्ति, तस्मादुभयोरपि प्रतिषिद्धत्वेन गत्यन्तराभावेन चावश्यकर्तव्ये प्रतिषेधातिक्रमे कर्मत्याग एष श्रेयान् बन्धहेतुपरित्यागेन मोक्षसाधनपौष्कल्यात्, न तु कर्माण्यनुष्ठेयानि

'सन्यासेनाधिगच्छति,' (सन्यास से प्राप्त करता है) यह कहा है। सन्यास ब्राह्मण को ही करना चाहिए क्षत्रिय, वैश्य, को नहीं यह भगवान् ने व्याख्यान किया है—

'कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकदयः' इति

यहाँ पर इसमें शुद्धान्तःकरण क्षत्रियादि क्या कर्म का अनुष्ठान करे अथवा सर्वकर्मसन्यास करे इस संशय में पहला पक्ष ठीक नहीं,

'आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते'

इत्यादि वाक्य से अन्तःकरण शुद्धयर्थ ही कर्मानुष्ठान की विधि है तत् शुद्धि के बाद कर्मानुष्ठान का निषेध है। द्वितीय पक्ष भी ठीक नहीं,

'स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः'

इत्यादि से ब्राह्मणधर्म सर्वकर्मसन्यास का क्षत्रियादि के प्रति निषेध है। कर्मानुष्ठान कर्मत्याग के अन्यतर एक के विना तृतीय प्रकार नहीं है तस्मात् दोनों के प्रतिषिद्ध होने से गत्यन्तराभाव से अवश्य निषेधोल्लङ्घन करता है तो कर्मत्याग ही श्रेष्ठ है, क्योंकि बन्धहेतु कर्मत्याग से मोक्षसाधन पुष्ट होता

चित्तविक्षेपहेतुत्वेन मोक्षसाधनज्ञानप्रतिबन्धकत्वादित्यभिप्रायमर्जुनस्याऽऽलक्ष्याऽऽह भगवान्—सर्वेत्यादिना। यः पूर्वोक्तैः कर्मभिः शुद्धान्तःकरणः सोऽवश्यं भगवदेकशरणो भगवदेकशरणतापर्यन्तत्वादन्तःकरणशुद्धेः। एतादृशश्चेद् ब्राह्मणः संन्यासप्रतिबन्धरहितः सर्वकर्माणि संन्यस्य तु नाम, संसारविमोक्षस्तु तस्य भगवदेकशरणस्य भगवत्प्रसादादेव। एतादृशश्चेत्क्षत्रियादिः सन्यासानधिकारी स करोतु नाम कर्माणि किंतु मद्व्यपाश्रयः अहं भगवान् वासुदेव एव व्यपाश्रयः शरणं यस्य स मदेकशरणो मय्यर्पितसर्वात्मभावः संन्यासानधिकारात्सर्वकर्माणि सर्वाणि कर्माणि वर्णाश्रमधर्मरूपाणि लौकिकानि प्रतिषिद्धानि वा सदा कुर्वाणो मत्प्रसादान्ममेश्वरस्यानुग्रहादवाप्नोति हिरण्यगर्भवन्मद्विज्ञानोत्पत्त्या शाश्वतं नित्यं पदं वैष्णवमव्ययमपरिणामि। एतादृशो भगवदेकशरणः करोत्येव न प्रतिषिद्धानि कर्माणि, यदि कुर्यात्तथाऽपि मत्प्रसादात्प्रत्यवायानुत्पत्त्या मद्विज्ञानेन मोक्षभाग्भवतीति भगवदेकशरणतास्तुत्यर्थं सर्वकर्माणि सर्वदा कुर्वाणोऽपीत्यनूद्यते॥ ५६॥

है। कर्मों का अनुष्ठान चित्त विक्षेपकर होनेसे मोक्षसाधन ज्ञान प्रतिबन्धक होने से उसका त्यागही उचित है इस अर्जुन के अभिप्राय को लक्ष्य कर भगवान् कहते हैं—जो पूर्वोक्त से शुद्धान्तःकरण है वह अवश्य भगवत् के एक शरणागत है अन्तःकरण शुद्धि भगवद् एक पर्यन्त है एतादृश ब्राह्मण भी हो तो सन्यास प्रतिबन्धरहित सर्वकर्मो का सन्यास करे। संसार से मुक्ति तो उस भगवद् एकशरण की भगवत्प्रसाद से ही होती है। एतादृश क्षत्रियादि यदि हो सन्यासानधिकारी वह सर्व कर्म का परित्याग करे, किन्तु मदाश्रय—मैं भगवान् वासुदेवही हूँ एक शरण जिसका वह मदेकशरण मुझे अर्पित सर्वभाव, क्योंकि सन्यास में अधिकार होने से वर्णाश्रम धर्मरूप लौकिक वा प्रतिषिद्ध सब कर्मों को करता मुझ ईश्वर के प्रसाद से हिरण्यगर्भके समान पद ज्ञानोत्पत्ति से नित्य शाश्वत् अपरिणामि वैष्णव पद पाता है, एतादृश भगवदेकशरण प्रतिषिद्ध कर्मों को नहीं करता है तो भी मेरे अनुग्रह से पापानुत्पत्ति से मेरे ज्ञान से मोक्ष भागी होता है अतः भगवदेकशरणता स्तुत्यर्थ सर्व कर्मों को सदा करता हुआ भी यह अनुवाद है॥ ५६॥

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः ।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव ॥ ५७ ॥
मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि ।
अथ चेत्त्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि ॥५८॥

हे अर्जुन ! विवेकबुद्धि से तुम तीव्र मुमुक्षु होकर, समस्त श्रौतस्मार्त नित्य नैमित्तिक कर्मोंके फल मुझमें अर्पण कर प्रतिक्षण मेरे भजन में संलग्न होकर निरन्तर मेरे शरणागत हो जाओ ॥ ५७ ॥

हे अर्जुन ! केवल मुझ (परमेश्वर) में ही मन लगा कर तुम मेरे प्रसाद से समस्त दुस्तर अविद्या आदि को पार कर जाओगे अथवा यदि तुम अहङ्कार वश मेरे वचन को न सुनोगे, तो तुम्हारा विनाश हो जायगा ॥ ५८ ॥

म० टी०—यस्मान्मदेकशरणतामात्रं मोक्षसाधनं न कर्मानुष्ठानं कर्मसंन्यासो वा तस्मात्क्षत्रियस्त्वम्—चेतसा विवेकबुद्ध्या सर्वकर्माणि दृष्टादृष्टार्थानि मयीश्वरे संन्यस्य 'यत्करोषि यदश्नासि' इत्युक्तन्यायेन समर्प्य मत्परोऽहं भगवान् वासुदेव एव परः प्रियतमो यस्य स मत्परः सन् बुद्धियोगं पूर्वोक्तसमत्वबुद्धिलक्षणं योगं बन्धहेतोरपि कर्मणो मोक्षहेतुत्वसम्पादकमुपाश्रित्यानन्यशरणतया स्वीकृत्य मच्चित्तो मयि भगवति वासुदेव एव चित्तं यस्य न राजनि कामिन्यादौ वा स मच्चितः सततं भव ॥ ५७ ॥

मेरे एक शरणमें आगमनही मोक्ष साधन है न कर्मानुष्ठान और न कर्मसन्यास, तस्मात् तुम क्षत्रिय हो चित्तसे अर्थात् विवेकबुद्धिसे दृष्टादृष्टार्थक सब कर्मोंको ईश्वर मुझमें सन्यास कर 'यत्करोषि यदश्नाषि' इस श्लोकोक्त न्यायसे समर्पण कर भगवान् वासुदेव ही पर प्रियतम हैं जिसको ऐसा होकर मत्पर पूर्वोक्त समत्वबुद्धिलक्षण योग बन्धहेतु ही कर्ममें मोक्षहेतुत्वका संपादन कर उक्त बुद्धियोगका आश्रयण कर मच्चित्तः—भगवान वासुदेव मुझमें ही चित्त है जिसका न राजामें न स्त्रीमें एवं भूत मच्चित्त सदा होओ ॥५७॥

यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे ।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति ॥५९॥

यदि अहङ्कार का आश्रय करके यह निश्चय करो कि मैं सङ्ग्राम नहीं करूँगा, तो वह तुम्हारा निश्चय व्यर्थ ही है, क्योंकि प्रकृति ही तुमको वैसा करनेमें (लड़ाई करनेमें) बलात् प्रवृत्ति करायगी ॥ ५९ ॥

म० टी०—ततः किं स्यादिति तदाह—**मच्चित** इत्यादिना । मच्चित्तस्त्वं सर्वदुर्गाणि दुस्तराणि कामक्रोधादीनि संसारदुःखसाधनानि मत्प्रसादात्स्वव्यापारमन्तरेणैव तरिष्यसि अनायासेनैवातिक्रमिष्यसि । अथ चेद्यदि तु त्वं मदुक्ते विश्वासमकृत्वाऽहङ्कारात्पण्डितोऽहमिति गर्वान्न श्रोष्यसि मद्वचनार्थं न करिष्यसि ततो विनङ्क्ष्यसि पुरुषार्थाद्भ्रष्टो भविष्यसि कामकारेण सन्यासाद्याचरन् ॥ ५८ ॥

म० टी०—त्वं च अहंकारं धार्मिकोऽहं क्रूरं कर्म न करिष्यामीति मिथ्याभिमानमाश्रित्य न योत्स्ये युद्धं न करिष्यामीति मन्यसे यन्मिथ्या निष्फल एष व्यवसायो निश्चयस्ते तव यस्मात्प्रकृतिः चत्रजात्यारम्भको रजोगुणस्वभावस्त्वां नियोक्ष्यति प्रेरयिष्यति युद्धे ॥ ५९ ॥

उससे क्या होगा ? वह कहते हैं—'मच्चित्तः' से। तुम सब दुर्ग दुस्तर काम क्रोधादि संसार दुःखसाधनोंका मत्प्रसादसे अपने व्यापारके विना ही अनायाससे तुम तरोगे अर्थात् संसारका अतिक्रम करोगे। यदि तुम मेरे वचनमें विश्वास न कर 'मैं पण्डित हूँ' इस अहङ्कारसे न सुनोगे, मद्वचनानुसार न करोगे तो विनष्ट हो जाओगे। स्वेच्छासे सन्यासादि करते हुए पुरुषार्थसे भ्रष्ट हो जाओगे ॥५८॥

तुम मैं धार्मिक हूँ हिंसा कर्म न करूँगा इस मिथ्याभिमान अहङ्कारका आश्रयण कर 'न युद्ध करेंगे' यह मानते हो तो वह मिथ्या है यह तुम्हारा निश्चय निष्फल है, क्योंकि क्षत्रियारम्भक रजोगुणस्वभाव प्रकृति युद्धमें तुमको प्रेरणा करेगी ही ॥५९॥

स्वभावजेन कौन्तेय! निबद्धः स्वेन कर्मणा।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत् ॥६०॥
ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन! तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥६१॥

हे कौन्तेय! अज्ञानवश जातितः प्राप्त जिस कर्म को तुम करना नहीं चाहते हो, उसे स्वाभाविक अपने क्षात्रधर्म से परिगृहीत तुम विवश होकर अवश्य करोगे ॥६०॥

हे अर्जुन! लोकमें जैसे सूत्रधार दारु (काष्ठ) मय प्रतिमाको घुमाता है, वैसे ही परमेश्वर समस्त प्राणियोंको मायासे घुमाता हुआ समस्त प्राणियोंके हृदयप्रदेशमें रहता है ॥ ६१ ॥

म० टी०—प्रकृतिं विवृणोति—स्वभावजेन पूर्वोक्तक्षत्रियस्वभावजेन शौर्यादिना स्वेनानागन्तुकेन कर्मणा निबद्धो वशीकृतस्त्वं हे कौन्तेय! यद्बन्धुवधादिनिमित्तं युद्धं मोहात्स्वतन्त्रोऽहं यथेच्छामि तथा संपादयिष्यामीति भ्रमात्कर्तुं नेच्छसि तदवशोऽपि अनिच्छन्नपि स्वाभाविककर्मपरतन्त्रः परमेश्वरपरतन्त्रश्च करिष्यस्येव ॥ ६० ॥

म० टी०—स्वभावाधीनतामुक्त्वेश्वराधीनतां विवृणोति—ईश्वर ईशनशीलो नारायणः सर्वान्तर्यामी "यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरो यमयति,"

"यच्च किंचिज्जगत्सर्वं दृश्यते श्रूयतेऽपि वा।
अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः ॥"

प्रकृतिका विवरण करते हैं-पूर्वोक्त क्षत्रिय स्वभावज शौर्यादिसे अपने कर्मसे निबद्ध वशीकृत अर्थात् स्वाभाविक स्वस्वभावबद्ध तुम हो, अतः हे कौन्तेय! जो बन्धुवधादि निमित्त युद्ध अविवेक से 'मैं स्वतन्त्र हूँ' जैसा चाहता हूँ वैसा ही करूँगा इस भ्रमसे करनेकी इच्छा नहीं है वह अवश—स्वभावपराधीन इच्छा न रहने पर भी स्वाभाविक कर्म परतन्त्र और परमेश्वर पराधीन ही करोगे ॥६०॥

स्वभावाधीनता कह कर ईश्वराधीनताका विवरण करते हैं-ईश्वर ईशनशील, नारायण सर्वान्तर्यामी 'यः पृथिव्यां तिष्ठन्' इत्यादि श्रुति सिद्ध सब प्राणियोंके

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ! ।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥६२॥

हे भारत ! सर्वत्र परमेश्वरकी बुद्धिसे उसी परमात्माके शरणमें जाओ, उसके कृपासे श्रेष्ठ शान्ति और शाश्वत (नित्य) स्थान (पद) को अर्थात् परब्रह्मको अवश्य प्राप्त होओगे ॥ ६२ ॥

इत्यादिश्रुतिसिद्धः सर्वभूतानां सर्वेषां प्राणिनां हृद्देशेऽन्तःकरणे तिष्ठति सर्वव्यापकोऽपि तत्राभिव्यज्यते सप्तद्वीपाधिपतिरिव राम उत्तरकोसलायां, हे अर्जुन शुद्धान्तःकरण ! एतादृशमीश्वरं त्वं ज्ञातुं योग्योऽसीति द्योतते । किं कुर्वंस्तिष्ठति भ्रामयन्नितस्ततश्चालयन् सर्वभूतानि परतन्त्राणि मायया छद्मना यन्त्रारूढानिव सूत्रसंचारादियन्त्रमारूढानि दारुनिर्मितपुरुषादीन्यत्यन्तपरतन्त्राणि यथा मायावी भ्रामयति तद्वदित्यर्थशेषः ॥ ६१ ॥

म० टी०—ईश्वरः सर्वभूतानि परतन्त्राणि प्रेरयति चेत् ? प्राप्तं विधिप्रतिषेधशास्त्रस्य सर्वस्य पुरुषकारस्य चाऽऽनर्थक्यमित्यत्राऽऽह—**तमेवेति** । तमेवेश्वरं शरणमाश्रयं संसारसमुद्रोत्तरणार्थं गच्छाश्रय सर्वभावेन सर्वात्मना मनसा वाचा कर्मणा च हे भारत ! तत्प्रसादात्तस्यैवेश्वरस्यानुग्रहा-

हृदयं देशमें (अन्तःकरणमें) रहता है, यद्यपि सर्व व्यापक है तो भी अन्तःकरणमें विशेषाभिव्यक्ति होती है इसलिए 'अन्तःकरणे तिष्ठति' कहा, यथा सप्तद्वीपा पृथ्वीका राजा श्रीराम उत्तर कोशलमें रहे । हे अर्जुन ! शुद्धान्तःकरण ! ईदृश ईश्वरको तुम जाननेके योग्य हो यह उक्त सम्बोधनसे सूचित करते हैं । क्या करते हुए अन्तःकरणमें रहते हैं ? मायासे परतन्त्र सब भूतोंको इतस्ततः चलाते हुए, इसमें दृष्टान्त कहते हैं—जैसे मायावी लकड़ीके पुतलोंको जो कि मायावीसे उत्पन्न परतन्त्र हैं सूत्रसञ्चारादि यन्त्र पर रखकर घुमाता है उसी तरह ॥ ६१ ॥

ईश्वर परतन्त्र सब भूतोंकी प्रेरणा करता है तो विधि—प्रतिषेध शास्त्र और सब पुरुषव्यापार अनर्थक है, क्योंकि ईश्वर जो चाहेगा वही होगा इसका उत्तर कहते हैं—वही ईश्वरके आश्रयमें आओ संसार समुद्र उतरनेके लिये, सर्वभावसे सर्वात्मना मनसे, वाणीसे, कर्मसे आश्रयण करो ! हे भारत ! उसके अनुग्रहसे तत्त्व

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु ॥६३॥

हे अर्जुन ! 'न त्वेवाहं जातु' यहाँसे लेकर 'स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्' यहाँ तकके ग्रन्थसे गोपनीय रत्न आदिसे भी अत्यन्त गोपनीय ज्ञानका तुम्हें मैंने उपदेश दिया, उन सबोंका अच्छी तरह विचार करनेके बाद तुम्हारी जैसी इच्छा हो वैसा करो अर्थात् ठीक ठीक पर्यालोचन करनेपर तुम्हारा मोह दूर हो जायगा ॥ ६३ ॥

त्तत्त्वज्ञानोत्पत्तिपर्यन्तात्परां शान्तिं सकार्याविद्यानिवृत्तिं स्थानमद्वितीयस्वप्रकाशपरमानन्दरूपेणावस्थानं शाश्वतं नित्यं प्राप्स्यसि ॥ ६२ ॥

म० टी०—सर्वगीतार्थमुपसंहरताह—**इतीति** । इति अनेन प्रकारेण ते तुभ्यमत्यन्तप्रियाय ज्ञानमात्ममात्रविषयं मोक्षसाधनं गुह्याद्गुह्यतरं परमरहस्यादपि संन्यासान्तात्कर्मयोगाद्रहस्यतरं तत्फलभूतत्वादाख्यातं समन्तात्कथितं मया सर्वज्ञेन परमाप्तेन। अतो विमृश्य पर्यालोच्यैतन्मयोपदिष्टं गीताशास्त्रमशेषेण सामस्त्येन सर्वैकवाक्यतया ज्ञात्वा स्वाधिकारानुरूप्येण यथेच्छसि तथा कुरु न त्वेतदविमृश्यैव कामकारेण यत्किंचिदित्यर्थः। अत्र चैतावदुक्तम्—अशुद्धान्तःकरणस्य मुमुक्षोर्मोक्षसाधनज्ञानोत्पत्तियोग्यताप्रतिबन्धकपापक्षयार्थं फलाभिसंधिपरित्यागेन भगवदर्पणबुद्ध्या

ज्ञानोत्पत्तिपर्यन्तसे भी पर शान्ति सकार्याविद्या निवृत्ति अद्वितीय स्थान, अद्वितीय स्वप्रकाश परमानन्दरूपसे शाश्वत स्थिति पाओगे ॥ ६२ ॥

सब गीतार्थका उपसंहार करते हुए कहते हैं—इति से। इस प्रकार तुमसे अत्यन्त प्रियसे गुह्यसे भी गुह्यतर परम रहस्य सन्यासान्त कर्मयोगसे भी रहस्यतर तत्फलभूत मोक्षसाधन आत्ममात्र विषयज्ञान परमाप्त सर्वज्ञ मैं कहा, इस कारण विचारकर मेरा कथनरूप अशेष गीताशास्त्र भी एक वाक्यतासे जानकर स्वयोग्यतानुसार जैसा चाहो वैसा करो, किन्तु स्वेच्छासे जो कुछ अविचारसे न करना। यहाँ पर इतना कहा—शुद्धान्तःकरण मुमुक्षुका मोक्षसाधन ज्ञानोत्पत्ति योग्यताप्रतिबन्धक पापक्षयार्थ फलेच्छापरित्यागपूर्वक भगवदर्पण बुद्धिसे

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः ।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम् ॥६४॥

हे अर्जुन ! समस्त गोपनीयोंमें परम गोपनीय उत्कृष्ट मेरे वचनको तुम फिरसे सुनो, क्योंकि तुम मेरे प्रिय हो और स्थिर बुद्धिवाले हो, इसलिये तुम्हारे हितकारीवचन कहूँगा ॥ ६४ ॥

वर्णाश्रमधर्मानुष्ठानं, ततः शुद्धान्तःकरणस्य विविदिषोत्पत्तौ गुरुमुपसृत्य ज्ञानसाधनवेदान्तवाक्यविचाराय ब्राह्मणस्य सर्वकर्मसंन्यासः, ततो भगवदेकशरणतया विविक्तदेशसेवादिज्ञानसाधनाभ्यासाच्छ्रवणमनननिदिध्यासनैरात्मसाक्षात्कारोत्पत्त्या मोक्ष इति । क्षत्रियादेस्तु संन्यासानधिकारिणो मुमुक्षोरन्तःकरणशुद्ध्यनन्तरमपि भगवदाज्ञापालनाय लोकसंग्रहाय च यथाकथञ्चित्कर्माणि कुर्वतोऽपि भगवदेकशरणतया पूर्वजन्मकृतसंन्यासादिपरिपाकाद्वा हिरण्यगर्भन्यायेन तदनपेक्षणाद्वा भगवदनुग्रहमात्रेणैव तत्त्वज्ञानोत्पत्त्याऽग्रिमजन्मनि ब्राह्मणजन्मलाभेन संन्यासादिपूर्वकज्ञानोत्पत्त्या वा मोक्ष इति । एवंविचारिते च नास्ति मोहाऽवकाश इति भावः ॥६३॥

म० टी०—अतिगम्भीरस्य गीताशास्त्रस्याशेषतः पर्यालोचनक्लेशनिवृत्तये कृपया स्वयमेव तस्य सारं संक्षिप्य कथयति—सर्वगुह्यतममिति ।

वर्णाश्रमधर्मानुष्ठान उससे शुद्धान्तःकरणका विविदिषोत्पत्ति होनेपर गुरुके पास जाकर ज्ञानसाधन वेदान्तवाक्यविचारके लिये ब्राह्मणका सर्व कर्म सन्यास । बाद भगवदेकशरणतासे विविक्तदेशसेवादि, ज्ञानसाधनाभ्याससे, श्रवण मनन निदिध्यासनोंसे आत्मसाक्षात्कारोत्पत्तिसे मोक्षसन्यासानधिकारी मुमुक्षुक्षत्रियादिको अन्तःकरण शुद्धिके बाद भगवदाज्ञापालन और लोकसंग्रहार्थ किसी प्रकार कर्मोंको करता हुआ भगवदेकशरण होकर पूर्वजन्मकृत सन्यासादि परिपाक सेवा, हिरण्यगर्भन्यायसे तदुपेक्षासे भगवानके अनुग्रहमात्रसे ही तत्त्वज्ञानोत्पत्ति से आगे जन्ममें ब्राह्मण जन्म लाभसे संन्यासादिपूर्वक ज्ञानोत्पत्ति से वा मोक्ष होगा इस प्रकार विचार करनेपर मोहका अवसर नहीं है॥ ६३ ॥

अतिगम्भीर गीताशास्त्र का अशेष पर्य्यालोचन निवृत्ति के लिये कृपा से उस शास्त्र का सार संक्षेप कर स्वयं कहते हैं-सर्वेति से पूर्व में गुह्य कर्म योग से गुह्यतर

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥६५॥

हे अर्जुन ! तुम मुझमें ही चित्त लगाओ, मेरा भजन पूजन करो, मुझे ही नमस्कार करो। चूँकि तुम मेरे प्रिय हो, इसलिये मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि ऐसा करने पर तुम मुझे ही प्राप्त होओगे ॥ ६५ ॥

पूर्वं हि गुह्यात्कर्मयोगाद्गुह्यतरं ज्ञानमाख्यातम्, अधुना तु कर्मयोगात्तत्फलभूतज्ञानाच्च सर्वस्मादतिशयेन गुह्यं रहस्यं गुह्यतमं परमं सर्वतः प्रकृष्टं मे मम वचो वाक्यं भूयस्तत्र तत्रोक्तमपि त्वदनुग्रहार्थं पुनर्वक्ष्यमाणं शृणु। न लाभपूजाख्यात्याद्यर्थं त्वां ब्रवीमि किं तु इष्टः प्रियोऽसि मे मम दृढमतिशयेनेति यतस्ततस्तेनैवेष्टत्वेन वक्ष्यामि कथयिष्याम्यपृष्टोऽपि सन्नहं ते तव हितं परमं श्रेयः ॥ ६४ ॥

म० टी०—तदेवाह—मयि भगवति वासुदेवे मनो यस्य स मन्मना भव सदा मां चिन्तय। द्वेषेण कंसशिशुपालादादिरपि तथाऽत आह—मद्भक्तः मद्विषयेणानुरागेण सदा मद्विषयं मनः कुर्विति विधीयते। त्वद्विषयोऽनुराग एव केन स्यादित्यत आह—मद्याजी मां यष्टुं पूजयितुं शीलं यस्य स सदा मत्पूजापरो भव। पूजोपकरणाभावे तु मां नमस्कुरु कायेन वाचा मनसा च

ज्ञान कहा, इस समय कर्म योग से तत्फलभूत ज्ञान से सबसे अतिशय गुह्य रहस्य सर्वतः प्रकृष्ट (सबसे श्रेष्ठ) मेरा वाक्य अनेकवार कथित भी तुम्हारे अनुग्रह के लिये पुनर्वक्ष्यमाण सुनो। लाभ पूजा ख्यात्यर्थ तुम से नहीं कहते हैं, किन्तु प्रिय इष्ट हो अतः उसी इष्टबुद्धि से बिना पूँछे भी परम श्रेय तुम्हारा हित तुमसे कहेंगे ॥ ६४ ॥

वही कहते हैं—भगवान् वासुदेव मुझमें मन है जिसका वह मन्मना हो सदा मेरी चिन्ता करो, द्वेष से कंस शिशुपालादि सदा चिन्ता करते थे, इसलिए कहा—'मद् भक्तः,' विषयक प्रेमसे सदा मद्विषयक मन करो यह विधान करते हैं।

प्रश्न—त्वद्विषयक अनुराग किस उपाय से होगा ?

उत्तर—'मद् याजी' मुझमें पूजा करने का स्वभाव है जिसका वैसाः, सदा मत्पूजा पर हो; पूजासामग्री न हो तो मेरा नमस्कार करो काय, वाक् मनसे नम्रता

प्रह्वीभवनेनाऽऽराधय। इदं चार्चनं वन्दनं चान्येषामपि भागवतधर्माणामुप-लक्षणम्। तथा चोक्तं श्रीभागवते—

"श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥
इति पुंसाऽर्पिता विष्णौ भक्तिश्चेन्नवलक्षणा।
क्रियते भगवत्यद्धा तन्मन्येऽधीतमुत्तमम्" इति॥

एतच्च भक्तिरसायने व्याख्यातं विस्तरेण। एवं सदा भागवतधर्मानुष्ठानेन मय्यनुरागोत्पत्त्या मन्मनाः सन् मां भगवन्तं वासुदेवमेवैष्यसि प्राप्स्यसि वेदान्तवाक्यजनितेन मद्बोधेन। त्वं चात्र संशयं मा कार्षीः, सत्यं यथार्थं ते तुभ्यं प्रतिजाने सत्यामेव प्रतिज्ञां करोम्यस्मिन्नर्थे। यतः प्रियोऽसि मे, प्रियस्य प्रतारणा नोचितैवेति भावः। सत्यन्ते प्रारब्धकर्मणोऽन्ते सति मामेष्यसीति वा। अनुवादापेक्षया विश्वासदार्ढ्यप्रयोजनं प्रथमं व्याख्यानमेव श्रेयः। अनेन यत्पूर्वमुक्तम्—

से मेरी आराधना करो ये अर्चनवन्दनादि अन्य भी भागवत धर्मों का उपलक्षण है यह श्रीमद् भागवत में कहा है—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्,

इत्यादि ऊपर देखिये।

अर्थ—भगवत्कथा श्रवण, भगवन्नाम कीर्तन, भगवान् विष्णुका स्मरण, चरणसेवन, पूजन, वन्दन (नमस्कार दण्डवत् आदि से) दास्य (सेवा) सख्य (मैत्री) आत्मनिवेदन, भगवान् विष्णु में अर्पित यह नवधा भक्ति यदि करता है तो निश्चय समझना चाहिये कि उसने ठीक विद्याध्ययन किया है।

इसका विस्तरसे भक्तिरसायन ग्रन्थ में व्याख्यान है। इस प्रकार सदा भागवत धर्मानुष्ठान से मेरे में अनुराग उत्पन्न होगा उससे मन्मना होकर मुझ वासुदेव भगवान् को ही प्राप्त करोगे। वेदान्तवाक्य उत्पन्न मेरे ज्ञान से, तुम इसमें संशय न करो यथार्थ तुम से प्रतिज्ञा करते हैं अर्थात् सत्यप्रतिज्ञा करते यतः तुम प्रिय हो प्रिय की प्रतारणा उचित नहीं। प्रारब्ध कर्म के अन्त होने पर सत्य ही मुझ में प्राप्त होंगे, अनुवाद की अपेक्षा विश्वासदार्ढ्य प्रयोजन प्रथम व्याख्यान श्रेष्ठ है, इससे जो पूर्व में कहा—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि शुचः ॥६६॥

हे अर्जुन ! तुम समस्त धर्मोंको छोड़कर अर्थात् सर्वकर्मसंन्यासपूर्वक केवल मेरे ही शरणमें आजाओ, समस्त पापोंसे मैं तुम्हें मुक्त कर दूँगा, तुम शोक मत करो ॥ ६६ ॥

"यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥"

इति तद्व्याख्यातं मच्छब्देनेश्वरत्वप्रकटनात् ॥ ६५ ॥

म० टी०—अधुना तु "ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति" "तमेव सर्वभावेन शरणं गच्छ" इति यदुक्तं तद्विवृणोति—**सर्वधर्मानिति**। केचिद्वर्णधर्माः केचिदाश्रमधर्माः केचित्सामान्यधर्मा इत्येवं सर्वानपि धर्मान् परित्यज्य विद्यमानानविद्यमानान्वा शरणत्वेनानादृत्य मामीश्वरमेकमद्वितीयं सर्वधर्माणामधिष्ठातारं फलदातारं च शरणं व्रज, धर्माः सन्तु न सन्तु वा किं तैरन्यसापेक्षैर्भगवदनुग्रहादेव त्वन्यनिरपेक्षादहं कृतार्थो भविष्यामीति निश्चयेन परमानन्दघनमूर्तिमनन्तं श्रीवासुदेवमेव भगवन्तमनुक्षणभावनया भजस्व, इदमेव परमं तत्त्वं नातोऽधिकमस्तीति विचारपूर्वकेण प्रेमप्रकर्षेण सर्वानात्म-

'यतः प्रवृत्तिर्भूतानाम्' इत्यादि ऊपर देखिये ।
'मत्' शब्द से ईश्वरत्व प्रकट करने से व्याख्यात हुआ ॥ ६५ ॥

इस समय ईश्वर सब भूतों के अन्तःकरणमें हैं सर्वभाव से उन्हीं के शरण में जाओ यह जो कहा उसका विवरण करते हैं—कोई वर्णधर्म हैं, कोई सामान्य धर्म हैं, इस प्रकार सर्व धर्मों का परित्याग कर चाहे विद्यमान हो, चाहे अविद्यमान उनका शरणत्वेन अनादर कर एक अद्वितीय मुझ ईश्वर को जो सब कर्मों का अधिष्ठाता, फलदाता हूँ मेरे शरणमें आओ, धर्म रहें वा न रहें उनसे क्या प्रयोजन ? वे अन्य साक्षेप हैं, अन्य निरपेक्ष भगवत् कृपावश से हीं मैं कृतार्थ होऊँगा' इस निश्चय से परमानन्दघन मूर्ति अनन्त श्रीवासुदेव भगवान् की प्रतिक्षण भावना से भजन करो, यही परमतत्त्व है इससे अधिक नहीं। इस विचार से अतिप्रेम से सब अनात्म पदार्थों की चिन्ता से शून्य मनोवृत्ति से

चिन्ताशून्यया मनोवृत्त्या तैलधारावदविच्छिन्नया सततं चिन्तयेत्यर्थः। अत्र 'मामेकं शरणं व्रज' इत्यनेनैव सर्वधर्मशरणतापरित्यागे लब्धे 'सर्वधर्मान्परित्यज्य' इति निषेधानुवादस्तत्कार्यकारितालाभाय, यज्ञायज्ञीये साम्नि ऐरं कृत्वोद्गेयमित्यत्र न गिरा गिरेति ब्रूयादितिवत्। तथा ममैव सर्वधर्मकार्यकारित्वान्मदेकशरणस्य नास्ति धर्मापेक्षेत्यर्थः। एतेनेदमपास्तं सर्वधर्मान्परित्यज्येत्युक्ते नाधर्माणां परिलभ्यतेऽतो धर्मपदं कर्ममात्रपरमिति। नह्यत्र कर्मत्यागो विधीयतेऽपि तु विद्यमानेऽपि कर्मणि तत्रानादरेण भगवदेकशरणतामात्रं ब्रह्मचारिगृहस्थवानप्रस्थभिक्षूणां साधारण्येन विधीयते। तत्र सर्वधर्मान्परित्यज्येति तेषां स्वधर्मादरसंभवेन तन्निवारणार्थम्। अधर्मे चानर्थफले कस्याप्यादराभावात्तत्परित्यागवचनमनर्थकमेव, शास्त्रान्तरप्राप्तत्वाच्च। तस्माद्वर्णाश्रमधर्माणामभ्युदयहेतुत्वमपि स्यादितिशङ्कानिराकरणार्थमेवैतद्वच इति न्याय्यम्। न च सर्वधर्माधर्मपरित्यागोऽत्र विधीयते संन्यासशास्त्रेण प्रतिषेधशास्त्रेण च लब्धत्वादेव। न चेदमपि संन्यासशास्त्रं भगवदेकशरणताया विधित्सितत्वात्। तस्मात्सर्व-

तैलधाराके समान अविच्छिन्न (अटूट) मनोवृत्तिसे सतत मेरा भजन करो। यहाँ पर "मांमेकं शरणं व्रज' इसी से सर्वधर्म शरणता का परित्याग लब्ध है फिर 'सर्व धर्मान् परित्यज्य' यह निषेधानुवाद कार्यकारितालाभ के लिए है, जैसे यज्ञा यज्ञी साम में 'ऐरं कृत्वा उद्गेयम्' यहाँ पर 'न गिरा गिरा' इति ब्रूयात्' इस के तरह। तथा च मैं ही सर्वधर्म कार्यकारी हूँ अतः मदेकशरण, पुरुष को धर्मापेक्षा नहीं इससे यह परास्त हुआ। 'सर्वधर्मान् परित्यज्य' इस कथन से अधर्मों का परित्याग लब्ध नहीं होता अतः धर्मपद कर्ममात्र परक है। यहाँ पर कर्मत्याग की विधि नहीं, अपि तु विद्यमान कर्म में अनादर कर भगवदेकशरणतामात्र ब्रह्मचारि वानप्रस्थ गृहस्थ भिक्षुओं को साधारण से विधान है उस में 'सर्वधर्मान् परित्यज्य' यह उनका स्वधर्म में आदर सम्भव है तन्निवारणार्थ है। अनर्थफल अधर्म में किसी का आदर नहीं है अतः तत्परित्याग वचन अनर्थक ही है और अधर्म प्रतिषेध शास्त्रान्तर प्राप्त भी है, तस्मात् वर्णाश्रम धर्मों में अभ्युदयहेतुत्व प्रसिद्ध है मोक्ष हेतुत्व भी होगा इस शंका निरोकरणार्थ एतद् वचन न्याययुक्त है। सर्व धर्माधर्म परित्याग का यहाँ विधान हीं है, सन्यासशास्त्र और प्रतिषेधशास्त्र से लब्ध ही है भगवदेकशरणतामात्र विधिविषयक है इसलिये यह सन्यासशास्त्र

धर्मान्परित्यज्येत्यनुवाद एव। सर्वेषां तु शास्त्राणां परमं रहस्यमीश्वरशरणतैवेति तत्रैव शास्त्रपरिसमाप्तिर्भगवता कृता। तामन्तरेण संन्यासस्यापि स्वफलापर्यवसायित्वात्। अर्जुनं च क्षत्रियं संन्यासानधिकारिणं प्रति संन्यासोपदेशायोगात्। अर्जुनव्याजेनान्यस्योपदेशे तु 'वक्ष्यामि ते हितं' 'त्वा मोक्षयिष्यामि सर्वपापेभ्यस्त्वं मा शुचः' इति चोपक्रमोपसंहारौ न स्याताम्। तस्मात्संन्यासधर्मेष्वप्यनादरेण भगवदेकशरणतामात्रे तात्पर्यं भगवतः। यस्मात्त्वं मदेकशरणःसर्वधर्मानादरेणातोऽहं सर्वधर्मकार्यकारी त्वा त्वां सर्वपापेभ्यो बन्धुवधादिनिमित्तेभ्यः संसारहेतुभ्यो मोक्षयिष्यामि प्रायश्चित्तं विनैव "धर्मेण पापमपनुदति" इति श्रुतेर्धर्मस्थानीयत्वाच्च मम। अतो मा शुचो युद्धे प्रवृत्तस्य मम बन्धुवधादिनिमित्तप्रत्यवायात्कथं निस्तारः स्यादिति शोकं मा कार्षीः।

भाष्यकारैर्निरस्तानि दुर्मतानीह विस्तरात्।
ग्रन्थव्याख्यानमात्रार्थी न तदर्थमहं यते॥

है, तस्मात् 'सर्वधर्मान् परित्यज्य' यह अनुवाद ही है। सब शास्त्रों का परम रहस्य ईश्वर शरणाता ही है उसी में भगवान् ने शास्त्र की परिसमाप्ति किया उसके विना संन्यास भी स्वफलपर्यवसायी नहीं होता। क्षत्रिय सन्यासानधिकारी अर्जुन के प्रति सन्यासोपदेश अयुक्त है। अर्जुन के व्याजसे अन्योपदेश मानने पर 'वक्ष्यामि ते हितम्' 'अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः, के उपक्रमोपसंहार नहीं बनेंगे तस्मात् सन्यासधर्मोंमें भी अनादर कर भगवदेकशरणतामात्रमें भगवान्का तात्पर्य है। जिस कारण तूँ सकल धर्मोंका अनादर कर मदेकशरण हो अतः मैं सर्वधर्मकार्यकारी होनेसे तुमको बन्धुवधादिनिमित्त संसारहेतुभूत प्रायश्चित्तके बिना ही मुक्त कर देंगे 'धर्मेण पापमपनुदति' इस श्रुतिसे मैं धर्मस्थानीय हूँ। अतः शोच मत करो, युद्धमें प्रवृत्त मेरा बन्धुवधादिनिमित्त पापसे कैसे निस्तार होगा यह शोक मत करो। भाष्यकारैरिति। भाष्यकारने यहाँ पर दुर्मतों का विस्तार से निराश किया है, ग्रन्थव्याख्यानमात्रार्थी मैं उसके लिये यत्न नहीं करता हूँ।

तस्यैवाहं ममैवासौ स एवाहमिति त्रिधा ।
भगवच्छरणत्वं स्यात्साधनाभ्यासपाकतः ॥
विशेषो वर्णितोऽस्माभिः सर्वो भक्तिरसायने ।
ग्रन्थविस्तरभीरुत्वाद्दिङ्मात्रमिह कथ्यते ॥

तत्राऽऽद्यं मृदु यथा—

"सत्यपि भेदापगमे नाथ! तवाहं न मामकीनस्त्वम् ।
सामुद्रो हि तरङ्गः क्वचन समुद्रो न तारङ्गः ॥"

द्वितीयं मध्यं यथा—

"हस्तमुत्क्षिप्य यातोऽसि बलात्कृष्ण! किमद्भुतम् ।
हृदयाद्यदि निर्यासि पौरुषं गणयामि ते ॥"

तृतीयमधिमात्रं यथा—

'तस्यैवाहं ममैवासौ स एवाहमिति त्रिधा ।

इत्यादि ऊपर देखिये ।

अर्थ—मैं उसीका हूँ, वह मेरा ही है, मैं वही सच्चिदानन्दघन हूँ, एवं तीन प्रकारका साधन अभ्यास परिपाकसे भगवच्छरणत्व होता है ।

विशेष हमने भक्तिरसायनमें सब वर्णन किया है, ग्रन्थविस्तारके भयसे दङ्मात्र यहाँ पर कहता हूँ ।

उसमें पहला मृदु जैसे—

भेद नहीं रहनेपर भी हे नाथ! मैं तेरा हूँ, तुम मेरे नहीं हो, क्योंकि समुद्रका तरङ्ग होता है, न कि तरङ्गसे समुद्र होता है ।

दूसरा मध्यम जैसे—

हाथको झटक कर हे कृष्ण! तुम जा रहे हो इसमें क्या आश्चर्य ? यदि तुम मेरे हृदयसे निकल जाओ तो तेरे पौरुषकी गणना मैं करूँ ।

इसी श्लोकका अनुवाद पद्यमय ऐसा है—

'बाँह मरोले जात हो निबल जानिके मोहि ।
हृदयसे जब जाओगे सबल बखानौं तोहि ॥

तीसरा अधिमात्र जैसे—

"सकलमिदमहं च वासुदेवः परमपुमान् परमेश्वरः स एकः ।
इति मतिरचला भवत्यनन्ते हृदयगते व्रज तान्विहाय दूरात् ॥"

इति दूतं प्रति यमवचनम् । अम्बरीषप्रह्लादगोपीप्रभृतयश्चास्यां भूमिकायामुदाहर्तव्याः । अस्मिन्हि गीताशास्त्रे निष्ठात्रयं साध्यसाधनभावापन्नं विवक्षितमुक्तं च बहुधा । तत्र कर्मनिष्ठा सर्वकर्मसंन्यासपर्यन्तोपसंहृता "स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः" इत्यत्र । संन्यासपूर्वकश्रवणादिपरिपाकसहिता ज्ञाननिष्ठोपसंहृता "ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्" इत्यत्र भगवद्भक्तिनिष्ठा तूभयसाधनभूतोभयफलभूता च भवतीत्यन्त उपसंहृता 'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज' इत्यत्र । भाष्यकृतस्तु सर्वधर्मान्परित्यज्येति सर्वकर्मसंन्यासानुवादेन मामेकं शरणं व्रजेति ज्ञाननिष्ठोपसंहृतेत्याहुः । भगवदभिप्रायवर्णने के वयं वराकाः ।

समस्त यह मैं वासुदेव हूँ, सर्वश्रेष्ठ पुरुष परमेश्वर वह एक ही है, हृदयगत अनन्त भगवान्में ऐसी अचल बुद्धि जिन्हें हो जाय उन्हें दूरसे ही छोड़कर चले जाओ। यह दूतके प्रति यमका वचन है।

अम्बरीष, प्रह्लाद, गोपीप्रभृति इसमें उदाहरण हैं। इस गीताशास्त्रमें साध्य-साधन-भावापन्न निष्ठात्रय विवक्षित और बहुधा उक्त हैं, उसमें कर्मनिष्ठा सर्वकर्मसन्यासपर्यन्त उपसंहृत हुई।

'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः'

यहाँ पर भगवद् भक्तिनिष्ठा उभयसाधन हेतु और उभय फलभूत होती है इस कारण अन्तमें उपसंहृत हुई—

'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज'।

यहीं पर भाष्यकार तो 'सर्वधर्मान् परित्यज्य' सर्व कर्म सन्यासानुवादसे एक मेरे शरणमें आ जाओ यह ज्ञाननिष्ठा उपसंहृत हुई यह कहा है। भगवदभिप्राय वर्णन में हम लोग क्या हैं कुछ नहीं है।

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं नच मां योऽभ्यसूयति ॥६७॥

हे अर्जुन! इस मोक्षशास्त्रका उपदेश तुम ऐसे पुरुषको कभी मत देना, जो कि वेदशास्त्रोक्तकर्मका अनुष्ठान नहीं करता, देवता और गुरुमें भक्ति नहीं करता, गुरुकी सेवा नहीं करता और जो प्राकृत पुरुष समझकर मेरी निन्दा करता है॥ ६७॥

वचो यद्गीताख्यं परमपुरुषस्याऽऽगमगिरां
रहस्यं तद्व्याख्यामनतिनिपुणः को वितनुताम्।
अहं त्वेतद्बाल्यं यदिह कृतवानस्मि कथम-
प्यहेतुस्नेहानां तदपि कुतुकायैव महताम्॥ ६६॥

म० टी०—समाप्तः शास्त्रार्थः। शास्त्रसंप्रदायविधिमधुना कथयति—इदमिति। इदं गीताख्यं सर्वशास्त्रार्थरहस्यं ते तव संसारविच्छित्तये मयोक्तं नातपस्कायासंयतेन्द्रियाय न वाच्यं कदाचन कस्यामप्यवस्थायामिति पर्यायत्रयेऽपि सम्बध्यते। तपस्विनेऽप्यभक्ताय गुरौ देवे च भक्तिरहिताय न वाच्यं कदाचन। तपस्विने भक्तायापि अशुश्रूषवे शुश्रूषां परिचर्यामकुर्वते

वचो यद् गीताख्यंपरमपुरुषस्यागमगिराम्।

इत्यादि ऊपर देखिये।

अर्थ—परमपुरुषका वेदवचनका रहस्य जो गीतानामक वचन है उसका व्याख्यान अत्यन्त अकुशल व्यक्ति कौन कर सकता है? मैं बाल्यबुद्धि रखकर जो किसी प्रकार इसको किया हूँ वह भी बिना कारणके प्रेम करनेवाले बड़ोंके कुतूहल के लिये ही होगा।

शास्त्रार्थ समाप्त हुआ, इस समय शास्त्रसम्प्रदाय विधि कहते हैं—यह सर्व शास्त्रार्थ रहस्य गीताख्य तुमसे संसार विच्छेदके लिये मैं कहा, अतपस्क तपःशून्य असंयतेन्द्रियसे न कहना, कभी किसी अवस्थामें, 'नञ्' यह पर्यायसे भय सबके साथ सम्बद्ध है। तपस्वी होनेपर भी अभक्तसे न कहना, गुरु तथा देवतामें भक्ति रहितसे कभी शास्त्र न कहना, तपस्वी भक्त होनेपर भी सुश्रूषा न करनेवालेसे

य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति ।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ॥ ६८ ॥

जो कोई श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ यति इस अत्यन्त गोपनीय शास्त्रका मेरे भक्तोंको उपदेश करेगा, वह मेरी परम भक्तिको पाकर मुझको ही प्राप्त होगा, इसमें सन्देह नहीं करना चाहिए ॥ ६८ ॥

च न वाच्यं कदाचन । चशब्दो वाच्यं कदाचनेतिपदद्वयाकर्षणार्थः । न च मां योऽभ्यसूयति मां भगवन्तं वासुदेवं मनुष्यमसर्वज्ञत्वादि गुणकं मत्वाभ्यसूयति आत्मप्रशंसादिदोषाध्यारोपणेनेश्वरत्वमसहमानो द्वेष्टि यस्तस्मै श्रीकृष्णोत्कर्षासहिष्णवे तपस्विने भक्ताय शुश्रूषवे श्रीकृष्णानुरक्ताय च वाच्यमित्यर्थः । एकैकविशेषणाभावेऽप्ययोग्यताप्रतिपादनार्थाश्चत्वारो नकाराः । मेधाविने तपस्विने वेत्यन्यत्र विकल्पदर्शनाच्छुश्रूषागुरुभक्तिभगवदनुरक्तियुक्ताय तपस्विने तद्युक्ताय मेधाविने वा वाच्यम् । मेधातपसोः पाक्षिकत्वेऽपि भगवदनुरक्तिगुरुभक्तिशुश्रूषाणां नियम एवेति भाष्यकृतः ॥ ६७ ॥

म० टी०—एवं संप्रदायस्य विधिमुक्त्वा तस्य कर्तुः फलमाह—य इदममिति । यः संप्रदायस्य प्रवर्तक इममावयोः संवादरूपं ग्रन्थं परमं

कभी न कहना, 'च' शब्दवाच्य और कदाचन इन दोनों पदोंके आकर्षणार्थ है और जो मेरी असूया करता है भगवान् वासुदेव मनुष्य हैं असर्वज्ञत्वादिगुणविशिष्ट मानकर जो अभ्यसूया कहता है आत्मप्रशंसादि दोष आरोपसे मुझमें ईश्वरत्व न सहकर द्वेष करता है उससे अर्थात् श्रीकृष्णोत्कर्षासहिष्णुको अतपस्वी अभक्त, अशुश्रूषुको भी न कहना वाच्यं। 'कदाचन' इन दोनों पदों के अनुकर्षणार्थ चकार है। तपस्वी भक्त शुश्रूषु श्रीकृष्ण प्रेमीको गीताशास्त्र वाच्य है। एकैक विशेषणाभावमें भी अयोग्यता कथनार्थ चार नकार हैं 'मेधावी, तपस्वी वा' यहाँपर विकल्प दर्शनसे सुश्रूषा, गुरुभक्ति भगवत् अनुरक्ति युक्तसे तपस्वी तद्युक्त मेधावीसे वाच्य है तप पाक्षिक होनेपर भी भगवदनुरक्ति गुरुभक्ति, सुश्रूषा इन तीनोंका नियम ही है यह भाष्यकार कहते हैं ॥६७॥

उक्त प्रकार से सम्प्रदाय का फल कहकर उसके कर्ता का फल कहते हैं— जो सम्प्रदाय का प्रवर्त्तक हम दोनों का सम्प्रदाय यह ग्रन्थ जो कि मोक्षरूप

निरतिशयपुरुपार्थसाधनं गुह्यं रहस्यार्थत्वात्सर्वत्र प्रकाशयितुमनर्हं मद्भक्तेषु अभिधास्यति अभितो ग्रन्थतोऽर्थतश्च धास्यति स्थापयिष्यति। भक्तेः पुनर्ग्रहणात्पूर्वोक्तविशेषणत्रयरहितस्यापि भगवद्भक्तिमात्रेण पात्रता सूचिता भवति। कथमभिधास्यति तत्राऽऽह—'भक्तिं मयि परां कृत्वा'। भगवतः परमगुरोः शुश्रूषैवेयं मया क्रियत इत्येवं कृत्वा निश्चित्य योऽभिधास्यति स मामेवैष्यति मां भगवन्तं वासुदेवमेष्यत्येवाचिरान्मोक्ष्यत एव संसारादत्र संशयो न कर्तव्यः। अथवा मयि परां भक्तिं कृत्वाऽसंशयो निःसंशयः सन्मामेवैष्यत्येवेति वा मामेवैष्यति नान्यमिति यथाश्रुतमेव वा योज्यम्॥ ६८॥

पुरुषार्थसाधन अतिरहस्यार्थ होने से सब स्थल में प्रकाश करने के योग्य नहीं, किन्तु मेरे भक्तों में मुझ भगवान् वासुदेव में अनुरागियों के प्रति कहेगा। 'अभि' का अर्थ अभितः है, ग्रन्थतः ग्रन्थमात्र का पाठ कराता है, अर्थतः अर्थ का बोध कराता है स्थापित कराता है, भक्ति का पुनर्ग्रहण होने से पूर्वोक्त विशेषणत्रय तप सुश्रूषा अनसूया से रहित में भी भगवद् भक्तिमात्र से पात्रता सूचित की गयी है। कथन प्रकार कहते हैं—मेरे में परम भक्ति करके परम गुरु भगवान् की सुश्रूषा से ही 'मैं करता हूँ' यह निश्चय करके जो कहेगा वह मुझमें ही प्राप्त होगा। मुझ भगवान् वासुदेव में ही प्राप्त होगा अतिशीघ्र संसार से मुक्त होगा इसमें संशय नहीं करना। अथवा मेरे में परम भक्ति करके संशयशून्य मुझमें ही प्राप्त होगा अन्य में नहीं यह यथाश्रुत की योजना ठीक है। एवकार का 'एष्यति' के साथ सम्बन्ध करने से संसार से मुक्ति फलितार्थ है। मत्प्राप्ति होगी, 'मां' के साथ सम्बन्ध करने से 'मामेव' मुझको ही प्राप्त होगा अन्य को नहीं। एवकार दोनों के मध्य में है अतः 'देहली दीपक' न्याय से दोनों के साथ सम्बन्ध हो सकता है। दोनों अर्थों को विवक्षा में कोई आपत्ति नहीं संसार से मुक्ति दो पक्ष में फलितार्थ तुल्य है॥ ६८॥

न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः ।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि ॥ ६९ ॥
अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः ।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः ॥ ७० ॥

मनुष्योंमें मुमुक्षुओंको गीताशास्त्रका उपदेश करने वाले पुरुषकी अपेक्षा दूसरा कोईभी पुरुष मेरा प्रियकृत्तम (प्रिय करने वालोंमें श्रेष्ठ) इस भूलोकमें नहीं है और न भविष्य ही में उसकी अपेक्षा दूसरा प्रियतर होगा ॥ ६९ ॥

मेरे और तुम्हारे मध्यमें हुए इस धर्मयुक्त संवादका अर्थज्ञान पूर्वक जो पुरुष अध्ययन करेगा (पाठरूप से पढ़ेगा) उसके द्वारा मैं ज्ञानरूप यज्ञसे पूजित होऊँगा, यह मेरा मत है ॥ ७० ॥

म० टी०—किं च—तस्मान्मद्भक्तेषु शास्त्रसंप्रदायकृतः सकाशादन्यो मनुष्येषु कश्चिदपि मे मम प्रियकृत्तमोऽतिशयेन प्रियकृन्मद्विषयप्रीत्यतिशयवान्नास्ति वर्तमाने काले । नापि प्रागासीत्तादृक्कचित् । न च कालान्तरे भविता भविष्यति । ममापि तस्मादन्यः प्रियतरः प्रीत्यतिशयविषयः कश्चिदप्यासीन्न । अधुना च भुवि लोकेऽस्मिन्नास्ति । न च कालान्तरे भवितेत्यावृत्त्या योज्यम् ॥ ६९ ॥

म० टी०—अध्यापकस्य फलमुक्त्वाऽध्येतुः फलमाह—'अध्येष्यते' इत्यादिना । आवयोः संवादमिमं ग्रन्थं धर्म्यं धर्मादनपेतं योऽध्येष्यते जपरूपेण

और भी—मेरे भक्तों में शास्त्र संम्प्रदायकारी से भिन्न मनुष्यों के मध्य में कोई भी मेरा अतिप्रियकारी मद्विषयक प्रीति प्रचुरवान् वर्तमान काल में नहीं है, और न पूर्व में ही कोई था वैसा न भविष्य काल में ही कोई होगा। मेरा भी उससे अतिरिक्त प्रियतर प्रीति का अतिशय विषय कोई नहीं था, इस समय में भी इस लोक में कोई नहीं है इससे अतिरिक्त परमार्थसाधन दूसरा नहीं है यह भाव है। अक्षर का अर्थ स्पष्ट है ॥ ६९ ॥

अध्यापक का फल कह कर अध्ययन कर्ता का फल कहते हैं—अध्येष्यते से। हमारा और तुम्हारा इन दोनों का यह संवाद धर्मयुक्त ग्रन्थ जो पढ़ेगा जपरूप से

श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः ।
सोऽपि मुक्तःशुभाँल्लोकान्प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम् ॥७१॥

जो भी कोई मनुष्य, चाहे वह मूढ़ हो, वृद्ध हो या स्त्री हो, श्रद्धापूर्वक असूया आदि दोषोंसे मुक्त होकर इस शास्त्रका श्रवण करेगा, वह भी पापोंसे मुक्त होकर (छुटकारा पाकर) पुण्यकर्म (यज्ञ आदि) करनेवाले मनुष्योंके शुभ लोकोंको प्राप्त करेगा ॥ ७१ ॥

पठिष्यति ज्ञानयज्ञेन ज्ञानात्मकेन यज्ञेन चतुर्थाध्यायोक्तेन द्रव्ययज्ञादिश्रेष्ठेनाहं सर्वेश्वरस्तेनाध्येत्रेष्टः पूजितः स्यामिति मे मतिर्मम निश्चयः। यद्यप्यसौ गीतार्थमबुध्यमान एव जपति तथाऽपि तच्छृण्वतो मम मामेवासौ प्रकाशयतीति बुद्धिर्भवति। अतो जपमात्रादपि ज्ञानयज्ञफलं मोक्षं लभते सत्त्वशुद्धिज्ञानोत्पत्तिद्वारा। अर्थानुसंधानपूर्वकं पठतस्तु साक्षादेव मोक्ष इति किं वक्तव्यमिति फलविधिरेवायं नार्थवादः। "श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप" इति हि प्रागुक्तम् ॥ ७० ॥

म० टी०—प्रवक्तुरध्येतुश्च फलमुक्त्वा श्रोतुरिदानीं फलं कथयति—श्रद्धेत्यादिना। यो नरः कश्चिदपि अन्यस्योच्चैर्जपतः कारुणिकस्य सका-

पढ़ेगा ज्ञानयज्ञ-ज्ञानात्मक यज्ञ, जो चतुर्थाध्याय में कहा है, और द्रव्ययज्ञादि से श्रेष्ठ है उससे उस अध्ययन शील से मैं पूजित होऊँगा यह मेरा निश्चय है। यद्यपि यह गीता को उच्चैः स्वर से पढ़ कर जप करता है मानस पाठ करता है तो भी उसको सुनने के समय मुझको ही यह प्रकाशित कर रहा है यह ज्ञान होता है इस हेतु से जपमात्र से भी ज्ञानयज्ञ फल मोक्ष पाता है, अन्तःकरण शुद्धि और ज्ञानोत्पत्ति द्वारा अर्थस्मरणपूर्वक पाठ करनेवाले को साक्षात् मोक्ष होता है इसमें कहना ही क्या है? यह फलविधि है अर्थवाद नहीं, क्योंकि—

'श्रेयान् द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परन्तप !'

पूर्व में कहा है ॥ ७० ॥

प्रवचनकर्ता और अध्ययनकर्ताका फल कहकर श्रोताका अब फल कहते हैं—जो मनुष्य कोई भी उच्चैः स्वरसे पाठ करनेवाले अतएव दयाशीलसे श्रद्धा-

कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ ! त्वयैकाग्रेण चेतसा ।
कच्चिदज्ञानसम्मोहः प्रनष्टस्ते धनञ्जय ! ॥ ७२ ॥

हे अर्जुन ! क्या तुमने एकाग्रचित्तसे मेरे द्वारा उपदिष्टगीता शास्त्रका श्रवण किया ?, और हे धनञ्जय ! क्या तुम्हारा इस गीताशास्त्रके श्रवणसे अज्ञान-जनित सम्मोह नष्ट हुआ ? ॥ ७२ ॥

शाच्छ्रद्धावाञ्श्रद्धायुक्तः । तथा क्रिमर्थमयमुच्चैर्जपत्यसंबद्धं वा जपतीति दोषदृष्ट्याऽसूयया रहितोऽनसूयश्च केवलं शृणुयादिमं ग्रन्थम् अपिशब्दात्किमुतार्थज्ञानवान्, सोऽपि केवलाक्षरमात्रश्रोताऽपि मुक्तः पापैः शुभान् प्रशस्ताँल्लोकान् पुण्यकर्मणामश्वमेधादिकृतां प्राप्नुयात् । ज्ञानवतस्तु किं वाच्यमिति भावः ॥ ७१ ॥

म० टी०—शिष्यस्य ज्ञानोत्पत्तिपर्यन्तं गुरुणा कारुणिकेन प्रयासः कार्य इति गुरोर्धर्मं शिक्षयितुं सर्वज्ञोऽपि पुनरुपदेशापेक्षा नास्तीति ज्ञापनाय पृच्छति—**कच्चिद्**त्यादिना । कच्चिदिति प्रश्ने । एतन्मयोक्तं गीताशास्त्रमेकाग्रेण व्यासङ्गरहितेन चेतसा हे पार्थ ! त्वया किं श्रुतमर्थतोऽवधारितम् । कच्चित्किमज्ञानसंमोहोऽज्ञाननिमित्तः संमोहो विपर्ययोऽज्ञाननाशात्प्रनष्टः

वान् होकर क्यों यह जोरसे पढ़ता है अथवा असंबद्ध पढ़ता है दोषदृष्टिसे जो असूया तद्रहित अनसूय केवल इसको सुनेगा अर्थज्ञानके विषयमें तो कहना ही क्या है ? केवल अक्षरमात्रका श्रोता पापोंसे मुक्त होकर शुभ श्रेष्ठ लोक अश्वमेधादि पुण्यकर्म करने वालोंके लोक को पावेगा । ज्ञानवान् को तो कहना ही क्या है यह भाव है ॥७१॥

दयाशील गुरुको जबतक शिष्यको पूर्ण बोध न हो तबतक प्रयत्न करना चाहिये गुरुका यह धर्म कर्त्तव्य है इसको सिखानेके लिये सर्वज्ञ भी भगवान् फिर उपदेशकी अपेक्षा नहीं है यह समझनेके लिये पूछते हैं—**कच्चित्**से । यह शब्द प्रश्नार्थक है, मैंने जो यह गीताशास्त्र कहा है क्या सङ्गरहित विषयान्तर व्यावृत्त एकाग्रचित्तसे अवधान पूर्वक हे पार्थ अर्जुन ! तुमने सुना है अर्थ भी खूब समझ लिया है 'कच्चित्' क्या अज्ञान संमोह अज्ञान हेतुक संमोह विपरीतज्ञान निःशेष

अर्जुन उवाच

नष्टो मोहःस्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव ॥ ७३ ॥

अर्जुनने कहा—हे अच्युत! आपके प्रसादसे मेरा समस्त अज्ञान नष्ट हो गया, वेदान्त प्रतिपाद्य नित्य कूटस्थ परमात्मा ही मैं हूँ, इस प्रकार आत्मतत्वस्मृति भी प्राप्त हुई, इसलिये समस्त संशयोंसे मैं मुक्त हो गया हूँ, आपके वचनों का पालन अवश्य करूँगा, अर्थात् मैं युद्धके लिये तैयार हूँ ॥ ७३ ॥

प्रकर्षेण पुनरुत्पत्तिविरोधित्वेन नष्टस्ते तव हे धनञ्जय! यदि स्यात्पुनरुपदेशं करिष्यामीत्यभिप्रायः ॥ ७२ ॥

म० टी०—एवं पृष्टः कृतार्थत्वेन पुनरुपदेशानपेक्षतामात्मनः—नष्ट उच्छिन्नो मोहोऽज्ञानकृतो विपर्ययः। तन्नाशकमाह—स्मृतिर्लब्धा तत्त्वप्रसादान्मया। यस्मात्त्वदुपदेशादात्मज्ञानं लब्धं सर्वसंशयानाक्रान्ततया प्राप्तमतः सर्वप्रतिबन्धशून्येनाऽऽत्मज्ञानेन मोहो नष्ट इत्यर्थः। हेऽच्युताऽऽत्मत्वेन निश्चितत्वात्। "वियोगायोग्यस्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्ष" इति श्रुत्यर्थमनुभवन्नाह—'स्थितोऽस्मि गतसंदेहो' निवृत्त-

---

निवृत्त हुआ अर्थात् आत्यन्तिक निवृत्त हुआ फिर उसके उत्पादकी शङ्का तो नहीं है धनञ्जय! यदि संमोह फिर होगा तो फिर उपदेश करेंगे यह भगवानका अभिप्राय है ॥७२॥

ऐसा भगवान्के कहनेपर मैं कृतार्थ हो चुका हूँ अब फिर मुझे उपदेशकी अपेक्षा नहीं यह अर्जुन कहा, अज्ञानसे उत्पन्न मोह नष्ट हुआ। उसका नाशक फल कहते हैं-आपके प्रसादसे मुझे स्मरणका लाभ हुआ, इस उपदेशसे आत्मज्ञान हमको हुआ सब संशयसे शून्य आत्मज्ञान प्राप्त हुआ इससे मोह नष्ट हुआ यह अर्थ है। हे अच्युत! आत्मत्वेन निश्चित होनेसे। "वियोगायोग्यस्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः" इस श्रुतिके अर्थका अनुभव करते हुए अर्जुन बोले-भगवन्! आपके उपदेशमें स्थित हूँ सब सन्देह निवृत्त हो गया है आपके आदेशानुसार युद्ध करनेमें

संजय उवाच

इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः ।
संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम् ॥ ७४ ॥

सञ्जयने धृतराष्ट्रसे कहा—राजन्! इस प्रकार मैंने भगवान् वासुदेव (श्रीकृष्ण) और महात्मा अर्जुनके प्रश्नोत्तररूप रोमाञ्चकारी अद्भुत संवाद को सुना है ॥ ७४ ॥

सर्वसंदेहः स्थितोऽस्मि युद्धकर्तव्यारूपे त्वच्छासने। यावज्जीवं च करिष्ये वचनं तव भगवतः परमगुरोराज्ञां पालयिष्यामीति प्रयाससाफल्यकथनेन भगवन्तमर्जुनः परितोषयामास। अनेन गीताशास्त्राध्यायिनो भगवत्प्रसादादवश्यं मोक्षफलपर्यन्तं ज्ञानं भवतीति शास्त्रफलमुपसंहृतं 'तद्भास्य विजगौ' इतिवत् ॥ ७३ ॥

म० टी०—समाप्तः शास्त्रार्थः, कथासंबन्धमिदानीमनुसंदधानः—अद्भुतं चेतसो विस्मयाख्यविकारकरं लोकेऽसंभाव्यमानत्वात्। रोमहर्षणं शरीरस्य रोमाञ्चाख्यविकारकरम्। तेनातिपरिपुष्टत्वं विस्मयस्य दर्शितम्। स्पष्टमन्यत् ॥ ७४ ॥

स्थिर हूँ, जबतक जीवेंगे तबतक आपके वचनका पालन करेंगे भगवान्के प्रयत्नमें सफलता हुई यह कहते हुए अर्जुन भगवान्को सन्तुष्ट किया। इससे गीताशास्त्रके अभ्यास करनेवाले भगवान्की कृपासे अवश्य मोक्षफलपर्यन्त ज्ञान होता है अतः "तद्भास्य विजगौ" इसके समान यह शास्त्र उपसंहृत हुआ ॥७३॥

शास्त्रका अर्थ समाप्त हुआ, इस समय कथाके सम्बन्धका अनुसन्धानवान् संजय बोले—'विस्मयोद्भुतमाश्चर्यम्' इस कोशके अनुसार चित्तका विस्मयापद पर्याय विकार क्योंकि लोकमें यह सम्भव नहीं जो भगवान् और अर्जुनका सम्वाद हुआ रोमहर्षण (रोमाञ्चकारी) इससे विस्मयमें अति परिपुष्टत्व दिखलाया और स्पष्ट है ॥ ७४ ॥

व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद्गुह्यमहं परम् ।
योगं योगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतः स्वयम् ॥ ७५ ॥
राजन् ! संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम् ।
केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः ॥ ७६ ॥

हे धृतराष्ट्र ! भगवान् वेदव्यासजीके प्रसादसे (अर्थात् उन्होंने मुझे दिव्यनेत्र दिया उससे) स्वयं श्रीमुखसे कह रहे साक्षात् भगवान् योगेश्वर श्रीकृष्णचन्द्रजी से इस परम रहस्यात्मक योगका मैंने श्रवण किया ॥ ७५ ॥

हे राजन् ! श्रीकेशव और अर्जुनके इस अद्भुत तथा पुण्योत्पादक संवादका बार बार स्मरण कर मैं अत्यन्त रोमाञ्चित होता हूँ ॥ ७६ ॥

म० टी०—व्यवहितस्यापि भगवदर्जुनसंवादस्य श्रवणयोग्यतामात्मन आह—व्यासेति । व्यासदत्तदिव्यचक्षुः श्रोत्रादिलाभरूपाद् व्यासप्रसादादिमं परं गुह्यं योगं योगाव्यभिचारिहेतुं संवादं योगेश्वरात्कृष्णात्स्वयं स्वेन परमेश्वरेण कथयतः साक्षादेवाहं श्रुतवानस्मि न परम्परयेति स्वभाग्यमभिनन्दति । अत्रेममिति पुंल्लिङ्गपाठो भाष्यकारैर्व्याख्यातः । एतदिति नपुंसकलिङ्गपाठस्यैव योगशब्दसामानाधिकरण्येन व्याख्यानमिदमिति तद्व्याख्यातारः ॥ ७५ ॥

म० टी०—पुण्यं श्रवणेनापि सर्वपापहरं केशवार्जुनयोरिमं संवादमद्भुतं न केवलं श्रुतवानस्मि किंतु संस्मृत्य संस्मृत्य, संभ्रमे द्विरुक्तिः ।

भगवान् और अर्जुनके सम्वाद व्यवहित होनेपर भी उसके सुननेके योग्य अर्जुनमें कहते हैं—व्यास से । श्रीवेदव्यास भगवान् की कृपासे तद्द्वारा प्राप्त दिव्य चक्षु श्रोत्रादि लाभसे इस परम गुह्ययोगका अव्यभिचारि हेतु सम्वाद योगेश्वर श्रीकृष्ण परमेश्वर स्वरूपसे कहनेवालेसे हम साक्षात् सुना परम्परासे नहीं, इससे अपने भाग्यका संजयने अभिनन्दन किया । 'इमं' यह पुलिङ्ग पाठकी भाष्यकारने व्याख्या की है । 'एतत्' यह नपुंसक लिङ्गका ही पाठ ठीक है, क्योंकि योग शब्द सामानाधिकरण्यसे व्याख्यात है, व्याख्याकारोंका मत है ॥ ७५ ॥

पुण्य सुननेसे भी सब पापोंको हरनेवाले केशवार्जुनके संवादको केवल सुना ही नहीं किन्तु उसका पुनः पुनः स्मरण कर भ्रम से द्विरुक्ति वारंवार हर्ष

तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः ।
विस्मयो मे महान् राजन् ! हृष्यामि च पुनः पुनः ॥७७॥
यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः ।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥ ७८ ॥

हे राजन् ! श्रीकृष्ण भगवान्‌के उस अत्यन्त अद्भुत विराट् स्वरूपको पुनः पुनः स्मरण करके मेरे चित्तमें महान् विस्मय (आश्चर्य) होता है और मैं बड़ा प्रसन्न होता हूँ ॥ ७७ ॥

हे राजन् ! जिन पाण्डवोंके पक्षमें भगवान् योगेश्वर श्रीकृष्णचन्द्र हैं और जिस पक्षमें धनुर्धर (गाण्डीव धारी) पार्थ (अर्जुन) हैं, उसी पक्षमें निश्चल श्री (राजलक्ष्मी) विजय और नीति है यही मेरी मति है । अर्थात् इस समय भी तब तक दुर्योधनादि पुत्रोंके साथ श्रीकृष्णके शरणमें जाकर पाण्डवोंको प्रसन्न कर सर्वस्व उनके समक्ष समर्पण करके पुत्रोंके प्राणकी रक्षा करें ॥ ७८ ॥

ॐतत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे मोक्ष-
संन्यासयोगो नामाष्टादशो-
ऽध्यायः ॥ १८ ॥

मुहुर्मुहुर्वारं वारं हृष्यामि च हर्षं प्राप्नोमि च, प्रतिक्षणं रोमाञ्चितो भवामीति वा ॥ ७६ ॥

म० टी०—यद्विश्वरूपाख्यं सगुणं रूपमर्जुनाय ध्यानार्थं भगवान् दर्शयामास तदिदानीमनुसंदधान आह—तच्चेति । तदिति विश्वरूपं हे राजन्! मम महान्विस्मयोऽत एव हृष्यामि चाहम् । स्पष्टमन्यत् ॥ ७७ ॥

प्राप्त करता हूँ प्रतिक्षण शरीर रोमाञ्चित होता है ॥ ७६ ॥

जो विश्वरूपाख्य सगुणरूप अर्जुनके ध्यानके लिये भगवान् ने दिखाया उसका अनुसन्धान करते हुए कहते हैं—तच्चेति । वह विश्वरूप हे राजन्! हमको बड़ा विस्मय है अतएव हर्षित होता हूँ, शेष स्पष्ट है ॥ ७७ ॥

म० टी०—एवं च सति स्वपुत्रे विजयादिसंभावनां परित्यजेत्याह—यत्रेति। यत्र यस्मिन् युधिष्ठिरपक्षे योगेश्वरः सर्वयोगसिद्धीनामीश्वरः सर्वज्ञः सर्वशक्तिर्भगवान् कृष्णो भक्तदुःखकर्षणस्तिष्ठति नारायणः, यत्र पार्थो धनुर्धरो यत्र गाण्डीवधन्वा तिष्ठत्यर्जुनो नरः, तत्र नरनारायणाधिष्ठिते तस्मिन् युधिष्ठिरपक्षे श्रीः राज्यलक्ष्मीर्विजयः शत्रुपराजयनिमित्त उत्कर्षो भूतिरुत्तरोत्तरं राज्यलक्ष्म्या विवृद्धिर्ध्रुवाऽवश्यंभाविनीति सर्वत्रान्वयः। नीतिर्नयः। एवं मम मतिर्निश्चयः। तस्माद्वृथा पुत्रविजयाशां त्यक्त्वा भगवदनुगृहीतैर्लक्ष्मीविजयादिभाग्भिः पाण्डवैः सह संधिरेव विधीयतामित्यभिप्रायः ॥ ७८ ॥

वंशीविभूपितकरान्नवनीरदाभात्पीताम्बरादरुणबिम्बफलाधरोष्ठात्।
पूर्णेन्दुसुन्दरमुखादरविन्दनेत्रात्कृष्णात्परं किमपि तत्त्वमहं न जाने॥ १ ॥

ऐसी परिस्थितिमें अपने पुत्रोंकी विजय संभावनाका त्याग करो यह कहते हैं—यत्रेतिसे। जिस युधिष्ठिर पक्षमें योगेश्वर सब योगसिद्धियोंका ईश्वर सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् श्रीकृष्ण, भक्तके दुःखोंके निराकरिष्णु नारायण हैं, पार्थ धनुर्धर जहाँ गाण्डीवधन्वा अर्जुन नर हैं उस नर नारायणसे युक्त युधिष्ठिर, पक्षमें श्रीः राज्यलक्ष्मी विजय शत्रुपराजय हेतुक उत्कर्ष उत्तरोत्तर राज्यलक्ष्मीकी वृद्धि अवश्य होनेवाली है। 'इति' शब्दका सर्वत्र अन्वय है। यह मेरी मति निश्चय है अतः व्यर्थ पुत्रोंकी विजयाशाका त्याग कर भगवान्के दयापात्र लक्ष्मीविजयादि युक्त पाण्डवोंके साथ सन्धि ही करो यह अभिप्राय है ॥ ७८ ॥

'वंशी विभूपितकरान्नव नीरदाभात्' इत्यादि ऊपर देखिये।

अर्थ—वंशी मुरली मनोहर है हाथ में जिसको नवीन जलपूर्णमेघ के समान आभा कान्ति है जिसकी, शरत्कालिक मेघकी व्यावृत्तिके लिये 'नव' यह विशेषण है। नवीन श्रावण भाद्रपदके मेघ आप होते हैं, क्योंकि ये जलसे भरे रहते हैं शरत्कालके मेघ स्वल्प जल होनेसे श्वेत होते हैं इनकी व्यावृत्तिके लिये 'नव' पद है। पीत है अंबर (वस्त्र) जिसका, अरुण (लाल) जो बिम्बफल तद्वत् अधरोष्ठ है जिसका, ऊपरके ओष्ठकी व्यावृत्तिके लिये अधर पद है। नीचेका ओष्ठ लाल होनेसे महाप्रभावशाली पुरुष होता है, कविसमयख्याति भी अधरोष्ठमें

काण्डत्रयात्मकं शास्त्रं गीताख्यं येन निर्मितम् ।
आदिमध्यान्तषट्केषु तस्मै भगवते नमः ॥ २ ॥
श्रीगोविन्दमुखारविन्दमधुना मिष्टं महाभारते
गीताख्यं परमं रहस्यमृषिणा व्यासेन विख्यापितम् ।
व्याख्यातं भगवत्पदैः प्रतिपदं श्रीशंकराख्यैः पुन-
र्विस्पष्टं मधुसूदनेन मुनिना स्वज्ञानशुद्ध्यै कृतम् ॥ ३ ॥

ही लौहित्य वर्णन की है। पूर्णेन्दु-पूर्णिमाके चन्द्रके समान सुन्दर है मुख जिसका पूर्णिमाके चन्द्र ही पूर्ण होते हैं अरविन्द कमलके समान है नेत्र जिसका एवं भूत श्रीकृष्णसे पर (भिन्न) अथवा उत्कृष्ट तत्त्व पारमार्थिक वस्तु मैं नहीं जानता हूँ अर्थात् सच्चिदानन्दघनाद्वितीय स्वप्रकाश सर्वगुणातीत परब्रह्म श्रीकृष्ण भगवान् ही हैं यह अभिप्राय है ॥

'काण्डत्रयात्मकं शास्त्रं गीताख्यं येन निर्मितम् ।' इत्यादि ऊपर देखिये ।

प्रथम छः अध्यायोंसे कर्मकाण्ड, मध्यम छः अध्यायोंसे उपासना यही भक्ति भी कहाती है। उपासनाकाण्ड भक्तिकाण्ड यह पर्याय है। तृतीय छः अध्यायोंसे ज्ञानकाण्ड, एतत्काण्डत्रयात्मक गीता नामक शास्त्रका निर्माण जिसने किया उस भगवान् को नमस्कार है ।

'श्रीगोविन्दमुखारविन्दमधुना' इत्यादि ऊपर देखिये ।

श्रीगोविन्द भगवान् श्रीकृष्णजीके मुखकमलके मधु (मकरन्द) से मधुर (मीठा) परम ऋषि त्रिकालज्ञ भगवान् ने महाभारत भीष्मपर्वके २४ चौबीसवें अध्यायमें जो विशेषरूपसे प्रकाशित किया है, श्रीशङ्कराचार्य भगवत्पादने जो हरएक पदोंके साथ व्याख्यान द्वारा स्फुटार्थ किया है, उसे अपने ज्ञानशुद्धिके लिये मधुसूदन मुनिने फिर विशेषरूपसे स्फुट किया है। स्वगर्व परिहारार्थ नम्रतापूर्वक 'स्वज्ञानशुद्ध्यै' कहा है। यदि कोई विद्वान् यह आक्षेप करे कि भगवत्पाद के व्याख्यानके बाद गीतार्थ समझनेके लिये मधुसूदनीकी आवश्यकता नहीं है, मधुसूदन मुनिका यह भ्रममात्र है कि मेरे व्याख्यानके विना भाष्यार्थ ही का यथार्थ ज्ञान न होगा ? गीतार्थ ज्ञान दूर रहा इस असहिष्णु विद्वान् के आक्षेपके परिहारार्थ कहा कि हमने ज्ञानशुद्धिके लिये व्याख्यान किया है, अतः वे मत्सरी विद्वान् क्षमा करें उनके लिये नहीं बनाया है ।

इह योऽस्ति विमोहयन्मनः परमानन्दघनः सनातनः ।
गुणदोषभृदेष एव नस्तृणतुल्यो यदयं स्वयं जनः ॥ ४ ॥
श्रीरामविश्वेश्वरमाधवानां प्रसादमासाद्य गुरुर्गुरूणाम् ।
व्याख्यानमेतद्विहितं सुबोधं समर्पणं तच्चरणाम्बुजेषु ॥ ५ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीविश्वेश्वरसरस्वतीपादशिष्य-
श्रीमधुसूदनसरस्वतीविरचितायां श्रीमद्भगवद्गीतागूढार्थ-
दीपिकायां संन्यासयोगप्रतिपादनं नामाष्टा-
दशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

(समाप्तेयं श्रीमधुसूदनसरस्वतीविरचिता श्रीमद्भगवद्गीतागूढार्थदीपिका टीका ।)

'इह योस्ति विमोहयन्' इत्यादि ऊपर देखिये ।

जो मनको मुग्ध करता हुआ परमानन्दघन सनातन ब्रह्म आत्मा है वही मेरे ग्रन्थके गुण दोषका भागी है यह जय स्वयं तृणतुल्य है, जैसे अचेतन तृण चेतन व्यापारके विना कुछ करनेमें असमर्थ है वैसे परमात्म प्रेरणाके विना केवल शरीरेन्द्रिय संघात मधुसूदनमुनि भी असमर्थ हैं ।

'श्रीरामविश्वेश्वरमाधवानाम्' इत्यादि ऊपर देखिये ।

परमगुरु गुरुकागुरु श्रीरामविश्वेश्वर स्वदीक्षागुरु माधव विद्यागुरु इन गुरुजनोंके प्रसाद (प्रसन्नता) प्राप्त कर मैंने यह सुबोध व्याख्यान किया है और उन्हींके चरणकमलोंमे समर्पण भी किया है ॥ ५ ॥

इस प्रकार महामहोपाध्याय पण्डित हरिहरकृपालु-
द्विवेदिविरचित १८ अट्ठारहवें अध्याय
मधुसूदनी का अनुवाद
समाप्त हुआ ॥

अथ सामन्यतोऽनुवादक परिचयादिः

क्रोशैरन्तरितं चतुर्भिरनघश्रेणीत्रिवेणीतटात्
विद्योपार्जितभूपु पण्डितपुरं यद्भात्यवाच्यां स्थितम् ।
अस्मत्तातपितामहेन सुधिया धाराधरेण स्वयं
सारामं नववासितं द्विजमयं तत्रास्मदीयं जनुः ॥ १ ॥

पूज्यश्रीलपितामहान्मम विदो विश्वम्भरादत्तरा-
रम्भोऽभूत् सुदिने 'वराँव'नृपतेर्द्वारि प्रधानात् पितुः ।
प्राज्ञाच्छ्रीबलभद्रदत्तकृतिनः प्रारभ्य शब्दागमं
स्वाध्यायाव्युपरोधि कर्मबहुलं पश्यन्नयोध्यामगाम् ॥ २ ॥

रामाज्ञापदपङ्कजादधिगतिस्तत्राभवद् व्याकृतेः
श्रीलोमापतिपादपद्मरजसस्सप्राच्यतर्काम्बुधेः ।
वेदान्तादिकदर्शनस्य वसतः काश्यामगस्त्याश्रमे
निःशेषागममन्थमन्दरमतेः श्रीरामपिश्राङ्घ्रितः ॥ ३ ॥

श्रीमद्रामनिरञ्जनस्य महतो व्यापारपुण्यद्धियः
श्रद्धाभक्तिदयादरादिगुणिनो विद्यालये पाटने ।
छात्रौघं सपरिश्रमम्बहुतिथं शास्त्राण्यलम्पाठयन्
तस्य स्वान्तमतूतुषं गुरुदयं सन्तोषवृत्त्या चिरम् ॥ ४ ॥

सत्यप्रेमशुभाश्रयाश्रितकृपादानोपकारक्षमा
तेजः सूक्तिविशुद्धसंयमगुणग्रामाभिरामाकृतिः ।
वाग्मी धर्मधुरन्धरः परहितोन्मेषप्रदव्याहृतिः
ज्ञानानन्दमयेश्वराङ्घ्रिमधुपः श्रेष्ठी ममासीच्चिरम् ॥ ५ ॥

काश्यां संयतमानसे निवसति द्रव्यं दधानेऽर्थिने
तस्मिन् भोगविरागभाजि परमानन्दस्वभावं गते ।
संसारेषु तदादिमं व्युपरतो विश्वेशपादाम्बुज-
ध्यानानन्दरसाप्तये त्ववसरं तस्यात्मजान् प्रार्थये ॥ ६ ॥

हीरालालोऽभ्यधत्त प्रणतमितगिरा मैवमब्देऽत्र वोचः
ज्यायान्कालान्तरेऽसौ पुनरपि कथितो भ्रातृभिर्मन्त्रयित्वा ।

श्रेयोऽर्थस्योपरोधः क्षतिरपि महतो मास्तु विद्यालयस्ये-
त्याहप्रेम्णा प्रबन्धं निवसतु विदधद् यत्र योऽभीष्टसिद्धिः ॥७॥
(१) पञ्चाशत् प्रतिमासमत्र भवते मुद्राः प्रदास्यामहे
सङ्कल्पं लघुसेवमेतमुचितं पुष्णातु नः प्रीतये ।
स्वीकृत्य प्रभुराशिषा सह सतः संयोज्य सन्तोष्य तान्
(२) अष्टौ तत्कृतवृत्तिकः शिवपुरीं संसारसेतुं श्रये ॥
संस्थाप्य स्थिरशास्त्रमार्मिकमतिं श्रीब्रह्मदत्तं सुतं
तत्रैतत्कृतिकौशलं बहुमुखं स्वामिप्रमोदप्रदम् ।
छात्रौघाभ्युदयादि साधनमिह श्रुत्वा श्रुतेरीप्सितं
मन्ये साम्बसदाशिवस्य कृपया सर्वं फलं सूयते ॥९॥
निर्मानासङ्गमोहप्रमदमुखजनुर्दोषरोषादिरिक्तः
सुश्रूषाध्यानयोगप्रशमदमगुणैः प्रोतसम्पूतचेताः ।
धर्म्यानुष्ठाननिष्ठापरिहृतहृदयानन्तसन्तानदोषो-
लक्ष्मीसोल्लासलीलावलयतिशरणो (३) तेषु मध्यानुजोऽसौ ॥१०॥
श्रेष्ठिश्रीशपदारविन्दरसिको गीर्वाणवाणीप्रियः
छोटेलाल मुरारकाऽमितदयो गीताप्रचाराशयः ।
भाषानूदितग्रन्थमेतमखिलं मुद्रापयित्वा मुदा
गूढार्थप्रविवेचने सुलभतामुन्नीयमानः सुखी ॥११॥
प्रज्ञावैभवदर्शनाय यशसे नैवार्थलाभाय वा
क्वाहं मन्दमतिः क्वचेदृशफलं नैवानभिज्ञाग्रणीः ।
किन्त्वीदृग् विधिरात्मबोधफलकः काशीनिवासोचितः
श्रीविश्वेशपदानुचिन्तनपरः प्रेम्णा च प्रावीवृतम् ॥१२॥
वैक्रमे वाणगगनखाक्षिसम्मितवत्सरे ।
पौषे मासि सिते पक्षे संक्रान्तौ गुरौ वासरे ॥१३॥

नोटः—(१) पहले सेठजी ने ऐसा ही कहकर भेजा था पर पीछे उनसे पर्याप्तरूप में सहायता मिली है ।

२—(१) हीरालाल मुरारका, (२) नन्दलाल मुरारका, (३) राधेलाल मुरारका, (४) लल्लूलाल मुरारका, (५) चुन्नीलाल मुरारका, (६) मिसरीलाल मुरारका, (७) छोटेलाल मुरारका, (८) श्रीकृष्णलाल मुरारका ।

(३) उन आठों के मध्य में छोटे भाई ।

वाराणस्यां नीलकण्ठे राधाकृष्णस्य मन्दिरे ।
गीतागूढार्थतत्त्वस्य आपा टीकामपूपुरम् ॥१४॥
यत्पादपद्मस्मरणप्रभावादतीतरं लेखमहाब्धिपारम् ।
सदाशिवौ तौ पितरौ जगत्याः नतेन मूर्ध्ना प्रणमामि भूयः ॥१५॥
योगिगम्येऽत्र विषये चलतः स्खलतोऽपि मे ।
उपहासो न योग्योऽस्ति बालस्येव विपश्चितः ॥१६॥

समाप्तश्चायं ग्रन्थः ।

शुभं भूयात् ।



श्री विक्रम पञ्चाङ्ग प्रेस, भदैनी, बनारस ।

श्लोकानामकाराद्यनुक्रमणिका

